KALYAN

1961

Lib. G. K. V.
Hardwar

110338

~~PT-9.27~~

10-3

C S.R. No	Duty Slip	Buses No.	From	To	Earning	Dead	Relief	Deptt.	Total	No of Sing. Trip	M. Oil	D. Oil	Petrol	Average	Upper	By uggage Rs: P

gnature of D.V.E. Clerk _ _ _ _ _ _ _ _ _ _

Signature of Station _ _ _

P.S.U.P. (Re.) 180 Adeyia/1256-15-2-82-500 Books.

By uggage		By Passengers		By Luggage		By Passengers		Earning		Kilometer on Earning K. meterage		Remarks
Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	

on - - - - - - - - - -

Date of submission - - - - - - - - - -

C 3.R. No

110338

110338

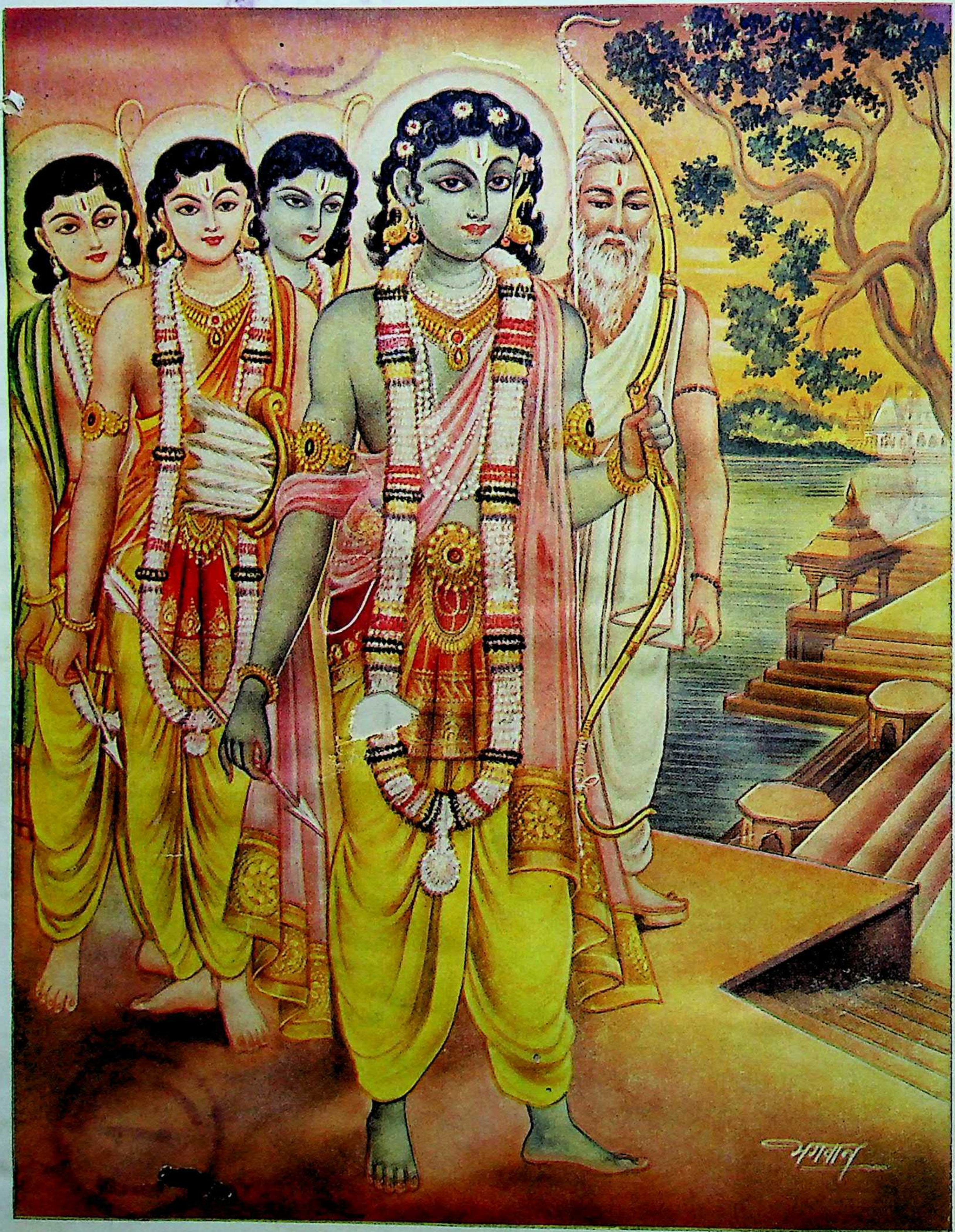

सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

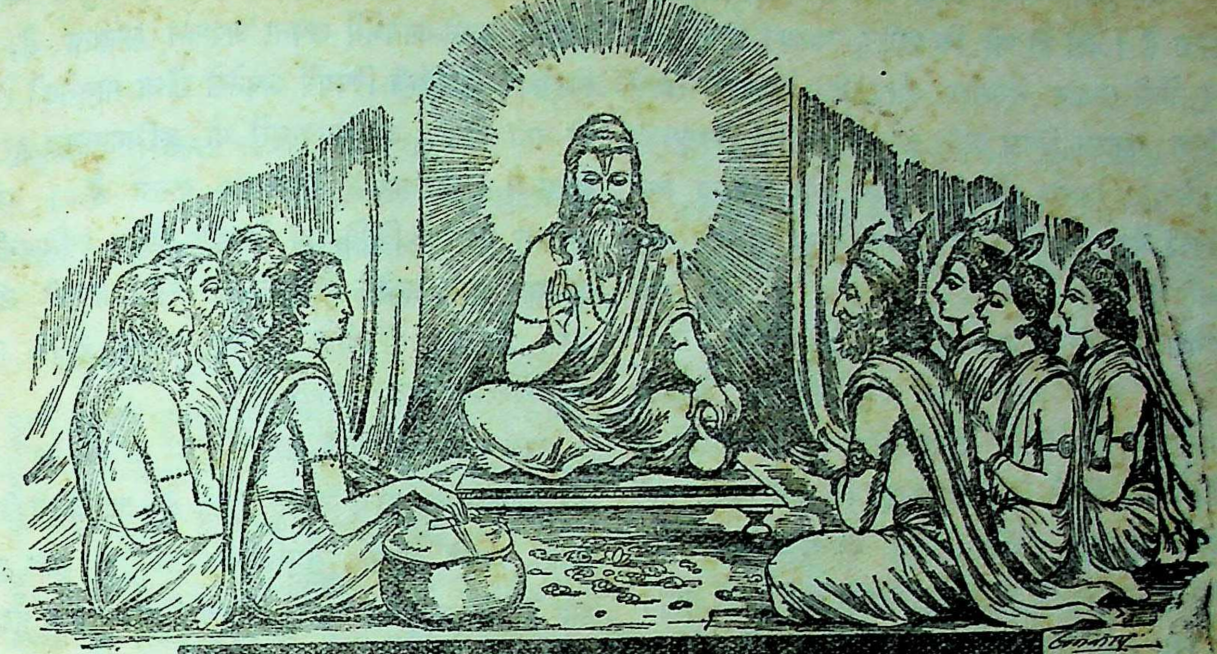

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्या ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१७, फरवरी १९६१ | संख्या २
पूर्ण संख्या ४११

सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम

मज्जन करि सुभ सरजुतट ठाढ़े श्रीरघुबीर ।
संग अनुज मुनि अमल मन, प्रभु भंजन भव-भीर ॥
वपु नव-नीरद-नील सुचि, भुवनाभरन रसाल ।
सुंदर पीतांबर बिसद भ्राजत उर मनिमाल ॥
पुष्पहार मुनि-मन-हरन सुंदर सुखमा-ऐन ।
बिकट भ्रुकुटि, चितवनि कुटिल, रस-मद-माते नैन ॥
रूप जलधि माधुर्यनिधि उपमा-विरहित अंग ।
रोम रोमपर वारियै अगनित अजित अनंग ॥

याद रक्खो—जो पलड़ा नीचा होता है, वही भारी होता है। वैसे ही जो विनयशील, मानका त्यागी तथा दूसरोंको सम्मान देनेवाला होता है, अपनेको सबसे नीचा मानकर विनम्र बर्ताव करता है, सबमें भगवान्की अभिव्यक्ति देखकर जो सबके सामने सिर झुकाता तथा सबकी सेवा करता है; इन गुणोंके कारण वस्तुतः वही भारी है। इस क्षेत्रमें नीचा ही ऊँचा है और व्यर्थ अभिमानके ऊँचे पहाड़पर रहनेवाला ही नीचा है।

याद रक्खो—विनयीसे सब प्रसन्न रहते हैं, सेवकसे सबको सुख मिलता है, सभी उसको हृदयसे चाहते हैं और अपना मानते हैं। भगवान्की तो परम कृपा उसे मिलती ही है; क्योंकि सबमें भगवान् देखनेवालेके सामनेसे भगवान् तो कभी एक क्षणके लिये हटते नहीं। वह सदा सर्वत्र सबमें भगवान्को देखता है तो भगवान् उसको देखते रहते हैं।

याद रक्खो—विनयी पुरुषके मित्र बढ़ते हैं और अभिमानीके शत्रु। विनयीके कहीं गिरनेपर लोग उसे उठाने दौड़ते हैं तो अभिमानीको धक्के और ठोकर मिलते हैं। विनयीको कहीं अपमान-तिरस्कारका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह अपमान-तिरस्कारको कुछ समझता ही नहीं और अभिमानीको बार-बार अपमान-तिरस्कारकी चोट लगती रहती है। कोई भी स्वाभाविक आकृति, चाल तथा शब्द ही उसपर मर्माघात करने लगते हैं। ये सब विपत्तियाँ अभिमानीकी अपनी बुलायी होती हैं और वे सदा उसके साथ लगी रहती हैं, उनके संगी-साथी तथा परिवारकी वृद्धि होती रहती है। पर विनयीके पास ऐसी दैवी सम्पदाका सुदृढ़ किला रहता है कि उसमें इन विपत्तियोंका कभी प्रवेश ही नहीं हो सकता।

याद रक्खो—विनयी पुरुषके द्वारा ही किसीका सेवा-संस्कार हो सकता है। अभिमानी तो अपनी ऐंठमें ही रहता है, वह अभिमानवश गुरुजनोंका भी अपमान कर बैठता है। इससे वह उनकी सद्भावना एवं आशीर्वादसे वञ्चित रह जाता है। शिक्षा ग्रहण करनेमें भी अभिमानसे बहुत बड़ी बाधा आती है; क्योंकि अभिमानी मनुष्य किसीसे कुछ भी पूछने-जाननेमें अपना अपमान समझता है, वह किसीको भी किसी विषयमें अपनेसे ऊँचा माननेको तैयार ही नहीं होता। वह भगवान्से भी अभिमानवश दूर ही रहता है। संतोंका भी तिरस्कार करता है। इसीसे भगवान् भी सच्चे चिकित्सक वैद्यकी भाँति अभिमानीका अभिमान नाश करनेके लिये उसके साथ द्वेषकी लीला करते हैं और विनयीके दैन्यके कारण उसके प्रति स्नेह-लीलाका प्रकाश करते हैं।

याद रक्खो—विनयीके हृदयमें सदा शान्ति रहती है और अभिमानीका हृदय जलता रहता है। वह किसीकी भी उन्नति, प्रगति, उत्थान, समृद्धि तथा कीर्तिकी बात सुन लेता है तो उसे सह नहीं सकता और उसके हृदयकी द्वेषाग्नि बड़े वेगसे भड़क उठती है। उसी जलनको मिटानेके लिये वह ऐसे कुकर्म भी कर बैठता है जो उसकी उस आगको भीषण दुःखदावाग्नि एवं नरकानल बनाकर जलनको और भी तीव्र तथा भयानक कर देते हैं।

याद रक्खो—सच्चा विद्वान् तथा बुद्धिमान् भी वही है, जिसमें विनय है। विद्याका अवश्यम्भावी फल ही है विनयकी प्राप्ति और विनयके आते ही पात्रता तथा समृद्धि भी आ जाती है। इस प्रकार जो सुख-शान्ति प्रदान करनेवाली पात्रता एवं समृद्धिका सम्पादन कर लेता है, वही बुद्धिमान् है।

याद रक्खो—फलवाले वृक्ष झुक जाते हैं और अपने अमृत-स्वादी फलोंसे जन-जनको तुष्ट करते हैं, पर अफलवृक्ष सीधे तने खड़े रहते हैं और सबकी उपेक्षाके पात्र होते हैं। सब प्रकारके उत्तम लाभ विनयमें ही है। अतः तुम भी विनयी बनो और उससे सबको अपना बना लो।

याद रक्खो—विनय असली होनी चाहिये, दिखावटी नहीं। दिखावटी विनय तो एक प्रकारका छल है जो अपनेको धोखा देता है। अतः दिखावटी विनय न करके असली आदर्श विनयका अर्जन तथा व्यवहार करो।

'शिव'

कर्म-मीमांसा

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥

मनुष्यको सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं। दूसरे मुझको सुख-दुःख देते हैं, ऐसा मानना नासमझीकी बात है। 'मैं करता हूँ'—ऐसा समझना व्यर्थका अभिमान है। श्रीनरसिंह मेहताके शब्दोंमें कहें तो—'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ—यह अज्ञान है।' क्योंकि मनुष्यमात्र अपने ही कर्मके बन्धनसे आप जकड़ा हुआ है और उसको अपने कर्मोंके फलके रूपमें ही सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। यह हुआ ऊपरके श्लोकका अर्थ। पर इतने अर्थसे कर्मका रहस्य समझमें नहीं आता, अतएव इसको समझनेके लिये एक दृष्टान्त लीजिये।

एक शिकारी हिरणको मारनेके लिये अपना तीर छोड़ता है। दैववशात् वह तीर हिरणको लगता है और हिरण मर जाता है। अब यदि हिरणको वाणी प्राप्त हो और वह कहे कि इस तीरने मुझे मार डाला, अर्थात् इस तीरने मुझको मृत्युका दुःख प्रदान किया, तो हम तुरंत कह उठेंगे कि 'भाई हिरण! तुम्हारी बात सच्ची नहीं। तीर तो जड है, वह तुमको क्या मार सकता है? तुमको मारनेवाला तो वह शिकारी है, जिसने तुमको मारनेके लिये तीर छोड़ा था।' अब यदि हम सूक्ष्मबुद्धिसे आगे विचार करें कि जैसे तीर शिकारीके हाथका साधनमात्र है, उसी प्रकार शिकारी भी उस महान् जादूगरके हाथका साधन है जो 'विश्व-नियन्ता' कहलाता है। हिरणकी मृत्यु तो उसके प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर हुई। उसकी मृत्युका उस क्षण निर्माण न होता और उसका प्रारब्ध-भोग शेष होता तो वह तीर उसे न लगता; क्योंकि ऐसा नहीं देखनेमें आता कि जब-जब शिकारी तीर छोड़ता है तब-तब वह प्राणीको लगता ही है और उसकी मृत्यु अवश्य ही होती है। इसलिये हिरणको तो उसके पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपसे मृत्यु प्राप्त हुई; परंतु कामना, आसक्तिसे युक्त जो शिकारी यह अहङ्कार करता है कि हिरणको मैंने मारा, हिरणकी हत्याका पाप उसे तो अवश्य ही लगता है।

अर्जुनको भी ऐसा ही मोह कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें हुआ था और उसकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान्ने समझाया था कि 'इन सबको मारनेवाला तो मैं हूँ, तुम तो केवल निमित्तरूप बनो।' '**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' का भाव यही है।

जब कर्मके विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं कि '**गहना कर्मणो गतिः**' अर्थात् कर्मकी गति गहन है, तब मनुष्यके लिये कर्मका रहस्य जाननेका यत्न करना उसकी अनधिकार चेष्टा है। अतएव कर्मके रहस्यको पूर्णतः समझना-समझाना मनुष्यकी बुद्धिकी सीमाके परेकी बात है। परंतु वह कोई अंश यथार्थरूपमें समझता है—उसे यदि ऐसा लगे तो उसको जनताके सामने उपस्थित करनेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि कदाचित् वही अंश किसी मुमुक्षुके ठीक समझमें न आया हो और इससे उसका समाधान हो जाय।

कर्मका रहस्य समझनेके लिये उसके दो विभाग करके देखें। एक अनै[illegible] अर्थात् प्रकृति-प्रेरित कर्म है, दूसरा ऐच्छिक अर्थात् बुद्धि-प्रेरित कर्म। अनैच्छिक कर्म शरीरके धर्मके अनुसार अपने-आप हुआ करता है और उसमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ—श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको ले लें। वह

हमारी इच्छा हो या न हो, पर अपने-आप हुआ करती है। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंकी क्रियाएँ अपने-आप हुआ करती हैं, उनमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जबतक धर्मी है तबतक उसके धर्ममें बाधा नहीं हो सकती। अर्थात् जबतक धर्मी आँख है, तबतक उसके रूप देखनेवाले धर्मका अथवा स्वभावका बाध नहीं हो सकता—कोई उसे रोक नहीं सकता। आँखें खोलीं कि रूप दिखायी दिया। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस बातको बहुत ही सुन्दर रीतिसे समझाते हुए कहा है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

भाव यह है कि जो मनुष्य कर्मके रहस्यको ठीक-ठीक समझ गया है, वह अपनी इन्द्रियोंके स्वभाववश होनेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्त्ता नहीं मानता; क्योंकि वह जानता है कि जबतक चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, तबतक उनके दर्शन आदि व्यवहारोंको रोकनेका कोई उपाय नहीं है। जबतक कि शरीरका नाश नहीं हो जाता, तबतक उन इन्द्रियोंके स्वाभाविक कार्य होंगे ही। श्रीभगवान्ने यहाँ बहुत विस्तारपूर्वक समझाया है। 'पश्यन्' अर्थात् देखनेकी क्रिया; जबतक आँख है तबतक उसका रूप देखनेका स्वभाव मिट नहीं सकता। 'शृण्वन्' अर्थात् सुननेकी क्रिया; कान जबतक है तबतक उसके सुननेका धर्म लुप्त नहीं हो सकता। 'स्पृशन्' अर्थात् स्पर्श करनेकी क्रिया; जबतक स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है तबतक स्पर्श-ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। एक आदमी दोपहरके समय नदीमें कमरतक पानीमें खड़ा रहे तो उसकी इच्छा हो या न हो, उसकी कमरके नीचेके भागमें शीतलताका बोध और ऊपरके भागमें उष्णताका बोध हुए बिना नहीं रहेगा। 'जिघ्रन्' अर्थात् सूँघनेकी क्रिया। जबतक नासिका है तबतक सुगन्ध-दुर्गन्ध आदिका ज्ञान अनिवार्य है। 'अश्नन्' अर्थात् खानेकी क्रिया; जबतक जीभ है तबतक अपने मुँहमें कोई भी वस्तु डालो और उसका स्वाद जाननेकी तुम्हारी इच्छा न हो तो भी उस-उस वस्तुका स्वाद मिले बिना नहीं रहेगा। यह हुई ज्ञानेन्द्रियोंकी बात। कर्मेन्द्रियोंकी बात भी इसी प्रकार समझ लें।

जब श्रीभगवान् कहते हैं—

'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।'

—तब उसका अर्थ यही होता है कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं। हठपूर्वक त्याग करने जायँगे तो शरीरका नाश हो जायगा। इसी बातको समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।'

अर्थात् यदि तुम अपनी इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारका त्याग करने जाओगे तो तुम्हारे शरीरका निर्वाह नहीं हो सकेगा। अर्थात् इन्द्रियोंके तत्-तत् व्यवहारके बिना शरीर टिक नहीं सकता।

जिसको केवल तर्क करना है और सदाचारकी ओर नहीं देखना है, वह कहेगा कि जब इन्द्रियोंके व्यापार रोके नहीं जा सकते, तब मनुष्य मनमाना आचरण करे और अनुचित व्यवहार करे तो उसके लिये वह उत्तरदायी कैसे होगा? उत्तर यह है कि अशुभ कर्म कदापि इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रेरित व्यवहार अनिच्छासे हुआ करते हैं, पर अशुभ प्रवृत्तिमें तो सुख पानेकी इच्छा कारणभूत होती है; अतएव वैसी अशुभ क्रियाके लिये कर्त्ता उत्तरदायी है ही। बल्कि जो अनैच्छिक कर्म अपने-आप हुआ करते हैं, उनमें भी श्रीभगवान्ने सावधान रहनेके लिये कहा है; क्योंकि प्रकृति सदा ही अधोगामिनी होती है और मन सदा विषयोंसे सुख पानेके लिये तैयार रहता है इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेष रहते हैं । अर्थात् इन्द्रियोंका उनके विषयोंके साथ संयोग होनेपर राग-द्वेष उत्पन्न होता है । उस राग-द्वेषके फंदेमें मत फँसो । यदि फँसे तो अवश्य लुट जाओगे । इसका स्पष्टीकरण यह है कि चक्षु-इन्द्रियका दर्शनका व्यवहार भले ही हो, पर वह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक नहीं होना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी यदि राग-द्वेष मिला होगा तो उस व्यवहारका संस्कार अन्तःकरणके ऊपर पड़े बिना न रहेगा और वह संस्कार भावी-बन्धनको उत्पन्न करनेवाला बन जायगा । सारांश यह कि आँखसे रूपको देखना तो आँखका धर्म है, पर भोगदृष्टि आसक्ति या बुरी भावनासे रूपको देखना पापकर्म समझा जायगा और उसका फल भोगना ही पड़ेगा । इसलिये श्रीभगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यापारमें भी राग-द्वेषसे मुक्त रहना ही चाहिये ।

यहाँतक अनैच्छिक कर्मकी बात हुई । अब ऐच्छिक अर्थात् इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणासे हुए कर्मोंकी ओर देखिये । गीतामें अधिकांश इसी कर्मकी चर्चा है । गीताके कर्मयोगका मूल सूत्र है—'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्ममें कुशलता होनेका नाम योग है । कर्ममें कुशलता अर्थात् कर्म ऐसी कुशलतासे किया जाय कि जिससे कर्म करनेपर भी कर्मका बन्धन न हो—जैसे जलके भीतर रहनेपर भी कमलको जलका स्पर्श नहीं होता ।

कर्मकी मीमांसा करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस विषयमें विद्वानोंमें भी दो मत हैं । एक पक्ष कहता है कि 'कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, अतः वे जीवनके लिये बन्धनकारक हैं । उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।' दूसरा पक्ष कहता है कि यज्ञ, दान और तप-जैसे पवित्र कर्मोंका त्याग न करे । इस विषयमें मेरा जो निश्चय है वह मैं तुझसे कहता हूँ । ध्यान देकर सुनो —

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

भगवान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-जैसे कर्मोंका त्याग न करे, बल्कि उनका आचरण अवश्य करे; क्योंकि ये पवित्र कर्म अन्तःकरणको शुद्ध करके परमात्माकी प्राप्ति कराते हैं । फिर ये कर्म भी किस प्रकार किये जायँ, यह समझाते हुए कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

इन पवित्र कर्मोंको भी 'मैं करता हूँ'—यह अभिमान बिना रखे तथा उनके फलमें आसक्ति किये बिना करे; क्योंकि ऐसे शुभ और पवित्र कर्म भी यदि फलकी इच्छासे अहङ्कारपूर्वक किये जाते हैं तो वे बन्धनकारक होते हैं । अन्तर इतना ही है कि ऐसे कर्मोंसे सोनेकी बेड़ी पड़ती है और दूसरे प्रकारके कर्मोंसे लोहेकी बेड़ी । दोनोंमें बन्धन तो समान ही होता है ।

गीता कहती है कि कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होता । कर्म-बन्धनमें डालनेवाला तो कर्त्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा—ये दो ही हैं । इसलिये अभिमान और इच्छारहित होकर जो भी कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता । इसीको बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थात् जिस मनुष्यमें 'यह कर्म मैं करता हूँ'—ऐसा अहङ्कार नहीं है तथा इस कर्मका 'अमुक फल मुझे मिलेगा'—ऐसी इच्छा नहीं है, वह मनुष्य यदि इस युद्धभूमिमें खड़े सारे योद्धाओंको मार डाले तो भी उसे उस कर्मका बन्धन नहीं होगा । इससे स्पष्ट हो गया कि कर्म स्वयं बन्धनमें नहीं डालता, बल्कि बन्धनकारक होते हैं उसमें रहनेवाली फलेच्छा और कर्त्तापनका अभिमान ।

जबतक हम संसारमें हैं, तबतक कर्म तो करने ही पड़ेंगे, इससे छुटकारा नहीं है। इसलिये कर्म कैसे बन्धनकारक नहीं बनेंगे, इसका उपाय बतलाती हुई गीता कहती है कि (१) कर्त्तापनका अभिमान न रक्खो, (२) फलकी इच्छाके बिना कर्म करो।

फलकी इच्छा न रखकर कर्म करनेसे फल नहीं मिलता हो ऐसी बात नहीं है। इच्छारहित अर्थात् निष्काम कर्मका फल तो अनन्तगुना अधिक मिलता है और वह बन्धनकारक नहीं होता। बल्कि निष्काम कर्म ऐहिक फल देनेके उपरान्त अन्तःकरणकी शुद्धि करता है और इस प्रकार जीवन्मुक्तकी स्थिति प्राप्त होती है। यह कोई कम लाभ नहीं है।

इस कर्त्तापनके अभिमानका त्याग करनेके लिये गीतामें श्रीभगवान्ने अनेकों साधन बतलाये हैं। एक स्थानमें वे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥

अर्थात् कर्म-सम्पादन तो प्रकृतिके गुणोंसे होता है, परंतु अहङ्कारवश मूढ़ होकर जीवात्मा अपनेको कर्त्ता मान लेता है। अब प्रकृतिके गुणोंसे कर्म कैसे होता है—यह समझना चाहिये। प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज और तम हैं। इन तीन गुणोंका कार्य यह शरीर है; क्योंकि इन तीन गुणोंसे पञ्चमहाभूत हुए और उन भूतोंसे यह शरीर हुआ। इसलिये सारे कर्मोंका सम्पादन स्थूलशरीरसे होता है और स्थूलशरीरकी सत्ता देनेवाला है सूक्ष्मशरीर। आत्मा तो केवल देखनेवाला है, वह कुछ करता नहीं; तथापि अज्ञानके कारण अपनेको कर्त्ता मान लेता है और इस प्रकार अज्ञानसे घिरा हुआ आत्मा जीवसंज्ञाको प्राप्त होता है, अर्थात् अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानकर जन्म-मरण-धर्मवाला बनता जाता है।

कर्त्ता भोक्ता देह मैं, यही जीवका रूप।
जब वह खुद कर्त्ता नहीं, केवल शिवस्वरूप॥

'मैं ही कर्त्ता-भोक्ता देह हूँ'—ऐसा अज्ञानवश मानकर आत्मा जीवभावको प्राप्त होता है। जीवका स्वरूप इस अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। परंतु यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझ जाय कि मैं तो कर्त्ता, भोक्ता तथा देह नहीं, फिर तो वह शिव-स्वरूप है ही। इस प्रकार व्यर्थ कर्त्तापनके अभिमानसे आत्मा बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, यह निश्चय करके कर्त्तापनका अभिमान छोड़ दो।

दूसरे, कर्मफलकी आशा छोड़नेके लिये तो स्थान-स्थानपर श्रीभगवान्ने कहा ही है। उनमेंसे एक-दो प्रसङ्ग लीजिये—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

भगवान् कहते हैं कि जिनको तत्त्वज्ञान हो गया है, वे बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर अनामय पद अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं।

भाव यह है कि यदि कर्म निष्काम भावसे किया जाय तो उससे बन्धन नहीं होता; इतना ही नहीं, जन्म-मरणका बन्धन टूट जाता है और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है।

कर्म-फल-त्यागके विषयमें एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

इसलिये जो कर्मयोगी है अर्थात् जिसने कर्मके यथार्थ रहस्यको जाना है, वह कर्मके फलको त्यागकर परमशान्ति प्राप्त करता है, अर्थात् निर्वाण-पदको पाता है। और जो अयोगी है अर्थात् कर्मके रहस्यको नहीं समझता, कर्ममें आसक्ति रखता है, वह फलकी इच्छा

रखकर कर्म करता है, जिससे वह कर्मके बन्धनमें जकड़ जाता है । अर्थात् जो कर्मफलकी इच्छा नहीं रखता, वह जन्म-मरणके दुःखसे छूट जाता है और जो कर्म-फलकी आशाका सेवन करता है, उसका जन्म-मरण चालू रहता है ।

इस छोटे-से निबन्धमें हमने देख लिया कि अनैच्छिक कर्म भी यदि राग-द्वेष-युक्त हों तो बन्धनकारक बनते हैं; अतएव उनमें भी राग-द्वेषसे मुक्त रहे तथा ऐच्छिक कर्ममें कर्त्तापनका अभिमान न रक्खे और फलकी आशाका सेवन न करे । ऐसा करनेसे किसी भी कर्मका बन्धन न होकर शाश्वत शान्ति मिलेगी, अर्थात् मुक्ति प्राप्त होगी ।

इस लेखके शीर्षस्थानमें जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसी भावकी भक्तराज नरसिंह मेहताकी दो पंक्तियाँ लिखकर लेख समाप्त किया जाता है । कवि कहते हैं—

हुं करूँ हुं करूँ, एज अज्ञान छे ।
शकटनो भार जेम श्वान ताणे ॥

× × ×

नीपजे नरथी तो कोई ना रहे दुखी ।
शत्रु मारीने सौ मित्र राखे ॥

× × ×

जेहना भाग्यमाँ जे समे जे लख्युं ।
तेहने ते समे ते ज पहोंचे ॥

अनुवाद

मैं करूँ मैं करूँ, यही अज्ञान है ।
शकटका भार, ज्यों श्वान ताने ॥

× × ×

उपजे नरसे तो कोई न रहे दुखी ।
शत्रुको मार, सब मित्र राखे ॥

× × ×

जाके भाग्यमें जेहि समय जो लिख्यो ।
ताको ताही समय सोइ पहुँचे ॥

पवित्र प्रेम

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल जो काम-कलुषसे रहित उदार ।
शशधर-कलासदृश प्रति पल ही बढ़ता रहता सहज अपार ॥
नहीं कभी भी, किसी हेतुसे, हो सकता उसका प्रतिरोध ।
नहीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव निरोध ॥
धन-जन-तन, बहु-भोग-जनित सुख, दुःख प्रबलका तनिक प्रभाव ।
नहीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव ॥
नहीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम ।
जीवन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम ॥
प्रियतम प्रभु बन स्वयं मधुरतम प्रेमसुधा-रस-पारावार ।
करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार ॥
उठतीं ललित लहरियाँ उसमें अनुपम अमल अमित अविराम ।
देतीं सतत अनन्त कालतक सुख शुचि नित्य नवीन ललाम ॥
इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुखमय संसार ।
उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किञ्चित् काम-विकार ॥
रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र ।
सदा अमृत-रस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र ॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर प्रणाम, आपका पत्र मिला, समाचार जाने । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

जीव वैकुण्ठधाममें जानेपर मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

पाप और पुण्य दोनों समाप्त हो जानेपर जीव मुक्त हो जाता है । जबतक कर्मसंस्कार रहते हैं, तबतक जन्म-मरण होता रहता है । कर्मोंके विधानानुसार नाना योनियोंमें जन्म होता रहता है ।

पाप-कर्मका फल जीवको हरेक योनिमें भोगना पड़ता है । नरकमें तो खास-खास पाप-कर्मका फल भुगताया जाता है । उतनेसे समस्त पापोंका फल समाप्त नहीं हो जाता । मनुष्य-योनिमें पूर्वकृत पापका फल भी भोगा जाता है और नवीन कर्म करनेका भी अधिकार रहता है तथा मनुष्य अपना उद्धार भी कर सकता है; क्योंकि इसमें उसको विवेक प्राप्त है ।

स्वर्ग और नरकमें कर्मचारियोंको भी उनके कर्मफलानुसार ही भिन्न-भिन्न अधिकार और कार्य मिलता है । उतने कर्मफलोंका पूरा भोग हो जानेपर संचित कर्मोंमेंसे जो कर्म भोगोन्मुख होते हैं, उन्हींके अनुसार उनको अन्य योनि मिलती रहती है ।

बिना चापलूसी और बिना कानूनको धोखा दिये ही ईमानदार व्यापारीका काम चल सकता है, यह मेरा विश्वास है । धर्मपालनमें कठिनाईका सामना तो करना ही पड़ता है, तभी मनुष्यका उद्धार होता है ।

सभी चींटियाँ पंख निकलनेपर मर जाती हों—ऐसी बात नहीं है । लोग चन्द्रलोकमें पहुँच जायँ तब देखा जाय । अभी तो बात-ही-बात है ।

राक्षसयोनि वर्तमानकालमें दृष्टिगोचर नहीं होती—इससे यह नहीं माना जा सकता कि उसका सर्वनाश हो गया है । कहीं राक्षसयोनि हो तो भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं ।

ईश्वर तो एक ही है, चाहे उसे भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारें । भिन्न-भिन्न भाषा, देश आदिकी रचना उन्होंने जीवोंके अनेक कर्मोंका फल भुगतानेके लिये ही की है—ऐसा मानना चाहिये ।

अन्य योनियाँ सब भोग-योनियाँ हैं, उनमें नया पुण्य-पाप नहीं होता । अतः उनमें परस्पर जीवोंकी जो हिंसा होती है, वह कर्मोंके अनुसार ही होती है; परंतु मनुष्यको प्रभुने विवेक दिया है, अतः उसे मांसभक्षण और परपीड़ा आदि न करनेके लिये शास्त्रोंमें आदेश दिया गया है ।

जो चार वेद ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए थे, वे यही हैं, ऐसा ही माना जाता है । ब्रह्माद्वारा लिखित पुस्तक कहाँ है या किस भाषामें है, यह मुझे पता नहीं । इतने समयकी पुस्तकका सुरक्षित रह सकना भी सम्भव नहीं है । वर्तमानकालमें तो कुछ हस्तलिखित तथा अधिकांश छपी हुई पुस्तकें ही मिलती हैं ।

स्वतः मरे हुए कीटसमूहसे जो रेशम प्राप्त होती है, उसे पवित्र माना गया है । उससे बने हुए वस्त्र आदि भगवान्‌के विग्रहके काममें लाये जायँ तो उत्तम है ।

अंग्रेज, रूसी, मुसल्मान आदि लोग चार वर्णोंमें नहीं आते; क्योंकि उनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है । उन्हें मनुष्य ही मानना चाहिये ।

अश्वमेध-यज्ञमें युधिष्ठिरका घोड़ा, उस समयतक जितनी धरतीका पता था तथा जहाँतक भारतीयोंका आवागमन था, वहाँतकके सभी देशोंमें गया और उनपर विजय प्राप्त की गयी—यही माना जाता है ।

ईश्वरने जन्म-मरण, स्वस्थ-रोगी, पाप-पुण्य, मतभेद, अच्छा-बुरा, धनी-गरीब जो कुछ बनाया है, सब जीवोंके कर्मानुसार और उनके कर्मफल भुगतानेके लिये ही बनाया है । सब लोग पुण्य करनेवाले तथा धर्मात्मा हो जायँ तो बहुत अच्छी बात है । परमेश्वरका इसमें कोई नुकसान नहीं, पर लोग होते नहीं—इसका क्या उपाय ?

गणेशजीके फोटोको लटकाना नहीं चाहिये—इस तरहकी बात शास्त्रोंमें हो तो मुझे पता नहीं; क्योंकि मुझे सब शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है ।

आजकलके वैज्ञानिक जो कुछ आविष्कार कर रहे हैं, वह भौतिक दृष्टिसे उनकी बड़ी बुद्धिमानी ही है ।

गर्भपात करना तो पापकर्म है । स्त्री-पुरुषोंमें कृत्रिम नपुंसकताका प्रचार भी मेरी समझमें अच्छा कार्य नहीं है। लोग यदि संयम कर सकें तो वह हितकर है ।

जिन राजाओंने अन्य वर्णोंकी स्त्रियोंसे शादी की, उसे बुरा काम ही माना गया । जनताको आज्ञा देना धर्मके नियम बनानेवाले ऋषियोंकी जिम्मेदारीके अन्तर्गत था ।

नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्र, दुर्वासा, वेदव्यास आदि ऋषि क्यों नहीं प्रत्यक्ष मिलते—इसका कारण तो कलियुग बताया जाता है । इससे अधिक मैं क्या बताऊँ । मैं तो उनके मिलनेका उपाय जानता नहीं ।

पुष्कर तालाबमें स्नान करनेके फलकी बात स्नान करनेवालोंके श्रद्धा-विश्वासपर निर्भर है । आपको अच्छा न लगा—यह आपकी मान्यता हो सकती है । सबके लिये एक-सी बात नहीं है ।

विवाह किये हुए पुरुषको जनेऊका जोड़ा पहनना चाहिये तथा कुमारको एक जनेऊ पहनना चाहिये—यह विधान है । लघुशंका आदिके समय यज्ञोपवीतको कानपर चढ़ा लेनेका विधान है । एक कानपर चढ़ा लेना ही काफी है। जनेऊ पुरानी, कमजोर या अपवित्र होनेपर बदल लेनी चाहिये ।

राजाको गीतामें ईश्वरका अवतार नहीं बताया गया है, 'नराणां च नराधिपम्'—कहकर उसकी विशेषताका ज्ञान कराया गया है ।

विशेषतायुक्त चीज भगवान्की विभूति है ।

गो-हत्या क्यों नहीं बंद होती—यह तो उन्हींसे पूछना चाहिये, जिन्हें आप धार्मिक तथा राष्ट्रके सर्वोच्च शासक मानते हैं ।

आजकलका विकट समय देखकर मेरी तो यही राय है कि आपके मित्रको अपनी पत्नीके पूर्व दोषको क्षमा कर देना चाहिये तथा भविष्यके लिये उससे प्रतिज्ञा करा लेनी चाहिये । यदि वह प्रतिज्ञा कर ले तो उसके दोषको भुलाकर उसे प्रेमसे अपने पास रख लेना चाहिये । नहीं तो, आगे चलकर स्त्री अधिक चरित्रभ्रष्ट हो सकती है तथा आपके मित्र भी आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन कर सकेंगे—इसमें भी संदेह है ।

(२)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । उत्तर इस प्रकार हैं—

सिनेमामें जो धार्मिक दृश्य दिखाये जाते हैं, उनका भी रूप अत्यन्त विकृत होता है; क्योंकि उन दिखानेवालोंका लक्ष्य दर्शकोंको प्रसन्न करना, आकर्षित करना और हँसाना ही मुख्य रहता है । उसमें शिक्षाके नामपर भी अशिक्षाका ही प्रचार होता है । इसलिये मेरी रायमें सिनेमाका विरोध करना सर्वथा उचित है ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । गुरु बननेकी न तो मेरी योग्यता है और न मैं समर्थ ही हूँ; अतः यदि आपने भूलसे मुझमें गुरुकी भावना कर ली हो तो उसे छोड़ दें और मुझे अपना मित्र मानकर ही पत्र-व्यवहार करें ।

उत्तर शीघ्र देनेके लिये लिखा सो क्या किया जाय । पत्र बहुत आते हैं । मुझे समय कम मिलता है, इस कारण देर हो ही जाती है ।

आदमी जब जन्मता है, उस समय उसे सुख-दुःखका ज्ञान रहता है, दुःख-निवारणके लिये रोता भी है । अपनी माके स्तनोंका दूध भी पान करता है । पर उन बातोंको शीघ्र ही भूल जाता है, पीछे वे याद नहीं रहतीं ।

आपने अपनी परिस्थितिका विवरण लिखा सो ठीक है । जो गलतियाँ भूतकालमें जानकर या बेसमझीसे हो गयी हैं, उनका बार-बार चिन्तन करनेसे कोई लाभ नहीं है । भविष्यमें वैसी गलती न करनेका दृढ निश्चय रखना चाहिये ।

ब्रह्मचर्य-भंग करनेसे जिस हानिकी अनुभूति आपको हुई है, उस अनुभूतिसे यह लाभ उठाना चाहिये कि फिर वैसी गलती न हो; क्योंकि उससे हानि-ही-हानि है । कोई प्राणी अपनी हानि नहीं चाहता, विषको विष जाननेके बाद उसे कोई नहीं खाता ।

जिस घटनामें मनुष्य किसी प्रकारका सुख मान लेता है, उसीका स्वप्न प्रायः आ जाया करता है । उस प्रकारके कार्यको न करनेका दृढ़ संकल्प करनेके बाद वैसे स्वप्न अपने-आप बंद हो सकते हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प और स्वप्न मनुष्यके भावसे ही सम्बन्ध रखते हैं । अतः भाव शुद्ध हो जानेके बाद अशुद्ध स्वप्न नहीं आ सकते ।

आप निराश न हों, अपने जीवनका परिवर्तन करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं । इसके लिये किसी वस्तु और

व्यक्तिकी सहायता अनिवार्य नहीं है । आपको जो कुछ प्राप्त है, उसीका सद्भावनापूर्वक उचित उपयोग करनेसे आप अपने जीवनको सुन्दर और आदर्श बना सकते हैं । इसमें वैद्यसे परामर्श करना आवश्यक नहीं है ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) ईश्वर सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ है, अतः वह निर्गुण भी है और सगुण भी । समस्त दिव्य गुणोंका केन्द्र वही है । उसकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है ।

(२) भगवान्की शक्ति-विशेषका नाम माया है, इसको प्रकृति भी कहते हैं । गीता अध्याय ७ श्लोक ४ में इसे अपरा प्रकृतिके नामसे और श्लोक १४ में गुणमयी मायाके नामसे कहा गया है । इससे छुटकारा पानेका उपाय उसी श्लोकमें एकमात्र भगवान्की शरण लेना, उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर सर्वभावसे उनका हो जाना बताया गया है ।

(३) मनको जीतनेमें असमर्थताका अनुभव इसलिये होता है कि प्राणी विषयोंमें सुखकी आशा रखता है, उसकी कामनाको अपनी आवश्यकता मानकर उसे पूरी करना चाहता है और बुद्धिके ज्ञानकी अवहेलना करता रहता है । यदि ऐसा न करके विवेकयुक्त बुद्धिके अनुसार काम करे और कामना-त्यागसे मिलनेवाली परम शान्तिकी लालसाको सबल बना ले तो मन बड़ी सुगमतासे अपने-आप वशमें हो जाता है ।

(४) भगवान्में श्रद्धा घटनेका कारण, जिनपर विश्वास नहीं करना चाहिये उनपर विश्वास करना, नास्तिकोंका संग करना और उसके परिणामकी ओर नहीं देखना ही है ।

(५) विषयोंका त्याग करनेमें असमर्थता तभीतक रहती है जबतक उनसे सुखकी आशा है ।

(६) भावकी शुद्धिसे मन शुद्ध होता है, भगवान्में श्रद्धा-विश्वास मनको शुद्ध बनानेमें सहायक हैं । भगवान्की कृपाशक्ति प्रत्येक मनुष्यको शुद्ध बनानेमें लगी है; पर मनुष्य अभिमानवश अपनेको उसके सम्मुख नहीं करता, अपनेको भगवान्की कृपापर नहीं छोड़ता । इसी कारण विलम्ब हो रहा है । दूसरोंके दोषोंका दर्शन, श्रवण, चिन्तन और वर्णन मनकी अशुद्धिको बढ़ाता है । अतः इसका त्याग परम आवश्यक है ।

(७) प्रामाणिक और शुद्धतापूर्वक कार्य करनेवालेको वह सफलताकी परिस्थिति नहीं मिलती, जो झूठ-कपट करनेवालेको मिलती है—यह मान्यता या ऐसा समझना निराधार और गलत है; क्योंकि बहुत-से ऐसे मनुष्य भी देखनेमें आते हैं, जो झूठ-कपट करनेके लिये सर्वथा तैयार हैं और करते हैं, तो भी वे महादरिद्री और दुखी हैं । और ऐसे लोग भी देखनेमें आते हैं, जो झूठ-कपट नहीं करते तो भी बड़े सम्पत्तिशाली हैं । साधकके जीवनमें तो सम्पत्ति या किसी प्रकारकी परिस्थितिका कोई महत्त्व ही नहीं रहना चाहिये ।

(८) जातिमें विषमता मनुष्यने स्वयं ही स्थापन कर ली है । परमात्माने जो कुछ किया है वह तो प्राणियोंके कर्मफल-भोगके अनुरूप उनके हितके लिये ही किया गया है ।

(९) अपना पूर्वजन्म जाननेकी इच्छामें कोई लाभ नहीं है, अतः इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये । पूर्वजन्म तो अनन्त हो चुके हैं ।

(१०) दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके उपाय प्रभुपर अनन्य विश्वास, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका निष्कामभावसे पालन करना है ।

(११) भगवान् शंकर जिस कैलासमें निवास करते हैं वह कैलास एक तो उत्तराखण्डमें है, दूसरा मनुष्यके हृदयमें है । दोनों ही स्थानोंमें मनुष्य उनके दर्शन कर सकता है, पर इन चर्मचक्षुओंसे नहीं; उसके लिये श्रद्धा और विश्वाससे युक्त आँखें होनी चाहिये ।

(१२) जिस धर्मके ह्राससे भगवान्का अवतार होता है, वैसे ह्रासका समय अभी नहीं आया है; क्योंकि कलियुगका समय है । अभी तो अधर्म और भी बढ़ सकता है; जब आवश्यक होगा, तब भगवान् निश्चय प्रकट होंगे—इसमें संदेह नहीं । उनसे कुछ छिपा नहीं है ।

(१३) गीता अ० ४ श्लोक ३३ में जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे समस्त कर्मोंकी समाप्ति होनेकी बात कही गयी है, वह परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान है । शास्त्रके पठन-पाठनका ज्ञान या साधनरूप ज्ञान नहीं है । एवं इसमें जो कर्मोंकी समाप्तिका वर्णन है वह भी क्रियाकी समाप्तिका नहीं, उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले फलसहित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारकी समाप्तिका है ।

(१४) मृत व्यक्तिकी हड्डियाँ गङ्गाजीमें बहा देनेसे उसकी उत्तम गति होती है, ऐसा लेख शास्त्रसम्मत है; इसमें प्रधानता श्रद्धाकी है। रहस्य क्या है, यह तो भगवान् ही जानते हैं; मैं क्या लिखूँ?

(१५) काम, अर्थ, भोगकी परिस्थितिकी प्राप्तिमें प्रारब्ध प्रधान है एवं धर्मपालनमें, मुक्तिमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। प्रारब्धका फल मनुष्यको भोगना पड़ता है, तथापि मनुष्य साधनद्वारा उस फलभोगसे अतीत स्थिति प्राप्त करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। यह साधनकी महिमा है।

(१६) मैं अंग्रेजीका विद्वान् नहीं हूँ; इस कारण आधुनिक विज्ञानके विषयमें आपने जिन विज्ञानवेत्ताओंकी मान्यता लिखी उनके विषयमें कुछ नहीं कह सकता। मूर्तिपूजाके विषयमें तो मेरा यही कहना है कि आस्तिक भक्त मूर्तिको निमित्त बनाकर अपने इष्टदेवकी पूजा करता है, धातु या पाषाणकी नहीं।

(१७) एक व्यक्तिमें यदि दो परस्परविरोधी भाव कालान्तरमें जाग्रत् हो ही जायँ तो जो भाव शास्त्र और विवेकके अनुसार हो, जिसमें किसीका अहित न हो; उसीका आदर करना चाहिये। शास्त्र और विवेकके विरोधी भावका त्याग कर देना चाहिये। गुजरात प्रान्तमें गोवधपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, यह अच्छी बात है।

मुझे गुरु नहीं मानना चाहिये, मैं किसीको शिष्य बनानेमें सर्वथा असमर्थ हूँ।

योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

(लेखक—श्रीग० ना० बोधनकर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रस्तुत लेखमें योगवासिष्ठ और भगवद्गीताके कुछ विषयोंका तुलनात्मक विचार करना है। स्थानाभावसे यह विवेचन अति संक्षेपमें करना अनिवार्य है।

(१) इन ग्रन्थोंका रचनाकाल

हिंदुओंके अनेक प्राचीन धर्मग्रन्थोंके समान इन पूज्य ग्रन्थोंके रचनाकालके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। डा० आत्रेय, दिवानजी, पं० र० भा० पावगी शास्त्री आदि विद्वानोंके मतसे योगवासिष्ठकी रचना गीता (अर्थात् भारत) के पूर्व हुई थी।[1] लोकमान्य तिलक और अन्य विद्वानोंके मतसे योगवासिष्ठकी रचना भारतके पश्चात् हुई।[2] महाभारतके अनुशासनपर्व ६।२ में धर्मराजने दैव और पुरुषार्थके विषयमें भीष्मसे प्रश्न किया था। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि इसी सम्बन्धमें ब्रह्मदेव और वसिष्ठका एक संवादात्मक इतिहास विद्यमान है। इसपरसे अनुमान किया जाता है कि योगवासिष्ठका दैव-पुरुषार्थविषयक प्रकरण महाभारतके पूर्व रचा गया होगा। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि वर्तमान उपलब्ध बृहत् योगवासिष्ठ ग्रन्थ एक लघुतर आकारमें गीताके पूर्व विद्यमान था। ईस्वी सन् ८५० के लगभग काश्मीरी पण्डित गौड अभिनन्दाने योगवासिष्ठके ६००० सारभूत श्लोकोंका संग्रह कर 'लघुयोगवासिष्ठ'नामक ग्रन्थ तैयार किया था।[3] श्रीविद्यारण्यस्वामीकृत पञ्चदशी और जीवन्मुक्तिविवेकमें योगवासिष्ठका उल्लेख है। भवभूतिने विवर्तवादका उल्लेख किया है। उपनिषदों और गीतामें इस वादका उल्लेख नहीं है, किंतु योगवासिष्ठमें इसका विवेचन पाया जाता है। भर्तृहरिके ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठके श्लोक पाये जाते हैं। वैसे ही, उनमें 'शब्दब्रह्म' का उल्लेख है, किंतु योगवासिष्ठमें वह नहीं पाया जाता। वैसे ही कालिदासके मेघदूतके कुछ शब्द योगवासिष्ठके निर्वाण-प्रकरण, उत्तरखण्ड, सर्ग ११९, श्लोक २–५में आये हैं। इसपरसे पण्डित पावगी अनुमान करते हैं कि उन कवियोंके और गौड अभिनन्दाके पूर्व योगवासिष्ठ विद्यमान रहा होगा। डा० भीखनलाल आत्रेय भी इस मतके हैं।[4] वैसे ही योग-

---

[1] Paper on probable date of the composition of Yogavasishtha.

[2] गीतारहस्य।

[3] लघुयोगवासिष्ठके प्रकरण १–३ पर की 'आत्मसुख' टीका देखिये।

[4] Yogavasishtha & its philosophy by Dr B. L. Atreya.

वासिष्ठमें विज्ञानवाद, बौद्धोंके शून्यवाद, माध्यमिक आदिका उल्लेख है । वाल्मीकिके समय इनका होना असम्भव है ।[5]

योगवासिष्ठमें अर्जुनाख्यान-जैसे भविष्यकालीन कथनोंका उल्लेख है; किंतु इसपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि योगवासिष्ठ ग्रन्थ भारतके पश्चात् रचा गया; क्योंकि उसमें भविष्यकालिक क्रियाओंका प्रयोग किया गया है ।[6] भारत और महाभारतके रचनाकालके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है ।[7] अस्तु । इन ग्रन्थोंके कालनिर्णयपर कालव्यय करना निरर्थक है । दोनों ग्रन्थ पुरातन और पूज्य हैं और उनका श्रद्धापूर्वक अध्ययन मनुष्यके लिये परम श्रेयस्कर है, यह निर्विवाद है ।

(२) इन ग्रन्थोंके नाम

इन दोनों ग्रन्थोंके नाममें 'योग' शब्द आया है । गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसे 'योगशास्त्र' कहा गया है । किंतु दोनों ग्रन्थोंमें यह शब्द एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है । दोनों ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय है मोक्ष । उनमें मोक्ष और उसके उपायोंका विवेचन किया गया है । योगवासिष्ठमें 'योग' शब्द साध्य (अर्थात् आत्मसाक्षात्कारभूत सहजसमाधिस्थिति) और साधन (अर्थात् मोक्षोपाय)—इन दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है ।[8]

महर्षि पतञ्जलिके 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्रमें 'योग' शब्द हठयोगद्वारा प्राप्त 'समाधि'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है । किंतु योगवासिष्ठमें इसे जड और अचिरस्थायी समाधि कहकर इसकी अपेक्षा चेतनसमाधि अर्थात् आत्मसाक्षात्कारभूत, चिरकालिक सहजसमाधिस्थिति वा ज्ञानजन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मयी जीवन्मुक्तावस्थाको श्रेष्ठतर मानकर स्थिति-प्रकरणमें उसे 'महायोग' वा 'ब्रह्मयोग' कहा गया है ।[9] गीतामें 'योग' शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है । उदाहरणार्थ—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, 'समत्व', 'कर्मसु कौशलम्' इत्यादि । (गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो संकल्पात्मक वचन हैं उनमें, उस अध्यायकथित योग-विशेषका निर्देश किया गया है ।) तात्पर्य, गीतामें 'योग' शब्द साधन और साध्य अर्थात् मोक्ष और उसकी प्राप्तिके उपाय-इन दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है ।

(३) प्रतिपाद्य विषय और विवेचनशैली

दोनों ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय है मोक्षप्राप्ति वा आत्मबोध और उसके उपाय या साधन । किंतु विवेचनपद्धति और विषयविस्तारकी दृष्टिसे योगवासिष्ठकी विवेचनपद्धति अधिक शास्त्रीय किंतु संवादात्मक और कथात्मक पौराणिक पद्धति है और उसकी भाषा क्लिष्ट और समासघटित और दृष्टान्त, उपमा आदिसे सुसज्जित है ।[10] गीताकी भाषा सुबोध, सरल एवं मार्मिक है, और भावोंका व्यक्तीकरण प्रासादिक । योगवासिष्ठ विषयबाहुल्य और कथात्मकविस्तृत विषयविवेचनके कारण अतिविशाल किंतु मनोरञ्जक है; गीता सूत्ररूप किंतु हृदयस्पर्शी और परम तत्त्वपूर्ण है । दार्शनिक दृष्टिसे दोनों ही ग्रन्थ अलौकिक हैं ।

---

[5] यच्छून्यवादिनां शून्यम्, विज्ञानमात्रं विज्ञानवादिनाम्, माध्यं माध्यमिकानाम्—इत्यादि (योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण ५-६ और उपशम-प्र० ८७ । १८ । २८ ।

[6] यो० वा० नि० प्र० पू० सर्ग ५२—५८ ।

[7] Dr. A. D. Pusalkar's "Studies in the Puranas and Epics" देखिये ।

[8] संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।

(नि० प्र० उ० १३ । ३)

मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारनिर्मिता ।

(यो० वा० २ । १७ । ६)

[9] कूर्मपुराणमें भी कहा गया है—

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मत्यैक्यं स महायोगो भावितः परमः स्वयम् ॥

(उत्तरभाग ११ । ६)

[10] दृष्टान्तेन विना राम नापूर्वार्थोऽवबुध्यते ।

(यो० वा० २ । १८ । ५१)

येनेहाननुभूतेऽर्थे दृष्टेनार्थेन बोधनम् ।
बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः ॥

(यो० वा० २ । १८ । ५०)

किंतु ब्रह्म 'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्' होनेसे

ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह हि कथ्यते ।
एकदेशसधर्मत्वं तत्रातः प्रतिगृह्यताम् ॥

(यो० वा० २ । १८ । ५४)

—ऐसी श्रीवसिष्ठने चेतावनी दे रखी है ।

(४) उपक्रमोपसंहार

अर्जुनके 'कश्मल'के निवारणार्थ गीताका अवतार हुआ तो श्रीरामकी स्वभावसिद्ध विरक्तिके निवारणार्थ वसिष्ठ श्रीराम-संवाद (अर्थात् योगवासिष्ठ) का। स्वजनहत्यादोषसे भयभीत अर्जुन 'न योत्स्ये' कहता है तो सहजसमाधितल्लीन होनेसे श्रीरामको यज्ञरक्षणार्थ विश्वामित्रके साथ भेजना कठिन होता है। अर्जुन अज्ञानके कारण अपने क्षात्रधर्मका पालन करनेमें असमर्थ हुआ तो श्रीराम आत्मसाक्षात्कारजन्य पूर्ण असंसक्ति या अनासक्तिके कारण। वर्णाश्रमविहित स्वधर्मका पालन करनेमें अर्जुनको प्रवृत्त करनेके लिये गीताका और श्रीरामको प्रवृत्त करनेके लिये योगवासिष्ठका प्रादुर्भाव हुआ।

उपसंहारकी दृष्टिसे भी दोनों ग्रन्थोंमें सादृश्य है। दोनों उपदेशकोंके हेतु सफल हुए। गीताश्रवणके परिणामस्वरूप अर्जुन कहते हैं 'नष्टो मोहः', 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः', 'करिष्ये वचनं तव' इत्यादि। इन्हीं वचनोंके सदृश श्रीरामके भी मुखसे वचन निकलते हैं।[११]

(५) उपदेशककी भूमिका

अर्जुन और श्रीराममें साधककी दृष्टिसे कितना अन्तर था, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दोनों उपदेशक किंतु पूर्ण ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ गुरुपदाधिकारी हैं। तथापि वसिष्ठ सांख्ययोगी, राजयोगी, वा 'महायोगी' हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण योगीश्वर, महान् कर्मयोगी, 'योगेश्वर' और स्थितप्रज्ञ हैं।

गीतामें स्वयं भगवान् उपदेशक बने हैं तो योगवासिष्ठमें स्वयं भगवान्ने यह भूमिका महर्षि श्रीवसिष्ठको प्रदान की है।

(६) शिष्यकी योग्यता

अर्जुनकी अपेक्षा श्रीरामकी योग्यता कहीं अधिक है। वे चतुःसाधनयुक्त अधिकारी साधकोंसे भी श्रेष्ठतर, पूर्ण विरक्त और ज्ञानी हैं। अर्जुन भी श्रेष्ठ अधिकारी साधक थे, किंतु श्रीराम-जैसे स्वभावतः विरागी और अचल स्थितप्रज्ञ नहीं। यही कारण है कि उनके अज्ञानपटलध्वान्तका विनाश सदाके लिये नहीं हुआ और भारतीय युद्धके बाद भगवान्को उन्हें पुनः अनुगीता सुनानी पड़ी ! इस सम्बन्धमें और भी एक बात उल्लेखनीय है। मोहग्रस्त अर्जुनका हठ था 'न योत्स्ये'। किंतु श्रीरामका कोई भी हठ नहीं था। न वे कर्तव्यपराङ्मुख थे, न स्वकर्तव्योंसे अपरिचित। वे शुक्राचार्य-सदृश सदा-सर्वदा सहजसमाधिस्थ अभेददृष्टि और समदृष्टि थे[१२]। उनकी केवल आकांक्षा थी मनःशान्तिको अभंग रखना[१३]। वे सर्वदा इच्छारहित, आत्मसंतुष्ट, 'अनासक्त' और 'असंसक्त' थे। वैसे ही, गीतोपदेशसे अर्जुनमें ज्ञानोदय अवश्य हुआ, किंतु वह चिरन्तन और अक्षुण्ण न रहा।

मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति या प्रयत्न तथा रसाभिनिवेशके अनुसार ज्ञान या अज्ञानकी भूमिकाएँ फलरूप होती हैं। पूर्व-संस्कारानुरूप अज्ञानी जीव विषयमें आसक्त और विषयसुखमें लोलुप होता है, तो ज्ञानी अनासक्त और मोक्षेच्छु। योगवासिष्ठमें ज्ञान और अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन आया है।

(७) अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(१) बीजजाग्रत्, (२) जाग्रत्, (३) महाजाग्रत्; (४) जाग्रत्स्वप्न; (५) स्वप्न, (६) स्वप्नजाग्रत् और (७) सुषुप्ति—ये अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ[१४] हैं।

(८) ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

योगवासिष्ठमें ज्ञानकी (१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, वा असंगभावना, (४) सत्त्वापत्ति वा विलापनी, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी या तुर्या और (७) तुर्यगा—ये ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ कही गयी हैं।[१५] इनमेंसे प्रथम तीन भूमिकाओंको 'जाग्रत्' कहते हैं; क्योंकि इनमें जगत्की सत्ताका संवेदन होता है। इन तीन अवस्थाओंमें स्थित पुरुषको 'आर्य' कहते हैं[१६]।

---

[११] यो० वा० नि० प्र० उ० सर्ग २१४।

[१२] मुमुक्षुप्रकरण, सर्ग ११ देखिये।

[१३] वैराग्यप्रकरण, सर्ग २७ देखिये।

[१४] उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग ११७ देखिये।

[१५] योगवासिष्ठ उत्पत्तिप्र० ११८। ५-६।

निर्वाण प्र०पू० सर्ग १२० में प्रथम भूमिकाको 'प्रज्ञावृद्धि', ५वीं भूमिकाको 'शुद्धसंविन्मय' वा 'आनन्दरूपा', ६ठीको 'स्वसंवेदनरूपा' और ७ वींको 'तुर्यातीता' कहा गया है। नि० प्र० पू० सर्ग १२६ भी देखिये।

[१६] योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० १२६। ५४-५५ देखिये—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥

योगीका यह 'आर्यत्व' प्रथम भूमिकामें अङ्कुरित होता है, द्वितीय भूमिकामें विकसित होता है और तीसरी भूमिकामें फलरूप होता है। चतुर्थ भूमिकामें योगीको आत्मसाक्षात्कारका अनुभव होता है। उससे उसका चित्त सद्रूप हो जाता है। अतः उसे 'सत्त्व' कहते हैं[१७], और इस भूमिकाको 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं। उसे जगत्का संवेदन 'प्रातिभासिक' सत्तासे होता है; अतः इस भूमिकाको 'स्वप्नसदृशी' भी कहते हैं। इस भूमिकामें आरूढ़ साधकको 'ब्रह्मवित्' कहते हैं। पाँचवीं भूमिकामें स्थित साधकको जीवन्मुक्त या 'ब्रह्मविद्वर' कहते हैं। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ योगी गुरु होनेका अधिकारी होता है[१८]। छठी भूमिकामें स्थित योगीको 'ब्रह्मविद्वरीय' कहते हैं। उसकी स्थिति सुषुप्त पुरुषके समान होती है। सप्तम भूमिकास्थित योगीकी द्वैतभावना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और उसे 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

इन सप्त भूमिकाओंको पार करनेवाले महायोगीका प्रारब्ध क्षय होकर देहपात होनेपर उसे विदेहमुक्ति मिलती है। यही गीतोक्त ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करनेपर योगी पुनः मोहको प्राप्त नहीं होता—'न विमुह्यति'[१९]। गीतामें इन सप्त भूमिकाओंका सविस्तर विवेचन नहीं आया है, किंतु प्रसंगानुसार इन भूमिकाओंमें स्थित योगीके लक्षणोंका वर्णन पाया जाता है। इस विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें साम्य है।

(९) सिद्धोंके प्रकार और व्यवहार

ज्ञानी पुरुष दो प्रकारके होते हैं—(१) कर्मयोगी और (२) सांख्ययोगी। याज्ञवल्क्य, कपिल, शुकाचार्य, भृगु, भरद्वाज-जैसे सांख्ययोगी स्वभावतः निवृत्तिपर होनेसे सदा चिदात्मरूपतल्लीन और आत्मसंतृप्त होते हैं और प्रारब्ध-क्षय होनेतक संन्यस्तवृत्तिसे जीवन बिताते हैं। श्रीराम×, जनक, प्रह्लाद, मनु-जैसे कर्मयोगी भी पूर्ण विरक्त और ज्ञानी होते हैं और निष्कामबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ स्ववर्णाश्रम-विहित कर्तव्योंका पालन करते हैं। इन दोनों प्रकारके योगियोंके व्यवहार उनके स्वभाव, पूर्वसंस्कार, प्रारब्ध और सहजप्राप्त परिस्थितिके अनुसार हुआ करते हैं; किंतु वे कर्मोंसे बद्ध नहीं होते। देहावसानके अनन्तर दोनों प्रकारके योगियोंको विदेहमुक्ति प्राप्त होती है। दोनोंको एक ही दिव्यगति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है[२०]। गीतामें भी इन दो प्रकारके ज्ञानियोंका वर्णन आया है। वसिष्ठको ज्ञानोत्तर कर्मयोग अधिक अभिमत है[२१]। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

भागवतोक्त भागवतोत्तम भी इसी श्रेणीके होते हैं[२२]।

(१०) ज्ञानका स्वरूप

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस भावको गीतामें ज्ञान वा 'सम्यक् ज्ञान' और योगवासिष्ठमें 'सम्यगवेक्षण' कहा गया है। गीतामें और योगवासिष्ठमें ज्ञानयोग, सांख्ययोग और राजयोग प्रायः पर्यायवाची हैं। वैसे ही दोनों ग्रन्थोंमें कहा है—'एकं सांख्यं च योगं च'।[२३]

(११) ब्रह्म, जीव और ब्रह्मज्ञ

ब्रह्म, जीव और ब्रह्मज्ञके स्वरूपके विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें मतैक्य है। जीवका अमरत्व और जीव और ब्रह्मका ऐक्य दोनोंको मान्य हैं। दोनों ब्रह्मको एकमात्र सत् तथा जगत्का अधिष्ठान मानते हैं, किंतु गीताके मतसे सांख्यशास्त्रोक्त प्रक्रियानुसार परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति और संहार करता है। इस दृष्टिसे जगत् सत्य है। योगवासिष्ठके मतसे जगत्की उत्पत्ति ही नहीं होती। वह मूलमें ही मिथ्या है। जगत्का जो संवेदन होता है वह चिद्रूप परब्रह्मकी चिच्छक्तिका विकासमात्र है। अतः जगत्के स्वतन्त्र अस्तित्वके मिथ्याभासके निरासका ही नाम ज्ञानोत्पत्ति है।

---

[१७] शुचित्तं सत्त्वमुच्यते।

[१८] मुण्डकोपनिषद् १।२।१२ देखिये।

[१९] आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते।
योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० ११८। ७

× श्रीराम तो स्वयं भगवान् ही हैं, उनकी विरक्ति या ज्ञान तथा मोक्षकी कथा लोकसंग्रहार्थ लीला है।

[२०] योगवासिष्ठ नि० पू० ६९। १८, १९, २९। नि० पू० १३। ३। गीतारहस्यका 'सिद्धावस्था व व्यवहार' प्रकरण १२ देखिये।
गीता—५। ५।

[२१] 'धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः'—यो० वा० नि० उ० २१३। ५०।

[२२] श्रीमद्भागवत ११। २।

[२३] यो० वा० नि० पू० ६९। २९।
गीता—५। ५।

(१२) ज्ञान, सांख्य और योग

गीता और योगवासिष्ठमें 'सांख्य' और 'ज्ञान'—ये शब्द प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहृत हुए हैं । वैसे ही दोनोंके मतसे 'एकं सांख्यं च योगं च' । किंतु 'योग' शब्द दोनों ग्रन्थोंमें एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं । पतञ्जलिने यह शब्द चित्तवृत्तिनिरोधरूप 'समाधि'के अर्थमें किया है तो योगवासिष्ठमें यह शब्द आत्मसाक्षात्कारभूत सहज-समाधिस्थिति (अर्थात् साध्य) तथा मोक्षोपाय (अर्थात् साधन) के अर्थमें व्यवहृत हुआ है—यह हम ऊपर देख चुके हैं । वसिष्ठका मत है कि चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम कर्मयोग आवश्यक है, किंतु ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह विशेष उपादेय नहीं होता । मोक्षसाधनके अर्थमें 'योग' शब्दमें कर्मयोग और भक्तियोगका अन्तर्भाव होता है । गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग 'साधन' वा मोक्षोपायके अर्थमें लिये गये हैं । योगवासिष्ठके अनुसार सांख्य और योग—इन दोनोंमेंसे किसी एकके भी द्वारा ज्ञानप्राप्ति हो सकती है । पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोध मोक्षका साधन है और तज्जनित 'समाधि' योगीका साध्य (अर्थात् मुक्ति) है । किंतु वसिष्ठके मतसे हठयोगजन्य समाधिस्थिति अस्थायी होनेकी सम्भावना रहती है । अतएव वह ज्ञानोत्तर सहजसमाधिस्थितिसे गौण है । इस आत्म-साक्षात्कारभूत सहजसमाधिस्थितिको वे सम्यगवेक्षण वा 'चित्तनाश' कहते हैं । गीतामें इस सम्यगवेक्षणको 'सम्यक्-ज्ञान' कहा गया है । गीतामें 'योग' शब्द विभिन्न अर्थोंमें किस प्रकार व्यवहृत हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं ।

(१३) चित्तनाशके मार्ग

'चित्तनाश'के दो मार्ग हैं—(१) ज्ञान और (२) योग[२४] । 'योग' चित्तवृत्ति-निरोधक है, तो ज्ञान सम्यगवेक्षण या सर्वत्र अभेदका दाता । वसिष्ठ 'चित्तत्याग' या हठयोगकी अपेक्षा 'चित्तनाश' अथवा सम्यगवेक्षणको अधिक पसंद करते हैं ।[२५]

ज्ञानसे वासनाक्षय, 'असंसक्ति' वा 'अनासक्ति' उत्पन्न होकर पुरुष जीवन्मुक्त होता है । गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—ये मोक्षके मार्गत्रय वर्णित हैं । दोनों ग्रन्थोंका मत है कि आत्मसाक्षात्कारके बिना मुक्ति नहीं होती । केवल 'संसार असत् है, जगत् मिथ्या है' ऐसी रटना करनेसे 'संसृतिर्न निवर्तते' ।[२६]

(१४) 'योग' का स्वरूप

'योग' के स्वरूपके विषयमें गीता और योगवासिष्ठमें किंचित् अन्तर है । शरीरान्तःसंचारी प्राणवायुकी हलचलसे शरीरकी स्थितिमें वैचित्र्य उत्पन्न होता है । इस वैचित्र्यकी दृष्टिसे ही प्राणवायुको अपान, उदान आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं, अर्थात् ये अपानादि वायु प्राणवायुके ही वृत्तिभेद हैं ।

प्राण चित्तका आधार होनेसे प्राणवायुके स्पन्दसे संकल्पोद्यत होनेवाली संवित्कलाका ही नाम चित्त है । अर्थात् प्राणके परिस्पन्दका ही नाम चित्त है । अतः प्राणवायुका निरोध करनेसे चित्तका निरोध होता है । योगद्वारा धारणा और ध्यानका अभ्यास कर परमात्मामें चित्त एकाग्र अर्थात् विलीन करनेसे और ॐकारका दीर्घकालतक उच्चारण करके उसके शेष वा अन्त्य नादमें बाह्यविषयोंका भाव पूर्णतया विलीन कर देनेसे भी प्राणस्पन्दका निरोध होता है । गीतामें भी इस प्रकारका मत व्यक्त किया गया है, किंतु विस्तारसे नहीं । इस प्रकार समाधि प्राप्त करनेवाले योगीको योगवासिष्ठमें 'योगयोगी' कहा गया है ।[२७]

(१५) योगसिद्धि

यदि योगाभ्यासीकी मृत्यु ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व हो जाय तो वह स्वर्गमें नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करके पवित्र और श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ।[२८] इस प्रकार ज्ञानकी उत्तरोत्तर भूमिकामें अग्रसर होकर अन्तमें वह सप्तम भूमिकाको पार करके विदेहमुक्ति पाता है ।

---

[२४] द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
(यो० वा० ५ । ७८ । ८)

[२५] चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
(नि० पू० ९४ । ९२ और १३ । ८)

[२६] भागवत स्कन्ध ११

[२७] प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥
(नि० पू० ६९ । ७९)

[२८] गीता (६ । ४०–४४) योगवासिष्ठ नि० पू० १२६ । ४०–५७)

(१६) पुनर्जन्म

पुनर्जन्ममें योगवासिष्ठ और गीता दोनोंकी मान्यता है। जीव स्वकर्मानुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधः लोकोंमें जाता है।[२९] उपनिषदोंमें देवयान और पितृयान मार्गोंका वर्णन है और गीतामें शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका।[३०] किंतु वसिष्ठ इन यानों और मार्गोंकी बात नहीं कहते। उनके मतसे जीव जिस स्थानपर देहत्याग करता है उसी जगहपर आगामी जन्मकी सभी कल्पनाओंका उसे अनुभव होता है।[31] मृत्युका स्वरूप और मृत्युके पश्चात्‌की स्थितिका योगवासिष्ठमें सविस्तर वर्णन आया है।[32] Rational Mysticism नामक अपने ग्रन्थमें Kingsway ने भी यही मत व्यक्त किया है।[33] मेजर आर्थर पॉवेल, कोनान डायल आदिके ग्रन्थोंमें यही विषय वर्णित है।

(१७) मृत्युका स्वरूप

दोनों ग्रन्थोंका मत है कि जीव अमर है और मृत्यु देहान्तरमात्र।[34] मृत्युके बाद जीव देशकालान्तरसे पुनः-पुनः किसी-न-किसी देहकी कल्पना कर उत्पन्न होता है।[35]

(१८) आयुर्मर्यादा

ईशकृत सृष्टिनियम या 'नियति' के अनुसार मानवकी आयु कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें क्रमशः ४००, ३००, २०० और १०० वर्ष होती है—ऐसा योगवासिष्ठमें कहा है।[36] किंतु मनुष्यके कर्मके अनुसार यह मर्यादा न्यूनाधिक होती है।

'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।'

यथाशास्त्र स्वकर्मानुष्ठानसे मनुष्य पूर्णायु होता है और निषिद्ध-कर्माचरणसे आयुका ह्रास होता है।[37] गीतामें इस विषयका विवेचन नहीं है

(१९) मृत्युके बाद जीवकी गति

शुभाशुभ कर्मानुसार जीवोंके महापापी, मध्य पापी, और सामान्य पापी तथा महापुण्यवान्, मध्य पुण्यवान् और सामान्य पुण्यवान्—ये छः प्रकार कहे गये हैं। ये स्वकर्मानुसार स्वर्ग वा नरकमें सुख-दुःखोंका उपभोग करनेके बाद अन्नके रूपसे मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर रेतोरूप होकर पुनः जन्म लेते हैं, ऐसा वसिष्ठजीका मत है। गीतामें यह वर्गीकरण नहीं पाया जाता।

(२०) अर्जुनाख्यान

योगवासिष्ठमें अर्जुनाख्यान आया है, जो महाभारतीय कथासे मिलता-जुलता है। योगवासिष्ठके संवादोंका सम्बन्ध है। इसलिये उसमें भविष्यकालिक क्रियाओंका उपयोग किया गया है।[38] इस आख्यानमें गीताके सत्ताईस-श्लोक पाये जाते हैं। इस आख्यानमें श्रीवसिष्ठने जो असंसक्ति या अनासक्तियोगका वर्णन किया है, उसका गीतोक्त ज्ञानी पुरुषकी अवस्थाके वर्णनसे बहुत सादृश्य है। पं. र. भा. पावगी शास्त्रीका मत है कि ये २७ श्लोक गीतासे लिये गये हैं (न कि योगवासिष्ठसे गीतामें)।

(२१) श्लोक और विषयका सादृश्य

गीताके अध्याय २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, १३, १४, १५, १६ और १८ के कुछ श्लोक योगवासिष्ठमें पाये जाते हैं। किंतु यह कहना कठिन है कि ये श्लोक किस ग्रन्थमें प्रथम रचे गये और दूसरे ग्रन्थमें कब उठा लिये गये। किंतु

---

२९. गीता १४। १८।

३०. गीता ८। २४–२६।

३१. योगवासिष्ठका उपाख्यान देखिये।

३२. यो० वा० ५। ४०। १; ५। ७१। ६५; ३। ५४। ९; ३। ४०। ४५; नि० उ० १०१। २५–२६; १८। १ इत्यादि।

३३. इस समय भी पूर्वजन्मकी स्मृतिके कुछ उदाहरण विद्यमान हैं। वैसे ही, अमेरिकन और रूसी मानवोंके जीवोंके परस्पर कायाप्रवेशका भी उदाहरण है। पाश्चात्य विद्वानोंकी Spiritualism पर की गयी गवेषणाओंसे पुनर्जन्मवादको ही पुष्टि मिलती है।

३४. देहान्तरार्थं देहस्य स त्यागो मरणं स्मृतम्।
(यो० वा० ५। ४०। १)
गीता—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
(यो० वा० नि० उ० १८। १)

३५. यो० वा० ५। ७१। ६५।

३६. यो० वा० उ० सर्ग ५४।

३७. यो० वा० ३। ५४। ३०–३२।

३८. योगवासिष्ठ, नि. पू. स, ५२।

इस श्लोकसादृश्यपरसे तद्गत विषयोंके सम्बन्धमें दोनों ग्रन्थोंके मतसादृश्यकी कल्पना हो सकती है। इन श्लोकोंमें वर्णित विषय ये हैं—(गीता, अ० २ और योगवासिष्ठ, निर्वाण० पू० ५२ । ५४-५५)

सर्वव्यापक, अज, अव्यय, अविनाशी, एकमात्र सत्य ब्रह्मका स्वरूप; जगत्का मिथ्यात्व; इन्द्रियजन्य बाह्य जगत्के संवेदनोंका और देहोंका अनित्यत्व; फलाशारहित स्वधर्मानुष्ठानकी आवश्यकता; अकर्मत्वका निषेध; योगस्थ और असंग होकर कर्माचरण; अज्ञानी और संयमी मुनिके लक्षण इत्यादि (गीता अ० ३ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३ । ५४ और नि० उ० ३७।३६)

मिथ्याचार, अहंकर्तृत्व, अनासक्ति, अनासक्त होकर कर्तव्यपालनकी विशेषता, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका कार्य। (गीता अ० ४ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५४ । २५–२८)

कर्मफलासंग, योगीका नित्यतृप्तत्व और अनहंकारिता (गीता अ० ५ और योगवासिष्ठ नि० पू० ६९ । २१ और ५३।९) सांख्य और योगकी अभिन्नता, सांख्य और योगके द्वारा प्राप्त होनेवाली गतिकी एकता, आत्मशुद्धिके लिये निष्कामकर्मकी उपादेयता ।
(गीता अ० ६ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३।४३-४४)

मानवका स्वयं ही अपना बन्धु या शत्रु होना, ज्ञानीका सर्वभूतोंमें आत्माको और आत्मामें सर्वभूतोंको देखना अर्थात् सर्वात्मदृष्टि ।[३९]

(गीता ७$\frac{४}{९}$ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५५।१८)

अष्टधा प्रकृति ।

(गीता अ० ९ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५४ । २ तथा ५४ । ३४)

कर्मार्पणयोग, अनन्यशरणागति, आत्मसमर्पण । इसीको भागवतमें अहैतुकी भक्ति कहा गया है ।[४०]

(गीता अ० १० और योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० ५४ । १ और नि० प्र० उ० १६३ । ४०, ४१)

ईश्वरभक्ति, ईश्वरमें चित्त, प्राण और बुद्धिकी तन्मयता। (गीता अ० १३ और योगवासिष्ठ नि० पू० ७४। २८–३० नि० उ० १४ । ९–११)

अनासक्तियोग, एषणाराहित्य, एकान्तवासका महत्त्व, परमात्माका निर्गुणत्व, सर्वव्यापकत्व और अतीन्द्रियत्व; ज्ञान और अज्ञानका स्वरूप; ज्ञानीका समचित्तत्व और समदर्शिता; अव्यभिचारिणी भक्ति ।

(गीता, १४ । २२ और योगवासिष्ठ २ । १८ । ३०)

सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाश, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्यरूप मोहकी प्रवृत्ति वा निवृत्तिमें ज्ञानीकी उदासीनता ।

(गीता १५।५ और योगवासिष्ठ नि० प्र० उ० ५३। ६६, और १५३ । ५८)

अव्ययपदप्राप्त ज्ञानीका वर्णन ।

(गीता १६ । १४ और योगवासिष्ठ ३ । २७ । २४)

जीव-ब्रह्मैक्य ।

(गीता १८। १७ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३।२)

ज्ञानीकी अनासक्ति और निरहंकारिता और कर्माकर्म-दोष-राहित्य ।

दोनों ग्रन्थोंके उपदेशका साफल्य दोनों शिष्योंके मुखसे व्यक्त होता है ।

गीता १८ । ७३ में अर्जुन अपनेको 'गतसंदेह' कहकर स्वकर्म करनेके लिये तत्पर हो जाते हैं । यही भाव श्रीरामके मुखसे योगवासिष्ठ नि० पू० ५८ । १ में व्यक्त हुआ है ।

गीता और योगवासिष्ठमें और भी कुछ विषयोंका सादृश्य या वैदृश्य पाया जाता है । गीताके समान योगवासिष्ठमें भी **'कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** ऐसा मत व्यक्त किया गया है । गीतामें 'आतिवाहिक देह', वसिष्ठोक्त साधन-चतुष्टय, दैवसे पौरुषकी श्रेष्ठता, 'नियति', गुणानुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अर्थात् विधिसृष्टि, देवसृष्टि और मानव-सृष्टि और तदन्तर्गत व्यष्टिजीवोंके तीन प्रकार (जिनके उपाधिभेदोंसे १४ प्रकार कहे गये हैं),[४१] मरणोत्तर जीवकी विभिन्न गतियाँ, सिद्धिसामर्थ्य और उसकी प्राप्तिके उपाय, अजातवाद, विवर्तवाद, शून्यवाद, ज्ञान और अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ इत्यादि विषयोंका विवेचन नहीं किया गया है, न उन सबका सविस्तर वर्णन करना आवश्यक या सम्भव था । इसका कारण यह है कि गीताका अवतार युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको मोहमुक्तकर वर्णाश्रमविहित स्वधर्माचरणमें प्रवृत्त करनेके लिये हुआ ! अतएव गीताशास्त्रीय पद्धतिका विस्तृत

---

[३९] श्रीमद्भागवत ११ । २ और ११ । १९

[४०] श्रीमद्भागवत ११ । १२

[४१] योगवासिष्ठ० उत्पत्तिप्र० सर्ग ९४ और स्थितिप्र० ५९ । ६१ देखिये ।

और सर्वविषय-प्रतिपादक अध्यात्मग्रन्थ होना सम्भव नहीं था; न आवश्यक ही। तथापि देश-काल, परिस्थिति और उद्देश्यकी दृष्टिसे गीता-जैसा सहज-सुन्दर, मार्मिक, प्रभावोत्पादक सुबोध और गूढ़तत्त्वबोधक अन्य अध्यात्मग्रन्थ नहीं है। वैसे ही अध्यात्मविद्याका विस्तृत और शास्त्रीय विवेचन करनेवाला योगवासिष्ठ एक बेजोड़ ग्रन्थ है। दोनों ग्रन्थ अत्यन्त श्रद्धेय, कल्याणकारक और मननीय हैं और हिंदुओंके श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानके निदर्शक हैं।

गीता—एक राजशास्त्र

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्री० दा० सातवलेकर महोदय)

श्रीमद्भगवद्गीतामें राज्यशासनका आदेश है, यह पढ़कर बहुत-से लोग आश्चर्यचकित होंगे। पर यह एक तथ्य है, जो थोड़ा विचार करनेपर पाठकोंको ज्ञात हो सकेगा। गीताके प्रारम्भमें ही "धृतराष्ट्र उवाच" वाक्यसे राजनीतिका संकेत किया गया है। सब लोग जानते हैं कि "धृतराष्ट्र" एक राजा था, पर वह "धृत-राष्ट्र" था।

"धृतं अन्यस्य राष्ट्रं येन स धृतराष्ट्रः"

जो अपने पाशविक बलसे दूसरोंका राज्य छीनकर उनपर शासन करता है, वह "धृतराष्ट्र" है। दूसरोंके राज्योंको बलपूर्वक अपने अधीन करना साम्राज्यवादका चिह्न है और साम्राज्यवादका राजनीतिसे स्पष्ट सम्बन्ध है। एक राजाका दूसरोंके राज्योंको अपने अधीन रखना भी राज्यशासनकी दृष्टिसे एक अपराध ही है। इस तरह इस "धृत-राष्ट्र" पदमें साम्राज्यवादका दोष सहज ही प्रकट हो रहा है। यह धृतराष्ट्र अन्धा है। साम्राज्यवादी अन्धे होते ही हैं, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि उनको अपने अधीनस्थ लोगोंमें छिपी हुई मानवता नहीं दीखती। वे अपने अधीनस्थ लोगोंके आराम और सुखकी ओरसे आँखें मूँद लेते हैं। धृतराष्ट्र भी साम्राज्यवादी होनेके कारण अन्धा हो, अथवा शारीरिक दृष्टिसे अन्धा हो, वह पाण्डवोंके मानवताके अधिकारोंको देखता नहीं था—यह सत्य है।

"धृत-राष्ट्रों"के साथ "हृत-राष्ट्रों"का सम्बन्ध होता ही है। किसी दूसरेका राष्ट्र अपने अधिकारमें किये बिना एक व्यक्ति "धृतराष्ट्र" बन ही नहीं सकता। यह कौरव राजा "धृत-राष्ट्र" है और पाण्डव "हृत-राष्ट्र" हैं। सदासे ही "धृत-राष्ट्र" और "हृत-राष्ट्रों"के बीच संग्राम होता आया है। इस प्रकार राज्य-शासनका एक तत्त्व "धृतराष्ट्र" पदसे ही व्यक्त होता है।

इस प्रकार विचार करनेसे राज्य-शासनके और भी अनेकों तत्त्व प्रकट हो सकते हैं।

"धृत-राष्ट्र" सदा डरता रहता है कि कहीं "हृत-राष्ट्र" पाण्डव उसके साथ युद्ध करके इसके अपने अधीन किये हुए साम्राज्यका नाश करके अपने स्वतन्त्र राष्ट्रकी सत्ताकी घोषणा न कर दें। यह "धृत-राष्ट्र"का डर गीताके इस प्रथम श्लोकमें ही स्पष्ट हो रहा है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

"यह कुरुक्षेत्र एक धर्मक्षेत्र है। यहाँ युद्धकी इच्छासे उपस्थित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? क्या वे धर्मक्षेत्रके नामसे प्रभावित होकर युद्धसे पराङ्मुख हो गये या युद्ध करने लगे?"

साम्राज्यवादियोंको जो चिन्ता रहती है, वही चिन्ता यहाँ धृतराष्ट्रको भी व्याकुल किये हुए है कि कहीं पाण्डव बलवान् न हो जायँ और उनकी जीत होकर कहीं उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न न हो जाय। इसीका विचार करके धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको युद्धसे पराङ्मुख करनेके लिये संजयको भेजा था। संजयका पाण्डवोंको उपदेश महाभारतके "संजय-यान" नामक पर्वमें है। इससे सिद्ध होता है कि साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी सुरक्षाके लिये धर्मका भी आसरा लेते हैं।

संजययान-पर्वका आशय

धृतराष्ट्रने सुना कि पाण्डव युद्धके इच्छुक हैं; अतः पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेके लिये धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा और धर्मराज आदिको संजयने धर्मका उपदेश करके उनको युद्धसे पराङ्मुख करनेका यत्न किया। संजयके उपदेशका सारांश निम्नाङ्कित है (म० भा० उद्योगपर्व अ० २० से ३२)—

'हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्र सर्वदा तुम्हारा हित ही करता है। पर तुम उसके साथ युद्ध करनेके इच्छुक हो, क्या यह योग्य है ? तुम्हारे-जैसे सात्त्विक और धार्मिक पुरुषोंके लिये युद्ध करना योग्य नहीं । युद्ध करना तो कसाइयोंका कार्य है । तुम अपने भाइयोंका विनाश करनेके लिये तैयार हो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है । यह युद्ध किस लिये करते हो । ऐहिक, क्षणभङ्गुर, दुःखदायी संसारके भोग भोगनेके लिये यह युद्ध करके अपने भाइयोंको मारनेकी इच्छा करते हो ? आजतक तुम धर्मके पालनमें तत्पर रहे और वही तुम आज अपने भाइयोंका और गुरुजनोंका वध करनेके लिये तैयार हो ? इन क्षणभंगुर भोगोंके लिये यह युद्ध तुम-जैसे सात्त्विक लोग कर रहे हैं, इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? अपने भाइयोंके रक्तसे सने हुए भोग ही तुम भोगोगे, उस समय क्या तुम्हें सुख होगा ? अपने भाइयोंका वध करके तुम क्या चिरञ्जीव होकर शाश्वत रह सकोगे ? तुम युद्धके रूपमें कसाइयोंका कार्य करके नरकका साधन कर रहे हो । क्या यह तुम्हारे-जैसे धार्मिकोंको शोभा देता है ? मनुष्य भिक्षा माँगकर भी निर्वाह कर सकता है, और धर्माचरण करके आध्यात्मिक दृष्टिसे उन्नत हो सकता है । अशाश्वत, मायामोहमय असार संसारके इन क्षणभङ्गुर भोगोंमें फँसकर तुम इस भयानक क्रूर संहारकारक युद्धको करनेके लिये तैयार हो रहे हो । तुम्हारे लिये अच्छा यह है कि तुम इस क्रूर युद्धसे शीघ्र ही हट जाओ । इस युद्धके करनेसे तुम्हारी इस लोकमें निन्दा होगी और तुम्हारी पारलौकिक उन्नतिमें बाधा पहुँचेगी । इसलिये तुम इस क्रूर युद्ध-कर्मसे शीघ्र हट जाओ । इसमें तुम्हारा आध्यात्मिक लाभ है ।'

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे संजयने पाण्डवोंको जो युद्धके मार्गसे निवृत्त होनेका उपदेश दिया था, वह महाभारतमें १३ अध्यायोंमें है । उसका सारांश ऊपर दिया गया है । 'संसार क्षणभंगुर और दुःखमय है; इसके भोग भी क्षणभङ्गुर हैं । इसलिये इन अशाश्वत सुखके लिये कोई यत्न न करे । युद्धका त्याग करके भिक्षा माँगकर रहना पड़े तो उसे स्वीकार कर ले; परंतु संहारकारक युद्धसे यदि राज्य भी प्राप्त हो सकता हो, तो वह युद्ध न करे ।' इस तरहका उपदेश धृतराष्ट्र दिलवा रहा है । धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजयने यह उपदेश पाण्डवोंको दिया था ।

इसमें यह बात देखने योग्य है कि धृतराष्ट्र यह उपदेश करनेके समय भी पाण्डवोंको उनका राज्य वापस करनेकी बात नहीं कहता; अपितु संसार क्षणभंगुर है, भोग अशाश्वत हैं आदि उपदेश वह पाण्डवोंको दिलवा रहा है । तात्पर्य यह कि 'तुम्हारा जो राज्य मैंने अपने अधिकारमें लिया है, वह मेरे अधिकारमें ही रहे; तुम जो अपना राज्य मुझसे वापस लेना चाहते हो, उस प्रयत्नसे तुम दूर रहो ।' साम्राज्यवादी ऐसे ही विचार करते हैं ।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्र ही हुआ करते हैं । वे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंको उपदेश करते हैं कि विश्व क्षणभंगुर है, दुःखदायी है, जैसे कि मानो साम्राज्यवादियोंके लिये यह संसार दुःखदायी और क्षणभंगुर न हो । पाण्डवोंका राज्य कपटसे छीननेके समय यह क्षणभंगुर नहीं था । पर जब पाण्डव अपने राज्यकी पुनः प्राप्तिका प्रयत्न करने लगे, उस समय वह क्षणभंगुर हो गया । कैसा साम्राज्यवादियोंका विचार है !

'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?' यह प्रश्न धृतराष्ट्र कर रहा है । इस प्रश्नके पूछनेमें उसका अभिप्राय था कि इस धर्मक्षेत्रके नामसे प्रभावित होकर पाण्डव कहीं युद्धसे विमुख तो नहीं हो गये । इस समय भी धृतराष्ट्र यही चाहता है कि धर्मक्षेत्रका परिणाम पाण्डवोंपर पड़े और वे युद्धसे निवृत्त हो जायँ और मेरे पास आया हुआ राज्य मेरे पास ही रहे, मेरा साम्राज्य टिका रहे और पाण्डवोंको उनका राज्य न मिले । यह धृतराष्ट्रका अभिप्राय था ।

धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता एक सम्राट्की चिन्ता है, एक साम्राज्यवादीकी चिन्ता है ।

अर्जुनपर परिणाम

संजयद्वारा दिये गये उपदेशोंका परिणाम अर्जुनपर युद्धके समय पड़ा । युद्धक्षेत्रमें युद्धके लिये प्रस्तुत अपने ही बन्धु-बान्धवोंको देखकर वह कहता है कि 'इन आत्मजनोंको युद्धके लिये उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूख रहा है । शरीर काँप रहा है; गाण्डीव मेरे हाथसे छूटा जा रहा है और मैं यहाँ खड़ा होनेमें भी समर्थ नहीं हूँ; अतः हे कृष्ण ! मैं युद्धमें विजय नहीं चाहता, मुझे राज्य और सुख प्राप्त करनेकी भी अभिलाषा नहीं है । राज्यभोग और जीवनसे हमारा क्या होगा ?' (गीता १ । २८–३०, ३२)

संजयद्वारा दिये गये उपदेशोंका यह दुष्परिणाम अर्जुनपर पड़ा । उन्हीं उपदेशोंके संस्कारोंसे प्रेरित होकर अर्जुन यह कहकर कि 'मैं तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी स्वजनोंको मारना नहीं चाहता, फिर इस छोटी-सी पृथ्वीके लिये क्या

मारूँ। अतः मुझ निःशस्त्रको शस्त्र हाथमें लेकर यदि कौरव मार डालें तो उत्तम होगा' युद्धसे पराङ्मुख होना चाहता है। और अन्तमें 'न योत्स्ये'—'युद्ध नहीं करूँगा—यह कहकर बिल्कुल निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार संजयके उपदेशोंका पूरा प्रभाव अर्जुनपर पड़ा।

कई विद्वानोंके मतमें गीता केवल निवृत्तिमार्ग या संन्यासमार्गका ही उपदेश करती है। पर यहाँ संन्यास और निवृत्तिमार्गपर अग्रसर होता हुआ अर्जुन गीताको सुनकर पुनः प्रवृत्तिमार्गपर चल पड़ता है और श्रीकृष्णके हाथोंमें अपनेको समर्पित कर देता है और अन्तमें उसके मुँहसे एक ही वाक्य निकलता है कि 'करिष्ये वचनं तव'—मैं तुम्हारे कथनानुसार चलूँगा''। वही अर्जुन जो पहले निराश होकर युद्ध छोड़कर निवृत्ति-मार्गपर जा रहा था, वही गीताके कारण पुनः उत्साह-युक्त होकर युद्धमें प्रवृत्त हो जाता है। फिर गीताको निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र बतानेके लिये अवकाश कहाँ।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गीता राज्य-शासनकी विधि बताती है तथा राज्यका शासन उत्तम-से-उत्तम रीतिसे किस तरह किया जा सकता है, इसका भी उपदेश गीतामें है। गीताका यह श्लोक भी हमारे विचारोंका समर्थन करता है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(९।२)

१–राजविद्या–यह गीता राजविद्याका ग्रन्थ है। Science of Administration–राज्य-शासन चलानेकी यह विद्या है।

२–राजगुह्यम्–राज्य-शासनमें जो गुप्त बातें होती हैं, Secrets of Administration—उनका वर्णन गीता-में है।

३–पवित्रम्–गीता राज्य-शासनमें पवित्रता लानेवाला शास्त्र है।

४–इदम् उत्तमम्–यह उत्तम राज्य-व्यवहार चलानेका शास्त्र है। इस गीताके अनुसार चलाया गया राज्य-शासन उत्तम-से-उत्तम होगा।

५–प्रत्यक्षावगमम्–इस शास्त्रके उपदेशोंका प्रत्यक्ष अनुभव-द्वारा हो सकता है।

६–धर्म्यम्–मानव-धर्मको सुरक्षित रखनेवाला यह गीतोक्त राज्य-शासन है।

७—कर्तुं सुसुखम्—यह गीतोक्त राज्यशासन चलानेमें सुगम है।

८—अव्ययम्—गीताकी पद्धतिसे राज्यशासन चलानेपर थोड़े-से व्ययमें ही उत्तम-से-उत्तम शासन चलाया जा सकता है।

इस प्रकार गीता 'राजविद्या और राजगुह्य' का शास्त्र है। कुछ विद्वान् इन दोनों शब्दोंका अर्थ 'विद्याओंका राजा' और 'गुह्योंका राजा' करते हैं; पर यह अर्थ गीताके आशयके अनुकूल नहीं है; क्योंकि गीताका प्रमुख ध्येय तो अर्जुनको राज्यशासनकी शिक्षा देना था।

श्रेष्ठ राजाओंके पास यह विद्या थी

गीतामें ही आया है कि यह राज्यशासनकी विद्या प्राचीन कालके राजाओंके पास थी। 'इस गीता-योगका उपदेश सर्व-प्रथम विवस्वान्को दिया गया था, विवस्वान्ने मनुको दिया, मनुने इक्ष्वाकुको दिया, पर बीचमें कालातिक्रमणके कारण यह नष्ट हो गया था; वही पुरातन योग मैंने तुमको आज दिया है।' यह श्रीकृष्णका कथन है।

इसमें कहा गया है कि 'इमं योगं राजर्षयो विदुः'—इस योग-को राजर्षि जानते थे। राजर्षिका अर्थ उत्तम शासन चलानेवाले राजागण है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है—विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, श्रीकृष्ण, अर्जुन आदि जो इस योगके अधिकारी हैं, सब क्षत्रिय राजा हैं। अतः यदि गीता केवल संन्यास या निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र होता तो उस गीतायोगका क्षत्रिय राजाओंके पास रहनेका क्या प्रयोजन ? उस दशामें तो वह ब्राह्मणों और ऋषियोंके पास होना चाहिये था। पर वह योग ब्राह्मणोंके पास न होकर क्षत्रिय राजाओंके पास था, इससे ज्ञात होता है कि गीताका योग राज्य-शासनका योग है, संन्यास या निवृत्तियोग नहीं। और इसके अनुसार वे राजा अपना राज्यशासन चलाते थे। गीतामें 'योग' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ 'ध्यान-धारणा' न होकर 'कर्ममें कुशलता' है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' यह गीताका वचन कर्मकी कुशलताका प्रतिपादक है। राजाओंके पास राज्य-शासन-रूप कर्मकी कुशलता (योग) थी। यही योग जो, बीचमें नष्टप्राय हो गया था, महाभारत-युद्धके समय श्रीकृष्ण-द्वारा अर्जुनको दिया गया। इस प्रकार गीताको 'राज्यशासन' का ग्रन्थ कहा जा सकता है।

110338

विश्वरूपकी उत्तम सेवा

राज्य करना प्रजाकी एक प्रकारसे सेवा है और जनता ही जनार्दन अथवा परमेश्वरकी मूर्त्ति है। 'विश्वरूप' परमेश्वरका सत्य स्वरूप है। गीतामें परमेश्वरका वर्णन इस प्रकार है—

> विश्वरूपः । अनन्तरूपः । गीता ११ । १६ ॥
> विश्वमूर्तिः । ,, ११ । ४६ ॥
> सर्वं । सर्वः असि । ,, ११ । ४० ॥

'यह ईश्वर विश्वरूप है; अनन्तरूप है; वह विश्वकी मूर्ति है, वही ईश्वर सब कुछ है।' अर्थात् ईश्वर विश्वरूप है। अतः विश्वकी सेवा परमेश्वरकी सेवा ही है। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति तथा समाज दोनोंकी सेवा करे। व्यक्तिकी सेवा भी परमेश्वरकी सेवा है और समाजकी सेवा भी उसी विश्वरूप प्रभुकी सेवा है। अतः राज्यशासनद्वारा प्रजाकी सेवा परमेश्वरकी सेवा ही है। इस प्रकार गीताके अनुसार राज्यशासन विश्वरूप परमात्माकी सेवा करनेका एक उत्तम साधन है। अर्थात् राज्यशासन इसलिये करना चाहिये कि उससे प्रजाकी सेवाके रूपमें विश्वरूप प्रभुकी सेवा होती रहे, अत्याचार और अनाचारके लिये नहीं। उत्तम राज्यशासनका अर्थ है, ईश्वरकी उत्तम सेवा।

अनन्यभाव

परमेश्वर विश्वरूप है और विश्वमें राष्ट्र, राष्ट्रमें व्यक्ति उसका एक भाग है। इस प्रकार व्यक्ति उस विश्वरूपका एक अंश है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह स्वयंको राष्ट्र अथवा देश अथवा परमात्मासे पृथक् न समझते हुए उसकी सेवा करे। राजाको भी राज्यशासनकालमें इस बातको सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि वह राष्ट्रसे भिन्न या पृथक् नहीं है, अपितु राष्ट्रके सुख-दुःख उसीके सुख-दुःख हैं। इस प्रकारका अनन्यभाव उस विश्वरूपकी सेवाके समय भी अपनाना चाहिये। तभी परमात्मा भी उसके सुख-दुःखका ध्यान करता है। 'अनन्य होकर जो मेरी—ईश्वरकी—उपासना करते हैं, उनका योग-क्षेम मैं चलाता हूँ' यह गीताका वचन इस ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि अनन्यभावसे ही राष्ट्र या विश्वकी सेवा करनी चाहिये। यह अनन्यभावका सिद्धान्त गीतोक्त राज्यशासनकी एक प्रमुख विशेषता है।

योगके आश्रयसे कर्म

गीतामें स्थल-स्थलपर इस बातपर जोर दिया गया है कि मनुष्यको योगमें स्थित होकर ही कार्य करने चाहिये। 'योगस्थः कुरु कर्माणि,' 'योगयुक्तः' आदि वचन इस बातके द्योतक हैं कि गीतामें योगका स्थान सर्वोच्च है। पर जैसे कि हमने पहले बताया है, गीतामें 'योग' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ योगदर्शनाभिमत 'ध्यान-धारणादि' न होकर 'कर्ममें कुशलता' है। अतः जो कुछ कर्म कुशलतासे किया जाय वह योग है और जो करता है वह योगी है। अतः गीताके अनुसार उत्तम राज्य-शासन करता हुआ एक राजा भी एक उत्तम योगी है।

निष्काम कर्मका सिद्धान्त

गीताके अनुसार कुशलतासे किये जानेवाले कर्म दो प्रकारके हैं—(१) सकाम, (२) निष्काम, जिनको हम दूसरे शब्दोंमें 'कर्मफल-भोग' और 'कर्मफलत्याग' कह सकते हैं। इन दो प्रकारके कर्मोंके आधारपर राष्ट्रके सेवक-वर्गके भी दो भेद हो जाते हैं। एक प्रकारके सेवक कर्मफलकी इच्छा अथवा भोग करनेवाले हैं और दूसरे प्रकारके सेवक कर्मफलका त्याग करनेवाले हैं।

प्रथम वर्गके राष्ट्रके सेवक अपनी सेवाके बदलेमें राष्ट्रसे धन प्राप्तकर अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते हैं। पर दूसरे वर्गके सेवक राष्ट्रसे कुछ भी न लेकर केवलमात्र उसकी सेवा करते हैं।

इस प्रकार दूसरे वर्गके लोग जो कर्मफलका त्याग करते हैं, राष्ट्रके स्वयंसेवक हैं, उनकी योग्यता विशेष होती है। वे राष्ट्रसे अपनी सेवाओंके बदलेमें वेतन आदि कुछ नहीं लेते, यह सत्य है; पर उनका योगक्षेम (जीविका) राज्यशासनद्वारा स्वयं चलाया जाता है। उन्हें धनकी स्पृहा नहीं होती; राजा स्वयं ही उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर देता है, पर वे राजासे कुछ नहीं माँगते। इस विषयमें गीताका कथन है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
> (गीता ९ । २२ ।)

'अर्थात् जो अनन्यभावसे मुझ विश्वरूपकी सेवा करते हैं, उनका योगक्षेम (राजाके रूपमें) मैं ही चलाता हूँ।'

१—अनन्याः—राष्ट्रसे अपनेको पृथक् न समझनेवाले।

२—नित्याभियुक्ताः—सदा राष्ट्रकी सेवामें तत्पर रहनेवाले लोगोंका।

३—योगक्षेमं वहामि—योगक्षेम राज्य चलाता है।

'कर्मफलत्यागी, अथवा अवैतनिक स्वयंसेवकोंकी राष्ट्रमें इस प्रकारकी स्थिति है। इस कर्मफल-त्यागके भी अनेक प्रकार हैं—

१–कर्मफलं त्यक्त्वा (गीता ५ । १२)—कर्मके फलका त्याग करना।

२–मदर्पणं कुरु (९ । २७)—कर्मका फल विश्वरूपको अर्पण करना।

३–कर्मफलम् अनाश्रिताः(६ । ७)—कर्मफलका आश्रय न लेना।

४–कर्मणां न्यासः (१८ । २)—कर्मफलोंका न्यास करना।

५–कर्माणि संन्यस्य (३ । ३०)—कर्म फलका संन्यास रखना।

६–संगवर्जितः (११ । ५५)—कर्मफलसे अपना संग न करना।

ये प्रकार कर्मफल-त्यागके हैं। राज्यशासनकी दृष्टिसे इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

१–कर्मफलत्याग–कर्मके फल वेतनको स्वीकार ही न करना। उसका उपयोग राज्यशासन जैसा चाहे वैसा करे।

२–कर्मफलदान (अर्पण)–कर्मफल वेतनको लेकर फिर उसे राष्ट्रके कार्योंमें खर्च कर देना।

३–कर्मफलका अनाश्रय–कर्मफल वेतनका स्वयं उपभोग न करना।

४–कर्मफलन्यास–अपने कर्मके फल वेतनको दानके ध्येयसे बैंकमें धरोहरके रूपमें रखना। न्यास–धरोहर, Deposit.

५–कर्मफल-संन्यास–अपने कर्मफल वेतनको बैंकमें सामूहिक रूपसे रखना। संन्यास–Collective deposit.

६–कर्मफल-संगवर्जन–वेतनके साथ स्पृहा या मोह न रखना। शासकमण्डल उसका जैसा चाहे वैसा उपभोग करे।

ऐसे 'कर्मफल-त्याग' के अनेक प्रकार गीतामें वर्णित हैं। कई विद्वान् सब शब्दोंका एक ही अर्थ समझते हैं; पर यह असंगत है, वस्तुतः वे व्यवहारके भेद हैं और राज्य-शासन-व्यवस्थामें उनका पृथक्-पृथक् महत्त्व है। इन शब्दोंके व्यावहारिक अर्थोंको ध्यानमें न रखकर सबका एक ही अर्थ समझनेसे, गीता जिस प्रकारके उत्तम राज्यशासनको बताती है, वह विद्वानोंकी आँखोंसे ओझल हो गया है। लोग ऐसा समझते हैं कि हर प्रकारके कर्म ईश्वरके अर्पण कर देने चाहिये; पर यह उनकी भूल है। गीतामें कुछ पारिभाषिक शब्द निश्चित किये हुए हैं, अतः उनके अर्थ उसी परिभाषाके अनुसार समझने चाहिये। उदाहरणार्थ—

१–ईश्वर—विश्वरूपी प्रभु, राष्ट्ररूपी प्रभु।

२–ईश्वरको समर्पण—विश्व अथवा राष्ट्रको अर्पण अर्थात् विश्वमें, राष्ट्रमें अथवा अपने प्रान्त या ग्राममें रहनेवाले लोगोंको उस कर्मसे कुछ लाभ मिलता है वा नहीं—यह देखना चाहिये।

केवल मेरे कर्म ईश्वरको अर्पित हैं, यह समझना ही पर्याप्त नहीं है; अपितु मेरे उन कर्मोंसे जनताको कुछ लाभ पहुँचा या नहीं, यह विचारना चाहिये। अपने कर्मोंसे जनताकी सेवा अवश्य होनी चाहिये।

इस प्रकार 'कर्मफल-त्याग' एक व्यवहारकी पद्धति है, जिससे राष्ट्रके स्वयंसेवक किस प्रकार अपने उत्तम कर्मोंसे राष्ट्रकी सेवा कर सकते हैं—यह ज्ञात हो सकता है।

निष्काम कर्मका आध्यात्मिक रूप

अपने शरीरके अंदर होनेवाले व्यवहारको 'आध्यात्मिक व्यवहार' कहा जाता है। यह शरीर राष्ट्र है, उसका अध्यक्ष आत्मा है, इन्द्रियाँ और प्राण इस राष्ट्रके सेवक हैं, इन सेवकोंमें वर्ग-भेद है।

इस शरीरमें नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, हाथ, पैर तथा दो गुप्तेन्द्रियाँ–ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये सब कर्मफल-भोगी वा सकाम कर्म करनेवाली हैं। आँखें सुन्दर रूप देखना चाहती हैं, कान सुन्दर शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ सुन्दर स्वाद चाहती है—इस प्रकार सब इन्द्रियाँ अपनी सेवाओंका बदला चाहती हैं, दूसरे शब्दोंमें ये सब वेतनभोगी सेवक हैं।

पर इसी शरीरमें स्थित ११ प्राण भी हैं, जो अपना कार्य निरन्तर बिना विश्राम लिये करते रहते हैं—शरीररूपी राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये अनन्यभावसे सदा प्रयत्नशील रहते हैं; पर वे अपनी सेवाओंके बदलेमें कुछ नहीं चाहते, अर्थात् निष्कामभावसे इस शरीरकी सेवा करते हैं। ये राष्ट्रके अवैतनिक स्वयंसेवक हैं, इनके कार्यपर ही शरीर-राष्ट्रकी स्वस्थता अवलम्बित है। इसी प्रकार बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन भी सकाम कर्मवाले न होकर अपने कर्मफलका समर्पण करनेवाले हैं।

इस प्रकारका राज्यशासन गीतामें है और स्थल-स्थलपर गीतामें राज्यशासन या राजनीतिके संदेश हमें प्राप्त होते हैं अतः गीताको केवल संन्यास या निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र मानना स्वयं गीताके आशयके प्रतिकूल है।

पागलकी झोली

[बिल्ववृक्षकी छायामें]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पागल राम-राम जपते हुए बिल्ववृक्षकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। ऐसे समयमें हरिदास आकर प्रणाम करके बैठ गये। पागल 'राम-राम सीताराम' कहकर बिल्ववृक्षको प्रणाम करते हैं। हाथसे ताली देकर राम-राम कहकर नाचने लगते हैं।

हरिदास—अरे पागल बाबा! बिल्ववृक्षसे इतना प्रेम क्यों है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय राम सीताराम।

बिल्ववृक्षो महेशानि भगवान् शङ्करः स्वयम्।
बिल्ववृक्षतले स्थित्वा यदि प्राणांस्त्यजेत् सुधीः॥
तत्क्षणान्मोक्षमाप्नोति किं तस्य तीर्थकोटिभिः।
यत्र ब्रह्मादयो देवास्तिष्ठन्ति शान्तिहेतवे॥

—पुरश्चरणोल्लास, १० म पटल।

बिल्ववृक्ष स्वयं शिव है। यदि कोई बिल्ववृक्षके नीचे रहकर प्राण-त्याग करता है, 'राम-राम सीताराम', तो वह तत्काल मोक्ष प्राप्त करता है। उसे कोटितीर्थोंमें जानेसे क्या मतलब। शान्ति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवगण जहाँ निवास करते हैं, उस बिल्ववृक्षकी—'राम-राम सीताराम' महिमा मैं क्या कहूँ! 'राम-राम सीताराम'।

हरिदास—बिल्ववृक्षके नीचे रहनेपर शान्ति प्राप्त होती है?

पागल—'राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम—' निश्चय ही। साक्षात् शिव कहते हैं कि बिल्ववृक्षके नीचे जो रहेगा, उसे शान्ति प्राप्त होगी।

समीपे स च चार्वङ्गि बिल्ववृक्षो यदि प्रिये।
काशीपुरसमस्तत्तु तत्र प्राणांस्त्यजेद् यदि॥
किं तस्य कोटितीर्थेन काशीवासेन किं प्रिये।

'राम-राम सीताराम' हे रमणीये! प्रिये! यदि कोई बिल्ववृक्ष समीप हो तो वह स्थान काशीधामके तुल्य है। वहाँ यदि कोई प्राण-त्याग करता है तो उसे कोटितीर्थ या काशीवाससे क्या प्रयोजन है। राम-राम सीताराम।

हरिदास—तब तो बिल्ववृक्षकी बड़ी महिमा है। कुछ और कहिये।

पागल—राम-राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

बिल्ववृक्षो महेशानि समन्तात् षोडशकरम्।
मम जटास्वरूपं हि पर्णं जानीहि सुन्दरि॥
ऋग्यजुस्सामसदृशं दलत्रयं वरानने।
शाखाश्च सर्वशास्त्राणि जानीहि मीनलोचने॥
कल्पवृक्षसमो वृक्षो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः।
महालक्ष्मीर्बिल्ववृक्षो जातः श्रीशैलपर्वते॥

—योगिनीतन्त्र ५ म पटल।

राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। हे सुन्दरि! महेशानि! बिल्ववृक्षके चारों ओर सोलह हाथतककी भूमि मेरी जटाके समान है। राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। पत्रके तीन दल ऋग्, यजु और सामवेदके समान हैं। सारे शास्त्र शाखाएँ हैं। ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक यह बिल्ववृक्ष कल्पवृक्षके समान है। 'राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।' श्रीशैल पर्वतपर महालक्ष्मी बिल्ववृक्षके रूपमें उत्पन्न हुई थीं। राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम।

हरिदास—पहले कहा गया है, बिल्ववृक्ष स्वयं शिव है। अब कहते हैं—लक्ष्मी बिल्ववृक्षके रूपमें उत्पन्न हुई थी। ये दो तरहकी बातें क्यों?

पागल—राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। सृष्टि तो एक बार नहीं होती। कल्प-कल्पमें, मन्वन्तर-मन्वन्तरमें बारंबार सृष्टि होती है। कल्पभेदसे लीला-भेद होता है। किसी कल्पमें शिव बिल्ववृक्ष हुए तो किसी कल्पमें महालक्ष्मी बिल्ववृक्ष हुईं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। किसी कल्पमें महालक्ष्मीके दाहिने हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ था। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। किसी कल्पमें लक्ष्मीके वाम स्तनसे बिल्ववृक्ष हुआ था। राम राम सीताराम।

हरिदास—अच्छा, कल्पसे क्या मतलब है—यह पीछे सुनूँगा। अभी बतलाइये कि महालक्ष्मी बेलवृक्ष क्यों हुई थीं!

पागल—'राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम'। शिवजीने कहा है कि ज्योतिरूप मेरे अंश ब्रह्मादि देवगणके द्वारा कथित वाणी मेरे अनुग्रहसे सबकी प्रिय हो गयी। वही सरस्वती विष्णुकी प्रियतमा थीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। उनकी-जैसी प्रीति लक्ष्मीके प्रति भी नहीं थी। लक्ष्मी पतिके अनादरसे दुःखित होकर श्रीशैलपर्वतपर गयीं।

वहाँ मेरा एक शिवलिङ्ग प्राप्त करके दुष्कर तप करने लगीं। तथापि मेरी कृपा न होनेके कारण—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम—लक्ष्मी देवीने वृक्षरूप धारण किया। कोटि वर्षतक मेरी पूजा करनेसे मेरा अनुग्रह प्राप्त हुआ। राम राम सीताराम। इसी कारण वह सर्वदा विष्णुके वक्षःस्थल-पर विराजित रहती हैं। राम राम सीताराम। हरिप्रिया लक्ष्मी मेरी परम भक्ता हैं, निरन्तर मेरी पूजामें लगी रहती हैं। इसी कारण वे दिन-रात बिल्ववृक्षका आश्रय किये रहती हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

सर्वतीर्थमयो देवि सर्वदेवमयः सदा।
श्रीवृक्षः परमेशानि अत एव न संशयः॥

हे देवि! हे परमेशानि! इसी कारण श्रीवृक्ष सतत सर्व-तीर्थमय और सर्वदेवमय है, इसमें संशय नहीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—बिल्ववृक्षमें तो सब देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा स्वयं लक्ष्मीजी! उसके चारों ओर सोलह हाथकी दूरीतक शिवकी जटा है—ऐसी बात तो मैंने कभी सुनी नहीं। बिल्ववृक्षकी इतनी महिमा है? कहिये, कहिये, कुछ और कहिये।

पागल बाबा—राम राम सीताराम सीताराम।

शिवलिङ्गार्चनाद् योगी जगद्रक्षणदीक्षितः।
महाविष्णुस्तपश्चक्रे तस्यैव सहचारिणा॥
महालक्ष्मीस्तपस्तेपे भर्तृसेवापरायणा।
तदा बिल्वतरुर्जातो लक्ष्मीदक्षिणहस्ततः॥
तत्पत्रैरर्चयामास महाविष्णुश्च शङ्करम्।
बिल्वपत्रार्पितस्तुष्टो महादेवो दयानिधिः॥
सर्वदेवोत्तमत्वं च सर्वस्वातन्त्र्यमेव च।
प्रददौ सर्वपूज्यत्वं सर्वसिद्धिं च विष्णवे॥
श्रीवृक्ष इति विख्यातो बिल्वद्रुर्देवपूजितः।
त्रिगुणैस्त्रिदलैः पत्रैस्त्रिमूर्त्तिप्रीतिदायकः॥
त्रयीमयोऽयं विख्यातो नीतो देवैश्च नन्दनम्।
कैलासेऽपि च वैकुण्ठे श्वेतद्वीपे सुरालये॥
मन्दारादिषु पुण्येषु क्षेत्रेषु सकलेष्वपि।
पूज्यन्ते बिल्वतरवः श्रीवृक्षा इति नारद॥
फलानि श्रीतपोयोगाद् यस्यालक्ष्मीनिरासने।
लक्ष्मीप्राप्तौ पटीयांसि सेव्यन्ते पुण्यशालिभिः॥
ज्ञानप्रदमिमं वृक्षं दारिद्र्यपरिहारकम्।
श्रीप्रियं योऽर्चयेद् बिल्वं स नरो भाग्यवान् भवेत्॥
श्रीयन्त्रे बिल्वपत्रेषु शिवलिङ्गमथापि वा।
योऽर्चयेदन्वहं भक्त्या पुरुषार्थान् समश्नुते॥

(स्कान्दे सनत्कुमारसंहितायां बिल्वमाहात्म्यम्)

'राम राम सीताराम।' जगत्के पालनकर्त्ता। भगवान् महा-विष्णुने शिवलिङ्गकी अर्चना करते हुए शिवजीकी प्रीतिके लिये तपस्या की थी। स्वामीकी सेवामें रत उनकी सहचारिणी महालक्ष्मीने भी तपस्या की। राम राम सीताराम। उस समय महालक्ष्मीके दक्षिण हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। महाविष्णुने बिल्वपत्रके द्वारा शङ्करजीकी अर्चना की। बिल्वपत्रके द्वारा पूजा करनेसे प्रसन्न होकर दयासागर श्रीमहादेवजीने विष्णु-भगवान्को सर्वश्रेष्ठत्व, सर्वस्वातन्त्र्य, सर्वपूज्यत्वादि सारी सिद्धियाँ प्रदान कीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीता-राम। देव-पूजित बिल्ववृक्षकी 'श्रीवृक्ष'के नामसे प्रसिद्धि हुई। त्रिगुण-सम्पन्न त्रिपत्र ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरकी प्रीति प्रदान करने-वाला त्रयीमय होनेके कारण इस प्रसिद्ध वृक्षको देवगण नन्दन-काननमें ले आये। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। हे नारद! कैलासमें, वैकुण्ठमें, श्वेतद्वीपमें, सुरलोकमें, मन्दा-रादि समस्त पुण्यक्षेत्रोंमें श्रीवृक्ष बिल्वतरुकी सब पूजा करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। 'श्री' के तपके योगसे उसके फल अलक्ष्मी (दारिद्रय) को दूर करने और लक्ष्मी प्रदान करनेमें परम दक्ष होते हैं। अतएव पुण्य-शाली लोग सतत श्रीवृक्षकी सेवा किया करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। यह वृक्ष ज्ञानप्रद, दारिद्रय-नाशक, श्रीप्रिय है। जो इसकी अर्चना करते हैं, वे भाग्यवान होते हैं। जय जय राम सीताराम। श्रीयन्त्रमें या शिव-लिङ्गमें जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक शिव-पूजा करते हैं, वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—स्वयं शिव बिल्ववृक्ष हैं, लक्ष्मी बिल्ववृक्ष हैं और मा लक्ष्मीके दाहिने हाथसे बिल्ववृक्षकी उत्पत्ति है—ये तीन प्रकारकी बातें तो सुनीं। अब यह बतलाइये कि मा लक्ष्मी-के स्तनसे कैसे बिल्ववृक्षकी उत्पत्ति हुई?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। एक दिन लक्ष्मीदेवीने श्रीभगवान्से पूछा—'आपका सबसे बढ़कर प्रिय कौन है? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। मैं तो समझती थी कि मैं ही आपकी सर्वापेक्षा प्रिया हूँ। परंतु उस दिन मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा नीलकण्ठ आपके अधिक प्रिय हैं। राम राम सीताराम। क्या उनसे भी बढ़कर कोई

और आपका प्रिय है ? राम राम सीताराम । श्रीभगवान्ने कहा—'मेरे बहुत प्रियतम नहीं हैं । देहीके देहके समान शिव ही एकमात्र मेरे अहैतुक प्रिय हैं । राम राम सीताराम । मनुष्यको पुत्रके लिये, यौवनके लिये, गृहके लिये स्त्री प्रिय होती है । पिण्ड और कीर्तिके लिये पुत्र प्रिय होता है । विपत्तिसे रक्षा और सुखके लिये धन प्रिय होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । धर्मात्माओंको धर्मके लिये शरीर प्रिय होता है । सभी प्रयोजनवश प्रिय होते हैं । केवल प्रीतिके लिये प्रिय कोई नहीं दीखता । पुरुषका पुरुषके साथ ही अकृत्रिम प्रणय होता है, क्योंकि मित्रता समताकी अपेक्षा करती है । राम राम सीताराम । अतः भिन्न भावके कारण पुरुषका नारीके साथ प्रायः वैसा सद्भाव नहीं होता । पहले मैं एक दिन प्रिय-प्राप्तिकी कामनासे—राम राम सीताराम—पृथिवीपर जाकर दशों दिशाओंमें भ्रमण कर रहा था । भ्रमण करते-करते मनमें निश्चय किया कि अब जो दिखलायी देगा, वही मेरा अकृत्रिम मित्र होगा । राम राम सीताराम । इसी समय शङ्करजीके साथ मेरा साक्षात्कार हो गया । वे भी मेरी ही तरह प्रिय-प्राप्तिकी कामनासे भ्रमण कर रहे थे । परस्पर साक्षात् होते ही दोनोंके मनमें पूर्वजन्मार्जित विद्याके समान महान् प्रीति उत्पन्न हुई । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । वस्तुतः दो घड़ोंमें स्थित जलके समान मुझमें और शङ्करमें कोई भी भेद नहीं है । जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक शङ्करकी पूजा करता है, वह मेरा प्रिय होता है । जो शिव-पूजा-विमुख हैं, वे कभी मुझे प्रिय नहीं हो सकते । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—उसके बाद, उसके बाद ?

पागल—'राम राम सीताराम' । श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीभगवान्के मुखसे यह बात सुनकर यह समझ गयीं कि शिव-पूजा-विमुख होनेके कारण ही मैं अपने स्वामीको प्रिय नहीं हूँ । 'राम राम सीताराम'—वह अपनेको धिक्कारने लगीं । श्रीभगवान्ने कहा—'देवि ! दुखी मत हो । तुमको शिवपूजामें लगानेके लिये ही मैंने यह कहा है । तुम आजसे शिव-पूजा करके शिवके समान ही मेरी प्रेमपात्री बनो । राम राम सीताराम ।'

हरिदास—फिर क्या हुआ ? क्या लक्ष्मीजीने शिव-पूजा की ?

पागल—'राम राम सीताराम' । हाँ, इसके आगे सुनो । कमला लक्ष्मीजी बोलीं—'आपके नीलकण्ठ किस पुष्पसे विशेष प्रसन्न होते हैं ? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम' । श्रीभगवान्ने कहा—'ब्राह्मणको एक सौ आठ दूधवाली गाय दान करनेका फल करवीर पुष्पके द्वारा शिव-पूजा करनेसे होता है । रक्त करवीर (लाल कनैल) चढ़ानेसे दूना फल होता है । 'राम राम सीताराम' । शेफालिका पुष्प चढ़ानेसे कोटि रौप्यमय पुष्प दान करनेका फल होता है । कुन्द पुष्प चढ़ानेसे उससे भी सौगुना अधिक फल होता है । मुक्ताके द्वारा मुक्ता-लिङ्ग पूजनेसे जो फल होता है, वही फल द्रोण-पुष्प चढ़ानेसे होता है । राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । स्वर्णपुष्पके द्वारा स्वर्णलिङ्ग पूजनेका फल चम्पक पुष्प चढ़ानेसे होता है । वैशाख मासके शुक्लपक्षमें चँवर डुलानेका फल शिरीष पुष्पके चढ़ानेसे होता है । राम राम सीताराम । नागकेशर-पुष्प चढ़ानेसे अश्वमेध यज्ञ और मुचुकुन्द-पुष्प चढ़ानेसे गया-श्राद्धका फल होता है । तुलसीदल चढ़ानेसे उसकी भी अपेक्षा सौगुना अधिक फल होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—तुलसीपत्रके द्वारा शिवपूजा होती है ?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । तुलसीपत्र चढ़ानेसे अश्वमेध यज्ञ और गयाश्राद्धका सौगुना फल होता है । तगर-पुष्प चढ़ानेसे चान्द्रायण व्रतका फल मिलता है । वज्र-पुष्पसे काशीक्षेत्रमें उपवासका फल होता है । धतूरेका पुष्प चढ़ानेसे सैकड़ों एकादशी व्रतका फल प्राप्त होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । केतकीको छोड़कर शिवको संतुष्ट करनेवाले अनेक पुष्प हैं । राम राम सीताराम ।

हरिदास—क्या केतकी-पुष्पसे शिवपूजा नहीं होती ?

पागल—राम राम सीताराम । नहीं, सीताराम । सीताजीने केतकीको शाप दिया था कि—'तेरे द्वारा शिवकी पूजा नहीं होगी' । राम राम सीताराम ।

हरिदास—उन्होंने क्यों शाप दिया था ?

पागल—राम राम सीताराम । वनवासके समय एक दिन पितरोंका श्राद्ध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी सामग्री इकट्ठी करने गये । श्राद्धका समय बीतते देखकर सीताजीने गृह-स्थित फलोंके द्वारा श्राद्ध किया । राम राम सीताराम । दशरथजी आदिने हाथ बढ़ाकर श्राद्ध ग्रहण किया । सीता देवीने फल्गु, अग्नि, गाय और केतकीको श्राद्धका साक्षी बनाया । उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको सच्चा संदेश नहीं दिया, इससे सीताजीने उनको शाप दे दिया । सीताजीके शापसे फल्गु अन्तःसलिला हो गयी, अग्नि सर्वभोक्ता बन गयी, गायका मुख अशुद्ध हो गया और केतकी शिवके लिये अग्राह्य हो गयी । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । इसके बाद सुनो, भगवान्ने

कहा है कि एकमात्र पद्मपुष्प चढ़ानेसे समस्त पुष्पोंके चढ़ानेका फल प्राप्त होता है। पद्मसे बढ़कर अधिक प्रिय पुष्प शङ्करके लिये नहीं है। तुम पद्मके द्वारा ही मेरी पूजा करो। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—तत्पश्चात् ?

पागल—राम राम सीताराम। श्रीलक्ष्मीजी श्रीभगवान्की बात सुनकर नित्य सरोवरसे सहस्र पद्मपुष्प लाकर तीन बार गणना करके उनके द्वारा शिवजीकी पूजा करने लगीं। राम राम सीताराम। इस प्रकार एक वर्ष पूरा होनेको ही था कि एक दिन लक्ष्मीजीने सहस्र पद्मोंसे शिवजीकी पूजा करते समय देखा कि दो पद्म कम हैं; राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। ऐसा क्यों हुआ ? उनकी समझमें नहीं आया। मन-ही-मन सोचने लगीं—'प्रतिदिन तीन बार गिना करती थी। आज क्या भक्तिहीनताके कारण मैंने तीन बार नहीं गिना ? राम राम सीताराम, सीताराम। अब क्या किया जाय ? नित्य सहस्र पुष्पोंके द्वारा पूजा करनेके संकल्पकी आज कैसे रक्षा होगी ? पूजाके समय आसन-त्याग करना भी ठीक नहीं है। दूसरोंके द्वारा पुष्प आहरण करानेसे संकल्प भङ्ग होगा। क्या करूँ ? क्या करूँ ? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।'

हरिदास—उसके बाद ?

पागल—राम राम सीताराम। इस प्रकार सोचते-सोचते मनमें आया कि 'श्रीभगवान् मेरे स्तनद्वयको पङ्कजद्वय कहा करते हैं। उनकी बात मिथ्या नहीं हो सकती। आज इस स्तनद्वयको चढ़ाकर शिवकी पूजा करूँगी। सहस्र संख्या पूर्ण हो जायगी। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।' ऐसा निश्चित करके उन्होंने वाम हस्तके द्वारा वामस्तन पकड़कर दक्षिण हस्तमें छूरी लेकर वाम स्तनको काट डाला। राम राम सीताराम। और आनन्दित मनसे उस रक्ताक्त पयोधरको "नमः शिवाय" कहकर शिवके ऊपर चढ़ा दिया। फिर देवी दक्षिण स्तनको काटनेका उपक्रम करने लगीं। राम राम सीताराम सीताराम। उसी समय शिवजी स्वर्ण-लिङ्गसे आविर्भूत हो गये और बोले—"माँ ! समुद्रतनये ! अब स्तन मत काटो। तुम्हारा वाम स्तन पूर्ववत् हो जाय। मैं तुम्हारी परमा भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ। राम राम सीताराम। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। जो स्तन काटकर तुमने मेरे मस्तकपर चढ़ाया है, वह पृथ्वीपर श्रीफल नामक वृक्ष होगा। तुम्हारी भक्ति वृक्षरूपमें मूर्त्तिमान् होकर जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, तबतक तुम्हारी कीर्तिकी घोषणा करती रहेगी। राम राम सीताराम सीताराम। देवी ! वह वृक्ष मुझे अति प्रिय होगा। उसके पत्रके द्वारा मेरी पूजा होगी। स्वर्ण, मुक्ता, प्रवाल आदि तथा अन्यान्य पुष्प बिल्वपत्रके कोटि अंशमें एक अंशके तुल्य भी नहीं होंगे। राम राम सीताराम सीताराम। जिस प्रकार मुझे त्रिनेत्र प्रिय हैं, जैसे गङ्गाजल प्रीतिप्रद है, वैसे ही बिल्वदल भी मुझे अतिशय प्रिय है।" राम राम सीताराम सीताराम।

तब लक्ष्मीजी प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रोंसे, भक्तिपूर्ण गद्गद कण्ठसे—

ॐ नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर॥

—यह कहकर पुनः-पुनः शिवजीकी प्रदक्षिणा करती हुई प्रणाम करने लगीं। उसके बाद हाथ जोड़कर उन्होंने स्तुति की। राम राम सीताराम। शिवजी बोले—"विष्णुकान्ते ! मैं परम प्रसन्न हूँ। वर माँगो।" देवीने कहा—"हे शङ्कर ! आज मैं आपकी कृपासे यथार्थरूपसे विष्णुपत्नी बनी। आपका सुदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो गयी। हे प्रभो ! इससे बढ़कर और दूसरा कौन-सा वर है ? देव ! मैं आपके चरणोंमें प्रेमभक्तिकी प्रार्थना करती हूँ।" महेश्वर 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गये। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—बड़ी अपूर्व कथा है। बिल्ववृक्षकी ऐसी महिमा तो मैं नहीं जानता था। पागल बाबा, आपने आज बिल्ववृक्षको देखनेकी मुझे नयी आँखें दीं। ऐसे दर्शन करने योग्य वृक्षको कभी मैंने श्रद्धाके साथ नहीं देखा था। प्रणाम नहीं किया था। इस बार क्या हुआ, पागल बाबा ?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इसके बाद उस बिल्ववृक्षको कपालमोचन क्षेत्रमें रोप दिया गया। वैशाख शुक्लपक्षकी तृतीया तिथिमें यह वृक्ष उत्पन्न हुआ। राम राम सीताराम जय राम। वृक्षके उत्पन्न होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और अन्यान्य देवोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ वहाँ उपस्थित होकर स्निग्ध त्रिपत्र, फल-युक्त, सुफलप्रद, अपने तेजसे दीप्त, शिवरूप, मङ्गलप्रद उस वृक्षका दर्शन करके, प्रणाम करके उसमें जल-सिञ्चन किया। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। तत्पश्चात् श्रीविष्णु भगवान् बोले—"इस पुण्य बिल्ववृक्षके मालूर, श्रीफल, शाण्डिल्य, शैलूष, शिव, पुण्य, शिवप्रिय, देवावास, तीर्थप्रद, पापघ्न, कोमलच्छद, जय, विजय, विष्णु, त्रिनयन, हर, धूम्राक्ष, शुक्लवर्ण और श्राद्धदेवल—ये उन्नीस नाम हुए। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इसके ऊपर-नीचे चारों ओर सौ धनुषकी दूरीतक तीर्थ-स्थान होगा। राम राम सीताराम।

* * *

मधुर

यमुनाके तटपर अत्यन्त एकान्त स्थलमें श्रीराधाजी सब कुछ भूलकर व्याकुल बैठी हैं, मनमें बड़ी आतुरता है। श्यामसुन्दरके वियोगकी दुस्सह पीड़ासे वे अत्यन्त व्यथित हैं। वह सोचती हैं—श्यामसुन्दर अब कभी नहीं आयेंगे। वे बड़े बुद्धिमान् हैं; वे जान गये हैं कि राधा सब प्रकारसे हीन, मलिन और दोषोंकी खान हैं। इसीलिये वे मुझे सदाके लिये छोड़ गये हैं। सत्य ही है, मुझमें न तो तनिक-सा भी बाह्य सौन्दर्य है न मेरे हृदयमें ही सुन्दरताका लेश है। मेरा बाहर-भीतर अपरिमित दोषोंसे भरा है, अत्यन्त कठोर तथा कलुषित है। मुझमें कुबुद्धिकी विशेषता है (यह कुबुद्धि ही तो है जो मैं अपनेको उनके योग्य मानती हूँ)। इसीसे वे प्रियतम चले गये हैं, निस्संदेह यह उन्होंने सर्वथा उचित ही किया है। यह कुत्सित और अत्यन्त कुरूप देह उनके योग्य कदापि नहीं है। (वे गये, अच्छा ही हुआ) मेरे वे प्राणनाथ सुख प्राप्त करें। इसीमें मुझे अपरिमित आनन्द है। मुझे उन प्रियतमके वियोगकी भीषण विष-ज्वाला स्वच्छन्दतासे सदा जलाती रहे (और वे सुखी रहें)।

अति एकान्त, बिकल बैठी थी
आतुर मन कालिन्दी-कूल।
श्याम विरह दुस्सह पीड़ासे
व्यथित गयी थी सब कुछ भूल॥
"आवेंगे अब नहीं कभी, वे
छोड़ गये मुझको मतिमान।
जान गये मुझको सब बिधिसे
हीन, मलीन, दोषकी खान॥
नहीं बाह्य सौन्दर्य तनिक भी,
नहीं हृदय सुन्दरता-लेश।
अमित दोष पूरित बाह्यान्तर,
कलुषित कठिन कुबुद्धि विशेष॥
इसी हेतु वे गये, किया
प्रियतमने समुचित निस्सन्देह।
नहीं कदापि योग्य है उनके
कुत्सित अति कुरूप यह देह॥
सुख पायें वे प्राणनाथ,
है अमित मुझे इसमें आनन्द।
प्रिय-बियोग-बिष-ज्वाला विषम
जलाती रहे मुझे स्वच्छन्द॥"

सब प्रकारसे इस (प्रेमवैचित्त्यके) भावमें मुग्ध हुई बाला (श्रीराधा) यों विचार कर रही थीं और वे मन-ही-मन निरन्तर प्रियतमके सुखकी माला जप रही थीं। प्रियतमकी सुखमयी स्मृतिसे एक-एक पलमें उनका हृदय नये-नये आनन्दसे भर रहा था। पर साथ-ही-साथ प्रियतमके वियोगकी दावाग्नि हृदयमें दाह पैदा कर रही थी। इसी भावविमुग्धतामें वे यह भूल गयीं कि यह कलकल-ध्वनि करती हुई यमुनाजीकी धारा बह रही है और उसी भावावेशमें वे उसमें कूद पड़ीं। उनका परम सुन्दर सम्पूर्ण शरीर जलमें निमग्न हो गया।

करती यों विचार थी, थी वह
भावमुग्ध सब बिधि बाला।
मन-ही-मन जप रही निरन्तर
थी वह प्रिय-सुखकी माला॥
प्रिय-सुख-स्मृतिसे एक-एक पल,
नव नव हृदय मोद भरता।
किंतु साथ ही प्रिय-वियोग-
दावानल हृदय दाह करता॥
भूल गयी वह कल-कल करती
बहती कालिन्दी-धारा।
कूद पड़ी, कमनीय कलेवर
सलिल-निमग्न हुआ सारा॥

इतनेमें ही उन्हें ऐसा लगा—किसीने उन्हें गोदमें उठा लिया है। सुकोमल तनका स्पर्श होते ही अङ्ग-अङ्गमें अमृत-रस भर गया। सारा खेद मिट गया और अत्यन्त

हर्ष छा गया । हृदय अत्यन्त हर्षपूर्ण हो गया, (इस आनन्दरसके आस्वादनमें) कुछ कालतक आँखें बंद रहीं । फिर तन-मनमें एक गुदगुदी उठी और श्रीराधाके विशाल नयनकमल खुल गये । उन्होंने देखा—वे प्रियतम श्यामसुन्दरके कोमल भुजपाशमें बँधी हैं । फिर देखा, प्रियतम निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी ओर निहार रहे हैं । अधरोंपर मृदु मुसकान छायी है । दोनोंको परस्पर अपरिमित आनन्द प्राप्त हुआ, दोनोंके ही हृदयकुसुम तत्काल खिल उठे । तदनन्तर प्रिया-प्रियतममें अत्यन्त दिव्य रसमय रसालाप होने लगा ।

लगा, किसीने लिया गोदमें,
हुआ सुकोमल तनका स्पर्श ।
भरा सुधा-रस अंग-अंगमें
मिटा खेद, छाया अति हर्ष ॥
हर्षपूर्ण हो गया हृदय अति,
रहीं बंद आँखें कुछ काल ।
उठी गुदगुदी तन-मनमें, तब
खुले नयन-अरविंद विशाल ॥
देखा बँधी हुई अपनेको
प्रियतमके कोमल भुजपाश ।
देखा, देख रहे अपलक प्रिय,
छाया अधरोंपर मृदु हास ॥
हुआ अमित आनन्द परस्पर,
विकसे हृदय-कुसुम तत्काल ।
होने लगा प्रिया-प्रियतममें
रसालाप अति दिव्य रसाल ॥

प्रियतम श्यामसुन्दर बोले—तुम भूल गयीं, हम दोनों साथ ही तो आये थे और दोनों ही यहाँ यमुना-तटपर एक दूसरेका कोमल हाथ लिये बैठे थे । इसी बीच तुम्हें प्रेम-वैचित्त्य हो गया । (तुम सब भूल गयीं) और तुम्हारे मनमें यह ज्ञान (प्रेमावेश) जाग उठा कि (प्रियतम यहाँ नहीं हैं), प्रियतमका विछोह हो रहा है । तुम्हारी अनुपम प्रेमकी इस अतुलनीय महान् स्थितिको देखकर मैं मुग्ध हो गया । (फिर तुम जब कूदीं, तब) मैं भी तुम्हारे ही साथ यमुनामें कूद पड़ा और प्रिये ! मैंने भुजाएँ पसारकर तुरंत तुमको गोदमें उठा लिया । मुझे अपार दिव्य आनन्दकी प्राप्ति हुई । मैं प्रियतमाके मुखकमलकी ओर अपलक दृष्टिसे देखता रहा । प्रेम-सुधा-रसका समुद्र उमड़ पड़ा । कहीं भी उसका ओर-छोर नहीं रहा । फिर मुझे प्राप्त हुए जानकर तुम्हारे ‘प्रेमवैचित्त्य’का वह भाव हट गया और तब तुमको बाहरी ज्ञान हुआ । महिमामयी राधे ! तुमको अपनी महिमाका तनिक भी भान नहीं है ।

बोले प्रियतम—“भूल गयी तुम,
आये थे हम दोनों साथ ।
दोनों ही बैठे यमुना-तट
लिये परस्पर कोमल हाथ ॥
हुआ प्रेम-वैचित्र्य तुम्हें तब,
जागा मन वियोगका ज्ञान ।
हुआ विमुग्ध देख मैं अनुपम
दिव्य प्रेमकी दशा महान ॥
कूदा मैं भी साथ तुम्हारे,
लिया अंकमें भुजा पसार ।
मैंने तुमको प्रिये ! उसी क्षण,
मिला दिव्य आनन्द अपार ॥
रहा देखता निर्निमेष मैं
प्यारी-मुख-सरोजकी ओर ।
उमड़ा प्रेम-सुधा-रस-सागर,
रहा कहीं भी ओर न छोर ॥
हटा भाव वह पाकर मुझको,
हुआ तुम्हें तब बाह्यज्ञान ।
महिमामयी ! नहीं तुमको है
किंचित् निज-महिमाका भान ॥

योगवासिष्ठका मन्तव्य

(ज्ञान और कर्मका समन्वय)

(लेखक—श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०, रिसर्च स्कॉलर)

योगवासिष्ठको एक महान् कर्मयोगशास्त्रके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है, जिसका मूल लक्ष्य है—कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदिके स्वरूपको स्पष्ट करना तथा आदर्श जीवन व्यतीत करनेके लिये उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करना। योगवासिष्ठमें योगवासिष्ठकार महर्षि वाल्मीकिने बड़े पैमानेपर जन्म-जन्मान्तर, आत्मा-परमात्मा आदि तत्त्वोंका विश्लेषण किया है तथा अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानोंके माध्यमसे शोक, मोह, वियोग, दुःख, विषाद आदिका वर्णन किया है। उन्होंने इनसे बचनेका उपाय भी बतलाया है और वह उपाय है—ज्ञानयोग और कर्मयोगका सम्यक्रूपसे परिपालन एवं व्यवहार। उन्होंने ब्रह्माके मुखसे अपने पौत्र (नारद-पुत्र कुम्भ) से कहलाया है—हे पुत्र (पौत्र भी पुत्ररूप ही होता है, इस अभिप्रायसे 'पुत्र' सम्बोधन अनुचित नहीं) कुम्भ ! जिन जीवोंको ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उन लोगोंके लिये क्रिया ही बढ़-चढ़कर अवलम्बन है। (निर्वाण-प्रकरण ८७ । १७) वास्तवमें, समुचित क्रियाके अभावमें ज्ञान और ज्ञानके अभावमें समुचित क्रिया दोनों सम्भव नहीं हैं। तात्पर्य यह कि कर्मयोग और ज्ञानयोग एक दूसरेके परस्पर पूरक हैं।

कहा गया है कि जिसका ब्रह्म-विचारमें एक क्षण भी मन स्थिर हुआ, उसने सब तीर्थजलोंमें स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वीका दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर डाले, दसों हजार देवताओंकी पूजा की, संसारसे अपने पितरोंका उद्धार कर दिया और वह सबका पूज्य बन गया।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्य पूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्तं हि धैर्यं मनः॥

ज्ञानकी यह स्थिति अकस्मात् नहीं हो सकती। इसके लिये साधना एवं व्यवहारकी जरूरत पड़ती है। इससे यह स्पष्ट है कि जीवनके परम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति—आवागमनके चक्रसे मुक्ति—सहज सम्भव नहीं है। महर्षि वाल्मीकिने ग्रन्थके प्रारम्भमें इस बातका स्पष्टीकरण अगस्त्य ऋषि एवं सुतीक्ष्णनामक शिष्यके संवादसे की है। अगस्त्यजीने, सुतीक्ष्णके प्रश्नका उत्तर देते हुए, बतलाया कि 'हे शिष्य ! मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। केवल कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय अथवा ज्ञानसे ही आवागमनकी बाधा नष्ट हो जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है। कर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे ज्ञानका दिव्य प्रकाश होता है। बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए ज्ञान दुर्लभ है और बिना ज्ञानके मोक्ष दुर्लभ है। इस प्रकार मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। जिस प्रकार बिना दोनों पंखोंके पक्षी आकाशमें उड़ नहीं सकते, उसी प्रकार बिना कर्म और ज्ञान दोनोंके मोक्ष साध्य नहीं है।'

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥
केवलात् कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः॥
(वैराग्य० १ । ७-८)

स्वधर्मके अनुसार अपने कर्तव्यका परिपालन योगवासिष्ठका प्रमुख मन्तव्य है और कर्तव्यके अन्तर्गत धर्मपालन, ज्ञानार्जन एवं जीवन-निर्वाह—सब कुछ समाहित है। चाणक्यने भी कहा है—'अपने धर्मका पालन स्वर्ग और मोक्षके लिये होता है। यदि कर्मोंका लोप किया गया तो वर्णसंकरता होकर संसारमें उथल-पुथल मच जायगी।' (अर्थशास्त्र १ । ३ । १४-१५) महर्षि वाल्मीकिने, श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधितकर, श्रीवसिष्ठजीके मुखसे कहलाया है—जो पुरुष स्वर्ग और मोक्षके उपयोगी सम्यक् व्यवहारके लिये शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सब शिष्ट पुरुष बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न हो जाता है। (उत्पत्ति-प्रकरण ९५ । १८) अतः स्पष्ट है, कर्म-परिपालनके साथ-साथ शास्त्रानुशीलन भी आवश्यक है। शास्त्रीय नियम-धर्मोंके अनुसार किया गया कर्म हास्यास्पद नहीं हो सकता, न किसी प्रकारके दम्भ अथवा अहंकारको ही इङ्गित कर सकता है। हमें आलस्यसे बचकर अपने कर्तव्यमें अनुरक्त होना चाहिये। कहा भी गया है, आलसी पुरुष गदहेसे भी निकृष्ट हैं, अतएव उद्योगहीन

होकर हमें गर्दभतुल्य नहीं बनना चाहिये, किंतु स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिये शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिये । 'मुझे दैव प्रेरित कर रहा है' ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियोंको देखकर लक्ष्मी लौट जाती है—

दैवं सम्प्रेरयति मामिति दग्धधियां मुखम् ।
अदृष्टश्रेष्ठदृष्टीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते ॥
(मुमुक्षु० ५ । २०)

वस्तुतः, पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषासे जो कर्म प्रबल प्रयत्नपूर्वक किया जाता है वही इस जन्ममें दैव होता है । जो दैव है, वही कर्म है—'**यद्दैवं तानि कर्माणि ।**' (मुमुक्षु० ९ । १८) दैव कर्मसे पृथक् नहीं । ऐसा समझकर ही हमें अपने सत्कर्मों एवं सत्कार्योंके द्वारा अपने भविष्यका निर्माण करना चाहिये ।

महर्षि वाल्मीकिने पौरुषकी महिमाका भी वर्णन किया है और बतलाया है कि हम पौरुषसे भी बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं । पौरुषके अभावमें हम निष्क्रिय एवं जडीभूत हो जा सकते हैं । इससे महर्षिने यथास्थान हमें सचेत किया है । उन्होंने बतलाया है कि विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने पौरुषसे ही पुरुषार्थ प्राप्त किया था । (मुमुक्षु० सर्ग ५) महात्मा प्रह्लादने जो कुछ प्राप्त किया वह पौरुषसे ही किया । (उपशम-प्रकरण सर्ग ३०) अतः पौरुषके माध्यमसे ही संसार-सागरका तरण करना श्रेयस्कर है । महर्षिने श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधित कर, श्रीवसिष्ठजीसे कहलाया है—हे श्रीरामचन्द्रजी ! पौरुष प्रयत्नका अवलम्बन करके इन्द्रियरूप पर्वतको लाँघकर संसाररूप सागरको पारकर परमपदको प्राप्त होओ ।

पौरुषं यत्नमाश्रित्य प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियपर्वतम् ।
संसारजलधिं तीर्त्वा पारं गच्छ परं पदम् ॥
(उपशम० ४३ । १४)

ब्रह्मा, राजा पद्म, विदूरथ, राजा सिन्धु, राजा लवन, महात्मा दाशूर, राजा शिखिध्वज आदिके जीवन-वृत्तान्तोंके माध्यमसे महर्षिने संसारके रहस्योंको समझाया है और बतलाया है कि हमारा मन निम्नकोटिके कर्मोंकी ओर उन्मुख न हो जाय—राग (विषय-वासना) में लिप्त होकर हम अपने आपको भूल न जायँ, हम अपने लक्ष्यसे च्युत न हो जायँ । चित्तकी उपमा वेतालसे देते हुए महर्षिने श्रीवसिष्ठजीके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधितकर कहलाया है—'श्रीरामचन्द्रजी ! चित्तको विविध विषय-वासनाओंमें फँसने नहीं देना चाहिये, उसे शान्त करना चाहिये । इसके शान्त होनेपर ही शरीरको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है ।'

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः ।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति ॥

चित्तकी शान्तिके उपरान्त ही हमें विकसित मनसे सब कुछ करना चाहिये । मनके अविकसित रहनेकी अवस्थामें प्रमादवश अकर्तव्य भी कर्तव्यसदृश प्रतीत हो सकता है, अकृतकार्य भी कृतकार्य बन सकता है । इसीलिये महर्षिने श्रीवसिष्ठजीके मुखसे 'कर्तृत्व'का विश्लेषण करते हुए कहलाया है—'कर्तृत्व किसे कहते हैं ? शारीरिक क्रिया तो कर्तृत्व है नहीं; क्योंकि जो चेष्टा अबुद्धिपूर्वक की जाती है उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती । किंतु पूर्व-पूर्व कर्तृत्वकी वासनासे अनुरक्त मनोवृत्तिसे उत्पन्न हुई, यह कार्य है—इस प्रकारकी चित्तवृत्तिरूपसे परिणत मानसिक क्रिया ही कर्तृता है । (स्थिति० ३८ । २) मन जो करता है, वही कृत होता है । जो नहीं करता, वह कृत नहीं होता ।'

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति ।
(स्थिति० ३८ । ७)

आगे चलकर वे वसिष्ठजी ही श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—हे श्रीरामचन्द्रजी ! विषमतारूप दोषसे निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छबुद्धिसे जो कार्य निरन्तर किया जाता है वह कभी दोषदायक नहीं होता ।

समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया ।
यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा ॥
(निर्वाण० उत्तरार्ध, १९९ । ७)

महर्षि वाल्मीकिने दारुवैविधकों (बहँगी ढोनेवालों) के आख्यान (निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध, सर्ग १९६) के माध्यमसे एक अद्भुत संदेश हमारे सामने प्रस्तुत किया है । ये दारुवैविधक—बहँगी ढोनेवाले कर्मयोगी व्यक्तिका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । ये बहँगी ढोनेवाले बराबर लकड़ीद्वारा अपनी आजीविका चलाते रहे और कभी निराश नहीं हुए, मानो इस बातका उन्हें ज्ञान हो कि निरन्तर लगे रहना ही विजयकी सीढ़ी है । फलतः अन्तमें उन्हें तृप्ति मिली, लाभ-हानिके विषयमें वे समताको प्राप्त हुए । इनके माध्यमसे महर्षिने हमें बतलाया है कि हमें बराबर अपने कार्यमें लगे रहना चाहिये । यथाशक्ति एवं यथासम्भव विषय-वासनाओंसे हटाकर हमें अपनेको जीवन्मुक्त बनानेका प्रयत्न करना चाहिये । कर्मोंके अनाचरणको क्षतिहीन समझकर कर्मोंसे विराग न ले

लेना चाहिये, सदैव सत्कर्मों (सदाचरणों) का अनुवर्त्तन करते रहना चाहिये । (नि० प्र० उ० सर्ग १९९) ग्रन्थकी परिसमाप्तिके समय भी महर्षिने अगस्त्य ऋषिके मुखसे सुतीक्ष्ण नामक शिष्यको सम्बोधितकर कहलाया है—"हे सुतीक्ष्ण ! कृतकृत्य हुए अग्निवेश्यके पुत्र कारुण्यने—'मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ, फिर भी मैं लोक-शिक्षाके लिये श्रीरामचन्द्र आदिके समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रमके अनुकूल व्यवहार करता रहूँगा, जबर्दस्ती कर्मत्यागमें कौन आग्रह है'—यह कहकर, विवाहद्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समयमें शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथि-पूजन आदि कर्म किये (नि०प्र०उ० २१६ । १४-१५) और सुतीक्ष्णने भी अपनी कृतार्थता सूचित की ।" इस प्रसङ्गसे यह स्पष्ट है, योगवासिष्ठ मोक्ष-शास्त्र होते हुए भी मूलतः ज्ञानयोग एवं कर्मयोगके समन्वयका आदर्श प्रस्तुत करता है और जीवनको जीवन्मुक्त, कर्मबन्धनसे मुक्त बनानेकी प्रेरणा देता है ।

हमें योगवासिष्ठके मन्तव्यको दृष्टिपथमें रखकर ही ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी बनना चाहिये । इसीसे जीवनके उच्चतम आदर्शकी प्राप्ति सम्भव है । इस ओर वैदिक ऋषियोंने प्रारम्भसे ही **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत !'** नामक मन्त्रकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । हमें इसलिये सृष्टिके रूपमें भगवान्‌के दिये गये इस वरदानको उठकर (कर्मयोगी बनकर) और जगकर (ज्ञानयोगी बनकर) ही अपनाना चाहिये और निष्काम बुद्धिसे कार्यकर्ता बनना चाहिये । हमें ऐसा सोच लेना चाहिये कि जिस प्रकार सृष्टिमें क्रियाहीनता नहीं, उसी प्रकार हममें भी क्रियाहीनता नहीं होनी चाहिये । हमें थककर बैठ जाना नहीं चाहिये । **'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।'** (गीता ४ । १६) इस संसारमें केवल जीवित रहना ही तो कुछ पुरुषार्थ नहीं है । बल्कि पुरुषार्थ है—सद्ज्ञानके अर्जन एवं सत्कर्मके परिपालनमें, जो शास्त्रीय विधि-विधानोंके अनुसार अनिवार्य एवं परिपालनीय हैं ।

मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है

अमावस्याकी रात्रिके चार बजे अचानक आँख खुली तो देखा चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार है । समीप पड़ी वस्तु भी ठीकसे दृष्टिगत नहीं हो रही थी । मनमें चिन्ता हुई, 'यह अन्धकार भी क्या कभी दूर होगा ! नहीं, कभी नहीं; अब जगत् अन्धकारसे ही पूर्ण रहेगा !!' इस निराशाके भावसे अभिभूत हुआ आँख बंद किये वहीं बैठ गया । थोड़ी ही देर बाद समीपके वृक्षपर चिड़ियोंकी चहक सुनायी पड़ी । आँख खोलकर देखा, दूर क्षितिजपर स्वर्णिम प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है । दृष्टि उसीपर लग गयी । प्रकाश बढ़ता ही गया और देखते-देखते सर्वत्र पूर्ण आलोक हो गया । अन्धकारका अब कहीं पता ही नहीं है । समीपकी क्या, सैकड़ों गज दूरकी वस्तु भी दिखायी पड़ने लगी हैं । इतना ही नहीं, अब मेरा हृदय भी आशासे आलोकित हो रहा है । अपनी कमजोरियों, त्रुटियों, हीनताओं, विफलताओं, विपत्तियोंके कारण मेरा हृदय निराशा-अशान्तिके घनीभूत अन्धकारसे आच्छादित था; पर इस घटनाके आधारपर अब मुझे विश्वास हो रहा है कि भगवत्कृपाका सूर्य सबपर समानभावसे आलोकित है । अतएव उसके प्रकाशके सामने अपने हृदयको उन्मुक्त करके रख रहा हूँ और हृदयका एक-एक कोना प्रकाशसे भर गया है । अब निराशा-अशान्तिरूपी अन्धकारका कहीं नामोनिशान भी नहीं है । अब मैं पूर्ण आशावान् हूँ, पूर्ण शान्त हूँ और सबकी आशा और शान्तिके लिये प्रयत्नशील हूँ ।

मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है ।—कृष्ण

* * *

गीत

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन')

तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
ज्ञानीने मुझसे कहा कि सब माया है,
तूने नासमझीसे धोका खाया है,
रस्सीका टुकड़ा है, गजरा लगता है,
यह सत्य नहीं है, सपनेकी छाया है।
जादूगर, यह अपराध न कहलायेगा,
तेरा जादू स्वीकार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
यह सपना हो तो क्या, हर जगह सलोना,
माना कि इधर सुरभित फूलोंका दोना,
पर उधर कठिन शूलोंका जाल बिछा है,
यदि यह सुखमय तो दुखमय है यह कोना,
क्या मृदुल कुसुम, क्या चुभनेवाला काँटा,
सबसे अपना शृंगार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
यह भी माना यह सब बातोंका भ्रम था,
पाँवोंके नीचे शून्य कठोर—नरम था,
था शब्द बना सूनेपनकी प्रतिध्वनिसे,
नीरवताका नर्तन था जो सरगम था,
हिम कहकर सम्भव नहीं जिसे झुठलाना,
ऐसा उरमें अंगार लिया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
उन्माद मिलनका झूठ नहीं हो सकता,
अवसाद विरहका झूठ नहीं हो सकता,
मंजिल जबतक उम्मीद न देती जाये,
कोई जीवनका भार नहीं ढो सकता।
इस दर्द, खुशी, आशाकी सचाईको,
इन द्वन्द्वोंमें जीनेकी कठिनाईको,
छन्दोंमें कुछ साकार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती श्रीरत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[पिछले वर्षके पृष्ठ १३८७ से आगे]

दूसरे दिन अर्थात् ५ जूनको हमलोग भटवारीसे रवाना हुए । भटवारीसे लगभग पाँच मीलतक रास्ता अच्छा था। यद्यपि मार्ग पगडंडीका ही था, तथापि वह ठीक कर दिया गया था। इसी प्रकार यदि पगडंडीके रास्ते ठीक कर दिये जायँ तो यात्रियोंको काफी सुविधा हो जाय । पाँच मीलके बाद लगभग चार मील गङ्गनानीतकका मार्ग बुरा था, वही ऊबड़-खाबड़ बीहड़ । गङ्गोत्तरीके इस मार्गमें हमने गङ्गाके तेज प्रवाहके ऊपर झूलते लकड़ीके अनेक पुलोंको पार किया था । ये पुल गङ्गाके इस पार और उस पार दो-दो लोहेकी राडोंपर खिंचे लोहेके मोटे तारोंपर झूलते रहते हैं। पुलपर लकड़ीके पटियोंका पटाव रहता है। जब इन्हें यात्री पार करते हैं, तब ये झूलेके सदृश हिलते हैं। फिर उनके हिलते ही जब यात्रीकी नजर नीचे गङ्गाके तेज प्रवाहपर जाती है, तब इष्टदेवका नाम याद आ जाता है और वह नाम-जप करता हुआ जल्दी ही पाँव बढ़ाता है। ऐसा ही मार्गमें आज हमें एक भयंकर पुल मिला । भयंकर इसलिये कि अबतक मिले पुलोंकी अपेक्षा यह बहुत बड़ा था । गङ्गा यहाँ प्रवाहमें नहीं, अपने कूल-किनारोंपर रोष प्रकट करती हुई रौद्ररूप धारण किये चल रही थीं । उनके कोपसे कम्पित ये कूल-किनारे अपना स्थान-सा छोड़ते दृष्टिगोचर होते थे। कदाचित् इसीलिये गङ्गाके दोनों ओरकी पर्वत-उपत्यकाओंमें काफी दूरीपर इस लोहेके पुलके आधार-खम्भ स्थापित किये गये थे, जिसमें पुलकी मजबूतीमें कमी न रहे। गङ्गनानीसे इस तरफ गङ्गा काफी विस्तारमें बहती हैं, किंतु फिर भी उतनी नहीं जितना बड़ा यह पुल था। गङ्गनानी मुकाम छोड़ते वक्त भी ऐसे ही एक बड़े पुलसे भागीरथीको पार करना होता है। यद्यपि यह पुल उससे कहीं अधिक लंबा था, तथापि इसकी लंबाई ही हमारे भयका कारण नहीं थी वरं इसकी यह लंबाई तथा भागीरथीके प्रवाहकी यह भयंकरता दोनोंने ही मिलकर यहाँ एक भयंकरता-रूपी पुलका निर्माण कर दिया था, जिसे हमें पार करना था। फिर दुर्गम मार्ग पार करते हुए हमें इस पुलके निकट पहुँचनेके लिये एक दुर्गम उतार भी पार करना पड़ा और ज्यों-ही पुलके समीप आये पुलका आकार-प्रकार और भागीरथीका प्रवाह देखकर कुछ भयभीत हो स्तम्भित-से रह गये। पुलके समीप इस पार एक तख्ती लगी थी, जिसपर लिखा था 'एक बारमें केवल दो आदमी या एक ही खच्चर पुल पार करें।' खच्चर तो हमारे साथ नहीं था, आदमी हमलोग बारह थे, इनमें भी कुछ पीछे थे । अक्सर पीछे पड़े पुलोंको पार करते यात्रियोंको हमने देखा था, जो इन सूचनाओंकी—अधिकांश तो पढ़े-लिखे न होनेके कारण, कुछ अज्ञानतावश—अवहेलनाकर एक ही बारमें ३–३, ४–४, इकट्ठे निकल जाया करते थे। अतः इसी भेड़ियाधसानवाली सम्भावनासे हमलोग यहाँ अपने साथवालोंकी प्रतीक्षामें रुक गये। जब सब लोग पहुँच गये, तब दो-दो नहीं, एक-एकको छोड़ा । इस पारसे 'जै गङ्गा मैया' बोल एक आदमी जाता और उस पारसे टकटकी लगाये अपने साथवाले दूसरे आदमीको पुल पार करते बड़े मोहग्रस्त मनसे देखता। इस तरह बारी-बारी हमारे दलने यह पुल पार किया और एक दीर्घ निःश्वास छोड़ आगे बढ़े।

आज भी हमारी मंजिल नौ मीलकी ही थी। अब यहाँ मार्गकी बीहड़ताके साथ ही प्राकृतिक दृश्योंका सौन्दर्य बढ़ चला था। चीड़के वृक्षोंके स्थानपर देवदारके वृक्ष आ गये थे। जैसा कि पीछे कह आये हैं, चीड़के वृक्ष भी बड़े सुन्दर होते हैं, किंतु देवदारके उनसे भी सुन्दर। खूब ऊँचे, एकदम सीधे और अत्यन्त गहरे हरे। चीड़के वृक्षोंकी हरियाली हल्की होती है पर देवदारके वृक्षोंकी एकदम गहरी। इनकी शाखाएँ वृक्षकी पिंडसे प्रायः भूमिको स्पर्श करती-सी निकलती हैं कुछ नीचेको झुकी हुई। इन शाखाओंको देख मनमें उठता है कि जिस भूमिसे वृक्ष उत्पन्न हुए हैं, उस जननी-जन्मभूमिको उन्नत जीवनकी आकांक्षासे प्रेरित हो क्या ये अपनी शाखाओंरूपी भुजाओंसे नत-प्रणाम कर रहे हैं । अनेक स्थानोंपर जहाँ ये वृक्ष गङ्गाके कूलपर हैं, वहाँ भी इनकी शाखाएँ इसी प्रकार नत हो गङ्गाको प्रणाम करती दृष्टिगोचर होती हैं । अनेक जगह इन वृक्षोंकी शाखाएँ वृक्षोंके ऊपरी भागमें ऐसी गोलाकार हो गयी हैं, जान पड़ता है अपने नीचेकी भूमिपर ये वृक्ष छत्र लगाये हैं। हिमालयके अङ्ग इन

देवदारके वृक्षोंसे हरित हो रहे थे और इन शिखरोंके ऊपर भी ये वृक्ष कतारोंमें कलशोंके सदृश खड़े हुए थे। इनका फैलाव नीचेसे ऊपरकी ओर शनैः-शनैः छोटा होता जाता है और अपनी पूर्ण ऊँचाईपर इनकी टहनियोंका फैलाव कम होते-होते कलशनुमा हो जाता है, यहाँतक कि अन्तिम ऊँचाईपर इनकी एक शाख नोकके सदृश हो जाती है। हमारा मत है कि प्रकृतिने देवदारके वृक्षको वनस्पति-जगत्‌में सबसे अधिक सौन्दर्य दिया है और सौन्दर्यकी इस सर्वश्रेष्ठताके कारण उसे 'वृक्षराज' कहना अनुपयुक्त न होगा। पंक्तिबद्ध देवदार वृक्षोंसे आच्छादित हिमालयकी शिखरावलीकी यह सुन्दरता गङ्गाके प्रवाहके कारण कहीं अधिक बढ़ गयी थी। चीड़के सदृश देवदारका वृक्ष भी बहुत उपयोगी होता है। इस ओरके तो सारे मकान देवदारकी लकड़ीके ही बने रहते हैं। यहाँतक कि उनकी छावनी भी देवदारके पटियोंकी ही रहती है। किसी-किसी मकानकी दीवारोंमें पत्थरका उपयोग किया जाता है; किंतु एक तो पत्थरका उपयोग बहुत कम मकानोंकी दीवारोंमें होता है, दूसरे पत्थरकी जुड़ाईके बीचमें देवदारकी लकड़ीका पटाव भी दिया जाता है। फिर यह लकड़ी मैदानोंमें भी जाती है और रेलके स्लीपर, मकानों और मन्दिरोंकी छतों तथा समुद्री जहाजों—स्टीमरों आदि अनेक कामोंमें आती है। देवदारके वृक्षोंके सिवा यमुनोत्तरीके सदृश किंतु यमुनोत्तरीसे भी अधिक हरित और सघन वनस्पतिकी यहाँ सृष्टि हुई है।

अनन्त प्रकारके वृक्ष, पौधे, लता, बेल, झाड़ी और झुरमुटोंका यहाँ ऐसा अम्बार लगा है, जान पड़ता है वनस्पति-जगत्‌की सारी सम्पदा यहीं संगृहीत है। फिर इस वन-वैभवसे पूरित हिमवान्‌का श्रृङ्गार भी देखनेयोग्य बन पड़ा है।

मार्गके ये दृश्य अवलोकते अपनी नौ मीलकी मंजिल तयकर अपराह्णमें हमलोग गङ्गनानी पहुँचे। यहाँ भी हमारे ठहरनेका प्रबन्ध वन-विभागके विश्रामालयमें था। यह विश्रामालय काफी ऊँचाईपर बना है—पैदल रास्तेसे जब हम अपने इस मुकामपर जाने लगे, तब काफी ऊँचाई चढ़नी पड़ी दम फुलानेवाली। विश्रामालयके सामने काफी नीचे भागीरथी बहती हैं और नीचे ही गङ्गाके उस पार चट्टीकी धर्मशाला और कुछ दूकानें आदि हैं। हमारे विश्रामालयके निकट ही तीन गरम पानीके कुण्ड थे। यमुनोत्तरीके बाद गङ्गोत्तरीमार्गमें हमें पहली वार इस तरहके तप्तकुण्ड मिले। इनके नाम थे—सूर्य-कुण्ड, नारद-कुण्ड और व्यास-कुण्ड। यद्यपि इनका गङ्गासे कोई सम्बन्ध नहीं था और यमुनोत्तरीके सदृश ही गन्धकके पहाड़से जलप्रपात होनेके कारण इनका निर्माण हो गया था, तथापि तप्त-कुण्ड होनेके कारण एक तीर्थ बन गये थे। यात्री श्रद्धापूर्वक इनमें स्नान करते थे और याचक ब्राह्मणोंको दक्षिणादि देते थे। रत्नकुमारी, उनकी माताजी आदि प्रायः सभीने यहाँ इन तप्तकुण्डोंमें स्नान किया। गङ्गनानीकी ऊँचाई ६४०० फुट होनेके कारण सर्दी नहीं थी। अतः इन कुण्डोंका पानी उनके लिये बहुत गरम था।

यहाँ हमलोगोंने शान्तिसे भोजनादि किया और आराम करने लगे। संध्या-समय लगभग ८ बजेका वक्त था। सब लोग अपने बिस्तरोंपर थे। गोविन्दप्रसादने गोविन्ददाससे कहा—आपसे एक संन्यासी मिलना चाहते हैं। गोविन्ददासने अपने आनेकी सूचना देनेको कहा और बिस्तरसे उठकर वे संन्यासीजीसे मिलने चले। उक्त संन्यासीजी हमारे पासवाले कमरेमें ठहरे हुए थे। सहज भावसे गोविन्ददास उस कमरेमें पहुँचे, जहाँ संन्यासीजी ठहरे हुए थे। कमरेमें एक ओर मोमबत्तीका प्रकाश था और इसी कमरेमें एक ओर एक तेजस्वी बालयोगी खड़ा उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। गोविन्ददासने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। योगीने समीप ही पड़े एक आसनपर गोविन्ददासको बैठनेका संकेत करते हुए एक दूसरे आसनपर स्वयं बैठते हुए कहा—क्षमा कीजिये, आपको कष्ट दिया। गोविन्ददास बोले—आपका परिचय ? 'परिचय तो आपसे पुराना है, विद्यार्थी-जीवनमें आपके साहित्यको पढ़ा था, प्रभावित हूँ; आपके यहाँ मौजूद होनेकी बात मालूम कर साक्षात्कारके लिये लालायित हो उठा।' ये स्वरसधे संयत और सुधा-सी सरसानेवाले वचन सुन गोविन्ददासकी उत्सुकता बढ़ी, उक्त योगिराजका परिचय पानेकी। उन्होंने पुनः आग्रह किया—आपने अपना परिचय नहीं दिया। योगिराज बोले, मेरा वेश ही मेरा परिचय है। गोविन्ददासने कहा—सो तो मैं देख ही रहा हूँ, किंतु मेरी इच्छा थी आपका पूर्व परिचय पानेकी। योगिराजने उत्तर दिया—'संन्यासी अतीतपर दृष्टि नहीं डालता, वह वर्तमानमें भविष्यके लिये ही उद्योग करता है, फिर भी आपके आग्रहसे संक्षेपमें इतना ही निवेदन करूँगा कि कालेजकी पढ़ाई समाप्त करते-करते वैराग्यके भाव जगे और संसारविरक्त हो इस पथका पथिक बन गया।' अपनी जन्मभूमि, माता-पिता तथा परिवार आदिके सम्बन्धमें अनेक वार पूछनेपर भी जब उन्होंने कुछ परिचय नहीं दिया, तब गोविन्ददास बोले—'ठीक ही है, बहता पानी

और रमता जोगीका परिचय तो उसके दर्शन और सम्पर्कका ही विषय है; उसके अतीतको कौन पूछता है । क्षमा कीजिये, मैंने वृथा ही आपको छेड़ कष्ट पहुँचाया ।' संन्यासीके ओठोंपर मृदु हास था; वे बोले 'मेरा नाम 'प्रेमवर्णी' है, इतना ही स्मरण रखिये ।' कुछ देर गोविन्ददासकी और योगिराजकी अन्यान्य विषयोंपर—जिनमें साहित्य, योग और संन्यास पक्षकी ही बातें थीं—चर्चा होती रही ।

श्रीप्रेमवर्णीजीके साथ हमें गङ्गनानीके इसी विश्रामालयमें ब्रह्मचारी श्रीव्यासदेवजीके भी दर्शन हुए, जिनके दर्शनसे हम उत्तरकाशीमें वञ्चित रह गये थे । व्यासदेवजीके पास प्रेमवर्णीजी शिष्यके रूपमें रहते हैं । व्यासदेवजी और प्रेमवर्णीजी गङ्गोत्तरी, उत्तरकाशी और ऋषिकेशके स्वर्गाश्रममें वर्षमें ऋतुकालके अनुसार निवास करते हैं ।

यहाँ व्यासदेवजीसे भी हमारी अनेक विषयोंपर, विशेषकर योगमार्गपर चर्चा होती रही । उनके 'योगनिकेतन' आश्रमके सम्बन्धमें भी बहुत-सी बातें ज्ञात हुईं, जिनमें प्रमुख यह थी कि योगनिकेतनके संचालनके लिये किसीसे भी एक पाई चंदा स्वीकार नहीं किया जाता । इस संस्थाके कुछ ट्रस्टी हैं, जो इस संस्थाका समस्त खर्च चलाते हैं । श्रीव्यासदेवजीकी इस संस्थाके आश्रम दो स्थानोंपर हैं । पहला उत्तरकाशी, दूसरा गंगोत्तरी । उत्तरकाशीके योगनिकेतनकी कुछ चर्चा पीछे उत्तरकाशी मुकाममें हुई है । इन आश्रमोंमें आनेवाले अतिथियोंका सेवा-सत्कार यथासाध्य किया जाता है—उनके निवासकी ही व्यवस्था नहीं, उनके भोजनादिका भी प्रबन्ध होता है; किंतु यह सारा खर्च-सम्बन्धी प्रबन्ध संस्थाका जो ट्रस्ट है, वही करता है । श्रीव्यासदेवजी एवं श्रीप्रेमवर्णीजीकी इस भेंटसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई । यह भेंट हमारे लिये एक दैवयोग ही थी ।

गत चार दिनोंसे हम जिस निरखसे पाँव बढ़ा रहे थे, उसी निरखके मापमें आज फिर गंगोत्तरी-मार्गके अपने पाँचवें मुकाम सुक्कीके लिये भोर होते ही चल पड़े । सुक्कीकी आजकी हमारी मंजिल फिर नौ मीलकी थी ।

मार्गमें दोनों ओर देवदारके वृक्षोंकी हरियालीसे आच्छादित गिरिराजकी शिखरावली और इसके मध्यमें वेगवती भागीरथीकी धवल धारा एक अजीब शानसे बहती कैसी भली मालूम होती । जहाँ देखो तहाँ चतुर्दिक् वनश्री विराज रही थी और उसमें भी भक्तिमयी भागीरथीका जो नाद मुखरित हो रहा था, उसके कारण इस अरण्यखण्डका चप्पा-चप्पा मानो कोई गीत गा रहा हो, ऐसा जान पड़ता । यात्रियोंका समूह उसी ओर बढ़ रहा था; जहाँसे भागीरथी आ रही थीं और भागीरथी उस ओर जा रही थीं, जहाँसे यात्री आ रहे थे । दोनों भिन्न-पथगामी थे, भिन्नलक्षीय । किंतु उद्देश्य दोनोंके समान थे । यात्री कृतार्थ होने जा रहे थे, भागीरथी कृतार्थ करने निकली थीं और कृतकृत्य होने जा रही थीं ।

सुक्की पहुँचनेके कुछ पूर्व हमें गंगोत्तरीके हिमानी-शिखर दिखने लगे । अब हम सुक्कीके करीब समुद्रसतहसे लगभग ८७०० फुटकी ऊँचाईपर चल रहे थे । नौ मीलकी इस मंजिलने आज हमें थका दिया था । गंगनानीके बाद लगभग २६०० फुटकी ऊँचाई हमें चढ़नी पड़ी, फिर सुक्कीके निकट जिस प्राथमिक शालामें हमारे आजके मुकामकी व्यवस्था थी, उसमें पहुँचते-पहुँचते हमें कड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ी । काफी थक चुके थे, इसी समय हमारे सामने यात्रियोंका एक दल एक छोटे रास्ते (शार्टकट) से सुक्कीकी ओर बढ़ा । जल्दी ही मुकाम पानेकी लालसाने हमारे पाँव भी इसी छोटे रास्तेपर बढ़ा दिये । यह रास्ता क्या था—जैसा नाम वैसा जरूर था । छोटा जिसके मायने यहाँ संकीर्ण और फिर एकदम सीधा । हमलोग सीधे एक पहाड़की चोटीपर चढ़ रहे थे; चढ़ते-चढ़ते जब थक जाते, तब शिलाखण्डपर बैठ जाते । बैठते ही थकान और बढ़ जाती, पाँव भर जो चुके थे । अपने साथवाले भारवाहकोंसे जब हम पूछते—'भाई, अब कितनी दूर है ?' उनका उत्तर होता, थोड़ी दूर । उनके इस कथनपर हमें चिढ़ पैदा होती; क्योंकि यह थोड़ी दूर हम अनेक बार सुन चुके थे और इस थोड़ीकी बड़ाई, उसकी प्रभुतासे अब काफी ऊब चुके हैं । पर उन बेचारोंका भी क्या दोष । फिर जब हम किसी शिलाखण्डपर बैठ अपने इर्द-गिर्दके ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरोंको देखते, ऐसा मालूम पड़ता कि इनकी बराबरीपर ही हम पहुँचनेवाले हैं, यद्यपि ये काफी ऊँचे थे । काफी ऊँचाईपर चढ़ चुकनेके कारण इन शिलाखण्डोंपर बैठे जब हम निकट दिखते (यद्यपि वे काफी दूर थे,) आकाश-चुम्बन करते गिरिशृङ्गोंको निहारते तो एक सामीप्य और सादृश्य अनुभव करते उनके साहचर्यमें गगनचुम्बनका रसास्वादन करने उनके साथ ही समरस हो जाते । किंतु यह स्वर्गसुख स्वल्प ही होता । शरीरपर श्रमका साम्राज्य जो था । आज उसे हम बलात् घसीट रहे थे । प्याससे हमारे कण्ठ सूख गये, मुकामकी प्रतीक्षामें आँखें पथरा गयीं और चलते-चलते पाँवोंने जवाब दे दिया । पर मानवने तो

बढ़ना ही सीखा है। हिम्मत कर बढ़े। चार-छः पग चलते, फिर बैठ जाते। इस तरह इस दुर्गम घाटीको चढ़ सुक्की चट्टीके समीप पहुँचे। चटपट चट्टीकी दूकानपर उबले हुए आलू खाये, किसीने गरम चाय पी, किसीने झरनेका शीतल पानी। यहाँ हमारे पंडाजी मिल गये। हमने उनसे पूछा—कहिये कहाँ चलना है? उन्होंने तपाकसे कहा—स्कूल। गोविन्ददासने कहा—वही स्कूल तो हम पूछ रहे हैं पंडाजी। पंडाजीने हाथसे संकेत करते हुए बताया—अभी कुछ दूर याने चट्टीसे लगभग एक मील और चलना पड़ेगा। गोविन्ददासने फिर पूछा—अब चढ़ाई तो नहीं है? उत्तर मिला, चढ़ाई ही है। हमलोग बड़ी परेशानीमें पड़े। अब क्या किया जाय? पैर आगे बढ़नेको कतई तैयार नहीं थे। फिर आगे बढ़नेकी बात सभीको ऐसी लगी जैसे किसी मरीजका कोई बड़ा (मेजर) आपरेशन उसकी होशमें करनेके उपरान्त जब उसे यह मालूम हो जाय कि आपरेशन सफल समाप्त हुआ, ठीक उसी वक्त उससे एक और आपरेशनकी बात कही जाय। पर जिंदगीका जो मोह, एक लंबी मंजिलकी जो आशा रहती है—जिसमें स्वेच्छासे बुरी-से-बुरी दुर्दशा होनेपर भी उस मोहसे कोई पिण्ड नहीं छुड़ा पाता, उसी तरह हमारे सामने तो सुक्कीकी पाठशाला नहीं, गंगोत्तरीकी लंबी मंजिल थी। अतः एक और आपरेशनके लिये हम तैयार हो गये। अपनी लाठी उठा लड़खड़ाते पाँव आगे बढ़े और किस तरह सुक्कीकी इस पाठशाला पहुँचे, यह मत पूछिये।

पाठशालामें पड़ाव डाल दिया, पर न नहानेकी हिम्मत न हाथ-पैर हिलानेकी। जी चाहता निश्चल, निश्चेष्ट पड़े रहें। लगभग एक-डेढ़ घण्टा लेटकर उठे, कुछ शक्ति संचित की, फिर नहाया-धोया और भोजन किया। फिर सो गये।

सोकर उठे और सुक्कीकी सुषमा निहारने लगे। यहाँसे हमें जो हिमानी-शिखर दिख रहा था, उसकी ऊँचाई पंद्रह-सोलह हजार फुट बतायी गयी। देवदारके वृक्षोंकी हरियालीसे रक्षित-सा यह हिमानी-शिखर स्फटिकके विशाल शिवलिङ्गके सदृश जान पड़ता। शिखरावलीका रूप भी कुछ जलहरीके सदृश ही था। फिर इर्द-गीर्द बादलोंके श्वेत दल केवल आकाशमें ही नहीं इन शृङ्गोंपर विचरण कर रहे थे, मानो उनकी ऊँचाई नाप रहे हों। ये उनका चुम्बन-सा करते उठते-बैठते नजर आते। प्रायः निर्मल आकाशके बीच हिमाच्छादित शिवलिङ्गके सदृश यह शिखर इस शिखरके दायें, बायें और सामनेकी ओर जलहरीके सदृश हरित शिखरावली, इधर-उधर विचरण करते हुए मेघोंके श्वेत खण्ड और निर्मल नभमें ज्येष्ठ मासका उदित अर्द्धचन्द्र तथा हिमानी-शिखरके ठीक नीचे बहता हुआ भागीरथीका विकल प्रवाह। जान पड़ता मानो शिवलिङ्गके पीछेकी जटाओंसे यह प्रवाह बहकर सामनेकी ओर आ रहा हो। हम निरन्तर निर्निमेष दृष्टिसे न जाने कितनी देरतक सुक्कीकी इस रमणीय संध्याके दृश्यको निरखते रहे। रत्नकुमारीकी काव्यशक्ति मुखरित हुई और उन्होंने कुछ गुनगुनाते हुए एक गीत गाना आरम्भ किया।

गीत

भीगा बादल-पट निचोड़ नभ फैलाता समीरके अङ्क।
सूखा पट सूनेमें उड़ता, लहरें ले फर-फर निशङ्क॥
दौड़ समीर समेट लगाता शैल शिखरपर पट-अम्बार।
धवल, श्याम, स्वर्णिम, सिन्दूरी—विविध रंगके वस्त्र अपार॥
शैल-शिखरकी वंकिम माला, देवदारु-द्रुम हरित नितान्त।
घेर हिमानी उच्च शृङ्गको, मानो बनी जलहरी कान्त॥
स्फटिक-विनिर्मित पिण्डी शिवकी, मानो गोलाकृति हिमशृङ्ग।
पृष्ठभागसे जटा विनिःसृत, बहती गंगा तुङ्ग तरङ्ग॥
विस्मय-मुग्ध, हर्षसे पुलकित, लख महानता अति अभिराम।
मानव-मन श्रद्धासे विनमित, स्वयं-भूतको करे प्रणाम॥
शिवका धाम पुनीत, हिमालय, कण-कणमें शङ्कर-अधिवास।
सरिताएँ निर्झर जल गंगा, सत् गुण-मय समीर-उल्लास॥

(क्रमशः)

* * *

तौ लगि या मन सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट।
बिकट जटे जौ लगु निपट, खुटैं न कपट-कपाट॥
भजन कह्यौ तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूरि भजन जासों कह्यो, सो तू भज्यो गँवार॥
—बिहारीलाल

जीवनका लक्ष्य

(लेखक—विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री)

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम् ।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १ ॥

सद्भावना-रूपी कुसुमोंसे जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोकको आकृष्ट करनेवाला है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

नैराश्यमन्धतामिस्रं यतः सर्वं निवर्तते ।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ २ ॥

आशाके प्रकाशसे विच्छिन्न होकर घोर अन्धकाररूपी सारा नैराश्य जहाँसे निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः ।
सदाचारपरैः शुद्धैस्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ३ ॥

ईर्ष्यासे रहित, सदाचारमें तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषोंद्वारा जो सदा सेवित है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नमादर्शमनु निश्चितम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

दुःखके आनेपर भी जो उद्विग्नतासे रहित है, आदर्शके प्रति जो दृढ़ है और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करनेवाला है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

सत्यानुसंधानपरा लोककल्याणसेतवः ।
आश्रित्य यत्स्थिता धीरास्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ५ ॥

सत्यके अनुसंधानमें तत्पर और लोकके कल्याणके लिये सेतुरूप धीर पुरुष जिसका आश्रय लेकर सदा रहते हैं, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम् ।
कर्त्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ६ ॥

विषाद और अवसादसे जो रहित है, संशय जहाँ नहीं है और कर्तव्यके मार्गपर जो आरूढ़ है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम् ।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ७ ॥

जो श्रम, तपस् और संयमसे सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ८ ॥

जिससे विश्वका माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वयं निरतिशय माधुर्यसे युक्त है, जो मधु-विद्योंका[१] मधु है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ९ ॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेहसे तथा कारुण्य और आर्जवसे यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १० ॥

भाषाकी सीमाका अतिक्रमण करके जो अपने रूपसे ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्यरूप है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नैः साम्प्रदायिकैः ।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ११ ॥

विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे जिसका निर्देश करते हैं, परंतु वस्तुतः जो उन नामोंसे असंस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

मोहेन तमसा हीनमानन्दरसनिर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १२ ॥

मोह और अज्ञानसे जो रहित है, आनन्द-रससे जो आप्लावित है और अलौकिक प्रकाशसे जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

यत्र स्थिता महात्मानस्तत्त्वमव्ययमद्वयम् ।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १३ ॥

जहाँ स्थित होकर महात्मालोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परमतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो !

---

[१] तु. बृहदारण्यकोपनिषद् २ । ५

वैज्ञानिक संजीवनी

(Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

लेखकका निवेदन

रोग-दुःख मिटे बिना जीवनकी सार्थकता नहीं, हमारा कल्याण नहीं होता। परंतु रोग-दुःख जन्मसे ही मानवका जीवन-साथी है, संसारमें इससे कोई नहीं बचता। आदिम अज्ञानावस्थामें रोगको भूत-प्रेतों, देवी-देवताओंका कोप समझा जाता था और अब भी समझा जाता है। ज्योतिषी रोगका कारण ग्रह-नक्षत्रोंको बताते हैं। आगे चलकर योगी, आयुर्वेदिक, यूनानी और अनेक विज्ञानी--एलोपैथी, होम्योपैथी, बायोकेमिस्ट्रीवालोंने अपनी खोजोंसे अपने मत प्रचलित किये और आज पुरानी रूढ़ियोंके साथ-ही-साथ रोगका कारण कीटाणुओंको माना जाता है। जो वैज्ञानिक हैं और रोगोंके इलाजके ठेकेदार बनते हैं, दीर्घ-जीवन और अमरताकी कीमियाँ ढूँढ़ते हैं, उन्हें भी रोग होता है और वे मर जाते हैं। आधुनिक विज्ञानी कहते हैं—रोग कीटाणुओंसे होता है, कीटाणुओंको जहरसे मारो, कीटाणुओंसे बचो। दूसरे प्रकृतिवादी कहते हैं—'रोगसे ही कीटाणु उत्पन्न होते हैं, शरीरमें विष-विकार संचित होनेसे सड़ाँद और सड़ाँदसे कीटाणु होते हैं; अतएव शरीरकी सब प्रकारसे सफाई करो, कीटाणु नष्ट हो जायँगे। संयमसे रहो, स्वस्थ रहोगे।' तीसरा क्रिश्चियन साइंस कहता है कि रोग कोई चीज नहीं, मनकी कमजोरी और अज्ञान है।

ये तीनों प्रकारके लोग अपनी पद्धति सिद्ध करते हैं। गरीबलोग किसी दवाके बिना, उपवास करके, पानी पीकर चंगे हो जाते हैं और बहुत इलाज करके हजारों रुपये खर्च करके भी लोग नहीं बच पाते। जंगली पशुओंको रोग होता नहीं देखा गया, उन्हें किसी दवाकी जरूरत नहीं पड़ती। रोग वास्तवमें क्या है, क्यों होता है, किस प्रकार मिटता है, दवासे मिटता है या आप ही मिटता है, इससे कैसे बचा जा सकता है? जो लोग कहते हैं कि दवा करो, अथवा जो कहते हैं कि दवा न खाओ—इन सबमें किसकी बात मानी जाय? एक बड़ी समस्या बनी हुई है। हिंदू ज्योतिषी कहते हैं—सूर्य पृथ्वीकी परिक्रमा करता है। पाश्चात्त्य विज्ञानी कहते हैं—पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है। दोनोंके सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध होते हुए भी दोनोंके गणितके आधारसे ग्रहण और ऋतुएँ होनेका हिसाब ठीक बैठता है।

भूल और भ्रम होना स्वाभाविक है; क्योंकि मानव अल्पज्ञ है, परंतु सबकी भूलका सबपर एक-सा असर नहीं होता। यह भी रहस्यकी बात है। एक व्यक्ति जो चीज खाकर जीता है, वह दूसरेके लिये विष होती है। चिकित्साके क्षेत्रमें अधिकांश लोग विज्ञानके साथ-साथ अन्धविश्वास रखते हैं और बिरला ही कोई व्यक्ति समझदारीसे काम लेता है। जहाँ बुद्धि लगानी चाहिये, वहाँ अन्धविश्वास रखते हैं और अन्धविश्वासके स्थानपर अपनी अक्ल अड़ाते हैं। परलोक और मुक्तिके क्षेत्रमें अन्धविश्वाससे लोग तर जाते हैं; किंतु इस लोकके चिकित्साक्षेत्रमें, जीनेकी कलामें अन्धविश्वाससे लोग मर जाते हैं। यह सब देखकर किसीने कहा है कि यह दुनिया पागलखाना है। दूसरे लोकोंमें जिन लोगोंका दिमाग खराब हो जाता है, उन्हें वहाँके लोग धक्का देकर इस दुनियामें भेज देते हैं।

यह दुनिया पागलखाना है या वैज्ञानिक प्रयोगशाला—इसका निर्णय इन शब्दोंको आगे-आगे पढ़कर आप चिकित्साक्षेत्रके वैज्ञानिक शोधोंके प्रमाणित तथ्य पढ़कर स्वयं कर लेंगे। जैसे हमारा चर्मवेष्टित शरीर बाहरसे चिकना-चमकदार मालूम होता है किंतु इसके भीतरकी घृणित दुर्गन्धित चर्याको हम चर्मके आवरणके कारण नहीं देख पाते, नहीं जान पाते, उसी प्रकार वैज्ञानिक चिकित्साके जादुई चमत्कारसे यद्यपि हम चकित होकर अन्धविश्वासपूर्वक उसपर मुग्ध हो रहे हैं, तथापि उसके अन्तरङ्ग रहस्योंको प्रकट न करके हमसे छिपाया जाता है और रोगोंके इलाज करके जब रोगोंकी बढ़ती होती देखते हैं, तब हम किंकर्तव्यविमूढ़ होते हैं। जिस वस्तुको अमृत-संजीवनी, वैज्ञानिक संजीवनी मानकर हम अपनी भलाईके लिये सेवन करते हैं, उससे लाभ न होकर हमारा रोग बढ़ता है, मौत होती है, तो इसका रहस्य क्या है?

हम यहाँ जान-बूझकर डॉक्टरों या वैज्ञानिकोंके प्रति कोई दुर्भाव रखकर सब कुछ नहीं लिख रहे हैं और विज्ञानको बिल्कुल निकम्मा, अनावश्यक या पूर्ण विनाशकारी नहीं सिद्ध

कर रहे हैं । न हम इनका होना निरा अनावश्यक है, यही कहते हैं । हम तो यहाँ बुद्धिमानीके साथ विचार करनेके लिये अनुभवी वैज्ञानिकों और संस्थाओंके प्रयोग-सिद्ध तथ्य दे रहे हैं । वैज्ञानिक भी मानव हैं, विज्ञान भी मानवकृत खोज है और स्वभावतः अथवा स्वार्थतः मानवसे भूल होती है, अथवा वह कुछ अनैतिक कर्म भी कर बैठता है । शिक्षित क्षेत्रमें सेवाके नामपर व्यवसाय अथवा व्यवस्था करनेमें डॉक्टरों तथा वैज्ञानिकोंकी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं नाजुक जिम्मेदारी है; क्योंकि वे मानव-जातिका सौदा करते हैं, उनके हाथोंसे, प्रयोगों अथवा चिकित्सामें या विकास-कार्य-प्रणालीमें, अज्ञानतासे अथवा लापरवाहीसे या कहीं-कहीं स्वार्थनिहित नीतिसे मानवमें रोग बढ़ रहे हैं । यही रहस्य देखना है कि विकास, भलाई और सेवाके नामपर सब कुछ करते हुए भी अनायास यह सब क्या अंधेर हो रहा है ?

None of the learned professions has so great a need of a lofty moral code as the medicinal one, since the members of no other profession can lapse into criminal or criminally careless behaviour with such disastrous results. Second come the brokers of law and justice, and the monopolists of religions, and morals leading mankind beyond this sensual realm to the gate of heaven and salvation.

शिक्षित व्यवसायोंमें सबसे पहला नंबर डॉक्टरका है; क्योंकि वह दुखी मानवके जीवन और मृत्युके बीचका सौदा करता है, अतएव उसका नैतिक स्तर सबसे ऊँचा होना चाहिये । इनके बाद नंबर आता है कानून और न्यायके दलालों—वकीलोंका और तीसरा नंबर है धर्म और ईमान, आत्मा और परमात्माके ठेकेदारोंका, जो भोले अन्धविश्वासी अज्ञानी लोगोंको परलोक, स्वर्ग और मोक्षके दरवाजेतक ले जानेके लिये जिम्मेदारी लिये हुए हैं । इन सबके अंदर स्वयं अपने प्रति कितना व्यावहारिक ईमान है । इनका विज्ञान स्वयं इनके लिये कितना सच्चा है ! दवाओंमें कितनी संजीवनी है, डॉक्टर स्वयं कितने स्वस्थ रहते हैं, वे स्वयंको उचित चर्यासे कितना स्वस्थ रखते हैं तथा उनका परिवार कितना स्वस्थ है, उन्होंने स्वयंपर अनेक आविष्कृत संजीवनी नुस्खोंका कितना अनुभव लिया है, अथवा वे केवल शिक्षा पाकर, प्रचारित विज्ञापन,, डॉक्टरी संघकी नीति अथवा पेट-परिवारके स्वार्थवश, व्यवसाय और नकद आमदनी बढ़ाने मात्रके लिये अन्धानुकरण कर रहे हैं ।

संसारी मानव अल्पज्ञ असंयमी है । उनको रास्ता बताने, व्यवस्थित और नीरोग रखनेकी जिम्मेदारी थोड़े-से शिक्षितों, वैज्ञानिकों, महन्तों और शासकोंने ली है । वे सब अपनी जिम्मेदारी किस प्रकार निभाते हैं; उनमें कितना नैतिक बल और विज्ञान है—आगे प्रमाणितरूपमें स्पष्ट किया गया है—पढ़ते चलिये ।

वैज्ञानिक संजीवनी अर्थात् प्रयोगद्वारा सिद्ध अनुभवसे प्राप्त विशेष ज्ञानद्वारा तैयार की हुई वस्तु, जो मानवके दुःख-दर्दको दूर करके उसे नवजीवन प्रदान करे । इन शब्दोंमें आधुनिक वैज्ञानिक कही जानेवाली, दुनियाकी सरकारोंद्वारा पोषित और जनताद्वारा विश्वस्त मान्य, प्रचलित चिकित्सा-पद्धतिके सिद्धान्तों, प्रयोगों, आविष्कारकों, व्यवसायियों, वैज्ञानिकोंद्वारा बनायी गयी चमत्कारिक गोलियों, इंजेक्शन और कुशल चीर-फाड़के सम्बन्धमें प्राप्त अनुभवोंका प्रमाणित एवं संसारभरके विख्यात अनुभववृद्ध वैज्ञानिकोंके शोध और अन्तस्तलसे निकले उद्गारोंका प्रकाशित यह संग्रह है । आदिसे अन्ततक इन शब्दोंको पढ़कर, आजतक मानवके इस सेवा-परोपकारी नामसे परिचित वैज्ञानिक स्वार्थी व्यवसायका थोड़ा परिचय मिलेगा और दरअसल मालूम होगा कि मानव-शरीर, रोग, दवाके विषयमें वैज्ञानिक चिकित्सकोंको कितना ज्ञान है, अबतक उन्होंने क्या किया है, क्या कर रहे हैं और आगे उसका हमपर तथा हमारे गर्भस्थ तथा भविष्यके वंशजोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा—इस विषयमें सम्भवतः आप कुछ कल्पना कर सकें ।

मानवकी उन्नतिका इतिहास कुछ हजार वर्षका ही कहा जाता है; अनन्त कोटि असीम अथाह अकल्पनीय ब्रह्माण्डमें राई या रेत-कण-जैसी इस कुछ अरब वर्षोंकी उम्रवाली पृथ्वीपर; लाखों, करोड़ों, अरबों, अगणित......अदृश्य सूक्ष्म, महासूक्ष्म अणु, परमाणु, त्रसरेणु, चतुरणुक, जीवाणुओं, कीटाणुओं और कोषाणुओंके समष्टि-सहयोगसे उत्पन्न, विकसित प्रफुल्लित प्रबुद्ध (!) मानव भी एक अल्पज्ञ कीटाणु दृश्यमान क्रियमाण है, जो विनष्टकारी साधनोंसे, विषाक्त प्रयोगोंसे, पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके लिये और पृथ्वी छोड़कर अन्य दूरस्थ लोकोंकी सैर करनेके लिये कटिबद्ध है ।

यह पार्थिव क्षणभङ्गुर जीवन ऐन्द्रियिक सुख-दुःखरूपी इष्ट-अभीष्ट अनुभवोंसे विचित्र मिश्रित है । इन द्वन्द्वोंसे जन्म-मृत्यु-

के बीच कोई कभी नहीं बचा और इन्हीं द्वन्द्वोंसे बचनेके लिये हमेशासे होशमें आनेपर आजतक भूमि-आकाशमें चराचर सब तत्त्वोंपर मानवने हाथ रगड़ा और माथा पटका है, आहुति दी है, अनेक घृणित एवं अमानुषिक दानवी कर्म भी किये हैं···और अब भी कर रहा है ! उन्नति और सुखके लिये ! अपने-से अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली घातक शत्रुओं, रोगाणुओं-कीटाणुओंसे बचनेके लिये, चैनसे जीनेके लिये !

इस मिट्टी-पानीके बुलबुले संसारमें चौरासी लाख प्रकारके जीवोंमें मनुष्येतर किसी प्राणीको इतना कुछ भी संघर्ष नहीं करना पड़ा । मनुष्यकी नजर-पकड़से बचे हुए वे मजेमें रहते हैं; परंतु जो धर-पकड़में आ गये, मानवने उनकी अकल्पनीय दुर्गति की है ।

मानवने अपनी वैज्ञानिक बुद्धिसे, उन असहाय भोले प्राणियोंके रस, रक्त और विष-रसायनोंसे मिश्रित गोलियाँ, तुपकें (बंदूक, पिस्तौलकी गोलियाँ-जैसी—इंजेक्शनके एम्पूल) और कलात्मक वैज्ञानिक छुरीबाजीके साधनोंका आविष्कार किया है और मानवपर अखिल विश्वमें 'प्रयोग' कर रहे हैं, अपने उन अदृश्य शत्रुओं—रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये, रोग, दुःख, दर्दसे बचनेके लिये ।

अपने इस गौरवपूर्ण इतिहासकी दिवाली-होली मनानेके लिये मानव अपने हाथमें अबोध बच्चेकी तरह, अपनी बनायी हुई रंगीन चमकदार फुलझड़ी और पटाखे लिये हैं । उससे क्या परिणाम होगा यह देखनेके लिये उसने हिरोशिमा और नागासाकी (जापान) शहरोंको भस्म कर दिया । इस विस्फोटकी ज्वाला दो सौ मीलके क्षेत्रमें, एक सौ मील ऊपर आकाशतक फैली, उठी और इस हिसाबसे बीस हजार घन-मीलका वातावरण विषाक्त अग्निमय होकर सब कुछ भस्मीभूत हो गया । साथ ही अपने रोगी देहके विषाक्त कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये जो चमत्कारिक दवाकी गोलियाँ, इंजेक्शन और छुरीबाजीके 'प्रयोग' हो रहे हैं, उनमें जो वैज्ञानिक अन्धज्ञान है, उसीको दूर करनेके लिये इसे कागजपर छपे शब्द न समझकर अङ्गार, आग और मनोबम, मानसिक बम, METABOMB ON SCIENTIFIC SUPERSTITION जानें ।

मानव-जीवनके हरेक क्षेत्रमें व्यापक एवं देखा-देखी परम्परासे स्वरचित प्रचलित रूपमें संगठित षड्यन्त्रकी घातक बुराइयाँ फैली हुई मानवको अपने जालमें इस तरह बाँधकर जकड़े हुए हैं कि मानो ये सब उसके लिये आवश्यक हैं और इनके बिना वह जी नहीं सकता, जैसे कि नालीके कीड़े नालीको अपना स्वर्ग समझते हैं । अगणित शब्दोंकी चिनगारियोंसे बना यह मनोबम आपके इस अन्धविश्वासको दूर करे, आपके दिल-दिमागमें पहुँचकर अन्धज्ञानको भस्म करे, इसी हेतु संसारके विख्यात अनुभवी विश्वमान्य वैज्ञानिकोंके प्रयोगों और अनुभवोंका निष्कपट, निष्पक्ष यथातथ्य संग्रह इसमें किया गया है । विज्ञान, सभ्यता और स्वतन्त्रताके गर्वमें मानव अब भी कितना बन्धनमें है, गुलामीमें धँसा हुआ है—यह सब पढ़-देख-जानकर इसीमें सच्ची आजादीका नया मोर्चा सहज स्पष्ट होता है । इसको स्वयं बड़े ध्यानसे पढ़कर तथा पड़ोस, मुहल्ले या गाँववालोंको सुनाकर-समझाकर, देशव्यापी घृणित, घातक वैज्ञानिक अन्धविश्वास और अन्धानुकरणका भ्रमजाल काटनेका प्रयत्न हरेक व्यक्ति करे तो समाज तथा देशकी अनमोल सम्पत्ति—स्वास्थ्य एवं जीवनको मृत्युकी ओर ले जानेवाली विज्ञानकी नालीमें व्यर्थ बह जानेवाले अपरिमित धनको बचाकर अन्य उपयोगी रचनात्मक योजनाओंमें लगाया जा सकता है ।

केवल राजनीतिक स्वतन्त्रतासे देशका कोई यथार्थ उपकार तबतक नहीं होता जबतक कि देशकी जनता स्वस्थ न हो । जनतामें वैज्ञानिक विकास और रोगनाशके नामपर रोगोंका जबरदस्ती बीजारोपण करना, स्वास्थ्य-विकासके लिये पौष्टिक खाद्य-पेय पदार्थोंके नामपर हवा, पानी, भूमि, फल-फसलोंमें रासायनिक विषाक्त तत्त्वोंका प्रवेश कराना, व्यवसायद्वारा अनिष्टकारी पदार्थोंका प्रचलनकर अधिकाधिक रहस्यमय असाध्य रोग फैलाना—यह सब विज्ञान और स्वतन्त्रताका पाखण्ड है । इनका बहिष्कार करने तथा इनको नष्ट करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको सामूहिक संगठनकर इस अन्धविज्ञानी प्रथाका विरोध करनेका देशव्यापी अभियान चलाकर देशसे निकाल फेंकनेकी कमर कस लेनी चाहिये, जिससे हमारी स्वतन्त्रता सच्ची सिद्ध हो और मानवजाति इस जंजालसे निकल सके ।

वैज्ञानिक अज्ञान

आधुनिक प्रचलित पाश्चात्त्य ओषधि-विज्ञानका सबसे पहला डॉक्टर ढाई हजार वर्ष पहले यूनानी हिपोक्रेट्स था । ईलियटने 'अपनी पुस्तक आउटलाइन ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन मेडिसिन'में लिखा है, 'ओषधि-विज्ञानके इतिहासमें हिपोक्रेट्सकी प्रतिभा बेजोड़ है । वे रोगको स्वाभाविक मानते थे और रोगका अच्छा होना भी स्वाभाविक मानते थे । अर्थात् रोग

स्वाभाविक कारणोंसे अपने-आप पैदा और अच्छा होता है, डॉक्टर तो प्रकृतिके सेवकमात्र हैं।' उसके इन बातोंपर पैथागोरसका असर मालूम होता है।

उसका कहना था कि शरीरका इलाज करनेके लिये पूरी बातें जान लेनी चाहिये। इन्हीं बातोंसे वह सारे ग्रीसमें प्रसिद्ध हो गया और प्लेटोने सब वैद्य बननेवालोंको उसीका शिष्य बननेकी सिफारिश की थी। किसी प्रकारकी विषाक्त दवा न देना, चीर-फाड़ न करना, स्वार्थपूर्ण बदनीयत न रखना, शुद्ध प्रेम और सेवाभावसे इलाज करना; किसी स्त्रीका गर्भपात न करना—ये उसके नियम थे और ऐसे ही नियमोंकी शपथ वह अपने शिष्योंसे लेकर उन्हें दीक्षित करता था। यह शपथ आजकल भी प्रथानुगत चल रही है; परंतु वह अब नाममात्र केवल तोता-पाठकी तरह रह गयी है।

हिपोक्रेट्सके लगभग पाँच सौ वर्ष बाद विख्यात समझदार वैद्य गेलेन (Galen) हुआ जो रोमके बादशाह मारकस औरिलसका निजी चिकित्सक भी था। वह अरस्तुका अनुगामी और गम्भीर प्रकृतिनिरीक्षक था और शरीरके विकारोंको दूर करनेके लिये, विरुद्ध प्रकृतिवाली जड़ी-बूटीका काढ़ा पिलाया करता था। मानव-शरीरकी रचनाका ज्ञान उसे नहीं था, वह घरेलू पालतू जानवरोंकी चीर-फाड़से कुछ ज्ञान प्राप्त करता था। जैसे कुत्ते, बंदर, सूअर आदि। उसकी बहुत-सी गम्भीर अज्ञानभरी बातोंका अन्धानुकरण यूरोपके विश्वविद्यालयोंमें सोलहवीं शताब्दीतक होता रहा और आगे चलकर प्रतिभाशाली हेनिमेनकी १८१० में 'आर्गेनन' प्रकाशित हुई। परंतु प्रचलित अज्ञान और अन्धविश्वासमें धँसे चिकित्सकोंने उसका भरपूर विरोध और उपहास किया। धर्मगुरु लोग तो मानव-रोगोंको भूत-प्रेतोंका कोप अथवा ईश्वरका अभिशाप या अकृपा मानते थे, और बहुत-से लोग अब भी मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि शरीर-पर बाह्य तत्त्वोंके उत्पात या आघातसे रोग होते हैं और बाहरकी वस्तुएँ शरीरमें डालकर शरीरके भीतर प्रतिक्रिया उत्पन्न करके ही उसकी भीतरी घट-बढ़के विकारको ठीक किया जा सकता है। यह वही सिद्धान्त है जिसके अनुसार गेलेन, अबसे अठारह सौ वर्ष पूर्व इलाज करता था; अतः आधुनिक मेडिकल साइंसमें कितना अन्धविश्वास है अथवा कितना विज्ञान है, यह स्पष्ट हो जाता है कि रोगको बाह्य कारणों (कीटाणुओं) से उत्पन्न मानकर, इलाज करनेके लिये अन्य पशुओंके घृणित रस, रक्त, मवाद, रोगोत्पादक कीटाणुमिश्रित विष-रसायनोंका इंजेक्शन शरीरके रक्तमें घोला तथा प्रवाहित किया जाता है। कीटाणुओंको मानवका शत्रु बनाकर इन वैज्ञानिकोंने मानव-जीवनको असाध्य बना दिया और विष प्रसार किया। हवा, पानी तथा भोजनकी वस्तुओंमें विषरसायन घोलकर अधिक रोग पैदा करके मानवको आजीवन रोगी और अपंग बना दिया। जिसने कीटाणुवादका प्रचार किया, उसके प्रति खुले दिलसे आधुनिक डॉक्टर लियोनार्ड विलियम्सने डॉक्टरी अखबार 'मेडिकल प्रेस' के ११ मार्च १९३१ के अङ्कमें पृष्ठ २१० पर स्पष्ट लिखा था, 'कीटाणु ही वह भूत है जिसे वैज्ञानिक अज्ञानी मानवने ढूँढ़ निकाला है और रोगी मानव भी कितना अज्ञानी है कि ऐसे आविष्कारकके सामने वह सिर झुकाता है। कीटाणुनाशक विषौषधोंपर दुनियाकी सरकारें करोड़ों रुपये खर्च करती हैं और अरबोंका व्यापार चलता है। यह वैज्ञानिक पाखण्ड नष्ट होना चाहिये। "It is high time that this pseudo-scientific nonsense died down." अमेरिकाके वैज्ञानिक मासिक पत्र 'लेबोरेटरी' के जिल्द १४, अङ्क ५, १९४४ (फिशर साइन्टिफिक कम्पनीद्वारा प्रकाशित) में लिखा है; "bacteria, contrary to the average layman's impression, are among men's most helpful agents. It has been estimalted that less than 10 per cent of all bacteria are harmful to man; the others are either beneficial or potentially beneficial through continued study. The attention given the 1 per cent which produces harmful effects has obscured the helpful effects of the 99 per cent."

अर्थात् शरीरमें केवल एक प्रतिशत कीटाणु हानिकारक हैं, परंतु इनसे जो हानि होती है, उसे ही सब कुछ मानकर ९९ प्रतिशत कीटाणुओंसे होनेवाले लाभपर वैज्ञानिकोंने काला पर्दा डालकर दुनियाको उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ साधन किया है।

कीटाणुयुगमें शोध करते-करते बिरकोव् (Virchov) ने निदानमें कीटाणुओंको कोष (cell) रूपमें देखा और पास्त्योर (Pasteur) के आधारपर ही उसने इसे एक प्रकारका जीवाणु (biological atom) बताया कि इन्हींके परस्पर विषम मिश्रणसे शरीरमें विकार होते हैं, रोग होते हैं। भौतिक परमाणुसे अब वे सजीव परमाणुपर आ गये और डॉ० जे० ई० आर मेकडोनाफ, एफ० आर० सी० एस०

(J. E. R. Mc Donagh. F. R. C. S) ने अपनी खोजोंसे इस सिद्धान्तको प्रोटोप्लास्मके रूपमें मानव रक्तपर लाकर स्थिर कर दिया और रोग तथा स्वास्थ्य, दोनों दशाओंमें प्रोफेसर बिकाम्प और पास्त्योरके समान इन सूक्ष्म जीवाणुओंको माइक्रोजाइमा समाजके अन्तर्गत व्यक्तिगत दशाओंमें रोग और स्वास्थ्यका कारण बताया। डारविनने जैसा बताया था कि प्राणी एक ही मूलसे अनेक परिस्थितियोंसे शाखाओंमें, रूप-रंग आकारमें विभाजित हुए, उसी प्रकार मेकडोनाफने अपनी आधी जिंदगी इस खोजमें खपाकर तै पाया कि रोगोत्पादक कीटाणु भी इसी प्रकार परिस्थिति-भेदसे बनकर पनपते हैं, जिनका मूलस्रोत आँतोंमें होता है, आँतोंमें अपक्व और बहुमिश्रित पदार्थोंके पड़े रहनेसे ऐसा होता है कि वहाँ अनेक प्रकारके कीटाणुओंकी प्रकृति और आकार बदलते हैं जो रोगका कारण बन जाते हैं।

"Various pathogenic bacteria as branches stemming from one common trunk, the original parent bacteria being normal inhabitants of the human intestine...the harmful bacteria being revolutionary mutations of the primary micro-organisms, the change in their type and virulence being brought about by alterations in the metabolism of the human body, and influence of radiations from the sun, stars and nebulae.

परंतु आजके दूसरे अनुगामी वैज्ञानियोंकी पहुँच इतनी सूक्ष्म और दूरतक नहीं हुई है और वे इन बातोंको माननेको तैयार नहीं हैं। प्रोफेसर सी० जे० पेटन और प्रोफेसर रुडाल्फ पीटर्स तो अपनी खोजोंसे प्रोटोप्लाज्म तककी हरेक वस्तु और जीवाणुको आध्यात्मिक तत्त्व मानते हैं (postulate a psychic life to all living things, even to the ultimate particles of protoplasm), जैसा कि एच० पी० ब्लावात्स्कीने अपनी पुस्तक 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' में सजीव सूक्ष्म परमाणुओंद्वारा विश्वरचना होना बताया है।

The countless myriads of living particles that build up material body and its cells, flourish plants and build universe into visible from invisible—जो अदृश्यलोकसे स्थूललोककी, शरीरके तन्तु एवं वनस्पति आदिकी साक्षात् रचना करते हैं, जो स्वयं पूर्ण होनेके साथ परस्पर सहयोग-संगठनसे एक स्थूल दृश्यमान पूर्णकी रचना करते हैं, वे सब निरे जड नहीं, परंतु चेतन विद्युन्मय हैं।

और अब पारस्परिक चेतन रचनात्मक सिद्धान्तको लेकर तन-मनकी पारस्परिक चिकित्सा-पद्धति Psycho-somatic medicine चल पड़ी, जिसके अनुसार मनके विचारों, आवेगोंका प्रभाव शरीरके तन्तुओंपर होता है, तो साथ ही शरीरकी विकृत दशासे मनको भी रोग होता है; अतएव दोनोंकी चिकित्सा आवश्यक है, केवल मन या शरीरकी चिकित्सा अलग-अलग नहीं। क्योंकि मन या शरीरके रोग अलग-अलग स्वतन्त्र नहीं, वरं पारस्परिक होते हैं। मनुष्य जैसा भोजन करता है, उससे उसके शरीरकी प्रकृति बनती है और तदनुकूल विचार-संस्कार बनते हैं, साथ ही विचार, संस्कार, आवेग, भावोंके बदलनेसे उनका असर शरीरकी आन्तरिक रचना और व्यवस्थापर भी होता है। अतएव शरीरके विभिन्न अङ्ग-रोगोंको परस्परसे पृथक् न समझकर पूर्णरूपसे परस्परके आश्रित जानकर पूरे शरीरकी चिकित्सा की जानी चाहिये।

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके प्रोफेसर सर वाल्टर लेंग्डन ब्राउन (Sir Walter Langdon Brown) ने अपना एक लेख १२ मार्च १९३६ को मेडिकल सोसायटी ऑफ इन्डिविजुअल साइकॉलॉजीको पढ़कर सुनाया था, जिसका शीर्षक था "प्लेस ऑफ साइकॉलॉजी इन मेडिकल कैरिकुलम" (Place of Psychology in Medical curriculum:) उसमें वे लिखते हैं—"I speak in all sincerity when I state with all the emphasis of which I am capable that one of the greatest dangers besetting the honest practice of medicine at the present moment is the invasion of pseudo-scientific methods involving the piling up of irrelevant laboratory data, much of which the specialist who does it does not understand himself. It impresses the patient by an air of scientific accuracy which is quite illusory."

अर्थात् मुझमें जितनी शक्ति है उतने जोरसे ईमानदारीसे मैं कहता हूँ कि आजकल ईमानदारीसे इलाज करनेवाले डॉक्टर विशेषज्ञ लोग भी रोगी जनताके लिये सबसे अधिक खतरनाक हैं, जो प्रयोगशालामें खोज करके आँकड़े प्राप्त करके स्वयं कुछ

नहीं जान-समझ पाते और उनकी इस सूझपरसे रोगी प्रभावित हो जाते हैं; सब खोज और आँकड़े व्यर्थ और झूठे, काल्पनिक मात्र हैं। अर्थात् विशेषज्ञोंके अज्ञानका प्रमाण यहाँ मिल जाता है, जो शरीरके केवल एक अङ्गका अध्ययन और इलाज करनेकी दूकान खोलकर बैठे हुए हैं; उनसे रोगी मानवका कोई उपकार नहीं, वरं सबसे अधिक अपकार होता है।

इस सम्बन्धमें रोगीकी पूर्णतया जाँच करके सब पहलुओंसे चिकित्सा करनेके लिये लार्ड होर्डर (Lord Horder) ने किंग्स कालिज हास्पिटल मेडिकल स्कूलकी १२२वीं बैठकमें अपना एक लेख पढ़कर सुनाया था जो ब्रिटिश मेडिकल जर्नल, ८ दिसम्बर १९५१ के अङ्कमें पृष्ठ १३५९ पर छपा था। उसमें लिखा है—

1. The doctor must know all about the mind as well as the body; he must know human nature as it is called, as no other person knows it.

2. More attention must be given to providing the basic elements of health, enough of right sort of food, warmth and shelter, access to sun and air, a satisfactory job and work, leisure and amenities connected with it.

वास्तविक आदर्शचिकित्सा और प्रचलित पाखण्ड-चिकित्साकी चर्चा करते हुए "मेडिकल वार्ल्ड" पत्रिकाके ५ जनवरी १९५१ के अङ्कमें एक ईमानवाले डॉक्टरने एक लेख "Parting of the Ways" शीर्षकसे लिखकर बड़े साहसका काम किया था। अन्धानुगामी वैज्ञानिकोंने कीटाणुवादके चक्रमें हरेक रोगके हरेक प्रकारके बहुतसे कीटाणुओंके नाम, रूप, गुण बताये हैं, तदनुसार सैकड़ों रोग बताये हैं। सच्चे वैज्ञानिकोंने इस मतका कठोर विरोध किया है, उनमेंसे यहाँ एक प्रमुख वैज्ञानिक डॉक्टर डब्लु मिचेल स्टीवन्स, एम० डी०, एफ० आर० सी० पी० के कुछ वाक्य उद्धृत करना बस होगा, जो मैटीरिया मेडिका और फारमाकोलॅजीके लेक्चरर, वेल्स यूनिवर्सिटीमें थे, अप्रैल १९३९ में इन्होंने लिखा था :—

"Up-to-date the orthodox Medical Researchers have been working either *cul-de-sac* or in circles constantly receding further and further from the centre; they have been obsessed with microbes or viruses and have been responsible for the idea that disease may be conquered by injecting man's long suffering body with sera, vaccines, toxins or chemicals; their work has had a pernicious effect on medical education so that the student is encouraged to lean upon laboratory findings and to disregard experience and observation, their work has encouraged specialization just as if the human body were divisible into a large number of more or less watertight compartments and furthermore, the manufacturing chemists are inundating medical men and the general public with all kinds of preparations founded upon what they call "medical science".

शरीरके अङ्गोंको अलग-अलग टुकड़े-पुर्जे समझकर और कीटाणुओंकी खोजकर, ये अज्ञानी वैज्ञानिकलोग शरीरमें पशुओंके रक्त, मवाद और विष-रसायन इलाजके नामपर घोलते हैं और दवा बनानेवाले नदियोंकी बाढ़की तरह डॉक्टरों और जनताको उल्लू बनाकर अपनी बनायी हुई दुर्गन्धित विषाक्त गोलियाँ, इंजेक्शन, मिक्श्चर उँड़ेलते हैं। डॉक्टर और जनता दोनों ही इस बाढ़में अपने तन-मन-धन-सहित, अंधोंकी तरह दौड़-दौड़कर जूझते-डूबते जा रहे हैं, इसीका नाम है—वैज्ञानिक इलाज। यह इलाज नहीं, प्रयोग-मात्र है, जनताके जीवनसे विनाशकारी खिलवाड़।

इसके सहयोगी चल पड़े हैं, पशुओंपर चीर-फाड़के निर्दय प्रयोगसे टीका और इंजेक्शन बनानेवाले व्यापारी स्वार्थी वैज्ञानिक; जिनका विस्तृत धंधा सरकारी कानूनसे पुष्ट होकर सारी दुनियामें बूचड़खानोंमें चलता है; करोड़ों जीवोंका रक्तपात करता है, मानव-जीवनपर सब केवल प्रयोगमात्र है जो इलाजके नामपर प्रचलित है। It is all experimentation for research, wrongly called immunity and preventive or curative treatment,. चूहों, भेड़ों, बंदरोंपर प्रयोग जैसे हो रहे हैं, वैसे ही मानवपर हो रहे हैं। चूहों, भेड़ों, बंदरों और मानवमें कोई अन्तर नहीं रह गया !

(क्रमशः)

मांसाहारका तथा गोमांसका घृणित प्रचार

मनुष्य जिस प्रकारका भोजन करता है, उसी प्रकारकी उसके मन और बुद्धिकी रचना होती है। सात्त्विक भोजनसे सात्त्विक मन-बुद्धि और तामससे तामसिक मन-बुद्धि बनते हैं, उसीके अनुसार इच्छा या स्फुरणा होती हैं और उन्हींके अनुसार क्रिया होती है। इस समय भोजनका अनाचार-भ्रष्टाचार जिस तरह बढ़ रहा है, जिस तरह उसमें तामसिक वस्तुओंका प्रवेश हो रहा है, उसी तरह मन-बुद्धिका भी पतन हो रहा है और उसीके अनुसार जीवनके कर्म भी बिगड़ रहे हैं। आजके इस नैतिक पतनमें भोजनका तामस और अनाचारयुक्त होना भी एक प्रधान कारण है। किसीकी भी जूँठन खाना अनाचार है। पर इसका परहेज तो आजकल प्रायः उठ ही गया है। सदाचारकी दृष्टिसे न भी देखें तो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी यह बहुत विचारणीय है। इस समयके कीटाणु सिद्धान्तके अनुसार एकका रोग जूँठन खानेसे दूसरेमें निश्चय ही आता है। होटलोंमें, पब्लिक भोजनालयोंमें, रेल-जहाज-वायुयानोंमें तो खुले आम जूठे बरतनोंमें जूठन खायी-खिलायी जाती ही है। विवाहोंमें, भोजोंमें और गृहस्थके घरोंमें भी इसका प्रचार बढ़ रहा है तथा इससे परहेज रखनेवालोंको असभ्य माना जाता है। इससे शरीर और मनके संक्रामक रोग बढ़ते हैं और मनुष्यका शारीरिक-मानसिक पतन होता है। उच्छिष्ट भोजनको गीतामें भगवान्‌ने भी तामस बतलाया है और तमोगुणकी वृद्धिसे अधःपतन होता है, यह भी स्पष्ट कहा है (अधो गच्छन्ति तामसाः)।

तामसिक भोजनमें प्याज-लहसुन आदिके निषेधका स्मृतियोंमें उल्लेख है, पर उसकी ओर तो आज कौन ध्यान देता है। इस समय तो अण्डे, मछली, मांस-मद्यका उन घरोंमें भी प्रवेश हो गया है, जिनके कुल-परम्परामें सदासे ही इनको घृणित माना जाता था और महान् अनर्थकारी समझकर इनका स्वाभाविक निषेध था। सरकार भी साहित्यसे, बूचड़खानोंके विस्तारसे और मछली-सूअर-मुर्गी-उद्योगोंके नामपर योजनाएँ बना-बनाकर मांसाहारके घृणित और पतनकारी प्रचार-प्रसारमें जोरोंसे लगी है! अण्डे और मछलीतकको निरामिष बताया जाता है, और लाभ बता-बताकर अण्डोंका प्रचार किया जाता है। पशुओंके अङ्गोंसे दवा बनानेके कारखाने तो बहुत हो गये हैं और वे उत्तरोत्तर बढ़ ही रहे हैं। इसके लिये भी सरकारी योजना है। यह परम दुर्भाग्य है!

मांस खानेवाले भी हिंदू गोमांससे तो बड़ी घृणा करते थे; पर आजकल वह घृणा भी निकलती जा रही है। विदेशोंमें यातायात बढ़ जानेसे, दुष्ट-सम्पर्कसे तथा धार्मिक बुद्धिके सतत ह्राससे स्वाभाविक ही यह हो रहा है। जहाँ मांस-गोमांस पकाये जाते हैं, वहीं उन्हीं बरतनोंमें निरामिष भोजन करनेवाले हिंदुओंके लिये अन्न पकाया जाता है और निरामिषभोजी भाई-बहिन बड़े चावसे उन्हीं बरतनोंमें उसे खाते हैं। अभी समाचार मिला है कि विपुल धनराशि खर्च करके सरकारके द्वारा बनाये हुए दिल्लीके प्रसिद्ध 'अशोक होटल' में, जिसमें बड़ी शानसे बहुत ऊँचे घरानेके सम्भ्रान्त निरामिषाहारी हिंदू (सनातन-धर्मावलम्बी) भी ठहरते हैं, गोमांसका व्यवहार किया जाता है। कलकत्तेसे प्रकाशित स्टेट्समैनके पिछले ३१ दिसम्बरके अङ्कमें 'अशोक होटल'का एक टेंडर विज्ञापन प्रकाशित हुआ है, जिसमें होटलके लिये गोमांस, गायकी जीभ, कटा हुआ गायका अंदरका भाग, गायका दिमाग और जिगर, बैलकी पूँछ और गुर्दा आदिकी सन् १९६१-६२ के लिये आवश्यकता बतलायी गयी है। गोमांस आदिके साथ ही जीवित कबूतर, बटेर, तीतर, मुर्गा-मुर्गी, सूअर, अण्डे, तरह-तरहकी मछलियाँ

और भेड़ आदिकी आवश्यकता बतलाकर उन सबके टेंडर माँगे गये हैं । यह एक विशाल सरकारी होटलका स्वरूप है । अहिंसाके सिद्धान्तपर स्थापित तथा अपनेको धर्म-निरपेक्ष बतलानेवाली सरकार किस प्रकारसे धर्मपर आघात करके घोर हिंसाको प्रोत्साहन दे रही है और परम अहिंसक 'अशोक'के नामपर स्थापित होटलके द्वारा किस प्रकार हिंसाका प्रचार और गोमांससे घृणा करनेवाले तथा हिंसामात्रको महापाप माननेवाले लोगोंके धर्मपर आक्रमण किया जा रहा है, इसका यह एक उदाहरण है। अहिंसा तथा धर्मसे प्रेम करनेवाले लोगोंको घोर विरोध करके इस अनाचारका प्रसार रोकना चाहिये । होटलके अधिकारियोंको बाध्य कर देना चाहिये कि वे इस पापको न करें । न मानें तो होटलका बहिष्कार कर देना चाहिये । जहाँतक हो सके, तुरंत ही पूर्ण निश्चय करके मांसाहारसे बचना-बचाना चाहिये । नहीं तो त्यागी, तपस्वी, सदाचारी, सात्त्विकाहारी ऋषि-मुनियोंका यह पवित्र देश क्रूर पिशाचोंकी क्रीडाभूमि बन जायगा और यहाँ पैशाचिक ताण्डव होने लगेगा !

पतनकारी सिनेमा और गंदे पोस्टरोंका घोर विरोध परमावश्यक

आज 'कर्तव्य' के स्थानपर 'अधिकार' और 'त्याग'के स्थानपर 'अर्थ' का पूर्णाधिकार हो गया है । यही इस युगकी देन है । इसीसे आजके बुद्धिमान् और शिक्षित कहलानेवाले मानवसे लेकर श्रमजीवी मजूरतक धनी-निर्धन सभी प्रत्येक विषयपर 'अधिकार' तथा 'अर्थ' के दृष्टिकोणसे ही सोचते-विचारते हैं । दूसरेका कर्तव्य सोचते हैं और अपने अधिकारपर अड़े रहते हैं । अर्थ तो सभी जगह प्रधान आसनपर आरूढ़ है । इसीसे आज अखण्ड भारतकी अखण्डता नष्ट हो रही है और जगह-जगह भाषा तथा प्रान्तके नामपर काट-छाँट और उपद्रव हो रहे हैं और परस्परके वैमनस्य तथा अविश्वास-से जन-जीवन दुखी हो रहा है । वर्तमान पाकिस्तान, नये पाकिस्तान-ईसाईस्तानोंके लिये गुप्त योजना और प्रचार, पंजाबके दो खण्ड करनेकी बात, आसाममें स्वतन्त्र पहाड़ी राज्यका प्रस्ताव, बेरुवाड़ीका प्रदान, एक प्रान्तके स्थान दूसरे प्रान्तको देने-लेनेकी योजना आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । हम मान रहे हैं——प्रगति हो रही है पर वस्तुतः हो रहा है——घोर पतन ! इसीसे अशान्ति, द्वेष, दम्भ तथा दुःखके बादल उमड़े आ रहे हैं।

इसी पतनोन्मुखी दृष्टिसे पैसेके लिये खान-पानकी चीजोंमें मिलावट, नकली दवाइयोंका निर्माण, घूसखोरी, नैतिकतापर खुला आघात करनेवाले पतनकारी साहित्यका प्रकाशन, गंदे सिनेमाओंका घोर प्रचार, नर-नारियोंके मनोंमें सहज ही विकार उत्पन्न करनेवाले सिनेमाके पात्र-पात्रियोंके चित्रोंका प्रकाशन और गंदे पोस्टर आदिका विस्तार हो रहा है और इन साधनोंके द्वारा प्रकारान्तरसे समाजमें दुराचारोंका प्रबल प्रसार हो रहा है । घृणा तो निकल ही गयी है । दुराचारमें गौरव-बुद्धि हो गयी है !

सिनेमाके द्वारा समाजमें नर-नारियोंका जिस अनुपातसे घोर पतन हो रहा है, वह यों ही होता रहा तो सदाचार और नैतिकता नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी । ऐसे-ऐसे दृश्य और गाने दिखाये-सुनाये जाते हैं, जिनकी चर्चा भी माँ-बहिन-बेटीके सामने पुत्र-भाई-पिता नहीं कर सकते, फिर माँ-बहिन-बेटी तो करती ही कैसे ? पर सिनेमामें बड़े चावसे माँ-बहिन-बेटियोंको तथा कोमलमति बालक-बालिकाओंको साथ ले जाकर स्वयं पुत्र-पिता-भाई इन गंदे दृश्योंको देखते और गंदे गाने सुनते हैं । पहले तो उनके सिर नीचे रहते हैं, पर धीरे-धीरे संकोच निकल जाता है और मानसिक पतनका जीवनमें पूर्ण प्रकाश हो जाता है । यही हो रहा है । सिनेमामें नाचने-गानेवाली तरुणियोंके चित्र छापकर और बड़े-बड़े पोस्टरोंमें उनके शरीरों और चेष्टाओंको दिखाकर लोगोंका मन आकर्षित किया जाता है । अभिनय करनेवाली युवतियोंके चित्र राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री आदिके साथ छपते हैं, प्रचुर

धनराशि उन्हें मिलती है और उनके दर्शनार्थ भले-भले लोगोंकी भीड़ उमड़ी पड़ती है। यह सब देखकर अच्छे-अच्छे घरानोंकी लड़कियोंके मनमें भी ऐसी ही बननेका प्रलोभन उत्पन्न हो जाता है और कई युवतियाँ तो इसीलिये घरोंसे भागकर बड़ी विपत्तिका सामना करनेको बाध्य होती हैं। पता नहीं, इनके प्रचारमें कौन-सा लाभ सोचा जाता है, हमारी समझसे तो कुछ लोगोंमें धनवृद्धि, जनताका धन-नाश तथा अनाचार-व्यभिचारकी प्रवृत्तिके सिवा और कोई भी लाभ इससे नहीं होता। 'मनोरञ्जन तथा कला' तो धोखा देनेकी चीज है। जैसे शराबके गुण बताकर शराबके व्यसनको दृढ़ कर दिया जाता है, वैसे ही वर्तमान सिनेमाओंके ये नाम तो इस दुर्व्यसनकी वृद्धिके लिये ही रक्खे गये मालूम होते हैं।

संत विनोबाजीने इधर कुछ समयसे 'गंदे पोस्टर हटाओ' आन्दोलन चलाया है। यह बड़ा ही लोककल्याणकारी तथा परम आवश्यक है। खुले आम सड़कों-बाजारोंमें दीवालोंपर लगाकर और मोटरों-गाड़ियोंमें रखकर—बाजे-गाजेके साथ जुलूस निकालकर ये पोस्टर दिखाये जाते हैं और भले लोगोंके मनोंमें भी विकार पैदा किया जाता है।

श्रीविनोबाजीके इस पवित्र आन्दोलनमें सबको साथ देना चाहिये तथा इन गंदे पोस्टरोंका साहसके साथ, युक्तिपूर्ण पद्धतिसे घोर विरोध करके जनताको जगाना तथा सरकारको बाध्य कर देना चाहिये कि वह कानून बनाकर ऐसे पोस्टरोंको सर्वथा रोक दे। नैतिक चरित्रकी उच्चता एवं पवित्रताके द्वारा देशका कल्याण चाहनेवाले प्रत्येक नर-नारीको इस पवित्र कार्यमें सहयोग देना चाहिये और जहाँतक बने सिनेमा न देखनेकी प्रवृत्तिको बढ़ाना चाहिये, जिसके लिये ये पाप-प्रसारक पोस्टर लगाये जाते हैं!

अभय

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

गङ्गोत्तरीसे गङ्गाजी नहीं निकली हैं, यह बात वे सब लोग जानते हैं जो वहाँ गये हैं अथवा जानेवालोंसे मिले हैं, उनके विवरण पढ़े हैं। गङ्गाजी गोमुखसे प्रकट हुई हैं। वैसे वे निकली तो हैं नारायणके चरणोंसे—भौतिकरूपमें भी उनका हिमस्रोत (ग्लेशियर) नारायण पर्वतके चरणोंसे चलकर शिवलिङ्गी शिखरके ऊपरसे होता गोमुखतक आया है। गङ्गोत्तरीमें तो गङ्गाजीकी मूर्ति है।

गोमुख गङ्गोत्तरीसे गत वर्ष १८ मील दूर था। कुछ वर्ष पूर्व यह दूरी १२ मील थी। हिमालयका हिम पिघल रहा है, इसलिये गोमुख पीछे हट रहा है। हो सकता है कि कुछ शताब्दी पूर्व गोमुख गङ्गोत्तरीमें रहा हो। गङ्गाजी तब गङ्गोत्तरीमें हिमस्रोतसे प्रकट होती हों।

'यह ऊनी चद्दर मैंने रीछसे झपट ली है।' यह बात एक साधुने बतलायी। वे गङ्गोत्तरीसे चार-छः मील ऊपर गोमुखकी ओर रहते हैं। गोल छोटे-बड़े पत्थरोंपर लाठीके सहारे कूदते-उछलते वहाँतक जाना पड़ता है। गोमुखके लिये कोई मार्ग नहीं है। गङ्गाजीके किनारे-किनारे पत्थरोंपर होकर ही जाना पड़ता है।

उधर रीछ बहुत हैं वनमें और रीछोंसे भी भयंकर है शीत। पत्थरोंपरसे पैर फिसले तो केवल सिर फूटेगा या शरीर गङ्गार्पित हो जायगा, कोई कह नहीं सकता। दिन चढ़ते ही शिखरोंसे मनों भारी हिमशिलाएँ तोपसे छूटे गोलोंके समान गड़गड़ाती गिरने लगती हैं।

इतना सब है; किंतु प्रतिवर्ष दस-पाँच साहसी यात्री गङ्गोत्तरीसे गोमुख हो आते हैं। इच्छा रहते हुए भी मैं नहीं जा सका। मेरे एक साथीको गङ्गोत्तरीमें न्यूमोनिया हो गया। उनका ज्वर दूर होनेतक मुझे वहीं रुकना पड़ा एक सप्ताह।

उसी सप्ताह युवकोंका एक समुदाय गोमुख जाकर

लौटा । उन्होंने बताया कि मार्गमें ऊपर एक साधु कुटी बनाकर रहते हैं । लौटते समय वे रात्रि-विश्राम वहीं करके आये हैं ।

रीछने किसी यात्रीका ऊनी चद्दर छीन लिया होगा या हिमके आखेट किसी यात्रीका चद्दर उसे पड़ा मिल गया होगा। ऐसे वस्त्रको रीछ वृक्षोंकी डालियोंमें लपेटकर अपने लिये आवास बना लेता है । साधु लकड़ी एकत्र करने गये तो वृक्षपर लिपटी ऊनी चद्दर देखकर चढ़ गये और उतार लाये । रीछकी अनुपस्थितिमें ही वे चद्दर ला सके थे ।

किंतु उन साधुसे भी अधिक अद्भुत साहसी हैं हमारे मार्ग-दर्शक । वे इधरसे सीधे दो बार बद्रीनाथ गये हैं । इस वर्णनने मुझे आकृष्ट किया । मैं गङ्गोत्तरीमें उनसे परिचित हो चुका था । अतएव उनसे ही सब विवरण सुननेका मैंने निश्चय किया ।

× × × ×

'द्वितीयाद्वै भयं भवति ।' संन्यासीके लिये यह श्रुति उद्धृत कर देना सहज स्वाभाविक है; किंतु उनके-जैसा सचमुच निर्भय संन्यासी जब यह श्रुति उद्धृत करता है तो श्रुतिका अर्थ सहज बोध-गम्य हो जाता है ।

वे तरुण हैं, सुशिक्षित हैं, विनम्र हैं । सुदृढ़ शरीर, साँवला रंग, बड़े-बड़े नेत्र । पहिले उनका आश्रम था कश्मीरके उस भागमें जो अब पाकिस्तानके हाथमें है ।

'नारायण, उस समय मनुष्य धर्मोन्मादमें रीछसे अधिक भयंकर हो गया था ।' उन्होंने बताया 'मुझे अकेले पैदल आना पड़ा । मैंने भारतीय सीमामें पहुँचनेतक जो कुछ देखा—छुरे रक्त-सने और उन्मादमें दौड़ती-चिल्लाती हत्याके लिये आतुर भीड़ । उस समय मनुष्यमें पता नहीं कहाँके दानव घुस गये थे ।'

'आपको किसीने कुछ कहा नहीं ?' मैंने पूछा ।

'तुम जानते ही हो कि संन्यासीके चोटी नहीं होती ।' वे खुलकर हँसे—'मेरे कपड़े मैले हो रहे थे । दाढ़ी बढ़ रही थी । मेरी ओर किसीने आँख उठाकर देखना आवश्यक नहीं माना ।'

'आपको भय नहीं लगा एकाकी उन्मत्त लोगोंके बीचमेंसे निकलनेमें ?'

'भय तो दूसरेसे लगता है ।' उन्होंने समझाया -'वे अपने स्वरूप ही तो थे । अपनेसे भिन्न कोई हो तो भय लगे । देहके लिये ही लोगोंको भय लगता है; किंतु देह तो मैं नहीं हूँ और देह मैं चाहूँ तो क्या सदा बना रहेगा ? दो बार तो देह नष्ट नहीं होता । वे तो फिर भी मनुष्य थे—पर्वतोंसे लुढ़कती हिमशिलाएँ....'

'आप दो बार गोमुख होकर सीधे बद्रीनाथ गये हैं ?' मैंने उन्हें बीचमें ही रोक दिया । क्योंकि मैं उनसे मिला ही था यह यात्रा-वर्णन जानने । बात भिन्न प्रसंगपर जा लगी थी ।

'एक बार—पहिली बार अपने कुतूहलवश और दूसरी बार कुछ अन्वेषकोंके साथ उनके आग्रहके कारण ।' उन्होंने बताया—'मार्ग इधर गोमुखसे ऊपरतक और उधर स्वर्गारोहणसे बद्रीनाथतक कठिन है । इतने विकट मार्गकी यात्रा दोनों ओरसे यात्री प्रायः करते हैं । जहाँतक वे पहुँचते हैं, वहाँसे मील-दो मील आगे बढ़कर मार्ग सरल हो जाता है । ऊपर सपाट पठार है । सीधे गोमुखसे बद्रीनाथके मार्गमें स्वर्गारोहणके नीचे दूसरे दिन ही मैं पहुँच गया था ।'

जिस मार्गमें कुछ गज चलना भारी हो जाता है, उसमें मील-दो-मीलकी चर्चा वे ऐसे कर रहे थे, जैसे मैदानके मील-दो-मील हों ।

'शिखरोंसे हिमशिलाएँ गिरती ही रहती हैं । कच्चे पर्वत भी हैं, जिनपर पेटके बल सरककर चढ़ना पड़ता है । छोटे-बड़े पत्थरोंपर कूदते चलनेका तो मार्ग ही है । कहीं-कहीं रीछ भी मिल जाते हैं ।' वे बड़े आनन्दसे सुना रहे थे—'यह भगवती पार्वतीके पिताका गृह है । यहाँ

तो शिला, हिम, जल और वन्यपशु । किंतु दिव्य धरा है । यहाँ कहीं गिरकर, हिमखण्डसे दबकर या रीछके हाथों देह नष्ट भी हो जाय—हिमालयकी गोदमें मृत्यु सौभाग्यसे ही मिलती है । हस्तिनापुरका राजसदन छोड़कर धर्मराज भाइयोंके साथ यहीं मरणका वरण करने आये थे ।'

'मरणका वरण' किसी कमरेमें अग्निके समीप ऊनी कपड़े ओढ़कर, कम्बलमें लिपटे बैठे मेरे समान इस बातको सुननेमें मनको उत्सुकता हो सकती है; किंतु सचमुच गिरती शिलाओंके मध्य चट्टानोंपर कूदते-उछलते जानेवाले यात्री—मैंने एक सिहरन अनुभव की इस स्मरणसे ।

× × ×

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।

उन्होंने कदाचित् मुझे श्रीमद्भागवतका पाठ करते किसी दिन देख लिया था । हो सकता है कि वे स्वयं भी भागवतका पाठ करते हों; क्योंकि मैं उनकी कुटियामें छोटी चौकीपर त्रिभङ्ग-सुन्दर, मयूरमुकुटीका चित्र देख आया हूँ ।

'मनुष्य परमात्माको छोड़कर दूर हट गया, उसने अपना मुख ईश्वरकी ओरसे दूसरी ओर कर लिया, अतः उसकी स्मृति उलटी हो गयी । उसने अपनेसे सर्वथा भिन्नको अपना स्वरूप मान लिया और इसीलिये सर्वत्र वह डरने लगा ।' उन्होंने गम्भीरतापूर्वक मेरी ओर देखा ।

'स्मृति उलटी हो गयी ?' मैंने पूछा ।

'तत्त्वज्ञानकी बात छोड़ भी दें तो भी इस देहमें तुम्हारा क्या है ? इसके परमाणु क्या प्रतिपल बाहर नहीं जा रहे हैं ? यह कोई बात है कि पेटमें रही विष्ठा मैं और बाहर निकला अपवित्र । इस शरीरके अतिरिक्त और किसीको कोई मार सकता है ?'

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।'

उनके बिना कहे ही मुझे गीताके कई श्लोक स्मरण हो आये ।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' जीव ईश्वरका सखा है, इसमें भी कोई संदेह है क्या ?' वे बोलते जा रहे थे—'कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ ईश्वर नहीं है ? ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वत्र है । तब उसके सखाके लिये कहीं किसी परिस्थितिमें कोई आपत्ति किस गुफासे निकलेगी ?'

मैं क्या उत्तर देता ? कोई भी क्या उत्तर दे सकता है ? वे ठीक नहीं कह रहे थे, यह कैसे कहा जा सकता है ?

'मूर्खताकी बात—शिष्ट शब्दमें अज्ञान कहो ।' वे अब उठ रहे थे कहीं जानेके लिये । मैं भी उठ खड़ा हुआ । खड़े-खड़े उन्होंने अपनी बातका उपसंहार किया—'परमात्माके सम्बन्धमें हम सोचते नहीं, अपने सम्बन्धमें भी नहीं सोचते, इसीसे यह मूर्खता सिरपर सवार है । भगवान्से दूर रहनेके कारण यह उलटी बुद्धि हो गयी है कि जिसमें अपना कुछ नहीं है, उस देहको अपना मान लिया है और इस देहमें अभिनिवेशके कारण ही सारे भय हैं ।'

मैंने उन्हें प्रणाम किया और लौट आया । अब भी मुझे उनके वे शब्द स्मरण आते हैं—'देहके सम्बन्धमें, अपने सम्बन्धमें, परमात्माके सम्बन्धमें विचार करो । भय तो मूर्खता है । ठीक-ठीक देहके भी तत्त्वपर विचार करोगे, प्रारब्धको भी समझ लोगे तो भय भाग जायगा सदा-सर्वदाके लिये ।'

'तत्त्वका ठीक विचार करनेसे भय भाग जाता है ।' बड़ा सुन्दर सूत्र है और मेरे मानसनेत्रोंके सम्मुख हैं वे अभय पुरुष ।

गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग

(लेखक—श्रीधर्मभानुसुकुमारजी एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न)

प्रत्येक जीव शान्तिप्रिय है। हृदयके मन्दिरमें सब कोई शान्तिकी ज्योति जलाये रखनेका अभिलाषी है। अकेला मानव ही यह नहीं चाहता; अपितु हरेक प्राणधारी समुत्सुक है इसी सुख और शान्तिकी मनःकामनाको पूर्ण करनेके लिये। जिस वस्तुकी जब इतनी व्यापक माँग हो जाती है; तब वह यदि महँगी हो जाय और उसका प्राप्त करना दुष्कर बन जाय तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। शान्तिकी देवी एकाकिनी करे तो क्या करे। किस-किसका घर वह पूरा करे। दसों दिशाओंमें; चतुर्दश भुवनोंमें उसीकी याचना हो रही है। देव हों अथवा दानव, जलचर हों या स्थलचर, खेचर हों वे या हों नागलोकके निवासी, जिससे पूछा जाय कि 'भई, तुम्हें क्या वस्तु अभीष्ट है?' तत्काल प्रत्युत्तर आयेगा—'शान्ति', हमें शान्ति चाहिये।

इस चराचर विश्वमें जब हम दृष्टिपात करते हैं; तब हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन प्रकारकी सृष्टियोंसे आप्लावित दिखायी देता है। एक वर्गमें तो वे जीवधारी आते हैं, जिन्हें हम 'उलटी सृष्टि'के नामसे पुकारा करते हैं। जितने भी ये वृक्ष हैं, पौधे हैं, लताएँ हैं, सभी 'उलटी सृष्टि'के प्राणी हैं। इनका सिर नीचे पृथ्वीमें धँसा पड़ा है और इनका कबन्ध, जिसे अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग कह सकते हैं, ऊपरकी ओर विकसित होते हैं। तभी मानवको 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' ऐसा प्रतिपादित किया गया है।

मानव और स्थावर सृष्टिके अन्तरालमें एक और वर्ग है, जिसमें पशु तथा पक्षियोंका समावेश होता है। जहाँ इनसे पूर्वोत्पन्न सृष्टि वनस्पतिवर्गकी अचर है वहाँ यह मध्यम सृष्टि पशु-पक्षियोंकी वैसी नहीं है। वर्षा हो, ग्रीष्म हो, शिशिर हो अथवा वसन्त हो, शरत् हो या हो हेमन्त—ये वराक वनस्पति-संसारके प्राणी ठहरे हैं, सो ठहरे हैं। यदि ये प्यासे हैं तो, भूखसे व्याकुल हैं तो, महाशीतसे ठिठुर रहे हैं तो और यदि इन्हें निदाघकाल आकर प्रचण्ड रवि-रश्मियोंसे विह्वल करने लगता है तो—ये मूक हैं, विवश हैं, एक ही स्थानपर स्थित हैं। किसी जलाशयके संनिकट होकर जल नहीं पी सकते। सघन मेघमालासे अनवरत वारिधाराएँ इन्हें यदि उद्विग्न कर रही हैं तो ये तपस्वी शान्त हैं—कोई झुलसा दे तो इन्हें इन्कार नहीं और कोई इन्हें गरमा दे तो कुछ भी न करेंगे। परंतु महाविस्मय होता है इनकी विशाल क्षमाशीलताको देखकर कि ये वनस्पतियाँ बदलेमें अपना सर्वस्व उन्हीं जीवधारियोंको दे देनेमें सदा तत्पर रहती हैं, जिन्होंने समय-समयपर जब-जब भी उन्हें अवसर लगा, कभी इनकी लकड़ियाँ काट लीं, कभी हरी-भरी लहलहाती शाखाएँ झकझोर लीं; कभी मधुर, पके, रसभरे फलोंसे अपनी झोलियाँ भर लीं—ये नीरव, निश्शब्द, उदारमना होकर तनिक कुछ नहीं उचरते।

पशुओंको अपनी शीतल छायाका सुख प्रदान करते हैं। मनुष्योंको छायाके अतिरिक्त फल-फूल-पत्ते सब कुछ सौंप देनेको उद्यत रहते हैं। कई पक्षी जैसे तोता, कठफोड़ा आदि इनके प्रकाण्डोंमें बिलें बनाकर उनमें निवास करने लगते हैं। इतर पक्षी स्कन्धोंपर, घनी शाखाओंपर नीड़ बना लेते हैं। सभीका स्वागत करना इनकी प्रकृतिदत्त विशेषता है। अस्तु,

अब हम आते हैं 'आड़ी सृष्टि'में। पशु-पक्षियों, कीट-कृमियोंकी सृष्टिका समावेश इस दूसरे वर्गमें हो जाता है। ये समस्त प्राणधारी चर हैं, सरक सकते हैं। इनमें गतिशीलता पायी जाती है। 'आड़ी' शब्दसे हमारा अभिप्राय इन जीवोंकी 'रीढ़की हड्डी' 'मेरुदण्ड'से है। अर्थात् इनका मेरुदण्ड वृक्षोंके सदृश विपर्यस्त नहीं, प्रत्युत किसी-न-किसी दिशाकी ओर होता है। नन्ही-सी यूक अथवा लिक्षासे लेकर दीर्घकाय मत्त गजराज-तक, अतिक्षुद्र किसी कीटसे लेकर पक्षिराज गरुड़पर्यन्त किसी भी जन्तुकी कायाके आकार-प्रकारका समवलोकन करें, प्रत्येकका मेरु 'आड़ा' होगा, पादपोंके समान उल्टा नहीं। यह हुई 'आड़ी सृष्टि'। इस वर्गमें समुत्पन्न समस्त जीवोंका शिरोभाग दिशोन्मुख मिलेगा—न सीधा ऊपर द्युलोककी तरफ उठा हुआ और न अधोमुख।

तीसरी श्रेणी है हमारी—हम मानवोंकी। हमारी रचना पूर्वोक्त दोनों प्रकारके देहधारियोंसे विभिन्न दृष्टिगोचर होती है। हम मानवोंका गठन सरल, सीधा, गगनमण्डलाभिमुख। मनुष्यका कलेवर और उसका उत्तमाङ्ग सूर्याभिमुख—ऊपर नभोमण्डलकी तरफ। विद्युत्‌के स्तम्भके सदृश मानो अपने मस्तिष्कमें रवि-शशिकी विमल प्रभाको भरता हुआ। मानवका मूल ऊर्ध्वदिशामें है और शेष भाग नीचेकी ओर परिवर्धन करता हुआ। इसे शास्त्रकारोंने 'सीधी सृष्टि'का नाम दिया है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
(उपनिषद्)

'इस विराट् सर्वव्यापी आत्माका मस्तक अग्नि है, चाँद और सूरज लोचन हैं, दिशाएँ ही इसके कान हैं, सम्पूर्ण निगमागम मानो इसकी वाणीसे समुद्भूत हो रहे हैं, वायुमण्डल इसका प्राणस्थानीय है, समग्र ब्रह्माण्ड हृदय है और यह वसुन्धरा इस आत्माके चरण-युगल हैं । ऐसा दिव्याकार है यह मानवकायाका लघु, उन्नत मस्तक, भुजाएँ दायें-बायें, नीचे हैं इसके पाँव । जबतक मानव चैतन्य-दशामें रहता है, इसका सिर सीधा ऊपरकी ओर स्थिर होता है । तनिक भी इसके मस्तिष्कमें स्वप्नका विचार उत्पन्न हुआ, तत्काल यह सिर किसी-न-किसी दिशाकी तरफ लुढ़क जायेगा । उस समय सिर सीधा तना हुआ नहीं रहता । वहाँ तमोगुणका अधिकार हो जाता है । निद्राकालमें हम सदा ही लेट जाते हैं, सीधे खड़े नहीं रह पाते । ब्रह्माण्डदेशके साथ हमारे पिण्डदेशका सीधा, गहरा तथा अनुरूप सम्बन्ध है ।

यहाँतक हमने चर्चा की मानवशरीरके सर्वोत्कृष्ट गठनकी और विश्वके प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ रचे जानेकी ।

मानव-सृष्टिकी सर्वोत्तमताका प्रतिपादन करते हुए हमें यह भी देखना है कि महाप्रलयके अनन्तर यही प्राणी धरातलपर सबके पीछे अवतीर्ण हुआ था । समस्त भोग-योनियोंका सृजन इसके आगमनसे पूर्व हो चुका था । सबसे प्रथम तो प्राणधारियोंमें उत्पन्न हुए थे स्थावर-जगत्के जीव—वनस्पतिवर्ग । यही तो था उपभोग्य तत्त्व पशु-पक्षियोंके लिये । तदुपरान्त आये 'आड़ी सृष्टि' के जीव । ये दोनों प्रकारके जीव-जन्तु भोग-योनिके अन्तर्गत माने जाते हैं । इन्हें अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगना होता है—तभी जन्म लेते हैं । कोई स्थावर बनकर और कोई जंगम । जलचर, स्थलचर और नभश्चर कोई भी हों, हैं सब-के-सब भोग्य—मानवकी सेवा करनेके लिये सम्भूत । इन सभीके यथास्थान, यथोपयोग और यथाकर्म सज जानेपर अवतीर्ण होता है यह मानुषाकार प्राणी । मानव उभययोनिका प्राणी है—भोगयोनिमें भी और कर्मयोनिका भी । समूचा विश्व इसके समक्ष बिखरा पड़ा है केवल इसीकी परिचर्याके लिये । मानव जब उत्पन्न होता है, तब इसके अन्तःकरणमें अनेक प्रकारकी इच्छाओंका ताना-बाना तना पड़ा होता है ! वे उसकी प्रथम सुषुप्त और पुनः जाग्रत् होती हुई वासनाएँ चाहती हैं पूर्त्ति । उनकी पूर्त्तिके हेतु ही यह अशेष प्रकृति सर्वदा सर्वथा संनद्ध रहती है । मनुष्यकी इच्छा होती है क्षुधा-निवारण करनेकी—फलोंसे लदे हुए पेड़ तुरंत नतमस्तक-से हुए अपनी-अपनी शाखाओंको समवनत किये सामने आ उपस्थित होते हैं । मानो सहर्ष निवेदन करते हैं—'ऐ मानव ! स्वीकार कर ले हमें' । ये फल हमें तो भक्षण करने नहीं । या तू खायेगा, नहीं तो पशु-पक्षी ही नोच ले जायँगे । आवश्यकता हुई तृषा बुझानेकी । गिरि-कन्दराओंसे अनन्त निर्झर और निर्झरिणियाँ नीचेकी ओर द्रुतगतिसे भागती हुई चली आती हैं । कहीं यह मानव प्यासा न रह जाये । नदी-नाले अहर्निश इसीकी सेवामें तत्पर हैं । भूमिको सींच-सींचकर अन्न उगलवा लेते हैं, फलोंके ढेर-के-ढेर प्रस्तुत करा देते हैं । यह मानव परितृप्त रहे । मनुष्यको देश-विदेशमें परिभ्रमण करनेकी आकाङ्क्षा भी उत्पन्न हुई । मरुभूमि है । मीलों बालू बिछी है । आकाशमें भगवान् मरीचिमाली प्रखर किरणोंसे उसे संतप्त कर रहे हैं । दिशाएँ अग्नि बरसा रही हैं । मानव क्या देखता है कि नयनोंके सम्मुख खड़ा है एक अटपटा प्राणी—लंबा-चौड़ा जिसे उष्ट्र कहते हैं । वह ऊँट हाथ बाँधे विनय करता है इस मनुष्यसे । आपको रेगिस्तानसे पार उतारनेके लिये मुझे भगवान्ने नियुक्त किया है । आप सहर्ष मुझपर सवार हो जाइये, मैं आपको त्वरितगतिसे ले चलूँगा । मानव उसकी आकृति देखकर स्तब्ध-सा रह जाता है । अरे ! कैसा बेडौल जानवर है यह—परंतु कितना ऊँचा है धरातलसे । वह सरल जीव भी अपने उदरमें पर्याप्त जलराशि भरकर प्रसन्न मुद्रामें आगे बढ़ जाता है और इस मनुष्य नामके जीवको स्वकीय गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देता है । पर्वतोंपर चढ़ना हो तो खच्चर खड़े हैं, समरभूमिमें शत्रुसेनाओंसे टकराना हो तो वेगवान् अश्व ठहरे हैं, मदमत्त नागराज हैं । भार लादनेके लिये बैल, गर्दभ अपने-आपको समर्पित किये हुए यत्र-तत्र मिल जाते हैं ।

इसी मनुष्यके निवासस्थानोंकी परिशुद्धिके लिये कुक्कुट हैं, शूकर हैं, जो सब कूड़ा-कर्कट दूर करनेमें कुशल होते हुए सब जगहको स्वच्छ कर देते हैं । अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाले कोटि-कोटि असंख्य जीवोंको अपना ग्रास बनाते हुए चमगीदड़, अन्य सहस्रों पक्षी वायुमण्डलको हमारे श्वास लेनेके योग्य बना देते हैं । भाव यह कि ये उलटी और आड़ी सृष्टियोंके प्राणी सर्वतोभावेन मनुष्यसमुदायकी परिचर्यामें आठों

पहर संलग्न रहते हैं। ऐसा है पुण्यात्मा, सौभाग्यशील, मानव-देहधारी यह मनुष्य, जो कर्मयोनिमें जन्मा है। कर्मयोगी बननेका इसे एकाङ्गी अधिकार मिला हुआ है। यह यदि उपभोक्ता है तो इसका ही उपभोग्य है यह इतर चराचर विश्व।

मानव-शरीरमें ही आकर यह आत्मा अपनेपर आवरण डाले हुए पाँचों कोशोंका विभेदन करता हुआ निर्वाणपदको प्राप्त करता है। उत्तरोत्तर एक-दूसरेमें लिपटे हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशोंका अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा सम्यग्ज्ञान पाकर यह आत्मा निज स्वरूपमें स्थित हो जाता है। नरसे नारायण ही तो बन जानेकी यह बिरिया है। इस स्वर्णावसरको प्राप्त करके भी आज यह मानव अशान्त है, चिन्तासमाकुल है।

इस 'वीरभोग्या वसुन्धरा' पर अरबों जीव इस मानवके साथ जीवनयात्राको चला रहे हैं। निरुद्देश्य वे भी नहीं। अपने प्राक्तन जन्मकृत कर्मोंके फल उन्हें विवश होकर भोगने हैं। कीट-पतंग, खग-मृग—हरेकके पीछे कर्म-शृङ्खला जुड़ी हुई है। उस कर्मोंकी रज्जुमें इन प्राणियोंका मन जकड़ा हुआ है। उन दयनीय पशु-जगत्‌के जन्तुओंके अतिरिक्त मानव-योनिमें भी आये हुए करोड़ों देहधारी जीव स्वकीय भोगोंका सहर्ष भुगतान करनेके लिये बाध्य हैं। वे भी तो मनुष्य हैं, जिन्हें अपनी उदरपूर्तिके लिये कोयलेकी खानोंमें काम करना पड़ता है। दिनमें बारह घंटे कोयलेकी धूलिमें लोटा करते हैं। कोई सीमेन्ट अथवा चूना भर-भरकर गाड़ियोंमें लादते-लादते कितनी मात्रामें सीमेन्ट, चूना, रोड़ी, सुर्खी प्राणोंके द्वारा अपने फेफड़ोंमें भरा करते हैं। वे भी तो मानव-संततिके पुत्र कहलाते हैं, जिनके हाथ और पाँव, नाक और मुख, आँखें और कान—समूचा शरीर ही तो उच्चजातीय मनुष्योंके मल-मूत्रके उठानेमें डूबा रहता है। यह किसकी देन है ? किसी मानवका शाप नहीं। ऋषि-मुनियोंका अभिशाप नहीं, बल्कि अपने ही कर्म हैं, जो कभी किसी जन्ममें किये गये थे। वे भी मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव थे—इतर भोगयोनियोंमें नहीं। नूतन कर्मशृङ्खलामें नव-नव ग्रन्थियाँ केवल मानवजन्ममें बँध सकती हैं। साथ ही यह मात्र जीवन होता है, जिसमें अवाञ्छित कर्म-निचयोंका परिहार किया जा सकता है। यह मानव-जन्म ही तो है जिसमें विचरण करते हुए अपने ज्ञान और सद्विवेककी ज्योतिमें आत्माके पावन दर्शन किये जा सकते हैं। जिस मनुष्यको मोक्षप्राप्तिका अधिकार मिल चुका हो, जिसमें इतनी सत्ता निहित हो कि वह अपने बुद्धि-वैभवसे भूलोकमें बैठा हुआ चन्द्रलोक, मंगल तथा शुक्र ग्रहोंका पर्यवेक्षण करनेकी क्षमता रख सकता हो, वह तिसपर कहा करे मैं अशान्त हूँ, मैं हूँ विपद्ग्रस्त, मुझे अपना जीवन बोझल हुआ जाता है। 'त्राहि माम्'-'त्राहि माम्' की गूँज सुन पड़ती हो। यह युग तो है वैज्ञानिक—भौतिक तत्त्वोंकी गम्भीर खोज अणु-परमाणुओंतक दिन-प्रतिदिन निरन्तर हो रही है। कुछ भी हो—जनसाधारणका जीवन दुःखोंसे परिपूर्ण है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने गहन विपिनोंमें, शैल-शिखरोंपर, गिरि-गह्वरोंमें, नदियोंके संगमोंकी संनिधिमें समाहित होकर जीवनमें 'शान्ति' तत्त्वकी गम्भीर गवेषणा की और उन्होंने लोकहितकी सद्भावनासे डंकेकी चोट यह उद्घोषित किया—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व)

पाराशर व्यासने कौरव-पाण्डवोंको अपनी भौतिक समुन्नतिपर मदान्ध होते हुए देखकर मन-ही-मन विचार किया। उधर द्वापर युगके मनीषी, ज्ञान-विज्ञान-धुरन्धर ब्रह्मचारी भीष्म, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महात्मा विदुर, पतिव्रता माता गान्धारी, आचार्य द्रोण—एक-एक करके सबने दुर्योधनको प्रबोधित किया। उसे बारंबार भ्रातृ-युद्धमें न कूदनेका सत्परामर्श दिया—भीषण संग्रामसे कितनी विराट् अपरिमेय क्षति हुआ करती है। परंतु अर्थ और कामका लोलुप दुर्योधन अपने दुस्संकल्पपर अचल रहा। दूत बनकर पधारे हुए युग-पुरुषकी उसने तीव्र भर्त्सना की और स्पष्ट शब्दोंमें ललकारते हुए कहा—

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।'

अरे गोपाल ! मैं रणके बिना सूईकी नोकभर भी भूमि-खण्ड देनेको प्रस्तुत नहीं हूँ। मैंने तुम्हारी सब व्याख्या श्रवण कर ली है।

उस समय महर्षि व्यासने उस विषाक्त वातावरणमें संजीवन-शक्तिको संचरित करनेके लिये यह वाणी कही—

ऐ मदोन्मत्त, गर्वभरित मानवो ! मैं अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर इस त्रिकाल सत्यकी घोषणा किया चाहता हूँ—और पुनः-पुनः कहता हूँ कि ऐ मानव ! तू मदान्ध

मत बन । अर्थ और काम मनुष्य-समाजको निगल जानेवाले दो महाग्राहके तुल्य होते हैं—उनके पल्ले न पड़, धर्मकी प्रशीतल छायामें आ जाओ। धर्मपूर्वक अर्थका संचय करो—धर्म और अर्थकी सहायतासे कामनाओंकी पूर्त्ति भयङ्कर नहीं होती । हा ! कितने खेदका विषय है । कोई मेरी गुहार सुनता नहीं । धनलोलुप राष्ट्र जाने किस दुर्गतिका शिकार हो जायेगा ।

और आगे 'धर्म' शब्दकी विशद, विस्तृत व्याख्या नहीं करना चाहते । महर्षि संक्षेपमें इतना ही कथन करते हैं—ऐ मेरे अभिमत प्राणियो ! धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ निष्कर्ष हो सकता है, मैं तुम्हें उसे समझाता हूँ—तुम सुनो । केवल श्रवण नहीं करो, अपितु सुनकर उसपर मनन करो, उसे चीन्हो, उसका परिशीलन करो । और वह परिभाषा धर्मकी और कुछ नहीं, इतनी मात्र ही है—'मानव औरोंके प्रति वैसा कोई भी आचरण न करे, जिस आचरणसे उसके अपने मानसको ठेस पहुँचनेकी सम्भावना हो ।' यह है गृहस्थजीवनमें सच्ची शान्तिका मार्ग ।

गृहस्थजीवन निर्वाण-पदकी सरणिमें द्वितीय आश्रम है । यह जीवनका साध्य नहीं, एक साधन है । साधन किसी वस्तुकी पूर्त्तिमें सहायक होता है । विवेकशील मनुष्यका लक्ष्य है मुक्ति—और उसतक पहुँचनेके चार सोपान हैं, जिनका उल्लेख मनीषियोंने मानवमात्रके लिये किया है—१. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष । इन चारों अङ्गोंकी सिद्धि अत्यावश्यक होती है मनुष्यके लिये ! इन चारोंको एक ही जीवन-समयमें पूर्ण कर लेना किसी बिरले परम संस्कारी जीवका कार्य होता है । नहीं तो ९९ प्रतिशत प्राणी प्रथम तीन सोपानोंमेंसे किसी एक अथवा दोतक ही अटके रहते हैं । मोक्ष-साधन कर लेना महाकठिन कार्य होता है । और अधिकांश लोग तो ऐसे ही दिखायी पड़ेंगे, जिन्हें इन चारों साधनोंमेंसे एक-से भी सरोकार नहीं होता । उनके लिये नीतिकारोंने कथन किया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

जिस पुरुषको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमेंसे एक साधनसे भी कोई प्रयोजन नहीं रहा, उसका जन्म ऐसे ही निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये जैसे बकरीके गलेमें उगनेवाले स्तन निष्प्रयोजन हुआ करते हैं ।

जिस सद्गृहस्थको अपने गार्हस्थ्य-जीवनमें सुखद शान्तिका संनिवेश करना हो, वह अपने धर्मका सुचारुरूपमें परिपालन करे । 'अपने धर्म' से अभिप्राय है उन प्रकृतिदत्त सद्गुणोंका, अपने स्वाभाविक संस्कारोंका संरक्षण करना । जो गृहस्थ सत्त्वगुणसम्पन्न है और उसकी सहधर्मिणी भी सत्त्वनिष्ठ है—दोनों सत्त्व-गुणका संवर्धन करें । नर अपने पुरुषधर्मकी और नारी स्वकीय नारी-धर्मकी रक्षा करती हुई चले । जो दम्पती रजोगुणी हैं, उन्हें रजोगुणमें रहते हुए प्रयत्न करते रहना चाहिये कि वे रजोगुणकी चञ्चलता, अशान्ति और अस्थिर-चित्तताके शमन करनेका प्रयास करें । सत्त्वगुणनिष्ठ सज्जनोंके सम्पर्कमें, सात्त्विक ग्रन्थोंके अध्ययनमें, सात्त्विक विचारोंसे पूर्ण सत्सङ्गोंमें लगे रहनेका भरसक प्रयत्न करें । जिनमें पूर्वजन्मके संगृहीत तमोगुणी संस्कारोंकी बहुलता है—ऐसे पति और पत्नी मानव-जीवनके आयुः-परिमाणको अविद्यामें ही न खो दें, सत्कुलीन गृहस्थोंकी सेवा-शुश्रूषामें जुट जायँ । उनमें ऐसे पवित्र वातावरणमें आते-जाते रहनेसे तमोगुणके संस्कार क्षीण होने लगेंगे । संगतिका प्रभाव तो पड़े बिना रह नहीं सकता । 'जैसा संग वैसा रंग ।'

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥

अत्यन्त तपे हुए लाल लोहेकी चादरपर स्वाति नक्षत्रकालमें पड़ी हुई एक जलकी बूँद तत्काल ही सूख जाती है, उसका नामो-निशान मिट जाता है । वैसी ही जलकी बूँद यदि गिरकर किसी कमलके पत्तेपर जा अटके तो वह मोतीके सदृश चमक देने लगती है । इनमें पहली बूँदकी संगतिको अधम और दूसरीको मध्यम कहते हैं । वैसे ही बादलोंकी गोदसे निकली एक और बूँद नीचे उतरी; समुद्रके जलपर एक सीप अपना मुँह खोले तैरती थी—उसमें जा पड़ी । ओहो ! भाग्य उसके । वह पानी पानी ही न रहा—एक मोती जा बना । यह है उत्तम संसर्गका प्रभाव !

इसी तरह गृहस्थ पुरुषका प्रमुख धर्म यह है कि वह अपनेको सत्त्वगुणविशिष्ट बना ले । यदि नर अथवा नारी विद्याध्ययन-कालमें एकाकी जीवन बिताते हुए अपनेमें पूर्णता नहीं ला सके तो इस दूसरे आश्रममें दोनों एक दूसरेकी प्रकृतिका सम्यक् अनुशीलन करें । भार्या कोई दासीके रूपमें पुरुषके आँचलमें नहीं बाँधी गयी होती । पुरुष यदि 'नर' है तो उसे 'नरत्व' के गौरवको समझना है । नारीकी शालीनताको कलुषित करनेका उसे कोई अधिकार नहीं ।

गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करते हुए प्रतिज्ञाविधिको पूर्ण करनेके पश्चात् वर और वधू 'सप्तपदी' का अनुष्ठान करते हैं। दोनोंका पाणिग्रहण हो चुका होता है। गठजोड़ा करके दोनों यज्ञवेदीकी उत्तर दिशाकी ओर सात पग चलते हैं। नारी और नर दोनों समानाधिकारसे सुभूषित होकर निम्नलिखित सात वचन बोलते हैं—१. **इषे एकपदी भव**—ऐ देवि! तेरा पहला पग इस हमारे नूतन ज्येष्ठाश्रममें विपुल अन्नको लानेवाला हो। २. **ऊर्जे द्विपदी भव**—तेरे दूसरे पगके साथ हम दोनोंकी कायामें शक्तिका संचार हो। ३. **रायस्पोषाय त्रिपदी भव**—तुझ कन्याके शुभागमनसे हमारे गृहमें धन-धान्यकी, पुष्ट स्वास्थ्यकी न्यूनता न रहे। हम दोनों धन-धान्यसम्पन्न हों और नीरोग, निरामय और स्वस्थ हों। ४. **मयोभवाय चतुष्पदी भव**—शुभे! तेरे और मेरे चतुर्थ पदके साथ-साथ हमारे गृहमें सुख-शान्ति, सद्भावना, सत्प्रेरणा तथा सुमतिका संनिवेश होता चले। यथार्थ है यह वचन—अन्न, शक्ति, धन, स्वास्थ्य होते हुए भी यदि पारस्परिक विचारोंमें सामञ्जस्य नहीं—ऊहापोह, तर्क-वितर्क, मतिवैषम्य, विरोधी विचार हृदयमें बसे हुए हों, तो भी विवाह—विशेष रूपसे मानव-जीवनके भारको वहन करना दूभर हो जायगा। आगे पञ्चम पग उठाते हुए दोनोंने समस्वरसे प्रार्थना की—५. **'प्रजायै पञ्चपदी भव—सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः'** ऐ कल्याणि! हमारा सदन पुत्रोंकी कलकलसे रमणीय बन जाय। 'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्' संततिहीन गृह शून्य काननके समान अप्रिय प्रतीत होता है। इस सद्भावनासे उठते हुए हमारे पाँचवें पगमें परमात्मासे प्रार्थना है कि वह हमें पुत्रवान् बनाये; वे संतानें भी सुशिक्षित, विनयशील, सद्गुणग्राही और आयुष्मान् हों—अपने वंशकी कीर्तिको विश्वमें प्रसारित करनेवाली हों और तू सदा मेरी आज्ञाकारिणी रहना। हम दोनों एक ही व्रतके पालक बनें। ६. **ऋतुभ्यः षट्पदी भव**—तेरा छठा कदम हमारे कुलोंमें समस्त ऋतुओंके सौख्य तथा समृद्धिको भरनेवाला हो। और यह हमारा सप्तम पद ७. **सखे सप्तपदी भव**—आजसे हम दोनों पावन मैत्रीके शुचि बन्धनमें आबद्ध होते हैं। हम दोनोंका नाता पति-पत्नीका तो हुआ ही; किंतु इस पवित्र सम्बन्धमें जो आत्मा कार्य करेगी, वह होगी सन्मैत्रीकी। हम अपनी इस जीवन-नैयाके आजसे केवट हुए। सुख-दुःखमें, हानि-लाभमें, मानापमानमें, पाप-पुण्यमें और धर्माधर्ममें समान भागी होंगे। हमारा सम्बन्ध दास-दासीका-सा नहीं है—स्वामी और सेविकाका भी नहीं, सन्मित्रताका है, जो मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और जनकनन्दिनी सीताका था, जिस नातेमें योगेश्वर श्रीकृष्ण और पतिव्रता रुक्मिणी जीवनभर आबद्ध रहे। यह है उदात्त गृहस्थ-जीवनकी एक आधारभूत झाँकी। परिणय हो जानेके उपरान्त भी जिन्होंने इन सात प्रतिज्ञाओंकी मर्यादाको सँभाला, वे गृहस्थमें भी शान्त, सुप्रसन्न और मानव रह सके।

'साप्तपदीनं सख्यम्'—पाणिनि। मित्रता सात पद चलनेसे दृढ़ हो जाती है। 'सख्यं सतां साप्तपदीनमुच्यते'—रघुवंश कुम्भोदर सिंहराजकी यह उक्ति है महाराजा दिलीपके प्रति—सज्जनोंकी मैत्री सप्तपद चलनेसे सुदृढ़ समझी जाती है। विवाह-विधिमें—

'कन्या भवति वै नारी, विवाहात्सप्तमे पदे'—सप्तपदीके प्रकरणमें सातवाँ पग भरनेसे पूर्वतक कन्या कन्या रहती है—'नारी' पदकी अधिकारिणी नहीं होती। इससे भी इसी तथ्यकी पुष्टि हो जाती है कि गृहस्थ-जीवनमें जो अशान्तिका बोलबाला है—उसका मूल कारण मित्रताके धर्मको न निभाना है।

गृहस्थ-जीवनमें ही मानवको अपना छोटा-सा संसार बसाकर विराट् ब्रह्माण्डमें कार्य करती हुई सम्पूर्ण प्रक्रियाओंका एक संक्षिप्त संस्करण मिल जाता है। एक ही परिवारमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिके भिन्न-भिन्न खिलौने आ इकट्ठे होते हैं। कई आत्माएँ पुत्ररूपमें पहुँचकर सत्त्वगुणकी सुषमा बखेर देती हैं। कोई आत्मा रजोगुणमें लिपटी हुई कन्या बनकर अपनी आडम्बरप्रियताका प्रकाश कर रही होती है। कोई आत्मा तमोगुणमें समाच्छन्न हुई उस परिवारका सदस्य आ बनती है और आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा, अज्ञान, अविवेक, गर्व, दम्भ, दर्द और अनास्थाका तिमिर-जाल फैलानेमें प्रवण रहती है। गार्हस्थ्य आश्रम तो एक ऐसा रंगमञ्च-सा बन जाता है, जिसपर दसों रसोंका आकर्षक अभिनय समय समयपर चलता रहता है। कभी शृङ्गार-रस अपनी छटामें उन्मत्त होता है तो दूसरी ओरसे रौद्र, करुण, शान्त रसोंकी वृष्टि होने लगती है। कभी बीभत्सका उन्मुक्त ताण्डव होने लगता है और क्रोध आकर दनदनाता है। हाँ, मेघमालामें जिस प्रकार सौदमनी प्रवेश करके अपनी दिव्य कान्ति क्षणभरके लिये दिखला जाती है, वैसे ही मञ्चपर हास्य-रसकी मधुर रेखा भी एक बार झाँक जाती है। कभी वही परिवार इतना भयङ्कर रूप धारण कर लेता है जो भाई-भाईको

नोचनेको तत्पर है। बहिनें माता-पिताको खरी-खोटी सुनानेमें नहीं लजातीं। न्यायालयोंमें जाकर एक दूसरेपर कीच उछालनेतककी नौबत आ जाती है। यह सब प्रकारका नाटक गृहस्थ-जीवनमें ही सम्भव होता है। अनेक पात्र एक ही अन्नसे पलनेवाले, एक ही वातावरणमें पोषित हुए, पारस्परिक रहस्योंको बहुत अंशतक समझनेवाले, अपनी-अपनी अहमहमिकामें निमग्न गृहस्थ-जीवनके प्रशान्त गगन-मण्डलको कभी भी प्रसन्न नहीं रहने देते। विशेषरूपसे आधुनिक विज्ञानप्रधान युगमें, जब कि अर्थ और कामका साम्राज्य उन्मुक्त हुआ फैलता-सा जा रहा है, निरंकुशताके पौ बारह हो रहे हैं, राजसी और तामसी प्रवृत्तियोंको छूट मिली हुई है। वराकी शान्तिकी प्रतिमा क्या करे—मौन, मूक, निस्तब्ध-सी बनी एकटक निहार रही है दानवताके रंगमें रँगी हुई मानवताको।

गृहस्थ-आश्रम तो वस्तुतः वह आकर है, जिसमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी, परिपूत सद्गृहस्थ, विशुद्धात्मा वानप्रस्थ और अग्निमय तेजस्वी संन्यासी आत्मनिर्माण किया करते हैं। मानवताका शुचि मुक्ताकण गृहस्थकी ही शुक्तिमें निर्मित हुआ करता है।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

(मनुस्मृति)

पर्वत-मालाओंसे विनिस्सृत होकर जैसे अशेष सरिताएँ कलकल करती हुई सागरमें जाकर शान्त होती हैं, वैसे ही शेष तीनों आश्रमोंके व्रतधारी नर-नारी गृहस्थियोंके द्वारसे अवलम्ब पाते हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, परिव्राजक—तीनों भिक्षोपजीवी हैं। और भिक्षा देनेके एक मात्र अधिकारी सद्गृहस्थ ही होते हैं। तीनों उसीके द्वारपरसे आजीविका जुटाते हैं।

जिस भाँति पवन हमारे प्राणोंका आधार रहता है, वैसे ही अन्य-आश्रमी जीव गृहस्थका आश्रय पाकर अपनी जीवन-यात्राको चलानेमें समर्थ होते हैं। **तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही**—अतएव गृहस्थाश्रम सबका मूर्धन्य हो योगी, यति, तपस्वी, सम्राट, परिव्राट्, शिल्पकार, चित्रकार, लेखक, विद्वान्, परमसिद्ध, मुनीश्वर, श्रमण, वैखानस, ऐश्वर्यशाली, दरिद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—मानव-समाजके सब प्रकारके अङ्ग प्रत्यङ्ग इसी गृहस्थ-आश्रमकी उपज होते हैं। धूर्त्त, पिशाच, तस्कर, कुटिल, धीर, वीर, गम्भीर—सभीका सृजन इसी मूलसे होता है। इतना गौरवास्पद तथा प्रतिष्ठा-भाजन है यह आश्रम! राष्ट्रकी उन्नति और अवनतिके प्रतीक हैं ये गृहस्थाश्रम—यदि ऐसा भी कह दिया जाय तो इसमें अत्युक्ति न होगी।

इतनी मान्यताका पात्र यह गृहस्थ-जीवन अब अर्थ और कामके कर्दममें सना हुआ शोचनीय दशामें चीत्कार कर रहा है। राग-द्वेषकी होली खेली जाती हो एक दूसरेपर अविश्वास है। सहृदयता, सद्भावना और उदारता किनारा किये जा रही हैं। इस सब नारकीय स्थितिके नीचे तीन हैं महापातकी, जो तीन ओरसे गृहस्थ-जीवनकी सौम्य और सौम्यमयी सुषमाको निगीर्ण करते जा रहे हैं। इन तीन जघन्य पापियोंको नरकका द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध और लोभ नरकके द्वार हैं। जिस गृहस्थको अधोगति प्रिय नहीं, जिसे कोटि-कोटि पुण्योंके प्रभावसे यह मानवजन्म प्राप्त हो गया है, वह इन तीनोंको तिलाञ्जलि दे देनेका प्रयत्न करे।

धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्मः कुवर्त्म तत् ।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥

(महाभारते)

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥

उस कर्तव्यको अकर्तव्य मानो, जिससे आत्म-दर्शनमें बाधा आती हो। वह तो कुमार्ग है, उपादेय कार्य नहीं। वह कृत्य सर्वथा परित्याज्य है, जिसके पालनसे जन-कल्याण नहीं होता अथवा जिसके अनुष्ठानसे पश्चात्ताप, ग्लानि तथा हृदयमें लज्जाका उदय हो आता है।

सद्गृहस्थका यह ध्येय होना चाहिये—

सदयं हृदयं यस्य भाषितं यस्य भूषितम् ।
कामः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम् ॥

जिसके हृदयमें दयाका भाव अधिष्ठित हो। वचनोंमें सरसता हो। उसकी भावनाएँ लोकसंग्रहका ध्यान रखती हों। उस गृहस्थ-जीवनमें पाप-तापका प्रवेश नहीं हुआ करता।

क्रोधः शत्रुश्शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति देवास्तं ब्राह्मणं विदुः ॥
न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः ।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहिनीम् ।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥

नरको नारायणत्व किन दशाओंमें अधिगत हो सकता है; इसका रुचिर चित्रण इन उपरिलिखित श्लोकोंमें किया गया है ।

'ऐ कुलीन द्विजश्रेष्ठ ! मानवके देहमें क्रोध एक प्रबल शत्रु है; जो क्रोध और मोहका त्याग कर लेता है, वह अतिमानव हो जाता है । विश्वके समस्त जीवोंके प्रति जिसके सात्त्विक अन्तर्मानसमें निष्पाप कालुष्यशून्य शुभ्र भाव-तरङ्गें आन्दोलित हुआ करती हैं और जिसके मन, वचन और कर्ममें अनवरत समत्व विराजमान होता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है । जिससे नारायणत्व-पदकी प्राप्ति हो सकती है—वह सत्कर्म है मनोविनोदिनी ईर्ष्याका परित्याग कर देना, अपने मनका परिनिमज्जन, मोह और कामको आत्मसत्ताके आनन्दमें चरम नमस्कार कर देना ।

इसी वसुधातलपर स्वर्गीय सुखोंका जहाँ अनुभव हो सकता है वहाँ नारकीय दशाओंमें ग्रस्त प्राणियोंको भी देखा जा सकता है । तत्त्वदर्शियोंके ये वचन मिथ्या नहीं:—

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि भवन्ति देहे ।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥
अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम् ।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा
चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम् ॥

इस अवनीतलपर उन सद्गृहस्थोंको स्वर्गसुखोंमें रमा हुआ जानना चाहिये, जिनमें दानशीलता है, मधुर वाणीमें वार्त्तालाप करनेकी प्रवृत्ति है, विद्वज्जनका जो सम्मान करते हैं और परमात्मनिष्ठ, वीतराग मुनिजनोंके प्रति जिनके हृदयमें आस्था रहती हो । इसके विपरीत—वे गृहस्थ मानव वस्तुतः नारकीय जीवन यापित करते हैं, जिनमें प्रचण्ड क्रोध विद्यमान है, जिनकी वाणी कर्कश है, जो कृपण और गुणविहीन हैं, स्वकीय बन्धुजनोंसे जिनकी कभी पटती न हो; जो सदा उनसे ३६ बने रहते हों; नीच निकृष्ट लोगोंकी सेवा जिन्हें प्रिय लगती हो ।

गृहस्थ-जीवन तो दूसरी मंजिल है । 'शतायुर्वै पुरुषः'—मनुष्यकी आयुका परिमाण न्यूनतम सौ वर्षका हो । इन संवत्सरोंको चार आश्रमोंमें व्याप्त कर देना चाहिये । ब्रह्मचर्य चौबीस; गृहस्थ चौवालीस; जीवनके अड़सठवें वर्षमें प्रवेश करके एक सद्गृहस्थ, जो मुमुक्षु हो; शेष जीवन लोकसंग्रहमें व्यतीत करे । विश्व-परिवारोंका सदस्य अपनेको बनानेका प्रयास करे । इस उच्च आदर्शतक पहुँचनेके लिये वह अपने गृहस्थ-कालमें अधस्तन तीन उदात्त लक्ष्योंपर अजस्र दृष्टि रखता रहे और इन्हें आत्मसात् कर ले— १. यज्ञ, २. दान, ३. तप ।

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'—श्रीमद्भगवद्गीता । मननशील मानवको यज्ञमय, दानशील तथा तपोनिष्ठ जीवन बना लेना चाहिये ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

विश्वपतिने समग्र प्रजाजनोंका सृजन करके उनसे कहा—'ऐ प्राणधारियो ! तुम्हें मैंने यज्ञ-भावनासे अनुप्राणित कर दिया है । यदि तुम्हारी इस त्रिगुणमयी सृष्टिमें सुख-शान्तिसे जीवन-यापन करनेकी अभिलाषा है तो सदा यज्ञशील रहना । स्वार्थ-परायणतासे दूर, निःस्वार्थ, निष्काम, लोक-कल्याणकृत् होकर सम्पूर्ण कामनाओंको परिपूर्ण कर लोगे—यही अच्छी संजीवन-वटी है ।

आजका मानव इसी स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित किये जाने योग्य सार्वजनीन नियमको विस्मृत किये जा रहा है । प्रत्येकको अपनी चिन्ता पहले निगले जाती है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँचों नित्यके महाव्रत उदस्त हो रहे हैं । इनका स्थान यदि हिंसा, अनृत, चौर्य, असंयम और भोगलोलुपता लेती चली जाती हो तो क्यों अवसन्न हों हम ।

गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग किसी सुदूर देशसे उठाकर नहीं लाना है, मानवके अन्तःकरणमें उसकी एक-एक कड़ी बिखरी पड़ी है । उसे सँजोना सीखें । पथपर अड़ी हुई कुसंस्कारोंकी प्रगाढ़ धूलिको परिमार्जित कर लें । इसका एक अत्यन्त रमणीय, सरल, सुलभ, संक्षिप्त और क्रियात्मक साधन है—

‘प्रत्येक पदार्थको जो भी हमारे उपयोगमें है, आ चुका है, आयेगा, उसे परम शक्तिकी—परात्पर परब्रह्मकी धरोहर समझें ।’ यह विचार कल्पना-प्रसूत न होकर अंशतः, नहीं सर्वांशतः यथार्थ है । अपनी ममता ही संसारकी निस्सारताको हमसे तिरोहित कर देती है ।

> द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च ।
> ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥
> ममेति दुःखमूलं हि निर्ममेति च निर्वृतिः ।
> शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषके ॥

इस विश्वमें चेतन आत्माका अपना है ही क्या ? कुछ भी तो नहीं । न यह अन्तःशरीर और न यह बाहरका स्थूल देह । जड और चेतनमें एक ग्रन्थि बँध गयी है—अपनी हमारी अविद्यासे । उसके कारण ही यह जीव निजरूपसे अनभिज्ञ-सा हो गया है; अज्ञान-तिमिरमें जा कूदा है—उसीमें ठहरा हुआ इच्छा कर रहा है कि मेरी वह गाँठ खुल जाय । व्रत, उपवास, सत्संग, देवाराधन, अनुष्ठानादिके द्वारा हाथ-पाँव भी पटकता है—कदाचित् वह ग्रन्थि सुलझ जाये । परंतु अज्ञानावृत जीव अकेला भी तो नहीं—है भी गृहस्थी, चारों ओरसे अनेकों ममता-पाशोंसे विनिबद्ध । वह गाँठ दिन-दिन उलझती जाती है । वह तो तब खुल सकेगी, जब प्रथम प्रकाशका प्रबन्ध करे—उस ग्रन्थिके रूपको चीन्हे—कौन-सी गाँठ सर्वोपरि है, जिसे सबसे पहले खोला जाय । पुनः आगे चले । और वर्तमानमें न तो रही वह वर्णव्यवस्था न विद्यमान है आश्रम-व्यवस्था—सब अटकल पच्चूका काम हो रहा है । यह हृदय-ग्रन्थि बँधी-बँधी रह जायगी और हमें विवश होकर निर्वाण-पदके द्वारसे कहीं विदूर देशमें चले जाना होगा ।

> **ॐ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।**
> **तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥**

(यजुर्वेद ४०)

उन अन्धकारपूर्ण लोकोंमें उन्हींको स्थान मिलता है, जिन्होंने न आत्म-दर्शन किये होते हैं और जो न उस ग्रन्थिको खोल पाते हैं ।

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

जिन आत्माओंने परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया होता है, उनकी यह हृदयमें पड़ी हुई अविद्याकी ग्रन्थि स्वतः उन्मुक्त हो जाती है; परंतु जो गृहस्थ—

> यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
> गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥

जिस मनुष्यने मानवदेह प्राप्त करके इस उन्मुक्त मुक्तिके द्वारमें प्रवेश नहीं कर लिया और घरकी आसक्तिमें जीवनभर फँसा रहा, उसे तत्त्वद्रष्टा आरूढ-च्युत अर्थात् अधरमें लटके हुए त्रिशंकुका दर्जा देते हैं ।

अतः पदार्थमात्रको अपना न समझे, न समझे और न समझे । सब किसी पदार्थको औरकी धरोहर मात्र जाने । उसका संरक्षण, पोषण, सदुपयोग चिन्तापूर्वक करे—किंतु मनमें यही भावना बसी हुई हो कि यह सब कुछ मेरा नहीं । मुझे जिसका है, उसे शीघ्रातिशीघ्र लौटाना है । योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुनसे परम शान्तिका एक ही सदुपाय बतलाते हैं—

> आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
> समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
> तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
> स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
> विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

ऐ अर्जुन ! चारों ओरसे लबालब भरे हुए महार्णवमें जिस तरह समस्त नदियाँ स्व-प्रवेश किया करती हैं—सागर कभी उन जलधाराओंसे जलकी याचना नहीं करता—वैसे ही जो मानव, चाहे वह किसी आश्रममें हो, संसारकी कामनाओंका लिप्सु नहीं होता प्रत्युत सम्पूर्ण कामनाएँ जिस पुरुषकी अभीप्सा करती रहती हैं—वही नैष्ठिक शान्तिका भाजन बन सकता है, अन्य नहीं ।

जो पुरुष वीतराग होकर अशेष कामनाओंसे छुट्टी करके, मोह और ममताको एक ताकपर रखकर विश्वमें विचरण करता है, ‘शाश्वती शान्ति’ उसका स्वतः वरण करती है—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।**

* * *

नाम-स्मरणका प्रभाव

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

काशीसे छः-सात मीलकी दूरीपर 'सारनाथ' नामका सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। वहाँ प्रतिवर्ष श्रावण मासके प्रत्येक सोमवारको बहुत बड़ा मेला लगता है। मेलेमें जानेवाले लोग सारनाथके सुप्रसिद्ध शिवजी (सारनाथ महादेव) के दर्शन करते हैं।

सन् १९३८ की बात है। मैंने तथा मेरे कतिपय मित्रवर्गने श्रावण मासके चतुर्थ सोमवारको सारनाथ चलनेका निश्चय किया। सारनाथमें मेरा एक बगीचा है। सबकी सम्मति थी कि 'मेलेसे एक दिन पूर्व रविवारको सारनाथ बगीचेमें चला जाय, वहीं रात्रिमें भोजन और विश्राम किया जाय और दूसरे दिन सोमवारको सारनाथ महादेवके दर्शनकर वापस लौट आया जाय।' निश्चित योजनानुसार हमलोग यथासमय सारनाथ बगीचेमें पहुँच गये। वहाँ पहुँचनेपर मालूम हुआ कि 'सारनाथमें हैजेका प्रकोप है, जिससे अनेकों मनुष्य मौतके घाट उतर चुके हैं।' हैजेका नाम सुनकर एक बार तो सभीका चित्त डाँवाडोल हुआ, परंतु भगवान्का स्मरणकर सभीने वहाँ ठहरनेका ही निश्चय किया। पश्चात् सब लोग अपने-अपने गोरखधंधेमें लग गये। रात्रिमें भोजनादिसे निवृत्त होकर सब लोग शयनोन्मुख हुए।

दूसरे दिन सोमवारको प्रातःकाल सभी लोग अपनी-अपनी शय्या त्यागकर सोत्साह अपने दैनिक कर्ममें लग गये; परंतु मैं खिन्नमनस्क पलंगपर लेटा हुआ मन्द-मन्द उदर-व्यथासे पीडित तथा हैजेकी कल्पनासे भयभीत हो रहा था। फिर भी मैंने अपने रोगको विशेष महत्त्व नहीं दिया और मैं प्रतिदिनकी तरह स्नानादि नित्यकर्ममें लग गया। नित्यकर्म समाप्त होनेके बाद दिनमें १२ बजे होंगे, उसी समय किसीने आकर कहा—'भोजन तैयार है।' मैंने अस्वीकार कर दिया; परंतु मित्रोंके प्रेमाग्रहके कारण मुझे थोड़ा-बहुत भोजन करना ही पड़ा। भोजन करनेके दो घंटे बाद ही मेरी शारीरिक अवस्था बिगड़ने लगी। सायंकाल ६ बजते-बजते रोगने उग्र रूप धारण कर लिया। लोगोंसे मालूम हुआ कि मैं हैजा (विसूचिका) जैसे प्राणान्तक रोगके चंगुलमें फँस गया हूँ। 'हैजा' का नाम सुनते ही मेरे सभी मित्र बहुत घबराये और तत्काल मेरी परिचर्यामें लग गये। उस समय सारनाथमें डाक्टर, वैद्यका सर्वथा अभाव था। इसलिये सभी लोग अपने-अपने अनुभवपूर्ण औषधोंका प्रयोग करने लगे; किंतु मेरे स्वास्थ्यमें कुछ भी सुधार न देखकर एक महाशय समीपके 'आशापुर' नामक गाँवसे ५) रुपये किरायेमें कठिनतासे एक टूटा-फूटा जीर्ण-शीर्ण देहाती एक्का ले आये, उसीपर मैं काशी चलनेके लिये पाषाणवत् अचेतन-सा बैठ गया। मेरे रक्षार्थ दो व्यक्ति मेरे साथ थे। उस समय रात्रिके १० बजे थे। चारों ओर भयंकर संनाटा छाया हुआ था। वर्षा ऋतुके कारण उमड़े हुए काले-काले बादलोंके मध्यमें चन्द्रमाके छिप जानेसे रात्रि भयंकर मालूम होती थी। ऊबड़-खाबड़ कच्ची-पक्की सड़कको कठिनतासे पार करता हुआ एक्का हमलोगोंको काशी ले आया। हम लोग अपने घर पहुँचे, उस समय रात्रिके १२ बज चुके थे। घरके सभी लोग निद्रा-देवीकी गोदमें निश्चिन्त होकर पड़े हुए थे। मेरी बीमारीकी सूचना पाकर सब लोग जाग गये। तत्काल काशीके कई अच्छे-अच्छे डाक्टरोंको बुलाया गया। आये हुए सभी डाक्टरोंकी सम्मतिसे दवाकी व्यवस्था हुई। डाक्टरोंके वापस जाते समय उनसे मेरे श्रीपिताजी (स्व० म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड़) ने पूछा—'रोगी कैसी हालतमें है?' उन लोगोंने उत्तर दिया—'अभी रोग काबूके बाहर है, १२ घंटे-बाद कुछ कहा जा सकता है।'

इस संशयग्रस्त उत्तरसे सभी लोग घबरा गये और मेरे कल्याणार्थ मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करने लगे। मुझे दवा बार-बार दी जा रही थी, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' यह कहावत सत्य चरितार्थ हुई।

मेरे शरीरका यह हाल था कि शरीरका अङ्ग-अङ्ग अकड़ गया था, लघुशङ्का बंद हो गयी थी, प्यास चरम सीमा-

पर पहुँच चुकी थी, नाड़ी जवाब-सी देने लगी थी और चेतना-शक्ति भी लुप्तप्राय होने लगी थी। ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे आत्माने अंशतः परलोक प्रयाण करना प्रारम्भ कर दिया है। इन सब बातोंसे मैंने अपने जीवनकी आशा छोड़ दी और मैं कवि कालिदासके—

'परलोकजुषां स्वकर्मभि-
र्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।'
(रघुवंश ८ । ८४)

—इस पदकी चिन्तना करने लगा। इसी मध्यमें मुझे 'जबतक साँस तबतक आश' का स्मरण हो गया। इसके स्मरण होते ही मैंने तत्क्षण जीवनकी आशारूपी नौकापर सवार होकर अकाल-मृत्युरूपी भवसागरसे पार होनेके लिये अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसे—

'श्री राम जय राम जय जय राम'

—इस तेरह अक्षरवाले भगवन्नामके महामन्त्रका स्मरण प्रारम्भ कर दिया। भगवन्नामस्मरणके एक या दो घंटेके बाद ही गीताके—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'।

—इस वचनके अनुसार की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेवाले भक्तोंकी रक्षा करनेवाले सर्वव्यापी भगवान्की कृपासे मेरा मस्तिष्क काम करने लगा और स्वास्थ्यमें भी सुधार होनेका श्रीगणेश मालूम होने लगा। गीताके 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' के अनुसार मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि—'भगवान् मेरे साथ हैं और उनका वरद हस्त मेरे मस्तकपर विराजमान है। अतः निश्चित ही भगवन्नाम-स्मरणसे मुझे जीवन-दान प्राप्त होगा।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा तथा भगवान्के निरन्तर नाम-स्मरणसे मैंने बहुत शीघ्र अकालमृत्युको जीत लिया। 'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्' के अनुसार प्राणरक्षा होनेपर मुझे सर्वदाके लिये भगवान्के नामस्मरणपर पूर्ण विश्वास और भरोसा हो गया। मैं उस समयसे नामस्मरणका विशेष अभ्यासी बन गया हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि—'भगवान्के नाम-स्मरणके प्रभावसे मनुष्य कठिन-से-कठिन आपत्तियोंसे निश्चित मुक्त हो सकता है।'

भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है

मेरा घर एक छोटे कस्बेमें है। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ ही था कि घरके बाहरसे किसीने जोरसे आवाज दी। स्वर अपरिचित था; अतएव उत्सुकताके साथ बाहरकी ओर बढ़ा। देखा—एक पुलिस-अधिकारी चार सिपाहियोंके साथ खड़े हैं। सिपाहीमात्रको देखते ही मेरे होश गुम होने लगते थे; आज पुलिस-अधिकारीको चार सिपाहियोंके साथ देखकर तो मेरा सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया और हृदय बड़े वेगसे धड़कने लगा। पर पुलिस-अधिकारीने बताया कि वे मेरे मामाके मित्र हैं और उस नाते वे मुझे अपना भानजा मानते हैं। इस स्नेह-सम्बन्धसे ही वे हमारे कस्बेमें आते ही पहले-पहल मुझसे मिलने आये हैं। मेरी धड़कन शान्त हो गयी, मुखपर प्रसन्नता छा गयी और मैंने दौड़कर पुलिस-अधिकारीके चरण-स्पर्श किये। सिपाहियोंने मुझे नमस्कार किया। पुलिस-अधिकारी अब बराबर मेरे घर आते हैं और मैं उनके घर जाता हूँ। थानेभरके सब सिपाही मेरे मित्र हो गये हैं; जहाँ भी किसी सिपाहीसे भेंट होती है तो वह सेवाके लिये पूछता है। मैंने अपने मित्रोंका भी परिचय थानेदार साहेब तथा सिपाहियोंसे करवा दिया है। अब वे लोग भी निर्भय एवं निःशङ्क विचरते हैं। मैं जबतक उन्हें भयानक मानता था, तबतक उनसे डर था। उन्होंने बतला दिया—हम तुम्हारे ही हैं और यह मानते ही मेरा भय भाग गया। इस घटनासे मुझे भगवान्के शब्दोंपर विश्वास हो चला है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'—**'मैं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित सहज प्रेमी) हूँ,—इतना जाननेमात्रसे मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'** भगवान् जब मेरे सुहृद् हैं, तब अब मुझे किससे भय ? पाप, ताप, शोक, मोह, अज्ञान, निराशा, विफलता, अशान्ति—कोई भी मुझे भयभीत नहीं कर सकते; अब तो मैं इन सबके ऊपर पैर रखता हुआ अपने सत्पथपर बढ़ता जाता हूँ और अपने सम्पर्कमें आनेवालोंके भी पाप-ताप आदि नष्ट करनेका प्रयास करता हूँ।

भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है।

कृष्ण—

योगवासिष्ठकी राज्य-मोक्षप्रदायिनी प्राणायाम-साधना[1]

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा ।
एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋचं[2] इत्येव विद्यात् ।
(ऐत० २ । २ । १०, प्र० १२१)

भारतकी आजकी अपनी उलझने पर्याप्त हैं । इसपर भी हम देखते हैं कि इसका अपना संस्कृत-वाङ्मय विश्व-स्तुत्य है। उसमें भी उसके योगवासिष्ठ महाग्रन्थका तो निराला स्थान-मान है। योगवासिष्ठमें निगूढ़ ज्ञान और योगके रहस्य भरे हैं। यहाँ उसकी विज्ञान-दुर्लभ और शास्त्र-दुर्लभ प्राणायाम-साधनापर कुछ विचार किया जाता है।

वह विज्ञान-दुर्लभ इसलिये है कि विज्ञानमें इस क्षणतक प्राणायामका ठीक-सा नामकरण-संस्कार भी नहीं हुआ है। फिर चाहे वह आकाश-पातालको ही नापता क्यों न रहे।[3] शास्त्र-दुर्लभ होनेका कारण यह है कि योगवासिष्ठके मतसे अभ्युदय-प्राण-राज्य और आत्मधन मोक्ष उसके अपने केवल प्राणायामसे ही प्राप्त हो जाते हैं। प्राणायाम-साध्य इन दोनों लाभोंपर उसकी अपनी समुद्घोषणा है—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ ६ ॥
(योगवासिष्ठ ६ (२) ८० । ३५)

अर्थात् प्राणायाम-साधनासे राज्य और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं; परंतु होते हैं वास्तविक योगात्मक गुरुदत्त प्राणायाम-साधनासे।

प्राणायाम-साध्य तथा कथित दोनों तथ्योंपर यहाँ निम्नलिखित शीर्षकोंके प्रश्रयमें विचार-विमर्श करनेका प्रयत्न किया जाता है—

१–प्राणायाम-साध्य—राज्य-प्राप्ति ।
२–प्राणायाम-साध्य—मोक्ष-प्राप्ति ।

१–यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्य है कि शक्ति जीवन है। जीवन-संग्राम शक्तिपर ही आश्रित है। जीवन-व्यापारको सुचारुरूपसे चलानेवाली तो बुद्धि-शक्ति ही है। दण्ड-शक्तिकी महिमा भी अपार है। शासन-प्रशासन तो दण्ड-शक्ति-प्राण ही है। सुरासुरतक दण्ड-शक्तिसे ही प्रभावित और शासित होते हैं।

तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ मनुः ॥

यह कहना भी सत्य है कि शक्तिका सम्बल प्राणशक्ति ही है।

या देवी सर्वभूतेषु प्राणरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥ (दुर्गासप्तशती)

हम तो समझते हैं ब्रह्म-तेज (ब्रह्म-बल) क्षत्रियबल-विनिन्दक विश्व-व्यापिनी[5] प्राणायाम-साध्य राज्यप्राप्ति-मूलक प्राणशक्तिका ही लघुतम रूप है। शक्तिमूलक इसी ब्रह्मतेजपर[6] महाभारतमें राजर्षि विश्वामित्र कहते हैं—

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्[7] ।

प्राण-शक्ति-सम्पृक्त यह बात भी विचारणीय है कि यह पिण्डगत प्राणशक्ति और ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिका आपसमें अविभाज्य सम्बन्ध है। ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिका लघुरूप देह-पिण्डगत प्राणशक्ति है और देह-पिण्डगत प्राणशक्तिका बृहद्-रूप ब्रह्माण्डगत प्राणशक्ति है[8]; परंतु प्राणायामके माध्यमसे देहपिण्डगत प्राणशक्तिद्वारा ब्रह्माण्डगत प्राणशक्ति प्रभावित और संचारित होती है।

अब कदाचित् यहाँ यह प्रश्न हो कि प्राणायाम-साध्य प्राणशक्तिके महत्त्वका परिचायक कोई प्रमाण अथवा उदाहरण भी है ? इसका सदुत्तर श्रीमद्भागवतमें राजकुमार ध्रुवकी तपस्याके प्रकरणमें इस प्रकार मिलता है—

लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ८०)

यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा[9] ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ८२)

---

१. प्राणायाम, प्राणशक्ति-विकास और राज्यप्राप्तिका पारस्परिक समानतः भाव-सम्बन्ध है।

२. जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

३. आजकल स्तूपनिक काल तो चल ही रहा है, परंतु पृथिवीकी पाताल-स्पर्शी खुदाई भी चालू है।—धर्मयुग

४. प्राणायामका अर्थ है प्राणोंका संयम। प्राणायाममें सिद्ध होनेपर हमारे लिये मानो अनन्त शक्तिका द्वार खुल जाता है। प्रकृतिको वशीभूत करनेकी शक्ति प्राप्त करना ही प्राणायामका लक्ष्य है। (स्वामी विवेकानन्द)

५. सर्वं ह्लीदं प्राणावृतम् ।(वेद)

६. प्राणो भवेत् परं ब्रह्म जगत्कारणमव्ययम् । (वैदिक ग्रन्थ)

७. क्षत्रिय-बलको धिक्कार है। बल और शक्ति तो ब्रह्मतेज ही है।

८. सूर्योदयमें 'चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। 'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे ब्रह्माण्डे सो पिण्डे'का भी यही तात्पर्य है।

९. ध्रुवजीके प्राणनिरोधसे उनके देह-पिण्डगत प्राणसे समष्टिगत प्राणकी अभिन्नता हो जानेके कारण सभी जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया।

इस विषयमें यह बात भी समधिक उल्लेखनीय है कि आज भी भारतीय गिरिगुहाओंकी ज्ञान-सदृश योग-शालाओंमें प्राणोपासनाके उपासक विद्यमान हैं । योगिराज श्रीविशुद्धानन्द-जी परमहंस भी प्राणायाम-साध्य प्राण-निरोध-साधनाके विशेषज्ञ थे। महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्० कृत श्रीश्रीविशुद्धानन्द-प्रसङ्ग ग्रन्थमालामें उसका एक उदाहरण है।* स्वर्गीय स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने प्राण-शक्तिपर बोलते हुए अमेरिकामें अपने भाषणमें एक बार कहा था—

जब साधक प्राण-शक्तिको समझ लेता है और उसपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है, तब सूर्य और तारोंको उनके अपने स्थानसे विचलित कर सकता है। इतना ही नहीं अपितु परमाणुसे लेकर बड़े-बड़े सूर्योंपर उसका आधिपत्य हो जाता है । स्वामीजीके एतद्विषयक अपने शब्द ये हैं—

One understood the Prana perfectly, and could control it. what power on earth could there be that would be his. He would be able to move the sun and stars out of their places to control every thing in the universe, from the atoms to biggest suns because he would control the Prana.

यहाँ यह कहते हुए भी संतोष होता है कि अब आधुनिक पर-प्रत्ययनेयमति विद्वान् भी प्रकारान्तरसे इस प्राण-शक्तिपर विश्वास करने लगे हैं। प्रमाणार्थ एक विद्वान्के इस विषयके शब्द निम्नलिखित हैं—

All visible and invisible happenings in the universe are under the influence of cosmic impulse (the prana)†

यहाँ यह कहना भी अविकल सत्य है कि प्राणायाम-साध्य प्राण-शक्तिसे न केवल राज्य और बड़े-बड़े साम्राज्य अपितु सभी लोकालोक राज्योंपर भी साधकका नियन्त्रण हो सकता है ।

२. प्राणायाम-साध्य—मोक्ष-प्राप्ति ।

प्राणायाम-साध्य मोक्ष-प्राप्तिके दो प्रकार हैं—

(क) प्राणायाम-साध्य प्राण-मन-शान्ति और मोक्ष-प्राप्ति।

(ख) प्राणायाम-साध्य मल-विशुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति ।

प्राणायामद्वारा प्राणोंके संरुद्ध और शान्त हो जानेपर मन शान्त होकर आत्म-भावको प्राप्त हो जाता है । इसीका नाम योगवासिष्ठके मतसे परमपद और मोक्ष है । योगवासिष्ठकार इस सत्यको कितनी अच्छी शैलीमें समझाते हैं—

'पंखेकी हवाकी गति पंखेपर निर्भर है। पंखेके शान्त हो जानेपर हवाकी गति शान्त हो जाती है, वैसे ही मनकी गति प्राणोंपर निर्भर है। अतएव प्राणायामद्वारा प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त हो जाता है[10] ।'

'द्रव्यकी छायाकी गति द्रव्यानुसारिणी है, तथैव मनकी गति भी प्राणानुसारिणी है; अतः प्राणायामद्वारा प्राणके शान्त होनेपर प्राणरूपी मन भी विलीन हो जाता है[11] ।'

'प्राणायामद्वारा प्राणके संरोधित और शान्त होनेसे मन शान्त हो जाता है। मनके शान्त होनेपर संसार विलीन हो जाता है। यही मुक्ति और मुक्तावस्था है[12] । योगवासिष्ठकार-का यह भी मत है कि—

'चैत्य (दृश्य) मुक्तचित्त (आत्मा) मन कहलाता है वही मन चैत्य (दृश्य) मुक्त होकर सनातन ब्रह्म कहलाता है[13] ।'

योगवासिष्ठका यह भी स्पष्ट मत है कि—

प्रबुद्ध साधकोंका मन ब्रह्म ही है अन्य नहीं[14]

मोक्ष-प्राप्ति आत्मलाभ (मोक्ष) का प्रबल हानिकर कारण मल है जो स्वभावतः आत्मलाभ-विनाशक और आत्मभाव-विस्मारक है एवं मनुष्यको लक्ष्य-भ्रष्ट करनेवाला भी—

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्पते ॥
(यो० वा० ३ । ९६ । २६)

किंतु प्राणायाम निसर्गतः मलनाशक और आत्मभाव प्रकाशक है—

प्राणायामेनैव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ।[15]

---

* एक बार प्राणायामद्वारा जब स्वामीजीके साधना-कक्षका वायु-मण्डल विक्षुब्ध हो गया था, तब उससे वहाँ एक छिपा हुआ मनुष्य आसन्न-मृत्यु हो गया; किंतु स्वामीजीकी कृपासे बच सका ।

† संसारकी सभी दृश्य और अदृश्य घटनाएँ प्राणके आधिपत्य-में ही होती हैं ।

[10] तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥
(यो० वा० ६ । (१) ६९ । ४१)

[11] प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते ।
द्रव्यच्छाया नु तद् द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम् ॥

[12] तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ।
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥
(यो० वा० ५ । ७८ । १६)

[13] चेत्येन रहिता यैषा चित् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
चेत्येन सहिता यैषा चित् सेयं कलनोच्यते ॥
(यो० वा० ५ । ३ । ५३)

[14] प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरम् । (यो० वा०)

[15] अनेक आचार्य तो मलनाश और आत्मभावका कारण एकमात्र प्राणायामको ही मानते हैं । किसी अन्यको नहीं ।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्[१६] । (पा० यो०)
तपो न परं प्राणायामात्[१७]
ततो विशुद्धिर्मलानाम्[१८]
दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।[१९] (व्यासभाष्य)

यहाँ यह कहना भी असत्य नहीं है कि समानतः राज्य और मोक्षप्राप्तिका कारण योगवासिष्ठोक्त प्राणायामके सिवा दूसरा सहजमें दृष्टिगोचर नहीं होता । किस विज्ञसे यह बात छिपी हुई है—कि प्राणायामके वैशिष्ट्यका ही यह कारण है कि आर्य-संस्कृतिमें प्रातः, मध्याह्न, सायं दिनमें तीन बार संध्यावन्दनके समय प्राणायामका विधान है ।

हम देखते हैं आज भी निष्कारण षडङ्गसहित वेदोंका अध्ययन करनेवाले भी लोकालोकसाधक और कुण्डलिनी शक्ति[२०]-विकासक प्राणायाम करते हैं और यह भी समझते हैं कि—

(१) प्राणायामके विना संध्या निष्फल हो जाती है ।

(२) प्राणायाम अनोखा बल और शक्ति है ।

(३) जैसे अग्निद्वारा उत्तप्त होनेपर धातुओंका मल धुल जाता है, वैसे ही प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके समस्त दोष नष्ट हो जाते[२१] हैं ।

(४) प्राणायामको करनेवाला साधक जो भी चाहे करे एवं कुछ भी खाये किंतु वह कर्तृत्व-दोषसे असंस्पृष्ट रहता है[२२]।

यहाँ उपसंहारमें इतना-सा कहना ही पर्याप्त होगा कि अभ्युदय-धन प्राण-विद्या समस्त लौकिक दुःखक्षयकरी और सौभाग्यशालिनी है एवं जीवनका कारण भी ।

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी ।
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥
(यो० वा० ६ (१) । १ । २४ । ८)

प्राणायाम-साध्य, प्राण-विद्या लौकिक लाभके साथ-साथ पारमार्थिक लाभ और आत्मभावकी भी हेतु है—

निर्गीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ ।
क्षणमस्तं गतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥
(यो० वा० ६ (१) २५ । ५८)

अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः ।
अयत्नसिद्धो ह्यन्तःस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥
(योग० वा० ६ (१) २५ । ५९)

एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैवा परमैव चित् ।
एतत्तत्सदाभासमेतत् प्राप्य न शोच्यते ॥[२३]
(यो० वा० ६ (१) २५ । ६०)

इस अयत्नसिद्ध प्राणायामका विश्लेषणात्मक और संतोषप्रद तथा विलक्षण एक सुखद प्रकार यह भी है—

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम् ।[२४]

इतनेसे योगवासिष्ठोक्त निम्नलिखित राजमोक्षमूलक प्राणायाम-साधना स्पष्ट हो जाती है—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥
(यो० वा० ६ (१) ८० । ३५)

---

१६. प्राणायामद्वारा आत्मप्रकाशावरण दूर हो जाता है ।

१७. प्राणायामसे बढ़कर दूसरा तप नहीं है ।

१८. प्राणायामसे मल नष्ट होते हैं ।

१९. प्राणायामसे आत्मज्ञान होता है ।

२०. कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् । बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्त्तिता । सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥

२१. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां तु यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

२२. एते निरोधमायान्ति प्रकृत्यातिचलानिलाः । यत् करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवालमनुस्मरन् ॥ योग० वा०॥

२३. फलितार्थ यह है कि—
अयत्नसिद्ध प्राणायाममें प्राण-अपानके अभावकी दशाका नाम कुम्भक है । इस अवस्थामें साधकको आत्माके शुद्ध रूपका अनुभव होता है और वह क्लेशमुक्त हो जाता है ।

२४. जो साधक विधिवत् प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनके श्वासकी ऊर्ध्व-अधःगतिका शेष हो जाता है। प्राण उस समय सुषुम्णाके मध्यसे होकर मस्तकमें जाकर स्थिर हो जाता है । प्राणायामके द्वारा जब सुषुम्णामें प्राणोंकी गति होती है, तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार स्वरूपमें स्थिति हो जाती है । इसलिये योगियोंने चित्तस्थितिके लिये प्राणायामको सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है ।
विशेष योगवासिष्ठगत प्राणायाम. प्राण-विद्या, प्राणशक्ति एवं मनस्तत्त्व द्रष्टव्य है । यह भी ध्यान रहे कि प्राणायामसे ही राज्य-मूलक (अभ्युदय-प्राण) भौतिक प्राण-शक्तिकार मोक्ष-धन आध्यात्मिक प्राण-शक्तिका समानतः विकास होता है । स्वामी विवेकानन्द तो यह भी कहते हैं कि प्राणायामके अभ्याससे कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है और साधकके लिये अनन्त ज्ञान और शक्तिका द्वार खुल जाता है । फिर उसे बाहरसे इन दोनोंको प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भला ऊँटवाला

कुछ पुरानी बात है। राजस्थानमें उस समय ऊँट चलते थे। कलकत्ते, बम्बईसे आने-जानेवाले लोगोंको पचासों कोस ऊँटोंपर यात्रा करके रेल पकड़नी पड़ती थी। एक भाई कलकत्तेसे लौटे और उन्होंने नावाँ (कुचामन रोड) में एक अपरिचित ठाकुरका ऊँट भाड़े किया। बीमारीके कारण अचानक विचार हो गया, इससे जल्दीमें आना पड़ा था, इसलिये अपने घरको समाचार लिखकर परिचित व्यक्तिका ऊँट वे नहीं मँगा सके थे। दो लड़कियोंके विवाहके लिये कपड़ा-लत्ता, गहना तथा नगद सात हजार—कुल पंद्रह हजारका सामान साथ था। सामान ऊँटके बोरेमें रक्खा गया। उसपर वे भाई सवार हुए। उन्हें तीन दिन सफर करके घर पहुँचना था। पहली पंद्रह कोसकी मंजिल तो ठीक निभ गयी। वे लोसलमें आकर ठहरे। वहाँसे दूसरे दिन चले। गरमीकी मौसिम थी, इसलिये रातको ऊँटकी यात्रा की जाती थी। दैवकी लीला। रास्तेमें उनके पेटमें भयानक दर्द उठा, समीप एक छोटे-से गाँवमें पेड़के नीचे ऊँट ठहराया गया। वे भाई उतरे। वहाँ रातको कहाँ कोई वैद्य मिलता। उनके पास लौंग थी, ऊँटवालेने आगका प्रबन्ध करके लौंगका काढ़ा बनाकर दिया। परंतु दर्द बढ़ता ही गया और इसी दर्दमें दो-तीन घंटे बाद वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। गाँववाले बड़े अच्छे लोग थे। सबने सहायता की। वहाँसे एक ऊँट लेकर गाँवका आदमी साथ चला और उनके सामानवाले ऊँटपर उनकी लाश बाँधी गयी। ऊँटवालेसे गाँवके एक आदमीने कहा—'कुछ मालताल पास हो तो लेकर चम्पत क्यों नहीं हो जाता। लाश फूँककर घर चला जा।' उसने कहा—'भाई! ऐसी बात मनमें आना भी पाप है। इन्होंने मुझपर विश्वास करके अपना हजारोंका मालमता तथा अपनी जान मेरे भरोसे छोड़ दी। ये तो मर ही गये। अब इनके सामानको लूटकर मैं इनके घरवालोंको भी मार दूँ। भगवान् सब देखते हैं। वे मेरे इस पापको कैसे सहन करेंगे। मुझे भी बड़ा दुःख है, तुमने ऐसी पापकी बात मुझसे कही ही कैसे, तुम्हारे मनमें यह पाप-भावना पैदा ही क्यों हुई और मैं इसे सुन भी कैसे सका। मालूम होता है मेरे मनमें कहीं जरूर कोई पाप छिपा है, तभी तुम मेरे सामने ऐसी पापकी बात कह सके और तभी मैं सुन सका।' गाँववालोंने यह सुनकर ऊँटवालेकी बड़ी सराहना की और उस आदमीको धिक्कारा। लाश उनके घर पहुँची। घरवालोंके दुःखका पार नहीं रहा, पर जब कीमती सामान तथा नगद रुपयोंकी थैलियोंको ज्यों-का-त्यों पाया, तब उनके शोकमें भी एक हर्षकी लहर उठी। उन्होंने ऊँटवालेके प्रति बड़ी ही कृतज्ञता प्रकट की, उसे इनाम देना चाहा। पर उसने भाड़ेके सिवा एक पैसा भी अधिक नहीं लिया। और कहा कि मेरे साथ ये जो गाँवका एक भाई आया है, इसको भले ही कुछ दे दिया जाय। पर उसने भी लेनेसे इन्कार किया। पड़ोसीके यहाँ रोटी-राबड़ीकी व्यवस्था की गयी। उसीको खाकर दोनों विदा हो गये। धन्य!

—चेतराम शर्मा

(२)

पढ़ाईकी लगन

एक दिन सवेरे साढ़े दस बजे अंदाज मैं बम्बईके सेंटजेवियर्स कालेजके पाससे जा रहा था। कालेजके बाहर दरवाजेके पास दो नौजवान विद्यार्थी बात कर रहे थे। उनमेंसे एकने मेरी ओर देखा और हँसता हुआ मेरे पास आकर मुझसे बोला—'नमस्ते भाई! पहचानते हो या भूल ही गये?'

मैंने उसको अच्छी तरह देखा और मेरी स्मृति पूरे पाँच वर्ष पीछे पहुँच गयी। मैं बोल उठा—'अरे, १९५५ में हरद्वारमें हमलोग साथ थे, वह चन्द्रकान्त तो नहीं हो?'

'हाँ, वही! हरद्वारमें अपने अगल-बगल ही ठहरे थे, फिर वहाँसे साथ ही देहरादून तथा मंसूरी गये थे'—उसने उत्तर दिया।

मुझे याद आ गया—उस समय वह किशोर चन्द्रकान्त आज जवान हो गया है। उस समय तो यह हाई स्कूलके अन्तिम वर्षमें पढ़ रहा था।

फिर तो चन्द्रकान्त मुझसे बहुत-सी बातें कह गया। मेरे कुटुम्बके लोग हरद्वारमें मेरे साथ थे, उन सबके कुशलसमाचार पूछे और अपने कुटुम्बके समाचार बताये। फिर अचानक अपनी घड़ीकी ओर देखकर बोला—'दादा! क्षमा करना, मैं जरा इकोनोमिक्सका पेपर लिख आऊँ। तुमसे फिर मिलूँगा' इतना कहकर वह हँसता हुआ कालेजकी ओर चला।

'जरा पेपर लिख आऊँ' इस 'जरा' शब्दपर जोर देकर मैं उससे पूछ बैठा।

'हाँ, मेरी फाइनल बी० ए० की परीक्षा चल रही है। मैं यहाँ पेपर देने ही आया हूँ।' तो क्या तुम्हें परीक्षाकी चिन्ता नहीं है? दूसरे विद्यार्थियोंकी भाँति तुम अन्तिम घड़ीतक अध्ययन नहीं करते? क्या 'नर्वस' नहीं हो जाते? या फिर पास ही नहीं होना है, जो कहते हो जरा पेपर लिख आऊँ।' मैं एक ही सपाटेमें इतने प्रश्न पूछ गया।

'नहीं दादा ! मैं परीक्षाकी चिन्ता नहीं करता । वर्षके आरम्भमें ही मैं ध्यानपूर्वक अध्ययनमें लग जाता हूँ । परीक्षाके समय तो खूब आरामसे सोता हूँ और आनन्दमें रहता हूँ और हँसी-खेलमें ही पेपर लिख आता हूँ । इतनेपर भी तुम्हारे-जैसे बड़ोंकी दयासे प्रतिवर्ष अच्छे नंबरोंसे ही पास होता आ रहा हूँ ।' इतना कहकर एक मोहक हास्य बिखेरता हुआ, 'फिर मिलना' कहकर मेरी ओर हाथ हिलाता हुआ वह कालेजकी ओर दौड़ गया ।

'जरा पेपर लिख आऊँ'—ये शब्द मेरे दिमागमें रम गये । हमारा अधिकांश विद्यार्थिसमूह तो पूरा वर्ष भटकता हुआ मौज-शौक और उल्टी-सीधी प्रवृत्तियोंमें ही बिता देता है । फिर परीक्षाके समय रातों जागकर स्वास्थ्य बिगाड़ता है और परीक्षाके दिन तो 'नर्वस' हो जाता है, 'टीप्स' के लिये इधर-उधर दौड़-धूप करता है । अन्तकी पाँच मिनटतक भी हाथसे पुस्तक नहीं उतारता और इतनेपर भी अच्छा परिणाम नहीं प्राप्त कर सकता । हमारे ऐसे विद्यार्थी चन्द्रकान्तके उदाहरणसे शिक्षा लेकर शुरुसे ही अभ्यासमें नियमितरूपसे लग जायँ और हँसी-खेलमें धीरेसे कहें कि 'जरा पेपर लिख आऊँ' तो कैसा अच्छा हो । (अखण्ड आनन्द)—गोपालदास

(३)

श्रद्धा-विश्वासका फल

बात १९५५ की है तब मैं कोटामें रहता था, हमारे पड़ोसमें ही एक कृष्णा नामकी विधवा स्त्री रहा करती थी । आँखें मुँदी-मुँदी, श्वेत वस्त्र धारण किये वह साध्वी एकदम ज्योतिर्मयी साधना-सी ही प्रतीत होती थी । वह मुझे भगतजी कहा करती थी । न जाने क्यों, मुझ-जैसे अधमके लिये ऐसा सम्बोधन ! पर खैर, एक बार उसका एकलौता बेटा बीमार पड़ा, सख्त बीमार । घरमें उसकी माँ, वह और उसका पुत्र तीन ही थे । माँको कार्यवश किसी विवाहमें जाना था । अतएव वह उसे दवा देकर यह कहकर चली गयी कि हर दो घंटेसे दे देना । मैंने कहा—'घरपर मैं रह जाऊँगा' पर कृष्णाने कहा—'नहीं आप कष्ट न करें, जब आवश्यकता होगी मैं आवाज दे लूँगी ।' मैं घर आ गया, माँ चली गयी । प्रमोद बुखारसे जल रहा था, वह कुछ देर तो बैठी रही, फिर एकाएक उठकर प्रभुके सिंहासनके पास गयी और सिंहासन लेकर छतपर आ गयी और चरणोंमें लिपट गयी तथा आर्त-कण्ठसे पुकार करने लगी । वहीं उसे नींद आ गयी । प्रातः ६ बजे मैं उनके घर गया । उसी समय उसकी माँ आ गयी, पर कृष्णा दिखायी न दी । हम ऊपर गये तो वह सोयी थी । उसकी माँने जगाया, पूछा—'क्यों दवा दे दी थी न प्रमोदको ?' 'नहीं माँ !' माँने डाँटा—एक तो बेटा है और तू नेह नहीं रखती, हे भगवन् ! जाने वह जिन्दा भी है या नहीं ।' उसने उसे बहुत कुछ बुरा-भला कहा । उसने कहा—'माँ ! रखनेवाला तो वह है, मेरे जतन करनेसे क्या होता है' और वह दौड़ पड़ी अपने पुत्रके पास । हम सब गये तो प्रमोद सो रहा था और बुखार नाममात्रको भी नहीं थी । भगवान्ने बुखार चुरा ली थी । वह दौड़कर ठाकुरके पास गयी और चरणोंसे लिपट गयी । सारा सिंहासन आँसुओंसे तर हो गया । तबसे बाद जबतक मैं वहाँ रहा, मैंने देखा उसका सिर भी नहीं दुखा और अब तो उस प्रमोदका विवाह भी हो गया है । 'कुन्दन'

(४)

सच्ची साधुता

गत १९५७ अप्रैलकी बात है । संत श्री·······अपने साथ चार अन्य भक्तजनोंको और मुझको लेकर चारों धाम यात्राके लिये गये थे । श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोपरान्त हम कलकत्तासे हरिद्वारका सीधा टिकट लेकर हवड़ा स्टेशनसे देहरादून एक्सप्रेसमें हरद्वार-हवड़ाके डिब्बेमें जाकर बैठे । गाड़ी चल पड़ी । डिब्बा पूरा भरा हुआ था, सभी लंबी सफरवाले मुसाफिर थे । यद्यपि डिब्बा १७ आदमियोंके लिये था पर उसमें सब ५४-५५ यात्री थे । ऊपरकी सीटें भी सामानसे भरपूर थीं । नजदीक उतरनेवाला कोई न था ।

जब मुरादाबाद स्टेशन आया, तब वहाँसे दो यात्री तरुण दम्पति सुविधाजनक डिब्बा ढूँढ़ते हुए हमारे डिब्बेके पास आये, त्यों ही गाड़ीने छूटनेकी सीटी दी । उन्होंने उकताये हुए हमारे डिब्बेकी खिड़कीमें शीघ्रतासे बिस्तरा ढकेला और स्त्रीको उठा उसी खिड़कीसे डिब्बेमें उतारा । नीचे लोग बैठे थे । बिस्तरा और स्त्री उनके ऊपर जा पड़े । वे स्वयं भी खिड़कीसे घुसकर चढ़ गये; गाड़ी चल पड़ी । हमलोगोंने उनसे कुछ भी नहीं कहा; क्योंकि हमें तीर्थयात्राके नियमोंका पालन करना आवश्यक था । यात्रामें क्रोधादि नहीं करना चाहिये । अतः हमारी मण्डली धर्मव्यवस्थित थी । बड़ी भीड़ थी । कहीं भी जगह नहीं थी, बिस्तर ऊपर पड़नेसे लोगोंने उनसे बिस्तरा हटानेके लिये कहा । नवयुवकने उसे उठा लिया । नवयुवक थक चुके थे । संत श्री·····ने उनकी स्त्रीको अपनी जगह बैठनेको दी । वे स्वयं ज्यों ही खड़े हुए कि नवयुवकने बिस्तरा संतजीके सिरपर रख दिया । मैंने उनको ऐसा न करनेके लिये कहा, इसका परिणाम विपरीत हुआ । नवयुवकने धक्का-मुक्की की । अब बिस्तरपर अपना और सामान भी संतजीके सिरपर रख दिया । लोगोंने हटाया । नवयुवकको समझानेकी चेष्टा की, पर विवाद बढ़ता रहा । गाड़ी कुछ घंटोंमें हरद्वार

जा पहुँची। सभी उतरे। शान्त-मूर्ति संत श्री……प्लेटफार्मपर उतरे। सभीने अपना-अपना सामान सँभाला। नवयुवक सपत्नीक नीचे खड़े थे। संतजीने पूछा—'कहो भाई! कुछ सेवा है?' वे दम्पति चिन्तित थे; क्योंकि उन्होंने गाड़ीमें हड़बड़ाहटमें टिकटें कहीं गिरा दी थीं। पता नहीं था कहाँ गिरीं।' हमारा डिब्बा हरद्वारतकका ही था, अतः वह कटकर इंजनद्वारा खींचा जा रहा था।

नवयुवकने कहा—'महाराज! टिकट खो गया।' संतजीने कहा—'भाई! अच्छी तरह तलाश करो।' नवयुवकने कहा—'तुमने ही टिकट ली हैं, दे दो, नहीं तो पुलिसके हवाले करूँगा?' संतजीने कहा—'भले ही; परंतु आपको याद है कि टिकटें कहाँतक थीं और कब-कहाँ खोयीं?' लोग सुन रहे थे। किसीने कहा डिब्बेमें तो गिरीं नहीं? मेरेसे रहा न गया, मैंने कहा—'भले आदमी! संतजीने तुम्हें जगह दी, बिस्तर उठाया, भला-बुरा सुना और परिणाममें यह अपराध लगा रहे हो?'

हमारी बातचीत हो रही थी, इसी बीच संतजी उक्त डिब्बेकी तलाशमें गैरेजकी ओर गये जहाँ डिब्बा काटकर छोड़ा गया था। उस डिब्बेमें दो-तीन आदमी बैठे थे जो रेल्वे कर्मचारी थे, जो इंजनके साथ डिब्बे जोड़ने-छोड़नेका काम करते हैं। उनसे संतजीने पूछा, उन्होंने तलाश की। ढूँढ़नेपर टिकटें मिल गयीं, संतजी उनको ले आये।

मैं उन नवयुवकसे कह रहा था 'भाई! किसी सज्जन व्यक्तिपर यों लाञ्छन लगाना उचित नहीं है।' काफी लोग इकट्ठे हुए थे, संतजीने लाकर टिकटें दीं और डिब्बेमें गिरनेकी बात बतायी, फिर कहा—'और कुछ सेवा हो तो कहें! हमें श्रीबद्रीनारायण जाना है। २-३ दिन हरद्वारमें रहेंगे। हमारा पता—श्रीसुदर्शन आश्रम स्टेशनरोड, हरिद्वार है।' वे रिक्शामें बैठे, चले गये और हम सुदर्शन-आश्रममें जाकर टिके।

दूसरे दिन वैशाखी स्नान बड़े समारोहसे हो रहा था। रास्तों, घाटों और स्नानस्थलोंपर पुलिसकी व्यवस्था थी। आने-जानेके लिये अलग-अलग रास्ते नियत थे। हम आश्रमसे सुबह ९ बजे स्नानार्थ हरकी पैड़ी जा रहे थे, तो आगे रास्तेमें ऋषिकेश क्रॉस रोडपर वही नवयुवक अकेले ही मिले। संतजीने पूछा—'कहो महाशयजी, कुशलपूर्वक हो न?' नवयुवकने कहा—'क्या बताऊँ, एक आपत्ति हो तो कहूँ—नृसिंहभवनमें ठहरनेके लिये कोठरी नहीं मिली, वहीं बाहर ही पड़े हैं। स्त्रीको रातसे गुर्दा-दर्द (आन्त्रिक वृक्कशूल) हो गया है। बड़ी बेचैनी है। मैं थैला ले स्नानको हर पैड़ीपर गया था, वहाँ थैला ही कोई उठा ले गया। उसीमें पैसे थे। बड़ा परेशान हूँ।'

संतजीने कहा—'तो कुछ सेवा करूँ?' नवयुवकने दस रुपयेकी याचना की। संतजीने झट निकालकर दे दिये और मुझको आदेश दिया कि 'आप इनके साथ जायँ, स्त्रीकी योग्य चिकित्सा करें।' मैंने आदेशानुसार उन नवयुवकको साथ लेकर सुदर्शन-आश्रमसे अपनी दवाकी पेटी ली और फिर नृसिंह-भवनमें उनकी स्त्रीको अच्छी तरहसे देखा। उन्हें इंजेक्शन दिया और गोलियाँ देकर मैं हरकी पैड़ी हमारी मण्डलीसे आ मिला। श्रीगङ्गाजीका स्नानकर नित्यनियममें प्रवृत्त हो, पूजापाठसे निपटकर १ बजे वापस लौटे। रास्तेमें ही नृसिंह-भवन पड़ता है। अतः उनसे मिले, उनकी पत्नीके दस्त-पेशाब खुल गया था। वह स्वस्थ-सी दिखायी देती थी। हमें देखकर दोनों नत-मस्तक मिले और अपने पूर्वकृत बुरे बर्तावके लिये अनुनय-विनय करने लगे। वे करुणभावमें सराबोर थे। संतजीने कहा—'भाईजी! हमें भगवान्‌ने आपकी तुच्छ सेवाका सौभाग्य दिया, यद्यपि हम इस लायक नहीं थे। आप कुछ दुःख न मानें। मनुष्यको जीना है तो मनुष्य ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्रकी सेवाके लिये जीना है, न कि अजागलस्तनकी भाँति, 'आप क्या कार्य करते हैं?' संतजीने पूछा। तब उन्होंने कहा—'मैं राज्य-तहसील कर्मचारी हूँ। बी० ए० हूँ और यह भी पढ़ी-लिखी है।' 'बहुत अच्छा' संतजीने कहा—'और कुछ सेवा बताइये?' नवयुवकने कहा—'प्रभु! हमारी सुबुद्धिके लिये कुछ नियम बतावें ताकि हमारे जीवनका कल्याण हो। मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

संतजी—'लीजिये, यह गीता और रामायणका गुटका। आप दोनों सुशिक्षित हैं, अतः इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ें और मनन करें। संत-समागम किया करें। गीताप्रेसकी धार्मिक सस्ती पुस्तकें पढ़ा करें। इससे आपका कल्याण होगा। भगवान् आपको सद्बुद्धि दें।' नवयुवक—'संतजी! आपसे मैं गङ्गा-यात्राके उपलक्षमें प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी ऐसी उद्दण्डता नहीं करूँगा और आपके आदेशोंका प्राणपणसे पालन करूँगा।'

बादमें हम अपने स्थानपर लौट आये। वे सुखी होकर अपने गन्तव्य स्थानपर चले गये।

संतश्री……की इस सच्ची साधुता, नम्रता, सहिष्णुता और सर्वहित-बुद्धिका मुझे आज दिनतक स्मरण है। वास्तवमें हमें सबके साथ सहानुभूतिपूर्ण सद्व्यवहार करना चाहिये। स्वार्थके वशीभूत होकर अमानुषी-व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये।

(डाक्टर—एस० आर० डी०)

पाँच नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिंदीभाषान्तरसहित)

[दो भागोंमें]

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १७२०, चित्र तिरंगे १२, इकरंगे ४८, कपड़ेकी जिल्द, दो जिल्दोंमें मूल्य १७.५० मात्र । डाकखर्च अलग ।

प्रारम्भमें नम्र निवेदनके रूपमें एक उपयोगी भूमिका, पाठ-विधि और स्कन्दपुराणोक्त रामायण-माहात्म्य भी दिया गया है । बहुत समयसे जनताकी यह माँग थी कि गीताप्रेससे श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणको सानुवाद पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया जाय । इसके लिये अनेक प्रेमी सज्जन बारंबार आग्रह करते थे । भगवान् श्रीरामकी असीम अनुकम्पासे अब यह महान् कार्य पूर्ण हो सका है; अतः जिन्हें लेना हो, वे कृपापूर्वक शीघ्र मँगवा लें ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल भाषा)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ११००, चित्र बहुरंगे १२, इकरंगे ४८, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ११) मात्र । डाकखर्च अलग ।

हिंदीभाषाभाषी सज्जनोंके लिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका यह सम्पूर्ण भाषानुवाद श्लोकाङ्कसहित प्रकाशित किया गया है । इसके प्रारम्भमें भी नम्र निवेदनके रूपमें एक उपयोगी भूमिका, पाठविधि और रामायण-माहात्म्य दिया गया है ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल मूल)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७४०, चित्र बहुरंगे ७, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ७.५० मात्र । डाकखर्च अलग ।

संस्कृत-भाषाविज्ञोंके लिये इस ग्रन्थका केवल मूल संस्करण प्रकाशित किया गया है। पाठ-विधि और रामायण-माहात्म्य आदि इसमें भी दिये गये हैं ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल सुन्दरकाण्ड—मूलमात्र)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ९२, श्रीहनुमान्जीका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य .७५, सजिल्द १.५० । डाकखर्च अलग ।

अधिकतर लोग सुन्दरकाण्डके पाठका अनुष्ठान करते हैं, अतः उनके लाभार्थ इस काण्डको अलग पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है और इसके आरम्भमें अनुष्ठान-विधि भी लगा दी गयी है । आशा है, जनता इससे लाभ उठायेगी ।

श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन

(ले०—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०, मूल्य .२०, डाकखर्च .८, रजिस्ट्री .५०, कुल .७८ ।

लेखक महोदयने समय-समयपर गीताके कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकोंपर जो विचार व्यक्त किये हैं, उन्हींका संग्रह इस छोटी-सी पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित किया जा रहा है । इसमें सात्त्विक बुद्धि, कर्मफलके आश्रयका त्याग, भगवान्का प्यारा भक्त और भगवान्की शरणागति—इन चार विषयोंपर विवेचन किया गया है । पुस्तक बड़ी उपादेय है ।

पुस्तक-विक्रेताओंको सभी पुस्तकोंपर नियमानुसार कमीशन दी जाती है । अतः ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने पुस्तक-विक्रेताओंसे ही पुस्तकोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें । इससे उनको भारी डाकखर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

जनगणनाके विषयमें निवेदन

अब शीघ्र ही जनगणना होनेवाली है। कार्य आरम्भ हो गया है। इसमें संख्या, जाति, धर्म, भाषा आदि लिखानेमें विशेष सावधानी रखनी चाहिये। इस समय धर्म और हिंदू जातिपर चारों ओरसे आक्रमण हो रहे हैं। जन-संख्या तथा धर्म एवं भाषावालोंकी बड़ी संख्या भी इस आक्रमणसे बचनेका एक प्रधान साधन है। अतएव संख्या पूरी लिखायी जाय। हिंदू सब अपनेको हिंदू लिखावें—चाहे वे किसी भी सम्प्रदायके हों। सनातनधर्मी अपना 'सनातनधर्म' लिखावें, प्रधान भाषा हिंदी और दूसरी भाषा संस्कृत लिखावें। जहाँ हिंदी न हो, वहाँ अपनी प्रान्तीय भाषा लिखावें। इसमें भूल न करें। यह हमारा सबसे विनीत निवेदन है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंको भेजिये

गीताप्रेसमें सुरक्षाके लिये प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह किया जा रहा है। अतएव जिन सज्जनोंके पास वेद, वेदाङ्ग, ज्यौतिष, दर्शन, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र, काव्य आदि विषयोंकी प्राचीन हस्तलिखित सचित्र या अचित्र संस्कृत और हिंदीकी पुस्तकें हों और जो उनको सुरक्षित रखना चाहते हों, वे रेल या डाक पारसलसे अच्छी तरह पैक करके कृपापूर्वक पुस्तकें भेज दें। (पुस्तकें नागरी, बँगला या गुजराती किसी भी लिपिमें लिखी हों) डाक या रेल-खर्च गीताप्रेससे दिया जायगा। ऐसी पुस्तकोंमें कोई अप्रकाशित पुस्तक उपयोगी जान पड़नेपर आगे चलकर सुविधानुसार प्रकाशित भी की जा सकती है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

'महा भारत' के बंद करनेकी सूचना तथा प्रार्थना

'महा भारत' मासिक पत्रका प्रकाशन गत पाँच वर्षोंसे हो रहा है। अबतक इसमें सम्पूर्ण महाभारत, हरिवंश पुराण, जैमिनीयाश्वमेधपर्व, सनत्सुजातीय शाङ्करभाष्य और सम्पूर्ण वाल्मीकीय रामायण हिंदी-भाषानुवादसहित प्रकाशित हो चुके हैं। आगामी वर्ष अग्निपुराण और नरसिंहपुराणके प्रकाशनकी बात सोची जा रही थी; परंतु विशेष परिस्थितिवश वह विचार छोड़ देना पड़ा और यह निश्चय किया गया कि 'महा भारत' मासिक पत्रका प्रकाशन एक बार बंद कर दिया जाय। तदनुसार खेदके साथ यह सूचना देनी पड़ रही है।

हम अपनी इस वर्तमान विवशताके लिये क्षमा चाहते हैं और ग्राहक महोदयोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे आगामी वर्षके लिये 'महा भारत' का मूल्य कृपया न भेजें।

मासिक महा भारतके पाँचों वर्षोंकी पूरी फाइलें एक साथ लेनेपर विशेष रियायत

'मासिक महा भारत'के अङ्कोंका मूल्य वर्ष-क्रमके अनुसार इस प्रकार है—

मासिक महाभारत वर्ष—१ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	सजिल्द	तीन जिल्दोंमें	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष—२ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	,,	,,	,, २३.७५
मासिक महाभारत वर्ष—३ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	,,	,,	,, २३.७५
मासिक महाभारत वर्ष—४ अङ्क १ से १२,	मूल्य १५.००	,,	दो	,, १७.५०
मासिक महाभारत वर्ष—५ अङ्क १ से १२,	मूल्य १५.००	,,	दो	,, १७.५०
	कुल जोड़ ९०.००	सजिल्द		१०६.२५

उपर्युक्त पाँचों वर्षोंके सम्पूर्ण अङ्क एक साथ मँगानेपर डाकखर्च हमारा तथा १५.०० प्रतिशत कमीशन भी दिया जायगा। प्रेमी महानुभाव मूल्य मनीआर्डरद्वारा भेजकर मँगानेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—महा भारत-विभाग, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

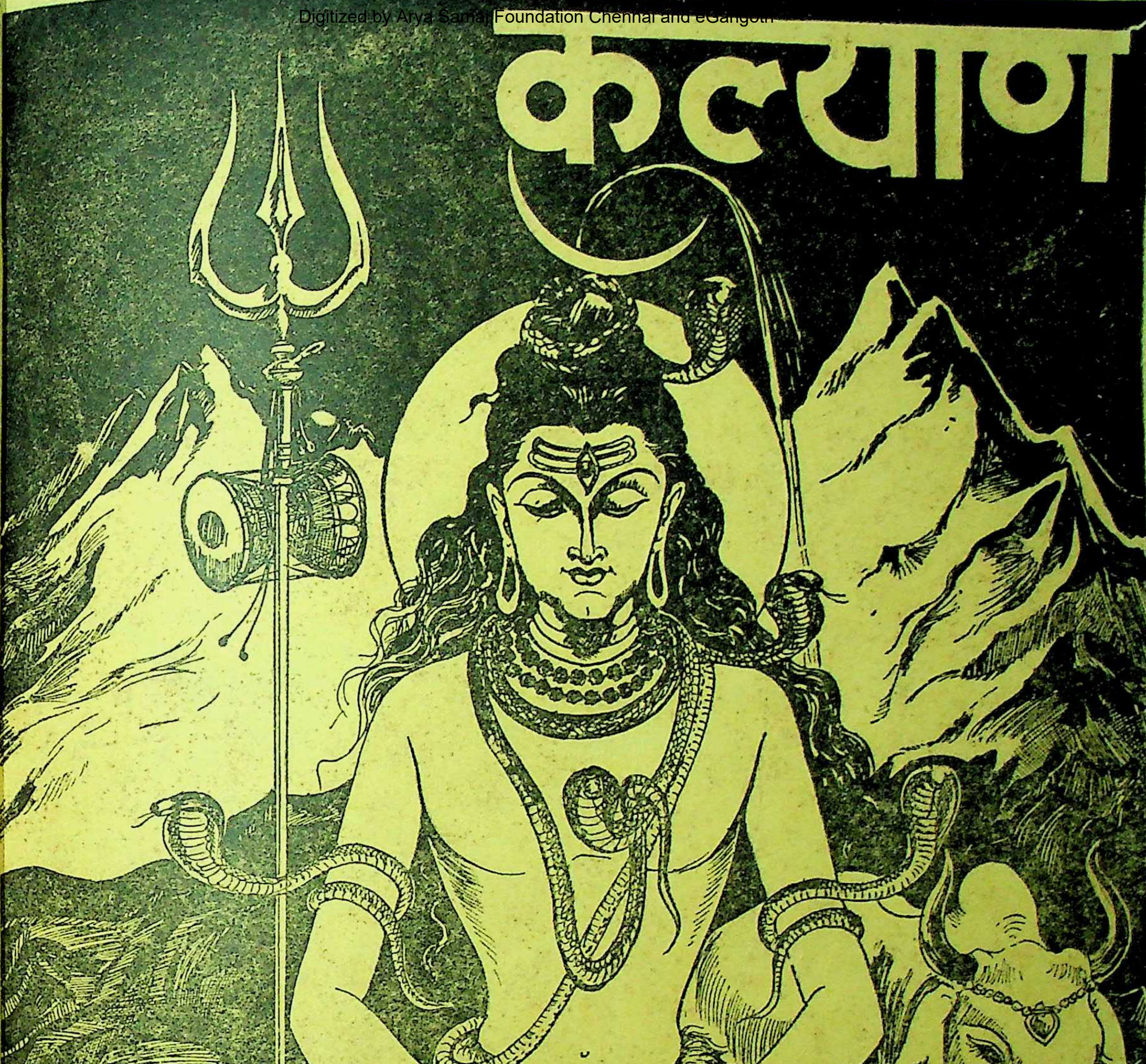
कल्याण
भगवान

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीता-राम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१७, फरवरी १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम [कविता] ··· ··· ७०१
२–कल्याण ('शिव') ··· ··· ७०२
३–कर्म-मीमांसा (श्रीस्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ··· ··· ७०३
४–पवित्र प्रेम [कविता] ··· ··· ७०७
५–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ··· ··· ७०८
६–योगवासिष्ठ और भगवद्गीता (श्री ग० ना० बोधनकर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· ७११
७–गीता—एक राजशास्त्र (श्रद्धेय पं० श्री० दा० सातवलेकर महोदय) ··· ७१८
८–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ··· ··· ७२३
९–मधुर ··· ··· ७२७
१०–योगवासिष्ठका मन्तव्य [ज्ञान और कर्मका समन्वय] (श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०, रिसर्चस्कालर) ··· ७२९
११–मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है (कृष्ण) ··· ७३१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१२–गीत [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन') ··· ··· ७३२
१३–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ··· ७३३
१४–जीवनका लक्ष्य (विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री) ··· ··· ७३७
१५–वैज्ञानिक संजीवनी [Vaccine Honey] (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ७३८
१६–मांसाहारका तथा गोमांसका घृणित प्रचार ७४४
१७–पतनकारी सिनेमा और गंदे पोस्टरोंका घोर विरोध परमावश्यक ··· ··· ७४५
१८–अभय [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ७४६
१९–गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग (श्रीधर्मभानुसुकुमारजी एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ··· ७४९
२०–नाम-स्मरणका प्रभाव (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) ··· ··· ७५७
२१–भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है (कृष्ण) ··· ७५८
२२–योगवासिष्ठकी राज्य-मोक्ष-प्रदायिनी प्राणायाम-साधन (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ७५९
२३–पढ़ो, समझो और करो ··· ··· ७६२

चित्र-सूची

१–भगवान् शिव (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम (तिरंगा) ··· ७०१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४
विदेशमें .५
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

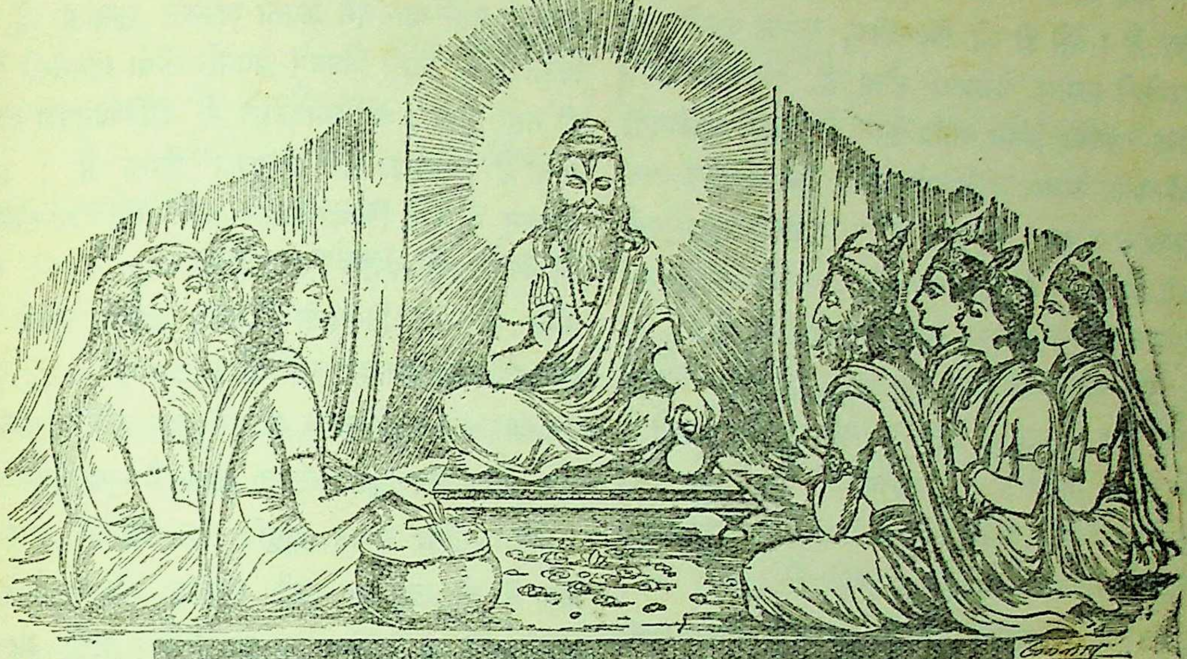

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्या ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१७, फरवरी १९६१ { संख्या २
पूर्ण संख्या ४११

सरयूतटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम

मज्जन करि सुभ सरजुतट ठाढ़े श्रीरघुबीर ।
संग अनुज मुनि अमल मन, प्रभु भंजन भव-भीर ॥
बपु नव-नीरद-नील सुचि, भुवनाभरन रसाल ।
सुंदर पीतांबर बिसद भ्राजत उर मनिमाल ॥
पुष्पहार मुनि-मन-हरन सुंदर सुखमा-ऐन ।
बिकट भ्रुकुटि, चितवनि कुटिल, रस-मद-माते नैन ॥
रूप जलधि माधुर्यनिधि उपमा-बिरहित अंग ।
रोम रोमपर वारियै अगनित अजित अनंग ॥

याद रक्खो—जो पलड़ा नीचा होता है, वही भारी होता है। वैसे ही जो विनयशील, मानका त्यागी तथा दूसरोंको सम्मान देनेवाला होता है, अपनेको सबसे नीचा मानकर विनम्र बर्ताव करता है, सबमें भगवान्‌की अभिव्यक्ति देखकर जो सबके सामने सिर झुकाता तथा सबकी सेवा करता है; इन गुणोंके कारण वस्तुतः वही भारी है। इस क्षेत्रमें नीचा ही ऊँचा है और व्यर्थ अभिमानके ऊँचे पहाड़पर रहनेवाला ही नीचा है।

याद रक्खो—विनयीसे सब प्रसन्न रहते हैं, सेवकसे सबको सुख मिलता है, सभी उसको हृदयसे चाहते हैं और अपना मानते हैं। भगवान्‌की तो परम कृपा उसे मिलती ही है; क्योंकि सबमें भगवान् देखनेवालेके सामनेसे भगवान् तो कभी एक क्षणके लिये हटते नहीं। वह सदा सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखता है तो भगवान् उसको देखते रहते हैं।

याद रक्खो—विनयी पुरुषके मित्र बढ़ते हैं और अभिमानीके शत्रु। विनयीके कहीं गिरनेपर लोग उसे उठाने दौड़ते हैं तो अभिमानीको धक्के और ठोकर मिलते हैं। विनयीको कहीं अपमान-तिरस्कारका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह अपमान-तिरस्कारको कुछ समझता ही नहीं और अभिमानीको बार-बार अपमान-तिरस्कारकी चोट लगती रहती है। कोई भी स्वाभाविक आकृति, चाल तथा शब्द ही उसपर मर्माघात करने लगते हैं। ये सब विपत्तियाँ अभिमानीकी अपनी बुलायी होती हैं और वे सदा उसके साथ लगी रहती हैं, उनके संगी-साथी तथा परिवारकी वृद्धि होती रहती है। पर विनयीके पास ऐसी दैवी सम्पदाका सुदृढ़ किला रहता है कि उसमें इन विपत्तियोंका कभी प्रवेश ही नहीं हो सकता।

याद रक्खो—विनयी पुरुषके द्वारा ही किसीका सेवा-संस्कार हो सकता है। अभिमानी तो अपनी ऐंठमें ही रहता है, वह अभिमानवश गुरुजनोंका भी अपमान कर बैठता है। इससे वह उनकी सद्भावना एवं आशीर्वादसे वञ्चित रह जाता है। शिक्षा ग्रहण करनेमें भी अभिमानसे बहुत बड़ी बाधा आती है; क्योंकि अभिमानी मनुष्य किसीसे कुछ भी पूछने-जाननेमें अपना अपमान समझता है, वह किसीको भी किसी विषयमें अपनेसे ऊँचा माननेको तैयार ही नहीं होता। वह भगवान्‌से भी अभिमानवश दूर ही रहता है। संतोंका भी तिरस्कार करता है। इसीसे भगवान् भी सच्चे चिकित्सक वैद्यकी भाँति अभिमानीका अभिमान नाश करनेके लिये उसके साथ द्वेषकी लीला करते हैं और विनयीके दैन्यके कारण उसके प्रति स्नेह-लीलाका प्रकाश करते हैं।

याद रक्खो—विनयीके हृदयमें सदा शान्ति रहती है और अभिमानीका हृदय जलता रहता है। वह किसीकी भी उन्नति, प्रगति, उत्थान, समृद्धि तथा कीर्तिकी बात सुन लेता है तो उसे सह नहीं सकता और उसके हृदयकी द्वेषाग्नि बड़े वेगसे भड़क उठती है। उसी जलनको मिटानेके लिये यह ऐसे कुकर्म भी कर बैठता है जो उसकी उस आगको भीषण दुःखदावाग्नि एवं नरकानल बनाकर जलनको और भी तीव्र तथा भयानक कर देते हैं।

याद रक्खो—सच्चा विद्वान् तथा बुद्धिमान् भी वही है, जिसमें विनय है। विद्याका अवश्यम्भावी फल ही है विनयकी प्राप्ति और विनयके आते ही पात्रता तथा समृद्धि भी आ जाती है। इस प्रकार जो सुख-शान्ति प्रदान करनेवाली पात्रता एवं समृद्धिका सम्पादन कर लेता है, वही बुद्धिमान् है।

याद रक्खो—फलवाले वृक्ष झुक जाते हैं और अपने अमृतस्वादी फलोंसे जन-जनको तुष्ट करते हैं, पर अफलवृक्ष सीधे तने खड़े रहते हैं और सबकी उपेक्षाके पात्र होते हैं। सब प्रकारके उत्तम लाभ विनयमें ही है। अतः तुम भी विनयी बनो और उससे सबको अपना बना लो।

याद रक्खो—विनय असली होनी चाहिये, दिखावटी नहीं। दिखावटी विनय तो एक प्रकारका छल है जो अपनेको धोखा देता है। अतः दिखावटी विनय न करके असली आदर्श विनयका अर्जन तथा व्यवहार करो।

‘शिव’

कर्म-मीमांसा

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः ॥

मनुष्यको सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं। दूसरे मुझको सुख-दुःख देते हैं, ऐसा मानना नासमझीकी बात है। 'मैं करता हूँ'—ऐसा समझना व्यर्थका अभिमान है। श्रीनरसिंह मेहताके शब्दोंमें कहें तो—'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ—यह अज्ञान है।' क्योंकि मनुष्यमात्र अपने ही कर्मके बन्धनसे आप जकड़ा हुआ है और उसको अपने कर्मोंके फलके रूपमें ही सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। यह हुआ ऊपरके श्लोकका अर्थ। पर इतने अर्थसे कर्मका रहस्य समझमें नहीं आता, अतएव इसको समझनेके लिये एक दृष्टान्त लीजिये।

एक शिकारी हिरणको मारनेके लिये अपना तीर छोड़ता है। दैववशात् वह तीर हिरणको लगता है और हिरण मर जाता है। अब यदि हिरणको वाणी प्राप्त हो और वह कहे कि इस तीरने मुझे मार डाला, अर्थात् इस तीरने मुझको मृत्युका दुःख प्रदान किया; तो हम तुरंत कह उठेंगे कि 'भाई हिरण! तुम्हारी बात सच्ची नहीं। तीर तो जड है, वह तुमको क्या मार सकता है? तुमको मारनेवाला तो वह शिकारी है, जिसने तुमको मारनेके लिये तीर छोड़ा था।' अब यदि हम सूक्ष्मबुद्धिसे आगे विचार करें कि जैसे तीर शिकारीके हाथका साधनमात्र है, उसी प्रकार शिकारी भी उस महान् जादूगरके हाथका साधन है जो 'विश्व-नियन्ता' कहलाता है। हिरणकी मृत्यु तो उसके प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर हुई। उसकी मृत्युका उस क्षण निर्माण न होता और उसका प्रारब्ध-भोग शेष होता तो वह तीर उसे न लगता; क्योंकि ऐसा नहीं देखनेमें आता कि जब-जब शिकारी तीर छोड़ता है तब-तब वह प्राणीको लगता ही है और उसकी मृत्यु अवश्य ही होती है। इसलिये हिरणको तो उसके पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपसे मृत्यु प्राप्त हुई; परंतु कामना, आसक्तिसे युक्त जो शिकारी यह अहङ्कार करता है कि हिरणको मैंने मारा, हिरणकी हत्याका पाप उसे तो अवश्य ही लगता है।

अर्जुनको भी ऐसा ही मोह कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें हुआ था और उसकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान्ने समझाया था कि 'इन सबको मारनेवाला तो मैं हूँ, तुम तो केवल निमित्तरूप बनो।' '**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' का भाव यही है।

जब कर्मके विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं कि '**गहना कर्मणो गतिः**' अर्थात् कर्मकी गति गहन है, तब मनुष्यके लिये कर्मका रहस्य जाननेका यत्न करना उसकी अनधिकार चेष्टा है। अतएव कर्मके रहस्यको पूर्णतः समझना-समझाना मनुष्यकी बुद्धिकी सीमाके परेकी बात है। परंतु वह कोई अंश यथार्थरूपमें समझता है—उसे यदि ऐसा लगे तो उसको जनताके सामने उपस्थित करनेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि कदाचित् वही अंश किसी मुमुक्षुके ठीक समझमें न आया हो और इससे उसका समाधान हो जाय।

कर्मका रहस्य समझनेके लिये उसके दो विभाग करके देखें। एक अनैच्छिक अर्थात् प्रकृति-प्रेरित कर्म है, दूसरा ऐच्छिक अर्थात् बुद्धि-प्रेरित कर्म। अनैच्छिक कर्म शरीरके धर्मके अनुसार अपने-आप हुआ करता है और उसमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ—श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको ले लें। वह

हमारी इच्छा हो या न हो, पर अपने-आप हुआ करती है। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंकी क्रियाएँ अपने-आप हुआ करती हैं, उनमें इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जबतक धर्मी है तबतक उसके धर्ममें बाधा नहीं हो सकती। अर्थात् जबतक धर्मी आँख है, तबतक उसके रूप देखनेवाले धर्मका अथवा स्वभावका बाध नहीं हो सकता—कोई उसे रोक नहीं सकता। आँखें खोलीं कि रूप दिखायी दिया। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस बातको बहुत ही सुन्दर रीतिसे समझाते हुए कहा है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

भाव यह है कि जो मनुष्य कर्मके रहस्यको ठीक-ठीक समझ गया है, वह अपनी इन्द्रियोंके स्वभाववश होनेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्त्ता नहीं मानता; क्योंकि वह जानता है कि जबतक चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, तबतक उनके दर्शन आदि व्यवहारोंको रोकनेका कोई उपाय नहीं है। जबतक कि शरीरका नाश नहीं हो जाता, तबतक उन इन्द्रियोंके स्वाभाविक कार्य होंगे ही। श्रीभगवान्‌ने यहाँ बहुत विस्तारपूर्वक समझाया है। 'पश्यन्' अर्थात् देखनेकी क्रिया; जबतक आँख है तबतक उसका रूप देखनेका स्वभाव मिट नहीं सकता। 'शृण्वन्' अर्थात् सुननेकी क्रिया; कान जबतक है तबतक उसके सुननेका धर्म लुप्त नहीं हो सकता। 'स्पृशन्' अर्थात् स्पर्श करनेकी क्रिया; जबतक स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है तबतक स्पर्श-ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। एक आदमी दोपहरके समय नदीमें कमरतक पानीमें खड़ा रहे तो उसकी इच्छा हो या न हो, उसकी कमरके नीचेके भागमें शीतलताका बोध और ऊपरके भागमें उष्णताका बोध हुए बिना नहीं रहेगा। 'जिघ्रन्' अर्थात् सूँघनेकी क्रिया। जबतक नासिका है तबतक सुगन्ध-दुर्गन्ध आदिका ज्ञान अनिवार्य है। 'अश्नन्' अर्थात् खानेकी क्रिया; जबतक जीभ है तबतक अपने मुँहमें कोई भी वस्तु डालो और उसका स्वाद जाननेकी तुम्हारी इच्छा न हो तो भी उस-उस वस्तुका स्वाद मिले बिना नहीं रहेगा। यह हुई ज्ञानेन्द्रियोंकी बात। कर्मेन्द्रियोंकी बात भी इसी प्रकार समझ लें।

जब श्रीभगवान् कहते हैं—

'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'

—तब उसका अर्थ यही होता है कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं। हठपूर्वक त्याग करने जायँगे तो शरीरका नाश हो जायगा। इसी बातको समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।'

अर्थात् यदि तुम अपनी इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारका त्याग करने जाओगे तो तुम्हारे शरीरका निर्वाह नहीं हो सकेगा। अर्थात् इन्द्रियोंके तत्-तत् व्यवहारके बिना शरीर टिक नहीं सकता।

जिसको केवल तर्क करना है और सदाचारकी ओर नहीं देखना है, वह कहेगा कि जब इन्द्रियोंके व्यापार रोके नहीं जा सकते, तब मनुष्य मनमाना आचरण करे और अनुचित व्यवहार करे तो उसके लिये वह उत्तरदायी कैसे होगा? उत्तर यह है कि अशुभ कर्म कदापि इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रेरित व्यवहार अनिच्छासे हुआ करते हैं, पर अशुभ प्रवृत्तिमें तो सुख पानेकी इच्छा कारणभूत होती है; अतएव वैसी अशुभ क्रियाके लिये कर्त्ता उत्तरदायी है ही। बल्कि जो अनैच्छिक कर्म अपने-आप हुआ करते हैं, उनमें भी श्रीभगवान्‌ने सावधान रहनेके लिये कहा है; क्योंकि प्रकृति सदा ही अधोगामिनी होती है और मन सदा विषयोंसे सुख पानेके लिये तैयार रहता है इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें राग-द्वेष रहते हैं । अर्थात् इन्द्रियोंका उनके विषयोंके साथ संयोग होनेपर राग-द्वेष उत्पन्न होता है । उस राग-द्वेषके फंदेमें मत फँसो । यदि फँसे तो अवश्य लुट जाओगे । इसका स्पष्टीकरण यह है कि चक्षु-इन्द्रियका दर्शनका व्यवहार भले ही हो, पर वह व्यवहार राग-द्वेषपूर्वक नहीं होना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यवहारमें भी यदि राग-द्वेष मिला होगा तो उस व्यवहारका संस्कार अन्त:करणके ऊपर पड़े बिना न रहेगा और वह संस्कार भावी-बन्धनको उत्पन्न करनेवाला बन जायगा । सारांश यह कि आँखसे रूपको देखना तो आँखका धर्म है, पर भोगदृष्टि आसक्ति या बुरी भावनासे रूपको देखना पापकर्म समझा जायगा और उसका फल भोगना ही पड़ेगा । इसलिये श्रीभगवान् कहते हैं कि इन्द्रियोंके नैसर्गिक व्यापारमें भी राग-द्वेषसे मुक्त रहना ही चाहिये ।

यहाँतक अनैच्छिक कर्मकी बात हुई । अब ऐच्छिक अर्थात् इच्छा या बुद्धिकी प्रेरणासे हुए कर्मोंकी ओर देखिये । गीतामें अधिकांश इसी कर्मकी चर्चा है । गीताके कर्मयोगका मूल सूत्र है—'योग: कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्ममें कुशलता होनेका नाम योग है । कर्ममें कुशलता अर्थात् कर्म ऐसी कुशलतासे किया जाय कि जिससे कर्म करनेपर भी कर्मका बन्धन न हो—जैसे जलके भीतर रहनेपर भी कमलको जलका स्पर्श नहीं होता ।

कर्मकी मीमांसा करते हुए भगवान् कहते हैं कि इस विषयमें विद्वानोंमें भी दो मत हैं । एक पक्ष कहता है कि 'कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, अत: वे जीवनके लिये बन्धनकारक हैं । उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये ।' दूसरा पक्ष कहता है कि यज्ञ, दान और तप-जैसे पवित्र कर्मोंका त्याग न करे । इस विषयमें मेरा जो निश्चय है वह मैं तुझसे कहता हूँ । ध्यान देकर सुनो —

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

भगवान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-जैसे कर्मोंका त्याग न करे, बल्कि उनका आचरण अवश्य करे; क्योंकि ये पवित्र कर्म अन्त:करणको शुद्ध करके परमात्माकी प्राप्ति कराते हैं । फिर ये कर्म भी किस प्रकार किये जायँ, यह समझाते हुए कहते हैं—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

इन पवित्र कर्मोंको भी 'मैं करता हूँ'—यह अभिमान बिना रखे तथा उनके फलमें आसक्ति किये बिना करे; क्योंकि ऐसे शुभ और पवित्र कर्म भी यदि फलकी इच्छासे अहङ्कारपूर्वक किये जाते हैं तो वे बन्धनकारक होते हैं । अन्तर इतना ही है कि ऐसे कर्मोंसे सोनेकी बेड़ी पड़ती है और दूसरे प्रकारके कर्मोंसे लोहेकी बेड़ी । दोनोंमें बन्धन तो समान ही होता है ।

गीता कहती है कि कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होता । कर्म-बन्धनमें डालनेवाला तो कर्त्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा—ये दो ही हैं । इसलिये अभिमान और इच्छारहित होकर जो भी कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता । इसीको बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थात् जिस मनुष्यमें 'यह कर्म मैं करता हूँ'—ऐसा अहङ्कार नहीं है तथा इस कर्मका 'अमुक फल मुझे मिलेगा'—ऐसी इच्छा नहीं है, वह मनुष्य यदि इस युद्धभूमिमें खड़े सारे योद्धाओंको मार डाले तो भी उसे उस कर्मका बन्धन नहीं होगा । इससे स्पष्ट हो गया कि कर्म स्वयं बन्धनमें नहीं डालता, बल्कि बन्धनकारक होते हैं उसमें रहनेवाली फलेच्छा और कर्त्तापनका अभिमान ।

जबतक हम संसारमें हैं, तबतक कर्म तो करने ही पड़ेंगे, इससे छुटकारा नहीं है । इसलिये कर्म कैसे बन्धनकारक नहीं बनेंगे, इसका उपाय बतलाती हुई गीता कहती है कि (१) कर्त्तापनका अभिमान न रक्खो, (२) फलकी इच्छाके बिना कर्म करो ।

फलकी इच्छा न रखकर कर्म करनेसे फल नहीं मिलता हो ऐसी बात नहीं है । इच्छारहित अर्थात् निष्काम कर्मका फल तो अनन्तगुना अधिक मिलता है और वह बन्धनकारक नहीं होता । बल्कि निष्काम कर्म ऐहिक फल देनेके उपरान्त अन्तःकरणकी शुद्धि करता है और इस प्रकार जीवन्मुक्तकी स्थिति प्राप्त होती है । यह कोई कम लाभ नहीं है ।

इस कर्त्तापनके अभिमानका त्याग करनेके लिये गीतामें श्रीभगवान्‌ने अनेकों साधन बतलाये हैं । एक स्थानमें वे कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

अर्थात् कर्म-सम्पादन तो प्रकृतिके गुणोंसे होता है; परंतु अहङ्कारवश मूढ़ होकर जीवात्मा अपनेको कर्त्ता मान लेता है । अब प्रकृतिके गुणोंसे कर्म कैसे होता है—यह समझना चाहिये । प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज और तम हैं । इन तीन गुणोंका कार्य यह शरीर है; क्योंकि इन तीन गुणोंसे पञ्चमहाभूत हुए और उन भूतोंसे यह शरीर हुआ । इसलिये सारे कर्मोंका सम्पादन स्थूलशरीरसे होता है और स्थूलशरीरकी सत्ता देनेवाला है सूक्ष्मशरीर । आत्मा तो केवल देखनेवाला है, वह कुछ करता नहीं; तथापि अज्ञानके कारण अपनेको कर्त्ता मान लेता है और इस प्रकार अज्ञानसे घिरा हुआ आत्मा जीवसंज्ञाको प्राप्त होता है, अर्थात् अपनेको कर्त्ता-भोक्ता मानकर जन्म-मरण-धर्मवाला बनता जाता है ।

कर्त्ता भोक्ता देह मैं, यही जीवका रूप ।
जब वह खुद कर्त्ता नहीं, केवल शिवस्वरूप ॥

'मैं ही कर्त्ता-भोक्ता देह हूँ'—ऐसा अज्ञानवश मानकर आत्मा जीवभावको प्राप्त होता है । जीवका स्वरूप इस अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है । परंतु यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपको समझ जाय कि मैं तो कर्त्ता, भोक्ता तथा देह नहीं, फिर तो वह शिव-स्वरूप है ही । इस प्रकार व्यर्थ कर्त्तापनके अभिमानसे आत्मा बन्धनको प्राप्त होता है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, यह निश्चय करके कर्त्तापनका अभिमान छोड़ दो ।

दूसरे, कर्मफलकी आशा छोड़नेके लिये तो स्थान-स्थानपर श्रीभगवान्‌ने कहा ही है । उनमेंसे एक-दो प्रसङ्ग लीजिये—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

भगवान् कहते हैं कि जिनको तत्त्वज्ञान हो गया है, वे बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर अनामय पद अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ।

भाव यह है कि यदि कर्म निष्काम भावसे किया जाय तो उससे बन्धन नहीं होता; इतना ही नहीं, जन्म-मरणका बन्धन टूट जाता है और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है ।

कर्म-फल-त्यागके विषयमें एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

इसलिये जो कर्मयोगी है अर्थात् जिसने कर्मके यथार्थ रहस्यको जाना है, वह कर्मके फलको त्यागकर परमशान्ति प्राप्त करता है, अर्थात् निर्वाण-पदको पाता है । और जो अयोगी है अर्थात् कर्मके रहस्यको नहीं समझता, कर्ममें आसक्ति रखता है, वह फलकी इच्छा

रखकर कर्म करता है, जिससे वह कर्मके बन्धनमें जकड़ जाता है। अर्थात् जो कर्मफलकी इच्छा नहीं रखता, वह जन्म-मरणके दुःखसे छूट जाता है और जो कर्म-फलकी आशाका सेवन करता है, उसका जन्म-मरण चालू रहता है।

इस छोटे-से निबन्धमें हमने देख लिया कि अनैच्छिक कर्म भी यदि राग-द्वेष-युक्त हों तो बन्धनकारक बनते हैं; अतएव उनमें भी राग-द्वेषसे मुक्त रहे तथा ऐच्छिक कर्ममें कर्त्तापनका अभिमान न रक्खे और फलकी आशाका सेवन न करे। ऐसा करनेसे किसी भी कर्मका बन्धन न होकर शाश्वत शान्ति मिलेगी, अर्थात् मुक्ति प्राप्त होगी।

इस लेखके शीर्षस्थानमें जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसी भावकी भक्तराज नरसिंह मेहताकी दो पंक्तियाँ लिखकर लेख समाप्त किया जाता है। कवि कहते हैं—

हुं करूँ हुं करूँ, एज अज्ञान छे।
शकटनो भार जेम श्वान ताणे॥

× × ×

नीपजे नरथी तो कोई ना रहे दुखी।
शत्रु मारीने सौ मित्र राखे॥

× × ×

जेहना भाग्यमाँ जे समे जे लख्युं।
तेहने ते समे ते ज पहोंचे॥

अनुवाद

मैं करूँ मैं करूँ, यही अज्ञान है।
शकटका भार, ज्यों श्वान ताने॥

× × ×

उपजे नरसे तो कोई न रहे दुखी।
शत्रुको मार, सब मित्र राखे॥

× × ×

जाके भाग्यमें जेहि समय जो लिख्यो।
ताको ताही समय सोइ पहुँचे॥

* * *

पवित्र प्रेम

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल जो काम-कलुषसे रहित उदार।
शशधर-कलासदृश प्रति पल ही बढ़ता रहता सहज अपार॥
नहीं कभी भी, किसी हेतुसे, हो सकता उसका प्रतिरोध।
नहीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव निरोध॥
धन-जन-तन, बहु-भोग-जनित सुख, दुःख प्रबलका तनिक प्रभाव।
नहीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव॥
नहीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम।
जीवन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम॥
प्रियतम प्रभु बन स्वयं मधुरतम प्रेमसुधा-रस-पारावार।
करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार॥
उठतीं ललित लहरियाँ उसमें अनुपम अमल अमित अविराम।
देती सतत अनन्त कालतक सुख शुचि नित्य नवीन ललाम॥
इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुखमय संसार।
उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किञ्चित् काम-विकार॥
रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र।
सदा अमृत-रस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर प्रणाम, आपका पत्र मिला, समाचार जाने। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

जीव वैकुण्ठधाममें जानेपर मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

पाप और पुण्य दोनों समाप्त हो जानेपर जीव मुक्त हो जाता है। जबतक कर्मसंस्कार रहते हैं, तबतक जन्म-मरण होता रहता है। कर्मोंके विधानानुसार नाना योनियोंमें जन्म होता रहता है।

पाप-कर्मका फल जीवको हरेक योनिमें भोगना पड़ता है। नरकमें तो खास-खास पाप-कर्मका फल भुगताया जाता है। उतनेसे समस्त पापोंका फल समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य-योनिमें पूर्वकृत पापका फल भी भोगा जाता है और नवीन कर्म करनेका भी अधिकार रहता है तथा मनुष्य अपना उद्धार भी कर सकता है; क्योंकि इसमें उसको विवेक प्राप्त है।

स्वर्ग और नरकमें कर्मचारियोंको भी उनके कर्मफलानुसार ही भिन्न-भिन्न अधिकार और कार्य मिलता है। उतने कर्मफलोंका पूरा भोग हो जानेपर संचित कर्मोंमेंसे जो कर्म भोगोन्मुख होते हैं, उन्हींके अनुसार उनको अन्य योनि मिलती रहती है।

बिना चापलूसी और बिना कानूनको धोखा दिये ही ईमानदार व्यापारीका काम चल सकता है, यह मेरा विश्वास है। धर्मपालनमें कठिनाईका सामना तो करना ही पड़ता है, तभी मनुष्यका उद्धार होता है।

सभी चींटियाँ पंख निकलनेपर मर जाती हों—ऐसी बात नहीं है। लोग चन्द्रलोकमें पहुँच जायँ तब देखा जाय। अभी तो बात-ही-बात है।

राक्षसयोनि वर्तमानकालमें दृष्टिगोचर नहीं होती—इससे यह नहीं माना जा सकता कि उसका सर्वनाश हो गया है। कहीं राक्षसयोनि हो तो भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

ईश्वर तो एक ही है, चाहे उसे भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारें। भिन्न-भिन्न भाषा, देश आदिकी रचना उन्होंने जीवोंके अनेक कर्मोंका फल भुगतानेके लिये ही की है—ऐसा मानना चाहिये।

अन्य योनियाँ सब भोग-योनियाँ हैं, उनमें नया पुण्य-पाप नहीं होता। अतः उनमें परस्पर जीवोंकी जो हिंसा होती है, वह कर्मोंके अनुसार ही होती है; परंतु मनुष्यको प्रभुने विवेक दिया है, अतः उसे मांसभक्षण और परपीड़ा आदि न करनेके लिये शास्त्रोंमें आदेश दिया गया है।

जो चार वेद ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए थे, वे यही हैं, ऐसा ही माना जाता है। ब्रह्माद्वारा लिखित पुस्तक कहाँ है या किस भाषामें है, यह मुझे पता नहीं। इतने समयकी पुस्तकका सुरक्षित रह सकना भी सम्भव नहीं है। वर्तमानकालमें तो कुछ हस्तलिखित तथा अधिकांश छपी हुई पुस्तकें ही मिलती हैं।

स्वतः मरे हुए कीटसमूहसे जो रेशम प्राप्त होती है, उसे पवित्र माना गया है। उससे बने हुए वस्त्र आदि भगवान्‌के विग्रहके काममें लाये जायँ तो उत्तम है।

अंग्रेज, रूसी, मुसल्मान आदि लोग चार वर्णोंमें नहीं आते; क्योंकि उनमें वर्ण-व्यवस्था नहीं है। उन्हें मनुष्य ही मानना चाहिये।

अश्वमेध-यज्ञमें युधिष्ठिरका घोड़ा, उस समयतक जितनी धरतीका पता था तथा जहाँतक भारतीयोंका आवागमन था, वहाँतकके सभी देशोंमें गया और उनपर विजय प्राप्त की गयी—यही माना जाता है।

ईश्वरने जन्म-मरण, स्वस्थ-रोगी, पाप-पुण्य, मतभेद, अच्छा-बुरा, धनी-गरीब जो कुछ बनाया है, सब जीवोंके कर्मानुसार और उनके कर्मफल भुगतानेके लिये ही बनाया है। सब लोग पुण्य करनेवाले तथा धर्मात्मा हो जायँ तो बहुत अच्छी बात है। परमेश्वरका इसमें कोई नुकसान नहीं, पर लोग होते नहीं—इसका क्या उपाय ?

गणेशजीके फोटोको लटकाना नहीं चाहिये—इस तरहकी बात शास्त्रोंमें हो तो मुझे पता नहीं; क्योंकि मुझे सब शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है।

आजकलके वैज्ञानिक जो कुछ आविष्कार कर रहे हैं, वह भौतिक दृष्टिसे उनकी बड़ी बुद्धिमानी ही है।

गर्भपात करना तो पापकर्म है । स्त्री-पुरुषोंमें कृत्रिम नपुंसकताका प्रचार भी मेरी समझमें अच्छा कार्य नहीं है। लोग यदि संयम कर सकें तो वह हितकर है ।

जिन राजाओंने अन्य वर्णोंकी स्त्रियोंसे शादी की, उसे बुरा काम ही माना गया । जनताको आज्ञा देना धर्मके नियम बनानेवाले ऋषियोंकी जिम्मेदारीके अन्तर्गत था ।

नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्र, दुर्वासा, वेदव्यास आदि ऋषि क्यों नहीं प्रत्यक्ष मिलते—इसका कारण तो कलियुग बताया जाता है । इससे अधिक मैं क्या बताऊँ । मैं तो उनके मिलनेका उपाय जानता नहीं ।

पुष्कर तालाबमें स्नान करनेके फलकी बात स्नान करनेवालोंके श्रद्धा-विश्वासपर निर्भर है । आपको अच्छा न लगा—यह आपकी मान्यता हो सकती है । सबके लिये एक-सी बात नहीं है ।

विवाह किये हुए पुरुषको जनेऊका जोड़ा पहनना चाहिये तथा कुमारको एक जनेऊ पहनना चाहिये—यह विधान है । लघुशंका आदिके समय यज्ञोपवीतको कानपर चढ़ा लेनेका विधान है । एक कानपर चढ़ा लेना ही काफी है। जनेऊ पुरानी, कमजोर या अपवित्र होनेपर बदल लेनी चाहिये ।

राजाको गीतामें ईश्वरका अवतार नहीं बताया गया है, 'नराणां च नराधिपम्'—कहकर उसकी विशेषताका ज्ञान कराया गया है ।

विशेषतायुक्त चीज भगवान्‌की विभूति है ।

गो-हत्या क्यों नहीं बंद होती—यह तो उन्हींसे पूछना चाहिये, जिन्हें आप धार्मिक तथा राष्ट्रके सर्वोच्च शासक मानते हैं ।

आजकलका विकट समय देखकर मेरी तो यही राय है कि आपके मित्रको अपनी पत्नीके पूर्व दोषको क्षमा कर देना चाहिये तथा भविष्यके लिये उससे प्रतिज्ञा करा लेनी चाहिये । यदि वह प्रतिज्ञा कर ले तो उसके दोषको भुलाकर उसे प्रेमसे अपने पास रख लेना चाहिये । नहीं तो, आगे चलकर स्त्री अधिक चरित्रभ्रष्ट हो सकती है तथा आपके मित्र भी आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन कर सकेंगे—इसमें भी संदेह है ।

(२)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । उत्तर इस प्रकार हैं—

सिनेमामें जो धार्मिक दृश्य दिखाये जाते हैं, उनका भी रूप अत्यन्त विकृत होता है; क्योंकि उन दिखानेवालोंका लक्ष्य दर्शकोंको प्रसन्न करना, आकर्षित करना और हँसाना ही मुख्य रहता है । उसमें शिक्षाके नामपर भी अशिक्षाका ही प्रचार होता है । इसलिये मेरी रायमें सिनेमाका विरोध करना सर्वथा उचित है ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । गुरु बननेकी न तो मेरी योग्यता है और न मैं समर्थ ही हूँ; अतः यदि आपने भूलसे मुझमें गुरुकी भावना कर ली हो तो उसे छोड़ दें और मुझे अपना मित्र मानकर ही पत्र-व्यवहार करें ।

उत्तर शीघ्र देनेके लिये लिखा सो क्या किया जाय । पत्र बहुत आते हैं । मुझे समय कम मिलता है, इस कारण देर हो ही जाती है ।

आदमी जब जन्मता है, उस समय उसे सुख-दुःखका ज्ञान रहता है, दुःख-निवारणके लिये रोता भी है । अपनी माके स्तनोंका दूध भी पान करता है । पर उन बातोंको शीघ्र ही भूल जाता है, पीछे वे याद नहीं रहतीं ।

आपने अपनी परिस्थितिका विवरण लिखा सो ठीक है । जो गलतियाँ भूतकालमें जानकर या बेसमझीसे हो गयी हैं, उनका बार-बार चिन्तन करनेसे कोई लाभ नहीं है । भविष्यमें वैसी गलती न करनेका दृढ निश्चय रखना चाहिये ।

ब्रह्मचर्य-भंग करनेसे जिस हानिकी अनुभूति आपको हुई है, उस अनुभूतिसे यह लाभ उठाना चाहिये कि फिर वैसी गलती न हो; क्योंकि उससे हानि-ही-हानि है । कोई प्राणी अपनी हानि नहीं चाहता, विषको विष जाननेके बाद उसे कोई नहीं खाता ।

जिस घटनामें मनुष्य किसी प्रकारका सुख मान लेता है, उसीका स्वप्न प्रायः आ जाया करता है । उस प्रकारके कार्यको न करनेका दृढ़ संकल्प करनेके बाद वैसे स्वप्न अपने-आप बंद हो सकते हैं; क्योंकि संकल्प-विकल्प और स्वप्न मनुष्यके भावसे ही सम्बन्ध रखते हैं । अतः भाव शुद्ध हो जानेके बाद अशुद्ध स्वप्न नहीं आ सकते ।

आप निराश न हों, अपने जीवनका परिवर्तन करनेमें आप सर्वथा स्वतन्त्र हैं । इसके लिये किसी वस्तु और

व्यक्तिकी सहायता अनिवार्य नहीं है । आपको जो कुछ प्राप्त है, उसीका सद्भावनापूर्वक उचित उपयोग करनेसे आप अपने जीवनको सुन्दर और आदर्श बना सकते हैं । इसमें वैद्यसे परामर्श करना आवश्यक नहीं है ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) ईश्वर सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ है, अतः वह निर्गुण भी है और सगुण भी । समस्त दिव्य गुणोंका केन्द्र वही है । उसकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है ।

(२) भगवान्‌की शक्ति-विशेषका नाम माया है, इसको प्रकृति भी कहते हैं । गीता अध्याय ७ श्लोक ४ में इसे अपरा प्रकृतिके नामसे और श्लोक १४ में गुणमयी मायाके नामसे कहा गया है । इससे छुटकारा पानेका उपाय उसी श्लोकमें एकमात्र भगवान्‌की शरण लेना, उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर सर्वभावसे उनका हो जाना बताया गया है ।

(३) मनको जीतनेमें असमर्थताका अनुभव इसलिये होता है कि प्राणी विषयोंमें सुखकी आशा रखता है, उसकी कामनाको अपनी आवश्यकता मानकर उसे पूरी करना चाहता है और बुद्धिके ज्ञानकी अवहेलना करता रहता है । यदि ऐसा न करके विवेकयुक्त बुद्धिके अनुसार काम करे और कामना-त्यागसे मिलनेवाली परम शान्तिकी लालसाको सबल बना ले तो मन बड़ी सुगमतासे अपने-आप वशमें हो जाता है ।

(४) भगवान्‌में श्रद्धा घटनेका कारण, जिनपर विश्वास नहीं करना चाहिये उनपर विश्वास करना, नास्तिकोंका संग करना और उसके परिणामकी ओर नहीं देखना ही है ।

(५) विषयोंका त्याग करनेमें असमर्थता तभीतक रहती है जबतक उनसे सुखकी आशा है ।

(६) भावकी शुद्धिसे मन शुद्ध होता है, भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास मनको शुद्ध बनानेमें सहायक हैं । भगवान्‌की कृपाशक्ति प्रत्येक मनुष्यको शुद्ध बनानेमें लगी है; पर मनुष्य अभिमानवश अपनेको उसके सम्मुख नहीं करता, अपनेको भगवान्‌की कृपापर नहीं छोड़ता । इसी कारण विलम्ब हो रहा है । दूसरोंके दोषोंका दर्शन, श्रवण, चिन्तन और वर्णन मनकी अशुद्धिको बढ़ाता है । अतः इसका त्याग परम आवश्यक है ।

(७) प्रामाणिक और शुद्धतापूर्वक कार्य करनेवालेको वह सफलताकी परिस्थिति नहीं मिलती, जो झूठ-कपट करनेवालेको मिलती है—यह मान्यता या ऐसा समझना निराधार और गलत है; क्योंकि बहुत-से ऐसे मनुष्य भी देखनेमें आते हैं, जो झूठ-कपट करनेके लिये सर्वथा तैयार हैं और करते हैं, तो भी वे महादरिद्री और दुखी हैं । और ऐसे लोग भी देखनेमें आते हैं, जो झूठ-कपट नहीं करते तो भी बड़े सम्पत्तिशाली हैं । साधकके जीवनमें तो सम्पत्ति या किसी प्रकारकी परिस्थितिका कोई महत्त्व ही नहीं रहना चाहिये ।

(८) जातिमें विषमता मनुष्यने स्वयं ही स्थापन कर ली है । परमात्माने जो कुछ किया है वह तो प्राणियोंके कर्मफल-भोगके अनुरूप उनके हितके लिये ही किया गया है ।

(९) अपना पूर्वजन्म जाननेकी इच्छामें कोई लाभ नहीं है, अतः इस इच्छाका त्याग कर देना चाहिये । पूर्वजन्म तो अनन्त हो चुके हैं ।

(१०) दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके उपाय प्रभुपर अनन्य विश्वास, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारका निष्कामभावसे पालन करना है ।

(११) भगवान् शंकर जिस कैलासमें निवास करते हैं वह कैलास एक तो उत्तराखण्डमें है, दूसरा मनुष्यके हृदयमें है । दोनों ही स्थानोंमें मनुष्य उनके दर्शन कर सकता है, पर इन चर्मचक्षुओंसे नहीं; उसके लिये श्रद्धा और विश्वाससे युक्त आँखें होनी चाहिये ।

(१२) जिस धर्मके ह्राससे भगवान्‌का अवतार होता है, वैसे ह्रासका समय अभी नहीं आया है; क्योंकि कलियुगका समय है । अभी तो अधर्म और भी बढ़ सकता है; जब आवश्यक होगा, तब भगवान् निश्चय प्रकट होंगे—इसमें संदेह नहीं । उनसे कुछ छिपा नहीं है ।

(१३) गीता अ० ४ श्लोक ३३ में जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे समस्त कर्मोंकी समाप्ति होनेकी बात कही गयी है, वह परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान है । शास्त्रके पठन-पाठनका ज्ञान या साधनरूप ज्ञान नहीं है । एवं इसमें जो कर्मोंकी समाप्तिका वर्णन है वह भी क्रियाकी समाप्तिका नहीं, उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले फलसहित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारकी समाप्तिका है ।

(१४) मृत व्यक्तिकी हड्डियाँ गङ्गाजीमें बहा देनेसे उसकी उत्तम गति होती है, ऐसा लेख शास्त्रसम्मत है; इसमें प्रधानता श्रद्धाकी है। रहस्य क्या है, यह तो भगवान् ही जानते हैं; मैं क्या लिखूँ?

(१५) काम, अर्थ, भोगकी परिस्थितिकी प्राप्तिमें प्रारब्ध प्रधान है एवं धर्मपालनमें, मुक्तिमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। प्रारब्धका फल मनुष्यको भोगना पड़ता है, तथापि मनुष्य साधनद्वारा उस फलभोगसे अतीत स्थिति प्राप्त करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। यह साधनकी महिमा है।

(१६) मैं अंग्रेजीका विद्वान् नहीं हूँ, इस कारण आधुनिक विज्ञानके विषयमें आपने जिन विज्ञानवेत्ताओंकी मान्यता लिखी उनके विषयमें कुछ नहीं कह सकता। मूर्तिपूजाके विषयमें तो मेरा यही कहना है कि आस्तिक भक्त मूर्तिको निमित्त बनाकर अपने इष्टदेवकी पूजा करता है; धातु या पाषाणकी नहीं।

(१७) एक व्यक्तिमें यदि दो परस्परविरोधी भाव कालान्तरमें जाग्रत् हो ही जायँ तो जो भाव शास्त्र और विवेकके अनुसार हो, जिसमें किसीका अहित न हो, उसीका आदर करना चाहिये। शास्त्र और विवेकके विरोधी भावका त्याग कर देना चाहिये। गुजरात प्रान्तमें गोवधपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, यह अच्छी बात है।

मुझे गुरु नहीं मानना चाहिये, मैं किसीको शिष्य बनानेमें सर्वथा असमर्थ हूँ।

योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

(लेखक—श्रीग० ना० बोधनकर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रस्तुत लेखमें योगवासिष्ठ और भगवद्गीताके कुछ विषयोंका तुलनात्मक विचार करना है। स्थानाभावसे यह विवेचन अति संक्षेपमें करना अनिवार्य है।

(१) इन ग्रन्थोंका रचनाकाल

हिंदुओंके अनेक प्राचीन धर्मग्रन्थोंके समान इन पूज्य ग्रन्थोंके रचनाकालके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। डा० आत्रेय, दिवानजी, पं० र० भा० पावगी शास्त्री आदि विद्वानोंके मतसे योगवासिष्ठकी रचना गीता (अर्थात् भारत) के पूर्व हुई थी।[1] लोकमान्य तिलक और अन्य विद्वानोंके मतसे योगवासिष्ठकी रचना भारतके पश्चात् हुई।[2] महाभारतके अनुशासनपर्व ६।२ में धर्मराजने दैव और पुरुषार्थके विषयमें भीष्मसे प्रश्न किया था। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि इसी सम्बन्धमें ब्रह्मदेव और वसिष्ठका एक संवादात्मक इतिहास विद्यमान है। इसपरसे अनुमान किया जाता है कि योगवासिष्ठका दैव-पुरुषार्थविषयक प्रकरण महाभारतके पूर्व रचा गया होगा। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि वर्तमान उपलब्ध बृहत् योगवासिष्ठ ग्रन्थ एक लघुतर आकारमें गीताके पूर्व विद्यमान था। ईस्वी सन् ८५० के लगभग काश्मीरी पण्डित गौड अभिनन्दाने योगवासिष्ठके ६०००सारभूत श्लोकोंका संग्रह कर 'लघुयोगवासिष्ठ'नामक ग्रन्थ तैयार किया था।[3] श्रीविद्यारण्यस्वामीकृत पञ्चदशी और जीवन्मुक्तिविवेकमें योगवासिष्ठका उल्लेख है। भवभूतिने विवर्तवादका उल्लेख किया है। उपनिषदों और गीतामें इस वादका उल्लेख नहीं है, किंतु योगवासिष्ठमें इसका विवेचन पाया जाता है। भर्तृहरिके ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठके श्लोक पाये जाते हैं। वैसे ही, उनमें 'शब्दब्रह्म' का उल्लेख है, किंतु योगवासिष्ठमें वह नहीं पाया जाता। वैसे ही कालिदासके मेघदूतके कुछ शब्द योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरण, उत्तरखण्ड, सर्ग ११९, श्लोक २–५में आये हैं। इसपरसे पण्डित पावगी अनुमान करते हैं कि उन कवियोंके और गौड अभिनन्दाके पूर्व योगवासिष्ठ विद्यमान रहा होगा। डा० भीखनलाल आत्रेय भी इस मतके हैं।[4] वैसे ही योग-

---

[1] Paper on probable date of the composition of Yogavasishtha.

[2] गीतारहस्य।

[3] लघुयोगवासिष्ठके प्रकरण १–३ पर की 'आत्मसुख' टीका देखिये।

[4] Yogavasishtha & its philosophy by Dr B. L. Atreya.

वासिष्ठमें विज्ञानवाद, बौद्धोंके शून्यवाद, माध्यमिक आदिका उल्लेख है। वाल्मीकिके समय इनका होना असम्भव है।[५]

योगवासिष्ठमें अर्जुनाख्यान–जैसे भविष्यकालीन कथनोंका उल्लेख है; किंतु इसपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि योगवासिष्ठ ग्रन्थ भारतके पश्चात् रचा गया; क्योंकि उसमें भविष्यकालिक क्रियाओंका प्रयोग किया गया है।[६] भारत और महाभारतके रचनाकालके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है।[७] अस्तु। इन ग्रन्थोंके कालनिर्णयपर कालव्यय करना निरर्थक है। दोनों ग्रन्थ पुरातन और पूज्य हैं और उनका श्रद्धापूर्वक अध्ययन मनुष्यके लिये परम श्रेयस्कर है, यह निर्विवाद है।

(२) इन ग्रन्थोंके नाम

इन दोनों ग्रन्थोंके नाममें 'योग' शब्द आया है। गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसे 'योगशास्त्र' कहा गया है। किंतु दोनों ग्रन्थोंमें यह शब्द एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है। दोनों ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय है मोक्ष। उनमें मोक्ष और उसके उपायोंका विवेचन किया गया है। योगवासिष्ठमें 'योग' शब्द साध्य (अर्थात् आत्मसाक्षात्कारभूत सहजसमाधिस्थिति) और साधन (अर्थात् मोक्षोपाय)—इन दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।[८]

महर्षि पतञ्जलिके 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्रमें 'योग' शब्द हठयोगद्वारा प्राप्त 'समाधि'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। किंतु योगवासिष्ठमें इसे जड और अचिरस्थायी समाधि कहकर इसकी अपेक्षा चेतनसमाधि अर्थात् आत्मसाक्षात्कारभूत, चिरकालिक सहजसमाधिस्थिति वा ज्ञानजन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मयी जीवन्मुक्तावस्थाको श्रेष्ठतर मानकर स्थिति-प्रकरणमें उसे 'महायोग' वा 'ब्रह्मयोग' कहा गया है।[९] गीतामें 'योग' शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। उदाहरणार्थ—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, 'समत्व', 'कर्मसु कौशलम्' इत्यादि। (गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो संकल्पात्मक वचन है उनमें, उस अध्यायकथित योग-विशेषका निर्देश किया गया है।) तात्पर्य, गीतामें 'योग' शब्द साधन और साध्य अर्थात् मोक्ष और उसकी प्राप्तिके उपाय–इन दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है।

(३) प्रतिपाद्य विषय और विवेचनशैली

दोनों ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय है मोक्षप्राप्ति वा आत्मबोध और उसके उपाय या साधन। किंतु विवेचनपद्धति और विषयविस्तारकी दृष्टिसे योगवासिष्ठकी विवेचनपद्धति अधिक शास्त्रीय किंतु संवादात्मक और कथात्मक पौराणिक पद्धति है और उसकी भाषा क्लिष्ट और समासघटित और दृष्टान्त, उपमा आदिसे सुसज्जित है।[१०] गीताकी भाषा सुबोध, सरल एवं मार्मिक है, और भावोंका व्यक्तीकरण प्रासादिक। योगवासिष्ठ विषयबाहुल्य और कथात्मकविस्तृत विषयविवेचनके कारण अतिविशाल किंतु मनोरञ्जक है; गीता सूत्ररूप किंतु हृदयस्पर्शी और परम तत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक दृष्टिसे दोनों ही ग्रन्थ अलौकिक हैं।

---

५. यच्छून्यवादिनां शून्यम्, विज्ञानमात्रं विज्ञानवादिनाम्, माध्यं माध्यमिकानाम्—इत्यादि (योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण ५-६ और उपशम–प्र० ८७। १८। २८।

६. यो० वा० नि० प्र० पू० सर्ग ५२—५८।

७. Dr. A. D. Pusalkar's "Studies in the Puranas and Epics" देखिये।

८. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।

(नि० प्र० उ० १३। ३)

मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारनिर्मिता।

(यो० वा० २। १७। ६)

९. कूर्मपुराणमें भी कहा गया है—

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मत्यैक्यं स महायोगो भाषितः परमः स्वयम्॥

(उत्तरभाग ११। ६)

१०. दृष्टान्तेन विना राम नापूर्वार्थोऽवबुध्यते।

(यो० वा० २। १८। ५१)

येनेहाननुभूतेऽर्थे दृष्टेनार्थेन बोधनम्।
बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः॥

(यो० वा० २। १८। ५०)

किंतु ब्रह्म 'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्' होनेसे

ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह हि कथ्यते।
एकदेशसधर्मत्वं तत्रातः प्रतिगृह्यताम्॥

(यो० वा० २। १८। ५४)

—ऐसी श्रीवसिष्ठने चेतावनी दे रखी है।

(४) उपक्रमोपसंहार

अर्जुनके 'कश्मल'के निवारणार्थ गीताका अवतार हुआ तो श्रीरामकी स्वभावसिद्ध विरक्तिके निवारणार्थ वसिष्ठ श्रीराम-संवाद (अर्थात् योगवासिष्ठ) का। स्वजनहत्यादोषसे भयभीत अर्जुन 'न योत्स्ये' कहता है तो सहजसमाधितल्लीन होनेसे श्रीरामको यज्ञरक्षणार्थ विश्वामित्रके साथ भेजना कठिन होता है। अर्जुन अज्ञानके कारण अपने क्षात्रधर्मका पालन करनेमें असमर्थ हुआ तो श्रीराम आत्मसाक्षात्कारजन्य पूर्ण असंसक्ति या अनासक्तिके कारण। वर्णाश्रमविहित स्वधर्मका पालन करनेमें अर्जुनको प्रवृत्त करनेके लिये गीताका और श्रीरामको प्रवृत्त करनेके लिये योगवासिष्ठका प्रादुर्भाव हुआ।

उपसंहारकी दृष्टिसे भी दोनों ग्रन्थोंमें सादृश्य है। दोनों उपदेशकोंके हेतु सफल हुए। गीताश्रवणके परिणामस्वरूप अर्जुन कहते हैं 'नष्टो मोहः', 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः', 'करिष्ये वचनं तव' इत्यादि। इन्हीं वचनोंके सदृश श्रीरामके भी मुखसे वचन निकलते हैं।"

(५) उपदेशककी भूमिका

अर्जुन और श्रीराममें साधककी दृष्टिसे कितना अन्तर था, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दोनों उपदेशक किंतु पूर्ण ज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ गुरुपदाधिकारी हैं। तथापि वसिष्ठ सांख्ययोगी, राजयोगी वा 'महायोगी' हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण योगीश्वर, महान् कर्मयोगी, 'योगेश्वर' और स्थितप्रज्ञ हैं।

गीतामें स्वयं भगवान् उपदेशक बने हैं तो योगवासिष्ठमें स्वयं भगवान्‌ने यह भूमिका महर्षि श्रीवसिष्ठको प्रदान की है।

(६) शिष्यकी योग्यता

अर्जुनकी अपेक्षा श्रीरामकी योग्यता कहीं अधिक है। वे चतुःसाधनयुक्त अधिकारी साधकोंसे भी श्रेष्ठतर, पूर्ण विरक्त और ज्ञानी हैं। अर्जुन भी श्रेष्ठ अधिकारी साधक थे, किंतु श्रीराम-जैसे स्वभावतः विरागी और अचल स्थितप्रज्ञ नहीं। यही कारण है कि उनके अज्ञानपटलध्वान्तका विनाश सदाके लिये नहीं हुआ और भारतीय युद्धके बाद भगवान्‌को उन्हें पुनः अनुगीता सुनानी पड़ी! इस सम्बन्धमें और भी एक बात उल्लेखनीय है। मोहग्रस्त अर्जुनका हठ था 'न योत्स्ये'। किंतु श्रीरामका कोई भी हठ नहीं था। न वे कर्तव्यपराङ्मुख थे, न स्वकर्तव्योंसे अपरिचित। वे शुक्राचार्य-सदृश सदा-सर्वदा सहजसमाधिस्थ अभेददृष्टि और समदृष्टि थे[12]। उनकी केवल आकांक्षा थी मनःशान्तिको अभंग रखना[13]। वे सर्वदा इच्छारहित, आत्मसंतुष्ट, 'अनासक्त' और 'असंसक्त' थे। वैसे ही, गीतोपदेशसे अर्जुनमें ज्ञानोदय अवश्य हुआ, किंतु वह चिरन्तन और अक्षुण्ण न रहा।

मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति या प्रयत्न तथा रसाभिनिवेशके अनुसार ज्ञान या अज्ञानकी भूमिकाएँ फलरूप होती हैं। पूर्व-संस्कारानुरूप अज्ञानी जीव विषयमें आसक्त और विषयसुखमें लोलुप होता है, तो ज्ञानी अनासक्त और मोक्षेच्छु। योगवासिष्ठमें ज्ञान और अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन आया है।

(७) अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(१) बीजजाग्रत्, (२) जाग्रत्, (३) महाजाग्रत्, (४) जाग्रत्स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्नजाग्रत् और (७) सुषुप्ति—ये अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ[14] हैं।

(८) ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

योगवासिष्ठमें ज्ञानकी (१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, वा असंगभावना, (४) सत्त्वापत्ति वा विलापनी, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी या तुर्या और (७) तुर्यगा—ये ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ कही गयी हैं।[15] इनमेंसे प्रथम तीन भूमिकाओंको 'जाग्रत्' कहते हैं; क्योंकि इनमें जगत्‌की सत्ताका संवेदन होता है। इन तीन अवस्थाओंमें स्थित पुरुषको 'आर्य' कहते हैं[16]।

---

११. यो० वा० नि० प्र० उ० सर्ग २१४।

१२. मुमुक्षुप्रकरण, सर्ग ११ देखिये।

१३. वैराग्यप्रकरण, सर्ग २७ देखिये।

१४. उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग ११७ देखिये।

१५. योगवासिष्ठ उत्पत्तिप्र० ११८। ५-६।

निर्वाण प्र०पू० सर्ग १२० में प्रथम भूमिकाको 'प्रज्ञावृद्धि', ५वीं भूमिकाको 'शुद्धसंविन्मय' वा 'आनन्दरूपा', ६ठीको 'स्वसंवेदनरूपा' और ७ वींको 'तुर्यातीता' कहा गया है। नि० प्र० पू० सर्ग १२६ भी देखिये।

१६. योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० १२६। ५४-५५ देखिये—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥

योगीका यह 'आर्यत्व' प्रथम भूमिकामें अङ्कुरित होता है, द्वितीय भूमिकामें विकसित होता है और तीसरी भूमिकामें फलरूप होता है। चतुर्थ भूमिकामें योगीको आत्मसाक्षात्कारका अनुभव होता है। उससे उसका चित्त सद्रूप हो जाता है। अतः उसे 'सत्त्व' कहते हैं[17], और इस भूमिकाको 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं। उसे जगत्का संवेदन 'प्रातिभासिक' सत्तासे होता है; अतः इस भूमिकाको 'स्वप्नसदृशी' भी कहते हैं। इस भूमिकामें आरूढ़ साधकको 'ब्रह्मवित्' कहते हैं। पाँचवीं भूमिकामें स्थित साधकको जीवन्मुक्त या 'ब्रह्मविद्वर' कहते हैं। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ योगी गुरु होनेका अधिकारी होता है[18]। छठी भूमिकामें स्थित योगीको 'ब्रह्मविद्वरीय' कहते हैं। उसकी स्थिति सुषुप्त पुरुषके समान होती है। सप्तम भूमिकास्थित योगीकी द्वैतभावना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और उसे 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

इन सप्त भूमिकाओंको पार करनेवाले महायोगीका प्रारब्ध क्षय होकर देहपात होनेपर उसे विदेहमुक्ति मिलती है। यही गीतोक्त ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त करनेपर योगी पुनः मोहको प्राप्त नहीं होता—'न विमुह्यति'[19]। गीतामें इन सप्त भूमिकाओंका सविस्तर विवेचन नहीं आया है, किंतु प्रसंगानुसार इन भूमिकाओंमें स्थित योगीके लक्षणोंका वर्णन पाया जाता है। इस विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें साम्य है।

(९) सिद्धोंके प्रकार और व्यवहार

ज्ञानी पुरुष दो प्रकारके होते हैं—(१) कर्मयोगी और (२) सांख्ययोगी। याज्ञवल्क्य, कपिल, शुकाचार्य, भृगु, भरद्वाज-जैसे सांख्ययोगी स्वभावतः निवृत्तिपर होनेसे सदा चिद्रात्मरूपतल्लीन और आत्मसंतृप्त होते हैं और प्रारब्ध-क्षय होनेतक संन्यस्तवृत्तिसे जीवन बिताते हैं। श्रीराम×, जनक, प्रह्लाद, मनु-जैसे कर्मयोगी भी पूर्ण विरक्त और ज्ञानी होते हैं और निष्कामबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ स्ववर्णाश्रम-विहित कर्तव्योंका पालन करते हैं। इन दोनों प्रकारके योगियोंके व्यवहार उनके स्वभाव, पूर्वसंस्कार, प्रारब्ध और सहजप्राप्त परिस्थितिके अनुसार हुआ करते हैं; किंतु वे कर्मोंसे बद्ध नहीं होते। देहावसानके अनन्तर दोनों प्रकारके योगियोंको विदेहमुक्ति प्राप्त होती है। दोनोंको एक ही दिव्यगति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है[20]। गीतामें भी इन दो प्रकारके ज्ञानियोंका वर्णन आया है। वसिष्ठको ज्ञानोत्तर कर्मयोग अधिक अभिमत है[21]। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।

भागवतोक्त भागवतोत्तम भी इसी श्रेणीके होते हैं[22]।

(१०) ज्ञानका स्वरूप

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस भावको गीतामें ज्ञान वा 'सम्यक् ज्ञान' और योगवासिष्ठमें 'सम्यगवेक्षण' कहा गया है। गीतामें और योगवासिष्ठमें ज्ञानयोग, सांख्ययोग और राजयोग प्रायः पर्यायवाची हैं। तैसे ही दोनों ग्रन्थोंमें कहा है—'एकं सांख्यं च योगं च'।[23]

(११) ब्रह्म, जीव और ब्रह्मज्ञ

ब्रह्म, जीव और ब्रह्मज्ञके स्वरूपके विषयमें दोनों ग्रन्थोंमें मतैक्य है। जीवका अमरत्व और जीव और ब्रह्मका ऐक्य दोनोंको मान्य हैं। दोनों ब्रह्मको एकमात्र सत् तथा जगत्का अधिष्ठान मानते हैं, किंतु गीताके मतसे सांख्यशास्त्रोक्त प्रक्रियानुसार परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति और संहार करता है। इस दृष्टिसे जगत् सत्य है। योगवासिष्ठके मतसे जगत्की उत्पत्ति ही नहीं होती। वह मूलमें ही मिथ्या है। जगत्का जो संवेदन होता है वह चिद्रूप परब्रह्मकी चिच्छक्तिका विकासमात्र है। अतः जगत्के स्वतन्त्र अस्तित्वके मिथ्याभासके निरासका ही नाम ज्ञानोत्पत्ति है।

---

[17] ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते ।

[18] मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२ देखिये ।

[19] आसावन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।

योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० ११८ । ७

× श्रीराम तो स्वयं भगवान् ही हैं, उनकी विरक्ति या ज्ञान तथा मोक्षकी कथा लोकसंग्रहार्थ लीला है ।

[20] योगवासिष्ठ नि० पू० ६९ । १८, १९, २९ । नि० पू० १३ । ३ । गीतारहस्यका 'सिद्धावस्था व व्यवहार' प्रकरण १२ देखिये ।

गीता—५ । ५ ।

[21] 'धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः'—यो० वा० नि० उ० २१३ । ५० ।

[22] श्रीमद्भागवत ११ । २ ।

[23] यो० वा० नि० पू० ६९ । २९ ।

गीता—५ । ५ ।

(१२) ज्ञान, सांख्य और योग

गीता और योगवासिष्ठमें 'सांख्य' और 'ज्ञान'—ये शब्द प्रायः एक ही अर्थमें व्यवहृत हुए हैं । वैसे ही दोनोंके मतसे 'एकं सांख्यं च योगं च' । किंतु 'योग' शब्द दोनों ग्रन्थोंमें एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं । पतञ्जलिने यह शब्द चित्तवृत्तिनिरोधरूप 'समाधि'के अर्थमें किया है तो योगवासिष्ठमें यह शब्द आत्मसाक्षात्कारभूत सहज-समाधिस्थिति (अर्थात् साध्य) तथा मोक्षोपाय (अर्थात् साधन) के अर्थमें व्यवहृत हुआ है—यह हम ऊपर देख चुके हैं । वसिष्ठका मत है कि चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम कर्मयोग आवश्यक है, किंतु ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह विशेष उपादेय नहीं होता । मोक्षसाधनके अर्थमें 'योग' शब्दमें कर्मयोग और भक्तियोगका अन्तर्भाव होता है । गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग 'साधन' वा मोक्षोपायके अर्थमें लिये गये हैं । योगवासिष्ठके अनुसार सांख्य और योग—इन दोनोंमेंसे किसी एकके भी द्वारा ज्ञानप्राप्ति हो सकती है । पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोध मोक्षका साधन है और तज्जनित 'समाधि' योगीका साध्य (अर्थात् मुक्ति) है । किंतु वसिष्ठके मतसे हठयोगजन्य समाधिस्थिति अस्थायी होनेकी सम्भावना रहती है । अतएव वह ज्ञानोत्तर सहजसमाधिस्थितिसे गौण है । इस आत्म-साक्षात्कारभूत सहजसमाधिस्थितिको वे सम्यगवेक्षण वा 'चित्तनाश' कहते हैं । गीतामें इस सम्यगवेक्षणको 'सम्यक्-ज्ञान' कहा गया है । गीतामें 'योग' शब्द विभिन्न अर्थोंमें किस प्रकार व्यवहृत हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं ।

(१३) चित्तनाशके मार्ग

'चित्तनाश'के दो मार्ग हैं—(१) ज्ञान और (२) योग[२४] । 'योग' चित्तवृत्ति-निरोधक है, तो ज्ञान सम्यगवेक्षण या सर्वत्र अभेदका दाता । वसिष्ठ 'चित्तत्याग' या हठयोगकी अपेक्षा 'चित्तनाश' अथवा सम्यगवेक्षणको अधिक पसंद करते हैं ।[२५]

ज्ञानसे वासनाक्षय, 'असंसक्ति' वा 'अनासक्ति' उत्पन्न होकर पुरुष जीवन्मुक्त होता है । गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—ये मोक्षके मार्गत्रय वर्णित हैं । दोनों ग्रन्थोंका मत है कि आत्मसाक्षात्कारके बिना मुक्ति नहीं होती । केवल 'संसार असत् है, जगत् मिथ्या है' ऐसी रटना करनेसे 'संसृतिर्न निवर्तते' ।[२६]

(१४) 'योग' का स्वरूप

'योग' के स्वरूपके विषयमें गीता और योगवासिष्ठमें किंचित् अन्तर है । शरीरान्तः-संचारी प्राणवायुकी हलचलसे शरीरकी स्थितिमें वैचित्र्य उत्पन्न होता है । इस वैचित्र्यकी दृष्टिसे ही प्राणवायुको अपान, उदान आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं, अर्थात् ये अपानादि वायु प्राणवायुके ही वृत्तिभेद हैं ।

प्राण चित्तका आधार होनेसे प्राणवायुके स्पन्दसे संकल्पोद्गत होनेवाली संवित्कलाका ही नाम चित्त है । अर्थात् प्राणके परिस्पन्दका ही नाम चित्त है । अतः प्राणवायुका निरोध करनेसे चित्तका निरोध होता है । योगद्वारा धारणा और ध्यानका अभ्यास कर परमात्मामें चित्त एकाग्र अर्थात् विलीन करनेसे और ॐकारका दीर्घकालतक उच्चारण करके उसके शेष वा अन्त्य नादमें बाह्यविषयोंका भाव पूर्णतया विलीन कर देनेसे भी प्राणस्पन्दका निरोध होता है । गीतामें भी इस प्रकारका मत व्यक्त किया गया है, किंतु विस्तारसे नहीं । इस प्रकार समाधि प्राप्त करनेवाले योगीको योगवासिष्ठमें 'योगयोगी' कहा गया है ।[२७]

(१५) योगसिद्धि

यदि योगाभ्यासीकी मृत्यु ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व हो जाय तो वह स्वर्गमें नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करके पवित्र और श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ।[२८] इस प्रकार ज्ञानकी उत्तरोत्तर भूमिकामें अग्रसर होकर अन्तमें वह सप्तम भूमिकाको पार करके विदेहमुक्ति पाता है ।

---

[२४] द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
(यो० वा० ५ । ७८ । ८)

[२५] चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
(नि० पू० ९४ । ९२ और १३ । ८)

[२६] भागवत स्कन्ध ११

[२७] प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥
(नि० पू० ६९ । ७९)

[२८] गीता (६ । ४०–४४) योगवासिष्ठ नि० पू० १२६ । ४०–५७)

(१६) पुनर्जन्म

पुनर्जन्ममें योगवासिष्ठ और गीता दोनोंकी मान्यता है। जीव स्वकर्मानुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधः लोकोंमें जाता है।[२९] उपनिषदोंमें देवयान और पितृयान मार्गोंका वर्णन है और गीतामें शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका।[३०] किंतु वसिष्ठ इन यानों और मार्गोंकी बात नहीं कहते। उनके मतसे जीव जिस स्थानपर देहत्याग करता है उसी जगहपर आगामी जन्मकी सभी कल्पनाओंका उसे अनुभव होता है।[३१] मृत्युका स्वरूप और मृत्युके पश्चात्‌की स्थितिका योगवासिष्ठमें सविस्तर वर्णन आया है।[३२] Rational Mysticism नामक अपने ग्रन्थमें Kingsway ने भी यही मत व्यक्त किया है।[३३] मेजर आर्थर पॉवेल, कोनान डायल आदिके ग्रन्थोंमें यही विषय वर्णित है।

(१७) मृत्युका स्वरूप

दोनों ग्रन्थोंका मत है कि जीव अमर है और मृत्यु देहान्तरमात्र।[३४] मृत्युके बाद जीव देशकालान्तरसे पुनः-पुनः किसी-न-किसी देहकी कल्पना कर उत्पन्न होता है।[३५]

(१८) आयुर्मर्यादा

ईशकृत सृष्टिनियम या 'नियति' के अनुसार मानवकी आयु कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें क्रमशः ४००, ३००, २०० और १०० वर्ष होती है—ऐसा योगवासिष्ठमें कहा है।[३६] किंतु मनुष्यके कर्मके अनुसार यह मर्यादा न्यूनाधिक होती है।

'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।'

यथाशास्त्र स्वकर्मानुष्ठानसे मनुष्य पूर्णायु होता है और निषिद्ध-कर्माचरणसे आयुका ह्रास होता है।[३७] गीतामें इस विषयका विवेचन नहीं है

(१९) मृत्युके बाद जीवकी गति

शुभाशुभ कर्मानुसार जीवोंके महापापी, मध्य पापी, और सामान्य पापी तथा महापुण्यवान्, मध्य पुण्यवान् और सामान्य पुण्यवान्—ये छः प्रकार कहे गये हैं। ये स्वकर्मानुसार स्वर्ग वा नरकमें सुख-दुःखोंका उपभोग करनेके बाद अन्नके रूपसे मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर रेतोरूप होकर पुनः जन्म लेते हैं, ऐसा वसिष्ठजीका मत है। गीतामें यह वर्गीकरण नहीं पाया जाता।

(२०) अर्जुनाख्यान

योगवासिष्ठमें अर्जुनाख्यान आया है, जो महाभारतीय कथासे मिलता-जुलता है। योगवासिष्ठके संवादोंका सम्बन्ध है। इसलिये उसमें भविष्यकालिक क्रियाओंका उपयोग किया गया है।[३८] इस आख्यानमें गीताके सत्ताईस श्लोक पाये जाते हैं। इस आख्यानमें श्रीवसिष्ठने जो असंसक्ति या अनासक्तियोगका वर्णन किया है, उसका गीतोक्त ज्ञानी पुरुषकी अवस्थाके वर्णनसे बहुत सादृश्य है। पं. र. भा. पावगी शास्त्रीका मत है कि ये २७ श्लोक गीतासे लिये गये हैं (न कि योगवासिष्ठसे गीतामें)।

(२१) श्लोक और विषयका सादृश्य

गीताके अध्याय २, ३, ४, ५, ६, ७, ९, १०, १३, १४, १५, १६ और १८ के कुछ श्लोक योगवासिष्ठमें पाये जाते हैं। किंतु यह कहना कठिन है कि ये श्लोक किस ग्रन्थमें प्रथम रचे गये और दूसरे ग्रन्थमें कब उठा लिये गये। किं

---

[२९] गीता १४ । १८ ।

[३०] गीता ८ । २४–२६ ।

[३१] योगवासिष्ठका उपाख्यान देखिये ।

[३२] यो० वा० ५ । ४० । १; ५ । ७१ । ६५; ३ । ५४ । ९; ३ । ४० । ४५; नि० उ० १०१ । २५–२६; १८ । १ इत्यादि ।

[३३] इस समय भी पूर्वजन्मकी स्मृतिके कुछ उदाहरण विद्यमान हैं । वैसे ही, अमेरिकन और रूसी मानवोंके जीवोंके परस्पर कायाप्रवेशका भी उदाहरण है । पाश्चात्त्य विद्वानोंकी Spiritualism पर की गयी गवेषणाओंसे पुनर्जन्मवादको ही पुष्टि मिलती है ।

[३४] देहान्तरार्थं देहस्य स त्यागो मरणं स्मृतम् ।
(यो० वा० ५ । ४० । १)
गीता—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
(यो० वा० नि० उ० १८ । १)

[३५] यो० वा० ५ । ७१ । ६५ ।

[३६] यो० वा० उ० सर्ग ५४ ।

[३७] यो० वा० ३ । ५४ । ३०–३२ ।

[३८] योगवासिष्ठ, नि. पू. स, ५२ ।

इस श्लोकसादृश्यपरसे तद्गत विषयोंके सम्बन्धमें दोनों ग्रन्थोंके मतसादृश्यकी कल्पना हो सकती है। इन श्लोकोंमें वर्णित विषय ये हैं—(गीता, अ० २ और योगवासिष्ठ, निर्वाण० पू० ५२ । ५४-५५)

सर्वव्यापक, अज, अव्यय, अविनाशी, एकमात्र सत्य ब्रह्मका स्वरूप; जगत्‌का मिथ्यात्व; इन्द्रियजन्य बाह्य जगत्‌के संवेदनोंका और देहोंका अनित्यत्व; फलाशारहित स्वधर्मानुष्ठानकी आवश्यकता; अकर्मत्वका निषेध; योगस्थ और असंग होकर कर्माचरण; अज्ञानी और संयमी मुनिके लक्षण इत्यादि (गीता अ० ३ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३ । ५४ और नि० उ० ३७ । ३६)

मिथ्याचार, अहंकर्तृत्व, अनासक्ति, अनासक्त होकर कर्तव्यपालनकी विशेषता, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका कार्य। (गीता अ० ४ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५४ । २५–२८)

कर्मफलासंग, योगीका नित्यतृप्तत्व और अनहंकारिता (गीता अ० ५ और योगवासिष्ठ नि० पू० ६९ । २१ और ५३।९)

सांख्य और योगकी अभिन्नता, सांख्य और योगके द्वारा प्राप्त होनेवाली गतिकी एकता, आत्मशुद्धिके लिये निष्कामकर्मकी उपादेयता ।

(गीता अ० ६ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३।४३-४४)

मानवका स्वयं ही अपना बन्धु या शत्रु होना, ज्ञानीका सर्वभूतोंमें आत्माको और आत्मामें सर्वभूतोंको देखना अर्थात् सर्वात्मदृष्टि ।[३९]

(गीता ७४/ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५५।१८)

अष्टधा प्रकृति ।

(गीता अ० ९ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५४ । २ तथा ५४ । ३४)

कर्मार्पणयोग, अनन्यशरणागति, आत्मसमर्पण । इसीको भागवतमें अहैतुकी भक्ति कहा गया है ।[४०]

(गीता अ० १० और योगवासिष्ठ नि० प्र० पू० ५४ । १ और नि० प्र० उ० १६३ । ४०, ४१)

ईश्वरभक्ति, ईश्वरमें चित्त, प्राण और बुद्धिकी तन्मयता। (गीता अ० १३ और योगवासिष्ठ नि० पू० ७४ । २८–३० नि० उ० १४ । ९–११)

अनासक्तियोग, एषणारहित्य, एकान्तवासका महत्त्व, परमात्माका निर्गुणत्व, सर्वव्यापकत्व और अतीन्द्रियत्व, ज्ञान और अज्ञानका स्वरूप; ज्ञानीका समचित्तत्व और समदर्शिता; अव्यभिचारिणी भक्ति ।

(गीता, १४ । २२ और योगवासिष्ठ २ । १८ । ३०)

सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाश, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्यरूप मोहकी प्रवृत्ति वा निवृत्तिमें ज्ञानीकी उदासीनता ।

(गीता १५।५ और योगवासिष्ठ नि० प्र० उ० ५३ । ६६, और १५३ । ५८)

अव्ययपदप्राप्त ज्ञानीका वर्णन ।

(गीता १६ । १४ और योगवासिष्ठ ३ । २७ । २४)

जीव-ब्रह्मैक्य ।

(गीता १८ । १७ और योगवासिष्ठ नि० पू० ५३।२)

ज्ञानीकी अनासक्ति और निरहंकारिता और कर्माकर्म-दोष-राहित्य ।

दोनों ग्रन्थोंके उपदेशका साफल्य दोनों शिष्योंके मुखसे व्यक्त होता है ।

गीता १८ । ७३ में अर्जुन अपनेको 'गतसंदेह' कहकर स्वकर्म करनेके लिये तत्पर हो जाते हैं । यही भाव श्रीरामके मुखसे योगवासिष्ठ नि० पू० ५८ । १ में व्यक्त हुआ है ।

गीता और योगवासिष्ठमें और भी कुछ विषयोंका सादृश्य या वैदृश्य पाया जाता है । गीताके समान योगवासिष्ठमें भी **'कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** ऐसा मत व्यक्त किया गया है । गीतामें 'आतिवाहिक देह', वसिष्ठोक्त साधन-चतुष्टय, दैवसे पौरुषकी श्रेष्ठता, 'नियति', गुणानुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अर्थात् विधिसृष्टि, देवसृष्टि और मानव-सृष्टि और तदन्तर्गत व्यष्टिजीवोंके तीन प्रकार (जिनके उपाधिभेदोंसे १४ प्रकार कहे गये हैं),[४१] मरणोत्तर जीवकी विभिन्न गतियाँ, सिद्धिसामर्थ्य और उसकी प्राप्तिके उपाय, अजातवाद, विवर्तवाद, शून्यवाद, ज्ञान और अज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ इत्यादि विषयोंका विवेचन नहीं किया गया है, न उन सबका सविस्तर वर्णन करना आवश्यक या सम्भव था । इसका कारण यह है कि गीताका अवतार युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको मोहमुक्तकर वर्णाश्रमविहित स्वधर्माचरणमें प्रवृत्त करनेके लिये हुआ ! अतएव गीताशास्त्रीय पद्धतिका विस्तृत

---

[३९] श्रीमद्भागवत ११ । २ और ११ । १९

[४०] श्रीमद्भागवत ११ । १२

[४१] योगवासिष्ठ० उत्पत्तिप्र० सर्ग ९४ और स्थितिप्र० ५९ । ६१ देखिये ।

और सर्वविषय-प्रतिपादक अध्यात्मग्रन्थ होना सम्भव नहीं था, न आवश्यक ही। तथापि देश-काल, परिस्थिति और उद्देश्यकी दृष्टिसे गीता-जैसा सहज-सुन्दर, मार्मिक, प्रभावोत्पादक सुबोध और गूढ़तत्त्वबोधक अन्य अध्यात्मग्रन्थ नहीं है। वैसे ही अध्यात्मविद्याका विस्तृत और शास्त्रीय विवेचन करनेवाला योगवासिष्ठ एक बेजोड़ ग्रन्थ है। दोनों ग्रन्थ अत्यन्त श्रद्धेय, कल्याणकारक और मननीय हैं और हिंदुओंके श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानके निदर्शक हैं।

गीता—एक राजशास्त्र

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्री० दा० सातवलेकर महोदय)

श्रीमद्भगवद्गीतामें राज्यशासनका आदेश है, यह पढ़कर बहुत-से लोग आश्चर्यचकित होंगे। पर यह एक तथ्य है, जो थोड़ा विचार करनेपर पाठकोंको ज्ञात हो सकेगा। गीताके प्रारम्भमें ही "धृतराष्ट्र उवाच" वाक्यसे राजनीतिका संकेत किया गया है। सब लोग जानते हैं कि "धृतराष्ट्र" एक राजा था, पर वह "धृत-राष्ट्र" था।

"धृतं अन्यस्य राष्ट्रं येन स धृतराष्ट्रः"

जो अपने पाशविक बलसे दूसरोंका राज्य छीनकर उनपर शासन करता है, वह "धृतराष्ट्र" है। दूसरोंके राज्योंको बलपूर्वक अपने अधीन करना साम्राज्यवादका चिह्न है और साम्राज्यवादका राजनीतिसे स्पष्ट सम्बन्ध है। एक राजाका दूसरोंके राज्योंको अपने अधीन रखना भी राज्यशासनकी दृष्टिसे एक अपराध ही है। इस तरह इस "धृत-राष्ट्र" पदमें साम्राज्यवादका दोष सहज ही प्रकट हो रहा है। यह धृतराष्ट्र अन्धा है। साम्राज्यवादी अन्धे होते ही हैं, इसमें संदेह नहीं; क्योंकि उनको अपने अधीनस्थ लोगोंमें छिपी हुई मानवता नहीं दीखती। वे अपने अधीनस्थ लोगोंके आराम और सुखकी ओरसे आँखें मूँद लेते हैं। धृतराष्ट्र भी साम्राज्यवादी होनेके कारण अन्धा हो, अथवा शारीरिक दृष्टिसे अन्धा हो, वह पाण्डवोंके मानवताके अधिकारोंको देखता नहीं था—यह सत्य है।

"धृत-राष्ट्रों"के साथ "हृत-राष्ट्रों"का सम्बन्ध होता ही है। किसी दूसरेका राष्ट्र अपने अधिकारमें किये बिना एक व्यक्ति "धृतराष्ट्र" बन ही नहीं सकता। यह कौरव राजा "धृत-राष्ट्र" है और पाण्डव "हृत-राष्ट्र" हैं। सदासे ही "धृत-राष्ट्र" और "हृत-राष्ट्रों"के बीच संग्राम होता आया है। इस प्रकार राज्य-शासनका एक तत्त्व "धृतराष्ट्र" पदसे ही व्यक्त होता है।

इस प्रकार विचार करनेसे राज्य-शासनके और भी अनेकों तत्त्व प्रकट हो सकते हैं।

"धृत-राष्ट्र" सदा डरता रहता है कि कहीं "हृत-राष्ट्र" पाण्डव उसके साथ युद्ध करके इसके अपने अधीन किये हुए साम्राज्यका नाश करके अपने स्वतन्त्र राष्ट्रकी सत्ताकी घोषणा न कर दें। यह "धृत-राष्ट्र"का डर गीताके इस प्रथम श्लोकमें ही स्पष्ट हो रहा है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

"यह कुरुक्षेत्र एक धर्मक्षेत्र है। यहाँ युद्धकी इच्छासे उपस्थित हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? क्या वे धर्मक्षेत्रके नामसे प्रभावित होकर युद्धसे पराङ्मुख हो गये या युद्ध करने लगे?"

साम्राज्यवादियोंको जो चिन्ता रहती है, वही चिन्ता यहाँ धृतराष्ट्रको भी व्याकुल किये हुए है कि कहीं पाण्डव बलवान् न हो जायँ और उनकी जीत होकर कहीं उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न न हो जाय। इसीका विचार करके धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको युद्धसे पराङ्मुख करनेके लिये संजयको भेजा था। संजयका पाण्डवोंको उपदेश महाभारतके "संजय-यान" नामक पर्वमें है। इससे सिद्ध होता है कि साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी सुरक्षाके लिये धर्मका भी आसरा लेते हैं।

संजययान-पर्वका आशय

धृतराष्ट्रने सुना कि पाण्डव युद्धके इच्छुक हैं; अतः पाण्डवोंको युद्धसे निवृत्त करनेके लिये धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा और धर्मराज आदिको संजयने धर्मका उपदेश करके उनको युद्धसे पराङ्मुख करनेका यत्न किया। संजयके उपदेशका सारांश निम्नाङ्कित है (म० भा० उद्योगपर्व अ० २० से ३२)—

‘हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्र सर्वदा तुम्हारा हित ही करता है। पर तुम उसके साथ युद्ध करनेके इच्छुक हो; क्या यह योग्य है ? तुम्हारे-जैसे सात्त्विक और धार्मिक पुरुषोंके लिये युद्ध करना योग्य नहीं । युद्ध करना तो कसाइयोंका कार्य है । तुम अपने भाइयोंका विनाश करनेके लिये तैयार हो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है । यह युद्ध किस लिये करते हो । ऐहिक, क्षण-भङ्गुर, दुःखदायी संसारके भोग भोगनेके लिये यह युद्ध करके अपने भाइयोंको मारनेकी इच्छा करते हो ? आजतक तुम धर्मके पालनमें तत्पर रहे और वही तुम आज अपने भाइयोंका और गुरुजनोंका वध करनेके लिये तैयार हो ? इन क्षणभंगुर भोगोंके लिये यह युद्ध तुम-जैसे सात्त्विक लोग कर रहे हैं, इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? अपने भाइयोंके रक्तसे सने हुए भोग ही तुम भोगोगे, उस समय क्या तुम्हें सुख होगा ? अपने भाइयोंका वध करके तुम क्या चिरञ्जीव होकर शाश्वत रह सकोगे ? तुम युद्धके रूपमें कसाइयों-का कार्य करके नरकका साधन कर रहे हो । क्या यह तुम्हारे-जैसे धार्मिकोंको शोभा देता है ? मनुष्य भिक्षा माँगकर भी निर्वाह कर सकता है, और धर्माचरण करके आध्यात्मिक दृष्टिसे उन्नत हो सकता है । अशाश्वत, मायामोहमय असार संसारके इन क्षणभङ्गुर भोगोंमें फँसकर तुम इस भयानक क्रूर संहार-कारक युद्धको करनेके लिये तैयार हो रहे हो । तुम्हारे लिये अच्छा यह है कि तुम इस क्रूर युद्धसे शीघ्र ही हट जाओ । इस युद्धके करनेसे तुम्हारी इस लोकमें निन्दा होगी और तुम्हारी पारलौकिक उन्नतिमें बाधा पहुँचेगी । इसलिये तुम इस क्रूर युद्ध-कर्मसे शीघ्र हट जाओ । इसमें तुम्हारा आध्यात्मिक लाभ है ।’

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे संजयने पाण्डवोंको जो युद्धके मार्गसे निवृत्त होनेका उपदेश दिया था, वह महाभारतमें १३ अध्यायोंमें है। उसका सारांश ऊपर दिया गया है। ‘संसार क्षणभंगुर और दुःखमय है, इसके भोग भी क्षणभङ्गुर हैं । इसलिये इन अशाश्वत सुखके लिये कोई यत्न न करे । युद्धका त्याग करके भिक्षा माँगकर रहना पड़े तो उसे स्वीकार कर ले; परंतु संहार-कारक युद्धसे यदि राज्य भी प्राप्त हो सकता हो, तो वह युद्ध न करे ।’ इस तरहका उपदेश धृतराष्ट्र दिलवा रहा है । धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजयने यह उपदेश पाण्डवोंको दिया था ।

इसमें यह बात देखने योग्य है कि धृतराष्ट्र यह उपदेश करनेके समय भी पाण्डवोंको उनका राज्य वापस करनेकी बात नहीं कहता; अपितु संसार क्षणभंगुर है, भोग अशाश्वत हैं आदि उपदेश वह पाण्डवोंको दिलवा रहा है । तात्पर्य यह कि ‘तुम्हारा जो राज्य मैंने अपने अधिकारमें लिया है, वह मेरे अधिकारमें ही रहे; तुम जो अपना राज्य मुझसे वापस लेना चाहते हो, उस प्रयत्नसे तुम दूर रहो ।’ साम्राज्यवादी ऐसे ही विचार करते हैं ।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्र ही हुआ करते हैं । वे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंको उपदेश करते हैं कि विश्व क्षणभंगुर है, दुःखदायी है, जैसे कि मानो साम्राज्यवादियोंके लिये यह संसार दुःखदायी और क्षणभंगुर न हो । पाण्डवोंका राज्य कपटसे छीननेके समय यह क्षणभंगुर नहीं था । पर जब पाण्डव अपने राज्यकी पुनः प्राप्तिका प्रयत्न करने लगे, उस समय वह क्षण-भंगुर हो गया । कैसा साम्राज्यवादियोंका विचार है !

‘धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?’ यह प्रश्न धृतराष्ट्र कर रहा है । इस प्रश्नके पूछनेमें उसका अभिप्राय था कि इस धर्मक्षेत्र-के नामसे प्रभावित होकर पाण्डव कहीं युद्धसे विमुख तो नहीं हो गये । इस समय भी धृतराष्ट्र यही चाहता है कि धर्मक्षेत्रका परिणाम पाण्डवोंपर पड़े और वे युद्धसे निवृत्त हो जायँ और मेरे पास आया हुआ राज्य मेरे पास ही रहे, मेरा साम्राज्य टिका रहे और पाण्डवोंको उनका राज्य न मिले । यह धृतराष्ट्रका अभिप्राय था ।

धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता एक सम्राट्की चिन्ता है, एक साम्राज्यवादीकी चिन्ता है ।

अर्जुनपर परिणाम

संजयद्वारा दिये गये उपदेशोंका परिणाम अर्जुनपर युद्धके समय पड़ा । युद्धक्षेत्रमें युद्धके लिये प्रस्तुत अपने ही बन्धु-बान्धवोंको देखकर वह कहता है कि ‘इन आत्मजनोंको युद्धके लिये उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूख रहा है । शरीर काँप रहा है, गाण्डीव मेरे हाथसे छूटा जा रहा है और मैं यहाँ खड़ा होनेमें भी समर्थ नहीं हूँ; अतः हे कृष्ण ! मैं युद्धमें विजय नहीं चाहता, मुझे राज्य और सुख प्राप्त करनेकी भी अभिलाषा नहीं है । राज्यभोग और जीवनसे हमारा क्या होगा ?’ (गीता १ । २८–३०, ३२)

संजयद्वारा दिये गये उपदेशोंका यह दुष्परिणाम अर्जुनपर पड़ा । उन्हीं उपदेशोंके संस्कारोंसे प्रेरित होकर अर्जुन यह कहकर कि ‘मैं तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी स्वजनोंको मारना नहीं चाहता, फिर इस छोटी-सी पृथ्वीके लिये क्या

मारूँ। अतः मुझ निःशस्त्रको शस्त्र हाथमें लेकर यदि कौरव मार डालें तो उत्तम होगा' युद्धसे पराङ्मुख होना चाहता है। और अन्तमें 'न योत्स्ये'—'युद्ध नहीं करूँगा—यह कहकर बिल्कुल निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार संजयके उपदेशोंका पूरा प्रभाव अर्जुनपर पड़ा।

कई विद्वानोंके मतमें गीता केवल निवृत्तिमार्ग या संन्यासमार्गका ही उपदेश करती है। पर यहाँ संन्यास और निवृत्तिमार्गपर अग्रसर होता हुआ अर्जुन गीताको सुनकर पुनः प्रवृत्तिमार्गपर चल पड़ता है और श्रीकृष्णके हाथोंमें अपनेको समर्पित कर देता है और अन्तमें उसके मुँहसे एक ही वाक्य निकलता है कि 'करिष्ये वचनं तव'—मैं तुम्हारे कथनानुसार चलूँगा···। वही अर्जुन जो पहले निराश होकर युद्ध छोड़कर निवृत्ति-मार्गपर जा रहा था, वही गीताके कारण पुनः उत्साहयुक्त होकर युद्धमें प्रवृत्त हो जाता है। फिर गीताको निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र बतानेके लिये अवकाश कहाँ।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गीता राज्य-शासनकी विधि बताती है तथा राज्यका शासन उत्तम-से-उत्तम रीतिसे किस तरह किया जा सकता है, इसका भी उपदेश गीतामें है। गीताका यह श्लोक भी हमारे विचारोंका समर्थन करता है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(९।२)

१-राजविद्या-यह गीता राजविद्याका ग्रन्थ है। Science of Administration—राज्य-शासन चलानेकी यह विद्या है।

२-राजगुह्यम्-राज्य-शासनमें जो गुप्त बातें होती हैं, Secrets of Administration—उनका वर्णन गीतामें है।

३-पवित्रम्-गीता राज्य-शासनमें पवित्रता लानेवाला शास्त्र है।

४-इदम् उत्तमम्-यह उत्तम राज्य-व्यवहार चलानेका शास्त्र है। इस गीताके अनुसार चलाया गया राज्य-शासन उत्तम-से-उत्तम होगा।

५-प्रत्यक्षावगमम्-इस शास्त्रके उपदेशोंका प्रत्यक्ष अनुभव-द्वारा हो सकता है।

६-धर्म्यम्-मानव-धर्मको सुरक्षित रखनेवाला यह गीतोक्त राज्य-शासन है।

७—कर्तुं सुसुखम्—यह गीतोक्त राज्यशासन चलानेमें सुगम है।

८—अव्ययम्—गीताकी पद्धतिसे राज्यशासन चलानेपर थोड़े-से व्ययमें ही उत्तम-से-उत्तम शासन चलाया जा सकता है।

इस प्रकार गीता 'राजविद्या और राजगुह्य' का शास्त्र है। कुछ विद्वान् इन दोनों शब्दोंका अर्थ 'विद्याओंका राजा' और 'गुह्योंका राजा' करते हैं; पर यह अर्थ गीताके आशयके अनुकूल नहीं है; क्योंकि गीताका प्रमुख ध्येय तो अर्जुनको राज्यशासनकी शिक्षा देना था।

श्रेष्ठ राजाओंके पास यह विद्या थी

गीतामें ही आया है कि यह राज्यशासनकी विद्या प्राचीन कालके राजाओंके पास थी। 'इस गीता-योगका उपदेश सर्व प्रथम विवस्वान्‌को दिया गया था, विवस्वान्‌ने मनुको दिया; मनुने इक्ष्वाकुको दिया, पर बीचमें कालातिक्रमणके कारण यह नष्ट हो गया था; वही पुरातन योग मैंने तुमको आज दिया है।' यह श्रीकृष्णका कथन है।

इसमें कहा गया है कि 'इमं योगं राजर्षयो विदुः'—इस योगको राजर्षि जानते थे। राजर्षिका अर्थ उत्तम शासन चलानेवाले राजागण है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है—विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, श्रीकृष्ण, अर्जुन आदि जो इस योगके अधिकारी हैं, सब क्षत्रिय राजा हैं। अतः यदि गीता केवल संन्यास या निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र होता तो उस गीतायोगका क्षत्रिय राजाओंके पास रहनेका क्या प्रयोजन ? उस दशामें तो वह ब्राह्मणों और ऋषियोंके पास होना चाहिये था। पर वह योग ब्राह्मणोंके पास न होकर क्षत्रिय राजाओंके पास था; इससे ज्ञात होता है कि गीताका योग राज्य-शासनका योग है; संन्यास या निवृत्तियोग नहीं। और इसके अनुसार वे राजा अपना राज्यशासन चलाते थे। गीतामें 'योग' एक पारिभाषिक शब्द है; जिसका अर्थ 'ध्यान-धारणा' न होकर 'कर्ममें कुशलता' है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' यह गीताका वचन कर्मकी कुशलताका प्रतिपादक है। राजाओंके पास राज्य-शासन-रूप कर्मकी कुशलता (योग) थी। यही योग जो बीचमें नष्टप्राय हो गया था, महाभारत-युद्धके समय श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुनको दिया गया। इस प्रकार गीताको 'राज्यशासन' का ग्रन्थ कहा जा सकता है।

विश्वरूपकी उत्तम सेवा

राज्य करना प्रजाकी एक प्रकारसे सेवा है और जनता ही जनार्दन अथवा परमेश्वरकी मूर्त्ति है। 'विश्वरूप' परमेश्वरका सत्य स्वरूप है। गीतामें परमेश्वरका वर्णन इस प्रकार है—

विश्वरूपः। अनन्तरूपः। गीता ११। १६॥
विश्वमूर्तिः । „ ११। ४६॥
सर्वं। सर्वः असि । „ ११। ४०॥

'यह ईश्वर विश्वरूप है; अनन्तरूप है; वह विश्वकी मूर्ति है, वही ईश्वर सब कुछ है।' अर्थात् ईश्वर विश्वरूप है। अतः विश्वकी सेवा परमेश्वरकी सेवा ही है। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति तथा समाज दोनोंकी सेवा करे। व्यक्तिकी सेवा भी परमेश्वरकी सेवा है और समाजकी सेवा भी उसी विश्वरूप प्रभुकी सेवा है। अतः राज्यशासनद्वारा प्रजाकी सेवा परमेश्वरकी सेवा ही है। इस प्रकार गीताके अनुसार राज्यशासन विश्वरूप परमात्माकी सेवा करनेका एक उत्तम साधन है। अर्थात् राज्यशासन इसलिये करना चाहिये कि उससे प्रजाकी सेवाके रूपमें विश्वरूप प्रभुकी सेवा होती रहे, अत्याचार और अनाचारके लिये नहीं। उत्तम राज्यशासनका अर्थ है, ईश्वरकी उत्तम सेवा।

अनन्यभाव

परमेश्वर विश्वरूप है और विश्वमें राष्ट्र, राष्ट्रमें व्यक्ति उसका एक भाग है। इस प्रकार व्यक्ति उस विश्वरूपका एक अंश है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह स्वयंको राष्ट्र अथवा देश अथवा परमात्मासे पृथक् न समझते हुए उसकी सेवा करे। राजाको भी राज्यशासनकालमें इस बातको सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि वह राष्ट्रसे भिन्न या पृथक् नहीं है, अपितु राष्ट्रके सुख-दुःख उसीके सुख-दुःख हैं। इस प्रकारका अनन्यभाव उस विश्वरूपकी सेवाके समय भी अपनाना चाहिये। तभी परमात्मा भी उसके सुख-दुःखका ध्यान करता है। 'अनन्य होकर जो मेरी—ईश्वरकी—उपासना करते हैं, उनका योग-क्षेम मैं चलाता हूँ' यह गीताका वचन इस ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि अनन्यभावसे ही राष्ट्र या विश्वकी सेवा करनी चाहिये! यह अनन्यभावका सिद्धान्त गीतोक्त राज्यशासनकी एक प्रमुख विशेषता है।

योगके आश्रयसे कर्म

गीतामें स्थल-स्थलपर इस बातपर जोर दिया गया है कि मनुष्यको योगमें स्थित होकर ही कार्य करने चाहिये। 'योगस्थः कुरु कर्माणि,' 'योगयुक्तः' आदि वचन इस बातके द्योतक हैं कि गीतामें योगका स्थान सर्वोच्च है। पर जैसे कि हमने पहले बताया है, गीतामें 'योग' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ योगदर्शनाभिमत 'ध्यान-धारणादि' न होकर 'कर्ममें कुशलता' है। अतः जो कुछ कर्म कुशलतासे किया जाय वह योग है और जो करता है वह योगी है। अतः गीताके अनुसार उत्तम राज्य-शासन करता हुआ एक राजा भी एक उत्तम योगी है।

निष्काम कर्मका सिद्धान्त

गीताके अनुसार कुशलतासे किये जानेवाले कर्म दो प्रकारके हैं—(१) सकाम, (२) निष्काम, जिनको हम दूसरे शब्दोंमें 'कर्मफल-भोग' और 'कर्मफलत्याग' कह सकते हैं। इन दो प्रकारके कर्मोंके आधारपर राष्ट्रके सेवक-वर्गके भी दो भेद हो जाते हैं। एक प्रकारके सेवक कर्मफलकी इच्छा अथवा भोग करनेवाले हैं और दूसरे प्रकारके सेवक कर्मफलका त्याग करनेवाले हैं।

प्रथम वर्गके राष्ट्रके सेवक अपनी सेवाके बदलेमें राष्ट्रसे धन प्राप्तकर अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते हैं। पर दूसरे वर्गके सेवक राष्ट्रसे कुछ भी न लेकर केवलमात्र उसकी सेवा करते हैं।

इस प्रकार दूसरे वर्गके लोग जो कर्मफलका त्याग करते हैं, राष्ट्रके स्वयंसेवक हैं, उनकी योग्यता विशेष होती है। वे राष्ट्रसे अपनी सेवाओंके बदलेमें वेतन आदि कुछ नहीं लेते, यह सत्य है; पर उनका योगक्षेम (जीविका) राज्यशासनद्वारा स्वयं चलाया जाता है। उन्हें धनकी स्पृहा नहीं होती; राजा स्वयं ही उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर देता है, पर वे राजासे कुछ नहीं माँगते। इस विषयमें गीताका कथन है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> (गीता ९। २२।)

'अर्थात् जो अनन्यभावसे मुझ विश्वरूपकी सेवा करते हैं, उनका योगक्षेम (राजाके रूपमें) मैं ही चलाता हूँ।'

१—अनन्याः—राष्ट्रसे अपनेको पृथक् न समझनेवाले।

२—नित्याभियुक्ताः—सदा राष्ट्रकी सेवामें तत्पर रहनेवाले लोगोंका।

३—योगक्षेमं वहामि—योगक्षेम राज्य चलाता है।

'कर्मफलत्यागी' अथवा अवैतनिक स्वयंसेवकोंकी राष्ट्रमें इस प्रकारकी स्थिति है। इस कर्मफल-त्यागके भी अनेक प्रकार हैं—

१–**कर्मफलं त्यक्त्वा** (गीता ५ । १२)—कर्मके फलका त्याग करना ।

२–**मदर्पणं कुरु** (९ । २७)—कर्मका फल विश्वरूपको अर्पण करना ।

३–**कर्मफलम् अनाश्रिताः**(६ । ७)—कर्मफलका आश्रय न लेना ।

४–**कर्मणां न्यासः** (१८ । २)—कर्मफलोंका न्यास करना।

५–**कर्माणि संन्यस्य** (३ । ३०)—कर्म फलका संन्यास रखना ।

६–**संगवर्जितः** (११ । ५५)—कर्मफलसे अपना संग न करना ।

ये प्रकार कर्मफल-त्यागके हैं । राज्यशासनकी दृष्टिसे इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

१–कर्मफलत्याग–कर्मके फल वेतनको स्वीकार ही न करना। उसका उपयोग राज्यशासन जैसा चाहे वैसा करे ।

२–कर्मफलदान (अर्पण)–कर्मफल वेतनको लेकर फिर उसे राष्ट्रके कार्योंमें खर्च कर देना ।

३–कर्मफलका अनाश्रय–कर्मफल वेतनका स्वयं उपभोग न करना ।

४–कर्मफलन्यास–अपने कर्मके फल वेतनको दानके ध्येयसे बैंकमें धरोहरके रूपमें रखना । न्यास–धरोहर, Deposit.

५–कर्मफल-संन्यास–अपने कर्मफल वेतनको बैंकमें सामूहिक रूपसे रखना । संन्यास–Collective deposit.

६–कर्मफल-संगवर्जन–वेतनके साथ स्पृहा या मोह न रखना । शासकमण्डल उसका जैसा चाहे वैसा उपभोग करे।

ऐसे 'कर्मफल-त्याग' के अनेक प्रकार गीतामें वर्णित हैं । कई विद्वान् सब शब्दोंका एक ही अर्थ समझते हैं; पर यह असंगत है, वस्तुतः वे व्यवहारके भेद हैं और राज्य-शासन-व्यवस्थामें उनका पृथक्-पृथक् महत्त्व है । इन शब्दोंके व्यावहारिक अर्थोंको ध्यानमें न रखकर सबका एक ही अर्थ समझनेसे, गीता जिस प्रकारके उत्तम राज्यशासनको बताती है, वह विद्वानोंकी आँखोंसे ओझल हो गया है । लोग ऐसा समझते हैं कि हर प्रकारके कर्म ईश्वरके अर्पण कर देने चाहिये; पर यह उनकी भूल है । गीतामें कुछ पारिभाषिक शब्द निश्चित किये हुए हैं, अतः उनके अर्थ उसी परिभाषाके अनुसार समझने चाहिये । उदाहरणार्थ—

१–ईश्वर—विश्वरूपी प्रभु, राष्ट्ररूपी प्रभु ।

२–ईश्वरको समर्पण—विश्व अथवा राष्ट्रको अर्पण अर्थात् विश्वमें, राष्ट्रमें अथवा अपने प्रान्त या ग्राममें रहनेवाले लोगोंको उस कर्मसे कुछ लाभ मिलता है वा नहीं—यह देखना चाहिये।

केवल मेरे कर्म ईश्वरको अर्पित हैं; यह समझना ही पर्याप्त नहीं है; अपितु मेरे उन कर्मोंसे जनताको कुछ लाभ पहुँचा या नहीं, यह विचारना चाहिये । अपने कर्मोंसे जनताकी सेवा अवश्य होनी चाहिये ।

इस प्रकार 'कर्मफल-त्याग' एक व्यवहारकी पद्धति है, जिससे राष्ट्रके स्वयंसेवक किस प्रकार अपने उत्तम कर्मोंसे राष्ट्रकी सेवा कर सकते हैं—यह ज्ञात हो सकता है ।

निष्काम कर्मका आध्यात्मिक रूप

अपने शरीरके अंदर होनेवाले व्यवहारको 'आध्यात्मिक व्यवहार' कहा जाता है। यह शरीर राष्ट्र है, उसका अध्यक्ष आत्मा है, इन्द्रियाँ और प्राण इस राष्ट्रके सेवक हैं, इन सेवकोंमें वर्ग-भेद है ।

इस शरीरमें नाक, कान, आँख, जीभ और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, हाथ, पैर तथा दो गुप्तेन्द्रियाँ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । ये सब कर्मफल-भोगी वा सकाम कर्म करनेवाली हैं । आँखें सुन्दर रूप देखना चाहती हैं, कान सुन्दर शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ सुन्दर स्वाद चाहती है—इस प्रकार सब इन्द्रियाँ अपनी सेवाओंका बदला चाहती हैं, दूसरे शब्दोंमें ये सब वेतनभोगी सेवक हैं ।

पर इसी शरीरमें स्थित ११ प्राण भी हैं, जो अपना कार्य निरन्तर बिना विश्राम लिये करते रहते हैं—शरीररूपी राष्ट्रकी सुस्थितिके लिये अनन्यभावसे सदा प्रयत्नशील रहते हैं; पर वे अपनी सेवाओंके बदलेमें कुछ नहीं चाहते, अर्थात् निष्कामभावसे इस शरीरकी सेवा करते हैं । ये राष्ट्रके अवैतनिक स्वयंसेवक हैं, इनके कार्यपर ही शरीर-राष्ट्रकी स्वस्थता अवलम्बित है । इसी प्रकार बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन भी सकाम कर्मवाले न होकर अपने कर्मफलका समर्पण करनेवाले हैं ।

इस प्रकारका राज्यशासन गीतामें है और स्थल-स्थलपर गीतामें राज्यशासन या राजनीतिके संदेश हमें प्राप्त होते हैं अतः गीताको केवल संन्यास या निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादक शास्त्र मानना स्वयं गीताके आशयके प्रतिकूल है ।

◆

पागलकी झोली

[बिल्ववृक्षकी छायामें]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पागल राम-राम जपते हुए बिल्ववृक्षकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। ऐसे समयमें हरिदास आकर प्रणाम करके बैठ गये। पागल 'राम-राम सीताराम' कहकर बिल्ववृक्षको प्रणाम करते हैं। हाथसे ताली देकर राम-राम कहकर नाचने लगते हैं।

हरिदास—अरे पागल बाबा! बिल्ववृक्षसे इतना प्रेम क्यों है?

पागल—राम-राम सीताराम। जय राम सीताराम।

बिल्ववृक्षो महेशानि भगवान् शङ्करः स्वयम्।
बिल्ववृक्षतले स्थित्वा यदि प्राणांस्त्यजेत् सुधीः॥
तत्क्षणान्मोक्षमाप्नोति किं तस्य तीर्थकोटिभिः।
यत्र ब्रह्मादयो देवास्तिष्ठन्ति शान्तिहेतवे॥

—पुरश्चरणोल्लास, १० म पटल।

बिल्ववृक्ष स्वयं शिव है। यदि कोई बिल्ववृक्षके नीचे रहकर प्राण-त्याग करता है, 'राम-राम सीताराम', तो वह तत्काल मोक्ष प्राप्त करता है। उसे कोटितीर्थोंमें जानेसे क्या मतलब। शान्ति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवगण जहाँ निवास करते हैं, उस बिल्ववृक्षकी—'राम-राम सीताराम' महिमा मैं क्या कहूँ! 'राम-राम सीताराम'।

हरिदास—बिल्ववृक्षके नीचे रहनेपर शान्ति प्राप्त होती है?

पागल—'राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम—' निश्चय ही। साक्षात् शिव कहते हैं कि बिल्ववृक्षके नीचे जो रहेगा, उसे शान्ति प्राप्त होगी।

समीपे स च चार्वङ्गि बिल्ववृक्षो यदि प्रिये।
काशीपुरसमस्तत्तु तत्र प्राणांस्त्यजेद् यदि॥
किं तस्य कोटितीर्थेन काशीवासेन किं प्रिये।

'राम-राम सीताराम' हे रमणीये! प्रिये! यदि कोई बिल्ववृक्ष समीप हो तो वह स्थान काशीधामके तुल्य है। वहाँ यदि कोई प्राण-त्याग करता है तो उसे कोटितीर्थ या काशीवाससे क्या प्रयोजन है। राम-राम सीताराम।

हरिदास—तब तो बिल्ववृक्षकी बड़ी महिमा है। कुछ और कहिये।

पागल—राम-राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

बिल्ववृक्षो महेशानि समन्तात् षोडशाकरम्।
मम जटास्वरूपं हि पर्णं जानीहि सुन्दरि॥
ऋग्यजुस्सामसदृशं दलत्रयं वरानने।
शाखाश्च सर्वशास्त्राणि जानीहि मीनलोचने॥
कल्पवृक्षसमो वृक्षो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः।
महालक्ष्मीर्बिल्ववृक्षो जातः श्रीशैलपर्वते॥

—योगिनीतन्त्र ५ म पटल।

राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। हे सुन्दरि! महेशानि! बिल्ववृक्षके चारों ओर सोलह हाथतककी भूमि मेरी जटाके समान है। राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। पत्रके तीन दल ऋग्, यजु और सामवेदके समान हैं। सारे शास्त्र शाखाएँ हैं। ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक यह बिल्ववृक्ष कल्पवृक्षके समान है। 'राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।' श्रीशैल पर्वतपर महालक्ष्मी बिल्ववृक्षके रूपमें उत्पन्न हुई थीं। राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम।

हरिदास—पहले कहा गया है, बिल्ववृक्ष स्वयं शिव है। अब कहते हैं—लक्ष्मी बिल्ववृक्षके रूपमें उत्पन्न हुई थी। ये दो तरहकी बातें क्यों?

पागल—राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। सृष्टि तो एक बार नहीं होती। कल्प-कल्पमें, मन्वन्तर-मन्वन्तरमें बारंबार सृष्टि होती है। कल्पभेदसे लीला-भेद होता है। किसी कल्पमें शिव बिल्ववृक्ष हुए तो किसी कल्पमें महालक्ष्मी बिल्ववृक्ष हुई। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। किसी कल्पमें महालक्ष्मीके दाहिने हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ था। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। किसी कल्पमें लक्ष्मीके वाम स्तनसे बिल्ववृक्ष हुआ था। राम राम सीताराम।

हरिदास—अच्छा, कल्पसे क्या मतलब है—यह पीछे सुनूँगा। अभी बतलाइये कि महालक्ष्मी बेलवृक्ष क्यों हुई थीं?

पागल—'राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम'। शिवजीने कहा है कि ज्योतिरूप मेरे अंश ब्रह्मादि देवगणके द्वारा कथित वाणी मेरे अनुग्रहसे सबकी प्रिय हो गयी। वही सरस्वती विष्णुकी प्रियतमा थीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। उनकी-जैसी प्रीति लक्ष्मीके प्रति भी नहीं थी। लक्ष्मी पतिके अनादरसे दुःखित होकर श्रीशैलपर्वतपर गयीं।

वहाँ मेरा एक शिवलिङ्ग प्राप्त करके दुष्कर तप करने लगीं। तथापि मेरी कृपा न होनेके कारण—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम—लक्ष्मी देवीने वृक्षरूप धारण किया। कोटि वर्षतक मेरी पूजा करनेसे मेरा अनुग्रह प्राप्त हुआ। राम राम सीताराम। इसी कारण वह सर्वदा विष्णुके वक्षःस्थल-पर विराजित रहती हैं। राम राम सीताराम। हरिप्रिया लक्ष्मी मेरी परम भक्ता हैं, निरन्तर मेरी पूजामें लगी रहती हैं। इसी कारण वे दिन-रात बिल्ववृक्षका आश्रय किये रहती हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

सर्वतीर्थमयो देवि सर्वदेवमयः सदा।
श्रीवृक्षः परमेशानि अत एव न संशयः॥

हे देवि! हे परमेशानि! इसी कारण श्रीवृक्ष सतत सर्वतीर्थमय और सर्वदेवमय है, इसमें संशय नहीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—बिल्ववृक्षमें तो सब देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा स्वयं लक्ष्मीजी! उसके चारों ओर सोलह हाथकी दूरीतक शिवकी जटा है—ऐसी बात तो मैंने कभी सुनी नहीं। बिल्ववृक्षकी इतनी महिमा है? कहिये, कहिये, कुछ और कहिये।

पागल बाबा—राम राम सीताराम सीताराम।

शिवलिङ्गार्चनाद् योगी जगद्रक्षणदीक्षितः।
महाविष्णुस्तपश्चक्रे तस्यैव सहचारिणा॥
महालक्ष्मीस्तपस्तेपे भर्तृसेवापरायणा।
तदा बिल्वतरुर्जातो लक्ष्मीदक्षिणहस्ततः॥
तत्पत्रैरर्चयामास महाविष्णुश्च शङ्करम्।
बिल्वपत्रार्पितस्तुष्टो महादेवो दयानिधिः॥
सर्वदेवोत्तमत्वं च सर्वस्वातन्त्र्यमेव च।
प्रददौ सर्वपूज्यत्वं सर्वसिद्धिं च विष्णवे॥
श्रीवृक्ष इति विख्यातो बिल्वद्रुर्देवपूजितः।
त्रिगुणैस्त्रिदलैः पत्रैस्त्रिमूर्त्तिप्रीतिदायकः॥
त्रयीमयोऽयं विख्यातो नीतो देवैश्च नन्दनम्।
कैलासेऽपि च वैकुण्ठे श्वेतद्वीपे सुरालये॥
मन्दारादिषु पुण्येषु क्षेत्रेषु सकलेष्वपि।
पूज्यन्ते बिल्वतरवः श्रीवृक्षा इति नारद॥
फलानि श्रीतपोयोगाद् यस्यालक्ष्मीनिरासने।
लक्ष्मीप्राप्तौ पटीयांसि सेव्यन्ते पुण्यशालिभिः॥
ज्ञानप्रदमिमं वृक्षं दारिद्र्यपरिहारकम्।
श्रीप्रियं योऽर्चयेद् बिल्वं स नरो भाग्यवान् भवेत्॥
श्रीयन्त्रे बिल्वपत्रेषु शिवलिङ्गमथापि वा।
योऽर्चयेदन्वहं भक्त्या पुरुषार्थान् समश्नुते॥

(स्कान्दे सनत्कुमारसंहितायां बिल्वमाहात्म्यम्)

'राम राम सीताराम।' जगत्के पालनकर्त्ता। भगवान् महाविष्णुने शिवलिङ्गकी अर्चना करते हुए शिवजीकी प्रीतिके लिये तपस्या की थी। स्वामीकी सेवामें रत उनकी सहचारिणी महालक्ष्मीने भी तपस्या की। राम राम सीताराम। उस समय महालक्ष्मीके दक्षिण हाथसे बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। महाविष्णुने बिल्वपत्रके द्वारा शङ्करजीकी अर्चना की। बिल्वपत्रके द्वारा पूजा करनेसे प्रसन्न होकर दयासागर श्रीमहादेवजीने विष्णुभगवान्‌को सर्वश्रेष्ठत्व, सर्वस्वातन्त्र्य, सर्वपूज्यत्वादि सारी सिद्धियाँ प्रदान कीं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। देव-पूजित बिल्ववृक्षकी 'श्रीवृक्ष'के नामसे प्रसिद्धि हुई। त्रिगुण-सम्पन्न त्रिपत्र ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरकी प्रीति प्रदान करनेवाला त्रयीमय होनेके कारण इस प्रसिद्ध वृक्षको देवगण नन्दनकाननमें ले आये। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। हे नारद! कैलासमें, वैकुण्ठमें, श्वेतद्वीपमें, सुरलोकमें, मन्दारादि समस्त पुण्यक्षेत्रोंमें श्रीवृक्ष बिल्वतरुकी सब पूजा करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। 'श्री' के तपके योगसे उसके फल अलक्ष्मी (दारिद्र्य) को दूर करने और लक्ष्मी प्रदान करनेमें परम दक्ष होते हैं। अतएव पुण्यशाली लोग सतत श्रीवृक्षकी सेवा किया करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। यह वृक्ष ज्ञानप्रद, दारिद्र्यनाशक, श्रीप्रिय है। जो इसकी अर्चना करते हैं, वे भाग्यवान् होते हैं। जय जय राम सीताराम। श्रीयन्त्रमें या शिव-लिङ्गमें जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक शिव-पूजा करते हैं, वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—स्वयं शिव बिल्ववृक्ष हैं, लक्ष्मी बिल्ववृक्ष हैं और मा लक्ष्मीके दाहिने हाथसे बिल्ववृक्षकी उत्पत्ति है—ये तीन प्रकारकी बातें तो सुनीं। अब यह बतलाइये कि मा लक्ष्मीके स्तनसे कैसे बिल्ववृक्षकी उत्पत्ति हुई?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। एक दिन लक्ष्मीदेवीने श्रीभगवान्‌से पूछा—'आपका सबसे बढ़कर प्रिय कौन है? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। मैं तो समझती थी कि मैं ही आपकी सर्वापेक्षा प्रिया हूँ। पर उस दिन मैंने देखा कि मेरी अपेक्षा नीलकण्ठ आपके अधि प्रिय हैं। राम राम सीताराम। क्या उनसे भी बढ़कर कौ

और आपका प्रिय है ? राम राम सीताराम । श्रीभगवान्ने कहा—'मेरे बहुत प्रियतम नहीं हैं । देहीके देहके समान शिव ही एकमात्र मेरे अहैतुक प्रिय हैं । राम राम सीताराम । मनुष्यको पुत्रके लिये, यौवनके लिये, गृहके लिये स्त्री प्रिय होती है । पिण्ड और कीर्तिके लिये पुत्र प्रिय होता है । विपत्तिसे रक्षा और सुखके लिये धन प्रिय होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । धर्मात्माओंको धर्मके लिये शरीर प्रिय होता है । सभी प्रयोजनवश प्रिय होते हैं । केवल प्रीतिके लिये प्रिय कोई नहीं दीखता । पुरुषका पुरुषके साथ ही अकृत्रिम प्रणय होता है, क्योंकि मित्रता समताकी अपेक्षा करती है । राम राम सीताराम । अतः भिन्न भावके कारण पुरुषका नारीके साथ प्रायः वैसा सद्भाव नहीं होता । पहले मैं एक दिन प्रिय-प्राप्तिकी कामनासे—राम राम सीताराम—पृथिवीपर जाकर दशों दिशाओंमें भ्रमण कर रहा था । भ्रमण करते-करते मनमें निश्चय किया कि अब जो दिखलायी देगा, वही मेरा अकृत्रिम मित्र होगा । राम राम सीताराम । इसी समय शङ्करजीके साथ मेरा साक्षात्कार हो गया । वे भी मेरी ही तरह प्रिय-प्राप्तिकी कामनासे भ्रमण कर रहे थे । परस्पर साक्षात् होते ही दोनोंके मनमें पूर्वजन्मार्जित विद्याके समान महान् प्रीति उत्पन्न हुई । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । वस्तुतः दो घड़ोंमें स्थित जलके समान मुझमें और शङ्करमें कोई भी भेद नहीं है । जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक शङ्करकी पूजा करता है, वह मेरा प्रिय होता है । जो शिव-पूजा-विमुख हैं, वे कभी मुझे प्रिय नहीं हो सकते । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—उसके बाद, उसके बाद ?

पागल—'राम राम सीताराम' । श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीभगवान्के मुखसे यह बात सुनकर यह समझ गयीं कि शिव-पूजा-विमुख होनेके कारण ही मैं अपने स्वामीको प्रिय नहीं हूँ । 'राम राम सीताराम'—वह अपनेको धिक्कारने लगीं । श्रीभगवान्ने कहा—'देवि ! दुखी मत हो । तुमको शिवपूजामें लगानेके लिये ही मैंने यह कहा है । तुम आजसे शिव-पूजा करके शिवके समान ही मेरी प्रेमपात्री बनो । राम राम सीताराम ।'

हरिदास—फिर क्या हुआ ? क्या लक्ष्मीजीने शिव-पूजा की ?

पागल—'राम राम सीताराम' । हाँ, इसके आगे सुनो । कमला लक्ष्मीजी बोलीं—'आपके नीलकण्ठ किस पुष्पसे विशेष प्रसन्न होते हैं ? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम' । श्रीभगवान्ने कहा—'ब्राह्मणको एक सौ आठ दूधवाली गाय दान करनेका फल करवीर पुष्पके द्वारा शिव-पूजा करनेसे होता है । रक्त करवीर (लाल कनैल) चढ़ानेसे दूना फल होता है । 'राम राम सीताराम' । शेफालिका पुष्प चढ़ानेसे कोटि रौप्यमय पुष्प दान करनेका फल होता है । कुन्द पुष्प चढ़ानेसे उससे भी सौगुना अधिक फल होता है । मुक्ताके द्वारा मुक्ता-लिङ्ग पूजनेसे जो फल होता है, वही फल द्रोण-पुष्प चढ़ानेसे होता है । राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । स्वर्णपुष्पके द्वारा स्वर्णलिङ्ग पूजनेका फल चम्पक पुष्प चढ़ानेसे होता है । वैशाख मासके शुक्लपक्षमें चँवर डुलानेका फल शिरीष पुष्पके चढ़ानेसे होता है । राम राम सीताराम । नागकेशर-पुष्प चढ़ानेसे अश्वमेध यज्ञ और मुचुकुन्द-पुष्प चढ़ानेसे गया-श्राद्धका फल होता है । तुलसीदल चढ़ानेसे उसकी भी अपेक्षा सौगुना अधिक फल होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम ।

हरिदास—तुलसीपत्रके द्वारा शिवपूजा होती है ?

पागल—राम राम सीताराम; जय जय राम सीताराम । तुलसीपत्र चढ़ानेसे अश्वमेध यज्ञ और गयाश्राद्धका सौगुना फल होता है । तगर-पुष्प चढ़ानेसे चान्द्रायण व्रतका फल मिलता है । वज्र-पुष्पसे काशीक्षेत्रमें उपवासका फल होता है । धतूरेका पुष्प चढ़ानेसे सैकड़ों एकादशी व्रतका फल प्राप्त होता है । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । केतकीको छोड़कर शिवको संतुष्ट करनेवाले अनेक पुष्प हैं । राम राम सीताराम ।

हरिदास—क्या केतकी-पुष्पसे शिवपूजा नहीं होती ?

पागल—राम राम सीताराम । नहीं, सीताराम । सीताजीने केतकीको शाप दिया था कि—'तेरे द्वारा शिवकी पूजा नहीं होगी' । राम राम सीताराम ।

हरिदास—उन्होंने क्यों शाप दिया था ?

पागल—राम राम सीताराम । वनवासके समय एक दिन पितरोंका श्राद्ध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी सामग्री इकट्ठी करने गये । श्राद्धका समय बीतते देखकर सीताजीने गृह-स्थित फलोंके द्वारा श्राद्ध किया । राम राम सीताराम । दशरथजी आदिने हाथ बढ़ाकर श्राद्ध ग्रहण किया । सीता देवीने फल्गु, अग्नि, गाय और केतकीको श्राद्धका साक्षी बनाया । उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको सच्चा संदेश नहीं दिया, इससे सीताजीने उनको शाप दे दिया । सीताजीके शापसे फल्गु अन्तःसलिला हो गयी, अग्नि सर्वभोक्ता बन गयी, गायका मुख अशुद्ध हो गया और केतकी शिवके लिये अग्राह्य हो गयी । राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम । इसके बाद सुनो, भगवान्ने

कहा है कि एकमात्र पद्मपुष्प चढ़ानेसे समस्त पुष्पोंके चढ़ानेका फल प्राप्त होता है। पद्मसे बढ़कर अधिक प्रिय पुष्प शङ्करके लिये नहीं है। तुम पद्मके द्वारा ही मेरी पूजा करो। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—तत्पश्चात् ?

पागल—राम राम सीताराम। श्रीलक्ष्मीजी श्रीभगवान्की बात सुनकर नित्य सरोवरसे सहस्र पद्मपुष्प लाकर तीन बार गणना करके उनके द्वारा शिवजीकी पूजा करने लगीं। राम राम सीताराम। इस प्रकार एक वर्ष पूरा होनेको ही था कि एक दिन लक्ष्मीजीने सहस्र पद्मोंसे शिवजीकी पूजा करते समय देखा कि दो पद्म कम हैं; राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। ऐसा क्यों हुआ ? उनकी समझमें नहीं आया। मन-ही-मन सोचने लगीं—'प्रतिदिन तीन बार गिना करती थी। आज क्या भक्तिहीनताके कारण मैंने तीन बार नहीं गिना ? राम राम सीताराम, सीताराम। अब क्या किया जाय ? नित्य सहस्र पुष्पोंके द्वारा पूजा करनेके संकल्पकी आज कैसे रक्षा होगी ? पूजाके समय आसन-त्याग करना भी ठीक नहीं है। दूसरोंके द्वारा पुष्प आहरण करानेसे संकल्प भङ्ग होगा। क्या करूँ ? क्या करूँ ? राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।'

हरिदास—उसके बाद ?

पागल—राम राम सीताराम। इस प्रकार सोचते-सोचते मनमें आया कि 'श्रीभगवान् मेरे स्तनद्वयको पङ्कजद्वय कहा करते हैं। उनकी बात मिथ्या नहीं हो सकती। आज इस स्तनद्वयको चढ़ाकर शिवकी पूजा करूँगी। सहस्र संख्या पूर्ण हो जायगी। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।' ऐसा निश्चित करके उन्होंने वाम हस्तके द्वारा वामस्तन पकड़कर दक्षिण हस्तमें छूरी लेकर वाम स्तनको काट डाला। राम राम सीताराम। और आनन्दित मनसे उस रक्ताक्त पयोधरको "नमः शिवाय" कहकर शिवके ऊपर चढ़ा दिया। फिर देवी दक्षिण स्तनको काटनेका उपक्रम करने लगीं। राम राम सीताराम सीताराम। उसी समय शिवजी स्वर्णलिङ्गसे आविर्भूत हो गये और बोले—"माँ ! समुद्रतनये ! अब स्तन मत काटो। तुम्हारा वाम स्तन पूर्ववत् हो जाय। मैं तुम्हारी परमा भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ। राम राम सीताराम। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। जो स्तन काटकर तुमने मेरे मस्तकपर चढ़ाया है, वह पृथ्वीपर श्रीफल नामक वृक्ष होगा। तुम्हारी भक्ति वृक्षरूपमें मूर्तिमान् होकर जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, तबतक तुम्हारी कीर्तिकी घोषणा करती रहेगी। राम राम सीताराम सीताराम। देवी ! वह वृक्ष मुझे अति प्रिय होगा। उसके पत्रके द्वारा मेरी पूजा होगी। स्वर्ण, मुक्ता, प्रवाल आदि तथा अन्यान्य पुष्प बिल्वपत्रके कोटि अंशमें एक अंशके तुल्य भी नहीं होंगे। राम राम सीताराम सीताराम। जिस प्रकार मुझे त्रिनेत्र प्रिय हैं, जैसे गङ्गाजल प्रीतिप्रद है, वैसे ही बिल्वदल भी मुझे अतिशय प्रिय है।" राम राम सीताराम सीताराम।

तब लक्ष्मीजी प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रोंसे, भक्तिपूर्ण गद्गद कण्ठसे—

ॐ नमः शिवाय शान्ताय कारणत्रयहेतवे।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वर॥

—यह कहकर पुनः-पुनः शिवजीकी प्रदक्षिणा करती हुई प्रणाम करने लगीं। उसके बाद हाथ जोड़कर उन्होंने स्तुति की। राम राम सीताराम। शिवजी बोले—"विष्णुकान्ते ! मैं परम प्रसन्न हूँ। वर माँगो।" देवीने कहा—"हे शङ्कर ! आज मैं आपकी कृपासे यथार्थरूपसे विष्णुपत्नी बनी। आपका सुदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो गयी। हे प्रभो ! इससे बढ़कर और दूसरा कौन-सा वर है ? देव ! मैं आपके चरणोंमें प्रेमभक्तिकी प्रार्थना करती हूँ।" महेश्वर 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गये। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरिदास—बड़ी अपूर्व कथा है। बिल्ववृक्षकी ऐसी महिमा तो मैं नहीं जानता था। पागल बाबा, आपने आज बिल्ववृक्षको देखनेकी मुझे नयी आँखें दीं। ऐसे दर्शन करने योग्य वृक्षको कभी मैंने श्रद्धाके साथ नहीं देखा था। प्रणाम नहीं किया था। इस बार क्या हुआ, पागल बाबा ?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इसके बाद उस बिल्ववृक्षको कपालमोचन क्षेत्रमें रोप दिया गया। वैशाख शुक्लपक्षकी तृतीया तिथिमें यह वृक्ष उत्पन्न हुआ। राम राम सीताराम जय राम। वृक्षके उत्पन्न होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और अन्यान्य देवोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ वहाँ उपस्थित होकर स्निग्ध त्रिपत्र, फल-युक्त, सुफलप्रद, अपने तेजसे दीप्त, शिवरूप, मङ्गलप्रद उस वृक्षका दर्शन करके, प्रणाम करके उसमें जल-सिञ्चन किया। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। तत्पश्चात् श्रीविष्णु भगवान् बोले—"इस पुण्य बिल्ववृक्षके मालूर, श्रीफल, शाण्डिल्य, शैलूष, शिव, पुण्य, शिवप्रिय, देवावास, तीर्थप्रद, पापघ्न, कोमलच्छद, जय, विजय, विष्णु, त्रिनयन, हर, धूम्राक्ष, शुक्लवर्ण और श्राद्धदेवल—ये उन्नीस नाम हुए। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इसके ऊपर-नीचे चारों ओर सौ धनुषकी दूरीतक तीर्थ-स्थान होगा। राम राम सीताराम।

मधुर

यमुनाके तटपर अत्यन्त एकान्त स्थलमें श्रीराधाजी सब कुछ भूलकर व्याकुल बैठी हैं, मनमें बड़ी आतुरता है । श्यामसुन्दरके वियोगकी दुस्सह पीड़ासे वे अत्यन्त व्यथित हैं । वह सोचती हैं—श्यामसुन्दर अब कभी नहीं आयेंगे । वे बड़े बुद्धिमान् हैं; वे जान गये हैं कि राधा सब प्रकारसे हीन, मलिन और दोषोंकी खान है । इसीलिये वे मुझे सदाके लिये छोड़ गये हैं । सत्य ही है, मुझमें न तो तनिक-सा भी बाह्य सौन्दर्य है न मेरे हृदयमें ही सुन्दरताका लेश है । मेरा बाहर-भीतर अपरिमित दोषोंसे भरा है, अत्यन्त कठोर तथा कलुषित है । मुझमें कुबुद्धिकी विशेषता है (यह कुबुद्धि ही तो है जो मैं अपनेको उनके योग्य मानती हूँ) । इसीसे वे प्रियतम चले गये हैं, निस्संदेह यह उन्होंने सर्वथा उचित ही किया है । यह कुत्सित और अत्यन्त कुरूप देह उनके योग्य कदापि नहीं है । (वे गये, अच्छा ही हुआ) मेरे वे प्राणनाथ सुख प्राप्त करें । इसीमें मुझे अपरिमित आनन्द है । मुझे उन प्रियतमके वियोगकी भीषण विष-ज्वाला स्वच्छन्दतासे सदा जलाती रहे (और वे सुखी रहें) ।

अति एकान्त, बिकल बैठी थी
आतुर मन कालिन्दी-कूल ।
श्याम विरह दुस्सह पीड़ासे
व्यथित गयी थी सब कुछ भूल ॥
"आवेंगे अब नहीं कभी, वे
छोड़ गये मुझको मतिमान ।
जान गये मुझको सब बिधिसे
हीन, मलीन, दोषकी खान ॥
नहीं बाह्य सौन्दर्य तनिक भी,
नहीं हृदय सुन्दरता-लेश ।
अमित दोष पूरित बाह्यान्तर,
कलुषित कठिन कुबुद्धि विशेष ॥
इसी हेतु वे गये, किया
प्रियतमने समुचित निस्सन्देह ।
नहीं कदापि योग्य है उनके
कुत्सित अति कुरूप यह देह ॥
सुख पायें वे प्राणनाथ,
है अमित मुझे इसमें आनन्द ।
प्रिय-बियोग-बिष-ज्वाला विषम
जलाती रहे मुझे स्वच्छन्द ॥"

सब प्रकारसे इस (प्रेमवैचित्त्यके) भावमें मुग्ध हुई बाला (श्रीराधा) यों विचार कर रही थीं और वे मन-ही-मन निरन्तर प्रियतमके सुखकी माला जप रही थीं । प्रियतमकी सुखमयी स्मृतिसे एक-एक पलमें उनका हृदय नये-नये आनन्दसे भर रहा था । पर साथ-ही-साथ प्रियतमके वियोगकी दावाग्नि हृदयमें दाह पैदा कर रही थी । इसी भावविमुग्धतामें वे यह भूल गयीं कि यह कलकल-ध्वनि करती हुई यमुनाजीकी धारा बह रही है और उसी भावावेशमें वे उसमें कूद पड़ीं । उनका परम सुन्दर सम्पूर्ण शरीर जलमें निमग्न हो गया ।

करती यों विचार थी, थी वह
भावमुग्ध सब बिधि बाला ।
मन-ही-मन जप रही निरन्तर
थी वह प्रिय-सुखकी माला ॥
प्रिय-सुख-स्मृतिसे एक-एक पल,
नव नव हृदय मोद भरता ।
किंतु साथ ही प्रिय-वियोग-
दावानल हृदय दाह करता ॥
भूल गयी वह कल-कल करती
बहती कालिन्दी-धारा ।
कूद पड़ी, कमनीय कलेवर
सलिल-निमग्न हुआ सारा ॥

इतनेमें ही उन्हें ऐसा लगा—किसीने उन्हें गोदमें उठा लिया है । सुकोमल तनका स्पर्श होते ही अङ्ग-अङ्गमें अमृत-रस भर गया । सारा खेद मिट गया और अत्यन्त

हर्ष छा गया । हृदय अत्यन्त हर्षपूर्ण हो गया, (इस आनन्दरसके आस्वादनमें) कुछ कालतक आँखें बंद रहीं । फिर तन-मनमें एक गुदगुदी उठी और श्रीराधाके विशाल नयनकमल खुल गये । उन्होंने देखा—वे प्रियतम श्यामसुन्दरके कोमल भुजपाशमें बँधी हैं । फिर देखा, प्रियतम निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी ओर निहार रहे हैं । अधरोंपर मृदु मुसकान छायी है । दोनोंको परस्पर अपरिमित आनन्द प्राप्त हुआ, दोनोंके ही हृदयकुसुम तत्काल खिल उठे। तदनन्तर प्रिया-प्रियतममें अत्यन्त दिव्य रसमय रसालाप होने लगा ।

लगा, किसीने लिया गोदमें,
हुआ सुकोमल तनका स्पर्श ।
भरा सुधा-रस अंग-अंगमें
मिटा खेद, छाया अति हर्ष ॥
हर्षपूर्ण हो गया हृदय अति,
रहीं बंद आँखें कुछ काल ।
उठी गुदगुदी तन-मनमें, तब
खुले नयन-अरविंद विशाल ॥
देखा बँधी हुई अपनेको
प्रियतमके कोमल भुजपाश ।
देखा, देख रहे अपलक प्रिय,
छाया अधरोंपर मृदु हास ॥
हुआ अमित आनन्द परस्पर,
विकसे हृदय-कुसुम तत्काल ।
होने लगा प्रिया-प्रियतममें
रसालाप अति दिव्य रसाल ॥

प्रियतम श्यामसुन्दर बोले—तुम भूल गयीं, हम दोनों साथ ही तो आये थे और दोनों ही यहाँ यमुना-तटपर एक दूसरेका कोमल हाथ लिये बैठे थे । इसी बीच तुम्हें प्रेम-वैचित्त्य हो गया । (तुम सब भूल गयीं) और तुम्हारे मनमें यह ज्ञान (प्रेमावेश) जाग उठा कि (प्रियतम यहाँ नहीं हैं), प्रियतमका विछोह हो रहा है । तुम्हारी अनुपम प्रेमकी इस अतुलनीय महान् स्थितिको देखकर मैं मुग्ध हो गया । (फिर तुम जब कूदीं, तब) मैं भी तुम्हारे ही साथ यमुनामें कूद पड़ा और प्रिये ! मैंने भुजाएँ पसारकर तुरंत तुमको गोदमें उठा लिया । मुझे अपार दिव्य आनन्दकी प्राप्ति हुई । मैं प्रियतमाके मुखकमलकी ओर अपलक दृष्टिसे देखता रहा । प्रेम-सुधा-रसका समुद्र उमड़ पड़ा । कहीं भी उसका ओर-छोर नहीं रहा । फिर मुझे प्राप्त हुए जानकर तुम्हारे 'प्रेमवैचित्त्य'का वह भाव हट गया और तब तुमको बाहरी ज्ञान हुआ । महिमामयी राधे ! तुमको अपनी महिमाका तनिक भी भान नहीं है ।

बोले प्रियतम—"भूल गयी तुम,
आये थे हम दोनों साथ ।
दोनों ही बैठे यमुना-तट
लिये परस्पर कोमल हाथ ॥
हुआ प्रेम-वैचित्त्य तुम्हें तब,
जागा मन वियोगका ज्ञान ।
हुआ विमुग्ध देख मैं अनुपम
दिव्य प्रेमकी दशा महान ॥
कूदा मैं भी साथ तुम्हारे,
लिया अंकमें भुजा पसार ।
मैंने तुमको प्रिये ! उसी क्षण,
मिला दिव्य आनन्द अपार ॥
रहा देखता निर्निमेष मैं
प्यारी-मुख-सरोजकी ओर ।
उमड़ा प्रेम-सुधा-रस-सागर,
रहा कहीं भी ओर न छोर ॥
हटा भाव वह पाकर मुझको,
हुआ तुम्हें तब बाह्यज्ञान ।
महिमामयी ! नहीं तुमको है
किंचित् निज-महिमाका भान ॥

* * *

योगवासिष्ठका मन्तव्य

(ज्ञान और कर्मका समन्वय)

(लेखक—श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०, रिसर्च स्कॉलर)

योगवासिष्ठको एक महान् कर्मयोगशास्त्रके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है, जिसका मूल लक्ष्य है—कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदिके स्वरूपको स्पष्ट करना तथा आदर्श जीवन व्यतीत करनेके लिये उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करना। योगवासिष्ठमें योगवासिष्ठकार महर्षि वाल्मीकिने बड़े पैमानेपर जन्म-जन्मान्तर, आत्मा-परमात्मा आदि तत्त्वोंका विश्लेषण किया है तथा अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानोंके माध्यमसे शोक, मोह, वियोग, दुःख, विषाद आदिका वर्णन किया है। उन्होंने इनसे बचनेका उपाय भी बतलाया है और वह उपाय है—ज्ञानयोग और कर्मयोगका सम्यक्रूपसे परिपालन एवं व्यवहार। उन्होंने ब्रह्माके मुखसे अपने पौत्र (नारद-पुत्र कुम्भ) से कहलाया है—हे पुत्र (पौत्र भी पुत्ररूप ही होता है, इस अभिप्रायसे 'पुत्र' सम्बोधन अनुचित नहीं) कुम्भ ! जिन जीवोंको ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उन लोगोंके लिये क्रिया ही बढ़-चढ़कर अवलम्बन है। (निर्वाण-प्रकरण ८७। १७) वास्तवमें, समुचित क्रियाके अभावमें ज्ञान और ज्ञानके अभावमें समुचित क्रिया दोनों सम्भव नहीं हैं। तात्पर्य यह कि कर्मयोग और ज्ञानयोग एक दूसरेके परस्पर पूरक हैं।

कहा गया है कि जिसका ब्रह्म-विचारमें एक क्षण भी मन स्थिर हुआ, उसने सब तीर्थजलोंमें स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वीका दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर डाले, दसों हजार देवताओंकी पूजा की, संसारसे अपने पितरोंका उद्धार कर दिया और वह सबका पूज्य बन गया।

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः सर्वस्य पूज्यो ह्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्तं हि धैर्यं मनः॥

ज्ञानकी यह स्थिति अकस्मात् नहीं हो सकती। इसके लिये साधना एवं व्यवहारकी जरूरत पड़ती है। इससे यह स्पष्ट है कि जीवनके परम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति—आवागमनके चक्रसे मुक्ति—सहज सम्भव नहीं है। महर्षि वाल्मीकिने ग्रन्थके प्रारम्भमें इस बातका स्पष्टीकरण अगस्त्य ऋषि एवं सुतीक्ष्णनामक शिष्यके संवादसे की है। अगस्त्यजीने, सुतीक्ष्णके प्रश्नका उत्तर देते हुए, बतलाया कि 'हे शिष्य ! मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। केवल कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाय अथवा ज्ञानसे ही आवागमनकी बाधा नष्ट हो जाय, यह कदापि सम्भव नहीं है। कर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे ज्ञानका दिव्य प्रकाश होता है। बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए ज्ञान दुर्लभ है और बिना ज्ञानके मोक्ष दुर्लभ है। इस प्रकार मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। जिस प्रकार बिना दोनों पंखोंके पक्षी आकाशमें उड़ नहीं सकते, उसी प्रकार बिना कर्म और ज्ञान दोनोंके मोक्ष साध्य नहीं है।'

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥
केवलात् कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः॥

(वैराग्य० १। ७-८)

स्वधर्मके अनुसार अपने कर्तव्यका परिपालन योगवासिष्ठका प्रमुख मन्तव्य है और कर्तव्यके अन्तर्गत धर्मपालन, ज्ञानार्जन एवं जीवन-निर्वाह—सब कुछ समाहित है। चाणक्यने भी कहा है—'अपने धर्मका पालन स्वर्ग और मोक्षके लिये होता है। यदि कर्मोंका लोप किया गया तो वर्णसंकरता होकर संसारमें उथल-पुथल मच जायगी।' (अर्थशास्त्र १। ३। १४-१५) महर्षि वाल्मीकिने, श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधितकर, श्रीवसिष्ठजीके मुखसे कहलाया है—जो पुरुष स्वर्ग और मोक्षके उपयोगी सम्यक् व्यवहारके लिये शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सब शिष्ट पुरुष बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न हो जाता है। (उत्पत्ति-प्रकरण ९५। १८) अतः स्पष्ट है, कर्म-परिपालनके साथ-साथ शास्त्रानुशीलन भी आवश्यक है। शास्त्रीय नियम-धर्मोंके अनुसार किया गया कर्म हास्यास्पद नहीं हो सकता, न किसी प्रकारके दम्भ अथवा अहंकारको ही इङ्गित कर सकता है। हमें आलस्यसे बचकर अपने कर्तव्यमें अनुरक्त होना चाहिये। कहा भी गया है, आलसी पुरुष गदहेसे भी निकृष्ट हैं, अतएव उद्योगहीन

होकर हमें गर्दभतुल्य नहीं बनना चाहिये, किंतु स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिये शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिये। 'मुझे दैव प्रेरित कर रहा है' ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियोंको देखकर लक्ष्मी लौट जाती है—

दैवं सम्प्रेरयति मामिति दग्धधियां मुखम्।
अदृष्टश्रेष्ठदृष्टीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते॥
(मुमुक्षु० ५ । २०)

वस्तुतः, पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषासे जो कर्म प्रबल प्रयत्नपूर्वक किया जाता है वही इस जन्ममें दैव होता है। जो दैव है, वही कर्म है—**'यद्दैवं तानि कर्माणि।'** (मुमुक्षु० ९ । १८) दैव कर्मसे पृथक् नहीं। ऐसा समझकर ही हमें अपने सत्कर्मों एवं सत्कार्योंके द्वारा अपने भविष्यका निर्माण करना चाहिये।

महर्षि वाल्मीकिने पौरुषकी महिमाका भी वर्णन किया है और बतलाया है कि हम पौरुषसे भी बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं। पौरुषके अभावमें हम निष्क्रिय एवं जडीभूत हो जा सकते हैं। इससे महर्षिने यथास्थान हमें सचेत किया है। उन्होंने बतलाया है कि विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषोंने पौरुषसे ही पुरुषार्थ प्राप्त किया था। (मुमुक्षु० सर्ग ५) महात्मा प्रह्लादने जो कुछ प्राप्त किया वह पौरुषसे ही किया। (उपशम-प्रकरण सर्ग ३०) अतः पौरुषके माध्यमसे ही संसार-सागरका तरण करना श्रेयस्कर है। महर्षिने श्रीरामचन्द्रजी-को सम्बोधित कर, श्रीवसिष्ठजीसे कहलाया है—हे श्रीरामचन्द्रजी! पौरुष प्रयत्नका अवलम्बन करके इन्द्रियरूप पर्वतको लाँघकर संसाररूप सागरको पारकर परमपदको प्राप्त होओ।

पौरुषं यत्नमाश्रित्य प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियपर्वतम्।
संसारजलधिं तीर्त्वा पारं गच्छ परं पदम्॥
(उपशम० ४३ । १४)

ब्रह्मा, राजा पद्म, विदूरथ, राजा सिन्धु, राजा लवन, महात्मा दाशूर, राजा शिखिध्वज आदिके जीवन-वृत्तान्तोंके माध्यमसे महर्षिने संसारके रहस्योंको समझाया है और बतलाया है कि हमारा मन निम्नकोटिके कर्मोंकी ओर उन्मुख न हो जं[illegible]—राग (विषय-वासना) में लिप्त होकर हम अपने आपको भूल न जायँ, हम अपने लक्ष्यसे च्युत न हो जायँ। चित्तकी उपमा वेतालसे देते हुए महर्षिने श्रीवसिष्ठजीके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीको सम्बोधितकर कहलाया है—'श्रीरामचन्द्रजी! चित्तको विविध विषय-वासनाओंमें फँसने नहीं देना चाहिये, उसे शान्त करना चाहिये। इसके शान्त होनेपर ही शरीरको अनुपम आनन्द प्राप्त होता है।'

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति॥

चित्तकी शान्तिके उपरान्त ही हमें विकसित मनसे सब कुछ करना चाहिये। मनके अविकसित रहनेकी अवस्थामें प्रमादवश अकर्तव्य भी कर्तव्यसदृश प्रतीत हो सकता है, अकृतकार्य भी कृतकार्य बन सकता है। इसीलिये महर्षिने श्रीवसिष्ठजीके मुखसे 'कर्तृत्व'का विश्लेषण करते हुए कहलाया है—'कर्तृत्व किसे कहते हैं? शारीरिक क्रिया तो कर्तृत्व है नहीं; क्योंकि जो चेष्टा अबुद्धिपूर्वक की जाती है उसमें 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। किंतु पूर्व-पूर्व कर्तृत्वकी वासनासे अनुरक्त मनोवृत्तिसे उत्पन्न हुई, यह कार्य है—इस प्रकारकी चित्तवृत्तिरूपसे परिणत मानसिक क्रिया ही कर्तृता है। (स्थिति० ३८ । २) मन जो करता है, वही कृत होता है। जो नहीं करता, वह कृत नहीं होता।'

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति।
(स्थिति० ३८ । ७)

आगे चलकर वे वसिष्ठजी ही श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—हे श्रीरामचन्द्रजी! विषमतारूप दोषसे निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छबुद्धिसे जो कार्य निरन्तर किया जाता है वह कभी दोषदायक नहीं होता।

समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया।
यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा॥
(निर्वाण० उत्तरार्ध, १९९ । ७)

महर्षि वाल्मीकिने दारुवैविधकों (बहँगी ढोनेवालों) के आख्यान (निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्द्ध, सर्ग १९६) के माध्यमसे एक अद्भुत संदेश हमारे सामने प्रस्तुत किया है। ये दारुवैविधक—बहँगी ढोनेवाले कर्मयोगी व्यक्तिका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये बहँगी ढोनेवाले बराबर लकड़ीद्वारा अपनी आजीविका चलाते रहे और कभी निराश नहीं हुए, मानो इस बातका उन्हें ज्ञान हो कि निरन्तर लगे रहना ही विजयकी सीढ़ी है। फलतः अन्तमें उन्हें तृप्ति मिली, लाभ-हानिके विषयमें वे समताको प्राप्त हुए। इनके माध्यमसे महर्षिने हमें बतलाया है कि हमें बराबर अपने कार्यमें लगे रहना चाहिये। यथाशक्ति एवं यथासम्भव विषय-वासनाओंसे हटाकर हमें अपनेको जीवन्मुक्त बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। कर्मोंके अनाचरणको क्षतिहीन समझकर कर्मोंसे विराग न

लेना चाहिये, सदैव सत्कर्मों (सदाचरणों) का अनुवर्त्तन करते रहना चाहिये । (नि० प्र० उ० सर्ग १९९) ग्रन्थकी परिसमाप्तिके समय भी महर्षिने अगस्त्य ऋषिके मुखसे सुतीक्ष्ण नामक शिष्यको सम्बोधितकर कहलाया है—"हे सुतीक्ष्ण ! कृतकृत्य हुए अग्निवेश्यके पुत्र कारुण्यने—'मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ, फिर भी मैं लोक-शिक्षाके लिये श्रीरामचन्द्र आदिके समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रमके अनुकूल व्यवहार करता रहूँगा, जबर्दस्ती कर्मत्यागमें कौन आग्रह है'—यह कहकर, विवाहद्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समयमें शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथि-पूजन आदि कर्म किये (नि०प्र०उ० २१६। १४-१५) और सुतीक्ष्णने भी अपनी कृतार्थता सूचित की ।" इस प्रसङ्गसे यह स्पष्ट है, योगवासिष्ठ मोक्ष-शास्त्र होते हुए भी मूलतः ज्ञानयोग एवं कर्मयोगके समन्वयका आदर्श प्रस्तुत करता है और जीवनको जीवन्मुक्त, कर्मबन्धनसे मुक्त बनानेकी प्रेरणा देता है ।

हमें योगवासिष्ठके मन्तव्यको दृष्टिपथमें रखकर ही ज्ञानयोगी एवं कर्मयोगी बनना चाहिये । इसीसे जीवनके उच्चतम आदर्शकी प्राप्ति सम्भव है । इस ओर वैदिक ऋषियोंने प्रारम्भसे ही **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत !'** नामक मन्त्रकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । हमें इसलिये सृष्टिके रूपमें भगवान्के दिये गये इस वरदानको उठकर (कर्मयोगी बनकर) और जगकर (ज्ञानयोगी बनकर) ही अपनाना चाहिये और निष्काम बुद्धिसे कार्यकर्ता बनना चाहिये । हमें ऐसा सोच लेना चाहिये कि जिस प्रकार सृष्टिमें क्रियाहीनता नहीं; उसी प्रकार हममें भी क्रियाहीनता नहीं होनी चाहिये । हमें थककर बैठ जाना नहीं चाहिये । **'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।'** (गीता ४ । १६) इस संसारमें केवल जीवित रहना ही तो कुछ पुरुषार्थ नहीं है । बल्कि पुरुषार्थ है—सद्ज्ञानके अर्जन एवं सत्कर्मके परिपालनमें, जो शास्त्रीय विधि-विधानोंके अनुसार अनिवार्य एवं परिपालनीय हैं ।

◆

मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है

अमावस्याकी रात्रिके चार बजे अचानक आँख खुली तो देखा चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार है। समीप पड़ी वस्तु भी ठीकसे दृष्टिगत नहीं हो रही थी । मनमें चिन्ता हुई, 'यह अन्धकार भी क्या कभी दूर होगा ! नहीं, कभी नहीं; अब जगत् अन्धकारसे ही पूर्ण रहेगा !!' इस निराशाके भावसे अभिभूत हुआ आँख बंद किये वहीं बैठ गया । थोड़ी ही देर बाद समीपके वृक्षपर चिड़ियोंकी चहक सुनायी पड़ी । आँख खोलकर देखा, दूर क्षितिजपर स्वर्णिम प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है । दृष्टि उसीपर लग गयी । प्रकाश बढ़ता ही गया और देखते-देखते सर्वत्र पूर्ण आलोक हो गया । अन्धकारका अब कहीं पता ही नहीं है । समीपकी क्या, सैकड़ों गज दूरकी वस्तु भी दिखायी पड़ने लगी हैं । इतना ही नहीं, अब मेरा हृदय भी आशासे आलोकित हो रहा है । अपनी कमजोरियों, त्रुटियों, हीनताओं, विफलताओं, विपत्तियोंके कारण मेरा हृदय निराशा-अशान्तिके घनीभूत अन्धकारसे आच्छादित था; पर इस घटनाके आधारपर अब मुझे विश्वास हो रहा है कि भगवत्कृपाका सूर्य सबपर समानभावसे आलोकित है । अतएव उसके प्रकाशके सामने अपने हृदयको उन्मुक्त करके रख रहा हूँ और हृदयका एक-एक कोना प्रकाशसे भर गया है । अब निराशा-अशान्तिरूपी अन्धकारका कहीं नामोनिशान भी नहीं है । अब मैं पूर्ण आशावान् हूँ, पूर्ण शान्त हूँ और सबकी आशा और शान्तिके लिये प्रयत्नशील हूँ ।

मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है ।—कृष्ण

◆

गीत

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन')

तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
ज्ञानीने मुझसे कहा कि सब माया है,
तूने नासमझीसे धोका खाया है,
रस्सीका टुकड़ा है, गजरा लगता है,
यह सत्य नहीं है, सपनेकी छाया है।
जादूगर, यह अपराध न कहलायेगा,
तेरा जादू स्वीकार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
यह सपना हो तो क्या, हर जगह सलोना,
माना कि इधर सुरभित फूलोंका दोना,
पर उधर कठिन शूलोंका जाल बिछा है,
यदि यह सुखमय तो दुखमय है यह कोना,
क्या मृदुल कुसुम, क्या चुभनेवाला काँटा,
सबसे अपना श्रृंगार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
यह भी माना यह सब बातोंका भ्रम था,
पाँवोंके नीचे शून्य कठोर—नरम था,
था शब्द बना सूनेपनकी प्रतिध्वनिसे,
नीरवताका नर्तन था जो सरगम था,
हिम कहकर सम्भव नहीं जिसे झुठलाना,
ऐसा उरमें अंगार लिया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।
उन्माद मिलनका झूठ नहीं हो सकता,
अवसाद विरहका झूठ नहीं हो सकता,
मंजिल जबतक उम्मीद न देती जाये,
कोई जीवनका भार नहीं ढो सकता।
इस दर्द, खुशी, आशाकी सच्चाईको,
इन द्वन्द्वोंमें जीनेकी कठिनाईको,
छन्दोंमें कुछ साकार किया है मैंने।
तेरी दुनियाको प्यार किया है मैंने।

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती श्रीरत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[पिछले वर्षके पृष्ठ १३८७ से आगे]

दूसरे दिन अर्थात् ५ जूनको हमलोग भटवारीसे रवाना हुए। भटवारीसे लगभग पाँच मीलतक रास्ता अच्छा था। यद्यपि मार्ग पगडंडीका ही था, तथापि वह ठीक कर दिया गया था। इसी प्रकार यदि पगडंडीके रास्ते ठीक कर दिये जायँ तो यात्रियोंको काफी सुविधा हो जाय। पाँच मीलके बाद लगभग चार मील गङ्गनानीतकका मार्ग बुरा था, वही ऊबड़-खाबड़ बीहड़। गङ्गोत्तरीके इस मार्गमें हमने गङ्गाके तेज प्रवाहके ऊपर झूलते लकड़ीके अनेक पुलोंको पार किया था। ये पुल गङ्गाके इस पार और उस पार दो-दो लोहेकी राडोंपर खिंचे लोहेके मोटे तारोंपर झूलते रहते हैं। पुलपर लकड़ीके पटियोंका पटाव रहता है। जब इन्हें यात्री पार करते हैं, तब ये झूलेके सदृश हिलते हैं। फिर उनके हिलते ही जब यात्रीकी नजर नीचे गङ्गाके तेज प्रवाहपर जाती है, तब इष्टदेवका नाम याद आ जाता है और वह नाम-जप करता हुआ जल्दी ही पाँव बढ़ाता है। ऐसा ही मार्गमें आज हमें एक भयंकर पुल मिला। भयंकर इसलिये कि अबतक मिले पुलोंकी अपेक्षा यह बहुत बड़ा था। गङ्गा यहाँ प्रवाहमें नहीं, अपने कूल-किनारोंपर रोष प्रकट करती हुई रौद्ररूप धारण किये चल रही थीं। उनके कोपसे कम्पित ये कूल-किनारे अपना स्थान-सा छोड़ते दृष्टिगोचर होते थे। कदाचित् इसीलिये गङ्गाके दोनों ओरकी पर्वत-उपत्यकाओंमें काफी दूरीपर इस लोहेके पुलके आधार-खम्भ स्थापित किये गये थे, जिसमें पुलकी मजबूतीमें कमी न रहे। गङ्गनानीसे इस तरफ गङ्गा काफी विस्तारमें बहती हैं, किंतु फिर भी उतनी नहीं जितना बड़ा यह पुल था। गङ्गनानी मुकाम छोड़ते वक्त भी ऐसे ही एक बड़े पुलसे भागीरथीको पार करना होता है। यद्यपि यह पुल उससे कहीं अधिक लंबा था, तथापि इसकी लंबाई ही हमारे भयका कारण नहीं थी वरं इसकी यह लंबाई तथा भागीरथीके प्रवाहकी यह भयंकरता दोनोंने ही मिलकर यहाँ एक भयंकरता-रूपी पुलका निर्माण कर दिया था, जिसे हमें पार करना था। फिर दुर्गम मार्ग पार करते हुए हमें इस पुलके निकट पहुँचनेके लिये एक दुर्गम उतार भी पार करना पड़ा और ज्यों-ही पुलके समीप आये पुलका आकार-प्रकार और भागीरथीका प्रवाह देखकर कुछ भयभीत हो स्तम्भित-से रह गये। पुलके समीप इस पार एक तख्ती लगी थी, जिसपर लिखा था 'एक बारमें केवल दो आदमी या एक ही खच्चर पुल पार करें।' खच्चर तो हमारे साथ नहीं था, आदमी हमलोग बारह थे, इनमें भी कुछ पीछे थे। अक्सर पीछे पड़े पुलोंको पार करते यात्रियोंको हमने देखा था, जो इन सूचनाओंकी—अधिकांश तो पढ़े-लिखे न होनेके कारण, कुछ अज्ञानतावश—अवहेलनाकर एक ही बारमें ३-३,४-४, इकट्ठे निकल जाया करते थे। अतः इसी भेड़ियाधसानवाली सम्भावनासे हमलोग यहाँ अपने साथवालोंकी प्रतीक्षामें रुक गये। जब सब लोग पहुँच गये, तब दो-दो नहीं, एक-एकको छोड़ा। इस पारसे 'जै गङ्गा मैया' बोल एक आदमी जाता और उस पारसे टकटकी लगाये अपने साथवाले दूसरे आदमीको पुल पार करते बड़े मोहग्रस्त मनसे देखता। इस तरह बारी-बारी हमारे दलने यह पुल पार किया और एक दीर्घ निःश्वास छोड़ आगे बढ़े।

आज भी हमारी मंजिल नौ मीलकी ही थी। अब यहाँ मार्गकी बीहड़ताके साथ ही प्राकृतिक दृश्योंका सौन्दर्य बढ़ चला था। चीड़के वृक्षोंके स्थानपर देवदारके वृक्ष आ गये थे। जैसा कि पीछे कह आये हैं, चीड़के वृक्ष भी बड़े सुन्दर होते हैं, किंतु देवदारके उनसे भी सुन्दर। खूब ऊँचे, एकदम सीधे और अत्यन्त गहरे हरे। चीड़के वृक्षोंकी हरियाली हल्की होती है पर देवदारके वृक्षोंकी एकदम गहरी। इनकी शाखाएँ वृक्षकी पिंडसे प्रायः भूमिको स्पर्श करती-सी निकलती हैं कुछ नीचेको झुकी हुई। इन शाखाओंको देख मनमें उठता है कि जिस भूमिसे वृक्ष उत्पन्न हुए हैं, उस जननी-जन्मभूमिको उन्नत जीवनकी आकांक्षासे प्रेरित हो क्या ये अपनी शाखाओंरूपी भुजाओंसे नत-प्रणाम कर रहे हैं। अनेक स्थानोंपर जहाँ ये वृक्ष गङ्गाके कूलपर हैं, वहाँ भी इनकी शाखाएँ इसी प्रकार नत हो गङ्गाको प्रणाम करती दृष्टिगोचर होती हैं। अनेक जगह इन वृक्षोंकी शाखाएँ वृक्षोंके ऊपरी भागमें ऐसी गोलाकार हो गयी हैं, जान पड़ता है अपने नीचेकी भूमिपर ये वृक्ष छत्र लगाये हैं। हिमालयके अङ्ग इन

देवदारके वृक्षोंसे हरित हो रहे थे और इन शिखरोंके ऊपर भी ये वृक्ष कतारोंमें कलशोंके सदृश खड़े हुए थे। इनका फैलाव नीचेसे ऊपरकी ओर शनैः-शनैः छोटा होता जाता है और अपनी पूर्ण ऊँचाईपर इनकी टहनियोंका फैलाव कम होते-होते कलशनुमा हो जाता है, यहाँतक कि अन्तिम ऊँचाईपर इनकी एक शाख नोकके सदृश हो जाती है। हमारा मत है कि प्रकृतिने देवदारके वृक्षको वनस्पति-जगत्में सबसे अधिक सौन्दर्य दिया है और सौन्दर्यकी इस सर्वश्रेष्ठताके कारण उसे 'वृक्षराज' कहना अनुपयुक्त न होगा। पंक्तिबद्ध देवदार वृक्षोंसे आच्छादित हिमालयकी शिखरावलीकी यह सुन्दरता गङ्गाके प्रवाहके कारण कहीं अधिक बढ़ गयी थी । चीड़के सदृश देवदारका वृक्ष भी बहुत उपयोगी होता है । इस ओरके तो सारे मकान देवदारकी लकड़ीके ही बने रहते हैं। यहाँतक कि उनकी छावनी भी देवदारके पटियोंकी ही रहती है। किसी-किसी मकानकी दीवारोंमें पत्थरका उपयोग किया जाता है; किंतु एक तो पत्थरका उपयोग बहुत कम मकानोंकी दीवारोंमें होता है, दूसरे पत्थरकी जुड़ाईके बीचमें देवदारकी लकड़ीका पटाव भी दिया जाता है। फिर यह लकड़ी मैदानोंमें भी जाती है और रेलके स्लीपर, मकानों और मन्दिरोंकी छतों तथा समुद्री जहाजों—स्टीमरों आदि अनेक कामोंमें आती है। देवदारके वृक्षोंके सिवा यमुनोत्तरीके सदृश किंतु यमुनोत्तरीसे भी अधिक हरित और सघन वनस्पतिकी यहाँ सृष्टि हुई है।

अनन्त प्रकारके वृक्ष, पौधे, लता, बेल, झाड़ी और झुरमुटोंका यहाँ ऐसा अम्बार लगा है, जान पड़ता है वनस्पति-जगत्की सारी सम्पदा यहीं संग्रहीत है। फिर इस वन-वैभवसे पूरित हिमवान्का शृङ्गार भी देखनेयोग्य बन पड़ा है।

मार्गके ये दृश्य अवलोकते अपनी नौ मीलकी मंजिल तयकर अपराह्नमें हमलोग गङ्गनानी पहुँचे। यहाँ भी हमारे ठहरनेका प्रबन्ध वन-विभागके विश्रामालयमें था । यह विश्रामालय काफी ऊँचाईपर बना है—पैदल रास्तेसे जब हम अपने इस मुकामपर जाने लगे, तब काफी ऊँचाई चढ़नी पड़ी दम फुलानेवाली । विश्रामालयके सामने काफी नीचे भागीरथी बहती हैं और नीचे ही गङ्गाके उस पार चट्टीकी धर्मशाला और कुछ दूकानें आदि हैं । हमारे विश्रामालयके निकट ही तीन गरम पानीके कुण्ड थे। यमुनोत्तरीके बाद गङ्गोत्तरीमार्गमें हमें पहली बार इस तरहके तप्तकुण्ड मिले। इनके नाम थे—सूर्य-कुण्ड, नारद-कुण्ड और व्यास-कुण्ड । यद्यपि इनका गङ्गासे कोई सम्बन्ध नहीं था और यमुनोत्तरीके सदृश ही गन्धकके पहाड़से जलप्रपात होनेके कारण इनका निर्माण हो गया था, तथापि तप्त-कुण्ड होनेके कारण एक तीर्थ बन गये थे। यात्री श्रद्धापूर्वक इनमें स्नान करते थे और याचक ब्राह्मणोंको दक्षिणादि देते थे । रत्नकुमारी, उनकी माताजी आदि प्रायः सभीने यहाँ इन तप्तकुण्डोंमें स्नान किया। गङ्गनानीकी ऊँचाई ६४०० फुट होनेके कारण सर्दी नहीं थी। अतः इन कुण्डोंका पानी उनके लिये बहुत गरम था।

यहाँ हमलोगोंने शान्तिसे भोजनादि किया और आराम करने लगे । संध्या-समय लगभग ८ बजेका वक्त था। सब लोग अपने बिस्तरोंपर थे। गोविन्दप्रसादने गोविन्ददाससे कहा-आपसे एक संन्यासी मिलना चाहते हैं। गोविन्ददासने अपने आनेकी सूचना देनेको कहा और बिस्तरसे उठकर वे संन्यासीजीसे मिलने चले। उक्त संन्यासीजी हमारे पासवाले कमरेमें ठहरे हुए थे । सहज भावसे गोविन्ददास उस कमरेमें पहुँचे, जहाँ संन्यासीजी ठहरे हुए थे। कमरेमें एक ओर मोमबत्तीका प्रकाश था और इसी कमरेमें एक ओर एक तेजस्वी बालयोगी खड़ा उनकी प्रतीक्षा कर रहा था । गोविन्ददासने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। योगीने समीप ही पड़े एक आसनपर गोविन्ददासको बैठनेका संकेत करते हुए एक दूसरे आसनपर स्वयं बैठते हुए कहा—क्षमा कीजिये, आपको कष्ट दिया । गोविन्ददास बोले—आपका परिचय? 'परिचय तो आपसे पुराना है, विद्यार्थी-जीवनमें आपके साहित्यको पढ़ा था, प्रभावित हूँ; आपके यहाँ मौजूद होनेकी बात मालूम कर साक्षात्कारके लिये लालायित हो उठा।' ये स्वरसे संयत और सुधा-सी सरसानेवाले वचन सुन गोविन्ददासकी उत्सुकता बढ़ी, उक्त योगिराजका परिचय पानेकी । उन्होंने पुनः आग्रह किया—आपने अपना परिचय नहीं दिया। योगिराज बोले, मेरा वेश ही मेरा परिचय है। गोविन्ददासने कहा—सो तो मैं देख ही रहा हूँ, किंतु मेरी इच्छा थी आपका पूर्व परिचय पानेकी । योगिराजने उत्तर दिया—'संन्यासी अतीतपर दृष्टि नहीं डालता, वह वर्तमानमें भविष्यके लिये ही उद्योग करता है, फिर भी आपके आग्रहसे संक्षेपमें इतना ही निवेदन करूँगा कि कालेजकी पढ़ाई समाप्त करते-करते वैराग्यके भाव जगे और संसारविरक्त हो इस पथका पथिक बन गया।' अपनी जन्मभूमि, माता-पिता तथा परिवार आदिके सम्बन्धमें अनेक बार पूछनेपर भी जब उन्होंने कुछ परिचय नहीं दिया, तब गोविन्ददास बोले—'ठीक ही है, बहता पानी

और रमता जोगीका परिचय तो उसके दर्शन और सम्पर्कका ही विषय है; उसके अतीतको कौन पूछता है । क्षमा कीजिये, मैंने वृथा ही आपको छेड़ कष्ट पहुँचाया ।' संन्यासीके ओठोंपर मृदु हास था, वे बोले 'मेरा नाम 'प्रेमवर्णी' है, इतना ही स्मरण रखिये ।' कुछ देर गोविन्ददासकी और योगिराजकी अन्यान्य विषयोंपर—जिनमें साहित्य, योग और संन्यास पक्षकी ही बातें थीं—चर्चा होती रही ।

श्रीप्रेमवर्णीजीके साथ हमें गङ्गनानीके इसी विश्रामालयमें ब्रह्मचारी श्रीव्यासदेवजीके भी दर्शन हुए, जिनके दर्शनसे हम उत्तरकाशीमें वञ्चित रह गये थे । व्यासदेवजीके पास प्रेमवर्णीजी शिष्यके रूपमें रहते हैं । व्यासदेवजी और प्रेमवर्णीजी गङ्गोत्तरी, उत्तरकाशी और ऋषिकेशके स्वर्गाश्रममें वर्षमें ऋतुकालके अनुसार निवास करते हैं ।

यहाँ व्यासदेवजीसे भी हमारी अनेक विषयोंपर, विशेषकर योगमार्गपर चर्चा होती रही । उनके 'योगनिकेतन' आश्रमके सम्बन्धमें भी बहुत-सी बातें ज्ञात हुईं, जिनमें प्रमुख यह थी कि योगनिकेतनके संचालनके लिये किसीसे भी एक पाई चंदा स्वीकार नहीं किया जाता । इस संस्थाके कुछ ट्रस्टी हैं, जो इस संस्थाका समस्त खर्च चलाते हैं । श्रीव्यासदेवजीकी इस संस्थाके आश्रम दो स्थानोंपर हैं । पहला उत्तरकाशी, दूसरा गंगोत्तरी । उत्तरकाशीके योगनिकेतनकी कुछ चर्चा पीछे उत्तरकाशी मुकाममें हुई है । इन आश्रमोंमें आनेवाले अतिथियोंका सेवा-सत्कार यथासाध्य किया जाता है—उनके निवासकी ही व्यवस्था नहीं, उनके भोजनादिका भी प्रबन्ध होता है; किंतु यह सारा खर्च-सम्बन्धी प्रबन्ध संस्थाका जो ट्रस्ट है, वही करता है । श्रीव्यासदेवजी एवं श्रीप्रेमवर्णीजीकी इस भेंटसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई । यह भेंट हमारे लिये एक दैवयोग ही थी ।

गत चार दिनोंसे हम जिस निरखसे पाँव बढ़ा रहे थे, उसी निरखके मापमें आज फिर गंगोत्तरी-मार्गके अपने पाँचवें मुकाम सुक्कीके लिये भोर होते ही चल पड़े । सुक्कीकी आजकी हमारी मंजिल फिर नौ मीलकी थी ।

मार्गमें दोनों ओर देवदारके वृक्षोंकी हरियालीसे आच्छादित गिरिराजकी शिखरावली और इसके मध्यमें वेगवती भागीरथीकी धवल धारा एक अजीब शानसे बहती कैसी भली मालूम होती । जहाँ देखो तहाँ चतुर्दिक् वनश्री विराज रही थी और उसमें भी भक्तिमयी भागीरथीका जो नाद मुखरित हो रहा था, उसके कारण इस अरण्यखण्डका चप्पा-चप्पा मानो कोई गीत गा रहा हो, ऐसा जान पड़ता । यात्रियोंका समूह उसी ओर बढ़ रहा था, जहाँसे भागीरथी आ रही थीं और भागीरथी उस ओर जा रही थीं, जहाँसे यात्री आ रहे थे । दोनों भिन्न-पथगामी थे, भिन्नलक्षीय । किंतु उद्देश्य दोनोंके समान थे । यात्री कृतार्थ होने जा रहे थे, भागीरथी कृतार्थ करने निकली थीं और कृतकृत्य होने जा रही थीं ।

सुक्की पहुँचनेके कुछ पूर्व हमें गंगोत्तरीके हिमानी-शिखर दिखने लगे । अब हम सुक्कीके करीब समुद्रसतहसे लगभग ८७०० फुटकी ऊँचाईपर चल रहे थे । नौ मीलकी इस मंजिलने आज हमें थका दिया था । गंगनानीके बाद लगभग २६०० फुटकी ऊँचाई हमें चढ़नी पड़ी, फिर सुक्कीके निकट जिस प्राथमिक शालामें हमारे आजके मुकामकी व्यवस्था थी, उसमें पहुँचते-पहुँचते हमें कड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ी । काफी थक चुके थे, इसी समय हमारे सामने यात्रियोंका एक दल एक छोटे रास्ते (शार्टकट) से सुक्कीकी ओर बढ़ा । जल्दी ही मुकाम पानेकी लालसाने हमारे पाँव भी इसी छोटे रास्तेपर बढ़ा दिये । यह रास्ता क्या था—जैसा नाम वैसा जरूर था । छोटा जिसके मायने यहाँ संकीर्ण और फिर एकदम सीधा । हमलोग सीधे एक पहाड़की चोटीपर चढ़ रहे थे; चढ़ते-चढ़ते जब थक जाते, तब शिलाखण्डपर बैठ जाते । बैठते ही थकान और बढ़ जाती, पाँव भर जो चुके थे । अपने साथवाले भारवाहकोंसे जब हम पूछते—'भाई, अब कितनी दूर है ?' उनका उत्तर होता, थोड़ी दूर । उनके इस कथनपर हमें चिढ़ पैदा होती; क्योंकि यह थोड़ी दूर हम अनेक बार सुन चुके थे और इस थोड़ीकी बड़ाई, उसकी प्रभुतासे अब काफी ऊब चुके हैं । पर उन बेचारोंका भी क्या दोष । फिर जब हम किसी शिलाखण्डपर बैठ अपने इर्द-गिर्दके ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरोंको देखते, ऐसा मालूम पड़ता कि इनकी बराबरीपर ही हम पहुँचनेवाले हैं, यद्यपि ये काफी ऊँचे थे । काफी ऊँचाईपर चढ़ चुकनेके कारण इन शिलाखण्डोंपर बैठे जब हम निकट दिखते (यद्यपि वे काफी दूर थे,) आकाश-चुम्बन करते गिरिशृङ्गोंको निहारते तो एक सामीप्य और सादृश्य अनुभव करते उनके साहचर्यमें गगनचुम्बनका रसास्वादन करने उनके साथ ही समरस हो जाते । किंतु यह स्वर्गसुख स्वल्प ही होता । शरीरपर श्रमका साम्राज्य जो था । आज उसे हम बलात् घसीट रहे थे । प्याससे हमारे कण्ठ सूख गये, मुकामकी प्रतीक्षामें आँखें पथरा गयीं और चलते-चलते पाँवोंने जवाब दे दिया । पर मानवने तो

बढ़ना ही सीखा है। हिम्मत कर बढ़े। चार-छः पग चलते, फिर बैठ जाते। इस तरह इस दुर्गम घाटीको चढ़ सुक्की चट्टीके समीप पहुँचे। चटपट चट्टीकी दूकानपर उबले हुए आलू खाये, किसीने गरम चाय पी, किसीने झरनेका शीतल पानी। यहाँ हमारे पंडाजी मिल गये। हमने उनसे पूछा—कहिये कहाँ चलना है? उन्होंने तपाकसे कहा—स्कूल। गोविन्ददासने कहा—वही स्कूल तो हम पूछ रहे हैं पंडाजी। पंडाजीने हाथसे संकेत करते हुए बताया—अभी कुछ दूर याने चट्टीसे लगभग एक मील और चलना पड़ेगा। गोविन्ददासने फिर पूछा—अब चढ़ाई तो नहीं है? उत्तर मिला, चढ़ाई ही है। हमलोग बड़ी परेशानीमें पड़े। अब क्या किया जाय? पैर आगे बढ़नेको कतई तैयार नहीं थे। फिर आगे बढ़नेकी बात सभीको ऐसी लगी जैसे किसी मरीजका कोई बड़ा (मेजर) आपरेशन उसकी होशमें करनेके उपरान्त जब उसे यह मालूम हो जाय कि आपरेशन सफल समाप्त हुआ, ठीक उसी वक्त उससे एक और आपरेशनकी बात कही जाय। पर जिंदगीका जो मोह, एक लंबी मंजिलकी जो आशा रहती है—जिसमें स्वेच्छासे बुरी-से-बुरी दुर्दशा होनेपर भी उस मोहसे कोई पिण्ड नहीं छुड़ा पाता, उसी तरह हमारे सामने तो सुक्कीकी पाठशाला नहीं, गंगोत्तरीकी लंबी मंजिल थी। अतः एक और आपरेशनके लिये हम तैयार हो गये। अपनी लाठी उठा लड़खड़ाते पाँव आगे बढ़े और किस तरह सुक्कीकी इस पाठशाला पहुँचे, यह मत पूछिये।

पाठशालामें पड़ाव डाल दिया, पर न नहानेकी हिम्मत न हाथ-पैर हिलनेकी। जी चाहता निश्चल, निश्चेष्ट पड़े रहें। लगभग एक-डेढ़ घण्टा लेटकर उठे, कुछ शक्ति संचित की, फिर नहाया-धोया और भोजन किया। फिर सो गये।

सोकर उठे और सुक्कीकी सुषमा निहारने लगे। यहाँसे हमें जो हिमानी-शिखर दिख रहा था, उसकी ऊँचाई पंद्रह-सोलह हजार फुट बतायी गयी। देवदारके वृक्षोंकी हरियालीसे रक्षित-सा यह हिमानी-शिखर स्फटिकके विशाल शिवलिङ्गके सदृश जान पड़ता। शिखरावलीका रूप भी कुछ जलहरीके सदृश ही था। फिर इर्द-गीर्द बादलोंके श्वेत दल केवल आकाशमें ही नहीं इन श्रृङ्गोंपर विचरण कर रहे थे, मानो उनकी ऊँचाई नाप रहे हों। ये उनका चुम्बन-सा करते उठते-बैठते नजर आते। प्रायः निर्मल आकाशके बीच हिमाच्छादित शिवलिङ्ग के सदृश यह शिखर इस शिखरके दायें, बायें और सामनेकी ओर जलहरीके सदृश हरित शिखरावली, इधर-उधर विचरण करते हुए मेघोंके श्वेत खण्ड और निर्मल नभमें ज्येष्ठ मासका उदित अर्द्धचन्द्र तथा हिमानी-शिखरके ठीक नीचे बहता हुआ भागीरथीका विकल प्रवाह। जान पड़ता मानो शिवलिङ्गके पीछेकी जटाओंसे यह प्रवाह बहकर सामनेकी ओर आ रहा हो। हम निरन्तर निर्निमेष दृष्टिसे न जाने कितनी देरतक सुक्कीमें इस रमणीय संध्याके दृश्यको निरखते रहे। रत्नकुमारीकी काव्यशक्ति मुखरित हुई और उन्होंने कुछ गुनगुनाते हुए एक गीत गाना आरम्भ किया।

गीत

भीगा बादल-पट निचोड़ नभ फैलाता समीरके अङ्क।
सूखा पट सूनेमें उड़ता, लहरें ले फर-फर निशङ्क।
दौड़ समीर समेट लगाता शैल शिखरपर पट-अम्बार।
धवल, श्याम, स्वर्णिम, सिन्दूरी—विविध रंगके वस्त्र अपार।
शैल-शिखरकी वंकिम माला, देवदारु-द्रुम हरित नितान्त।
घेर हिमानी उच्च श्रृङ्गको, मानो बनी जलहरी कान्त।
स्फटिक-विनिर्मित पिण्डी शिवकी, मानो गोलाकृति हिमश्रृङ्ग।
पृष्ठभागसे जटा विनिःसृत, बहती गंगा तुङ्ग तरङ्ग।
विस्मय-मुग्ध, हर्षसे पुलकित, लख महानता अति अभिराम।
मानव-मन श्रद्धासे विनमित, स्वयं-भूतको करे प्रणाम।
शिवका धाम पुनीत, हिमालय, कण-कणमें शङ्कर-अधिवास।
सरिताएँ निर्झर जल गंगा, सत् गुण-मय समीर-उल्लास।

(क्रमशः

* * *

तौ लगि या मन सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट।
विकट जटे जौ लगु निपट, खुटैं न कपट-कपाट॥
भजन कह्यौ तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूरि भजन जासों कह्यो, सो तू भज्यो गँवार॥

—बिहारीलाल

जीवनका लक्ष्य

(लेखक—विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री)

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम् ।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १ ॥

सद्भावना-रूपी कुसुमोंसे जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोकको आकृष्ट करनेवाला है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

नैराश्यमन्धतामिस्रं यतः सर्वं निवर्तते ।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ २ ॥

आशाके प्रकाशसे विच्छिन्न होकर घोर अन्धकाररूपी सारा नैराश्य जहाँसे निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः ।
सदाचारपरैः शुद्धैस्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ३ ॥

ईर्ष्यासे रहित, सदाचारमें तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषोंद्वारा जो सदा सेवित है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नमादर्शमनु निश्चितम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

दुःखके आनेपर भी जो उद्विग्नतासे रहित है, आदर्शके प्रति जो दृढ़ है और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करनेवाला है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

सत्यानुसंधानपरा लोककल्याणसेतवः ।
आश्रित्य यत्स्थिता धीरास्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ५ ॥

सत्यके अनुसंधानमें तत्पर और लोकके कल्याणके लिये सेतुरूप धीर पुरुष जिसका आश्रय लेकर सदा रहते हैं, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम् ।
कर्त्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ६ ॥

विषाद और अवसादसे जो रहित है, संशय जहाँ नहीं है और कर्तव्यके मार्गपर जो आरूढ़ है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम् ।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ७ ॥

जो श्रम, तपस् और संयमसे सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ८ ॥

जिससे विश्वका माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वयं निरतिशय माधुर्यसे युक्त है, जो मधु-विद्याका मधु है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ९ ॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेहसे तथा कारुण्य और आर्जवसे यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १० ॥

भाषाकी सीमाका अतिक्रमण करके जो अपने रूपसे ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्यरूप है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नैः साम्प्रदायिकैः ।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ ११ ॥

विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे जिसका निर्देश करते हैं, परंतु वस्तुतः जो उन नामोंसे असंस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

मोहेन तमसा हीनमानन्दरसनिर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १२ ॥

मोह और अज्ञानसे जो रहित है, आनन्द-रससे जो आप्लावित है और अलौकिक प्रकाशसे जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो ।

यत्र स्थिता महात्मानस्तत्त्वमव्ययमद्वयम् ।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥ १३ ॥

जहाँ स्थित होकर महात्मालोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परमतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिये प्रकाशित हो !

---

१. तु. बृहदारण्यकोपनिषद् २ । ५

वैज्ञानिक संजीवनी

(Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

लेखकका निवेदन

रोग-दुःख मिटे बिना जीवनकी सार्थकता नहीं, हमारा कल्याण नहीं होता। परंतु रोग-दुःख जन्मसे ही मानवका जीवन-साथी है, संसारमें इससे कोई नहीं बचता। आदिम अज्ञानावस्थामें रोगको भूत-प्रेतों, देवी-देवताओंका कोप समझा जाता था और अब भी समझा जाता है। ज्योतिषी रोगका कारण ग्रह-नक्षत्रोंको बताते हैं। आगे चलकर योगी, आयुर्वेदिक, यूनानी और अनेक विज्ञानी--एलोपैथी, होम्योपैथी, वायोकेमिस्ट्रीवालोंने अपनी खोजोंसे अपने मत प्रचलित किये और आज पुरानी रूढ़ियोंके साथ-ही-साथ रोगका कारण कीटाणुओंको माना जाता है। जो वैज्ञानिक हैं और रोगोंके इलाजके ठेकेदार बनते हैं, दीर्घ-जीवन और अमरताकी कीमियाँ ढूँढ़ते हैं, उन्हें भी रोग होता है और वे मर जाते हैं। आधुनिक विज्ञानी कहते हैं—रोग कीटाणुओंसे होता है, कीटाणुओंको जहरसे मारो, कीटाणुओंसे बचो। दूसरे प्रकृतिवादी कहते हैं—'रोगसे ही कीटाणु उत्पन्न होते हैं, शरीरमें विष-विकार संचित होनेसे सड़ाँद और सड़ाँदसे कीटाणु होते हैं; अतएव शरीरकी सब प्रकारसे सफाई करो, कीटाणु नष्ट हो जायँगे। संयमसे रहो, स्वस्थ रहोगे।' तीसरा क्रिश्चियन साइंस कहता है कि रोग कोई चीज नहीं, मनकी कमजोरी और अज्ञान है।

ये तीनों प्रकारके लोग अपनी पद्धति सिद्ध करते हैं। गरीबलोग किसी दवाके बिना, उपवास करके, पानी पीकर चंगे हो जाते हैं और वहुत इलाज करके हजारों रुपये खर्च करके भी लोग नहीं बच पाते। जंगली पशुओंको रोग होता नहीं देखा गया, उन्हें किसी दवाकी जरूरत नहीं पड़ती। रोग वास्तवमें क्या है, क्यों होता है, किस प्रकार मिटता है, दवासे मिटता है या आप ही मिटता है, इससे कैसे बचा जा सकता है? जो लोग कहते हैं कि दवा करो, अथवा जो कहते हैं कि दवा न खाओ—इन सबमें किसकी बात मानी जाय? एक वड़ी समस्या बनी हुई है। हिंदू ज्योतिषी कहते हैं—सूर्य पृथ्वीकी परिक्रमा करता है। पाश्चात्त्य विज्ञानी कहते हैं—पृथ्वी पूर्यकी परिक्रमा करती है। दोनोंके सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध होते हुए भी दोनोंके गणितके आधारसे ग्रहण और ऋतुएँ होनेका हिसाब ठीक बैठता है।

भूल और भ्रम होना स्वाभाविक है; क्योंकि मानव अल्पज्ञ है, परंतु सबकी भूलका सबपर एक-सा असर नहीं होता। यह भी रहस्यकी बात है। एक व्यक्ति जो चीज खाकर जीता है, वह दूसरेके लिये विष होती है। चिकित्साके क्षेत्रमें अधिकांश लोग विज्ञानके साथ-साथ अन्धविश्वास रखते हैं और बिरला ही कोई व्यक्ति समझदारीसे काम लेता है। जहाँ बुद्धि लगानी चाहिये, वहाँ अन्धविश्वास रखते हैं और अन्धविश्वासके स्थानपर अपनी अक्ल अड़ाते हैं। परलोक और मुक्तिके क्षेत्रमें अन्धविश्वाससे लोग तर जाते हैं; किंतु इस लोकके चिकित्साक्षेत्रमें, जीनेकी कलामें अन्धविश्वाससे लोग मर जाते हैं। यह सब देखकर किसीने कहा है कि यह दुनिया पागलखाना है। दूसरे लोकोंमें जिन लोगोंका दिमाग खराब हो जाता है, उन्हें वहाँके लोग धक्का देकर इस दुनियामें भेज देते हैं।

यह दुनिया पागलखाना है या वैज्ञानिक प्रयोगशाला—इसका निर्णय इन शब्दोंको आगे-आगे पढ़कर आप चिकित्साक्षेत्रके वैज्ञानिक शोधोंके प्रमाणित तथ्य पढ़कर स्वयं कर लेंगे। जैसे हमारा चर्मवेष्टित शरीर बाहरसे चिकना-चमकदार मालूम होता है किंतु इसके भीतरकी घृणित दुर्गन्धित चर्याको हम चर्मके आवरणके कारण नहीं देख पाते, नहीं जान पाते, उसी प्रकार वैज्ञानिक चिकित्साके जादुई चमत्कारसे यद्यपि हम चकित होकर अन्धविश्वासपूर्वक उसपर मुग्ध हो रहे हैं, तथापि उसके अन्तरङ्ग रहस्योंको प्रकट न करके हमसे छिपाया जाता है और रोगोंके इलाज करके जब रोगोंकी बढ़ती होती देखते हैं, तब हम किंकर्तव्यविमूढ़ होते हैं। जिस वस्तुको अमृत-संजीवनी, वैज्ञानिक संजीवनी मानकर हम अपनी भलाईके लिये सेवन करते हैं, उससे लाभ न होकर हमारा रोग बढ़ता है, मौत होती है, तो इसका रहस्य क्या है?

हम यहाँ जान-बूझकर डॉक्टरों या वैज्ञानिकोंके प्रति कोई दुर्भाव रखकर सब कुछ नहीं लिख रहे हैं और विज्ञानको बिल्कुल निकम्मा, अनावश्यक या पूर्ण विनाशकारी नहीं सिद्ध

कर रहे हैं। न हम इनका होना निरा अनावश्यक है, यही कहते हैं। हम तो यहाँ बुद्धिमानीके साथ विचार करनेके लिये अनुभवी वैज्ञानिकों और संस्थाओंके प्रयोग-सिद्ध तथ्य दे रहे हैं। वैज्ञानिक भी मानव हैं, विज्ञान भी मानवकृत खोज है और स्वभावतः अथवा स्वार्थतः मानवसे भूल होती है, अथवा वह कुछ अनैतिक कर्म भी कर बैठता है। शिक्षित क्षेत्रमें सेवाके नामपर व्यवसाय अथवा व्यवस्था करनेमें डॉक्टरों तथा वैज्ञानिकोंकी सबसे महत्त्वपूर्ण एवं नाजुक जिम्मेदारी है; क्योंकि वे मानव-जातिका सौदा करते हैं, उनके हाथोंसे, प्रयोगों अथवा चिकित्सामें या विकास-कार्य-प्रणालीमें, अज्ञानतासे अथवा लापरवाहीसे या कहीं-कहीं स्वार्थनिहित नीतिसे मानवमें रोग बढ़ रहे हैं। यही रहस्य देखना है कि विकास, भलाई और सेवाके नामपर सब कुछ करते हुए भी अनायास यह सब क्या अंधेर हो रहा है ?

None of the learned professions has so great a need of a lofty moral code as the medicinal one, since the members of no other profession can lapse into criminal or criminally careless behaviour with such disastrous results. Second come the brokers of law and justice, and the monopolists of religions, and morals leading mankind beyond this sensual realm to the gate of heaven and salvation.

शिक्षित व्यवसायोंमें सबसे पहला नंबर डॉक्टरका है; क्योंकि वह दुखी मानवके जीवन और मृत्युके बीचका सौदा करता है, अतएव उसका नैतिक स्तर सबसे ऊँचा होना चाहिये। इनके बाद नंबर आता है कानून और न्यायके दलालों—वकीलोंका और तीसरा नंबर है धर्म और ईमान, आत्मा और परमात्माके ठेकेदारोंका, जो भोले अन्धविश्वासी अज्ञानी लोगोंको परलोक, स्वर्ग और मोक्षके दरवाजेतक ले जानेके लिये जिम्मेदारी लिये हुए हैं। इन सबके अंदर स्वयं अपने प्रति कितना व्यावहारिक ईमान है। इनका विज्ञान स्वयं इनके लिये कितना सच्चा है ! दवाओंमें कितनी संजीवनी है, डॉक्टर स्वयं कितने स्वस्थ रहते हैं, वे स्वयंको उचित चर्यासे कितना स्वस्थ रखते हैं तथा उनका परिवार कितना स्वस्थ है, उन्होंने स्वयंपर अनेक आविष्कृत संजीवनी नुस्खोंका कितना अनुभव लिया है, अथवा वे केवल शिक्षा पाकर, प्रचारित विज्ञापन,, डॉक्टरी संघकी नीति अथवा पेट-परिवारके स्वार्थवश, व्यवसाय और नकद आमदनी बढ़ाने मात्रके लिये अन्धानुकरण कर रहे हैं।

संसारी मानव अल्पज्ञ असंयमी है। उनको रास्ता बताने, व्यवस्थित और नीरोग रखनेकी जिम्मेदारी थोड़े-से शिक्षितों, वैज्ञानिकों, महन्तों और शासकोंने ली है। वे सब अपनी जिम्मेदारी किस प्रकार निभाते हैं, उनमें कितना नैतिक बल और विज्ञान है—आगे प्रमाणितरूपमें स्पष्ट किया गया है—पढ़ते चलिये।

वैज्ञानिक संजीवनी अर्थात् प्रयोगद्वारा सिद्ध अनुभवसे प्राप्त विशेष ज्ञानद्वारा तैयार की हुई वस्तु, जो मानवके दुःख-दर्दको दूर करके उसे नवजीवन प्रदान करे। इन शब्दोंमें आधुनिक वैज्ञानिक कही जानेवाली, दुनियाकी सरकारोंद्वारा पोषित और जनताद्वारा विश्वस्त मान्य, प्रचलित चिकित्सा-पद्धतिके सिद्धान्तों, प्रयोगों, आविष्कारकों, व्यवसायियों, वैज्ञानिकोंद्वारा बनायी गयी चमत्कारिक गोलियों, इंजेक्शन और कुशल चीर-फाड़के सम्बन्धमें प्राप्त अनुभवोंका प्रमाणित एवं संसारभरके विख्यात अनुभववृद्ध वैज्ञानिकोंके शोध और अन्तस्तलसे निकले उद्गारोंका प्रकाशित यह संग्रह है। आदिसे अन्ततक इन शब्दोंको पढ़कर, आजतक मानवके इस सेवा-परोपकारी नामसे परिचित वैज्ञानिक स्वार्थी व्यवसायका थोड़ा परिचय मिलेगा और दरअसल मालूम होगा कि मानव-शरीर, रोग, दवाके विषयमें वैज्ञानिक चिकित्सकोंको कितना ज्ञान है, अबतक उन्होंने क्या किया है, क्या कर रहे हैं और आगे उसका हमपर तथा हमारे गर्भस्थ तथा भविष्यके वंशजोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा—इस विषयमें सम्भवतः आप कुछ कल्पना कर सकें।

मानवकी उन्नतिका इतिहास कुछ हजार वर्षका ही कहा जाता है; अनन्त कोटि असीम अथाह अकल्पनीय ब्रह्माण्डमें राई या रेत-कण-जैसी इस कुछ अरब वर्षोंकी उम्रवाली पृथ्वीपर; लाखों, करोड़ों, अरबों, अगणित ''''' अदृश्य सूक्ष्म, महासूक्ष्म अणु, परमाणु, त्रसरेणु, चतुरणुक, जीवाणुओं, कीटाणुओं और कोषाणुओंके समष्टि-सहयोगसे उत्पन्न, विकसित प्रफुल्लित प्रबुद्ध (?) मानव भी एक अल्पज्ञ कीटाणु दृश्यमान क्रियमाण है, जो विनष्टकारी साधनोंसे, विषाक्त प्रयोगोंसे, पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके लिये और पृथ्वी छोड़कर अन्य दूरस्थ लोकोंकी सैर करनेके लिये कटिबद्ध है।

यह पार्थिव क्षणभङ्गुर जीवन ऐन्द्रियिक सुख-दुःखरूपी इष्ट-अभीष्ट अनुभवोंसे विचित्र मिश्रित है। इन द्वन्द्वोंसे जन्म-मृत्यु-

के बीच कोई कभी नहीं बचा और इन्हीं द्वन्द्वोंसे बचनेके लिये हमेशासे होशमें आनेपर आजतक भूमि-आकाशमें चराचर सब तत्त्वोंपर मानवने हाथ रगड़ा और माथा पटका है, आहुति दी है, अनेक घृणित एवं अमानुषिक दानवी कर्म भी किये हैं···और अब भी कर रहा है ! उन्नति और सुखके लिये ! अपने-से अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली घातक शत्रुओं, रोगाणुओं-कीटाणुओंसे बचनेके लिये, चैनसे जीनेके लिये !

इस मिट्टी-पानीके बुलबुले संसारमें चौरासी लाख प्रकारके जीवोंमें मनुष्येतर किसी प्राणीको इतना कुछ भी संघर्ष नहीं करना पड़ा । मनुष्यकी नजर-पकड़से बचे हुए वे मजेमें रहते हैं; परंतु जो धर-पकड़में आ गये, मानवने उनकी अकल्पनीय दुर्गति की है ।

मानवने अपनी वैज्ञानिक बुद्धिसे, उन असहाय भोले प्राणियोंके रस, रक्त और विष-रसायनोंसे मिश्रित गोलियाँ, तुपकें (बंदूक, पिस्तौलकी गोलियाँ-जैसी—इंजेक्शनके एम्पूल) और कलात्मक वैज्ञानिक छुरीबाजीके साधनोंका आविष्कार किया है और मानवपर अखिल विश्वमें 'प्रयोग' कर रहे हैं, अपने उन अदृश्य शत्रुओं—रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये, रोग, दुःख, दर्दसे बचनेके लिये ।

अपने इस गौरवपूर्ण इतिहासकी दिवाली-होली मनानेके लिये मानव अपने हाथमें अबोध बच्चेकी तरह, अपनी बनायी हुई रंगीन चमकदार फुलझड़ी और पटाखे लिये हैं । उससे क्या परिणाम होगा यह देखनेके लिये उसने हिरोशिमा और नागासाकी (जापान) शहरोंको भस्म कर दिया । इस विस्फोटकी ज्वाला दो सौ मीलके क्षेत्रमें, एक सौ मील ऊपर आकाशतक फैली, उठी और इस हिसाबसे बीस हजार घनमीलका वातावरण विषाक्त अग्निमय होकर सब कुछ भस्मीभूत हो गया । साथ ही अपने रोगी देहके विषाक्त कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये जो चमत्कारिक दवाकी गोलियाँ, इंजेक्शन और छुरीबाजीके 'प्रयोग' हो रहे हैं, उनमें जो वैज्ञानिक अन्धज्ञान है, उसीको दूर करनेके लिये इसे कागजपर छपे शब्द न समझकर अङ्गार, आग और मनोबम, मानसिक बम, METABOMB ON SCIENTIFIC SUPERSTITION जानें ।

मानव-जीवनके हरेक क्षेत्रमें व्यापक एवं देखा-देखी परम्परासे स्वरचित प्रचलित रूपमें संगठित षड्यन्त्रकी घातक बुराइयाँ फैली हुई मानवको अपने जालमें इस तरह बाँधकर जकड़े हुए हैं कि मानो ये सब उसके लिये आवश्यक हैं और इनके बिना वह जी नहीं सकता, जैसे कि नालीके कीड़े नालीको अपना स्वर्ग समझते हैं । अगणित शब्दोंकी चिनगारियोंसे बना यह मनोबम आपके इस अन्धविश्वासको दूर करे, आपके दिल-दिमागमें पहुँचकर अन्धज्ञानको भस्म करे, इसी हेतु संसारके विख्यात अनुभवी विश्वमान्य वैज्ञानिकोंके प्रयोगों और अनुभवोंका निष्कपट, निष्पक्ष यथातथ्य संग्रह इसमें किया गया है । विज्ञान, सभ्यता और स्वतन्त्रताके गर्वमें मानव अब भी कितना बन्धनमें है, गुलामीमें धँसा हुआ है—यह सब पढ़-देख-जानकर इसीमें सच्ची आजादीका नया मोर्चा सहज स्पष्ट होता है । इसको स्वयं बड़े ध्यानसे पढ़कर तथा पड़ोस, मुहल्ले या गाँववालोंको सुनाकर-समझाकर, देशव्यापी घृणित, घातक वैज्ञानिक अन्धविश्वास और अन्धानुकरणका भ्रमजाल काटनेका प्रयत्न हरेक व्यक्ति करे तो समाज तथा देशकी अनमोल सम्पत्ति—स्वास्थ्य एवं जीवनको मृत्युकी ओर ले जानेवाली विज्ञानकी नालीमें व्यर्थ बह जानेवाले अपरिमित धनको बचाकर अन्य उपयोगी रचनात्मक योजनाओंमें लगाया जा सकता है ।

केवल राजनीतिक स्वतन्त्रतासे देशका कोई यथार्थ उपकार तबतक नहीं होता जबतक कि देशकी जनता स्वस्थ न हो। जनतामें वैज्ञानिक विकास और रोगनाशके नामपर रोगोंका जबरदस्ती बीजारोपण करना, स्वास्थ्य-विकासके लिये पौष्टिक खाद्य-पेय पदार्थोंके नामपर हवा, पानी, भूमि, फल-फसलोंमें रासायनिक विषाक्त तत्त्वोंका प्रवेश कराना, व्यवसायद्वारा अनिष्टकारी पदार्थोंका प्रचलनकर अधिकाधिक रहस्यमय असाध्य रोग फैलाना—यह सब विज्ञान और स्वतन्त्रताका पाखण्ड है । इनका बहिष्कार करने तथा इनको नष्ट करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको सामूहिक संगठनकर इस अन्धविज्ञानी प्रथाका विरोध करनेका देशव्यापी अभियान चलाकर देशसे निकाल फेंकनेकी कमर कस लेनी चाहिये, जिससे हमारी स्वतन्त्रता सच्ची सिद्ध हो और मानवजाति इस जंजालसे निकल सके ।

वैज्ञानिक अज्ञान

आधुनिक प्रचलित पाश्चात्त्य ओषधि-विज्ञानका सबसे पहला डॉक्टर ढाई हजार वर्ष पहले यूनानी हिपोक्रेट्स था। ईलियटने 'अपनी पुस्तक आउटलाइन ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन मेडिसिन'में लिखा है, 'ओषधि-विज्ञानके इतिहासमें हिपोक्रेट्सकी प्रतिभा बेजोड़ है । वे रोगको स्वाभाविक मानते थे और रोगका अच्छा होना भी स्वाभाविक मानते थे । अर्थात् रोग

स्वाभाविक कारणोंसे अपने-आप पैदा और अच्छा होता है, डॉक्टर तो प्रकृतिके सेवकमात्र हैं।' उसके इन बातोंपर पैथागोरसका असर मालूम होता है।

उसका कहना था कि शरीरका इलाज करनेके लिये पूरी बातें जान लेनी चाहिये। इन्हीं बातोंसे वह सारे ग्रीसमें प्रसिद्ध हो गया और प्लेटोने सब वैद्य बननेवालोंको उसीका शिष्य बननेकी सिफारिश की थी। किसी प्रकारकी विषाक्त दवा न देना, चीर-फाड़ न करना, स्वार्थपूर्ण बदनीयत न रखना, शुद्ध प्रेम और सेवाभावसे इलाज करना, किसी स्त्रीका गर्भपात न करना—ये उसके नियम थे और ऐसे ही नियमोंकी शपथ वह अपने शिष्योंसे लेकर उन्हें दीक्षित करता था। यह शपथ आजकल भी प्रथानुगत चल रही है; परंतु वह अब नाममात्र केवल तोता-पाठकी तरह रह गयी है।

हिपोक्रेट्सके लगभग पाँच सौ वर्ष बाद विख्यात समझदार वैद्य गेलेन (Galen) हुआ जो रोमके बादशाह मारकस औरिलसका निजी चिकित्सक भी था। वह अरस्तुका अनुगामी और गम्भीर प्रकृतिनिरीक्षक था और शरीरके विकारोंको दूर करनेके लिये, विरुद्ध प्रकृतिवाली जड़ी-बूटीका काढ़ा पिलाया करता था। मानव-शरीरकी रचनाका ज्ञान उसे नहीं था, वह घरेलू पालतू जानवरोंकी चीर-फाड़से कुछ ज्ञान प्राप्त करता था। जैसे कुत्ते, बंदर, सूअर आदि। उसकी बहुत-सी गम्भीर अज्ञानभरी बातोंका अन्धानुकरण यूरोपके विश्वविद्यालयोंमें सोलहवीं शताब्दीतक होता रहा और आगे चलकर प्रतिभाशाली हेनिमेनकी १८१० में 'आर्गेनन' प्रकाशित हुई। परंतु प्रचलित अज्ञान और अन्धविश्वासमें धँसे चिकित्सकोंने उसका भरपूर विरोध और उपहास किया। धर्मगुरु लोग तो मानव-रोगोंको भूत-प्रेतोंका कोप अथवा ईश्वरका अभिशाप या अकृपा मानते थे, और बहुत-से लोग अब भी मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि शरीर-पर बाह्य तत्त्वोंके उत्पात या आघातसे रोग होते हैं और बाहरकी वस्तुएँ शरीरमें डालकर शरीरके भीतर प्रतिक्रिया उत्पन्न करके ही उसकी भीतरी घट-बढ़के विकारको ठीक किया जा सकता है। यह वही सिद्धान्त है जिसके अनुसार गेलेन, अबसे अठारह सौ वर्ष पूर्व इलाज करता था; अतः आधुनिक मेडिकल साइंसमें कितना अन्धविश्वास है अथवा कितना विज्ञान है, यह स्पष्ट हो जाता है कि रोगको बाह्य कारणों (कीटाणुओं) से उत्पन्न मानकर, इलाज करनेके लिये अन्य पशुओंके घृणित रस, रक्त, मवाद, रोगोत्पादक कीटाणुमिश्रित विष-रसायनोंका इंजेक्शन शरीरके रक्तमें घोला तथा प्रवाहित किया जाता है। कीटाणुओंको मानवका शत्रु बनाकर इन वैज्ञानिकोंने मानव-जीवनको असाध्य बना दिया और विष प्रसार किया। हवा, पानी तथा भोजनकी वस्तुओंमें विषरसायन घोलकर अधिक रोग पैदा करके मानवको आजीवन रोगी और अपंग बना दिया। जिसने कीटाणुवादका प्रचार किया, उसके प्रति खुले दिलसे आधुनिक डॉक्टर लियोनार्ड विलियम्सने डॉक्टरी अखबार 'मेडिकल प्रेस' के ११ मार्च १९३१ के अङ्कमें पृष्ठ २१० पर स्पष्ट लिखा था, 'कीटाणु ही वह भूत है जिसे वैज्ञानिक अज्ञानी मानवने ढूँढ़ निकाला है और रोगी मानव भी कितना अज्ञानी है कि ऐसे आविष्कारकके सामने वह सिर झुकाता है। कीटाणुनाशक विषौषधोंपर दुनियाकी सरकारें करोड़ों रुपये खर्च करती हैं और अरबोंका व्यापार चलता है। यह वैज्ञानिक पाखण्ड नष्ट होना चाहिये। "It is high time that this pseudo-scientific nonsense died down." अमेरिकाके वैज्ञानिक मासिक पत्र 'लेबोरेटरी' के जिल्द १४, अङ्क ५, १९४४ (फिशर साइन्टिफिक कम्पनीद्वारा प्रकाशित) में लिखा है; "bacteria, contrary to the average layman's impression, are among men's most helpful agents. It has been estimalted that less than 10 per cent of all bacteria are harmful to man; the others are either beneficial or potentially beneficial through continued study. The attention given the 1 per cent which produces harmful effects has obscured the helpful effects of the 99 per cent."

अर्थात् शरीरमें केवल एक प्रतिशत कीटाणु हानिकारक हैं, परंतु इनसे जो हानि होती है, उसे ही सब कुछ मानकर ९९ प्रतिशत कीटाणुओंसे होनेवाले लाभपर वैज्ञानिकोंने काला पर्दा डालकर दुनियाको उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ साधन किया है।

कीटाणुयुगमें शोध करते-करते विरकोव् (Virchov) ने निदानमें कीटाणुओंको कोष (cell) रूपमें देखा और पास्त्योर (Pasteur) के आधारपर ही उसने इसे एक प्रकारका जीवाणु (biological atom) बताया कि इन्हींके परस्पर विषम मिश्रणसे शरीरमें विकार होते हैं, रोग होते हैं। भौतिक परमाणुसे अब वे सजीव परमाणुपर आ गये और डॉ० जे० ई० आर मेक्डोनाफ, एफ० आर० सी० एस्०

(J. E. R. Mc Donagh. F. R. C. S) ने अपनी खोजोंसे इस सिद्धान्तको प्रोटोप्लास्मके रूपमें मानव रक्तपर लाकर स्थिर कर दिया और रोग तथा स्वास्थ्य, दोनों दशाओंमें प्रोफेसर बिकाम्प और पास्त्योरके समान इन सूक्ष्म जीवाणुओंको माइक्रोजाइमा समाजके अन्तर्गत व्यक्तिगत दशाओंमें रोग और स्वास्थ्यका कारण बताया। डारविनने जैसा बताया था कि प्राणी एक ही मूलसे अनेक परिस्थितियोंसे शाखाओंमें, रूप-रंग आकारमें विभाजित हुए, उसी प्रकार मेकडोनाफने अपनी आधी जिंदगी इस खोजमें खपाकर तै पाया कि रोगोत्पादक कीटाणु भी इसी प्रकार परिस्थिति-भेदसे बनकर पनपते हैं, जिनका मूलस्रोत आँतोंमें होता है, आँतोंमें अपक्व और बहुमिश्रित पदार्थोंके पड़े रहनेसे ऐसा होता है कि वहाँ अनेक प्रकारके कीटाणुओंकी प्रकृति और आकार बदलते हैं जो रोगका कारण बन जाते हैं।

"Various pathogenic bacteria as branches stemming from one common trunk, the original parent bacteria being normal inhabitants of the human intestine...the harmful bacteria being revolutionary mutations of the primary micro-organisms, the change in their type and virulence being brought about by alterations in the metabolism of the human body, and influence of radiations from the sun, stars and nebulae.

परंतु आजके दूसरे अनुगामी वैज्ञानियोंकी पहुँच इतनी सूक्ष्म और दूरतक नहीं हुई है और वे इन बातोंको माननेको तैयार नहीं हैं। प्रोफेसर सी० जे० पेटन और प्रोफेसर रुडाल्फ पीटर्स तो अपनी खोजोंसे प्रोटोप्लाज्म तककी हरेक वस्तु और जीवाणुको आध्यात्मिक तत्त्व मानते हैं (postulate a psychic life to all living things, even to the ultimate particles of protoplasm), जैसा कि एच० पी० ब्लावात्स्कीने अपनी पुस्तक 'सीक्रेट डाक्ट्रिन' में सजीव सूक्ष्म परमाणुओंद्वारा विश्वरचना होना बताया है।

The countless myriads of living particles that build up material body and its cells, flourish plants and build universe into visible from invisible—जो अदृश्यलोकसे स्थूललोककी, शरीरके तन्तु एवं वनस्पति आदिकी साक्षात् रचना करते हैं, जो स्वयं पूर्ण होनेके साथ परस्पर सहयोग-संगठनसे एक स्थूल दृश्यमान पूर्णकी रचना करते हैं, वे सब निरे जड नहीं, परंतु चेतन विद्युन्मय हैं।

और अब पारस्परिक चेतन रचनात्मक सिद्धान्तको लेकर तन-मनकी पारस्परिक चिकित्सा-पद्धति Psycho-somatic medicine चल पड़ी, जिसके अनुसार मनके विचारों, आवेगोंका प्रभाव शरीरके तन्तुओंपर होता है, तो साथ ही शरीरकी विकृत दशासे मनको भी रोग होता है; अतएव दोनोंकी चिकित्सा आवश्यक है, केवल मन या शरीरकी चिकित्सा अलग-अलग नहीं। क्योंकि मन या शरीरके रोग अलग-अलग स्वतन्त्र नहीं, वरं पारस्परिक होते हैं। मनुष्य जैसा भोजन करता है, उससे उसके शरीरकी प्रकृति बनती है और तदनुकूल विचार-संस्कार बनते हैं, साथ ही विचार, संस्कार, आवेग, भावोंके बदलनेसे उनका असर शरीरकी आन्तरिक रचना और व्यवस्थापर भी होता है। अतएव शरीरके विभिन्न अङ्ग-रोगोंको परस्परसे पृथक् न समझकर पूर्णरूपसे परस्परके आश्रित जानकर पूरे शरीरकी चिकित्सा की जानी चाहिये।

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके प्रोफेसर सर वाल्टर लैंग्डन ब्राउन (Sir Walter Langdon Brown) ने अपना एक लेख १२ मार्च १९३६ को मेडिकल सोसायटी ऑफ इन्डिविजुअल साइकॉलॉजीको पढ़कर सुनाया था, जिसका शीर्षक था "प्लेस ऑफ साइकॉलॉजी इन मेडिकल कैरिकुलम" (Place of Psychology in Medical curriculum) उसमें वे लिखते हैं—"I speak in all sincerity when I state with all the emphasis of which I am capable that one of the greatest dangers besetting the honest practice of medicine at the present moment is the invasion of pseudo-scientific methods involving the piling up of irrelevant laboratory data, much of which the specialist who does it does not understand himself. It impresses the patient by an air of scientific accuracy which is quite illusory."

अर्थात् मुझमें जितनी शक्ति है उतने जोरसे ईमानदारीसे मैं कहता हूँ कि आजकल ईमानदारीसे इलाज करनेवाले डॉक्टर विशेषज्ञ लोग भी रोगी जनताके लिये सबसे अधिक खतरनाक हैं, जो प्रयोगशालामें खोज करके आँकड़े प्राप्त करके स्वयं कुछ

नहीं जान-समझ पाते और उनकी इस सूझपरसे रोगी प्रभावित हो जाते हैं; सब खोज और आँकड़े व्यर्थ और झूठे, काल्पनिक मात्र हैं। अर्थात् विशेषज्ञोंके अज्ञानका प्रमाण यहाँ मिल जाता है, जो शरीरके केवल एक अङ्गका अध्ययन और इलाज करनेकी दूकान खोलकर बैठे हुए हैं; उनसे रोगी मानवका कोई उपकार नहीं, वरं सबसे अधिक अपकार होता है।

इस सम्बन्धमें रोगीकी पूर्णतया जाँच करके सब पहलुओंसे चिकित्सा करनेके लिये लार्ड होर्डर (Lord Horder) ने किंग्स कालिज हास्पिटल मेडिकल स्कूलकी १२२वीं बैठकमें अपना एक लेख पढ़कर सुनाया था जो ब्रिटिश मेडिकल जर्नल, ८ दिसम्बर १९५१ के अङ्कमें पृष्ठ १३५९ पर छपा था। उसमें लिखा है—

1. The doctor must know all about the mind as well as the body; he must know human nature as it is called, as no other person knows it.

2. More attention must be given to providing the basic elements of health, enough of right sort of food, warmth and shelter, access to sun and air, a satisfactory job and work, leisure and amenities connected with it.

वास्तविक आदर्शचिकित्सा और प्रचलित पाखण्ड-चिकित्साकी चर्चा करते हुए ''मेडिकल वार्ल्ड'' पत्रिकाके ५ जनवरी १९५१ के अङ्कमें एक ईमानवाले डॉक्टरने एक लेख "Parting of the Ways" शीर्षकसे लिखकर बड़े साहसका काम किया था। अन्धानुगामी वैज्ञानिकोंने कीटाणुवादके चक्रमें हरेक रोगके हरेक प्रकारके बहुतसे कीटाणुओंके नाम, रूप, गुण बताये हैं, तदनुसार सैकड़ों रोग बताये हैं। सच्चे वैज्ञानिकोंने इस मतका कठोर विरोध किया है, उनमेंसे यहाँ एक प्रमुख वैज्ञानिक डॉक्टर डब्लु मिचेल स्टीवन्स, एम० डी०, एफ० आर० सी० पी० के कुछ वाक्य उद्धृत करना बस होगा, जो मैटीरिया मेडिका और फारमाकोलॉजीके लेक्चरर, वेल्स यूनिवर्सिटीमें थे, अप्रैल १९३९ में इन्होंने लिखा था :—

"Up-to-date the orthodox Medical Researchers have been working either *cul-de-sac* or in circles constantly receding further and further from the centre; they have been obsessed with microbes or viruses and have been responsible for the idea that disease may be conquered by injecting man's long suffering body with sera, vaccines, toxins or chemicals; their work has had a pernicious effect on medical education so that the student is encouraged to lean upon laboratory findings and to disregard experience and observation, their work has encouraged specialization just as if the human body were divisible into a large number of more or less watertight compartments and furthermore, the manufacturing chemists are inundating medical men and the general public with all kinds of preparations founded upon what they call "medical science".

शरीरके अङ्गोंको अलग-अलग टुकड़े-पुर्जे समझकर और कीटाणुओंकी खोजकर, ये अज्ञानी वैज्ञानिकलोग शरीरमें पशुओंके रक्त, मवाद और विष-रसायन इलाजके नामपर घोलते हैं और दवा बनानेवाले नदियोंकी बाढ़की तरह डॉक्टरों और जनताको उल्लू बनाकर अपनी बनायी हुई दुर्गन्धित विषाक्त गोलियाँ, इंजेक्शन, मिक्श्चर उँड़ेलते हैं। डॉक्टर और जनता दोनों ही इस बाढ़में अपने तन-मन-धन-सहित, अंधोंकी तरह दौड़-दौड़कर जूझते-डूबते जा रहे हैं, इसीका नाम है—वैज्ञानिक इलाज। यह इलाज नहीं, प्रयोग-मात्र है, जनताके जीवनसे विनाशकारी खिलवाड़।

इसके सहयोगी चल पड़े हैं, पशुओंपर चीर-फाड़के निर्दय प्रयोगसे टीका और इंजेक्शन बनानेवाले व्यापारी स्वार्थी वैज्ञानिक; जिनका विस्तृत धंधा सरकारी कानूनसे पुष्ट होकर सारी दुनियामें बूचड़खानोंमें चलता है; करोड़ों जीवोंका रक्तपात करता है, मानव-जीवनपर सब केवल प्रयोगमात्र है जो इलाजके नामपर प्रचलित है। It is all experimentation for research, wrongly called immunity and preventive or curative treatment,. चूहों, भेड़ों, बंदरोंपर प्रयोग जैसे हो रहे हैं, वैसे ही मानवपर हो रहे हैं। चूहों, भेड़ों, बंदरों और मानवमें कोई अन्तर नहीं रह गया! (क्रमशः)

मांसाहारका तथा गोमांसका घृणित प्रचार

मनुष्य जिस प्रकारका भोजन करता है, उसी प्रकारकी उसके मन और बुद्धिकी रचना होती है। सात्त्विक भोजनसे सात्त्विक मन-बुद्धि और तामससे तामसिक मन-बुद्धि बनते हैं, उसीके अनुसार इच्छा या स्फुरणा होती हैं और उन्हींके अनुसार क्रिया होती है। इस समय भोजनका अनाचार-भ्रष्टाचार जिस तरह बढ़ रहा है, जिस तरह उसमें तामसिक वस्तुओंका प्रवेश हो रहा है, उसी तरह मन-बुद्धिका भी पतन हो रहा है और उसीके अनुसार जीवनके कर्म भी बिगड़ रहे हैं। आजके इस नैतिक पतनमें भोजनका तामस और अनाचारयुक्त होना भी एक प्रधान कारण है। किसीकी भी जूँठन खाना अनाचार है। पर इसका परहेज तो आजकल प्रायः उठ ही गया है। सदाचारकी दृष्टिसे न भी देखें तो स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी यह बहुत विचारणीय है। इस समयके कीटाणु सिद्धान्तके अनुसार एकका रोग जूँठन खानेसे दूसरेमें निश्चय ही आता है। होटलोंमें, पब्लिक भोजनालयोंमें, रेल-जहाज-वायुयानोंमें तो खुले आम जूठे बरतनोंमें जूठन खायी-खिलायी जाती ही है। विवाहोंमें, भोजोंमें और गृहस्थके घरोंमें भी इसका प्रचार बढ़ रहा है तथा इससे परहेज रखनेवालोंको असभ्य माना जाता है। इससे शरीर और मनके संक्रामक रोग बढ़ते हैं और मनुष्यका शारीरिक-मानसिक पतन होता है। उच्छिष्ट भोजनको गीतामें भगवान्‌ने भी तामस बतलाया है और तमोगुणकी वृद्धिसे अधःपतन होता है, यह भी स्पष्ट कहा है (अधो गच्छन्ति तामसाः)।

तामसिक भोजनमें प्याज-लहसुन आदिके निषेधका स्मृतियोंमें उल्लेख है, पर उसकी ओर तो आज कौन ध्यान देता है। इस समय तो अण्डे, मछली, मांस-मद्यका उन घरोंमें भी प्रवेश हो गया है, जिनके कुल-परम्परामें सदासे ही इनको घृणित माना जाता था और महान् अनर्थकारी समझकर इनका स्वाभाविक निषेध था। सरकार भी साहित्यसे, बूचड़खानोंके विस्तारसे और मछली-सूअर-मुर्गी-उद्योगोंके नामपर योजनाएँ बना-बनाकर मांसाहारके घृणित और पतनकारी प्रचार-प्रसारमें जोरोंसे लगी है! अण्डे और मछलीतकको निरामिष बताया जाता है, और लाभ बता-बताकर अण्डोंका प्रचार किया जाता है। पशुओंके अङ्गोंसे दवा बनानेके कारखाने तो बहुत हो गये हैं और वे उत्तरोत्तर बढ़ ही रहे हैं। इसके लिये भी सरकारी योजना है। यह परम दुर्भाग्य है!

मांस खानेवाले भी हिंदू गोमांससे तो बड़ी घृणा करते थे; पर आजकल वह घृणा भी निकलती जा रही है। विदेशोंमें यातायात बढ़ जानेसे, दुष्ट-सम्पर्कसे तथा धार्मिक बुद्धिके सतत ह्राससे स्वाभाविक ही यह हो रहा है। जहाँ मांस-गोमांस पकाये जाते हैं, वहीं उन्हीं बरतनोंमें निरामिष भोजन करनेवाले हिंदुओंके लिये अन्न पकाया जाता है और निरामिषभोजी भाई-बहिन बड़े चावसे उन्हीं बरतनोंमें उसे खाते हैं। अभी समाचार मिला है कि विपुल धनराशि खर्च करके सरकारके द्वारा बनाये हुए दिल्लीके प्रसिद्ध 'अशोक होटल' में, जिसमें बड़ी शानसे बहुत ऊँचे घरानेके सम्भ्रान्त निरामिषाहारी हिंदू (सनातनधर्मावलम्बी) भी ठहरते हैं, गोमांसका व्यवहार किया जाता है। कलकत्तेसे प्रकाशित स्टेटस्मैनके पिछले ३१ दिसम्बरके अङ्कमें 'अशोक होटल'का एक टेंडर विज्ञापन प्रकाशित हुआ है, जिसमें होटलके लिये गोमांस, गायकी जीभ, कटा हुआ गायका अंदरका भाग, गायके दिमाग और जिगर, बैलकी पूँछ और गुर्दा आदिकी सन् १९६१-६२ के लिये आवश्यकता बतलायी गयी है। गोमांस आदिके साथ ही जीवित कबूतर, बटेर, तीतर, मुर्गा-मुर्गी, सूअर, अण्डे, तरह-तरहकी मछलियाँ

और भेड़ आदिकी आवश्यकता बतलाकर उन सबके टेंडर माँगे गये हैं । यह एक विशाल सरकारी होटलका स्वरूप है । अहिंसाके सिद्धान्तपर स्थापित तथा अपनेको धर्म-निरपेक्ष बतलानेवाली सरकार किस प्रकारसे धर्मपर आघात करके घोर हिंसाको प्रोत्साहन दे रही है और परम अहिंसक 'अशोक'के नामपर स्थापित होटलके द्वारा किस प्रकार हिंसाका प्रचार और गोमांससे घृणा करनेवाले तथा हिंसामात्रको महापाप माननेवाले लोगोंके धर्मपर आक्रमण किया जा रहा है, इसका यह एक उदाहरण है। अहिंसा तथा धर्मसे प्रेम करनेवाले लोगोंको घोर विरोध करके इस अनाचारका प्रसार रोकना चाहिये । होटलके अधिकारियोंको बाध्य कर देना चाहिये कि वे इस पापको न करें । न मानें तो होटलका बहिष्कार कर देना चाहिये । जहाँतक हो सके, तुरंत ही पूर्ण निश्चय करके मांसाहारसे बचना-बचाना चाहिये । नहीं तो त्यागी, तपस्वी, सदाचारी, सात्त्विकाहारी ऋषि-मुनियोंका यह पवित्र देश क्रूर पिशाचोंकी क्रीड़ाभूमि बन जायगा और यहाँ पैशाचिक ताण्डव होने लगेगा !

पतनकारी सिनेमा और गंदे पोस्टरोंका घोर विरोध परमावश्यक

आज 'कर्तव्य'के स्थानपर 'अधिकार' और 'त्याग'के स्थानपर 'अर्थ' का पूर्णाधिकार हो गया है । यही इस युगकी देन है । इसीसे आजके बुद्धिमान् और शिक्षित कहलानेवाले मानवसे लेकर श्रमजीवी मजूरतक धनी-निर्धन सभी प्रत्येक विषयपर 'अधिकार' तथा 'अर्थ' के दृष्टिकोणसे ही सोचते-विचारते हैं । दूसरेका कर्तव्य सोचते हैं और अपने अधिकारपर अड़े रहते हैं । अर्थ तो सभी जगह प्रधान आसनपर आरूढ़ है । इसीसे आज अखण्ड भारतकी अखण्डता नष्ट हो रही है और जगह-जगह भाषा तथा प्रान्तके नामपर काट-छाँट और उपद्रव हो रहे हैं और परस्परके वैमनस्य तथा अविश्वाससे जन-जीवन दुखी हो रहा है । वर्तमान पाकिस्तान, नये पाकिस्तान-ईसाईस्तानोंके लिये गुप्त योजना और प्रचार, पंजाबके दो खण्ड करनेकी बात, आसाममें स्वतन्त्र पहाड़ी राज्यका प्रस्ताव, बेरुवाड़ीका प्रदान, एक प्रान्तके स्थान दूसरे प्रान्तको देने-लेनेकी योजना आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । हम मान रहे हैं—प्रगति हो रही है पर वस्तुतः हो रहा है—घोर पतन ! इसीसे अशान्ति, द्वेष, दम्भ तथा दुःखके बादल उमड़े आ रहे हैं।

इसी पतनोन्मुखी दृष्टिसे पैसेके लिये खान-पानकी चीजोंमें मिलावट, नकली दवाइयोंका निर्माण, घूसखोरी, नैतिकतापर खुला आघात करनेवाले पतनकारी साहित्यका प्रकाशन, गंदे सिनेमाओंका घोर प्रचार, नर-नारियोंके मनोंमें सहज ही विकार उत्पन्न करनेवाले सिनेमाके पात्र-पात्रियोंके चित्रोंका प्रकाशन और गंदे पोस्टर आदिका विस्तार हो रहा है और इन साधनोंके द्वारा प्रकारान्तरसे समाजमें दुराचारोंका प्रबल प्रसार हो रहा है । घृणा तो निकल ही गयी है । दुराचारमें गौरव-बुद्धि हो गयी है !

सिनेमाके द्वारा समाजमें नर-नारियोंका जिस अनुपातसे घोर पतन हो रहा है, वह यों ही होता रहा तो सदाचार और नैतिकता नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी । ऐसे-ऐसे दृश्य और गाने दिखाये-सुनाये जाते हैं, जिनकी चर्चा भी माँ-बहिन-बेटीके सामने पुत्र-भाई-पिता नहीं कर सकते, फिर माँ-बहिन-बेटी तो करती ही कैसे ? पर सिनेमामें बड़े चावसे माँ-बहिन-बेटियोंको तथा कोमलमति बालक-बालिकाओंको साथ ले जाकर स्वयं पुत्र-पिता-भाई इन गंदे दृश्योंको देखते और गंदे गाने सुनते हैं । पहले तो उनके सिर नीचे रहते हैं, पर धीरे-धीरे संकोच निकल जाता है और मानसिक पतनका जीवनमें पूर्ण प्रकाश हो जाता है । यही हो रहा है । सिनेमामें नाचने-गानेवाली तरुणियोंके चित्र छापकर और बड़े-बड़े पोस्टरोंमें उनके शरीरों और चेष्टाओंको दिखाकर लोगोंका मन आकर्षित किया जाता है । अभिनय करनेवाली युवतियोंके चित्र राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री आदिके साथ छपते हैं, प्रचुर

धनराशि उन्हें मिलती है और उनके दर्शनार्थ भले-भले लोगोंकी भीड़ उमड़ी पड़ती है। यह सब देखकर अच्छे-अच्छे घरानोंकी लड़कियोंके मनमें भी ऐसी ही बननेका प्रलोभन उत्पन्न हो जाता है और कई युवतियाँ तो इसीलिये घरोंसे भागकर बड़ी विपत्तिका सामना करनेको बाध्य होती हैं। पता नहीं, इनके प्रचारमें कौन-सा लाभ सोचा जाता है, हमारी समझसे तो कुछ लोगोंसें धनवृद्धि, जनताका धन-नाश तथा अनाचार-व्यभिचारकी प्रवृत्तिके सिवा और कोई भी लाभ इससे नहीं होता। 'मनोरञ्जन तथा कला' तो धोखा देनेकी चीज है। जैसे शराबके गुण बताकर शराबके व्यसनको दृढ़ कर दिया जाता है, वैसे ही वर्तमान सिनेमाओंके ये नाम तो इस दुर्व्यसनकी वृद्धिके लिये ही रक्खे गये माॡम होते हैं।

संत विनोबाजीने इधर कुछ समयसे 'गंदे पोस्टर हटाओ' आन्दोलन चलाया है। यह बड़ा ही लोक-कल्याणकारी तथा परम आवश्यक है। खुले आम सड़कों बाजारोंमें दीवालोंपर लगाकर और मोटरों-गाड़ियोंमें रखकर—बाजे-गाजेके साथ जुलूस निकालकर ये पोस्टर दिखाये जाते हैं और भले लोगोंके मनोंमें भी विकार पैदा किया जाता है।

श्रीविनोबाजीके इस पवित्र आन्दोलनमें सबको साथ देना चाहिये तथा इन गंदे पोस्टरोंका साहसके साथ, युक्तिपूर्ण पद्धतिसे घोर विरोध करके जनताको जगाना तथा सरकारको बाध्य कर देना चाहिये कि वह कानून बनाकर ऐसे पोस्टरोंको सर्वथा रोक दे। नैतिक चरित्रकी उच्चता एवं पवित्रताके द्वारा देशका कल्याण चाहनेवाले प्रत्येक नर-नारीको इस पवित्र कार्यमें सहयोग देना चाहिये और जहाँतक बने सिनेमा न देखनेकी प्रवृत्तिको बढ़ाना चाहिये, जिसके लिये ये पाप-प्रसारक पोस्टर लगाये जाते हैं!

अभय

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

गङ्गोत्तरीसे गङ्गाजी नहीं निकली हैं, यह बात वे सब लोग जानते हैं जो वहाँ गये हैं अथवा जानेवालोंसे मिले हैं, उनके विवरण पढ़े हैं। गङ्गाजी गोमुखसे प्रकट हुई हैं। वैसे वे निकली तो हैं नारायणके चरणोंसे—भौतिकरूपमें भी उनका हिमस्रोत (ग्लेशियर) नारायण पर्वतके चरणोंसे चलकर शिवलिङ्गी शिखरके ऊपरसे होता गोमुखतक आया है। गङ्गोत्तरीमें तो गङ्गाजीकी मूर्ति है।

गोमुख गङ्गोत्तरीसे गत वर्ष १८ मील दूर था। कुछ वर्ष पूर्व यह दूरी १२ मील थी। हिमालयका हिम पिघल रहा है, इसलिये गोमुख पीछे हट रहा है। हो सकता है कि कुछ शताब्दी पूर्व गोमुख गङ्गोत्तरीमें रहा हो। गङ्गाजी तब गङ्गोत्तरीमें हिमस्रोतसे प्रकट होती हों।

'यह ऊनी चदर मैंने रीछसे झपट ली है।' यह बात एक साधुने बतलायी। वे गङ्गोत्तरीसे चार-छः मील ऊपर गोमुखकी ओर रहते हैं। गोल छोटे-बड़े पत्थरोंपर लाठीके सहारे कूदते-उछलते वहाँतक जाना पड़ता है। गोमुखके लिये कोई मार्ग नहीं है। गङ्गाजीके किनारे-किनारे पत्थरोंपर होकर ही जाना पड़ता है।

उधर रीछ बहुत हैं वनमें और रीछोंसे भी भयंकर है शीत। पत्थरोंपरसे पैर फिसले तो केवल सिर फूटेगा या शरीर गङ्गार्पित हो जायगा, कोई कह नहीं सकता। दिन चढ़ते ही शिखरोंसे मनों भारी हिमशिलाएँ तोपसे छूटे गोलोंके समान गड़गड़ाती गिरने लगती हैं।

इतना सब है; किंतु प्रतिवर्ष दस-पाँच साहसी यात्री गङ्गोत्तरीसे गोमुख हो आते हैं। इच्छा रहते हुए भी मैं नहीं जा सका। मेरे एक साथीको गङ्गोत्तरीमें न्यूमोनिया हो गया। उनका ज्वर दूर होनेतक मुझे वहीं रुकना पड़ा एक सप्ताह।

उसी सप्ताह युवकोंका एक समुदाय गोमुख जाकर

लौटा । उन्होंने बताया कि मार्गमें ऊपर एक साधु कुटी बनाकर रहते हैं । लौटते समय वे रात्रि-विश्राम वहीं करके आये हैं ।

रीछने किसी यात्रीका ऊनी चद्दर छीन लिया होगा या हिमके आखेट किसी यात्रीका चद्दर उसे पड़ा मिल गया होगा। ऐसे वस्त्रको रीछ वृक्षोंकी डालियोंमें लपेटकर अपने लिये आवास बना लेता है । साधु लकड़ी एकत्र करने गये तो वृक्षपर लिपटी ऊनी चद्दर देखकर चढ़ गये और उतार लाये । रीछकी अनुपस्थितिमें ही वे चद्दर ला सके थे ।

किंतु उन साधुसे भी अधिक अद्भुत साहसी हैं हमारे मार्ग-दर्शक । वे इधरसे सीधे दो बार बद्रीनाथ गये हैं । इस वर्णनने मुझे आकृष्ट किया । मैं गङ्गोत्तरीमें उनसे परिचित हो चुका था । अतएव उनसे ही सब विवरण सुननेका मैंने निश्चय किया ।

× × × ×

'द्वितीयाद्वै भयं भवति ।' संन्यासीके लिये यह श्रुति उद्धृत कर देना सहज स्वाभाविक है; किंतु उनके-जैसा सचमुच निर्भय संन्यासी जब यह श्रुति उद्धृत करता है तो श्रुतिका अर्थ सहज बोध-गम्य हो जाता है ।

वे तरुण हैं, सुशिक्षित हैं, विनम्र हैं । सुदृढ़ शरीर, साँवला रंग, बड़े-बड़े नेत्र । पहिले उनका आश्रम था कश्मीरके उस भागमें जो अब पाकिस्तानके हाथमें है ।

'नारायण, उस समय मनुष्य धर्मोन्मादमें रीछसे अधिक भयंकर हो गया था ।' उन्होंने बताया 'मुझे अकेले पैदल आना पड़ा । मैंने भारतीय सीमामें पहुँचनेतक जो कुछ देखा—छुरे रक्त-सने और उन्मादमें दौड़ती-चिल्लाती हत्याके लिये आतुर भीड़ । उस समय मनुष्यमें पता नहीं कहाँके दानव घुस गये थे ।'

'आपको किसीने कुछ कहा नहीं ?' मैंने पूछा ।

'तुम जानते ही हो कि संन्यासीके चोटी नहीं होती ।' वे खुलकर हँसे—'मेरे कपड़े मैले हो रहे थे । दाढ़ी बढ़ रही थी । मेरी ओर किसीने आँख उठाकर देखना आवश्यक नहीं माना ।'

'आपको भय नहीं लगा एकाकी उन्मत्त लोगोंके बीचमेंसे निकलनेमें ?'

'भय तो दूसरेसे लगता है ।' उन्होंने समझाया-'वे अपने स्वरूप ही तो थे । अपनेसे भिन्न कोई हो तो भय लगे । देहके लिये ही लोगोंको भय लगता है; किंतु देह तो मैं नहीं हूँ और देह मैं चाहूँ तो क्या सदा बना रहेगा ? दो बार तो देह नष्ट नहीं होता । वे तो फिर भी मनुष्य थे—पर्वतोंसे लुढ़कती हिमशिलाएँ....'

'आप दो बार गोमुख होकर सीधे बद्रीनाथ गये हैं ?' मैंने उन्हें बीचमें ही रोक दिया । क्योंकि मैं उनसे मिला ही था यह यात्रा-वर्णन जानने । बात भिन्न प्रसंगपर जा लगी थी ।

'एक बार—पहिली बार अपने कुतूहलवश और दूसरी बार कुछ अन्वेषकोंके साथ उनके आग्रहके कारण ।' उन्होंने बताया—'मार्ग इधर गोमुखसे ऊपरतक और उधर स्वर्गारोहणसे बद्रीनाथतक कठिन है । इतने विकट मार्गकी यात्रा दोनों ओरसे यात्री प्रायः करते हैं । जहाँतक वे पहुँचते हैं, वहाँसे मील-दो मील आगे बढ़कर मार्ग सरल हो जाता है । ऊपर सपाट पठार है । सीधे गोमुखसे बद्रीनाथके मार्गमें स्वर्गारोहणके नीचे दूसरे दिन ही मैं पहुँच गया था ।'

जिस मार्गमें कुछ गज चलना भारी हो जाता है, उसमें मील-दो-मीलकी चर्चा वे ऐसे कर रहे थे, जैसे मैदानके मील-दो-मील हों ।

'शिखरोंसे हिमशिलाएँ गिरती ही रहती हैं । कच्चे पर्वत भी हैं, जिनपर पेटके बल सरककर चढ़ना पड़ता है । छोटे-बड़े पत्थरोंपर कूदते चलनेका तो मार्ग ही है । कहीं-कहीं रीछ भी मिल जाते हैं ।' वे बड़े आनन्दसे सुना रहे थे—'यह भगवती पार्वतीके पिताका गृह है । यहाँ

तो शिला, हिम, जल और वन्यपशु। किंतु दिव्य धरा है। यहाँ कहीं गिरकर, हिमखण्डसे दबकर या रीछके हाथों देह नष्ट भी हो जाय—हिमालयकी गोदमें मृत्यु सौभाग्यसे ही मिलती है। हस्तिनापुरका राजसदन छोड़कर धर्मराज भाइयोंके साथ यहीं मरणका वरण करने आये थे।'

'मरणका वरण' किसी कमरेमें अग्निके समीप ऊनी कपड़े ओढ़कर, कम्बलमें लिपटे बैठे मेरे समान इस बातको सुननेमें मनको उत्सुकता हो सकती है; किंतु सचमुच गिरती शिलाओंके मध्य चट्टानोंपर कूदते-उछलते जानेवाले यात्री—मैंने एक सिहरन अनुभव की इस स्मरणसे।

× × ×

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।

उन्होंने कदाचित् मुझे श्रीमद्भागवतका पाठ करते किसी दिन देख लिया था। हो सकता है कि वे स्वयं भी भागवतका पाठ करते हों; क्योंकि मैं उनकी कुटियामें छोटी चौकीपर त्रिभङ्ग-सुन्दर, मयूरमुकुटीका चित्र देख आया हूँ।

'मनुष्य परमात्माको छोड़कर दूर हट गया, उसने अपना मुख ईश्वरकी ओरसे दूसरी ओर कर लिया, अतः उसकी स्मृति उलटी हो गयी। उसने अपनेसे सर्वथा भिन्नको अपना स्वरूप मान लिया और इसीलिये सर्वत्र वह डरने लगा।' उन्होंने गम्भीरतापूर्वक मेरी ओर देखा।

'स्मृति उलटी हो गयी?' मैंने पूछा।

'तत्त्वज्ञानकी बात छोड़ भी दें तो भी इस देहमें तुम्हारा क्या है? इसके परमाणु क्या प्रतिपल बाहर नहीं जा रहे हैं? यह कोई बात है कि पेटमें रही विष्ठा मैं और बाहर निकला अपवित्र। इस शरीरके अतिरिक्त और किसीको कोई मार सकता है?'

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।'

उनके बिना कहे ही मुझे गीताके कई श्लोक स्मरण हो आये।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' जीव ईश्वरका सखा है, इसमें भी कोई संदेह है क्या?' वे बोलते जा रहे थे—'कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ ईश्वर नहीं है? ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वत्र है। तब उसके सखाके लिये कहीं किसी परिस्थितिमें कोई आपत्ति किस गुफासे निकलेगी?'

मैं क्या उत्तर देता? कोई भी क्या उत्तर दे सकता है? वे ठीक नहीं कह रहे थे, यह कैसे कहा जा सकता है?

'मूर्खताकी बात—शिष्ट शब्दमें अज्ञान कहो।' वे अब उठ रहे थे कहीं जानेके लिये। मैं भी उठ खड़ा हुआ। खड़े-खड़े उन्होंने अपनी बातका उपसंहार किया—'परमात्माके सम्बन्धमें हम सोचते नहीं, अपने सम्बन्धमें भी नहीं सोचते, इसीसे यह मूर्खता सिरपर सवार है। भगवान्से दूर रहनेके कारण यह उल्टी बुद्धि हो गयी है कि जिसमें अपना कुछ नहीं है उस देहको अपना मान लिया है और इस देहमें अभिनिवेशके कारण ही सारे भय हैं।'

मैंने उन्हें प्रणाम किया और लौट आया। अब भी मुझे उनके वे शब्द स्मरण आते हैं—'देहके सम्बन्धमें, अपने सम्बन्धमें, परमात्माके सम्बन्धमें विचार करो। भय तो मूर्खता है। ठीक-ठीक देहके भी तत्त्वपर विचार करोगे, प्रारब्धको भी समझ लोगे तो भय भाग जायगा सदा-सर्वदाके लिये।'

'तत्त्वका ठीक विचार करनेसे भय भाग जाता है।' बड़ा सुन्दर सूत्र है और मेरे मानसनेत्रोंके सम्मुख हैं वे अभय पुरुष।

गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग

(लेखक—श्रीधर्मभानुसुकुमारजी एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न)

प्रत्येक जीव शान्तिप्रिय है। हृदयके मन्दिरमें सब कोई शान्तिकी ज्योति जलाये रखनेका अभिलाषी है। अकेला मानव ही यह नहीं चाहता, अपितु हरेक प्राणधारी समुत्सुक है इसी सुख और शान्तिकी मनःकामनाको पूर्ण करनेके लिये। जिस वस्तुकी जब इतनी व्यापक माँग हो जाती है, तब वह यदि महँगी हो जाय और उसका प्राप्त करना दुष्कर बन जाय तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। शान्तिकी देवी एकाकिनी करे तो क्या करे। किस-किसका घर वह पूरा करे। दसों दिशाओंमें, चतुर्दश भुवनोंमें उसीकी याचना हो रही है। देव हों अथवा दानव, जलचर हों या स्थलचर; खेचर हों वे या हों नागलोकके निवासी; जिससे पूछा जाय कि 'भई, तुम्हें क्या वस्तु अभीष्ट है ?' तत्काल प्रत्युत्तर आयेगा—'शान्ति', हमें शान्ति चाहिये।

इस चराचर विश्वमें जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन प्रकारकी सृष्टियोंसे आप्लावित दिखायी देता है। एक वर्गमें तो वे जीवधारी आते हैं, जिन्हें हम 'उलटी सृष्टि'के नामसे पुकारा करते हैं। जितने भी ये वृक्ष हैं, पौधे हैं, लताएँ हैं, सभी 'उलटी सृष्टि'के प्राणी हैं। इनका सिर नीचे पृथ्वीमें धँसा पड़ा है और इनका कबन्ध, जिसे अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग कह सकते हैं, ऊपरकी ओर विकसित होते हैं। तभी मानवको **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'** ऐसा प्रतिपादित किया गया है।

मानव और स्थावर सृष्टिके अन्तरालमें एक और वर्ग है, जिसमें पशु तथा पक्षियोंका समावेश होता है। जहाँ इनसे पूर्वोत्पन्न सृष्टि वनस्पतिवर्गकी अचर है वहाँ यह मध्यम सृष्टि पशु-पक्षियोंकी वैसी नहीं है। वर्षा हो, ग्रीष्म हो, शिशिर हो अथवा वसन्त हो, शरत् हो या हो हेमन्त—ये वराक वनस्पति-संसारके प्राणी ठहरे हैं, सो ठहरे हैं। यदि ये प्यासे हैं तो, भूखसे व्याकुल हैं तो, महाशीतसे ठिठुर रहे हैं तो और यदि इन्हें निदाघकाल आकर प्रचण्ड रवि-रश्मियोंसे विह्वल करने लगता है तो—ये मूक हैं, विवश हैं, एक ही स्थानपर स्थित हैं। किसी जलाशयके संनिकट होकर जल नहीं पी सकते। सघन मेघमालासे अनवरत वारिधाराएँ इन्हें यदि उद्विग्न कर रही हैं तो ये तपस्वी शान्त हैं—कोई झुलसा दे तो इन्हें इन्कार नहीं और कोई इन्हें गरमा दे तो कुछ भी न करेंगे। परंतु महाविस्मय होता है इनकी विशाल क्षमाशीलताको देखकर कि ये वनस्पतियाँ बदलेमें अपना सर्वस्व उन्हीं जीवधारियोंको दे देनेमें सदा तत्पर रहती हैं; जिन्होंने समय-समयपर जब-जब भी उन्हें अवसर लगा, कभी इनकी लकड़ियाँ काट लीं; कभी हरी-भरी लहलहाती शाखाएँ झकझोर लीं, कभी मधुर, पके, रसभरे फलोंसे अपनी झोलियाँ भर लीं—ये नीरव, निश्शब्द, उदारमना होकर तनिक कुछ नहीं उचरते।

पशुओंको अपनी शीतल छायाका सुख प्रदान करते हैं। मनुष्योंको छायाके अतिरिक्त फल-फूल-पत्ते सब कुछ सौंप देनेको उद्यत रहते हैं। कई पक्षी जैसे तोता, कठफोड़ा आदि इनके प्रकाण्डोंमें बिलें बनाकर उनमें निवास करने लगते हैं। इतर पक्षी स्कन्धोंपर, घनी शाखाओंपर नीड़ बना लेते हैं। सभीका स्वागत करना इनकी प्रकृतिदत्त विशेषता है। अस्तु,

अब हम आते हैं 'आड़ी सृष्टि'में। पशु-पक्षियों, कीट-कृमियोंकी सृष्टिका समावेश इस दूसरे वर्गमें हो जाता है। ये समस्त प्राणधारी चर हैं, सरक सकते हैं। इनमें गतिशीलता पायी जाती है। 'आड़ी' शब्दसे हमारा अभिप्राय इन जीवोंकी 'रीढ़की हड्डी' 'मेरुदण्ड'से है। अर्थात् इनका मेरुदण्ड वृक्षोंके सदृश विपर्यस्त नहीं, प्रत्युत किसी-न-किसी दिशाकी ओर होता है। नन्ही-सी यूक अथवा लिक्षासे लेकर दीर्घकाय मत्त गजराज-तक, अतिक्षुद्र किसी कीटसे लेकर पक्षिराज गरुड़पर्यन्त किसी भी जन्तुकी कायाके आकार-प्रकारका समवलोकन करें, प्रत्येकका मेरु 'आड़ा' होगा, पादपोंके समान उल्टा नहीं। यह हुई 'आड़ी सृष्टि'। इस वर्गमें समुत्पन्न समस्त जीवोंका शिरोभाग दिशोन्मुख मिलेगा—न सीधा ऊपर द्युलोककी तरफ उठा हुआ और न अधोमुख।

तीसरी श्रेणी है हमारी—हम मानवोंकी। हमारी रचना पूर्वोक्त दोनों प्रकारके देहधारियोंसे विभिन्न दृष्टिगोचर होती है। हम मानवोंका गढ़न सरल, सीधा, गगनमण्डलाभिमुख। मनुष्यका कलेवर और उसका उत्तमाङ्ग सूर्याभिमुख—ऊपर नभोमण्डलकी तरफ। विद्युत्के स्तम्भके सदृश मानो अपने मस्तिष्कमें रवि-शशिकी विमल प्रभाको भरता हुआ। मानवका मूल ऊर्ध्वदिशामें है और शेष भाग नीचेकी ओर परिवर्धन करता हुआ। इसे शास्त्रकारोंने 'सीधी सृष्टि'का नाम दिया है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

(उपनिषद्)

'इस विराट् सर्वव्यापी आत्माका मस्तक अग्नि है, चाँद और सूरज लोचन हैं, दिशाएँ ही इसके कान हैं, सम्पूर्ण निगमागम मानो इसकी वाणीसे समुद्भूत हो रहे हैं, वायुमण्डल इसका प्राणस्थानीय है, समग्र ब्रह्माण्ड हृदय है और यह वसुन्धरा इस आत्माके चरण-युगल हैं। ऐसा दिव्याकार है यह मानवकायाका लघु, उन्नत मस्तक, भुजाएँ दायें-बायें, नीचे हैं इसके पाँव । जबतक मानव चैतन्य-दशामें रहता है, इसका सिर सीधा ऊपरकी ओर स्थिर होता है । तनिक भी इसके मस्तिष्कमें स्वप्नका विचार उत्पन्न हुआ, तत्काल यह सिर किसी-न-किसी दिशाकी तरफ लुढ़क जायेगा। उस समय सिर सीधा तना हुआ नहीं रहता। वहाँ तमोगुणका अधिकार हो जाता है। निद्राकालमें हम सदा ही लेट जाते हैं, सीधे खड़े नहीं रह पाते। ब्रह्माण्डदेशके साथ हमारे पिण्डदेशका सीधा, गहरा तथा अनुरूप सम्बन्ध है।

यहाँतक हमने चर्चा की मानवशरीरके सर्वोत्कृष्ट गठनकी और विश्वके प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ रचे जानेकी।

मानव-सृष्टिकी सर्वोत्तमताका प्रतिपादन करते हुए हमें यह भी देखना है कि महाप्रलयके अनन्तर यही प्राणी धरातलपर सबके पीछे अवतीर्ण हुआ था। समस्त भोग-योनियोंका सृजन इसके आगमनसे पूर्व हो चुका था। सबसे प्रथम तो प्राणधारियोंमें उत्पन्न हुए थे स्थावर-जगत्के जीव—वनस्पतिवर्ग। यही तो था उपभोग्य तत्त्व पशु-पक्षियोंके लिये। तदुपरान्त आये 'आड़ी सृष्टि' के जीव। ये दोनों प्रकारके जीव-जन्तु भोग-योनिके अन्तर्गत माने जाते हैं। इन्हें अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगना होता है—तभी जन्म लेते हैं। कोई स्थावर बनकर और कोई जंगम। जलचर, स्थलचर और नभश्चर कोई भी हों, हैं सब-के-सब भोग्य—मानवकी सेवा करनेके लिये सम्भूत। इन सभीके यथास्थान, यथोपयोग और यथाकर्म सज जानेपर अवतीर्ण होता है यह मानुषाकार प्राणी। मानव उभययोनिका प्राणी है—भोगयोनिमें भी और कर्मयोनिका भी। समूचा विश्व इसके समक्ष बिखरा पड़ा है केवल इसीकी परिचर्याके लिये। मानव जब उत्पन्न होता है, तब इसके अन्तःकरणमें अनेक प्रकारकी इच्छाओंका ताना-बाना तना पड़ा होता है! वे उसकी प्रथम सुषुप्त और पुनः जाग्रत् होती हुई वासनाएँ चाहती हैं पूर्त्ति। उनकी पूर्त्तिके हेतु ही यह अशेष प्रकृति सर्वदा सर्वथा संनद्ध रहती है। मनुष्यकी इच्छा होती है क्षुधा-निवारण करनेकी—फलोंसे लदे हुए पेड़ तुरंत नतमस्तक-से हुए अपनी-अपनी शाखाओंको समवनत किये सामने आ उपस्थित होते हैं। मानो सहर्ष निवेदन करते हैं—'ऐ मानव! स्वीकार कर ले हमें'। ये फल हमें तो भक्षण करने नहीं। या तू खायेगा, नहीं तो पशु-पक्षी ही नोच ले जायँगे। आवश्यकता हुई तृषा बुझानेकी। गिरि-कन्दराओंसे अनन्त निर्झर और निर्झरिणियाँ नीचेकी ओर द्रुतगतिसे भागती हुई चली आती हैं। कहीं यह मानव प्यासा न रह जाये। नदी-नाले अहर्निश इसीकी सेवामें तत्पर हैं। भूमिको सींच-सींचकर अन्न उगलवा लेते हैं, फलोंके ढेर-के-ढेर प्रस्तुत करा देते हैं। यह मानव परितृप्त रहे। मनुष्यको देश-विदेशमें परिभ्रमण करनेकी आकाङ्क्षा भी उत्पन्न हुई। मरुभूमि है। मीलों बालू बिछी है। आकाशमें भगवान् मरीचिमाली प्रखर किरणोंसे उसे संतप्त कर रहे हैं। दिशाएँ अग्नि बरसा रही हैं। मानव क्या देखता है कि नयनोंके सम्मुख खड़ा है एक अटपटा प्राणी—लंबा-चौड़ा जिसे उष्ट्र कहते हैं। वह ऊँट हाथ बाँधे विनय करता है इस मनुष्यसे। आपको रेगिस्तानसे पार उतारनेके लिये मुझे भगवान्ने नियुक्त किया है। आप सहर्ष मुझपर सवार हो जाइये, मैं आपको त्वरितगतिसे ले चलूँगा। मानव उसकी आकृति देखकर स्तब्ध-सा रह जाता है। अरे! कैसा बेडौल जानवर है यह—परंतु कितना ऊँचा है धरातलसे। वह सरल जीव भी अपने उदरमें पर्याप्त जलराशि भरकर प्रसन्न मुद्रामें आगे बढ़ जाता है और इस मनुष्य नामके जीवको स्वकीय गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देता है। पर्वतोंपर चढ़ना हो तो खच्चर खड़े हैं, समरभूमिमें शत्रुसेनाओंसे टकराना हो तो वेगवान् अश्व ठहरे हैं, मदमत्त नागराज हैं। भार लादनेके लिये बैल, गर्दभ अपने-आपको समर्पित किये हुए यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

इसी मनुष्यके निवासस्थानोंकी परिशुद्धिके लिये कुक्कुट हैं, शूकर हैं, जो सब कूड़ा-कर्कट दूर करनेमें कुशल होते हुए सब जगहको स्वच्छ कर देते हैं। अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाले कोटि-कोटि असंख्य जीवोंको अपना ग्रास बनाते हुए चमगीदड़, अन्य सहस्रों पक्षी वायुमण्डलको हमारे श्वास लेनेके योग्य बना देते हैं। भाव यह कि ये उलटी और आड़ी सृष्टियोंके प्राणी सर्वतोभावेन मनुष्यसमुदायकी परिचर्यामें आठों

पहर संलग्न रहते हैं। ऐसा है पुण्यात्मा, सौभाग्यशील, मानव-देहधारी यह मनुष्य, जो कर्मयोनिमें जन्मा है। कर्मयोगी बननेका इसे एकाङ्गी अधिकार मिला हुआ है। यह यदि उपभोक्ता है तो इसका ही उपभोग्य है यह इतर चराचर विश्व।

मानव-शरीरमें ही आकर यह आत्मा अपनेपर आवरण डाले हुए पाँचों कोशोंका विभेदन करता हुआ निर्वाणपदको प्राप्त करता है। उत्तरोत्तर एक-दूसरेमें लिपटे हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशोंका अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा सम्यग्ज्ञान पाकर यह आत्मा निज स्वरूपमें स्थित हो जाता है। नरसे नारायण ही तो बन जानेकी यह विरिया है। इस स्वर्णावसरको प्राप्त करके भी आज यह मानव अशान्त है, चिन्तासमाकुल है।

इस 'वीरभोग्या वसुन्धरा' पर अरबों जीव इस मानवके साथ जीवनयात्राको चला रहे हैं। निरुद्देश्य वे भी नहीं। अपने प्राक्तन जन्मकृत कर्मोंके फल उन्हें विवश होकर भोगने हैं। कीट-पतंग, खग-मृग—हरेकके पीछे कर्म-शृङ्खला जुड़ी हुई है। उस कर्मोंकी रज्जुमें इन प्राणियोंका मन जकड़ा हुआ है। उन दयनीय पशु-जगत्के जन्तुओंके अतिरिक्त मानव-योनिमें भी आये हुए करोड़ों देहधारी जीव स्वकीय भोगोंका सहर्ष भुगतान करनेके लिये बाध्य हैं। वे भी तो मनुष्य हैं, जिन्हें अपनी उदरपूर्तिके लिये कोयलेकी खानोंमें काम करना पड़ता है। दिनमें बारह घंटे कोयलेकी धूलिमें लोटा करते हैं। कोई सीमेन्ट अथवा चूना भर-भरकर गाड़ियोंमें लादते-लादते कितनी मात्रामें सीमेन्ट, चूना, रोड़ी, सुर्खी प्राणोंके द्वारा अपने फेफड़ोंमें भरा करते हैं। वे भी तो मानव-संततिके पुत्र कहलाते हैं, जिनके हाथ और पाँव, नाक और मुख, आँखें और कान—समूचा शरीर ही तो उच्चजातीय मनुष्योंके मल-मूत्रके उठानेमें डूबा रहता है। यह किसकी देन है ? किसी मानवका शाप नहीं। ऋषि-मुनियोंका अभिशाप नहीं, बल्कि अपने ही कर्म हैं, जो कभी किसी जन्ममें किये गये थे। वे भी मनुष्य-जन्ममें ही सम्भव थे—इतर भोगयोनियोंमें नहीं। नूतन कर्मशृङ्खलामें नव-नव ग्रन्थियाँ केवल मानवजन्ममें बँध सकती हैं। साथ ही यह मात्र जीवन होता है, जिसमें अवाञ्छित कर्म-निचयोंका परिहार किया जा सकता है। यह मानव-जन्म ही तो है जिसमें विचरण करते हुए अपने ज्ञान और सद्विवेककी ज्योतिमें आत्माके पावन दर्शन किये जा सकते हैं। जिस मनुष्यको मोक्षप्राप्तिका अधिकार मिल चुका हो, जिसमें इतनी सत्ता निहित हो कि वह अपने बुद्धि-वैभवसे भूलोकमें बैठा हुआ चन्द्रलोक, मंगल तथा शुक्र ग्रहोंका पर्यवेक्षण करनेकी क्षमता रख सकता हो, वह तिसपर कहा करे मैं अशान्त हूँ, मैं हूँ विपद्ग्रस्त, मुझे अपना जीवन बोझल हुआ जाता है। 'त्राहि माम्'-'त्राहि माम्' की गूँज सुन पड़ती हो। यह युग तो है वैज्ञानिक—भौतिक तत्त्वोंकी गम्भीर खोज अणु-परमाणुओंतक दिन-प्रतिदिन निरन्तर हो रही है। कुछ भी हो—जनसाधारणका जीवन दुःखोंसे परिपूर्ण है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने गहन विपिनोंमें, शैल-शिखरोंपर, गिरि-गह्वरोंमें, नदियोंके संगमोंकी संनिधिमें समाहित होकर जीवनमें 'शान्ति' तत्त्वकी गम्भीर गवेषणा की और उन्होंने लोकहितकी सद्भावनासे डंकेकी चोट यह उद्घोषित किया—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

पाराशर व्यासने कौरव-पाण्डवोंको अपनी भौतिक समुन्नतिपर मदान्ध होते हुए देखकर मन-ही-मन विचार किया। उधर द्वापर युगके मनीषी, ज्ञान-विज्ञान-धुरन्धर ब्रह्मचारी भीष्म, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महात्मा विदुर, पतिव्रता माता गान्धारी, आचार्य द्रोण—एक-एक करके सबने दुर्योधनको प्रबोधित किया। उसे बारंबार भ्रातृ-युद्धमें न कूदनेका सत्परामर्श दिया—भीषण संग्रामसे कितनी विराट् अपरिमेय क्षति हुआ करती है। परंतु अर्थ और कामका लोलुप दुर्योधन अपने दुस्संकल्पपर अचल रहा। दूत बनकर पधारे हुए युग-पुरुषकी उसने तीव्र भर्त्सना की और स्पष्ट शब्दोंमें ललकारते हुए कहा—

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।'

अरे गोपाल ! मैं रणके विना सूईकी नोकभर भी भूमि-खण्ड देनेको प्रस्तुत नहीं हूँ। मैंने तुम्हारी सब व्याख्या श्रवण कर ली है।

उस समय महर्षि व्यासने उस विषाक्त वातावरणमें संजीवन-शक्तिको संचरित करनेके लिये यह वाणी कही—

ऐ मदोन्मत्त, गर्वभरित मानवो ! मैं अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर इस त्रिकाल सत्यकी घोषणा किया चाहता हूँ—और पुनः-पुनः कहता हूँ कि ऐ मानव ! तू मदान्ध

मत बन । अर्थ और काम मनुष्य-समाजको निगल जानेवाले दो महाग्राहके तुल्य होते हैं—उनके पल्ले न पड़, धर्मकी प्रशीतल छायामें आ जाओ। धर्मपूर्वक अर्थका संचय करो—धर्म और अर्थकी सहायतासे कामनाओंकी पूर्त्ति भयङ्कर नहीं होती । हा ! कितने खेदका विषय है । कोई मेरी गुहार सुनता नहीं । धनलोलुप राष्ट्र जाने किस दुर्गतिका शिकार हो जायेगा ।

और आगे 'धर्म' शब्दकी विशद, विस्तृत व्याख्या नहीं करना चाहते । महर्षि संक्षेपमें इतना ही कथन करते हैं—ऐ मेरे अभिमत प्राणियो ! धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ निष्कर्ष हो सकता है, मैं तुम्हें उसे समझाता हूँ—तुम सुनो । केवल श्रवण नहीं करो, अपितु सुनकर उसपर मनन करो, उसे चीन्हो, उसका परिशीलन करो । और वह परिभाषा धर्मकी और कुछ नहीं; इतनी मात्र ही है—'मानव औरोंके प्रति वैसा कोई भी आचरण न करे, जिस आचरणसे उसके अपने मानसको ठेस पहुँचनेकी सम्भावना हो ।' यह है गृहस्थजीवनमें सच्ची शान्तिका मार्ग ।

गृहस्थजीवन निर्वाण-पदकी सरणिमें द्वितीय आश्रम है । यह जीवनका साध्य नहीं, एक साधन है । साधन किसी वस्तुकी पूर्त्तिमें सहायक होता है । विवेकशील मनुष्यका लक्ष्य है मुक्ति—और उसतक पहुँचनेके चार सोपान हैं, जिनका उल्लेख मनीषियोंने मानवमात्रके लिये किया है—१. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष । इन चारों अङ्गोंकी सिद्धि अत्यावश्यक होती है मनुष्यके लिये ! इन चारोंको एक ही जीवन-समयमें पूर्ण कर लेना किसी विरले परम संस्कारी जीवका कार्य होता है । नहीं तो ९९ प्रतिशत प्राणी प्रथम तीन सोपानोंमेंसे किसी एक अथवा दोतक ही अटके रहते हैं । मोक्ष-साधन कर लेना महाकठिन कार्य होता है । और अधिकांश लोग तो ऐसे ही दिखायी पड़ेंगे, जिन्हें इन चारों साधनोंमेंसे एक-से भी सरोकार नहीं होता । उनके लिये नीतिकारोंने कथन किया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

जिस पुरुषके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमेंसे एक साधनसे भी कोई प्रयोजन नहीं रहा, उसका जन्म ऐसे ही निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये जैसे बकरीके गलेमें उगनेवाले स्तन निष्प्रयोजन हुआ करते हैं ।

जिस सद्गृहस्थको अपने गार्हस्थ्य-जीवनमें सुखद शान्तिका संनिवेश करना हो, वह अपने धर्मका सुचारुरूपमें परिपालन करे । 'अपने धर्म' से अभिप्राय है उन प्रकृतिदत्त सद्गुणोंका, अपने स्वाभाविक संस्कारोंका संरक्षण करना । जो गृहस्थ सत्त्वगुणसम्पन्न है और उसकी सहधर्मिणी भी सत्त्वनिष्ठा है—दोनों सत्त्व-गुणका संवर्धन करें । नर अपने पुरुषधर्मकी और नारी स्वकीय नारी-धर्मकी रक्षा करती हुई चले । जो दम्पती रजोगुणी हैं, उन्हें रजोगुणमें रहते हुए प्रयत्न करते रहना चाहिये कि वे रजोगुणकी चञ्चलता, अशान्ति और अस्थिर-चित्तताके शमन करनेका प्रयास करें । सत्त्वगुणनिष्ठ सज्जनोंके सम्पर्कमें, सात्त्विक ग्रन्थोंके अध्ययनमें, सात्त्विक विचारोंसे पूर्ण सत्सङ्गोंमें लगे रहनेका भरसक प्रयत्न करें । जिनमें पूर्वजन्मके संगृहीत तमोगुणी संस्कारोंकी बहुलता है—ऐसे पति और पत्नी मानव-जीवनके आयुः-परिमाणको अविद्यामें ही न खो दें, सत्कुलीन गृहस्थोंकी सेवा-शुश्रूषामें जुट जायँ। उनमें ऐसे पवित्र वातावरणमें आते-जाते रहनेसे तमोगुणके संस्कार क्षीण होने लगेंगे । संगतिका प्रभाव तो पड़े बिना रह नहीं सकता । 'जैसा संग वैसा रंग ।'

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥

अत्यन्त तपे हुए लाल लोहेकी चादरपर स्वाति नक्षत्रकालमें पड़ी हुई एक जलकी बूँद तत्काल ही सूख जाती है, उसका नामो-निशान मिट जाता है । वैसी ही जलकी बूँद यदि गिरकर किसी कमलके पत्तेपर जा अटके तो वह मोतीके सदृश चमक देने लगती है । इनमें पहली बूँदकी संगतिको अधम और दूसरीको मध्यम कहते हैं । वैसे ही बादलोंकी गोदसे निकली एक और बूँद नीचे उतरी; समुद्रके जलपर एक सीप अपना मुँह खोले तैरती थी—उसमें जा पड़ी । ओहो ! भाग्य उसके । वह पानी पानी ही न रहा—एक मोती जा बना । यह है उत्तम संसर्गका प्रभाव !

इसी तरह गृहस्थ पुरुषका प्रमुख धर्म यह है कि वह अपनेको सत्त्वगुणविशिष्ट बना ले । यदि नर अथवा नारी विद्याध्ययन-कालमें एकाकी जीवन बिताते हुए अपनेमें पूर्णता नहीं ला सके तो इस दूसरे आश्रममें दोनों एक दूसरेकी प्रकृतिका सम्यक् अनुशीलन करें । भार्या कोई दासीके रूपमें पुरुषके आँचलमें नहीं बाँधी गयी होती । पुरुष यदि 'नर' है तो उसे 'नरत्व' के गौरवको समझना है । नारीकी शालीनताको कलुषित करनेका उसे कोई अधिकार नहीं ।

गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करते हुए प्रतिज्ञाविधिको पूर्ण करनेके पश्चात् वर और वधू 'सप्तपदी' का अनुष्ठान करते हैं। दोनोंका पाणिग्रहण हो चुका होता है। गठजोड़ा करके दोनों यज्ञवेदीकी उत्तर दिशाकी ओर सात पग चलते हैं। नारी और नर दोनों समानाधिकारसे सुभूषित होकर निम्न-लिखित सात वचन बोलते हैं—**१. इषे एकपदी भव**—ऐ देवि ! तेरा पहला पग इस हमारे नूतन ज्येष्ठाश्रममें विपुल अन्नको लानेवाला हो। **२. ऊर्ज्जे द्विपदी भव**—तेरे दूसरे पगके साथ हम दोनोंकी कायामें शक्तिका संचार हो। **३. रायस्पोषाय त्रिपदी भव**—तुझ कन्याके शुभागमनसे हमारे गृहमें धन-धान्यकी, पुष्ट स्वास्थ्यकी न्यूनता न रहे। हम दोनों धन-धान्यसम्पन्न हों और नीरोग, निरामय और स्वस्थ हों। **४. मयोभवाय चतुष्पदी भव**—शुभे ! तेरे और मेरे चतुर्थ पदके साथ-साथ हमारे गृहमें सुख-शान्ति, सद्भावना, सत्प्रेरणा तथा सुमतिका संनिवेश होता चले। यथार्थ है यह वचन—अन्न, शक्ति, धन, स्वास्थ्य होते हुए भी यदि पारस्परिक विचारोंमें सामञ्जस्य नहीं—ऊहापोह, तर्क-वितर्क, मतिवैषम्य, विरोधी विचार हृदयमें बसे हुए हों, तो भी विवाह–विशेष रूपसे मानव-जीवनके भारको वहन करना दूभर हो जायगा। आगे पञ्चम पग उठाते हुए दोनोंने समस्वरसे प्रार्थना की—**५. 'प्रजायै पञ्चपदी भव—सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः'** ऐ कल्याणि ! हमारा सदन पुत्रोंकी कलकलसे रमणीय बन जाय। **'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्'** संततिहीन गृह शून्य काननके समान अप्रिय प्रतीत होता है। इस सद्भावनासे उठते हुए हमारे पाँचवें पगमें परमात्मासे प्रार्थना है कि वह हमें पुत्रवान् बनाये; वे संतानें भी सुशिक्षित, विनयशील, सद्गुणग्राही और आयुष्मान् हों–अपने वंशकी कीर्त्तिको विश्वमें प्रसारित करनेवाली हों और तू सदा मेरी आज्ञाकारिणी रहना। हम दोनों एक ही व्रतके पालक बनें। **६. ऋतुभ्यः षट्पदी भव**—तेरा छठा कदम हमारे कुलोंमें समस्त ऋतुओंके सौख्य तथा समृद्धिको भरनेवाला हो। और यह हमारा सप्तम पद **७. सखे सप्तपदी भव**—आजसे हम दोनों पावन मैत्रीके शुचि बन्धनमें आबद्ध होते हैं। हम दोनोंका नाता पति-पत्नीका तो हुआ ही; किंतु इस पवित्र सम्बन्धमें जो आत्मा कार्य करेगी, वह होगी सन्मैत्रीकी। हम अपनी इस जीवन-नैयाके आजसे केवट हुए। सुख-दुःखमें, हानि-लाभमें, मानापमानमें, पाप-पुण्यमें और धर्माधर्ममें समान भागी होंगे। हमारा सम्बन्ध दास-दासीका-सा नहीं है–स्वामी और सेविकाका भी नहीं, सन्मित्रताका है, जो मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और जनकनन्दिनी सीताका था, जिस नातेमें योगेश्वर श्रीकृष्ण और पतिव्रता रुक्मिणी जीवनभर आबद्ध रहे। यह है उदात्त गृहस्थ-जीवनकी एक आधारभूत झाँकी। परिणय हो जानेके उपरान्त भी जिन्होंने इन सात प्रतिज्ञाओंकी मर्यादाको सँभाला, वे गृहस्थमें भी शान्त, सुप्रसन्न और मानव रह सके।

'साप्तपदीनं सख्यम्'—पाणिनि। मित्रता सात पद चलनेसे दृढ़ हो जाती है। **'सख्यं सतां साप्तपदीनमुच्यते'**—रघुवंश कुम्भोदर सिंहराजकी यह उक्ति है महाराजा दिलीपके प्रति—सज्जनोंकी मैत्री सप्तपद चलनेसे सुदृढ़ समझी जाती है। विवाह-विधिमें—

'कन्या भवति वै नारी, विवाहात्सप्तमे पदे'—सप्तपदीके प्रकरणमें सातवाँ पग भरनेसे पूर्वतक कन्या कन्या रहती है—'नारी' पदकी अधिकारिणी नहीं होती। इससे भी इसी तथ्यकी पुष्टि हो जाती है कि गृहस्थ-जीवनमें जो अशान्तिका बोल-बाला है—उसका मूल कारण मित्रताके धर्मको न निभाना है।

गृहस्थ-जीवनमें ही मानवको अपना छोटा-सा संसार बसाकर विराट् ब्रह्माण्डमें कार्य करती हुई सम्पूर्ण प्रक्रियाओंका एक संक्षिप्त संस्करण मिल जाता है। एक ही परिवारमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिके भिन्न-भिन्न खिलौने आ इकट्ठे होते हैं। कई आत्माएँ पुत्ररूपमें पहुँचकर सत्त्वगुणकी सुषमा बखेर देती हैं। कोई आत्मा रजोगुणमें लिपटी हुई कन्या बनकर अपनी आडम्बरप्रियताका प्रकाश कर रही होती है। कोई आत्मा तमोगुणमें समाच्छन्न हुई उस परिवारका सदस्य आ बनती है और आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा, अज्ञान, अविवेक, गर्व, दम्भ, दर्द और अनास्थाका तिमिर-जाल फैलानेमें प्रवण रहती है। गार्हस्थ्य आश्रम तो एक ऐसा रंगमञ्च-सा बन जाता है, जिसपर दसों रसोंका आकर्षक अभिनय समय-समयपर चलता रहता है। कभी शृङ्गार-रस अपनी छटामें उन्मत्त होता है तो दूसरी ओरसे रौद्र, करुण, शान्त रसोंकी वृष्टि होने लगती है। कभी बीभत्सका उन्मुक्त ताण्डव होने लगता है और क्रोध आकर दनदनाता है। हाँ, मेघमालामें जिस प्रकार सौदमनी प्रवेश करके अपनी दिव्य कान्ति क्षणभरके लिये दिखला जाती है, वैसे ही मञ्चपर हास्य-रसकी मधुर रेखा भी एक बार झाँक जाती है। कभी वही परिवार इतना भयङ्कर रूप धारण कर लेता है जो भाई-भाईको

नोचनेको तत्पर है। बहिनें माता-पिताको खरी-खोटी सुनानेमें नहीं लजातीं। न्यायालयोंमें जाकर एक दूसरेपर कीच उछालने-तककी नौबत आ जाती है। यह सब प्रकारका नाटक गृहस्थ-जीवनमें ही सम्भव होता है। अनेक पात्र एक ही अन्नसे पलनेवाले, एक ही वातावरणमें पोषित हुए, पारस्परिक रहस्योंको बहुत अंशतक समझनेवाले, अपनी-अपनी अहमहमिकामें निमग्न गृहस्थ-जीवनके प्रशान्त गगन-मण्डलको कभी भी प्रसन्न नहीं रहने देते। विशेषरूपसे आधुनिक विज्ञानप्रधान युगमें, जब कि अर्थ और कामका साम्राज्य उन्मुक्त हुआ फैलता-सा जा रहा है, निरंकुशताके पौ बारह हो रहे हैं, राजसी और तामसी प्रवृत्तियोंको छूट मिली हुई है। वराकी शान्तिकी प्रतिमा क्या करे—मौन, मूक, निस्तब्ध-सी बनी एकटक निहार रही है दानवताके रंगमें रँगी हुई मानवताको।

गृहस्थ-आश्रम तो वस्तुतः वह आकर है, जिसमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी, परिपूत सद्गृहस्थ, विशुद्धात्मा वानप्रस्थ और अग्निमय तेजस्वी संन्यासी आत्मनिर्माण किया करते हैं। मानवताका शुचि मुक्ताकण गृहस्थकी ही शुक्तिमें निर्मित हुआ करता है।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
(मनुस्मृति)

पर्वत-मालाओंसे विनिस्सृत होकर जैसे अशेष सरिताएँ कलकल करती हुई सागरमें जाकर शान्त होती हैं, वैसे ही शेष तीनों आश्रमोंके व्रतधारी नर-नारी गृहस्थियोंके द्वारसे अवलम्ब पाते हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, परिव्राजक—तीनों भिक्षोपजीवी हैं। और भिक्षा देनेके एक मात्र अधिकारी सद्गृहस्थ ही होते हैं। तीनों उसीके द्वारपरसे आजीविका जुटाते हैं।

जिस भाँति पवन हमारे प्राणोंका आधार रहता है, वैसे ही अन्य-आश्रमी जीव गृहस्थका आश्रय पाकर अपनी जीवन-यात्राको चलानेमें समर्थ होते हैं। **तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही**—अतएव गृहस्थाश्रम सबका मूर्धन्य हो योगी, यति, तपस्वी, सम्राट, परिव्राट्, शिल्पकार, चित्रकार, लेखक, विद्वान्, परमसिद्ध, मुनीश्वर, श्रमण, वैखानस, ऐश्वर्यशाली, दरिद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—मानव-समाजके सब प्रकारके अङ्ग प्रत्यङ्ग इसी गृहस्थ-आश्रमकी उपज होते हैं। धूर्त्त, पिशा तस्कर, कुटिल, धीर, वीर, गम्भीर—सभीका सृजन इसी मू होता है। इतना गौरवास्पद तथा प्रतिष्ठा-भाजन है यह आश्रम राष्ट्रकी उन्नति और अवनतिके प्रतीक हैं ये गृहस्थाश्रम— ऐसा भी कह दिया जाय तो इसमें अत्युक्ति न होगी।

इतनी मान्यताका पात्र यह गृहस्थ-जीवन अब अर्थ औ कामके कर्दममें सना हुआ शोचनीय दशामें चीत्कार कर है। राग-द्वेषकी होली खेली जाती हो एक दूसरेपर अवि है। सहृदयता, सद्भावना और उदारता किनारा किये जा हैं। इस सब नारकीय स्थितिके नीचे तीन हैं महापातकी, तीन ओरसे गृहस्थ-जीवनकी सौम्य और सौम्यमयी सुष निगीर्ण करते जा रहे हैं। इन तीन जघन्य पापियोंको नरक द्वार कहा गया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध और लोभ नरकके द्वार हैं। जिस गृहस्थ अधोगति प्रिय नहीं, जिसे कोटि-कोटि पुण्योंके प्रभावसे मानवजन्म प्राप्त हो गया है, वह इन तीनोंको तिलाञ्जलि देनेका प्रयत्न करे।

धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
(महाभार

यद्वान्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन॥

उस कर्तव्यको अकर्तव्य मानो, जिससे आत्म-द बाधा आती हो। वह तो कुमार्ग है, उपादेय कार्य नहीं। कृत्य सर्वथा परित्याज्य है, जिसके पालनसे जन-कल्याण होता अथवा जिसके अनुष्ठानसे पश्चात्ताप, ग्लानि हृदयमें लज्जाका उदय हो आता है।

सद्गृहस्थका यह ध्येय होना चाहिये—

सदयं हृदयं यस्य भाषितं यस्य भूषितम्।
कामः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥

जिसके हृदयमें दयाका भाव अधिष्ठित हो। व सरसता हो। उसकी भावनाएँ लोकसंग्रहका ध्यान हों। उस गृहस्थ-जीवनमें पाप-तापका प्रवेश नहीं करता।

क्रोधः शत्रुश्शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति देवास्तं ब्राह्मणं विदुः ॥
न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः ।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहिनीम् ।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥

नरको नारायणत्व किन दशाओंमें अधिगत हो सकता है; इसका रुचिर चित्रण इन उपरिलिखित श्लोकोंमें किया गया है।

'ऐ कुलीन द्विजश्रेष्ठ ! मानवके देहमें क्रोध एक प्रबल शत्रु है; जो क्रोध और मोहका त्याग कर लेता है, वह अतिमानव हो जाता है। विश्वके समस्त जीवोंके प्रति जिसके सात्त्विक अन्तर्मानसमें निष्पाप कालुष्यशून्य शुभ्र भाव-तरङ्गें आन्दोलित हुआ करती हैं और जिसके मन, वचन और कर्ममें अनवरत समत्व विराजमान होता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। जिससे नारायणत्व-पदकी प्राप्ति हो सकती है—वह सत्कर्म है मनोविनोदिनी ईर्ष्याका परित्याग कर देना, अपने मनका परिनिमज्जन, मोह और कामको आत्मसत्ताके आनन्दमें चरम नमस्कार कर देना।

इसी वसुधातलपर स्वर्गीय सुखोंका जहाँ अनुभव हो सकता है वहाँ नारकीय दशाओंमें ग्रस्त प्राणियोंको भी देखा जा सकता है। तत्त्वदर्शियोंके ये वचन मिथ्या नहीं:—

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि भवन्ति देहे ।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च ॥
अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम् ।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा
चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम् ॥

इस अवनीतलपर उन सद्गृहस्थोंको स्वर्गसुखोंमें रमा हुआ जानना चाहिये, जिनमें दानशीलता है, मधुर वाणीमें वार्तालाप करनेकी प्रवृत्ति है, विद्वज्जनका जो सम्मान करते हैं और परमात्मनिष्ठ, वीतराग मुनिजनोंके प्रति जिनके हृदयमें आस्था रहती हो। इसके विपरीत—वे गृहस्थ मानव वस्तुतः नारकीय जीवन यापित करते हैं, जिनमें प्रचण्ड क्रोध विद्यमान है, जिनकी वाणी कर्कश है, जो कृपण और गुणविहीन हैं, स्वकीय बन्धुजनोंसे जिनकी कभी पटती न हो, जो सदा उनसे ३६ बने रहते हों; नीच निकृष्ट लोगोंकी सेवा जिन्हें प्रिय लगती हो।

गृहस्थ-जीवन तो दूसरी मंजिल है। 'शतायुर्वै पुरुषः'—मनुष्यकी आयुका परिमाण न्यूनतम सौ वर्षका हो। इन संवत्सरोंको चार आश्रमोंमें व्याप्त कर देना चाहिये। ब्रह्मचर्य चौबीस, गृहस्थ चौवालीस; जीवनके अड़सठवें वर्षमें प्रवेश करके एक सद्गृहस्थ, जो मुमुक्षु हो, शेष जीवन लोकसंग्रहमें व्यतीत करे। विश्व-परिवारोंका सदस्य अपनेको बनानेका प्रयास करे। इस उच्च आदर्शतक पहुँचनेके लिये वह अपने गृहस्थ-कालमें अधस्तन तीन उदात्त लक्ष्योंपर अजस्र दृष्टि रखता रहे और इन्हें आत्मसात् कर ले— १. यज्ञ, २. दान, ३. तप।

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'—श्रीमद्भगवद्गीता। मननशील मानवको यज्ञमय, दानशील तथा तपोनिष्ठ जीवन बना लेना चाहिये।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

विश्वपतिने समग्र प्रजाजनोंका सृजन करके उनसे कहा—'ऐ प्राणधारियो ! तुम्हें मैंने यज्ञ-भावनासे अनुप्राणित कर दिया है। यदि तुम्हारी इस त्रिगुणमयी सृष्टिमें सुख-शान्तिसे जीवन-यापन करनेकी अभिलाषा है तो सदा यज्ञशील रहना। स्वार्थ-परायणतासे दूर, निःस्वार्थ, निष्काम, लोक-कल्याणकृत् होकर सम्पूर्ण कामनाओंको परिपूर्ण कर लोगे—यही अच्छी संजीवन-वटी है।

आजका मानव इसी स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित किये जाने योग्य सार्वजनीन नियमको विस्मृत किये जा रहा है। प्रत्येकको अपनी चिन्ता पहले निगले जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँचों नित्यके महाव्रत उदस्त हो रहे हैं। इनका स्थान यदि हिंसा, अनृत, चौर्य, असंयम और भोगलोलुपता लेती चली जाती हो तो क्यों अवसन्न हों हम।

गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग किसी सुदूर देशसे उठाकर नहीं लाना है, मानवके अन्तःकरणमें उसकी एक-एक कड़ी बिखरी पड़ी है। उसे सँजोना सीखें। पथपर अड़ी हुई कुसंस्कारोंकी प्रगाढ़ धूलिको परिमार्जित कर लें। इसका एक अत्यन्त रमणीय, सरल, सुलभ, संक्षिप्त और क्रियात्मक साधन है—

'प्रत्येक पदार्थको जो भी हमारे उपयोगमें है, आ चुका है, आयेगा, उसे परम शक्तिकी—परात्पर परब्रह्मकी धरोहर समझें ।' यह विचार कल्पना-प्रसूत न होकर अंशतः, नहीं सर्वांशतः यथार्थ है। अपनी ममता ही संसारकी निस्सारताको हमसे तिरोहित कर देती है।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥
ममेति दुःखमूलं हि निर्ममेति च निर्वृतिः ।
शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषके ॥

इस विश्वमें चेतन आत्माका अपना है ही क्या ? कुछ भी तो नहीं। न यह अन्तःशरीर और न यह बाहरका स्थूल देह। जड और चेतनमें एक ग्रन्थि बँध गयी है—अपनी हमारी अविद्यासे। उसके कारण ही यह जीव निजरूपसे अनभिज्ञ-सा हो गया है, अज्ञान-तिमिरमें जा कूदा है—उसीमें ठहरा हुआ इच्छा कर रहा है कि मेरी वह गाँठ खुल जाय। व्रत, उपवास, सत्संग, देवाराधन, अनुष्ठानादिके द्वारा हाथ-पाँव भी पटकता है—कदाचित् वह ग्रन्थि सुलझ जाये। परंतु अज्ञानावृत जीव अकेला भी तो नहीं—है भी गृहस्थी, चारों ओरसे अनेकों ममता-पाशोंसे विनिबद्ध। वह गाँठ दिन-दिन उलझती जाती है। वह तो तब खुल सकेगी, जब प्रथम प्रकाशका प्रबन्ध करे—उस ग्रन्थिके रूपको चीन्हे—कौन-सी गाँठ सर्वोपरि है, जिसे सबसे पहले खोला जाय। पुनः आगे चले। और वर्तमानमें न तो रही वह वर्णव्यवस्था न विद्यमान है आश्रम-व्यवस्था—सब अटकल पच्चूका काम हो रहा है। यह हृदय-ग्रन्थि बँधी-बँधी रह जायगी और हमें विवश होकर निर्वाण-पदके द्वारसे कहीं विदूर देशमें चले जाना होगा।

ॐ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(यजुर्वेद ४०)

उन अन्धकारपूर्ण लोकोंमें उन्हींको स्थान मिलता है, जिन्होंने न आत्म-दर्शन किये होते हैं और जो न उस ग्रन्थिको खोल पाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

जिन आत्माओंने परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लि होता है, उनकी यह हृदयमें पड़ी हुई अविद्याकी ग्रन्थि स्व उन्मुक्त हो जाती है; परंतु जो गृहस्थ—

यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥

जिस मनुष्यने मानवदेह प्राप्त करके इस उन्मुक्त मुक्तिके द्वारमें प्रवेश नहीं कर लिया और घरकी आसक्तिमें जीवनभ फँसा रहा, उसे तत्त्वद्रष्टा आरूढ-च्युत अर्थात् अधरमें लट हुए त्रिशंकुका दर्जा देते हैं।

अतः पदार्थमात्रको अपना न समझे, न समझे और समझे। सब किसी पदार्थको औरकी धरोहर मात्र जाने उसका संरक्षण, पोषण, सदुपयोग चिन्तापूर्वक करे—कि मनमें यही भावना बसी हुई हो कि यह सब कुछ मेरा नहीं मुझे जिसका है, उसे शीघ्रातिशीघ्र लौटाना है। योगेश्वर श्रीकृ अर्जुनसे परम शान्तिका एक ही सदुपाय बतलाते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

ऐ अर्जुन ! चारों ओरसे लबालब भरे हुए महार्णवके जिस तरह समस्त नदियाँ स्व-प्रवेश किया करती हैं— सागर कभी उन जलधाराओंसे जलकी याचना नहीं करता— वैसे ही जो मानव, चाहे वह किसी आश्रममें हो, संसारकी कामनाओंका लिप्सु नहीं होता प्रत्युत सम्पूर्ण कामनाएँ जि पुरुषकी अभीप्सा करती रहती हैं—वही नैष्ठिक शान्तिक भाजन बन सकता है, अन्य नहीं।

जो पुरुष वीतराग होकर अशेष कामनाओंसे कुट्टी करके मोह और ममताको एक ताकपर रखकर विश्वमें विचर करता है, 'शाश्वती शान्ति' उसका स्वतः वरण करती है **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।**

* * *

नाम-स्मरणका प्रभाव

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

काशीसे छः-सात मीलकी दूरीपर 'सारनाथ' नामका सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। वहाँ प्रतिवर्ष श्रावण मासके प्रत्येक सोमवारको बहुत बड़ा मेला लगता है। मेलेमें जानेवाले लोग सारनाथके सुप्रसिद्ध शिवजी (सारनाथ महादेव) के दर्शन करते हैं।

सन् १९३८ की बात है। मैंने तथा मेरे कतिपय मित्रवर्गने श्रावण मासके चतुर्थ सोमवारको सारनाथ चलनेका निश्चय किया। सारनाथमें मेरा एक बगीचा है। सबकी सम्मति थी कि 'मेलेसे एक दिन पूर्व रविवारको सारनाथ बगीचेमें चला जाय, वहीं रात्रिमें भोजन और विश्राम किया जाय और दूसरे दिन सोमवारको सारनाथ महादेवके दर्शनकर वापस लौट आया जाय।' निश्चित योजनानुसार हमलोग यथासमय सारनाथ बगीचेमें पहुँच गये। वहाँ पहुँचनेपर मालूम हुआ कि 'सारनाथमें हैजेका प्रकोप है, जिससे अनेकों मनुष्य मौतके घाट उतर चुके हैं।' हैजेका नाम सुनकर एक बार तो सभीका चित्त डाँवाडोल हुआ, परंतु भगवान्का स्मरणकर सभीने वहाँ ठहरनेका ही निश्चय किया। पश्चात् सब लोग अपने-अपने गोरखधंधेमें लग गये। रात्रिमें भोजनादिसे निवृत्त होकर सब लोग शयनोन्मुख हुए।

दूसरे दिन सोमवारको प्रातःकाल सभी लोग अपनी-अपनी शय्या त्यागकर सोत्साह अपने दैनिक कर्ममें लग गये; परंतु मैं खिन्नमनस्क पलंगपर लेटा हुआ मन्द-मन्द उदर-व्यथासे पीडित तथा हैजेकी कल्पनासे भयभीत हो रहा था। फिर भी मैंने अपने रोगको विशेष महत्त्व नहीं दिया और मैं प्रतिदिनकी तरह स्नानादि नित्यकर्ममें लग गया। नित्यकर्म समाप्त होनेके बाद दिनमें १२ बजे होंगे, उसी समय किसीने आकर कहा—'भोजन तैयार है।' मैंने अस्वीकार कर दिया; परंतु मित्रोंके प्रेमाग्रहके कारण मुझे थोड़ा-बहुत भोजन करना ही पड़ा। भोजन करनेके दो घंटे बाद ही मेरी शारीरिक अवस्था बिगड़ने लगी। सायंकाल ६ बजते-बजते रोगने उग्र रूप धारण कर लिया। लोगोंसे मालूम हुआ कि मैं हैजा (विसूचिका) जैसे प्राणान्तक रोगके चंगुलमें फँस गया हूँ। 'हैजा' का नाम सुनते ही मेरे सभी मित्र बहुत घबराये और तत्काल मेरी परिचर्यामें लग गये। उस समय सारनाथमें डाक्टर, वैद्यका सर्वथा अभाव था। इसलिये सभी लोग अपने-अपने अनुभवपूर्ण औषधोंका प्रयोग करने लगे; किंतु मेरे स्वास्थ्यमें कुछ भी सुधार न देखकर एक महाशय समीपके 'आशापुर' नामक गाँवसे ५) रुपये किरायेमें कठिनतासे एक टूटा-फूटा जीर्ण-शीर्ण देहाती एक्का ले आये, उसीपर मैं काशी चलनेके लिये पाषाणवत् अचेतन-सा बैठ गया। मेरे रक्षार्थ दो व्यक्ति मेरे साथ थे। उस समय रात्रिके १० बजे थे। चारों ओर भयंकर संनाटा छाया हुआ था। वर्षा ऋतुके कारण उमड़े हुए काले-काले बादलोंके मध्यमें चन्द्रमाके छिप जानेसे रात्रि भयंकर मालूम होती थी। ऊबड़-खाबड़ कच्ची-पक्की सड़कको कठिनतासे पार करता हुआ एक्का हमलोगोंको काशी ले आया। हम लोग अपने घर पहुँचे, उस समय रात्रिके १२ बज चुके थे। घरके सभी लोग निद्रा-देवीकी गोदमें निश्चिन्त होकर पड़े हुए थे। मेरी बीमारीकी सूचना पाकर सब लोग जाग गये। तत्काल काशीके कई अच्छे-अच्छे डाक्टरोंको बुलाया गया। आये हुए सभी डाक्टरोंकी सम्मतिसे दवाकी व्यवस्था हुई। डाक्टरोंके वापस जाते समय उनसे मेरे श्रीपिताजी (स्व० म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड़) ने पूछा—'रोगी कैसी हालतमें है?' उन लोगोंने उत्तर दिया—'अभी रोग काबूके बाहर है, १२ घंटे-बाद कुछ कहा जा सकता है।'

इस संशयग्रस्त उत्तरसे सभी लोग घबरा गये और मेरे कल्याणार्थ मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करने लगे। मुझे दवा बार-बार दी जा रही थी, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' यह कहावत सत्य चरितार्थ हुई।

मेरे शरीरका यह हाल था कि शरीरका अङ्ग-अङ्ग अकड़ गया था, लघुशङ्का बंद हो गयी थी, प्यास चरम सीमा-

पर पहुँच चुकी थी, नाड़ी जवाब-सी देने लगी थी और चेतना-शक्ति भी लुप्तप्राय होने लगी थी। ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे आत्माने अंशतः परलोक प्रयाण करना प्रारम्भ कर दिया है। इन सब बातोंसे मैंने अपने जीवनकी आशा छोड़ दी और मैं कवि कालिदासके—

'परलोकजुषां स्वकर्मभि-
र्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।'
(रघुवंश ८ । ८४)

—इस पदकी चिन्तना करने लगा। इसी मध्यमें मुझे 'जबतक साँस तबतक आश' का स्मरण हो गया। इसके स्मरण होते ही मैंने तत्क्षण जीवनकी आशारूपी नौकापर सवार होकर अकाल-मृत्युरूपी भवसागरसे पार होनेके लिये अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसे—

'श्री राम जय राम जय जय राम'

—इस तेरह अक्षरवाले भगवन्नामके महामन्त्रका स्मरण प्रारम्भ कर दिया। भगवन्नामस्मरणके एक या दो घंटेके बाद ही गीताके—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'।

—इस वचनके अनुसार की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेवाले भक्तोंकी रक्षा करनेवाले सर्वव्यापी भगवान्की कृपासे मेरा मस्तिष्क काम करने लगा और स्वास्थ्यमें भी सुधार होनेका श्रीगणेश मालूम होने लगा। गीताके 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' के अनुसार मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि—'भगवान् मेरे साथ हैं और उनका वरद हस्त मेरे मस्तकपर विराजमान है। अतः निश्चित ही भगवन्नाम-स्मरणसे मुझे जीवन-दान प्राप्त होगा।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा तथा भगवान्के निरन्तर नाम-स्मरणसे मैंने बहुत शीघ्र अकालमृत्युको जीत लिया। 'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्' के अनुसार प्राणरक्षा होनेपर मुझे सर्वदाके लिये भगवान्के नामस्मरणपर पूर्ण विश्वास और भरोसा हो गया। मैं उस समयसे नामस्मरणका विशेष अभ्यासी बन गया हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि—'भगवान्के नाम-स्मरणके प्रभावसे मनुष्य कठिन-से-कठिन आपत्तियोंसे निश्चित मुक्त हो सकता है।'

* * *

भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है

मेरा घर एक छोटे कस्बेमें है। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त हुआ ही था कि घरके बाहरसे किसीने जोरसे आवाज दी। स्वर अपरिचित था; अतएव उत्सुकताके साथ बाहरकी ओर बढ़ा। देखा—एक पुलिस-अधिकारी चार सिपाहियोंके साथ खड़े हैं। सिपाहीमात्रको देखते ही मेरे होश गुम होने लगते थे; आज पुलिस-अधिकारीको चार सिपाहियोंके साथ देखकर तो मेरा सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया और हृदय बड़े वेगसे धड़कने लगा। पर पुलिस-अधिकारीने बताया कि वे मेरे मामाके मित्र हैं और उस नाते वे मुझे अपना भानजा मानते हैं। इस स्नेह-सम्बन्धसे ही वे हमारे कस्बेमें आते ही पहले-पहल मुझसे मिलने आये हैं। मेरी धड़कन शान्त हो गयी, मुखपर प्रसन्नता छा गयी और मैंने दौड़कर पुलिस-अधिकारीके चरण-स्पर्श किये। सिपाहियोंने मुझे नमस्कार किया। पुलिस-अधिकारी अब बराबर मेरे घर आते हैं और मैं उनके घर जाता हूँ। थानेभरके सब सिपाही मेरे मित्र हो गये हैं; जहाँ भी किसी सिपाहीसे भेंट होती है तो वह सेवाके लिये पूछता है। मैंने अपने मित्रोंका भी परिचय थानेदार साहेब तथा सिपाहियोंसे करवा दिया है। अब वे लोग भी निर्भय एवं निःशङ्क विचरते हैं। मैं जबतक उन्हें भयानक मानता था; तबतक उनसे डर था। उन्होंने बतला दिया—हम तुम्हारे ही हैं और यह मानते ही मेरा भय भाग गया। इस घटनासे मुझे भगवान्के शब्दोंपर विश्वास हो चला है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'—'मैं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित सहज प्रेमी) हूँ,—इतना जाननेमात्रसे मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' भगवान् जब मेरे सुहृद् हैं, तब अब मुझे किससे भय ? पाप, ताप, शोक, मोह, अज्ञान, निराशा, विफलता, अशान्ति—कोई भी मुझे भयभीत नहीं कर सकते; अब तो मैं इन सबके ऊपर पैर रखता हुआ अपने सत्पथपर बढ़ता जाता हूँ और अपने सम्पर्कमें आनेवालोंके भी पाप-ताप आदि नष्ट करनेका प्रयास करता हूँ।

भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भयतासे छलक रहा है।

कृष्ण—

योगवासिष्ठकी राज्य-मोक्षप्रदायिनी प्राणायाम-साधना[1]

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा ।
एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋचे[2] इत्येव विद्यात् ।
(ऐत० २ । २ । १०, प्र० १२१)

भारतकी आजकी अपनी उलझनें पर्याप्त हैं। इसपर भी हम देखते हैं कि इसका अपना संस्कृत-वाङ्मय विश्व-स्तुत्य है। उसमें भी उसके योगवासिष्ठ महाग्रन्थका तो निराला स्थान-मान है। योगवासिष्ठमें निगूढ़ ज्ञान और योगके रहस्य भरे हैं। यहाँ उसकी विज्ञान-दुर्लभ और शास्त्र-दुर्लभ प्राणायाम-साधनापर कुछ विचार किया जाता है।

वह विज्ञान-दुर्लभ इसलिये है कि विज्ञानमें इस क्षणतक प्राणायामका ठीक-सा नामकरण-संस्कार भी नहीं हुआ है। फिर चाहे वह आकाश-पातालको ही नापता क्यों न रहे।[3] शास्त्र-दुर्लभ होनेका कारण यह है कि योगवासिष्ठके मतसे अभ्युदय-प्राण-राज्य और आत्मधन मोक्ष उसके अपने केवल प्राणायामसे ही प्राप्त हो जाते हैं। प्राणायाम-साध्य इन दोनों लाभोंपर उसकी अपनी समुद्घोषणा है—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ ६ ॥
(योगवासिष्ठ ६ (२) ८० । ३५)

अर्थात् प्राणायाम-साधनासे राज्य और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं; परंतु होते हैं वास्तविक योगात्मक गुरुदत्त प्राणायाम-साधनासे।

प्राणायाम-साध्य तथा कथित दोनों तथ्योंपर यहाँ निम्नलिखित शीर्षकोंके प्रश्रयमें विचार-विमर्श करनेका प्रयत्न किया जाता है—

१—प्राणायाम-साध्य—राज्य-प्राप्ति[4] ।
२—प्राणायाम-साध्य—मोक्ष-प्राप्ति ।

१—यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्य है कि शक्ति जीवन है। जीवन-संग्राम शक्तिपर ही आश्रित है। जीवन-व्यापारको सुचारुरूपसे चलानेवाली तो बुद्धि-शक्ति ही है। दण्ड-शक्तिकी महिमा भी अपार है। शासन-प्रशासन तो दण्ड-शक्ति-प्राण ही है। सुरासुरतक दण्ड-शक्तिसे ही प्रभावित और शासित होते हैं।

तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ मनुः ॥

यह कहना भी सत्य है कि शक्तिका सम्बल प्राणशक्ति ही है।

या देवी सर्वभूतेषु प्राणरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥ (दुर्गासप्तशती)

हम तो समझते हैं ब्रह्म-तेज (ब्रह्म-बल) क्षत्रियबल-विनिन्दक विश्व-व्यापिनी[5] प्राणायाम-साध्य राज्यप्राप्ति-मूलक प्राणशक्तिका ही लघुतम रूप है। शक्तिमूलक इसी ब्रह्मतेजपर[6] महाभारतमें राजर्षि विश्वामित्र कहते हैं—

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्[7] ।

प्राण-शक्ति-सम्पृक्त यह बात भी विचारणीय है कि यह पिण्डगत प्राणशक्ति और ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिका आपसमें अविभाज्य सम्बन्ध है। ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिका लघुरूप देह-पिण्डगत प्राणशक्ति है और देह-पिण्डगत प्राणशक्तिका बृहद्रूप ब्रह्माण्डगत प्राणशक्ति है[8]; परंतु प्राणायामके माध्यमसे देहपिण्डगत प्राणशक्तिद्वारा ब्रह्माण्डगत प्राणशक्ति प्रभावित और संचारित होती है।

अब कदाचित् यहाँ यह प्रश्न हो कि प्राणायाम-साध्य प्राणशक्तिके महत्त्वका परिचायक कोई प्रमाण अथवा उदाहरण भी है? इसका सदुत्तर श्रीमद्भागवतमें राजकुमार ध्रुवकी तपस्याके प्रकरणमें इस प्रकार मिलता है—

लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ८०)

यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि संगतात्मा[9] ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ८२)

---

[1] प्राणायाम, प्राणशक्ति-विकास और राज्यप्राप्तिका पारस्परिक समानतः भाव-सम्बन्ध है।

[2] जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

[3] आजकल स्पूतनिक काल तो चल ही रहा है, परंतु पृथिवीकी पाताल-स्पर्शी खुदाई भी चालू है।—धर्मयुग

[4] प्राणायामका अर्थ है प्राणोंका संयम। प्राणायाममें सिद्ध होनेपर हमारे लिये मानो अनन्त शक्तिका द्वार खुल जाता है। प्रकृतिको वशीभूत करनेकी शक्ति प्राप्त करना ही प्राणायामका लक्ष्य है। (स्वामी विवेकानन्द)

[5] सर्वं हीदं प्राणावृतम् ।(वेद)

[6] प्राणो भवेत् परं ब्रह्म जगत्कारणमव्ययम् । (वैदिक ग्रन्थ)

[7] क्षत्रिय-बलको धिक्कार है। बल और शक्ति तो ब्रह्मतेज ही है।

[8] सूर्योदयमें 'चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। 'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे ब्रह्माण्डे सो पिण्डे'का भी यही तात्पर्य है।

[9] ध्रुवजीके प्राणनिरोधसे उनके देह-पिण्डगत प्राणसे समष्टिगत प्राणकी अभिन्नता हो जानेके कारण सभी जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया।

इस विषयमें यह बात भी समधिक उल्लेखनीय है कि आज भी भारतीय गिरिगुहाओंकी ज्ञान-सदृश योग-शालाओंमें प्राणोपासनाके उपासक विद्यमान हैं। योगिराज श्रीविशुद्धानन्दजी परमहंस भी प्राणायाम-साध्य प्राण-निरोध-साधनाके विशेषज्ञ थे। महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्० कृत श्रीश्रीविशुद्धानन्द-प्रसङ्ग ग्रन्थमालामें उसका एक उदाहरण है।* स्वर्गीय स्वामी श्रीविवेकानन्दजीने प्राण-शक्तिपर बोलते हुए अमेरिकामें अपने भाषणमें एक बार कहा था—

जब साधक प्राण-शक्तिको समझ लेता है और उसपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है, तब सूर्य और तारोंको उनके अपने स्थानसे विचलित कर सकता है। इतना ही नहीं अपितु परमाणुसे लेकर बड़े-बड़े सूर्योंपर उसका आधिपत्य हो जाता है। स्वामीजीके एतद्विषयक अपने शब्द ये हैं—

One understood the Prana perfectly, and could control it. what power on earth could there be that would be his. He would be able to move the sun and stars out of their places to control every thing in the universe, from the atoms to biggest suns because he would control the Prana.

यहाँ यह कहते हुए भी संतोष होता है कि अब आधुनिक पर-प्रत्ययनेयमति विद्वान् भी प्रकारान्तरसे इस प्राण-शक्तिपर विश्वास करने लगे हैं। प्रमाणार्थ एक विद्वान्के इस विषयके शब्द निम्नलिखित हैं—

All visible and invisible happenings in the universe are under the influence of cosmic impulse (the prana)†

यहाँ यह कहना भी अविकल सत्य है कि प्राणायाम-साध्य प्राण-शक्तिसे न केवल राज्य और बड़े-बड़े साम्राज्य अपितु सभी लोकालोक राज्योंपर भी साधकका नियन्त्रण हो सकता है।

२. प्राणायाम-साध्य—मोक्ष-प्राप्ति।

प्राणायाम-साध्य मोक्ष-प्राप्तिके दो प्रकार हैं—

(क) प्राणायाम-साध्य प्राण-मन-शान्ति और मोक्ष-प्राप्ति।

(ख) प्राणायाम-साध्य मल-विशुद्धि और मोक्ष-प्राप्ति।

प्राणायामद्वारा प्राणोंके संरुद्ध और शान्त हो जानेपर मन शान्त होकर आत्म-भावको प्राप्त हो जाता है। इसीका नाम योगवासिष्ठके मतसे परमपद और मोक्ष है। योगवासिष्ठकार इस सत्यको कितनी अच्छी शैलीमें समझाते हैं—

'पंखेकी हवाकी गति पंखेपर निर्भर है। पंखेके शान्त हो जानेपर हवाकी गति शान्त हो जाती है, वैसे ही मनकी गति प्राणोंपर निर्भर है। अतएव प्राणायामद्वारा प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त हो जाता है[10]।'

'द्रव्यकी छायाकी गति द्रव्यानुसारिणी है, तथैव मनकी गति भी प्राणानुसारिणी है; अतः प्राणायामद्वारा प्राणके शान्त होनेपर प्राणरूपी मन भी विलीन हो जाता है[11]।'

'प्राणायामद्वारा प्राणके संरोधित और शान्त होनेसे मन शान्त हो जाता है। मनके शान्त होनेपर संसार विलीन हो जाता है। यही मुक्ति और मुक्तावस्था है[12]। योगवासिष्ठकारका यह भी मत है कि—

'चैत्य (दृश्य) मुक्तचित्त (आत्मा) मन कहलाता है वही मन चैत्य (दृश्य) मुक्त होकर सनातन ब्रह्म कहलाता है[13]।'

योगवासिष्ठका यह भी स्पष्ट मत है कि—

प्रबुद्ध साधकोंका मन ब्रह्म ही है अन्य नहीं[14]

मोक्ष-प्राप्ति आत्मलाभ (मोक्ष) का प्रबल हानिकर कारण मल है जो स्वभावतः आत्मलाभ-विनाशक और आत्मभाव-विस्मारक है एवं मनुष्यको लक्ष्य-भ्रष्ट करनेवाला भी—

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम्।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्पते॥
(यो० वा० ३ । ९६ । २६)

किंतु प्राणायाम निसर्गतः मलनाशक और आत्मभाव प्रकाशक है—

प्राणायामेनैव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न सम्मतम्।[15]

---

* एक बार प्राणायामद्वारा जब स्वामीजीके साधना-कक्षका वायुमण्डल विक्षुब्ध हो गया था, तब उससे वहाँ एक छिपा हुआ मनुष्य आसन्न-मृत्यु हो गया; किंतु स्वामीजीकी कृपासे बच सका।

† संसारकी सभी दृश्य और अदृश्य घटनाएँ प्राणके आधिपत्यमें ही होती हैं।

[10] तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः॥
(यो० वा० ६ । (१) ६९ । ४१)

[11] प्राणच्छायो निरुच्छायां मनो राम विलीयते।
द्रव्यच्छाया नु तद् द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम्॥

[12] तस्मिन् संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः।
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते॥
(यो० वा० ५ । ७८ । १६)

[13] चेत्येन रहिता येषा चित् तद् ब्रह्म सनातनम्।
चेत्येन सहिता येषा चित् सेयं कलनोच्यते॥
(यो० वा० ५ । ३ । ५१)

[14] प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरम्। (यो० वा०)

[15] अनेक आचार्य तो मलनाश और आत्मभावका कारण एकमात्र प्राणायामको ही मानते हैं। किसी अन्यको नहीं।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्[१६]। (पा० यो०)
तपो न परं प्राणायामात्[१७]
ततो विशुद्धिर्मलानाम्[१८]
दीप्तिश्च ज्ञानस्य।[१९] (व्यासभाष्य)

यहाँ यह कहना भी असत्य नहीं है कि समानतः राज्य और मोक्षप्राप्तिका कारण योगवासिष्ठोक्त प्राणायामके सिवा दूसरा सहजमें दृष्टिगोचर नहीं होता। किस विज्ञसे यह बात छिपी हुई है—कि प्राणायामके वैशिष्ट्यका ही यह कारण है कि आर्य-संस्कृतिमें प्रातः, मध्याह्न, सायं दिनमें तीन बार संध्यावन्दनके समय प्राणायामका विधान है।

हम देखते हैं आज भी निष्कारण षडङ्गसहित वेदोंका अध्ययन करनेवाले भी लोकालोकसाधक और कुण्डलिनी शक्ति[२०]-विकासक प्राणायाम करते हैं और यह भी समझते हैं कि—

(१) प्राणायामके बिना संध्या निष्फल हो जाती है।

(२) प्राणायाम अनोखा बल और शक्ति है।

(३) जैसे अग्निद्वारा उत्तप्त होनेपर धातुओंका मल धुल जाता है, वैसे ही प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके समस्त दोष नष्ट हो जाते[२१] हैं।

(४) प्राणायामको करनेवाला साधक जो भी चाहे करे एवं कुछ भी खाये किंतु वह कर्तृत्व-दोषसे असंस्पृष्ट रहता है[२२]।

यहाँ उपसंहारमें इतना-सा कहना ही पर्याप्त होगा कि अभ्युदय-धन प्राण-विद्या समस्त लौकिक दुःखक्षयकरी और सौभाग्यशालिनी है एवं जीवनका कारण भी।

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी।
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता॥
(यो० वा० ६ (१) । १ । २४ । ८)

प्राणायाम-साध्य प्राण-विद्या लौकिक लाभके साथ-साथ पारमार्थिक लाभ और आत्मभावकी भी हेतु है—

निगीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ।
क्षणमस्तं गतप्राणमपानोदयवर्जितम्॥
(यो० वा० ६ (१) २५ । ५८)

अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः।
अयत्नसिद्धो ह्यन्तःस्थकुम्भकः परमं पदम्॥
(योग० वा० ६ (१) २५ । ५९)

एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैषा परमैव चित्।
एतत्तत्सदाभासमेतत् प्राप्य न शोच्यते॥[२३]
(यो० वा० ६ (१) २५ । ६०)

इस अयत्नसिद्ध प्राणायामका विश्लेषणात्मक और संतोषप्रद तथा विलक्षण एक सुखद प्रकार यह भी है—

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्।[२४]

इतनेसे योगवासिष्ठोक्त निम्नलिखित राजमोक्षमूलक प्राणायाम-साधना स्पष्ट हो जाती है—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव॥
(यो० वा० ६ (१) ८० । ३५)

---

[१६] प्राणायामद्वारा आत्मप्रकाशावरण दूर हो जाता है।

[१७] प्राणायामसे बढ़कर दूसरा तप नहीं है।

[१८] प्राणायामसे मल नष्ट होते हैं।

[१९] प्राणायामसे आत्मज्ञान होता है।

[२०] कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्। बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्त्तिता। सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

[२१] दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां तु यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

[२२] एते निरोधमायान्ति प्रकृत्यातिचलानिलाः। यत् करोति यदश्नाति द्रष्टैवात्मनुस्मरन्॥ योग० वा०॥

[२३] फलितार्थ यह है कि—
अयत्नसिद्ध प्राणायाममें प्राण-अपानके अभावकी दशाका नाम कुम्भक है। इस अवस्थामें साधकको आत्माके शुद्ध रूपका अनुभव होता है और वह क्लेशमुक्त हो जाता है।

[२४] जो साधक विधिवत् प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनके श्वासकी ऊर्ध्व-अधःगतिका शेष हो जाता है। प्राण उस समय सुषुम्णाके मध्यसे होकर मस्तकमें जाकर स्थिर हो जाता है। प्राणायामके द्वारा जब सुषुम्णामें प्राणोंकी गति होती है, तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसलिये योगियोंने चित्तस्थितिके लिये प्राणायामको सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है।
विशेष योगवासिष्ठगत प्राणायाम, प्राण-विद्या, प्राणशक्ति एवं मनस्तत्त्व द्रष्टव्य है। यह भी ध्यान रहे कि प्राणायामसे ही राज्य-मूलक (अभ्युदय-प्राण) भौतिक प्राण-शक्तिकार मोक्ष-धन आध्यात्मिक प्राण-शक्तिका समानतः विकास होता है। स्वामी विवेकानन्द तो यह भी कहते हैं कि प्राणायामके अभ्याससे कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है और साधकके लिये अनन्त ज्ञान और शक्तिका द्वार खुल जाता है। फिर उसे बाहरसे इन दोनोंको प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भला ऊँटवाला

कुछ पुरानी बात है। राजस्थानमें उस समय ऊँट चलते थे। कलकत्ते, बम्बईसे आने-जानेवाले लोगोंको पचासों कोस ऊँटोंपर यात्रा करके रेल पकड़नी पड़ती थी। एक भाई कलकत्तेसे लौटे और उन्होंने नावाँ (कुचामन रोड) में एक अपरिचित ठाकुरका ऊँट भाड़े किया। बीमारीके कारण अचानक विचार हो गया, इससे जल्दीमें आना पड़ा था, इसलिये अपने घरको समाचार लिखकर परिचित व्यक्तिका ऊँट वे नहीं मँगा सके थे। दो लड़कियोंके विवाहके लिये कपड़ा-लत्ता, गहना तथा नगद सात हजार—कुल पंद्रह हजारका सामान साथ था। सामान ऊँटके बोरेमें रक्खा गया। उसपर वे भाई सवार हुए। उन्हें तीन दिन सफर करके घर पहुँचना था। पहली पंद्रह कोसकी मंजिल तो ठीक निभ गयी। वे लोसलमें आकर ठहरे। वहाँसे दूसरे दिन चले। गरमीकी मौसिम थी, इसलिये रातको ऊँटकी यात्रा की जाती थी। दैवकी लीला। रास्तेमें उनके पेटमें भयानक दर्द उठा, समीप एक छोटे-से गाँवमें पेड़के नीचे ऊँट ठहराया गया। वे भाई उतरे। वहाँ रातको कहाँ कोई वैद्य मिलता। उनके पास लौंग थीं, ऊँटवालेने आगका प्रबन्ध करके लौंगका काढ़ा बनाकर दिया। परंतु दर्द बढ़ता ही गया और इसी दर्दमें दो-तीन घंटे बाद वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। गाँववाले बड़े अच्छे लोग थे। सबने सहायता की। वहाँसे एक ऊँट लेकर गाँवका आदमी साथ चला और उनके सामानवाले ऊँटपर उनकी लाश बाँधी गयी। ऊँटवालेसे गाँवके एक आदमीने कहा—'कुछ माल-ताल पास हो तो लेकर चम्पत क्यों नहीं हो जाता। लाश फूँककर घर चला जा।' उसने कहा—'भाई! ऐसी बात मनमें आना भी पाप है। इन्होंने मुझपर विश्वास करके अपना हजारोंका मालमता तथा अपनी जान मेरे भरोसे छोड़ दी। ये तो मर ही गये। अब इनके सामानको लूटकर मैं इनके घरवालोंको भी मार दूँ। भगवान् सब देखते हैं। वे मेरे इस पापको कैसे सहन करेंगे। मुझे भी बड़ा दुःख है, तुमने ऐसी पापकी बात मुझसे कही ही कैसे, तुम्हारे मनमें यह पाप-भावना पैदा ही क्यों हुई और मैं इसे सुन भी कैसे सका। मालूम होता है मेरे मनमें कहीं जरूर कोई पाप छिपा है, तभी तुम मेरे सामने ऐसी पापकी बात कह सके और तभी मैं सुन सका।' गाँववालोंने यह सुनकर ऊँटवालेकी बड़ी सराहना की और उस आदमीको धिक्कारा। लाश उनके घर पहुँची। घरवालोंके दुःखका पार नहीं रहा, पर जब कीमती सामान तथा नगद रुपयोंकी थैलियोंको ज्यों-का-त्यों पाया, तब उनके शोकमें भी एक हर्षकी लहर उठी। उन्होंने ऊँटवालेके प्रति बड़ी ही कृतज्ञता प्रकट की, उसे इनाम देना चाहा। पर उसने भाड़ेके सिवा एक पैसा भी अधिक नहीं लिया। और कहा कि मेरे साथ ये जो गाँवका एक भाई आया है, इसको भले ही कुछ दे दिया जाय। पर उसने भी लेनेसे इन्कार किया। पड़ोसीके यहाँ रोटी-राबड़ीकी व्यवस्था की गयी। उसीको खाकर दोनों विदा हो गये। धन्य!

—चेतराम शर्मा

(२)

पढ़ाईकी लगन

एक दिन सवेरे साढ़े दस बजे अंदाज मैं बम्बईके सेंट-जेवियर्स कालेजके पाससे जा रहा था। कालेजके बाहर दरवाजेके पास दो नौजवान विद्यार्थी बात कर रहे थे। उनमेंसे एकने मेरी ओर देखा और हँसता हुआ मेरे पास आकर मुझसे बोला—'नमस्ते भाई! पहचानते हो या भूल ही गये?'

मैंने उसको अच्छी तरह देखा और मेरी स्मृति पूरे पाँच वर्ष पीछे पहुँच गयी। मैं बोल उठा—'अरे, १९५५ में हरद्वारमें हमलोग साथ थे, वह चन्द्रकान्त तो नहीं हो?'

'हाँ, वही! हरद्वारमें अपने अगल-बगल ही ठहरे थे, फिर वहाँसे साथ ही देहरादून तथा मंसूरी गये थे'—उसने उत्तर दिया।

मुझे याद आ गया—उस समय वह किशोर चन्द्रकान्त आज जवान हो गया है। उस समय तो यह हाई स्कूलके अन्तिम वर्षमें पढ़ रहा था।

फिर तो चन्द्रकान्त मुझसे बहुत-सी बातें कह गया। मेरे कुटुम्बके लोग हरद्वारमें मेरे साथ थे, उन सबके कुशल-समाचार पूछे और अपने कुटुम्बके समाचार बताये। फिर अचानक अपनी घड़ीकी ओर देखकर बोला—'दादा! क्षमा करना, मैं जरा इकोनोमिक्सका पेपर लिख आऊँ। तुमसे फिर मिलूँगा' इतना कहकर वह हँसता हुआ कालेजकी ओर चला।

'जरा पेपर लिख आऊँ' इस 'जरा' शब्दपर जोर देकर मैं उससे पूछ बैठा।

'हाँ, मेरी फाइनल बी० ए० की परीक्षा चल रही है। मैं यहाँ पेपर देने ही आया हूँ।' तो क्या तुम्हें परीक्षाकी चिन्ता नहीं है? दूसरे विद्यार्थियोंकी भाँति तुम अन्तिम घड़ी-तक अध्ययन नहीं करते? क्या 'नर्वस' नहीं हो जाते? या फिर पास ही नहीं होना है, जो कहते हो जरा पेपर लिख आऊँ।' मैं एक ही सपाटेमें इतने प्रश्न पूछ गया।

'नहीं दादा ! मैं परीक्षाकी चिन्ता नहीं करता । वर्षके आरम्भमें ही मैं ध्यानपूर्वक अध्ययनमें लग जाता हूँ । परीक्षाके समय तो खूब आरामसे सोता हूँ और आनन्दमें रहता हूँ और हँसी-खेलमें ही पेपर लिख आता हूँ । इतनेपर भी तुम्हारे-जैसे बड़ोंकी दयासे प्रतिवर्ष अच्छे नंबरोंसे ही पास होता आ रहा हूँ ।' इतना कहकर एक मोहक हास्य बिखेरता हुआ, 'फिर मिलना' कहकर मेरी ओर हाथ हिलाता हुआ वह कालेजकी ओर दौड़ गया ।

'जरा पेपर लिख आऊँ'—ये शब्द मेरे दिमागमें रम गये । हमारा अधिकांश विद्यार्थिसमूह तो पूरा वर्ष भटकता हुआ मौज-शौक और उल्टी-सीधी प्रवृत्तियोंमें ही बिता देता है । फिर परीक्षाके समय रातों जागकर स्वास्थ्य बिगाड़ता है और परीक्षाके दिन तो 'नर्वस' हो जाता है, 'टीप्स' के लिये इधर-उधर दौड़-धूप करता है । अन्तकी पाँच मिनटतक भी हाथसे पुस्तक नहीं उतारता और इतनेपर भी अच्छा परिणाम नहीं प्राप्त कर सकता । हमारे ऐसे विद्यार्थी चन्द्रकान्तके उदाहरणसे शिक्षा लेकर शुरूसे ही अभ्यासमें नियमितरूपसे लग जायँ और हँसी-खेलमें धीरेसे कहें कि 'जरा पेपर लिख आऊँ' तो कैसा अच्छा हो । (अखण्ड आनन्द)—गोपालदास

(३)

श्रद्धा-विश्वासका फल

बात १९५५ की है तब मैं कोटामें रहता था, हमारे पड़ोसमें ही एक कृष्णा नामकी विधवा स्त्री रहा करती थी । आँखें मुँदी-मुँदी, श्वेत वस्त्र धारण किये वह साध्वी एकदम ज्योतिर्मयी साधना-सी ही प्रतीत होती थी । वह मुझे भगतजी कहा करती थी । न जाने क्यों, मुझ-जैसे अधमके लिये ऐसा सम्बोधन ! पर खैर, एक बार उसका एकलौता बेटा बीमार पड़ा, सख्त बीमार । घरमें उसकी माँ, वह और उसका पुत्र तीन ही थे । माँको कार्यवश किसी विवाहमें जाना था । अतएव वह उसे दवा देकर यह कहकर चली गयी कि हर दो घंटेसे दे देना । मैंने कहा—'घरपर मैं रह जाऊँगा' पर कृष्णाने कहा—'नहीं आप कष्ट न करें, जब आवश्यकता होगी मैं आवाज दे लूँगी ।' मैं घर आ गया, माँ चली गयी । प्रमोद बुखारसे जल रहा था, वह कुछ देर तो बैठी रही, फिर एकाएक उठकर प्रभुके सिंहासनके पास गयी और सिंहासन लेकर छतपर आ गयी और चरणोंमें लिपट गयी तथा आर्त-कण्ठसे पुकार करने लगी । वहीं उसे नींद आ गयी । प्रातः ६ बजे मैं उनके घर गया । उसी समय उसकी माँ आ गयी, पर कृष्णा दिखायी न दी । हम ऊपर गये तो वह सोयी थी । उसकी माँने जगाया, पूछा—'क्यों दवा दे दी थी न प्रमोदको ?' 'नहीं माँ !' माँने डाँटा—एक तो बेटा है और तू नेह नहीं रखती, हे भगवन् ! जाने वह जिन्दा भी है या नहीं ।' उसने उसे बहुत कुछ बुरा-भला कहा । उसने कहा—'माँ ! रखनेवाला तो वह है, मेरे जतन करनेसे क्या होता है' और वह दौड़ पड़ी अपने पुत्रके पास । हम सब गये तो प्रमोद सो रहा था और बुखार नाममात्रको भी नहीं थी । भगवान्ने बुखार चुरा ली थी । वह दौड़कर ठाकुरके पास गयी और चरणोंसे लिपट गयी । सारा सिंहासन आँसुओंसे तर हो गया । तबसे बाद जबतक मैं वहाँ रहा, मैंने देखा उसका सिर भी नहीं दुखा और अब तो उस प्रमोदका विवाह भी हो गया है ।

'कुन्दन'

(४)

सच्ची साधुता

गत १९५७ अप्रैलकी बात है । संत श्री·······अपने साथ चार अन्य भक्तजनोंको और मुझको लेकर चारों धाम यात्राके लिये गये थे । श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोपरान्त हम कलकत्तासे हरिद्वारका सीधा टिकट लेकर हवड़ा स्टेशनसे देहरादून एक्सप्रेसमें हरद्वार-हवड़ाके डिब्बेमें जाकर बैठे । गाड़ी चल पड़ी । डिब्बा पूरा भरा हुआ था; सभी लंबी सफरवाले मुसाफिर थे । यद्यपि डिब्बा १७ आदमियोंके लिये था पर उसमें सब ५४-५५ यात्री थे । ऊपरकी सीटें भी सामानसे भरपूर थीं । नजदीक उतरनेवाला कोई न था ।

जब मुरादाबाद स्टेशन आया; तब वहाँसे दो यात्री तरुण दम्पति सुविधाजनक डिब्बा ढूँढ़ते हुए हमारे डिब्बेके पास आये, त्यों ही गाड़ीने छूटनेकी सीटी दी । उन्होंने उकताये हुए हमारे डिब्बेकी खिड़कीमें शीघ्रतासे बिस्तरा ढकेला और स्त्रीको उठा उसी खिड़कीसे डिब्बेमें उतारा । नीचे लोग बैठे थे । बिस्तरा और स्त्री उनके ऊपर जा पड़े । वे स्वयं भी खिड़कीसे घुसकर चढ़ गये; गाड़ी चल पड़ी । हमलोगोंने उनसे कुछ भी नहीं कहा; क्योंकि हमें तीर्थयात्राके नियमोंका पालन करना आवश्यक था । यात्रामें क्रोधादि नहीं करना चाहिये । अतः हमारी मण्डली धर्मव्यवस्थित थी । बड़ी भीड़ थी । कहीं भी जगह नहीं थी, बिस्तर ऊपर पड़नेसे लोगोंने उनसे बिस्तरा हटानेके लिये कहा । नवयुवकने उसे उठा लिया । नवयुवक थक चुके थे । संत श्री·····ने उनकी स्त्रीको अपनी जगह बैठनेको दी । वे स्वयं ज्यों ही खड़े हुए कि नवयुवकने बिस्तरा संतजीके सिरपर रख दिया । मैंने उनको ऐसा न करनेके लिये कहा, इसका परिणाम विपरीत हुआ । नवयुवकने धक्कामुक्की की । अब बिस्तरपर अपना और सामान भी संतजीके सिरपर रख दिया । लोगोंने हटाया । नवयुवकको समझानेकी चेष्टा की, पर विवाद बढ़ता रहा । गाड़ी कुछ घंटोंमें हरद्वार

जा पहुँची । सभी उतरे । शान्त-मूर्ति संत श्री······प्लेटफार्मपर उतरे । सभीने अपना-अपना सामान सँभाला । नवयुवक सपत्नीक नीचे खड़े थे । संतजीने पूछा—'कहो भाई! कुछ सेवा है ?' वे दम्पति चिन्तित थे; क्योंकि उन्होंने गाड़ीमें हड़बड़ाहटमें टिकटें कहीं गिरा दी थीं । पता नहीं था कहाँ गिरीं ।' हमारा डिब्बा हरद्वारतकका ही था, अतः वह कटकर इंजनद्वारा खींचा जा रहा था ।

नवयुवकने कहा—'महाराज ! टिकट खो गया ।' संतजीने कहा—'भाई ! अच्छी तरह तलाश करो ।' नवयुवकने कहा—'तुमने ही टिकट ली हैं, दे दो, नहीं तो पुलिसके हवाले करूँगा ?' संतजीने कहा—'भले ही; परंतु आपको याद है कि टिकटें कहाँतक थीं और कब-कहाँ खोयीं ?' लोग सुन रहे थे । किसीने कहा डिब्बेमें तो गिरीं नहीं ? मेरेसे रहा न गया, मैंने कहा—'भले आदमी! संतजीने तुम्हें जगह दी, बिस्तर उठाया, भला-बुरा सुना और परिणाममें यह अपराध लगा रहे हो ?'

हमारी बातचीत हो रही थी, इसी बीच संतजी उक्त डिब्बेकी तलाशमें गैरेजकी ओर गये जहाँ डिब्बा काटकर छोड़ा गया था । उस डिब्बेमें दो-तीन आदमी बैठे थे जो रेल्वे कर्मचारी थे, जो इंजनके साथ डिब्बे जोड़ने-छोड़नेका काम करते हैं । उनसे संतजीने पूछा, उन्होंने तलाश की । ढूँढ़नेपर टिकटें मिल गयीं, संतजी उनको ले आये ।

मैं उन नवयुवकसे कह रहा था 'भाई ! किसी सज्जन व्यक्तिपर यों लाञ्छन लगाना उचित नहीं है ।' काफी लोग इकट्ठे हुए थे, संतजीने लाकर टिकटें दीं और डिब्बेमें गिरनेकी बात बतायी, फिर कहा—'और कुछ सेवा हो तो कहें ! हमें श्रीबद्रीनारायण जाना है । २-३ दिन हरद्वारमें रहेंगे । हमारा पता—श्रीसुदर्शन आश्रम स्टेशनरोड, हरिद्वार है ।' वे रिक्शामें बैठे, चले गये और हम सुदर्शन-आश्रममें जाकर टिके ।

दूसरे दिन वैशाखी स्नान बड़े समारोहसे हो रहा था । रास्तों, घाटों और स्नानस्थलोंपर पुलिसकी व्यवस्था थी । आनेजानेके लिये अलग-अलग रास्ते नियत थे । हम आश्रमसे सुबह ९ बजे स्नानार्थ हरकी पैड़ी जा रहे थे, तो आगे रास्तेमें ऋषिकेश क्रॉस रोडपर वही नवयुवक अकेले ही मिले । संतजीने पूछा—'कहो महाशयजी, कुशलपूर्वक हो न ?' नवयुवकने कहा—'क्या बताऊँ, एक आपत्ति हो तो कहूँ—नृसिंहभवनमें ठहरनेके लिये कोठरी नहीं मिली, वहीं बाहर ही पड़े हैं । स्त्रीको रातसे गुर्दा-दर्द (आन्त्रिक वृक्कशूल) हो गया है । बड़ी बेचैनी है । मैं थैला ले स्नानको हर पैड़ीपर गया था, वहाँ थैला ही कोई उठा ले गया । उसीमें पैसे थे । बड़ा परेशान हूँ ।'

संतजीने कहा—'तो कुछ सेवा करूँ ?' नवयुवकने द रुपयेकी याचना की । संतजीने झट निकालकर दे दिये औ मुझको आदेश दिया कि 'आप इनके साथ जायँ, स्त्रीकी यो चिकित्सा करें ।' मैंने आदेशानुसार उन नवयुवकको साथ ले कर सुदर्शन-आश्रमसे अपनी दवाकी पेटी ली और फिर नृसिं भवनमें उनकी स्त्रीको अच्छी तरहसे देखा । उन्हें इंजेक्शन दिया और गोलियाँ देकर मैं हरकी पैड़ी हमारी मण्डली आ मिला । श्रीगङ्गाजीका स्नानकर नित्यनियममें प्रवृत्त हु पूजापाठसे निपटकर १ बजे वापस लौटे । रास्तेमें ही नृसिं भवन पड़ता है । अतः उनसे मिले, उनकी पत्नीके दस्त-पेशा खुल गया था । वह स्वस्थ-सी दिखायी देती थी । हमें देखक दोनों नत-मस्तक मिले और अपने पूर्वकृत बुरे बर्तावके लि अनुनय-विनय करने लगे । वे करुणभावमें सराबोर थे । सं जीने कहा—'भाईजी ! हमें भगवान्‌ने आपकी तुच्छ सेवा सौभाग्य दिया, यद्यपि हम इस लायक नहीं थे । आप कु दुःख न मानें । मनुष्यको जीना है तो मनुष्य ही नहीं, ब प्राणिमात्रकी सेवाके लिये जीना है, न कि अजागलस्तन भाँति, 'आप क्या कार्य करते हैं ?' संतजीने पूछा । उ उन्होंने कहा—'मैं राज्य-तहसील कर्मचारी हूँ । बी० ए० और यह भी पढ़ी-लिखी है ।' 'बहुत अच्छा' संतजीने कहा—'और कुछ सेवा बताइये ?' नवयुवकने कहा—'प्रभु ! हम सुबुद्धिके लिये कुछ नियम बतावें ताकि हमारे जीवनका कल्या हो । मैं आपका कृतज्ञ हूँ ।

संतजी—'लीजिये, यह गीता और रामायणका गुटका आप दोनों सुशिक्षित हैं, अतः इन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ें और मन करें । संत-समागम किया करें । गीताप्रेसकी धार्मिक स पुस्तकें पढ़ा करें । इससे आपका कल्याण होगा । भगवान् आ को सद्बुद्धि दें ।' नवयुवक—'संतजी ! आपसे मैं गङ् यात्राके उपलक्षमें प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी ऐ उद्दण्डता नहीं करूँगा और आपके आदेशोंका प्राण पालन करूँगा ।'

बादमें हम अपने स्थानपर लौट आये । वे सुखी हो अपने गन्तव्य स्थानपर चले गये ।

संतश्री··की इस सच्ची साधुता, नम्रता, सहिष्णु और सर्वहित-बुद्धिका मुझे आज दिनतक स्मरण है । वास्त हमें सबके साथ सहानुभूतिपूर्ण सद्व्यवहार करना चाहिये स्वार्थके वशीभूत होकर अमानुषी-व्यवहार कभी नहीं क चाहिये ।

(डाक्टर—एस० आर० डी

पाँच नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिंदीभाषान्तरसहित)

[दो भागोंमें]

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १७२०, चित्र तिरंगे १२, इकरंगे ४८, कपड़ेकी जिल्द, दो जिल्दोंमें मूल्य १७.५० मात्र । डाकखर्च अलग ।

प्रारम्भमें नम्र निवेदनके रूपमें एक उपयोगी भूमिका, पाठ-विधि और स्कन्दपुराणोक्त रामायण-माहात्म्य भी दिया गया है । बहुत समयसे जनताकी यह माँग थी कि गीताप्रेससे श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणको सानुवाद पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया जाय । इसके लिये अनेक प्रेमी सज्जन बारंबार आग्रह करते थे । भगवान् श्रीरामकी असीम अनुकम्पासे अब यह महान् कार्य पूर्ण हो सका है; अतः जिन्हें लेना हो, वे कृपापूर्वक शीघ्र मँगवा लें ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल भाषा)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ११००, चित्र बहुरंगे १२, इकरंगे ४८, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ११) मात्र । डाकखर्च अलग ।

हिंदीभाषाभाषी सज्जनोंके लिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका यह सम्पूर्ण भाषानुवाद श्लोकाङ्कसहित प्रकाशित किया गया है । इसके प्रारम्भमें भी नम्र निवेदनके रूपमें एक उपयोगी भूमिका, पाठविधि और रामायण-माहात्म्य दिया गया है ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल मूल)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७४०, चित्र बहुरंगे ७, पूरे कपड़ेकी जिल्द; मूल्य ७.५० मात्र । डाकखर्च अलग ।

संस्कृत-भाषाविज्ञोंके लिये इस ग्रन्थका केवल मूल संस्करण प्रकाशित किया गया है । पाठ-विधि और रामायण-माहात्म्य आदि इसमें भी दिये गये हैं ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल सुन्दरकाण्ड—मूलमात्र)

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ९२, श्रीहनुमान्‌जीका सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य .७५, सजिल्द १.५० । डाकखर्च अलग ।

अधिकतर लोग सुन्दरकाण्डके पाठका अनुष्ठान करते हैं, अतः उनके लाभार्थ इस काण्डको अलग पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है और इसके आरम्भमें अनुष्ठान-विधि भी लगा दी गयी है । आशा है, जनता इससे लाभ उठायेगी ।

श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन

(ले०—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०, मूल्य .२०, डाकखर्च .८, रजिस्ट्री .५०, कुल .७८ ।

लेखक महोदयने समय-समयपर गीताके कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकोंपर जो विचार व्यक्त किये हैं, उन्हींका संग्रह इस छोटी-सी पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित किया जा रहा है । इसमें सात्त्विक बुद्धि, कर्मफलके आश्रयका त्याग, भगवान्‌का प्यारा भक्त और भगवान्‌की शरणागति—इन चार विषयोंपर विवेचन किया गया है । पुस्तक बड़ी उपादेय है ।

पुस्तक-विक्रेताओंको सभी पुस्तकोंपर नियमानुसार कमीशन दी जाती है । अतः ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने पुस्तक-विक्रेताओंसे ही पुस्तकोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें । इससे उनको भारी डाकखर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

राज० स० ए० १७

जनगणनाके विषयमें निवेदन

अब शीघ्र ही जनगणना होनेवाली है। कार्य आरम्भ हो गया है। इसमें संख्या, जाति, धर्म, भाषा आदि लिखानेमें विशेष सावधानी रखनी चाहिये। इस समय धर्म और हिंदू जातिपर चारों ओरसे आक्रमण हो रहे हैं। जन-संख्या तथा धर्म एवं भाषावालोंकी बड़ी संख्या भी इस आक्रमणसे बचनेका एक प्रधान साधन है। अतएव संख्या पूरी लिखायी जाय। हिंदू सब अपनेको हिंदू लिखावें—चाहे वे किसी भी सम्प्रदायके हों। सनातनधर्मी अपना 'सनातनधर्म' लिखावें, प्रधान भाषा हिंदी और दूसरी भाषा संस्कृत लिखावें। जहाँ हिंदी न हो, वहाँ अपनी प्रान्तीय भाषा लिखावें। इसमें भूल न करें। यह हमारा सबसे विनीत निवेदन है।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंको भेजिये

गीताप्रेसमें सुरक्षाके लिये प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह किया जा रहा है। अतएव जिन सज्जनोंके पास वेद, वेदाङ्ग, ज्यौतिष, दर्शन, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, तन्त्र, काव्य आदि विषयोंकी प्राचीन हस्तलिखित सचित्र या अचित्र संस्कृत और हिंदीकी पुस्तकें हों और जो उनको सुरक्षित रखना चाहते हों, वे रेल या डाक पारसलसे अच्छी तरह पैक करके कृपापूर्वक पुस्तकें भेज दें। (पुस्तकें नागरी, बँगला या गुजराती किसी भी लिपिमें लिखी हों) डाक या रेल खर्च गीताप्रेससे दिया जायगा। ऐसी पुस्तकोंमें कोई अप्रकाशित पुस्तक उपयोगी जान पड़नेपर आगे चलकर सुविधानुसार प्रकाशित भी की जा सकती है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

'महा भारत' के बंद करनेकी सूचना तथा प्रार्थना

'महा भारत' मासिक पत्रका प्रकाशन गत पाँच वर्षोंसे हो रहा है। अबतक इसमें सम्पूर्ण महाभारत, हरिवंश पुराण, जैमिनीयाश्वमेधपर्व, सनत्सुजातीय शाङ्करभाष्य और सम्पूर्ण वाल्मीकीय रामायण हिंदी-भाषानुवादसहित प्रकाशित हो चुके हैं। आगामी वर्ष अग्निपुराण और नरसिंह पुराणके प्रकाशनकी बात सोची जा रही थी; परंतु विशेष परिस्थितिवश वह विचार छोड़ देना पड़ा और यह निश्चय किया गया कि 'महा भारत' मासिक पत्रका प्रकाशन एक बार बंद कर दिया जाय। तदनुसार खेदके साथ यह सूचना देनी पड़ रही है।

हम अपनी इस वर्तमान विवशताके लिये क्षमा चाहते हैं और ग्राहक महोदयोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे आगामी वर्षके लिये 'महा भारत' का मूल्य कृपया न भेजें।

मासिक महा भारतके पाँचों वर्षोंकी पूरी फाइलें एक साथ लेनेपर विशेष रियायत

'मासिक महा भारत'के अङ्कोंका मूल्य वर्ष-क्रमके अनुसार इस प्रकार है—

मासिक महाभारत वर्ष–१ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	सजिल्द	तीन	जिल्दोंमें	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष–२ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	,,	,,	,,	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष–३ अङ्क १ से १२,	मूल्य २०.००	,,	,,	,,	२३.७५
मासिक महाभारत वर्ष–४ अङ्क १ से १२,	मूल्य १५.००	,,	दो	,,	१७.५०
मासिक महाभारत वर्ष–५ अङ्क १ से १२,	मूल्य १५.००	,,	दो	,,	१७.५०
	कुल जोड़ ९०.००	सजिल्द			१०६.२५

उपर्युक्त पाँचों वर्षोंके सम्पूर्ण अङ्क एक साथ मँगानेपर डाकखर्च हमारा तथा १५.०० प्रतिशत कमीशन भी दिया जायगा। प्रेमी महानुभाव मूल्य मनीआर्डरद्वारा भेजकर मँगानेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—**महा भारत-विभाग, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याण

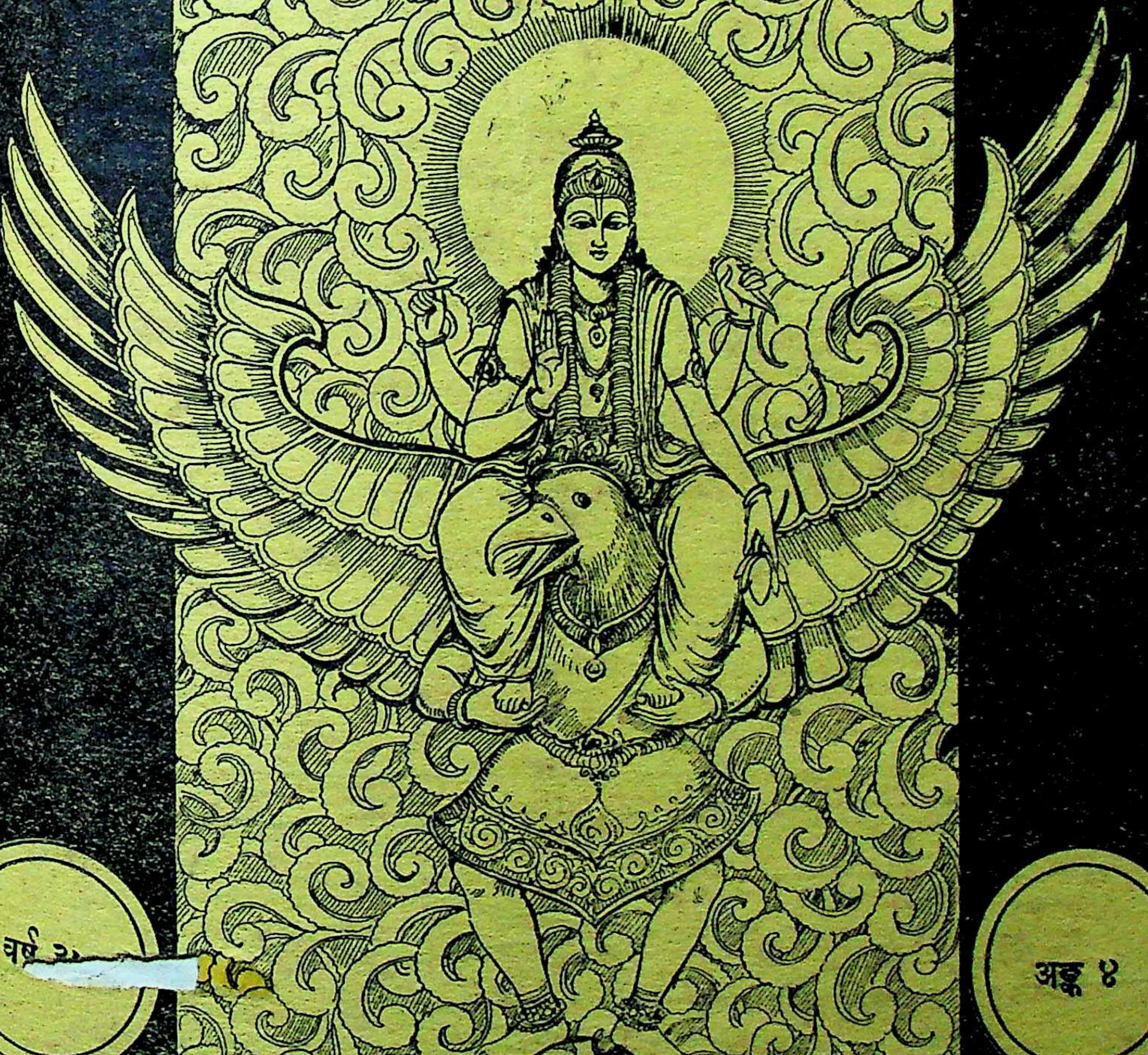

वर्ष [illegible]

अङ्क ४

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१८, अप्रैल १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें [कविता] (गीता दशम अध्याय) ... ८२९
२–कल्याण ('शिव') ८३०
३–ईश्वर-पूजन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) ८३१
४–मैं अपने भगवान्‌का खिलौना बन गया हूँ ८३५
५–धर्मपालनार्थ प्राणोत्सर्गसे श्रेयप्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८३६
६–मायाकी प्रबलता और उसके निवारणका उपाय (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ८३९
७–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीता-रामदास ॐकारनाथजी महाराज) ... ८४२
८–मेरी जीवन-नदीकी धारा भगवच्चरणाम्बुधि-की ओर बह रही है [कविता] ... ८४९
९–मधुर ८५०
१०–पाप और पुण्यकी कमाई (डा० श्रीराम-चरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ८५३
११–मैं सबमें सच्चिदानन्द भगवान्‌को देखकर परमानन्द प्राप्त करूँगा [कविता] ... ८५६
१२–पूर्णकाम [कहानी] (श्री 'चक्र') ... ८५७
१३–श्रीगुरु गोरखनाथ (साहित्याचार्य रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी) ... ८६०
१४–वेदोंका अद्यतन पाठ ही 'मूल' है (श्री-तिलकधारीजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य) ८६२
१५–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्द-दासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्री-गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ... ८६५
१६–श्रीभरतलालजीका स्वप्न (श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ८६९
१७–तुझसे ही—(श्रीबालकृष्णजी बलदुआ) ८७२
१८–अपराधीसे महात्मा (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ८७३
१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ८८२
२०–लड़कियोंका नाच या चरित्रनाश ! (श्रीलक्ष्मणप्रसादजी गुप्त, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट) ... ८८७
२१–स्नेह-सुमन [कविता] (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट-ला) ... ८८८
२२–गीत [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन', एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ८८९
२३–पढ़ो, समझो और करो ... ८९०
२४–भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ ... ८९२

चित्र-सूची

१–गरुडवाहन 'नारायण' ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें (तिरंगा) ... ८२९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु०१०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५१
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

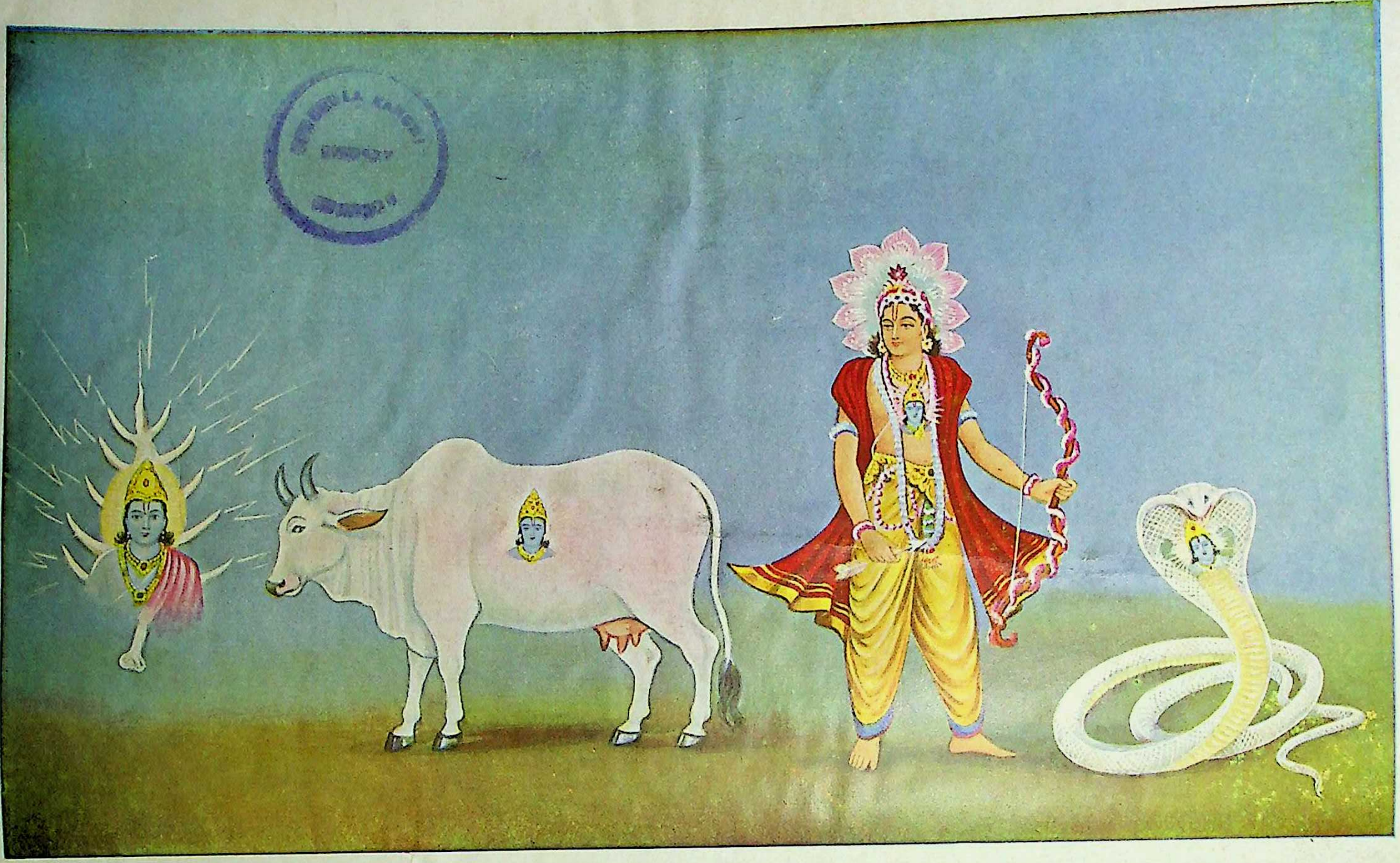

भगवानकी विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प एवं वासुकिके रूपमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्यदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१८, अप्रैल १९६१ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ४१३

भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें

सब कुछ मुझमें ही रहता है, मैं सबमें हूँ नित्याव्यक्त ।
पर विभूति-श्री-तेजपुञ्ज जो हैं, उनमें होता अभिव्यक्त ॥
वज्र सकल आयुधसमूहमें, कामधेनु गौओंके मध्य ।
प्रजनोंमें हूँ कामदेव मैं, सर्पोंमें वासुकि आराध्य ॥

(गीता दशम् अध्याय)

कल्याण

याद रक्खो—संसारके भोग परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा विनाशी हैं, अतएव संसार-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंको कभी सुख नहीं मिल सकता । वे सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्वोंके मोहमें फँसे हुए दिन-रात अशान्ति तथा चिन्तामें डूबे रहते हैं । एकमें अनुकूलताका अनुभव करते हैं, दूसरेमें प्रतिकूलताका । अनुकूलताकी प्राप्ति तथा प्रतिकूलताके विनाशके लिये अनवरत विचार और प्रयत्न करते रहते हैं और इसी मोहमें पड़े हुए वे पापकर्मोंमें संलग्न तथा पवित्र कर्मोंसे दूर रहने लगते हैं । भगवान्‌का भजन उनके लिये असम्भव-सी वस्तु बन जाता है । उनका भोगपरायण जीवन भगवद्विमुख होकर नरकस्वरूप बन जाता है और वे नरककीटके सदृश उसीमें रचे-पचे जीवनके अमूल्य क्षणोंको पापसंचय और उसके फलस्वरूप भविष्यके घोर पतनका साधन बनानेमें ही बिता देते हैं । संसारके चाहे प्रचुर भोग उन्हें मिल जायँ, अथवा वे सर्वथा भोगरहित रहें—वे सदा ही बढ़ते रहते हैं—आत्म-पतन—आत्म-विनाशकी ओर ही !

याद रक्खो—जिनका जीवन भगवान्‌से जुड़ जाता है, जिनके जीवनकी गति भगवान्‌के सन्मुख हो जाती है, वे इन द्वन्द्वोंके फंदेसे निकल जाते हैं । वे जान जाते हैं कि इन द्वन्द्वोंका सारा सम्बन्ध केवल नाम-रूपसे है, शरीर और नामसे है—जो दोनों ही आत्मासे पृथक् केवल इस जन्मकी यात्राके लिये मिले हैं; उनके साथ होनेवाले किसी भी परिणाम और व्यवहारसे आत्माका अपना निजका वास्तविक कोई भी सम्बन्ध नहीं है । ऐसे द्वन्द्व-मोहसे मुक्त पुरुष ही वस्तुतः दृढ़ निश्चयके साथ भगवान्‌का भजन करते हैं ।

याद रक्खो—भोगपरायण मनुष्योंको चार चीजें मिलती हैं—अपार अशान्ति, अनवरत दुःख, पापाचरण और मरणोत्तर नरक एवं आसुरी योनियोंकी प्राप्ति । इसके विपरीत भगवत्परायण पुरुषोंको निर्मल शान्ति, उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ सुख, पुण्यकर्मोंका आचरण और मरणोत्तर सद्गति या भगवत्प्राप्ति ।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवन यदि भगवत्प्राप्तिके साधनमें न लगकर—भगवान्‌के सम्मुख न होकर, कामोपभोगपरायण हो गया तो वह पशु-जीवनसे भी अधिक बुरा है । पशु आदि योनियोंमें जीव कर्मफल भोगकर क्रमशः कर्म-ऋणसे मुक्त होता है । परंतु भोगपरायण मनुष्य तो नित्य नये पापकर्मोंका संग्रह करके अपने भविष्यका विनाश करता है । मनुष्यकी बुद्धि भोगपरायण होकर जितनी काम, क्रोध, लोभ आदि दोषोंको बढ़ाती तथा उनके फलस्वरूप पतन कराती है, उतनी और वैसी बुद्धि पशु आदिमें होती ही नहीं । मनुष्यकी बुद्धि ही तामसभावापन्न होनेपर भयंकर-से-भयंकर पापोंकी नयी-नयी योजनाएँ बनाती एवं उनके अनुसार जीवनका निर्माण करती है ।

याद रक्खो—वह सम्पत्ति, सम्पत्ति नहीं है, वह सुख सुख नहीं है, वह सौभाग्य सौभाग्य नहीं है, वह बुद्धि बुद्धि नहीं है, वह कर्म कर्म नहीं है, वह आत्मीय आत्मीय नहीं है और वह पदार्थ पदार्थ नहीं है, जो भगवान्‌से विमुख करते हैं । असलमें भगवान्‌से विमुख करनेवाली, भोगोंमें लगाकर पापपरायण बनानेवाली सम्पत्ति विपत्ति है, सुख दुःख है, सौभाग्य दुर्भाग्य है, बुद्धि कुबुद्धि है, कर्म कुकर्म है, आत्मीय शत्रु है और पदार्थ अपदार्थ हैं । भगवान्‌में लगानेवाले प्राणी-पदार्थ ही सर्वथा और सर्वदा हमारे हितैषी हैं । उन सारे हितैषियोंका संग्रह करो, उन्हें अपनाओ, उनका समादर करो—चाहे उनके नाम विपत्ति, दुर्भाग्य, दुःख आदि ही क्यों न हों ।

'शिव'

ईश्वर-पूजन

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ७६९ से आगे]

वह पूजनका प्रकार यह है—

रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनत्रयम् ॥

इस प्रकार त्रिविध ईश्वर-पूजन बताया है। इनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किसी भी एक प्रकारका पूजन करनेसे दूसरे दो प्रकारके पूजन अपने-आप ही हो जाते हैं। जैसे खाटका एक पाया खींचनेसे शेष तीनों पाये अपने-आप खिंच आते हैं, उसके लिये अलग श्रमकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार एक प्रकारका पूजन करनेसे त्रिविध पूजन हो जाता है।

(१) पहला साधन है—'रागाद्यदुष्टं हृदयम्'—अर्थात् हृदयको, अन्तःकरणको रागादि पाँच क्लेशोंसे कलुषित न होने दे। रागादि पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँच क्लेश जब अन्तःकरणमें जमकर बैठ जाते हैं, तब वह तमोगुणसे आवृत हो जाता है और परिणामतः वह ईश्वरके सम्मुख नहीं हो सकता। इसलिये ईश्वरका पूजन करके उसके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति करनी हो तो अन्तःकरणको निर्मल बनाना चाहिये। ये पाँच क्लेश जबतक अन्तःकरणसे नहीं निकलते, तबतक वह निर्मल नहीं होता। अतएव रागादिसे अन्तःकरणको मुक्त करनेके लिये साधन करना चाहिये। यह साधन श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥
(१७ । १६)

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार मानसिक तप करनेसे अन्तःकरण पाँच क्लेशोंसे मुक्त हो जायगा वह साधन इस प्रकार है—'मनःप्रसादः' अर्थात् चित्तको सदा प्रसन्न रखना। ऐसा कोई भी व्यवहार न करना, जिससे चित्तकी प्रसन्नताका नाश हो; क्योंकि प्रसन्न चित्त ही सत्त्वगुणप्रधान हो सकता है। 'सौम्यत्वम्'—साधक अपना मुँह सदा हँसता हुआ रक्खे, प्रसन्नवदन रहे। चित्तमें प्रसन्नता रहनेसे मुँह स्वाभाविक ही हँसता रहता है। अथवा चित्तका क्रूर न होकर सहानुभूतिपूर्ण कोमल रहना, किसीको दुःख तो पहुँचाना ही नहीं, जरा-सा भी परदुःखसे हृदयका द्रवित हो जाना। 'मौनम्' का अर्थ काष्ठमौन नहीं, अर्थात् बिल्कुल गूँगा बन जानेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि जितना जरूरत हो उतना ही बोले। व्यर्थ बकवास न करे। बहुत अधिक और अनावश्यक बोलनेसे वाणी व्यर्थ हो जाती है और परनिन्दा तथा परचर्चा हो जाती है। इसलिये जितना आवश्यक हो उतना ही बोले। अथवा मनसे व्यर्थ चिन्तन कदापि न करके भगवान्‌का मनन करना, मनका जगत्‌में न रमकर भगवान्‌में रमा रहना। 'आत्मविनिग्रहः' अर्थात् मनका पूर्णतया निगृहीत रहना, वशमें रहना। तब 'भावसंशुद्धि' होती है। मानसिक तप पूरा होता है। यह परम विशुद्ध भाव ही आत्मभाव है। अर्थात् भावशुद्धिका अर्थ होता है सर्वात्मभावकी साधना। यह सर्वात्मभाव क्या है? इसके विषयमें भी गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार समझाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(६ । २९)

अर्थात् जिसको समाधियोग सिद्ध करना है, वह

योगी सर्वत्र अपने आत्माको ही देखता है । इससे उसको यह निश्चय हो जाता है कि ये समस्त चराचर प्राणी आत्मस्वरूप हैं । वह चराचर भूतमात्रको आत्मरूप अपनेमें तथा आत्मरूप अपनेको समस्त भूतोंमें देखता है ।

यह बात बहुत ही उच्च कोटिकी है । साधन करते-करते सिद्ध हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाली यह स्थिति साधकके लिये अवश्य ही कठिन है । इसलिये भावसंशुद्धिका कुछ आसान अर्थ भी किया जा सकता है । कवि दलपतके शब्दोंमें कहें तो—

परमेश्वरकी है प्रजा, सारा यह संसार ।
एक कुटुम्बी हम सभी, एक पिता परिवार ॥

अर्थात् यह चराचर भूतमात्र ईश्वरकी प्रजा है, इसलिये भूतमात्र उसके बालक हैं । अतः सभी परस्पर भाई-भाई हैं । लोग इसको विश्वप्रेम या विश्वबन्धुत्व भी कहते हैं । इस भावकी साधनासे भी मानसिक तपकी पूर्णता होती है; क्योंकि तत्त्वदृष्टिसे भूतमात्रमें एक ही ईश्वर जीवरूपसे रहता है । इसलिये सम्बोधनमें 'भाई' शब्दका प्रयोग करो या 'आत्मस्वरूप' शब्दका प्रयोग करो, दोनों एक ही बात है ।

(२) दूसरा साधन है—'वागदुष्टानृतादिना' अर्थात् वाणीको असत्य भाषणरूपी दोषसे दूषित अथवा अपवित्र न होने देना । भावात्मक शब्द प्रयोग करें तो कहेंगे कि वाणीको सत्यसे पवित्र रखना । अर्थात् 'सत्यपूतं वदेद् वाचम्'का मन्त्र ध्यानमें रखकर सत्य बोलनेका व्रत ले लेना । सत्यका आचरण कैसे किया जाय, इसको इस श्लोकमें ठीक-ठीक बतलाया गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

अर्थात् सत्य अवश्य बोले, परंतु मधुर वाणीसे बोले, क्रोधावेशमें या कड़े शब्दोंमें नहीं; क्योंकि क्रोधमें या कड़े शब्दोंमें बोलनेसे सामनेवाले आदमीका दिल दुखता है और इससे सत्यभाषणका तप नष्ट हो जाता है । इसी कारण श्लोकके दूसरे चरणमें कठोर वाणी बोलनेका प्रत्यक्ष निषेध किया है । बल्कि प्रिय लगनेवाली बात हो पर असत्य हो तो उसे भी न बोले, यह तीसरे चरणमें कहा है । प्रिय और असत्य वाणीका अर्थ है खुशामद । किसीकी खुशामद करना या प्रसन्न करनेके लिये झूठ बोलना—एक ही बात है । मनुष्यमें सामान्यतः इस प्रकारकी दुर्बलता पायी जाती है । इसलिये इस प्रकारका असत्य न बोले । यह तीसरे चरणमें स्पष्ट कहा है और अन्तमें कहा है कि सत्य बोलनेके विषयमें यह सनातन धर्म सदासे चला आ रहा है, इसका अनुसरण करे ।

इस साधनकी सिद्धिके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें वाणीका तप इस प्रकार बतलाया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७ । १५)

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये जो सुननेवालेके दिलको न दुखाये । सत्य हो, प्रिय हो और हितकर भी हो । इस प्रकार नित्यके व्यवहारमें बोलने-चालनेमें ध्यान रक्खे कि असत्य तो नहीं बोला जा रहा है और कहीं ऐसा तो नहीं बोला जा रहा है कि सुननेवालेके लिये कष्टकर हो या अहितकर हो । साथ ही नियमित स्वाध्याय या भगवन्नाम-जप-कीर्तन भी सदा नियमितरूपसे चलाते रहना चाहिये ।

(३) तीसरा साधन है—'हिंसादिरहितः कायः' अर्थात् शरीरको हिंसा आदिसे मुक्त रक्खे । 'हिंसादि' कहकर त्रिविध हिंसाओंसे बचनेके लिये कहा गया है । हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) कायिक—अर्थात् शरीरसे या शरीरके द्वारा किसी अस्त्र-शस्त्रसे दूसरे मनुष्यके शरीरपर आघात करना । मृत्यु होनेसे ही हिंसा होती हो, ऐसी बात नहीं है । बल्कि मार डालने

इच्छासे किया हुआ आघात भी हिंसा कहलाती है। (२) वाचिक अर्थात् कठोर वाणीके प्रयोगसे किसीके हृदयके ऊपर आघात पहुँचाना, मनुष्यका तिरस्कार करना, मृत्युकी धमकी देना अथवा किसी भी दूसरी रीतिसे मनुष्यको शब्दोंद्वारा असह्य आघात पहुँचाना—यह सब वाचिक हिंसा कहलाती है। (३) मानसिक हिंसा—अर्थात् मनसे किसीका बुरा चाहना, किसी मनुष्यका नाश हो—ऐसा संकल्प करना, अथवा किसी मनुष्यके लिये अशुभ विचारका सेवन करना—किसीके बुरे होनेमें आनन्द मानना, किसीका बुरा होते देखकर उसका समर्थन करना, यह सब मानसिक हिंसा है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंसे मुक्त होनेका नाम है—शरीरको हिंसामुक्त करना। इसके लिये कायाका तप श्रीभगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(१७।१४)

'देव'—अर्थात् अपने-अपने इष्टदेवका पूजन करना। 'द्विज'—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जिनको यज्ञोपवीतका अधिकार है। इनमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण है। अतएव ब्राह्मणका पूजन करना, उसे सुख पहुँचाना। अपने-अपने गुरुका पूजन करना। गुरु पास हों तो शरीरसे उनकी सेवा करना और दूर हों तो स्मरण-रूप सेवा करना। इस प्रसङ्गमें दूसरी पूजा तो परम्परासे ईश्वर-पूजन होती है, परंतु गुरुकी पूजा प्रत्यक्ष ईश्वर-पूजन है। 'प्राज्ञ' अर्थात् विद्वान् साधु-संत, महात्मा, संन्यासी तथा विद्वान् मनुष्यका पूजन करना। उनकी सेवा करना। दूसरा, शौचका पालन करना, बाह्याभ्यन्तर पवित्र रहना अर्थात् शरीर तथा मनको पवित्र रखना। तीसरा, आर्जव अर्थात् सरलता है। जीवनके व्यवहारमें सरलता रखना अर्थात् सीधे मार्गसे चलना और निर्दोष जीवन बिताना। इस विषयमें बहुत सुन्दर नियम बतलाते हुए भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'सारे धर्मोंका सार अर्थात् रहस्य मैं तुमसे कहता हूँ सावधान होकर सुनो। फिर उसे एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल न दो, बल्कि हृदयमें धारण करो, और उसका निरन्तर मनन करके उसे अपने जीवनमें उतारो। केवल सुननेसे या सुनकर कण्ठस्थ कर लेनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बल्कि सुनकर हृदयमें निश्चय करके उसे जीवनमें उतारो। तभी कार्य सधेगा।

'आत्मनः प्रतिकूलानि'—अर्थात् जो व्यवहार तुमको प्रतिकूल लगे, दूसरोंके तुम्हारे प्रति किये गये जो व्यवहार तुमको दुःखद जान पड़ें, वैसे व्यवहार 'परेषां न समाचरेत्'—अर्थात् दूसरोंके प्रति कभी न करो। अर्थात् दूसरोंके जिन-जिन व्यवहारोंसे तुम्हें दुःख होता हो, वैसे व्यवहार तुम दूसरोंके प्रति न करो। उदाहरणके लिये कोई तुम्हारा तिरस्कार करता है और वह तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो तुम किसी दूसरेका तिरस्कार न करो। तुमसे कोई झूठ बोले और उससे तुम्हें दुःख होता हो तो तुमको किसीसे झूठ नहीं बोलना चाहिये। कोई तुम्हें ठगता है और तुमको अच्छा नहीं लगता है तो तुम्हें भी किसीको नहीं ठगना चाहिये। कोई तुम्हारी निन्दा करता है और तुमको ठीक नहीं लगता तो तुम भी किसीकी निन्दा न करो। यह सब नकारात्मक बातें कही गयीं। इससे उल्टा स्वीकारात्मक बातें इस प्रकार कही जा सकती हैं—कोई तुम्हारे प्रति मधुर और सत्य बोले और वह तुम्हें अच्छा लगे तो तुम सबसे मधुर और सत्य बोलो। जो तुम्हारे साथ ईमानदारीका बर्ताव करे और उससे तुम्हें प्रसन्नता प्राप्त होती हो तो तुम्हें सबके साथ ईमानदारीका बर्ताव करना चाहिये। यदि कोई तुम्हें आदर-सत्कार प्रदान करे और वह तुम्हें अच्छा लगता हो तो तुम्हें सबका आदर-सत्कार करना चाहिये।

यही बात श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें विधि और निषेध दोनों रीतिसे कही है। जैसे—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

अर्थात् जो योगी सब प्राणियोंमें अपने ही समान सुख और दुःखको एक-सा देखता है, उसे मैं योगियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ। अधिक स्पष्ट कहें तो कह सकते हैं कि जो योगी ऐसा देखता है कि जिस-जिस भाव या व्यवहारसे मुझे दुःख होता है, तदनुसार ही सब प्राणियोंको दुःख होता है। उसी प्रकार जिस-जिस व्यवहार या भावसे मुझे सुख होता है, तदनुसार ही प्राणीमात्रको सुख होता है। ऐसा योगी ही श्रेष्ठ योगी है; क्योंकि जिस व्यवहारसे अपनेको दुःखकी प्रतीति होती है, वैसे व्यवहारका आचरण वह अन्यके प्रति नहीं करता। इतना ही नहीं, बल्कि जिस व्यवहारसे अपनेको सुख मिलता है, वैसा ही व्यवहार दूसरे प्राणियोंके प्रति करता है। और भगवान् कहते हैं कि ऐसा योगी श्रेष्ठ है।

चौथा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यका पालन चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये विशेष उपयोगी है। गृहस्थ शास्त्रकी मर्यादामें रहकर गृहस्थाश्रमको भोगे तो वही उसका ब्रह्मचर्य-पालन कहलायेगा। अन्य तीन आश्रमोंमें तो इसका कठोर पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके पालनसे जीवन सुखरूप बनता है; क्योंकि इससे शरीरकी तथा मन-बुद्धिकी शक्ति प्रज्वलित रहती है। पाँचवाँ अहिंसा है। इसके विषयमें ऊपर बहुत कहा जा चुका है, इसलिये यहाँ कुछ कहना नहीं है।

ईश्वर-पूजनके जो त्रिविध साधन—(१) रागादिसे दूर रहकर मनको पवित्र रखना (२) असत्य आदिसे दूर रहकर वाणीको पवित्र रखना और (३) हिंसा आदिसे दूर रहकर शरीरको पवित्र रखना आदि हैं, ये भी एक प्रकारसे ईश्वर-पूजन ही हैं। यह अब ठीक समझमें गया होगा।

इससे भी अधिक उत्कृष्ट प्रकारका ईश्वर-पूजन है जो कुछ निश्चित कालतक साधन करनेके बाद अप आप होता रहता है। वह इस प्रकार है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्

अति उच्चकोटिका भक्त भगवान् शङ्करकी स्तु करते हुए उनसे कहता है—'हे शम्भो! हे भोलना मेरे शरीररूपी मन्दिरमें तुम्हीं आत्मारूपमें विराजम हो, तुम्हारी अर्द्धाङ्गना पार्वतीजी मेरी बुद्धिरू विराजती हैं और मेरे प्राण तुम्हारे सहचर अ साथी हैं। इस शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ विषय-भोगती हैं, उसके द्वारा तुम्हारा पूजन हुआ करता है मेरी निद्रा समाधि-दशा है और वाणीसे जो-जो श उच्चारित होते हैं, उनसे सब तुम्हारी स्तुति हो है। पैरोंसे जो संचरण हो रहा है, वह तुम्हारी परि है। सारांश यह है कि हे प्रभो! जो-जो कायि वाचिक या मानसिक क्रिया होती है, वह सब तुम पूजन हो रहा है।'

जब देहाध्यास सर्वथा छूट जाता है सर्वात्मभाव पूर्ण परिपक्व हो जाता है, तब ऐसी स्थि प्राप्त होती है। ऐसी स्थितिको ही ज्ञानीकी सहज सम दशा कहते हैं। ऐसी स्थिति कब होती है, दिखलाती हुई भगवती श्रुति कहती है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परात्परम्॥

जब देहाभिमान अर्थात् मैं यह शरीर हूँ—ऐसा आत्माको अभिनिवेश हो गया है और जिससे परमात्मस्वरूप आत्माका जो जीवभाव दृढ हो गया है,

तत्त्वज्ञानके साधनके द्वारा बिल्कुल निर्मूल हो जाता है, तथा परमात्मा स्वयं ही चराचर भूतमात्रमें आत्मरूपसे विराजता है, यह भाव दृढ़ हो जाता है । अर्थात् जो कुछ भूत-भौतिक प्रपञ्चरूपमें दिखलायी देता है, वह आत्माका ही विलास है—ऐसा यथार्थ बोध हो जाता है, तब सारी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ ईश्वर-पूजनरूप हो जाती हैं ।

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥

अर्थात् ब्राह्मणादिका देवता अग्नि है, योगियोंका देवता अपने हृदयमें स्थित अन्तरात्मा है, साधनहीन मनुष्यका देवता मूर्तियाँ हैं और तत्त्वज्ञानीका देवता सर्वत्र रहता है । इसलिये तत्-तत् प्रकारके देव-पूजनका विधान है ।

इस प्रकारकी सहज समाधिकी दशाका कबीर साहबने अपने एक भजनमें इस प्रकार गान किया है—

साधो, सहज समाधि भली ।
जहँ-जहँ डोलौं सो परिकरमा, खाउँ पिउँ सो पूजा ।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, भाव मिटावौं दूजा ॥
आँख न मूँदौं, कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ॥
कह कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट करि गाई ।
दुख सुखसे कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई ॥

इस छोटेसे निबन्धमें हमने देखा कि एक-दो घंटे ईश्वरका पूजन करना ईश्वरकी प्राप्तिके लिये पर्याप्त साधन नहीं है । परंतु इसके लिये सम्पूर्ण जीवनको ही पूजन या भजनरूप बना देना होगा । और वह कैसे बनता है, तथा उसके लिये क्या-क्या साधन करना चाहिये—यह भी हमने देख लिया । बल्कि हमने यह भी देख लिया कि मनुष्य-जीवनका ध्येय भोग-सामग्रीका संग्रह करना नहीं है, किंतु ईश्वर-प्राप्ति कर लेना है; क्योंकि केवल मनुष्य-शरीरसे ही नर नारायण हो सकता है, जहाँ भोग-सामग्री तो प्रत्येक योनिमें प्रत्येक देहधारीको प्रारब्धके अनुसार अपने-आप ही मिल जाती है ।

ईश्वर हमको बल दे, जिससे हम विषयसे विमुख होकर ईश्वर-प्राप्तिके साधनमें प्राणपनसे लग जायँ । अष्टावक्र मुनिने जो कहा है, उसे ध्रुव मानकर अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें हमें लग जाना चाहिये । वह महामन्त्र है—

‘मुक्तिमिच्छसि चेत् तात विषयान् विषवत् त्यज ।’

मैं अपने भगवान्‌का खिलौना बन गया हूँ

मैं यह स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे प्रियतम भगवान् सदा मेरे साथ रहते हैं—हर समय, हर अवस्थामें, हर जगह। और वे सदा सर्वत्र मेरे योगक्षेमका वहन करते हैं। मैं नित्य निरन्तर उनकी पवित्र तथा अमोघ संरक्षतामें रहता हूँ । सांसारिक स्थिति कैसी भी क्यों न हो—मेरे पास चिन्ता, दुःख, पाप, पतन आदि आ ही नहीं सकते ।

मैं अब सर्वथा निश्चिन्त हूँ, चाहे मैं कहीं रहूँ। किसी भी स्थितिमें रहूँ। मेरी सारी चिन्ता वे अपने-आप ही करते हैं। करते हैं या नहीं, करते हैं तो क्यों करते हैं,इसकी भी मुझे न चिन्ता है, न स्मृति ही। मेरी दृष्टिमें तो सर्वत्र सदा वे-ही-वे हैं। उन्होंने अपना वरद हस्त मेरे मस्तकपर धर रक्खा है। वे मुझे जिधर ले जाते हैं, उधर ही चला जाता हूँ; जहाँ ठहराते हैं, वहीं ठहर जाता हूँ; जो कुछ करवाते हैं, वही करता हूँ। मेरेद्वारा सब कुछ वही कर-करा रहे हैं। मैं तो पुतली मात्र हूँ। इसलिये अब मैं पूर्णरूपसे चिन्तारहित हो गया हूँ। उसका खिलौना बन गया हूँ।

धर्मपालनार्थ प्राणोत्सर्गसे श्रेयप्राप्ति

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो मनुष्य अपने आपको धर्मके लिये समर्पित कर देता है उसकी इस लोकमें तो कीर्ति होती है एवं मरनेपर वह सद्गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वधर्मपालनपर जोर देते हुए गीतामें अर्जुनके प्रति कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

यदि अपने धर्मके पालनमें कुछ कमी भी रह जाती है तो भी वह कल्याणकारक होता है; फिर अच्छी तरह धर्मका पालन करनेसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है।

भारतके इतिहासमें अनेक ऐसे वीर पुरुषोंके चरित्र आये हैं जिन्होंने धर्मरक्षार्थ अपने प्राणोंकी भी बाजी लगा दी थी। पूर्वकालकी बात है, चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दिलीपके कोई संतान नहीं थी। इससे अन्य सब प्रकारके सुख रहते हुए भी वे दुखी रहा करते थे। संतानप्राप्तिका उपाय पूछनेके लिये वे अपनी धर्मपत्नी राजमहिषी सुदक्षिणाके साथ अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठके आश्रममें गये। वशिष्ठजीने उनको कामधेनुपुत्री नन्दिनीकी सेवा करनेका आदेश दिया। उनके आदेशके अनुसार नन्दिनीकी भलीभाँति सेवा करते हुए बीस दिन बीत गये। इक्कीसवें दिन नन्दिनीने राजाकी परीक्षा लेनी चाही। राजा जंगलमें जब पर्वतकी शोभा निहारनेमें दत्तचित्त थे, उसी समय उन्हें अचानक नन्दिनीका भयत्रस्त करुण क्रन्दन सुनायी पड़ा। राजाने पीछेकी ओर मुड़कर देखा तो वे स्तब्ध रह गये। एक वि वनराज सिंहने नन्दिनीको दबोच रक्खा था। राजाने मारनेके लिये धनुषपर तीर चढ़ाया; परंतु उ हाथ वहीं धनुषके साथ चिपक गया। निरुपाय हो राजा चुपचाप खड़े रहे तो सिंह गर्जना करता हुआ बोला—'राजन्! मुझे कोई साधारण सिंह न स लेना। मैं भगवान् शङ्करका गण हूँ और उनकी आ सामने दिखायी देनेवाले इस देवदारके रक्षार्थ यहाँ रहा हूँ। जो पशु कालके वशीभूत होकर यहाँ जाता है वह मेरा भक्ष्य है। आज यह गौ मेरा भ बनी है। अब आप लौट जाइये। इसे मेरे शक्ति पंजोंसे मुक्त करा सकना आपके हाथकी बात नहीं है राजा बोले, 'वनराज! मैं गुरुकी आज्ञासे इस गौ सेवामें तत्पर हूँ। आप भगवान् शङ्करके अनुचर हैं बहुत अच्छी बात। भगवान् शङ्कर भी मेरे पूजनीय परंतु मेरे गुरु महाराजके धनको भी मैं अपनी आँ सामने नष्ट होता कैसे देख सकता हूँ।'

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां
सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्ने-
र्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥
(रघुवंश, सर्ग

'अतः हे सिंह! आप मेरे इस विनाशी श खाकर अपनी क्षुधा शान्त कीजिये एवं इस अबला गौको छोड़ दीजिये।'

सिंह बोला—राजन्! मूर्ख न बनिये। यदि जीवित रहे तो न जाने आपके हाथसे अन्य जीवोंकी रक्षा होगी तथा इस गौकी जगह आप हजारों दुधारू गायें देकर अपने गुरु महाराज प्रसन्न कर सकते हैं। राजन्! अपने इस कल्या

शक्तिशाली देहकी रक्षा कीजिये । आपका राज्य पूरी पृथ्वीपर स्थित है तथा वह स्वर्गके ही समान सब प्रकारसे सम्पन्न है । शरीर न रहनेसे आप उसका भी भोग कैसे कर सकेंगे ?

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां
भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-
मृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥
(रघुवंश, सर्ग २)

राजा बोले—सिंह ! मैं क्षत्रिय हूँ । कष्टमें पड़े हुए जीवकी रक्षा करना ही मेरा धर्म है । फिर, इस गौकी तो मैं सेवामें संलग्न हूँ । मैं इसे यदि न बचा पाऊँ तो मुझे राज्यकी तथा प्राण रखनेकी भी क्या आवश्यकता है——

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥
(रघुवंश, सर्ग २)

इस तरह राजाने सिंहको प्रसन्न कर लिया तथा सिंह गौके बदले उन्हें खा लेनेको राजी हो गया । सिंहके द्वारा खाये जानेकी प्रतीक्षा करते हुए राजा सिर नीचा करके ज्यों ही बैठे त्यों ही आकाशसे देवताओंने पुष्पवृष्टि की । नन्दिनी प्रसन्न होकर बोली, 'राजन् ! उठो, यह सब मेरी ही लीला थी । वास्तवमें कोई भी पशु मुझे आक्रान्त नहीं कर सकता ।' नन्दिनीने उनको वंश चलानेवाले पुत्ररत्नकी प्राप्तिका वर दिया । आगे चलकर इसी वंशमें भगवान् रामका प्राकट्य हुआ ।

इसी तरह महाराज उशीनरके पुत्र राजा शिबिका भी उपाख्यान आता है । महाराज शिबि अपने समयके प्रख्यात धर्मात्मा एवं शरणागतवत्सल नरेश थे । एक दिन जब वे अपनी राजसभामें बैठे थे तभी अचानक एक कबूतर, जो अत्यन्त थका हुआ तथा भययुक्त दिखायी दे रहा था, उनकी गोदमें आकर गिर पड़ा । राजाने उसके भयके कारणको खोजनेके लिये ऊपर देखा तो एक बाज उन्हें दिखायी दिया । बाज बोला—'महाराज ! मेरे इस शिकारको छोड़ दीजिये, इससे मेरा तथा मेरे परिवारका पोषण होगा । नहीं तो, मैं तथा मेरा कुटुम्ब भूखों मर जायँगे—उस पापके आप भागी होंगे ।'

महाराज शिबि अत्यन्त दुविधामें पड़ गये । शरणमें आये हुए कबूतरको भी वे कैसे छोड़ सकते थे तथा बाजका कहना भी ठीक था । राजा बोले—'बाज ! तुम्हें तो अपने पालनके लिये मांसकी ही आवश्यकता है न ? इस शरणागत कबूतरको तो मैं किसी तरह छोड़ नहीं सकता । इसके बदलेमें मैं इसके तौलके बराबर अपने शरीरका मांस काटकर तुझे दे देता हूँ ।' राजाकी इस बातसे बाज सहमत हो गया । राजाने तराजू मँगाया तथा कबूतरको एक पलड़ेमें रखकर अपनी जंघासे मांस काटकर दूसरे पलड़ेपर रक्खा परंतु कबूतरका पलड़ा भारी रहा । राजाने और मांस काटकर रखा परंतु वह कबूतरवाला पलड़ा किसी भी तरह ऊँचा नहीं हो पा रहा था । अन्तमें राजा पूरे-के-पूरे तराजूमें बैठ गये । उनका तराजूमें बैठना ही था कि वहाँ न बाज दिखायी दिया न कबूतर । वास्तवमें स्वर्गसे देवराज इन्द्र बाजका एवं अग्निदेव कबूतरका रूप धारण करके महाराज शिबिकी शरणागतवत्सलताका परीक्षण करने आये थे । महाराज शिबिकी शरणागतवत्सलताको देखकर वे दंग रह गये और महाराजकी कीर्ति चिरस्थायी हो, ऐसा आशीर्वाद देकर वे लोग स्वर्ग चले गये ।

इस तरह हमारे शास्त्र-पुराणोंमें बहुत-सी गाथाएँ आती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि उस समयके जन-जीवनमें धर्मका कितना ऊँचा स्थान था । लोग धर्म-पालनके लिये प्राणोंका भी परित्याग करनेको तत्पर रहते थे, परंतु धर्मका त्याग नहीं करते थे ।

इतिहास बताता है कि भारतका मुगलसम्राट् अलाउदीन

खिलजी चित्तौरकी महारानी पद्मिनीके अनुपम सौन्दर्यपर आसक्त हो गया था तथा पद्मिनीको अपनी रानी बनानेके लिये उसने यथासम्भव सभी उपाय कर लिये, पर किसी भी तरह वह अपने उद्देश्यमें सफल न हो सका। शेषमें उसने अपनी विशाल सेनाके साथ चित्तौरगढ़पर चढ़ाई कर दी। चित्तौरके वीर एक-एक करके युद्धभूमिमें काम आने लगे। राजपूतोंका अन्तिम जत्था जब किलेसे बाहर लड़ाई करने निकला, तब भीतरकी सभी स्त्रियाँ महारानी पद्मिनीके नेतृत्वमें जौहर (अग्नि-प्रवेश) के लिये तैयार खड़ी थीं। महारानी पद्मिनीका धर्म-रक्षाके लिये भीषण आगमें प्रवेश करना था कि शेष सभी महिलाएँ एक-एक करके उस धधकती हुई आगमें कूद पड़ीं। देखते-ही-देखते उनके शरीर भस्मसात् हो गये। अलाउद्दीनकी विजय हुई; परंतु किलेमें प्रवेश करनेपर उन भारतीय महिलाओंके अपूर्व बलिदानोंको देखकर उसे दाँतों-तले अँगुली दबानी पड़ी।

भारतके पुरुष तो क्या महिलाएँ एवं बच्चे भी धर्म-पालनके लिये प्राणोंतककी आहुति देनेके लिये आगा-पीछा नहीं देखते थे।

यवनसम्राट् औरंगजेबका भीषण अत्याचार उन दिनों जोरोंपर था। हिंदुओंको अपने धर्मका पालन करनेके लिये बड़ी-बड़ी कीमतें चुकानी पड़ती थीं। ऐसे ही समयमें गुरु गोविन्दसिंहके दो छोटे बच्चोंने अपने जीवित शरीरको दीवालमें जिंदा चुनवा देना स्वीकार कर लिया; परंतु हिंदू-धर्मको छोड़कर मुस्लिम-धर्म ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। उन्हें बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये पर वे छोटे-छोटे बच्चे धर्मपर डटे रहनेके अपने निश्चयसे टस-से-मस नहीं हुए। अन्तमें उन बच्चोंको जीवित ही दीवालमें चुनवाना आरम्भ कर दिया गया। जब दीवाल छोटे भाईके गलेतक आ गयी एवं बड़े भाईकी छातीतक ही आयी तो बड़े भाईकी दोनों आँखोंसे आँसू गिरने लगे। उसे रोता देख छोटा भाई तमककर बोला—'भैया ! क्या आप मरनेसे डर रहे हैं?' बड़े भाईने उत्तर दिया—'नहीं, कोई भी हिंदू-बच्चा धर्मके लि मरनेसे नहीं डरता। किन्तु तुम अवस्थामें मुझसे छोटे होकर भी धर्मके लिये मरनेमें मुझसे अग्रणी हो और मुझे भगवान्‌के धाममें जानेमें देर हो रही है। इसी कारण मुझे रोना आ रहा है। भैया ! तुम धन्य हो।'

परंतु आज हम देख रहे हैं कि उसी भारतवर्षके बहुत-से लोग लोभके वशीभूत होकर धर्म, कर्म, संस्कृति—सबका परित्याग करते जा रहे हैं! जिस देशके भक्त प्रह्लादने धर्म एवं ईश्वरकी सत्तापर दृढ़ विश्वास रखे हुए अनेक कष्ट सहे, उन्हें बड़े-बड़े पर्वतोंसे गिराया गया, गजराजोंसे कुचलवाया गया, समुद्रमें फेंका गया, भीषण आगमें झोंका गया; परंतु फिर भी वे ईश्वरभक्तिमें अडिग रहे, अन्तमें उनके पिता हिरण्यकशिपु तलवार लेकर उन्हें मारनेको उद्यत हुए तो भगवान्‌ने निर्जीव खम्भेमेंसे प्रकट होकर भक्तको बचाया। आज उसी देशके लोग धर्म और ईश्वरका मखौल उड़ा रहे हैं! जो कोई थोड़ा-बहुत धर्मका पालन करते हैं वे भी अधिकांश मान-बड़ाईके लिये करते हैं। निष्कामभावसे करनेवाले तो बहुत ही कम हैं। धर्मपालन न करनेकी अपेक्षा तो सकाम भावसे धर्मका पालन करना भी अच्छा है; परंतु कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक जो धर्मपालन किया जाता है वही कल्याणकारक है।

मनुष्य-जीवन बड़े भाग्यसे मिला है। इसका सम अल्प है। अतः जबतक हाथमें समय है तभीतक ह लोगोंको चेत जाना चाहिये एवं धर्मपालनके लि कटिबद्ध हो जाना चाहिये समय बीतनेपर पश्चा करना पड़ सकता है। भारी-से-भारी विपत्तिके आने भी हमें अपने धर्मका किसी भी हालतमें त्याग न करना चाहिये। महाभारतमें कहा गया है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
(स्वर्गारोहण० ५।६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है ।'

संसारके सभी सम्बन्ध माने हुए एवं अनित्य हैं, मनुष्य अकेला ही इस संसारमें आता है एवं अकेला ही वापस जाता है । स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव आदिमेंसे कोई भी उसका साथ नहीं दे सकता । एकमात्र धर्म ही उसके साथ जाता है । कहा गया है—

मृतं शरीरं संत्यज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

अतः मनुष्यको किसी भी कालमें अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये । मरण-संकट भी उपस्थित हो जाय तो भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युका वरण कर ले, परंतु स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे । इसीमें उसका सब प्रकारसे कल्याण है ।

मायाकी प्रबलता और उसके निवारणका उपाय

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस संसारको संतों तथा महात्माओंने दुःखरूप एवं मिथ्या बतलाया[1] है । वेदान्ती यहाँके सुखोंको भी कुपित फणी (सर्प) के फणातपत्र (छत्र) के छाया-सुखके तुल्य परिणाममें अत्यन्त भयंकर बतलाते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण इसे दुःखालय, अशाश्वत और अनित्य बतलाते हैं । (गीता ९ । ३३; ८ । १५) । भागवतकार इसे 'दुःखग्राम' कहते हैं[2] । यों तो भगवद्भजनमें सहायक होनेसे दुःख भी वरणीय ही है ।[3] किंतु जहाँ दुःख सर्वथा अटल, असह्य तथा अपरिहार्य प्रतीत होने लगे, वहाँके लिये इस सम्पूर्ण विश्वको मायिक, असत्, स्वप्नवत् मिथ्या तथा निरा भ्रम बतलाया गया है । ऐसा समझ लेनेपर क्लेशका अन्त हो जाता है । इस सम्बन्धमें कई आख्यान बड़े उपयोगी हैं ।

मार्कण्डेयजीने दीर्घकालतक तपस्या की । भगवान् नारायणने उनसे वर माँगनेको कहा । महर्षिने भगवान्की माया देखनेकी इच्छा व्यक्त की । फलतः एक बार जब वे पुष्पभद्रा नदीके तटपर संध्या-उपासना कर रहे थे, महान् वायु एवं कराल मेघोंके प्रचण्ड नादसे आकाश व्याप्त हो गया । मूसलाधार वृष्टि होने लगी । अनवरत वर्षा होनेसे चारों समुद्र उमड़ पड़े । मुनि गिरते-पड़ते भागते हुए प्रयाग, फिर अक्षयवटकी शरणमें पहुँचे । वटपर चढ़नेपर एक प्रभापूर्ण, मरकत-श्याम, सुन्दरतम शिशु दीखा । उसे देखनेसे इनको बड़ी प्रसन्नता हुई और सब क्लेश जाता रहा । उसके समीप पहुँचकर ये उससे कुछ पूछना ही चाहते थे कि उसके श्वाससे मच्छरके तुल्य खिंचकर उसके शरीरके भीतर प्रविष्ट हो गये ।

'सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत् ।
(श्रीमद्भा० १२ । ९ । २७)

उसके उदरके भीतर इन्होंने सभी देश, द्वीप और अपनी

---

[1] (क) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।
(योगदर्शन २ । १५)

(ख) तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ।
(सांख्यदर्शन ६ । ७-८)

(ग) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥(गीता ५।२२)

(घ) दुःखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महागहनः ।

[2] जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः ।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥
(श्रीमद्भा० १ । ३ । २९)

इस श्लोकमें आये 'दुःखग्राम' पदका श्रीधरस्वामी तथा अन्य व्याख्याताओंने संसार ही अर्थ किया है ।

[3] (क) 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' (भा० १ । ८)

(ख) सुखके माथे सिल परो जो नाम हृदयतें जाइ ।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाइ ॥

तपोभूमि, हिमालयपर्वत, अपना आश्रम, ऋषिगण एवं पुष्पभद्रा नदीको भी देखा—

हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं
निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत् ।
(श्रीमद्भा० १२ । ९ । ३०)

अन्तमें उनके अधिक व्याकुल होनेपर यह सब प्रपञ्च क्षणभरमें तिरोहित हो गया ।

यह कथा भागवत, महाभारत एवं मत्स्यादि पुराणोंमें बार-बार आयी है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने पवित्र शब्दोंमें इसे इस प्रकार स्मरण किया है—

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू । भएउ भूप मन मनहुँ प्रयागू ॥
सिय सनेह बट बाढ़त जोहा । तापर राम प्रेम सिसु सोहा ॥
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु । बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥

काकभुशुण्डिको भी इस प्रकारकी लीलाएँ दिखीं । क्लेश भी हुआ, व्याकुलता भी हुई । फिर भगवत्कृपासे इसकी शान्ति भी हुई । विशेषकर यह मायादर्शन भक्तके अहंकारके बाद प्रकट होता है । नारदजीको कामविजयका गर्व हुआ, फिर मायाजनित भीषण क्लेश सामने आया । इसीलिये शंकरजीने कहा था—

होइहैं कीन्ह कबहुँ अभिमाना । सोइ खोवै चह कृपानिधाना ॥

भविष्यपुराण भविष्योत्तरखण्ड अध्याय ३ तथा देवीभागवत स्कन्ध ६ अध्याय २८-३० में नारदजीने भगवान्से माया-दर्शनकी प्रार्थना की और उन्हें स्त्रीरूपमें परिणत होकर कई संतानोंको उत्पन्नकर, उनकी मृत्युसे दुखी होना पड़ा । वाराहपुराणके १२५ वें अध्यायमें भगवान् विष्णुने पृथ्वीसे बतलाया है कि वनस्थलीका नगर बन जाना, नगरका मरुस्थल बन जाना, भूधरका सागर हो जाना, सागरका भूधर हो जाना सब मेरी ही मायाके चमत्कार हैं । जीवको गर्भमें ज्ञान रहना, जन्मते ही सब भूल जाना, दसों इन्द्रियोंके विभिन्न गुण,—आँखोंसे देखना, कानोंसे सुनना आदि सब शक्तियाँ मायाका ही चमत्कार है ।

तदनन्तर उन्होंने सोमशर्मा ब्राह्मणकी कथा कही । सोमशर्माने भी दीर्घकालके तपोनुष्ठानके बाद भगवान्से माया-दर्शनकी प्रार्थना की । फलतः एक बार जब वह ऋषिकेशमें गङ्गास्नान कर रहा था, तब देखता क्या है कि किसी निषाद-स्त्रीके गर्भमें है । फिर वह कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ । उसका विवाह एक निषाद युवकसे हुआ और कई बच्चे भी उत्पन्न हुए । अन्तमें जब वह श्रमार्त होकर एक दिन पुनः वहीं स्नान करने पहुँची, तब अपनेको पूर्वरूपमें परिणत पाया । तबतक उसके पूर्वशरीरके दण्ड-कमण्डलु यों ही पड़े थे । काकभुशुण्डिके समान इन सभी लोगोंने भी बस 'उभय घड़ी महँ यह सब देखा ।' थोड़ी ही देरमें ये सब माया-कौतुक देखे । फिर भगवान्ने दर्शन देकर इन्हें सावधान किया ।

योगवासिष्ठमें तो ऐसी कई कथाएँ हैं । उत्पत्ति-प्रकरणमें इन्द्रजालोपाख्यान है । इसमें उत्तरापाण्डवके राजा लवणकी कथा है । एक बार इसके दरबारमें एक इन्द्रजालिक अश्वारूढ़ होकर आया और राजासे वहीं बैठे-बैठे तमाशा देखनेकी प्रार्थना की । उसने राजाके सामने मोरछल घुमाया और राजा मूर्छित-सा हुआ । उस बेहोशीमें उसने देखा कि वह आनीत अश्वपर आरूढ़ होकर विहारके लिये अकेले ही चल पड़ा और एक सघन वनमें प्रविष्ट हुआ । अन्तमें मार्गभ्रष्ट होकर एक निर्जल देशमें गया, जहाँ उसका अश्व मर गया और बड़े क्लेशसे उसने रात काटी । प्रातः होते ही उसे एक चाण्डाल-कन्या मिली, जिसके पास जल एवं भात था । राजा प्याससे मर रहा था । बड़ी अनुनय-विनयके बाद विवाहके शर्तपर चाण्डालीने राजाको जल दिया और पीछे प्रसन्न होकर चावल भी दे दिया । विवाहके बाद उस चाण्डालीसे राजाके आठ संतान हुए । तदनन्तर वहाँ भीषण अकाल पड़ा । राजा स्त्री-बच्चोंसहित भागा । एक वृक्षके नीचे चाण्डाली थककर सो गयी । बड़ा बच्चा भूखसे छटपटाकर रक्तमांस माँगने लगा । चाण्डालराजने मोह-कृपा आदिसे अभिभूत होकर उसे अपना मांस ही देना चाहा । बालक वह भी माँगने लगा । चिता बनाकर जब राजा कूदना ही चाहता था कि यहाँ (राजदरबारमें) वह सिंहासनपर एकाएक गिरने लगा और उसकी मूर्छा टूट गयी । मन्त्रियोंने उसे सँभाला और उसने सब वृत्तान्त सुनाया । पीछे उसकी जाँच-पड़ताल की गयी । स्वयं मन्त्रियोंसहित राजा उस देशमें गया । वहाँ उस तरुणी चाण्डालीकी वृद्धा माँ मिली । वहाँ उसने सभी वृत्तान्तको सत्य तथा दिव्य चाण्डालके ओझल हो जानेपर वृक्षके नीचे अपनी दिव्यकन्याके कटारद्वारा आत्मघात करनेकी बात बतलायी ।—

हा पुत्रि पुत्रावृतसर्वगात्रे
दिनत्रयाभोजनजर्जराङ्गि ।
क्वत्वासिना मर्मणि जीर्णदेहाः
कथं क्व मुक्ता भवतासवस्ते ॥
(योग० ३ । १२० । १

---

१. द्रष्टव्य अध्याय १०४से १२० ।

योगवासिष्ठके ही उपशमप्रकरणके ४४ से ५० तकके अध्यायोंमें गाधि[1] ब्राह्मणकी ऐसी ही कथा है। गाधि ब्राह्मणने भी बड़ी तपस्याके बाद भगवान्‌से मायादर्शनकी इच्छा व्यक्त की—

मायामिमां त्वद्रचितां भगवन् पारमात्मिकीम् ।
द्रष्टुमिच्छामि संसारनाशीमान्ध्यैककारिणीम् ॥
(योग० ५ । ४४ । १३)

फिर क्या था, कुछ देर बाद जब वह स्नान करने लगा, तब स्नान-ध्यान-मन्त्रादिको भूलकर उसने देखा कि वह किसी चाण्डालीके गर्भमें प्रविष्ट है। तत्पश्चात् चाण्डालशिशुके रूपमें उत्पत्ति, वृद्धि, चाण्डाली-परिणय, संतति-परम्परा-प्राप्ति, चाण्डालीनिर्याण, फिर निर्विण्ण होकर अनेक देश-देशान्तरोंमें घूमते-घामते कीरमण्डलकी श्रीमतीपुरीमें पहुँचना, वहाँके राजाकी मृत्यु और अमात्यमण्डलद्वारा नियुक्त मंगलहस्तीद्वारा उठाकर अपने गण्डस्थल (शिरोदेश) पर विराजित करना तथा कीरमण्डलका राजा बन जाना आदि बातें एक-पर-एक गाधिने अपने जीवनमें विस्तारसे घटती देखीं। आठ वर्षोंतक वह बड़े आनन्दसे कीरमण्डलपर शासन करता रहा। तत्पश्चात् एक दिन उसका पूर्वपरिचित कोई चाण्डाल उससे एकान्तमें उद्यान-विहार करते समय मिला और उसे 'करंज' नामसे पुकारा। उसके लाख बहाना करनेपर भी बात श्रीमतीपुरीमें फैल ही गयी और वहाँके सभी द्विजातिगण चाण्डाल-दूषित होनेके कारण अग्निप्रवेशद्वारा आत्मशुद्धि करने लगे। सभी लोगोंको मरते देख चाण्डालराज भी अग्निमें कूद पड़ा। इतनेमें गाधि ब्राह्मण वहाँ जलमें समाहित हो गया और वह बाहर निकला। जलमें यह सब तमाशा देखते हुए उसे प्रायः ६८ वर्ष बीत गये।[2] पर वहाँ तो दो घड़ी भी न हुई थी। यह सब देखकर वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा था। तबतक ब्रह्माके पास दुर्वासाके पहुँचनेकी तरह गाधिके पास एक अतिथि पहुँचा। उसने 'करंज' वाली सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुनायी तथा स्वयं भी उस देशमें रहनेसे किंचित् सशङ्क होने तथा प्रायश्चित्तार्थ प्रयाग स्नानकर लौटनेकी बात बतलायी। फिर तप करनेपर भगवान्‌ने प्रकट होकर गाधिको अपनी मायाका रहस्य बतलाया।

'योगवासिष्ठ' का मण्डपाख्यान भी प्रायः इसी प्रकारका है। गोस्वामी तुलसीदासजीको यह सब ज्ञात था। इसलिये मायावर्णन-प्रसंगमें उसके दो भेद तथा अविद्याकी क्लेशरूपता—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा ॥

—आदिका वर्णन करते हैं। कभी तो एक दृष्टि दौड़ानेपर उनके सारे काव्यमें **'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं'** जासु सत्यता ते जड माया। ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड।

सिव बिरंचि कहँ मोहै को है बपुरा आन।
ग्यानी भगतसिरोमनि, त्रिभुवनपतिकर जान।
ताहि मोह माया प्रबल पामर करहिं गुमान ॥[3]

तथा नारदजी, काकभुशुण्डि आदिकी कथाओंमें—'माया' का ही जाल बिछाया तथा उससे केवल सावधान रहनेका ही संकेत दीखता है। उनके 'विनय' आदि अन्य काव्योंमें तथा पुराणोंमें भी सर्वत्र यही है। अद्वैत-सम्प्रदायका दूसरा नाम ही 'मायावाद-मत' है।

'तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी।'

इस मायासे अलग होकर भगवान्‌के सामने हुए बिना क्लेशका अन्त नहीं है।

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।
यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४४)

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ६ । ३९)

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । (गीता १५ । १५)

—आदि पदोंसे यह माया भी भगवदिच्छाका ही परिणाम है—'रचै जासु अनुसासन माया।' और वे जब चाहें इसकी प्रबलताका निवारण कर सकते हैं—'निज माया प्रभुता तब रोकी।'

ऐसी दशामें भगवच्चरणोंमें ही रोना है—'प्रभो! अब बहुत हुआ। सर्वत्र क्लेशकी सीमा ही है। अवश्य ही यह हमारा कथन दम्भपूर्ण दीखता है, अन्यथा आप-सा कृपालु—दयाकी सीमा इतनी देर क्योंकर लगाते? पर दयालो! इस दम्भकी दवा भी आप ही करें—आप ही सच्ची प्रार्थना करा दें, मैं तो अब क्लेश तथा व्याकुलता आदिके कारण कुछ ऐसी शक्तिहीनता भी देखता हूँ कि प्रार्थनाकी भी उचित शक्ति नहीं रही। फिर भी, आपकी कृपाकी आशा बनी है। यह सत्य है कि मेरे दोषोंका अन्त नहीं है—'निखिलदोषैकराशि' ही ठहरा। पर क्या आपकी कृपा पराजित हो जायगी मेरे दोषोंके समुदायसे? यदि नहीं तो, नाथ! फिर अब विलम्ब क्यों?

---

[1] ये 'गाधि' विश्वामित्र-पिता क्षत्रिय गाधिसे सर्वथा भिन्न हैं।

[2] लवणराजको भी प्रायः इतना ही समय चाण्डाल-विग्रहमें दीखा। किंतु सभामें दो घड़ीका भी समय न लगा था।

[3] यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा ॥ सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥

पागलकी झोली

[विश्वजननी रमणी]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पागल अपने मनसे नृत्य कर रहे हैं—'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' नाच रुक नहीं रहा है । उसी समय कुछ महिलाओंने आकर प्रणाम किया ।

पागल—(उत्तरमें नमस्कार करते हुए) 'राम राम' माई लोग अच्छी तरहसे तो हैं ?

पहली माँ—हाँ बाबा, आपके आशीर्वादसे सब ठीक है ।

पागल—'राम-राम सीताराम' तुमलोग पतिका ध्यान तो करती हो न ? राम राम ।

दूसरी माँ—हाँ बाबा, रोज करती हूँ, खूब आनन्द मिलता है

पागल—(दूसरी स्त्रियोंसे) तुम सब लोग भी करती हो न ?

सब—हाँ बाबा, हम सब तीनों कालमें पतिका ध्यान और स्तुति करती हैं ।

पागल—राम-राम राम-राम । यह नयी माई कौन है ? राम-राम ।

पहली माँ—हमारे ही गाँवकी हैं; खूब पढ़ी-लिखी हैं, एम्० ए० पास हैं । कई पुस्तकें लिख चुकी हैं ।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम । अच्छा, अच्छा ।

दूसरी माँ—बाबा, यह आपके मुखसे पति-सेवाकी बात सुनकर आपसे कुछ कहना चाहती हैं ।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' अरी माँ ! अपने इस छोटे बच्चेको क्या कहोगी, सीताराम ?

तीसरी माँ—बाबा, इनके मुखसे आपका उपदेश सुनकर मैंने समझा है कि आप प्राचीन रीति-नीतिके अनुसार ही सबको चलनेके लिये कहते हैं, सबको वैसा ही बनाना चाहते हैं । परंतु बाबा, जगत्में सभी कुछ परिवर्तनशील है, तो क्या स्त्रियोंको सदा उसी प्रकार घूँघट निकालकर अन्तःपुरमें ही रहना पड़ेगा ? प्राचीन रीति-नीतिके अनुसार चलना पड़ेगा ? क्या यह सम्भव है ? जब सबका परिवर्तन है, तब स्त्रियोंके नियममें क्यों नहीं परिवर्तन होगा ?

पागल—'राम-राम राम-राम सीताराम ।' तुम क्या परिवर्तन चाहती हो बेटी ? 'राम-राम ।'

तीसरी—स्त्रियाँ पढ़ना-लिखना सीखकर नौकरी-चाकरी करेंगी, अकर्मण्य पति या दरिद्र आत्मीय-स्वजनोंका प्रतिपालन करेंगी । हजारों-हजारों लड़कियाँ लिखना-पढ़ना सीखती हैं, इनका क्या विश्वके दरबारमें कोई भी स्थान नहीं है ? क्या ये सदा घूँघट काढ़े घरके कोनेमें ही बैठी रहेंगी और पति-सेवा ही करती जायँगी ?

पागल—'राम-राम सीताराम ।' माँ, यह जो लड़कियोंका लिखना-पढ़ना सीखना, नौकरी करना है—यह तो उन पाश्चात्त्य देशोंका अनुकरण है, जहाँ स्त्री-पुरुष मनमाने ढंगसे चल सकते हैं । 'राम-राम सीताराम ।' सतीधर्म या चरित्रकी वस्तु जहाँ कुछ भी नहीं है । जहाँ ऐहिक भोगके सिवा 'राम-राम सीताराम' अन्य कुछ भी है—यह बात साधारण लोग नहीं जानते । 'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' उस जातिका जो अनुकरण करती हैं, धर्महीन चरित्रवाली मर्यादा-शून्य जातिकी लड़कियोंके समान वे भी जल-भुनकर मर जायँगी । 'सीताराम राम-राम सीताराम सीताराम ।'

तीसरी—सबका परिवर्तन तो है न ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' सबका परिवर्तन कहाँ है माँ ? 'राम-राम' । सूर्य सदा ही सूर्य है, जल और अग्नि सदा ही जल-अग्नि हैं । स्त्रियाँ सदा ही गर्भ धारण करती हैं । भारतका सतीधर्म सदासे एक ही प्रकारका है । हमारे किसी इतिहास या शास्त्रमें नहीं पाया जाता कि माताएँ पढ़ना-लिखना सीखकर 'राम-राम सीताराम' क्लर्क, जज, मजिस्ट्रेट, वकील, बैरिस्टर बनी हों । राम-राम— ऐसी शिक्षा तो धर्महीन जातिकी शिक्षा होती है, जिनकी केवल बहिर्मुख गति होती है । 'राम-राम सीताराम' हमारी शिक्षा-दीक्षा तो क्या पुरुष, क्या स्त्री सबको अन्तर्मुख करनेके लिये होती है । भारतके ऋषि जानते थे कि मनुष्य आता है 'ईश्वर-दर्शन' करनेके लिये । इसलिये जिससे मनुष्य 'राम-राम सीताराम' अभ्युदय और निःश्रेयसके पथमें अर्थात्

जागतिक उन्नति करते हुए परम काम्य श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सके। 'राम-राम सीताराम' इसके लिये सारे शास्त्र स्त्री-पुरुष सबको बाल्यकालसे मरणपर्यन्त किस प्रकार चलना चाहिये 'राम राम' उसका नियम बाँध गये हैं। जो लोग उस पथका अनुसरण करेंगे वे सबल और स्वस्थ-शरीर रहकर दीर्घजीवन प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे तथा मनकी अन्तर्मुखतासे आत्मानन्द प्राप्त करेंगे। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम। भारतकी नर-नारीका लक्ष्य ऐहिक सुख नहीं है। 'राम राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' उनका लक्ष्य है परम सुख परम गति श्रीभगवान्‌को प्राप्त करना।

तीसरी—इसलिये आप कहना चाहते हैं कि स्त्रियाँ सदा घूँघट काढ़कर पुरुषसे दूर रहें और पति-सेवा ही करती जायँ?

पागल—'राम-राम सीताराम'—हाँ माई, शास्त्र यही कहते हैं। जो माई लोग ऐसा कर सकेंगी, आनन्दसे रहेंगी, इहलोक-परलोकको जय करनेमें समर्थ होंगी। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—पुरुष भी मनुष्य है और स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं। यदि मनुष्यसे मनुष्य बातचीत करे तो इसमें क्या हानि है? यह मैं नहीं समझती बाबा!

पागल—'राम-राम सीताराम।' माई! अग्नि भी पार्थिव पदार्थ है और घी भी पार्थिव पदार्थ है, किंतु 'राम-राम सीताराम' अग्नि और घीको पास-पास रखनेसे जैसे घी गल जाता है उसी प्रकार स्त्री पुरुषके निकटस्थ होनेपर गल जाती हैं। राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।

शास्त्र कहते हैं—

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

'राम-राम सीताराम' नारी घृतके कुम्भके समान है और पुरुष तप्त अङ्गारके तुल्य है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति दोनोंको एकत्र न रक्खे। राम-राम सीताराम।

अन्यत्र लिखा है—

अङ्गारसदृशी नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
तस्मान्नारीषु संसर्गः दूरतः परिवर्जयेत्॥
यथैव वह्निसांनिध्यादाज्यं द्रवति निश्चयः।
तथा युवतिसांनिध्यात् पुंसश्चेतश्चलत्यहो॥

—प्रपन्नामृत

'राम-राम सीताराम' नारी जलते अङ्गारके तुल्य है, पुरुष घृतकुम्भके समान है; इसलिये नारीका सङ्ग दूरसे ही परित्याग करे। जैसे अग्निके पास घृत निश्चय ही गल जाता है, उसी प्रकार युवतीके सम्पर्कमें पुरुषका चित्त चञ्चल हो जाता है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—यह बात ठीक समझमें नहीं आयी बाबा! बहुत-सी लड़कियाँ आजकल पुरुषोंके साथ एकत्र पढ़ती-लिखती हैं। उनके भीतर अपवित्र भाव नहीं देखा जाता। वे भाई-बहिनके समान आनन्दसे रहते हैं।

पागल—'राम-राम सीताराम, जय-जय राम सीताराम।' माँ! स्त्री-पुरुषके प्रथम मिलनमें कोई अपवित्र भाव नहीं रहता। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' परंतु क्रमशः जब घनिष्ठता बढ़ती है 'राम-राम सीताराम' तब एकान्तमें बात करनेकी इच्छा होती है, अङ्ग-स्पर्शकी वासना जाग उठती है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' तत्पश्चात् कुछ दिनोंके बाद जब नशा उतरता है तब आँसू बहानेके सिवा कुछ शेष नहीं रह जाता। 'राम-राम सीताराम।'

पहली—बाबा, आपको यह सब कैसे ज्ञात हुआ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' माँ! कुमारी, सधवा, विधवा, कुमार, गृहस्थ, साधु—ये अपकर्म करके जब संतप्त होते हैं, तब संताप दूर करनेके लिये 'राम-राम सीताराम' यहाँ आकर अपने पतनकी कहानी सुनाते हैं और रोते हैं। 'राम-राम सीताराम।' उनसे मैं कहता हूँ केवल भगवान्‌का नाम लो। माताएँ पुरुषोंसे दूर रहें। लड़के लड़कियोंके साथ न रहें। 'राम-राम सीताराम।'

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

—श्रीमद्भागवत

माता, बहिन, कन्या—कोई भी क्यों न हो, एकान्तमें एकत्र न रहे। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वानोंको भी आकर्षित करती हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

दूसरी—अपने ही अन्याय करते हैं और अपने ही मुँहसे कह देते हैं?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' पहले-पहले नहीं कहते हैं, पाप छिपानेकी चेष्टा करते हैं। तत्पश्चात् जब संतापकी व्यथासे व्यथित होते हैं, 'राम-राम सीताराम' तब संतापकी निवृत्तिके लिये अपने पापकी

सारी बातें खोलकर कह देते हैं । ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’

पहली—क्या शिक्षितोंमें भी ऐसी बात होती है ?

पागल—‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ आगकी आँच जैसे मूर्खको लगती है, वैसे ही शिक्षितको भी लगती है माँ ! ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ अधिक क्या कहें ? पास बैठना तो दूर रहे, केवल दृष्टिसे दृष्टि मिलनेका क्या परिणाम होता है ‘सीताराम-सीताराम राम-राम’ वाराहपुराणमें लिखा है—

अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान् ।
इति प्रवादो मूर्खाणां विचारान्महदन्तरम् ॥
घृतकुम्भोऽग्नियोगेन द्रवते न तु दर्शनात् ।
पुमान् स्त्रीदर्शनादेव द्रवते यद्विमोहितः ॥
(१८६ । ३२)

नारी अग्निकुण्डके समान और पुरुष घृतकुम्भके समान है, यह मूर्खोंका प्रवाद है । विचार करनेपर बड़ा अन्तर दिखायी पड़ता है । घृतकुम्भ तो अग्निके संयोगसे गलता है, अग्नि-दर्शनसे नहीं, परंतु पुरुष स्त्रीके दर्शनमात्रसे विमोहित होकर गल जाता है, पास जानेकी अपेक्षा नहीं रहती । ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’

तीसरी—कालेजमें लड़कियाँ और लड़के एक साथ भाई-बहिनके समान पढ़ते-लिखते हैं, परस्पर बातचीत करते हैं । इसमें क्या दोष है ? ठीक समझमें नहीं आता ।

पागल—‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ भाई-बहिन कहती हो माँ ! सीताराम सीताराम ! उस दिन एक शिक्षिता कुमारी ‘राम-राम सीताराम’ भाईके द्वारा कौमार्य-खण्डनकी बात कहकर रोने लगी । एक दूसरे दिन एक भाईने भगिनी-गमनके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था माँगी थी । परंतु सभीमें सर्वत्र दोष होते हैं, यह बात मैं नहीं कहता । ‘राम-राम सीताराम ।’ तथापि घनिष्ठतासे दोनोंहीके चित्त-चाञ्चल्यकी अधिक सम्भावना है । स्त्री-पुरुषके समीप होनेपर ही परस्पर परमाणु संक्रमित होते हैं । दोनोंको परमाणु ही आकर्षित करके अधःपतित करते हैं । ‘राम-राम सीताराम’ एक घटना सुनाता हूँ—

एक शिक्षिता बड़ी भली लड़की एक साधुकी अहैतुकी भक्ति करती थी । उसकी धारणा थी ‘राम राम सीताराम’ कि साधुकी कृपासे वह पास होनेमें समर्थ हो रही है। युवकोंके साथ वह भाईके समान व्यवहार करती थी । ‘राम राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ तत्पश्चात् लड़कीने एक बार साधुसे कहा कि ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ मेरे मित्रको आप आशीर्वाद दें, इन्हींके ऊपर मेरा भविष्य निर्भर करता है । ‘राम-राम सीताराम ।’ यह देखो माँ ! वैसी भली लड़कीके मनमें भी व्यक्तिविशेषके ऊपर आकर्षण हो गया । ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम’ कुछ दिनोंके बाद साधुने उस लड़कीसे कहा—‘देख माँ ! ब्याह अपने पसंदसे मत करना, ‘राम-राम सीताराम’ और यह भार माता-पिताके ऊपर दे दो और पुरुषसे दूर रहो । ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’

तीसरी—यह जो लड़कियोंकी शिक्षाका स्रोत चल रहा है, क्या इसको आप रोक सकेंगे ?

पागल—‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ बिल्कुल ही नहीं; परंतु लड़के-लड़कियोंके माता-पिताओंसे यह बात अवश्य कहूँगा कि वे अपने लड़के-लड़कियोंको पढ़ना-लिखना सिखानेके साथ-साथ धर्मकी शिक्षा भी दें । ‘राम-राम-राम’ उनसे दोनों समय जप करावें, माता-पिता-गुरुजनको प्रणाम करना सिखावें, ‘राम-राम सीताराम ।’ प्याज, लहसुन, बत्तक, मुर्गी, मांस, अण्डा न खिलावें; उपन्यास, नाटक, सिनेमा तथा पुरुषोंसे स्त्रियोंको दूर रक्खें । ‘राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।’ यदि ऐसा नहीं करेंगे तो तुम्हें रोना पड़ेगा । ‘राम-राम सीताराम ।’

तीसरी—अच्छा बाबा ! आप लोगोंके मुखसे सुनती हूँ कि एक ही भगवान्‌को मनुष्य सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें पूजा और कलियुगमें नामकीर्तनके द्वारा प्राप्त करता है । भगवान्‌को प्राप्त करनेके मार्गमें भी परिवर्तन होता है, परंतु स्त्रियोंके ही फूटे नसीबमें सदा चौका-चूल्हा ही बना रहेगा !

पागल—‘सीताराम’—माँ ! मार्गमें परिवर्तन होता है, परंतु भगवान्‌में परिवर्तन नहीं होता । ‘राम-राम’—माताएँ देवसेवा, अतिथिसेवा, पतिसेवा, पूजा-जप-ध्यान आदिके द्वारा भगवान्‌को पानेके लिये चित्तको अन्तर्मुख कर सकती हैं, किंतु ‘राम-राम सीताराम’ पढ़-लिखकर पुरुषोचित नौकरी करनेपर वह अवसर भी नहीं मिलेगा । ‘राम राम सीताराम ।’ ‘अर्द्धं ह वै जाया’—श्रुति कहती है कि पुरुषका अर्द्धांश जाया है । हमारे शास्त्र कहते हैं कि कोमलहृदया जायाको सारी गृहस्थीका भार देकर पुरुष ! तुम, ‘राम-राम

सीताराम' धनोपार्जन करके उसके हाथोंमें दो। वही सारी व्यवस्था करेगी। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

दूसरी—शास्त्र हमारे लिये क्या कहते हैं ?

पागल—'जय-जय राम सीताराम'—स्त्रीजाति महाभागा है, वह सम्मानकी पात्र है, वे ही घरकी शोभा हैं। प्रजा-सृष्टिके लिये ही उनकी उत्पत्ति है। लक्ष्मीमें और रमणीमें कोई अन्तर नहीं। स्त्रीजाति बाल्यमें पिताके, यौवनमें भर्त्ताके और बुढ़ापेमें पुत्रके अधीन रहे। पतिके समान व्रतधारण करे, घरकी चीजोंको सँभालकर शुद्ध साफ रक्खे—इत्यादि स्त्रियोंके कार्य हैं। सास-ससुर तथा अन्यान्य गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा स्त्रियोंके कर्तव्य हैं। देवपूजा, अतिथि-पूजा आदि सब प्रकारके धर्मकार्य पतिकी सहायतासे पत्नी करे। औषध-प्रयोग आदिके द्वारा पतिको वशमें करनेकी चेष्टा करना पत्नीका कर्तव्य नहीं है, 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

पहली—और हमको क्या-क्या नहीं करना चाहिये, बाबा ?

पागल—'राम-राम सीताराम' परगृह-भ्रमण आदि स्त्रीके कर्त्तव्य नहीं हैं। पतिके परदेशमें रहनेपर स्त्रियोंको वेष-भूषा सजाना कर्तव्य नहीं है। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—इससे क्या हानि होती है ?

पागल—'राम-राम सीताराम' स्त्रियोंको पतिकी प्रीतिके लिये वेषभूषा करनी चाहिये। उनके न रहनेपर वेश-भूषाको कौन देखेगा, कौन आनन्द लेगा ? 'राम-राम सीताराम।' पर-पुरुषको आनन्द देनेके लिये तो सती नारी वेश-भूषा सजाती नहीं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

पहली—और क्या बाबा ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' पतिके मरनेपर पत्नीके लिये ब्रह्मचर्य-पालन या सहमरणका विधान है। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—यह एक बीभत्स व्यापार है, उस समयके लोग जलती चितामें जीते-जी नारीको जलाकर मार डालते थे !

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' वैसी बात नहीं है माँ ! कोई माताओंको जलाकर नहीं मारता था। वे ही स्वेच्छासे मृत पतिके साथ जलती चितामें देह विसर्जन करती थीं। वे समझती थीं कि पति आत्मा है, स्त्री देह है। आत्माके चले जानेके बाद शून्य देहसे क्या प्रयोजन ?

तीसरी—कैसी निष्ठुरता थी, अब तो कानूनके द्वारा उसे बंद कर दिया गया है !

पागल—'राम-राम सीताराम !' पूर्ण बंद नहीं हुआ माँ ! उस दिन राजस्थानमें एक नारीने जलती चितामें अपना शरीर पतिके साथ होम दिया था। पतिकी मृत्युके साथ-साथ रेलसे कटने तथा शरीरमें किरासन तेल लगाकर जल मरनेकी बात भी सुनी जाती है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—कैसी कुप्रथा थी ?

पागल—'राम-राम सीताराम।' कुप्रथा कह रही हो माँ ? ब्रह्मज्ञानी, कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ क्या कहते हैं सुनो—

'बंगालकी प्राण-विसर्जन-परायणा पितामहीको हम प्रणाम करते हैं। उन्होंने जिस जातिको स्तन पान कराया है, स्वर्गमें जाकर उसे न भूलेंगी। हे आर्ये ! तुम अपनी संतानको संसारके चरम-भयसे उत्तीर्ण कर दो। तुम स्वप्नमें भी कभी भी यह नहीं जानती हो कि तुम अपने आत्मविस्मृत वीरत्वके द्वारा पृथिवीके वीर पुरुषोंको लज्जित कर रही हो ! तुम जिस प्रकार दिनके अवसानमें गृहस्थीके कार्योंको समाप्तकर चुपचाप पतिके पलंगपर आरोहण करती रहीं; दाम्पत्य-लीलाके अवसानके दिन संसारके कार्यक्षेत्रसे विदा लेकर तुमने उसी प्रकार सहज वधूवेशमें माँगमें मङ्गल सिन्दूर धारण करके पतिकी चितापर आरोहण किया है। तुमने चिताको विवाह-शय्याके समान आनन्दमय, कल्याणमय बना दिया है। बङ्गदेशकी अग्नि तुम्हारी पवित्र जीवनाहुतिके द्वारा पवित्र हो गयी। आजसे यह बात हम याद रक्खेंगे कि हमारा यह इतिहास नीरव है, परंतु अग्नि हमारे घर-घर तुम्हारी वाणीका वहन कर रही है। तुम्हारे अक्षय अमर स्मरण-निलयके रूपमें उस अग्निको तुम्हारे उस अन्तिम विवाहकी ज्योति; शुचिमय अखण्ड पट वस्त्रको हम प्रतिदिन प्रणाम करेंगे। वह अग्निशिखा तुम्हारी उठी हुई भुजाके रूपमें हम सबको आशीर्वाद दे। मृत्यु कैसी सहज है, कितनी उज्ज्वल है; कितनी उन्नत है, हे चिर नीरव स्वर्गवासिनि ! अग्नि तुमसे लेकर इसी वार्ताको हमारे गृहप्राङ्गणमें वहन करके हमारे लिये अभय घोषणा करे।'—(रवीन्द्ररचनावली; विविधप्रबन्ध ५ खण्ड) 'राम-राम सीताराम जयजय राम सीताराम, सीताराम सीताराम'—सुना माई ? 'राम-राम।'

द्वितीया—सुनकर बहुत आनन्द मिला।

तृतीया—सहमरण-प्रथा तो आधुनिक है ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' नहीं माँ, आधुनिक नहीं है। जगरुजननी सीता पूर्वजन्ममें कुशध्वज मुनिकी वेदवती नामक कन्या थी। मुनिकी इच्छा थी कि कन्या विष्णुभगवान्‌को प्रदान करें। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' शम्भु नामक एक दैत्यने उस कन्याके लिये मुनिकी हत्या कर दी। वेदवतीकी माता सहमृता हो गयीं। 'राम-राम सीताराम' वाल्मीकि-रामायणमें यह घटना वर्णित है। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—कौशल्या आदि किसीके सहमृता होनेकी बात नहीं सुनी जाती।

पागल—'राम-राम सीतराम सीताराम।' रामका दर्शन करनेके उद्देश्यसे वे सहमृता नहीं हुईं। 'राम-राम सीताराम सीताराम।'

तीसरी—महाभारतमें कुन्तीदेवी भी सहमृता नहीं हुईं?

पागल—'राम-राम सीताराम सीताराम।' सत्यवती और कुन्ती अपने बालकोंकी रक्षा करनेके हेतु सहमृता नहीं हुईं। नहीं तो, क्या कुरुवंश और क्या यदुवंश—दोनोंकी प्रधान-प्रधान रमणीगण सहमृता हुई थीं। 'राम-राम सीताराम।' इन्दासमें सतीके सहमरणके स्थानमें आज भी लोग धरना देते हैं, जिससे कठिन रोग भी दूर हो जाता है। गलसी थानाके पनसुरा गाँवमें सती आनन्दमयीके सहमरणके स्थानमें मन्दिर है। प्रान्त-प्रान्तमें सती-चौरे हैं, राजस्थान झूँझनू आदि-में सती रानीके प्रसिद्ध स्थान हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

दूसरी—क्या शास्त्रमें हमारे लिये और भी कर्तव्य हैं?

पागल—'राम-राम सीताराम।' पतिके मरनेपर पत्नीके ब्रह्मचर्य या सहमरणका विधान है। पति दुःशील, दुराचारी, निर्धन जो कुछ भी हो, पत्नी उसको देवता समझे। जीवनमें-मरणमें पतिके लिये अप्रिय कोई कार्य पत्नीको नहीं करना चाहिये। 'राम-राम सीताराम।' पतिकी मृत्यु होनेपर पत्नी ब्रह्मचर्य रक्खे, अत्यन्त क्लेशमें पड़नेपर भी किसी दूसरे पुरुषका नाम न ले। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—अच्छा बाबा, उस युगकी स्त्रियाँ भी वेद पढ़ती थीं, ब्रह्मवादिनी थीं—ऐसा सुना जाता है।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' नारियोंके दो भेद हैं—पहली 'ब्रह्मवादिनी' दूसरी 'सद्योद्वाहा।' इनमें ब्रह्मवादिनीके लिये अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और अपने घरमें भिक्षाग्रहणका विधान था। 'राम-राम सीताराम, जय-जय राम सीताराम।' इससे जान पड़ता है कि सर्वसाधारण स्त्रीजनका इसमें अधिकार नहीं था। 'राम-राम सीताराम।' पहले स्त्रियोंको यह अधिकार था, फिर कलियुगमें उनके लिये वेदाध्ययन आदि निषिद्ध हो गया। 'राम-राम सीताराम।' यमस्मृतिमें लिखा है कि पूर्वकालमें कुमारियोंके उपनयन, वेदारम्भ और गायत्रीका उपदेश होता था। उनके गुरु पिता, चाचा या ज्येष्ठ भ्राता होते थे। उनको पढ़ानेका अधिकारी दूसरा कोई नहीं होता था। 'राम-राम सीताराम।'

तीसरी—तब तो कलियुगके शास्त्रके मतसे कुएँका मेंढक सदा कुएँमें ही पड़ा रहेगा?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।' भूल न करो माँ! नारी कुएँका मेंढक नहीं है, नारी है जगद्धात्री, जगन्माता, गृहलक्ष्मी। भारतमें नारीका स्थान सर्वोपरि है, भारतकी नारियाँ स्वयं लक्ष्मी हैं। 'राम-राम सीताराम।'

'स्त्री नाम लक्ष्मीमैंत्रेय नानयोर्विद्यते परम्।'
'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥'

शास्त्र इसी प्रकार जगन्मातारूपिणी नारीको पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। 'राम-राम सीताराम सीताराम।' एक बहुजनमान्या प्राचीना विदुषीका कथन है—

'हे नारी! भक्ति-पुष्पाञ्जलि सिरपर धारण करो। नरके साथ एकासनपर मत बैठो। तुम जीवकी जननी, जगद्धात्री, जगन्माता हो, विधाताने सबके ऊपर तुम्हारा आसन बिछा दिया है।' 'राम-राम सीताराम।'

केवल इतना ही लक्ष्यमें रक्खो माँ, कि भारतकी क्या स्त्री, क्या पुरुष—सबका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। 'राम-राम सीताराम।' इसलिये शास्त्र वही व्यवस्था करते हैं जिसके अनुसार चलनेसे वे ईश्वर-दर्शन करनेमें समर्थ हों। 'राम-राम सीताराम।' अन्य जातिमें तो यह नहीं है माँ! उनमें एनीबेसेंट, सिस्टर निवेदिता आदि माताओंने भारत-नारीके ब्रह्मचर्य-व्रतका अनुवर्तन कर अपनेको धन्य-धन्य कर दिया है। वे भारत-नारीकी प्रशंसा शत-शत मुखसे करती हैं। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम।'

तीसरी—हमारे शास्त्रोंमें जो कुछ है सब अन्तर्मुख होनेके लिये है। अन्तर्मुख होनेपर नर-नारी ईश्वर-दर्शन करके शान्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं—आप यही कहते हैं न?

पागल—'राम-राम सीताराम ।' हाँ, माँ ! भारतके नर-नारीका एकमात्र लक्ष्य है ईश्वर-दर्शन । इसी लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर आज सब स्त्री-पुरुष हाहाकार कर रहे हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' कुछ एम्० ए० पास अध्यापिका माताएँ मुझसे बड़ा स्नेह रखती हैं, वे बीच-बीचमें आती हैं । एम्० ए० पास हैं, नौकरी करती हैं; इससे उनको, 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' शान्ति मिलना तो दूर रहा; संताप ही बढ़ता जा रहा है, ऐसा वे कहती हैं, 'राम-राम सीताराम ।'

पहली—जिन स्त्रियोंने लिखना-पढ़ना सीखा है, वे क्या करें ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' जो शान्ति चाहती हैं, उनके लिये यदि नौकरी किये बिना काम चले तो वैसी ही चेष्टा करना उचित है । यदि नौकरी करनी ही पड़े तो जिसमें पुरुषका सहयोग न हो, ऐसी नौकरी करनी चाहिये । पुरुषसे दूर रहना चाहिये । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम ।' विवाहिता सधवा शिक्षिता स्त्रियाँ घरमें देवीरूपसे रहकर पति-सेवा, गुरुजन-सेवा, देव-सेवा, अतिथि-सेवा 'राम-राम सीताराम'—सात्त्विक आहार, सद्ग्रन्थ-पाठ और यथासमय उपासना, ब्रह्मचर्य इत्यादिके आचरणके द्वारा भगवद्दर्शनके लिये प्राणपनसे लग जायँ । 'राम-राम सीताराम ।'

तीसरी—फिर पूछती हूँ बाबा ! तब तो भारतके नर-नारीका काम्य है ईश्वर-दर्शन ?

पागल—'जय-जय राम सीताराम सीताराम सीताराम ।' हाँ, माँ ! ईश्वर-दर्शन ही भारतवासीका चरम और परम लक्ष्य है । आज जो लाखों-लाखों नर-नारी दुर्निवार्य यन्त्रणा भोग रहे हैं 'राम-राम सीताराम' इसका कारण यही है कि वे लक्ष्यभ्रष्ट हो गये हैं । यथेच्छ आहार-विहार, स्त्री-पुरुषका अबाध मिलना-जुलना, असंयम, पाश्चात्त्य देशके विलास-व्यसनका अनुकरण ही, 'राम-राम सीताराम सीताराम'—इनके लिये रोग, दारिद्र्य आदि ला देता है । मनमाना भोग ही रोगरूपमें परिणत होकर दुःसह संताप उत्पन्न करता है । 'राम-राम' अब खोज करनेपर प्रतिशत दस आदमी भी स्वस्थ और सबल मिलेंगे या नहीं—इसमें संदेह है । उच्छृङ्खल यथेच्छ भोगके फलस्वरूप ही हजारों-हजारों अस्पतालोंकी सृष्टि हुई है । 'राम-राम सीताराम ।'

दूसरी—(तीसरीके प्रति) बोलो, तुमको और कुछ कहना हो तो कहो ।

तीसरी—चुप ।

पागल—'राम-राम सीताराम ।' अच्छा तुम्हीं सत्य-सत्य बताओ माँ, 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' एम्० ए० पास तथा और क्या-क्या पास करके क्या तुमने शान्ति प्राप्त की है ? 'राम-राम सीताराम ।' आशा करता हूँ, तुम सच-सच बतलाओगी 'राम-राम' ।

तीसरी—नहीं बाबा, शान्ति तो नहीं मिली, दिनोंदिन संताप ही बढ़ता जा रहा है । लोगोंसे स्त्री-शिक्षाके विषयमें तर्क करती हूँ, व्याख्यान देती हूँ; परंतु हृदय अशान्तिसे जला-भुना रहता है, मनमें आता है हाय ! मैंने लिखना-पढ़ना क्यों सीखा । अशिक्षित ग्राम्यवधू होती तो शायद स्वामीको सुखी बना सकती, परिवारमें शान्ति स्थापित होती ।

पागल—'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' । माँ ! भगवान्का आश्रय लिये बिना शान्ति प्राप्त हो नहीं सकती । 'राम-राम-राम सीताराम सीताराम सीताराम ।' बाहरकी दौड़-धूप छोड़ो, पतिकी सेवा करो और सदा राम-राम जपो । शान्ति दौड़ी आयेगी और तुम्हारी चिरसङ्गिनी हो जायगी । 'राम-राम सीताराम' माँ हमारी कितने रूपोंमें क्रीड़ा कर रही हैं, इसको समझना कठिन है । मैं कई ऐसी शिक्षिता माताओंको जानता हूँ, वे बाल-विधवा हैं । जो पतिभक्ति, भगवद्भक्ति और गुरुमें अचला भक्ति, सरल व्यवहार 'राम-राम सीताराम सीताराम' सबमें श्रद्धायुक्त होकर आनन्दसे कालयापन कर रही हैं । 'राम-राम सीताराम सीताराम ।' जो काय-मन-वचनसे श्रीभगवान्का आश्रय लेता है वह असत् होकर भी सत् हो जाता है । 'राम-राम सीताराम ।' मनुष्यका कर्तव्य है एकान्त भावसे भगवान्के शरण हो जाना । 'राम-राम सीताराम ।' भारतका वर्णाश्रम-धर्म, शिक्षा-दीक्षा, स्त्री-पुरुषके कर्तव्याकर्तव्य सबकी शास्त्रोंने इस प्रकारसे व्यवस्था की है कि उसके द्वारा गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही नर-नारी भगवत्-पथमें सुखसे अग्रसर हो सकते हैं । 'राम-राम सीताराम' दूसरी भोगपरायण जाति भोगको ही जानती है, भगवान्को नहीं जानती । 'राम-राम सीताराम, सीताराम सीताराम ।' और एक बात है—भारत-नारीकी पतिसेवा भगवत्प्राप्तिका एक अन्य-निरपेक्ष परम उपाय है । और कोई देवपूजा, धर्म-कर्म न करके भारत-नारी यदि केवल पति-परमेश्वरकी सेवा करे तो वह भगवत्प्राप्तिके समर्थ हो जायगी । नारीका कर्तव्य है पुरुषसे दूर रहना । कोई महापुरुष हों, गुरु हों, परमहंस हों, गुरुपुत्र हों, साधु हों, अन्य कोई भी पुरुष क्यों न हों, पुरुष पुरुष है—ऐसा मनमें

रखकर उनके साथ व्यवहार करे। 'राम-राम सीताराम सीताराम ।' पिता पतिको कन्यादान करता है । नारीका देह पतिका है । पतिके सिवा अन्य किसीका उस देहको स्पर्श करनेका अधिकार नहीं है । 'राम-राम सीताराम ।' नारीका अपने देहपर कोई अधिकार नहीं होता, उसका देह उसके पतिकी सम्पत्ति है । अतएव उसको पतिके सिवा कोई स्पर्श न करे-करावे । 'राम-राम सीताराम ।'

पहली—छूनेसे क्या होता है बाबा ?

पागल—'राम-राम सीताराम ।' आगमें हाथ देनेपर जैसे हाथ जल जाता है, उसी प्रकार पर-पुरुषके स्पर्शसे चित्त विक्षुब्ध होता है। 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' साधुओंके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌ने उद्धवसे कहा था 'राम-राम सीताराम' कि 'भिक्षु पैरके द्वारा काठकी युवतीको भी स्पर्श न करे । 'राम-राम सीताराम' स्पर्श करते ही हथिनीके अङ्गके साथ मोहित हाथीके समान बद्ध हो जायगा । 'राम-राम सीताराम ।' स्पर्शमें एक प्रबल आकर्षण है । एक बार किसी प्रकार यदि कोई नारी-देह स्पर्श करता है 'राम राम सीताराम' तो वह ऐसा आकर्षित हो जाता है कि फिर आत्मरक्षा नहीं कर पाता। 'राम-राम सीताराम।' 'माताएँ भी किसी भी बहाने पर-पुरुषका स्पर्श करनेपर महान् आकर्षणसे अधःपतित हो जायँगी । 'राम-राम सीताराम ।' अतएव सभी नर तथा नारीको स्पर्शके सम्बन्धमें खूब सावधान रहना चाहिये । 'राम-राम सीताराम ।' माँ, घरके मालिक तो भगवान् हैं, हम सब उनकी दासी हैं—यह मनमें रखकर गृहस्थ चलावे । पति-परमेश्वरकी सर्वतोभावसे सेवा करो, उनको संतुष्ट रक्खो । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम' और जिह्वासे सर्वदा राम रटन करो ।

ऊठत बैठत सदा जपो हरिनाम।
छिन जनि रसनाको देहु विश्राम॥

माँ !

सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः॥

सती देवियोंके पाद-पद्मकी धूलिसे पृथ्वी तुरंत पवित्र हो जाती है । मनुष्य पतिव्रताको प्रणाम करके पातकसे मुक्त हो जाता है। माँ! संसारमें वही माता धन्य है, वही पिता धन्य है और वही भाग्यवान् पति धन्य है, जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री विराजमान है । 'राम-राम सीताराम ।' पतिव्रता स्त्रीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनों कुलोंके तीन-तीन पुरुष स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोग करते हैं। 'राम-राम सीताराम'

पतिव्रताके चरण पृथ्वीके जिस-जिस स्थानको स्पर्श करते हैं, वह स्थान तीर्थभूमिके समान माननीय हो जाता है। उस भूमिपर कोई भार नहीं रहता, वह स्थान परम पवित्र हो जाता है । 'राम-राम सीताराम ।' अपनेको पवित्र करनेके उद्देश्यसे सूर्यनारायण डरते-डरते अपनी किरणोंसे पतिव्रताको स्पर्श करते हैं । चन्द्रमा और गन्धर्वगण भी पवित्र होनेके उद्देश्यसे पतिव्रताका स्पर्श करते हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' सुन लिया माई लोगोंने ?

पहली—बाबा ! आप और कुछ कहिये ।

पागल—'राम-राम सीताराम ।' अरे, एक जीभसे मैं सती नारीकी महिमाका क्या वर्णन करूँ ? 'राम-राम सीताराम सीता-राम सीताराम ।' सती नारी सहस्र पुरखोंका उद्धार करती है पतिव्रताका पति समस्त पातकसे मुक्त हो जाता है 'राम-राम सीताराम ।' सतियोंके व्रतके प्रभावसे उनके पतिको कर्मफल भोगना नहीं पड़ता । वे सारे कर्म-बन्धनोंसे मुक्त होकर पतीके साथ विष्णु भगवान्‌के वैकुण्ठमें आनन्द भोगते हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं वे सब तीर्थ सती-साध्वी स्त्रीके चरणोंमें विद्यमान हैं। सारे देवताओं और मुनियोंके सारे तेज सती नारीमें स्वभावतः अवस्थित होते हैं । 'राम-राम सीताराम ।' तपस्वियोंकी सारी तपस्या, व्रती लोगोंके व्रतके सारे फल तथा दाताओंके दानके सम्पूर्ण फल मिलकर पतिव्रता देवियोंमें व्याप्त हुए रहते हैं 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' स्वयं भगवान् नारायण, भगवान् शिव, सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी और सारे देवता तथा महर्षिवृन्द भी पतिव्रता स्त्रीसे सदा भय खाते हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' सतीके पदधूलिके स्पर्शसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है, मनुष्य पतिव्रताको नमस्कार करके सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है 'राम-राम सीताराम सीताराम ।' महापुण्यवती पतिव्रता अपने तेजके द्वारा क्षणभरमें त्रिभुवनको भस्म करनेकी शक्ति रखती हैं । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' पतिव्रताके पति और पुत्र दोनों निर्भय रहते हैं । उनको देवता या यमसे तनिक भी भय नहीं होता, 'राम-राम सीताराम सीताराम ।' जिन्होंने सैकड़ों जन्मोंमें पुण्य-सञ्चय किया है, उनके घर पतिव्रता कन्या जन्म लेती है । पतिव्रताकी माता परम पवित्र और पिता भी जीवन्मुक्त होता है 'राम-राम सीताराम जय-जय सीताराम ।' समस्त लोकोंके रचयिता ब्रह्माजीने कहीं कहा

अतिरिक्त किसी ऐसे रत्नकी सृष्टि नहीं की, 'राम-राम सीताराम'—जिसको देखने, सुनने, स्पर्श करने अथवा स्मरण करनेसे मनुष्यको आनन्द प्राप्त होता है, जिसके लिये धर्म और अर्थसंग्रह होता है। 'राम-राम सीताराम ।' पुत्रविषयक सुख उससे ही प्राप्त होता है। इसलिये मान्यवान् श्रेष्ठ व्यक्तियोंको उचित है कि गृहमें स्थित अबलाओंको गृहलक्ष्मी समझकर निरन्तर समादर प्रदान करें । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।' जैसे गङ्गामें अवगाहन करनेपर शरीर पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन करनेपर समस्त गृह पवित्र हो जाता है। मनुष्य पतिव्रताको प्रणाम करके पातकसे मुक्त हो जाता है, 'राम-राम सीताराम सीताराम सीताराम ।' माँ, माँ, पतिव्रता माताओ ! मैं तुम्हारे चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ । 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।'

सब—बाबा ! आप हमारा कोटि-कोटि प्रणाम स्वीकार करें । आज आपकी बात सुनकर हमको बड़ा आनन्द हुआ ।

पागल—'राम-राम सीताराम' माँ ! तुमलोग भी अपने इस छोटे बच्चेका प्रणाम स्वीकार करो ।

सती-शिरोमणि भारत-रमणी
तव चरणोंमें नमो नमः ।
पापहीन होता जो करता
तव चरणोंमें नमो नमः ॥

हे माताओ ! तुम वन्दनीया हो, पूजाकी पात्र हो ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

—मनु०

जहाँ नारियाँ पूजित होती हैं, वहाँ देवता आनन्दसे वास करते हैं और जहाँ वह पूजित नहीं होतीं, वहाँके सारे धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं ।

◆

मेरी जीवन-नदीकी धारा भगवच्चरणाम्बुधिकी ओर बह रही है

मेरी जीवन सरिता-धारा बहती तुम समुद्रकी ओर ।
नित्य निरन्तर सदा सजग, पर अपनी धुनमें बनी विभोर ॥
रखती तनिक न जगत्-जहरको रहती सदा सुधा-भरपूर ।
बढ़ती नित्य तुम्हारे सम्मुख करती सब विघ्नोंको चूर ॥
इसीलिये इसके दोनों ही तट बन रहे परम मनहर ।
लहराती सुख-शान्ति सुधाकी उनपर सदा सुरम्य लहर ॥
पाते सभी जीव नित इस जीवनसे शुचि मधुमय आनन्द ।
सुखी देख उनको सेवासे बढ़ता मेरा परमानन्द ॥
यों सुख देते-पाते मैं जा पहुँचूँगा प्रियतमके पास ।
हो निमग्न चरणाम्बुधिमें मैं मिल जाऊँगा बिना प्रयास ॥

◆

मधुर

उद्धवजी भगवान् श्यामसुन्दरका प्रेम-संदेश लेकर वृन्दावन पधारे। उनसे भावमयी—रसमयी श्रीगोपाङ्गनाओं-की जो बातचीत हुई, उसके अनेक रूप हैं। वे सभी मधुरतम दिव्यतम पवित्रतम प्रेमसागरकी विभिन्न तरङ्गें हैं जो एक-से-एक बढ़कर उत्तम, एक-से-एक बढ़कर रसोत्पादिनी और रसोन्मादिनी हैं। उनकी एक तरङ्गका यह नगण्य-सा दर्शन है—

महाभागा गोपियोंकी और श्रीराधारानीकी श्याम-वियोगमें दीन-दशा देखकर (क्योंकि अबतक वे उसी रूपमें उद्धवके सामने लीला कर रही थीं) उद्धवजी बड़े दुखी हुए और श्यामसुन्दरकी निन्दा करते हुए श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगे। मानो वस्तुतः ही इनका श्यामसुन्दरसे वियोग हो गया है, वे निष्ठुर इन्हें सदाके लिये त्यागकर चले गये हैं। सहानुभूति प्रकट करनेके साथ-साथ वे गोपाङ्गनाओंको ज्ञानयोगका उपदेश भी करने लगे। उद्धवजीको यह पता नहीं था कि श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रियतम श्यामसुन्दर उनको छोड़कर एक पल भी एक पैंड भी अलग नहीं जा सकते। वे तो सदा ही उनके समीप रहकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। उनका-इनका नित्य संयोग सहज है। उद्धवजीको यही बतानेके लिये श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंने कहा।

एक बोली—

ऊधौ ! कहा सिखावौ जोग।
हमरो नित्य-योग प्रियतम सौं,
होय न पलक बियोग॥
वे ही हमरे मति-मन इन्द्रिय,
वे ही जीवन-प्रान।
वे ही अंग अंग सब हमरे,
सेवैं बिनु ब्यवधान॥
रहैं सदा हिय माँझ हमारे,
भरे परम अनुराग।
रहि न सकैं वे मोहन हमकूँ,
कबहूँ त्रुटि भर त्याग॥
वे हममें, हम उनमें निसिदिन,
हम वे सदा अभिन्न।
सूर्य सूर्यकी किरन सदस हम,
रहैं कदापि न भिन्न॥
नित्य बिहार, नित्य नव लीला,
नित नव सुख-संयोग।
जोग-बिधान करौ तुम उनकूँ,
जिनके स्याम बियोग॥

'उद्धवजी ! तुम हमें क्या योगकी शिक्षा देते हो! हमारा तो प्रियतमसे नित्य-योग है, (हम नित्य ही उनसे जुड़ी हैं) एक पलके लिये कभी वियोग नहीं होता। वे श्यामसुन्दर ही हमारी बुद्धि हैं, मन हैं, इन्द्रियाँ हैं और वे ही हमारे जीवन हैं—प्राण हैं। हमारे एक-एक अङ्ग वे ही हैं और बिना किसी व्यवधान नित्य सेवन करते हैं। वे परम अनुराग भरकर सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें निवास करते हैं, वे मोहन एक त्रुटिके लिये भी कभी हमारा त्याग करके नहीं रह सकते। वे रात-दिन हममें हैं, हम उनमें हैं। हम और वे सदा ही अभिन्न हैं। सूर्य तथा सूर्यकी किरणोंके सदृश हम कभी पृथक् रहते ही नहीं। हमारा-उनका नित्य विहार है, नित्य नयी लीला है और नित्य नवीन सुख-संयोग है। तुम यह योग-विधान उनके लिये करो, जिनको श्यामसुन्दरका वियोग हो रहा है।'

दूसरीने अपना अनुभव बतलाया—

ऊधौ ! मोहन स्याम हमारे।
लिपटे रहत अंग अँग निसिदिन,
होत न कबहूँ न्यारे॥
मथुरा जाय मिले कुबजा तैं,
ये बाहर के खेल।
हमरौ उनकौ छुटत न कबहूँ,
हिय तैं हिय कौ मेल॥

उनके बिना न सत्ता हमरी,
छोड़ कहाँ वे जावैं ।
वे न रहैं तो हमकूँ, जीवित
कोई कैसे पावैं ॥
ऊधौ ! तुम्हरे नहीं नेत्र सो,
हमहिं स्याम जो दीन्हें ।
या तैं भरम परे तुम डोलत,
ग्यान-जोग पद लीन्हें ॥
हम मैं उन मैं दीखत जो, कछु
कबहुँ बियोग-बिछोह ।
रसबर्धन हित उदय होत, सो
लीला-रस-संदोह ॥

'उद्धवजी ! वे मनमोहन श्यामसुन्दर हमारे हैं, वे रात-दिन हमारे एक-एक अङ्गसे लिपटे रहते हैं, कभी अलग होते ही नहीं । वे मथुरा जाकर कुब्जासे मिले—यह सब तो उनके बाहरके खेल हैं—बाह्य लीलामात्र हैं । वस्तुतः हमारा-उनका जो हृदयसे हृदयका मिलाप है, वह कभी छूटता ही नहीं । (हमारी सत्ता ही उनसे है—) जब उनके बिना हमारा अस्तित्व ही नहीं, तब वे हमें छोड़कर कहाँ जायँ ? वे यदि चले जायँ, वे न रहें तो हमको कोई जीवित ही कैसे पा सकता है ? उद्धवजी ! श्यामसुन्दरने हमें जो नेत्र दे रक्खे हैं, वे तुम्हारे पास हैं ही नहीं, (इसीसे तुम उनको हमसे दूर समझते हो और) ज्ञानयोगका पदक लिये भ्रममें पड़े भटक रहे हो । हममें और उनमें यदि कभी कुछ वियोग-विछोह दिखायी देता है तो (वस्तुतः वियोग नहीं है) वह तो रसवृद्धिके लिये लीला-रस-समूहका उदय है ।'

तीसरी (श्रीराधारानी) ने अपना नित्य श्याम-संयोग और उनके सुखसे सुखी होना बतलाते हुए कहा—

ऊधौ ! हम क्यौं स्यामबियोगिनि ?
हम तो स्यामसुहागिनि नित ही,
नित ही स्याम-सँयोगिनि ॥
स्याम हमारे बाहर-भीतर,
रहत नित्य ही छाये ।
कया मैं, मन मैं, जीवन मैं,
केवल स्याम समाये ॥
रमत सदा हम मैं वे मोहन,
हम नित उनमैं रेलैं ।
पै वे रमन न, नहिं हम रमनी,
एक बने दो खेलैं ॥
मथुरागमन, कंसबध, कुबरी,
तैं जो उनको नेह ।
हमरे मन न अर्थ कछु इनकौ,
नहिं कछु मन संदेह ॥
स्याम नित्य ही हमरे हैं,
हमरे ही नित्य रहैंगे ।
बिछुरैंगे न पलक भर हम तैं,
बिछुरन की न कहैंगे ॥
लीला करैं कितहुँ वे, कैसी
लीलामय मनमोहन ।
यातैं परमाह्लाद बढ़ै नित,
देखि हँसी मुख सोहन ॥
सब कूँ वे सुख देयँ, सबहि तैं
वे प्यारे सुख पावैं ।
उनके मनकी होय सदा,
यह अति हमरे मन भावैं ॥
हम तैं होय न बिलग कबहुँ जब,
तब हम क्यों रिस मानैं ।
हमरे धन कूँ भले अन्य सब,
अपनौ ही धन जानैं ॥

'उद्धवजी ! हम श्याम-वियोगिनी क्यों हैं ? हम तो सदा-सर्वदा ही श्याम-सुहागिनी हैं और नित्य-निरन्तर ही श्यामसुन्दरके संयोगमें रहती हैं । हमारे बाहर-भीतर नित्य ही श्यामसुन्दर छाये रहते हैं; हमारे तनमें, मनमें, जीवनमें केवल श्यामसुन्दर ही समाये हुए हैं । वे मोहन सदा-सर्वदा हममें रमण करते हैं और हम नित्य ही उनमें घुली-मिली रहती हैं, तथापि न तो वे रमण हैं और न हम रमणी ही हैं । एक ही दो बनकर खेल करते हैं—लीला-रसास्वादन करते हैं । उनका जो मथुरा जाना, कंस-वध करना और कुब्जासे स्नेह करना है, इन बातोंका हमारे मनमें अन्य कुछ भी न तो अर्थ ही है और न कुछ भी संदेह है कि (वे पराये हो गये हैं या अलग चले गये हैं ।) वे श्यामसुन्दर नित्य हमारे

ही हैं, हमारे ही नित्य रहेंगे। वे पलभर भी न कभी हमसे बिछुड़ेंगे, न बिछुड़नेकी कहेंगे ही। वे लीलामय मनमोहन कहीं कैसी भी मनमानी लीला करें, उनके मुखपर शोभामयी हँसी देखकर उससे हमारा तो परमाह्लाद ही बढ़ेगा। वे प्रियतम सबको सुख दें और सब उनसे सुख प्राप्त करें, सदा उनके मनकी ही होती रहे, यह तो हमारे लिये बड़ी ही मनभावनी बात है। वे जब हमसे कभी अलग होते ही नहीं, तब हम क्यों बुरा मानें, भले ही हमारे इस धनको दूसरे सभी अपना ही धन जानते रहें।'

फिर एक प्रेमरसमयी गोपीने कहा—

ऊधौ ! प्रिय तें कहियो जाय।
है बाहरकी बात जदपि यह,
पै सुनियो मन लाय॥
ऊधौ कूँ पठाय सुधि लीन्हीं,
पठई निज कुसलात।
या तैं अति सुख भयौ हृदय मैं
नहिं आनंद समात॥
कंस मारि, बसुदेव-देवकी,
कूँ जो तुम सुख दीन्हौं।
उग्रसेन कूँ राज दियौ सो
सब ही अति भल कीन्हौं॥
बृंदाबन तजि बसे जाय
मथुरा ह्वै सत्ताधारी।
सुखी देखि यातें तुम कूँ हम
सुखी भईं अति भारी॥
जदपि बियोग तुम्हारौ दुःसह,
हृदयँ आग भभकावत।
पै तुम्हरौ सुख सुखी देख वह
रस-सुखमयी सुहावत॥
कुबरी तैं करि नेह प्रानधन !
जो तुम छिन सुख पायौ।
हमरे मन उमग्यौ सुख-सागर,
भयौ देखि मन भायौ॥
धन्य कूबरी नमन-जोग नित,
बनी जु प्रिय-सुख-साधन।
हम तो चरनसेविका ताँकी,
करैं समुद आराधन॥
सुखी रहौ तुम प्राननाथ ! नित
एक यही हम चाहैं।
जो तुम्हरे सुखके कारन हों,
तिन कूँ सदा सराहैं॥

'उद्धवजी ! तुम जाकर प्रियतमसे कह देना कि 'यद्यपि यह है तो बाहरी बात, तथापि तुम सुनना मन लगाकर। तुमने जो उद्धवको भेजकर हमारी सुधि ली एवं अपना कुशल-समाचार भेजा, इससे हमें बड़ा ही सुख मिला। यह आनन्द हमारे हृदयमें समा नहीं रहा है। तुमने जो कंसको मारकर वसुदेव-देवकीको सुख प्रदान किया, उग्रसेनको राज्य दिया सो सभी बहुत अच्छा किया। वृन्दावनका त्याग कर मथुरामें सत्ताधीश होकर बस गये, इससे तुमको सुख मिला, यह देखकर हम बहुत भारी सुखका अनुभव कर रही हैं। यद्यपि तुम्हारा वियोग दुःसह है और वह हृदयमें अग्निको भभकाता है परंतु तुम्हारे सुखको सुखी देखकर वह अग्नि रस-सुखमयी और सुहावनी बन गयी है। प्राणधन ! कुब्जासे प्रेम करके जो तुमने क्षणभर सुख प्राप्त किया, हमारी यह मनचाही चीज देखकर हमारे मनमें सुख-सागर उमड़ पड़ा; क्योंकि हम तो तुमको सुखी ही देखना चाहती हैं। कुब्जाको धन्य है, वह नित्य नमस्कारके योग्य है; क्योंकि वह हमारे प्रियतमका सुख-साधन बनी। हम तो उसकी चरणसेविका हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसकी आराधना करना चाहती हैं। प्राणनाथ ! तुम सुखी रहो, बस, हम सदा-सर्वदा यही चाहती हैं, और जो कुछ भी जो कोई भी तुम्हारे सुखके कारण हों, उनकी सदा प्रशंसा करती हैं।'

प्रियतम श्यामसुन्दरकी नित्य संनिधिका अनुभव करनेवाली और प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखको ही अपना परम सुख माननेवाली श्रीगोपाङ्गनाओंके पद-रज-कणों लाख-लाख नमस्कार !

◆

पाप और पुण्यकी कमाई

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः ।
(अथर्ववेद ७ । ११५ । ४)

अर्थात् ईमानदारीसे कमाया धन ही मनुष्यके पास ठहरता है । बेईमानीकी कमाईसे कोई फलता-फूलता नहीं ।

देवो देवेषु वनते हि वार्यं ।
(ऋग्वेद ६ । ११२)

धन उन्हींके पास ठहरता है जो सद्गुणी हैं । दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्प-कालमें नष्ट हो जाती है ।

मैं उपर्युक्त दो सूक्तियोंपर विचार कर रहा था कि अचानक मन पुरानी अनुभूतियों और विगत स्मृतियोंसे भर गया । एक-एककर स्मृति-पटलपर विभिन्न चित्र तेजीसे घूमने लगे । बड़े-बड़े अफसरोंके चित्र, गरीबोंके कुशाग्रबुद्धि बालकोंके चित्र, विपुल सम्पदाके स्वामियोंके चित्र जो आज इस संसारमें कुछ नहीं, केवल अपनी यादगार मात्र छोड़ गये हैं । मेरे सामने ये चित्र बोलने लगे हैं और अपनी-अपनी कहानियाँ कहनेको आतुर हो गये हैं । तो लीजिये इनकी सच्ची कहानियाँ सुनिये—

ये पहले व्यक्ति सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस हैं । मोटी तनख्वाह, आलीसान जीवन, घरमें पुलिस-विभागके अनेक मुफ्तमें आये हुए नौकर, घरकी मोटर, बढ़िया कपड़े । चारों ओर अमीरीके ठाट-बाट हैं । रंगीन जीवन है, घर जाइये, तो जैसे आप किसी छोटे-मोटे राजाके यहाँ ही आ गये । वह खातिर होती कि क्या कोई जागीरदार करेगा । सरकारसे छः-सात सौ रुपये वेतन मिलता होगा, पर ठाट ऐसे कि डेढ़ हजार व्यय करें । शराब और मांसका दौरदौरा, वेश्याके नृत्य भी ! शहरमें उनकी वह धाक हुई कि क्या कहें । लोग कहते, बड़े ऊँचे तबकेका अफसर हैं । क्या शानसे रहते हैं । खूब खाते-पीते हैं ।' सुपरिंटेंडेंट साहबके एक मात्र इकलौता पुत्र है, जो कालेजमें अमीरीके ठाट-बाटसे आता है, मोटरके बिना धरतीपर पाँव नहीं रखता । पढ़नेमें मन्दबुद्धि है, पर अध्यापक लोग उसकी वह इज्जत करते हैं, जो किसी राजकुमारकी करते होंगे । अभिनय, संगीत और नाटकमें इस लड़केको सर्वाधिक दिलचस्पी है । कालेजमें ड्रामा-विभाग, सारा उसीके बलबूतेपर चलता है । वह स्वयं अभिनय भी करता है, मित्रमण्डलीको खूब खिलाता भी है । एक ओर हम हैं जो एक मामूली अध्यापकके पुत्र हैं, हमारी पासवाली सीटपर बैठे हैं, सुपरिंटेंडेंट साहबके कुँवर साहब । उनका नौकर बाहर बैठा है, टिफिन लिये । किसीको उनसे बात करनेकी आज्ञा नहीं है; क्योंकि उनके बढ़िया सूटके खराब हो जानेका डर है । हम सब कक्षामें हैरत और आश्चर्यसे उनकी अमीरीको देखते और मन-ही-मन ईर्ष्या करते । दिन-रात पढ़कर हम उत्तीर्ण होते, जब कि वह लड़का न पढ़नेपर भी उठते-उठते मैट्रिकमें आ गया । बड़ी शानसे एक लखपति (या शायद करोड़पति) की कन्यासे उसका विवाह हुआ । विवाहमें अनेक बहुमूल्य हीरे-जवाहिरात दहेजरूपमें मिले ।

अब उनके ठाटके क्या कहने । मित्रोंको दावतें, सैर-सिनेमा, मिष्टान्न । उनकी पढ़ाई-लिखाई मैट्रिकसे ही छूट गयी । पिता पुलिसके ऊँचे अफसर थे । उनके प्रभावसे थानेदार बन गये । थानेदारीमें वेतन सौके लगभग-पर खर्च पाँच सौ रुपये । लोगोंको आश्चर्य होता कि यह सब कैसे आता है ? फिर उनके पिताजीकी मृत्यु हुई । जिंदगीने पलटा खाया । हाथ तंग होने लगा । विलास, पाप और फजूलखर्चीसे तो कारूँका खजाना भी खाली

हो जाता है। उनके पिताकी सम्पत्ति उड़ने लगी।

आज उन सज्जनकी हालत यह है कि घरके सब मकान—जायदाद बिक चुकी है। फटे हाल शराबकी दूकानोंके आगे टहलते नजर आते हैं। पत्नी, जिनके पास चार कन्याओंका बोझ है, उनसे पृथक् रहती है। उनपर मक्खियाँ भिनकती हैं। यदि किसी पुराने सहपाठीसे मिल जाते हैं तो शराबके लिये दो रुपये उधार माँगते हैं। सभी उनसे कतराते हैं। तन ढकनेतकके लिये उनके पास वस्त्र नहीं है। मैं जब कभी उन्हें देखता हूँ, उनके पिताजीके समयसे आजतकका उनका पूरा जीवन सिनेमाके फिल्मकी तरह मनोजगत्पर घूम उठता है!

दुर्गुण और गरीबीका कैसा निकट सम्बन्ध है, यह उनके जीवनसे स्पष्ट है। लक्ष्मी चञ्चला है सही, पर वह सद्गुण, संयम, उदारता, प्रेम और शीलमें ही निवास करती है। यदि हममें दुर्गुण हैं, विलास-व्यभिचार-व्यसन हैं तो वही लक्ष्मी हमारे पतनका कारण बन जाती है। इसीलिये अथर्ववेदमें प्रार्थना की गयी है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा-
भिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा
हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥
(अथर्व० ७। ११५। २)

अर्थात् "हे जगदीश्वर! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पड़ी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है, जो सेवित नहीं होती, जो किसीकी प्रीतिमय सेवामें नहीं आती, वह किस कामकी है? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नहीं है।' वह लक्ष्मी दुराचार बढ़ानेका कारण होती है। 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतनका भारी प्रलोभन होती है। ऐसा धन बुरे कार्योंमें ही बरबाद हुआ करता है और मनुष्यको नीचे गिरा देता है। ऐसी लक्ष्मीको मैं मोहके मारे त्यागता (परहितमें दे देता) भी नहीं हूँ और उस सबका स्वयं उपयोग भी नहीं कर सकता हूँ। इसलिये वह या तो बुरे काममें पतित हो जाती है या यों ही सड़कर नष्ट हो जाती है पर सबसे बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी मुझे चिमटी हुई, हर तरह मुझे ही बरबाद करती है मेरे जीवन-रसको चूसती है। अतः हे मेरे प्रेरक प्रभु मुझमें ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मीको—इस पहले कि वह पतित होने लगे और मुझे विन करने लगे—अन्यत्र धारित कर दूँ—किसी अ कार्यमें लगा दूँ, उसे अपनेपर लादे न रक्खूँ। सवितः! तुम ही उस दुर्लक्ष्मीको यहाँसे तो हटा दो यह 'लक्ष्मी' नहीं है, किंतु वह मेरे लिये विनाश शापरूप है। वह मुझपर मोहद्वारा चिमटी हुई केवल जीवन-रसको सुखा रही है, जैसे वन्दना बेल जिस वृक्ष लगती है उस वृक्षको बिल्कुल सुखा देती है, वैसे यह अजुष्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुए है, मेरा विनाश डालनेके लिये मुझे आच्छादित किये हुए है। हे प्रे तुम इससे मुझे छुड़ाओ। मेरे मोहको भङ्ग करके यहाँसे हटानेका मुझे सामर्थ्य दो, नहीं तो, यह 'अ लक्ष्मी मुझे चूसकर खतम कर रही है—मेरी उन्न रोक रही है, मेरे आत्मतेजको हरती जा रही है।

हे प्रेरक! मेरी प्रार्थना है कि आगेसे ऐसा धन मेरे पास आने ही न पाये। मुझे तुम बहुत ही थोड़ धन देना, पर वह धन चमकता हुआ, ते निष्कलङ्क हो, हिरण्य हो, हितरमण हो। वह सर्वांशमें उपयोग हो, उसका एक-एक अंश मेरे मेरे आत्मवीर्यका बढ़ानेवाला हो। तुम्हारे 'हिरण्यह ही अब मैं धन चाहता हूँ। तुम्हारे चमकते 'हिरण्यहस्त'से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन रहे जिसका कि एक-एक कण मेरे आत्मतेजको व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाय, वहाँ तेजके बढ़ानेमें ही उपयुक्त हो।"

हमारे यहाँ एक क्लर्क थे, मुश्किलसे ४५)–६०) मासिक पाते होंगे। उनके चार पुत्र और एक

थी। एक अंधेरे-से आधे कच्चे, आधे पक्के मकानमें रहते थे। आज हमारे मुहल्लेमें उनका वह पुराना मकान भर है। मुझे स्मरण है उनका पूरा जीवन बड़ी गरीबीमें बीता। अपने लड़कोंको पुस्तकें भी वे मुश्किलसे खरीदकर देते रहे। उनकी फीसें माफ रहीं। आज वे तो मर चुके हैं, पर उनका एक पुत्र इंजीनियर है, एक उच्चतम सरकारी अफसर है, एक इंगलैंड-रिटर्नड प्रोफेसर है और एक अध्यापक। सब बच्चे फल-फूल रहे हैं और समाजमें बहुत ऊँची पोजीशन बना ले गये हैं। उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि ये दीन-हीन गरीब क्लर्कके पुत्र हैं। उनकी थोड़ी-सी पुण्यकी कमाईमें ऐसी बरकत हुई कि वह चौगुनी-अठगुनी होकर फूली-फली है।

एक बारकी बात है कि मेरे पूज्य पिताजी, जिनकी आयु सत्तरके लगभग है, अपनी मासिक पेंशन बैंकसे लेकर लौट रहे थे। घर आये, तो मालूम हुआ कि वह पैंटकी जेबमेंसे रूमाल निकालते हुए कहीं बाजारमें ही गिर गये हैं। उनके मानसिक दुःखका क्या पूछना! बस, घर आये और अधमरे-से हो गये। चारपाईपर पड़ गये, खाँसी और बुखार शुरू हो गये। कुछ घंटोंमें ही वे ऐसे बीमार हो गये जैसे महीनोंके बीमार हों। वे र्षोंसे अध्यापक रहे हैं और पुण्यकी कमाईमें अखण्ड विश्वास रखते हैं। वे सोच रहे थे, 'मैंने कभी जीवन- अधर्मका एक पैसा नहीं लिया, हे भगवन्! फिर यह नि क्यों हुई।' इसी प्रकार तीन दिन व्यतीत हो गये। मैं कालेजमें था। घर आया तो मालूम हुआ कि से टेलीफोन आया था कि 'आपके खोये हुए रुपये गये हैं। आकर ले जाइये।' बड़ा आश्चर्य हुआ। में पता चला कि बैंकके आगे लिफाफेमें रक्खे हुए ये मिले हैं। पुराना लिफाफा था। पर उसपर पिता- का नाम लिखा था। पानेवालेने वे रुपये मय लिफाफेके पहुँचाये। वहाँ उसपर लिखे पतेकी सहायतासे हमारा पता लगा और तीन दिन बाद पुण्यकी कमाईके वे रुपये मिल गये।

इसी प्रकारकी अनेक घटनाएँ हमारे समाजमें दिन-रात होती रहती हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि यह रुपया, जो पापसे कमाया जाता है, बहुत जल्दी नष्ट होता है और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष मार्गोंसे अपने-आप निकल जाता है। यदि इसी पीढ़ीमें नहीं तो अगली पीढ़ीमें तो निश्चय ही समाप्त हो जाता है। पापकी कमाई कभी फूलती-फलती नहीं। पुण्यका हर पैसा बहुत बल रखता है। पुण्यात्मा अपने सामने और मरनेके उपरान्त भी फूलता-फलता ही रहता है। पुण्यकी जड़ हमेशा हरी रहती है। पापसे (रिश्वत, काला बाजार, धोखेबाजी, मिलावट, भ्रष्टाचार, बरबस हड़पने) कमाया हुआ धन मनुष्यके पास ठहरता नहीं। वह घरकी पूँजीको भी ले जाकर कंगाल बनाकर छोड़ जाता है। वेश्याओंकी कमाई बहुत अधिक होती है। पर क्या आपने कभी किसी वेश्याको स्थायीरूपसे समृद्धिशालिनी देखा है? एक हाथ आती है, तो वह पापकी कमाई दूसरी ओरको निकल जाती है। उससे क्षणिक प्रकाश और टीपटाप भले ही दिखायी दे जाय, पर जैसे तीव्र प्रकाशके बाद घनघोर अन्धकार छा जाता है, उसी प्रकार वह कमाई क्षणमात्रमें उड़ जाती है। चोर-डाकुओं, हत्यारों, जेबकटोंकी कमाईका क्या ठिकाना? उनकी पापकी कमाई शराब, विलास और गंदे कार्योंमें नष्ट होती है। चोरके छप्परपर फूँसतक नहीं रहता। इसी प्रकार अनीति, झूठ, फरेब और बेईमानीसे धन कमानेवाले गरीब-के-गरीब ही बने रहते हैं। यही ईश्वरकी सृष्टिका नैतिक विधान है। यह ईश्वरीय न्याय अटल और शाश्वत है।

पुण्यकी कमाईके साथ दैवी अणु-परमाणु जुड़े हुए हैं। इनसे दिव्य वातावरणका निर्माण होता है। ये अणु-परमाणु बड़ी तीव्रतासे मनुष्यके चारों ओर परिक्रमा किया

करते हैं । इन परमाणुओंके मध्यमें ईश्वरीय शक्ति विद्यमान रहती है । यह तत्त्व बड़ा शक्तिमान् है । जर्मनीके विख्यात दार्शनिक काण्ट महाशयने इस नैतिक नियमको अकाट्य और शाश्वत कहा है । जो भी इस नैतिक विधानके विरुद्ध जाते हैं, वे ईश्वरीय दण्ड पाते हैं । मनुष्यकी जब विवेक-बुद्धि विपरीत होती है, तब वह विचारशून्य हो मनमाना काम करता है, उनके नियमोंको तोड़ता है, पर उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती, आत्मसंतोष प्राप्त नहीं होता ।

प्रो० लालजीराम शुक्लके शब्दोंमें, 'यह नैतिक नियम एक वास्तविक तथ्य है । यह नियम विवेकपूर्ण है । मनुष्य जैसा है, वैसा ही वह अपने संसारको भी देखता है । जिन व्यक्तियोंका विवेक जाग्रत् नहीं होता, वे न तो संसारमें किसी नियमको कार्यान्वित होते हुए देखते हैं और न अपने जीवनकी घटनाओंमें वे केवल घटनाओंको देखते हैं और उनसे सुखी अथवा दुखी होते हैं, परंतु नियमको न जाननेके कारण बार-बार उन् भूलोंको करते रहते हैं । उन्हें सुधारनेके लिये प्रकृ उन्हें दण्ड देती है । अन्तर्जगत्में कार्य करनेवाला य नैतिक नियम अकाट्य है ।'

हमारी कमाईके पीछे-पीछे जो आध्यात्मिक नि कार्य करता है, उसे हमें समझना चाहिये । सम्भव ईमानदार आदमी प्रत्यक्षरूपसे कुछ निर्धन प्रतीत हो, अन्ततः वह घाटेमें नहीं रहता । उसे गुप्तरूपसे ईश्व पूँजी प्राप्त होती रहती है, जो उसकी थोड़ी-सी आ मिलकर बड़ा भारी आकार ग्रहण कर लेती है ।

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितमन्दिरे।
चलाचले तु संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥
(चाणक्

'न तो लक्ष्मी सदा रहनेवाली है न प्राण, जी और घर-द्वार । चलाचलीके इस डेरे—संसारमें के एक धर्म ही सदा रहनेवाली वस्तु है ।'

मैं सबमें सच्चिदानन्द भगवान्‌को देखकर परमानन्द प्राप्त करूँगा

नहीं करूँगा कभी किसीका अब तन-मन-धनसे अपमान ।
सबमें सदा देख प्रभुको मैं सदा करूँगा शुचि सम्मान ॥
परुष-व्यंग्य-निन्दा वचनोंका नहीं करूँगा मैं व्यवहार ।
सदा करूँगा सबका सुधामयी हित-वाणीसे सत्कार ॥
सबमें प्रभुके मैं अनुपम गुणगण ही देखूँगा सब ओर ।
नमन करूँगा मैं सबके पद-कमलोंमें हो भाव-विभोर ॥
प्राणि-पदार्थ सभी देंगे फिर मुझको नित्य परम आनन्द ।
क्योंकि सभीमें दीख पड़ेंगे मुझे नित्य सत्-चित्-आनन्द ॥

पूर्णकाम

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'तृष्णाक्षये स्वर्गपदं किमस्ति'

'देवाधिपकी मुखश्री आज म्लान दीखती है !' सुरगुरुने अमरोंकी अर्चा स्वीकार कर ली थी और महेन्द्रसे अभिवादित होकर वे सिंहासनपर बैठ चुके थे । इन्द्र एवं अन्य देवताओंने भी आसन ग्रहण कर लिया था । 'सुधर्मा सभामें आज चिन्ताकी अरुचिकर गन्ध है ।'

देवता गन्धग्राही होते हैं । सुरभि आघ्राण ही उनका आहार है । अतः यदि उन्हें मनोभावोंकी गन्ध भी आती हो तो कोई आश्चर्यकी बात तो है नहीं ।

'भारतवर्ष ही देवधानीका पोषक है ।' सुरपतिने खिन्न स्वरमें कहा—'उस कर्मभूमिसे उठी स्वाहा-समन्वित सुरभि ही सुरोंका पोषण करती है; किंतु अनेक बार उसके जन त्रिविष्टपको आशंकाकुल कर देते हैं ।'

'असुरोंने उस कर्मभूमिपर आधिपत्यकी कोई योजना बनायी है ?' बृहस्पतिका प्रश्न कहता था कि यह चर्चा कुछ देर चलेगी । गन्धर्वोंने अपने वाद्य उठाये और अप्सराएँ एक-एक करके देवसभासे जाने लगीं ।

'भगवान् वामनने जबसे उपेन्द्रपद स्वीकार करनेका अनुग्रह किया, असुरोंका साहस हतप्रभ हो गया । इस समय कर्मभूमि उनके लिये असह्य हो गयी है ।' वासवके सहस्र नेत्रोंमें आशंका साकार थी—'मानव जब अपने स्वरूपमें आ जाता है, हम सुरोंके लिये भी वह दुराधर्ष होता है । इधर ब्रह्मावर्तमें एक ऋषिकुमार सुरसरिके तटपर आ बसा है । उसका तप विरमित ही नहीं होता ।'

'मदन-देव और मलयमारुतका स्मरण क्या इस बार देवाधिपको अनावश्यक लगने लगा है ?' देवगुरुने पूछा । वे स्वयं इधर दीर्घकालसे अपने आराधनमें लीन थे । उन्हें न अमरावतीका कोई समाचार ज्ञात था और न धराका ही ।

'वसन्त उस विप्रके मनको अधिक एकाग्र करता है । शीतल पवन और विकच पुष्पराशि उसे अन्तर्लीन होनेकी प्रेरणा देती है ।' महेन्द्र कह रहे थे—'मन्मथके समस्त शर कुसुम-धनुषपर ही स्तम्भित हो गये उसकी आश्रम-सीमामें और अप्सराओंका संगीत जैसे ही प्रारम्भ हुआ, वह स्वयं करताल उठाये उनके बीच आ गया । नेत्र बंद किये उद्दाम नृत्य-कीर्तनमें तन्मय उस अद्भुत मानवको स्वर्ग-सुन्दरियाँ कैसे प्रभावित करतीं । उसे अपने ही शरीरकी सुधि नहीं रही तो फिर उसके आस-पास देवाङ्गनाएँ सावरण हों अथवा निरावरण—क्या अर्थ रह गया इसका ।'

'तपस्वी शीघ्र क्रुद्ध होता है और क्रोध कामकी अपेक्षा तपस्तेजका अधिक नाशक है ।' देवगुरुने एक और मार्ग सुझाया । 'ठीक है कि महेन्द्रने यह कार्य कभी कामानुजको नहीं दिया; किंतु जब अग्रज विफल हो गया···· ।'

'अनुजके लिये अवकाश भी तो हो ।' इन्द्र बीचमें ही बोले—'वह कहाँ कभी रुष्ट होता है । अद्भुत तापस यदि वह न होता, हमें इतनी चिन्ता क्यों होनी थी । रूक्षता उसके हृदयका स्पर्श नहीं करती । चाहे जब, चाहे जिस नियमको स्थगित करके उपस्थित श्रोताको कोई कथा सुनाने लगेगा अथवा स्वयं करताल उठा लेगा । गद्गद कण्ठ, रोमाञ्चित देह और अश्रुप्रवाह तो मानो रुकना जानते ही नहीं ।'

'आप नहीं मानते कि वह अमरावतीका अधिकारी हो गया है ?' इस बार सुरगुरुका स्वर कुछ भिन्न प्रकारका था—'समुचित अधिकारीको पुरस्कृत करनेमें यदि सुरेश्वर प्रमाद करने लगें, लोकपालोंकी नियुक्ति पितामहने क्यों की। उस तापसका पार्थिव देह साधनपूत हो चुका। सत्त्वशुद्ध शरीर यहाँ आकर श्रीवृद्धि ही करेगा देवधानीकी।'

'वे वन्दनीय यदि स्वीकार कर लें, हम उनका स्वागत करके अपनेको कृतार्थ मानेंगे।' महेन्द्रने गुरुके चरणोंमें मस्तक झुकाया। 'एक क्षणको भी उन्होंने त्रिविष्टपका स्मरण किया होता, उन्हें यह दिव्य भूमि अलभ्य नहीं थी। किंतु वे तपोधन—उनके संकल्पकी अपेक्षा मुझे क्यों करनी चाहिये ? श्रीचरण कुछ काल मेरे सदनको पवित्र करें ! मातलि मेरा रथ लेकर धराको धन्य करने जा रहे हैं।'

मातलिको आदेशकी अपेक्षा नहीं थी। देवता संकल्पसाक्षी होते हैं। देवराजके चित्तमें जो संकल्प उठा, मातलिके लिये वही पर्याप्त आदेश था।

× × ×

'भगवन् आप····।' तपस्वी तनिक अस्तव्यस्त उठ खड़ा हुआ। वह श्रद्धाप्राण—ध्यानसे नेत्र खोलते ही जब एक रत्नाभरणभूषित ज्योतिर्देह पुरुष सम्मुख दीख पड़ा, त्वरापूर्वक अभिवादनके लिये उठा वह विप्रकुमार।

'मैं प्रणम्य नहीं देव !' मातलिने झटपट दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया—'देवराजका सारथि है यह जन और इसे मातलि कहा जाता है। श्रीचरणोंके दर्शन करके आज यह सुर-सूत धन्य हुआ।'

'आप मानव-वन्द्य हैं और आज तो अतिथि हैं इस अकिंचनके।' तपस्वीने भी प्रणाम किया और आसन दिया। 'सुरसरिका जल और दो धराके क्षुद्र सुमन—यहाँ आपका सत्कार करनेको और है ही क्या।'

'आपके प्रेमाश्रुसे सिंचित ये रजःकण स्रष्टाके भी भालको भूषित करने योग्य हैं।' मातलिने धूलि उठाकर मस्तकपर लगा ली; किंतु तपस्वीके द्वारा दिया अर्घ्य-पाद्यादि उन्हें स्वीकार करना पड़ा।

'आप कोई आदेश देकर इस जनको कृतार्थ करेंगे।' नम्रताकी मूर्ति तापस अर्चाके अनन्तर अनुरोध कर रहा था।

'प्रार्थना करने ही आया हूँ।' मातलिको स्वयं उत्कण्ठा थी—'देवराजने अपना रथ भेजा है कि श्रीचरण अब अमरावतीको अपनी उपस्थितिसे पवित्र करनेकी कृपा करें।'

'मनुकी संतानको सुरोंका आदेश श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिये।' तपस्वीने कोई आपत्ति नहीं की। उन परिग्रहरहित एकाकी साधुको कोई तैयारी तो करनी ही नहीं थी। मातलिके पीछे वे रथपर विराजमान हो गये। सशरीर स्वर्ग जानेमें कोई महत्ता भी है, यह बात उनके मनमें आयी ही नहीं।

'देवधानी धन्य हुई।' महेन्द्रने आगे आकर स्वागत किया। उन्हें आशा ही नहीं थी यह युवा तपस्वी इतनी सरलतासे उनका अनुरोध स्वीकार कर लेगा।

'आपको कोई असुविधा न हो, देवराज इसका ध्यान रक्खेंगे !' सुरगुरुने अङ्कमाल दी प्रणिपात करते विप्रकुमारको। 'आप देवधानी देख लें। जो सौध अनुकूल लगे वह आपके लिये सुरक्षित है, ऐसा ही मानें। यहाँ सभी आपका सख्य प्राप्त करके प्रसन्न होंगे और जिसे भी सेवाका अवसर प्राप्त होगा, वही कृतार्थ समझेगा अपनेको।'

'मैं तो आपका आज्ञानुवर्ती हूँ।' तपस्वीने बद्धाञ्जलि निवेदन किया—'मेरे योग्य जो सेवा सुरगुरु अथवा सुराधिप निर्दिष्ट करें ! वैसे मुझे अपने अनुकूल नभोगङ्गाका वह रम्यतट लगता है, जिसे मैं नगर-परिखाके

ब्राह्म भागमें देख आया हूँ । यदि आप सब अनुमति दें, मुझे वहाँ आसन लगानेमें प्रसन्नता होगी ।'

महेन्द्रने सुरगुरुकी ओर देखा—'यह मानव तो इस देवभूमिमें भी तपोवन बनानेका स्वप्न देखता प्रतीत होता है ।'

'इनकी इच्छाका अतिक्रमण करनेकी शक्ति सुरोंमें नहीं है, यह हमें स्मरण रखना होगा ।' महर्षि बृहस्पतिने देवराजको संकल्पकी भाषामें ही उत्तर दे दिया और तपस्वीसे बोले—'जहाँ आप प्रसन्न हों, हमें कोई बाधा नहीं ।'

× × ×

'हम बार-बार श्वासरोधकी पीड़ासे त्रस्त होती हैं ।' अप्सराओंने अभियोग उपस्थित किया—'मानव-तपस्वी जब श्वासरोध करके वृत्तियोंको केन्द्रित करता है, हमारे लिये अपने अङ्ग हिलाना कठिन हो जाता है और वह प्राय: अपने आसनपर बैठा ही रहता है ।'

'सुरकाननके सुमन म्लान हो गये हैं ।' किन्नरोंने देवराजसे निवेदन किया—'उपोषित मानवका उष्ण श्वास सुरपादपके लिये भी असह्य होता जा रहा है ।'

'चित्तमें आनन्दका उत्स आवे तो संगीतके स्वर रसको साकार करते हैं ।' गन्धर्वोंने वाद्य त्याग दिये सुधर्मा सभामें देवेन्द्रके सम्मुख—'धरासे आया अतिथि चित्त-वृत्तिनिरोध कर लेता है और हमारे मानसमें कोई वृत्ति उठ ही नहीं पाती ।'

'अमरावती अब अमरोंके निवासके लिये अयोग्य होती जा रही है ।' देवता अत्यन्त क्लेशभरे स्वरमें कह रहे थे—'हम सब सत्त्ववृत्ति हैं । मानव जब सत्त्वका भी रोध करके ऊपर उठता है, लगता है हमारी सत्ता ही समाप्त हो जायगी ।'

'अदम्य है तापसका अनुभव !' स्वयं देवगुरुने स्वीकार किया—'सम्पूर्ण अमरावतीका वातावरण उसकी उपस्थितिमात्रसे उसके द्वारा नियन्त्रित होने लगा है ।'

'हमारे उद्यान अब उजड़े लगते हैं । हमारे सदन क्रीड़ाविरहित हैं । सुधातकमें हमें अब स्वाद नहीं प्राप्त होता ।' सुरेन्द्र स्वयं संत्रस्त हो उठे थे—'अपने आवासमें तपस्वीका प्रभाव हमें बलात् भोगवर्जित किये दे रहा है ।'

'सुर साधनाका शान्त आनन्द आस्वादन नहीं कर पाते ।' देवगुरुने समस्याको समझ लिया था—'और तपस्वीकी परम तत्त्वसे एकात्मता उन्हें गुणके हीन सुखमें रहने नहीं देती । फलत: एक अद्भुत आकुलताका अनुभव हम सब करने लगे हैं ।'

'वे तपोधन करते क्या हैं ?' देवगुरुने कहा—'हम निकटसे इसे एक बार भलीभाँति देख लें ।'

'वे जबसे आये हैं, उन्होंने एक भी संकल्प नहीं किया ।' गन्धर्वश्रेष्ठ हूहूने बताया; क्योंकि तपस्वीकी सेवाका विशेष भार उन्हींपर था । 'इस दिव्यभूमिमें आकर उन्हें न क्षुधा व्याप्त हो सकती और न पिपासा ही । पार्थिव मल भी यहाँ उनके श्रीअङ्गके अन्तर्बाह्य स्पर्शसे वञ्चित हैं । भिक्षा करनेका भला वे क्यों स्मरण करें । स्नान अवश्य वे बार-बार करते हैं । व्योमगङ्गाके तटको सम्भवत: इस सुविधाकी दृष्टिसे ही उन्होंने चुना ।'

'आपने उन्हें सुधापानका अधिकारी नहीं माना ?' देवगुरुने उपालम्भकी दृष्टिसे देवराजको देखा।

'वे इच्छा करते, सुरा-सुराङ्गना-सुरतरुसुमन—सभी अमरावतीके भोग सार्थक बनते ।' शक्रका स्वर शिथिल था—'इच्छाके अभावमें कोई विषय स्वाद नहीं दे पाता । सृष्टिकर्ताने इसीलिये स्वर्गकी मर्यादा निश्चित की—इच्छा करते ही भोगकी उपलब्धि । अनिच्छित भोग तो हम किसीको दे नहीं पाते और वे अद्भुत अतिथि हैं कि इच्छा करना जैसे उन्हें आता ही नहीं ।'

'वे कर्मभूमि भेजे नहीं जा सकते, क्योंकि अमरपुर

आकर कोई पुण्य क्षीण हुए बिना धरापर जाता नहीं। उन अमित प्रभावके पुण्य!' सुरगुरु चिन्तित हुए—'स्वर्ग उनके तेजको सहन नहीं कर पा रहा है और ऊर्ध्व लोकोंमें किसीको हम भेजनेकी शक्ति नहीं रखते!'

'जो अधिकारी हैं, उन्हें कोई भेजे; इसकी अपेक्षा कहाँ है?' सहसा देवर्षिका स्वर आया। वे नित्य परिव्राट् अकस्मात् अमरावती आ पहुँचे थे। सुरेन्द्रको आश्वासन प्राप्त हुआ।

'भगवन्! हमने एक मानव-तपस्वीको सशरीर ले आनेकी भूल की!' देवगुरु संकोचपूर्वक बोले।

'वह क्षीण-तृष्ण है और जब तृष्णा ही न रहे, चित्तमें स्वर्ग उसके लिये सत्ताशून्य हो उठता है।' देवर्षिने वाक्य पूरा किया—'उसकी उपस्थितिने देवयानी-की सत्ता संदिग्ध बना दी है; किंतु उस महाप्राणका स्वागत करनेके लिये श्वेतद्वीपके षडूर्मिरहित क्षीणतृष्ण पावनप्राण समुत्सुक हैं। मैं उसे लेने ही आया हूँ।'

तपस्वीको कितनी प्रसन्नता हुई देवर्षिके साथ प्रस्थान करनेमें। भगवान् नारायणने स्वयं उसे स्मरण किया था। उसका भाग्य………… ।

श्रीगुरु गोरखनाथ

[वास्तविक योगी]

(लेखक—साहित्याचार्य रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी)

श्रीगुरु गोरखनाथजीकी वाणीका समादर संतसमाजमें अच्छा होता पाया गया है। इनकी वाणीका प्रभाव अभी जन-साधारणपर उतना नहीं पड़ा, जितना कि भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीकी रामायणका।

श्रीगुरु गोरखनाथकी वाणीने प्रत्येक वस्तुका स्पर्श किया है और जातिविशेषको भी उसके कर्मानुसार ही अच्छा उपदेश दिया है। अपनी वाणीमें योगियोंके लिये 'अवधूत' शब्दका प्रयोग किया है। अतः अवधूतोंको सम्बोधन करते हुए उनको सुधारनेकी शिक्षा दी है, जैसा कि नीचेके अवतरणोंसे प्रकट होता है। जिनमें शिक्षा दी गयी है कि सब व्यवहार युक्तिपूर्वक और सोच-समझकर करने चाहिये—

वाणी

हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा धीरैं धरिबा पाँवं।
गरव न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरष रावं॥
भरथा (भरीया) ते थीरं झल झलंति आधा।
सिधे सिध मिल्या रे अवधू बोल्या अरु लाधा॥
नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़ करि राषहु चीया।
काम क्रोध अहंकार निवारौ तौ सबै दिसंतर कीया॥

एकदम अचानक जल्दीसे बोलना नहीं चाहिये। पाँव फटाफट करके यानी पटकते हुए नहीं चलना चाहिये। धीरे-धीरे पैर रखना चाहिये। घमंड नहीं करना चाहिये। सदैव सहज स्वाभाविक स्थितिमें रहना चाहिये, यह गोरखनाथका उपदेश है। जो भरे-पूरे हैं और ज्ञानयुक्त हैं वे ही स्थिर और गम्भीर होते हैं। ऐसे पूरे योगी अपने ज्ञानका प्रदर्शन नहीं करते फिरते। जिस प्रकार ओछे घट छलकते हैं उसी प्रकार अधूरे योगी अपना प्रदर्शन करते फिरते हैं और अपने चञ्चल स्वभावके कारण ऐसे योगी यत्र-तत्र ज्ञानका दिखावा करते हैं। सिद्धि-प्राप्त पुरुष ऐसे छिछोड़ोंसे नहीं बोला करते। अतः हे अवधूत! सिद्धको पाकर ही सिद्ध बोलते हैं।

योगीजनोंका कोई घर-बार नहीं होता, सर्वत्र और सारी दुनियाँ ही उनका घर है, इस कारण वे सब जगह घूमते रहते हैं। यही उनकी विरक्तताका द्योतक है। इनमेंसे कुछ ऐसे भी योगी हैं जिनको देशाटन करनेकी आदत-सी पड़ गयी है। ऐसोंके लिये श्रीगोरखनाथका उपदेश है कि देश-देशान्तरमें भ्रमण करना स्वयं देशान्तरके उद्देश्य अथवा लक्ष्यसे आवश्यक नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब चित्त स्थिर है और काम-क्रोध लोभ-मोह तथा अहंकारका निवारण हो गया है तो फिर सभी देशान्तर हो गये। कारण यह है कि निवृत्तिके ही लिये देशाटन किया जाता है जो चित्तकी स्थिरतासे निष्पन्न हो जाता है। यहाँ 'चीया' शब्दका अर्थ है चित्त। योगीको तो चाहिये—

‘थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ तिस घटि पवनां रहै समाइ ।’

कम बोलना चाहिये और थोड़ा खाना चाहिये; यह नहीं कि भोजनको अनाप-शनाप खाया जाय । जो मितभाषी तथा अल्पाहारी है उसके शरीरमें पवन समाया रहता है ।

अवधू अहार तोड़ो निद्रा मोड़ो कबहु न होइगा रोगी ।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूं को को बिरला योगी ॥
देव कला ते संजम रहिबा भूत कला आहारं ।
मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं ॥
अवधू निद्रा कै घरि व्यालु जंजालं अहार कै घरि चोरं ।
मैथुन कै घरि जुरा गरासै अरध उरध लै जोरं ॥

हे अवधूत ! आहारको तोड़ो यानी कम खाओ, मिताहारी बनो और सोओ भी नहीं और छठे-छमासे कभी-कभी कायाकल्प भी किया करो । इस क्रियासे कभी रोगी नहीं हो पाओगे, ऐसा तो बिरले ही योगी कर पाते हैं ।

आहार उतना ही करना चाहिये जिससे शरीरकी रक्षा हो सके और जिससे अपने देवत्वकी रक्षा हो इस संयमसे रहना चाहिये । जो योगी मन-पवनको संयुक्तकर उन्मनावस्थामें लीन कर देते हैं वे ही तत्त्वका सार प्राप्त करते हैं । निद्रामें आसक्ति होनेसे जीव कालके जंजालमें फँसता है और मैथुनसे बुढ़ापा आ घेरता है । अतः नीचे गिरनेवाले (अरध) रेतस्‌को ऊर्ध्वावस्थासे जोड़ना चाहिये । तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वरेता होना चाहिये ।

अति अहार यंद्री बल करै, नासै ग्यान मैथुन चित धरै ।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल, ताके हिरदै सदा जंजाल ॥
घटि घटि गोरष वाही क्यारी, जो निपजै सो होइ हमारी ।
घटि घटि गोरष कहै कहाँणी काँचै भांड़ै रहै न पाणी ॥

अत्यन्त आहार करनेसे इन्द्रियाँ बलवती हो जाती हैं जिससे ज्ञानका नाश होता है और तब वह व्यक्ति वासना-तृप्तिकी इच्छा करने लगता है और उसकी निद्रा बढ़ जाती है तथा काल उसे ढक लेता है । फिर ऐसा पुरुष हमेशा उलझनमें पड़ा रहता है ।

गोरख प्रत्येक शरीरमें अपना उपदेश कर रहे हैं, अनाहत नाद हो रहा है । परंतु इसका लाभ तो वे ही उठा सकते हैं जिन्होंने अपनी कायाको सिद्ध कर लिया है । गोरख शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—जो ब्रह्ममें लीन आत्मा होनेके कारण स्वयं ब्रह्म है, जो प्रत्येक व्यक्तिकी शरीररूपी क्यारीको जोतता-बोता है, यानी प्रत्येकके हृदयमें परमात्मा बीजरूपसे मौजूद है, विद्यमान है, परंतु गोरखकी ब्रह्मकी वही क्यारी है, जिसमें कुछ उपज हो । कहनेका तात्पर्य यह है कि गोरख हरेक शरीरमें अपना उपदेश कर रहे हैं । लाभ वे ही उठा सकते हैं जिन्होंने कायाको सिद्ध कर लिया है ।

हे अवधूत ! शरीरको वश करनेके बाहरी उपायोंसे योग-सिद्धि नहीं होती, कारण कि खड़ाऊँ पहननेवाला चलनेमें फिसल जाता है, लोहेकी साँकलोंसे जकड़नेसे शरीर नष्ट हो जाता है । जो नागा है, मौनी है तथा दूधाधारी है इतनोंको योग लाभ नहीं होता । जैसा कहा है—

नागा मूनी दूधाधारी एता जोग न पाया ।

इसका कारण यह बताया है कि—

दूधाधारी पर घरि चित, नागा लकड़ी चाहै नित ।
मोनी करै म्यंत्रकी आस, बिन गुर गुदड़ी नहीं बे सास ।
अवधू नव घाटी रोकि लै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अविचल विध, छाया विबर जित निपजै सिध ।
अवधू दंभ कौ गहिबा, उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं
गगन मंडलमें तेज चमक्कै चंद नहीं तहाँ सूरं ॥

योगीको इस प्रकार रहना चाहिये । उसे उन्मनावस्थामें लीन रहना चाहिये । झरनेपर पानी (अमृत) पीना चाहिये । गुरुके मुखसे ज्ञानोपदेश सुननेके लिये लंका क्या परलंका जाना चाहिये अर्थात् माया (लंका राक्षसोंकी मायाविनी नगरी) को छोड़कर उससे परे (पर लंका) हो जाना चाहिये । तभी गुरुका दिया ज्ञानोपदेश हृदयंगम हो सकता है और तब फिर वह वास्तविक योगी हो सकता है । गुरु-महिमामें परमहंस अनन्त श्रीभोपाजी महाराजकी प्रार्थना है (जाग्रत जीवनसे)

गुरु मध्य आदि अनन्त अद्भुत अमल अगम अगोचरम् ।
विभु विरज पार अपार निर्गुण सगुण सत विश्वेश्वरम् ॥
जिहि मति लखै नहिं तेहि लखै सो शुद्ध तत्व विचार है ।
जो चरण कमलकी ओर आया भवसे बेड़ा पार है ॥
गुरु विष्णु मूरत शिवकी सूरत गुरु वही ब्रह्मा जान तू ।
गुरु ब्रह्म है पर ब्रह्म है यह सोच समझके मान तू ॥
कर गुरुकी संगत रात दिन नर जन्म अपना सुधार ले ।
दे फेंक माया बोझ सिरसे यमका शीश न मार ले ॥

◆

वेदोंका अद्यतन पाठ ही 'मूल' है

(लेखक—श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

आज भी हमारी वैदिकधार्मिकता तथा सांस्कृतिक सभ्यताका स्रोत वेदोंके आधारपर ही किसी-न-किसी रूपमें सतत प्रवाहित होता चला आ रहा है । यद्यपि आज उनके बहुत-से अंश लुप्त हो गये हैं तथापि अवशिष्ट अंशोंसे ही हम उनकी पाठ-प्राचीनताका अङ्कन भली-भाँति कर सकते हैं । कहना न होगा कि आज भी उनका स्वरूप हमें उसी रूपमें दृष्टिगोचर हो रहा है जिस रूपमें आजसे कई सहस्र वर्ष पहले विद्यमान था । यह गौरव तो केवल वैदिक-साहित्यको ही देना समीचीन जान पड़ता है, लौकिकको नहीं । कारण, उसमें तो बहुत कुछ परिवर्तन और यत्र-तत्र क्या प्रायः सर्वत्र ही पाठभेदकी भरमार दिखायी देती है । पर वेदोंके विषयमें हम ऐसा नहीं कह सकते । सम्भवतः इसके मुख्यतम कई एक कारण हैं । सर्वप्रथम यदि इनके उदात्तादि त्रिविध स्वरोंपर विचार किया जाय तो यही जान पड़ेगा कि उनके उसी प्राथमिक मूल रूपकी अभिरक्षाके लिये इन स्वरोंकी कल्पना की गयी जिससे उन मन्त्रोंके अर्थमें किसी प्रकारका विकार न आ सके । स्वरोंसे ही तो उनके अर्थ सीमाबद्ध रहते हैं । अन्यथा लोगोंकी कल्पना-शक्तिका संचार वहाँ भी जैसे-तैसे दिखायी ही दे जाता और संहिता-पाठका स्वरूप भी आज कुछ और ही होता । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण लौकिक-साहित्यमें देखा जा सकता है जिसके कि आज अनेकों रूप प्रचलित हैं । वेदोंकी इसी प्राचीनताके रक्षार्थ इन उदात्तादि स्वरोंकी अनिवार्यताका यही रहस्य है । नहीं तो, इनमें इन स्वरोंकी कल्पनाका रहस्य ही क्या ! कुछ समझकर ही तो कभी महर्षि पाणिनिने अपनी 'शिक्षा' में—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ५२

—की ओर संकेत किया था । जो हो, तत्प्रयुक्त अपराधका फल तो इन्द्रशत्रु 'वृत्र' को प्रत्यक्ष ही मिला था न ! फिर इनकी महत्तामें किसी प्रकारका संदेह कैसा ! देखिये न उसी शिक्षामें महर्षि पाणिनि इन स्वरोंके महत्त्वके बारेमें क्या कह रहे हैं—

हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥५४॥
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम् ।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ॥५५॥

निदान इन्हीं स्वरोंसे परितः आबद्धकर मन्त्रोंकी अनर्थ परम्परा रोकी गयी और सदाके लिये उनके एक रूपकी निर्धारित की गयी, परिणामस्वरूप उनके पाठ आजके अभिनव युगमें भी अपने उसी प्राचीनतम मौलिक अस्तित्वका साक्ष्य देते हुए यथास्थान सुरक्षित हैं ।

इसके अतिरिक्त दूसरा कारण 'षडङ्गों' की रचना है इन षडङ्गोंने भी वेदोंके 'उपबृंहण' में बहुत कुछ प्रका डाला है । कारण यह कि अङ्गज्ञानके बिना 'अङ्गी' भलीभाँति हृदयंगम कर लेना कुछ सरल नहीं । तो प्रसंगमें इनके साथ ही उनके (वेदोंके) अर्थानुशील भी थोड़ा विचार कर लेना है । यों तो वेदार्थानुशीलनके एक प्रकार हैं । किंतु सम्प्रति उसके मुख्य दो प्रकार जाते हैं—एक प्राचीन परम्परागत और द्वितीय अर्वा परम्परागत । अर्वाचीन परम्परासे वेदार्थ-परिशीलनमें दृष्टिकोणद्वारा बाहरी साहित्यकी अत्यधिक अपेक्षा होती है बिना उसके उसका परितः अध्ययन-आलोडन सम्भव अब रही प्राचीन परम्पराकी बात । सो उसमें परम्पराके आधारपर ही प्राचीनताकी दृष्टिसे उनका प्रायः देखा जाता है, और इस दृष्टिकोणसे षडङ्गोंका वेदके उपबृंहणके लिये आवश्यक ही नहीं, प्रत्युत अनिवार्य है । कारण, इन्हींके द्वारा तो उनकी दुरूहता दूर होती है उनका प्रत्यक्ष बोध होता है तथा इसी बोधके 'साङ्ग' वेदका अध्येता ब्रह्मलोकमें पूजित होता है—

तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४२

तो उनके अङ्ग भी ये हैं—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ४१
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

(पाणिनीयशिक्षा

अब यदि स्पष्टरूपसे यह कहा जाय कि वेदों पूर्वरूपताकी रक्षाके हेतु ही इन षडङ्गोंका निर्माण हुआ है सम्भवतः अतिशयोक्ति भी न होगी । कारण भी प्रकट चतुर्वेदोंके साथ ही तो छन्द, कल्प, ज्योतिष्, शिक्षा और व्याकरणकी गणना 'अपरा' विद्यामें की

और उपनिषदोंकी 'परा' विद्यामें । वेदभाष्यकर्ता आचार्य सायणने 'ऋग्वेद' की निजी 'भाष्यभूमिका'में 'मुण्डकोपनिषद्' का अवतरण देते हुए स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—

अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि । अत एव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषदि आथर्वणिका आमनन्ति "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्ड० १ । १ । ४) इति । साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम् । परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वादुपनिषदां परविद्यात्वम् ।

(वेदभाष्यभूमिका-संग्रह, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस सिटी, पृष्ठ ४९)

जो कुछ हो यहाँ हमें 'अपरा' और 'परा' का विवेचन इष्ट नहीं; इष्ट तो है वेदोंका वर्तमान पाठ । शिक्षा-कल्प आदिकी प्रयोजनसिद्धिके साथ ही 'व्याकरण'के प्रयोजनके लिये स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—'रक्षोहागमलध्वसन्देहाःप्रयोजनम्' बस, इन्हीं प्रयोजनोंके उद्देश्यसे 'व्याकरण' को 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' का गौरव पद प्राप्त हुआ, होता भी क्यों नहीं । वाणीकी शोभा भी तो व्याकरणसे ही होती है न ? 'वाणी व्याकरणेन' फिर तो इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि यही व्याकरण आज महर्षि पाणिनि आदिके द्वारा परिष्कृत रूपमें हमें पढ़नेको मिला है । अस्तु ।

निरुक्तकार यास्क, महर्षि शाकल्य एवं आचार्यप्रवर गार्ग्य आदि प्राचीन भाष्यकारोंके समयसे लेकर महर्षि पाणिनिके समयतक इन वेदोंका जो रूप स्थिर रहा वही रूप आज भी अक्षिगोचर हो रहा है । पाणिनिके कतिपय सूत्रों—'तेन प्रोक्तम्, ४ । ३ । १०१ । प्रोक्ताल्लुक् । ४ । २ । ६४ ॥' आदिमें वेद-मन्त्रोंके उसी प्राचीन रूपकी झलक किसी-न-किसी रूपमें दिखायी देती है । उन्होंने जहाँ कहीं भी 'प्रोक्तम्' 'प्रोक्तात्' आदिका प्रयोग किया है सर्वत्र उससे उनका कुछ-न-कुछ आभास अवश्य मिल जाता है । कारण यह कि व्याख्याकारोंने भी स्फुट शब्दोंमें 'प्रोक्ते-वेदे' का ही उल्लेख किया है । इतना कुछ कहनेका एकमात्र अभिप्राय यह कि वेदोंका अद्यतन पाठ ही उनका प्राक्तन मूल पाठ है । मन्त्रब्राह्मणात्मक ही तो उनका प्रधान स्वरूप ठहरा । फिर उनके पाठोंकी प्राचीनतामें किसीको संदेह क्यों ?

कुछ भी हो, इस तरह इन षडङ्गोंकी सहायतासे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि उनकी (षडङ्गोंकी) रचनाका रहस्य मुख्यरूपसे वेदोंकी मूल-पाठपद्धतिको तदनुरूपता प्रदान करना ही है । इस दृष्टिसे 'पुराण' तथा 'इतिहास' को भी इसी कोटिमें स्थान दिया जा सकता है; क्योंकि ये भी वेदार्थको सर्वातिशयेन उपबृंहित करते हैं—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

हाँ, तो कुछ और ध्यान देनेसे इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि कालान्तरमें जो वेदमन्त्रोंको पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ, शिखापाठ आदि अष्ट विकृति-पाठोंमें परिवर्तित किया गया है उसका भी एकमात्र उद्देश्य यही है । इस प्रकार बहुविध उपायोंद्वारा वेदमन्त्रोंका स्वरूप परितः सुव्यवस्थित किया गया और सर्वतः पाठभेदसे बचाया गया ।

प्रसंगतः इतना और भी जान लें कि महर्षि जैमिनिके निर्धारित 'वेदत्रयी'के रूप भी आज हमें उसी पूर्व रूपमें दिखायी दे रहे हैं, जिस रूपमें कभी उन्होंने इसका स्वरूप अपने सूत्रोंमें निश्चित किया था । उनकी दृष्टिमें ऋक्, साम तथा यजुर्वेदका स्थिर रूप क्रमशः यह है—

(१) तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।
(जै० २ । १ । ३५)
(२) गीतिषु सामाख्या । (जै० २ । १ । ३६)
(३) शेषे यजुः शब्द । (जै० २ । १ । ३७)

स्वरोंके बारेमें जैसा कि पहले कहा गया है—उनका सीधा सम्बन्ध केवल 'वेद' से है, 'काव्य'से नहीं, तभी तो काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मटने भी—

'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरोविशेषप्रतीतिकृत् ।'

—का उद्‌बोध करते हुए—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते ।'

—का उल्लेख किया । इस तरह भी इन स्वरोंको 'वेद' की यथामूल सत्ताका हेतु कहा जा सकता है । भाव यह कि वेदोंमें हमें कहीं भी किसी प्रकारका कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता ।

अब रही इन चतुर्वेदोंमें प्राथमिकता आदिकी बात, तो इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि इनमें प्रथम स्थान है 'ऋग्वेद' का और चतुर्थ है 'अथर्ववेद' का । अन्तरालवर्ती

वेदोंमें द्वितीय स्थान है 'सामवेद' का और तृतीय है 'यजुर्वेद' का । जैसा कि पुरुषसूक्तके इस 'मन्त्र' से स्पष्ट है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

केवल यही नहीं, महत्ताकी दृष्टिसे भी 'ऋग्वेद'को सबसे ऊँचा स्थान मिला है और है भी वह सबसे प्राचीन और विपुलकाय ही । इसमें अनेक वैदिक देवताओंकी मनोरम कल्पना की गयी है । देवताओंकी स्तुति ही तो वेदग्रन्थोंका प्रधान विषय रहा है । कहा जाता है कि 'ऋग्वेद' का द्वितीय मण्डलसे अष्टम मण्डलतकका भाग बहुत पुराना है और इसके ऋषि भी क्रमशः नियत हैं । इन ऋषियोंके नाम क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ और कण्व हैं । इन्हें मन्त्रोंका द्रष्टा कहा गया है, रचयिता नहीं । प्रथम, नवम तथा दशम मण्डलमें इससे कुछ भिन्नता है । ऋग्वेदमें ऐसी अनेक आख्यान-संहिताएँ हैं, जिन्हें हम पौराणिक आख्यायिकाओंका मूल रूप कह सकते हैं ।

इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका निवारण ही इन वेदोंका सर्वस्व है और इसी नाते इन्हें 'मित्र'का रूप दिया गया है । तभी तो इनके समक्ष आजतक विश्वका कोई भी साहित्य टिक न सका । जो कुछ भी हो । निरुक्तकार यास्कने देवताओंको स्थानभेदसे तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—(१) द्युस्थान (२) अन्तरिक्षस्थान तथा (३) पृथ्वीस्थान । द्युलोकस्थानीय देवताओंमें वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन्, उषस् और अश्विनी मुख्यरूपसे आते हैं । अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें इन्द्र, अपात, नपात, रुद्र, मरुद्, वायु आदि प्रधान माने गये हैं । अब रहे पृथ्वीस्थानीय देवता, तो इनमें अग्नि और सोमका स्थान सबसे ऊँचा है । 'वेद'के अध्ययनसे ही इनका वास्तविक रहस्य खुलता है । इनके अतिरिक्त बृहस्पति देवताकी कल्पना भी सबसे निराली ही है ।

यद्यपि आज समय बदला, लोग बदले, फिर भी वेदोंका स्वरूप वही रहा जो पहले था । इन वेदोंकी रचना तथा पौरुषेयता एवं अपौरुषेयताको लेकर भी कम वाद-प्रतिवाद विद्वानोंमें नहीं हुआ । किसीने ई० पूर्व १००० वर्ष इसे रचनाकी अवधि माना तो किसीने २००० वर्ष पूर्व । किंतु लोकमान्य तिलकने गणितके आधारपर ऋग्वेदकी सत्ता ई० पूर्व० ६००० वर्षसे भी पुरानी ठहराया और अब तो एक प्रकारसे यही मत सर्वमान्य भी समझा जा रहा है ।

कहनेको चाहे जो भी कहा जाय पर इतना तो ध्रुव सत्य है कि वेदोंका काल अनादि है—

यस्य निःश्वसितं वेदाः ।

साथ ही इतना और भी निवेदन है कि इसीके साथ ही इनकी पौरुषेयता एवं अपौरुषेयताका वाद भी अपने-आप मिट जाता है ।

अच्छा, तो वेदानुशीलनके लिये इतिहास-पुराणकी आवश्यकताका यत्किंचित् निर्देश ऊपर किया जा चुका है और लोग इस बातसे भी प्रायः परिचित हैं कि 'इतिहास-पुराण'को 'पञ्चम वेद' के नामसे भी पुकारा जाता है । 'छान्दोग्य' उपनिषद्का आप ही स्पष्ट कथन है—

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः । (७।१)

तो फिर इससे तो इतना और भी भलीभाँति स्फुट हो जाता है कि उस वैदिक युगमें भी पुराणेतिहासके अध्ययनकी परम्परा थी । देखिये तो सही । इसी उपनिषद्में वहीं सनत्कुमारजीसे नारदजीका स्पष्ट निर्देश है—

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह अध्ययनकी परम्परा 'बहुश्रुत' रूपमें ही उस समय प्रचलित थी, अल्पश्रुत रूपमें नहीं । कारण 'अल्पश्रुत' से वेद भी तो सदा डरता है—

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति ।
(म० भा० १ । १ । २६७)

निदान उनके परिशीलन और परिरक्षणमें बहुश्रुतत्व अपेक्षित है । बस, अबतक जो कुछ कहा गया है, उसका एकमात्र तात्पर्य यही है कि इन्हीं सब विपुल साधनोंके द्वारा वेदग्रन्थोंमें किसी प्रकारकी विशृङ्खलता न आने पायी और पाठभेदसे बचाकर सदाके लिये उनकी एकरूपता सुस्थिर की गयी । अन्यथा क्या होता इसे कौन कहे ?

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

मन और शरीरकी अजीबोगरीब अवस्थामें हम इस मार्गकी यह अन्तिम घाटी पारकर जब भैरों घाटी पहुँचे तो ऐसा जान पड़ा मानो हमने एवरेस्ट विजय कर ली हो। हमारे पंडाजीने यहाँ हमारे निवासकी व्यवस्था चट्टीकी एक धर्मशालामें की थी। जैसे ही धर्मशालाका नाम हमारे सामने आया, हमारा मन गिर गया। बेवश मनसे इस धर्मशालाके उस कमरेमें, जो हमारे लिये पंडाजीने बड़ी मुश्किलसे सुरक्षित कराया था, घुसे, अपना सामान रक्खा और थोड़ी देर हाथ-पैर फैला कुछ थकान मिटायी। मार्गकी चढ़ाईके कारण हमारे भारवाहक आज काफी देरसे सामान लेकर पहुँचे। जब सामान आ गया, तब नहानेकी सूझी और साधनकी तलाश की। पर यहाँ एक बड़ी विडम्बना हुई कि जहाँ निकट ही वरुणदेवका जीवन धारण किये भागीरथी बह रही हों, वहाँ पानी नहीं था। कहने और सुननेमें बात बड़ी विचित्र थी। 'भरे समुन्दर घोंघा प्यासा' तथा 'कुआँ पास और फिर भी प्यासा' वाली कहावत हमलोगोंके लिये चरितार्थ हो रही थी। इसका कारण था। भागीरथी अत्यन्त निकट बह रही थीं, उनके नादसे हमारे कान पवित्र थे, किंतु उनकी इस निकटतामें जो अन्तर और गहराई थी वह एक ऐसे कुएँके सदृश थी जिसमें रस्सी थी नहींवाली बात नहीं वरं न रस्सी डाली जा सकती थी और न किसी प्रकार नीचे ही उतरा जा सकता था। दो अत्यन्त ऊँची उपत्यकाओंके मध्यमें एक भयानक खंदककी तहमें भागीरथी बह रही थीं जिन्हें हम देख रहे थे, उनके रवको सुन रहे थे, पर उनका सामीप्य हमारे लिये दुर्लभ था। हमलोग बड़ी मुश्किलमें पड़े। मालूम हुआ चट्टीसे कुछ दूरपर लकड़ीकी नालीसे एक झरनेको बहाया गया है। हमलोग जब यहाँ पहुँचे तो देखा, बड़े ही सूक्ष्मरूपमें इस लकड़ीकी नालीसे थोड़ा-थोड़ा पानी छल-छल बह रहा है। हमलोग बारह आदमी थे, यदि हमारे दलको ही बारी-बारी नहाने दिया जाय तो मुश्किलसे दो घंटेमें सब निबट पाते, फिर यहाँ तो यात्रियोंका आलम पड़ा था। एक नहा रहा है, दूसरा बीचमें ही अपना लोटा अड़ा देता। कभी-कभी कोई चालाकीसे उस स्थानसे, जहाँ यह लकड़ीकी नाली समाप्त होकर नलके रूपमें खुली हुई थी कुछ दूर और आगे जाकर बीचहीमें पानी लेने लगता, जिससे यहाँ पानी आना बिल्कुल बंद हो जाता और लोगोंमें बड़ी घबराहट मच जाती, जब कोई आगे दौड़ता और उसे मना करता जो बीचहीमें पानी ले रहा था, तब फिर यहाँ लोगोंका निस्तार शुरू होता। एक बार तो बहुत दूर किसी मवेशी या वन-जन्तुने लकड़ीकी इस नालीके एक खण्डको ही दूसरेसे पृथक् कर दिया और इस खण्डके अलग होते ही जब यहाँ पानी आना बंद हुआ तो लोग घबराये और यह देखने कि, कहाँ किसने गड़बड़ की, जब कुछ लोग आगे गये तो बहुत दूरपर पहाड़की ऊँचाईपर देखा नाली खण्डित थी और सारा पानी जमीनमें बह रहा था। इस तरह बड़ी विकट स्थितिका हमें यहाँ सामना करना पड़ा। इसी नालीके समीप मैदानमें हमने अपने भोजनोंकी व्यवस्था की और नपे-तुले नापमें इस अनमोल जलका यहाँ उपयोग कर हमने जीवन और जलके इस सम्बन्धको निभाया।

कुछ देरके लिये यहाँसे हम पहाड़की दो चोटियोंको जोड़नेवाले उस पुलको देखने गये, जिसे हमने भैरोंघाटीकी अन्तिम चढ़ाईके पूर्व देखा था। यह स्थान भैरोंघाटीसे निकट ही है। हमने देखा दो ऊँचे शिखरोंपर यह पुल पड़ा है। जैसा कि हमने भैरोंघाटीके नीचेसे देखा था। इस पुलके सम्बन्धमें लोगोंसे चर्चा करनेपर मालूम हुआ कि बहुत वर्षों पूर्व जब वर्तमान मार्ग नहीं था, तब गंगोत्तरी-मार्गके यात्रियोंको इससे भी कठिन और दुर्गम मार्ग पारकर यह भयंकर पुल पार करना पड़ता था। कहते हैं यह पुल कभी-कभी वायुके वेगके कारण उलट भी जाता था। कभी-कभी घंटों हवा चलती और इस पुलको पार करनेवाले यात्रियोंको इस स्थितिका सामना करना पड़ता तथा घंटों रुककर जब हवा स्थिर हो जाती, तब वे पुल पार करते। अनेक बार तो यात्री भी इस पुलको पार करते दुनियासे पार हो जाते थे। आज जब कि अभी भी मार्ग अत्यन्त कठिन है, जब हम इस तरहके मार्गों और पुलोंको हमारे पूर्वजोंने पारकर इन धामोंकी यात्रा की है, यह देखते हैं तो उनके धैर्य, साहस और उस महान् आस्तिकतापर हमें आश्चर्य होता है। हिमको

हिला देनेवाली मनको कँपा देनेवाली उनकी ये यात्राएँ सचमुच ही आश्चर्यजनक थीं। वे मानव होते हुए भी वास्तवमें देव ही थे।

हमलोगोंने भोजनोपरान्त विश्राम किया। आज हमारा रात्रि-विश्राम यहीं था। सुक्कीके सदृश भैरोंघाटीकी ऊँचाई भी ८७०० फुट ही थी। ऊँचाईके कारण शीत बढ़ गया था किंतु सहनीय, मौसम साफ था। गंगोत्तरी-मार्गमें अभीतक हम केवल एक जगह अपने मुकामकी प्रथम चट्टी सिंगोटकी सार्वजनिक धर्मशालामें ठहरे थे। यमुनोत्तरीके सदृश ही चट्टियोंकी धर्मशालाकी दुर्दशा और उनके आस-पासकी गंदगीका जो हाल हमने यहाँ देखा, उसके सम्बन्धमें अपने सिंगोट मुकामपर चर्चा की है। इसके बाद हम सौभाग्यसे या तो वनविभागके विश्रामालय अथवा प्राथमिक पाठशालाओंमें ठहरे। अतएव सारे मार्गमें यात्रियोंकी भीड़-भाड़ और चट्टियोंके दृश्य देखते चलनेपर भी अनुभवकी दृष्टिसे उनसे काफी दूर रहे और बहुत दूरतक चट्टियोंके अपने मुकामोंकी तकलीफोंको भी भूल गये थे। किंतु, आज भैरोंघाटीमें चट्टीकी इस धर्मशालामें पैर पड़ते ही हमें फिर चट्टी-महिमा याद आ गयी और न केवल याद ही आयी, वरं हमारी यमुनोत्तरी-यात्राकी उन सारी घटनाओंकी यहाँ भी पुनरावृत्ति होने लगी जो हमारे चट्टी मुकामोंपर हुई थी। हमलोग इस धर्मशालाके ऊपरके भागमें ठहरे हुए थे। असावधानीवश या कहिये इस धर्मशालाकी कृपासे हमारे कमरेसे कुछ शीतल जल चूकर नीचे गिर गया। कमरेमें पटियोंका पटाव था। मौसम रातका फिर कुछ ठंडा। नीचे यात्री पड़े थे। ज्यों ही ऊपरसे चू रहे इस शीतल जलने उनके बिस्तरोंको तर करते हुए उन्हें ठंडक पहुँचायी, वे गरम हो उठे और तड़पते हुए ऊपर आकर लगे आग बरसाने। किसी तरह समझा-बुझाकर उन्हें फिर गीले बिस्तारोंमें सुलाया। दूसरी घटना एक और घटी। हमारे कमरेमें एक लकड़ीका पटवा था, जो केवल बाहरकी दालानसे कुछ खुला था, सीढ़ी या कोई रास्ता आदि कतई नहीं था। हमलोग अपने कमरेमें सो गये और जब करीब एक घंटा नींद भी ले चुके, यकायक ऊपर इस पटवापर कुछ खड़बड़ाहट और बादमें आदमियोंकी आवाज आयी। एक क्षणके लिये हमलोग कुछ परेशान हुए, ऊपर यह क्या! आदमी कहाँसे आये। पर ज्यों ही हमने गोविन्दप्रसादको बुलाया और जब उन्होंने देखा तो मालूम हुआ ऊपर लगभग ५० आदमी पड़े हैं। हमारे मना करनेपर माने नहीं, रातभर पटवापर पड़े हल्ल मचाते रहे और हमारी नींद हराम करते रहे। इधर कमरेके सामने दरवाजेसे लगा हुआ सारी दालानपर नर-समूह प था। तिल रखनेको जगह नहीं, वाली बात थी। इनमें एक तो रातभर बड़े जोर-जोरसे कुछ गाता रहा। समझमें न आया किस भक्ति-प्रवाहमें यह बह रहा था। रात संकटमें जा रही थी। फिर ९ जूनको उस शुभ भोरकी भी हमें प्रतीक्षा थी जो हमारी यात्राका एक प्रमुख घटक, एक ग्रह और एक शुभ नक्षत्र बना, हमें इतने दिनोंसे अपनी प्रतीक्षामें पग-पग बढ़ाये ला रहा था। अतः प्रभातकी प्रतीक्षामें पड़े पड़े ज्योंही गोविन्ददासकी घड़ीने तीन बजाये, हमलोगोंने बिस्तर छोड़ दिये। बिस्तर बाँधे, लकड़ीवाली नालीसे संचि जलसे जो रातमें ही एक बाल्टी रख लिया था, नित्यकर्मसे फारिग होकर कुल्ले किये। आज मुँह धोने लायक भी पा नहीं था। और पौ फटते-फटते 'जय गंगोत्तरी' बोल निक पड़े।

यमुनोत्तरी मार्गकी गंगानी चट्टी छोड़ते हुए गंगोत्तरीकी अपनी लगभग ७५ मीलकी जिस यात्राका हमने संकल किया था, अब उसकी दूरी कुछ ही घंटोंकी थी। गत आ दिनोंसे लगातार चलकर अबतक ६८ मीलकी हम या कर चुके थे। थका देनेवाला लंबा, बीहड़ और संकी दुर्गम मार्ग हम आजतक जिस आशा और उत्साहसे प करते आये थे वह आशा और उत्साह आज हममें ए बारगी फिर अपनी पूरी ताकतसे उभर आया था। इ मन एकाग्र थे, पग संयत थे और पथ भी हमें आगे बढ़नेके लिये प्रेरित कर रहा था। फिर भी, अपने संकल्पकी सफल और लक्ष्यकी पूर्तिकी यह अन्तिम मंजिल जो केवल साढ़े मीलकी थी, मुश्किलसे केवल चार घंटेकी कितनी कं और कितने अधिक समय लेनेवाली लगी। पीछेकी अप यात्रामें हमने एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचनेमें नौ-नौ मीलकी चलाई की थी और मार्गजन्य आपदाओंके का अनेक बार हम ऊबे थे। जब हम ऊबते, हमारा मन खिन्न होता, प्राकृतिक जगत् हमें लुभाता, भागीरथी हमारा सा देतीं और इन दो दिव्य शक्तियोंके सहारे हम आगे ब रहते। किंतु, आजकी स्थिति भिन्न थी। मार्ग भी यद कोई साफ नहीं था और था सीधा। सदैवकी तरह चढ़ाईवाला भैरोंघाटीसे हमें लगभग १६०० सौ फुट आज फिर चढ़ना था, काफी चढ़ाई थी, किंतु इन सब विघ्

परिस्थितियोंमें भी न हमें आज मार्गका बोध था, न उसकी चढ़ाईका। केवल एक भावनामें, मनकी एक तन्मयतामें हम चल रहे थे। आज हमारी भावना थी केवल गंगोत्तरी, इसीमें हम तन्मय थे और इसी तन्मय अवस्थामें हमारे पग बढ़ रहे थे। आज भान हुआ, मनकी अवस्थाका बाह्य जगत्से उसके वातावरणसे कैसा सम्बन्ध है। यदि मन स्वस्थ नहीं है तो अनुकूल परिस्थितियाँ और सुन्दर-से-सुन्दर वातावरण भी हमें फीका और कड़ुआ दीखता है। किंतु जब मन स्वस्थ हो तो वह विपरीत परिस्थितियोंका भी दृढ़तासे मुकाबला करनेमें समर्थ होता है जैसा कि हमने अपनी पिछली यात्रामें अनुभव किया है और जब मनके साथ परिस्थितियाँ भी अनकूल हों, वातावरण भी सुन्दर हो तो आनन्दका ठिकाना नहीं रहता, फिर वह एक उल्लासकी सतहपर कार्य करता है। हमारे मनकी आज यही स्थिति थी। अपने गन्तव्यके सामीप्यसे, लक्ष्यकी निकटताके सुखसे पुलकित हमारा मन एक उल्लासकी सतहपर चल रहा था और इसीलिये हमें न मार्गकी दुर्गमताका बोध होता और न चढ़ाईका। एक ओर भागीरथीका भव्य प्रवाह लुभाता, आस-पास प्राकृतिक जगत् रिझाता और सामने अपने गन्तव्यका आकर्षण हमें खींचता। चारों ओर आकर्षण और प्रत्याकर्षणका ऐसा सुन्दर समा बँधा कि एक पावन प्रेमीके सदृश पग-पग पाँव बढ़ाते हम व्याकुल भावसे बढ़े जा रहे थे और ज्यों ही गंगोत्तरी पहुँचे तो गंगोत्तरीदर्शनके साथ ही हमें जान पड़ा जैसे पलक मारते हम यहाँ आ पहुँचे। गंगोत्तरीकी श्रमहारी छटा हमारे नेत्रोंमें समा गयी और हम सब जय गंगोत्तरी बोल उठे।

९ जूनके शुभ प्रातःकालमें ठीक ९ बजे सुरसरिकी इस पावन पुरीमें हमने प्रवेश किया। हमारे पंडा श्रीचेतरामजीने निवास आदिकी व्यवस्था यहाँ एक अच्छे स्थानपर की थी। साफ़ सुन्दर दुमंजिले मकानके ऊपरी भागमें हमने अपना सामान रक्खा और झटपट सुरसरि-तीर पहुँचे। आचमन किया और रवि-रश्मियोंकी आभामें भक्तिमयी भागीरथीके दिव्य रूप-छटा-माधुर्यका रसपान करने लगे। एक अद्भुत उत्साह और कैसी प्रतीक्षासे पहुँचे थे आज हम इस रम्य पावन तटपर। लगता मानो हमने आज अपनी सुकृत-संचित पूँजी भर पायी। दर्शन-प्यासे लालची लोचन आज दर्शन करते नहीं अघाते, कभी सुरसरिकी थिरकती धाराको देखते, कभी उनके चतुर्दिक् छायी शिखरावलीकी रूपसुधा पान करते और कभी स्वयं निर्झर बन अमृत बरसाते। बड़ी देर तक इस स्थितिमें बैठे रहे। जब हमारे पंडाजीने हमें आकर नहानेके लिये कहा, तब हमने अपने कपड़े और दान-पूजनादिकी सामग्री लाने अपने साथियोंको खबर भेज दी।

यमुनोत्तरीके सदृश गंगोत्तरी भी गङ्गाका उद्गमस्थान नहीं है। गंगोत्तरीसे अठारह मील आगे जो 'गो-मुख' नामसे एक स्थान और प्रसिद्ध है, परंतु यह भी गङ्गाका उद्गम स्थान नहीं है। जिस प्रकार यमुनाके उद्गमस्थानका ठीक पता नहीं, उसी प्रकार गङ्गाका भी उद्गमस्थान अज्ञात है। हाँ, यमुना हिमालयकी एक हिमानी पंक्तिसे निकलती है, और गङ्गा हिमालयकी दूसरी हिमानी पंक्तिसे, इतना निश्चित है। धीरे-धीरे दोनों ही नदियोंका स्पष्ट रूप बनने लगता है। परंतु यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि इन नदियोंका कोई उद्गमस्थान है ही नहीं; क्योंकि जलप्रपात तो अगणित दिखायी देते हैं, किंतु इन जलप्रपातोंका जल मिलकर यमुना और गङ्गाका रूप धारण नहीं करता। यह हम स्वयं देखते भी आये हैं। मार्गमें अगणित जलप्रपातों—निर्झरोंका नीर मिलनेपर भी भागीरथीके बहाव-विस्तारमें कोई फर्क हमने नहीं देखा। हाँ, उसे आसमुद्रगति देनेमें ये उसके सहायक और पूरक अवश्य बनते हैं। अतएव दोनों नदियोंके मूल उद्गमस्थानतक चाहे कोई न जा पाया हो, परंतु इनका मूल उद्गमस्थानका होना निश्चित है और ये उद्गमस्थल अगम्य होनेके कारण ही आजतक अज्ञात हैं। अभी भी यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी पहुँचनेका मार्ग अत्यन्त कठिन है। जिस समय इन स्थलोंको इन सरिताओंका उद्गमस्थान माना गया होगा उस समय इन स्थलोंतक पहुँचना और भी कठिन होगा। अतः जहाँतक पहुँच हो सकी, वही स्थल इन नदियोंका उद्गमस्थान मान लिया गया। हमें यही मानना चाहिये। फिर यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी शब्द भी ये स्थल यमुना और गङ्गाके उद्गम हैं, इसका संकेत नहीं करते। यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी शब्दोंका अर्थ उत्तरकी यमुना और उत्तरकी गङ्गा अथवा चूँकि हमारे ऋषि-मुनियोंने जहाँ यमुना उतरीं यह पाया वहाँ यमुनोत्तरी और जहाँ गङ्गा उतरीं वहाँ गंगोत्तरी मानकर ये नामकरण किये। एक बार यह माना जानेपर इसमें अभीतक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, भविष्यमें क्या होगा, यह आज कहना कठिन है। भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है और धार्मिक दृष्टिसे इन दोनों नदियोंका हमारे देशमें सर्वोपरि स्थान है। इसलिये ये स्थान इन दोनों नदियोंका मूल उद्गम न होते हुए भी

उद्गमस्थान माने जानेके कारण भारतीयोंके महानतम तीर्थ बन गये हैं ।

गंगोत्तरी गङ्गाका उद्गमस्थान न होते हुए भी यमुनोत्तरीके सदृश इस क्षेत्रका हमारा अन्तिम पड़ाव था । अतः सभी साथियोंके हृदय आनन्दविभोर थे । अब हमलोग सब स्नानोंको एकत्र हुए, सभीके वस्त्र और दान-पूजनादिका सामान भी आ गया । गङ्गाका यह घाट जहाँ सब लोग स्नान करते हैं, पुरीके पूर्वीभागपर स्थित है । भागीरथीका यहाँ प्रवाह काफी तेज है, पीछेकी ओर गंगोत्तरीके हिमानी शिखरोंकी एक शृंगावली है और उसके दोनों ओर देवदार और भुज (भोजपत्रों) के वृक्षोंसे ढकी हुई हिमालयकी अन्य शिखरावली । घाटके निकट ही गङ्गाका एक छोटा-सा मन्दिर है ।

स्नानकी तैयारी करते-करते मध्याह्नका समय आ गया । यमुनोत्तरीके सदृश यहाँ न तो वर्षा ही हो रही थी और न आकाश ही मेघाच्छन्न था, निर्मल नभमें ज्येष्ठमासके वृषराशिमें स्थित सहस्रांशु अपनी पूर्ण प्रभासे चमक रहे थे । परंतु, इतनेपर भी हमने जब गङ्गा-स्नान किया, तब गङ्गाका इतना शीतल जल था कि हमें उसका स्पर्श होते ही जान पड़ा मानो सारे शरीरका रक्त-प्रवाह जम गया है और हमारा शरीर एक सजीव पाषाणका हो गया है । प्राण कहीं अटके-से बोल रहे थे और शरीर सुन्न निर्जीव-सा देख उसमें अब अपना ठौर न पा मानो अब वे विकल भावसे निकल भागना चाहते हों, एकदम कण्ठसे आवाज निकली, कपड़े जल्दी दो । हमारे साथी कपड़े लिये खड़े ही थे, झटपट गरम-से-गरम कपड़े पहने । कुछ ऊपर तपते सूर्यने हमें तपाया, कुछ इन ऊनी गरम कपड़ोंने गरमी पहुँचायी । कुछ देर बाद जान पड़ा अंदर चेतन सजग हो गया है । गङ्गाके तीव्र प्रवाहके कारण हम प्रवाहमें घुसकर तो स्नान कर न सके और धाराके समीप हमने बाल्टियोंसे स्नान किया जैसा कि प्रायः सभी यात्री करते हैं । स्नानोपरान्त गङ्गा-पूजन हुआ और दान-संकल्पादि । सभीने गङ्गाजीकी आरती की । गोविन्ददासने प्रातःकाल और मध्याह्नका संध्यावन्दन किया जो वे दस वर्षकी अवस्थामें उपनयन होनेके बादसे करते आये हैं । संध्या-वन्दनके उपरान्त उन्होंने देव, ऋषि और पितृ-तर्पण किया । ये सभी कृत्य हमारे पंडा श्रीचेतरामजीने विधिवत् कराये । सभी लोगोंको बारी-बारी, गोविन्ददासको सपत्नीक जब ये धार्मिक कृत्य, पंडाजी उच्चकण्ठसे मन्त्रोच्चार करते कराते तो इस धार्मिक वायुमण्डलका दृश्य देखते ही बनता । ह देखा, सभी यात्री भागीरथीके इस तटपर स्नान-पूजनमें हैं, कोई हर-हर गङ्गे कह रहा है, कोई जय गङ्गा मैया जय गङ्गोत्तरी बोल रहा है, एक ओर बैठे कुछ लोग कागजों पर रामनाम लिखकर और एक युगल भोजपत्रपर 'शिव शिव' लिखकर इन कागजों और भोजपत्रोंको भागीरथी प्रवाहित कर रहे थे । हमने भी इनके अनुकरणमें ए भोजपत्रपर कृष्ण-कृष्ण लिखकर भागीरथीको भेंट करते हु कहा कि जब प्रयागमें कालिन्दी मिलें तो उन्हें सौंप देना सभीके ये स्मरण-पत्र भागीरथीकी कायापर लहराते हु प्रवाहकी तेजीके कारण पलक मारते दृष्टि ओझल हो जाते ।

इन कृत्योंके अनन्तर हमने गङ्गामन्दिरमें गङ्गाजी मूर्तिके दर्शन भी किये ।

आज संध्याको गङ्गोत्तरीके समस्त ब्राह्मणोंका हमारी ओर भंडारा था । हमने देखा कि इन भंडारोंमें यहाँके ल भोजपत्रपर भोजन करते हैं । ब्राह्मण-भोजन हो चुकने ही हमलोगोंने आज कुछ देरसे भोजन किये ।

भण्डारेके अनन्तर संध्याको जब गोविन्ददास अ सायं-संध्या कर चुके, तब रत्नकुमारीने पण्डितराज जगन्नाथ कृत गङ्गालहरीका मधुर कण्ठसे पाठ किया और तदनन्त सुरसरिकी स्तुतिमें स्वरचित एक गीतको गाकर भागीरथी भेंट किया ।

गीत

विष्णु लोकसे उतरी जननी संवृत करती वेग महान
अवनी काँप उठी, ऊर्जस्वित, देख तरङ्गावली वितान
लीन हुयीं हर-जटाजूटमें दया द्रवित कर अवनी ध्यान
शिव विराटको कर प्रसन्न जब लाये माँग भगीरथ दान
अंश रूपसे प्रकटीं भूपर, तप पुनीत सुन नृप आह्वान
पृथिवीके मानवने पाया, जलमें निंज जीवन अभिमान
गगनोन्नत हिमगिरि मस्तकपर, वंकिम गतिमय बीचि विलास
हर शिर शोभित चन्द्रकलाका, निमल उज्ज्वल मानो हास
उपल-कठोर-शृंग गिरिपथके, भेद चली उत्तुङ्ग तप
सदा-स्वभाव सदय जननी भी, सह न सकी रंचक गति भ्र
प्रबल-प्रवाह-प्रताड़ित पवत, हिमके गिरते खण्ड विखण्ड
शत शत शिला शकलमय होतीं, तृण सम बहते वन-तरु-द्रुम
घन-प्रचण्ड उद्घोष उग्ररव हहराता प्रवाह उद्दा
युग-तट-शैल विकम्पित मानों, करते लहर थपेड़े बाम

त्रिविध-ताप-ज्वाला जगतीकी, चिर अतृप्ति मृगतृष्णा भ्रान्ति ।
तमसावृत उत्सङ्ग मृत्युका, पाकर पाती केवल शान्ति ॥
सह न सकी जननी निज जनके विषम कर्मके विषमय भार ।
तीव्र-तरङ्ग-धारसे काटे, कर्म रज्जुके काले तार ॥
शीतल, शान्तिद, सुधा नीरसे, धोये बन्धनके व्रण दाग ।
मज्जन, पान, सुनिर्मल काया, ध्यान धौत अनुराग विराग ॥
तजूँ मुक्ति, भज मुक्ति निरन्तर, उद्भासित कर आत्मिक ओज ।
ब्रह्म कमण्डलु, विष्णु चरणतक, पहुँचूँ तव पावन पथ खोज ॥

(क्रमशः)

श्रीभरतलालजीका स्वप्न

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

स्वप्नसे शुभ और अशुभ फल विचार करनेकी प्रथा बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। स्वप्नके आधारपर शुभ और अशुभ फल-विचारकी प्रणाली विदेशोंमें भी थी और अब भी है। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आ रही है। स्वप्न एक विज्ञान है। स्वप्न-विज्ञानका सम्बन्ध सीधे मनोविज्ञानसे है। मनोविज्ञानके विद्वान् कई प्रकारसे स्वप्नका विचार करते हैं। यह भी मानना उचित नहीं है कि सभी स्वप्नोंके फल प्राप्त ही होते हैं। सभी स्वप्न फल नहीं देते। न सभी स्वप्न भविष्यकी ही सूचना देते हैं। अतः सभी स्वप्नोंके आधारपर शुभ-अशुभ फल-प्राप्तिका विचार भी नहीं करना चाहिये। बहुत-से स्वप्न केवल कल्पनामात्र होते हैं।

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्त्तेनाथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो वृथा भवेत् ॥

व्याधिसे ग्रस्त, शोकसंतप्त, चिन्तासे व्याकुल, कामार्त्त, मदिरापान करके मतवाले व्यक्ति यदि स्वप्न देखते हैं तो उनके स्वप्नोंके फल नहीं प्राप्त होते।

आधुनिक विद्वान् इन्हीं आधारोंपर स्वप्नोंका शुभ-अशुभ फल नहीं स्वीकार कर सकते। परंतु यह तथ्य ऐसा नहीं है, जिसे केवल आधुनिक विद्वानोंके कहनेको ही अन्तिम निर्णय मान लिया जाय। भारतके प्राचीन ऋषियों-मुनियोंने भी स्वप्न-विज्ञानका गहरा अध्ययन किया था। स्वप्न-विज्ञान एक ऐसा रहस्य है, जिसे गहरे अध्ययन और विवेचनकी आवश्यकता है।

हमारे प्राचीन महाकाव्योंमें स्वप्न-विज्ञानका भी उल्लेख है। प्रस्तुत प्रसंगमें आदिकाव्य वाल्मीकिरामायणके आधारपर श्रीभरतलालजीके ननिहालमें देखे गये स्वप्नपर संक्षेपमें कुछ लिखा जा रहा है। विवाहके पश्चात् श्रीभरतजी ननिहाल चले गये। इधर भरतजीके ननिहाल जानेपर अयोध्यामें बहुत-से परिवर्तन हो गये। श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मणके साथ सीताको लेकर वन चले गये। पुत्र-वियोगमें महाराज दशरथने प्राण त्याग कर दिये। अयोध्या नगरीमें दुःखका साम्राज्य छा गया। उधर भरतके पास इन कुसमाचारोंको पहुँचानेकी आवश्यकता तब प्रतीत हुई जब अयोध्या बिना राजाकी नगरी हो गयी। भरतजीका ननिहाल बहुत दूर कैकेय देशमें था। यातायातके साधन आजकी भाँति नहीं थे। महर्षि वसिष्ठने भरतजीको बुलानेके लिये दूत भेजा। महाराज दशरथजीकी मृत्युके दिन श्रीभरतलालजीने पिछली रातमें भयानक स्वप्न देखे। जबतक दूत भरतजीके पास नहीं पहुँचा, तबतक रात्रिमें भरतजीको कुस्वप्नोंका दर्शन होता रहा। कुस्वप्नोंसे भरतजीका मन बहुत प्रभावित हुआ। भरतजी कुस्वप्नोंके अशुभ फलकी कामना करके बहुत चिन्तित हो जाते थे। उनके साथी उनकी मुखाकृति देख-देखकर उनसे अनेकों प्रश्न करते थे। उधर अयोध्याके नगरवासी और राजघरानेके सदस्य प्रत्यक्ष दुःखानुभूतिसे तड़प रहे थे। इधर भरतजी दूरस्थ देशमें रहकर केवल कुस्वप्नोंके कारण दुःखसागरमें गोता लगा रहे थे। भरतजीके मनकी आशङ्काओं और मानसिक दुःखानुभूतियोंका वेग बढ़ता ही गया। महात्मा तुलसीदासजीने संक्षेपमें ही इस प्रसंगका उल्लेख किया है—

दिन प्रति देखहिं रात कुसपना ।
जागि करहिं कटु कोटि कल्पना ॥

श्रीभरतजीके कुस्वप्नोंकी सूची महात्मा तुलसीदासने उपस्थित करना शायद उचित नहीं समझा। महात्मा तुलसीदासजीने केवल भरतजीके कोटि-कोटि कल्पनाओंका ही उल्लेख किया है। आदिकवि वाल्मीकिजीने श्रीभरतके स्वप्नोंका विशद विवेचन किया है। भरतजी जब स्वप्नोंके आधारपर कल्पनाओंसे बहुत कातर हो गये, तब उनके साथी उनसे बार-बार मलिनमुख होने और चिन्ता करनेका कारण पूछने लगे। भरतलालजीको अपने साथियोंसे

चिन्तातुर होनेका कारण बताना पड़ा । आदिकवि वाल्मीकिजीने लिखा है—

श्रृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ।

(अयोध्या० सर्ग ६९ श्लोक ७)

आज रातको मैंने स्वप्नमें देखा है 'पिताजी (महाराज दशरथ) मलिनमुख हैं । उनके केश खुले हुए हैं । वे पर्वत-शिखरसे एक गोबरके गड्ढेमें गिर गये हैं । वे उस गड्ढेमें तैरते हैं और बार-बार हँसते हुए चुल्लूसे तेल पी रहे हैं । फिर वे (पिताजी) तिलमिश्रित भात खाते हैं और अपना सिर नीचा करके सम्पूर्ण शरीरमें तेल लगा रहे हैं—तेलमें स्नान कर रहे हैं । समुद्र अचानक सूख गया है । चन्द्रमा धरतीपर गिर पड़ा है । समस्त संसार राक्षसोंसे त्रस्त हो गया है । सर्वत्र अँधेरा छा गया है । महाराजकी सवारीमें रहनेवाले हाथियोंके दाँत टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं । धधकती आग एकाएक बुझ गयी है । पृथ्वी फट गयी है । वृक्ष अचानक सूख गये हैं । पर्वत गिर पड़े हैं । पर्वतोंसे धुआँ निकल रहा है । पिताजी काला वस्त्र पहने रथपर चढ़कर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे हैं । लाल कपड़े पहने हुए एक भयानक राक्षसी उन्हें (पिताजीको) दक्षिणकी ओर खींच रही है और हँस रही है । आजकी रात्रिमें मैंने भयानक स्वप्न देखा है । भरतजी अपने-आप उन कुस्वप्नोंका फल भी बतलाने लगे । अतः निश्चित ही (मेरे घरपर) पिताजीकी या अन्य किसीकी मृत्यु हो गयी या होगी ?' भरतजीने स्पष्ट कहा 'ये कहे हुए स्वप्न बिना कभी सोचे ही दीखे हैं, अतः इनका भयानक फल भी अवश्यम्भावी है । एतदर्थ मेरे हृदयमें बड़ा भय उपस्थित हो गया है ।' अन्तमें भरतजीने कहा, 'मुझे बार-बार ऐसा प्रतीत हो रहा है कि शायद मैं अब पिताजीके दर्शन न कर सकूँगा ।'

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशम्य हि
त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥

(वाल्मीकि अयोध्या० ६९ । २१)

भरतजी अपने स्वप्नोंका वर्णन अपने मित्रोंको सुना रहे थे । उसी समय महर्षि वसिष्ठजीका भेजा दूत भी दुःसंवाद सुनानेके लिये पहुँच गया ।

श्रीभरतलालजीने स्वप्नोंमें जो कुछ देखा उसके फल विशेषरूपसे मृत्युजन्य कष्टके रूपमें भारतीय फलित ज्योति ग्रन्थोंमें उल्लिखित हैं ।

(१) स्वप्नमें तेलका मर्दन, (२) गोबरके गड्ढे गिरना, (३) भात खाना, (४) समुद्रका सूखना, (५ चन्द्रमाका पतन, (६) सूर्यका पतन, (७) अँधेरा छाना (८) पृथ्वीका फटना, (९) पर्वतका गिरना, (१० धुआँ निकलना, (११) काला या लाल कपड़ा पहनना काली स्त्री द्वारा मारा जाना या खींचा जाना, (१२ लाल कपड़ा या लाल चन्दनका उपयोग, (१३) गधे य ऊँटकी सवारी, (१४) दक्षिण दिशाकी यात्रा, (१५) औरतों द्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना आदि दृश्य अशुभ फ व्यक्त करते हैं । स्वप्नमें दक्षिण दिशाकी यात्रा या दक्षि दिशामें खींचा जाना दोनों मृत्युके सदृश कष्ट देनेकी सूच देते हैं । भरतजीके स्वप्न मृत्युके सूचक थे ।

चन्द्रमाका पतन, पर्वतका गिरना, अँधेरा छा जा आदि बातें यों ही भयानकताकी प्रतीक हैं । स्वप्नमें तेल मर्दन और तेलमें स्नान भी मृत्युसूचक माने गये हैं मत्स्यपुराणमें लिखा है—

स्नेहपानावगाहौ च रक्तमाल्यानुलेपनम् ।
एवमादीनि चान्यानि दुःस्वप्नानि विनिर्दिशेत् ॥

स्वप्नमें गोबरके गड्ढेमें गिरना महान् अशुभ माना है मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है—'स्वप्नमें कीचड़में गिरना भी महान् अशुभका द्योतक है—

आमस्तकतलो यस्तु निमज्जेत् पङ्कसागरे ।
दृष्ट्वा तु तादृशं स्वप्नं सद्य एव न जीवति ॥

(मा० पुरा

स्वप्नमें स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना मृत्यु द्वारा ही खींचा जाना माना गया है । अर्थात् जिसे स्वप्न कोई स्त्री दक्षिण दिशाकी ओर खींचकर ले जाती है, उसकी सद्यः मृत्यु समझनी चाहिये । आचार्य देवल आचार्य सुश्रुत एवं मार्कण्डेयपुराण आदिके वचनों प्रमाणित हो जाता है कि स्वप्नमें स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशा खींचा जाना कितना भयानक फलका द्योतक है ।

कृष्णाम्बरधराः श्यामा गायन्ति च हसन्ति याः ।
दक्षिणाशां नयेन्नारीः स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥

(मार्कण्डेयपुरा

कृष्णाम्बरधरा नारी हसन्ती मुक्तमूर्धजा ।
यं चाकर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ॥

(सुश्रुत)

कृष्णाम्बधराः श्यामा गायन्ती वाऽप्यथाङ्गनाः ।
नयेयुदक्षिणामाशां स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥

(देवल)

उपर्युक्त उद्धरणोंमें काली स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना और काली स्त्रीका हँसना दोनों ही बातें उपलब्ध हो रही हैं । भरतजीके स्वप्नमें लाल चन्दन और लाल वस्त्रका धारण करना मृत्युसूचक माना गया है । स्वप्नमें गधा-ऊँटकी सवारी भी मृत्युकी सूचना मानी गयी है । आचार्य देवलने भी स्वप्नमें लाल वस्त्र या लाल चन्दनका धारण करना आसन्नमृत्युका लक्षण बतलाया है ।

रक्तगन्धाम्बरः स्रग्वी गच्छेद्वा दक्षिणामुखः ।
खरोष्ट्रमपि वाऽऽरोहेत् त्रीन् मासान् नाभिजीवति ॥

(देवल)

स्वप्नमें नदी या समुद्रके सूखनेका दृश्य देखना भी आसन्नमृत्युका लक्षण है । मार्कण्डेयपुराणमें इसका उल्लेख स्पष्टरूपसे मिलता है ।

केशाङ्गाराणि वा भस्म भुजङ्गान् निर्जलां नदीम् ।

(मार्कण्डेयपु०)

भरतजीने स्वप्नमें देखा कि दशरथजी हँस-हँसकर तेल पान कर रहे हैं । स्वप्नमें हँसना और तेल पान करना महान् अशुभ माना गया है । भरतजीने स्वप्नमें यह भी देखा कि धधकती अग्नि एकाएक बुझ गयी ।

पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः ।

(अयोध्या० ६९ । ९)

सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ।

(अयोध्या० ६९ । १२)

स्वप्नमें हँसने और स्वप्नमें रोनेके फलोंका उल्लेख करते हुए आचार्य बाराहमिहिरने लिखा है—

हास्ये प्राप्नोतिबधं रुदिते हास्ये प्रगीतके रोगम् ।

स्वप्नमें धधकती अग्निके अचानक शीतल होनेके दृश्यदर्शनका फल बतलाते हुए आचार्य चरकने लिखा है—

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् ।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यति ॥

भरतजीने स्वप्नमें यह भी देखा कि दशरथजी लाल कपड़ा पहनकर लाल चन्दन लगाकर गधेसे जुते रथपर सवार होकर दक्षिण दिशाको भागे चले जा रहे हैं ।

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥

(अयोध्या० ६९ । १५)

स्वप्नमें गधेकी सवारीसे दक्षिण दिशाकी यात्रा सद्यः मृत्युका आलिङ्गन माना गया है ।

लिङ्गपुराणमें लिखा है—

उष्ट्रा वा रासभा वापि युक्ताः स्वप्ने रथेऽशुभाः ।
यस्य सोऽपि न जीवेत् तु दक्षिणाभिमुखो गतः ॥

मार्कण्डेयपुराणमें भी लिखा है—

उष्ट्ररासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम् ।
प्रयाति तं चेज्जानीयात् सद्योमृत्युं नराधिपः ॥

चरकाचार्यने भी लिखा है—

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षणां दिशम् ।
स्वप्ने पक्षं तथाऽऽसाद्य स जीवन्तं विमुञ्चति ॥

इस प्रकार मृत्युकी सूचना देनेवाले अनेक लक्षणोंसे युक्त स्वप्नोंका विवेचन आचार्योंने किया है । आचार्योंद्वारा कथित लक्षणोंमें भरतजीके स्वप्नमें देखे गये दृश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं ।

स्वप्नफल-विचार-परम्पराके उपर्युक्त विवरणोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भरतजीका सपना कितना भयानक सिद्ध हुआ । राजा दशरथजीकी मृत्यु, श्रीरामचन्द्रजीका वन-गमन-काण्ड सात दिनके भीतर ही देखना पड़ा । अमङ्गल-सूचक स्वप्नोंका फल कितने दिनोंमें प्राप्त होता है, इसपर भी भारतीय आचार्योंने प्रकाश डाला है । मृत्युजनक स्वप्नोंके अवधि-सूचक लक्षणोंमें कुछ लक्षणोंका उल्लेख निम्न प्रकारसे किया जा रहा है ।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें लिखा है कि स्वप्न यदि रात्रिके प्रथम प्रहरमें देखा जाता है तो उसका फल एक वर्षमें प्राप्त होता है । द्वितीय प्रहरमें देखे गये स्वप्नका फल छः मासमें प्राप्त होता है । रात्रिके तीसरे प्रहरमें देखे गये स्वप्नका फल तीन मासमें उपस्थित होता है और रात्रिके अन्तिम प्रहरमें देखे गये स्वप्नका फल एक मासके भीतर ही उपलब्ध होता है ।

भरतजीने अपने स्वप्नोंके फलज्ञानके पूर्व यह घोषित कर दिया था कि ये सपने बिना पूर्वमें चिन्तन किये उपस्थित

हुए हैं, अतः इनका कुफल अवश्य होगा और हुआ भी। महाराज दशरथजीकी मृत्यु अयोध्यामें एक भयानक घटना थी। श्रीरामचन्द्रजीका वनगमन समस्त जनताके लिये दुर्भाग्यपूर्ण समाचार था। इन अघटित घटनाओंका ज्ञान भरतलालजीको स्वप्नद्वारा ही अवगत हो गया था।

स्वप्न-विचार आज भी बहुतेरे लोग करते हैं। स्वप्न-विचारमें बहुत सावधानीपूर्वक विचार किया जाता है। स्वप्न देखकर सो जानेपर उसका फल नहीं घटित होता। अतः बुरे स्वप्नोंको देखकर सो जानेके लिये आचार्योंका आदेश है। शुभ स्वप्नोंको देखनेके बाद नहीं सोना चाहिये। श्रीभरतलालजीके विषयमें महात्मा तुलसीदासजीने लिखा है—

दिन प्रति देखहिं रात कुसपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥

इससे यह प्रमाणित होता है कि भरतजी स्वप्न देखकर उसके भयानक परिणामोंको सोचते-समझते पुनः सो नहीं पाते थे। मन स्थिर रहता है तो नींद आती है।

भारतके अतिरिक्त देशोंमें भी प्राचीन कालसे स्वप्न-विचारकी परम्परा चली आ रही है। यूनानमें स्वप्न-विचारकी परम्परा व्यापकरूपमें थी। किसी यात्रापर जानेके पूर्व कोई भी व्यक्ति 'स्वप्न-मीमांसक' की शरणमें जाकर पिछली रातोंमें देखे स्वप्नोंकी व्याख्या कराता था और खूब समझ-बूझकर अपनी यात्रा करता था। कहा जाता है कि सिकन्दर विजय-यात्रामें चला, तब उसके साथ सर्वश्रेष्ठ स्व मीमांसक थे। सिकन्दरको एक बार 'टायर' नगरकी लड़ा भयानक मुकाबला करना पड़ा। उस युद्धसे घबराकर घेरा तुड़वाकर पीछे हटना चाहता था, उस रात्रिमें स्वप्न उसने एक सुन्दरी परीको नृत्य करते देखा। स्वप्न मीमांसकोंने उससे विजयकी पूर्ण आशा व्यक्त की। बस क था, सिकन्दरने आक्रमणकी आज्ञा दे दी और 'विजय-श्री' उसके हाथ लगी।

'बाइबिल' में स्वप्नद्वारा फल-ज्ञानकी चर्चा कई स्थलों पर आयी है। 'फारा' और उसके नौकरोंके स्वप्नोंका फ विचार कई स्थलोंपर उल्लिखित है। पहले यूरोपके जुआ अपने पास एक स्वप्न-पुस्तिका रखते रहे। वे स्वप्नकी संख्या के आधारपर जुआमें जीतने-हारनेवाले अंकोंका वि करके जुआ खेलते थे। प्राचीनकालमें कई देशोंमें स्व दैवी संकेत समझा जाता था।

महर्षि वाल्मीकिजीने अपने आदिकाव्य वाल्मी रामायणमें स्वप्न-विज्ञानकी चर्चा अनेक स्थलोंपर की उनमें श्रीभरतजीका सपना और त्रिजटाका सपना वि उल्लेखनीय है।

* * *

तुझसे ही—

मालिक! आजतक रोया हूँ, तो तुझसे। माँगा है, तो तुझसे।

आगे भी—

रोऊँगा, तो तुझसे! माँगूँगा, तो तुझसे।

काँपता हूँ, लड़खड़ाता हूँ। आस्थामें बाल-सी दरार भी निमिष-मात्रको पड़-पड़ जाती है कभी-कभी, शायद।

फिर भी—

रोऊँगा, तो तुझसे ही। माँगूँगा, तो तुझसे ही।

मेरे ऐसे एकमें अनेकके लिये जगह नहीं। तेरा होकर अब और किसका बनूँ? कैसे बनूँ? बन पाता ही नहीं।

मालिक! रोऊँगा, तो तुझसे ही। माँगूँगा, तो तुझसे ही।

—बालकृष्ण बलदुआ

अपराधीसे महात्मा

(२)

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

अपराधीका हृदय-परिवर्तन

पादरी विनवेनू कैसा था, हमने (पिछले अङ्कमें) देखा । प्रेम, करुणा, दया, क्षमा, उदारता, सादगीसे ओतप्रोत विनवेनू वह पारस है, जिसके स्पर्शसे जीन वैलजीन नामका अपराधी सोना हो उठता है ।

पारस में अरु संत में यहै अंतरा जान ।
वह लोहा कंचन करै, यह करै आपु समान ॥

किन परिस्थितियोंमें अपराधकी मनोवृत्तियोंको पनपनेका मौका मिलता है, किन परिस्थितियोंमें फँसकर मनुष्य अपराधी बन बैठता है और गलत जानते हुए भी गलत काम कर बैठता है, इसका एक सामान्य उदाहरण है—जीन वैलजीन ।

पर अपराधीके भीतर भी प्रकाशकी ज्योति दबी पड़ी रहती है, उसके हृदयके भीतर भी भगवान् सोये पड़े रहते हैं, उसमें भी संतके स्पर्शसे ऊपर उठनेकी, अपना कल्मष धो डालनेकी प्रेरणा पैदा होती है, हो सकती है, वह भी पश्चात्तापके आँसुओंमें अपना कलंक धोकर स्फटिक मणिकी भाँति स्वच्छ, पवित्र और उज्ज्वल बन सकता है, इसका एक प्रेरक उदाहरण है जीन वैलजीन ।

अपराधीका हृदय-परिवर्तन

सूर्यास्तमें अभी एक घंटेकी देर है, अक्टूबरका महीना है, एक पदयात्री द····· नगरमें प्रवेश कर रहा है, दरिद्रों-जैसा वेश, फटे-पुराने वस्त्र, ४६-४७ सालकी उम्र, बाल कटे, दाढ़ी बढ़ी हुई, हट्टा-कट्टा शरीर, पीठपर थैला, हाथमें डंडा ।

देखनेसे लगता है कि यह यात्री बहुत थका है, बड़ा भूखा है, बड़ा प्यासा है ।

यात्री प्रशासकके दफ्तरमें घुसा । आध घंटे बाद निकलकर वह सरायकी ओर बढ़ा । सरायमें उसकी असलियतका पता लग जानेके कारण उसे न भोजन मिला, न ठिकाना! तब एक भटियारखानेमें उसने शरण लेनेकी ठानी, पर वहाँ भी उसे ठिकाना नहीं मिला । बीचमें जेलका फाटक मिला । उसने कहा—'मुझे रातभर टिकने दो ।' जवाब मिला—'यह सराय नहीं, गिरफ्तार होकर आओ तो हम फाटक खोल देंगे ।' उसके बाद कुत्तोंकी एक माँदमें भी जब उसे स्थान न मिला, एक कुत्तेने गुर्राकर भगा दिया तो वह हताश हो मैदानमें पत्थरकी बेंचपर जा लेटा ।

एक दयालु स्त्रीने वहाँ उसे लेटे देखा तो बोली—'क्यों लेटे हो यहाँ भैया ? जाड़ेकी यह रात इस पत्थरपर कैसे कट सकेगी ?'

'कहाँ जाऊँ भली बाई ? किसी सरायमें भी तो ठिकाना नहीं मिलता !'

'वह दरवाजा खटखटाया है तुमने ?'

'नहीं तो !'

'खटखटाकर देखो न !'

× × ×

घर था द·····के बड़े पादरीका, बिशपका ।

बूढ़े पादरी विनवेनूकी दासी मैगलोयर पादरीकी बहन बैपटिस्टाइनसे अभी कह ही रही थी कि 'नगरमें बड़ी सनसनी है कि आज कहींसे एक आवारा आ गया है, पता नहीं रात कैसी गुजरे, पादरी बाबा दरवाजेमें साँकल भी नहीं लगाने देते, यह ठीक नहीं,' तभी दरवाजेपर जोरकी थाप पड़ी ।

पादरीने कहा—'भीतर आ जाइये ।'

× × ×

यात्रीने भीतर आते ही कहा—'देखिये, मेरा नाम है जीन वैलजीन । मैं हूँ अपराधी । उन्नीस सालकी सजा काटकर अभी लौट रहा हूँ काले पानीसे । चार दिन पहले मैं जेलसे छूटा । अपने घर पोंटरलियर जा रहा हूँ मैं । आज मैं १८ कोस चला हूँ । किसी सरायमें मुझे ठिकाना नहीं मिला । प्रशासकके यहाँ मैंने अपना यह पीला पासपोर्ट दिखाया था । दिखाना ज़रूरी भी था । पर उसके चलते मुझे किसी सरायमें ठिकाना नहीं मिला । सब जगह मैं फटकारकर भगा दिया गया । यहाँतक कि कुत्तोंकी माँदमें भी मुझे ठिकाना नहीं मिल सका । खेतोंमें पानी बरसनेके डरसे नहीं लेटा । नगरके भीतर चला आया । यहाँ एक पत्थरपर पड़ा था कि एक भली बाईने यह दरवाजा मुझे दिखा दिया । आप मुझे ठहरनेके लिये जगह देंगे क्या ? बहुत थका हूँ, बड़ा भूखा हूँ । पैसा मेरे

पास है। मैं खाने-पीने-ठहरनेका पैसा चुका दूँगा। मेरे पास १०९ फ्रांक और १५ सू हैं—उन्नीस सालकी जेलकी कमाईके। आपके यहाँ ठहर सकता हूँ मैं ?'

'श्रीमती मैगलोयर, एक थाली और लगा लेना'—पादरीने कहा।

यात्री तीन कदम आगे बढ़कर बोला—'आप शायद मेरी बात समझे नहीं। मैं अपराधी हूँ। काले पानीकी सजा काटकर आया हूँ। यह है मेरा पासपोर्ट। यह देखिये, इसमें लिखा है कि 'यह जीन वैलजीन बड़ा खतरनाक है। इसे सेंध मारनेमें ५ सालकी सजा हुई थी और जेलसे चार बार भागनेके जुर्ममें और १४ सालकी सजा हुई थी।' मेरे-जैसे अपराधीको आप ठहरायेंगे अपने यहाँ ? मुझे खानेको देंगे ? मुझे रातभर सोने देंगे ? आपके यहाँ अस्तबल है क्या ?'

'श्रीमती मैगलोयर उधर बगलवाले बिस्तरपर कुछ चद्दरें रख देना।' पादरीने कहा।

यात्रीकी ओर मुड़कर बिशपने कहा—'महाशय ! आप बैठिये, तापिये। हाथ-पैर सेंकिये। थोड़ी देरमें हमलोग भोजन करेंगे और तबतक आपका बिस्तर लग जायगा।'

अब यात्री समझा। उसे कुछ प्रसन्नता हुई, कुछ संदेह, कुछ आश्चर्य। पागलकी तरह बड़बड़ाता-सा बोला—'सच ! आप मुझे ठहरने देंगे ? आप मुझे निकाल बाहर नहीं करेंगे ? आप मुझे 'महाशय' कहकर पुकारते हैं—'ऐ कुत्ते, यहाँसे भग जा।'—कहकर मुझे दुतकारते नहीं ! मैंने जब आपको अपना परिचय दिया तभी मुझे ऐसा लगा कि आप मुझे निकाल बाहर करेंगे। भला हो उस बाईका जिसने मुझे यह दरवाजा दिखाया। मुझे भोजन मिलेगा ! बिस्तरपर सोनेको मिलेगा। उन्नीस सालसे मैं कभी बिस्तरपर नहीं सोया ! हाँ, मेरे पास पैसा है। मैं आपको अच्छा पैसा चुकाऊँगा। श्रीमान्‌जी, बड़े अच्छे भटियारे हैं। अपना शुभ नाम बतायेंगे ? आप जितना कहेंगे, मैं उतना ही पैसा चुका दूँगा। आप बड़े अच्छे सरायवाले हैं। हैं न ?'

'मैं यहाँका पादरी हूँ'—बिशपने कहा।

'अच्छा, आप पादरी हैं ? आप बड़े अच्छे पादरी हैं। तब तो आप मुझसे पैसा नहीं लेंगे ? आप पादरी हैं ? इस बड़े गिरिजाघरके पादरी हैं ? हैं न ? मैं भी कैसा मूरख हूँ कि मैंने आपकी टोपी नहीं देखी।'

'नहीं महाशय, मैं पैसा नहीं लूँगा, अपना पैसा अपने पास रखिये।'

यात्रीसे बातें चल ही रही थीं तभी मैगलोयर भोजन ले आयी।

पादरीने उसकी ओर देखकर कहा—'श्रीमती मैगलोयर, इनकी थाली आगके नजदीक सजाना' फिर अतिथिकी ओर देखकर कहा—'अल्प्स पर्वतमें बड़ी ठंडी हवा है, आप उधरसे आ रहे हैं। आपको सर्दी लगती होगी महाशय !'

पादरी हर बार अतिथिको सम्बोधित करता तो 'महाशय' कहता। अतिथिको लगता मानो प्याससे छटपटाते व्यक्तिको कोई ठंडे जलका गिलास पिला रहा है।

'रोशनी बड़ी धीमी है'—पादरीके मुँहसे ऐसा सुनकर मैगलोयर चाँदीके दो शमादान ले आयी और मेजपर उन्हें सजा दिया।

'पादरी महाशय, आप बहुत अच्छे हैं। आप मेरा तिरस्कार नहीं करते। आपने मुझे अपने घरमें ठहराया है। आप मेरे लिये शमादान जलवाते हैं और मैं आपको बता चुका हूँ कि मैं कहाँसे आ रहा हूँ और मैं कितना बड़ा दुखिया हूँ।'

बिशपने बड़े धीरेसे उसका हाथ छूकर कहा—'आपको यह बतानेकी जरूरत नहीं कि आप कौन हैं। यह घर मेरा नहीं है। यह तो प्रभुका घर है। यहाँ किसीसे यह नहीं पूछा जाता कि तुम्हारा नाम क्या है ? बल्कि यहाँ तो यही पूछा जाता है कि तुम पीड़ित हो क्या ? आप कष्टमें हैं, आप भूखे हैं, आप प्यासे हैं। आपका स्वागत है। इसके लिये मुझे धन्यवाद मत दीजिये। यह मत कहिये कि यह मेरा घर है। यह किसी खास आदमीका घर नहीं है। जिस किसीको भी छायादार जगहकी जरूरत है, उसीका यह घर है। आप यात्री हैं फिर भी मैं कहता हूँ कि यह घर मुझसे अधिक आपका है। यहाँ जो कुछ है सब आपका है। आपका नाम जाननेकी मुझे जरूरत ही क्या है ? और जब आपने अपना नाम बताया उसके पहले ही मुझे आपका नाम मालूम था।'

यात्री चौंका—'सच मेरा नाम आपको पहलेसे मालूम था ?'

'हाँ'—बिशपने कहा—'आप हैं 'मेरे भाई'।'

'रुकिये, रुकिये पादरी महाशय, मैं जब आया तब मैं भूखके मारे मरा जा रहा था। आप कितने अच्छे हैं। मैं

नहीं जानता कि अब मैं क्या हो गया हूँ। पहलेकी सारी बात खतम हो गयी है।'

'आपको बड़ा कष्ट झेलना पड़ा है। है न ?' बिशपने पूछा।

'ओह, क्या पूछते हैं उस कष्टकी कहानी! वे जंजीरें बेड़ियाँ! वह परिश्रम! सोनेके लिये वे तख्ते! सर्दी! गरमी! बरफ! क्या नहीं! वे कुत्ते, हाय वे कुत्ते भी मुझसे सुखी थे। और यह सब एक दो दिन नहीं, लगातार उन्नीस साल! आज मैं ४६ का हुआ और तब मुझे मिला है यह पीला पासपोर्ट।'

'तो' बिशपने कहा—'आपने कष्टका एक स्थान छोड़ा है। पर सुनिये, स्वर्गमें किसी पापीके पश्चात्तापके आँसुओंपर सैकड़ों सफेद-पोश भले आदमियोंसे बढ़कर खुशी मनायी जायगी। यदि उस दुःखद स्थानको आप मनुष्यके प्रति घृणा और क्रोधकी भावनाके साथ छोड़ते हैं तो आप दयाके पात्र हैं; पर यदि आप उसे शुभेच्छा, उदारता और शान्तिके साथ छोड़ते हैं तो हममेंसे कोई भी आपका मुकाबला नहीं कर सकता।'

प्रार्थनाके उपरान्त तीनों जीमने लगे—पादरी, अतिथि और बेपटिस्टाइन।

'मेजपर कुछ खाली-खाली-सा लगता है।'—बिशपकी यह बात सुनते ही मैगलोयरने तीन थालियाँ लाकर और सजा दीं। किसी अतिथिके आनेपर वृद्ध पादरीकी यह इच्छा जाग्रत् हो जाती थी कि चाँदीकी छै-की-छै थालियाँ मेजपर सजा दी जायँ। उसके अत्यन्त सादे जीवनमें चाँदीकी ये थालियाँ और चाँदीके दो शमादान ही अपवाद थे।

× × ×

बिशपका भोजन इतना सादा था कि अतिथिको लगा कि यह बहुत छोटा 'क्यू रे'—पादरी है, तब तो ठेलेवालोंसे भी गया-गुजरा भोजन करता है। उसे क्या पता था कि पादरीकी यह गरीबी स्वयं निर्मित है। वह अपनी आयका अधिकांश दीन-दुखियों और पीड़ितोंकी सेवामें लगा देता है।

बिशपने पूछा—'महाशय जीन वैलजीन, आप टरलियर जा रहे हैं?'

'हाँ, जाना तो है।' उसने कहा—

'बड़ी अच्छी जगह है वह। परिश्रम करके खानेकी बड़ी अच्छी जगह है। मैं कुछ दिन पसीनेकी कमाई करता रहा हूँ वहाँ। डेयरीका काम वहाँ खूब चलता है।'

पादरीने प्रकारान्तरसे जीन वैलजीनको इशारा तो किया कि भविष्यमें श्रमपूर्वक पवित्र जीवन बिताना उसके लिये अच्छा होगा, पर उपदेशके ढंगपर उसने कोई बात नहीं कही। बूढ़े पादरीको डर था कि कहीं उसकी किसी बातसे जीन वैलजीनका दिल न दुख जाय।

बहनको 'नमस्ते' करके पादरी महाशयने मेजपरसे एक शमादान उठाया और दूसरा शमादान अपने अतिथिके हाथमें देते हुए कहा—'महाशय, चलिये मैं आपको आपके सोनेका कमरा दिखाऊँ।'

दोनों चल दिये।

उस कमरेमें जाते हुए जीन वैलजीनने देखा कि मैगलोयर चाँदीकी थालियाँ साफ करके टोकरीमें रखकर पादरीके सिरहानेवाली अलमारीमें बंद कर रही है। कमरा पास ही था। बिस्तरपर दूध-जैसी धुली चादर बिछी थी।

'अच्छा, अब आप आराम कीजिये। आपको शान्तिकी नींद आये। सुबह मेरी गायोंका गरम दूध पीकर आप जाइयेगा।' इतना कहकर पादरी चलने लगा।

'धन्यवाद पादरी महाशय!' कहनेके बाद न जाने अतिथिके मनमें कैसा भाव आया, बोला—'आप भी खूब हैं। आपने मुझे अपने पासके ही कमरेमें लेटा लिया है।'

फिर जरा हँसकर कहा—'आपने मेरे बारेमें कुछ सोचा भी है? रातमें कहीं मैं आपका खून कर दूँ तो?'

बिशपने जवाब दिया—'वह सब भगवान् देखेगा!' और अपने दाहिने हाथकी दो उँगलियोंसे उसे आशीर्वाद देता हुआ वह अपने कमरेमें चला आया और बिस्तरपर लेटकर थोड़ी ही देरमें खुर्राटे लेने लगा।

× × ×

(२)

जीन वैलजीन ब्राइके एक गरीब किसान-परिवारमें पैदा हुआ था। बचपनमें उसे पढ़ाया-लिखाया नहीं गया। बड़े होनेपर वह फावेरोल्समें जाकर मालीका काम करने लगा। कच्ची ही उम्रमें उसके माता-पिताका देहान्त हो गया।

रह गयी केवल एक बहन। उसीने जीनको पाल-पोसकर बड़ा किया। बादमें उसका पति भी सात बच्चोंको छोड़कर

जाता रहा। उसकी मृत्युके समय सबसे बड़ा बच्चा था आठ सालका और सबसे छोटा सालभरका।

जीन वैलजीन २५ सालका हुआ तो उसने अपने पिताका मालीका काम सम्हाला। वह अपनी बहनका पालन-पोषण करने लगा। जिन दिनों मालीका काम न रहता, उन दिनों वह मजदूरीका जो भी काम मिल जाता, कर लेता। उसकी बहन भी कमाती थी, पर आमदनी बहुत कम थी, परिवार बहुत बड़ा।

एक बार बड़ी कड़ाकेकी सर्दी थी। जीन वैलजीनके पास कोई काम न था। रोटीके अभावमें सारा परिवार बिलला रहा था।

रोटीकी जुगाड़ नहीं और भूखे सात बच्चे !

तभी एक रविवारको रातके झुटपुटेमें मावर्ट इसाबू नामक नानबाईकी दुकानके शीशेकी आलमारीमें एक आदमीने घूँसा मारा और भीतरसे एक रोटी निकालकर भागा। इसाबूने दौड़कर उसका पीछा किया, चोर पकड़ लिया गया, और यह चोर था—जीन वैलजीन।

अपराध प्रमाणित हो गया। २२ अप्रैल १७९६ को 'रातमें बस्तीके भीतर सेंध मारने'के जुर्ममें उसे पाँच सालकी कड़ी कैदकी सजा दे दी गयी।

जब वह जंजीरोंमें बाँधा जा रहा था तो वह रो रहा था और सिसक-सिसककर दाहिने हाथसे ऐसा इशारा कर रहा था मानो वह छोटे-बड़े सात बच्चोंके सिर छू रहा हो, जिनका पेट भरनेके लिये उसने चोरीका यह घृणित कर्म किया।

गलेमें जंजीरोंसे कसा जीन वैलजीन अन्य कैदियोंके साथ बैलगाड़ीपर चढ़ाकर तूलों भेज दिया गया। रास्तेमें २७ दिन लगे। अब वह जीन वैलजीन नहीं रह गया। वह था क़ैदी नम्बर २४, ६०१।

उसकी बहनका क्या हुआ ? चौथे सालके अन्तमें तूलोंमें किसीने उसे खबर दी कि उसकी बहन पैरिसमें कसीदेका काम करके किसी तरह गुजर कर रही है। सिर्फ एक बच्चा है उसके पास ! सबसे छोटा बच्चा। पता नहीं और छः बच्चोंका क्या हुआ ? उसके बाद न कभी उस बहनका कोई पता चला और न उस बच्चेका।

उसने बीच-बीचमें चार बार जेलसे भागनेकी कोशिश की, पर हर बार पकड़ लिया गया। पहली बार उसे इस अपराधमें ३ सालकी, दूसरी बार ५ सालकी, तीसरी बार ३ सालकी और चौथी बार फिर ३ सालकी सजा मिली। यों कुल मिलाकर उसे १९ सालकी सजा हो गयी।

अक्टूबर १८१५ में वह जेलसे रिहा किया गया। १७९६ में उसे सजा दी गयी थी इसलिये कि उसने शीशा तोड़कर एक रोटी चुरायी थी !

इंग्लैंडके आँकड़े बताते हैं कि पाँचमेंसे चार चोरियोंका कारण है—भुखमरी !

जीन वैलजीनने रोते और काँपते हुए जेलमें प्रवेश किया। जेलसे निकला वह कठोर होकर। घुसते समय वह दुखी था, बाहर आते समय उदास।

क्या जीवन था इस बेचारे जीन वैलजीनका !

× × ×

जेलमें जीन वैलजीनपर कोड़े बरसते थे, वह जंजीरोंमें कसा जाता था, कालकोठरीमें डाला जाता था, उसे भूखा रक्खा जाता था, चिलचिलाती धूपमें उससे कड़ी मेहनत ली जाती थी, कड़े तख्तेपर उसे लेटना पड़ता था !

वह पढ़ा-लिखा नहीं था, अज्ञान था, पर मूर्ख नहीं था। अक्सर वह बैठकर सोचा करता था। आत्मविश्लेषण किया करता था।

वह सोचता कि मैं निरपराध तो नहीं हूँ। मैंने चोरी की। चोरी बड़ा घृणित काम है, मैं माँगता तो शायद मुझे रोटी मिल जाती। शायद कहीं काम ही मिल जाता मुझे तो मुझे रुकना चाहिये था। दयाकी भीखके लिये या क पानेके लिये। पर 'जब मैं भूखा था, तब मैं कबतक रुकता ? इस सवालका क्या जवाब है ? चोरी करनेमें मेरी ग़ल्ती हो सकती है, है भी, पर मुझे सजा दी गयी, एक रोटीकी चोरीके लिये उन्नीस सालकी कड़ी क़ैद ! मुझे इतना कठोर दण्ड देकर क्या समाजने ठीक किया ? किसी आदमीको सदा लिये ग़रीब बनाये रखना, काम करनेको तैयार हो फिर काम न देना और इतना कड़ा दण्ड देना क्या उचित है एक ओर कामकी इतनी कमी, दूसरी ओर दण्ड इतनी कठोरता !

जीन वैलजीन अक्सर ऐसे सवाल उठाता और खुद उनके जवाब देता। समाजको वह अपने सामने, अपरा

रूपमें खड़ा करता और उसे सजा दे डालता !

कौन-सी सज़ा ?—घृणाकी !

कौन न मानेगा कि उसे जो इतना बड़ा दण्ड दिया गया था वह अनुचित था, अन्यायपूर्ण था, क्रूर था ?

और फिर ? मानव-समाजने उसे सतानेके सिवा और किया ही क्या था ? जब उसने उसकी ओर देखा तो कड़ी नजरसे ही देखा। न्यायके नामपर उसने जब हुआ, तब उसे सताया ही। किसी भी व्यक्तिने यदि कभी उसे छुआ तो केवल उसे कुचलनेके लिये ही ! जो भी मनुष्य उसे मिला, उसने उसे पीटा ही, उसने घूँसे ही लगाये ! बचपनसे लेकर अबतक उसे जो मिला, सतानेवाला ही मिला। किसीने कभी भी उससे मीठी बात नहीं की। किसीने कभी उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। रोज-रोज बार-बार सताये जानेके कारण उसकी यह धारणा बन गयी कि जीवन एक युद्ध है और उस युद्धमें पराजय ही उसके पल्ले पड़ी है। उसके हाथमें एक ही हथियार है और वह है—घृणा। जेलमें उसने उसी हथियारको पैना किया और उसे अपने साथ बाहर ले जानेका निश्चय किया।

तूलोंमें कैदियोंके लिये एक स्कूल था। जो कैदी चाहें वे पढ़ सकते थे। जीन वैलजीनने ४० की उम्रमें वहाँ लिखना-पढ़ना और गणित सीख लिया, पर इस ज्ञानवृद्धिसे उसकी घृणा बढ़ी ही, घटी नहीं। शिक्षाकी पद्धति गलत होनेसे मनुष्य सत्पथके बजाय कुपथपर ही आगे बढ़ जाता है।

समाजसे तो जीन वैलजीनको घृणा हो ही गयी, ईश्वरसे भी उसे घृणा हो गयी। कारण, उसीने तो ऐसा समाज बनाया है।

कभी-कभी उसके हृदयमें प्रकाश उठता, कभी अन्धकार, कभी सद्भाव जागते, कभी कुभाव। प्रत्येक मानवके हृदयमें जिस दैवी ज्योतिका निवास रहता है, जीन वैलजीनके हृदयमें भी वह छिपी पड़ी थी। किसी भी भयंकर-से-भयंकर अपराध या पापमें भी ऐसी शक्ति नहीं जो उस ज्योतिको सदाके लिये बुझा सके। जीनको मिले कष्टों, वेदनाओं और अत्याचारोंने उसे ढक दिया था अवश्य, पर उसके अस्तित्वसे कौन इन्कार कर सकता है !

जब-तब उसके हृदयमें विचारोंका द्वन्द्व मचता। जब-जब उसने जेलसे भागनेकी कोशिश की तब एक आवाज़ उससे कहती—'भागो', दूसरी कहती 'रुको'। पछता खुलकर खेलती। वह पकड़ा जाता तो उसपर अत्याचारोंका प्रहार और अधिक बढ़ जाता। जिसका फल यह होता कि वह पहलेसे भी अधिक उग्र और कठोर बन जाता।

जहाँतक शक्ति, बल और सामर्थ्यका प्रश्न है, जीन वैलजीनमें अकूत शक्ति थी। ऊँची-से-ऊँची दीवालपर बिना किसी सहारेके चढ़ जाना उसके बायें हाथका खेल था। शारीरिक बलमें उसकी बराबरी करनेवाला जेलमें कोई दूसरा क़ैदी था ही नहीं।

वह बहुत कम बोलता, हँसता तो कभी था ही नहीं, कभी-कभी वह काम छोड़कर बैठ जाता और विचारोंमें डूब जाता। उसे सब कुछ स्वप्न-जैसा मालूम पड़ता। पासमें खड़ा जेलर उसे भूत-जैसा लगता और तभी यह भूत उसकी पीठपर हंटर जड़ देता !

उसके लिये जो कुछ था जेलखाना ही था। बाहरी दुनिया उसके लेखे थी ही नहीं, उसके लिये न सूर्यका प्रकाश था, न ग्रीष्मके सुनहले दिन ! न दीप्तिमान् आकाश था, न अप्रैलकी जीवनदायी उषा। उसकी कालकोठरीमें खिड़कीसे कभी-कभी प्रकाशकी एकाध किरण आ जाती थी। बस !

फावेरोल्सके इस सीधे-सादे मालीमें जेलकी यातनाओंसे पीड़ित होनेके कारण दो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ विकसित हो गयीं। एक तो यह कि उसके प्रति जो घोर अन्याय हुआ था, उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें वह अचानक बिना सोचे समझे कोई अपराध कर बैठता। दूसरे, वह बहुत सोच-समझकर कोई गम्भीर काम करता। उसमें तीन बातें पनपीं—तर्क, इच्छा और स्वेच्छाचार। उसपर जो अत्याचार हुए थे उन्होंने उसे बुरी बातोंका ही नहीं, अच्छी बातोंका भी विरोधी बना डाला था, उसके विचारोंकी शुरुआत भी घृणासे होती थी, अन्त भी। मानवीय कानूनके प्रति उसकी घृणा बढ़ते-बढ़ते मानव-जातितक जा पहुँचती थी और अन्तमें सारी सृष्टिके प्रति उसे घृणा हो जाती थी। इसलिये पासपोर्टमें लिखा यह वाक्य बहुत सही था कि 'यह आदमी बहुत खतरनाक है।'

× × ×

जीन वैलजीन संकटके समुद्रमें जब इस प्रकार डूब-उतरा रहा था तभी एक दिन उससे कहा गया कि 'अब तुम आजाद हो !'

वह तो चौंक पड़ा, भला ऐसा भी कभी सम्भव है ! क्या

मुझे खुली धूप, खुला प्रकाश देखनेका भी कभी मौका मिलेगा ? जिंदा आदमियोंसे मिलनेका अवसर मिलेगा ? नया जीवन, नयी रोशनी देखनेको मिलेगी ?

वह जेलसे छूट तो गया, पर पीले पासपोर्टके साथकी आजादी किस कामकी ?

और उसे दे दिये गये १०९ फ्रांक १५ सू। उन्नीस सालमें उसने जो कमाई की उसमेंसे सिर्फ इतना पैसा बचा था।

उसे लगा कि पैसे देनेमें कुछ गलती की गयी है। उसे लूट लिया गया है, जितना मिलना चाहिये था उससे बहुत कम मिला है।

दूसरे दिन उसने एक जगह मजदूरी की, मिलनेको थे ३० सू, मिले सिर्फ १५, पूरी मजदूरी माँगी तो घुड़की मिली—'भागता है या भेजूँ हवालातमें ?'

उसे लगा कि फिर उसे लूट लिया गया है !

समाजने, राज्यने उसकी बचत बहुत कम करके उसे थोक रूपसे लूटा, यहाँ व्यक्तिने उसे आधी मजदूरी देकर फुटकर रूपसे लूटा !

आजादी तो उसे मिली पर मुक्ति नहीं, कैदी जेलसे छूट सकता है, निन्दा, घृणा और तिरस्कारसे नहीं !

× × ×

घंटाघरमें दो बजे और जीन वैलजीनकी आँख खुल गयी।

क्यों ? इसलिये कि १९ साल बाद उसे बिस्तरपर सोनेको मिला था। इतना अच्छा बिस्तर !

कोई चार घंटे वह सोया पूरी नींद, सारी थकावट जाती रही।

फिर उसे नींद नहीं आयी। वह सोचने लगा।

तरह-तरहके विचार,

पादरीकी मेजपर उसने देखी थी चाँदीकी छः थालियाँ और एक बड़ा चम्मच।

ये थालियाँ उसके मस्तिष्कपर छा गयीं। चम्मचके साथ उन्हें बेचा जाय तो २०० फ्रांक तो मिल ही जायगा यानी १९ सालकी कमाईका दूना।

घंटे भरतक वह इसी बातपर सोचता रहा। घड़ीने तीन बजाये। उसे लगा मानो वह कह रही है—'उठ न जा।'

वह धीरेसे उठा। पलभरको झिझका। फिर हौले-हौ आगे बढ़ा। हाथमें उसने लोहेका एक बरमा ले लिया साँस रोककर उसने धीरेसे पादरीके दरवाजेको हाथ लगाया दरवाजा बंद नहीं था। भीतरसे उढ़का भर ही था।

× × ×

जीन वैलजीन कुछ देरतक आहट लेता रहा।

कहीं कोई आवाज नहीं।

उसने दरवाजेको धक्का दिया। वह थोड़ा-सा खुल गया

कुछ देर वह शान्त खड़ा रहा।

उसने फिर धक्का दिया।

दरवाजा खुल गया; कुछ आवाज भी हुई। वह कु ठिठका। पर कमरेमें और आसपास पूरी शान्ति थी।

पादरी अत्यन्त शान्तिपूर्वक गाढ़ी निद्रामें पड़ा था लगता था मानो उसके चारों ओर एक दैवी प्रकाश फैला हुआ है।

जीन वैलजीनने ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। हक्का-बक्का-सा सन्न खड़ा रहा। उसे भीतर-ही-भीतर डर लगने लगा। वह बहुत अशान्त-सा हो उठा।

उसने पादरीपरसे अपनी आँखें नहीं उठायीं। वह क करे, यह उसकी समझमें नहीं आ रहा था। बुरी और अ दो प्रकारकी भावनाएँ उसके अन्तस्तलमें संघर्ष कर रही थीं ऐसा लगता था मानो वह यह सोच रहा था कि मैं इस लो के बरमेसे इसका सिर फोड़ दूँ या पलंगसे नीचे लटकनेवा इसका हाथ चूम लूँ।

कुछ मिनटोंमें वह अपना बाँया हाथ सिरके पास ले ग और उसने अपना टोप उतार लिया। कुछ देर टोपको हा लिये रहा और सोचता रहा।

अचानक उसने अपना टोप सिरपर लगा लिया औ तेज़ीसे आगे बढ़कर उसने पादरीके सिरहाने रक्खी अल खोलकर चाँदीकी थालियाँ निकाल लीं। तेजीसे, बिना आ किये कमरेके बाहर निकल गया। अपने कमरेमें जाकर उ बरमा फेंका। डंडा लिया, थैला उठाया, उसमें थालि डालीं, थालियोंकी टोकरी बगीचेमें फेंक दी और बगी दौड़ गया। चीतेकी भाँति बगीचेकी दीवाल फाँदकर बाहर हो गया।

× × ×

(३)

सबेरे पादरी विनवेनू बगीचेमें टहल रहा था कि मैगलोयरने आकर पूछा 'पादरी बाबा, आपको पता है कि चाँदीवाली टोकरी कहाँ है ?'

'हाँ; वह क्या पड़ी है, उस फूलके पौधेपर।' कहकर पादरीने उसे उठाकर दे दिया।

'पर उसमें चाँदी तो है ही नहीं !' मैगलोयर बोली।

'तो तुम्हें चाँदीकी चिन्ता है ? मैं उसके बारेमें कुछ नहीं जानता।'

'हे भगवन् ! चाँदीकी थालियोंकी चोरी हो गयी। रातको जो आदमी आया था, वही दुष्ट चुरा ले गया ! पादरी बाबा; चाँदीकी चोरी हो गयी !'

पादरी थोड़ी देर शान्त रहा। फिर बोला—'अच्छा यह तो बताओ कि क्या यह चाँदी हमारी थी ?'

मैगलोयर चुप रही।

पादरी फिर बोला—'श्रीमती मैगलोयर, मैं जबरन इस चाँदीको बहुत दिनोंतक अपने पास रोके रहा यह तो गरीब लोगोंकी थी। यह आदमी कौन था ? गरीब ही था न ?'

'हाय, हाय !' मैगलोयर बोली 'हम अब खायेंगे किसमें?'

पादरीने चौंककर कहा—'क्यों हमारे पास टीनकी थालियाँ नहीं हैं क्या ?'

'टीनमें तो बास आती है पादरी बाबा !' कंधा झटकारते हुए वह बोली।

'अच्छा तो लोहेकी थालियाँ सही !' पादरी बोला।

'लोहेकी थालीमें लोहाँयद आती है।'

'तो फिर, लकड़ीकी थालियाँ सही !'

थोड़ी देरमें ये लोग नाश्तेको बैठे, तभी किसीने दरवाजा खटखटाया।

'आइये'—बिशपने कहा।

दरवाजेपर पुलिसके तीन जवान थे और चौथा था जीनवैलजीन, जिसे वे गलेसे पकड़े हुए थे।

उनमें एक जो पुलिसका सरदार-सा था, आगे बढ़कर बोला—'मोंसिनोयर (श्रद्धेय)—'

जीन वैलजीन सिर झुकाये था, पर इस सम्बोधनसे कुछ चकराता-सा बोला—'तो क्या यह क्यूरे—(छोटा पादरी) नहीं?'

'चुप रह' वह बोला 'ये श्रद्धेय बड़े पादरी हैं, बिशप !'

पादरी तबतक उठकर धीरे-धीरे वहाँ आ गया और जीन वैलजीनकी ओर देखकर बोला—'ओह, आप हैं! आपको देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। पर ! मैंने तो वे दोनों शमादान भी आपको दिये थे। वे भी तो इन्हींकी तरह चाँदीके हैं और उनसे २०० फ्रांक मिल जायेंगे। आप थालियोंके साथ उन्हें क्यों नहीं ले गये ?'

जीन वैलजीनने आँखें खोलकर ऐसी दृष्टिसे बिशपकी ओर देखा जिसका वर्णन करना असम्भव है।

'श्रद्धेय' वह कांस्टेबल बोला—'तो इस आदमीका कहना सही है ? हमने देखा कि यह भाग रहा है, तभी हमने इसे गिरफ्तार किया। इसके पास चाँदीकी ये थालियाँ थीं।'

बिशपने मुसकराकर कहा—'और इसने आपसे यह कहा कि उस भले बूढ़े पादरीने मुझे थालियाँ दी हैं। मैं समझा, इसकी यह बात सुनकर आप इसे यहाँ लौटा लाये ? यह सब गलत है।'

'यदि ऐसा है, वह बोला' तो हम इसे छोड़ सकते हैं।'

'जरूर।'

पुलिसने जीन वैलजीनको रिहा कर दिया। वह भुनभुनाया—'क्या यह सही है कि पुलिसने मुझे छोड़ दिया।'

'हाँ ! तुम जा सकते हो।' कांस्टेबल बोला—'तुम इतना नहीं समझते ?'

'मेरे मित्र'—पादरी बोला—'पर जानेसे पहले अपने दोनों शमादान भी लेते जाइये।'

पादरी दोनों शमादान उठा लाया।

जीन वैलजीनका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। उसने दोनों शमादान ले लिये।

'अब'—पादरीने कहा—'आप शान्तिपूर्वक जाइये। हाँ, मेरे मित्र, अब कभी आइये तो बगीचेसे होकर आनेकी जरूरत नहीं। आप जब चाहें तब बाहरके ही दरवाजेसे आ-जा सकते हैं। उसमें रात-दिन मामूली चिटखनी लगी रहती है।'

तब पुलिसकी ओर देखकर पादरी बोला—'महाशय, आपलोग जा सकते हैं।' तीनों कांस्टेबल चले गये।

जीन वैलजीनकी हालत ऐसी हो गयी मानो वह अभी बेहोश होकर गिर जायगा।

पादरीने उसके पास जाकर धीरेसे कहा—'भूलियेगा नहीं। आपने मुझसे वादा किया है कि आप ईमानदार आदमी बननेके लिये इस चाँदीका उपयोग करेंगे।'

जीन वैलजीनको ऐसे किसी वादेकी याद न थी। वह घबरा रहा था। पादरी फिर बोला—'जीन वैलजीन, मेरे भाई ! अब आपको कोई बुरा काम नहीं करना है। अच्छा ही काम करना है। मैं आपकी आत्माको खरीद रहा हूँ। बुरे विचारोंसे छुड़ाकर मैं उसे ईश्वरको अर्पण कर रहा हूँ।'

× × ×

जीन वैलजीन नगरसे इतनी तेजीसे बाहर निकला, मानो

वह छिपकर भाग रहा हो। वह खुले मैदानमें जानेको उत्सुक था। उसने भोजन नहीं किया था, फिर भी उसे भूख नहीं थी। वह भीतर-भीतर कुढ़ रहा था, पर किसपर, यह उसे भी पता नहीं था। वह पकड़कर जेल भेज दिया जाता तो शायद उसके चित्तमें इतनी अशान्ति न होती।

उसके मनमें ऐसे-ऐसे विचार आ रहे थे जिनकी कि उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

वह जंगलमें पगडंडीसे थोड़ा हटकर झुरमुटके पीछे बैठा था। नगरसे वह कोई ९ मील गया होगा। अल्प्सकी पर्वतश्रेणी उसके सामने थी।

तभी उसे ग्यारह-बारह सालका एक लड़का गाता-बजाता पगडंडीपर आता दिखा। हाथमें कुछ सिक्के लिये था वह, जिन्हें वह लगातार उछालता जा रहा था। चालीस सूका एक सिक्का उसके हाथसे गिरा और जीन वैलजीनकी दिशामें बढ़ गया।

सिक्केकी खनकसे जीनका ध्यान उसकी ओर गया। उसने उसपर अपना पैर रख दिया।

लड़केने उस सिक्केको उधर लुढ़कते देखा। वह जीनके पास जा पहुँचा और बोला—‘महाशय, मेरा सिक्का !’

‘क्या नाम है तुम्हारा ?’

‘पेतित गर्वेस, महाशय।’

‘भागो यहाँसे !’ जीन वैलजीनने उसे डपटा।

‘महाशय, मेरा सिक्का मुझे दे दीजिये।’

जीन वैलजीनने सिर झुका लिया। कोई उत्तर नहीं दिया।

लड़का फिर बोला—‘महाशय, मेरा सिक्का !’

जीन वैलजीन चुप।

लड़केने उसका पैर उचकाकर सिक्का उठा लेनेकी कोशिश की, फिर पिनपिनाते हुए कहा—‘जरा अपना पैर उठा लीजिये महाशय, मैं अपना चाँदीका सिक्का निकाल लूँ।’

जीन वैलजीनने अपना सिर उठाकर आश्चर्यसे लड़केकी ओर देखा, फिर अपना हाथ डंडेकी ओर ले गया और भयंकर आवाजमें कहा—‘कौन है तू ?’

‘मैं हूँ महाशय, पेतित गर्वेस ! मेहरबानी करके मेरा ४० सूका सिक्का मुझे दे दीजिये ! अपना पैर उठा लीजिये।’ वह बोला।

‘तू अभी भी नहीं गया यहाँसे !’ जीन वैलजीनने ऐसा कहा और उठने लगा पर उसने अपना पैर नहीं हटाया। लड़केको डपटते हुए बोला—‘भागता है कि मरम्मत करूँ तेरी !’

लड़केने भयभीत होकर उनकी ओर देखा। फिर वह सिरसे पैरतक काँपने लगा और बड़ी तेजीसे उसने भागना शुरू किया। न तो उसने पीछे मुड़कर ताकनेकी हिम्मत की और रोनेकी।

थोड़ी दूर जाकर वह साँस लेनेको रुका। जीन वैलजीनको लगा मानो वह लड़का फफक-फफककर रो रहा है।

कुछ मिनटोंमें वह लड़का वहाँसे चला गया। उध भगवान् भास्कर भी अस्ताचलगामी हुए।

अँधेरा बढ़ने लगा। रातकी ठंडी हवा मानो काटने दौड़ने लगी। जीन वैलजीनने टोप सम्हाली। अपने व कसे और आगे क़दम बढ़ाया। अपना डंडा उठानेको आगे झुका, तभी उस ४० सूके सिक्केपर उसकी नजर पड़ी। चाँदीका यह सिक्का कंकड़ोंमें आधा छिपा पड़ा था और दूर चमक रहा था। जीन वैलजीनको लगा मानो बिजलीके तार वह छू गया हो।

‘क्या है यह ?’ ऐसा कहकर वह उसकी ओर एकट दृष्टिसे देखने लगा।

कुछ मिनटोंके बाद उसने उछलकर उस सिक्केको उ लिया। उसे पकड़ा और सामने दूर अन्तरिक्षतक अप नज़र दौड़ायी। खड़े-खड़े वह ऐसा काँपने लगा मानो को भयभीत हिरन आश्रयकी खोजमें हो।

आसपास कहीं कोई नहीं। चारों ओर अन्धकार घ होता जा रहा था। ‘ओह’ कहकर जीन वैलजीन तेजीसे अ बढ़ा। कोई ३० कदम जाकर वह पूरी ताक़तसे चिल्लाया—‘पेतित गर्वेस, पेतिस गर्वेस !’

कहीं कोई आवाज नहीं।

वह फिर तेजीसे आगे बढ़ने लगा। दौड़ने ही लगा। बार-बार वह ‘पेतित गर्वेस ! पेतित गर्वेस’ कहकर पुकार जाता था, पर कहींसे कोई आवाज नहीं आती थी।

तभी उसे एक घुड़सवार पादरी मिला।

‘आपने कोई लड़का इधरसे आते देखा है, पाद महाशय !’

‘नहीं’।

‘पेतित गर्वेस उसका नाम था।’

‘मैंने किसीको नहीं देखा।’

जीन वैलजीनने पाँच-पाँच फ्रांकके दो सिक्के निकाल पादरीको दिये और बोला—‘पादरी महाशय, गरीबोंके लि ये दो सिक्के ले लीजिये। महाशय ! वह लड़का बारह साल था। बाजा लिये था। इधरसे ही तो गया है। देखा आपने। ‘मैंने नहीं देखा।’

जीन वैलजीनने फिर पाँच-पाँच फ्रांकके दो सिक्के पादरी देते हुए कहा—‘आपके गरीबोंके लिये !’ फिर जंगलीकी वह बोला—‘पादरी महाशय ! मुझे गिरफ्तार करा दीजिये लुटेरा हूँ।’

पादरीको कुछ भय लगा। उसने घोड़ेको एड़ लगायी और चम्पत हो गया।

जीन वैलजीन फिर उसी दिशामें दौड़ने लगा, जिधर पेतित गया था। वह चलता जाता था और 'पेतित गर्वेस' कहकर जोर-जोरसे पुकारता जाता था। पर उसे कोई नहीं मिला और न किसीने उसकी पुकारका उत्तर ही दिया।

अन्तमें एक तिराहेपर वह खड़ा हो गया। उगते चन्द्रमाके प्रकाशमें उसने दूरतक दृष्टि डाली, पर कहीं कोई न था। उसने फिर आवाज लगायी, पर कोई उत्तर न मिला।

यह उसका अन्तिम प्रयत्न था। उसके घुटने झुक गये, जैसे किसी अज्ञात शक्तिने उसे घूँसा लगाया हो। वह एक भारी पत्थरपर धम्मसे बैठ गया। उसने अपनी गर्दन घुटनोंपर रख ली; हाथोंसे अपनी खोपड़ी थाम ली और कहा—'हाय, मैं कैसा नराधम हूँ! कैसा दुष्ट!'

उसका हृदय भर आया। आँखोंसे आँसू बहने लगे। उन्नीस वर्षमें यह पहला अवसर था जब वह रोया।

जीन वैलजीन जब बिशपके घरसे निकला था, तब उसका 'मूड' ऐसा था जैसा कि उससे पहले कभी नहीं रहा था। उसके हृदयमें विचारोंका जो झंझावात मचा था, उसे वह समझ पानेमें असमर्थ हो रहा था। उसे ऐसा लगा कि इस पादरीका क्षमादान उसपर किया गया तीव्रतम प्रहार था। उसके हृदयमें उसकी अपनी दुष्टता और बिशपकी साधुताके बीच एक भयंकर युद्ध छिड़ गया।

एक मतवालेकी भाँति वह भावावेशमें पड़ा था। उसके भीतर दो प्रकारकी भावनाओंमें द्वन्द्व छिड़ा था—मैं अच्छा बनूँ कि बुरा? ऊँचा उठूँ तो मुझे बिशपसे भी ऊँचा उठना है और नीचे गिरना है तो दुष्टसे भी दुष्ट। अब मैं देवदूत बनूँ या राक्षस?'

दुर्भाग्यने उसे कालेपानीमें भेजा। बाहर आते ही बिशपने उसपर सद्भावोंकी इतनी तेज रोशनी डाली कि उसकी आँखें चौंधिया उठीं। अन्धकारके बाद इतना तीव्र प्रकाश!

एक बात तय थी और वह भी इस बातको मंजूर कर रहा था कि अब वह पहलेवाला आदमी नहीं है। वह एकदम बदल चुका है। बिशपने अपनी वाणीसे, अपने स्पर्शसे उसका हृदय परिवर्तन कर डाला है।

और इसी विचारधारामें जब वह बह रहा था तभी उसे मिल गया पेतित गर्वेस।

उसका ४० सूका सिक्का उसने चुरा लिया।

क्यों?

उसके पास इसका कोई जवाब नहीं था। शायद यह उसके भीतर रहनेवाली दुर्भावनाकी अन्तिम चेष्टा थी; उसके भीतर छिपे पशुका अन्तिम प्रयत्न था। चोरी उसने नहीं की थी, वह की थी उस पशुने जो स्वभाव और प्रेरणाके वश होकर यह भी भूल गया था कि वह है कौन? जब उसकी चेतना जाग्रत् हुई, विवेकने आँखें खोलीं तो वह तीव्र मानसिक संतापमें जकड़ गया और विकल होकर रो पड़ा।

उसके इस अन्तिम कुकृत्यका उसपर निर्णयात्मक प्रभाव पड़ा। आत्मविश्लेषण करनेके पहले उसने पलायनवादी व्यक्तिकी भाँति इस बातकी चेष्टा की कि वह उस लड़केको खोज करके उसका सिक्का लौटा दे। पर जब उसने देखा कि ऐसा करना सर्वथा असम्भव है तो उसकी आत्मा उसे बुरी भाँति धिक्कारने लगी। जीन वैलजीनकी नंगी तस्वीर आ खड़ी हुई उसके सामने। तब वह यह कहकर रो पड़ा कि 'हाय, कैसा नराधम हूँ मैं!'

उसे लगा मानो उसके सामने एक विद्युत्पुञ्ज खड़ा है। गौरसे देखनेसे उसे ऐसा जान पड़ा कि वह बिशप है। पादरीका यह चित्र उत्तरोत्तर निखरता गया और जीन वैलजीनको अभिभूत करता गया!

उसके आँसू थमनेका नाम ही नहीं ले रहे थे। भला कोई स्त्री क्या ऐसा रोयेगी? कोई बच्चा क्या ऐसा रोयेगा?

वह ज्यों-ज्यों रोता जाता था, उसका मस्तिष्क अधिकाधिक स्वच्छ होता चला जा रहा था, उज्ज्वल होता चला जा रहा था। पश्चात्तापके आँसुओंमें उसके पाप, उसके अपराध, उसके कुत्सित भाव धुलते जा रहे थे।

उसके पिछले जीवनका घिनौना स्वरूप बिशपकी क्षमाके प्रकाशमें धीरे-धीरे मिटता चला जा रहा था। उसके नेत्रोंके समक्ष ऐसा प्रकाश था जिसका कि इससे पहले कभी उसने दर्शन ही नहीं किया था।

वह अपने जीवनकी ओर देखता था तो वह उसे भयंकर प्रतीत होता था; आत्माकी ओर देखता था तो वह भयभीत लगती थी। हाँ, उसके जीवन और आत्मापर एक मन्द-मन्द प्रकाश अवश्य छाता जा रहा था। उसे ऐसा लग रहा था मानो कि वह स्वर्गके प्रकाशसे शैतानकी ओर देख रहा था।

इस प्रकार वह कितनी देरतक रोता रहा। रोनेके बाद उसने क्या किया? वह कहाँ चला गया? इन बातोंको कोई नहीं जानता। इतना पता चला है कि रातको तीन बजेके करीब एक ठेलेवालेने द·········'नगरमें पादरी विनवेनूके दरवाजेके सामने सड़कपर एक आदमीको झुका हुआ अवश्य देखा—प्रार्थना करते हुए *।'

---

* विक्टर ह्यूगोकी अमर रचना 'ला मिजरे बल्स' के प्रथमखण्डके द्वितीय अध्यायका सारांश।

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ७९८ से आगे]

वैज्ञानिक व्यूह-रचना

आधुनिक मेडिकल साइंसने किस चमत्कारिक संजीवनीका आविष्कार किया है और दुनियाका उससे कितना उपकार हुआ है ? जन-साधारणसे ऐसा प्रश्न किया जाय तो उत्तरमें दुनियामें बढ़ते हुए रोगोंका चित्र सामने आ जायगा। किसीके मसूड़ोंमें सूजन है, दाँत कमजोर हैं, किसीको जुकाम बना रहता है, किसीको सिरदर्द रहता है, किसीकी हड्डीमें बुखार बना हुआ है, किसीको दिल-धड़कनकी बीमारी है, दर्द होता है, किसीका दम फूलता है, फेफड़े कमजोर हैं, जी मचलाया करता है, अरुचि है, पेट गुड़गुड़ाता है, ऊर्ध्व-वायु होती है, कब्ज रहता है, पेशाबमें शक्कर जाती है, पेशाब नहीं उतरता, किसीने ऑपरेशन कराया था, अब उससे पेशाब लगातार बहता रहता है, किसीने जुकाम-बुखार रोकनेके लिये जीवन-भरमें अबतक एक मन कुनैन खायी है—अब वे बहरे हो गये हैं, कोई कंकालरूप दीख रहा है, उसमें छोटी उम्रमें ही मांस-रक्त नहीं रह गया, जन्मसे ही दिल-फेफड़े कमजोर हैं, किसीकी हड्डी कमजोर है, हड्डियाँ चटखती हैं, कुनैन देनेसे माताका दूध सूख गया है और बच्चेको डब्बेमें बंद, बाजारू बिलायती दूध-पाउडरपर पाला जा रहा है, अमुक गर्भवतीमें खून न होनेसे कंकाल बन रही है और प्रसवके समय माँका या बच्चेका प्राणान्त हो जाता है। वैज्ञानिक लोग समय-समयपर नयी चमत्कारिक दवाओंका अखबार और रेडियोपर प्रचार करते हैं—रोग-निरोधके लिये नये-नये टीके, हरेक रोगके इलाजके लिये इंजेक्शन बनते जा रहे हैं; कोई इन्सुलिनकी चर्चा करता है, कोई मुल्फा और एंटि बायोटिककी महिमा बखानता है, कोई बिजलीसे इलाज और चीर-फाड़में कुशलता और किसीने संजीवनी इंजेक्शनका निर्माण किया है। क्षयरोग और कैंसर आजके युगकी बड़ी समस्याएँ हैं, इनकी रोक-थामके खोज-प्रयोगके लिये धन दो। इतने चमत्कार आविष्कार होने और रोक-थामके व्यापक अभियान होनेपर भी दुनियामें पचास लाख लोग क्षयसे मरते हैं और पाँच करोड़ रोगी बने ही रहते हैं। दुनियामें क्षय रोगके विख्यात विशेषज्ञ और अधिकारी डा० डुबोसका मत है कि 'यह रोग मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनचर्या और समाजमें व्यवस्थागत दोषोंका परिणाम है—' 'Consequence gross defects in social organization and errors in individual behaviour.' Ma can eradicate it without vaccines an drugs by integrating biological wisdo into social technology, into the manage ment of everyday life."

मनुष्य अपनी दैनिकचर्या और समाज-व्यवस्थाको सुध कर इस रोगको किसी दवा, टीका या इंजेक्शनके बिना दूर कर सकता है।

क्या ये रोग कोई आसमानी भूत हैं, तूफान हैं जो ह उड़ते-फैलते संसारमें मानवका शिकार करते हैं ? वैज्ञानिक चमत्कारिक दवाओं और टीकोंमें क्या दम है इन तूफानोंको वे नहीं रोक सकते। १९५६ के पूर्वा जर्नल ऑफ अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशनमें रोजेन्थालने स्पष्ट लिखा था—'याद रक्खो कि किसी भी रो बिल्कुल रोका नहीं जा सकता।' 'It should be bor in mind there is no disease agai which absolute immunity can be achieve

कोरियाकी फौजोंमें तूफानकी तरह चेचक फैला वैज्ञानिकोंने अपने हाथ-पाँव-सिर पटककर चेचक रोकनेके किये, पर रोक न सके, इसी अनुभवके बलपर रोजेन्था उक्त वाक्य कहा।

ब्रिटिश मेडिकल जर्नलके ५ मई १९५६ के इसकी पुष्टिमें लिखा था कि हालैण्डमें किसी भी चेचकका टीका नहीं लगा था। डेनमार्कमें सात वर्ष उम्रके कुछ बच्चोंको तथा स्कूलके सभी बच्चोंको टीका लगा था। फिर भी दोनों देशोंके बच्चोंमें रोक-थाम प्रायः बराबर थी। Yet the fall morbidity is of the same degree vaccinated and non-vaccinated gro और ब्रिटिश मिडकल जर्नलके २८ अप्रैल १९५६ के लिखा था कि किसी नयी चमत्कारिक दवाके आवि उसका प्रयोग आरम्भ हो जानेपर उसका प्रभाव-

पड़ता है, पहले तो तूफानकी तरह उसका व्यापक प्रचार हो जाता है, फिर उसका रिवाज बन जाता है, फिर प्रतिक्रियामें कुप्रभाव अनुभव होनेसे वह पुरानी समझी जाने लगती है, फिर उसके बदले नयी दवा आती है, जिसे लोग पहले संजीवनी मानकर खाते-पीते थे, वह अब रद्दी मानकर कचरेमें फेंक दी जाती है अथवा साधारण श्रेणीमें रहती है, इसके सेवनसे लोगोंमें आदत पड़ जाती है, दवा न मिलनेसे बेचैनी और आकस्मिक दुर्घटनाएँ हो जाती हैं, दवा बदनाम हो जाती है; इतना कुप्रभाव देखकर भी नयी दवाओंका कुचक्र चलता ही रहता है। "On the appearance of any new drug an interesting cycle of events may often be observed. A trickle of favourable reports develops into a stream, and the drug then becomes fashionable. Then the stream dries up and is replaced by one of another kind. Therapeutic failures, undesirable side effects, addiction and accidents claim attention. The drug falls into relative disrepute and its use may even be abandoned. However, it will usually maintain some place in the medical armoury... what was once a cure-all and later something useless or dangerous, ends by moderately being helpful......the cycle can hardly be called a vicious circle......though it may develop vicious qualities." फिर दवाओंकी यथार्थ उपयोगिताका कबतक कितना भरोसा किया जाय ?

निर्भय सत्य

प्रमाणित डॉक्टरी अखबार लांसेट २६ मई १९५६ में एंटि बायोटिक दवाइयोंके विषयमें कीटाणुवादी सिद्धान्त और आधुनिक डॉक्टरी इलाजको तिरस्कृत करते हुए निर्भय शब्दोंमें सम्पादकने लिखा है कि "अब हमें चिकित्साकी पुरानी 'कीटाणु मारो' की अज्ञानी पद्धतिको तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये। बुखार या किसी उत्तेजक बीमारीमें डॉक्टर रोगीके खूनमें रहे हुए खटमलों (कीटाणुओं) पर जो धावा किया करते हैं, अब मालूम हुआ है कि ये कीटाणु वास्तवमें कोई नुकसान नहीं पहुँचाते।" आगे चलकर सम्पादकने लिखा है कि 'अनेक प्रकारके कीटाणु अस्पतालोंमें ही परस्पर सम्पर्कसे फैलते हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये।' "Certainly it is time that we abandoned the naive ignorance which underlies the apparently common assumption that the best thing a doctor can do for a febrile or potentially febrile patient is to 'hit his bugs hard.' Most of these miscalled creatures are harmless when they are left among plenty of others of their kind, to the rich, natural anti-bacterial sources of the human body.......If we were anxious to do a bacteriological good deed where none is required, we should be far less likely to spread harm of a kind that it may soon prove impossible to control.

These infections in hospitals are not only a cause of ill health, lost time and wasted money but also a source from which a veritable epidemic of staphylococeal infections may spread to the general public.

मृगजाल

पाठको, जरा अपना दिमाग खुजलाइये। केवल एक शरीरमें कीटाणुओंकी हत्या करनेके लिये विष-संचारमात्रसे काम नहीं चल जाता। इस सिद्धान्तसे तो विष-निर्माणका व्यवसाय चल चुका, इसकी जंजीर लंबी हो चली, इसको तोड़े कौन ? नयी दवाइयाँ बनाकर इस जंजीरपर नये रंग चुपड़े जाते हैं, लोहेकी जंजीर चाँदी-सोनेकी दिखने लगती है, इसको तोड़नेमें तो व्यवसाइयोंकी रोटी टूट जायगी। स्वास्थ्य केवल एक व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं है और दूषित वातावरणमें रहकर वह अकेले स्वास्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता। जब कि गंदे वातावरण और रिवाजका प्रभाव सभीपर पड़ता है तो एक व्यक्ति उससे कैसे बच सकता है ? और वह अकेला भागकर दूर कहाँ जाय जहाँ समाज न हो, और उसकी गुजर कैसे हो ? देखिये, इस सम्बन्धमें भोजन-पानी, साग, फल, दूध आदिकी उत्पत्तिपर विचार कीजिये। शुद्ध खाद्य स्वस्थ-तत्त्वोंका प्रचार तो किया जाता है परंतु वे हैं कहाँ ? हरेक व्यक्ति अपनी ढाई चावलकी खिचड़ी इस वैज्ञानिक युगमें नहीं पका सकता, ये सब पदार्थ अन्य विभिन्न उत्पादक क्षेत्रोंसे हमें प्राप्त होते हैं। अन्न-साग-फल स्वस्थ शुद्ध दशामें हमें तभी प्राप्त होंगे, जब कि वे उन सबको पैदा करनेवाली भूमि, जल,

वायु शुद्ध स्वस्थ हों, परंतु यहाँ वैज्ञानिक व्यवसायद्वारा रासायनिक खादोंके उपयोगपर सरकार जोर देती है, 'अधिक अन्न उपजाओ', फसलोंपर कीटाणुनाशक दवाइयाँ धुआँधार बरसायी-छिड़की जाती हैं, पानीमें भी फ्लोरिन मिलाया जाता है, वातावरणमें डी. डी. टी. आदि अनेक रसायन फैलाकर मक्खी-मच्छरोंको मारा जाता है। शुद्ध हवा, पानी, जमीन, धूप जब पौधोंको नसीब नहीं, तब मानव विष-मिश्रित पदार्थ छोड़कर क्या खाये-पीये ? मछलियाँ तो गंदे समुद्रके कीटाणु हैं ही, मांस देनेवाले पशुओं, मुर्गियोंको भी मोटा करने और अधिक कीमत पानेके लिये 'हारमोन तथा एंटि बायोटिक' दवाइयाँ खिलायी जाती हैं, गायों-भैंसोंको भी अधिक दुधार बनानेके लिये अनेक प्रकारके प्रयोग उनपर किये जाते हैं; मांसको लाल ताजा बनाये रखने तथा दूधको निर्दोष और बाजारू, पैकबंद भोजनमें मक्खन, रोटी आदिमें भी रासायनिक रंग आदि मिलाये जाते हैं तो हमारा खून शुद्ध बलवान् कैसे रहे ? 'लांसेट' के २६ मई १९५६ के अङ्कमें एक सर्जनने लिखा था कि 'नार्वे-स्वीडन'में पित्ताशयके रोग बढ़ रहे हैं, गोटनवर्गके अस्पतालमें सन् ५४ में एक हजार पित्ताशयके ऑपरेशन करके काट निकाल फेंक दिया गया जब कि उसके पहले साल केवल दो सौ ऑपरेशन हुए थे। डॉक्टरी क्षेत्रमें बातोंसे मालूम हुआ कि यह रोग फिनलेण्डसे आरम्भ होकर फैला है। इसका कारण मारगरीन (मछलीके तेलसे बना हुआ, भारतीय बनस्पति—मूँगफली और तिल्लीका जमाया हुआ तेलका सौतेला भाई) पर शंका दौड़ती है। नार्वे-स्वीडनमें होनेवाला सब मक्खन विदेशोंको निर्यात कर दिया जाता है और वहाँके लोगोंमें मारगरीन—मछलीका शुद्ध जमाया तेल खानेका रिवाज हो गया है।'

बुरे फँसे

दवाइयों, अस्पतालों, खेती, बागवानी, अन्न, दूधके बाद अब चलिये, डॉक्टरसे मुलाकात करें। डॉक्टरके यहाँ देखिये, मरीजोंकी बड़ी भीड़ है, जैसे कि पर्वोंमें देवमन्दिर-द्वार या सिनेमाका टिकट लेने, रेलमें, बसमें चढ़े मुसाफिरोंकी भीड़ होती है। लगभग दस प्रतिशत लोगोंको जुकाम है, लगभग आठ प्रतिशत लोगोंको पुरानी खाँसी है, लगभग ७-८ प्रतिशत लोगोंके टांसिलमें खराबी है, ५-७ प्रतिशतको इन्फ्लुएंजा है, कुछके दिल-फेफड़े रोगी हैं। जैसे रेल-बस-सिनेमा-गृहोंमें खटमलोंका परस्पर स्थानान्तर होता है, उसी तरह एक डॉक्टरको घेरे हुए विभिन्न प्रकारके इन रोगियोंके श्वास-प्रश्वास, छींक-खाँसी आदिसे क्या सूक्ष्म कीटाणुओंका परस्पर आदान-प्रदान नहीं होता ? लोग तो अपने रोगका इलाज-दवा मिक्स्चर लेने जाते हैं और साथमें नये रोगके कीटाणु ले आते हैं। इस प्रकार दवाका व्यवसाय और रोगोंका प्रसार होता है, रोगियोंका धन खर्च होनेके साथ देशका धन भी बरबाद होता है। और, क्या डॉक्टर तथा अस्पतालके कर्मचारियोंको 'सुरखाबके पर' लगे होते हैं कि उनको कोई रोग नहीं होता ? कीटाणु कहाँ नहीं हैं ! रोग कहाँ नहीं है ? ऐसे वैज्ञानिक जीवन, रासायनिक वातावरण और इलाजसे सारी दुनियाकी भूमि, हवा-पानी, वनस्पति, प्राणी और मनुष्य विषाक्त हो जायँगे, फिर कौन किसका भरोसा और इलाज करेगा ? और इलाजके साधन क्या होंगे ! यह वैज्ञानिक जमाना ऐसा हो रहा है कि पत्थरके कोयलेपर हरी स्याही सींचकर फूल उगाना चाहते हैं, दुनियाको श्मशान बनाकर इसे देवताओंका स्वर्ग बताते हैं। वर्तमान बाल-बच्चोंमें रोग-निरोधक विष-बीज बोकर उन्हें अपंग बनाकर तथा जनसंख्याकी वृद्धि रोकनेके लिये संतति-निरोधके द्वारा स्त्री-पुरुषोंको वन्ध्या-नपुंसक बनाकर ये वैज्ञानिक और सरकारें—दुनियामें किसका चित्र खींचकर अपना मुँह चमकायेंगे ? लन्दनकी एक 'मिस' छुट्टी मनाने इटली गयी थीं, वहाँ उन्होंने सर्राफोंकी दूकानोंमें तथा अन्यत्र भी छिपे हुए 'पोस्टर' देखे, जिनमें लिखा था "I Medici la Guerra spopolano La Terra". अर्थात् डॉक्टर लोग दुनियाकी आबादी घटा रहे हैं।

भोले शिकार

आधुनिक वैज्ञानिक लोग स्वास्थ्य-साधनके विषयमें उतना कुछ नहीं जानते, जितना कि रोगों और कीटाणुओंके विषयमें; क्योंकि उन्होंने केवल कीटाणुओं, विषों और रोगोंका ही अध्ययन किया है। कीटाणुओं और विषोंकी मानस रचना खेती तथा भूमि-भोजन-पानी और दवाओंसे रोग तो बढ़ते हैं परंतु उनसे अधिक रोग भयावह धूर्त भाषासे अखबार और रेडियोसे प्रचारद्वारा बढ़ते हैं। दुनियामें हर-एक व्यक्ति वैज्ञानिक या शोधक नहीं है और अपने शरीरकी अन्तर प्रणालीके विषयमें सब रहस्य कोई बड़े-से-बड़ा ज्ञानी, विज्ञ भी नहीं जानते; अपने शरीरका ज्ञान न होनेसे हरेक व्यक्ति रोगी होता है और वह ज्ञानी होते हुए भी अन्धश्रद्धालु अन्धविश्वासी बनकर डॉक्टरकी शरणमें इलाजके लिये

है और डॉक्टरकी बातें मानता है। दुनियाके सरकारोंमें अधिकांश मन्त्री शासकवर्ग ऐसे ही अज्ञानी होते हैं जो अपने अज्ञान और अन्धविश्वासके कारण गवर्नमेण्ट और जनताको इन वैज्ञानिकोंके उल्लू बनाकर विषाक्त विज्ञानका व्यवसाय बढ़ा रहे हैं। वैज्ञानिक जो कह दें वह लोहेकी लकीर बन जाती है। १९५६ के मध्यमें अमेरिकन कैंसर सोसायटीका समाचार 'न्यूयार्क टाइम्स' में छपा था, 'अमेरिकामें इस साल चार लाख कैंसरके रोगियोंको प्राण-दान मिला। इस रोगसे और भी मरनेवाले आठ लाख लोगोंको बचाया जा सकता है, यदि ये पहलेसे अपना इलाज करा लें। अमेरिकामें चार करोड़ लोग कैंसरके रोगी हैं; अर्थात् वहाँ चारमें एक व्यक्ति इसका शिकार है अतएव पहले ही इसका इलाज कराकर बेफिक्र हो जाना चाहिये।'

शिकारीकी कला

ऐसे घबरा देनेवाले लेख या भाषण पढ़-सुनकर लोगोंका बुरा हाल हो जाता है। यदि गवर्नमेण्ट इस चेतावनीको कार्यान्वित करे तो इसका अर्थ क्या हुआ? इसके ऑपरेशन करनेके लिये कम-से-कम दस हजार डॉक्टरोंकी फौज चाहिये, नर्सें चाहिये, बड़े-बड़े भवन, वैज्ञानिक साधन-सामग्री, रोगियोंके रखने एवं उनके आराम, खान-पानके साधन, स्थान, सामग्री और कर्मचारी चाहिये और डाक्टरोंका काम होगा, उन कथित रोगियोंके अमुक शङ्कित अङ्गोंको काट निकाल फेंकना, अपंग बनाना। इन सबसे क्या लोग स्वस्थ हो जायँगे? इसकी कोई गारंटी नहीं। जो अपंग कर दिया गया उसे पूर्ण और स्वस्थ कैसे कहा जाय? आमदनी और व्यवसाय बढ़ाने, लोगोंको छलकी भाषासे बेवकूफ बनाने और स्वयं सम्मानसहित मौज करनेकी कला है। यह सारी दुनिया इसी प्रकार इस व्यूहमें फँसी है।

कहा जाता है कि इलाजके पहले पूर्णतया निदान कर लेना आवश्यक है। किंतु जीवित शरीरमें सतत होनेवाली क्रियासे शरीरमें क्षण-क्षणमें कैसे भले-बुरे परिवर्तन होते रहते हैं, ऐसी दशामें एक दिन किया हुआ निदान क्या दूसरे दिन वैसा ही कायम रह सकता है, और तब निदान होनेपर क्या इलाज ठीक माना जाय? शरीर तो घड़ीके यन्त्रोंके समान चलता है और कभी भी घड़ी देखकर समय बताना और मानना सत्य नहीं कहा जाता, समय मुँहसे कहते ही घड़ीका काँटा कुछ सेकण्ड आगे बढ़ जाता है अतएव बताया गया समय झूठा हो जाता है। ऐसी दशामें निदान और चिकित्साका सामञ्जस्य नहीं बैठ पाता; दोनों ही झूठे हो जाते हैं। निदान तो तभी हो, जब शरीरकी क्रियाएँ स्थायी हों, बंद हों। जीवित लोगोंका निदान कर इलाज करते-करते जब वे मर जाते हैं, तब ऐसे मुर्दोंकी चीर-फाड़ होनेपर अधिकांशमें जो निदान हुआ उससे जीवित अवस्थामें किया हुआ निदान गलत सिद्ध हुआ। डॉ० केवाटने मुर्दोंके निदान करके, ४७ प्रतिशत जीवित निदानोंको गलत पाया। २६ मई १९५६ के ब्रिटिश मेडिकल जर्नलमें एक डॉक्टरने अपने अनुभवके आँकड़े प्रकाशित किये हैं। बढ़िया-से-बढ़िया सम्पन्न अस्पतालमें भी किसी रोगीके निदानपर विश्वास करके इलाज करना अन्धविश्वास मात्र है; क्योंकि जीवित शरीरपर विचारों, भावावेगों, हवा-पानी, आहार, इलाज और मिलने-जुलनेवालोंकी बातों तथा आसपासकी घटनाएँ देखकर सबकी प्रतिक्रिया होती रहती है, भली या बुरी।

स्पष्ट तथ्य

इलाजके नामसे अथवा निदानके हेतु शरीरका रक्त निकालना, एक्स-रे लेना या कुछ खिलाना-पिलाना, इंजेक्शन देना—उसकी स्वाभाविक आत्मरक्षक पद्धतिपर आघात, अपराध करनेके बराबर है, चाहे वह किसी भी प्रकारसे वमन-विरेचन-स्वेदनकी ही क्रिया क्यों न हो। अनाथालय और शालाओंके बच्चोंपर भी जुलाबके प्रयोग सप्ताहमें एक या दो बार, अथवा दिनमें एक या दो बार किये जानेके समाचार हैं। बाल-पालन और स्वास्थ्य-रक्षाके विषयमें माता-पिता और शिक्षक भी उतने ही अज्ञानी होते हैं और रोगोंकी रोकथाम तथा प्रयोगके नामपर ये दोनों अज्ञानवश डॉक्टरकी व्यूह-रचनासे इन्कार नहीं कर सकते। न्यूयार्क टाइम्सके २७ मई १९५६ में वैज्ञानिक चिकित्साकी व्यर्थताको सिद्ध करनेवाला एक समाचार 'विज्ञान समालोचना'के स्तम्भमें प्रकाशित हुआ था कि 'शरीरमें आत्मरक्षक, आत्मचिकित्साकी चमत्कारिक क्षमतासे आश्चर्य होता है, जुकाम तथा अनेक फैलनेवाले रोगोंपर आप ही विजय मिल जाती है, कैंसरपर भी।' अमेरिकन कैंसर सोसायटीने बताया कि 'उसके एक नियुक्त डॉक्टरने कैंसरके प्रमाणित निदानवाले ८८ रोगियोंकी गाँठोंको अपने-आप अच्छे होते देख आश्चर्य किया। डॉक्टर लोग शरीरकी रोग-निरोधक शक्ति देखकर हैरान हो रहे हैं।

'The resistance of the body to disease is astonishing. Colds and infections of many kinds are fought off. This holds good even for some forms of cancer, which according to scientists is caused by a virus. The American Cancer Society a few months ago announced that one of its grantees after a thorough examination of the record had found at least eighty-eight genuine cases of spontaneous regression of tumours. The resistance of the body to infections and even to cancer has always perplexed and astonished scientists.'

दो मुँह

जब दवाएँ व्यर्थ हैं और शरीर स्वयं अपनी चिकित्सा-रक्षा करनेमें समर्थ है, जैसा कि मनुष्यके अतिरिक्त अगणित जीवोंमें होता देखा गया है, तब दवाकी दासता अन्धविश्वाससे मुक्त करनेके लिये जनतामें इस तथ्यका प्रचार शिक्षाद्वारा करना चाहिये । इसका अनुभव और दृष्टिकोण लेकर, लन्दन डेलीमेल ७ जुलाई ५६ के अङ्कमें डॉक्टरोंकी एक समितिकी सम्मति प्रकाशित हुई थी ।

"Doctors decided today to urge the Government to teach everybody from children to old folk more about health and less about sickness, and to save the country millions of pounds on the 'Health Service' which is really a national sickness service."

इतना सब होकर भी किसी बीमारीका कुछ समाचार पाकर डॉक्टर लोग मौका नहीं चूकते, प्रचारकर लोगोंको घबराकर नगद लाभ उठाते हैं । अमेरिकाके 'टाइम' ३० जुलाई १९५६ में बालपक्षाघातका प्रचार करके अभियान-द्वारा अंधाधुंध लाभ उठानेका समाचार छपा है । रेडियो और टेलीविजनपर भी खूब चर्चा हुई कि 'शिकागो और उपनगरोंमें पोलियो फैला है, फौरन इंजेक्शन लगवाकर अपनी रक्षा करो । यह नया रोग किसी नये कीटाणुसे फैला है ।' बस ! संस्थाओंने टीका लगानेके लिये अपने केन्द्र जगह-जगह कायम कर दिये । ग्यारह हजार सुइयाँ और सिरिंज, दो लाख इंजेक्शनकी बोतलें पहुँच गयीं और इन केन्द्रोंमें लोगोंकी ऐसी खासी भीड़ जुटने लगी कि परस्परकी छाती-पीठ, श्वा श्वाससे कीटाणु भरे वातावरणमें नये रोगका रंग परस्प पर चढ़ने लगा । कहा जाता है कि यह रोग अच्छे खाये-पि हुए सम्पन्न परिवारवालोंको होता है । इनकी छलमयी भा देखिये, एक ओर तो भोजनकी गरीबी दूर करनेके लि भोजन-सुधारकी बात कहते हैं कि खुराक कमजोर होने बीमारी होती है और दूसरी ओर, अच्छे खाने-पीनेवा सम्पन्न परिवारोंमें रोगका भय दिखलाकर उन्हें भोजनसे डराते हैं । एक मुँहसे दो प्रकारकी बातें ! किसको पकड़े किसको छोड़े । इनके सिद्धान्त और दवाएँ बार-बार बदल रहती हैं । २५ अगस्त १९५६ के ब्रिटिश मेडिकल जर्न एक निष्पक्ष डॉक्टरने अपना विचार लिखा है कि असी पहले जिन रोगोंके लिये जो दवाएँ दी जाती थीं वे भुला जा चुकी हैं, अतएव आजकी दवाएँ भी क्रमशः लुप्त जायँगी । इस चलते-फिरते बहुरूपिये विज्ञान और वैज्ञानि का क्या भरोसा किया जाय । इनकी दवाओंसे मन्दाग्नि नये रोग फैलते हैं, फिर डॉक्टर उन नये रोगोंके लिये जहर बनाते हैं और ऐसी ही परम्परा चलती है कि झूठ बोलनेपर क्रमशः सैकड़ों झूठ बोलते और गवाह ब हैं । इनके इलाज और दवाके बिना कोई मर जाय तो क हैं कि इलाज कराया होता तो रोगी बच जाता । परंतु समय ये वैज्ञानिक और डॉक्टर स्वयं अपना इलाज कर भी क्यों मर जाते हैं और उनके रोगी भी क्यों मर जाते हैं इनकी ऐन्द्रजालिक विद्या ऐसी है कि ये स्वस्थको बीमार दें और जो न मरता हो उसे इलाजके नामपर जहर दे मार डालें और उपकारी बनकर निरपराध बचे रहें । ल डेली एक्सप्रेस २९ अगस्त १९५६ का समाचार है कि लि पूलके डॉक—बन्दरगाहपर कुछ लोगोंको पोलियो हो गया जनताका वहाँ जाना और वहाँवालोंको बाहर जाना बंद दिया गया । लिवरपूलसे बाहर जानेवाले जहाज रोक गये और बाहरसे आनेवाले जहाजोंको समुद्रमें दूर ही दिया गया । कोई अपने घर-गाँवमें जानेको कहता तो उ कहा जाता 'ऐसी दशामें आप अपने बाल-बच्चोंमें रोग फै और स्वयं रोगी होने जा रहे हैं ? अपनी जानकी मनाइये ।'

(क्रमश

लड़कियोंका नाच या चरित्रनाश ?

[शिक्षा-मन्त्रियोंसे नम्र निवेदन]

(लेखक—श्रीलक्ष्मणप्रसादजी गुप्त, बी. ए., एल्-एल्. बी., ऐडवोकेट)

यह शायद सबको मालूम होगा कि प्राय: सभी जगह स्कूल और कॉलेजकी कुमारी और जवान लड़कियोंको नृत्य सिखाया जाता है और उन्हें पबलिकमें नचाया जाता है । अंग्रेजोंके जमानेमें स्कूलोंमें पढ़नेवाली हमारी लड़कियाँ कभी कहीं नहीं नचायी जाती थीं । कांग्रेस गवर्नमेण्टके आनेपर कुछ रसिक साहित्यकार सरकारी शिक्षा-कमेटियोंमें शामिल हो गये और उन्होंने लड़कियोंके नाचनेको शिक्षा-कार्यक्रममें शामिल कर दिया । एवं अब तो वह संस्कृतिका एकमात्र स्वरूप बनता जा रहा है ! शुरू-शुरूमें पाँच-सात सालकी लड़कियाँ नाचती थीं और उनका नाच किसीको बुरा भी नहीं लगता था । जब एक बार लज्जाका पर्दा हट गया, तब ये लड़कियाँ बड़ी होकर भी नाचने लगीं । यहींसे पतन प्रारम्भ हुआ और शिक्षा-अधिकारियोंके इशारेपर सांस्कृतिक प्रोग्रामके बहाने मिनिस्टरों और बड़े अधिकारियोंको खुश करनेके लिये इन लड़कियोंको नचाया जाने लगा । मिनिस्टरोंको चाहिये था कि उसी समय वे आदेश जारी कर देते कि स्कूल और कॉलेजोंकी लड़कियोंको पबलिकमें नहीं नचाना चाहिये, परंतु उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और वे चुप रहे, जिसका एक बुरा नतीजा यह हुआ कि जो जिला तथा शिक्षा-अधिकारी एवं स्कूलके मैनेजर इन नाचोंको बुरा समझते हैं, वे भी बाध्य होकर इन नाचोंका आयोजन कराने लगे और रसिक अधिकारी मिनिस्टरोंकी इस खामोशीका फायदा उठाकर हर मौकेपर इन नाचोंका आयोजन कराकर आनन्द लूटने लगे । अब तो स्कूल और कॉलेजोंकी जवान लड़कियाँ पूरी सज-धजके साथ और हाव-भावसे परियोंकी तरह पबलिकके सामने नचायी जाती हैं, जिससे—

१—निर्लज्जताका प्रसार होता है ।
२—व्यभिचार फैलता है ।
३—फैशन एवं प्रमादको बढ़ावा मिलता है ।
४—विलासिता बढ़ती है ।

यह तो निश्चय ही है कि नाचनेवाली लड़कियाँ चटक-मटक और फैशनसे रहती हैं । फैशनकी गुलामीके कारण अपनी आमदनीसे अधिक खर्च करने लगती हैं । अपने बच्चोंकी देखभालमें पूरा मन नहीं लगाती हैं । इनके पतियोंका इनके चरित्रमें कोई विश्वास नहीं रहता है और सारा जीवन क्लेशमय हो जाता है ।

यह भी निश्चय है कि विलासिता—बड़े-बड़े पापोंकी जड़ है । विलासितासे वासनाएँ बढ़ती हैं । वासनाओंका कोई अन्त नहीं है । विलासी आदमी घरबार, रोजगारकी देखभाल नहीं कर पाता है और सब चौपट कर देता है । जब रुपया नहीं रहता है, तब वह चोरी करता है, घूस लेता है और असद् मार्गसे धन प्राप्त करना चाहता है ।

विलासी कर्मचारी अपना कर्तव्य पालन नहीं कर पाते हैं, जिसके कारण सरकारी दफ्तरोंमें भ्रष्टाचार बढ़ रहा है ।

विलासी आदमी हृदयहीन भी हो जाते हैं—उत्तर-प्रदेशके इटावा जिलेमें अधिक वर्षा होनेके कारण पिछले अक्टूबरमें किसानोंकी खेती बरबाद हो गयी थी । उनके मकान गिर गये थे, उनके पास खानेको कुछ नहीं रहा था । वे दु:खसे पीड़ित होकर त्राहि-त्राहि कर रहे थे । उन्हीं दिनोंमें वहाँ एक नुमायश की जा रही थी—जिसमें नाचनेके लिये बहुत-सी नाचनेवाली आयीं और

दो फिल्म स्टार दस हजार रुपये खर्च करके बम्बईसे बुलवायी गयीं ।

बहुत-से गृहस्थी सज्जन कॉलिजमें पढ़नेवाली अपनी कुमारी लड़कियोंके पबलिकमें नाचनेसे बहुत दुखी हैं । वे समझते हैं कि उनकी लड़कियोंको सरकार नचाती है और इसलिये वे सरकारको कोसते हैं ।

बुरी बातको लोग जल्दी ग्रहण करते हैं । इधर भले घरोंकी इन बहिन-बेटियोंकी नृत्यकला देखनेका चसका इस कदर बढ़ा है कि अच्छे-अच्छे धर्मप्रचारक, समाज-सुधारक, साहित्यकार, पत्रकार, शिक्षक—सभी चुप हैं, मानो चुपके-चुपके लड़कियोंके नाचोंका आनन्द ले रहे हैं । इतना ही नहीं बहुत-से तो इस सदाचारका सर्वनाश करनेके लिये कालरूपिणी कलाको हर तरहसे प्रोत्साहन दे रहे हैं ।

जहाँ एक ओर सरकारने देशकी खुशहाली बढ़ानेके लिये बहुत कुछ किया है और कर रही है—वहाँ दूसरी ओर जान-बूझकर या अनजानेमें पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रवाहमें बहती स्कूल और कॉलिजोंकी लड़कियोंको नचाकर विनाशकारिणी विलासिताको पूरा प्रोत्साहन दिया है ।

स्कूलोंमें सांस्कृतिक प्रोग्रामोंकी डिवीजन या डिवीजनल रैली करायी जाती है—वहाँ मुख्य तौरसे लड़कियोंके ड्रामा कराये जाते हैं, उनमें बहुत-से अश्लील होते हैं और काम-वासनाको उत्तेजित करते हैं । विदेशोंको जो सांस्कृतिक डेपुटेशन जाते हैं, वे भी वहाँ जाकर भारतवर्षके उच्च आदर्शोंको न दिखाकर केवल नाच-गान ही दिखलाते हैं—मानो भारतवर्षकी संस्कृतिमें और कोई अच्छी बात ही नहीं है ।

अतः मेरा नम्र निवेदन है कि स्कूल-कार्यक्रमोंमेंसे लड़कियोंको नचाना निकाल दिया जाय और आदेश जारी किये जायँ कि स्कूल और कॉलिजोंकी लड़कियोंको किसी बहानेसे कभी और कहीं न नचाया जाय ।

स्नेह-सुमन

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट-ला)

भक्तजनोंके निर्मल मनमें, खिलता हरिका स्नेह-सुमन है ।
है वह स्नेह सुधा वसुधामें, मानवजीवनका जीवन है ॥ १ ॥
उसकी रसमयतासे रंजित, रही सदा मोहनकी मुरली ।
जिसकी मधुर तानने सारे, ब्रजमंडलकी सुध-बुध हर ली ॥ २ ॥
उसके सुधा-स्रोतकी सुधिसे, रही सदा मीराँ मतवाली ।
जिसके अधरोंसे छूते ही, अमृत हुई हलाहल प्याली ॥ ३ ॥
उसकी त्याग-शक्तिकी ही है, पन्ना जगमें अमर कहानी ।
सुतकी बलिका था जिसके, नयनों का ही नीर निशानी ॥ ४ ॥
भरी हुई भावोंसे उसके, नरसीकी रचना रसवाली ।
सुनकर भक्त मस्त हो नाचे, तान तँबूरा पर दे ताली ॥ ५ ॥
ब्रज-बनिताके रोम रोममें, उद्धवने उसका रस पाया ।
आया था समझाने उनको, सहज समझसे वह चकराया ॥ ६ ॥
उसकी तन्मयताके सुखमें, सहकर सकल जगत्‌की बाधा ।
माधवके प्रति मधुर भावको, राधाने जीवनभर साधा ॥ ७ ॥

गीत

(रचयिता—डा० श्रीहरिवंशराय 'बच्चन', एम्० ए०, पी-एच० डी०)

इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

लक्ष्य तुम किसको बनाकर चल पड़े हो
जानता है कौन ?
और पूछे भी न कोई, क्या इसीसे
हो गये हो मौन ?
कब किसे तुमने बुलाया ? बैठ जोही
कब किसीकी बाट ?
किंतु पीछे जा रहे हैं कौन क्या तुमको नहीं है ज्ञात ?
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

और सोच-विचार निर्णय कब किया
मैंने करूँ प्रस्थान ?
और मेरे वास्ते किसको पड़ी थी
जो करे आह्वान ?
एक मेला जा रहा है, मैं अकेला
ही न जाऊँ छूट,
बस यही कुछ सोच सबके साथ मैं भी हो लिया अज्ञात।
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

रास्तेमें कौन कंकड़, कौन पत्थर,
कौन कंटक जाल ?
कौन संकट, कौन बंधन तोड़ती
जारी तुम्हारी चाल ?
यह तुम्हारे पाँव जानें, या कि जाने
जो तुम्हारे पास,
अग्रजोंके पद-विनिर्मित पंथ पर मैं चल रहा नतमाथ।
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

किस जगह मंजिल मिलेगी, या मिलेगा
किस जगह विश्राम ?
यह तुम्हारा और अगले साथियोंका
प्रश्न; मुझसे काम ?
प्रार्थना मेरी यही कोई न छूटे,
गिरे, पिछड़े, राम।
मैं तुम्हारा हाथ हाथों-हाथ पकड़े हाथमें रक्खे हुए हूँ हाथ।
इस तुम्हारी मौन यात्रामें मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दयालु भाभी

प्रयागके गत कुम्भमेलेकी बात है—हमलोग जहाँ ठहरे थे, वहाँ उसके बगलमें ही एक सज्जन ठहरे थे । उनके साथ उनका दूर सम्पर्कका एक चचेरा भाई तथा एक नौकर था । दो-चार दिन बाद ही उनकी धर्मपत्नी कलकत्तेसे घर जाती हुई कुम्भ-स्नानके लिये पतिके पास आकर ठहर गयी । उसके साथ उसका एक छोटा बच्चा था । वह घर जा रही थी, इससे उसके पास लगभग दस हजारका गहना था, जो एक पीतलके डिब्बेमें बंद था और वह डिब्बा ट्रंकमें रक्खा था । ये बातें मुझको पीछे मालूम हुईं । घटना ऐसी हुई कि तीन-चार दिनके बाद ही वह गहनेका डिब्बा चोरी हो गया । ट्रंकका ताला ज्यों-का-त्यों था । किसीने दूसरी चाबी लगाकर ट्रंकसे गहनेका डिब्बा निकाल लिया था । नौकरसे पूछा गया, आसपास खोज हुई पर कहीं पता नहीं चला । बेचारे दम्पति सिर पीटकर रह गये । कुछ दिनों बाद गहने बेचते हुए कानपुरमें एक आदमी देखा गया । उसपर संदेह हुआ । उससे कुछ भले लोगोंने पूछा, पकड़ानेकी धमकी दी । उसने बतलाया कि मैंने तो यह गहना प्रयागमें एक सज्जनसे दो हजारमें खरीदा था । खोज की गयी तो पता लगा कि वह चचेरा भाई ही चोर था । भाईको बहुत गुस्सा आया । उसने पुलिसमें रिपोर्ट करके चचेरे भाईको पकड़वाना चाहा । पर उनकी पत्नीने रोक दिया और चचेरे भाईको बुलाकर पूछनेके लिये कहा । उसे बुलाया गया । वह आकर फूट-फूटकर रोने लगा । उसने नम्रतासे स्वीकार किया कि 'चोरी मैंने की है । लड़कीके विवाहमें दस हजार रुपये लगे थे, उसमेंके साढ़े चार हजार रुपये अभी देने थे । एकका बड़ा तकाजा था, उसके यहाँ दूसरी लड़कीका कुछ जेवर बंधक रक्खा था । रुपयेवाला तकाजा था तथा लड़कीके ससुरारवाले लड़कीको लेने आ गये थे, उसका गहना देना आवश्यक था, इसलिये मैंने गहना चुरा लिया । गहना कितना था—मैंने देखा ही नहीं । मुझे तो रुपयेकी आवश्यकता थी, अतः मैंने उसी दिन दो हजारमें उसे बेचकर रुपये महाजनको भेज दिये । अब आप जैसा उचित समझें करें ।' यह सब सुनकर दयामयी उसकी भाभीका हृदय पिघल गया । उसने पतिको समझा-बुझाकर राजी किया । दो हजारमें गहना खरीदनेवालेको बुलाया गया । वह भला आदमी था तथा पुलिससे पकड़े जानेसे डर भी रहा था । उसने दो हजार रुपये तथा उनका उचित
लेकर गहना लौटा दिया । उन सज्जनने पत्नीके
अनुसार ढाई हजार रुपये और भी चुकाकर चचेरे
ऋण-मुक्त करा दिया और उसे अपनी फर्ममें अच्छे
नियुक्त भी कर लिया । उसने रोम-रोमसे आशीर्वाद
धन्य ।

—हरसुखदास

(२)

आदर्श मित्र

पुनीत वाराणसीवासी 'दूजो हरिचन्द' भारतेन्दु
खड्गविलास-प्रेसके संस्थापक, रेपुरानिवासी बाबू
सिंहजीके परम मित्र थे । भारतेन्दुजी बड़े उदार थे ।
सदा ही मुक्तहस्त रहता था । इसमें उनकी सारी
समाप्त हो गयी; बल्कि डेढ़ लाख रुपयोंका ऋण एक
रह गया, जिसकी चर्चा उन्होंने अपने भाई-भतीजों
दौहित्रसे भी नहीं की थी ।

एक दिन उन्होंने अपने अभिन्न मित्र बाबू
सिंहको बुलाकर उनसे और सारी बातें बतायीं और
'जिनके रुपये हैं, वे सज्जन कभी मुझसे माँगने नहीं आये ।
कारण मुझे इस ऋणके न चुकानेका और भी बड़ा दुःख है ।'

भारतेन्दुके फक्कड़ स्वभावसे परिचित,
तुरंत कहा—'अच्छा, तो यह ऋण चुकाना मेरे जिम्मे
आप इसकी तनिक भी चिन्ता न करें । इस
बिल्कुल निश्चिन्त रहकर भगवत्स्मरण करें ।'

बाबू रामदीनसिंहकी डेढ़ लाख रुपयेका ऋण
देनेकी बात सुनकर लाखोंकी सम्पत्ति लुटा देनेवाले
नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये । इसी दशामें उन्होंने कागजका
टुकड़ा बाबू रामदीनसिंहके हाथोंमें दिया, जिसपर लिखा

'मेरी सारी पुस्तकों (१७५) के प्रकाशनका
खड्गविलास प्रेसको ही है ।'

बाबू रामदीनसिंहने उसे पढ़ा और तुरंत फाड़कर
सामने फेंक दिया और कहा—'यह तो मित्रता निभाना
हुआ, व्यापार हुआ ।'

ये दोनों आदर्श मित्र धन्य थे ।

('पद्मभूषण' आचार्य श्रीशिवपूजनसहायके कथनके

(२ क)

मनके अमीर चपरासी

जिन दिनों १९४७ ई० से ५० तक—मैं

विभागमें सहायक उपनिरीक्षकके पदपर बलिया जिलेमें ही काम करता था, कुछ हिंदू चपरासियोंके बाद मुझे एक मुस्लिम चपरासी श्री अब्दुल रहमान मिले, जो ठाट-बाटमें मुझसे भी बढ़कर रहते थे। उन्हें देखकर अपरिचित अध्यापक भ्रममें पड़ जाते थे। मुसलमान सब डिप्टी इन्स्पेक्टरोंसे उनकी पटरी नहीं बैठती थी, पर न जाने क्यों मेरा जूतातक उठाकर सुरक्षित स्थानमें रख देनेमें उन्हें संकोच नहीं था। लड़कोंद्वारा साबुन लगानेमें भूल होनेपर वे मेरे कपड़े भी स्वयं साफ कर देते थे। मैं स्वयं तथा मेरे कुछ साथी उन्हें पहले बड़ा घमंडी समझते थे; परंतु सम्पर्कमें आनेपर हमलोगोंके विचार बदल गये। वे अविवाहित थे। गोलमेज-सम्मेलनके समय किसी अंगरेज अधिकारीके साथ लन्दन भी हो आये थे।

निरीक्षण-कालके दौरेमें नदी पार करनेपर मल्लाहको पैसे अवश्य देते थे, ठीकेदारको भले ही न दें। अनेक बार ऐसा देखनेपर मैंने इसका कारण पूछा—तो कहा, 'मल्लाह गरीब आदमी है, ठीकेदार मालदार है।' मेरी विस्मृतिका रुपया भी उनके पाससे पूरा लौटता था।

बलिया स्टेशनपर सम्पन्न घरानेका एक लड़का मजिस्ट्रेटी चेकिंगमें पकड़ लिया गया। उन दिनोंके मजिस्ट्रेट छात्रोंपर १०१) अर्थ-दण्ड करते थे। लड़केके रोने-गिड़गिड़ानेका कुछ भी प्रभाव उनपर नहीं पड़ा। हुक्म हुआ 'तुरंत रुपया दो या जेल जाओ'। स्टेशनपर सैकड़ोंकी भीड़ थी। लड़का छुटकारा पाते ही तुरंत रुपये मँगा देनेकी बात कहता था, पर किसीके कानपर जूँ न रेंगी। हमारे उक्त चपरासीने साहबसे कहा, 'साहब! हमसे रुपये ले लीजिये और लड़केको छोड़ दीजिये।' साहबने कहा—'तुम इसे पहचानते हो?' चपरासीका उत्तर था—'नहीं'! इसपर साहबने कहा—'तो क्यों रुपये चुकाते हो? वापस नहीं मिलेंगे।' श्रीरहमानका उत्तर था, 'कोई चिन्ता नहीं।' रुपये देकर ज्यों ही लड़का छुड़ाया गया, त्यों ही घरवाले आ गये। रहमानको रुपये मिल गये। परंतु सब लोग उस गरीब, परंतु मनके अमीर चपरासीकी मानवताको देखकर दंग रह गये। अब्दुल रहमान, अब भी बलिया-शिक्षा-विभागमें चपरासी-पदकी मर्यादा बढ़ा रहे हैं।'

—अध्यापक शिवप्रसादसिंह

(३)

सुन्दर अन्त

प्रायः लोग संशय किया करते हैं कि 'मरनेके समय कर्मानुसार पार्षद, धर्मराजके दूत या यमदूत प्राणीको लेने आते हैं या नहीं और अजामिलकी कथाको पौराणिक गल्प बता देते हैं। नीचे लिखे मेरे प्रत्यक्ष अनुभवसे मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि अवश्य कर्मानुसार दूत आते हैं।

सं० २००१ के मार्गशीर्ष शुक्ला ५ की रातकी घटना लिखता हूँ। महाराज बुद्धसिंहजी बीमार थे। उन्हें Cardial Asthama यानी हृदयरोगसे दमा और बुखार था। शुरू कार्तिकमें वे बीमार हुए थे; परंतु किशनगढ़में डाक्टर-हकीमोंके इलाजसे कोई फायदा नहीं हुआ। मुझे समाचार मिलनेपर मैं किशनगढ़ गया और उन्हें डा० हैलिग (जर्मन हृदय-विशेषज्ञ) का इलाज कराने जयपुर ले आया। डाक्टरने देखकर कहा कि 'मेरा इलाज आज ही शुरू कर दो तो आठ दिनोंमें काफी ठीक हो जायँगे।' परंतु भावी प्रबल है। उनके घरवालोंको यह जँची कि वैद्यका ही इलाज कराया जाय। मैंने भी सोचा कि 'भावी तो टलेगी नहीं, जिस समय जो होना है, होगा ही, उसे एक सेकेंड भी कोई टाल नहीं सकता।' जयपुरके एक प्रसिद्ध वैद्यका इलाज चला। बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। तीन दिन बाद फिर डाक्टर हैलिगको बुलाया तो उसने कह दिया कि अब इलाज नहीं हो सकता। वैद्यजीकी चिकित्सा चलती रही। मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को वैद्यने भी जवाब दे दिया और डाक्टरने भी कहा कि आजकी रात नहीं निकलेगी। रात होनेपर उनके बड़े लड़के मा० सरदारसिंहजीको, जो साथ थे, मैंने सो जानेको कह दिया और मैं उनके पास बैठ गया। श्वासकी गति बहुत मंद हो गयी थी और वे अचेत-अवस्थाकी तरह सो रहे थे। रातके बारह बजे करीब कुछ बचपनकी बातें याद आनेसे तन्द्रामें ही बचपनके साथी बालकोंके नाम लेकर, जैसे बचपनमें किया करते होंगे, खेल-कूदकी बातें करने लगे। मैंने यह समझकर कि इनके प्रयाणका समय आ रहा है और 'अन्त मता सो मता' उन्हें जगाया। चेतनावस्थामें आनेपर मैंने उनसे कहा ''महाराज साहब! इस समय और सब ध्यान हटाओ, 'श्रीनाथजी' 'श्रीनाथजी' कहो।'' उनके इष्टदेव या कुलदेव श्रीनाथजी थे, जैसा कि किशनगढ़ राजघरानेमें हैं। उन्होंने आँखें खोलकर मुझे देखा और 'श्रीजी-श्रीजी' पाँच-चार दफा बोलकर रह गये। मैं पलँगके पास बाँयी ओर बैठा उन्हें देखता रहा। अन्तिम श्वास थे। किसी भी समय हिचकी आने या प्राण जानेके लक्षणोंकी सम्भावना देख रहा था। चार बजे सुबह उन्होंने फिर आँख खोली और सिर घुमाकर बाँयीं

ओर दाहिने तरफ देखा और बोले 'थे कुण हो, थे कुण हो। पीताम्बर पहरयाँ हो, तिलक लगायाँ हो । ब्राह्मण हो ? मनै लेबा आया हो ? चालू हूँ भाई, चालू हूँ।' (आप कौन हैं, आप कौन हैं ? पीताम्बर पहने हैं, तिलक लगाये हैं। ब्राह्मण हैं ? मुझे लेने आये हैं ? चलता हूँ भाई, चलता हूँ।) इतना कहकर हमेशाके लिये आँखें बंद कर लीं। मेरे उनके बड़ा प्रेम था। अतः उनकी मृत्युसे दुःख भी हुआ, परंतु यह सद्गति देखकर चित्तको सान्त्वना भी मिली। इस घटनासे मुझे यह विश्वास हो गया कि 'अन्त मता सो मता' और प्राणान्तके समय पार्षद, धर्मराजके दूत या यमदूत अपनी करनीके अनुसार अवश्य आते हैं। तथा यह करनी एक दिन एक महीने नहीं, सारी आयु महाराज बुद्धसिंहजीकी तरह सरल चित्तसे उनका होकर रहे तभी सिद्ध होती है। नहीं तो, अन्त समयमें भगवान्‌का नाम मुँहसे निकलना कहाँ रक्खा है।

'जनम-जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं।' उन्हें अन्त समयमें न डर लगा, न वे घबराये, न चिल्लाये, न चीखे। शान्तिसे सोते रहे और जैसे गङ्गाकी लहर शान्तिसे आकर विलीन होती है, यह जीवन समाप्त किया। बोलो श्रीराधा-सर्वेश्वरकी जय! —जैतसिंह (खंडेलाके)

(४)

स्नेहपूर्ण व्यवहार

एक दिन मैं हरगाँवसे ट्रेनद्वारा सीतापुर जा रहा था। दोपहरके लगभग साढ़े बारह बजेका समय था। वर्षा ऋतु थी। जिस समय ट्रेन स्टेशनपर आयी, वर्षा हो रही थी। जिस डिब्बेमें मैं चढ़ा था, उसमें कुछ सम्भ्रान्त घरानेकी लड़कियाँ बैठी थीं।

जैसे ही ट्रेन चली, उसी डिब्बेमें एक ग्रामीण स्त्री भागते-भागते चढ़ी। उसकी गोदमें एक छोटा बालक था, जो वर्षासे बिल्कुल भींग गया था। उसकी कमीज भीगी हो कारण उस स्त्रीने निकाल डाली थी। बालक ठंडसे रहा था और जोर-जोरसे रो रहा था। ग्रामीण स्त्री चुपानेका प्रयत्न करने लगी और उसने उसको अपनी लपेटना चाहा; परंतु उसकी धोती भी सारी भींगी अतः बालकको आराम न मिला। इतनेमें ही उन सम्भ्रा घरानेकी लड़कियोंमेंसे एकने अपने बक्समेंसे एक पुरानी धोती निकाली और उसमेंसे एक बड़ा टुकड़ा फाड़ उस स्त्रीको दे दिया। पर वह स्त्री संकोचवश कपड़े बालकको लपेटनेमें झिझकी। मैंने तथा अन्य यात्रियोंने कपड़ा लपेटनेको कहा, इतनेमें उस लड़कीसे न रहा ग और वह स्वयं बालकके पास गयी और उसको गोदमें ले कपड़ेसे पोंछकर उसमें लपेट दिया। बालकने आराम पा रोना बंद कर दिया।

वैसे बात बहुत छोटी, परंतु मेरा हृदय उस उ कुलकी लड़कीके उस ग्रामीण बालकके प्रति स्नेह व्यवहारसे द्रवित हो गया! —मदनमोहन सक्से

(५)

आदर्श ईमानदारी

जामडोबा कोलियरीसे एक मीलकी दूरीपर झ न० ४ कोलियरीके एक सज्जन श्रीअनूपसिंह नामक नि करते हैं। वे अच्छे व्यापारी हैं। उनके यहाँ झूमरी न० ७ रहनेवाले श्रीजगनारायण उपाध्यायने चौदह हजार रुपये धरोह रूपमें रख दिये थे। इस बातका पता उन दो व्यक्ति अतिरिक्त और किसीको भी नहीं था। भावीवश श्रीजगनाराय उपाध्यायकी अकस्मात् मृत्यु हो गयी। तदनन्तर श्रीअनू सिंहजीने उनके घरवालोंको बुलाकर चौदह हजार रुपये उन दे दिये। वे सभी दंग रह गये! —पं० रामप्रताप

भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ

भगवान् मेरे हैं, मैं उनका हूँ, इसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। उनकी अहैतुकी प्रीतिकी सुधाधार निरन्तर मुझपर बरस रही है, मैं सदा उनके सौहार्दकी छत्रछायामें ही रहता हूँ, उनकी कृपाशक्ति निरन्त मेरी सार सँभाल रखती है। अतएव मुझे अब इस बातकी तनिक भी परवा नहीं रही है कि मेरी आज क्या स्थिति है और मेरा कल क्या होगा ? मैं सदा सर्वदा सर्वशक्तिमान्, परम सुहृद्, परम आत्मीय, आत्मस्वरूप ही अपने भगवान्‌की देख-रेखमें हूँ। वे मुझे कभी नहीं छोड़ते, कभी नहीं छोड़ेंगे। भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ।

प्रकाशित हो गया ! प्रकाशित हो गया !!

अवधवासी महात्मा श्रीअजनीनन्दनशरणजीद्वारा सम्पादित

मानस-पीयूष खण्ड ७ का तीसरा संस्करण

सप्तम सोपान (सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड)

आकार डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७८४, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ८.५० (आठ रुपये पचास नये पैसे) मात्र । डाकखर्च २.३५ । अधिक प्रतियाँ मँगवानेवाले अपने निकटस्थ रेलवे स्टेशनका नाम लिखनेकी कृपा करें अथवा स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करें, जिससे भारी डाक-खर्चकी बचत हो सके ।

अयोध्यानिवासी महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजीने मानस-पीयूषके अधिकाधिक प्रचारकी दृष्टिसे अपने पास बचा-खुचा जो स्टाक इसके पुनर्मुद्रणके सर्वाधिकार (कापी राइट) सहित गीताप्रेसको दिया था, उसमें उत्तरकाण्डकी केवल १३५ प्रतियाँ थीं, जो बहुत शीघ्र बिक गयीं । तभीसे अनेक प्रेमी सज्जन इसके शीघ्र प्रकाशनके लिये बार-बार तकाजा करते थे, परंतु विशेष चेष्टा करनेपर भी अनेक कारणोंसे इस बृहद् ग्रन्थके पुनर्मुद्रणमें लगभग दो साल लग ही गये ।

इस उत्तरकाण्डके दो संस्करण पहले श्रीअयोध्याजीसे निकल चुके हैं । जिनका मूल्य अजिल्द प्रतिका साढ़े सोलह रुपये रक्खा गया था । गीताप्रेसने इसके केवल साढ़े आठ रुपये रक्खे हैं और प्रेसके नियमानुसार सब पुस्तकें मिलाकर ५०) के मालपर १५) प्रतिशत कमीशन और १००) के मालपर फ्री-डिलेवरी भी दी जाती है ।

आशा है कि मानस-प्रेमी पाठक इससे विशेष लाभ उठा सकेंगे ।

मानस-पीयूषके प्राप्य अन्य खण्ड

ण्ड १—बालकाण्ड भाग १, इसमें प्रारम्भसे दोहा ४२ तक है । पृष्ठ-संख्या ६८८, सजिल्द, मूल्य ७.५० डाकखर्च २.२० ।

ड ४—अयोध्याकाण्ड—सम्पूर्ण, पृष्ठ-संख्या ११९६, सजिल्द, मूल्य ११.००, डाकखर्च ३.०५ ।

ड ५—अरण्य तथा किष्किन्धाकाण्ड दोनों पूरे एक जिल्दमें सजिल्द, मूल्य ७.०० डाकखर्च २.०५ ।

ड ६—सुन्दर तथा लंकाकाण्ड दोनों पूरे एक जिल्दमें सजिल्द, मूल्य ११.०० डाकखर्च २.८५ ।

केवल सुन्दरकाण्ड तथा केवल लंकाकाण्ड अलग-अलग भी मिलते हैं । सजिल्द मूल्य क्रमशः ५.०० तथा ० तथा डाकखर्च क्रमशः १.६५ तथा २.०५ है ।

एक साथ कई खण्ड मँगवानेपर डाकखर्चमें रजिस्ट्री-खर्च केवल एक ही जगह आठ आना लगता तः शेष खण्डोंका प्रतिखण्ड आठ आना कम लगेगा । रेलसे मँगवानेपर तथा पुस्तक-विक्रेताओंसे नेपर भारी डाक-खर्चकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

राज० स० ए०

'कल्याण'के जनवरी १९६१ के विशेषाङ्क

'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क'का दूसरा संस्करण

(एक लाख सोलह हज[illegible]तियोंका प्रथम संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया । अतः शी पूर्वक १५००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है ।)

कल्याणका यह 'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क' प्रसिद्ध योगवासिष्ठ महारामायणका संक्षिप्त साररूप है। योग एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वका प्रतिपादक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें एक ही तत्त्वकी विवि कथाओंके तथा सुन्दर रोचक युक्तियोंके द्वारा सफलरूपसे स्थापना की गयी है। योग, योगसाधन, शास्त्रविधिपालन आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंपर भी बहुत ही प्रभावशाली विवेचन किया गया है। इसकी कथाएँ सुन्दर हैं। इस अङ्कमें ७०० पृष्ठोंकी सामग्री है। बहुरंगे १६, दुरंगा १, सादे १० तथा १३६ रेखाचि अङ्क बहुत सुन्दर तथा बहुत ही उपयोगी है। हिंदीमें योगवासिष्ठका इस प्रकारका सारसंग्रहरूप यह ग्रन्थ है और केवल ७.५० में ही उपलब्ध है।

इस अङ्कको जनताने इतना पसंद किया कि सब पुराने ग्राहकोंको वी० पी० भेजी जा सकनेके सब अङ्क बिक गये। प्रथम संस्करणके शीघ्र समाप्त हो जानेके कारण यह दूसरा संस्करण छापा गया है। सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद ही शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा जिन नये ग्राहकोंको यह विशेषाङ्क लेना हो वे मनीआर्डर 'मैनेजर कल्याण'के नाम भेजें, उसमें व्यक्तिका नाम न लिखें।

सजिल्द विशेषाङ्क मँगवानेवाले सज्जन जिल्द-चार्जसहित रु० ८.७५ मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

२२वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ मूल्य ६.२० (छः रुपये बीस नये पैसे), सजिल्द ७.४५ (सात रुपये पैंतालीस नये पैसे

२४वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २४८, मूल्य ६.५० (छः रुपये पचास नये पैसे), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२८वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र तिरंगे २०, इकरंगे १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे), सजिल्द ८.७५ रुपये पचहत्तर नये पैसे)।

२९वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके १४०, मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे), सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर

३२वें वर्षका भक्ति-अङ्क—जनवरी १९५८ का विशेषाङ्क, सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर

३३वें वर्षका मानवता-अङ्क—जनवरी १९५९का विशेषाङ्क, पूरी फाइलसहित, पृष्ठ-संख्या १४०८ चित्र ३५, दुरंगा १, इकरंगे ३६, रेखाचित्र १९, मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास सजिल्द ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे)।

३४वें वर्षका संक्षिप्त देवीभागवताङ्क—जनवरी १९६० का विशेषाङ्क केवल प्राप्य है। इस अङ्क समाप्त हो गये हैं। मूल्य ७.५०, सजिल्दका ८.७५ है।

डाकखर्च—सबमें हमारा है। **व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (**

कल्याण

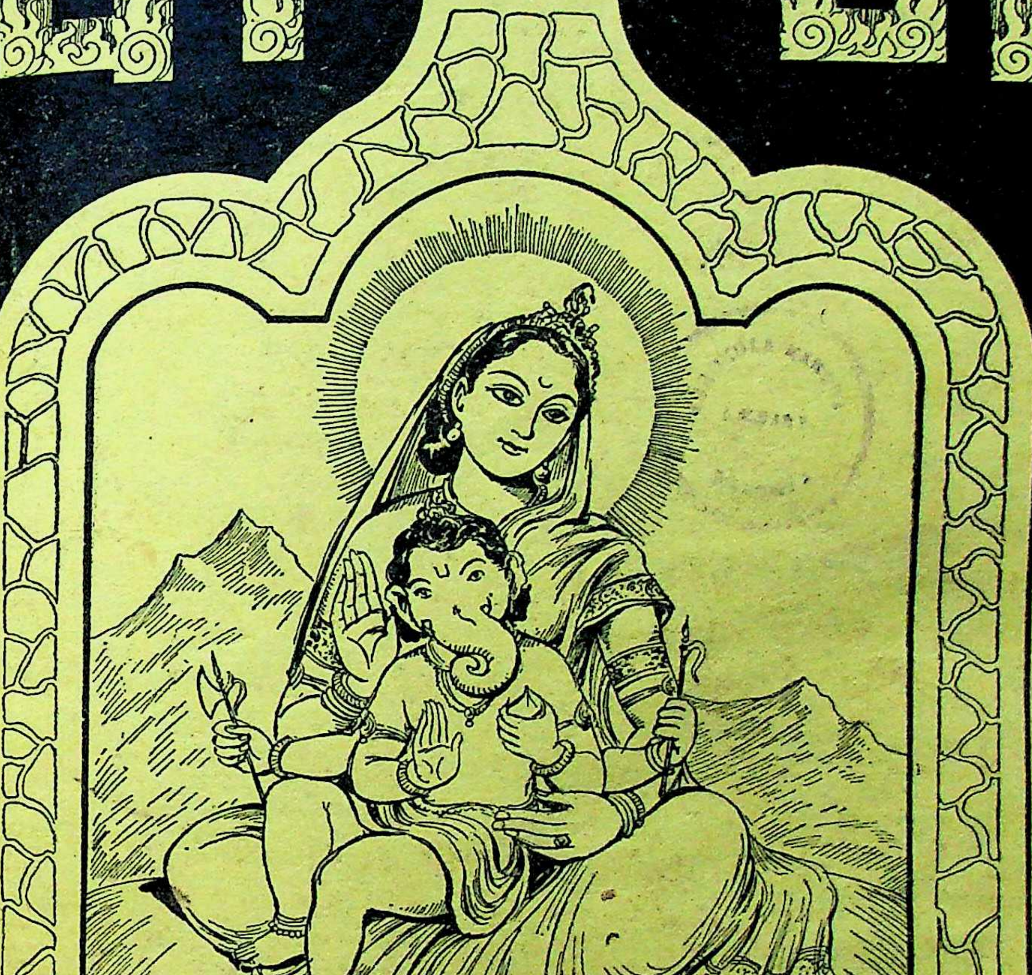

वर्ष ३५

अङ्क ५

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०१८, मई १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–पापवासनामयी शूर्पणखाको दण्ड [कविता] ... ८९३
२–कल्याण ('शिव') ... ८९४
३–मानवता महाव्रत आवश्यक क्यों ? (तत्त्व-चिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) ... ८९५
४–भगवान्‌की दिव्य ज्योति मेरे अंदर प्रकट हो गयी है ८९७
५–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ... ८९८
६–भारतीय समाज और साहित्यपर रामके व्यक्तित्वका व्यापक प्रभाव (श्रीरघुवीरशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, बी० एड०) ... ९०१
७–भाव-संशुद्धि (विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव-शास्त्रीजी) ९०३
८–पश्चिमकी तड़क-भड़कमें भूलकर अपने मूल आधारको न छोड़ें (महात्मा गांधी) ९०३
९–मधुर ९०४
१०–बद्ध कौन ! [कहानी] (श्री 'चक्र') ९०५
११–व्यावहारिक अर्थशास्त्र (डा० सोहनलालजी गुप्त एम्० ए०, एम्० काम०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०) ... ९०८
१२–प्रभुके दर्शनका कभी अभाव नहीं होता [कविता] ... ९११
१३–वैष्णवताका स्वरूप (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका एक भाषण) ... ९१२
१४–आत्म-निर्भरता (पं० श्रीजयकान्तजी झा) ९१७
१५–सावधान ९१८
१६–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ९१९
१७–भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका चमत्कार है ९२३
१८–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ९२४
१९–तन-मन-वचनका सदुपयोग [कविता] ९२९
२०–जब भगवान्‌की परीक्षा ली गयी [कहानी] (श्री 'उषाराज') ... ९३०
२१–रूपकी साध (एक तरुण साधककी डायरीसे) ... ९३५
२२–संगीत—एक पवित्र परामर्श (पं० श्री-जानकीनाथजी शर्मा) ... ९३६
२३–एक साधकके उद्गार तथा प्रभुसे प्रार्थना ९४०
२४–उच्चस्तरका जीवन किसमें ? ... ९४१
२५–मेरी नीचता और दयामयका स्वभाव [कविता] ... ९४३
२६–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पत्र) ... ९४४
२७–क्या क्या बढ़ा और बढ़ रहा है ९४५
२८–भक्ति और ज्ञानमें भेद (पं० श्रीदेवीदत्त-जी मिश्र) ९४६
२९–तमसो मा ज्योतिर्गमय [कविता] (डा० मोहनजी अवस्थी एम्० ए०, डी०फिल) ९४८
३०–पढ़ो, समझो और करो ... ९४९
३१–सांस्कृतिक प्रोग्रामोंमें लड़कियोंके नाच-गान-पर कुछ रोक ... ९५६
३२–मेरा महत्त्व मेरे प्रभुकी दृष्टिमें है, वे मेरी कभी भी उपेक्षा नहीं करते (श्री-कुञ्जविहारीजी) ... ९५६

चित्र-सूची

१–उमाकी गोदमें गणेश ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–शूर्पणखाको दण्ड ... ... (तिरंगा) ... ८९३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु०१०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१० पैं

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

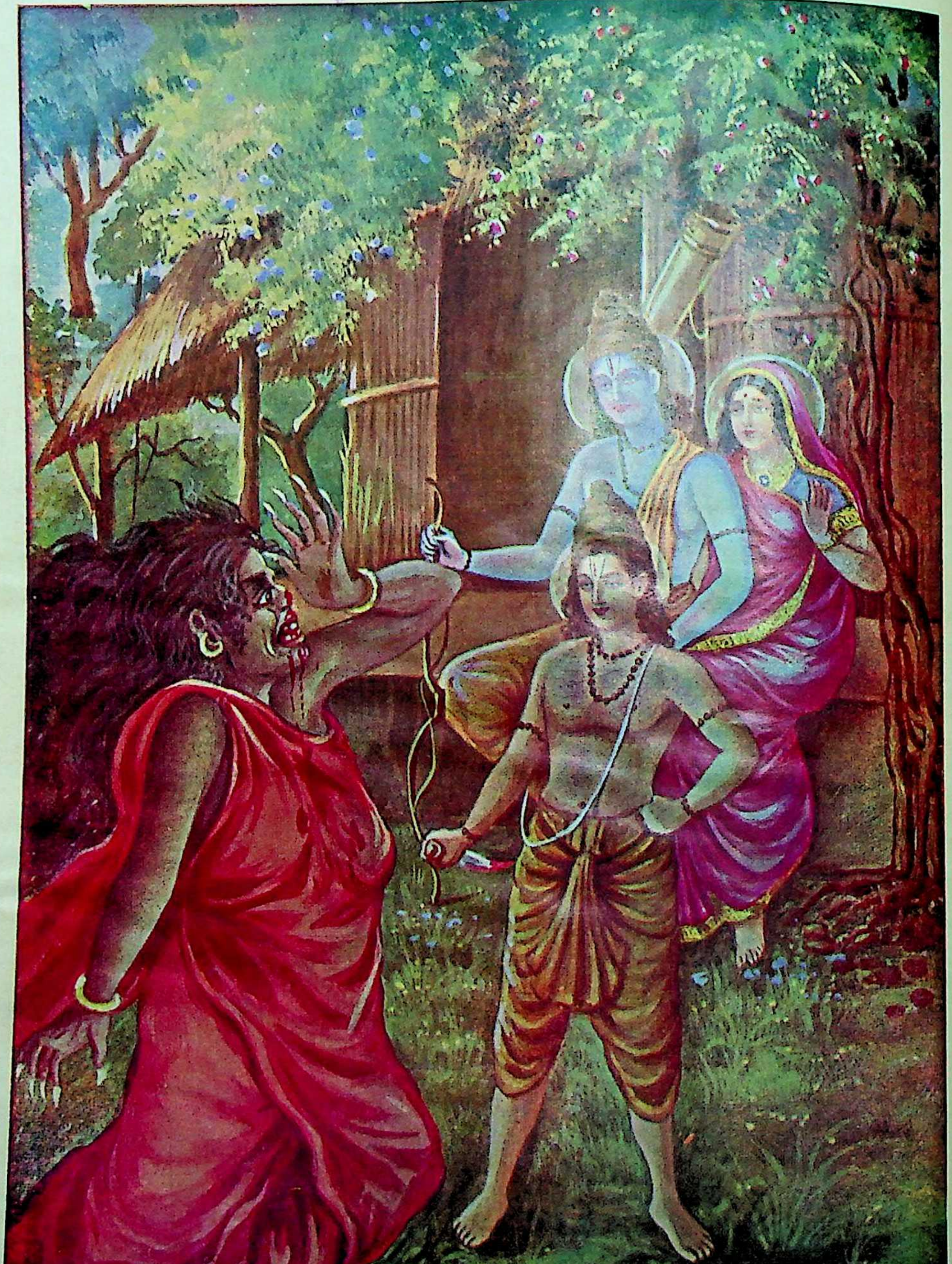

शूर्पणखाको दण्ड

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा हृदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१८, मई १९६१ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ४१४

पापवासनामयी शूर्पणखाको दण्ड

पाप-वासना भर मनमें जो जाती किन्हीं महत्‌के पास ।
उन्हें डिगाने धर्ममार्गसे करती मिथ्या नीच प्रयास ॥
वह राक्षसी शूर्पणखा-सी करती अपना आप विनाश ।
होती विकृत मुखाकृति, कटते नाक-कान, होता उपहास ॥

याद रक्खो—मनुष्य-जीवनके वास्तविक स्वरूपका पता उसके बाहरी वेशभूषासे नहीं लगता, उसके विचार तथा आचरणसे ही लगता है। जिसके जैसे विचार और आचरण हैं, वैसा ही उसका स्वरूप है। अतएव तुम निरन्तर अपने विचार तथा आचरणको सँभालते रहो।

याद रक्खो—जबतक तुम्हारा विवेक जाग्रत् है, तभीतक तुम्हें अपने अच्छे-बुरे विचार और आचरणका पता लगेगा। मनुष्यका विवेक जब लुप्त हो जाता है, तब उसकी अच्छा-बुरा देखने-परखनेकी दृष्टि नष्ट हो जाती है और बुरे वातावरण तथा चिन्तनसे यदि बुराईमें अच्छाई दीखने लगती है, तब तो उसका अनायास ही पतन हो जाता है; क्योंकि तब उसकी धारणामें पाप करनेपर 'मैं पुण्य करता हूँ' ऐसी मिथ्या अनुभूति होती है और वह पापमें सफलता प्राप्त करनेपर अपनेको गौरवशाली तथा सफल-जीवन मानता है। इसलिये जहाँतक बने, विशुद्ध सत्सङ्ग तथा शुद्ध स्वाध्यायसे विवेकको जाग्रत् रक्खो।

याद रक्खो—पतन जितना सहज और शीघ्र होता है, उतना सहज शीघ्र उत्थान नहीं होता। फिसलाहटसे भरा है जगत्! सावधान रहो, सदा गिरनेसे बचो और निरन्तर ऊपर उठने अथवा सन्मार्गपर आगे बढ़नेका प्रयास उत्साहपूर्वक करते रहो।

याद रक्खो—विवेक नष्ट होकर मनुष्यका जो पतन होता है, उसमें सबसे प्रधान कारण है कुसंग। कुसंग केवल किसी पतित मनुष्यके सङ्गको ही नहीं कहते। प्रत्येक इन्द्रियका प्रत्येक विषय ही कुसंग बन सकता है। जिस प्राणी-पदार्थके देखने, सुनने, सूँघने, चखने और स्पर्श करनेसे पापमें पुण्यकी तथा बुराईमें भलाईकी धारणा होती हो, भोगोंके लिये अनुचित लालसा जगती हो, वह सभी कुसंग है। साहित्य, दृश्य, मनुष्य, भोजन-पान, वस्त्राभूषण, स्थान, वार्तालाप—सभी कुसंग बन सकते हैं। अतएव कुसंगसे सदा बचते रहो। सत्संगका सदा सेवन करो।

याद रक्खो—सत्संग किसी प्राणी, स्थान या वस्तुका नाम नहीं है। सत् हैं भगवान्, सत् है सदाचार, सत् है सद्विचार—जिस संगसे श्रीभगवान्में प्रीति बढ़ती हो, सदाचार और सद्विचारोंका उदय और संवर्धन सहज ही होता हो, वही सत्संग है। सत्संगको अमूल्य धन समझो, सत्संगके साथ किसी भी धन, सौभाग्य या पुण्यकी तुलना नहीं हो सकती। सत्संग मनुष्यको समस्त पाप-तापसे सर्वथा छुड़ाकर दिव्य पुण्यमय तथा सुखमय बना देता है। सत्संग अतुलनीय धन है।

याद रक्खो—विषयी जगत्का संग एक बार सुहावना लगता है और वह लगता है इन्द्रियोंके बहिर्मुखी—भोगमुखी स्वभावके कारण ही। पर विषयी जगत्का संग वस्तुतः मीठे विषके समान है। उसका तत्त्व-रहस्य न जाननेके कारण ही उसमें सुख तथा प्रिय बुद्धि हुआ करती है। जिनकी विवेककी आँखें खुली होती हैं, वे प्रत्यक्ष देख पाते हैं उसके भीतरी असली भयानक रूपको और उसके द्वारा होनेवाले घोर विनाशमय परिणामको। इसलिये जहाँतक बने, प्रयत्नपूर्वक मन तथा इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करो, उन्हें सत्में लगाये रक्खो, भगवान्के साथ नित्य निरन्तर जोड़े रखनेका प्रयत्न करो। तभी मानव-जीवन सफल होगा और जीव-जीवनका दुःखमय प्रवाह सूखेगा।

'शिव'

* * *

मानवता महाव्रत आवश्यक क्यों ?

(लेखक—तत्त्व-चिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

व्यष्टि और समष्टिका हित, अभ्युदय एवं सुख-शान्तिके लिये कतिपय नियमोंका पालन आवश्यक है । अतीतमें ऐसे नियमोंको मानवतापूरक महाव्रतके नामसे अभिहित किया जाता था । ये नियम मानव-निर्मित न होकर प्रकृतिके सनातन नियमोंकी सनातन संहिताके रूपमें आदृत होते थे । अतएव इन व्रतों (कर्तव्यों) का सम्बन्ध एक देश, एक काल अथवा वर्गविशेषसे न होकर सर्वकाल, सर्वदशा, सर्वदेश एवं इससे भी आगे जाकर मानवमात्रसे था । इन महाव्रतोंके पालनसे न केवल मानवमात्र ही सुखी-संतोषी था, अपितु उनसे मिलनेवाला सुख-लाभ प्राणि-मात्रको यथावत् प्राप्त था । प्रस्तुत मानवता महाव्रत विधि-निषेध-रूपसे परस्पर-पूरक दो धाराओंमें अनुस्यूत है और इनके मूल-स्वरूप इस प्रकार हैं ।

मानवता-महाव्रत
की

१० निषेधात्मक मर्यादाएँ	**१० विधानात्मक मर्यादाएँ**
१—चौर्य-त्याग	१—दान देना
२—हिंसा-त्याग	२—पीडित-रक्षा
३—व्यभिचार-त्याग	३—सेवा करना
४—क्रूरवचन-त्याग	४—प्रिय बोलना
५—असत्य-त्याग	५—सत्य बोलना
६—पैशुन्य-त्याग	६—हित बोलना
७—असम्बद्ध प्रलाप-त्याग	७—स्वाध्याय
८—परधन-हरणेच्छा-त्याग	८—इन्द्रिय-निग्रह
९—अनिष्टचिन्तन-त्याग	९—संतोष
१०—नास्तिकता-त्याग	१०—आस्तिकता

जबतक विश्वका मानव-समाज विधिनिषेधात्मक इन प्राकृतिक मर्यादाओंका पालन मनसा, वाचा, कर्मणा करता रहा, तबतक विश्वमें सुख-शान्ति बनी रही । विश्वमें सुख-शान्तिका मूल धर्मनियन्त्रित अर्थ-काम है । इसलिये 'भारतीय दीर्घद्रष्टाओंने 'तेषु धर्मोत्तरः स्यात्' अर्थात् अर्थ और काममें धर्मसे नियन्त्रित रहना अभ्युदय-प्रद माना है । धर्मनियन्त्रित अर्थ-कामके सेवनसे मानवको दुःखाभाव और सुखप्राप्तिरूप दोनों पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं । किंतु उन पुरुषोंको, जिनका जीवन धर्महीन अर्थ-कामसे चिपका रहता है, उक्त पुरुषार्थद्वयकी प्राप्ति कथमपि नहीं हो सकती । उन्हें तो 'विपरीतं च फलति' इस नियमके अनुसार विपरीत फल ही मिलता रहेगा ।

धर्म-विहीन अर्थ-कामके सेवनसे मानवकी विवेकशक्ति कुण्ठित हो जाती है और वह निरंकुश हाथीके समान वासनाका दास बन जाता है एवं उसकी तृप्तिके लिये जघन्य-से-जघन्य दुष्कार्य करनेमें संकोचका अनुभव नहीं करता । काञ्चनमें आसक्त मानव मिथ्याप्रतारण, चौर्य, कपट-व्यवहार, छल-प्रपञ्च, प्राणि-हिंसा आदि पाप-कर्मोंके द्वारा रात-दिन अर्थ-संचयमें व्यग्र होकर लगा रहता है । भले ही उपार्जित अर्थ-राशि उसके भोगकी वस्तु न बनकर तृतीयागति (नाश) को प्राप्त हो जाय । इसी प्रकार काममें आसक्त मानव भी अर्थासक्त मानवकी अपेक्षा अधिक पशुभावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि कामका सहज स्वभाव ही नयी-नयी भोग्य वस्तुओंमें सुखकी मृगतृष्णावत् प्रतीति होना है, अतः जिस राष्ट्रमें धर्म-हीन काम ही प्रधान लक्ष्य है, वहाँके स्त्री-पुरुषोंमें व्यभिचारका प्रसार स्वाभाविक बात है, जिसका परिणाम यह होगा कि राष्ट्रमें अन्तर्विवाद, पारस्परिक कलह, तनाव, प्रतारण आदि दोष सदा बने रहेंगे । इन दोषोंसे ग्रस्त राष्ट्र दूसरे राष्ट्रकी सम्पत्तिक,

हरण अथवा बलात्कार और युद्धादिद्वारा पर-सम्पत्तिको आत्मसात् करनेकी कुचेष्टा किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकारकी दुश्चेष्टाओंके फलस्वरूप परस्परमें अविश्वास, संदेह और आशंकाका वातावरण बनकर युद्धको प्रोत्साहन मिलता रहेगा। जहाँ युद्धकी साज-सज्जा हुई, वहाँ राष्ट्रकी सुख-शान्ति, प्रेम, ज्ञान, विकास, राष्ट्रनिर्माण संस्कृतिप्रसार आदि सभी जन-कल्याण-कार्य अवरुद्ध हो जायँगे। अतः युद्धके अवरोधकी दिशामें अग्रसर होनेके दृष्टि-बिन्दुसे भी मानवता महाव्रतका व्यावहारिक पालन परमावश्यक है।

दूसरोंपर अत्याचार कर जिस अर्थ-कामका उपार्जन आज किया जा रहा है, वह अल्पकालके लिये ऊपरसे सुख-समृद्धिका साधन प्रतीत होता हुआ भी अन्ततः भीतरसे भीषण दुःख एवं विनाशके बीज-वपनका मूल-कारण बने बिना न रहेगा; क्योंकि स्थितिका लक्षण प्रेम-मूलक सत्त्वगुणमें है, द्वेष-मूलक तमोगुणमें नहीं। तमोगुणका परिणाम संहार होता है। इसलिये जो राष्ट्र अन्य राष्ट्रपर अत्याचार तथा द्वेष-मूलक बर्तावद्वारा केवल अपनी ही श्रीवृद्धि चाहता है, वह कथमपि चिरस्थायिनी शान्ति-समृद्धि एवं सुखको प्राप्त न कर सकेगा; क्योंकि भीषण युद्ध परिणामतः विजित-विजेता दोनों ही पक्षोंके लिये दुःखदायी होता है और उससे अन्तमें जो भयंकर बीमारियाँ, महामारियाँ, अभाव-दुर्भाव आदि विनाशक दोष फैलते हैं, उनका कुपरिणाम उनके साथ-साथ समग्र विश्वको भुगतना पड़ता है।

विश्व-युद्धमें प्रयुक्त भीषण शस्त्रास्त्रोंके परीक्षण, पूर्वाभ्यास एवं प्रयोगोंसे ब्रह्माण्डगत प्राणशक्तिकी समता बिगड़कर पञ्चमहाभूत विकृत हो जाते हैं, जिनका दुष्परिणाम देशमें ऋतु-विपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी आदिके रूपमें प्रकट होता है। उससे विश्वकी सस्योत्पादिका एवं उत्तम संतानोत्पादिका शक्ति भी नष्टप्राय हो जाती है। महर्षि वसिष्ठका वेदन है कि—

विराड्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना।
तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्॥
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति ....

अर्थात् विराट्शरीरमें तत्त्वविकार, धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम-स्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न हो जाती है, जिससे जन-जीवन अनेक दैवी विपत्तियोंका केन्द्र बन जाता है। उपर्युक्त विकृति-विमिश्रित प्रकृतिके दोषोंसेबचनेके लिये विलासिता-की बीमारीसे दूर रहते हुए संयम और सदाचार-पालन-पूर्वक जीवन बितानेकी दिशामें आगे बढ़ना राष्ट्रकी तथा अपने निजकी महती सेवा है, जिसका सुफल जीवनभर मिलता रहता है। विलासिताका मूल है—अवैधानिक (धर्महीन) अर्थ-कामका अविवेकगर्भित सेवन। उससे बचकर चरित्र-निर्माणकी पवित्र और सुखद दिशामें अग्रसर होनेको अवलम्बनरूप कई प्रकारकी मानवता-मर्यादाएँ विहित की गयी हैं। इतिहास इसमें साक्षी है कि उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर आरूढ महान् राष्ट्रोंके पतन अथवा समूल विनाशके विलासिता ही प्रधान कारण रही है। विलासिता १—कामचार, २—कामभक्ष, ३—कामवाद—इन तीन वस्तुओंमें व्यासज्जवृत्ति (पर्याप्त रूप) से रहती है। इन तीनोंके द्वारा बढ़ी हुई दानवता मानवके जीवनक्षेत्र को अपने निर्दय पदाघातोंसे बुरी तरह रौंदकर कुचलकर दानवताका क्रीडा-प्राङ्गण बना देती है। इन तीनोंमेंसे कामचारका अर्थ है—यौन-उच्छृङ्खलता अथवा अपराध। यौन-अपराधोंके वृद्धिंगत होनेसे—

पापरोगैश्च पीड्यन्ते यत्र त्वेते परिभ्रंशाः।
जायन्ते वर्णसंकरा राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रम्।
क्षिप्रमेव विनश्यति स्थूलजिह्वाविचेतसः।

—आदि कुफल मानव-समाजमें फैल जाते हैं।

स्थिर दाम्पत्यभावका अभाव होकर कर्मण्य, अनुशासनप्रिय, नीरोग, दीर्घायु एवं सेवाप्रिय संतान उत्पन्न न होकर अकर्मण्य, अल्पायु, उच्छृङ्खल, सदा रोगी और देश-समाजद्रोही जन्तुविशेष उत्पन्न होते हैं, जो समाज एवं राष्ट्रके लिये सदा भारभूत बने रहते हैं।

कामभक्षसे तात्पर्य है—अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान, उच्छिष्ट-भक्षण तथा मानवप्रकृतिके विरुद्ध मांस, अण्डा आदिका सेवन। अभक्ष्य-भक्षणसे मनुष्य निर्दयी, रोगी और आत्म-बलसे रहित हो जाते हैं। उनके हृदयसे मानवोचित मार्दव निकलकर उसके स्थानमें दानवोचित क्रूरता भर जाती है। ऐसा मानव न केवल मानव-समाजके अपितु प्राणिमात्रके लिये अभिशाप बन जाता है। क्रूर मानव ग्राम्य एवं आरण्यक पशुओंको निर्दयतापूर्वक अनेक अवर्णनीय बीभत्स त्रास देकर क्रूरतासे हनन करता हुआ उनके कतिपय वंशोंका समूल उच्छेद कर देता है।

कामवादका अर्थ है—वाणी-स्वातन्त्र्यके नामपर कुछ भी अर्थ-हीन अंट-संट बकते रहना अथवा वाणीका निष्प्रयोजन अपव्यय करना। महर्षि वेदव्यासने इस हेय दोषका वर्णन इस प्रकार किया है—

सभासदां च वृद्धानां सतां कथयतां कथाः।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः॥
वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा।
अमित्रभृत्यतां प्राप्य ख्यापयन्त्यनपत्रपाः॥
उच्चैश्चाभ्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत्।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन्॥

अर्थात् कामवादके वशवर्ती मानव सभ्य, अनुभवी, नीतिविशारद शिष्ट पुरुषोंके ठोस उपदेशसे लाभ उठानेके बजाय उनकी हँसी उड़ाया करते हैं। पति और पिताको डाँटना कामवादी स्त्री-पुरुषोंका स्वभाव बन जाता है। वे शत्रुसे मिलकर देश-द्रोह करने अथवा परम्परागत समाज-मर्यादाओंको तोड़नेके महापापमें भी संकोच नहीं करते।

विलासिताके उपर्युक्त तीन अवगुणरूप अङ्गोंसे समाज और राष्ट्रको बचाने तथा उसे 'नीतिमान् धार्मिको वाग्मी' बनानेके विचारसे भी मानवतावियायक मर्यादाओंके प्रसारकी बड़ी आवश्यकता है। उक्त व्रतोंके व्यावहारिक पालनको वाराहपुराणने भगवान्‌की वास्तविक पूजाका विशेषण देकर इनका महत्त्व बढ़ाया है तो पद्ममहापुराणने इन व्रतोंको 'भगवत्पूजाके उज्ज्वल पुष्प' कहकर उनका गौरवगान किया है।

'ऐतरेय आरण्यक' के 'पूर्वेनात्यायन् येऽत्यायन् ते पराबभूवुः' इस वाक्य-रत्नके अनुसार यह सुनिश्चित है कि जिन जातियों अथवा राष्ट्रोंके जीवनमेंसे उपर्युक्त मानवता-महाव्रत निकल गये, वे अतीतमें सदैव पराभूत हुए हैं और भविष्यमें भी प्रताडित-पराजित हुए विना न रहेंगे।

भगवान्‌की दिव्य ज्योति मेरे अंदर प्रकट हो गयी है

मेरे जीवनमें भगवान्‌की ज्योतिका नित्य परम प्रकाश हो गया है, इससे भोगवासनाका एवं भोगोंका घोर अन्धकार सदाके लिये नष्ट हो गया है। अब मुझे सदा सर्वत्र केवल भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं, भगवान्‌का ही स्पर्श प्राप्त होता है और मेरा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म केवल भगवान्‌की सेवाके रूपमें ही होता है; क्योंकि भगवान्‌की दिव्य ज्योति मेरे अंदर प्रकट हो गयी है।

पागलकी झोली

[भारत नारी]

(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पागल अपने मनसे 'राम राम' जप रहे हैं, कभी हँसते हैं, कभी नाचते हैं। कभी सुर भरकर गाते हैं, 'राम राम राम जय राम-राम राम'

इसी समय वह बहिन आकर प्रणाम करती हैं। बाबा, मैं आपको प्रणाम करती हूँ। (प्रणाम)

पागल—राम-राम सीताराम। मैं भी माई लोगोंको प्रणाम करता हूँ। (प्रणाम) माई लोग अच्छी तरहसे हैं न ? राम-राम सीताराम।

प्रथमा—हाँ बाबा, आपकी कृपासे हम अच्छी तरहसे हैं।

पागल—राम-राम सीताराम (तृतीया शिक्षिताके प्रति)। माई, तुम पति-पूजा तो करती हो न ?

तृतीया—हाँ बाबा, आपकी कृपासे मेरा नया जन्म हुआ है। मैंने पतिको नारायणरूपमें पाया है। परिवारमें सभी सुखी हो गये हैं। नारायण समझकर पतिकी सेवा करनेमें इतना आनन्द है, यह मैं नहीं जानती थी। मेरा शिक्षाका गर्व दूर हो गया है, आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम।

द्वितीया—बाबा, आप हमको कर्त्तव्यका उपदेश दीजिये।

पागल—राम-राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। केकय राजाकी पुत्री सुमनाने देवलोकमें सर्वतत्त्वमयी सर्वज्ञा शाण्डिलीसे पूछा था*—'कल्याणि ! आपने किस साधना या सदाचारके प्रभावसे सारे पापोंको नष्ट करके स्वर्ग प्राप्त किया है। आप अपने तेजसे अग्निके समान प्रदीप्त हो रही हैं और चन्द्रकी कन्याके समान उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित होकर स्वर्गमें पधारी हैं।' राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम। 'निर्मल वस्त्र धारण करके क्लान्तिविहीन होकर विमानपर बैठी हैं। आप तेजसे सहस्रगुना सुशोभित हो रही हैं। आप थोड़ी तपस्या, थोड़े नियम या थोड़े दानके द्वारा स्वर्गलोकमें नहीं आयी हैं। अपनी साधनाकी बात मुझको बतलाइये।' राम राम सीताराम। सुमनाकी बात सुनकर शाण्डिलीने कहा—'देवि ! मैंने काषाय वस्त्र नहीं धारण किया, वल्कल नहीं पहना, सिर नहीं मुड़वाया, बड़ी-बड़ी जटाएँ नहीं रक्खीं, यह सब करके मैं देवलोकमें नहीं आयी हूँ।' राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम। 'मैं सतत सावधान रहती थी। कभी पति-देवताके प्रति अहितकर कठोर वचन मैंने नहीं कहे। मैं सदा सास-ससुरकी आज्ञाके अनुसार चलती हुई देवता-पितर और ब्राह्मणोंकी पूजा सावधानीसे करती थी। मैं दुष्टता नहीं करती थी, दुष्टता मेरे मनमें ही नहीं आयी। मैं घरका द्वार छोड़कर अन्यत्र कहीं खड़ी नहीं होती थी। किसीके साथ बहुत देर तक बात नहीं करती थी। मैं एकान्तमें वा सबके सामने कभी किसीके साथ अश्लील परिहास नहीं करती थी। मेरे किसी कार्यके द्वारा कभी किसीका किसी प्रकार अनिष्ट नहीं हुआ। यदि मेरे पतिदेव किसी कार्यसे बाहर जाकर लौटते तो मैं उनके बैठनेके लिये आसन देती और एकाग्रचित्तसे उनकी पूजा करती।' राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम। "मेरे पतिदेव जो भोजन पसंद नहीं करते और जो भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय आदि नहीं चाहते, मैं भी उन सबका त्याग कर देती।' राम राम सीताराम—'सुनती हो माई', राम राम।

प्रथमा—हाँ बाबा, हमलोगोंको खूब अच्छा लगता है। उसके बाद उन्होंने क्या कहा ?

पागल—राम-राम सीताराम। 'पारिवारिक कार्य जो उपस्थित होता, उसे मैं सबेरे उठकर स्वयं करती और कराती। मैं अग्निहोत्रकी रक्षा करती और घर लीप-पोतकर शुद्ध रखती। प्रतिदिन बच्चोंका पालन करती और कन्याओंको नारीधर्मकी शिक्षा देती। अपनी प्रिय खाद्य सामग्री छोड़कर गर्भरक्षामें सतत संलग्न रहती। पुत्र-पुत्रीके ऊपर क्रोध करना, उनको गाली देना अथवा मारना मैंने छोड़ रक्खा था। मेरे घरमें कभी अन्न बिखरा नहीं रहता। मैं अन्नकी यत्नपूर्वक रक्षा करती। मैं गायोंको घास-भूसी खिलाकर पानी पिलाकर तृप्त करती थी और रत्नके समान सुरक्षित रखना चाहती थी तथा पवित्रतापूर्वक आगे बढ़कर ब्राह्मण आदिको भिक्षा देती थी।' राम-राम सीताराम। सुनती हो माई लोग ?

द्वितीया—हाँ बाबा, आप कहते चलें।

---

* महाभारत अनुशासनपर्वके अन्तर्गत दानधर्मपर्व अ० १२३।

पागल—राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम । 'पतिके विदेश जानेपर मैं आँखोंमें काजल नहीं लगाती। कपालमें गोरोचनका तिलक नहीं देती । तेल लगाकर स्नान करना, फूलोंकी माला पहनना, अङ्गमें अङ्गराग लगाना और शृङ्गार करना मैं पसंद नहीं करती थी । जब वे सुखसे सोते तब मैं अति आवश्यक कार्य होनेपर भी उन्हें कभी जगाती नहीं । इससे मेरा मन अत्यन्त संतुष्ट रहता था । परिवारके लोगोंके पालन-पोषणके लिये भी मैं कभी पतिको कष्ट नहीं देती थी । घरकी गुप्त बात सर्वदा छिपाये रखती । घर-द्वार, आँगन सदा बुहारकर लीप-पोतकर स्वच्छ रखती ।' राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम । 'जो स्त्री सर्वदा सावधान होकर इस धर्ममार्गका पालन करती है वह नारियोंमें अरुन्धतीके समान आदरणीया बनती है और स्वर्गलोकमें विशेषरूपसे पूजित होती है ।' राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम । सुनती हो माई लोग ? राम राम सीताराम ।

तृतीया—बाबा, हमने आज बहुत-सी नयी बातें सुनीं । माता-पिता, पति, श्वशुरके प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, यह तो आपने कभी नहीं बतलाया । हमको क्या करना उचित है, क्या करना ठीक नहीं है—यह हम नहीं जानतीं । अपने मनके अनुसार चलती हैं । अंग्रेजी शिक्षासे पुरुषोंके समान अधिकारकी माँग करती हैं, भीतर ही भीतर जलती रहती हैं । शान्तिका लेश भी हमें कभी प्राप्त नहीं होता ।

पागल—राम-राम सीताराम । ठीक कहती हो माँ ! माता-पिता पुत्र-पुत्रीको उनके कर्त्तव्यकी शिक्षा नहीं देते । इसीके फलस्वरूप वे आगमें जल रहे हैं । राम-राम सीताराम ।

प्रथमा—आप यह बतलायें कि हमारा क्या कर्त्तव्य है ?

पागल—'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' भगवान् शङ्करने माता पार्वतीसे नारी-धर्मके सम्बन्धमें पूछा । माँ जगज्जननीने सरस्वती, विपाशा, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती, शतद्रू, देविका, सिन्धु, कौशिकी, गोदावरी, यमुना, नर्मदा और गङ्गा आदि मूर्त्तिमती नदियोंके प्रति स्त्रीधर्मका वर्णन किया था । 'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' 'जो स्वभावतः कथा-वार्ता सुनती है, आचरण उत्तम रखती है उस माँको देखकर पतिदेवता सुखी होते हैं । जो अपने पतिके सिवा और किसी पुरुषमें मन नहीं लगातीं और सदा स्वामीके सामने प्रसन्न-मुख रहती हैं, वे ही नारी धर्मचारिणी हैं । जो नारी सर्वदा अपने स्वामीको देव-तुल्य देखती हैं, वे ही धर्मपरायणा नारी धर्मके फलको पाती हैं । जो पतिकी देवताके समान सेवा-परिचर्या करती हैं, पतिके सिवा और किसीके साथ कभी व्यग्र नहीं होतीं तथा उत्तम व्रतका पालन करती हैं । जो पुत्रके मुखके समान सदा स्वामीका मुख देखती हैं, जो नियमित आहार करती हैं, वे धर्मचारिणी हैं ।' राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।

द्वितीया—नियमित आहार क्या है बाबा ?

पागल—राम-राम सीताराम । पतिके भोजनके बाद पतिका प्रसाद ग्रहण करना ही नियमित आहार है । अपनी जीभके लिये तृप्तिकारक पदार्थ, पतिको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन करना नारीका कर्त्तव्य नहीं है । 'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' पति और पत्नीका एक साथ रहकर धर्माचरण करना उचित है । इस मङ्गलमय दाम्पत्य-धर्मको सुनकर जो स्त्री धर्मपरायणा होती है, वह पतिके समान व्रतचारिणी है । पतिव्रता, साध्वी स्त्री सदा अपने स्वामीको देवताके समान देखती हैं । पत्नीका पतिके साथ-साथ रहकर धर्माचरण करना परम मङ्गलमय है । जो अनुरागवश पतिके अधीन रहती हैं, चित्त प्रसन्न रखती हैं, देवताके समान पतिकी सेवा और परिचर्या करती हैं, जो उत्तम व्रतका आचरण करती हैं, पतिकी प्रीतिके लिये सुन्दर वेश धारण करती हैं, वे पतिमें अनन्यचित्ता, प्रसन्नवदना रमणी धर्मचारिणी हैं ।' 'राम-राम सीताराम जय-जय राम सीताराम ।'

द्वितीया—पतिकी प्रीतिके लिये सुन्दर वेश धारण करनेका क्या अभिप्राय है बाबा !

पागल—'राम राम सीताराम' पति उसके सुन्दर वेशको देखकर आनन्दित होंगे, इसीलिये माइयोंको वेशभूषा धारण करना चाहिये, मैं सुन्दर दिखलायी दूँगी या दूसरा मेरा शृंगार देखकर मेरी ओर आकर्षित होगा, इसके लिये नहीं । इसके लिये शृंगार किया जाता है तो अधःपतन होता है । 'राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' सुनो—पतिके कर्कश शब्द बोलने या दोषभरी दृष्टिसे देखनेपर भी जो माई प्रसन्न-मुख रहती हैं, वे पतिव्रता हैं । जो सुन्दरी पतिके सिवा पुरुषनामधारी चन्द्र-सूर्य या किसी वृक्षको भी नहीं देखती, वह व्रतधर्मका पालन करनेवाली है । 'राम राम सीताराम ।'

द्वितीया—पुरुषनामधारी चन्द्र-सूर्य अथवा किसी वृक्षको भी न देखना—यह तो बहुत कठिन बात है बाबा !

पागल—'राम-राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' इस बातके कहनेका उद्देश्य इतना ही है कि पुरुष मात्रको देखना नारीका कर्तव्य नहीं है । चन्द्र-सूर्य देवता तथा अचल वृक्षके दर्शनका निषेध करके उसी भावको दृढ़ किया गया है । 'राम राम सीताराम' जो नारी अपने दरिद्र, रोगी, दीन अथवा थके-माँदे पतिकी पुत्रवत् सेवा करती हैं, वे धर्मफलकी भागिनी होती हैं । जो नारी संयममें रहनेवाली, कार्यनिपुण, पुत्रवती, पति-प्रिया, पतिप्राणा होती हैं, वे धर्मभागिनी हैं । जो प्रसन्नचित्तसे सदा पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती हैं, पतिके ऊपर पूर्ण विश्वास रखती हैं, जो विनीत हैं, वे ही धर्मभागिनी होती हैं । जिनके हृदयमें पतिके लिये जैसी स्पृहा होती है, वैसी काम-भोग, सुख-ऐश्वर्यके लिये नहीं होती । ऐसी ही पतिव्रता धर्मभागिनी होती हैं । जिनको प्रातःकाल उठना रुचिकर होता है, जो सबेरे उठकर घरके काम-काज करती हैं, घर बुहारकर गोबरसे लीपती हैं, पतिके साथ नित्य अग्निहोत्र किया करती हैं, देवताओंकी पुष्प और नैवेद्य आदिके द्वारा पूजा करती हैं । जो देवता, अतिथि, भृत्य और आश्रितजन तथा पतिको भोजन करानेके बाद विधिपूर्वक शेष अन्नको ग्रहण करती हैं तथा आश्रितजनको हृष्ट-पुष्ट और संतुष्ट रखती हैं, वे ही सतीधर्मसे सम्पन्न हैं । जो उत्तम गुणयुक्त होकर सदा सास-ससुरकी चरण-सेवा करती हैं, वे ही नारी तपस्यारूप धर्म-विशिष्ट हैं । जो ब्राह्मण, दुर्बल, अनाथ, दीन, अन्ध, कङ्गालको अन्न देकर भरण-पोषण करती हैं, वे पतिव्रता-धर्मकी फलभागिनी होती हैं । जो प्रतिदिन शीघ्रतापूर्वक मर्यादाके अन्तर्गत रहते हुए दुश्चर व्रतका पालन करती हैं, जो पतिके चित्तका अनुसरण करती हुई पतिके हित-चिन्तनमें रत रहती हैं, वे पातिव्रतधर्मके पालनके सुखको प्राप्त करती हैं । पातिव्रत-धर्मका पालन करते हुए पतिकी सेवामें संलग्न रहना ही उनका परम पुण्य, महान् तप है तथा सनातनधर्मका साधन है । नारीका पति ही देवता है, पति ही बन्धु है, पति ही गति है । नारीकी पतिके सिवा अन्य गति नहीं है । पतिकी प्रसन्नता एक ओर हो तथा स्वर्ग दूसरी ओर हो, तो वह स्वर्ग क्या उसके तुल्य होगा ! 'राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' पार्वती कहती हैं—'हे महेश्वर ! मैं आपको अप्रसन्न करके स्वर्ग भी नहीं चाहती । पति दरिद्र, रोगी, विपद्ग्रस्त तथा शत्रुओंसे घिरा हुआ हो, अथवा ब्रह्मशापग्रस्त हो । वैसी अवस्थामें भी यदि अकार्य, अकर्म अथवा प्राण-त्यागका भी आदेश दे तो उसे आपत्कालका धर्म समझकर निःशङ्क चित्तसे तत्काल करे । इस प्रकार जो स्त्रियाँ धर्म पालन करती हैं, वे पातिव्रत-धर्मकी फलभागिनी होती हैं ।' राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।

तृतीया—यह सुनकर शिवजीने क्या कहा ?

पागल—'राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' भगवान् शङ्करने यह सुनकर गिरिराजकुमारीका आदर किया । जो आये थे, उनको जानेकी अनुमति दी । समस्त भूतगण, सारी नदियाँ, अप्सराएँ तथा गन्धर्ववृन्दने सिर झुकाकर भगवान् शङ्करको प्रणाम किया* और सब अपने अपने स्थानको चले गये । 'राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।' सुन ली माई लोगोंने जगन्माता पार्वतीकी बात ! 'राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।'

द्वितीया—माँ भगवतीकी बात सुनकर प्राण भर आया बाबा ? आप आशीर्वाद दें जिससे हम नारी-धर्मका पालन करनेमें समर्थ हों ।

पागल—'राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम । माँ, तुमलोग इस युगमें नारीगणको यथार्थ मार्ग दिखलाओ, उनके इहलोक और परलोकको मङ्गलमय बनाओ । जो नारी पतिव्रता सती होती हैं, माँ जगज्जननी शङ्करी उसको हृदयसे लगाकर सदा रक्षा करती हैं । तुमलोग निर्भय होकर पातिव्रत-धर्मका आचरण करो । मेरी दशभुजा माँ अपनी दश भुजाओंमें प्रहरण लेकर तुम्हारी सदा सर्वदा निश्चयपूर्वक रक्षा करेंगी । माँ, जागो, जागो, जागो; उठो सती-धर्मके पुण्य आलोकमें, पुनः भारत आलोकित हो उठे ।'

पागल 'राम राम सीताराम' बोलकर ताली बजा-बजाकर नाचने लगे ।

---

* महाभारत दानधर्मपर्व अ० १२६ ।

भारतीय समाज और साहित्यपर रामके व्यक्तित्वका व्यापक प्रभाव

(लेखक—श्रीरघुवीरशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, बी० एड्०)

सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि रामके व्यक्तित्वकी वे कौन-सी मूलभूत विशेषताएँ हैं जो वाल्मीकिसे तुलसीतक भारतीय समाज और साहित्यको व्यापकरूपसे प्रभावित करती रहीं ?

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिने अपने आदिकाव्य रामायणमें भगवान् रामके जिस विशिष्ट व्यक्तित्वके संदर्भमें उनके जिस आदर्श महापुरुष एवं क्षत्रिय-रूपका चित्रण किया है, उसको देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाल्मीकिद्वारा रामायण रचे जानेके पूर्व भी रामके व्यक्तित्वको मौखिकरूपसे लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी होगी, अन्यथा वाल्मीकि इतना परिपूर्ण चित्र उपस्थित न कर पाते। अवश्य ही उन्होंने लोकाराधित रामको साहित्यिक शैलीमें आदर्श व्यक्तित्व प्रदान किया है। इसकी पुष्टि इस कथनसे भी हो जाती है कि वाल्मीकि-पूर्ववर्ती कालमें ही इक्ष्वाकु-वंशके सूतों एवं काव्योपजीवी कुशीलवोंके द्वारा रामचरित्र मौखिकरूपसे तत्कालीन जन-समाजमें प्रसिद्ध हो गया था।

अनेक भारतीय विद्वानोंने रामको वाल्मीकिके समयमें विद्यमान माना है। अतः वाल्मीकिद्वारा रामका चित्रण विश्वसनीय और सत्यपरक हो सकता है। भगवान् रामने युगपुरुष होनेके कारण उस समयके समाज और साहित्य दोनोंपर जो प्रभाव डाला, उसकी परम्परागत प्रतिक्रिया तुलसीदासके समयतक भी होती रही और रामका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर विकसित और गौरवान्वित होता हुआ लोकप्रिय होता गया।

अतः रामका विशिष्ट व्यक्तित्व रामके विशिष्ट नामों, रूपों, लीलाओं और धामोंके महत्त्वका रूप ग्रहण करता हुआ प्राचीन कालसे आधुनिक युगतक भारतीय समाज और साहित्यपर अपनी अमिट छाप लगा चुका है।

रामके व्यक्तित्वका—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का आदर्श भारतीय समाज और साहित्यमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगकी वृद्धि करता रहा है। रामका वीरोचित, उदात्त, अन्याय-विरोधी, धर्मसंस्थापनार्थी और लोकसंग्रही रूप असत्यके विरुद्ध सत्यकी, अन्यायके विरुद्ध न्यायकी, पाशविकताके विरुद्ध देवत्वकी, अधर्मके विरुद्ध धर्मकी, पराधीनताके विरुद्ध स्वाधीनताकी, पतनके विरुद्ध उत्कर्षकी और पराजयके विरुद्ध विजयकी क्षमता थी।

ज्यों-ज्यों राम-चरित्रका विकास होता गया, भारतीय जनताको आत्मविश्वास और आत्म-गौरवके साथ सबल आधार, नैतिकता एवं शान्तिकी प्राप्ति होती गयी, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज और साहित्य राममय हो गया।

रामके मधुर स्वभाव, बल-वीर्य और अद्भुत रूपने भारतीय जीवनको प्राणवन्त कर दिया। रामका परात्पर ब्रह्मरूप, महाविष्णु-रूप और मर्यादापुरुषोत्तम-रूप इतना लोकप्रिय हो गया कि भारतीय समाजका जीवन अनेक प्रकारके आदर्शोंसे जगमगा उठा। रामके आदर्श चरित्रसे नयी आशा, नयी प्रेरणा और नयी स्फूर्ति प्राप्त होनेके कारण भारतीय समाज एवं साहित्य श्रेय-प्रेयकी लोक-परलोक-सुख-दायिनी भावनासे ओत-प्रोत हो गया।

सुर-रंजन भंजन दनुज हरण भूमि-अघ-भार।
साधु भक्त श्रुति धर्म हित, हुआ राम अवतार॥

इस मान्यताकी समाज-व्यापी भावनाने भी विशेष प्रभाव डाला। इस प्रकार रामका मानवीय और अतिमानवीय रूप भारतीय समाजमें लोकसंग्रहकी भावनाको दृढ़ करता रहा और यहाँकी साहित्य-सरिताको विशद, निर्मल और ललित बनाता गया। वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, भवभूति, तुलसी आदिके द्वारा चित्रित रामके व्यक्तित्वको महान्से महत्तम रूपकी प्राप्ति होती गयी।

राम-चरित्रकी पवित्र भागीरथीके पावन-जलसे, जिसने भी अपनी वाणी और हृदयको प्रक्षालित किया, उसी व्यक्तिका साहित्य और जीवन सुखमय, शान्तिमय, आनन्दमय और मङ्गलमय हो गया। रामके व्यक्तित्वके व्यापक प्रभावका फल निम्नाङ्कित भी है—

जन्म मृत्युमें राम हैं, अभिवादनमें राम।
नाम हमारे राममय, जीवन-लीला राम॥

समुद्रके समान गम्भीर, पर्वतराज हिमालयके समान धीर, विष्णुके समान महाबली, चन्द्रमाके समान प्रियदर्शी, कालानलके समान क्रोधी, पृथ्वीके समान क्षमाशील, श्रुति

एवं लोकधर्मके रक्षक तथा पालक मर्यादापुरुषोत्तम और 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' श्रीरामका चरित्र यदि भारतीय समाज और साहित्यपर अपना व्यापक प्रभाव न डालेगा तो फिर ऐसा कौन महामानव या अतिमानव है जो वाल्मीकि और तुलसीके रामकी समता कर सके ?

भारतीय समाजका धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन अति प्राचीन कालसे अद्यावधि रामचरित्रके उच्च आदर्शोंसे अनुप्राणित होता रहा है। इस अवधिमें भारतीय समाजने अनेक राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन देखे; परंतु उसके हृदयपर लोकसंग्रही और मर्यादापुरुषोत्तम रामका प्रभाव अधिकाधिक होता गया। परिणामतः रामका जीवनादर्श भारतीय समाजका जीवनादर्श बन गया, जिसमें उसने अपनी सभ्यता-संस्कृतिकी रक्षा, वर्णाश्रम-धर्मकी पुनः स्थापना एवं जीवनकी मङ्गलाशा देखी।

रामके मर्यादापूर्ण, संयत, भक्तवत्सल, करुणायतन और महावीर्यपूर्ण चरित्र तथा उच्च नैतिक आदर्शोंसे प्रभावित होकर भारतीय साहित्यने लोक-जीवनको पवित्र, ज्योतिर्मय तथा कल्याणकारी बनाने तथा राम-भक्तिद्वारा परमानन्द प्राप्त करनेका अमर संदेश सुनाया और तुलसीदासने कह भी दिया—

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो, कीजे तुलसी तोहि॥

रामके व्यापक प्रभावका यह भी कारण है कि वे आधिभौतिकरूपसे अप्रतिम पराक्रमी योद्धा हैं, आधिदैविकरूपसे अद्भुत शील, शक्ति और सौन्दर्ययुक्त सुराकार हैं और आध्यात्मिक दृष्टिसे सगुण परमात्मा हैं।

रामके सर्वप्रिय होनेका दूसरा कारण पौराणिकोंका यह मत है कि राम वे आदिपुरुष परब्रह्म हैं, जिनके सत्त्वगुणसे देवगण, रजोगुणसे प्रजापतिगण और तमोगुणसे रुद्रगण उत्पन्न हुए।

कहना न होगा कि वाल्मीकिने रामके व्यक्तित्वको मानवसे ऊपर उठाकर महापुरुषत्वपर स्थित किया। व्यास, भास और कालिदासमें रामका विष्णुत्व मुखर है। भवभूतिने उन्हें शौर्ययुक्त और कारुणिक चित्रित किया और तुलसीके राम अद्भुत शील, शक्ति, सौन्दर्ययुक्त परमाराध्य, नराकार मर्यादापुरुषोत्तम, सगुण विश्वात्मा और परात्पर तत्त्व हैं।

राम अपने उक्त विशिष्ट व्यक्तित्वके कारण ही भारतीय समाज और साहित्यपर इतना व्यापक प्रभाव डाल सके हैं कि कोई समाज-शास्त्री तथा कवि या साहित्यकार उस प्रभाव का पूर्णतया निरूपण नहीं कर सका है। रामका चरित्र सगुण ईश्वरकी मानवी तथा अतिमानवी लीलाओंका रत्नाकर है कि जिसका मूल्याङ्कन कोई विरला ही पारखी कर सकता है।

प्रत्येक समाज और साहित्यका **'असतो मा सद्गमय'**, **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** का लक्ष्य रहता है, जिससे मानव बाह्यजगत् एवं हृदयमें ज्ञानका प्रकाश प्राप्त कर सके।

इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिये रामके परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासजीका यह सत्परामर्श माननीय है—

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरीद्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजिआर॥

सारांश यह कि रामके उक्त विशिष्ट व्यक्तित्वके कारण ही रामके चरित्रको भारतीय समाज एवं साहित्यमें आशातीत मान्यता एवं व्यापकता प्राप्त होती रही और अनुमान है कि रामका महत्त्व भविष्यमें और भी अधिक व्यापक एवं मान्य होगा। इसका प्रमाण प्रतिवर्ष मनाये जानेवाले देशव्यापी विजयदशमी और रामनवमीके पर्व हैं। दीपावलीका पर्व भी रामके राज्याभिषेकके प्रतीकस्वरूप मनाया जाता है। भारतके हजारों धर्मप्रिय आबाल-वृद्ध नर-नारी राम-लीलामें सक्रिय भाग लेते हैं और दर्शक तो लाखोंकी संख्यामें राम-लीला देखते हैं। इसीलिये रामका आदर्श चरित्र भारतीय समाज और साहित्यमें शीर्षासन प्राप्त किये हुए है। रामके व्यक्तित्वका महत्त्व विदेशोंमें भी कुछ कम नहीं है क्योंकि अनेक विदेशी मनीषियोंने भी राम-साहित्यकी अभिवृद्धिमें योग दिया है और रामके मर्यादापूर्ण आदर्शोंकी मुक्तकण्ठसे सराहना की है।

अतः भगवान् श्रीरामचन्द्रजी—भक्तिके आदर्श, मर्यादाके प्रतीक, सद्धर्म एवं सदाचारके संस्थापक, ज्ञान, वैराग्य, न्याय, नीति, त्याग, कर्मण्यता आदिकी मूर्ति और निर्बलके बल माने जाते हैं। रामका महान् व्यक्तित्व ही उन्हें भारतीय समाज और साहित्यका उच्च आदर्श सिद्ध कर देता है।

◆

भाव-संशुद्धि

(लेखक—विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेवशास्त्रीजी)

भाव-संशुद्धि चारित्र्यका मुख्य अङ्ग है। भाव-संशुद्धिकी क्यों आवश्यकता है ? इसीका उत्तर नीचेके पद्योंमें दिया गया है—

गृहरूपं मनोऽस्माकं स्वच्छं शान्तं भवेद्यथा।
तत्परेण मनुष्येण प्रयत्नः क्रियतां तथा॥

हमारा मन एक प्रकारसे हमारा घर है। वह हमारा गृहरूपी मन जैसे भी स्वच्छ और शान्त रह सके, उसके लिये हमें तत्पर होकर प्रयत्न करना चाहिये।

सोपद्रवं तथास्वच्छं दुर्गन्धेन समाचितम्।
अभद्रदर्शनं वेश्माध्युषितः कः सुखं व्रजेत्॥
भावसंशुद्धिमेतस्मात् सौमनस्यं तथैव च।
सद्विचारसमृद्धिं च समीहन्ते मनीषिणः॥

उपद्रव या कोलाहलसे युक्त, अस्वच्छ, दुर्गन्धसे भरे हुए और देखनेमें अभद्र या भद्दे घरमें रहकर कौन सुखी हो सकता है ? इसीसे मनीषीलोग भाव-संशुद्धि, सौमनस्य और सद्विचारोंकी समृद्धिको चाहते हैं।

अभिप्राय यह है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नताके लिये जैसे शान्त, स्वच्छ और सुन्दर घरकी आवश्यकता होती है, उसी तरह आध्यात्मिक शान्ति और प्रसन्नताके लिये भावसंशुद्धि आदि मानसिक गुणोंकी आवश्यकता है।

स एष परमः स्वार्थो दोषसंस्पर्शवर्जितः।
परार्थजीवनस्यापि पात्रता तत्र जायते॥

भाव-संशुद्धि आदि उपर्युक्त मानसिक गुणोंकी प्राप्ति ऐसा उत्कृष्ट 'स्वार्थ' है जिसके साथ दोषका संस्पर्श भी नहीं है। इस स्वार्थ-सिद्धिके हो जानेपर ही मनुष्यमें परार्थ-जीवनकी पात्रता आती है। अर्थात् उक्त उदात्त गुणोंसे युक्त मनुष्यमें ही वास्तवमें दूसरोंके हितके लिये कार्य करनेकी योग्यता होती है।

वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयोः।
एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणाः॥

वास्तवमें मनुष्यके चरित्रकी वही स्थिति पवित्र और उत्कृष्ट होती है जिसमें स्वार्थ और परार्थकी एकता या अभिन्नता हो जाती है। विद्वान्लोग उसी अवस्थाको 'अद्वैत'की स्थिति कहते हैं।

पश्चिमकी तड़क-भड़कमें भूलकर अपने मूल आधारको न छोड़ें

पश्चिमसे आपके पास जो तड़क-भड़क आती है उससे आप चौंधिया न जायें। इस क्षणिक दिखावेके मोहमें फँसकर आप अपने मूल आधारको न छोड़ें, जिसपर आप खड़े हैं। बुद्ध भगवान्ने कभी न भुलाये जाने लायक शब्दोंमें आपसे कहा है कि यह अल्प मानव-जीवन अनित्य छायाके सिवा, क्षणभरमें उड़ जानेवाली वस्तुके सिवा और कुछ नहीं है। और अगर आप अपनी आँखोंके सामने सतत बदलते रहनेवाले इस पार्थिव शरीरकी क्षणभंगुरताको पहचान लें तो ऊपर स्वर्गमें आपके लिये सुख और शान्तिका भंडार भरा रहेगा और यहाँ इस जगत्में आपको ऐसी शान्ति मिलेगी जो हमारी समझसे परे है और ऐसा सुख प्राप्त होगा जिससे हम बिल्कुल अपरिचित हैं। यह तभी होगा जब आपमें आश्चर्यजनक श्रद्धा, दिव्य श्रद्धा होगी और आप सारी दृश्य वस्तुओंका त्याग कर देंगे। (राष्ट्रभारती)

—महात्मा गांधी

मधुर

श्रीगोपी-प्रेमकी अमित महिमा है, उसमें त्याग-ही-त्याग है। अपनेमें हीनताका बोध तथा प्रियतम श्रीकृष्णमें अनन्त महत्त्वके दर्शन उसके सहज लक्षण हैं। इसीके अनुरूप श्रीकृष्ण भी इसी भावसे उनसे लीलाविहार करते हैं। श्रीराधारानी कहती हैं—

'श्यामसुन्दर! तुम्हारा प्रेम बड़ा ही विलक्षण है। तुमने अपने सहज सुन्दर स्वभावके विवश होकर ही मुझसे प्रेम बढ़ाया है। मेरा हृदय तो स्वार्थ (निज सुखकी इच्छा) से भरा था, प्रेमके तो नामसे ही शून्य था, कामनाके कलुषसे पूर्ण सदा काला था, पर तुमने (अपने स्वभाववश ही) स्वयं आकर उसमें विश्राम किया। मैंने तो कभी प्रेमकी प्राथमिक पाठशालामें भी प्रवेश नहीं किया, न मेरा प्रेमका ककहरा सीखनेसे ही कुछ काम रहा। प्यारे रसधाम! तुमने अपने-आप ही आकर मुझे अपने दिव्य (भौतिक नहीं) प्रेमरसका पान कराया; मैं उससे छक गयी। सबको पवित्र करनेवाला वह मधुर प्रेमरस (मुझमें समाया नहीं) छलक पड़ा। मेरा जीवन सुखका धाम बन गया। (प्रियतम!) तुम्हारे सुगन्धित गुण-समूह-पुष्पोंके तुम ही नित्य सुन्दर बगीचे हो!'

(गीत)

अनोखौ प्रेम तिहारो स्याम!
बिनु कारन तुम नेह बढ़ायौ
सहज सुभाव बिबस अभिराम॥
स्वारथ भर्‌यौ हतौ हिय मेरो,
छूँछौ सदा प्रेमके नाम।
काम-कलुष पूरित, नित कारौ,
ता मैं कियौ आय बिस्राम॥
नहीं प्रवेस प्रेम-चटसारै,
नहीं ककहरा सौं हू काम।
दिव्य प्रीति-रस मोय पियायौ
अपने-आप आय रसधाम॥
छकी, प्रेम-रस छलक्यौ पावन
मधुर भयौ जीवन सुखधाम।
तुम्हरे सुरभित गुन-सुमनोंके
तुम ही नित्य सुभग आराम॥

प्रियतम श्रीकृष्णने कहा—

'प्रियतमे! विशुद्ध प्रेम यों ही बोला करता है (प्रेमकी यही भाषा है) प्रेम सदा ही अपने लाख-ला दोषोंको तथा प्रियतमके लाख-लाख विमल गुणोंको प्र करके उनकी तुलना किया करता है। प्रेमी नित्य-निर प्रेम-रस-सुधासे छका जगत्‌में उन्मत्त हुआ विच करता है। वह अमूल्य प्रेम-रत्न धन पा चुकता है त (प्रेमके स्वभाववश) उसे अपना हृदय प्रेमरससे शू शून्य ही दिखायी देता है; क्योंकि प्रेमकी पवित्र पि नित्य बढ़ती तथा प्रेमके अभावका बहता हुआ प्र दिखलाती रहती है। ऐसा प्रेमधनी धन्य-धन्य है, जो नि नवीन प्रेमका खजाना खोलता रहता है और मुझे प सुख पहुँचानेके लिये ही नित्य अत्यन्त मधुर प्रेम-सुधा घोला करता है। प्रिये राधिके! तुम वस्तुतः ऐसी हो, इसीसे मैं तुम्हारा नित्य ऋणी हूँ तथा बड़े संकोचके साथ धीरे-धीरे तुम्हारी सेवा किया करता हूँ।

(गीत)

निर्मल प्रेम नित्य यौं बोलै।
अपने दोष विमल गुन पियके
लाख लाख करि काढ़ै—तोलै॥
छक्यौ प्रेम रस-सुधा निरंतर
अग-जग भयौ बावरौ डोलै।
दीखै हियो प्रेम-रस छूँछौ
पाय प्रेम-धन रतन अमोलै॥
प्रेम-पियास बढ़त नित पावन
प्रेम अभाव दिखावत रोलै।
धनि धनि ऐसो प्रेम-धनी जो
नित नव प्रेम-गोलकहि खोलै॥
मोय परम सुख पहुँचावन हित
नित अति मधुर अमीरस घोलै।
तुम ऐसी, तातैं मैं रिनिया,
सेवौं सकुचत हौले हौले॥

आजके हम-सरीखे कामकलुषित-चित्त इस त्याग प्रेमके महिमामय स्वरूपको क्या समझें।

* * *

बद्ध कौन ?

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'बद्धो हि को यो विषयानुरागी'

अकेला साधु, शरीरपर केवल कौपीन और हाथमें एक तूँबीका जलपात्र। गौर वर्ण, उन्नत भाल, अवस्था तरुणाईको पार करके वार्धक्यकी देहलीपर खड़ी। जटा बढ़ायी नहीं गयी, बनायी नहीं गयी; किंतु बन गयी है। कुछ श्वेत-कृष्ण-कपिश वर्ण मिले-जुले केश उलझ गये हैं परस्पर।

धूलिसे भरे चरण, कहीं दूरसे चलते आनेकी श्रान्ति। मुखकी घनी दाढ़ीपर भी कुछ धूलिके कण हैं। ललाटपर बड़ी-बड़ी स्वेदकी बूँदें झलमला आयी हैं। मध्याह्न होनेको आया, साधुको अब विश्राम करना चाहिये।

'यह क्या है ? ये लोग इस प्रकार क्यों भागे जा रहे हैं ? इतनी आकुलता क्यों है ?' साधुको दूसरोंकी उलझनमें नहीं पड़ना चाहिये; किंतु दूसरोंकी विपत्ति उनके नवनीत-कोमल हृदयको द्रवित कर देती है—इसमें उनका दोष ? विपत्ति ही तो—विपत्तिके बिना क्या पूरा गाँव इस प्रकार अस्तव्यस्त भागता है ?

साधुने ग्रामके पास वट वृक्षके नीचे बने चबूतरेपर कुछ देर विश्राम किया। कोई नहीं आया उनके समीप। गाँव बड़ा है, सम्पन्न दीखता है। ग्रामके अधिपतिकी ऊँची कोठी भी है वहाँ; किंतु गाँवमें तो कोई हलचल है। घोड़े, छकड़े लादे जा रहे हैं। पशु इकट्ठे किये जा रहे हैं। ये लोग तो घरोंका पूरा सामान गाड़ियोंपर लाद रहे हैं। बड़ी शीघ्रतामें हैं सब-के-सब।

'क्या बात है भाई! आप सब बहुत घबराये-से लगते हैं ?' साधुने स्वयं एक व्यक्तिके पास जाकर पूछा।

'महाराज, क्षमा करें।' श्रद्धापूर्वक उसने चरण-स्पर्श किया—'हम ऐसी विपत्तिमें हैं कि कोई सेवा करनेमें इस समय समर्थ नहीं।'

'विपत्ति क्या है ? यदि बतानेमें कोई हानि न हो·······'

'पिण्डारे आ रहे हैं।' उस व्यक्तिने बताया—'प्रसिद्ध क्रूर पिण्डारा भीमपाल अपना पूरा दल लिये बढ़ा आ रहा है। कई सौ घुड़सवार हैं उसके साथ! वह असुर है प्रभु! आप भी यहाँसे कहीं दूर चले जायँ तो अच्छा। उन लोगोंमें किसीके लिये श्रद्धा नहीं। वे साधुकी भी हत्या करके प्रसन्न होनेवाले पिशाच हैं। वे लूटकर ही संतुष्ट नहीं होते, घरोंको जलाकर और गिराकर तथा जो मिले उसीको क्रूरतम रीतियोंसे पीट-पीटकर मारनेमें विनोद मानते हैं।'

'विश्वनाथके चरणाश्रित मनुष्योंकी उदारता और दयापर निर्भर नहीं किया करते।' साधुने एक बार आकाशकी ओर नेत्र उठाया—'भय उन मृत्युञ्जयके स्मरणसे भीत रहा करता है; किंतु इस समय मुझे तुम्हारे यहाँके गढ़पतिसे मिलना है। तुम इतना कर सकोगे ?'

'आप गढ़पतिसे मिलेंगे ?' ग्रामीण चौंका। 'पिण्डारोंके लिये कोई वेश बना लेना कठिन नहीं है। क्या पता···········।'

'साधुपर शङ्का पाप होती है!' साधुने कहा—'जब शंकरका एक सेवक यहाँ आ ही गया है, तुमलोगोंको विपत्तिमें इसी प्रकार छोड़कर चला जाय, यह उसके स्वामीका अपमान है। कौन जाने आशुतोष इस बार

भीमपालपर ही अनुग्रह करनेवाले हों । तुम्हारी विपत्तिका कुछ-न-कुछ उपाय तो करना ही होगा ।'

'आप मेरे साथ पधारें !' ग्रामीणकी श्रद्धा उसकी शङ्कासे प्रबल सिद्ध हुई । फिर उसने सुन रक्खा है कि पिण्डारा भीमपाल नृशंस है; किंतु शूर है । वह छलका आश्रय प्रायः नहीं लिया करता । गढ़पतिसे साधुको मिला देने मात्रसे कोई बड़ी हानि सम्भव नहीं । एकाकी शस्त्रहीन साधुका वह कर भी क्या सकता है ।

× × ×

'आपको ठीक पता है कि पिण्डारे आ रहे हैं ?' साधुने गढ़पतिको इधर-उधरकी बातें करनेका अवकाश नहीं दिया ।

'तीन दिन पहले हमारा एक तरुण उनके आक्रमणमें घिर गया था ।' गढ़पतिने भी मूल बात चलायी—'वह किसी प्रकार भाग आया । उस ग्रामको उन लोगोंने ध्वस्त कर दिया । वहाँ अब खंडहर और कहीं-कहीं उठता धुआँ होगा । कितने लोग मरे, पता नहीं ।'

'आप अपने आश्रितोंकी रक्षा नहीं करेंगे ?' साधुने उलाहना नहीं दिया । उनका स्वर सामान्य था ।

'वही करनेका प्रयत्न कर रहा हूँ ।' खेदभरे स्वरमें गढ़पति कह रहे थे—'क्षत्रिय हूँ । मृत्युसे डरता नहीं । किंतु अपने सैनिकोंके साथ मरकर भी रक्षाकी कोई आशा नहीं । ये मुट्ठीभर वीर उन शतशः दुर्दान्त दस्युओंके पद रोक नहीं सकते । अतः हम ग्राम खाली कर रहे हैं । घरोंका मोह छोड़ना पड़ेगा । शेष सब चल सम्पत्ति हम ले जायँगे और खेत अभी तो खाली पड़े हैं ।'

'निकल जा सकेंगे आप ?' साधुका प्रश्न जितना सीधा था, उत्तर उतना कठिन था ।

'कम आशा है । उनके अश्व वन्यपथके अभ्यस्त हैं । कोई वनका मार्ग उन्हें अज्ञात नहीं ।' बड़ी निराशा थी गढ़पतिके स्वरमें—'वे ग्रामको खाली पाकर क्रुद्ध होंगे । इस प्रदेशमें जनपद दूर-दूर हैं । वे थके, भूखे आयेंगे । उनके घोड़ोंको खली-दाना आवश्यक होगा । लंबी यात्राके बिना आगे भी आशा नहीं । निश्चय वे हमें ढूँढ़ेंगे । पर दूसरा कोई उपाय नहीं । वे प्रातः यहाँ पहुँचेंगे । तबतक हम जितनी दूर जा सकें ।'

'इतनी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है ।' साधुने आश्वासन दिया—'मैं तुम्हें रोकता नहीं हूँ । रुक जाओ तो यहाँ भी विश्वनाथ सबकी रक्षा कर लेंगे । भरोसा न हो तो, कहीं इतने पास रुको सबके साथ कि जब पिण्डारे लौट जायँ, तुमलोग आकर अपने घर सँभाल सको ।'

'आप उनके स्वभावसे अपरिचित हैं ।' गढ़पतिके स्वरमें वही वेदना बनी रही । 'घर सँभालने योग्य रहने दें, ऐसा सौम्य उनमें एक भी न मिलेगा ।'

'मैं अपने विश्वनाथके स्वभावसे परिचित हूँ । अपने आश्रितकी उपेक्षा करना उन्हें आता नहीं ।' साधुके स्वरमें अविचल आस्था गूँज रही थी—'तुम्हारे घर तुम्हें कल तीसरे पहर सुरक्षित मिलेंगे ।'

'आप यहाँ रुकनेका आग्रह न करें !' गढ़पतिने बड़े खेदके साथ कहा—'एक सम्मान्य अतिथिको शत्रुके मुखमें—भूखे भेड़िये-जैसे शत्रुके मुखमें छोड़कर जानेका कलंक लेनेके बदले……।'

'ठहरो !' साधुने बीचमें रोक दिया । 'मेरा कोई शत्रु नहीं । विश्वनाथके विश्वका कोई जन नहीं जो मेरा सुहृद् न हो । साधु कहाँ रहे, कहाँ न रहे; यह निर्णय करनेका तुम्हें अधिकार है, ऐसा तुम नहीं सोचते होगे ।'

'मैं आज्ञानुवर्ती हूँ; किंतु……।'

'तब केवल आज्ञाका पालन करो !' साधुने स्थिर स्वरमें आदेश दिया—'यहाँसे सबको लेकर इसलिये जाओ कि तुम सब स्वतः आश्वस्त रह सको । मध्याह्नके पश्चात् यहाँ लौट आ सको, इतनी दूर हट जाना पर्याप्त होगा ।'

साधुने किसी प्रकार भी भोजन करना स्वीकार नहीं किया। वे वहाँसे सीधे उसी बटके नीचे आये और अपने भजन-पूजनमें लग गये।

× × ×

'हम पूरे ग्रामका चक्कर करते आये हैं!' प्रचण्डकाय भीमपालके सम्मुख उसके अपने सैनिकोंके स्वर भी भयसे काँपते थे—'सूना पड़ा है ग्राम। खुले पड़े हैं घरोंके द्वार। टूटी चारपाईतक उनमें नहीं है।'

'बको मत!' भीमपाल अब भी अपने काले घोड़ेपर ही सवार था। उसका कर्कश स्वर गूँजा—'अश्वोंको दाना चाहिये। हमारे सभी सैनिक अब भोजन तथा विश्राम चाहते हैं। सूने घर! हम चमगीदड़ नहीं हैं कि सूने घरोंमें उलटे लटकेंगे। उन घरोंको जलाकर हाथ सेंक लेनेका काम पीछे, पहले भगोड़ोंको ढूँढ़ निकालो।'

'एक आदमी है। एक कौपीनधारी नंगा साधु उस बरगदके नीचे।' एक सैनिकने सूचना दी—'वह आँखें बंद किये बैठा है।'

'बाँध लाओ उसे!' आज्ञा पूरी होते-न-होते तीन-चार अश्व दौड़ पड़े।

'गाँवके लोग कहाँ गये!' रस्सियोंसे बँधे सामने उपस्थित साधुसे भीमपालने पूछा सही; किंतु उसे आश्चर्य हो रहा था कि यह साधु बाँधे जानेपर भी प्रसन्न है और कोई प्रतिवाद नहीं करता।

'मुक्त पुरुष बंदियोंका विवरण नहीं रखते और बंदीके प्रश्नोंका उत्तर देनेको वे विवश भी नहीं।' साधुने नम्र किंतु दृढ़ स्वरमें उत्तर दिया।

'बंदी कौन?' भीमपाल कुछ आश्चर्यमें पड़ गया।

'जो भागनेको विवश हुए। जो घोड़ोंपर बैठे भागे आये। जो विश्वमें वासनाओंसे बँधे भागते-नाचते डोलते हैं।'

'जो रस्सीसे बँधा सामने खड़ा है!' अब पिण्डारेने अट्टहास किया।

'ये रस्सियाँ मिट्टीको बाँधती हैं।' साधु हँसे—'विश्वनाथके सेवकको बाँधनेकी शक्ति इनमें नहीं है। तू बाँधेगा प्रलयंकरके सेवकको? स्वयं तेरा बन्धन कट नहीं सकता इस साधुके करोंका आश्रय पाये बिना।'

'मैं बँधा हूँ?' दस्यु चिल्लाया—'मैं तेरे प्रलापमें उलझ नहीं सकता। गाँवके भगोड़ोंका पता तुझे देना पड़ेगा।'

'अपना बन्धन तुझे दीखे, यह मेरे आराध्यकी कृपाके बिना सम्भव कहाँ है?' साधुने ध्यान ही नहीं दिया कि दो सैनिक अपने सरदारके संकेतके अनुसार कोड़े उठाये अश्वसे उतरकर उसके दोनों ओर आ खड़े हुए हैं। उन्होंने तो एक बार आकाशकी ओर दृष्टि उठायी—'आशुतोष!'

'आप मुझे क्षमा करें!' भीमपाल अपने अश्वसे कूदा और सीधे साधुके चरणोंपर उसने मस्तक रख दिया—'ये भयंकर सर्प! ये फण फैलाये जलते नेत्रोंसे घूरते काले विषधर! आप इनसे मेरी रक्षा करें।'

किसीकी समझमें कुछ नहीं आया। किसीको कुछ नहीं दीख रहा था। पिण्डारे सैनिकोंने केवल इतना समझा कि साधु कोई साधारण मनुष्य नहीं है। उसने अवश्य कुछ किया है—कोई चमत्कार!

'ये मुझे जकड़े हैं। ये मेरी हड्डी-हड्डी तोड़े दे रहे हैं। मैं इनके विषसे जला जा रहा हूँ।' भीमपाल व्याकुल होकर इधर-उधर हाथ-पैर पटकने लगा था—'आप कृपा करें! आप रक्षा करें! आप क्षमा करें!' बार-बार साधुके पैरोंपर वह सिर पटकने लगा था।

'ये नाग आज तुम्हें नहीं बाँध रहे हैं।' साधु स्वस्थ प्रसन्न खड़े थे—'ये तो सदासे बाँधे हैं तुम्हें। ये काले, नीले, पीले, चित्रवर्णी नाग—तुम्हारा काम, क्रोध,

लोभ—तुम्हारी सांसारिक विषयोंकी प्रबल तृष्णा—तुम तो सदा इनके द्वारा जकड़े हो। सदा इनके विषसे दग्ध हो रहे हो। आज तुमने प्रभुकी कृपासे अपना बन्धन देखा।'

'सचमुच मैंने आज देखा!' भीमपालका क्रन्दन क्रम हुआ। उसने अपने हाथों साधुके बन्धनकी रस्सी खोली और फिर चरणोंपर गिरा—'अपने बन्धनको देखनेकी दृष्टि आपने दी प्रभु! इससे छूटनेकी पद्धति—अब मैं इन चरणोंको छोड़नेवाला नहीं।'

× × ×

गाँवके लोग शामको लौट आये थे। उन्हें भीमपालके यहाँ आनेके चिह्नरूपमें कहीं-कहीं घोड़ोंकी लीद मा मिली। वे साधु मिले नहीं। भीमपालके दलका भी कि नाम नहीं सुनायी पड़ा। अवश्य एक प्रचण्डकाय स जो मौनी था, उक्त घटनाके कुछ ही दिनों बाद चित्रकूटमें देखा जाने लगा था।

◆

व्यावहारिक अर्थशास्त्र

(लेखक—डा० सोहनलालजी गुप्त एम्० ए०, एम्-काम०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

अर्थशास्त्रकी परिभाषापर अनेक पश्चिमी एवं पूर्वीय अर्थशास्त्रियोंने अपने विचार व्यक्त किये हैं; जिनके परिणामस्वरूप इस विषयकी अनेक परिभाषाएँ प्रचलित हैं। इसी कारणसे डा० कीन्सने आलोचना करते हुए लिखा है कि 'इस शास्त्रने परिभाषाओंसे अपना गला घोंट लिया है[1]।' बारबरा वूटनके हास्यमें भी यह कटु सत्य छिपा हुआ है कि जब कभी छः अर्थशास्त्री एक स्थानपर बैठते हैं, तब उनके सात मत होते हैं[2]!

प्राचीन समयसे अर्थशास्त्रकी परिभाषाओंके निर्माण-सम्बन्धी कार्य चलते आये हैं और यह क्रम अब भी जारी है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह विज्ञान मानवसे सम्बन्ध रखता है; जिसकी मनोवृत्तियों एवं परिस्थितियोंमें सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। अतः इससे सम्बन्धित विज्ञानोंमें भी परिवर्तनोंका होना स्वाभाविक है। हाँ, मार्शलके बाद कुछ समयतक इस कार्यमें कुछ स्थिरता दृष्टिगोचर होती थी, परंतु प्रोफेसर राबिन्सने अपनी पुस्तकमें एक नया दृष्टिकोण रक्खा। तबसे यह कार्य पुनः जोर पकड़ने लगा, जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य एवं पूर्वीय अर्थशास्त्रियोंने अर्थशा सम्बन्धी समस्याओंपर नया साहित्य प्रस्तुत किया है संयुक्त राष्ट्रसंघकी अनेक समितियोंने बहुत कुछ कार्य कि है। उनके प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। प यह कहनेमें संकोच नहीं है कि उनके आर्थिक समस्याओं सम्बन्धित रोगनिदान एवं प्रस्तावित इलाज अनुपयुक्त ही है और फिर भारतीय मानवकी पृष्ठभूमिमें उनके लिये नि करना असम्भव ही प्रतीत होता है। मानवीय परम्पराओं परिस्थितियोंका विचार करके हमें एक ऐसी परिभाषा निर्माण करना है जो सार्वभौम हो सके। इसी उद्दे पूर्तिहेतु यह प्रयास किया गया है।

इस निबन्धका प्रमुख उद्देश्य विशुद्ध भोगवादी वर्त अर्थव्यवस्थासे, जिसमें मानवताका गला घुट रहा है और वि भोगवादी बननेके विचारसे मानव अधिक-से-अधिक अर्थ आवश्यकताको पूरा करनेके लिये प्रयत्न कर रहा है, छुट प्राप्त कराकर, मानवको अधिक व्यावहारिक बना अधिकाधिक सुख एवं संतोष प्रदान कराना है।

औद्योगिक क्रान्तिके परिणामस्वरूप मानवमें स्वत समानता एवं अधिकार-प्रियताकी लिप्सा अधिक ब हो गयी है। अतः इन विचारोंसे अनुप्राणित उच्छृ मानव, समाजके प्रति विद्रोह करके भी व्यक्तिगत जीवन

---

[1] "Political economy is said to have strangled itself with definitions" Scope and Methods of Political Economy. Page 153

[2] Whenever six Economists are gathered there are seven opinions.

[3] "An essay on the nature and significance of Economic Science.

ऊँचा उठानेका प्रयत्न कर रहा है और इस विचारसे प्रेरित होकर वह अपने लक्ष्योंके चुननेमें पूर्णतया तटस्थ है। प्रायः प्रोफेसर राबिन्स महोदयने भी अपने मौलिक निबन्धमें लक्ष्योंके चुननेमें तटस्थता दर्शायी है।[४] उनके दृष्टिकोणसे अर्थशास्त्रके विवेचनमें न तो मानवताका ही कोई अंश है और न नैतिकताका ही और न वे समाज-कल्याणको ही कोई महत्त्व देते हैं। उन्होंने अर्थशास्त्रके विवेचनको अमूर्त (Abstract) बनानेका प्रयत्न किया है। जब कि प्रो० जे० के० मेहताने अर्थ-शास्त्रको केवल आदर्श विज्ञान निरूपित किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्रमें, आवश्यकताहीनताकी दशाको पहुँचनेका प्रयत्न किया जाता है[५]।'

उपर्युक्त दोनों ही परिभाषाओंके विश्लेषणसे उनमें कोई व्यावहारिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि कोई विज्ञान हमारे व्यावहारिक जीवनमें लाभकारी सिद्ध नहीं होता तो ऐसे विज्ञानके अध्ययनका कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। व्यावहारिक जीवनमें लाभकारी सिद्ध होनेके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि अर्थशास्त्रका अध्ययन न केवल वास्तविक विज्ञान, अथवा न केवल आदर्श विज्ञानके रूपमें ही हो, अपितु दोनों विचारोंका सामञ्जस्य अनिवार्यरूपसे ही होना चाहिये। ऐसा करनेके लिये इसमें नैतिकता और मानवताका समावेश करना होगा। बारबरा बूटनने भी इस सम्बन्धमें ठीक ही कहा है कि अर्थशास्त्रियोंके लिये यह बहुत ही कठिन है कि वे अपनी विवेचनामें नैतिकताका समावेश लेशमात्र भी न करें[६]। अर्थात् अर्थ-शास्त्रियोंके लिये अर्थ-शास्त्रमें नैतिकता एवं मानवताका समावेश करना नितान्त आवश्यक है। अतः अर्थ-शास्त्रकी कोई इस प्रकारकी परिभाषा होनी चाहिये, जिसमें मानवता, जो आज दानवताका रूप लिये जा रही है, सही अर्थोंमें पुनः आ सके। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि भारतीय आर्थिक इतिहासके पृष्ठोंके अध्ययनसे विदित होगा कि प्राचीन आर्योंके जीवनमें 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' नामक चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति आवश्यक समझी जाती थी। ये न तो विशुद्ध भोगवादी ही थे और न निरे त्यागवादी। अतः हमको न तो प्रो० राबिन्सका मत ही अपनाना है, जिससे मानव अपनी असीमित आवश्यकताओंको सीमित साधनोंसे पूरा करनेमें सदैव पागल बना रहे और न प्रो० मेहताका मत ही, जिसके अनुसार आवश्यकता-हीनताकी दशाको पहुँचनेका प्रयत्न किया जाय, अपितु एक मध्यम मार्ग अपनाना है, जिससे हमारी भौतिक उन्नतिके साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नतिको भी बल प्राप्त होता रहे। इस लक्ष्यकी प्राप्ति हमें अर्थशास्त्रकी निम्न परिभाषासे ही हो सकती है:—

'अर्थशास्त्र मानव-क्रियाओंका वह विज्ञान है, जिसमें सुखार्थ प्रकृतिसम्मत आवश्यकताओंको न्यूनातिन्यून समुचित साधनोंसे, जिनके वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं; पूरा करनेका अध्ययन किया जाता है।' अर्थात् मानवके सुखार्थ प्रकृति-सम्मत आवश्यकताओंके पूर्ति-हेतु अत्यन्त सीमित एवं समुचित साधनोंके ज्ञान करानेवाले शास्त्रको अर्थशास्त्र कह सकते हैं। यहाँपर 'सुखार्थ' 'प्रकृतिसम्मत आवश्यकताओं' तथा न्यूनातिन्यून समुचित साधनोंका स्पष्टीकरण उपयुक्त ही है; क्योंकि हमारी परिभाषामें मौलिकता इन्हीं शब्दोंपर आधारित है।

प्रत्येक व्यक्तिद्वारा की जानेवाली सभी क्रियाओंका लक्ष्य सुखकी प्राप्ति ही होता है। अतः उसके द्वारा प्रकृतिसम्मत उन सभी आवश्यकताओंको पूरा करनेका प्रयत्न किया जाता है, जिससे उसे शारीरिक, भौतिक एवं मानसिक सुख-शान्ति मिल सके। हमें न केवल भौतिक अथवा शारीरिक सुखको ही केन्द्र मानकर चलना है, अपितु आत्मिक और मानसिक सुखको भी अधिक महत्त्व देना है। शारीरिक एवं भौतिक सुख तो अस्थायी और काल्पनिक ही है। स्थायी सुख तो अन्तरात्माका ही सुख है और वास्तवमें मानवीय प्रयत्नोंका लक्ष्य भी इसी सुखकी प्राप्ति ही है। परंतु अधिकांश पाश्चात्य अर्थशास्त्री अधिकतर भौतिक एवं बाह्य आवश्यकताओंको पूरा करनेके फेरमें पड़कर आन्तरिक सुखको गौण मान लेते हैं। परिणामस्वरूप जितना ही भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रयत्न किया जाता है, उतनी ही आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न होने लगती है। ऐसा तभी होता है जब मानव अपने आध्यात्मिक तत्त्वको भूलकर भौतिक शरीरपर ही अधिक ध्यान देता है। परंतु हमारी परम्परा और प्रकृति हमें बताती है कि मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं और इच्छाओंका पिण्ड नहीं अपितु वह एक आध्यात्मिक तत्त्व है जिसने भौतिक

---

४. "Economics is entirely neutral between ends, economics is not concerned with ends as yet,"

५. "The science of human activities is considered as an endeavour to reach the state of wantlessness."—Advance Economic Theory, page 22.

६. "It is very difficult for economists to divert their discussions completely of all normative significance,'

शरीर धारण कर रक्खा है। अतः इस तथ्यका सदैव ध्यान रखना चाहिये।

प्रकृतिसम्मत आवश्यकताओंसे हमारा अभिप्राय प्रकृति, देश एवं कालद्वारा निर्धारित की हुई कुछ सीमित आवश्यकताओंसे है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मानवकी आवश्यकताएँ धार्मिक, भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सीमित ही विदित होती हैं। भले ही एक सामान्य कोटिका मानव उनकी सीमाको न जान सके, परंतु वास्तवमें वे सीमित हैं और व्यक्तिगत मानव उस सीमाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता; क्योंकि मानव-प्रकृति भविष्यके सम्बन्धमें उनकी सीमा निर्धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। सामान्यतः साधारण मानवकी आवश्यकताओंके सीमित होनेपर भी उनकी सीमा अदृश्य है। हाँ, कुछ मानव, जिन्हें हम त्रिकालदर्शी भी कह सकते हैं, अपनी वर्तमान आवश्यकताओंको तो जानते ही हैं, भूतकी आवश्यकताओंको भी वैसे ही अनुभव करते हैं, जैसे वर्तमानकी आवश्यकताओंको।

प्रत्येक मानवकी कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं, जिनके अन्तर्गत भोजन, वस्त्र एवं आवासको सम्मिलित किया जाता है। इन मूलभूत आवश्यकताओंको अनेक प्रकारकी वस्तुओं—सात्त्विकी, राजसी एवं तामसीसे पूरा किया जा सकता है। अर्थात् ये आवश्यकताएँ विभिन्न प्रकारके व्यक्तियोंके लिये अनेक रूपोंमें प्राप्त हो सकती हैं।

सभी पदार्थ सबके उपभोग एवं दर्शन योग्य नहीं होते। जिस प्राणीका जिस प्रकारके कर्मोंका भोगानुकूल फल जहाँपर जैसे रहता है, वहाँपर वह उतना ही भोग करता एवं देखता है। अन्य स्थानोंमें स्थित अधिकका उसे दर्शन भी नहीं होता।[८] तथा इन मूलभूत आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये मानवके द्वारा भौगोलिक, प्राकृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मानव-प्रकृति एवं प्रवृत्तिके अनुसार विविध प्रकारसे कार्य करके पूरा करना होगा। इन मूलभूत आवश्यकताओंकी प्रत्येक मानवको किस प्रकारसे पूर्ति करनी है, यह उसकी परिस्थितियोंपर निर्भर है। जैसे-जैसे परिस्थितियोंमें परिवर्तन होता चलेगा, वैसे-वैसे ही मानवको उसकी आवश्यकताओंकी सीमामें भी परिवर्तन प्रतीत होगा, परंतु यह परिवर्तनकी सीमा उसकी अज्ञानताके कारण विदित नहीं होती।

आवश्यकताओंकी सीमा एक अन्य कारणसे भी सीमित विदित होती है। वह यह है कि मानवके जीवन-कालका कुछ समय है। उस समयमें वह एक सीमित मात्रामें ही वस्तुओंका उपभोग कर सकेगा। यदि वह अपनी कल्पनाओंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये आकांक्षा रखता है तो भी वे उस सीमाका उल्लङ्घन नहीं कर सकतीं, जो उसे जीवनमें पूरी करनी थी। इसको स्पष्ट करनेके लिये एक उदाहरण भी दिया जा सकता है।

मानवके पास समय एवं साधन सीमित हैं, परंतु अनेक वैकल्पिक प्रयोग हैं—जैसे यदि एक व्यक्तिके पास एक घंटेका समय है—उसमें वह चाहता है कि वह बाजार-भ्रमण करे, सिनेमा देखे, हवाई जहाजमें सैर करे। इस प्रकारकी और भी कल्पनाएँ हो सकती हैं। परंतु वास्तवमें समयका उत्तम प्रयोग किसी एक या दो ही कार्योंके लिये हो सकता है। इसी प्रकार साधन भी सीमित हैं, उन सीमित साधनोंके अनेक प्रकारके प्रयोग करके अनेक आवश्यकताओंको पूरा करनेका प्रयत्न करता है, तो ऐसा करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस कठिनाईसे बचनेके लिये मानव उसका सबसे उत्तम प्रयोग करके अपनी आवश्यकताओंको पूरा करनेका प्रयत्न करेगा। उदाहरणार्थ—एक एकड़ भूमिके टुकड़ेको गृहनिर्माण, फसल उगाना, फैक्टरी बनाना आदिके लिये प्रयोगमें लाया जा सकता है। यदि उस भूमिके टुकड़ेपर इन बातोंकी एक ही समयमें व्यवस्था की जाय तो मानव एक विचित्र उलझनमें पड़ेगा। अतः इससे बचनेके लिये यही उत्तम होगा कि उसका प्रयोग केवल सबसे उत्तम कार्यके लिये ही हो। इस उत्तम प्रयोगसे भी मानवकी आवश्यकताएँ सीमित हो जाती हैं।

इसके अतिरिक्त एक आधार यह भी है, क्योंकि व्यक्तिकी विचारशक्ति सीमित है, अतः वह सीमित ज्ञानसे असीमितताकी ओर सोच भी नहीं सकता। सीमित ज्ञानसे तो सीमितताका ही विचार आ सकता है। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता

---

७. श्रीदीनदयाल उपाध्याय—भारतीय अर्थ-नीति-विकासकी एक दिशा, पृष्ठ ३।

८. योगवासिष्ठ, स्थितिप्रकरण, सर्ग १८, श्लोक ६-७

जगद्दुञ्जासहस्राणि यत्रासंख्यान्यणायणौ।
अपरस्परलग्नानि काननं ब्रह्म नाम तत्॥
मिथः सम्मिलनेनैता घनतां समुपागताः।
यद्यत्र यथाऽऽरूढं तत्तत् पश्यति नेतरत्॥

कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने विवेककी भिन्नताके कारण उसकी आवश्यकताओंकी सीमा भी भिन्न रूपसे निर्धारित कर ले परंतु सीमा अवश्य होगी ।

हाँ, विभिन्न व्यक्तियोंके विचारोंमें, जिनके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकारकी आवश्यकताओंका होना और उनका उपभोग किया जाना स्वाभाविक है । यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक मानव एक ही प्रकारकी वस्तुओंका उपभोग नहीं करना चाहता । समाजमें रहते हुए एक व्यक्तिके उपभोगका एक दूसरे व्यक्तियोंपर निर्देशात्मक (Demonstrative) एवं प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) प्रभाव भी अवश्य होगा । परंतु उस प्रभावकी सीमा भी अवश्य होगी, जिसका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता और वह सीमा उसकी परिस्थितियोंसे निर्धारित होती है ।

प्रश्न यह किया जा सकता है कि यदि प्रकृतिसम्मत आवश्यकताएँ सीमित हैं तो उन्हें सीमित साधनोंसे सुगमतासे पूरा किया जा सकता है ? यहाँपर आर्थिक समस्याका विचार प्रकट नहीं होता । इसके प्रत्युत्तरमें यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिकी दयालुतासे मानवके लिये सभी प्रकारकी वस्तुओंकी उपलब्धि है, परंतु उनको उपभोगके लिये प्राप्त करनेमें मानवको प्रकृतिके साथ संघर्ष और कर्म करना होगा । यह संघर्ष एवं कर्म ही आर्थिक क्रियाओंका एक पहलू है । संघर्ष किस प्रकारसे किया जाय, इस सम्बन्धमें मानवको उद्देश्य-प्राप्तिके साधनोंकी ओर ध्यान देना होगा और न्यूनातिन्यून साधनोंका समुचित प्रयोग करके प्रकृतिसम्मत आवश्यकताओंको पूरा करना होगा ।

न्यूनातिन्यून समुचित साधनोंके प्रयोगसे हमारा अभिप्राय, उद्देश्यकी प्राप्तिहेतु अर्थ-उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय एवं राजस्व—सभी क्षेत्रोंमें धर्मनियन्त्रित अर्थनीतिको अपनाना होगा । ऐसा करनेके लिये धर्म एवं नीतिके आधार-पर सामाजिक परिस्थितियोंपर विचार करते हुए धन कमाने एवं व्यय करनेसे सम्बन्धित मानवकी क्रियाओंको अर्थशास्त्रके अन्तर्गत स्थान दिया जाना चाहिये । यदि ऐसा होता है तो सफलता मिले या न मिले, शान्ति एवं सुख अवश्य प्राप्त होगा । यदि न्यायोचित क्रियाओंके करनेपर तथा समाजके अनुकूल होते हुए भी असफलता मिलती है तो उसे पुनः कार्यमें निष्ठा एवं तत्परतासे क्रियाशील बने रहना चाहिये । इससे उसे शान्ति एवं सुखका ही अनुभव होगा । अतः रोबिन्स महोदयके विपरीत लक्ष्योंके चुनने और पहुँचनेमें जो विधियाँ अपनायी जायँ वे न्यायोचित धैर्य एवं नीतियुक्त तथा समाजके हितोंमें होनी चाहिये । ऐसा होनेसे हमारे मतके अनुसार अर्थशास्त्रका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है और इसके अन्तर्गत नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान आदि सिद्धान्तोंका भी समावेश होना चाहिये ।

प्रभुके दर्शनका कभी अभाव नहीं होता

आज मिल गया मुझे सहज ही प्रभुका मधु मंगल वरदान ।
शब्द-शब्दमें सुन पाता मैं अतः तुम्हारा ही गुणगान ॥
देख पा रहा अखिल विश्वमें रूप तुम्हारा ही अभिराम ।
स्पर्श पा रहा प्रति-स्पर्शमें एक तुम्हारा ही सुखधाम ॥
गन्ध मात्रमें पाता मैं नित अङ्ग-गन्ध तव परम मधुर ।
प्रति रसमें पा रहा तुम्हारा नित्य दिव्य रस-सुधा-अधर ॥
एक तुम्हारे सिवा कहीं भी कुछ भी नहीं बचा अवशेष ।
इससे होता कभी न प्रभुके दर्शनका अभाव लवलेश ॥

वैष्णवताका स्वरूप

(श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका एक भाषण)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥
सर्व-त्याग करि जे सदा, सेवत हरि-पद-मूल।
बंदौं तिन वैष्णव-चरन सुचि पद-पंकज-धूल ॥

वैष्णवधर्मका प्राचीन नाम है—'सात्वतधर्म।' इसीके भक्त, भागवत, वैष्णव, पाञ्चरात्र, वैखानस, कर्महीन आदि अनेक भेद प्राचीन शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। वैष्णव-धर्मका मूल वेद है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।

विष्णुके इस परमपदका संधान ही वैष्णव-धर्म है। वैष्णवोंने प्रधानरूपमें चार महान् सद्गुरुओंकी परम्परा स्वीकार की है—श्री, ब्रह्मा, रुद्र और सनकादि। इन्हींके नामोंपर सम्प्रदाय चले। आजकल सम्प्रदाय शब्दका बड़ा दूषित अर्थ किया जाता है, किसीको द्वेष-हिंसा करते देखकर ही उसे साम्प्रदायिक कह दिया जाता है। वास्तवमें सम्प्रदायका अर्थ है—

शिष्टानुशिष्टोपदिष्टो मन्त्रः सम्प्रदायः।

पूर्व आचार्यके समीप प्राप्त मन्त्र और साधनाका नाम ही सम्प्रदाय है। इसमें द्वेष-हिंसाकी तो कहीं कल्पना ही नहीं है और वैष्णव सम्प्रदाय तो भूतमात्रमें भगवान्‌को देखकर अत्यन्त विनम्रभावसे सबको नमस्कार, सबकी सेवा तथा सबका हित-साधन करता है। उपर्युक्त चार गुरु-परम्पराओंसे बने हुए चार सम्प्रदाय प्रधान माने जाते हैं—

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुस्सनः ॥

श्रीलक्ष्मीजीकी कृपासे रामानुज, ब्रह्माकी अनुकम्पासे मध्वाचार्य, रुद्रके अनुग्रहसे विष्णुस्वामी और सनकादि मुनियोंके प्रसादसे निम्बार्काचार्य साधनाका सन्मार्ग दिखलाते हुए आचार्यपदपर प्रतिष्ठित हुए। श्रीवल्लभाचार्य, श्रीविष्णुस्वामीके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायके ही आचार्य माने जाते हैं। कुछ महानुभाव इनके पुष्टिमार्गको पृथक् भी मानते हैं। बंगालकी वैष्णव-प्रेम-सुधा-धारा बहुत अंशमें श्रीमध्वाचार्यके मतसे प्रभावित है, ऐसा महानुभावोंका मानना है। इनमें श्रीरामानुजका श्रीसम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी और भगवान् लक्ष्मीनारायणका उपासक है। श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवादी और श्रीराधाकृष्णका उपासक है। श्रीविष्णुस्वामी या वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवादी और श्रीबालगोपालका उपासक है। श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवादी और श्रीराधाकृष्णका उपासक है एवं बंगालके प्रेमके ठाकुर श्रीगौराङ्गदेवका गौड़ीय सम्प्रदाय अचिन्त्यभेदाभेदवादी कहा जाता है तथा श्रीराधाकृष्णका उपासक है। ये सभी एक ही परमतत्त्वकी उपासना-सुधासरिताकी परम मधुर सुधा-तरङ्गें हैं और ये सभी वस्तुतः 'सात्वत' सम्प्रदायके ही अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त श्रीरामानन्दाचार्यका सम्प्रदाय भी प्रमुख वैष्णव-सम्प्रदाय है। और भी बहुत ही शाखा-उपशाखाएँ वैष्णव सम्प्रदायोंकी हैं। महाराष्ट्रमें निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान-देव, मुक्ताबाई, नामदेव, तुकाराम, गुजरातके श्रीनरसिंह मेहता, उत्तर भारतके सूरदास, तुलसीदास आदि, आसामके श्रीशङ्करदेव, राजस्थानकी मीराँबाई आदि सभी वैष्णवाग्रणी संत हुए हैं। दक्षिणमें श्रीरामानुजाचार्यसे बहुत पहले श्रीशठकोप, विष्णुचित्ति, भक्तपदरेणु, कुलशेखर और देवी अण्डाल आदि अल्वार वैष्णव महात्मा हो गये हैं, जो प्रेमोन्मत्तताके परम आदर्श हैं। ये सभी वैष्णवधर्मके परम सुन्दर स्वरूपका ही प्रकाश करते हैं।

वेद, उपनिषद्, नारद-पाञ्चरात्र, महाभारत, रामायण, पुराण, तन्त्र आदि असंख्य महामान्य ग्रन्थोंमें वैष्णवधर्मके लक्षणोंका तथा इतिहासका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। श्रीमद्भागवतके, जो वैष्णवोंका सर्वमान्य ग्रन्थ है तथा जो परमहंससंहिताके नामसे प्रख्यात है, ग्यारहवें स्कन्धमें भागवतधर्मके वर्णन-प्रसंगमें वैष्णवता या वैष्णवोंका स्वरूप लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(११।२।४५)

आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और

साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्-में ही स्थित है—वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है—इस प्रकारका जिसका अनुभव है, उसे भगवान्का परम प्रेमी उत्तम भागवत—श्रेष्ठ वैष्णव समझना चाहिये ।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥
(११ । २ । ४६)

जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, दुखी और अज्ञानियोंपर कृपा तथा भगवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भागवत—वैष्णव है ।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥
(११ । २ । ४७)

जो भगवान्के अर्चा-विग्रह—मूर्ति आदिकी पूजा तो श्रद्धासे करता है, परंतु भगवान्के भक्तों या दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह साधारण श्रेणीका भगवद्भक्त—वैष्णव है ।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥
(११ । २ । ४८)

जो कर्ण, नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है, परंतु प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्की लीला—माया है, वह पुरुष उत्तम भागवत—श्रेष्ठ वैष्णव है ।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥
(११ । २ । ४९)

संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा । ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं । जो पुरुष भगवान्की स्मृति-में इतना तन्मय रहता है कि इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे तनिक भी मोहित नहीं होता, वह उत्तम भागवत—श्रेष्ठ वैष्णव है ।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥
(११ । २ । ५०)

जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, विषयार्थ कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज—वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त—श्रेष्ठ वैष्णव है ।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥
(११ । २ । ५१)

जिसका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म एवं तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिमें ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान् श्रीहरिका प्यारा वैष्णव है ।

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥
(११ । २ । ५२)

जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें यह अपना है और यह पराया—इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता; समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता है, समभाव रखता है तथा किसी भी घटना अथवा संकल्पसे विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवान्का उत्तम भक्त—श्रेष्ठ वैष्णव है ।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(११ । २ । ५३)

राजन् ! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्के ऐसे चरणकमलोंमें आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो कभी नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी संनिधि और सेवामें ही संलग्न रहता है; यहाँतक कि त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दी जानेपर भी वह भगवत्स्मृतिमें निरन्तर लगा ही रहता है, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है ।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥
(११ । २ । ५४)

निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान्के चरणोंके

अङ्गुलि-नखकी मणि-चन्द्रिकासे जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह ताप फिर कैसे आ सकता है, जैसे चन्द्रोदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता ।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥
(११ । २ । ५५)

विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण पापराशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं; क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण-कमलोंको बाँध रक्खा है, वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भगवान्के भक्तोंमें प्रधान है ।

इस श्रेष्ठ वैष्णवताकी प्राप्तिके लिये नीचे लिखे साधन करने चाहिये—

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥
(११ । ३ । २३)

पहले शरीर, संतान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे । फिर भगवान्के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे । इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे ।

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥
(११ । ३ । २४)

मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय,, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष विषादसे रहित होना सीखे ।

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं संतोषं येन केनचित् ॥
(११ । ३ । २५)

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतन-रूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्त सेवन, यही मेरा घर है—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने प चिथड़े, जो कुछ प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उ संतोष करना सीखे ।

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥
(११ । ३ । २

भगवान्की प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें श्र और दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, भगवच्चिन्त के द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासनाहीनत अभ्याससे कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियों अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं न जाने देना सीखे ।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥
(११ । ३ । २

राजन् ! भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं । उनके ज कर्म और गुण दिव्य हैं । उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान् लिये करना सीखे ।

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥
(११ । ३ । २८

यज्ञ, दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन औ स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपने प्रिय लगता हो, सब-का-सब भगवान्के चरणोंमें निवेदन कर उन्हें सौंप देना सीखे ।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥
(११ । ३ । २९

जिन संत पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण अपने आत्मा और स्वामीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया है उनसे प्रेम, और स्थावर, जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियों सेवा, विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी परोपकारी सज्जनोंकी और उनमें भी भगवत्प्रेमी संतोंकी करना सीखे ।

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥
(११ । ३ । ३

भगवान्‌के परम पावन यशके सम्बन्धमें ही एक-दूसरेसे बातचीत करना और इस प्रकारके साधकोंका इकट्ठे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें संतुष्ट रहना और प्रपञ्चसे निवृत्त होकर आपसमें ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करना सीखे ।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥
(११ । ३ । ३१)

राजन् ! श्रीकृष्ण राशि-राशि पापोंको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं । सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरोंको स्मरण करावें । इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे पुलकित-शरीर धारण करते हैं ।

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
(११ । ३ । ३२)

उनके हृदयकी बड़ी विलक्षण स्थिति होती है । कभी कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अबतक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे ? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं, तो कभी भगवान्‌की लीलाकी स्फूर्ति हो जानेसे ऐसा देखकर कि परमैश्वर्यशाली भगवान् गोपियोंके डरसे छिपे हुए हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं । कभी-कभी उनके प्रेम और दर्शनकी अनुभूतिसे आनन्दमग्न हो जाते हैं तो, कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ बातचीत करने लगते हैं । कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणोंका गान छेड़ देते हैं और कभी नाच-नाचकर उन्हें रिझाने लगते हैं । कभी-कभी उन्हें अपने पास न पाकर इधर-उधर ढूँढ़ने लगते हैं, तो कभी-कभी उनसे एक होकर, उनकी संनिधिमें स्थित होकर परम शान्तिका अनुभव करते और चुप हो जाते हैं ।

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥
(११ । ३ । ३३)

राजन् ! जो इस प्रकार भागवतधर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायणके परायण होकर उस मायाको अनायास ही पार कर जाता है, जिसके पंजेसे निकलना बहुत ही कठिन है ।

इन लक्षणों तथा साधनोंसे वैष्णवताका स्वरूप भलीभाँति ध्यानमें आ गया होगा । वास्तवमें वैष्णव भक्त अपनेको प्रभुका सेवक तथा समस्त जगत्‌को अपने परम प्रेमास्पद प्रभुका ही स्वरूप मानता है । तुलसीदासजी कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥
सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

केवल मनुष्योंमें ही नहीं, चेतन प्राणियोंमें ही नहीं, भगवान्‌के भक्त वैष्णवजन जड-चेतन सभीमें अपने प्रभु भगवान्‌का दर्शन करके सबको नमस्कार करते हैं । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(११ । २ । ४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी है, सभी भगवान् हरिका शरीर ही है, अतः सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस परमधर्मका उपदेश भगवान्‌ने किया है, उसीका वस्तुतः पाञ्चरात्र आगममें वर्णन है अथवा उस अतिप्राचीन आगमोक्त भक्ति-धर्म-विग्रहको ही भगवान्‌ने परम सुन्दर नवीन वस्त्राभूषणोंसे सुसजित करके गीतोपदेशके रूपमें प्रकट किया है । यह भक्ति ही धर्मका सर्वस्व है । श्रीमद्भगवद्गीताके दार्शनिक विचारोंके समर्थनरूपमें ही श्रीमद्भागवतका अवतार है । व्रजकी महाभाग्यवती रससुधामयी श्रीगोपाङ्गनाएँ इसी भक्तिकी माधुर्यमयी मूर्ति हैं । वे गीताकी ही जंगम प्रतिमा हैं । उस श्रीमद्भगवद्गीतामें ११ वें अध्यायके अन्तमें वैष्णवके—अनन्य भक्तके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(११ । ५५)

अर्जुन ! जो केवल मेरा ही कर्म करता है, मेरे ही परायण है और मेरा ही भक्त है, कहीं भी जिसकी आसक्ति नहीं है एवं समस्त प्राणियोंमें जो निर्वैर है, वह मुझे प्राप्त होता है।

इसी गीताके बारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने वैष्णवोंके—अपने प्रिय भक्तोंके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा है—'जो प्राणीमात्रमें द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र है, किसीको दुखी देखकर जिसका हृदय करुणार्द्र हो जाता है, जो ममता तथा अहंकारसे रहित है, अपने दुःख-सुखमें समबुद्धि है, बुरा करनेवालेका भी भला करता है, सदा संतुष्ट है, नित्य मुझ भगवान्‌से संयुक्त है, मन-इन्द्रियोंका विजेता है, दृढ़निश्चयी है, मुझ भगवान्‌को ही जिसके मन-बुद्धि समर्पित हैं। जिसके किसी भी आचरणसे लोग उद्विग्न नहीं होते, जो स्वयं लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, हर्ष-अमर्ष, भय-उद्वेगसे मुक्त है। जो किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, सदा पवित्र तन-मन है, भगवत्-सेवामें चतुर है, रागद्वेषरहित उदासीन है, जिसको कोई भी सांसारिक व्यथा नहीं सताती, जो सकाम भावसे कोई आरम्भ नहीं करता। जो अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, प्रतिकूलसे द्वेष नहीं करता, अनुकूलके विनाश तथा प्रतिकूलकी प्राप्ति होनेपर सोच नहीं करता और अनुकूलकी प्राप्ति एवं प्रतिकूलके नाशके लिये आकांक्षा नहीं करता, इस प्रकार जो शुभाशुभका परित्यागी है, जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःखमें समबुद्धि है, विषयासक्तिसे सर्वथा रहित है, स्तुति-निन्दाको समान मानता है, व्यर्थ भाषण नहीं करता, जिस किसी भी स्थितिमें संतुष्ट है, घर-द्वारमें ममतायुक्त नहीं है, स्थिरबुद्धि है, इस परम धर्मामृतके द्वारा जो श्रद्धापूर्वक नित्य मुझ भगवान्‌की उपासना करता है, श्रद्धायुक्त है और भगवत्परायण है, वह भक्तिमान् वैष्णव मुझ—भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है।

ये वैष्णवताके सार्वभौम स्वरूप-लक्षण हैं। यद्यपि जैसे गेरुवाँ वस्त्र चतुर्थाश्रम—सर्वत्यागरूप संन्यासका प्रतीक है, वैसे ही माला-तिलक आदि भी वैष्णवताके बाह्य चिह्न हैं तथापि केवल बाहरी वेष-भूषासे न कोई त्यागी होता है, न वैष्णव। बाहरी दिखावा तो दम्भसे या बुरी नियतसे भी हो सकता है, पुलिसकी पोशाक पहनकर डाकू लोगोंको लूट लेते हैं, खादी धारण करके जनताको लोग ठग लेते हैं। वैसे ही वैष्ण तिलक-मालासे जनता ठगी जा सकती है। अतएव भीतर स्वरूप ही असली स्वरूप है। इसीसे उपर्युक्त श्रीमद्भागवत त श्रीमद्भगवद्गीतामें निरूपित भक्तके स्वरूप-लक्षणोंमें बा वेश-भूषाका वर्णन नहीं है। जीवनका बाह्याभ्यन्तर आचार ही उसका वास्तविक स्वरूप है।

वैष्णवताके इन्हीं स्वरूप-लक्षणोंका वर्णन गुजरातके मह वैष्णव श्रीनरसिंह मेहताने अपने इस सरल गुजराती भा भजनमें किया है। यह भजन महात्मा गाँधीको बहुत प्रिय था।

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमाँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णात्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर-धन नव झाले हाथ रे।
मोह-माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेनाँ मनमाँ रे।
रामनामसु ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमाँ रे।
वणलोभीने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैयो तेनुं दरशन करतां कुळ एकोत्तर तार्या रे।

वस्तुतः वैष्णव वही है जिसका जीवन सब समय, स ओरसे, सभी प्रकारसे केवल भगवान्‌की सेवामें ही लगा है वह कर्मसे विरत नहीं, परंतु उसका प्रत्येक कर्म, प्रत्ये विचार होता है—केवल भगवत्सेवाके—भगवत्पूजाके लिये ही वह सदा-सर्वदा अपने प्रत्येक कर्मसे, प्रत्येक व्यवहार अपने प्रभु भगवान्‌की पूजा ही करता है। यों तो जिसकी जी भगवान्‌के मधुर मनोहर नामका उच्चारण होता है वह वैष्णव तथा परम पूजनीय है। श्रीगौराङ्ग महाप्रभु कहते हैं—

प्रभु कहे यांर मुखे सुनि एक बार।
कृष्ण नाम सेई पूज्य श्रेष्ठ सबाकार॥
अतएव यांर मुखे एक कृष्ण नाम।
सेई त वैष्णव करिह ताँहार सम्मान॥
कृष्ण नाम निरन्तर याँहार बदने।
से वैष्णवश्रेष्ठ भज ताँहार चरणौ॥

वस्तुतः वैष्णवका या वैष्णवके स्वरूपका वर्णन सह नहीं है। यह तो वैष्णव-हृदयके अनुभवकी वस्तु है। अतए इसका वर्णन करने जाना अपनी अज्ञानताको ही प्र करना है। मुझ-सरीखा—अभिमानसे भरा सामान्य प्रा

पवित्रतम वैष्णवधर्मकी क्या बखान करे । महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

जो अपनेको तृणसे भी अधिक नीचा मानते हैं, जो वृक्षके समान सहनशील हैं, (पत्थर मारनेवालेको सुस्वादु रसपूर्ण फल देते हैं, काटने-चीरने-जलानेवालोंका भी भाँति-भाँतिसे उपकार करते हैं) जो अमानी होकर सबको मान देनेवाले हैं, उन्हींके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं । ये ही सच्चे वैष्णवके लक्षण हैं ।

आज सभी विषयकामनाकी आगसे जल रहे हैं । सारा जगत् वस्तुतः आज इस प्रेममय वैष्णव-धर्मकी प्रेमसुधा-धाराके अभावसे ही संत्रस्त है । जिस विश्वप्रेममें एक दिन, शान्तिपुर 'डुबु-डुबु नदे भेसे जाय ।' इस प्रेमका प्लावन बंगालके नवद्वीपमें आरम्भ हुआ था । प्रेमके ठाकुर श्रीगौराङ्गके श्रीचरणोंमें हम सभी प्रार्थना करें कि आजका जलता हुआ जगत्—एक बार फिर उसी पवित्र त्यागरूप प्रेमकी सुधा-धारासे आप्लावित हो । हम सभी श्रीचैतन्य महाप्रभुके आदर्शके अनुसार प्रेमकी सुधा-धारासे आप्लावित होकर परम शान्ति तथा परम सुखका अनुभव करें ।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥

समस्त विश्वका कल्याण हो, दुष्ट प्रकृतिके लोग क्रूरताका त्याग करें । सब जीव परस्पर मङ्गलचिन्तन करें । हमारी बुद्धि अधोक्षज श्रीभगवान्में अहैतुकी प्रीतिके साथ भलीभाँति लगी रहे ।

बोलो वैष्णवजन तथा उनके प्रभु प्रेमधाम प्रभुकी जय जय !

आत्म-निर्भरता

(लेखक—श्रीजयकान्तजी झा)

बिना किसीका अवलम्ब लिये अपना कार्य अपने-आप ही करना 'आत्म-निर्भरता' है । यह एक बहुत बड़ी तपस्या है । इस तपस्यासे मानसिक शक्तिका विकास होता है और मनुष्यमें आत्म-विश्वास बढ़ता चला जाता है । यदि हम अपने-आपको इस विषयमें नियन्त्रित कर लें तो हमारी बहुत-सी कठिनाइयाँ सहज ही दूर हो जायँ । 'सर्वं परवशं दुःखम्' के अनुसार व्यक्ति और वस्तुकी दासतामें हमें कितना कष्ट उठाना पड़ता है, यह सर्वविदित है । आत्मनिर्भर (स्वावलम्बी) होकर जीवन-यापन करनेसे मनुष्यकी कार्य-कारिणी शक्ति बढ़ती जाती है । जो व्यक्ति अपने-आपसे प्रेरित होकर कार्य करता है, उसे एक अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति होती है ।

'माँगन भलो न बाप सौं, जौ बिधि राखै टेक'

इस सिद्धान्तके अनुसार हमें कभी किसीसे कुछ नहीं माँगना चाहिये । जब हम किसीसे कुछ याचना करने जाते हैं, तब हमें आत्म-ग्लानि एवं संकोचका अनुभव होता है । जो व्यक्ति जितना ही अधिक अयाचक या आत्म-निर्भर है वह उतना ही महान् है । उसे किसीसे भय नहीं होता, अनुचित ढंगसे किसीकी खुशामद नहीं करनी पड़ती और वह सदा प्रसन्न मुद्रामें दिखायी पड़ता है । अशान्तिका एक प्रधान कारण 'आत्म-निर्भरता'का अभाव तथा व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थितिकी दासता है । जिस व्यक्तिसे हम कुछ याचना करते हैं उसकी दृष्टिमें तो हम निम्न हो ही जाते हैं, साथ-ही-साथ हमारा आत्म-विश्वास भी जाता रहता है । जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरोंका भरोसा करता है, वह उतना ही अधिक अपनी शक्तिका ह्रास करता है और उतना ही अधिक पराधीन होता है ।

एक बात और है, याचना करनेसे कुछ प्राप्ति नहीं होती । इसके अतिरिक्त जो कुछ माँगनेसे मिलता है, उसका त्याग किसी-न-किसी रूपमें हमें अवश्य करना पड़ता है । उस समय बहुत ही कष्ट होता है । यदि हम किसीसे कुछ न माँगनेका अभ्यास करें और सदा-सर्वदा कुछ-न-कुछ देकर समाज-कल्याण करते रहें तो हमें समाजका प्रेम प्राप्त होता रहेगा एवं हमारे आत्म-बलका विकास होगा । ऐसी स्थितिमें हमें

ईश्वरकी ओरसे सहायता प्राप्त होने लगती है। घट-घटमें व्यापक परमात्माका वास हमारे हृदयमें है ऐसा विश्वास करके जीवनका प्रत्येक कार्य करनेसे हमारे सब कार्य बड़ी ही सरलता एवं आसानीसे पूर्ण होते रहते हैं और हमें शान्ति एवं संतोषका अनुभव होता है।

हमें एक बातका ध्यान और रखना है—हम समाजसे जितना लाभ उठाते हैं, उससे अधिक सेवा यदि हम समाजकी करते हैं तो उस सेवा-भावसे हमारी आत्मिक शक्तिका विकास होता है और यदि हमारी सेवामें कमी होती है तो हमें मानसिक अशान्ति एवं ग्लानि तथा संकोचका अनुभव होता है। अतः हम जितना लाभ संसारसे उठावें उससे अधिक सेवा करनेकी भावना रक्खें, तभी हमारा जीवन सफल होगा।

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हम ऐसे व्यक्तियोंके बीचमें रहें जो हमारी बराबरीके हों क्योंकि अपनेसे अधिक सम्पन्न व्यक्तियोंके बीच रहनेसे हमारे अंदर माँगनेकी प्रवृत्ति (याचकता) उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है और इस प्रकार हमारा पतन होता है। हम जब भी किसी व्यक्तिके पास जायँ तो उसे कुछ देने अथवा उसकी सेवा करनेके अभिप्रायसे जायँ। ऐसा करनेसे हमें आत्म-बल प्राप्त होता रहेगा। इसके विपरीत यदि हम किसीके पास कुछ माँगनेकी भावनासे जायँगे तो हमें अपनी लघुताकी अनुभूति होगी। इसलिये हमें सर्वदा किसीके पास कुछ लेने नहीं, वरं कुछ देनेके विचारसे ही जाना चाहिये।

हम जो कार्य अपने भरोसे अपनी शक्तिसे करते हैं उसमें एक विशेष आह्लाद एवं प्रसन्नताकी अनुभूति होती है और ऐसे समयमें एक अज्ञात शक्तिद्वारा हमें आत्मिक शक्ति एवं स्फूर्ति प्राप्त होती रहती है। इसके विपरीत यदि तनिक भी सहायता दूसरोंसे प्राप्त करनी पड़ी तो रस फीका पड़ जाता है। अतः हमें सदैव आत्म-निर्भर रहकर अपना सब कार्य करना चाहिये और कभी भी किसीसे किसी प्रकारकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा न रखनी चाहिये। यही सफलताकी कुंजी है।

हालमेंही एक ऐसी घटना हुई जिससे मुझे 'आत्म-निर्भरता'में पूर्ण आस्था हो गयी। मैंने यह नियम बनाया कि मैं नित्य बिना एक व्यक्तिको भोजन कराये स्वयं भोजन न करूँगा। इस महँगीके युगमें पहले तो मुझे इस कर्तव्य-पालनमें शंका हुई किंतु न जाने किस अज्ञात शक्तिद्वारा अबतक बराबर ऐसी सुविधा मिलती जा रही है कि इस पुण्य कार्यका निर्वाह मेरे द्वारा बहुत ही सरलतापूर्वक होता चला आ रहा है। और मुझे आशा है कि सदैव इस कर्तव्य-पालनमें मेरी सहायता प्रभुकी ओरसे होती रहेगी।

◆

सावधान

वह विकास विनाश होगा, वह उन्नति अधोगति होगी, वह उत्थान पतन होगा, वह सौभाग्य दुर्भाग्य होगा, वह पुण्य पाप होगा, वह बुद्धिमानी मूर्खता होगी और वह सम्पत्ति विपत्ति होगी, जो जीवनको अध्यात्मके आधारसे अलग करके, परमात्मासे पृथक् करके केवल भोगोंकी प्राप्तिमें—केवल भौतिक सफलताके साधनोंमें लगा देगी। भोग—यदि भगवान्‌को भुलानेवाले हैं और भगवान्‌की पूजाकी सामग्री नहीं हैं तो उनसे निश्चय ही दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, ऐसे दुःखोंकी, जिनकी परम्परा नये-नये दुःखोंके रूपमें चलती ही रहती है। अतएव सावधान रहो। भगवान्‌के साथ जीवनको जोड़े रखते हुए ही सब कुछ सोचो, सब कुछ करो। केवल भौतिक विचार तथा भौतिक कर्म तो भूतोंका ही भयानक अकाण्डताण्डव होगा।

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

समुद्र-सतहसे १०,३०० फुटकी ऊँचाईपर स्थित गङ्गोत्तरी एक सुन्दर स्थान है। गङ्गाके इस पार छोटी-छोटी दूकानों, कुछ धर्मशालाओं और मन्दिर मिलाकर एक छोटी-सी बस्ती बन गयी है। यहाँ वन-विभागका एक विश्रामालय भी है। गङ्गा उस पार कुछ अच्छे साधु-महात्मा निवास करते हैं; जिनकी हरित गिरिश्रृङ्गोंकी तलहटीमें सुन्दर कुटियाँ हैं। यहीं श्रीव्यासदेवजीका योग-निकेतन भी है। गङ्गोत्तरी हमारे पहुँचते ही व्यासदेवजीने कृपाकर योग-निकेतनमें हमारे ठहरनेके लिये संदेश भेजा। यहाँके वन-विश्रामालयमें भी हम ठहर सकते थे, किंतु हमारा यहाँ मुकाम केवल एक रात्रिका था और हम अपने इस अल्प मुकाममें मुख्यतासे यहाँके सभी धार्मिक कृत्य विधिपूर्वक करना चाहते थे। उसमें ऐसे स्थानपर हमारा ठहरना उचित था जहाँसे सब काम सुविधापूर्वक हो सकें और इस दृष्टिसे हमारा यह मुकाम, जहाँ हम ठहरे हुए थे, सर्वथा आराम देनेवाला था। समीप ही लगी हुई दूकानें, निकट सुरसरितीर, गङ्गामन्दिर और बाबा काली कमलीवालोंका कार्यालय आदि सभी बातें हमारे अत्यन्त संनिकट थीं। अतः गङ्गा-स्नान, पूजन, पुण्यस्थानोंके दर्शन, ब्राह्मण-भोजन आदि बातोंकी दृष्टिसे हमारा अन्य स्थानपर ठहरना असुविधाजनक होता।

आज बड़ी राततक जागते रहे, हमारे पण्डा श्रीचेतरामजीकी विदाईकी तैयारीमें ही कुछ समय लग गया। रत्नकुमारीकी माताजी और गोविन्ददासकी भावज दो ऐसी महिलाएँ इस दलमें थीं, जिनकी दृष्टिसे किसी भी तीर्थ-यात्राका मुख्य उद्देश्य उस तीर्थपर अधिक-से-अधिक यथासामर्थ्य दान देना ही होता है और जबतक दान देनेवाला दान लेनेवालेकी संतुष्टिका अनुभव न कर ले, तबतक उसे पूरा-पूरा पुण्य नहीं मिल सकता। ये दोनों इस मतकी थीं। सब लोगोंकी एक बैठक होती, पण्डाजीको क्या बिदाई देना है, यह उस बैठकमें तय होता। एकमतसे तय हो जानेपर पण्डाजीको बुलाया जाता और उन्हें यह दक्षिणा सौंपी जाती। हमारे कुटुम्बसे गङ्गोत्तरी इसके पूर्व कोई नहीं आया था। अतः ऋषिकेशमें ही श्रीचेतरामजीको हमने अपने पण्डा स्वीकार कर लिया था और ऋषिकेशसे ही ये हमारे साथ थे। इन्होंने हमारी गङ्गोत्तरी-यात्राकी व्यवस्थामें अत्यधिक श्रम उठाया था और हम आज यह बात मुक्तकण्ठसे स्वीकार करेंगे कि यदि चेतरामजीके सदृश परिश्रमी और इस ओरका पूरा-पूरा परिचय रखनेवाले हमारे पण्डा न होते तो गङ्गोत्तरीकी इस यात्रामें हमें अकथनीय कष्ट होते। इस दृष्टिसे भी सभी लोग इनसे संतुष्ट थे, फिर रत्नकुमारीकी माताजी विशेष संतुष्ट। जब याचकपर दाता संतुष्ट हो और वह दाता भी ऐसे समय, जब वह किसी धार्मिक भावनासे प्रेरित किसी धार्मिक धाममें है तो वह मुक्तहस्तसे दान देता है और ऐसी स्थितिका यह दान भी ऐसा होता है जिसमें दाताके प्रति याचकका स्वार्थ-प्रेरित संतोष और असंतोष जो समय-समयपर घटता-बढ़ता रहता है, इस क्रियाके होते ही असंतोषको पाटकर केवल संतोषको छा देता है। पण्डाजीको गङ्गा-स्नानके समय ही कुछ मुद्रा, रजत-पात्र और कुछ स्वर्ण मिल ही गया था। अब उनकी दक्षिणाका उपसंहार यह विदाई उनको मिलनेवाली थी। रत्नकुमारीकी माताजीने पण्डाजीको कुछ वस्त्र, पात्र और कुछ रुपये इस विदाईमें दिये और पण्डाजीसे पूछा, 'आप संतुष्ट तो हैं?' उन्होंने यात्रा सुफल करते हुए दक्षिणा स्वीकारी और कहा 'परम संतुष्ट हूँ साब।'

इसके बाद हमलोग अपने विस्तरोंसे जा लगे। सारे दिन मौसम साफ रहा, कुछ शीत अवश्य थी, किंतु मजेदार, कँपकपीवाली नहीं।

दिनाङ्क १० जूनके प्रातःकाल उठते ही दैनिक कृत्यसे निवृत्त हो हमने गङ्गा-स्नान किये और आजका अपना शेष समय सत्सङ्ग, प्राकृतिक स्थलोंके निरीक्षण, योगी-महात्माओंके दर्शनों आदिमें लगानेका तय किया। कल हम यहाँका वह गौरीकुण्ड भी संध्या हो जानेके कारण नहीं देख पाये थे जिसके विषयमें हमने पूर्व ही अनेक बातें और कथाएँ सुन रक्खी थीं। लगभग ९ बजे हमलोग उस पार इन ऋषियोंकी पुरीमें पहुँचे और पहले श्रीप्रेमवर्णीजीकी कुटीमें जाकर उन्हें प्रणाम किया और गङ्गोत्तरीसे विदा होनेकी आज्ञा माँगी। कुछ देर श्रीप्रेमवर्णीजीसे बातें हुईं। तदनन्तर निकट ही

भागीरथीके उस गौरीकुण्डके दर्शनोंको हम गये जिसे देखनेकी लालसा कलसे लगी हुई थी।

गौरीकुण्डके समीप पहुँचकर ज्यों ही हमारी दृष्टि इस कुण्डपर पड़ी, हम आश्चर्यचकित स्तम्भित-से रह गये। गौरीकुण्डमें गङ्गाका पूरा प्रवाह अत्यन्त वेगसे गिरता है। यद्यपि गङ्गाकी धारा एक ओरसे ही आती है, परंतु इस कुण्डमें धाराके गिरते ही सारा प्रवाह अवरुद्ध हो कुण्डकी गुलाईके कारण गोल होकर तेजीसे घूमने लगता है। प्रवाहके इस घुमावके पश्चात् गौरीकुण्डसे फिर गङ्गाकी धारा आगे बहती है। जिस समय हम गौरीकुण्डके दर्शन कर रहे थे, उस समय रवि-रश्मियोंने कुण्डके नीरमें एक पूरे इन्द्र-धनुषकी रचना कर रक्खी थी। गङ्गाके तीव्र प्रवाह, कुण्डमें उसके घुमाव और प्रवाहके प्रपातके कारण धूमके सदृश उड़ते हुए जल-कण और इन्द्रधनुषने इस कुण्डको अनुपम शोभा प्रदान की थी। कुण्डके उस दृश्यको देख गोविन्ददासने कहा। यद्यपि वे संसारमें बहुत घूमे हैं, परंतु ऐसा अद्भुत दृश्य कहीं नहीं देखा। कुछ देर अपलक नेत्रोंसे अवाक् हो हम इस दृश्यको देखते रहे। हमारे मस्तिष्कमें नाना कथाएँ, वार्ताएँ और चर्चाएँ चक्कर लगाने लगीं। हमारा मन अस्थिर हो भागीरथीके इस रहस्यभेदनके लिये व्याकुल हो उठा। अगणित सरिताएँ हमने देखी थीं, किंतु भागीरथीके सदृश आजपर्यन्त नहीं। महान् आस्तिक होते हुए भी आज एक बात और कहनेके लिये हम पाठकोंसे क्षमा चाहेंगे कि भागीरथीके सम्बन्धमें भी हमने जो वर्णन हमारे धार्मिक पुराणोंमें पढ़े थे उन्हें भी कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण और पुराणोंकी पुटके रूपमें ही हमने माना था। किंतु, भागीरथीका समूचे गङ्गोत्तरी मार्गमें और आज जो साक्षात्कार हमें यहाँ हुआ उससे हम हैरान थे। आजके इस साक्षात्कारमें यह क्षमता थी कि न केवल पौराणिक कथनोंको सत्य प्रमाणित कर दे वरं वह यह भी सिद्ध कर रहा था कि दैवी शक्तियों और प्राकृतिक परिणामोंका पक्का परिचय पुस्तकों या पुराणोंमें न पाया जाकर उनके दर्शनोंमें ही मिलता है। इस समय हमारे मस्तिष्कमें पौराणिक कथनोंसे गङ्गावतरण होने लगा। भागवत पुराणके पञ्चम स्कन्धके सत्रहवें अध्यायमें गङ्गावतरणकी कथा आयी है। उसके अनुसार त्रिलोकीनाथ भगवान् विष्णुने राजा बलिके यज्ञमें जब अपने विराट्‌रूपसे पृथ्वीको नापा और उन्होंने अपने दाहिने चरणसे पृथ्वीको दबाकर जैसे ही बायाँ चरण ऊपर उठाया, वैसे ही बाम चरणके अंगुष्ठ-नखसे, ब्राह्मणके ऊपरका भाग फटनेसे जो छिद्र हुआ, उस छिद्रमेंसे चरण-विहारिणी, भवभय-निस्तारिणी, गङ्गाजीकी जो ब्रह्मधारा ऊपर स्थित हुए ब्रह्माण्डके भीतर पैठी; वही धारा स्वर्ग-मस्तकसे उतरकर पृथ्वीपर उतरी। आगे उल्लेख है कि गङ्गाजीकी यह धारा राजा बलिके यज्ञसमय उपस्थित ब्रह्माण्डके भीतर छिद्रमें प्रविष्ट हुई तो भी वहाँसे सहसा पृथ्वीपर नहीं उतरी। बहुत बड़े काल अर्थात् दो सहस्र युगके पीछे स्वर्गमस्तकसे पृथ्वीपर गिरी।

श्रीमद्भागवतमें गङ्गावतरणके सम्बन्धमें कुछ विस्तारसे उल्लेख हुआ है और आगे कहा गया है कि गङ्गा चार धाराओंमें सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नामसे विभाजित होकर केसराचल आदि पर्वतोंके शिखरोंसे नीचे उतरती प्रधान-प्रधान शिखरोंपर गिरती हैं। उसके पीछे इन सब शृङ्गोंसे क्रमसे नीचेको बहकर गन्धमादन पर्वतके शिखरों-पर गिरकर भद्राश्वखण्डके मध्यमें बहकर प्रथम पूर्वकी ओर लवणसमुद्रमें; चक्षु नामक धारा माल्यवान पर्वतके शिखरसे निकलकर महावेगवती केतुमालखण्डके सम्मुख होती हुई पश्चिम दिशाके समुद्रमें आ मिली। भद्रा नामक धारा उत्तर दिशामें सुमेरुके शिखरसे गिरकर एक शिखरसे दूसरे पर्वतके शिखरपर होती हुई कुमुद पर्वतके शिखरसे चलकर नीलगिरि शिखरपर आयी, वहाँसे बहकर श्वेत पर्वतके शृङ्गपर, वहाँसे शृङ्गवान् पर्वतपर पहुँच नीचे गिरी और उत्तर कुरुदेशमें होकर क्षारसमुद्रमें मिलती है। अलकनन्दा नामक धारा भी इसी प्रकारसे पर्वतोंको तोड़ती-फोड़ती, ब्रह्मलोकमें गिरती, अगणित गिरिशृंगोंको लाँघती, तीव्र वेगसे चलती हेमकूट होती हुई भारतवर्षमें व्याप्त होकर दक्षिणकी ओर लवण समुद्रमें जा मिली।

हमारे अन्य धार्मिक ग्रन्थोंके और श्रीमद्भागवतके उक्त कथनसे प्रमाणित है कि विष्णुपदीका विष्णुपदसे निःसरण होकर सहसा पृथ्वीपर अवतरण नहीं हुआ। बहुत कालतक वह स्वर्ग-मस्तकमें छिपी रही। स्वर्ग-मस्तक किसे कहते हैं—इसका भी संक्षिप्त उल्लेख श्रीमद्भागवतके इसी अध्यायमें हुआ है।

हमारे अन्य पुराणों और कथाओंके अनुसार यह प्रमाणित है, वह इस देशकी सबसे प्राचीन सरिता नहीं है, वह इन ग्रन्थोंके कथनानुसार लायी गयी है।

इन कथानकोंसे ओत-प्रोत हृदयसे हम आज गौरीकुण्डपर भागीरथीके इस भव्य रूपको निहार रहे थे। हमने अपनी इस यात्रामें यमुनोत्तरी-मार्गमें यमुनाके और गङ्गोत्तरी-मार्गमें गङ्गाके

जो दर्शन किये थे वे सारे दृश्य इस समय हमारी अन्तर्दृष्टिमें एक चित्रपटकी तरह घूमने लगे। कितना अन्तर था इन दो दर्शनोंमें। यमुनाका प्रवाह और गङ्गाकी गति कितनी विचित्र थी, कैसा अन्तर था जिसे आकाश-पातालका ही अन्तर कहा जा सकता है,। क्यों न हो, यमुना यमुनोत्तरीसे निकली, गङ्गा गङ्गोत्तरीसे। दोनोंके दो पृथक् उद्गम। यद्यपि दोनों एक ही पिताकी दो पुत्रियाँ हैं तथापि दोनोंका भूमि-अवतरण दो भिन्न द्वारों, दो भिन्न मार्गों और दो भिन्न कालोंमें हुआ। यमुना कितने समय पूर्व आयीं, इसका ठीक-ठीक प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी, इतना तो स्पष्ट है कि गङ्गाके बहुत पहले यमुनाका भूमि-अवतरण हुआ है। अतः यमुनाके इस दीर्घकालकी दूरी, पथकी दूरी, कार्यों और गन्तव्यकी दूरी, गङ्गाको पार करनी थी। यह तभी की जा सकती है जब कोई संकल्प-विशेष हो। गङ्गाके यहाँ और मार्गमें जो हमने दर्शन किये वे हमें स्पष्ट बता रहे थे कि गङ्गा कोई दृढ़संकल्प-प्रेरित है और उसीकी पूर्तिमें पुरेजोश, उत्साहसे जुटी है। यमुनोत्तरीके मार्गमें यमुनाका प्रवाह हमने देखा। मैदानोंकी नदियोंकी तुलनामें पर्वतके वक्ष-पर बहती, इस सरिताके बहावमें वेग होना स्वाभाविक ही था, फिर जहाँ चट्टानें अवरोध बनतीं, यह वेग और तेज हो जाता। फिर दूर-दूरतक यमुनाका शीतल श्याम प्रवाह हमें देखनेको मिलता और कलकल करती कालिन्दी अपनी इसी अबाध गतिसे बहती रहती। किंतु, भागीरथी! ओह! भागीरथीका प्रवाह इसे प्रवाह कहें या तूफान! कहीं उद्वेग बनकर, कहीं क्रोध बनकर और कहीं विरहकी विकलता लेकर बहता। इस प्रवाहकी गति विचारोंकी गतिसे भी तीव्र जान पड़ती और शब्द! कहीं मेघके गर्जन-सा, कहीं एक वाद्य-स्वर-सी सुरीली ध्वनिका और कहीं तुमुलनाद करता अन्तरिक्षमें शब्दायमान हो हमारे कानोंमें गूँजता। प्रवाहमें जहाँ-कहीं चट्टानें अवरोध बनतीं, भागीरथी रौद्ररूप धारण कर लेती, वह एक तूफानके सदृश तूफान न होते हुए भी तूफानी नदी बन जाती और बड़े वेगसे उन चट्टानोंको आत्मसात्-सा करती दौड़ी जाती। कितना भव्य, महान् और भयप्रद था धवलरूप-धारी भागीरथीका यह वेश। मनमें विचार उठा आखिर गङ्गा इतनी तेजीसे कहाँ दौड़ी जा रही है? इसने ऐसा कौन-सा महान् संकल्प किया है जिसकी पूर्तिके लिये यह इतनी उतावली है।

कथा है, राजा सगरके साठ सहस्र पुत्रोंने गङ्गाको लानेका प्रयत्न किया। परंतु इस प्रयत्नमें वे सफल न हो सके और उनका अन्त हुआ। उनकी सद्गतिके लिये भगीरथने घोर तपस्या की और गङ्गा लानेमें वे सफल हुए। इसीलिये गङ्गाका नाम भी भागीरथी पड़ा। सतत प्रयत्न, कठिन परिश्रम और पुरुषार्थ-पूर्ण अन्वेषणसे बड़ी चीजें मिलती हैं। समुद्रमें गहरे पानीमें पैठनेपर ही मोती मिलते हैं। बड़ी-बड़ी और गहरी पाताल-फोड़नेवाली खानें खोदनेसे ही रत्न निकलते हैं और पर्वतोंके उदर फाड़कर ही खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं। बड़े प्रयत्नोंके बड़े फल। इसी तरह सगरके साठ सहस्र पुत्रोंके जीवन-बलिदान और भगीरथके उग्र तपके फलस्वरूप गङ्गाका मृत्युलोकमें प्रादुर्भाव हुआ। कड़ी मेहनत और घोर प्रयत्नसे प्राप्त वस्तुएँ, उनका आकार, उनकी गति और उनका जीवन बड़ा होता है। कभी-कभी उनका सँभालना भी मुश्किल हो जाता है। यह बात जो आजके वैज्ञानिक युगमें भी लागू है, गङ्गाके प्रादुर्भावके समय हुई। प्रश्न उठा—गङ्गाके वेगको, उनके आकार, उनकी गतिको कौन सँभालेगा। यदि कोई सँभाल न सका तो वे सीधी पाताल चली जायँगी। सगरके साठ सहस्र पुत्रोंके बलिदान और अपनी कड़ी तपस्यासे प्रभूत गङ्गाकी यह वाणी सुनकर भगीरथका मन भय और प्रयत्नकी असफलताकी आशंकासे भर उठा। उन्होंने फिर उग्र तपस्या प्रारम्भ की शिवकी।

अन्ततोगत्वा, भगीरथकी भक्तिसे प्रसन्न भगवान् विश्वनाथने जब देखा गङ्गाका वेग अत्यन्त भयानक होनेके कारण मृत्युलोकके लिये उनका निस्सरण रुका हुआ है तो चन्द्रमौलिने अपनी जटाएँ बिखेरीं और गङ्गाको समेट लिया। बादमें फिर भगीरथकी प्रार्थनापर एक सूक्ष्म धारा उन्होंने मृत्युलोकके लिये अपने जटा-जूटसे निस्सृत कर दी। यह वही धारा है जो आज इन गिरिखण्डोंको आप्लावित करती अपना मार्ग स्वयं बनाती भारतकी भाग्यरेखा बनी बह रही है।

ततो यथोक्तं गमिता हिमाद्रि-
मानन्दयन्ती पुनरात्मकृत्यैः ।
पुनश्च लोकं परितर्पयन्ती
सर्पत्यहो भारतभाग्यरेखा ॥

भगीरथका प्रयत्न सफल हुआ, संकल्प पूरा हुआ, किंतु, जिन कारणोंसे भगीरथने इतनी कठिन तपस्या की थी उनकी पूर्तिकी सारी जिम्मेदारी अब भागीरथीपर आ गयी। जिस तरह आविष्कार-कर्ताकी आकाङ्क्षाओंको मूर्तरूप उसका आविष्कार देता है, उसी तरह अब भागीरथीको राजा सगरके साठ सहस्र पुत्रोंको

सद्गति देकर भारतकी कल्याणदायिनी बनना था, इसके लिये उन्हें ज्ञानी, ध्यानी, मनीषियोंकी साधनामें सहभागिनी बनना था और इससे भी महत्त्वपूर्ण उन्हें जो कार्य करने थे इस देशकी धार्मिक एकताके, सांस्कृतिक सामञ्जस्यके और आर्थिक उत्कर्षके। इन उद्देश्योंसे उन्हें विभिन्न सरिताओंको अपनेमें समाहितकर धार्मिक संगमद्वारा अपने तटपर तीर्थस्थलों और विभिन्न देव-मन्दिरोंका निर्माण कर सर्वसाधारणमें सांस्कृतिक तथा अपने पानीसे भूमिको प्लावित कर उसे उर्वरा बना भारतके आर्थिक उत्कर्षकी यह महान् मंजिल तय करनी थी। फिर इन अनन्त भावनाओंसे भरे अनन्त कार्योंको सम्पन्न करते हुए अपने इष्टदेवके विरहकी व्यथाको हृदयमें दबाये वियोगिनी गङ्गाको पुनः प्राप्त करना था। अपने उन प्रभु-पदोंको, जिनसे विलग हो लोक-कल्याणके कारण विष्णुपदीको यहाँ आना पड़ा और जो पद उसे सागरमें समानेसे ही प्राप्त हो सकते थे, जिस सागरमें भगवान् शेषशायी विष्णु निवास करते हैं। प्रीतम-प्राप्तिकी इस दौड़में विष्णुपदी यमुनासे पीछे थीं, अतः सर्वप्रथम प्रभुपद-स्पर्शकी भावनासे विकल भाव और व्यथित हृदयसे भागीरथी बह रही थीं। इसीलिये उनके संकल्पमें वज्रकी दृढ़ता थी, गतिमें आँधी थी, वेगमें तूफान था, स्वभावमें रोष था और भावमें विकलता थी।

गङ्गाके विषयमें यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। कुछ इंजीनियरोंके मतानुसार गङ्गा एक स्वाभाविक नदी न होकर एक नहर (कैनाल) है। यह बात हमें धरासूसे दो मील नीचे नगुनगढ़, इसके पश्चात् भलड्याना और सयासूके बीच और तदुपरान्त टेहरीके राजमहलके नीचे गङ्गाका प्रवाह जो अभी भी ठीक नहरके सदृश जान पड़ता है, देखनेसे मालूम होती है, फिर नदियाँ अपने-अपने उद्गमस्थानसे प्रायः किसी एक दिशामें बहती हैं। गङ्गा, गंगोत्तरी हिमानीसे तेईस मील उतरकर एकदम उत्तरकी ओर बहती हैं, फिर गंगोत्तरीसे भैरोंघाटीतक लगभग सात मील उत्तर-पश्चिममें। इसके पश्चात् लगभग नौ मील हरसिलतक पश्चिममें जाती हैं और फिर हरसिलसे आगे एकदम दक्षिणाभिमुख हो जाती हैं। गङ्गा कहीं जानेवाली थीं और क्या कहीं उनके भक्त भगीरथ उन्हें ले गये। आज इस सम्बन्धमें कुछ कहा जाना सम्भव नहीं है। परंतु, इतना निश्चित है कि भगीरथ सूर्यवंशी राजा थे। सूर्यवंशका उत्थान आधुनिक दुआबमें हुआ, अर्थात् गङ्गा-यमुनाके बीचकी भूमि, जो दुआब आज भारतवर्षके सबसे उपजाऊ क्षेत्रोंमें है। यदि गङ्गा हरसिलसे दक्षिणाभिमुख हो दुआबके क्षेत्रसे न बहतीं तो दुआब वैसा ही मरुस्थल हो जाता जैसा आज राजस्थान है। फिर भारतीय संस्कृतिके उत्थानके सबसे प्रधान केन्द्र उत्तर प्रदेशको भी वह स्थान न मिलता जो उसे आज प्राप्त है। अतः जहाँके भगीरथ थे, उस भूमिको आर्थिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे सम्पन्न, हरा-भरा और उपजाऊ बनानेका उनका अभीष्ट स्वाभाविक ही था। भागीरथीके अवतरणकी जो कथा है उसमें भी उल्लेख आया है कि रथारूढ़ भगीरथ आगे-आगे चलते थे और पीछे उनके निर्देशनमें भागीरथी पर्वतोंको काटती, शिलाओंको चूर-चूर करती हुई और द्रुत गतिसे बढ़ती जाती थीं।

भागीरथीकी महात्ताकी हमें यहाँ एक बात और याद आयी। गङ्गाके नीरमें एक बड़ी विशेषता और है। यही सैकड़ों वर्षपर्यन्त पात्रमें रक्खा रहनेपर भी उसका निर्मल बना रहना। उल्लेखनीय है कि गोविन्ददासके यहाँ लगभग सौ वर्षसे भी अधिक समयका गङ्गाजल अभी भी अपने शुद्ध रूपमें सुरक्षित है। जब कि दूसरी सरिताओं, तालाबों अथवा कुओंका पानी दूषित हो जाता है। यहाँतक कि कीड़े पड़ जाते हैं। भागीरथीके नीरकी इस निर्मलताका कारण बहुत दूरतक उसके प्रादुर्भावकी पवित्र कथाओंको लेकर लोग उसका दैवी गुणसम्पन्न होना मानते हैं। विष्णुचरणसे निस्सरण होनेके कारण विष्णुपदीमें वह भगवत्-पवित्रता आ गयी है जो मलिन-से-मलिन वस्तुओंको शुद्ध कर दे और अधम-से-अधम पातकी प्राणियोंको भी तार दे। लोगोंका ऐसा ख्याल है। और अपने इसी विश्वासके कारण लोग गङ्गाके प्रवाहमें डुबकी लेकर अपने पाप धोते हैं। तथा मृत आत्मीयोंकी अस्थियोंको गङ्गामें विसर्जित कर यह मानते हैं कि देह-त्यागी जीवकी इससे सद्गति होकर उसे स्वर्ग प्राप्त होगा। भागवतमें भी उल्लेख है कि मृत व्यक्तिकी हड्डियाँ जबतक गङ्गामें रहती हैं, तबतक उस जीवका स्वर्गमें वास रहता है। इन कथाओंका कुछ भी अर्थ हो, किंतु इन्हीं कथाओंसे प्रेरित हो हर आस्तिक भारतीय, यहाँतक कि निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति भी अपने किसी आत्मीयके निधनपर साधन जुटा उसकी अस्थियाँ गङ्गामें विसर्जित करने जाता है और यहाँपर उल्लेखनीय है कि प्रयाग पहुँचकर वह स्वयं तो स्नान भले ही गङ्गा और यमुनाके संगममें कर ले किंतु, अपने पुरखोंके फूल (अस्थियाँ) का इस संगममें छोड़नेकी भूल कभी नहीं करता। ये अस्थियाँ तो भागीरथीके ही प्रवाहमें विसर्जित की जाती हैं। इस दृष्टि

गङ्गाको हमारे देशमें जो धार्मिक महत्त्व प्राप्त है, वह एक श्रद्धाकी वस्तु है, तर्ककी नहीं। फिर भी, कुछ वैज्ञानिकोंका गङ्गाके नीरकी इस पवित्रताके सम्बन्धमें यह मत है कि वह हिमालयकी वनौषधियोंको अपने साथ बहाकर लाती हैं और इन अमोघ ओषधियोंका उसमें मिश्रण ही उसके नीरकी इस स्थायी शुद्धताका कारण है। किंतु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि गङ्गा ही क्या यमुना, अलकनन्दा और मन्दाकिनी तथा अन्यान्य अनेक सरिताएँ भी तो हिमालयके इसी क्षेत्रसे प्रवाहित हैं और इस नाते इनके प्रवाहमें भी वनौषधियोंका वैसा ही समान मिश्रण होता है जैसा गङ्गामें; फिर जलकी यह स्थायी पवित्रता यदि वनौषधियोंका मिश्रण होना ही है तो वह इन सरिताओंको क्यों प्राप्त नहीं है। अतः वैज्ञानिकोंका गङ्गाके विषयमें यह मत युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। सच तो यह है कि संसारके बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक भी अबतक यह पता नहीं लगा पाये कि गङ्गाके नीरकी इस स्थायी पवित्रताका रहस्य क्या है?

भागीरथीकी इस अनन्त महिमा और अगणित कथाओंसे भरे हमारे मन आज भक्तिपूरित थे। निःसंदेह धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टिसे भारतमें भागीरथीका जो स्थान है, संसारके किसी भी देशमें किसी भी नदीका नहीं।

हमलोगोंकी समाधि खुली और गौरीकुण्डकी गङ्गाको प्रणामकर श्रीव्यासदेवजीके योग-निकेतन पहुँचे। श्रीव्यासदेवजी जिनसे हमारा परिचय गंगनानीमें हो गया था, यहाँ मौजूद थे, श्रीप्रेमवर्णीजी भी इस समय उपस्थित थे। कुछ अन्य श्रद्धालु भक्तजन भी थे। श्रीव्यासदेवजीने हमें आसन दिया और चल रहे सत्संगसे हमलोग लाभ उठाने लगे। रत्नकुमारीने भी व्यासदेवजीसे पुनर्जन्मकी पुष्टिमें क्या प्रमाण हैं, बतानेका निवेदन किया। श्रीव्यासदेवजीने कुछ तथ्य इस सम्बन्धमें रक्खे किंतु, समयके बन्धनके कारण विस्तारसे इस विषयपर हम उनसे चर्चा न कर सके और दोनों महानुभावोंसे विदा हो अपने मुकामपर लौट आये।

हमलोग योग-निकेतनसे वापिस लौटकर सीधे अपने मुकामपर आये, समय हो गया था अतः यहाँ स्थित अन्य साधु-महात्माओंके दर्शन हम न कर पाये। मुकामपर भोजनादि किये और भागीरथीके उस तीरपर जहाँ कल हमने स्नान-पूजन किया था, विदा लेने पहुँचे। भागीरथीको कुछ भोग भेंट किया और सर्वसिद्धिदायिनी विष्णुपदी भागीरथी गङ्गेकी निम्न श्लोकसे वन्दना कर १० जूनके अपराह्णमें विदा हुए—

ॐ नमामि गङ्गे तव पादपङ्कजं
सुरासुरैर्वन्दितदिव्यरूपम्।
भुक्तिं च मुक्तिं च ददासि नित्यं
भावानुसारेण सदा नराणाम्॥

* * *

भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका चमत्कार है

भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे आश्चर्य-लीला की है, तभी तो मेरा मन भगवान्‌का हो गया है, मेरी बुद्धि भगवान्‌की हो गयी है। इन मन-बुद्धिके द्वारा अब जो कुछ भी विचार, संकल्प, निश्चय आदि होते हैं, सब भगवान्‌के ही होते हैं। इनकी प्रत्येक चेष्टा तथा क्रिया भगवान्‌की ही चेष्टा और क्रिया है। ये मन-बुद्धि भगवान्‌के यन्त्र हैं, यह जीवन भगवान्‌का यन्त्र है। भगवान् ही यन्त्री हैं। भगवान्‌के ही भगवत्स्वरूप मन-बुद्धि इन मन-बुद्धिके द्वारा अपना कार्य कर रहे हैं। मेरा न कोई संकल्प है, न विचार है, न निश्चय है और न मैं ही हूँ। उनके समर्पित ये सब कुछ उनके हो गये हैं। भगवान् सदा सर्वदा अपने कार्यके लिये इन सबका उपयोग करते हैं। यद्यपि ये सभी अत्यन्त तुच्छ तथा नगण्य हैं, परंतु भगवान्‌के द्वारा स्वीकार किये जानेपर, अपने बना लिये जानेपर ये धन्य हो गये हैं, सफल-जीवन हो गये हैं, इनका गौरव हो गया है। तुच्छ धूलकण भी जैसे भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श पाकर लोक-पावन हो जाता है, वैसे ही ये भी पावन हो गये हैं। यह सब उनकी अहैतुकी कृपाका ही चमत्कार है।

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ८८६ से आगे]

बहुरूपिये

जबसे दर्दशामक एस्पिरिनकी गोलियाँ बनीं और लोगोंके टांसिल कटने लगे और कुछ लोगोंको (उसके परिणामस्वरूप) पोलियो होने लगा था उनके खूनके असरसे जन्मे बच्चोंको पोलियो होने लगा और ज्यों-ज्यों डिब्बोंमें पैकबंद रासायनिक रंगीन मिठाइयोंका प्रचार बढ़ा और पोलियोका टीका लगने लगा, तभीसे पोलियो रोगने अपना सिर अधिकाधिक ऊँचा उठाया। यह देखकर ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशनके डॉक्टरोंने परस्परके अनुभवसे एस्पिरिन और पोलियोके विषयमें अन्योन्याश्रित सम्बन्धके खोजकी बार-बार चर्चा की है। लोग जरा-सी भी पीड़ा होनेपर एस्पिरिन लेते हैं और रोग दबते हुए गम्भीर रूप धारण करता है। एस्पिरिनकी खपत बढ़ती जाती है, फिर आश्चर्य करते हैं कि पोलियो रोग क्या चीज़ है ? क्यों हो गया और इससे मुक्ति किस दवासे मिले ! पेनिसिलिनका चमत्कार भी इतना विश्वव्यापी है कि अमेरिकामें उसकी वार्षिक खपत चार सौ टनके लगभग है। अनेक प्रकारकी दवाइयाँ खाते-पीते इंजेक्शन लेते लोगोंमें अब विचित्र लक्षण पैदा होने लगे हैं। वैज्ञानिकोंके भयावह प्रचारसे, दवानिर्माताओंके प्रचारसे और सरकारी आदेशसे दुनियामें दवाओंकी जबरदस्त बाढ़-सी आ गयी है और भोली अन्धविश्वासी जनता, अज्ञ वैज्ञानिक और सरकारें—सब उसी बाढ़में बहे-डूबे जा रहे हैं दुःखके भवसागरसे पार उतरनेके लिये। चिट्ठियोंपर, संस्थाओंमें, सरकारी दफ्तरोंमें, स्टेशनोंपर, यत्र-तत्र सर्वत्र अनेक प्रकारके पोस्टर और छोटे-बड़े उपदेश मिलेंगे। क्षयनिरोधके लिये बी० सी० जी० टीका लगाओ, मलेरियासे इस प्रकार बचो, हैजेका टीका लो, पोलियो-शोधमें चंदा दो, अभियानमें मदद दो। यह सब देखकर २९ सितम्बर १९५६के ब्रिटिश मेडिकल जर्नलमें एक डॉक्टरने लिखा था—इन नये-नये नामोंसे प्रकट होनेवाली दवाओंकी बाढ़को रोकनेके लिये क्या कुछ नहीं किया जा सकता ? कुछ दशकों पहले रोगियोंके लिये डॉक्टर नुस्खे लिखते और उनको कम्पाउण्डर बनाया करता था, अब तो पेटेंट दवाइयाँ बन गयी हैं। डॉक्टर अब दवानिर्माताओंके गुलाम बन गये हैं। 'Can nothing b done to stem the spate of more and mo drugs with similar sounding names bu widely different?' रोगनिरोधक टीके या इला वास्तवमें रोग रुकता नहीं, उसका आघात कुछ हल्का मालूम होता है जैसे कि नशा करनेवाला किसी दूसरे हो रहता है। प्रसिद्ध डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट' के सितम्ब २९, १९५६ के अङ्कमें, डिफ्थीरियाका टीका लगे एक सालके लड़केको डिफ्थीरिया हो जानेका समाचार छपा जिसका अनेक प्रकारसे इलाज किया गया और वह न सका। लान्सेटमें छपा था—'टीका लगानेपर डिफ्थीरिया हो साधारण बात है, गम्भीर आक्रमण असाधारण है 'Diphtheria is relatively common in th inoculated, but severe attacks ar uncommon' फिर टीका लगानेमें कौन-सी बुद्धिमानी है! फिर भी प्रचार किया जाता है "Protect your chil against diphtheria by immunication' रोगप्रसारकी वैज्ञानिक व्यूहरचनामें पशु-पक्षी भी बुरे शिका बन जाते हैं। पश्चिममें लोग गाय, भैंस, मुर्गियाँ, सूअर पालते हैं और एंटिबायोटिक दवाइयाँ, हारमोन तथा अन्य रसाय उन्हें भोजनमें खिलाते हैं, जिससे वे अधिक दूध दें, अधि अंडे दें, मोटे हों और मांसका अधिक मूल्य मिले। कि पशुको कोई हल्का रोग हुआ तो सब पशुओंको बूचड़खाने भेजकर अथवा इंजेक्शन देकर जबरदस्ती मार डाला जाता है गड्ढोंमें फेंककर मिट्टी डाल दी जाती है। इसका समाचार अक्टूबर ६, १९५६ के 'न्यू स्टेट्समैन' में छपा था। नौ निरपराध गायें, उनके सद्योत्पन्न एक घण्टेके बछड़े भी मार डाले गये, गड्ढोंमें सड़ने डाल दिये गये, उनपर चूना-मिट्टी डाल दिया गया। उधरसे लोगोंका आना-जाना रोक दिया गया मोटरोंका यातायात भी बंद कर दिया, विशेष दूरीके क्षे तक लोगोंका चलना-फिरना, वहाँ फूल-फल चुनना भी बंद कर दिया गया, जिससे कि हाथ-पाँवसे, मोटरके पहियोंसे कीटाणु फैल न सकें।

विशेषज्ञ (?)

कुछ वर्षों पहले जब रोगी किसी डॉक्टरके पास जाता, तब डॉक्टर उसकी पूरी परीक्षा करते और दवाइयोंके मिक्सचरका नुस्खा लिखते थे जो वहीं ताजी बनायी जाती थी; किंतु शरीरके अलग-अलग अङ्गोंके लिये विशेषज्ञ जबसे पैदा हुए, तबसे रोगियोंकी मनोवृत्तिपर विशेषताका आकर्षण हुआ और अब पूरी परीक्षा करानेके लिये अनेक विशेषज्ञों (?) के पास जाना पड़ता है। एक डॉक्टर एक अङ्गकी परीक्षा और इलाज बताकर, दूसरे अङ्गकी जाँच और इलाजके लिये अन्य कई डॉक्टरोंके पास भेजता है। एक मुर्देको जैसे कई गिद्ध, चील, कौवे, कुत्ते, गीदड़ नोचते हैं, वैसा ही हाल इन रोगियोंका होता है। उन्हें सबकी अलग-अंलग फीस और इलाज या निदानका मूल्य चुकाना पड़ता है, मानो एक डॉक्टर दूसरे अङ्गके विषयमें कुछ न जानता हो, अथवा उन्होंने मानव-शरीरके अङ्गोंको आपसमें समझौतेसे बाँट लिया है। डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट' १३ अक्टूबर, १९५६के अङ्कमें 'दि ग्रेटर मेडिकल प्रोफेशन' शीर्षक इस विषयका एक लेख छपा था। एक खिचड़ी बनानेके लिये कई बावर्ची! सबका मसाला पड़नेसे खिचड़ी बनती है? नतीजा यह होता है कि कल जो निदान किया गया था, आज इलाज बदल दिया जाता है। इस सम्बन्धमें, मेडिकल साइंसके बदलते हुए रूप और सिद्धान्त तथा डॉक्टरों, विशेषज्ञोंके मतों अनुभवोंमें भिन्नताका विचार करते हुए 'बुलेटिन ऑफ द नेशनल असोसिएशन फार प्रिवेन्शन ऑफ ट्युबरकुलोसिस'' 'क्षयरोगनिरोधक राष्ट्रीय संस्था' के मासिक पत्र, अक्टूबर १९५६ (इंग्लैंड) में छपा था—'शुद्ध चिकित्सापद्धति कोरी कल्पना है, सिद्धान्त या व्यवहारमें कभी आदर्श नहीं बन सकती, बनानेका प्रयत्न भी न करना चाहिये; यदि कोई ऐसे साहित्यकी रचना करे भी तो इससे उसका मानसिक दोष प्रकट होगा।' 'The idea of pure medical science is chimera. Medicine can never be an abstract science, and it should not attempt to become so. Medical literature of this sort may be in reality the symptom of an intellectual malaise."

ढूँढ़ते हैं

किसी भी रोगीका निदान और इलाज करनेमें डॉक्टरोंकी चतुरता और यन्त्रोंका भरोसा कितना किया जाय। डॉक्टरी अखबारोंमें मरनेवाले डॉक्टरोंके नाम छपा करते हैं, वे कुछ पचास वर्षके आस-पास ही उम्रवाले होते हैं और कोई तो तीस-पैंतीसमें ही दुनियाँसे उठ जाते हैं। वे स्वयं अपना इलाज या निदान नहीं जान पाते, नहीं कर पाते, फिर दूसरोंके निदान या इलाजके विषयमें उनकी विज्ञताका क्या भरोसा किया जाय! २७ अक्टूबर १९५६ के ब्रिटिश मेडिकल जर्नलको उठाकर देखिये और मरनेवाले डॉक्टरोंकी उम्र पूछिये। ठीक निदानके विषयमें शंकाओंका उत्तर भी उसी अंकमें 'गाई हास्पिटल' के बड़े चिकित्सककी कलमसे इस प्रकार छपा मिल जायगा—

'How often are we wrong? One searches in vain for precise information pointing to the error-proneness of physicians, surgeons and general practitioners. Some indication of consultant fallibility is offered by Scandinavian analysis based on a thousand consecutive necropsies. This reveals 67 completely faulty diagnoses and a higher number of incomplete assessments of the morbid process during life."

अर्थात् जीवित रोगियोंमें ६७ प्रतिशतसे अधिक लोगोंका निदान गलत और अधूरा होता है और मर जानेपर मुर्दोंकी चीर-फाड़ करनेपर ही सही निदान पाया जाता है, तब अन्धविज्ञानी बुद्धि और यन्त्रोंके चमत्कारका भण्डाफोड़ हो जाता है, इस वक्तव्यकी पुष्टि आगे चलकर 'मेरीलिबोन मर्करी' ९ नवंबर १९५६ में प्रकाशित समाचारसे होती है—'एक व्यक्ति बीमार रहता था, डाक्टरी इलाज करता था, अस्पतालमें एक्स-रे लिया गया, उसकी पूरी जाँच हुई थी, डाक्टरोंको उसके रोगका कोई पता न चला, उसका ऑपरेशन भी हुआ था, फिर भी उसका न तो कुछ निदान हो सका, न इलाज। डाक्टर कहते, सब ठीक हाल है। परंतु अपना दर्द तो वही जानता था, लाचार होकर उसने आत्महत्या कर ली। लाशकी चीर-फाड़से परीक्षा हुई, उसका दिमाग ठीक पाया गया, किंतु उसकी छातीमें कैंसर था, जिसका जीते-जी न तो निदान हो सका, न इलाज हो सकता था। वह सब इलाज कराकर, चीर-फाड़ कराकर डॉक्टरोंद्वारा कुछ रोग नहीं है, प्रमाणित होनेपर जान-बूझकर मरा। मुर्देमें कैंसर पाया गया। वह

कब हो गया ? मरनेके बाद ? डॉक्टरी प्रमाण, निदान और इलाजका यह परिणाम !

१८ नवंबर १९५६ के लन्दन 'सण्डे पिक्टोरियल' में 'छुरीसे सुखी' (Knife Happy) शीर्षक एक रहस्यपूर्ण लेख छपा था, जिसमें संसारके प्रसिद्ध सर्जनने पेरिसमें लेखकसे मुलाकात होनेपर स्वीकार किया था । जीवनभर ऑपरेशन करनेमें उसके हाथसे कितने अनावश्यक अङ्गोंको चीर-फाड़-काटकर फेंका गया, सबका अनुभव अपनी पुस्तकमें लिख रहा है जो कुछ समय बाद प्रकाशित होगी । लन्दनसे प्रकाशित 'एम्पायर न्यूज' के २५ नवंबर १९५६ के अंकमें छपा था—'पार्लियामेंटके एक मेम्बरने वक्तव्य प्रकाशित किया है—'जुकाम-सर्दी हो जाय तो सरकारी रुपया मत छींको ।' 'तात्पर्य यह था कि दस सालसे सर्दी जुकामकी दवा खोजनेके लिये सेलिस्बरी हारवर्ड हास्पिटलमें २६ लाख रुपये खर्च हो चुके हैं, यदि उस खोजसे कोई लाभकारी परिणाम न निकला तो वह अस्पताल बंद कर दिया जायगा । अगले वर्ष सरकारी स्वास्थ्यका बजट सम्भवतः ८५ करोड़ रुपयोंका होगा, इनका उपयोग बहुतकर खाँसी-सर्दी—छातीके रोगोंमें विशेष मात्रामें होगा । इसके बाद एक डॉक्टरने ८ दिसंबर १९५६ के डाक्टरी अखबार 'लान्सेट' में लिखा था 'कफ निकलना, खाँसी होना मनुष्योंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है । इंग्लैंडके लोग सुबह उठकर अपनी छाती साफ करने, कफ निकालते समय बड़ी जोरसे खाँसते-खखारते आवाजें करते हैं, मेरे कई रोगी तो रोज आधसे एक घंटेतक समय लगाते हैं, और एक डॉक्टरने तो अपने रोगियोंको दो घंटेतक खाँसते, खखारते, कफ निकालते देखा था । इन सब दवाइयों, डाक्टरों, चिकित्सा-विज्ञान और स्वास्थ्य-मन्त्रालयद्वारा करोड़ों रुपयोंका बजट माँगने और खर्च करनेका क्या मूल्य ? जो सब रुपया जनतासे वसूल होता है, जनताको उसके बदलेमें क्या मिलता है ? भारतमें भी वही हाल है, क्योंकि रोग-निरोध और इलाजमें भारत आज पश्चिमका ही चेला है । अतएव इस सम्बन्धमें प्रत्येक नागरिक और स्वास्थ्य-अधिकारीको विचारकर निश्चय करना चाहिये कि यह अन्धचक्र कबतक चलता रहेगा और इसका परिणाम आजको देखकर आगे क्या होगा ?

राजबूटी

तमाखू वनस्पति है परंतु भोजन नहीं है, मिठाई नहीं है, दवा नहीं है, तथापि लोग सैकड़ों वर्षोंसे तमाखू खाते हैं, पीते हैं—कड़वी लगती है, थूक देते हैं, पुनः चबाते हैं; पीते हैं धुआँ बनाकर, कड़वा लगता है, फूँक देते हैं, पुनः पीते हैं । तमाखू सूँघते हैं, सहन नहीं होती, छींक देते हैं, पुनः सूँघते हैं । मानव कैसा विचित्र प्राणी है । इसीलिये बड़ा व्यवसाय है करोड़ों, अरबों रुपयोंका ! मजदूर, व्यवसायी, वाहक और सरकार सबके पेट और पेटी भरती है यह तमाखू, केवल एक व्यर्थ व्यसन !

अब वैज्ञानिक कहते हैं, तमाखूसे छाती-पेटमें रोग होते हैं, परंतु डॉक्टर और वैज्ञानिक—प्रायः सभी पीते हैं, ऊँचे दर्जेकी सिगरेट ! इस तमाखूसे होनेवाली घातक हानिको जानकर भले ईमानदार डॉक्टरोंने इसके विरुद्ध प्रचार किया है । 'ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन' के वार्षिक सम्मेलनमें तमाखू पीनेपर रोक लगा दी गयी थी, इस प्रतिबन्धसे अच्छा प्रचार हुआ, दूसरे व्यावसायिक सामाजिक सम्मेलनोंमें भी इसका अनुसरण किया गया । डॉक्टर लोग अब तमाखूको बड़ी शंकासे देखने और गम्भीरतासे विचार करने लगे हैं ।

सभी वस्तुओंके समान तमाखूके विकासका भी इतिहास है । सोलहवीं सदीमें तमाखूको 'सर्वरोग-हर' बूटी माना जाता था । जैसा कि आजकल लोग एंटिबायोटिक दवाइयोंको मानते हैं, इसे राजबूटी माना जाता था । हरएक साधारण अथवा जटिल रोगोंमें इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग किया जाता था, इसे पारस पत्थर माना जाता था, सब रोगोंकी एक बूटी ! कैंसर, क्षय, उपदंश, प्लेगमें इससे इलाज किया जाता था । इसे वनस्पति मानकर इसकी खुराकें दी जाती थीं । इसका आधा पाव रस पीनेसे शरीरकी पूरी भीतरी सफाई और आँखोंमें डालनेसे आँखोंकी सफाई होती है—यह साधारण नुस्खा सबको कई देशोंमें कई सौ वर्षतक प्रचलित रहा । इसका लोगोंकी देहके भीतर-बाहर क्या असर होता था, भुक्तभोगी जानें । लोग इसके रससे गरारे करते, मलहम बनाते, पट्टी बाँधते, रेचकरूपमें लेते, वमन करने या कफ-शुद्धिके लिये प्रयोग करते, आँतोंको साफ करनेके लिये श्वास-फुँकनी नलीसे उसे आँतोंमें पहुँचाया जाता था, हिस्टीरिया और स्नायुरोगोंमें ऐसे अनेक प्रयोग शाही उपचारक भी करते-बताते थे । इन सब साधनोंका परिणाम देखकर तमाखू बदनाम और बहिष्कृत हो गयी । उस जमानेकी ये बातें सुनकर तो जी मिचलाने लगता है, अब दवाके रूपमें इसका उपयोग निषिद्ध है, परंतु आदत

गुलाम अपनी मर्जीसे अपने लिये कुछ भी करें । व्यसन और व्यवसायके रूपमें तमाखू महत्त्वपूर्ण है और सभ्यताके शामक और मतवाले साधनके रूपमें यह आवश्यक रिवाज बनकर अमीर-गरीब सभी इसको बार-बार चूमते-चूसते हैं । आजकल कुछ डॉक्टर पेशाबद्वारा भी इलाज करने लगे हैं। स्वयं रोगीके ताजे पेशाबका इंजेक्शन उसे देते हैं, पिलाते हैं और तीन-चार दिन, आठ दिन पुराने अतिदुर्गन्धित पेशाबकी मालिश शरीरपर कराते हैं । कीटाणुवादके सिद्धान्तसे हरएक रोगके इलाजमें या रोग रोकनेके लिये उस रोगीके रक्त, मवाद, बलगम या मलसे कीटाणुओंकी खेती अन्य प्राणियों——चूहे, बंदर, भेंड़, गाय, बैल, घोड़ा, सूअर आदिमें करके पुनः उनके रक्त, रस, मवाद खींचकर रोगी या स्वस्थ मनुष्यको लगाये जाते हैं । जैसा तमाखूके प्रति आज विचार बदल रहा है, क्या इन घृणित विषाक्त वस्तुओंके प्रति कभी इनकी आँखें खुलेंगी ? दीर्घकालतक इन सबका अनुभव लेकर बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने इस पद्धतिको व्यर्थ एवं घातक हानिकर सिद्ध कर दिया है, फलस्वरूप प्रत्यक्ष दिख रहा है कि जितना ही रोगनिरोधका अभियान और इलाज किया जाता है, रोग अधिक फैलता जा रहा है, नये रोग पैदा हो रहे हैं और डॉक्टरी खोजका व्यवसाय बढ़ रहा है। नयी-नयी पेटेंट दवाइयोंके नये-नये छोटे-बड़े कारखाने खुल रहे हैं, रंग-बिरंगी टेबलेटोंको भड़कीले लेबल लगी शीशियों तथा पैकेटोंमें भरकर विज्ञापनोंद्वारा उनका प्रचार किया जाता है और स्वास्थ्यरक्षाके नामपर एक भयानक लूट मची हुई है । यह है घातक वैज्ञानिक स्वार्थवाद !

मनुष्य अमर है

१९ फरवरी १९६० को लॉस एंजलीस अमेरिकाका रायटरका भेजा हुआ समाचार 'नार्दर्न इण्डिया पत्रिका'के २० फरवरीके अङ्कमें छपा है कि रसायन विषयपर शोध करनेवाले नोबेल पुरस्कारविजेता डॉ० लुई पॉलिंगने दक्षिण केलिफोर्निया विश्वविद्यालयमें एक भाषणमें बताया कि मनुष्य अमर है, क्योंकि उसके तन्तुकोष अपनी मरम्मत स्वयं कर लेते हैं; पर मनुष्य अनेक व्यसनोंकी आदतमें पड़कर स्वयं अपने शरीरपर लगातार आघात करता रहता है जैसे तमाखू पीनेकी आदत । एक पैकेट सिगरेट नित्य पीनेसे पञ्चमांश आयु घट जाती है। इसके बदले अल्कोहोलकी एक खूराक नित्य पी जाय तो आयु बढ़ सकती है ।

MAN IS QUITE IMMORTAL

Los Angeles. Calif. Feb. 19. 1960

Dr. Louis Pauling, Nobel Prize Winner for Chemistry, said yesterday: Theoretically man is quite immortal, his bodily tissues replace themselves. He is a self-repairing machine and yet he gets old and he dies, and reasons for this are still a mystery.

Pauling was giving a lecture at the University of Southern California. He said that one of the reasons for man's ageing was that he was constantly inflicting brutal insults which it was not supposed to receive. The result of these constant recurrent insults is ageing and death. An example of these insults he cited smoking of cigarettes. He estimated that one packet of cigarettes per day shortened life by one-fifth. But he added, the length of life could be increased by the moderate consumption of alcoholic drinks, one or two cocktails per day.

मस्ताने-मतवाले बनो

लाखों रुपये अपने शोधके लिये पुरस्कारमें पाये हुए इस वैज्ञानिककी बुद्धिका तमाशा तो देखिये कि तमाखूको निकालकर ये दुनियाके गलेमें अल्कोहोल मतवाला-मस्ताना बनानेवाली शराब उँड़ेलना चाहते हैं । यह हुआ व्यवसाय बढ़ानेका विज्ञापन ! प्रकट होता है आपको तमाखू कड़वी लगती है और यह शराब आपके मुँह लगी है । मेडिकल डिक्शनरीमें अल्कोहोलके विषयमें लिखा है—अल्पमात्रामें अल्कोहोल नुकसान नहीं करती, वरं शायद मजा देती है । ...lubricant of civilization. In moderate doses alcohol is harmless, and from the lessening of mental tension it induces, perhaps, even helpful. When alcohol becomes a necessity and life becomes intolerable without it, the condition becomes one of alcoholism which is a disease...any treatment based on drugs is bound to fail. (Alcoholism—severe digestive and nervous disturbances.

इसमें शायद (perhaps) शब्दकी शङ्कित शर्त भी दे दी है और जब आदतसे इसके बिना न रहा जाय, पाचन और स्नायु विकृत हो जाय तो उसका इलाज दवासे तो होनेका ही नहीं । लीजिये, डूब जाइये इसीमें । पाचन-प्रणालीकी श्लैष्मिक झिल्लीपर (mucuss membrane) अल्कोहोलका क्या प्रभाव होता है, यह अनुभव करनेकी चीज है ।

अंग्रेजीमें एक कहावत है कि चालीसकी उम्र होतेतक मनुष्य अपना वैद्य बन जाता है, अथवा बेवकूफ ही बना रहता है । परंतु लुई पॉलिङ्ग चालीससे छोटे हों या बड़े, इस कहावतकी सीमा कूद गये हैं, क्योंकि कुछ बुद्धि और निर्बुद्धिकी मिश्रित बात होशमें बेहोश होकर करते हैं । सूर्यकी धूप तापनेवाले हरएक संसारी व्यक्तिमें बुद्धि और मूर्खताका वैज्ञानिक अनुपातमें मिश्रण रहता ही है । मनुष्य तमाखू-जैसे व्यसनोंसे बीमार-बूढ़ा होता और उम्र घटनेसे मर जाता है, यहाँतक तो होशकी बातें हैं, परंतु बीमारीकी रोकथाम और इलाजमें जहरके प्रयोग चीर-फाड़ और भोजन-पानीमें रासायनिक पदार्थोंके मिश्रणका जिक्र बिल्कुल न करके वे अल्कोहोल पीनेकी सिफारिश करते हैं । जबकि उनके बहुत-से भूतपूर्व काका-बाबा, उदाहरणके लिये डॉ॰ डब्ल्यु, एच, ह्वाइट एम. आर. सी.-एस, एल. आर. सी. पी ने लिखा है—

'रोगोंपर हम अपने स्वार्थसे अधिकारपूर्वक व्यवसाय करते हैं, रोग डॉक्टर लोग ही पैदा करते हैं । रोगके सिद्धान्त और चिकित्साविषयक हमारे सब साधन गलत हैं ।' यह नोवेल पुरस्कार-विजेता क्या अल्कोहोलकी अतिक्रियाको शरीरपर आघात नहीं मानता, अथवा तमाखूसे कम मानता है ? वह इन जहरीली दवाओं, मिश्रणों तथा मादक व्यसनोंको बिल्कुल त्याग देनेकी बात क्यों नहीं करता ! ऐसे व्यसनी बेहोश वैज्ञानिककी बातें मानकर दुनियाँवालोंकी क्या दशा होगी !

भोजनसे बुढ़ापा

दीर्घायुके विषयमें कार्नेल यूनिवर्सिटी अमेरिकामें कई वर्षों पहले प्रयोगोंसे सिद्ध होनेपर प्रसिद्ध किया जा चुका है कि उपवास तथा अल्पाहारसे आयुवर्धनकी गति मन्द हो जाती है जिससे स्वास्थ्य स्थायी होते हुए दीर्घायु प्राप्त होती है । अर्थात् अधिक खानेसे मनुष्य जल्दी बूढ़ा होता और मरता है । ११ अक्टूबर १९५५के न्यूयार्क टाइम्समें, एकाडेमी ऑफ मेडिसिन, अमेरिकाके वैज्ञानिकोंका वक्तव्य छपा था कि कम या अधिक भोजनपर दीर्घायु अथवा अकाल-मरण होता है । साथ-ही-साथ गरिष्ठ, चर्बी-शक्कर आदि मिश्रित सुस्वादु बनावटी भोजनसे भी रक्तवाहिनी स्नायुओंमें कठोरता आ जानेसे बुढ़ापा शीघ्र आता है और अकालमृत्यु हो जाती है । शरीरको बनावटी, उत्तेजक या मादक अस्वाभाविक, अनावश्यक भोजन और पेय देना ही तो शरीरपर अत्याचार और आघात है, जिससे वह क्षीण होता है । इन्हीं वस्तुओं तथा दवाओंके कारण ग्रेट ब्रिटेनमें साठसे अधिक उम्रवाले नब्बे प्रतिशत लोग संधिवातसे दुःखी रहते हैं, तीस लाख व्यक्ति वातपीड़ाके शिकार रहते हैं, बीस लाख लोगोंको सरदर्द रहता है और कई लाख लोगोंका दमासे दम उखड़ता रहता है, परंतु गलत भोजन और दवाओंको बुरा बताकर बंद करने, बहिष्कार करनेकी बात कोई नहीं करता, उल्टे लोग दवाका और रासायनिक विषमिश्रित खेती-बागवानीका व्यवसाय धड़ाधड़ बढ़ा रहे हैं । कैसी अन्धेरकी सभ्यता और अन्धविज्ञान !

बुढ़ापा रोग है

यह संसार मृत्युलोक है, जन्मे हुए सभीको मरना पड़ता है, अधिक कालतक जीनेका मजा लूटनेकी बात तो दूर, कितने ही तो पैदा होते ही मर जाते हैं । मृत्युलोककी इस अन्धेर व्यवस्थासे वैज्ञानिक लोग अब दूसरे लोकोंमें उड़कर वहाँकी जमीन-मकानकी फिक्र कर रहे हैं, शायद वहाँ दीर्घायु और स्वास्थ्य प्राप्त हो सके । ब्रिटेनके शाही खगोलविज्ञानीने मन्तव्य प्रकट किया है कि अन्य लोकोंमें उड़ जाने-बसनेकी कल्पना अपने सिरपर सींग उगाने-जैसी बात है । डॉ॰ कोरेञ्चेस्कीने कहा कि बूढ़ा होना मनुष्यके हकमें नहीं है, अर्थात् स्वस्थ अमर रहना ही स्वाभाविक हक है, बुढ़ापा (ageng) एक रोग है, मौतको दूर रखनेका अर्थ ही अमरता है । मनुष्य कम-से-कम दो सौ वर्ष तो जी सके ! मनुष्य अनेक तत्त्वोंसे मिश्रित प्रोटीनका बना हुआ है, ये तत्त्व हमेशा परस्परकी प्रतिक्रियासे घटते-बढ़ते विकसित परिवर्तित होते रहते हैं, कमजोर और मुर्दा बने तत्त्व शरीरके सूक्ष्म कोषोंमें रुककर जीवनधाराके संचारमें बाधा उत्पन्न करते हैं जिससे ही रोग, बुढ़ापा और मृत्यु होती है, इसको निरस्त्र करनेके लिये कोई कीमिया ढूँढ़कर, सम्भवतः किसी इंजेक्शनद्वारा नवीन उत्साह मिल सकता है ।

वैज्ञानिक जो बात इस सम्बन्धमें भूल गये हैं और जो

बात उन्हें याद रखनी चाहिये वह यह है कि संसारमें हरेक वस्तु, वनस्पति और प्राणीकी कुछ-न-कुछ आयु, अवधि रहती है। लोहेकी मशीन, और पत्थरकी भी। चाहे वह स्थिर हो या चलायमान! वायुके प्रभावसे पत्थर भी घिसकर दुबले होते हैं, मिट्टी पानीमें दबी पड़ी मुर्दोंकी हड्डियोंके गलनेसे मालूम होता है कि वे कितनी पुरानी किस जमानेकी हैं। साधारणतया अध्ययनसे तथ्य निकला कि शरीरका पूर्ण विकास जितने समयमें हो जाय, उसके सातगुने समयतक प्राणी जीता है परंतु बहुत कुछ ज्ञान-विज्ञान सीखकर मानव अबतक उतने उचित स्वाभाविक समयतक जी सकने योग्य न बन सका। अभीतक सफाईसे रहना न सीख सका और अपनी खुराकको न जान-पहचान, उसका उचित उपयोग करना भी न सीख सका। स्वास्थ्य और दीर्घायुका कीमिया ढूँढ़ना अपने माथेपर सींग उगानेकी व्यर्थ कल्पना और साधना है। नीरोगताका कोई नुस्खा अबतक न मिला। ये बड़े-बड़े वितण्डावादी पुरस्कृत अज्ञ स्वयं रोगी, बूढ़े होकर मरते हैं, नियमोंको नहीं निभा सकते, दवाइयोंके बलपर दुःख-दर्दपर थोड़ी देरके लिये हल्की फूँक मार देते हैं। इन तथ्योंके आधारपर अपनी विवशता देखकर वैज्ञानिक अपना माथा पीट रहे हैं, किसी रोगकी कोई दवा नहीं है, जीवन भाररूप हो रहा है, अब चिन्ता हो रही है कि आगे क्या होगा! बच्चे भी अपने बूढ़ोंकी इस लाचारीको देखकर अधिक जीनेकी इच्छा नहीं रखते, बुढ़ापेका दुःख दूसरोंमें देखकर स्वयं डरने लगे हैं। Many conscientious doctors are gravely worried concerning the ultimate effects of mass medication (of atmosphere, water, crops—vegetable, fruits and grains, live-stock, animal foods, immunization measures etc. with poisonous chemicals and virus cultures etc), and many younger folk seeing the miserable condition of so many of their elders, say that they have no desire to experience old age. Our real problem therefore, not of old age but premature ageing due to the onset of degenerative diseases of various kinds. बुढ़ापेके आगेकी दीर्घायुकी कल्पना क्या करें, यहाँ तो पैदा होते ही हृदय-फेफड़े कमजोर रहते हैं, बचपनमें ही बुढ़ापा आने लगा है, जवानीमें ही अस्थि-कंकाल जो बन जाते हैं, जिन्हें जीना मुश्किल हो रहा है, वे दीर्घायु क्या करेंगे?

दीर्घायु-साधनके लिये स्विजरलैंडमें हुई यूरोपके डॉक्टरोंकी बैठकमें डॉ॰कोरेञ्चेस्कीने अपनी पहली बात दुहराते हुए नयी खोज बतायी कि अपने भोजनके प्रभावसे ही मनुष्यके तन्तु कमजोर होते हैं और बुढ़ापा आता है जिसका अन्तिम परिणाम मृत्यु होती है। हमारे भोजनके तत्त्वोंसे ही हमारे शरीरमें विकार और विषसंचार होता है। माड़ी तथा शक्करवाले पदार्थ और हर तरहकी चिकनाई तथा पोषक वस्तुएँ स्वादवश एवं तगड़े बननेके लिये अधिक खानेसे वे शरीरके लिये विष बन जाती हैं और शरीरकी रोगनिरोधक क्षमता कम हो जाती है, जिससे मनुष्य गरमी-सर्दी सहन करनेमें असमर्थ हो जाता है। इन बातोंको सुनकर ऑक्सफोर्ड और डबलिनके दो प्रोफेसरोंने इसे डॉ॰कोरेञ्चेस्कीकी नयी खोज कहा। कितने तरसकी बात है कि विज्ञानके आचार्योंको अबतक इतना भी नहीं मालूम था। इतना बताकर भी वे हमें नहीं बताते कि क्या खावें और क्या न खावें, और वे विषाक्त रासायनिक मिश्रण करके भूमि जलवायु वनस्पति फल अन्न दूध सबको दूषित कर विषसंचारका व्यवसाय कर रहे हैं, इसीको वे 'विज्ञान' कहते हैं, तथा मानव-रक्तमें भी रोगनिरोधके लिये जहरीले पशु-रक्त-मवादके बने इंजेक्शन ठूँसते और दवाइयाँ खिलाते हैं। इनकी किन बातोंका कितना भरोसा और व्यवहार किया जाय, और सब कुछ अन्धविश्वासपूर्वक करके मानवकी क्या दशा होगी!

(क्रमशः)

तन-मन-वचनका सदुपयोग

मनसे नित चिंतन करो प्रभु-लीला रसधाम।
जिह्वासे जप करो नित परम मधुर हरि-नाम॥
तनसे जो कुछ भी करो कर्म वैध दिन-रात।
प्रभु-पूजनके भावसे पल-पल पुलकित गात॥

जब भगवान्की परीक्षा ली गयी

[कहानी]

(लेखक—श्री'उषाराज')

'माधव-भवन' के रहनेवाले साधारण श्रेणीके मनुष्य नहीं हैं। सभीको उनके ऊँचे खानदानी एवं अमीर होनेका घमंड है, करीब-करीब सभी उस भवनके अंदर रहनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वतन्त्र व्यवसायोंको चलानेवाले हैं, लगभग सभीके पास अपनी-अपनी कारें हैं जो कि रातमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विश्राम करती हैं और सुबह ड्राइवरोंके साथ उनके मालिकोंकी सेवामें उपस्थित हो जाती हैं।

सभी पुरुषोंका जीवन और उनका गृहस्थ-जीवन साधारण रीतिसे बहता हुआ चला जा रहा है, एक-दूसरेकी आपसमें न ज्यादा पहचान है और न वे यह चाहते हैं कि ज्यादा हेल-मेल अपने पड़ोसियोंके साथ हो। पुरुष सुबह सज-धजकर चले जाते हैं तो फिर रातके आठ या नौ बजेतक वह भवन मौजका महल बन जाता है, रातकी बातें, बिजनैसकी हवा, उनके राजकुमारोंकी तबिअत और नयी फैशनकी बातोंसे सारा भवन गूँज उठता है। हर मंजलेपर रहनेवाली महिलाओंका अपना-अपना अलग मण्डल है, एक दूसरे मण्डलकी स्त्रियाँ आपसमें जब भी कभी मिलेंगी तो बड़ी सँभलकर बातें करेंगी, ऐसा लगता है कि मानो दो प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ आपसमें मिल रहे हों। किसीकी हँसीके लायक जरा-सी बातका पता चला तो उसे सारे भवनमें फैलते देर नहीं लगती। स्त्रियोंका जीवन-क्रम भी ज्यादातर एक दूसरेसे मिलता-जुलता है।

परंतु इन सभीके जीवनसे यदि किसीकी भिन्न गृहस्थ-जीवन-धारा बह रही है तो वह है श्रीमती सिन्हाकी। बेचारी गाँवमें पली हुई एक साधारण लड़की थी, परंतु सौभाग्यसे मिस्टर सिन्हा एक समय उसके गाँवमें अपने मित्रसे मिलने गये थे, वहाँ ये श्रीमती सिन्हा (उस समयकी कुमारी सीता) के पिताकी नजरोंमें चढ़ गये, उस बेचारेने दौड़-धूप शुरू की और सब कुछ मिल जानेपर अन्तमें मिस्टर सिन्हा सीताके राम बन ही गये। मिस्टर सिन्हाने अपनी स्त्रीका ग्रामीण नाम बदलकर नया नाम रक्खा 'आशा'।

मिस्टर सिन्हाको सीताके साथ शादी करनेपर तीन चीजें और भी मिलीं। पहली दौलत (सीताके पिताजीने दिल खोलकर दहेज दिया था और इनका यह वर्तमान फ्लेट भी उन्होंने दामादकी मर्जीके अनुसार काफी बड़ी रकम खर्च करके ले दिया था), दूसरी चीज थी सीताकी सुन्दरता (सीता काफी सुन्दर थी और आज भी उसका रूप गिरनेके बजाय निखरता ही जा रहा था), तीसरी चीज थी उसका ग्रामीण स्वभाव। उसका यह स्वभाव, उसकी विचार-धाराएँ बजाय पुरुषार्थमें विश्वास करनेके भगवान्की शक्तिमें ही विश्वास करना ज्यादा पसंद करती थीं और इसीके कारण कभी-कभी बीसवीं सदीके मानवकी और पुरानी सदीकी विचारधारामें गहरी टक्कर हो जाया करती थी। बस, एक इसी बातके कारण उनका गृहस्थ-जीवन अशान्त था, नहीं तो, और सभी बातोंमें दोनोंके विचार एक दूसरेसे मिलते थे। अभी कलकी ही बात है कि दोनोंमें रातको काफी देरतक बकझक होती रही। पासके लोगोंने तो आशाके रोनेकी आवाजतक सुनी थी। बात यह हुई कि मिस्टर सिन्हा शामको घर आते समय मोटर-दुर्घटनासे बाल-बाल बच गये थे, घर आते समय जल्दीके कारण कुछ रास्तेके सुनसान होनेपर उन्होंने गाड़ीकी रफ्तार तेज कर दी, अचानक एक मोड़पर सामनेसे गाड़ी आ गयी। यह तो अपनी तत्परताके कारण वे गाड़ीको मोड़कर बचा सके, अन्यथा……। अब

घर आकर उन्होंने इस घटनाको बतलाया और कहा कि किस प्रकार उन्होंने अपने-आपको उस भयंकर दुर्घटनासे बचा लिया, तब उनको आशा थी कि उनकी पत्नी उनके गाड़ी चलानेके कौशलकी प्रशंसा करेगी और तब वे गर्वसे कहेंगे कि 'अरे यह तो मेरे लिये एक साधारण-सी बात है।' परंतु उनकी आशाके विरुद्ध जब आशाने यह कहा कि 'शामको मेरी दायीं आँख फड़क रही थी, मुझे लगा कि अवश्य ही कोई अनिष्ट होनेवाला है, मैं तो आपका ख्याल कर-करके घबरा रही थी, भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि मैं आपको सकुशल देख रही हूँ, अगर आपको कल समय हो तो मेरा विचार कथा करवानेका है।'

इतना सुनते ही उनका पारा चढ़ गया और वे चिल्ला उठे—

'बस-बस, बंद कर अपनी भक्ति-पूजाकी बातोंको····'

'आप तो भगवान्‌का नाम सुनते ही इतना········।'

'चुप नहीं होगी····' फिर एक गहरी साँस छोड़ते हुए पूछा 'अच्छा, अगर तेरा भगवान् मुझे बचाना ही चाहता था तो फिर उसने मुझे दुर्घटनामें क्यों फँसाया ?' वे आशाकी तरफ उसी प्रकारसे मुँह बनाये हुए देख रहे थे जिस प्रकार अदालतमें वकील बनाता है।

'दुर्घटनाका होना अपने कर्मोंके आधारपर होता है और इसका घटित होना ही इस बातका सबूत है कि कोई शक्ति काम कर रही है जो कि आपको संकटमें डालती भी है और बचाती भी है, यही शक्ति भगवान्········'

'बहुत हो चुका, बहुत हो चुका, जा खाना परस, जा·······।' बेचारी हार मानकर खाना खानेकी तैयारी करने लगी।

ऊपरकी बातोंका जब लोगोंको पता चलता तो उनको महिला-मण्डलकी बंद दरवाजेकी सभाओंमें खूब दुहराया जाता। गरमागरम चर्चाएँ होतीं, कोई मिसेज सिन्हाको महामूर्खकी पदवी देती, तो किसी सभ्य महिलाको मिस्टर सिन्हाके जीवनपर तरस आ जाता और दूसरीसे कहती कि 'उस बेचारेका जीवन बर्बाद हो गया।' तब कोई इस बातको स्वीकार करती हुई सिर हिलाकर कहती कि 'भला गाँवकी जंगली लड़की भी कभी शहरी जीवनको अपना सकती है ? मैं कहती हूँ कि कभी नहीं। और बाकी सभी सदस्याएँ उसकी हाँ-में-हाँ मिला देतीं।

× × ×

'सुनो आशा, हमें आज किसीके यहाँ खाना खाने जाना है' मिस्टर सिन्हाने अंदर आकर सोफेपर बैठते हुए कहा।

'आप ही चले जाना, मुझे तो आज श्रीकृष्ण-भगवान्‌के जन्म-दिनके उपलक्षमें उपवास है।' उसने सरलता और स्नेहभरे शब्दोंमें कहा।

'भई, उपवास वगैराको मारो गोली और तैयार हो जाओ, हमें वहाँ जाना ही चाहिये।' उन्होंने कुछ रूखी आवाजमें उसे समझाते हुए कहा।

'परंतु मैं तो इस दिनको बचपनसे ही पालती आ रही हूँ। नहीं, नहीं, मुझसे इसे भंग नहीं किया जायगा, रातको भगवान्·······।'

'रहने दे तेरे भगवान् अगवान्‌को।' उन्होंने गरम होकर बात काटते हुए कहा। कुछ देर बाद फिर बोले 'जिनके यहाँ अपनेको जाना है मैं उनके मालका प्रधान वितरक हूँ और अगर हम उनकी इस पार्टीमें नहीं गये तो उनपर इसका बुरा असर पड़ेगा।' उन्होंने उसे शान्तिसे फिर समझाया।

'तब तो आप अकेले ही चले जाइयेगा, मुझे पूछे तो कह देना कि तबिअत खराब होनेके कारण न आ सकी।' उसने भी उनको समझाते हुए कहा।

'रहने दे अपनी इस बड़बड़को, मैं कहता हूँ कि तू तैयार हो जा।' उनका दिमाग गरम हो गया और वे कुछ तेज आवाजमें बोले।

'अच्छा तो मैं चलती हूँ परंतु खाना नहीं……..।'

'खाना नहीं खायेगी तो क्या खिलायेगी ?' उन्होंने उसकी बातको काटकर गरजते हुए कहा ।

'देखिये……..।' उसकी आवाज गलेमें ही रही, कि वे चिल्लाये—

'मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहता, तू तैयार हो जा और मेरे साथ चल ।'

'आप चाहे जो करें मैं तो उपवासको नहीं तोडूँगी।' उसने दृढ़तासे कहा ।

उसके इस उत्तरसे उनके सामने वह दृश्य आ गया—जब सेठजीकी आँखें उसे साथ न देखकर अपमान समझती हुई तन जायँगी और रूखे स्वरोंमें वे कुछ पूछेंगे, तो मैं क्या जवाब दूँगा । उन्होंने कितने आग्रह-भरे शब्दोंमें मुझे खुद निमन्त्रण दिया था, हो सकता है कि इसका मेरे व्यापारपर भी कुछ खराब असर पड़े और यह ख्याल आते ही वे घबरा गये । उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि वे इसे किस प्रकार समझायें, ओफ ! व्यापारकी रीतिको यह मूर्ख औरत समझती ही नहीं है । क्या करूँ ? क्या करूँ ? इसे कैसे समझाऊँ ? उन्हें कोई रास्ता समझमें नहीं आया, उनका दिमाग चक्कर खाने लगा, परंतु डूबते तिनकेका सहारा लिया, वे नम्रताभरी आवाजमें बोले ।

'रानी ! तुम समझती ही नहीं हो, हमारा दोनोंका ही वहाँ जाना जरूरी है । अगर हम न गये तो उसका प्रभाव हमारे व्यापारपर खराब पड़ेगा और भविष्यमें इसका बुरा परिणाम आयेगा ।'

'अच्छा तो मैं आपके साथ चलूँगी और खुद ही सेठजीको सब कुछ समझा दूँगी, बस ।' उसने मधुर स्वरमें कहा ।

उनके सामने वह हँसी और अपमानका दृश्य खिंच गया, जिसमें लोग आँखोंसे इशारा करते हुए हँसेंगे और इनकी तरफ देखेंगे । इन सब बातोंका ख्याल आते ही उनकी सहन-शक्ति समाप्त हो गयी, वे सारी सभ्यताकी बातें भूल गये और उनका खून उबल उठा, कुछ ख्याल नहीं रहा कि क्या करने जा रहे हैं, जोरसे उसके गालपर चाँटा मार दिया, चटाककी आवाज हुई, वह दर्दके कारण चीख पड़ी, परंतु उन्होंने उसकी आवाजकी परवा न करते हुए शासककी आवाजमें कहा—

'चलना ही पड़ेगा और साथमें खाना भी पड़ेगा, समझी ।'

'नहीं, नहीं, मैं खाना तो हर्गिज नहीं खाऊँगी, आप चाहे जो करें ।' उसने रोते-रोते कहा, उसकी आवाजमें दृढ़निश्चयताकी झलक थी ।

'नहीं खायेगी ?' वे उसे मारनेके लिये आगे बढ़े, तभी पड़ोसियोंका ख्याल आड़े आ गया और वे रुक गये, फिर बोले 'अच्छा तो मत खाना और सुन, इस घरका अनाज भी तेरे लिये नहीं है, जिस भगवान्के लिये तू इतनी जिद कर रही है, उसीसे खाना माँगकर खाना, जबतक वह नहीं देता तबतक आरामसे उपवास करती रह, समझी ? और हाँ, उससे कहना कि साधारण दाल-रोटी नहीं दे, वह तो संसारका मालिक है, जरा उससे कहना कि मिठाई भेजे मिठाई, समझी ! आखिर मैं भी तो देखूँ कि तेरा भगवान् कहाँसे तेरे लिये मिठाइयाँ भेजता है ।' उनकी जोशभरी आवाज सारे भवनको गुँजा रही थी, मानो किसीके विरुद्ध जेहाद बोल रहे हों, इस तरह जोशमें आकर चिल्ला और काँप रहे थे ।

'आप भी कैसी बात कर रहे हैं, भला मेरे-जैसी साधारण स्त्रीके लिये भगवान्को क्यों कष्ट दिया जाय ?' उसके गालपर उँगलियोंके निशान उभर आये थे फिर भी उसने सहनशीलताका दामन नहीं छोड़ा था ।

'क्यों उसे कष्ट कैसा ? तुझे तो उसपर विश्वास है, तू उसके लिये अपने पतिकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर सकती

है तो फिर तेरी सहायता करनेमें उसको कष्ट क्यों महसूस करना चाहिये ।' अपनी ही जीत होगी इस आशामें उन्होंने गरजते हुए कहा । उनके बोलनेके स्वरसे उसके स्वाभिमानको ठेस लगी, अंदरका अन्तरात्मा तड़फ उठा और वह समझ गयी कि 'यदि अब उसने जरा-सी भी कमजोरी भावुकतावश दिखलायी तो सदा-सदाके लिये उसे भगवान्‌से नाता तोड़ देना पड़ेगा, अतः उसने दृढ़ताभरे शब्दोंमें कहा—

'जैसी आपकी मर्जी ।' उसकी यह बात सुनते ही उनको लगा कि मानो कोई कड़वी चीज उनके गलेमें जाकर अटक गयी है और उसके कारण उनका स्वर मन्दा पड़ रहा है, उनको लगा कि आशाने यह बात कहकर उनको चुनौती दी है और यह ख्याल आते ही उनको जोश आ गया, वे तेजीके साथ टेबलके पास पहुँचे और फोनको उठाकर डायल घुमाने लगे, नम्बर मिलते ही उन्होंने दुःखभरी आवाजमें कहना शुरू कियां—

'कौन सेठ साहब·······हाँ जी मैं सिन्हा ही बोल रहा हूँ·······जी,···बड़े दुःखके साथ कहना पड़ रहा है कि शायद मैं न आ सकूँगा···मेरी पत्नीकी तबियत बहुत ज्यादा खराब हो गयी है···जी···हाँ ओह धन्यवाद····।' और उन्होंने फोनको रख दिया, फिर उसकी तरफ देखते हुए बोले—

'देखें अब तेरा भगवान् किस तरहसे मदद करता है ।'

आज दूसरा दिन है, सिन्हा साहब कमरेके सामनेकी गैलरीमें टहल रहे हैं, अंदर वह सोफेपर बैठी एकटक भगवान्‌की मूर्तिकी तरफ देख रही है, उसका गुलाबी मुखड़ा तीन दिनसे निराहारके कारण फीका पड़ गया है, वह भी स्वभावकी पक्की औरत निकली । उसने भोजन तो भोजन, पानी भी नहीं छुआ है अबतक । उनका मन तो करता था कि उसे मना लें परंतु उसकी जिदको देखकर वे रुक जाते थे और सोचते थे यदि मनाया तो यह सदा ऐसे ही काम बिगाड़ती रहेगी, अतः देखें कबतक यह हार नहीं मानती है। भवनके लोगोंको इतना तो पता चल गया था कि दोनोंमें झगड़ा खूब जमकर हुआ है, परंतु इस बातका उन्हें पता न था कि बीसवीं सदीमें भगवान्‌की परीक्षा उनके ही भवनके अंदर मानवद्वारा ली जा रही है ।

परीक्षाके चार दिन व्यतीत हो चुके हैं, दोनोंमेंसे किसीने भी हार मानना स्वीकार नहीं किया है; दोनोंको अपने-अपने ऊपर पूरा-पूरा विश्वास है और इसीलिये कोई भी अपने ध्येयसे पीछे हट नहीं रहा था ।

भगवान्‌के सामने आशा ध्यान लगाये बैठी है, चन्दनकी धूपसे सारा कमरा भर गया है, कमरेमें ज्यादा धुँआ होते देख मिस्टर सिन्हाने उसके सामनेकी खिड़की खोल दी और खुद बाहर गैलरीमें जाकर खड़े हो गये । इन चार दिनोंमें वे एक क्षणके लिये भी बाहर नहीं गये हैं, आफिसका सारा काम सेक्रेटरीको सँभालनेके लिये कह दिया है। और तो और, घरके नौकरको भी कुछ दिनोंके लिये न आनेको कह दिया, ताकि परीक्षामें किसीके कारण विघ्न न पड़े। इस समय उनके दिलमें कई तरहके विचार आ-जा रहे हैं, कभी सोचते, चलो उसे मना लें आखिर इसमें हार कैसी ? फिर विचार करते, नहीं, नहीं, मुझे बिल्कुल ही नहीं झुकना चाहिये, अगर आज मैं नरम पड़ गया तो शायद जिन्दगीभर यह मेरे विचारोंकी परवा नहीं करेगी और हर समय मुझे उसकी ही इच्छाके अनुसार चलना पड़ेगा, और यह मैं सहन नहीं कर सकूँगा, उसको अपनी जिद छोड़ देनी चाहिये, आखिर वह क्यों नहीं मुझसे माफी माँगती है ? जरूर ही उसमें अकड़ है और यदि ऐसा है तो मैं भी उसकी इस अकड़को तोड़कर ही दम लूँगा ।

इधर वह भी सोचती है—'क्या करूँ भगवन् ! अगर मैं हार मानती हूँ तो वे सदाके लिये मेरी भावनाओंकी कदर करना छोड़ देंगे और मेरा जीवन एक कठपुतलीके समान हो जायगा, मैं तेरे नामके सहारे बिना जीवित ही कैसे रह सकूँगी । अब तो चाहे जो हो, मैं पीछे नहीं हटूँगी । न मालूम वह शक्तिमान् क्या सोच रहा है ? ओफ, अब तो सहा नहीं जाता, मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ, कोई तपस्विनी नहीं हूँ, मुझसे कठोर तपस्याकी आशा न रखना, नहीं तो, मुझपर अन्याय हो जायगा; क्योंकि शायद मैं अब और ज्यादा सहन न कर सकूँ ? मुझे उबार ले, महाप्रभु ! अब मेरी और तेरी दोनोंकी लाज तेरे ही हाथमें है, कोई ऐसा रास्ता निकाल, जिसमें मुझपर या मेरे स्वामीपर कोई आपत्ति आये बिना ही इस समस्याका समाधान हो जाय ।'

रातके ग्यारह बज चुके हैं, वे सोनेकी तैयारी करनेमें थे कि उन्होंने एक बार उसकी तरफ देखा, वे चकित हो उठे । आशाका मुरझाया हुआ चेहरा एकदम हीरेके समान दमक रहा था । इस बार उनकी आत्मा जरा काँप उठी और ऐसा आभास हुआ कि वातावरण कुछ बदलता जा रहा है, परंतु उन्होंने अपनेको सँभाला और सोफेपर लेट गये ।

आशाके सामनेकी खिड़की खुली हुई है और अचानक उन्होंने देखा कि 'सामनेके कमरेमें रोशनी हुई, शायद कोई अब वापस आया होगा, यह सोचकर उन्होंने आँखें फेर लीं ।

'तो तुम आज फिर पीकर आये हो ?' उनके कानोंमें ये शब्द मानो जबरदस्ती आ पड़े हों और साथ ही उनको मजबूर कर रहे हों कि सामने देखो क्या हो रहा है ।

'हाँ····आ····ओ····हाँ····मैंने शराब पी····है····,' उन्होंने देखा सामनेके कमरेमें एक आदमी शराबके नशेमें झूमता हुआ अपनी औरतसे बातें कर रहा है, उसके हाथमें एक बंडल है, शायद उसमें कुछ खानेकी चीजें होंगी, ऐसा उन्होंने सोचा ।

'तुम शराब पीते हो, लोग मुझे कितने ताने मारते हैं । मैं किसीके यहाँ जाने-आनेमें भी शरमाती हूँ औ कोई भी शरीफ आदमी या औरत हमारे यहाँ आते-जाते नहीं हैं ।' बेचारी औरतने रोते-रोते कहा ।

'अरी····मरने····ए····दे····सबको····ओ····मैं तब····अ····तक दूसरे की चिन्ता····आ····म कर····।' वह हकलाता हुआ बोला ।

'हाँ, चिन्ता न करूँ ? मुन्नीका नाम स्कूलसे का दिया गया । आपने तीन महीनेसे फीस ही नहीं भ घरकी हालत तो यह····'

अरी जाने····ए····दे····इन सब बातोंको····आ····आ देख मैं तेरे लिये क्या लाया····हूँ····' कहते उसने हाथ हिलाकर उसको दिखलाया ।

'रहने दो, मुझको कुछ नहीं चाहिये ।' औरत गुस्सा खाते हुए कहा ।

'अरी····आ पानी आ जायगा····ओ मुँहमें····आ····' और उसने फिर वह हाथ हिलाकर दिखलाया

'हाँ, हाँ बच्चे भूखे मरे और तुम रातको मेरे मिठाई लाओ, इसके बदले जहर लाकर दे दो तो ठीक रहे समझे ? मुझे यह नहीं चाहिये, पर हाँ, लाओ' उ गुस्सेमें आकर उससे वह बंडल झटका देकर ले और जोरसे बाहर फेंका ।

मिस्टर सिन्हा जो एक पुतलेके समान यह देख रहे थे, औरतको बंडल बाहर फेंकते देखकर उ आत्मा काँप उठी, उन्हें लगा कि अँधियारेमें दो उस बंडलको उठाये तेजीके साथ इधर आ रहे हैं,

उनकी आँखोंके सामने अँधेरा-सा छाने लगा, सारा वातावरण बदल गया और कुछ भी समझमें नहीं आ रहा था कि क्या हो रहा है, वह बंडल तेजीके साथ आ रहा है, उसकी दूरी धीरे-धीरे कम होती चली जा रही थी और वे समझ गये कि वह कहाँ और किसके पास आ रहा है, उन्होंने अपनी आँखें दोनों हाथोंसे बंद कर लीं, वे देख नहीं सके, परंतु उनके कानोंमें उस बंडलके गिरनेकी आवाज स्पष्ट सुनायी दी और तब उन्होंने डरते-डरते आँखोंको खोला, देखा मिठाईका बंडल उनकी पत्नीकी गोदमें आकर पड़ा है !

◆

रूपकी साध

सौन्दर्यकी साधना भी तो मेरे जीवनकी एक साध है, प्रियतम ! तुमसे प्रेम, तुम्हारी भक्ति ही मेरी सौन्दर्य-साधना है ।

जब कभी मैं तुम्हारी ओर मुग्ध भावनाभरी आँखोंसे देखता हूँ और तुम उनमें थोड़ी-सी अपनी रूपमदिरा उड़ेल देते हो, मेरी आँखें इस दुनियाकी ओर घूम पड़ती हैं और मैं देखता हूँ कि यहाँकी कोई मधु-प्यासी आँखें मुझे ललचायी हुई-सी देख रही हैं ।

अपनी आँखोंकी उस मादकताका प्रतिविम्ब उन देखनेवाली आँखोंमें देखकर ही होगा, मैं उनपर ही मुग्ध हो जाता हूँ ।

और जब कभी तुम्हारी ओरसे रस-पान करके आँख फेरनेपर मुझे कोई वैसी प्रतीक्षा करती हुई आँखें देखनेको नहीं मिलतीं तो मैं स्वयं इधर-उधर उनकी खोज करने लगता हूँ ।

यह कैसा उपहास है प्रियतम ! यह कैसी विडम्बना है ? मैं तुम्हारी वह हल्की-सी रूप-मदिरा अबतक पी ही कितनी बार पाया हूँ—पी ही कितनी पाता हूँ ।

तुम्हारी रूप-मदिरा इतनी हल्की-सी रूप-मदिरा ! उससे उतनी देरमें मेरा सौन्दर्य बहुत थोड़ा ही तो बढ़ पाता है !

और तुम इतनी जल्द मेरी आँखोंसे ओझल होकर उन्हें इधर दुनियाकी ओर फेर देते हो ।

मेरी वह सौन्दर्य-साधना अछूती, अनदेखी क्यों नहीं रह पाती रूपेश !

आह ! क्या मैं इन मोहनियोंको रिझानेके लिये ही तुम्हारे रूप-मधुका संचय करने जाता हूँ ।

यह कैसा अन्धेर है, मेरे सर्वस्व !

मेरा हृदय इस वसुधाकी इन रूप-परियोंके अञ्चलमें ऐसे क्यों उलझ-उलझ जाता है ?

तुम अपने रूप-मधुसे मेरा सत्कार करनेके पश्चात् क्यों थोड़ी देर और नहीं ठहर जाया करते मेरे सामने, मेरे मधुर !—जिससे उतनी देरमें मैं तुम्हारे रूप-मदको पचाकर उसे अपने हृदयका अङ्ग बना लिया करूँ ।

मेरी सौन्दर्यसाधना तो तभी सुरक्षित रहकर सफल हो सकती है ।

मेरी सौन्दर्य-साधना तो तुम्हारे और मेरे लिये ही है, मेरे रूपमय !

[—एक तरुण साधककी डायरीसे १० । ८ । ३९]

संगीत[1]—एक पवित्र परामर्श

(लेखक——पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इसमें संदेह नहीं कि अपने कन्दमूलफलाशी वनवासी तपस्वी ऋषि-मुनियोंके परामर्श, उपदेश-निर्देश सब बड़े पवित्र होते थे। संगीतशास्त्रके विद्वानोंने संगीतकी प्रशंसा भी की है और उसके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न करनेका उपदेश भी दिया है। भगवत्प्रीत्यर्थ किये गये तो सभी कार्य निर्गुण एवं प्रशंसनीय हैं। फिर दिव्य संगीतसे भगवान्‌को प्रसन्न करना प्रशंसाके योग्य क्यों न होता? तथापि संगीतमें राग एवं रजोगुणका अंश अवश्य है, यह पवित्रात्माओंसे छिपा नहीं है। विशुद्ध सात्त्विक दृष्टिसे संगीत रजोगुणका ही कार्य प्रतीत होता है और इसके पतनोन्मुख परिणाम भी स्पष्ट हैं। इसीलिये संगीतके सर्वप्रधान तथा समस्त उपकरणोंके निर्देशक 'भरतनाट्यशास्त्र'के ही अन्तमें उसकी बड़ी भर्त्सना है और अन्तमें ही किसी शास्त्रका अभिप्राय व्यक्त होता है, यह मीमांसकोंकी मान्यता है। नाट्यशास्त्रके अन्तमें लिखा है कि ऋषियोंने संगीतको बड़ा भीषण शाप दिया और इसे एकमात्र शूद्रोंका कार्य बतलाया—

निर्ब्रह्मणो निराभूतः शूद्राचारो भविष्यति।

(३६ । ३४)

वेदोंमें भी इसका निषेध है। गोपथ ब्राह्मण (२ । २१) का आदेश है कि ब्राह्मण कभी नाच-गान न करे—

'ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत्।'

(गोपथ० २ । २१)

मनुने नाच, गान, वाद्यका नाम 'तौर्यत्रिक' रक्खा है और इसे क्षत्रियके लिये भी त्याज्य एवं पातक व्यसन बतलाया है—

'तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः।'

(मनुस्मृति ७ । ४७)

इसे वे दुरन्त व्यसन कहकर राजाके लिये अभिशाप बतलाते हैं और सदा इससे दूर रहनेकी सलाह देते हैं—

व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्।

(मनु० ७ । ४५)

कौटिल्य लिखते हैं कि 'व्यसन' शब्दका अर्थ ही है कि जो कल्याण-मार्गसे पुरुषको भ्रष्ट कर देता हो।

'व्यस्यत्येनं श्रेयसः—इति व्यसनम्'[2]

(कौटल्य अर्थ० ८ । १ । ४)

कौटल्यके मतसे भी 'संगीत' कामज व्यसन है—

'गायकवादकैश्चानर्थ्यैः संयोगः कामः।'

(८ । ३ । १७)

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र भी यही कहता है—

'नटनर्तकीविटवेश्याकुनृपेष्वनृताडम्बरं वक्तव्यः।

(१ । ५४)

कादम्बरीमें बाणभट्टने चन्द्रापीडके राज्यका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके राज्यमें संगीत-श्रवणका व्यसन केवल मृगोंमें ही था —यह दुर्व्यसन मनुष्योंमें बिल्कुल न था— 'एणकानां गीतव्यसनम्।' श्रीवाल्मीकिने रावणकी स्त्रियोंको संगीतरत वीणा आदि लिये सोती हुई दिखलाया है—

नृत्यवादित्रकुशला राक्षसेन्द्रभुजाङ्कगाः।

(सुन्दरकाण्ड १० । ३२)

काचिद् वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते। (१० । ३७)

अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा। (१० । ३८)

विपंचीं परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी।

इसी तरह कोई मृदङ्ग, कोई डिंडिम, कोई आडंबर वाद्य लिये सो रही थी। (श्लो० ४१ से ४५) पर रामादि चारों भाई, दशरथ, वशिष्ठ-विश्वामित्र, दशरथकी रानियाँ तथा जनककी रानियों एवं सीता आदिमें कोई भी संगीत नहीं जानता। इतना ही नहीं, राम सीधे अयोध्याकाण्डके १०० वें अध्यायमें भरतको समझाते हुए संगीतसे दूर रहनेका उपदेश देते हैं—(देखिये अयोध्याकाण्ड १००।६८ की शिरोमणि, तिलक, भूषण, तीर्थ या गीताप्रेसकी हिंदी

---

[1] संगीतका अर्थ केवल गीत ही नहीं, इसमें वादन-नर्तन सब सम्मिलित हैं। 'संगीत-दर्पण'में स्पष्ट लिखा है—

'गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते'

अर्थात् नाचना और बाजा बजाना भी संगीत ही है।

[2] कामन्दकका भी यही मत है—

यस्माद्धि व्यसति श्रेयस्तस्माद् व्यसनमुच्यते।

(कामन्दकीयनीतिसार १३ । १५)

व्याख्या)। वशिष्ठ-विश्वामित्रके शिक्षणमें भी संगीताध्ययनका कोई उल्लेख नहीं है। इससे काव्योपदेशपद्धति—(कान्तासंमितोपदेशस्तुति) से महाकवि वाल्मीकिके मतसे भी संगीत सर्वथा असमीचीन एवं कामज व्यसन है। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासीके साथ गृहस्थको भी संगीतसे बहुत दूर रहनेको कहते हैं—

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।
(मनु० २ । १७८)[3]

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्।
(मनु० ४ । ६४)

यह वचन गृहस्थके लिये ही है। आपस्तम्ब (१ । ३१) तथा विष्णुधर्मसूत्र० (६२) का भी यही मत है। गौतमधर्मसूत्र (१५।१८ तथा २१ । ३१) के अनुसार संगीतज्ञ अपाङ्क्तेय होता है।

'न भोजयेत्……वादित्रतालनृत्यगीतशीलान्'
(गौ० १५ । १८)

मनु भी (३ । १५५,१६७ में) संगीतकारीको अनाचारी, अपांक्तेय, अधम एवं विगर्हित बतलाते हैं—

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च……।
एतान् विगर्हिताचारानापांक्तेयान् द्विजाधमान्।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत्।

संगीताचार्य—संगीतजीवीके अन्नकी भी बड़ी निन्दा की गयी है—

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
(४ । २१०)

वे ही कहते हैं कि 'कुशीलवो'—संगीतज्ञोंके साथ शूद्रवत् व्यवहार किया जाय, चाहे ये ब्राह्मण ही क्यों न हों—

……………………कुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत्॥
(मनु० ८ । १०२)

मनु (८।६५) के अनुसार इन्हें साक्ष्यका भी अधिकार नहीं है—

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।

टीकाकारोंने कारण बतलाते हुए लिखा है कि ये धनलोभादिमें पड़कर सब असत् कार्य कर सकते हैं। याज्ञवल्क्य २ । ७०, नारद (ऋणादान १। १५८—क्लीबकुशीलवाः), कात्यायन, बृहस्पति, विष्णु आदि अन्य स्मृतिकारोंका भी यही मत है। पद्मपुराण पातालखण्ड (९ । ५८) में भी संगीतको असदाचारका लक्षण बतलाया है—

'तौर्यत्रिकप्रियो न स्यात्'

श्रीमद्भागवतमें साधुको संगीत सीखनेकी तो बात ही क्या सुननेकी भी मनाही है—

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥
(११ । ८ । १७)

नृत्यगीतके कुचक्रमें पड़कर ही शृंगी ऋषि वेश्याओंके वशीभूत हुए। (११ । ८ । १८)

पद्मपुराण भूमिखण्ड (७१ से ७७ अध्यायों) में ययातिकी कथा आती है। वे अत्यन्त धर्मात्मा एवं विष्णुभक्तिपरायण थे। इसी कारण भूमण्डलपर शासन करते हुए उन्हें एक लाख वर्ष बीत गये, पर उनका शरीर नित्य नूतन, तरुण एवं आकर्षक दिखायी देता था। बुढ़ापेका उनके शरीरसे स्पर्श भी नहीं हुआ था। यही नहीं, उनकी सारी प्रजा भी वैसी ही तरुण थी। भगवान्की कृपा तथा ययातिके पुण्यकर्मोंसे यहाँ कोई भी मरता नहीं था। जो रूप स्वर्गका था, वही भूतलका भी हो रहा था—

यद्रूपं स्वर्गलोकस्य तद्रूपं भूतलस्य च।
(भूमिखण्ड ७५ । ३०)

रुक्माङ्गदके ही राज्यकी भाँति यमपुरी इनके राज्यमें भी सूनी पड़ गयी। दूतोंसे विस्तारपूर्वक यहाँकी दशा जानकर यमराजने इन्द्रके पास जाकर सब वृत्तान्त निवेदन किया। इसपर इन्द्रने कामदेव तथा गन्धर्वोंको नटके वेषमें ययातिके पास भेजा। उन्होंने किसी प्रकार राजासे वामनावतारका नाटक खेलनेकी अनुमति प्राप्त कर ली। राजा नाटक देखने लगे। कामदेव ही उस नाटकका सूत्रधार था, वसंत पारिपार्श्वक बना। रति नटी बनी। ययाति उनके गीत, नृत्य और ललित हास्यसे अत्यन्त मोहित हो गये। वे मल-मूत्र त्यागकर आये और पैरोंको बिना ही धोये आसनपर बैठ गये। इसी बीच छिद्र पाकर जरा, काम आदि उनके शरीरमें प्रविष्ट हो गये।—

कामस्य गीतलास्येन हास्येन ललितेन च।
मोहितो राजराजेन्द्रः कामसंसक्तमानसः॥
(भू० ७७ । १)

---

[3] भविष्यपुराण (१ । ४ । १४६) में भी यही श्लोक है।

बस क्या था, इन्द्रका काम बन गया । ययाति विषयाकृष्ट होकर परमार्थभ्रष्ट हो गये और भूलोक पुनः मर्त्यलोक बन गया । (अध्याय ७८ से ८१) । जब भला साधारण संगीत श्रवण–वामनावतारके पवित्र नाट्यदर्शनका यह परिणाम हो सकता है तो आजके अत्यन्त कुत्सित सिनेमाके चित्रपटोंको क्षणभर भी देखनेका क्या परिणाम होगा, यह भगवान् ही जानें ! सच्चे एवं शुद्ध हृदयसे सोचनेपर सिनेमा सीधा नरकका दरवाजा है । यहाँ इसपर अधिक लिखना व्यर्थ है ।

साहित्यमें संगीत

यह तो हुई वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, साधु-संतोंकी पवित्र दृष्टिमें संगीतपर परामर्शकी बात । अब साहित्यिकोंकी बात सुनिये, जो संगीतके निर्माता तथा कभी-कभी उसीकी जोड़ीमें विराजते दीखते हैं । क्षेमेन्द्र काश्मीरके बड़े प्रसिद्ध साहित्यिक विद्वान् हुए हैं । उनकी 'कलाविलास' पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है । यह 'काव्यमाला'के प्रथम पुष्पमें प्रकाशित है । इसके सातवें सर्गमें इन्होंने संगीतपर जो कुछ लिखा है, उसका आवश्यक तथा बहुत ही संक्षिप्त अंश यहाँ देना आवश्यक प्रतीत होता है । वे लिखते हैं—

अर्थो नाम जनानां जीवितमखिलक्रियाकलापस्य ।
तं संहरन्ति धूर्ता छगलगला गायना लोके ॥ १ ॥

निखिल कर्मकलाप (समूह) का आधार धन ही मनुष्यका जीवन है, पर ये छगलगल (बकरेके समान बकबकानेवाले—शब्द करनेवाले) गायक उसका सर्वथा संहार कर लेते हैं ।

निःशेषं कमलाकरकोषं जग्ध्वापि कुमुदमास्वाद्य ।
क्षीणा गायनभृङ्गा मातङ्गप्रणयतां यान्ति ॥ २ ॥

अर्थात् पृथ्वीके सारे आनन्दोंको भोगकर तथा लक्ष्मीका सारा खजाना चट कर भी ये गायकरूपी भौंरे क्षीण ही रहते हैं और राजारूपी मातंग (हाथी) के मित्र–प्रेमपात्र ही बने रहते हैं ।

तमसि वराकश्चौरो हाहाकारेण याति संत्रस्तः ।
गायनचौरः प्रकटं हाहाकृत्वैव हरति सर्वस्वम् ॥ ३

इस प्रकार गायकोंकी बड़ी ही निन्दा की गयी है।

लक्ष्मीको भी यह शाप है कि वह ऋषि-मुनियों, साधुओंके उपयोगमें न आकर गायकोंकी ही भोज्य बनती है—

वर्जितसाधुद्विजवरवृद्धायाः सकलशोककलितायाः ।
शापोऽयमेव लक्ष्म्या गायनभोज्यैव यत्सततम् ॥
(८ । ९

तत्पश्चात् क्षेमेन्द्रने एक विचित्र कल्पनापूर्ण कथा लि है । कहते हैं एक बार इन्द्रके दरबारमें नारदजी इन्द्रने भूलोकका कुशलवृत्त पूछा । नारदने राजाओंके यज्ञ, दानादिकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि धन पृथ्वीके राजा तो अब आपकी और वरुण-कुबेरकी करने लग गये हैं । आपने तो सौ यज्ञ किये थे, वे इ यज्ञ कर आपके शतमख नामका बहुधा मखौल उ लगे हैं—

शतमखसंज्ञामसकृद् बहुतरयज्ञा हसन्त्येव ।
(१

नारदजीके इस वचनको सुनकर इन्द्रका हृदय क्रोध आया । अतः राजाओंके धनापहरणके लिये उन्होंने पिशा टोली पृथ्वीपर भेजी । उनमेंसे निम्न नामवाले गायन बड़े भयदायक हैं ।

मायादासः प्रथमं डम्बरदासश्च वज्रदासश्च ।
क्षयदासलुण्ठदासौ खरहरदासः प्रसिद्धदासश्च वाडवदास

इन गीत-मन्त्रवाले पिशाचोंने मुँह बाकर अति गायनकी रचना की—

विवृतास्यघोरकुहरा गायनसृष्टिं ससर्जुरतिविकटाम् ।
(२

वास्तवमें ये ही कर्णपिशाच हैं, जो गीतके राजाओंके हृदयमें घुसकर इन्द्रका काम बनाते हुए राजा धन, धर्म, समय एवं सर्वस्वका अपहरण कर लेते हैं । राजा इन्हें अपने राष्ट्रमें न रहने दे । जो ऐसा करेगा उ यज्ञमयी भूमि सर्वसमृद्धिसम्पन्न रहेगी । उनके निम्न भेद हैं । इनसे अर्थकी अवश्य रक्षा करे—

---

४. सिनेमापर विशेष जानकारीके लिये–'सिनेमा—मनोरंजन या विनाशका साधन' (गीताप्रेस) तथा 'सिनेमा और हम' (वेदप्रकाश कार्यालय ४४७८, नयी सड़क दिल्ली) तथा 'सिनेमा विनाशका साधन'(प्रा॰ विद्यासंस्थान अजमेर) इत्यादि पुस्तकें देखनी चाहिये ।

नटनर्तकचक्रुचराः कुशीलवाश्चारणा विटाश्चैव ।
ऐश्वर्यशालिशलभाश्चरन्ति तेभ्यः श्रियं रक्षेत् ॥
(२५)

जब गायकसंघ एकमें स्वर मिलाकर गाता है, तब उससे उत्थित महान् शब्दराशि मानो यह प्रकट करती है कि यह अस्थानदत्त लक्ष्मीदेवीका घोर आक्रन्दन है—

गायनसंघस्यैकादुत्तिष्ठति गीतनिःस्वनः सुमहान् ।
अस्थाने दत्तायाः लक्ष्म्या इव सम्भ्रमाक्रन्दः ॥
(२९)*

सामवेदका तिरस्कार क्यों ?

'सिद्धान्त' (काशीके विचारपत्र) के ५वें वर्षमें सामवेदसम्बन्धी एक शंका की गयी थी । उसका आशय यह था कि गीतामें तो भगवान्‌ने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'से सामवेदकी प्रशंसा की है, किंतु मनु आदि धर्मशास्त्रों तथा मार्कण्डेय आदि पुराणोंमें भी उसकी ध्वनिको अपवित्र बतलाया गया है।† इन परस्परविरोधी वचनोंका सामंजस्य कैसे हो । पं० दुर्गादत्तजी सामवेदीने जो इसका समाधान किया था, उसमें 'अशुचि' का अर्थ अधिक शुचि कर दिया था। किंतु यथार्थ स्थिति यह है कि जहाँ भगवत्स्तुति होनेसे साम प्रशंसनीय है, वहीं संगीतमय होनेसे ही उसकी ध्वनि अशुद्ध है—यह 'अशुचिर्ध्वनिः' से स्पष्ट है । 'अशुचि' का अर्थ अधिक पवित्र कहीं नहीं किया गया । गान होनेसे ही उसके सामने ऋग्यजुःका अनध्याय बतलाया गया । वस्तुतः यही भाव है । याज्ञवल्क्यादि वैदिक शिक्षा तथा पाणिनीय शिक्षामें भी इसीलिये गायकके लिये कहा गया है—

'गीती शीघ्री शिरःकम्पी'…'षडेते पाठकाधमाः !
(शु० यजुः सभाष्य चौखंभा खं० ४ परि० पृ० १३)

सहसा यहाँ जो वचन ध्यानमें आये, उनका ही यह संक्षिप्त संग्रह है । ऐसे वचन इतने ही नहीं हैं । अनुसंधान किया जाय तो बहुत सामग्री प्राप्त होगी । बहुत-सी बातें तो लिखते-लिखते दिमागमें आकर निकल गयीं । यह भी ठीक है कि संगीतके पक्षमें भी कुछ वचन मिलेंगे । पर आश्चर्य है, सुभाषितवालोंने उनमेंसे कोई एक भी वचन क्यों नहीं दिया ।

इसके अतिरिक्त यह बात भी नहीं भूलनी चाहिये कि संगीतके समर्थक वचन 'बृहद्देशी' 'संगीतरत्नाकर' आदिमें ही मिलते हैं, जो इस विवादमें मध्यस्थताका कार्य न करनेसे प्रमाणकोटिमें परिगणित नहीं हो सकते ।

जो भी हो, इस समय भारतमें संगीतका अन्धाधुन्ध प्रचार, स्त्री-पुरुषोंकी सहशिक्षा और सिनेमा आदिकी बाढ़ कोई प्रसन्नताकी बात नहीं है । इनपर यदि कोई अङ्कुश नहीं लगा तो परिणाम बहुत विकृत ही होगा । इसमें जो कोटि-कोटि जनताके समयकी बर्बादी तथा धनका संहार होता है, वह भी देशके कर्णधारोंके लिये विचारणीय है । राजकवि क्षेमेन्द्रके वचन इस सम्बन्धमें गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं, बस, इतना ही निवेदन कर इस प्रबन्धका यहाँ उपसंहार किया जाता है ।‡

---

* इनके ही एक दूसरे ग्रन्थ चारुचर्यामें कहा है—

न गीतवाद्याभिरतिर्विलासव्यसनी भवेत् । वीणाविनोदव्यसनी वत्सेशः शत्रुणा हतः । (७६)

वत्सराजकी यह कथा कथासरित्सागरके प्रथम खण्डके १२ वें तरंगमें विस्तारसे है ।

† 'सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः ।' (मनु० ४ । १२४)

'रुद्रः साममयोऽन्ते च तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ (मार्कण्डेयपुराण—१०२ । १०९)

'सामशब्दे ऋग्यजुषोरनध्यायः । (स्मृतिचन्द्रिका १ । २७)

‡ संगीतसे विषयकामना जाग्रत् होती है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं, इसीलिये यह राजस है और पतनमें कारण होता है । तथापि नारदादिके पवित्र संगीतका अनुसरण करके भगवद्-गुणानुवाद गाना हानिकारक तो नहीं ही माना जाता वरं परम उपादेय माना जाता है। पर उसमें लक्ष्य विशुद्ध भगवद्-गुणानुवाद ही होना चाहिये, मीठे स्वर या राग नहीं । आजकल तो सारी संस्कृति ही नाच-वाद्यमें आकर समाप्त हो गयी है । लड़कियों तथा बहू-बेटियोंको पब्लिकमें नचाया जाता है । सांस्कृतिक कार्यक्रमका अर्थ ही हो गया है—नृत्य-गान ! इससे पतन अवश्यम्भावी है । सिनेमा तो इस पतनका एक मुख्यतम साधन है; पर आज हम पतनमें ही उत्थान मानकर भ्रष्ट हुए जा रहे हैं !

—सम्पादक

एक साधकके उद्गार तथा प्रभुसे प्रार्थना

(१)

× × × दिनभर जगत्के प्राणी-पदार्थोंका सङ्ग रहता है अतएव कभी-कभी उन्हींका चिन्तन हो लगता है । इसके लिये क्या करूँ । प्रभुकी अनन्त महिमाको, उनके शील-स्वभावको किसी अंशमें जानकर नहीं जानता । जानकर भी उन्हींका निरन्तर चिन्तन नहीं कर पाता । मन तथा शरीर प्रायः भौतिक पदार्थों ही लगे रहते हैं । ऐसी अवस्थामें हे मेरे प्रभु ! मैं कैसे निरन्तर आपका मधुर स्मरण करूँ । अब तो आप ही मेरे गति, मति, प्राण हैं । आप ही अपनी ओर देखकर मेरे मनको निरन्तर सँभालिये । मन आपको दे तो दि ही है, तब फिर किसी दूसरेको उसकी ओर क्यों ताकने दिया जाय ? उसमें तो अब बस, केवल आपकी ही मुनि-मन-आकर्षिणी लीला चलती रहे । यह मन आपका मन होकर, अनवरत आपके ही अनुगत रहे । मे उसमें कुछ भी न रहे । मेरा खाना-पीना, सोना-जगना, उठना-बैठना, लेना-देना सब एकमात्र प्रभुके लिये ही हो प्रभु मेरे हैं, मैं उनका हूँ । शरीर कहीं भी रहे, निरन्तर रात-दिन उन्हींकी समीपताका अनुभव होता रहे ।

(२)

मेरे प्रभु !

मैं आपकी वस्तु हूँ । मुझे कहीं रक्खें, कैसे भी रक्खें, चाहे जैसे बरतें, पास बुला लें या दूर रक्खें प्यार करें या ठुकरावें, जिसमें आपको सुख हो, वही करें । नाथ ! मेरे मनकी आप कभी न करें । मेरे मनकी क लगेंगे तो पता नहीं यह दुष्ट मन क्या-क्या चाहेगा । अतः आप सदा अपने मङ्गलमय मनकी ही करते रहें । क इतनी कृपा हो कि आपकी मधुमयी स्मृति जीवनमें नित्य भरी रहे । मैं क्षणभरके लिये आपको न भूल सकूँ । सदा आप अपने साथ देखूँ । न दूर, न अलग । मैं सदा आपमें रहूँ और आप मुझमें रहें । निरन्तर यही अनुभव होता रहे अन्य किसी भी कामना-वासनाकी कल्पना ही न रहे । सबका मूल ही उखाड़ दिया जाय । प्रभो ! आप अप परम दिव्य प्रेम-रस इस हृदय-पात्रमें भरते रहिये । इसे पूरा-पूरा भर दीजिये मेरे प्रभु ! क्या ऐसा कभी न होगा ! क्या इसमें कहीं कुछ स्थान खाली भी रह जायगा ? नहीं ऐसा नहीं होगा । यह भरेगा, पूर्णरूपसे भरेगा, छ उठेगा और बह जायगी चारों ओर आपके मधुर प्रेमरस-सुधाकी धारा । आप इसमें अपना विशुद्ध प्रेम-रस भ चले जाइये । आप सर्वसमर्थ हैं । मेरी दुर्बलताओंकी ओर न देखिये । आपकी एक दृष्टिसे ही सारी दुर्बलताओं नाश हो जायगा ।

मेरा हृदय आपके सामने है, सदा खुला है; क्योंकि आप उसमें नित्य निवास करते हैं । मेरी सम्पूर्ण गति विधिका आपको पूर्णरूपसे पता है । मेरे हृदयमें कितनी प्रेम-पिपासा है और कितनी भोग-लिप्सा है; कित पवित्र प्रेम है और कितना काम-कलुष है । आपसे कुछ भी छिपा नहीं है । पर मैं क्या करूँ ? मनमें बड़ी-बड़ी ऊँची प्रेमकी अभिलाषाएँ उठती हैं, पर केवल अभिलाषासे क्या होता है । प्रेमकी सच्ची भूख जाग्रत् हो चाहिये । उसे प्रभो ! आप ही जाग्रत् कीजिये और आप ही उसे पूर्ण भी कीजिये । मैं तो सब प्रकारसे आपके चर तलकी शरण हूँ । बस, आपके इन अरुण चरणकमलोंमें सदा पड़ा रहूँ । इन चरणोंमें दृढ़ अनुराग सदा अक्षु बना रहे । और वह निरन्तर बढ़ता ही रहे । अपनी वस्तुको आप ही सँभालेंगे । मुझे क्या चिन्ता है !

हो चुका बस, आपका ही मैं हमेशाके लिये । आप ही इस वस्तु अपनीको प्रभो ! सँभालिये ॥

उच्चस्तरका जीवन किसमें ?

[गहराईसे विचारिये और कर्तव्य निश्चय कीजिये]

इसमें ?	या इसमें ?
१. सूर्योदयसे पूर्व उठना ।	१. दिन चढ़ेतक सोते रहना ।
२. उठते ही भगवान्का स्मरण करना ।	२. उठते ही सिगरेट-चाय पीना, अखबार पढ़ना ।
३. स्नान करके पूजा-पाठ करनेके बाद कुछ खाना-पीना ।	३. नहानेसे पहले ही चाय-नाश्ता करना ।
४. भोजनके समय पवित्र रहना, किसीकी जूँठन न खाना तथा स्पर्शास्पर्शका विचार रखना ।	४. डाक्टरोंको नब्ज देखकर हाथ धोते, ऑपरेशनके समय कपड़े तथा हथियारोंको हाथोंसे भी न छूने देना आदि देखते हुए भी स्पर्शास्पर्शका विचार न रखना तथा हर किसीकी जूँठन खाना । अपवित्र रहना ।
५. सदा सुपाच्य स्वास्थ्यकर सात्त्विक निरामिष भोजन करना ।	५. जीभके स्वादके लिये अंटसंट अस्वास्थ्यकर दुष्पाच्य तामसिक (मांस-अंडे आदि) आहार करना ।
६. सादे साफ कम कीमतके सुन्दर पवित्र वस्त्र पहनना । वस्त्रोंका अनावश्यक संग्रह न करना ।	६. तड़कीले-भड़कीले अपवित्र बहुत बड़ी कीमतके, शान-शौकीनीकी वृद्धि करनेवाले वस्त्र पहनना तथा संग्रहमें लगे रहना ।
७. बड़ोंको नमस्कार करना, उनका आदर करना तथा उनके सदुपदेशोंसे लाभ उठाना ।	७. बड़ोंका निरादर करना, उनके मजाक उड़ाना, उन्हें मूर्ख मानना तथा कहना ।
८. अपनी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति आदर-बुद्धि रखना ।	८. विदेशी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति आदर-बुद्धि रखना ।
९. सत्य, अहिंसा तथा ईमानदारीका व्यवहार करना ।	९. मिथ्या, हिंसायुक्त तथा बेईमानीका व्यवहार करना ।
१०. पर-स्त्रीको माता-बहिन तथा पर-पुरुषको पिता-भाई समझना ।	१०. पर-स्त्रीको मा-बहिन तथा पर-पुरुषको पिता-भाई माननेको कुसंस्कार बतलाना ।
११. सदा सत्य, प्रिय और हितकर थोड़े वाक्य बोलना ।	११. मिथ्या, कठोर तथा अहितकर अनर्गल बोलते ही जाना ।
१२. देवालयोंमें जाना, धार्मिक पर्वोत्सव मनाना ।	१२. गंदे सिनेमाओंमें, क्लबोंमें जाना, गंदी पार्टियोंका आयोजन करना ।
१३. सत्साहित्यका सुनना, पढ़ना, नित्य स्वाध्याय करना ।	१३. गंदे, अश्लील, राग-द्वेष तथा मिथ्याचार बढ़ानेवाले साहित्यको पढ़ना ।
१४. मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रखना, उनको सदा सद्विचार तथा सदाचारमें ही लगाये रखना ।	१४. व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके नामपर मन-इन्द्रियका गुलाम बनकर उच्छृङ्खल आचरण करना, कुविचार तथा दुराचारमें संलग्न रहना ।

१५. दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा बने तथा हित हो, इस प्रकारके विचार तथा कार्योंमें लगे रहना।	१५. दूसरोंको कैसे ठगा जाय तथा कैसे उनका बुरा हो जाय, ऐसे विचार तथा कार्यमें प्रवृत्त रहना।
१६. देशके लिये व्यक्तिगत स्वार्थका बलिदान करके देशके हितमें ही अपना हित समझना।	१६. व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनके सामने देशको भूल जाना, बल्कि व्यक्तिगत लाभके लिये ही देश-भक्तिका बाना धारण करना।
१७. जिसमें कम-से-कम आवश्यकता हो, ऐसा सादा, सीधा, सुखी जीवन बनाना और उसके निर्वाहके लिये सत्य तथा न्यायके मार्गसे किसीका भी अहित न करते हुए आवश्यकताभर अर्थोपार्जन करना एवं उसमेंसे कुछ-न-कुछ बचाकर अभावग्रस्त प्राणियोंकी सेवामें लगाना।	१७. जीवनको उच्चस्तरका बनानेके मोहमें, विलासिता, शौकीनी, आरामतलबी आदिके लिये मिथ्या आवश्यकताओं और अभावोंको बढ़ा लेना तथा उनकी पूर्तिके लिये असत्य, अन्याय, छल, कपट, चोरी, ठगी तथा हिंसासे धनोपार्जन करना। परस्वापहरणमें भी संकोच न करना।
१८. 'सबके हितमें ही अपना हित है, यह समझते हुए प्रत्येक कार्यको 'सर्वभूतहित'की दृष्टिसे देखकर ही उसमें प्रवृत्त होना।	१८. अपने जरा-से स्वार्थ-साधनके लिये भी दूसरोंके कष्ट, दुःख तथा नाशकी तनिक भी परवाह न करते हुए दूसरोंको गौरवपूर्ण मनसे हानि पहुँचाना।
१९. अपना सुख देकर दूसरोंका दुःख हरण करना। दूसरोंके दुःखको भारी दुःख मानना।	१९. अपने तनिक-से सुखके लिये दूसरोंको दुखी बनाना। दूसरेके दुःखको अपना सुख मानना।
२०. अपने तथा अपने दलके अन्यायका समर्थन न करके सदा सदाचार, न्याय तथा धर्मके पक्षमें रहना।	२०. अपने तथा अपने दलके लिये, जानते हुए भी अनाचार, अन्याय तथा अधर्मका समर्थन एवं अवलम्बन करना।
२१. अपनी-अपनी उपासनापद्धतिके अनुसार प्रतिदिन कुछ समय नियमितरूपसे भजन-पूजनमें लगाना।	२१. उपासनाको अनावश्यक तथा पिछड़े लोगोंका काम समझकर परनिन्दा या परचर्चामें ही समय बिताना।
२२. धर्मको जीवनकी सबसे बड़ी आवश्यकता मानकर दृढ़ताके साथ धर्मका पालन करना तथा किसी भी काम, लोभ अथवा भयसे धर्मका त्याग न करना। धर्म-पालनके लिये कष्ट स्वीकार करना।	२२. धर्मको अवनतिमें कारण बताते हुए धर्म-पालनसे विमुख रहना एवं जान-बूझकर काम, लोभ और भय आदि दुर्वृत्तियोंके वश होकर अधर्ममय जीवन बिताना।
२३. सभीके साथ छल-कपटसे रहित सरल व्यवहार करना।	२३. छल-कपटको बुद्धिमानी तथा चातुरी मानकर उसकी आवश्यकता समझते हुए अपने अत्यन्त निकटके आत्मीयस्वजनोंके साथ भी कपटमय व्यवहार करना।
२४. परलोक तथा परमात्माके भयसे पापसे बचना।	२४. परलोक तथा परमात्माको मनुष्य-रचित कुसंस्कार मानना और बतलाना।
२५. अपने पूर्वज, इतिहास, विचारधारा, तीर्थ-देवस्थान, ऋषि-मुनि तथा शास्त्रोंके प्रति आदर-बुद्धि रखना।	२५. विकासवादके भ्रान्त सिद्धान्तके अनुसार पूर्वकी सभी चीजोंको अविकसित मानकर उनकी अवज्ञा करना।

२६. अपनी अच्छी प्रथाओंमें गौरव-बुद्धि रखना ।	२६. आँखे मूँदकर परानुकरण करना तथा अपनी प्रथाओंमें लज्जा करना ।
२७. सरल हृदयसे सच्चे सम्मान तथा सत्यका व्यवहार करना ।	२७. कूटनीतिपूर्ण, दिखाऊ सम्मानका दम्भपूर्ण व्यवहार करना ।
२८. छिपकर पाप करनेमें भी पतन समझना ।	२८. छिपे सफल पापमें बुद्धिमानी तथा दक्षता मानना ।
२९. सब प्राणियोंमें भगवान् या आत्मा समझकर सबका हित साधन करना ।	२९. केवल अपने शरीर तथा नामको ही सब कुछ मानकर उसीकी सुख-सुविधाके लिये चिन्तन तथा प्रयास करना ।
३०. शारीरिक श्रमके द्वारा कमखर्ची तथा तन्दुरुस्तीको बढ़ाना । अपना काम अपने हाथसे करनेमें लाभ तथा सुखका अनुभव करना ।	३०. अकर्मण्यता, आरामतलबीके वश होकर शारीरिक श्रम न करना, मशीनोंद्वारा ही सब काम होने लगें, ऐसी इच्छा करना । अपना काम आप करनेमें लज्जा बोध करना ।
३१. अपनी पूँजी तथा शक्तिसे अधिक तथा जीवनकी आवश्यकतासे अधिक व्यापारादि प्रपञ्चोंको न बढ़ाना तथा इसमें सुख, संतोष, निश्चिन्तता, निर्भयता तथा स्वाधीनताका अनुभव करना ।	३१. परायी पूँजीसे, अपनी शक्तिसे बाहर असीम आवश्यकताकी कल्पना करके अमर्याद व्यापारादि प्रपञ्चोंको बढ़ाकर नित्य दुःख, असन्तोष, चिन्ता, भय और पराधीनताका अनुभव करना ।

मेरी नीचता और दयामयका स्वभाव

घोर असाधु मलिन-मन, ठगता जगको सजकर साधु सुवेश ।
करता प्रेम-भक्तिका अभिनय, नहीं प्रेमकणका लवलेश ॥
रोता, अश्रु बहाता, हँसता, करता नृत्य मधुर, उद्दण्ड ।
करता लीला-रसकी बातें बनता त्यागी मिथ्या भंड ॥
दुष्टहृदय सज शिष्ट, सिखाता शुद्धाचार बताता धर्म ।
असदाचार-निरत नित छाया तन-मन केवल कपट अधर्म ॥
उत्सव-पर्व मनाता मैं, दिखलाता नित्य अमित उत्साह ।
रहता सदा पुजानेपर मन, रहती भरी मानकी चाह ॥
पूजा कभी न करता प्रभुकी, करता मैं प्रभुका उपहास ।
इन्द्रिय-सुख ही सदा खोजता, अधम बना भोगोंका दास ॥
नहीं क्षमाके योग्य कभी ये मेरे अति उत्कट अपराध ।
सर्वदृष्टि अन्तर्यामीको भी रखता छलनेकी साध ॥
नरकोंसे भी नीची गतिके योग्य पापका पारावार ।
तदपि दयामय नहीं भूलते निज स्वभाववश परमोदार ॥
कहते—'सभी छोड़ आश्रय तू आ जा मेरी शरण अनन्य ।
धो डालूँगा पाप-ताप सब तुरत बना दूँगा मैं धन्य !' ॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पत्र)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है:—

आपने कल्याणके लेखों और पुस्तकोंको पढ़कर जो कुछ समझा है, वह समझ आपमें प्रभु-कृपासे पहलेसे ही थी । लेख और पुस्तकें तो उसे उद्बोधित कर देती हैं, उस समझके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये; क्योंकि आप मनुष्य हैं । यह जीवन सांसारिक रस लेनेके लिये नहीं मिला है । पढ़नेकी आसक्ति पूरी करना भी इस जीवनका लक्ष्य नहीं है ।

भोगोंमें रस है ही नहीं, तब आपने चखा कहाँसे ? आपको भ्रम हो गया, आप जरा विचार तो करें । मन भोगोंकी ओर दौड़ता है, कामना बढ़ती है, पर पूरी होती नहीं, तब दु:ख मिलता है कि सुख ? किसी स्त्रीको देखकर मोहित होनेका परिणाम क्या होता है ? खुद अपनी समझका आदर करते नहीं, मनको समझाते हैं । इस समझानेसे क्या होगा ? दोष मनका नहीं है, वह तो यन्त्र है, आप स्वयं साथ न दें तो वह कहीं नहीं जा सकता ।

नौकरीसे तंग आना भी बेसमझी है । जो काम आपको नौकरीकी हैसियतसे मिला है, उसे कर्तव्य मानकर उत्साहपूर्वक पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिये । काम करते हुए भी आप भगवान्‌को हर समय याद रख सकते हैं । मालिकोंका उचित काम करना ही चाहिये । उसे भाररूप नहीं मानना चाहिये । रेलमें बिना टिकट कदापि यात्रा नहीं करनी चाहिये । यदि मालिक-लोग किराया न दें तो जानेमें अपनी असमर्थता स्पष्ट कह देनी चाहिये । दूसरोंकी देखा-देखी न्यायको नहीं छोड़ना चाहिये । काम अधिक करना पड़े, इससे नहीं ऊबना चाहिये । जिसको पाप समझें, उसे न करनेमें कोई कठिनाई नहीं है, केवल लोभ और भयसे कठिनाई प्रतीत होती है । आगेका काम पहले बना-बनाया पड़ा है, आवश्यकता है विश्वासकी ।

आप जो कुछ पाठ-पूजन और जप आदि करते हैं, उसे श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करते रहिये । उसके बदले भगवान्‌के प्रेमके अतिरिक्त और कुछ मत माँगि और भगवान्‌की कृपासे जो जानकारी प्राप्त है, उसके द्वारा अपने दोषोंको खोज-खोजकर मिटाते रहिये । गु का अभिमान और दिखावा मत कीजिये । की हुई भूलों पुन: न करनेका दृढ़ विचार रखिये, यही उन्नतिका मार्ग है ।

प्रात: उठनेमें प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है । सम पर शयन करनेसे, रातमें व्यर्थ बातें और चिन्तन न करनेसे, यथासमय उठनेका संकल्प करके सोनेसे ठी समयपर स्वत: जग सकते हैं । सिनेमा देख सद्भावका, समयका और पैसोंका व्यर्थ खर्च करना, बु भावोंसे हृदयको अपवित्र करना बड़ी भारी भूल है, इसका परिणाम कभी हितकर नहीं है ।

भजन विश्वास और प्रेमसे होता है । ज करना पड़ता है तबतक तो वह रुचिकर नहीं होता । प्रभुको किसी अंशमें मानते हैं पर पूर्ण श्र और विश्वासपूर्वक नहीं मानते । प्रार्थना भी अपने मनकी बात पूरी करनेके लिये ही करते होंगे । भगवान्‌ भजन-स्मरणमें लीन होना कहीं बाहरसे नहीं सीखना है मिथ्या भोगोंकी कामना और आसक्ति छोड़कर भगवान् विश्वासपूर्वक प्रेम करनेसे वह अपने-आप हो सकता है इसमें आप पराधीन या असमर्थ नहीं हैं । भगवान्‌से प्र शक्तिका दुरुपयोग करना और अपने विवेकके अनु कार्य न करना ही इसमें बाधक है जो कि आप स्व प्रमादवश करते हैं ।

अपने विवेकपूर्ण विचारोंके अनुरूप जीवन बना चाहिये, केवल विचारोंसे काम नहीं चलता । कपड़े प्र करनेका काम साधारण है । जिस कामसे संसारका हि हित हो वही काम करना चाहिये ।

* * *

क्या-क्या बढ़ा और बढ़ रहा है

विकाश कितना ? विनाश कितना ?

[विचारके लिये]

रेल, तार, टेलीफोन, नहर, पुल, सड़कें, मोटर, बस, ट्रक, ट्रेक्टर, हवाई जहाज, बिजली बड़े-बड़े, मकान।

संस्थाएँ, यूनियनें, स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, सभासमितियाँ, व्याख्यानबाजी, समाचार-पत्र।

अदालतें, पंचायतें, मुकदमे, पुलिस, अपराध, चोरी, डकैती, ठगी, बेईमानी, मार-पीट, झगड़े।

अस्पताल, औषधालय, दवाइयोंके कारखाने, विषमय दवाइयाँ, रोग, रोगी।

आसक्ति, कामना, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य, छल-कपट, दंभ, द्वेष, वैर, अधिकारलिप्सा, लालसा, अश्रद्धा, संदेह, आलस्य, प्रमाद, आडम्बर, दिखावा।

अपवित्रता, फैशन, शौकीनी, विलासिता, आरामतलबी, अकर्मण्यता, महँगी, बेकारी, भुखमरी।

गंदा साहित्य, गंदे गाने, गंदे चलचित्र, गंदे चित्र, गंदे पोस्टर और विज्ञापन, गंदे क्लब, गंदा वातावरण और गंदे विचार।

भौतिकवाद, भोगवाद, जनतन्त्र-समाजवाद तथा साम्यवादके नामपर व्यक्तिवाद।

अध्यात्म तथा ईश्वरमें उपेक्षा, धर्म तथा परलोकमें अविश्वास, धर्म-निरपेक्षताके नामपर अधार्मिकता, सुधारके नामपर अनर्गल आचरण।

स्वेच्छाचार, अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, मिथ्याचार, व्यभिचार।

चोर-पूजा, व्यभिचार-पूजा, अनाचार-पूजा।

स्वार्थपरता, शोक, भय, विषाद, चिन्ता, डाह, कूटनीति, धोखेबाजी, दल, दलबंदी।

अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता।

हिंसा, पशु-पक्षी-हत्या, विज्ञान तथा औषधनिर्माणके लिये हिंसा, हिंसाके बड़े-बड़े कारखाने, उद्योगके नामपर बड़ी-बड़ी हिंसाकी योजनाएँ।

अभक्ष्य-भोजन, अपेय-पान, मद्यपान, उच्छिष्ट-भोजन, दिखाऊ सफाई, अशुद्धि, साबुन, तेल, पाउडर, क्रीम, स्नो, लिप्स्टिक।

शास्त्र-निन्दा, ईश्वर-निन्दा, देव-निन्दा, ब्राह्मण-निन्दा, पूर्वज-निन्दा, अपनी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति अश्रद्धा, गुरुजनोंकी अवज्ञा, माता-पिताका अनादर, सम्मान्योंका अपमान, अपूज्योंकी पूजा।

प्रान्तजनित राग-द्वेष, भाषा-जनित राग-द्वेष, जाति-जनित राग-द्वेष, वादजनित राग-द्वेष, सम्प्रदाय-जनित राग-द्वेष, दल-जनित राग-द्वेष।

मीलें, कारखाने, व्यापार-केन्द्र, बाजार, सरकारी उद्योग, छोटे-छोटे उद्योग, उद्योगोंका सरकारीकरण।

लोभवृत्ति, चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी, वस्तुओंमें मिलावट, धोखादेही।

सरकारी महकमे, अधिकारी-कर्मचारी, शासनव्यय, कर्तव्यविमुखता, कामचोरी।

सिनेमा, रेडियो, नाचगान, कन्याओं और तरुणियोंका संस्कृति तथा कलाके नामपर नाच-गान, निर्लज्जताकी प्रवृत्ति, कुवासनाको प्रोत्साहन।

धन, धन-लिप्सा, धनमदान्धता, धनी-द्वेष, फिजूलखर्ची।

सभी कार्योंमें सरकारी हस्तक्षेप, टैक्सोंकी सीमा-रहित भरमार, फलतः पैसा बचानेके लिये मिथ्याचारमें प्रवृत्ति।

विज्ञान, विनाशक शस्त्रास्त्र, प्रकृति-विजयकी प्रचेष्टा।

भक्ति और ज्ञानमें भेद

(लेखक—पं० श्रीदेवीदत्तजी मिश्र)

पद्मपुराणसे उद्धृत श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें अत्यन्त रोचक कथासे भक्ति और ज्ञानमें भेद समझाया गया है। उसमें भक्तिको माता और ज्ञान तथा वैराग्यको उसका पुत्र बतलाया है। इस रूपकमें एक बातकी त्रुटि मालूम पड़ती है। भक्तिके पतिके विषयमें ग्रन्थकारने बिल्कुल उदासीनता दिखलायी है। इसका वास्तविक अभिप्राय तो ग्रन्थकार ही जानते हैं। परंतु अपनी बुद्धिके अनुसार विचारनेसे यही प्रतीत होता है कि पाञ्चभौतिक शरीरकी उत्पत्तिके लिये माता और पिता दोनोंकी आवश्यकता होती है। ज्ञान और वैराग्यकी सृष्टि पाञ्चभौतिक नहीं है।

ग्रन्थकारने भक्तिकी श्रेष्ठता बतलानेके अभिप्रायसे ज्ञान-वैराग्यको पुत्रका स्थान दिया है। नारदजीका विचरण करना स्वभाव है। घूमते हुए नारदजीको भक्तिका दर्शन यमुना-तटपर हुआ था। जिस समय भक्ति नारदजीको मिली, उस समय उसके दोनों पुत्र अत्यन्त जर्जर हो रहे थे। उनमें चलनेकी शक्ति नहीं थी। उनकी दशा देखकर भक्ति शोकसे मूर्छित हो रही थी। उसकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी। अपने रक्षककी खोजमें आँखें फाड़-फाड़कर वह चारों ओर देख रही थी। सैकड़ों स्त्रियाँ हवा कर रही थीं और बार-बार उसे समझा रही थीं। यथा—

दशदिक्षु निरीक्षन्ती रक्षितारं निजं वपुः।
वीज्यमाना शतस्त्रीभिर्बोध्यमाना मुहुर्मुहुः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य १ । ४०)

नारदजीको देखकर भक्ति बहुत प्रसन्न हुई; क्योंकि वह जानती थी कि भगवान्‌के भक्त परदुःखकातर होते हैं और दयालु भी होते हैं। अतः उसने उनको क्षणमात्र ठहरकर अपना दुःख सुननेके लिये प्रार्थना की।

नारदजी तो स्वयं ही चकित हो रहे थे; क्योंकि दो कंकाल शेष, मुमूर्षु वृद्ध पुरुषोंके लिये तरुणी स्त्री विलाप क्यों कर रही है। नारदजीने रोनेका कारण और उन दोनों वृद्ध पुरुषोंका परिचय पूछा। तब भक्तिने कहा—

मैं गौड़ देशमें उत्पन्न हुई और मेरा पालन-पोषण कर्णाटकमें हुआ। महाराष्ट्रमें किसी-किसी स्थानपर मैं रही, परंतु गुजरातमें मैं वृद्ध हो गयी। ये दोनों मेरे पुत्र हैं, इनके नाम ज्ञान और वैराग्य हैं। थोड़े ही दिनोंमें ये वृद्ध हो गये। मैं भक्तिके नामसे लोकमें प्रसिद्ध हूँ। यथा—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥
उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥

(श्रीमद्भा० माहा० १ । ४५, ४८)

इस रूपकसे यही समझमें आता है कि भक्ति ज्ञान और वैराग्यकी जननी है। इससे यह समझना चाहिये कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती; क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ऐसा सिद्धान्त है, और ज्ञानकी उत्पत्ति भक्तिसे, अतः मनुष्यको पहले भक्ति प्राप्त करनी चाहिये। फिर तो, अपने मातृप्रेमसे आकृष्ट होकर ज्ञान स्वयं आ जायगा। ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। अपने सहोदर भाई ज्ञानका सहायक वैराग्य है। ज्ञान प्राप्त होनेपर वैराग्य स्वयं हो जाता है। संसारकी वस्तुओंमें आकर्षण नहीं रह जाता। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६ । २२)

अज्ञानी मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन आदिको सुखका साधन समझकर अधिक-से-अधिक प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, और प्राप्त होनेपर अपनेसे बढ़े हुए दूसरेको देखकर ईर्ष्या करता है; क्योंकि तृष्णाका अन्त नहीं है। परंतु ज्ञान प्राप्त हो जानेपर जो शान्ति प्राप्त होती है वह सांसारिक वस्तुओंमें प्रतीत न होनेसे ज्ञानी उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता। भर्तृहरिने वैराग्यशतकमें लिखा है—

निःस्वोवष्टि शतं शती दशशतं लक्षंसहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं काङ्क्षति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिव पदं तृष्णावधिं को गतः॥

सांसारिक वस्तुओंमें शान्तिका अभाव है, अतः उनमें शान्ति प्राप्त करनेकी आशा करना अज्ञानता है।

वास्तविक सुख और शान्ति भगवत्प्राप्तिमें है, जो ज्ञानके द्वारा उपलब्ध होती है । इसलिये गीता (४ । ३८) में ज्ञानको सबसे पवित्र कहा गया है । यथा—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता होती है । भगवान्के नाम, गुण और प्रभावमें पूर्ण विश्वासके साथ अपने मनको स्थिर करनेका नाम श्रद्धा है । श्रद्धा होनेसे शीघ्र ही ज्ञानका उदय होता है और ज्ञानके उदय होते ही परम शान्ति मिल जाती है । भगवान्ने गीता (४ । ३९) में कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

श्रद्धासे भक्ति होती है । भज् धातुसे क्तिन् प्रत्यय करनेपर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है सेवा करना । भगवान्की सेवा है उनकी आज्ञाका पालन करना । अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए सर्वत्र भगवान्के अस्तित्वका अनुभव करना । यह है भगवान्की भक्ति । सर्वत्र और सर्वदा भगवान्के अस्तित्वका अनुभव प्रह्लादजीको था । इस अनुभवका फल उन्हें यह मिला कि हिरण्यकशिपुने उनको मारनेके लिये हाथीसे कुचलवाया, आगमें जलाया, विष खिलाया; साँपोंसे कटवाया, अन्तमें स्वयं तलवारसे उनको मारना चाहा और पूछा 'तुम्हारा रक्षक भगवान् कहाँ है । यदि सर्वत्र है तो खम्भेमें क्यों नहीं देख पड़ता ।'

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात्स्तम्भे न दृश्यते ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ८ । १३)

प्रह्लादके वचनको सत्य प्रमाणित करनेके विचारसे उस खम्भेसे ही अभूतपूर्व मृगेन्द्रके रूपमें भगवान् प्रकट हो गये । भगवान्ने केवल प्रह्लादके वचनको ही सत्य नहीं किया, अपने वचनको भी सत्य किया; क्योंकि उन्होंने ही कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३)

भक्तके पराधीन होनेके कारण भक्तकी इच्छाके अनुसार ही भगवान्को चलना पड़ता है । वस्तुतः समझा जाय तो भक्ति ही पराकाष्ठापर पहुँच जानेपर ज्ञानरूपमें परिणत हो जाती है । इसलिये जो केवल ज्ञानप्राप्तिके उद्देश्यसे भक्तिकी उपेक्षा करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ होता है । श्रीमद्भागवतमें महर्षि व्यासजीने ब्रह्मस्तुतिमें कहा है—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४)

भक्ति और ज्ञान—इन दोनोंमें कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है, ऐसा संदेह होनेपर अर्जुनने भगवान्से पूछा—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥
(गीता १२ । १)

तात्पर्य यह है कि निराकार और साकार दोनोंकी उपासनासे मुक्ति प्राप्त होती है फिर इन दोनोंमें अन्तर क्या है, कौन अच्छा है और क्यों अच्छा है, ऐसा संदेह होना स्वाभाविक है, अतः अर्जुनने ऐसा प्रश्न किया । भगवान्ने उत्तर दिया—मुझमें मनको एकाग्र करके मेरे साकार स्वरूपकी उपासना करनेवाले उत्तम हैं; क्योंकि निराकार ब्रह्मकी उपासना कठिन है । कारण यह है सर्वात्मना निराकारमें अपनेको लीन करनेमें देहाभिमान छूटना कठिन होता है और साकार ब्रह्मकी उपासनामें भक्त सर्वात्मना भगवान्के भरोसे निश्चिन्त हो जाता है । भगवान् उसके बनने और बिगड़नेके उत्तरदायी हो जाते हैं । भगवान्ने स्वयं कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

भगवान् शङ्कराचार्यने अपने विवेकचूडामणि ग्रन्थमें मोक्षके साधनोंमें भक्तिको ही प्रधान माना है । यथा—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।

मोक्ष-साधनकी सामग्रीमें भक्ति ही प्रधान है । उन्होंने भक्तिके दो भेद माने हैं—स्थूल भक्ति और सूक्ष्म भक्ति । यथा—

स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा ।
प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च ॥

अर्थात् प्रारम्भमें स्थूल भक्ति होती है, वही बढ़ती हुई भक्ति सूक्ष्मरूपमें बदल जाती है । आरम्भमें भक्त भगवान्की कथाओंको सुनता है । पश्चात् स्मरण करता है । इसी क्रमसे नौ

प्रकारकी भक्तियोंमें प्रवेश करता है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीने अपने पितासे नवधा भक्तिका वर्णन किया है। यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

ब्रह्मवैवर्तपुराणके सृष्टि-प्रकरणमें भगवान् शङ्करने नवधा भक्तिका वर्णन इस तरह किया है। यथा—

स्मरणं कीर्तनं नामगुणयोः श्रवणं जपः ।
त्वच्चारुरूपध्यानं त्वत्पादसेवाभिवन्दनम् ॥
समर्पणं चात्मनश्च नित्यं नैवेद्यभोजनम् ।
वरं वरेशा ! देहीदं नवधाभक्तिलक्षणम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० सृष्टि० ६ । १५-१६)

इसी नवधा भक्तिके सतत अभ्यास करनेसे भगवान्का अनुग्रह प्राप्त होता है और भगवान्के अनुग्रहसे स्थूलरूपा भक्ति सूक्ष्मरूपा हो जाती है। तब भगवान् अन्तःकरणमें नित्य निवास करते हैं।

भगवान् शङ्कराचार्यने लिखा है—

एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना ।
समुदेति सूक्ष्माभक्तिर्यस्माद्धरिरन्तराविशति ॥

इस तरह भक्ति और ज्ञानमें भक्ति श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानी भगवान्की भक्तिका आश्रय लेते हैं। श्रीमद्भागवत १ । ७ । १०) में लिखा भी है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

तात्पर्य यह है कि जो जीवन्मुक्त हैं, जिनका बन्धन कट चुका है जैसे नारदजी प्रभृति हैं, वे भी भगवान्की भक्तिका आश्रय लेते हैं; क्योंकि भगवान्की भक्तिमें इतना रस है, इतना आनन्द है।

वस्तुतः देखा जाय तो भक्ति और ज्ञानमें कुछ भेद नहीं है। दोनोंसे भगवत्प्राप्तिरूप फल एक ही प्राप्त होता है। इसी अभिप्रायसे गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी रामायणके ज्ञान और भक्तिके निरूपण-प्रकरणमें काग भुशुण्डिजीके मुखसे कहलाया है। गरुड़जीने जब प्रश्न किया कि 'ग्यानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपा निकेता॥' तब कागभुशुण्डिजीने कहा—

भगतिहिं ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

परंतु उन्होंने ही आगेकी चौपाईमें अन्तर भी बतलाया है। यथा—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना।
ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि ये पुरुष हैं, ये मायारूपी स्त्रीके रूपपर मोहित हो सकते हैं। इससे दृढ वैराग्य न होनेसे ज्ञानीको मायामें फँस जानेकी सम्भावना रहती है। परंतु भक्ति तो स्वयं स्त्री है। अतः कहा है—

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥

माया और भक्ति दोनों ही स्त्रियाँ हैं। अतः भक्तिके उपासक मायामें नहीं फँसते, यही इन दोनोंमें अन्तर है। यही भक्तिकी विशेषता है!

तमसो मा ज्योतिर्गमय

(रचयिता—डा० मोहनजी अवस्थी एम्०ए०, डी०फिल)

अंधकार आवरण हरो हे !
मेरे मन-मंदिरमें मोहन
मृदुल मनोहर चरण धरो हे !

× × ×

यदि अभाग्यवश या स्वकर्मवश
दुख-सरितामें कभी बहूँ मैं,
तो जीवनके प्रबल थपेड़े
हर्षित होकर सदा सहूँ मैं।
भँवर ग्रस्तको नाथ शरण दो
भीषण भयका हरण करो हे !
अंधकार आवरण हरो हे !

इस सीमित जीवन-घटमें
भरकर असीमता पूर्ण करो हे !
चरण-कमल-रजमें सारे
मद-मत्सर मेरे चूर्ण करो हे !
महामरणपर जीवनदायक
अमृत कणोंका क्षरण करो हे !
अंधकार आवरण हरो हे !

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दरिद्रकी सेवा

घटना अलीगढ़की है । सत्य कथा है, कपोलकल्पित नहीं । एक विद्वान् पण्डितजीने मुझे बतलाया कि एक संध्याको वे अलीगढ़की नगरीमें एक पानकी दूकानपर खड़े थे । एक हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण उनके पास आया । पण्डितजीके सामने हाथ फैलाकर उस ब्राह्मणने कहा—

'चार पैसेका गुड़ दिला दीजिये ।'

पण्डितजीको बुरा लगा । उन्हें विक्रमादित्य तथा कालिदासकी कथा याद आ गयी । विक्रमके दरबारमें नर-बलि करनेवाला एक राक्षस आया । उसने नर-बलिकी अनुमति चाही । भला ऐसी आज्ञा कैसे मिल सकती थी ? उस राक्षसने कहा कि या तो अनुमति दो या मेरे प्रश्नका उत्तर दो—

नष्टस्य कान्या गतिः ?

'जो नष्ट हो गया है उसकी और क्या गति होगी ?'

इस टेढ़े प्रश्नका उत्तर देनेके लिये विक्रमने सात दिनका समय माँगा । यह भार कालिदासपर सौंपा गया । सातवें दिन प्रातःकाल संध्यावन्दनके समय कालिदास एक भिखारीके वेषमें उस कर्मकाण्डी राक्षसके यहाँ पहुँचे और भिक्षा माँगी । राक्षसने पूजन-पाठके समय एक हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मणको भिक्षा माँगते देखकर उसे फटकारकर कहा—

'तुम्हें लज्जा नहीं आती कि इतने हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण होकर प्रातःपूजनके समय भीख माँग रहे हो ?'

उस ब्राह्मणने कहा—

'महाराज मैं जुआ खेलता हूँ !'

'ब्राह्मण और जूआ, धिक्कार है तुमको ।'

'जुआ खेलते-खेलते मैं मदिरापान करने लगा ।'

'हे भगवान् ! तुम्हारा इतना पतन ।'

'मदिरा पीनेसे वासनावृत्ति जागी अतएव मैं वेश्यावृत्ति करने लगा हूँ ।'

'उफ, तुम्हारे पतनकी सीमा नहीं है !'

'वेश्यावृत्तिके लिये धनकी आवश्यकता होती है । अतएव मैं चोरी करने लगा ।'

'तो फिर तुम ब्राह्मणत्व बिल्कुल खो बैठे ?'

'चोरी, वेश्यावृत्ति, मदिरा, जूआ—मैं दर-दरकी ठोकरें खाने लगा ।'

'तब तुम भिखारी बन गये छिः ।'

राक्षसने घृणापूर्वक कहा ।

'तब भिखारी ब्राह्मण बोला—

नष्टस्य कान्या गतिः ?'

राक्षसको उसके प्रश्नका उत्तर मिल गया । जिस ब्राह्मणका इतना पतन होगा । जो एक कुमार्गपर चलेगा उसे अनगिनत कुमार्गपर चलना पड़ेगा । वह नष्ट होकर रहेगा और उसकी अन्य गति क्या होगी । वह दर-दरकी ठोकरें खायेगा ।

हमारे विद्वान् पण्डितजीने सोचा कि ऐसी ही कोई बात इस ब्राह्मणके साथ भी होगी ।

उन्होंने उस ब्राह्मणसे कहा—

'भाई ! तुम हृष्टपुष्ट हो । कोई कारोबार करो । भीख माँगना बड़ा भारी पाप है ।'

भिखारीने पण्डितजीके नेत्रोंमें नेत्र गड़ाकर एक क्षणके लिये देखा । फिर दृढ़ स्वरसे बोला—'हो सके तो गुड़ दिला दीजिये । वरना स्पष्ट उत्तर दीजिये । मैं ऐसे उपदेश रोज सुनता हूँ ।'

पण्डितजीको उसकी बातोंसे ऐसा लगा कि वह अपढ़ नहीं है । उन्होंने फिर कहा—

'यदि स्वयं नहीं कमा सकते तो तुम्हारी संतान तुम्हारा पालन-पोषण क्यों नहीं करती ?'

भिखारीने सौम्य भावसे कहा—

'पत्नी, संतान सभी निकम्मे निकल गये । बोलो, गुड़ खिलाते हो या नहीं ?'

अब हमारे विद्वान् मित्र उसकी स्थिर मुद्रासे इतने प्रभावित हो चुके थे कि उन्होंने पैसे निकाले, गुड़ खरीदा । जबतक वह गुड़ खाकर पानी पीता रहा, वे उसकी ओर देखते रहे । पानी पीकर वह आश्वस्त हुआ । फिर उसने पण्डितजीसे कहा कि जरा दूर मेरे साथ चलिये । पासमें ही एक उद्यान था । वहाँ

पहुँचकर वह भिखारी ब्राह्मण कुछ क्षण मौन रहा। फिर यकायक उस आशुकवि पण्डित भिखारीने कहा—

विद्या सत्कविता तथा सुजनता सेवापि च प्रार्थना
पञ्चैताः परिणिन्यिरे जनयितुं वित्तात्मजं यत्नतः।
व्यापारं सकलं विहाय नितरां तत्रैव रेमे मुहुः
किं कुर्वे कुटिलाशयेन विधिना पञ्चापि वन्ध्याःकृताः॥

उस ब्राह्मणने कहा कि 'मैंने अपने जीवनमें पाँच विवाह किये। विद्यासे मैं पण्डित हो गया। कवितासे मैंने अच्छी कविता करना सीख लिया। सुजनतासे मैं बड़ा अच्छा जीवन, सदाचारी जीवन बिताने लगा। सेवासे मैंने नौकरी भी की। प्रार्थनासे मैंने चाटुकारिता तथा प्रार्थना भी काफी की। इन पाँचों स्त्रियोंके साथ मैंने सब काम छोड़कर दत्तचित्त हो रमण किया। पर अपने कुटिल भाग्यको क्या कहूँ कि ये पाँचों स्त्रियाँ वन्ध्या निकलीं। इनसे कोई संतान नहीं हुई जो मेरा पोषण करती। यानी सब कुछ करके देख लिया, मेरा भाग्य ही साथ नहीं देता। अतएव भीख माँगता फिरता हूँ।'

प्रयत्न या परिश्रमसे ही धनकी प्राप्ति हो, ऐसा नहीं है। भाग्य बड़ी भारी वस्तु है। इसके एक ही झटकेसे सब करे-धरेपर पानी फिर जाता है। मनुष्यके जीवनमें भाग्य बड़ी भारी वस्तु है। दरिद्रता दुर्भाग्यके कारण भी होती है। अतएव भाग्यके लिये भाग्यके स्वामी भगवान्‌की शरणमें जाना चाहिये।

किंतु, धन उसीके पास आता है जो दूसरेके दुर्भाग्यको समझता है, पहचानता है या जानता है। जिसके मनमें दूसरेके दुर्भाग्यके प्रति कोई सहानुभूति नहीं, उसका जीवन अन्ततोगत्वा भाग्यशाली नहीं रह सकता। हमारे भाग्यका विधाता दरिद्र है। दूसरेकी दरिद्रता है। जो दरिद्र होता है, वह संसारको अधिक अच्छी तरहसे पहचानता है। वह संसारसे अधिक परिचित है। इसीलिये तो लिखा है—

भो दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन॥

'हे दारिद्र्यदेव! तुमको नमस्कार। तुम्हारे प्रसादसे ही मैं सिद्ध हो गया हूँ। मैं दरिद्र हूँ, मेरी ओर कोई नहीं देखता है, पर मैं संसारभरकी ओर देख रहा हूँ।'

एक दरिद्रको जब संसारमें, जीवितोंकी बस्तीमें कहीं सहारा नहीं मिला, तब वह मरनेवालोंके स्थानपर गया। वह श्मशान जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक शव बड़े आरामसे लेटा है। विश्राम कर रहा है। उसकी यह शान्ति तथा सुख देखकर दरिद्रने उससे कहा—

उत्तिष्ठ क्षणमेकमुद्वह गुरुं दारिद्र्यभारं सखे
श्रान्तस्तावदहं चिरं मरणजं सेवे त्वदीयं सुखम्।
इत्युक्तो धनवर्जितेन सहसा गत्वा श्मशानं शवो
दारिद्र्यान्मरणं वरं वरमिति ज्ञात्वैव तूष्णीं स्थितः॥

"हे सखे! जरा एक क्षणके लिये उठकर मेरी दरिद्रताका बोझ सँभाल लो। मैं इसे ढोते-ढोते थक गया हूँ और तुम आरामसे सो रहे हो।' श्मशानमें जब शवने दरिद्रकी यह बात सुनी तो उसने सोचा कि दरिद्रतासे कहीं अधिक अच्छा है मर जाना। यह सोचकर वह चुप-चाप लेटा ही रहा। उसने दरिद्रकी प्रार्थनाका कोई उत्तर ही नहीं दिया।"

जब दरिद्रता इतनी बुरी चीज है तथा दरिद्रका साथी मुर्दा भी नहीं है, तब हम अपने सीमित-साधनोंमें उसकी सहायता तो कर ही सकते हैं। भिखारी हमसे भीख नहीं माँगने आता। वह तो हमें सीख देने आता है कि 'दो, भाई! दो। दान दो। नहीं दोगे तो हमारे-जैसे हो जाओगे।'

भिक्षुका नैव याचन्ति शिक्षयन्ति गृहे गृहे।
देयं देयं पुनर्देयं न देयं फलमीदृशम्॥

इस संसारमें जो कुछ प्रकाश है वह धनी तथा समृद्धिकी ज्योतिसे नहीं, पीड़ित तथा परित्यक्तकी ज्योतिसे है। यदि अन्धकारसे प्रकाशमें आना है तो दरिद्रकी आत्माको पहचानना होगा।

क्या खबर सितम नवाज़ बे-खबर जहानको।
दिल जलोंकी आहसे हो रही है रोशनी॥

मृत्यु एक निश्चित सत्य है। अमीर हो या गरीब, मरना सभीको है। यदि मरना निश्चित है तो फिर धनकी गठरी भी क्या काम देगी। धन-संचय करनेवालेने यदि केवल उसका संचय किया और दूसरेकी सहायता नहीं की तो निश्चय ही मृत्युके समय उसके प्राण बड़े संकटमें रहेंगे।

पूछत पूत कपूत बाबू धन केतनों कहाँ?
प्रान परे साँकरे न हाँ करे न ना करे।

जीवनके उस पार धनका नहीं, निर्धन तथा परसेवा-परायणका महत्त्व होता है। यही सद्गुरु हमें सिखाते हैं। अन्यथा उस पार क्या है, कौन जाने।

उतते कोउ न आइआ जासे पूछूँ धाय।
इतते सब कोइ जात है भार लदाय लदाय॥
उतते सतगुरु आइआ, जाकी बुधि है धीर।
भवसागरके जीवको खेइ लगावे तीर॥

बाबा कबीरकी यह वाणी याद रखनी चाहिये। हमें दूसरेकी या अपनी दरिद्रतापर दया नहीं, संकोच करना चाहिये। उसे कर्म तथा भाग्यका फेर, दोनों ही मानना होगा। भाग्य तथा कर्म सद्गुरुकी कृपा तथा उपदेशसे सुधरते हैं। पर, अपने सुधारके साथ दूसरेके सुधारकी बातें भी सोचनी चाहिये। मानव-जीवनकी पहेलीको यदि सही ढंगसे सुलझाना है तो अपने तथा परायेके भाग्यको समान रूपसे सँवारना होगा। केवल अपना-अपना करनेसे कुछ नहीं होता। जीवनमें साहसके साथ, श्रद्धाके साथ, विश्वासके साथ, भगवान्में आस्था रखकर जो व्यक्ति जीवन बिताता है, उसीका जीवन सफल होता है, अन्यथा वाल्मीकिरामायणके अनुसारः—

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥

'जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहते हैं, उनके सब काम बिगड़ जाते हैं और वे बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाते हैं।'

—श्रीपरिपूर्णानन्द वर्मा

(२)

लालचके बदले ईमानदारी

गत २३ जुलाईकी बात है, मैं और मेरे पिताजी श्रीरामचरित्र पाण्डेयजी छपरासे आ रहे थे। छपरामें हमलोग श्री एस्० यम्० राजा एक्सपोर्टके यहाँसे आ रहे थे। छपरामें भगवानबाजार स्टेशनपर चढ़े। वहाँसे हमलोगोंको मोतीहारी आना था। हमलोगोंके पास करीब छः सौ रुपये थे, जिसमें सौ मेरे पास और पाँच सौ पिताजीके पास थे। पिताजीने उन रुपयोंको अपनी ऊपरवाली जेबमें रख लिया था। ट्रेनमें अधिक भीड़ होनेके कारण पिताजी ऊपरके पाटियेपर, जिसपर सामान रक्खा जाता है, चढ़ गये और बिस्तरा बिछाकर सो गये। उनके चढ़नेके समय ही रुपये जेबसे निकलकर, नीचे एक बंगाली महिला बैठी थी, उसके पैरोंपर गिर पड़े थे। उस समय तो उस महिलाने कुछ भी नहीं कहा, किंतु जब गाड़ी मुजफ्फरपुरमें पहुँची और हमलोग अपने बिस्तरोंको सँभालकर चलने लगे, तब उस महिलाने पूछा कि 'आपका कुछ छूटा भी जा रहा है क्या?' पिताजीने देखा तो उनको कुछ मालूम नहीं हुआ। उसने नोटोंका बंडल निकालकर दिया और नोट कैसे कब गिरे थे यह सुनाया। पिताजी बहुत प्रसन्न हुए और उन देवीका परिचय प्राप्तकर हमलोग प्रसन्नतासे अपने घर लौटे। उन देवीका नाम श्रीविमला कुमारी था। वे कलकत्तामें रहती हैं। उनकी सदाशयता और महानताके हमलोग सदा कृतज्ञ हैं।

—रामदर्शन पाण्डेय

(३)

आत्मसंजीवनी

दि० १९-३-६१ रविवारको प्रातः अपने ही विषहर जंगल डभौरा (रीवाँ) म० प्र० में चलते हुए कुटियासे लगभग सौ गज दूर पेड़के नीचे मुझे लकवा हो गया। एक घंटे भरमें धीरे-धीरे होशमें ही पाँवसे सिरतक सारा दक्षिणाङ्ग गतिहीन—शून्य हो गया। मैं घबराया नहीं, संसार मिट्टी और जीवन निःसार प्रतीत होने लगा, समझा कि देहत्याग होगा; क्योंकि लकवासे ग्रस्त होकर वैज्ञानिक इलाजसे लोगोंको बरबाद और मरते देखा था, अतः स्वयं अस्पष्ट लाचार वाणी बोलते और कलम पकड़नेसे लाचार होकर दूसरेसे माथा फोड़ करते हुए करीब पचास पत्र मित्रों, स्नेहियों और पत्रकारोंको लिखवा दिये। आधा अङ्ग बेकार जडवत् होनेसे मैं सालभरके बालकसे भी गया-बीता था।

लोग मुझे देखने आते, तेल मालिश दवाकी राय देते, डॉक्टर अस्पतालकी बात करते।

क्या डॉक्टर, अस्पतालके लोग रोगी नहीं होते, नहीं मरते? दुनियाँमें सचमुच रोगकी दवा होती तो लोग रोगी न होते और न मरते। दवा अन्धविश्वास और अधिक रोगी बनानेके लिये धोखेका सौदा है।

मैं उसी पेड़के नीचे, खुली वायु और धूपमें पड़ा रहा, भोजन त्याग दिया, केवल गरम पानीके बाह्यान्तर प्रयोग करता रहा। रोगके आक्रमणकी क्रिया जडता तथा आत्मचिकित्सामें क्रमशः अङ्गोंमें स्पन्दनका अनुभव मैंने दिन-रात करते हुए देखा है कि शरीरमें आत्मा कैसे कार्य करता है। तुलसीदासजीने कहा है—

'कहियत भिन्न न भिन्न'

प्राचीन उपनिषत्कारोंने कहा है—

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ।
जिससे सब ज्ञात हो सके वही विज्ञान है ।
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
सूर्य स्थावर-जंगमका मूल है ।

वह आत्मसंजीवनी मेरे जीवनमें स्वयंसिद्ध प्रमाणित हुई । मैं चार दिनमें स्पष्ट बोलते हुए, अब लिखता-पढ़ता बारह दिनमें चलने-फिरने लगा हूँ । कल ही एक फर्लांग चला था । रोग हमारा शत्रु नहीं, वरं हमारे विकारके रूपमें हमारा चिकित्सक मित्र है, तन-मनका शोधक है । इतना ज्ञान और आत्मसुधार लोग कर सकें तो संसारमें रोग न हो । परंतु वैज्ञानिकोंने आत्मशोध न करके परमाणु और कीटाणुओंकी शोध करके वैज्ञानिक खेतीद्वारा संसारसे रोग-दुःख मिटानेके और उन्नतिके नामपर रोग बढ़ाये और विनाशकी स्थिति उत्पन्न कर दी। विज्ञानमें आत्मा नहीं, प्राण नहीं । वैज्ञानिक बतावें कि दो नथुनोंसे श्वास चलनेका रहस्य क्या है ?

ओषधि कही जानेवाली वस्तुएँ जड और विष तुल्य हैं, उनमें जीवन नहीं । धोखेका सौदा है । लकवेसे अथवा अन्य रोगोंसे ग्रस्त लोगोंको वैज्ञानिकोंके आश्रयमें चिकित्सा कराते देख लोगोंको बरबाद होते मरते हुए मैंने देखा है। आत्मज्ञान—आत्मशोधके बिना विज्ञान फीका और नपुंसक है । जो लोग इतर चिकित्सापद्धतियोंको अवैज्ञानिक कहते हैं, प्रकृतिको शरीरका शत्रु कहते हैं, वे पहले अपनी वैज्ञानिकता सिद्ध करें । विज्ञानसे प्रकृति पैदा हुई या प्रकृतिमेंसे विज्ञान पैदा हुआ ?

आज बारह दिनमें, किसी विकृत ज्ञानकी ओषधि बिना मैं लकवासे मुक्त हूँ, दूसरे लोग भी मुक्त हो सकते हैं। विज्ञानकी शरणमें गये हुए लोग बारह महीनेमें बहुत धन व्यय और लगातार अनेक विद्युत् और चमत्कारी प्रयोगसे अच्छे न होकर, बरबाद अपंग बने हुए हैं । ईसामसीहने कहा है:—

> Creator is He that is in you,
> Than that which is in the world.
> Nearer is He, than your hands
> and feet.

इसको सिद्ध करो, यही जीवन है । —विश्वामित्र वर्मा

(४)

मंद करत सो करइ भलाई

लगभग चालीस सालकी बात है। रामतनु चाटुज्ये हुगली जिलेके एक छोटे-से गाँवमें रहते थे। उनके पिता पुरोहितीका काम करते थे। पर उनकी इच्छा लड़केको पढ़ाकर उसे अच्छी नौकरीमें लगा देनेकी होनेसे उन्होंने रामतनुको इंट्रेंसकी परीक्षा पास करवाकर कलकत्ते भेज दिया और वहीं एक सरकारी महकमेमें नौकर रखवा दिया। वे वहाँ पढ़ते भी रहे। धीरे-धीरे एफ० ए० कर लिया। उन्नति करते-करते दो सौ रुपये महीनेपर एक सरकारी स्कूलमें हेडमास्टरी करने लगे। उस जमानेमें दो सौ रुपये महीनेकी नौकरी बहुत बड़ी चीज थी। इससे रामतनु बाबूका गाँवमें गौरव बढ़ गया था। गाँवमें उनका एक पड़ोसी अधरचन्द्र था। वह रामतनुकी इस उन्नति तथा गौरवसे बहुत जलता था, और समय-समयपर रामतनुकी बदनामी करने, उनपर लाञ्छन लगाने तथा नुकसान पहुँचानेकी चेष्टा किया करता था। रामतनु तथा उनकी स्त्री दोनोंके स्वभाव बहुत अच्छे थे। वे अभिमान तो करते ही नहीं, किसीका बुरा करनेकी कल्पना तो उनके मनमें कभी आती ही नहीं, वे गाँवभरका सहज ही भला चाहते थे और यथासाध्य किया भी करते थे। इससे गाँवमें उनकी शोभा-कीर्ति और भी बढ़ गयी थी। यह भी अधरचन्द्रकी जलन बढ़ानेमें एक खास कारण था। रामतनुको उसकी इस मनोवृत्तिका कुछ भी पता नहीं था।

एक समय छुट्टियोंमें रामतनु गाँवपर आये हुए थे। अधरचन्द्रने दो-तीन गुंडोंको पहलेसे ही तैयार करके एक दुष्ट-योजना बना रक्खी थी। बाहरसे किसी एक आवारा स्त्रीको वहाँ बुला लिया था। स्कीम थी कि किसी दिन वह स्त्री व्यर्थ ही हो-हल्ला मचावे, रामतनुपर लाञ्छन लगावे और उसी समय वे गुंडे तथा अधरचन्द्र उस स्त्रीकी रक्षाके बहाने रामतनुपर टूट पड़ें। स्कीमके अनुसार ही काम हुआ। एक दिन रामतनु कहीं बाहरसे घर आ रहे थे। दुपहरका समय था। एक छोटी-सी सुनसान गली थी। निश्चित स्थानपर वह स्त्री खड़ी थी। रामतनु उसके पाससे निकले कि उसने बड़े जोरोंसे चिल्लाकर पुकारा—'छोड़ दे, छोड़ दे—बदमाश कहींका—'हाय ! हाय ! तू ब्राह्मण मास्टर होकर मेरा शील लूटना चाहता है। अरे कोई बचाओ!' रामतनु तो हक्के-बक्के रह गये। वह रामतनुके बिल्कुल

समीप आ गयी थी। कपड़े अस्त-व्यस्त कर रखे थे उसने। अधरचन्द्र तो गुंडोंको लिये छिपा खड़ा ही था। तुरंत आकर हल्ला मचाने तथा रामतनुको गालियाँ बकते हुए उन्हें मारने लगा। गुंडे भी प्रहार करने लगे। रामतनुकी तो कुछ समझमें ही नहीं आया कि यह सब क्या और क्यों हो रहा है। हल्ला सुनकर आस-पासके घरोंमेंसे लोग निकल आये। खासी भीड़ इकट्ठी हो गयी। गाँवके लोग तो रामतनुके स्वभावसे परिचित और उनके प्रति अत्यन्त सहानुभूति तथा श्रद्धा रखते थे। प्रायः सभी उनसे उपकार पाये हुए थे। रामतनुके उपकार तो अधरचन्द्रपर भी कम नहीं थे। पड़ोसीके नाते वह बीसों बार उनकी सहायता प्राप्त कर चुका था। एक बार तो अधरचन्द्रको प्लेग हो गया था। डबल गिल्टी थी। सारे गाँवमें प्लेग फैला था। घरवाले भी सब अधरचन्द्रको छोड़कर चले गये थे। उस समय एक रामतनु ही ऐसे थे जो अपने पड़ोसी अधरकी सेवामें चौबीसों घंटे लगे रहे, दवा-दारू की और उसे बचाया। घरवाले तो दस दिनके बाद लौटे थे। पर कृतघ्न तथा दूसरेको दुःख देनेमें ही सुखका अनुभव करनेवाले अधरचन्द्रपर रामतनुके उपकारोंका कोई असर नहीं था। इसी दुष्ट स्वभाववश वह आज अपनी आसुरी क्रियामें लग रहा था। उसने तो हो-हल्ला इसलिये मचाया था—गाँववालोंको वह अपने पक्षमें कर ले। रामतनुके प्रति वे सब नाराज हो जायँ तथा गाँवभरमें रामतनुकी बदनामी हो जाय। पर भगवान् तो सब देखते ही हैं। वहाँ एकत्र हुए गाँववालोंमें एकाधको छोड़कर प्रायः सभी रामतनुको सच्चा सत्पुरुष तथा निर्दोष मानते थे और अधरचन्द्रको दोषी! वे अधरचन्द्रके दुष्ट स्वभावसे भी परिचित थे। उनमेंसे एकने उस स्त्रीको भी पहचान लिया, वह समीपके गाँवकी ही एक बड़ी बदनाम दुश्चरित्रा थी। उसका पेशा यही था। गुंडे भी पहचाने गये। लोगोंने तुरंत रामतनुको बचा लिया। गुंडोंपर तथा अधरचन्द्रपर उनको रोष आ गया। वे सब इनपर टूट पड़े पर सात्त्विक-हृदयके श्रीरामतनु महाराज इसको नहीं सह सके। उन्होंने हाथ जोड़कर स्वयं बीचमें अपनेको डालकर उन सबको बचाया। हालांकि उस समय उनके सारे शरीरमें मारके कारण बड़ी पीड़ा हो रही थी। कनपटीके पास तथा बायें कंधेपर लाठीकी चोटसे खून बह रहा था। पर वे इसकी परवा न करके अपने स्वभाववश उन दुष्टोंको बचानेमें लग गये। आखिर अपनी शपथ दिलवायी तथा मारनेवालोंकी मार स्वयं सहनेको तैयार हो गये। तब उन दुष्टोंकी जान बची। वह स्त्री तो पहचाने जाते ही भाग गयी।

इधर यह सब देखकर दो आदमी भागकर दो मील दूर एक गाँवमें थाना था वहाँ खबर देने पहुँच गये थे। उनसे इस जुल्मकी बातें सुनते ही दारोगाजी सिपाहियोंको साथ लेकर तुरंत चल दिये। दारोगाजी भी भाग्यसे रामतनुजीके द्वारा उपकृत थे। रामतनुजी विद्वान् तथा उच्च पदपर नौकरी करते थे, इससे सरकारी क्षेत्रमें उनका बड़ा आदर था, सभी उनकी इजत करते थे। उन्होंने ही आरम्भमें दारोगाजीकी नौकरी लगायी थी। दारोगाजीने पहुँचते ही जाँच की और गुंडोंसहित अधरचन्द्रको पकड़ लिया। पचासों आदमी गवाही देनेको तैयार थे। सिपाहियोंको भेजकर दारोगाजीने उस आवारा स्त्रीको भी पकड़ मँगवाया। उसने आते ही अपराध स्वीकार किया और बताया कि 'वह तो अधरचन्द्रके द्वारा पंद्रह रुपये पाकर उसके कथनानुसार करनेको आयी थी। उसे जैसा करनेको अधरचन्द्रने कहा था, वैसा ही किया। उसे यह पता नहीं था कि ये लोग रामतनु बाबूको मारेंगे।'

गुंडे भी पुलिसके भयसे ढीले पड़ रहे थे। यह सब देखकर अधरचन्द्रके होश हवा हो गये। वह बिल्कुल घबरा गया, काँपने लगा और उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। यह सब देखकर रामतनु बाबू बहुत दुखी हो रहे थे। उन्हें अपने अपमान तथा चोटका कष्ट तो भूल गया। वे अधरचन्द्रके दुःखसे दुखी होकर उसे छोड़ देनेके लिये दारोगाजीसे विनम्र अनुरोध करने लगे।

दारोगाजीने बड़े आदरसे, परंतु कड़ाईसे कहा कि—'रामतनु बाबू! आप पुलिसके काममें दखल न दीजिये। हमने दुष्टोंको रँगे हाथों पकड़ा है और हमारे पास इनको सजा दिलानेके लिये सबूत तथा गवाह मौजूद हैं। अपराधोंका घटाना पुलिसका कर्तव्य है। अपराधोंका घटना अपराधियोंको दण्ड मिलनेसे ही सम्भव है। हम इस सम्बन्धमें आपका कोई अनुरोध नहीं सुनना चाहते।' रामतनुजीने फिर बहुत कहा, तब दारोगाजीने कहा कि—'हमने तो आपके घावों तथा चोटोंकी जाँच करके रिपोर्ट देनेके लिये हुगलीसे सरकारी डाक्टरको बुलाया है और आप इन दुष्टोंको छुड़ाना चाहते हैं।'

पुलिसवालोंने रामतनु बाबूको आदरसहित उनके घर

पहुँचा दिया। वहाँ एक सिपाही इस कामके लिये बैठा दिया गया, जो डाक्टर आनेपर उनकी रिपोर्ट लेकर थानेपर आ जाय। गाँवके बहुत-से लोग रामतनु बाबूके घरपर जमा हो गये। सभी चाहते थे दुष्टोंको दण्ड मिले। पर रामतनु बाबूको बड़ा मानस-क्लेश हो रहा था। वे किसी भी उपायसे अधरचन्द्रको बचाना चाहते थे। बड़ी व्याकुलता थी उनके कोमल हृदयमें—

'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।'

वे गाँववालोंसे बोले—'देखिये, मनुष्य अपने-अपने स्वभावके अनुसार बर्ताव-व्यवहार करता है। परंतु दुःख तो सभीको होता है। आज मेरे कारणसे अधरचन्द्र तथा उसके परिवारको कितनी पीड़ा हो रही है। सचमुच उनकी इस पीड़ामें मैं ही कारण हूँ। किसी भी हेतुसे हो, अधरबाबू मेरे कारणसे दुखी थे, और उस दुःखने ही उनसे ऐसा व्यवहार करवा दिया। वस्तुतः मुझपर जो मार पड़ी, वह तो मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मका फल है। मेरा प्रारब्ध ऐसा न होता तो अधरचन्द्रमें क्या शक्ति थी कि वे मुझको कष्ट पहुँचा सकते। यह तो मेरे ही कर्मका फल मुझे मिला। वे भूलसे इसमें निमित्त बनकर अपना बुरा कर बैठे, यह उनकी भूल है। भूला हुआ आदमी दया तथा क्षमाका पात्र होता है। वह तो पागल है न? अतएव मेरी प्रार्थना है—एक बार हमलोग चलकर दारोगाजीसे प्रार्थना करें कि वे इस मामलेको आगे बढ़ावें ही नहीं। वे न मानें तो फिर ऐसी व्यवस्था करें कि अधरचन्द्रके विरुद्ध कोई भी भाई गवाही न दें। मैंने तो अभी बयान दिया ही नहीं है। मैं अपने बयानमें कह दूँगा कि पैर फिसलकर गिर पड़नेसे मेरे चोट आ गयी।

'आपलोग एक बातपर और विचार कीजिये—अबतक अपने गाँवका यश सर्वत्र फैला है। किसीको भी किसी अपराधपर कभी सरकारी दण्ड नहीं मिला। कभी अपने गाँवके नामपर दाग लगा ही नहीं। अब यदि अधरबाबू दण्डित हो गये तो गाँवपर धब्बा लग जायगा। लोग चर्चा करेंगे कि उस गाँवमें ऐसे लोग रहते हैं। अतः प्रकारान्तरसे गाँवका ही नाम बदनाम होगा। आगे चलकर इससे कोई लोग अनुचित लाभ उठाकर गाँववालोंको परेशान भी कर सकते हैं। अतः इस भावी विपत्ति तथा कलंकके टीकेसे बचनेके लिये भी अधरबाबूपर कोई कार्यवाही नहीं होनी चाहिये, और वे निर्दोष ही छूट जाने चाहिये। गाँवभरको निष्कलङ्क बनाये रखनेके लिये यह बड़ा आवश्यक है।' गाँववाले तो यह सब सुनकर दंग थे। कोई मन-ही-मन रामतनु बाबूकी प्रशंसा कर रहे थे और कोई-कोई उनकी इस दयाको कायरता, देश काल-पात्रका विरोधी आचरण, अपराध बढ़ानेकी चेष्टा और मूर्खता बतला रहे थे। रामतनु बाबूकी आँखोंसे परदुःखकातरताके कारण आँसू बह रहे थे!

उधर पुलिसके आते ही गाँवभरमें समाचार फैल गया था। अधरबाबूकी स्त्री बड़ी घबरा रही थी। वह भली थी, वह पतिको यह सब दुष्कर्म करनेसे रोका भी करती थी। पर वह खल-हृदय उसकी बातको मानता नहीं था। रामतनु बाबूकी स्त्री अबलासे उसकी बहुत प्रीति थी। रामतनु बाबूकी पत्नी—यह सोचकर कि कहीं आवेशमें आकर गाँवके लोग अधरबाबूकी स्त्रीको परेशान न करें—दौड़कर उसको अपने घर ले आयी थी और उसको समझा दिया था कि 'हमलोगोंके द्वारा अधर बाबूका कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।' वह अपने भले पति रामतनु बाबूके सत्-स्वभावसे परिचित थी और इस स्वभावके रक्षण तथा संवर्धनमें उनकी सहायक भी थी। अस्तु! इस समय रामतनु बाबू गाँववालोंसे जो कुछ कह रहे थे, सब अधरचन्द्रकी स्त्री सुन रही थी और उसके हृदयमें रामतनु तथा उनकी पत्नी अबलाके प्रति श्रद्धा बढ़ती जा रही थी और अपने पतिके दुष्ट स्वभावके कारण अपने प्रति लज्जा और घृणा!

गाँववालोंमें श्रीहरिपद नामक एक सात्त्विक स्वभावके वृद्ध सज्जन थे। उनको रामतनुकी बातें बहुत अच्छी लगीं और उन्होंने रामतनु बाबूकी प्रशंसा करते हुए तथा उनका समर्थन करते हुए गाँववालोंको समझाया। गाँववालोंका मन कुछ पलटा। इतनेमें डाक्टर आ गये। डाक्टर भी रामतनु बाबूसे परिचित तथा उनके प्रति श्रद्धा रखते थे। रामतनु बाबूने समझाकर डाक्टरसे यह लिखवा लिया कि 'उन्होंने सब जाँच कर ली है। रिपोर्ट पीछे देंगे।' रामतनु बाबूने अधरचन्द्रके अनुकूल रिपोर्ट लिखनेके लिये डाक्टरसे बहुत अनुरोध किया, पर डाक्टरको उनकी बात नहीं जँची। आखिर वे इस बातपर राजी हो गये कि 'हम रिपोर्ट अभी नहीं दे रहे हैं। इस बीच आप दारोगाजीको राजी कर लीजिये; केस ही न चले तो फिर हमारी रिपोर्टकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सारा मामला ही समाप्त हो जायगा।' इसीसे

अनुसार उन्होंने रिपोर्ट पीछे देनेकी बात लिख दी थी ।

डाक्टरके लौट जानेपर रामतनु बाबू गाँवके चार-पाँच सम्भ्रान्त वृद्ध पुरुषोंको लेकर थानेपर गये । दारोगाजीको सब बातें समझायीं और रो-रोकर श्रीअधरचन्द्र तथा उसके साथियोंको बिना केस चलाये छोड़ देनेका अनुरोध किया । दारोगापर रामतनुजीके इस विलक्षण व्यवहारका प्रभाव पड़ा । उस दिन भाग्यसे थानेमें पुलिसके सर्कल इन्सपेक्टर प्रमथ बाबू आये हुए थे । वे भी यह सब सुन-देख रहे थे । उनपर प्रभाव पड़ा । दारोगाजीने उनसे बात की । ये सारी बातें अधरचन्द्र तथा उनके साथी भी सुन रहे थे । गाँवमें भी रामतनुकी चेष्टा तथा बातें वे देख चुके थे । अतः उनका हृदय अपने दुष्कर्मपर पश्चात्तापकी आगसे जल रहा था और वह क्रमशः बदलकर निर्मल हुआ जा रहा था । जो काम बड़े-बड़े दण्डों तथा जेलोंसे नहीं हो सकता, वह रामतनुजीके सद्व्यवहारसे अनायास हो रहा था ।

प्रमथ बाबूने बीचमें पड़कर गाँववालोंसे कहा—'देखिये ! आपलोग एक अपराधीको, जो अपराध करते समय पकड़ा गया है, बचाने जाकर अपराध बढ़ानेमें सहायक बन रहे हैं और प्रकारान्तरसे समाजका तथा अपने गाँवका अहित करने जा रहे हैं । ऐसे अपराधीको जरा भी दण्ड नहीं मिलेगा तो अपराध करनेवाले लोगोंका दुःसाहस बढ़ेगा जो समाजके लिये बड़ा घातक होगा । ये रामतनु बाबू तो साधुहृदय हैं, ये इस बातको नहीं समझ सकते । पर आपलोग इनके इस पागलपनका साथ क्यों दे रहे हैं ?'

इसपर श्रीहरिपद तथा रामतनु बाबूने अनेकों युक्तियोंसे प्रमथ बाबूको समझानेकी चेष्टा की कि वास्तवमें दण्डसे अपराध नहीं घटते । अपराध घटेंगे तो प्रेम तथा सहानुभूतिसे ही घटेंगे । कष्टके समय अहैतुक सेवा प्राप्त करनेपर ही अपराधीका हृदय-परिवर्तन होगा । फिर उन्होंने यह भी कहा कि 'हमलोगोंने निश्चय किया है कि न तो आपको अधर बाबूके विरुद्ध एक भी गवाह मिलेगा, न कोई सबूत ही । तब आप क्या करेंगे ।'

प्रमथ बाबू प्रभावित तो पहलेसे ही थे । अब उनपर और भी प्रभाव पड़ा । पर उन्होंने जरा रुखाईसे कहा—'देखिये, मुझे आपलोगोंके प्रति आदर है—आपकी उदारताका मैं सम्मान करता हूँ, पर इस प्रकार सहसा अपराधीको छोड़कर हमलोग कर्तव्यविमुख नहीं होना चाहते । हम सोचेंगे—क्या किया जा सकता है । आपलोग अभी उन्हें छुड़ाना चाहते हैं तो हमलोग अस्थायी रूपसे इन्हें छोड़ देते हैं परंतु कोई इनकी जमानत देनेवाले आपलोगोंमेंसे तैयार हो जायँ ।'

इसपर रामतनु बाबू तुरंत बोल उठे—'महाशय ! मैं जमानत-मुचलका जो कुछ आप कहें, देनेको तैयार हूँ ।'

यह सुन-देखकर इन्सपेक्टर प्रमथ बाबू तथा दारोगाजी दोनोंका हृदय द्रवित हो गया । वे भी आखिर मनुष्य ही थे । उन्होंने अधरचन्द्रको बुलाकर कहा—'देखा तुमने ? सुनी सब बातें ? कहाँ तुम और तुम्हारा बर्ताव और कहाँ ये और इनका बर्ताव ! अब तुम क्या कहते हो ?' अधरचन्द्रकी आँखें तो सावन-भादोंके बादल बनी हुई थीं । उसने रोते तथा घिघियाते हुए कहा—'हुजूर ! पश्चात्तापकी आगने मेरे हृदयकी सारी कालिमाको जलाकर खाक कर दिया है । मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, मैं पिशाच हूँ और ये महान् संत हैं, देवता नहीं, देवताओंके भी पूजनीय महात्मा हैं । पर मैं बचना नहीं चाहता । मुझे आजन्म कालापानी मिलना चाहिये । पर मेरे अपराधोंको देखते तो आजन्म कालापानी भी पर्याप्त नहीं होगा । मैंने जीवनभर अपराध-ही-अपराध किये हैं । सदा भला करनेवालोंका भी सदा बुरा किया है । यद्यपि इनकी कृपासे मेरे हृदयकी सारी कालिमाका विषभरा कूड़ा जल गया है । इसीसे मैं बचना नहीं चाहता । आप मेरा चलान कीजिये । मैं स्वयं अपना अपराध स्वीकार करूँगा ।'

यह सुनकर रामतनु बाबू रो पड़े और लपककर उन्होंने अधरचन्द्रको हृदयसे लगा लिया और उसके आँसू पोंछने लगे ।

प्रमथ बाबूकी रायसे दारोगाजीने उन लोगोंको छोड़ दिया । सब कागज फाड़ दिये गये । सब सानन्द विदा हुए । प्रमथ बाबूने तथा दारोगाजीने रामतनु बाबूकी चरण-धूलि ली । रामतनु बाबू बड़े आदरसे अधरचन्द्रके गलेमें हाथ डाले चले जा रहे थे । रामतनु बाबूका चेहरा खिल रहा था और उनके नेत्रोंमें हर्षके आँसू थे । अधरचन्द्रका सिर नीचा था, मुख उदास था और नेत्रोंसे पश्चात्तापके आँसुओंकी धारा बह रही थी । गाँववाले घेरे चल रहे थे । गुंडे भी भले मानस बनकर घर लौट रहे थे ।

—चारुचन्द्र शील

सांस्कृतिक प्रोग्रामोंमें लड़कियोंके नाच-गानपर कुछ रोक

बड़े आनन्दका विषय है कि उत्तरप्रदेश सरकारने कृपापूर्वक सांस्कृतिक प्रोग्रामोंमें विद्यालयोंकी लड़की तथा युवती छात्राओंके नाच-गानपर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिया है और यह आदेश दिया है कि 'सांस्कृतिक कार्यक्रमोंमें लड़कियोंके भाग लेनेसे पूर्व उनके अभिभावकोंकी लिखित अनुमति ले ली जाय तथा उनमें केवल निमन्त्रित लोगोंको ही आने दिया जाय। आम जनताको न आने दिया जाय।' इसके लिये हम उत्तरप्रदेश सरकारका उपकार मानते हैं। इस आदेशका कड़ाईसे पालन किया जाना चाहिये तथा अन्यान्य सरकारोंको भी इसका अनुकरण करना चाहिये। असलमें तो यह नाच-गान सर्वथा उठ जाना ही श्रेयस्कर है। सरकारसे प्रार्थना है वह विचार करे तथा गंदे सिनेमा एवं गंदे पोस्टरोंपर भी तुरंत रोक लगा दे।—**सम्पादक**

मेरा महत्त्व मेरे प्रभुकी दृष्टिमें है, वे मेरी कभी भी उपेक्षा नहीं करते

जीवनके सुखदायी अनुभवोंमेंसे ही मैं इस सत्यको भलीभाँति अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे प्रभु मेरी कभी भी उपेक्षा नहीं करते, कभी भी मुझे अपनी दृष्टिसे ओझल नहीं होने देते। जीवनमें ऐसे अवसर आ सकते हैं जब मुझे यह प्रतीत होता है कि मेरे प्रयत्न, मेरे शुभ प्रयास, मेरा परिश्रम, मेरी आकांक्षाएँ दूसरोंकी दृष्टिमें नगण्य हैं, अप्रशंसनीय हैं। ऐसे ही अवसरोंपर मैं यह अनुभव करता हूँ कि 'प्रभुकी दृष्टिमें मैं हूँ'—बस, यही सचमुच महत्त्वपूर्ण है, अन्य तो सब कुछ गौण है।

जब मैं स्वयंको अयोग्य, असमर्थ, तुच्छ एवं नगण्य अनुभव करने लगता हूँ, तब हृदयकी करुण भाषा द्वारा प्रभुके अत्यधिक निकट सम्पर्कमें अपनेको अनुभवकर मैं उनसे अपने सम्पूर्ण प्रयत्नों एवं सम्पूर्ण मानसिक प्रेरणाओंको उनकी असीम कृपासे आप्लावित कर देनेके लिये कहता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरा महत्त्व केवल उन्हींकी दृष्टिमें है और केवल वे ही मेरे प्राणोंकी झंकृतिको समझ सकते हैं, केवल वे ही उसपर ध्यान देंगे।

किसीने कहा है कि जब कोई वस्तु जलमें डुबायी जाती है तो वह वस्तु जलद्वारा आत्मसात् होनेमें जलको कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं देती। जैसे कोई भी वस्तु, किसी भी आकार-प्रकारकी, महासागरमें गिरती है, तत्क्षण स्वाभाविक ही जल चारों ओरसे उसे आवृत कर लेता है—उसे कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं होता। इसीलिये मैं यह जानता हूँ कि मेरा अस्तित्व प्रभुके स्नेह-सागरमें डूब गया है। उनको मुझे अपने सहज स्नेह द्वारा आत्मसात् करनेमें, अपने समस्त दैवी गुणोंसे मुझे अभिभूत करनेमें कोई अतिरिक्त कष्ट नहीं है।

इस तथ्यको समझकर मैं यह जानता हूँ कि प्रभुकी मुझपर अनन्त कृपा है, मेरे कार्योंमें उनकी ही प्रेरणा है, मेरी आकांक्षाओंमें उनकी कृपाका ही बल है, मेरे उद्देश्योंको उनकी कृपाका ही संबल प्राप्त है।

मैं प्रसन्न हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ मेरा महत्त्व केवल मेरे प्रभुकी दृष्टिमें है। —कुञ्जबिहारी

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित महाभारतसम्बन्धी साहित्य

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत-खिलभाग हरिवंश—हिंदी-अनुवादसहित

टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्तजी शास्त्री पाण्डेय 'राम'

आकार २२×३० आठपेजी, तीस पौंडके मोटे ग्लेज कागज, पृष्ठ-संख्या ११६२, चित्र बहुरंगे ८, इकरंगे ३२, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ११.५० मात्र। डाकखर्च ३.५०।

महाभारतके आदिपर्व अध्याय २ श्लोक ८२-८३ में लिखा है कि हरिवंशके पारायणके बिना श्रीमहाभारत-पारायण पूर्ण नहीं होता। किंतु हरिवंशका पारायण गीता आदिकी तरह स्वतन्त्र भी किया जाता है। यह 'हरिवंश-पुराण' तथा 'हरिवंश-पर्व' इन दोनों ही नामोंसे विख्यात है। इसमें हरिवंशपर्व, विष्णुपर्व और भविष्यपर्व—ये तीन पर्व हैं।

श्रीजैमिनीयाश्वमेधपर्व—हिंदी-टीकासहित

टीकाकार—पं० रामाधारजी शुक्ल शास्त्री

आकार २२×३० आठपेजी, तीस पौंडके मोटे ग्लेज कागज, पृष्ठ-संख्या ४२०, चित्र तीन बहुरंगे, बारह इकरंगे, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ५.०० मात्र। डाकखर्च १.७५।

प्रस्तुत ग्रन्थमें बड़ी मधुर, रोचक, सरस, भक्ति-प्रेमपरिपूर्ण तथा अत्यन्त आकर्षक कथाएँ हैं। भक्त सुधन्वा, मयूरध्वज और ताम्रध्वज, चन्द्रहास तथा अर्जुनकी युद्ध-यात्रा आदिकी अद्भुत-अद्भुत कथाएँ चित्ताकर्षक एवं अत्यन्त विलक्षण हैं।

सनत्सुजातीय शाङ्करभाष्य—हिंदी-अनुवादसहित

अनुवादक—स्वामीजी श्रीसनातनदेवजी

आकार २२×३० आठपेजी, ग्लेज मोटे कागज, पृष्ठ-संख्या १३४, भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य तथा श्रीसनत्सुजात और महाराजा धृतराष्ट्रके दो सुन्दर बहुरंगे चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २.०० मात्र। डाकखर्च १.०६।

महाभारतकी नामानुक्रमणिका

भूमिका-लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौंडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य २.५०, पूरे कपड़ेकी जिल्द-सहित ३.५०, डाकखर्च अजिल्दका १.४५ सजिल्दका १.६५।

इसमें महाभारतमें आये हुए लोक, द्वीप, देश, नगर, जनपद, समुद्र, नद, नदी, सरोवर, कुण्ड, तीर्थ, वन, पर्वत, देवता, देवी, मातृका, यक्ष, गन्धर्व, नाग, नक्षत्र, अप्सरा, राक्षस, असुर, दैत्य-दानव, ऋषि-मुनि, राजा, अन्यान्य मनुष्य, स्थान, वस्तु, पर्व आदिके नाम तथा कौन नाम कहाँ किस प्रसङ्गमें आया है, इसके उल्लेखसहित सबकी अनुक्रमणिका दी गयी है।

महाभारत-परिचय [अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग]

(महाभारतके सम्बन्धमें विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण निबन्ध)

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौंडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या २५६, मूल्य १.७५, सजिल्द २.५०, डाकखर्च अजिल्दका १.१५, सजिल्दका १.३१।

महाभारतका बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग परिचय देनेवाले कुछ महत्त्वके समीक्षात्मक लेख तथा महाभारतके प्रधान पात्रों और महाभारतमें आये हुए कुछ प्रसङ्गोंका परिचय दिया गया है। साथ ही महाभारतके मूल स्वरूप, उसकी श्लोक-संख्या तथा रचना-कालके सम्बन्धमें भी विचार किया गया है और 'महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप तथा लीलाकार्य'का परिचय दिया गया है।

चित्रोंमें—महाभारतके प्रमुख पात्र

(रंगीन ६ तथा सादे १७—कुल २३)

बढ़िया आर्टपेपरपर सुन्दर छपे हुए १० इञ्च×७॥ इञ्च साइजके महाभारत-सम्बन्धी २३ चित्रोंके इस संग्रहका मूल्य १.०० मात्र। डाकखर्च .८८।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

रजि० सं० ए० १७५

प्राचीन भारतीय संस्कृतिका प्रदर्शक

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत एक लाख श्लोकोंका महान् ग्रन्थ

सचित्र, महाभारत (सरल हिंदी-अनुवादसहित)

(सम्पूर्ण ग्रन्थ छः खण्डोंमें सजिल्द)

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौंडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या ६६२०, चित्र-संख्या बहुरं ७९, सादे २२५ तथा लाइन ५६४ कुल ८६८, मूल्य ६५) रुपये। १००) रुपयेके मूल्यकी सब पुस्तकें मिल लेनेवालोंको उनके रेलवे स्टेशनतकका रेलभाड़ा तथा पैकिंग मुफ्त। नियमानुसार १५ प्रतिशत कमीशन भी मिलेगा।

महाभारतके प्रत्येक खण्ड अलग-अलग भी मिलते हैं। विवरण इस प्रकार है—

खण्डोंमें आये पर्वोंके नाम	पृष्ठ-संख्या	रंगीन चित्र	सादे चित्र	लाइन चित्र	मूल
प्रथम खण्ड—आदिपर्व और सभापर्व	९६२	९	४०	१०८	११.००
द्वितीय खण्ड—वनपर्व और विराटपर्व	१११०	१२	४०	२१४	१२.५०
तृतीय खण्ड—उद्योगपर्व और भीष्मपर्व	१०७६	२३	३६	८०	१२.५०
चतुर्थ खण्ड—द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व	१३४६	१३	४०	९१	१५.००
पञ्चम खण्ड—शान्तिपर्व	१०१४	१०	३१	१६	११.५०
षष्ठ खण्ड—अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व	१११२	१२	३८	५५	१२.५०
कुल जोड़	६६२०	७९	२२५	५६४	७५.००
पूरा ग्रन्थ एक साथ लेनेपर रियायती मूल्य					६५.००

महाभारत—मूलमात्र, सम्पूर्ण ग्रन्थ चार भागोंमें (सजिल्द)

आकार २२×३० आठपेजी, मोटे कागज, चार जिल्दोंमें सजिल्द, कुल पृष्ठ-संख्या २७७६ चित्र-बहुरंगे १४ तथा सादे ४, कुल १८, मूल्य २२.५० मात्र।

सम्पूर्ण महाभारत मूलका इतना मूल्य बहुत ही सस्ता कहा जा सकता है। चारों भाग अलग-अल मिलते हैं। विवरण इस प्रकार है—

भाग १—आदि, सभा और वनपर्व। रंगीन चित्र तीन, पृष्ठ ८०४, सजिल्द, मू० ६.

भाग २—विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोणपर्व। रंगीन चित्र चार, पृष्ठ ७४४, सजिल्द, मू० ६.

भाग ३—कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री और शान्तिपर्व। रंगीन चित्र चार, सादा एक, पृष्ठ ७५६, स० मू० ६.

भाग ४—अनुशासनसे स्वर्गारोहणतक शेष छः पर्व। रंगीन चित्र तीन, सादे तीन, पृष्ठ ४७२, स० मू० ४.५

इस प्रकार अठारह पर्व तथा एक लाख श्लोकोंका यह दुर्लभ और बृहद् ग्रन्थ केवल २२.५०में मिल सक है। विद्वानोंको इससे लाभ उठाना चाहिये।

आर्डर देते समय अपने रेलवे स्टेशनका नाम स्पष्ट लिखना चाहिये। यहाँ आर्डर देनेसे प स्थानीय पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपके समय और खर्चकी बचत होगी।

पुस्तकोंका सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपु**

हमारी निजी दूकानें—कलकत्ता, दिल्ली, पटना, कानपुर, वाराणसी, हरिद्वार तथा ऋषिके

कल्याण

वर्ष ३५ * अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

विषय-सूची,

कल्याण, सौर आषाढ़ २०१८, जून १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् [कविता] (श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर) ... ९५७

२–कल्याण ('शिव') ... ९५८

३–त्र्यम्बकं यजामहे (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) ९५९

४–समय खोनेपर पछताना और रोना ही पड़ता है ९६१

५–लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ९६२

६–ईश्वरकी पञ्चधा स्थिति (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) ९६९

७–सारा बाग नजर आता है [कविता] (नीरज) ९७४

८–क्या श्रीमान्की स्त्री कभी भीख माँगती है ? (प्राध्यापक श्रीधर्मवीरजी एम्० ए०) ९७५

९–योग या भोग ! (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ९७७

१०–सती-धर्मकी उपादेयता (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ९८१

११–मधुर ९८४

१२–पापका बाप लोभ [कविता] ... ९८६

१३–जडवाद–भौतिकवाद (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) ... ९८७

१४–श्रीराम-रणक्रीड़ा (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न) ... ९९०

१५–भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं ... ९९४

१६–भजन और भोजन [कहानी] (श्री'चक्र') ९९५

१७–पुराण और कहावतें (डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ९९७

१८–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ९९९

१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) १००४

२०–आध्यात्मिक स्वराज्य [कविता] (श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ... १०११

२१–नर्तकीकी नैतिकता (श्रीशान्तिचन्द्रजी मेहता एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) १०१२

२२–सुखी होनेका रहस्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १०१३

२३–सुख-दुःखका मर्म (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ... १०१४

२४–पढ़ो, समझो और करो ... १०१५

२५–छिपे पापीकी प्रार्थना [कविता] ... १०२०

चित्र-सूची

१–ध्यानस्थ शंकर ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ

२–शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् (तिरंगा) ... ९५७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

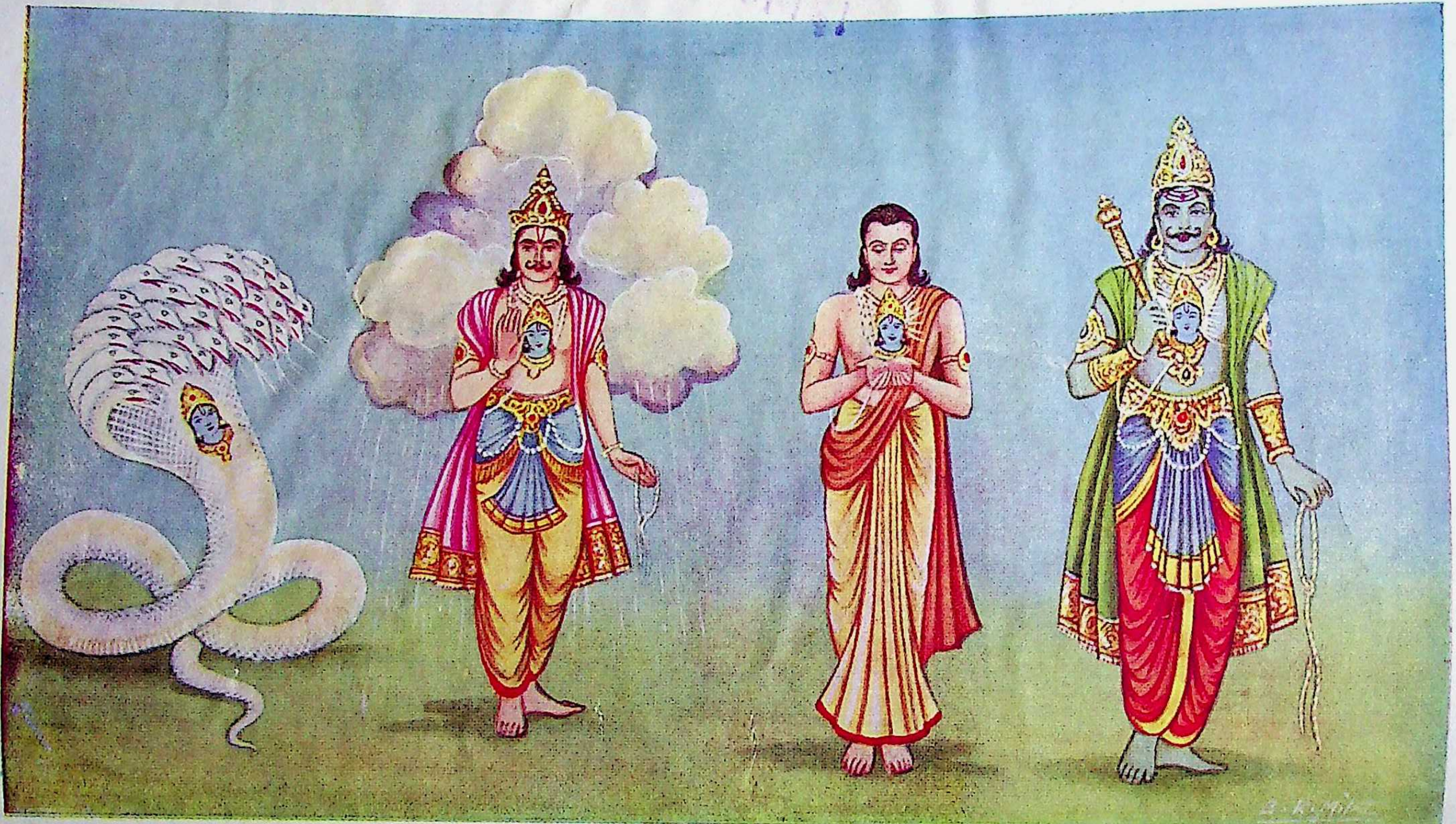

शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्यदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ गोरखपुर, सौर आषाढ २०१८, जून १९६१ संख्या ६
पूर्ण संख्या ४१५

शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्

नागोंमें मैं शेषनाग हूँ, जलचरगणमें वरुण महान ।
पितरोंमें अर्यमा, नियन्ताओंमें मैं हूँ यम बलवान ॥
सबका तेज, शक्ति, जीवन मैं, मैं ही हूँ सबका आधार ।
सबमें ओतप्रोत सदा मैं, अखिल विश्व मेरा विस्तार ॥

(श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर)

याद रक्खो—संसारमें सर्वोत्तम सुखकी प्राप्तिका परम साधन है—'संतोष'। असंतोषी मनुष्य सदा ही दुखी रहेगा, चाहे उसको कुछ भी, कैसी भी वस्तु या परिस्थिति प्राप्त हो जाय। परंतु भगवद्भजन, भगवत्प्रेममें संतोष महान् विघ्नरूप है। सांसारिक भोगोंमें संतोष साधन है और भगवद्भजनमें संतोष विघ्न है। अतः भजनमें कभी संतोष मत करो। भजन जितना हो, उतना ही थोड़ा; परमार्थ-साधन जितना हो, उतना ही थोड़ा और भगवान्‌के प्रति प्रेम जितना हो, उतना ही थोड़ा।

याद रक्खो—विषयासक्त मनुष्य इससे ठीक विपरीत भोग-जगत्‌में सदा असंतोषी रहता है, जितना जो कुछ भी पाता है, उसमें सदा ही कमीका अनुभव करता है, और अधिक पाना चाहता है। उसके लिये जो कुछ करता है, उससे अधिक—और भी अधिक करना चाहता है। इसी असंतोष वृत्तिको लेकर वह अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाता रहता है, परिणाममें अपने-ही-आप अपनेको सब ओरसे जकड़कर बुरी तरह फँस जाता है तथा रात-दिन चिन्ता, भय, विषादसे घिरा रहता है। कभी किसी भी अवस्थामें वह शान्ति नहीं पाता। परंतु परमार्थ-साधन या भजनमें सदा संतोष रखता है। प्रथम तो, उसकी आवश्यकता ही नहीं समझता; जहाँ कुछ करता भी है तो वह बहुत ही थोड़ा, नियमित, अल्पकालके लिये ही। और मान लेता है कि मैं बहुत कर रहा हूँ। इसीसे परमार्थ-साधन या भजन बनता नहीं और इसीसे सच्चे शान्ति-सुखकी प्राप्ति होती नहीं।

याद रक्खो—दिनभरके चौबीस घंटेमें कुछ मिनट यदि कोई भजनमें लगाता है और तेईस घंटेसे भी अधिक भोग-सेवन तथा भोग-साधनमें लगाता है तो उसका मन सहज ही भोगोंमें रहता है, भगवान्‌में नहीं लग पाता। भगवान्‌में मनका न लगना ही मानव-जीवनकी व्यर्थता है और बहुत बड़ा प्रमाद है।

याद रक्खो—भोगासक्ति तथा भोगकामनासे जीवन भोगपरायण बन जाता है। भोगपरायणतासे विवेक नष्ट हो जाता है तथा विवेकभ्रष्ट मनुष्य ऐसे कर्म करने लगता है, जो उसे कभी नहीं करने चाहिये और जिनको वह खुद बुरा मानता-कहता चला आ रहा है। उन पाप-कर्मोंको करते-करते उनसे पहले तो घृणा-बुद्धि निकल जाती है, फिर उनमें समीचीन बुद्धि हो जाती है, उनकी आवश्यकताका अनुभव होने लगता है और तदनन्तर पापाचरणमें वह अपना गौरव मानने लगता है—अतः उसका जीवन पाप-जीवन बन जाता है और फलतः वह अनन्त पाप-राशिको लेकर मरता है। यों उसका मानव-जीवन केवल व्यर्थ ही नहीं होता, वह मानव-जीवनके परम तथा चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे ही वञ्चित नहीं रहता; वह पापके परिणामस्वरूप जन्म-जन्ममें कूकर-शूकरादि, पिशाच-राक्षसादि तथा कृमि-कीटादि आसुरी योनियोंमें जाने तथा भीषण नरक-यन्त्रणाएँ भोगनेको बाध्य होता है। अतः उसका मानव-जीवन केवल व्यर्थ ही नहीं जाता, घोर अनर्थ उत्पन्न करनेवाला होता है। इसलिये भोगमें सदा ही संतोष रक्खो—जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहो; किंतु भजनमें—परमार्थ-साधनमें कभी संतोष मत करो। उसको सदा बढ़ाते ही जाओ।

याद रक्खो—भगवद्भजन ही असली धन है, वही परम सम्पत्ति है। भजन न होना ही घोर दारिद्र्य तथा महान् विपत्ति है। भजनमें ही परम बुद्धिमत्ता एवं सौभाग्य है, भजन न होना ही महान् मूढ़ता एवं दारुण दुर्भाग्य है। भजन ही पुण्य है तथा भजन न होना ही भयंकर पाप है। अतएव दिन-रात भजन करो। मनसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नाम-गुणका गान तथा शरीरसे होनेवाले प्रत्येक कल्याणमय कार्यके द्वारा भगवान्‌का सेवन-पूजन करो। यों दिन-रात भगवद्भजनमें लगे रहकर जीवनको भजनमय बना दो। तभी मानव-जीवन मानव-जीवन है और तभी उसकी सार्थकता है।

'शिव'

त्र्यम्बकं यजामहे

(लेखक—तत्त्व-चिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

अन्वय–त्र्यम्बकं सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् यजामहे । मृत्योर्बन्धनात् उर्वारुकमिव मुक्षीय अमृतात् मा (मुक्षीय) ।

'त्र्यम्बकम्'

वैदिक ऋचाओंके अर्थ त्रिविध हैं । 'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'पर' । केवल पदोंके संसर्गसे जो अर्थ निकलता है, वह 'स्थूल', पदोंकी आलोचनासे निःसृत अर्थ 'सूक्ष्म' और अक्षरार्थके आशयसे निकलनेवाला अर्थ 'पर'* कहलाता है । तत्त्वचिन्तकोंने इसके अतिरिक्त क्रम भी माना है कि आधिभौतिक अर्थ 'स्थूल', आध्यात्मिक अर्थ 'सूक्ष्म' और आधिदैविक अर्थ 'पर' कहलाता है । इस सिद्धान्तका अनुसरण यास्क तथा स्कन्दस्वामी आदि सभी आचार्योंने किया है । इस पद्धतिके आधार-क्रमसे 'त्र्यम्बकम्' इस पदका अर्थ इस प्रकार है ।

'अहिर्बुध्न्य'के मतमें—'तिस्रः अम्बिकाः (मातरः) यस्य स त्र्यम्बकः' अर्थात् इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति—ये तीनों विश्वकी निर्माणकर्त्री माताएँ हैं । यह शक्तित्रय जिसके वशमें हो, वह 'त्र्यम्बक' कहलाता है । वैदिक परिभाषामें इन तीनों माताओंको गायत्री छन्द (ज्ञानशक्ति), त्रिष्टुप् छन्द (इच्छाशक्ति) और जगती छन्द क्रियाशक्ति (अर्थशक्ति) कहा जाता है । पौराणिकोंकी परिभाषामें क्रियाशक्तिका ही दूसरा नाम अर्थशक्ति है । तत्त्ववेत्ता कणादने इन तीनोंको ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न—इन शब्दोंसे परिभाषित किया है ।

पौराणिकोंके मतमें **'त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य स त्र्यम्बकः'** अर्थात् जिसके अग्नि, चन्द्र और सूर्य—ये तीन नेत्र (प्रकाश) हों, वह त्र्यम्बक कहलाता है । सांख्यशास्त्र-प्रणेता कपिलने सत्त्व, रज और तम—ये तीन नेत्र माने हैं । याज्ञिकोंने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक—ये तीन नेत्र कहे हैं । मीमांसकोंकी परिभाषामें ऋग्, यजुः और साम—ये तीन वेद ही नेत्र-त्रय हैं । जैसा कि कुमारिल भट्टने 'तन्त्र-वार्तिक' में मङ्गलाचरण करते हुए कहा है—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे ॥

इसके अतिरिक्त शाण्डिल्यने 'भक्तिमीमांसा'में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनोंको त्र्यम्बक (महादेव)-के नेत्र माना है । ज्यौतिषियोंके मतमें भूत, भविष्य, वर्तमान (कालत्रय), वेदान्तवेत्ताओंके मतमें चित्त, अहंकार, बुद्धि (अन्तःकरणत्रय) और योगियोंके मतमें अ, उ, म (प्रणवके तीन अक्षर) महादेवके तीन नेत्र हैं ।

'सुगन्धिम्'

जो आत्मतेजसे सब तत्त्वोंको शोभन (सुगन्धमय) बनाता है अर्थात् उन-उन वस्तुओंको स्व-स्वरूपमें स्थिर रखता है और अपने अन्तःप्रवेशसे उन वस्तुओंको अपना सुगन्धमय स्वरूप देकर उन्हें सहसा विकृत नहीं होने देता, वह परमात्मा इस मन्त्रमें सुगन्धि शब्दसे अभिहित है । अफगानिस्तानके बौद्धमतावलम्बी विद्वान् 'वसुबन्धु' ने समगन्ध-तत्त्वको अविकृति एवं पुष्टिप्रद माना है तथा विषमगन्ध-तत्त्वको दुर्बलता और विकारप्रद माना है । समगन्ध-तत्त्व ही पृथ्वी आदि तत्त्वोंकी स्थूलता तथा पदार्थोंकी अविकृतिका कारण है । इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें सुगन्ध-पुष्पोंका धारण आरोग्य और पुष्टिका कारण कहा गया है ।

---

* स्थूलः संसर्गजो योऽर्थः सूक्ष्मः पदविभावितः ।
अप्रमेयादिभिर्भावैरक्षरस्थः परः स्मृतः ॥

‘पुष्टिवर्द्धनम्’

परमात्मा भी इसीलिये पुष्टिवर्द्धक है। पुष्टि नाम लक्ष्मीका है—‘पुष्टिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी’ (आनन्दार्णव तन्त्र)। इसे ‘भूति’ भी कहते हैं। यही तान्त्रिकोंकी परिभाषामें शक्ति, पौराणिकोंकी परिभाषामें माया और तत्त्वचिन्तकोंकी परिभाषामें प्रकृति कही जाती है। उसे जो बढ़ाता है, अर्थात् सूक्ष्मावस्थासे स्थूलावस्थामें लाकर उसे विविध रूपोंमें परिणत कर देता है, वही परमात्मा पुष्टिवर्द्धन है।

‘यजामहे’

‘यजामहे’का अर्थ है कि हम (जापक) त्र्यम्बक परमात्माके लिये अपने आपको समर्पितकर उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।* ‘यजामहे’ यह पद ‘यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु’ इस धातुसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है—यज्ञ। मीमांसकोंने स्थूल द्रव्य (हवन-पूजासामग्री) के माध्यमसे आध्यात्मिक शक्तियोंका आधिदैविक शक्तियोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेको ‘यज्ञ’ कहा है। इस मीमांसक सिद्धान्तसे ‘यजामहे’ इस पदका अर्थ यह हुआ कि स्थूल पदार्थोंके माध्यमसे प्रस्तुत तीन शक्तियोंके स्वामी महान् देवसे अपनी आत्माका सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। वह महान् देव अमर होनेसे मृत्युका, प्रकाशमय होनेसे अन्धकारका एवं स्थाणु होनेसे अस्थिरताका प्रतिपक्षी (विरोधी) है और अमृत, प्रकाश तथा स्थिरभावका उद्गमस्थल है।

‘मृत्योर्बन्धनात् उर्वारुकमिव मुक्षीय।’

अतः हम भी वेदोंमें निर्दिष्ट सौ प्रकारकी रोगादि मृतियों, अष्टविध अज्ञानपर्वों और सतत परिणामशील जन्म-मरणरूपी संसरणात्मक बन्धनसे मुक्त होकर उसी प्रकार मृत्युञ्जयत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, जिस प्रकार पका हुआ फल अक्लेशसे बन्धन-मुक्त हो जाता है। यहाँ मृत्यु शब्द अज्ञान, प्राणापहारक शक्ति, बन्धनात्मक संसार—इस अर्थत्रयमें प्रयुक्त हुआ है। अज्ञानवाचक मृत्यु शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है—

‘मतिं ज्ञानं त्यजति अनेन इति मृत्युः।’

जिससे मनुष्य ज्ञानरहित हो जाता है, वह अज्ञान मृत्यु है। प्राणापहारक शक्तिवाचक मृत्यु शब्दकी परिभाषा है—

‘मृतिं तनोति जन्तूनामिति मृत्युरिति स्थितिः।’

जो प्राणियोंके प्राणोंका प्रतिक्षण संहार करती है, वह मृत्युशक्ति है।

‘मृतिसंतानरूपत्वान्मृत्युः संसार उच्यते।’

अर्थात् मरण-धर्मा होनेसे संसार भी मृत्यु कहलाता है। इन तीन प्रकारकी मृतियोंसे मुक्ति दिलाना ही इस मन्त्रका महान् उद्देश्य है।

‘अमृतात् मा मुक्षीय’

भावार्थ यह है कि अमर, प्रकाशरूप, सतत एकरस ब्रह्मके साथ जापकने जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उससे जापक भी अमर, प्रकाशमय और स्थिर होकर रहे और उस अमृतमय परमात्मासे उसका सम्बन्ध कदापि विच्छिन्न न हो। इस मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माके सनातन सम्बन्धकी स्थिरता और आत्माका स्वस्वरूप (क्षेमीभाव) जापकके लिये अभिलषित है।

भिन्न-भिन्न कामनाओंकी प्राप्तिके लिये विभिन्न वैदिक मन्त्रोंका विनियोग ‘ऋग्विधान’ आदि ग्रन्थोंमें विहित है। अरिष्ट-निवारण और सुख-समृद्धि तथा सुस्वास्थ्यकी अभिवृद्धिके लिये ‘त्र्यम्बकं यजामहे’ इस अनुष्टुप् ऋचाके जपका विधान है। यह ऋचा ‘महामृत्युञ्जय’ नामसे प्रख्यात है। इस महामन्त्रके जपका सुन्दर और संगत (अन्वर्थ) परिणाम मन्त्रके विशद अर्थसे प्रतीत हो रहा है।

---

* यजतिर्द्रव्यसंत्यागः कांचिदुद्दिश्य देवताम्।

'साधनमाला' ग्रन्थकी मान्यताके अनुसार प्रत्येक मन्त्रके अक्षरोंमें विभिन्न वर्णवाली तेजोरश्मियाँ विद्यमान रहती हैं। जापक जब अपने अभीष्ट मन्त्रका जप करता है, तब वे रश्मियाँ साधककी भावनाओंके साथ शरीरके रोमकूपोंसे चतुर्दिक् बाहर निकलती हैं और अंकुशाकार होकर उन विभिन्न साध्योंका आकर्षण करती हैं, जिन्हें साधकने वाञ्छनीय और प्राप्तव्य बनाया है। उक्त ऋचाको अनवरत जपनेसे ऋचाके तेजोमय वर्ण उपर्युक्त सिद्धान्तसे जापकके लिये सुगन्ध, पुष्टि और अमरताको आकृष्ट करते हैं; जिनसे विकृति, दुर्बलता और अकाल-मृत्युका अभिभव हो जाता है।

एतत्सदृश एक मन्त्र और है—जिसमें 'पुष्टिवर्द्धनम्'के स्थानमें 'पतिवेदनम्' और 'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'की जगह 'इतो मुक्षीय मामुतः' पाठ है। 'शतपथब्राह्मण'में इस मन्त्रके जपका विधान उन विवाहयोग्य कन्याओंके लिये है, जिन्हें वाञ्छनीय पति-प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है। पहला मन्त्र यदि पुरुषोंके लिये मृत्युञ्जय है तो दूसरा वरार्थिनी कन्याओंके लिये पतिंजय है। दूसरे मन्त्रमें कामना की गयी है कि विवाहित कन्या पितृ-कुलसे भले ही छूट जाय किंतु पतिकुलसे उसका वियोग न हो; क्योंकि पतिकुलका सम्बन्ध जीवनपर्यन्त और उसके आगे भी अच्छेद्य है।

समय खोनेपर पछताना और रोना ही पड़ता है

एक दीन दरिद्रकी दुर्दशापर दयार्द्र होकर संतने कृपा की। वे एक दिन अकस्मात् आकर बोले—'भैया! तुम सदा ही अभावमें पड़े दुखी रहते हो, यह लो पारस, मैं तुम्हारे लिये इसे बड़ा प्रयत्न करके कुछ सीमित समयके लिये लाया हूँ। इसको लोहेसे स्पर्श कराकर सोना बना लो चाहे जितना और दरिद्रतासे छूटकर सुखी हो जाओ सदाके लिये। पर इस कामको सबसे पहला तथा सबसे अधिक जरूरी समझकर तुरंत कर लेना। यह पारस तुम्हें केवल एक सालके बँधे समयके लिये ही मिला है। यह समय निकल गया तो फिर पछताना पड़ेगा।'

दीनने कहा—'महाराज! बड़ी कृपा की। मैं इस काममें देर कैसे करूँगा? आप मुझे दे तो जाइये।'

संतने पारस देकर फिर उसे सावधान किया—'देखो अवसर हाथसे निकल न जाय'—और वे चल दिये। इसने सोचा, पारस मिल ही गया है, मिनटोंमें सोना बना लेंगे। पर पहले लोहा तो इकट्ठा करें। लोहेके बजारमें गया। किसीने कहा 'लोहेका बाजार तेज है। कुछ दिनोंमें मंदा होगा, तब खरीदेंगे।' और शीघ्र ही धनी होनेके चावमें—घरमें जो कुछ था सब बेच-बाचकर तथा मिला जितना ऋण लेकर वह प्रमादमें लग गया। इन्द्रियोंके द्वारा अबाध विषयसेवन करने लगा। शराब पीने लगा। दिन-रात नशेमें चूर रहनेके कारण भूल गया समयकी बात और पारसकी कथा। समय बीतता ही है। कालकी गति कभी रुकती नहीं। प्रमादमें ही साल भरका समय पूरा हो गया। संत आये। उन्होंने तो अब इसकी और भी दुर्दशा देखी। प्रमाद-मदिरा-मत्त इसने संतका स्वागत भी नहीं किया। संत बेचारे क्या करते। दुखी मनसे पारस वापस लेकर लौट गये। सोना तो बना ही नहीं। घर-बार बिक गये तथा बुरी तरह कर्जदार होकर महान् दुखी हो गया।

मानव-शरीर भगवान्ने दया करके दिया-पारसमणि। भगवत्प्राप्तिरूप सोना बनानेके लिये। पर मानव-शरीरका समय है सीमित तथा निर्दिष्ट। प्रमादमें ही जीवन खो देनेवालोंको उपर्युक्त दीनकी तरह रोना तथा पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा!

लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुषोंके कर्म अलौकिक और दिव्य होते हैं। उनके कर्मोंका रहस्य समझना चाहिये। उनके लिये न तो कोई कर्तव्य ही है और न कुछ प्राप्तव्य ही। उनकी सारी चेष्टाएँ केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं। अतः उनकी प्रत्येक क्रियामें दिव्य अलौकिकता झलकती है। उन क्रियाओंमें न तो कर्तापन ही है और न कर्म तथा उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामना ही है। अतः उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है, उनकी क्रियाओंके रहस्यको समझनेपर ही मनुष्यके चित्तमें प्रतिक्षण प्रसन्नता और शान्ति होती रहती है। भगवान् और भगवत्प्राप्त पुरुष कर्म करते नहीं, उनके द्वारा शास्त्रविहित कर्म स्वाभाविक होते रहते हैं, इसीलिये उनकी क्रिया आदर्श मानी गयी है। वही साधकके लिये साधन है। जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे महात्माओंके विषयमें भगवान् कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३ । १८)

‘उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।’

यद्यपि संसारमें उन महापुरुषोंके लिये कोई भी कर्म न तो उपादेय है और न हेय, फिर भी संसारके हितकी दृष्टिसे उनकी क्रिया शास्त्रके अनुकूल ही होती है, शास्त्रके विरुद्ध तो होती ही नहीं। उनके द्वारा जो शास्त्रानुकूल क्रिया होती है, वह आसक्ति (राग)-वश नहीं, स्वाभाविक ही होती है। तथा उनके द्वारा जो शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग होता है, वह भी द्वेषबुद्धिसे नहीं, उनके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्म स्वाभाविक ही नहीं होते (गीता १८ । १०)। अहंता, ममता और स्वार्थका अभाव होनेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ परम शुद्ध, अलौकिक और अनुकरणीय होती हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर पवित्र तथा अलौकिक हो जाते हैं, अतः उनके संसर्गके कारण भूमि आदि जड पदार्थ और प्राणी पवित्र हो जाते हैं। शास्त्रमें बतलाया गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन॥
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।
(स्कन्द० माहे० कौमा० ५२ । १३७ का उत्तरार्ध १३८ का पूर्वार्ध)

‘जिसका चित्त मुक्तिके मार्गस्वरूप आनन्दके समुद्र परब्रह्ममें तल्लीन एवं मग्न है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी उसके कारण भाग्यवती हो जाती है।’

ऐसे महापुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। भगवान्ने उत्तरगीतामें बतलाया है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥
(१ । २३)

‘जो योगी ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त और कृतकृत्य हो चुका है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि कुछ कर्तव्य शेष है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।’

इसी प्रकार भगवत्प्राप्त पुरुषके लिये कोई भी प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती; क्योंकि प्राप्त करने योग्य सच्चिदानन्द परमात्माकी उन्हें प्राप्ति हो चुकी है, अतः

उनकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं । वे आप्तकाम हैं । उनमें कामनाओंका अत्यन्त अभाव है । इसलिये उनका किसी भी प्राणी या पदार्थसे किंचिन्मात्र भी प्रयोजन नहीं रहता । उनकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें होनेके कारण उनका अपने देहसे भी कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे विज्ञानानन्दघन परमात्मामें नित्यतृप्त और संतुष्ट हैं, इसलिये न तो उनके लिये कोई कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही । किंतु जिसकी ऐसी स्थिति नहीं है, उस कल्याणकामी पुरुषको अहंता-ममतासे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका अनासक्तभावसे आचरण करना चाहिये । भगवान् अर्जुनसे कहते हैं——

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

अतः अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद और काम्यकर्मका सर्वथा परित्याग करके गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तकमें वर्णित उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंके संग्रहरूप कल्याणकारिणी दैवी सम्पदाका सेवन करना चाहिये तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा होनेवाली किसी भी क्रियामें ममता और आसक्ति नहीं रखनी चाहिये । सदा अनासक्तभावसे वर्णाश्रमके अनुसार कर्तव्यकर्मका पालन करनेवाले पुरुषको अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, उनके द्वारा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये कर्म होते रहते हैं । वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित सामान्य और विशेष कर्मोंका त्याग शास्त्रमें किसी भी हालतमें नहीं बतलाया गया है, वरं साधकके लिये उनको सावधानीपूर्वक करनेका शास्त्रमें विधान है एवं सिद्धके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी उसके द्वारा सावधानीपूर्वक लोकहितके वैध कर्म होते रहते हैं, जैसे राजा जनक, अश्वपति आदि अनेक महापुरुषोंके द्वारा कर्म हुए थे । भगवान्‌ने गीतामें कहा है——

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
(३ । २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ।'

राजा जनक बहुत उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा पुरुष थे । मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजीने भी उनके पास जाकर उनसे शिक्षा ग्रहण की थी । महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलाया गया है कि एक बार श्रीशुकदेवजीने अपने पिता श्रीवेदव्यासजीसे मोक्ष-धर्मके विषयमें प्रश्न किया । श्रीवेदव्यासजीने उनको इसे जाननेके लिये जनकके पास जानेको कहा । तब वे मिथिला गये । नगरद्वारके पास पहुँचकर वे निःशंकभावसे ज्यों ही उसमें प्रवेश करने लगे, त्यों ही द्वारपालोंने उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया । श्रीशुकदेवजी वहीं खड़े हो गये । उनके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं हुआ । उस समय एक द्वारपालको अपने व्यवहारपर पश्चात्ताप हुआ । उसने मुनिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उन्हें राजभवनकी दूसरी ड्योढ़ीमें पहुँचा दिया । वहाँ वे एक जगह बैठकर मोक्षतत्त्वका ही चिन्तन करने लगे । धूप और छाया दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी । फिर राजमन्त्रीने उनको तीसरी ड्योढ़ीमें ले जाकर प्रमदावनमें पहुँचा दिया । तब उनके पास पचास स्त्रियाँ जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत,

परम सुन्दरी और नवयुवती थीं, आयीं और उन्होंने श्रीशुकदेवजीका पूजन किया तथा उन्हें स्वादिष्ट अन्नका भोजन कराया। तत्पश्चात् वे उनको प्रमदा-वनकी सैर कराने लगीं। उस समय वे हँसती, गाती और नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीडाएँ करती थीं। मनके भावको जाननेवाली वे सुन्दरियाँ श्रीशुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं; किंतु श्रीशुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतया शुद्ध था। वे इन्द्रियोंपर और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न हर्ष होता था न क्षोभ ही। वे संशयरहित थे और सदा कर्तव्यपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सायंकालके समय हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रात्रिके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ ही बैठे रहे। रात्रिके दूसरे-तीसरे पहरमें उन्होंने यथोचित निद्रा ली, जब दो घड़ी रात शेष रही तभी वे उठ गये और शौच-स्नानके अनन्तर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। उस समय भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं।

तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक श्रीशुकदेवजीके पास आये। उनको उस अवस्थामें देखकर उन्होंने उनका विधिपूर्वक पूजन किया। श्रीशुकदेवजीने राजासे कुशल-समाचार पूछा। फिर राजाके द्वारा उनके आगमनका कारण पूछे जानेपर उन्होंने मोक्षके विषयमें प्रश्न किये। उनका राजाने यथोचित उत्तर देकर अन्तमें यही कहा—'ब्रह्मन्! आपको विवेक प्राप्त हो चुका है, आपकी बुद्धि भी स्थिर है और आपमें विषय-लोलुपताका सर्वथा अभाव है। परंतु विशुद्ध दृढ़ निश्चयके बिना कोई परमात्म-भावको प्राप्त नहीं होता है। आप सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते। आपके मनमें लोभ नहीं है, नृत्य और गीतमें आपकी उत्कण्ठा नहीं है। किसी भी विषयके प्रति आपके मनमें राग उत्पन्न नहीं होता है। आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से हैं, अतः मैं तथा दूसरे बुद्धिमान् पुरुष भी आपको उस अक्षय एवं अनामय परम मार्ग मोक्षमें स्थित मानते हैं। जो मोक्षस्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?'

राजा जनकका कथन सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले श्रीशुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो कृतार्थ हो गये एवं वहाँसे लौट आये। (देखिये महा० शान्ति० अ० ३२५ से ३२७ तक)।

इस आख्यानमें ज्ञानी महात्मा जनकका स्वागत-सत्कार करना, प्रश्नोंके उत्तर देना आदि शास्त्रविहित कर्तव्य-पालनरूप कर्ममें सावधानी एवं परम विरक्त श्रीशुकदेवजी-की शौच-स्नान, संध्योपासनादि कर्मोंमें तत्परता हमें लोकसंग्रहार्थ कर्मका लक्ष्य कराती है।

इसी प्रकार राजा अश्वपतिके पास बड़े भारी कुटुम्बी और परम श्रोत्रिय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक—ये छः ऋषि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये गये थे। राजाने उनका बहुत सत्कार किया और कहा—'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मद्य पीनेवाला है, न कोई परस्त्रीगामी है; फिर कुलटा स्त्री तो होगी ही कैसे?* किंतु सभी अग्निहोत्री और विद्वान् हैं। मैं यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं उसमें प्रत्येक ऋत्विग्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा। आप यहाँ ठहरिये।' इसपर उन्होंने कहा—'हम तो वैश्वानर परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये आये हैं।' यह सुनकर राजाने सबको पृथक्-पृथक् ज्ञानका उपदेश दिया। वे सब ज्ञान प्राप्तकर अपने-अपने स्थानको लौट गये।

---

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य० अ० ५ खं० ११ मं० ५)

इन महापुरुषोंकी क्रियाएँ लोकसंग्रहके लिये ही थीं। गीतामें भी अर्जुनके प्रति भगवान् लोकसंग्रहको ही लक्ष्य करके कहते हैं। ऐसे लोकसंग्रहार्थ कर्म ज्ञानी पुरुषके द्वारा तो स्वाभाविक होते ही हैं, साधक भी उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण कर सकता है। लोकसंग्रह शब्दका अर्थ है लोगोंको इकट्ठा करना। भाव यह है कि संसारमें लोग जो नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंको मानकर परमात्मासे विमुख और छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, उन सबको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें लगाना, लोगोंके कल्याणके उद्देश्यसे उनको कुमार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना और शास्त्रविहित कर्मोंको अनासक्तभावसे स्वयं करते हुए उनसे आदर्श कर्म करवाना, यही लोकसंग्रह है; क्योंकि जिस मार्गसे महापुरुष चलते हैं, वही मार्ग असली मार्ग है। महाभारतमें यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महा० वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं प्रतिष्ठा नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं और कोई एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण मान लिया जाय। धर्मका तत्त्व हृदयरूपी गुफामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिस मार्गसे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग वास्तविक मार्ग है।'

इसीलिये अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्य महापुरुषोंका अनुकरण करते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं——

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो भी आचरण करता है, अन्य मनुष्य-समुदाय भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

लाखों मनुष्योंमें कोई एक ही महापुरुष होता है (गीता ७। ३)। उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके कर्मोंमें स्वार्थ, आसक्ति, ममता और अभिमानका अभाव होनेके कारण उनके कर्म पवित्र और अलौकिक होते हैं, जिससे दूसरे पुरुषोंपर उनका प्रभाव पड़ता है। पद-पदपर उन कर्मोंकी विलक्षणता देखकर लोग आकर्षित होते हैं एवं उनका अनुकरण करके अपने परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये साधनमें तत्पर हो जाते हैं। उन महापुरुषोंके कर्मोंमें कहीं दिखाऊपन नहीं होता। उनके वचन भी सत्य, प्रिय, हितकर और प्रामाणिक होते हैं। अतः उनके वचनोंकी कोई अवहेलना नहीं करता। उन महात्मा पुरुषोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, आचरण, वाणी—सभी पवित्र और विलक्षण होते हैं; इसलिये उनके दर्शन, आज्ञापालन, सेवा, नमस्कार और वार्तालाप करनेसे मनुष्य ज्ञानको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है (गीता ४। ३४-३५)। ज्ञानी महात्माके कर्म अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार होते हैं; किंतु वे सभी वर्ण और आश्रमके मनुष्योंके कर्तव्यकर्मोंको स्वयं करके नहीं दिखला सकते हैं। अतः वे कल्याणकामी साधकोंको उनके वर्ण, आश्रम, स्वभाव और देश-कालके अनुसार उनके कर्तव्यकर्मोंको वाणीद्वारा ही बतलाया करते हैं, इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करनेसे मनुष्य संसार-सागरसे पार हो जाता है (गीता १३। २५)।

ज्ञानी पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना या त्याग नहीं होता, फिर शास्त्रविपरीत कर्म तो उनके द्वारा हो ही कैसे सकते हैं? क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो लोग भ्रष्टाचारी होकर नष्ट हो सकते हैं; किंतु महापुरुषोंकी क्रिया श्रद्धा-विश्वासपूर्वक होती हुई देखकर कोई भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता, बल्कि लोग

उनके शुभ आचरणोंको देखकर उनके अनुसार सावधानीके साथ निःस्वार्थभावसे कर्म करनेमें तत्पर हो जाते हैं।

अबतक भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके कर्मोंकी पवित्रता, दिव्यता और अलौकिकता एवं उनके लिये कर्तव्य तथा प्राप्तव्यका अभाव बतलाया गया। अब भगवान्के विषयमें बतलाया जाता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(३।२२)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

भगवान् तीनों लोकोंके रचयिता, व्यापक और संरक्षक होनेपर भी उनमें कर्तव्यका अभाव है (गीता ४।१३)। जब मुक्त पुरुषके लिये ही कोई कर्तव्य नहीं है—तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ३।१७) तब भगवान् तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप और सबके कर्तव्यका विधान करनेवाले हैं। उनके लिये तो कोई कर्तव्य हो ही कैसे सकता है। मुक्त पुरुष तो इस मर्त्यलोकमें ही निवास करता है, इसलिये यहाँ उसका कोई कर्तव्य नहीं है; किंतु भगवान् तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं। वे समस्त लोकोंमें समभावसे सदा निवास करते हैं, इसीलिये भगवान्ने यह बात कही कि मेरा तीनों लोकोंमें कहीं किंचिन्मात्र भी कर्तव्य नहीं है। इसी प्रकार प्राप्तव्यके विषयमें समझ लेना चाहिये। मुमुक्षु पुरुषको तो जीवन्मुक्त पद प्राप्त करना है किंतु जीवन्मुक्तको तो कुछ भी नहीं प्राप्त करना है; क्योंकि वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य प्राप्त है तथा भगवान् तो सदा ही आप्तकाम हैं, सब कुछ उन्हें प्राप्त ही है; सब कुछ उनका ही है। जब उनके लिये कोई अप्राप्त वस्तु ही नहीं, तब फिर उनको कुछ भी प्राप्त करना है ही नहीं।

इस प्रकार भगवान्के लिये कर्तव्य और प्राप्तव्यका अत्यन्त अभाव है, फिर भी वे हेतुरहित परम दयालु और परम प्रेमी होनेके कारण सबके कल्याणके उद्देश्यसे उनको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें लगानेके लिये शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करके उनके सामने आदर्श रखते हैं। भगवान्की प्रत्येक क्रियामें अहंता, ममता, आसक्ति और स्वार्थका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनके कर्म संसारका कल्याण करनेवाले परम शुद्ध, दिव्य, अलौकिक और लीलामय हैं। अतः भगवान्के कर्मोंका अनुकरण करनेसे और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कल्याण हो जाता है इसमें तो कहना ही क्या है। श्रद्धा और प्रेमसे उनके चरित्रोंको देख-देखकर ही मनुष्य परम पवित्र हो परमपदका अधिकारी बन जाता है। इसलिये साधक और सिद्ध सभी मनुष्योंको लोकहितके लिये लोकसंग्रहार्थ कर्मोंका निःस्वार्थभावसे आचरण करना चाहिये। जब कर्तव्य और प्राप्तव्यका अभाव होनेपर भी स्वयं भगवान् ही कर्म करते हैं तो दूसरोंकी तो बात ही क्या है? भगवान् इस लोगोंमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्म करके शास्त्रोंका आदर देते हुए उनको प्रमाणित करते हैं। उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता, अलौकिकता और माधुर्य भरा रहता है, इस कारण भगवान्के चरित्रको देखकर लोग आकर्षित हो जाते हैं और बड़े उत्साहसे कर्म करने लग जाते हैं। इससे धर्मकी स्थापना होती है जो भगवान्के अवतार लेनेका एक प्रधान कारण है। यदि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् मर्यादाकी स्थापना करके स्वयं उस मर्यादामें न चलें तो बड़ी हानि होती है, इससे सृष्टिचक्रमें बड़ी भारी गड़बड़ी मच सकती है। भगवान् कहते हैं—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ३।२३)

'क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर

कर्मोंमें न बर्तूं तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ।'

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको बहुत-से मनुष्य तो साक्षात् भगवान् ही मानते थे और बहुत-से उनको उच्चकोटिके महापुरुष मानते थे । अतएव भगवान्के द्वारा कर्मोंका सुचारुरूपसे किया जाना संसारके लिये सभी प्रकारसे कल्याणकारक था । यदि भगवान् सावधान हुए सुचारुरूपसे कर्मोंका आचरण नहीं करते तो लोग कर्मोंको व्यर्थ समझकर कल्याणकारी कर्मोंकी अवहेलना कर देते; क्योंकि भगवान् या कोई महापुरुष जैसा आचरण करते हैं, उनके देखादेखी लोग भी वैसा ही करने लग जाते हैं । यदि किसी ज्ञानी पुरुषके द्वारा ज्ञानकी छठी, सातवीं, भूमिकामें बाह्यज्ञान-शून्यसे हो जानेके कारण सुचारुरूपसे कर्म नहीं होते या कोई संशयात्मा, अश्रद्धालु मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है अथवा कोई मूर्च्छा, तन्द्रा, हिस्टीरिया आदि आधि-व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य कर्मोंकी अवहेलना कर देता है तो कोई भी मनुष्य उन सब कर्मोंका अनुकरण नहीं करता, इससे लोकमें कोई हानि नहीं होती, किंतु भगवान् तो इन दोषोंसे सदा ही सर्वथा रहित हैं और संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये ही उनका प्राकट्य होता है, अतएव भगवान्का यह कथन है कि मैं सावधान हुआ शास्त्रविहित कल्याणकारक कर्तव्य-कर्मका समीचीनरूपसे पालन न करूँ तो उस हालतमें मुझको भगवान् या श्रेष्ठ और आदर्श पुरुष माननेवाले मनुष्य कर्मोंको व्यर्थ समझकर त्याग देंगे, जिससे वे उन शास्त्रोक्त कल्याणमय कर्मोंके लाभसे वञ्चित रहकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगे । भगवान् कहते हैं—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गीता ३ । २४)

'इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ।'

अभिप्राय यह है कि भगवान्के द्वारा यदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर दिया जाता है तो लोग कल्याणकारक कर्मोंको तो व्यर्थ समझकर त्याग बैठेंगे; किंतु कोई भी मनुष्य कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । ऐसी हालतमें वे राग-द्वेष और स्वार्थपरायण मनुष्य स्वभावके वशीभूत हुए स्वार्थसिद्धिके लिये अनाचार-अत्याचार आदि पापमय तामसी कर्म करते हुए व्यर्थ प्रमादमें ही लग जायँगे । वे मनमाना आचरण करके भ्रष्टाचारमें प्रवृत्त हो जायँगे। ऐसा होनेपर वर्ण, आश्रम, जाति और समाजके विभिन्न धर्मोंमें संकरता यानी मिश्रण हो जाता है, मनुष्यत्वका नाश होकर लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं और सभी लोग स्वार्थपरायण हो एक दूसरेका विनाश करनेमें तत्पर और महान् पापाचार करनेमें लग जाते हैं, जिसके फलस्वरूप लोकविनाशक भयंकर महामारी, अनावृष्टि, जलप्रलय, अकाल, भूकम्प आदि होकर लोगोंका विनाश होने लगता है । ये सब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होनेपर ही होते हैं । अतएव भगवान् इस अव्यवस्थाको रोकनेके लिये ही अवतार लेते हैं और वास्तविक धर्मकी स्थापना करनेके लिये उत्तम-से-उत्तम आदर्श आचरण करके लोगोंको शिक्षा देते हैं ।

ऊपर तीन श्लोकोंमें अपना उदाहरण देनेके बाद भगवान् जिन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, उनको भी अनासक्त भावसे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

(गीता ३ । २५)

'अर्जुन ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ।'

यहाँ ज्ञानीको अज्ञानीके कर्मोंका अनासक्तभावसे अनुकरण करनेकी बात कही गयी है। इसपर प्रश्न होता है कि वह अज्ञानी मनुष्य सात्त्विक है या राजसी या तामसी? इसका उत्तर यह है कि वह सात्त्विक तो इसलिये नहीं है कि सात्त्विक कर्तामें तो आसक्तिका अभाव होता है; किंतु यहाँ कर्मोंमें आसक्त पुरुषोंका वर्णन है; अतः वह सात्त्विक नहीं। तथा आसुरी प्रकृतिके तामसी अज्ञानी मनुष्योंकी क्रिया नरकमें ले जानेवाली होती है, इसलिये उनका अनुकरण विधेय नहीं होनेसे यहाँ तामसी अज्ञानीकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ तो उस राजसी पुरुषका कथन है जो शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये कर्म और उनके फलमें आसक्त श्रद्धालु पुरुष है; क्योंकि कर्मोंके फलमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण वह जिस प्रकार सुचारुरूपसे शास्त्रविहित सकाम कर्मका अनुष्ठान करता है, दूसरा वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह समझता है कि शास्त्रीय विधिमें और श्रद्धामें कमी होनेपर फल नहीं मिलेगा। ऐसे राजसी अविवेकी मनुष्यके द्वारा विधिपूर्वक होनेवाली क्रियाका अनुकरण करनेके लिये ही ज्ञानीको प्रेरणा की गयी है। इनमें प्रधान अन्तर यह है कि अज्ञानी तो कर्म करता कर्म और उसके फलमें आसक्त होकर; किंतु ज्ञानवान्‌की जो क्रिया होती है उसमें कर्म और कर्मफलकी आसक्तिका अत्यन्त अभाव है, अतः कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि ज्ञानी जो लोकसंग्रहके लिये अनासक्तभावसे कर्म करता है, उसके तो अनासक्त भावयुक्त शास्त्रोक्त कर्मका अनुकरण करे तथा इस लोक और परलोकके भोगोंकी इच्छावाले सकामी विषयासक्त श्रद्धालु मनुष्यके केवल शास्त्रविहित कर्मका ही अनुकरण करे; किंतु सकामीके भीतर जो भोगों और कर्मोंमें आसक्ति, ममता तथा कामना है, उसका अनुकरण न करे, भाव यह है कि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी लोकसंग्रहकी इच्छासे अनासक्तभावसे सकामी पुरुषकी क्रियाकी भाँति शास्त्रविहित वर्ण-आश्रमके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

यहाँ ज्ञानीके लिये लोकसंग्रहकी इच्छा औपचारिक है। लोकमें प्रसिद्ध है कि जब कोई भी घटना होती है तो उसके लिये लोग कहते हैं—'भगवान्‌की जैसी इच्छा', किंतु वस्तुतः भगवान्‌में तो कोई इच्छा होती ही नहीं—यह तो केवल कथनमात्र है, इसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषमें भगवान्‌की भाँति इच्छा होती ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप करके कहा जाता है। जैसे कहा जाता है कि नदीका तट गिरना चाहता है, किंतु नदीके तटमें कोई इच्छा है ही नहीं, केवल समझानेके लिये ही उसमें इच्छाका आरोप किया गया है। इसी तरह ज्ञानी महात्माके विषयमें समझना चाहिये; क्योंकि ज्ञानी महात्मा पुरुष कर्म न करे तो दूसरे सांसारिक विषयासक्त तथा साधक भ्रममें पड़कर कल्याणकारी शुभकर्मोंको भी व्यर्थ समझकर छोड़ सकते हैं और उनके लाभसे वञ्चित रह सकते हैं। इसलिये लोगोंको उन्मार्गसे बचाकर कल्याण-मार्गमें लगानेके उद्देश्यसे अनासक्तभावपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको स्वयं करने और दूसरोंसे करानेके लिये भगवान्‌ने प्रेरणा की है (गीता ३ । २६)।

अतएव लोककल्याणके लिये शास्त्रविहित कर्मोंको करनेसे परम लाभ है और न करनेसे महान् हानि है तथा जिनको न तो कुछ कर्तव्य है और न प्राप्तव्य ही है, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुष और साक्षात् भगवान्‌के द्वारा होनेवाले कर्म परम दिव्य और अलौकिक तथा पवित्र हैं। इस प्रकार उनका तत्त्व-रहस्य समझकर हमें उनको आदर्श मानकर श्रद्धा-विश्वास और प्रेमपूर्वक, उत्साह और तत्परताके साथ निष्कामभावसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

ईश्वरकी पञ्चधा स्थिति

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

इस निबन्धमें ईश्वरके पाँच रूपोंके धारण करनेका रहस्य, उनका क्रमिक विवेचन और उनके सौलभ्यकी अवस्था यथामति लिखी जाती है। समस्त जीव ईश्वरके अंश हैं। अतएव प्रिय पुत्रवत् प्रिय हैं। ये अनादि अज्ञानवश ईश्वर-विमुख होनेसे शोकग्रस्त हैं, इन्हें शोक-रहित होनेके लिये कृपालु ईश्वरने अपने निःश्वासरूप वेदोंद्वारा आदेश दिया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥

(मुण्डक० ३ । १ । १-२)

'समान (एक) वृक्षपर सदा एक साथ रहनेवाले दो सखा पक्षी रहते हैं। इनमेंसे एक स्वादयुक्त फलोंको खाता है और दूसरा खाता नहीं, केवल देखता रहता है। समान (एक) ही वृक्ष (छेदन योग्य शरीर)में निमग्न हुआ जीव (-रूपी एक पक्षी) दीन भावसे मोहको प्राप्त होकर शोक करता रहता है। जब योग-युक्त होकर ईश्वर (दूसरे पक्षी) को और उसकी महिमाको देखता (जानता) है, तब यह शोकरहित होता है।'

इन श्रुतियोंके अनुसार जीव अपने साथ रहनेवाले ईश्वरकी महिमा (विशेषकर कर्मफल-स्वाद-राहित्य) को जब जानता है, तब शोक-रहित होता है। जीव अपनी ही परिमित प्रकाशयुक्त बुद्धिके ज्ञानसे अपरिमित प्रभाव-युक्त ईश्वरको नहीं जान पाता; जब वह ईश्वर स्वयं अपनी कृपासे अपनेको जनाता है, तब यह उसे जान पाता है; यथा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम् ॥

(कठ० १ । २ । २३)

'यह परमात्मा वेद आदिके व्याख्यानोंसे प्राप्त होने-वाला नहीं है, धारण करनेवाली बुद्धिके द्वारा भी प्राप्त करने योग्य नहीं है और यह बहुत शास्त्र-श्रवणसे भी प्राप्त होने योग्य नहीं है। यह परमात्मा जिस जीवको अपना मानकर स्वयं वरण करता है, उसी जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य होता है, यह परमात्मा उस (अपने द्वारा स्वीकृत) जीवके लिये ही अपने स्वरूपको प्रकट करता है (अपने आनन्दात्मक स्वरूपका साक्षात्कार करा इसे ब्रह्मानन्दका परम सुख प्रदान करता है); तथा—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उरचंदन ॥

(रामचरितमानस अयो० १२६)

जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ,
समुझि सयाने नाथ ! पगनि परत ॥

(विनय-पत्रिका २५१)

इन प्रमाणोंके अनुसार भगवान् स्वयं कृपा करके अपनी महिमाका ज्ञान कराते हैं, इसीलिये वे पञ्चधा स्थितिको स्वीकार करते हैं। यथा—

ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥

(रामचरितमानस बाल० १२)

'जो चराचरमें व्याप्त है, जगत् ही जिसका शरीर

है, जो षडैश्वर्यपूर्ण होनेसे भगवान् कहा जाता है, उसीने देह धारण करके अनेक चरित किये हैं । वह (देह धारण करना और नाना चरित करना) केवल अपने भक्तोंके हितके लिये है; (क्योंकि) वह (ईश्वर) परम कृपालु और शरणागतोंका अनुरागी है ।'

'ब्यापक बिस्वरूप·····'—इस अर्द्धालीमें ईश्वरके क्रमशः पाँचों रूपोंके धारण करनेकी व्यवस्था है—'ब्यापक' इस पदसे 'अन्तर्यामी' यह पहला रूप कहा गया है । 'बिस्वरूप' इस पदसे 'विराट्' (पर) यह दूसरा रूप कहा गया है । 'भगवाना'—इस विशेषणसे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन छः ऐश्वर्योंसे युक्त व्यूहरूप कहा गया है । व्यूहरूपमें ईश्वर ज्ञान और बल—इन दो ऐश्वर्योंसे 'संकर्षण' रूपसे संहार-कार्य करता है । ऐश्वर्य और वीर्य—इन दो ऐश्वर्योंसे 'प्रद्युम्न' रूप हो उत्पत्ति-कार्य करता है और शक्ति एवं तेज—इन दो ऐश्वर्योंसे 'अनिरुद्ध' रूप हो पालन कार्य करता है । इन्हीं तीनों रूपोंकी व्यूह संज्ञा होती है ।

कहीं-कहीं चतुर्व्यूहसंज्ञा भी मिलती है । वहाँ मूल-रूपपर परमात्माको भी इन तीनों व्यूहरूपोंमें परिगणित समझना चाहिये । यह व्यूहरूप ईश्वरका तीसरा रूप है ।

'तेहि धरि देह'—इस पदसे देह धारण करनेवाले मत्स्य-कूर्म आदि ईश्वरके 'विभव' रूपोंका अर्थ है, यह उसका चौथा स्वरूप है । 'चरित कृत नाना'—इस वाक्यमें उसी देहधारी विभवके अर्चा रूप होनेका भाव है; क्योंकि विभव (अवतार) रूपोंसे भगवान्‌ने जैसे-जैसे रूप धारण एवं चरित किये हैं, उनके ही आकार-प्रकारके पार्थिव पदार्थोंके आठ प्रकारके अर्चा-विग्रह होते हैं ।

'सो केवल भगतन हित·····'—इस प्रकार भगवान् श्रीरामजीने क्रमशः अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चा—इन पाँच रूपोंको, केवल अपने भक्तोंके हितके लिये एवं उन्हें उत्तरोत्तर अधिक सुलभ होनेके लिये धारण किया है ।

जैसे किसीका प्यारा पुत्र किसी कारणवश बंदी-गृहमें जा पड़ता है, तब उसके छुड़ानेके लिये उसका पिता भी, उसी मार्गसे (स्वेच्छापूर्वक कृपा करके) जाता है और पुत्रको साथ लेकर लौटते समय व्यतिक्रमसे उन्हीं पड़ावों (विराम-स्थानों) पर होता हुआ आता है । वैसे ही ईश्वरका अंश जीव है, इससे यह उसे प्रिय पुत्रवत् प्यारा है । यह मायावश होकर उससे विमुख हो (कैदीकी भाँति) क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें आकर बद्ध दशामें देहरूपी बंदीगृहमें पड़ा हुआ सोचता रहता है । यह जो उपर्युक्त आकाश आदि पाँचों तत्त्वोंसे होता हुआ आया है, इससे प्राचीन संस्कारवश उन तत्त्वोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमें निमग्न होकर दुःख भोगता रहता है ।

इन पाँचों विषयोंसे इसे छुड़ानेके लिये इन्हीं पाँचों तत्त्वोंको स्वेच्छापूर्वक निर्लिप्त भावसे ग्रहण करते हुए ईश्वर भी अपने पाँच रूपोंको उसी क्रमसे धारण करता है कि जिससे जीव उसकी महिमाको जानता हुआ और उसके पाँचों रूपोंके लक्ष्यसे पाँचों विषयोंका अतिक्रमण करता हुआ, उस ईश्वरकी प्राप्तिकर पूर्ण सुखी हो जाय ।

इन पाँचों रूपोंको धारण करते हुए भगवान् उत्तरोत्तर अधिक सुलभ होते जाते हैं । जीवोंका पाँचों तत्त्वोंमें होते हुए आना श्रुतियाँ कहती हैं; यथा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥

(तैत्ति० २ । १)

'उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलोंसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न-रसमय है।'

इस श्रुतिके अन्तिम वचनोंसे तत्त्वोंके साथ जीवके आनेका क्रम सिद्ध होता है। यही क्रम जीवोंके आनेका छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।५-६) की श्रुतियोंमें भी स्पष्ट कहा गया है। वहाँ यह भी कहा गया है कि अन्नोंमें जीव बहुत काल रहकर कठिनाईसे निकल पाता है, मनुष्य-शरीर पाता है।

ईश्वर भी अपने अंशभूत जीवोंको उक्त बंदीगृहसे छुड़ानेके लिये पाँचों तत्त्वोंके लक्ष्योंसे पाँच प्रकारके रूपोंको धारण करता है। क्रमशः पाँचोंका परिचय दिया जाता है। उपर्युक्त 'व्यापक बिस्वरूप भगवाना। ....' इस अर्द्धालीकी ही व्याख्याके आधारपर लिखा जाता है—

(१) 'व्यापक'—यह ब्रह्मका पहला रूप है, इसे अन्तर्यामी भी कहा जाता है। यह आकाशवत् सर्वगत माना जाता है; यथा—

यद्वाऽऽकाशं सनातनम्। (वाल्मीकि० ७।११०।१०)

अथवा सनातन आकाश (ब्रह्मरूप) में प्रवेश करें (रहें)। तथा—

स पर्यगाच्छुक्रमकायम्।
(यजु० अ० ४० मन्त्र ८, ईशा० ८)

इस श्रुतिमें भी 'परि-अगात्' इस पदसे ब्रह्म आकाशवत् कहा गया है। अतः अन्तर्यामीरूपकी स्थिति ब्रह्मका आकाश-तत्त्वमें आना है। आकाश तत्त्वका विषय शब्द है, किसी शब्दके सुननेपर उसके अर्थभूत विषयोंकी कामनाएँ होती हैं, जिनका विस्तार भी आकाशके समान बहुत है।

इस तत्त्वके संसर्गसे जीवमें कामनाओंका संचार होता है। भगवान् अपने निर्लिप्त अन्तर्यामी रूपका परिज्ञान करा, इसकी उन कामनाओंको निवृत्त कर और इसे आप्तकाम बनाकर इसकी शब्द विषयसे रक्षा करते हैं; यथा—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेता० २।१५)

'उस देव (ब्रह्म) को जाननेपर मुमुक्षु सब बन्धनोंसे छूट जाता है।' तथा—

ज्ञाता देवं……केवल आप्तकामः।
(श्वेता० १।११)

'उस देव (ब्रह्म) को जानकर यह शुद्ध पूर्णानन्द एवं पूर्णकाम हो जाता है।'

(२) 'विश्वरूप'—यह ब्रह्मका दूसरा रूप है। विश्व (जगत्) को अपने शरीररूपमें धारण करना ब्रह्मका वायु-तत्त्वमें आना है; क्योंकि इस रूपमें कर्म-परिणामरूप जगत्को वह अपने शरीररूपमें धारण करता है। कर्म प्राणवायुकी चेष्टाओंसे होते हैं और कर्मेन्द्रिय हस्त भी वायु-तत्त्वके साहाय्यमें निष्पन्न माना जाता है।

जगत्को अपने शरीररूपमें दिखाकर ईश्वर यह सूचित करता है कि अपने शरीररूप जगत्के द्वारा होनेवाले कर्मोंका कर्ता स्वयं मैं ही हूँ; क्योंकि शरीरके द्वारा होनेवाले कर्मोंका कर्त्ता शरीरी ही कहा जाता है।

यद्यपि कर्मोंकी इच्छा कर संकल्प करनेसे जीव कर्ता कहा जाता है, परंतु कर्मोपकरणरूप शरीर, इन्द्रियाँ और प्राणोंके द्वारा पौरुष प्रदान कर कर्म करानेवाला जगत्-शरीरी ब्रह्म ही है। अतः जीवको कर्तृत्वाभिमान नहीं करना चाहिये (गीता १८।१४—१६ देखिये)।

इस विराट्रूपका ज्ञान होनेसे जीवको कर्मोंके कर्तृत्वाभिमानसे रक्षा होती है। यही वायु-तत्त्वके द्वारा होनेवाले कर्म-बन्धनसे संरक्षण है।

(३) 'भगवाना'—इस पदसे ऊपर व्यूहरूप लिखा गया है। इस तीसरे व्यूहरूपका धारण करना ईश्वरका अग्नि-तत्त्वमें आना है; क्योंकि व्यूह देवरूप हैं और देवोंके शरीर अग्नि, वायु और आकाश–इन तीन ही तत्त्वोंके होते हैं, उनमें तेजोमय अग्नि प्रधान रहती है। यथा—

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान्।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम्॥
(महा० वन० ५७ । २४)

दमयन्तीने देवताओंको पसीनेसे रहित, पलक-चालनसे रहित, न मुरझानेवाली मालावाले, रजोहीन एवं छाया-रहित और पृथिवीको न स्पर्श करनेवाले देखा।

इसमें पसीनेसे रहित होनेमें जल-तत्त्वरहित और रजोहीन होनेमें पृथिवी-तत्त्वरहित कहा गया है।

व्यूहके तीन रूपोंमें संकर्षणका 'ज्ञान'मय स्वरूप होता है और 'बल'से वे मोहका संहार करते हैं। बलसे यहाँ वैराग्यका तात्पर्य है; यथा—

'जब उर बल बिराग अधिकाई॥' (रामचरित० उत्तर० १२१)

वैराग्यसे देहासक्तिरूप मोहका नाश होता है। प्रद्युम्नका 'ऐश्वर्य'मय स्वरूप होता है और 'वीर्य'से मुमुक्षुकी बुद्धिरूपी भूमिमें दिव्य गुणोंकी उत्पत्ति करते हैं। अनिरुद्धका 'तेजः'मय स्वरूप होता है और 'शक्ति'के द्वारा मुमुक्षुमें भक्ति प्रदानकर उसका पालन करते हैं। यहाँ साधन-क्रमके अनुसार व्यूहके कार्य कहे गये हैं। अग्नि-तत्त्वके रूप विषयसे मोह होनेपर बुद्धिनाश होता है और देह-पोषणकी विषय-स्पृहाओंसे भक्तिका नाश होता है। उपर्युक्त रीतिसे व्यूहके कार्योंसे ये तीनों दोष निवृत्त होनेमें जीवका अग्निके रूप विषयसे संरक्षण होता है।

(४) 'तेहि धरि देह'—इस वाक्यसे ऊपर 'विभव' रूपका अर्थ लिखा गया है, यह ईश्वरका चौथा रूप है। इसका धारण करना ईश्वरका जल-तत्त्वमें आना है; क्योंकि इसमें भगवान् रजवीर्यसे होनेवाले शरीरधारियोंके समान बाल-युवा आदि अवस्थाओंको अपने दिव्य शरीरमें धारण करते हैं। इस रूपसे असुरोंका संहार और धर्म-संस्थापनके द्वारा साधुओंका परित्राण करते हैं।

जीवोंमें रसनाके द्वारा षट्रस पदार्थोंके सेवनसे इन्द्रियोंके द्वारा आसुरीसम्पदा (काम-क्रोध आदि) बढ़ती है। उसी रसनाके जिह्वारूपसे विभवचरित गान करनेसे आसुरीसम्पदाका नाश होकर धार्मिक वृत्ति बढ़ती है। इस प्रकार जीवरूपी साधुकी जल-तत्त्वके रूप विषय-विकारसे रक्षा होती है।

(५) 'चरित कृत नाना'—इस पदसे ऊपर अर्चारूप कहा गया है। अर्चारूपका पाषाण, स्वर्ण एवं रजत आदिके विग्रहोंमें आना ईश्वरका पृथिवी-तत्त्वमें आना है। अर्चा रूपका सेवक अपनी देह और तत्सम्बन्धी वस्तुएँ इन्हीं अर्चारूप भगवान्‌को अर्पण कर देता है और इनकी सेवा करता हुआ आयु समाप्त कर देता है। इससे यह पार्थिव देह-सम्बन्धी तीनों (देव, ऋषि और पितृ) ऋणोंसे मुक्त हो जाता है; यथा—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१)

'हे राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सब रूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें प्राप्त होता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी सेवक और ऋणी नहीं रहता।' तथा—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १४)

'जैसे जड़के सींचनेसे वृक्षके सभी अङ्ग तृप्त होते

और प्राणोंके तृप्त होनेसे इन्द्रियाँ सचेत होती हैं, वैसे ही श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है।' क्योंकि भगवान् सबकी आत्मा हैं, उन्हें आत्मसमर्पण करके तृप्त करनेपर सबकी तृप्ति हो जाती है। यह श्रीनारदजीने प्रचेताओंसे कहा है।

यही इस रूपमें ईश्वरका पृथिवी-तत्त्वमें और अपने सेवक जीवकी पृथिवी-तत्त्व-सम्बन्धी ऋणत्रयरूपी बन्धनोंसे रक्षा करना है।

'सो केवल भगतन हित लागी।'…………………॥'

भगवान् अपने अंशभूत अतएव प्रिय पुत्रवत् मुमुक्षु जीवोंपर कृपा करके ही इन पाँच रूपोंको धारणकर इन्हें पाँचों विषयोंसे पूर्ण भवजालसे बचानेका उपाय करते हैं। अर्चारूपमें आकर तो आप सबके लिये सुलभ हो जाते हैं।

मुमुक्षु जीव प्रतिलोम (उल्टी) रीतिसे (अर्थात् प्रथम पाँचवें अर्चारूपसे प्रारम्भ कर) इन पाँचों रूपोंकी उपासना करता हुआ उत्तरोत्तर प्रशस्त अवस्थाओंका लाभ करता है। इस प्रकार यह उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। यह पहले अर्चारूपकी आराधना करता है। इसीकी सेवाके साथ-साथ चरित्रोंद्वारा उनके विभवरूपोंका भी अनुभव करता हुआ उन्हीं ग्रन्थोंके द्वारा व्यूह एवं पररूपका ज्ञान करता है। अन्तमें पररूपकी ही आराधनासे यह अन्तर्यामीका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। अन्तर्यामी भगवान्के साक्षात्कार करनेके आदर्श श्रीप्रह्लादजी थे, जिन्होंने अपने चरितसे 'तोमें मोमें खड्ग-खंभमें' इस भगवान्की स्थितिका सबको परिज्ञान कराया है। यथा—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(श्रीमद्भा० ७।८।१८)

'भक्तवत्सल श्रीहरि अपने भक्त प्रह्लादजीके वचनका एवं अपनी सर्वव्यापकताका सत्य विधान करते हुए सभाके मध्य उसी खम्भेमें अपूर्व रूपसे प्रकट हो गये। उनका वह रूप न तो मृगका था और न मनुष्यका ही; अर्थात् आधा मनुष्य और आधा सिंहका रूप था, तथा—

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥
(श्रीमद्भा० ७।१०।२१)

नृसिंह भगवान्ने श्रीप्रह्लादजीसे कहा है कि जगत्में जो तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे मेरे भक्त हो जायँगे, निश्चय ही तुम मेरे सभी भक्तोंमें आदर्श हो। तथा—

'बेद बिदित प्रह्लाद-कथा सुनि को न भगति पथ पाँव धरै।'
(विनय-पत्रिका १३७)

भगवान् अपने पाँचों रूपोंमें षडैश्वर्यपूर्ण ही रहते हैं, मुमुक्षुके भावानुसार एवं स्वरूपानुसार गुण प्रकट करते हैं। श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
(ईशा० १)

'वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है और पूर्णका पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है।'

इस पञ्चधा स्थितिकी आराधना नारद-पञ्चरात्र एवं रहस्य-ग्रन्थोंमें है। नारद-पञ्चरात्रके कुछ श्लोक आगे लिखे जाते हैं—

स एव करुणासिन्धुर्भगवान् भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्त्तिपञ्चकम्॥
तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम्।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥
पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मषः।
उत्तरोत्तरमूर्त्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥

'वे करुणासागर भक्तवत्सल भगवान् उपासकोंके लिये अपने पाँच रूपोंको धारण करते हैं। वे अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म (पर) और अन्तर्यामी संज्ञासे कहे

जाते हैं। इनमें जीववर्ग जिस रूपका आश्रय करता है, उस-उसके ज्ञानका साक्षात्कार करता है। वह पूर्व-पूर्वकी उपासना करता हुआ पापरहित होते हुए उत्तरोत्तर रूपोंकी उपासनाका अधिकारी होता है।'

यहाँ इन पाँचों रूपोंकी उपासनाका साधारण क्रम कहा गया है। अनन्य शरणागतके लिये भगवान्‌की विशेष कृपासे उनके किसी रूपसे शीघ्र ही कल्याण हो सकता है।

यहाँके पाञ्चरात्रके प्रमाणमें इस पञ्चधा स्थितिका आराधन-क्रम कहा गया है और ऊपरके श्रीगोस्वामीजीके प्रमाणमें ईश्वरके रूप धारण करनेका क्रमशः वर्णन किया गया है। शेष करुणासिन्धु एवं भक्तवत्सल आदि विशेषणोंके भाव दोनोंमें समान ही हैं।

भगवान्‌की इस करुणा एवं भक्तवत्सलतासे अपने हितार्थ इन पाँचों रूपोंकी परिस्थिति समझकर उनके परम सुलभ अर्चारूपपर आत्मा और आत्मीय वस्तुओंका अर्पण कर और प्रपत्ति-निष्ठासे आराधना कर अपना मानव-जीवन सफल बनाना चाहिये।

श्रीविभीषणजीने श्रीरामरूपसे और श्रीद्रौपदीजीने श्रीकृष्णरूपसे—इन विभवरूपोंसे शरण होकर लाभ उठाये हैं। उसी प्रकार इनके अर्चारूपोंसे वही लाभ होता है, इसे आचार्योंने यों समझाया है कि जैसे बरसाती नदियोंके जलोंसे उनके समीपी लोग लाभ उठाते रहते हैं। वर्षाके पश्चात् प्रवाह न रहनेपर भी उन नदियोंके बीच-बीचके गहरे कुण्डोंमें भरे हुए जलोंसे उनके समीपी पीछे भी उसी जलका लाभ उठाते हैं। वैसे ही अवतार-कालमें भगवान्‌के चरित-प्रवाहसे आश्रितोंने जैसे-जैसे लाभ उठाये हैं वैसे-वैसे लाभ उनके उन्हीं चरितोंके आकारमें निष्पन्न अर्चारूपोंसे भी शरणागत लोग पाते हैं। इसीसे शरणागति अर्चारूपोंके समक्ष होती है, ऐसा आचार्योंका निश्चित सिद्धान्त है; क्योंकि ये ही सबको सुलभ हैं।

* * *

सारा बाग नजर आता है

मैंने तो सोचा था तेरी छाया तकसे दूर रहूँगा।
चला मगर तो जाना हर पथ तेरे ही घरको जाता है॥

इतने बदले पंथ कि जीवन
ही बन गया एक चौरस्ता,
सूखा पर न कहीं जो भेंटा
तूने सुधियोंका गुलदस्ता,
जाने यह कौन-सा दर्द है, जाने यह कौन-सा कर्ज है?
जिसे चुकाने हर सौदागर कपड़े बदल बदल आता है।

कोई सुमन न पाया जिसमें
बसी न तेरी गंध-श्वास हो,
कोई आँसू मिला न जिसको
तेरे अंचलकी तलाश हो,
चाहे हो वह किसी रंककी चाहे हो वह किसी रावकी
हर कहार हर एक पालकी तेरे ही घर पहुँचाता है।

तुमसे छुपनेकी कोशिशमें
ओढ़ गुनाह लिया हर कोई,
याद न आती रात मगर जब
आँख न छिप छिप कर हो रोई,
कैसे तुझसे रिश्ता टूटे, कैसे तुझसे नाता टूटे?
मरघटके रस्तेमें भी तो तेरा पनघट लहराता है।

जबतक तेरा दर्द नहीं था
तन था धूल उमर थी क्वारी,
खुशियाँ तो हैं दूर, न दुख
तकसे है कोई रिश्तेदारी,
लेकिन तेरा प्यार हृदयको जगा गया, उस दिनसे मुझको
छोटी-से-छोटी पत्तीमें सारा बाग नजर आता है।

—नीरज

क्या श्रीमान्की स्त्री कभी भीख माँगती है ?

(लेखक—प्राध्यापक श्रीधर्मवीरजी एम्० ए०)

'मेरे भक्त और संसारकी चिन्ता !' श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी श्रीमद्भगवद्गीतापर भावार्थदीपिका-टीका, ज्ञानेश्वरीका अमृत-रस-पान करते हुए ये शब्द पढ़े तो आँखें खुली-की-खुली रह गयीं, परंतु दीखना बंद हो गया। आत्मविभोर हो जानेसे कुछ ही देरमें शरीरका भाव भी जाता रहा।

ये शब्द कहनेके पश्चात् योगी मौन हो गये। वे समाधिमें चले गये हैं—ऐसा अनुभव हुआ। मैंने अपने-आपको वहाँसे हटा लिया। कुटिया छोड़कर घर लौट आया।

फिर एक बार दर्शनके लिये गया तो कृपापूर्वक कहने लगे—'क्षमा कीजियेगा। उस रोज आपको कुछ विचित्र-सा लगा होगा। परंतु यह शरीर ऐसा ही है।'

मेरी आँखोंमें आँसू देखकर वे बोले—'यह क्या ? नहीं-नहीं, मैंने आपको अपात्र तो नहीं समझा था। अच्छा, लीजिये, उसी दिनका प्रसंग आज कहता हूँ।

बारहवें अध्यायकी चौरासिवीं ओवीमें श्रीज्ञानेश्वर कहते हैं—'क्या श्रीमान्की स्त्री कभी भीख माँगती है ?' इससे आगे इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है, 'मेरे भक्तोंको मेरा कुटुम्बी ही जानो। उनके लिये मैं किसी बातकी लज्जा नहीं रखता।' इससे पूर्व उन्होंने कहा है—'जो कर्मोंको मुझे समर्पित कर उनका नाश करते हैं तथा जिनके कायिक, वाचिक और मानसिक भावोंकी दौड़ मेरे अतिरिक्त दूसरी जगह नहीं है, इस प्रकार जो मत्पर हैं और निरन्तर मेरी उपासना कर ध्यानके मिससे मेरे ही घर बन गये हैं; जिनके प्रेमने मुझसे ही व्यापार कर बेचारे भोग-मोक्षरूपी असामियोंको छोड़ दिया है, इस प्रकार जो अनन्य योगसे, अन्तःकरणसे, मनसे और शरीरसे मेरे हाथ बिक गये हैं, उनका जो कहो सो सब कुछ मैं ही कर देता हूँ।'

'इनसे भी बढ़कर स्पष्टता इन शब्दोंमें पायी जाती है—'जो सम्पूर्ण मनोभावोंसे मुझे चित्त अर्पण करते हैं, जैसे गर्भका गोला कोई भी व्यापार नहीं जानता, वैसे ही जिन्हें मेरे बिना और कुछ भला नहीं दिखायी देता और जिन्होंने अपने जीवनको मद्रूप ही कर लिया है, ऐसे जो एकनिष्ठ चित्तसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भक्ति करते हैं उनकी मैं भी सेवा करता हूँ।'

'यहाँपर 'सेवा' कहा है। परंतु एक छोटी-सी शर्त भी है, 'वे जिस समय एकाग्र चित्तसे मेरे भजनमें लगते हैं उसी समय मुझे भी उनकी चिन्ता उत्पन्न होती है।' तब उनके जो-जो कार्य हों वे सब मुझे ही करने पड़ते हैं। जैसे पक्षिणी पंख न फूटे हुए बच्चोंके जीवनके लिये ही अपना जीवन रखती है, अपनी भूख-प्यास नहीं जानती और उस चिरौंटेका हित ही उस माताका कार्य रहता है, वैसे ही जो गणोंसहित मेरा अनुसरण करते हैं उनका सब कुछ कार्य मैं ही करता हूँ। उन्हें मेरे सायुज्यकी इच्छा हो तो प्रेम सम्मुख रख देता हूँ। इस प्रकार मनमें जो-जो भाव रखते हैं उन्हें मैं बारंबार पूर्ण करता हूँ। उन्हें दी हुई वस्तुकी रक्षा भी मैं ही करता हूँ।··· जिनके सब भावोंका मैं आश्रय हूँ उनका योगक्षेम मुझे ही करना पड़ता है।' (२२-९)

'इसके बदले भगवान् क्या चाहते हैं ! 'हे किरीटी ! तुमने अपनी आँखों देखा है कि मैंने तंदुलोंके लिये सुदामाके वस्त्रकी गाँठें खोली हैं। मैं एक भक्ति ही मानता हूँ, उसमें मैं छोटा-बड़ा नहीं देखता। कोई भी हो हम केवल भावके पाहुने हैं। पत्र-पुष्प-फल, ये बातें केवल भजनके बहाने हैं। अन्यथा हमें निष्कलंक भक्तिरूपी तत्त्व ही चाहिये।' (२६-९) 'कुल, जाति और वर्ण, सब वृथा हैं··· क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री अथवा शूद्र-अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभीतक भिन्न हैं जबतक मुझे नहीं प्राप्त होतीं। जब वे प्रेमसे मुझमें मिल जाती हैं, तब जाति और व्यक्तिका कुछ भी निशान नहीं बच रहता, मानो केवल लवणके कण समुद्रमें मिला दिये गये हों।' (३२।९)

'भगवान्के स्वरूपको मानव (बल्कि पशु भी) कब पहुँचता है ! 'तुम अपना मन मद्रूप कर दो, मेरे भजनमें प्रेम रक्खो, सर्वत्र मुझ एकको ही नमस्कार करो। जो मेरी ही ओर ध्यान कर निःशेष संकल्पको जला देता है उसको मेरा निर्मल भजन करनेवाला कहते हैं। इस प्रकार मुझसे सम्पन्न होओगे तो मेरे स्वरूपको पहुँचोगे, यह अपने अन्तःकरणकी बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। हमने जो अपना गुह्य सबसे छिपा रक्खा है उसे प्राप्त कर सुखस्वरूप हो रहो।' इस प्रकार उस साँवले परब्रह्मने कहा।

'यह भक्ति कैसी हो ? 'यह भक्ति ऐसी हो जैसी वर्षाकी धारा, जो पृथ्वीके अतिरिक्त दूसरी गति ही नहीं जानती। अथवा सभी जलसम्पदा लेकर जैसे गङ्गा समुद्रकी खोज करती है और अनन्यगति हो बारंबार उसीसे मिलती है।' (५४–११)

'इसके फलके विषयमें कोई संदेह नहीं रहता—'मुझसे लेकर चिउँटीतक किंबहुना चराचरमें—भजनके लिये दूसरी वस्तु ही नहीं है। जो ऐसी भक्ति प्राप्त हो तो उसी क्षण मेरे इस रूपका ज्ञान होता और सहज दर्शन भी हो जाता है।' (५४–११)

इससे भी अधिक स्पष्ट थोड़ा आगे चलकर कहा गया है—'जिसकी काया, वाचा और मनका ऐसा निश्चय हो गया है कि संसारमें मेरे अतिरिक्त और कुछ भी भला नहीं है। जिसके शरीर, वाणी और मन, ऐसा निश्चय करनेकी शपथ खाकर मेरे सिवा दूसरी ओर नहीं देखते, किंबहुना जिसका अन्तःकरण मेरे समीप आ पहुँचा है, उसने अपने और हमारे लिये मानो एकत्वकी शय्या तैयार की है। वल्लभके सम्मुख जानेपर कान्ता जैसे शरीर तथा अन्तःकरणको नहीं छिपाती उसी प्रकार जो मुझे भजता है···उसीको मूर्तिमान् ज्ञान समझो।'

'अब भक्त अपनी मनःस्थितिका निवेदन करता है—'पद्मिनीको रविकिरणोंका लाभ होते ही वह लज्जाका अङ्गीकरण न करके प्रफुल्लित होती है, अथवा जलका स्पर्श होते ही जैसे लवण अपने शरीरकी सुधि भूल जाता है, वैसे ही जब मैं आपका स्मरण करता हूँ, तब अपनापन भूल जाता हूँ।' (अध्याय अठारह ओवी पंद्रह-सोलह)

'क्या मनुष्य परमात्माका उपभोग कर सकता है ? हाँ ! 'जब त्वं-पद-सहित तत्पद भी विलीन हो जाता है, तब जैसे आकाश अन्य चारों भूतोंको लीलकर स्वयं शेष रहता है, वैसे ही साध्य और साधनके परे शुद्ध स्वरूप जो मैं हूँ, उस मुझसे एकरूप हो मनुष्य मेरा उपभोग लेता है।···तरुणाङ्गना जैसे तारुण्यका भोग लेती है वैसे वह कर्मयोगी मद्रूप हो मेरा उपभोग लेता है।···वह मत्स्वरूप होकर कोई क्रिया किये बिना ही मेरा भजन करता है।···वह जो कुछ बोलता है मेरी भेंट होते ही वह मौन हो जाता है। उसी मौन-भावसे वह मेरी स्तुति करता है।'

महर्षि रमण इसी आत्मसाक्षात्कारके कारण मौन रहा करते और कहते—'**मौनं ईश्वरस्वरूपम्।**' श्रीज्ञानेश्वर महाराज इस विषयमें चुप नहीं हैं—'सम्पूर्ण क्रियाएँ मद्रूप हो जानेके कारण जो अकर्तृत्वकी घटना होती है उसीका नाम मेरी सांकेतिक पूजा है। अतः···'वह जो बोले सो मेरा स्तवन है, जो देखे सो मेरा दर्शन है और जो चले सो मुझ अद्वितीयकी यात्रा है।···कंकण जैसे सोनेसे अनन्य ही रहता है, वैसे ही वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें अनन्य हो रहता है। जलमें तरङ्ग, कपूरमें सुगन्ध अथवा रत्नमें प्रकाश जैसे अनन्य है···।' (५५–१८)

'आनन्द, पूर्ण-आनन्द, आत्मानन्द—कैसे प्राप्त हो ? अपना अहंकार, काया, वाचा और मन उसे अर्पणकर···'उसकी शरणमें जाओ। उसके प्रसादसे तुम सब विषयोंकी उपशान्तिरूपी स्त्रीके पति हो आत्मानन्दसे निजरूपमें ही रममाण होओगे। उत्पत्ति जहाँसे उत्पन्न होती है, विश्रान्ति जहाँ विश्राम पाती है, अनुभूति जिस अनुभवका अनुभव लेती है,···'उस अक्षय स्वात्मपदके तुम राजा बन जाओगे।' (६२–१८) 'ऐसी चेष्टा करो कि हाथोंका कर्म करना या पाँवोंका चलना भी मेरे हेतु हो। अपना हो या पराया उसपर उपकाररूपी यज्ञ कर मेरे उत्तम याज्ञिक बनो।···'अपनी ओर केवल सेवकाई रख अन्य सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो तथा भूतद्वेष छोड़कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करनेसे तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रयका लाभ होगा और इस भरे हुए संसारमें तीसरेकी वार्ता मिटकर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा। फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावतः आनन्दकी वृद्धि होगी।···'जब प्रतिबन्ध करनेवाली तीसरी वस्तुका नाश हो जायगा, तब तुम मद्रूप हो जानेके कारण अन्तमें मुझे ही प्राप्त कर लोगे।'···(६५–१८)

अब तो कोई कसर नहीं रहने दी गयी। तो भी अन्तमें परम तत्त्वको दोहरा दिया है—'प्रथम सब कर्मोंको मुझे समर्पित कर सर्वतः मेरा प्रसाद प्राप्त करना चाहिये। अनन्तर मेरे प्रसादसे मेरा ज्ञान सिद्ध होता है और उससे अवश्य ही मेरे स्वरूपकी सायुज्यता प्राप्त हो सकती है। फिर उस समय साध्य और साधन नहीं रहते,···'कुछ भी शेष नहीं रहता।' (६५–१८)

अब मैंने अपने आपको नतमस्तक पाया।

योग या भोग?

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

आज एक ओर तो देशमें अनेक प्रकारकी विभीषिकाएँ भासने हैं, दूसरी ओर देशमें अनुचित नेतृत्वकी सर्वत्र वृद्धि होती जा रही है। विचारनेपर आप्त ऋषियोंका मार्ग ही सच्चा तथा निर्भ्रान्त प्रतीत होता है। रामायण, भागवत आदिमें उसका ही सार है। पर भारतके मूर्धन्य कहे जानेवाले नेतागण आज उसकी तनिक भी परवा नहीं करते। अब देखना है कि ६२ की जनवरीमें क्या होता है? देशके कोने-कोनेसे उसकी शान्तिके लिये जप-तप होनेके समाचार आ रहे हैं। यह संतोषकी बात है। तथापि अनुचित नेतृत्व चिन्ताका कारण है ही। अधिक चिन्ता तो तब होती है, जब पवित्र साधुवेषधारी लोग भी नेतृत्वके लोभमें पड़कर जनताको रिझानेकी दृष्टिसे उसे पसंद आनेवाली गलत बात तथा नाचगान आदिका अनुचित आश्रय लेकर स्वयं ही भ्रान्त होने लगते हैं। गोस्वामीजीने ऐसे ही अवसरके लिये सावधान करते हुए लिखा है—

सचिव बैद गुरु तीन जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास॥

एक दिन एक प्रसिद्ध धार्मिक वक्ता मंचपर ही समाजवादी भाषामें कहने लगे—'भारतवासियो! यदि तुम्हारे जप-तपमें कुछ भी होता तो तुम क्या इतने दरिद्र और दुखी रहते? तुम्हारे मन्दिरोंमें परमात्मा होता तो वह क्या तुमपर कुछ भी दया न करता? उसकी कृपा इंग्लैण्ड, रूस, अमेरिका आदिपर क्यों बरसती, जहाँ यह धर्म-कर्म-पाठ-पूजा आदिका कोई दंभ नहीं होता। वस्तुतः वहाँके लोग ही सच्चे धार्मिक हैं, हम किसी प्रकार नहीं आदि।' भ्रान्त जनताको बहुत पसंद आया यह भाषण। यह देशकी विचित्र स्थिति है। उन्होंने यहाँतक कह डाला कि 'राम-नामसे अबतक किसका क्लेश मिटा, कोई बतलावे तो? मैं इस भावुकतामें बीसों वर्ष भटकता रहा, पर अबतक कोई भी प्रकाश न मिला। यह सब व्यर्थ है, सच्चे धर्मको पहचानो।'

किसी समाजवादी या साम्यवादी नेताका यह भाषण होता तो ठीक ही था, किंतु धार्मिक नेताका यह व्याख्यानसांकर्य तो देशका दुर्भाग्य ही कहा जायगा, भागवत-विष्णुपुराण आदिमें देवताओंका भारतमें न जन्मनेके लिये पश्चात्ताप प्रसिद्ध है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

इत्यादि। प्रश्न होता है कि देवता क्या अमेरिका आदिके वैभवसे हीनवैभव हैं। फिर वे भारतमें जन्म पानेके लिये क्यों तरसते हैं? भागवत स्पष्ट कहता है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
(५।१९।२४)

अर्थात् जहाँ प्रभुकी ललित लीलामयी कथासुधाकी पवित्र गङ्गाधारा न प्रवाहित होती हो, शुद्ध हृदयके भक्त संत जहाँ न हों, वह अमेरिका तो क्या देवलोक ही क्यों न हो, वहाँ मत बसो। और केवल उपकार, दया, माया भी साधुता नहीं हैं, जिसे आप भावुकतामें न भटककर सच्चे प्रकाशकी खोजमें देख रहे हैं। तुलसी-सा भक्त तो यही कहता है कि—

साधुसमाज न ताकर लेखा। रामभगति महँ जासु न रेखा॥

फिर राम-विमुखकी सम्पत्तिकी प्रशंसा कोई भी सात्त्विक बुद्धि स्वीकार नहीं करेगी। हनुमान्‌जीके शब्दोंमें तुलसीका यह कथन ही सात्त्विक है—

रामबिमुख संपति प्रभुताई। गई रही पाई बिनु पाई॥

और सुमित्रा तो 'रामबिमुख सुतते हित हानी' कहकर ऐसे व्यर्थके अर्थका भीषण परिणाम भी घोषित कर रही है। मनुजी भी स्पष्ट कहते हैं कि पापियोंके धनको देखकर तुम पाप मत करो। थोड़ी प्रतीक्षा करो, उनका भविष्य देखो। अवश्य ही उनका परिणाम भयंकर होगा और वह शीघ्र ही होगा—

अधार्मिकाणां पापानां शीघ्रं पश्यन् विपर्ययम्।
(मनु० ४। १७१)

जब रावण, हिरण्यकशिपु, कंस, दुर्योधनका परिणाम भला

न हुआ तो अब किसी आसुरी सम्पत्तिकी शुभाशा तो दुराशामात्र ही है।

अबतककी परम्परा देखनेसे यह भी स्पष्ट है कि यह संसार भी धनियोंकी पूजा न कर त्यागी, परोपकारी हरिभक्तोंकी ही प्रतिष्ठा करता आया है। धनकुबेर तथा भोगसुखसम्पन्न रावणादि तौ निन्द्य ही रहे। यदि केवल भोगी ही वन्द्य होता तो नारद, व्यास, शंकराचार्य, तुलसीदास, ईसा, गान्धी आदिकी कोई कभी प्रतिष्ठा क्यों करता ? उन वक्ता महोदयको भी विचार करना चाहिये कि सभाओंमें क्या उनके-जैसे भोग या धनसम्पन्न व्यक्ति नहीं रहते। फिर उनकी वक्तृता जनता क्यों सुनती है ? जनता तथा श्रोताओंमें उनसे अधिक विद्वान् भी होते हैं, किंतु यह केवल उनके त्यागमय वेषका प्रभाव है कि सभी उनके भाषण श्रद्धासे सुनते हैं; क्योंकि इस वेषसे त्याग, वैराग्य, सत्यता, भक्ति, योग, सदाचारकी कल्पना होती है। यहाँ धनका प्रभाव तो बाधक ही होता है, साधक नहीं।

इस सम्बन्धमें महाभारत शान्तिपर्वके २७१वें अध्यायमें कुण्डधार मेघकी एक बड़ी सुन्दर कथा है। उसमें कहा गया है कि एक निर्धन ब्राह्मणने धनकी कामनासे चन्दन, पुष्प, धूप, दीप एवं तरह-तरहके नैवेद्योंद्वारा कुण्डधार मेघकी आराधना की। फिर वह थककर वहीं कुशासनपर ही सो गया। स्वप्नमें उसने देखा कि मणिभद्र यक्ष लोगोंको विविध पदार्थ दे रहे हैं। इतनेमें ही उस ब्राह्मणका आराध्य कुण्डधार मेघ भी मणिभद्रके सामने आकर लेट गया। मणिभद्रने उससे पूछा कि 'भाई ! तुम क्या चाहते हो ?' कुण्डधार बोला कि 'इस ब्राह्मणपर ऐसी कृपा करो कि यह सुखी हो जाय।' इसपर मणिभद्र बोला कि 'तुम जितना धन कहो, इसे तत्काल दे दूँ।' कुण्डधारने कहा—'नहीं, मानवदेह चञ्चल तथा नश्वर है, धनसे क्या होगा ? इस ब्राह्मणकी बुद्धि तपमें लगा दो। मैं अपने भक्तको रत्नोंसे भरी पृथ्वी या कोई विशाल धनराशि नहीं देना चाहता, मेरी तो यही इच्छा है कि यह धार्मिक हो जाय।'

मणिभद्रने वैसा ही किया। अब वह ब्राह्मण वनमें रहकर तप करने लगा। फिर तो, उसे वह शक्ति मिल गयी कि वह यदि किसीको राजा होनेको कह देता तो वह तुरंत राजा हो जाता। इसी बीच एक दिन कुण्डधार भी उसके सामने प्रकट हो गया और कहने लगा कि 'विप्रवर! देखो, अब तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है। अब तुम इसके द्वारा धनियों तथा राजाओंकी होनेवाली दुर्गतिको भी देख लो। पता नहीं, मनुष्य भोगोंकी लालसा क्यों रखता है ? इनसे नरक तो मिलता ही है, भोगकालमें भी बेचैनी तथा भोगाभावमें भीषण संताप ही प्राप्त होता है।' ब्राह्मणने देखा कि उन भोगी पुरुषोंको काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, निद्रा, आलस्यादि घेरे हुए हैं। इससे ब्राह्मणको मेघकी करनीपर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे तपःसिद्धि मिल गयी। उसे आकाशमार्गसे अविच्छिन्न घूमने तथा संकल्पमात्रसे संसारमें उलट-फेर करनेकी शक्ति प्राप्त हो गयी थी। सच्ची बात तो यह है कि देवता, ब्राह्मण, यक्ष एवं सत्पुरुष धर्मात्माओं तथा त्यागी तपस्वियोंकी ही पूजा करते हैं। किसीके धनी, कामी या सुन्दर होनेके कारण उसकी पूजा नहीं करते।

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः।
धार्मिकान्पूजयन्तीह न धनाढ्यान्न कामिनः॥
(शान्ति० २७१।५५)

शान्त तथा सात्त्विक मतिसे विचारनेपर यही प्रतीत होता है कि सच्चा सुख योगमें ही है, भोगमें नहीं। सर्वशास्त्रमयी गीताका भी यही कथन है कि—

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।'
'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'
'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥'

सारे योगवासिष्ठ तथा महाभारत मोक्षधर्ममें बार-बार इसीका अभ्यास तथा प्रतिपादन हुआ है। वस्तुतः नारायणस्मृति ही विशुद्ध सम्पत्ति है। 'सम्पन्नारायणस्मृतिः।'

धनके सम्बन्धमें भगवान्‌का निर्णय

श्रीमद्भागवत (८। २२। २—२७, १०। ६०। १४, १०। २७। १६ तथा १०। ८८। ८—११) से भगवान्‌का निरन्तर कथन है कि मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसका धनापहरण कर लेता हूँ—

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २७। १६)

जिन योगियोंका मन तनिक भी भोगैषणासे दूषित है उनको मेरा दर्शन दुर्लभ ही है।

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।
(श्रीमद्भा० १। ६। २२)

ऋषि-मनीषियोंका मत

विचारकश्रेष्ठ नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं कि धनकी चर्चा भी न सुने, उससे बुद्धि भ्रष्ट होती है ।

'स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् ।'(ना० भ० सू० ६३)

वे ही भागवतमें कहते हैं कि 'साधुको धन तथा धनियोंसे क्या प्रयोजन ? वे तो दीनबन्धु भगवान्के समान दरिद्रोंके ही अतिथि होते—मित्र बनते हैं ।

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।

(श्रीमद्भा० १० । १० । १८, १७)

शुकदेवजी भगवान्को बार-बार 'अकिंचनवित्त' (निर्धनके धन) कहते हैं । भिक्षुगीतमें आवन्त्य कहता है कि 'अर्थ' नामक पदार्थ तो वस्तुतः सभी अनर्थोंकी ही जड़ है । इससे नरक तो होता ही है, इसका स्वल्प लोभ भी यशस्वियोंके यशको उसी प्रकार चौपट कर डालता है जैसे सुन्दर रूपको थोड़ा-सा भी कोढ़ । धन कमाने, बचाने तथा व्यय करनेमें भीषण आयास एवं त्रास होता है । चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, वैर, अविश्वास, ईर्ष्या, जुआ, शराब और व्यभिचार—इन १५ अनर्थोंकी जड़ यह अर्थ ही तो है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २३ । १९-२०)

महर्षि दुर्वासा धनको समस्त विपत्तियोंकी जड़ बतलाते हैं—

ऐश्वर्यं विपदां बीजं प्रच्छन्नाज्ञानकारणम् ।
मुक्तिमार्गार्गलं दार्ढ्याद्धरिभक्तिव्यपायकम् ॥

(ब्रह्मवैवर्त० ३६ । ४८)

वृषादर्भिके रत्नदानका लोभ दिखानेपर महर्षि अत्रिने कहा था कि धर्मके लिये भी धनका संचय ठीक नहीं; क्योंकि कीचड़में हाथ सानकर धोनेकी अपेक्षा तो हाथ साफ रखना ही अधिक चतुरता है—

धर्मार्थमपि विप्राणां संचयोऽर्थस्य गर्हितम् ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥

(पद्म० सृष्टि० १९।२३०, स्कन्द० नागर० ३२।३८, महा० अनु० ९३, पञ्चतं० २ । १६५, हितो० १ । १८१)

इसी प्रसंगमें कश्यपने कहा था—

अर्थ स्वभावतः ही मोहोत्पादक होता है और मोह सीधा नरकका कारण होता है । अर्थसे प्राप्त होनेवाला धर्म भी अनित्य एवं साधारण है, तपद्वारा प्राप्त होनेवाला धर्म ही मोक्ष देनेमें समर्थ तथा शक्तिशाली होता है—

योऽर्थेन साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्तितः ।
यः पुनस्तपसा साध्यः स मोक्षायेति मे मतिः ॥

(स्कन्द० नागर० ३२ । ४०-४१)

जमदग्निका कहना था कि 'अर्थप्राप्ति ब्राह्मणके लिये हर्ष नहीं, शोकका कारण है । यह तो नरककी यन्त्रणाओंका द्वारमात्र है । (वही ३२ । ४३) । इसीलिये भागवतमें कुन्तीदेवी भगवान्से विपत्तिका ही वरदान माँगती हैं—'विपदः सन्तु नः शश्वत्' । तुलसीदास बार-बार भगवान्को 'दीनहित, दीनदयालु, दीनपियारे वेदपुकारे' आदि कहते हैं ।

दर्शन, उपनिषदादिकी सम्मति

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।', 'प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्', 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' (बृहदा० २ । ४ । २) येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः' इत्यादि वचनोंमें धनकी अकिंचित्करता प्रतिपादित है । पञ्चदशीकारका कथन है 'धिगर्थान् क्लेशकारिणः' (तृप्ति० १६८) । पद्मपुराणका तो यहाँतक कथन है कि धनार्जनमें प्रसक्त ब्राह्मण तो अपनी जातिसे ही च्युत हो जाता है—

धनलोभे प्रसक्तस्तु ब्राह्मण्यादेव हीयते ।
स्थित्यर्थादधिकं गृह्णन् ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥

(स्वर्गखण्ड ५७ । ७०)

अर्थशास्त्रमें भी धनकी निन्दा

इतना ही नहीं, नीतिकल्पतरु, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा पुराणोक्त राजनीतियोंमें भी धनकी बेतरह निन्दा है । उनके सारभूत वचन देखें—

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्वा जायते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान् ॥

(पञ्च० २ । १२२)

प्रसिद्ध नीतिकार नारायणका कथन है कि क्या सुवर्णमालामात्र धारण कर लेनेसे कुत्ता सिंहसे टक्कर लेने लगेगा ! उसमें शेरकी-सी चमक आ जायगी ?

द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ?

कौटल्य भी अपने अर्थशास्त्रमें लिखता है, 'अर्थोऽनर्थानुबन्धः' (कौ० अर्थशा० ९।७।१८) इत्यादि। इस अध्यायमें अनेकानेक अर्थानुबन्ध अर्थ बतलाये गये हैं। 'शार्ङ्गधरपद्धतिकार' भी खिन्न होकर 'धिग्धिग्धनं तद् बहु' लिखकर अनेक प्रकारसे धनको दुःखकर दिखलाते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्त्य अर्थशास्त्री मार्क्सने अपने ग्रन्थका नाम ही 'कैपिटल' (पूँजी) रखकर इसकी कटु आलोचनाएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त लोभकी जो इतनी साधु-संतों तथा शास्त्रोंने निन्दा की है, उसका आधार यह धन ही तो है। साथ ही संस्कृत-साहित्यमें 'अर्थ'का एक अर्थ विषयभोग भी होता है। उदाहरणार्थ 'शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः' इस उपनिषद्वचन तथा 'जानत अर्थ अनर्थ रूप तमकूप परब एहि लागे' इस विनय-पत्रिकाके पदमें अर्थका भाव 'विषयोपभोग'से ही है। यहाँ काम तथा धनकी एक समान ही निन्दा की गयी है।

राज्य भी सात्त्विक नहीं

इसके अतिरिक्त आजकल लोगोंको एक और बड़ा भारी चस्का लगा है। जहाँ देखिये सर्वत्र राजनीतिकी ही चर्चा होती है। इनमेंसे अधिकांश मन्त्री, राष्ट्रपति आदि पदोंके लिये लालायित हैं। पर राजकार्य सात्त्विक नहीं है। वहाँ रजका ही बाहुल्य है*। और आजकी राजनीति तो सर्वथा तमसाच्छन्न है। कहा जाता है कि राजा प्रजाका सेवक होता है। वह दुष्टोंका शास्ता तथा साधुओंका रक्षक होता है। यही बात भागवतमें रहूगणने भरत महर्षिसे कही थी—

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां यः किंकरो वै न पिनष्टि पिष्टम्।
(स्क० ५ अ० १०।२३)

किंतु राजकार्य तथा पद ही कुछ ऐसा होता है कि उस आसनपर जाते ही क्रोध-मदादि दोष आ घेरते हैं और प्रमादकी तो पग-पगपर ही सम्भावना बनी रहती है। उसे बेगार तथा पूजा मिलने ही लगती है। इसीलिये भरत ऋषिने कहा—

विष्ट्या निगृह्णन् निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः।
(स्क० ५।१२।७)

ससि गुरु तियगामी नहुष चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद ते बिमुख भा अधम को बेन समान॥
सहसबाहु सुरनाहु त्रिसंकू। केहिं न राजमद दीन्ह कलंकू॥
जग बौराइ राज पदु पाए।—आदि

राजाकी इससे बढ़कर निन्दा और क्या हो सकती है कि उसे दस वेश्याओंके समान तुच्छ कहा गया। 'दशवेश्यासमो नृपः।' (मनु० ४।८५, वाराहपु० पद्मपुराण सृष्टि० १९।२३६, स्कन्द० नागर० ३२।१९, महा० अनुशा० ९३।२०) इसी प्रकार राजनीतिको भी वेश्यासे उपमा दी 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।' (नीतिशतक ४७, पञ्चतन्त्र १।४५९, हितोपदेश १।१८३) और राजाके प्रतिग्रहको घोर नरकदायी बतलाया गया है। 'घोरस्तस्य प्रतिग्रहः।' (मनु० ४।८७, पद्म० सृष्टि० १९।२३४, स्कन्द० नागर० ३२।२०, महा० अनु० ९३।३४ आदि) मनुके एक टीकाकारने यद्यपि इसे शूद्रराज्यविषयक बतलानेकी चेष्टा की है, तथापि उपर्युक्त पाद्म-महाभारतादिके उदाहरणोंसे इसकी सर्वराज्यविषयकता स्पष्ट ही दीखती है। वस्तुतः जहाँ 'राजतो धनमन्विच्छेत्' है, वहाँ आपद्धर्मकी बात है, यह 'संसीदन् स्नातकः क्षुधा' (४।२३) से स्पष्ट है। स्कन्दपुराणके रेवाखण्डके २३वें अध्यायमें तो हरिकेश-जैसे धर्मात्मा ब्राह्मणके लिये अम्बरीष-जैसे राजासे यज्ञमें भी दान लेनेसे ब्रह्मराक्षस होना लिखा है और अन्तमें यह उपदेश है—

विषयामिषलुब्धो यः कुर्याद्राजप्रतिग्रहम्।
नरके रौरवे घोरे तस्येह पतनं ध्रुवम्॥
वृक्षा दावाग्निना दग्धाः प्ररोहन्ति घनागमे।
राजप्रतिग्रहाद्दग्धा न प्ररोहन्ति कर्हिचित्॥
(वही २३।३०-३२)

अर्थात् राजासे दान लेनेवाला लोभी घोर नरकमें गिरता है। दावाग्निदग्ध वृक्ष तो वर्षारम्भमें पुनः उगते हैं, किंतु राजाके दानसे दग्ध प्राणी फिर नहीं उग सकता। श्री डेसमण्ड लिखता है—राजनीति मनुष्यको नीचे गिरा देती है। वह भलेको बुरा और बुरेको तो जघन्यतम बना देती है— They turn good man into bad and bad into worse. (World birth, Page 247) वस्तुतः इसपर अधिक लिखना व्यर्थ है। ये बातें बहुत मोटी हैं और सूर्यके आलोककी तरह स्पष्ट हैं। पर स्वार्थमें पड़ा व्यक्ति इन्हें कब मानने लगा?

भल अनभल जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥

परिणामस्वरूप कोई विशुद्ध सात्त्विक, सच्चा त्यागी या सज्जन व्यक्ति राजा या मन्त्री आदिके कार्यमें पड़ना चाहता

---

* रागान्धश्चैव राजसिकस्तेन राजा प्रकीर्त्तितः।
(ब्रह्मवै० गण० ३५।७७)

नहीं। आज भी अधिकांशमें लोभी लोग ही खड़े होते हैं और विवश होकर जनताको इनमेंसे ही किसी एकको चुनना पड़ता है। परिणामतः प्रायः राज्य सदा ही राजसी तथा स्वार्थ-वृत्तोंके ही हाथ रहता है। सात्त्विक व्यक्ति भी इनमें पड़कर प्रायः वैसा ही हो जाता है। जब कामोपभोगपरायणताको ही जीवनका परम ध्येय मानकर मानवसमाज आसुरी सम्पदा-सम्पन्न बन जाता है, तब धन, विषयभोग, राज्य-अधिकार आदिका ही सर्वत्र मनोरथ छा जाता है। ऐसी अवस्थामें वैसे ही नेता, वैसी ही जनता, वैसे ही उपदेश तथा उनके वैसे ही आचार-विचार तथा कर्म हो जाते हैं। प्रायः सभी लोग अध्यात्म और भगवान्‌को भूलकर जिस किसी भी प्रकार-से इन्द्रिय-सुख, धन, राज्य आदिके अर्जनमें ही जीवनका असफल उपयोग करके मानव-जीवनको व्यर्थ खो देते हैं। आज यही हो रहा है। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

सती-धर्मकी उपादेयता

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

आधुनिक मनोविज्ञानके क्षेत्रमें फ्रायडके बाद सबसे अधिक नाम डाक्टर विलियम मैग्डूगल साहबने कमाया है। इन्हींकी प्रसिद्ध पुस्तक सोशल साइकोलोजी[1] (सामाजिक मनोविज्ञान) से कुछ उद्धरण उपस्थित करता हूँ—

In a society in which all women were noble and beautiful and chaste, there would be no sexual problem and disorder.

यदि किसी समाजकी सभी स्त्रियाँ उच्चाशय, सुन्दर एवं सती हों तो वहाँ किसी प्रकारकी लैङ्गिक समस्या या उलझन पैदा नहीं होती।

We find that among all peoples, save the very lowest in the scale of culture, the institution of marriage and the duties of parenthood are surrounded by the most solemn social sanctions which are embodied in traditional public opinion and in custom, in formal laws and in the rules and doctrines of religion. These sanctions are in the main the more solemnly and rigidly maintained by the society, the higher the degree of civilization attained by it and the freer and more nearly universal play of the intellectual faculties among the members of that society.

नितान्त असभ्य जातियोंको छोड़कर सभी जातियोंमें विवाह-संस्था और संतानके प्रति माता-पिताका उत्तरदायित्व समाजके दृढ़ नियन्त्रणमें रहते हैं। इन नियन्त्रणोंका पता हमें उस जातिके परम्परागत लोकमत, रूढ़ी, कानून, आचार-विचार एवं धार्मिक सिद्धान्तोंसे चलता है। जो जाति जितनी श्रद्धा एवं कठोरताके साथ इन नियन्त्रणोंका पालन करती है, वह अपनी सभ्यताको उतना ही अधिक उन्नत करती है और उतनी ही अधिक उस जातिके सदस्योंकी प्रतिभा जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अपना चमत्कार प्रकट करती हुई दिखलायी पड़ती है।

For those societies in which no such sanctions became organised must have died out; while only those in which the intelligence became more powerful, these sanctions became more formidable, have in the long run survived and reached any considerable degree of civilization. There have been, we may see, a never ceasing race between the development of individual intelligence and the increasing power of these social sanctions, and whenever the former has got ahead of the latter, there socia disorder and destruction have ensued.

जिन जातियोंमें इस प्रकारके नियन्त्रण लागू नहीं हो पाये, वे नष्ट हो गयीं। केवल वे ही जातियाँ, जिनमें बुद्धिके विकासके कारण इस प्रकारके सामाजिक नियन्त्रण कठोरता-पूर्वक लागू किये गये, जीवित रह पायी हैं और उन्हींमें सभ्यताका समुचित विकास हो पाया है। ज्ञान और बुद्धिके प्रसारके साथ-साथ सदाचार-सम्बन्धी नियमोंकी अवहेलना करना कठिन होता जाता है और जहाँ कहीं बुद्धि सदाचारका साथ छोड़कर आगे निकल जाती है। वहीं समाजका विघटन और विनाश प्रारम्भ हो जाता है।

गीतामें अर्जुनने भी इस ओर संकेत किया है—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

---

1. 'Social Psychology' by Dr. William Mcdougall, 30th edition—1950.

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
(१।४१—४३)

श्रीकृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलीन स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके पापाचारी हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है और वह वर्णसंकर सारे कुल और कुलघातियोंको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। (दुराचारके कारण प्रत्येक कुलमें ऐसी संतान हो जाती हैं जिनमें उन कुलके पुरुषोंका रक्त नहीं होता, इसलिये) उस कुलके पितरोंका स्मरण करने अथवा उनका श्राद्ध करनेमें उनकी स्वाभाविक रुचि नहीं होती, इस प्रकार श्राद्ध-क्रियाके लोप हो जानेसे इनके पितर भी गिर जाते हैं।(यह आवश्यक नहीं कि सनातनधर्मके अनुसार ही पितरोंका श्राद्ध किया जाय, यदि प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्वजोंसे अपना सम्बन्ध महसूस करती है और किसी-न-किसी रूपमें उनका समादर करती है तो वस्तुतः वह श्राद्ध-पुण्यकी अधिकारी है। श्राद्धकी क्रियाएँ इसी भावनाको जाग्रत् रखनेके लिये की जाती हैं।) जब दुराचारके कारण समाजसे यह भावना नष्ट हो जाती है, तब उसे अपने इतिहाससे बल मिलना बंद हो जाता है और इन वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाले पापके कारण कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

गीताने दुराचारजनित तीन दोष बतलाये हैं—दुराचारसे जो संतान होती है वह पापबुद्धि होती है, दुराचारके कारण पितरोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, दुराचारके कारण गृहस्थाश्रम नष्ट हो जाता है जो सारे संगठनोंका आधार है। गृहस्थके टूटते ही वर्ण, जाति, राष्ट्र, कुटुम्ब सभी बिखरने लगते हैं। मैग्डूगल साहब यह तो नहीं कहते कि दुराचारसे जो संतान होती है वह पापबुद्धि होती है, परंतु दुराचारके कारण श्राद्ध-क्रियाका लोप और सभ्यताओंके नष्ट होनेकी बात वे मानते हैं और उसके उदाहरण भी देते हैं—

A weakening of the social sanctions of the parental and reproductive instincts by developing intelligence has played a great part also in the destruction of some of the most brilliant and powerful societies of the past, notably those of ancient Greece and Rome.

—(श्रद्धाविहीन) बुद्धिने विकसित होकर जहाँ प्रजनन और संतानके प्रति उत्तरदायित्व-सम्बन्धी नियन्त्रणको ढीला कर दिया, वहाँ उच्च-से-उच्च और सबल-से-सबल जातियाँ नष्ट हो गयी हैं। प्राचीन कालमें यूनान और रोमकी सभ्यताएँ इसी कारण नष्ट हो गयीं थीं।

It is for this reason that ancestor-worship is so eminently favourable to national stability. In fact the high civilizations of ancient Greece and Rome rested on a firm basis of the kind until their decline began.

The cult of ancestors has played a similar part in Japan.........It is probable that lehina also owes her immense stability and immense power in a large measure to similar causes.

इसी कारणसे पितर-पूजा राष्ट्रीय जीवनके लिये बहुत लाभदायक है। वास्तवमें प्राचीन यूनान और रोमकी महान् सभ्यताएँ पतन-कालसे पूर्व इसी प्रकारके पितर-पूजनपर आश्रित थीं।

जापानमें भी पितर-पूजाके रिवाजने बहुत लाभ पहुँचाया है।···सम्भवतः चीनकी अगाध शक्ति और उसकी सभ्यताका इतना दीर्घ जीवन इन्हीं सामाजिक नियन्त्रणों और पितर-पूजनके कारण है।

समाजमें सदाचारके नियमोंका पालन होता रहे, इसके लिये राजभय और सामाजिक नियन्त्रणकी आवश्यकता है, परंतु इन्हींसे काम नहीं चलता; क्योंकि युद्ध-विप्लव आदिके कारण राजतन्त्र बीच-बीचमें ढीला पड़ता रहता है और यदि राजसत्तापर दुराचारियोंका अधिकार हो गया तो उलटे राजसत्ताके बलपर दुराचार एवं अनाचार फैलाये जाते हैं। जब समाजके उच्च एवं सबल वर्गोंमें दुराचार फैल जाता है, तब सामाजिक नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है। यही कारण है कि रोम एवं यूनानमें जहाँ सदाचार केवल राज्य और समाजके नियन्त्रणपर आश्रित था, नष्ट हो गया। इस विषयपर श्रीमैथ्यु आर्नल्ड महोदयने काफी विचार* किया है। उनकी रायमें—

The mass of mankind have neither force of intellect enough to apprehend them clearly as ideas, nor force of character enough to follow them strictly as laws. The mass of mankind can be carried along a course full of hardship for the natural man, can be borne over the thousand impediments of the narrow way, only by the tide of a joyful and bounding emotion.—

सामान्य जनतामें न तो इतनी प्रखर बुद्धि ही होती है कि वे नैतिक नियमोंकी उपादेयताको ठीक-ठीक समझ सकें

---

* **Matthew Arnold: Essays, Literary and Critical, Published by J. M. Dent & Sons Ltd., London, edition of 1950.**

और न इतना चरित्रबल ही होता है कि वे उनपर ठीक-ठीक नियमपूर्वक चल सकें। कठिनाइयों और आपदाओंसे भरे हुए नीतिके बीहड़ मार्गपर सामान्य जनता तभी चल सकती है जब चलनेमें उसे एक आनन्दमय और उमंगोंसे भरी हुई भावना उमड़ती हुई अनुभूत हो।—इस प्रकारका भावावेश कुछ विशिष्ट सज्जनोंमें ही पाया जाता है।

The paramount virtue of religion is that it has lighted up morality, that it has supplied the emotion and inspiration needful for carrying the sage along the narrow way perfectly, for carrying the ordinary man along it at all.

धर्मके द्वारा जो जोश, उमंग और भावावेश प्राप्त होता है वह इतना ही है कि केवल संत लोग उसके बलपर नैतिकताके संकटपूर्ण मार्गपर ठीक-ठीक चल सकें, साधारण व्यक्तिको इससे बहुत ही कम सहारा मिलता है।

इस प्रकार जनसाधारणको अनीतिके मार्गसे रोकनेके लिये केवल राजदण्ड, सामाजिक नियन्त्रण और धर्मोपदेश ही पर्याप्त नहीं हैं। व्रत, त्यौहार, रीति, रस्म, रिवाज, यज्ञ, अनुष्ठान, समारोह, कला, साहित्य इत्यादि द्वारा दुराचार-विरोधी उन भावनाओंको विकसित करनेसे ही दुराचार रुक सकता है, जो भावनाएँ स्वाभाविक एवं प्राकृतिक हों, जिनमें मनुष्यका सहज आकर्षण हो और जो जनसाधारणके अंदर पर्याप्त जोश और उत्साह पैदा कर सकें। जिससे नीतिके मार्गपर चलनेमें उन्हें आनन्द और रसका अनुभव हो।

वैवाहिक और दाम्पत्य-जीवन-सम्बन्धी सदाचरणको लेकर केवल तीन भावनाएँ ही ऐसी मिलती हैं जिनमें मानव-प्रकृतिका स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुराचारविरोधिनी हैं और जो उमंग और उत्साह उत्पन्न करनेमें समर्थ पायी जाती हैं।

१ मातृत्व, भगिनीत्व और पुत्रीत्वकी भावना—संसारकी स्त्रियोंको अपनी माता, बहिन एवं पुत्री समझना। इन भावनाओंमें बड़ा आनन्द है और इनके बलपर मनुष्य दुराचारसे बच जाता है। हमारे अनेक त्यौहार हरितालीतीज, रक्षाबन्धन, भैयादूज, फुलेरादूज इत्यादि इन भावनाओंको पुष्ट करते हैं। बेटीकी ससुरालमें भोजन न करना, लड़कियोंको दहेज, सिन्दारे, भात, छूछक, खिचड़ी इत्यादि देना, कुमारी लड़कीके हाथकी रोटी न खाना—आदि प्रथाएँ इन भावनाओंको विकसित करती हैं। परंतु इन भावनाओंका क्षेत्र सीमित है। सभी स्त्रियोंको माता, बहिन एवं पुत्री समझनेमें एक-सा रस नहीं उमड़ता।

२ ब्रह्मचर्य—अखण्ड ब्रह्मचर्य स्वभावतः अपनी ओर जनसमाजकी श्रद्धा खींचता है। परंतु सभीके लिये ब्रह्मचर्यका विधान नहीं हो सकता। ऐसा करनेसे गृहस्थाश्रम ही टूट जायगा। वैसे ब्रह्मचर्यका जातीय-जीवनमें जितना अधिक स्थान होगा, उतना ही सदाचारके बन्धनोंको पालनेमें आसानी होगी। विवाहित जीवनमें भी ब्रह्मचर्यका थोड़ा-बहुत स्थान अवश्य होना चाहिये और वह है भी।

३ सतीत्व—सतीत्वकी भावना और उसके प्रति आदर एवं प्रेम सभी जातियोंमें पाया जाता है, किंतु उसे विकसित कुछ ही जातियोंने किया है, जिसमें हमारी आर्यजाति प्रमुख है। इस भावनाको विकसित करनेपर पुरुषोंमें दुराचारसे बचनेके लिये निस्सीम बल आ जाता है और स्त्रियाँ इस भावनाके बलपर घोर-से-घोर विपदाओंमें भी अपने चरित्रकी रक्षा करनेमें सफलता प्राप्त करती हैं। यह भावावेश, यह उमंग विधवाओंको ब्रह्मचर्यमें स्थिर रहनेकी विलक्षण शक्ति प्रदान करता है और इसीकी मस्तीमें क्षत्राणियाँ हँसती हुई जौहर व्रतका पालन करके जलती अग्निका आलिङ्गन करती हैं। यह हमारे आर्य राष्ट्रकी चिर संचित पूँजी है। हमें इसे अपने पूर्वजोंकी धरोहरके रूपमें ही समझना चाहिये और लापरवाही तथा मूर्खताके वशीभूत होकर इसका तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये। मुस्लिमकालमें हम इसी भावनाके बलपर जीवित बच पाये हैं और योगी श्रीअरविन्दके शब्दोंमें हिंदूकालमें भी केवल इसीके बलपर हम नष्ट होनेसे बच गये।

*With these supreme gifts Kalidasa had the advantage of being born into an age with which he was in temperamental sympathy and a civilization which lent itself naturally to his peculiar descriptive genius............The ideals of morality were much lower than of old; yet the unconquerable monogamous instinct of the high-class Hindu women seems to have prevented promiscuous vice and the disorganization of the home.—इन गुणोंके साथ कालिदास एक ऐसे युगमें पैदा हुए थे, जिससे उनका स्वभाव मेल खाता था और एक ऐसी सभ्यतामें उन्होंने जन्म लिया था जिसका वर्णन उनकी विशेष प्रतिभाके अनुकूल था। यद्यपि प्राचीनकालके नैतिक आदर्श उस युगमें काफी नीचे गिर गये थे, फिर भी उच्चजातीय हिंदू ललनाओंकी सहज सतीत्वकी सहज स्वाभाविक भावना अजेय बनी रही, जिसके कारण अनर्गल व्यभिचार फैलनेसे रुक गया और पारिवारिक जीवन टूट नहीं पाया।

---

* Kalidasa by Sri Aurobindo, second edition, 1950.

मधुर

भगवान् परम प्रियतम श्यामसुन्दरके मथुरा पधार जानेपर श्रीराधाजी दिन-रात उनके विरहमें व्याकुल एवं उनके स्मृति-सुखसे सराबोर रहा करतीं। उनकी विलक्षण (युगवत् विरुद्धधर्माश्रयी) स्थिति सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अन्य सबके लिये—बड़े-बड़े ज्ञानी महापुरुषों एवं महान् देवताओंके लिये भी अचिन्त्य है। फिर, विलास-विभ्रम-रत, मोहावृत, भोग-दासतामें नित्य संलग्न एवं कामनाके विषमज्वरसे संतप्त मुझ-सरीखा इन्द्रियारामी तो कल्पना ही कैसे कर सकता है? उनकी अतुल अनुकम्पासे केवल बाह्यरूपमें जो यत्किंचित् चिन्तन हो जाता है, यही परम सौभाग्य है।

एक दिन श्रीराधारानीने अपनी एक प्रिय सखी (ललिताजी) को पास बुलाकर रोते-रोते अपने स्वप्नकी घटना सुनायी—'सखी ! मैं रात्रिभर अपनी सुध-बुध खोये जाग रही थी, प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें लीन मैं बड़ी सुखी थी! मेरी रात्रि सदा ही यों (स्मृति-सुखमें) जागते बीतती है, पर वह स्मृतिकी खान (इतनी अनन्त है कि) कभी खाली होती ही नहीं। आज प्रातःकाल सहज ही मुझे नींदकी झपकी आ गयी और उसने मुझको मथुरापुरीमें पहुँचा दिया। वहाँ (प्रियतम) की दशा देखकर मैं विचलित हो गयी, उसी क्षण मेरी मानस-शान्ति नष्ट हो गयी।'

जग रही थी रात भर सुधिहीन मैं।
थी सुखी प्रियके स्मरणमें लीन मैं॥
नित्य ही जगते निशा यों बीतती।
श्यामकी स्मृति-खान तदपि न रीतती॥
आज प्रातः सहज झपकी आ गयी।
वह मुझे मधुपुरीमें पहुँचा गयी॥
देखकर मैं दशा विचलित हो गयी।
उसी क्षण मन-शान्ति मेरी खो गयी॥

(मैंने देखा—) वे श्यामसुन्दर (पुष्प-) वाटिकामें घूम रहे थे और लगातार दुखी, व्याकुल हुए जा रहे थे। उनके नेत्र (-युगल) अश्रु-जल बरसा रहे थे, जिनसे उनकी व्याकुलता और भी बढ़ी जा रही थी। (उनके मुखसे ये शब्द निकले—) 'हा प्रिये ! हा राधिके ! हृदयेश्वरी ! हा (मेरे) सभी सुखोंकी साधिके ! प्राणेश्वरी ! लोग कहते हैं कि यहाँ (मथुरामें) सुखके विशाल साधन हैं, पर मैं तो यहाँ दुःखराज्य ही छाया देखता हूँ। तेरे बिना मुझे एक पल भी सुख नहीं है, मेरे चित्तकी व्याकुलता अधिक-से-अधिक बढ़ी जा रही है।' यों बिलखते हुए ही वे सहसा (मूर्छित होकर) भूमिपर गिर पड़े, मैंने दौड़कर उनका मस्तक अपनी गोदमें ले लिया। हाय ! इतनेमें ही तुरंत मैं जग गयी, बस, मेरे प्राणोंमें दारुण दावानल जल उठा।

वाटिकामें घूमते वे श्याम थे।
दुखी व्याकुल हो रहे अविराम थे॥
नेत्र थे आँसू-सलिल बरसा रहे।
विकलताको और भी सरसा रहे॥
'हा प्रिये ! हा राधिके ! हृदयेश्वरी !
हा सकल सुखसाधिके ! प्राणेश्वरी !
लोग कहते यहाँ अति सुख-साज है।
देखता मैं, छा रहा दुख-राज है॥
है नहीं तेरे बिना सुख एक पल।
चित्त अधिकाधिक हुआ जाता बिकल॥'
बिलखते यों पड़े सहसा भूमिपर।
दौड़, मैंने ले लिया निज गोद सिर !
हाय ! इतनेमें तुरत मैं जग गयी।
अग्नि दारुण प्राणमें बस, लग गयी॥

मैं उसी समयसे मन लगाये सोच रही हूँ कि वे प्रियतम क्यों मेरे लिये इतने व्याकुल हो रहे हैं। मैं तो रूप-गुणसे रहित तुच्छ नगण्य हूँ, मैं कुबुद्धि तथा कुत्सित भाववाली नित्य नीच हूँ। उनके रिझानेके योग्य एक भी गुण मुझमें नहीं है, उल्टे सभी नितान्त निन्दनीय दोष भरे हैं। (हाँ, एक बात है—) मैं उन्हें कभी

भी भूलती नहीं हूँ। (बस, मेरी यह उनकी स्मृति ही उनके मनमें प्रतिबिम्बित होती है) बस, इसी कारण मैं बीच सदा उनके सरल हृदयमें झूलती रहती हूँ। बस, मेरी यह स्मृति ही छूरी बनकर उनके (चित्तपर) चोट करती रहती है। मैं यदि उन्हें अभी भूल जाऊँ तो फिर मेरे उन प्रियतमको कभी दुःख न हो।

सोचती हूँ, तभीसे मैं मन दिये।
हो रहे क्यों विकल प्रिय मेरे लिये॥
रूप-गुणसे हीन तुच्छ नगण्य मैं।
कुमति, कुत्सित-भाव नित्य जघन्य मैं॥
है रिझानेको नहीं गुण एक भी।
निन्दनीय नितांत दोष भरे सभी॥
हूँ नहीं मैं कभी उनको भूलती।
इसी कारण, बस, (जो) रहती झूलती—
सदा उनके सरल मनमें, मैं बुरी।
(यह) स्मृति ही आघात करती बन छुरी॥
भूल उनको मैं अगर जाऊँ अभी।
तो न हो फिर दुःख प्रियतमको कभी॥

(परंतु सखी !) मेरे प्राणोंका आधार तो प्रियतमका स्मरण ही है। उनका विस्मरण तुरंत ही मेरे प्राण हर लेगा। पर यदि मेरे प्राणधन दुःखसे मुक्त होते हों तो मैं सुखी मनसे ऐसे लाख-लाख प्राणोंका परित्याग कर दूँगी। हे प्रभो ! (मेरे मनसे) श्यामसुन्दरकी स्मृतिको अभी हरण कर लो। मैं सुखसे मर जाऊँ और हे विभो ! मेरे प्रियतम सुखी हो जायँ।

प्राणका आधार है प्रियका स्मरण।
प्राण हर लेगा तुरत ही विस्मरण॥
किंतु दुःख-विमुक्त हों यदि प्राणधन।
लाख ऐसे प्राण दूँगी सुखी मन॥
श्यामकी स्मृति अभी तुम हर लो प्रभो !
मरूँ सुखसे, हों सुखी प्रियतम विभो !

ललिताने बहुत कुछ समझाया-बुझाया, पर श्रीराधिकाजीको उससे जरा भी सान्त्वना नहीं मिली। वे दुःख-संतप्त हृदयसे अपनी भावनिमग्न स्थितिमें ही फिर कहने लगीं—

'सखी ! मेरे समान पापी तथा दुःखका धाम जगत्‌में अन्य कोई भी नहीं है, जिसके कारण मेरे प्रियतम दुखी रहते हैं। कभी शान्ति नहीं पाते। मैं आठ पहरमें एक पल भी प्रियतमको भूल नहीं सकती, यही कारण है कि मेरी स्मृतिसे वे घनश्याम सदा व्यथित रहते हैं। सुखोंके समस्त साधन, पवित्र सेवक, सुन्दर महल, रमणीय बाग-बगीचे, सदा सेवामें लगी हुई गुण-सौन्दर्यसम्पन्न परम मधुरिमामयी ललाम ललनाएँ (उन्हें उपलब्ध हैं)। यह सब होनेपर भी उनके हृदय-मन्दिरमें जो मेरी स्मृति छायी रहती है, इससे उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता और वे जरा भी आराम नहीं पाते। (उनकी इस मेरी स्मृतिका कारण है मेरे हृदयमें रहनेवाली उनकी नित्य स्मृति) अतः मैं यदि उन्हें भूल सकूँ तो वे सुखधाम श्याम भी मुझे भूल जायँ, फिर तो वे मेरे प्रियतम प्राणाराम सभी अनुकूलताओंको प्राप्त करके सहज ही सुखी हो जायँ।

सखी ! न कोई और जगत्‌में
मुझ-सा कहीं अघी दुख-धाम।
जिसके कारण रहते प्रियतम
दुखी, नहीं पाते बिश्राम॥
भूल न सकती मैं प्रियतमको
एक पलक भी आठों याम।
इसीलिये वे मेरी स्मृतिमें
रहते सदा व्यथित घनश्याम॥
सुख-साधन समग्र, सेवक शुचि,
सु-प्रासाद, रम्य आराम।
ललना गुण-सौन्दर्य परम
माधुर्यमयी सेविका ललाम॥
सब कुछ होनेपर भी रहती
मेरी स्मृति छाई उरधाम।
इससे कुछ न सुहाता उनको,
पाते नहीं तनिक आराम॥
मैं यदि भूल सकूँ, तो वे भी
भूल जायँ मुझको सुखधाम।
पाकर सब अनुकूल, बनें
वे सुखी सहज प्रिय प्राणाराम॥

(अतः मेरी) प्रिय सखी ! तुम तुरंत ऐसा कोई सिद्धिप्रद कार्य करो, जिससे मेरे मनसे उनकी, मृतकको जिला देनेवाली सारी स्मृति मिट जाय । या फिर, मुझे ही (कोई उपाय) बताओ, जिसे मैं मन लगाकर लगातार करूँ, जिससे वे मेरे प्राणधन सुखी हो जायँ और (उनका) सुन्दर मुखकमल खिल उठे ।'

प्यारी सखी ! करो तुम ऐसा
कोई तुरत सिद्धिप्रद काम ।
मेरे मनसे मृत-संजीवनि
स्मृति उनकी मिट जाय तमाम ॥
मुझे बताओ या मैं जिसको
करूँ अभी मनसे अविराम ।
जिससे हों वे सुखी प्राणधन
खिले वदन-पंकज अभिराम ॥

श्रीराधाके इन करुण उद्गारोंको सुनकर ललिताजीके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली, वे कुछ भी बोल न सकीं । तब श्रीराधाजी ही अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये भगवान् नारायणसे प्रार्थना करने लगीं । वे हाथ जोड़कर बोलीं——

'हे नाथ ! अब मुझपर कृपा कीजिये । हे मैयाके इष्टदेव नारायण !* मुझपर प्रसन्न हो जाइये।(प्रसन्न होकर) मेरे मनसे श्यामसुन्दरकी मधुर स्मृ इसी क्षण हर लीजिये, जिससे वे मुझे भूल सकें उन्हें सच्चा सुख प्राप्त हो । (उनकी स्मृतिसे रहनेपर आधाररहित होनेसे मेरे प्राण चले जायँगे; परंतु प्रियतमके सुखके लिये मेरे प्राण यदि जायँगे तो मनोकामना सफल हो जायगी । इससे अधिक कोई भी लाभ मेरी समझमें नहीं आया ।

नाथ ! अब मो पै कृपा करौ !
जसुमति मैया के नारायन ! मो पै आजु ढुरौ ॥
मोरे मन तैं मधुर स्याम की सुधि तत्काल हरौ।
जातैं भूलि सकैं वे मो कूँ सुख हो बिनैं खरौ ॥
प्रिय-सुख-काज प्रान जो जावैं, मेरो काज सरौ।
या तैं अधिक लाभ नहिं दूजो मो कूँ समुझि परौ ॥

इसपर कुछ लिखने-पढ़नेका न अधिकार है योग्यता ही ।

◆

पापका बाप लोभ

पापका धन सदा रह सकता नहीं । क्योंकि, उसको धर्म सह सकता नहीं ॥
झोंपड़ीकी आगसे होता प्रकाश । किंतु वह कर डालती है सर्वनाश ॥
फैल जाता फिर सभी विधि अंधकार । फूँककर सब, मूढ़ होता निराधार ॥
इसीसे, मत पापका संग्रह करो । सर्वद्रष्टा सजग ईश्वरसे डरो ॥
समझकर भगवान्के शुभ भावको । मत बढ़ाओ भोगजनित अभावको ॥
त्यागके आदर्शको मन मान दो । भोगके परिणामपर अब ध्यान दो ॥
पापसे सम्पन्न जो धनवान है । जोड़ता वह नरकका सामान है ॥
भले उसका जगत्में सम्मान हो । पूजते उसको कथित विद्वान् हो ॥
कभी मत चाहो कि वैसे बनो तुम । दुर्दशा भावी समझकर डरो तुम ॥
सादगी निर्लोभवृत्ति न पाप है । लोभ अघसंतति सकलका बाप है ॥

◆

---

* श्रीराधाजीने सुन रक्खा था कि यशोदा मैया तथा नन्द बाबाके इष्टदेव श्रीनारायणकी कृपासे ही श्यामसुन्द शुभजन्म तथा बड़े-बड़े विकट दैत्योंसे उनका संरक्षण हुआ था । वे नारायण भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं और यशोदा उनकी बड़ी ही कृपा है । अतएव यशोदा मैयाका सम्बन्ध स्मरण कराती हुई वे नारायणसे प्रार्थना करती हैं ।

जडवाद-भौतिकवाद

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

जब ब्रह्मवादी यह विचार करनेके लिये एकत्रित हुए कि इस सृष्टिका कर्ता कौन है। तब व्यापक ध्यान लगाकर उन्होंने यह जान पाया कि—

सृष्टि-उत्पत्तिके विषयमें कई पक्ष हैं और सभी अपने-अपने पक्षका समर्थन कर रहे हैं—

एक पक्ष यह भी है कि यह जो सृष्टि दिखलायी पड़ रही है, इसे किसीने नहीं बनाया। इसका तो स्वभाव ही है बनना और बिगड़ना।

दूसरे यह कहते हैं कि स्वभाव आदि कुछ नहीं। यह तो इसके कारण ही है। वही बनाता-बिगाड़ता है—अपने च्छानुसार।

यह कोई नहीं सोचता कि—

देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

यह तो उस भगवान्की, देवकी महिमा है जिसके कारण यह ब्रह्मचक्र, यह सृष्टिचक्र, सदा घूमता रहता है। इसकी प्रकार विशेषरूपसे उत्पत्ति होती है ईश्वराभिध्यानसे—वही रूप धारण करता है और अवधि समाप्त होते ही महाप्रलय हो जाता है, यह सब उस भगवान्की महिमा है। पाश्चात्योंमें भौतिकवाद प्रचलित हुआ, स्वभावको ब्रह्मचक्रका कारण माननेसे हुआ। सौ वर्ष पूर्व कार्ल मार्क्स्ने यही सोचा कि यह सृष्टिका 'स्वभाव' ही है बनने-बिगड़नेका।

उसने यह तो मान लिया कि यह सृष्टिका स्वभाव ही बनने-बिगड़नेका है। पर उसके सामने दूसरा प्रश्न खड़ा हो गया कि ये जीव कहाँसे आये। उसने सोच-विचारकर निर्णय किया कि जीव भी इन जड भूतोंसे उत्पन्न हुए। शायद इनकी उत्पत्ति इसी प्रकार जीवोंके स्वभावके कारण ही हो। यह तो कार्ल मार्क्स्की अपनी अटकल ही थी। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।

कारणोंके गुण कार्यमें अवश्य आते हैं। जब यह सृष्टि उत्पन्न हुई अपने स्वभावके कारण, तब उसी जडमेंसे ये चेतन जीव कहाँसे आ गये?

बस, कार्ल मार्क्स् फिर कुछ सोच नहीं सका कि आगे क्या होगा। उसने यही सिद्धान्त निकाला कि जब सृष्टिसे जीव उत्पन्न हुए, तब सब जीव एक ही जैसे स्वभावके होंगे, होने चाहिये थे। तब उसके सामने तीसरा प्रश्न उठा कि फिर इनमें विषमता क्यों? इनमें वर्ग-कलह क्यों? इनके सुख दुःख सम-समान ही होने चाहिये। ये सब एक-जैसे होने चाहिये। तब उस समयमें यूरोपके मनुष्य-समाजकी दशाको देखकर मार्क्स्ने कुछ नये सिद्धान्त निकाले, जिनका यूरोपपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक तो उसने देखा कि कुछ लोग तो मौज कर रहे हैं, कुछ दलित हो रहे हैं—पूँजीपति गरीबोंके परिश्रमसे लाभ उठा रहे हैं और मजदूरोंको उनके परिश्रमके अनुरूप लाभ नहीं मिल रहा है। तब उसने नारा लगाया—'वर्कर्स ऑफ दी वर्ल्ड, युनाइट।' Workers of the world, unite संसारके काम करनेवाले मजदूरो! मिल जाओ और इस विषमताका प्रतीकार करो।

वर्गकलहका कारण

यह सृष्टि कब बनी, कैसे बनी, पता नहीं। पाश्चात्त्य इतिहास मनुष्यकालको चार-पाँच सहस्र वर्षसे अधिक कालका नहीं मानता।

वर्गकलह और विषमताका कारण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ये भौतिकवादी इस सिद्धान्तपर पहुँचे कि जब मनुष्य उत्पन्न हुआ तब वह जंगली दशामें था। उसकी आवश्यकताओंको निभानेके लिये—पूरी करनेके लिये निसर्ग अर्थात् सृष्टिमें पूरे साधन थे।

उस समय

सब मनुष्य एक-से थे—उनमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं थी। उस समयके मनुष्य-समुदायमें भेद भी नहीं थे—इसलिये उस दशामें किसी प्रकारका वर्गकलह नहीं था। इस अवस्थाको—सम-समान अवस्थाको कार्लने 'प्रिमिटिव कम्यूनिज्म' मूल साम्यवाद कहा है। पहिले स्त्री-पुरुष सब सम-समान ही थे। अवस्था यह थी सब स्त्रियाँ पुरुषोंकी स्त्रियाँ और सब पुरुष सब स्त्रियोंके पति थे, प्रत्येक स्त्री पुरुषकी स्त्री यह समाज-व्यवस्था थी।

धीरे-धीरे इस व्यवस्थामें फरक पड़ने लगा—(१) वह फरक यह कि बाबा, बाप, लड़का और पोता इनको अनुक्रमसे दादी, माँ, लड़की और पोतीसे परस्पर लैङ्गिक सम्बन्ध मना कर दिया गया। ऐसी कुटुम्ब-रचनाको 'कानसनगाईन फैमिली' कहने लगे।

(२) इसके पश्चात् भाई और बहनके परस्पर विवाह बंद किये गये। इस प्रकारकी कुटुम्ब-रचनाको 'पुनालम फैमिली' कहने लगे। इस प्रकार स्त्रियोंकी दशा बिगड़ने लगी और समाजमें उनका दर्जा कम माना जाने लगा।

(३) उसके पश्चात् 'पेअरिंग फैमिली' नामकी कुटुम्ब-रचना हुई। इस व्यवस्थामें एक पुरुष एक ही स्त्रीसे सम्बन्ध रख सकता था किंतु इनको परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी छुट्टी थी। यह भी छुट्टी थी कि पुरुष चाहे जितनी स्त्रियोंसे सम्बन्ध रक्खे। स्त्रीको एकसे अधिक पुरुषसे सम्बन्ध रखनेकी मनाही थी।

(४) इसके पश्चात् 'मानोगैमियन फैमिली' नामक कुटुम्ब-रचना चली। इसमें एक पुरुषका एक ही स्त्रीसे विवाहसे सम्बन्ध रहता था। किंतु पुरुषको अन्य स्त्रियोंसे लैङ्गिक सम्बन्ध रखनेकी छूट थी। बस, इन कार्लके अनुयायियोंके मतमें तभीसे स्त्री पुरुषकी गुलाम हुई, पुरुष स्त्रीका मालिक बन गया और वर्गकलह चल पड़ा।

इसी अवसरपर उस समयकी समाज-रचना धीरे-धीरे बदलती गयी।

मनुष्य-समाज उत्पादनके साधन तैयार करनेमें संलग्न हुआ—अर्थात् मनुष्य-समाज जङ्गली दशासे सभ्य दशामें आया। तबसे व्यवहारका, आदान-प्रदानका साधन पैसा बना।

पर बात यह हुई कि इनमेंसे कुछ मनुष्य उत्पादनके साधनों-पर अधिकार जमा बैठे और अन्य मनुष्योंको अपना दास बनाने लगे।

बस, यहींसे दो वर्ग हुए

(१) उत्पादनोंके साधनोंपर कब्जा करके अन्योंके परिश्रमपर निर्वाह करनेवाला, जीवन-निर्वाह करनेवाला वर्ग।

(२) स्वतः अपने परिश्रमपर निर्वाह करनेवाला वर्ग।

इन दो वर्गोंमें संघर्ष चलता ही आया है, चलता ही रहा है।

पर धीरे-धीरे इस दूसरे वर्गकी स्थितिमें भी परिवर्तन होता गया। पहले-पहले स्वतन्त्र वर्गका गुलामवर्गपर अधिकार रहता है। फिर राजा-प्रजा साधनसम्पन्न बड़े संरजामवाले मालिक और दासकी बात चल पड़ती है। इनमें दास तो कुछ स्वतन्त्र रहता है और उसी अनुपातसे मालिकके अधिकारोंमें कुछ कमी होती है।

इसके पश्चात्की बात

तो यह है कि मालिक और मजदूर दो वर्ग बनते हैं। इसमें मजदूर स्वतन्त्र रहता है, पर उसके पास उत्पादनके साधन नहीं रहते; इसलिये वह अपने शारीरिक परिश्रमपर ही निर्भर रहता है। दूसरी ओर मालिक अपने अधिकारको जमाये रखनेके लिये नये-नये उत्पादनके साधन निर्माण करने लगता है। इस काममें उसको अधिक-से-अधिक मजदूरोंकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिये मजदूरोंकी शक्ति भी बढ़ जाती है।

फिर मजदूर लोग अपनी यूनियनें (संघ) अथवा ट्रेड यूनियनें (व्यापारिक संघ) बनाते हैं। इस तरहसे मजदूर शक्तिशाली बन जाता है। यों मजदूर प्रबल और मालिक धीरे-धीरे निर्बल पड़ता जाता है; क्योंकि मजदूर जबरदस्ती अपने संघोंके बलपर मालिकके उत्पादनों, मालिकके साधनोंपर कब्जा करता चला जाता है। शक्ति मालिकके हाथोंसे निकल कर मजदूरोंके हाथोंमें जाने लगती है। यहाँतक कि मालिकोंके द्वारा बनायी हुई राज्यसंस्थाको उलटकर मजदूर अपनी राज्यसत्ता स्थापन करते हैं, करने लगते हैं। मजदूरोंकी बनायी हुई यह राज्यसंस्था मालिकोंसे अन्यायसे कमायी हुई सब सम्पत्ति उनसे छीनकर विस्तृत समाजमें बाँट देती है और मालिकके उत्पादन करने या बढ़ानेके सभी साधनोंका मालिक समाज बन जाता है।

इस तरह

सब मानव फिर समान अवस्थामें आते हैं और वर्ग-कलह मिटता है या मिटने लगता है—सम्पत्ति-उत्पादनके लिये आवश्यक समाज-रचना उत्पादनके छोटे-छोटे भाग होनेके कारण इतनी सादी बन जाती है कि कोई भी कोई काम कर सकता है। इस तरह प्रत्येक मानव कार्यक्षम-मानव यह जिस तरह काम करता है, ऐसा दूसरा मानव भी उसी तरहका काम कर सकता है या नहीं—इस बातको देखने और इस प्रकार परस्पर पड़ताल करनेकी आदत पड़ जाती इसीमेंसे एक इतनी बड़ी समाजरचना अथवा समाज

बनेगा कि किसी राज्य नामकी संस्थाकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और राज्यसंस्थाएँ ही मिट जायँगी। उसके बादका सब समाज वर्गविहीन हो जायगा। इस वर्गविहीन समाजका ध्येय रहेगा कि 'प्रत्येकसे उसकी क्षमताके अनुसार ग्रहण करके प्रत्येकको उसकी आवश्यकताओंके अनुसार देना— From each according to his ability to each according to his needs.

मालिक और मजदूरका संघर्ष चलता ही रहता है। मालिकके पास सम्पत्ति रहती है और मजदूरके पास श्रमशक्ति। जिनके पास सम्पत्ति रहती है, वे दूसरोंकी श्रमशक्तिपर जीते नहीं। दूसरोंको अपनी श्रमशक्तिपर जीना पड़ता है।

यह मालिक और मजदूरका भेद किन्हीं स्वाभाविक गुणोंपर निर्भर नहीं है। यह परिणामपर निर्भर है। इसलिये मजदूर भी मालिक बन सकता है और मालिक भी मजदूर हो सकता है।

यह है संक्षेपसे वर्गकलह मिटाने और वर्गविहीन समाजके निर्माणका उपाय कार्ल मार्क्स्के अनुयायियोंके अनुसार।

हमें तो ऐसा होना मृगजलका-सा प्रतीत होता है।

इसके विपरीत मनुष्य-स्वभावपर दृष्टि डालकर बनाया हुआ वैदिक समाजवाद संसारको अधिक सुख-शान्ति दे सकेगा; क्योंकि वर्ग बनेंगे स्वभावानुसार। हमारे यहाँ समाज-रचना ही स्वभाव-शास्त्रानुसार बनी है और परस्पर आदान-प्रदानकी प्रथा प्रचलित रहनेसे एकके पास जो उत्पादनशक्ति होगी, उस शक्तिसे दूसरे भी लाभ उठायेंगे। जैसा कि वेदमें कहा गया है—

देहि मे ददामि ते।
नि मे देहि नि ते दधे॥
नीहारं च हरासि मे।
नीहारं निहराणि ते॥

'भ्रातः! तेरे पास जो कुछ है उसे तू मुझे भी देगा तो मेरे पास जो कुछ है और तेरे पास नहीं है, मैं भी तुझे दे दूँगा। क्या तू मेरे हिस्सेमेंसे लेना चाहता है? तो फिर तेरे हिस्सेमेंसे कुछ भाग मुझे भी देना पड़ेगा।'

ब्राह्मणवर्ग—ज्ञानप्रधान
क्षत्रियवर्ग—बलप्रधान
वैश्यवर्ग—उद्योग-धनप्रधान
शूद्रवर्ग—सेवा-शुश्रूषा-प्रधान

स्वभावशास्त्रानुसार सब शक्तियाँ सब वर्गोंके पास नहीं रहतीं, नहीं रह सकतीं—इसलिये एक वर्गकी शक्तिसे दूसरा वर्ग लाभ उठायेगा। आदान-प्रदान धर्मानुसार होता रहेगा। फिर किसी प्रकारका वर्ग-कलह क्यों रहेगा? सच पूछिये तो वर्गविहीन सम-समान समाज न बन सकता है और न रह सकता है। भौतिकवादी जो यह मानते हैं कि जीव जड सृष्टिसे वैसे ही उत्पन्न हुए हैं, यहीं भूलते हैं। इसीलिये वे प्रारम्भसे ही जीवोंको सम-समान समझते हैं। वे उन मनुष्योंका जंगली-पनसे सभ्यतामें आना ही विषमताका मूल समझते हैं, इसीलिये विषमताकी दुहाई देकर वे वर्गविहीन समाजके निर्माणके लिये भौतिक उपाय सोच रहे हैं!

हमारा धर्म मानता है कि एक चेतन सर्वस्रष्टा, सर्वद्रष्टा देव है, जिसके अभिध्यानसे यह विराट् जगत् बना। जीवात्मा भी अनादि अनन्त हैं, न जाने कबसे अनन्त वासनाओंसे भरे चले आये हैं। ये अपने कर्मानुसार फलोंको भुगतने और धीरे-धीरे, हो सके तो उस देव-दर्शनको प्राप्तकर मोक्षानन्द प्राप्त करनेके लिये आते हैं। जीवात्मा जड जगत्से नहीं टपके हैं। इसलिये अध्यात्मशून्य कोरा भौतिकवाद मानवधर्मके सच्चे कल्याणकी बात न तो सोच सकता है और न कह ही सकता है।

मानव चार-पाँच सहस्र वर्षका कोई जंगली जानवर नहीं है, जिसने धीरे-धीरे उन्नति की और एकदम सभ्य बन गया एवं सभ्यताके साथ ही विषमता फैली तथा वर्गकलह बढ़ गया।

जबसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है तभीसे मनुष्य है। वेद कहते हैं—

'ततो मनुष्या अजायन्त' पृथ्वी बनी और मनुष्य आया। जो सबसे प्रथम आये उनको ईश्वरीय ज्ञान मिला, फिर उन्हीं आदिऋषियोंकी परम्पराने उस ज्ञानकी परम्पराको आगे चलाया। हमारा वैदिक तत्त्वज्ञान यही बतलाता है।

हमारी समाजरचना

पुरुषसूक्तमें बतलायी गयी है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'

—इत्यादि।

इस वैदिक समाज-रचनामें अध्यात्म अर्थात् स्वभाव-शास्त्रके अनुसार अपने वर्णमें रहकर मनुष्य चरम सीमाकी उन्नति कर सकता है। नीचे वर्गसे ऊँचे वर्गमें जा सकता है। ऊँचे वर्गका, यदि अपने स्वाभाविक वर्ग अथवा वर्णको न सँभाल सके तो, नीचे सरक सकता है। फिर मार्क्सने मालिक

और मजदूर ये ही दो विभाग किये हैं। यह भी अस्वाभाविक है, असाध्य है, असम्भव है—केवल इन दो विभागोंसे संसार नहीं चल सकता। समाजको अन्य शक्तियोंकी भी आवश्यकता रहती है। जिनके बिना समाज समाज नहीं रह सकता—फिर वह समाज क्या हुआ—वह तो विनाश ही है। मार्क्स-सिद्धान्तने मालिक और मजदूरोंको सम-समान बनानेका यत्न किया; फिर भी अब भी मालिक भी हैं, मजदूर भी हैं। विषमता भी है और कोई सम-समानता नहीं बन सकती है।*

श्रीराम-रणक्रीड़ा

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न)

तीन मुख अग्नि नैन तीसरेमें भ्राजमान
पाँच मुख आपु चारि मुखके कुमार हैं।
सुत षटमुख गजमुख महामान्य दोऊ,
दसमुख दास औ सहसमुख हार हैं॥
शशि सुललाट शशिमुखी शिवा गोद लसैं,
हिममुखी हैमवती गंगा जटाद्वार हैं।
कपिमुख बरदा जु एक वरदायी सबै,
क्यों न सदा सुखी वन्दौं शंकर उदार हैं॥

शास्त्रोंमें विधि-निषेधरूपमें जो बातें कही गयी हैं उनके उदाहरण श्रीरामचरित्रके (नायक-प्रतिनायकके) पात्रोंमें मिल जाते हैं। हिंदी साहित्यिकोंमें प्रसिद्ध स्व० श्रीप्रतापनारायणजी मिश्रका दोहा है—

ईश प्रथम जिन वेद रचि कीन्हे सद् उपदेश।
करि दिखराई कृत्य पुनि तौन राम अवधेश॥
मुखकी शोभा सद्वचन तनकी शोभा स्वेद।
रामायण अरु बेदमें कहब करब मैं भेद॥

अनेक निषिद्ध वस्तुओंमें अभिमान भी निषिद्धतम वस्तु है—

सकल सोक दायक अभिमाना।

विश्वमें दैवी एवं आसुरी दो प्रकृतिके लोग हैं। दैवी साम्पत्तिक अर्थात् भगवत्-भागवतमें प्रेम रखनेवाले और आसुरी साम्पत्तिक अर्थात् भगवत्-भागवतमें द्वेष रखनेवाले दोनों तरहके लोगोंको अभिमान हो जाया करता है। उनमें यदि दैवी सम्पत्तिवालोंको अभिमान होता है तो उसे प्रायः भगवान स्वयं ही तोड़ते हैं जैसे श्रीनारदजीका काम-विजयजन्य अभिमान और आसुरी सम्पत्तिवालों—भगवद्भागवत-द्रोहियोंका अभिमान भक्तोंद्वारा ही भगवान् तुड़वाते हैं। सो भी प्रायः उन्हींसे जिनके प्रति अभिमान व्यक्त किया गया होता है। इसी (दूसरे तरह) का एक उदाहरण इस लेखमें दिया जा रहा है।

'जिमि कोउ करै गरुड़ सैं खेला।'
'रनक्रीड़ा लगि प्रभुहि बँधायो।'
'जब रघुनाथ कीन्ह रनक्रीड़ा।'

—आदिसे स्पष्ट कहा गया है कि लंकाकी लड़ाई श्रीरामजीकी रणक्रीड़ा थी—खेल थी। इसपर आपाततः शङ्का हो सकती है कि श्रीरामजीका अपना बँध जाना आदि तो खेल हो सकता है; परंतु मेघनादके नागपाशमें बँधकर सभी वानर-भालुओंके द्वारा बाणोंके दुःखका अनुभव करना, कुम्भकर्णके प्रथम युद्धमें श्रीहनुमान्जी, अंगद आदि तकका मूर्च्छित होना तो है ही, श्रीरामसखा सुग्रीव-कपीशका भी कुम्भकर्णकी काँखमें पीड़ा, मूर्च्छा एवं घोर अपमानरूप दुःखका अनुभव करना आदि-आदि कई बातोंका हो जाना कौन-सी क्रीड़ा है? यह वही बात हुई कि—

चीरीको मरन खेल बालकन कोसो है।
(हनुमानबाहुक)

ऐसे-ऐसे तर्कोंके समाधानके लिये युद्धकी अन्तिम भूमिका अर्थात् रावण-अंगद संवादान्तर्गत रावणकी गर्वोक्तियोंको देखना चाहिये। रावणने अपने छः पदार्थोंपर गर्व किया था—

१—भाईपर—

कुंभकरन सम बंधु मम।

२—बेटेपर—

सुत प्रसिद्ध सक्रारि।

३—सिरोंपर—

जेहि निज कर सिर सुमन उतारी।………

४—बाहुओंपर—

---

* इस लेखमें हमने 'जीवनविकास' (नागपुर) के मार्चके विशेषाङ्कसे दो-चार उद्धरण लिये हैं।

सठ बिलोकु मम बाहु ।···
‘बीस पयोधि अगाध अपारा ।

५–छातीपर—

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई ।
जिन्हके दसन कराल न फूटे ।
उर लागत मूलक इव टूटे ॥

६–पाँवपर—

जासु चलत डोलत इमि धरनी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥

अंगदके दलके छः महावीरोंको कहा । पहले रावणने कहा—

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद ।
मो सम भिरिहि कवन जोधा बद ॥
तव प्रभु नारि बिरहँ बल हीना ।
अनुज तासु दुख दुखित मलीना ॥

इसपर सम्भवतः अंगदको हँसी आ गयी हो कि ‘मूर्ख ! जब वे मेरे प्रभु हैं तो दोनों भाई मेरे कटकके कैसे हुए ?’ तुरंत ही सँभलकर रावण कहने लगा—

तुम सुग्रीव कूल द्रुम दोऊ । बंधु हमार भीरु अति सोऊ ॥
जामवंत मंत्री अति बूढ़ा । सो कि होइ अब समरारूढ़ा ॥
सिल्प कर्म जानहिं नल नीला ॥

अर्थात् राजा सुग्रीव, युवराज तुम, प्रधानमन्त्री जाम्बवन्त, समरमन्त्री मेरा डरपोक भाई विभीषण, प्रधानसेनापति नल और नील कोई भी मुझसे सामना करके टिक नहीं सकते, तो फिर सामान्य वानरोंकी तो बात ही क्या ?

अंगदने देखा कि रावणने पहले हमारे छःको तुच्छ कहा, तत्पश्चात् अपने छःपर गर्व किया । अब यदि रावणके छहों गर्वोंको मैं ही तोड़ जाऊँगा तो रावण किंवा राक्षसोंकी दृष्टिमें मेरे राजा, प्रधान मन्त्री और प्रधान सेनापति तो तुच्छ बने ही रहेंगे । विभीषणको चाहे जो समझते रहे परंतु जब कि श्रीरामकृपासे हमारे सभी सैनिक परम समर्थ हैं—

मर्दि गर्दि मिलवहिं दससीसा । ऐसे बचन कहहिं सब कीसा ॥
सो कपि एक न सेना माहीं । जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं ॥
परम सुभट मीजहिं सब हाथा । आयसु पै न देहिं रघुनाथा ॥
रामकृपा अतुलित बल तिनहीं । त्रिन समान त्रय लोकहिं गिनहीं ॥

अतः वे वीरगण इसके अन्य घमंडोंको चूर करेंगे ही, मैं केवल इसके हाथ-पाँवका घमंड तोड़ दूँ, यही ठीक होगा । तब रावणसे बोले—

तैं निसिचरपति गरब बहूता । मैं रघुपति सेवक कर दूता ॥

भाव यह कि निशिचरपति होते हुए भी तेरा गर्व, तेरे गर्वकी सामग्री तुच्छ है, इतनेपर तुझे गर्व नहीं करना चाहिये था । मैं तो श्रीरघुपतिके सेवकका दूत हूँ । रघुपतिके बलका तो अनुमान ही नहीं लग सकता और रघुपतिके सेवक (लक्ष्मण-जी) के बलका संकेत तू जानता है, अपनी आँखों जनकपुरमें देख चुका है । रघुपतिके सेवक तो बहुत हैं पर सच्चा दावा करनेवालोंमें एकमात्र श्रीलक्ष्मणकुमार ही अन्यतम हैं ।

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह ।
आजु राम सेवक जस लेऊँ ॥
‘जौ तेहि आजु बधे बिनु आवौं । तौ रघुपति सेवक न कहावौं ॥’

तेरे तो युद्धार्थ चलनेपर पृथ्वी डोलती है—

आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही ॥
चलत दसानन डोलत धरनी ॥

और मैं जिनका दूत हूँ, उन रघुपति-सेवक श्रीलक्ष्मणजीके तो बोलनेमात्रसे समस्त ब्रह्माण्ड काँपता–डोल उठता है—

लखन सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥
सभय लोक सब भूप डेराने ।
‘सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ।’

मैं तो उनका दूतमात्र हूँ, परंतु मेरे भुजामात्रसे तेरे हाथ-पाँवका गुरुगर्व खर्व हो जायगा । देख—

कटकटान कपि कुंजर भारी । दोउ भुज दंड तमकि महि मारी ॥
डोली धरनि सभासद खसे । चले भागि भय मारुत ग्रसे ॥
गिरत दसानन उठा सँभारी । भूतल परे मुकुट षट चारी ॥

रावणने चार बार श्रीरामजीको कुवाक्य कहा था—

१–तव प्रभु नारि बिरह बल हीना ।
२–ऐसे मनुज अनेक । खाहि निसाचर दिवस निसि ॥···
३–जो पै समर सुभट तव नाथा ।
४–अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास ॥

इसीसे अंगदने भूप-गुणरूप रावणके चार मुकुट छीन लिये।

रावणका गर्व गञ्जन करके जब अंगद लंकासे लौटे, तब श्रीरामजीके यह पूछनेपर कि—

रावन जातुधान कुल टीका । भुजबल अतुल जासु जग लीका ॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये । कहहु तात कवनी बिधि पाये ॥

परंतु अंगदने किसी तरह अभिमान न व्यञ्जित हो, इसलिये अपने भुजा पटकनेकी बातको चतुरतासे उड़ाकर अन्य—

समाचार सब तब कहे गढ़ के बालिकुमार ।

–उन समाचारोंमें रावणके अपने भाई, अपने बेटा, अपने सिर, बाहु और छातीके गर्वकी बात और रावणद्वारा वानराधीश सुग्रीव, प्रधान मन्त्री जाम्बवन्त, समरमन्त्री विभीषण और प्रधान सेनापति नल-नीलके अपमान (तुच्छ मानने) की बात भी बतायी । इसीसे श्रीरामजीने समय-समयपर सदलबल मूर्च्छित बनकर रावणद्वारा अपमानित वीरोंद्वारा ही रावणका गर्व चूर-चूर करवा दिया । जिसका संकेत हमें मानसमें इस तरह मिलता है कि कुम्भकर्णकी पहली लड़ाईमें महावीर अंगद, हनुमान् आदि सभी वानर वीर बहुत देरतक कुम्भकर्णकी मारसे मूर्छित पड़े थे । जब वालीद्वारा अपमानित रावणका बदला पूरा करनेके लिये अर्थात् कुम्भकर्णके बड़े भाईको सुग्रीवके बड़े भाई वालीने काँखमें दाब लिया, तब रावणके छोटे भाईने वालीके छोटे भाईको काँखमें दाबकर उसका बदला ले लिया, यह दिखानेके लिये कुम्भकर्णने मूर्छित सुग्रीवको काँखमें दाबकर लंका-प्रस्थान किया । रास्तेमें जब वानराधीशकी मूर्च्छा भंग हुई, तब उन्होंने कुम्भकर्णकी भावनाका अनुमान करके सोचा कि यदि मेरी चैतन्यताका भान कुम्भकर्णको हुआ और इसने जोरसे दाब दिया तो शायद अभी ही 'राम नाम सत्य है' ही हो जाय, अतः मृतकका स्वाँग कर लिया और विचारा कि इसका प्रतिशोध कैसे लूँ । सोचा कि श्रीरामजीने मुझे—

'तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।'

–कहकर मेरा स्थान लक्ष्मणजीसे ऊँचा निर्धारित किया है; क्योंकि भरतजी तो लक्ष्मणजीसे बड़े भाई हैं । और लक्ष्मणसे अधिक तो मेरे कर्मचारी (मन्त्री) हनूमानको कहा था—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।

तो यदि मैं लक्ष्मणजीसे अधिक पुरुषार्थ प्रदर्शन कर सकूँ तभी मेरा गुण-गौरव सुरक्षित रह सकता है । सोचते-सोचते विचारमेंआया कि लक्ष्मणजीने तो स्त्री-जाति अबला कहानेवाली रावणकी बहिनकी नासिका एवं कान काट लिया था तो मैं परम प्रबल एवं—

'कुंभकरन सम बंधु मम० ।'···

—कहकर व्यक्त किये गये रावणके मूर्तिमान् अभिमानके नाक-कान काट लूँ । ऐसा निश्चय करके जब मृतकका स्वाँग किया, तबकुम्भकर्णने सोचा कि मुर्दा सुग्रीवको लंका ले जानेपर रावण कह सकता है कि वालीने तो मुझ जीवितको काँखमें दाब रक्खा था, पर तू तो मुर्दा सुग्रीवको लाया, भला यह कौन पराक्रम या बदला है ? इसीसे कुम्भकर्णने दबाव ढीला कर दिया—

'निबुकि गयो तेहि मृतक प्रतीती ।'

–तब सुग्रीवने अपना पाँव कुम्भकर्णकी छातीपर अड़ाकर दोनों हाथोंके नखोंसे उसके दोनों कान और दाँतोंसे नाक एक साथ ही तीनों काट लिया—

'काटेसि दसन नासिका काना ।'

लंकासे चलते समय कुम्भकर्णने बहुत शराब पी ली थी—

रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक ।
महिष खाइ करि मदिरा पाना ।

उस शराबने अब नशा किया, इसीसे नाक-कानका कट जाना उसे मालूम न हो सका । (सच है शराबीको अपनी नाक कटने—यश-प्रतिष्ठा-नाश होनेका पता नहीं चलता । गाँजा, भाँग, अफीम, चरस आदि सभी मदका एक ही फल—नाक कटाना—यश-प्रतिष्ठा एवं स्वास्थ्यका नाश ही है । अस्तु)

'गर्जि अकास चलउ तब जाना ।'

सुग्रीवकी भीषण गर्जनापर जब नशा टूटा, तब नाक-कानका कट जाना जान पाया—

नाक कान काटे जिय जानी ।

विचारणीय बात है कि किसी वानर वीरके सशक्त-चैतन्य रहते कोई भी शत्रु वानराधीश सुग्रीवको नहीं ही ले जा सकता था । इसीसे सर्वजगत्-विमोहिनी श्रीहरिमायाने भगवत्क्रीडार्थ ऐसा किया कि मेघनाद एवं रावणके भी प्रहारसे न गिरनेवाले पवननन्दन भी कुम्भकर्णके प्रहारसे गिर गये और देरतक बेहोश रहे—

पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता । घुर्मित भूतल परेउ तुरंता ॥

बहुत देरमें—

मुर्छा गइ मारुतसुत जागे ।

इसमें एकमात्र कारण श्रीरघुनाथजीकी रणक्रीड़ा ही है । जिससे रावणद्वारा कुलद्रुम अति तुच्छ गिने गये सुग्रीवके रावणके मूर्तिमान् अभिमान—

'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार० ।
(विनयपत्रिका)

—के नाक-कान कटवा डालना था ।

भाई कुम्भकर्णके बाद रावणका गर्वगढ़ मेघनाद था—

'सुत प्रसिद्ध सक्रारि ।'

जब रावण निराश हो गया और—

बहु बिलाप दसकंधर करई।

उसी समय मेघनादने पहले तो—

कहि बहु कथा पिता समुझाएउ।

और रावणके विलाप करना बंद करनेपर—कुछ शान्त होनेपर कहा—

देखेहु काल्हि मोरि मनुसाई।
अबहिं बहुत का करौं बड़ाई॥
इष्टदेव सन बल रथ पायउँ।
सो बल तात न तुम्हहिं देखायउँ॥

—आदि गर्वोक्तियोंसे रावणको धैर्य दिया। प्रातः होते ही अपने मायामय—वैज्ञानिक रथ—अलक्ष्य वायुयानपर चढ़कर ऊपर आकाशसे समस्त श्रीरामदलको नागपाशमें बाँधकर सबको मूर्छित कर दिया, परंतु सबसे दीर्घायु (अति बूढ़) अथ च रावणकी दृष्टिमें अत्यन्त निर्बल समरके अयोग्य महामन्त्री जाम्बवन्तको न मूर्छित कर सका, न बाँध ही सका। इसमें भी श्रीरामजीकी रणक्रीड़ा ही है अर्थात् दलका कोई भी वानर-भालु यदि शक्तिसम्पन्न होशमें रहता तो अपने महामान्य मन्त्री जाम्बवन्तजीके पास दुर्वृत्त मेघनादको किसी भी तरह जाने न देता। इसीसे श्रीरामजीकी भुवनविमोहिनी लीलाशक्तिने समस्त सैनिकोंको मूर्च्छामें डलवा दिया कि जिससे अंगदीय कटकके अति बूढ़ेके द्वारा—

भट महँ प्रथम लीक जग जासू।
जेहि न होइ रन सनमुख कोई॥

ऐसे प्रसिद्ध शक्रारिरूप रावणके गर्वगढ़के शिखरको तोड़नेके लिये जाम्बवंतको नागपाशके वशमें न होने दिया। जाम्बवंतके ललकारनेपर मेघनाद बात बनाने लगा कि भरी सभामें मेरे पिताजी—रावणने तुम्हें अति बूढ़—

'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।'

—कहा था। इसीसे मैंने भी—

बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोही।

मेघनादने सोचा कि ब्रह्माके दिये नागपाशसे ब्रह्माके अंशावतार होनेसे जाम्बवन्त नहीं बँध सका तो अब शङ्करके अस्त्रसे इसे मार ही डालूँ। इसीलिये—

अस कहि तरल त्रिसूल चलावा।

परंतु जाम्बवन्तने बीचसे वही त्रिशूल लेकर उसीसे मेघनादकी छातीमें मारकर उसे भूमिसात् कर दिया, परंतु उस प्रहारसे महाप्राण मेघनाद मूर्च्छित नहीं हुआ; घूर्मित-चक्कर खाकर केवल गिर गया। मूर्छित हो जाता तो यह न कहा जाता कि—

महि पछारि निज बल दिखरायो।

मूर्छितको बल कैसे दिखलाते, अतः वह केवल गिरा था और गिरते ही जैसे उठने लगा वैसे तुरंत ही अति बूढ़े जाम्बवन्तने अति तरुण एवं प्रसिद्ध शक्रारि मेघनादको—

महि पछारि निज बल दिखरायो।

मेघनादने कहा था—

बूढ़ जानि सठ छाँड़ेउँ तोहीं।

इससे बल दिखला दिया। और रावणने कहा था कि—

जामवन्त मन्त्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥

इससे जाम्बवन्तने घुमा-घुमाकर मेघनादको—रावणके गर्वगढ़को मूर्छित करके उसका शिखर तोड़कर बड़ी दूर समरभूमिसे ही रावणके सामने किलेमें फेंक दिया—

'पुनि पद गहि लंका पर डारा।'

और कई घंटेपर—श्रीरामदलके स्वस्थ हो जानेके बाद जब—

मेघनाद कै मूर्छा जागी।

—तो अति बूढ़े जाम्बवन्तने प्रसिद्ध शक्रारिको पददलित कर दिया। मूर्च्छित करके यहाँ फेंक दिया, इससे—

पितहि बिलोकि लाज अति लागी।

अतः नागपाशवश होनेका अनेक क्रीड़ात्मक कारणोंमें अति बूढ़ा और प्रसिद्ध शक्रारि केवल परीक्षाद्वारा रावणका सुत-गर्वगञ्जन भी एक प्रबल कारण माना जा सकता है।

रावणने नल-नीलको—

सिलप कर्म जानहिं नलनीला।

—कहकर हँसी उड़ायी थी। जो कि समस्त वानरी सैन्यके प्रधान सेनापति हैं। इनके सम्बन्धमें महर्षि वाल्मीकिजीने अपने रामायणके युद्धकाण्डीय सर्ग छब्बीसमें लिखा है—

एष योऽभिमुखो लङ्कां नर्दंस्तिष्ठति वानरः॥
यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः।
यस्य घोषेण महता सप्राकारा सतोरणा॥
लङ्का प्रवेपते सर्वा सशैलवनकानना।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥
बलाग्रे तिष्ठते वीरो नीलो नामैष यूथपः।
(११--१४)

× × × ×

बहूनि वानरेन्द्राणामेष यूथानि वीर्यवान् ।
परिगृह्याभियाति त्वां स्वेनानीकेन दुर्जयः ॥
अनु वालिसुतस्यापि बलेन महता वृतः ।
वीरस्तिष्ठति संग्रामे सेतुहेतुरयं नलः ॥
(२०--२१)

मानसके क्षेपकवालोंने भी लिखा है कि—

पदुम अठारह कपि कटक चलु इनकी भुज छाँह ।
निज कर सुरभी सुमन लै रघुपति पूजी बाँह ॥

उन्हीं महावीर नल-नीलने समराङ्गणमें रावणको अपना शिल्पकर्म-कौशल्य दिखानेके लिये उसके सिरोंपर चढ़कर सारे मस्तकोंको फाड़ दिया और बल दिखानेके लिये उसकी भुजाओंको मरोड़ दिया—

तब नल नील सिरनि चढ़ि गयऊ । नखन लिलार बिदारत भयऊ ॥

× × × ×

महि पटकत भजे भुजा मरोरी ।

रावणने बड़े गर्वसे सिर और भुजाकी बात अंगदसे कई बार कही थी । अंगदने भूमिपर भुजा पटक रावणके भुजबल-को तुच्छ तो कर ही दिया था । नल-नीलने उसके सिरोंको फाड़कर सिरका घमंड तोड़ दिया और भुजाओंको मरोड़कर मानो बीसों अगाध पयोधिको सोख ही लिया ।

रावणने अपनी छातीका गर्व व्यक्त करते हुए कहा था—

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई । जब जब भिरेउँ जाइ बरिआई ॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे ॥

और श्रीराम-कृपाश्रित विभीषणको 'अति भीरु' क था । इसीसे श्रीरामजीने रणाङ्गणमें खेल किया—

प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई ।

अर्थात् जब अंगद-हनुमदादि सभी रावणके जाने-माने सुपरिचित वीरगण श्रीरामजीसे दूर थे, पासमें केवल विभीषण थे, तब श्रीरामजीने रावणकी छातीका गर्व गलित करनेके लिये रावणप्रहारित शक्तिसे मूर्च्छा स्वीकार करनेकी क्रीड़ा की और विभीषणको अवसर दिया । तब विभीषणने—

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे ।

—आदि गाली देते हुए रावणकी दिग्गजदन्तदारिणी छातीपर गदा मार उसके दसों मुखोंसे रक्तकी धार बहाकर अंगदके—

असि रिसि होति दसौं मुख तोरौं ॥

इस कथनकी कुछ पूर्ति कर दी । यही नहीं, अपितु जि अति भीरु मान लिया था वही विभीषण अत्यन्त भयङ्कर रावणानुज अब अतिबलयुक्त होकर रावणसे मल्लयुद्ध (कुश्ती) लड़ने लगे । इस युद्धमें रावणकी छातीका गर्व टूटा और विभीषणको अति भीरु कहनेका मजा रावणको मि गया अर्थात् विभीषणके एक ही प्रहारसे उसके दसों मुखों रक्तकी धार बह चली । अस्तु ।

इस प्रकार श्रीरघुनाथजीकी रणक्रीड़ाके दिग्दर्शन श्रीरामजीका खर्व निशाचरके नागपाशमें बँध जाना, रा प्रहारित शक्तिसे मूर्च्छित हो जाना, कुम्भकर्णके एक मुक्के मात्रसे हनूमान्जीके देरतक मूर्च्छित रहने आदिका कुछ र अवगत हो जाता है ।

भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं

भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं । मेरे मनमें भगवान्के मनका अवतरण हो गया है । मेरा मन उन मनका यन्त्रमात्र है । भगवान् अब अपने ही कार्यके लिये मेरे मनका उपयोग करते हैं । वे यन्त्री हैं । उनका यन्त्र है । इसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक स्फुरणा उन्हींकी चेष्टा-स्फुरणा है । इसीसे इस मनमें अब दु नहीं आता, इसीसे इस मनके द्वारा असत् चिन्तन नहीं होता, इसीसे इस मनमें अब किसीके राग-द्वेषका भाव नहीं आता, इसीसे इस मनके द्वारा सब भगवत्कार्य ही होते हैं । इसीसे यह मन अब मन नहीं रहनेके कारण मेरा कोई भी काम नहीं करता । भले ही करता दिखता है मेरा, पर वस्तुतः का ही उनका ही । क्योंकि मेरा अब यह रहा ही नहीं, उनका यन्त्र बनकर उन्हींके रूपको प्राप्त हो गया । भग इसमें आकर विराज गये हैं और इसे तद्रूप बना लिया है भगवान्ने ।

भजन और भोजन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

वृन्दावन गये थे हमलोग—मैं और मेरे एक मित्र। संयोगकी बात है, हमने वहाँ पानीघाटपर ठहरना निश्चित किया। पानीघाट वृन्दावनका श्मशान; किंतु नगरके किसी दूसरे भागसे वह मुझे मनोहर लगा। श्मशान तो दूर है। यमुनाका प्रवाह पर्याप्त दूर चला गया है। वर्षामें भले इस हरियालीके बीच श्मशान रहता हो, इस समय तो वह पौन मील आगे रेतमें है। जलती चिताका धुआँ अवश्य दीख जाता है यहाँसे।

सघन वृक्षावलीके मध्य जहाँ-तहाँ साधुओंकी कुटियाँ—कुछ फूसकी और कुछ ईंट-चूनेकी भी। जहाँ बाबाजी रहेंगे, ठाकुर-पूजाके लिये फूल-तुलसी भी लगी मिलेगी ही। इस मनोरम वातावरणमें सामनेका सुविस्तृत पुलिन और सुन्दर प्रतीत होता था। यही कारण था कि शहरसे इतनी दूर हम यहाँ ठहरे।

हम जिन बाबाजीकी कुटीपर ठहरे थे, वे अच्छे चिकित्सक माने जाते हैं। आयुर्वेदके विद्वान् हैं। प्रायः उनके यहाँ खरलमें दवा घुटती रहती है, जड़ियाँ कूटी जाती रहती हैं और पुटपाकका क्रम भी चलता ही है।

बाबाजीमें मुझे एक गौरवमयी मानवता मिली और सबसे बड़ा आकर्षण यही था जो मुझे उनतक खींच लाया था। वे जड़ी और औषधके उदार दाता थे। रोगी आते थे, उन्हें नाड़ी देखकर वे औषध दे देते थे—बिना मूल्य औषध। अमीर-गरीब, ब्राह्मण-हरिजन, हिंदू-मुसलमानका भेद बाबाजी रोगीमें नहीं करते थे। उन्हें किसीकी नाड़ी देखनेमें हिचक नहीं थी। यह दूसरी बात है कि वे बीमारोंका देखना जब समाप्त कर चुकते, तब स्नान करते और तभी उनकी ठाकुर-पूजा होती।

बीमारको जो भी औषध आवश्यक है, वह कितनी मूल्यवान् है, यह वे सोचते तक नहीं थे। लेकिन मैं भूल रहा हूँ, औषधका एक मूल्य वे प्रायः लिया करते थे। जो शरीरसे पुष्ट और श्रम करने योग्य ग्रामीण आते थे, उन्हें वे लगा देते थे दवा कूटने या घोंटनेमें—घंटे आध घंटे उन्हें यह श्रमदान करना पड़ता था।

'रोगी आर्त है। वह धनी हो या दरिद्र, जब मेरे पास आता है, पीड़ित होता है। उससे कुछ भी लेना मुझे मानवताका अपमान लगता है।' बाबाजीका नियम माना जाय तो आजके सब चिकित्सक उपवास करने लगें; किंतु कोई औषध लेकर रुपया निकालता तो वे अप्रसन्न हो उठते। उसे खरी-खोटी सुनाते। रोग दूर हो जानेपर जिसकी जो इच्छा हो उनके यहाँ 'ठाकुर-सेवा'के लिये समर्पित कर आवे।

ठाकुर-सेवाके लिये इस प्रकार इतना अवश्य आ जाता था कि उससे साधु-सेवा चलती थी कुटियापर, और औषध-निर्माण भी चलता रहता था। किसीसे बाबाजीने कभी याचना की हो, ऐसा सुना नहीं गया।

औषधके समान ही प्रतिबन्धहीन वितरण था बाबाजीके यहाँ भोजनका। अवश्य उनके यहाँ दस-पाँच साधु टिके रहते थे और वे ही भोजन बनाते थे। साधुओंके टिक्कर ही बनते थे वहाँ; किंतु दोपहरमें जब ठाकुरजीको भोग लगाया जा चुकता, दो-तीन साधु पूरे ऊँचे स्वरसे पुकारते 'पंगतकी सीताराम!' जिसकी इच्छा हो, वह उस समय वहाँ भोजन करने आ बैठे।

गृहस्थ भी आते थे। कभी कोई भिखारी भी आ जाता था। अवश्य ही पंगतसे पृथक् ऐसे लोगोंको बैठना पड़ता था; किंतु भोजनमें कोई वैषम्य नहीं होता था। अभ्यागतको सम्मानपूर्वक वे तृप्त करते थे।

'एक अधम प्राणी धाममें आकर पड़ गया है।' अपने सम्बन्धमें प्रायः वे कहते थे—'द्वारपर आकर पड़ जानेकी लाज व्रजराजकुमार कर लेंगे, इतनी ही आशा है। साधन-भजन कहाँ होता है अपनेसे।'

'आप भजन किसे कहते हैं?' मैंने पूछा था।

'भजन है सेवा—तन-मन-सर्वस्व जब सेवामें समर्पित हो जाय, तब समझो कि भजन बना।'

'यह श्रीविग्रहका पूजन, नाम-जप, कीर्तन-कथा?' मैं उनके पास ही बैठा था और इस समय कोई रोगी नहीं था उनके सम्मुख, अतः उनसे कुछ जान लेनेकी इच्छा हो आयी थी।

'सत्स्वरूप भगवान्का संग ही सत्संग है न ?' प्रश्नके बदले प्रश्न कर दिया उन्होंने ।

'लगता तो ऐसा ही है ।' मुझे स्वीकार करना पड़ा ।

'तुम इस समयकी इस चर्चाको भी तो सत्संग ही कहोगे ?'

'इसलिये कि यह उस वास्तविक सत्संगका साधन है। इससे वह प्राप्त होता या हो सकता है ।'

'तब जो भजनका साधन है, उसे भजन कहना क्या ठीक नहीं है ?' उन्होंने मेरी ओर देखा ।

'ठीक तो है, किंतु······ ।'

'किंतु-परंतु कुछ नहीं । मानव-स्वभाव है कि वह अपनी दुर्बलता स्वीकार नहीं करना चाहता । उसके लिये वह बहाने ढूँढ़ता है ।' और उन्होंने एक श्लोकका भाव सुना दिया अपने ढंगसे—'यह विश्वरूपमें वही लीलाविहारी तो सामने हैं । इनकी उपेक्षा-अवमानना करके मैं जो यह कुटियामें कुछ मिनट बैठ जाता हूँ—भजनकी विडम्बना ही तो है, वहाँ मन पता नहीं कहाँ-कहाँ भटकता रहता है । अंगुलियाँ मालाके दानोंपर घूमें अथवा चन्दन-तुलसी-पुष्प चढ़ावें श्रीविग्रहपर, इस जड़ देहकी क्रियाको तुम भजन कहोगे ?'

'तब यह भजन नहीं है ?' मैंने कुछ सशंक होकर पूछा ।

'है तो सही !' वे तनिक हँसे—'यह देहकी क्रिया भी भजन है; क्योंकि भजनकी यह विडम्बना भी भजनके कुछ-न-कुछ समीप तो ले ही जाती है ।'

हमारी चर्चा अधूरी रह गयी; क्योंकि उसी समय 'पंगतकी सीताराम'की पुकार एक साधुने कर दी । मैं भी उनके साथ ही उठा; क्योंकि आज हम दोनोंको यहीं भगवत्-प्रसाद ग्रहण करना था ।

साधुओंकी पंगतके साथ ही हमलोग भी एक किनारे बैठे । दो लंबी पंक्तियाँ और दोनोंको मिलाती एक छोटी पंक्ति । जो दिशा रिक्त थी, उधर रसोई घर था । भोजन परसा जा चुका था और हमने प्रारम्भ भी कर दिया था कि किसी ओरसे एक बिल्ली कूदकर हम सबके बीचमें आ गयी ।

बड़ी-सी मोटी बिंदीदार देशी बिल्ली थी, किंतु लगता था कि वह अवश्य पालतू होगी; क्योंकि उसे कोई भय नहीं लगा इतने मनुष्योंसे । 'म्याऊँ'—उसने आते ही अपनी माँग प्रारम्भ कर दी । कभी एक ओर मुख करती और कभी दूसरी ओर ।

'हुँ' एक साधुने बायाँ हाथ हिलाया और डाँटनेका प्रयत्न किया ।

'म्याऊँ' बिल्ली तनिक उनके पाससे पीछे हटी और अपनी माँग उसने दुहराना बंद नहीं किया ।

साधुओंमें कोई बिल्लीको भोजन करते समय छू सकता नहीं था और वैष्णवोंकी पंगतके बीच यह हिंसक प्राणी बैठा रहे, यह उन्हें सह्य नहीं था । कई साधु उस छोटे-से जीवको डराकर भगा देनेकी चेष्टा करने लगे; किंतु बिल्ली क्यों हटने लगी । उसके भी पेट है, उस पेटमें भी भूख लगी है और जब भोजन सामने है, उसे क्यों नहीं मिलना चाहिये ।

एक कठिनाई और थी । बिल्ली कूदकर सबके बीचमें आ तो गयी थी; किंतु उसे कोई कंकड़ या डंडा मारकर भगा दे तो पता नहीं वह किस ओरसे भागे । कहीं कोई साधु उसकी भाग-दौड़में उससे छू गया तो पूरी पंगत भले भूखी न उठ जाय, वह तो भूखा उठ ही जायगा ।

साधु इधर-उधर देखते थे, बिल्लीको डाँटते थे और उसे भगा देनेकी युक्ति चाहते थे । मैं देख रहा था कि जिनकी यह कुटी है, वे बार-बार कुछ संकेत कर रहे थे। भोजनके समय वे मौन रहते हैं और उनका संकेत कोई समझ नहीं रहा था । अन्ततः उन्होंने जलसे आचमन किया ।

'एक पत्तल लगा लाओ ।' आचमन करके उन्होंने परसनेवालेको आदेश दिया । पत्तल आयी और बिल्लीके सामने रख दी गयी ।

'आप प्रसाद ग्रहण करें !' किसीने आग्रह किया ।

'आप करें—मैं तृप्त हो गया ।' तनिक रुककर बोले—'मैं बैठा ही हूँ—आवश्यकता होगी तो प्रसाद ले लूँगा !'

'प्रसाद जूठा नहीं छोड़ा जाता !' एक ओरसे यह शब्द आया ।

'ऐसा तो नहीं है !' उन्होंने कहा—'कुछ प्राणी 'सीथ'के अधिकारी होते हैं । उनको भी कभी-कभी समय मिलना चाहिये ।'

बात यह थी कि वे रात-दिनमें एक ही समय भोजन करते थे और मौन-भंग हो जानेके बाद अब भोजन उनके लिये नियम-भंग था । कठिनाईसे कुछ ग्रास वे

ग्रहण कर सके थे। लेकिन उन्होंने ढंग ऐसा बना लिया; जैसे बिल्ली भोजन करके तृप्त हो जाय तो वे प्रारम्भ करेंगे। इसका फल यह हुआ कि दूसरे लोगोंने भोजन स्थगित नहीं किया।

सबके साथ ही वे उठे। अपना पत्तल स्वयं उन्होंने उठाया और जो कुत्ते कुछ दूर प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें दे दिया। सबको ही उनके भूखे रहनेका बहुत दुःख था। बिल्ली तो अपना पेट भरकर जा चुकी थी।

'आपने आज भोजन किया ही नहीं!' विश्रामके लिये जब वे लेटे; मैं उनके समीप जा बैठा।

'किंतु आज नटनागरने कृपा की। आज उन्होंने मुझसे भजन कराया!' गद्गदकण्ठ वे बोले—'उनकी कृपाके बिना भजन बनता कहाँ है।'

'कोई विशेष भजनसे तात्पर्य है आपका?' मैं कुछ समझ नहीं सका था कि वे कहना क्या चाहते हैं।

'उस भूखी बिल्लीके रूपमें मुझसे अन्न माँगने वही विश्वरूप नहीं आये थे, यह तुम कह सकते हो?' अब भी कण्ठ भरा था उनका—'उन्होंने कृपा की—अन्यथा मुझमें भी उपेक्षा ही जाग्रत् होनी स्वाभाविक थी। भोजन तो प्रतिदिन करता हूँ। दूसरा भी जो कुछ करता हूँ—'भोजनके लिये ही तो है वह। भजन तो आज इतना-सा हुआ!'

उन्हें प्रणिपात कर लिया मैंने।

पुराण और कहावतें

(लेखक—डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतवर्षकी व्यावहारिक और दार्शनिक जीवन-पद्धतिको प्रभावित करनेमें पुराणोंका बहुत-कुछ हाथ रहा है। पुराणोंका नीति-साहित्य बहुत व्यापक और विशाल है। जीवनके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सूक्तियाँ उनमें उपलब्ध हैं। बहुत-सी सूक्तियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें हम मानवताके नैतिक कोड (कानून-संग्रह)-के नामसे अभिहित कर सकते हैं। इस देशमें प्राचीन कालसे ही सुभाषितों और सूक्तियोंको बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। विष्णुपुराणसे पता चलता है कि प्रह्लादको पहले-पहल सुभाषितोंकी ही शिक्षा दी गयी थी।

सुभाषितोंके साथ-साथ ऐसी उक्तियोंका भी पुराणोंमें अभाव नहीं है, जो कहावतोंकी भाँति प्रचलित हैं। उदाहरणके लिये निम्नलिखित उक्तियोंको लीजिये—

१. **'सतां साप्तपदं मैत्रम्'**

(स्कन्द० प्रभासखण्ड। ३९)

अर्थात् सात कदम साथ चलनेसे सज्जनोंमें परस्पर मित्रता हो जाती है।

२. **सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः॥**

अर्थात् जो पेड़ सीधे होते हैं, वे काट दिये जाते हैं और जो बाँके—टेढ़े होते हैं, वे खड़े रहते हैं।

३. **दैवं हि दुरतिक्रमम्।**

(पद्म० सर्ग खण्ड अ० २२। ७)

४. **आपत्काले नृणां नूनं मरणं नैव लभ्यते।**

(स्कन्द० ब्रह्मखण्ड, सेतुमाहात्म्य अ० ५। ११७)

५. **यथा कृतं तथा भुङ्क्ते।**

(पद्म० भूमिखण्ड अ० ८१। ४४)

६. **यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।**
तथा शुभाशुभं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

(पद्म० भूमिखण्ड अ० ८१।४७)

७. **प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो**
देवोऽपि तं वारयितुं न शक्तः।
अतो न शोचामि न विस्मयो मे
ललाटरेखा न पुनः प्रयाति॥

भाग्य और कर्म-सम्बन्धी उक्तियोंकी प्रचुरता समूचे भारतीय साहित्यमें देखनेको मिलती है।

८. **ज्येष्ठः पितृसमो भ्राता।**

अर्थात् बड़ा भाई पिताके समान होता है।

९. **उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः।**

(स्कन्द० प्रभासखण्ड अ० २२५। ३२)

अर्थात् जिसने पैरमें जूता पहन रक्खा है, उसकी दृष्टिमें समस्त पृथ्वी चमड़ेसे ढकी हुई है ।

१०. सर्वस्य विद्यते प्रान्तो न वाञ्छायाः कथंचन।

(स्कन्द० नागरखण्ड अ० १८४ । ४०)

अर्थात् सबका प्रान्त होता है, लेकिन इच्छाका कोई प्रान्त नहीं होता ।

ऊपर जो दस उक्तियाँ दी गयी हैं, वे या तो प्राज्ञोक्तियोंके अन्तर्गत हैं या लोकोक्तियोंके ।

पुराणोंमें कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जिनकी समकक्ष लोकोक्तियाँ राजस्थानी भाषामें आज भी मिलती हैं । उदाहरणके लिये 'आहारे ब्योहारे लज्जा न कारे' । राजस्थानमें कहावतकी भाँति प्रचलित है । वास्तवमें यह किसी संस्कृत सूक्तिका ही लोकोच्चरित रूप है । इस आशयकी संस्कृत सूक्तियाँ पुराणोंमें मिलती हैं । जिनमेंसे दो यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

१. स्त्रीसंगमे तथा गीते द्यूते व्याख्यानसंगमे ।
व्यवहारे तथाऽऽहारे त्वर्थानां च समागमे ॥
आये व्यये तथा नित्यं त्यक्तलज्जस्तु वै भवेत् ॥
(लिङ्गपुराण, पूर्वभाग अ० ३५ । ६०-६१)

२. आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ।

पुरुषाणामलाभेन नारी चैव पतिव्रता अर्थात् पुरुषोंके न मिलनेपर नारी पतिव्रता कहलाती है । इसी प्रकार एक राजस्थानी लोकोक्तिमें कहा गया है—

'अण मिले कासै जती है' अर्थात् विषय-भोग न मिलनेपर ब्रह्मचर्य-पालन स्वयं हो जाता है ।

भागवत स्कन्ध ११ अ० २३ के श्लोकमें कहा गया है—

न तथा तप्यते विद्धः पुमान्बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥

निम्नलिखित राजस्थानी सूक्ति और कहावतमें भी यही बात प्रकारान्तरसे कही गयी है—

१. 'लोहतणी तलबार न लागै जीभ तणी तलवार जिसी' अर्थात् लोहकी बनी तलवारका प्रभाव भी उतना तीक्ष्ण नहीं होता, जितना जीभकी तलवारका होता है ।

२. 'घोड़ेकी लात, आदमीकी बात'में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है—

पुराणोंसे कुछ कहावतोंके उदाहरण और दिये जा रहे हैं ।

१. महाजनो येन गतः स पन्थाः । २. काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते । ३. स्वस्थे चित्ते धातवः सम्भवन्ति (पृ० ५४)। ४. कण्टकेनैव कण्टकम् (पृ० ५६)। ५. श्वःकार्यमद्य कुर्वीत (पृ० ५२) (स्कन्द० नागरखण्ड अ. २६, १८।८) । ६. नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् (पद्म० पातालखण्ड अ. ११०।१८) । ७. बुद्धिर्यस्य बलं तस्य (शिवरुद्रसंहिता खण्ड ४. अ० २१९।५२)। ८. न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् (भागवत १० अ० ५०।२०)। ९. न हि चूडामणिः पादे शोभते वै कदाचन (पृ० ६३) । १०. षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः (पृ० ६५) । ११. तृणैरावेष्टिता रज्जुस्तया नागोऽपि बध्यते (पृ० ६५) । १२. अनायके न वस्तव्यम् (पृ० ६७)। १३. बालस्य रुदितं बलम् (पृ० ६६)। १४. पतनान्ताः समुच्छ्रयाः (पृ० ६६) । १५. मरणान्तं हि जीवितम् (पृ० ६६)। १६. स्थानस्थिता पूज्यन्ते पूज्यन्ते च पदस्थिताः । स्थानभ्रष्टा न पूज्यन्ते केशा दन्ता नखा नराः ॥ (पृ० ६७) १७. सरोजिनी गुणं वेत्ति भृङ्ग एव न दर्दुरः (पृ० २२) । १८. रावणः कालवशाद् विनष्टः (पृ० ३७) । १९. कृतलग्नाऽपि जानकी दुःखभाजनम् । (पृ० ३७) २०. न पितुः कर्मणा पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा । स्वयं कृतेन गच्छन्ति स्वयं बद्धाः स्वकर्मणा ॥ (पृ० ३७)

राजस्थानमें भी एक ऐसी ही कहावत है 'करणी आपकी, के बेटेके बाप ।' कहावतोंमें जैसे वस्तु-परिगणनकी प्रवृत्ति देखी जाती है, वैसी अनेक पौराणिक सूक्तियोंमें मिलती है ।उदाहरणके लिये एक उक्ति यहाँ दी जा रही है ।

'शनैर्विद्या शनैरर्थाः शनैः पर्वतमारुहेत् ।
शनैः कामं च धर्मं च पञ्चैतानि शनैः शनैः ॥
(पृ० ६१

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

केदारनाथ

गङ्गोत्तरीसे विदा हो गङ्गाके तटवर्ती पथपर भागीरथीके प्रवाहकी ओर फिर हम उनके साथ ही चल पड़े । गङ्गोत्तरीसे केदारनाथ जानेवाले यात्रियोंको लगभग ३९ मील भटवारीतक उसी रास्ते वापस लौटना पड़ता है, जिस रास्ते हम गङ्गोत्तरी गये थे । हमारे ऋषिकेशके कार्यक्रमके अनुसार यद्यपि हमारा केदारनाथका पथ गङ्गोत्तरीसे लौटकर फिर ऋषिकेश वापस पहुँच ऋषिकेशसे ही मोटरद्वारा देवप्रयाग होकर रुद्रप्रयागतक तथा शेष पद-यात्राका था, किंतु गङ्गोत्तरी जाते वक्त उत्तरकाशीमें, फिर हरसिलमें तथा बादमें गङ्गोत्तरीमें भी अनेक मित्रोंने हमें अपना उक्त कार्यक्रम परिवर्तित करनेका परामर्श देते हुए केदारनाथके लिये एक और सीधा रास्ता बताया जिस रास्ते जानेसे हमारे समयकी भी कुछ बचत होती थी तथा अपने बने कार्यक्रमके अनुसार चलनेकी अपेक्षा इस नये मार्गसे यात्रा करनेपर हमें कुछ अधिक और अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य भी देखनेको मिलते थे । गोविन्ददास जो अपने कार्यक्रममें कभी कोई परिवर्तन न करनेके आदी हैं, प्राकृतिक दृश्योंके बाहुल्य और उनकी श्रेष्ठताके लोभमें पड़ राजी हो गये और हम अपना पथ परिवर्तितकर भटवारीसे ही सीधे केदारनाथ जानेके लिये उद्यत हो गये । केदारनाथका यह मार्ग भटवारीसे छूणाँ, पगराणाँ, झाला, बूढ़ा केदार, भोट चट्टी, धुत्त् दुफन्दा, पँवाली, मग्गू कोमाँडा, त्रिजुगीनारायण और गौरीकुण्ड आदि होकर जाता है । यह सारा मार्ग पैदलका ही है । फिर इस मार्गमें पँवालीकी चढ़ाई भी जो अपनी कठिनताके लिये इस ओर काफी प्रसिद्ध है, हमें पार करनी थी, अतः इस दृष्टिसे यह नया मार्ग हमारे लिये सुविधाजनक तो था ही नहीं, अपितु नितान्त असुविधाजनक भी था । किंतु मार्गकी दुर्गमताओं और यात्राकी असुविधाओंको तो अब हमने ताकमें रख दिया था । हिमालयकी यात्रामें, शारीरिक श्रम न हो और यात्राका समय शारीरिक सुखों और भोगोंमें बीते, यदि कोई यह कल्पना करे तो वह एक अज्ञानता ही नहीं मूर्खतापूर्ण बात होगी । हाँ, यहाँ एक महान् सुखकी प्राप्ति अवश्य होती है और इस सुखकी मात्रा भी तब और अधिक बढ़ जाती है जब कोई कठिन-से-कठिन श्रम उठाने, अधिक-से-अधिक कष्ट सहने और यहाँतक कि अपने प्राणोंकी भी बाजी लगा आगे बढ़नेके लिये तैयार हो जाय । ऐसी स्थितिमें हमें यहाँ ऐसे प्राकृतिक मनोहारी दृश्य मिलते हैं, जिनके अवलोकनके आगे स्वर्गकी कल्पना भी फीकी पड़ जाती है । हमारे भटवारीसे छूणाँ होकर एकदम पैदल केदारनाथ जाने और पँवालीकी दुर्गम चढ़ाई चढ़नेके निर्णयमें इसी दैवी सुखकी कल्पना थी । हमारे इस निर्णयके पूर्व हमारे साथकी महिलाएँ यद्यपि कुछ झिझकीं, किंतु गोविन्ददासने कहा, ये दुर्लभ दृश्य सहज नहीं मिलते, अतः इन दृश्योंके आकर्षणके कारण यात्राके इस परिवर्तित कार्यक्रमपर सब लोग सहमत हो गये ।

गङ्गोत्तरीसे विदा होकर हमलोग भैरोंघाटी, हरसिल, सुक्की और गंगनानीके अपने पूर्व मुकामोंपर ठहरते हुए दिनाङ्क १४ जूनको भटवारी पहुँचे । भटवारीमें इस बार हमारे ठहरनेकी व्यवस्था यहाँके वन-विश्रामालयमें थी । यहाँ एक घटना घटित हुई । हम आज रात्रि मुकाम कर दूसरे दिन प्रातःकाल ही यहाँसे केदारनाथका मार्ग पकड़नेवाले थे । संध्या समय जब सब लोग अपने भोजन-भजनमें व्यस्त थे, हमारी डंडीवालोंका एक अगुआ गोविन्दप्रसादसे आकर मिला और उसने अपने एक साथीकी बीमारीकी बात बता आगे बढ़नेसे इन्कार किया । हमारे साथ दो डंडियाँ थीं और दो डंडियोंके आठ आदमियोंके इस अगुआने सबकी ओरसे अगवानीकर जब आगे बढ़नेसे इन्कार किया, तब यात्रादलके व्यवस्थापक गोविन्दप्रसाद कुछ चिन्तित हुए और उन्होंने प्रत्येकसे स्वयं बात कर उन्हें समझानेकी बहुत कोशिश की; किंतु सभीने एकमतसे अपने अगुआके मतकी पुष्टि करते हुए आगे बढ़नेमें अपनी असमर्थता जाहिर की । इतना ही नहीं, अब इन आठ आदमियोंमें प्रायः चार बीमार हो गये थे जब कि इनके मुखियाने केवल एक आदमीके बीमार होनेकी बात कही थी । गोविन्दप्रसादने अचानक आ पड़ी इस विपद्का हाल हम लोगोंको बताया । सभी बड़े पशोपेशमें पड़ गये । इस बीच हमें मालूम हुआ यहाँ एक मजदूर एजेन्सी भी है । गोविन्दप्रसादको इस मजदूर एजेन्सीसे मिलकर नये मजदूर तलाशनेको कहा गया । चूँकि डंडियाँ हमारे पास थीं ही, किंतु

गोविन्दप्रसाद पीछे पाँव लौट आये और हमारे पूछनेपर कि क्या हुआ ? उन्होंने कहा कोई प्रबन्ध नहीं हो सका तथा कथित मजदूर एजेन्सीका जो हाल उन्होंने बताया, उसे सुनकर तो हमें हँसी आ गयी । यह मजदूर एजेन्सीका कार्यालय और उसके कर्मचारियोंमें केवल एक आदमी था जो चलता-फिरता इसी टोहमें रहता कि कोई यात्री फँसे और अपनी बिना बोर्ड, बिना लाइसेन्स, बिना कागज और कार्यालय तथा बिना कर्मचारियोंवाली इस एजेन्सीके द्वारा मजदूरोंकी दलालीमें कुछ हासिल कर ले । आखिर न उसके कुछ हाथ लगा और न हमारे । अस्तु ··, इस आपद्के कारण हमारी प्रातःकालकी यात्रा स्थगित हो गयी । नये मजदूर तलाशनेपर मिले नहीं । आखिर इन्हींका, जो वास्तवमें बीमार तो थे नहीं, सौ-पचास इन्हें और देकर इनका आर्थिक उपचार करनेकी बात सोची, किंतु ये लोग टस-से-मस न हुए । प्रश्न उठा अब हमारी आगेकी यात्रा कैसे हो ! फिर प्रश्न था पँवालीकी चढ़ाई और केदारनाथतक सारा रास्ता पैदल चलनेका । हमलोग विचारमें पड़ गये कि बिना डंडियोंके इस रास्तेपर चलना कहाँतक उचित होगा; क्योंकि दलमें सभी प्रकारके लोग थे, जाने कब किसको ढोनेकी जरूरत पड़ जाय । बड़े संकटमें पड़े, अक्ल काम नहीं करती । 'जंगलमें जाकर छोड़ा'—वाली कहावत इन डंडीवालोंने चरितार्थ कर दी । इस घोकम-घाकी स्थितिमें समय जा रहा था । अन्तमें निरुपाय अवस्था और बेबस स्थितिमें हमने अपना ताजा निर्णय वापस लिया और उसी पुराने निर्णयके अनुसार ही अपने पूर्व कार्यक्रमके अनुसरणमें घरासूकी ओर चल पड़े । सभीके मन इस बेबसीके कारण खिन्न थे ।

इस अवसरपर हमें दिग्विजयके मार्गमें अग्रसर यूनानके सम्राट् सिकन्दरकी वह कथा याद आ गयी, जिसके कारण सिकन्दरको उसके सैनिकोंद्वारा भारतीय सीमामें हथियार डाल देने और आगे बढ़नेसे इन्कार करनेके कारण विवश हो यूनान लौटना पड़ा था । कभी-कभी मानव-जीवनमें बहुत छोटी-छोटी बातोंसे बहुत बड़ी-बड़ी बातें याद आ जाती हैं । वही दशा आज हमारी हुई थी । सिकन्दरके सैनिकोंकी तरह हमारे भारवाहकोंने भी आज हमारी उत्तराखण्डकी यात्राके मार्गमें अपना कंधा डाल दिया । अतः पँवालीकी चढ़ाई और केदारनाथके समूचे मार्गपर पैदल चलनेके लिये जो दिग्विजयी कदम हम बढ़ा रहे थे वह हमें वापिस लेना पड़ा । हाँ, हमारे और सिकन्दरके लक्ष्यमें एक अन्तर अवश्य था और इसी अन्तरके कारण हमें अधिक कठिनाईका सामना न करना पड़ा । केवल पथ-परिवर्तित कर ही हमने अपने लक्ष्यकी पूर्ति कर ली । अन्ततोगत्वा हम घरासूके रास्ते घरासूतक पैदल और घरासूसे ऋृषिकेश मोटरसे वापस लौटे । घरासूसे ऋृषिकेश लौटते वक्त मार्गमें एक दुर्घटना और हुई । टेहरी और नरेन्द्रनगरके बीचमें हमारी मोटर उतारकी ओर एकके बाद एक मोड़ पार करती बढ़ती जा रही थी । यकायक हम सभीको कुछ मर्शीन रबड़ जैसी चीजके जलनेकी गंध आयी । हमलोग कुछ कहें कि इसी समय गाड़ीके कंडक्टरने ड्राइवरको गाड़ी रोकनेको कहा । गाड़ी रुकी—कंडक्टरने नीचे उतरकर देखा तो पिछले चाकोंमें बायीं तरफके दोनों चक्के अपना स्थान छोड़कर राडके सिरेपर आ गये थे । सौ-पचास फुट ही मोटर और आगे बढ़ती तो दोनों चक्के भूमिपर आ जाते और मोटर अपने दाहिनी ओरकी लगभग तीन हजार फुट नीची भयानक खंदकमें जा गिरती । दोनों चक्कोंके इस तरह अलग होनेकी बात ज्यों ही हमलोगोंको मालूम हुई, बड़ी घबराहटमें गाड़ी छोड़कर हमलोग नीचे आये और ज्यों ही वह दृश्य देखा तो हा-हा साँसें लेकर सभी कंडक्टरको, जिसने गाड़ी रुकवाकर यह दुर्घटना बचा दी, दुआएँ और भगवान्‌को धन्यवाद देने लगे । सचमुच, अपने सत्कर्मों और मोटरमें बैठे यात्रियोंमें किसी एक या अनेक सत्पुरुषोंके सांनिध्यका ही फल था कि यह जीवनघातिनी दुर्घटना टल गयी । अन्यथा सौ-पचास कदम मोटरके आगे बढ़ते ही दुर्घटना हो जाती और उस ऊँचाईसे नीचे हजारों फुट गहरे खंदकमें गिरकर कोई एकाध भी बच सकता है यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती । इस अवसरपर 'जाको राखे साँइयाँ' अथवा 'मारनेवालेसे बचानेवाला बड़ा' वाली बात सभीकी जबानपर आ गयी ।

हमारी यह मोटर तो आगे अब किसी तरह बढ़ ही नहीं सकती थी, ड्राइवरने देखकर कह भी दिया नया पु आयेगा, तब गाड़ी आगे बढ़ सकेगी । उसमें कुछ ठोक- या मरम्मतकी तो बात ही नहीं थी यद्यपि होती भी तो ही राजी कहाँ होते उसमें सफर करने । अतः वह आगे ही न पहुँचा सके, ऐसी मोटरने हमें सकुशल छोड़ दि यही हमारे लिये गनीमत थी । आखिर उससे अपना पि छुड़ा हम ऋृषिकेश पहुँचनेका साधन खोजने लगे । मोटरके मार्गमें यातायातकी एकतरफा व्यवस्था है और व्यवस्थाके कारण इस समय ऋृषिकेशकी ओर जानेवाली गाड़ि

का ही मार्ग खुला था। हमलोग धरासूसे जिस गेटसे निकले थे, उसी गेटसे हमारे पीछे अनेक गाड़ियाँ आनेवाली थीं। अतः उन्हींकी आशा हमारे लिये हिमालयके इस वन-प्रदेशमें जहाँ हमें पानी भी न मिलता, एक बड़ा अवलम्ब बनी हुई थी। कुछ ही देरमें कुछ मोटर लारियाँ इसी कम्पनीकी आयीं तो हमारी मोटरके मार्गमें अड़ी रहनेके कारण पीछे रुक गयीं। हमारी गाड़ीके ड्राइवरने इन मोटरोंमेंसे एकमें, इन मोटरोंकी सवारियोंको एक-दूसरेमें स्थानान्तरित कर हमारे पूरे दलकी एक साथ बैठनेकी व्यवस्था कर दी। सामान हमारा एक दूसरी लारीमें लादा गया। कोई घंटेभर देरसे जब हमारा सामान ऊपर-ही-ऊपर दूसरी मोटरपर लद गया चूँकि आजू-बाजूमें तो इतना स्थान ही नहीं रहता कि सामान नीचे उतारा जाता। फिर, मार्गमें अड़ी मोटरको किसी तरह सावधानीपूर्वक कुछ आगे-पीछे कर जहाँ अन्य गाड़ियोंके निकल जाने लायक स्थान मिला, वहाँ लगाकर फिर हमारी दूसरी मोटर चली और झुलपटेमें ऋषिकेश पहुँच गयी। ऋषिकेश पहुँचकर हमने यात्राकी नयी व्यवस्था की।

२१ जूनके प्रातःकाल सात बजे हम ऋषिकेशसे मोटर बसमें केदारनाथके लिये रवाना हुए। ऋषिकेशसे काकड़ागाढ़-तक लगभग १०५ मील यद्यपि मोटरका मार्ग था, किंतु रुद्रप्रयागसे आगे अलकनन्दापर अबतक मोटर जानेके लिये पुल नहीं बना है। इसलिये ऋषिकेशसे जो मोटरें जाती थीं, वे रुद्रप्रयागमें ही रुक जातीं। रुद्रप्रयागमें अलकनन्दाको पैदल पुलसे पार करना पड़ता है और अलकनन्दाको पार करनेके बाद रुद्रप्रयागसे दूसरी मोटर काकड़ागाढ़ जाती है। परंतु, हमें तो सीधे रुद्रप्रयाग भी नहीं जाना था; क्योंकि बीचमें हम देवप्रयागमें ठहरकर भागीरथी और अलकनन्दाके संगममें स्नान और श्राद्ध आदि करके रुद्रप्रयाग आना चाहते थे। अतः जिस मोटरसे हम ऋषिकेशसे रवाना हुए उसे हमने देवप्रयागमें ही छोड़ दिया।

ऋषिकेशसे देवप्रयागका मोटर-मार्ग करीब-करीब वैसा ही था, जैसा ऋषिकेशसे धरासूतकका, जिससे हम यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरी गये थे। मार्गके काफी चौड़े न होनेके कारण तथा क्षण-क्षणपर घुमावकी वजहसे हमारा ध्यान मार्गका प्राकृतिक सौन्दर्य देखनेके स्थानपर अधिकतर रास्तेपर ही केन्द्रित रहा। देवप्रयाग हम लगभग ११ बजे पहुँचे। न तो ऋषिकेश समुद्रकी सतहसे बहुत ऊँचा है और न देवप्रयाग ही। ऋषिकेशकी ऊँचाई है—१११६ फुट और देवप्रयागकी १५५० फुट। इस साधारण ऊँचाईके कारण ऋषिकेश भी काफी गरम है और देवप्रयाग भी। फिर ज्येष्ठका आखीर और आषाढ़का आरम्भ था, अतः दोनों जगह मौसमकी गरमी थी। तेज धूपके कारण हवा भी गरम ही चल रही थी, किंतु मैदानी इलाकोंके सदृश तेज लू नहीं थी, वरं पर्वतीय प्रभावके कारण उसमें नमी थी। हमलोग अपनी इस यात्रामें लगभग एक माह ठंडे स्थानोंपर रह चुके थे, अतः देवप्रयागका यह मौसम हमें अधिक गरम प्रतीत हुआ। गरमियोंमें सरिताओंके गहरे निर्मल पानीमें पैठकर स्नान करनेसे जो सुख मिलता है, उसका भरपूर अवसर नहीं तो, कम-से-कम पचास प्रतिशत आनन्द तो हमें यहाँ इस गरमीके कारण भागीरथी और अलकनन्दाके संगमके शीतल जलसे लोटोंद्वारा स्नान करनेमें आज मिल ही गया। प्रवाहकी तेजीके कारण हमलोग ही क्या, कोई भी प्रवाहमें घुसकर नहीं नहा पाता। किंतु मौसमकी अनुकूलताके कारण जी भर नहाया।

तीर्थकी दृष्टिसे प्रयागराजके पश्चात्, जहाँ गङ्गा और यमुनाका संगम हुआ है, देवप्रयागका ही सबसे अधिक महत्त्व है; क्योंकि यहाँ उत्तराखण्डकी यमुनाको छोड़ तीन प्रधान नदियोंका समीकरण हो जाता है। रुद्रप्रयागमें केदारनाथसे निकली हुई मंदाकिनी बदरीनाथसे निकली हुई अलकनन्दामें मिलती हैं और मंदाकिनीके नीरको अपनेमें विलीन कर अलकनन्दा यहाँ भागीरथीमें मिलती हैं। गङ्गोत्तरीसे देवप्रयाग-तक गङ्गाको भागीरथी कहा गया है और देवप्रयागके बाद गङ्गा अपने प्रधान नामको धारण करती हैं। संगमका दृश्य बड़ा सुहावना है। गङ्गा अपने स्वाभाविक वेगसे बहती हुई आती है और अलकनन्दा शान्तिसे। जिस प्रकार प्रयागराजमें गङ्गा और यमुनाका पानी अलग-अलग दीखता है, उसी प्रकार देवप्रयागमें भागीरथी और अलकनन्दाका। एकका श्वेत और दूसरीका नीला। प्रयागराजके सदृश यहाँ भी अलकनन्दाका नीला नीर गङ्गाकी श्वेत धारामें विलीन हो जाता है और गङ्गा आगे बढ़ती है।

गङ्गोत्तरीमें गौरीकुण्डका दर्शन करते हुए हमने गङ्गाके प्रादुर्भाव, उसके वेग और बहावका उल्लेख किया था। आज यहाँ हम गङ्गाकी गति-मतिके सम्बन्धमें विचारमग्न हो गये। यों तो उत्तराखण्डके इस क्षेत्रमें यमुनाको छोड़ जो अन्य सरिताएँ निकलती हैं, जैसे मंदाकिनी और अलकनन्दा आदि, उन सभीको गङ्गा ही कहा जाता है। किंतु हम यहाँ भागीरथी गङ्गा, जो गङ्गोत्तरी हिमानीसे निकली हैं, के सम्बन्धमें चर्चा कर रहे हैं। गङ्गाके तरङ्गायित प्रवाहमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण बरबस हमारा ध्यान उस ओर खिंच जाता है और अनेक बार हमारा मन गङ्गाके इस प्रवाहपर, उसकी गति, उसकी मति

और उसके जीवनकी दिव्य छटापर घंटों स्थिर हो जाता है।

भागीरथीके नीरकी निर्मलताका कारण बहुत दूरतक उनके प्रादुर्भावकी कथाओंको लेकर लोग उसका दैविक गुणसम्पन्न होना मानते हैं। विष्णुचरणसे उसका निस्सरण होनेके कारण उसमें वह भागवत पवित्रता आ गयी है कि मलिन-से-मलिन वस्तुओंको साफ कर दे और अधम-से-अधम पातकी प्राणियोंको तार दे। अपने इसी विश्वासके कारण लोग गङ्गाके प्रवाहमें डुबकी लेकर अपने पाप धोते हैं और मरणोपरान्त अपने आत्मीयोंकी अस्थियाँ गङ्गामें विसर्जित करते हैं जिसमें उनकी सद्गति हो। यहाँ ध्यान रखनेकी बात यह है कि प्रयागमें जहाँ यमुना और गङ्गाका संगम है; लोग स्नान तो इस संगमहीमें करते हैं किंतु अपने पितरोंकी अस्थियाँ इस संगममें न छोड़ गङ्गाके प्रवाहमें विसर्जित करते हैं। इस दृष्टिसे गङ्गाको हमारे देशमें जो धार्मिक महत्त्व प्राप्त है वह एक श्रद्धाकी वस्तु है, तर्ककी नहीं। फिर भी कुछ वैज्ञानिकोंका मत है कि इसके प्रवाहमें वनौषधियोंका मिश्रण होनेके कारण इसमें यह स्थायी पवित्रता आ गयी है। किंतु तर्क उठता है कि यदि गङ्गाका नीर वनौषधियोंके मिश्रणके कारण पवित्र है तो यमुना, मंदाकिनी और अलकनन्दा तथा अन्यान्य अनेक सरिताएँ भी तो हिमालयके इसी क्षेत्रसे प्रवाहित हैं और इस नाते उनके प्रवाहमें भी वनौषधियोंका वैसा ही समान मिश्रण होता है जैसा गङ्गामें। फिर जलकी यह स्थायी पवित्रता यदि वनौषधियोंका मिश्रण होना ही है तो इन सरिताओंको क्यों प्राप्त नहीं है। अतः तर्क युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। ऐसी स्थितिमें हम केवल इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक खोजों और दार्शनिक विचारोंकी डुबकी लगानेपर भी जब गङ्गाके नीरकी इस पवित्रताका रहस्य हमें ज्ञात नहीं हुआ तो हमारा धार्मिक दृष्टिकोण ही ठीक है।

अब हमारे सामने गङ्गाके प्रवाहमें विभिन्न सरिताओंके रंगों और रूपोंको सम्मिलित होते ही उनके विलीन हो जानेका प्रश्न आता है। यमुनाका श्याम जल गङ्गामें मिलते ही विलीन हो जाता है और यमुना गङ्गामय हो जाती है। इसी तरह अलकनन्दाका नीला नीर यहाँ गङ्गामें मिलते ही अपना रूप तजकर अस्तित्वविहीन हो जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है गङ्गामें अगणित जल-प्रपात, झरने, नदी और नाले मिलते हैं। मिलते ही सब गङ्गा बन जाते हैं, उनका कोई पृथक् नाम-निशान नहीं रहता। फिर बड़ी-बड़ी सरिताएँ मिलती हैं, उनका भी अन्त ठिकाना गङ्गा ही होती है। फिर यहाँतक कि प्रयागमें यमुना, जिसका जल-विस्तार और परिमाणमें गङ्गासे अधिक दिखता है, किंतु हम देखते हैं कि श्यामवर्णवाली यमुनाके जलकी विपुल राशि गङ्गाकी धवलधाराको छूते ही न जाने कहाँ खो जाती है। सूरदासने एक जगह कहा है……

सूरदास की काली कामरि चढ़त न दूजो रंग।

गोविन्ददासने भी अपनी 'भारतदर्शन' कवितामें काले मेघोंके वर्णनमें लिखा है—

सित पर रँग चढ़ता न असित पर
जग में यह जो बात प्रसिद्ध
कजरारे बारिद बरसारे
करते इसको मिथ्या सिद्ध।

इस प्रकार सूरदासके कथनानुसार काले रंगपर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता और गोविन्ददासके मतानुसार काले रंगपर कभी-कभी अन्य रंग चढ़ जाते हैं, श्वेत रंगपर तो अन्य रंग चढ़ते ही हैं, पर जाह्नवीके श्वेत नीरपर आजतक कोई रंग नहीं चढ़ पाया, यह बात गङ्गोत्तरीसे गङ्गासागरतकके मार्गमें हमें स्पष्ट दिखायी देती है। कुछ देहाती मसलें—कहावतें भी हैं, 'यहाँ रंग चढ़नेका नहीं, यहाँ दाल गलनेवाली नहीं, हम वे लड़ैया नहीं जो दमासे जल जायँ' आदि। कहनेका मतलब यह कि गङ्गाके निकेतनसे निकलते ही मार्गमें कितने जल-प्रपात, झरने, नदी-नाले और बड़ी सरिताएँ मिलती हैं, पहाड़ोंके चट्टानोंके कितने अवरोध जाते हैं, कितनी बातें होती हैं, उसे रोकनेकी उसे मलिन करनेकी। पर न वह किसीके मिलनेपर रुकती है, न किसीकी कुछ सुनती है और न किसीको अपनेपर छाने देती है। अडिगभावसे मुश्किलोंको—मार्गमें अड़े पहाड़ोंको चीरती-फाड़ती पार करती बढ़ी जाती है अपने इष्टकी ओर। यह सब गङ्गाके बड़प्पनकी बातें हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान खिंच जाता है।

इन सब बातोंपर विचार करनेके अनन्तर जब हम अपने दैनिक जीवनपर जाते हैं, तब हमारे सामने भगवान् बुद्ध, महावीर, गाँधी आदिके चरित्र आ जाते हैं। इनके जन्म साधारण मानवकी कोटिमें हुए। किंतु इनके जीवनकी कथाओंपर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें मालूम हो जाता है, इन्होंने अपने जीवनमें असाधारण गति धारण की। तभी इनको सर्वोपरि स्थान मिला और ये अवतारी तथा (आदर्श) पुरुष बन सके। अधिक विस्तारसे हम देखें तो ज्ञात होगा, हमारे दैनिक जीवनमें, क्या विद्याध्ययनके क्षेत्रमें, क्या जातीय संगठनमें, क्या आर्थिक औद्योगिक क्षेत्रमें, क्या सामाजिक, क्या साहित्यिक अथवा क्या धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रमें हमें जो नेतृत्व दिखायी देता है, उस नेतृत्वपर यदि हम दृष्टि डालें तो

मालूम होगा उस नेतृत्वमें अपेक्षाकृत सर्वाधिक गुण, सामर्थ्य और प्रतिभाका समावेश है जिसके कारण ही वह प्रभुता और ऐश्वर्यको प्राप्त है। इन नेतृत्वोंके निर्णयके लिये हम किसी व्यापारीको ही लें। यदि उसे अपनी साधारण अवस्थासे उठकर उद्योगकी उच्च अवस्थापर पहुँचना है तो कठिन परिश्रम और घोर विपत्तियोंका सामना कर एक लम्बी मंजिल तय करनी पड़ेगी। उसके उद्योगके इस मार्गमें उसे अनेक उद्योगपति मिलेंगे जो अवरोधरूप हो उसे पथभ्रष्ट ही नहीं, दबोचकर नीचे गिराना चाहेंगे, किंतु यदि उद्योगी व्यक्तिमें प्रतिभा हुई, उसकी गतिमें वेग हुआ तो वह अपने लक्ष्यतक पहुँच जायगा। इसी तरह अन्य क्षेत्रोंकी तरह हम राजनीतिक क्षेत्रमें भी देखते हैं जिस नेतामें कुछ विशिष्ट गुण हों, उसके विचारोंमें नवीनता हो, उसके कार्योंमें तेज गति हो और नेतृत्वमें प्रतिभा हो, ऐसी प्रतिभा, जो अपने सहयोगियोंको तो अपनेमें समाहित रक्खे ही, अपने विरोधियोंको भी आगे न बढ़ने दे, सभीपर अपने इन विशेष प्रभावों—गुणोंके कारण छाया रहे और सबमें रहकर सबमें मिलकर सबके साथ कार्य कर निर्लिप्तभावसे अपने गन्तव्यकी ओर अग्रसर रह अपने ऊपर किसीका रंग न चढ़ने दे। किसीकी दाल न गलने दे और किसीकी गीदड़-भबकीमें न बहकर उस सियारकी तरह जो दमारमें नहीं जलता, सयाना हो आगे बढ़ता है, उसीको निर्विवाद स्थान और नेतृत्व प्राप्त होता है। यही बात गङ्गाके सम्बन्धमें है। गङ्गाको अपना गन्तव्य ज्ञात है और अपने गन्तव्यकी प्राप्तिमें ऐसी तेजी, ऐसी गति और ऐसी जिंदगी लेकर दौड़ती है कि मार्गके जलप्रपातों, झरनों, नदी, नालों, विशाल सरिताओं और यहाँतक कि दृढ़ दुर्गोंकी तरह अड़े पाषाण-पहाड़ोंको भी चीरती, फाड़ती, सभीको आत्मसात् करती चलती है। सभीसे अप्रभावित रह अपने इष्टसे पूर्णतया अभिप्रेरित रहती है। यही कारण है कि उसके मार्गमें जो पड़ते हैं, उसे जो मिलते हैं, उसके इस रूप, गति और जाज्वल्य-जीवनके कारण उसके ही हो जाते हैं। संक्षेपमें उसका यह गतिशील जीवन ही उसके सर्वहारी होनेका कारण है। वह इतनी तेज चलती है कि उसमें मिलनेवाली बड़ी-बड़ी सरिताओंका रूप, रंग और प्रवाह उसकी तेजीके कारण विभक्त होकर उसमें समाहित हो जाता है और सभीकी शक्ति लेकर वह शक्तिपुञ्ज भागीरथी बनी भागती जाती है।

भागीरथी और अलकनन्दाके इस संगमपर स्नानोपरान्त गोविन्ददासने सपत्नीक विधिवत् पितृश्राद्ध किया। श्राद्ध करनेके अनन्तर गोविन्ददासको भटवारीसे पँवालीके रास्ते केदारनाथ न जा सकनेपर जो खेद हुआ था, उसका स्मरण आते ही वह खेद दो-तरफे लाभमें प्रकट हो यहाँ हर्षमें परिणत हो गया। उन्होंने कहा, हमलोग जिस धार्मिक मूल प्रेरणासे इस यात्रापर आये थे, उसके इस प्रधान कृत्य पितृ-ऋण-मुक्तिका यह कांचन-संयोग हमें पँवालीके रास्ते जानेपर कब मिलता ? फिर उत्तराखण्डके चारों धामोंकी यात्राका यह सौभाग्य भी गोविन्ददासको ही मिला, उनके कुटुम्बसे इसके पूर्व कोई उत्तराखण्डके चारों धामोंको नहीं गया। अतः इस अभूतपूर्व आयोजन और दुर्लभ योगका पूरा-पूरा लाभ न उठाना दुर्भाग्य ही नहीं, आत्मग्लानिका भी कारण होता। इन्हीं सब भावनाओंसे भरा गोविन्ददासका हृदय हर्षातिरेकके कारण नेत्रोंके रास्ते अमृतवृष्टि कर रहा था। योगायोग सब कुछ भगवान्के ही अधीन है। उसीने यात्राके प्रारम्भमें ऋषिकेशमें यात्रा-कार्यक्रम बनवाया, जिसके प्रतिकूल हमलोग पँवाली रास्ते केदारनाथ जानेको उद्यत हो गये। किंतु भारवाहक डंडीवालोंके इन्कार कर देनेके कारण सखेद हम फिर ऋषिकेश लौटे। फिर ऋषिकेशसे देवप्रयागके रास्ते केदारनाथ जानेके कारण पितृ-ऋण-मुक्तिके इस सुकृत्यका यह योग यहाँ मिल गया, जिससे गोविन्ददास अपने कार्यक्रमकी अवज्ञाके दोषसे भी मुक्त हो गये और यात्रापथपर चलकर भी जिस कर्तव्यच्युतताका दोष मत्थे मढ़ता, उससे भी न केवल बच गये, वरं कर्तव्यबन्धनकी इस एक कड़ीको पूरा कर संतुष्ट हो गये। इस तरह पँवाली-रास्ते न जा सकनेके कारण जिस एक बातका खेद हुआ था, वह यहाँ इन दुहरे लाभोंके कारण लोप हो गया। देवप्रयागमें भागीरथी और अलकनन्दाके संगमके अतिरिक्त हमें कोई विशेषता न दिखी। संगमके कारण इस मार्गके कस्बोंकी अपेक्षा देवप्रयाग कुछ बड़ा था। मकान भी कुछ बड़े और अच्छे थे; किंतु घनी बस्ती तथा लोगोंके रहन-सहन एवं यात्रियोंके आवागमनके कारण गंदगीकी पराकाष्ठा थी। हिमालयकी शिखरावली अन्य स्थानोंके सदृश ही। भोजनादिसे निवृत्त हो चार बजे हम दूसरी मोटरपर सवार हुए। भागीरथीसे हमने देवप्रयागमें विदा ली और उनकी अनुजा अलकनन्दाके किनारे-किनारे केदारनाथके मार्गपर चल पड़े। अब हमें भागीरथीके दर्शनके स्थानपर अलकनन्दाके दर्शन आरम्भ हुए।

(क्रमशः)

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक--श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ९२९ से आगे]

नये ब्रह्मा-वैज्ञानिक

परमात्माने, ब्रह्माने, खुदाने दुनियाँ बनायी और वह अद्वैत होकर भी द्वैतरूप भासमान होकर विश्वमें व्याप्त है—ऐसा सब धर्मके लोग मानते हैं, यद्यपि साक्षात् प्रयोगद्वारा कोई अबतक इस मान्यताको सिद्ध नहीं कर सका, क्योंकि यह श्रद्धारूप मान्यता सदैवसे रहस्यमय, अज्ञात और असाध्य रही है। हम या संसार क्या है, कब क्यों कैसे उत्पन्न हुए और क्यों कब कैसे मरेंगे, इत्यादि अनन्त समस्याओं और रहस्योंको न सुलझा सकने, न जान सकनेके कारण, सबके महाकारण रहस्यको परमात्माके नामसे मानते हैं। परंतु क्या कभी किसीने कल्पना की है और पूछा भी है कि ब्रह्मा, परमात्मा या खुदाको किसने पैदा किया, बनाया, उसका निर्माता कौन है ? आस्तिकोंको यह प्रश्न अवश्य बुरा लगेगा; क्योंकि परमात्मा अजन्मा और अमर है, हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत है और इस विषयमें कुछ भी पूछना, सोचना, वाद-विवाद करना व्यर्थ पानी पीटने और हवाको मुट्ठीमें पकड़नेके समान है।

परमात्माने मनुष्यको अपना प्रतिरूप बनाया, यह मान लिया जाय, तो यह केवल आधी व्याख्यामात्र है; इसका उत्तरार्ध पूरक सूत्र भी स्वीकार करना होगा कि मनुष्यने परमात्माको अपना प्रतिरूप बनाया और उसके अधूरे संसार और प्रकृतिकी अंधविकासक गतिमें सुधारकर अपना विशेष ब्रह्मत्व या ईश्वरत्व सिद्ध किया ! पैदा होनेवालेको पैदा न होने देना, स्वस्थ लोगोंको बीमार कर देना, बीमारको स्वस्थ करनेके निमित्त अधिक बीमार-लाचार और छुरी-प्रयोगसे अपंग कर देना, मरनेवालेको मरने न देना, कुछ समयतक रोक रखना, उसे जिलानेके लिये बनावटी प्राणवायु उसमें ठूँसना, बूढ़ेको जवान बनानेके लिये उसके शरीरमें नया रक्त, नयी ग्रन्थियाँ डालना; जो प्राकृतिक होता है उसे रोक देना, और जो नहीं होता है उसे गतिमान् करना; चेतनको अचेतन-मृतवत् कर देना और जडको चलयमान कर देना—यह सब वैज्ञानिकता है, यही नया ब्रह्मत्व या ईश्वरत्व है; ब्रह्मा या परमात्माकी क्रियागतिमें अपनी वैज्ञानिक कलात्मक 'कलम' लगाकर इच्छानुसार फल पाना, सब कुछ विरुद्ध करना मनुष्यका परमात्मगतिपर अधिकार प्राप्त करना है। ऊँचे, पक्के, रंगीन प्रकाशसे चमकते, हवादार, आकाश चूमनेवाले भवन, जिनमें हम अपनी इच्छासे गरम वातावरणको ठंडा और ठंडेको गरम कर लें, पृथ्वी छोड़ द्रुत विद्युत्-गतिसे दूरलोकको अग्निबाणके समान उड़नेवाले रॉकेट, घर बैठे सैकड़ों मील पृथ्वीके चारों ओरकी बात दिखाने-सुनानेवाले टेलीविजन-रेडियो, अन्धकारमय मानव चोलेकी कोठरीके भीतर व्यवस्थित बने जमाये हृदय-हड्डी-पेट-आँतोंका चित्र प्रत्यक्ष कर देनेवाली किरणोंका निर्माण करके इस चमत्कारी भयंकर युगमें मानवके कुशल दिमाग और हाथोंसे होते देखकर अब अज्ञात असाध्य रहस्यमय कल्पित परमात्मा या ब्रह्माकी पूजा-मान्यता कौन समझदार व्यक्ति करेगा ? जो परमात्माने नहीं किया वह मनुष्यने किया, परमात्मासे भी अधिक गजब ! जो मानव स्वयंको, थोड़ी बुद्धि उगनेपर ईश्वरका बेटा बताकर विश्वके इतर प्राणियोंपर शासन करके अपना परिचय दे रहा था, वह अब अपने बुद्धिबलसे, हजारों वर्षकी आयुके बाद बालिग होकर स्वयं ईश्वरकी गद्दीपर बैठ रहा है, अपने बाप ब्रह्माको ढकेलकर ! ब्रह्माका कार्य है सृष्टि करना, अब उसकी सृष्टि क्रियापर भी जन्म निरोध करके कर्म-फलके नियन्त्रण वैज्ञानिक छुरी चलाकर उसे व्यर्थ कर दिया कि कर्म करें भी फल न पाये[१], तथा कर्मके बिना फल पावे[२]। नकली हवा[३], नकली पानी[४], नकली भोजन[५], नकली दूध[६], अन्नका दूध[७], नकली घी[८], नकली रासायनिक

---

१. Birth-control—Contraception
२. Artificial conception
३. Air-conditioned temperature
४. Fluoride water, aerated drinks
५. Chemical added foods
६. Pasteurized and nonfat dry milks
७. Soya-bean milk, curd etc.
८. Hydrogenated Vegetable oils

निर्क[९] वस्त्र, सुखप्रसन्नताकी[१०] मायावी संसार-रचना, नकली जीवन[११], नकली सौन्दर्य[१२], बनावटी रोग[१३], बनावटी मौत[१४], वैज्ञानिक गर्भाधानसे[१५] उत्पन्न संतान[१६], लौह मानव[१७], यान्त्रिक मस्तिष्क[१८] जो कभी भूल नहीं करता, बनावटी चन्द्रमा[१९], नकली चाँदी-सोने[२०]—ये सब परमात्माके बेटे मानवकी सृष्टिकी चीजें हैं। नरको नारी[२१], नारीको नर[२२], एक सिरवाले प्राणीमें दो सिर[२३] बना देना, प्राणियोंके रक्त[२४]-मवादसे स्वास्थ्य एवं आयु-वर्धक-कायाकल्पकारक संजीवनी[२५] बनाना—ये सब वैज्ञानिक मानवकी कारीगरी, प्रकृति अथवा सृष्टिके सनातन स्वाभाविक नियमके विरुद्ध हैं।

नकली सृष्टि

ऐसा करके मनुष्य ब्रह्माकी रेखपर मेख ठोंक रहा है। गरमीमें वातानुकूलित ठंड, ठंडमें गरम वातावरण बना देना, पानीको घातक कीटाणुओंसे भरा देखकर उसमें पोटाश परमेंगनेट, फ्लोराइड आदि डालकर उस मरे कीटाणुओंकी लाशें घुली रहने देना और उसे शुद्ध पानी बताना, दूधको १४० डिगरी फारेनहाइट तापक्रम तक गरम कर उसके भी कीटाणुओंको मारकर तुरंत ठंडा करके उसे भी शुद्ध और उपयोगी बताना, उसकी मलाई-मक्खन निकालकर सुखाकर पानीमें पाउडर घोलकर उसे सुपाच्य उपयोगी दूध बताना कि मूलरूपमें दूध दुष्पाच्य और हानिकर है; दो प्रकारके तेलोंको उग्र रासायनिक मिश्रण एवं क्रियासे साफ कर जमाकर घीके रूपमें जनतामें मिलावट, भ्रम और अनैतिकता फैलाना; कपास ऊन रेशमके बाद अब रासायनिक विधिसे नरम चमकदार कपड़ेका आविष्कार-प्रचार; पहले तस्वीरें दिखाकर बच्चोंका मन बहलाया जाता था, अब सवाक् चल-चित्रोंकी वैज्ञानिक कला और कल्पित झूठी कहानियोंके अभिनय-प्रदर्शनसे मन-बहलावके लिये करोड़ों रुपये खर्च करके प्रौढ़ तथा बूढ़े भी बच्चे बन रहे हैं और किनेमा (सिनेमा) देख-देखकर बाल वृद्ध भावुक होकर प्रायः जनाने गीत गा-गाकर अपनी जनानी प्रवृत्तिका परिचय देते हैं; 'मेरे पियको न डसियो रे,' इत्यादि। औपन्यासिक झूठी कहानियाँ और नाटकोंको विद्यालयोंमें साहित्य-विकासके शिक्षाक्रमका आवश्यक अङ्ग बनाकर विद्यार्थियोंका माथा फोड़ना, अपने हाथ-पाँवको सिकोड़कर यातायातके यान्त्रिक शीघ्रगामी साधनोंके उपयोगसे आरामतलब और रोगी होकर दवाइयाँ खाते-पीते, अन्य प्राणियोंके रक्त-मवाद-मांसादिसे बने घृणित रसोंको इलाजके नामपर अपने खूनमें घोलते हुए कंकाल बने हिलते-डुलते जीना ही जीवन-चर्या बन गयी; जल प्रदाय और विद्युत् प्रदाय बंद हो जानेसे पानी बिना जीना असम्भव और अंधकार मिटानेको घरमें चिराग भी न हो तो मोमबत्तीके भाव उसी समय बढ़ जायँ, अन्यथा समाजके हानिकारक तत्त्व स्वार्थ-साधनका अँधेरेमें अच्छा अवसर पा जायँ; यातायातके कर्मचारी हड़ताल कर दें तो यात्री तथा नौकरी व्यापार-धधेके लोग जहाँ-के-तहाँ फँसे पड़े रहें। महात्मा गांधीद्वारा प्रचलित, अपने सच्चे हकके लिये लड़नेके असहयोग एवं सत्याग्रहरूपी अस्त्रका हठपूर्वक बच्चोंकी तरह रूठनेका आन्दोलन पढ़े-लिखे समझदार भी करने लगे और अपनी चुनी बनायी हुई जनतन्त्री सरकार ऐसे आन्दोलनपर डंडे, अश्रुबम और गोलियाँ बरसाने लगीं। दुबले-पतले-फीके निस्तेज अङ्गोंपर रासायनिक रंग-पाउडर-क्रीम आदि चुपड़कर, बनावटी यान्त्रिक साधनोंसे उभारकर सौन्दर्य और यौवन प्रदर्शन करना, स्वस्थ होते हुए भी और संयम करनेमें लाचार होकर, रोगसे बचनेके लिये रोग-निरोधक टीका लगवाकर अपनेमें नकली बीमारी बनाकर स्वयंको नीरोगी होनेका वैज्ञानिक सार्टिफिकेट बताना; इलाजके लिये अङ्गविशेषकी चीर-फाड़में अथवा अधिक पीड़ा या उत्पातकी दशामें पागल व्यक्तिको शान्त और गर्भवतीको प्रसवके समय पीड़ाके दुःखसे बचानेके लिये कई घंटोंतक बेहोशीमें लाकर मृतप्राय रखना। स्रष्टाने संसारमें ८४ लाख प्रकारके प्राणी प्रचलित किये; किंतु उसके उत्तराधिकारी बालिग बेटेने अब एक नयी निर्जीव 'रबड़-योनि' आविष्कार करके

---

९. Rayon-Nylon,
१०. Screen Talkie,
११. Medicated, mechanized living,
१२. Artificial beauty—Cosmetics,
१३. Immunity,
१४. Anaesthesia,
१५. Artificial insemination,
१६. Test-tube babies,
१७. Robot,
१८. Mathematical machine brain,Calculator,
१९. Lunik—Sputni
२०. Stainless Steel, artificial gold.
२१-२२. By Surgical Skill,
२३. By Surgical Skill,
२४. Hormone etc. endocrine preparations,
२५. Rejuvenating treatment.

ब्रह्माके सनातन नियमको निर्जीव और रद्द कर दिया। बीजको यों ही नष्ट कर पैदा होनेवालेको न पैदा होने देनेका, आधुनिक सभ्यतामें आवश्यक वैज्ञानिक रिवाज बना दिया। कुछ वर्षों पहले जिस वस्तुके आविष्कारको सुनकर लाजसे लोग मुँह फेर लेते थे और जिसके विक्रय तथा उपयोगमें डाक्टरी प्रमाणपत्र आवश्यक था, जिसे लोग लज्जा और पापकी दृष्टिसे देखते थे, अब वह जन-साधारणमें सभ्यताका आवश्यक रिवाज विज्ञानकी आड़में बन गया। जब कि गाँवोंमें, प्राकृतिक जीवन बितानेवाले अर्धसभ्य, निर्धन समाजमें सनातनसे पीड़ारहित प्रसव होते आये हैं, शहरोंमें अब प्रसवके लिये माताओंको सरकार-द्वारा प्रमाणित प्रसूतिगृहों अथवा अस्पतालोंमें जाना अनिवार्य हो गया और प्रसवके समय पीड़ारहित प्रयोगसे उन्हें बेहोशी-रूपी नकली मौत तथा चीर-फाड़ और रक्तभण्डारसे रक्तसंचार करना आवश्यक हो जाता है। अब तो अमेरिकामें इस वैज्ञानिक स्वार्थी धंधेके विरुद्ध कतिपय जाग्रत् माताओंने बेहोशीमें कई बार प्रसव करवाकर अभिमत प्रकाशित किया है कि प्रसवके समय कैसा दर्द होता है, यह हम होशमें प्रसव कराकर अनुभव चाहती हैं, मृतप्राय दशाका मातृत्व प्रकृति-विरुद्ध है। 'नाहं जानामि नूपुरे' की बात, जब कि पर-पुरुष सिर उठाकर स्त्रियोंकी ओर न देखते थे और जहाँ माताओं-बहनोंपर पर-दृष्टि पड़नेसे सिर फूटते-कटते थे, पुरुषलोग अपना महान् अपमान मानते थे। ऐसे भारतमें अब वैज्ञानिक अस्त्रों-यन्त्रोंसे सम्पन्न संस्थाओंमें, सनदप्राप्त कुशल वैज्ञानिक पर-पुरुषलोग उन माताओं-बहनोंके अतिशय असंयमसे गूढ़ अङ्गोंकी चीर-फाड़द्वारा चिकित्सा कराने अथवा 'फेमिली प्लानिंग'के नामसे प्रचलित, गर्भनिरोध, संतति-नियमन या गर्भाधानके बनावटी साधन करानेमें स्त्री-पुरुष कोई भी अब संकोच या अपमान नहीं मानते। मानवमें अब पहले-जैसा पवित्र रक्त, आत्म-संयम और आत्म-सम्मान कहीं रह गया है? धर्म या सांस्कृतिक गौरव भी कहाँ है? अब वह हिंदू, अहिंसक जैन-बुद्ध और मुसल्मान भी इस वैज्ञानिक सभ्यतामें अपना खून टटोलें, पौरुष और आत्म-सम्मानकी जरा होशमें कल्पना तो करें कि वे क्या हैं, कहाँ हैं और आगे उनकी संतान क्या बनेगी? संसारकी बढ़ती जन्मसंख्यासे आबादीद्वारा माता पृथ्वीपर पोषण और स्थानकी जिम्मेदारीकी बढ़ती देखते हुए वैज्ञानिक धृतिपरायण सरकारोंको यह आवश्यक हो गया कि वे जन्मके भावको रोकें। कानून और वैज्ञानिक नगाड़ेकी इस खुली चोटपर बेशर्मीसे इसका प्रसार हो रहा है, स्वेच्छासे चीर-फाड़ कराकर स्त्रियाँ वन्ध्या और पुरुष नष्टवीर्य बनते जा रहे हैं; क्योंकि अब उनमें नकली एवं रासायनिक विषमिश्रित भोजन, पानी, हवा, दवा, दूध, घी, रहन-सहन सब—नकली बनावटी वैज्ञानिक होनेसे आत्म-संयम एवं आत्मसम्मान न रहा!

विज्ञानकी धर्मार्थ दूकान

मानव-शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भीतर-बाहर रोग है अथवा नहीं, इसकी सूक्ष्म यान्त्रिक सम्पूर्ण परीक्षा एवं चीर-फाड़ आदि कार्यके लिये किस सम्पन्न अस्पतालमें जानेमें कितना खर्च पड़ेगा? बम्बईके एक धर्मार्थ (?) अस्पताल-की इस सम्बन्धमें भावसूची हमें मिली है, जिसमें प्रायः खास-खास किन्हीं अङ्गोंकी भीतरी-बाहरी जाँच, चीर-फाड़, इलाज आदि क्रियाओंके भाव हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकारसे है—

२) सूक्ष्म किरणोंद्वारा अन्तर्दर्शन Screening.

१२) एक्सरे प्रतिप्लेट, जो परीक्षाके बाद वहीं जमा रहेगा।

८) एक्सरे प्लेट ले जानेका मूल्य, अतएव कुल २०) रुपये।

३) विद्युत् प्रकाशमें १ मिनट बैठक।

३५०) पेशाब, पाखाना, थूक, खून, वीर्य, मवाद, रीढ़ रस आदिमें कीटाणुओंकी जाँच।

५५॥) दाँतोंकी जाँच, वैज्ञानिक विधिसे उखाड़ना, चीर-फाड़ आदि।

२९) जीभ, कान, बवासीर आदिकी फुटकर चीर-फाड़ आदि।

४१) आँख, नाक, गलेकी फुटकर चीर-फाड़।

१५) डॉक्टरी राय और प्रमाणपत्र।

३) मामूली प्रमाणपत्र।

१५) जीवन-बीमा करानेवालोंके लिये सार्टिफिकेट।

६२) आँखकी ६ प्रकारकी चीर-फाड़।

३५) प्रसवके समय (स्त्रियोंकी) साधारण चीर-फाड़।

३०५) शरीरके अन्य अङ्गोंकी चीर-फाड़।

९५५॥) जोड़। इसके अतिरिक्त अन्य अलिखित फीस भी हैं। हृदय, दिमाग, फेफड़े, मूत्रपिण्ड, यकृत, तिल्ली, आँतोंकी गम्भीर चीर-फाड़की गहरी रकम अलग होगी, जो इस भावसूचीमें नहीं दिखायी गयी है। विचार करनेकी बात है कि एक जीवित स्त्री या पुरुष अस्पतालके सब विभागों

वैज्ञानिक कारीगरीका पूरा अनुभव लेने जाय तो सैकड़ों रुपये खर्च करके वह किस दशामें लौटेगा ? घर आयेगा या श्मशान जायगा ? किसी बड़ी 'दूकान'के भावोंकी कल्पना कीजिये। विज्ञानके लिये मानव चोलेका क्या मूल्य है ?

अनोखी हिकमत

वैज्ञानिक लोग दो प्रकारके रोग बताते हैं—एक तो आङ्गिक, दूसरा शरीरकी अव्यवस्थित दशा (Organic and Functional disorders), परंतु अब एक तीसरे प्रकारका रोग भी नये-नये लक्षणों और नामोंसे, जिनकी खोज हो रही है, वह है स्वयं डॉक्टरों और दवाओंसे बनाया गया रोग। डॉक्टरी भाषामें इस श्रेणीके रोगोंको 'IATROGENIC' कहा जाता है। डॉक्टरी इलाजसे परेशान होकर और डॉक्टरकी बातोंसे अपने रोगको खतरनाक जानकर घबराहटसे रोग बढ़ जाता है। अखबारोंमें, रेडियोपर, डॉक्टरोंके प्रवचन और लेख सुन-पढ़कर भी लोगोंमें रोग पैदा होते हैं। अमेरिकामें यह बड़ी व्यापक चर्चाका विषय बन रहा है। लोग अब डॉक्टरोंके पास जाने और उनसे बात करनेमें भी डरते हैं, 'जायँ तो डॉक्टर न जाने कौन-सा रोग बतावे, न जाने क्या इलाज करे और उसका नतीजा क्या हो। रोग बिगड़ जाय, बढ़ जाय ! डॉक्टर लोग ऐसे रोगियोंको साइकोसोमेटिक Psychosomatic कहा करते हैं, जो कि डॉक्टरों और दवाओंसे बताया गया iatrogenic होता है। दवाओं तथा अन्य प्रकारके यान्त्रिक उपचारके प्रयोगोंसे रोगियोंसे अनुभव लेनेकी डॉक्टरी प्रवृत्तिसे ये रोग उत्पन्न होते हैं, सभी डॉक्टर अपने अनुभव बढ़ाना चाहते हैं और अपना एक नया आविष्कार दुनियाको बताना चाहते हैं, विशेषज्ञ Specialist इसीकी उपज हैं, वे केवल एक अङ्गका इलाज करते हैं, मानो अमुक अङ्ग शरीरके शेष अङ्गोंसे बिल्कुल अलग और असम्बद्ध हो। उसका अन्य अङ्गोंसे कोई सम्बन्ध हो तो इस शङ्काका निवारण और इलाज करानेके लिये दूसरे विशेषज्ञके पास उस रोगीको भेज देते हैं, आमदनी बढ़ानेकी यह एक शृङ्खला Chain system चल पड़ी है। लेखों और प्रवचनोंमें, अखबार और रेडियोपर ये डाक्टर रोगोंका प्रचार वैज्ञानिक भाषामें बोलकर करते हैं—'समय-समयपर अपने स्वास्थ्यकी परीक्षा कराते रहिये, अपना एक्सरे लेते रहिये, अपना मानसिक विश्लेषण कराते रहिये। रोगके कीटाणुओंसे सावधान रहिये, आपकी बगलमें बैठे हुए व्यक्तिके छींकनेसे भी उसके कीटाणु आपके श्वासमें आ जाते हैं। अमुक रोगनिरोधक टीका, इंजेक्शन भी समय-समयपर लेते रहिये—इत्यादि घबरा देनेवाली चेतावनीसे लोग डॉक्टरोंके पास दौड़ते हैं, कुछ-न-कुछ रोग और दवा लेकर लौटते हैं। आगे चलकर ये लोग इलाजसे न अच्छे होते हैं न मरते हैं, परंतु उनकी जीनेकी इच्छा मर जाती है—They have lost 'their will to live.' ऐसी मानसिक दशामें उनके शरीरके जीव-कोष अधमरे हो जाते हैं और उन लोगोंमें रोगके कीटाणुओंका पता न चले तो डॉक्टर उसे नयी, अजीब बीमारी कहकर नयी-नयी दवाओंपर टालते रहते हैं। रोगी पूछ बैठते हैं—'डॉक्टर! क्या मैं मर जाऊँगा ? सच-सच बताओ !' और कोई-कोई डॉक्टर कह देते हैं—हालत देखते हुए तो ऐसा ही मालूम होता है 'Tell the Truth. Am I going to die ?"—'I can judge, you certainly are.'

रक्तदान

दवाओं, एक्सरे, प्रयोगशालाकी जाँचके पश्चात् एक नया इलाज पिछले महायुद्धके बाद तमाम व्यापक हो चला है—रक्तदान—Blood Transfusion. । आसन्न-प्रसवा माताओं अथवा जिस रोगीमें खून बहुत कम हो या दुर्घटनासे घायल हो, दूसरे व्यक्तिका—निकट-सम्बन्धीका खून उसके शरीरमें भरकर जिंदा रखनेका साधन किया जाता है। परंतु ऐसा कोई रक्तसाम्यका सम्बन्धी या व्यक्ति न मिले तो अस्पतालोंमें बोतलोंमें सुरक्षित बंद रक्खा हुआ रक्त भी मिल जाता है। इसमें दो बातें मुख्य विचारणीय हैं—क्या ऐसा रक्त उसके लिये अनुकूल है और वह रक्त अस्पतालमें कहाँसे आता है ?

अस्पतालमें रक्तदान अभियानद्वारा लोग जाकर परोपकार वृत्तिसे स्वयं अपना कुछ रक्त दानके रूपमें देते हैं। कोई भी व्यक्ति दुखियोंके प्रति उदार आत्मभाव रखकर अस्पताल जाकर अपना रक्त दे सकता है। यह जीवन-दान सब दानोंसे श्रेष्ठ है, ऐसी बातके प्रचारसे लोग धर्मभावनासे ऐसा करते हैं, यह होता है गुप्तदान; क्योंकि इसमें रक्त देने और रक्त लेनेवालेको परस्परका कोई ज्ञान वा परिचय कुछ नहीं होता। कहा जाता है, खून सो खून। किंतु क्या सब खून एक ही होता है ? रक्तमें रोगके कीटाणु होते हैं। किसी भी व्यक्ति, ज्ञात वा अज्ञात, अथवा प्राणीका रक्त लेना, उस व्यक्ति या प्राणीका मांस मुखसे खानेकी अपेक्षा, उसे रक्तरूपमें आत्मसात् करना ही तो हुआ और इसमें उसके चरित्र, संस्कार और गुप्त अज्ञात रोगोंका भी

आत्मसात् कर लिया जाना क्या नहीं होता। ऐसा रक्त लेकर लोग कितने दिन जीते हैं। It is the most intimate fusion, a type of organic transplantation. जर्नल आफ अमेरिकन मेडिकल असोसिएशनके जिल्द १६३ पृष्ठ २८३ (१९५७) में बताया गया है कि अमेरिकामें प्रतिवर्ष ३५ लाख व्यक्तियोंको ऐसा रक्त दिया जाता है। ब्रिटेनमें १९५७ में साढ़े सात लाख रक्तकी बोतलें खर्च हुईं, जब कि पिछले वर्ष सात लाख। यह सब रक्त कहाँसे आता है। बहुधा यह रक्त मानवोंद्वारा स्वेच्छासे दिया जाता है। अथवा चीर-फाड़के समय, अथवा मरे हुए लोगोंकी चीर-फाड़से भी निकला हुआ होता है। रूसमें मुर्दोंका रक्त बहुतायतसे उपयोग-में आता है। २८ जनवरी १९५८ के 'मेडिकल वर्ल्ड'में बताया गया है कि मास्कोमें एक्सिडेंटसे और अकस्मात् मरे हुए लोगोंका रक्त, स्क्लिफासोस्की अस्पतालमें मुर्दोंको तुरंत ले जाकर निकाल लिया जाता है और यदि उस रक्तका तुरंत कोई उपयोग न हुआ तो सोडियम् साइट्रेट मिलाकर भविष्यके उपयोगके लिये बड़ी बोतलोंमें भरकर रेफ्रिजरेटरोंमें रख दिया जाता है। वहाँके डॉक्टर एस-एस यूदीनने सरकारसे आज्ञा प्राप्त कर ली है, जिसके अनुसार वे, माँग होनेपर, मास्कोकी पचास लाखसे अधिक जन-संख्यामें नित्य अगणित मरनेवालोंका रक्त निकालकर दूर-दूरके शहरोंमें भेजते हैं और रक्तमें कोई 'गम्भीर विकार' हुए बिना हवाईजहाजोंद्वारा चीन और आफ्रिकातक भेजते हैं। पिछले महायुद्धके समय यह उद्योग जोरोंसे चला था।

बढ़िया मुर्दे !

जो लोग स्वयं फाँसी लगाकर मरे हों, जिन्हें बिजलीद्वारा मौतकी सजा दी गयी हो, या जो लोग हृदयकी कठोर पीड़ा (Angina pectoris) से मर गये हों, ऐसे मरे लोग रक्त निकालनेके हेतु बढ़िया मुर्दे माने जाते हैं। मोटर-दुर्घटना आदिसे मरे हुए लोगोंका रक्त पहले ही व्यर्थ बह जाता है, परंतु फिर भी शारीरिक क्षतिके बिना मरे हुए लोगोंमेंसे ढाई सेरसे लेकर चार सेरतक खून निकल आता है जो कि ५-६ व्यक्तियोंके लिये काफी होता है। ऐसे मुर्दोंका रक्त मरनेके बाद आठ घंटेके भीतर निकाल लेनेसे लगभग एक महीनेतक उपयोगके लायक सजीव बना रहता है, हानिकारक नहीं होता। विशेष विस्तार डॉ० युदीनके लेखमें, २४ जुलाई १९३६ के 'मेडिकल वर्ल्ड' में पृष्ठ ७१९ पर मिलेगा। इसके पहले सूअरों और कुत्तोंमेंसे रक्त निकालकर प्रयोगमें लाया गया था। जिनका प्रभाव मनुष्योंपर बहुत अच्छा पाया गया। 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल'के २४ जून १९४४ के अंकमें बताया गया था कि अमेरिकावालोंने बैल-रक्त-जल अर्थात् बैलके खूनमें रहे हुए जल (Ox-blood serum) का भी बहुत प्रयोग किया था, जो बूचड़खानोंसे प्राप्त किया जाता था। परंतु इस रक्तमें फारमल डिहाइड और अमोनियां मिलाकर गर्मी देकर उपयोग किये जानेपर भी जब लोगोंको बुखार और वमनकी प्रतिक्रिया होने लगी, तब इस प्रयोगको बंद कर दिया गया। बादमें बंदरोंके रक्तका उपयोग किया गया; परंतु महँगा होनेसे उसे आगे न चला सके, सोचा था कि बंदर मनुष्यके पूर्वज हैं। इसलिये इनका रक्त विशेष उपयोगी होगा। घोड़ोंका रक्त-जल (Horse-serum) का भी उपयोग मानवोंमें किया गया; परंतु उनका घातक परिणाम होनेसे उसका चलन न हो सका और मानवके लिये मानवका रक्त ही उपयोगी सिद्ध हुआ। 'मेडिकल वर्ल्ड'के जनवरी २२, मई २८, १९३७ तथा जून ३, १९३८ के अङ्कोंमें प्रसूता माताओंके प्रसवके समय निकले हुए रक्त (Placental and foetal blood) का प्रयोग करके उसे १५ दिनतक उपयोगी बताया गया है। मास्कोमें प्रतिवर्ष साठ हजार बच्चोंको जन्म देनेवाली माताओंमेंसे चालीस हजार-का रक्त तो आठ हजार व्यक्तियोंकी जान बचा सकता है। सिडनी यूनिवर्सिटीके डॉ० रोनाल्ड वर्न्टने बताया है कि न्यूगिनीके लोग, मानव-मुर्दोंको दफन करने या जला देनेके बदले, चीर-फाड़कर बढ़िया भोजन समझकर अब भी खा जाते हैं; क्योंकि उनका भोजन साधारणतया पोषक नहीं होता। वहाँ सूअर बहुत कम होते हैं और विशेष संस्कारों-पर्वोंमें उनकी बलि दी जाती है—People eat human flesh.........primarily as food, a most nourishing and hygienic means of disposing their dead. (रायटर-टाइम्स आफ इण्डिया—४-९-१९५७)।

रक्तदानका परिणाम

आकस्मिक दुर्घटनामें चोट आनेसे रक्त बह जाय, पुरानी बीमारी होनेके कारण या भोजनका पाचन बिगड़ा होनेसे रक्त न बनता हो, शरीरमें रक्तकी कमी हो, बालक, जवान या बूढ़ा पुरुष हो अथवा गर्भवती मातामें या उसके सद्योजात शिशुमें रक्तका अभाव हो, तो ऐसे लोगोंकी तन्दुरुस्ती सुधारने, उन्हें बलवान् स्वस्थ बनाने और खतरे या मौतसे बचानेके लिये

तुरंत उपाय है उनके शरीरमें रक्त भरकर संचार करना। भोजन खानेसे और पाचनसे रक्त देरसे बनता है, अतः ऐसी सुपाच्य वस्तुएँ दी जाती हैं जिनका रक्त जल्दी बने। ऐसी वस्तुएँ स्नायुमें प्रविष्ट की जाती हैं कि उनके तत्त्व रक्तमें शीघ्र घुल-मिलकर रोगीको शक्ति दें। रोगी जो मुँहसे न खा सके, जो होशमें न हो, जिसकी चीर-फाड़ हुई हो, लाचार हो। ऐसे लोगोंको इसी तरीकेसे ऐसी खूराक दी जाती है, जो सीधे रक्तमें घुल-मिल सके। ग्लूकोज, डेक्स्ट्रन और डेक्स्ट्रावेन ऐसी ही चीजें हैं जिनसे कोई हानि होना नहीं बताया जाता। ये अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं और विश्लेषणसे बनती हैं। परंतु तुरंत अचूक चमत्कारी लाभ बतानेके लिये मानव-शरीरमें अन्य मानवका रक्त दिया जाता है। स्नायुका सम्बन्ध स्नायुसे करके अथवा पहलेसे उदार आत्मदानी सज्जनोंद्वारा दिये हुए रक्त—जो अस्पतालमें रासायनिक प्रक्रियासे सुरक्षित एवं शुष्करूपमें रक्खे रहते हैं, रोगीको दिये जाते हैं। इससे तुरंत तो रोगी व्यक्ति भला-चंगा सजीव हो उठता है, वैज्ञानिक क्रियाका चमत्कार दीखता है; परंतु कुछ ही महीनोंमें यकृत्-रोगी हो जानेसे उसके यकृत्पर रक्तदानसे अधिक श्रम पड़नेके कारण विकार जम जानेसे, यकृत् कठोर होकर सूख जानेसे उसकी मृत्यु हो जाती है। ११ नवम्बर १९५० के डॉक्टरी अखबार 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल'में बताया गया है कि १९३८ में मानवका जितना रक्त अन्य रोगियोंको दिया जाता था, १९५० में उसकी मात्रा पचासगुनी बढ़ गयी और प्रतिवर्ष दिनोंदिन रक्तदानद्वारा रक्त-संचारका रिवाज बढ़ता जा रहा है। रक्तदानी लोगोंके रक्तमें प्रायः विशेष प्रकारका रुग्ण *विकार रहता है जो रोगीके अंदर पहुँचकर उसके यकृत्को विकृत करके मृत्यु ला खड़ी करता है। यह क्रिया ६ साल बादतक मृत्युमें फलित होती पायी गयी है।

'मैंचेस्टर मेडिकल सोसायटी'के समक्ष भाषण करते हुए खोजी डॉ० जी० एफ० विल्किन्सनने बताया, जो २४ अक्टूबर १९५३ के डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट'में छपा है कि रक्तदानसे मनुष्यकी जान तुरंत तो बच जाती है परंतु यह व्यर्थ होती है, अनावश्यक होती है और घातक भी होती है।

इसकी पुष्टिमें पहले ही 'जर्नल ऑफ अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन'के जिल्द १४७, पृष्ठ ७२७ (१९५१) में लिखा जा चुका है, जिसको इंग्लैण्डके 'लॅसेट'ने २९ दिसम्बर १९५१ के अंकमें दुहराया है कि रक्तदानद्वारा रक्तसंचारकी क्रिया खतरेसे खाली नहीं है।

गत तीस वर्षोंसे प्रचलित इस खतरनाक अंधवैज्ञानिक परम्पराके प्रति २६ फरवरी १९४९ के 'लान्सेट' में डॉक्टर जी० एफ० गेब्रियलने चेतावनी प्रकाशित की है, उन्होंने सूखे सुरक्षित रक्त प्लाज़माकी एक बोतलपर ईमानदारीसे लगाये गये लेबलको बताया जिसमें लिखा था—'खास बात'—इन्चार्ज डॉक्टरके लिये'—'सूखा प्लाज़मा या सूखा सीरम संचार करनेसे दशप्रतिशत रोगियोंमें यकृत्की Hepatitis सूजन होना पाया गया है।' यह बीमारी भले ही तुरंत न मालूम हो, उसका असर तीन महीने तकमें प्रकट होता दीखता है और साधारण मात्रामें यह घातक भी होती है।

फिर भी कितने अंधेरकी बात है कि रक्तदानी दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं और रक्तसंचार धड़ाधड़ हो रहा है। 'मेडिकल डिपार्टमेंट ऑफ एडमिरल्टी'के सर्जन रियर एडमिरल एस० जी० रेन्सफोर्ड० सी० बी० ई०, डी० एस-सी; एम्० डी०, एम्० बी०, बी० एस० एस० ए०, एम० आर० सी० पी० ने २७ अक्टूबर १९५६ के 'लांसेट'के अंकमें अपना पत्र प्रकाशित किया है कि '१९५४ में रक्तदानियोंकी संख्या ७,००,२०२ से बढ़कर १९५५ में ७,५९,५७१ हो गयी। ऐसे रक्तदानसे रोगियोंमें पीलिया Homologous serum jaundice बढ़ता जा रहा है। हम नहीं कह सकते कि यह प्रथा कितनी खतरनाक है और इसका क्या कैसे इलाज किया जाय।' 'This increase in the use of blood and blood products must entail in the increase in the number of cases of homologous serum jaundice. At present we have no certain knowledge of how dangerous transfusion of blood and blood products may be, nor are we any nearer to solving the problem of preventing homologous serum jaundice.'

टोरण्टो, ओण्टारियो, कनाडासे प्रकाशित अखबार 'सेटरडे नाइट' (Saturday Night) के ७ नवम्बर १९५९ के अंकमें 'रक्तदान-संचारसे मृत्यु हो सकती है' (Blood Transfusion can kill) शीर्षकसे डॉ० ब्रायन केहिल (Brian Cahile) ने लिखा है कि 'आपरेशन टेबलपर रक्तसंचारकी प्रक्रियासे किसी रोगीकी भी तुरंत मौत हो सकती है, जब कि उसके रक्तपर अन्य व्यक्तिके रक्तकी अरुचिकर (Allergic reaction)

---

* Mysterious Virus.

प्रतिक्रिया होती है, अथवा कुछ समय आगे-पीछे उसके यकृत्‌में सूजन हो सकती है, कठोर आन्तरिक आघातसे वह मर सकता है। आज जिस लड़की या स्त्रीको रक्ताल्पतामें अन्य व्यक्तिका रक्त उसे दिया जायगा, इससे सम्भव है कि कई साल आगे चलकर उसके गर्भस्थ प्राणीकी मौत हो जाय अथवा जन्म लेनेके बाद भी वह मर जाय; क्योंकि रक्तदानीमें कोई ऐसा अज्ञात कारण होता है जिसका अबतक पता नहीं है।

'A blood transfusion can kill a man almost instantly on the operating table when he develops a severe allergic reaction to another's blood. Or it causes him to come down, sometimes within hours, sometimes not for months, with hepatitis, a virus infection that results often in severe illness and sometimes in death. And the most tragic danger of all lurks in the fact that blood transfusion given to a girl or woman today may, many years later, kill her unborn child or her newborn infant because of the mysterious factor existing undetected in the donor's blood.'

जार्ज बर्नार्ड शाने एक बार कहा था कि 'वैज्ञानिक लोग एक समस्या हल करके दस नयी समस्याएँ पैदा करते हैं। अर्थात् एक रोग दूर करके दस नये रोग पैदा करते हैं।'

इसपरसे एक वैज्ञानिक बोल उठा, 'शा साहबको यह नहीं मालूम कि यदि विज्ञानद्वारा समस्याएँ बिल्कुल हल की जा सकें, नयी समस्याएँ न उत्पन्न हों तो विज्ञानका काम रुक जाय और वह उन्नति न कर सके।'

एक शब्दमें इसका यह अर्थ हुआ कि वैज्ञानिक लोग दवाके साधनसे रोगका रंग-रूप बदल देते हैं, वह और भी विषम हो जाता है। डॉक्टरी अखबारोंमें ईमानदारीसे प्रकाशित किया जाता है। आजकल इन साधनोंसे खून जहरीला हो जाता है, मृत्यु हो जाती है, परंतु दैनिक अखबार इन बातोंको महत्त्व नहीं देते। वे केवल दवाओंके चमत्कारिक लाभपर महत्त्व देते हैं, जिनके विज्ञापनसे उन्हें पैसा मिलता है और दवाफरोशको भी जिससे लाभ होता है। 'तुम मेरी पीठ खुजलाओ और मैं तुम्हारी पीठ खुजलाऊँ' जैसा वह पारस्परिक व्यवसाय दवाफरोश और अखबारवालोंकी आमदनी बढ़ाता है। लन्दनके 'न्यूज क्रानिकल, अक्टूबर २६, १९५९ में समाचार छपा है कि 'अस्पतालोंमें आजकल रोगियोंका खून जहरीला होनेसे अधिक संख्यामें मृत्यु होने लगी है। पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनसे दस वर्ष पूर्व इतनी मृत्यु नहीं होती थी।'

इसका कारण है कि रक्तदान और रक्तसंचारकी बढ़ती। अर्थात् खून विकृत होनेसे या कम होनेसे रोग होता है तो आजकल दवाइयोंके बदले, जल्दी लाभ दिखानेके लिये रक्तदान और रक्त-संचारका प्रचार किया जाता है, फलतः रक्तदानी लोग रक्तदान देते हैं और लाभ लेनेवाले रोगी जीनेके बजाय मर जाते हैं!

केवल इतना ही नहीं, पिछले वर्षोंमें कितनी ही संस्थाओंके डाक्टरोंने अपने अनुभवपूर्ण मत प्रकाशित किये हैं जिनमें रक्तदान और रक्तसंचारको मना किया गया है। कनाडा, विनिपेमके 'ब्लड ट्रांसफ्यूजन' और रक्तरोगोंके विशेषज्ञ डॉ० ब्रूस कोवन; रायल विक्टोरिया हास्पिटल माण्ट्रीलके 'ब्लड ट्रांसफ्यूजन सर्विस'के अध्यक्ष डॉ० पॉल वील, रेडक्रास ब्लड ट्रांसफ्यूजन सर्विसके डाइरेक्टर डॉ० ब्रियन पी० एल० मूर तथा इग्लेण्ड-लण्डन यूनिवर्सिटीके प्रोफेसर ऑफ पेथालॉजी डॉ० जे० डिबल हैं।

डॉ० डिबलने एक अखबारनवीसको बताया कि अठारहवीं सदीमें जब 'खून निकालने'का रिवाज था और लोग विकृत रक्त निकलवाकर प्राण गँवाते थे, आजकल लोग दूसरोंके रक्तदान और रक्तसचारसे मरते हैं।

यह समाचार टोरण्टोके 'सेटरडे नाइट'में ७ नवंबर १९५९ में छपा है।

गलकटे

आजकल अपेण्डिक्स, कण्ठकी ग्रंथियाँ, टांसिल और एडिनायड काट निकाल फेंकनेका भी खूब रिवाज चल पड़ा है। अज्ञानी जनता आहार-विहारका संयम नहीं जानती और असंयमसे जब उन्हें गले, पेट या आँतोंमें सूजन-फोड़े आदिकी बीमारी हो जाती है, तब उन्हें चीर फाड़के सिवा कोई उपाय डॉक्टर नहीं सुझाते। इस आपरेशनसे चार व्यक्ति मर गये तो इंग्लैण्डके डॉक्टरी अखबार 'लांसेट'के २८ मार्च १९५९के

अङ्कमें जनरल हास्पिटल, स्वानसी, इंग्लैण्डके, कान, नाक, गलेके चीर-फाड़के विशेष सर्जन रजिस्ट्रार डॉ० एम० ई० एन० स्मिथ एल. एम एस. एस. ए. ने अपना तथ्य प्रकाशित किया है—'टांसिल और एडिनायडका ऑपरेशन करके तो मैं साफ बच गया हूँ, परंतु इन ग्रंथियोंकी रचना और चीर-फाड़ कितनी बारीक और नाजुक है कि मैं इनपर छुरी चलाना न्याय नहीं समझता जब कि उसका परिणाम घातक हो। जो व्यक्ति मेरे इस कथनको माननेको तैयार न हो, वह बतावे कि लाभकी आशामें प्रतिवर्ष कितने लोग ऐसे ऑपरेशनसे मौतके घाट उतरते हैं।'

वैज्ञानिक खेती

सल्फा, पेनिसिलिन, एण्टि बायोटिक; क्षयनिरोधक और अन्य कीटाणुनाशक दवाओंका आविष्कार हुए २५ साल हो चुके और अनेक रोगोंमें उनका इतने वर्षोंमें धड़ाधड़ प्रयोग हुआ है; परंतु कीटाणुओंसे फैलनेवाली बीमारियोंपर अबतक स्थायी विजय नहीं मिली। इन दवाओंके प्रयोगसे कीटाणु पहलवान बनते जा रहे हैं और उनका वंश बढ़ता जा रहा है। डा० फिनलेण्ड और उनके खोजी साथियोंने अधिकारपूर्वक इस विषयमें अपनी रिपोर्ट अमेरिकन मेडिकल असोसिएशनके ड्रग कौंसिलको दी है जिसकी कुछ टिप्पणी इंग्लेण्डके निष्पक्ष डाक्टरी अखबार 'लांसेट'के १६ जनवरी १९६० के अङ्कमें पृष्ठ १५७ पर छपी है। १९३५ के वर्षमें अस्पतालमें छूत और कीटाणुसे फैलनेवाले रोगोंसे आक्रान्त ३०० रोगी अस्पतालमें प्रविष्ट हुए थे, उनमेंसे लगभग दो सौ मर गये थे। सन् ५७ में ऐसे रोगियोंकी संख्या दुगुनी हो गयी जिनमें ढाई सौ लगभग मर गये। आधुनिक इलाजसे पाँच रोगीमें केवल तीनके अनुपातसे बचाया जा सका, जब कि सल्फायुगके पहले पाँचमें दो बचते थे, परंतु पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन और एण्टि बायोटिकके उपयोगसे मृत्युका भाव बढ़ा ही है। दवाओंसे रोग कितना घटा ?

अबसे छब्बीस वर्ष पहले इन्फ्लुएंजा फैलानेवाले विषकी खोज हुई थी। १९१८ में जोरोंसे इन्फ्लुएंजा फैला था और अभी कुछ वर्ष पहले उस रोगके कीटाणुओंने अनेक वैज्ञानिकोंके सर-तोड़ आविष्कारोंके होते हुए सारी दुनियाका गोल चक्कर लगाकर अपनी रजतजयंती—सिलवर जुबिली मनायी, वैज्ञानिक ताकते ही रह गये। १७ अक्टूबर १९५९ के डाक्टरी अखबार 'लांसेट'में ऐसी टिप्पणी छपी थी।

हमारे देशमें जहाँ खूब धूप बरसती है, जहाँ कि सूर्य दादाकी कृपासे क्षयरोगके कीटाणु निर्वंश हो जाने चाहिये, वहाँ इन कीटाणुओंकी जबरदस्त हिम्मत बढ़ रही है; क्योंकि इनके निरोधकी देशव्यापी योजना हो रही है बी-सी-जी टीका अभियानद्वारा, एवं नये-नये अस्पताल खोलकर इन कीटाणुओंको पाला, विकसित किया जा रहा है। जो बीज बोओगे, वही उगेगा, फलेगा, सूर्य दादा क्या करें। अब तो क्षयनिरोधके लिये दुगुनी शक्तिवाले इंजेक्शन दिये जा रहे हैं, अजी चाहे तिगुने भी दो, जितना बीज बोओगे उतनी अधिक फसल होगी। रॉयल विक्टोरिया हास्पिटल, एडिनबर्ग, स्काटलेंड के फिजिशियन सुप्रेण्टेण्डेण्ड डॉ० जे. डी. रॉस, एम. बी. सी. एच. बी. एफ. आर. सी. पी. के ऐसे वचन डॉक्टरी अखबार 'लांसेट'के २२ नवंबर १९५८ के अङ्कमें पृष्ठ ११२५ में छपे थे। उन्होंने कहा है कि सब दवाइयोंका असर जहरीला होता है और उनकी प्रतिक्रिया शरीरपर कम या अधिक परिणाममें घातक होती है।

'It is not unlikely that the proportion of new patients infected with doubly resistant organisms will show an increase in the future. If so even the triple standard drug regime may prove hazardous and a reorientation of our approach to treatment may be necessary. All of the standard drugs produce toxic effects in greater or lesser degree and hypersensitivity reactions are frequent.'

(क्रमशः)

आध्यात्मिक स्वराज्य

जहाँ न होती 'कुंठा' किंचित्,
वह वैकुंठ कहाता।
इच्छाओंका नाश मोक्ष है,
शास्त्र हमें बतलाता॥

सांसारिक बन्धनसे मुक्ती
परमधाम-पद प्यारा।
आध्यात्मिक स्वराज्यमें केवल
है कल्याण हमारा॥

—गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'

नर्तकीकी नैतिकता

(लेखक—श्रीशान्तिचन्द्रजी मेहता एम्०ए०, एल्-एल्० बी०)

छुम् छन् न न न, छुम् छन न न न ……… कोशा आज पूर्ण भावुकता और शक्तियोंकी सजगताके साथ पुष्प-नृत्य कर रही थी, अपने प्रशंसकोंके विशाल समारोहमें नहीं, सिर्फ अपने प्रेमी स्थूलिभद्रके सामने। किंतु स्थूलिभद्र तो आज वे स्थूलिभद्र नहीं थे, जो कोशाके प्रति आकर्षित हों, वे तो उस दायरेको तोड़कर आज मुनि बन चुके थे और अपने व्रतकी कठोर कसौटीके लिये अपनी ही पूर्वप्रेमिका कोशा-नर्तकीके भवनमें चातुर्मास कर ठहरे हुए थे।

'प्रिय ! तुम्हें यह पुष्प-नृत्य तो बहुत ही पसंद था न ?'

मुनि ध्यानस्थ थे, पर कोशा कहती ही रही अपनी प्रेम-व्यथा और थककर बोली 'क्या तुम अपनी कोशासे एक शब्द भी नहीं बोलना चाहते ? देखो तो, तुम्हारे बिना मैंने अपना क्या हाल बना लिया है ?'

मुनिने नेत्र खोले और कहा—'कोशा ! इस छिछले मोहके घेरेको काटकर सारे जगत्से प्रेम करना सीखो। उस जीवनमें बड़ा आनन्द है, वह नैतिकताका जीवन।'

और स्थूलिभद्र मुनिके समागमसे कोशा-नर्तकी नर्तकी न रही, एक साधिका बन गयी।

× × × × ×

'गुरुदेव ! आपकी आज्ञाका मैंने सर्वांशतः पालन किया है और मेरा नम्र विचार है कि उस अनुकूल आपदामें भी मैं आपकी कृपासे स्थिर रहा हूँ'' स्थूलिभद्रने हाथ जोड़कर चातुर्मास समाप्तिपर गुरुकी सेवामें उपस्थित हो उनसे निवेदन किया।

गुरु अपने स्थूलिभद्रको जानते थे, गद्गद होकर बोले—'शिष्य ! तेरी साधनापर मुझे गर्व है।'

गुरुके यह कहते ही दूसरा शिष्य विशाखभद्र ईर्ष्यासे जलकर चीख उठा 'एक अबला नर्तकीके यहाँ चातुर्मास कर स्थूलिभद्र तो गर्वका कारण हो गया और बर्बर सिंहों एवं कालनागोंकी भयंकरताको भी शान्त कर देनेवाला मैं कुछ भी नहीं।'

गुरुने भी कुछ उत्तेजित होकर कहा—"हाँ कुछ भी नहीं, 'अनुकूल आपदा' को जीतना अधिक कठिन होता है।"

'आगामी चातुर्मास मैं भी किसी नर्तकीके भवनमें ही करूँगा।' यों कहता हुआ विशाखभद्र वहाँसे सरोष चला गया।

× × × ×

'नर्तकी ! हम तुम्हारे भवनमें चातुर्मासकी आज्ञा चाहते हैं'—दैवयोगसे मुनि विशाखभद्र कोशाके ही द्वारपर मुखपर अभिमानसे खिंची रेखाओंके साथ खड़े थे।

'चातुर्मास और मेरे भवनमें ……?' कोशा समझ गयी थी कि ये मुनि क्यों आये हैं। स्थूलिभद्रकी शिष्या जो हो चुकी थी। बोली—'मेरा भवन तो वासनाका घर है। मुने! आप स्थिर तो रह सकेंगे न ?'

'वासना …… हः हः हः मैंने बर्बर सिंहों एवं कालनागोंको स्थिर कर दिया है।'

मुनिको ठहराकर कोशाने उन्हें कसौटीपर कसना चाहा और इसलिये एक दिन पूर्णिमाकी चाँदनी, जब सुधा बनकर छिटक रही थी, कोशाने वीणापर मदमाती तान छेड़ दी। मुनिने सुना और क्रोधित हो उठे। आकर कहने लगे—'सौन्दर्यके अभिमानमें डूबी हुई नर्तकी ! मुनिके सम्पर्कको भी भूल रही है। तेरी भी तो अपनी नैतिकता होनी चाहिये।'

'मैंने भूल की है, क्षमा करें। भविष्यमें ऐसा कभी नहीं होगा देव !' कोशाने वास्तवमें मुनिकी साधनापर विश्वास करते हुए अपना खेद प्रकट किया।

किंतु अपने कक्षमें आनेपर मुनि पुनः ध्यानस्थ न हो सके। स्थूल साधनाका जामा फटने लगा—'कोशा'' कितनी सुन्दर लगती थी जब वह गा रही थी …… मैंने निष्ठुरता की है उसे रोककर …… उसके आनन्दको कुचल डालनेका मुझे क्या अधिकार था …… मुझे उससे क्षमा माँगनी चाहिये अभी इसी समय ………।'

भावावेशमें विशाखभद्र कोशाके शयन-कक्षके द्वारपर आ खड़े हुए। वह सो गयी थी। खिड़कीसे आता हुआ चन्द्र-प्रकाश उसके सरल मुखको सुन्दरतम बना रहा था। मुनि ठिठक गये। देखते रहे, उसे जगाकर क्षमा माँगनेका उन्हें भान ही न रहा।

पौ फटनेने उन्हें चौंकाया और अतृप्त प्यास लेकर वे लौट पड़े। पर अतृप्तको शान्ति कहाँ ! यौवन, रूप और

चाँदनी……….'मुनि बुरी तरहसे बहक गये थे। बेचैन होकर फिरसे रुपहली रातका इंतजार करने लगे।

× × × ×

कोशा'……'मुनि नर्तकीकी शय्यापर बैठे थे और वही पिछली रातवाला दृश्य सामने था। हड़बड़ाकर कोशा उठ खड़ी हुई और उन मुनिके वासनातुर भीषण मुखको देखकर सहम गयी। मुँहसे बोल तक न निकल सका। 'सुन्दरि! भय न करो, मुझे अपने प्रेमकी भिक्षा दे दो……।'

'कोशा प्रकृतिस्थ होकर बोली 'यह मैं क्या देख रही हूँ, मुनि? कल और आजमें इतना अन्तर? क्या तुम्हारी साधनाकी यही गहराई थी?'

'साधना'……'हः हः हः मैं भूलमें था। यौवन, रूप, चाँदनी–मैं तो तुम्हारा दास होना चाहता हूँ, कोशा?'

पागलको समझानेके लिये कोशाने सोचा, बिना किसी चालके काम नहीं चलेगा, वह बोली––'तुम्हें अपने प्रेमका पहले सबूत देना होगा।' 'मैं तैयार हूँ' मुनिकी तुरंत याचना थी।

'तो यहाँसे सौ कोस दूर नैपालका राजा रोज प्रातः याचकोंको रत्न-कम्बलका दान करता है, मुझे भी वैसा ही एक चाहिये।' सुनते ही मुनि उसी समय रात्रिकी नीरवतामें ही चल पड़े।

× × × ×

बीहड़ वनों, कँटीले रास्तों एवं कुदरती भयंकरताओंको सहन करते हुए अपने महीनोंके श्रमको लेकर जब विशाखभद्रने रत्न-कम्बल कोशाके हाथोंमें दिया, तब उसने स्नानोपरान्त उससे पाँव पोंछकर उसे कीचड़में पटक दिया।

यह देखते ही वे फुफकार उठे 'मेरे प्रेम और रोमाञ्चक कष्टोंके फलका यह दुरुपयोग कर डाला तुमने नर्तकी?'

नर्तकीने किंचित् हास्यके साथ कहा––'रत्न-कम्बलका तनिक-सा परिश्रम लुट जानेपर इतना विक्षोभ? वाह मुनि, इसी नैतिकताके अभिमानपर तुमने चातुर्मास किया था? स्थूलिभद्रकी महानता मेरे लिये आज और भी ऊँची हो गयी है?'

चोटपर चोटके साथ स्थूलिभद्रका नाम। विशाखभद्र लज्जासे आरक्त हो उठे और सहज सरलतासे बोले 'तुम स्थूलिभद्रको कैसे जानती हो?'

'पहले मैं उनकी प्रेमिका थी और गत चातुर्माससे उनकी शिष्या हूँ।' कोशाके मुखपर एक तरल आभा खेल रही थी और विशाखभद्र धीरे-धीरे कह रहा था—'अब तो मुझे शिष्य बना लो, कोशा! ताकि स्थूलिभद्रकी शिष्याका शिष्य होकर मैं प्रायश्चित्त कर सकूँ। नैतिकता किसीकी थाती नहीं; वह तो भावनाकी सहेली होती है।'

सुखी होनेका रहस्य

(लेखक––श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

सुखी कौन?

अपूर्णत्वकी अनुभूतिके रहते कोई भी तो नहीं।

अपूर्णत्वकी अनुभूति क्यों?

अहंकारके कारण।

अहंकारके उदय होते ही जैसे ही कोई किसीसे अपनेको पृथक् समझता है, वैसे ही अपूर्णत्वकी अनुभूति उसे घेर लेती है और वह कामनाओंकी भूल-भुलैयामें फँसकर दुखी हो जाता है।

बात यह है कि सब परस्पर पूरक हैं। अतः सब मिलकर समग्रता लिये हुए है—पूर्ण है। पृथक्त्व-प्रतीति ही अपूर्णत्व है—दुःख है।

और भीतरसें।

एक भी अनेक हैं और ऐसे ही तत्त्वतः अनेक भी एक ही है।

अतः तत्त्व-दृष्टिसे सबमें तो पूर्णत्व है ही, सबके कण-कणमें भी पूर्णत्व समाया हुआ है। अपूर्णत्व तो कहीं किनका भर भी है ही नहीं। सचमुच नितान्त अस्तित्व-विहीन ही है वह तो।

हाँ, केवल प्रतीति भर हो रही है अहंकार––मायाजनित मिथ्या अहंकारके कारण इस दुःखमूल अपूर्णत्वकी। भय छोड़ दीजिये इस झूठे होनेका और अपने सत्यस्वरूपमें नित्य स्थित रहकर झूलिये नित्य-निरन्तर सुख-ही-सुखके अनन्त आनन्दमय हिंडोलेमें!

सुख-दुःखका मर्म

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

सुखमेंसे संतोष निकाल लो और दुःखमें संतोष मिला दो; फिर देखो, दोनोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

सुख और दुःख इसीलिये कल्पित हैं कि वे एक ही मनोवृत्तिके घटने और बढ़नेसे इन दोनों परस्पर-विरुद्ध शब्दोंकी संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।

दस हजार रुपयोंमेंसे एक हजार रुपयोंका नुकसान हो गया तो नौ हजारके अस्तित्वसे अपने आपको सुखी भी मान सकते हैं और एक हजारके घट जानेसे दुखी भी मान सकते हैं।

संत लोग निन्दकोंको देखकर प्रसन्न होते हैं और सामान्यजनोंको दुःख होता है।

साधु कहते हैं—

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन पानी बिना, निर्मल करे सुभाय॥

एक संत तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दकको मातासे भी बढ़कर समझना चाहिये; क्योंकि माता तो हाथसे मैला साफ करती है और निन्दक मुँहसे साफ करता है। अपना मुँह बिगाड़ता है और हमारे दोष दूर करता है।

मुझे एक व्यक्तिने क्रोधमें कहा, 'साले, मानता नहीं?' मैंने कहा, 'मैं तुम्हारी धर्मपत्नीको बहन ही समझता हूँ'—यह सुख हो गया और 'क्या मेरी बहनको पत्नी समझते हो?'—ऐसा कहा तो दुःख हो गया।

एक ही परिस्थितिमें मनःस्थितिके परिवर्तनसे सुख-दुःखका अनुभव किया जा सकता है। धर्मात्मा हर हालतमें सुखी इसीलिये रहते हैं कि वे सभी परिस्थितियोंको या तो अपने कर्मोंका फल समझते हैं या भगवान्की मङ्गलमयी लीला। इसलिये परेशान नहीं होते।

समुद्र वर्षाकी धाराओंसे नहीं घबराता; क्योंकि वे उसीसे पैदा हुई हैं—उसीका स्वरूप हैं और उसके अंदर मिल जानेपर कुछ नहीं रहतीं—इसी प्रकार मनके विरोध करनेसे तथा मनको भगवान्में लगा देनेसे सुख-दुःखका कोई भेद नहीं रहता। भूखके कष्टके बिना खानेका आनन्द नहीं आ सकता। इसी तरह सुखके स्वादको चखनेके लिये दुःख अत्यन्त आवश्यक है। बम्बई-का सौन्दर्य गटरके अस्तित्वपर ही निर्भर है। शरीरका सौन्दर्य भी आँख, कान और नाक आदि मलद्वारोंके अस्तित्वपर ही अवलम्बित है, इसलिये यह समझकर सदानन्दी रहना चाहिये कि यहाँ जो भी परिस्थितियाँ दिखायी दे रही हैं, वे सब या तो विश्व-व्यवस्थाके लिये आवश्यक हैं या भगवान्की लीला हैं या अज्ञानके द्वारा प्रतिभासित हैं। भक्तिमार्गसे आनन्द, योगमार्गसे शान्ति और ज्ञानमार्गसे मुक्ति प्राप्त करनेके बाद सुख-दुःखकी मनःस्थितियोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। एक पैर मनपर रक्खा तो दूसरा पैर भगवान्के पास या मोक्षमें ही पहुँच जायगा, जहाँ सुख-दुःख दोनों समान आनन्दरूपमें प्रसिद्ध हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कृतज्ञता

मोहनलाल बड़े गरीब घरका लड़का था। उसके माता-पिता मर गये थे। उसकी जातिके ही एक धनी सज्जनने बच्चेको अनाथ समझकर अपने पास रख लिया। नौकरकी भाँति नहीं, बच्चेकी भाँति। मोहनलाल उनकी सभी प्रकारकी सेवा बड़ी प्रसन्नतासे करता और वे उसे बड़े प्यार-दुलारसे पढ़ाते, खाते-पिलाते, सार-सँभाल रखते। बड़ा होनेपर उसे एक कपड़ेकी दूकान करवा दी। समयकी बात, कुछ समय बाद उन सज्जनकी मृत्यु हो गयी। विधवा पत्नी रही और एक लड़का श्यामलाल रहा। लड़का सुशील था। उसका विवाह हो चुका था। वह अपना कारोबार सम्हालता था। गोदाममें माल रहता। एक दिन रातको अकस्मात् गोदाममें आग लग गयी। उस समय बहुत कम लोग बीमा कराते थे। साढ़े तीन लाखका गोदाममें माल था। दमकल देरसे पहुँची। गोदामका सारा माल देखते-देखते जलकर खाक हो गया। डेढ़ लाख रुपये तो उनके घरके थे। दो लाख लोगोंके देने थे। कुछ और देना-पावना था। सब मिलाकर लगभग डेढ़ लाख रुपये देने रह गये। इसी बीच श्यामलालको चिन्ताके मारे टी०बी०की बीमारी हो गयी और दो ही महीनेमें उसका देहावसान हो गया। बच रही उसकी विधवा माता तथा युवती वधू! तीन महीनेके अंदर ही यह सब अनर्थ हो गया!

मोहनलाल किसी कामसे देश गया था, वहाँ उसको संग्रहणी हो गयी। इससे वह विशेष अशक्त हो जानेके कारण कलकत्ते आया नहीं। कुछ अच्छा होनेपर आया और उसने श्यामलालकी गोदाममें आग लगने तथा उसके देहान्त हो जानेका समाचार सुना तो वह सन्न रह गया। काटो तो खून नहीं! वह तुरंत श्यामलालके घर पहुँचा और माँकी गोदमें पड़कर रोने लगा। उसको बड़ा पश्चात्ताप इस बातका था कि इस सारी अनर्थमयी दुर्घटनाके समय वह दूर रहा और जान भी नहीं पाया कि क्या हो गया।

उसकी दूकान अच्छी चल निकली थी। विवाह आदि भी हो गये थे। उसके पास साठ-सत्तर हजारकी पूँजी भी हो गयी थी। उसने रोकर कहा—'माताजी! श्यामलाल भाई तो जाता रहा पर तुम्हारा यह अभागा छोटा बेटा मोहनिया अभी जीवित है। श्यामलालकी पूर्ति तो मैं नहीं कर सकता पर मैं जबतक जीता हूँ, तुमको जरा भी कष्ट नहीं होगा। मेरे पास अपना कुछ भी नहीं है। मेरे शरीरकी प्रत्येक खूनकी बूँद स्वर्गीय पिताजीकी देन है। मैं उनका बदला सौ जन्ममें भी नहीं चुका सकता। चुकानेकी कल्पना भी नहीं करता। मैं बड़ा अभागा हूँ जो तुमको और पूजनीया भाभीजी—भाई श्यामलालकी पत्नीको इस अवस्थामें देख रहा हूँ। मैं अब यहीं तुम्हारे चरणोंमें रहूँगा। सेवा करूँगा। तुम्हारी छोटी बहू तुम्हारी तथा भाभीकी चाकरी करेगी। जो कुछ रूखा-सूखा भगवान् देगा, सब मिलकर खायेंगे। मैं कमाकर सारा ऋण चुकाऊँगा, यह नहीं कि यह सब मैं पिताजीके उपकारका बदला चुकानेके लिये करूँगा। बदलेका तो सवाल ही नहीं, पर मैं ऐसा किये बिना रह नहीं सकता। अतः अपने सुखके लिये ही करूँगा।' यों कहकर वह फुफक-फुफककर रोने लगा। वे दोनों सास-बहू भी रोने लगीं, मोहनलालकी स्त्री भी रो रही थी। श्यामलालकी माताने मोहनलालको हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछे।

तबसे मोहनलाल और उसकी स्त्री खरीदे गुलामकी तरह उनकी सेवामें रहने लगे। उन दोनोंके सद्व्यवहारसे वे अपना दुःख बहुत कुछ भूल गयीं। मोहनलालकी कीर्ति फैली, इज्जत बढ़ी तथा साथ ही कारोबार भी। दो ही सालमें श्यामलालका सारा ऋण व्याजसमेत चुका दिया गया। अपनी दूकानका नाम भी पलटकर उनका कर दिया तथा दोनों पति-पत्नीने दोनों सास-बहुओंकी निर्दोष सेवामें लगे रहकर अपना सारा जीवन बिताया। मोहनलालके एक लड़का था, उसको श्यामलालकी बहूको गोद दे दिया। अपना नाम मिटाकर मोहनलालने अपने धर्मपिता तथा भाई श्यामलालका नाम वंशपरम्परामें चलाया। धन्य!

—सीताराम गुप्त

(२)

आदर्श चित्रों और वाक्योंका प्रभाव

आदरणीय शम्भूसिंहजी कौशिक और मैं निमाड़ क्षेत्रका भ्रमण कर रहे थे। एक दिन हमें एक अध्यापक महोदयने अपने घर निमन्त्रित किया। वह दिन रविवारका था। हम

दोनों उनके घर गये। बैठकमें हमने महापुरुषोंके चित्र और वेदवाक्योंके बोर्ड लगे हुए देखे तो मन प्रसन्न हो उठा। कुछ देर इधर-उधरकी बात होती रही तो वे सज्जन कुछ फल लेकर आये, कारण हमें उपवास था। हमसे उन्होंने फलाहार करनेका आग्रह किया, तो 'कौशिक'जीने उन्हें भी फलाहार करनेका कहा।

इतनेमें ही उनका ९ वर्षीय पुत्र वहाँ आ गया। उसने कौशिकजीका आग्रह सुना तो दीवालकी ओर इशारा करके वह अपने पितासे बोला, 'दादा! अपने यहाँ लिखा है, जो अकेला खाता है वह चोर है। इसलिये ये अकेले नहीं खायेंगे, ये चोर थोड़े ही हैं।'

हमने उधर दीवालकी तरफ देखा, वहाँपर बोर्ड लगा था—

'केवलाघो भवति केवलादी।'

(जो अकेला खाता है वह चोर है।)

अनायास ही हमारे दिमागमें आदर्श चित्रों एवं आदर्श वाक्योंके लिखने, लगाने एवं निरन्तर उस वातावरणमें पलनेवालोंपर उनका क्या प्रभाव होता है, यह समझमें आ गया; क्योंकि प्रत्यक्षको प्रमाणकी आवश्यकता ही क्या है।

—दुर्गाशंकर त्रिवेदी

(३)

जरासे कुसंग, गंदे पोस्टर और सिनेमाका दुष्परिणाम

छः साल पहलेकी बात है। मैं·····में पढ़ता था। बी० एस्-सी० फाइनलकी तैयारी कर रहा था। एक दिन दुर्भाग्यवश एक छात्र-मित्रके घर चला गया। वे सिनेमाके शौकीन थे। मैं अबतक कभी सिनेमामें नहीं गया था, उस ओर न मेरा कभी ध्यान गया था, न मेरी रुचि ही थी। पढ़नेमें ही मन लगा रहता था। इसीसे मैं अबतक सदा प्रथम श्रेणीमें ही उत्तीर्ण होता रहा। उन मित्रने मुझको साथ ले जाकर पहले तो कई ऐसे पोस्टर दिखलाये जिनमें सिनेमा-तारिकाओंके प्रायः नग्न-से चित्र थे। फिर लौटकर दो-चार सिनेमासम्बन्धी पत्र दिखलाये, जिनमें बहुत-सी तरुणी अभिनेत्रियोंके विविध भाव-भङ्गिमाओंके चित्र थे और उनका वर्णन था। तदनन्तर उन्होंने सिनेमाकी मौजका वर्णन किया और गंदी बातें न मालूम क्या-क्या कह गये। मैं ऊपरसे 'ना ना' करता रहा, पर मेरा मन उन बातोंको सुननेके लिये खिंच रहा था। मैं उस दिन लौट तो आया, पर मेरा मन अब काबूमें नहीं रहा। मैं दूसरे ही दिन सिनेमा पहुँचा। ऊँचे दर्जेका टिकट लिया और देखने जा बैठा। उसी दिनसे मेरा जीवन बदल गया। अब तो मैं रोज सिनेमा देखने लगा। किसी दिन नहीं जा पाता तो बड़ी बेचैनी रहती। एक दिनकी बात, मैं संध्याके समय देखने गया था। मेरे बगलमें ही एक अपरिचित सुन्दरी तरुणी बैठी थी। पीछे पता लगा कि वह भी एक कालेजकी छात्रा थी। उस दिन सिनेमामें कुछ ऐसा दृश्य था कि उसे देखकर मैं पागल-सा हो गया। मेरा मन बेकाबू हो गया। यही दशा उस तरुणी छात्राकी भी हुई। खेल समाप्त होते ही परस्पर संकेत हुआ और हम दोनों चल दिये किसी अज्ञात स्थानको। कहाँ गये, क्या किया। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। पर हम दोनोंका ही पतन हो गया। पढ़ाई-लिखाई सारी चौपट हो गयी। मैं परीक्षामें फेल हो गया। हमारी सिनेमाकी प्रवृत्ति और साथ-ही-साथ पाप-सरितामें बहनेकी वृत्ति बढ़ती गयी। संक्षेपमें—परिणाम यह हुआ कि उस कुमारी तरुणीको इसी वर्ष टी-बीकी बीमारी हो गयी और वह माता-पिताको रुलाकर चल बसी! मैं जिंदा तो रहा पर मेरा चौमुखा पतन हो गया। मैं शराबी-कबाबी भी हो गया। चोर भी बन गया। बड़ी बुरी हालत हुई। दूसरी बार परीक्षा दी उसमें भी फेल हो गया!!

हमारे एक मामाजी हैं। वे बड़े बुद्धिमान् हैं। उन्होंने मेरी बीमारीको पहचाना और गत वर्ष जुलाईसे वे मेरी गतिविधिपर विशेष ध्यान रखने लगे। बड़े प्यारसे वे मुझे कुपथसे हटानेकी चेष्टा करने लगे। फलतः मेरा सिनेमा जाना कुछ कम हुआ। फिर वे मुझे एक दिन·····के पास ले गये। उन्होंने मुझको बहुत अच्छी तरह समझाकर मुझसे प्रतिज्ञा करवायी कि मैं अबसे सिनेमा नहीं देखूँगा, शराब आदिका स्पर्श भी नहीं करूँगा। फिर उन्होंने सिनेमासे होनेवाली बुराइयोंको बतलानेवाली एक किताब पढ़नेको दी। मैं तो स्वयं ही सिनेमाकी बुराइयोंका शिकार था। इस पुस्तिकासे मुझे बड़ी सहायता मिली। मेरे पिताजीने भी मुझको डाँटा-फटकारा नहीं, पर बड़े स्नेहसे रो-रोकर समझाया। भगवत्कृपासे तबसे मेरी प्रतिज्ञा निभ रही है। मैंने इस कुमार्गके क्षेत्रमें पड़कर देखा, मेरे-जैसे हजारों युवक-युवतियोंका सर्वनाश हो रहा है। वे यह मीठा विष पीकर जर्जरित हुए जा रहे हैं। मैं भगवान्‌से प्रार्थना करता हूँ कि वे सबको सुबुद्धि दें। सरकारसे भी मेरी प्रार्थना है कि मेरे-जैसे लाखों तरुण-तरुणियोंकी जीवन-रक्षा तथा चरित्र-रक्षाके लिये बहुत शीघ्र ही या तो देशका सर्वनाश करनेवाले

सिनेमा-संस्थाका उन्मूलन कर दें या इसमें पर्याप्त सुधार करके इसे देशोपकारी बना दें। पर जबतक यह प्रचुर धन पैदा करनेवाली चीज रहेगी और इसमें तरुणी स्त्रियाँ भाग लेंगी तबतक सुधार होना बड़ा कठिन है।*

—एक मुक्तभोगी दुखी छात्र

(४)

भगवान्‌का वरदान

'वह किधर गये' 'वह किधर गये' ये शब्द, डाक्टरोंके द्वारा मरी हुई घोषित की गयी मेरी माताने चौका लगी हुई जमीनपर पड़े-पड़े आँखें खोलकर दाहिने और बाँयें सिर घुमाकर देखते हुए कहा। मेरी दादीने, जो पास ही बैठी रो रही थी, प्रसन्न तथा विस्मित होकर पूछा 'बीनणी! किसे पूछ रही हो? तबीयत कैसी है?' माताजीने कहा—'श्रीकृष्ण-अर्जुन किधर गये?' दादीजीने कहा—'श्रीकृष्ण-अर्जुन यहाँ कहाँ हैं? तबीयत तो ठीक है? बोलो मत, कमजोरी बढ़ेगी।' उन्होंने (दादीजीने) समझा, प्रलाप है। पुनर्जीवनकी खुशीमें दादीजीने पुण्य संकल्प किया और मेरे पिताजीको मर्दानेमें सूचना दी गयी। और्ध्वदैहिककी सब तैयारी बंद की गयी और डॉक्टर तथा वैद्यने, जो बाहर मर्दानेमें थे, जनानेमें जाकर बीमार माताजीको देखा तो हृदयकी गति ठीक पाने तथा पुनः जीवित होनेपर आश्चर्य करने लगे। मैं और मेरे दो भाई तथा एक बहन एक कमरेमें पड़े रो रहे थे, सो हम भी खुशीमें उछलने-कूदने लगे। घंटे-दो-घंटे सुस्तानेके बाद मेरी माताजीने घरकी सब नौकरानियोंके सामने मेरी दादीसे कहना शुरू किया "भाभीसा! मुझे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके साक्षात् दर्शन हुए हैं। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं यहाँ मर गयी हूँ और बादलोंमें चल रही हूँ। चारों ओर धुआँधार-सा हो रहा है। थोड़ी देरमें बादल फट गये और मैं हरी-हरी घाससे ढकी जमीनपर चलने लगी। एक पगडंडी दिखायी दी और उसपर चलने लगी। कुछ दूर चलनेपर एक शहरका परकोटा दिखायी दिया और यह पगडंडी उस परकोटाके दरवाजेकी तरफ जाती दिखायी दी। दरवाजा भी दिखायी दिया। बहुत भूख होनेके कारण कुछ खानेके अभिप्रायसे मैं आगे बढ़ी, पर साथ ही विचार आया कि 'पैसे तो पास हैं नहीं, कोई कैसे देगा; खैर, किसीसे माँगकर ही थोड़ा खाऊँगी। परंतु बड़े घरकी स्त्री होकर कैसे माँगूँगी। माँगा तो नहीं जायगा।' इस उधेड़बुनमें चली जा रही थी कि अचानक रास्तेके बीच दो साधु एक सिंहको साथ लिये आकर खड़े हो गये। मैं सिंहको देखकर डर गयी और ठिठककर खड़ी रह गयी। श्याममूर्तिने मुस्कुराते हुए कहा—'डरै मत, यह सिंह हमारा पालतू है, खायेगा नहीं। तू कहाँ जा रही है?' मैंने प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहा 'मैं दो महीनेसे बीमार थी, मुझे डॉक्टरोंने कुछ खानेको नहीं दिया सो महाराज! मैं बहुत भूखी हूँ। इस शहरमें जाकर कुछ खाऊँगी।' श्यामवर्ण महात्माने कहा, 'यह तो धर्मराजकी पुरी है। वह देख वह पुरद्वारपर बैठे वयोवृद्ध सफेद दाढ़ीवाले धर्मराज हैं। परंतु तुझे अभी वहाँ नहीं जाना है। तेरे बालक अभी छोटे-छोटे हैं, जबतक वे बड़े न हो जायँ तुझे वापस जाना है।' मैंने कहा 'महाराज! मैं तो दो महीनेसे १००–१०० दस्त रोज होनेसे बहुत दुखी हो गयी हूँ। मैं अब वापस नहीं जाऊँगी।' श्यामवर्ण महात्माने फिर कहा 'तेरे बालक अभी छोटे हैं और तेरा समय भी अभी नहीं आया है। तू जा, तुझे अब दस्तोंकी बीमारी नहीं होगी और समयपर तेरी सहज मृत्यु होगी। तू हठ मत कर, तू जानती है हम कौन हैं?' मैंने कहा 'महाराज! मैं तो नहीं जानती।' दूसरे महात्माने कहा 'ये तो श्रीकृष्ण हैं और मैं अर्जुन हूँ।' इतना कहते ही वे दोनों आँखोंसे ओझल हो गये और मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं नीचे गिर रही हूँ। आँखें खुलीं तो आप सामने दिखायी दीं। दर्शनोंसे वञ्चित होनेके कारण मैंने पूछा था कि 'वह कहाँ गये।"

---

* उपर्युक्त पत्रको संक्षिप्तरूपमें छापा गया है। नाम-पते भी नहीं छापे जा रहे हैं। सिनेमाका क्या दुष्परिणाम होता है, इसका यह एक छोटा-सा उदाहरण है। सिनेमा[illegible] कितने प्रकारके और अनर्थ हो रहे हैं, उनकी तो चर्चा ही यहाँ नहीं है। सिनेमाके द्वारा होनेवाले सर्वनाशकी कोई सीमा नहीं है। यह देशके लिये एक भयानक अभिशाप बन रहा है। पता नहीं, इसका क्या भीषण परिणाम होगा। अवश्य ही सिनेमाके बंद होनेकी बात सोचना वर्तमान वातावरणमें एक व्यर्थ चिन्तन और सिनेमाका विरोध करना भी अरण्य-रोदन-सा ही होगा। परंतु यह उपेक्षाका विषय भी कदापि नहीं है। हमारे पास ऐसे अनेक मुक्तभोगियोंके पत्र आते हैं, जिन्हें पढ़कर हृदय काँप उठता है। सम्मान्य संत श्रीविनोबाजीने गंदे पोस्टरोंके विरुद्ध आन्दोलन चलाया है। हम चाहते हैं वह शीघ्र सफल हो और सरकार कानून बनाकर उनका प्रचार बंद कर दे। साथ ही सिनेमासे होनेवाले भयानक दुष्परिणामपर भी गम्भीरतासे विचार करके कुछ ठोस उपाय सोचे।

—सम्पादक

तबसे उन्हें दस्तोंका रोग आजीवन नहीं हुआ। इस घटनाके समय मैं कोई पाँच वर्षका था, परंतु मेरी माताकी मृत्यु होना तथा पुनः जीवित होना साफ-साफ याद है। यह घटना मेरी दादी भी हमें कथाके रूपमें कहा करती थी और मेरी माताजी भी जब हम कौतूहलपूर्वक पूछते तो कहा करती थी। इस घटनाके तीस वर्ष पीछे दो-तीन दिनके हल्केसे बुखार होनेपर बात करते-करते माताजीकी आँखें फिर गयीं और इहलीला समाप्त हुई। उनके पति, पुत्र, पुत्रवधू, पोते, पोती, पोतेकी बहू इत्यादि रो रहे थे—डॉक्टर कह रहे थे हार्ट फेल हो गया; परंतु भगवान् अपना वरदान सफल कर मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे थे। ये राजस्थानके प्रसिद्ध वीर, देशभक्त तथा भगवद्भक्त श्रीरावगोपालसिंहजी* खरवा जि० अजमेरकी छोटी बहन थीं और खँडेला (जयपुर)के राजा सज्जनसिंहजीकी धर्मपत्नी थीं—बोलो श्रीराधाकृष्णकी जय। —श्रीजैतसिंह खंडेलावाला

(५)

मानवता

एस. एस. सी. का रिजल्ट निकला। उस दिन हाथमें एक छोटी-सी कागजकी पुर्जी लिये वह ट्रक-ड्राइवर मेरे पास आया और बोला, 'भाई ! जरा यह नम्बर तो देख दो।'

मैंने पुर्जीमें लिखा नम्बर पढ़ा और राजकोट केन्द्र देखा। अखबारके पन्ने उलटकर नम्बर खोजने लगा। वह ट्रक-ड्राइवर बड़ी उत्सुक दृष्टिसे अपलक मेरी ओर देख रहा था। मैंने उसको देखा और मैं पूछ बैठा—'किसका नम्बर है ?'

आतुरता नहीं रोक सकता हो—इस भावसे उसने कहा—'तुम पहले नम्बर देख दो, पीछे मैं सब बताता हूँ।'

मैं इस ट्रक-ड्राइवरसे परिचित हूँ, यह मुझको जानता है। हम दोनों एक ही गाँवके निवासी हैं। मैंने पढ़कर डाक-विभागमें नौकरी कर ली। और इसने कुछ बड़े होनेपर जिम्मेवारीका खयाल आनेसे किसी प्राइवेट ट्रक कम्पनीमें काम करना शुरू कर दिया। अकेला फक्कड़ है, न कोई आगे, न पीछे। खाता-पीता है, और जितना कमाता है, उतनेमें मौजसे जिंदगी बिताता है।

वह बहुत खुश था, उसके चेहरेपर मनके आनन्दकी रेखाएँ स्पष्ट दीख रही थीं। उसने मुझे जो नम्बर बताया था, वह नम्बर एस. एस. सी. की परीक्षामें उत्तीर्ण छपा था। मैंने उससे कहा कि 'वह उत्तीर्ण हो गया है'—सुनते ही उसने गद्गद होकर कहा—

'आखिर प्रभुने उसकी ओर कृपादृष्टि की तो सही भाई !' और उसकी आँखें डबडबा आयीं।

'तू किसकी बात कर रहा है, ड्राइवर ?' मैंने पूछा। और वह भूतकालकी याद करके कहने लगा—'चार वर्ष पहले एक दुर्घटनाका केस हुआ था न ? उस दुर्घटनाके मामलेमें मैं निर्दोष छूट गया था भाई ! परंतु मुझको उसी समय यह मालूम हो गया था कि जो आदमी उस दुर्घटनामें मारा गया था, वह बेचारा एक मिलमें मजदूरी करके मुश्किलसे अपना गुजरान चलाता था। उसकी साइकल ताँगे और ट्रकके बीचमें आ गयी थी—इसीसे उसकी मृत्यु हो गयी। इस मामलेमें मैं निर्दोष छूट गया था पर जब मुझे यह पता लगा कि इसका एक लड़का अंग्रेजी तीसरेमें पास होकर चौथे दर्जेमें आया है और अब उसे पढ़ाई छोड़कर मजदूरीमें लगना पड़ेगा, तब ईश्वरने स्वाभाविक ही मेरे मनमें उसकी मदद करनेकी प्रेरणा की'' 'उजले रंगका वह लड़का था, पर पढ़नेमें बहुत तेज नहीं था, अतएव उसे कहींसे फीसके पैसे मिल जायँ या फीस माफ हो जाय—इसकी सम्भावना नहीं थी। मेरे मनमें आया कि जिसके कोई नहीं है, उसका यह ट्रक-ड्राइवर है।

'मैंने उस लड़केसे कहा—'भाई ! तू निश्चिन्त होकर पढ़ !''' तुझे फीस, पुस्तकें मैं दूँगा, यों चार वर्ष सुख-दुःखसे निकल जायँगे'''उसकी माँ इधर-उधर दल-पीसकर पेट भरती है। भाई ! आज मेरी खुशीका पार नहीं है। मेरा मनोरथ सफल हो गया, क्योंकि वह पास हो गया''' 'इतना कहकर कुछ क्षणोंके लिये वह ट्रक-ड्राइवर कुछ गहरे विचारमें डूब गया ! फिर बोला—'यह सब ईश्वरकी लीला है भाई ! नहीं तो कहाँ मैं, कहाँ दुर्घटनामें मारा गया मिल मजदूर और कहाँ उसका यह मैट्रिकमें पास होनेवाला बच्चा ! निमित्तकी बड़ी बात है भाई'''' (अखण्ड आनन्द)

—'स्नेहाशि

(६)

बच्चीकी बातका असर

मैं सिगरेटका शिकार हो चुका था। मेरे घरके सब लोग मुझे इस आदतके छुड़ानेके लिये लाख-लाख प्रयत्न करते रहे, पर मैं

---

* खरवाके रावसाहब श्रीगोपालसिंहजी बड़े भक्त थे। उनकी मृत्यु भी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करते-करते हुई थी। उस समयके 'कल्याण'में पं० झाबरमल्लजी शर्माद्वारा लिखित उनकी सफल मृत्युका पुण्य विवरण छपा था।—सम्पादक

टस-से-मस नहीं हुआ । मेरी पत्नीतक भी हार गयी । मेरे मित्र भी हार गये, पर मेरा दिल न पिघला । मैंने यह बुरा व्यसन नहीं छोड़ा !

एक दिन मैं संध्याके समय बैठकमें बैठा चुपचाप सिगरेट पी रहा था कि अचानक मेरी लड़की लज्जा कमरेमें आ गयी और मेरी गोदमें बैठकर मेरे गालोंको सहलाती हुई बोली—'पिताजी ! आप सिगरेट क्यों पीते हैं ? मास्टरानीजीने मुझे पढ़ाया है कि जो लोग सिगरेट पीते हैं वे जल्दी मर जाते हैं। आप भी जल्दी मर जायँगे, पिताजी ! आप न पीजिये न।' इतना कहकर वह रोने लगी । मैं अपने आँसुओंको थाम रहा और उसको प्यार करते हुए मैंने कहा—'बेटा ! मैं अबसे सिगरेट नहीं पीऊँगा ।' यह सुनकर वह प्रसन्न हो एकदम अपनी माँके पास गयी । मैं प्रभुको धन्यवाद देने लगा कि 'हे प्रभु ! तेरे बच्चे क्या नहीं कर सकते । तू कितना अद्भुत है । तेरी गति कौन जानता है ।' तबसे अबतक बहुत साल बीत गये हैं, आज मेरी बेटी काफी बड़ी हो चुकी है । जब मैं उसे देखता हूँ तो मनमें कहता हूँ कि 'हे प्रभु ! तू कितना दयालु है ।'*

—श्रीओमप्रकाश गंडा

---

* भारतमें गत वर्ष ३२०० करोड़ सिगरेट बनी है, जब कि सन् १९५२।५३ में केवल १८०० करोड़ ही बनी थी । खेदकी बात है कि तंबाकूका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है । इसमें कोई लाभ तो है ही नहीं वरं इस युगके वैज्ञानिकोंने तंबाकूमें छः प्रकारके विषोंका पता लगाया है—(१) निकोटीन, (२) प्रूसिक एसिड, (३) पाइरीडीन, (४) कोलीडीन, (५) एमोनिया और (६) कार्बन मोनो ओक्साइड । और भी बहुत-से विष हैं । सब विषोंकी संख्या १८ तक हो चुकी है । आजके वैज्ञानिक एक पाउंड तंबाकूमेंसे इतना विष निकालते हैं, जिससे ३०० मनुष्योंकी मृत्यु हो सकती है । भाँति-भाँतिके रोग तो तंबाकूसे होते ही हैं । इस व्यर्थकी ही नहीं, सर्वथा हानिकर वस्तुकी भारतमें ९ लाख एकड़ जमीनमें खेती होती है और ७० करोड़ पाउंडकी उपज होती है । इससे किसानोंको प्रतिवर्ष १५ करोड़, सरकारको तंबाकूके निर्यातसे १५ करोड़की विदेशी मुद्रा तथा कर आदिसे ५० करोड़ रुपयेकी आमदनी होती है । यहाँकी उपजी तंबाकू ८० प्रतिशत यहीं खप जाती है । बड़े-बड़े समझदार इस विष-सेवन तथा विष-प्रचारमें लगे हैं । इस दुर्व्यसनके साथ ही चाय, अंडे, शराब, सिनेमा आदिके दुर्व्यसन भी बढ़ रहे हैं । देशका दुर्भाग्य है !

—सम्पादक

---

(७)

भूलका प्रायश्चित्त तथा शुद्ध बुद्धिके विचार

मेरे प्रवासस्थित ग्राममें एक व्यक्ति रहता है, जो शिक्षित न होनेपर भी बुद्धिमान् है, किंतु पहले उसकी सारी बुद्धिमत्ता अपकर्मोंकी ओर ही उसे प्रोत्साहित कर रही थी । लगभग बीस वर्ष पहले उसके निकट ग्रामका एक सनकी-सा ब्राह्मण अपनी बहिनके यहाँ जा रहा था । मार्गमें इस व्यक्तिसे उस ब्राह्मणकी भेंट हुई । ब्राह्मणने अपने नवजात भागिनेयको देनेके लिये एक चाँदीके रुपयेकी अत्यन्त आवश्यकता बतायी । उस समय चाँदीके रुपयोंका प्रायः अभाव हो चला था । ब्राह्मणने अपने हाथकी सोनेकी अँगूठी इस व्यक्तिको दी और कहा कि 'इसे कहीं बन्धक रखकर मुझे एक चाँदीका रुपया ला दो ।' इसने वैसा ही कर दिया ।

कुछ दिनोंके बाद उक्त ब्राह्मणके पिताने रुपया वापस देकर अपनी अँगूठी माँगी, किंतु इसके मनमें लोभ हो गया था, अतः यह तरह-तरहकी आनाकानी करने लगा—बात जब कुछ आगे बढ़ी, तब इसने एक नकली (पीतलकी) अँगूठी दिखाकर असली अँगूठी पचा ली ।

दस वर्षोंसे मुझे भी कृषि-कार्यके लिये उसी ग्राममें जाकर रहना पड़ रहा है । इस बीचमें एक बार उसने लौरिया चीनी मिलमें काम करने (स्थान पाने) के लिये मुझसे कुछ सहायता चाही । ईश्वरकी कृपा कहिये; संयोग बैठ गया; एक उच्च-पदस्थ तथा निकट सरोकारीका सिफारिशी पत्र केन-मैनेजरके पास पहुँच गया । इससे मुझे भी पूर्ण विश्वास हो गया कि अब इसे काम अवश्य मिल जायगा । किंतु काम मिला नहीं ।

कारणोंका अन्वेषण करते हुए मेरे मनमें यही बात बैठ गयी कि इसने जो उस ब्राह्मणकी अँगूठी अनुचित रीतिसे (विश्वासघात करके) हड़प ली है, वही स्वर्णस्तेय इसे दरिद्रतासे मुक्त नहीं होने देता । मैंने यह बात स्पष्ट शब्दोंमें उससे कही भी तथा उसने भी अपनी भूल तो स्वीकार की किंतु उसके प्रतीकारकी कोई बात नहीं की ।

इधर इसे किसी तरह नहर-विभागमें काम मिल गया था; किंतु थोड़े ही दिनोंमें अपने असदाचरणके कारण इसे वहाँसे भी हट जाना पड़ा ।

बहुत दिन पहले मेरे एक सम्बन्धी व्यक्तिने मेरे ही यहाँसे कुछ स्वर्ण-भूषण चुरा लिये थे। प्रसङ्ग-वश उसीकी चर्चा करते हुए एक दिन मैंने उसके सामने ही कहा कि 'सोना चुराना पञ्च महापातकोंमेंसे एक बड़ा भारी पाप है।' ईश्वरकी कृपासे बात उसके मनमें बैठ गयी। सुधरी बुद्धिने यथाशक्य प्रायश्चित्तकी उचित युक्ति सोची। कुछ दिनों बाद उसने आकर मुझसे कहा—'बाबू, मुझसे बड़ी भूल हो गयी है! अब मैं उस ब्राह्मणकी सोनेकी अँगूठी वापस कर देना चाहता हूँ।' मुझे यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैंने उसके विचारकी प्रशंसा करते हुए जिज्ञासा की—'क्या अभी वह अँगूठी वर्तमान है?' उसने अँगूठी लाकर दिखायी। मैंने भी वापस देनेकी पूरी प्रेरणा दी।

तबसे उस ब्राह्मणके गाँवके जिस-जिस व्यक्तिसे उसकी भेंट हुई, उस-उससे उसने संवाद भेजा कि पाँड़ेजी आकर अपनी अँगूठी ले जायँ। पाँड़ेजीके आनेमें कुछ विलम्ब हुआ। उसे कहीं बाहर जाना था। उसने अँगूठी मुझे देकर कहा—'पाँड़ेजी कल आनेवाले हैं। उनसे पाँच रुपये या वे जो भी दें, उसे ही लेकर यह अँगूठी उन्हें दे दीजियेगा।' पाँड़ेजी तो सनकी ही ठहरे; काहेको आते? उनके छोटे भाई दो-तीन व्यक्तियोंके साथ आये। मैंने रुपयेकी बात उठायी, तो उनके पास दो रुपये थे, सो उन्होंने दे दिये। मैंने बहुतोंके सामने अँगूठी उन्हें दे दी। सबोंने आश्चर्य प्रकट किया तथा धन्य-धन्य कहा! उसी समय कहींसे घूमते-फिरते मुखियाजी भी वहीं आ गये और उन्होंने इस कार्यकी प्रशंसा की।

इधर उसी व्यक्तिपर बेमतलब किसीको मारनेका केस हो गया था। सजा होनेकी सम्भावना तो नहीं किंतु उस गरीबके कुछ रुपये व्यर्थ खर्च हो रहे थे। इसपर मैंने एक दिन कुछ खेद प्रकट किया, तो उसने हँसकर कहा कि 'अच्छा होता है बाबू, मेरे अनुचित कमाये पैसे ही तो इस तरह निकल रहे हैं!' मैंने मन-ही-मन सोचा—'बुद्धि शुद्ध होनेपर ऐसे ही विचार होते हैं।'

—नन्दकिशोर झा

◆

छिपे पापीकी प्रार्थना

क्रोध-मोह-मद-अघ भर्‌यौ, धर्‌यौ हृदय अभिमान।
सब कौं तुच्छ गनौं, करौं, सबही कौ अपमान॥
प्रभुबंचक, बंचक जगत, निजबंचक, अघधाम।
फँस्यौ इंद्रियनके बिषयँ नित मैं भोग-गुलाम॥
प्रेमी, ज्ञानी, भक्त, सत बड़े दूर की बात।
नरक-कीट मैं मोहबस, पापनिरत दिन-रात॥
मो सो अधम न पातकी या जगमें कोउ और।
स्वर्ग-भोगकी का कथा, नरकहुँ में नहिं ठौर॥
सब सौं नित सेवा लहौं, करौं भंड, उपदेस।
हिय मैं तनिक न कतहुँ कहुँ, संतपने कौ लेश॥
फूटै मेरो पाप-घट, घृना करैं सब लोग।
अपनी करनी के बिषम भोगूँ मैं सब भोग॥
प्रभु! मो कूँ यह दीजिये, करुनामय! बरदान।
जा सौं मेरे अघ कटैं, होय परम कल्यान॥

◆

प्रकाशित हो गया ! प्रकाशित हो गया !!

मानस-पीयूष खण्ड ५

(अरण्यकाण्ड तथा किष्किन्धाकाण्ड)

दोनों पूरे एक जिल्दमें सजिल्द मूल्य ७.००, डाकखर्च २.०५।

अयोध्यानिवासी महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजीने मानस-पीयूषके अधिकाधिक प्रचारकी दृष्टिसे अपने पास बचा-खुचा जो स्टाक इसके पुनर्मुद्रणके सर्वाधिकार (कापीराइट) सहित गीताप्रेसको दिया था, उसमें अरण्यकाण्ड समाप्तप्राय था। इसके चुक जानेसे हमारा पाँचवाँ खण्ड अधूरा हो गया था। अनेकों प्रेमी सज्जन इसके शीघ्र प्रकाशनके लिये तकाजा करते थे। ईश्वरकी विशेष अनुकम्पासे अब यह छपकर तैयार हो गया है।

इस अरण्यकाण्डके तीन संस्करण बाहरसे निकल चुके हैं। गीताप्रेसके द्वारा इसका यह चौथा संस्करण है।

आशा है, मानस-प्रेमी पाठक इससे विशेष लाभ उठायेंगे।

संस्कृति-मालाके दो भाग

सम्मान्य क० पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डे (मन्त्री, बिड़ला-शिक्षा-ट्रस्ट, पिलानी) ने कक्षा ३ से ८ तकके विद्यार्थियोंके लिये 'संस्कृतिमाला'के छः भाग कृपापूर्वक अपने यहाँके आदरणीय विद्वान् लेखक-लेखिकाओंसे लिखवाकर भेजे थे। उनमेंसे कक्षा ७ और ८ के लिये उपयोगी भाग ५ और ६ छप गये हैं। इन दोनों भागोंके लेखक पं० श्रीव्रजभूषणलालजी शर्मा हैं।

भाग ५—कक्षा ७ के लिये

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ ९६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग।

इसमें ७ जातक कथाओंके साथ-साथ चाणक्य, चरक, कालिदास, कर्ण, दमयन्ती, बुद्ध, महावीरके जीवनका संक्षिप्त परिचय और तक्षशिला एवं नालन्दाका इतिहास तथा शिष्टाचारके २१ नियम दिये गये हैं।

भाग ६—कक्षा ८ के लिये

आकार डबल-क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ १००, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग।

इसमें सातवाहनकी कहानी, चूहा सौदागर, सूर्यके घोड़ोंके रंगका विवाद, कभी खाली न होनेवाले घड़ेकी हानी, दानवीर-दानव नमुचि, सिंहपराक्रम, राजा त्रिविक्रमसेन और भिक्षुक, तपोदत्तकी कहानी, धवलमुख और उसके दो मित्र, पवित्र शूकर, बंदर और सिंहपरिवार, भरतमुनि, कपिलमुनि, भामती, रामकृष्णपरमहंस, दयानन्द, जका रास-नृत्य, मणिपुरी रास-नृत्य, गरबा, कथकलीकी कहानियाँ हैं। ये बालकोंके लिये परम उपदेशप्रद हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के जनवरी १९६१ के विशेषाङ्क

'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क'का दूसरा संस्करण

(एक लाख सोलह हजार प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया। अतः शीघ्र पूर्वक १५००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है।)

कल्याणका यह 'संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क' प्रसिद्ध योगवासिष्ठ महारामायणका संक्षिप्त साररूप है। योगवा एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वका प्रतिपादक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें एक ही तत्त्वकी विविध सु कथाओंके तथा सुन्दर रोचक युक्तियोंके द्वारा सफलरूपसे स्थापना की गयी है। योग, योगसाधन, सदा शास्त्रविधिपालन आदि महत्त्वपूर्ण विषयोंपर भी बहुत ही प्रभावशाली विवेचन किया गया है। इसकी कथाएँ भी सुन्दर हैं। इस अङ्कमें ७०० पृष्ठोंकी सामग्री है। बहुरंगे १६, दुरंगा १, सादे १० तथा १३६ रेखाचित्र हैं अङ्क बहुत सुन्दर तथा बहुत ही उपयोगी है। हिंदीमें योगवासिष्ठका इस प्रकारका सारसंग्रहरूप यह पहला ग्रन्थ है और केवल ७.५० में ही उपलब्ध है।

इस अङ्कको जनताने इतना पसंद किया कि ११६००० का पहला संस्करण समाप्त होनेपर १५००० का दूसरा संस्करण छापा गया। उसकी भी १०००० प्रतियाँ बहुत शीघ्र बिक चुकी हैं।

सजिल्द विशेषाङ्क मँगवानेवाले सज्जन जिल्द-चार्जसहित रु० ८.७५ मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें।

कल्याणके २४वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' अब भी प्राप्य है

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६.५० डाक व्ययसहित। साथ ही इसी वर्षका दूसरा तथा तीसरा अङ्क बिना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वे उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियोंके साथ-साथ हिंदू-संस्कृति स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्ध तत्त्व, हिंदू संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र यज्ञानुष्ठान, पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वे विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदा स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौंसठ कलाएँ, गान्धर्वविद्या, वा यन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौ-निर्माणकला, काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्योति सामुद्रिक, नक्षत्र-विज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों त अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोप भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत पवित्र चरित्र हैं।

डाकखर्च—सबमें हमारा है।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपु**

कल्याण

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

वर्ष ३५
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१.३३.००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची,

कल्याण, सौर श्रावण २०१८, जुलाई १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—लीलारत दिव्य-युगल [कविता] ··· १०२१
२—कल्याण ('शिव') ··· १०२२
३—माँ (श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ··· ··· १०२३
४—नाव तुझे सौंप दी ! (श्रीबालकृष्ण बलदुवा) १०२५
५—परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· १०२६
६—व्रज और वल्लभ-सम्प्रदाय (श्रीमाधवजी गोस्वामी) ··· ··· १०३५
७—मैं एकमात्र प्रभुका ही सेवक हूँ। एकमात्र प्रभु ही मेरे स्वामी हैं [कविता] ··· १०३७
८—मधुर ··· ··· १०३८
९—गोवर्धन-पूजनका रहस्य (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य) १०४०
१०—नाद-ब्रह्म और उसका स्वरूप (श्रीलक्ष्मीनारायणजी गर्ग) ··· १०४२
११—मैं भी शुभ बन गया [कविता] ··· १०४६
१२—विरक्त कौन ? [कहानी] (श्री'चक्र') १०४७
१३—भारतका एक बढ़ता हुआ दुर्व्यसन—धूम्रपान (श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा) ··· १०५०
१४—मूर्ति-प्रतिष्ठा (श्रीरावी) ··· १०५४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१५—उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ··· १०५५
१६—भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं ··· ··· १०६०
१७—वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ··· १०६१
१८—सत्सङ्ग और दुःसङ्ग [कविता] ··· १०६६
१९—श्रीपुरीधाम (आचार्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी गुप्त एम्० ए०, बी० टी०) १०६७
२०—महाप्रसादसे दुःख-नाश [कविता] ··· १०६९
२१—मानवताके लिये मानवधर्म आवश्यक १०७०
२२—तलाक-कानून (श्रीप्रभुनारायणसिंहजी) १०७३
२३—तुम ही तुम हो [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') १०७५
२४—समस्याओंका मूल (साहित्याचार्य श्रीराममणिजी त्रिपाठी एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ··· १०७६
२५—मेरे मनमें अब प्रभु स्वच्छन्द विहार करते हैं [कविता] ··· १०७९
२६—पढ़ो, समझो और करो ··· १०८०
२७—अशोक होटलमें गोमांस ! ··· १०८४

चित्र-सूची

१—हंसवाहिनी वीणावादिनी सरस्वती ··· ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२—लीलारत दिव्य-युगल (तिरंगा) ··· १०२१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

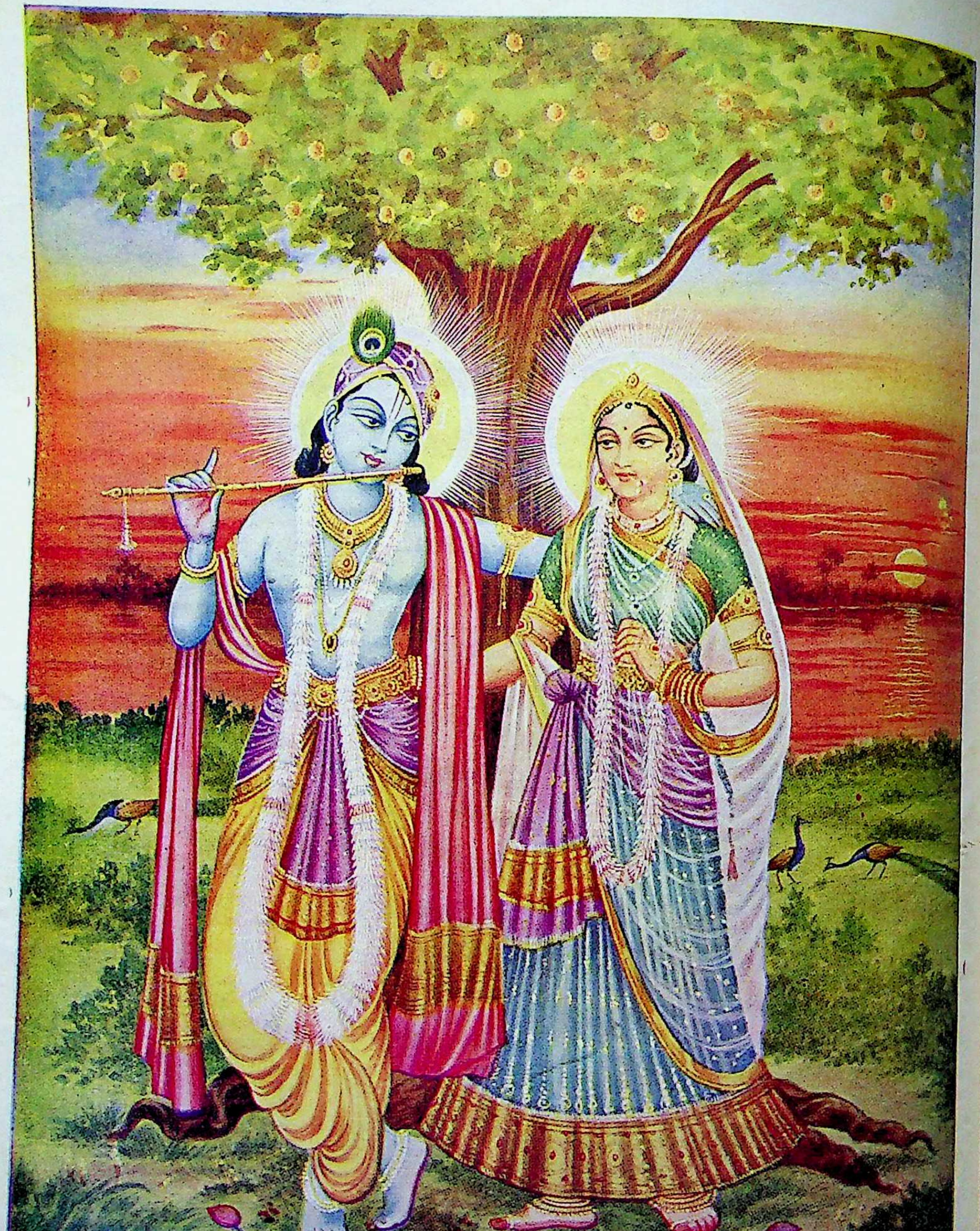

लीलारत दिव्य-युगल

पुस्तकालय
गुरुकुल कां

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१८, जुलाई १९६१ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ४१६

लीलारत दिव्य-युगल

परम प्रेम-आनंदमय दिव्य जुगल रसरूप ।
कालिंदी-तट कदँब-तल सुषमा अमित अनूप ॥
सुधा-मधुर-सौंदर्य-निधि छलकि रहे अँग-अंग ।
उठत ललित पल-पल बिपुल नव-नव रूप-तरंग ॥
प्रगटत सतत नवीन छबि दोऊ होड़ लगाय ।
हार न मानत जदपि, पै दोऊ रहे बिकाय ॥
नित्य छबीली राधिका, नित छबिमय ब्रजचंद ।
बिहरत बृंदाविपिन दोउ लीलारत स्वच्छंद ॥

कल्याण

याद रक्खो—मनुष्य कर्मयोनि है। कर्म करना उसका स्वभाव है। अतः वह बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। सुव्यवस्थित शुभ कर्म नहीं करेगा तो अव्यवस्थित अशुभ कर्म करेगा, आलस्य तथा प्रमादयुक्त निकम्मे कर्म करेगा। जिनका परिणाम उसके लिये अत्यन्त हानिप्रद एवं दुःखजनक होगा। इसलिये उसे सदा-सर्वदा शुभकर्ममें लगे रहना चाहिये।

याद रक्खो—जिम्मेवारीके कर्मका भार न रहनेसे ही मनुष्य प्रमाद करता है। इसलिये तुम अपनेको जिम्मेवारीके साथ कर्ममें लगाये रक्खो, जिससे प्रमादकी बात सोचने-करनेके लिये अवकाश ही न मिले। 'करने योग्य' कर्मका न करना और 'न करने योग्य' कर्म करना—यही प्रमाद है। मनुष्य जब प्रमादमें फँस जाता है, तब उसका सर्वथा पतन होते देर नहीं लगती। प्रमाद मृत्युसे भी बढ़कर है अतएव प्रमादसे सदा बचो।

याद रक्खो—जबतक तुम जिम्मेवारीके साथ अपना सारा समय कर्तव्य (करनेयोग्य) शुभकर्ममें नहीं लगाये रक्खोगे—तबतक प्रमाद होनेकी सम्भावना रहेगी ही। शुभकर्म वही है, जिससे तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र हो, मनके भाव उन्नत तथा विशुद्ध हों, परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो, चित्तमें शान्ति तथा सुखकी वृद्धि होती हो एवं सुव्यवस्थापूर्वक सहज भावसे सत्कर्ममें उत्साहयुक्त प्रवृत्ति बनी रहे।

याद रक्खो—शुभ कर्ममें लगे रहनेका यह अर्थ नहीं है कि बाहरी कर्मोंमें इतना अधिक फँसा रहना पड़े, जिससे विचार करने, कर्तव्याकर्तव्य सोचने, शास्त्र तथा सत्पुरुषोंसे कर्मके लिये परामर्श करने, सदाचारकी रक्षा एवं उन्नति करने, भगवत्स्मरण तथा नियमित उपासना-आराधना करने और घरके लोगोंके साथ यथोचित व्यवहार-बर्त्ताव तथा उनके प्रति कर्तव्यपालन करनेके लिये ही अवकाश न मिले। ऐसा कर्मबहुल जीवन मशीनकी तरह जडवत् बन जाता है और आखिर उसे प्रमादग्रस्त होकर पतित होना पड़ता है।

याद रक्खो—कर्मका अर्थ है वे सारे सुकर्म—सत्कर्म जो इन्द्रियोंके द्वारा, मन-बुद्धिके द्वारा होते हैं तथा जिनसे सर्वाङ्गीण योगक्षेमकी प्राप्ति एवं मानवजीवनकी सफलता प्राप्त होती है। अतः जब जहाँ जो कर्म करना आवश्यक हो, वही कर्म करना चाहिये। एक कर्ममें लगे रहना और दूसरे सब कर्तव्य-कर्मोंके प्रति दायित्वहीन होकर उनकी अवहेलना करना उचित नहीं है। एकाङ्गी कर्म सुकर्म नहीं रह पाता। हाँ, अवश्य ही मानवके प्रत्येक कर्मका लक्ष्य होना चाहिये—भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति—जिसके लिये वह मनुष्य बना है। और उसके प्रत्येक कर्ममें प्रेरक होनी चाहिये भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम प्राप्त करनेकी सदिच्छा।

याद रक्खो—मानव-जीवनका लक्ष्य भगवान् हैं, भोग नहीं। भोगकी उपेक्षा नहीं है, पर उसे भगवत्प्राप्तिके लिये सहायकरूपमें बनाकर स्वीकार करना है, भगवान्‌की जगह लक्ष्य बनाकर कदापि नहीं। जीवनका लक्ष्य भगवान् होगा तो कर्म स्वयं सत्कर्म बन जायँगे—दैवी-सम्पत्ति जीवनका स्वभाव बन जायगी और यदि लक्ष्य भोग होगा तो सत्कर्म भी दुष्कर्म बनने लगेंगे तथा आसुरी सम्पत्ति जीवनका स्वभाव बन जायगा। दैवीसम्पत्तिका फल है सुख -शान्तिपूर्वक निष्पाप जीवननिर्वाह तथा तमाम बन्धनोंसे मुक्ति और आसुरी सम्पत्तिका फल है दुःख-अशान्ति-भय-विषादयुक्त जीवन और परिणाममें बन्धन तथा नरक-यन्त्रणाकी प्राप्ति। इसलिये भगवान्‌को ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाकर सदा सत्कर्ममें ही लगे रहो!

'शिव'

माँ

(लेखक—श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

हँसाती हो माँ !

अब तुम क्या सजोगी ? तुम्हीं तो सब कुछ सजकर खेल कर रही हो । तुम्हीं तो मिट्टी बन रही हो, तुम्हीं जल बन रही हो, तुम्हीं अग्नि, तुम्हीं वायु, तुम्हीं अनन्त आकाश ! माँ मेरी ! मेरी माँ ! तुम्हीं तो सब कुछ हो ।

लीला करनेके लिये बहुरूप हो रही हो । ब्रह्ममयी माँ मेरी ! तुम्हीं तो प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व गगनको आलोकित करके उदय होती हो । तुम्हीं तो चाँद बनकर क्रीड़ा करती हो । बतलाओ माँ ! तुम्हारे सिवा जगत्में और क्या है ? माँ मेरी, लीलामयी अनन्तरूपिणी माँ मेरी ! दो सौ करोड़ कोसतक फैली हुई यह पृथ्वी तुम्हीं हो, तुम्हीं ऊँचाईमें दो सौ अस्सी करोड़ कोस हो ! लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध, जल—ये सात समुद्र तुम्हीं हो । सप्त कुलाचल हिमालय, सुमेरु आदि पर्वत तुम्हीं हो । गङ्गा-यमुना, गोदावरी-सरस्वती, कावेरी-नर्मदा आदि अनन्त नदी बनकर तुम्हीं खेल कर रही हो । पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, मानव-दानव, देवता-पिशाच, भला-बुरा सब तुम्हीं सजी हुई हो । जगत्में ऐसा कुछ न तो कभी था और न होगा, जो तुम नहीं हो मेरी माँ ! तुम्हीं सब कुछ बनकर खेल कर रही हो । अनन्त-अनन्त कालसे यह खेल चल रहा है । इस क्रीड़ाका विराम-विश्राम नहीं है । एक ही तरहसे खेल करती जा रही हो ! यह तुम्हारी लीला कैसी उन्मादिनी है माँ ! कितनी राग-रागिनी, कितना सङ्गीत, कितना प्रकाश तुमसे झर-झरकर गिर रहा है । तुम्हारे रूपके एक कणको लेकर यह जगत् रूपवान् हो रहा है ! मेरी माँ; माँ, यह तुम्हारी कैसी लीला है माँ ? माँ ! माँ ! माँ !

स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, सुन्दर-कुत्सित, भला-बुरा, पाप-पुण्य—कितने रूप धरकर केवल तुम्हीं लीला कर रही हो माँ, मेरी माँ ! तुम मेरी पकड़में आ जाओ, यदि तुम स्वयं पकड़में न आओगी तो किसकी मजाल है जो तुमको पकड़ सके ! अहा ! अहा ! कैसी सुन्दर हो तुम । ओह, कैसी कुत्सित हो तुम ! क्यों ? क्यों तुम इतने साजोंमें सज रही हो ?

खेल ! यह तुम्हरा खेल है ! करो, करो, खेल करो । अनन्त-अनन्त कालतक खेला करो ! माँ, माँ, मेरी माँ ! अहा ! यह अनन्त आकाश तुम हो ! इस आकाशकी नक्षत्रमण्डली तुम्हारे लोम-कूप हैं ! सुन्दर-सुन्दर यह पूर्णचन्द्र तुम्हीं हो । अच्छा, सब मेरी माँ है ! यह अमावस्याका सूचीभेद्य प्रगाढ़ अन्धकार—यह भी तुम्हीं हो ! वाह ! वाह ! अच्छा, कैसा-कैसा सुन्दर ! कैसा रमणीय ! वह कोकिल कूक रही है ! यह कोकिल तुम्हीं हो ! यह कोकिलकी कूक तुम्हीं हो माँ ! अनन्तरूपिणी माँ, विश्वरूपिणी माँ ! यह विश्व-रङ्गमञ्च तुम्हीं हो, नट-नटी तुम्हीं हो । अभिनय तुम्हीं हो, दर्शक भी तुम्हीं हो, एकमात्र तुम्हीं हो ! तुम्हें कौन पकड़ सकता है ? जिसको तुम पकड़वाती हो, वही तुम्हें पकड़नेमें समर्थ होता है । माँ, मेरी माँ ! अहा ! कैसा सुन्दर है तुम्हारा रूप ! कैसी सुन्दर है तुम्हारी लीला ! कैसा मनोरम है यह जगत्—तुम्हारा खेलघर ! माँ, मेरी माँ ! यदि तुम अपना परिचय स्वयं न दो तो कोई भी तुम्हें जान नहीं सकता ।

माँ ! माँ ! अपने सम्बन्धमें अपने ही मुखकी तुम्हारी कही बात है—'मैं अज तथा एकपाद, मैं अहिर्ब्रघ्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र, हर, रुद्र—ये ग्यारह रुद्र; मैं भव, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास—ये आठ वसु; मैं धाता, मित्र, यम, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्,

पूषा, सविता, त्वष्टा, विष्णु——ये द्वादश आदित्य, तथा समस्त देवताओंके रूपमें मैं विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण——दोनोंको धारण करती हूँ। मैं इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण करती हूँ। मैं देवताओंके शत्रुओंका संहार करती हूँ। सोमदेवको, त्वष्टा नामके देवताको धारण करती हूँ। तथा पूषा और भग नामक सूर्यद्वयको धारण करती हूँ। अपरिमित हवि-संवलित उपयुक्त हविके द्वारा देव-वृन्दको तृप्त करनेवाले तथा यथाविधि सोमरस प्रस्तुत करनेवाले यजमानके लिये यज्ञ-फलरूप धनादिका विधान मैं ही करती हूँ।

मैं सम्पूर्ण शस्य-श्यामला, सागर-मेखला जगत्की ईश्वरी हूँ। जो मेरी उपासना करते हैं, उनको धन प्रदान करनेवाली मैं ज्योतिर्मयी देवी तथा परम ब्रह्मकी शक्ति हूँ। यज्ञार्ह-गणमें मैं ही श्रेष्ठतमा हूँ। मुझसे बढ़कर श्रेष्ठ और कोई नहीं है। मैं विश्व-प्रपञ्चके रूपमें नाना भावोंसे अवस्थित हूँ। सर्वभूतोंमें जीवरूपसे प्रविष्ट हूँ। देव-मानव आदि यजमानसमूह सब देश और सब कालमें मेरी ही विविध भावसे उपासना करते हैं। निखिल प्राणी मेरी शक्तिसे शक्तिमान् होकर भोजन-दर्शन आदि करते हैं। श्वास-प्रश्वास आदिका निर्वाह करते हैं। शब्दादि श्रवण करते हैं। जो मुझको नहीं जानते, वे ही पुनः-पुनः जन्म-मरण आदि क्लेशोंको प्राप्त होकर संसारमें हीन-से-हीन बनते हैं। हे कीर्तिमान्! तुम सुनो। मैं तुमको श्रद्धाके द्वारा प्राप्त होनेवाले ब्रह्मतत्त्वको बतलाऊँगी।

देवताओं और मनुष्योंके लिये प्रार्थनीय ब्रह्मतत्त्वका उपदेश मैं स्वयं तुमको देती हूँ। इस प्रकारकी ब्रह्म-स्वरूपिणी मैं ही हूँ। मैं जिसको-जिसको चाहती हूँ, उस-उसको ही सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ। मैं किसीको प्रजापति, किसीको ऋषि, किसीको ब्रह्मा, मेधावी प्रज्ञाशाली बनाती हूँ। मैं ही त्रिपुरासुरके युद्धकालमें ब्राह्मणविद्वेषी हिंसक त्रिपुरासुरको वध करनेके लिये रुद्रके धनुषको ज्या-युक्त करती हूँ। मैं अपने भक्तोंके कल्याणके लिये भीतर-बाहर संग्राम करती हूँ। स्वर्गमें, मर्त्यमें अन्तर्यामिनी रूपसे मैं ही प्रवेश करती हूँ। मैं ही सबके आधार-स्वरूप परमात्माके ऊपर द्युलोकको प्रसव करती हूँ। समस्त प्राणियोंकी बुद्धिके भीतर जो ब्रह्मचैतन्य है, वही मेरा अधिष्ठान है। मैं इस निखिल भुवनमें नाना रूपोंमें सजकर विराजमान हो रही हूँ और इस स्वर्गको, समस्त विकारी वस्तुओंको अपने कारणभूत मायामय शरीरके द्वारा समाच्छन्न किये रखती हूँ। मैं भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल——इन चौदह भुवनोंमें सब भूतोंकी सृष्टि करती हूँ और वायुके समान उनके भीतर-बाहर सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करती हूँ। स्वरूपतः मैं इस आकाशसे अतीत तथा इस पृथ्वीसे परे असङ्ग ब्रह्मरूपिणी हूँ, तथापि अपनी महिमामें इस महान् विश्वरूपको धारण करके लीला करती हूँ।'

माँ! माँ! यह तुम्हारी निज मुखकी कही बात है। मेरी माँ! माँ! तुम्हारा स्वरूप तुम्हारे जतलाये बिना किसकी सामर्थ्य है, जो जान सके, कह सके। माँ! मेरी माँ!

तुम कितने रूप धरकर लीला कर रही हो माँ! प्रभातमें कुमारी ऋग्वेद-युता, हंस-स्थिता, ब्रह्मरूपा; मध्याह्नमें गरुडवाहिनी युवती विष्णुरूपा; सायंकालमें वृद्धा वृषभारूढा, शिवस्वरूपिणी——माँ अनन्तरूपिणी हो, मेरी माँ!

तुम्हारे मस्तकपर तेजोमण्डित स्वर्ग, ललाटमें रुद्र, दोनों भ्रुकुटियोंमें मेघ, दोनों चक्षुओंमें चन्द्र-सूर्य, दोनों कानोंमें शुक्र और बृहस्पति, नासिकाद्वयमें वायु, दन्त-पङ्क्तिद्वयमें दोनों अश्विनीकुमार अधरोष्ठमें उभय संध्या, मुखमें अग्नि, जिह्वामें सरस्वती, ग्रीवामें साध्यगण, स्तनद्वयमें अष्ट वसु, बाहु-युगलमें मरुद्गण, हृदयमें पर्जन्यदेव, उदरमें आकाश, नाभिमें अन्तरिक्ष, कटिदेशमें इन्द्र और अग्नि

जघनमें प्रजापति, ऊरुद्वयमें कैलास और मलय पर्वत, दोनों घुटनोंमें समस्त देववृन्द, जङ्घामें जह्नुपुशिक, पैरोंके ऊपरी भागमें पितृदेवगण, पैरोंके अधोभागमें वनस्पतियाँ, लोमसमूहमें ऋषिगण, नखोंमें मुहूर्त्तगण, रक्त-मांसमें षड्-ऋतु, आच्छादनमें संवत्सर, चक्षुके निमेषोंमें दिन-रात्रि या चन्द्र-सूर्य हैं । माँ! मेरी माँ ! तुम्हें शत-शत, सहस्र-सहस्र, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि प्रणाम है माँ ! मेरी माँ !

माँ ! तुम वेदमाता हो, तुम परात्परा महाविद्या हो । तुम भूर्भुवः स्वः व्याहृति आदि मन्त्रस्वरूपिणी हो । माँ, मेरी माँ ! तुम स्वरूपमें ब्रह्मरूपके अतीत हो, तुम क्या हो—कहा नहीं जा सकता ।

तुम सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी, समस्त वेदान्त-उपनिषदादिके द्वारा ज्ञेय हो, तुम सूर्यमण्डल-वासिनी हो । प्रभात-कालमें तुम रक्तवर्णा बालिका हो, मध्याह्नमें पीतवसना युवती हो, सायाह्नमें कृष्णवर्णा वृद्धा हो । माँ ! मेरी माँ ! तुम नित्य हो, तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ । मेरी माँ ! ब्रह्माने तुम्हारी इसी प्रकार स्तुति की थी ।

माँ ! मेरी माँ ! तुम सत्-चित्-आनन्दरूपिणी हो, तुम मूल प्रकृति हो, तुम हिरण्यगर्भरूपा हो । हे रमणीये ! तुम प्रसन्न हो । तेजःस्वरूपिणी तुम प्रसन्न हो । तुम सर्वश्रेष्ठा हो, तुम नित्यानन्दस्वरूपिणी हो । तुम द्विजातिगणकी जाति हो । सुन्दरी माँ ! तुम प्रसन्न हो, तुम सदा रहती हो—अतः नित्या सनातनी हो । जो सनातन है, वही तुम्हें प्रिय है । तुम नित्यानन्दस्वरूपिणी हो, तुम्हीं सर्वमङ्गलरूपा हो, तुम प्रसन्न हो माँ ! तुम विप्रगणकी सर्वस्वरूपा हो । तुम मन्त्रोंका सार और परात्परा हो । तुम निखिलसुखदायिनी हो । रमणीये माँ! मेरी प्रसन्न हो माँ ! तुम विप्रोंके पापरूपी काष्ठको जलानेमें प्रज्वलित अग्नि-शिखाके समान हो । तुम ब्रह्मतेज प्रदान करो । तुम प्रसन्न हो माँ ! मनुष्य काय-मन-वाक्यसे जो पाप करता है वह सारा पाप तुम्हारे स्मरणमात्रसे भस्मीभूत हो जाता है । माँ माँ माँ ! तुम्हारे स्नेहके दुलारे ब्रह्मा इस प्रकारसे तुम्हारा स्तवन करते हैं ।

माँ ! मेरी माँ ! मैं भी तुम्हारा अति अधम मूर्ख पुत्र हूँ । माँ ! मैं तुम्हारी स्तुति नहीं जानता, तुम्हारे स्वरूपको नहीं समझता, मैं केवल पुकारता हूँ माँ माँ माँ ! मेरी माँ ! मेरी गतिमुक्तिदायिनी माँ ! माँ माँ माँ माँ माँ ! अरी माँ माँ माँ माँ !!

* * *

नाव तुझे सौंप दी !

जब लंगर उठाकर नाव तुझे सौंप दी, तब मेरे पास सोचनेके लिये रह गया ही क्या ?

नाव डूबेगी या पार लगेगी ? पार लगेगी तो कैसे ? कब ? कहाँ ?—यह सब अब भी सोचते ही रहना है क्या ?

यह सब तो पहले सोचनेकी बात थी ।

जब लंगर उठाकर नाव तुझे सौंप दी, तब मेरे पास सोचनेके लिये रह गया ही क्या ?

—बालकृष्ण बलदुवा

* * *

परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
(गीता १७ । ३)

'भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वैसा ही है ।'

कुछ लोगोंका कथन है कि 'हमलोग बहुत वर्षोंसे सत्सङ्ग करते हैं और अपनी समझ तथा शक्तिके अनुसार साधन भी करते हैं; पर जैसी उन्नति होनी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं दिखायी पड़ती, इसका क्या कारण है ? हमलोगोंकी उन्नति किस प्रकार हो ?' इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही साधनमें रुकावट डालनेवाली है । इसलिये श्रद्धाके विषयमें गहराईसे विचार करके श्रद्धाको बढ़ाना चाहिये । श्रद्धाके योग्य चार हैं—१ ईश्वर, २ ज्ञानी महात्मा, ३ गीतादि शास्त्र और ४ अपना आत्मा । इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी पूर्णतया श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है ।

गीतामें बतलाया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

इससे यह समझना चाहिये कि श्रद्धाकी कसौटी है तत्परता और तत्परताकी कसौटी है मन-इन्द्रियोंका संयम; क्योंकि जितनी श्रद्धा होती है उतनी ही साधनके लिये तत्परता होती है और जितनी तत्परता होती है उतना ही मन-इन्द्रियोंका संयम होता है ।

१· ईश्वरपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको ईश्वरपर इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ईश्वर हैं, वे बहुतोंको मिले हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं भविष्यमें मिलते रहेंगे तथा ईश्वर सर्वव्यापी, सबके घट-घटकी जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, परम प्रेमी, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, अज, अविनाशी, परम दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा हैं । उनकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यके सारे दुःख, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद और अज्ञानका विनाश होकर सदाके लिये संसार-जालसे छूट जाता है और उसे परमशान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिसको गीतामें परमात्माकी प्राप्ति (१३ । ३४), निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति (५ । २४-२५), अमृतकी प्राप्ति (१३ । १२), परमशान्तिकी प्राप्ति (४ । ३९), आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति (६ । २८), अविनाशी परमपदकी प्राप्ति (१५ । ५), ब्रह्मकी प्राप्ति (१३ । ३०), परम गतिकी प्राप्ति (८ । १३; १३ । २८) आदि अनेक नामोंसे कहा गया है ।

जब मनुष्यका उन सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परम दयालु परमात्मापर भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, तब फिर उसके द्वारा जो भी कुछ होता है, भगवान्की आज्ञाके अनुसार ही होता है, भगवान्के विरुद्ध किञ्चिन्मात्र भी कभी नहीं होता। यदि किसीके द्वारा उनकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण होते हैं तो समझना चाहिये कि उसे ईश्वरके अस्तित्वपर भी विश्वास नहीं है; क्योंकि मनुष्यके हृदयमें 'ईश्वर हैं या नहीं, वे हैं तो मिलते हैं या नहीं, मिलते हैं तो मुझको मिलेंगे या नहीं, मिलेंगे तो मेरा कल्याण होगा या नहीं तथा उनको जो सर्वहितैषी, न्यायकारी, सर्वज्ञ, कर्मफलदाता, परम प्रेमी और परम दयालु बताया गया है, वह बात सही है या नहीं—इस प्रकारके संदेहोंसे युक्त हृदयमें श्रद्धा-विश्वास नहीं होता । यही कारण है कि सत्सङ्ग और साधन करनेपर भी उन्नति होती हुई नहीं दिखायी पड़ती । इसलिये हमलोगोंको श्रद्धाभक्तिपूर्वक ईश्वरमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये । इस विषयमें श्रुति, स्मृति और शास्त्र तो प्रमाण हैं ही, बलवती युक्ति भी प्रमाण है एवं साधन करनेसे तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, किंतु वह श्रद्धापर निर्भर करता है ।

शुक्लयजुर्वेदमें बतलाया गया है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(यजुर्वेद ४० । १ का पूर्वार्ध)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त (पूर्ण) है।

मनुस्मृतिमें कहा गया है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ॥

(मनु० १२ । १२२)

'जो सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा जाननेमें आता है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये।

गीता कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

(गीता १५ । १७)

'इन (क्षर-अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है—

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो
व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः ।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च
समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥

(विष्णुपुराण ६ । ५ । ८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌को परमेश्वर कहते हैं।'

योगदर्शनमें श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा।

(योगदर्शन १ । २३)

'ईश्वर-प्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(योग० १ । २४)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँचों क्लेशों; पुण्य, पाप, पुण्य-पापमिश्रित और पुण्य-पापरहित—इन चारों कर्मों; विपाक यानी कर्मोंके फलों एवं आशय यानी कर्मोंके संस्कारोंसे जो सम्बन्धित नहीं है तथा जो समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह 'ईश्वर' है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

(योग० १ । २५)

'उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज (कारण) ज्ञान निरतिशय है यानी उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योग० १ । २६)

'वह ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है यानी वह कालसे सर्वथा अतीत है।'

तस्य वाचकः प्रणवः।

(योग० १ । २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योग० १ । २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना साधन है।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १ । २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका साक्षात् ज्ञान भी हो जाता है।'

अब युक्तिप्रमाण लीजिये। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि जो बहुत-से महान् पदार्थ हैं, इन सबका जो उत्पादक (कारण), निर्माता, रक्षक और संचालक है, वही ईश्वर है; क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं होता। बिना निर्माता और संचालकके सूर्य-चन्द्र आदिका सुचारुरूपसे, युक्तियुक्त, बुद्धिपूर्वक और यथायोग्य संचालन नहीं हो सकता। कोई छोटे-से-छोटा यन्त्र भी क्यों न हो, संचालकके बिना वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर इतना महान् यह संसारयन्त्र संचालकके बिना कैसे कायम रह सकता है तथा जीवोंके शुभा-

शुभ कर्मोंका फल देनेवाला कोई न हो तो कोई भी प्राणी अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं नहीं भोगना चाहता, जैसे बिना राजाके कोई भी अपराधी जन अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं ही ले ले ऐसा देखनेमें नहीं आता। कर्म (क्रिया) जड है, वह किसी चेतनको स्वयं दण्ड दे नहीं सकता और प्रकृति भी जड होनेके कारण बिना चेतनकी सहायताके किसीको उसके कर्मके अनुसार अनुग्रह या दण्ड-विधान नहीं कर सकती । ज्ञानपूर्वक यथायोग्य कर्मानुसार अनुग्रह या दण्डविधान कोई चेतन ही कर सकता है । भगवान् चेतनोंके भी चेतन, द्रष्टा, साक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं । यह युक्तिसंगत और शास्त्र-संगत है ।

यदि कहें कि ईश्वर नहीं है तो यह कथन दुस्साहसमात्र है । ऐसा कहनेवालेसे पूछा जाय कि ईश्वर नहीं है इसका क्या प्रमाण है ? यदि वह कहे कि 'ईश्वर नहीं है इसका प्रमाण नहीं है तो ईश्वर है इसका प्रमाण भी संतोषजनक नहीं है, इसलिये ईश्वर है या नहीं यह संदेहयुक्त बात है' तो इस संदेहपर हमें अपनी बुद्धिसे विवेकपूर्वक विचार करके लाभ उठाना चाहिये । मान लीजिये, ईश्वर नहीं है और कोई व्यक्ति ईश्वरको मान रहे हैं तो यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है तो उस परिस्थितिमें जो ईश्वरको नहीं मानता और जो मानता है, उन दोनोंके लिये ही ईश्वर नहीं है । इससे जो मानता है उसके क्या हानि हुई और जो नहीं मानता उसके क्या लाभ हुआ ! इस पक्षमें तो दोनोंके लिये समान ही है । ऐसा तो है ही नहीं कि जो नहीं मानता उसे तो कोई पुरस्कार मिल जायगा या ईश्वर मिल जायँगे और जो मानता है उसे कोई दण्ड मिलेगा या ईश्वर नहीं मिलेंगे । जब ईश्वर है ही नहीं तो मिलेंगे क्या ? किंतु जो ईश्वरको मानता है यदि उसका पक्ष सत्य सिद्ध हो जाय तो उस हालतमें ईश्वरको माननेवाला ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार साधन करता है और उसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप पुरस्कार मिल जाता है एवं वह सदाके लिये क्लेश, कर्म और दुःखोंसे मुक्त हो परमशान्ति तथा परमानन्दको प्राप्त हो जाता है। किंतु जो ईश्वरको नहीं मानता, वह इन सबसे वञ्चित रहता है और उस अपराधके कारण उसे नरकयातनारूप महान् क्लेश मिलता है । अतएव संदेहयुक्त होनेपर भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है । अतः बुद्धिमान् विवेकशील मनुष्योंको ईश्वरको मानकर श्रद्धा, विश्वास और भक्तिपूर्वक उनकी शरण होना चाहिये । भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६१-६२)

'अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है । भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परमशान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

(२) ज्ञानी महात्मा पुरुषपर श्रद्धा-विश्वास

हमें यह भी श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ज्ञानी महात्मा पुरुष भी बहुत-से हुए हैं, वर्तमानमें भी हैं और भविष्यमें भी होंगे । जो कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके द्वारा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं वे महान् पुरुष उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा समझे जाते हैं । जो कर्मयोगके द्वारा महापुरुष हुए हैं उनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
(गीता २ । ५५-५६)

'अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है । दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित है, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।'

इसके आगे भी ५७ वें, ५८ वें तथा अन्य कई श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन है । एवं छठे अध्यायमें भी उनके लक्षण बतलाये गये हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गीता ६ । ७—९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति सम और शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं । जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है । सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

जो भक्तिमार्गसे भगवान्को प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।'

आगे १५ वें से १९ वें श्लोकतक उनके लक्षणोंका और भी वर्णन है ।

इसी प्रकार जो ज्ञानमार्गसे परमात्माको प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गीता ५ । १८-१९)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं । जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, एवं जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

इसके पूर्व २२ वें, २३ वें श्लोकोंमें और अन्य अध्यायोंमें भी इनके लक्षण बताये गये हैं ।

ये लक्षण जिनमें हों, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके आचरणोंका हमलोगोंको अनुकरण करना चाहिये एवं श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । भगवान्ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

' श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

इस प्रकार ज्ञानी महात्माओंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेपर या उनकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा-भक्ति-

पूर्वक चलनेपर अविवेकी अज्ञानी पुरुषका भी कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३ । २५)

'(ध्यानयोगी, सांख्ययोगी और कर्मयोगीके अतिरिक्त) अन्य जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे तो इस प्रकार न जानते हुए भी दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा ज्ञानी महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक ही होता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(गीता ७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे महापुरुष कम हैं, किंतु हैं अवश्य। महापुरुष संसारमें सदासे होते आये हैं और वर्तमानमें भी हैं; किंतु वे श्रद्धा-प्रेमसे ही मिलते हैं। भगवान् भी श्रद्धा-प्रेमके बिना नहीं मिलते। अतएव उपर्युक्त लक्षणोंवाले ज्ञानी महात्माओंकी श्रद्धापूर्वक खोज करनी चाहिये। यदि कहें कि उनकी पहचान हम कैसे करें तो इसके लिये यह बहुत बलवती युक्ति है कि जिनके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे महात्माओंके उपर्युक्त लक्षण हममें आने लगें, हमारे लिये वे ही महात्मा हैं। इसके सिवा और उपाय ही क्या है। यदि कोई महापुरुष कहें कि मैं महात्मा हूँ तो उनके इस कथनपर श्रद्धा होती नहीं, बल्कि पहलेसे उनपर कुछ श्रद्धा रहती है तो वह भी इस कथनके बाद कम हो जाती है। और हम उनको लक्षणोंसे पहचान नहीं सकते; क्योंकि यह विषय स्वसंवेद्य है परसंवेद्य नहीं। महात्मा स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। महात्माओंके भीतरके लक्षण ही प्रधान होते हैं। बाहरके लक्षण तो कोई दम्भी पुरुष दम्भसे भी दिखला सकता है। महात्मा समदर्शी होते हैं, हेतुरहित दयालु और प्रेमी होते हैं, उनका अपना किसीके साथ भी किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहता है। उनके सारे कर्म लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये होते हैं। ऐसा होनेपर भी साधारण मनुष्य उनको पहचान नहीं सकता। जो कुछ जान सकता है वह भक्ति और विश्वासपूर्वक परम श्रद्धासे ही जान सकता है। मनुष्य जब महात्माको जान ले तो फिर उसे उनके पास जाकर जिज्ञासापूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद्‌ विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(गीता ४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

जो साधक श्रद्धेय महात्मा पुरुषकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आचरण करता है वह श्रद्धालु कहा जाता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके संकेतके अनुसार चलता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके सिद्धान्तके अनुसार चलता है। एवं वह तो सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु है जो महात्माके मनोऽनुकूल चलता है। यदि कहें कि महात्माके मनके भावोंका कैसे पता लग सकता है तो इसका उत्तर यह है कि जो श्रद्धालु मनुष्य सदा महात्माकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तके अनुसार चलता रहता है उसे उनके मनके भाव मालूम होते रहते हैं। ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यको महात्माके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर श्रद्धा होती है। प्रत्यक्षमें चूना, सीमेंट, ईंटका बना हुआ एक मकान दीख रहा है। उसको यदि महात्मा सोनेका मकान बतलाते हैं तो उस श्रद्धालुको वह मकान सचमुच सोनेका ही दीखने लगता है। यह है महात्मामें परम श्रद्धा! ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यके लिये महात्माके दर्शन, भाषण, चरणस्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन सभी कल्याणकारक होते हैं।

जैसे एकलव्य भीलकी द्रोणाचार्यमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे वह बाणविद्यामें अर्जुनसे भी बढ़कर हो गया (देखिये महा० आदि० अ० १३१)। जैसे जबालाके पुत्र सत्यकामकी महर्षि हारिद्रुमत गौतममें परम श्रद्धा थी, जिसको गुरु-आज्ञापालनके प्रभावसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य उप० ४ । ४–९)। जैसे उपकोसलकी सत्यकाममें परम श्रद्धा

थी, जिसको गुरुसेवाके प्रभावसे अग्नियोंद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य उप० ४ । १०–१४) । एवं जैसे राजा द्रुपद और उसकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे उनके यहाँ कन्याके रूपमें पैदा हुई शिखण्डिनी 'शिखण्डी' नामक पुरुषके रूपमें बदल गयी (महा० उद्योग० १८८–१९२) । इसी प्रकार हमलोगोंको महात्मामें परम श्रद्धा करके लाभ उठाना चाहिये ।

उपर्युक्त लक्षणोंवाले श्रद्धेय महापुरुषमें भी श्रद्धा होनी सहज नहीं है, किंतु भगवान्‌की या महापुरुषोंकी कृपासे ही उनमें श्रद्धा होती है । श्रद्धा हटनेमें तो कोई कठिनाई नहीं है । दोषदृष्टि करनेसे, दोषोंकी बात सुननेसे, नास्तिक अश्रद्धालुओंके संगसे श्रद्धा हटनी स्वाभाविक ही है । इसलिये किसी भी मनुष्यके दोषोंको न तो कहे, न सुने और न हृदयमें स्थान ही दे । पर-दोषदर्शन आदिमें लाभ तो है ही नहीं, बल्कि हानि-ही-हानि है । दोषोंके दर्शन, श्रवण, कथन, मननसे उनके संस्कार हृदयमें जम जाते हैं जिससे वे दोष भविष्यमें उस व्यक्तिमें भी घट सकते हैं । तथा जिसकी निन्दा की जाती है उसकी आत्माको दुःख पहुँचता है; इसलिये पर-दोष-चर्चासे पाप भी लगता है । दोषीके दोषकी चर्चा करनेसे उसके दोषका हिस्सा भी चर्चा करनेवालेको प्राप्त होता है । यह तो मनुष्यमात्रकी बात हुई । फिर ईश्वर और ज्ञानी महात्मा पुरुष तो स्वाभाविक ही निर्दोष हैं । निर्दोष व्यक्तिमें दोषकी कल्पना करनेसे और भी अधिक दोष लगता है इसलिये परदोष-दर्शनसे तो कल्याणकामी मनुष्यको सदा दूर ही रहना चाहिये ।

(३) गीतादि शास्त्रोंपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंपर इस प्रकार श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि उनमें जो भी उपदेश हैं वे सत्य एवं कल्याणकारक हैं । ऐसा समझकर श्रुति एवं ऋषिप्रणीत स्मृति, इतिहास-पुराण तथा गीता आदि जितने भी शास्त्र हैं उनमें बतलायी हुई भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, कर्मयोग, सदाचार आदिकी सार-सार बातोंको श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये । उदाहरणके लिये श्रीमद्भगवद्गीताको ही ले लीजिये । गीता सर्वशास्त्रमयी है । महाभारतमें बतलाया गया है—

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
(महा० भीष्म० ४३ । २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं ।'

गीता सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है एवं सारे उपनिषदोंका भी सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
(गीतामाहात्म्य)

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले हैं, अर्जुन ही बछड़े हैं, श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न मनुष्य ही दुग्धपान करनेवाले हैं और गीतारूप महान् अमृत ही दुग्ध है ।'

गीताकी बड़ी भारी महिमा है । जो गीताके अर्थ और भावको समझकर स्वाध्याय करता है उसके द्वारा भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं—यह स्वयं भगवान् ही कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
(गीता १८ । ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है । गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त होता है किंतु गीतारूप गङ्गामें स्नान करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर देता है । जो मनुष्य गीताका नित्य पाठ करता है उससे वह श्रेष्ठ है जो उसके अर्थ और भावको समझकर पाठ करता है किंतु वह तो सर्वश्रेष्ठ है जो उसके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाता है । अतः गीताको अपने जीवनमें लानेके लिये इसका अच्छी प्रकार अभ्यास करना चाहिये । श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता ॥
(महा० भीष्म० ४३ । १)

'अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है, केवल गीताका ही भली प्रकारसे अर्थ और भाव समझते हुए गान करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् विष्णुके साक्षात् मुख-कमलसे प्रकट हुई है ।'

गीताका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेनेपर आत्मोद्धारके

लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रहती। यह कथन शास्त्रोंकी अवहेलनाके लिये नहीं है। यह तो गीताकी विशेषता दिखलानेके लिये ही कहा गया है।

गीतामाहात्म्यमें बताया गया है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥

'जो मनुष्य मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक इस पुण्यमय गीताशास्त्रका पठन करता है वह भय, शोक आदिसे रहित हो श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

गीतामें भी भगवान्‌ने स्वयं इसे शास्त्र कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥
(गीता १५। २०)

'निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।'

इस गीताका जो संसारमें प्रचार करता है, उसकी तो भगवान्‌ने और भी विशेष महिमा बतलायी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(गीता १८। ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

गीतामें भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग और सदाचारकी बातें भरी हुई हैं। अतः जो श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक इसका श्रवण, मनन और अध्ययन करके उसके अनुसार आचरण करता है उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है, किंतु जो शास्त्रकी मर्यादाको छोड़कर मनमाना आचरण करता है उसके किये हुए अच्छे कर्म निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है वह न सिद्धिको प्राप्त होता है न परमगतिको और न सुखको ही।'

शास्त्रकी मर्यादाके बिना भी स्वाभाविक श्रद्धा भी होती है। श्रद्धाके विषयमें अर्जुनने गीताके सत्रहवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें प्रश्न किया है कि शास्त्रमर्यादाके बिना मनुष्य जो यज्ञ, पूजा आदि करता है, उसका वह कर्म सात्त्विक है या राजस अथवा तामस। अर्जुनके इस प्रश्नपर ये चार प्रश्न उठते हैं—(१) जिसमें शास्त्रमर्यादा भी नहीं है और श्रद्धा भी नहीं है, वह कर्म कैसा है? (२) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा दोनों हैं, वह कर्म कैसा है? (३) जिसमें शास्त्रमर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है, वह कर्म कैसा है? (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म कैसा है? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही बतलाया है कि (१) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा दोनों ही नहीं हैं वह कर्म तामसी है (देखिये १७। १३); (२) जिसमें ये दोनों हैं वह कर्म सात्त्विक भी होता है और राजस भी। शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक निष्काम भावसे किया हुआ कर्म सात्त्विक है (देखिये गीता १७। ११) और शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक सकाम भावसे किया हुआ कर्म राजस है (देखिये १७। १२)। (३) जिसमें शास्त्रमर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है वह कर्म असत् है (देखिये १७। २८।) (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म सात्त्विक, राजस, तामस तीनों प्रकारका होता है (देखिये १७। २)।

अतः हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंके अनुसार श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

(४) अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास

प्रथम यह विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य जो कुछ बुरा या भला अथवा बुरा-भला मिला हुआ कर्म करता है उसका फल उसको इस जन्ममें और भावी जन्ममें अवश्य मिलता है। किंतु जो निष्कामभावसे कर्म किया जाता है उसका फल कहीं नहीं मिलता। भगवान् कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥
(गीता १८ । १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भी परलोक है । जो ऐसा समझता है उसके द्वारा कभी पापकर्म नहीं हो सकता; क्योंकि वह जानता है कि शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि ॥

'अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल मनुष्यको अवश्य भोगना पड़ता है । फल भोग किये बिना सौ करोड़ जन्मोंमें भी कर्मका क्षय नहीं होता है ।' यदि कहें कि जप-तप आदिके रूपमें प्रायश्चित्त करनेपर पापकर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता सो ठीक है—यह प्रायश्चित्त भी तो एक प्रकारका कर्मफल-भोग ही है ।

मरनेके बाद आत्मा अवश्य है—इसमें श्रद्धा-विश्वास करना यह अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करना है । मरनेके बाद आत्मा निश्चय है ही । भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
(गीता २ । १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(गीता २ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।'

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(गीता २ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है ; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।' वेदोंमें भी बतलाया गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(शुक्लयजुर्वेद अ० ४० मं० ३)

'जो कोई भी मनुष्य आत्माका हनन करनेवाले होते हैं, वे मरकर नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन भयंकर लोकोंको बारंबार प्राप्त होते हैं जो अज्ञान—दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं ।'

परलोक युक्तिसे भी सिद्ध है । जब बच्चा जन्मता है तब वह जन्मते ही रोता है; क्योंकि जन्मके समय उसको महान् कष्टका अनुभव होता है—यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । कभी-कभी बच्चा हँसता भी है इससे अनुमान होता है कि उसे सुखका अनुभव होता है; क्योंकि जब-जब उसे पूर्वजन्ममें दुःख हुआ है तब-तब वह रोया है और जब-जब सुख हुआ है तब-तब हँसा है । इस जन्ममें तो उसको रोने या हँसनेकी कोई शिक्षा मिली नहीं और न माताके उदरमें ही मिली । अतः इसमें उसका पूर्वजन्मका रोने या हँसनेका अभ्यास ही कारण है । इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है और पूर्वजन्मके साथ ही यह वर्तमान जन्म उसके लिये भावी जन्म सिद्ध हो गया । तथा जब माँ बच्चेके मुँहमें स्तन देती है तो स्तन मुखमें देनेमात्रसे तो दूध उसके पेटमें नहीं जाता, बच्चा स्वयं दूधको खींचता है तभी दूध पेटमें जाता है । दूध खींचनेकी इस प्रक्रियामें वह पूर्वजन्मसे ही अभ्यस्त है । बच्चा सोता भी है तथा कभी-कभी मृत्युके भयसे भीत हो काँपता भी है; क्योंकि वह पूर्वमें बहुत बार मर चुका है । ये सब बातें उसने इस जन्ममें तो कहीं सीखीं नहीं । अतः इन सब संस्कारोंसे भी उसका पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है ।

संसारमें कोई पशु-पक्षी और कोई मनुष्य, कोई सुखी और कोई दुखी, कोई गरीब और कोई धनी, कोई रोगी और कोई नीरोग होता है । ये सब उसे जन्मसे ही प्राप्त हैं तो इस

जन्ममें तो छोटे बच्चेने कोई कर्म किया ही नहीं, जिसका यह फल हो। अतः इसके पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनुसार ही यह सब होता है—ऐसा मानना होगा; क्योंकि इस प्रकारकी विषमताका अन्य कोई कारण नहीं दिखायी देता। इन सब युक्तियोंसे भी पूर्वजन्म और भावी जन्म सिद्ध हो जाता है।

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंका त्याग करके भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण, सदाचारका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यका इसी जन्ममें कल्याण हो सकता है। यदि कुछ कमी रह गयी और पहले ही मृत्यु हो गयी तो भावी जन्ममें निश्चय ही कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
(गीता ६। ४३)

'वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और कुरुनन्दन अर्जुन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है।'

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥
(गीता ६। ४४)

'वह योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके कारण विषयोंके पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है। अर्थात् संसारसागरसे तर जाता है।'

यदि कहें कि शास्त्र और युक्तिको हम नहीं मानते। परलोक है या नहीं—यह मालूम नहीं तो इस प्रकारका संदेह होनेपर भी परलोकको माननेमें ही बुद्धिमानी और लाभ है; क्योंकि जिस प्रकार ऊपर युक्तिसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है, वैसे ही परलोकको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है।

यदि ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और युक्तिपर भी विश्वास न हो तो मनुष्यको कम-से-कम अपनी आत्मापर तो अवश्य ही विश्वास करना चाहिये। यह भी आत्मापर विश्वास करना है कि अपने अन्तःकरणमें मनुष्य जिस बातको अच्छा समझे उसको तो काममें लावे और जिसको बुरा समझे उसका सर्वथा त्याग करे। यह तो प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि जो कोई आपपर अत्याचार करता या आपके साथ बुरा व्यवहार करता है तो वह आपके दिलमें अखरता है, ऐसा व्यवहार करनेवाला आपकी दृष्टिमें बहुत ही नीचे दर्जेका आदमी है। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप किसीके साथ कभी ऐसा बुरा व्यवहार न करें। एक दूसरा आदमी आपके साथ अच्छा व्यवहार करता है, सेवा करता है, सुख पहुँचाता है, आपके मनके अनुकूल कार्य करता है या आपका परम हितैषी है तो आपकी दृष्टिमें वह बहुत भला आदमी है—यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप भी सबके साथ ऐसा ही सद्व्यवहार करें। इसके सिवा आपके सामने अन्य कोई भी कार्य आकर प्राप्त हो उसके विषयमें आप अपनी आत्मामें विचार करते रहें और जिसको आपकी आत्मा बुरा स्वीकार करे उसका आप सर्वथा त्याग कर दें एवं जिसको अच्छा समझे, उसका आप प्रयत्नपूर्वक सेवन करें।

उदाहरणके लिये एक ओर ब्रह्मचर्य-पालन है; दूसरी ओर व्यभिचार। इन दोनोंके विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि ब्रह्मचर्य-पालन बहुत उत्तम है, व्यभिचार बहुत ही नीच कर्म है। अतः ब्रह्मचर्यपालन करे, व्यभिचार कभी न करे। इसी प्रकार एक ओर दूसरेको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना है, दूसरी ओर दूसरेका अनिष्ट करना, उसे हर प्रकारसे दुःख पहुँचाना, अहित करना है। इस विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो वही उत्तर मिलेगा कि दूसरोंको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना ही श्रेष्ठ है और दूसरेका अनिष्ट करना, दुःख पहुँचाना, अहित करना अत्यन्त बुरा है। अतः परोपकार, सेवा, हित आदि करे, दूसरोंको सुख पहुँचावे, दूसरोंका अनिष्ट न करे, किसी भी प्राणीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचावे, अहित न करे। इसी तरह एक ओर सत्य, प्रिय, हितकर वचन है, दूसरी ओर असत्य, कठोर, अहितकर वचन है। इन दोनोंके सम्बन्धमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही उत्तम है;

असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन अत्यन्त बुरा है। अतः हमको सदा सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही बोलना चाहिये, असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन कभी नहीं बोलना चाहिये; इसी प्रकार अन्य सभीके विषयमें अपनी पवित्र और पक्षपातरहित बुद्धिसे विचार करके अपनी आत्मामें जो भाव या क्रिया अच्छी निर्णय हो उसे कटिबद्ध होकर तत्परतासे काममें लाना चाहिये तथा जो भाव या क्रिया अपनी आत्मामें बुरी निर्णय हो उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उपर्युक्त प्रकारसे विवेचन करके जो संसारमें स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित हो आचरण करता है, उस अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करनेवाले मनुष्यका भी कल्याण हो जाता है।

ऊपर बतलाये हुए ईश्वर, ज्ञानी महात्मा, गीतादि शास्त्र और अपनी आत्मा—इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो सकता है; तब फिर चारोंपर श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। गुण-बुद्धिसे श्रद्धा बढ़ती है और अवगुणबुद्धिसे श्रद्धा घटती है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषको सबमें गुण-बुद्धि करनी चाहिये, अवगुण-बुद्धि किसीमें भी नहीं करनी चाहिये।

तज पर अवगुन नीरको छीर गुननिसौं प्रीति।
हंस संतकी सवदां 'नारायण' यह रीति॥

ब्रज और वल्लभ-सम्प्रदाय

(लेखक—श्रीमाधवजी गोस्वामी)

यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदायका मूल स्रोत दक्षिण भारत है, यह बात सत्य है, तथापि धर्मसाधनाका इतिहास देखनेपर यह निष्कर्ष निकलेगा कि वल्लभ-सम्प्रदायका पूर्णरूपेण विकास एवं प्रसार तो उत्तर भारतीय व्रज-प्रदेशमें ही हुआ है।

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादके आदि स्रष्टा महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण जब भारत-भूमिका परिभ्रमण करते हुए व्रज-मण्डलमें पधारे, तब मथुरामें उनके तीर्थपुरोहित उजागर चौबे थे। दिल्लीके राज्यासनपर उस समय सिकन्दर लोदी आरूढ़ था। उसने हिंदुओंपर व्रजपरिक्रमा करनेके लिये प्रतिबन्ध लगा रक्खा था। श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणोंने जब अपने पुरोहितके सामने व्रजयात्राकी इच्छा प्रकट की, तब पुरोहित उजागर चौबेने यह निवेदन किया कि यात्रा करनेमें राज्यकी ओरसे प्रतिबन्ध है। कुछ समयके पश्चात् जब श्रीमहाप्रभुजीके दर्शन बादशाह सिकन्दर लोदीने किये, तब वह आपके प्रभावसे प्रभावित हो गया और उसने अपने राज्यके चित्रकार होनहारको आचार्यचरणोंका चित्र बनानेकी आज्ञा दे दी। उसी समयसे प्रत्येक हिंदूके लिये व्रजयात्रा करनेका मार्ग खुल गया और सभी लोग आनन्दपूर्वक धर्मकार्य करनेमें प्रवृत्त हो गये; राज्यकी ओरसे कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा।

श्रीमन्महाप्रभुने उसी समय ८४ कोशकी व्रजपरिक्रमा की और व्रजका महत्त्व बढ़ाया। श्रीगोवर्धनगिरिसे श्रीगोवर्द्धनधारी श्रीनाथजीका प्राकट्य हुआ, श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे एवं स्वप्नमें की गयी श्रीनाथजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके आपके अनन्य सेवक पूरनमल्ल क्षत्रियके द्वारा गोवर्धन पर्वतपर मन्दिर निर्माण हुआ। आचार्यचरणोंने उस मन्दिरमें श्रीनाथजीको पधराकर सेवाप्रकार आरम्भ किया।

श्रावण शुक्ला एकादशीकी मध्यरात्रिको श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण गोकुल ठकुरानीघाटपर पौढ़े हुए थे, तब साक्षात् श्रीनाथजीने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि 'कलिप्रवाहके कलुषित वातावरणकी ओर बढ़ते हुए जीवोंको शरण लेकर उन्हें सर्वोच्च भूमिकाका दिग्दर्शन कराकर उनका उद्धार करो।' साक्षात् प्रभुके श्रीमुखसे पञ्चाक्षर गद्यमन्त्रकी आज्ञा पाकर लोकोद्धारके लिये श्रीमहाप्रभुजीने आत्मनिवेदनका प्रकार प्रचलित किया और अनेकों दैवी जीवोंका उद्धार किया। तभीसे आपका नाम 'दैवोद्धारप्रयत्नात्मा' प्रसिद्ध हो गया। व्रजमें आपके चार सेवक भक्त कवि हुए—श्रीसूरदासजी, कुंभनदासजी, परमानन्ददासजी और कृष्णदासजी। ये चार महानुभाव अष्टछाप कवियोंके प्रारम्भके चार कवि हैं।

सोलहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणके द्वितीय पुत्र गुसाँईजी श्रीविट्ठलनाथजी (चुनार) चरणाटमें प्रकट हुए। वल्लभ-सम्प्रदायका सर्वाङ्गीण विकास इन्हींके समयमें हुआ।

श्रीमहाप्रभुजीके तिरोधानके बाद श्रीगुसाँईजी विट्ठलनाथजीने अधिकतर अपना जीवनकाल व्रजमें ही व्यतीत किया। श्रीनाथजीका सम्पूर्ण सेवाप्रकार, ऋतु-अनुसार शृंगार, वस्त्र, भोग, कीर्तन आदि समस्त प्रकार आपने प्रचलित

किये। गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास एवं नंददास —ये चार अष्टछापके भक्तकवि आपके ही सेवक हुए। श्रीगुसाँईजी अपने सातों पुत्रोंसहित कुछ समय गोकुल भी विराजे, कुछ कालतक गोपालपुर भी विराजे तथा कुछ समय तक मथुराके सतघरेमें भी रहे।

यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि भारतीय कलाके विकासमें वल्लभ-सम्प्रदायको जो अग्रस्थान दिया जा रहा है तो यह गुसाँईजी श्रीमद्विठ्ठलनाथजीके ही प्रयत्नोंका सुपरिणाम है। आज भी सम्प्रदायमें उन प्राचीन कलाओंका सुचारुरूपसे संरक्षण हो रहा है। वल्लभसम्प्रदायमें चित्रकलाका विकास सर्वाधिक हुआ है। हमारे मन्दिरोंमें चित्रित पिछवाइयोंमें अङ्कित विविध भगवल्लीलाओंके जैसे चित्र उपलब्ध होते हैं, वैसे अन्यत्र कहीं नहीं मिलते।

संगीतका सर्वतोमुखी विकास एवं उसका प्रसार तो सोलहवीं शतीमें व्रजभूमिमें वल्लभ-सम्प्रदायमें ही हुआ है जब कि सूरदासादि अष्टछाप महानुभावोंकी स्वर-साधना भारतके कोने-कोनेमें गूँज रही थी। उस कालमें श्रीप्रभुचरणोंके दिव्य प्रतापसे प्रभावित बादशाह अकबर भी पुष्टिमार्गके प्रति आदर-दृष्टिसे देखता था। महानुभाव अष्टछाप भक्त कविगण श्रीगिरिराजपर स्थित मन्दिरमें श्रीनाथजीके सम्मुख आठों दर्शनोंमें ऋतुके अनुसार पद गाया करते थे। एक बार राजा मानसिंह कुम्भनदासजीके पदोंको सुनकर बड़े प्रभावित हुए और उनकी कुटियापर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि कुम्भनदासजीके पास आरसी नहीं है और वे जलमें प्रतिबिम्ब देखकर तिलक लगा रहे हैं। तब राजा मानसिंहने अपने पाससे स्वर्णकी आरसी समर्पित करते हुए पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं?' प्रत्युत्तरमें उन्होंने यह कहा कि 'मैं यह चाहता हूँ कि भविष्यमें तुम अपना मुख मत दिखाना। तुम्हारे यहाँ आनेपर मेरा भगवद्भजन छूट जाता है।' भक्तकविकी इतनी त्यागमयी वृत्ति देखकर राजा मान मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। बादशाह अकबरने एक बार कुम्भनदासजीको गानेके लिये फतहपुर-सीकरी बुलाया। क्लिष्ट मनसे वे वहाँ गये। बादशाहके सम्मुख उन्होंने निर्भीकतासे यह पद गाया—

भक्त को कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयौ हरिनाम॥
जा को मुख देखत दुख उपजे ता को करन परयो प्रनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु यह सब झूठो धाम॥

भक्तके निर्भीक वचनोंके आगे बादशाह कुछ न कह सके। धन्य हैं श्रीहरिकी चिरन्तन साधनामें रत ऐसे महामहिम भक्तोंकी पुनीत पद-रजको।

एक समय भारतके संगीतसम्राट तानसेन श्रीगुसाईंजीके पास आये। उन्होंने अपनी कला आपके सामने प्रदर्शित की। कलाकी प्रशंसा करते हुए श्रीगुसाँईजीने उनको बहुत द्रव्य प्रदान किया, साथमें एक कौड़ी भी दी। जब तानसेनने इसका कारण पूछा, तब आपने यह बतलाया कि 'भक्तिरससे ओत-प्रोत हमारे अष्टसखा कवियोंके आगे भगवद्रससे विहीन तुम्हारा यह लोकग्राही संगीत एक कौड़ी बराबर ही है।' आपके मर्मवाक्य सुनते ही तानसेनने अष्ट-सखाओंकी भक्ति-काव्यधाराके निर्मल प्रवाहसे आप्लावित पद-रचना सुननेकी इच्छा प्रकट की। उसी समय प्रभुचरणोंने गोविन्द स्वामीको बुलाया; उन्होंने 'श्रीवल्लभरूप-अनूप स्वरूप कह्यौ न जाई' यह मधुरतम पद गाकर तानसेनको सुनाया। पद सुनते ही तानसेन भावके आवेशमें मुग्ध-से हो गये।

उस युगमें जब स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजूगोपाल आदि स्वर-साधनामें रत महापुरुषोंकी स्वरमयी मधुरतम वाणी उत्तराखण्डको भक्तिरसके प्रोज्वल निर्मल प्रवाहसे आप्यायित कर रही थी, तब व्रजमण्डलमें सूरदास आदि अष्टछाप महानुभावोंकी भक्ति-रससे ओतप्रोत काव्यधारा, भक्ति-रसकी एक अविरत तरंगिणी मानव-हृदयकी कोमल चातक-वृत्तियोंके साथ घुल-मिलकर मानव-जीवनको एक आध्यात्मिक शक्ति, दिव्य प्रेरणा एवं अमरता प्रदान कर रही थी। उन महान् विभूतियोंके पद-चिह्नोंपर चलकर उनके अलौकिक जीवनकी आलोक-रेखाएँ लेकर अन्धकारमय तमस्से व्याप्त धूमिल जगत्में भटकते हुए अन्य मध्यकालीन कविगण भी वर्तमान हिंदीसाहित्य-जगत्में अपनी अमर रचनाओंके द्वारा अविचल स्थान पानेमें समर्थ हुए।

सम्राट् अकबरके ऊपर श्रीप्रभुचरणोंकी किस प्रकार अनुकम्पा हुई, यह बात हम इतिहासके अवलोकन एवं साम्प्रदायिक वार्तासाहित्यके अध्ययनसे जान सकेंगे। वहाँ एक उदाहरणसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है।

जन्माष्टमीके अवसरपर एक बार बीरबल गोकुल आये। बादशाह भी दिल्लीसे उनके पीछे-पीछे अज्ञातावस्थामें गोकुल आ गये। वहाँ नन्दमहोत्सवमें श्रीनवनीतप्रियजीके

श्रीविट्ठलनाथजी पलना झुला रहे थे । श्रीछीतस्वामी 'प्रिय नवनीत पालने झूलें श्रीविट्ठलनाथ झुलावें हो' यह राग आसावरीका कीर्तन बोल रहे थे । दर्शन होनेके बाद बाहर आकर बीरबलने बादशाहसे पूछा—'आज श्रीगुसाईंजी श्रीठाकुरजीको पलनेमें झुला रहे थे आपने देखा?' तब अकबरने कहा—'नहीं, मुझे तो ये दर्शन हुए कि श्रीविट्ठलनाथजी पलनेमें झूल रहे थे और श्रीठाकुरजी झुला रहे थे।' यही अलौकिक करुणाका फल था जो एक अन्यधर्मीको भी ऐसे भावपूर्ण अलौकिक दर्शन हुए ।

इस प्रकार १६वीं शतीमें श्रीविट्ठलनाथजीका प्रभाव बहुत फैला हुआ था । तभी पुष्टिमन्दिरोंमें भारतकी संगीत, चित्र, शिल्प, पाक आदि लोकानुरञ्जनकारिणी कलाओंको प्रश्रय दिया गया ।

वह समय पुष्टिमार्गका एक सुवर्णयुग था; क्योंकि श्रीमत्प्रभुचरणोंमें विद्वन्मण्डन, शृङ्गाररसमण्डन, भक्तिहंस, भक्तिहेतुनिर्णय, विज्ञप्ति आदि महान् ग्रन्थोंका निर्माण इसी युगमें किया था ।

अधिकारके मदमें आकर कृष्णदासजीने जब आपकी श्रीनाथजीकी सेवामें प्रतिबन्ध लगा दिया, तब चन्द्रसरोवर-जैसे एकान्त स्थानपर छः मासतक आपने विप्रयोगावस्थामें समय व्यतीत किया । तदनन्तर मथुरामें जब इस बातके लिये कृष्णदासको कैद कर लिया गया, तब आपने यह आज्ञा की कि 'जबतक कृष्णदास छूटकर नहीं आयेंगे, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा ।' अपराधी जीवके अपराधोंको नहीं गिनते हुए उसपर सदैव अनुग्रह करना यही पुष्टिप्रभु एवं आचार्योंका अभयदान है । जब कृष्णदास छूटकर गोपालपुर आये, तब अपने कृत्योंपर पश्चात्ताप करते हुए आपके चरणोंमें गिरकर अश्रुपातसहित उन्होंने यह पद गाया—

परम कृपाल श्रीबल्लभनंदन
करत कृपा निज हाथ दे माथैं ।
जे जन सरन आय अनुसरहीं
गहि सौंपत श्रीगोवर्धननाथैं ॥
परम उदार चतुर चिंतामनि
राखत भवधारा बहि जातैं ।
भज 'कृष्णदास' काज सब सरहिं
जो जानै सो श्रीविट्ठल नाथैं ॥

परमोदार कृपानिधि श्रीप्रभुचरणोंके जीवनमें ऐसे कई महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपलब्ध होते हैं । आपने मुसल्मान जीव रसखान, अलीखान, ताज आदि अनेक जीवोंको शरण लेकर इतिहासमें यह स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित कर दिया कि वल्लभसम्प्रदायकी दृष्टि संकुचित नहीं है । किसी भी जातिमें जन्मा हुआ दैवी जीव दृढ़ भक्ति एवं सच्चे हृदयकी साधनाके द्वारा चरम लक्ष्यपर पहुँच सकता है । एवं भगवद्भक्तिके द्वारा अपने जीवनको सर्वोच्च पथपर ले जाकर अपने केन्द्रबिन्दुरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गका अधिकारी बन सकता है ।

श्रीप्रभुचरणोंके चतुर्थ कुमार श्रीगोकुलेशजीने भी विधर्मी आन्दोलनोंको हटाकर पुष्टिमार्गकी प्रणालीकी अविचल रक्षा की । यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है । अतः इन सप्रमाण उदाहरणोंसे सिद्ध होता है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने दक्षिणमें प्रकट होकर भी अपने सिद्धान्तोंका प्रचार एवं अपने आराध्य श्रीगोवर्धनधर श्रीनाथजीका सेवा-प्रकार व्रजभूमिमें ही प्रारम्भ किया । इसीलिये व्रजमण्डलको अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने ११ वर्ष और ५२ दिवस सारस्वत कल्पमें रासादि सभी लीलाएँ यहीं की हैं । इसी दृष्टिबिंदुको लेकर भगवान् वैश्वानरावतार श्रीमहाप्रभुने अपने आराध्य लक्ष्यकी चिरंतन आराधनाके लिये अपने मार्गप्रचारके लिये नन्दनन्दनकी दिव्य लीलास्थली श्रीयमुनाजीसे परम पुनीत व्रजप्रदेशको ही चुना ।

अन्तमें हम प्रभुसे यही प्रार्थना करते हैं कि हमें व्रजका वास्तविक स्वरूप हृद्गत कराकर अपने श्रीचरणोंमें दृढ़ विश्वास प्रदान करें ।

* * *

मैं एकमात्र प्रभुका ही सेवक हूँ । एकमात्र प्रभु ही मेरे स्वामी हैं

किया कृपा कर प्रभुने मुझको अपना चिर सेवक स्वीकार ।
रहा न प्राणि-पदार्थ किसीका मुझपर अब कुछ भी अधिकार ॥
मेरा भी उठ गया सहज अधिकार सभी परसे अनिवार ।
एकमात्र मैं सेवक प्रभुका, केवल प्रभु मेरे भर्तार ॥

मधुर

प्रेम अनिर्वचनीय होता है तथा होता है सूक्ष्मतर एवं अनुभवरूप । प्रेम देना जानता है, लेना नहीं । भगवान् श्यामसुन्दरके लिये सर्वत्याग करके, प्रियतम श्यामसुन्दरको अपना सर्वस्व समर्पण करके, एक गोपी अपने तन-मन-वचनसे, अपने जीवनके कण-कणसे, क्षण-क्षण अनवरतरूपसे श्यामसुन्दरकी प्रेममयी पूजार्चना करती रहती है । किसीको पता नहीं, अन्तर्यामी स्वरूपसे काम न लें तो परम प्रियतम श्यामसुन्दरको भी पता नहीं कि वह कौन है । उसकी सर्वसमर्पणमयी अर्चनासे श्यामसुन्दरको सहज सुख मिलता है, पर वह इतनी रहस्यमयी अर्चना होती है कि विविध पूजा-सुखकी मधुर अनुभूति प्राप्त होनेपर भी पूजा करनेवालीका उन्हें पता नहीं है । एक अन्तरङ्ग प्रेमराज्यकी प्यारी सखीके बहुत आग्रह करनेपर वह गोपी अपनी सर्वस्वार्पणमयी परम विशुद्ध सेवाका किञ्चित् स्वरूप बतलाती है । वह कहती है—

'सखी ! (मेरे) मनकी बात केवल मन ही जानता है । वह अत्यन्त गोपनीय है, कहने योग्य नहीं है । (बात यह है कि—) एकमात्र प्रियतमसे ही मेरा नित्यका मधुर संयोग हो गया है । अग-जगकी सारी ममताएँ मिट गयी हैं, मायाके सारे बन्धन खुल गये हैं, अब कहीं, कभी, कुछ भी 'मेरा' नहीं रह गया है । एक प्रियतमसे ही (सारी ममताका) सम्बन्ध रह गया है । उनके सिवा अब जगत्में कोई भी प्राणी-पदार्थ 'मेरा' अपना-पराया नहीं रहा है । वे (परम प्रियतम) ही मेरे परम स्वार्थ हैं और वे ही मेरे समस्त पुरुषार्थ हैं ।'

मन की बात मन हि भर जानैं,
गोपन अति नहिं कहिबे जोग।
एक मात्र प्रियतम सौं मेरौ
भयौ, मधुर नित कौ संजोग॥
मिटी सकल ममता अग-जग की
खुले सकल माया के बंध।
रह्यौ न कितहुँ, कबहुँ, कछु अपनौ
रह्यौ एक प्रिय कौ संबंध॥
निज-पर कोउ न रह्यौ अब जग मैं
तिन बिनु मेरो प्रानि-पदार्थ।
बे ही परम स्वार्थ हैं मेरे,
बे ही मेरे सब पुरुषार्थ॥

(मेरा) मन उनका है, बुद्धि उनकी है, उनकी प्रीतिमें ही सारा ज्ञान भुला गया है । (मेरे) ये प्राण दिन-रात छिप-छिपकर उन्हींकी पवित्र पूजा करते रहते हैं । पल-पलमें नयी-नयी पूजा-पद्धति (प्रकट होती है), पल-पलमें नये-नये रसका आस्वादन होता है, और पल-पलमें बिना मर्यादाके सहज ही नये-नये सुखका, (नयी-नयी) सुखकी रुचिका और (नयी-नयी) सुखकी प्रीतिका संवर्धन होता है ।

मन तिन कौ, मति तिन की, रति मैं
तिन की ही बिसर्‌यो सब ग्यान।
निसि दिन करत रहत छिप-छिप, सुचि,
तिन की ही पूजा ये प्रान॥
पल-पल नव-नव पूजन-पद्धति,
पल-पल नव-नव रस-आस्वाद।
पल-पल बढ़त सहज सुख, सुख-रुचि,
सुख-रति नव-नव बिनु मरजाद॥

(परंतु मेरे) प्रियतमको अबतक यह पता नहीं लग पाया है कि यह मूक पुजारिन कौन है, जो समर्पित जीवन है, निरन्तर छिपी रहती है और नित्य मौन रहकर पूजामें लगी है । सखी ! मैं (भी) पगली हो गयी जो नित्य निरन्तर एकमात्र इसी प्रकारकी अभिलाषा करती हूँ । (अभिलाषा क्या है—) मेरे प्रियतम मुझे कभी विवेकसहित पूजा करती हुई देख न पायें । वे प्रियतम मेरे लिये सदा यही सन्दे

रहें कि यह श्रद्धा-प्रीति तथा पूजासे रहित है और वे सदा मुझे अत्यन्त दीन मलिन मानकर मुझपर करुणा (दया) करते रहें (प्रेम-सुख न दें) । मुझको पूजाका बस, एक यही फल अनिवार्य रूपसे मिलता रहे, मेरी यह पूजा नित्य बढ़ती रहे और (इस पूजामें ही) क्षण-क्षणमें मेरी अत्यन्त प्रीति अपाररूपसे बढ़ती रहे ।

प्रियतम अजहुँ जानि नहिं पाये,
है यह मूक पुजारिन कौन ।
अर्चन-रत नित, अर्पित जीवन
छिपी निरंतर रहती मौन ॥
सखि ! मैं भई बावरी या बिधि
करौं नित्य अभिलाषा एक ।
प्रियतम देख न पावैं कबहूँ
मो कूँ पूजा-रत सविवेक ॥
समुझैं सदा मोय वे प्यारे
श्रद्धा-प्रीति-अर्चना-हीन ।
करत रहैं वे करुना मो पर
जानि मोय अति दीन मलीन ॥
पूजा कौ फल मो कूँ बस, यह
मिलतौ रहै एक अनिवार ।
बढ़त रहै अर्चा नित मेरी
छिन छिन रति अति बढ़ै अपार ॥

इतनेपर भी प्राणप्रियतम मेरी पूजाकी कुछ भी बात न जान पायें । उनके लिये मेरी यह प्रियतम-पूजा सदा ही अज्ञात रहे । सखि ! वे मेरे प्रियतम पवित्र रसपूर्ण हृदय हैं, परम उदार हैं, वे जान जायँगे तो अपना स्नेह-सुधा-रस-सार मुझे दिये बिना मानेंगे नहीं और इससे (उनसे स्नेह-सुधा-रसका सुख पानेसे) यदि कहीं मेरे मनमें प्रियतमसे सुख प्राप्त करनेकी चाह जाग उठेगी तो फिर मेरी इस प्रकारकी न तो (विशुद्ध) पूजा-प्रीति रह जायगी, न यह (विशुद्ध) उत्साह ही रहेगा । इसीलिये मैं चाहती हूँ प्रियतमसे मुझे सुख न मिले, जिससे मेरे मनमें सुखकी कामनाका उदय ही न हो । इसीलिये मैं पूजाको सदा छिपाती रहती हूँ और छिप-छिपकर (अपने प्रियतमकी) सुन्दर छवि निरखा करती हूँ । मेरी यह पूजा प्रियतमके सुखके लिये अनन्त कालतक निरन्तर चलती रहे । इससे प्रियतमको नित्य नया-नया सुख मिलता रहे और उस नवीनताका कभी अन्त आवे ही नहीं ।

जान न पावैं तदपि प्रानप्रिय
मेरी पूजा की कछु बात ।
रहै सदा ही तिन कौं मेरी
यह प्रियतम-पूजा अज्ञात ॥
जानि जायँगे जो सखि ! प्रियतम
सरस हृदय सुचि परम उदार ।
मानैंगे न दिये बिनु मो कूँ
अपनौ नेह-सुधा-रस सार ॥
या तैं जौ जगि उठै कबहुँ, मो
मन प्रिय-सुख मिलिबे की चाह ।
या बिधि पूजा रति न रहैगी
नहीं रहैगो यह उत्साह ॥
सुख न मिलै प्रियतम तैं मो कूँ
जा तैं जगै न मन सुख-काम ।
पूजा सदा छिपाऊँ या तैं
छिप-छिप छवि निरखूँ अभिराम ॥
चलै सदा यह पूजा मेरी,
प्रियतम सुख-हित काल अनंत ।
मिलै सदा प्रिय कौं सुख नव-नव
नवता कौ नहिं आवै अंत ॥

इसपर क्या टीका की जाय । हृदयमें ही अनुभव कीजिये ।

गोवर्धन-पूजनका रहस्य

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य)

अहंकार जीवमें जैसे-जैसे जड़ जमाता जाता है वैसे-वैसे उसे पतनकी गहराईकी ओर घसीटता जाता है और वञ्चित जीवको उसका पतातक नहीं होता। देवताओंके राजा इन्द्र भी इस अहंकारके चपेटेमें आ गये थे। परिणाम यह हुआ कि वे परब्रह्म परमात्माको मरणधर्मा 'मनुष्य', उनके चिन्मय तत्त्वोंको 'जड' और लीला-सहचरोंको 'जंगली' मान बैठे थे[1]। इस तरह देवराजमें असुरताके बीज अहंकारका स्तर अत्यन्त उग्र होता गया।

दयावश भगवान् श्रीकृष्णने एक ओर तो इन्द्रके इस रोगकी चिकित्सा करनी चाही। दूसरी ओर, गोवर्धनगिरिकी 'चिन्मयता' भी व्यक्त कर देनेकी उनकी इच्छा हुई। अतः नन्दबाबासे कहकर उन्होंने 'इन्द्रयाग' पर रोक लगा दी और उन्हीं समस्त पूजन-सम्भारोंसे गोवर्धनकी पूजा करायी। भगवान्‌की यह योजना शङ्करजीको बहुत अच्छी लगी। वे दल-बल-सहित इस गिरिपूजनमें सम्मिलित हुए—

धत्तूरभङ्गाविषपानविह्वलो
हिमाद्रिपुत्रीसहितो गणावृतः।
आरुह्य नन्दीश्वरमादिवाहनं
समाययौ श्रीगिरिराजमण्डलम्॥

(गर्गसंहिता, गिरि० खं० २ । १४)

गोवर्धनपूजाका यह औचित्य राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, देवर्षियों और सिद्धोंसे भी छिपा न था। वे भी बड़ी प्रसन्नतासे इस समारोहमें उपस्थित हुए। देवगिरि सुमेरु और नगाधिराज हिमालयके लिये भी गोवर्धनगिरिकी चिन्मयता व्यक्त ही थी। इसलिये उनमें जातिगत ईर्ष्या या द्वेष नहीं जगा और वे भी बड़ी प्रसन्नतासे गोवर्धनके पूजन-समारोहमें उपस्थित हुए।

पूजनके समय स्वयं भगवान्‌ने एक विशाल रूप धारण कर अपनेको 'गोवर्धन' घोषित किया और इस तरह उन्होंने गोवर्धनगिरिसे अपनी 'अभिन्नता' प्रकट की। देवता और मनुष्य भी इससे कम प्रसन्न नहीं हुए। इन्होंने फूलों और खीलोंकी मुक्तहस्त वर्षा प्रारम्भ कर दी[2]। किंतु देवराजके अहंकारका पर्दा इतना घना हो चुका था कि वे गिरिराजकी भगवद्रूपता तनिक भी आँक न पाये, प्रत्युत ईर्ष्या और क्रोधसे जल उठे। प्रलयकारी मेघोंको आज्ञा दे बैठे कि वे व्रजको ध्वंस कर दें। स्वयं भी ऐरावतपर चढ़ मरुद्गणोंके साथ मेघोंकी सहायतामें आ डटे। इधर, भगवान्‌ने गोवर्धन-पर्वत एक ही हाथपर उठा इन्द्रकी सम्पूर्ण प्रलयङ्करी वर्षा निरर्थक कर दी। भगवान्‌ने मनसे ही शेष और सुदर्शनको आज्ञा दी और वे दोनों तत्क्षण वहाँ आकर उपस्थित हुए। चक्रने पर्वतके ऊपर स्थित हो जलसम्पात पी लिया और नीचे कुण्डलाकार हो शेषजीने सारा जलप्रवाह रोक दिया। गड्ढेके भीतर एक बूँद भी जल न जा सका।

जलौघमागतं वीक्ष्य भगवाँस्तद्गिरेरधः।
सुदर्शनं तथा शेषं मनसाज्ञां चकार ह॥
कोटिसूर्यप्रभं चाद्रेरूर्ध्वं चक्रं सुदर्शनम्।
धारासम्पातमपिबदगस्त्य इव मैथिल॥
अधोऽधस्तं गिरिं शेषः कुण्डलीभूत आस्थितः।
रुरोध तज्जलं दीर्घं यथा वेला महोदधिम्॥

(गर्गसंहिता, गिरि० खं० ३ । २०-२२)

जब इन्द्रने अपनी सारी शक्ति लगाकर देख लिया कि मनकी बात नहीं हुई, तब उनका अहंकार जाता रहा और तब उन्हें वस्तुस्थितिका ठीक-ठीक बोध हुआ। फिर तो वे अपनेको ही अपराधी पा भयभीत भी हो उठे और सीधे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर आ गिरे। अब उन्हें श्रीकृष्णके शुद्ध सत्त्वमय ज्ञानघन स्वरूपका परिज्ञान हुआ और तब वे यह भी जान सके कि किस प्रकार उनके भीतर अहंकार विध्वंसका कार्य कर रहा था। भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रको क्षमा कर दिया और इन्द्रने भी आकाश-गङ्गाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया। इस प्रकार गोकुलकी की गयी रक्षासे कामधेनु भी बहुत प्रसन्न हुई और उसने अपनी दुग्धधारासे भगवान्‌का अभिषेक किया।

---

[1] ... ...गोपानां काननौकसाम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्॥
(श्रीमद्भागवत १० । २५ । ३)

[2] देवेषु वर्षत्सु च पुष्पवर्षं
जनेषु वर्षत्सु च लाजसंघम्।
शैलोऽस्मि लोकानिति भाषयन् सन्
जघास सर्वं कृतमन्नकूटम्॥
(गर्गसंहिता, गिरि० खं० २ । २०-२१)

इन अभिषेकोंको देखकर गिरिराज गोवर्धनके हर्षका ठिकाना न रहा और वह द्रवीभूत हो बह चला। तब भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना करकमल उसपर रक्खा, जिसका चिह्न आज भी दीखता है—

तद्धस्तचिह्नमद्यापि दृश्यते तद्गिरौ नृप ।

(गर्गसंहिता, गिरि० खं० ४ । १२)

गोवर्धनकी चिन्मयताका स्पष्टीकरण गर्गसंहितामें हुआ है। अवतारके समय भगवान्‌ने राधासे साथ चलनेको कहा था। उसपर राधाजीने कहा था कि वृन्दावन, यमुना और गोवर्धनके बिना मेरा मन पृथिवीपर न लगेगा। यह सुन श्रीकृष्णने अपने हृदयकी ओर दृष्टि डाली थी, जिससे तत्क्षण एक सजल तेज निकलकर 'रासभूमि' पर जा गिरा था और वही पर्वतके रूपमें परिणत हो गया था। यह रत्नमय शृङ्गों, सुन्दर झरनों, कदम्ब आदि वृक्षों एवं कुञ्जोंसे सुशोभित था। उसमें अन्य भी नाना प्रकारकी दिव्य सामग्रियाँ उपस्थित थीं, जिन्हें देखकर राधाजी बहुत प्रसन्न हुईं।

एक और कथा है। भगवान्‌की प्रेरणासे शाल्मलीद्वीपमें द्रोणाचलकी पत्नीमें गोवर्धनका जन्म हुआ। भगवान्‌के जानुसे वृन्दावन और उनके वामस्कन्धसे यमुना प्रकट हुईं। गोवर्धनको भगवद्रूप जानकर ही सुमेरु, हिमालय आदि पर्वतोंने उसकी पूजा की और उसे गिरिराज बना उसका स्तवन भी किया।

एक समय तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें पुलस्त्यजी वहाँ आये। वे गिरिराज गोवर्धनको देख मुग्ध हो उठे और द्रोणके पास जाकर उन्होंने कहा—'मैं काशीनिवासी हूँ। एक याचना लेकर आपके पास आया हूँ। आप अपने इस पुत्रको मुझे दे दें। मैं इसे काशीमें स्थापितकर वहीं तप करूँगा।' इसपर द्रोण पुत्रके स्नेहसे कातर तो हो उठे। पर वे ऋषिकी माँग ठुकरा न सके। तब गोवर्धनने मुनिसे कहा—'मैं दो योजन ऊँचा और पाँच योजन चौड़ा हूँ। आप मुझे कैसे ले चल सकेंगे।' मुनिने कहा—'मैं तुम्हें हाथपर उठाये चला चलूँगा।'

उपविश्य करे मे त्वं गच्छ पुत्र यथासुखम् ।
वाहयामि करे त्वां वै यावत् काशीसमागमः ॥

(गर्गसंहिता, वृन्दावनखं० २ । ३१)

गोवर्धनने कहा—'महाराज ! एक शर्त है। यदि आप मार्गमें मुझे कहीं रख देंगे तो मैं उठ नहीं सकूँगा।' मुनिने यह शर्त स्वीकार कर ली। बाद, पुलस्त्य मुनिने हाथपर गोवर्धन उठाकर काशीके लिये प्रस्थान किया। मार्गमें व्रजभूमि मिली, जिसपर गोवर्धनकी पूर्वस्मृतियाँ जाग उठीं। वह सोचने लगा कि भगवान् श्रीकृष्ण राधाके साथ यहीं अवतीर्ण हो बाल्य और कैशोर आदिकी बहुत-सी मधुर लीलाएँ करेंगे ! उस अनुपम रसके बिना मैं रह न सकूँगा। ऐसे विचार उत्पन्न होते ही वह भारी होने लगा, जिससे मुनि थक गये। इधर, लघुशंकाकी भी प्रवृत्ति हुई। पश्चात् स्नान आदिसे निवृत्त होकर जब वे गोवर्धनको पुनः उठाने लगे, तब वह न उठा। गोवर्धनने मुनिको अपनी शर्तकी याद दिलायी और कहा—'अब मैं यहाँसे डिगनेका नहीं।' इसपर मुनिको क्रोध हो आया और वे उसे शाप दे बैठे—'तुमने मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं किया, इसलिये तुम प्रतिदिन तिल-तिल घटते जाओगे।' उसी शापसे गिरिराज गोवर्धन आज भी तिल-तिल घटता ही जा रहा है—

नित्यं संक्षीयते नन्द तिलमात्रं दिने दिने ॥

(गर्गसंहिता, वृन्दावनखं० २ । ४९)

इतना होनेपर भी, जबतक गङ्गा और गोवर्धन पृथिवीपर हैं, तबतक पृथिवीमें कलिका प्रभाव पूर्णरूपसे न जम सकेगा। इस तरह गिरिराजकी 'चिन्मयता' सुस्पष्ट हो जानेसे उसकी महत्ता स्वयं व्यक्त हो जाती है।

एक कथा है कि एक ब्राह्मण अपना ऋण वसूल करने मथुरा आया। लौटते समय उसने गिरिराजका एक गोल पत्थर भी साथ ले लिया। मार्गमें एक भयानक राक्षसने उसे घेरा। इसपर वह ब्राह्मण काँप उठा। वह इतना अधिक घबरा गया कि उसका हिलना-डोलना भी कठिन हो गया और वह रो पड़ा। राक्षस मुँह बाये सामने खड़ा था। ब्राह्मणने अपनी हत प्रभतामें गोवर्धनका वह पाषाणखण्ड ही उसपर दे मारा। गोवर्धनके इस पाषाणखण्डकी 'चिन्मयता'का ही यह अद्भुत प्रभाव था कि उसके स्पर्शमात्रसे राक्षसको नीच योनिसे छुटकारा मिल गया और उसकी काया दिव्य हो गयी। साथ ही, नभोमार्गसे तत्क्षण एक दिव्य विमान उतरा, जिसपर चढ़कर वह राक्षस 'गोलोक' चला गया। अतः गन्धमादनकी यात्रा अथवा अन्य नाना प्रकारके पुण्यों एवं तपस्याओंका जो फल प्राप्त होता है, उससे भी कोटिगुण अधिक फल गोवर्धनके दर्शनमात्रसे होना शास्त्रोंमें लिखा है।*

---

* यह लेख काशीस्थ गोयनका संस्कृत महाविद्यालयके पुराण-विभागाध्यक्ष पण्डित श्रीराममूर्तिजी शास्त्री (पौराणिक) द्वारा लिखित श्रीमद्भागवत-कथा (साप्ताहिक) के आधारपर लिखा गया है। श्रीपौराणिकजीकी लिखित श्रीमद्भागवत-कथा पुस्तक सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह पौराणिक-कार्यालय, डी० १ । ६५, ललिताघाट, वाराणसीमें मिलती है। मूल्य दस रुपये हैं—सम्पादक

नाद-ब्रह्म और उसका स्वरूप

(लेखक--श्रीलक्ष्मीनारायणजी गर्ग)

चेतन जगत्के समस्त जीवोंमें विचार प्रधान है जिसके द्वारा चेतन (प्राणी) में चेतना उद्भूत होती है । विचार एक ऐसी सत्ता है जो समस्त क्रियाकलापोंका कारण है । विचारके बिना न तो परमाणुमें कोई हलचल हो सकती है और न मनुष्यमें कोई क्रिया । विचार करनेकी शक्ति और उसकी सीमा प्रत्येक जीवमें भिन्न-भिन्न है । एक छोटा शिशु चन्द्रमाको देखकर उसकी ओर हाथ बढ़ा सकता है, उसे खिलौना समझकर; किंतु राकेटद्वारा चन्द्रमामें पहुँचनेका विचार वह नहीं कर सकता । इसीलिये शिशुके विचारकी एक सीमा है जो विस्तृत नहीं है ।

विचार करनेका माध्यम स्थूलरूपमें वाक्य हैं । भिन्न-भिन्न वाक्य मिलकर किसी भी वस्तुको रूप प्रदान करते हैं और तब उस रूपकी तदाकारताद्वारा वृत्ति विषयको प्राप्त होती है, जिसका रस जीवको प्राप्त होता है । वाक्योंका आधार शब्द हैं, जिनका चयन वाक्यके ढाँचेका निर्माण करता है । शब्दोंके स्वतन्त्र अर्थोंका संनिवेश वाक्यके विस्तृत अर्थको जन्म देता है । शब्दका आधार वर्ण है । भिन्न-भिन्न वर्ण अपने अर्थको आत्मसात् करते हुए शब्दरूपी अर्थका निर्माण करते हैं, वर्णका माध्यम ध्वन्यात्मक नाद है, ध्वन्यात्मक नाद सगुण है जिसका कारण निर्गुण नाद है ।

सुषुप्तिको छोड़कर जाग्रत् तथा स्वप्नकी अवस्थाओंमें प्रतिक्षण ज्ञानेन्द्रियाँ कार्यरत रहती हैं । बुद्धिके आश्रयसे मन ज्ञानेन्द्रियोंका संचालन करता है । बुद्धि स्वयंमें केवल एक यन्त्र है । यन्त्रके अतिरिक्त उसका और कोई अस्तित्व नहीं है । मनके ऊपर प्रत्येक वस्तुका एक प्रभाव पड़ता है, किंतु उस प्रभावका अर्थ उसे ज्ञात नहीं हो सकता अतएव उस प्रभावके प्रतिबिम्बको वह बुद्धिकी ओर प्रसारित करता है, तब कहीं जाकर बुद्धि अपने निर्णयसे मनको वस्तुके मर्मका बोध कराती है । तदनन्तर मन वस्तुके भोग अथवा अभोगके हेतु ज्ञानेन्द्रियोंको निर्देश करता है । इस प्रक्रियाको उदाहरणरूपमें हम इस प्रकार समझ सकते हैं‥‥‥'रात्रिके समय कहीं दूर एक प्रकाश-बिन्दु चमकता दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रभाव आँखके माध्यमसे मनतक पहुँचता है । मन उसका विश्लेषण करनेमें असमर्थ होनेके कारण बुद्धिका आश्रय लेता है । बुद्धि अपनी वृत्तियोंद्वारा उसको समझनेका प्रयत्न करती है । जबतक बुद्धिकी निश्चयात्मक वृत्ति नहीं होती तबतक वस्तुके प्रति संशयात्मक वृत्ति जागरूक रहती है । इसीलिये कभी वह प्रकाश हमें किसी झोंपड़ीमें जलते चिरागका प्रतीत होता है, कभी किसी बटोहीके हाथमें स्थित लालटेनका और कभी किसी गाड़ीके अग्रभागमें लगी रोशनीका । जब वस्तु हमारे निकट आ जाती है तब आँखद्वारा स्पष्ट देखनेपर पूर्वज्ञानके आधारपर प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा बुद्धि अपनी निश्चयात्मक वृत्तिको स्थिर कर देती है और मन उस वस्तुका भोग करता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारकी प्रक्रिया सूक्ष्मरूपसे बुद्धिके द्वारा ही सम्पन्न होती है जिसका आधार नाद है । मन जब किसी वस्तुके प्रभावका प्रतिविम्ब बुद्धिको प्रेषित करता है, तब उसमें भी एक अति संक्षिप्त विचारकी क्रिया सम्पादित होती है । यदि वह क्रिया सम्पादित न हो तो मन बुद्धितक कोई बात पहुँचा ही नहीं सकता, निष्क्रिय होकर रह जायगा । इसलिये मनके सीमित विचारका कारण भी नाद है । किंतु मन और बुद्धिके मूलमें जो दो नाद दृष्टिगोचर होते हैं, वे भिन्न-भिन्न नहीं, वस्तुतः वह एक ही नाद है । मन और बुद्धि अपनी शक्ति और सीमाओंके अनुसार एक ही नादसे विचारशक्ति ग्रहण करते हैं, जैसे एक मोटरके टायर और एक साइकिलके टायरमें वायु भरी जाय तो दोनोंकी वायु टायरकी सीमा और शक्तिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रतीत होगी, किंतु यथार्थमें यह एक ही वायुका परिणाम है । इस प्रकार यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है कि प्राणीमात्रके विचार करनेका एकमात्र साधन केवल नाद है जो अखण्डरूपसे समस्त सृष्टिमें विद्यमान है ।

अब हम नादकी शक्तिपर विचार करेंगे । पञ्चभूतोंमें आकाश सबसे सूक्ष्म है । आकाशका गुण नाद है । विचारका मूल होनेके कारण संसार नादका परिणाम है । यदि विचारका अस्तित्व न हो तो संसारके किसी भी प्राणीमें कोई हलचल नहीं हो सकती, सब कुछ जड-जैसा हो जायगा । जड पदार्थोंमें भी अति सूक्ष्मरूपसे क्रिया होती रहती है, परंतु उन

क्रियाको करनेवाले परमाणु भी विचार किया करते हैं। अतः नादका अस्तित्व न होनेपर जडका अस्तित्व भी नहीं रहेगा; पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश निश्चेष्ट हो जायँगे, इसीलिये ब्रह्माण्डीय ग्रहोंका आकर्षण-विकर्षण समाप्त हो जायगा और सब अपने कारण-शरीरमें समा जायँगे। उस कारण-शरीरमें नादका प्रभाव न होगा तो वह केवलमात्र अचेतन सत्ता कहलायेगी और यदि नादका प्रभाव उसमें हुआ तो उसे चेतनकी संज्ञा दी जायगी। नादकी इसी सत्ताके कारण आंत्माको चेतन माना जाता है, बल्कि निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही विशेषणोंको उसके लिये प्रयुक्त किया जाता है। आत्मा निष्क्रिय है और उसके अन्तरका नाद सक्रिय। यह नाद ही वह अविद्या अथवा माया है जो अपने प्रभावसे आत्मामें जीवकी प्रतीतिका भ्रम उत्पन्न करता है। वस्तुतः नाद और जीव अथवा माया और जीव एक ही हैं। जिसने तपके द्वारा इस नादतत्त्वका मूल अथवा सार प्राप्त कर लिया है वह संसारमें रहते हुए भी मुक्त है।

मतंगने कहा है—

नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः॥

नादके दो प्रकार हैं—पहला आहत और दूसरा अनाहत। जो नाद हमें कानोंसे सुनायी पड़ता है उसे 'आहत' कहते हैं और जो कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता उसे 'अनाहत' कहते हैं। ऐसा प्रचारमें है। यह अनाहत नाद ही समस्त आहत नादका कारण है। आहत नादमें मनको एकाग्र करने तथा जीवको आनन्द प्रदान करनेकी अपूर्व क्षमता है। किसी-किसी नादसे पशुओंके मन्त्रमुग्ध होनेकी कथाएँ भी हम सुनते हैं। अतः अलौकिक शक्तिवाला यह आहत नाद लोकरञ्जक है, अनाहत नाद कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता, अतः वह लोकरञ्जक नहीं। किंतु उसकी मधुरता और आनन्द प्रदान करनेकी शक्तिके विषयमें साधकोंने जो उक्तियाँ कही हैं वे आश्चर्यजनक हैं। उनका कहना है कि अनाहत नाद कानोंसे नहीं सुना जा सकता, वह केवल अनुभव होता है, किंतु आहतकी अपेक्षा आनन्द देनेकी शक्ति उसमें हजारों गुनी है। वह लोकके लिये रक्तिदायक नहीं, किंतु मुक्तिदायक है। नानक, कबीर, मीराँ, सूर तथा अनेक शब्दसाधकोंने उसी मुक्तिदायक नादका आश्रय लिया है। कबीरने कहा है—

भौंर गुफा पाँचों कर याना, बाजे ताल मृदंग बँधाना।
जब पाँचों दसके घर जाई, तब दस पाँचहि आन समाई॥
जब दस पाँच गुफा महँ आवहि, मधुरी तान अरध धुनि गावहि।
कोइ घंटा कोइ ताल बजावहि, कोइ सँखनाद कोइ झालरि लावहि॥
कोइ किंकिनि चिंचिनि किन्नरि बीना,
कोइ भेरि मृदंग औ ढोल सहीना।
कोइ तारी कोइ बैन बजावहिं,
रहसि रहसि नाना गुन गावहिं॥
साराँग जल तरंग धुनि धारी,
तबला चहुँ ओर नरसिंहा डफारी।
इहि बिधि भौंर गुफा धुनि गाजै,
नाना रंग मधुर धुनि बाजै॥

इसी प्रकार मीराँ, नानक आदिके भी अनाहतके प्रति एक ही अनुभव हैं जो साधनाके द्वारा प्रकाशित होकर आहत नादकी अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारी सिद्ध होते हैं।

सतगुरु सबद लखाया अंसरी, ध्यान लगाया धुन में।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मगन भई मेरे मन में॥

× × ×

भक्त सतगुरु पुरुष सोई, जिस हर प्रभु भाना भावये।
आनन्द अनहद बजें बाजे, हर आप गल मेलावये॥

—श्रीगुरु ग्रन्थ साहब

× × ×

अनहद शब्द उपज्यो मों घट में ताको ध्यान करु अष्ट जाम।
सरज रिषम गांधार मध्यम पंचम धैवत निषाद पावै ज्यों अति अभिराम॥

—तानसेन

पाश्चात्त्य साधकोंमें कीट्सके वाक्य भी विचारणीय हैं जिनमें एक स्थानपर उसने कहा है—

'Heard melodies are sweet but those unbeard are sweetest.'

अर्थात् जो धुनें सुनायी पड़ती हैं वे मधुर हैं, किंतु जो सुनायी नहीं पड़तीं वे मधुरतम हैं।

कवि जब काव्य-सृजनके लिये एकाग्र होता है, तब नये-नये भाव शब्दरूपी वाहनोंपर छन्दरूपी रथमें सजकर स्वयमेव आते हैं, किंतु कहाँसे, इसे कवि नहीं जानता। यथार्थमें उसे जो निधि प्राप्त होती है वह अनाहत नादका ही परिणाम है। भौतिक ज्ञान सम्पन्न करनेके लिये एकाग्र होना आवश्यक है जो आहत नादके माध्यमसे शीघ्र हो सकता है, इसीलिये

कलाकारकी स्थिति साधारण लोगोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट मानी जाती है। किंतु परम ज्ञानके लिये अनाहतका अनुभव कर उसके और पीछे अति सूक्ष्म नादकी अखण्ड सत्तामें जाना पड़ेगा जो ज्ञानका अक्षय भण्डार है, जहाँसे ज्ञानी ज्ञान बनकर ही लौटता है।

बुद्धिको नादसे जो शक्ति प्राप्त होती है वह सीमित है, इसीलिये उस शक्तिका विस्तार करनेके लिये विचारके द्वारा विचारके मूलतक पहुँचना आवश्यक है। विचार अर्थात् नादके द्वारा नादतक पहुँचनेकी क्रिया साधन है, जिसका मर्म शास्त्रकृपा, गुरुकृपा, ईश्वरकृपा और आत्मकृपाके बिना बोधगम्य नहीं। कवि और साहित्यकार विचार करते हैं अथवा नादमें अवगाहन करते हैं, यह एक ही बात है। चित्रकार भावनाओं अर्थात् विचारों (नाद) के माध्यमसे ही तूलिकाको मोड़ प्रदान कर रेखाओंका मनोहारी संयोजन करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार नर्तक या अभिनेता अङ्ग-भङ्गिमाओंद्वारा केवल विचार (नाद) और ताल (नाद-खण्ड) के आश्रयसे अपनी कला प्रदर्शित करनेमें समर्थ होते हैं। नादकृपासे ही इन सब विभूतियोंको लोक और अज्ञानाच्छादित परलोकका आनन्द प्राप्त होता है।

समस्त कलाओं और साधनोंका आद्यकेन्द्र या बिन्दु नाद है। यह अब अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती। किसी भी विचारके लिये प्रयोज्य शब्द भले ही साहित्यकी संज्ञा प्राप्त कर लें किंतु वह साहित्य वस्तुतः संगीत ही है, जो व्यक्ति स्फोट-सिद्धान्तका मर्म जानता है, वह शब्दके वर्णकी तरङ्गायित सत्ताके सहारे नादकी उस सीमाका स्पर्श करनेमें समर्थ हो सकता है जहाँ नादके लघु और दीर्घ स्वयंभू स्फुरण अर्थ लेकर स्वयं प्रकाशित होते हैं। इसीलिये संस्कृत भाषा अर्थ और व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे अन्य भाषाओंकी अपेक्षा पूर्णतया समृद्ध है। वास्तवमें सङ्गीत और साहित्यके प्राण, उनसे उत्पन्न भाव या अर्थमें नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष नादमें बसते हैं, इसीलिये किसी-किसी साहित्यको हम पढ़ना नहीं चाहते, गाना चाहते हैं।

नाद ही वेदोक्त स्वरका आधार है और वह स्वर, अक्षर तथा बीजका ओज है। स्फोटके आधारपर बीज-मन्त्र अथवा बीजाक्षर प्राणके उत्सर्पणद्वारा वृत्तिको नादके मूलतक पहुँचानेका अद्वितीय साधन हैं। प्राण अपनी स्पन्दनशक्तिके स्थित केन्द्र अखण्ड नादतक पहुँचकर स्थिर हो जाता है। यदि कोई व्यवधान न हो अर्थात् प्रारब्ध भोग शेष न हो तो जीवको तुरीयातीत अवस्था प्राप्त होती है, अन्यथा स्थितिसे पुनः गतिका जन्म होता है, अचल ही चलका कारण बनता है। नादशक्तिके स्पन्दनका कारण उसीका खण्ड (ताल) बनता है। तालकी विभिन्न गतियाँ भौतिक ज्ञान और अज्ञानका कारण बनती हैं, उसका तरङ्गायित रूप अर्थात् लय व्यवहार और पारस्परिक सम्बन्धकी सुदृढ़ भित्ति बनता है।

नादशक्तिका केन्द्रसे परिधिकी ओर और परिधिसे केन्द्रकी ओर तरङ्गित होना ही त्रयीसंस्थानको निर्मित करता है, जिसका परिणाम समस्त पिण्ड अथवा भूत भौतिक पदार्थ होते हैं, तीन लोक, तीन शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण), तीन काल (भूत, भविष्य और वर्तमान), तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति), तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु और महेश), तीन ग्राम (षडज, मध्यम और गान्धार), तीन स्वर, तीन सप्तक (मंद्र, मध्य और तार), तीन रंग, तीन वेद, तीन गुण (सत्त्व, रज और तम), तीन वर्ण, तीन लय (विलम्बित, मध्य और द्रुत) तथा त्रयीखण्ड (तिहाई, जो विशेषतया तालवाद्योंमें प्रदर्शित की जाती है और जिसके द्वारा मनुष्य प्रभावित होता है) आदि सभीको त्रयीसंस्थानके कारण ही इतना महत्त्व प्राप्त है।

नादका न आदि है न अन्त, इसीलिये वह जन्म और मृत्युसे परे है। विचार या ज्ञान (नाद) के समाप्त हो जानेपर उसके समाप्त हो जानेका जो ज्ञान शेष रहता है वह नाद (ज्ञान) के स्वतः सिद्ध होनेका साक्षी है। समस्त प्रमाणोंकी सिद्धिके लिये अन्ततोगत्वा नाद ही प्रमाण होगा जो किसी भी कर्ता, क्रिया एवं फलके अधीन नहीं। कर्ता कितना भी प्रयत्न करके उसके खण्ड नहीं कर सकता। यदि करेगा तो वह खण्ड भी नाद होगा। मान्यता कर्त्ताकी स्वतन्त्र कृति होती है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति उसे शब्द, ज्ञान, स्वर, श्रुति, ध्वनि तथा वृत्ति आदि मान सकते हैं, किंतु पुरुषभेद नादभेदका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि पुरुषविशेषद्वारा उसका निर्माण नहीं होता। नादके द्वारा ही इन सबका भेद सम्भव होता है। यदि किसी शक्तिको नादका कर्त्ता मानें तो नादरूप कर्मके पूर्व उसमें नादका अभाव स्वीकार करना पड़ेगा, किंतु उस अभावके अनुभव (ज्ञान) का कारण नादके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यदि नादको शक्तिका गुण मानें तो न्याय-सिद्धान्तके अनुसार गुणीमें गुणकी स्थिति माननी पड़ेगी, क्योंकि गुण नष्ट हो भी जाय, तब भी अपने कारणमें उसकी स्थिति रहती है। इसलिये शक्तिको नादरूप ही मान लिया जाय तो उसमें कोई दोष द्रष्टव्य नहीं होता।

कालके द्वारा नादको परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता । भूत और भविष्यका विचार करके कालकी धारामें नादके उदय और विलयकी कल्पना असंगत है; क्योंकि वह कल्पना स्वयं नादाधीन है । कालके खण्ड करनेपर नादके खण्ड नहीं किये जा सकते; क्योंकि माने हुए काल-खण्डोंका अनुभावी भी नाद होगा । यदि कालके खण्ड नहीं करते तो उसमें भूत-भविष्यका भेद व्यर्थ है । यथार्थमें कालभेदका विचार निर्मूल है; क्योंकि कालका अभाव भी काल होगा । अभावरहित वस्तु निरंश होती है और निरंशमें किसी प्रकारका विभाजन नहीं होता, केवल सांशमें होता है । भूत भविष्य संवित् मात्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । संविन्मात्रद्वारा संवित्‌को परिच्छिन्न नहीं बनाया जा सकता । अतः नाद कालपरिच्छिन्न नहीं ।

कालके समान देशका भी अभाव नहीं, जिस देशमें देशके अभावकी कल्पना की जायगी वह भी देश ही होगा, पूर्व-पश्चिमकी कल्पना वस्तुनिष्ठ नहीं, कालखण्डकी तरह संविन्मात्र है, किसी विषयकी प्रतीति देश, कालके आश्रित है और देश एवं काल विषय-भेदकी कल्पनापर आधारित हैं जो नादसत्तासे अभिन्न है, भिन्न समझनेपर उसे असत्य कहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, किंतु उस असत्यके संवित्‌का आधार नाद होगा, अतएव नादमें देशपरिच्छिन्नकी कल्पना अनुचित ही है ।

ज्ञानके बिना ज्ञेय और ज्ञेयके बिना ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती, दोनों एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं, किंतु नाद दोनोंकी, अतः वह स्वतः सिद्ध है । ज्ञानमें ज्ञाताका भेद औपाधिक है, नादका ज्ञान अथवा ज्ञानके लिये नाद दोनोंमें कार्य-कारण सम्बन्ध होनेसे विचारका विषय नहीं, यदि ज्ञेयरूप नादके पूर्व ज्ञान माना जाय तब भी नाद उसका प्रमाण होगा, अज्ञानके ज्ञानका साक्षी भी नाद है, यह हम पहले सिद्ध कर ही चुके हैं ।

ऋत्‌का अर्थ है संचालन और मननका अर्थ है चिन्तन, आत्मामें ये दोनों गुण विद्यमान हैं, आत्मस्थिति अर्थात् नादवृत्तिमें लीन रहना मुमुक्षुका स्वभाव होता है, इस विषय-रहित सत्यवृत्तिके लिये अन्य किसी भी उपादानकी अपेक्षा उसको नहीं होती, इसे अनुभवी पुरुष भलीभाँति जानते हैं, गुणातीत, इन्द्रियोंसे परे मन, वचन और बुद्धिसे अलग, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सनातन और सार्वभौम जो नादतत्त्व है उसको केवल योगियोंने जाना है, वेदमें उसकी अपार महत्ताका गुणगान किया गया है, इहलोक और परलोकका केवल वही एक आधार है । भगवान्‌ने कहा है—

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २१ । ३७)

अर्थात् 'मैं अनन्त शक्तिसम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ, मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है, जैसे कमलनालमें पतला-सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियोंके अन्तःकरणमें अनाहत नादके रूपमें उद्घाटित होती है ।'

जिस दिव्य ध्वनिमें वेदका सार निहित है वहाँतक पहुँचनेका एकमात्र साधन अनाहत नादका श्रवण (अनुभव) है । प्राचीन कालमें आर्यपुत्रोंको बाल्यकालसे ही वेद-मन्त्रोंके उच्चारणकी सत्-शिक्षा दी जाती थी, पाठ-के-पाठ कण्ठस्थ करा दिये जाते थे, भले ही वे उनका अर्थ समझें या न समझें, इस प्रणालीका रहस्य यही था कि स्वरोच्चारणद्वारा नादकी स्पन्दनशक्तिके प्रभावसे मुक्तिमार्ग सरल हो जाय । जीव अपनी अभिव्यक्तिके लिये नादके दो रूपोंका प्रयोग करता है जिसमें एक वर्णरूप कहलाता है और दूसरा स्वररूप । वर्णरूप नादकी व्याख्या न्याय, व्याकरण और पूर्व-मीमांसामें मिलती है । स्वररूप नाद संगीतशास्त्रका विषय है जिसके कुछ अंश ध्वनि-सिद्धान्तके रूपमें भारतीय साहित्यमें भी उपलब्ध होते हैं, सामसम्प्रदायके ऐसे अनेक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं जिनमें ध्वन्यन्तरालोंके पारस्परिक सम्बन्धद्वारा स्वर अथवा श्रुतिके द्वारा भिन्न-भिन्न भाव और रसोंकी उपलब्धिपर गूढ़ विवेचन प्रस्तुत किया गया हो, इसीलिये स्वरोंकी आकृति, रंग, जाति, देवता, जन्मस्थान तथा उनकी उत्पत्ति आदिका विषय समझनेमें आजका विद्यार्थी अपनेको असमर्थ पाता है, गान्धर्ववेदमें ध्वनिकी उत्पत्ति, प्रतिध्वनिके प्रकार, स्पन्दनकी विभिन्न शक्तियाँ, स्वर और कालके संयोग, स्वर और भावका पारस्परिक सम्बन्ध, स्वर और प्रकृतिका सम्बन्ध, स्वरके रूप तथा संकेत और शब्द-तत्त्व-आकर्षणपर सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया था; किंतु दुर्भाग्यसे वह भारतीय निधि आज लुप्त है ।

व्याकरणका स्फोट जो नित्य और स्वयंप्रकाश है वही गुप्तभेद या दिव्य नाद है । शब्दकी तरह स्फोट भी नित्यरूप होकर परब्रह्मसे अथवा सृष्टिकी सत्ताके साथ अर्थकी भाँति लगा रहता है और यही उस प्रकाशका निरूपक होता है, जिससे सत्ताका ज्ञान प्राप्त होता है, किंतु उसके द्वारा सत्ता-

का ज्ञान होनेके पूर्व इसे स्पष्ट ध्वनिसे प्रकट किया जाता है, नादानुसंधान उस ज्ञानतक पहुँचनेकी एक अद्वितीय चेष्टा है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'

अर्थात् एक ही शब्दके पूर्ण ज्ञान और सम्यक् प्रयोगसे ऐहिलौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंकी प्राप्ति होती है, यही वैदिक ज्ञानका रहस्य है । योगशिखोपनिषद्में कहा गया है—

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ।
नानुसंधेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम् ॥

अर्थात् नादसे बड़ा कोई मन्त्र नहीं है, अपने आत्मासे बड़ा कोई देव नहीं है, नादानुसंधानसे बड़ी कोई पूजा नहीं है और तृप्तिसे बड़ा कोई सुख नहीं है । समस्त योगदर्शनमें नादको ही महत्त्व दिया गया है, कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेके लिये योगीजन नादका ही आश्रय लिया करते हैं । स्थूलरूपसे संगीत-कलामें तरानेको इसीलिये महत्त्व प्राप्त है कि उसके ओंकार आदिक शब्द स्वरके सम्मेलनसे प्राणको सिद्ध कर कुण्डलिनी शक्तिके ऊर्ध्वगामी होनेका कारण बनते हैं ।

शब्दभेदसे नाद आठ रूपोंमें व्यक्त होता है, यथा—घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और ध्वंकृत । नवाँ महानाद इन सबमें व्याप्त रहता है । क्षेमराजने अपनी टीकामें इन आठ रूपोंकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'कानमें अंगुली डालनेसे जलती हुई आगके शब्दके सदृश जो शब्द सुनायी देता है, उसे 'घोष' कहते हैं । उस घोषके अन्तमें फूटे काँसेके शब्दके सदृश जो रूखा शब्द सुनायी देता है, उसे 'राव' कहते हैं । बाँसकी ध्वनिके अनुरूप जो नाद होता है, वह'स्वन' कहलाता है, जो समस्त शब्दोंका आधारस्वरूप है, उसे 'शब्द' कहते हैं । जिसके द्वारा वाक्य, पद और वर्ण भिन्न-भिन्न रूपमें स्फुरित होकर प्रतीत होते हैं, उसे 'स्फोट' कहते हैं । वीणामें पञ्चमके तारको छेड़नेपर जो सुखप्रद नाद उत्पन्न होता है, उसीके सदृश 'ध्वनि' होती है । वीणाके समस्त तारोंके एक साथ झंकृत होनेपर जो नाद प्रकाशित होता है, उसीके सदृश 'झंकार' होती है । 'ध्वंकृत' घण्टेके नादके समान होता है ।'

उपर्युक्त सभी नाद सार्थक हैं । इसे आजका विज्ञान सिद्ध करता जा रहा है । अधिक-से-अधिक २५ हजार प्रति सेकंडकी कम्पन-संख्यावाले नादको कानोंसे सुना जा सकता है; किंतु सत्तर हजार प्रति सेकंडकी कम्पन-संख्यावाले नादको मनुष्यके कान नहीं सुन सकते । पशुओंमें विशेषकर श्वानमें इतनी कम्पन-संख्यावाले नादको सुननेकी अलौकिक शक्ति होती है । पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इस नादद्वारा लोहे-जैसी कड़ी धातुको काटने तथा विभिन्न रसायनोंके सहज सम्मिश्रणके लिये अपने प्रयोग कर रहे हैं, जो नाद-विज्ञानके रूपमें शीघ्र ही हमारे सामने उपस्थित होंगे ।

नादके स्पन्दनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही वर्णों और स्वरके रूपमें जीव-ब्रह्मकी अभिव्यक्तिके निमित्त कारण बनी हैं । गान्धर्ववेदका लक्ष्य इस गूढ़ रहस्यका उद्घाटन है । प्रणवकी उपासना और आहत नादकी साधना दोनों उसी मूल तत्त्वके साक्षात्कारका प्रयत्न हैं, स्थितप्रज्ञकी स्थितिमें महर्षियोंने उसके अनाहत रूपका आस्वादन किया है । अनाहतकी असम्प्रज्ञात स्थितिमें पहुँचनेके लिये सम्प्रज्ञात आहत भी एकमात्र सहज तथा लोकरंजक अवलम्ब है, इसीलिये जगत्में गान-वादनकी महत्ता अन्य कलाओंकी अपेक्षा अधिक है । चित्तवृत्तियोंको समाविष्ट कर संगीतके द्वारा जो मनुष्य भाव-समाधि प्राप्त करेगा, उसके समक्ष नादका स्वरूप निःसंदेह प्रकट होगा और उसे परब्रह्मकी प्राप्ति होगी । इसीलिये याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥

अर्थात् जो वीणा-वादनका तत्त्व और श्रुतियोंकी जाति तथा ताल जानते हैं वे बिना प्रयासके ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

मैं भी शुभ बन गया

ईश्वरकी शुभ दृष्टिका मुझमें हुआ पसार ।
मैं भी अब शुभ बन गया, करता शुभ व्यवहार ॥

विरक्त कौन ?

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'महाराज, किसी सच्चे विरक्तके हाथ लगें तो श्रीविग्रह स्थान ग्रहण करे !' परम प्रतापी महाराज भोज चिन्तामें पड़ गये राजज्योतिषीकी यह बात सुनकर। कोई सच्चा विरक्त क्यों राजसदन आयेगा। उसे धारा नगरीके और भोजके वैभवसे प्रयोजन ! लेकिन मन्त्रीको आदेश दे दिया गया कि वे ऐसे विरक्तके अन्वेषणका पूरा प्रयत्न करें।

बड़े उत्साहसे मन्दिरका निर्माण किया गया था। कला मूर्तिमती हो उठी थी। भोजराजकी श्रद्धा और राजज्योतिषीका शास्त्रज्ञान साकार हुआ। कहीं कोई बाधा नहीं पड़ी। जितना समय लगनेका अनुमान था, कार्य उससे पहिले ही पूर्ण हो गया था।

भगवान् शंकरका यह श्रीविग्रह स्थापित होना था लिंगविग्रहके पृष्ठमें। मन्दिरके अन्तर्गृहके मध्य लिंगमूर्ति और भित्तिमें निर्मित सिंहासनपर श्रीआशुतोष। लिंगविग्रह स्थापित हो गया और श्रीमूर्ति सिंहासनपर पहुँचायी गयी; किंतु वह सीधी बैठती ही नहीं। बहुत प्रयत्न हो चुके कभी एक ओर और कभी दूसरी ओर मूर्तिका मुख तिरछा हो जाता है। जब मानव-प्रयत्न विफल हो गये, महाराजने अपने राजज्योतिषीके श्रीचरणोंमें मस्तक झुकाया—'क्या कारण है कि प्रभु आसन स्वीकार नहीं कर रहे हैं ?'

ज्योतिषीजी केवल ज्योतिषी नहीं थे। कहा जाता है कि धारापुरीकी अधिष्ठात्री महाशक्तिने उन्हें साक्षात् दर्शन दिये थे। वे उन श्रीजगदम्बाके नैष्ठिक आराधक थे। महाराजके प्रश्नका उत्तर देनेके लिये उन्होंने न पञ्चाङ्ग खोला और न अपनी पट्टीपर कोई गणित किया। वे चुपचाप वहाँसे गये और भगवतीके मन्दिरमें श्रीमूर्तिके सम्मुख आसन लगाकर बैठ गये।

'महाराज, आपने श्रीविश्वनाथको यहाँ आराध्यरूपमें प्रतिष्ठित करनेकी इच्छा नहीं की है।' पूरे पाँच घंटे बाद राजज्योतिषी मन्दिरसे निकले और सीधे राजसदन पहुँचे। तत्काल महाराजने स्वयं उनके चरणोंमें आकर वन्दना की। जो कुछ आभास उन्हें मिला था, वही वे बता रहे थे—'ज्ञान एवं विद्याके आदिगुरु यहाँ श्रीदक्षिणामूर्तिके रूपमें आपको प्रतिष्ठित करने हैं। इस रूपमें वे किसी नरेशका दिया आसन ग्रहण कैसे करें ? कोई अधिकारी सच्चा विरक्त उन्हें आसन ग्रहण करावे, वे ठीक आसन ग्रहण कर लेंगे।'

भगवान् शंकरका वह दक्षिणामूर्ति-विग्रह—श्रीमूर्ति जब आयी थी, उसे देखकर महाराज भावविभोर हो गये थे। जिसने देखा—यही लगा कि प्रभु साक्षात् उपदेश करने आ बैठे हैं।

'धाराको महाशक्तिकी अनुकम्पा पहलेसे प्राप्त है।' श्रद्धाभरित स्वरमें श्रीविग्रहपर दृष्टि पड़ते ही राजज्योतिषीने कहा था—'अब ज्ञानके अधिष्ठाता आपकी श्रद्धा स्वीकार करके स्वयं आचार्यरूपमें आ गये हैं।'

'आपके श्रीचरणोंका अनुग्रह।' महाराजने सादर मस्तक झुकाया था।

धारा विद्वानोंकी नगरी; किंतु काशी तथा सुदूर दक्षिण प्रतिष्ठानपुर (पैठण) तकसे कर्मकाण्डके विद्वान् आमन्त्रित हुए। प्राणप्रतिष्ठाकी समस्त विधि सावधानीपूर्वक सम्पन्न की गयी। विधिके ज्ञानमें न त्रुटि थी, न उसके पालनमें प्रमाद हुआ। यजमानकी श्रद्धा कहीं शिथिल नहीं हुई। शुद्ध सामग्री, सम्यक् विधि, श्रद्धासंयुक्त शास्त्रपूत यजमान और विधिज्ञ संयमी अप्रमत्त ऋत्विक्—प्रतिमामें प्राण प्रतिष्ठित हो गये, यह लक्षित कर लेना कठिन क्यों होने लगा।

सब सानन्द हुआ; किंतु जब श्रीविग्रहको उनके सिंहासनपर पहुँचाया गया—पूरे प्रयत्नके पश्चात् एक स्वरसे विप्रवर्गने कह दिया—'राजन् ! कोई ऐसा कारण अवश्य है, जिससे प्रभु आसन नहीं ग्रहण कर रहे हैं।'

वह कारण—कितना अद्भुत कारण निकला वह।

× × ×

महाराज भोजकी ओरसे कुछ अच्छे विद्वान् नियुक्त कर दिये गये हैं, अखण्ड यज्ञ चल रहा है। महामन्त्रीने अपने निपुणतम सेवक नियुक्त कर दिये हैं—विरक्त ढूँढ़नेका प्रयत्न चल रहा है। राजज्योतिषीने अपने कुछ शिष्य नियुक्त कर दिये हैं—भगवतीकी सविधि अर्चना चल रही है।

सब चल रहा है; किंतु दक्षिणामूर्ति भगवान् शिवका श्रीविग्रह आसन नहीं ग्रहण करता। साधु आते हैं—संन्यासी, वैष्णव, संतमतानुयायी, जटाधारी, मुंडितकेश, भस्मधारी, गैरिकवस्त्र, श्वेतवस्त्र, पीतवस्त्र या केवल कदली-पत्रकी कौपीन लगानेवाले। दिगम्बर अवधूत भी आये। जिनकी त्याग-तपस्याकी ख्याति थी, उन्हें महामन्त्री स्वयं आदरपूर्वक ले आये। निष्परिग्रह, अनिकेत, उग्रतम तपस्वी—सभी तो आ गये। काष्ठमौनी, ऊर्ध्वबाहु, सदा खड़े रहनेवाले, पता नहीं कितने और कैसे-कैसे साधु आये। जिनसे बड़ी आशा थी, कुछ नहीं हुआ उनसे भी। पूरे तीन वर्ष होनेको आये—श्रीविग्रह सम्मुख आसनपर नहीं आया।

किसीने कुछ अनुष्ठान बताया, किसीने विशेष जप, यज्ञ अथवा अर्चनकी आवश्यकता सूचित की। सब सम्पन्न हुए। किसी असफल साधुका तिरस्कार नहीं हुआ। कोई उपेक्षित–तिरस्कृत न हो जाय, महाराजने इसके सम्बन्धमें अधिकारियोंको सावधान कर दिया था। जो असफल होते थे—उनका चित्त खिन्न हो, स्वाभाविक था; किंतु राज्यके कर्मचारी उन्हें आदरपूर्वक ही विदा करते थे।

'मेरा पाप—मेरे ही किसी अपराधका यह परिणाम है।' महाराज खिन्न रहने लगे। उनकी मुखश्री म्लान हो गयी। शरीर कृश होने लगा। वे प्रातःस्नान करके जब अर्चनके लिये मन्दिरमें उपस्थित होते, अश्रु रोक नहीं पाते थे।

'मेरे राज्यमें न सही, पवित्र भारतभूमिमें तो वीतराग महापुरुष हैं ही।' महाराजने अन्तमें एक दिन कातर होकर राजपुरोहितके चरण पकड़ लिये—'भोज प्राण देकर भी ला सके तो उन्हें धारापुरी ले आयेगा। आप प्रयत्न करें और ऐसे पुरुषका पता न लगे, मैं विश्वास नहीं कर सकता।'

'मैंने प्रयत्न करनेमें कोई प्रमाद नहीं किया है।' राजपुरोहितने तनिक गम्भीर होकर कहा—'किंतु लगता है, हमारी परखका मापदण्ड ठीक नहीं है। ऐसी अवस्थामें बात मानव-प्रयत्नकी रह नहीं जाती। मेरा तो एक ही आश्रय है। आप चिन्ता न करें, पुत्र जब आग्रह करता है, दयामयी माँको उसका बालहठ पूर्ण तो करना ही पड़ता है।'

महाराजको आश्वासन प्राप्त हुआ। राजपुरोहितने भगवतीके मन्दिरमें जो आसन नित्य अर्चाके लिये लगाया, उससे उठे ही नहीं। मध्याह्न हुआ और बीत गया। शिष्योंमें, घरके सदस्योंमें व्यग्रता आयी। तृतीय प्रहर भी बीत गया और रात्रिका अन्धकार भी अन्तमें फैलने लगा।

'राजपुरोहितने आज जलग्रहण नहीं किया। वे अपने आसनसे न उठे हैं, न हिले हैं। उन्होंने पलकें तक नहीं खोलीं। किसीका पुकारना सुनते नहीं। बंद नेत्रोंसे अविराम अश्रु चल रहे हैं।' समाचार महाराजको मिला।

'आचार्यने उपवास किया और इस अधमने भोजन किया है !' महाराजके पश्चात्तापका पार नहीं था। 'भोज अब तबतक मन्दिरसे नहीं उठेगा, जबतक आचार्य सुप्रसन्न नहीं उठते।'

सायंकालीन भोजन न राजसदनमें किसीने किया और न राज्यके उच्चकर्मचारियोंके गृहोंमें । राजपुरोहितके घर तो पूरे दिन ही सब उपोषित रहे । किंतु मन्दिरमें भीड़-भाड़ महाराजने नहीं होने दी ।

पूजा हुई, आरती हुई, रात्रिका नैवेद्य अर्पित हुआ । आराधक स्थिर बैठा रहे तो आराध्या शयन कर लेगी ? भगवतीकी शयन-आरती नहीं की मन्दिरके मुख्य पुजारीने । वे बाह्यद्वार बंद करके स्वयं श्रीमन्दिरमें एक ओर आसनपर ध्यानस्थ बैठ गये ।

'माँ ! कृपामयी !' मध्यरात्रि व्यतीत हो चुकी थी, जब राजपुरोहितके स्वरने महाराज तथा पुजारी दोनोंको चौंका दिया । पता नहीं कब कैसे दोनोंको बैठे-बैठे ही तन्द्रा आ गयी थी । दोनोंने देखा—राजपुरोहित प्रतिमाके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणिपात कर रहे हैं ।

'महाराज ! आप राजसदन पधारें ।' तनिक स्वस्थ होकर राजपुरोहितने भोजको देख लिया—'जब माँने कार्यभार स्वीकार कर लिया, हम चिन्ता क्यों करें ?'

मध्य रात्रिके पश्चात् उस दिन पुजारीने देवीकी शयन-आरती की ।

× × ×

सेठ लक्ष्मीचन्द इस बार स्वयं निकले हैं अपने दलके साथ । अवस्था अधिक हो गयी; इसलिये अब सेठजी छोटी यात्रापर ही कभी-कभी निकलते हैं । लड़के यह काम सम्हाल लेते हैं । वैसे सेठजी बनजारे हैं । उनका काम ही ऊँट, बैल, खच्चर लादकर दूर-दूरके नगरोंकी यात्रा करना है । गद्दीपर उनका व्यापार नहीं चलता ।

बहुत छोटी टोली थी जब सेठ अमीचन्दने कारबार अपने पुत्र लक्ष्मीचन्दको दिया था । अब उस बातको युग हो गये । अब तो सात बड़े दल चलते हैं लक्ष्मीचन्दजीके । सातों लड़कोंने अपने-अपने व्यापारीदल बना लिये हैं । कभी-कभी सेठजी भी एक छोटी आठवीं टोली बनाकर निकल पड़ते हैं ।

बनजारेकी टोली अपने-आपमें एक पूरा राज्य होता है । ऊँट, खच्चर, घोड़े, बैलगाड़ियाँ और पैदल भी । व्यापारकी कोई निश्चित वस्तु नहीं । जहाँ जो वस्तु ठीक मूल्यपर मिली, लाद लिया । जहाँ जिसके ठीक दाम लगे, बेच डाला । व्यापारकी वस्तुओंके साथ बर्तन, सीधासामान, कपड़े-बिछौने, वैद्यजीका औषधालय और एक छोटी किंतु सधे वीरोंकी शस्त्रसज्ज सेना । यह सेना न हो तो बनजारे दिन-दोपहर लूट लिये जाया करें ।

सेठ लक्ष्मीचन्दकी टोलीमें एक विशेषता प्रारम्भसे रही । इस टोलीके साथ ठाकुरजीकी पालकी चलती है । पुजारी महाराज और ठाकुरजीके सेवक चलते हैं । पता नहीं क्यों चलते हैं ये सब; क्योंकि पूजा तो सेठजी स्वयं दोनों समय करते हैं । पानी पड़े या पत्थर, ठाकुर-पूजाके लिये दोनों समय टोलीको रुकना ही पड़ता है ।

रुक तो जाते हैं सेठजी दो-दो दिन—उन्हें पताभर लगना चाहिये कि कोई उत्तम रत्न या बहुमूल्य वस्त्र मिल सकता है । कोई काष्ठ, हाथी-दाँत या अन्य आधारपर बनी कलाकृति—सेठजीको पसंद भर आ जाय, वे उसे लेकर जायँगे । इतने अधिक मूल्यमें ली गयी वे वस्तुएँ जब उन्हें बेचनी नहीं—बड़े आदमीकी एक संग्रह-प्रवृत्तिके अतिरिक्त आप क्या कहेंगे । यों सेठजी कहते हैं—'लालजी ! इसे पाकर प्रसन्न होंगे ।'

मोटा कपड़ा, साधारण चटाई, फटे-पुराने जूतेसे जो इस बुढ़ापेमें, इस सम्पन्नतामें भी अपना काम चला लेता है, उसकी सनक ही तो है यह—'लालजी !' अपने ठाकुरजीको सेठजी यही कहते हैं । यात्राके विषम दिनोंमें भी लालजीके लिये दस-पंद्रह व्यञ्जन बनेंगे, कहीं कोई उत्तम उद्यान दीखा तो उसीके पुष्प चाहिये । अनेक बार टोली इस सनकके कारण बहुत उलझनमें पड़ जाती है । असुविधा और कष्ट—किंतु सेठजी जब यह सब सुनें ।

'लालजी !' बूढ़े सेठको न अपने भोजनका स्वाद,

न धनकी चिन्ता। लड़कोंके आग्रहतक वह नहीं सुनता। उसे तो एक सनक है—लालजीके लिये उसे पसंद आ जाय तो एक पुष्प, एक फलके लिये वह पूरी थैली उलट देगा।

यह सनकी सेठ लक्ष्मीचन्द अपनी टोली लिये पहुँच गया धारापुरी। क्या विशेषता है इसमें कि महाराज उसे राजसभामें सम्मानित करनेवाले हैं। राजपुरोहित उसके सम्मुख आदरसे झुके जाते थे। हुआ कुल इतना था कि सेठने स्नान किया, पूजा की और एक लोटा जल लिये शिवमन्दिर चले गये। जल चढ़ाकर घूमे तो दक्षिणामूर्ति-विग्रहपर दृष्टि पड़ी। तिरछा श्रीविग्रह—सेठने श्रीमूर्तिके घुटनोंपर हाथ रक्खा सहज—'प्रभु यदि सम्मुखासीन होते!' मूर्ति जैसे स्वयं घूमकर सीधे आसनपर आ गयी। अब लोग कहते हैं—'सेठजी सच्चे विरक्त हैं। उन्हें किसी विषयमें आसक्ति नहीं।' किंतु उन्हें यह जो 'लालजी' की आसक्ति है?

भारतका एक बढ़ता हुआ दुर्व्यसन—धूम्रपान

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

पता नहीं क्यों, पर हम सब यह अनुभव करते हैं कि बुरी आदतोंको लोग जितना शीघ्र और सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं, उतना अच्छी बातों एवं सुसंस्कारोंको नहीं ग्रहण कर पाते। इसीलिये किसी भी बुराईके उन्मूलनके लिये बहुत बड़े विरोध, आन्दोलन, यहाँतक कि कड़े कानूनकी आवश्यकता होती है। अन्यथा चेपी रोगोंकी तरह उसका विस्तार इतना अधिक बढ़ जाता है कि सामाजिक शरीर जीर्ण-शीर्ण और दूषित बन जाता है। जहरका प्रभाव फैलते जैसे देर नहीं लगती, वैसे ही बुरी आदतों—दुर्व्यसनोंका प्रभाव बहुत तेजीसे और व्यापकरूपमें फैल जाता है। नशीली चीजोंमें विषका कुछ अंश होता है, इसलिये थोड़ी देरतक उनके सेवनसे कुछ शक्ति और मस्ती पानेका लोग अनुभव करते हैं परंतु अन्ततोगत्वा विष तो मारक ही होता है और धीरे-धीरे वह व्यक्तिको अपने वशमें करके पराधीन एवं निष्क्रिय बना डालता है। तम्बाकूका दुर्व्यसन भी ऐसा ही एक मारक या घातक व्यसन है जिससे शरीर, मन, धन सभी कुछ बरबाद होता है—लाभ कुछ भी नहीं। अनेक अनुभवी डाक्टरोंने उसके द्वारा शरीरपर पड़नेवाले बुरे प्रभावोंपर विशद प्रकाश डाला है और धनकी महान् हानि तो प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अनुभव करता ही है। अस्तु चाहे कुछ भी न हो, पर एक बार इस दुर्व्यसनमें फँस जानेपर छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन हो जाता है।

तम्बाकूकी उत्पत्ति एवं उसका मानव-समाजद्वारा खाने-पीनेके रूपमें विविधरूपमें उपयोग किये जानेकी कहानी ज्यादा प्राचीन नहीं है। इसकी उत्पत्ति और भारतमें इसके प्रचारको करीब ५०० वर्ष ही हुए हैं। बतलाया गया है कि सन् १४९२ में जब कोलम्बसका काफिला क्यूबा पहुँचा, तब उसने देखा कि वहाँके आदिवासी तम्बाकूसे अपने शरीर सुगन्धित करते हैं। आगे दूसरी यात्रामें उसने देखा कि अब उन लोगोंमें तम्बाकू सूँघनेकी आदत पड़ गयी है। सन् १५०२ में स्पेनका एक काफिला दक्षिण अमेरिकाके किनारे पहुँचा तो उन्होंने वहाँके आदिवासियोंको तम्बाकू खाते हुए देखा।

तम्बाकूकी जानकारी और उसके उपयोगकी रीति सर्वप्रथम अमेरिकासे यूरोप, फिर इंग्लैंड तथा अन्य देशोंमें पहुँची। सन् १५०८ के लगभग पोटॉटो और टोमॅटोके इस साथिन टोबॉको (तम्बाकू) को पुर्तगाली हमारे देशमें लाये। उस समयसे भारतके भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें इसकी खेती शुरू हुई और आज बम्बई, बिहार, बंगाल,

मद्रास, मैसूर, आसाम आदि प्रदेशोंमें इसका उत्पादन प्रधानरूपसे होता है। यहाँकी आबोहवा उसे ऐसी अनुकूल पड़ी कि अब भारतके ये प्रदेश तम्बाकू-उत्पादनके लिये प्रसिद्ध हो गये हैं। आंध्र प्रदेश तो तम्बाकू-उत्पादनके केन्द्रके रूपमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। देशके तम्बाकूके उत्पादनका लगभग ४० प्रतिशत और सिगरेटें बनानेके लिये इस्तेमाल की जानेवाली वर्जीनियां तम्बाकूका करीब ९० प्रतिशत भाग यहीं उत्पन्न होता है। १९५८ में हमारे देशने तम्बाकूके निर्यातद्वारा १३.५ करोड़से भी अधिक रुपयेकी वैदेशिक मुद्राएँ अर्जित कीं। हमारे देशमें सिगरेटोंकी वर्तमान वार्षिक खपत अंदाजन ३२ सौ करोड़ सिगरेटोंसे भी ज्यादा की है।

उपर्युक्त बातें गोल्डन टोबेको कम्पनीद्वारा विज्ञापित की गयी हैं। इससे भारतमें तम्बाकूका उत्पादन एवं प्रचार किस सीमातक पहुँच गया है यह भलीभाँति विदित हो जाता है।

तम्बाकूका सेवन अनेक रूपोंमें किया जा रहा है। सूँघने और पीनेका तो व्यापक प्रचार है ही। नगरोंमें ही नहीं, छोटे-छोटे गाँवोंमें और वयस्क व्यक्तियोंमें ही नहीं, बालकों एवं स्त्रियोंमें भी यह दुर्व्यसन अधिकाधिक फैलता जा रहा है। इससे कंठकी नालियाँ और शरीरके भीतरी कोमल भागोंपर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पड़ता है। तम्बाकू मुखमें दुर्गन्ध और दाँतोंपर मैल उत्पन्न करती है और मस्तिष्कको बिगाड़कर आयुको कम करती है। उसके धुएँसे फेफड़ा बिगड़ता है, व्यसन पड़ जानेपर इसके बिना खाये, पीये या सूँघे व्यक्ति कुछ काम नहीं कर पाता, उसकी नसें ढीली पड़ जाती हैं। पहले तो केवल चिलमके रूपमें ही इसका व्यवहार बढ़ा, फिर चूनेके साथ जरदा या तम्बाकू खाने और नसवारके रूपमें सूँघनेका। आजकल पानमें भी जरदा खानेका खूब प्रचार बढ़ गया है। बीड़ी और सिगरेटके प्रचारकी तो कोई सीमा ही नहीं रही। करोड़ों रुपये विशेषतः मध्यम वर्ग और जनसाधारणके बरबाद होते हैं। सरकारको कुछ आमदनी जरूर हो जाती है। सरकारने जब देखा कि इसका उत्पादन और खपत खूब बढ़ने लगी है, तब उसने इसपर बहुत बड़ा टैक्स लगा दिया, जिससे करोड़ों रुपयेकी आमदनी होने लगी है। अतः देशके लोगोंके लिये चाहे वह कितनी ही हानिकारक और घातक हो, पर सरकार अपनी आमदनीके इस बड़े जरियेको कैसे छोड़ सकती है? जनताका स्वास्थ्य जा चूल्हेमें और उसकी आर्थिक स्थितिपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता हो तो बलासे, पर सरकारको तो अपनी आमदनी सुरक्षित रखना तथा बढ़ाना है। अतः उसका विरोध, राष्ट्रीय यानी जनताकी सरकार होनेपर भी नहीं किया जा रहा है। एक ओर जनसमूहके मानस-स्वास्थ्यकी बुरी तरह हत्या करनेवाले गंदे सिनेमा और दूसरी ओर तम्बाकू, जनताकी शारीरिक और नैतिक तथा आर्थिक बरबादी असीमरूपमें कर रहे हैं। अब तो भारतीय जनताका भगवान् ही मालिक है!

भारतीय संत-महात्माओंने समय-समयपर जनतामें जो भी दुर्गुण एवं दुर्व्यसन देखे, उनके प्रति विरोधी स्वर प्रकट किया और जनताको बुराइयोंसे बचाने एवं हटानेका सत्प्रयत्न किया। पर आज संतोंकी वह सामाजिक सेवा भी नहीं दिखायी दे रही है—छुटपुटरूपमें कभी किसीने कुछ विरोधमें कह दिया हो पर जैसा विरोधी आन्दोलन उन्हें उठाना चाहिये था—गाँव-गाँव, घर-घर और व्यक्ति-व्यक्तिके पास पहुँचकर अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और अनुभवपूर्ण वाणीसे जो संदेश प्रचारित करना चाहिये था, नहीं कर रहे हैं। अपनी मान-प्रतिष्ठाको बनाये रखने और सस्ते यशके प्रलोभन तथा पारस्परिक विवाद-संघर्षमें ही अधिकांश संन्यासियोंका समय एवं शक्ति बरबाद हो रही है तो अन्य लोगोंसे तो आशा ही क्या की जाय? राष्ट्रीय नेताओंका भी यही हाल है। कुछ इने-गिने व्यक्ति अच्छा काम कर रहे हैं और उनका प्रयत्न सराहनीय है।

आचार्य विनोबा, संत तुलसी आदिने इस दिशामें काफी कार्य किया है। अन्य संतगण भी उनका अनुकरण करें तो जन-जनमें धूम्रपान-परित्यागका काफी कार्य हो सकता है।

१७वीं शताब्दीतक तो तम्बाकूका प्रचार राजाओं, बादशाहों और बड़े-बड़े आदमियोंतक ही सीमित था, फिर उनके हाजरियोंको इसका चस्का लगा। १८वीं शताब्दीमें जनसाधारण भी इसके चंगुलमें फँस गये। तबसे कई जैन तथा अन्यान्य संतोंके तम्बाकू-त्यागके प्रेरक गीत मिलने आरम्भ होते हैं। उनमें तम्बाकूसे होनेवाली हानियोंको बतलाते हुए उसको त्याग करनेका उपदेश दिया गया है। गुरु नानकने तो इसको सिख-धर्ममें सर्वथा वर्जित कर दिया है। ऋषि दयानन्दने भी इसका बड़े जोरोंसे विरोध किया था। इस युगके महान् महात्मा एवं राष्ट्रपिता गांधीने २९ अगस्त, १९४६ के हरिजनमें इस विषयपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—'मुझे यह देखकर बहुत दुःख होता है कि तम्बाकूके सेवनका रिवाज दिनोंदिन बढ़ता जाता है। मुझे मदिरा और तम्बाकू दोनोंका उपयोग अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता है, परंतु तम्बाकू तो मदिरासे भी अधिक हानिकारक है; क्योंकि इसका प्रभाव तुरंत दीखने लगता है। यह धनकी बरबादीके साथ शरीरके लिये भी हानिकारक है। इससे श्वासमें दुर्गन्ध हो जाती है, दाँतोंका रंग खराब हो जाता है, और किसी-किसी दशामें इससे विषफोड़ कैंसर भी हो जाता है।' टॉलस्टॉयने एक शराबीकी कहानी प्रकाशित करते हुए लिखा था कि 'वह जब किसीको मार डालनेकी कल्पना बनाता, तब उसे उस समयतक पूरा नहीं कर सकता था जबतक वह एक सिगार नहीं पी लेता था। सिगार पीकर वह एकदम हँसता हुआ उन्मत्त हो जाता और कहता मैं कैसा डरपोक हो गया था। तब तलवार हाथमें लेता और अपना काम कर डालता था। टॉलस्टॉयने जो कुछ लिखा है स्वयं अनुभव करके लिखा है।' महात्मा गांधीने मदिरा और तम्बाकू दोनों दुर्व्यसनोंसे जनताको मुक्त करनेका प्रयत्न किया था। एक बार तो उनकी प्रभावशाली वाणीने जादूका-सा असर किया और हजारों व्यक्तियोंने तम्बाकूका त्याग कर दिया। यदि वह आन्दोलन व्यापक समयतक चलता तो बहुत बड़ा लाभ होनेकी सम्भावना थी। पर गांधीजी अन्य आवश्यक राष्ट्रीय कामोंमें लग गये, तम्बाकू त्याग करवानेके प्रयत्नमें आवश्यक समय एवं शक्ति न दे पाये। राष्ट्रीय सरकारने मदिरा-निषेधका तो फिर भी कई प्रान्तोंमें कुछ प्रयत्न किया है—उसके लिये कई कड़े कानून बनाये हैं, पर तम्बाकूके व्यापक प्रचारको रोकनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। यह जनताकी सरकारके लिये अवश्य ही शोचनीय बात है।

पश्चिमी बंगाल-सरकारने १६ वर्षके बालकोंके लिये सिगरेट, बीड़ी आदिका सर्वथा वर्जन किया था पर उसपर कोई ध्यानपूर्वक कार्यवाही नहीं की जा रही है। केवल कानून बना देना ही किसी बुराईको दूर करनेके लिये पर्याप्त नहीं है, उस कानूनका कड़ाईसे पालन भी किया जाना चाहिये। जनतामें तम्बाकूकी बुराइयोंके सम्बन्धमें खूब प्रचार होना चाहिये। इधर अमेरिका और यूरोपके प्रसिद्ध डाक्टरोंने भी अनेक घातक रोगोंका कारण तम्बाकू-सेवनको ही बतलाया है। कैंसर-जैसा भयानक रोग ८० प्रतिशत तम्बाकू-सेवन करनेवालोंमें होनेकी बात कही गयी है। फिर भी भारतीय जनताके स्वास्थ्यको ध्यानमें रखनेवाला विभाग चुप बैठा है, यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बात है। अपने सामने, अपनी जानकारीमें जनस्वास्थ्य जिन कारणोंसे नाश होता है, उसके प्रतीकारमें कुछ न करना वास्तवमें बड़ी कर्तव्यविमुखता है!

सिनेमा भी अनेक दुर्गुणोंके प्रचारका साधन बन गया है। भारतके नैतिक जीवनपर उसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है। पर उसके सम्बन्धमें तो कुछ चर्चा पत्र-पत्रिकाओंमें देखनेको मिलती है। चाहे सरकार उसके सुधारका प्रयत्न जागरूकतासे न कर पा रही हो, पर जनताका विरोधी स्वर सामने तो आ रहा है। पर तम्बाकूके

लिये तो वैसी विरोधी चर्चा भी नहीं हो रही है, कभी क्वचित् किसीका लेख किसी साधारण पत्रिकामें छप जाता है पर उससे कोई काम नहीं बनता। आवश्यकता है संगठितरूपसे विरोधी आवाज बुलन्द करनेकी। जन-जनमें तम्बाकूकी खराबियोंका व्यापक प्रचार हो, संत-महात्मा गाँव-गाँवमें घूमकर तम्बाकू-त्यागका जोरोंसे उपदेश दें। राष्ट्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों तथा स्वास्थ्य-विभागके द्वार खटखटाये जायँ। राष्ट्रीय नेताओंतक प्रबल आवाज पहुँचायी जाय। आर्थिक हालत भारतकी बहुत ही खराब है और तम्बाकूद्वारा तो और भी बदतर होती जा रही है। साधारण व्यक्ति जो रुपया दो रुपया रोज बड़े कठिन परिश्रमसे कमाता है—कुछ लोग तो कई आने भी नहीं कमा पाते, पर उनके भी कुछ पैसे या आने बीड़ी, सिगरेट, जरदामें खर्च हो जाते हैं—घरमें चाहे खानेके लाले पड़े—बच्चे चाहे भूखसे बिलबिलाते रहें, स्त्रियाँ चाहे खाद्य पदार्थोंके अभावमें मन मसोसती एवं चीत्कार करती रहें, पर जिसे तम्बाकूकी बुरी लत लग गयी है उसे तो उसके बिना चैन नहीं। कई प्रदेशोंके गाँवोंकी स्त्रियोंमें तथा पढ़ी-लिखी कहानेवाली महिलाओंमें भी बीड़ी, सिगरेट, जरदेका प्रचार बहुत बढ़ रहा है। घरवाले किसी भी तरह कष्ट करके या उधार लेकर अपने बच्चोंको पढ़ानेके लिये स्कूल-कालेजोंमें भेजते हों पर वे विद्यार्थी जो उनकी आशाके केन्द्र हैं, दूसरोंकी देखा-देखी धूम्रपानमें प्रवीण होकर घरके पैसोंको बरबाद करने लगते हैं। दूध और घीके लिये पैसा न हो पर सिगरेट, चाय और सिनेमाके लिये पैसा चाहिये ही। नहीं मिलनेपर ठगी और चोरी सीखेंगे ही। दुःख है कि अच्छे-अच्छे बहुसंख्यक विद्यार्थियों, अध्यापकों, सरकारी अधिकारियों तथा विद्वानोंको भी सिगरेट पीते देखा जाता है।

अब हम १८ वीं शताब्दीके एक जैनमुनि विशिष्ट विद्वान् और कवि धर्मसीके द्वारा रचित एक राजस्थानी गीत दे रहे हैं जिसमें उन्होंने तम्बाकू-त्यागके लिये उद्बोधन दिया है। वे लिखते हैं कि 'हे चतुर व्यक्ति! तम्बाकूका सेवन छोड़ो; क्योंकि इसमें अनेक दोष हैं। अतः इसकी ओरसे अपने मनको हटाओ। विवेकसे काम लो। इस तम्बाकूमें न स्वाद है न मिठास, पर दोष अनेक होनेपर भी जिसे इसका व्यसन लग गया, छोड़ नहीं पाता। पूर्वपुण्यके उदयसे यदि तुम्हें दो पैसे मिले हैं तो दूध, दही, घीका सेवन क्यों नहीं करते, जिसमें लाभ-ही-लाभ है? तम्बाकूसे होठ और दाँत काले होते हैं। मुखसे दुर्गन्ध आती है, छाती जलती है और श्वास सूखने लगता है। एक-दूसरेकी जूठी बीड़ियोंको जात और कुजातका विचार किये बिना मुँहमें डाल लेते हो, दूसरेका थूक अपने मुँहमें लगता है। धार्मिक दृष्टिसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन पाँच स्थावर और बेइन्द्रिय आदि जीवोंका इससे विनाश होता है। जिन जीवोंको तुम तम्बाकू-सेवनद्वारा मार रहे हो, एक दिन वे जीव तुमसे बदला लेनेवाले हैं। दूसरोंको आदरके साथ तम्बाकू पिलाकर दोनोंका अहित कर रहे हो। चेतो!'

तम्बाकू-त्याग सझाय

(ढाल-आज निहोजी दीसे नाहलौ।)
तुरत चतुर नर तम्बाकू तजौ, इण में दोष अनेक।
बिरती बूरौ पाछौ मन वालिनै, यारू धरिय विवेक ॥१॥ तुरत०
स्वाद नहीं इण मांहै सर्वथा, मांहै नहीय मिठास।
दूषण देखे तो पिण नवि तजै, पडियौ विसन नै पास ॥२॥ तु०
कूटउ एह अछै छकायनो, सुंस करौ मन शुद्ध।
पोतै पुन्य हुवै तो तुम पियौ, दही घृत साकर दूध ॥३॥ तु०
होठ बिन्हेइ दांत काला हुवै, वलि मुखि भुंडी बास।
बलैं तम्बाकू तिम छाती बलै सौषायै तिम स्वास ॥४॥ तु०
नइ ऐठी मुख घालै नवि गिणै, काई जात कुजात।
परनौ थूक तिकौ मुह में पड़ै, बिसन तणी ए बात ॥५॥ तु०

ऐसी ही एक राजस्थानी संतकी रचना और प्रचलित है—

छोड़ तमाखू मानवी रे तू मतना पीवै झैर।
झूठी तेरी मानता रे (भाई) झूठी तेरो ल्हैर॥

हाथ-दाँत-मूँ-काळजै रे भर देवै दुरगंध।
धूँवो अँग काळो करै रे कर दे नैणां अंध॥
धनरो, तनरो, मानरो रे करै मोकळो नास।
छाती बालै, मौत न रे ल्यावै बेगी पास॥
चिलम-चटोरो मानवी रे हुक्कै रो सोखीन।
चाटै स रौ थूक नित रे हुयो बिसन आधीन॥
ले ल सोगन आज सूँ रे छोड़ बुरी आ बाण।
पी तूँ इम्रत राम रस रे पावै पद निरबाण॥

इसका अर्थ है—

अरे मनुष्य ! तू तम्बाकू छोड़ दे, इस जहरको मत पी। (इससे कोई लाभ है यह) तेरी झूठी मान्यता है और इसमें आनन्द भी झूठा ही आता है। यह तम्बाकू हाथ, दाँत, मुँह, कलेजा—सबमें दुर्गन्ध भर देती है। इसका धूआँ सब अङ्गोंको काला कर देता है और इससे आँखोंकी रोशनी चली जाती है। यह तम्बाकू धनका, शरीरका, मानका बहुत अधिक नाश करती है। छाती जलाती है और मौतको शीघ्र पास ले आती है। जो चिलमचट्टू और हुक्केका शौकीन है, वह इस व्यसनके अधीन होनेके कारण सबका नित्य थूक चाटता है। अतः तू आजसे ही शपथ लेकर इस आदतको छोड़ दे तथा राम-रसरूपी अमृतका पान कर जिससे निर्वाण-पदकी प्राप्ति हो।

तम्बाकूके दुर्गुणोंके सम्बन्धमें कई राजस्थानी लोक-गीतोंमें भी अच्छा वर्णन मिलता है। डा० जे० डिक्सन-मेनने तम्बाकूमें अनेक प्रकारके विष होनेका विवरण देते हुए लिखा है कि तम्बाकूमें फरफ्यूरल नामक विष तो अत्यन्त भयानक है। निकोटीन नामक विष भी तम्बाकूमें पाया जाता है जिसकी एक बूँद खरगोशको, दो बूँद स्वस्थ बलवान् कुत्तेको क्षणभरमें यमलोक पहुँचानेके लिये यथेष्ट हैं। महात्मा गांधीने इसके विरोधमें लिखा था कि तम्बाकू मनुष्यके ज्ञानतन्तुओंको मलिन बनाती है। तम्बाकूका धुआँ आमाशयपर सीधा प्रभाव डालता है!

मूर्ति-प्रतिष्ठा

(श्रीरावी)

मेरा यह अबोध मस्तिष्क अपनी स्वप्नशालामें तुम्हारी एक मूर्ति स्थापित करके अपनी कौन-सी वेदना-हीन प्यास बुझाना चाहता है ? जिस स्वप्न-संसारको निर्मल प्रकाश-किरणोंके स्थानपर एक श्वेत, कुछ-कुछ चमकीला धूम्र-समूह ही धुँधला-सा प्रकाश प्रदान करता रहता है, उसीमें तुम्हारे मोहन रूपकी एक अस्पष्ट-सी प्रतिमूर्तिको अपनी छातीसे लगाये हुए यह अपनी कौन-सी अस्फुट साध पूरी करना चाहता है? अपने दुःख-सुखसे भरी हुई इन्हीं भौतिक-सी परिस्थितियोंके बीच तुम्हारी उस प्रतिमूर्तिको वह कभी-कभी अपने साथ इतनी-इतनी देरतक क्यों रख पाता है!

जब कभी मेरे अज्ञात अन्तस्में तुम्हारे दर्शनोंके लिये एक हूक उठती होगी तब शायद तुम इसी रूपमें किसी अंशतक उसका उपचार करनेका उपक्रम करते हो। पर इसका फल ही कितना हो सकता होगा। इससे तो इतना ही होता है कि मैं अपनी जागृतिके क्षणोंमें तुम्हारे विषयमें कुछ अधिक सोचने लगता हूँ—पर यह सोच-विचार होना तो उदासीनतापूर्ण ही है।

मेरे अन्यतम रूप ! जब मैं अपने उस धुँधले स्वप्नलोकमें तुम्हारी मूर्ति-निर्माणका एक असफल प्रयास करके एक जैसी-तैसी प्रतिमा बना ही लेता हूँ तब क्या वहाँसे लौटनेपर मुझे जो संकोच और अस्पष्ट दर्शन-की पीड़ा होती है उसका अनुमान तुम्हें नहीं होता ? इस जटिल रहस्यपूर्ण प्रगति-समस्याको मेरे रूपधन ! तुम कबतक सुलझाओगे ?

[—एक तरुण साधककी डायरीसे ८-१०-३४

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक——सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

देवप्रयागके बाद इस मार्गपर भागीरथीके दर्शन नहीं होते। आज ही हमारा रुद्रप्रयाग पहुँचना सम्भव नहीं था, चूँकि अँधेरा होनेपर इन मार्गोंमें मोटरें नहीं चलतीं, अतः लगभग ६ बजे संध्याको हम श्रीनगर पहुँचे और रात्रि मुकाम हमने श्रीनगरमें ही किया। यहाँ हमें एक नसीहत मिली। श्रीनगरके मोटर-स्टैंडपर ज्यों ही हमारी बस रुकी, एक सज्जनने हमारी अगवानी की। अपरिचित होते हुए भी परिचित भावसे बात करते हुए उसने कहा, 'चलिये साहब, डाकबँगलेमें चलिये।' हमें यह मालूम कर कि यहाँ डाक-बँगला है और उसमें हमें जगह मिल रही है, प्रसन्नता हुई। चूँकि यमुनोत्तरी-मार्गकी धर्मशालाओंके कष्टोंसे हम परिचित थे और गङ्गोत्तरी मार्गके डाक-बँगलोंके आरामदायक मुकामोंका भी हमें ज्ञान था। अतः स्वेच्छासे ही हम इस प्रयत्नमें रहते कि आगेकी हमारी यात्रामें हमें वनविश्रामालयों, डाक-बँगलोंमें ही स्थान मिले। फिर यहाँ तो डाकबँगलेमें ठहरानेके लिये आग्रह हो रहा था। अस्तु, हम उत्साहित हो आगे बढ़े और डाकबँगलेमें पहुँच डेरा डाल दिया। इस डाकबँगलेमें हम ठहर तो गये, किंतु रातमें काफी देरतक सो नहीं पाये। कुछ अन्य मेहमान भी इस बँगलेमें थे जो बँगलेके कम्पाउंडमें चारपाइयोंपर पड़े थे। बँगलेके बरामदेमें हमलोग पड़े थे। गरमीका मौसम था ही, फिर श्रीनगरकी समुद्र-सतहसे ऊँचाई केवल १७०६ फुट ही थी, अतः काफी गरम था। गोविन्ददास इस गरमीके कारण बँगलेके कम्पाउंडमें सोये थे। निकट ही चारपाइयोंपर पड़े मेहमान आपसमें खूब जोर-शोरसे बातचीत ही नहीं, हँसी-मजाक कर रहे थे। गोविन्ददासकी नींदमें खलल पड़नेपर जब गोविन्दप्रसादने उनके निकट जाकर निवेदन किया कि 'कृपाकर यदि बात ही करनी है तो आहिस्ता करें, दूसरोंके आरामका भी ख्याल रक्खें।' गोविन्दप्रसादका इतना कहना था कि ये मेहमान बिगड़ पड़े। बोले—'क्या आपलोगोंकी वजहसे हमलोग बात भी न करें। अगर आपको नींद नहीं आती है तो दूसरी जगह चले जाइये।' इन मेहमानोंका यह फरमान सुनकर गोविन्दप्रसाद चुप हो गये। कहनेको तो हमलोग बारह आदमी थे। हमारे साथ छै नेपाली भारवाहक, एक पण्डाजी और डंडीवाले थे। ये मेहमान केवल चार। चाहते तो इन्हें इस बदतमीजीका भी बदतमीजीमें जवाब देकर आसानीसे चुप करा देते। किंतु 'शठे शाठ्यम्' और 'कण्टकेनैव कण्टकम्' वाली उक्तिके कायल तो हमलोग थे नहीं। चुपचाप सभी बिस्तरोंपर पड़े रहे, तीसरे पहर हमलोगोंको नींद आ गयी। फिर हमें खबर नहीं, इन बिगड़े दिल मेहमानोंकी बकझक कब बंद हुई।

सबेरे तड़के ही उठकर अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगे। इसी समय बँगलेका चौकीदार एक लंबा-चौड़ा बिल लेकर हमारे पास पहुँचा। इस बिलमें गोविन्ददासका दो रुपया जोड़ा गया था और शेष सभीका एक-एक रुपया माँगा गया था। नियम यह था कि दलके नेताके प्रमुख व्यक्तिका दो रुपया और शेषका एक-एक रुपया किराया देना होता है। इसके सिवा सफाई आदिका व्यय भी ठहरनेवालोंके जिम्मे। रुपया तो हमने चुका दिया पर होटलोंको छोड़ डाकबँगलोंमें भी इस प्रकारका निरख, जो हमने कभी नहीं देखा था, वह भी आज यहाँ देखनेको मिल गया। उचित हो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इन नियमोंपर पुनर्विचारकर व्यवस्थामें सुधार करे और यदि यह सम्भव नहीं है तो फिर इनकी जैसी व्यवस्था है उसे देखते हुए उन्हें डाकबँगला नाम न दे, होटल घोषित करे, जिसमें यात्रियोंको गलतफहमी तो न हो।

गढ़वाल जिलेमें कीर्तिनगर और श्रीनगर काफी प्रसिद्ध हैं। पहले हमें मार्गमें कीर्तिनगर मिला और कीर्तिनगरसे लगभग ढाई मील चलनेपर श्रीनगर। दोनों ही कस्बोंका नाम यद्यपि इनके नागरिक जीवनके अनुरूप अभी भी नहीं है। किंतु इनका नामकरण यहाँके राजाओंके नामपर हुआ है। यह प्रथा टेहरी-शासनके अधिकारी प्रतापशाहने अपने नामपर प्रतापनगर बसाकर प्रारम्भ की जिसका अनुकरण उनके उत्तराधिकारी महाराज कीर्तिशाहने कीर्तिनगर बसाकर किया। आगे इसी तरह श्रीनगर और नरेन्द्रनगरका भी नामकरण हुआ।

श्रीनगर, गढ़वाल जिलेमें सबसे बड़ा नगर है। सन १८९४ ईस्वीमें चमोलीके निकट बिरही नदीमें एक पहाड़ आ टूटनेसे अलकनन्दामें जब बाढ़ आयी, तब श्रीनगर बह गया

था। वर्तमान श्रीनगर पुनः बसा और अब यह तार, डाकघर, टेलीफोन, अस्पताल, डाक-बँगला, धर्मशाला, पुलिसचौकी, गवर्नमेंट हायर सेकेण्डरी स्कूल तथा मन्दिरों आदिसे पूर्णतया सुसज्जित इस क्षेत्रका एक बड़ा और सुन्दर कस्बा बन गया है। यह समुद्र-सतहसे १९०० फुटकी ऊँचाई-पर स्थित है। यहाँके कुछ मन्दिरोंमें श्रीकमलेश्वर-मन्दिर बहुत प्राचीन है। कहते हैं, भगवान् विष्णुने वैकुण्ठ-चतुर्दशीको श्रीकमलेश्वरजीको प्रसन्न कर उनसे सुदर्शनचक्र प्राप्त किया था। इसीलिये यहाँ इसी वैकुण्ठ चतुर्दशीको मेला भी लगता है। पुत्र-कामनावाले नर-नारी अपने हाथोंमें घीका दीपक लिये भगवान् कमलेश्वरकी अपने मनोरथकी पूर्तिके लिये आराधना करते हैं।

श्रीनगरसे पौड़ी होकर दुगड्डा और कोटद्वार रेलवे स्टेशनको मोटर सर्विस जाती है। पौड़ीसे श्रीनगरके इस मोटर-मार्गकी दूरी केवल १९ मील है और श्रीनगरसे रुद्रप्रयागकी दूरी २२ मील। इन मोटर-मार्गोंके कारण श्रीनगरका मोटर-स्टैंड भी काफी समृद्ध दिखा। अनेक ारियाँ जा-आ रही थीं, अनेक खड़ी थीं। श्रीनगरके ही निकट लगभग ५ मील सुकरता चट्टी है। पूर्वकालमें कहते हैं श्रीशुकदेवजीने यहाँ तपस्या की थी और इसी कारण स स्थानका नाम 'सुकरता' पड़ा।

डाकबँगलेसे विदा हो हम मोटर-मुकामपर पहुँचे और द्रप्रयागके लिये मोटरमें सवार हो गये। लगभग दस बजे ही म रुद्रप्रयाग पहुँच गये। रुद्रप्रयागमें भी हम अलकनन्दा ौर मंदाकिनीके संगममें स्नान करना चाहते थे अतः द्रप्रयागसे हमने दोपहरकी मोटरसे जानेका निश्चय किया।

रुद्रप्रयागकी ऊँचाई अब २००० फुट हो गयी थी, अतः ृषिकेश, देवप्रयाग और श्रीनगरकी अपेक्षा यहाँके ौसममें अब कुछ ठंडक आ गयी थी। जहाँतक अलकनन्दा ौर मंदाकिनीके संगमका सम्बन्ध है, इस संगमका दृश्य ा वैसा ही सुहावना था, जैसा भागीरथी और अलकनन्दाके ामका देवप्रयागमें। एक बात और यहाँ देवप्रयागकी पेक्षा कुछ अधिक आकर्षक थी। देवप्रयागमें भागीरथी र अलकनन्दाका जो मिलन हुआ है वह देवप्रयागकी तल भूमिपर हुआ है, किंतु यहाँ कुछ ऊँचाई बढ़ जानेके रण यात्रियोंको मंदाकिनी और अलकनन्दाके इस संगमपर ंचनेके लिये एक खड़ी सीढ़ियोंवाला छिड़ाव उतरना पड़ता है। इस छिड़ावके प्रारम्भसे संगमका दृश्य बड़ा मनोरम प्रतीत होता है। अलकनन्दा और मंदाकिनी दोनों बहनें समान भावसे आती हैं और एक सौहार्द स्थितिमें मिलकर मंदाकिनी अपने-आपको अलकनन्दामें समर्पित कर देती है। संगमपर जलका वेग यद्यपि तेज ही है, सो वह तो इस क्षेत्रकी महिमा ही है, किंतु भागीरथीके बहावका वेग यहाँ दिखायी नहीं देता। आगेके प्रवाहका नाम जिस प्रकार प्रयागराजमें यमुनाके मिलनेपर तथा देवप्रयागमें अलकनन्दाके विलीन होनेपर गङ्गाका रहता है, उसी प्रकार यहाँ भी मन्दाकिनीका विसर्जन होते ही आगे अलकनन्दा चलती है।

मंदाकिनीके हमें सर्वप्रथम दर्शन रुद्रप्रयागमें हुए। हम गङ्गाकी श्वेत धारा न जाने कबसे देखते आ रहे थे, यमुनाके श्याम-स्वरूपके भी हमने युगोंसे दर्शन किये थे। अलकनन्दाका रंग यमुनासे मिलता-जुलता था परंतु मंदाकिनीके जलमें हमने जो हरित झाईं देखी, वह इसके पूर्व किसी सरिताके सलिलमें नहीं देखी थी। यह हरीतिमा हरी काईकी गंदी हरियाली नहीं थी, अपितु हरी झाईं लिये हुए मंदाकिनीका नीर अत्यन्त निर्मल था। इस प्रवाहको निरख हमारे मनमें एकाएक महाकवि बिहारीद्वारा रचित सतसईका प्रथम दोहा स्मरण हो आया—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परत स्याम हरित द्युति होय॥

इस दोहेका स्मरण आते ही हमें मंदाकिनीके नीरमें नील, उसके फेनमें पीली मृत्तिकाके मिश्रणके कारण पीत और समस्त प्रवाहमें इस नील और पीत वर्णमें हरित झाईं दृष्टिगोचर हुई।

संगमके समीप ही श्रीरुद्रनाथजीका एक गुम्बददार मन्दिर है। कथा है, यहाँ नारदजीने संगीतशास्त्रका पूर्ण रहस्य जाननेके लिये शिवजीकी उपासना की और उनके सहस्रनामोंसे उनकी स्तुति की। शिवजीने प्रसन्न होकर नारदजीको संगीतशास्त्रका सम्पूर्ण भेद बता दिया। संगममें स्नानादि कर हमलोगोंने मन्दिरमें भगवान् रुद्रनाथजीका दर्शन और पूजन किया।

रुद्रप्रयाग भी एक अच्छा कस्बा है। यहाँ तारघर, टेलीफोन, अस्पताल, धर्मशाला, हायर सेकण्डरी स्कूल, संस्कृत-बालिका-पाठशाला और डाक-बँगला है तथा कुछ अच्छी दूकानें भी हैं।

रुद्रप्रयागसे दो धामोंको मार्ग जाते हैं। एक रास्ता अलकनन्दाका पुल पारकर मन्दाकिनीके किनारे-किनारे उत्तरकी ओर श्रीकेदारनाथको जाता है और दूसरा रास्ता अलकनन्दाके किनारे-किनारे पूर्व-उत्तरकी ओर श्रीबदरीनाथको जाता है। अधिकांश यात्री पहले केदारनाथजीके दर्शन कर इसी रास्ते लौट श्रीबदरीनाथको जाते हैं। यात्रा-विधानके अनुसार यात्रा-क्रम भी यही है। रुद्रप्रयाग एक तो अलकनन्दा और मन्दाकिनीके संगमके कारण तथा दूसरे केदारनाथ और बदरीनाथके दो भिन्न मार्गोंके यहाँ मिलनेके कारण यातायातका प्रमुख केन्द्र है। यात्रियोंका खासा जमाव रहता है।

अपने कार्यक्रमके अनुसार दोपहरकी मोटरसे रवाना हो हम मध्याह्नके उपरान्त काकड़ागाढ़ पहुँचे। रुद्रप्रयागसे काकड़ागाढ़की दूरी केवल २२ मील है। काकड़ागाढ़ पहुँचते ही मोटरका मार्ग भी समाप्त हो जाता है और केदारनाथके लिये यहाँसे पैदल मार्ग आरम्भ होता है। रुद्रप्रयागसे काकड़ागाढ़तकका मोटर-मार्ग वैसा ही ऊबड़-खाबड़ था जैसा इस क्षेत्रके अन्य मार्गोंका। कई जगह तो बहुत ही खराब—बहुत धीरे-धीरे सतर्कतासे चालक मोटर चलाता इस बाईस मीलके मार्गको पग-पग नापता-सा कोई दो-ढाई घण्टेमें काकड़ागाढ़ पहुँचा। मार्गका प्राकृतिक सौन्दर्य दर्शनीय था। काकड़ागाढ़ पहुँचनेके पूर्व रुद्रप्रयागसे ११ मील चल मार्गमें 'अगस्त मुनी' नामक स्थानपर मोटर रुकती है। कहते हैं, यहाँ अगस्त्य मुनिने तप किया था। अगस्त्य मुनिका यहाँ एक मन्दिर भी है। विषुवत् संक्रान्तिको इस स्थानपर एक बड़ा मेला लगता है। 'अगस्त मुनी'में डाकघर तथा जूनियर हाई स्कूल है। हमलोग अगस्त्य मुनिके मूर्तिदर्शनको उक्त मन्दिर भी गये। ऋषि अगस्त्यकी यह मूर्ति आकर्षक नहीं है। मन्दिरके दो भुजाओंवाले धातुके बाहरी हिस्सेपर दाहिनी ओर गवाक्षमें हर-गौरीकी एक सुन्दर मूर्ति है। मन्दिर बस्तीमें आबादीके भीतर बना है। स्थान अच्छा है। यह स्थान ३००० फुटकी ऊँचाईपर है। हिमालयके हिमानी श्रृंग यहाँसे दीखने लगते हैं और यद्यपि इन्हीं श्रेणियोंके नीचे केदारनाथ हैं तथापि जो शिखर दिखायी दिये उनके नीचे केदारनाथ नहीं हैं। ये शिखर हिमालयके चौखम्भा शिखरके नामसे प्रसिद्ध हैं। आजका हमारा मुकाम गुप्तकाशीमें था, जो काकड़ागाढ़से तीन मील है।

मोटरसे उतरते ही हमने अपने पाँव साधे और पदयात्रा आरम्भ की। काकड़ागाढ़के आगे कुछ दूरतक ही पैदल मार्ग हमें अच्छा मिला। यह इसलिये कि गुप्तकाशीतक मोटरका मार्ग बनाया जा रहा है; किंतु, आगे वही दुर्दशा, फिर भीषण चढ़ाई! काकड़ागाढ़को 'कुण्डचट्टी' भी कहते हैं। यहाँसे एक मील आगेसे पहाड़के ऊपर शोणितपुरको सड़क जाती है, जिसका फासला तीन मील है। शोणितपुर एक महत्त्वपूर्ण स्थान है—इसलिये पाठकोंकी जानकारीके लिये शोणितपुरका विवरण यहाँ देना उचित होगा। कहते हैं शोणितपुरमें बाणासुरके गढ़की निशानी तथा बाणासुर, अनिरुद्ध और पञ्चमुखी महादेवकी मूर्तियाँ हैं।

कथा है, राजा बलिका पुत्र बाणासुर पिताके रसातल जानेके उपरान्त पृथ्वीमें शोणितपुरकी रचना कर दानवोंके साथ रहने लगा।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध ६२वें अध्यायमें कथा आयी है कि बलिके सौ पुत्रोंमेंसे जेष्ठ पुत्र बाणासुर शोणितपुरमें राज्य करता था। शिवजी उसकी ताण्डवगतिके नृत्यसे प्रसन्न हो उसके इच्छानुसार अपने कुलसमेत उसके घरमें उपस्थित हुए। एक बार परम पराक्रमी बाणासुरने शिवजीसे कहा कि आपके अतिरिक्त मुझसे युद्ध करनेवाला कोई नहीं है और युद्धके लिये मेरी भुजाएँ खुजलाती हैं, इसलिये कृपा करके आप मुझसे युद्ध कीजिये। शिवजी बड़े क्रुद्ध हुए और बोले 'मेरे समान बलवान्से जब तेरा युद्ध होगा, तब तेरा गर्व चूर हो जायगा।'

बाणासुरकी उषा नामक कन्या थी। स्वप्नमें अनिरुद्धके साथ उसका समागम हुआ। जागनेपर वह अपने प्रियतमके लिये व्याकुल हो गयी। बाणासुरके मन्त्री कुम्भाण्डकी पुत्री चित्रलेखा बड़ी चित्रकार और योगविद्यामें निपुण थी। उषाने अपनी सखी चित्रलेखाको अपनी मनोव्यथा सुनायी। चित्रलेखा देव-मानव सभीके चित्र बना-बना उषाको दिखाने लगी। अन्तमें अनिरुद्धका चित्र देख उषा पहचान गयी और बोली मेरा मनमोहन चितचोर यही है। योगबलसे चित्रलेखा आकाशमार्गसे होकर द्वारिकापुरी पहुँची। उस समय अनिरुद्ध निद्रामग्न पलँगपर पड़े थे। चित्रलेखा योगबलसे अनिरुद्धको उसी अवस्थामें शोणितपुर ले आयी। उषा और अनिरुद्ध दोनों गुप्तभावसे एक साथ रहने लगे। कुछ समय पश्चात् बाणासुरको यह बात मालूम हुई और उसने क्रुद्ध हो अनिरुद्धसे युद्ध कर उसे नागपाशमें बाँध लिया।

कुछ काल बाद द्वारिकामें भगवान् श्रीकृष्णको उनके पौत्र अनिरुद्धके कारावासका समाचार नारदजीने जब दिया

तब श्रीकृष्ण एक बड़ी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे और नगरको घेर लिया। अपनी सेना लेकर बाणासुर भी पुर-बाहर हो रणोद्यत हो गया। उसकी सहायताके लिये महादेवजी भी अपनी चित्र-विचित्र सेना लेकर रणभूमिमें आ सुशोभित हुए। भयानक युद्ध होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णने जृम्भण अस्त्र चलाया, जिसके कारण शिवजी जँभाई लेने लगे। तब श्रीकृष्णने बाणासुरकी सेनाका विनाश कर बाणासुरकी चार भुजाओंको छोड़ शेष सब काट डालीं। बाणासुरकी हार हुई और उसने श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम कर उषाको अनिरुद्धके अर्पितकर विदा कर दिया।

शोणितपुरकी पश्चिम दिशामें बाणासुर दैत्यने अजेय वरदान पानेके लिये शिवजीका कठोर तप किया था, यहीं भगवान् शंकरने उसे अभय वर दिया था और तभीसे यहाँ 'बाणेश्वर महादेव' स्थित हो गये।

केदारनाथजीके अधिकतर पंडे शोणितपुरके ही रहनेवाले होते हैं।

गुप्तकाशी पहुँचनेके पूर्व भंडेरचौरा नामक स्थानपर हमें उत्तराखण्ड विद्यापीठके एक कार्यकर्ता मिले, जिनसे विद्यापीठका बहुत-सा हाल मालूम हुआ। बादमें श्रीगङ्गाधरजी सेठाणी मन्त्री, श्रीउत्तराखण्ड विद्यापीठने एक पत्र लिखकर गोविन्ददासको विद्यापीठ आनेका निमन्त्रण भी दिया; किंतु, समयाभाववश हमलोग कोई जा न सके। यह संस्था इस पहाड़ी क्षेत्रमें शिक्षणका उपयोगी कार्य कर रही है।

संध्याके कुछ पूर्व हम लगभग डेढ़ मीलकी दुर्गम चढ़ाई पारकर गुप्तकाशी पहुँचे। मार्गमें चारों ओर प्राकृतिक सौन्दर्यकी चाँदनी-सी छिटक रही थी। ४८५० फुटकी ऊँचाईपर रुद्रप्रयागसे २४ मील दूरीपर स्थित गुप्तकाशी केदारनाथ-मार्गका एक प्रमुख कस्बा है। पीछे छोड़े मुकामोंकी अपेक्षा ऊँचाईके बढ़ते ही यहाँ अब शीत भी बढ़ चली थी। गुप्तकाशीमें हमारे ठहरनेकी व्यवस्था हमारे पंडाजीने एक अच्छे स्थानपर की थी।

गुप्तकाशीमें दो प्राचीन मन्दिर हैं—एक चन्द्रशेखर महादेव और दूसरा अर्द्धनारीश्वर। यात्रियोंके आकर्षण और उनकी अर्चना-आराधनाकी दृष्टिसे बीच बस्तीमें महादेवका मन्दिर है, जिसमें विश्वनाथ नामक शिवलिङ्गकी स्थापना है। मन्दिरके सामने मणिकर्णिका नामक कुण्ड है। इस कुण्डमें दो निर्झरोंकी धाराएँ गोमुखसे गिरती हैं। एक धाराको गङ्गा, दूसरीको यमुना माना गया है। यहाँके लोगोंका कहना है कि ये धाराएँ यमुनोत्तरी और गंगोत्तरीसे ही यहाँ आती हैं, इसलिये इन्हें यमुना और गङ्गा कहते हैं। यात्री इन दोनों धाराओंमें स्नान कर भगवान् विश्वनाथके दर्शन और दान-पुण्यादि कर यहाँ तीर्थयात्राका सुख उठाते हैं।

गुप्तकाशीमें शासकीय औद्योगिक माध्यमिक शाला, प्राथमिक शाला तथा तार-डाकघर, औषधालय और एक अच्छा-सा बाजार है। गुप्तकाशीसे रुद्रप्रयागतक टेलीफोन-सर्विस भी है, जिसके कारण यहाँसे भेजे जानेवाले तार रुद्रप्रयागतक टेलीफोनसे भेजे जाते हैं। जलवायु और तीर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे गुप्तकाशी हमें उत्तराखण्डका एक उत्तम स्थान जान पड़ा। केदारखण्डमें इस स्थानका नाम 'गुह्य वाराणसी' है। यहाँसे मन्दाकिनीके बायें दूसरी ओर कुछ ऊपर सामने ऊखीमठ ग्राम दिखायी देता है, जो केदारनाथसे लौटकर चमोली होकर बदरीनाथ जानेवाले यात्रियोंके मार्गमें पड़ता है। ऊखीमठसे चमोली ३० मील और बद्रीनाथ ७० मील पड़ते हैं। दीपावलीसे अक्षयतृतीयातक केदारनाथके पट बंद होनेपर केदारनाथका पूजन यहीं होता है। यहाँ शिव-पार्वती, मान्धाता, अनिरुद्ध और उषाकी धातु-मूर्तियाँ हैं। कहते हैं पूर्वकालमें उषाका निवास-स्थान होनेके कारण इस स्थानका नाम उषामठ पड़ा। कालान्तरमें बिगड़कर वही ऊखीमठ हो गया। कुछ नवदुर्गाकी पुरानी पाषाण-प्रतिमाएँ हैं। ऊखीमठमें डाकघर, अस्पताल तथा पुलिस-चौकी भी है।

अपने गुप्तकाशी मुकाममें हमलोगोंने रातमें भोजन किया और मन्दिरमें विश्वनाथ भगवान्के दर्शनकर हम आरामतलब हो गये। रुद्रप्रयागमें एवं रुद्रप्रयाग छोड़नेके बाद मार्गमें मुकाम न होनेके कारण भोजन-व्यवस्था न हो सकी। अतः सारे दिन निराकण्ठ ही रहनेपर आज रात्रिमें ही हमें यहाँ भोजन मिला।

प्रातःकाल उठते ही हमलोगोंने मणिकर्णिका कुण्डमें स्नान किये, भगवान् विश्वनाथके मन्दिरमें दर्शनकर दान-पुण्यादिक कृत्योंसे निवृत्त हो हम अपनी आगेकी मंजिलपर चल पड़े।

गुप्तकाशीसे केदारनाथपुरी २४ मील रह जाती है। यहाँ भी हम अपनी पिछली यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी यात्राओंके सदृश इस क्षेत्रकी पावन सरिता मंदाकिनीके किनारे-किनारे केदारनाथ-मार्गपर चल रहे थे। हमने अभीतक यमुनोत्तरीका

भयानक मार्ग देखा था, उसके बाद गंगोत्तरी जाते हुए भी उत्तरकाशीके बाद हमें करीब-करीब यमुनोत्तरीके सदृश ही और कहीं-कहीं तो यमुनोत्तरीसे भी बढ़-चढ़कर मार्गकी बीहड़ताका सामना करना पड़ा था। केदारनाथका मार्ग यद्यपि हमें अच्छा बताया गया था, किंतु हमारा अनुमान यही था कि मार्गकी इस विपत्तिका सामना तो हमें यहाँ भी करना पड़ेगा; किंतु हमने देखा गुप्तकाशीके बाद जो मार्ग हमें मिला, वह आशातीत अच्छा था। मार्ग यद्यपि पगडंडीका ही है, पर बीहड़ बिल्कुल नहीं। काफी चौड़ाई और घुमावदार होनेके कारण चढ़ाव भी वैसा कष्टप्रद प्रतीत नहीं होता, जैसा यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरीका। फिर जहाँ कहीं मार्गके एक ओर गहरा खड्ड अथवा मोड़ आता है, वहाँ पत्थरकी मुडेर बनी हुई है जिससे मनमें उस प्रकारके भयका भी संचार नहीं होता जैसा गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी मार्गमें होता है। परंतु इस अच्छे मार्गके बनानेका श्रेय स्वतन्त्र भारतकी सरकारको नहीं है, जब भारत परतन्त्र था तो उस समय अंग्रेज सरकारने यह मार्ग बनवाया था। देशके स्वतन्त्र होनेके पश्चात् उत्तर-प्रदेशकी सरकारने कुछ बातें इसमें प्रशंसनीय की हैं। एक स्थानसे दूसरा स्थान कितनी दूर है, इसकी जानकारी तथा कौन स्थान समुद्र-सतहसे कितनी ऊँचाईपर है, यह जानकारी यहाँ पाषाण-शिलाओंपर लिख दी गयी है। कुछ चपटी शिलाओंपर कुछ अन्य हिदायतें और सूचनाएँ भी लिखी गयी हैं, इनमें कुछ तो कविताएँ हैं। जैसे—

हैजेका लगवालो टीका, इससे लाभ बड़ा है नीका।
बासी भोजन गन्दा पानी, बीमारीकी यही निशानी॥
मादक चीजें कभी न पीना, यदि चाहो तुम अधिक जीना।
घर बदन वस्त्रकी करो सफाई, यदि चाहो तुम देश भलाई॥

कुछ गद्यमें आवश्यक सूचनाएँ भी हैं। जैसे—'हैजेका टीका लगाना अनिवार्य है।' 'अगला प्राथमिक चिकित्सा-केन्द्र अमुक स्थान और दूरी पर है' 'केवल उबला या नलका लाल दवाई डाला हुआ पानी पीजिये।' 'कच्चे और अधिक पके फल मत खाइये।' 'यात्रा-कालमें सूर्योदयके पहले प्रस्थान कीजिये।' 'भोजनको मक्खियोंसे बचाइये।' 'रोगीको अस्पताल पहुँचाकर पुण्यलाभ कीजिये।' 'चट्टी-चौधरीसे लाल दवा मुफ्त लीजिये।' 'चट्टी-चौधरीसे आपको हर तरहकी सहायता मिलेगी।' अधिक अन्न उत्पादनके सम्बन्धमें भी कुछ कविताएँ और सूचनाएँ जगह-जगह लिखी हैं।

इन कविताओं और सूचनाओंका यहाँकी जनता और यात्रियोंपर काफी प्रभाव पड़ता है। पुराने विचारोंके लोग, जब ये रोग-निरोधक वैज्ञानिक प्रयोग प्रारम्भ हुए तो, विरोध करते थे। यही नहीं, अभी भी कुछ लोग इन टीकोंका मजाक उड़ाते हैं। विज्ञान पूर्ण नहीं है, इसे तो हम स्वीकार करते हैं और होना भी नहीं चाहिये। अपूर्ण मानवका प्रयत्न पूर्णताको प्राप्त करना ही है और इस प्रयत्नमें वह जुटा है, जिस दिन वह पूर्णता प्राप्त कर लेगा, दुनियाँकी परिभाषा ही बदल जायगी। परंतु, वह मजाक उड़ानेकी वस्तु तो कदापि नहीं। अथक श्रम और महान् व्ययसे जो अनुसंधान किये गये हैं; यदि हम उन्हींका आश्रय नहीं लेंगे तो हमारा अवलम्ब ही क्या रह जायगा? कुछ पानेके प्रयत्नमें हमें क्या-क्या खोना पड़ता है। क्या गँवाना पड़ता है, यहाँतक कि कभी-कभी अपने आपको खपा भी देना पड़ता है, उस बीजकी तरह जो एक विशाल वृक्षका आकार ग्रहण करता है। सर्वसाधारण इसकी सहज कल्पना नहीं करता। अस्तु, इस दृष्टिसे ये जनोपयोगी अनुसंधानों और प्रयोगोंकी कतिपय पढ़े-लिखे व्यक्तियोंद्वारा आलोचना और इनका मजाक हम एक अनुचित बात मानते हैं। ऐसी बातोंसे मनुष्यके अज्ञानताके घेरेमें पड़े रहनेकी प्रवृत्तिको बढ़ावा मिलता है, जो प्रवृत्ति अत्यन्त खेदजनक है। हमें यहाँके लोगोंसे मालूम हुआ कि हैजेके टीकेको अनिवार्य कर देनेसे जो हैजेकी बीमारी यहाँ यात्राकालमें अनेक स्थानोंपर भयंकर रूपसे अनेक बार फैल जाती थी, वह प्रायः समाप्त हो गयी है।

सरकारकी ओरसे यहाँ कुछ पक्के और कच्चे शौचालय और मूत्रालय भी बनाये गये हैं, जिनमें सफाईकी दृष्टिसे डी० डी० टी० के छिड़कनेकी अच्छी व्यवस्था है। केदारनाथके इस मार्गमें चिकित्साकी भी व्यवस्था की गयी है। ठहरनेके स्थान चट्टियोंके मकान भी बुरे नहीं हैं। यद्यपि इन मकानोंमें गंदगी अभी भी काफी है। फिर इनके रसोईघर, चौके तो बहुत ही गंदे हैं और नहाने आदिकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। काली-कमलीवालोंकी इस मार्गकी धर्मशालाएँ गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी मार्गकी धर्मशालाओंसे अच्छी हैं। किंतु इनमें भी काफी सुधारकी आवश्यकता है। विशेषकर गंदगी दूर करनेकी, रसोईघर सुधरवाने और स्नानागार बनवानेकी। तो भी इस मार्गके और अपनी यात्राके पिछले दो धामोंके निरीक्षणसे यह ज्ञात हो जाता है कि जहाँ एक ओर यमुनोत्तरी और गंगोत्तरीकी तरफ सरकारकी और सार्वजनिक ट्रस्टों अथवा दानी-मानी व्यक्तियोंकी उपेक्षा है, वहाँ दूसरी ओर केदारनाथ-पथपर काफी काम हुआ है और सुधारवादी प्रयत्न हो रहे हैं।

गुप्तकाशीसे केदारनाथकी ओर जैसे-जैसे आप बढ़ते

हैं, प्राकृतिक दृश्य अधिकाधिक मनोहर होता जाता है। आगे कुछ दूरतक तो चीड़का जंगल मिलता है, पर इसके बाद चीड़ या देवदारके सदृश सुन्दर वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते। हाँ, बहुत ऊँचाईपर देवदारके वृक्षोंकी ही एक जातिके वृक्ष दिखते हैं। इन्हें 'चिलादी' कहते हैं। ये मैदानोंमें होनेवाले सुरोंके वृक्षोंके सदृश सीधे और उसी प्रकार नीचेसे ऊपर तक छोटी-छोटी टहनियों और पत्तोंवाले होते हैं, परंतु सुरोंके वृक्षोंसे कहीं अधिक ऊँचे, पर देवदारके बड़े वृक्षोंके सदृश ये फैले हुए नहीं होते। चीड़ और देवदारके सदृश सुन्दर वृक्षोंका इस मार्गपर जंगल न होते हुए भी वृक्षावली अत्यन्त सघन है। मार्गमें अनेक स्थलोंपर तो इस हरित सघन-वृक्षावलीकी कुञ्जें बन गयी हैं, जिनके कारण मार्गके इन स्थलोंपर सूर्यकी किरणोंतकका प्रकाश नहीं पहुँचता। फिर ये स्थल हिमालयकी शिखरावलीसे गिरते हुए अगणित जलप्रपातोंके कारण अत्यधिक सुन्दर हो गये हैं। मार्ग, यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, मंदाकिनीके किनारे-किनारे ही गया है और मार्ग चलते मंदाकिनीके दर्शन होते रहते हैं, किंतु अनेक बार इस सघन वृक्षावलीके कारण मंदाकिनी दिखायी भी नहीं देतीं। इसके प्रवाहपर इन तरुओंकी छाया है। ऐसे स्थलोंपर केवल मंदाकिनीका मन्द-मन्द शब्द ही सुन पड़ता है और मंदाकिनीके दर्शन-सुखसे वञ्चित नेत्र जब प्राकृतिक दृश्योंका निरीक्षण करते तो इन दृश्योंका मनपर जो प्रभाव पड़ता, उसके कारण मंदाकिनीके स्वरसे पूरित हमारे कान और दृश्योंसे लुभित लोचन दोनों एक तन्मय स्थितिमें आकर मनको वह एकाग्रताकी सुखानुभूति कराते, जो मंदाकिनी और इन अरण्य-दृश्योंके दर्शनमें नहीं होती। वृक्षावलीके अतरिक्त गिरिश्रृंगोंपर अनेक प्रकारके पौधोंकी झाड़ियाँ हैं, जिनमें छोटा और बड़ा हंसराज तथा पतला बाँझ प्रमुख रूपसे दिखायी पड़ता है। यह हंसराज केवल गिरिश्रृंगोंपर उगा हो इतना ही नहीं, बाँझ नामक वृक्षोंकी पीडों और शाखाओंतकपर भी यह उगा है। इससे बाँझके कुरूप वृक्ष भी सुन्दर हो गये हैं। बाँझके इन वृक्षोंपर हंसराजके सिवा अनेक प्रकारकी कुछ ऐसी लताएँ चिपटी और लिपटी रहती हैं, जिन्हें जौंक कहते हैं और कुछ लताएँ इन वृक्षोंसे झूमकर चलती हुई पवनमें झूमती रहती हैं।

इस ओर हिमालयकी शिखरावलीके भी हमें कुछ बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्य दिखायी दिये। एक स्थानपर एकके बाद एक ऊँची होती हुई छः श्रेणियाँ हमें दिखायी भी दीं और इन श्रेणियोंके बाद इन श्रेणियोंके बीचमें हिमसे ढका हुआ एक शिखर। इन सात श्रेणियोंको देख हमें 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यं' ये सात लोक स्मरण हो आये। एकके अनन्तर उससे ऊपरका दूसरा लोक और अन्तमें हिमसे ढका हुआ श्वेत सत्यलोक। जब हम निर्निमेष दृष्टिसे इन गिरि-श्रेणियोंको देख रहे थे, उस समय एक और नयी घटना घटी। कुछ ही क्षणोंमें इन श्रेणियोंके बीचके स्थानमें मेघ आ गये। इन मेघोंसे ये श्रेणियाँ तो लुप्त हो गयीं, पर इनके ऊपरके 'चिलदी' के वृक्ष दिखते रहे। जान पड़ता, जैसे ये चिलदीके वृक्ष गिरिश्रृंगोंपर न उगकर मेघोंपर उगे हों। एक अन्य श्रेणीमें 'चिलदी'के ये वृक्ष बीच-बीचमें उगे हुए थे और ये घिरे थे अन्य छोटे-छोटे वृक्षोंसे। इन्हें देख गोविन्ददासको न्यूयार्क नगरका स्मरण हो आया। जहाँ साठ-सत्तर और अस्सी-अस्सी मंजिलके कुछ मीनारनुमा मकान छोटे-छोटे कुछ अन्य घरोंसे घिरे हुए हैं। उन्होंने कहा "इस शिखरावलीको वे 'हिमालय प्रदेशका न्यूयार्क' नाम देंगे!" (क्रमशः)

◆

भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं

मुझे यह निश्चय हो गया है और मैं यह अनुभव करता हूँ कि भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं। मैं कभी अकेला रहता ही नहीं। अवश्य ही कभी-कभी मैं भगवान्‌को देख नहीं पाता, वे मेरी आँखोंसे ओझल-से हो जाते हैं, पर उस समय भी मैं यह अनुभव करता हूँ कि वे मेरे साथ ही हैं। जहाँ यह अनुभूति मेरे हृदयमें आती है कि वहीं तुरंत मेरी आँखोंका पर्दा हट जाता है।

इसीसे मैं सदा सर्वत्र निर्भय तथा निश्चिन्त रहता हूँ; क्योंकि उनके रहते ऐसा कोई कारण बन ही नहीं सकता, जिससे मुझे कभी किसी प्रकारसे भय या चिन्ता हो।

कभी किसी बाहरी परिस्थितिको देखकर, न जाननेवाले लोग चाहे यह समझें कि मैं भय-चिन्तासे ग्रस्त हूँ। पर यह उनकी अपनी दृष्टि है। मेरी दृष्टिमें तो सारे भय तथा सारी चिन्ताओंका सदाके लिये नाश हो गया है; क्योंकि भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं।

◆

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १०११ से आगे]

मनुष्य २२००० वर्ष जियेगा

एक कीटाणुके रूपमें गर्भमें प्रवेश कर मताके रक्तके तत्वोंके संयोगसे बढ़ते हुए वह कीटाणु क्रमशः पिण्डका रूप धारण करता है और पूर्ण पिण्ड बनकर वह बाह्य संसारमें जन्म लेता है। जन्म लेते ही उस पिण्डमें विकासके साथ-साथ मृत्युकी रासायनिक प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है। गर्भकालमें मृत्युकी यह क्रिया उतनी उग्र नहीं होती, जितनी कि जन्मके बाद; क्योंकि अब उसे बाहरसे रक्तके बदले दूध, जल, वायु आदिके रूपमें भोजन प्राप्त होने लगता है, जिसकी लम्बी पाचन-प्रणाली एवं रासायनिक क्रियासे उसे पुष्टि मिलनेके साथ-साथ उसमेंसे अनेक व्यर्थ रासायनिक विष भी शेष होकर निकलते हैं। अन्नका उबाला भूना और अनेक प्रकारके स्वादिष्ट मिश्रण होनेसे तो यह और भी विषम बन जाता है और मिश्रित विषके प्रसारसे मल-मूत्र-पसीनेसे शरीरमें मृत्युकी रासायनिक क्रिया और भी उग्र हो उठती है।

The ultimate cause of death is poisoning from waste products in human physiology and biology, bionosis in biophysiology.

मनुष्यकी पाचन-प्रणालीमें यदि इस विषमताका संचार न होने पाये और किसी बाह्य अथवा आन्तरिक विषमतासे रक्तमें भी विष-विकारका संचार न होने पाये, पाचन और रक्तसंचार-प्रणाली हमेशा शुद्ध सतेज बनी रहे तो मनुष्य कभी न मरे, वह अमर बना रहे।

संसारमें सूक्ष्म जीवाणु मरते नहीं पाये जाते। बंद और रुके हुए पानीके स्थलोंमें, जैसे, गड्ढे, तालाब आदिके पानीमें ऐसे एककोषी जीवाणु पाये गये हैं जो कभी मरते नहीं। वे द्विभाजित, अर्थात् स्वयं एकके दो बनकर बढ़ते जीते रहते हैं। इसका नाम पारामेसिया (Paramecia) है। एक ऐसा जीवाणु साढ़े तेरह वर्षमें एकसे दो बनता हुआ नौ हजार पीढ़ियोंमें इतना विस्तृत परिवारवाला बन जाता है कि इसे देखनेके लिये मनुष्यको ढाई लाख वर्षकी आयु चाहिये।

सन् १९१२ में अमेरिकाकी 'राकफेलर शोध संस्था'के डॉक्टर अलेक्सिस केरलने एक मुर्गीके अजन्मे बच्चे (Chick embryo) के हृदयका एक टुकड़ा निकालकर सुरक्षित कई वर्षोंतक रक्खा और उसे नित्य साफ करते खूराक देते रहे, वह जिन्दा रहा, मरा या सड़ा-गला नहीं। अमरता सिद्ध करनेके पश्चात् उसे जिन्दा ही फेंक दिया गया, अन्यथा सैकड़ों वर्षोंतक उसे जीवित रक्खा जा सकता था।

मानव-शरीरका भी यही हाल है। यह शरीर एककोषी न होकर बहुकोषी, अगणित जीवकोषोंका सुसंगठित स्थूलरूप है। इस शरीरके प्रमुख किसी अङ्गके कुछ अथवा सभी जीवकोषोंपर आन्तरिक विकारसे अथवा बाह्य आघातसे, केवल एक अङ्गकी मृत्यु होनेसे सारा शरीर, सारा कारखाना बंद हो जाता है, यही मृत्यु है। मस्तिष्क, फेफड़े, हृदय, यकृत, मूत्रयन्त्र, ग्रंथियाँ जैसे प्रमुख अङ्गोंमें किसीके भी थककर बैठ जानेसे, विषाक्त होनेसे, आघातसे परस्पर सम्बन्धित सभी अङ्गोंकी मृत्यु हो जाती है। स्वयं जीते और समर्थ होते हुए भी वे बेकार, निर्जीव हो जाते हैं। जबरदस्ती मरना पड़ता है; अन्यथा कानूनसे वे अमर हैं। हरेक अङ्गकी आयु और सामर्थ्य अलग-अलग है। हड्डी करोड़ों वर्ष पहलेकी अब भी मिलती है।

आग सब कुछ भस्म कर देती है। आगमें विनाश है। यह आग मानव-शरीरमें, शरीरको चैतन्य बनाये रखनेके लिये मौजूद है, परंतु चैतन्य रखनेके साथ-साथ यह उसको भस्म भी करती रहती है। यह है उसका टेम्परेचर ९८.६० फ०। वैज्ञानिक कहते हैं कि यदि मानव-शरीरकी आग कुछ ठंडी हो जाय, आधी हो जाय; अर्थात् ४९.३० फ. कर दी जा सके तो मनुष्यकी आयु दो हजार वर्षतक बन सकती है। परंतु प्रकृतिने शीत और उष्ण दोनों जगहोंके निवासियोंका आन्तरिक तापक्रम एक-सा रक्खा है। इसे कौन कैसे कम करे और दीर्घायु पाये ?

किन्हीं-किन्हीं वैज्ञानिकोंने, रोगियोंकी चीरफाड़ करते समय हृदय-गति बंद हो जानेपर विशेष प्रयत्नों और कारीगरीसे हृदयको गतिमान् करके उसे कुछ काल जीवित रक्खा है और वे आशा करते हैं कि ऐसे प्रयत्नोंसे आयु ११५ वर्षकी बनायी जा सकती है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय, अमेरिकाके एक खोजी डॉक्टर हेनरी सिम्स कहते हैं कि मनुष्यमें दस वर्षकी आयुमें जो रोग-निरोधक क्षमता होती है, वैसी ही यदि आजीवन बनी रहे तो मनुष्य ८०० वर्ष जी सकता है और इस प्रकार ईमानदारी रखते हुए कोई-कोई २२००० (बाईस हजार) वर्षतक जी सकता है। परंतु मनुष्य अज्ञान और असंयमसे धीरे-धीरे आत्मघात करता हुआ, आत्मविषमयतासे रोगी, क्षीण होकर अल्पायुमें ही मर जाता है। इसका कारण है माता-पिताके विकार, जो आनुवंशिक पैतृकरूपमें जन्मसे ही संतानको रोग, अपंगता, क्षीणताके रूपमें मिलते हैं और पश्चात् बहुत कुछ अपनी अज्ञानतासे किये हुए अपने ही पाप होते हैं। इन सब कारणोंसे आज पैदा हुए बच्चे तुरंत मर जाते हैं अथवा एक-दो दिन जीकर या कुछ महीने, कुछ वर्ष जीकर अधमरे, आधे जिन्दे रहकर मरते हैं। पूर्ण चेतन, सजीव कोई नहीं मिलता।

अब इन वैज्ञानिकोंकी इस स्वर्गीय अमरताकी कल्पनाका भण्डाफोड़, विषाक्त दवाइयोंके सेवनमें निहित हो जाता है। लोगोंकी आयु भले ही बढ़ जाय, वे बिस्तरपर अपंग बने रहकर हजार वर्ष भी जियें तो ऐसे जीनेसे क्या लाभ ?

इससे तो अल्पायुमें ही मर जाना अच्छा। कहना न होगा, साक्षात् देखना चाहिये कि विज्ञान और उद्योगके विकाससे रासायनिक विषौषधों—संजीवनी साधनाओंके प्रचारसे कितना रोग बढ़ा है, कितनी अपंगता बढ़ी है, कितनी आयु बढ़ी है ? रोग और अपंगता लिये हुए मनुष्य हजारों वर्षतक जिये तो ऐसा जीवन पृथ्वीपर केवल भारस्वरूप है।

प्रयोगशालामें जीवाणुको अमर सिद्ध कर देना एक बात है और स्वयं व्यवहारमें अमरता सिद्ध करना दूसरी बात है। वैज्ञानिक लोग अपने विषयमें स्वयं जो अमरता न सिद्ध कर सकें, स्वयं रोगी, क्षीण और अल्पायु होकर मर जाते हैं तो इनके वैज्ञानिक अमरताके सिद्धान्त और साधनसे हमें क्या लाभ ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो वैज्ञानिक अपने ऊपर अपनी बातोंको सिद्ध नहीं कर सकते वे दुनियाको अपनी चतुराईसे बहकाकर स्वार्थ-साधन करते, यश कमाते हैं। इनका कितना और कैसे भरोसा किया जाय और इनकी वैज्ञानिकताकी सार्थकता क्या ? ये वैज्ञानिक स्वयं असंयम करते, अनाप-शनाप खाते-पीते, रोगी होते, अल्पायुमें मर जाते हैं। डॉक्टरी अखबारोंमें मरनेवाले डाक्टरोंके नाम देखिये। उनके रोग और उनकी आयु, उनके व्यसन और इलाजका ज़िक्र नहीं किया जाता। अभी कुछ समय पहले इंग्लैंडके एक स्वास्थ्य-सम्बन्धी मासिकपत्रने समाचार उद्धृत किया था कि पोलियो-रोग-निरोधक टीका लेकर कुछ डॉक्टर और वकील उसके विषाक्त प्रभावसे मर गये। टीका लेनेके पहले वे भले चंगे थे। स्वस्थ दशामें, रोगसे बचनेके लिये जो डरके मारे जहर अपने खूनमें घोल लें, ऐसे वैज्ञानिकों और डाक्टरोंकी बुद्धिको और उसके परिणामको देखिये ! इन्हें वैज्ञानिक कहा जाय अथवा अविवेकी ! ये लोग जानते हैं कि संसारकी खेतीमें अन्न बोकर अन्न, साग बोकर साग, फल-मेवोंके बीजसे फल उत्पन्न होता है और लोग उन्हें खाकर पुष्ट होते जीते हैं। विष खानेपर मौत होती है। परंतु रोगके इलाजके सम्बन्धमें इनकी मति उल्टी चलती है। इनका सिद्धान्त है कि जितना तेज जहर होगा, उतनी ही बढ़िया, रोगनाशक एवं रोधक दवा बनेगी। Our strongest poisons are our best remedies. इस वैज्ञानिक अज्ञानके कारण वे इसका प्रयोग मूर्ख जनतापर करके रोग दबाते, रूपान्तर करके नये रोग फैलाते, अपना पेट-परिवार पालनेके लिये धंधा करते हैं। यदि ये धूर्ततापूर्वक ऐसा करते हों तो इन्हें अपराधी कहा जा सकता है; परंतु ये स्वयं भी जब असंयम करके रोगी दशामें दवाके रूपमें विष खाते हैं, इंजेक्शनके रूपमें उसे अपने खूनमें घोलते हैं तो इनकी बुद्धिपर तरस आता है कि ये विज्ञानके नामपर कितने भ्रान्त हैं !

प्रयोगशालामें जीवाणुकी आयु बढ़ानेवाले वैज्ञानिक स्वयं अपनी आयु नहीं बढ़ा सकते। रूसमें वैज्ञानिकोंने स्टालिनकी आयु डेढ़ सौ वर्ष बनानेके प्रयोगमें कितने ही मनुष्योंको मार डाला और स्टालिन पौन सौ वर्ष भी मजेमें न जी पाये। जब कि वे दीर्घजीवी वंशज थे। उनके पिता, चाचा, बाबा सौसे अधिककी आयुमें मरे थे। विचारकर साक्षात् देख लीजिये कि इस दवा-विज्ञानसे स्वास्थ्य और आयु घटती है या बढ़ती है।

दवाकी बची

बम्बईके गुजराती साप्ताहिक पत्र 'जामे जमशेद'ने अपने १२ जुलाई ५९ के अङ्कमें हूस्टन, टेक्सास राज्य, अमेरिकाका एक समाचार छापा है कि वहाँ एक दम्पतिको दोनोंको अपने निमित्त किसी घरमें दीवाल-दरवाजा तोड़ने-खोलनेके अपराधमें दो वर्ष कैदकी सजा सुनायी गयी तो उनकी तीन महीनेकी लड़की मात्र घरमें बची, उसे सरकारी आज्ञासे अन्य

पालन-पोषणके लिये रक्खा गया। नये अभिभावकके पास रहनेसे लड़कीको बुखार आने लगा, सोते हुए किसी अज्ञात भयसे वह चमककर ऐंठ पड़ती थी, इसलिये उसे अफीमकी दवा दी जाने लगी; क्योंकि जब यह लड़की गर्भमें थी तब उसकी माँ नशा किया करती थी, अतएव संतान नशेबाज पैदा हुई और आजन्म नशेबाज रहेगी। जैसा बीज वैसी खेती। काँटा बोकर फूल उगानेकी यह वे-ज्ञानकी वैज्ञानिक खेती।

इससे स्पष्ट होता है कि आजकल माता-पिताओंके रोगोंपर दवा-सेवन, इंजेक्शन आदिका परिणाम उनकी संतानपर होकर उनको अनेक रोग हो रहे हैं और बच्चोंको उनके इलाज तथा रोग-निरोधके नामसे जबरदस्ती, अनावश्यक टीके और इंजेक्शन जो दिये जा रहे हैं उनका परिणाम उनके स्वयं जीवनपर तथा आगे उनकी संतानपर कैसा होगा उसकी आज कल्पना नहीं हो सकती। आजका मानव कैसा है, उसकी भविष्यकी संतान कैसी होगी, वैज्ञानिक स्वयं न तो निश्चयपूर्वक कुछ जानते हैं, न बता सकते हैं। अंधज्ञानी वे-ज्ञानी बेचारे!

वैज्ञानिकोंपर अविश्वास

जापानमें मित्रराष्ट्रोंद्वारा नागासाकी और हिरोशिमा शहरोंपर अणुबम विस्फोट करनेपर पिछला महायुद्ध बंद हुआ, परंतु अणुबम डाले बिना भी कई महीने पहले ही यह युद्ध बंद हो सकता था। इन बमोंके विस्फोटसे जनताके मन और स्वास्थ्यपर क्या प्रभाव हुआ है इसकी जाँचके लिये विश्व-स्वास्थ्य-संघ (World Health Organization) द्वारा एक कमीशन बनाया गया था। उसमें 'यूनाइटेडनेशन्स स्पेशलाइज्ड एजेंसीजमें सलाहकार और 'कौंसिल ऑफब्रिटिश एशोसिएशन फॉर एडवांसमेंट ऑफ साइन्स'के सदस्य श्रीरिची कालडरने लिखा है कि 'दुनियाके स्पष्ट विचारकोंका अब वैज्ञानिकोंकी करामातोंपरसे विश्वास उठता जा रहा है।' उन्होंने एक अखबारमें लिखा है, 'जाँच करनेपर हमें जो मालूम हुआ उससे हम बहुत बेचैन हो गये। दुनियाकी सभ्यता अभी एक अंडेकी परतसे ज्यादा मोटी नहीं है।'

Mr. Ritchie Calder, adviser to United Nations Specialized Agencies, and Member of British Association for Advancement of Science—"The general public no longer trusts the scientists."—"Our findings were profoundly disturbing. We found that the crust of civilization was no thinker than an eggshell. Confronted with the release of atomic energy and radio-activity people everywhere were huddling back in the dark days of their own emotions, covering like our primitive ancestors from the menace of elemental forces. In an age dominated by science, the ultimate direction of science with its incalculable powers for good and evil, was in the hands of people-statesmen, politicians, civil servants, and indeed, boards of directors in industry—whose education has been designed to deprive them of knowledge of science."

दुनियाके समझदार लोग अब वैज्ञानिकोंसे डरते हैं, उनका भरोसा छोड़ बैठे हैं; क्योंकि इनकी करामातें खतरनाक और घातक हैं। जनताको मालूम हो गया है कि सरकारी कार्यालयोंसे भी प्रतिमास जो विज्ञानके प्रति विश्वासका प्रचार किया जाता है वह सब बेशर्मोंसे 'झूठ' हीका प्रचार है।

"Slowly but surely since the end of the second world war, the general public has gradually come to realize that they are being subjected to a spate of blatant propaganda pouring forth month by month from a shameless band of official reassurers."

मूषक-गणना आँकड़े

अमेरिकन शासन संविधानके लेखक, नेता और वैज्ञानिक श्रीबेन्जामिन फ्रेंकलिन (१७०६–१७९०) ने तीन प्रकारकी झूठ बतायी है—साधारण झूठ, बिल्कुल झूठ और अन्तिम अधम झूठ होती है—सरकारी आँकड़े। Lies, damn lies, and statistics.

सन् १९३७ में ब्रिटेनमें 'चूहा मारो सप्ताह' का आयोजन, वेल्सकी 'मेरी' नामकी एक किसान बहिनने रेडियोपर सुना था, जिसमें प्रवक्ताने बताया था कि 'ब्रिटेनमें

चार करोड़ पचास लाख चूहे हैं और प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह चूहोंको मारकर उनकी संख्या कम करे।'

'मेरी' शालामें पढ़ती थी, दूसरे दिन उसने रेडियो-समाचारकी चर्चा करते हुए अपनी शिक्षिकासे पूछा कि 'प्रवक्ता महोदयको चूहोंकी संख्या कैसे मालूम हुई ? हमारे घरमें कितने चूहे हैं, हम या हमारे पिता भी नहीं जानते, फिर प्रवक्ता साढ़े चार करोड़ चूहे किस आधारपर बताते हैं ?'

लन्दनके ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशनको एक पत्र भेजकर यह बात पूछी गयी। कुछ समय बाद बी०बी०सी० का जवाब आया कि 'हमें नहीं मालूम, प्रवक्तासे पूछकर हम लिखेंगे।' कुछ दिनों बाद उन्होंने प्रवक्ताका उत्तर भेजा, 'मैं स्वयं चूहोंकी संख्या नहीं जानता, किंतु एग्रिकल्चर बोर्डको लिखकर पूछ रहा हूँ।' इस बोर्डका भी उत्तर बादमें मिला—'हम भी नहीं जानते, हम नेचरल हिस्ट्री म्यूजियमको लिखकर पूछकर बतायेंगे।' कुछ समय बाद इस म्यूजियमका भी जवाब मिला कि—'हमें भी चूहोंकी संख्या नहीं मालूम, हम जिनेवा (इटली) के इण्टरनेशनल बोर्ड ऑफ एग्रिकल्चर एण्ड स्टेटिस्टिक्ससे इसका पता लगाकर आपको लिखेंगे।' कुछ सप्ताहोंमें इस बोर्डका भी जवाब आया कि—'अन्ताराष्ट्रिय समझौतेसे, राजकीय आँकड़े बनानेके हेतु यह तय हुआ है कि किसी देशकी जन-संख्याके बराबर ही चूहोंकी संख्या मानी जाय।' तबसे अबतक २२ वर्ष हो चुके हैं, अभी १६ सितम्बर १९५९ के 'एक्सप्रेस' अखबारमें ऐसी ही अन्धज्ञानी परम्पराकी एक आवश्यक सूचना न्यूयार्क, अमेरिकाके चूहोंके विषयमें छपी थी—'न्यूयार्कका प्रत्येक नागरिक यदि अपने घरोंको चूहोंसे मुक्त नहीं करेगा तो एक वर्ष कैदकी सजा मिलेगी। यह कानून अक्टूबरसे लागू हो जायगा। चूहोंकी बढ़तीको रोको। न्यूयार्कमें प्रति व्यक्ति पीछे एक चूहेकी औसत आबादी है। (There is one rat to everyNewyorker).

आजकल दुनियाकी प्रायः हरेक गवर्नमेंटमें सूचना और प्रचार-विभागका काम जोरोंसे चलता है। उपर्युक्त बहिन 'मेरी'के अनुसार मैंने भी भारतकी एक प्रान्तीय राजधानीमें रहकर वहाँके सचिवालयको एक पोस्टकार्ड लिखकर पूछा था कि 'उस राजधानीमें चलनेवाले हत्यागृहमें किन-किन प्रकारके कितने पशुओंका वध होता है, वार्षिक संख्या बतावें, और उनके शरीरकी विभिन्न ग्रन्थियों वह जानेवाले रक्तका कहाँ क्या उपयोग होता है किसी सर्वसाधारणको वह कहाँसे किस प्रकार प्राप्त हो है ?' कुछ समय बाद उत्तर आया कि 'मेरा पत्र विभागको भेज दिया गया है, वहाँसे आपको उत्तर मिले पुनः कुछ सप्ताहों बाद अमुक अधिकारीका उत्तर कि 'मेरा पत्र तीसरे अमुक विभागको भेज दिया गया है इस प्रकार पाँच-छः महीनेतक मेरे पास लिफाफोंमें विभागोंसे उसी प्रकार अनिश्चित उत्तर आते रहे, इंग्लैंडमें उक्त किसान बहिनको।

राजनीतिक दाँव-पेंच और सरकारी प्रचारसे जापानके नागासाकी और हिरोशिमा शहरोंपर अणुबम वैज्ञानिक नीतिसे आजमाये गये, जिसका पूरा पता दुनिया सच्चा-सच्चा नहीं मालूम हुआ। इसमें कोई राजनै कारण न था, था केवल वैज्ञानिक दबाव, परंतु प्रचार दुनियासे कहा गया कि जापानकी उद्दण्डता और नित्य मरनेवालोंकी बढ़ती संख्या रोकनेके लिये अणुबम डालना न्याय और आवश्यक था, परंतु दरअसल बिल्कुल उल्टी थी।

राजनीतिमें वैज्ञानिक भूमिका

जनवरी १९४५ में याल्टा कान्फ्रेंसमें जानेके पूर्व अमेरिकन प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्टके पास जापानकी ओरसे गये शान्ति-प्रस्ताव प्राप्त हुए, थे जिन्हें अगस्त ४५ में, बाद, अणुबम-विस्फोटके बाद मंजूर किया गया प्रस्ताव जापानके बादशाहने जनरल मेकार्थरके द्वारा थे और जिनको मान लेनेके लिये जनरल मेकार्थरने भी की थी। परंतु रूज़वेल्टने उसे अलग पटक था 'मेकार्थर अच्छा सेनापति है; परंतु राजनीतिमें दिमाग गरीब है।' इस विषयमें ऐसी फटकार सुनकर बादशाह और उनके सहयोगी 'युद्ध रोको' प्रस्तावको लेकर अनेक प्रयत्न करते रहे जिनका अमेरिकन अधिकारी, नेवल इण्टेलिजेंस सर्विसके एलिस जाकरियासने अपनी पुस्तक 'सीक्रेट मिशन्स' में है—"प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट और ट्रूमैन दोनों ही जापानद्वारा 'युद्ध बंद करनेके प्रस्ताव' को जानते जापान हर तरहकी शर्तोंको माननेको तैयार है। शान्ति-प्रस्तावपर कई महीनोंतक कोई विचार अथवा

न देख जापानने २२ जुलाईको पुनः वैसा ही प्रस्ताव भेजा था, परंतु उसे भी दबाकर पड़ा रहने दिया गया और नागासाकी तथा हिरोशिमापर अणुबम ५-६ अगस्तको डालकर ब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर देनेके बाद १० अगस्तको शान्तिप्रस्ताव मंजूर करनेकी घोषणा की गयी। ऐसा क्यों हुआ ? इसका जनीतिक नहीं वैज्ञानिक कारण है।

जिस समय जापानने जनवरीमें प्रथम बार शान्ति-प्रस्ताव क्या था उस समय अणुबम तैयार न था। वे लोग वैज्ञानिक) अणुबमको तैयार कर उसका प्रयोग अनुभव नेके लिये अमुक समयका इन्तजार कर रहे थे कि इस से कितनी गहराई-ऊँचाई, लम्बाई-चौड़ाईतक कैसा विनाश ा। लड़ाई चलते रहनेके लिये महापुरुषोंने जो ठे प्रचार किये थे, उसका रहस्य 'आब्जर्वर' के ६ सितम्बर ९५१ के अंकमें लार्ड एटलीकी कलमसे छपा है कि 'जापानी ग अपनी उद्दण्ड एवं पागल राजभक्तिके कारण जी-जानसे ड़ रहे थे और जापानी फौजें दक्षिणपूर्व एशियामें दूर-दूर ली हुई थीं, वे पीछे हटनेको तैयार न थे, उन्हें मरना धिक पसंद था और उनसे लोहा लेनेमें हमारा बहुत मय लगता, खर्च होता और हमारे कई लाख सिपाही ते। इसलिये जापानपर अणुबम डालनेकी सहमति नकी ओरसे चर्चिलने दी थी। यदि उस समय मुझसे ा जाता तो मैं भी वैसा ही कहता।'

परंतु यह प्रचार कितना झूठा था जब कि जापानने महीने पहले ही, अणुबम तैयार न था तभी शान्ति-प्रस्ताव ा था और तबसे उस प्रस्तावको मंजूर करानेमें शील अनेक उच्च अमेरिकन अधिकारियोंने जो कार्यवाही उसके वर्णनमें एडमिरल ज़ाकरियासने अपने 'सिक्रेट न्स' में लिखा है—

The most distinguished living erican statesman at that time was l aware of the persistent Japanese ce offers and was aghast at the ctacle of the needless continuation the bloody warfare in the Pacific. had a conference with President man about May, and presented his est. He found that President man was also well aware of the anese eagerness to surrender on the most humiliating terms. But Mr. Truman told his eminent visitor that he was new in office and felt himself helpless in the face of tremendous pressure of the Pentagon forces led by Secretary of War Stimson and especially General Marshall, to continue the hostilities to the bitter end. There was a rigorous and inflexible determination on the part of these men to continue the war until they could try out the atom bomb which was then near perfection. There was not the slightest military need for dropping the atom bomb to end the war at once. The official American Strategic Bombing Survey summarized the facts in 1946—'Japan would have surrendered even if the atomic bombs had not been dropped, even if Russia had not entered the war, even if no invasion of Japan had been planned or contemplated.” 'आब्जर्वर'के २७–९–५१ के अंकमें केलिफोर्नियाके श्रीहैरिस-बार्न्सने लार्ड एटलीके ६ सितम्बरके कथनपर यह उत्तर दिया है।

अणुबमका विनाशक प्रभाव जाननेके लिये जापानके तीन लाख लोग मारे गये, अथाह सम्पत्ति नष्ट की गयी—यह है वैज्ञानिक खिलवाड़। इसीके लिये शान्तिप्रस्तावको छः महीनेतक दबा रक्खा गया ! और इस प्रयोगकी विशेषता यह हुई कि राजनीति अथवा विज्ञानसे सम्बन्ध या रुचि न रखनेवाले लोगोंने, चर्च ऑफ इंग्लैंडके एक पादरीने भी विशेष संस्कार आयोजनद्वारा पहले 'अणुबम लेकर उड़नेवाले जहाज, उसके चालक और बमको आशीर्वाद दिया था।' पार्लियामेंटमें इसकी कोई चर्चा नहीं की गयी थी और जब अणुबम तैयार हो गया था तो यह बम कहाँ डाला जाय, इस विषयमें डेढ़ सौ वैज्ञानिकोंसे 'मत' लिया गया था। आधेसे अधिकने कहा 'बसे हुए शहरपर', और हिरोशिमाको पसंद करके निशाना बनाया गया। नागासाकीपर डाला गया। बम तो दूसरे प्रकारका था जिसे अणुबमकी शक्तिसे तुलना करनेके लिये डाला गया था।

मन्द प्रलय

परंतु अब तो शान्तिकालमें, युद्ध और अणुबम डाले बिना ही, नित्य मौन-विनाशके साधन प्रस्तुत हो रहे हैं। अणुबमकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि राकेट आदि अग्निबाण और अणु कारखानोंसे सूक्ष्म और दूरसे प्रभावकारक विषैली वायु निकलती है वह वातावरणमें घुलकर प्राणियोंके श्वासमें जा रही है, बादलोंमें मिलकर पानी बनकर पृथ्वीमें सब अन्न साग-फल दूध आदिमें सम्मिश्रित होकर भोजन-पानीके साथ नयी बीमारियाँ बनाकर मन्द हत्या करेगी।

"More slowly but quite as efficiently the same result is being achieved through the fumes given off from atomic fission factories. Every wind that blows through such a factory, comes out radio-active. For the disruption of life for silent assassination the miasma from the power plants alone, given time, is amply sufficient. With more and more stations and factories coming into action, a steady poisoning of our atmosphere is already taking place...the sumtotal of radio active deu in the atmosphere must slowly increase until life, vegetable animal, including human can no longer exist on this planet."

अणुबमपर खर्च, प्रयास और प्रयोग किये बिना अब इस मन्द-हत्याकी क्रियासे धीरे-धीरे श्वास और भोज विषाक्त हो जानेसे एक समय ऐसा आयेगा कि वैज्ञानिक मूर्खता और गोरखधन्धेसे पृथ्वीके चारों वातावरण इतना घना विषाक्त हो जायगा कि वनस्पति कोई प्राणी शेष न रह जायगा। जनतासे कर-रूपमें गया अथाह धन, जनताद्वारा चुनी-बनायी जनतन्त्र युद्धके भयानक विनाशक अस्त्र-शस्त्र और रोग रोगनाश और स्वास्थ्यरक्षाके नामपर रक्त-मवाद विषका निर्माण-संचार जनताके शरीरमें करनेके लिये कर रही है, हम अपनी ही सरकारपर विश्वास करके परिणाम पाते हैं? उनके इस असत्य वैज्ञानिक प्रचारमें धोखा है। हिरोशिमा और नागासाकीपर बम प्रहार पहले एक ईमानदार अंग्रेज पत्रकार जेम्स कामरान जो स्पष्ट समाचार भेजा करता था, उसने तब लिखा "The most sacred men in the today are atom-splitiers."

अणुविस्फोटसे जो महाविनाश हुआ और उ वातावरण कितना जहरीला हो गया, प्रकृतिमें कैसी पुथल प्रतिक्रिया कैसी हुई, विचित्र पीड़ायुक्त फैलीं, इन सबकी कल्पना वैज्ञानिकोंको पहले नहीं अपनी भयानक करतूतोंका परिणाम देखकर कल्पनासे स्वयं काँप उठते हैं कि अब आगे क्या परंतु हम तो मर जायँगे, बाल-बच्चे वह जमाना और हमें धिक्कारेंगे !!

(

◆

सत्सङ्ग और दुःसङ्ग

मिलता नहीं बिना हरिकी अनुकम्पाके पावन सत्सङ्ग।
जिससे 'भोगोंमें सुख है' इस विषम भ्रान्तिका होता भङ्ग॥
हो जाता तमाम इह-परके भोगोंसे तत्काल विराग।
हो जाता प्रभु-पद-पद्मोंमें सुदृढ़ और अनन्य अनुराग॥
जिससे भोगोंमें सुख दिखता बढ़ती मनमें विषयासक्ति।
मोहजनित बढ़ती जाती आराम-नाममें ही अनुरक्ति॥
हो चाहे 'सत्सङ्ग' नाम, पर है वह निश्चय ही 'दुस्सङ्ग'।
जिससे चढ़ जाता जीवनपर दोषमयी मायाका रङ्ग॥

◆

श्रीपुरी धाम

(लेखक—आचार्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी गुप्त एम्० ए०, बी० टी०)

आधुनिक पुरीक्षेत्र प्राचीनकालमें पुरुषोत्तमक्षेत्र, जगन्नाथक्षेत्र और श्रीक्षेत्र नामसे परिचित था। आधुनिक कालकी पुरीके पाँच कोसकी गिर्दमें पुरुषोत्तमक्षेत्र था। १५० वर्षपूर्व जगन्नाथ-मन्दिर और गुंडिचावाडीके बीच बाँकीमोहाड़ नदी प्रवाहित थी। पहले नदीके एक किनारे एक रथ और दूसरे किनारे दूसरा रथ, रथयात्रामें निकलता था। यही बाँकीमोहाड़ नदी चक्रनारायण-मन्दिरके पास समुद्रमें संगम करती है। ब्रह्मपुराणमें इसका विस्तार दस योजन लम्बा, पाँच योजन चौड़ा बताया है—

'दशयोजनविस्तीर्णं पंचयोजनमायतम्।
नानाश्चर्यसमायुक्तं क्षेत्रं परमदुर्लभम्॥
(४४ अ०)

इसी क्षेत्रमें नीलगिरि पर्वत विराजमान था, जिसपर जगन्नाथ-मन्दिर निर्मित है। इसी पर्वतके पास नाना प्रकारके वृक्षोंका जंगल था। इसी पर्वतपर एक बड़ा कल्पवृक्ष था। इस वृक्षके पश्चिममें रोहिणीकुण्ड था, जिसमें स्फटिककी सीढ़ी थी। इस कुण्डके पूर्वमें नीलमणि भगवान् वासुदेवकी मूर्ति थी। इस पर्वतके पश्चिममें सबर लोगोंका आश्रम था। यह क्षेत्र चार धामका अन्यतम प्रधान क्षेत्र स्वयं भगवान् विष्णुका वपुस्वरूप माना गया है। दारुरूपी जगन्नाथका यह क्षेत्र परम पवित्र है। यह पुण्यतम स्थान है। इस क्षेत्रमें जो वास करता है उसका जीवन सफल है। यहाँकी दारुमूर्ति शास्त्रसम्मत है। स्वयं भगवान् निज इच्छासे स्वयं गठन करके आविर्भूत हुए हैं। यह क्षेत्र अन्य क्षेत्रोंसे अति प्रिय है।

यह सर्ववादी सम्मत है कि जगन्नाथजीके आदिप्रतिष्ठाता श्रीइन्द्रद्युम्न राजा हैं। ये अवन्ति नगरमें राज्य करते थे। ये परम भक्त थे। किसीने इनको वैश्य भी लिखा है जो विवादग्रस्त है। इन्द्रद्युम्नने ही दारुमूर्ति बनवायी थी। वर्त्तमान मन्दिर उन्हींके द्वारा निर्मित हुआ है। ये राजा कलियुगके आदिमें हुए हैं। यह बात इतिहासद्वारा भी प्रतिपादित है। मादलापाँजीसे सिद्ध होता है कि अन्य राजाओंने मूर्तियोंकी केवल पुनः प्रतिष्ठा ही करवायी है।

उत्कलमें बौद्ध लोगोंका बहुत दूरतक राज्य रहा, किंतु बौद्धोंका प्रभाव इस मन्दिरपर नहीं पड़ सका। मध्यप्रदेशमें राजिवलोचन और शिवरीनारायण, शिवपुरी स्थानोंमें सबर-लोगोंका राज्य इन्द्रद्युम्नके समयमें था। अतएव इनका भी धार्मिक महत्त्व है।

पुरुषोत्तमक्षेत्रमें भगवान् श्रीजगन्नाथजीके आविर्भावके पहिले नीलमाधव ही प्रधान देवता माने जाते थे। सृष्टिके आदिकालसे नारायणकी आराधना इस क्षेत्रमें होती आयी है। जगन्नाथजीके आविर्भावका वर्णन कई संस्कृत ग्रन्थोंमें मिलता है, जिनमें ब्रह्मपुराण, स्कन्दपुराण मुख्य हैं। उड़िया ग्रन्थोंमें भी यही वर्णन मिलता है, जिनमें सारलादासका महाभारत उल्लेखनीय है। उड़िया कवियोंने जनश्रुतिको ही लिपिवद्ध किया है। जगन्नाथजीके आविर्भावका वर्णन इस प्रकार है—राजा इन्द्रद्युम्न अवन्ति नगरमें रहते थे। वे वैष्णव तथा शास्त्रकोविद थे। उन्होंने स्वप्नमें नीलमाधवके दर्शन किये और उन्हें यह आभास मिला कि उनके लिये पुरीमें एक विशाल मन्दिर बनवा दो तथा उन्होंने यह भी स्वप्नमें सुना कि शिवरीनारायणमें जो नीलमाधवकी मूर्ति है, उसे वहाँसे ले जाकर पुरीके नये मन्दिरमें पधराओ; क्योंकि उस मन्दिरमें यह एक अनुचित बात है कि नीलमाधवके दर्शन सिवा सबर राजाके और कोई नहीं कर सकता। राजाने एक सभामें अपने विचार प्रकट किये। मन्त्रणाके पश्चात् उन्होंने अपने मन्त्री विद्यापतिको यह कार्य सौंपा।

विद्यापतिने शिवरीनारायणमें जाकर सब रहस्य देखा। जिस मन्दिरमें नीलमाधवकी स्फटिकमणिकी मूर्ति थी, उसके दरवाजेपर एक विद्युन्मय यन्त्र था और दो पत्थरके सिंह थे जो उस व्यक्तिपर प्रहार करते थे जो एक मुँदरी धारण किये नहीं जाता था। वह मुँदरी सबर राजा अपने पास रखते थे और किसीको भी नहीं देते थे। इस प्रकार नीलमाधवका दर्शन कोई नहीं कर सकता था। वरं अज्ञात व्यक्तियोंकी उन शेरोंके द्वारा हत्या हो जाती थी। विद्यापति अपनी कुशाग्र बुद्धिके द्वारा नीलमाधवका दर्शन करनेमें सफल हुए और पश्चात् वे नीलमाधवकी मूर्तिको वहाँसे हटाकर उज्जैनमें ले आये। फिर राजा इन्द्रद्युम्नने नीलमाधवकी मूर्ति पधरानेके लिये पुरीमें

एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो ९० हाथ ऊँचा था। इस मन्दिरमें नीलमाधवकी मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी।

जब नीलमाधवके दर्शनसे पापियोंको मुक्ति मिलने लगी, तब यमराजको चिन्ता हुई कि उनका लोक शून्य हो जायगा। तब उन्होंने भगवान् विष्णुसे प्रार्थना की कि आप मेरी रक्षा कीजिये। भगवान् विष्णुने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और वचन दिया कि अब नीलमाधव लुप्त हो जायँगे। तत्पश्चात् समुद्रमें ऐसा ज्वारभाटा आया कि नीलमाधवका मन्दिर बालूसे ढक गया और नीलमाधवकी मूर्ति अदृश्य हो गयी। लोगोंको मन्दिरका पता भी नहीं चला।

इन्द्रद्युम्नको जब नीलमाधव और मन्दिरके गुप्त होनेका समाचार मिला, तब उन्हें और उनकी रानी गुंडिचा देवीको बहुत शोक हुआ। उन्होंने नीलमाधवके पुनः दर्शन पानेके लिये एक हजार अश्वमेध यज्ञ किये और रानीने कठोर व्रत किये। जब राजाके १००० अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो चुके, तब आकाशवाणी हुई कि 'राजा! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। यद्यपि तुमको नीलमाधवका दर्शन अब हो नहीं सकता; किंतु स्वयं भगवान् दारुरूपसे अपनी प्रतिमाका गठन करेंगे और चतुर्धा मूर्तियोंका दर्शन तुमको होगा। वही भगवान् साक्षात्‌रूपसे माने जायँ। समुद्रमें जो वृक्ष दिख रहा है, वह श्रीकृष्णभगवान्‌के पिंडसे उत्पन्न है। उसे लाकर पधरा दो। फिर भगवान् एक वृद्धके रूपमें आयेंगे और एक बंद कमरेमें मूर्तियोंका निर्माण करेंगे। बीस दिनोंतक कमरा बंद रखना। कोई भी गठनकी ध्वनि सुन न सके। इन मूर्तियोंके दर्शनसे सबका कल्याण होगा।'

देववाणी सुननेके पश्चात् राजा इन्द्रद्युम्नने उस लकड़ीको समुद्रसे मँगवाया। एक वृद्ध विश्वकर्मा आये। उन्होंने एक बंद कमरेमें प्रवेश कर मूर्तियोंका गठन आरम्भ किया। और कहा बीस दिनोंतक कमरा बंद रखना। पंद्रह दिनोंतक किसीको मूर्ति-गठनकी कोई भी आवाज सुनायी नहीं दी। भीतर उन वृद्ध महात्माके रहनेपर भी कोई भी ध्वनि कर्णगोचर नहीं हुई, तब पहरेदारोंको संदेह हुआ कि वृद्ध जीवित नहीं हैं नहीं तो, बिना आहटके पंद्रह दिनतक वे कैसे जीवित रहे होंगे। उन्होंने जाकर रानी गुंडिचादेवीको यह समाचार सुनाया, तब उन्होंने विचार किया कि उनके महलमें कोई हत्या न हो जाय। अतः उन्होंने उस स्थलपर जाकर निरीक्षण किया तो उन्हें भी कोई आहट नहीं मिली। यद्यपि कमरा खोलनेकी बीस दिनोंकी अवधि पूरी नहीं हुई थी, तब भी हत्याके भयसे उन्होंने कमरा खोलनेकी आज्ञा दे दी।

कमरा खोला गया। वहाँ चार अपूर्ण मूर्तियोंके दर्शन हुए। वृद्ध विश्वकर्मा नहीं दिखायी दिये। ये चार अधूरी मूर्तियाँ श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलभद्रजी, श्रीसहोद्रा (सुभद्रा) देवी और सुदर्शन चक्रकी थी। रानी और राजाको बड़ा विस्मय हुआ परंतु उन्होंने स्वयं भगवान्‌का प्रादुर्भाव देखनेके कारण अपनेको कृतार्थ ही माना। इस प्रकार ये चारों मूर्तियाँ स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ही साक्षात् आभा हैं।

नीलमाधवका मन्दिर, जिसको समुद्रने बालूसे ढक दिया था, बहुत दिनोंतक अदृश्य रहा। एक दिन उत्कल (ओड़ीसा) के राजा गालमाधव शिकारके लिये पुरीक्षेत्रके जंगलमें भ्रमण कर रहे थे। अकस्मात् उनके घोड़ेकी टापमें चोट आ गयी। राजाने उतरकर देखा तो मालूम हुआ कि पृथ्वीमें एक कलश गड़ा हुआ है। उसीसे घोड़ेकी टापमें चोट आयी थी। राजाने उसको खुदवानेकी आज्ञा दी। तब राजा इन्द्रद्युम्नद्वारा विनिर्मित मन्दिर पूरा निकल आया।

राजा इन्द्रद्युम्नने चारों दारुमूर्तियोंको गुंडिचा रानीके महलमें लाकर इसी मन्दिरमें पधराया। तबसे यह मन्दिर एक प्रसिद्ध धाम हो गया। भगवान्‌का दारुरूप शरीर उनकी लीला मात्र है। यह क्षेत्र स्वयं विष्णु भगवान्‌का आलय है और ये मूर्तियाँ साक्षात् विष्णुद्वारा ही संस्थापित हैं। इन गोपनीय दारुमूर्तियोंके सम्बन्धमें तर्क करना निषिद्ध है। जैसी जिसकी भावना रहती है, उसको वैसा ही फल मिलता है। चतुर्धा मूर्तिका तत्त्व यह है कि जगन्नाथ ही श्रीकृष्ण हैं। पुरीको द्वितीय द्वारका कहते हैं। नीलमाधव ही विष्णु हैं और उनके अन्तर्धानके बाद वे श्रीकृष्णरूपमें इस क्षेत्रमें बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शनके साथ आविर्भूत हुए। सुदर्शनचक्र जगन्नाथजीके हस्तमें है जो कि विष्णुका चतुर्थ स्वरूप है। इन मूर्तियोंमें जगन्नाथ-बलभद्रके दो हाथ हैं और उनमें पद्म तथा अंगुलियाँ नहीं हैं। सुभद्राके हाथ नहीं हैं। जगन्नाथ विष्णुरूप हैं और बलराम शिवरूप हैं। पुरुषोत्तम ही जगन्नाथ हैं।

चतुर्धा मूर्ति चार वेद-स्वरूप हैं। जगन्नाथजी ऋग्वेद, बलभद्र सामवेद, सुभद्रा यजुर्वेद और सुदर्शन अथर्ववेद हैं।

चतुर्धा मूर्तिका तत्त्व शरीरमें श्रवण, नयन, अधर, नासिका का है। श्रवण बलभद्र, नयन जगन्नाथ, अधर सुभद्रा और नासिका सुदर्शन हैं।

एक कवि इनके तत्त्वोंको इस प्रकार अङ्कित करता है—आँखकी पुतलीका सफेद भाग बलभद्र हैं, उसके ऊपर काला भाग सुभद्राजी हैं, उसके अंदर जो पुतली है वही जगन्नाथजी हैं।

'श्रीं'बीज बलभद्रका, 'ह्रीं' बीज सुभद्राका और 'क्लीं' बीज जगन्नाथजीका है।

कर-चरणविहीन मूर्ति केवल सुभद्राकी है। तीनों मूर्तियोंके चरण नहीं हैं, आँखें चित्रमें हैं, प्रतिमामें नहीं हैं। नासा बतानेके लिये कुछ ऊँचा नासिकाका स्थान बना दिया है। नासिकामें छिद्र नहीं है। कर्ण प्रतिमा तथा चित्रमें भी नहीं हैं। हाथके आकार भी खण्डित हैं।

ज्येष्ठ पूर्णिमासे आषाढ़ अमावस्यातक भगवान् मौसीके घरमें रहते हैं। तब मन्दिर बंद रहता है।

इस क्षेत्रमें शिव और विष्णु दोनोंका पूजन और मन्दिर आदिकालसे है।

बलरामको शिवरूप माना है। स्कन्दपुराणमें सुभद्राको भद्रकालीका रूप बताया है।

पञ्चदेवताकी उपासनाका समन्वय इसी मन्दिरमें पाया जाता है।

इन्द्रद्युम्नने जिस महातरुका महोदधिमें दर्शन किया था, उसकी स्थिति इसी संसार-प्रपञ्चवृक्षके समान है। उस महातरुका मूल जलमें तैरता हुआ ऊर्ध्वमूल और शाखा समुद्रमें निमग्न होनेके कारण अधःशाखा हुआ है। गीतामें जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्षका वर्णन दिया है। इन्द्रद्युम्नने उसी प्रकारका वृक्ष देखा था।

महाप्रसाद

जगन्नाथजीके मन्दिरमें भगवान्‌के भोगको बादमें विमलाको दिखाया जाता है। तब वह महाप्रसाद कहलाता है। पहले पुरुषोत्तमक्षेत्रके केवल १० मीलकी गिर्दमें महाप्रसाद माना जाता था। वर्तमानमें ऐसा नहीं मानते। भारतके सभी स्थानोंमें महाप्रसादका प्रभाव है। जगन्नाथजीका भोग महाप्रसादके रूपमें प्रचलित है। तीनों मूर्तियोंमेंसे किसी एक भगवान्‌को भोग लगानेसे महाप्रसाद नहीं होता। तीनों मूर्तियोंको एक साथ भोग लगाकर बादमें विमलाको भोग लगाकर जो प्रसाद होता है, वही महाप्रसाद कहलाता है।

रथयात्रा

हिंदुओंका पुरीकी रथयात्रा एक प्रधान उत्सव है। यह भारतमें क्या, पृथ्वीमें अद्वितीय है। वैदिक ग्रन्थोंमें रथयात्राका उल्लेख है। रथयात्रा बहुत प्राचीनकालसे है। सूर्यका रथ विख्यात है। रामायण-महाभारतमें रथोंका वर्णन है। श्रीकृष्णका नंदीघोष, सुभद्राका देवदलन, बलरामका तालध्वज रथ है।

पुरीकी रथयात्रा ९ दिनकी होती है। प्रधान मन्दिरसे तीनों मूर्तियोंको तीन रथोंपर गुंडिचाके घर ले जाते हैं। गुंडिचा देवीका मन्दिर प्रधान मन्दिरसे १½ मील दूर है। इन्द्रद्युम्नने इसी स्थानमें अश्वमेध यज्ञकी वेदी तैयार की थी। यहीं इन मूर्तियोंका आविर्भाव हुआ था। आषाढ़ शुक्ल २ को यह यात्रा होती है।

इस मन्दिरकी परिक्रमामें बहुतसे अन्य मन्दिर हैं। जगमोहनसे लगा नाट्यमन्दिर है। भोग-मण्डप दर्शनीय है। सिंहद्वार मुख्य द्वार है। आनन्दबाजार, स्नानवेदी, चाहनी-मण्डप, रसोईघर आदि अनेक स्थान मन्दिरके परकोटाके भीतर दर्शनीय हैं।

इस क्षेत्रके पञ्चतीर्थ विख्यात हैं—(१) मार्कण्डेयकुण्ड, (२) अक्षयवट, (३) गरुड़, (४) उग्रसेनदर्शन और सागरदर्शन, (५) इन्द्रद्युम्नस्नान और नृसिंहदर्शन। यहाँ अन्य बहुतसे तीर्थ हैं। इस क्षेत्रका वर्णन मैंने बहुत संक्षेपसे किया है। इस वर्णनसे मेरा उद्देश्य इस क्षेत्रका प्रभाव बतानेका है। भक्तिमें भगवान् कहाँ प्रकट नहीं होते। भगवान्‌ने यहाँ स्वयं प्रादुर्भूत होकर गुंडिचा देवीकी भक्तिकी महिमा बतलायी है। इसी स्थानमें भगवान्‌की आभा प्राप्त होती है। मनुष्य इनके दर्शनसे निष्पाप होकर दिव्यधामके अधिकारी होते हैं। यह क्षेत्र धन्य है। धन्य हैं वे जो इस क्षेत्रकी यात्रा कर कृतार्थ होते हैं।

महाप्रसादसे दुःख-नाश

मनको वश कर, रहो नित, राग-द्वेष-विहीन।
विषयोंमें विचरो उचित, होओ कभी न लीन॥
यों भगवत्-सेवा करो, पाओ महाप्रसाद।
सब दुःखोंका अन्त हो, मिटें सभी अवसाद॥

मानवताके लिये मानवधर्म आवश्यक

इस समय एक ओर सर्वत्र उन्नति, प्रगति तथा विकास हो रहे हैं; नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं। दूसरी ओर घोर नैतिक पतन या सर्वनाश हो रहा है। मनुष्य इतना अधिक विषयासक्त हुआ जा रहा है कि वह किसी भी बुरे-से-बुरे कामके करनेमें नहीं हिचकता और किसी भी प्रकार अपने इच्छित विषयको प्राप्त करके सुखी बनना चाहता है। इसमें वह परिणाममें सफल तो होगा ही नहीं, परंतु उसकी पाप-प्रवृत्ति उसे अनवरत नीचे गिराती रहेगी। अत्यन्त विषयासक्त मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है और वह स्वयं ही अपने सर्वनाशको निमन्त्रण देकर बुला लेता है। अपने ही हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारता है, अपने ही हाथों अपने जल मरनेके लिये आग भड़काता है और अपने ही हाथों अपने कूद पड़नेके लिये गहरा गड्ढा खोदता है। घोर विषयासक्तिमें यह स्वाभाविक ही है। फिर आज तो दुनियामें सभी ओर विषयभोगोंकी ही महत्ताका प्रसार हो रहा है। सारा विवेक, सारी बुद्धि, सारा विज्ञान इस भौतिक विषयोन्नतिमें ही लगा है। इसलिये आज मानवका धर्मसे, अध्यात्मसे, भगवान्‌से नाता टूटा जा रहा है। वह परलोक तथा कर्मफलको न मानकर पापको पाप नहीं मानता, अपराधको अपराध नहीं समझता। अपनी कामनापूर्तिके लिये लोभ और क्रोधके वशमें होकर बुरे-से-बुरा काम करनेपर उतारू हो रहा है। आजका बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, अनाचार, असदाचार, दुराचार, अत्याचार, व्यभिचार, वैराचार, स्वैराचार आदि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अभी हालमें उत्तरप्रदेशमें सरकारी सूत्रोंके अनुसार 'गतवर्षके अंदर अपराधोंमें ७० प्रतिशत वृद्धि हुई बतायी गयी है। चोरी-राहजनीमें १०० प्रतिशत, डकैतियोंमें ७५ प्रतिशत, दंगा-फसादोंमें ८० प्रतिशत, हत्याओंमें २६ प्रतिशत और चोरीके अपराधोंमें ६६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। और पुलिस अधिकारियोंको इस बातसे बड़ा आश्चर्य और परेशानी भी है कि बहुत-से पढ़े-लिखे लोग अपराध कर रहे हैं। हत्या, डकैती, तस्कर-व्यापार आदि मामलोंमें कई उच्च शिक्षित लोग पकड़े गये हैं। * सरकार परिवर्तित स्थिति और अपराधोंकी वृद्धिके कारण पुलिसफोर्स एक लाखतक बढ़ानेका विचार कर रही है।' †

सरकार जो कुछ भी प्रयत्न अपराध-निरोधके लिये करती है सो ठीक ही है। करना ही चाहिये। यहाँ सरकारकी ईमानदारीमें हमें कोई संदेह नहीं है। पर वास्तवमें पुलिसका फोर्स बढ़ानेसे अपराध घट जायँगे, ऐसी निश्चित आशा नहीं करनी चाहिये। कौन जानता है कि इससे अपराधोंमें अधिक फोर्स नहीं आ जायगा। असलमें विचारनेकी बात तो यह है कि यह अपराधोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति क्यों हो रही है, इसमें मूल कारण क्या है।

दण्डसे—भयसे एक बार कुछ कमी भले हो जाय, परंतु जबतक अपराधमें अपराधबुद्धि नहीं हो जाती, तबतक अपराधकी वृत्तिका नाश नहीं हो सकता। मनुष्य दुर्बल तथा अपूर्ण प्राणी है। उससे भूलें होती हैं, होंगी; उससे अपराध बनते हैं, बनेंगे। पर जबतक वह भूलको भूल समझता है, अपराधको अपराध मानता है, तबतक भूल या अपराध बननेके बाद उसे पश्चात्ताप होता है, उसे दुःख होता है और वह भविष्यमें ऐसा काम न करनेके लिये निश्चय करता है। परंतु जब भूल या अपराधमें भूल या अपराध-बुद्धि ही नहीं रहेगी, उसे वह एक कौशल या कर्मनिपुणता मानने लगेगा, सफलताका एक साधन मान लेगा, तब तो नयी-नयी उमंग तथा उत्साहके साथ उसे सफलतापूर्वक करना चाहेगा। कहीं कानूनको

---

* यह तो उन अपराधोंकी संख्या है जो पुलिसकी डायरीमें दर्ज हो चुके हैं। अधिकांश अपराध तो पुलिसकी डायरीतक पहुँचते ही नहीं। इनके अतिरिक्त दफ्तरोंमें, कारखानोंमें, उद्योग-मन्दिरोंमें, सरकारी आफिसोंमें जो कानून-समर्थित या कानूनको धोखा देकर विविध अपराध होते हैं, उनकी तो कोई संख्या ही नहीं है।

† देखिये 'सैनिक' आगरा ता० ११ जून १९६१।

कोई अड़चन दिखायी देगी तो उससे बचनेका उपाय खोजेगा, अथवा न बच सकनेपर कुछ दण्ड भी सह लेगा, किंतु अपने काममें उसे कोई बुराई नहीं दिखायी देगी, उससे वह घृणा नहीं करेगा। कहनेके लिये आवश्यकतानुसार वह कहीं विरोध भी कर देगा, पर उस विरोधको वह स्वयं मनसे अपने लिये स्वीकार नहीं करेगा। अभी उस दिन उड़ीसाके भूतपूर्व मुख्य मन्त्री डा० श्रीहरेकृष्ण मेहतावने कहा है—

"आज समाजवादकी बड़ी-बड़ी बातें कही जा रही हैं, किंतु साथ-ही-साथ समाजमें सम्पत्तिका ममत्व और महत्त्व पहलेसे भी अधिक बढ़ गया है। किसी भी प्रकार धनी होना आज बुरा नहीं माना जाता। स्वयं कांग्रेसमें धनका मूल्य पहलेसे बढ़ गया है, प्रस्तावों और भाषणोंद्वारा जातिवाद, भाषावाद आदिकी निन्दा की जाती है, किंतु स्वयं कांग्रेसमें ये 'वाद' अधिक परिलक्षित हैं।"

वस्तुतः इसमें कांग्रेस या अन्य किसी भी संस्थाका कोई दोष नहीं है, न किसीपर आक्षेप ही करना चाहिये। कांग्रेसमें भी आजका ही मनुष्य है तथा दूसरी संस्थाओंमें या 'वादों' में भी आजका ही मनुष्य है। विचार करना है—मनुष्यकी वृत्तिपर। मनुष्य ही जब अत्यन्त विषयासक्त होकर भौतिक उन्नतिको ही उन्नति मानने लगा, तथा जब किसी भी मूल्यपर उसे प्राप्त करनेमें ही जीवनको सफल एवं गौरवान्वित समझने लगा, तब उससे अच्छे आचरणकी आशा कैसे की जा सकती है? अभी वह अपराधोंको अपराध न मानता हुआ भी, भाषामें अपराध तो कहता है, पर यों ही अपराध करता रहा तो आगे चलकर वह अपराधोंका 'अवश्य कर्तव्य' मानने लगेगा। यही तो आसुरी भाव है, जो तीन रूपोंमें आत्यन्तिक विषयासक्ति होनेपर मनुष्यमें उदय हो आता है। ये तीन रूप हैं—मोहनी—काम, आसुरी—लोभ और राक्षसी क्रोध। ये काम, क्रोध, लोभ ही नरकके त्रिविध द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये।'

पर आजका मोहावृत विषयासक्त मनुष्य तो इन्हीं तीनोंको जीवनका साधन मानने लगा है—इसीसे वह इन तीनोंकी प्रेरणासे कुछ भी करनेको प्रस्तुत है। भौतिक विज्ञान, कलाके लिये कला, मानसको अशुद्ध करनेवाला साहित्य, भोगबाहुल्यमें जीवनके उच्चस्तरकी कल्पना, शरीरके आरामकी प्रबलाकाङ्क्षा, अनावश्यक व्यय करनेकी प्रवृत्ति, विलासितामय जीवन, मिथ्या यशकी कामना, सिनेमा, धर्मनिरपेक्ष (या धर्मविरहित) शासन, किसी भी प्रकारसे धन कमा लेनेवालेका सम्मान, अभक्ष्य-भक्षण, प्रत्येक कार्यको आर्थिक दृष्टिसे सोचनेकी प्रवृत्ति, त्यागमें अनास्था, धर्म तथा परलोकमें अविश्वास, ईश्वरमें अश्रद्धा और आजकी आध्यात्मिकतारहित तथा धर्मबुद्धिशून्य भौतिक शिक्षा तथा सहशिक्षा आदि—इन्हीं सब कारणोंसे विषयासक्तिजनित पापाचारकी अनन्तकी ओर जाती हुई-सी वृद्धि हो रही है और विषयासक्तिजनित पापाचारसे उपर्युक्त सब दोषोंका उनकी असंख्य संतति-सहित संवर्धन हो रहा है। दोनों परस्पर एक दूसरेको बढ़ानेमें लगे हैं। यही कारण है कि आज देशके सभी क्षेत्रोंमें, सभी वर्गोंमें, सभी कार्योंमें दोष आ गया है। यही अपराधोंकी वृद्धिका, पतनका मूल कारण है। इस मूल कारणको मिटाये बिना न तो नये-नये कानूनोंसे अपराध मिटेंगे, न किसी विभागमें जन-संख्या बढ़ानेसे ही। कानून बनानेवाले तथा माननेवाले और अपराधोंको घटानेके हेतु सतर्क रहकर अपराधियोंको दण्ड दिलानेके लिये नियुक्त सभी लोग होंगे तो आजके पापको पाप न माननेवाले, अपराधको अपराध न समझनेवाले विषयासक्त मनुष्य ही न? जब उन्हींके मनमें अपराधमें अपराधबुद्धि नहीं होगी, तब उनके द्वारा अपराधोंका नाश कैसे होगा?

इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि आजका मनुष्य स्वयं पहले अपना सुधार करे। वह धर्मभावनाके द्वारा पापमें पापबुद्धि करनेवाला बने। अपराधको अपराध समझे। फिर चाहे वह कहीं किसी भी क्षेत्रमें रहे, उसके

७. **होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः**–अर्थात् होम करनेवालेको भी अग्नि छू जाय तो उसे जला ही देती है।

८. **विधिरहो बलवानिति मे मतिः**–अर्थात् मेरे मतमें विधाता ही बलवान् दीख पड़ता है।

९. **यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः**–अर्थात् विधाताने जो प्रथम ललाटमें लिख दिया है उसे मिटानेकी सामर्थ्य किसमें है ?

१०. **विपदि हन्त सुधापि विषायते**–अर्थात् विपत्तिमें अमृत भी विष हो जाता है।

११. **संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ?**–(वैराग्यशतक ७५) अर्थात् घरमें आग लगनेपर कूप खोदनेके उद्योगसे क्या होता है ?

भगवान्का योगैश्वर्य और हृदयमाधुर्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्ने कहा है—

'गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।'

गीतामें भगवान्ने भक्तके सामने अपना हृदय खोल दिया है, अपनी भगवत्ताका सारतत्त्व भक्तके निकट प्रकट कर दिया है। यही गीताका वैशिष्ट्य है।

भगवान् महायोगीश्वर, महाज्ञानीश्वर, राजराजेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर हैं। उनकी शक्ति, उनका ज्ञान और उनका ऐश्वर्य सभी अनन्त हैं। वे विश्वप्रपञ्चके सृष्टि-स्थिति-प्रलय-विधाता हैं। वे बिना ही किसी प्रयासके देशमें, कालमें आद्यन्तविहीन अशेष-वैचित्र्यमय नियत परिणामशील इस संसारप्रवाहके सर्वविध व्यापारको अद्भुत शृङ्खलाके साथ सम्पादन करते हुए अपने इयत्ताविहीन ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्यका परिचय दे रहे हैं। वे आप ही अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें सृजन, पालन, नियन्त्रण और संहरण करते हुए अनादि-अनन्त कालसे विचित्र भावोंमें आप ही अपना आस्वादन कर रहे हैं; और साथ-ही-साथ सर्वदा ही इस वैचित्र्यका अतिक्रम करके वे अपने नित्य सत्य निर्विकार चिदानन्दरूपमें समाहितभावसे विराजमान रहते हैं। विश्वप्रपञ्चके भीतर नित्य-निरन्तर असंख्य स्तरोंमें असंख्य प्रकारकी क्रिया चलती रहती है;—सब क्रियाओंके कर्ता, नियन्ता और सम्भोक्ता होकर भी वे निष्क्रिय निश्चेष्ट निर्विकार हर्षामर्षविहीन स्वस्वरूपमें स्वयं पूर्णभावमें विराजमान रहते हैं। अपनी अचिन्त्य शक्तिसे अपनेको असंख्य परिच्छिन्न रूपोंमें परिणत करके भी वे नित्य अपरिणामी, अपरिच्छिन्न बने रहते हैं। वे इस विश्वकी सभी वस्तुओंके साथ सर्वथा घुले-मिले रहकर भी किसीके साथ कभी मिले नहीं होते, नत्य ही सबके ऊर्ध्व सच्चिदानन्द-स्वरूपमें विराजित रहते हैं। इस विश्व-प्रपञ्चमें सर्वत्र केवल उन्हींके अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त नैपुण्य और अनन्त ऐश्वर्यका परिचय प्राप्त होता है; तथापि उनको न किसी ज्ञानका अभिमान होता है और न किसी शक्ति, ऐश्वर्य या नैपुण्यका ही। वे अहं-मम-वर्जित आत्मस्वरूपमें नित्य समाहित रहते हैं।

यही भगवान्का योगैश्वर्य है। ऋषिगण, मुनिगण, दार्शनिकगण, कविगण भगवान्के इस योगैश्वर्यका कितने प्रकारके युक्ति-तर्कोंद्वारा प्रतिपादन करनेमें अपनी विचारशक्तिको लगाये रखते हैं, अपनी तार्किकी बुद्धिका विषय बनानेके लिये कितने वादविसंवादमें निमग्न होते हैं। इस विश्वप्रपञ्चकी अभिज्ञताके ऊपर खड़े होकर वे लोग विश्वप्रपञ्चके मूलकारण, अधिष्ठान और आश्रयके स्वरूपके सम्बन्धमें कितने प्रकारकी गवेषणा करते हैं, किंतु किसी भी सिद्धान्तसे वे तृप्त नहीं हो पाते। इस विश्वप्रपञ्चके भीतर एक ओर जिस प्रकार उस मूलतत्त्वका ही देशकालावच्छिन्न प्रकाश है, दूसरी ओर उसी प्रकारके उसके स्वरूपका आवरण है। आवरणके अंदरसे जो प्रकाश होता है, उसके अंदर भी स्वरूपका ठीक परिचय नहीं प्राप्त होता। भगवान्की भगवत्ताका जो सार है, उसको उनका ऐश्वर्य ही आवृत किये रखता है। खण्डके अंदर अखण्डका प्रकाश भी जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार आवरण भी होता है। जडके भीतर चैतन्यका जिस प्रकार प्रकाश होता है उसी प्रकार आवरण भी होता है। यह सब है—उनका ऐश्वर्य, उनकी महिमा। वे इस सबको परिव्याप्त करके भी जैसे हैं, अतिक्रम करके भी वैसे ही आत्मानन्दमें विभोर रहते हैं। उनके इस सब ऐश्वर्यको देखकर ही किसीके लिये उनके स्वरूपका निर्धारण करना

सम्भव नहीं होता । इसी कारण इस विश्व-जगत्को देखकर जो लोग युक्तितर्ककी सहायतासे भगवान्के स्वरूपके निरूपण करनेका प्रयास करते हैं, उन लोगोंमें मतमतान्तरकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी हो जाती है । भगवान्के स्वरूपका यथार्थ प्रकाश केवल महायोगी, महाज्ञानी और महान् भक्तोंकी अन्तरात्मामें ही होता है । वे लोग अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी करके समस्त ऐश्वर्य और महिमाकी ओरसे अपनी दृष्टिका प्रत्याहरण करके, अपने अन्तरके अन्तरतम प्रदेशमें चित्तको समाहित करके, देश-काल-गुण-अवस्थाकी सारी उपाधियोंका अतिक्रमण करके, आत्मसमाहित होकर ब्रह्मभूत हो जाते हैं । वहीं भगवान्के स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है । किंतु उस साक्षात्कृत स्वरूपको कोई भाषामें व्यक्त नहीं कर सकता, मन-बुद्धि उसकी विषयरूपमें धारणा नहीं कर सकते ।

एक बात और भी है । अनेक प्रकारोंसे इस विश्व-प्रपञ्चकी पर्यालोचना करनेपर यह तो सम्भव है कि सर्वकारणकारण भगवान्की अनन्त सत्ता, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्यका कुछ अनुमान हो जाय; किंतु उनके हृदयमाधुर्यका समुचित परिचय साधारणदृष्टिसे या दार्शनिक युक्तिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । हृदय-माधुर्यका परिचय प्राप्त होता है—प्रेम और करुणाके द्वारा, सहानुभूति और सेवाके द्वारा एवं रसानुभूति और सौन्दर्यास्वादनके द्वारा । ये सब कोमल वृत्तियाँ विश्वातीत विश्वस्रष्टा विश्वनियन्ता भगवान्के चरित्रमें हैं या नहीं, इस बातका अनुमान न तो ज्ञानीगण विश्व-व्यापारका पर्यवेक्षण करके लगा सकते हैं और न योगिगण उसका अनुभव ध्यान-समाधिमें कर सकते हैं । जगत्-व्यापारमें तो देखा जाता है कि वे जैसे सृजन करते हैं वैसे ही विनाश करते हैं; जैसे सुख-विधान करते हैं वैसे ही दुःख-विधान भी करते हैं; सुखका जैसा वैचित्र्य है, दुःखका भी वैसा ही वैचित्र्य है ।

जगत्में इतना दुःख-दैन्य, इतना शोक-ताप, इतनी व्याधि-पीड़ा, इतना अत्याचार-अविचार, इतना दुर्भिक्ष-महामारी, इतना वैषम्य और निष्ठुरता—क्या इन सब उपद्रवोंका एक परम प्रेममय परम करुणामय सहानुभूतिसम्पन्न सहृदय भगवान्के राज्यमें होना सम्भव है ? जगत्में पापकी जो इतनी होड़-सी लग रही है, इतनी विकृत मनोवृत्तियाँ फैल रही हैं, क्या इन सबकी भी सृष्टि उन्होंने ही नहीं की है ? मङ्गलमयके जगत्में इतना अमङ्गल क्यों ? सत्य-शिव-सुन्दरके राज्यमें इतना असत्य, इतना अशिव, इतना कदर्य क्यों ? सर्वशक्तिमान् होकर भी क्या वे एक दुःख-दैन्य-पाप-तापहीन सर्वाङ्गसुन्दर सर्वमङ्गलालय आनन्द-विलासमय जगत्का सृजन और पोषण नहीं कर सकते ? इन सब समस्याओंका समाधान—ज्ञानीगण और दार्शनिकगण अनेक प्रकारके विचार-वितर्क करके भी नहीं पा सके । इसी कारण भगवान्की सहृदयताके सम्बन्धमें वे लोग साधारणतया कुछ भी न कहकर भगवान्का केवल अनन्त ज्ञान-शक्ति-ऐश्वर्यके आधार सच्चिदानन्दमय परमपुरुषके रूपमें वर्णन करके ही संतुष्ट रहते हैं । उपासनाके प्रसंगमें कभी-कभी वे उनकी दया-क्षमा-प्रेम आदिकी केवल कल्पनामात्र कर लेते हैं ।

भगवान् अपनी भगवत्ताके साथ-साथ हृदयवत्ताका परिचय समुज्ज्वलरूपमें प्रदान करते हैं अदोषदर्शी विश्वासी भक्तके हृदयमें ही । हृदयका परिचय हृदयको ही प्राप्त होता है, बुद्धिको नहीं । बुद्धिमानोंकी बुद्धिके सामने भगवान् अपने हृदय-माधुर्यको योगमायासमावृत रखते हैं और हृदयवान् भक्तोंके हृदयमें उसको अपनी कृपासे समुद्भासित करते हैं ।

'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।'

राजराजेश्वर साधारण प्रजावर्गके सामने अपने राज्यैश्वर्य और असीम ज्ञान-गुण-शक्तिका ही परिचय देकर उनके चित्तमें भयमिश्रित भक्तिका उद्रेक करते हैं एवं उन लोगोंको संयम और शान्तिके मार्गपर चलाते हैं; अपने हृदय-माधुर्यको, अपने सुकोमल सुमधुर भावोंको, वे अनावृत-रूपसे केवल अपने उन अन्तरङ्गोंके सामने, परम आत्मीयोंके सामने, प्रेमी बन्धु-बान्धवोंके सामने प्रकट करते हैं । जो अनसूयु (दोष-दर्शन-शून्य) सरल विश्वासी भक्त होते हैं, जो तद्गतप्राण सखा होते हैं और जो अपने हृदय-मन-बुद्धि सब उन्हें समर्पण करके उनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी उन्हींकी ही ओर ताकते रहते हैं, ऐसे ही लोगोंके हृदयोंमें वे अपने उस परम तत्त्वको गोपनमें व्यक्त करते हैं, जिसको उनका 'उत्तम रहस्य', उनकी भगवत्ताका सारभूत तत्त्व या उनके हृदयकी गुप्त बात कहा जाता है । उनका 'उपनिषद्' उनके अति समीपमें, उनके चरणप्रान्तमें, सानुराग अनन्यचिन्त्य होकर ही सुना जाता है और सम्पूर्ण हृदयसे धारण किया जाता है । किसी प्रकारका भी संशय या विपरीत भाव रहनेपर वह हृदयङ्गम नहीं होता । अनन्त

किसी भी प्रकार प्रमाणित करके सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेके लिये खुल्लम-खुल्ला प्रयत्न करेंगे । इसका समाजपर कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह ख्याल करनेसे ही सच्चे हिंदूका कलेजा फटने लगता है । जहाँ पातिव्रत और पत्नि-व्रत-धर्म-पालनकी प्राचीन परम्परा चली आयी है और पति-पत्नी शरीरसे दो होते हुए भी एक माने गये हैं, वहीं ऐसा सब घृणित अधिकार कानूनके द्वारा दिया जाय, यह बड़े दुःखकी बात है । हमारे यहाँ पत्नी अर्धाङ्गिनी मानी गयी है और पति तो परमेश्वरस्वरूप ही माना गया है । फिर, वही ऐसा क्यों हो रहा है ? पश्चिमी सभ्यताको क्यों इतना प्रश्रय दिया जा रहा है ? इसपर फिरसे अच्छी प्रकार सोचनेकी आवश्यकता है ।

राजनीतिने सबसे पहले नेताओंको फाँस लिया । वे सभी एक दूसरेको तलाक दे बैठे । इसका असर हर जगह हुआ । फिर तो, सभी दलों और समाजोंमें भेद उत्पन्न हो गया । तलाकका व्यापक अर्थ यही होता है कि एक आदमी दूसरे आदमीसे कहता है कि 'हमारा तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया ।' इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेदका आज बोलबाला हो गया है । अधिकतर तो कानूनका ही सहारा लेना लोग सीखते हैं । विचार और धर्ममर्यादाका लोप होता जाता है । जबतक विचारका सहारा नहीं लिया जायगा, तबतक यह मामला नहीं सुलझ सकेगा ।

यह काम खासकर समाजका है । पर यह विचार न रखकर समाजकी बुराइयोंको कानूनके द्वारा दूर करनेका निर्णय केवल शासनका अहंकार ही है । अगर कानूनसे सजाका भय बताया जाता है तो उससे लाभ ही क्या होता है ? कुछ लोग गलती करनेके कारण सजा भोगते हैं, कष्ट उठाते हैं, बाकी सारा वातावरण समाजका उसी प्रकार चलता रहता है । जरूरत इस बातकी है कि सामाजिक बुराइयोंकी उत्पत्तिका कारण ही रोका जा सके, ऐसा कोई कदम उठाया जाय । पर यह काम तो कोई शुद्ध और त्यागी मण्डल ही कर सकता है । इसपर गहराईसे सोचनेकी जरूरत है । समाज-शोधकोंको इसपर ध्यान देना चाहिये । समाजके रोगोंको प्रेमपूर्वक बहिष्कार और सत्याग्रहके द्वारा दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये । लोगोंके विकारोंका शमन विचारके प्रभावसे करनेका प्रयत्न हो तो प्रेम और कर्तव्यकी दृढ़ता समाजमें होगी ।

तलाकके लिये कानूनी छूट देना समाजके प्रति घोर अन्याय है । इसके प्रभावसे समाज भयानक खतरेमें जा गिरेगा । भारतवर्षके लिये यह एक पाप होगा, जो भारतवर्षके सारे गौरवको धूलमें मिला देगा और समाज चौपट हो जायगा । इसके लिये अच्छे-अच्छे विचारशील लोगोंका संगठन करना चाहिये, जो समाजके कामोंमें सच्ची दिलचस्पी ले सकें । वह मण्डल समाजमें समता बनाये रखनेका काम करे । ऐसे कार्यकर्त्ताओंको तैयार करना होगा, इसके लिये विशेष प्रशिक्षणकी आवश्यकता होगी । वैसी प्रवृत्ति रखनेवाली संस्थाओंके द्वारा भी ऐसे कामोंमें सहायता मिल सकती है । पर यह शोभा नहीं देता है कि अगर समाजके दाम्पत्य-जीवनमें बुराइयाँ आ गयी हैं तो उसके लिये तलाकका प्रयोग करके उसकी जड़ ही काट दी जाय । यह विचार तो आसुरी है, पतनकारी है । हमारा संस्कार और हमारी सभ्यता तो दैवी विचार चाहती है । यह भी सोचने की बात है कि जिसके शुद्ध आचरणके कारण सारा संसार आज उसकी ओर आशाभरी दृष्टिसे देख रहा है, उसी भारतमें इस प्रकारके घृणित विचारोंका प्रयोग हो, बड़ी ही लज्जाकी बात है । इस प्रकार भारत जो अध्यात्ममें संसारका गुरु बनता आया है, उसकी मर्यादापर बड़ा आघात पहुँचनेवाला है । ऐसे सामाजिक कामोंको सरकार अपने हाथमें न लेकर समाजको करने दे और उस कि ऊपरसे समाजको मदद करे । सब काम सरकार ही करने-वाली है तो समाज कौन-सा धंधा करेगा । अगर बेकार होता जायगा तो बहुत बड़े-बड़े पाप उत्पन्न हो जायँगे, जिनसे समाज तो चौपट होगा ही, साथ ही

भी खतम हो जायगी। समाजकी ऐसी महीन बातें, जिनमें पर्देकी जरूरत होती आयी है, उनके प्रति सरकारी हुक्मसे निर्णय-प्राप्तिका निश्चय मर्यादा-विरुद्ध है।

आहार-विहारकी व्यवस्था ठीक करके सुशिक्षा-द्वारा आदमीको आदमी बनानेका प्रयत्न करनेका संकल्प समाज, सरकार और समाजसेवक लोग करें और उस संकल्पको पूरा करनेमें सभी लोग ध्यानपूर्वक लग जायँ तो तलाक-जैसे कानूनोंको उत्पन्न करनेवाले अनाचारोंके साथ-साथ उन तमाम सामाजिक बुराइयोंकी समाप्ति हो जायगी, जिनसे परेशानी हो रही है। वैसा शुद्ध प्रयत्न होनेसे सरकार और नेताओंको दूसरे कामोंको करनेका मौका मिल सकेगा। समाजको शुद्ध और मजबूत बनानेका यही सब उपाय काममें लाना चाहिये।*

तुम ही तुम हो

जहाँ देखता तुम ही तुम हो,
जगतीके कण-कणमें व्यापक एक तुम्हारी छविकी छाया,
अणु-अणुमें माया महान्‌की बिन्दु-बिन्दुमें सिन्धु समाया।
तुम महान् कानन उपवन तरु कोमल किसलय कलित कुसुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

कौन प्रात उठकर प्राचीमें है बिखेरता स्वर्णिम लाली,
कौन सजाता रात गगनमें नक्षत्रोंकी नित्य दिवाली।
संध्याके कपोलमें करसे तुम्हीं लगाते नव कुङ्कुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

जड-चेतन या स्थावर-जङ्गम, खग-मृग, कीट-पतंग-भुजङ्गम,
सबमें सत्ता एक सत्यकी एक चेतनाका शुचि सङ्गम।
गाते सदा अनाहत स्वरमें साम गान, बैठे गुम-सुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

भाव-अभाव, शुभाशुभ, सुख-दुःख--ये सब केवल शब्दजाल हैं,
एक अछेद्य अभेद्य वृक्षके रंग-विरंगे विटप-डाल हैं।
और तुम्हीं सबकी मन-वाञ्छाके पूरक वह कल्पद्रुम. हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

सुधामात्र यदि तुम वसुधापर गरल कहाँसे कैसे आया,
सत्से असत्, अचेतन चित्से, तम प्रकाशसे भिन्न न पाया।
सृष्टि-प्रलय हैं खेल तुम्हारे तुम्हीं प्रकट हो, तुम ही गुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

---

* हमारी संस्कृति त्यागमयी है और आज त्यागका स्थान अर्थ तथा भोगने ले लिया है और कर्त्तव्यका स्थान अधिकारने ले लिया है—इसीसे आज मनुष्य भोग तथा अधिकारके पीछे पागल है। यही सब अनर्थोंका मूल है। अपनी त्याग तथा कर्तव्यमूलक संस्कृतिके त्यागका ही यह दुष्परिणाम है। अतः समाजमें व्यक्ति-व्यक्तिमें त्याग तथा कर्तव्यका महत्त्व उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है। —सम्पादक

समस्याओंका मूल

[एक सांकेतिक रूपक]

(लेखक—साहित्याचार्य श्रीराममणिजी त्रिपाठी एम्० ए०, साहित्यरत्न)

विकास—(झुँझलाया हुआ) समझमें नहीं आता कि आखिर बात क्या है? इतना मर-मिटनेपर भी उलझनें कम नहीं होतीं। यों देखनेमें लोगोंकी निगाहें कहती हैं, 'तुम्हारे पास तो सब कुछ है।' किंतु वास्तवमें हमेशा कोई-न-कोई ऐसी आवश्यकता मुँह बाये खड़ी रहती है कि सब कुछ, कुछ नहींके बराबर मालूम होता है।

प्रगति—यही तो सोचनेकी चीज है। हमलोग साधारण स्तरसे इतने आगे आ गये कि जिसकी कल्पना करके भी लोग ऊब जायँ। वर्तमानकालकी इस अवस्थामें तो हम पूर्णतया स्वावलम्बी हो चुके हैं। हमें किसीकी अपेक्षा या चिन्ता नहीं। फिर भी कोई अज्ञात न्यूनता आकर सवार हो जाती है और सबपर पानी फिर जाता है।

सत्य—(एकाएक आकर) यह बात आपलोग समझ भी नहीं सकते। यह विपरीत तत्त्व है। इसलिये विपरीत परिस्थिति और सिद्धान्तवाला व्यक्ति ही इस दुःखमूलका ठीक अनुभव कर सकता है।

शान्ति—हाँ, ठीक तो है। महाशय विकास! आपकी श्रीमती प्रगतिने अभी यह स्वीकार किया है कि हम पिछले दिनोंकी अपेक्षा बहुत आगे आ गये। यही आगे जानेकी निरन्तर-कामना ही नयी समस्याओंको खड़ी कर देती है।

प्रगति—मानती हूँ, किंतु आपके श्रीमान् सत्यने जो यह कहा कि 'विपरीत दिशावाला व्यक्ति मेरी उलझनें समझ सकता है।' तो क्या उस व्यक्तिकी उलझनें समाप्त हो चुकी हैं?

संतोष—(भीतरसे आकर) नहीं। समस्याएँ सबके पास हैं, किंतु उनके मूल कारणोंमें अन्तर है। भौतिक उन्नतिकी कामनासे जो समस्याएँ खड़ी होती हैं, उनका मूल काम (कामना) और कामनाकी असफलतासे होनेवाला क्रोध (अन्यसे द्वेष) होता है। इस कामका पेट इतना बड़ा है कि कभी भर ही नहीं सकता। ये काम-क्रोध इतने पापाचारी हैं कि कोई इन-सा अधम नहीं। इनके प्रभावसे चित्त सदा चञ्चल रहता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

> **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
> **महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥**
>
> (गीता)

विकास—यह समझमें नहीं आया कि समस्याएँ जब सबकी एक समान हैं, तब परेशानी सबके लिये एक-सी होनी है। फिर दोनोंमें अन्तर क्या है, चाहे भौतिक हो या अभौतिक।

सत्य—सुनिये! भौतिक समस्याओंके सुलझानेका उद्देश्य 'शारीरिक सुख' है। इनसे योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तका संरक्षण) की प्रब भावना उत्पन्न होती है। अपना सुख, विघ्नविनाश, सर्वाधिक शक्तिमत्ता और प्रभावशील कीर्ति प्राप्त करना ही चरम लक्ष्य होता है। इतना होनेपर भी य आत्मिक आनन्द या तृप्तिका साधन नहीं है। अ इनसे संतुष्टि कभी नहीं होती।

इसके विपरीत जो समस्याएँ आध्यात्मिक आधार खड़ी होती हैं, जैसे—'मुक्ति', 'आत्मरति', 'भगवत्प्राप्ति' तथा 'ज्ञानप्राप्ति' इत्यादि। इन उद्देश्योंकी सिद्धिमें विघ्नस्वरूप समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उनके नि

या समाधानके हेतु साधक छटपटाता नहीं। ईश्वरार्पण-बुद्धि या साध्यसाधनकी ऐक्य-बुद्धिसे सतत कर्तव्य-पालनमें ही उसे संतुष्टि रहती है; क्योंकि फल भोगनेकी भौतिक कामना उसमें नहीं होती।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता)

श्रीकृष्ण भगवान्का कथन है कि 'जो लोग अनन्यभावसे नित्य आग्रहपूर्वक मेरी उपासना करते हैं, उनके योगक्षेमका भार मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

इसपर विश्वास करके वे अपना सब कुछ ईश्वरपर छोड़ देते हैं। अतएव व्यग्रताका कोई प्रश्न नहीं उठता।

प्रगति—कर्मयोगकी बात तो भौतिक जीवनपर भी लागू होती है। कर्ममें तल्लीनता और कुशलता भी तो योग ही है।

'योगः कर्मसु कौशलम्।'

शान्ति—ठीक है, किंतु कर्मफलका त्याग और ईश्वरार्पण बुद्धि होनेपर ही वह 'योग'की श्रेणीमें आता है।

विकास—भौतिक कर्मोंके फलोंका त्याग केवल ढोंग है। यदि फलकी कामना नहीं तो वे कर्म आरम्भ ही क्यों किये जायँ? फिर इस बीचमें ईश्वरको खींचकर लाना तो कमजोरी मात्र है। प्रश्न तो सीधा-सा यह है कि अशान्ति, असंतुष्टि, व्यग्रता और निरानन्दका कारण क्या है? भौतिक संघर्षका निदान (आदि-कारण) क्या है?

सत्य—जाने दीजिये कर्मफलत्याग और ईश्वराग्रहको। फिर 'कर्म' को 'कर्मयोग' बनानेके लिये, उसके पहले 'निष्काम' शब्द जोड़ना पड़ेगा। आपका भौतिक कर्म जब सकाम है, तब उसे केवल 'कर्मबन्ध' कहा जायगा।

प्रगति—अजी, कर्मयोग नहीं, यह तो अप्रासंगिक चर्चा चल पड़ी। 'कर्मबन्ध' ही सही। मुझे इतनेसे मतलब है कि विविध समस्याओंके बीच धैर्य और शान्ति किस प्रकार स्थिर हो सकती है। यदि इसका समाधान नहीं है तो मुझे 'निष्काम कर्मयोग' और 'अपवर्ग' से दूर ही रहना है।

संतोष—एक मामूली-सी बात है, इसके लिये इतनी भूमिका क्यों? श्रीमान् विकासजी और श्रीमती प्रगति महोदया! इतना तो आपलोग स्वयं ही अनुभव करते होंगे कि 'भौतिक आवश्यकताएँ' नित्य नये रूपमें आपके सामने आती हैं।

वि० और प्र०—हाँ-हाँ, उन्हींके पूरा करनेमें तो सारा जीवन समाप्त हो रहा है। फिर भी वे कम नहीं होतीं।

संतोष—साथ ही यह भी आप मानेंगे कि उनकी पूर्तिसे प्राप्त होनेवाले फलकी ओर 'उत्सुक-कामना' भी होती है। प्रयत्नकी दशामें 'आशा' भी बलवती होती है। 'तृष्णा'पूर्वक जिस वस्तुकी 'इच्छा' की जाती है, उसके प्रति एक 'लोभ' सा हो जाता है और सफलता न मिलनेपर अतृप्ति, असंतोष, बेचैनी और झुँझलाहट पैदा होती है।

प्रगति—बिल्कुल ठीक। यही तो दुःखका कारण है।

सत्य—बस, तो स्पष्ट है कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई, कामना, तृष्णा, इच्छा, लोभ और असंतोष ही स्वयं समस्याएँ बनकर सामने आ जाते हैं।

विकास—बात तो ठीक है मित्र! किंतु इससे बचना भी तो कठिन है। निम्नतमसे उच्चतम आकाङ्क्षाओं तकमें ये चीजें हैं, तो क्या मानवको अपने सभी कर्तव्योंको छोड़कर अकर्मण्य बन जाना चाहिये?

शान्ति—नहीं, तनिक सोचिये, अपनी स्थिति और विपुल ऐश्वर्यसे किसी निःस्व (निर्धन) का मिलान कीजिये। जिन इच्छाओंकी पूर्ति आपने चुटकी बजाते की है, वही उसके कठिन प्रयाससे असम्भव है। अतः

वह उसके प्रति 'आशा' करना छोड़कर निश्चिन्त है। आशाओंका शिथिल होना ही शान्ति-प्राप्तिका उपाय है।

'आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।'

तथा—

'तया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्।'

अर्थात् जो आशाके अधीन हैं, वे सारी दुनियाके गुलाम हैं। तथा—इस आशापाशसे बँधकर लोग इधर-उधर दौड़ते हैं और जो मुक्त हैं, वे पंगुवत् अचल रहते हैं।

इसी 'आशा'को उपनिषदोंमें एक प्रबल शक्ति बताया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्'में—'नामसे वाक्, वाक्से मन, मनसे संकल्प, संकल्पसे चित्त, चित्तसे ध्यान, ध्यानसे विज्ञान, विज्ञानसे बल, बलसे अन्न, अन्नसे पानी, पानीसे तेज (प्रकाश), तेजसे आकाश, आकाशसे स्मर (काम) और स्मरसे आशा' ये सब उत्तरोत्तर बलवान् बताये गये हैं। यथा—

'आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो
मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते······॥'
(छान्दोग्य० ७।१४।१)

प्रगति—आशाके कारण इतनी अतृप्ति क्यों? आशाके विघातमें थोड़ा विषाद अवश्य होता है, किंतु········।

सत्य—'आशा'का पक्का साथी 'असंतोष' है। यही असंतोष बेचैनीका कारण है। यदि आदमीको यह संतोष हो कि 'जो होगा देखा जायगा'। वह किसी 'तृष्णा' के पीछे अपना मानसिक संतुलन न खो बैठे, तो उसके पास व्यग्रता नहीं आ सकती। 'यथालाभ संतोष' का सिद्धान्त बन जानेपर सभी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं।

'संतोष' एव पुरुषस्य परं निधानम्।'

अर्थात् संतोष ही पुरुषका श्रेष्ठ धन है।

विकास—यह तो वैरागी बननेकी शिक्षा है। कर्मपथमें आशावाद, प्रयत्न, असंतोष आदि तो आते-जाते रहते हैं।

संतोष—यदि आते-जाते रहते हैं तो भी कुशल है। इनके टिकनेपर ही भय है और यहाँ प्रश्न टिकनेकी हालतमें ही खड़ा हुआ है। 'सत्य' महाशयके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है—'असंतोष' और 'आशा' जब बद्धमूल हो जाते हैं, तब 'तृष्णा' का साम्राज्य अचल हो जाता है। भौतिक या अभौतिक, पावन या जघन्य जिस किसी उद्देश्यमें इन दोनोंका डेरा अचल हुआ कि तृष्णाने जड़ पकड़ी। फिर तो इस जन्मकी बात ही क्या, वह जन्मान्तरमें भी पल्ला छोड़नेको तैयार नहीं।

सारांशतः आशा-तृष्णा ही इस जीवके दुःख, बन्धन और अतृप्तिके कारण हैं। तृष्णाका चस्का सदा बढ़ता ही जाता है। कहा है—

'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'

'जीर्यन्ते जीर्यतः केशा
दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रौ च जीर्येते
तृष्णैका तरुणायते॥'

अर्थात् 'आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है।' 'जीर्णोन्मुख व्यक्तिके केश जीर्ण होते हैं, दाँत भी जीर्ण होते हैं, कान और आँखें जीर्ण हो जाती हैं; किंतु तृष्णा केवल जवान होती जाती है।'

किसी भी स्थितिमें मनुष्यकी समस्याएँ पूर्णतः हल नहीं हो सकतीं और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है, जबतक 'तृष्णाक्षय' न हो। 'तृष्णाक्षय'से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके सामने स्वर्गसुखकी कल्पना भी दुःखमयी है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

लोकमें जो सकाम सुख होता है तथा जो स्वर्गीय महासुख है, ये दोनों भी तृष्णाक्षयजन्य सुखके सोलहवें अंशके भी बराबर नहीं हैं ।

प्रगति—किंतु तृष्णाका व्यापार बंद होना भी तो आसान नहीं है ।

सत्य—तृष्णा मनका विकारमात्र है । वास्तवमें मन ही प्रत्येक क्रियाओंका संचालक है । अतएव वही हर दशामें मूल कारण बनता है ।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मुक्तिका कारण है । अतः इसीपर नियन्त्रण करनेसे सभी समस्याओंका समाधान हो सकता है । यद्यपि इसका वेग हवासे भी तीव्र है । किंतु—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'

'अभ्यास' और 'वैराग्य'से मनका वेग रोका जा सकता है । मनको चारों ओरसे मोड़कर किसी सदुद्योगमें केन्द्रित करनेको ही 'मनोयोग' कहते हैं ।

'मन' इन्द्रियोंका संचालक है । सभी इच्छाएँ इसकी दासियाँ हैं, किंतु बुद्धि और आत्मा मनसे भी श्रेष्ठ हैं ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(गीता)

'इन्द्रियाँ (शरीरमें) प्रबल होती हैं । ये ही प्रधान हैं; किंतु मन इनसे भी श्रेष्ठ है । बुद्धि मनसे भी श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे भी परे है, वह परमात्मतत्त्व है ।'

इस प्रकार चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा संचालित इच्छा, तृष्णा, आशा आदि मनके अधीन हैं । अतः मनका 'संतुष्ट' होना ही एक समाधान है । इच्छाओंका अन्त नहीं होता । सदा एकके बाद दूसरी समस्या आती ही रहती है । इसलिये सामान्यभावसे कर्तव्य-तत्पर होते हुए हर दशामें मानसिक संतोषका संतुलन बनाये रखनेमें ही कल्याण, सुख और शान्तिका प्राप्त होना सम्भव है, अन्यथा—सम्राट्को भी सुख नहीं और न इन्द्रको सुख है । तृष्णारहित, मनोयोगी, संतोषी, विवेकी, विरक्त और शान्तचित्तको ही आत्मानन्द प्राप्त होता है । उसके लिये कोई समस्या व्यग्रताका कारण नहीं बनती ।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । (योगदर्शन)

मेरे मनमें अब प्रभु स्वच्छन्द विहार करते हैं

मेरे मनमें नित प्रविष्ट रह, ईश्वरका मन करता काम ।
ईश्वरके मनके ही होते उदय दिव्य संकल्प ललाम ॥
रहा न मेरे मनमें कुछ भी, ईश्वरके मनके अतिरिक्त ।
रहता सदा इसीसे वह मधुमय भगवद्-रससे अभिषिक्त ॥
मेरे मनको नित्य बनाये रखते प्रभु निज मनका यन्त्र ।
करते उससे अपने मनकी मनमोहन वे परम स्वतन्त्र ॥
रहा न कोई मुझमें करनेवाला अब शुचि-अशुचि विचार ।
अन्तर्द्वन्द्व मिट गये सारे, मिटे मोहके सभी विकार ॥
प्रभुके मनमें निजको खोकर मन हो गया अमन मेरा ।
उठा असत् आशा-तृष्णाका, ममताका सारा डेरा ॥
क्रीड़ा करते अब उसमें, उससे प्रियतम इच्छा-अनुसार ।
करते रहते नित उसमें, उससे वे अब स्वच्छन्द विहार ॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

महात्माके लिये सरयूकी कृपा

भले ही अपनी अज्ञानताके कारण, आजकी प्रगतिशील दुनियाका ज्ञानवान् कहलानेवाला मानव, भगवान्के, 'अनेक-रूपरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने' इत्यादिके सिद्धान्तपर विश्वास न करे, इससे उस अनन्त, लीलामय और कृपासागर प्रभुका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। फिर भी कभी-कभी वह हमारे ही सम्मुख ऐसे अद्भुत चमत्कार कर दिखाता है, जिसकी कल्पना ही हमारे मन, बुद्धि और कर्मसे परे होती है।

अल्मोड़ा जनपदकी नदी सरयूके सम्बन्धमें किसीने कहा—'गङ्गा मरे हुओंको तारती है, पर सरयू जीवित लोगोंके ही शान्तिका पथ प्रशस्त कर देती है।'

इसके अनुसार सरयूके गुणोंका परिचय भी बहुत लोगोंको होता रहता है। इस नदीके चमत्कार यदा-कदा, इस क्षेत्रके लोगोंको, आश्चर्यचकित कर ही देते हैं। सम्भवतः ऐसी घटनाओंके कारण, इसके प्रति इस पर्वतीय प्रदेशके भोले लोगोंका विश्वास दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

दो-तीन वर्ष पूर्व वर्षा-ऋतुमें यहाँ एक भयावह दुर्घटना हुई थी। इस जनपदके मल्ला दानपुर लोहारखेत गाँवकी यह करुण कहानी है।

इस गाँवके एक उच्च स्थानपर, एक पहाड़ीके नीचे, एक महात्माकी कुटी थी। वह महात्मा पिछले कुछ वर्षोंसे उस कुटियामें रहकर, देवाधिदेव भगवान् शंकरकी अर्चनामें लीन था। पासके गाँवसे, उसे जो कुछ भी प्राप्त होता, उसीमें संतुष्ट रह, प्रतिदिन सरयूमें स्नान कर, एकान्तमें प्रभु-चिन्तनद्वारा, सम्भवतः अपने पूर्वजन्मके पापोंका प्रायश्चित्त और इस जन्ममें पुण्योंका संचय कर रहा था।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीके दिन, सरयूमें स्नान कर, पूजा-पाठसे निवृत्त हो, एकान्तमें वह मन-ही-मन उस कृपामय प्रभुका चिन्तन कर ही रहा था कि एकाएक एक महिला उसके सामने आकर खड़ी हो गयी। उसके अलौकिक और दिव्य रूप-लावण्यको देखकर महात्माकी आँखें चौंधिया गयीं।

वह महिला बोली—'तू किसकी आज्ञासे यहाँपर आसन जमाये बैठा है रे जोगी! भाग यहाँसे अभी अपनी झोली-चिमटा लेकर; उठ, अभी भाग जा, फौरन चला जा।'

महात्मा भक्त तो था, पर उसकी समझमें कुछ न आया और न वह यही समझ सका कि आखिर इस एकान्तमें इस महिलाका उसे इस प्रकार तंग करनेका प्रयोजन क्या है। आखिर मेरी फूसकी झोंपड़ीसे इसे क्या हानि हुई है। फिर भी शान्त होकर वह बोला—'माई! कुछ सुरम्य स्थान देखकर पिछले कुछ वर्षोंसे इस पहाड़ीके नीचे भगवान् शंकरसे अपने प्राकृत कर्मोंकी क्षमायाचना कर रहा हूँ। मन, वाणी, कर्मसे किसीको कोई हानि न हो, ऐसा प्रयत्न करता हूँ। आप माँ हैं, आप ही बताइये, आज्ञा दीजिये मैं कहाँ जाऊँ।'

'मेरा यह ठेका नहीं कि तुझे तेरे योग्य स्थान बताऊँ। पर चला जा अभी यहाँसे। अच्छा, देख मैं जाती हूँ, पर याद रख यदि तू आजके सूर्यास्तसे पूर्व यहाँसे न भागा तो तेरी हड्डियोंको इस सरयूमें मछलियाँ चबायेंगी'—इतना कह वह महिला चली गयी।

महात्माको जैसे काठ मार गया। किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया बेचारा। फिर भी यह देखता रहा, आखिर यह महिला कौन है, और जाती कहाँ है? उसने देखा कि पहाड़ीमें चलती हुई वह सरयूके किनारेतक गयी और एकाएक सरयूके उस अनन्त, अगाध और अथाह जलके मध्य विलीन हो गयी। वह साक्षात् माँ सरयू ही थी।

इधर महात्मा अपनी कुटियासे भगवान्की प्रतिमा, झोली, चिमटा और कमण्डलु लेकर चल पड़ा। जाते हुए गाँववालोंने उसे देख लिया और वे समझ न पाये कि वह कहाँ जा रहा है, इस जन्माष्टमीके दिन।

पूछनेपर पता चला कि अब वह सदाके लिये यहाँसे चला जा रहा है। ऐसा समाचार सुनते ही सारे ग्रामवासी उसके पास आये और उन्होंने उससे प्रार्थना की—'महात्मन्! इतने दिन साथ रहे, अब हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं। कम-से-कम आज तो रह जाइये, आज श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी है। ऐसे पर्वपर हमें न छोड़िये।'

ग्रामवासियोंके आग्रहको देखकर महात्माने कहा—'यदि आपलोगोंकी ऐसी ही इच्छा है तो नीचेवाले गाँवमें रह जाऊँगा, यहाँ नहीं ।'

गाँववालोंकी समझमें न आया, बेचारे उलटे आत्मग्लानिसे भर गये कि आखिर किसने महात्माका अपमान कर दिया, इन्हें किसकी कौन बात चुभ गयी ?

पर महात्मा चले गये ।

ठीक उसी रात क्या हुआ । तूफान, भयंकर आँधी, फिर मूसलाधार वर्षा और न मालूम क्या-क्या । ऊपरकी पहाड़ीमें एक दिव्य ज्योति, जैसे हजारों विद्युत्-बल्बोंका प्रकाश हो, गाँववालोंको दिखायी दी और उसीके साथ-साथ वह पहाड़ी भी नीचेकी ओर धँस गयी । एक पर्वतके ढह जानेसे सरयूका प्रवाह भी रुक गया । सरयू पलट गयी और सारा गाँव ही सरयूके प्रवाह और उस पहाड़ीमें ही सदाके लिये विलीन हो गया । कितने ही मनुष्य, पशु, ढोर दब गये, बह गये और उस बवंडरमें समा गये । कितनोंके अङ्ग-भङ्ग हो गये, कितने उस दर्दनाक दृश्यको ही देखकर बैठ गये । मनुष्य, पशु, सम्पत्ति किसकी कितनी हानि हुई, किसीको ठीक पता न चला । महात्माकी झोपड़ीका तो नाम-निशान भी न था । यहाँपर एक बस्ती थी, इसका कोई भी चिह्न अवशेष न रहा । जो था भी वह भयानक, दर्दनाक और करुणाकी सीमातक पहुँचा हुआ !

दूसरे दिन सबने देखा, कुछ दिनों बाद समाचारपत्रोंमें सबने पढ़ा । किसीने कहा—'इस धरतीके गर्भमें ज्वालामुखी है, यहाँकी मिट्टी ही ऐसी है, जो एक-न-एक दिन अवश्य ही धँस जाती ।' कोई बोले—'पहाड़ियोंके गाँवोंका कोई ठिकाना नहीं, कब बस जायँ और कब धँस जायँ ।'

यह सब महात्माने भी देखा—कह नहीं सकते कि उसने क्या सोचा, पर उसी दिनसे उसने यह संकल्प कर लिया कि अब उसका जितना भी जीवन अवशेष रहेगा, वह इसी सरयू माँके किनारेपर रहेगा, भले ही कहीं रहे ।

ऐसी बातें उस महात्मासे सबने सुनीं, पर कह नहीं सकता कि कितने लोगोंने इसपर विश्वास किया ।

तबसे उस महात्माको आस-पासकी बस्तीमें किसीने नहीं देखा । हाँ, पिछले वर्ष सुननेमें आया कि एक महात्मा सरयूके किनारे कहीं एक पहाड़ीके नीचे बैठा था ।

—देवेन्द्रकुमार गन्धर्व

(२)

गुप्त दान

कई वर्षों पहलेकी बात है । राजस्थानमें भीषण अकाल था । गौओंकी बड़ी दुर्दशा थी । उस समय गीताप्रेसकी ओरसे राजस्थानमें स्थान-स्थानपर सहायताका काम हो रहा था। रतनगढ़में भाईजी काम देख रहे थे । वे एक दिन दुपहरको अपनी बैठकमें अकेले बैठे डाक देख रहे थे कि वहींके एक सज्जन, जो बहुत सम्पन्न थे, जिनका बंगालमें बड़ा कारोबार था, बड़े दानी थे, पर जो अपने लिये व्यय करनेमें बड़े ही अनुदार थे, घुटनोंतककी धोती, एक कमरी तथा सिरपर पगड़ी, जाड़ेमें एक बीकानेरी कंबल—यही उनकी पोशाक थी । वे रिश्तेमें भाईजीके मामा लगते थे,—आये; भाईजीने प्रणाम करके आनेका कारण पूछा । उनके हाथमें एक कागजका छोटा-सा पुलिंदा था, उसे भाईजीके हाथमें देते हुए बोले——'ले भैया ! ये दस हजार रुपयेके नोट हैं; इस समय तू अकेला मिलेगा, इसीसे दुपहरीमें आया हूँ; इनको गायोंकी सेवामें लगा देना । पर देखना, कहीं ......का नाम न आने पाये । भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लगे, इसमें देनेवाले किसी दूसरेका नाम क्यों आना चाहिये ?' भाईजीने मुस्कुराते हुए नोट ले लिये । वे जानते थे मामाजीकी गुप्तदान क्रियाको । भाईजीने पीछे बताया कि इस प्रकार प्रचुर धनका ये दान करते हैं । जगह-जगह कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत कराते हैं, नये भी बनवाते हैं, पर इनके नामकी जानकारी केवल वहीं होती है, जहाँ बिना नाम बताये काम चलता नहीं । आजके दानके नामपर इन्वेस्टमेंट करनेवाले—और दानसे पहले ही समाचारपत्रोंमें समाचार भेज देनेवाले दानी महोदय इससे शिक्षा ग्रहण करें !

—एक जानकार

(३)

विचित्र सेवा

गत २० अप्रैलको दिल्लीकी एक गरीब बस्तीमें भयानक आग लगी । बहुत नुकसान हुआ । पाँच हजार मनुष्य बिना घर-बारके हो गये और लगभग बीस आदमी जल मरे । दुपहरको बारह बजे आग लगी थी, उस समय पुरुष तो

अधिकांश कामसे बाहर गये हुए थे । एकके बाद एक घरोंमें आग फैलती गयी और देखते-ही-देखते बहुत-से घर खाक हो गये ।

यों एक ओर अग्निका प्रकाण्ड ताण्डव हो रहा था, दूसरी ओर लगभग तीस वर्षकी एक स्त्री बहुत बड़ी बहादुरीका काम कर रही थी । उसके पड़ोसके घरके सब लोग बाहर गये हुए थे । आग वहाँ भी पहुँच गयी थी, इसी बीच वह स्त्री पड़ोसीके उस जलते घरमें कूदकर जा पहुँची और घरके कपड़े-लत्ते, बर्तन तथा अन्यान्य सामानोंको बाहर निकालती गयी । वहाँ इकट्ठे हुए लोगोंने पुकार-पुकार उसे समझाया कि 'देखो उधर तुम्हारा घर आगकी लपेटमें आ गया है, जाकर जो कुछ बने सामान निकाल लो ।' पर उसने किसीकी बात नहीं सुनी। वह निडर स्त्री अपने काममें लगी रही । जबतक उस घरका तमाम सामान निकाल न दिया, तबतक हटी नहीं । जलते घरमें आने-जानेसे उसके हाथ-पैर तथा बाल भी कई जगह जल गये, परंतु इसका कोई दुःख उसे नहीं था । वह अपना कर्त्तव्यपालन करके प्रसन्न थी ।

कुछ ही देरमें वह पड़ोसके घरवाला आया । अपने सारे सामानको सही-सलामत पाकर उसके हर्षका पार न रहा । अगल-बगलवालोंने बताया कि तुम्हारे घरके सारे सामानको बचानेवाली तो वह स्त्री है । तुरंत वह जाकर उस स्त्रीके पैरों पड़ गया और बोला कि 'बहन, यह तुमने क्या किया । अपने घरकी कुछ भी परवा न करके मेरा घर बचाया ।' इसपर उस स्त्रीने शान्तिके साथ उत्तर दिया—'भाई ! मैंने समझ-बूझकर ही यह सब किया है । अभी दस ही दिनके बाद तुम्हारी कन्याका विवाह होनेवाला है । लड़कीको देनेके लिये तुमने कितनी तकलीफें उठाकर सामान इकट्ठा किया था । ये सब चीजें आगमें जल जातीं तो तुम फिरसे इन्हें कहाँसे जुटा सकते । परिणामस्वरूप लड़कीका विवाह रुक जाता । मेरा घर जल गया तो कोई बात नहीं, मैं किसी भी झोंपड़ीमें जा रहूँगी । पर तुम्हारी लड़कीका तो घर ही न बँधता ।' यह सुनते ही उस भाईकी आँखें आँसू बहाने लगीं । उसके मुँहसे सहज ही निकला—'इस तपोभूमि भारतमें अब भी ऐसी देवियोंका अभाव नहीं है । 'अखण्ड आनन्द'

—जेठालाल कानजी शाह

(४)

सामूहिक प्रार्थना

गत बाईस फरवरीकी घटना है । मैं और श्रीसोमप्रकाश 'गौतम' पाठशालामें अपनी-अपनी कक्षाओंको पढ़ानेमें व्यस्त थे । अकस्मात् दोपहरके बाद लगभग डेढ़ बजे एक भैंस रस्सा तोड़कर हमारी पाठशालाकी ओर भागी-भागी आयी; उसके पीछे एक स्त्री पकड़ो-पकड़ो पुकारती हुई दौड़ रही थी । मैंने भैंसका रस्सा पकड़ लिया और किसी कदर भैंसको रोक लिया; किंतु मैं उसे बहुत देर थामे नहीं रख सका। भैंस मुझसे छूटकर भाग गयी; भैंसने अपनी गति और भी तीव्र कर दी । पास ही एक रोशनी देवी नामकी कन्या लगभग आठ वर्ष आयुकी अपनी तख्ती साफ करके आ रही थी। दुर्भाग्यसे भैंसका रस्सा कन्याके दायें पाँवमें फँस गया। कन्या गिर पड़ी और वह भैंसके साथ कंकरीले पत्थरों और काँटेदार झाड़ियोंपरसे घसिटती हुई लगभग एक सौ बीस गज़की दूरीतक चली गयी । कन्या बुरी तरह जख्मी हो गयी, तब श्री 'गौतम' ने किसी प्रकार भैंसकी लपेटसे छुड़ाया । है उसके बचनेकी कोई आशा प्रतीत नहीं होती थी । कन्याको तुरंत चिकित्सालय पहुँचानेकी व्यवस्था की गयी । मेरे नेत्रोंके सामने और मेरी ही पाठशालाके आँगनमें ही यह दुर्घटना घटी; मुझे यह सब देखकर अत्यन्त दुःख हुआ । मेरी प्रबल चाह थी, किसी प्रकार इस अभागी छात्राके प्राण बच जायँ; मुझे और तो कुछ नहीं सूझा । मैंने पाठन-कार्य बंद कर दिया । पास ही पीपल और बरगदके वृक्ष थे, सब विद्यार्थियोंसे कहा कि 'आओ, इन वृक्षोंकी परिक्रमा करें और भगवान्‌से प्रार्थना करें कि रोशनीके प्राण बच जायँ, ईश्वर उसे जीवन-दान प्रदान करे' । मैं भी छात्र-छात्राओंके साथ परिक्रमा सम्मिलित था । लगभग आध घंटेतक सामूहिक प्रार्थना यह क्रम शान्त वातावरणमें चलता रहा । साढ़े चार बजे श्री 'गौतम'जीने हमें बताया कि 'कन्याको चेतना आ गयी है और उसने आँखें खोल दी हैं, दूध इत्यादि भी पी लिया है ।' अबतक मेरे पास ग्रामके नर-नारियोंका जमघट हो गया था । इस सूचनाको सुनकर हमारी प्रसन्नताका कोई ठिकाना न रहा । हम सब उस ईश्वरको लाख-लाख धन्यवाद देते हैं, जिस प्रभुने हमारी सामूहिक प्रार्थनाको इतनी जल्दी सुन लिया !

कन्या अब स्वस्थ है। मेरे विचारमें यदि ऐसी सामूहिक प्रार्थनाएँ की जायँ तो वे अपना तत्काल फल दिये बिना नहीं रह सकतीं। यह मैंने आज प्रत्यक्ष ही देख लिया है। धन्य है प्रभु तेरी लीला। केवल विश्वासकी आवश्यकता है, तर्ककी नहीं।

—ब्रजलाल 'निरंकुश'

(५)

धोबीकी ईमानदारी'

यह घटना तीन-चार साल पुरानी है। हमारे यहाँ एक धोबी कपड़े धोने आता था। वह धोबी बहुत पुराना था। एक दिन धोखेसे सोनेके बटन कमीजमें लगे रह गये। धोनेको दिये दूसरे सारे कपड़ोंके साथ वह कमीज भी धोबीको दे दी गयी। बटनोंकी कीमत लगभग २५०) रुपये थी। शामको जब बटनोंकी आवश्यकता हुई, तब उनको ढूँढ़ा गया परंतु बटन कहीं न मिले। हमलोग संतोष करके बैठ गये। किसीको यह ख्याल ही नहीं था कि बटन कमीजके साथ धोबीके यहाँ चले गये।

अचानक दूसरे दिन वह धोबी दौड़ता हुआ आया और बटन देकर बोला—'बाबूजी! यह बटन आपकी कमीजमें लगे हुए थे। सँभाल लीजिये।' हमलोग धोबीकी इस ईमानदारीपर बहुत खुश हुए और उसको हमने इनाम देना चाहा, परंतु उसने साफ इन्कार कर दिया!

—विष्णु [कानपुरी]

(६)

भलेकी भलाई सबकी भलाई करती है

दो भाई थे, गोविंदराम और लालचन्द! कपड़ेकी छोटी-सी दूकान थी देहातमें कलकत्तेके समीप। मजेमें कमाते-खाते थे। बीचमें दो-तीन बच्चोंके विवाह हुए, देश जाना-आना पड़ा। खर्च अधिक लग गया। पीछेसे काममें भी नुकसान हुआ। कुछ दिनों बाद दैवकी लीलासे गाँवोंमें बाढ़ आ गयी। लगभग पाँच-छः हजार रुपये गाँववालोंमें, जो लेने थे, वे डूब गये; क्योंकि बाढ़से गाँववाले तबाह हो चुके थे। कलकत्तेके महाजनके लगभग पंद्रह हजार रुपये इन्हें देने थे। माल आता, रुपये जाते, तब तो काम चल रहा था, पर इधर रुपयोंकी टान होनेसे रुपये भेजे नहीं गये। माल भी नहीं मँगाया गया। काम ठप हो गया। कलकत्तेवाले महाजनने आकर देखा, दूकानमें माल नहीं है, न रुपये हैं, अतएव उसने इनको रुपयोंके लिये तंग करना शुरू किया। इन्होंने किसी प्रकार भी व्यवस्था करके रुपये चुकानेके लिये एक महीनेका वादा करके उसको लौट जानेके लिये कहा। वह विश्वास करके लौट गया। इनकी ईमानदारीपर उसे विश्वास था और बहुत पुराना व्यवहार था।

अब दोनों भाइयोंने विचार किया, पर मतभेद हो गया। लालचन्द कहता था कि 'स्त्रियोंका गहना तथा देशकी जमीन बेचकर रुपये चुका दिये जायँ, तो महाजनको विश्वास हो जायगा। वह माल उधार देने लगेगा तो फिर कमा लेंगे।' पर गोविंदरामका कहना था कि 'देशमें तो यह नालिश कर नहीं सकता; (क्योंकि उस समय राजस्थानमें राजाओंका राज्य था) अतएव दूकान बंद करके देश चले चलें। गहना तथा जमीन न बेची जाय। हाथसे यह सब निकल जायगा तो दरिद्र हो जायँगे।' लालचन्द ईमानदारीपर था, तो गोविंदराम रुपये बचानेके लिये महाजनको चकमा देना चाहता था!

गोविंदराम नहीं माना, तब लालचन्दने कहा—'भैया! तुम अपने हिस्सेका गहना तथा जमीन बचा लो। मैं तो महाजनको दूँगा ही।' गोविंदरामने उसको समझाना चाहा, पर लालचन्द नहीं माना। इधर लालचन्दकी बात गोविंदरामको नहीं जँची। लालचन्द कलकत्ते गया, सौभाग्यसे महाजनने इस शर्तपर और इस आशयकी एक चिट्ठी अपने नामसे लिख देनेपर कि 'रुपये कमानेपर फिर दे दिये जायँगे' आधी रकममें सलटा लिया। लालचन्दने अपने हिस्सेकी जमीन तथा अपनी स्त्रीका गहना बेचकर महाजनको आधी रकम देकर उससे चुकतेकी रसीद (फाड़खती) ले ली। उसने महाजनको यह नहीं बताया कि वह अकेला अपना गहना-जमीन बेचकर दे रहा है, गोविंदराम कुछ नहीं दे रहा है। वह यह कहता तो महाजन मानता ही नहीं। अस्तु!

उसने आकर सब बात भाईसे कह दी। भाई प्रसन्न हो गया। उसका गहना बच गया और महाजन भी मान गया। लालचन्दका गहना-जमीन गये तो बलासे!

कहीं-कहीं कर्मफल हाथों-हाथ ही मिल जाया करता है या उसी प्रकारका प्रारब्ध सामने आ जाता है। लालचन्दकी सास कलकत्ते रहती थी। उसके एक लड़की (लालचन्दकी पत्नी रुक्मिणी) के सिवा और कोई संतान नहीं थी। उसके लगभग साठ हजार रुपये, दस-बारह हजारका गहना और तीस-चालीस हजारकी देशमें जमीन थी। वह अकस्मात् बीमार हुई। लालचन्द तथा उसकी पत्नी तो उसके मरण-समय नहीं पहुँच सके, पर वह मरते समय एक दस्तावेज

(बसीयतनामा) बाकायदा अपने एक ईमानदार पढ़े-लिखे सम्बन्धीकी सलाहसे लिख गयी, जिसमें उसके द्वारा अपनी सारी सम्पत्ति अपनी लड़की रुक्मिणीको दे दी गयी थी, सिर्फ पाँच हजार उसके खर्च (द्वादशाह श्राद्ध) आदिमें लगानेकी हिदायत लालचन्दको दी गयी थी। यह रहस्य खुलनेपर सहज ही लालचन्द धनी हो गया। उधर भाई गोविंदरामके मनमें बेईमानी आ गयी थी। अतः उसने अपने हिस्सेकी देशकी जमीन अपने एक सम्बन्धीके नाम बेची कर दी थी तथा गहना भी उसे दे दिया था। दुर्भाग्यसे वह घाटेमें था। गोविंदरामको पता नहीं था। उसने गहना बेचकर रुपये बरत लिये तथा देशकी जमीन-पर उसके किसी पावनेदारकी कुर्की आ गयी। यों गोविंदराम फकीर हो गया। पर लालचन्दकी और उसकी स्त्रीकी सदाशयताने उसे अकिंचन—फकीर नहीं होने दिया। अपनी रकममेंसे उसको आँधी पाँती उन्होंने दे दी। दोनों भाई पुनः सुखसे कारोबार करने लगे। भलेकी भलाई सबका सदा भला ही करती है।

—रतनलाल शर्मा

(७)

आँव (आमातिसार) की अनुभूत दवा

कैसा भी आँव हो, (पेट कटना, मवाद-रक्त आना, बार-बार पाखाना होना) जिसे अंग्रेजीमें डिसें (Dysentry) कहते हैं, इससे आराम हो जाता है। यह मेरा २३-२४ वर्षका अनुभव है। पर इसका प्रयो 'पैसा कमानेके लिये' बिल्कुल नहीं करना चाहिये।

वह दवा है—जपा या जवा पुष्प (जिसे हु 'अड़हुँल' कहते हैं, जिसका अंग्रेजी नाम China-Ro है, नामक लाल फूल) जिसके द्वारा देवीजीकी पूजा विशे रूपसे की जाती है। बारह वर्ष या इससे छोटी उम्रवा रोगीको, फूलका ऊपरका हरा छिलका छीलकर फेंक दे और भीतरका एक फूल या अवस्थानुसार उससे कम चार आने भर मिश्रीके साथ चबा दिया जाय। बारह वर्ष से बड़ी उम्रवाला रोगी इसी प्रकार दो फूल चबा ले। यह खानेमें खराब नहीं लगता वरं स्वादिष्ट लगता है। दवा सुबह-शाम किसी भी समय दिनभरमें एक बार लेनी चाहिये। एक बारमें लाभ न हो तो एक या दो दिनतक एक-एक बार औ भी लेनी चाहिये। पंथ्यमें दही, चिउरा, चीनी एक बार लेनेसे जल्दी लाभ होता है।

—हीराप्रसाद व

◆

अशोक होटलमें गोमांस

'कल्याण'के गत दूसरे अंकमें इस विषयपर लिखा गया था। पिछले दिनों संसद्में कहा गया है कि सरकार अशोक होटलमें गोमांसको हटानेके लिये तैयार नहीं है। यह वास्तवमें बहुत ही दुःख तथा लज्जा की बात है। 'अतिथि-सत्कार' हमारा धर्म है, पर किसी भी ऐसी चीजको हम उन्हें दें, जिससे उनका तथा हमारा दोनोंका अहित होता हो, जो देशके बहुत बड़े भागके लोगोंकी दृष्टिमें सर्वथा घृणित त भयानक पाप हो, कदापि वाञ्छनीय नहीं है। वस्तुतः यह उस होटलमें गोमांसभोजी लोगों अतिरिक्त दूसरोंको सर्वथा बहिष्कार करनेकी योजना है। गोमांस न खानेवाले धर्मभीरु लोग ज गोमांस पकाया और परोसा जाता है, वहाँ कैसे ठहरेंगे और कैसे खायँगे ? सरकारका यह दुरा सर्वथा अवाञ्छनीय और महान् दुःखजनक है। करोड़ों-करोड़ों देशवासियोंके धर्मकी परवा न क एक सरकारी होटलमें, जिसके साथ महान् अहिंसक 'अशोक'का नाम जुड़ा है, गोमांस देनेका करना सर्वथा अनुचित तथा अन्याय है। भारतीय सभी संस्थाओं तथा सभी समाजोंसे हमारी प्रार्थना है कि वे 'अशोक होटल'से गोमांस हटानेके लिये विनम्रताके साथ जोरदार भाषामें मान राष्ट्रपतिजी, माननीय प्रधान मन्त्रीजी तथा माननीय गृहमन्त्रीजीको नयी दिल्लीमें तारद्वारा प्रार्थना क साथ ही तुरंत गोहत्या बंद करनेके लिये भी लिखें !

◆

एक नयी पुस्तक ! प्रकाशित हो गयी !!

गीताव्याकरणम्

लेखक—पं० श्रीदीवानचन्द्रजी शास्त्री, बी० ए०

सम्पादक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी एम्० ए०, बी० लिट् (ऑक्सन) पी० ई० एस० (रिटायर्ड)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २८६, मूल्य १.०० डाकखर्च .८० मात्र।

प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत-व्याकरणकी हिंदी माध्यमद्वारा ज्ञानोपलब्धिके साथ-साथ श्रीमद्भगवद्गीताके स्वाध्यायमें सहायता करनेके लिये लिखी गयी है। इसमें श्रीवरदराजकी पद्धतिका अनुसरण करते हुए श्रीमद्भगवद्गीताके प्रयोगोंसे पाणिनीयशैलीके आधारपर संस्कृत-व्याकरण समझने-समझानेका प्रयास किया गया है। लेखक महोदयने वरदराजकृत लघुसिद्धान्तकौमुदीके क्रमानुसार ही इसको प्रस्तुत करते हुए इसमें शब्द, प्रयोग तथा उदाहरण श्रीमद्भगवद्गीतासे उद्धृत किये हैं। पाठ्य-विषय अठारह प्रकरणोंमें रक्खा गया है। आशा है कि इस पुस्तकके द्वारा संस्कृत भाषाका पाणिनीयपद्धतिद्वारा सामान्य ज्ञान प्राप्त करके गीताके शब्दों और उनके अर्थोंका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायता मिल सकेगी।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याणके २२वें वर्षका विशेषाङ्क 'नारीअङ्क' अब भी मिल सकता है

(प्रथम संस्करणके शीघ्र समाप्त होनेके कारण दूसरा संस्करण छापा गया है) पृष्ठ-संख्या ८००, लेख-संख्या ४४९, कविता ३२, संगृहीत ४७, चित्र सुनहरे २, रंगीन ९, इकरंगे ४४, तथा लाइन चित्र १९८, मूल्य डाकव्ययसहित ६ रु० २० नये पैसे, सजिल्द ७.४५ नये पैसे।

इस अङ्कमें नारी-धर्मकी महत्ता, नारी-जगत्का आदर और अधिकार, दर्शनशास्त्रमें नारी-जातिका माहात्म्य, अध्यात्मवादकी कसौटीपर नारीधर्म, नारी-शक्तिका सदुपयोग, नारीका उच्च आदर्श, भारतीय नारी क्या करे, नारी-तत्त्व-गौरव, भारतीय नारीमें पराशक्ति, भारतीय संस्कृतिमें नारीधर्म, भारतीय नारीका स्वरूप और उसका दायित्व, नारीकी आत्मकथा, वैदिक साहित्यमें नारी, नारी और वेद, उपनिषदोंमें नारी, स्मृति-ग्रन्थोंमें नारी, आधुनिक नारी, आदर्श नारी, जीवनकी पाठशालामें नारी, हिंदू-विवाहमें पत्नीका समादृत स्थान, विवाह-विच्छेद, हिंदू-विवाहकी पवित्रता, नारी-उन्नति, सतीत्वका तेज, मानसमें नारी, हिंदी काव्यमें नारी, स्त्री-शिक्षा, लड़कियोंकी शिक्षा, वर्तमान स्त्री-शिक्षामें परिवर्तनकी आवश्यकता, 'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्', लज्जा नारीका भूषण, बीसवीं सदीमें नारी, भारतीय नारीका कर्तव्य, नारी त्यागका सर्वोत्तम आदर्श, नारीकी देशसेवा, स्त्रियोंके रोग और उनकी घरेलू चिकित्सा, शिशुरोग, बालकोंकी शिक्षा, नारीके भूषण, नारीकी समस्याएँ, नारी और भोजन-निर्माण-कला आदि विविध विषयोंपर सम्माननीया देवियों एवं सम्मान्य बड़े-बड़े विद्वानोंके बहुत-से लेख प्रकाशित किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त इस अङ्कमें ब्रह्मवादिनी, भक्तिमती, वीराङ्गना, पतिव्रता, सती-साध्वी पवित्र स्त्रियोंके लगभग सवा तीन सौ चरित्र भी प्रकाशित हुए हैं।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे महान् सुधाभरे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और इनका अध्ययन करके लाभ उठाते हैं। बहुत वर्षोंसे इन दोनों ग्रन्थोंके द्वारा मानवजीवनको उच्चस्तरपर ले जानेवाली शिक्षाका प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था चल रही है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षा-केन्द्रों तथा विद्यार्थियोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। गत सं० २०१७ में दोनोंके मिलाकर ४१० केन्द्र थे और लगभग ९६०० छात्र परीक्षामें बैठे थे। जब कि सं० २०१६ में ३५१ केन्द्र थे और लगभग ९००० छात्र ही बैठे थे। विशेष जानकारीके लिये नीचे लिखे पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—**श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)**

आवश्यक सूचना

'कल्याण'के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार आजकल कुछ अनिवार्य कारणोंसे अधिक समय प्रायः एकान्तमें रहते हैं। वे गीताप्रेसके मुद्रक-प्रकाशकसे भी नाम हटा रहे हैं। किन्हींसे मिलने-जुलनेमें उन्हें सुविधा नहीं है। न पत्रव्यवहारके लिये ही सुविधा है। अतएव सभी महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि पत्र द्वारा पहले बिना पूछे उनसे मिलनेके लिये कोई न पधारें तथा विशेष आवश्यक कार्य होनेपर ही उन्हें व्यक्तिगत पत्र लिखें। किन्हींके पत्रका उत्तर न मिले या देरसे मिले तो वे महानुभाव कृपया क्षमा करें।

वे सार्वजनिक कार्योंसे भी अलग-से हो रहे हैं। अतः सार्वजनिक कार्योंके लिये भी उनको पत्र लिखने या उनसे मिलनेकी चेष्टा न करें, यह भी विनीत प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

प्रकाशनके सम्बन्धमें प्रार्थना

गीताप्रेसमें पुस्तकोंकी माँग बढ़ जाने तथा मशीनोंकी कमीके कारण प्रकाशन-कार्यमें कुछ कठिनाइयाँ आ रही हैं। पूर्वप्रकाशित पुस्तकोंमेंसे कई इस समय स्टॉकमें नहीं हैं। और उनके पुनर्मुद्रणमें अनिच्छित देर हो रही है। यथासाध्य प्रयत्न किया जा रहा है कि उनके नये संस्करण शीघ्र प्रकाशित हो जायँ। हमारे ग्राहक तथा पाठक महोदय धैर्यपूर्वक क्षमा करें।

बहुत-सी नयी पुस्तकें (छोटी-बड़ी) सम्मान्य लेखकोंसे लिखवायी हुई और बाहरके विद्वानोंके द्वारा भेजी हुई प्रकाशनार्थ वर्षोंसे स्वीकृत हैं, पर समयाभावसे उनका प्रकाशन नहीं हो पा रहा है। इन्हीं उपर्युक्त दोनों कार्योंकी सुविधाके लिये 'महाभारत' नामक मासिकपत्र, जिसमें प्राचीन ग्रन्थोंका अनुवादसहित प्रकाशन हो रहा था, इच्छा न होनेपर भी तथा बहुत-से सज्जनोंका स्थगित न करनेका प्रेमाग्रह होनेपर भी बाध्य होकर स्थगित कर देना पड़ा है।

इधर बहुत अच्छे-अच्छे सम्मान्य विद्वानोंद्वारा रचित बड़ा ही उपयोगी साहित्य प्रकाशनार्थ आ रहा है, पर विवश होकर उसे लौटाना पड़ रहा है। कुछ महानुभाव वास्तविक परिस्थिति परिचित न होनेके कारण इससे असंतुष्ट भी होते हैं, पर उनसे हाथ जोड़कर क्षमाप्रार्थना करनेके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। नयी मशीनोंकी व्यवस्था की जा रही है। समय तथा सुविधा होनेपर ही नया साहित्य प्रकाशित हो सकेगा। इस विवशताके लिये हम सबसे सविनय क्षमाप्रार्थना करते हैं। कृपया नया साहित्य अभी न भेजा जाय, यह भी प्रार्थना है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

(4)

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

कल्याण

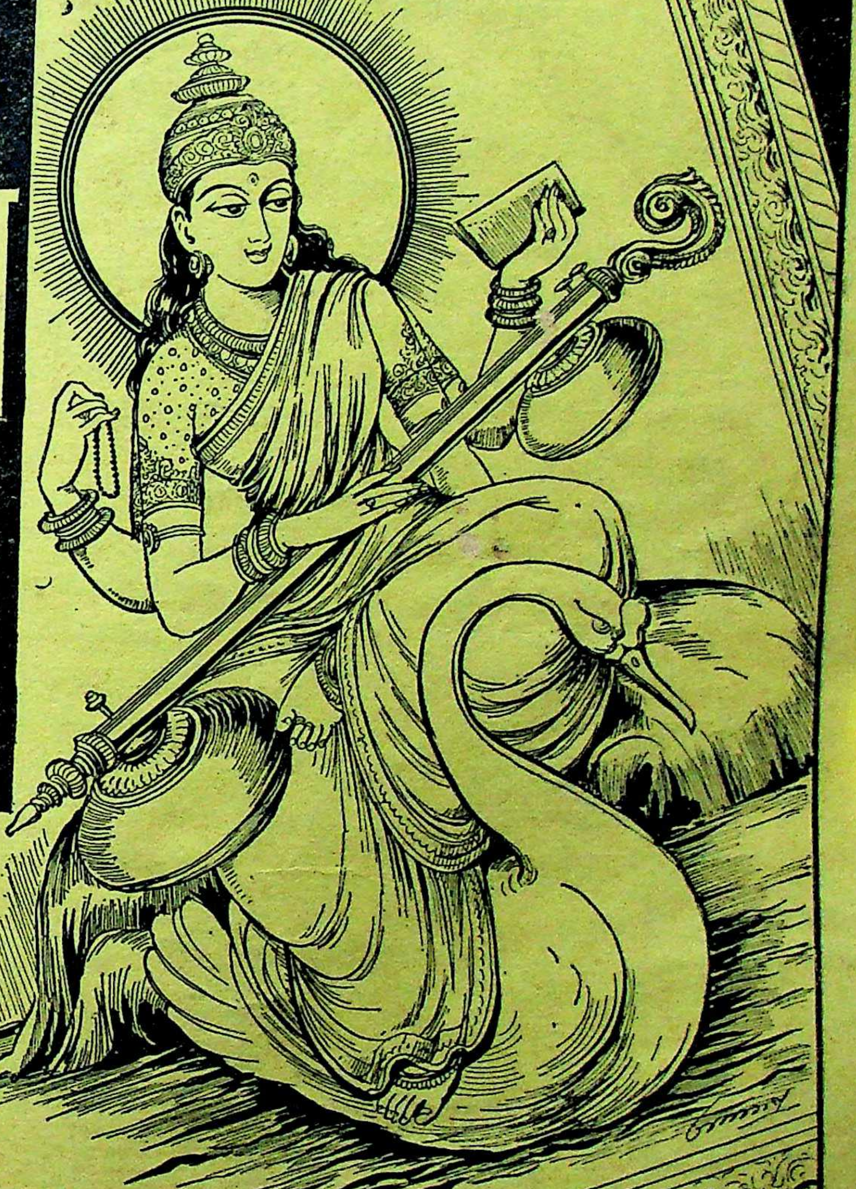

वर्ष ३५
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१.३३.००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची,

कल्याण, सौर श्रावण २०१८, जुलाई १९६१

विषय पृष्ठ-संख्या

१–लीलारत दिव्य-युगल [कविता] ··· १०२१
२–कल्याण ('शिव') ··· १०२२
३–माँ (श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ··· ··· १०२३
४–नाव तुझे सौंप दी! (श्रीबालकृष्ण बलदुवा) १०२५
५–परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· १०२६
६–व्रज और वल्लभ-सम्प्रदाय (श्रीमाधवजी गोस्वामी) ··· ··· १०३५
७–मैं एकमात्र प्रभुका ही सेवक हूँ। एकमात्र प्रभु ही मेरे स्वामी हैं [कविता] ··· १०३७
८–मधुर ··· ··· १०३८
९–गोवर्धन-पूजनका रहस्य (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य) १०४०
१०–नाद-ब्रह्म और उसका स्वरूप (श्री-लक्ष्मीनारायणजी गर्ग) ··· १०४२
११–मैं भी शुभ बन गया [कविता] ··· १०४६
१२–विरक्त कौन ? [कहानी] (श्री'चक्र') १०४७
१३–भारतका एक बढ़ता हुआ दुर्व्यसन—धूम्रपान (श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा) ··· १०५०
१४–मूर्ति-प्रतिष्ठा (श्रीरावी) ··· १०५४

विषय पृष्ठ-संख्या

१५–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददास-जी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्द-प्रसाद श्रीवास्तव) ··· १०५५
१६–भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं ··· ··· १०६०
१७–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ··· १०६१
१८–सत्सङ्ग और दुःसङ्ग [कविता] ··· १०६६
१९–श्रीपुरीधाम (आचार्य श्रीजगन्नाथ-प्रसादजी गुप्त एम्० ए०, बी० टी०) १०६७
२०–महाप्रसादसे दुःख-नाश [कविता] ··· १०६९
२१–मानवताके लिये मानवधर्म आवश्यक १०७०
२२–तलाक-कानून (श्रीप्रभुनारायणसिंहजी) १०७३
२३–तुम ही तुम हो [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') १०७५
२४–समस्याओंका मूल (साहित्याचार्य श्रीराममणिजी त्रिपाठी एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· ··· १०७६
२५–मेरे मनमें अब प्रभु स्वच्छन्द विहार करते हैं [कविता] ··· १०७९
२६–पढ़ो, समझो और करो ··· १०८०
२७–अशोक होटलमें गोमांस ! ··· १०८४

चित्र-सूची

१–हंसवाहिनी वीणावादिनी सरस्वती ··· ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–लीलारत दिव्य-युगल (तिरंगा) ··· १०२१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु०१०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५१
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

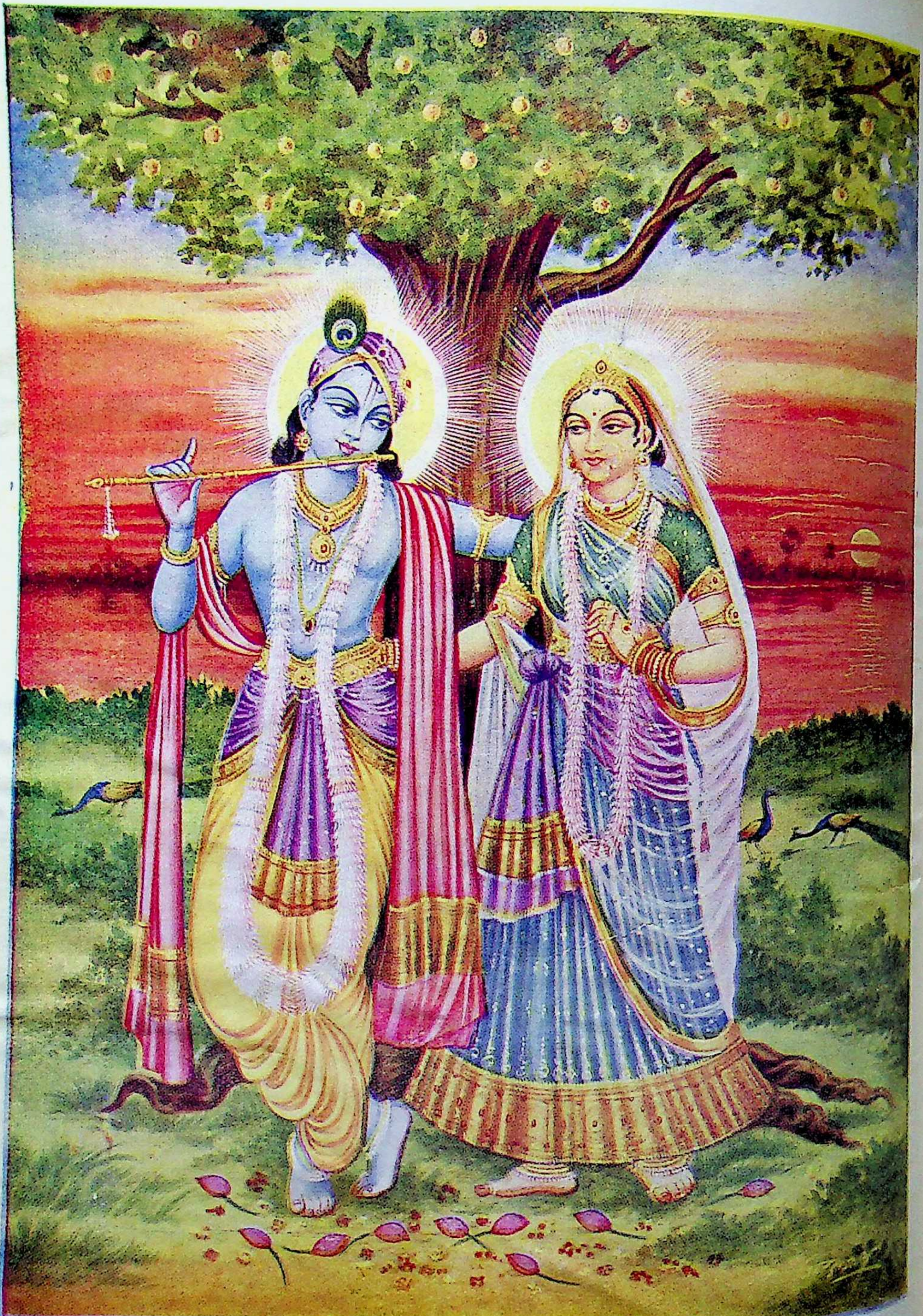

लीलारत दिव्य-युगल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

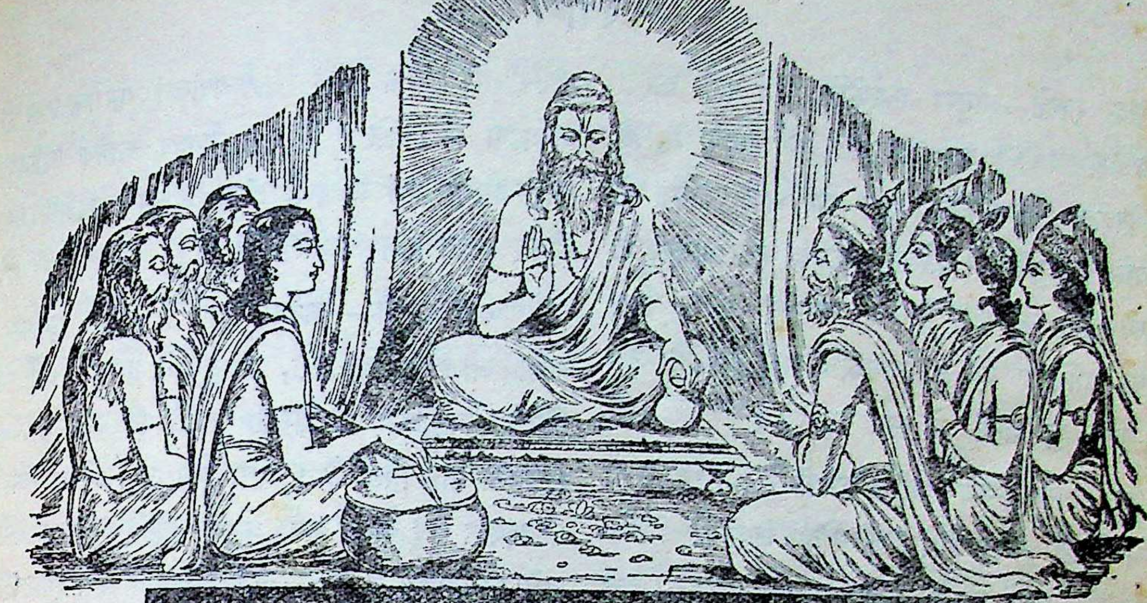

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा हृदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१८, जुलाई १९६१ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ४१६

लीलारत दिव्य-युगल

परम प्रेम-आनंदमय दिव्य जुगल रसरूप ।
कालिंदी-तट कदँब-तल सुषमा अमित अनूप ॥
सुधा-मधुर-सौंदर्य-निधि छलकि रहे अँग-अंग ।
उठत ललित पल-पल विपुल नव-नव रूप-तरंग ॥
प्रगटत सतत नवीन छवि दोऊ होड़ लगाय ।
हार न मानत जदपि, पै दोऊ रहे बिकाय ॥
नित्य छबीली राधिका, नित छविमय ब्रजचंद ।
विहरत बृंदाबिपिन दोउ लीलारत स्वच्छंद ॥

याद रक्खो—मनुष्य कर्मयोनि है। कर्म करना उसका स्वभाव है। अतः वह बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। सुव्यवस्थित शुभ कर्म नहीं करेगा तो अव्यवस्थित अशुभ कर्म करेगा, आलस्य तथा प्रमादयुक्त निकम्मे कर्म करेगा। जिनका परिणाम उसके लिये अत्यन्त हानिप्रद एवं दुःखजनक होगा। इसलिये उसे सदा-सर्वदा शुभकर्ममें लगे रहना चाहिये।

याद रक्खो—जिम्मेवारीके कर्मका भार न रहनेसे ही मनुष्य प्रमाद करता है। इसलिये तुम अपनेको जिम्मेवारीके साथ कर्ममें लगाये रक्खो, जिससे प्रमादकी बात सोचने-करनेके लिये अवकाश ही न मिले। 'करने योग्य' कर्मका न करना और 'न करने योग्य' कर्म करना—यही प्रमाद है। मनुष्य जब प्रमादमें फँस जाता है, तब उसका सर्वथा पतन होते देर नहीं लगती। प्रमाद मृत्युसे भी बढ़कर है अतएव प्रमादसे सदा बचो।

याद रक्खो—जबतक तुम जिम्मेवारीके साथ अपना सारा समय कर्तव्य (करनेयोग्य) शुभकर्ममें नहीं लगाये रक्खोगे—तबतक प्रमाद होनेकी सम्भावना रहेगी ही। शुभकर्म वही है, जिससे तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र हो, मनके भाव उन्नत तथा विशुद्ध हों, परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो, चित्तमें शान्ति तथा सुखकी वृद्धि होती हो एवं सुव्यवस्थापूर्वक सहज भावसे सत्कर्ममें उत्साहयुक्त प्रवृत्ति बनी रहे।

याद रक्खो—शुभ कर्ममें लगे रहनेका यह अर्थ नहीं है कि बाहरी कर्मोंमें इतना अधिक फँसा रहना पड़े, जिससे विचार करने, कर्तव्याकर्तव्य सोचने, शास्त्र तथा सत्पुरुषोंसे कर्मके लिये परामर्श करने, सदाचारकी रक्षा एवं उन्नति करने, भगवत्स्मरण तथा नियमित उपासना-आराधना करने और घरके लोगोंके साथ यथोचित व्यवहार-बर्त्ताव तथा उनके प्रति कर्तव्यपालन करनेके लिये ही अवकाश न मिले। ऐसा कर्मबहुल जीवन मशीनकी तरह जडवत् बन जाता है और आखिर उसे प्रमादग्रस्त होकर पतित होना पड़ता है।

याद रक्खो—कर्मका अर्थ है वे सारे सुकर्म—सत्कर्म जो इन्द्रियोंके द्वारा, मन-बुद्धिके द्वारा होते हैं तथा जिनसे सर्वाङ्गीण योगक्षेमकी प्राप्ति एवं मानवजीवनकी सफलता प्राप्त होती है। अतः जब जहाँ जो कर्म करना आवश्यक हो, वही कर्म करना चाहिये। एक कर्ममें लगे रहना और दूसरे सब कर्तव्य-कर्मोंके प्रति दायित्वहीन होकर उनकी अवहेलना करना उचित नहीं है। एकाङ्गी कर्म सुकर्म नहीं रह पाता। हाँ, अवश्य ही मानवके प्रत्येक कर्मका लक्ष्य होना चाहिये—भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति—जिसके लिये वह मनुष्य बना है। और उसके प्रत्येक कर्ममें प्रेरक होनी चाहिये भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम प्राप्त करनेकी सदिच्छा।

याद रक्खो—मानव-जीवनका लक्ष्य भगवान् हैं, भोग नहीं। भोगकी उपेक्षा नहीं है, पर उसे भगवत्प्राप्तिके लिये सहायकरूपमें बनाकर स्वीकार करना है, भगवान्‌की जगह लक्ष्य बनाकर कदापि नहीं। जीवनका लक्ष्य भगवान् होगा तो कर्म स्वयं सत्कर्म बन जायँगे—दैवी-सम्पत्ति जीवनका स्वभाव बन जायगी और यदि लक्ष्य भोग होगा तो सत्कर्म भी दुष्कर्म बनने लगेंगे तथा आसुरी सम्पत्ति जीवनका स्वभाव बन जायगा। दैवीसम्पत्तिका फल है सुख -शान्तिपूर्वक निष्पाप जीवननिर्वाह तथा तमाम बन्धनोंसे मुक्ति और आसुरी सम्पत्तिका फल है दुःख अशान्ति-भय-विषादयुक्त जीवन और परिणाममें बन्धन तथा नरक-यन्त्रणाकी प्राप्ति। इसलिये भगवान्‌को ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाकर सदा सत्कर्ममें ही लगे रहो!

'शिव'

माँ

(लेखक—श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

हँसाती हो माँ !

अब तुम क्या सजोगी ? तुम्हीं तो सब कुछ सजकर खेल कर रही हो । तुम्हीं तो मिट्टी बन रही हो, तुम्हीं जल बन रही हो, तुम्हीं अग्नि, तुम्हीं वायु, तुम्हीं अनन्त आकाश ! माँ मेरी ! मेरी माँ ! तुम्हीं तो सब कुछ हो ।

लीला करनेके लिये बहुरूप हो रही हो । ब्रह्ममयी माँ मेरी ! तुम्हीं तो प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व गगनको आलोकित करके उदय होती हो । तुम्हीं तो चाँद बनकर क्रीड़ा करती हो । बतलाओ माँ ! तुम्हारे सिवा जगत्में और क्या है ? माँ मेरी, लीलामयी अनन्तरूपिणी माँ मेरी ! दो सौ करोड़ कोसतक फैली हुई यह पृथ्वी तुम्हीं हो, तुम्हीं ऊँचाईमें दो सौ अस्सी करोड़ कोस हो ! लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध, जल—ये सात समुद्र तुम्हीं हो । सप्त कुलाचल हिमालय, सुमेरु आदि पर्वत तुम्हीं हो । गङ्गा-यमुना, गोदावरी-सरस्वती, कावेरी-नर्मदा आदि अनन्त नदी बनकर तुम्हीं खेल कर रही हो । पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, मानव-दानव, देवता-पिशाच, भला-बुरा सब तुम्हीं सजी हुई हो । जगत्में ऐसा कुछ न तो कभी था और न होगा, जो तुम नहीं हो मेरी माँ ! तुम्हीं सब कुछ बनकर खेल कर रही हो । अनन्त-अनन्त कालसे यह खेल चल रहा है । इस क्रीड़ाका विराम-विश्राम नहीं है । एक ही तरहसे खेल करती जा रही हो ! यह तुम्हारी लीला कैसी उन्मादिनी है माँ ! कितनी राग-रागिनी, कितना सङ्गीत, कितना प्रकाश तुमसे झर-झरकर गिर रहा है । तुम्हारे रूपके एक कणको लेकर यह जगत् रूपवान् हो रहा है ! मेरी माँ; माँ, यह तुम्हारी कैसी लीला है माँ ? माँ ! माँ ! माँ !

स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, सुन्दर-कुत्सित, भला-बुरा, पाप-पुण्य—कितने रूप धरकर केवल तुम्हीं लीला कर रही हो माँ, मेरी माँ ! तुम मेरी पकड़में आ जाओ, यदि तुम स्वयं पकड़में न आओगी तो किसकी मजाल है जो तुमको पकड़ सके ! अहा ! अहा ! कैसी सुन्दर हो तुम । ओह, कैसी कुत्सित हो तुम ! क्यों ? क्यों तुम इतने साजोंमें सज रही हो ?

खेल ! यह तुम्हारा खेल है ! करो, करो, खेल करो । अनन्त-अनन्त कालतक खेला करो ! माँ, माँ, मेरी माँ ! अहा ! यह अनन्त आकाश तुम हो ! इस आकाशकी नक्षत्रमण्डली तुम्हारे लोम-कूप हैं ! सुन्दर-सुन्दर यह पूर्णचन्द्र तुम्हीं हो । अच्छा, सब मेरी माँ है ! यह अमावस्याका सूचीभेद्य प्रगाढ़ अन्धकार—यह भी तुम्हीं हो ! वाह ! वाह ! अच्छा, कैसा-कैसा सुन्दर ! कैसा रमणीय ! वह कोकिल कूक रही है ! यह कोकिल तुम्हीं हो ! यह कोकिलकी कूक तुम्हीं हो माँ ! अनन्तरूपिणी माँ, विश्वरूपिणी माँ ! यह विश्व-रङ्गमञ्च तुम्हीं हो, नट-नटी तुम्हीं हो । अभिनय तुम्हीं हो, दर्शक भी तुम्हीं हो, एकमात्र तुम्हीं हो ! तुम्हें कौन पकड़ सकता है ? जिसको तुम पकड़वाती हो, वही तुम्हें पकड़नेमें समर्थ होता है । माँ, मेरी माँ ! अहा ! कैसा सुन्दर है तुम्हारा रूप ! कैसी सुन्दर है तुम्हारी लीला ! कैसा मनोरम है यह जगत्—तुम्हारा खेलघर ! माँ, मेरी माँ ! यदि तुम अपना परिचय स्वयं न दो तो कोई भी तुम्हें जान नहीं सकता ।

माँ ! माँ ! अपने सम्बन्धमें अपने ही मुखकी तुम्हारी कही बात है—'मैं अज तथा एकपाद, मैं अहिर्ब्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र, हर, रुद्र—ये ग्यारह रुद्र; मैं भव, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास—ये आठ वसु; मैं धाता, मित्र, यम, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्,

पूषा, सविता, त्वष्टा, विष्णु—ये द्वादश आदित्य, तथा समस्त देवताओंके रूपमें मैं विचरण करती हूँ। मैं मित्र और वरुण—दोनोंको धारण करती हूँ। मैं इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण करती हूँ। मैं देवताओंके शत्रुओंका संहार करती हूँ। सोमदेवको, त्वष्टा नामके देवताको धारण करती हूँ। तथा पूषा और भग नामक सूर्यद्वयको धारण करती हूँ। अपरिमित हवि-संवलित उपयुक्त हविके द्वारा देव-वृन्दको तृप्त करनेवाले तथा यथाविधि सोमरस प्रस्तुत करनेवाले यजमानके लिये यज्ञ-फलरूप धनादिका विधान मैं ही करती हूँ।

मैं सम्पूर्ण शस्य-श्यामला, सागर-मेखला जगत्की ईश्वरी हूँ। जो मेरी उपासना करते हैं, उनको धन प्रदान करनेवाली मैं ज्योतिर्मयी देवी तथा परम ब्रह्मकी शक्ति हूँ। यज्ञार्ह-गणमें मैं ही श्रेष्ठतमा हूँ। मुझसे बढ़कर श्रेष्ठ और कोई नहीं है। मैं विश्व-प्रपञ्चके रूपमें नाना भावोंसे अवस्थित हूँ। सर्वभूतोंमें जीवरूपसे प्रविष्ट हूँ। देव-मानव आदि यजमानसमूह सब देश और सब कालमें मेरी ही विविध भावसे उपासना करते हैं। निखिल प्राणी मेरी शक्तिसे शक्तिमान् होकर भोजन-दर्शन आदि करते हैं। श्वास-प्रश्वास आदिका निर्वाह करते हैं। शब्दादि श्रवण करते हैं। जो मुझको नहीं जानते, वे ही पुनः-पुनः जन्म-मरण आदि क्लेशोंको प्राप्त होकर संसारमें हीन-से-हीन बनते हैं। हे कीर्तिमान्! तुम सुनो। मैं तुमको श्रद्धाके द्वारा प्राप्त होनेवाले ब्रह्मतत्त्वको बतलाऊँगी।

देवताओं और मनुष्योंके लिये प्रार्थनीय ब्रह्मतत्त्वका उपदेश मैं स्वयं तुमको देती हूँ। इस प्रकारकी ब्रह्म-स्वरूपिणी मैं ही हूँ। मैं जिसको-जिसको चाहती हूँ, उस-उसको ही सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ। मैं किसीको प्रजा-पति, किसीको ऋषि, किसीको ब्रह्मा, मेधावी प्रज्ञाशाली बनाती हूँ। मैं ही त्रिपुरासुरके युद्धकालमें ब्राह्मणविद्वेषी हिंसक त्रिपुरासुरको वध करनेके लिये रुद्रके धनुषको ज्या-युक्त करती हूँ। मैं अपने भक्तोंके कल्याणके लिये भीतर-बाहर संग्राम करती हूँ। स्वर्गमें, मर्त्यमें अन्तर्यामिनी रूपसे मैं ही प्रवेश करती हूँ। मैं ही सबके आधार-स्वरूप परमात्माके ऊपर द्युलोकको प्रसव करती हूँ। समस्त प्राणियोंकी बुद्धिके भीतर जो ब्रह्मचैतन्य है, वही मेरा अधिष्ठान है। मैं इस निखिल भुवनमें नाना रूपोंमें सजकर विराजमान हो रही हूँ और इस स्वर्गको, समस्त विकारी वस्तुओंको अपने कारणभूत मायामय शरीरके द्वारा समाच्छन्न किये रखती हूँ। मैं भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल—इन चौदह भुवनोंमें सब भूतोंकी सृष्टि करती हूँ और वायुके समान उनके भीतर-बाहर सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करती हूँ। स्वरूपतः मैं इस आकाशसे अतीत तथा इस पृथ्वीसे परे असङ्ग ब्रह्मरूपिणी हूँ, तथापि अपनी महिमामें इस महान् विश्वरूपको धारण करके लीला करती हूँ।'

माँ! माँ! यह तुम्हारी निज मुखकी कही बात है। मेरी माँ! माँ! तुम्हारा स्वरूप तुम्हारे जतलाये बिना किसकी सामर्थ्य है, जो जान सके, कह सके। माँ! मेरी माँ!

तुम कितने रूप धरकर लीला कर रही हो माँ! प्रभातमें कुमारी ऋग्वेद-युता, हंस-स्थिता, ब्रह्मरूपा; मध्याह्नमें गरुडवाहिनी युवती विष्णुरूपा; सायंकालमें वृद्धा वृषभारूढा, शिवस्वरूपिणी—माँ अनन्तरूपिणी हो, मेरी माँ!

तुम्हारे मस्तकपर तेजोमण्डित स्वर्ग, ललाटमें रु दोनों भ्रुकुटियोंमें मेघ, दोनों चक्षुओंमें चन्द्र-सूर्य, दोनों कानोंमें शुक्र और बृहस्पति, नासिकाद्वयमें वायु, दन्त-पङ्क्तिद्वयमें दोनों अश्विनीकुमार अधरोष्ठमें उभय सं मुखमें अग्नि, जिह्वामें सरस्वती, ग्रीवामें साध्यगण, स्तनद्व अष्ट वसु, बाहु-युगलमें मरुद्गण, हृदयमें पर्जन्यदेव, उद में आकाश, नाभिमें अन्तरिक्ष, कटिदेशमें इन्द्र और अ

जघनमें प्रजापति, ऊरुद्वयमें कैलास और मलय पर्वत, दोनों घुटनोंमें समस्त देववृन्द, जङ्घामें जह्नुपुशिक, पैरोंके ऊपरी भागमें पितृदेवगण, पैरोंके अधोभागमें वनस्पतियाँ, लोमसमूहमें ऋषिगण, नखोंमें मुहूर्त्तगण, रक्त-मांसमें षड्-ऋतु, आच्छादनमें संवत्सर, चक्षुके निमेषोंमें दिन-रात्रि या चन्द्र-सूर्य हैं। माँ! मेरी माँ ! तुम्हें शत-शत, सहस्र-सहस्र, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि प्रणाम है माँ ! मेरी माँ !

माँ ! तुम वेदमाता हो, तुम परात्परा महाविद्या हो। तुम भूर्भुवः स्वः व्याहृति आदि मन्त्रस्वरूपिणी हो। माँ, मेरी माँ ! तुम स्वरूपमें ब्रह्मरूपके अतीत हो, तुम क्या हो—कहा नहीं जा सकता।

तुम सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी, समस्त वेदान्त-उपनिषदादिके द्वारा ज्ञेय हो, तुम सूर्यमण्डल-वासिनी हो। प्रभातकालमें तुम रक्तवर्णा बालिका हो, मध्याह्नमें पीतवसना युवती हो, सायाह्नमें कृष्णवर्णा वृद्धा हो। माँ ! मेरी माँ ! तुम नित्य हो, तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ। मेरी माँ ! ब्रह्माने तुम्हारी इसी प्रकार स्तुति की थी।

माँ ! मेरी माँ ! तुम सत्-चित्-आनन्दरूपिणी हो, तुम मूल प्रकृति हो, तुम हिरण्यगर्भरूपा हो। हे रमणीये ! तुम प्रसन्न हो। तेजःस्वरूपिणी तुम प्रसन्न हो। तुम सर्वश्रेष्ठा हो, तुम नित्यानन्दस्वरूपिणी हो। तुम द्विजातिगणकी जाति हो। सुन्दरी माँ ! तुम प्रसन्न हो, तुम सदा रहती हो—अतः नित्या सनातनी हो। जो सनातन है, वही तुम्हें प्रिय है। तुम नित्यानन्दस्वरूपिणी हो, तुम्हीं सर्वमङ्गलरूपा हो, तुम प्रसन्न हो माँ ! तुम विप्रगणकी सर्वस्वरूपा हो। तुम मन्त्रोंका सार और परात्परा हो। तुम निखिलसुखदायिनी हो। रमणीये माँ! मेरी प्रसन्न हो माँ ! तुम विप्रोंके पापरूपी काष्ठको जलानेमें प्रज्वलित अग्नि-शिखाके समान हो। तुम ब्रह्मतेज प्रदान करो। तुम प्रसन्न हो माँ ! मनुष्य काय-मन-वाक्यसे जो पाप करता है वह सारा पाप तुम्हारे स्मरणमात्रसे भस्मीभूत हो जाता है। माँ माँ माँ ! तुम्हारे स्नेहके दुलारे ब्रह्मा इस प्रकारसे तुम्हारा स्तवन करते हैं।

माँ ! मेरी माँ ! मैं भी तुम्हारा अति अधम मूर्ख पुत्र हूँ। माँ ! मैं तुम्हारी स्तुति नहीं जानता, तुम्हारे स्वरूपको नहीं समझता, मैं केवल पुकारता हूँ माँ माँ माँ ! मेरी माँ ! मेरी गतिमुक्तिदायिनी माँ ! माँ माँ माँ माँ माँ ! अरी माँ माँ माँ माँ माँ !!

नाव तुझे सौंप दी !

जब लंगर उठाकर नाव तुझे सौंप दी, तब मेरे पास सोचनेके लिये रह गया ही क्या ?

नाव डूबेगी या पार लगेगी ? पार लगेगी तो कैसे ? कब ? कहाँ ?—यह सब अब भी सोचते ही रहना है क्या ?

यह सब तो पहले सोचनेकी बात थी।

जब लंगर उठाकर नाव तुझे सौंप दी, तब मेरे पास सोचनेके लिये रह गया ही क्या ?

—बालकृष्ण बलदुवा

परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(गीता १७। ३)

'भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वैसा ही है।'

कुछ लोगोंका कथन है कि 'हमलोग बहुत वर्षोंसे सत्सङ्ग करते हैं और अपनी समझ तथा शक्तिके अनुसार साधन भी करते हैं; पर जैसी उन्नति होनी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं दिखायी पड़ती, इसका क्या कारण है? हमलोगोंकी उन्नति किस प्रकार हो?' इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही साधनमें रुकावट डालनेवाली है। इसलिये श्रद्धाके विषयमें गहराईसे विचार करके श्रद्धाको बढ़ाना चाहिये। श्रद्धाके योग्य चार हैं—१ ईश्वर, २ ज्ञानी महात्मा, ३ गीतादि शास्त्र और ४ अपना आत्मा। इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी पूर्णतया श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है।

गीतामें बतलाया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इससे यह समझना चाहिये कि श्रद्धाकी कसौटी है तत्परता और तत्परताकी कसौटी है मन-इन्द्रियोंका संयम; क्योंकि जितनी श्रद्धा होती है उतनी ही साधनके लिये तत्परता होती है और जितनी तत्परता होती है उतना ही मन-इन्द्रियोंका संयम होता है।

१. ईश्वरपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको ईश्वरपर इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ईश्वर हैं, वे बहुतोंको मिले हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं भविष्यमें मिलते रहेंगे तथा ईश्वर सर्वव्यापी, सबके घट-घटकी जाननेवाले, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, परम प्रेमी, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, अज, अविनाशी, परम दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा हैं। उनकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यके सारे दुःख, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद और अज्ञानका विनाश होकर सदाके लिये संसार-जालसे छूट जाता है और उसे परमशान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिसको गीतामें परमात्माकी प्राप्ति (१३। ३४), निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति (५। २४-२५), अमृतकी प्राप्ति (१३। १२), परमशान्तिकी प्राप्ति (४। ३९), आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति (६। २८), अविनाशी परमपदकी प्राप्ति (१५। ५), ब्रह्मकी प्राप्ति (१३। ३०), परम गतिकी प्राप्ति (८। १३; १३। २८) आदि अनेक नामोंसे कहा गया है।

जब मनुष्यका उन सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परम दयालु परमात्मापर भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, तब फिर उसके द्वारा जो भी कुछ होता है, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही होता है, भगवान्‌के विरुद्ध किञ्चिन्मात्र भी कभी नहीं होता। यदि किसीके द्वारा उनकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण होते हैं तो समझना चाहिये कि उसे ईश्वरके अस्तित्वपर भी विश्वास नहीं है; क्योंकि मनुष्यके हृदयमें 'ईश्वर हैं या नहीं, वे हैं तो मिलते हैं या नहीं, मिलते हैं तो मुझको मिलेंगे या नहीं, मिलेंगे तो मेरा कल्याण होगा या नहीं तथा उनको जो सर्वहितैषी, न्यायकारी, सर्वज्ञ, कर्म-फलदाता, परम प्रेमी और परम दयालु बताया गया है, वह बात सही है या नहीं'—इस प्रकारके संदेहोंसे युक्त हृदयमें सच्चा श्रद्धा-विश्वास नहीं होता। यही कारण है कि सत्सङ्ग और साधन करनेपर भी उन्नति होती हुई नहीं दिखायी पड़ती। इसलिये हमलोगोंको श्रद्धाभक्तिपूर्वक ईश्वरमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये। इस विषयमें श्रुति, स्मृति और शास्त्र तो प्रमाण हैं ही, बलवती युक्ति भी प्रमाण है एवं साधन करनेसे तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, किंतु वह श्रद्धापर निर्भर करता है।

शुक्लयजुर्वेदमें बतलाया गया है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(यजुर्वेद ४० । १ का पूर्वार्ध)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त (पूर्ण) है।'

मनुस्मृतिमें कहा गया है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम्॥

(मनु० १२ । १२२)

'जो सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म और सबका भली प्रकार शासन करनेवाला एवं स्वर्णके समान उज्ज्वल और निर्मल तथा स्वप्नकालमें भी बुद्धिद्वारा जाननेमें आता है, उस परम पुरुष परमेश्वरको जानना चाहिये।'

गीता कहती है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता १५ । १७)

'इन (क्षर-अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है।'

श्रीविष्णुपुराणमें बतलाया गया है—

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो
व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूपः।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्वविच्च
समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः॥

(विष्णुपुराण ६ । ५ । ८६)

'वे ईश्वर ही समष्टि और व्यष्टिरूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप हैं, वे ही सबके स्वामी, सबके साक्षी और सब कुछ जाननेवाले हैं तथा उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌को परमेश्वर कहते हैं।'

योगदर्शनमें श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा।

(योगदर्शन १ । २३)

'ईश्वर-प्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(योग० १ । २४)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँचों क्लेशों; पुण्य, पाप, पुण्य-पापमिश्रित और पुण्य-पापरहित—इन चारों कर्मों; विपाक यानी कर्मोंके फलों एवं आशय यानी कर्मोंके संस्कारोंसे जो सम्बन्धित नहीं है तथा जो समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह 'ईश्वर' है।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

(योग० १ । २५)

'उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज (कारण) ज्ञान निरतिशय है यानी उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योग० १ । २६)

'वह ईश्वर सबके पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है यानी वह कालसे सर्वथा अतीत है।'

तस्य वाचकः प्रणवः।

(योग० १ । २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योग० १ । २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना साधन है।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १ । २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका साक्षात् ज्ञान भी हो जाता है।'

अब युक्तिप्रमाण लीजिये। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि जो बहुत-से महान् पदार्थ हैं, इन सबका जो उत्पादक (कारण), निर्माता, रक्षक और संचालक है, वही ईश्वर है; क्योंकि बिना किसी कारणके कोई कार्य नहीं होता। बिना निर्माता और संचालकके सूर्य-चन्द्र आदिका सुचारुरूपसे, युक्तियुक्त, बुद्धिपूर्वक और यथायोग्य संचालन नहीं हो सकता। कोई छोटे-से-छोटा यन्त्र भी क्यों न हो, संचालकके बिना वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर इतना महान् यह संसारयन्त्र संचालकके बिना कैसे कायम रह सकता है तथा जीवोंके शुभा-

शुभ कर्मोंका फल देनेवाला कोई न हो तो कोई भी प्राणी अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं नहीं भोगना चाहता, जैसे बिना राजाके कोई भी अपराधी जन अपने किये हुए अपराधका दण्ड स्वयं ही ले ले ऐसा देखनेमें नहीं आता। कर्म (क्रिया) जड है, वह किसी चेतनको स्वयं दण्ड दे नहीं सकता और प्रकृति भी जड होनेके कारण बिना चेतनकी सहायताके किसीको उसके कर्मके अनुसार अनुग्रह या दण्ड-विधान नहीं कर सकती । ज्ञानपूर्वक यथायोग्य कर्मानुसार अनुग्रह या दण्डविधान कोई चेतन ही कर सकता है । भगवान् चेतनोंके भी चेतन, द्रष्टा, साक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं । यह युक्तिसंगत और शास्त्रसंगत है ।

यदि कहें कि ईश्वर नहीं है तो यह कथन दुस्साहसमात्र है । ऐसा कहनेवालेसे पूछा जाय कि ईश्वर नहीं है इसका क्या प्रमाण है ? यदि वह कहे कि 'ईश्वर नहीं है इसका प्रमाण नहीं है तो ईश्वर है इसका प्रमाण भी संतोषजनक नहीं है, इसलिये ईश्वर है या नहीं यह संदेहयुक्त बात है' तो इस संदेहपर हमें अपनी बुद्धिसे विवेकपूर्वक विचार करके लाभ उठाना चाहिये । मान लीजिये, ईश्वर नहीं है और कोई व्यक्ति ईश्वरको मान रहे हैं तो यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है तो उस परिस्थितिमें जो ईश्वरको नहीं मानता और जो मानता है, उन दोनोंके लिये ही ईश्वर नहीं है । इससे जो मानता है उसके क्या हानि हुई और जो नहीं मानता उसके क्या लाभ हुआ ? इस पक्षमें तो दोनोंके लिये समान ही है । ऐसा तो है ही नहीं कि जो नहीं मानता उसे तो कोई पुरस्कार मिल जायगा या ईश्वर मिल जायँगे और जो मानता है उसे कोई दण्ड मिलेगा या ईश्वर नहीं मिलेंगे । जब ईश्वर है ही नहीं तो मिलेंगे क्या ? किंतु जो ईश्वरको मानता है यदि उसका पक्ष सत्य सिद्ध हो जाय तो उस हालतमें ईश्वरको माननेवाला ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार साधन करता है और उसे ईश्वरकी प्राप्तिरूप पुरस्कार मिल जाता है एवं वह सदाके लिये क्लेश, कर्म और दुःखोंसे मुक्त हो परमशान्ति तथा परमानन्दको प्राप्त हो जाता है । किंतु जो ईश्वरको नहीं मानता, वह इन सबसे वञ्चित रहता है और उस अपराधके कारण उसे नरकयातनारूप महान् क्लेश मिलता है । अतएव संदेहयुक्त होनेपर भी ईश्वरको मानना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है । अतः बुद्धिमान् विवेकशील मनुष्योंको ईश्वरको मानकर श्रद्धा, विश्वास और भक्तिपूर्वक उनकी शरण होना चाहिये । भगवान् गीतामें बतलाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६१-६२)

'अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है । भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परमशान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

(२) ज्ञानी महात्मा पुरुषपर श्रद्धा-विश्वास

हमें यह भी श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि ज्ञानी महात्मा पुरुष भी बहुत-से हुए हैं, वर्तमानमें भी हैं और भविष्यमें भी होंगे । जो कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके द्वारा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं वे महान् पुरुष उच्चकोटिके ज्ञानी महात्मा समझे जाते हैं । जो कर्मयोगके द्वारा महापुरुष हुए हैं उनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
(गीता २ । ५५-५६)

'अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है । दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जो राग, भय और क्रोधसे रहित है, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।'

इसके आगे भी ५७ वें, ५८ वें तथा अन्य कई श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन है । एवं छठे अध्यायमें भी उनके लक्षण बतलाये गये हैं—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गीता ६ । ७—९)

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति सम और शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं । जिसका अन्तःकरण ज्ञान विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

जो भक्तिमार्गसे भगवान्‌को प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।'

आगे १५ वें से १९ वें श्लोकतक उनके लक्षणोंका और भी वर्णन है ।

इसी प्रकार जो ज्ञानमार्गसे परमात्माको प्राप्त हुए, उनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गीता ५ । १८-१९)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं । जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, एवं जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

इसके पूर्व २२ वें, २३ वें श्लोकोंमें और अन्य अध्यायोंमें भी इनके लक्षण बताये गये हैं ।

ये लक्षण जिनमें हों, ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके आचरणोंका हमलोगोंको अनुकरण करना चाहिये एवं श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

' श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करता है । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

इस प्रकार ज्ञानी महात्माओंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेपर या उनकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा-भक्ति-

पूर्वक चलनेपर अविवेकी अज्ञानी पुरुषका भी कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

> **अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।**
> **तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥**
> (गीता १३ । २५)

‘(ध्यानयोगी, सांख्ययोगी और कर्मयोगीके अतिरिक्त) अन्य जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे तो इस प्रकार न जानते हुए भी दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं।’

हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा ज्ञानी महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों मनुष्योंमें कोई एक ही होता है—

> **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
> **यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥**
> (गीता ७ । ३)

‘हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।’

इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे महापुरुष कम हैं, किंतु हैं अवश्य। महापुरुष संसारमें सदासे होते आये हैं और वर्तमानमें भी हैं; किंतु वे श्रद्धा-प्रेमसे ही मिलते हैं। भगवान् भी श्रद्धा-प्रेमके बिना नहीं मिलते। अतएव उपर्युक्त लक्षणोंवाले ज्ञानी महात्माओंकी श्रद्धापूर्वक खोज करनी चाहिये। यदि कहें कि उनकी पहचान हम कैसे करें तो इसके लिये यह बहुत बलवती युक्ति है कि जिनके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे महात्माओंके उपर्युक्त लक्षण हममें आने लगें, हमारे लिये वे ही महात्मा हैं। इसके सिवा और उपाय ही क्या है। यदि कोई महापुरुष कहें कि मैं महात्मा हूँ तो उनके इस कथनपर श्रद्धा होती नहीं, बल्कि पहलेसे उनपर कुछ श्रद्धा रहती है तो वह भी इस कथनके बाद कम हो जाती है। और हम उनको लक्षणोंसे पहचान नहीं सकते; क्योंकि यह विषय स्वसंवेद्य है परसंवेद्य नहीं। महात्मा स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। महात्माओंके भीतरके लक्षण ही प्रधान होते हैं। बाहरके लक्षण तो कोई दम्भी पुरुष दम्भसे भी दिखला सकता है। महात्मा समदर्शी होते हैं, हेतुरहित दयालु और प्रेमी होते हैं, उनका अपना किसीके साथ भी किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं रहता है। उनके सारे कर्म लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये होते हैं। ऐसा होनेपर भी साधारण मनुष्य उनको पहचान नहीं सकता। जो कुछ जान सकता है वह भक्ति और विश्वासपूर्वक परम श्रद्धासे ही जान सकता है। मनुष्य जब महात्माको जान ले तो फिर उसे उनके पास जाकर जिज्ञासापूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

> **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
> **उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**
> (गीता ४ । ३४)

‘उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।’

जो साधक श्रद्धेय महात्मा पुरुषकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आचरण करता है वह श्रद्धालु कहा जाता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके संकेतके अनुसार चलता है। उससे भी श्रेष्ठ श्रद्धालु वह है जो महात्माके सिद्धान्तके अनुसार चलता है। एवं वह तो सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु है जो महात्माके मनोऽनुकूल चलता है। यदि कहें कि महात्माके मनके भावोंका कैसे पता लग सकता है तो इसका उत्तर यह है कि जो श्रद्धालु मनुष्य सदा महात्माकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तके अनुसार चलता रहता है उसे उनके मनके भाव मालूम होते रहते हैं। ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यको महात्माके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर श्रद्धा होती है। प्रत्यक्षमें चूना, सीमेंट, ईंटका बना हुआ एक मकान दीख रहा है। उसको यदि महात्मा सोनेका मकान बतलाता है तो उस श्रद्धालुको वह मकान सचमुच सोनेका ही दीखने लगता है। यह है महात्मामें परम श्रद्धा! ऐसे परम श्रद्धालु मनुष्यके लिये महात्माके दर्शन, भाषण, चरणस्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन सभी कल्याणकारक होते हैं।

जैसे एकलव्य भीलकी द्रोणाचार्यमें परम श्रद्धा थी; जिसके प्रभावसे वह बाणविद्यामें अर्जुनसे भी बढ़कर हो गया (देखिये महा० आदि० अ० १३१)। जैसे जबालाके पुत्र सत्यकामकी महर्षि हारिद्रुमत गौतममें परम श्रद्धा थी, जिसको गुरु-आज्ञा-पालनके प्रभावसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य उप० ४ । ४–९)। जैसे उपकोसलकी सत्यकाममें परम श्रद्धा

थी, जिसको गुरुसेवाके प्रभावसे अग्नियोंद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी (देखिये छान्दोग्य उप० ४ । १०–१४) । एवं जैसे राजा द्रुपद और उसकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें परम श्रद्धा थी, जिसके प्रभावसे उनके यहाँ कन्याके रूपमें पैदा हुई शिखण्डिनी 'शिखण्डी' नामक पुरुषके रूपमें बदल गयी (महा० उद्योग० १८८–१९२) । इसी प्रकार हमलोगोंको महात्मामें परम श्रद्धा करके लाभ उठाना चाहिये ।

उपर्युक्त लक्षणोंवाले श्रद्धेय महापुरुषमें भी श्रद्धा होनी सहज नहीं है, किंतु भगवान्‌की या महापुरुषोंकी कृपासे ही उनमें श्रद्धा होती है । श्रद्धा हटनेमें तो कोई कठिनाई नहीं है । दोषदृष्टि करनेसे, दोषोंकी बात सुननेसे, नास्तिक अश्रद्धालुओंके संगसे श्रद्धा हटनी स्वाभाविक ही है । इसलिये किसी भी मनुष्यके दोषोंको न तो कहे, न सुने और न हृदयमें स्थान ही दे । पर-दोषदर्शन आदिमें लाभ तो है ही नहीं, बल्कि हानि-ही-हानि है । दोषोंके दर्शन, श्रवण, कथन, मननसे उनके संस्कार हृदयमें जम जाते हैं जिससे वे दोष भविष्यमें उस व्यक्तिमें भी घट सकते हैं । तथा जिसकी निन्दा की जाती है उसकी आत्माको दुःख पहुँचता है; इसलिये पर-दोष-चर्चासे पाप भी लगता है । दोषीके दोषकी चर्चा करनेसे उसके दोषका हिस्सा भी चर्चा करनेवालेको प्राप्त होता है । यह तो मनुष्यमात्रकी बात हुई । फिर ईश्वर और ज्ञानी महात्मा पुरुष तो स्वाभाविक ही निर्दोष हैं । निर्दोष व्यक्तिमें दोषकी कल्पना करनेसे और भी अधिक दोष लगता है इसलिये परदोष-दर्शनसे तो कल्याणकामी मनुष्यको सदा दूर ही रहना चाहिये ।

(३) गीतादि शास्त्रोंपर श्रद्धा-विश्वास

हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंपर इस प्रकार श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये कि उनमें जो भी उपदेश हैं वे सत्य एवं कल्याणकारक हैं । ऐसा समझकर श्रुति एवं ऋषिप्रणीत स्मृति, इतिहास-पुराण तथा गीता आदि जितने भी शास्त्र हैं उनमें बतलायी हुई भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, कर्मयोग, सदाचार आदिकी सार-सार बातोंको श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये । उदाहरणके लिये श्रीमद्भगवद्गीताको ही ले लीजिये । गीता सर्वशास्त्रमयी है । महाभारतमें बतलाया गया है—

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥

(महा० भीष्म० ४३ । २)

'गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, गङ्गा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु सर्ववेदमय हैं ।'

गीता सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार है एवं सारे उपनिषदोंका भी सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

(गीतामाहात्म्य)

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौएँ हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले हैं, अर्जुन ही बछड़े हैं, श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न मनुष्य ही दुग्धपान करनेवाले हैं और गीतारूप महान् अमृत ही दुग्ध है ।'

गीताकी बड़ी भारी महिमा है । जो गीताके अर्थ और भावको समझकर स्वाध्याय करता है उसके द्वारा भगवान् ज्ञानयज्ञसे पूजित होते हैं—यह स्वयं भगवान् ही कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

(गीता १८ । ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है । गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त होता है किंतु गीतारूप गङ्गामें स्नान करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर देता है । जो मनुष्य गीताका नित्य पाठ करता है उससे वह श्रेष्ठ है जो उसके अर्थ और भावको समझकर पाठ करता है किंतु वह तो सर्वश्रेष्ठ है जो उसके उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाता है । अतः गीताको अपने जीवनमें लानेके लिये इसका अच्छी प्रकार अभ्यास करना चाहिये । श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता ॥

(महा० भीष्म० ४३ । १)

'अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है, केवल गीताका ही भली प्रकारसे अर्थ और भाव समझते हुए गान करना चाहिये; क्योंकि यह भगवान् विष्णुके साक्षात् मुख-कमलसे प्रकट हुई है ।'

गीताका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेनेपर आत्मोद्धारके

लिये अन्य शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रहती । यह कथन शास्त्रोंकी अवहेलनाके लिये नहीं है । यह तो गीताकी विशेषता दिखलानेके लिये ही कहा गया है ।

गीतामाहात्म्यमें बताया गया है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥

‘जो मनुष्य मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक इस पुण्यमय गीताशास्त्रका पठन करता है वह भय, शोक आदिसे रहित हो श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त हो जाता है।’

गीतामें भी भगवान्‌ने स्वयं इसे शास्त्र कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥
(गीता १५ । २०)

‘निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है ।’

इस गीताका जो संसारमें प्रचार करता है, उसकी तो भगवान्‌ने और भी विशेष महिमा बतलायी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
(गीता १८ । ६८)

‘जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है ।’

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(गीता १८ । ६९)

‘उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ।’

गीतामें भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग और सदाचारकी बातें भरी हुई हैं । अतः जो श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक इसका श्रवण, मनन और अध्ययन करके उसके अनुसार आचरण करता है उसके कल्याणमें कोई शङ्का नहीं है, किंतु जो शास्त्रकी मर्यादाको छोड़कर मनमाना आचरण करता है उसके किये हुए अच्छे कर्म निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गीता १६ । २३)

‘जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है वह न सिद्धिको प्राप्त होता है न परमगतिको और न सुखको ही ।’

शास्त्रकी मर्यादाके बिना भी स्वाभाविक श्रद्धा भी होती है। श्रद्धाके विषयमें अर्जुनने गीताके सत्रहवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें प्रश्न किया है कि शास्त्रमर्यादाके बिना मनुष्य जो यज्ञ, पूजा आदि करता है, उसका वह कर्म सात्त्विक है या राजस अथवा तामस । अर्जुनके इस प्रश्नपर ये चार प्रश्न उठते हैं— (१) जिसमें शास्त्रमर्यादा भी नहीं है और श्रद्धा भी नहीं है, वह कर्म कैसा है ? (२) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा दोनों है, वह कर्म कैसा है ? (३) जिसमें शास्त्रमर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है, वह कर्म कैसा है ? (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म कैसा है ? इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यही बतलाया है कि (१) जिसमें शास्त्रमर्यादा और श्रद्धा दोनों ही नहीं हैं वह कर्म तामसी है (देखिये १७ । १३), (२) जिसमें ये दोनों हैं वह कर्म सात्त्विक भी होता है और राजस भी । शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक निष्काम भावसे किया हुआ कर्म सात्त्विक है (देखिये गीता १७ । ११) और शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक सकाम भावसे किया हुआ कर्म राजस है (देखिये १७ । १२) । (३) जिसमें शास्त्रमर्यादा तो है किंतु श्रद्धा नहीं है वह कर्म असत् है (देखिये १७ । २८ ।) (४) जिसमें श्रद्धा तो है किंतु शास्त्रमर्यादा नहीं है वह कर्म सात्त्विक, राजस, तामस तीनों प्रकारका होता है (देखिये १७ । २) ।

अतः हमलोगोंको गीतादि शास्त्रोंके अनुसार श्रद्धा-भक्ति और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।

(४) अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास

प्रथम यह विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य जो कुछ बुरा या भला अथवा बुरा भला मिला हुआ कर्म करता है उसका फल उसको इस जन्ममें और भावी जन्ममें अवश्य मिलता है । किंतु जो निष्कामभावसे कर्म किया जाता है उसका फल कहीं नहीं मिलता । भगवान् कहते हैं—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥
(गीता १८ । १२)

'कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भी परलोक है। जो ऐसा समझता है उसके द्वारा कभी पापकर्म नहीं हो सकता; क्योंकि वह जानता है कि शुभाशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि ॥

'अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल मनुष्यको अवश्य भोगना पड़ता है। फल भोग किये बिना सौ करोड़ जन्मोंमें भी कर्मका क्षय नहीं होता है।' यदि कहें कि जप-तप आदिके रूपमें प्रायश्चित्त करनेपर पापकर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता सो ठीक है—यह प्रायश्चित्त भी तो एक प्रकारका कर्मफल-भोग ही है।

मरनेके बाद आत्मा अवश्य है—इसमें श्रद्धा-विश्वास करना यह अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करना है। मरनेके बाद आत्मा निश्चय है ही। भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
(गीता २ । १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(गीता २ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(गीता २ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।' वेदोंमें भी बतलाया गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(शुक्लयजुर्वेद अ० ४० मं० ३)

'जो कोई भी मनुष्य आत्माका हनन करनेवाले होते हैं, वे मरकर नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन भयंकर लोकोंको बारंबार प्राप्त होते हैं जो अज्ञान—दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं।'

परलोक युक्तिसे भी सिद्ध है। जब बच्चा जन्मता है तब वह जन्मते ही रोता है; क्योंकि जन्मके समय उसको महान् कष्टका अनुभव होता है—यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। कभी-कभी बच्चा हँसता भी है इससे अनुमान होता है कि उसे सुखका अनुभव होता है; क्योंकि जब-जब उसे पूर्वजन्ममें दुःख हुआ है तब-तब वह रोया है और जब-जब सुख हुआ है तब-तब हँसा है। इस जन्ममें तो उसको रोने या हँसनेकी कोई शिक्षा मिली नहीं और न माताके उदरमें ही मिली। अतः इसमें उसका पूर्वजन्मका रोने या हँसनेका अभ्यास ही कारण है। इससे भी पूर्वजन्म सिद्ध होता है और पूर्वजन्मके साथ ही यह वर्तमान जन्म उसके लिये भावी जन्म सिद्ध हो गया। तथा जब माँ बच्चेके मुँहमें स्तन देती है तो स्तन मुखमें देनेमात्रसे तो दूध उसके पेटमें नहीं जाता, बच्चा स्वयं दूधको खींचता है तभी दूध पेटमें जाता है। दूध खींचनेकी इस प्रक्रियामें वह पूर्वजन्मसे ही अभ्यस्त है। बच्चा सोता भी है तथा कभी-कभी मृत्युके भयसे भीत हो काँपता भी है; क्योंकि वह पूर्वमें बहुत बार मर चुका है। ये सब बातें उसने इस जन्ममें तो कहीं सीखीं नहीं। अतः इन सब संस्कारोंसे भी उसका पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है।

संसारमें कोई पशु-पक्षी और कोई मनुष्य, कोई सुखी और कोई दुखी, कोई गरीब और कोई धनी, कोई रोगी और कोई नीरोग होता है। ये सब उसे जन्मसे ही प्राप्त हैं तो इस

जन्ममें तो छोटे बच्चेने कोई कर्म किया ही नहीं, जिसका यह फल हो । अतः इसके पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनुसार ही यह सब होता है—ऐसा मानना होगा; क्योंकि इस प्रकारकी विषमताका अन्य कोई कारण नहीं दिखायी देता । इन सब युक्तियोंसे भी पूर्वजन्म और भावी जन्म सिद्ध हो जाता है ।

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंका त्याग करके भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण, सदाचारका श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे मनुष्यका इसी जन्ममें कल्याण हो सकता है । यदि कुछ कमी रह गयी और पहले ही मृत्यु हो गयी तो भावी जन्ममें निश्चय ही कल्याण हो सकता है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
(गीता ६ । ४३)

'वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और कुरुनन्दन अर्जुन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ।'

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
(गीता ६ । ४४)

'वह योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेके कारण विषयोंके पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है । अर्थात् संसारसागरसे तर जाता है ।'

यदि कहें कि शास्त्र और युक्तिको हम नहीं मानते । परलोक है या नहीं—यह मालूम नहीं तो इस प्रकारका संदेह होनेपर भी परलोकको माननेमें ही बुद्धिमानी और लाभ है; क्योंकि जिस प्रकार ऊपर युक्तिसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है, वैसे ही परलोकको माननेवाला ही लाभमें रहता है, न माननेवालेको हानि-ही-हानि है ।

यदि ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और युक्तिपर भी विश्वास न हो तो मनुष्यको कम-से-कम अपनी आत्मापर तो अवश्य ही विश्वास करना चाहिये । यह भी आत्मापर विश्वास करना है कि अपने अन्तःकरणमें मनुष्य जिस बातको अच्छा समझे उसको तो काममें लावे और जिसको बुरा समझे उसका सर्वथा त्याग करे । यह तो प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि जो कोई आपपर अत्याचार करता या आपके साथ बुरा व्यवहार करता है तो वह आपके दिलमें अखरता है, ऐसा व्यवहार करनेवाला आपकी दृष्टिमें बहुत ही नीचे दर्जेका आदमी है। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप किसीके साथ कभी ऐसा बुरा व्यवहार न करें । एक दूसरा आदमी आपके साथ अच्छा व्यवहार करता है, सेवा करता है, सुख पहुँचाता है, आपके मनके अनुकूल कार्य करता है या आपका परम हितैषी है तो आपकी दृष्टिमें वह बहुत भला आदमी है—यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है । इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि आप भी सबके साथ ऐसा ही सद्व्यवहार करें। इसके सिवा आपके सामने अन्य कोई भी कार्य आकर प्राप्त हो उसके विषयमें आप अपनी आत्मामें विचार करते रहें और जिसको आपकी आत्मा बुरा स्वीकार करे उसका आप सर्वथा त्याग कर दें एवं जिसको अच्छा समझे, उसका आप प्रयत्नपूर्वक सेवन करें ।

उदाहरणके लिये एक ओर ब्रह्मचर्य-पालन है; दूसरी ओर व्यभिचार । इन दोनोंके विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि ब्रह्मचर्य-पालन बहुत उत्तम है, व्यभिचार बहुत ही नीच कर्म है । अतः ब्रह्मचर्यपालन करे, व्यभिचार कभी न करे । इसी प्रकार एक ओर दूसरेको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना है, दूसरी ओर दूसरेका अनिष्ट करना, उसे हर प्रकारसे दुःख पहुँचाना और अहित करना है । इस विषयमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि दूसरोंको सुख पहुँचाना, परोपकार, सेवा और हित करना ही श्रेष्ठ है और दूसरेका अनिष्ट करना, दुःख पहुँचाना, अहित करना अत्यन्त बुरा है । अतः परोपकार, सेवा, हित आदि करे, दूसरोंको सुख पहुँचावे, दूसरोंका अनिष्ट न करे, किसी भी प्राणीको कभी किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचावे, अहित न करे । इसी तरह एक ओर सत्य, प्रिय, हितकर वचन है, दूसरी ओर असत्य, कठोर, अहितकर वचन है । इन दोनोंके सम्बन्धमें आत्मासे पूछा जायगा तो यही उत्तर मिलेगा कि सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही उत्तम है

असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन अत्यन्त बुरा है। अतः हमको सदा सत्य, प्रिय, हितकर वचन ही बोलना चाहिये, असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन कभी नहीं बोलना चाहिये, इसी प्रकार अन्य सभीके विषयमें अपनी पवित्र और पक्षपातरहित बुद्धिसे विचार करके अपनी आत्मामें जो भाव या क्रिया अच्छी निर्णय हो उसे कटिबद्ध होकर तत्परतासे काममें लाना चाहिये तथा जो भाव या क्रिया अपनी आत्मामें बुरी निर्णय हो उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। उपर्युक्त प्रकारसे विवेचन करके जो संसारमें स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित हो आचरण करता है, उस अपनी आत्मापर श्रद्धा-विश्वास करनेवाले मनुष्यका भी कल्याण हो जाता है।

ऊपर बतलाये हुए ईश्वर, ज्ञानी महात्मा, गीतादि शास्त्र और अपनी आत्मा—इन चारोंमेंसे किसी एकपर भी श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो सकता है; तब फिर चारोंपर श्रद्धा-विश्वास होनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। गुण-बुद्धिसे श्रद्धा बढ़ती है और अवगुणबुद्धिसे श्रद्धा घटती है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषको सबमें गुण-बुद्धि करनी चाहिये, अवगुण-बुद्धि किसीमें भी नहीं करनी चाहिये।

तज पर अवगुन नीरको छीर गुननिसौं प्रीति।
हंस संतकी सवदा 'नारायण' यह रीति॥

व्रज और वल्लभ-सम्प्रदाय

(लेखक—श्रीमाधवजी गोस्वामी)

यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदायका मूल स्रोत दक्षिण भारत है, यह बात सत्य है, तथापि धर्मसाधनाका इतिहास देखनेपर यह निष्कर्ष निकलेगा कि वल्लभ-सम्प्रदायका पूर्णरूपेण विकास एवं प्रसार तो उत्तर भारतीय व्रज-प्रदेशमें ही हुआ है।

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादके आदि स्रष्टा महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण जब भारत-भूमिका परिभ्रमण करते हुए व्रजमण्डलमें पधारे, तब मथुरामें उनके तीर्थपुरोहित उजागर चौबे थे। दिल्लीके राज्यासनपर उस समय सिकन्दर लोदी आरूढ़ था। उसने हिंदुओंपर व्रजपरिक्रमा करनेके लिये प्रतिबन्ध लगा रक्खा था। श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणोंने जब अपने पुरोहितके सामने व्रजयात्राकी इच्छा प्रकट की, तब पुरोहित उजागर चौबेने यह निवेदन किया कि यात्रा करनेमें राज्यकी ओरसे प्रतिबन्ध है। कुछ समयके पश्चात् जब श्रीमहाप्रभुजीके दर्शन बादशाह सिकन्दर लोदीने किये, तब वह आपके प्रभावसे प्रभावित हो गया और उसने अपने राज्यके चित्रकार होनहारको आचार्यचरणोंका चित्र बनानेकी आज्ञा दे दी। उसी समयसे प्रत्येक हिंदूके लिये व्रजयात्रा करनेका मार्ग खुल गया और सभी लोग आनन्दपूर्वक धर्मकार्य करनेमें प्रवृत्त हो गये; राज्यकी ओरसे कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा।

श्रीमन्महाप्रभुने उसी समय ८४ कोशकी व्रजपरिक्रमा की और व्रजका महत्त्व बढ़ाया। श्रीगोवर्धनगिरिसे श्रीगोवर्द्धनधारी श्रीनाथजीका प्राकट्य हुआ, श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे एवं स्वप्नमें की गयी श्रीनाथजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके आपके अनन्य सेवक पूरनमल्ल क्षत्रियके द्वारा गोवर्धन पर्वतपर मन्दिर निर्माण हुआ। आचार्यचरणोंने उस मन्दिरमें श्रीनाथजीको पधराकर सेवाप्रकार आरम्भ किया।

श्रावण शुक्ला एकादशीकी मध्यरात्रिको श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण गोकुल ठकुरानीघाटपर पौढ़े हुए थे, तब साक्षात् श्रीनाथजीने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि 'कलिप्रवाहके कलुषित वातावरणकी ओर बढ़ते हुए जीवोंको शरण लेकर उन्हें सर्वोच्च भूमिकाका दिग्दर्शन कराकर उनका उद्धार करो।' साक्षात् प्रभुके श्रीमुखसे पञ्चाक्षर गद्यमन्त्रकी आज्ञा पाकर लोकोद्धारके लिये श्रीमहाप्रभुजीने आत्मनिवेदनका प्रकार प्रचलित किया और अनेकों दैवी जीवोंका उद्धार किया। तभीसे आपका नाम 'दैवोद्धारप्रयत्नात्मा' प्रसिद्ध हो गया। व्रजमें आपके चार सेवक भक्त कवि हुए—श्रीसूरदासजी, कुंभनदासजी, परमानन्ददासजी और कृष्णदासजी। ये चार महानुभाव अष्टछाप कवियोंके प्रारम्भके चार कवि हैं।

सोलहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणके द्वितीय पुत्र गुसाँईजी श्रीविट्ठलनाथजी (चुनार) चरणाटमें प्रकट हुए। वल्लभ-सम्प्रदायका सर्वाङ्गीण विकास इन्हींके समयमें हुआ।

श्रीमहाप्रभुजीके तिरोधानके बाद श्रीगुसाँईजी विट्ठलनाथजीने अधिकतर अपना जीवनकाल व्रजमें ही व्यतीत किया। श्रीनाथजीका सम्पूर्ण सेवाप्रकार, ऋतु-अनुसार शृंगार, वस्त्र, भोग, कीर्तन आदि समस्त प्रकार आपने प्रचलित

किये । गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास एवं नंददास —ये चार अष्टछापके भक्तकवि आपके ही सेवक हुए । श्रीगुसाँईजी अपने सातों पुत्रोंसहित कुछ समय गोकुल भी विराजे, कुछ कालतक गोपालपुर भी विराजे तथा कुछ समय तक मथुराके सतघरेमें भी रहे ।

यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि भारतीय कलाके विकासमें वल्लभ-सम्प्रदायको जो अग्रस्थान दिया जा रहा है तो यह गुसाँईजी श्रीमद्विट्ठलनाथजीके ही प्रयत्नोंका सुपरिणाम है । आज भी सम्प्रदायमें उन प्राचीन कलाओंका सुचारुरूपसे संरक्षण हो रहा है । वल्लभसम्प्रदायमें चित्रकलाका विकास सर्वाधिक हुआ है । हमारे मन्दिरोंमें चित्रित पिछवाइयोंमें अङ्कित विविध भगवल्लीलाओंके जैसे चित्र उपलब्ध होते हैं, वैसे अन्यत्र कहीं नहीं मिलते ।

संगीतका सर्वतोमुखी विकास एवं उसका प्रसार तो सोलहवीं शतीमें व्रजभूमिमें वल्लभ-सम्प्रदायमें ही हुआ है जब कि सूरदासादि अष्टछाप महानुभावोंकी स्वर-साधना भारतके कोने-कोनेमें गूँज रही थी । उस कालमें श्रीप्रभुचरणोंके दिव्य प्रतापसे प्रभावित बादशाह अकबर भी पुष्टिमार्गके प्रति आदर-दृष्टिसे देखता था । महानुभाव अष्टछाप भक्त कविगण श्रीगिरिराजपर स्थित मन्दिरमें श्रीनाथजीके सम्मुख आठों दर्शनोंमें ऋतुके अनुसार पद गाया करते थे । एक बार राजा मानसिंह कुम्भनदासजीके पदोंको सुनकर बड़े प्रभावित हुए और उनकी कुटियापर पहुँचे । वहाँ उन्होंने देखा कि कुम्भनदासजीके पास आरसी नहीं है और वे जलमें प्रतिबिम्ब देखकर तिलक लगा रहे हैं । तब राजा मानसिंहने अपने पाससे स्वर्णकी आरसी समर्पित करते हुए पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं ?' प्रत्युत्तरमें उन्होंने यह कहा कि 'मैं यह चाहता हूँ कि भविष्यमें तुम अपना मुख मत दिखाना । तुम्हारे यहाँ आनेपर मेरा भगवद्भजन छूट जाता है ।' भक्तकविकी इतनी त्यागमयी वृत्ति देखकर राजा मान मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए । बादशाह अकबरने एक बार कुम्भनदासजीको गानेके लिये फतहपुर-सीकरी बुलाया । क्लिष्ट मनसे वे वहाँ गये । बादशाहके सम्मुख उन्होंने निर्भीकतासे यह पद गाया—

भक्त को कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयौ हरिनाम ॥
जा को मुख देखत दुख उपजे ता को करन परयो प्रनाम ।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु यह सब झूठो धाम ॥

भक्तके निर्भीक वचनोंके आगे बादशाह कुछ न कह सके । धन्य हैं श्रीहरिकी चिरन्तन साधनामें रत ऐसे महामहिम भक्तोंकी पुनीत पद-रजको ।

एक समय भारतके संगीतसम्राट तानसेन श्रीगुसाँईजीके पास आये । उन्होंने अपनी कला आपके सामने प्रदर्शित की । कलाकी प्रशंसा करते हुए श्रीगुसाँईजीने उनको बहुत द्रव्य प्रदान किया, साथमें एक कौड़ी भी दी । जब तानसेनने इसका कारण पूछा, तब आपने यह बतलाया कि 'भक्तिरससे ओत-प्रोत हमारे अष्टसखा कवियोंके आगे भगवद्रससे विहीन तुम्हारा यह लोकग्राही संगीत एक कौड़ी बराबर ही है ।' आपके मर्मवाक्य सुनते ही तानसेनने अष्ट-सखाओंकी भक्ति-काव्यधाराके निर्मल प्रवाहसे आप्लावित पद-रचना सुननेकी इच्छा प्रकट की । उसी समय प्रभुचरणोंने गोविन्द स्वामीको बुलाया; उन्होंने 'श्रीवल्लभरूप-अनूप स्वरूप कह्यौ न जाई' यह मधुरतम पद गाकर तानसेनको सुनाया । पद सुनते ही तानसेन भावके आवेशमें मुग्ध-से हो गये ।

उस युगमें जब स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजूबावरा आदि स्वर-साधनामें रत महापुरुषोंकी स्वरमयी मधुरतम वाणी उत्तराखण्डको भक्तिरसके प्रोज्वल निर्मल प्रवाहसे आप्यायित कर रही थी, तब व्रजमण्डलमें सूरदास आदि अष्टछाप महानुभावोंकी भक्ति-रससे ओतप्रोत काव्यधारा भक्ति-रसकी एक अविरत तरंगिणी मानव-हृदयकी कोमल चातक-वृत्तियोंके साथ घुल-मिलकर मानव-जीवनको एक आध्यात्मिक शक्ति, दिव्य प्रेरणा एवं अमरता प्रदान कर रही थी। उन महान् विभूतियोंके पद-चिह्नोंपर चलकर अनेक अलौकिक जीवनकी आलोक-रेखाएँ लेकर अन्धकारमय तमस्से व्याप्त धूमिल जगत्में भटकते हुए अन्य मध्यकालीन कविगण भी वर्तमान हिंदीसाहित्य-जगत्में अपनी अमर रचनाओंके द्वारा अविचल स्थान पानेमें समर्थ हुए ।

सम्राट् अकबरके ऊपर श्रीप्रभुचरणोंकी किस प्रकार अनुकम्पा हुई, यह बात हम इतिहासके अवलोकन एवं साम्प्रदायिक वार्तासाहित्यके अध्ययनसे जान सकेंगे । यहाँ एक उदाहरणसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है ।

जन्माष्टमीके अवसरपर एक बार बीरबल गोकुल आये । बादशाह भी दिल्लीसे उनके पीछे-पीछे अज्ञातावस्थामें गोकुल आ गये । वहाँ नन्दमहोत्सवमें श्रीनवनीतप्रियजीके

श्रीविट्ठलनाथजी पलना झुला रहे थे । श्रीछीतस्वामी 'प्रिय नवनीत पालने झूलें श्रीविट्ठलनाथ झुलावें हो' यह राग आसावरीका कीर्तन बोल रहे थे । दर्शन होनेके बाद बाहर आकर बीरबलने बादशाहसे पूछा—'आज श्रीगुसाईंजी श्रीठाकुरजीको पलनेमें झुला रहे थे आपने देखा?' तब अकबरने कहा—'नहीं, मुझे तो ये दर्शन हुए कि श्रीविट्ठलनाथजी पलनेमें झूल रहे थे और श्रीठाकुरजी झुला रहे थे।' यही अलौकिक करुणाका फल था जो एक अन्यधर्मीको भी ऐसे भावपूर्ण अलौकिक दर्शन हुए ।

इस प्रकार १६वीं शतीमें श्रीविट्ठलनाथजीका प्रभाव बहुत फैला हुआ था । तभी पुष्टिमन्दिरोंमें भारतकी संगीत, चित्र, शिल्प, पाक आदि लोकानुरञ्जनकारिणी कलाओंको प्रश्रय दिया गया ।

यह समय पुष्टिमार्गका एक सुवर्णयुग था; क्योंकि श्रीमत्प्रभुचरणोंमें विद्वन्मण्डन, शृङ्गाररसमण्डन, भक्तिहंस, भक्तिहेतुनिर्णय, विज्ञप्ति आदि महान् ग्रन्थोंका निर्माण इसी युगमें किया था ।

अधिकारके मदमें आकर कृष्णदासजीने जब आपकी श्रीनाथजीकी सेवामें प्रतिबन्ध लगा दिया, तब चन्द्रसरोवर-जैसे एकान्त स्थानपर छः मासतक आपने विप्रयोगावस्थामें समय व्यतीत किया । तदनन्तर मथुरामें जब इस बातके लिये कृष्णदासको कैद कर लिया गया, तब आपने यह आज्ञा की कि 'जबतक कृष्णदास छूटकर नहीं आयेंगे, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा ।' अपराधी जीवके अपराधोंको नहीं गिनते हुए उसपर सदैव अनुग्रह करना यही पुष्टिप्रभु एवं आचार्योंका अभयदान है । जब कृष्णदास छूटकर गोपालपुर आये, तब अपने कृत्योंपर पश्चात्ताप करते हुए आपके चरणोंमें गिरकर अश्रुपातसहित उन्होंने यह पद गाया—

परम कृपालु श्रीबल्लभनंदन
करत कृपा निज हाथ दे माथैं ।
जे जन सरन आय अनुसरहीं
गहि सौंपत श्रीगोवर्धननाथैं ॥
परम उदार चतुर चिंतामनि
राखत भवधारा बहि जातैं ।
भज 'कृष्णदास' काज सब सरहिं
जो जानें सो श्रीविट्ठल नाथैं ॥

परमोदार कृपानिधि श्रीप्रभुचरणोंके जीवनमें ऐसे कई महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपलब्ध होते हैं । आपने मुसल्मान जीव रसखान, अलीखान, ताज आदि अनेक जीवोंको शरण लेकर इतिहासमें यह स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित कर दिया कि वल्लभसम्प्रदायकी दृष्टि संकुचित नहीं है । किसी भी जातिमें जन्मा हुआ दैवी जीव दृढ़ भक्ति एवं सच्चे हृदयकी साधनाके द्वारा चरम लक्ष्यपर पहुँच सकता है । एवं भगवद्भक्तिके द्वारा अपने जीवनको सर्वोच्च पथपर ले जाकर अपने केन्द्रबिन्दुरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गका अधिकारी बन सकता है ।

श्रीप्रभुचरणोंके चतुर्थ कुमार श्रीगोकुलेशजीने भी विधर्मी आन्दोलनोंको हटाकर पुष्टिमार्गकी प्रणालीकी अविचल रक्षा की । यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है । अतः इन सप्रमाण उदाहरणोंसे सिद्ध होता है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने दक्षिणमें प्रकट होकर भी अपने सिद्धान्तोंका प्रचार एवं अपने आराध्य श्रीगोवर्धनधर श्रीनाथजीका सेवा-प्रकार व्रजभूमिमें ही प्रारम्भ किया । इसीलिये व्रजमण्डलको अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने ११ वर्ष और ५२ दिवस सारस्वत कल्पमें रासादि सभी लीलाएँ यहीं की हैं । इसी दृष्टिबिंदुको लेकर भगवान् वैश्वानरावतार श्रीमहाप्रभुने अपने आराध्य लक्ष्यकी चिरंतन आराधनाके लिये अपने मार्ग-प्रचारके लिये नन्दनन्दनकी दिव्य लीलास्थली; श्रीयमुनाजीसे परम पुनीत व्रजप्रदेशको ही चुना ।

अन्तमें हम प्रभुसे यही प्रार्थना करते हैं कि हमें व्रजका वास्तविक स्वरूप हृद्गत कराकर अपने श्रीचरणोंमें दृढ़ विश्वास प्रदान करें ।

मैं एकमात्र प्रभुका ही सेवक हूँ। एकमात्र प्रभु ही मेरे स्वामी हैं

किया कृपा कर प्रभुने मुझको अपना चिर सेवक स्वीकार ।
रहा न प्राणि-पदार्थ किसीका मुझपर अब कुछ भी अधिकार ॥
मेरा भी उठ गया सहज अधिकार सभी परसे अनिवार ।
एकमात्र मैं सेवक प्रभुका, केवल प्रभु मेरे भर्तार ॥

मधुर

प्रेम अनिर्वचनीय होता है तथा होता है सूक्ष्मतर एवं अनुभवरूप। प्रेम देना जानता है, लेना नहीं। भगवान् श्यामसुन्दरके लिये सर्वत्याग करके, प्रियतम श्यामसुन्दरको अपना सर्वस्व समर्पण करके, एक गोपी अपने तन-मन-वचनसे, अपने जीवनके कण-कणसे, क्षण-क्षण अनवरतरूपसे श्यामसुन्दरकी प्रेममयी पूजार्चना करती रहती है। किसीको पता नहीं, अन्तर्यामी स्वरूपसे काम न लें तो परम प्रियतम श्यामसुन्दरको भी पता नहीं कि वह कौन है। उसकी सर्वसमर्पणमयी अर्चनासे श्यामसुन्दरको सहज सुख मिलता है, पर वह इतनी रहस्यमयी अर्चना होती है कि विविध पूजा-सुखकी मधुर अनुभूति प्राप्त होनेपर भी पूजा करनेवालीका उन्हें पता नहीं है। एक अन्तरङ्ग प्रेमराज्यकी प्यारी सखीके बहुत आग्रह करनेपर वह गोपी अपनी सर्वस्वार्पणमयी परम विशुद्ध सेवाका किञ्चित् स्वरूप बतलाती है। वह कहती है—

'सखी! (मेरे) मनकी बात केवल मन ही जानता है। वह अत्यन्त गोपनीय है, कहने योग्य नहीं है। (बात यह है कि—) एकमात्र प्रियतमसे ही मेरा नित्यका मधुर संयोग हो गया है। अग-जगकी सारी ममताएँ मिट गयी हैं, मायाके सारे बन्धन खुल गये हैं, अब कहीं, कभी, कुछ भी 'मेरा' नहीं रह गया है। एक प्रियतमसे ही (सारी ममताका) सम्बन्ध रह गया है। उनके सिवा अब जगत्‌में कोई भी प्राणी-पदार्थ 'मेरा' अपना-पराया नहीं रहा है। वे (परम प्रियतम) ही मेरे परम स्वार्थ हैं और वे ही मेरे समस्त पुरुषार्थ हैं।'

मन की बात मन हि भर जानैं,
गोपन अति नहिं कहिबे जोग।
एक मात्र प्रियतम सौं मेरौ
भयौ, मधुर नित कौ संजोग॥
मिटी सकल ममता अग-जग की
खुले सकल माया के बंध।
रह्यौ न कितहुँ, कबहुँ, कछु अपनौ
रह्यौ एक प्रिय कौ संबंध॥
निज-पर कोउ न रह्यौ अब जग मैं
तिन बिनु मेरो प्रानि-पदार्थ।
बे ही परम स्वार्थ हैं मेरे,
बे ही मेरे सब पुरुषार्थ॥

(मेरा) मन उनका है, बुद्धि उनकी है, उनकी प्रीतिमें ही सारा ज्ञान भुला गया है। (मेरे) ये प्राण दिन-रात छिप-छिपकर उन्हींकी पवित्र पूजा करते रहते हैं। पल-पलमें नयी-नयी पूजा-पद्धति (प्रकट होती है), पल-पलमें नये-नये रसका आस्वादन होता है, और पल-पलमें बिना मर्यादाके सहज ही नये-नये सुख का, (नयी-नयी) सुखकी रुचिका और (नयी-नयी) सुखकी प्रीतिका संवर्धन होता है।

मन तिन कौ, मति तिन की, रति मैं
तिन की ही बिसरयो सब ग्यान।
निसि दिन करत रहत छिप-छिप, सुचि,
तिन की ही पूजा ये प्रान॥
पल-पल नव-नव पूजन-पद्धति,
पल-पल नव-नव रस-आस्वाद।
पल-पल बढ़त सहज सुख, सुख-रुचि,
सुख-रति नव-नव बिनु मरजाद॥

(परंतु मेरे) प्रियतमको अबतक यह पता नहीं लग पाया है कि यह मूक पुजारिन कौन है, जो समर्पि जीवन है, निरन्तर छिपी रहती है और नित्य मौन रह कर पूजामें लगी है। सखी! मैं (भी) पगली हो गयी जो नित्य निरन्तर एकमात्र इसी प्रकारकी अभिलाषा करती हूँ। (अभिलाषा क्या है—) मेरे प्रियतम मुझे कभी विवेकसहित पूजा करती हुई देख न पायें। वे प्रियतम मेरे लिये सदा यही सम्

रहें कि यह श्रद्धा-प्रीति तथा पूजासे रहित है और वे सदा मुझे अत्यन्त दीन मलिन मानकर मुझपर करुणा (दया) करते रहें (प्रेम-सुख न दें) । मुझको पूजा-का बस, एक यही फल अनिवार्य रूपसे मिलता रहे, मेरी यह पूजा नित्य बढ़ती रहे और (इस पूजा-में ही) क्षण-क्षणमें मेरी अत्यन्त प्रीति अपाररूपसे बढ़ती रहे ।

प्रियतम अजहुँ जानि नहिं पाये,
है यह मूक पुजारिन कौन ।
अर्चन-रत नित, अर्पित जीवन
छिपी निरंतर रहती मौन ॥
सखि ! मैं भई बावरी या बिधि
करौं नित्य अभिलाषा एक ।
प्रियतम देख न पावैं कबहूँ
मो कूँ पूजा-रत सबिबेक ॥
समुझैं सदा मोय बे प्यारे
श्रद्धा-प्रीति-अर्चना-हीन ।
करत रहैं बे करुना मो पर
जानि मोय अति दीन मलीन ॥
पूजा कौ फल मो कूँ बस, यह
मिलतौ रहै एक अनिवार ।
बढ़त रहै अर्चा नित मेरी
छिन छिन रति अति बढ़ै अपार ॥

इतनेपर भी प्राणप्रियतम मेरी पूजाकी कुछ भी बात न जान पायें । उनके लिये मेरी यह प्रियतम-पूजा सदा ही अज्ञात रहे । सखि ! वे मेरे प्रियतम पवित्र रसपूर्ण हृदय हैं, परम उदार हैं, वे जान जायँगे तो अपना स्नेह-सुधा-रस-सार मुझे दिये बिना मानेंगे नहीं और इससे (उनसे स्नेह-सुधा-रसका सुख पानेसे) यदि कहीं मेरे मनमें प्रियतमसे सुख प्राप्त करनेकी चाह जाग उठेगी तो फिर मेरी इस प्रकारकी न तो (विशुद्ध) पूजा-प्रीति रह जायगी, न यह (विशुद्ध) उत्साह ही रहेगा । इसीलिये मैं चाहती हूँ प्रियतमसे मुझे सुख न मिले, जिससे मेरे मनमें सुखकी कामनाका उदय ही न हो । इसीलिये मैं पूजाको सदा छिपाती रहती हूँ और छिप-छिपकर (अपने प्रियतमकी) सुन्दर छवि निरखा करती हूँ । मेरी यह पूजा प्रियतमके सुखके लिये अनन्त कालतक निरन्तर चलती रहे । इससे प्रियतमको नित्य नया-नया सुख मिलता रहे और उस नवीनताका कभी अन्त आवे ही नहीं ।

जान न पावैं तदपि प्रानप्रिय
मेरी पूजा की कछु बात ।
रहै सदा ही तिन कौं मेरी
यह प्रियतम-पूजा अज्ञात ॥
जानि जायँगे जो सखि ! प्रियतम
सरस हृदय सुचि परम उदार ।
मानैंगे न दिये बिनु मो कूँ
अपनौ नेह-सुधा-रस सार ॥
या तैं जौ जगि उठै कबहुँ, मो
मन प्रिय-सुख मिलिबे की चाह ।
या बिधि पूजा रति न रहैगी
नहीं रहैगो यह उत्साह ॥
सुख न मिलै प्रियतम तैं मो कूँ
जा तैं जगै न मन सुख-काम ।
पूजा सदा छिपाऊँ या तैं
छिप-छिप छबि निरखूँ अभिराम ॥
चलै सदा यह पूजा मेरी,
प्रियतम सुख-हित काल अनंत ।
मिलै सदा प्रिय कौं सुख नव-नव
नवता कौ नहिं आवै अंत ॥

इसपर क्या टीका की जाय । हृदयमें ही अनुभव कीजिये ।

गोवर्धन-पूजनका रहस्य

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य)

अहंकार जीवमें जैसे-जैसे जड़ जमाता जाता है वैसे-वैसे उसे पतनकी गहराईकी ओर घसीटता जाता है और वञ्चित जीवको उसका पतातक नहीं होता। देवताओंके राजा इन्द्र भी इस अहंकारके चपेटेमें आ गये थे। परिणाम यह हुआ कि वे परब्रह्म परमात्माको मरणधर्मा 'मनुष्य', उनके चिन्मय तत्त्वोंको 'जड' और लीला-सहचरोंको 'जंगली' मान बैठे थे[1]। इस तरह देवराजमें असुरताके बीज अहंकारका स्तर अत्यन्त उग्र होता गया।

दयावश भगवान् श्रीकृष्णने एक ओर तो इन्द्रके इस रोगकी चिकित्सा करनी चाही। दूसरी ओर, गोवर्धनगिरिकी 'चिन्मयता' भी व्यक्त कर देनेकी उनकी इच्छा हुई। अतः नन्दबाबासे कहकर उन्होंने 'इन्द्रयाग' पर रोक लगा दी और उन्हीं समस्त पूजन-सम्भारोंसे गोवर्धनकी पूजा करायी। भगवान्की यह योजना शङ्करजीको बहुत अच्छी लगी। वे दल-बल-सहित इस गिरिपूजनमें सम्मिलित हुए—

धत्तूरभङ्गाविषपानविह्वलो
हिमाद्रिपुत्रीसहितो गणावृतः।
आरुह्य नन्दीश्वरमादिवाहनं
समाययौ श्रीगिरिराजमण्डलम्॥

(गर्गसंहिता, गिरि० खं० २ । १४)

गोवर्धनपूजाका यह औचित्य राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, देवर्षियों और सिद्धोंसे भी छिपा न था। वे भी बड़ी प्रसन्नतासे इस समारोहमें उपस्थित हुए। देवगिरि सुमेरु और नगाधिराज हिमालयके लिये भी गोवर्धनगिरिकी चिन्मयता व्यक्त ही थी। इसलिये उनमें जातिगत ईर्ष्या या द्वेष नहीं जगा और वे भी बड़ी प्रसन्नतासे गोवर्धनके पूजन-समारोहमें उपस्थित हुए।

पूजनके समय स्वयं भगवान्ने एक विशाल रूप धारण कर अपनेको 'गोवर्धन' घोषित किया और इस तरह उन्होंने गोवर्धनगिरिसे अपनी 'अभिन्नता' प्रकट की। देवता और मनुष्य भी इससे कम प्रसन्न नहीं हुए। इन्होंने फूलों और खीलोंकी मुक्तहस्त वर्षा प्रारम्भ कर दी[2]। किंतु देवराजके अहंकारका पर्दा इतना घना हो चुका था कि वे गिरिराजकी भगवद्रूपता तनिक भी आँक न पाये, प्रत्युत ईर्ष्या और क्रोधसे जल उठे। प्रलयकारी मेघोंको आज्ञा दे बैठे कि वे व्रजको ध्वंस कर दें। स्वयं भी ऐरावतपर चढ़ मरुद्गणोंके साथ मेघोंकी सहायतामें आ डटे। इधर, भगवान्ने गोवर्धन-पर्वत एक ही हाथपर उठा इन्द्रकी सम्पूर्ण प्रलयङ्करी वर्षा निरर्थक कर दी। भगवान्ने मनसे ही शेष और सुदर्शनको आज्ञा दी और वे दोनों तत्क्षण वहाँ आकर उपस्थित हुए। चक्रने पर्वतके ऊपर स्थित हो जलसम्पात पी लिया और नीचे कुण्डलाकार हो शेषजीने सारा जलप्रवाह रोक दिया। गढ़के भीतर एक बूँद भी जल न जा सका।

जलौघमागतं वीक्ष्य भगवाँस्तद्गिरेरधः।
सुदर्शनं तथा शेषं मनसाज्ञां चकार ह॥
कोटिसूर्यप्रभं चाद्रेरूर्ध्वं चक्रं सुदर्शनम्।
धारासम्पातमपिबदगस्त्य इव मैथिल॥
अधोऽधस्तं गिरिं शेषः कुण्डलीभूत आस्थितः।
रुरोध तज्जलं दीर्घं यथा वेला महोदधिम्॥

(गर्गसंहिता, गिरि० खं० ३ । २०-२२)

जब इन्द्रने अपनी सारी शक्ति लगाकर देख लिया कि मनकी बात नहीं हुई, तब उनका अहंकार जाता रहा और तब उन्हें वस्तुस्थितिका ठीक-ठीक बोध हुआ। फिर तो वे अपनेको ही अपराधी पा भयभीत भी हो उठे और नीचे भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर आ गिरे। अब उन्हें श्रीकृष्णके शुद्ध सत्त्वमय ज्ञानघन स्वरूपका परिज्ञान हुआ और तब वे यह भी जान सके कि किस प्रकार उनके भीतर अहंकार विध्वंसका कार्य कर रहा था। भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रको क्षमा कर दिया और इन्द्रने भी आकाशगङ्गाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया। इस प्रकार गोकुलकी की गयी रक्षासे कामधेनु भी बहुत प्रसन्न हुई और उसने अपनी दुग्धधारासे भगवान्का अभिषेक किया।

---

[1] ··· ··· ········· ···गोपानां काननौकसाम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्॥
(श्रीमद्भागवत १० । २५ । ३)

[2] देवेषु वर्षत्सु च पुष्पवर्षं
जनेषु वर्षत्सु च लाजसंघम्।
शैलोऽस्मि लोकानिति भाषयन् सन्
जघास सर्वं कृतमन्नकूटम्॥
(गर्गसंहिता, गिरि० खं० २ । २०-२१)

इन अभिषेकोंको देखकर गिरिराज गोवर्धनके हर्षका ठिकाना न रहा और वह द्रवीभूत हो बह चला। तब भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना करकमल उसपर रक्खा, जिसका चिह्न आज भी दीखता है—

तद्धस्तचिह्नमद्यापि दृश्यते तद्गिरौ नृप ।

(गर्गसंहिता, गिरि० खं० ४ । १२)

गोवर्धनकी चिन्मयताका स्पष्टीकरण गर्गसंहितामें हुआ है। अवतारके समय भगवान्‌ने राधासे साथ चलनेको कहा था। उसपर राधाजीने कहा था कि वृन्दावन, यमुना और गोवर्धनके बिना मेरा मन पृथिवीपर न लगेगा। यह सुन श्रीकृष्णने अपने हृदयकी ओर दृष्टि डाली थी, जिससे तत्क्षण एक सजल तेज निकलकर 'रासभूमि' पर जा गिरा था और वही पर्वतके रूपमें परिणत हो गया था। यह रत्नमय शृङ्गों, सुन्दर झरनों, कदम्ब आदि वृक्षों एवं कुञ्जोंसे सुशोभित था। उसमें अन्य भी नाना प्रकारकी दिव्य सामग्रियाँ उपस्थित थीं, जिन्हें देखकर राधाजी बहुत प्रसन्न हुईं।

एक और कथा है। भगवान्‌की प्रेरणासे शाल्मलीद्वीपमें द्रोणाचलकी पत्नीमें गोवर्धनका जन्म हुआ। भगवान्‌के जानुसे वृन्दावन और उनके वामस्कन्धसे यमुना प्रकट हुईं। गोवर्धनको भगवद्रूप जानकर ही सुमेरु, हिमालय आदि पर्वतोंने उसकी पूजा की और उसे गिरिराज बना उसका स्तवन भी किया।

एक समय तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें पुलस्त्यजी वहाँ आये। वे गिरिराज गोवर्धनको देख मुग्ध हो उठे और द्रोणके पास जाकर उन्होंने कहा—'मैं काशीनिवासी हूँ। एक याचना लेकर आपके पास आया हूँ। आप अपने इस पुत्रको मुझे दे दें। मैं इसे काशीमें स्थापितकर वहीं तप करूँगा।' इसपर द्रोण पुत्रके स्नेहसे कातर तो हो उठे। पर वे ऋषिकी माँग ठुकरा न सके। तब गोवर्धनने मुनिसे कहा—'मैं दो योजन ऊँचा और पाँच योजन चौड़ा हूँ। आप मुझे कैसे ले चल सकेंगे।' मुनिने कहा—'मैं तुम्हें हाथपर उठाये चला चलूँगा।'

उपविश्य करे मे त्वं गच्छ पुत्र यथासुखम् ।
वाहयामि करे त्वां वै यावत् काशीसमागमः ॥

(गर्गसंहिता, वृन्दावनखं० २ । ३१)

गोवर्धनने कहा—'महाराज! एक शर्त है। यदि आप मार्गमें मुझे कहीं रख देंगे तो मैं उठ नहीं सकूँगा।' मुनिने यह शर्त स्वीकार कर ली। बाद, पुलस्त्य मुनिने हाथपर गोवर्धन उठाकर काशीके लिये प्रस्थान किया। मार्गमें व्रजभूमि मिली, जिसपर गोवर्धनकी पूर्वस्मृतियाँ जाग उठीं। वह सोचने लगा कि भगवान् श्रीकृष्ण राधाके साथ यहीं अवतीर्ण हो बाल्य और कैशोर आदिकी बहुत-सी मधुर लीलाएँ करेंगे! उस अनुपम रसके बिना मैं रह न सकूँगा। ऐसे विचार उत्पन्न होते ही वह भारी होने लगा, जिससे मुनि थक गये। इधर, लघुशंकाकी भी प्रवृत्ति हुई। पश्चात् स्नान आदिसे निवृत्त होकर जब वे गोवर्धनको पुनः उठाने लगे, तब वह न उठा। गोवर्धनने मुनिको अपनी शर्तकी याद दिलायी और कहा—'अब मैं यहाँसे डिगनेका नहीं।' इसपर मुनिको क्रोध हो आया और वे उसे शाप दे बैठे—'तुमने मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं किया, इसलिये तुम प्रतिदिन तिल-तिल घटते जाओगे।' उसी शापसे गिरिराज गोवर्धन आज भी तिल-तिल घटता ही जा रहा है—

नित्यं संक्षीयते नन्द तिलमात्रं दिने दिने ॥

(गर्गसंहिता, वृन्दावनखं० २ । ४९)

इतना होनेपर भी, जबतक गङ्गा और गोवर्धन पृथिवीपर हैं, तबतक पृथिवीमें कलिका प्रभाव पूर्णरूपसे न जम सकेगा। इस तरह गिरिराजकी 'चिन्मयता' सुस्पष्ट हो जानेसे उसकी महत्ता स्वयं व्यक्त हो जाती है।

एक कथा है कि एक ब्राह्मण अपना ऋण वसूल करने मथुरा आया। लौटते समय उसने गिरिराजका एक गोल पत्थर भी साथ ले लिया। मार्गमें एक भयानक राक्षसने उसे घेरा। इसपर वह ब्राह्मण काँप उठा। वह इतना अधिक घबरा गया कि उसका हिलना-डोलना भी कठिन हो गया और वह रो पड़ा। राक्षस मुँह बाये सामने खड़ा था। ब्राह्मणने अपनी हत प्रभतामें गोवर्धनका वह पाषाणखण्ड ही उसपर दे मारा। गोवर्धनके इस पाषाणखण्डकी 'चिन्मयता'का ही यह अद्भुत प्रभाव था कि उसके स्पर्शमात्रसे राक्षसको नीच योनिसे छुटकारा मिल गया और उसकी काया दिव्य हो गयी। साथ ही, नभोमार्गसे तत्क्षण एक दिव्य विमान उतरा, जिसपर चढ़कर वह राक्षस 'गोलोक' चला गया। अतः गन्धमादनकी यात्रा अथवा अन्य नाना प्रकारके पुण्यों एवं तपस्याओंका जो फल प्राप्त होता है, उससे भी कोटिगुण अधिक फल गोवर्धनके दर्शनमात्रसे होना शास्त्रोंमें लिखा है।*

---

* यह लेख काशीस्थ गोयनका संस्कृत महाविद्यालयके पुराण-विभागाध्यक्ष पण्डित श्रीराममूर्तिजी शास्त्री (पौराणिक) द्वारा लिखित श्रीमद्भागवत-कथा (साप्ताहिक) के आधारपर लिखा गया है। श्रीपौराणिकजीकी लिखित श्रीमद्भागवत-कथा पुस्तक सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह पौराणिक-कार्यालय, डी० १ । ६५, ललिताघाट, वाराणसीमें मिलती है। मूल्य दस रुपये हैं—सम्पादक

नाद-ब्रह्म और उसका स्वरूप

(लेखक--श्रीलक्ष्मीनारायणजी गर्ग)

चेतन जगत्के समस्त जीवोंमें विचार प्रधान है जिसके द्वारा चेतन (प्राणी) में चेतना उद्भूत होती है । विचार एक ऐसी सत्ता है जो समस्त क्रियाकलापोंका कारण है । विचारके बिना न तो परमाणुमें कोई हलचल हो सकती है और न मनुष्यमें कोई क्रिया । विचार करनेकी शक्ति और उसकी सीमा प्रत्येक जीवमें भिन्न-भिन्न है । एक छोटा शिशु चन्द्रमाको देखकर उसकी ओर हाथ बढ़ा सकता है, उसे खिलौना समझकर; किंतु राकेटद्वारा चन्द्रमामें पहुँचनेका विचार वह नहीं कर सकता । इसीलिये शिशुके विचारकी एक सीमा है जो विस्तृत नहीं है ।

विचार करनेका माध्यम स्थूलरूपमें वाक्य हैं । भिन्न-भिन्न वाक्य मिलकर किसी भी वस्तुको रूप प्रदान करते हैं और तब उस रूपकी तदाकारताद्वारा वृत्ति विषयको प्राप्त होती है, जिसका रस जीवको प्राप्त होता है । वाक्योंका आधार शब्द हैं, जिनका चयन वाक्यके ढाँचेका निर्माण करता है । शब्दोंके स्वतन्त्र अर्थोंका संनिवेश वाक्यके विस्तृत अर्थको जन्म देता है । शब्दका आधार वर्ण है । भिन्न-भिन्न वर्ण अपने अर्थको आत्मसात् करते हुए शब्दरूपी अर्थका निर्माण करते हैं, वर्णका माध्यम ध्वन्यात्मक नाद है, ध्वन्यात्मक नाद सगुण है जिसका कारण निर्गुण नाद है ।

सुषुप्तिको छोड़कर जाग्रत् तथा स्वप्नकी अवस्थाओंमें प्रतिक्षण ज्ञानेन्द्रियाँ कार्यरत रहती हैं । बुद्धिके आश्रयसे मन ज्ञानेन्द्रियोंका संचालन करता है । बुद्धि स्वयंमें केवल एक यन्त्र है । यन्त्रके अतिरिक्त उसका और कोई अस्तित्व नहीं है । मनके ऊपर प्रत्येक वस्तुका एक प्रभाव पड़ता है, किंतु उस प्रभावका अर्थ उसे ज्ञात नहीं हो सकता अतएव उस प्रभावके प्रतिविम्बको वह बुद्धिकी ओर प्रसारित करता है, तब कहीं जाकर बुद्धि अपने निर्णयसे मनको वस्तुके मर्मका बोध कराती है । तदनन्तर मन वस्तुके भोग अथवा अभोगके हेतु ज्ञानेन्द्रियोंको निर्देश करता है । इस प्रक्रियाको उदाहरणरूपमें हम इस प्रकार समझ सकते हैं······'रात्रिके समय कहीं दूर एक प्रकाश-बिन्दु चमकता दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रभाव आँखके माध्यमसे मनतक पहुँचता है । मन उसका विश्लेषण करनेमें असमर्थ होनेके कारण बुद्धिका आश्रय लेता है । बुद्धि अपनी वृत्तियोंद्वारा उसको समझनेका प्रयत्न करती है । जबतक बुद्धिकी निश्चयात्मक वृत्ति नहीं होती तबतक वस्तुके प्रति संशयात्मक वृत्ति जागरूक रहती है । इसीलिये कभी वह प्रकाश हमें किसी झोंपड़ीमें जलते चिरागका प्रतीत होता है, कभी किसी बटोहीके हाथमें स्थित लालटेनका और कभी किसी गाड़ीके अग्रभागमें लगी रोशनीका । जब वस्तु हमारे निकट आ जाती है तब आँखद्वारा स्पष्ट देखनेपर पूर्वज्ञानके आधारपर प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा बुद्धि अपनी निश्चयात्मक वृत्तिको स्थिर कर देती है और मन उस वस्तुका भोग करता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारकी प्रक्रिया सूक्ष्मरूपसे बुद्धिके द्वारा ही सम्पन्न होती है जिसका आधार नाद है । मन जब किसी वस्तुके प्रभावका प्रतिविम्ब बुद्धिको प्रेषित करता है, तब उसमें भी एक अति संक्षिप्त विचारकी क्रिया सम्पादित होती है । यदि वह क्रिया सम्पादित न हो तो मन बुद्धितक कोई बात पहुँचा ही नहीं सकता, निष्क्रिय होकर रह जायगा । इसलिये मनके सीमित विचारका कारण भी नाद है । किंतु मन और बुद्धिके मूलमें जो दो नाद दृष्टिगोचर होते हैं, वे भिन्न-भिन्न नहीं, वस्तुतः वह एक ही नाद है । मन और बुद्धि अपनी शक्ति और सीमाओंके अनुसार एक ही नादसे विचारशक्ति ग्रहण करते हैं, जैसे एक मोटरके टायर और एक साइकिलके टायरमें वायु भरी जाय तो दोनोंकी वायु टायरकी सीमा और शक्तिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रतीत होगी, किंतु यथार्थमें यह एक ही वायुका परिणाम है । इस प्रकार यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है कि प्राणीमात्रके विचार करनेका एकमात्र साधन केवल नाद है जो अखण्डरूपसे समस्त सृष्टिमें विद्यमान है ।

अब हम नादकी शक्तिपर विचार करेंगे । पञ्चभूतोंमें आकाश सबसे सूक्ष्म है । आकाशका गुण नाद है । विचारका मूल होनेके कारण संसार नादका परिणाम है । यदि विचारका अस्तित्व न हो तो संसारके किसी भी प्राणीमें कोई हलचल नहीं हो सकती, सब कुछ जड-जैसा हो जायगा । जड पदार्थोंमें भी अति सूक्ष्मरूपसे क्रिया होती रहती है, परंतु उन

क्रियाको करनेवाले परमाणु भी विचार किया करते हैं। अतः नादका अस्तित्व न होनेपर जडका अस्तित्व भी नहीं रहेगा; पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश निश्चेष्ट हो जायँगे, इसीलिये ब्रह्माण्डीय ग्रहोंका आकर्षण-विकर्षण समाप्त हो जायगा और सब अपने कारण-शरीरमें समा जायँगे। उस कारण-शरीरमें नादका प्रभाव न होगा तो वह केवलमात्र अचेतन सत्ता कहलायेगी और यदि नादका प्रभाव उसमें हुआ तो उसे चेतनकी संज्ञा दी जायगी। नादकी इसी सत्ताके कारण आत्माको चेतन माना जाता है, बल्कि निष्क्रिय और सक्रिय दोनों ही विशेषणोंको उसके लिये प्रयुक्त किया जाता है। आत्मा निष्क्रिय है और उसके अन्तरका नाद सक्रिय। यह नाद ही वह अविद्या अथवा माया है जो अपने प्रभावसे आत्मामें जीवकी प्रतीतिका भ्रम उत्पन्न करता है। वस्तुतः नाद और जीव अथवा माया और जीव एक ही है। जिसने तपके द्वारा इस नादतत्त्वका मूल अथवा सार प्राप्त कर लिया है वह संसारमें रहते हुए भी मुक्त है।

मतंगने कहा है—

नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः॥

नादके दो प्रकार हैं—पहला आहत और दूसरा अनाहत। जो नाद हमें कानोंसे सुनायी पड़ता है उसे 'आहत' कहते हैं और जो कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता उसे 'अनाहत' कहते हैं। ऐसा प्रचारमें है। यह अनाहत नाद ही समस्त आहत नादका कारण है। आहत नादमें मनको एकाग्र करने तथा जीवको आनन्द प्रदान करनेकी अपूर्व क्षमता है। किसी-किसी नादसे पशुओंके मन्त्रमुग्ध होनेकी कथाएँ भी हम सुनते हैं। अतः अलौकिक शक्तिवाला यह आहत नाद लोकरञ्जक है, अनाहत नाद कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता, अतः वह लोकरञ्जक नहीं। किंतु उसकी मधुरता और आनन्द प्रदान करनेकी शक्तिके विषयमें साधकोंने जो उक्तियाँ कही हैं वे आश्चर्यजनक हैं। उनका कहना है कि अनाहत नाद कानोंसे नहीं सुना जा सकता, वह केवल अनुभव होता है, किंतु आहतकी अपेक्षा आनन्द देनेकी शक्ति उसमें हजारों गुनी है। वह लोकके लिये रक्तिदायक नहीं, किंतु मुक्तिदायक है। नानक, कबीर, मीराँ, सूर तथा अनेक शब्दसाधकोंने उसी मुक्तिदायक नादका आश्रय लिया है। कबीरने कहा है—

भौंर गुफा पाँचों कर याना, बाजे ताल मृदंग बँधाना।
जब पाँचों दसके घर जाई, तब दस पाँचहि आन समाई॥
जब दस पाँच गुफा मँह आवहि, मधुरी तान अरध धुनि गावहि।
कोइ घंटा कोइ ताल बजावहि, कोइ सँखनाद कोइ झालरि लावहि॥

कोइ किंकिनि चिंचिनि किन्नरि वीना,
कोइ भेरि मृदंग औ ढोल सहीना।
कोइ तारी कोइ बैन बजावहिं,
रहसि रहसि नाना गुन गावहिं॥
सारँग जल तरंग धुनि धारी,
तबला चहुँ ओर नरसिंहा डफारी।
इहि बिधि भौंर गुफा धुनि गाजै,
नाना रंग मधुर धुनि बाजै॥

इसी प्रकार मीराँ, नानक आदिके भी अनाहतके प्रति एक ही अनुभव हैं जो साधनाके द्वारा प्रकाशित होकर आहत नादकी अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारी सिद्ध होते हैं।

सतगुरु सबद लखाया अंसरी, ध्यान लगाया धुन में।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मगन भई मेरे मन में॥

× × ×

भक्त सतगुरु पुरुष सोई, जिस हर प्रभु भाना भावये।
आनन्द अनहद बजें बाजे, हर आप गल मेलावये॥

—श्रीगुरु ग्रन्थ साहब

× × ×

अनहद शब्द उपज्यो मों घट में ताको ध्यान करु अष्ट जाम।
सरज रिषभ गांधार मध्यम पंचम धैवत निषाद पावै ज्यों अति अभिराम॥

—तानसेन

पाश्चात्त्य साधकोंमें कीट्सके वाक्य भी विचारणीय हैं जिनमें एक स्थानपर उसने कहा है—

'Heard melodies are sweet but those unheard are sweetest.'

अर्थात् जो धुनें सुनायी पड़ती हैं वे मधुर हैं, किंतु जो सुनायी नहीं पड़तीं वे मधुरतम हैं।

कवि जब काव्य-सृजनके लिये एकाग्र होता है, तब नये-नये भाव शब्दरूपी वाहनोंपर छन्दरूपी रथमें सजकर स्वयमेव आते हैं; किंतु कहाँसे, इसे कवि नहीं जानता। यथार्थमें उसे जो निधि प्राप्त होती है वह अनाहत नादका ही परिणाम है। भौतिक ज्ञान सम्पन्न करनेके लिये एकाग्र होना आवश्यक है जो आहत नादके माध्यमसे शीघ्र हो सकता है, इसीलिये

कलाकारकी स्थिति साधारण लोगोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट मानी जाती है। किंतु परम ज्ञानके लिये अनाहतका अनुभव कर उसके और पीछे अति सूक्ष्म नादकी अखण्ड सत्तामें जाना पड़ेगा जो ज्ञानका अक्षय भण्डार है, जहाँसे ज्ञानी ज्ञान बनकर ही लौटता है।

बुद्धिको नादसे जो शक्ति प्राप्त होती है वह सीमित है, इसीलिये उस शक्तिका विस्तार करनेके लिये विचारके द्वारा विचारके मूलतक पहुँचना आवश्यक है। विचार अर्थात् नादके द्वारा नादतक पहुँचनेकी क्रिया साधन है, जिसका मर्म शास्त्रकृपा, गुरुकृपा, ईश्वरकृपा और आत्मकृपाके बिना बोधगम्य नहीं। कवि और साहित्यकार विचार करते हैं अथवा नादमें अवगाहन करते हैं, यह एक ही बात है। चित्रकार भावनाओं अर्थात् विचारों (नाद) के माध्यमसे ही तूलिकाको मोड़ प्रदान कर रेखाओंका मनोहारी संयोजन करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार नर्तक या अभिनेता अङ्गभङ्गिमाओंद्वारा केवल विचार (नाद) और ताल (नादखण्ड) के आश्रयसे अपनी कला प्रदर्शित करनेमें समर्थ होते हैं। नादकृपासे ही इन सब विभूतियोंको लोक और अज्ञानाच्छादित परलोकका आनन्द प्राप्त होता है।

समस्त कलाओं और साधनोंका आद्यकेन्द्र या बिन्दु नाद है। यह अब अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती। किसी भी विचारके लिये प्रयोज्य शब्द भले ही साहित्यकी संज्ञा प्राप्त कर लें किंतु वह साहित्य वस्तुतः संगीत ही है, जो व्यक्ति स्फोट-सिद्धान्तका मर्म जानता है, वह शब्दके वर्णकी तरङ्गायित सत्ताके सहारे नादकी उस सीमाका स्पर्श करनेमें समर्थ हो सकता है जहाँ नादके लघु और दीर्घ स्वयंभू स्फुरण अर्थ लेकर स्वयं प्रकाशित होते हैं। इसीलिये संस्कृत भाषा अर्थ और व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे अन्य भाषाओंकी अपेक्षा पूर्णतया समृद्ध है। वास्तवमें सङ्गीत और साहित्यके प्राण, उनसे उत्पन्न भाव या अर्थमें नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष नादमें बसते हैं, इसीलिये किसी-किसी साहित्यको हम पढ़ना नहीं चाहते, गाना चाहते हैं।

नाद ही वेदोक्त स्वरका आधार है और वह स्वर, अक्षर तथा बीजका ओज है। स्फोटके आधारपर बीज-मन्त्र अथवा बीजाक्षर प्राणके उत्सर्पणद्वारा वृत्तिको नादके मूलतक पहुँचानेका अद्वितीय साधन हैं। प्राण अपनी स्पन्दनशक्तिके स्थित केन्द्र अखण्ड नादतक पहुँचकर स्थिर हो जाता है। यदि कोई व्यवधान न हो अर्थात् प्रारब्ध भोग शेष न हो तो जीवको तुरीयातीत अवस्था प्राप्त होती है, अन्यथा स्थितिसे पुनः गतिका जन्म होता है, अचल ही चलका कारण बनता है। नादशक्तिके स्पन्दनका कारण उसीका खण्ड (ताल) बनता है। तालकी विभिन्न गतियाँ भौतिक ज्ञान और अज्ञानका कारण बनती हैं, उसका तरङ्गायित रूप अर्थात् लय व्यवहार और पारस्परिक सम्बन्धकी सुदृढ़ भित्ति बनता है।

नादशक्तिका केन्द्रसे परिधिकी ओर और परिधिसे केन्द्रकी ओर तरङ्गित होना ही त्रयीसंस्थानको निर्मित करता है, जिसका परिणाम समस्त पिण्ड अथवा भूत भौतिक पदार्थ होते हैं, तीन लोक, तीन शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण), तीन काल (भूत, भविष्य और वर्तमान), तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति), तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु और महेश), तीन ग्राम (षडज, मध्यम और गान्धार), तीन स्वर, तीन सप्तक (मंद्र, मध्य और तार), तीन रंग, तीन वेद, तीन गुण (सत्त्व, रज और तम), तीन वर्ण, तीन लय (विलम्बित, मध्य और द्रुत) तथा त्रयीखण्ड (तिहाई, जो विशेषतया तालवाद्योंमें प्रदर्शित की जाती है और जिसके द्वारा मनुष्य प्रभावित होता है) आदि सभीको त्रयीसंस्थानके कारण ही इतना महत्त्व प्राप्त है।

नादका न आदि है न अन्त, इसीलिये वह जन्म और मृत्युसे परे है। विचार या ज्ञान (नाद) के समाप्त हो जानेपर उसके समाप्त हो जानेका जो ज्ञान शेष रहता है वह नाद (ज्ञान) के स्वतः सिद्ध होनेका साक्षी है। समस्त प्रमाणोंकी सिद्धिके लिये अन्ततोगत्वा नाद ही प्रमाण होगा जो किसी भी कर्ता, क्रिया एवं फलके अधीन नहीं। कर्ता कितना भी प्रयत्न करके उसके खण्ड नहीं कर सकता। यदि करेगा तो वह खण्ड भी नाद होगा। मान्यता कर्त्ताकी स्वतन्त्र कृति होती है, भिन्न-भिन्न व्यक्ति उसे शब्द, ज्ञान, स्वर, श्रुति, ध्वनि तथा वृत्ति आदि मान सकते हैं, किंतु पुरुषभेद नादभेदका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि पुरुषविशेषद्वारा उसका निर्माण नहीं होता। नादके द्वारा ही इन सबका भेद सम्भव होता है। यदि किसी शक्तिको नादका कर्त्ता मानें तो नादरूप कर्मके पूर्व उसमें नादका अभाव स्वीकार करना पड़ेगा, किंतु उस अभावके अनुभव (ज्ञान) का कारण नादके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यदि नादको शक्तिका गुण मानें तो न्याय-सिद्धान्तके अनुसार गुणीमें गुणकी स्थिति माननी पड़ेगी, क्योंकि गुण नष्ट हो भी जाय, तब भी अपने कारणमें उसकी स्थिति रहती है। इसलिये शक्तिको नादरूप ही मान लिया जाय तो उसमें कोई दोष द्रष्टव्य नहीं होता।

कालके द्वारा नादको परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता। कालके द्वारा नादको परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता। भूत और भविष्यका विचार करके कालकी धारामें नादके उदय और विलयकी कल्पना असंगत है; क्योंकि वह कल्पना स्वयं नादाधीन है। कालके खण्ड करनेपर नादके खण्ड नहीं किये जा सकते; क्योंकि माने हुए काल-खण्डोंका अनुभावी भी नाद होगा। यदि कालके खण्ड नहीं करते तो उसमें भूत-भविष्यका भेद व्यर्थ है। यथार्थमें कालभेदका विचार निर्मूल है; क्योंकि कालका अभाव भी काल होगा। अभावरहित वस्तु निरंश होती है और निरंशमें किसी प्रकारका विभाजन नहीं होता, केवल सांशमें होता है। भूत भविष्य संवित् मात्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संविन्मात्रद्वारा संवित्को परिच्छिन्न नहीं बनाया जा सकता। अतः नाद कालपरिच्छिन्न नहीं।

कालके समान देशका भी अभाव नहीं, जिस देशमें देशके अभावकी कल्पना की जायगी वह भी देश ही होगा, पूर्व-पश्चिमकी कल्पना वस्तुनिष्ठ नहीं, कालखण्डकी तरह संविन्मात्र है; किसी विषयकी प्रतीति देश, कालके आश्रित है और देश एवं काल विषय-भेदकी कल्पनापर आधारित हैं जो नादसत्तासे अभिन्न है, भिन्न समझनेपर उसे असत्य कहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, किंतु उस असत्यके संवित्का आधार नाद होगा, अतएव नादमें देशपरिच्छिन्न-की कल्पना अनुचित ही है।

ज्ञानके बिना ज्ञेय और ज्ञेयके बिना ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती, दोनों एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं, किंतु नाद दोनोंकी, अतः वह स्वतः सिद्ध है। ज्ञानमें ज्ञाताका भेद औपाधिक है, नादका ज्ञान अथवा ज्ञानके लिये नाद दोनोंमें कार्य-कारण सम्बन्ध होनेसे विचारका विषय नहीं, यदि ज्ञेयरूप नादके पूर्व ज्ञान माना जाय तब भी नाद उसका प्रमाण होगा, अज्ञानके ज्ञानका साक्षी भी नाद है, यह हम पहले सिद्ध कर ही चुके हैं।

ऋत्का अर्थ है संचालन और मननका अर्थ है चिन्तन; आत्मामें ये दोनों गुण विद्यमान हैं, आत्मस्थिति अर्थात् नादवृत्तिमें लीन रहना मुमुक्षुका स्वभाव होता है, इस विषय-रहित सत्यवृत्तिके लिये अन्य किसी भी उपादानकी अपेक्षा उसको नहीं होती, इसे अनुभवी पुरुष भलीभाँति जानते हैं, गुणातीत, इन्द्रियोंसे परे मन, वचन और बुद्धिसे अलग, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सनातन और सार्वभौम जो नादतत्त्व है उसको केवल योगियोंने जाना है, वेदमें उसकी अपार महत्ताका गुणगान किया गया है, इहलोक और परलोकका केवल वही एक आधार है। भगवान्ने कहा है—

> मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
> भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते॥
>
> (श्रीमद्भागवत ११। २१। ३७)

अर्थात् 'मैं अनन्त शक्तिसम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ, मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है; जैसे कमलनालमें पतला-सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी प्राणियोंके अन्तःकरणमें अनाहत नादके रूपमें उद्घाटित होती है।'

जिस दिव्य ध्वनिमें वेदका सार निहित है वहाँतक पहुँचनेका एकमात्र साधन अनाहत नादका श्रवण (अनुभव) है। प्राचीन कालमें आर्यपुत्रोंको बाल्यकालसे ही वेद-मन्त्रोंके उच्चारणकी सत्-शिक्षा दी जाती थी; पाठ-के-पाठ कण्ठस्थ करा दिये जाते थे, भले ही वे उनका अर्थ समझें या न समझें, इस प्रणालीका रहस्य यही था कि स्वरोच्चारणद्वारा नादकी स्पन्दनशक्तिके प्रभावसे मुक्तिमार्ग सरल हो जाय। जीव अपनी अभिव्यक्तिके लिये नादके दो रूपोंका प्रयोग करता है जिसमें एक वर्णरूप कहलाता है और दूसरा स्वररूप। वर्णरूप नादकी व्याख्या न्याय, व्याकरण और पूर्व-मीमांसामें मिलती है। स्वररूप नाद संगीतशास्त्रका विषय है जिसके कुछ अंश ध्वनि-सिद्धान्तके रूपमें भारतीय साहित्यमें भी उपलब्ध होते हैं; सामसम्प्रदायके ऐसे अनेक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं जिनमें ध्वन्यन्तरालोंके पारस्परिक सम्बन्धद्वारा स्वर अथवा श्रुतिके द्वारा भिन्न-भिन्न भाव और रसोंकी उपलब्धिपर गूढ़ विवेचन प्रस्तुत किया गया हो, इसीलिये स्वरोंकी आकृति, रंग, जाति, देवता, जन्मस्थान तथा उनकी उत्पत्ति आदिका विषय समझनेमें आजका विद्यार्थी अपनेको असमर्थ पाता है, गान्धर्ववेदमें ध्वनिकी उत्पत्ति, प्रतिध्वनिके प्रकार, स्पन्दनकी विभिन्न शक्तियाँ, स्वर और कालके संयोग, स्वर और भावका पारस्परिक सम्बन्ध, स्वर और प्रकृतिका सम्बन्ध, स्वरके रूप तथा संकेत और शब्द-तत्त्व-आकर्षणपर सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया था; किंतु दुर्भाग्यसे वह भारतीय निधि आज लुप्त है।

व्याकरणका स्फोट जो नित्य और स्वयंप्रकाश है वही गुप्तभेद या दिव्य नाद है। शब्दकी तरह स्फोट भी नित्यरूप होकर परब्रह्मसे अथवा सृष्टिकी सत्ताके साथ अर्थकी भाँति लगा रहता है और यही उस प्रकाशका निरूपक होता है, जिससे सत्ताका ज्ञान प्राप्त होता है, किंतु उसके द्वारा सत्ता-

का ज्ञान होनेके पूर्व इसे स्पष्ट ध्वनिसे प्रकट किया जाता है, नादानुसंधान उस ज्ञानतक पहुँचनेकी एक अद्वितीय चेष्टा है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'

अर्थात् एक ही शब्दके पूर्ण ज्ञान और सम्यक् प्रयोगसे ऐहिलौकिक और पारलौकिक दोनों फलोंकी प्राप्ति होती है, यही वैदिक ज्ञानका रहस्य है । योगशिखोपनिषद्में कहा गया है—

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ।
नानुसंधेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम् ॥

अर्थात् नादसे बड़ा कोई मन्त्र नहीं है, अपने आत्मासे बड़ा कोई देव नहीं है, नादानुसंधानसे बड़ी कोई पूजा नहीं है और तृप्तिसे बड़ा कोई सुख नहीं है । समस्त योगदर्शनमें नादको ही महत्त्व दिया गया है, कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेके लिये योगीजन नादका ही आश्रय लिया करते हैं । स्थूलरूपसे संगीत-कलामें तरानेको इसीलिये महत्त्व प्राप्त है कि उसके ओंकार आदिक शब्द स्वरके सम्मेलनसे प्राणको सिद्ध कर कुण्डलिनी शक्तिके ऊर्ध्वगामी होनेका कारण बनते हैं ।

शब्दभेदसे नाद आठ रूपोंमें व्यक्त होता है, यथा—घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और ध्वंकृत । नवाँ महानाद इन सबमें व्याप्त रहता है । क्षेमराजने अपनी टीकामें इन आठ रूपोंकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'कानमें अंगुली डालनेसे जलती हुई आगके शब्दके सदृश जो शब्द सुनायी देता है, उसे 'घोष' कहते हैं । उस घोषके अन्तमें फूटे काँसेके शब्दके सदृश जो रूखा शब्द सुनायी देता है, उसे 'राव' कहते हैं । बाँसकी ध्वनिके अनुरूप जो नाद होता है, वह 'स्वन' कहलाता है, जो समस्त शब्दोंका आधारस्वरूप है, उसे 'शब्द' कहते हैं । जिसके द्वारा वाक्य, पद और वर्ण भिन्न-भिन्न रूपमें स्फुरित होकर प्रतीत होते हैं, उसे 'स्फोट' कहते हैं । वीणामें पञ्चमके तारको छेड़नेपर जो सुखप्रद नाद उत्पन्न होता है, उसीके सदृश 'ध्वनि' होती है । वीणाके समस्त तारोंके एक साथ झंकृत होनेपर जो नाद प्रकाशित होता है, उसीके सदृश 'झंकार' होती है । 'ध्वंकृत' घण्टेके नादके समान होता है ।'

उपर्युक्त सभी नाद सार्थक हैं । इसे आजका विज्ञान सिद्ध करता जा रहा है । अधिक-से-अधिक २५ हजार प्रति सेकंडकी कम्पन-संख्यावाले नादको कानोंसे सुना जा सकता है; किंतु सत्तर हजार प्रति सेकंडकी कम्पन-संख्यावाले नादको मनुष्यके कान नहीं सुन सकते । पशुओंमें विशेषकर श्वानमें इतनी कम्पन-संख्यावाले नादको सुननेकी अलौकिक शक्ति होती है । पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इस नादद्वारा लोहे-जैसी कड़ी धातुको काटने तथा विभिन्न रसायनोंके सहज सम्मिश्रणके लिये अपने प्रयोग कर रहे हैं, जो नाद-विज्ञानके रूपमें शीघ्र ही हमारे सामने उपस्थित होंगे ।

नादके स्पन्दनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही वर्णों और स्वरके रूपमें जीव-ब्रह्मकी अभिव्यक्तिके निमित्त कारण बनी हैं । गान्धर्ववेदका लक्ष्य इस गूढ़ रहस्यका उद्घाटन है । प्रणवकी उपासना और आहत नादकी साधना दोनों उसी मूल तत्त्वके साक्षात्कारका प्रयत्न हैं, स्थितप्रज्ञकी स्थितिमें महर्षियोंने उसके अनाहत रूपका आस्वादन किया है । अनाहतकी असम्प्रज्ञात स्थितिमें पहुँचनेके लिये सम्प्रज्ञात आहत भी एकमात्र सहज तथा लोकरंजक अवलम्ब है, इसीलिये जगत्में गान-वादनकी महत्ता अन्य कलाओंकी अपेक्षा अधिक है । चित्तवृत्तियोंको समाविष्ट कर संगीतके द्वारा जो मनुष्य भाव-समाधि प्राप्त करेगा, उसके समक्ष नादका स्वरूप निःसंदेह प्रकट होगा और उसे परब्रह्मकी प्राप्ति होगी । इसीलिये याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥

अर्थात् जो वीणा-वादनका तत्त्व और श्रुतियोंकी जाति तथा ताल जानते हैं वे बिना प्रयासके ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

मैं भी शुभ बन गया

ईश्वरकी शुभ दृष्टिका मुझमें हुआ पसार ।
मैं भी अब शुभ बन गया, करता शुभ व्यवहार ॥

विरक्त कौन ?

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'महाराज, किसी सच्चे विरक्तके हाथ लगें तो श्रीविग्रह स्थान ग्रहण करे !' परम प्रतापी महाराज भोज चिन्तामें पड़ गये राजज्योतिषीकी यह बात सुनकर । कोई सच्चा विरक्त क्यों राजसदन आयेगा । उसे धारा नगरीके और भोजके वैभवसे प्रयोजन ! लेकिन मन्त्रीको आदेश दे दिया गया कि वे ऐसे विरक्तके अन्वेषणका पूरा प्रयत्न करें ।

बड़े उत्साहसे मन्दिरका निर्माण किया गया था । कला मूर्तिमती हो उठी थी । भोजराजकी श्रद्धा और राजज्योतिषीका शास्त्रज्ञान साकार हुआ । कहीं कोई बाधा नहीं पड़ी । जितना समय लगनेका अनुमान था, कार्य उससे पहिले ही पूर्ण हो गया था ।

भगवान् शंकरका यह श्रीविग्रह स्थापित होना था लिंगविग्रहके पृष्ठमें । मन्दिरके अन्तर्गृहके मध्य लिंगमूर्ति और भित्तिमें निर्मित सिंहासनपर श्रीआशुतोष । लिंगविग्रह स्थापित हो गया और श्रीमूर्ति सिंहासनपर पहुँचायी गयी; किंतु वह सीधी बैठती ही नहीं । बहुत प्रयत्न हो चुके कभी एक ओर और कभी दूसरी ओर मूर्तिका मुख तिरछा हो जाता है । जब मानव-प्रयत्न विफल हो गये, महाराजने अपने राजज्योतिषीके श्रीचरणोंमें मस्तक झुकाया—'क्या कारण है कि प्रभु आसन स्वीकार नहीं कर रहे हैं ?'

ज्योतिषीजी केवल ज्योतिषी नहीं थे । कहा जाता है कि धारापुरीकी अधिष्ठात्री महाशक्तिने उन्हें साक्षात् दर्शन दिये थे । वे उन श्रीजगदम्बाके नैष्ठिक आराधक थे । महाराजके प्रश्नका उत्तर देनेके लिये उन्होंने न पञ्चाङ्ग खोला और न अपनी पट्टीपर कोई गणित किया । वे चुपचाप वहाँसे गये और भगवतीके मन्दिरमें श्रीमूर्तिके सम्मुख आसन लगाकर बैठ गये ।

'महाराज, आपने श्रीविश्वनाथको यहाँ आराध्यरूपमें प्रतिष्ठित करनेकी इच्छा नहीं की है ।' पूरे पाँच घंटे बाद राजज्योतिषी मन्दिरसे निकले और सीधे राजसदन पहुँचे । तत्काल महाराजने स्वयं उनके चरणोंमें आकर वन्दना की । जो कुछ आभास उन्हें मिला था, वही वे बता रहे थे—'ज्ञान एवं विद्याके आदिगुरु यहाँ श्रीदक्षिणामूर्तिके रूपमें आपको प्रतिष्ठित करने हैं । इस रूपमें वे किसी नरेशका दिया आसन ग्रहण कैसे करें ? कोई अधिकारी सच्चा विरक्त उन्हें आसन ग्रहण करावे, वे ठीक आसन ग्रहण कर लेंगे ।'

भगवान् शंकरका वह दक्षिणामूर्ति-विग्रह—श्रीमूर्ति जब आयी थी, उसे देखकर महाराज भावविभोर हो गये थे । जिसने देखा—यही लगा कि प्रभु साक्षात् उपदेश करने आ बैठे हैं ।

'धाराको महाशक्तिकी अनुकम्पा पहलेसे प्राप्त है ।' श्रद्धाभरित स्वरमें श्रीविग्रहपर दृष्टि पड़ते ही राजज्योतिषीने कहा था—'अब ज्ञानके अधिष्ठाता आपकी श्रद्धा स्वीकार करके स्वयं आचार्यरूपमें आ गये हैं ।'

'आपके श्रीचरणोंका अनुग्रह ।' महाराजने सादर मस्तक झुकाया था ।

धारा विद्वानोंकी नगरी; किंतु काशी तथा सुदूर दक्षिण प्रतिष्ठानपुर (पैठण) तकसे कर्मकाण्डके विद्वान् आमन्त्रित हुए । प्राणप्रतिष्ठाकी समस्त विधि सावधानीपूर्वक सम्पन्न की गयी । विधिके ज्ञानमें न त्रुटि थी, न उसके पालनमें प्रमाद हुआ । यजमानकी श्रद्धा कहीं शिथिल नहीं हुई । शुद्ध सामग्री, सम्यक् विधि, श्रद्धासंयुक्त शास्त्रपूत यजमान और विधिज्ञ संयमी अप्रमत्त ऋत्विक्—प्रतिमामें प्राण प्रतिष्ठित हो गये, यह लक्षित कर लेना कठिन क्यों होने लगा ।

सब सानन्द हुआ; किंतु जब श्रीविग्रहको उनके सिंहासनपर पहुँचाया गया—पूरे प्रयत्नके पश्चात् एक स्वरसे विप्रवर्गने कह दिया—'राजन्! कोई ऐसा कारण अवश्य है, जिससे प्रभु आसन नहीं ग्रहण कर रहे हैं।'

वह कारण—कितना अद्भुत कारण निकला वह।

× × ×

महाराज भोजकी ओरसे कुछ अच्छे विद्वान् नियुक्त कर दिये गये हैं, अखण्ड यज्ञ चल रहा है। महामन्त्रीने अपने निपुणतम सेवक नियुक्त कर दिये हैं—विरक्त ढूँढ़नेका प्रयत्न चल रहा है। राजज्योतिषीने अपने कुछ शिष्य नियुक्त कर दिये हैं—भगवतीकी सविधि अर्चना चल रही है।

सब चल रहा है; किंतु दक्षिणामूर्ति भगवान् शिवका श्रीविग्रह आसन नहीं ग्रहण करता। साधु आते हैं—संन्यासी, वैष्णव, संतमतानुयायी, जटाधारी, मुंडितकेश, भस्मधारी, गैरिकवस्त्र, श्वेतवस्त्र, पीतवस्त्र या केवल कदली-पत्रकी कौपीन लगानेवाले। दिगम्बर अवधूत भी आये। जिनकी त्याग-तपस्याकी ख्याति थी, उन्हें महामन्त्री स्वयं आदरपूर्वक ले आये। निष्परिग्रह, अनिकेत, उग्रतम तपस्वी—सभी तो आ गये। काष्ठमौनी, ऊर्ध्वबाहु, सदा खड़े रहनेवाले, पता नहीं कितने और कैसे-कैसे साधु आये। जिनसे बड़ी आशा थी, कुछ नहीं हुआ उनसे भी। पूरे तीन वर्ष होनेको आये—श्रीविग्रह सम्मुख आसनपर नहीं आया।

किसीने कुछ अनुष्ठान बताया, किसीने विशेष जप, यज्ञ अथवा अर्चनकी आवश्यकता सूचित की। सब सम्पन्न हुए। किसी असफल साधुका तिरस्कार नहीं हुआ। कोई उपेक्षित—तिरस्कृत न हो जाय, महाराजने इसके सम्बन्धमें अधिकारियोंको सावधान कर दिया था। जो असफल होते थे—उनका चित्त खिन्न हो, स्वाभाविक था; किंतु राज्यके कर्मचारी उन्हें आदरपूर्वक ही विदा करते थे।

'मेरा पाप—मेरे ही किसी अपराधका यह परिणाम है।' महाराज खिन्न रहने लगे। उनकी मुखश्री म्लान हो गयी। शरीर कृश होने लगा। वे प्रातःस्नान करके जब अर्चनके लिये मन्दिरमें उपस्थित होते, अश्रु रोक नहीं पाते थे।

'मेरे राज्यमें न सही, पवित्र भारतभूमिमें तो वीतराग महापुरुष हैं ही।' महाराजने अन्तमें एक दिन कातर होकर राजपुरोहितके चरण पकड़ लिये—'भोज प्राण देकर भी ला सके तो उन्हें धारापुरी ले आयेगा। आप प्रयत्न करें और ऐसे पुरुषका पता न लगे, मैं विश्राम नहीं कर सकता।'

'मैंने प्रयत्न करनेमें कोई प्रमाद नहीं किया है।' राजपुरोहितने तनिक गम्भीर होकर कहा—'किंतु लगता है, हमारी परखका मापदण्ड ठीक नहीं है। ऐसी अवस्थामें बात मानव-प्रयत्नकी रह नहीं जाती। मेरा तो एक ही आश्रय है। आप चिन्ता न करें, पुत्र जब आग्रह करता है, दयामयी माँको उसका बालहठ पूर्ण तो करना ही पड़ता है।'

महाराजको आश्वासन प्राप्त हुआ। राजपुरोहितने भगवतीके मन्दिरमें जो आसन नित्य अर्चाके लिये लगाया, उससे उठे ही नहीं। मध्याह्न हुआ और बीत गया। शिष्योंमें, घरके सदस्योंमें व्यग्रता आयी। तृतीय प्रहर भी बीत गया और रात्रिका अन्धकार भी अन्तमें फैलने लगा।

'राजपुरोहितने आज जलग्रहण नहीं किया। वे अपने आसनसे न उठे हैं, न हिले हैं। उन्होंने पलकें नहीं खोलीं। किसीका पुकारना सुनते नहीं। बंद नेत्रोंसे अविराम अश्रु चल रहे हैं।' समाचार महाराजको मिला।

'आचार्यने उपवास किया और इस अधमने भोजन किया है!' महाराजके पश्चात्तापका पार नहीं था। 'भोज अब तबतक मन्दिरसे नहीं उठेगा, जबतक आचार्य सुप्रसन्न नहीं उठते।'

सायंकालीन भोजन न राजसदनमें किसीने किया और न राज्यके उच्चकर्मचारियोंके गृहोंमें। राजपुरोहितके घर तो पूरे दिन ही सब उपोषित रहे। किंतु मन्दिरमें भीड़-भाड़ महाराजने नहीं होने दी।

पूजा हुई, आरती हुई, रात्रिका नैवेद्य अर्पित हुआ। आराधक स्थिर बैठा रहे तो आराध्या शयन कर लेगी? भगवतीकी शयन-आरती नहीं की मन्दिरके मुख्य पुजारीने। वे बाह्यद्वार बंद करके स्वयं श्रीमन्दिरमें एक ओर आसन-पर ध्यानस्थ बैठ गये।

'माँ! कृपामयी!' मध्यरात्रि व्यतीत हो चुकी थी, जब राजपुरोहितके स्वरने महाराज तथा पुजारी दोनोंको चौंका दिया। पता नहीं कब कैसे दोनोंको बैठे-बैठे ही तन्द्रा आ गयी थी। दोनोंने देखा—राजपुरोहित प्रतिमाके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणिपात कर रहे हैं।

'महाराज! आप राजसदन पधारें।' तनिक स्वस्थ होकर राजपुरोहितने भोजको देख लिया—'जब माँने कार्यभार स्वीकार कर लिया, हम चिन्ता क्यों करें?'

मध्य रात्रिके पश्चात् उस दिन पुजारीने देवीकी शयन-आरती की।

× × ×

सेठ लक्ष्मीचन्द इस बार स्वयं निकले हैं अपने दलके साथ। अवस्था अधिक हो गयी; इसलिये अब सेठजी छोटी यात्रापर ही कभी-कभी निकलते हैं। लड़के यह काम सम्हाल लेते हैं। वैसे सेठजी बनजारे हैं। उनका काम ही ऊँट, बैल, खच्चर लादकर दूर-दूरके नगरोंकी यात्रा करना है। गद्दीपर उनका व्यापार नहीं चलता।

बहुत छोटी टोली थी जब सेठ अमीचन्दने कारबार अपने पुत्र लक्ष्मीचन्दको दिया था। अब उस बातको युग हो गये। अब तो सात बड़े दल चलते हैं लक्ष्मीचन्दजीके। सातों लड़कोंने अपने-अपने व्यापारीदल बना लिये हैं। कभी-कभी सेठजी भी एक छोटी आठवीं टोली बनाकर निकल पड़ते हैं।

बनजारेकी टोली अपने-आपमें एक पूरा राज्य होता है। ऊँट, खच्चर, घोड़े, बैलगाड़ियाँ और पैदल भी। व्यापारकी कोई निश्चित वस्तु नहीं। जहाँ जो वस्तु ठीक मूल्यपर मिली, लाद लिया। जहाँ जिसके ठीक दाम लगे, बेच डाला। व्यापारकी वस्तुओंके साथ बर्तन, सीधासामान, कपड़े-बिछौने, वैद्यजीका औषधालय और एक छोटी किंतु सधे वीरोंकी शस्त्रसज्ज सेना। यह सेना न हो तो बनजारे दिन-दोपहर लूट लिये जाया करें।

सेठ लक्ष्मीचन्दकी टोलीमें एक विशेषता प्रारम्भसे रही। इस टोलीके साथ ठाकुरजीकी पालकी चलती है। पुजारी महाराज और ठाकुरजीके सेवक चलते हैं। पता नहीं क्यों चलते हैं ये सब; क्योंकि पूजा तो सेठजी स्वयं दोनों समय करते हैं। पानी पड़े या पत्थर, ठाकुर-पूजाके लिये दोनों समय टोलीको रुकना ही पड़ता है।

रुक तो जाते हैं सेठजी दो-दो दिन—उन्हें पता-भर लगना चाहिये कि कोई उत्तम रत्न या बहुमूल्य वस्त्र मिल सकता है। कोई काष्ठ, हाथी-दाँत या अन्य आधार-पर बनी कलाकृति—सेठजीको पसंद भर आ जाय, वे उसे लेकर जायँगे। इतने अधिक मूल्यमें ली गयी वे वस्तुएँ जब उन्हें बेचनी नहीं—बड़े आदमीकी एक संग्रह-प्रवृत्तिके अतिरिक्त आप क्या कहेंगे। यों सेठजी कहते हैं—'लालजी! इसे पाकर प्रसन्न होंगे।'

मोटा कपड़ा, साधारण चटाई, फटे-पुराने जूतेसे जो इस बुढ़ापेमें, इस सम्पन्नतामें भी अपना काम चला लेता है, उसकी सनक ही तो है यह—'लालजी!' अपने ठाकुर-जीको सेठजी यही कहते हैं। यात्राके विषम दिनोंमें भी लालजीके लिये दस-पंद्रह व्यञ्जन बनेंगे, कहीं कोई उत्तम उद्यान दीखा तो उसीके पुष्प चाहिये। अनेक बार टोली इस सनकके कारण बहुत उलझनमें पड़ जाती है। असुविधा और कष्ट—किंतु सेठजी जब यह सब सुनें।

'लालजी!' बूढ़े सेठको न अपने भोजनका स्वाद,

न धनकी चिन्ता। लड़कोंके आग्रहतक वह नहीं सुनता। उसे तो एक सनक है—लालजीके लिये उसे पसंद आ जाय तो एक पुष्प, एक फलके लिये वह पूरी थैली उलट देगा।

यह सनकी सेठ लक्ष्मीचन्द अपनी टोली लिये पहुँच गया धारापुरी। क्या विशेषता है इसमें कि महाराज उसे राजसभामें सम्मानित करनेवाले हैं। राजपुरोहित उसके सम्मुख आदरसे झुके जाते थे। हुआ कुल इतना था कि सेठने स्नान किया, पूजा की और एक लोटा जल लिये शिवमन्दिर चले गये। जल चढ़ाकर घूमे तो दक्षिणामूर्ति-विग्रहपर दृष्टि पड़ी। तिरछा श्रीविग्रह—सेठने श्रीमूर्तिके घुटनोंपर हाथ रक्खा सहज—'प्रभु यदि सम्मुखासीन होते!' मूर्ति जैसे स्वयं घूमकर सीधे आसनपर आ गयी। अब लोग कहते हैं—'सेठजी सच्चे विरक्त हैं। उन्हें किसी विषयमें आसक्ति नहीं।' किंतु उन्हें यह जो 'लालजी' की आसक्ति है?

भारतका एक बढ़ता हुआ दुर्व्यसन—धूम्रपान

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

पता नहीं क्यों, पर हम सब यह अनुभव करते हैं कि बुरी आदतोंको लोग जितना शीघ्र और सरलतासे ग्रहण कर लेते हैं, उतना अच्छी बातों एवं सुसंस्कारोंको नहीं ग्रहण कर पाते। इसीलिये किसी भी बुराईके उन्मूलनके लिये बहुत बड़े विरोध, आन्दोलन, यहाँतक कि कड़े कानूनकी आवश्यकता होती है। अन्यथा चेपी रोगोंकी तरह उसका विस्तार इतना अधिक बढ़ जाता है कि सामाजिक शरीर जीर्ण-शीर्ण और दूषित बन जाता है। जहरका प्रभाव फैलते जैसे देर नहीं लगती, वैसे ही बुरी आदतों—दुर्व्यसनोंका प्रभाव बहुत तेजीसे और व्यापकरूपमें फैल जाता है। नशीली चीजोंमें विषका कुछ अंश होता है, इसलिये थोड़ी देरतक उनके सेवनसे कुछ शक्ति और मस्ती पानेका लोग अनुभव करते हैं परंतु अन्ततोगत्वा विष तो मारक ही होता है और धीरे-धीरे वह व्यक्तिको अपने वशमें करके पराधीन एवं निष्क्रिय बना डालता है। तम्बाकूका दुर्व्यसन भी ऐसा ही एक मारक या घातक व्यसन है जिससे शरीर, मन, धन सभी कुछ बरबाद होता है—लाभ कुछ भी नहीं। अनेक अनुभवी डाक्टरोंने उसके द्वारा शरीरपर पड़नेवाले बुरे प्रभावोंपर विशद प्रकाश डाला है और धनकी महान् हानि तो प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अनुभव करता ही है। लाभ चाहे कुछ भी न हो, पर एक बार इस दुर्व्यसनमें फँस जानेपर छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन हो जाता है।

तम्बाकूकी उत्पत्ति एवं उसका मानव-समाजद्वारा खाने-पीनेके रूपमें विविधरूपमें उपयोग किये जानेकी कहानी ज्यादा प्राचीन नहीं है। इसकी उत्पत्ति और भारतमें इसके प्रचारको करीब ५०० वर्ष ही हुए हैं। बतलाया गया है कि सन् १४९२ में जब कोलम्बसका काफिला क्यूबा पहुँचा, तब उसने देखा कि वहाँके आदिवासी तम्बाकूसे अपने शरीर सुगन्धित करते हैं। अगली दूसरी यात्रामें उसने देखा कि अब उन लोगोंमें तम्बाकू सूँघनेकी आदत पड़ गयी है। सन् १५०२ में स्पेनका एक काफिला दक्षिण अमेरिकाके किनारे पहुँचा तो उन्होंने वहाँके आदिवासियोंको तम्बाकू खाते हुए देखा।

तम्बाकूकी जानकारी और उसके उपयोगकी रीति सर्वप्रथम अमेरिकासे यूरोप, फिर इंग्लैंड तथा अन्य देशोंमें पहुँची। सन् १५०८ के लगभग पोटॉटो और टोमॅटोके इस साथिन टोबॉको (तम्बाकू) को पुर्तगाली हमारे देशमें लाये। उस समयसे भारतके भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें इसकी खेती शुरू हुई और आज बम्बई, बिहार, बंगाल, आदि

मद्रास, मैसूर, आसाम आदि प्रदेशोंमें इसका उत्पादन प्रधानरूपसे होता है। यहाँकी आबोहवा उसे ऐसी अनुकूल पड़ी कि अब भारतके ये प्रदेश तम्बाकू-उत्पादनके लिये प्रसिद्ध हो गये हैं। आंध्र प्रदेश तो तम्बाकू-उत्पादनके केन्द्रके रूपमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। देशके तम्बाकूके उत्पादनका लगभग ४० प्रतिशत और सिगरेटें बनानेके लिये इस्तेमाल की जानेवाली वर्जिनियां तम्बाकूका करीब ९० प्रतिशत भाग यहीं उत्पन्न होता है। १९५८ में हमारे देशने तम्बाकूके निर्यातद्वारा १३.५ करोड़से भी अधिक रुपयेकी वैदेशिक मुद्राएँ अर्जित कीं। हमारे देशमें सिगरेटोंकी वर्तमान वार्षिक खपत अंदाजन ३२ सौ करोड़ सिगरेटोंसे भी ज्यादा की है।

उपर्युक्त बातें गोल्डन टोबेको कम्पनीद्वारा विज्ञापित की गयी हैं। इससे भारतमें तम्बाकूका उत्पादन एवं प्रचार किस सीमातक पहुँच गया है यह भलीभाँति विदित हो जाता है।

तम्बाकूका सेवन अनेक रूपोंमें किया जा रहा है। सूँघने और पीनेका तो व्यापक प्रचार है ही। नगरोंमें ही नहीं, छोटे-छोटे गाँवोंमें और वयस्क व्यक्तियोंमें ही नहीं, बालकों एवं स्त्रियोंमें भी यह दुर्व्यसन अधिकाधिक फैलता जा रहा है। इससे कंठकी नालियाँ और शरीरके भीतरी कोमल भागोंपर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पड़ता है। तम्बाकू मुखमें दुर्गन्ध और दाँतोंपर मैल उत्पन्न करती है और मस्तिष्कको बिगाड़कर आयुको कम करती है। इसके धुएँसे फेफड़ा बिगड़ता है, व्यसन पड़ जानेपर इसके बिना खाये, पीये या सूँघे व्यक्ति कुछ काम नहीं कर पाता, उसकी नसें ढीली पड़ जाती हैं। पहले तो केवल चिलमके रूपमें ही इसका व्यवहार बढ़ा, फिर चूनेके साथ जरदा या तम्बाकू खाने और नसवारके रूपमें सूँघनेका। आजकल पानमें भी जरदा खानेका खूब प्रचार बढ़ गया है। बीड़ी और सिगरेटके प्रचारकी तो कोई सीमा ही नहीं रही। करोड़ों रुपये विशेषतः मध्यम वर्ग और जनसाधारणके बरबाद होते हैं। सरकारको कुछ आमदनी जरूर हो जाती है। सरकारने जब देखा कि इसका उत्पादन और खपत खूब बढ़ने लगी है, तब उसने इसपर बहुत बड़ा टैक्स लगा दिया, जिससे करोड़ों रुपयेकी आमदनी होने लगी है। अतः देशके लोगोंके लिये चाहे वह कितनी ही हानिकारक और घातक हो, पर सरकार अपनी आमदनीके इस बड़े जरियेको कैसे छोड़ सकती है? जनताका स्वास्थ्य जा चूल्हेमें और उसकी आर्थिक स्थितिपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता हो तो बलासे, पर सरकारको तो अपनी आमदनी सुरक्षित रखना तथा बढ़ाना है। अतः उसका विरोध, राष्ट्रीय यानी जनताकी सरकार होनेपर भी नहीं किया जा रहा है। एक ओर जनसमूहके मानस-स्वास्थ्यकी बुरी तरह हत्या करनेवाले गंदे सिनेमा और दूसरी ओर तम्बाकू, जनताकी शारीरिक और नैतिक तथा आर्थिक बरबादी असीमरूपमें कर रहे हैं। अब तो भारतीय जनताका भगवान् ही मालिक है!

भारतीय संत-महात्माओंने समय-समयपर जनतामें जो भी दुर्गुण एवं दुर्व्यसन देखे, उनके प्रति विरोधी स्वर प्रकट किया और जनताको बुराइयोंसे बचाने एवं हटानेका सत्प्रयत्न किया। पर आज संतोंकी वह सामाजिक सेवा भी नहीं दिखायी दे रही है—छुटपुटरूपमें कभी किसीने कुछ विरोधमें कह दिया हो पर जैसा विरोधी आन्दोलन उन्हें उठाना चाहिये था—गाँव-गाँव, घर-घर और व्यक्ति-व्यक्तिके पास पहुँचकर अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और अनुभवपूर्ण वाणीसे जो संदेश प्रचारित करना चाहिये था, नहीं कर रहे हैं। अपनी मान-प्रतिष्ठाको बनाये रखने और सस्ते यशके प्रलोभन तथा पारस्परिक विवाद-संघर्षमें ही अधिकांश संन्यासियोंका समय एवं शक्ति बरबाद हो रही है तो अन्य लोगोंसे तो आशा ही क्या की जाय? राष्ट्रीय नेताओंका भी यही हाल है। कुछ इने-गिने व्यक्ति अच्छा काम कर रहे हैं और उनका प्रयत्न सराहनीय है।

आचार्य विनोबा, संत तुलसी आदिने इस दिशामें काफी कार्य किया है । अन्य संतगण भी उनका अनुकरण करें तो जन-जनमें धूम्रपान-परित्यागका काफी कार्य हो सकता है ।

१७वीं शताब्दीतक तो तम्बाकूका प्रचार राजाओं, बादशाहों और बड़े-बड़े आदमियोंतक ही सीमित था, फिर उनके हाजरियोंको इसका चस्का लगा । १८वीं शताब्दीमें जनसाधारण भी इसके चंगुलमें फँस गये । तबसे कई जैन तथा अन्यान्य संतोंके तम्बाकू-त्यागके प्रेरक गीत मिलने आरम्भ होते हैं । उनमें तम्बाकूसे होनेवाली हानियोंको बतलाते हुए उसको त्याग करनेका उपदेश दिया गया है । गुरु नानकने तो इसको सिख-धर्ममें सर्वथा वर्जित कर दिया है । ऋषि दयानन्दने भी इसका बड़े जोरोंसे विरोध किया था । इस युगके महान् महात्मा एवं राष्ट्रपिता गांधीने २९ अगस्त, १९४६ के हरिजनमें इस विषयपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—'मुझे यह देखकर बहुत दुःख होता है कि तम्बाकूके सेवनका रिवाज दिनोंदिन बढ़ता जाता है । मुझे मदिरा और तम्बाकू दोनोंका उपयोग अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता है, परंतु तम्बाकू तो मदिरासे भी अधिक हानिकारक है; क्योंकि इसका प्रभाव तुरंत दीखने लगता है । यह धनकी बरबादीके साथ शरीरके लिये भी हानिकारक है । इससे श्वासमें दुर्गन्ध हो जाती है, दाँतोंका रंग खराब हो जाता है, और किसी-किसी दशामें इससे विषफोड़ कैंसर भी हो जाता है ।' टॉल्स्टॉयने एक शराबीकी कहानी प्रकाशित करते हुए लिखा था कि 'वह जब किसीको मार डालनेकी कल्पना बनाता, तब उसे उस समयतक पूरा नहीं कर सकता था जबतक वह एक सिगार नहीं पी लेता था । सिगार पीकर वह एकदम हँसता हुआ उन्मत्त हो जाता और कहता मैं कैसा डरपोक हो गया था । तब तलवार हाथमें लेता और अपना काम कर डालता था । टॉल्स्टॉयने जो कुछ लिखा है स्वयं अनुभव करके लिखा है ।' महात्मा गांधीने मदिरा और तम्बाकू दोनों दुर्व्यसनोंसे जनताको मुक्त करनेका प्रयत्न किया था । एक बार तो उनकी प्रभावशाली वाणीने जादूका-सा असर किया और हजारों व्यक्तियोंने तम्बाकूका त्याग कर दिया । यदि वह आन्दोलन व्यापक समयतक चलता तो बहुत बड़ा लाभ होनेकी सम्भावना थी । पर गांधीजी अन्य आवश्यक राष्ट्रीय कामोंमें लग गये, तम्बाकू त्याग करवानेके प्रयत्नमें आवश्यक सम एवं शक्ति न दे पाये । राष्ट्रीय सरकारने मदिरा-निषेध तो फिर भी कई प्रान्तोंमें कुछ प्रयत्न किया है—उसके लिये कई कड़े कानून बनाये हैं, पर तम्बाकूके व्याप प्रचारको रोकनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं किया । य जनताकी सरकारके लिये अवश्य ही शोचनीय बात है ।

पश्चिमी बंगाल-सरकारने १६ वर्षके बालकोंके लि सिगरेट, बीड़ी आदिका सर्वथा वर्जन किया था पर उस कोई ध्यानपूर्वक कार्यवाही नहीं की जा रही है । केव कानून बना देना ही किसी बुराईको दूर करनेके लि पर्याप्त नहीं है, उस कानूनका कड़ाईसे पालन भी कि जाना चाहिये । जनतामें तम्बाकूकी बुराइयोंके सम्बन्धमें खूब प्रचार होना चाहिये । इधर अमेरिका और यूरोपके प्रसिद्ध डाक्टरोंने भी अनेक घातक रोगोंका कारण तम्बाकू-सेवनको ही बतलाया है । कैंसर-जैसा भयानक रोग ८ प्रतिशत तम्बाकू-सेवन करनेवालोंमें होनेकी बात कही गयी है फिर भी भारतीय जनताके स्वास्थ्यको ध्यानमें रखनेवा विभाग चुप बैठा है, यह बड़े आश्चर्य और खेदकी बा है । अपने सामने, अपनी जानकारीमें जनस्वास्थ्य कि कारणोंसे नाश होता है, उसके प्रतीकारमें कुछ न कर वास्तवमें बड़ी कर्तव्यविमुखता है !

सिनेमा भी अनेक दुर्गुणोंके प्रचारका साधन ब गया है । भारतके नैतिक जीवनपर उसका बहुत ही बु प्रभाव पड़ रहा है । पर उसके सम्बन्धमें तो कुछ च पत्र-पत्रिकाओंमें देखनेको मिलती है । चाहे सरकार उ सुधारका प्रयत्न जागरूकतासे न कर पा रही हो, प जनताका विरोधी स्वर सामने तो आ रहा है । पर तम्बा

लिये तो वैसी विरोधी चर्चा भी नहीं हो रही है, कभी कचित् किसीका लेख किसी साधारण पत्रिकामें छप जाता है पर उससे कोई काम नहीं बनता। आवश्यकता है संगठितरूपसे विरोधी आवाज बुलन्द करनेकी। जन-जनमें तम्बाकूकी खराबियोंका व्यापक प्रचार हो, संत-महात्मा गाँव-गाँवमें घूमकर तम्बाकू-त्यागका जोरोंसे उपदेश दें। राष्ट्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों तथा स्वास्थ्य-विभागके द्वार खटखटाये जायँ। राष्ट्रीय नेताओंतक प्रबल आवाज पहुँचायी जाय। आर्थिक हालत भारतकी बहुत ही खराब है और तम्बाकूद्वारा तो और भी बदतर होती जा रही है। साधारण व्यक्ति जो रुपया दो रुपया रोज बड़े कठिन परिश्रमसे कमाता है—कुछ लोग तो कई आने भी नहीं कमा पाते, पर उनके भी कुछ पैसे या आने बीड़ी, सिगरेट, जरदामें खर्च हो जाते हैं—घरमें चाहे खानेके लाले पड़े—बच्चे चाहे भूखसे बिलबिलाते रहें, स्त्रियाँ चाहे खाद्य पदार्थोंके अभावमें मन मसोसती एवं चीत्कार करती रहें, पर जिसे तम्बाकूकी बुरी लत लग गयी है उसे तो उसके बिना चैन नहीं। कई प्रदेशोंके गाँवोंकी स्त्रियोंमें तथा पढ़ी-लिखी कहानेवाली महिलाओंमें भी बीड़ी, सिगरेट, जरदेका प्रचार बहुत बढ़ रहा है। घरवाले किसी भी तरह कष्ट करके या उधार लेकर अपने बच्चोंको पढ़ानेके लिये स्कूल-कालेजोंमें भेजते हों पर वे विद्यार्थी जो उनकी आशाके केन्द्र हैं, दूसरोंकी देखा-देखी धूम्रपानमें प्रवीण होकर घरके पैसोंको बरबाद करने लगते हैं। दूध और घीके लिये पैसा न हो पर सिगरेट, चाय और सिनेमाके लिये पैसा चाहिये ही। नहीं मिलनेपर ठगी और चोरी सीखेंगे ही। दुःख है कि अच्छे-अच्छे बहुसंख्यक विद्यार्थियों, अध्यापकों, सरकारी अधिकारियों तथा विद्वानोंको भी सिगरेट पीते देखा जाता है।

अब हम १८ वीं शताब्दीके एक जैनमुनि विशिष्ट विद्वान् और कवि धर्मसीके द्वारा रचित एक राजस्थानी गीत दे रहे हैं जिसमें उन्होंने तम्बाकू-त्यागके लिये उद्बोधन दिया है। वे लिखते हैं कि 'हे चतुर व्यक्ति! तम्बाकूका सेवन छोड़ो; क्योंकि इसमें अनेक दोष हैं। अतः इसकी ओरसे अपने मनको हटाओ। विवेकसे काम लो। इस तम्बाकूमें न स्वाद है न मिठास, पर दोष अनेक होनेपर भी जिसे इसका व्यसन लग गया, छोड़ नहीं पाता। पूर्वपुण्यके उदयसे यदि तुम्हें दो पैसे मिले हैं तो दूध, दही, घीका सेवन क्यों नहीं करते, जिसमें लाभ-ही-लाभ है? तम्बाकूसे होठ और दाँत काले होते हैं। मुखसे दुर्गन्ध आती है, छाती जलती है और श्वास सूखने लगता है। एक-दूसरेकी जूठी बीड़ियोंको जात और कुजातका विचार किये बिना मुँहमें डाल लेते हो, दूसरेका थूक अपने मुँहमें लगता है। धार्मिक दृष्टिसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन पाँच स्थावर और बेइन्द्रिय आदि जीवोंका इससे विनाश होता है। जिन जीवोंको तुम तम्बाकू-सेवनद्वारा मार रहे हो, एक दिन वे जीव तुमसे बदला लेनेवाले हैं। दूसरोंको आदरके साथ तम्बाकू पिलाकर दोनोंका अहित कर रहे हो। चेतो!'

तम्बाकू-त्याग सझाय

(ढाल-आज निहोजी दीसे नाहलौ।)

तुरत चतुर नर तम्बाकू तजौ, इण में दोष अनेक।
बिरती बूरौ पाछौ मन बालिनै, यारू धरिय विवेक ॥१॥ तुरत०
स्वाद नहीं इण मांहै सर्वथा, मांहै नहीय मिठास।
दूषण देखे तो पिण नवि तजै, पडियौ विसन नै पास ॥२॥ तु०
कूटउ एह अछै छकायनो, सुंस करौ मन शुद्ध।
पोतै पुन्य हुवै तो तुम पियौ, दही घृत साकर दूध ॥३॥ तु०
होठ विन्हेइ दांत काला हुवै, बलि मुखि मुंडी बास।
बलै तम्बाकू तिम छाती बलै सौषायै तिम स्वास ॥४॥ तु०
नइ ऐठी मुख घालै नवि गिणै, काई जात कुजात।
परनौ थूक तिकौ मुह में पडै, बिसन तणी ए बात ॥५॥ तु०

ऐसी ही एक राजस्थानी संतकी रचना और प्रचलित है—

छोड़ तमाखू मानवी रे तू मतना पीवै झैर।
झूठी तेरी मानता रे (भाई) झूठी तेरी लहैर॥

हाथ-दाँत-मूँ-काळजै रे भर देवै दुरगंध।
धूँवो अँग काळो करै रे कर दे नैणां अंध ॥
धनरो, तनरो, मानरो रे करै मोकळो नास।
छाती बाळै, मौत न रे ल्यावै बेगी पास ॥
चिलम-चटोरो मानवी रे हुक्कै रो सोखीन।
चाटै स रौ थूक नित रे हुयो बिसन आधीन ॥
के ल सोगन आज सूँ रे छोड़ बुरी आ बाण।
पी तूँ इम्रत राम रस रे पावै पद निरबाण ॥

इसका अर्थ है—

अरे मनुष्य ! तू तम्बाकू छोड़ दे, इस जहरको मत पी। (इससे कोई लाभ है यह) तेरी झूठी मान्यता है और इसमें आनन्द भी झूठा ही आता है। यह तम्बाकू हाथ, दाँत, मुँह, कलेजा—सबमें दुर्गन्ध भर देती है। इसका धूआँ सब अङ्गोंको काला कर देता है और इससे आँखोंकी रोशनी चली जाती है। यह तम्बाकू धनका, शरीरका, मानका बहुत अधिक नाश करती है। छाती जलती है और मौतको शीघ्र पास ले आती है। जो चिलमचट्टू और हुक्केका शौकीन है, वह इस व्यस अधीन होनेके कारण सबका नित्य थूक चाटता है अतः तू आजसे ही शपथ लेकर इस आदतको छोड़ तथा राम-रसरूपी अमृतका पान कर जिससे निर्वा पदकी प्राप्ति हो।

तम्बाकूके दुर्गुणोंके सम्बन्धमें कई राजस्थानी लोक गीतोंमें भी अच्छा वर्णन मिलता है। डा० जे० डिक मेनने तम्बाकूमें अनेक प्रकारके विष होनेका वि देते हुए लिखा है कि तम्बाकूमें फरफ्लर नामक विष अत्यन्त भयानक है। निकोटीन नामक विष भी तम्बाकू पाया जाता है जिसकी एक बूँद खरगोशको, दो बूँ स्वस्थ बलवान् कुत्तेको क्षणभरमें यमलोक पहुँचाने लिये यथेष्ट है। महात्मा गांधीने इसके विरोधमें लि था कि तम्बाकू मनुष्यके ज्ञानतन्तुओंको मलिन करत है। तम्बाकूका धुआँ आमाशयपर सीधा प्रभाव डालता है।

* * *

मूर्ति-प्रतिष्ठा

(श्रीरावी)

मेरा यह अबोध मस्तिष्क अपनी स्वप्नशालामें तुम्हारी एक मूर्ति स्थापित करके अपनी कौन-सी वेदना प्यास बुझाना चाहता है ? जिस स्वप्न-संसारको निर्मल प्रकाश-किरणोंके स्थानपर एक श्वेत, कुछ-कुछ चमकी धूम्र-समूह ही धुँधला-सा प्रकाश प्रदान करता रहता है, उसीमें तुम्हारे मोहन रूपकी एक अस्पष्ट-सी प्रतिमूर्तिको अ छातीसे लगाये हुए यह अपनी कौन-सी अस्फुट साध पूरी करना चाहता है ? अपने दुःख-सुखसे भरी हुई इन्हीं भौतिक-सी परीस्थितियोंके बीच तुम्हारी उस प्रतिमूर्तिको वह कभी-कभी अपने साथ इतनी-इतनी देरतक क्यों रख पाता है !

जब कभी मेरे अज्ञात अन्तस्‌में तुम्हारे दर्शनोंके लिये एक हूक उठती होगी तब शायद तुम इसी रूपमें कि अंशतक उसका उपचार करनेका उपक्रम करते हो। पर इसका फल ही कितना हो सकता होगा। इससे तो इ ही होता है कि मैं अपनी जागृतिके क्षणोंमें तुम्हारे विषयमें कुछ अधिक सोचने लगता हूँ—पर यह सोच-वि होना तो उदासीनतापूर्ण ही है।

मेरे अन्यतम रूप ! जब मैं अपने उस धुँधले स्वप्नलोकमें तुम्हारी मूर्ति-निर्माणका एक असफल प्र करके एक जैसी-तैसी प्रतिमा बना ही लेता हूँ तब क्या वहाँसे लौटनेपर मुझे जो संकोच और अस्पष्ट दर्श की पीड़ा होती है उसका अनुमान तुम्हें नहीं होता ? इस जटिल रहस्यपूर्ण प्रगति-समस्याको मेरे रूपघन ! कबतक सुलझाओगे ?

[—एक तरुण साधककी डायरीसे ८-१०-३

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

देवप्रयागके बाद इस मार्गपर भागीरथीके दर्शन नहीं होते। आज ही हमारा रुद्रप्रयाग पहुँचना सम्भव नहीं था; चूँकि अँधेरा होनेपर इन मार्गोंमें मोटरें नहीं चलतीं; अतः लगभग ६ बजे संध्याको हम श्रीनगर पहुँचे और रात्रि मुकाम हमने श्रीनगरमें ही किया। यहाँ हमें एक नसीहत मिली। श्रीनगरके मोटर-स्टैंडपर ज्यों ही हमारी बस रुकी, एक सज्जनने हमारी अगवानी की। अपरिचित होते हुए भी परिचित भावसे बात करते हुए उसने कहा, 'चलिये साहब, डाकबँगलेमें चलिये।' हमें यह मालूम कर कि यहाँ डाकबँगला है और उसमें हमें जगह मिल रही है, प्रसन्नता हुई। चूँकि यमुनोत्तरी-मार्गकी धर्मशालाओंके कष्टोंसे हम परिचित थे और गङ्गोत्तरी मार्गके डाक-बँगलोंके आरामदायक मुकामोंका भी हमें ज्ञान था। अतः स्वेच्छासे ही हम इस प्रयत्नमें रहते कि आगेकी हमारी यात्रामें हमें वनविश्रामालयों, डाकबँगलोंमें ही स्थान मिले। फिर यहाँ तो डाकबँगलेमें ठहरानेके लिये आग्रह हो रहा था। अस्तु, हम उत्साहित हो आगे बढ़े और डाकबँगलेमें पहुँच डेरा डाल दिया। इस डाकबँगलेमें हम ठहर तो गये, किंतु रातमें काफी देरतक सो नहीं पाये। कुछ अन्य मेहमान भी इस बँगलेमें थे जो बँगलेके कम्पाउंडमें चारपाइयोंपर पड़े थे। बँगलेके बरामदेमें हमलोग पड़े थे। गरमीका मौसम था ही, फिर श्रीनगरकी समुद्र-सतहसे ऊँचाई केवल १७०६ फुट ही थी, अतः काफी गरम था। गोविन्ददास इस गरमीके कारण बँगलेके कम्पाउंडमें सोये थे। निकट ही चारपाइयोंपर पड़े मेहमान आपसमें खूब जोर-शोरसे बातचीत ही नहीं, हँसी-मजाक कर रहे थे। गोविन्ददासकी नींदमें खलल पड़नेपर जब गोविन्दप्रसादने उनके निकट जाकर निवेदन किया कि 'कृपाकर यदि बात ही करनी है तो आहिस्ता करें, दूसरोंके आरामका भी ख्याल रक्खें।' गोविन्दप्रसादका इतना कहना था कि ये मेहमान बिगड़ पड़े। बोले—'क्या आपलोगोंकी वजहसे हमलोग बात भी न करें। अगर आपको नींद नहीं आती है तो दूसरी जगह चले जाइये।' इन मेहमानोंका यह फरमान सुनकर गोविन्दप्रसाद चुप हो गये। कहनेको तो हमलोग बारह आदमी थे। हमारे साथ छः नेपाली भारवाहक, एक पण्डाजी और डंडीवाले थे। ये मेहमान केवल चार। चाहते तो इन्हें इस बदतमीजीका भी बदतमीजीमें जवाब देकर आसानीसे चुप करा देते। किंतु 'शठे शाठ्यम्' और 'कण्टकेनैव कण्टकम्' वाली उक्तिके कायल तो हमलोग थे नहीं। चुपचाप सभी बिस्तरोंपर पड़े रहे, तीसरे पहर हमलोगोंको नींद आ गयी। फिर हमें खबर नहीं, इन बिगड़े दिल मेहमानोंकी बकझक कब बंद हुई।

सबेरे तड़के ही उठकर अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगे। इसी समय बँगलेका चौकीदार एक लंबा-चौड़ा बिल लेकर हमारे पास पहुँचा। इस बिलमें गोविन्ददासका दो रुपया जोड़ा गया था और शेष सभीका एक-एक रुपया माँगा गया था। नियम यह था कि दलके नेताके प्रमुख व्यक्तिका दो रुपया और शेषका एक-एक रुपया किराया देना होता है। इसके सिवा सफाई आदिका व्यय भी ठहरनेवालोंके जिम्मे। रुपया तो हमने चुका दिया पर होटलोंको छोड़ डाकबँगलोंमें भी इस प्रकारका निरख, जो हमने कभी नहीं देखा था, वह भी आज यहाँ देखनेको मिल गया। उचित हो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इन नियमोंपर पुनर्विचारकर व्यवस्थामें सुधार करे और यदि यह सम्भव नहीं है तो फिर इनकी जैसी व्यवस्था है उसे देखते हुए उन्हें डाकबँगला नाम न दे, होटल घोषित करे, जिसमें यात्रियोंको गलतफहमी तो न हो।

गढ़वाल जिलेमें कीर्तिनगर और श्रीनगर काफी प्रसिद्ध हैं। पहले हमें मार्गमें कीर्तिनगर मिला और कीर्तिनगरसे लगभग ढाई मील चलनेपर श्रीनगर। दोनों ही कस्बोंका नाम यद्यपि इनके नागरिक जीवनके अनुरूप अभी भी नहीं है। किंतु इनका नामकरण यहाँके राजाओंके नामपर हुआ है। यह प्रथा टेहरी-शासनके अधिकारी प्रतापशाहने अपने नामपर प्रतापनगर बसाकर प्रारम्भ की जिसका अनुकरण उनके उत्तराधिकारी महाराज कीर्तिशाहने कीर्तिनगर बसाकर किया। आगे इसी तरह श्रीनगर और नरेन्द्रनगरका भी नामकरण हुआ।

श्रीनगर, गढ़वाल जिलेमें सबसे बड़ा नगर है। सन १८९४ ईस्वीमें चमोलीके निकट बिरही नदीमें एक पहाड़ आ टूटनेसे अलकनन्दामें जब बाढ़ आयी, तब श्रीनगर बह गया

था। वर्तमान श्रीनगर पुनः बसा और अब यह तार, डाकघर, टेलीफोन, अस्पताल, डाक-बँगला, धर्मशाला, पुलिसचौकी, गवर्नमेंट हायर सेकेण्डरी स्कूल तथा मन्दिरों आदिसे पूर्णतया सुसज्जित इस क्षेत्रका एक बड़ा और सुन्दर कस्बा बन गया है। यह समुद्र-सतहसे १९०० फुटकी ऊँचाई-पर स्थित है। यहाँके कुछ मन्दिरोंमें श्रीकमलेश्वर-मन्दिर बहुत प्राचीन है। कहते हैं, भगवान् विष्णुने वैकुण्ठ-चतुर्दशीको श्रीकमलेश्वरजीको प्रसन्न कर उनसे सुदर्शनचक्र प्राप्त किया था। इसीलिये यहाँ इसी वैकुण्ठ चतुर्दशीको मेला भी लगता है। पुत्र-कामनावाले नर-नारी अपने हाथोंमें घीका दीपक लिये भगवान् कमलेश्वरकी अपने मनोरथकी पूर्तिके लिये आराधना करते हैं।

श्रीनगरसे पौड़ी होकर दुगड्डा और कोटद्वार रेलवे स्टेशनको मोटर सर्विस जाती है। पौड़ीसे श्रीनगरके इस मोटर-मार्गकी दूरी केवल १९ मील है और श्रीनगरसे रुद्रप्रयागकी दूरी २२ मील। इन मोटर-मार्गोंके कारण श्रीनगरका मोटर-स्टैंड भी काफी समृद्ध दिखा। अनेक लारियाँ जा-आ रही थीं, अनेक खड़ी थीं। श्रीनगरके ही निकट लगभग ५ मील सुकरता चट्टी है। पूर्वकालमें कहते हैं श्रीशुकदेवजीने यहाँ तपस्या की थी और इसी कारण इस स्थानका नाम 'सुकरता' पड़ा।

डाकबँगलेसे विदा हो हम मोटर-मुकामपर पहुँचे और रुद्रप्रयागके लिये मोटरमें सवार हो गये। लगभग दस बजे ही हम रुद्रप्रयाग पहुँच गये। रुद्रप्रयागमें भी हम अलकनन्दा और मंदाकिनीके संगममें स्नान करना चाहते थे अतः रुद्रप्रयागसे हमने दोपहरकी मोटरसे जानेका निश्चय किया।

रुद्रप्रयागकी ऊँचाई अब २००० फुट हो गयी थी, अतः ऋषिकेश, देवप्रयाग और श्रीनगरकी अपेक्षा यहाँके मौसममें अब कुछ ठंडक आ गयी थी। जहाँतक अलकनन्दा और मंदाकिनीके संगमका सम्बन्ध है, इस संगमका दृश्य भी वैसा ही सुहावना था, जैसा भागीरथी और अलकनन्दाके संगमका देवप्रयागमें। एक बात और यहाँ देवप्रयागकी अपेक्षा कुछ अधिक आकर्षक थी। देवप्रयागमें भागीरथी और अलकनन्दाका जो मिलन हुआ है वह देवप्रयागकी समतल भूमिपर हुआ है, किंतु यहाँ कुछ ऊँचाई बढ़ जानेके कारण यात्रियोंको मंदाकिनी और अलकनन्दाके इस संगमपर पहुँचनेके लिये एक खड़ी सीढ़ियोंवाला छिड़ाव उतरना पड़ता है। इस छिड़ावके प्रारम्भसे संगमका दृश्य बड़ा मनोरम प्रतीत होता है। अलकनन्दा और मंदाकिनी दोनों बहनें समान भावसे आती हैं और एक सौहार्द स्थितिमें मिलकर मंदाकिनी अपने-आपको अलकनन्दामें समर्पित कर देती है। संगमपर जलका वेग यद्यपि तेज ही है, सो यह तो इस क्षेत्रकी महिमा ही है, किंतु भागीरथीके बहावका वेग यहाँ दिखायी नहीं देता। आगेके प्रवाहका नाम जिस प्रकार प्रयागराजमें यमुनाके मिलनेपर तथा देवप्रयागमें अलकनन्दाके विलीन होनेपर गङ्गाका रहता है, उसी प्रकार यहाँ भी मन्दाकिनीका विसर्जन होते ही आगे अलकनन्दा चलती है।

मंदाकिनीके हमें सर्वप्रथम दर्शन रुद्रप्रयागमें हुए। इस गङ्गाकी श्वेत धारा न जाने कबसे देखते आ रहे थे, यमुनाके श्याम-स्वरूपके भी हमने युगोंसे दर्शन किये थे। अलकनन्दाका रंग यमुनासे मिलता-जुलता था परंतु मंदाकिनीके जलमें हमने जो हरित झाईं देखी, वह इसके पूर्व किसी सरिताके सलिलमें नहीं देखी थी। यह हरीतिमा हरी काईकी गंदी हरियाली नहीं थी, अपितु हरी झाईं लिये हुए मंदाकिनीका नीर अत्यन्त निर्मल था। इस प्रवाहको निरख हमारे मनमें एकाएक महाकवि बिहारीद्वारा रचित सतसईका प्रथम दोहा स्मरण हो आया—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परत स्याम हरित द्युति होय॥

इस दोहेका स्मरण आते ही हमें मंदाकिनीके नीरमें नील, उसके फेनमें पीली मृत्तिकाके मिश्रणके कारण पीत और समस्त प्रवाहमें इस नील और पीत वर्णमें हरित झाईं दृष्टिगोचर हुई।

संगमके समीप ही श्रीरुद्रनाथजीका एक गुम्बददार मन्दिर है। कथा है, यहाँ नारदजीने संगीतशास्त्रका पूर्ण रहस्य जाननेके लिये शिवजीकी उपासना की और उनके सहस्रनामोंसे उनकी स्तुति की। शिवजीने प्रसन्न होकर नारदजीको संगीतशास्त्रका सम्पूर्ण भेद बता दिया। संगममें स्नानादि कर हमलोगोंने मन्दिरमें भगवान् रुद्रनाथजीका दर्शन और पूजन किया।

रुद्रप्रयाग भी एक अच्छा कस्बा है। यहाँ तारघर, टेलीफोन, अस्पताल, धर्मशाला, हायर सेकण्डरी स्कूल, संस्कृत-बालिका-पाठशाला और डाक-बँगला है तथा कुछ अच्छी दूकानें भी हैं।

रुद्रप्रयागसे दो धामोंको मार्ग जाते हैं। एक रास्ता अलकनन्दाका पुल पारकर मन्दाकिनीके किनारे-किनारे उत्तरकी ओर श्रीकेदारनाथको जाता है और दूसरा रास्ता अलकनन्दाके किनारे-किनारे पूर्व-उत्तरकी ओर श्रीबदरीनाथको जाता है। अधिकांश यात्री पहले केदारनाथजीके दर्शन कर इसी रास्ते लौट श्रीबदरीनाथको जाते हैं। यात्रा-विधानके अनुसार यात्रा-क्रम भी यही है। रुद्रप्रयाग एक तो अलकनन्दा और मन्दाकिनीके संगमके कारण तथा दूसरे केदारनाथ और बदरीनाथके दो भिन्न मार्गोंके यहाँ मिलनेके कारण यातायातका प्रमुख केन्द्र है। यात्रियोंका खासा जमाव रहता है।

अपने कार्यक्रमके अनुसार दोपहरकी मोटरसे रवाना हो हम मध्याह्नके उपरान्त काकड़ागाढ़ पहुँचे। रुद्रप्रयागसे काकड़ागाढ़की दूरी केवल २२ मील है। काकड़ागाढ़ पहुँचते ही मोटरका मार्ग भी समाप्त हो जाता है और केदारनाथके लिये यहाँसे पैदल मार्ग आरम्भ होता है। रुद्रप्रयागसे काकड़ागाढ़तकका मोटर-मार्ग वैसा ही ऊबड़-खाबड़ था जैसा इस क्षेत्रके अन्य मार्गोंका। कई जगह तो बहुत ही खराब—बहुत धीरे-धीरे सतर्कतासे चालक मोटर चलाता इस बाईस मीलके मार्गको पग-पग नापता-सा कोई दो-ढाई घण्टेमें काकड़ागाढ़ पहुँचा। मार्गका प्राकृतिक सौन्दर्य दर्शनीय था। काकड़ागाढ़ पहुँचनेके पूर्व रुद्रप्रयागसे ११ मील चल मार्गमें 'अगस्त मुनी' नामक स्थानपर मोटर रुकती है। कहते हैं, यहाँ अगस्त्य मुनिने तप किया था। अगस्त्य मुनिका यहाँ एक मन्दिर भी है। विषुवत् संक्रान्तिको इस स्थानपर एक बड़ा मेला लगता है। 'अगस्त मुनी'में डाकघर तथा जूनियर हाई स्कूल है। हमलोग अगस्त्य मुनिके मूर्तिदर्शनको उक्त मन्दिर भी गये। ऋषि अगस्त्यकी यह मूर्ति आकर्षक नहीं है। मन्दिरके दो भुजाओंवाले धातुके बाहरी हिस्सेपर दाहिनी ओर गवाक्षमें हर-गौरीकी एक सुन्दर मूर्ति है। मन्दिर बस्तीमें आबादीके भीतर बना है। स्थान अच्छा है। यह स्थान ३००० फुटकी ऊँचाईपर है। हिमालयके हिमानी शृंग यहाँसे दीखने लगते हैं और यद्यपि इन्हीं श्रेणियोंके नीचे केदारनाथ हैं तथापि जो शिखर दिखायी दिये उनके नीचे केदारनाथ नहीं हैं। ये शिखर हिमालयके चौखम्भा शिखरके नामसे प्रसिद्ध हैं। आजका हमारा मुकाम गुप्तकाशीमें था, जो काकड़ागाढ़से तीन मील है।

मोटरसे उतरते ही हमने अपने पाँव साधे और पदयात्रा आरम्भ की। काकड़ागाढ़के आगे कुछ दूरतक ही पैदल मार्ग हमें अच्छा मिला। यह इसलिये कि गुप्तकाशीतक मोटरका मार्ग बनाया जा रहा है; किंतु, आगे वही दुर्दशा, फिर भीषण चढ़ाई! काकड़ागाढ़को 'कुण्डचट्टी' भी कहते हैं। यहाँसे एक मील आगेसे पहाड़के ऊपर शोणितपुरको सड़क जाती है, जिसका फासला तीन मील है। शोणितपुर एक महत्त्वपूर्ण स्थान है—इसलिये पाठकोंकी जानकारीके लिये शोणितपुरका विवरण यहाँ देना उचित होगा। कहते हैं शोणितपुरमें बाणासुरके गढ़की निशानी तथा बाणासुर, अनिरुद्ध और पञ्चमुखी महादेवकी मूर्तियाँ हैं।

कथा है, राजा बलिका पुत्र बाणासुर पिताके रसातल जानेके उपरान्त पृथ्वीमें शोणितपुरकी रचना कर दानवोंके साथ रहने लगा।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध ६२वें अध्यायमें कथा आयी है कि बलिके सौ पुत्रोंमेंसे जेष्ठ पुत्र बाणासुर शोणितपुरमें राज्य करता था। शिवजी उसकी ताण्डवगतिके नृत्यसे प्रसन्न हो उसके इच्छानुसार अपने कुलसमेत उसके घरमें उपस्थित हुए। एक बार परम पराक्रमी बाणासुरने शिवजीसे कहा कि आपके अतिरिक्त मुझसे युद्ध करनेवाला कोई नहीं है और युद्धके लिये मेरी भुजाएँ खुजलाती हैं, इसलिये कृपा करके आप मुझसे युद्ध कीजिये। शिवजी बड़े क्रुद्ध हुए और बोले 'मेरे समान बलवान्से जब तेरा युद्ध होगा, तब तेरा गर्व चूर हो जायगा।'

बाणासुरकी उषा नामक कन्या थी। स्वप्नमें अनिरुद्धके साथ उसका समागम हुआ। जागनेपर वह अपने प्रियतमके लिये व्याकुल हो गयी। बाणासुरके मन्त्री कुम्भाण्डकी पुत्री चित्रलेखा बड़ी चित्रकार और योगविद्यामें निपुण थी। उषाने अपनी सखी चित्रलेखाको अपनी मनोव्यथा सुनायी। चित्रलेखा देव-मानव सभीके चित्र बना-बना उषाको दिखाने लगी। अन्तमें अनिरुद्धका चित्र देख उषा पहचान गयी और बोली मेरा मनमोहन चितचोर यही है। योगबलसे चित्रलेखा आकाशमार्गसे होकर द्वारिकापुरी पहुँची। उस समय अनिरुद्ध निद्रामग्न पलँगपर पड़े थे। चित्रलेखा योगबलसे अनिरुद्धको उसी अवस्थामें शोणितपुर ले आयी। उषा और अनिरुद्ध दोनों गुप्तभावसे एक साथ रहने लगे। कुछ समय पश्चात् बाणासुरको यह बात मालूम हुई और उसने क्रुद्ध हो अनिरुद्धसे युद्ध कर उसे नागपाशमें बाँध लिया।

कुछ काल बाद द्वारिकामें भगवान् श्रीकृष्णको उनके पौत्र अनिरुद्धके कारावासका समाचार नारदजीने जब दिया

तब श्रीकृष्ण एक बड़ी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे और नगरको घेर लिया। अपनी सेना लेकर बाणासुर भी पुर-बाहर हो रणोद्यत हो गया। उसकी सहायताके लिये महादेवजी भी अपनी चित्र-विचित्र सेना लेकर रणभूमिमें आ सुशोभित हुए। भयानक युद्ध होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णने जृम्भण अस्त्र चलाया, जिसके कारण शिवजी जँभाई लेने लगे। तब श्रीकृष्णने बाणासुरकी सेनाका विनाश कर बाणासुरकी चार भुजाओंको छोड़ शेष सब काट डालीं। बाणासुरकी हार हुई और उसने श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम कर उषाको अनिरुद्धके अर्पितकर बिदा कर दिया।

शोणितपुरकी पश्चिम दिशामें बाणासुर दैत्यने अजेय वरदान पानेके लिये शिवजीका कठोर तप किया था, यहीं भगवान् शंकरने उसे अभय वर दिया था और तभीसे यहाँ 'बाणेश्वर महादेव' स्थित हो गये।

केदारनाथजीके अधिकतर पंडे शोणितपुरके ही रहनेवाले होते हैं।

गुप्तकाशी पहुँचनेके पूर्व भंडेरचौरा नामक स्थानपर हमें उत्तराखण्ड विद्यापीठके एक कार्यकर्ता मिले, जिनसे विद्यापीठका बहुत-सा हाल मालूम हुआ। बादमें श्रीगङ्गाधरजी मैठाणी मन्त्री, श्रीउत्तराखण्ड विद्यापीठने एक पत्र लिखकर गोविन्ददासको विद्यापीठ आनेका निमन्त्रण भी दिया; किंतु, समयाभाववश हमलोग कोई जा न सके। यह संस्था इस पहाड़ी क्षेत्रमें शिक्षणका उपयोगी कार्य कर रही है।

संध्याके कुछ पूर्व हम लगभग डेढ़ मीलकी दुर्गम चढ़ाई पारकर गुप्तकाशी पहुँचे। मार्गमें चारों ओर प्राकृतिक सौन्दर्यकी चाँदनी-सी छिटक रही थी। ४८५० फुटकी ऊँचाईपर रुद्रप्रयागसे २४ मील दूरीपर स्थित गुप्तकाशी केदारनाथ-मार्गका एक प्रमुख कस्बा है। पीछे छोड़े मुकामोंकी अपेक्षा ऊँचाईके बढ़ते ही यहाँ अब शीत भी बढ़ चली थी। गुप्तकाशीमें हमारे ठहरनेकी व्यवस्था हमारे पंडाजीने एक अच्छे स्थानपर की थी।

गुप्तकाशीमें दो प्राचीन मन्दिर हैं—एक चन्द्रशेखर महादेव और दूसरा अर्द्धनारीश्वर। यात्रियोंके आकर्षण और उनकी अर्चना-आराधनाकी दृष्टिसे बीच बस्तीमें महादेवका मन्दिर है, जिसमें विश्वनाथ नामक शिवलिङ्गकी स्थापना है। मन्दिरके सामने मणिकर्णिका नामक कुण्ड है। इस कुण्डमें दो निर्झरोंकी धाराएँ गोमुखसे गिरती हैं। एक धाराको गङ्गा, दूसरीको यमुना माना गया है। यहाँके लोगोंका कहना है कि वे धाराएँ यमुनोत्तरी और गंगोत्तरीसे ही यहाँ आती हैं, इसलिये इन्हें यमुना और गङ्गा कहते हैं। यात्री इन दोनों धाराओंमें स्नान कर भगवान् विश्वनाथके दर्शन और दान-पुण्यादि कर यहाँ तीर्थयात्राका सुख उठाते हैं।

गुप्तकाशीमें शासकीय औद्योगिक माध्यमिक शाला, प्राथमिक शाला तथा तार-डाकघर, औषधालय और एक अच्छा-सा बाजार है। गुप्तकाशीसे रुद्रप्रयागतक टेलीफोन-सर्विस भी है, जिसके कारण यहाँसे भेजे जानेवाले तार रुद्रप्रयागतक टेलीफोनसे भेजे जाते हैं। जलवायु और तीर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे गुप्तकाशी हमें उत्तराखण्डका एक उत्तम स्थान जान पड़ा। केदारखण्डमें इस स्थानका नाम 'गुप्त वाराणसी' है। यहाँसे मन्दाकिनीके बायें दूसरी ओर कुछ ऊपर सामने ऊखीमठ ग्राम दिखायी देता है, जो केदारनाथसे लौटकर चमोली होकर बदरीनाथ जानेवाले यात्रियोंके मार्गमें पड़ता है। ऊखीमठसे चमोली ३० मील और बद्रीनाथ ७० मील पड़ते हैं। दीपावलीसे अक्षयतृतीयातक केदारनाथके पट बंद होनेपर केदारनाथका पूजन यहीं होता है। यहाँ शिव-पार्वती, मान्धाता, अनिरुद्ध और उषाकी धातु-मूर्तियाँ हैं। कहते हैं पूर्वकालमें उषाका निवास-स्थान होनेके कारण इस स्थानका नाम उषामठ पड़ा। कालान्तरमें बिगड़कर वही ऊखीमठ हो गया। कुछ नवदुर्गाकी पुरानी पाषाण-प्रतिमाएँ हैं। ऊखीमठमें डाकघर, अस्पताल तथा पुलिस-चौकी भी है।

अपने गुप्तकाशी मुकाममें हमलोगोंने रातमें भोजन किया और मन्दिरमें विश्वनाथ भगवान्के दर्शनकर हम आरामतलब हो गये। रुद्रप्रयागमें एवं रुद्रप्रयाग छोड़नेके बाद मार्गमें मुकाम न होनेके कारण भोजन-व्यवस्था न हो सकी। अतः सारे दिन निराकण्ठ ही रहनेपर आज रात्रिमें ही हमें यहाँ भोजन मिला।

प्रातःकाल उठते ही हमलोगोंने मणिकर्णिका कुण्डमें स्नान किये, भगवान् विश्वनाथके मन्दिरमें दर्शनकर दान-पुण्यादिक कृत्योंसे निवृत्त हो हम अपनी आगेकी मंजिलपर चल पड़े।

गुप्तकाशीसे केदारनाथपुरी २४ मील रह जाती है। यहाँ भी हम अपनी पिछली यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी यात्राओंके सदृश इस क्षेत्रकी पावन सरिता मंदाकिनीके किनारे-किनारे केदारनाथ-मार्गपर चल रहे थे। हमने अभीतक यमुनोत्तरीके

भयानक मार्ग देखा था, उसके बाद गंगोत्तरी जाते हुए भी उत्तरकाशीके बाद हमें करीब-करीब यमुनोत्तरीके सदृश ही और कहीं-कहीं तो यमुनोत्तरीसे भी बढ़-चढ़कर मार्गकी बीहड़ताका सामना करना पड़ा था। केदारनाथका मार्ग यद्यपि हमें अच्छा बताया गया था, किंतु हमारा अनुमान यही था कि मार्गकी इस विपत्तिका सामना तो हमें यहाँ भी करना पड़ेगा; किंतु हमने देखा गुप्तकाशीके बाद जो मार्ग हमें मिला, वह आशातीत अच्छा था। मार्ग यद्यपि पगडंडीका ही है, पर बीहड़ बिल्कुल नहीं। काफी चौड़ाई और घुमावदार होनेके कारण चढ़ाव भी वैसा कष्टप्रद प्रतीत नहीं होता, जैसा यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरीका। फिर जहाँ कहीं मार्गके एक ओर गहरा खड्ड अथवा मोड़ आता है, वहाँ पत्थरकी मुडेर बनी हुई है जिससे मनमें उस प्रकारके भयका भी संचार नहीं होता जैसा गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी मार्गमें होता है। परंतु इस अच्छे मार्गके बनानेका श्रेय स्वतन्त्र भारतकी सरकारको नहीं है, जब भारत परतन्त्र था तो उस समय अंग्रेज सरकारने यह मार्ग बनवाया था। देशके स्वतन्त्र होनेके पश्चात् उत्तर-प्रदेशकी सरकारने कुछ बातें इसमें प्रशंसनीय की हैं। एक स्थानसे दूसरा स्थान कितनी दूर है, इसकी जानकारी तथा कौन स्थान समुद्र-सतहसे कितनी ऊँचाईपर है, यह जानकारी यहाँ पाषाण-शिलाओंपर लिख दी गयी है। कुछ चपटी शिलाओंपर कुछ अन्य हिदायतें और सूचनाएँ भी लिखी गयी हैं, इनमें कुछ तो कविताएँ हैं। जैसे—

हैजेका लगवालो टीका, इससे लाभ बड़ा है नीका।
बासी भोजन गन्दा पानी, बीमारीकी यही निशानी॥
मादक चीजें कभी न पीना, यदि चाहो तुम अधिक जीना।
घर बदन वस्त्रकी करो सफाई, यदि चाहो तुम देश भलाई॥

कुछ गद्यमें आवश्यक सूचनाएँ भी हैं। जैसे—'हैजेका टीका लगाना अनिवार्य है।' 'अगला प्राथमिक चिकित्सा-केन्द्र अमुक स्थान और दूरी पर है' 'केवल उबला या नलका लाल दवाई डाला हुआ पानी पीजिये।' 'कच्चे और अधिक पके फल मत खाइये।' 'यात्रा-कालमें सूर्योदयके पहले प्रस्थान कीजिये।' 'भोजनको मक्खियोंसे बचाइये।' 'रोगीको अस्पताल पहुँचाकर पुण्यलाभ कीजिये।' 'चट्टी-चौधरीसे लाल दवा मुफ्त लीजिये।' 'चट्टी-चौधरीसे आपको हर तरहकी सहायता मिलेगी।' अधिक अन्न उत्पादनके सम्बन्धमें भी कुछ कविताएँ और सूचनाएँ जगह-जगह लिखी हैं।

इन कविताओं और सूचनाओंका यहाँकी जनता और यात्रियोंपर काफी प्रभाव पड़ता है। पुराने विचारोंके लोग, जब ये रोग-निरोधक वैज्ञानिक प्रयोग प्रारम्भ हुए तो, विरोध करते थे। यही नहीं, अभी भी कुछ लोग इन टीकोंका मजाक उड़ाते हैं। विज्ञान पूर्ण नहीं है, इसे तो हम स्वीकार करते हैं और होना भी नहीं चाहिये। अपूर्ण मानवका प्रयत्न पूर्णताको प्राप्त करना ही है और इस प्रयत्नमें वह जुटा है, जिस दिन वह पूर्णता प्राप्त कर लेगा, दुनियाँकी परिभाषा ही बदल जायगी। परंतु, वह मजाक उड़ानेकी वस्तु तो कदापि नहीं। अथक श्रम और महान् व्ययसे जो अनुसंधान किये गये हैं, यदि हम उन्हींका आश्रय नहीं लेंगे तो हमारा अवलम्ब ही क्या रह जायगा! कुछ पानेके प्रयत्नमें हमें क्या-क्या खोना पड़ता है। क्या गँवाना पड़ता है, यहाँतक कि कभी-कभी अपने आपको खपा भी देना पड़ता है, उस बीजकी तरह जो एक विशाल वृक्षका आकार ग्रहण करता है। सर्वसाधारण इसकी सहज कल्पना नहीं करता। अस्तु, इस दृष्टिसे ये जनोपयोगी अनुसंधानों और प्रयोगोंकी कतिपय पढ़े-लिखे व्यक्तियोंद्वारा आलोचना और इनका मजाक हम एक अनुचित बात मानते हैं। ऐसी बातोंसे मनुष्यके अज्ञानताके घेरेमें पड़े रहनेकी प्रवृत्तिको बढ़ावा मिलता है, जो प्रवृत्ति अत्यन्त खेदजनक है। हमें यहाँके लोगोंसे मालूम हुआ कि हैजेके टीकेको अनिवार्य कर देनेसे जो हैजेकी बीमारी यहाँ यात्राकालमें अनेक स्थानोंपर भयंकर रूपसे अनेक बार फैल जाती थी, वह प्रायः समाप्त हो गयी है।

सरकारकी ओरसे यहाँ कुछ पक्के और कच्चे शौचालय और मूत्रालय भी बनाये गये हैं, जिनमें सफाईकी दृष्टिसे डी० डी० टी० के छिड़कनेकी अच्छी व्यवस्था है। केदारनाथके इस मार्गमें चिकित्साकी भी व्यवस्था की गयी है। ठहरनेके स्थान चट्टियोंके मकान भी बुरे नहीं हैं। यद्यपि इन मकानोंमें गंदगी अभी भी काफी है। फिर इनके रसोईघर, चौके तो बहुत ही गंदे हैं और नहाने आदिकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। काली-कमलीवालोंकी इस मार्गकी धर्मशालाएँ गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी मार्गकी धर्मशालाओंसे अच्छी हैं। किंतु इनमें भी काफी सुधारकी आवश्यकता है। विशेषकर गंदगी दूर करनेकी, रसोईघर सुधरवाने और स्नानागार बनवानेकी। तो भी इस मार्गके और अपनी यात्राके पिछले दो धामोंके निरीक्षणसे यह ज्ञात हो जाता है कि जहाँ एक ओर यमुनोत्तरी और गंगोत्तरीकी तरफ सरकारकी और सार्वजनिक ट्रस्टों अथवा दानी-मानी व्यक्तियोंकी उपेक्षा है, वहाँ दूसरी ओर केदारनाथ-पथपर काफी काम हुआ है और सुधारवादी प्रयत्न हो रहे हैं।

गुप्तकाशीसे केदारनाथकी ओर जैसे-जैसे आप बढ़ते

हैं, प्राकृतिक दृश्य अधिकाधिक मनोहर होता जाता है। आगे कुछ दूरतक तो चीड़का जंगल मिलता है, पर इसके बाद चीड़ या देवदारके सदृश सुन्दर वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते। हाँ, बहुत ऊँचाईपर देवदारके वृक्षोंकी ही एक जातिके वृक्ष दिखते हैं। इन्हें 'चिलादी' कहते हैं। ये मैदानोंमें होनेवाले सुरोंके वृक्षोंके सदृश सीधे और उसी प्रकार नीचेसे ऊपर तक छोटी-छोटी टहनियों और पत्तोंवाले होते हैं, परंतु सुरोंके वृक्षोंसे कहीं अधिक ऊँचे, पर देवदारके बड़े वृक्षोंके सदृश ये फैले हुए नहीं होते। चीड़ और देवदारके सदृश सुन्दर वृक्षोंका इस मार्गपर जंगल न होते हुए भी वृक्षावली अत्यन्त सघन है। मार्गमें अनेक स्थलोंपर तो इस हरित सघन-वृक्षावलीकी कुञ्जें बन गयी हैं, जिनके कारण मार्गके इन स्थलोंपर सूर्यकी किरणोंतकका प्रकाश नहीं पहुँचता। फिर ये स्थल हिमालयकी शिखरावलीसे गिरते हुए अगणित जलप्रपातोंके कारण अत्यधिक सुन्दर हो गये हैं। मार्ग, यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, मंदाकिनीके किनारे-किनारे ही गया है और मार्ग चलते मंदाकिनीके दर्शन होते रहते हैं, किंतु अनेक बार इस सघन वृक्षावलीके कारण मंदाकिनी दिखायी भी नहीं देतीं। इसके प्रवाहपर इन तरुओंकी छाया है। ऐसे स्थलोंपर केवल मंदाकिनीका मन्द-मन्द शब्द ही सुन पड़ता है और मंदाकिनीके दर्शन-सुखसे वञ्चित नेत्र जब प्राकृतिक दृश्योंका निरीक्षण करते तो इन दृश्योंका मनपर जो प्रभाव पड़ता, उसके कारण मंदाकिनीके रवसे पूरित हमारे कान और दृश्योंसे लुभित लोचन दोनों एक तन्मय स्थितिमें आकर मनको वह एकाग्रताकी सुखानुभूति कराते, जो मंदाकिनी और इन अरण्य-दृश्योंके दर्शनमें नहीं होती। वृक्षावलीके अतिरिक्त गिरिशृंगोंपर अनेक प्रकारके पौधोंकी झाड़ियाँ हैं, जिनमें छोटा और बड़ा हंसराज तथा पतला बाँझ प्रमुख रूपसे दिखायी पड़ता है। यह हंसराज केवल गिरिशृंगोंपर उगा हो इतना ही नहीं, बाँझ नामक वृक्षोंकी पीडों और शाखाओंतकपर भी यह उगा है। इससे बाँझके कुरूप वृक्ष भी सुन्दर हो गये हैं। बाँझके इन वृक्षोंपर हंसराजके सिवा अनेक प्रकारकी कुछ ऐसी लताएँ चिपटी और लिपटी रहती हैं, जिन्हें जौंक कहते हैं और कुछ लताएँ इन वृक्षोंसे झूमकर चलती हुई पवनमें झूमती रहती हैं।

इस ओर हिमालयकी शिखरावलीके भी हमें कुछ बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्य दिखायी दिये। एक स्थानपर एकके बाद एक ऊँची होती हुई छः श्रेणियाँ हमें दिखायी भी दीं और इन श्रेणियोंके बाद इन श्रेणियोंके बीचमें हिमसे ढका हुआ एक शिखर। इन सात श्रेणियोंको देख हमें 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यं' ये सात लोक स्मरण हो आये। एकके अनन्तर उससे ऊपरका दूसरा लोक और अन्तमें हिमसे ढका हुआ श्वेत सत्यलोक। जब हम निर्निमेष दृष्टिसे इन गिरि-श्रेणियोंको देख रहे थे, उस समय एक और नयी घटना घटी। कुछ ही क्षणोंमें इन श्रेणियोंके बीचके स्थानमें मेघ आ गये। इन मेघोंसे ये श्रेणियाँ तो लुप्त हो गयीं, पर इनके ऊपरके 'चिलदी' के वृक्ष दिखते रहे। जान पड़ता, जैसे ये चिलदीके वृक्ष गिरिशृंगोंपर न उगकर मेघोंपर उगे हों। एक अन्य श्रेणीमें 'चिलदी' के ये वृक्ष बीच-बीचमें उगे हुए थे और ये घिरे थे अन्य छोटे-छोटे वृक्षोंसे। इन्हें देख गोविन्ददासैको न्यूयार्क नगरका स्मरण हो आया। जहाँ, साठ-सत्तर और अस्सी-अस्सी मंजिलके कुछ मीनारनुमा मकान छोटे-छोटे कुछ अन्य घरोंसे घिरे हुए हैं। उन्होंने कहा "इस शिखरावलीको वे 'हिमालय प्रदेशका न्यूयार्क' नाम देंगे!" (क्रमशः)

भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं

मुझे यह निश्चय हो गया है और मैं यह अनुभव करता हूँ कि भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं। मैं कभी अकेला रहता ही नहीं। अवश्य ही कभी-कभी मैं भगवान्‌को देख नहीं पाता, वे मेरी आँखोंसे ओझल-से हो जाते हैं, पर उस समय भी मैं यह अनुभव करता हूँ कि वे मेरे साथ ही हैं। जहाँ यह अनुभूति मेरे हृदयमें आती है कि वहीं तुरंत मेरी आँखोंका पर्दा हट जाता है!

इसीसे मैं सदा सर्वत्र निर्भय तथा निश्चिन्त रहता हूँ; क्योंकि उनके रहते ऐसा कोई कारण बन ही नहीं सकता, जिससे मुझे कभी किसी प्रकारसे भय या चिन्ता हो।

कभी किसी बाहरी परिस्थितिको देखकर, न जाननेवाले लोग चाहे यह समझें कि मैं भय-चिन्तासे ग्रस्त हूँ। पर यह उनकी अपनी दृष्टि है। मेरी दृष्टिमें तो सारे भय तथा सारी चिन्ताओंका सदाके लिये नाश हो गया है; क्योंकि भगवान् हर समय, हर जगह मेरे साथ रहते हैं।

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १०११ से आगे]

मनुष्य २२००० वर्ष जियेगा

एक कीटाणुके रूपमें गर्भमें प्रवेश कर माताके रक्तके तत्वोंके संयोगसे बढ़ते हुए वह कीटाणु क्रमशः पिण्डका रूप धारण करता है और पूर्ण पिण्ड बनकर वह बाह्य संसारमें जन्म लेता है। जन्म लेते ही उस पिण्डमें विकासके साथ-साथ मृत्युकी रासायनिक प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है। गर्भकालमें मृत्युकी यह क्रिया उतनी उग्र नहीं होती, जितनी कि जन्मके बाद; क्योंकि अब उसे बाहरसे रक्तके बदले दूध, जल, वायु आदिके रूपमें भोजन प्राप्त होने लगता है, जिसकी लम्बी पाचन-प्रणाली एवं रासायनिक क्रियासे उसे पुष्टि मिलनेके साथ-साथ उसमेंसे अनेक व्यर्थ रासायनिक विष भी शेष होकर निकलते हैं। अन्नका उबाला भूना और अनेक प्रकारके स्वादिष्ट मिश्रण होनेसे तो यह और भी विषम बन जाता है और मिश्रित विषके प्रसारसे मल-मूत्र-पसीनेसे शरीरमें मृत्युकी रासायनिक क्रिया और भी उग्र हो उठती है।

The ultimate cause of death is poisoning from waste products in human physiology and biology, bionosis in biophysiology.

मनुष्यकी पाचन-प्रणालीमें यदि इस विषमताका संचार न होने पाये और किसी बाह्य अथवा आन्तरिक विषमतासे रक्तमें भी विष-विकारका संचार न होने पाये, पाचन और रक्तसंचार-प्रणाली हमेशा शुद्ध सतेज बनी रहे तो मनुष्य कभी न मरे; वह अमर बना रहे।

संसारमें सूक्ष्म जीवाणु मरते नहीं पाये जाते। बंद और रुके हुए पानीके स्थलोंमें, जैसे, गड्ढे, तालाब आदिके पानीमें ऐसे एककोषी जीवाणु पाये गये हैं जो कभी मरते नहीं। वे द्विभाजित, अर्थात् स्वयं एकके दो बनकर बढ़ते जीते रहते हैं। इसका नाम परामेसिया (Parameci) है। एक ऐसा जीवाणु साढ़े तेरह वर्षमें एकसे दो बनता हुआ नौ हजार पीढ़ियोंमें इतना विस्तृत परिवारवाला बन जाता है कि उसे देखनेके लिये मनुष्यको ढाई लाख वर्षकी आयु चाहिये।

सन् १९१२ में अमेरिकाकी 'राकफेलर शोध संस्था'के डॉक्टर अलेक्सिस केरलने एक मुर्गीके अजन्मे बच्चे (Chick embryo) के हृदयका एक टुकड़ा निकालकर सुरक्षित कई वर्षोंतक रक्खा और उसे नित्य साफ करते खूराक देते रहे, वह जिन्दा रहा, मरा या सड़ा-गला नहीं। अमरता सिद्ध करनेके पश्चात् उसे जिन्दा ही फेंक दिया गया, अन्यथा सैकड़ों वर्षोंतक उसे जीवित रक्खा जा सकता था।

मानव-शरीरका भी यही हाल है। यह शरीर एककोषी न होकर बहुकोषी, अगणित जीवकोषोंका सुसंगठित स्थूलरूप है। इस शरीरके प्रमुख किसी अङ्गके कुछ अथवा सभी जीवकोषोंपर आन्तरिक विकारसे अथवा बाह्य आघातसे, केवल एक अङ्गकी मृत्यु होनेसे सारा शरीर, सारा कारखाना बंद हो जाता है, यही मृत्यु है। मस्तिष्क, फेफड़े, हृदय, यकृत, मूत्रयन्त्र, ग्रंथियाँ जैसे प्रमुख अङ्गोंमें किसीके भी थककर बैठ जानेसे, विषाक्त होनेसे, आघातसे परस्पर सम्बन्धित सभी अङ्गोंकी मृत्यु हो जाती है। स्वयं जीते और समर्थ होते हुए भी वे बेकार, निर्जीव हो जाते हैं। जबरदस्ती मरना पड़ता है, अन्यथा कानूनसे वे अमर हैं। हरेक अङ्गकी आयु और सामर्थ्य अलग-अलग है। हड्डी करोड़ों वर्ष पहलेकी अब भी मिलती है।

आग सब कुछ भस्म कर देती है। आगमें विनाश है। यह आग मानव-शरीरमें, शरीरको चैतन्य बनाये रखनेके लिये मौजूद है, परंतु चैतन्य रखनेके साथ-साथ यह उसको भस्म भी करती रहती है। यह है उसका टेम्परेचर ९८.६० फ०। वैज्ञानिक कहते हैं कि यदि मानव-शरीरकी आग कुछ ठंडी हो जाय, आधी हो जाय, अर्थात् ४९.३० फ. कर दी जा सके तो मनुष्यकी आयु दो हजार वर्षतक बन सकती है। परंतु प्रकृतिने शीत और उष्ण दोनों जगहोंके निवासियोंका आन्तरिक तापक्रम एक-सा रक्खा है। इसे कौन कैसे कम करे और दीर्घायु पाये?

किन्हीं-किन्हीं वैज्ञानिकोंने, रोगियोंकी चीरफाड़ करते समय हृदय-गति बंद हो जानेपर विशेष प्रयत्नों और कारीगरीसे हृदयको गतिमान करके उसे कुछ काल जीवित रक्खा है और वे आशा करते हैं कि ऐसे प्रयत्नोंसे आयु ११५ वर्षकी बनायी जा सकती है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय, अमेरिकाके एक खोजी डॉक्टर हेनरी सिम्स कहते हैं कि मनुष्यमें दस वर्षकी आयुमें जो रोग-निरोधक क्षमता होती है, वैसी ही यदि आजीवन बनी रहे तो मनुष्य ८०० वर्ष जी सकता है और इस प्रकार ईमानदारी रखते हुए कोई-कोई २२००० (बाईस हजार) वर्षतक जी सकता है। परंतु मनुष्य अज्ञान और असंयमसे धीरे-धीरे आत्मघात करता हुआ, आत्मविषमयतासे रोगी, क्षीण होकर अल्पायुमें ही मर जाता है। इसका कारण है माता-पिताके विकार, जो आनुवंशिक पैतृकरूपमें जन्मसे ही संतानको रोग, अपंगता, क्षीणताके रूपमें मिलते हैं और पश्चात् बहुत कुछ अपनी अज्ञानतासे किये हुए अपने ही पाप होते हैं। इन सब कारणोंसे आज पैदा हुए बच्चे तुरंत मर जाते हैं अथवा एक-दो दिन जीकर या कुछ महीने, कुछ वर्ष जीकर अधमरे, आधे जिन्दे रहकर मरते हैं। पूर्ण चेतन, सजीव कोई नहीं मिलता।

अब इन वैज्ञानिकोंकी इस स्वर्गीय अमरताकी कल्पनाका भण्डाफोड़, विषाक्त दवाइयोंके सेवनमें निहित हो जाता है। लोगोंकी आयु भले ही बढ़ जाय, वे बिस्तरपर अपंग बने रहकर हजार वर्ष भी जियें तो ऐसे जीनेसे क्या लाभ?

इससे तो अल्पायुमें ही मर जाना अच्छा। कहना न होगा, साक्षात् देखना चाहिये कि विज्ञान और उद्योगके विकाससे रासायनिक विषौषधों—संजीवनी साधनाओंके प्रचारसे कितना रोग बढ़ा है, कितनी अपंगता बढ़ी है, कितनी आयु बढ़ी है? रोग और अपंगता लिये हुए मनुष्य हजारों वर्षतक जिये तो ऐसा जीवन पृथ्वीपर केवल भारस्वरूप है।

प्रयोगशालामें जीवाणुको अमर सिद्ध कर देना एक बात है और स्वयं व्यवहारमें अमरता सिद्ध करना दूसरी बात है। वैज्ञानिक लोग अपने विषयमें स्वयं जो अमरता न सिद्ध कर सकें, स्वयं रोगी, क्षीण और अल्पायु होकर मर जाते हैं तो इनके वैज्ञानिक अमरताके सिद्धान्त और साधनसे हमें क्या लाभ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो वैज्ञानिक अपने ऊपर अपनी बातोंको सिद्ध नहीं कर सकते वे दुनियाको अपनी चतुराईसे बहकाकर स्वार्थ-साधन करते, यश कमाते हैं। इनका कितना और कैसे भरोसा किया जाय और इनकी वैज्ञानिकताकी सार्थकता क्या? ये वैज्ञानिक स्वयं असंयम करते, अनाप-शनाप खाते-पीते, रोगी होते, अल्पायुमें मर जाते हैं। डॉक्टरी अखबारोंमें मरनेवाले डाक्टरोंके नाम देखिये। उनके रोग और उनकी आयु, उनके व्यसन और इलाजका ज़िक्र नहीं किया जाता। अभी कुछ समय पहले इंग्लैंडके एक स्वास्थ्य-सम्बन्धी मासिकपत्रने समाचार उद्धृत किया था कि पोलियो-रोग-निरोधक टीका लेकर कुछ डॉक्टर और वकील उसके विषाक्त प्रभावसे मर गये। टीका लेनेके पहले वे भले-चंगे थे। स्वस्थ दशामें, रोगसे बचनेके लिये जो डरके मारे जहर अपने खूनमें घोल लें, ऐसे वैज्ञानिकों और डाक्टरोंकी बुद्धिको और उसके परिणामको देखिये! इन्हें वैज्ञानिक कहा जाय अथवा अविवेकी! ये लोग जानते हैं कि संसारकी खेतीमें अन्न बोकर अन्न, साग बोकर साग, फल-मेवोंके बीजसे फल उत्पन्न होता है और लोग उन्हें खाकर पुष्ट होते जीते हैं। विष खानेपर मौत होती है। परंतु रोगके इलाजके सम्बन्धमें इनकी मति उल्टी चलती है। इनका सिद्धान्त है कि जितना तेज जहर होगा, उतनी ही बढ़िया, रोगनाशक एवं रोधक दवा बनेगी। Our strongest poisons are our best remedies. इस वैज्ञानिक अज्ञानके कारण वे इसका प्रयोग मूर्ख जनतापर करके रोग दबाते, रूपान्तर करके नये रोग फैलाते, अपना पेट-परिवार पालनेके लिये धंधा करते हैं। यदि ये धूर्ततापूर्वक ऐसा करते हों तो इन्हें अपराधी कहा जा सकता है, परंतु ये स्वयं भी जब असंयम करके रोगी दशामें दवाके रूपमें विष खाते हैं, इंजेक्शनके रूपमें उसे अपने खूनमें घोलते हैं तो इनकी बुद्धिपर तरस आता है कि ये विज्ञानके नामपर कितने भ्रान्त हैं!

प्रयोगशालामें जीवाणुकी आयु बढ़ानेवाले वैज्ञानिक स्वयं अपनी आयु नहीं बढ़ा सकते। रूसमें वैज्ञानिकोंने स्टालिनकी आयु डेढ़ सौ वर्ष बनानेके प्रयोगमें कितने ही मनुष्योंको मार डाला और स्टालिन पौन सौ वर्ष भी मजेमें न जीने पाये। जब कि वे दीर्घजीवी वंशज थे। उनके पिता, चाचा, बाबा सौसे अधिककी आयुमें मरे थे। विचारकर साक्षात् देख लीजिये कि इस दवा-विज्ञानसे स्वास्थ्य और आयु घटती है या बढ़ती है।

दवाकी बची

बम्बईके गुजराती साप्ताहिक पत्र 'जामे जमशेद'ने अपने १२ जुलाई ५९ के अङ्कमें हूस्टन, टेक्सास राज्य, अमेरिकाका एक समाचार छापा है कि वहाँ एक दम्पतिको चोरीके अपराध-निमित्त किसी घरमें दीवाल-दरवाजा तोड़ने-खोलनेके अपराधमें दो वर्ष कैदकी सजा सुनायी गयी तो उनकी तीन महीनेकी लड़की मात्र घरमें बची, उसे सरकारी आज्ञासे अन्य व्यक्तिके

पास पालन-पोषणके लिये रक्खा गया। नये अभिभावकके पास रहनेसे लड़कीको बुखार आने लगा, सोते हुए किसी अज्ञात भयसे वह चमककर ऐंठ पड़ती थी, इसलिये उसे अफीमकी दवा दी जाने लगी; क्योंकि जब यह लड़की गर्भमें थी तब उसकी माँ नशा किया करती थी, अतएव संतान नशेबाज पैदा हुई और आजन्म नशेबाज रहेगी। जैसा बीज वैसी खेती। काँटा बोकर फूल उगानेकी यह बे-ज्ञानकी वैज्ञानिक खेती।

इससे स्पष्ट होता है कि आजकल माता-पिताओंके रोगोंपर दवा-सेवन, इंजेक्शन आदिका परिणाम उनकी संतानपर होकर जो अनेक रोग हो रहे हैं और बच्चोंको उनके इलाज तथा रोग-निरोधके नामसे जबरदस्ती; अनावश्यक टीके और इंजेक्शन जो दिये जा रहे हैं उनका परिणाम उनके स्वयं जीवनपर तथा आगे उनकी संतानपर कैसा होगा उसकी आज कल्पना नहीं हो सकती। आजका मानव कैसा है, उसकी भविष्यकी संतान कैसी होगी, वैज्ञानिक स्वयं न तो निश्चयपूर्वक कुछ जानते हैं, न बता सकते हैं। अंधज्ञानी बे-ज्ञानी बेचारे!

वैज्ञानिकोंपर अविश्वास

जापानमें मित्रराष्ट्रोंद्वारा नागासाकी और हिरोशिमा शहरोंपर अणुबम विस्फोट करनेपर पिछला महायुद्ध बंद हुआ, परंतु अणुबम डाले बिना भी कई महीने पहले ही यह युद्ध बंद हो सकता था। इन बमोंके विस्फोटसे जनताके मानस और स्वास्थ्यपर क्या प्रभाव हुआ है इसकी जाँचके लिये विश्व-स्वास्थ्य-संघ (World Health Organization) द्वारा एक कमीशन बनाया गया था। जिसमें 'यूनाइटेडनेशन्स स्पेशलाइज्ड एजेंसीजमें सलाहकार और 'कौंसिल ऑफब्रिटिश एशोसिएशन फॉर एडवांसमेंट ऑफ साइन्स'के सदस्य श्रीरिची काल्डरने लिखा है कि 'दुनियाके स्पष्ट विचारकोंका अब वैज्ञानिकोंकी करामातोंपरसे विश्वास उठता जा रहा है।' उन्होंने एक अखबारमें लिखा है, 'जाँच करनेपर हमें जो मालूम हुआ उससे हम बहुत बेचैन हो गये। दुनियाकी सभ्यता अभी एक अंडेकी परतसे ज्यादा मोटी नहीं है।'

Mr. Ritchie Calder, adviser to United Nations Specialized Agencies, and Member of British Association for Advancement of Science—"The general public no longer trusts the scientists."—

"Our findings were profoundly disturbing. We found that the crust of civilization was no thinker than an eggshell. Confronted with the release of atomic energy and radio-activity people everywhere were huddling back in the dark days of their own emotions, covering like our primitive ancestors from the menace of elemental forces. In an age dominated by science, the ultimate direction of science with its incalculable powers for good and evil, was in the hands of people-statesmen, politicians, civil servants, and indeed, boards of directors in industry—whose education has been designed to deprive them of knowledge of science."

दुनियाके समझदार लोग अब वैज्ञानिकोंसे डरते हैं, उनका भरोसा छोड़ बैठे हैं; क्योंकि इनकी करामातें खतरनाक और घातक हैं। जनताको मालूम हो गया है कि सरकारी कार्यालयोंसे भी प्रतिमास जो विज्ञानके प्रति विश्वासका प्रचार किया जाता है वह सब वैज्ञानिकोंसे 'झूठ' हीका प्रचार है।

"Slowly but surely since the end of the second world war, the general public has gradually come to realize that they are being subjected to a spate of blatant propaganda pouring forth month by month from a shameless band of official reassurers."

मूषक-गणना आँकड़े

अमेरिकन शासन संविधानके लेखक, नेता और वैज्ञानिक श्रीबेन्जामिन फ्रैंकलिन (१७०६-१७९०) ने तीन प्रकारकी झूठ बतायी है—साधारण झूठ, बिल्कुल झूठ और अन्तिम अधम झूठ होती है—सरकारी आँकड़े। Lies, damn lies, and statistics.

सन् १९३७ में ब्रिटेनमें 'चूहा मारो सप्ताह' का आयोजन, वेल्सकी 'मेरी' नामकी एक किसान बहिनने रेडियोपर सुना था, जिसमें प्रवक्ताने बताया था कि 'ब्रिटेनमें

चार करोड़ पचास लाख चूहे हैं और प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह चूहोंको मारकर उनकी संख्या कम करे।'

'मेरी' शालामें पढ़ती थी, दूसरे दिन उसने रेडियो-समाचारकी चर्चा करते हुए अपनी शिक्षिकासे पूछा कि 'प्रवक्ता महोदयको चूहोंकी संख्या कैसे मालूम हुई ? हमारे घरमें कितने चूहे हैं, हम या हमारे पिता भी नहीं जानते, फिर प्रवक्ता साढ़े चार करोड़ चूहे किस आधारपर बताते हैं ?'

लन्दनके ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशनको एक पत्र भेजकर यह बात पूछी गयी। कुछ समय बाद बी०बी० सी० का जवाब आया कि 'हमें नहीं मालूम, प्रवक्तासे पूछकर हम लिखेंगे।' कुछ दिनों बाद उन्होंने प्रवक्ताका उत्तर भेजा, 'मैं स्वयं चूहोंकी संख्या नहीं जानता, किंतु एग्रिकल्चर बोर्डको लिखकर पूछ रहा हूँ।' इस बोर्डका भी उत्तर बादमें मिला—'हम भी नहीं जानते, हम नेचरल हिस्ट्री म्यूजियमको लिखकर पूछकर बतायेंगे।' कुछ समय बाद इस म्यूजियमका भी जवाब मिला कि—'हमें भी चूहोंकी संख्या नहीं मालूम, हम जिनेवा (इटली) के इण्टरनेशनल बोर्ड ऑफ एग्रिकल्चर एण्ड स्टेटिस्टिक्ससे इसका पता लगाकर आपको लिखेंगे।' कुछ सप्ताहोंमें इस बोर्डका भी जवाब आया कि—'अन्ताराष्ट्रिय समझौतेसे, राजकीय आँकड़े बनानेके हेतु यह तय हुआ है कि किसी देशकी जन-संख्याके बराबर ही चूहोंकी संख्या मानी जाय।' तबसे अबतक २२ वर्ष हो चुके हैं, अभी १६ सितम्बर १९५९ के 'एक्सप्रेस' अखबारमें ऐसी ही अन्धज्ञानी परम्पराकी एक आवश्यक सूचना न्यूयार्क, अमेरिकाके चूहोंके विषयमें छपी थी—'न्यूयार्कका प्रत्येक नागरिक यदि अपने घरोंको चूहोंसे मुक्त नहीं करेगा तो एक वर्ष कैदकी सजा मिलेगी। यह कानून अक्टूबरसे लागू हो जायगा। चूहोंकी बढ़तीको रोको। न्यूयार्कमें प्रति व्यक्ति पीछे एक चूहेकी औसत आबादी है। (There is one rat to everyNewyorker).

आजकल दुनियाकी प्रायः हरेक गवर्नमेंटमें सूचना और प्रचार-विभागका काम जोरोंसे चलता है। उपर्युक्त बहिन 'मेरी'के अनुसार मैंने भी भारतकी एक प्रान्तीय राजधानीमें रहकर वहाँके सचिवालयको एक पोस्टकार्ड लिखकर पूछा था कि 'उस राजधानीमें चलनेवाले हत्यागृहमें किन-किन प्रकारके कितने पशुओंका वध होता है, वार्षिक संख्या बतावें, और उनके शरीरकी विभिन्न ग्रन्थियों और बह जानेवाले रक्तका कहाँ क्या उपयोग होता है तथा किसी सर्वसाधारणको वह कहाँसे किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?' कुछ समय बाद उत्तर आया कि 'मेरा पत्र अमुक विभागको भेज दिया गया है, वहाँसे आपको उत्तर मिलेगा।' पुनः कुछ सप्ताहों बाद अमुक अधिकारीका उत्तर आया कि 'मेरा पत्र तीसरे अमुक विभागको भेज दिया गया है।' इस प्रकार पाँच-छः महीनेतक मेरे पास लिफाफोंमें सभी विभागोंसे उसी प्रकार अनिश्चित उत्तर आते रहे, जैसे इंग्लैंडमें उक्त किसान बहिनको।

राजनीतिक दाँव-पेंच और सरकारी प्रचारके हथकंडे जापानके नागासाकी और हिरोशिमा शहरोंपर अणुबम डालकर वैज्ञानिक नीतिसे आजमाये गये, जिसका पूरा पता दुनियाको सच्चा-सच्चा नहीं मालूम हुआ। इसमें कोई राजनीतिक कारण न था, था केवल वैज्ञानिक दबाव; परंतु प्रचार करके दुनियासे कहा गया कि जापानकी उद्दण्डता और युद्धसे नित्य मरनेवालोंकी बढ़ती संख्या रोकनेके लिये जापानपर अणुबम डालना न्याय और आवश्यक था, परंतु बात दरअसल बिल्कुल उल्टी थी।

राजनीतिमें वैज्ञानिक भूमिका

जनवरी १९४५ में याल्टा कान्फ्रेंसमें जानेके दो दिन पूर्व अमेरिकन प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्टके पास जापानकी ओरसे भेजे गये शान्ति-प्रस्ताव प्राप्त हुए, थे जिन्हें अगस्त ४५ में, सात महीने बाद, अणुबम-विस्फोटके बाद मंजूर किया गया। वे प्रस्ताव जापानके बादशाहने जनरल मेकार्थरके द्वारा भेजे थे और जिनको मान लेनेके लिये जनरल मेकार्थरने सिफारिश भी की थी। परंतु रूज़वेल्टने उसे अलग पटककर कहा था 'मेकार्थर अच्छा सेनापति है; परंतु राजनीतिमें उसका दिमाग गरीब है।' इस विषयमें ऐसी फटकार सुनकर जापानके बादशाह और उनके सहयोगी 'युद्ध रोको' शान्ति-प्रस्तावको लेकर अनेक प्रयत्न करते रहे जिनका वर्णन अमेरिकन अधिकारी, नेवल इण्टेलिजेंस सर्विसके एडमिरल एलिस जाकरियासने अपनी पुस्तक 'सीक्रेट मिशन्स' में लिखा है—''प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट और ट्रूमैन दोनों ही भलीभाँति जापानद्वारा 'युद्ध बंद करनेके प्रस्ताव' को जानते थे कि जापान हर तरहकी शर्तोंको माननेको तैयार है। इसपर भी शान्ति-प्रस्तावपर कई महीनोंतक कोई विचार अथवा विमर्श

न देख जापानने २२ जुलाईको पुनः वैसा ही प्रस्ताव भेजा था, परंतु उसे भी दबाकर पड़ा रहने दिया गया और नागासाकी तथा हिरोशिमापर अणुबम ५-६ अगस्तको डालकर सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर देनेके बाद १० अगस्तको शान्तिप्रस्ताव मंजूर करनेकी घोषणा की गयी। ऐसा क्यों हुआ ? इसका राजनीतिक नहीं वैज्ञानिक कारण है।

जिस समय जापानने जनवरीमें प्रथम बार शान्ति-प्रस्ताव किया था उस समय अणुबम तैयार न था। वे लोग (वैज्ञानिक) अणुबमको तैयार कर उसका प्रयोग अनुभव लेनेके लिये अमुक समयका इन्तजार कर रहे थे कि इस बमसे कितनी गहराई-ऊँचाई, लम्बाई-चौड़ाईतक कैसा विनाश होगा। लड़ाई चलते रहनेके लिये महापुरुषोंने जो झूठे प्रचार किये थे, उसका रहस्य 'आब्जर्वर' के ६ सितम्बर १९५९ के अंकमें लार्ड एटलीकी कलमसे छपा है कि 'जापानी लोग अपनी उद्दण्ड एवं पागल राजभक्तिके कारण जी-जानसे लड़ रहे थे और जापानी फौजें दक्षिणपूर्व एशियामें दूर-दूर फैली हुई थीं, वे पीछे हटनेको तैयार न थे, उन्हें मरना अधिक पसंद था और उनसे लोहा लेनेमें हमारा बहुत समय लगता, खर्च होता और हमारे कई लाख सिपाही मरते। इसलिये जापानपर अणुबम डालनेकी सहमति ब्रिटेनकी ओरसे चर्चिलने दी थी। यदि उस समय मुझसे पूछा जाता तो मैं भी वैसा ही कहता।'

परंतु यह प्रचार कितना झूठा था जब कि जापानने छः महीने पहले ही, अणुबम तैयार न था तभी शान्ति-प्रस्ताव किया था और तबसे उस प्रस्तावको मंजूर करानेमें प्रयत्नशील अनेक उच्च अमेरिकन अधिकारियोंने जो कार्यवाही की उसके वर्णनमें एडमिरल ज़ाकरियासने अपने 'सिक्रेट मिशन्स' में लिखा है—

> The most distinguished living American statesman at that time was well aware of the persistent Japanese peace offers and was aghast at the spectacle of the needless continuation of the bloody warfare in the Pacific. He had a conference with President Truman about May, and presented his protest. He found that President Truman was also well aware of the Japanese eagerness to surrender on the most humiliating terms. But Mr. Truman told his eminent visitor that he was new in office and felt himself helpless in the face of tremendous pressure of the Pentagon forces led by Secretary of War Stimson and especially General Marshall, to continue the hostilities to the bitter end. There was a rigorous and inflexible determination on the part of these men to continue the war until they could try out the atom bomb which was then near perfection. There was not the slightest military need for dropping the atom bomb to end the war at once. The official American Strategic Bombing Survey summarized the facts in 1946—'Japan would have surrendered even if the atomic bombs had not been dropped, even if Russia had not entered the war, even if no invasion of Japan had been planned or contemplated."

'आब्जर्वर'के २७–९–५९ के अंकमें केलिफोर्नियाके श्रीहैरिस-बार्न्सने लार्ड एटलीके ६ सितम्बरके कथनपर यह उत्तर दिया है।

अणुबमका विनाशक प्रभाव जाननेके लिये जापानके तीन लाख लोग मारे गये, अथाह सम्पत्ति नष्ट की गयी— यह है वैज्ञानिक खिलवाड़। इसीके लिये शान्तिप्रस्तावको छः महीनेतक दबा रक्खा गया ! और इस प्रयोगकी विशेषता यह हुई कि राजनीति अथवा विज्ञानसे सम्बन्ध या रुचि न रखनेवाले लोगोंने, चर्च ऑफ इंग्लैंडके एक पादरीने भी विशेष संस्कार आयोजनद्वारा पहले 'अणुबम लेकर उड़नेवाले जहाज, उसके चालक और बमको आशीर्वाद दिया था।' पार्लियामेंटमें इसकी कोई चर्चा नहीं की गयी थी और जब अणुबम तैयार हो गया था तो यह बम कहाँ डाला जाय, इस विषयमें डेढ़ सौ वैज्ञानिकोंसे 'मत' लिया गया था। आधेसे अधिकने कहा 'बसे हुए शहरपर', और हिरोशिमाको पसंद करके निशाना बनाया गया। नागासाकीपर डाला गया। बम तो दूसरे प्रकारका था जिसे अणुबमकी शक्तिसे तुलना करनेके लिये डाला गया था।

मन्द प्रलय

परंतु अब तो शान्तिकालमें, युद्ध और अणुबम डाले बिना ही, नित्य मौन-विनाशके साधन प्रस्तुत हो रहे हैं। अणुबमकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि राकेट आदि अग्निबाण और अणु कारखानोंसे सूक्ष्म और दूरसे प्रभावकारक विषैली वायु निकलती है वह वातावरणमें घुलकर प्राणियोंके श्वासमें जा रही है; बादलोंमें मिलकर पानी बनकर पृथ्वीमें सब अन्न साग-फल दूध आदिमें सम्मिश्रित होकर भोजन-पानीके साथ नयी बीमारियाँ बनाकर मन्द हत्या करेगी।

"More slowly but quite as efficiently the same result is being achieved through the fumes given off from atomic fission factories. Every wind that blows through such a factory, comes out radio-active. For the disruption of life for silent assassination the miasma from the power plants alone, given time, is amply sufficient. With more and more stations and factories coming into action, a steady poisoning of our atmosphere is already taking place...the sumtotal of radio active deu in the atmosphere must slowly increase until life, vegetable animal, including human can no longer exist on this planet."

अणुबमपर खर्च, प्रयास और प्रयोग किये बिना अब इस मन्द-हत्याकी क्रियासे धीरे-धीरे श्वास और भोजन-पानी विषाक्त हो जानेसे एक समय ऐसा आयेगा कि हमारे वैज्ञानिक मूर्खता और गोरखधन्धेसे पृथ्वीके चारों ओरका वातावरण इतना घना विषाक्त हो जायगा कि वनस्पति और कोई प्राणी शेष न रह जायगा। जनतासे कर-रूपमें लिया गया अथाह धन, जनताद्वारा चुनी-बनायी जनतन्त्र सरकार युद्धके भयानक विनाशक अस्त्र-शस्त्र और रोग-निरोध, रोगनाश और स्वास्थ्यरक्षाके नामपर रक्त-मवादमिश्रित विषका निर्माण-संचार जनताके शरीरमें करनेके लिये खर्च कर रही है, हम अपनी ही सरकारपर विश्वास करके क्या परिणाम पाते हैं? उनके इस असत्य वैज्ञानिक प्रचारमें कितना धोखा है। हिरोशिमा और नागासाकीपर बम प्रहार होनेके पहले एक ईमानदार अंग्रेज पत्रकार जेम्स कामराने, सत्य जो स्पष्ट समाचार भेजा करता था, उसने तब लिखा था—"The most sacred men in the world today are atom-splitiers."

अणुविस्फोटसे जो महाविनाश हुआ और उसके बाद वातावरण कितना जहरीला हो गया, प्रकृतिमें कैसी उथल-पुथल प्रतिक्रिया कैसी हुई, विचित्र पीड़ायुक्त बीमारियाँ फैलीं, इन सबकी कल्पना वैज्ञानिकोंको पहले नहीं थी। वे अपनी भयानक करतूतोंका परिणाम देखकर भविष्य कल्पनासे स्वयं काँप उठते हैं कि अब आगे क्या होगा! परंतु हम तो मर जायँगे, बाल-बच्चे वह जमाना देखेंगे और हमें धिक्कारेंगे !!

(क्रमशः)

सत्सङ्ग और दुःसङ्ग

मिलता नहीं बिना हरिकी अनुकम्पाके पावन सत्सङ्ग।
जिससे 'भोगोंमें सुख है' इस विषम भ्रान्तिका होता भङ्ग॥
हो जाता तमाम इह-परके भोगोंसे तत्काल विराग।
हो जाता प्रभु-पद-पद्मोंमें सुदृढ़ और अनन्य अनुराग॥
जिससे भोगोंमें सुख दिखता बढ़ती मनमें विषयासक्ति।
मोहजनित बढ़ती जाती आराम-नाममें ही अनुरक्ति॥
हो चाहे 'सत्सङ्ग' नाम, पर है वह निश्चय ही 'दुस्सङ्ग'।
जिससे चढ़ जाता जीवनपर दोषमयी मायाका रङ्ग॥

श्रीपुरी धाम

(लेखक—आचार्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी गुप्त एम्० ए०, बी० टी०)

आधुनिक पुरीक्षेत्र प्राचीनकालमें पुरुषोत्तमक्षेत्र, जगन्नाथक्षेत्र और श्रीक्षेत्र नामसे परिचित था । आधुनिक कालकी पुरीके पाँच कोसकी गिर्दमें पुरुषोत्तमक्षेत्र था । १५० वर्षपूर्व जगन्नाथ-मन्दिर और गुंडिचावाडीके बीच बाँकीमोहाड़ नदी प्रवाहित थी । पहले नदीके एक किनारे एक रथ और दूसरे किनारे दूसरा रथ, रथयात्रामें निकलता था । यही बाँकीमोहाड़ नदी चक्रनारायण-मन्दिरके पास समुद्रमें संगम करती है । ब्रह्मपुराणमें इसका विस्तार दस योजन लम्बा, पाँच योजन चौड़ा बताया है—

'दशयोजनविस्तीर्णं पंचयोजनमायतम् ।
नानाश्चर्यसमायुक्तं क्षेत्रं परमदुर्लभम् ॥
(४४ अ०)

इसी क्षेत्रमें नीलगिरि पर्वत विराजमान था, जिसपर जगन्नाथ-मन्दिर निर्मित है । इसी पर्वतके पास नाना प्रकारके वृक्षोंका जंगल था । इसी पर्वतपर एक बड़ा कल्पवृक्ष था । इस वृक्षके पश्चिममें रोहिणीकुण्ड था, जिसमें स्फटिककी सीढ़ी थी । इस कुण्डके पूर्वमें नीलमणि भगवान् वासुदेवकी मूर्ति थी । इस पर्वतके पश्चिममें सबर लोगोंका आश्रम था । यह क्षेत्र चार धामका अन्यतम प्रधान क्षेत्र स्वयं भगवान् विष्णुका वपुस्वरूप माना गया है । दारुरूपी जगन्नाथका यह क्षेत्र परम पवित्र है । यह पुण्यतम स्थान है । इस क्षेत्रमें जो वास करता है उसका जीवन सफल है । यहाँकी दारुमूर्ति शास्त्रसम्मत है । स्वयं भगवान् निज इच्छासे स्वयं गठन करके आविर्भूत हुए हैं । यह क्षेत्र अन्य क्षेत्रोंसे अति प्रिय है ।

यह सर्ववादी सम्मत है कि जगन्नाथजीके आदिप्रतिष्ठाता श्रीइन्द्रद्युम्न राजा हैं । ये अवन्ति नगरमें राज्य करते थे । ये परम भक्त थे । किसीने इनको वैश्य भी लिखा है जो विवादग्रस्त है । इन्द्रद्युम्नने ही दारुमूर्ति बनवायी थी । वर्त्तमान मन्दिर उन्हींके द्वारा निर्मित हुआ है । ये राजा कलियुगके आदिमें हुए हैं । यह बात इतिहासद्वारा भी प्रतिपादित है । मादलापाँजीसे सिद्ध होता है कि अन्य राजाओंने मूर्तियोंकी केवल पुनः प्रतिष्ठा ही करवायी है ।

उत्कलमें बौद्ध लोगोंका बहुत दूरतक राज्य रहा, किंतु बौद्धोंका प्रभाव इस मन्दिरपर नहीं पड़ सका । मध्यप्रदेशमें राजिवलोचन और शिवरीनारायण, शिवपुरी स्थानोंमें सबर-लोगोंका राज्य इन्द्रद्युम्नके समयमें था । अतएव इनका भी धार्मिक महत्त्व है ।

पुरुषोत्तमक्षेत्रमें भगवान् श्रीजगन्नाथजीके आविर्भावके पहिले नीलमाधव ही प्रधान देवता माने जाते थे । सृष्टिके आदिकालसे नारायणकी आराधना इस क्षेत्रमें होती आयी है । जगन्नाथजीके आविर्भावका वर्णन कई संस्कृत ग्रन्थोंमें मिलता है, जिनमें ब्रह्मपुराण, स्कन्दपुराण मुख्य हैं । उड़िया ग्रन्थोंमें भी यही वर्णन मिलता है, जिनमें सारलादासका महाभारत उल्लेखनीय है । उड़िया कवियोंने जनश्रुतिको ही लिपिबद्ध किया है । जगन्नाथजीके आविर्भावका वर्णन इस प्रकार है—राजा इन्द्रद्युम्न अवन्ति नगरमें रहते थे । वे वैष्णव तथा शास्त्रकोविद थे । उन्होंने स्वप्नमें नीलमाधवके दर्शन किये और उन्हें यह आभास मिला कि उनके लिये पुरीमें एक विशाल मन्दिर बनवा दो तथा उन्होंने यह भी स्वप्नमें सुना कि शिवरीनारायणमें जो नीलमाधवकी मूर्ति है, उसे वहाँसे ले जाकर पुरीके नये मन्दिरमें पधराओ; क्योंकि उस मन्दिरमें यह एक अनुचित बात है कि नीलमाधवके दर्शन सिवा सबर राजाके और कोई नहीं कर सकता । राजाने एक सभामें अपने विचार प्रकट किये । मन्त्रणाके पश्चात् उन्होंने अपने मन्त्री विद्यापतिको यह कार्य सौंपा ।

विद्यापतिने शिवरीनारायणमें जाकर सब रहस्य देखा । जिस मन्दिरमें नीलमाधवकी स्फटिकमणिकी मूर्ति थी, उसके दरवाजेपर एक विद्युन्मय यन्त्र था और दो पत्थरके सिंह थे जो उस व्यक्तिपर प्रहार करते थे जो एक मुँदरी धारण किये नहीं जाता था । वह मुँदरी सबर राजा अपने पास रखते थे और किसीको भी नहीं देते थे । इस प्रकार नीलमाधवका दर्शन कोई नहीं कर सकता था । वरं अज्ञात व्यक्तियोंकी उन शेरोंके द्वारा हत्या हो जाती थी । विद्यापति अपनी कुशाग्र बुद्धिके द्वारा नीलमाधवका दर्शन करनेमें सफल हुए और पश्चात् वे नीलमाधवकी मूर्तिको वहाँसे हटाकर उज्जैनमें ले आये । फिर राजा इन्द्रद्युम्नने नीलमाधवकी मूर्ति पधरानेके लिये पुरीमें

एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो ९० हाथ ऊँचा था। इस मन्दिरमें नीलमाधवकी मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी।

जब नीलमाधवके दर्शनसे पापियोंको मुक्ति मिलने लगी, तब यमराजको चिन्ता हुई कि उनका लोक शून्य हो जायगा। तब उन्होंने भगवान् विष्णुसे प्रार्थना की कि आप मेरी रक्षा कीजिये। भगवान् विष्णुने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और वचन दिया कि अब नीलमाधव लुप्त हो जायँगे। तत्पश्चात् समुद्रमें ऐसा ज्वारभाटा आया कि नीलमाधवका मन्दिर बालूसे ढक गया और नीलमाधवकी मूर्ति अदृश्य हो गयी। लोगोंको मन्दिरका पता भी नहीं चला।

इन्द्रद्युम्नको जब नीलमाधव और मन्दिरके गुप्त होनेका समाचार मिला, तब उन्हें और उनकी रानी गुंडिचा देवीको बहुत शोक हुआ। उन्होंने नीलमाधवके पुनः दर्शन पानेके लिये एक हजार अश्वमेध यज्ञ किये और रानीने कठोर व्रत किये। जब राजाके १००० अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो चुके, तब आकाशवाणी हुई कि 'राजा! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। यद्यपि तुमको नीलमाधवका दर्शन अब हो नहीं सकता, किंतु स्वयं भगवान् दारुरूपसे अपनी प्रतिमाका गठन करेंगे और चतुर्धा मूर्तियोंका दर्शन तुमको होगा। वही भगवान् साक्षात्रूपसे माने जायँ। समुद्रमें जो वृक्ष दिख रहा है, वह श्रीकृष्णभगवान्के पिंडसे उत्पन्न है। उसे लाकर पधरा दो। फिर भगवान् एक वृद्धके रूपमें आयेंगे और एक बंद कमरेमें मूर्तियोंका निर्माण करेंगे। बीस दिनोंतक कमरा बंद रखना। कोई भी गठनकी ध्वनि सुन न सके। इन मूर्तियोंके दर्शनसे सबका कल्याण होगा।'

देववाणी सुननेके पश्चात् राजा इन्द्रद्युम्नने उस लकड़ीको समुद्रसे मँगवाया। एक वृद्ध विश्वकर्मा आये। उन्होंने एक बंद कमरेमें प्रवेश कर मूर्तियोंका गठन आरम्भ किया। और कहा बीस दिनोंतक कमरा बंद रखना। पंद्रह दिनोंतक किसीको मूर्ति-गठनकी कोई भी आवाज सुनायी नहीं दी। भीतर उन वृद्ध महात्माके रहनेपर भी कोई भी ध्वनि कर्णगोचर नहीं हुई, तब पहरेदारोंको संदेह हुआ कि वृद्ध जीवित नहीं हैं नहीं तो, बिना आहटके पंद्रह दिनतक वे कैसे जीवित रहे होंगे। उन्होंने जाकर रानी गुंडिचादेवीको यह समाचार सुनाया, तब उन्होंने विचार किया कि उनके महलमें कोई हत्या न हो जाय। अतः उन्होंने उस स्थलपर जाकर निरीक्षण किया तो उन्हें भी कोई आहट नहीं मिली। यद्यपि कमरा खोलनेकी बीस दिनोंकी अवधि पूरी नहीं हुई थी, तब भी हत्याके भयसे उन्होंने कमरा खोलनेकी आज्ञा दे दी।

कमरा खोला गया। वहाँ चार अपूर्ण मूर्तियोंके दर्शन हुए। वृद्ध विश्वकर्मा नहीं दिखायी दिये। ये चार अधूरी मूर्तियाँ श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलभद्रजी, श्रीसहोद्रा (सुभद्रा) देवी और सुदर्शन चक्रकी थी। रानी और राजाको बड़ा विस्मय हुआ परंतु उन्होंने स्वयं भगवान्का प्रादुर्भाव देखनेके कारण अपनेको कृतार्थ ही माना। इस प्रकार ये चारों मूर्तियाँ स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ही साक्षात् आभा हैं।

नीलमाधवका मन्दिर, जिसको समुद्रने बालूसे ढक दिया था, बहुत दिनोंतक अदृश्य रहा। एक दिन उत्कल (ओड़ीसा) के राजा गालमाधव शिकारके लिये पुरीक्षेत्रके जंगलमें भ्रमण कर रहे थे। अकस्मात् उनके घोड़ेकी टापसे चोट आ गयी। राजाने उतरकर देखा तो मालूम हुआ कि पृथ्वीमें एक कलश गड़ा हुआ है। उसीसे घोड़ेकी टापमें चोट आयी थी। राजाने उसको खुदवानेकी आज्ञा दी। तब राजा इन्द्रद्युम्नद्वारा विनिर्मित मन्दिर पूरा निकल आया।

राजा इन्द्रद्युम्नने चारों दारुमूर्तियोंको गुंडिचा रानीके महलमें लाकर इसी मन्दिरमें पधराया। तबसे यह मन्दिर एक प्रसिद्ध धाम हो गया। भगवान्का दारुरूप शरीर उनकी लीला मात्र है। यह क्षेत्र स्वयं विष्णु भगवान्का आलय है और ये मूर्तियाँ साक्षात् विष्णुद्वारा ही संस्थापित हैं। इन गोपनीय दारुमूर्तियोंके सम्बन्धमें तर्क करना निषिद्ध है। जैसी जिसकी भावना रहती है, उसको वैसा ही फल मिलता है। चतुर्धा मूर्तिका तत्त्व यह है कि जगन्नाथ ही श्रीकृष्ण हैं। पुरीको द्वितीय द्वारका कहते हैं। नीलमाधव ही विष्णु हैं और उनके अन्तर्धानके बाद वे श्रीकृष्णरूपमें इस क्षेत्रमें बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शनके साथ आविर्भूत हुए। सुदर्शनचक्र जगन्नाथजीके हस्तमें है जो कि विष्णुका चतुर्थ स्वरूप है। इन मूर्तियोंमें जगन्नाथ-बलभद्रके दो हाथ हैं और उनमें पद्म तथा अँगुलियाँ नहीं हैं। सुभद्राके हाथ नहीं हैं। जगन्नाथ विष्णुरूप हैं और बलराम शिवरूप हैं। पुरुषोत्तम ही जगन्नाथ हैं।

चतुर्धा मूर्ति चार वेद-स्वरूप हैं। जगन्नाथजी ऋग्वेद, बलभद्र सामवेद, सुभद्रा यजुर्वेद और सुदर्शन अथर्ववेद हैं।

चतुर्धा मूर्तिका तत्त्व शरीरमें श्रवण, नयन, अधर, नासिका का है। श्रवण बलभद्र, नयन जगन्नाथ, अधर सुभद्रा और नासिका सुदर्शन हैं।

एक कवि इनके तत्त्वोंको इस प्रकार अङ्कित करता है—आँखकी पुतलीका सफेद भाग बलभद्र हैं, उसके ऊपर काला भाग सुभद्राजी हैं, उसके अंदर जो पुतली है वही जगन्नाथजी हैं।

'श्रीं'बीज बलभद्रका, ह्रीं' बीज सुभद्राका और 'क्लीं' बीज जगन्नाथजीका है।

कर-चरणविहीन मूर्ति केवल सुभद्राकी है। तीनों मूर्तियोंके चरण नहीं हैं, आँखें चित्रमें हैं, प्रतिमामें नहीं हैं। नासा बतानेके लिये कुछ ऊँचा नासिकाका स्थान बना दिया है। नासिकामें छिद्र नहीं है। कर्ण प्रतिमा तथा चित्रमें भी नहीं हैं। हाथके आकार भी खण्डित हैं।

ज्येष्ठ पूर्णिमासे आषाढ़ अमावस्यातक भगवान मौसीके घरमें रहते हैं। तब मन्दिर बंद रहता है।

इस क्षेत्रमें शिव और विष्णु दोनोंका पूजन और मन्दिर आदिकालसे है।

बलरामको शिवरूप माना है। स्कन्दपुराणमें सुभद्राको भद्रकालीका रूप बताया है।

पञ्चदेवताकी उपासनाका समन्वय इसी मन्दिरमें पाया जाता है।

इन्द्रद्युम्नने जिस महातरुका महोदधिमें दर्शन किया था, उसकी स्थिति इसी संसार-प्रपञ्चवृक्षके समान है। उस महातरुका मूल जलमें तैरता हुआ ऊर्ध्वमूल और शाखा समुद्रमें निमग्न होनेके कारण अधःशाखा हुआ है। गीतामें जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्षका वर्णन दिया है। इन्द्रद्युम्नने उसी प्रकारका वृक्ष देखा था।

महाप्रसाद

जगन्नाथजीके मन्दिरमें भगवान्के भोगको बादमें विमलाको दिखाया जाता है। तब वह महाप्रसाद कहलाता है। पहले पुरुषोत्तमक्षेत्रके केवल १० मीलकी गिर्दमें महाप्रसाद माना जाता था। वर्तमानमें ऐसा नहीं मानते। भारतके सभी स्थानोंमें महाप्रसादका प्रभाव है। जगन्नाथजीका भोग महाप्रसादके रूपमें प्रचलित है। तीनों मूर्तियोंमेंसे किसी एक भगवान्को भोग लगानेसे महाप्रसाद नहीं होता। तीनों मूर्तियोंको एक साथ भोग लगाकर बादमें विमलाको भोग लगाकर जो प्रसाद होता है, वही महाप्रसाद कहलाता है।

रथयात्रा

हिंदुओंका पुरीकी रथयात्रा एक प्रधान उत्सव है। यह भारतमें क्या, पृथ्वीमें अद्वितीय है। वैदिक ग्रन्थोंमें रथयात्राका उल्लेख है। रथयात्रा बहुत प्राचीनकालसे है। सूर्यका रथ विख्यात है। रामायण-महाभारतमें रथोंका वर्णन है। श्रीकृष्णका नंदीघोष, सुभद्राका देवदलन, बलरामका तालध्वज रथ है।

पुरीकी रथयात्रा ९ दिनकी होती है। प्रधान मन्दिरसे तीनों मूर्तियोंको तीन रथोंपर गुंडिचाके घर ले जाते हैं। गुंडिचा देवीका मन्दिर प्रधान मन्दिरसे १½ मील दूर है। इन्द्रद्युम्नने इसी स्थानमें अश्वमेध यज्ञकी वेदी तैयार की थी। यहीं इन मूर्तियोंका आविर्भाव हुआ था। आषाढ़ शुक्ल २ को यह यात्रा होती है।

इस मन्दिरकी परिक्रमामें बहुतसे अन्य मन्दिर हैं। जगमोहनसे लगा नाट्यमन्दिर है। भोग-मण्डप दर्शनीय है। सिंहद्वार मुख्य द्वार है। आनन्दबाजार, स्नानवेदी, चाहनी-मण्डप, रसोईघर आदि अनेक स्थान मन्दिरके परकोटाके भीतर दर्शनीय हैं।

इस क्षेत्रके पञ्चतीर्थ विख्यात हैं—(१) मार्कण्डेयकुण्ड, (२) अक्षयवट, (३) गरुड़, (४) उग्रसेनदर्शन और सागरदर्शन, (५) इन्द्रद्युम्नस्नान और नृसिंहदर्शन। यहाँ अन्य बहुतसे तीर्थ हैं। इस क्षेत्रका वर्णन मैंने बहुत संक्षेपसे किया है। इस वर्णनसे मेरा उद्देश्य इस क्षेत्रका प्रभाव बतानेका है। भक्तिमें भगवान् कहाँ प्रकट नहीं होते। भगवान्ने यहाँ स्वयं प्रादुर्भूत होकर गुंडिचा देवीकी भक्तिकी महिमा बतलायी है। इसी स्थानमें भगवान्की आभा प्राप्त होती है। मनुष्य इनके दर्शनसे निष्पाप होकर दिव्यधामके अधिकारी होते हैं। यह क्षेत्र धन्य है। धन्य हैं वे जो इस क्षेत्रकी यात्रा कर कृतार्थ होते हैं।

महाप्रसादसे दुःख-नाश

मनको वश कर, रहो नित, राग-द्वेष-विहीन।
विषयोंमें विचरो उचित, होओ कभी न लीन॥
यों भगवत्-सेवा करो, पाओ महाप्रसाद।
सब दुःखोंका अन्त हो, मिटें सभी अवसाद॥

मानवताके लिये मानवधर्म आवश्यक

इस समय एक ओर सर्वत्र उन्नति, प्रगति तथा विकास हो रहे हैं, नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं। दूसरी ओर घोर नैतिक पतन या सर्वनाश हो रहा है। मनुष्य इतना अधिक विषयासक्त हुआ जा रहा है कि वह किसी भी बुरे-से-बुरे कामके करनेमें नहीं हिचकता और किसी भी प्रकार अपने इच्छित विषयको प्राप्त करके सुखी बनना चाहता है। इसमें वह परिणाममें सफल तो होगा ही नहीं, परंतु उसकी पाप-प्रवृत्ति उसे अनवरत नीचे गिराती रहेगी। अत्यन्त विषयासक्त मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है और वह स्वयं ही अपने सर्वनाशको निमन्त्रण देकर बुला लेता है। अपने ही हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारता है, अपने ही हाथों अपने जल मरनेके लिये आग भड़काता है और अपने ही हाथों अपने कूद पड़नेके लिये गहरा गड्ढा खोदता है। घोर विषयासक्तिमें यह स्वाभाविक ही है। फिर आज तो दुनियामें सभी ओर विषयभोगोंकी ही महत्ताका प्रसार हो रहा है। सारा विवेक, सारी बुद्धि, सारा विज्ञान इस भौतिक विषयोन्नतिमें ही लगा है। इसलिये आज मानवका धर्मसे, अध्यात्मसे, भगवान्से नाता टूटा जा रहा है। वह परलोक तथा कर्मफलको न मानकर पापको पाप नहीं मानता, अपराधको अपराध नहीं समझता। अपनी कामनापूर्तिके लिये लोभ और क्रोधके वशमें होकर बुरे-से-बुरा काम करनेपर उतारू हो रहा है। आजका बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, अनाचार, असदाचार, दुराचार, अत्याचार, व्यभिचार, वैराचार, स्वैराचार आदि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अभी हालमें उत्तरप्रदेशमें सरकारी सूत्रोंके अनुसार 'गतवर्षके अंदर अपराधोंमें ७० प्रतिशत वृद्धि हुई बतायी गयी है। चोरी-राहजनीमें १०० प्रतिशत, डकैतियोंमें ७५ प्रतिशत, दंगा-फसादोंमें ८० प्रतिशत, हत्याओंमें २६ प्रतिशत और चोरीके अपराधोंमें ६६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। और पुलिस अधिकारियोंको इस बातसे बड़ा आश्चर्य और परेशानी भी है कि बहुत-से पढ़े-लिखे लोग अपराध कर रहे हैं। हत्या, डकैती, तस्कर-व्यापार आदि मामलोंमें कई उच्च शिक्षित लोग पकड़े गये हैं।* सरकार परिवर्तित स्थिति और अपराधोंमें वृद्धिके कारण पुलिसफोर्स एक लाखतक बढ़ानेका विचार कर रही है।'†

सरकार जो कुछ भी प्रयत्न अपराध-निरोधके लिये करती है सो ठीक ही है। करना ही चाहिये। यहाँ सरकारकी ईमानदारीमें हमें कोई संदेह नहीं है। पर वास्तवमें पुलिसका फोर्स बढ़ानेसे अपराध घट जायँगे, ऐसी निश्चित आशा नहीं करनी चाहिये। कौन जानता है कि इससे अपराधोंमें अधिक फोर्स नहीं आ जायगा। असलमें विचारनेकी बात तो यह है कि यह अपराधोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति क्यों हो रही है, इसमें मूल कारण क्या है।

दण्डसे—भयसे एक बार कुछ कमी भले हो जाय, परंतु जबतक अपराधमें अपराधबुद्धि नहीं हो जाती, तबतक अपराधकी वृत्तिका नाश नहीं हो सकता। मनुष्य दुर्बल तथा अपूर्ण प्राणी है। उससे भूलें होती हैं, होंगी; उससे अपराध बनते हैं, बनेंगे। पर जबतक वह भूलको भूल समझता है, अपराधको अपराध मानता है, तबतक भूल या अपराध बननेके बाद उसे पश्चात्ताप होता है, उसे दुःख होता है और वह भविष्यमें ऐसा काम न करनेके लिये निश्चय करता है। परंतु जब भूल या अपराधमें भूल या अपराध-बुद्धि ही नहीं रहेगी, उसे वह एक कौशल या कर्मनिपुणता मानने लगेगा, सफलताका एक साधन मान लेगा, तब तो नयी-नयी उमंग तथा उत्साहके साथ उसे सफलतापूर्वक करना चाहेगा। कहीं कानूनके

---

* यह तो उन अपराधोंकी संख्या है जो पुलिसकी डायरीमें दर्ज हो चुके हैं। अधिकांश अपराध तो पुलिसकी डायरीतक पहुँचते ही नहीं। इनके अतिरिक्त दफ्तरोंमें, कारखानोंमें, उद्योग-मन्दिरोंमें, सरकारी आफिसोंमें जो कानून-समर्थित या कानूनको धोखा देकर विविध अपराध होते हैं, उनकी तो कोई संख्या ही नहीं है।

† देखिये 'सैनिक' आगरा ता० ११ जून १९६१।

कोई अड़चन दिखायी देगी तो उससे बचनेका उपाय खोजेगा, अथवा न बच सकनेपर कुछ दण्ड भी सह लेगा, किंतु अपने काममें उसे कोई बुराई नहीं दिखायी देगी, उससे वह घृणा नहीं करेगा। कहनेके लिये आवश्यकतानुसार वह कहीं विरोध भी कर देगा, पर उस विरोधको वह स्वयं मनसे अपने लिये स्वीकार नहीं करेगा। अभी उस दिन उड़ीसाके भूतपूर्व मुख्य मन्त्री डा० श्रीहरेकृष्ण मेहतावने कहा है—

"आज समाजवादकी बड़ी-बड़ी बातें कही जा रही हैं, किंतु साथ-ही-साथ समाजमें सम्पत्तिका ममत्व और महत्त्व पहलेसे भी अधिक बढ़ गया है। किसी भी प्रकार धनी होना आज बुरा नहीं माना जाता। स्वयं कांग्रेसमें धनका मूल्य पहलेसे बढ़ गया है, प्रस्तावों और भाषणोंद्वारा जातिवाद, भाषावाद आदिकी निन्दा की जाती है, किंतु स्वयं कांग्रेसमें ये 'वाद' अधिक परिलक्षित हैं।"

वस्तुतः इसमें कांग्रेस या अन्य किसी भी संस्थाका कोई दोष नहीं है, न किसीपर आक्षेप ही करना चाहिये। कांग्रेसमें भी आजका ही मनुष्य है तथा दूसरी संस्थाओंमें या 'वादों' में भी आजका ही मनुष्य है। विचार करना है—मनुष्यकी वृत्तिपर। मनुष्य ही जब अत्यन्त विषयासक्त होकर भौतिक उन्नतिको ही उन्नति मानने लगा, तथा जब किसी भी मूल्यपर उसे प्राप्त करनेमें ही जीवनको सफल एवं गौरवान्वित समझने लगा, तब उससे अच्छे आचरणकी आशा कैसे की जा सकती है? अभी वह अपराधोंको अपराध न मानता हुआ भी, भाषामें अपराध तो कहता है, पर यों ही अपराध करता रहा तो आगे चलकर वह अपराधोंका 'अवश्य कर्तव्य' मानने लगेगा। यही तो आसुरी भाव है, जो तीन रूपोंमें आत्यन्तिक विषयासक्ति होनेपर मनुष्यमें उदय हो आता है। ये तीन रूप हैं—मोहनी—काम, आसुरी—लोभ और राक्षसी क्रोध। ये काम, क्रोध, लोभ ही नरकके त्रिविध द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये।'

पर आजका मोहावृत विषयासक्त मनुष्य तो इन्हीं तीनोंको जीवनका साधन मानने लगा है—इसीसे वह इन तीनोंकी प्रेरणासे कुछ भी करनेको प्रस्तुत है। भौतिक विज्ञान, कलाके लिये कला, मानसको अशुद्ध करनेवाला साहित्य, भोगबाहुल्यमें जीवनके उच्चस्तरकी कल्पना, शरीरके आरामकी प्रबलाकाङ्क्षा, अनावश्यक व्यय करनेकी प्रवृत्ति, विलासितामय जीवन, मिथ्या यशकी कामना, सिनेमा, धर्मनिरपेक्ष (या धर्मविरहित) शासन, किसी भी प्रकारसे धन कमा लेनेवालेका सम्मान, अभक्ष्य-भक्षण, प्रत्येक कार्यको आर्थिक दृष्टिसे सोचनेकी प्रवृत्ति, त्यागमें अनास्था, धर्म तथा परलोकमें अविश्वास, ईश्वरमें अश्रद्धा और आजकी आध्यात्मिकतारहित तथा धर्मबुद्धिशून्य भौतिक शिक्षा तथा सहशिक्षा आदि—इन्हीं सब कारणोंसे विषयासक्तिजनित पापाचारकी अनन्तकी ओर जाती हुई-सी वृद्धि हो रही है और विषयासक्तिजनित पापाचारसे उपर्युक्त सब दोषोंका उनकी असंख्य संततिसहित संवर्धन हो रहा है। दोनों परस्पर एक दूसरेको बढ़ानेमें लगे हैं। यही कारण है कि आज देशके सभी क्षेत्रोंमें, सभी वर्गोंमें, सभी कार्योंमें दोष आ गया है। यही अपराधोंकी वृद्धिका, पतनका मूल कारण है। इस मूल कारणको मिटाये बिना न तो नये-नये कानूनोंसे अपराध मिटेंगे, न किसी विभागमें जन-संख्या बढ़ानेसे ही। कानून बनानेवाले तथा माननेवाले और अपराधोंको घटानेके हेतु सतर्क रहकर अपराधियोंको दण्ड दिलानेके लिये नियुक्त सभी लोग होंगे तो आजके पापको पाप न माननेवाले, अपराधको अपराध न समझनेवाले विषयासक्त मनुष्य ही न? जब उन्हींके मनमें अपराधमें अपराधबुद्धि नहीं होगी, तब उनके द्वारा अपराधोंका नाश कैसे होगा?

इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि आजका मनुष्य स्वयं पहले अपना सुधार करे। वह धर्मभावनाके द्वारा पापमें पापबुद्धि करनेवाला बने। अपराधको अपराध समझे। फिर चाहे वह कहीं किसी भी क्षेत्रमें रहे, उसके

द्वारा अपराध नहीं बनेगा। तभी वास्तविक समाज-सुधार होगा। समाज तो व्यक्तियोंके समूहका नाम है। जब व्यक्ति सुधर जायँगे, तब समाज आप ही सुधरेगा। अतः बढ़ते हुए अपराधोंको मिटानेके लिये धर्मभावोंके प्रचारकी परम आवश्यकता है।

मानवको मानवता देनेवाले धर्म ही जब मानवमें नहीं रहेंगे, तब वह मानव कैसे रह जायगा? वह तो मानवता-हीन पशु या पिशाच बन जायगा। अग्निमें दाहिका शक्ति न हो, सूर्यमें ताप तथा प्रकाश न हो तो वे जैसे अग्नि तथा सूर्य नहीं रह जाते, इसी प्रकार मानवधर्मशून्य मानव भी मानव नहीं रह जाता। धर्मका विरोध करके आजका मनुष्य मानवताका ही विरोध या मानवताकी ही हत्या करनेपर उतारू हो गया है! यही सबसे अधिक दुःख तथा खतरेकी चीज है।

मनु महाराजने मानवधर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहम्।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति)

'धैर्य अथवा उत्तम धारणा, क्षमा, मनका दमन, किसी प्रकार भी चोरी न करना, मन-शरीरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका नियन्त्रण, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस मानवधर्मके लक्षण हैं *। मनुष्यमें इन धर्मोंका प्रकाश तथा विकास प्रचुरमात्रामें होगा, मनुष्य धर्मभीरु होगा, किसी भी लोभ, भय, कामनापूर्ति आदि हेतुसे अपने मानवधर्मका त्याग नहीं करेगा, तभी उसका मानव नाम सार्थक होगा, तभी अपराधोंका सर्वथा क्षय होगा और तभी मानव सच्चे अर्थमें सम्पत्तिवान् तथा सुखी होगा। यही वास्तविक प्रगति या विकासका स्वरूप है!

सच्ची बात तो यह है कि आजका मानव अपने मानव-विरोधी आचरणोंसे अपनेको पशुसे भी गया-बीता साबित कर रहा है। पशु कभी दम्भ नहीं कर सकता, वह अंदर जैसा होता है, बाहरसे भी वैसी ही चेष्टा करता है; पर मनुष्य है कुछ और, तथा बनता-दिखाता है कुछ और ही। वह भीतर वैर भरा रखता है और बाहर मित्र बनता है। भीतर भोगवासनाकी आग भड़कती है, बाहरसे विरक्ति तथा शान्तिका ढोंग रचता है। हृदय नीच स्वार्थसे भरा रहता है, बाहरसे बड़ा उदार तथा जनताके लिये त्याग करनेवाला देशका सेवक सजा रहता है। पशु भूख लगनेपर या क्रोध आनेपर सामने पड़े जीवोंकी हिंसा करता है, वह हिंसा-हत्याकी योजना नहीं बनाता, बिजलीकी मशीनोंके कसाईखाने नहीं बनाता, सर्वजीवसंहारक राक्षसी शस्त्रास्त्रका निर्माण करके वैज्ञानिक उन्नतिका अभिमान नहीं करता। पर मनुष्य आज क्या कर रहा है—यह सबके सामने है।

पशु आहार-विहार-निद्रा-भय आदिमें प्रायः नियमानुकूल प्रकृतिसम्मत परिमित चेष्टा करता है, पर आजका मनुष्य मन-इन्द्रियोंके वशमें होकर गंदे भोगोंका गुलाम बनकर प्रकृति-विरुद्ध कर्म करता है और अपनेको स्वतन्त्र बताता है। इस प्रकार वह केवल मानवताको खो ही नहीं रहा है, पशुसे भी निकृष्टतर होता जा रहा है। तुलसीदासजी कहते हैं—

तिन्ह तें खर सूकर स्वान भले,
जडता बस ते न कहैं कछुवै।
जिन्ह के मन राम सों नेह नहीं,
सो सही पशु पूँछ बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास,
भई किन बाँझ गई किन च्वै।
जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ,
जिये जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥

अतः मानवको सबसे पहले मानव-धर्मको ग्रहण करके सच्चे अर्थमें मानव बनना है। मनुष्यमें पशुकी अपेक्षा विशेष गुण एक धर्म ही है, जो उसके आचार-विचारको शुद्ध रखता है। मानव जबतक उस धर्मको अपनाकर उसका संरक्षण-संवर्धन करता हुआ देव-मानव नहीं बनना चाहेगा, तबतक किसी भी 'वाद'से और किसी भी कानूनसे उसकी अपराध-वृत्तिका नाश नहीं होगा। विकासके नामपर विनाश ही होता रहेगा।

---

* धर्मके इन दस लक्षणोंको अच्छी तरह समझनेके लिये गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित 'मानवधर्म' नामक पुस्तिका पढ़नी चाहिये।

तलाक-कानून

(लेखक—श्रीप्रभुनारायणसिंहजी)

देशकी हालतको सुधारनेके लिये रोज नये-नये कानूनोंका निर्माण होता जा रहा है। कानून बनानेवाले लोग वही होते हैं, जो शासन करते हैं। वे शासनके बलपर ही समाजकी सारी बुराइयोंको दूर करनेकी आशा करते हैं। उनका विश्वास है कि बिना आतङ्कके समाजका शोधन हो ही नहीं सकता। कानूनमें ऐसा नियम होता है जो यह निर्णय करता है कि अमुक प्रकारकी गलती करनेवालेको अमुक प्रकारका दण्ड दिया जाय। उस दण्डसे भयभीत होकर लोग अनुचित कार्य नहीं करेंगे। यही उद्देश्य कानून बनानेका है। गलती करनेवालेको अनेकों प्रकारके कष्ट दिये जाते हैं, पर समाजकी गलत प्रवृत्ति घटनेके बजाय बढ़ती ही जाती है, नित्य नये-नये भ्रष्टाचारोंकी उत्पत्ति होती जाती है, इस प्रकार कानून बनानेका उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता है।

अपनी सरकारके जमानेमें भी बहुत-से नये-नये कानून बनाये जा रहे हैं। उन्हींमेंसे एक तलाक-कानून भी है। तलाक-कानून उसे कहते हैं कि कोई भी पुरुष या स्त्री एक दूसरेसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका निर्णय सरकारसे प्राप्त कर सके। तलाक शब्द ही बड़ा भयंकर और लज्जास्पद है। धर्मविचार बतलाता है कि—समस्त जीवजन्तुओंसे प्रेम करो यानी सम्बन्ध जोड़ो; क्योंकि सभी जीव भगवान्‌के ही अंश हैं। तो फिर क्या कारण है कि पति-पत्नीका सम्बन्ध, जो जन्म-जन्मान्तरके लिये माना जाता है, उसे तोड़ दिया जाय? विशेष संयम या त्यागकी दृष्टिसे पति-पत्नीका बिलगाव हो तो दूसरी बात है परंतु एक दूसरेकी साधारण-सी कमीको बताकर झट तलाक देना और असंयमी जीवन बितानेको तैयार हो जाना बड़ा लज्जाजनक दृश्य है। संसारका कोई भी जीव इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता। मनुष्य जो बहुत विवेकी जीव माना जाता है, उसके द्वारा इस प्रकारका काम होना मानवताकी समाप्तिका द्योतक है!

आजकी सभ्यता, जो बाहरसे आयी है, उसीके साथ-साथ कानून बनानेका विचार भी आया है। अपने देशकी सभ्यताके आधारपर कानून बनानेका काम हमारे यहाँ नहीं होता है। इन कानूनी विचारोंमें सारा तमाशा ऊपर-ही-ऊपर चलता है। उसमें सत्य और धर्म-विचार नहीं होता है। जिस प्रकार आजकी चिकित्सापद्धतिमें रोगका कारण नहीं ढूँढ़कर रोगके वेगको ही रोकनेका प्रयत्न किया जाता है तो उसका परिणाम यह होता है कि मौजूदा रोग तो दूर होता दिखायी देता है, पर विकारका शमन न होनेसे फिर दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार सभी सामाजिक और धार्मिक कामोंको जबरदस्ती कानूनके बलपर सँभालनेका प्रयोग भी बेकार ही नहीं साबित हो रहा है, बल्कि उससे समाजधर्मका नाश हो रहा है और यह सब बड़ा दुःखदायक दृश्य राम और कृष्ण, बुद्ध और गांधीके देशमें हो रहा है! समाज-शोधनका काम तो महान् विचारकोंके प्रभावसे ही हो सकता है।

पति-पत्नीमें भेद होता क्यों है? इसका कारण जबतक नहीं ढूँढ़ा जाता है और उस कारणका जबतक निराकरण नहीं होता है, तबतक एक तलाक-कानून क्या, हजार कानून बन जाय, पर दाम्पत्यजीवनका सुख और लाभ समाजको नहीं प्राप्त हो सकेगा। कानूनसे तो भेद-वृत्तिको उत्तेजना ही मिलेगी। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाणित हो रहा है। उससे बड़े गंदे और भयंकर मुकदमोंका विस्तार होगा, चारों ओर गंदे वातावरण उत्पन्न होंगे और पति-पत्नी सारे शील-स्नेहको तिलाञ्जलि देकर, एक दूसरेकी गलतीको अच्छे-बुरे साधनसे

किसी भी प्रकार प्रमाणित करके सम्बन्ध-विच्छेद कर लेनेके लिये खुल्लम-खुल्ला प्रयत्न करेंगे । इसका समाजपर कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह ख्याल करनेसे ही सच्चे हिंदूका कलेजा फटने लगता है । जहाँ पातिव्रत और पत्नि-व्रत-धर्म-पालनकी प्राचीन परम्परा चली आयी है और पति-पत्नी शरीरसे दो होते हुए भी एक माने गये हैं, वहीं ऐसा सत्र घृणित अधिकार कानूनके द्वारा दिया जाय, यह बड़े दुःखकी बात है । हमारे यहाँ पत्नी अर्धाङ्गिनी मानी गयी है और पति तो परमेश्वरस्वरूप ही माना गया है । फिर, वही ऐसा क्यों हो रहा है ? पश्चिमी सभ्यताको क्यों इतना प्रश्रय दिया जा रहा है ? इसपर फिरसे अच्छी प्रकार सोचनेकी आवश्यकता है ।

राजनीतिने सबसे पहले नेताओंको फाँस लिया । वे सभी एक दूसरेको तलाक दे बैठे । इसका असर हर जगह हुआ । फिर तो, सभी दलों और समाजोंमें भेद उत्पन्न हो गया । तलाकका व्यापक अर्थ यही होता है कि एक आदमी दूसरे आदमीसे कहता है कि 'हमारा तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया ।' इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेदका आज बोलबाला हो गया है । अधिकतर तो कानूनका ही सहारा लेना लोग सीखते हैं । विचार और धर्ममर्यादाका लोप होता जाता है । जबतक विचारका सहारा नहीं लिया जायगा, तबतक यह मामला नहीं सुलझ सकेगा ।

यह काम खासकर समाजका है । पर यह विचार न रखकर समाजकी बुराइयोंको कानूनके द्वारा दूर करनेका निर्णय केवल शासनका अहंकार ही है । अगर कानूनसे सजाका भय बताया जाता है तो उससे लाभ ही क्या होता है ? कुछ लोग गलती करनेके कारण सजा भोगते हैं, कष्ट उठाते हैं, बाकी सारा वातावरण समाजका उसी प्रकार चलता रहता है । जरूरत इस बातकी है कि सामाजिक बुराइयोंकी उत्पत्तिका कारण ही रोका जा सके, ऐसा कोई कदम उठाया जाय । पर यह काम तो कोई शुद्ध और त्यागी मण्डल ही कर सकता है । इसपर गहराईसे सोचनेकी जरूरत है । समाज-शोधकोंको इसपर ध्यान देना चाहिये । समाजके रोगोंको प्रेमपूर्वक बहिष्कार और सत्याग्रहके द्वारा दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये । लोगोंके विकारोंका शमन विचारके प्रभावसे करनेका प्रयत्न हो तो प्रेम और कर्तव्यकी दृढ़ता समाजमें होगी ।

तलाकके लिये कानूनी छूट देना समाजके प्रति घोर अन्याय है । इसके प्रभावसे समाज भयानक खतरेमें जा गिरेगा । भारतवर्षके लिये यह एक पाप होगा, जो भारतवर्षके सारे गौरवको धूलमें मिला देगा और समाज चौपट हो जायगा । इसके लिये अच्छे-अच्छे विचारशील लोगोंका संगठन करना चाहिये, जो समाजके कामोंमें सच्ची दिलचस्पी ले सकें । वह मण्डल समाजमें समता बनाये रखनेका काम करे । ऐसे कार्यकर्त्ताओंको तैयार करना होगा, इसके लिये विशेष प्रशिक्षणकी आवश्यकता होगी । वैसी प्रवृत्ति रखनेवाली संस्थाओंके द्वारा भी ऐसे कामोंमें सहायता मिल सकती है । पर यह शोभा नहीं देता है कि अगर समाजके दाम्पत्य-जीवनमें बुराइयाँ आ गयी हैं तो उसके लिये तलाकका प्रयोग करके उसकी जड़ ही काट दी जाय । यह विचार तो आसुरी है, पतनकारी है । हमारा संस्कार और हमारी सभ्यता तो दैवी विचार चाहती है । यह भी सोचनेकी बात है कि जिसके शुद्ध आचरणके कारण सारा संसार आज उसकी ओर आशाभरी दृष्टिसे देख रहा है, उसी भारतमें इस प्रकारके घृणित विचारोंका प्रयोग हो, बड़ी ही लज्जाकी बात है । इस प्रकार भारत जो अध्यात्ममें संसारका गुरु बनता आया है, उसकी मर्यादापर बड़ा आघात पहुँचनेवाला है । ऐसे सामाजिक कामोंको सरकार अपने हाथमें न लेकर समाजको करने दे और उस क्षे… ऊपरसे समाजको मदद करे । सब काम सरकार ही करनेवाली है तो समाज कौन-सा धंधा करेगा । अगर यह बेकार होता जायगा तो बहुत बड़े-बड़े पाप उत्पन्न हो जायँगे, जिनसे समाज तो चौपट होगा ही, साथ ही सं…

भी खतम हो जायगी। समाजकी ऐसी महीन बातें, जिनमें पर्देकी जरूरत होती आयी है, उनके प्रति सरकारी हुक्मसे निर्णय-प्राप्तिका निश्चय मर्यादा-विरुद्ध है।

आहार-विहारकी व्यवस्था ठीक करके सुशिक्षा-द्वारा आदमीको आदमी बनानेका प्रयत्न करनेका संकल्प समाज, सरकार और समाजसेवक लोग करें और उस संकल्पको पूरा करनेमें सभी लोग ध्यानपूर्वक लग जायँ तो तलाक-जैसे कानूनोंको उत्पन्न करनेवाले अनाचारोंके साथ-साथ उन तमाम सामाजिक बुराइयोंकी समाप्ति हो जायगी, जिनसे परेशानी हो रही है। वैसा शुद्ध प्रयत्न होनेसे सरकार और नेताओंको दूसरे कामोंको करनेका मौका मिल सकेगा। समाजको शुद्ध और मजबूत बनानेका यही सब उपाय काममें लाना चाहिये।*

तुम ही तुम हो

जहाँ देखता तुम ही तुम हो,
जगतीके कण-कणमें व्यापक एक तुम्हारी छविकी छाया,
अणु-अणुमें माया महान्‌की विन्दु-विन्दुमें सिन्धु समाया।
तुम महान् कानन उपवन तरु कोमल किसलय कलित कुसुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

कौन प्रात उठकर प्राचीमें है विखेरता स्वर्णिम लाली,
कौन सजाता रात गगनमें नक्षत्रोंकी नित्य दिवाली।
संध्याके कपोलमें करसे तुम्हीं लगाते नव कुङ्कुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

जड-चेतन या स्थावर-जङ्गम, खग-मृग, कीट-पतंग-भुजङ्गम,
सबमें सत्ता एक सत्यकी एक चेतनाका शुचि सङ्गम।
गाते सदा अनाहत स्वरमें साम गान, बैठे गुम-सुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

भाव-अभाव, शुभाशुभ, सुख-दुःख---ये सब केवल शब्दजाल हैं,
एक अछेद्य अभेद्य वृक्षके रंग-विरंगे विटप-डाल हैं।
और तुम्हीं सबकी मन-वाञ्छाके पूरक वह कल्पद्रुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

सुधामात्र यदि तुम वसुधापर गरल कहाँसे कैसे आया,
सत्‌से असत्, अचेतन चित्‌से, तम प्रकाशसे भिन्न न पाया।
सृष्टि-प्रलय हैं खेल तुम्हारे तुम्हीं प्रकट हो, तुम ही गुम हो,
जहाँ देखता तुम ही तुम हो॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

---

* हमारी संस्कृति त्यागमयी है और आज त्यागका स्थान अर्थ तथा भोगने ले लिया है और कर्त्तव्यका स्थान अधिकारने ले लिया है—इसीसे आज मनुष्य भोग तथा अधिकारके पीछे पागल है। यही सब अनर्थोंका मूल है। अपनी त्याग तथा कर्तव्यमूलक संस्कृतिके त्यागका ही यह दुष्परिणाम है। अतः समाजमें व्यक्ति-व्यक्तिमें त्याग तथा कर्तव्यका महत्त्व उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है। —सम्पादक

समस्याओंका मूल

[एक सांकेतिक रूपक]

(लेखक—साहित्याचार्य श्रीराममणिजी त्रिपाठी एम्० ए०, साहित्यरत्न)

विकास—(झुँझलाया हुआ) समझमें नहीं आता कि आखिर बात क्या है ? इतना मर-मिटनेपर भी उलझनें कम नहीं होतीं । यों देखनेमें लोगोंकी निगाहें कहती हैं, 'तुम्हारे पास तो सब कुछ है ।' किंतु वास्तवमें हमेशा कोई-न-कोई ऐसी आवश्यकता मुँह बाये खड़ी रहती है कि सब कुछ, कुछ नहींके बराबर माॡम होता है ।

प्रगति—यही तो सोचनेकी चीज है । हमलोग साधारण स्तरसे इतने आगे आ गये कि जिसकी कल्पना करके भी लोग ऊब जायँ । वर्तमानकालकी इस अवस्थामें तो हम पूर्णतया स्वावलम्बी हो चुके हैं । हमें किसीकी अपेक्षा या चिन्ता नहीं । फिर भी कोई अज्ञात न्यूनता आकर सवार हो जाती है और सबपर पानी फिर जाता है ।

सत्य—(एकाएक आकर) यह बात आपलोग समझ भी नहीं सकते । यह विपरीत तत्त्व है । इसलिये विपरीत परिस्थिति और सिद्धान्तवाला व्यक्ति ही इस दुःखमूलका ठीक अनुभव कर सकता है ।

शान्ति—हाँ, ठीक तो है । महाशय विकास ! आपकी श्रीमती प्रगतिने अभी यह स्वीकार किया है कि हम पिछले दिनोंकी अपेक्षा बहुत आगे आ गये । यही आगे जानेकी निरन्तर-कामना ही नयी समस्याओंको खड़ी कर देती है ।

प्रगति—मानती हूँ, किंतु आपके श्रीमान् सत्यने जो यह कहा कि 'विपरीत दिशावाला व्यक्ति मेरी उलझनें समझ सकता है ।' तो क्या उस व्यक्तिकी उलझनें समाप्त हो चुकी हैं ?

संतोष—(भीतरसे आकर) नहीं । समस्याएँ सबके पास हैं, किंतु उनके मूल कारणोंमें अन्तर है । भौतिक उन्नतिकी कामनासे जो समस्याएँ खड़ी होती हैं, उनका मूल काम (कामना) और कामनाकी असफलतासे होनेवाला क्रोध (अन्यसे द्वेष) होता है । इस कामका पेट इतना बड़ा है कि कभी भर ही नहीं सकता । ये काम-क्रोध इतने पापाचारी हैं कि कोई इन-सा अधम नहीं । इनके प्रभावसे चित्त सदा चञ्चल रहता है । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता)

विकास—यह समझमें नहीं आया कि समस्याएँ जब सबकी एक समान हैं, तब परेशानी सबके लिये एक-सी होनी है । फिर दोनोंमें अन्तर क्या है, चाहे भौतिक हो या अभौतिक ।

सत्य—सुनिये ! भौतिक समस्याओंके सुलझानेका उद्देश्य 'शारीरिक सुख' है । इनसे योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तका संरक्षण) की प्रबल भावना उत्पन्न होती है । अपना सुख, विघ्नविनाश, सर्वाधिक शक्तिमत्ता और प्रभावशील कीर्ति प्राप्त करना ही चरम लक्ष्य होता है । इतना होनेपर भी वह आत्मिक आनन्द या तृप्तिका साधन नहीं है । अतः इनसे संतुष्टि कभी नहीं होती ।

इसके विपरीत जो समस्याएँ आध्यात्मिक आधारपर खड़ी होती हैं, जैसे—'मुक्ति', 'आत्मरति', 'भगवत्प्राप्ति' तथा 'ज्ञानप्राप्ति' इत्यादि । इन उद्देश्योंकी सिद्धिमें जो विघ्नस्वरूप समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उनके निवा

या समाधानके हेतु साधक छटपटाता नहीं । ईश्वरार्पण-बुद्धि या साध्यसाधनकी ऐक्य-बुद्धिसे सतत कर्तव्य-पालनमें ही उसे संतुष्टि रहती है; क्योंकि फल भोगनेकी भौतिक कामना उसमें नहीं होती ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता)

श्रीकृष्ण भगवान्का कथन है कि 'जो लोग अनन्य-भावसे नित्य आग्रहपूर्वक मेरी उपासना करते हैं, उनके योगक्षेमका भार मैं स्वयं वहन करता हूँ ।'

इसपर विश्वास करके वे अपना सब कुछ ईश्वरपर छोड़ देते हैं । अतएव व्यग्रताका कोई प्रश्न नहीं उठता ।

प्रगति—कर्मयोगकी बात तो भौतिक जीवनपर भी लागू होती है । कर्ममें तल्लीनता और कुशलता भी तो योग ही है ।

'योगः कर्मसु कौशलम् ।'

शान्ति—ठीक है, किंतु कर्मफलका त्याग और ईश्वरार्पण बुद्धि होनेपर ही वह 'योग'की श्रेणीमें आता है ।

विकास—भौतिक कर्मोंके फलोंका त्याग केवल ढोंग है । यदि फलकी कामना नहीं तो वे कर्म आरम्भ ही क्यों किये जायँ ? फिर इस बीचमें ईश्वरको खींचकर लाना तो कमजोरी मात्र है । प्रश्न तो सीधा-सा यह है कि अशान्ति, असंतुष्टि, व्यग्रता और निरानन्दका कारण क्या है ? भौतिक संघर्षका निदान (आदि-कारण) क्या है ?

सत्य—जाने दीजिये कर्मफलत्याग और ईश्वराग्रहको । फिर 'कर्म' को 'कर्मयोग' बनानेके लिये, उसके पहले 'निष्काम' शब्द जोड़ना पड़ेगा । आपका भौतिक कर्म जब सकाम है, तब उसे केवल 'कर्मबन्ध' कहा जायगा ।

प्रगति—अजी, कर्मयोग नहीं, यह तो अप्रासंगिक चर्चा चल पड़ी । 'कर्मबन्ध' ही सही । मुझे इतनेसे मतलब है कि विविध समस्याओंके बीच धैर्य और शान्ति किस प्रकार स्थिर हो सकती है । यदि इसका समाधान नहीं है तो मुझे 'निष्काम कर्मयोग' और 'अपवर्ग' से दूर ही रहना है ।

संतोष—एक मामूली-सी बात है, इसके लिये इतनी भूमिका क्यों ? श्रीमान् विकासजी और श्रीमती प्रगति महोदया ! इतना तो आपलोग स्वयं ही अनुभव करते होंगे कि 'भौतिक आवश्यकताएँ' नित्य नये रूपमें आपके सामने आती हैं ।

वि० और प्र०—हाँ-हाँ, उन्हींके पूरा करनेमें तो सारा जीवन समाप्त हो रहा है । फिर भी वे कम नहीं होतीं ।

संतोष—साथ ही यह भी आप मानेंगे कि उनकी पूर्तिसे प्राप्त होनेवाले फलकी ओर 'उत्सुक-कामना' भी होती है । प्रयत्नकी दशामें 'आशा' भी बलवती होती है । 'तृष्णा'पूर्वक जिस वस्तुकी 'इच्छा' की जाती है, उसके प्रति एक 'लोभ' सा हो जाता है और सफलता न मिलनेपर अतृप्ति, असंतोष, बेचैनी और झुँझलाहट पैदा होती है ।

प्रगति—बिल्कुल ठीक । यही तो दुःखका कारण है ।

सत्य—बस, तो स्पष्ट है कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई, कामना, तृष्णा, इच्छा, लोभ और असंतोष ही स्वयं समस्याएँ बनकर सामने आ जाते हैं ।

विकास—बात तो ठीक है मित्र ! किंतु इससे बचना भी तो कठिन है । निम्नतमसे उच्चतम आकाङ्क्षाओं तकमें ये चीजें हैं, तो क्या मानवको अपने सभी कर्तव्योंको छोड़कर अकर्मण्य बन जाना चाहिये ?

शान्ति—नहीं, तनिक सोचिये, अपनी स्थिति और विपुल ऐश्वर्यसे किसी निःस्व (निर्धन) का मिलान कीजिये । जिन इच्छाओंकी पूर्ति आपने चुटकी बजाते की है, वही उसके कठिन प्रयाससे असम्भव है । अतः

वह उसके प्रति 'आशा' करना छोड़कर निश्चिन्त है। आशाओंका शिथिल होना ही शान्ति-प्राप्तिका उपाय है।

'आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।'

तथा—

'तया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत्।'

अर्थात् जो आशाके अधीन हैं, वे सारी दुनियाके गुलाम हैं। तथा—इस आशापाशसे बँधकर लोग इधर-उधर दौड़ते हैं और जो मुक्त हैं, वे पंगुवत् अचल रहते हैं।

इसी 'आशा'को उपनिषदोंमें एक प्रबल शक्ति बताया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्'में—'नामसे वाक्, वाक्से मन, मनसे संकल्प, संकल्पसे चित्त, चित्तसे ध्यान, ध्यानसे विज्ञान, विज्ञानसे बल, बलसे अन्न, अन्नसे पानी, पानीसे तेज (प्रकाश), तेजसे आकाश, आकाशसे स्मर (काम) और स्मरसे आशा' ये सब उत्तरोत्तर बलवान् बताये गये हैं। यथा—

'आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो
मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते……॥'
(छान्दोग्य० ७। १४। १)

प्रगति—आशाके कारण इतनी अतृप्ति क्यों? आशाके विघातमें थोड़ा विषाद अवश्य होता है, किंतु……।

सत्य—'आशा'का पक्का साथी 'असंतोष' है। यही असंतोष बेचैनीका कारण है। यदि आदमीको यह संतोष हो कि 'जो होगा देखा जायगा'। वह किसी 'तृष्णा' के पीछे अपना मानसिक संतुलन न खो बैठे, तो उसके पास व्यग्रता नहीं आ सकती। 'यथालाभ संतोष' का सिद्धान्त बन जानेपर सभी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं।

'संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्।'

अर्थात् संतोष ही पुरुषका श्रेष्ठ धन है।

विकास—यह तो वैरागी बननेकी शिक्षा है। कर्मपथमें आशावाद, प्रयत्न, असंतोष आदि तो आते-जाते रहते हैं।

संतोष—यदि आते-जाते रहते हैं तो भी कुशल है। इनके टिकनेपर ही भय है और यहाँ प्रश्न टिकनेकी हालतमें ही खड़ा हुआ है। 'सत्य' महाशयके उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है—'असंतोष' और 'आशा' जब बद्धमूल हो जाते हैं, तब 'तृष्णा' का साम्राज्य अचल हो जाता है। भौतिक या अभौतिक, पावन या जघन्य जिस किसी उद्देश्यमें इन दोनोंका डेरा अचल हुआ कि तृष्णाने जड़ पकड़ी। फिर तो इस जन्मकी बात ही क्या, वह जन्मान्तरमें भी पल्ला छोड़नेको तैयार नहीं।

सारांशतः आशा-तृष्णा ही इस जीवके दुःख, बन्धन और अतृप्तिके कारण हैं। तृष्णाका चस्का सदा बढ़ता ही जाता है। कहा है—

'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्'

'जीर्यन्ते जीर्यतः केशा
दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रौ च जीर्येते
तृष्णैका तरुणायते॥'

अर्थात् 'आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है।' 'जीर्णोन्मुख व्यक्तिके केश जीर्ण होते हैं, दाँत भी जीर्ण होते हैं, कान और आँखें जीर्ण हो जाती हैं; किंतु तृष्णा केवल जवान होती जाती है।'

किसी भी स्थितिमें मनुष्यकी समस्याएँ पूर्णतः हल नहीं हो सकतीं और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है, जबतक 'तृष्णाक्षय' न हो। 'तृष्णाक्षय'-से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके सामने स्वर्गसुखकी कल्पना भी दुःखमयी है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

लोकमें जो सकाम सुख होता है तथा जो स्वर्गीय महासुख है, ये दोनों भी तृष्णाक्षयजन्य सुखके सोलहवें अंशके भी बराबर नहीं हैं ।

प्रगति–किंतु तृष्णाका व्यापार बंद होना भी तो आसान नहीं है ।

सत्य—तृष्णा मनका विकारमात्र है । वास्तवमें मन ही प्रत्येक क्रियाओंका संचालक है । अतएव वही हर दशामें मूल कारण बनता है ।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

मन ही मनुष्योंके बन्धन और मुक्तिका कारण है । अतः इसीपर नियन्त्रण करनेसे सभी समस्याओंका समाधान हो सकता है । यद्यपि इसका वेग हवासे भी तीव्र है । किंतु—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'

'अभ्यास' और 'वैराग्य'से मनका वेग रोका जा सकता है । मनको चारों ओरसे मोड़कर किसी सदुद्योगमें केन्द्रित करनेको ही 'मनोयोग' कहते हैं ।

'मन' इन्द्रियोंका संचालक है । सभी इच्छाएँ इसकी दासियाँ हैं, किंतु बुद्धि और आत्मा मनसे भी श्रेष्ठ हैं ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(गीता)

'इन्द्रियाँ (शरीरमें) प्रबल होती हैं । ये ही प्रधान हैं; किंतु मन इनसे भी श्रेष्ठ है । बुद्धि मनसे भी श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे भी परे है, वह परमात्मतत्त्व है ।'

इस प्रकार चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा संचालित इच्छा, तृष्णा, आशा आदि मनके अधीन हैं । अतः मनका 'संतुष्ट' होना ही एक समाधान है । इच्छाओंका अन्त नहीं होता । सदा एकके बाद दूसरी समस्या आती ही रहती है । इसलिये सामान्यभावसे कर्तव्य-तत्पर होते हुए हर दशामें मानसिक संतोषका संतुलन बनाये रखनेमें ही कल्याण, सुख और शान्तिका प्राप्त होना सम्भव है, अन्यथा—सम्राट्को भी सुख नहीं और न इन्द्रको सुख है । तृष्णारहित, मनोयोगी, संतोषी, विवेकी, विरक्त और शान्तचित्तको ही आत्मानन्द प्राप्त होता है । उसके लिये कोई समस्या व्यग्रताका कारण नहीं बनती ।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । (योगदर्शन)

* * *

मेरे मनमें अब प्रभु स्वच्छन्द विहार करते हैं

मेरे मनमें नित प्रविष्ट रह, ईश्वरका मन करता काम ।
ईश्वरके मनके ही होते उदय दिव्य संकल्प ललाम ॥
रहा न मेरे मनमें कुछ भी, ईश्वरके मनके अतिरिक्त ।
रहता सदा इसीसे वह मधुमय भगवद्-रससे अभिषिक्त ॥
मेरे मनको नित्य बनाये रखते प्रभु निज मनका यन्त्र ।
करते उससे अपने मनकी मनमोहन वे परम स्वतन्त्र ॥
रहा न कोई मुझमें करनेवाला अब शुचि-अशुचि विचार ।
अन्तर्द्वन्द्व मिट गये सारे, मिटे मोहके सभी विकार ॥
प्रभुके मनमें निजको खोकर मन हो गया अमन मेरा ।
उठा असत् आशा-तृष्णाका, ममताका सारा डेरा ॥
क्रीड़ा करते अब उसमें, उससे प्रियतम इच्छा-अनुसार ।
करते रहते नित उसमें, उससे वे अब स्वच्छन्द विहार ॥

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

महात्माके लिये सरयूकी कृपा

भले ही अपनी अज्ञानताके कारण, आजकी प्रगतिशील दुनियाका ज्ञानवान् कहलानेवाला मानव, भगवान्‌के, 'अनेकरूपरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने' इत्यादिके सिद्धान्तपर विश्वास न करे, इससे उस अनन्त, लीलामय और कृपासागर प्रभुका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। फिर भी कभी-कभी वह हमारे ही सम्मुख ऐसे अद्भुत चमत्कार कर दिखाता है; जिसकी कल्पना ही हमारे मन, बुद्धि और कर्मसे परे होती है।

अल्मोड़ा जनपदकी नदी सरयूके सम्बन्धमें किसीने कहा—'गङ्गा मरे हुओंको तारती है, पर सरयू जीवित लोगोंके ही शान्तिका पथ प्रशस्त कर देती है।'

इसके अनुसार सरयूके गुणोंका परिचय भी बहुत लोगोंको होता रहता है। इस नदीके चमत्कार यदा-कदा, इस क्षेत्रके लोगोंको, आश्चर्यचकित कर ही देते हैं। सम्भवतः ऐसी घटनाओंके कारण, इसके प्रति इस पर्वतीय प्रदेशके भोले लोगोंका विश्वास दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

दो-तीन वर्ष पूर्व वर्षा-ऋतुमें यहाँ एक भयावह दुर्घटना हुई थी। इस जनपदके मल्ला दानपुर लोहारखेत गाँवकी यह करुण कहानी है।

इस गाँवके एक उच्च स्थानपर, एक पहाड़ीके नीचे, एक महात्माकी कुटी थी। वह महात्मा पिछले कुछ वर्षोंसे उस कुटियामें रहकर, देवाधिदेव भगवान् शंकरकी अर्चनामें लीन था। पासके गाँवसे, उसे जो कुछ भी प्राप्त होता, उसीमें संतुष्ट रह, प्रतिदिन सरयूमें स्नान कर, एकान्तमें प्रभु-चिन्तनद्वारा, सम्भवतः अपने पूर्वजन्मके पापोंका प्रायश्चित्त और इस जन्ममें पुण्योंका संचय कर रहा था।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमीके दिन, सरयूमें स्नान कर, पूजा-पाठसे निवृत्त हो, एकान्तमें वह मन-ही-मन उस कृपामय प्रभुका चिन्तन कर ही रहा था कि एकाएक एक महिला उसके सामने आकर खड़ी हो गयी। उसके अलौकिक और दिव्य रूप-लावण्यको देखकर महात्माकी आँखें चौंधिया गयीं।

वह महिला बोली—'तू किसकी आज्ञासे यहाँपर आसन जमाये बैठा है रे जोगी! भाग यहाँसे. अभी अपनी झोली-चिमटा लेकर; उठ, अभी भाग जा, फौरन चला जा।'

महात्मा भक्त तो था, पर उसकी समझमें कुछ न आया और न वह यही समझ सका कि आखिर इस एकान्तमें इस महिलाका उसे इस प्रकार तंग करनेका प्रयोजन क्या है। आखिर मेरी फूसकी झोंपड़ीसे इसे क्या हानि हुई है। फिर भी शान्त होकर वह बोला—'माई! कुछ सुरम्य स्थान देखकर पिछले कुछ वर्षोंसे इस पहाड़ीके नीचे भगवान् शंकरसे अपने प्राक्तन कर्मोंकी क्षमायाचना कर रहा हूँ। मन, वाणी, कर्मसे किसीको कोई हानि न हो, ऐसा प्रयत्न करता हूँ। आप माँ हैं, आप ही बताइये, आज्ञा दीजिये मैं कहाँ जाऊँ।'

'मेरा यह ठेका नहीं कि तुझे तेरे योग्य स्थान बताऊँ। पर चला जा अभी यहाँसे। अच्छा, देख मैं जाती हूँ, पर याद रख यदि तू आजके सूर्यास्तसे पूर्व यहाँसे न भागा तो तेरी हड्डियोंको इस सरयूमें मछलियाँ चबायेंगी'—इतना कह वह महिला चली गयी।

महात्माको जैसे काठ मार गया। किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया बेचारा। फिर भी यह देखता रहा, आखिर यह महिला कौन है, और जाती कहाँ है? उसने देखा कि पहाड़ीमें चलती हुई वह सरयूके किनारेतक गयी और एकाएक सरयूके उस अनन्त, अगाध और अथाह जलके मध्य विलीन हो गयी। वह साक्षात् माँ सरयू ही थी।

इधर महात्मा अपनी कुटियासे भगवान्‌की प्रतिमा, झोली, चिमटा और कमण्डलु लेकर चल पड़ा। जाते हुए गाँववालोंने उसे देख लिया और वे समझ न पाये कि वह कहाँ जा रहा है, इस जन्माष्टमीके दिन।

पूछनेपर पता चला कि अब वह सदाके लिये यहाँसे चला जा रहा है। ऐसा समाचार सुनते ही सारे ग्रामवासी उसके पास आये और उन्होंने उससे प्रार्थना की—'महात्मन्! इतने दिन साथ रहे, अब हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं। कम-से-कम आज तो रह जाइये, आज श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी है। ऐसे पर्वपर हमें न छोड़िये।'

ग्रामवासियोंके आग्रहको देखकर महात्माने कहा—'यदि आपलोगोंकी ऐसी ही इच्छा है तो नीचेवाले गाँवमें रह जाऊँगा, यहाँ नहीं ।'

गाँववालोंकी समझमें न आया, बेचारे उलटे आत्मग्लानिसे भर गये कि आखिर किसने महात्माका अपमान कर दिया, इन्हें किसकी कौन बात चुभ गयी ?

पर महात्मा चले गये ।

ठीक उसी रात क्या हुआ । तूफान, भयंकर आँधी, फिर मूसलाधार वर्षा और न मालूम क्या-क्या । ऊपरकी पहाड़ीमें एक दिव्य ज्योति, जैसे हजारों विद्युत्-बल्बोंका प्रकाश हो, गाँववालोंको दिखायी दी और उसीके साथ-साथ वह पहाड़ी भी नीचेकी ओर धँस गयी । एक पर्वतके ढह जानेसे सरयूका प्रवाह भी रुक गया । सरयू पलट गयी और सारा गाँव ही सरयूके प्रवाह और उस पहाड़ीमें ही सदाके लिये विलीन हो गया । कितने ही मनुष्य, पशु, ढोर दब गये, बह गये और उस बवंडरमें समा गये । कितनोंके अङ्ग-भङ्ग हो गये, कितने उस दर्दनाक दृश्यको ही देखकर बैठ गये । मनुष्य, पशु, सम्पत्ति किसकी कितनी हानि हुई, किसीको ठीक पता न चला । महात्माकी झोपड़ीका तो नाम-निशान भी न था । यहाँपर एक बस्ती थी, इसका कोई भी चिह्न अवशेष न रहा । जो था भी वह भयानक, दर्दनाक और करुणाकी सीमातक पहुँचा हुआ !

दूसरे दिन सबने देखा, कुछ दिनों बाद समाचारपत्रोंमें सबने पढ़ा । किसीने कहा—'इस धरतीके गर्भमें ज्वालामुखी है, यहाँकी मिट्टी ही ऐसी है, जो एक-न-एक दिन अवश्य ही धँस जाती ।' कोई बोले—'पहाड़ियोंके गाँवोंका कोई ठिकाना नहीं, कब बस जायँ और कब धँस जायँ ।'

यह सब महात्माने भी देखा—कह नहीं सकते कि उसने क्या सोचा, पर उसी दिनसे उसने यह संकल्प कर लिया कि अब उसका जितना भी जीवन अवशेष रहेगा, वह इसी सरयू माँके किनारेपर रहेगा, भले ही कहीं रहे ।

ऐसी बातें उस महात्मासे सबने सुनीं, पर कह नहीं सकता कि कितने लोगोंने इसपर विश्वास किया ।

तबसे उस महात्माको आस-पासकी बस्तीमें किसीने नहीं देखा । हाँ, पिछले वर्ष सुननेमें आया कि एक महात्मा सरयूके किनारे कहीं एक पहाड़ीके नीचे बैठा था ।

—देवेन्द्रकुमार गन्धर्व

(२)

गुप्त दान

कई वर्षों पहलेकी बात है । राजस्थानमें भीषण अकाल था । गौओंकी बड़ी दुर्दशा थी । उस समय गीताप्रेसकी ओरसे राजस्थानमें स्थान-स्थानपर सहायताका काम हो रहा था। रतनगढ़में भाईजी काम देख रहे थे । वे एक दिन दुपहरको अपनी बैठकमें अकेले बैठे डाक देख रहे थे कि वहींके एक सज्जन, जो बहुत सम्पन्न थे, जिनका बंगालमें बड़ा कारोबार था, बड़े दानी थे, पर जो अपने लिये व्यय करनेमें बड़े ही अनुदार थे, घुटनोंतककी धोती, एक कमरी तथा सिरपर पगड़ी, जाड़ेमें एक बीकानेरी कंबल—यही उनकी पोशाक थी । वे रिश्तेमें भाईजीके मामा लगते थे,—आये, भाईजीने प्रणाम करके आनेका कारण पूछा । उनके हाथमें एक कागजका छोटा-सा पुलिंदा था, उसे भाईजीके हाथमें देते हुए बोले——'ले भैया ! ये दस हजार रुपयेके नोट हैं, इस समय तू अकेला मिलेगा, इसीसे दुपहरीमें आया हूँ, इनको गायोंकी सेवामें लगा देना । पर देखना, कहीं ·······का नाम न आने पाये । भगवान्की चीज भगवान्की सेवामें लगे, इसमें देनेवाले किसी दूसरेका नाम क्यों आना चाहिये ?' भाईजीने मुस्कुराते हुए नोट ले लिये । वे जानते थे मामाजीकी गुप्तदान क्रियाको । भाईजीने पीछे बताया कि इस प्रकार प्रचुर धनका ये दान करते हैं । जगह-जगह कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत कराते हैं, नये भी बनवाते हैं, पर इनके नामकी जानकारी केवल वहीं होती है, जहाँ बिना नाम बताये काम चलता नहीं । आजके दानके नामपर इन्वेस्टमेंट करनेवाले—और दानसे पहले ही समाचारपत्रोंमें समाचार भेज देनेवाले दानी महोदय इससे शिक्षा ग्रहण करें !

—एक जानकार

(३)

विचित्र सेवा

गत २० अप्रैलको दिल्लीकी एक गरीब बस्तीमें भयानक आग लगी । बहुत नुकसान हुआ । पाँच हजार मनुष्य बिना घर-बारके हो गये और लगभग बीस आदमी जल मरे । दुपहरको बारह बजे आग लगी थी, उस समय पुरुष तो

अधिकांश कामसे बाहर गये हुए थे । एकके बाद एक घरोंमें आग फैलती गयी और देखते-ही-देखते बहुत-से घर खाक हो गये ।

यों एक ओर अग्निका प्रकाण्ड ताण्डव हो रहा था, दूसरी ओर लगभग तीस वर्षकी एक स्त्री बहुत बड़ी बहादुरीका काम कर रही थी । उसके पड़ोसके घरके सब लोग बाहर गये हुए थे । आग वहाँ भी पहुँच गयी थी, इसी बीच वह स्त्री पड़ोसीके उस जलते घरमें कूदकर जा पहुँची और घरके कपड़े-लत्ते, बर्तन तथा अन्यान्य सामानोंको बाहर निकालती गयी । वहाँ इकट्ठे हुए लोगोंने पुकार-पुकार उसे समझाया कि 'देखो उधर तुम्हारा घर आगकी लपेटमें आ गया है, जाकर जो कुछ बने सामान निकाल लो ।' पर उसने किसीकी बात नहीं सुनी। वह निडर स्त्री अपने काममें लगी रही । जबतक उस घरका तमाम सामान निकाल न दिया, तबतक हटी नहीं । जलते घरमें आने-जानेसे उसके हाथ-पैर तथा बाल भी कई जगह जल गये, परंतु इसका कोई दुःख उसे नहीं था । वह अपना कर्त्तव्यपालन करके प्रसन्न थी ।

कुछ ही देरमें वह पड़ोसके घरवाला आया । अपने सारे सामानको सही-सलामत पाकर उसके हर्षका पार न रहा । अगल-बगलवालोंने बताया कि तुम्हारे घरके सारे सामानको बचानेवाली तो वह स्त्री है । तुरंत वह जाकर उस स्त्रीके पैरों पड़ गया और बोला कि 'बहन, यह तुमने क्या किया । अपने घरकी कुछ भी परवा न करके मेरा घर बचाया ।' इसपर उस स्त्रीने शान्तिके साथ उत्तर दिया—'भाई ! मैंने समझ-बूझकर ही यह सब किया है । अभी दस ही दिनके बाद तुम्हारी कन्याका विवाह होनेवाला है। लड़कीको देनेके लिये तुमने कितनी तकलीफें उठाकर सामान इकट्ठा किया था । ये सब चीजें आगमें जल जातीं तो तुम फिरसे इन्हें कहाँसे जुटा सकते । परिणामस्वरूप लड़कीका विवाह रुक जाता । मेरा घर जल गया तो कोई बात नहीं, मैं किसी भी झोंपड़ीमें जा रहूँगी । पर तुम्हारी लड़कीका तो घर ही न बँधता ।' यह सुनते ही उस भाईकी आँखें आँसू बहाने लगीं । उसके मुँहसे सहज ही निकला—'इस तपोभूमि भारतमें अब भी ऐसी देवियोंका अभाव नहीं है । 'अखण्ड आनन्द'

—जेठालाल कानजी शाह

(४)

सामूहिक प्रार्थना

गत बाईस फरवरीकी घटना है । मैं और श्रीसोमप्रकाश 'गौतम' पाठशालामें अपनी-अपनी कक्षाओंको पढ़ानेमें व्यस्त थे । अकस्मात् दोपहरके बाद लगभग डेढ़ बजे एक भैंस रस्सा तोड़कर हमारी पाठशालाकी ओर भागी-भागी आयी। उसके पीछे एक स्त्री पकड़ो-पकड़ो पुकारती हुई दौड़ रही थी। मैंने भैंसका रस्सा पकड़ लिया और किसी कदर भैंसको रोक लिया; किंतु मैं उसे बहुत देर थामे नहीं रख सका। भैंस मुझसे छूटकर भाग गयी; भैंसने अपनी गति और भी तीव्र कर दी । पास ही एक रोशनी देवी नामकी कन्या लगभग आठ वर्ष आयुकी अपनी तख्ती साफ करके आ रही थी। दुर्भाग्यसे भैंसका रस्सा कन्याके दायें पाँवमें फँस गया। कन्या गिर पड़ी और वह भैंसके साथ कंकरीले पत्थरों और काँटेदार झाड़ियोंपरसे घसिटती हुई लगभग एक सौ बीस गजकी दूरीतक चली गयी । कन्या बुरी तरह जख्मी हो गयी, उसे श्री 'गौतम' ने किसी प्रकार भैंसकी लपेटसे छुड़ाया । हमें उसके बचनेकी कोई आशा प्रतीत नहीं होती थी । कन्याको तुरंत चिकित्सालय पहुँचानेकी व्यवस्था की गयी। मेरे नेत्रोंके सामने और मेरी ही पाठशालाके आँगनमें ही यह दुर्घटना घटी; मुझे यह सब देखकर अत्यन्त दुःख हुआ । मेरी प्रबल चाह थी, किसी प्रकार इस अभागी छात्राके प्राण बच जायँ। मुझे और तो कुछ नहीं सूझा । मैंने पाठन-कार्य बंद कर दिया । पास ही पीपल और बरगदके वृक्ष थे, सब विद्यार्थियोंसे कहा कि 'आओ, इन वृक्षोंकी परिक्रमा करें और भगवान्‌से प्रार्थना करें कि रोशनीके प्राण बच जायँ, ईश्वर उसे जीवन-दान प्रदान करे' । मैं भी छात्र-छात्राओंके साथ परिक्रमामें सम्मिलित था । लगभग आध घंटेतक सामूहिक प्रार्थनाका यह क्रम शान्त वातावरणमें चलता रहा । साढ़े चार बजे सायं श्री 'गौतम'जीने हमें बताया कि 'कन्याको चेतना आ गयी है और उसने आँखें खोल दी हैं, दूध इत्यादि भी पी लिया है ।' अबतक मेरे पास ग्रामके नर-नारियोंका जमघट हो चुका था । इस सूचनाको सुनकर हमारी प्रसन्नताका कोई पारावार न रहा ! हम सब उस ईश्वरको लाख-लाख धन्यवाद देने लगे, जिस प्रभुने हमारी सामूहिक प्रार्थनाको इतना शीघ्र सुन लिया !

कन्या अब स्वस्थ है। मेरे विचारमें यदि ऐसी सामूहिक प्रार्थनाएँ की जायँ तो वे अपना तत्काल फल दिये बिना नहीं रह सकतीं। यह मैंने आज प्रत्यक्ष ही देख लिया है। धन्य है प्रभु तेरी लीला। केवल विश्वासकी आवश्यकता है, तर्ककी नहीं।

—ब्रजलाल 'निरंकुश'

(५)

धोबीकी ईमानदारी'

यह घटना तीन-चार साल पुरानी है। हमारे यहाँ एक धोबी कपड़े धोने आता था। वह धोबी बहुत पुराना था। एक दिन धोखेसे सोनेके बटन कमीजमें लगे रह गये। धोनेको दिये दूसरे सारे कपड़ोंके साथ वह कमीज भी धोबीको दे दी गयी। बटनोंकी कीमत लगभग २५०) रुपये थी। शामको जब बटनोंकी आवश्यकता हुई, तब उनको ढूँढ़ा गया परंतु बटन कहीं न मिले। हमलोग संतोष करके बैठ गये। किसीको यह ख्याल ही नहीं था कि बटन कमीजके साथ धोबीके यहाँ चले गये।

अचानक दूसरे दिन वह धोबी दौड़ता हुआ आया और बटन देकर बोला——'बाबूजी! यह बटन आपकी कमीजमें लगे हुए थे। सँभाल लीजिये।' हमलोग धोबीकी इस ईमानदारीपर बहुत खुश हुए और उसको हमने इनाम देना चाहा, परंतु उसने साफ इन्कार कर दिया!

—विष्णु [कानपुरी]

(६)

भलेकी भलाई सबकी भलाई करती है

दो भाई थे, गोविंदराम और लालचन्द! कपड़ेकी छोटी-सी दूकान थी देहातमें कलकत्तेके समीप। मजेमें कमाते-खाते थे। बीचमें दो-तीन बच्चोंके विवाह हुए, देश जाना-आना पड़ा। खर्च अधिक लग गया। पीछेसे काममें भी नुकसान हुआ। कुछ दिनों बाद दैवकी लीलासे गाँवोंमें बाढ़ आ गयी। लगभग पाँच-छः हजार रुपये गाँववालोंमें, जो लेने थे, वे डूब गये; क्योंकि बाढ़से गाँववाले तबाह हो चुके थे। कलकत्तेके महाजनके लगभग पंद्रह हजार रुपये इन्हें देने थे। माल आता, रुपये जाते, तब तो काम चल रहा था, पर इधर रुपयोंकी टान होनेसे रुपये भेजे नहीं गये। माल भी नहीं मँगाया गया। काम ठप हो गया। कलकत्तेवाले महाजनने आकर देखा, दूकानमें माल नहीं है, न रुपये हैं, अतएव उसने इनको रुपयोंके लिये तंग करना शुरू किया। इन्होंने किसी प्रकार भी व्यवस्था करके रुपये चुकानेके लिये एक महीनेका वादा करके उसको लौट जानेके लिये कहा। वह विश्वास करके लौट गया। इनकी ईमानदारीपर उसे विश्वास था और बहुत पुराना व्यवहार था।

अब दोनों भाइयोंने विचार किया, पर मतभेद हो गया। लालचन्द कहता था कि 'स्त्रियोंका गहना तथा देशकी जमीन बेचकर रुपये चुका दिये जायँ, तो महाजनको विश्वास हो जायगा। वह माल उधार देने लगेगा तो फिर कमा लेंगे।' पर गोविंदरामका कहना था कि 'देशमें तो यह नालिश कर नहीं सकता; (क्योंकि उस समय राजस्थानमें राजाओंका राज्य था) अतएव दूकान बंद करके देश चले चलें। गहना तथा जमीन न बेची जाय। हाथसे यह सब निकल जायगा तो दरिद्र हो जायँगे।' लालचन्द ईमानदारीपर था, तो गोविंदराम रुपये बचानेके लिये महाजनको चकमा देना चाहता था!

गोविंदराम नहीं माना, तब लालचन्दने कहा—'भैया! तुम अपने हिस्सेका गहना तथा जमीन बचा लो। मैं तो महाजनको दूँगा ही।' गोविंदरामने उसको समझाना चाहा, पर लालचन्द नहीं माना। इधर लालचन्दकी बात गोविंदरामको नहीं जँची। लालचन्द कलकत्ते गया, सौभाग्यसे महाजनने इस शर्तपर और इस आशयकी एक चिट्ठी अपने नामसे लिख देनेपर कि 'रुपये कमानेपर फिर दे दिये जायँगे' आधी रकममें सलटा लिया। लालचन्दने अपने हिस्सेकी जमीन तथा अपनी स्त्रीका गहना बेचकर महाजनको आधी रकम देकर उससे चुकतेकी रसीद (फाड़खती) ले ली। उसने महाजनको यह नहीं बताया कि वह अकेला अपना गहना-जमीन बेचकर दे रहा है, गोविंदराम कुछ नहीं दे रहा है। वह यह कहता तो महाजन मानता ही नहीं। अस्तु!

उसने आकर सब बात भाईसे कह दी। भाई प्रसन्न हो गया। उसका गहना बच गया और महाजन भी मान गया। लालचन्दका गहना-जमीन गये तो बलासे!

कहीं-कहीं कर्मफल हाथों-हाथ ही मिल जाया करता है या उसी प्रकारका प्रारब्ध सामने आ जाता है। लालचन्दकी सास कलकत्ते रहती थी। उसके एक लड़की (लालचन्दकी पत्नी रुक्मिणी) के सिवा और कोई संतान नहीं थी। उसके लगभग साठ हजार रुपये, दस-बारह हजारका गहना और तीस-चालीस हजारकी देशमें जमीन थी। वह अकस्मात् बीमार हुई। लालचन्द तथा उसकी पत्नी तो उसके मरण-समय नहीं पहुँच सके, पर वह मरते समय एक दस्तावेज

(वसीयतनामा) बाकायदा अपने एक ईमानदार पढ़े-लिखे सम्बन्धीकी सलाहसे लिख गयी, जिसमें उसके द्वारा अपनी सारी सम्पत्ति अपनी लड़की रुक्मिणीको दे दी गयी थी, सिर्फ पाँच हजार उसके खर्च (द्वादशाह श्राद्ध) आदिमें लगानेकी हिदायत लालचन्दको दी गयी थी। यह रहस्य खुलनेपर सहज ही लालचन्द धनी हो गया। उधर भाई गोविंदरामके मनमें बेईमानी आ गयी थी। अतः उसने अपने हिस्सेकी देशकी जमीन अपने एक सम्बन्धीके नाम बेची कर दी थी तथा गहना भी उसे दे दिया था। दुर्भाग्यसे वह घाटेमें था। गोविंदरामको पता नहीं था। उसने गहना बेचकर रुपये बरत लिये तथा देशकी जमीनपर उसके किसी पावनेदारकी कुर्की आ गयी। यों गोविंदराम फकीर हो गया। पर लालचन्दकी और उसकी स्त्रीकी सदाशयताने उसे अकिंचन—फकीर नहीं होने दिया। अपनी रकममेंसे उसको आँधी पाँती उन्होंने दे दीं। दोनों भाई पुनः सुखसे कारोबार करने लगे। भलेकी भलाई सबका सदा भला ही करती है।

—रतनलाल शर्मा

(७)

आँव (आमातिसार) की अनुभूत दवा

कैसा भी आँव हो, (पेट कटना, सवाद-रक्त आना, बार-बार पाखाना होना) जिसे अंग्रेजीमें डिसेन्ट्री (Dysentry) कहते हैं, इससे आराम हो जाता है। यह मेरा २३-२४ वर्षका अनुभव है। पर इसका प्रयोग 'पैसा कमानेके लिये' बिल्कुल नहीं करना चाहिये।

वह दवा है—जपा या जवा पुष्प (जिसे इधर 'अड़हुँल' कहते हैं, जिसका अंग्रेजी नाम China-Rose है, नामक लाल फूल) जिसके द्वारा देवीजीकी पूजा विशेषरूपसे की जाती है। बारह वर्ष या इससे छोटी उम्रवाले रोगीको, फूलका ऊपरका हरा छिलका छीलकर फेंक दे और भीतरका एक फूल या अवस्थानुसार उससे कम, चार आने भर मिश्रीके साथ चबा दिया जाय। बारह वर्षसे बड़ी उम्रवाला रोगी इसी प्रकार दो फूल चबा ले। यह खानेमें खराब नहीं लगता वरं स्वादिष्ट लगता है। दवा सुबह-शाम किसी भी समय दिनभरमें एक बार लेनी चाहिये। एक बारमें लाभ न हो तो एक या दो दिनतक एक-एक बार और भी लेनी चाहिये। पथ्यमें दही, चिउरा, चीनी एक दो बार लेनेसे जल्दी लाभ होता है।

—हीराप्रसाद वर्मा

* * *

अशोक होटलमें गोमांस

'कल्याण'के गत दूसरे अंकमें इस विषयपर लिखा गया था। पिछले दिनों संसद्में कहा गया है कि सरकार अशोक होटलमें गोमांसको हटानेके लिये तैयार नहीं है। यह वास्तवमें बहुत ही दुःख तथा लज्जाकी बात है। 'अतिथि-सत्कार' हमारा धर्म है, पर किसी भी ऐसी चीजको हम उन्हें दें, जिससे उनका तथा हमारा दोनोंका अहित होता हो, जो देशके बहुत बड़े भागके लोगोंकी दृष्टिमें सर्वथा घृणित तथा भयानक पाप हो, कदापि वाञ्छनीय नहीं है। वस्तुतः यह उस होटलमें गोमांसभोजी लोगोंके अतिरिक्त दूसरोंको सर्वथा बहिष्कार करनेकी योजना है। गोमांस न खानेवाले धर्मभीरु लोग जहाँ गोमांस पकाया और परोसा जाता है, वहाँ कैसे ठहरेंगे और कैसे खायँगे ? सरकारका यह दुराग्रह सर्वथा अवाञ्छनीय और महान् दुःखजनक है। करोड़ों-करोड़ों देशवासियोंके धर्मकी परवा न करके एक सरकारी होटलमें, जिसके साथ महान् अहिंसक 'अशोक'का नाम जुड़ा है, गोमांस देनेका हठ करना सर्वथा अनुचित तथा अन्याय है। भारतीय सभी संस्थाओं तथा सभी समाजोंसे हमारी यह प्रार्थना है कि वे 'अशोक होटल'से गोमांस हटानेके लिये विनम्रताके साथ जोरदार भाषामें माननीय राष्ट्रपतिजी, माननीय-प्रधान मन्त्रीजी तथा माननीय गृहमन्त्रीजीको नयी दिल्लीमें तारद्वारा प्रार्थना करें। साथ ही तुरंत गोहत्या बंद करनेके लिये भी लिखें !

एक नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

गीताव्याकरणम्

लेखक—पं० श्रीदीवानचन्द्रजी शास्त्री, बी० ए०

सम्पादक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी एम्० ए०, बी० लिट् (ऑक्सन) पी० ई० एस० (रिटायर्ड)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २८६, मूल्य १.०० डाकखर्च .८० मात्र ।

प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत-व्याकरणकी हिंदी माध्यमद्वारा ज्ञानोपलब्धिके साथ-साथ श्रीमद्भगवद्गीताके स्वाध्यायमें सहायता करनेके लिये लिखी गयी है । इसमें श्रीवरदराजकी पद्धतिका अनुसरण करते हुए श्रीमद्भगवद्गीताके प्रयोगोंसे पाणिनीयशैलीके आधारपर संस्कृत-व्याकरण समझने-समझानेका प्रयास किया गया है। लेखक महोदयने वरदराजकृत लघुसिद्धान्तकौमुदीके क्रमानुसार ही इसको प्रस्तुत करते हुए इसमें शब्द, प्रयोग तथा उदाहरण श्रीमद्भगवद्गीतासे उद्धृत किये हैं । पाठ्य-विषय अठारह प्रकरणोंमें रक्खा गया है। आशा है कि इस पुस्तकके द्वारा संस्कृत भाषाका पाणिनीयपद्धतिद्वारा सामान्य ज्ञान प्राप्त करके गीताके शब्दों और उनके अर्थोंका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायता मिल सकेगी।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याणके २२वें वर्षका विशेषाङ्क 'नारीअङ्क' अब भी मिल सकता है

(प्रथम संस्करणके शीघ्र समाप्त होनेके कारण दूसरा संस्करण छापा गया है) पृष्ठ-संख्या ८००, लेख-संख्या ४४९, कविता ३२, संगृहीत ४७, चित्र सुनहरे २, रंगीन ९, इकरंगे ४४, तथा लाइन चित्र १९८, मूल्य डाकव्ययसहित ६ रु० २० नये पैसे, सजिल्द ७.४५ नये दैसे ।

इस अङ्कमें नारी-धर्मकी महत्ता, नारी-जगत्का आदर और अधिकार, दर्शनशास्त्रमें नारी-जातिका माहात्म्य, अध्यात्मवादकी कसौटीपर नारीधर्म, नारी-शक्तिका सदुपयोग, नारीका उच्च आदर्श, भारतीय नारी क्या करे, नारी-तत्त्व-गौरव, भारतीय नारीमें पराशक्ति, भारतीय संस्कृतिमें नारीधर्म, भारतीय नारीका स्वरूप और उसका दायित्व, नारीकी आत्मकथा, वैदिक साहित्यमें नारी, नारी और वेद, उपनिषदोंमें नारी, स्मृति-ग्रन्थोंमें नारी, आधुनिक नारी, आदर्श नारी, जीवनकी पाठशालामें नारी, हिंदू-विवाहमें पत्नीका समादृत स्थान, विवाह-विच्छेद, हिंदू-विवाहकी पवित्रता, नारी-उन्नति, सतीत्वका तेज, मानसमें नारी, हिंदी काव्यमें नारी, स्त्री-शिक्षा, लड़कियोंकी शिक्षा, वर्तमान स्त्री-शिक्षामें परिवर्तनकी आवश्यकता, 'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्', लज्जा नारीका भूषण, बीसवीं सदीमें नारी, भारतीय नारीका कर्तव्य, नारी त्यागका सर्वोत्तम आदर्श, नारीकी देशसेवा, स्त्रियोंके रोग और उनकी घरेलू चिकित्सा, शिशुरोग, बालकोंकी शिक्षा, नारीके भूषण, नारीकी समस्याएँ, नारी और भोजन-निर्माण-कला आदि विविध विषयोंपर सम्माननीया देवियों एवं सम्मान्य बड़े-बड़े विद्वानोंके बहुत-से लेख प्रकाशित किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त इस अङ्कमें ब्रह्मवादिनी, भक्तिमती, वीराङ्गना, पतिव्रता, सती-साध्वी पवित्र स्त्रियोंके लगभग सवा तीन सौ चरित्र भी प्रकाशित हुए हैं ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे महान् सुधाभरे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और इनका अध्ययन करके लाभ उठाते हैं । बहुत वर्षोंसे इन दोनों ग्रन्थोंके द्वारा मानवजीवनको उच्चस्तरपर ले जानेवाली शिक्षाका प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था चल रही है । उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षा-केन्द्रों तथा विद्यार्थियोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है । गत सं० २०१७ में दोनोंके मिलाकर ४१० केन्द्र थे और लगभग ९६०० छात्र परीक्षामें बैठे थे । जब कि सं० २०१६ में ३५१ केन्द्र थे और लगभग ९००० छात्र ही बैठे थे । विशेष जानकारीके लिये नीचे लिखे पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें ।

व्यवस्थापक—**श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम (देहरादून)**

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३३,००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०१८, अगस्त १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–संधिदूत–श्रीकृष्ण [कविता] ··· १०८५

२–कल्याण ('शिव') ··· १०८६

३–पथिक (श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ··· १०८७

४–ज्योतिष्पथ [एक तरुण साधककी डायरीसे] ··· १०८८

५–अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १०८९

६–मैं सदा श्रीराधामाधवको दिव्य लीला करते देख रहा हूँ [कविता] ··· १०९२

७–भवतरणोपाय (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) ··· १०९३

८–कस्मै देवाय हविषा विधेम (श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०) ··· १०९८

९–मधुर ··· ११०२

१०–एक सच्चिदानन्दमें ही मेरा नित्य निवास हो गया [कविता] ··· ११०३

११–तामस त्याग [कहानी] (श्री'चक्र') ११०४

१२–परिपूर्णता (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ११०७

१३–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ··· ११०९

१४–आठवाँ आश्चर्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· १११३

१५–कैलास-मानसरोवरमें सिद्ध योगी महात्मा (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· १११४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१६–कर्तव्य-पालन या मूर्खता-प्रदर्शन ? (श्री-श्रीचन्दजी दोनेरिया) ··· १११७

१७–ब्रह्म [कविता] (श्रीआर० एमरसनकी रचनाका अनुवाद, अनु०—श्रीविजय निर्बोध) ··· १११८

१८–गीत [कविता] (डा० हरवंशरायजी 'बच्चन' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११११९

१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ११२०

२०–सौराष्ट्रकी प्रसिद्ध गीर जातिकी गायोंका अमेरिकाके लिये निर्यात ··· ११२६

२१–चिन्तन-कण (श्रीबालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ११२७

२२–प्राचीन वैदिक सभ्यता बनाम भारतमें आर्य-अभियान (श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा) ··· ११२८

२३–प्रभुकी कृपासे मैं सर्वत्र सबमें केवल प्रभुको ही देख रहा हूँ [कविता] ··· ११३३

२४–कर्मठता (मूल लेखक—प्रा० श्रीसावलापुरकर महोदय, भावानुवादक—प्रा० श्रीगोपालजी गुप्त एम्० ए०, काव्यतीर्थ) ११३४

२५–अपने आपके साथ दुर्व्यवहार मत कीजिये (श्रीचूड़ामन मोतीलालजी मुन्शी) ११३९

२६–पढ़ो, समझो और करो ··· ११४२

२७–समाधान [कविता] (श्रीबालकिशनजी गर्ग) ··· ११४८

चित्र-सूची

१–श्रीराधा-माधव ··· ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ

२–सन्धि-दूत—श्रीकृष्ण ··· ··· ··· (तिरंगा) ··· १०८५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु०१०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

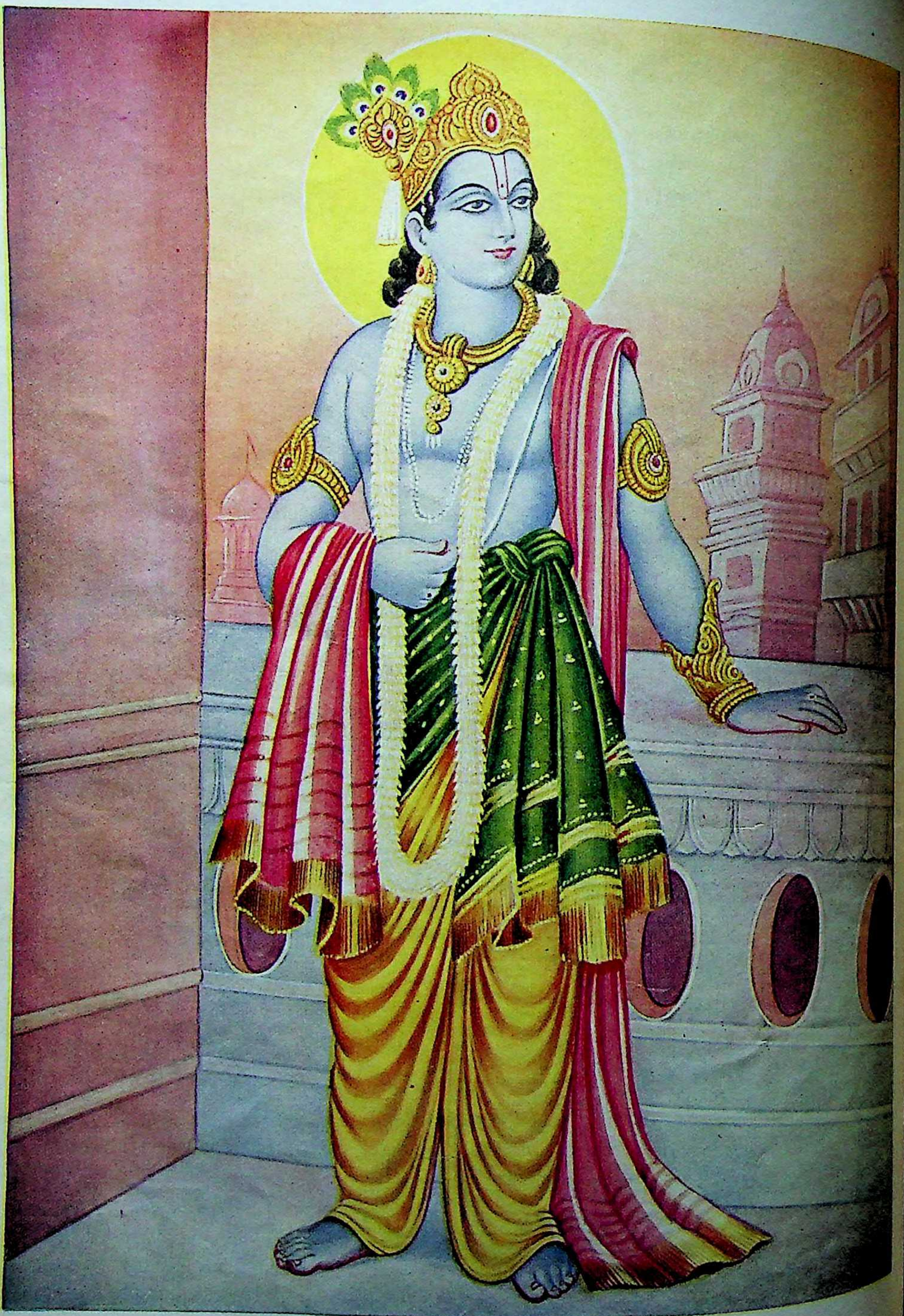

सन्धि-दूत—श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

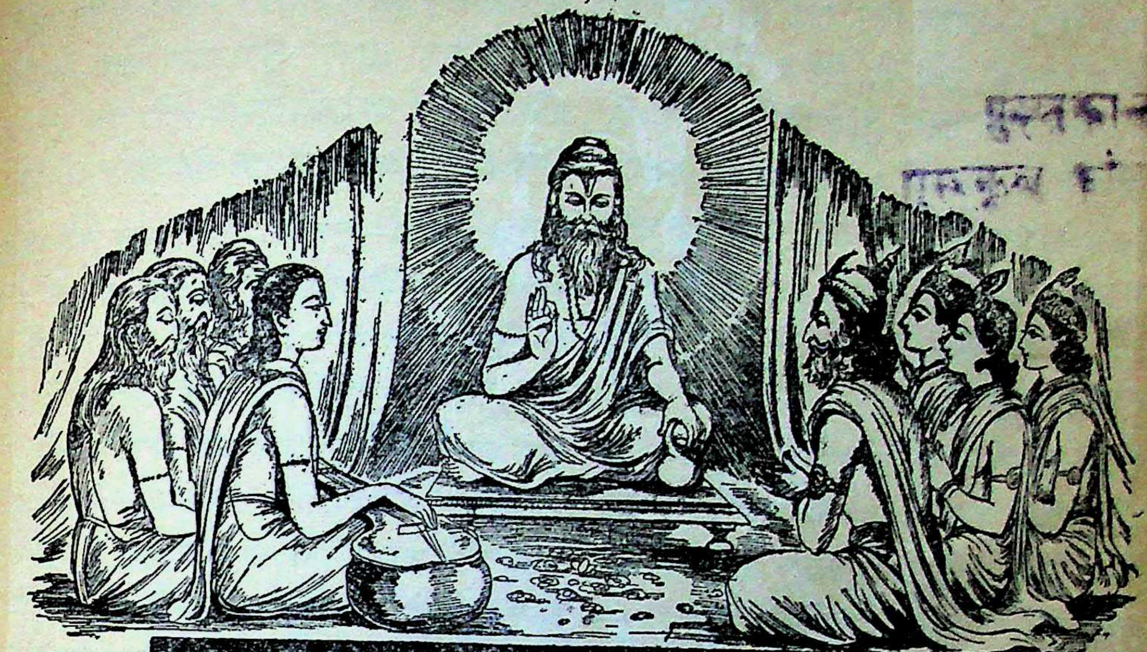

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ | गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१८, अगस्त १९६१ | संख्या ८
पूर्ण संख्या ४१७

संधि-दूत—श्रीकृष्ण

शुद्ध सच्चिदानन्द दिव्य वपु मधुर अखिल जगके स्वामी ।
सबके परमेश्वर, सबके ही साक्षी, सर्वान्तर्यामी ॥
धर्मस्थापक, दुष्ट-दलन-कर्त्ता, सत्-संरक्षणकारी ।
संधि-दूत बन चले स्वयं श्रीकृष्ण भक्त-संकट-हारी ॥

याद रक्खो—भगवान् नित्य, सत्य हैं, आनन्दमय हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं और सुहृद् हैं। ये सब चीजें उनमें गुणरूपसे पृथक् नहीं हैं, स्वरूपभूत हैं, स्वभावरूप हैं। अतएव इन सब स्वरूपभूत गुणोंको धारण किये ही भगवान् जीवमात्रके प्रति अहैतुक सौहार्द रखते हैं; क्योंकि सुहृद् रहना उनका स्वभाव है। अतएव उनकी अहैतुकी कृपा नित्य-निरन्तर अनन्तरूपसे तुमपर बरस रही है।

याद रक्खो—उन सर्वेश्वरके नियन्त्रणमें ही उन्हींकी शक्तिसे जीवमात्रके लिये विधानकी रचना होती है। उन सुहृद्का कोई भी विधान ऐसा नहीं हो सकता, जिससे परिणाममें हमारा तनिक-सा भी अहित—अमङ्गल होनेकी सम्भावना हो। न उनसे कभी भ्रम-प्रमाद होता है, न उनकी शक्तिमें ही कभी कोई कमी आती है, जिसके कारण विधानके निर्णयमें या उसके द्वारा मङ्गलकी सिद्धिमें कोई भ्रान्ति या त्रुटि आ सकती हो।

याद रक्खो—परम सुहृद्, अहैतुक कृपा-स्वभाव भगवान्के मङ्गल-विधानमें तुम्हें कहीं कभी जो प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है और तुम दुखी हो जाते हो, इसमें तुम्हारा अज्ञान, तुम्हारी भ्रान्त धारणा और तुम्हारी अपना मङ्गलहित-सोचनेवाली बुद्धिकी विपरीतता ही प्रधान कारण है। उनकी विधान-रचना एवं उसके अनुसार उसका प्रत्येक फल वस्तुतः तुम्हारे परम हितके लिये ही है; क्योंकि वह उन्हींके द्वारा तुम्हें प्राप्त हो रहा है, जो नित्य सत्य आनन्दमय सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ होनेके साथ ही तुम्हारे स्वभाव-सुहृद् हैं।

याद रक्खो—तुम्हारे विश्वासकी कमीसे ही तुम उनके मङ्गल-विधानपर संदेह करके सदा दुखी रहते हो और उसके विरुद्ध अपने मनका विधान बनानेके लिये चिन्ता, संकल्प और प्रयत्न करते हो, जिससे परिणाममें तुम्हें उलटे निराशा, अशान्ति तथा दुःख ही मिलते हैं, शान्ति-सुख तो कभी दिखायी ही नहीं देते।

याद रक्खो—तुम यदि सर्वशक्तिमान् भगवान्के इस स्वभाव-सुलभ सौहार्दपर विश्वास कर लो तो तुरंत तुम्हारे मनको आश्वासन तथा शान्ति मिल जायगी, जो सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश करके तुम्हें सहज सुखी बना देगी। फिर, तुम्हें उन प्रियतम प्रभुके द्वारा रचित प्रत्येक विधानमें, उनके द्वारा प्रेषित प्रत्येक परिस्थितिमें उनका परम मङ्गलमय मधुर मनोहर स्वरूप प्राप्त होता रहेगा। प्रत्येक परिस्थितिमें तुम विक्षोभरहित आनन्दपूर्ण नेत्रोंसे उनकी परम मङ्गलमय मधुर मनोहर मुसकानका साक्षात्कार करोगे। प्रत्येक परिस्थितिमें सहज ही तुम्हारा परम कल्याण चाहनेवाले उनके परम मङ्गलमय मधुर मनोहर सच्चिदानन्दमय मनके दर्शन होंगे और तुम दिव्य आनन्दसागरमें सदाके लिये निमग्न हो जाओगे।

याद रक्खो—विश्वास होते ही यह सब होने लगेगा। अशान्ति, दुःखका सारा अन्धकार उसी प्रकार भागने लगेगा, जिस प्रकार सूर्योदयसे पूर्व ही समस्त अन्धकार मरनेकी तैयारी करने लगता है। अतः तुम तो बस, नित्य-निरन्तर उनके मधुर मनोहर सुहृद् स्वभावकी ओर देखते रहो, उसीका चिन्तन-मनन करते रहो तथा मनमें बराबर यही निश्चय करते रहो कि वे मङ्गलमय सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ प्रभु मेरे अकारण सुहृद् हैं। अतएव कोई भी पाप-ताप, भ्रान्ति-भय, अशान्ति-दुःख मेरे पास कभी आ ही नहीं सकते। आ ही नहीं सकते!

'शिव'

पथिक

(लेखक—श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

पथिक ! पथ भूल गये हो ?

भय मत करो । माँके नामका सहारा लो । केवल माँ-माँ कहकर पुकारो । माँ आकर तुम्हें ले जायँगी । विश्वास नहीं कर पा रहे हो ? पुकारो-पुकारो तुमको उत्तर मिलेगा । माँ हैं । कविकी कल्पनामात्र नहीं हैं, उपन्यास नहीं हैं । अत्यन्त सत्य बात है कि माँ हैं । बहुत दूर नहीं है । तुम्हारे भीतर माँ हैं, कामरूपिणी माँ—कामरूप पीठमें सतत निवास करती हैं । पुकारो, केवल माँ-माँ कहकर पुकारो । तुमको उत्तर मिलेगा । माँ तुमको ले जाकर अभीष्ट साध्यके साथ मिला देंगी ।

पुकारो, पुकारो, केवल पुकारो—उत्तर मिलेगा । जबतक उत्तर न मिले, तबतक पुकारते रहो । माँ उत्तर दिये बिना नहीं रह सकेंगी । माँके जाग उठनेके साथ-साथ तुम्हारे सारे शरीरमें रोमाञ्च हो जायगा । तुम पुलकसे भर जाओगे । पुकारो, पुकारो—केवल माँ-माँ कहकर पुकारो ।

भाई पथिक ! इस संसारमें माँके नामके समान महामहिमामय दूसरा कोई मन्त्र सृष्ट नहीं हुआ और न होगा । इसमें अधिकार-अनधिकारकी कोई बात ही नहीं है । इस माँ नामके महामन्त्रमें आबाल-वृद्ध-वनिता, अति पतित वर्ण, वर्ण-बाह्य, वर्णोत्तम सबका समान अधिकार है । क्योंकि माँ तो प्रत्येक संतानकी माँ हैं । जन्म ग्रहण करते ही सब लोग इस माँ नामके महामन्त्रकी उपासना करते हैं; परंतु पीछे अनेक मार्गोंके देशमें भटकते हुए मार्ग-भ्रष्ट होकर वेद-वेदान्त आदि क्या-क्या सीखना चाहते हैं, शान्ति-प्राप्तिके लिये—हरि-हरि ! इससे क्या हो सकता है ? माँका त्याग करके, माँका नाम छोड़कर क्या कोई शान्ति पा सकता है ? शान्ति नहीं पाता है, नहीं पाता है । जल-भुनकर खाक हो जाता है ।

पुकारो, पुकारो पथिक ! प्राणपणसे पुकारो—माँ माँ माँ माँ—बोलो माँ माँ माँ माँ, अश्रु बहते रहें, बोलो माँ माँ माँ माँ !

देखो पथिक ! माँ तुमको कितना प्यार करती हैं ? तुम जब जो चाहते हो, माँ तुमको तब वही वस्तु देती हैं । विद्या-बुद्धि-रूप-ऐश्वर्य-मान-सत्कार सब कुछ माँने तुमको दिया है और सुनोगे पथिक ! यह सब भी माँ ही हैं । माँ ही स्वयं विद्या, बुद्धि, ऐश्वर्यादिके स्वाँग सजकर तुम्हारी आशा पूर्ण करती हैं । और भी सुनो पथिक ! तुम जब कामिनीके लिये आकुल हुए थे, तब मेरी माँने कामिनी बनकर तुम्हारे कामको चरितार्थ किया था । कामिनी और कोई नहीं है, माँने ही कामिनी बनकर तुम्हें निष्काम बनाया था । तुम पहचान नहीं पाते । पथिक ! याद करो, उस मार्गमें कितना संताप है, कितनी ज्वाला है, इसीसे तुम्हें पुकार कर कहता हूँ—भ्रान्त पथिक ! केवल माँ माँ कहकर पुकारो । तुम्हारे सारे दुःख, सारी ज्वालाएँ शान्त हो जायँगी । तुम्हारे काम-क्रोधादि शत्रु सखा बन जायँगे । केवल माँ-माँ कहकर पुकारो ।

पथिक ! यह तो कठिन बात नहीं है । उच्चारण करनेमें कोई कष्ट नहीं होता । बोलो, माँ माँ माँ । देखो पथिक ! इस माँ नाममें कितनी सुधा है ? क्षण-क्षणमें अमृत झर रहा है—बोलो, बोलो पथिक ! बोलो, माँ माँ माँ, मेरी माँ माँ माँ ।

अरे पथिक ! माँ नामके समान मनोरम रमणीय अनुपम मधुर रससे भरा रसतम नाम जगत्में दूसरा नहीं है । कितना मिठास है माँ नाममें । बोलो, बोलो भाई पथिक ! केवल बोलो माँ माँ माँ । मेरी माँ, मेरी माँ, मेरी माँ, मेरी माँ माँ माँ माँ माँ माँ ।

पथिक ! तुम बोलो माँ माँ माँ । तुमको कुछ चाहनेकी आवश्यकता नहीं होगी । माँ तुमको सब कुछ देंगी। तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है । माँ-माँ कहते हुए आँखें मूँदे चलनेपर भी तुम्हें गिरनेका डर नहीं, केवल माँ-माँ बोलो । यदि गिरते हो तो देखोगे, माँके हृदयपर ही पड़े हो और माँने अपनी दोनों भुजाओंसे तुम्हें अपनी छातीसे लगा रक्खा है । बोलो पथिक ! बोलो—माँ माँ माँ । पथिक, संसारमें घात-प्रतिघात आयेंगे, उनसे डरना मत । तुम जिसको अमङ्गल समझकर आतङ्कित होओगे वही मानो माँका मङ्गल-हस्त है । माँ अमङ्गलके रूपमें मङ्गल देकर तुम्हें अपने हृदयपर खींच लेती हैं ।

साधन-क्षेत्रमें बहुत बाधाएँ—विपत्ति, प्रलोभन, रोग-शोक आयेंगे, उनको प्रेमसे ग्रहण करना । जान लो, बाधा-विपत्तिका रूप सजकर माँ ही तुमपर कृपा करने आयी हैं । बोलो पथिक ! बोलो, माँ माँ माँ । मार्गमें कितने-कितने मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, ख्याति, अधिकार, सुख-स्वातन्त्र्य, अर्थ-ऐश्वर्य आदि आयेंगे, उनसे भी मत घबराना । वे सब माँ हैं, माँ ही अर्थ-ऐश्वर्यका रूप धरकर आती हैं और तुम्हें आनन्द देती हैं । फिर कुख्याति, निन्दा, अभाव, अशान्ति भी माँ ही हैं । नहीं, नहीं, माँके अतिरिक्त जगत्‌में और कुछ है ही नहीं । माँ ही सब बनकर क्रीड़ा करती हैं । जगत् माँका ही श्रीविग्रह है ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये सब भी माँ हैं । माँ हमारी काम-क्रोध बनकर लीला करती हैं । केवल पुकारो माँ माँ माँ । उठते-बैठते, खाते-सोते भी नामको कभी विराम मत दो । जीभ क्षणभर भी माँ नाम न छोड़े । केवल बोलो माँ माँ माँ । माँका मङ्गलमय रूप ही भगवान्‌का परम सौहार्दपूर्ण रूप है । यह सच्चिदानन्दमयी माँ सहज ही—स्वाभाविक ही संतानवत्सला हैं ।

पथिक ! जानते हो, यह माँ नाम कहाँ ले जायगा ! जहाँ रोग-शोक, दुःख-ताप नहीं है । है केवल अक्षय आनन्द । माँ नाम तुमको उसी आनन्दके नित्य देशमें ले जाकर परमानन्द-सिन्धुमें सदाके लिये निमज्जित कर देगा ।

बोलो पथिक बोलो माँ माँ माँ । एक श्वास भी व्यर्थ न जाने पाये । केवल बोलो, माँ माँ माँ माँ । मेरी माँ मेरी माँ मेरी माँ !

* * *

ज्योतिष्पथ

कृष्णपक्षकी पञ्चमीका चन्द्रमा जब ठीक मेरे सिरके ऊपर आता है और जिस कमरेमें मैं सोया होता हूँ उसकी छत और मेरी बेसुध पलकोंको बेधकर इस पृथ्वीके समुद्रोंके समान मेरे प्राणोंको अपनी ओर समेटने लगता है तब, बादके लिये, मेरे पास कुतूहलपूर्ण प्रश्नोंकी एक नयी माला तैयार हो जाती है । एक क्षण जब वह एक चञ्चल झलक दिखाकर दूसरे क्षण बादलके एक छोटे काले टुकड़ेको चीरकर और स्पष्ट रूपमें इसी पृथ्वीकी तिथिका चाँद बनकर निकलता है, तब मुझे साश्चर्य पूछना ही पड़ता है कि इसका और तुम्हारा क्या कोई निकटका नाता भी है ? मैं सोचने लगता हूँ कि तुमने मेरी रुचि रखनेके लिये इस धरतीके निकटवर्ती चन्द्रमा और तारोंके बीच होकर ही क्या मुझे आगे ले चलना तय कर लिया है ! मुझे कुतूहलपूर्वक संदेह होने लगता है कि ये चाँद-तारे कहीं शीघ्र ही मेरे व्यावहारिक जगत्‌में खुलकर कोई खास खेल खेलनेके लिये तो न उतर आयेंगे ! मेरा विचार होने लगता है कि कहीं सभी प्राणियोंके जीवनकी छोटी-बड़ी सभी प्रगतियाँ इन चाँद-तारोंके साथ, जाने और अनजाने रूपमें, एकदम गुँथी हुई तो नहीं हैं !

मैं नहीं समझ पाता कि मेरे आँगनोंमें तुम किस लिये और कौन-कौन-सी सुविधाएँ एवं साधन पाकर ऐसी अनोखी रचनाएँ रच पाते हो ।

[एक तरुण साधककी डायरीसे]

२६. १. ४५

अनन्य भक्ति-साधनका स्वरूप

[एक कन्याका दृष्टान्त]

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११ । ५४)

'परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार करना चाहिये, इस विषयमें एक कन्याका दृष्टान्त बतलाया जाता है। राजस्थानके एक गाँवमें एक सुन्दर चौदह वर्षकी तरुणी अविवाहिता कन्या थी। उस कन्याकी विवाहके योग्य अवस्था देखकर उसके सम्बन्धके लिये पिता सदा चेष्टा करते रहते थे। एक बार एक अच्छे प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणसे उसके पिताने कहा—'मेरी कन्याका सम्बन्ध अवश्य करना है।' उस ब्राह्मणने खोजकर एक अच्छे वरकी व्यवस्था कर दी और कहा—'वर बहुत ही सदाचारी, सद्गुणी, सुशील, वैभवसम्पन्न और सुन्दर है। उसके समान दूसरा कोई भी नहीं है। ऐसा वर मिलना कठिन है; किंतु उसके माता-पिता नहीं हैं।' ब्राह्मणने वरके पास भी यह समाचार पहुँचा दिया कि 'कन्या बड़ी सुन्दर, सुशील और युवा है।' इस प्रकार दोनोंको समझाकर सम्बन्ध करवा दिया। सम्बन्ध होनेके बाद उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने वरके द्वारा कन्याके लिये भेजे हुए अधोवस्त्र (साड़ी), उत्तरीय वस्त्र (ओढ़ना) और कब्जा, पायजेब आदि पैरोंके गहने, रत्नजटित करधनी, दोनों हाथोंकी दस स्वर्णकी चूड़ियाँ, कड़े, कंगन, बँगड़ी, बाजूबंद आदि हाथोंके गहने, गलेमें पहननेका रत्नजटित स्वर्णका कँठला, वक्षःस्थलपर धारण करनेका चन्द्रहार, कंठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि, नाककी नथ, कानोंकी बालियाँ और कर्णफूल, मस्तककी चूडामणि एवं सिन्दूर आदि सौभाग्य-द्रव्य लाकर दिये। कन्या उन वस्त्राभूषणोंको पहनकर अपनी सहेलियोंके पास गयी। वे सब उसके इस श्रृंगारको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं—'ये सब वस्तुएँ तुम्हारे पतिके यहाँसे आयी हैं न?' यह सुनकर वह कुछ लज्जित हो गयी। उन सहेलियोंमें एक दुष्ट लड़की थी, उसने उसकी एक चूड़ी खराब कर दी। कन्याने दुःखित होकर पिताके पास आकर कहा—'अमुक सहेलीने मेरी एक चूड़ी खराब कर दी।' पिताने कन्याको आश्वासन दिया और चूड़ीको ठीक करवा दिया तथा उस सहेलीके अभिभावकको उलाहना दिया। फिर सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मणको भी सारी बातें बताकर विवाह शीघ्र करनेके लिये अनुरोध किया।

ब्राह्मणदेवताने वरके पास जाकर कहा—'लड़की बहुत सुपात्र है। किसीने एक चूड़ी खराब कर दी, तब उसने उसको अपशकुन मानकर पिताके पास दुःख प्रकट किया। पिताने चूड़ी ठीक करवा दी। आपके भेजे हुए वस्त्राभूषणोंकी वह अच्छी तरह आदरपूर्वक सार-सँभाल रखती है। उसके पिताने शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध किया है।' यह सुनकर वरने शीघ्र ही विवाह करना स्वीकार कर लिया। कुछ ही दिनों बाद वरने तिथि निश्चित कर दी और बारात लेकर कन्याको व्याहनेके लिये कन्याके पिताके यहाँ जा पहुँचा। विवाहके समय कन्याने वरके गलेमें वरमाला पहनायी और विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् वर उस कन्याको अपने साथ स्थानपर ले गया। उनके यहाँ ऐसी प्रथा थी कि वधूको वापस

नहीं भेजा जाता। किसीको मिलना होता तो वहीं आकर मिल लेते। उसके पति ही यदि कभी कोई विशेष आवश्यकता समझें तो उसे भले ही नैहर भेज दें, पर दूसरे किसीकी इच्छासे वह नहीं जा पाती। ऐसी आवश्यकताका अवसर जीवनभरमें किसीके लिये शायद ही कभी आता है।

उपर्युक्त कन्याके दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये। यहाँ अनन्य भक्तको ही कन्या समझना चाहिये। उसके १. निर्भयता, २. सात्त्विकी बुद्धि, ३. मन-इन्द्रियोंका संयम, ४. क्रोधका अभाव, ५. ममता और अहंकारका अभाव, ६. स्वार्थत्याग, ७. किसीकी निन्दा न करना, ८. विषयोंमें निर्लेपता, ९. कोमलता, १०. व्यर्थ चेष्टाका अभाव, ११. तेजस्विता, १२. धैर्य, १३. निर्वैरता तथा १४. मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके त्यागमें निपुणता—ये १४ गुण ही चौदह वर्षकी आयु है। श्रद्धा-विश्वास ही सुन्दरता है। प्रेम ही तरुणावस्था है, जो नित्य बढ़ता रहता है। भगवत्-मार्गमें लगानेवाले परम हितैषी पुरुष ही पिता हैं। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण हैं। भगवान् मातृ-पितृ-विहीन वर हैं। लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही अधोवस्त्र (साड़ी) है। शास्त्रमर्यादाकी रक्षाके लिये लज्जा ही उत्तरीय वस्त्र (ओढ़ना) है। शीत-उष्णको सहन करनारूप तितिक्षा ही कब्जा है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे तीर्थस्थान, देवालय और महात्माओंके दर्शनके लिये पैरोंसे उनके पास जाना ही पैरोंके पायजेब आदि गहने हैं। भगवान्की प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना ही करधनी है। पाँच यम ही दाहिने हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। यमोंका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।
(योग० २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं।'

१. *अहिंसा*—किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कभी कष्ट न देना 'अहिंसा' है।

२. *सत्य*——जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी, उससे न अधिक कहना, न कम कहना एवं कपट-रहित यथार्थ हितकर और प्रियवचन कहना 'सत्य' है।

३. *अस्तेय*—दूसरेके किसी भी पदार्थको चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे किसी भी प्रकार कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है।

४. *ब्रह्मचर्य*—किसी भी बालक-बालिका और स्त्रीके दर्शन, स्पर्श, भाषण, वार्तालाप, श्रवण, एकान्तवास, चिन्तन, हँसी-मजाक और सहवासका सर्वथा त्याग करना अर्थात् मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकार भी किंचित् भी अश्लील चेष्टा न करना 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके प्रति समझ लेना चाहिये।

५. *अपरिग्रह*—अपने ऐश-आराम और भोगके लिये किसी पदार्थका कभी संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है।

सब देश, सब काल, सब जाति और सब निमित्तोंमें सेवन किये हुए उपर्युक्त पाँचों यम 'महाव्रत' कहे जाते हैं। योगदर्शनमें बताया गया है—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।
(२। ३१)

'उक्त यम जाति, देश, काल और निमित्तसे रहित सार्वभौम होनेपर 'महाव्रत' हो जाते हैं।'

इसी प्रकार पाँच नियम ही बायें हाथकी पाँच चूड़ियाँ हैं। नियमोंका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार किया गया है—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(२। ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

१. *शौच*—बाहर-भीतरकी पवित्रताको 'शौच' कहते हैं। बाहरकी पवित्रता है शौचाचार-सदाचार। भीतरकी पवित्रता है दुर्गुण-दुराचारोंके संस्कारोंका अभाव।

२. *संतोष*—ईश्वरके मङ्गलमय विधानके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया, भाव, पदार्थ और परिस्थिति-की प्राप्तिमें सदा संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहना 'संतोष' है।

३. *तप*—मन और इन्द्रियोंका संयम करके त्यागपूर्वक व्रत, उपवास आदि धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

४. *स्वाध्याय*—भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारपरक श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है।

५. *ईश्वर-प्रणिधान*—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ईश्वरके प्रणव आदि नामोंका जप और स्वरूपका चिन्तन करते हुए करुणाभावपूर्वक ईश्वरके शरणापन्न होना—'ईश्वर-प्रणिधान' है।

हाथोंसे सेवा, पूजा, यज्ञ, दान, परोपकार आदि सत्कार्य करना ही कड़े-कंगन, बँगड़ी, बाजूबंद आदि हाथोंके गहने हैं। भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपरक गीता, रामायण, भागवत आदिको कण्ठाग्र करना ही गलेका भूषण रत्नजटित 'कँठला' है। क्षमा, दया, शान्ति, समता, उदारता, ज्ञान-वैराग्य आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलके चन्द्रहार, कण्ठी, मोहनमाला, गलपटिया आदि गहने हैं। नासिकाके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें दिव्य गन्धका अनुभव करना ही नाककी नथ है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला आदिका श्रवण ही कानोंकी बालियाँ तथा अपनी निन्दा और अपवाद सुनकर संतुष्ट रहना ही कानके कर्णफूल हैं। विनय और प्रेमपूर्वक भगवद्भावसे सिरसे सबको नमस्कार करना मस्तककी चूडामणि है। भगवान्‌में दृढतापूर्वक अनन्यप्रेमभावसे एकनिष्ठा ही सौभाग्यचिह्नरूप सिन्दूर है। सत्संगी मित्र साधकोंका सङ्ग ही सहेलियोंका सङ्ग है। उत्तम गुण और उत्तम आचरणरूप वस्त्राभूषणोंको देखकर जो मित्रोंके द्वारा प्रशंसा की जाती है, उसे सुनकर साधकका लज्जित होना ही कन्याका लज्जित होना है, यही उस कन्याकी महत्ता है। साधनमें बाधा पहुँचानेवालेको ही चूड़ी खराब करनेवाली दुष्ट सहेली समझना चाहिये। शौच-स्नान, नित्यकर्म आदि साधनमें विघ्न डालना ही चूड़ीको खराब करना है। परम हितैषी पुरुषके द्वारा शौच-स्नान, नित्यकर्मका सुचारुरूपसे प्रबन्ध किया जाना ही पिताके द्वारा चूड़ीको ठीक करवाया जाना है। साधकको भगवान्‌से मिलनेके लिये उत्कण्ठित और पात्र देखकर जो परम हितैषी पुरुषके द्वारा भगवत्प्राप्त पुरुषसे भगवद्दर्शनके लिये अनुरोध कराना है, यही कन्याको विवाहके लिये उत्सुक, सयानी और योग्य देखकर पिताके द्वारा ब्राह्मणसे शीघ्र विवाहके लिये अनुरोध करवाना है। साधकके उत्तम गुण, स्वभाव और चरित्रोंका भगवान्‌के प्रति वर्णन करना वरके प्रति कन्याके गुण-स्वभाव-चरित्र वर्णन करना है। भगवान्‌का उस साधकको दर्शन देनेका निश्चय करना ही वरका कन्याके साथ विवाह स्वीकार करना है; क्योंकि भगवान् किसीके पुरुषार्थसे नहीं मिलते। वे तो उसीको मिलते हैं जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। कठोपनिषद्‌में बतलाया गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(१।२।२३)

'ये परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकते हैं, बल्कि जिसको ये परमात्मा स्वीकार कर लेते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं; क्योंकि ये परमात्मा उसके लिये **अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।'**

भगवान्‌का प्रकट होकर दर्शन देना ही कन्याके घरपर वरका पधारना है और भगवान्‌का दर्शन करके उनको पुष्पमाला पहनाना ही कन्याके द्वारा वरमाला पहनाना है। भगवत्-प्राप्ति ही विवाह है। साधकका भगवान्‌के परमधाममें जाना ही कन्याका पतिके स्थानमें जाना है। परमधाममें जाकर पुनः इस संसारमें लौटकर न आना ही स्त्रीका नैहर वापिस न आना है। विशेष आवश्यकता पड़नेपर भगवान्‌के द्वारा आज्ञा और अधिकार पाकर उस महात्माका लोगोंका उद्धार करनेके लिये संसारमें आना ही स्त्रीका भगवदिच्छासे नैहरमें आना है।

अनन्य भक्तिका साधन किस प्रकार किया जाय—इसे समझानेके लिये ही यह कन्याका दृष्टान्त बताया गया है। इसे साधक पुरुषको अपनेमें घटाना चाहिये। अनन्य भक्तिके साधकको भक्ति, ज्ञान, वैराग्यके रसमें सदा-सर्वदा मग्न रहना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परता और उत्साहके साथ निरन्तर करते रहना चाहिये। उसके प्रभावसे मनुष्यमें उपर्युक्त उत्तम गुण और उत्तम चरित्र सहजमें ही प्रकट हो सकते हैं। फिर तो ऐसे उत्तम गुण और उत्तम चरित्रवाले दैवी सम्पदावाले साधक महात्माके द्वारा अनन्यभावसे प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन अनायास स्वाभाविक ही होता रहता है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(९।१३)

'अर्जुन! दैवी प्रकृतिके आश्रित उच्चकोटिके साधक महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

अतएव हमलोगोंको नित्य-निरन्तर उपर्युक्त साधनकी सम्पन्नताके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो उत्तम साधकोंका सङ्ग करके अपना साधन बढ़ाना चाहिये। साधकोंका सङ्ग भी न मिले तो जिनमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व-रहस्यका वर्णन हो, उन ग्रन्थोंका अर्थ और भाव समझते हुए श्रद्धा, प्रेम और वैराग्यपूर्वक अनुशीलन करना चाहिये।

मैं सदा श्रीराधामाधवको दिव्य लीला करते देख रहा हूँ

देख रहा मैं, करते लीला श्रीराधामाधव सुखधाम।
नित्य निकुंज निभृतमें रसमय मधुर मनोहर दिव्य ललाम॥
त्यागमयी सब सखी-मंजरी रहती सेवामें तल्लीन।
किये नित्य राधा-माधव सुख-सेवा-रस-निधिमें मन मीन॥
उठती रस-समुद्रमें प्रति-पल दिव्य विविध रसमयी तरंग।
नित्य नवीन सुधा विस्तारिणि, नित्य नवीन दिव्य रस-रंग॥
नहीं काम आदिक विकार कुछ, नहीं वासना-लेशाभास।
चिदानन्दमय होता रहता परम अलौकिक रास-विलास॥
मिटी सकल कल्पना जगत्‌की, नहीं रह गया कुछ अवशेष।
लीलामय श्रीराधामाधव, लीला नित नव, शेषी शेष॥

भवतरणोपाय

(लेखक——श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

शास्त्रोंमें भवसागर-तरणके विविध उपाय कहे गये हैं। उनमें इस निवन्धमें मुझे श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीके द्वारा कहे हुए उपायोंके तारतम्यपर विचार करना है। श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसके प्रारम्भमें ही भवतरणका सर्वश्रेष्ठ निश्चित उपाय कहा है; यथा—

'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्

(मङ्गल० ६)

'भवसागर तरनेकी इच्छावालोंके लिये जिनके चरणकमल ही एक नाव है।' इससे अन्य समस्त उपायोंका भरोसा छोड़कर उन श्रीरामजीके चरणको ही उपायरूपमें वरण करना चाहिये; यही शरणागति है।

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायाच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

(भरताचार्य)

अपना अभीष्ट अन्य उपायोंसे सिद्ध होता न देखकर 'आप ही एकमात्र मेरे उपाय हैं, महान् विश्वासपूर्वक ऐसी याचना करनेको शरणागति एवं प्रपत्ति कहते हैं। श्रीमुखवचन भी है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'यह मेरी गुणमयी दैवी माया दुस्तर है (पर) जो एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं, वे इस माया (के कार्यरूप भव-सागर) को तर जाते हैं।' इस हरि-शरणागतिके छः भेदोंमें 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' यह प्रथम एवं प्रधान है। इसकी सिद्धि श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला एवं धामकी निष्ठासे होती है; यथा—

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥
… … …
विचिन्तयन्ती सततं तमेव तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥
मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि………"

(वाल्मीकि० ५। ३२। ११-१२)

२—३—

अर्थात् अशोकवाटिकामें श्रीहनुमान्‌जीके सूक्ष्म रूपसे श्रीरामचरित सुनकर श्रीसीताजीने किसी वक्ताको न देखकर अनुमान किया कि मैं बुद्धिसे जो श्रीरामजीको ही सोचा करती हूँ और वचनसे 'राम-राम' ऐसा कहती रहती हूँ, उसीसे मैं अपने विचारोंके अनुसार उस राम-नामकी अर्थरूपा यह कथा सुन रही हूँ।………मैं सदा उन्हींका चिन्तन एवं दर्शन करती रहती हूँ, इससे वैसा ही सुन रही हूँ। अतः यह मेरा मनोरथ ही (संकल्प ही) हो सकता है।

यहाँ श्रीसीताजीने नाम-रूप-लीलाकी निष्ठासे 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' की सिद्धि दिखलायी है। इसी निष्ठासे श्रीजीने मोहरूपी रावणकी क्रीड़ास्थली प्रवृत्तिरूपी लङ्कासे छूटनेका उपाय दिखाया है; क्योंकि इनकी इसी निष्ठापर श्रीरामजी इनके लिये व्याकुल थे। श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा अपना प्रताप दिखाया, तब जीवरूपी विभीषण शुद्ध शरणागत हुए और श्रीरामजीके द्वारा विपत्तिसे छूटकर श्रीरामपरिकर हो कृतार्थ हो गये।

इसीसे श्रीगोस्वामीजीने सर्वत्र श्रीरामजीके चरित्र और नामसे ही 'भवतरण' कहा है। उनके भिन्न-भिन्न स्थलोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके भव-तरण रहस्य पाये जाते हैं। उनके तारतम्य रहस्य प्रकट करनेके लिये कुछ उदाहरण लिखे जाते हैं—

(क)

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जस॥

रामचरितमानस बाल० १४)

भवसागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़ नावा॥

(रामचरितमानस उ० ५२)

(ख)

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

(रामचरितमानस बाल० ३०)

(ग)

यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा॥

(रामचरितमानस बाल० १९२)

(घ)

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

(रामचरितमानस उत्तर० १२८)

(ङ)

नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं ॥
(रामचरितमानस बाल० २४)

इन उद्धृत प्रसंगोंमें क्रमशः चरितसे ही भवसागरका सरित होना, कूप होना और गोपद-जलमात्र रह जाना और फिर अन्तमें नामसे उसका सूख जाना कहा गया है। भवसागरमें क्रमशः अधिक ह्रासता लानेमें उन-उन प्रसंगोंके चरितोंमें रहस्य हैं, उनपर क्रमशः यथामति विचार किया जाता है—

(क)

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जस ॥

भगवान् श्रीरामजीके निःश्वासरूप वेद उनके विशद यशका ही वर्णन करते हैं। अतः वे भी रामकथारूपसे ही भवसागरकी बड़ी नाव हैं। वेदोंमें यजु० अ० ४० मन्त्र १५-१६ तथा ईश० १७-१८ में भव-तरणका उपाय 'नम उक्तिं विधेम' इस अन्तिम वाक्यसे (महा० वन० १८९। ५७-५८ के अनुसार) हरिशरणागति ही कहा गया है। तथा महा० शान्ति० (४७। ९०-९१) में भी नमस्काररूप शरणागतिका फल भव-तरण ही कहा गया है।

किंतु वेदोंके परम गुह्य रहस्योंको न समझकर उसके अधिकांश यज्ञादि कर्मोंमें सकामतासे बहुत-से जीव भव-तरणके लिये मनुष्यशरीर पाकर भी भव-सिंधुकी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए दुःख पाने लगे।

ब्रह्माजी वेदवक्ता हैं; क्योंकि भगवान्‌ने उनके हृदयमें वेदका विस्तार कर दिया, तब उन्होंने कहा है—(श्रीमद्भागवत मंगला० तथा श्वेता० ६। १८ देखिये)। श्रीब्रह्माजी ही जीवोंकी बुद्धिके देवता भी हैं। इससे जीवोंके वैदिक सकाम कर्मोंसे भव पड़नेपर ब्रह्माजीने उन ब्रह्मप्राप्त्यर्थ नरतनधारी जीवरूप ब्राह्मणोंकी हत्या मान उसकी शुद्धिके लिये वाल्मीकिशरीर धारण किया; यथा—

वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वक्तृस्वरूपिणी।
चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः ॥
(स्कन्दपुराण)

ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्।
वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम् ॥
(स्कन्दपु०, प्रभास०)

यहाँ संसाररूपी वनमें भी गुणरूपी कोलोंके सङ्गमें पूर्वाभ्याससे ब्रह्महत्या करते थे। तब सप्तर्षियोंके उपदेशसे 'मरा' इस उलटे नामके जपसे वे नाम-प्रतापसे शुद्ध हुए; यथा—

जान आदिकबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥
(रामचरितमानस बाल० १८)

मायाके तीनों गुणोंके सङ्गसे आये हुए विकारोंका नामसे इस प्रकार शोधन हुआ। इस नामके प्रथमाक्षर 'म' के 'मदी-हर्षे' इस धात्वर्थसे ब्रह्मके 'आनन्द' रूप कोषकी प्राप्ति हुई, इससे तमोगुणके शब्दादि विषयरूप मायाका कोष जाता गया। फिर द्वितीयाक्षर 'र' के 'राजृ-दीप्तौ' इस धात्वर्थके द्वारा विवेक-विराग आदि दिव्य गुणोंकी प्राप्तिसे मायाके रजो-गुण विकाररूप काम, क्रोध आदि सैनिक जीते गये। तब अन्तिम वर्ण 'आ' से अपनी स्वरूप-सत्ताकी प्राप्ति हुई।

इस प्रकार वाल्मीकिजी महर्षि हुए और उन्होंने रामायण-निर्माण कर वेदोंके ही रहस्योंका स्पष्टीकरण कर अपने पूर्वजन्म-की कमीकी पूर्ति की; यथा—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥
(वाल्मीकि० मू० रा० माहात्म्य)

वेदवेद्य परम पुरुष श्रीरामजी जब दशरथपुत्र होते हैं, तब वेद ही रामायणरूपसे वाल्मीकिजीके द्वारा प्रकट होते हैं। अतः रामायणमें वेदतत्त्वोंका ही विस्तार है; यथा—

तासां क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका।
ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदो दशरथो नृपः ॥
(शिवसंहिता १८।

उनमें श्रीकैकेयीजी 'क्रियाशक्ति', सुमित्राजी 'उपासना-शक्ति' और श्रीकौसल्याजी 'ज्ञानशक्ति' हैं। (इन तीनों कारणरूप तीनों शक्तियोंसे युक्त) वेद ही चक्रवर्ती श्रीदशरथ महाराज हैं;

रामायणमें वेदके अवतार श्रीदशरथजीने सत्य-धर्म-के साथ ब्रह्ममें प्रीति प्रकट की है। क्रियाशक्ति कैकेयीके निष्कामावस्थामें श्रीभरत-जैसे परम विवेकी पुत्र हुए; सकामता आनेपर कलहसे भारी विपत्ति पड़ी। उपासना-सुमित्राजीके एक पुत्र श्रीलक्ष्मणजीने ब्रह्मोपासनाकी रीति प्रकट की है और दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्नजी प्रत्यगात्मस्वरूप श्री

के उपासक हुए, दोनों ही उपासक अन्तमें श्रीराम-परिकर ही हुए। परम विवेकी श्रीभरतजीने माता कैकेयीके आकांक्षित चौदह वर्षके राज्य-भोगकी पूर्ति करते हुए प्रभुपद-चिह्नित खड़ाऊओंके आधारपर अपने प्रत्यगात्म-स्वरूपकी रक्षा की है और फिर अन्तमें उन्होंने भी श्रीराम-परिकर हो सफलता पायी है। ज्ञानशक्ति-(सरस ज्ञान एवं पराभक्ति) रूपिणी श्रीकौसल्याजीके पुत्र साक्षात् परब्रह्म श्रीरामजी ही हुए हैं।

इसी प्रकार रामायणके सभी चरित्र वेदोंके रहस्योंके विस्ताररूप ही हैं। उलटे नामकी आराधनासे वाल्मीकिजीने उतनी सफलता पायी तो फिर सीधे नामकी आराधनाकी लालसासे वे श्रीतुलसीदासके रूपमें अवतरित हुए; यथा—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भये।
(भक्तमाल——नाभाजी)

सीधे राम-नामकी आराधना कर भाषामें अद्भुत प्रभावशाली श्रीरामचरितमानस आदि द्वादश ग्रन्थोंका निर्माण किया; इससे सभी जीव भवसागर पार होने लगे; यथा—

भवसागर चह पार जो पावा। राम कथा ता कहँ दृढ़ नावा॥
(उ० दो० ५२)

ऊपर वेदोंको 'बोहित सरिस' कहा था और यहाँ रामकथाको 'दृढ़ नावा' कहा है; क्योंकि इससे सर्वसाधारणजन भी निर्विघ्न भवसागर पार हो जाते हैं।

(ख)

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

'अपने संदेह, मोह और भ्रम हरण करनेवाली एवं भवनदीके लिये नावरूपिणी कथा कहता हूँ' यहाँ श्रीरामचरितमानसको तत्त्वत्रय-निरीक्षण-दृष्टिसे पढ़नेवालोंके लिये भवसागरका नदी मात्र रह जाना और तरणी (छोटी नाव) मात्रसे नदी पार होनेके समान अल्प श्रममें भव पार होना कहा गया है।

इस अर्द्धालीमें संदेह, मोह, भ्रम क्रमशः ईश्वर, जीव और मायापरक हैं— १. 'संदेह' इसका अर्थ संशय अर्थात् किसी वस्तुके ज्ञानमें द्विविधा होना, यह होता है। जैसे श्रीरामजीको परब्रह्म मानकर श्रीशिवजीने प्रणाम किया, परंतु सतीजीको चरितकी दृष्टिसे वे मनुष्य ही समझ पड़े, फिर यह विचार करनेपर संदेह हो गया कि शिवजी ईश हैं, इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो सकता है? यही द्विविधा-ज्ञानरूपमें संदेह हुआ; यथा—

सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेषी॥
(रा० च० मानस बाल० ४९)

फिर बार-बार इसे ही 'संशय' 'संदेह' कहा गया है। सम्पूर्ण चरितके उपसंहारपर भी कहा गया है—

नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा॥
(उत्तर० दो० १२८)

अतः यहाँपर 'संदेह' पदसे ईश्वर-तत्त्व-विषयक संशयका अर्थ है।

२. 'मोह' इसका अर्थ अविवेक एवं मूर्च्छा होता है। मूर्च्छित व्यक्तिको जैसे अपने शरीरकी सुधि नहीं रहती, वैसे अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर जीव देहको ही अपना स्वरूप मानता हुआ, देहकी दसों इन्द्रियोंसे अपनेको ही भोक्ता मानता है; यही इसमें दशमुखता है; यथा—

मोह दसमौलि………
(विनयपत्रिका ५८)

सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥
(रामचरितमानस अयो० १४१)

अतः यहाँ 'मोह' इस पदसे जीवस्वरूपके अज्ञानका अर्थ है।

३. 'भ्रम' इसका अर्थ अचित् (माया) तत्त्वमें अनिश्चय होना है, जैसे ब्रह्मके शरीररूप जगत्‌में नानात्व सत्ताका भ्रम होता है। यथा—

रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।'

जासु सत्यता ते जड़ माया।……भ्रम न सकइ कोउ टारि॥
(रा० च० मानस बाल० ११७)

इस कथासे क्रमशः ईश्वर, जीव और मायाके विषयमें संदेह, मोह और भ्रमके हरण होनेपर ईश्वरके शरीररूप जगत्‌का नानात्व भ्रम दूर होकर सर्वत्र फैली हुई जीवकी प्रीति सर्वशरीरी ईश्वरमें होती है। स्वरूप जाननेपर इस ईश्वर-अंशभूत जीवका अंशी ईश्वरमें अहर्निश अनुराग रहना ही दृढ़ होता है। तब भक्तिके आनन्दके साथ जगत्‌में प्रारब्ध-भोगपर्यन्त रहता हुआ भी जीव छोटी नावसे नदी पार होनेके समान भव पार होकर हरि-सांनिध्यमें प्राप्त हो जाता है। अतः यहाँपर ऐसा कहना युक्त ही है।

(ग)

यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा॥

इस अर्द्धालीके चरितके समक्ष भवसागर कूपमात्र रह गया है। इसका साधन 'यह चरित जे गावहिं……' यह कहा गया है। इस चरितका प्रारम्भ 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी' से होकर यहाँतकका यह छन्दमात्र है।

श्रीकौसल्याजीने पूर्वजन्ममें परम अनन्य भक्तिका वर माँगकर पाया था और साथ ही श्रीरामजीने इन्हें अलौकिक विवेक भी दे रक्खा था। इसीसे इनका हित करनेके लिये इनके समक्ष आपने साक्षात् रूपसे प्रकट हो दर्शन दिये। फिर इन्हें वात्सल्य-रसके सुख देनेके लिये श्रीरामजीने मुस्कानद्वारा अपनी मायासे इनके ज्ञानको थोड़ा ढक दिया। आगे दो० २०० पर श्रीरंगपूजाके प्रसंगपर इन्हें अपना विराट् रूप दिखा इनके पूर्वके अलौकिक विवेकको और दृढ़ कर दिया है। फिर इन्हें कभी मायाका सम्पर्क नहीं हुआ, इससे ये कभी भवकूपमें नहीं पड़ीं। भवकूप—

काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥
(रा० च० मानस, उत्तर० ७३)

इसीको श्रीमद्भागवत (११ । १७ । ५६-५८ तथा ४ । २५ । ६ एवं ७ । ५ । ५) में भी पुष्ट किया गया है।

श्रीकौसल्याजीको कभी गृहासक्तिका दुःख नहीं हुआ। श्रीराम ऐसे पुत्रके प्रथम वियोगमें श्रीविश्वामित्रजीके साथ जानेमें अपने विवेकसे इन्हें दुःख नहीं हुआ। फिर चौदह वर्षके वनवासवाले वियोगमें भी इन्हें विरह-दुःख नहीं हुआ, यथा—

क्षयो हि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति।
सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च॥
(वाल्मीकि० २ । ३५ । ३४-३५)

श्रीरामजीने अपनी वनयात्रापर कौसल्याजीसे कहा है कि यह वनवास शीघ्र समाप्त हो जायगा। आपके सोते हुएकी भाँति (एक रातके समान) चौदह वर्ष बीत जायँगे। श्रीकौसल्याजीने स्वयं भी कहा है—

माई री ! मोहि न कोउ समुझावै।
राम गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥१॥
लगेइ रहत मेरे नयननि आगें राम लखन अरु सीता॥
(गीतावली, अयोध्या० ५३)

इस चरितसे शिक्षा पा मुमुक्षु अनन्य भक्ति एवं विवेक- में दृढ़ श्रद्धा कर उसे गीता (७ । २१-२२) की रीतिसे स्मरण करेगा। फिर भक्तिकी गाढ़ स्मृतिमें आँखोंमें बसे श्रीरामजी उसे सर्वत्र देख पड़ेंगे। इससे उसे सदा आनन्द एवं संतोष रहेगा। इससे वह उक्त भवकूपमें कभी नहीं पड़ेगा।

(च)

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥

'यह अर्द्धाली सम्पूर्ण ग्रन्थकी समाप्तिपर कही गयी है। इसमें श्रीरामचरितके कथन, श्रवण और अनुमोदनके फल-स्वरूपमें भवसागरका गोपद-जलवत् तरण करना कहा गया है। इसका रहस्य भगवान्ने स्वयं कहा है। यथा—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १० । ९-११)

'जिनका चित्त अनुरागपूर्वक मुझमें ही लगा रहता है, जिनके प्राण समस्त इन्द्रिय-चेष्टाओंसे मेरी ही सेवामें लगे रहते हैं, जो मेरे ही तत्त्वज्ञानमें परस्पर सत्संगद्वारा लगे रहते हैं, जो नित्य मेरे ही गुणोंका कथन किया करते हैं और इसीमें संतुष्ट होते एवं रमण (क्रीड़ा) मानते हैं। उन निरंतर प्रीति-पूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वैसी बुद्धिका संयोग कर देता हूँ, जिससे वे मुझे पा जाते हैं। उनपर दया करके मैं उनके हृदयमें ज्ञानदीपक बढ़ाते हुए उनके अज्ञानान्धकारका नाश करता हूँ।'

यहाँकी उपर्युक्त अर्द्धाली 'कहहिं सुनहिं……' है ऊपर पास ही—

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥

—यह अर्द्धाली आ चुकी है। उसका तात्पर्य यह है कि श्रीरामचरितमानसके सातों काण्ड क्रमशः भक्तिमार्गकी उत्तरोत्तर बढ़नेकी सीढ़ियाँ हैं। अन्तिम सोपान उत्तरकाण्डकी फल 'अविरल हरिभक्ति सम्पादन' की है। अतः अन्तिम सोपान इस अर्द्धालीतक पढ़कर जो अविरल हरिभक्ति प्राप्त कर चुका है, उसका कहना, सुनना एवं अनुमोदन करना उसे गीतोक्त वचनोंके अनुसार होता रहेगा। इससे भगवान्से प्र

बुद्धियोगसे चरित-अनुमोदनके आनन्दमें उसकी अवशिष्ट प्रारब्ध भोगकी आयु गोपद-जल लाँघनेकी भाँति बीत जाती है। वह भगवान‍्को प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है।

(ह)

नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं ॥

यहाँ 'सुखाहीं' यह पद बहुवचन है। अतः जैसे सागर सात हैं, वैसे भवसागर भी व्यष्टि-भेदसे सात हैं। भवसिंधु आधिदैहिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीनों तापोंसे भरा रहता है। इन तापोंके कारण संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—ये तीनों सकाम शुभाशुभ कर्म हैं; तथा कर्मोंके सकाम होनेमें कारण अविद्या है। अतः तीनों ताप, तीनों कर्म और अविद्या—ये ही सातों भवसागरके सातों व्यष्टि-भेद हैं।

अथवा सप्तधातु-निर्मित देहमें अविद्यासे अभिमान होता है, फिर उससे सकाम शुभाशुभ कर्म होते हैं, तदनुसार तीनों ताप होते हैं। इस प्रकार भी सप्तधातु-निर्मित देहका अभिमान सप्तसागर है। यथा—

कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर·····

(विनय-पत्रिका ५८)

अब श्रीराम-नाम लेते हुए इन सप्तसागरोंका सूखना देखिये—

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥

(रामचरितमानस बाल० १८)

मैं रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके 'राम' इस नामकी वन्दना करता हूँ। जो (जिसके र, अ, म ये तीनों वर्ण क्रमशः) अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका कारण एवं बीज है।

महारामायणमें राम-नामके इन अर्थोंकी व्याख्या है। यथा—

रकारोऽनलबीजं स्याद्ये सर्वे वाडवादयः।
कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥ ६२ ॥
अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्।
नाशयत्येव सद्दीप्त्या याविद्या हृदये तमः ॥ ६३ ॥
मकारश्चन्द्रबीजं च सदम्बुपरिपूरणम्।
त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥ ६४ ॥
रकारो हेतुवैराग्यं परमं यच्च कथ्यते।
अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम् ॥ ६५ ॥

(अ० ५२)

रकार बड़वानल आदि अग्नियोंका बीज है, यह मनोमलरूप सभी शुभाशुभ कर्मोंको भस्म कर देता है। अकार सूर्यका बीज है, इससे यह वेद-शास्त्रका प्रकाशक है, यह सद्दीप्तिसे हृदयके अविद्यान्धकारका नाश करता है। मकार चन्द्रबीज है; यह श्रेष्ठ जलसे पूर्ण है, यह नित्य तीनों तापोंका हरण करता है और शीतलता प्रदान करता है। पुनः रकार श्रेष्ठ वैराग्यका कारण है, अकार ज्ञानका और मकार भक्तिका कारण है।

मनुष्योंकी जिह्वापर इन अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका निवास भी है। यथा—

जिह्वामूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽनलः।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः ॥

(योगियाज्ञवल्क्यः गायत्रीभाष्य)

जिह्वाके मूल भागमें सर्वतेजोमय अग्नि, उसके आगे सूर्य और तालुके मध्यमें चन्द्रमा प्रतिष्ठित हैं।

जीभसे राम-नामाराधन होनेमें जीभपर स्थित अग्नि आदि तीनों अपने-अपने परम कारण रकारादिके संयोगसे पूर्ण प्रकाशयुक्त होकर शीघ्र ही उक्त कार्य सम्पन्न कर देते हैं। तब रकार मनोमलरूप सभी शुभाशुभ संचित कर्म भस्म कर वैराग्यद्वारा प्रारब्धसे भी रक्षा करता है और क्रियमाण कर्म साथके मकारार्थसे भक्तिरूपमें परिणत हो जाते हैं। अकार अविद्यान्धकार दूर कर ज्ञानसम्पन्न कर देता है। फिर मकार विवेकपूर्ण भक्ति प्रदान कर नवधा-भक्तिद्वारा आधिदैहिक ताप, प्रेमलक्षण भक्तिद्वारा आधिभौतिक ताप और पराभक्तिद्वारा आधिदैविक ताप भी दूर करता है।

यही उपर्युक्त भवसागरके व्यष्टिरूप सातों सागरोंका सूखना है। तथा—

काल कर्म गुन सुभाव सब कें सीस तपत।
रामनाम महिमा की चरचा चले चपत ॥

(विनय-पत्रिका १३०)

इस प्रकार भवके अङ्गभूत काल-कर्मादिकी बाधाएँ भी रामनाम-निष्ठासे नष्ट हो जाती हैं। उपर्युक्त पराभक्तिसे अन्तमें श्रीरामजीको प्राप्त हो जीव कृतार्थ हो जाता है। इन दृष्टियोंसे विचारनेपर भव-तरणके सभी प्रसंग युक्त ही हैं।

* * *

कस्मै देवाय हविषा विधेम

(लेखक—श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०)

'हम किस देवकी हविसे पूजा करें', ऋग्वेदके दशम मण्डलके १२१ सूक्तमें यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है। कौन देवता श्रेष्ठ हैं और कौन मानवमात्रके लिये अधिक कल्याणकारी हैं, यह प्रश्न आज भी बहुत विवादका है।

विद्वानोंका एक समूह इस मतका प्रतिपादक है कि हम अग्निदेवकी ही हविसे पूजा करें। अग्निदेव वैदिक देवोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे व्यापक हैं। यह समताके अधिष्ठाता और विभिन्न दूषणोंके परिष्कर्ता हैं। सामान्यरूपसे यही जीवनकी उष्णताको कायम रखते और वस्तुओंमें रसको अर्थात् उनकी तात्त्विक सत्ताके सारको और उनके आनन्दके सारको उत्पन्न करते हैं। गोतम राहूगणने जो ऋग्वेद (मण्डल १, सूक्त ७७) के एक प्रमुख ऋषि हैं, अग्निदेवकी अनेक स्तुतियाँ[1] की हैं और उन्हें क्रियाशील जीवन-शक्ति माना है। अग्नि देवोंको विरचित करनेवाले हैं।[2] वही पृथ्वीमें चेतना, बादलोंमें बिजली और आकाशमें सूर्य हैं।[3] यास्कने अग्निको अग्रणी कहकर भी पुकारा है। विनोबाका कहना है कि अग्निकी निरुक्ति अग्रणी बहुत अंशोंमें उचित जान पड़ती है; क्योंकि अग्निसे मार्ग-दर्शन होता है। वे कहते हैं कि व्युत्पत्तिशास्त्रकी दृष्टिसे अग्नि शब्द 'अञ्ज्' (अर्थात् व्याप्त होना, प्रकाशित होना) धातुसे बना है और विभिन्न अपभ्रंश रूपोंमें कई भाषाओंमें वह प्रचलित है। अतः जो कुछ भी प्रकट हुआ है, वह सब अग्निका ही रूप है। इसके अतिरिक्त अग्नि प्रकाशित होनेके कारण ज्ञानस्वरूप भी माने गये हैं। इसलिये उनको वेदोंमें 'जातवेदस्' कहा गया है।[4] अग्निकी प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है, हे मार्ग-दर्शक देदीप्यमान प्रभो! विश्वमें बुने हुए सब तत्त्व तू जानता है, अतः तू हमें सरल मार्गसे उस परम आनन्दकी ओर ले जा। टेढ़ा ले जानेवाला पाप तू हमसे दूर हटा, तेरी हम फिर-फिर नम्र वाणीसे विनय करते हैं।[5] वायु और सूर्यके साथ अग्नि तैंतीस देवता[6] के हृदय[7] बतलाये गये हैं, अतः अग्निदेव ही सर्वप्रधान हैं और इन्हींकी हविसे पूजा करना श्रेयस्कर है।

कुछ विद्वान् सूर्यको ही हवि देना श्रेष्ठ समझते हैं; क्योंकि सूर्य ही अन्य देवोंके उत्पादक हैं।[8] सूर्यका एक नाम हिरण्यपाणि भी है। एक ब्राह्मणमें इसकी चर्चा यों है कि सूर्यका हाथ नष्ट हो गया था, अतः उसके स्थानमें उसे एक सोनेका हाथ दे दिया गया। मैकडॉनेलने हिरण्यपाणिको ही हवि देना अच्छा समझा है।[9] शतपथ कहता है कि सूर्य ही सभी देवताओंके आत्मा हैं।[10] यज्ञके लिये वही सर्वोत्कृष्ट बतलाये गये हैं।[11] ऋग्वेदके एक सूक्त (८१, मण्डल १०) में उन्हें प्रत्येक रचनाके लिये शक्तिमान् बतलाया गया है और कहा गया है कि वही सबके पोषक हैं और जगत्को पूर्णतः

---

[1] 'स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम्।' अर्थात् (नृणां नृतम्) शक्तियोंमें सबलतम और (रिशादा) विनाशकोंको समाप्त कर देनेवाला (स अग्निः) वह अग्नि (अवसा) अपनी उपस्थितिके द्वारा (गिरः) शब्दोंको और (धीतिम्) उनके विचारको (वेतु) अभिव्यक्त कर दे। (ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ७७)

'स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।'

अर्थात् (स क्रतुः) वह (अग्नि) संकल्प हैं, (स मर्यः) वह बलरूप है, (स साधुः) वह साधु है, वह पूर्णताको सिद्ध करनेवाला है, वह (मित्रः न) मित्रकी तरह (अद्भुतस्य रथी भूत) परम सत्ताका रथी है। (वही १। ७७)

[2] 'इन कृणोति देवान्', (वही, मंडल १, सूक्त ७७)

[3] As a rule on earth, in the clouds as lightning, and in the upper heavens as the Sun. *Hindu gods and heroes* By Lionel D. Barnett, M. A., Litt. D, London 1922. p. 23.

[4] ईशावास्यवृत्ति, विनोबा, स० सा० मं० प्रकाशन नई दिल्ली, १९५०, अनु० श्रीकुन्दर दिवाग।

[5] ईशा० १८।

[6] त्रयस्त्रिंशद् देवताः, ता० ४।४।११, तै० १।२। २।५, १।८।७।१, २।७।१।३-४, कौ० ८।६। श० १२।६।१।३७।

[7] अग्निर्वायुरादित्य एतानि तानि देवानां हृदयानि।

[8] सविता वै देवानां प्रसविता। श० १।१।३।१

[9] Bhandarkar Commemoration Volume Poona, 1917.

[10] सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा। श० १४।३।२

[11] यज्ञो वै स्वः। (यजु० १।११)

प्रकाशित करते हैं।[१२] अरविन्द कहते हैं कि सूर्य सत्यके अधिपति हैं, आलोक-प्रदाता हैं। सविताके रूपमें वह रचयिता और पूषाके रूपमें वह पोषणकर्ता हैं। उनकी किरणें अपने स्वरूपमें स्वतःप्रकाश ज्ञान (Revelation) की, अन्तःप्रेरणा (Inspiration) की, अन्तर्ज्ञान (Intuition) की, प्रकाशपूर्ण विवेक (Luminous discernment) की अतिमानस क्रियाएँ हैं और ये चारों मिलकर उस सर्वातिशायी तत्त्वकी क्रियाको बनाती हैं जिसे वेदान्त 'विज्ञान' कहता है और जिसे वेदमें 'ऋत्वम्' 'दिव्य' 'सत्य' कहा गया है।[१३] सूर्य ही सत्यको विस्तारित करते हैं।[१४] यही सत्यके प्रकाशोंसे मनको एवं विचारोंको आलोकित करते हैं। वह विप्र है, प्रकाशमान हैं और यह वह हैं जो अपनेपनके तथा अपनी परिस्थितिके घेरेसे घिरी हुई चेतनामेंसे व्यक्तिगत मानवीय मनको छुड़ाते हैं और उसकी सीमित गतिको विशाल कर देते हैं।[१५] वही मनुष्यके सभी ज्ञान और कर्मोंके शासक हैं। विरोधी शक्तियोंसे यह विघ्नित नहीं होते और पूर्ण तौरसे शासन करते हैं; क्योंकि वह सब अभिव्यक्तियोंको जानते हैं, उनके कारणोंको समझते हैं, उनके नियम और पद्धतिसे युक्त होते हैं, उनको उचित परिणामके लिये बाध्य करते हैं।[१६] अन्य सभी देव सूर्यका ही अनुगमन करते हैं और उनके प्रकाशकी शक्तिद्वारा उनकी बृहत्ताको पा लेते हैं।[१७]

कुछ विद्वानोंने प्रजापतिको ही हवि देना श्रेष्ठ बतलाया है। शतपथ (७।४।१।९) में इसका एक विचित्र आख्यान है, जिसमें बतलाया गया है कि एक ही प्रजापति हैं, उन्हें हम अपनी हवि दें। एक विद्वान्का तो कहना है कि प्रजापति ही एकमात्र देवता हैं जो आत्मामें भय अथवा संचार करते हैं। अन्य देवता इन्द्र, अग्नि, सोम, वरुण, विष्णु आदि तो उन्हींसे उद्भूत हैं, वे उन्हींकी संतान हैं। वे उनके हाथके इशारेपर कठपुतलीकी तरह नाचते हैं। अतः हम प्रजापतिको ही हवि दें।[१८] वे कदाचित् सर्वश्रेष्ठ देवता हैं।[१९] शुक्ल यजुर्वेद[२०]में बतलाया गया है कि प्रजापतिने ही मुख अर्थात् मुख्य आग्नेय परमाणुओं[२१] से देवोंको उत्पन्न किया। निरुक्त (३।८) ने देवोंकी उत्पत्ति प्रजापतिके द्वारा प्रकाशमय परमाणुओंसे मानी है और बहुत अंशोंमें यह उचित भी दीखता है। तांड्य ब्राह्मणमें देवता प्रजापतिके ही पुत्र बतलाये गये हैं।[२२] अतः स्पष्ट है प्रजापति एक प्रधान देवता हैं, जिनकी हविसे पूजा करना श्रेयस्कर है।

अन्य देवताओंमें विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, मरुत् आदि देवता प्रमुख हैं। जिनकी हवि बहुधा दी जाती है। विद्वानोंमें इन देवताओंको लेकर भी एकमत नहीं है कि कौन देवता सबसे प्रमुख हैं। वैदिक साहित्यमें विभिन्न स्थलोंपर विभिन्न देवताकी प्रमुखता बतलायी गयी है। विष्णुकी स्तुति कई ऋचाओंमें मिलती है[२३], जिससे पता चलता है कि विष्णु एक प्रमुख देवता हैं जिनकी हविसे पूजा करनी चाहिये। वह विस्तृत गतिवाले देव हैं। यह वह हैं जो कि चारों ओर गये हुए हैं जैसा कि ईश-उपनिषद्के शब्दोंमें प्रकट किया गया

---

[१२] 'उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः'। अर्थात् (उत त्वम् एकः इत्) हे सविता देव, हे सूर्य, तू अकेला ही (प्रसवस्य ईशिषे) प्रत्येक रचना करनेके लिये शक्तिमान् है (उत देव) और हे देव ! (यामभिः) गतियोंद्वारा तू (पूषा भवति) पोषक बनता है। (उत) और तू (इदं विश्वं भुवनं) सम्भूतियोंके इस सम्पूर्ण जगत्को (विराजसि) पूर्णतया प्रकाशित करता है।

[१३] वेदरहस्य, अरविन्द, द्वितीयखण्ड, अनु० आचार्य अभयदेव विद्यालंकार, जून १९४९, पृ० ६६।

[१४] सत्य तातान् सूर्यः, (ऋग्वेदसंहिता, १।१५६।१२)

[१५] वेदरहस्य, अरविन्द, द्वितीय खण्ड, पृ० ७०।

[१६] वही, पृ० ७१।

[१७] वही, पृ० ७३।

[१८] Hindu gods and heroes, p. 56.

[१९] वही, पृ० १११।

[२०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २।२।९।५-९। [सः (प्रजापतिः) मुखाद्देवानसृजत]।

[२१] सः (प्रजापतिः) आस्येनैव देवानसृजत (श० ११। १।६।७) (आस्येनैव) साँससे ही प्रजापतिने देवोंका सृजन किया। एकलिङ्ग भी कहते हैं, By (the breath of) his mouth he created gods. 'वैदिक कोष'के सम्पादक श्रीभगवद्दत्त इसे उपयुक्त नहीं समझते और कहते हैं कि प्राणोंसे देवोंकी उत्पत्ति वैदिक साहित्यमें कहीं भी नहीं बतलायी गयी है। ('वैदिक कोष', एल० द्वारकादास मेमोरियल वॉल्युम, फरवरी १९२६, पृ० ६२)

[२२] (प्रजापतेः) वनीयांसः (पुत्राः) देवाः, (ता० १८।१।२)

[२३] तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम (मैं विष्णुके प्रियधामको प्राप्त करूँ)। ('वैष्णवधर्मका विकास और विस्तार' श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, 'कल्याण', वर्ष १६, अङ्क ४) महस्ते विष्णोः सुमतिं भजामहे (हे विष्णु, आप महान् हैं; आपकी सुमतिका हम भजन करते हैं अर्थात् कृपाके लिये हम प्रार्थना करते है) (वही)

है। (स पर्यगात्) उन्होंने अपनेको तीन रूपोंमें द्रष्टा, विचारक और रचयिताके रूपमें पराचेतन आनन्दमें, मनके द्यौमें, भौतिक चेतनाकी पृथिवीमें विस्तृत कर लिया है। (त्रेधा विचक्रमाणः)। (वेद-रहस्य, पृ० १५२) कौषीतकी ब्राह्मण बतलाता है कि रुद्र ही सभी देवताओंसे बड़े और श्रेष्ठ हैं।[24] वाल्मीकि मुनिने हरि (विष्णु) के मुखसे रुद्रकी ही श्रेष्ठता बतलायी है—हे देवश्रेष्ठ ! समुद्र-मन्थनसे निकला हुआ यह विष आपका है, क्योंकि आप देवताओंके अग्रगामी हैं।[25] इन्द्रका स्थान देवताओंमें इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि वह दिव्य प्रकाशके प्रदाता हैं। सायणका कहना है कि इन्द्र शोभनरूप (वाले कर्मों) के कर्ता हैं। उन्हें अपनी रक्षाके लिये प्रतिदिन हम बुलाते हैं, जैसे गोदोहकके लिये सुष्ठु दोग्ध्री गायको कोई बुलाया करता है।[26] विश्वामित्रका पुत्र मधुछन्दस् ऋषि सोमरसकी हवि लेकर इन्द्रका ही आवाहन करता है कि वह प्रकाशमें वृद्धिगत हो सके। इन्द्र प्रकाशमय मनके अधिपति हैं। अतः मधुछन्दस् ऋषि बल और आनन्दकी वृद्धिके लिये इन्हींको बुलाता है। कौषीतकी ब्राह्मण (६। १४) और गोपथ ब्राह्मण (उत्तर भाग, १। ३) भी इन्द्रकी महानतापर प्रकाश डालते हैं और सभी देवताओंमें उन्हें श्रेष्ठ और बलिष्ठ बतलाते हैं।[27] शतपथ ब्राह्मण एक जगह (४। ३। ५। १) कहता है कि वास्तवमें तीन ही देवता हैं, इन्द्र, रुद्र, आदित्य[28] (वसवो रुद्रा आदित्याः)। इन तीनोंमें प्रधान हैं इन्द्र। अतः इन्द्रको हवि देना श्रेयस्कर है। शतपथ ब्राह्मण वरुण देवताको देवताओंका राजा कहता है[29]। अतः विष्णुको हवि देनेसे उनको हवि देना श्रेष्ठ है। वरुण 'रिशादस' हैं, सब हिंसकों या शत्रुओंके विनाश करनेवाले हैं[30]। वह विशालता और पवित्रताकी शक्ति है और इसीलिये जब वह मनुष्यके अंदर सत्यकी जाग्रत् शक्तिके रूपमें आकर उपस्थित हो जाते हैं, तब उनके संस्पर्शसे वह सब जो कि दोष, पाप, बुराईके प्रवेशद्वारा स्वभावको सीमित करनेवाला और क्षति पहुँचानेवाला होता है, विनष्ट हो जाता है[31]। मरुत देवता देवताओंके 'विश'के रूपमें बतलाये गये हैं[32]। इनका दूसरा नाम वायुदेव भी है जिनकी स्तुति अनेक ऋचाओंमें की गयी है। मनुष्यकी सारी जीवनसूचक या वात-जन्य चेष्टाएँ प्राणकी परिभाषाके अंदर आ जाती हैं और वे वायुके साम्राज्य-क्षेत्रसे सम्बन्धित हैं। अरविन्द कहते हैं कि विशेषतया वह 'इन्द्र'के साथ सम्बद्ध हैं और ऋषियोंने इन्द्रके सहकारीके रूपमें इनका आवाहन किया है[33]। वास्तवमें उनका विचार है, इस देवको अभिव्यक्त करनी है—उन्हें

---

[24] रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम्। कौ० २५। १३ 'यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि' इत्यादि श्रुति-प्रतिपादित; (लिङ्ग) महापुराण, लक्ष्मी वेंकटेश्वर मुद्रणालय, पृ० १।

[25] उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलधरं हरिः।
दैवतैर्मथ्यमाने तु तत्पूर्वं समुपस्थितम्॥
तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्।
अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो॥
(वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड अनु० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, पृ० ११८)

[26] सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविद्यवि॥

अर्थात् (सुरूप कृत्नुम्) जो पूर्ण रूपोंका निर्माता है और (गोदुहे सुदुघामिव) जो गोदोहनके लिये एक खूब दूध देनेवाली गौके समान है (ऊतये) इन्द्रको वृद्धिके लिये (द्यवि द्यवि जुहूमसि) दिन-प्रति-दिन हम पुकारते हैं। (ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त ४।)

[27] इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः।

[28] तु० एते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्याः। (श० १। ३। ४। १२, १। ५। १। ७७, । १। ८। ३। ८)

[29] वरुणो वै देवानां राजा। (श० १२। ८। ३। १०)
तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति। (वही, १४। १। १। ५।)

[30] मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् (ऋक्० १। २। ७)

[31] वेदरहस्य, अरविन्द प्रथम खण्ड अनु० आचार्य अभयदेव विद्यालंकार २४ नवम्बर १९४८, पृ० ९९।

[32] मरुतो वै देवानां विशः। (ऐ० १। ९, ता० ६। १०। १०, १८। १। १४।)

[33] विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ अर्थात् ([illegible] विपः) आनन्दके अभिव्यञ्जक और (अर्यः नः) कर्मके [illegible] तरह, तू (अवीता होत्रा) अव्यक्त पड़ी यज्ञिय शक्तियोंको (विहि) व्यक्त कर दे; (वायो) हे वायु (चन्द्रेण रथेन) सुखमय प्रकाशके अपने रथमें चढ़कर (आयाहि) तू आ, (सुतस्य पीतये) सोमरस पीनेके लिये। (ऋग्वेद, मंडल ४, सूक्त ४८)

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आयातु पाजसा॥

(वायो) ओ वायु, (शतं हरीणाम्) अपने सौ चमकीले घोड़ोंको (पोष्याणाम्) जो कि पोष्य हैं, जिन्हें बढ़ाया जाता है (युवस्व) नियुक्त कर दे, (उतवा) अथवा (ते सहस्रिणः रथः) हजार [घोड़ों] से युक्त तेरा रथ (पाजसा) अपने अति वेगके साथ (आयातु) आवे।

यज्ञिय शक्तियोंको जो कि अबतक अभिव्यक्त नहीं हुई हैं, अबतकके अवचेतन अंधकारमें छिपी पड़ी हैं, सचेतन क्रियाके प्रकाशमें लाना है[३४]। अग्नि और सूर्यके साथ ये देवताओंके हृदयस्वरूप माने गये हैं[३५], अतः इन्हें ही हविसे पूजा करना श्रेयस्कर हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि अग्नि, सूर्य, वरुण, मरुत् आदि प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियाँ एक ही ब्रह्मके रूप-विस्तार हैं, अतः ब्रह्मसे वे अभिन्न हैं। उन विभिन्न शक्तियोंसे न तो ब्रह्मकी पृथक्ता प्रतीत होती है और न ब्रह्म ही उन शक्तियोंसे रहित कोई चेतनसमूह प्रतीत होता है। श्रुतियोंमें एक स्वरसे कहा गया है—'एकः सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत् एक ही है' ब्रह्म, ईश्वर अथवा देव एक ही हैं, विप्रलोग इसे बहुत बतलाते हैं। अग्नि और सूर्यका तेज दो नहीं है, वह ब्रह्मका ही तेज है। प्रजापति तत्त्वतः ब्रह्मके साथ अभिन्न हैं। व्यावहारिक सौकर्यके लिये एक ही ब्रह्मके विभिन्न रूपोंकी कल्पना कर ली गयी। उनका स्रष्टारूप प्रजापति हुआ, पालकरूप विष्णु हुआ और संहारकरूप रुद्र।[३६] इन तीन देवोंको अलग-अलग हवि देना वास्तवमें एक ही ब्रह्मको हवि देना है।[३७] विस्तार, व्यापकता और प्रसिद्धिकी दृष्टिसे अग्निको हवि देना बतलाया गया है। अग्नि वास्तवमें ब्रह्मकी प्रकाशक शक्ति और अतुलित तेज हैं। सूर्यकी प्रकाशक शक्तिके साथ यह अभिन्न हैं। विद्युत्का प्रकाश और तेज अग्नि और सूर्यका ही प्रकाश और तेज है। तत्त्वकी दृष्टिसे ये सब भी एक ही ब्रह्मके प्रकाश और तेज हैं। इन्द्र, वरुण और मरुत् आदि देवता प्रमुख जरूर हैं, पर प्रसिद्धिकी दृष्टिसे उनका स्थान अग्निकी तुलनामें नगण्य है। अरविन्दने इन्द्रकी प्रमुखता अग्निकी प्रमुखताके बराबर मानी है और इसलिये कहा है, 'इन्द्र' अपने चमकीले गणों (मरुतों) सहित और आर्यके यज्ञको परिपूर्ण करनेवाले दिव्य शक्ति 'अग्नि'—ये दोनों वैदिक सम्प्रदायके सबसे महत्त्वपूर्ण देव हैं।[३८] वही आगे कहते हैं कि वेदमें ऋचाएँ अग्निसे आरम्भ होती हैं और अग्निपर ही समाप्त होती हैं। यही संकल्पाग्नि, जो ज्ञानरूप भी है, मनुष्यकी अमरताको लक्ष्यकर किये जानेवाले ऊर्ध्व मुखका प्रारम्भ करनेवाला है, इसी दिव्य चेतनाको जो कि दिव्य शक्ति भी है, हम अमर्त्य सत्ताके मूलाधारके तौरपर अन्तमें पहुँचते हैं।[३९] इसलिये स्पष्ट है कि इन्द्र, अग्निकी तुलनामें बहुत देरतक नहीं ठहर सकते। वास्तवमें जब हम विविध देवताओंको विविध रूपमें हविसे पूजा करते हैं, तब हमारा ध्यान उनसे प्राप्त होनेवाले फलपर विशेष रहता है। तात्पर्य यह कि जब हम रुद्रका आवाहन करते हैं, तब हमारा ध्यान ब्रह्मके संहारक रूपपर विशेष रहता है और हम सृष्टिके कलुषका, सृष्टिके विषाक्त तत्त्वोंका संहार चाहते हैं और जब हम विष्णुका आवाहन करते हैं, तब हमारा ध्यान ब्रह्मके पालकरूपपर विशेष रहता है। हम सृष्टिका रक्षण और पोषण चाहते हैं ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं होगा कि हम एक ही स्थलपर, एक ही बार विविध देवताओंकी, हविसे पूजा करें। यदि हम अपना ध्यान विविध फलोंपर केन्द्रित रक्खें। एक ही ब्रह्मसे विविध फल प्राप्त अवश्य हो सकते हैं पर उनके एक ही रूपसे नहीं। तत्त्वकी दृष्टिसे वे एक जरूर होंगे, पर रूपकी दृष्टिसे उनमें भिन्नता आ ही जायगी। वैदिक साहित्यमें देवोंको लेकर जो विवाद खड़ा किया गया है और जगह-जगहपर विभिन्न देवताको सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है उसके पीछे रहस्य यह है कि वैदिक ऋषियोंका मन विविध फलकी कामनापर केन्द्रित था। जब जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ी, वहाँ तब वैसी कल्पना कर ली गयी। हम इसलिये आवश्यकतानुकूल अग्नि, सूर्य, प्रजापति, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, मरुत् आदि सभी देवताओंकी हविसे पूजा कर सकते हैं। यद्यपि यह पूजा एक ही ब्रह्मकी पूजा होगी। वैसे सभी देवता समय-समयपर श्रेष्ठ और मानवमात्रके लिये कल्याणकारी हैं।

---

[३४] विहि होत्रा अवीता।

[३५] अग्निर्वायुरादित्य एतानि तानि देवानां हृदयानि। (यजु० १६। ४६, श० ९। १। १। २३)

[३६] यस्माज्जायते स ब्रह्मा, येन पाल्यते स विष्णुः, येन संह्रियते स रुद्रः। (लि० पु० शिवतोषिणी टीका, ३। ६-७, पृ० ५)

[३७] यो वै विष्णुः स वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः। एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः॥ (हरिवंशपुराण, लि० पु० ३। ६-७ की शिवतोषिणी टीकामें उद्धृत।)

[३८] वेदरहस्य, द्वि० ख० पृ० ६६।

[३९] वही, पृ० ६६।

मधुर

श्रीश्यामसुन्दरकी वियोगकल्पनामें श्रीराधारानी एक दिन अत्यन्त व्याकुल हो गयीं । उनको लगा कि मैंने प्रियतम श्यामसुन्दरके अहैतुक प्रेमका सत्कार तो कभी किया ही नहीं, उसका सदा मैं तिरस्कार ही करती रही, दुत्कार देती रही । उन्होंने अपार प्रेम करके मुझे अपना सर्वस्व दे दिया, तथापि मैं 'अत्यन्त दरिद्र होकर भी मान-मदसे उसको ठुकराती रही । आज श्यामसुन्दर मुझको सदाके लिये छोड़ गये हैं, अब मैं क्या करूँ ?' इन विचारोंसे ओतप्रोत होकर वे अकेली एकान्त निकुञ्जमें चली गयीं और वहाँ जाकर यह कल्पना करके कि मेरी प्यारी सखी मेरे साथ है, उससे रो-रोकर कहने लगीं—

'(प्रिय सखी !) उन्होंने (प्रियतमने) सदा ही मुझको चाहा, पर मैंने सदा उनका अपमान किया । उन्होंने नित्य मुझे मान प्रदान किया; किंतु मैं सदा अभिमान ही करती रही । उन्होंने (केवल) मेरे ही सुखके लिये (क्योंकि उनको तो सुखकी कभी कोई कमी ही नहीं) नित्य-निरन्तर मुझे अपना सारा प्रेम दिया, पर मैंने सदा उसकी अवहेलना की, मैं सदा ही दुत्कार देती रही । वे (प्रियतम) मुझको सुखी बनानेके लिये ही बार-बार मेरे पास आये, पर मैंने मीठे वचनोंसे भी उनका सत्कार नहीं किया और उन्हें निराश उदास लौटा दिया ।'

नित्य उन्होंने चाहा मुझको,
मैंने सदा किया अपमान ।
नित्य उन्होंने मान दिया, पर
मैंने किया सदा अभिमान ॥
मेरे ही सुख-हेतु नित्य ही
दिया उन्होंने सारा प्यार ।
पर मैंने अवहेला की नित,
देती रही सदा दुतकार ॥
बार बार वे मुझको सुखी
बनाने, आये मेरे पास ।
मधुर बोल सत्कार न करके,
लौटा दिया निराश उदास ॥

'(सखी !) इतनेपर भी वे कभी न तो मुझपर रु हुए, न कभी मुझपर तनिक-सा रोष ही किया, उनके मनको स्वभावसे ही कभी भी मेरा तनिक-सा दोष दिखायी ही नहीं दिया । वे मुझे देते-देते कभी एक पल भी थके नहीं, सदा अपना सर्वस्व ही देते रहे । मैं मानिनि (मिथ्या अभिमानमें भरी रही), परंतु मैं स्वाभाविक दरिद्र-अकिञ्चन उन्हें देती ही क्या ? (मेरे पास था ही क्या ?)

पर वे तनिक न हुए रुष्ट, मुझपर
न कदापि किया कुछ रोष ।
उनके मनको कभी न दीखा,
मेरा सहज अल्प-सा दोष ॥
देते देते थके न पल भर,
देते रहे सदा सर्वस्व ।
मानिनि, किंतु उन्हें क्या देती
मैं दरिद्र स्वाभाविक निःस्व ॥

'(पर सखी ! अब वे चले गये—अतएव) अब मैं पतित, दीन, अभागिनी दिन-रात लगातार रो रही हूँ । अब मुझे उनकी एक-एक मीठी बात याद आ रही है । मैं इसी योग्य हूँ, मुझे बस, यह उक्ति ही फल मिल रहा है—रोना, आँसू बहाना और आँसू उनकी स्मृतिमें व्याकुल रहना । पर (सखी !) मैं मर नहीं सकूँगी, कारण, मृत्यु मुझसे सदा दूर रहेगी; क्योंकि मुझपर सदा ही उनके स्मृति-सुधाका भरपूर सिंचन होता रहेगा । (मैं सदा उनके स्मृति-सुधामें डूबी रहूँगी, तब मृत्यु मेरे समीप कैसे आ सकेगी ।)'

अब रो रही अभागिनि, पतिता,
दीना मैं अविरत दिन रात ।
याद आ रही मुझको उनकी
एक एक अब मीठी बात ॥

इसी योग्य हूँ मैं, मिलता है
उचित मुझे बस यह परिणाम ।
रोना, अश्रु बहाना, व्याकुल
स्मृतिमें रहना आठों याम ॥
पर मैं मर न सकूँगी, कारण
मृत्यु रहेगी मुझसे दूर ।
होता नित्य रहेगा उनका
स्मरण-सुधा-सिंचन भरपूर ॥

'यों कहती वे सिसक-सिसककर रोती तथा करुण विलाप करती हुई मूर्छित होकर गिरने लगीं कि स्वयं प्रियतम (श्यामसुन्दर) ने उन्हें अपनी भुजाओंमें थाम लिया । वे प्रकट हो गये और उन्होंने श्रीराधाका मधुर मनोहर मस्तक अपनी कोमल गोदमें रख लिया । (तदनन्तर) पीताम्बरसे उनका वदन (-चन्द्र) पोंछकर वे मनमें मोद भरे हुए उनको हवा करने लगे (प्रेमकी बाढ़से उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये और) प्रियतमके प्रेमानन्द-अमृतकी कुछ बूँदें सहसा श्रीराधाजीके मुखपर गिर पड़ीं; बस (उसी समय) उन्हें चेत हो गया और अपनेको प्रियतमके अङ्कमें पाकर उनके हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ चला । राधाजीने देखा, प्रियतम अपने करकमलोंको उनके अङ्गोंपर फेर रहे हैं और वे प्रियतम अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे प्रियाके उज्ज्वल-गौर मुखको ओर निहार रहे हैं । नेत्रोंकी पलकें नहीं पड़ रही हैं । वे उठीं और प्रियतमके हृदयसे चिपट गयीं । (प्रिया-प्रियतम) दोनोंके नेत्रोंसे पवित्र धारा बह चली, दोनोंकी वाणी रुद्ध हो गयी, मन अमन हो गये और सारी चेष्टाएँ सहज ही रुक गयीं ।'

यों कहती, रोती वह करती
सिसक सिसककर करुण विलाप ।
मूर्छित हुई, लगी गिरने, ली
थाम भुजामें प्रियने आप ॥
हुए प्रकट, रक्खा सिर अपनी
मधुर मनोहर कोमल गोद ।
पीताम्बरसे पौंछ वदन, वे
करने लगे पवन मन-मोद ॥
गिरे अचानक मुखपर, प्रियतम—
प्रेमामोद-सुधाके बिन्दु ।
चेत हुआ, पा प्रिय गोदीमें,
उमड़ा उरमें आनँदसिन्धु ॥
देखा, प्रियतम अपने कर-
कमलोंको फिरा रहे सब गात ।
अश्रुपूर्ण दृग देख रहे प्रिय
अपलक प्यारी-मुख अवदात ॥
उठीं, हृदयसे लगीं, बही
दोनोंके नेत्रोंसे शुचि धार ।
वाणी रुद्ध, अमन मन, सारा
हुआ निरुद्ध सहज व्यापार ॥

मधुर प्रेम तथा मधुरातिमधुर श्रीराधा-माधवकी जय जय !

एक सच्चिदानन्दमें ही मेरा नित्य निवास हो गया

हुआ सच्चिदानन्द एकमें ही अब मेरा नित्य निवास ।
हटी सभी मायाकी छाया, हुआ ज्योतिका विमल विकास ॥
मिटी अहंता-ममता सारी, रहा न निज-परका सम्बन्ध ।
मुक्ति-कामना मिटी, खुल गये यहाँ-वहाँके सारे बन्ध ॥
मेरा-तेरा हटा, मिट गया देश-कालका सब व्यवधान ।
एक तत्त्व परिपूर्ण सत्य, अब रहा न कुछ भी क्षुद्र महान् ॥
मिटा सभी पृथकत्व, एकमें एक हो गया सबका रूप ।
द्वन्द्वरहित आनन्द छा रहा नित्य एकरस दिव्य अनूप ॥

तामस त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
(गीता १८ । ७)

लंबा, दुबला, तनिक साँवला शरीर, गोल मुख, कुछ भीतर गड्ढेमें धँसे मटमैले छोटे नेत्र। वे खादी पहिनते हैं; किंतु वह दूध-सी उजली कभी नहीं रहती। अपने हाथ साबुन लगानेसे जितनी सफेद हो जाय और साबुन भी चौथे-पाँचवें ही तो मिल पाता है। अवस्था कितनी है, मुझे पता नहीं; किंतु सिर, दाढ़ी और मूछोंके अधिकांश केश श्वेत हो चुके हैं। विद्वान् हैं——हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी तीन भाषाएँ जानते हैं। मैंने कभी नहीं पूछा कि कोई चौथी भाषा भी जानते हैं या नहीं। केवल खादी ही नहीं पहिनते, स्वाधीनता-संग्राममें भाग लेकर कारागारकी चहारदीवारीके भीतर भी रह आये हैं।

उनपर रोष आना कठिन है। उन्हें देखकर दया आती है; किंतु उनसे दूर-दूर रहना ही अच्छा है। पता नहीं किस बातपर वे रुष्ट हो जायँ। जहाँ जायँगे—— 'यहाँ यह होना चाहिये! तुमलोग यह क्यों नहीं करते? यह असावधानी, यह बेईमानी……'पता नहीं दर्जनों दोष उन्हें एक-दम एक-साथ दीख कैसे जाते हैं। दोष कहाँ नहीं होते, किसमें नहीं होते? हमारी असावधानी, अपूर्णता और परिस्थितिजन्य विवशता—— किंतु वे कुछ सुनना नहीं चाहते।

'मैं यह सब क्षमा नहीं कर सकता। समाचारपत्रोंमें लिखूँगा। अधिकारियोंको सूचित करूँगा। किसीने न सुना तो मेरे व्याख्यान जनताको बौखला देंगे। तुम लोगोंको मैं निकलवाकर छोड़ूँगा।' भय और चिन्ताकी कोई बात नहीं, वे इनमेंसे कुछ करनेवाले नहीं। वे यह कुछ कर नहीं सकते, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। करनेकी योग्यता और शक्ति उनमें है; किंतु तत्परता नहीं है। आप निश्चिन्त रह सकते हैं। किंतु बोलना उनका स्वभाव है, उसे रोका नहीं जा सकता।

जहाँ रहेंगे——रहनेकी बात तो दूर, जहाँ घंटे-दो-घंटेको पहुँच जायँगे, सबको क्षुब्ध कर देंगे। कोई व्यक्ति हल्ला मचाकर किसीकी त्रुटियोंका वर्णन आस-पास प्रारम्भ कर दे, एक बार वातावरणको प्रतिकूल तो बना ही देता है। आप अपनी ऐसी आलोचना पसंद करेंगे?

'यहाँ यह होना चाहिये! यहाँ ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये! यह बात एकदम नहीं होनी चाहिये। यह काम यहाँ न होकर वहाँ होना चाहिये। यह आदमी इस कार्यसे अविलम्ब हटा दिया जाना चाहिये।' आप पूछेंगे, इसकी अपेक्षा उन्हें नहीं। वे अपने सुझाव देंगे ही और इतने उच्च स्वरमें देंगे कि आपके साथ दस आदमी और सुन लेंगे। उनके सुझावोंको चरितार्थ करनेकी क्षमता तो कदाचित् ही किसीमें निकले।

बड़े त्यागी हैं वे। कोई संग्रह नहीं उनके पास। शरीरपर पूरे वस्त्रतक नहीं। एकाध पुस्तक कदाचित् कभी रख लेते हैं, कितने दिन रहेगी। पैसा है नहीं, मिल जाय तो रह नहीं पाता। अमुक वस्तु प्राप्त हो हो जाय, ऐसा भी कोई आग्रह नहीं दीखा उनमें। किसीपर लगातार कई दिन रुष्ट रहते हों सो भी नहीं। उनका क्रोध क्षणोंका भले न होता हो, बदला भी नहीं होता।

निद्रा उन्हें आती नहीं। क्यों नहीं आती, कह पाना मेरे लिये कठिन है। यद्यपि मैं साधारण चिकित्सक हूँ—मैंने चेष्टा की और एकाध दिन निद्रा उन्हें आ भी गयी; किंतु वे तो इस तमोगुणको स्वीकार ही नहीं करना चाहते। निद्राको समयका दुरुपयोग मानते हैं।

कोई साधुवेश उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। गृहस्थ उन्हें आप कह नहीं सकते; क्योंकि गृहका त्याग कर दिया है उन्होंने। पत्नीकी मृत्युके पश्चात् घर उन्हें रहनेके उपयुक्त नहीं जान पड़ा। अब दस-पाँच दिन या महीने दो महीने एक स्थानमें, फिर दूसरे स्थानमें—घूमते ही अवस्था व्यतीत हो रही है। अच्छा ही है यह उनके लिये। वे कहीं जमकर रहने लगें, उस स्थानके दूसरे लोगोंको निश्चय बाध्य कर देंगे कि वे घर-द्वार छोड़कर भाग खड़े हों।

सुना है, पढ़ा भी है कि त्यागसे शान्ति प्राप्त होती है। राग अशान्तिका हेतु है, यह निर्विवाद तथ्य है। जब हेतु नहीं रहा, अशान्ति क्यों रहनी चाहिये? किंतु सच मानिये, इतना अशान्त मनुष्य मैंने नहीं देखा। स्वयं रात-दिन अशान्त और जहाँ रहे, दूसरे आस-पासके लोगोंकी शान्तिको फटकारकर दूर भगा देनेवाला।

निरन्तर व्यग्र, निरन्तर दुखी व्यक्ति आपने नहीं देखा होगा। उनके मुखपर भी कभी-कभी प्रसन्नता दीखती है; किंतु बहुत कम। उनके क्रोधसे भी भयंकर है उनका रुदन। वे किस बातपर क्रोध करेंगे और किसपर फूट-फूटकर रोते हुए अपने भाग्यको, अपनी असमर्थताको कोसने लगेंगे, कहना कठिन है। मुझे उनपर दया आती है; किंतु मैं उनसे दूर-दूर रहना ही पसंद करता हूँ।

× × ×

'आपने घर छोड़ा तो कोई आपपर आश्रित नहीं था?' एक दिन मैंने उनसे पूछा। वे प्रायः आ बैठते हैं और इनकी-उनकी इतनी त्रुटियाँ, इतने अपराध-विवरण उनके समीप सदा रहते हैं कि आप रात्रि-जागरण पसंद कर लें तो भी उनकी सामग्री समाप्त नहीं होगी। मैं अल्पप्राण मनुष्य हूँ। बहुत थोड़ा धैर्य, बहुत कम सुनते रहनेकी शक्ति मुझमें है। उन्हें रोकने-टोकनेका अर्थ है उनके रोष या रुदनको आमन्त्रण देना। इसलिये मैं अपनी ओरसे कोई चर्चा चलानेका प्रयत्न करता हूँ और यदि इसमें असफल हो गया, नेत्र बंद करके बिना निद्राके सो जानेका अभिनय एकमात्र मेरा सहारा है।

'छोटे दो बच्चे थे।' उन्होंने इतनी तटस्थतासे उत्तर दिया, मानो वे बच्चे उनके नहीं, किसी मनुष्यके भी नहीं, बकरी या मुर्गीके उपेक्षणीय शिशु थे।

'उनका पालन-शिक्षण..........।'

'आप इन व्यर्थ बातोंकी चिन्ता क्यों करते हैं!' मुझे बीचमें ही उन्होंने रोक दिया—'सब अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं। अपने भाग्यका भोग उन्हें भोगना चाहिये। उनके लिये गृहमें बँधे रहनेको तो मनुष्यका जन्म नहीं मिला है।'

'मनुष्यका जन्म किसलिये मिला है।' यह प्रश्न करनेका साहस मुझमें नहीं था! जानता था कि इसके उत्तरमें वे जो प्रवचन प्रारम्भ करेंगे, वह कई घंटे अविराम चलता रहेगा। वे ऐसे वक्ता नहीं जो बोलते-बोलते थक जाते हैं। सामान्य वक्तृत्वकी बात तो दूर, किसीको कोसनेमें भी उन्हें बीचमें पानी नहीं पीना पड़ता।

'मनुष्य-जन्म किस प्रकार सफल कर रहे हैं।' मुझे पागल कुत्तेने नहीं काटा था कि मैं उनसे इस प्रकार पूछकर उनके क्रोधका पात्र बनता। क्रोध यदि उस समय उनको न आता—कोई सौभाग्यकी बात नहीं होती। तब वे फूट-फूटकर क्रन्दन करने लगते और उनका रुदन मुझे उनके क्रोधसे अधिक कष्टदायी लगता है।

'आप नियमित संध्या करते हैं?' जब भी वे मेरे

पास आ बैठते हैं, उनकी अविराम वाग्धाराको अटकानेके लिये मुझे अपने मस्तिष्कपर दबाव डालना पड़ता है। किंतु यह बात आपसे कह दी, उनसे मत कहिये। वे निजी प्रश्नोंसे कतराते हैं। जिन प्रश्नोंके उत्तरमें उनके पिछले जीवनका विवरण हो, उनके कर्तव्याकर्तव्यकी पूछपाछ हो, उन प्रश्नोंका उत्तर वे दो शब्दोंमें देना चाहते हैं। जब देखते हैं कि आज उनसे ऐसे ही प्रश्न पूछे जायँगे, उन्हें कोई अत्यावश्यक कार्य स्मरण आ जाता है। आप समझ गये होंगे कि मैं उनसे प्रायः कैसी बातें पूछता होऊँगा।

'मैं इन कर्मकाण्डोंको महत्त्व नहीं देता।' उनके स्वरमें ऊबनेका भाव स्पष्ट था। वे ब्राह्मण हैं, पर बड़ी-सी चुटिया रखते नहीं; शिखाशून्य भी आप उन्हें नहीं कह सकते। सिरके केश छोटे रखते हैं; अतः शिखाके स्थानपर जो दस-पाँच कुछ बड़े बाल हैं, वे उन्हें हिंदू बताते हैं। वैसे जनेऊ खादीके सूतका खूब मोटा पहिनते हैं वे।

'मैंने एक आदमीको अभी मिलनेका वचन दिया है।' वे उठ खड़े हुए। मुझे तो इसकी आशा ही थी। मैं उनसे निजी प्रश्न न करूँ, उनको कभी अपना किसीको दिया वचन स्मरण नहीं आ सकता।

× × ×

'तुम दूसरोंके दोष देखनेमें जितना समय देते हो, उतना यदि भजन करनेमें लगाओ!' उस दिन मैं एक वीतराग महात्माके पास गया था। देखा, वे वहाँ बैठे लोगोंमें सबसे आगे बैठे हैं। महात्मा उनको समझा रहे हैं—'तुम्हें भी शान्ति मिले और दूसरोंको भी तुमसे उद्वेग न हो।'

'मैं दूसरोंके दोष देखता हूँ और आप, सबके गुण-ही-गुण देखते हैं! मुझमें कोई गुण नहीं दीखता आपको।' वे बिगड़ उठे—'लोग मनमानी करते रहें, पर किसीको बोलना नहीं चाहिये। जनताके पैसे और सार्वजनिक स्थानोंका जो दुरुपयोग लोग कर रहे हैं, मैं उसे चलने नहीं दे सकता। जनता-जनार्दनकी सेवा भगवान्का भजन नहीं है, यह कहनेवाला शास्त्रोंका तात्पर्य तनिक भी नहीं समझता।'

वे खड़े हो गये आवेशके मारे और बोलते रहे। वहाँ बैठे लोगोंमेंसे एक समझदार सज्जन उठे। बड़ी नम्रतापूर्वक वे उन्हें साथ लेकर चले गये एक ओर। सबका समय नष्ट न हो, सबके सत्संगमें बाधा न पड़े, इसलिये उन्होंने अपने सत्संगका समय उनको पृथक् ले जानेमें लगाया।

'त्यागसे शान्ति मिलनी चाहिये।' मुझे जब अवसर मिला, मैंने महात्माजीसे पूछा—'इनमें न संग्रहकी प्रवृत्ति है, न वस्तुओंका मोह दीखता है। किंतु इतना अशान्त पुरुष............।'

'नारायण, त्याग सात्त्विक हो तो उससे निश्चय शान्ति प्राप्त होती है।' महात्माने मुझे बताया—परंतु राजस त्याग शान्ति नहीं देता। वह तो निष्फल ही जाता है। त्याग राजस न होकर यदि तामस हो जाय तो अशान्तिका उद्भव बन जाता है।'

'त्यागसे अशान्ति उत्पन्न होती है?' मैंने आश्चर्यके साथ पूछा। आपको भी यह बात सरलतासे गले उतरती नहीं जान पड़ेगी।

'नारायण, तुम यदि स्नानका त्याग कर दो अथवा अपने वस्त्रोंको स्वच्छ करनेका प्रयत्न त्याग दो,' महात्माने स्नेहभरे स्वरमें समझाया—'क्या होगा, जानते हो?'

'वस्त्र मैले हो जायँगे, देह मैलसे ढक जायगा।' मुझे स्वीकार करना पड़ा—'दुर्गन्धि आयेगी और रोग आ सकता है।'

'इस त्यागने तुमको और तुम्हारे समीपस्थोंको क्या दिया—शान्ति या अशान्ति?' महात्माका प्रश्न सीधा था। उत्तर बिना दिये ही दे दिया गया मुझे।

'नियत कर्तव्यका त्याग किसी अवस्थामें उचित

नहीं है। अज्ञान या कुतर्कवश कोई इसका त्याग कर ही दे' साधु कह रहे थे—'इस तामस त्यागसे उसके मनका मल बढ़ता जायगा। कर्तव्यका पालन तो चित्तकी नित्य स्वच्छताका हेतु है। वह स्वच्छता अवरुद्ध हुई, मल एकत्र होने लगा। जहाँ मल होगा, वहाँ दुर्गन्धि और रोग होंगे। स्वयं तथा दूसरोंको भी अशान्ति तथा कष्टके अतिरिक्त और क्या मिलेंगे, ऐसी स्थितिमें।'

वे त्यागी हैं—बेचारे······· किंतु उन्हें समझानेका साहस मुझमें नहीं है। आपमेंसे यदि कोई साहस कर सकते हों···········।

◆

परिपूर्णता

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वैदिक साहित्यमें स्वाध्यायका बड़ा महत्त्व है। आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें स्वाध्यायको ही तप कहा है—

'तपः स्वाध्यायम् इति ब्राह्मणम्।'

(आप० ध० १। ४। १२। १)

'तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी' (१। १) आदि। वाल्मीकीय रामायणके अधिकांश स्थलोंमें टीकाकारोंने तपका अर्थ स्वाध्याय किया है। मनुस्मृति (२। १६७) तथा शतपथ ब्राह्मण (११। ५। ७। ४) में अभ्यक्त, अलंकृत, स्रग्वी (मालाधारी शौकीन) एवं लेटे ब्राह्मणके स्वाध्यायको भी तप कहा है—

'यदि ह वाभ्यक्तः, अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते।'

अत्रिस्मृति (३। ४ तथा भविष्यपुराण १। ४ १३४) में भी यही बात कही गयी है। शिवपुराणका भी कुछ ऐसा ही कथन है—

तपस्तपति योऽरण्ये वन्यमूलफलाशनः।
योऽधीते ऋचमेकां हि फलं स्यात्तत्समं मुने॥

(उमासंहिता १३। १)

महाभारत (शान्तिपर्व, ६०। १२, २३८। १३), बृहद्विष्णुस्मृति (५५। १८), बृहत्पाराशरस्मृति (४। ६०) तथा भविष्यपुराण (१। ४। २६-२७) आदिमें—

स्वाध्यायेन हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

—यह वचन मिलता है, जिसमें स्वाध्यायमात्रसे ही ब्राह्मणको सिद्धि लाभ करनेकी बात बतलायी गयी है। स्वाध्यायसे वेद-पुराणका पाठ तथा नाम-मन्त्र-जप भी गृहीत है। 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' आदि योगसूत्रके व्याख्याताओंने ऐसा ही अर्थ किया है। इनमें पुराणोंको ब्राह्मणका हृदय बतलाया है। वेद दक्षिण तथा स्मृतियाँ वाम नेत्र हैं। एक आँख न होने या अन्धा होनेकी अपेक्षा भी हृदयहीन होना जघन्य बतलाया गया है—

पुराणहीनाद्धृच्छून्यात्काणान्धौ हि तौ वरौ।

(काशीखण्ड ४)

वेदके पूरक होने, अत्यन्त प्राचीन होने, अपनेआपमें परिपूर्ण होनेसे ही ये 'पुराण' हैं। जैसे सूर्य-चन्द्रमाके बिना जगत् निरालोक होता है, वह कुछ देख नहीं सकता, वैसे ही पुराण-ज्ञानके बिना व्यक्तिको यथार्थ साधु-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती —

जगद्यथा निरालोकं जायतेऽशशिभास्करम्।
विना तथा पुराणं ह्यध्येयमस्मान्मुने सदा॥

(शिवपुराण, उमासं० १३। ३)

जब योगीको योगसाधनाद्वारा ज्ञान प्राप्त न हो तो उसे पुराणोंका आश्रय लेना चाहिये; क्योंकि पुराण परम योगियोंके हृदयका ही सार है। भक्त व्यास,

शुकदेव, वसिष्ठ, नारद आदिसे बढ़कर योगाङ्गोंका सम्यक् ज्ञाता योगी कौन होगा ? उनके ही सारभूत उपदेशामृत इन पुराणोंमें भरे हैं। इसलिये परम श्रेष्ठ पवित्र ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तथा नामात्मक, चरित्रात्मक होनेसे पुराणोंका स्वाध्याय इष्टदेवताका प्रापक एवं बड़ा ही लाभकर है।

ज्ञानावाप्तिर्यदा न स्याद् योगमार्गान्महेश्वरि।
अध्येतव्यं हि पौराणं शास्त्रं श्रोतव्यमेव च॥

(शिवपुराण)

कलियुगमें तो पुराणपरिचर्या ही वास्तविक योग-सिद्धि है। जो स्वभाव-दोषी हैं, उनकी बात जाने दीजिये; किंतु जिन्हें वस्तुतः परलोक एवं धर्मसे भय है, जिनके मनमें भगवान्में यथार्थ श्रद्धा है, उनके श्रेयके लिये पुराणश्रवणसे सुगम अन्य कोई उपाय नहीं है—

विशेषतः कलौ व्यास पुराणश्रवणादृते।
परो धर्मो न पुंसां हि मुक्तिध्यानपरः स्मृतः॥

(उमा० १३। ३१)

पद्मपुराण पातालखण्डमें पुराणको साक्षात् 'भगवद्विग्रह' कहा है। यह सर्वथा सत्य ही है। पुराणोंमें कालक्रमसे कहीं कुछ अनावश्यक पाठभेद या अवाञ्छनीय अंश वाममार्गके विद्वानोंने मिलाये हों, यह सम्भव है; अन्यथा स्वरूपतः पुराण पवित्रताकी चरम सीमा हैं। इनका ज्ञान यदि आत्मसात् हो जाय तो निश्चय ही बेड़ा पार है—पूर्णताकी प्राप्ति दूर नहीं।

पुराणोंके अनुसार इस संसारमें भगवान्के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अपूर्ण है। केवल प्रभु ही परिपूर्ण हैं। श्रुतिका भी कथन है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृहदारण्यक)

अर्थात् वह परम विभु परमात्मा सर्वथा पूर्ण है, उसका अंश-भूत प्रतिविम्ब यह विश्व भी उसके रूपमें पूर्ण है। वह सभी देशकालोंमें सर्वथा परिपूर्ण है। और उसमेंसे इस विश्वके निकल जानेपर भी उसकी परिपूर्णता उसी प्रकार अक्षुण्ण है। यहाँ आकर जो तन-मनसे उनका निरन्तर भजन करते हैं, उनमें भी उनका लक्षण प्रकट हो जाता है। अन्तमें उनमें लीन होकर उन्हींका स्वरूप पाकर जीव भी परिपूर्ण हो जाता है। इसीलिये 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' का उपदेश है। ध्रुवने भगवान्की आराधनासे शान्त स्थिर अनुपम पद पाया। सारा ज्योतिर्मण्डल उनकी परिक्रमा करता है। ब्रह्मपुराणके २४ वें तथा विष्णु-पुराणके द्वितीय अंशके ९ वें अध्यायमें ध्रुवके विषयमें लिखा है कि ज्यों-ज्यों ध्रुव अपने स्थानपर घूमता है, सारा विश्व उसी प्रकार घूमता है—सूर्यादि ग्रह भी उसी प्रकार घूमते हैं—

सैष भ्रमन् भ्रामयति चन्द्रादित्यादिकान् ग्रहान्।
भ्रमन्तमनु तं यान्ति नक्षत्राणि च चक्रवत्॥

यह उत्कृष्ट स्थिति ध्रुवको जगन्नियन्ता दुर्ज्ञेय श्री-नारायणकी आराधनासे ही मिली है—

उत्तानपादपुत्रस्तु तमाराध्य जगत्पतिम्।
स ताराशिशुमारस्य ध्रुवः पुच्छे व्यवस्थितः॥

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ।

(राम० बाल०)

गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टर्यो।

(बिनयपत्रिका १३७। २)

चन्द्रमा दो दिन ६ घंटे; सूर्य, बुध, शुक्र प्रायः एक मास, गुरु एक वर्ष और शनि ढाई वर्षमें एक राशिपर भ्रमण करते हैं। इसी परम्परासे स्थैर्यको प्राप्त करते हुए सप्तर्षिगण ढाई सौ वर्षोंमें एक राशिपर चलते हैं—

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते ह्युदितौ दिवि।
तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत्समं निशि॥
तेन सप्तर्षयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।

(विष्णुपुराण ४। २४। १०५-१०६, भागवत १२। २।

किंतु ध्रुव सर्वोच्च लोकोत्तर स्थितिको प्राप्त इन राशिनक्षत्रके गमनागमनसे मुक्त है; क्योंकि वह सबके केन्द्रमें स्थित है । वह वैष्णवलोकके द्वारपर सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त किये है । वह जिधर है, वही उत्तर है । उत्तरायण काल ही वैष्णवादि लोकोंको प्राप्त करानेवाला होता है । वैष्णवलोक ध्रुवसे भी ऊपर है । यह सब स्थिति देखते-सुनते आनन्द आता है । 'कल्याण' के ११ वें वर्षमें महात्मा श्रीबालकरामजी विनायकने ध्रुवदर्शनपूर्वक भजनका अनोखा चमत्कार लिखा था । कहा जाता है—ग्रहोंके प्रकोपसे सप्तर्षिगण और ध्रुवादि संसारकी रक्षा करते हैं । अतः इस समय जब कि अष्ट ग्रहोंका योग होने जा रहा है, ध्रुव विशेष श्रद्धेय हैं और उनके आराध्य श्रीमन्नारायण परम शरण्य हैं ।

भगवान्‌के ही सदृश भगवत्प्रेम भी परिपूर्ण है । प्राणी यदि किसी प्रकार सर्वात्मना विश्वको भुलाकर भगवान्‌का सच्चा प्रेम प्राप्त कर सके तो उसे कोई क्लेश नहीं हो सकता और सहज ही परिपूर्ण सुखकी अनुभूति हो सकती है । गीता इसे 'ब्रह्मसंस्पर्श' का 'अत्यन्त सुख' कहकर सर्वोत्तम पदार्थ बतलाती है—

'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥'

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

गुप्तकाशीसे हमारा पहला मुकाम फाटाचट्टीपर हुआ । गुप्तकाशीसे लगभग एक मील चलनेपर नाला चट्टी मिलती है । कहते हैं राजा नलने यहाँ भगवान्‌की आराधना की थी । यहाँ भगवती ललितादेवीका मन्दिर है जिसमें कुछ अन्य मूर्तियाँ हैं । पत्थरका एक स्तूप भी है जो गढ़वालका एकमात्र बौद्ध-स्तूप है । नालाके बाद सवा मील बाद मेत चट्टी आती है । यहाँ १८ प्राचीन मन्दिर हैं । मेतके बाद डेढ़ मील बाद ब्यूंग (ब्यूंगमला) चट्टी पड़ती है । यहाँ लकड़ीके सुन्दर बर्तन बनते हैं । एक प्रपात है, जिसे नियन्त्रित कर मशीनें चलायी जाती हैं । ब्यूंगमलासे कोई एक मील चढ़ाई चढ़कर दो मीलपर मैखंडा या झूला चट्टी आती है । इसे ही महेश मन्दिनी कहते हैं । यहाँ महिषासुरमर्दिनीका मन्दिर और हिंडोला है ।

मार्गमें पड़े इस स्थानपर यद्यपि हमारा मुकाम नहीं था, किंतु थोड़ी देरको हम दम लेने (हुक्का-चिलम नहीं, वरं विश्राम-हेतु) ठहरे । स्कन्दपुराणमें उल्लेख हुआ है कि भगवतीने यहींपर महिषासुरका वध किया था । निकट ही एक मन्दिर है, जिसके भीतर रुहेलोंद्वारा खण्डित की गयी कुछ मूर्तियाँ हैं । इसमें शिव और गौरीकी दो मूर्तियाँ सुन्दर हैं । मूर्ति-भञ्जकोंकी निष्ठुर चोटोंसे इनके अङ्ग भले ही भंग हो गये हों; किंतु कलाकारकी जो आत्मा उसकी कृतिमें वास करती है, उसके यहाँ इन भग्नमूर्तियोंमें भी सहज दर्शन हो जाते हैं । यहाँ दो लौहखम्भोंपर एक झूला पड़ा है जिसपर झूलनेका बड़ा माहात्म्य बताते हैं । हमारे साथी भी इस झूलेपर झूले । स्थान सुन्दर है । फाटा एक बड़ी चट्टी है । यहाँ जमदग्नि ऋषिका आश्रम है, जहाँ परशुरामजीने अपनी माता रेणुकाका सिर काटा था । यहींसे रेणुका नदी बही है । दूरसे इस आश्रमवाले गिरिशृंगके दर्शनकर हमें महर्षि जमदग्नि, रेणुका और भगवान् परशुरामसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कथाएँ याद आयीं और इन कथाओंको एक नया रूप देनेवाला याद आया श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीका 'भगवान् परशुराम' उपन्यास । फाटामें एक पूर्व-माध्यमिक हिंदी-संस्कृत विद्यालय और राष्ट्रीय वाचनालय चलाये जा रहे हैं जो यहाँकी जनताकी अच्छी सेवा कर रहे हैं । फाटा पहुँचकर हम ५२५० फुटकी ऊँचाईपर आ गये थे । इस ऊँचाईके कारण मौसममें काफी ठंडक थी और इस ठंडकके साथ ही यहाँके प्राकृतिक दृश्योंसे हमारा जी भी अब खूब जुड़ा रहा था । फाटा चट्टीके समीप ही बह रहे एक बड़े निर्झरमें हमने स्नान किये और खा-पीकर हम अगले मुकाम रामपुरके लिये चल पड़े और संध्या होते-होते रामपुरमें अपना पड़ाव डाल दिया । फाटासे रामपुरकी दूरी केवल ५ मील है । आज हम केदारनाथ-मार्गमें गुप्तकाशीके बाद प्रथम दिन ही सर्वाधिक चले । हमारी आजकी मंजिल १२ मीलकी थी ।

रामपुरमें रात्रि-मुकामकर दूसरे दिन प्रातःकाल त्रियुगीनारायणके लिये रवाना हुए। रामपुरसे त्रियुगीनारायण साढ़े चार मील हैं। डेढ़ मील केदारनाथके ही रास्तेपर चलकर फिर बायीं ओर तीन मीलका चढ़ाईवाला रास्ता नापना पड़ता है।

त्रियुगीनारायण एक प्राचीन स्थल है और इसका तीर्थकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है। भगवान् त्रियुगीनारायणका मन्दिर है। मन्दिरके निकट एक चतुष्कोण कुण्ड है, जिसे 'ब्रह्मकुण्ड' कहा जाता है। इसके पास ही एक छोटा 'रुद्रकुण्ड' है, रुद्रकुण्डके निकट गोलाकार 'विष्णुकुण्ड' है। ब्रह्मकुण्ड और रुद्रकुण्डमें लोग स्नान करते हैं। विष्णुकुण्डका जल पीते हैं। निकट ही सरस्वतीकुण्ड है, इसमें पंडे लोग यात्रियोंको तर्पण कराते हैं। चारों कुण्डोंमें झरनेका जल आता है, जो ब्रह्मकुण्डसे बाहर निकल जाता है।

हम सभीने ब्रह्मकुण्डमें स्नान किये और भगवान् त्रियुगीनारायणके मन्दिरमें दर्शनोंको गये। नारायणकी मूर्ति धातुकी बनी हुई है। मन्दिरमें कुछ अन्य लक्ष्मी, सरस्वती और अन्नपूर्णा आदिकी भी मूर्तियाँ है। मन्दिरके आगे एक और चतुष्कोण कुण्ड है, जिसमें निरन्तर अग्नि जलती रहती है। कहते हैं शिव-पार्वतीका पाणिग्रहण इसी स्थानपर हुआ था और यह कुण्ड ही वह मखवेदिका है, जिसकी साक्षीमें भगवान् शङ्करने पार्वतीका वरण किया था। अनेक यात्री इस मख-वेदिकामें लकड़ी मोल लेकर डालते हैं, गोविन्ददासने स्नानान्तर संध्यावन्दन किया और सरस्वतीकुण्डमें सपत्नीक पितृ-तर्पण भी किया। इसके उपरान्त मन्दिरमें आरती की और मख-वेदिकामें हवन कर अपनी ओरसे एक लकड़ी अर्पित की। हमें यहाँ यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि हवन करानेवाले ब्राह्मणोंने संस्कृतके मन्त्रोंका अत्यन्त शुद्ध उच्चारण कर हमसे हवन कराया। हवनके बाद उन्होंने हमें हिंदीमें जो आशीर्वाद दिया, उसे सुनकर तो हमें कुछ हँसी भी आ गयी। उन्होंने कहा—आपके पाप इस अग्निके सदृश जलेंगे और प्रताप इस अग्निके प्रकाशके सदृश बढ़ेगा। त्रियुगीनारायणका यह तीर्थ सचमुच अपनी एक विशेषता रखता है। वहाँ संक्षेपमें स्नान, संध्या, तर्पण, अग्निहोत्रादि सभी कुछ हो जाता है। त्रियुगीनारायणका मन्दिर एक विशिष्ट स्थापत्यकलाके अनुसार बना है। गुप्तकाशी, त्रियुगीनारायण, केदारनाथ और ऊखीमठ चारों स्थानोंके मन्दिर इसी स्थापत्यकलाके हैं।

त्रियुगीनारायण केदारनाथ-यात्राके मार्गमें न होते हुए भी मार्गके निकट पड़नेवाले एक प्रमुख तीर्थकी दृष्टिसे हमारा कुछ देरके लिये एक पड़ावमात्र था। आजका हमारा मुकाम यहाँसे सवा छः मील आगे गौरीकुण्डपर था। त्रियुगीनारायणसे केदारनाथ केवल सवा तेरह मील रह जाते हैं।

त्रियुगीनारायणमें एक दुर्घटना हो गयी। जब हमलोग धार्मिक कृत्योंसे निबटकर त्रियुगीनारायणसे विदा हो आगेका मार्ग पकड़ने अपने डंडी-कंडीवालों और भार-वाहकोंके निकट आये तो हमने एक अजीब दृश्य देखा। काफी लोग यहाँ एकत्रित थे, खूब गालीगलौज हो-हल्ला हो रहा था और मार-धाड़ मची थी। पहले तो हमें यकायक कुछ समझमें आया नहीं, पर ज्यों ही अपने साथियों—इन डंडीवालोंके एक-दो चेहरे हमने पहचाने, समझमें आ गया: अरे, ये तो हमारे डंडीवाले हैं। झटपट आगे बढ़े और इस युद्धके मध्यस्थ बन गये। कोई किसीकी सुनता नहीं था। बड़ी कठिनतासे जब मामला मार-पीटको छोड़ वाक्-युद्धतक आया, तब पता चला कि हमारे डंडीवालेने शरारत की, दूकानदारको गाली दे दी और जब डंडीवालेके बयान लिये तो मालूम हुआ दूकानदारने उद्दण्डता की। दोनों ही एक दूसरेपर दोषारोपण करते थे। गोविन्ददासने दूकानदारको डाँटा तो वह हाथ-पैर जोड़ने लगा। गोविन्ददासके मतसे उनके दलके मजदूर पिट गये, यह बहुत अनुचित बात हुई। किंतु, जब सारे मामलेकी तहकीकात की गयी तो मालूम हुआ कि कसूर डंडीवालेका ही था। अतः जब गोविन्ददासको इस स्थितिकी जानकारी मिली, तब उन्हें संतोष हुआ। फिर हमलोगोंने कहा—दोनों ही ओरसे उद्दण्डता हुई और इसीलिये दोनों ही पिटे। किसीने कम किसीने ज्यादा मार खायी। यदि एक समझदार होता तो कदाचित् यह स्थिति न आती। हमलोग तो बटोही थे, व्यर्थकी बातोंमें नहीं उलझनेवाले थे। अतः राह चलते गरमा-गरमीका एक दृश्य देख फिर अपनी मंजिलपर चल पड़े।

त्रियुगीनारायणसे सोनप्रयाग (सोमद्वार) ढाई मील पर है। यहाँ मन्दाकिनी और वासुकी गङ्गाका संगम होता है। सोनप्रयागमें मन्दाकिनीका नीर श्वेत और वासुकी गङ्गाका हरित दीख पड़ता है। वासुकीपर एक लोहेका लंबा पुल है। यहाँसे बारह मीलपर वासुकी तालाब है। सोनप्रयाग होते हुए हमलोग अपराह्णमें गौरीकुण्ड पहुँचे।

गौरीकुण्डकी ऊँचाई ६५०० फुट है । गौरीकुण्ड पहुँचनेके कुछ पूर्व विनायकद्वार नामक एक स्थानपर सिर कटे गणेशकी मूर्तिके दाहिनी ओर पार्वतीजी और बायीं ओर एक शिवलिङ्ग स्थापित हैं। मूर्तिके संरक्षकने मूर्तिपर कपड़ा डाल रक्खा था। वह यात्रियोंको भेंट चढ़ानेको कहता और जो लोग मूर्तिके सम्बन्धमें जिज्ञासा प्रकट करते, उन्हें वह एक लंबी कथा सुनाता। स्कन्द-पुराण (केदारखण्ड प्रथम भाग ४२ वाँ अध्याय) में इस सम्बन्धमें कथा आयी है। पार्वतीजीने स्नान करते समय गणेशजीको अपने अङ्गरागसे बनाकर द्वारपर बैठा दिया और शिवजीने उनका सिर काट डाला। बादमें महादेवजीने हाथीका सिर जोड़कर गणेशजीको जिला दिया, तभीसे ये गजानन हो गये। शिवपुराण (ज्ञान-संहिता ३२ वाँ अध्याय) में इसी तरहकी एक कथा आयी है। एक समय पार्वतीजी स्नान कर रही थीं। गणेश द्वारपर स्थित था। शिवजीने ज्यों ही अंदर जाना चाहा कि गणेशने उन्हें टोक दिया। इससे कुपित हो शिवजीने गणेशका सिर काट डाला और भीतर चले गये। पार्वतीजीको जब यह बात ज्ञात हुई तो क्रुद्ध हो उन्होंने अपने प्रतापसे सहस्रों नन्दी उत्पन्न कर दिये और शङ्करजीसे युद्ध करनेको कहा। पार्वतीके कोपसे प्रभूत ये शक्तियाँ कुपित हो देवताओंको पकड़-पकड़कर अपने मुखमें डालने लगीं। भयभीत हो ब्रह्मादिसमेत सभी देवता पार्वतीकी अभय-हेतु स्तुति करने लगे। पार्वतीने कहा 'मेरा पुत्र जीवित हो जाय और वह सर्वमान्य हो, सभी देवोंद्वारा पूजा जाने लगे तभी मेरी ये शक्तियाँ शान्त होंगी।' सभी देवता तत्क्षण उस शरीरका विधिवत् पूजन कर चल पड़े। आगे मार्गमें उन्हें एकदाँतवाला हाथी मिला, देवताओंने उसका सिर काटकर बालकके शरीरसे जोड़ दिया, जिससे गणेशजी जीवित हो गये और उनकी पूजा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव तीनोंने की।

कुछ लोगोंका यह भी मत है कि दो सौ वर्ष पहले रुहेलोंने जब इस क्षेत्रमें लूट-मार की तो उन्हींके द्वारा ये मूर्तियाँ खण्डित की गयीं।

गौरीकुण्डमें हमारे ठहरनेकी व्यवस्था जिस स्थानपर हुई, उसके निकट ही दो चौकोर कुण्ड थे। एक गरम जलका, दूसरा ठंडे जलका। निकट ही मन्दाकिनी बह रही थीं। गंधकके पहाड़से एक झरना आता है जिसका कुछ पानी इस प्रथम कुण्डमें गिरता है, कुछ मन्दाकिनीमें। झरनेका जल इतना गरम है कि कुण्डमें इसके पहुँचनेपर भी लोग कुण्डके भीतर ठहर नहीं सकते। इस तप्तकुण्डके आगे जो खारे जलका कुण्ड है, उसका नाम गौरीकुण्ड है। यात्री सर्वप्रथम इसीमें स्नान करते हैं। कुण्डसे दक्षिणकी ओर उमा-महेश्वर नामक शिला है। इसीके समीप एक छोटे मन्दिरमें गौरी-महादेव, राधा-कृष्ण, ज्वाला-भवानीकी धातु तथा पत्थरकी मूर्तियाँ हैं। मन्दिरके पीछे मीठे जलका अमृतकुण्ड है। ऊँचाई काफी बढ़ जानेके कारण यहाँ काफी ठंड थी। यद्यपि हमलोग त्रियुगीनारायणमें ही स्नानादिसे निवृत्त होकर आये थे; किंतु भोजनादि तो आज गौरीकुण्डपर ही होना था। और भोजनोंके पूर्व दोबारा स्नान करनेके आदी कुछ लोग हमारे दलमें मौजूद थे। इस तरहके लोगोंमें गोविन्ददासकी पत्नी श्रीमती गोदावरी देवी और गोविन्ददासकी भावज नारायणीदेवी दोनों महिलाएँ प्रधान थीं, जो प्रायः भोजनोंके पूर्व दोबारा स्नान करती ही थीं। जब दोपहरमें हमारा कहीं पड़ाव पड़ता और स्नानादि होकर वहीं भोजन बनता तो उनका दुबारा नहाना नहीं होता, चूँकि हम लोगोंके भोजन इस यात्रामें एक ही बार होते थे; किंतु जहाँ कहीं दोपहरको भोजनोंकी व्यवस्था न होकर संध्याको ही ठिकाने लगते, जैसा कि इस यात्रामें अनेक बार हुआ है, वहाँ इन दोनों महिलाओंके दुबारा स्नानकी व्यवस्था हमें करनी पड़ती। जहाँ मौसम अनुकूल नहीं होता, वहाँ पानी गरम करवाना पड़ता। यदि यह न हो तो वे ठंडे पानीसे ही नहानेको उद्यत हो जातीं। किंतु उनके इन स्नानोंमें कभी कोई अपवादकी गुंजाइश नहीं रहती। कंडी-डंडीवाले स्वभावसे गंदे रहते हैं। ये लोग शौच जाकर हाथ भी नहीं धोते। इन लोगोंकी अपवित्रताके कारण ही इस पवित्र यात्रापर पवित्रतम रहनेकी दृष्टिसे ही उक्त दोनों महिलाएँ आवश्यकता पड़नेपर दो वक्त भी नहाती थीं। आज गौरीकुण्डमें सर्दी कुछ विशेष थी; किंतु सौभाग्यसे तप्तकुण्ड भी था। अतः उन्हें नहानेमें असुविधा नहीं हुई। हमलोगोंने भी मुँह-हाथ धोये। गोविन्ददासने मन्दाकिनीमें आचमनकर संध्या की और भोजनादि कर आरामसे रात्रि-मुकाम किया। गौरीकुण्ड भी कुछ बड़ी चट्टी है। घनी आबादी है। जिसमें कुछ अच्छी दूकानें हैं। कपड़ा आदि भी मिल जाता है।

दूसरे दिन तड़के उठकर शीतल वायुके झोंकोंमें हमने झटपट इन कुण्डोंमें स्नान किये। स्नान-पूजनसे निवृत्त हो अपनी-अपनी लाठी सँभाली और 'जय केदारनाथ' बोल चल पड़े। आजकी हमारी केदारनाथकी यह यात्रा एक ऐतिहासिक

यात्रा थी। गौरीकुण्डसे केदारनाथ केवल सात मील रह जाते हैं किंतु इस सात मीलकी यात्रामें हमें आज काफी ऊँचे जाना था। गौरीकुण्डसे लगभग पाँच-साढ़े पाँच हजार फुट सीधे ऊपर। मार्ग अनदेखा, चढ़ाई कल्पनाके परे और धाम हमारे मुद्दतके अरमानों और सुनहले स्वप्नोंका वह चित्र था जिसे खोजने हम आज निकल पड़े थे। यह सब हमारे लिये अभीतक स्वप्नमय था; किंतु, अपना स्वप्न साकार होनेकी सम्भावना ही नहीं, निश्चिन्ततासे हमारा मन आज आह्लादित था और एक दुर्ज्ञेय लक्ष्यकी ओर अपूर्व साहस और दृढ़ आत्मबलसे युक्त हमारी दुर्बल काया एक अव्यक्त सुख और अदृष्ट ओजसे व्याप्त अपने मनोरथोंके धाम केदारनाथकी ओर जा रही थी। हमारा मन ध्रुव-ध्यान-सा अटल और हृदय तपोनिष्ठ तपस्वियोंकी पवित्रतासे परिपूर्ण था।

केदारनाथकी अपनी अबतककी यात्रामें हमने मार्गमें अगणित दृश्य देखे थे। हिमालयके प्राकृतिक सौन्दर्यसे हमारे नेत्र और मन्दाकिनीके मन्द-मन्द रवसे कान सदा भरे रहे। गुप्तकाशीसे ही हमें दूरपर हिमाच्छादित वह शिखरावली दिखने लगी थी, जिसके नीचे केदारनाथ स्थित हैं। जैसे-जैसे हम चढ़ते जाते थे यह हिमाच्छादित शिखरावली अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती थी। मार्गमें अनन्त वनस्पतिजगत्से परिपूर्ण हरित परिधानसे परिवेष्टित हिमालय और जहाँ-तहाँ अगणित जलप्रपातोंका ऐसा सुन्दर सृजन हुआ था कि जान पड़ता प्रकृतिने अपनी सारी सुषमा-सम्पदा यहाँ बिखेर दी हो। इस समय हमलोग केदारनाथकी भीषण चढ़ाई चढ़ रहे थे। अपनी अभीतककी यात्राकी सर्वापेक्षा लंबी और सर्वापेक्षा ऊँची। मार्गकी दृष्टिसे हमें यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरीकी कठिनाइयोंका यहाँ सामना नहीं पड़ रहा था। एक तो रास्ता साफ था दूसरे मोड़दार। फिर भी चढ़ाई तो दम तोड़नेवाली ही थी। पग-पगपर दम फूलता। जब हम केदारनाथसे करीब दो मील दूर रह गये तब हमने पर्वतराजकी कायामें एक महान् परिवर्तन देखा। हम यह देखकर आश्चर्यचकित थे। देखा, चारों ओरकी हरित शिखरावलीके तरु एकदम लुप्त हो गये हैं। ये गिरिशृंग वृक्षावलीसे सर्वथा रहित हैं। परंतु, इनपर अगणित पुष्पोंके पौधे उगे हुए हैं। इन पुष्पोंके आकार-प्रकार, जाति और वर्णका दृश्य देखकर तो हम हैरान हो गये। जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे पौधोंकी शाखाओंपर फिर यत्र-तत्र छोटे-छोटे इतने छोटे कि पुष्पोंके आधारमात्र कोमल डंठलोंपर असंख्य कुसुम-कलियाँ और विकसित कुसुम पुष्पित थे। फिर इतने सघन कि अधिक दूरसे नहीं अपितु अत्यधिक संनिकटसे भी ऐसा जान पड़ता जैसे प्रकृतिने परम प्रसन्न हो पर्वतराजकी पीठपर यह पुष्प-सौरभ बिखेर दिया हो, उनकी कायाको सौन्दर्य और शृंगारके श्रेष्ठ प्रतीक सुवासित पुष्पोंके प्रचुर परिमाणसे पाट दिया हो। फिर इन विविध पुष्पसमूहोंका आकार-प्रकार, इनकी सुगंध और सौरभ पुष्पवाटिकामें मँडरानेवाले भ्रमरोंको भुल-भ्रमा और भटका देनेवाला ही नहीं, मन-भ्रमरको ललचा, लुभा और थका देनेवाला होता। हमारा मन-भ्रमर एक कलीपर ठहरता, दूसरी पंखड़ीपर बैठता और तीसरे पुष्पका मकरन्द पान करता न अघाता, फिर अस्थिर-गति-मति और अतृप्तिके भावसे मँडराने लगता। कितने रंगों और रूपोंके थे ये कुसुम। शायद ही कोई ऐसा रंग हो जिसके दर्शन इन सुमनोंमें न हों। लाल रंगके जितने भी प्रकार होते हैं—गहरा लाल, गुलनार, हल्का लाल, गुलाबी; पीले रंगके भी जितने किस्म होते हैं—केशरी, गहरा पीला, हल्का पीला, चंदनी; नीले रंगके भी जितने प्रकार होते हैं—बैगनी, ऊदा, आसमानी इत्यादि-इत्यादि सभी प्रकारके रंग थे। फिर एकमें दूसरे रंगोंका समावेश होकर सूक्ष्म रूप और बड़े स्वरूपवाले चित्र-विचित्र रंगोंकी जैसी सुन्दर सृष्टि हुई थी इन सुमनोंमें वैसी आजतक तो अनदेखी थी ही, कल्पनाके परेकी 'वस्तु भी थी। जान पड़ता प्रकृतिप्रदत्त इस पुष्परूप-राशिका ही मानवने अपने भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंकी विभिन्न डिजाइनों और आभूषणोंमें अनुकरण किया है। इन पुष्पोंमें कुछ भीनी-भीनी-सी एक प्रकारकी मादक महक भी आती और हवाके शीतल झोंकोंमें यह मादक महक यात्रियोंको एक हल्की-सी सुराकी मादकताका अनुभव कराती, जिसके अनुपानमें केवल करनेसे आदमी एक प्रकारकी एकाग्रताका अनुभव करने लगता है। इसीलिये शायद इस पार्वत्यस्थलका नाम हमारे ऋषि-महर्षियोंने गन्धमादन रक्खा है। गुलाबी और श्वेत गुलाबोंकी तो यहाँ झाड़ियाँ हैं। हमें मालूम हुआ कि दो महीनेके बाद तो इन स्थलोंपर इतने अधिक फूल खिलेंगे कि ये स्थल पुष्पकालीन बन जायेंगे। अनन्तरूपा, अनन्त-रत्ना, पावन प्रकृतिकी यह छबि, उसका यह सौरभ-सुषमा और सम्पदाका वह दृश्य आज हमारे लिये सर्वथा अकल्पित, अद्भुत और अलौकिक था। हमारे मनमें विचारोंकी तरंगें उठने लगीं। भगवान् विश्वम्भरके धामको हम जा रहे थे। काफी निकट भी अब पहुँच चुके थे। हमें इस समय भगवान् शिवके रूप, उनके निवास-स्थान और उनकी अखण्ड समाधि-सम्बन्धी

अनेक कथाएँ-गाथाएँ स्मरण हो आयीं । इन कथाओंके स्मरण आते ही हमें लगा मानो हम शिवलोकमें विचरण कर रहे हैं । हिमाचलके इस परिवर्तित रूपको देख हमें जान पड़ा मानो हिमवान्‌ने जगत्पति विश्वम्भरको अपनी आत्मजा उमाके अर्पण-के साथ ही उनकी पूजा-अर्चना और आराधनामें अपना सहज स्वाभाविक रूप और भाव तज भगवान् शङ्करके ही सदृश यह दिगम्बरी रूप धारण किया है तथा अनन्त वनस्पतियों और रत्नोंके आगार होते हुए भी भगवान् शिव-को उनकी रुचिके अनुरूप भेंट देने—आत्मार्पणकी भावनासे प्रेरित हो वे स्वयं अपने विराट्‌रूपसे पुष्पमय वन गये हैं, ऐसा जान पड़ा । फिर समीप ही दिखनेवाला जो यहाँसे काफी दूर था, केदारनाथका वह हिमानी शिखर जो अपनी शुभ्र ज्योत्स्नासे जगमगा रहा था, ऐसा जान पड़ता मानो मुकुट-मणि हिमाचलने अपनी पुत्री उमाको हीरोंके ढेरोंके ढेरोंसे भी अधिक जाज्वल्यमान कंगूरोंवाला अत्यन्त विशाल एक ऐसा किरीट भेंट किया है जिसकी कीमत न कुबेर आँक सके और न सृष्टिमें जिसकी कहीं तुलना हो । हमारे प्रदेशके कविवर पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदीके एक कविता-संग्रहका नाम हिम-किरीटनी है । कविने 'हिमकिरीटनी' भारत-माताको कहा है । बालकोंके मनोरथोंकी जननी उनकी माताएँ होती हैं । आगे जब अधिकारका क्षेत्र बढ़ता है तो वह स्थान भारत-माताके रूपमें परिवर्तित हो जाता है । माताका पद सनातन धर्ममें बेजोड़ है । हमारे धर्ममें मातृ-ऋण-मुक्तिके प्रयत्न बताये गये हैं, किंतु मावजा नहीं आँका गया । जन्म-जन्मान्तरमें मातृ-ऋण-मुक्ति सम्भव नहीं और इसीलिये माताका पद-पूजाका पद है । भारतमाताके मनोरथोंकी झाँकी हिमालयमें मिलती है, हिमालयसे ही वह बनती है, हिमालयसे ही वह पूरी होती है । अतः इस दृष्टिसे मुकुटमणि हिमवान्‌का यह मुकुट जो उन्होंने जगज्जननी हिंदूमात्रकी आराध्या सनातनधर्मकी पूज्या और हमारे इष्ट मनोरथोंकी सिद्धिदायिनी उमाको भेंट किया है, वह अब हमारी माताका मुकुट है, किरीट है भारतमाताका या हमारी आराध्या भगवान् विश्वम्भरकी भार्या उमा-माताका । हर दृष्टिसे वह हमारी पूजाकी सामग्री है । हमारी आराधनाका मन्त्र है । यह सब याद आते ही 'हिमकिरीटनी' के नामकरण-में कविवर पं० चतुर्वेदीकी सूझ-बूझको हमने हृदयसे सराहा ।

(क्रमशः)

आठवाँ आश्चर्य

विषय-सुखमें प्रवृत्त होनेपर उसमें रत रहते हुए जब खुमार चढ़ा हुआ होता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे संसारका सब कुछ पा लिया ।

किंतु विषय-सुखसे निवृत्त होनेपर—हो चुकनेपर जब खुमार उतर जाता है तो पता चलता है कि जो कुछ प्राप्त किया था, वह सब और उसके साथ ही पासका भी बहुत कुछ गँवा बैठे हैं !

यह अनुभव—यह बोध बार-बार होता है—होता ही रहता है जीवनपर्यन्त ।

फिर भी मानव—योनिश्रेष्ठ, बुद्धि-गर्विष्ठ मानव जीवनभर जीवनमें जीवनके साथ विषय-सुखका घाटेका सौदा अथवा गंदा खिलवाड़ किया करता है । वह सौदा जो उसे टोटा ही टोटा पहुँचाते हुए सत्त्वहीन बनाकर रख देता है; वह खिलवाड़ जो खेल-खेलमें उसे—उसके रोम-रोमको खोखला कर छोड़ता है ।

और मज़ा यह है कि इतनेपर भी—रह-रहकर खुलने—खोली जानेपर भी उसकी—उस विवेक—धनीकी आँखें नहीं खुलतीं ।

विश्वके सातों आश्चर्योंको फीका करता—पानी पिलाता—आश्चर्यमें डालता विश्वका आठवाँ आश्चर्य यही है ।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

कैलास-मानसरोवरमें सिद्ध योगी महात्मा

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

[हमारे जिन श्रीकैलास-मानसरोवर आदिको आज चीन हड़प जाना चाहता है और हमलोग जिसके लिये चिन्तातुर हो रहे हैं, वहाँ आज भी कैसे-कैसे महान् सिद्ध, त्रिकालदर्शी योगी महात्मा रहते हैं, इसके सम्बन्धमें कुछ आँखोंदेखी आश्चर्यजनक सच्ची बातें सुनिये । कुछ समयपूर्व भारतके प्रसिद्ध आर्यनेता आर्यसंन्यासी महात्मा श्रीआनन्दस्वामीजी महाराज (गृहस्थरूपमें महाशय खुशालचंद सम्पादक 'मिलाप') पिलखुवा पधारे थे । उन्होंने अपनी कैलास-मानसरोवर-यात्राके सम्बन्धमें बड़े महत्त्वपूर्ण भाषण दिये थे । उन्हींमेंसे कुछ प्रसंग यहाँ लिखे जाते हैं । इन्हें ध्यानसे पढ़िये । [illegible] लिखनेमें भूल रह गयी हो तो श्रीमहात्माजी मुझे कृपया क्षमा करें ।]

महात्मा श्रीआनन्दस्वामीजी महाराजने कहा—

अद्भुत आनन्द

मैं कैलास-मानसरोवरकी यात्रा कर आया हूँ । श्रीकैलास-मानसरोवर जाना एक प्रकारसे मृत्युके साथ खिलवाड़ करना है । वहाँ ऐसी बरफ पड़ती है कि शरीर ठंडसे जम गया-सा प्रतीत होने लगता है । मैं जब मानसरोवर और गौरी-कुंड पहुँचा, तब मेरे साथियोंने वहाँ स्नान नहीं किया । बहुत अधिक शीत होनेके कारण उनकी हिम्मत ही नहीं हुई, पर मैं नहीं माना । मुझे सबने कहा कि 'स्वामीजी महाराज, ठंड बहुत है, बरफ पड़ रही है, आप भी स्नान मत करो । कहीं ठंडमें स्नान करनेसे निमोनिया हो जायगा तो आप मर जायँगे ।' इसपर मैंने उनसे कहा कि 'जब मेरी पार्वती माताने, मेरी गौरी माताने इसमें स्नान किया है तो भला मैं इसमें स्नान क्यों नहीं करूँगा ? मैं यहाँ मरूँगा तो पवित्र स्थानपर ही मरूँगा, इससे बढ़कर मेरा क्या परम सौभाग्य होगा।' मैंने अपने हाथोंसे बरफ हटाकर जब अपने कमण्डलुसे बरफ तोड़कर जल भरकर अपने एक हाथकी ओर डाला तो ऐसा लगा कि मानो हाथ ही नहीं रहा । जब दूसरी ओर जल डालकर स्नान किया तो वहाँ भी ऐसा ही प्रतीत हुआ । जब अपने सिरपर डाला तो सारा शरीर ही जैसे न रहा हो, ऐसा प्रतीत हुआ । तदनन्तर मैं कम्बल ओढ़कर वहाँ ध्यान करने बैठ गया । मुझे वहाँ बैठे ६-७ घंटे हो गये । ऐसा अद्भुत आनन्द आया कि मुझे भान ही नहीं रहा कि मैं यहाँ कबसे बैठा हूँ । मेरा मन एकदम एकाग्र-शान्त हो गया । जो महान् सुख, जो अद्भुत आनन्द मैंने आज पाया, वैसा मैंने जीवनभरमें कभी नहीं पाया । तीर्थयात्रा करनेसे क्या लाभ है, तीर्थयात्रा क्यों की जाती है और तीर्थस्थानका क्या प्रभाव है, इसका मुझे अपने जीवनमें आज पहली बार अनुभव हुआ । गाइडने आकर जब मुझे अपने हाथोंसे झकझोरा, तब मुझे होश हुआ । मैंने उस अपने गाइडसे कहा कि 'तुमने मुझे व्यर्थ ही क्यों छेड़ा ? मैं तो अद्भुत दिव्य आनन्दमें डूब रहा था । तुमने मुझे छेड़कर [illegible] आनन्दमें विघ्न डाला यह ठीक नहीं किया ।' गाइडने कहा 'महाराज ! आपको यहाँ बैठे ६-७ घंटेसे भी अधिक हो गये हैं । अब दिन छिपनेवाला है, बरफ भी पड़नी प्रारम्भ हो गयी है, अब आप यदि और अधिक बैठे तो बरफमें जम जाओगे और मारे जाओगे ।' मैंने कहा कि 'मुझे भले ही मर जाने दो; पर मुझे ऐसा सुख फिर कहाँ मिलेगा ?' उसने कहा 'महाराज ! यहाँ मत मरो, मेरी जिम्मेदारी है, इसलिये अब आप उठो ।' मैं उठा । मैंने सारे पहाड़की ओर दृष्टि डाली तो चारों ओर बरफ [illegible] बरफ जमी थी और वह साक्षात् शंकर भगवान्‌का मन्दिर-[illegible] प्रतीत हो रहा था ।

मैंने वहाँ एक बड़ा ही अद्भुत दिव्य स्थान देखा । [illegible] पहाड़पर बरफ जमी होनेपर भी बीचमें वह ऐसा स्थान था जहाँ बिल्कुल ही बरफ नहीं थी । कहते हैं कि यह [illegible] दिव्य स्थान है, जहाँ श्रीशिवजी महाराजने बैठकर श्रीपार्वती महारानीको अमर कथा सुनायी थी । मैंने अपने गाइडसे कहा कि 'तुम मुझे वहाँपर ले चलो, जहाँ श्रीशंकरजी महाराजने माता श्रीपार्वतीजीको अमरकथा सुनायी है ।' उसने कहा—'महाराज ! वहाँ कोई नहीं जाता है । उधर बहुत ज्यादा बरफ है और जानेका कोई रास्ता भी नहीं है ।' वह मुझे बहुत [illegible] करता रहा, पर मैं नहीं माना । मैंने उससे कहा कि [illegible] वहाँ अवश्य ही जाऊँगा ।' मैं वहाँ गया, पर बड़े ही [illegible] गया । कहींपर बरफसे फिसलकर गिरा, कहीं पैर फिसल [illegible] कहीं चोट लगी । अन्तमें जैसे-तैसे मैं वहाँ पहुँच ही गया [illegible] मैं उस दिव्य अद्भुत स्थानपर बैठकर आया कि जहाँ [illegible] भगवान् श्रीपार्वतीजीको कथा सुनाया करते थे । वहाँ [illegible] ही मेरा मन एकदम शान्त हो गया और मुझे एक [illegible] समाधि-सी लगने लगी ।

वहाँसे उतरनेपर मैंने देखा कि एक मद्रासी साधु बेहोशीकी हालतमें एक किनारेपर मुर्दा-जैसा पड़ा हुआ था। कहते हैं कि मना करनेपर भी उसने कुंडमें स्नानके लिये छलाँग लगा दी थी, इसीसे वह ठंडके मारे बेहोश हो गया था और अब उसके बचनेकी कोई आशा नहीं थी। मैंने गाइडसे कहा और उस साधुको एक झब्बूपर लदवाया। फिर उसे रस्सीसे बाँधकर बेहोशीकी हालतमें ही नीचे लाया गया। तदनन्तर उसे अग्निसे तपाया गया, तब उसे कुछ होश हुआ। वहाँ जलानेकी लकड़ी बिल्कुल नहीं मिलती। वृक्षोंका भला वहाँ क्या काम? बकरियोंकी मैंगनी ही वहाँपर जलायी जाती हैं।

योगी प्रणवानन्दजी महाराजके दर्शन

योगी स्वामीजी श्रीप्रणवानन्दजी महाराज मानसरोवरमें लगभग बीस वर्षसे रहते हैं। मैंने जब उनकी कुटियामें जाकर देखा कि मुझे वे मेरे पहिले देखे हुए पूर्वपरिचित-से प्रतीत हुए। याद आते ही मैंने कहा 'सोमयाजी! सोमयाजी!' वे भी मेरी ओर देखने लगे। वे बीस वर्षपूर्व जब लाहौरमें रहते थे, तब कुछ दिनोंतक मेरे पास रहे थे। उस समय वे राजनीतिमें भाग लिया करते थे। मैंने उन्हें जब इस बातका स्मरण दिलाया तो उन्हें भी याद आ गया और उन्होंने मुझसे कहा कि मैं बीस वर्ष पहिले राजनीतिमें भाग लेता और राजनैतिक नेताओंके साथ मिलकर काम किया करता था। पर जब मैंने देखा कि राजनीतिमें भाग लेनेवाले प्रायः सभी चरित्रभ्रष्ट हैं तब मेरे मनमें बड़ी ग्लानि हुई और मैं एकदम वहाँसे हटकर यहाँ चला आया। तबसे योगाभ्यास करता हुआ मैं यहींपर रहता हूँ। मैंने जब उनसे पूछा कि 'आपने योगमें क्या सीखा है?' तब उन्होंने मुझे कुछ क्रियाएँ दिखायीं। प्राणायामद्वारा लंबे-लंबे श्वास खींचे और पेट, छाती, टाँग, बाँह, सिर सभीको फुटबालकी तरह फुला लिया, फिर एकदम बैठे-बैठे उनका आसन पृथ्वीसे ऊपर उठ गया और ऊपर छततक लग गया। फिर नीचे आ गया। उनके योगका यह आश्चर्यजनक चमत्कार मैंने अपनी आँखों देखा। उन्होंने और भी बहुत-सी योगकी बातें बतायीं जो सर्वसाधारणके सामने नहीं बतायी जा सकतीं।

देखते-देखते अदृश्य हो जानेवाले सिद्ध योगीके दर्शन

यात्रासे लौटते समय मुझे एक बार दूसरे महान् सिद्ध योगी मिले। मुझे उनके दर्शनका ही परम सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ वरं उनसे मेरी खूब बातें भी हुईं। संध्याका समय था। उस दिन बरफ भी खूब पड़ रही थी। मेरे सब साथी अपने-अपने तंबुओंमें बैठे थे। मैं तंबूसे बाहर निकला। मैं खड़ा होकर कहने लगा कि 'हम यह सुना करते थे कि कैलासमें देवी-देवताओंका निवास है और वहाँ बड़े-बड़े सिद्ध योगी रहते हैं, पर यहाँपर हमें तो कोई भी सिद्ध योगी नहीं मिला, फिर हम कैसे मानें कि यहाँ कोई सिद्ध योगी रहते हैं।' मेरा इतना कहना ही था कि वहाँ मेरे सामने अचानक एक योगी प्रकट होकर खड़े हो गये। मैंने उनकी ओर आश्चर्यके साथ देखा। उन सिद्ध योगीके सारे शरीरपर भस्म लगी हुई थी। ये बड़े ही भव्य और सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। मैंने तुरंत उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने मुझे अपने हृदयसे लगा लिया। फिर उन्होंने मुझसे कहा कि 'तुम जो यह कहते थे कि श्रीकैलास-मानसरोवरकी यात्रामें कोई सिद्ध योगी नहीं मिला, सो योगी मिलें कहाँसे? योगीकी कोई खोज भी तो नहीं करता? जो खोज करता है उसे अवश्य मिलते हैं।' इतनेमें ही मैंने क्या देखा कि वे परम-सिद्ध योगी मेरे देखते-देखते तुरंत अदृश्य हो गये। मैंने इधर-उधर देखा तो कहींपर भी दृष्टि नहीं पड़े। मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हुआ कि ऐसे पहाड़ोंपर जहाँ बरफ-ही-बरफ पड़ रही है, वृक्षका नाम-निशान भी नहीं है और कोई मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी भी नहीं रहता, ये योगी यहाँ कैसे रहते हैं? और मेरे मनकी बात इन्हें कैसे मालूम हो गयी? फिर एकदम अदृश्य कैसे हो गये? मुझे लगा कि कहीं मैंने यह स्वप्न तो नहीं देखा है या मुझे कोई भ्रम तो नहीं हो गया है? मैंने अंदर अपने तंबूमें आकर टार्च जलाकर गौरसे देखा तो रोशनीमें मुझे सचमुच अपने कपड़ोंपर योगीके शरीरकी भस्म लगी दिखायी दी, तब तो मुझे पूरा निश्चय हो गया कि यह स्वप्न या भ्रम नहीं था, वरं बिल्कुल सत्य घटना थी और वास्तवमें ही मुझे महान् सिद्ध योगीके दर्शन करनेका परम सौभाग्य प्राप्त हो गया है और सचमुच यहाँ बड़े-बड़े सिद्ध योगी निवास करते हैं।

दूसरे दिन सिद्ध योगीसे भेंट

दूसरे दिन प्रातःकाल मैंने अपने गाइडसे, जिसका नाम 'शीशखम्भाजी' था, कहा, 'शीशखम्भाजी! बताइये, यहाँपर कोई योगी महात्मा रहते हैं?' शीशखम्भाजीने कहा कि 'महाराज! एक योगी रहते तो हैं।' मैंने उनसे कहा कि 'तुम मुझे

उन योगीके दर्शन कराओ।' शीशखम्भाजीने कहा 'महाराज! उनके पास जो जाता है वे उसे खा जाते हैं।' मैंने कहा, 'तुम इस बातकी परवा मत करो कि वे योगी मुझे खा जायँगे। तुम मुझे उनके दर्शन अवश्य करा दो।' उन्होंने कहा, 'महाराज! मेरी हिम्मत नहीं है कि मैं वहाँ जाऊँ, वह मुझे जाते ही खा जायगा।' मैंने कहा, 'अच्छा, तुम्हारी जानेकी हिम्मत नहीं है तो तुम न जाओ, पर तुम मुझे वहाँका रास्ता बता दो। मैं स्वयं वहाँ चला जाऊँगा।' वे मुझे बहुत मना करते रहे, अन्तमें मेरे बार-बार आग्रह करनेपर मेरे साथ चले और कुछ दूरसे ही रास्ता बतानेको तैयार हो गये। उन्होंने मुझसे चलती बार कहा कि 'महाराज! आपको कहीं वह योगी खा गया तो हम जिम्मेदार नहीं हैं; अब आप जानो!' मैंने कहा कि 'तुम इस बातकी तनिक भी चिन्ता मत करो, मुझे उनके स्थानकी पहचान बता दो।' उन्होंने दूरसे अपने हाथका निशाना करके बताया कि 'सीधे कुछ दूरीपर चलनेपर नीचेकी ओर इस प्रकारका एक पत्थर आयेगा। उसके पास एक और पत्थर है, उसे हटा देना। उसी गुफाके अंदर योगी रहता है।' वे यों बताकर पीछे हट गये और अपने स्थानपर लौट गये। मैं धीरे-धीरे चलकर वहाँ पहुँचा। वहाँ जाकर मैंने वह पत्थर हटाया और गुफामें देखा तो वे गत रात्रिको दर्शन देनेवाले महान् सिद्ध योगी महात्मा ही सारे शरीरपर भस्म लगाये विराजमान हैं। उन्होंने मुझे देखा और बड़े प्रेमसे मुझे अपने पास बुला लिया। अब तो मेरी उनसे खूब खुलकर बातें हुईं। मैंने उनसे पूछा 'महाराज! क्या यह बात सत्य है कि आपसे जो मिलने आता है, उसे आप मारकर खा जाते हैं।' उत्तरमें उन्होंने हँसते हुए कहा, 'क्या मैं कोई राक्षस हूँ कि जो मनुष्यको खा जाता हूँ। कोई मनुष्य मेरे पासतक न आये इसीलिये यह डर दिखाया हुआ है और कोई बात नहीं है। मैं किसीको खाता नहीं हूँ।'

उन सिद्ध योगी संतसे मेरी बातें होती रहीं। उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातें भी बतायीं, जिनको किसी दूसरे मनुष्यको बतानेसे मुझे मना कर दिया। इधर मैं उनसे बात कर रहा था और बहुत देर होनेके कारण उधर हमारे साथियोंमें मेरे न लौटनेसे बड़ी चिन्ता हो रही थी। वे सोच रहे थे कहीं योगीने उन्हें मारकर खा न लिया हो! वे दूरसे मेरा नाम ले-लेकर आवाज दे रहे थे पर उनकी इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो मेरे पासमें आ सकें। मुझे इस बातका कुछ भी पता नहीं था। उन सिद्ध योगीको वहीं बैठे-बैठे सब पता लग गया और उन्होंने कहा कि 'अच्छा, अब तुम जाओ; तुम्हारे साथी बहुत घबरा रहे हैं। वे बड़े व्याकुल हो रहे हैं। उन्हें चिन्ता हो गयी है कि कहीं योगीने तुम्हें मारकर खा न डाला हो?' मैंने कहा 'महाराज! आपको यह कैसे मालूम हो गया कि वे बड़े चिन्तित हो रहे हैं? आप तो यहाँ बैठे हैं?' उन्होंने कहा 'रात्रिको जब तुमने यह कहा था कि हमें कैलास-मानसरोवरकी यात्रामें कोई योगी नहीं मिले, तब बताओ मुझे कैसे मालूम हो गया था और मैंने उसी समय प्रकट होकर कैसे तुम्हें दर्शन दिये थे? मुझे भूत, भविष्य, वर्तमान सबका ज्ञान है। अमेरिका, इंग्लैंड, रूस, जर्मनी, हिंदुस्थान आदि-आदि देशोंमें कहाँ कब क्या हो रहा है इसका भी मुझे सब पता है।'

मैं उन त्रिकालज्ञ सिद्ध योगीको नमस्कार करके अपने स्थानपर लौट आया। आकर देखा तो मेरे साथी वास्तवमें बहुत घबराये हुए थे और बहुत ही चिन्तित थे। मुझे योगी-के पाससे जिंदा वापिस लौटा देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। मैंने उन महान् सिद्ध योगीसे भेंट करके अपने जन्म-को सफल माना। इससे मुझे जो प्रसन्नता हुई वह वर्णनातीत है।

जीवात्माका दर्शन करानेवाले लामा योगी

मैंने वहाँ कई बौद्ध तामसिक सिद्धिवाले साधु भी देखे कि जो कच्चा मांसतक खा जाते हैं। वे तामसिक होते हैं और उन्हें तामसिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मुझे वहाँ ऐसे बौद्ध लामा योगी-भी मिले कि जो मांस बिल्कुल नहीं खाते और बड़े सिद्ध योगी हैं। मैं एक बहुत बड़े बौद्ध लामा योगीके पास उनके दर्शनार्थ गया। न तो वे बौद्ध लामा योगी हमारी भाषा जानते और न हम उनकी भाषा जानते थे, इसलिये एक दुभाषियाको बुलाया गया। उसके माध्यमसे उनकी मेरी खूब बातें हुईं। मैंने जब उनसे योगके सम्बन्धमें गुप्त बातें पूछीं तो उन योगीने कहा कि 'यह दुभाषिया अनधिकारी है इसके सामने ये बातें नहीं बतायी जा सकतीं। इसलिये इस दुभाषियेको यहाँसे हटा दो।' मैंने वहाँसे उसे हटा दिया। पर बात हो भाषा-ज्ञानके अभावमें हो नहीं पायी अतः फिर दुभाषियेको बुलाकर मैंने कहा कि इनसे कहो कि ये मुझसे यौगिक भाषामें बातें करें, जिससे हम एक दूसरेकी बातें भलीभाँति समझ सकें।' उन्होंने यौगिक भाषामें बातें करना स्वीकार कर लिया।

फिर उनकी हमारी यौगिक भाषामें खूब बातें होती रहीं। उन्होंने प्राणायामद्वारा अपने शरीर, छाती आदिको फुलाया और हृदय-स्थानके पास एक चमकती झिलमिलाती मणिके रूपमें अँगूठेके बराबर जीवात्माका मुझे साक्षात् दर्शन कराया। इससे मुझे बड़ा ही वर्णनातीत आनन्द प्राप्त हुआ।

मुझे वहाँ और भी बड़े-बड़े सिद्ध योगी मिले; पर उन्होंने अपने सम्बन्धमें किसीको भी कुछ भी बतानेसे मना कर दिया। इसलिये मैं उनके सम्बन्धमें किसीको कुछ भी नहीं बता सकता। श्रीकैलास-मानसरोवरमें आज भी बड़े-बड़े सिद्ध योगी पुरुष गुप्त रूपसे रहते हैं, यह मुझे पूर्ण निश्चय हो गया। शास्त्रोंमें इनकी महिमाके सम्बन्धमें लिखी बातें अक्षर-अक्षर सत्य हैं; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

* * *

कर्तव्य-पालन या मूर्खता-प्रदर्शन?

(लेखक—श्रीश्रीचन्दजी दोनेरिया)

सन् १९५५ ई०में मैं स्वदेशी बीमा कम्पनीकी संचालक-समिति (बोर्ड ऑफ् डायरेक्टर्स) का अध्यक्ष यानी चेयरमैन था। मेरा सारा समय कम्पनीके काममें ही व्यतीत होता था। उस समय यह कम्पनी जमीदारी बौंडोंको खरीद रही थी। ये बौंड उत्तरप्रदेशीय सरकारसे जमीदारोंको उनकी जमींदारीके बदलेमें मिले थे। इन बौंडोंके क्रय-विक्रयसे कम्पनीको अच्छा लाभ होता था। ये बौंड मैं ही खरीदता था। उनके खरीदनेके लिये मुझे आगरा और उसके समीपवर्ती अन्य जिलोंके मुख्य-मुख्य स्थानोंमें भ्रमण करना पड़ता था। मेरा यह भ्रमण मोटरकारद्वारा होता था। मैं दिनमें काम और रातमें भ्रमण करता था। अथवा यों कहिये कि मेरे रात-दिन प्रायः यात्रामें ही बीतते थे। बौंड खरीदनेके लिये मेरे पास हजारोंकी रकम रहती थी; परंतु मैं निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर कारद्वारा यात्रा करता ही रहता था। इस प्रकार मैंने सहस्रों मीलोंकी यात्रा की। इन यात्राओंमें कई दुर्घटनाएँ भी सामने आयीं, जिनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है। एक बार मुझे इलाहाबाद और खागाके बीच मोटरारूढ़ ५-६ बदमाश मिले। यात्रियोंको लूटना इनका काम था। इसी घातमें वे उधर आये थे। मैं अपनी कार बिना रुकवाये सीधा पुलिस-स्टेशन पहुँचा। थानेदार तथा कई सशस्त्र पुलिस कॉनिस्टेबिल मेरे साथ आये और उन गुंडोंको गिरफ्तार करके ले गये। मुकदमा चला और उन्हें सजा हुई।

अपनी एक ऐसी ही यात्रामें एक रातको मैंने मेरठ-दौराला सड़कपर एक घायल आदमी पड़ा देखा। मैं उसे अपनी मोटरमें रखवाकर खतौली थाने ले गया और वहाँ उसके रिश्तेदारोंको बुलाया। फिर पुलिस और रिश्तेदारोंको साथ लेकर मैंने उस घायलको मुजफ्फरनगर अस्पतालमें भर्ती करा दिया। कुछ दिनों बाद वह अच्छा होकर अपने घर चला गया।

दूसरी घटना बड़ी विचित्र है। मैं मेरठमें बौंड खरीदनेका काम समाप्त कर रातके ८-९ बजे कारद्वारा आगराकी ओर चला। जब कार अलीगढ़ और सासनीके बीच आयी तो मुझे मेरे ड्राइवरने जगाया। चपरासी भी साथ था। मैं उठा और कारकी लाइटमें मैंने देखा कि दो-तीन फर्लांग आगे सड़कपर एक आदमी पड़ा है। उस समय रातके दो बजे थे और साथमें २७०००) रुपयेकी रकम मेरे पास थी। मेरे ड्राइवरने कहा कि 'बाबूजी, बड़ा खतरा मालूम देता है। जोखों भी पास है। मैं कारको तेज करता हूँ, जिससे जल्दी खतरेसे निकल चलें।' उस समय मुझे मेरठ-दौरालाकी उपर्युक्त घटना स्मरण हो आयी। इधर परम प्रभु परमात्माकी प्रेरणा भी हुई कि आखिर इस आदमीको ऐसी बुरी हालतमें देखकर कुछ तो सहायता करनी ही चाहिये। मैंने तुरंत मोटरकी गति धीमी करवायी और अपना 'रिवाल्वर' हाथमें लिया। पास जाकर देखा तो सड़कपर पड़े उस नवयुवकके सिर और मुँहसे खून बह रहा है। हाँ, उसकी साँस अवश्य चल रही थी, अर्थात् वह जीवित था। मेरे कहनेसे ड्राइवर और चपरासीने उस घायलको मोटरमें रक्खा। उस समय बेचारेने पीनेको पानी माँगा, परंतु पानी वहाँ कहाँ था। कुएँसे मँगाया जा सकता था, परंतु ऐसा करनेमें खतरा था; क्योंकि कुछ देर लगती, अस्तु।

वहाँसे हमारी मोटर दौड़ी तो सासनी पुलिस-स्टेशनपर रुकी। वहाँ रिपोर्ट दर्ज करायी गयी और उस घायलको सासनीके शफाखानेमें भर्ती करा दिया गया। डाक्टर साहब बड़े सज्जन और सहृदय थे। उन्होंने उस घायलकी बड़ी तत्परतासे तुरंत चिकित्सा प्रारम्भ कर दी। थानेदार साहब दो शस्त्रधारी

कॉनिस्टेबिलोंसहित मुझे लेकर मेरी ही कारद्वारा घटना-स्थलपर पहुँचे और वहाँकी सारी स्थिति देखी। मैंने कहा, 'दरोगाजी! यह जगह बड़ी खतरनाक है। बियावान जंगल है। न यहाँ कोई गाँव है न नगर। चौपट मैदान है। गुंडेलोग मुसाफिरोंको लूटते रहते हैं। उनकी चिल्लाहट सुननेवाला भी कोई नहीं है। मैंने सरकारी अफसरोंको लिखा है कि यहाँ यात्रियोंकी सुरक्षाका प्रबन्ध होना चाहिये। समाचारपत्रोंमें भी मैंने अपना यह विचार प्रकाशित कराया है। अब आपसे भी यही निवेदन करता हूँ।' दरोगाजी बोले, 'आप ठीक कहते हैं, मैं भी इसके लिये उद्योग करूँ-कराऊँगा।'

यहाँसे लौटकर हमलोग अपनी कारद्वारा फिर सासनी अस्पताल आये। प्रातःकाल हो चुका था, उस घायलकी हालत अच्छी थी। उसने बताया कि मैं रोहतकके एक जाट-परिवारमें पैदा हुआ हूँ। ट्रकमें मैं माल लादकर लाया था। मालके ऊपर बैठा था। एक पेड़की शाखाकी झपटसे मैं सड़कपर गिर गया। ट्रक-ड्राइवरको इसका क्या पता था। वह गाड़ीको दौड़ाता हुआ आगे बढ़ गया।' पीछे पता लगाकर इस घायलके घरवाले भी सासनी पहुँच गये थे। कई दिनकी चिकित्सासे यह नवयुवक भला-चंगा हो गया।

इस सेवा या कर्तव्य-पालनके लिये मेरे बीसियों मित्रोंने मुझे मूर्ख बताया। वे कहने लगे कि 'अपने जीवन और धनको खतरेमें डालकर ऐसा उपकार करना बड़ी मूर्खता है।' मैं कहता हूँ कि मैंने ऐसा करके परम प्रभु परमात्माकी प्रेरणाका पालन किया। अब मैं इन पंक्तियोंके सहृदय सज्जनोंसे पूछना चाहता हूँ कि 'ऐसा करके मैंने अपना कर्तव्य-पालन किया अथवा मूर्खताका परिचय दिया?'

* * *

ब्रह्म

(श्री आर० एमरसनकी रचनाका अनुवाद)

यदि खूनी हत्यारा समझे उसने हत्या की है
या यदि मरनेवालेको यह लगे गया वह मारा!
भली भाँति वे नहीं समझते तब तो रीति विलक्षण
मैं रहता और जाता, आता मैं ही स्वयं दुबारा॥
दूरी और विस्मृतिमें मुझको सदा निकटता लगती
आतप और परछाईं लगते बिलकुल एक बराबर।
जो हैं अन्तर्धान अमर वे मुझको दीखा करते
एक रूप हैं यश और लज्जा मेरे लिये निरन्तर॥
कुत्सित-सा अनुभव करते हैं मुझे त्यागनेवाले
होता हूँ पंखोंकी जोड़ी जब वे मुझे उड़ाते।
शंकाशील स्वयं ही हूँ मैं और स्वयं आशंका
और स्वयं वह ऋचा कि जिसको वेद-विशारद गाते॥
सबल देवतक भटका करते वास खोजते मेरा
खाक छानते फिरते यूँ हीं सात स्वर्गके वासी।
लेकिन तू जो सुन्दरताका है निर्दम्भ उपासक
मुझको पाकर पीठ मोड़ता सुरपुरका अभिलाषी॥

(अनु०—श्रीविजय निर्बाध)

गीत

(रचयिता—डा० हरवंशरायजी 'बच्चन' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।
कुछ भी ज्ञात नहीं क्या मुझमें
देखा, संग लगाया,
कुछ भी याद नहीं है कबसे
मुझको अंग लगाया;
गलत पसंद जगत्में उनकी
दर-दर कहलायेगी;
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।
अंबरके सँग नाच रहे हैं
अनगिन रवि, शशि तारे,
धरतीके सँग नाच रहे हैं
गिरि, तृण, तरु छतनारे,
जंतु जंतुके तंतु तंतुमें
नाच रही अभिलाषा;
अविरत, अविरल नर्तक-दलसे मैं ही क्यों कट जाऊँ।
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।
बहुत किया अभिमान कि उनकी
मेरी अनुपम जोड़ी,
अब क्यों घबराऊँ जब उनसे
मेरी होड़ा-होड़ी,
तन हारेकी हार नहीं जो
मनकी बाजी जीते,
तन विथकित हो, तन विघटित हो, मनसे क्यों घट जाऊँ।
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ।
दो में, चाहे लय-मय झूमे,
चाहे जाय घसीटा,
परबस खाया मीठा माहुर,
निज बस माहुर मीठा,
किसको है अधिकार यहाँपर
क्षण भर जो थम जाए,
मैं प्रियतमके अंग-अंगसे और अधिक सट जाऊँ।
मेरे प्रियतम नाच रहे हैं, मैं कैसे हट जाऊँ ?।

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक--श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १०६६ से आगे]

हाँ, नहीं !

सभ्य देशोंमें शराब, अफीम इत्यादि नशीली, जहरीली नुकसान करनेवाली चीजें बनाने-बेचनेवालोंको सरकारसे लाइसंस लेना पड़ता है, परंतु उनका उपयोग करनेवालोंको नहीं। कहीं-कहीं इनका पूरा बहिष्कार होनेपर भी 'डाक्टरके प्रमाणपत्र'से इन्हें सुलभ करनेकी छूट दी जाती है। आगेका दरवाजा बंद करके पीछेकी खिड़की खुली रखनेके समान ऐसे कानूनोंसे सुधार सम्भव नहीं। यदि जहरसे आदमी मरता हो तो उसे बिल्कुल ही क्यों नहीं बंद कर देते ? जहरसे कोई जिंदा रहता है और इसके लिये डाक्टरका प्रमाणपत्र लेकर उसका प्रचार करना कानूनकी विचित्र विडम्बना है। एलोपैथिक उग्र विषाक्त दवाओंके विषयमें भी यही बात होती है। जब किसी नयी चमत्कारिक दवा या इन्जेक्शनका प्रचार प्रयोगार्थ हो जाता है—जैसे चेचकका टीका, बी. सी. जी. का टीका, सल्फा, पेनिसिलिन, एंटि-बायोटिक दवाइयाँ, जिनके व्यापक प्रयोगसे जब घातक हानियाँ देखनेमें आती हैं और जनता हल्ला-गुल्ला करती है, तब पार्लियामेण्टमें कुछ हल्की-गीली बहसके बाद हुक्म निकलता है कि 'इन दवाओंकी अति आवश्यकता होनेपर होशियारीसे थोड़ी मात्रामें इनका उपयोग करो।' विदेशों और भारतमें ऐसा ही हुआ है परंतु स्वार्थी व्यवसायकी गाड़ी तेजीसे चली जाती हुई, कुछ दूरके लिये कहीं खतरेकी लालबत्ती देखकर धीमी भले ही हो जाय, रुकती नहीं। अमेरिकासे प्रकाशित 'वर्ल्ड मेडिकल जर्नल' (संसारके सब देशोंकी डॉक्टरी संस्थाओंका विश्व-संगठित मासिकपत्र) के सितम्बर १९५९ के अंकमें सब सदस्य देशोंकी स्पेशल 'रिपोर्ट' स्तम्भमें पेनिसिलिन-प्रतिक्रिया-विषयक, अमेरिकाके 'फुड एंड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन' के प्रमुख डॉ. हेनरी. वेल्चने 'एंटि-बायोटिक' विभागकी सूचना प्रकाशित की है कि 'अन्य एंटि-बायोटिक कही जानेवाली चमत्कारी ओषधियोंकी अपेक्षा पेनिसिलिनका घातक प्रभाव नब्बे प्रतिशत देखा गया है, जब कि वह इन्जेक्शनद्वारा 'मांसल' शरीरमें दी गयी थी।' इतना लिख देनेके बाद महोदयने भाषाको नरम कर दिया है—'इससे ज्ञात होता है कि पेनिसिलिन इस प्रकार देनेके पहले, जरूरत है या नहीं, इसका विचार कर लेना चाहिये।' आगे अपने डॉक्टरी पक्षको मजबूत और निरपराध बताते हुए लिखा है—'रोगियोंकी उपचार-चर्चा देखनेपर मालूम हुआ कि डॉक्टरोंने पेनिसिलिनका कोई अंधाधुंध प्रयोग नहीं किया, लाखों लोगोंको पेनिसिलिन हर साल लगती है, उनपर प्रतिक्रिया बहुत कम होती है और बहुतोंकी तो जिंदगी बच गयी है। हाँ, इसमें कोई उत्तेजक तत्त्व होनेसे शरीरमें कोई प्रतिक्रिया ऐसी हुई होगी।' (World Medical Journal, September 1959, p. 317. Penicillin Reactions.)

According to Dr. Henry Welch, Chief of the Food and Drug Administration (FDA) division of antibiotics, serious reactions to penicillin are increasing. The FDA survey, covering the principal antibiotics, showed substantially a higher number of reactions to penicillin than to other antibiotics. A third of the reported reactions to all antibiotics were classified as life-threatening and about 90% of these were attributed to penicillin. The trend of increase in serious reactions, especially from penicillin given by intramuscular injection shows there should be a clear-cut indication of need before the drug is given. The study of case histories indicates that there has not been indiscriminate use of penicillin by physicians. The number of reactions to penicillin is still small when considering that millions of persons receive it each year and that it has saved many lives. An increase is to be expected in the wise use (?) of a highly antigenic substance.

दो अंधे

यह वैज्ञानिकोंकी लेखन और प्रचारचातुरी देखिये। अंधे दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो अंधे हैं ही; परंतु दूसरे वे, जो आँखें होते हुए भी नहीं देखते, देखते हुए भी अक्लसे नहीं समझते—ये होते हैं अन्धबुद्धि लोग। अक्सर डाक्टरोंमें सौमें एक ऐसी दवा या नशीली चीजोंका गुलाम, स्वयं अपनी विशेष बीमारीसे होता है, और उसके प्रमाणपत्र, नुस्खेसे जनतामें सौमें दस व्यक्ति दवाकी आदतसे गुलाम बनकर हानि उठाते हैं। औद्योगिक स्वार्थ इसका मूल है। निर्विकार, रहस्यमय परमात्माको छोड़, साक्षात् साकार नगद-नारायणकी पूजा जल्दी फल देती है। राबर्ट कॉच (Robert Koch 1843-1910) ने अपने शोधोंसे यह सिद्ध किया कि मानवी और पशु-दुग्धमें भी क्षयरोगके कीटाणु होते हैं, जिसके सेवनसे क्षयरोग हो सकता है।

The bovine germ, in cows' milk could infect human beings and cause tuberculosis.

इस सिद्धान्तका प्रचार हो जानेके कुछ वर्षों बाद उसने अपने शोधोंकी गलती मालूम की और उसे रद्द कर दूसरी बात प्रकाशित की तो दुनियाके वैज्ञानिकों, डॉक्टरों और उद्योगपतियोंने उसकी इस नयी बातको ठोकर मार दी; क्योंकि फ्रांसके लुई पाश्चरने दूधको पेश्चराइज करने, कीटाणुओंको नष्ट करनेका तरीका प्रचलित कर लिया था और मशीनें बनकर बाजारमें पहुँच गयी थीं। अतएव राबर्ट कॉचकी दूसरी खोजसे उनके व्यवसायपर आघात होता था। अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशनने भी राबर्ट कॉचकी यह नयी बात ठुकरा दी। यदि राबर्ट कॉच और भी जिंदा रहा होता तो निश्चय ही वह कीटाणुवाद—रोगकी उत्पत्ति कीटाणुओंसे होनेका सिद्धान्त—अपनी शोधोंसे बदल देता। वह धनलोभी व्यापारी न होकर सत्यशोधका प्रेमी था। देखिये हमारे देशमें तथा अन्यत्र सर्वत्र दुग्धशालाओंके लिये दूधको पाश्चरकी नीतिके अनुसार कीटाणुरहित करना कानूनसे आवश्यक है। उसे सरकार और वैज्ञानिकोंद्वारा शुद्ध और लाभकर बताया जाता है और जनता सरकारका विश्वास करके इस मुर्दे दूधका सेवन करती है, परंतु गाँवोंमें गरीब नंगे अर्धसभ्य किसान लोग इस वैज्ञानिक मुर्दा जादूको न जानकर आदिमकालसे दूधको मिट्टीकी हंडीमें धीमी आगपर बहुत देर-तक पकाते हैं, जिससे उसमें तथा दही-छाछमें भी मिठास आ जाता हैं और ग्रामीण युवक उसीको खा-पीकर पहलवान बनकर कुश्ती मारते हैं; किसीको क्षयरोग नहीं होता देखा गया; परंतु शहरोंमें पेश्चराइज दूधने कितने लोगोंको पहलवान बनाया है? शहरोंमें ही क्षयरोग अधिकतर हुआ देखा जाता है और क्षयरोगके अस्पताल खुलते जा रहे हैं!

अज्ञानी, अंधविश्वासी, असंयमी जनता, शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही बीमार पड़नेपर डॉक्टरकी यह बात मानती है कि रोग कीटाणुओंसे होता है और हुआ है। इस सिद्धान्तसे रोगी अपना अपराध न जानकर मुक्त रहता है। रोग होनेमें स्वयंकी गलती, असंयम, नहीं जानता नहीं मानता; क्योंकि डॉक्टरने कह दिया है कि रोगोंके कीटाणु हवा-पानी, साग-भाजी, फल और दूध, स्पर्शमें आनेवाली सभी वस्तुओंमें सर्वव्यापक हैं। और स्वास्थ्यरक्षाके लिये उनसे बचनेका कोई विशेष उपाय अथवा साधन भी डॉक्टर नहीं बताते; केवल इतना कि मुँह-नाकपर बारीक जाली बाँधो, हाथ-पाँवमें मोजे-दस्ताने पहनो, खानेकी वस्तुएँ गरम पानीसे धो लो, दूध-पानी उबालकर पियो, कीटाणुनाशक दवाइयाँ पानीमें डालकर नहाओ और हवामें कीटाणुनाशक धुआँ डी. डी. टी. आदि फैलाओ, जिससे कीटाणु मर जायँ, मक्खी-मच्छर न पैदा हों।

पेटके लिये!

इन कीटाणुओंको नष्ट करनेके रासायनिक उद्योग भी खड़े हो गये और गाँव-गाँव फैल गये। यदि यह उद्योग न हो तो कीटाणु कैसे नष्ट हों? कीटाणुवादका प्रचार न होता तो यह सब स्वार्थी गोरखधंधा कैसे पैदा होता और पलता? दुनियाँकी परम्परा बड़ी जबर्दस्त है। जो बात बड़े लोग कह दें और वह रिवाजमें चल पड़े, जो बात डंकेकी चोटपर, भालेकी नोकपर, बंदूक, तोपके मुँहके सामने कही जाय, वह सच्ची होती है। चीनके किसी बादशाहकी बेगमका पाँव कुरूप था, वह लँगड़ी थी, अतएव उसके सामने स्वस्थ पाँववाली, सीधे पाँव चलकर आनेसे कठोर दण्ड पाती थीं, इस कारण पाँवमें काठ पहिनने और बचपनसे ही पाँवोंमें काठ पहिना देनेका रिवाज चल पड़ा और लाखों स्त्रियोंमें इसे 'सौन्दर्य' मानकर प्रचलित किया गया। हिटलर कहता था कि कोई झूठ बात बार-बार जोरसे डंकेकी चोटपर बोलते जाओ, वह सिद्ध हो जायगी। मानस-

चिकित्सा-विज्ञान (Suggestotherapy) का यह सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त सरकारों और वैज्ञानिकोंके प्रचारोंद्वारा प्रत्यक्ष फैलकर अपना रूप दिखा रहा है।

अंग्रेजी गुलामीके जमानेकी बात दूसरी थी, अब हमारे जनतन्त्र भारतमें हरेक रोगनिरोधके लिये टीके और इंजेक्शन, बी. सी. जी. आदिपर बहुत जोरोंसे टिकटों, झंडियों, पोस्टरों, लेक्चरों, अखबारों, रेडियो तथा विशेष सरकारी आज्ञाओं और अभियानद्वारा प्रचार किया जाता है। लिम्फ मँगाये जाते हैं; परंतु यह लिम्फ अथवा टीके या इंजेक्शनके पदार्थ कौन-सी चीज हैं, कहाँसे, किसने, कैसे बनाये हैं, इस सम्बन्धमें भोले भारतीय और शिक्षित समुदाय, अंधबुद्धिकी भाँति उसे स्वीकार कर लेते हैं, कुछ पूछते नहीं, जानते नहीं। किसी भी प्रमाणित अंग्रेजी अथवा मेडिकल डिक्शनरीमें इसका अर्थ देख लीजिये।

खग भाषा !

लिखा मिलेगा—'गायके चेचकके फफोलोंमेंसे निकाला गया रस या मवाद दूसरा अर्थ भी दिया है—'पवित्र जल' colourless fluid from organs of the body; pure water; matter from cowpox vesicles used in vaccination. अब यह गायोंसे नहीं, भेड़ोंसे तैयार किया जाता है और पहले भेड़ोंको मार डाला जाता है तब निकाला जाता है। डॉक्टरी और सरकारी प्रचारमें बताया जाता है कि—'यह शुद्ध है, विषकारक नहीं है, ग्लिसरीन मिश्रित बना हुआ है' परंतु "Pure, aseptic, glycerlinated" शब्दोंमें कितना धोखा है! क्योंकि यह शरीरसे प्राकृतिक दशामें निकला या निकाला हुआ न होकर, उस पशुमें पहले किसी रोगीका विषाक्त रक्त या मवाद प्रविष्ट कर उसके विकसित होने अथवा फैल जानेपर उसे मारकर या जिंदा हालतमें निकाला जाता है, अतएव यह शुद्ध और विषकारक नहीं है, कैसे माना जाय? ग्लिसरीन तो उसमें बादमें मिलाया जाता है। इंग्लैंडके एक सात्त्विक स्वास्थ्य मासिकपत्रिकाके सम्पादक स्व० वेलेंटाइन नेग्सने लिखा है—

In Government papers, official apologies, innocent words regarding vaccine, are made as 'pure, aseptic, glycerinated' to suggest that vaccine is the desired remedy, but in fact the lymph is not a natural product derived from cows, as is milk; lymph is actually clear fluid found in tissues of normal healthy animals, but vaccine lymph is the same fluid extracted from animals affected with horrible disease. As such, words 'pure, harmless and taken from healthy animal, free from disease is grotesque perversion of Truth. The unfortunate beasts, saturated with foul products of the virus with which they have been infected, are subsequently sold as 'prime veal." प्राइम वीलका अर्थ—बढ़िया ताजा बछड़े का मांस। अर्थात् जिस पशुमेंसे मवाद निकाल लिया जाता है, उसके मांसको बाजारमें 'सर्वोत्तम ताजा मांस' कहकर भोजनके निमित्त बेचा जाता है।

निर्भय वाणी

ग्लासेस्टर, इंग्लैंडके डॉ० वाल्टर हाडविन एम० डी०, एम० आर० सी० एस० ने लॉस एंजलीस, अमेरिकामें एक वार्तामें कहा था कि 'टीका और इंजेक्शन लगानेका कु कार्य केवल अंधविश्वासके आधारपर हो रहा है।

The whole of this wretched vaccination and inoculation system is based on superstition.

और जापानमें छुआछूतसे फैलनेवाले रोगोंकी चिकित्सा शोध-संस्थाके संचालक और टीकेके विषयमें प्रमुख स अधिकारी डॉ० क्रितासातोने अपने प्रयत्नोंसे हारकर कह दि था—'निश्चय ही यह चेचककी विषाक्तताका प्रमाण है। यह ऐसी आग है जिससे बचनेके लिये कोई रक्षक साधन न है। बीमारीका इलाज बीमारी पैदा करनेसे नहीं हो सकता।

'This is unmistakable evidence of the virulence of smallpox. It is like a devastating fire to which nothing is fireproof. You can't fight disease with disease.'

किसी रोगी मनुष्यके रक्त या मवादसे वही रोग किसी दू में उत्पन्न कर उसका मवाद पुनः इलाजके लिये रोगी अ स्वस्थ मनुष्यमें चुभाकर रोग रोकनेका विज्ञान बताना अं विश्वास मात्र है। वैज्ञानिक बूचड़खानों-जैसी शोध-संस्था क जानेवाली एक रॉकफेलर इन्स्टीटयूटके संचालकने अ (अमेरिका) की लेजिस्लेचर कमेटीके सामने अपने भ दुहाई देते हुए प्रचलित अंधविश्वासको यों पुष्ट किया

'यदि चीर-फाड़-प्रयोगविरोधी कानून बन जायगा तो मेरी जीविका कैसे चलेगी ? मैंने तो चीर-फाड़के अतिरिक्त कोई दूसरा काम सीखा ही नहीं ।'

बस, ऐसा ही इस सम्बन्धमें सब सरकारी डॉक्टरी, वैज्ञानिक विभागोंके विषयमें भी समझिये । यह सबकी पारस्परिक रोटीका रोजगार है, दुनियाँमें खून और मवादकी नदियाँ बहाकर उनमें शहद और संजीवन रस पानेकी मृगतृष्णा ! वैज्ञानिक (वे ज्ञानका) चमत्कार !

निर्दय शिक्षा

मुर्दों और जिंदों, मनुष्य और पशुओंकी चीर-फाड़ करनेकी यह निर्दय क्रिया, केवल कॉलेजोंमें ही सीमित नहीं है, विदेशोंमें यह काम प्रारम्भिक शालाओंसे छोटे बच्चोंद्वारा कराने और उनके दिल मजबूत करनेकी शिक्षा दी जाती है कि वे दया, धर्म और आत्मीयताका अंधविश्वास छोड़कर 'कठोर हृदय' बनकर मानवताकी सेवा और विकासके लिये निर्दय अन्वेषक बनें ।

अमेरिकाके मिसूरी लीग फॉर ह्यूमेन प्राग्रेस (Missouri Leage for Humane Progress) की सालाना बैठक २० जून ५९ में सेक्रेटरीने बताया कि 'अंग्रेजीभाषी राज्योंमें प्रारम्भिक शालाओंके बच्चोंको भी अनेक जन्तुओंकी चीर-फाड़के लिये प्रोत्साहित किया जाता है कि 'तुम अपने मनमें कोई दया, पीड़ा, हत्या, पाप आदिका विचार या भाव न रखकर बेधड़क चीर-फाड़ करो; तुम्हें वैज्ञानिक शोधक बनना है, संसारके मानवका कल्याण करना है ।'

प्रयोग देखिये !

भारतसे लन्दन होकर १९५३ से १९५६ तक प्रतिवर्ष अमेरिकाको २० हजार, ६६ हजार, ९३ हजार और १ लाख २० हजार कुल लगभग तीन लाख बंदर भेजे गये । इन सब बंदरोंके मूत्रपिण्ड (Kidney tissue) से बालपक्षाघातके रोगी बच्चोंके इलाज तथा रोग-निरोधके लिये 'साल्ट' टीका बनानेके लिये ! सन् ५३-५४ में हवाई जहाजोंमें ले जानेमें एक हजार रास्तेमें मर गये । जिन जालीदार बक्सोंमें ये बंदर ठूँस-ठूँसकर बंद किये गये थे, उनको उठाने-चढ़ाने, उतारने-खिसकाने, इधर-उधर ले जानेमें धक्के-चोटसे बंदरोंके हाथ-पाँव-पूँछ आदि बाहर निकले होनेसे दबकर टूट गये, घायल हो गये, गर्भवती बंदरियोंके गर्भपात हो गये, मरे हुए सड़े बंदरोंकी दुर्गन्धसे, भूख-प्यासमें भोजन-पानीकी अनियमिततासे वे अधमरे हो रहे थे । उनकी दुर्गन्धसे कार्यकर्ता भी असह्य घृणासे लापरवाहीसे उन बक्सोंको ढकेलते-पटकते थे । कितने ही बंदर ऐसी दुर्व्यवस्था एवं दुर्व्यवहारसे भय, ग्लानि, प्रलयंकर परिस्थितिसे दस्त, निमोनियाँ आदि बीमारियों तथा विषमय दुर्गन्धसे मौतके मुँहमें समा गये, जो जिंदा बचे थे वे भी मुर्दार थे ।

१६ सितम्बर १९५५ के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में समाचार छपा था कि भारतने प्रतिवर्ष ढाई लाख बंदर निर्यात करनेका वादा किया है जो इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस, पोलैंड, कनाडा, स्वीडन, जर्मनी, बेल्जियम, इटली, डेनमार्क, गेम्बिया देशोंमें भेजे जायँगे । उन देशोंमें वैज्ञानिक लोग बालपक्षाघात आदि रोगोंकी दवा शोधनेके निमित्त इन बंदरोंपर अनेक प्रकारके प्रयोग, अनेक अङ्गोंकी चीर-फाड़कर उनपर एक्स-रे, बिजली-ताप, इंजेक्शन, हिलडुल न सकनेकी अवस्थामें बाँध-लटकाकर, अति ठंडे पानीमें डुबाने और चीर-फाड़के अनेक निर्दय प्रयोग करेंगे, जिनकी आप और हम कल्पना नहीं कर सकेंगे और वर्णन सुनकर काँप उठेंगे । रॉकेटमें उन्हें दूर ऊँचे आकाशमें उड़ाने आदिके प्रयोग किये जायँगे, उनमें अनेक बीमारियाँ उत्पन्न की जायँगी, यह देखनेके लिये कि इन प्रयोगोंका उनपर क्या प्रभाव होता है । Testing the effects of radio-active material after atomic explosions; exposure to poison gases, blast from high explosives, X-ray, Rodon seeds implanted in brain, cosmic rays applied 15-20 miles high in plastic balloons, cerebral operation with or without anaesthesia, producing epileptic attacks by multiple injections into brain substance, leucotomy after severe neurosis, projection 40 miles high in space rockets, producing cancer, epidemic dropsy, trachoma of eyes, gastric ulcer, guinea worm infestation, polio myelitis, rheumatism, severe shock from fatigue, extreme cold or injury, sunstroke, displacement of various organs by operation, infection with anthrax, malaria, mumps, rabies, syphilis, yellow fever and with many other kinds of micro-organisms and viruses, the testing of toxic drugs.

अर्थात् बम विस्फोट कर उनपर रेडियो-सक्रिय प्रभाव देखना, उनको जहरीली गैसभरी जगहमें बंद करना, बम-

घड़ाकोंका उनपर प्रभाव, दूर ऊँचे आकाशमें उन्हें प्लास्टिकके गुब्बारेमें बंदकर उनपर दिव्य किरणोंका प्रभाव देखना, जिसके विषयमें वैज्ञानिक अबतक कुछ नहीं जान पाये, बेहोशी अथवा होशकी हालतमें उनके मस्तिष्ककी गहरी चीर-फाड़कर उनमें भीतर अनेक विषाक्त इंजेक्शन देकर मृगी रोग पैदा करना, उनमें श्वेत-रक्त-कण नष्ट कर देना, उन्हें रॉकेटमें चालीस मील ऊँचे आकाशमें भेजना, उनमें कैंसर, जलोदर, आँखोंमें छाले फोड़े उत्पन्न कर देना, पेटमें घाव बना देना, नारू रोगके कीटाणु डाल देना, बालपक्षाघात और वात-दर्द पैदा कर देना, उन्हें परेशानकर बेहद थकाकर बिजली प्रयोगसे चमका देना, बेहद ठंडमें डालना, बेहद पीड़ा देना, लू लगा देना, चीर-फाड़ करके उनके अंदरके अङ्गोंको शरीरमें इधर-उधर अन्यत्र जोड़ देना, शरीरपर फफोले, सूजाक-गर्मी, मलेरिया, पीला बुखार पैदा करना, अनेक प्रकारके विषाक्त कीटाणु और दवाएँ उनमें प्रवेशकर अनेक रोग पैदा करके उनपर सबका प्रभाव देखना, इन्हीं सब प्रयोगोंके लिये उन्होंने भारतसे बंदर माँगे। परंतु यह सब विस्तारसे न बताकर उन्होंने, 'वैज्ञानिक प्रयोगके लिये' कहकर बंदर प्राप्त किये। यदि बंदर पकड़नेवालोंको इन सब निर्दय प्रयोगोंका पता होता तो सम्भवतः कोई कितना भी गरीब व्यक्ति होता, बंदर पकड़नेकी ऐसी नौकरी न करता और दो-तीन रुपयेके लिये इन वैज्ञानिक हत्याओंमें भाग न लेता, बंदर न पकड़ता, न बेचता। बादमें समाचार प्रकाशित हुआ कि भारतने बंदरोंके निर्यातपर रोक लगा दी है तो अमेरिकी बालपक्षाघात-संस्थाके एक अधिकारी श्रीओटो किर्कमेन भारतके निर्णयपर बोल उठे कि 'ऐसी रोक लगाना मानवके प्रति बड़ा अपराध है।' (It is a crime against humanity.) अर्थात् बंदरोंको कल्पनातीत दुःख देनेके प्रयोग, उनकी वैज्ञानिक भाषामें, मानव-कल्याणके लिये किये जाते हैं। रोक लगानेसे मानव-कल्याणमें बाधा पहुँचती है।*

इन सब प्रकारके वैज्ञानिक निर्दय प्रयोगोंमें वैज्ञानिकोंकी शैतानी बुद्धि एवं घृणित स्वार्थी उद्योगको देखिये कि अपने कुकर्मसे उत्पन्न रोग-पाप धोनेके लिये ये निरपराध चूहे, बिल्ली, खरगोश, भेड़, बंदर, गधे, खच्चर, घोड़े, गाय, साँड और सूअरोंमें ढूँढ़ते हैं और उनके शरीरमें रोगी विषाक्त रक्त मवाद ठूँसकर सड़ाद पैदाकर, वैज्ञानिक रस-रसायनके घृणित मिश्रण करके सब देशों और धर्मोंके लोगोंको वैज्ञानिक चमत्कारों रसायनके नामसे महँगे मूल्यमें देकर, बेचकर तथा जबर्दस्ती कानूनसे अबोध बच्चोंके खूनमें घोलकर गंदा करते हैं! पाँच सौ रुपयेमें घोड़ा खरीदकर कोई व्यापारी उसे छः या सात सौ में बेच सकता है परंतु ये वैज्ञानिक उस पूँजीसे घोड़ेके रस-रक्त-मवादसे लाख रुपये तक बना लेते हैं। विज्ञानका यह गोरखधंधा रहस्यमय और अन्न-साग अथवा किसी भी धंधे या व्यापारकी अपेक्षा बेहद लाभ और इज्जत देनेवाला है!

वैज्ञानिक वेदान्त

ये लोग जानवरोंमें आत्मा नहीं मानते, मानवमें भी नहीं। विज्ञान आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, परलोक, दुःख-दर्द कुछ नहीं मानता। उनकी खोजमें इनका कहीं कुछ पता नहीं मिला। मिले केवल विषाक्त कीटाणु! इसलिये वे सब प्रकारके निर्दय दुष्ट कर्म करते हैं, उनका कुछ नहीं बिगड़ता। यदि परमात्मा पकड़में आ जाय तो उसपर भी मनमाने प्रयोग करके ये अपने सब अरमान पूरे करने लगें। विज्ञानकी परिभाषामें किसी भी प्राणीका शरीर घास, पानी, मिट्टीके संयोगसे बने मांसका चलता-फिरता स्वचालित पुतला या रासायनिक यन्त्र है। जिसका कोई कल-पुर्जा बिगड़ टूट-फूट कमजोर या अधिक थककर बेकार हो जानेसे सारा कारखाना बंद हो जाता है और उस शरीरमें उस अंग-यन्त्रके स्थानपर अन्य सजातीय अथवा विजातीय, योग्य प्राणीका अंग जमाकर लगा देनेसे या खून दे देनेसे उपयोगी स्वस्थ बनाया जा सकता है। इस विषयमें कोलम्बिया विश्वविद्यालय, अमेरिकाके डॉ० 'मैन, द केमिकल मशीन' (Man, the Chemical Machine) नामक पुस्तक लिखी है जो ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेससे लगभग बीस रुपयेमें प्रकाशित मिलती है। मनुष्य मुख्यतः सोलह प्रकारके रासायनिक तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे बना है जो सभी घातक विष हैं, अपने शरीर-पोषणके लिये मनुष्य उन तत्त्वोंको अलग-अलग मूलरूपमें खाये, पीये, स्पर्श करे, सूँघे तो मर जाय अथवा रोगी हो जाय।

पशुओं, अनाथालयके बच्चों, गरीब मनुष्यों, रोगियों, कैदियों और पागलोंपर ये अपना पूरा अधिकार मानते हैं।

---

* समुद्री जहाजोंसे बंदर-निर्यात बंद किया गया है। अब केवल हवाई जहाजोंसे ही बंदरोंका निर्यात होता है। काफी महँगा पड़नेपर भी कम-से-कम चार-पाँच हजार बंदरोंका निर्यात दिल्लीसे हर महीने हो रहा है।XX ('सन्मार्ग' वाराणसी ४ जुलाई सन् १९६१)

मनमाने प्रयोग करते हैं कि इन सब प्राणियों और मनुष्योंका जीवन स्वयं अपने लिये किसी उपयोगका नहीं, इसलिये सभ्य जगत्के श्रेष्ठ मानवोंके हितार्थ इनपर सब प्रकारके प्रयोग करके कल्याणकारी संजीवनी प्राप्त करनी चाहिये, जिससे मेधावी, महत्त्वपूर्ण मानवोंको स्वास्थ्य और दीर्घायु प्राप्त हो सके। ऐसे सब अट्ठाईस लाख जंतुओंपर चीर-फाड़ आदिके प्रयोग प्रतिवर्ष केवल ब्रिटेनमें होते हैं, जिनपर 'दुःख पीड़ा दिये बिना' चीर-फाड़ करनेका कानून है। यदि प्रयोगके समय प्राणीको अत्यन्त पीड़ा मालूम हो तो उसकी पीड़ाका अन्त करनेके लिये 'तुरंत मार डालने' का कानून है, इसका नाम है, पशुओंपर निर्दय व्यवहारका प्रतिबंध (Prevention of cruelty to animals act.)। यदि कोई मालिक अपने पालतू पशु गाय, बैल, गधे, घोड़ेसे काम लेते समय निर्दयतासे अनावश्यक पीटे, रोग या वृद्धावस्थाकी कमजोरीमें जबरदस्ती काम ले, यातना दे तो यह निर्दय व्यवहार पुलिसद्वारा सूचना होनेपर मुकदमा चलाकर मालिकको दंड होता है। परंतु वैज्ञानिकोंपर न तो मुकदमा चलता है, न दण्ड होता है, बल्कि धन-संग्रह सहायता देकर उत्साह बढ़ाया जाता है, कानूनसे उनकी रक्षा की जाती है; क्योंकि ये मानव-कल्याणके लिये हत्यारे प्रयोग करते हैं। भारतमें भी यह कानून व्याप्त है। इंग्लैंडमें चीर-फाड़ आदिके प्रयोगकी इस कानूनकी दृष्टिसे देखभाल करनेके लिये पाँच इन्स्पेक्टर नियुक्त हैं। प्रत्येकके हिस्सेमें प्रतिदिन लभभग डेढ़ हजार चीर-फाड़के मामले पड़ते हैं, अर्थात् एक मिनटमें एक व्यक्ति चालीस ऑपरेशन कैसे देखता होगा और उनके दुःख-दर्दका उसे क्या अनुभव होता होगा ! ऐसे कानूनकी बलिहारी ! इसके पाखंडकी कल्पना कीजिये। भारतसे बंदर भी इसी शर्तपर भेजे जाते थे कि इन्हें यातना न दी जाय, परंतु बाद रहस्य मालूम होनेपर जनताद्वारा विरोधी हल्ला-गुल्ला सुनकर सरकारने निर्यात रोक दिया।

जानवरोंकी चीर-फाड़ गहरी और बड़ी निर्दय होती है। खरगोशकी आँखोंमें आँसू लानेवाले पदार्थ, राईका गैस तथा अन्य उत्तेजक या मारक प्रभावोंके लिये अफीम, गंधक आदिसे बनी चीजें डाली जाती हैं, सिरको कुचला जाता है, नुकीले अस्त्र गहरे चुभाये जाते हैं। प्रतिक्रिया देखनेके लिये। वैज्ञानिक कहते हैं कि आँखोंको इन प्रयोगोंसे कोई नुकसान नहीं होता। यदि सचमुच ऐसी बात है और दुःख-दर्द कोई चीज नहीं है, झूठ है तो स्वयंपर ऐसा प्रयोग करके स्वयं अनुभव क्यों नहीं लेते ?

इन सब चीर-फाड़ आदि करनेमें किरायेके लोग—कर्मचारी परेशान होकर अपनी कठिनाइयों और समस्याओंकी चर्चा अपनी संस्थासे प्रकाशित होनेवाले वैज्ञानिक मासिक या त्रैमासिक पत्रोंमें किया करते हैं। The nature of experiments to which the animals are subjected is revealed in the scientific journals by the vivisectors themselves.

आपका पाप !

इतनी सब निर्दय हत्याएँ मानव-कल्याणके लिये होते हुए, उनके प्रयोगसे मानवका अबतक कितना रोग-दुःख दूर हुआ, कितना कल्याण हुआ ? इन वैज्ञानिकोंकी निर्दय परम्पराका कभी अन्त भी होगा ? इसपर वैज्ञानिकोंकी दलील है—बीमारी आप अपने स्वयं असंयम, अज्ञान और पापसे बुलायें अथवा विश्वव्याप्त कीटाणुओंसे हो, हम आपका पाप धोने और रोग दूर करनेके लिये ही इन निर्दय कर्मोंके द्वारा आपकी सेवा-भलाईके लिये संजीवनी ढूँढ़ते हैं, अतएव इन सब तथाकथित हत्याओं और पापोंकी जिम्मेदारी आपपर ही है, हम तो आपके लिये ही पाप करते हैं, आप न करें तो हमें क्यों करना पड़े ? इसी पाप-परम्परासे मुक्त होनेके लिये विज्ञानको आपलोग टैक्स और नगद दान-दक्षिणा देते हैं; दवाका मूल्य, अपने ऑपरेशनकी फीस जुर्मानाके रूपमें आप देते हैं और अपने रोग-दुःखके समय घर या अस्पतालमें बिस्तरपर पड़े, जेलके पर्याय, अपंग, लाचार, कमजोर, असहाय, जडवत् बने हुए अपने पापकी सजा भोगते हैं। हम आपके उपचार, उपकार, सेवाके लिये जो कुछ भी करें, उसे आप पाप कहें, तो वह हमारा नहीं, आपका ही पाप है, आपके कर्मका प्रतिबिम्ब है !

अनाथोंपर !

अपने निर्दय प्रयोगोंके लिये इन्होंने अनाथ बच्चोंको भी नहीं छोड़ा, बिना माँ-बापके, लाचार बच्चोंपर भी इन्हें दया नहीं आयी। इंग्लैंडसे प्रकाशित होनेवाले पुराने विख्यात और प्रमाणित डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट' के १४ नवंबर १९५३ के अंकमें एक अनाथालयके बच्चोंपर किये गये प्रयोगोंका निम्नलिखित समाचार छपा था।

१. अनाथालयमें बच्चोंको 'एजीन' रसायनकी मात्राएँ उनकी हानिकारक प्रतिक्रिया देखनेके लिये दी गयी थीं।

Potentially harmful doses of 'agene' were given to children in an orphanage to see whether such doses were toxic.

२. मस्तिष्कमें असाध्य गाँठोंवाले रोगियोंके शरीरमें छेदकर दवाएँ प्रविष्ट की गयीं कि इनसे क्या हानि होती है।

Patients with incurable cerebral tumours experimented with intrathecal aureomycin to find whether it was injurious. The experiment involved multiple lumbar punctures.

३. बच्चोंको प्रगाढ़ घातक, बेहोशीमें लाकर यान्त्रिक वि से ग्राफ-चित्र लेकर प्रतिक्रियाका अनुभव लेनेके लिये प्र किये गये।

Reproduced dangerous syncopal attac in children to obtain graphic records.

पाठको ! इस विज्ञानकी चमत्कारी चीजोंको आप समझे ? आगे पढ़ते चलिये !

सौराष्ट्रकी प्रसिद्ध गीर जातिकी गायोंका अमेरिकाके लिये निर्यात

'राजकोटके महाजन पिंजरापोलमें सौराष्ट्रकी प्रसिद्ध गीर जातिके सर्वोत्तम गाय, साँढ़ और बछड़े—कुल मिलाकर ७० पशु भारतसरकारके परमिटसे भारत-सरकारकी मिनिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर विभागके लोगोंके द्वारा चौंका देनेवाली कीमतसे खरीदकर रक्खी गयी हैं,' इस समाचारके मिलनेपर बम्बईकी जीवदया-मण्डलीके द्वारा सरकारी पशुविभागसे पूछनेपर पता लगा कि ये गायें अमेरिका भेजनेके लिये अमेरिकन अधिकारियोंद्वारा एक-एक गायका एक हजारसे पाँच हजार रुपयेतक मूल्य देकर खरीदी गयी हैं और उन्हींकी ओरसे राजकोटके महाजन पिंजरापोलमें रक्खी गयी हैं। भारतसरकारके द्वारा उनको कुल ७० गीर जातिके गोवंश तथा ३० अंगोल जातिके गोवंश अमेरिका ले जानेके लिये परमिट दिया गया है।

ब्राजिल-अमेरिका और यूरोपके अन्य देशोंमें भारतकी किसी भी जातिकी गायकी अपेक्षा अधिक दूध देनेवाली गायें हैं। अतः भारतका गो-वंश उनके दूध बढ़ानेके लिये बेकार है। फिर यूरोप तथा अमेरिकामें गोसंवर्धन केवल दूधके लिये ही नहीं, गोमांसके लिये भी होता है। उन्हें खेतीके लिये बैलोंकी जरूरत नहीं है। अतः जो बछड़े पैदा होते हैं, उनको मांसके लिये ही कत्ल किया जाता है। अतः उनके लिये शरीरमें ज्यादा वजनदार और अधिक दूध देनेवाली गायें ही हैं। यूरोप-अमेरिकाकी गायोंकी अपेक्षा हिंदुस्था काँकरेज, गीर और अंगोल जातिकी गायें ज्यादा वजनदार हैं। इसलिये वे भारतसे इन जातिकी गाय और प्रकारान्तरसे ले जाते हैं और उनके द्वारा अपनी गा भारतकी गायोंका उपर्युक्त मांसका गुण पैदा करते हैं। परंतु यह सारा परिश्रम होता है आखिर गोमांसके वजनदार और टिकाऊ गोवंशके निर्माणके उद्देश्यसे ही।

× × ×

दुर्भाग्यवश स्वराज मिलनेके बाद विदेशी मु भूख बढ़ जानेके कारण जबसे भारतसरकारने चाहे जिन वस्तुओंका निर्यात करके विदेशी कमानेकी नीतिको अपनाया है, तभीसे भारतके पशु लोगोंको दृष्टि गयी और तभीसे बंदर तथा दूसरे जातिके प्राणियोंका निर्यात चालू हो गया ! इसीके साथ पशुओंकी प्रधान खूराक भूसा, खली तथा गुँ निर्यात भी शुरू हो गया और अब तो पशुधन निर्यात होने लगा ! सन् १९४९ में जब भारतसर मिनिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चरकी ओरसे गायोंको वि भेजनेका प्रयास किया गया था, तब बम्बईकी जी मण्डली, भारत-गो-सेवक समाज, बम्बईकी राज्य

पिंजरापोल-संघ आदिके विरोध करनेपर गुजरातसे वैसे पशुओंके निर्यातपर पाबंदी लग गयी थी। परंतु पीछेसे भारतसरकारने मद्रास आदि स्थानोंसे पशुओंको ले जानेकी पर्याप्त सुविधा प्रदान कर दी और अब तो गुजरात राज्य तथा सौराष्ट्रसे भी प्रसिद्ध जातिके पशुओंका निर्यात भी भारतसरकारने आरम्भ कर दिया !

वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियोंसे ऐसे सर्वोत्तम जातिके पशुओंकी विदेशोंको निकासी भारतके गोसंवर्धन-कार्यके लिये बड़ी ही विघातक है। एक ओर तो देशके अनेक राज्योंमें गोवध तथा उपयोगी पशुओंकी हत्यापर कानूनसे प्रतिबन्ध लग रहे हैं, दूसरी ओर हत्याके लिये देशके सर्वोत्तम पशुओंको विदेश भेजनेकी छूट दे दी गयी है ! यह कितनी हानिकी बात है। देशमें आज उपयोगी नस्लकी सर्वोत्तम गायोंकी कमी है। सरकार और जनताके द्वारा नस्ल-सुधारके लिये गोसंवर्धनकी योजना बनायी गयी है। ऐसी अवस्थामें देशकी गिनी-चुनी सर्वोत्तम जातिके गोवंशको विदेश भेज देना—यह बड़ी आत्मघातिनी नीति है। इससे गोसंवर्धनकी योजना निष्फल हो जायगी।×××इन गायोंको अमेरिका भेजनेके लिये सुविधा दिया जाना, देशहितका द्रोह है। गुजरातसे भारतके दूसरे भागोंमें गाय ले जानेपर प्रतिबन्ध है, परंतु अमेरिकाके लिये परमिट दिया जाता है, यह अन्याय है !

बम्बईकी जीवदयामण्डलीने इस निकासीको रोकनेके लये भारतसरकार तथा गुजरात-सरकारसे विनती की है। गोभक्त जनता और संस्थाओंको भी इस विषयमें कड़ा विरोध करना चाहिये तथा एक भी पशु विदेश न जाय, इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। (श्रीजीवदया, जून १९६१)

चिन्तन-कण

(लेखक—श्रीबालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल्-एल् बी०)

१

जड और चेतनमें एकमात्र अन्तर गतिका है। इसीलिये प्रगतिका महत्त्व है। इसीलिये अधोगतिसे बचनेकी सावधानी है।

२

कहीं भी किसी भी ऊँचाईतक पहुँचनेमें श्रम पड़ता है। इसीलिये ऊँचाईकी कीमत है—महत्त्व है।

३

साधु बनो ! साधुवेशकी जरूरत नहीं है।

४

मानतक पहुँचनेका रास्ता अपमानकी गलियों होकर ही तो है।

५

मुक्तिके लिये विवेक और भोगके लिये पुरुषार्थकी जरूरत है।

और भगवान्की—परमात्माकी जरूरत है आत्माकी टूटती हुई आस्थाको टेक देनेके लिये, अन्तरमें बसे आदर्शको अविशृङ्खलित रहने देनेके लिये।

प्राचीन वैदिक सभ्यता बनाम भारतमें 'आर्य'-अभियान

[आर्यजातिके बाहरसे भारतमें आनेकी कहानी सर्वथा मिथ्या है]

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)

द्वितीय महायुद्धके समय कलकत्ताके किसी एक कार्यालयमें दो यूरेशियन सैनिक प्रकटरूपमें हिंदूधर्म और सभ्यताकी निन्दा कर रहे थे। एक बार वे बात-ही-बातमें बोले—'हिंदू जाति कब स्वाधीन रही ? यह तो सदा ही दूसरोंका तलवा चाटती रही है।' वहाँ कुछ हिंदू-संतान भी उपस्थित थे, परंतु प्रतिवाद करना तो दूर रहा, केवल एक आदमीको छोड़कर किसीने मुँहतक नहीं खोला।

एक सज्जनको इतिहासका कुछ ज्ञान था और वे कुछ स्वतन्त्र विचारक थे, उन्होंने दोनों यूरेशियनोंको बतला दिया कि हिंदू जाति सदा ही स्वाधीन रही तथा ब्रिटिश जाति सदा पराधीन रही। उन्होंने जो युक्तियाँ और प्रमाण उपस्थित किये, उसके सामने उन दोनों अफसरोंको निरुत्तर हो जाना पड़ा।

परंतु यह सत्य है कि समस्त वैदिक या भारती * (हिंदू) जाति आज वस्तुतः आत्मविस्मृत है। हममें आज कितने अपने देशके वास्तविक इतिहासको जानते हैं ? इसके अतिरिक्त, स्वदेशकी प्राचीन संस्कृति और भावप्रवाहके साथ हमारा सम्बन्ध क्रमशः क्षीण और विच्छिन्न हो जानेके कारण हम अपने समस्त जातीय गौरव और जात्यभिमानको खो चुके हैं !

भारत और भारती (हिंदू) जाति सदा ही स्वाधीन रही है, इस बातको हमारे ही देशमें हम आज नहीं जानते-मानते। वैदिक जाति संसारमें अग्रगण्य और सर्वश्रेष्ठ है, यह मनोभाव भी हमारे हृदयसे प्रायः लोप होता जा रहा है। इसका प्रधान कारण है पाश्चात्त्य शिक्षा और उसके फलस्वरूप पाश्चात्त्य सभ्यता, समाज और राजनीतिके प्रति हमारा बढ़ता हुआ अनुराग और श्रद्धा एवं अपने तथा अपने पूर्वजोंके प्रति दीनताका भाव !

भारत सदा ही स्वाधीन रहा है, इस प्रसङ्गमें पहले यह स्थिर करना आवश्यक है कि वैदिक जाति क्या बाहरके किसी देशसे यहाँ आयी है। मुख्यतः ऐतिहासिक प्रमाणोंके द्वारा इस विषयकी संक्षेपमें आलोचना की जाती है।

वैदिक जाति भारतीय है, बाहरसे नहीं आयी है

आधुनिक पाश्चात्त्य मतके अनुसार भारतके इतिहासका प्रारम्भ निर्दिष्टरूपसे अनुमानतः ३३० ई० पूर्व अर्थात् दिग्विजयी सिकन्दरके भारत-आक्रमणसे होता है। इसके पूर्वका जो कुछ ज्ञान है, उसे वास्तविक इतिहासका नाम नहीं दिया जाता।

मेगास्थनीजका कथन

सिकन्दरकी मृत्युके बाद उसके सेनापति सैल्यूकसने पश्चिम एशियामें साम्राज्य स्थापित किया। उनके राजदूत मेगास्थनीज लगभग ३०४ ई० पूर्व मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तकी राजसभामें कुछ दिनोंतक रहे थे। उन्होंने एक 'यात्रावृत्तान्त' लिखा है, परंतु खेदकी बात है कि वह इस समय पूर्णरूपमें पुस्तकाकार नहीं मिलता। तथापि उसका कुछ-कुछ अंश उसके परवर्ती लेखक ष्ट्राबो अरियन आदिकी पुस्तकोंमें उद्धरणके रूपमें पाया जाता है।

इसमें एक स्थानपर मेगास्थनीजने लिखा है कि 'समस्त भारत एक विराट् देश है और उसमें बहुत-से विभिन्न जातिके लोग बसते हैं। इनमें एक भी आदमी मूलतः विदेशी वंशोत्पन्न नहीं है। स्पष्ट जान पड़ता है कि सभी भारतके आदिम अधिवासियोंके वंशधर हैं। इसके अतिरिक्त भारतमें कभी विदेशियोंका कोई उपनिवेश स्थापित नहीं हुआ और न भारतने कभी विदेशमें किसी देशमें जाकर उपनिवेश स्थापित किया।' *

आधुनिक पाश्चात्त्य ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्ववेत्ताओंके मतसे 'अनुमानतः २५०० से १५०० ई० पूर्वतक आर्योंके दलोंमें उत्तर-पश्चिमी सीमान्तके रास्ते भारतमें प्रविष्ट हुए और उसने इस देशके आदिम निवासी द्रविड़ और कोल-भील आदि जातियोंको पराजित करके क्रमशः उपनिवेश स्थापित किया। यह आर्य हिंदू, पारसी, काकेशीय, ग्रीक और अन्यान्य

---

* 'भारती यत्र संततिः' (विष्णु० २ । ३ । १)

* It is said that India, being of enormous size when taken as a whole, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous; and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation.

—(Mac Crindle: 'Ancient India, Megasthenes', p.

यूरोपीय जातियोंके पूर्वज थे। भारतके बाहर किसी स्थानमें इनकी प्राचीन निवासभूमि थी।'

यह यदि सचमुच सत्य है तो आर्योंका भारतमें वह अभियान मेगास्थनीजके भारतमें आनेके प्रायः १२०० वर्ष पूर्व हो चुका था। परंतु मेगास्थनीजने जोर देकर कहा है कि भारतके एक भी आदमीके पूर्वपुरुष बाहरसे नहीं आये तथा भारतमें विदेशी जातिका उपनिवेश भी कभी स्थापित नहीं हुआ।

मेगास्थनीज एक उच्चपदस्थ, निरपेक्ष, अभिज्ञ और बुद्धिमान् पुरुष थे। उनकी बात उड़ा देने योग्य नहीं हो सकती। उनके लेखके अन्यान्य अंशोंको देखनेसे जान पड़ता है कि वे भारतमें कुछ दिन रहे थे। उनके विवरणकी बहुतेरी बातें विश्वास करने योग्य हैं। उनका वर्णन पक्षपातशून्य है तथा सत्य माना जा सकता है। उससे अनेक विषयोंका विशुद्ध प्रमाण मिलता है।

प्रथमतः, आजसे प्रायः २३०० वर्ष पूर्व भारतमें किसीको यह ज्ञात न था कि भारतीय (आर्य या वैदिक) बाहरके किसी देशसे भारतमें आये थे। बल्कि सभी यही बात जानते और मानते थे कि प्रत्येक भारतवासी भारतके आदिम अधिवासीका वंशज है।

द्वितीयतः, बाहरकी किसी जातिने कभी भारतमें उपनिवेश स्थापित नहीं किया, अर्थात् भारत कभी विदेशी जातिसे त्रस्त नहीं हुआ, सदा ही स्वाधीन रहा।

तृतीयतः, भारतने कभी भी दूसरे देशमें उपनिवेश स्थापन नहीं किया। अर्थात् दूसरोंका राज्य छीननेकी कभी चेष्टा नहीं की। यह भारतकी राजनीतिकी चिरन्तन धाराके अनुरूप था, इसमें संदेह नहीं। इसके अतिरिक्त भारतके बाहर आसपासके देशोंमें वैदिक जाति और सभ्यता उस समयतक थी, यह इतिहासकी आलोचनासे ज्ञात होता है।

भारतीय वैदिक जाति इसी देशमें उत्पन्न हुई है, यह बात यदि सत्य है तो इससे यह निश्चित है कि भारतमें तथाकथित 'आर्य'-अभियान कभी हुआ ही नहीं। नहीं तो, एक हजार वर्षके भीतर आर्य-अभियानकी बात लोग (मेगास्थनीजके समयमें) पूर्णतः विस्मृत नहीं होते।

वैदिक (भारती) जातिकी स्मृति-शक्ति दुर्बल है, यह बात आजतक कोई भी वैदेशिक विपक्षी मनुष्य नहीं कह सका। जो लोग सहस्रों वर्षोंतक वंशानुक्रमसे सारी श्रुतियों तथा अन्यान्य शास्त्रोंको ठीक-ठीक कण्ठस्थ रख सकते थे, उनकी स्मृतिशक्ति दुर्बल नहीं थी। ऐसे पण्डित अब भी दक्षिणमें हैं, जिनको समस्त वेदमन्त्र कण्ठस्थ हैं। पहले श्रुतिधर कवि बहुत होते थे। थोड़े ही दिनों पहलेकी बात है कि पण्डितराज जगन्नाथ तर्कपञ्चाननने गङ्गाके तीरपर दो गोरे अंग्रेजोंका विवाद सुना था। उनकी भाषाके वे जानकार नहीं थे, तो भी न्यायालयमें साक्षी देनेके लिये बुलानेपर उन्होंने ज्यों-की-त्यों उनके विवादकी आवृत्ति कर दी थी; यह बात प्रसिद्ध है। शतावधान पुरुषोंकी तो इस समय भी भारतमें कमी नहीं है।

विशेषतः पूर्वकालमें पितृकार्य भी दैवकार्यके समान ही विशेष आवश्यक समझा जाता था। आजकल बहुत लोग माता-पिताका वार्षिक श्राद्ध भी नहीं करते हैं, परंतु आजसे १००-२०० वर्ष पूर्व प्रति अमावस्या तिथिको बहुत लोग श्राद्ध करते थे। तर्पण तो नित्यकर्म था। इस कारण लोग पूर्वपुरुषोंके नाम और उनकी बात याद रखते थे। अश्वमेध यज्ञमें जो ऋत्विग् वरण किये जाते थे, उन्हींको ऊपरकी चौदह पीढ़ीतक स्त्री-पुरुषोंका नाम बोलना पड़ता था। किसी पुरुषको सवर्णा भार्या न रखनेका नियम था। इसके विपरीत बर्तनेवाले ब्राह्मण अश्वमेध यज्ञमें याजन करनेके लिये उपयुक्त नहीं माने जाते थे।

अभी उस दिनतक घटक (व्याह करानेवाले) ब्राह्मण चौदह पीढ़ीतककी वंशावली ठीक रखते रहे हैं। राजपूतानेमें विवाहके अवसरपर दोनों पक्षोंके पुरोहित आज भी चौदह पीढ़ीके ही नहीं, कहीं-कहीं तीस-चालीस पीढ़ियोंके नामोंका वर्णन करते हैं। इसे शाखोच्चार कहा जाता है। पहले भारतमें अकालमृत्यु कम होती थी। साधारणतः सौ वर्षमें तीन पुरुष समझे जा सकते हैं। इस हिसाबसे चौदह पीढ़ियोंमें प्रायः ४६६ और चालीस पीढ़ियोंमें १३३३ वर्ष होते हैं। अर्थात् साधारण लोग भी मुँहामुँही सैकड़ों वर्षोंके पारिवारिक इतिहासका ज्ञान रखते थे। निवासस्थानकी बात भी उनको ज्ञात रहती थी।

यह किंवदन्ती है कि बंगालके राढ़ी-वारेन्द्र ब्राह्मणोंके पूर्वपुरुष भट्ट नारायण आदि पाँच ब्राह्मण बंगालके राजा आदिसूरके आमन्त्रणसे कान्यकुब्जसे बंगालमें आये थे। उत्तर प्रदेशके कनौजिया ब्राह्मणोंके गोत्र-प्रवर बंगालके ब्राह्मणोंके गोत्र-प्रवरसे मेल खाते हैं। इससे इस किंवदन्तीकी पुष्टि होती है। आदिपुरुष भट्ट नारायण छान्दड़ आदिसे प्रायः समस्त

पर्यायकी वंश-तालिका अबतक ठीक-ठीक मिलती है। बंगालमें आनेके बाद प्रायः तीस पीढ़ी बीतनेपर तीन पुरुष प्रतिशत वर्षके हिसाबसे आदि सूरके यज्ञके बाद आज प्रायः सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

इसके अतिरिक्त, पिछली कई शताब्दियाँ भारतके इतिहासमें एक अभिशप्त और झंझावात-विध्वस्त अन्धकारमय युगके रूपमें बीती हैं। मुसलमान, पठान और मुगल, तथा तत्पश्चात् अंग्रेजोंकी पराधीनताका दुःख और अपमान देशको सहन करना पड़ा है। इस लगातार वैदेशिक आक्रमण और संघर्षणके बीच नारकीय ध्वंसलीला अराजकता और निरंकुश शासनके अत्याचारके फलस्वरूप वैदिक सभ्यताकी जड़ ही हिल गयी। देवमन्दिर नष्ट कर दिये गये, शास्त्र-ग्रन्थ-भण्डार जला डाले गये, कुलके कुल नष्ट कर दिये गये या विधर्मी बना डाले गये। तथापि देखा जाता है कि प्रायः सहस्र वर्ष पूर्वके कुलपतियोंके नाम तथा उनके अन्य प्रदेशसे आगमनकी कहानी और तत्परवर्ती इतिहास विस्मृतिके गर्तमें लुप्त नहीं हुए।

किसी भी सुसभ्य जातिके लिये सैकड़ों-हजारों वर्षोंमें भी अपने आदिम स्वदेशकी बात भूल जाना सम्भव नहीं है। यहूदी जाति इसका जीता-जागता दृष्टान्त है। वर्तमान यहूदियोंकी संख्या एक करोड़से भी कम है और वे गत दो हजार वर्षोंसे (७० ई० तथा उससे ६०० वर्ष पूर्वसे ही) स्वदेशसे निर्वासित होकर सारे संसारमें फैल गये हैं। परंतु क्या उन्होंने एक दिनके लिये भी अपने स्वदेश (Promised land—Zion) पैलेस्टाइनको भुलाया है ? इस स्वधर्म और स्वदेश-निष्ठाके फलस्वरूप यहूदी जाति प्रथम महायुद्धके बाद पुनः पैलेस्टाइनमें स्वाधीन राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हुई है और बहुसंख्यक यहूदी वहाँ लौट गये हैं।

वैदिक (आर्य) जाति यदि सचमुच २५००—१५०० ई० पूर्वके बीच बाहरसे भारतमें आयी होती तो अन्ततः लोग मुँहामुँही इसका प्रचार करते। १०००-१२०० वर्षोंमें ही उस बातको भूल जानेका कोई कारण नहीं दीखता।

एक सौ वर्ष पहले एल्फिन्स्टनने अपने भारतके इतिहासमें मेगास्थनीजकी इस विवृत्तिको उद्धृत करके लिखा है कि 'भारतीय हिंदुओंके पूर्वपुरुष कभी अपने आधुनिक निवासस्थानके अतिरिक्त किसी दूसरे देशमें थे, ऐसा माननेका कोई भी कारण नहीं है। वेद, मनुस्मृति या मनुके पूर्व किसी भी ग्रन्थमें हिंदूजातिकी पूर्व निवासभूमिका कोई उल्लेख नहीं मिलता।'*

जिस समय एल्फिन्स्टनने यह लिखा था, उस समय तक भारतमें 'आर्य'-अभियानकी कहानी नहीं गढ़ी गयी थी। मैक्समूलर आदिकी गवेषणा प्रारम्भ होनेमें बहुत देर थी।

आधुनिक इतिहासकी किसी पुस्तकमें मेगास्थनीजकी इस उक्तिका उल्लेख तक नहीं है। इसका कारण यही है कि यह भारतमें 'आर्य-अभियान' की कहानीके बिल्कुल विरुद्ध है।

वेद या वैदिक शास्त्रमें आर्य-अभियानका उल्लेख नहीं है

वेदसंहिता आध्यात्मिक उपासनाके मन्त्र हैं। इसी कारण उनका एक नाम ब्रह्म है। किसी क्रमसे वेदमन्त्रोंको इतिहासके पर्यायमें नहीं डालना चाहिये।

ऋग्वेदका जो अंश इस समय उपलब्ध है उसमें १०१ मन्त्र हैं। इनमें केवल ४० मन्त्रोंमें पार्थिव भाव और सम्पदा-विषयक कुछ संकेतका अनुमान किया जा सकता है। परंतु इन ४० मन्त्रोंको ऐतिहासिक गवेषणाकी भूमिका माननेपर भी भारतमें आर्य-अभियानकी समर्थक कोई भी युक्ति खोजनेपर नहीं मिलती। डा० कीथ वेद और भारतके ऐतिह्यके विषयमें एक सुविख्यात गवेषक माने जाते हैं। उन्होंने इस विषयमें जो विचार प्रकट किये हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं कि 'इस विषयके जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे कोई सिद्धान्त निकालनेमें अत्यन्त सावधानी अपेक्षित है। परंतु यह निश्चय है कि वैदिक भारतीय किस प्रकार भारतमें प्रविष्ट हुए, यह निर्धारित करनेमें ऋग्वेदसे कोई सहायता नहीं मिलती। हो सकता है कि आर्य अभियात्रीदल हिंदुकुशके दर्रेसे भारतमें प्रविष्ट हुए हों और पंजाब होकर पूर्व दिशामें बढ़े हों। परंतु यदि सचमुच ऐसी बात हुई हो, तो भी अभियानकी ऋग्वेदमें कोई छाया भी नहीं है।'*

---

* "It is opposed to the foreign origin that neither in the Code nor, I believe, in the Vedas, nor in any book that is certainly older than the Code is there any allusion to a prior residence, or a knowledge of more than the name of any country out of India."

—Elphinstone: 'History of India'

* "From these materials conclusions can be drawn only with much caution. It is however certain that the Ṛgveda offers no assistance in determining the mode in which the Vedic Indians entered India. If, as may be the case, the Aryan invaders of India entered by the passes of the Hindu Kush and proceeded thence through the Punjab to the East, still the advance is not reflected in the Ṛgveda."

– (Keith: 'Cambridge History of India' I. p.

अधिकांश उत्साही पाश्चात्य गवेषकोंने कभी भारतमें पदार्पण-तक नहीं किया और कोषकी सहायतासे वेदोंको पढ़ा । उनमेंसे किसी-किसीने वेदमें अभियात्री आर्योंके साथ भारतके आदिम निवासी अनार्य जातिके युद्धका इतिहास खोज निकाला है। यहाँतक कि प्रसिद्ध आचमन-मन्त्र—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्'—जिसे भारत-की कोटि-कोटि द्विज संतान सहस्रों वर्षोंसे प्रतिदिन अनेक बार आवृत्ति करनेपर भी कोई ऐतिहासिक तथ्य कभी नहीं पा सकी थी, अथवा श्राद्धके मन्त्र 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'—से भी किसी-किसी गवेषकने आर्य जातिके आदि-निवास, उनके नेताके नाम-धाम, यहाँतक कि भारतमें आनेके मार्गमें कई स्थानोंपर ठहरनेका संकेत बहुत प्रयत्नपूर्वक निश्चित करके अपने आविष्कारके द्वारा भारत-संतानको अन्धकारसे प्रकाशमें लानेकी चेष्टा की है !

इनको तथा इनकी रचनाके आधारपर जो लोग अनायास ही दुरवगाह वैदिक साहित्यके विषयमें मन्तव्ययुक्त लेख लिखते हैं उनको, धुरंधर समालोचक डा० कीथके कथनपर ध्यान देना चाहिये ।

ऋग्वेदमें 'आर्य' शब्दका उल्लेख तीन स्थानोंपर मिलता है। परंतु इसका अर्थ कहीं भी जातिवाचक नहीं है (१-१०३-३, ६-२५-२, १०-६५-११) ।

श्रीयोगत्रयानन्द कहते हैं, 'इसके सिवा, वेदमें क्या है अथवा क्या नहीं है, यह जाननेके लिये उपयुक्त चक्षुकी आवश्यकता है। वेदमें वस्तु-तत्त्व बीजभावसे वर्तमान है, तथापि योगदृष्टिके बिना वेदका वास्तविक स्वरूप देख पानेकी आशा करना अनुचित है।' (उत्सव १३४०, ५२९ पृष्ठ)

इस विषयमें बहुत विस्तृत आलोचना हो सकती है। परंतु यह निश्चित है कि वेदमें, वैदिक शास्त्रमें या विराट् संस्कृत साहित्यमें कहीं भी बाहरसे 'आर्य' या अन्य जातिके आगमन या आदि 'आर्य-स्थान' का कोई संकेतमात्र भी नहीं है।

प्रस्तर-प्रमाण, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् राखालदास वन्द्योपाध्यायके प्रयत्नसे लगभग अड़तीस वर्ष पूर्व जो महत्त्वपूर्ण अनुसंधान हुआ है, उसके फलस्वरूप सिन्धु देशमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पामें अति प्राचीन सभ्यताका पता लगा है। पुरातत्त्ववेत्ता समझते हैं कि ये सब खण्डहर कम-से-कम २००० ई० पू० अथवा उससे भी अधिक प्राचीन हैं। गहरे स्तरमें जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनको देखकर यह निश्चय किया गया है कि ऊपरी स्तरकी अपेक्षा पूर्वकी सभ्यता अधिक उन्नत थी। अतएव ये सारे अवशेष सम्भवतः ई० ३००० पूर्वकी अपेक्षा भी प्राचीन-तर सभ्यताके प्रतीक हैं।

ऐतिहासिक और पुरातत्त्ववेत्ताओंने यह सिद्धान्त निश्चित कर रक्खा था कि भारतमें प्रथम 'आर्य'-अभियान २५०० ई० पूर्वके पहले नहीं हुआ था। परंतु इस अनुसंधानके फल-स्वरूप एक उलटी बात सामने आ गयी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पाकी खोजको यदि 'आर्य'-सभ्यताका चिह्न माना जाय तो इस अभियानके निश्चित सन्-संवत् गलत ठहरते हैं और यह अभियानकी कहानी भी कमजोर हो जाती है; क्योंकि पाश्चात्त्य मतके अनुसार २५०० ई० पूर्वके पहले भारतके अधिकारी असभ्य (कोल-भील आदि) थे।

सम्भवतः इसी कारण इस सभ्यताको 'सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता' (Indus Valley Civilization) नाम देकर पृथक् करनेकी चेष्टा की गयी है। यह 'आर्य-सभ्यता' नहीं है। आर्य-अभियानके पूर्वकालीन किसी अनार्य परंतु सुसभ्य जाति-के साथ इसको जोड़नेकी चेष्टा की गयी है। गर्डन चाइल्डका अभिमत है कि यह 'आर्य' नहीं परंतु भारतकी किसी प्राक् 'आर्य' जातिसे सम्बन्धित है।* किंतु हड़प्पा मोहन-जोदड़ोसे तीन सौ मील दूर है। फिर आगे चलकर सुदूर पश्चिम बिलोचिस्तानमें भी कुछ स्थानोंमें अनुरूप ध्वंसावशेष पाये गये हैं। अतएव इस सभ्यताको 'सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता' नाम देना कहाँतक ठीक है, कहा नहीं जा सकता।

इसके सिवा मध्यभारतमें भी महेश्वर (प्राचीन माहिष्मती) तथा भारतके अन्यान्य स्थानोंमें भी सुप्राचीन ध्वंसावशेषका क्रमशः आविष्कार हो रहा है और होगा। जान पड़ता है कि इन सब स्थानोंकी सभ्यताको 'आर्य' (वैदिक) सभ्यतासे पृथक् रूपमें दिखानेके लिये भविष्यमें 'नर्मदा-उपत्यकाकी सभ्यता' 'गाङ्गेय सभ्यता' आदि नाम देनेकी आवश्यकता पड़ेगी।

सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता वैदिक है

मोहनजोदड़ो आदि स्थानोंमें खुदाईका कार्य बहुत थोड़ा हुआ था। अनुसंधानके लिये अभी बहुत कुछ बाकी रह

---

* "Not Aryans but connected with one of the pre-Aryan races of India."

—Gordon Childe: 'Aryans', p. 35.

गया है। वहाँके सील आदिके ऊपर जो लिपि पायी गयी है, उसका पाठोद्धार अभी नहीं हो सका है। इस कारण निश्चितरूपसे कुछ कहना नहीं बनता है। तथापि यह माननेके लिये पर्याप्त हेतु है कि यह सभ्यता वैदिक सभ्यताके साथ ही संश्लिष्ट थी।

(१) नासाग्रदृष्टि—प्रथमतः वहाँ नासाग्र-दृष्टि मूर्त्ति पायी गयी है नासाग्र या भ्रूमध्य दृष्टि भारतीय योगविद्याका एक सुपरिचित अङ्ग है। अवैदिक सभ्यताके कलाकार (ग्रीक-रोम आदि देशोंमें) इस अन्तर्दृष्टिका व्यवहार नहीं जानते। चीन-जापान आदि देशोंमें अवश्य ध्यानासीन बौद्धमूर्त्तिमें यह बात मिलती है परंतु बौद्धमत भारतीय वैदिकधर्मकी ही एक शाखा है।

(२) पशुपतिमूर्त्ति—वेदीके ऊपर योगासनमें बैठी एक त्रिशिरा साधक मूर्त्तिको चारों ओर अनेक पशु घेरे हुए हैं। सर जान मार्शलका विचार है कि यह पशुपति (शिव) मूर्त्ति है।* यदि यह न हो तो भी आसनका व्यवहार अवैदिक जातिमें नहीं देखा जाता।

(३) शिवलिङ्ग—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों ही स्थानोंके खण्डहरोंमें बहुत-से छोटे-बड़े लिङ्गाकृति पत्थर पाये गये हैं। किसी-किसीके विषयमें संदेहके लिये अवकाश होनेपर भी, उनमें अनेक शिवलिङ्ग-मूर्त्ति ही हैं, यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है।†

शिवलिङ्ग-पूजा वैदिक है

पाश्चात्त्य मिशनरी तथा लेखक बहुत दिनोंसे प्रचार करते आ रहे हैं कि शिवलिङ्ग-पूजा एक अश्लील प्रथा है।‡ यह वैदिक युगके बाद अनार्योंसे लेकर पूजा-पद्धतिमें गृहीत हुई है; परंतु प्राग्वैदिक किसी असभ्य जातिमें लिङ्ग-पूजा थी; इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता यह कल्पनामात्र है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि शिवलिङ्ग-पूजा वैदिक ऐतिह्य और उपासना-प्रणालीका एक प्रधान अङ्ग है।

वेदके 'शिश्नदेवाः' (८-२१-५, १०-९७-३) को लेकर बहुत लोग तर्क करते हैं। परंतु 'शिश्न' शब्द कभी शिवलिङ्गके अर्थमें व्यवहृत नहीं होता। सायणके मतसे 'शिश्नदेवाः' का अर्थ है 'अब्रह्मचर्याः' (काम-परायण, शिश्नोदर-परायण)। संध्याके आचमनके मन्त्रमें 'शिश्न' शब्द कामेन्द्रियके अर्थमें व्यवहृत हुआ है और 'उदरेण' शब्दके ठीक बाद ही।

मिडरका कथन है कि वैदिक ऋषिगणके समकालीन आदिम-निवासी जातियोंमें लिङ्ग-उपासना प्रचलित थी; इसका प्रमाण प्राप्त करनेमें चाहे कितनी ही सुविधा क्यों न हो, यह मानना ही पड़ेगा कि 'शिश्नदेवाः' शब्दसे यह प्रमाणित नहीं होता।*

आदिलिङ्ग प्रणवात्मक है, इससे नाद या शब्द-ब्रह्मका प्राकट्य हुआ। यह तटस्थ ब्रह्म या अर्द्धनारीश्वररूपका प्रतीक है। इसके पूर्व मैथुनी सृष्टिका आविर्भाव नहीं हुआ था। 'तदेव लिङ्गं प्रथमं प्रणवं सर्वकालिकम्' (शिवपुराण विद्येश्वरखण्ड १६। २८)। यह लिङ्ग सूक्ष्म और निष्कल है। स्थूल (पार्थिव या अन्य वस्तुद्वारा गठित) लिङ्ग जिसकी उपासना की जाती है, वह इस अनादि लिङ्गका प्रतीक है। शिव-लिङ्ग-पूजामें असत्-भावकी कल्पना भी नहीं आ सकती।

विंटरनीजके मतसे शिवलिङ्ग-पूजामें कोई अश्लीलता नहीं है।† प्राचीन सभ्यताके विख्यात आलोचक डॉ॰ डूरांट कहते हैं कि 'हिंदू-उपासना-पद्धतिमें शिवपूजा सबसे अधिक तपस्या और संयम-साध्य है। लिङ्गायत लोग शिव-लिङ्गके श्रेष्ठ भक्त और पूजक हैं। भारतमें उनका सम्प्रदाय सर्वापेक्षा संयमशील है।‡ फलतः शिवलिङ्ग-पूजामें अश्लीलता

---

* "Sir John Marshal has identified this figure as the Indian God Śiva in his aspect of Pashupati or Lord of Beasts."

—(The Indus Civilization by Macuar p. 70)

† "Certain large, smooth, cohesive stones unearthed at Mohenjodaro and Harappa were undoubtedly the Lingas of these days. This association (with the worship of Śiva) however seems more probable".

—(Ibid p. 77—8)

‡ "It was in a missionary book that I first learnt that Śiva-Linga had some obscene significance at all."

(Gandhi.)

* "However interesting it could be to find a proof of existence of a Phallic worship among the aboriginal types contemporary with Vedic Ṛṣis, it must be confessed that the word 'Śiśna-Devāḥ' does not supply the evidence." --(Muir, IV, p. 409)

† "The Linga Cult certainly bears no trace of any Phallic cult of an obscene nature."

--(Winternitz: 'Indian Literature', Vol. I, p. 509)

‡ "The worship of Śiva is one of the most austere and ascetic of all the Hindu cults; and the devoutest worshippers of the Linga are the Lingayats, the most puritanic sect in India."

—(Dr. Durant. p. 519)

का आरोप अविवेक, नास्तिकता और असभ्यताके सिवा और कुछ नहीं है। इस विषयमें अधिक आलोचनाके लिये यहाँ स्थान नहीं है।

किसी भी असभ्य, अर्द्धसभ्य, यवन, म्लेच्छ, यहाँतक कि सभ्य जातिसे वैदिक जातिने किसी धर्म, मत, देवता या उपासना-प्रणालीको कभी ग्रहण किया हो—इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। सनातनधर्म और उपासना-पद्धति स्वयं पूर्ण है। इसमें देनेकी शक्ति है, दूसरोंसे कुछ लेनेकी आवश्यकता नहीं है। देशकी परम दुर्गति और पराधीनताके दिनोंमें भी विजेता जातिसे धर्मके विषयमें इसने कुछ नहीं सीखा। फिर भला स्वाधीन विजयी 'आर्य' जातिके लिये किसी पराजित असभ्य 'दस्यु' जातिके अश्लीलभावकी उपासना ग्रहण करनेका क्यों कोई प्रयोजन हो सकता है ? शिवपूजामें लिङ्गोपासना की जाती है। पर इसमें संदेह नहीं कि यह शिवलिङ्गकी पूजा परब्रह्मकी आदिमूर्तिके प्रतीककी पूजा है और इसको सभी नीची जातियोंके सब लोग कर सकते हैं। किसी भी पुरोहित, दक्षिणा, भोग-राग, मन्त्रादिका इसमें आडम्बर नहीं होता; साधारण जल और बिल्वपत्र तथा पञ्चाक्षर मन्त्रसे ही देवाधिदेव संतुष्ट हो जाते हैं। भारतमें जितने शिवलिङ्ग और शिवमन्दिर हैं, उतने और किसी देवताके मन्दिर और मूर्त्तियाँ नहीं हैं। शिवलिङ्गकी जितनी पूजा होती है, उतनी और किसी देवताकी नहीं होती। आर्योंके लिये असभ्य जातिकी पूजा-पद्धतिको इस प्रकार श्रेष्ठ आसन प्रदान करनेका कोई कारण नहीं दीखता।

वर्तमानकालमें भारतकी किसी तथाकथित आदिवासी जातिमें शिवलिङ्ग या शिवपूजाका अस्तित्व भी नहीं देखा जाता। शिवलिङ्ग-पूजा वैदिक है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। अतएव मोहेनजोदड़ो और हड़प्पाके प्राचीन अधिवासी वैदिक पद्धतिसे उपासना करते थे, यही सिद्ध होता है।

(४) चतुर्थतः खण्डहरोंमें एक चित्रमें देखा जाता है कि एक वृक्षकी शाखापर दो पक्षी बैठे हुए हैं। एकके मुँहके पास फल है, दूसरेके पास कोई फल नहीं है। मोहेनजोदड़ोका यह चित्र सम्भवतः एक प्रसिद्ध ऋग्-मन्त्रके भावका द्योतक है—

> **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
> **तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**
>
> —ऋ० म० १ सू० १६४

इस मन्त्रमें जीव और ईश्वर दो पक्षियोंका स्वरूप वर्णित है। जान पड़ता है कि यही रूपक उपर्युक्त चित्रमें परिव्यक्त किया गया है। यदि सचमुच यही बात है तो मोहेनजोदड़ोकी सभ्यता वैदिक है, इसमें कहीं संदेहको स्थान ही नहीं रह जाता।

(५) मोहेनजोदड़ोके एक दूसरे चित्रमें श्मशानका दृश्य है। उसमें एक कलसी, अर्द्धदग्ध काष्ठ और चिताभस्म आदि पाये गये हैं। शवका अग्निसंस्कार प्राचीन कालसे आजतक वैदिक भारतमें प्रचलित है।

इन दोनों चित्रोंसे प्रमाणित होता है कि 'सिन्धु-उपत्यका-की सभ्यता' सम्भवतः प्राक्-वैदिक नहीं है। बल्कि वैदिक ही है। कलकत्ता विश्वविद्यालयके अध्यापक स्व० वेनीमाधव बरुआने इस विषयमें अनुसंधान किया था। दुःखका विषय यह है कि कार्य समाप्त होनेके पूर्व ही उनका परलोकवास हो गया।*

(शेष अगले अंकमें)

प्रभुकी कृपासे मैं सर्वत्र सबमें केवल प्रभुको ही देख रहा हूँ

प्रभुकी परम कृपासे मैं अब देख पा रहा हूँ सर्वत्र।
प्राणि-पदार्थ-परिस्थिति सब हैं रूप उन्हींके अत्र-परत्र॥
सृष्टि-प्रलय, अव्यक्त-व्यक्त सब देश-काल उनके ही रूप।
खेल रहे अपनेमें अपने अपनेसे ही खेल अनूप॥
प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, शुभाशुभ, जीवन-मरण, मान-अपमान।
छिपे सभीमें सदा, बने वे ही अणु, विभु, अति क्षुद्र, महान॥
मन-प्राण-मति-इन्द्रिय सब वे, वही भोग्य भोक्ता भगवान।
विविध विचित्र अनन्त वस्तु चिज्जडमें छाये एक समान॥
प्रभुकी सर्वरूपताने कर लिया मुझे भी अङ्गीकार।
फटा मोह-ममताका पर्दा, मिटा सभी मिथ्याऽहंकार॥

---

* हिंदू-संस्कृति और स्वाधीनता—श्रीयुक्त श्रीजीव न्यायतीर्थ, 'कल्याण' हिंदू-संस्कृति-अङ्क पृ. १३७-३८।

कर्मठता

(मूल लेखक—प्रा० श्रीसावलापुरकर महोदय)

(भावानुवादक—प्रा० श्रीगोपालजी गुप्त एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

मानव-समाजमें कर्मठताको एक दोष समझनेकी प्रवृत्ति पायी जाती है। उसे एक ढोंगीपनका प्रकार समझा जाता है और भोली जनताको लूटनेका एक साधन। संत तुकारामने भी कर्मठताका यह स्वरूप बतलाया है—'स्नान-संध्या-तिलक-माला। चित्तमें द्वेषादिकी ज्वाला।' कर्मठ मनुष्यके विषयमें प्रायः यह लिखा जाता है कि वह व्रताचरणके बाह्य व्यापारोंमें उलझा रहता है, कभी-कभी मूलतत्त्वकी भी अवहेलना कर बैठता है और किसी भी परिवर्तनका कट्टरतासे विरोध करता है। लोग उसे अक्सर 'लकीरका फकीर' या 'लकीर पीटनेवाला' कहते हैं। वह किसी भी परिवर्तनके लिये तैयार नहीं रहता। आजतक जितने भी सुधार हुए हैं, उन सबका विरोध ऐसे ही कर्मठोंद्वारा हुआ है। नयी परिस्थितिमें लचीलापन स्वीकार करके सुलह कर लेना उसके स्वभावमें ही नहीं होता। इस प्रकार बहुत-से आरोप इन कर्मठोंपर खुलेआम लगाये गये हैं। आज तो इसका अत्यधिक विस्तार है।

उपर्युक्त आरोपोंका परीक्षण करके हमें यह देखना है कि उनमें कहाँतक सचाई है और कर्मठताका वास्तविक स्वरूप क्या है एवं उसकी व्याप्ति कहाँतक है ? कोई भी बाह्याचरण किसी एक अमूर्त उद्देश्यसे किया जाता है, अतः उद्देश्य महत्त्वका है और आचरण गौण। प्रायः बाह्याचरणके आधारपर उसका औचित्यानौचित्य नहीं बताया जा सकता।

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

—सर्वथा सत्य कथन है। एक ही प्रकारका आचरण एक परिस्थितिमें धर्म्य होता है और दूसरीमें अधर्म्य। पर इस कारण बाह्याचरणकी व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। तत्त्व भले ही महत्त्वपूर्ण हो, परंतु उसके आचरणके अभावमें वह अस्तित्वहीन ही माना जायगा। इसीलिये आचरणका भी उतना ही महत्त्व है जितना कि तत्त्वका। यह सत्य है कि तत्त्वको समझ-बूझकर आचरणमें लाना चाहिये। जड और चेतनमें आत्मतत्त्व ही महत्त्वका है। चेतनाहीन शरीर तो अग्निदेवताको ही अर्पण करने योग्य होता है। परंतु शरीरके अभावमें आत्मतत्त्व भी कहाँ व्यक्त होता है ? इसीलिये **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** कहा गया है अर्थात् आत्म-कल्याणके लिये शरीरसंवर्धन नितान्त आवश्यक है।

इसी कारण जीवनके अन्यान्य सभी क्षेत्रोंमें तदनुकूल आचरण-तन्त्र निर्मित किये गये हैं और उनके यथावत् पालनपर विशेष बल दिया गया है। धार्मिक क्षेत्रको छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रोंमें यही तन्त्र आधुनिक शब्दावलीमें 'अनुशासन' कहलाता है। सिपाहियों, सैनिकों तथा एन. सी. सी. एवं स्कूलके लड़कोंके विशिष्ट प्रकारके गणवेशों एवं उनके धारणकी विशिष्ट पद्धतिपर, उनकी विशिष्ट प्रकारकी हलचलों एवं अपने-अपने ढंगकी स्वच्छता आदि कई बातोंपर कितना ध्यान दिया जाता है ! ये सब बातें अनुशासनके अन्तर्गत मानी जाती हैं। इसीलिये सभी लोग अपने-अपने क्षेत्रके आचरण-तन्त्रके अनुकूल अपना-अपना आचरण रखते हैं। सेनाका सिपाही या अधिकारी कड़ी अस्तरीके कपड़े पहिनता है, बड़ी शानसे रहता है और सुव्यवस्थित भी दीख पड़ता है, परंतु वह इन सब आचरणोंके फलस्वरूप रणशूर या निर्भीक होता ही है, यह समझना बहुत बड़ी भूल है। लोकाधिकारियों, दरबारियों आदिके भी पोशाक और आचरणकी अपनी-अपनी विशेषता होती है। सलाम या मुजरा करनेका ढंग, नज़राना-पद्धति, शिष्टाचार आदि सब बाह्य तन्त्रके अङ्ग हैं। इनका यदि पालन यथोचित पद्धतिसे किसीमें नहीं किया जाय तो ये ही कर्मठता-विरोधी सभ्य लोग उसे 'असभ्य-अशिष्ट' कहकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। सेनाके निर्बन्धोंका पालन न करनेवाला तन्त्र-स्वतन्त्र सैनिक तो सभीकी दृष्टिमें दण्डनीय होता ही है और अन्य क्षेत्रोंमें भी यदि दण्डनीय नहीं, तो कम-से-कम धिक्कारका पात्र तो अवश्य ही होता है। कोई भी सभा-सोसाइटी लीजिये। उसकी भी अपनी नियमावली होती है। उन नियमोंके अनुकूल आचरण करना उस-उस सोसाइटीके सदस्योंके लिये अनिवार्य होता है, अन्यथा उनपर अनुशासन-भंगकी कार्रवाई की जाती है। विधान-सभाओंके सदस्योंकी शपथ-ग्रहण-विधि भी एक आचरण-तन्त्र ही है। न्यायालयमें तो हर एक बयान देनेवालेको सच बोलनेकी शपथ खानी पड़ती है। तथापि अधिकांश लोग

प्रतिज्ञापूर्वक झूठ ही बोलते हैं। सारांश यह कि ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं दिखायी देगा, जहाँ आचरणका कोई तन्त्र न हो। कृतिको कर्म कहा कि उसके आचरणके तन्त्रके आग्रहको कर्मठता नाम देना ही पड़ता है। इतनेपर भी यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि धर्मक्षेत्रकी कर्मठताको जो लोग अनावश्यक बतलाते और बुरी निगाहसे देखते हैं, वे ही अन्यान्य क्षेत्रोंकी कर्मठताको आवश्यक मानते और अच्छी निगाहसे देखते हैं। यह पक्षपात क्यों?

देशभक्तिके क्षेत्रमें आइये। वहाँपर भी कर्मठताके दर्शन आपको होंगे। खादीके खास ढंगके ही कपड़े पहिनना, सर्वोदयवादियोंका विशिष्ट दिनको शुभ मानकर कोई एक ग्रामोद्योग करना, विधान-सभाओंमें चुनकर आनेके लिये बैल-जोड़ी-जैसे विशिष्ट चिह्नका ही उपयोग करना, उसके अपनानेपर अत्याग्रह प्रकट करना, राष्ट्रीय गानके समय खड़े होना आदि सब कर्मठताकी ही लीला है और है भी वह अपरिहार्य।

सामाजिक क्षेत्रमें भी कर्मठता पायी जाती है। अंग्रेजी डिनर-पार्टियाँ विशिष्ट ढंगसे ही सम्पन्न होती हैं। उसके लिये अमुक रंगकी ही पोशाक धारण करनी पड़ती है, काँटे-चम्मच विशिष्ट स्थानपर विशिष्ट ढंगसे ही रखने पड़ते हैं, मद्यपात्र विशिष्ट मन्त्रोच्चारणके साथ ही ओठोंसे लगाना पड़ता है। भारतीयोंके भी पंक्ति-भोजके अपने नियम हैं। परंतु आश्चर्य यह है कि जिन्हें अंग्रेजी-पार्टीके नियम भाते हैं, उन्हीं भारतीयोंको पंक्ति-भोजके नियम भद्दे लगते हैं। पार्टीके सूट-बूट अच्छे! और हमारे 'सदा शुचि' रेशमी वस्त्र भद्दे!! इसकी कैसी क्या तात्त्विक मीमांसा करेंगे? स्कूल-कॉलेजोंके सम्मेलन, साहित्य-सम्मेलन, काँग्रेस आदि राजनीतिक संस्थाओंके वार्षिक अधिवेशन या गिरजाघरोंमें प्रति रविवारको दिये जानेवाले धार्मिक प्रवचन आदि सभामें कर्मठता किसी-न-किसी रूपमें पायी जाती ही है। अधिक क्या कहें? बाजारकी दूकानोंकी सजावटमें और विधि-प्रदर्शनोंमें भी एक प्रकारकी कर्मठताको अपनाये बिना काम नहीं चलता।

वैयक्तिक आचरणोंके तथा रहन-सहन एवं पोशाकके भी नियम उस-उस समाजमें पाये जाते हैं। समय-समयपर उनमें अलक्षितरूपसे परिवर्तन होता रहता है तथापि उनके संकेत प्रायः उस-उस समयके लिये एक-से ही होते हैं। रंगकी संगति, सौन्दर्यकी कल्पना, कलात्मकता, शरीर-स्वच्छतासम्बन्धी धारणा आदिको लेकर फैशन चल पड़ता है और उस-उस कालमें उसका सर्वत्र अनुकरण होता रहता है। इस 'फैशन' को भी आधुनिक कर्मठताका एक प्रकार ही समझिये। परंतु यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि हम नियमपूर्वक किये जानेवाले भजन-पूजनको तुच्छतासे कर्मठता कहते हैं, परंतु प्रतिदिन सुबह उठते ही दाढ़ी घोंटने बैठनेको कर्मठता समझकर निन्द्य नहीं कहते!! इस तरह एकको निन्द्य और दूसरेको अनिन्द्य कहना हमारी बुद्धि-भ्रष्टताका ही परिचय देना है। इसे सिवा बुद्धि-भ्रष्टताके कार्यके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं?

देव-दर्शनको जानेवाली प्राचीन पुरन्ध्रीके हाथका रजत-पात्र और चहल-कदमीके लिये निकली हुई 'आधुनिका' के कर-कमलका शोभावर्धक 'पर्स' दोनों कर्मठताके ही नमूने हैं। तारतम्य ही देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि उस रजत-पात्रकी उस विशिष्ट कार्यमें आवश्यकता 'पर्स' की अपेक्षा अधिक है। पुराने समयका वेणीदान और आजका 'बॉबकट' इन दोनोंमें विद्यमान आग्रह कर्मठताका ही प्रकार है। संध्या-पूजनके लिये प्रयुक्त पञ्चपात्रादि सामग्री और चाय-पानके लिये काम आनेवाली 'चम्मच-कप-तश्तरी' दोनोंमें किसकी अधिक उपादेयता है, कहना कठिन है। 'श्रीगणेशाय नमः' लिखकर प्राचीनकालमें ग्रन्थारम्भ करनेकी पद्धतिकी तरह आधुनिक ग्रन्थोंके उपोद्घात, अर्पणपत्रिका, सर्वाधिकार, सौभाग्यवती·······के समर्पण करनेकी घोषणा आदि कर्मठताके ही काल-परिवर्तित उदाहरण हैं। प्राचीन संस्कृत पण्डितोंका शाल और आजके अंग्रेजी विद्वानोंका पदवी-दान-समारोहके समयका काला गाउन दोनोंको एक-सा ही शोभास्पद या दोषास्पद मानना चाहिये। एकका भस्म-धारण और दूसरेका मुँहपर लगा सुगंधितचूर्ण (फेस पाउडर) दोनोंकी सरसता-नीरसता किस आधारपर निश्चित करेंगे? आजका हाफपेंट पुराना पंचिया ही नहीं है क्या? विदेशसे दिल्ली आये हुए किसी भी अतिथिका सदलबल राजघाट पहुँचकर बापूकी समाधिपर एक खास ढंगसे समारोहपूर्वक पुष्प-वलय अर्पण करना क्या कर्मठता नहीं है? परम्परागत रूढ़ियोंका, और परकीय प्रथाओंका अंधानुकरण दोनों ही भयावह एवं त्याज्य हैं। तथापि इन दोनोंमें सर्वप्रथम परकीय प्रथाओंके अन्धानुकरणका त्याग करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि इस अन्धानुकरणमें भयानक हानिके अतिरिक्त स्वाभिमान-शून्यता, हीनताकी कल्पना एवं स्वात्मघातकता आदि अनेक दोष भरे पड़े हैं। आजकी हमारी 'फैशन' मूलक कर्मठता विदेशियोंके अन्धानु-

करणसे ही उत्पन्न हुई है। तथापि हम उसे 'सुधार' के नामपर सानन्द स्वीकार कर रहे हैं और प्राचीन कर्मठताको अन्धश्रद्धाके नामपर त्याग रहे हैं !!

सारांश यह है कि कर्मठता सभी कालोंमें, सभी देशोंमें जीवनव्यापिनी होते हुए भी एकमात्र धार्मिक कर्मठतापर दूषित दृष्टिपात करना और उसे ढोंग कहकर उसका अधिक्षेप करना कदापि न्यायसंगत नहीं है। ढोंग कहीं भी हो, गर्हणीय ही है; फिर वह चाहे धर्मके, साहित्यके या शरीरप्रसाधनके क्षेत्रमें हो। परंतु केवल धर्मक्षेत्रके ढोंगको एकमात्र दोष-दृष्टिसे चुनकर निकालना किं बहुना जहाँ-जहाँ बाह्य धर्माचार पाये जाते हैं वहाँ वहाँ यह खास ढोंग ही है, ऐसा आनुमानिक सिद्धान्त प्रस्थापित करना—आत्मप्रवञ्चनाका ही बहुत भयानक रोग है।

कर्म और कर्मठताकी सीमारेखा बहुत सूक्ष्म है। कर्मठता गले आ पड़ती है, अतः कर्मसे ही पिण्ड छुड़ा लेनेमें एक तरहसे अराजकता उत्पन्न हो जायगी। इससे तो कर्मठताका अंगीकार अच्छा है, जो समाजको विघटनसे बचाता है; क्योंकि कर्मठताके अपनानेसे थोड़े बहुत कर्म तो नियमित होते रहेंगे। अतः कर्मठता कर्महीनता एवं उच्छृङ्खलताकी अपेक्षा सर्वतोपरि स्वीकार्य है। कम-से-कम जिस कर्ममें शारीरिक एवं मानसिक शुद्धताका अनुभव होता है, जिसमें सात्त्विकताके संस्कारकी सम्भावना रहती है, उसके सम्बन्धकी कर्मठताका कलङ्क स्वीकार करके भी उसका आचरण करना पूर्णतः हितावह है। सौन्दर्य-प्रसाधनके बाद दर्पणमें रूप-दर्शन करनेकी अपेक्षा वास्तविक स्वरूप-दर्शनके मार्गपर—स्वल्पमात्र क्यों न सही, ले चलनेवाली यह 'अघमर्षण'-विधिवाली कर्मठता क्या श्रेयस्कर नहीं है ? कर्मकी महत्ताकी अनुभूतिके लिये पहिले कर्मठताको ही स्वीकार करना पड़ता है। तभी गंदी आदतोंके रहते हुए भी पवित्र स्थानोंपर गंदगी करने या फैलानेमें किसीको भी संकोच मालूम पड़ता है। यदि कोई धर्मका बाह्य चिह्न शरीरपर धारण करता है और 'स्नान-संध्या-तिलक-माला' से शुचिर्भूत होनेका ढोंग ही करता है तो भी उससे धर्मभावके संचरणकी न्यूनाधिक सम्भावना अवश्य रहती है। बाह्यपरिस्थितिका आचरणपर प्रभाव पड़ता ही है। कम-से-कम चार आदमियोंके सामने असदाचरण करनेमें लज्जा प्रतीत होती ही है; क्योंकि स्वाँगके अनुरूप आचरण करना पड़ता है न। सारांश यह कि अन्य किसी भी क्षेत्रकी कर्मठताकी चार आदमियोंकी अपेक्षा धर्म-क्षेत्रकी कर्मठता निरापद ही नहीं, लाभदायक भी है।

धर्मके आग्रहपूर्ण आचरणको कर्मठता कहकर उसके प्रति जो एक तिरस्कार-भाव व्यक्त किया जाता है, उसका एक कारण यह है कि मानव-समाज धार्मिक मनुष्यसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहादिकी जैसी अपेक्षा रखता है वैसी अन्यान्य क्षेत्रोंके लोगोंसे नहीं। अतः अपेक्षित मनुष्य कोई हमारी आशाके विपरीत आचरण दिखाता है तो उससे मनको एक जबरदस्त धक्का लगता है और हम उसकी कर्तव्य-भ्रष्टतापर उसे बुरी तरह फटकारते हैं। यदि कोई भाषाध्यापक लिखनेमें ह्रस्व-दीर्घ-अनुस्वारकी कोई गलती करता है; पतिव्रता समझी जानेवाली कोई स्त्री यदि स्वैराचरणका सबूत देने लाती है या एन्टी-करप्शन विभागके अधिकारी ही यदि रिश्वत लेने लगते हैं तो (ऐसे उदाहरणोंकी बहुलताके कारण अब लोगोंको ऐसी बातोंपर भी आश्चर्य नहीं मालूम पड़ता। यह अधोगति है या उन्नति, समझनेकी बात है) जनता कितने आश्चर्यमें पड़ जाती है। स्वच्छ-श्वेत वस्त्रपर स्वल्प-सा काला धब्बा दर्शकके मनको स्वभावतः एकदम आकृष्ट कर लेता है। इसी तरह जिनसे जिस कर्तव्यकी आशा की जाती है वे यदि उस कर्तव्यमें चूकते हैं तो जनताका ध्यान तुरंत उनपर जाता है और जनताकी आँखोंमें वे खटकने लगते हैं। धर्मक्षेत्रकी कर्मठताके प्रति निन्दय भावके प्रचारका यह रहस्य है, इसी कारण इस धर्मक्षेत्रकी कर्मठताको अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। यहाँतक कि कर्मठता अन्य क्षेत्रोंमें भी हो सकती है, इस बातको ही लोग भूल गये। पर्यायसे यह धार्मिकताकी प्रसिद्धि ही है। परंतु धार्मिक मनुष्य कर्मठताके कारण ढोंगी होता है यह कहना सर्वथा असत्य है। वास्तविक सत्य तो यह है कि स्वभावके पाखण्डी मनुष्य ही जिस तरह अन्यत्र ढोंगसे काम लेते हैं, उसी तरह धर्माचरणमें भी ढोंगी जीवन बिताते हैं।

समाजको स्वच्छन्दजीवी बननेसे रोकनेके लिये कर्मठताका आग्रह अनेक बार अत्यावश्यक सिद्ध हुआ है। मनके न चाहनेपर भी बलप्रयोगपूर्वक शरीरसे काम करवा लेना अच्छे कामोंमें असंदिग्धरूपसे लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इस सम्बन्धमें 'ताडने बहवो गुणाः' को चिरंतन सत्य कह सकते हैं। अच्छे कामोंमें बल-प्रयोग प्रायः घातक सिद्ध नहीं होते यम-नियमोंमेंसे यमकी साधना जब भी कोई कर सकता है उत्तम है, परंतु तत्पूर्व साधकको नियमकी ही साधना करनेका उपदेश देनेकी प्रथा पायी जाती है; क्योंकि नियम-पालनसे ही साधकमें यमाचरणकी क्षमता उत्पन्न हो सकती है और यदि उत्पन्न नहीं होती तो भी नियमाचरणजन्य जो लाभ पल्ले पड़ता

है, वह किसी भी प्रकार नगण्य नहीं है। यह सत्य है कि धार्मिक कट्टरता कर्मठताका ही एक प्रकार है और यह भी सत्य है कि ऐसे ही कट्टर धार्मिकोंकी ओरसे किसी भी सुधारके लिये सदैव घोर विरोध भी होता रहा है तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुधारकोंकी स्वच्छन्दता या उच्छृङ्खलतापर अङ्कुश लगाकर सामाजिक संतुलन बनाये रखनेका कार्य इन कट्टर कर्मठोंने जितना अधिक किया है, उतना क्वचित् ही किसीने किया होगा। सुधारका अर्थ है—दुःखदायी बन्धनोंसे छुट्टी पाकर सुखदायी बन्धनोंको गले लगाना। पूर्णतः बन्धनमुक्तिको तो कोई भी विद्वान् न सुधार कहता है और न समझता ही है। अतः नये बन्धनोंसे अच्छी तरह अभ्यस्त होनेतक पुराने बन्धनोंको धीरे-धीरे छोड़ते चलना ही सामाजिक दृष्टिसे हित-कारक है। सामान्य जनताके लिये तो यह बन्धनान्तर अलक्षित ही रहना चाहिये, अन्यथा वह ऐसे अवसरपर अच्छे-अच्छे बन्धनोंको भी तोड़कर ऐसी प्रवाह-पतित हो जाती है कि फिर उसे आगे ढकेलनेवालेकी अपेक्षा खींचकर पकड़ रखनेवाले-की ही अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। सभी सामाजिक और धार्मिक सुधारोंका इतिहास इसका साक्षी है।

तथापि ऐसी भी विचारधाराके लोग समाजमें पाये जाते हैं जो कर्मठताके दोषसे बचनेके लिये किसी भी नियमको नहीं चाहते और मनको स्वच्छ रखकर अवसरोचित काम करते हुए जीवन बिताना चाहते हैं। परंतु ऐसे लोग सामान्य कोटिके नहीं होते। अतः सबके लिये यदि कर्म-बन्धन अनावश्यक कर दिया जाता है तो आत्मप्रवञ्चनाको ही पनपने-का सुअवसर प्राप्त होगा। तुकाराम-जैसे संतने भी निर्मल हृदय एवं मधुर वाणीके प्राणीके लिये माला धारण न करनेके प्रति आग्रह नहीं दिखलाया अर्थात् माला धारण करनेका विरोध नहीं किया। परंतु माला धारण न करनेका अधिकारी कौन, इसका निर्णय करना कठिन है।

अपने समस्त आचरणको ही ईश्वराराधन समझनेवाले अधिकारी पुरुष दुनियामें लगभग नहींके बराबर होते हैं। भगवत्-पूज्यपाद श्रीमत्शंकराचार्यजीने अपने 'परा-पूजा-स्तोत्र' में कहा है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः
प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विविधोपभोगरचना
निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः
स्तोत्राणि सर्वा गिरः
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं
शम्भो ! तवाराधनम् ॥

इस अवस्थामें देहासक्ति भी नहीं रहती। परंतु यह अधिकार यदि कोई अनधिकारी अपने हाथमें ले लेता है और संध्या-वन्दनादिसे छुट्टी पा लेता है तो उससे लाभकी अपेक्षा हानि ही होगी।

जिनका ज्ञान परिपक्व दशाको प्राप्त हो चुका है और जो कार्याकार्य-विवेकमें समर्थ हैं, उनके लिये विशिष्ट कर्मोंसे ज्ञान-पूर्वक मुक्ति पाना क्षम्य हो सकता है। पर वह भी आदर्श तो नहीं है; क्योंकि बड़ोंका' अनुकरण छोटे आदमी जो करते हैं वे कर्म एवं तज्जनित कर्मठतासे अपना पिंड छुड़ानेके लिये ! अतः उनके लिये अपने स्वैराचरणका समर्थन करनेके लिये बड़ोंका अनुकरण करना बहुत आसान है। इसी कारण अनधिकारी लोगोंपर कर्मका और तज्जन्य कर्मठताका भी बन्धन लागू करना नितान्त आवश्यक समझना चाहिये। रज-तमात्मक प्रवृत्तियाँ विनष्ट होकर जब केवल सत्त्वमात्र इस संसारमें शेष रहेगा, तबकी बात हम यहाँ नहीं कहना चाहते। हमारा यहाँ इतना ही निवेदन है कि जबतक रज-तम विद्यमान हैं, तबतक उनके नियन्त्रणके लिये कुछ शरीराचरणकी असंदिग्धरूपसे आवश्यकता रहेगी। आन्तरिक वृत्तियाँ बाह्याचरणके अनुकूल 'जैसी मुख तै नीकसै तैसी चालै चाल' अवश्य होनी चाहिये। परंतु यदि वैसी भीतर-बाहरकी एकता नहीं रह पाती, इसलिये बाह्याचरणको ढोंग कहकर उसकी उपेक्षा करना कदापि संगत नहीं * ? यदि हम नियमोंके बन्धनको जीवनसे हटा

---

* भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने लिये कर्मठताकी आव-श्यकता बतलाते हुए कहा है—"बड़े लोग जिस प्रकारका आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसीको प्रमाणरूप मानकर उसीका अनुकरण करते हैं। अर्जुन ! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी फल मुझे अप्राप्त नहीं है, जिसकी प्राप्तिके लिये कर्म करना पड़े, तो भी मैं कर्म करता ही हूँ। पार्थ ! यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो सभी मनुष्य मेरा ही अनुसरण करने लगेंगे। मेरे लिये आवश्यक न होनेपर भी यदि मैं कर्म छोड़ दूँ तो सब लोग कर्महीन होकर नष्ट हो जायँगे और मैं वर्णोंमें संकरता उत्पन्न करनेका तथा प्रजाके विनाशका कारण बनूँगा। इसलिये संसारी लोग जिस प्रकार आसक्त होकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही लोकसंग्रहकी इच्छा करनेवाला विद्वान् अनासक्त होकर कर्म करे। (गीता अध्याय ३ श्लोक २१ से २५)

देते हैं और प्रगतिके नामपर मनमाने उच्छृङ्खल नारे लगाते हैं तो हमारे लिये अधोगतिकी सीमा निश्चित करना असम्भव हो जायगा । आजके इस विवेकभ्रष्ट नेतृत्वके युगमें पतनकी सीमा-रेखा ही मिट गयी है । सब पाप पुण्य हो गये हैं । बड़े-बड़े कवियोंने भी कामना की है—'सब पाप पुण्य हो जाय ।'

कूपमण्डूकता, कट्टरता, दुराग्रह, हठीलापन आदि अनेक दुर्गुण कर्मठतासे जन्म पाते हैं, परंतु अच्छी बातोंमें ये दुर्गुण ही सद्गुण भी बन जाते हैं । मनुष्य कट्टर स्वैराचरणी रहनेकी अपेक्षा यदि धार्मिकतामें कट्टर रहता है तो समाजके लिये निस्संशय वह कम उपद्रवकारी रहेगा । एक बात ध्यानमें रक्खें—कर्मठताका अर्थ धर्मान्धता नहीं है । ईसाइयोंद्वारा परस्पर जीवित जलानेके रूपमें किये गये अत्याचार और मूर्ति-भञ्जन तथा धर्मान्तरके लिये किये गये मुसलमानोंके अत्याचार कर्मठता नहीं, धर्मान्धता हैं । भारतवर्षमें कभी ऐसी धर्मान्धता नहीं पायी गयी । कर्मठता अवश्य दृष्टिगोचर होती रही और इसी कारण भारत अपना स्वत्व भी कायम रख सका था । आज उसीपर स्वतन्त्र होकर भी घातक आक्रमण हो रहा है । कर्मठताका लक्षण है 'स्वशरीर-निग्रह' और धर्मान्धताका 'पर-पीड़न ।' (कर्मठता तप है, धर्मान्धता अनर्गल हिंसा) एक आत्मान्वेषी, तो दूसरा पर-मर्मान्वेषी होता है । कर्मठतामें सहिष्णुता है तो धर्मान्धतामें असहिष्णुता । अन्धता-पदसे ही तद्गत भाव व्यञ्जित हो जाता है । इसी प्रकार कर्मठता और भोलापन भी एक नहीं है, कर्मठ मनुष्य व्यवहार-कुशल हो सकता है, पर भोला आदमी सभी क्षेत्रोंमें भोला ही रहता है ।

विशिष्ट प्रकारकी कर्मठताका मण्डन करना इस लेखका उद्देश्य नहीं है । पुरानी कर्मठता जिन्हें पसंद नहीं है उनका यह कर्तव्य है कि वे धार्मिक एवं नैतिक क्षेत्रमें चित्तशुद्धिके लिये एवं शरीर-निग्रहके लिये कोई नयी प्रकारकी उपकारक कर्मठताका आविष्कार करें । उस नूतनाविष्कृत कर्मठताका हम अवश्य सानन्द स्वागत करेंगे, परंतु बन्धनरहित उच्छृङ्खलता, आचार-शून्य, अधार्मिक अवस्था कदापि नहीं । हमारा अटूट विश्वास है—

बन्धनमें खिलती कली करते अलि रस पान ।
बन्धच्युत देगी न सुख खो देगी निज प्राण ॥ १ ॥
चूल्हेमें नित सोहती अन्न पकाती आग ।
रचती चित्र विनाशका कर सीमाका त्याग ॥ २ ॥
बंध-बद्ध सत्ता-सरित करे जगत् कल्याण ।
वही तटाङ्कुश-हीन हो ले कितनों के प्राण ॥ ३ ॥

सारांश यह है कि कर्मठताका क्षेत्र और व्याप्ति बहुत अधिक है । उसे न चाहनेपर भी उससे हम निर्मुक्त नहीं हो सकते । अतः कालोचित कर्मठताकी प्रस्थापना करना हमारा आद्य कर्तव्य है । *

---

* जबतक स्नान-संध्यादिके पश्चात् शुद्ध वस्त्र पहनकर आसनपर बैठकर भोजन करनेकी पद्धति थी, तबतक अपवित्र, रोगवर्धक अन्न तथा उच्छिष्ट भोजनसे अपने-आप रक्षा होती थी । अब उसको ढोंग कहकर छोड़ दिया तो सब प्रकारका अपवित्र, स्वास्थ्यनाशक रोगवर्धक, उच्छिष्ट भोजन चलने लगा । निरामिषभोजी भी मांसाहारियोंके साथ मांसपके बर्तनोंमें बना भोजन खाने लगे । है भोजनमें अशुद्धि आनेसे मन अशुद्ध हो गये !

वर्णाश्रमके नियम शिथिल होनेसे धर्मानुमोदित संयम-नियमपूर्ण आचार-विचारमें कमी हो गयी—फलतः समाजके स्वास्थ्य सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें भयानक शिथिलता आ गयी । वर्णाश्रमके कड़े नियमोंने जिस जातिको अबतक बचा रक्खा था, मुसल्मानी अत्याचार युगमें जो अपने स्वरूपको अक्षुण्ण रख सकी थी, वही आज प्रगतिके नामपर अपने आचारको ढोंग बताकर तथा अंधाधुंध परानुकरण करके अपने ही हाथों अपना विनाश करनेपर तुल गयी है । यह कितने बड़े दुःखकी बात है !

अन्ध परानुकरणपरायणताका परिणाम यह हुआ कि आज हम भारतीय कहलाते हुए ही विदेशी हो गये । हमारे भोजन, वस्त्र रहन-सहन, आचार-विचार सभीमें उच्छृङ्खलता आ गयी । अच्छी बातोंका अनुकरण तो कठिन होनेसे नहीं हो सका, परंतु बुरा अनुकरण 'ढोंग-त्याग' तथा 'उच्चस्तरके जीवन-निर्माण'के नामपर सर्वत्र होने लगा । परिणाम सामने है—सदाचार, सत्य, ईमानदारी, अहिंसा त्याग, प्रेम आदि केवल नामके लिये ही रह गये । एक ही धर्मके लोग भाषा, प्रान्त, मत और पार्टीके नामपर परस्पर किस प्रकार हिंसामें लगे हैं यह प्रत्यक्ष है । यह सब समाजके धार्मिक नियमोंके परित्यागका ही विषमय परिणाम है ।

—सम्पादक

यह पतनोत्मुखी गति नहीं रुकी तो पता नहीं, हमारे पतनका अन्त कहाँ होगा ।

अपने-आपके साथ दुर्व्यवहार मत कीजिये

(लेखक—श्रीचूड़ामन मोतीलालजी मुन्शी)

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
(गीता ६ । ५)

अर्थात् तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो।

आधुनिक कालके मनुष्योंके आचार-विचार, व्यवहार-बर्ताव, धंधा-व्यवसाय आदिपर ध्यान देकर देखिये तो आपको अनुभव होगा कि हम स्वयं अपने साथ दुष्टाचार करके अपनेको दुःखमें डाल रहे हैं। इसलिये हम अपने ही साथ आप शत्रुका व्यवहार कर रहे हैं। इसके विपरीत ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो अपने-आपके साथ सद्व्यवहार करते हैं और अपने साथ-साथ दूसरोंका भी भला करते हैं। ऐसे व्यक्ति आपको अत्यन्त अल्पमात्रामें मिलेंगे। पर यह सत्य है कि इन दोनोंमें पहले प्रकारके लोग दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं और दूसरे प्रकारके लोग सुखमय जीवनका आनन्द लूटते हैं।

मनुष्यका मन निरन्तर सुख-शान्तिकी खोज करता रहता है और इसी भावनासे प्रेरित होकर मनुष्य दूसरोंसे सम्पर्क स्थापित करता और व्यवहार करता है। सुख-शान्ति पानेके लिये उसे जो शारीरिक या मानसिक कर्म करने पड़ते हैं, उन्हें ही व्यवहार कहते हैं।

व्यवहार दो प्रकारका होता है, (१) सद्व्यवहार और (२) दुर्व्यवहार। सद्व्यवहारसे आशय है—सबकी भलाईमें रत रहना, सदाचरण करना, सबको सुख पहुँचाना। तात्पर्य यह कि जिस कार्यका अन्तिम परिणाम सुखके रूपमें प्राप्त हो उस कार्यको सद्व्यवहार कहते हैं। इसके विपरीत दुर्व्यवहार-का तात्पर्य है—बुरा बर्ताव करना, दुष्टाचरण करना, अत्याचार करना, पीड़ा पहुँचाना। दूसरे शब्दोंमें किसीको भी शारीरिक या मानसिक पीड़ा पहुँचानेका नाम दुर्व्यवहार है। और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय तो यह होगा कि जिस कार्यका अन्तिम फल दुःखके रूपमें प्राप्त हो, उस कार्यको दुर्व्यवहार कहते हैं।

मनुष्य अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक व्यवहारका फल सुख-शान्तिके रूपमें चाहता है, परंतु वह इस बातको भूला हुआ है कि सद्व्यवहारका निश्चित सुफल सुख-शान्ति है और दुर्व्यवहारका निश्चित कुफल दुःख और बेचैनी है। इस भूलका यह तात्पर्य नहीं कि इसके लिये मनुष्य अनुत्तरदायी है। मनुष्यमें इतर प्राणियोंकी अपेक्षा बुद्धि और विचारशक्तिकी विशिष्टता है, वह अपना भला-बुरा अच्छी तरह सोच-समझ सकता है। इसलिये अपनी बुद्धिका सदुपयोग या दुरुपयोग करनेका उत्तरदायित्व मनुष्यपर है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपराध करनेके पश्चात् अपनेको यह कहकर नहीं बचा सकता कि उसे कानूनका ज्ञान नहीं था, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने द्वारा होनेवाले बुरे व्यवहारके दुष्परिणामसे अपनेको यह कहकर नहीं बचा सकता कि उसने बुद्धिका उपयोग करनेमें भूल की है। मनुष्य अपनी बुद्धिका उपयोग करनेके लिये स्वतन्त्र है, इसलिये अपने कर्मोंका उत्तरदाता भी वह स्वयं ही है और अपने कर्मोंका फल पानेसे उसे कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।

आजके युगके मनुष्योंके आचार-विचार, व्यवहार बर्ताव धंधा-व्यवसाय आदिपर विचार कीजिये—चाय, पान, तमाखू, बीड़ी, सिगरेट आदि मादक पदार्थोंका अत्यधिक सेवन करना; चटोरापन, अत्यधिक मिठाई, खटाई, चाट आदि उत्तेजित करनेवाले पदार्थ, मनमें विकार पैदा करनेवाले दूषित पदार्थ, जूँठन, अंडे, मांस आदि हिंसामय चीजोंका भोजनमें प्रयोग करके शरीर और मनको कष्ट देना; पशुओंके साथ अत्याचार करना—जैसे उन्हें काटना, उनका मांस बेंचना, खाना आदि और शराब पीना, बनाना, बेंचना; दूध, घी, दवा, चाय तथा अन्यान्य खाने-पीनेकी चीजोंमें मिलावट करना, विक्रय करना; सिनेमाके गंदे फिल्म जिनसे कामोत्तेजनाको प्रोत्साहन मिलता हो, निर्मित करना, देखना; अश्लील गीत बनाना, गाना; मुँहसे अश्लील शब्दोंका उच्चारण करना; अधिक तड़क-भड़क, शान-शौकतसे रहना; बड़ी कीमतके फैशनदार भड़कीले वस्त्रों-का उपयोग करना, निरन्तर भोगविलासमें निमग्न रहना, परस्त्री या परपुरुषको कुदृष्टिसे देखना, व्यभिचार करना; ग्राहकोंसे माल या वस्तुओंके अधिक दाम ऐंठना, दूसरोंका धन मुफ्त पचानेका मनोरथ तथा प्रयत्न करना, चोरी करना; झूठ बोलना, न्यायालय आदिमें मिथ्यावाद आदि प्रस्तुत करना; असत्य वचन देना, धोखा देना, रिश्वत लेना और

भ्रष्टाचार करना आदिका प्रचार और प्रसार दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है !

ये सब दुर्व्यवहारके स्वरूप हैं । इन कार्योंमें न केवल दूसरोंको ही हानि उठानी पड़ती है, वरं स्वयं भी हानि उठानी पड़ती और दूसरोंसे अधिक दुःख सहना पड़ता है । इस बातको बहुत कम लोग जानते होंगे कि दूसरोंके प्रति किया गया दुर्व्यवहार भी हमारे ही शरीर और मनको कष्ट पहुँचाता है । हमारे किये हुए किसी कार्यका परिणाम हमारी शारीरिक या मानसिक पीड़ा हो तो यही कहा जा सकेगा कि हमने अपने ही हाथों अपने पाँवोंमें कुल्हाड़ी मारकर अपनेको विपत्तिके गड्ढेमें ढकेला है ।

जैसे एक मनुष्य शराब पीता है । उक्त शराबी अच्छी तरह जानता है कि शराब पीनेसे मनुष्यके शरीर और मनपर दूषित प्रभाव पड़ता है, पाचनक्रिया मन्द पड़ जाती है, हृदय और फेफड़े सड़ जाते हैं और मस्तिष्क अपना सन्तुलन खो बैठता है । फलतः अनेकों शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं । इतना जानकर भी वह अपने दुर्व्यसनसे बाज नहीं आता । इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि उक्त शराब पीनेवाला जान-बूझकर अपने-आपके साथ दुर्व्यवहार करके अपने शरीर और मनको क्लेश दे रहा है ।

जिस प्रकार शराब पीनेसे शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं, उसी प्रकार कामोत्तेजना पैदा करनेवाले विभिन्न प्रकारके खानपान, दर्शन, स्पर्श, अध्ययन, मिलन आदिके रूपमें पदार्थोंका सेवन करनेसे एवं प्रत्येक प्रकारके दुर्व्यसनसे विभिन्न प्रकारके शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं ।

इसके अतिरिक्त जो दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, वह अपने-आपके साथ किस प्रकार दुर्व्यवहार हो जाता है उसे समझिये—

बाह्य दृष्टिसे देखनेपर दूसरोंके साथ किये गये दुर्व्यवहारका प्रभाव दूसरोंपर पड़ता दिखायी देता है, किंतु आन्तरिक दृष्टिसे देखनेपर हमें पता चलता है कि दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव करनेका विषैला प्रभाव दूसरोंकी अपेक्षा हमपर ही अत्यधिक पड़ता है ।

मान लीजिये कि एक व्यक्ति किसीकी वस्तुका अपहरण करनेका विचार रखकर चोरी करता है । चोरी करनेके पूर्व वह जानता है कि मैं कानूनके विरुद्ध करने जा रहा हूँ और मुझे इसका दण्ड भी मिल सकता है, किंतु फिर भी वह अपने इस विचारकी अवहेलना कर, धनकी लालचमें, दुर्व्यवहारसे होनेवाले दुष्परिणामकी ओरसे लापरवाह होकर चोरी करनेमें प्रवृत्त होता है और अपने लक्ष्यको भी प्राप्त कर लेता है। हो सकता है कि वह कानूनकी दृष्टिसे ओझल होकर अपनेको बचा ले, परंतु वह स्वयंके विचारोंसे होनेवाले दुष्परिणामसे अपनेको नहीं बचा सकेगा ।

मनोविज्ञानके नियमानुसार प्रत्येक विचारकी प्रतिक्रिया होती है । चोरी करनेके विचार निकृष्ट विचार हैं । निकृष्ट विचारोंकी प्रतिक्रियासे मनुष्यके शरीर और मनपर दूषित प्रभाव पड़ता है—चिन्ता, भय, विषाद, रोग, शोक, निराशा आदि कष्ट पहुँचानेवाले दुर्विचार मनुष्यका पीछा नहीं छोड़ते और इस कारण मनुष्य निरन्तर अस्त-व्यस्त तथा अशान्त रहता है। इन दुर्विचारोंकी क्रिया-प्रतिक्रिया निरन्तर चलती रहनेके कारण मनुष्य दिन-प्रतिदिन चोरी-जैसे दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त होता जाता है । फलतः मनुष्यको अनेकों शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ घेरे रहती हैं एवं अन्तमें दूसरोंके विनाशके विचार अपने ही विनाशके विचारोंमें परिणत होकर अकाल ही उसको मृत्युके मुखमें डाल देते हैं ।

जिस प्रकार चोरी करनेके विचार निकृष्ट विचार हैं, उसी प्रकार दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव करने, अत्याचार करने या उन्हें किसी भी प्रकारकी शारीरिक या मानसिक हानि पहुँचाने के विचार भी निकृष्ट विचारोंकी गणनामें आते हैं । इन विचारोंका भी वही परिणाम होता है जैसा कि ऊपर चोरीके विचारोंका बताया गया है ।

मनुष्यका मन एक प्रकारका खेत है और उसके विचार बीजरूप हैं । जिस प्रकार खेतमें बीज डालनेसे बीजके अनुरूप ही फसल पैदा की जाती है, उसी प्रकार हमारे मानसिक क्षेत्रमें भी विचाररूपी बीज बोनेसे उसमें उपज प्राप्त की जाती है। जैसे कृषिक्षेत्रमें गेहूँके बीज बोनेसे गेहूँकी ही फसल प्राप्त होती है, अन्य फसल प्राप्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार ह मानसिक क्षेत्रमें भी बुरे विचारोंके बीजकी उपज बुरी अ दुःख, क्लेश, पीड़ा, बेचैनी, रोग-शोक आदिके रूपमें ही की जा सकती है, भली उपज अर्थात् सुख-शान्ति आदि प्राप्त की जा सकती ।

अतः किसीके भी साथ दुर्व्यवहार करनेका विचार रखना हमारी मनोभूमिमें बुरे बीज बोना है । इसलिये निश्चित है कि बुराईके बीजकी बुरी फसल हमें प्राप्त

और उसका कटु फल हमें ही चखना होगा । अतएव दूसरोंकी बुराईके विचार हमारे मनमें आने देना हमारा अपना स्वयंका ही विनाश करना है ।

प्रकृतिके न्यायालयमें भी दण्डका विधान है । प्राकृतिक नियमोंको देखकर यह पता चलता है कि प्रकृति सभीको सुखी रखना चाहती है । चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि नियमित रूपसे उदयास्त क्यों होते हैं ? एक बीजका प्रतिफल अनन्त फलोंके रूपमें क्यों प्राप्त होता है ? अनुकूल समयपर फल-फूल, वनस्पतियाँ, ओषधियाँ आदि क्यों उत्पन्न होती हैं ? ऋतुएँ भी अनुकूल समयपर क्यों आती-जाती हैं ? पवन अपनी गतिसे निरन्तर क्यों चलता है ? समुद्र अपनी मर्यादामें क्यों रहते हैं ? इन सबका एक ही उत्तर है; वह है प्राणिमात्रको सुख पहुँचानेके लिये प्रकृति ही सारा कार्य नियमबद्ध और सुचारुरूपसे कर रही है । इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि प्रकृति सभीको सुखी रखनेके लिये नित्य अथक रूपसे प्रयत्नशील है । वह किसीको पीड़ित नहीं करना चाहती । इसलिये दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव करना, उन्हें कष्ट देना प्रकृतिके सहज कार्यमें बाधा डालना है । अतः दूसरोंको दुःख देनेवाला मनुष्य प्राकृतिक नियमानुसार दण्डका भागी है । हमारा प्रत्येक प्रकारका दुःख प्रकृतिकी ओरसे दण्ड पानेका प्रतीक है । ऐसी दशामें दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना प्रकृतिके साथ झगड़ा मोल लेना है । इस झगड़ेमें मनुष्य कदापि विजयी न हो सकेगा । इसलिये जो दूसरोंको पीड़ा पहुँचाता है, दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव करता है, वह वस्तुतः अपने-आपके साथ दुर्व्यवहार करता है और वही अपना शत्रु कहलानेका अधिकारी है ।

व्यावहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो भी हमें दूसरोंसे उसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये, जो हम दूसरोंसे अपने प्रति चाहते हैं । क्या आप दूसरोंसे अपने प्रति अशिष्ट व्यवहार कराना पसंद करेंगे ? नहीं; तो जो व्यवहार आप दूसरोंसे अपने प्रति नहीं चाहते, वही व्यवहार आपको दूसरोंके साथ करनेका क्या हक है ?

जो व्यक्ति दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर उनके न्याय-स्वार्थकी हानि करके केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, वह निरा बेसमझ है और वह अपना ही विनाश करनेपर तुला है ।

आप अपने घरोंमें, मन्दिरोंमें, तीर्थस्थानोंमें, गिरजाघरोंमें और मस्जिदोंमें जाकर ईश्वर, अल्लाह अथवा गॉड (God) की पूजा-उपासना करते हैं, परंतु इससे भी बढ़कर पूजा-उपासना अपने-आपकी है । अपने-आपकी पूजा-उपासनासे तात्पर्य है— अपने-आपके साथ सद्व्यवहार करना । हम अपने साथ सद्व्यवहार तभी कर सकते हैं, जब हम दूसरोंकी भलाईमें अपनी भलाई देखें, दूसरोंके न्याय-स्वार्थका ध्यान रखते हुए अपना स्वार्थ सच्चे अर्थोंमें सिद्ध करें । दूसरोंके अधिकारका संरक्षण करें, दूसरोंकी न्याय्य आशाको पूर्ण करें । जो दूसरोंका बुरा नहीं करना चाहता, उसका बुरा किसी भी हालतमें नहीं हो सकता । इसलिये ऐसा व्यक्ति सुख-शान्तिमय जीवन व्यतीत करेगा; क्योंकि उसका शत्रु इस संसारमें कोई है ही नहीं । वह सबके प्रति मैत्रीभाव रखता है । अतः ऐसा ही व्यक्ति स्वयं अपना मित्र कहानेका अधिकारी है ।

मनुष्यमें सबसे बड़ी शक्ति, विचारोंकी शक्ति है । इसके द्वारा मनुष्यने बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं; किन्तु मनुष्य अपनी विचारशक्तिका सदुपयोग न करनेके कारण दीन-हीन और दुखी रहता है । दुर्विचारके कारण इन शक्तियोंका सदुपयोग नहीं हो पाता और उल्टा इनसे अपनी शक्तिका नाश हो जाता है । हमारी मानसिक शक्तियोंका सदुपयोग करनेपर जो शक्ति हमारा तथा दूसरोंका बड़ा भारी हित कर सकती है, वही दुरुपयोगसे अनेकों तरहके कष्टका कारण बन जाती है । हमारे विचारोंकी शक्ति महान् है । इसलिये हमें अपनी विचारशक्तिका लाभ अवश्य उठाना चाहिये । अपनी विचार-शक्तिका सदुपयोग या दुरुपयोग स्वयं हमारी इच्छापर निर्भर है । हम अच्छी तरह जानते हैं कि दूसरोंके साथ भला व्यवहार करनेका फल भला और बुरा व्यवहार करनेका फल बुरा होता है । दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव करनेसे हमारे ही शरीर और मनको पीड़ित होना पड़ता है । इसलिये हम स्वयं ही हमारे मित्र और शत्रु हैं, दूसरा कोई भी मित्र या शत्रु नहीं है । अतएव आप ही सोच-समझकर निश्चय कर लीजिये कि आप अपने साथ सद्व्यवहार करेंगे या दुर्व्यवहार ?

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श सद्व्यवहार

(क)

बात सन् १९५९ की है, तारीख मुझे ठीक याद नहीं रही। उस समय मैं अपने चाचाजी श्रीमिश्रीलालजी जोशी, पोन्नेरी-(जो मद्राससे २२ मीलकी दूरीपर है) वालोंकी दूकानपर काम करता था। मेरे चाचाजी मिश्रीलालजी जोशीके प्रिय मित्र और हमारे जाति-भाई श्रीरामचन्द्रजी बोहरा मद्रास-निवासीका आपसमें रकमका लेन-देन था। इन दोनों सज्जनोंके खुदकी गहने (Pawn Broker's) की दूकानें हैं, अतः इन्हें गहने पुनः बंधक (remortgage) रखकर साउथ इण्डियन बैंक, मद्राससे (South Indian Bank, Madras) से कर्ज (Loan) के तौरपर रकम लेनी पड़ती थी। भाई श्रीरामचन्द्रजी एक दिन चाचाजीको साथ लेकर बैंकको गये। उन्हें दस-बारह लोनोंको मिलाकर एक ही लोन बनाना था, साथ ही कुछ और गहना रखकर पाँच-छः हजार रुपये लेने थे। बैंककी लिखा-पढ़ीका सारा कार्य पूरा होते-होते शामके ४ बज गये। सुबहसे आये हुए थे, कुछ ऊब-से गये थे। अतः ये लोग जल्दीमें ही कैश चैकपर हस्ताक्षर करके रुपये बिना लिये ही बैंकसे चल दिये। रुपये लेनेका इन्हें बिल्कुल ख्याल ही नहीं रहा। शामके पाँच बजे बैंकके एजेण्ट श्रीकोळन्द स्वामी (Kozband Swamy) ने हिसाब देखा तो रोकड़में पाँच हजार कुछ खुदरा रुपये ज्यादा थे। स्मरण करनेपर इन्हें भाई रामचन्द्रजीकी याद आयी जो चैकपर हस्ताक्षर करके बिना रुपये लिये ही चले गये थे।

एजेण्ट श्रीकोळन्द स्वामीने ५॥ बजेके करीब भाई साहबके पाँच हजार तथा कुछ खुदरे रुपये अपने लेदर बेगमें डाले और बैंक बंद उनके घरपर जानेके लिये टेक्सीपर सवार हो गये और शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। चाचाजी और भाईसाहब इधर-उधर घूम-घामकर लगभग छः बजे अपने निवासस्थानपर कारसे उतरे। सामने एजेण्ट श्रीकोळन्द स्वामीको खड़े देख दोनों दंग रह गये। जब एजेण्ट महोदयने बेगसे निकालकर इनको रुपये दिये, तब इन्हें अपनी भूलका स्मरण आया। चाचाजी और भाई साहेब दोनों सड़ककी फुटपाथपर खड़े एजेण्ट साहेबकी ओर अपलक देखते ही रह गये। एजेण्ट साहब वापस जानेके लिये टेक्सीपर सवार हुए, तब भाई साहेबने कृतज्ञता प्रकट करते हुए, उन्हें कुछ देनेके लिये हाथ बढ़ाया। मगर उन्होंने उसकी तरफ देखे बिना ही 'मि० रामचन्द्र! यह मेरा कर्तव्य था' कहकर टेक्सी-ड्राइवरको चलनेका आदेश दिया। टेक्सी नजरोंसे ओझल होनेतक ये दोनों आत्म-विस्मृत-से वहीं खड़े रहे। महाशय कोळन्द स्वामी इस बैंकमें एक साधारण गुमाश्ताके तौरपर दाखिल हुए थे। उस समय इनका वेतन साठ रुपये था। अब आप हेड आफिसके एजेण्टके पदपर हैं। इनकी सज्जनता, कार्य-दक्षता एवं सत्यपरायणताने इनको शिखरपर पहुँचा दिया है। इनके मधुर व्यवहारके कारण हर ग्राहक इनकी सराहना किये बिना नहीं रह सकता।

(ख)

मेरे बहनोईजी श्रीशङ्करलालजी उपाध्यायके द्वारा सुनी हुई यह बात है; अतः उन्हींके शब्दोंमें लिख रहा हूँ।

करीब चार साल पूर्व मैं बम्बई ४६, प्रेमचन्द उम्मेदमल, लोकमान्य तिलकरोडपर स्थित कपड़ेकी दूकानपर था। वहाँ मैं १५ सालसे रहता आया हूँ। एक दिन दूकानपर ग्राहकोंकी भीड़ थी। रातके ८-८॥ बज चुके थे, फिर भी ग्राहकोंकी भीड़ होनेसे तीन-चार आदमी अलग-अलग ग्राहकोंको निपटाकर भेज रहे थे। इसी गड़बड़ी

में गल्लेसे पैसे निकालते समय या पैसे डालते समय भूलसे किसीके द्वारा एक सौ रुपयेका नोट फूलोंकी टोकरीमें गिर गया। वह टोकरी एक (गरीब) फूल बेचनेवालेकी थी, जो दिनभर फूल बेचकर अपने पत्नी-बच्चोंका पालन करता था और रातको टोकरी हमारी दूकानमें रख जाया करता था। रातको १०बजे रोकड़ मिलाते समय सौ रुपये कम थे, सभी हैरान और दुखी थे। मैं सबसे ज्यादा दुखी थी; क्योंकि गल्लेकी और दूकानकी सारी जिम्मेवारी मुझपर थी। सभी लोग एक दूसरेपर संदेह भरी दृष्टिसे देख रहे थे। रातके १२ बजेतक सारी छान-बीन की गयी, मगर मैं रुपये नहीं ढूँढ़ सका। आखिर मैंने हैरान होकर सबके सामने यह कहा कि 'सुबह नीबूपर काजल लगाकर मन्त्रद्वारा चोरका पता लगानेवाले ओझा की सहायता लूँगा और सही चोरका पता लगाऊँगा। मैं कह रहा था पर मैं खुद काँप रहा था कि न मालूम क्या होगा। हालाँकि मैंने नोट नहीं लिया परंतु मेरी जिम्मेवारीमें हुई इस गलतीका मैं क्या जवाब दूँगा। मेरे सहज स्वच्छ और उज्ज्वल चरित्रपर धब्बा न लगने पाये—इसके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते हुए ही मैंने सबको सोनेके लिये कह दिया और मैं खुद भी सो गया भगवान्‌का स्मरण करते-करते!

सुबह फूलवाला आया। टोकरीमेंसे कपड़ा और पत्ते निकालते समय सौ रुपयेका एक नोट भी पत्तोंके साथ बाहर पड़ा देख वह काँपने लगा। उस नोटको उठाकर वह मेरे पास आया और मुझे नोट दिखाते हुए बोला कि 'शायद यह नोट आपका है, मेरी टोकरीमें था।' हमलोग सब सन्न रह गये। हमें टोकरीमें रुपये गिरनेका बिल्कुल ही ख्याल नहीं था। वह चाहता तो सौ रुपये दबा सकता था, परंतु वह ईमानदार था। मैंने उसे अपनी तरफसे पाँच रुपये देनेके लिये निकाले पर उसने नहीं लिये। सबलोग सजल नेत्रोंसे उसकी तरफ देखते ही रह गये और वह नीचे उतरकर वापस अपने काममें लग गया। अब वह हमारी दूकानकी पटरीपर नहीं है, फिर भी गल्ला खोलते ही-मुझे उसकी याद आकर मेरी आँखें बरबस जल बरसाने लगती हैं। धन्य है वह जिसने मुझपर और सबपर किये जानेवाले संदेह और कलंकसे हमें बचाया।

—वं० मिठालाल जोशी; पोन्नेरी, (जिला चेंगलपेट)

(२)

पञ्चामृतसे प्रेतको शान्ति

यह घटना अबसे तीन वर्ष पुरानी है। उन दिनों मैं अपने परिवारके साथ एक कस्बेमें रहता था। पिताजीकी वहीं सर्विस थी। एक दिन हमारे दूरके रिश्तेके एक सम्बन्धीके यहाँ श्रीसत्यनारायणकी कथा थी। वे निकटके एक छोटे गाँवमें रहते थे। हमको भी उन्होंने कथामें सम्मिलित होनेके लिये निमन्त्रण भेजा था और आनेके लिये बहुत आग्रह भी किया था। अतः मैं और पिताजी वहाँ गये। माताजी और छोटे बच्चे घरपर रहे; क्योंकि उन दिनों माताजीकी तबीयत कुछ खराब थी और गाँव थोड़ा दूर भी था। कथा समाप्त होनेपर मैं और पिताजी वापिस घर लौटनेके लिये चले। रात्रिके बारह बजेका समय हो गया था। हमारा गाँव दो मील दूर था। मैं, पिताजी और हमारे साथ एक महाशय और थे। हम तीनों रवाना हुए। साथमें घरवालोंके लिये पञ्चामृत और कथाका प्रसाद भी ले लिया। पूर्णमासीकी चाँदनी रात थी। आधे रास्तेपर एक विशाल वटका वृक्ष था। ज्यों ही हम इस वट-वृक्षके पास पहुँचे, त्यों ही वृक्षके ऊपरसे आवाज आयी, 'ठहरो'। आवाज सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। पिताजीने पूछा, 'आप कौन हैं और क्या चाहते हैं?' उत्तर मिला, 'मैं प्रेत हूँ, मुझे इस योनिमें कई वर्ष व्यतीत हो गये हैं। पूर्वजन्मके पापोंके कारण घोर यन्त्रणाका अनुभव करता हूँ, अगर आप कृपाकर पञ्चामृतका पात्र वृक्षके नीचे रख देंगे तो मैं उसे

ग्रहण करूँगा, इससे मुझे असीम शान्ति मिलेगी।' आवाज भर्रायी हुई थी। हमने पात्र वृक्षके नीचे रख दिया और दूर खड़े हो गये। थोड़ी देर बाद देखा कि उसमें पञ्चामृत गायब था। फिर प्रेतकी कोई आवाज नहीं आयी और एक शीतल वायुका झोंका आया। हम अपने गाँव लौट आये।

इससे विदित होता है कि पवित्र जलसे प्रेतात्मा-तकको बहुत शान्ति और सुख मिलता है।

—श्याममनोहर व्यास, बी०एस्-सी०

(३)

असीम नीचता और असीम साधुता !

लगभग बीस वर्ष पहलेकी बात है। एक सनातन-धर्मी सदाचारी पुराने विचारोंके घरकी लड़कीका विवाह भाग्यवश एक कालेजसे निकले मनचले अविवेकी बाबू लड़केसे हो गया। लड़की सुन्दरी थी, पढ़ी-लिखी भी थी, घरका सारा कामकाज करनेमें निपुण थी! सास-जेठानी—सबकी आज्ञा मानती, घरमें सबके साथ आदर-सम्मानका बर्ताव करती तथा सबको प्रसन्न रखती थी। प्राणपणसे स्वामीके संकेतके अनुसार चलना चाहती और चलती भी थी। परंतु उसमें (पतिके भावनानुसार) पाँच दोष थे—वह प्रतिदिन भगवान्‌के चित्रकी पूजा करती, मांस-अंडे नहीं खाती, परपुरुषोंका स्पर्श नहीं करती, बुरी-गंदी पुस्तकें नहीं पढ़ती और सिनेमामें नहीं जाती। ये पाँचों बातें वह अपने नैहरसे ही सीखकर आयी थी और उसके स्वभावगत हो गयी थीं। पति भी वैसे उसको बहुत मानता, पर यही पाँच बातें ऐसी थीं, जो पतिको बड़ी प्रिय थीं और वह बार-बार इनके लिये पत्नीको समझाता। वह पहले-पहले तो इन बातोंके दोष बतलाती, समझाना चाहती, पर इससे पतिदेवके क्रोधका पारा बहुत चढ़ जाता। वह समय-समयपर निर्दोष बालिकाको मार भी बैठता। गाली-गलौज बकना—उसके माँ-बापको बुरा-भला कहना, डाँटना-डपटना तो प्रायः रोज ही चलता था। इसलिये उसने समझाना तथा दोष बतलाना तो छोड़ दिया। वह जान गयी कि वे इन बातोंको अभी माननेवाले नहीं हैं। अतः वह विरोध न करके बड़ी नम्रतासे इन्हें माननेमें अपनी असमर्थता प्रकट करने लगी। बहुत कहा-सुनी होनेपर उसने पतिके साथ सिनेमामें जाना तो स्वीकार कर लिया परंतु शेष चार बातें नहीं मानी। उसने बड़े नम्र शब्दोंमें परंतु दृढ़ताके साथ कह दिया कि 'मेरे प्राण भले ही चले जायँ, मैं न तो भगवान्‌की पूजा छोड़ सकती हूँ और न मांस-अंडे खाना, पर-पुरुषोंको स्पर्श करना और गंदी पुस्तकें पढ़ना ही स्वीकार कर सकती हूँ।' इसपर उसके पतिदेवता बहुत ही नाराज हो गये; क्योंकि वह अपनेको आजकलके आगे बढ़े हुए लोगोंमेंसे मानता था। उसकी प्रगतिके क्षेत्रमें ये पत्नीकी चारों चीजें अनावश्यक थीं। अतः वह ऐसी पिछड़ी हुई स्त्रीसे अपने विवाह होनेमें बड़ा अभाग्य मानने लगा तथा उसके साथ बड़ा दुर्व्यवहार करने लगा।

कई वर्ष यों बीते। उसका द्वेष बढ़ता गया और उसमें घोर पापमूलक हिंसावृत्ति पैदा हो गयी। एक दिन दुपहरको किसी ट्रेनसे कहीं जानेका प्रोग्राम बना। पहले दर्जेकी दो टिकटें खरीदी गयीं। पत्नीको लेकर बाबू साहेब ट्रेनमें सवार हुए। उन दिनों भीड़ कम होती थी। पहले दर्जेके एक खाली डिब्बेमें पत्नीको लेकर वह बैठ गया।

कुछ दूर जानेपर जब गाड़ी वेगसे जा रही थी—उसने डिब्बेका फाटक खोला और किनारेकी सीटपर बैठी हुई पत्नीको धक्का देकर बाहर गिरा दिया। उसने पहलेसे ही योजना बनायी हुई थी। इसीसे पत्नीको दरवाजेके पासकी सीटपर उसने बैठाया था। बेचारी अकस्मात् धक्का खाकर नीचे गिर पड़ी। भाग्यसे बगलके डिब्बेके एक सज्जन बाहरकी ओर सिर निकाले हुए

देख रहे थे । उन्होंने एक तरुणी स्त्रीको गिरते देखकर जंजीर खींची; जंजीरमें कुछ जंग लगा था, इससे उसके पूरा खींचनेमें कुछ देर लग गयी । इतनेमें गाड़ी दो-तीन मील आगे बढ़ गयी ।

गाड़ी रुकी । उस बाबूने सोचा था, मर गयी होगी । कह दिया जायगा—'खिड़की अकस्मात् खुल गयी, वह खिड़कीके सहारे किसी कामसे खड़ी थी, अकस्मात् गिर पड़ी ।' पर गाड़ी रुकते ही अपने पापसे उसका हृदय काँप गया । आसपासके लोग इकट्ठे हो गये । गार्ड आया । उसने रोनी सूरत बनाकर सोची हुई बात गार्डसे कह दी । गाड़ी उलटी चलायी गयी । वहाँ पहुँचनेपर देखा गया—वह मरी तो नहीं है, पर चोट बहुत जोरसे लगी है । उसको जीती देखकर इसका बुरा हाल हो गया । सोचा, अब यह असली बात कह ही देगी और इससे लेनेके देने पड़ जायँगे । उसका शरीर काँपने लगा; आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बह निकली । लोगोंने समझा पत्नीके बुरी तरह घायल हो जानेके कारण यह रो रहा है । लोग उसे समझाने लगे । लड़कीको गाड़ीपर चढ़ाया गया । बड़े स्टेशन आनेपर उसे उतारकर अस्पताल पहुँचानेकी व्यवस्था की जाने लगी । पर उसे मरणासन्न देखकर पुलिसने मैजिस्ट्रेटको उसके आखिरी बयानके लिये बुला लिया । उसका पति तो अपने भविष्यकी दुर्दशाको सोचता हुआ अलग बैठा रो रहा था; समीप आनेकी भी उसकी हिम्मत नहीं थी । मैजिस्ट्रेटने आकर लड़कीका बयान लिया । उसने कहा—'साहेब ! मुझे मिर्गीका पुराना रोग था, मैं लघुशंकाको गयी थी । लौटकर कुल्ला करने जा रही थी, इतनेमें मिर्गीका दौरा आ गया । फाटक खुला था, मैं बेहोशीमें नीचे गिर पड़ी और मुझे चोट लग गयी ।' मैजिस्ट्रेटने घुमा-फिराकर पूछा—'तुम्हारे पतिने तो धक्का नहीं दिया न ?' वह रोते-रोते बोली—'राम राम ! वे बेचारे धक्का क्यों देते, वे तो इस समय बहुत दुखी होंगे । उन्हें बुलाइये, मैं उनके आखिरी दर्शन करके चरणोंमें प्रणाम कर लूँ ।'

इसी बीच वह समीप आ गया था । वह यह सब सुनकर दंग रह गया और उसके हृदयमें एक महान् वेदना पैदा हो गयी । डरके बदले पश्चात्तापकी आग जल उठी । 'हाय ! कहाँ तू महान् नीच, कहाँ यह परम साध्वी, जो इस मरणासन्न अवस्थामें भी सावधानीके साथ तुझ नीचको बचा रही है ।' वह चीख उठा । लोगोंने उसको खींचकर समीप कर दिया । लड़कीने उसको देखा, चरण छुए और वह सदाके लिये चल बसी !

× × × ×

उस युवकके जीवनमें महान् परिवर्तन हो गया । वह इन सारे दुर्गुणोंको छोड़कर साधुस्वभाव हो गया । उसने इस पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये पुनः विवाह न करके ब्रह्मचारी जीवन बितानेका निश्चय किया । उसीने यह सब बातें लोगोंको बतायीं । छः महीने बाद ही वह लापता हो गया । इस समय पता नहीं, कहाँ है । किस अवस्थामें है—इस घटनासे बहुत कुछ सीखा-समझा जा सकता है ।

—रामेश्वरप्रसाद सिंह

(४)

सेवा-परायणता

'मैं भी गाँवसे आया हूँ, तुमलोग भी गाँवसे आयी हो । तुम कुनबी हो, मैं सैंथवार हूँ ।'

यों पहली मुलाकातमें ही इन माँ-बेटीके साथ उस सैंथवार युवककी आत्मीयताके चिह्न प्रकट होने लगे । माँ-बेटी दोनों ही काठियावाड़के एक गाँवसे कमाने-खानेके लिये अहमदाबाद आयी थीं । यहाँ दोनोंको मजदूरी मिलने लगी । एक घर भाड़े लेकर ये सुखसे अपने दिन बिताने लगीं । माँको अब सिर्फ एक ही चिन्ता थी अपनी जवान बेटीकी । यह लड़की छोटी उम्रमें ही विधवा

हो गयी थी। कोई संतान नहीं थी। इसी बीच तीसेक वर्षके उस जवान लड़केसे परिचय हो जानेपर माँने कहा—'भगवान्‌की दया हो गयी। जिसकी जरूरत थी, वह अपने-आप ही मिल गया।' इन लोगोंमें विधवा दूसरा घर कर सकती थी, यह प्रथा थी।

उस भाईकी भी यह धारणा हो गयी कि 'जो चाहिये था, वह मिल रहा है।' वह राशनिंगकी एक दूकानमें काम करता था। दूकानके मुख्य अधिकारीने भी इस दृष्टिसे समर्थन किया कि 'बेचारेका घर बँध जाय तो अच्छा है।'

असलमें यह भाई था उड़ाऊ; तभी तो गाँवकी जमीन तथा ढोरे-ढार बेचकर शहरमें आया था। ऐसे उड़ाऊको लड़की कहाँसे मिलती? इसीसे तीस वर्षकी उम्र तथा राशनिंगकी दूकानपर वेतन पानेवाला होनेपर भी उसे कोई लड़की नहीं मिली।

फिर तो, 'गाँवमें जमीन है, मेरा काका उसकी व्यवस्था करता है, मैं यहाँ सुखसे नौकरी करता हूँ।' उसकी इस प्रकारकी बातें सुनकर माँ-बेटीका मन इधर खिंच गया। राशनिंगकी दूकानवाला भी कहता—'यह बहुत अच्छा आदमी है।'

आखिर उसका सम्बन्ध उस लड़कीसे हो गया। पर सत्य कहाँतक छिपा रहता, उसकी सास तथा पत्नीको पक्का संदेह हो गया कि इसने झूठी डींग मारी थी। उन्होंने कहा, 'चलो अपने गाँव चलें।' वह चुप हो रहा और उसने अपने काकाको पहलेसे ही लिख दिया कि मैंने यह सब जंजाल रचा है, अब मेरी लाज बचाना तुम्हारे तथा गाँववालोंके हाथमें है।

परंतु गाँव जानेपर काकाने उसको घरसे बिदा कर दिया। इधर उस लड़कीकी माँ मर गयी। पर इससे वह लड़की घबरायी नहीं, उसकी हिम्मत बढ़ी और उसने अपने पतिसे कहा—'जरा भी चिन्ता मत करना।' दोनों गाँवमें रहे और मजदूरी करने लगे। लड़की घरका मा काम चलाने लगी।

यों अहमदाबाद तथा पतिके गाँवपर लगभग डेढ़ व गृहस्थी चली। फिर पतिको बीमारीने घेर लिया। उसका सारा शरीर सूजकर खम्भा-सा हो गया। पर यह महान् ब एक ओर मजदूरी करती रही और दूसरी ओर अखण्ड सेवामें लगी रही। गाँवके लोग इस बहिनके आचरण देखकर दाँतोंतले अंगुली दबाकर दंग रह गये। गाँववालोंने अन्न-वस्त्र स्वीकार करनेका अनुरोध किया। परंतु इस बहिनकी एक ही आवाज थी—'भगवान्‌ने मानव-शरीर दिया है। वह चल रहा है फिर क्या चिन्ता है। मेरा भगवान् बड़ा दयालु है; मुझे कभी मुफ्तमें लेनेका दिन न दिखावे।' यों मीठे वचन तथा आत्म-गौरवसे वह बहिन सबके हृदयपर विजय पाती रही।

सब मिलाकर दो ही वर्षका संग, और उसमें छः महीनेका यह विचित्र रोगका समय बिताकर उस भाई सदाके लिये बिदा ले ली। उस बहिनने ऐसे पतिकी अर्धाङ्गिनी बनकर अन्ततक जो एकनिष्ठ महान् सेवा की, वह सर्वथा प्रशंसाके योग्य थी।

पतिके जानेके बाद संतानहीन होनेपर भी उस बहिनने फिरसे घर करनेकी कल्पना ही मनमें नहीं आने दी। छोटेसे गाँवमें अकेली रहती हुई वह अपना सच्चरित्र तथा परिश्रमी जीवन आनन्दसे बिता रही है। 'अहा आनन्द।'

—शं

(५)

भगवान् जो करते हैं, सब मङ्गलके लिये करते हैं

उस समयतक मुझे अपनी योग्यता, कर्मठता और कार्यपटुताका घोर दम्भ था। अधीनस्थों तथा सहयोगियों में यह भावना यदा-कदा व्यक्त करता रहता था। मनोदशामें यदि मेरी पदोन्नति होती तो मेरा अहं

और दर्प और बढ़ जाता। और हो सकता था मैं अपनी राहसे डिग जाता। परंतु भक्तवत्सल लीलाधारी प्रभुकी लीला अद्भुत और अपरम्पार है। जिस समय पदोन्नतिके लिये अन्य उम्मीदवारोंके साथ मेरा साक्षात्कार हुआ उस समय मैंने अपने मनमें अपनेको सर्वाधिक अनुभवी, सुयोग्य एवं निपुण समझा। मेरा अपना यह दृढ़ विश्वास था कि मैं अवश्यमेव पदोन्नति पाऊँगा। किंतु जब परिणाम निकला तो उसमें मेरा नाम नहीं था। काटो तो खून नहीं! मैं बहुत ही निराश और मर्माहत हुआ। चतुर्दिक् मेरे इस पराभवकी चर्चा होने लगी, जिससे मुझे और ठेस लगती थी। मैंने अपने मनमें बहुत ही बुरा माना; किंतु प्रभुके छद्म-मङ्गल विधानको कौन परख सकता है। ऐसे अवसरपर करुणामय भगवान्के सिवा कहाँ सहारा मिल सकता था? मुझमें स्वभावतः दीनता और ईशपरायणता शनैः-शनैः आने लगी। भगवद्भजन और सत्कार्यमें मेरी अभिरुचि बढ़ी। मैं अधिक सात्त्विकता और ईमानदारीसे काम करने लगा। करीब दस महीनेके बाद मैंने पहलेसे एक बड़े तथा ऊँचे ऐसे पदके लिये अन्यमनस्क तथा उदासीन भावसे आवेदन कर दिया जो पहलेके पदसे ऊँचा और अधिक प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण था। आवेदकोंकी संख्या हजारसे ऊपर थी तथा नियुक्तिकी संख्या केवल १२ ही। साक्षात्कार आदिके उपरान्त तनिक भी आशा नहीं थी कि मुझे वह पद मिल सकेगा। निर्वाचनका परिणाम निकला, जिसमें मेरा स्थान तीसरा आया। मेरी नियुक्ति हो गयी। मुझे आशातीत उच्चतर पद प्राप्त हुआ। मेरे लड़केका मैट्रिक परीक्षामें उसी तरहका उत्कृष्ट परिणाम आया। तबसे यह मालूम हो रहा है कि मैंने प्रभुकी अहैतुकी कृपाका प्रसाद पाया है। और भगवान् जो करते हैं मङ्गलके लिये ही करते हैं। मेरी पहली अग्निपरीक्षा न होती तो मैं आज इतना संयत और जाग्रत् नहीं हो पाता।

—विश्वनाथसिंह एम्० ए०, साहित्यरत्न

(६)

धन पराव विष तें विष भारी

घटना उन दिनोंकी है जब स्वतन्त्रताके साथ ही देशके दो टुकड़े भी कर दिये गये। मैं उस समय एक राजकीय अधिकारीके रूपमें शिमलामें फागलीमें रहा करता था। हमारे ब्लॉकमें छः परिवार रहते थे, जिनमें एक मुस्लिम-परिवार भी था। देश-विभाजनकी घोषणा होते-न-होते जब जाति-विद्वेषकी ज्वाला भभक उठी तो इस मुस्लिम-परिवारको भी अपने प्राणरक्षार्थ राजकीय शिविरमें शरण लेनी पड़ी। ये केवल कुछ आभूषण ही साथ ले जा सके, शेष बहुमूल्य सामान घरमें ही बंद कर गये। उनके जाते ही घरकी बारहबाट आरम्भ हो गयी। मेरे एक परिचितने भी खूब चाँदी की। सौभाग्यवश मैं इस दुष्कार्यसे दूर ही रहा।

एक दिन मेरे एक पंजाबी मित्र मेरे घर आये और मुझे एक बड़ा और सुन्दर लोटा देते हुए बोले कि यह लोटा उस मुस्लिम-परिवारका है और मुझसे अनुरोध करने लगे कि मैं इस लोटेको उक्त मुस्लिम-परिवारके पास पहुँचा दूँ। मैंने उन्हें ऐसा करनेका आश्वासन तो दे दिया, परंतु पहले तो उपद्रवोंके कारण और फिर बादमें दिल्लीको स्थानान्तरण हो जानेसे मैं लोटा उन्हें दे न सका। फिर मनमें आया कि अब तो वह मुस्लिम-परिवार पाकिस्तान पहुँच गया होगा, अब कौन उसे लोटा भेजे और अब इसका तकाजा ही कौन करेगा?

दिल्ली आनेपर मुझे एक मित्रके घर रहना पड़ा। वहाँ कुछ ही दिनों पश्चात् वह लोटा भी चोरी हो गया और साथमें मेरा कुछ और सामान भी। मनमें तुरंत विचार आया कि भगवान्ने अनुचितरूपसे अर्जित वस्तु व्याजसहित वापिस ले ली है। इधर उन मेरे परिचित महोदयको भी, जिन्होंने लूटके मालसे अपना घर

भरा था, भारी हानि उठानी पड़ी । उन्होंने विदेश जाकर बहुत कमाया और वे उसे भारतस्थित अपने निकट सम्बन्धियोंको भेजते रहे । परंतु जब वापिस आये तो उन लोगोंने कुछ भी नहीं लौटाया। बेचारे अत्यन्त दुखी हुए।

एक और घटना भी मुझे स्मरण हो आयी । देश-विभाजनके समय ही एक मुसलमान अधिकारीने मुझसे सौ रुपये उधार लिये और मुझे इतनेका ही चैक दे दिया । चैक ले तो लिया, परंतु मुझे चैकपर विश्वास नहीं हुआ । मैंने एक अन्य मुसलमान क्लर्कसे कहा कि वह मुझे सौ रुपये दे दे और पाकिस्तान पहुँचकर उक्त अफसरसे ले ले। वह मान गया । चैक मैंने बैंकमें दे दिया था । तीन-चार वर्ष पश्चात् वह चैक भी स्वीकृत हो गया और मुझे बैंकसे भी रुपये मिल गये । मानव-स्वभाव ! मैंने रुपये लौटानेका कोई प्रयत्न न किया। कुछ तो आलस्य और कुछ इसलिये कि रुपया ए पाकिस्तानीका था । तीन वर्ष पूर्व यात्रा करते हु मेरा एक बक्स चोरी हो गया । बक्समें सौ रुपये नक और कपड़े इत्यादि थे ।

इन दो घटनाओंके पश्चात् मेरा यह अट विश्वास हो गया है कि अनुचित रूपसे अर्जित धन अधि दिनोंतक नहीं टिकता । ब्याजसहित वापस चला जा है । आज भी मैं भगवान्‌को धन्यवाद देता हूँ कि मैं अपने घरमें लूटका माल एकत्र नहीं किया । नहीं तो न जाने मेरी क्या दुर्दशा होती । आशा है कि मेरे मित्र-बन्धु मेरे इन अनुभवोंसे लाभान्वित होंगे।

—राजकिशोर

◆

समाधान

(रचयिता—श्रीबालकिशनजी गर्ग)

एक दिवस अन्तस्‌में उत्कट उठा प्रश्न—“मैं कौन ?
एकमात्र जब ब्रह्म बताते विज्ञ संत अरु वेद !
फिर ‘मैं-तू’ व्यापक विवाद क्यों भवमें भारी भेद ?
क्यों इतना वैषम्य यहाँ प्रतिकूल खुशीसे खेद ?”
सोचा अति, नहिं समझ सकी मति, मुखपर छाया स्वेद !
सुनकर दुस्तर तर्क हो गये एक बार सब मौन !!
अभ्यन्तरमें हुआ निनादित नाद तभी गम्भीर—
“ओ मुमुक्षु ! है एक सभी कुछ, अनुभवसे पहिचान ।
जलसे भिन्न तरंगोंका अस्तित्व नहीं, यह जान ॥
यथा नहीं है भिन्न स्वप्न, द्रष्टासे हो गतिमान ।
वैसे ही सब जगत दृष्टिगत दुख-सुख ब्रह्म समान” ॥
समाधान जब हुआ, भ्रान्तिकी ध्वस्त हुई प्राचीर !

कल्याणके सुप्रसिद्ध चार विशेषाङ्क

एक साथ लेनेपर विशेष रियायत । चारोंका अलग-अलग मूल्य २९.०० है । एक साथ लेनेपर केवल २५.०० में, सजिल्दका ३०.०० । डाकखर्च हमारा ।

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेखसंख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मूल्य ६ रु० ५० नये पैसे । साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा विना मूल्य ।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है । इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ, हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं ।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा साधुओंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं ।

२—संतवाणी अङ्क

पृष्ठ-सं० ८००, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य डाकव्ययसहित ७ रु० ५० नये पैसे, सजिल्दका ८ रु० ७५ नये पैसे ।

इस अङ्कमें संतोंकी पवित्र, जीवन-निर्माणमें सहायक, जीवनको उच्चस्तरपर पहुँचा देनेवाली निर्मल वाणियोंका अभूतपूर्व संकलन है, जो कुमार्गपर जाते हुए जीवनको वहाँसे हटाकर सच्चे सन्मार्गपर लानेके लिये म सुहृद् बन्धु है । प्रबल मोह-सरिताके प्रवाहमें बहते हुए जीवोंके उद्धारके लिये सुखमय सुदृढ़ जहाज है । मानवतामें आयी हुई दानवताका दलन करके मानवको मानव ही नहीं, महामानव बना देनेके लिये दैवी शक्तिसम्पन्न संचालक और आचार्य है । जन्म-जन्मान्तरोंके संचित भीषण पाप-पादपोंसे पूर्ण महारण्यको तुरंत भस्म कर देनेके लिये उत्तरोत्तर बढ़नेवाला भीषण दावानल है । भगवान्की मधुरतम मुखछविका दर्शन करानेके लिये संत-वचन भगवान्के नित्य सङ्गी प्रेमी पार्षद हैं । इस प्रकार इस अङ्कमें ५८५ संतोंकी वाणियोंको अनेक गद्यों एवं द्योंमें संग्रह किया गया है ।

३—मानवता अङ्क

पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दुरंगा, १०१ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र । डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे, सजिल्द ८ रु० ७५ नये पैसे ।

देशभरके चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंके संग्रहसे म्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित ।

एक सम्मति—

प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्रीगुलाबरायजी एम्० ए०—मानवता आजकलकी समाजकी बहुत बड़ी आवश्यकता है । मानव और सब कुछ बन गया है, मानव ही नहीं बन सका है । इसलिये मानवता-अङ्क बहुत ही सामयिक निकला है । इसमें मानवताका साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है और यह बात प्रमाणित की गयी है कि मानवता धर्मकी अनिवार्य माँग है । इस अङ्कका धार्मिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियोंसे महत्त्व है ।

४—संक्षिप्त देवीभागवताङ्क

जनवरी १९६० का विशेषाङ्क, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द ८.७५ । डाकखर्च हमारा ।

इस विशेषाङ्ककी माँग इतनी अच्छी रही कि एक लाख पंद्रह हजार प्रतियोंका प्रथम संस्करण बहुत ही शीघ्र माप्त हो गया और चालू वर्षके ग्राहकोंके लिये ही दस हजार प्रतियोंका दूसरा संस्करण तत्काल छापना पड़ा । ड़ी प्रतियाँ शेष हैं, जिन्हें लेना हो शीघ्रता करनेकी कृपा करें ।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

आँव (आमातिसार) की अनुभूत दवा

गताङ्क पृष्ठ १०८४ पर उपर्युक्त दवाका जो नुस्खा छपा है—उसके सम्बन्धमें उसके लेखक श्रीवर्माजी लिखते हैं उसमें, जवापुष्प ‘ऊपरका हरा छिलका छीलकर फेंक दें और एक फूल या अवस्थानुसार कम चबा जाय’— छपा है । सो खिला हुआ फूल न चबाकर बिना खिली हुई जवा-पुष्पकी (मझले साइजकी न बहुत छोटी, न बहुत कली चार आनेभर मिश्रीके साथ खानी चाहिये । दिनमें दो बार दवा ली जाय तो और अच्छा है ।

एक नयी पुस्तक

संस्कृति-माला भाग ७ (कक्षा ९ के लिये)

(लेखक—श्रीवसन्तलालजी शर्मा, एम्०-ए०, साहित्याचार्य)

आकार डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १५२, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, आठ सादे चित्र, मू .५५ नये पैसे । डाकखर्च अलग ।

सम्मान्य कुलपति पद्मश्री पं० शुकदेवजी पाण्डेने विभिन्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंके मानसिक धरातलके अनु प्राचीन-भारतीय संस्कृतिका पाठ्यक्रम तैयार करनेके लिये बिरला-शिक्षण-संस्थाओंके विभिन्न विद्वानोंकी एक उपसमि श्रीयुत डॉ० कन्हैयालालजी सहल एम्० ए०, पी-एच्० डी०की अध्यक्षतामें नियुक्त की थी । उसीके अनुसार तैयार गयी यह नवम कक्षाकी पुस्तक है । इसमें सबसे पहले वेदोंकी दस शिक्षाप्रद कहानियाँ सरल भाषामें लिखी गयी हैं उसके बाद पुराणों तथा छः दर्शनोंका परिचय संक्षेपमें सरल भाषामें लिखा गया है । तदनन्तर सदाचारकी आवश्यक ज्ञातव्य बातें स्मृतियोंसे संकलित कर सरल हिंदीमें लिखी गयी हैं ।

कक्षा १० के लिये उपर्युक्त संस्कृति-मालाका भाग ८ छप रहा है ।

कक्षा ३ से कक्षा ८ तकके छः भाग पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

संस्कृति-माला भाग १ (कक्षा ३ के लिये)

(ले०—श्रीमती प्रेमा सरीन् एम्० ए०)

पृष्ठ-सं० ४८, मूल्य .२० नये पैसे, डाकखर्च अलग । इसमें रामायण, महाभारत, श्रवणकुमार, प्रह्लाद, ध्रुव, सावित्रीकी कहानियाँ और पालनीय नियम हैं ।

संस्कृति-माला भाग २ (कक्षा ४ के लिये)

पृष्ठ सं० ५६, मूल्य .२५ नये पैसे, डाकखर्च अलग । इसमें सत्यकाम जाबाल, महाशाल शौनक और अङ्गिरा याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, नचिकेता, इन्द्र-विरोचन, श्रीकृष्ण, भक्त हनुमान्, भीष्मपितामह, युधिष्ठिर और एकलव्यकी तथा पालनीय नियम हैं ।

संस्कृति-माला भाग ३ (कक्षा ५ के लिये)

(लेखक—पं० श्रीरामकृष्णजी शर्मा)

पृष्ठ-सं० ८८, मूल्य .३० नये पैसे । डाकखर्च अलग । इसमें महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, भगवान् महात्मा कबीर, गुरुनानकदेव आदिके १९ पाठ हैं ।

संस्कृति-माला भाग ४ (कक्षा ६ के लिये)

पृष्ठ-सं० १०४, मूल्य .३५ नये पैसे । डाकखर्च अलग । इसमें २६ पाठ हैं ।

संस्कृति-माला भाग ५ (कक्षा ७ के लिये)

(लेखक—पं० श्रीव्रजभूषणलालजी शर्मा)

पृष्ठ-सं० ९६, मूल्य .३५ नये पैसे, डाकखर्च अलग । इसमें जातककी कथाएँ, चाणक्य, कालिदास आदिके १०

संस्कृति-माला भाग ६ (कक्षा ८ के लिये)

पृष्ठ-सं० १००, मूल्य .३५ नये पैसे । डाकखर्च अलग । इसमें १९ पाठ हैं ।

आशा है कि इन सस्ती तथा उपयोगी पुस्तकोंसे शिक्षा-जगत्‌में लाभ उठाया जायगा ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (**

कल्याण

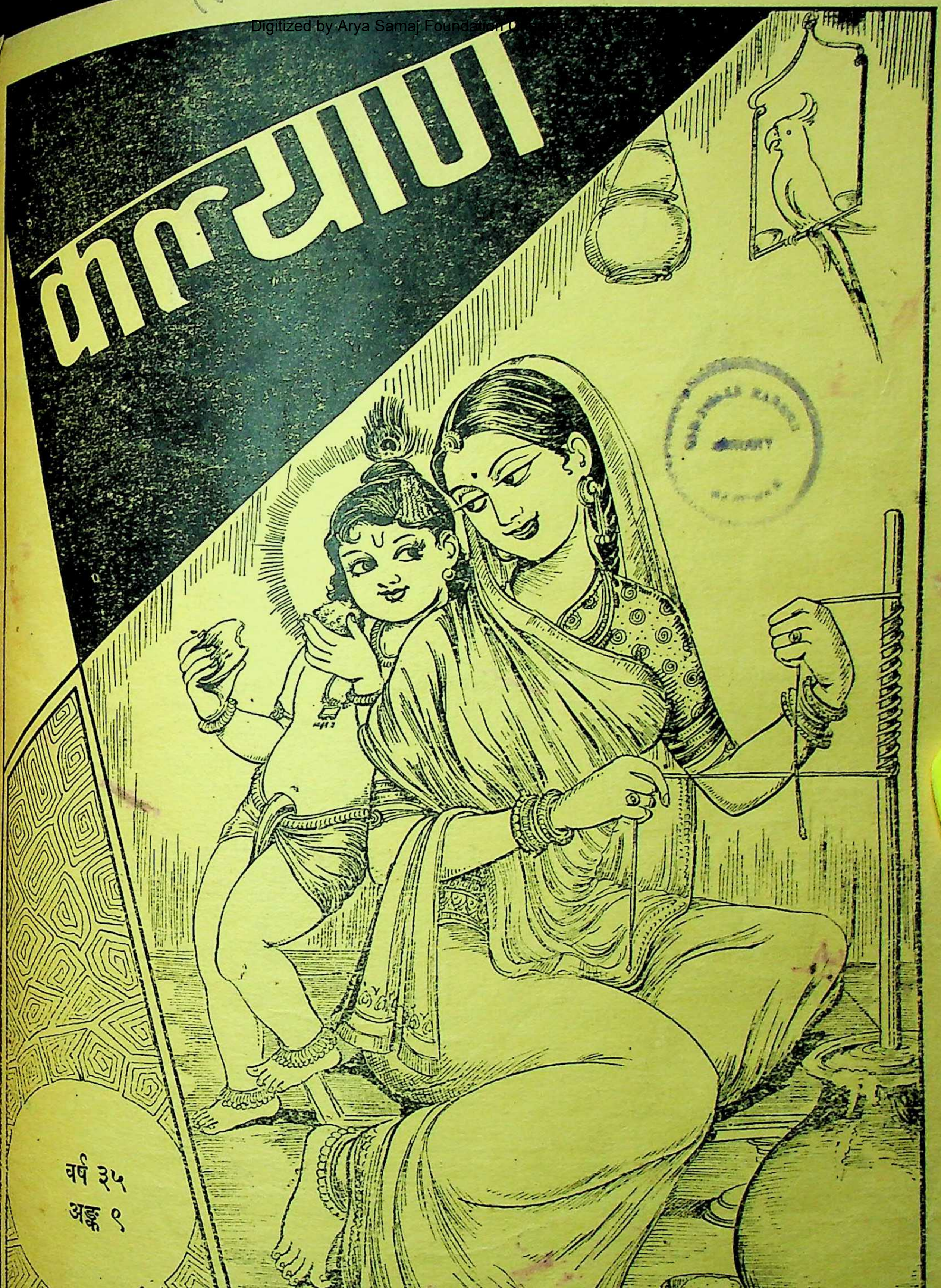

वर्ष ३५
अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३३,००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०१८, सितम्बर १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–ध्रुवको माताका उपदेश [कविता] ··· ११४९
२–कल्याण ('शिव') ··· ११५०
३–परमात्मा, जीवात्मा और विश्व (मूल अंग्रेजी लेखक–ब्र० जगद्गुरु अनन्त-श्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धन मठ, पुरी) [अनुवादक– पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि] ··· ··· ११५१
४–'मैं' से रहित बना दो [कविता] ··· ११५४
५–गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ११५५
६–त्र्यम्बकं यजामहे (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) ··· ··· ११५९
७–मधुर ··· ··· ११६३
८–प्रेमका यथार्थ स्वरूप [कविता] ··· ११६६
९–दक्षिणके आराध्य भगवान् श्रीवेंकटेश्वर (श्रीवेंकटलालजी ओझा) ··· ११६७
१०–तुम्हारी रूप-तरङ्गोंके साथ एक तरङ्ग बना नाच रहा हूँ ··· ··· ११७०
११–पञ्चतन्त्र और शतकत्रयकी कहावतें (डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ११७१
१२–भगवान्का योगैश्वर्य और हृदयमाधुर्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ··· ··· ११७२
१३–राजस त्याग [कहानी] (श्री 'चक्र') ११७६
१४–योगवासिष्ठमें नारी-महत्त्व (पं० श्री-रामनिवासजी शर्मा) ··· ११७९
१५–तुम्हींने दिया है [कविता] (डॉ० मोहनजी अवस्थी, डी० फिल्) ··· ११८०
१६–प्राचीन वैदिक सभ्यता बनाम भारतमें 'आर्य'-अभियान (श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा) ··· ··· ११८१
१७–संतोंके लक्षण ··· ··· ११८६
१८–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्द-दासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ··· ११८७
१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ··· ··· ११९२
२०–हमारा एक महान् दुर्गुण अभिमान (श्रीअगरचंदजी नाहटा) ··· ११९८
२१–मशीन और सिनेमाके सम्बन्धमें श्रीगाँधी-जीके विचार ··· ··· १२०२
२२–आगामी अष्टग्रही ··· ··· १२०३
२३–चाणूरमर्दन [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· १२०४
२४–भारतका पशुधन और उसकी रक्षा (श्रीकन्हैयालालजी आर्य) ··· १२०५
२५–पढ़ो, समझो और करो ··· १२०७

चित्र-सूची

१–माखनके लोभी ··· ··· ··· (रेखाचित्र) ··· मुख-पृष्ठ
२–बालक ध्रुवको माताका उपदेश ··· ··· (तिरंगा) ··· ११४९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ | गोरखपुर, सौर आश्विन २०१८, सितम्बर १९६१ | संख्या ९
पूर्ण संख्या ४१८

ध्रुवको माताका उपदेश

दुःखनाश, सुख-लाभ, राज-पद, सर्वोत्तम ब्रह्मा-पद तात !
भौम, दिव्य आनन्द, मोक्ष-पद शुचि मुमुक्षु-वाञ्छित विख्यात ॥
श्रीहरि-पद-पंकज-सेवासे मिलते दुर्लभ सभी पदार्थ ।
इसके बिना न कभी किसीको मिलती वत्स ! सुवस्तु यथार्थ ॥
अतः कमल-दल-लोचन हरिको भजो अनन्य करो विश्वास ।
परम भृत्यवत्सल निश्चय ही पूर्ण करेंगे मनकी आस ॥

याद रक्खो—बन्धन करनेवाली है—ममता, प्रेम नहीं, बन्धन करनेवाला है—भोग, त्याग नहीं। अतः ममता कहीं मत करो, किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें 'मेरा'पन मत रक्खो। भोगवासनाको लेकर किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिसे सम्पर्क मत रक्खो, सम्बन्ध मत जोड़ो। परंतु प्रेम करो सबके साथ, त्याग करो सबके लिये उनके सुखार्थ, उनके हितार्थ और उनके अविकार-रक्षणार्थ। वस्तुतः प्रेम है ही त्यागमूलक, भोगमूलक कदापि नहीं।

याद रक्खो—तुम कहते हो—'अमुक मुझसे प्रेम नहीं करता'—अर्थात् मेरे हित-सुखके लिये वह त्याग नहीं करता; पर तुम अपनी ओर देखो—तुम सचमुच उससे प्रेम करते हो क्या? तुम सचमुच उसके सुख-हितके लिये त्याग करते हो क्या? यदि नहीं करते तो उससे कैसे चाहते हो और क्यों उसपर दोषारोपण करते हो? तुम प्रेम करो, अपनी ओरसे उसके हित-सुखके लिये त्याग करो। फिर देखोगे, वह तुमसे कितना प्रेम करता है।

याद रक्खो—सर्वत्र भगवान् भरे हैं—सब कुछ भगवान्से परिपूर्ण है। अतः सभी तुम्हारे पूज्य हैं, सभी आदरणीय हैं, सभी सेव्य हैं और सभी अपने हैं। तुम यदि 'सदा सबके रूपमें भगवान् हैं', यह विश्वास करोगे और यदि तुम्हारा विश्वास और दृढ़ हो जायगा तो तुम्हें सबमें निश्चय ही भगवान् दीखने लगेंगे। तुम ऐसा करके देखो। परंतु जबतक ऐसा न हो, तबतक आप्तवाक्योंपर विश्वास करके सबमें भगवान्की भावना करो और सबके साथ नम्रता, विनय तथा सम्मान-युक्त व्यवहार करो; सबको सुख पहुँचानेका मनोरथ और प्रयास करो। बड़ी सावधानीसे यह ध्यान रक्खो—तुम्हारे द्वारा जान-बूझकर किसीका भी जरा-सा भी अहित न हो जाय, किसीके भी हित और न्याय्य अधिकारपर तुम्हारे द्वारा जरा-सा भी आघात न पहुँच जाय।

याद रक्खो—भगवान् तो सभीमें हैं, सर्वदा हैं और सर्वत्र हैं। परंतु जहाँ-जहाँ दैन्य, दुःख, अभाव, पीड़ा, व्याधि, मार्गच्युति, भय, विषाद और असहायावस्था है, वहाँ-वहाँ मानो भगवान् उस-उस रूपमें तथा उस-उस परिस्थितिमें तुम्हें दी हुई अपनी ही वस्तुओंके द्वारा तुमसे यथायोग्य अपनी सेवा चाह रहे हैं। तुमसे अपनी ही वह वस्तु अपने ही लिये—तुम्हें दाता एवं दयालुपनका गौरवदान देते हुए, माँग रहे हैं। अतएव इस अवस्थामें मुक्तहस्त होकर उनकी यथायोग्य सेवा करो और भगवान्का स्नेहपूर्ण आशीर्वाद प्राप्त करो।

याद रक्खो—तुम्हारे पास जो कुछ है, सब भगवान्का है और वह भी है भगवान्की सेवा-पूजाके लिये ही! तुम्हारा अधिकार तो केवल भगवान्के भोग लगानेके बाद बचा हुआ प्रसाद पानेका ही है और वास्तवमें यही परम सौभाग्य है। उनकी वस्तुको सदा उन्हींकी मानते हुए, उसके द्वारा उनकी सेवा करो और बचा हुआ पुण्यमय, अमृतमय प्रसाद पाकर कृतार्थ होते रहो। उस वस्तुके सम्बन्धमें तो तुम्हारे दो ही कर्तव्य हैं—उसका संरक्षण-संवर्धन करो और सदा-सर्वदा प्रसन्न-हृदयसे उसे उनकी सेवामें लगाकर परमानन्द लाभ करते रहो।

याद रक्खो—यह आवश्यक नहीं है कि उनकी सेवा अमुक वस्तुसे ही हो सकती है। तुम्हारे पास जो कुछ भी मन, तन, बुद्धि, धन, विद्या, शक्ति आदि हैं उसीके द्वारा उनकी सेवा करो। वे जिस-जिस रूपमें जो-जो चाहते हैं, उस-उस चाहके अनुरूप तुम्हारे पास जो-जो वस्तुएँ हैं, केवल उन्हींके द्वारा उनकी सेवा करो। पर असल बात तो यह है कि उन वस्तुओंको मानो उन्हींकी, और उनका सदुपयोग करो उनकी सेवामें ही। यही तुम्हारे सारे बन्धनोंको तुरंत काटनेवाला और भगवान्को तुम्हारे साथ नित्य बँधे रहनेके लिये बन्धन करनेवाला 'प्रेम' है।

'शिव'

परमात्मा, जीवात्मा और विश्व

(मूल अंग्रेजी-लेखक—ब्र० जगद्गुरु अनन्तश्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धन मठ, पुरी)

[अनुवादक—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

विश्वके इतने विशाल प्राङ्गणमें कोई भी ऐसा चेतन और विचारशील मनुष्य न था, न है और न होगा, जिसके मस्तिष्कमें कठोपनिषद्के ये प्रश्न (**अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके**) 'मैं अपने जन्मके पूर्व था या नहीं ? यदि था तो किस रूपमें और कहाँ था ? मैं कहाँसे आया हूँ ? अब मैं क्या हूँ ? मैं कब मरूँगा ? मरनेके बाद कहाँ और किस रूपमें जाऊँगा ? मेरा अन्तिम उद्देश्य क्या है और उस उद्देश्यतक पहुँचनेके क्या साधन हैं ?' न उठे हों और उसने कभी इन प्रश्नोंके उत्तर पानेका प्रयत्न न किया हो। बुद्धिमानों और साधारण मनुष्योंमें भेद केवल यही है कि बुद्धिमान् इन प्रश्नोंपर निरन्तर अध्ययन, विचार और मनन आदि करते हुए इनके गुप्त रहस्योंका पता लगा लेते हैं, जब कि साधारण मनुष्य मस्तिष्ककी शक्ति पर्याप्त न होनेके कारण शीघ्र ही इन समस्याओंको छोड़ देते हैं और इनके उत्तरोंके प्रति निराश हो जाते हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि ये प्रश्न बुद्धिमानों और साधारण मनुष्योंमें भी समानरूपसे जिज्ञासा जगाते हैं, भेद केवल उनके प्रयत्नोंके परिणामोंमें है।

आवश्यकता

पर यह एक ऐसा विषय है, जिसके ऊपर हर बुद्धिमान्‌को गम्भीर विचार और अध्ययन करके इसके बारेमें सत्य और यथार्थ निर्णय प्रस्तुत करना आवश्यक है; क्योंकि जबतक हम यह न जान लें कि हम बन्धनमें हैं, तबतक उस बन्धनकी मुक्तिके लिये प्रयत्न कर ही नहीं सकते। और जबतक हमें इन समस्याओंका कि—'हम क्या हैं ? क्या थे और आगे क्या होंगे ? और कहाँ होंगे ?' कुछ अंशतक समाधान नहीं मिल जाता, तबतक थोड़ी-सी भी मानसिक शान्ति मिलनी सर्वथा असम्भव है। अतः इसके पहले कि हम इन समस्याओंके समाधानके विषयमें छानबीन करें, हमें यह जान लेना आवश्यक है कि इस आत्मा (Soul) की अपनी सम्पत्ति क्या है ? अपने गुण क्या हैं और वे किस रूपमें हैं। जीवात्माका यह परिचय हमें उस स्थानपर पहुँचा देगा, जहाँपर कि हम इन समस्याओंका थोड़ा-बहुत समाधान ढूँढ़कर कुछ निर्णय करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

इससे पूर्व कि हम इस समस्याका एक संतोषात्मक समाधान ढूँढ़कर उचित निर्णयपर पहुँचें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिसे जीवात्माकी सत्ता सिद्ध करें। इससे हम एक ऐसे ठोस आधारका निर्माण कर सकेंगे, जिसपर हमारे विचारोंका महल खड़ा हो सकेगा। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'**न शयानः पतत्यधः**' जमीनपर लेटा हुआ मनुष्य गिर नहीं सकता। गिरनेका तथा उसके परिणामोंका डर तो उसको होता है, जो चढ़ता है। एक आदमी जितना ऊँचा चढ़ता चला जाता है, उतना ही उसके गिरनेका डर भी ज्यादा होता जाता है। और यदि वह गिर जाय तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गके टूटनेके साथ उसकी मृत्युका भी खतरा हो जाता है। अतः जब हम एक तर्कसे दूसरे तर्कपर, एक स्तरसे दूसरे स्तरपर चढ़ते चले जाते हैं, तब उसके साथ हमें इसका भी निश्चय होना चाहिये कि जिसपर हम चढ़ रहे हैं उसका आधार ठोस और दृढ़ है या नहीं।

इसलिये यह आवश्यक है कि हम पहले आत्मा, परमात्मा और प्रकृति (विश्व) की सत्ता सिद्धकर शास्त्रकी, अध्यात्मकी, तत्त्वज्ञानकी और मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इन तीनोंके परस्पर सम्बन्धका विश्लेषण करें। सौभाग्यसे इनके सम्बन्धके विषयमें सभी विभिन्न दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ही निर्णयपर पहुँचे हैं।

प्रमाण

सबसे प्रथम हम प्रमाणोंके विषयमें विचार करते हैं, जिन्हें हमें अपने विवेचनोंका आधार बनाना है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाणोंको ही आधार मानकर अपने विवेचनको आगे बढ़ाना नितान्त अनुचित होगा; क्योंकि इस भौतिक संसारमें ही ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जिनका निर्णय हमारी इन भौतिक इन्द्रियोंसे होना कठिन है; क्योंकि केवल 'प्रत्यक्ष' मात्रसे तो कोई भी यह निर्णय करनेमें भी असमर्थ रहेगा कि उसकी अपनी माता कौन है।

'अनुमान' भी अकेला या प्रत्यक्षसहित हमारे विवेचनके लिये पर्याप्त न होगा। यह ठीक है कि एक आदमी अनुमानके

आधारपर इस निर्णयपर तो पहुँच जायगा कि जैसे दूसरे अपनी-अपनी माताओंसे पैदा हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी अपनी मातासे पैदा हुआ हूँ। पर कौन-सी स्त्री उसकी माँ है, यहाँपर अनुमान उसकी सहायता नहीं कर सकेगा।

अब हम 'शब्द'प्रमाणपर पहुँचते हैं। यह प्रमाण हमें भौतिक संसारकी पहुँचके अंदर आनेवाले पदार्थोंका ज्ञान भी दे सकता है और इन्द्रियातीत पदार्थोंका ज्ञान भी हमें करा सकता है। अर्थात् इस जीवन और इस प्रत्यक्ष संसारके ज्ञानके साथ आगे आनेवाले संसारका भी ज्ञान हमें 'शब्द'प्रमाण से हो सकता है। इसीलिये शास्त्र भी कहते हैं—

१–नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्—वेदोंको न जाननेवाला उस ब्रह्मको भी नहीं जान सकता।

२–मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद—अपने माता, पिता और आचार्यद्वारा सुशिक्षित मनुष्य ही उस ब्रह्मको जान सकता है।

३–तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि—केवल उपनिषदोंद्वारा ज्ञात होनेवाले पुरुषको तुमसे पूछना चाहता हूँ।

४–शास्त्रयोनित्वात्—वही सारे शास्त्रोंका आदिस्रोत है और वह केवल शास्त्रोंके द्वारा ही जाना जा सकता है।

५–उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः—वे बुद्धिमान्, जो केवल सैद्धान्तिक (Theoratical)ज्ञानका ही सहारा लेकर नहीं रह गये, अपितु जिन्होंने उस ब्रह्मके साक्षात्कारका अनुभव भी किया है, वे तुझे उस ब्रह्मके बारेमें उपदेश देंगे।

स्वतन्त्र अन्वेषण

पर इसका यह अर्थ नहीं कि इन समस्याओंका समाधान तर्क और अनुमान आदिकी ओरसे आँखें मूँदकर शास्त्रोंके अन्धानुकरण मात्रसे ही हो जायगा। हमारे शास्त्र स्पष्टरूपसे कहते हैं—

१–श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः—पहले सुनना चाहिये (उस गुरुसे जिसने ब्रह्मका साक्षात्कार किया है), मनन करना चाहिये और तब (जब कि सिद्धान्तोंका पूरा पता लग जाय) उन उपदेशोंपर ध्यान करना चाहिये। प्रत्येकको इस प्रणालीको अपने दैनिक जीवनका एक अङ्ग बना लेना चाहिये।

२–यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः—धर्मको केवल वही जान सकता है, जिसने कि विचार और तर्कपूर्वक इसका अध्ययन किया है।

३–तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन—विनम्र होकर शङ्का-समाधानपूर्वक उस ब्रह्मको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि विनम्रता ही जिज्ञासुको उस शिक्षाके योग्य बनाती है।

सत्यकी खोज

इस तरह लगातार विचार और मननके द्वारा इस अन्तिम सत्यतक पहुँचाना ही हमारे धर्मका उद्देश्य है। यद्यपि दूसरे धर्म भी अपने अनुयायियोंको सत्य तथा अन्य गुणोंकी शिक्षा देते हैं; पर उनका यह कहना कि 'मैं तुमसे यह कहता हूँ (I say unto you)' उन धर्मोंकी तर्कविहीनताको दिखलाता है और अन्तमें उनका धर्म कोरे अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धामें ही बँधकर रह जाता है। पर सनातन वैदिक धर्म-की यह विशेषता है कि वह हर कथनको प्रथम सत्यकी कसौटीपर कसता है और तब कहता है कि—

१–सत्यान्नास्ति परो धर्मः—सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है।

२–युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि॥

बालक अथवा तोतेके द्वारा भी बोले गये तर्कसंगत और युक्तियुक्त वचनको ग्रहण कर लेना चाहिये, पर बुद्धिमान् अथवा शुकदेवद्वारा भी बोले गये युक्तिहीन कथनको ग्रहण नहीं करना चाहिये।

पर यह सत्य और तार्किकता केवल सैद्धान्तिक (Theoratical) ही नहीं है, जो भावुकतामें कह दी गयी हो, अपितु इसका क्रियात्मक (Practical) उदाहरण दे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें प्रस्तुत किया है। गीतामें यद्यपि अर्जुनने स्वयंको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दिया है, वह कहता भी है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(२। ७)

'जो मेरी भलाईके लिये हो उसे मुझे बताइये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपका ही मैंने आश्रय लिया है, आज्ञा दीजिये मैं क्या करूँ।' तथापि अपने भक्तके प्रश्नके उत्तरमें

श्रीकृष्ण अर्जुनको आज्ञा नहीं देते, अपितु वे अपने उपदेशोंकी व्याख्या करते हैं, उसे समझाते हैं और उसके हर प्रश्नोंका उत्तर देकर उसको प्रकाशका मार्ग दिखाते हैं। इस प्रकार सत्रह अध्यायोंमें अर्जुनकी हर सम्भव आपत्तियों और कठिनाइयोंका निराकरण करके अन्तमें अर्जुनसे कहते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥
(१८।७२)

'मुझे विश्वास है कि तुमने एकाग्र मनसे मेरे उपदेशोंको सुना होगा और आशा करता हूँ कि अज्ञानका अन्धकार अब हट गया होगा।' और तब अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८।७३)

'हे कृष्ण! आपकी कृपासे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया तथा मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, मेरे सारे संदेह मिट गये, अब मैं आपके कथनानुसार करूँगा।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णने केवल उपदेशोंद्वारा ही नहीं, अपितु क्रियात्मक उदाहरणोंद्वारा भी सत्यान्वेषणके लिये उपयोगी श्रवण, मनन और निदिध्यासनके यथार्थ मार्गको दिखाया।

सनातन धर्म-शास्त्र

इस (श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी) क्रिया-विधिपर चलते हुए हमें एक गम्भीर और उत्साही सत्यान्वेषकके रूपमें सर्वप्रथम पक्षपात, ईर्ष्या आदिको छोड़ना पड़ेगा, तभी हम परमात्मा, आत्मा और विश्वके पारस्परिक सम्बन्धपर विचार कर सकेंगे। श्रवणसे विचार प्रारम्भ करनेपर एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है, और वह यह है कि जब हम अन्य बातोंपर (परमात्मा, आत्मा, विश्वके अतिरिक्त) विचार करनेवाले अन्य धर्मशास्त्रोंको छोड़कर केवल वैदिक मन्त्रोंपर ही विचार करते हैं, तब हमें उन मन्त्रोंमें एक आश्चर्यजनक समानता दिखायी देती है। ये मन्त्र परमात्मा, आत्मा और विश्वके भेदोंको हटा देते हैं, दूसरे शब्दोंमें वे मन्त्र पूर्णतया अद्वैतवाद (Monism) का प्रतिपादन करते हैं। इस विषयमें प्रमाणरूपमें अनेकों मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं। पर स्थानका विचार करते हुए यहाँ हम कुछ ही मन्त्रोंको उद्धृत कर रहे हैं—

१–**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा**–एक ही ईश्वर सब पदार्थोंमें छिपा हुआ तथा व्याप्त है और सब पदार्थोंकी वही आत्मा है।

२–**नेह नानास्ति किंचन**–वस्तुतः इस सम्पूर्ण विश्वमें पदार्थोंमें परस्पर कुछ भी भेद नहीं है अर्थात् सब एक है।

३–**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**–जो इस विश्वमें अनेकता देखता है वह अनन्तकालतक जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ा रहता है।

४–**द्वितीयाद्वै भयं भवति**–दूसरे तत्त्वका विचार भय, शङ्का, घृणा तथा अन्य सांसारिक दुःखोंका उत्पन्न करनेवाला है।

५–**उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति**–जो कोई थोड़ा-सा भी भेदका व्यवहार करता है, उसे भय होता है।

६–**स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः**–जो इस पुरुष तथा सूर्यमें आत्मा है, वह एक ही है।

७–**सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः**–सत्य-द्रष्टाको सब विश्व आत्मरूप हो जाता है।

८–**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**–सब जगह एकत्वके अनुभव करनेवालेको शोक या मोह कुछ भी नहीं रहता।

९–**यस्मिन्नेकस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**—जिस एकको जान लेनेसे सभी पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है।

१०–**ईशावास्यमिदं सर्वम्**—यह सारा विश्व उस एक तत्त्वसे आच्छादित है।

११–**एतदात्म्यमिदं सर्वम्**—यह सारा विश्व आत्मा ही है।

१२–**स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**—हे श्वेतकेतो! वह आत्मा तू है।

इन सब विस्तृत मन्त्रोंके अतिरिक्त मुक्तिकोपनिषद्में एक तथ्य हमें मिलता है जिसमें श्रीरामचन्द्रजी स्वयं हनुमान्को १०८ उपनिषदोंकी एक विस्तृत सूची बताते हुए कहते हैं कि इन सब उपनिषदोंका सार माण्डूक्योपनिषद्में है—

१३–**माण्डूक्यमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये॥**

'मुक्ति पानेकी इच्छावालोंके लिये केवल माण्डूक्योपनिषद् ही पर्याप्त है।' इस माण्डूक्योपनिषद्का प्रारम्भ निम्न वचनोंसे होता है—

१४–ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वत्र ओंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद्ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

'पवित्र अ–उ–म उस निर्विकार परमात्माका प्रतीक है। सारा विश्व ब्रह्मका प्रकाशन (Manifestation) मात्र है। जो कुछ था, है और होगा, सब ओम् ही है और जो कुछ भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्से परे है सब ओंकार ही है, यह सारा विश्व ब्रह्म है, यह जीवात्मा भी ब्रह्म है।'

माण्डूक्योपनिषद्में आगे चलकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाके जीवात्माके साथ विश्वात्मक ओम्की समानता दिखायी है, यह कहा है कि जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी विश्वरूप प्रभुके प्रकाशन (Manifestation) की तीन अवस्थाएँ हैं।

यह माण्डूक्योपनिषद्, जिसमें केवल १२ छोटे-छोटे मन्त्र हैं, कलेवरमें सब उपनिषदोंसे छोटी होती हुई भी इसमें प्रतिपादित विचारोंकी दृष्टिसे सबसे बड़ी है जैसा कि श्रीरामचन्द्रजीके कथनसे भी ज्ञात होता है। यह उपनिषद् भी जगद्गुरु श्रीआद्य शंकराचार्यजीद्वारा प्रतिपादित अद्वैतवादका ही पोषण करती है। वस्तुतः माण्डूक्योपनिषद् और अद्वैतवाद—दोनों पर्यायवाची हैं, अतः प्रथम (माण्डूक्योपनिषद्) को मान्य करना तथा दूसरे (अद्वैतवाद) को अमान्य करना हो ही नहीं सकता।

यहाँपर वे मन्त्र भी स्पष्ट हैं कि जिनमें परमात्माके द्वारा सृष्टिनिर्माणका वर्णन है—

१५–सच्च त्यच्चाभवत्—वह ब्रह्म स्वयं ही दृश्य तथा अदृश्य संसारके रूपमें परिवर्तित होता है।

१६–बहु स्यां प्रजायेय—'उस ब्रह्मने इच्छा की कि मैं बहुत रूपोंमें होऊँ, मैं स्वयंको विभिन्न रूपोंमें प्रकट करूँ।' और इस प्रकार यह विश्व बन गया। ब्रह्मने यह नहीं कहा कि मैं बहुत-से पदार्थोंको उत्पन्न करूँ, अपितु यह कहा कि 'मैं स्वयंको विभिन्न रूपोंमें प्रकट करूँ।' यदि यह हमें मान्य है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, एक बिगाड़नेवाला नहीं (जो सोचता कुछ है और करता कुछ है) तब यह बात एक थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्यकी भी समझमें आ जायगी कि जब परमात्माने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और उसके इस कथनके साथ ही विश्वकी सत्ता सामने आ गयी, तब हमें यह मानना ही पड़ेगा कि यह सम्पूर्ण विश्व विभिन्न रूपोंमें उसी एक ब्रह्मका प्रकाशन (Manifestation) है, अथवा हमें यह माननेको बाध्य होना पड़ेगा कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् न होकर एक बिगाड़नेवाला है (जो सोचता कुछ और है तथा करता कुछ और है)।

कुछ आधुनिक विद्वानोंकी संतुष्टिके लिये भी, जो केवल वेदोंकी संहितामात्रको ही प्रमाण मानते हैं (उपनिषदोंको वेदके रूपमें नहीं) हम यहाँ यजुर्वेद (कृष्ण और शुक्ल) के पुरुषसूक्तके इस मन्त्रको उद्धृत करते हैं–

१७–प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते। यह प्रजापति अजन्मा होते हुए भी अनेक रूपोंमें जन्म लेता हुआ गर्भमें विचरता है, अर्थात् प्रकट होता है।

(क्रमशः)

'मैं'से रहित बना दो

हे मेरे तुम! प्राण-प्राण तुम! जीवनके जीवन-आधान!
'मैं'से रहित बना दो मुझको, हर लो अहंकार-अभिमान॥
कर दो मुझे अकिंचन पूरा, हर लो सभी लोक-परलोक।
भर जाओ उर अमित ज्योति तुम! हर लो मिथ्या तम-आलोक॥
नटवर! नाचो मनमाने तुम मुझे नचाओ मन-अनुसार।
कण-कणपर हो प्रकट तुम्हारा क्रियाशील अनुपद अधिकार॥
कठपुतलीकी भाँति सर्वथा सम्मत, नीरव, वाक्यविहीन।
नाचें सभी अंग-अवयव, हो तव रुचि रम्य रज्जु आधीन॥

गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर, जरा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्‌में ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्‌से भिन्न किसी भी वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेम न करना——यह अनन्य प्रेम है । अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीतामें इस प्रकार बताया गया है——

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमें निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञान-रूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

यहाँ भगवान्‌ने ९वें श्लोकमें अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोंके रूपमें छः साधन बतलाये हैं और १०वें श्लोकमें उनका फल बतलाया है । अब इनके विषयमें कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है ।

'मच्चित्ताः'

जैसे संसारी मनुष्य रात-दिन संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे संसारी मनुष्य हर समय मनसे संसारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहते हैं । भगवान्‌से मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्‌का आह्वान करके भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, पूजा, आदर, सत्कार और विनोद करते रहते हैं । सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोंसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है । फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्‌के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोंसे पूजन करता है । तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद, प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमें विचरण करता रहता है । जहाँ-जहाँ भगवान्‌के चरण टिकते हैं, उस-उस भूमिमें भगवान्‌का प्रभाव प्रवेश कर जाता है; इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याणकारिणी हो गयी समझता है । जिस बिछौने, गद्दे या सतरंजीपर बैठकर भगवान्‌के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है उस सतरंजी और गद्दे आदिमें मानो भगवान्‌के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस सतरंजी गद्देको छूनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं और हृदय प्रफुल्लित होता रहता है । जैसे दो सखा आपसमें प्रेमकी बातचीत करते हैं, वैसे ही वह भगवान्‌के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है । प्रेमभरे नेत्रोंसे वे एक-दूसरेको देखते हैं । भगवान्‌के हृदयमें और नेत्रोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पड़े हैं, भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय,

शरीर और रोम-रोममें ऐसे प्रवेश कर रहे हैं कि उनमें समता, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही। मानो मैं गुणोंके सागरमें डूबा हुआ हूँ ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्‌के नेत्रोंकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है वे सब वस्तुएँ दिव्य अलौकिक कल्याणदायक हो जाती हैं—ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनों एक साथ भोजन करने बैठे हैं और एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य अलौकिक रसमय परम मधुर हो गया है। वह भोजन करनेसे सारे शरीरमें इतनी प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्‌के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय, शान्तिमय, प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं, वह वस्तु भी परम शान्ति, परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है। भगवान्‌में दिव्य सुगन्ध आती है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरण-स्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार सगुण-निर्गुण स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमोद आदि सभी रसमय, आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय है। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम सभी परम मधुर दिव्य अलौकिक और रसमय हैं। यों चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती; अतः वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌में ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्गतप्राणाः'

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्‌के श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन, प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती हैं। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हें क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पड़ती, न रातको नींद आती है और न दिनमें भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हें अच्छा नहीं लगता। वे उनके बिना मछलीकी भाँति तड़फते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल, पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण सबको भगवान्‌के न्यौछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हें खाने, पीने, बोलने, चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता। मन, तन, धन, जीवन, प्राण, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी उनकी प्रीति और ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमें ही श्रीसुन्दरदासजीने भी कहा है—

न लाज तीन लोककी न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्तः परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्वको परस्पर एक दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं, वैसे ही वे भगवत्प्रेममें मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेम, गुण, प्रभावकी चर्चा करते हुए एक दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एवं अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला, चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य, रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमें परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम और आनन्दमें तन्मय और मुग्ध हो जाते हैं ।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तों तथा अपने प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और गुणोंका गान करते रहते हैं । एवं भगवान्‌के साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण स्वरूपके तत्त्व-रहस्यका, भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाका, भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य अलौकिक अनन्त नानाविध गुणोंके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक, व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा वर्णन करते रहते हैं । ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमें विह्वल और मग्न हो जाते हैं । फिर भी, इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं ।

'नित्यं तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय संतुष्ट रहते हैं । इनसे बढ़कर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते । वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और संतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति और परमानन्दके दिव्य रसमें हर समय मग्न रहते हैं । वे आमोद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वरं अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावको स्मरण करते हुए परम आनन्दमें ही मस्त रहते हैं । अपने परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही देख-देखकर सदा परम संतुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌के परम मधुर स्वभाव, महिमा और रूप-माधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं ।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्‌के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं । वे निरन्तर एक भगवान्‌में ही सर्वथा रमण करते रहते हैं । अपने परम प्यारे भगवान्‌से दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे स्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है । भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका स्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है । भगवान्‌के नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्रोंमें जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है उसको देखते रहना नेत्रोंके द्वारा रमण है । भगवान्‌के चरणोंका हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है । भगवान्‌के नूपुर, वंशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल मधुर वाणीको सुन-सुनकर स्वाद लेना कानोंके द्वारा रमण है । भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌में रमण करना है तथा भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमें रमण करना है । इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण, प्रसाद-भोग, दर्शन, स्पर्श, भाषण-श्रवण, चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय, प्रेममय, अमृतमय, आनन्दमय हैं—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमें

ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्में ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं । गोपियोंका भगवान्में अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था । उनके मन, प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान्के ही अर्पित थीं और वे भगवान्के गुणोंका गान करती हुई उनके प्रेममें ही सदा मग्न रहती थीं । भागवतकार बतलाते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३० । ४४)

'गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था । उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी । उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं । कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था । वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही ।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास और अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन, दर्शन, भाषण, चरण-स्पर्श करना ही भगवान्को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है । इस प्रकार भगवान्को भजनेवाले भक्त मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश-आराम, भोग और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते । वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्को अनन्य भावसे भजते हैं ।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका । उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता है तथा वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता ।'

ऐसा अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धियोगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं जिससे भगवान्के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमें आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्की प्राप्ति हो जाती है । भगवान्की प्राप्ति होनेके पश्चात् उसे केवल भगवान्का ही अनुभव रहता है । वह अपने-आपको भी भूल जाता है । होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्के ही मन और संकेतके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं । फिर भगवान्की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्के लिये ही होती है । उनमें परस्पर नित्य नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है । परस्पर दोनोंकी चेष्टा एक दूसरेको आह्लादित करनेके लिये ही होती है जो कि एक-दूसरेके लिये लीला है । प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनका नाम-रूप अलग-अलग है, परंतु वस्तुतः तीनों एक ही हैं । जैसे सुवर्णके आभूषणोंके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं किंतु वस्तुतः वे स्वर्ण ही हैं । इसी प्रकार परम चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं । भक्तकी दृष्टिमें तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्की दृष्टिमें भगवान् प्रेमी, भक्त प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अतः भगवान्की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी

भगवान्के लिये लीला है । एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है ।

वहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते । वस्तुतः तो एक ही हैं अतः कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार करे । दास्य और वात्सल्य-भावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमें भी लज्जा रहती है; किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान, आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि भगवान्की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य, कान्ता-भाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोंका उस भक्तमें समावेश हो जाता है । वह इन सारे भावोंसे अतीत केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोंसे ऊपर उठ जाता है । यह परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है । इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता ।

त्र्यम्बकं यजामहे

(लेखक—तत्त्व-चिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

(२)

'कल्याण' के ३५ वें वर्षकी छठी संख्यामें उपर्युक्त ऋचाके अर्थका जो विवेचन प्रकाशित हुआ था, वह अहिर्बुध्न्यके मतसे किया गया था । प्रस्तुत लेखमें भगवान् वसिष्ठकी तात्त्विक परिभाषाके अनुसार प्रकाश डाला जा रहा है । अहिर्बुध्न्य जहाँ मृत्युञ्जय-मन्त्रके केवल पदोंके सार्थ विवेचनतक सीमित रह जाते हैं, वहाँ ब्रह्मर्षि वसिष्ठ मन्त्रगत वर्ण (अक्षर), पद, वाक्य, चरण, अर्धर्च और सम्पूर्ण ऋचा—इन सभीके अर्थों और भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंपर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत लेख पूर्वप्रकाशित एतद्विषयक लेखके पूरक अंशकी कमीको पूर्ण करेगा—ऐसी लेखककी मान्यता है ।

'त्र्यम्बकम्' ऋचामें ३३ अक्षर हैं, जो वसिष्ठके मतानुसार ३३ देवताओं (शक्तियों) के वाचक हैं । इन ३३ देवताओंकी गणना इस प्रकार है—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ प्रजापति एवं १ वषट्कार—ये तैंतीसों देवता (शक्तियाँ) प्राणियोंके भिन्न-भिन्न शारीरिक स्थानोंमें स्थित हैं । सबल तथा जाग्रत्-अवस्थामें ये शक्तियाँ प्राणियोंके शरीरकी रक्षा और संहारक शक्तियोंका विनाश करती हैं । शरीरगत शक्तियोंका सबल एवं जाग्रत् रहना ही जीवन और उनका निर्बल तथा सुप्त हो जाना मृत्यु है । मृत्युञ्जय-मन्त्रान्तर्गत विभिन्न प्रकाशात्मक वर्ण, शरीरान्तर्गत विभिन्न शक्तियोंके सजातीय हैं। मन्त्र-जपसे जाग्रत्-शक्तियाँ जीवनको सबल और सुरक्षित बनाती हैं तथा विघ्नोंका नाश करती हैं ।

भगवान् वसिष्ठने कौन-कौन वर्ण किस-किस शक्तिका सजातीय है और वह शक्ति शरीरके किस-किस स्थानमें रहती है, इसका विस्तार 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' के सिद्धान्तपर नीचे लिखे प्रकारसे अभिहित किया है, जिसमें न्यासविधिका रहस्य भी अन्तर्भुक्त है ।

वर्णों (अक्षरों) के अर्थ

'त्रि' ध्रुव वसु (प्राण) का बोधक है, जो सिरमें स्थित है । 'यम्' अध्वर वसु (प्राण) का बोधक है, जो मुखमें स्थित है । 'ब' सोम वसु (शक्ति) का बोधक है, जो दक्षिण कर्णमें स्थित है । 'कम्' आप वसु (देवता) का बोधक है, जो वाम कर्णमें स्थित है ।

'य' अनिल वसुका बोधक है, जो शिखामूलमें स्थित है। 'जा' अनल वसुका बोधक है, जो दक्षिण बाहुमूलमें स्थित है। 'म' प्रत्यूष वसु (शक्ति) का बोधक है, जो दक्षिण बाहु-मध्यमें स्थित है। 'हे' प्रभास वसुका बोधक है, जो मणिबन्धमें स्थित है।

'सु' वीरभद्र रुद्र (प्राण) का बोधक है, जो हस्ताङ्गुलि-मूलमें स्थित है। 'ग' शम्भु रुद्रका बोधक है, जो हस्ताङ्गुलिके अग्रभागमें स्थित है। 'न्धिम्' गिरीश रुद्र देवताका बोधक है, जो वाम बाहुमूलमें स्थित है। 'पु' अजैकपात् रुद्र (शक्ति) का बोधक है, जो वाम हस्तके मध्यमें स्थित है। 'ष्टि' अहिर्बुध्न्य रुद्रका बोधक है, जो वाम हस्तके मणिबन्धमें स्थित है। 'व' पिनाकी रुद्र (प्राण) का बोधक है, जो वाम हस्तके अङ्गुलि-मूलमें विद्यमान है। 'र्ध' भवानीश्वर रुद्रका बोधक है, जो वाम हस्तके अङ्गुलि-अग्रमें विद्यमान है। 'नम्' यह कपाली रुद्रका बोधक है, जो दक्ष ऊरु-मूलमें स्थित है। 'उ' दिक्पति रुद्रका बोधक है, जो दक्ष जानुमें स्थित है। 'र्वा' स्थाणु रुद्रका बोधक है, जो दक्ष गुल्फमें स्थित है। 'रु' भर्ग रुद्रका बोधक है, जो दक्षपादके अङ्गुलिमूलमें स्थित है। 'क' धाता आदित्यका बोधक है, जो वामपादीय अङ्गुलि-अग्रमें स्थित है। 'मि' अर्यमा आदित्य (प्राण) का बोधक है, जो वाम ऊरु-मूलमें स्थित है। 'व' मित्रादित्यका बोधक है, जो वाम जानुमें स्थित है। 'ब' वरुण आदित्यका बोधक है, जो वाम गुल्फमें स्थित है। 'न्ध' अंशु आदित्य (देवता) का बोधक है, जो वामाङ्गुलि-मूलमें स्थित है। 'नात्' भगादित्यका बोधक है, जो वामाङ्गुलि-अग्रमें स्थित है। 'मृ' विवस्वान् आदित्यका बोधक है, जो दक्षपार्श्वमें स्थित है। 'त्योः' इन्द्रादित्यका बोधक है, जो वामपार्श्वमें स्थित है। 'मु' पूषादित्यका बोधक है, जो पृष्ठमें स्थित है। 'क्षी' पर्जन्यादित्यका बोधक है, जो नाभिमें स्थित है। 'य' त्वष्टा आदित्य (शक्ति) का बोधक है, जो गुह्यमें स्थित है। 'मा' विष्णु आदित्य (शक्ति) का बोधक है, जो दोनों भुजाओंमें स्थित है। 'हे' प्रजापति प्राणका बोधक है, जो गलभागमें स्थित है। 'तात्' यह अमित वषट्कारका बोधक है, जो हृदयमें स्थित है।

प्रकारान्तरसे वर्णोंके अर्थ

'त्र्यम्' त्रिनेत्रा शक्तिसहित त्र्यक्षेशका बोधक है, जो शिखामें स्थित है। 'ब' प्रभेदिनी शक्तिसहित बालार्क तेजका बोधक है, जो सिरमें स्थित है। 'कम्' कल्याणी शक्तिसहित कालानन्तेशका बोधक है, जो ललाटमें स्थित है। 'य' यज्ञरूपा शक्तिसहित त्रिनेत्रेशका बोधक है, जो भ्रू-मण्डलमें स्थित है। 'जा' ज्वालामुखी शक्तिसहित जालन्धरेशका बोधक है, जो नेत्र-युगलमें स्थित है। 'म' महाशक्तिसहित महादेवेशका बोधक है, जो कर्ण-युगलमें स्थित है। 'हे' हैमवती शक्तिसहित हाकिनीशका बोधक है, जो नासिका-द्वयमें निवास करता है। 'सु' सुगन्धि शक्तिसहित सुगन्धेशका बोधक है, जो कपोल-मण्डलमें स्थित है। 'ग' गम्भीरा शक्तिसहित गन्धेशका बोधक है, जो ऊर्ध्वओष्ठमें स्थित है। 'न्धिम्' धीरा शक्तिसहित महीश प्राणका बोधक है, जो अधरोष्ठमें स्थित है। 'पु' पूर्णा शक्तिसहित पुण्डरीकाक्षेशका बोधक है, जो ऊर्ध्व दन्तोंमें स्थित है। 'ष्टि' अधिष्ठानी शक्तिसहित अधिष्ठेशका बोधक है, जो अधोदन्तोंमें स्थित है। 'व' वरेण्या शक्तिसहित वरिष्ठेशका बोधक है, जो हनु-युगलमें स्थित है। 'र्ध' धर्म शक्तिसहित धर्मेशका बोधक है, जो जिह्वामें विद्यमान है। 'नम्' नन्दिनी शक्तिसहित नन्दीशका बोधक है, जो मुखमें स्थित है।

'उ' उमाशक्तिसहित ऋद्धीश प्राणका बोधक है, जो कण्ठमें स्थित है। 'र्वा' वामा शक्तिसहित

बोधक है, जो दोनों कंधोंमें स्थित है। 'रु' रूपवती शक्तिसहित रुद्रेशका बोधक है, जो भुज-युगलमें स्थित है। 'क' कान्तिशक्तिसहित कान्तेशका बोधक है, जो हृदयमें स्थित है। 'मि' शिवाशक्तिसहित मीढुष्टयेश-का बोधक है। 'व' वेदगर्भ शक्तिसहित वेदेशका बोधक है, जो स्तनमण्डलमें स्थित है। 'व' वन्धिनी शक्तिसहित वन्धिनीशका बोधक है, जो हृदयमें स्थित है। 'न्व' धनुष्मती शक्तिसहित धन्वीशका बोधक है, जो नाभिमें स्थित है। 'नात्' पुष्टि शक्तिसहित नाकेश्वरका बोधक है, जो कटिमें स्थित है। 'मृ' मृत्युनाशिनी शक्तिसहित मृत्युञ्जयेशका बोधक है, जो गुह्यमें स्थित है। 'त्योः' नित्या शक्तिसहित नित्येशका बोधक है, जो पायुमें स्थित है। 'मु' मुकुन्दा शक्तिसहित मुक्तीशका बोधक है, जो दोनों पार्श्वोंमें विद्यमान है। 'क्षी' क्षेमकरी शक्तिसहित क्षितीशका बोधक है, जो ऊरु-मण्डलमें स्थित है। 'य' मन्त्रभेदिनी शक्तिसहित योगीशका बोधक है, जो गुल्फ-युगलमें स्थित है। 'मा' मन्त्र-प्रभेदिनी शक्तिसहित मन्त्रेशका बोधक है, जो पादतलोंमें स्थित है। 'मृ' क्षमाशक्तिसहित अमृतेशका बोधक है, जो पाँवोंके ऊर्ध्वभागमें स्थित है। 'तात्' तन्वीश शक्तिसहित तन्वीशका बोधक है, जो पाद-युगलमें स्थित है।

पदोंके अर्थ

'त्र्यम्बकम्' यह पद त्रैलोक्यशक्तिसहित त्रिपुरान्तेश-का बोधक है, जो सिरमें स्थित है। 'यजा' सुगन्धा शक्तिसहित यज्ञवतीशका बोधक है, जो ललाटमें स्थित है। 'महे' माया शक्तिसहित महत्तत्त्वेशका बोधक है, जो कानोंमें स्थित है। 'सुगन्धिम्' सुगन्धि शक्ति-सहित सुगन्धीशका बोधक है, जो नासिकामें स्थित है। 'पुष्टि' पद पुरन्दरी शक्तिसहित पुरुषेशका बोधक है, जो मुखमें स्थित है। 'वर्धनम्' वशंकरी शक्तिसहित वरेशका बोधक है, जो कण्ठमें स्थित है। 'उर्वा' ऊर्वेश शक्तिसहित उमापतीशका बोधक है, जो हृदयमें स्थित है। 'रुक' रुक्मवती शक्तिसहित रूपवतीशका बोधक है, जो कटिमें स्थित है। 'बन्धनात्' बर्बरी शक्तिसहित बालचन्द्रमौलीशका बोधक है, जो गुह्यमें स्थित है। 'मृत्योः' यह पद मन्त्रवती शक्तिसहित मन्त्रेश-का बोधक है, जो ऊरु-द्वयमें स्थित है। 'मुक्षीय' पद मुक्तिकरी शक्तिसहित मुक्तिकरीशका बोधक है, जो जानु-द्वयमें स्थित है। 'मा' महाशक्तिसहित महाकालेश-का बोधक है, जो जंघा-द्वयमें स्थित है। 'अमृतात्' अमृतवती शक्तिसहित अमृतेशका बोधक है, जो पाद-तलमें स्थित है।

वाक्योंके अर्थ

'त्र्यम्बकम्' वाक्य भूतशक्तिसहित भवेशका बोधक है, जो मूलाधारमें स्थित है। 'यजामहे' शर्वाणी शक्ति-सहित सर्वेशका बोधक है, जो स्वाधिष्ठान चक्रमें स्थित है। 'सुगन्धिम्' विरूपा शक्तिसहित रुद्रेशका बोधक है, जो मणिपूर चक्रमें रहता है। 'पुष्टिवर्धनम्' वंश-वर्धिनी शक्तिसहित पुरुषवरदेशका बोधक है, जो अनाहत चक्रमें स्थित है। 'उर्वारुकमिव' उग्राशक्ति-सहित उग्रेशका बोधक है, जो विशुद्धि चक्रमें स्थित है। 'बन्धनात्' मानवती शक्तिसहित महादेवेशका बोधक है, जो आज्ञा चक्रमें स्थित है। 'मृत्योर्मुक्षीय' यह भद्रकाली-शक्तिसहित भीमेशका बोधक है, जो सहस्रदल कमलमें स्थित है।

प्रकारान्तरसे वाक्योंके अर्थ

'त्र्यम्बकम्' यह सर्वज्ञता शक्तिका बोधक है। 'यजामहे' नित्यतृप्तिका बोधक है। 'सुगन्धिम् पुष्टि-वर्धनम्' अनादि बोधका बोधक है। 'उर्वारुकमिव बन्धनात्' स्वातन्त्र्य शक्तिका बोधक है। 'मृत्योर्मुक्षीय' नित्यमलुप्तशक्तिका बोधक है। 'मामृतात्' अचिन्त्यानन्त शक्तिका द्योतक है, जो महादेवमें सदा विद्यमान है।

चरणोंके अर्थ

'त्र्यम्बकम् यजामहे' यह चरण अम्बिका शक्तिसहित त्र्यम्बकेशका बोधक है, जो पूर्व दिशामें प्रवाहित शक्तिमें

स्थित है । 'सुगन्धिम् पुष्टिवर्धनम्' वामाशक्तिसहित मृत्युञ्जयेशका द्योतक है, जो दक्षिण दिशामें प्रवाहित शक्तिमें स्थित है । 'उर्वारुकमिव बन्धनात्' भीमा शक्ति-सहित महादेवेशका बोधक है, जो पश्चिम दिशामें प्रवाहित शक्तिमें स्थित है । 'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' द्रौपदी शक्तिसहित संजीवनीशक्तिका बोधक है, जो उत्तर दिशामें प्रवाहित शक्तिमें विद्यमान है ।

अर्धर्चका तात्पर्य

'त्र्यम्बकम् यजामहे सुगन्धिम् पुष्टिवर्धनम्' यह आधी ऋचा गौरीशक्तिसहित महेशकी परिचायिका है, जो दक्षिण पादमें स्थित है । 'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' यह आधा उत्तरार्द्ध व्यापिनी शक्तिसहित शाम्भवेशका बोधक है, जो वामपादमें विद्यमान है ।

सम्पूर्ण ऋचाका तात्पर्य

त्रयस्त्रिंशदक्षरात्मक समग्र ऋचा अनाख्या शक्तिसहित सर्वाख्येशकी बोधिका है, जो सर्वाङ्गमें विद्यमान है ।

वर्ण, पद, वाक्य आदिसे प्रतीयमान सब शक्तियाँ शरीरके तत्तत्स्थानोंमें निवास करती हैं । देवता मन्त्रमय हैं, अतः मन्त्रके उच्चारणसे देवताओंका उल्लास होता है । शक्तियोंका उल्लास ही स्थिति है—अमृत है । शक्तियोंकी सुषुप्ति ही अन्धकार है—मृत्यु है । सुषुप्त शक्तियाँ मन्त्र-जपसे जाग्रत् होकर स्थितिभावकी संरक्षिका बनती हैं; क्योंकि मन्त्रमें 'सुगन्धि' और 'पुष्टिवर्धन' जैसे शब्द हैं । 'सुगन्धिका अर्थ यहाँ पुण्य और विस्तृत कीर्ति है । कीर्तिका पर्याय यश है । यश चान्द्रीशक्ति है, जो अमृता होकर शक्तियोंका संरक्षण करती है । 'पुष्टिवर्धनम्' यह शक्तिवर्धनका सूचक है ।

शब्दब्रह्ममें (शब्दोंमें) वर्ण 'अक्षर' कहलाते हैं । ये ही वर्ण अर्थब्रह्म पदार्थोंमें 'कला' कहलाते हैं । वर्ण शब्द प्रकाशका वाचक है । शब्दब्रह्म विचित्र प्रकाशमय वर्णोंका समुदाय है तो अर्थब्रह्म भी विभिन्न प्रकाशमय कलाओंका समूह है । दोनों ब्रह्म परस्पर अनुस्यूत हैं । इसीलिये शब्दसे अर्थका और अर्थसे शब्दका ज्ञान होता रहता है और शब्द अर्थरूपसे तथा अर्थ शब्दरूपसे परिणत होते रहते हैं। जिन विचित्र रंगीले प्रकाशोंके संयोगसे अमृतत्व सिद्ध होता है, अथवा जो प्रकाश अमृतरूपसे परिणत होते रहते हैं, उन सब प्रकाशोंका संग्रह अक्षरोंके द्वारा मृत्युञ्जय ऋचामें है। इस ऋचाके उच्चारणसे वे सर्वविध प्रकाश जाग्रत् होते हैं और अमृतका उत्पादन तथा आकर्षण करते हैं। शास्त्रोंमें यह भी निर्देश है कि किसी भी मन्त्रके फलकी शीघ्र सिद्धिके लिये ऋचामें जिस प्रकाशवाला जो अक्षर (वर्ण) हो, उसी जातिके प्रकाशसे जो ओषधियाँ बनी हैं, उन सब ओषधियोंसे गुटिका बनाकर उपयोग करनेसे अभिलषित कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

किसी भी देवताके मन्त्रजपके प्रथम, देवताका स्वाभीष्ट फलप्रद ध्यान किया जाता है। आगम शास्त्रमें जप्यमन्त्रीय देवताके ध्यानका विधान है। किसी भी शक्ति (देवता) को अपने संकल्पके अनुसार परिणत कर उसका भिन्न वर्ण, भिन्न आयुध आदिसे ध्यान करनेपर वह शक्ति (देवता) संकल्पके अनुसार तत्-तत् फलोंको देती है । मृत्युञ्जय-विद्याका ध्यान इस प्रकार है—

हस्ताभ्यां कलशद्वयामृतरसैराप्लावयन्तं शिरो
द्वाभ्यां तौ दधतं मृगाक्षवलये द्वाभ्यां वहन्तं परम्।
अङ्कन्यस्तकरद्वयामृतघटं कैलाससंस्थं शिवं
स्वच्छाम्भोजगतं नवेन्दुमुकुटं देवं त्रिनेत्रं भजे।

मृत्युञ्जय-विद्याकी फलश्रुति

आदौ प्रासादबीजं तदनु मृतिहरं तारकं व्याहृतीश्च
प्रोच्चार्य त्र्यम्बकं यो जपति मृतिहरं भूय एवं तथाद्यं।
कृत्वा न्यासं षडङ्गं स्ववदनत ऋचं मण्डलान्तःप्रविष्टं
ध्यात्वा योगीश रुद्रं स जयति मरणं शुक्रविद्याप्रसादात्॥

(श्रीविद्यार्णवतन्त्र)

मधुर

विशुद्ध प्रेमराज्यकी सर्वेश्वरी श्रीराधाका जीवन केवल एक श्रीकृष्ण-सुख-वासनामय है । सब समय सदा-सर्वदा वह एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखरूप है । श्रीराधाका हृदय कामोपभोगसे वर्जित है । स्वाभाविक ही उसमें जगत्का जंजाल नहीं है, वह महान् मोहकी अँधियारी रात्रिसे बिल्कुल रहित है । उसमें प्रेम-सूर्यकी अनन्त ज्योति सदा ही प्रकट है । श्रीराधाके समस्त जीवनाचार सहज ही श्रीकृष्णमें अर्पित हैं । उनका पवित्र जीवन केवल श्रीकृष्णके स्मरणसे पूर्ण है ।

कृष्ण-सुखैक-वासना केवल
कृष्ण-सुखैक-रूप सब काल ।
काम-भोग-वर्जित स्वाभाविक
राधा-हृदय रहित जग-जाल ॥
महामोह-तम-रजनी-विरहित
प्रकट प्रेम-रवि-ज्योति अपार ।
कृष्णस्मरणपूर्ण शुचि जीवन
अर्पित सहज अखिल आचार ॥

एक बार वे अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें अत्यन्त तल्लीन हो गयीं । वे अपनी सारी सुध-बुध भी भूल गयीं, स्वयं 'श्रीकृष्णस्मृति' रूपमें ही परिणत हो गयीं । वे श्यामसुन्दर हैं, मैं राधा हूँ, मुझे श्यामसुन्दरकी स्मृति हो रही है, इस त्रिपुटीका—इन तीनों भावोंका अभाव हो गया । न आस्वाद्य रहा, न आस्वादन और न आस्वादकपनकी ही भावना रही । यों जब स्मृति तथा स्मृति करानेवाली स्वयं राधाका ही भान नहीं रहा, तब उनके मनमें एक नवीन भाव उदय हुआ । (वे सब कुछ भूलकर मानो अपनेको शून्य देखने लगीं । श्यामसुन्दरकी स्मृतिरूपा अनवरत भी स्मृतिजनक अनन्त सुखका आस्वादन करनेवाली स्वयं जब नहीं दिखायी दीं, तब स्मृतिकर्ताके अभावमें 'स्मृति' कोई वस्तु नहीं रह गयी । अतः श्यामसुन्दरकी स्मरणजनित मिलनानुभूति नहीं रही । सर्वत्र अभाव ही अभावका बोध होने लगा ।) उन्होंने देखा हृदय सहज स्वतन्त्र हो रहा है और वह सर्वथा खाली है । इससे उनको बड़ा आश्चर्य हुआ ।

प्रियतम परम श्यामकी स्मृतिमें
हुई राधिका अति तल्लीन ।
स्वयं हो गयी 'स्मृतिरूपा' वह
अपनी सुधिसे हुई विहीन ॥
श्यामा, श्याम, श्यामकी स्मृति—
इस त्रिपुटीका हो गया अभाव ।
रहे नहीं आस्वाद्यास्वादन,
रहा न आस्वादकका भाव ॥
स्मृति, स्मृतिकर्ताके अभावमें
उपजा मनमें भाव नवीन ।
विस्मय परम हुआ जब दीखा,
खाली हृदय सहज स्वाधीन ॥

यों वे आश्चर्यचकित हो रही थीं, इतनेमें ही, जाने कैसे, एक क्षणके लिये उन्हें (मधुरतम) भावसे परिपूर्ण नेत्र दिखलायी दिये । उन नेत्रोंके देखते ही पता नहीं क्यों, कुछ (परवश कर देनेवाली मधुरतम स्मृति) मनमें जाग उठी । (मनको समझानेमें) सारा बुद्धि-विवेक हार गया । उनको दिखायी दिया—उन नेत्रोंके भावसे विशुद्ध रसका प्रवाह बह रहा है । वह रस-प्रवाह तीव्रगतिसे राधाजीके पास आ पहुँचा और इनके खाली हृदयमें अपरिमित अगाधरूपसे भर गया । उसी समय मनमें यह जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि वे सुधा-रससे भरपूर नेत्र किसके थे । जिस रसकी बाढ़ आ गयी और जिसने राधाको अत्यन्त विवश कर दिया, एवं उन्हें एक विचित्र मधुर मादकतासे चूर कर दिया ।

जानें कैसे दी दिखलायीं,
भाव भरी आँखें पल एक ।

पता नहीं क्यों, जाग उठा कुछ,
हार थका सब बुद्धि-विवेक ॥
दीखा नेत्र-भावमें उसको
रसका बहता विमल प्रवाह ।
उसके प्रति धाया द्रुत गतिसे,
भरा शून्य उर अमित अथाह ॥
उदय हुई जिज्ञासा, थे
थे किसके नेत्र सुधा-रस-पूर ।
रसवन्यासे किया उसे अति विवश,
विचित्र मधुर मद चूर ॥

श्रीराधाके नेत्रोंके द्वारा लाये जाकर वे नेत्र उसी समय राधाके हृदय-मन्दिरमें बस गये। अतः उन नेत्रोंने बता दिया कि इन नेत्रोंवाले श्रीनन्दनन्दन हैं। (उन नेत्रोंको देखकर राधाने पहचान लिया, नेत्र उनके परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके ही हैं।) अब तो राधाके मनका बाँध टूट गया। उन्हें मानो बलात्कारसे तुरंत अभिसार करना पड़ा। (वे श्रीकृष्ण-मिलनके लिये बरबस निकल पड़ीं।) वे कहाँ हैं, कौन हैं, कहाँ जा रही हैं, इसका तनिक भी विचार नहीं रह गया। वे लक्ष्यकी ओर तीरकी तरह चलीं, उन्हें प्रियतम श्रीकृष्णका पता मिल गया और उन्होंने प्रियतमके चरणोंमें पहुँचकर उन रसके खान चरणकमलोंके दर्शन किये।

चले नेत्र, नेत्रोंके द्वारा,
आकर उर-मन्दिर तत्काल ।
बता दिया उन नेत्रोंने,
वे नेत्रवान् हैं श्रीनँदलाल ॥
टूट गया तब मनका बंधन,
बरबस तुरत हुआ अभिसार ।
कहाँ, कौन, वह क्यों जाती है,
रहा न इसका तनिक विचार ॥
चली तीरकी तरह लक्ष्यपर
मिला स्वयं प्रियका संधान ।
पहुँच गयी वह प्रिय चरणोंमें
देखे चरण-जलज रसखान ॥

फिर तो श्रीश्यामसुन्दरकी मृदु मधुर मुस्कान, उनकी दृष्टिकी विचित्र भंगिमा तथा चित्तरूपी धनको चुरानेवाली भ्रुकुटियोंके संचालनको देखकर उनकी बाह्य-चेतना जाती रही, उनके समस्त अङ्ग-अवयव शिथिल हो गये और वे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी गोदमें गिर पड़ीं।

देख मृदु स्मित, दृष्टि-भंगिमा,
चित्तवित्तहारी भ्रू-भंग ।
बाह्य चेतना गयी, पड़ी प्रिय
अंक, शिथिल सब अवयव-अंग ॥

तब प्रियतम श्रीकृष्णने उन प्रियतमा श्रीराधाके मस्तकपर हाथ रखकर, उन्हें हवा करके चेत कराया। चेतना आते ही वे सहमकर उठ खड़ी हुईं और दूर जाकर बैठ गयीं। वहींसे वे माधुर्य-सदन श्रीश्यामसुन्दरको देखने लगीं। प्रियतम श्रीकृष्णके रसवर्षा करनेवाले मोहन-मुखको देखकर उनके हृदयमें साहसका संचार हो आया और वे स्वयं 'दैन्य' की साकार मूर्ति बनकर विनम्रताके साथ मधुर तथा पवित्र वचन बोलीं।

सिर कर धर, कर पवन, कराया
प्यारीको प्रियतमने चेत ।
सहमी, उठी, दूर जा बैठी,
देख रही माधुर्य-निकेत ॥
देख वदन मोहन रसवर्षी,
हुआ हृदय साहस-संचार ।
बोली मधुर विनम्र वचन
शुचि बनकर स्वयं 'दैन्य' साकार ॥

'प्रियतम ! इस नगण्य दासीके प्रति आप प्रेम भाव क्यों रखते हैं ? आपके विशुद्ध (शुद्धसत्त्वरूप) चित्तमें इसके लिये नित्य-नवीन चावका क्यों उदय होता है। आपने इसमें क्या देखा है ? प्रियतम ! इसका हृदय तो सर्वथा खाली है। उसमें कुछ भी वस्तु नहीं है। न तो उसमें सुवस्तु रह गयी है, न कुवस्तु। उसके लिये सृष्टि-प्रलय सभी अवस्तु—सत्ताहीन हो गये हैं।'

श्यामसुन्दर श्रीराधाकी यह दीनताभरी रहस्यमयी वाणी सुनकर गद्गद हो गये तथा बोले—

'हृदय तो निःशेषरूपसे तब खाली होता है जब, अहङ्कार-ममता, आशा-तृष्णा, भोगोंकी वासना-कामना सब मिट जाती हैं। समस्त (सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, जय-पराजय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, मेरा-तेरा, मैं-तू आदि) द्वन्द्वोंका भेद मिटकर सदा सर्वत्र समत्व छा जाता है। जब भोग-मोक्षकी इच्छाका कल्पित-सा लेश भी नहीं रह जाता और जब परम शान्तिका अनुभव होता है।

मिटे अहंता-ममता, आशा-
तृष्णा, भोग-वासना-काम।
हो समत्व सर्वत्र सर्वदा
मिटे द्वन्द्वका भेद तमाम॥
रह न जाय जब कल्पित-सा भी
भुक्ति-मुक्ति-इच्छाका लेश।
परम शान्तिका अनुभव हो जब,
तब खाली हो हृदय अशेष॥

इस प्रकार जिसका हृदय पूर्णरूपसे खाली हो गया, जिसमें कुछ भी वस्तु नहीं रह गयी, उस हृदय (क्षेत्र) में सबको पवित्र करनेवाले 'प्रियके सुखसे सुखी' होना जिसका रूप है, ऐसे रसमय (भगवत्) प्रेमका बीज पड़ता है। फिर वह बीज प्रेमीजनोंके मनके मधुमय निर्मल भाव-रससे सींचा जाता है—उस रस-जलका सङ्ग पाता है और प्रेमीजनोंकी प्रेमचर्चारूपी अनुकूल हवा पाकर अपना रंग बदलता है। (वह फिर बीज-रूपमें नहीं रहकर) अङ्कुरित होता है, पल्लवित होता है, पुष्पित होता है और तदनन्तर मुझको (भगवान्‌को) बड़ा मीठा फल प्रदान करता है। उस (प्रेमरूप) फलसे मुझे परम आह्लादकी प्राप्ति होती है और मेरे मनमें उसके लिये परिमाणरहित अत्यन्त लालच बढ़ जाता है। इसलिये मैं सदा चाहता हूँ वह (मधुर) रसका समुद्र और (मेरे) आह्लादका आवास प्रेम (प्रेमस्वरूप प्रेमी) नित्य निरन्तर मेरे पास ही रहे; पलभरके लिये भी, तिलभर भी मुझसे पृथक् न हो।

जिसका हृदय हो गया खाली
पूरा, यों न रही कुछ चीज।
उसमें पड़ता पावन रसमय
'प्रिय-सुख-सुखी प्रेम' का बीज॥
पा वह प्रेमी जन-मनके मधुमय
निर्मल रस-जलका संग।
वचनावलि-अनुकूल-पवन पा
बीज बदलता अपना रंग॥
होता वह अंकुरित, पल्लवित,
पुष्पित, देता मधु फल दान।
मिलता परमाह्लाद मुझे, मन
बढ़ता अति लालच निर्मान॥
इसीलिये मैं सदा चाहता
रहे नित्य वह मेरे पास।
पलभर, तिलभर भी न परे हो,
रस समुद्र आह्लाद निवास॥

केवल परम आह्लाद प्राप्त करनेकी लालसा ही मुझे (उसके पास रहने एवं उसको पास रखनेके लिये) लाचार नहीं करती। वह प्रेम ही मेरे जीवनका एकमात्र आधार बन जाता है। परंतु उस रस (परम प्रेम) का उदय बड़ा ही कठिन है, वह इस संसारमें सहज सम्भव नहीं है। (बड़े-बड़े) ऋषि-मुनि, योगी-त्यागी, देवराज इन्द्र, ब्रह्मा और कामशत्रु भगवान् शंकर भी प्रयत्न करके हार गये (पर उन्हें वह मिलता नहीं)।

केवल परमाह्लाद-लालसा
ही न मुझे करती लाचार।
प्रेम वही बन जाता मेरे
जीवनका केवल आधार॥
पर उस रसका उदय कठिन अति
नहीं सहज संभव संसार।
हार गये ऋषि-मुनि, योगी-त्यागी
सुरपति विधि मर्दनमार॥

(यह तो उनकी बात है जो सर्वस्व त्यागरूप प्रेमका साधन करके प्रेमरसको प्राप्त करते हैं।) राधिके ! (तुमको साधन करके उस रसको प्राप्त नहीं करना पड़ता) तुम तो स्वरूपतः ही सहज ही उस रसकी भण्डार हो। तुम्हारे अंदर उस दिव्य प्रेम-रसका समुद्र सदा ही उमड़ता रहता है। (सचमुच) तुम्हीं मुझको दिव्य जीवन, दिव्य मन, दिव्य देह, दिव्य धन (आदि समस्त) दिव्य गुणोंसे सम्पन्न रखती हो (तुम ये सब मुझे न दो तो मैं सारी विशेषताओंसे रहित ही हो रहूँ)। तुम्हीं अपना सर्वस्व देकर नित्य-निरन्तर मेरी परम शोभामयी महिमा बढ़ाती रहती हो। तुम मेरे जीवनकी आशा हो, तुम मेरी एकमात्र उदार सहायिका हो। तुम मेरे दिव्य प्राणोंकी स्पन्दन हो और तुम ही मेरे प्राणोंकी आधार श्रेष्ठ हृदय-गति हो।

राधे ! तुम स्वरूपतः ही हो
सहज उसी रसकी भंडार।
तुममें सदा उमड़ता रहता
दिव्य प्रेम-रस-पारावार॥
रखती, तुम मुझको जीवन, मन-
तन, धन दिव्य गुणोंसे युक्त।
देकर निज सर्वस्व बढ़ाती
महिमा नित सुषमा-संयुक्त॥
मेरे जीवनकी आशा तुम,
मेरी एक सहाय उदार।
मेरे प्राणोंकी स्पन्दन तुम,
परम हृदयगति प्राणाधार॥

राधिके ! अग्निमें यदि दाहिका शक्ति न हो, सूर्यमें यदि गरमी और प्रकाश न हो तो वे जैसे अग्नि-सूर्य नहीं कहलाते, उनका (अग्नि-सूर्यरूपसे) अस्तित्व ही मिट जाता है, वैसे ही, हे (मेरी) शक्ति राधिके ! यदि मैं तुमसे रहित हो जाऊँ तो मेरी (शक्तिमान् भगवान्की) कुछ भी सत्ता न रह जाय और मैं अस्तित्वरहित हो जाऊँ। मैं तुम्हींसे शक्तिमान् बना हुआ हूँ, तुम्हीं मेरी नित्य शक्ति हो। इसीसे मेरे हृदयमें तुम्हारे प्रति रहनेवाली आसक्ति कभी हटती ही नहीं। तुम (शक्ति हो, लीलामयी हो, रासेश्वरी हो) जैसे तुम्हारा मन चाहे मुझसे लीला करवाओ; जैसे मन हो, वैसे ही मुझे नचाओ। तुम सभी तरहसे मेरी एकमात्र नित्य स्वामिनी हो और मैं तुम्हारा सहज नित्य भृत्य हूँ।'

न हो 'दाहिका'शक्ति अग्निमें,
न हो सूर्यमें ताप-प्रकाश।
अग्नि-सूर्य तब नहीं कहाते
हो जाता अस्तित्व विनाश॥
इसी भाँति मैं, शक्ति-राधिका !
हो जाऊँ यदि तुमसे हीन।
रहे न कुछ भी सत्ता मेरी,
बन जाऊँ अस्तित्व विहीन॥
शक्तिमान् मैं बना तुम्हींसे
तुम्हीं नित्य हो मेरी शक्ति।
हटती नहीं हृदयसे मेरे
किसी तरह तुममें आसक्ति॥
जैसे चाहे खेल खेलाओ,
जैसे जचे कराओ नृत्य।
तुम स्वामिनि सब भाँति एक नित,
मैं नित सहज तुम्हारा भृत्य॥

इस प्रेममें कितना महान् त्याग है, कितना समर्पण है। मनन कीजिये।

प्रेमका यथार्थ स्वरूप

इन्द्रिय-सुख-इच्छासे विरहित अतिशय मधुर कृष्ण-अनुराग।
प्रियतम-सुखमय सहज उदित सर्वस्व त्याग मन भोग-विराग॥
नहीं कामना-लिप्सा कुछ भी, नहीं कहीं ममता-मद-मान।
केवल हृदय प्रेम-रस पूरित निर्मल निरुपम दिव्य महान्॥
देना ही देना है जिसमें, लेनेका न कहीं कुछ काम।
उसी प्रेम-रस-आस्वादनके लोभी रहते हैं नित श्याम॥

दक्षिणके आराध्य भगवान् श्रीवेंकटेश्वर

(लेखक—श्रीवेंकटलालजी ओझा)

दक्षिण भारतकी भूमि भारतीय संस्कृतिकी प्रधान संरक्षिका मानी जाती है; जहाँ प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति ही नहीं, साहित्य और कला भी अपने असली रूपमें आज भी विद्यमान है । दक्षिण जनपदका प्रत्येक प्राचीन मन्दिर अपना कुछ-न-कुछ इतिहास रखता है । उत्तरमें धर्मान्ध मुसल्मानोंके आक्रमणके शिकार पवित्र तीर्थस्थान और मन्दिर विशेषरूपसे रहे । जहाँ-जहाँ आक्रमणकारी मुसल्मान पहुँचे, उन्होंने मूर्तियोंको खण्डित ही नहीं किया, मन्दिरोंको मसजिदके रूपमें भी बदल दिया, जिसके उदाहरण एक नहीं, अनेक आज भी भारतमें सर्वत्र दिखायी देते हैं । परंतु ऐसे आक्रमणोंसे दक्षिण भारतका अधिकांश भाग अछूता रहा, जिससे भारतीय मूर्तिकला और वास्तुकला सुरक्षित रह सकी और मन्दिर अपवित्र नहीं हो पाये । यही कारण है कि आज भी धर्मभक्त नर-नारी, चाहे भारतके किसी भी भू-भागके हों, दक्षिण जनपदके तीर्थोंकी यात्रा करना अपना पवित्र और प्रधान कर्तव्य समझते हैं ।

पूर्वीघाट पर्वतमाला, जो कि शेषाचल, वेंकटाचल आदि कई नामोंसे प्रख्यात है, क्योंकि वह दूरसे शेषनागकी सहस्र-फणिमाला-सी दिखायी देती है, ऐसी ही सात पर्वतमालाओंके लाँघनेके बाद तिरुमलै नगरीके दर्शन होते हैं, जहाँपर इन सात पर्वतोंके स्वामी भगवान् श्रीवेंकटेश्वर, जिन्हें 'बालाजी' भी कहते हैं—विराजमान हैं । तिरुमलै नगरी चारों ओर पहाड़ोंसे घिरी हुई समुद्रकी सतहसे २८ सौ फुट ऊँचाईपर है । यहाँकी जलवायु अति स्वास्थ्यप्रद और लगभग एक-सी रहती है अर्थात् न इतनी ठंडी है कि नीलगिरि हो और न इतनी गरम है कि पसीने निकलें । नगरीकी जनसंख्या कहनेके लिये साढ़े तीन हजार है; परंतु प्रतिदिन लगभग पाँच हजार यात्रियोंका औसत आवागमन होता है ।

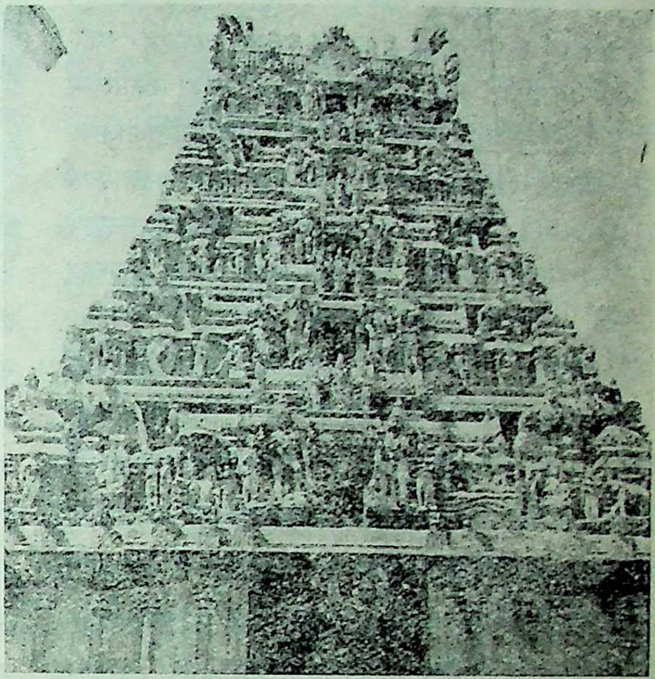

भगवान् श्रीवेंकटेश्वरका यह मन्दिर किसने और कब निर्माण कराया और स्थापित किया, इस सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कहना कुछ कठिन अवश्य है; परंतु यह निर्विवाद है कि यह है अति प्राचीन, जिसका उल्लेख, कहते हैं कि ऋग्वेदतकमें है । बारह महापुराणोंमें भी श्रीवेंकटाचल-माहात्म्यका वर्णन मिलता है । पौराणिक कथाके अनुसार कहते हैं कि यह पर्वत असलमें मेरुपर्वतका शिखर है जो आदिशेष और वायुदेवके परस्पर युद्धमें पृथिवीपर आ पड़ा था । एक कथा यह भी है कि महाप्रलयके बाद नयी सृष्टिकी रचनाके लिये भगवान् विष्णु यहाँपर श्वेतवराहके रूपमें प्रकट हुए । इसीलिये वराह स्वामीका मन्दिर यहाँपर श्रीवेंकटेश्वरके मन्दिरसे भी प्राचीन है और सर्वप्रथम वे ही पूजाके अधिकारी भी हैं । वराह स्वामीकी पूजाके बाद ही यात्रीको श्रीवेंकटेश्वरकी पूजाका अधिकार है, पहले नहीं ! आजकल इस प्रथाका लोप-सा दिखायी दे रहा है; इसी प्रकार पर्वतसे उतरकर यात्री तिरुपतिसे तीन मील दूर तिरुचानूरमें पद्मसरोवरके तटपर अवस्थित भगवती पद्मावतीके अन्तमें दर्शन कर अपनी यात्रा सार्थक करते हैं । माता पद्मावती भगवान्

श्रीवेंकटेश्वरकी पत्नी हैं और यहाँपर स्वयं अवतरित हुई थीं, ऐसी पौराणिक गाथा है ।

दक्षिण जनपदके तीर्थोंमें श्रीवेंकटेश्वरका, जिसे तिरुपति या बालाजी भी कहते हैं, बड़ा महत्त्व है । कहनेके लिये यह तीर्थ आन्ध्र प्रदेशमें है, परंतु यह एक ऐसे संगम-स्थलपर है, जहाँपर आन्ध्र, कर्नाटक और तमिलनाड एक दूसरेका आलिङ्गन करते हैं । इस मन्दिरके पुजारी कन्नडभाषी मैसूरी हैं तो तमिलभाषी जीरस्वामी पूजाके समय सेवक (प्रचारक) का कार्य करते हैं, अर्थात् पुजारी (अर्चक) को भगवान्के स्नानके लिये लोटा भरकर जल देना, आरतीके समय आरती तैयारकर प्रज्वलित करना आदि काम जीरस्वामी करते हैं; पर भगवान्की मूर्तिको हाथतक नहीं लगाते । पुजारी ही भगवान्को स्नान कराते हैं, उन्हें वस्त्रादिसे अलंकृत करते हैं । आन्ध्रके तेलुगुभाषी देवस्थानके कार्यालय और अन्य कार्योंपर दिखायी देते हैं । मैसूर और कोचीनके महाराजाओंकी ओरसे यहाँ धर्मशालाएँ हैं और मन्दिरको वार्षिक चढ़ावा भी मिलता है, जो इस बातको स्पष्ट करता है कि श्रीवेंकटेश्वर दक्षिण जनपदके चारों भाषा-भाषियोंके आराध्य ही नहीं, इष्टदेव भी हैं और उनपर सभीका समान अधिकार भी है ।

आदिकालसे ही यह मन्दिर श्रद्धास्पद रहा है । संगम युगके तमिळ काव्यमें भी बालाजीका गुणगान मिलता है । प्राचीन आल्वारोंने तो अपने संत काव्यमें श्रीवेंकटेश्वरके माहात्म्यपर अनेक रचनाएँ कर अपनेको धन्य माना है । प्राचीनकालके ताम्रपत्रों और अभिलेखोंसे यह प्रमाणित होता है कि यह मन्दिर सदा ही एक प्रकारके राजसी ठाटबाट और अधिकारोंसे सम्पन्न रहा है । नवमी सदीके कांचीपुरम्के पल्लवों, दसवीं सदीके तंजाऊरके चोलों, मदुराईके पांड्य सम्राटोंने अपना समस्त राजपाट श्रीवेंकटेश्वरके अर्पण कर दिया था । विजयनगर-साम्राज्यसे भी यथेष्ट धनराशि इस मन्दिरको समय-समयपर प्राप्त होती रही है । आज भी बालाजी मन्दिरके सिंह-द्वारमें प्रवेश होते ही विजयनगर-साम्राज्यके प्रतापी महाराजा कृष्णदेवराय और उनकी दो महारानियोंकी कांस्यमूर्तियाँ भगवान्की ओर हाथ जोड़े खड़ी दिखायी देती हैं । इसी प्रकारकी एक मूर्ति राजा टोडरमलकी अपनी रानियोंसहित अकबरकालीन मुगल-वेश-भूषामें वहाँ है । मराठासाम्राज्यके वीर राघोजीराव भोंसलेने भी इस मन्दिरके दर्शनकर बहुमूल्य रत्नराशि भेंट की थी, जो आज भी उन्हींके द्वारा प्रदत्त पेटीमें रखी हुई है और विशेष महोत्सवोंमें भगवान्को धारण करायी जाती है । भोंसलेने मन्दिरके सुप्रबन्धके लिये भी आवश्यक व्यवस्था की थी । इसी प्रकार देशके सभी प्रान्तोंके राजा-महाराजाओंकी और जनसाधारणकी श्रद्धा भगवान् श्रीवेंकटेश्वरके प्रति प्राचीनकालसे चली आ रही है, जब कि आजकी तरह उस समय यातायात सुलभ नहीं था ।

हिंदू-साम्राज्यके अस्तके बाद मुसलमान और ईस्ट-इंडिया कंपनीके शासनकालमें कर्नाटकके शासकोंने अनेक हिंदू देवस्थान अपने अधिकारमें कर लिये थे । १८४३ ई०में ईस्ट-इंडिया कंपनीने गैर-ईसाई देवस्थानोंको अपने सीधे अधिकारसे मुक्त किया, जिसमें यह देवस्थान और उसकी कुछ सम्पत्ति हाथीराम मठके अधीन आ गयी और लगभग एक सदीतक मठके अधीन रही । मठके महन्त ही उस समय इस मन्दिरके प्रधान संचालक थे । १९३३में महन्त प्रयागदासके जमानेमें यह मन्दिर 'मद्रास विधान-सभा'के एक विशेष अधिनियमके अनुसार 'तिरुपति तिरुमलै देवस्थान समिति'के अधिकारमें आया । मद्रास सरकारकी ओरसे नियुक्त एक आयुक्त अर्थात् कमिश्नर समितिकी देखरेखमें मन्दिरका प्रबन्ध करने लगा ।

कहते हैं कि जब महन्त प्रयागदासने मन्दिरका प्रबन्ध-भार सँभाला था, उस समय मन्दिरपर कई लाखका ऋण था । प्रबन्ध भी अस्तव्यस्त था, जिसमें उन्होंने भारी सुधार किया । पैदल मार्गमें बिजली लगवायी, जिसके लिये बिजलीघरका शिलान्यास प्रयागदासजीने १३ जून, १९२६में किया था । इतना ही नहीं, मन्दिरके धनसे हाईस्कूल, संस्कृत-महाविद्यालय, अस्पताल, धर्मशालाएँ, गरीबघर आदिकी स्थापना भी की । वराहस्वामीके मन्दिर और पुष्करणीका जीर्णोद्धार भारी खर्चसे किया । इनके जमानेमें मन्दिरकी वार्षिक आय ४० लाख रुपये तक पहुँच चुकी थी । तीन तालुके—कचनाड, हथिमंगली और तिरचनी भी खरीद लिये गये थे । जिस समय प्रयागदासजीने पंचोंको मन्दिरका कार्यभार सौंपा, ४० लाख रुपये नगद भी खजानेमें थे । इस प्रकार इनके जमानेमें मन्दिरका आर्थिक विकास बड़ी तेजीसे हुआ । जिन-जिन शिक्षा-संस्थाओंकी नींव प्रयागदासजीने डाली थी 'वे आगे चलकर वटवृक्षकी तरह और भी फैलीं । अब तो यहाँपर श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

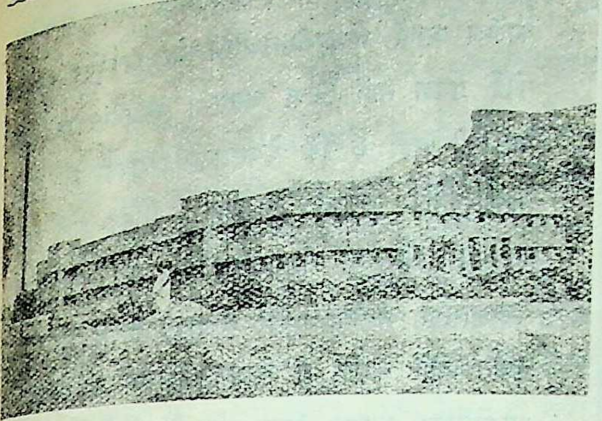

भी है; जिसके अपने कई कालेज पुरुषों और महिलाओंके लिये अलग-अलग हैं। एक संग्रहालय भी है। देवस्थानका आधुनिक साज-सज्जाओंसे युक्त एक मुद्रणालय भी है। बम्बईके रुइया-परिवारके दानसे एक अस्पतालका निर्माण हुआ है, जिसमें एक मेडिकल कालेज भी है। इंजिनियरिंग कालेजके भवनका शिलान्यास तो प्रधान मन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरूने १९५९में किया था।

इस प्रकार भारतमें यही एक ऐसा तीर्थस्थान है, जिसकी आयका धन इस प्रकार शिक्षा एवं सार्वजनिक लोक-कल्याणकारी कार्योंमें खर्च हो रहा है, जो अन्य तीर्थस्थानोंके लिये भी अनुकरणीय है। इस समय तिरुपति देवस्थानको अपने विभिन्न मन्दिरोंसे मासिक औसत पाँच-छः लाख रुपया चढ़ावेके रूपमें आता है। इनके अतिरिक्त मकानोंका भाड़ा, मोटरोंका किराया आदिसे भी काफी आय होती है। इस समय देवस्थानका प्रबन्ध १९५१ के अधिनियमके अनुसार 'आन्ध्र-प्रदेश सरकार' द्वारा नियुक्त प्रबन्ध-अधिकारी ट्रस्ट-मण्डलकी देखरेखमें करते हैं।

पहले पर्वतपर जानेके लिये पैदल मार्ग ही था जो सात मील था। अब यात्रियोंकी सुविधाके लिये १२ मील लंबा मोटर मार्ग देवस्थानकी ओरसे कई लाख रुपये खर्च करके बनवा दिया गया है, जिसपर देवस्थानकी बसें ही चलती हैं। स्टेशनसे तिरुमलैकी दूरी लगभग १४ मील है, जिसका भाड़ा १ रुपया ३५ नये पैसे अर्थात् लगभग १० नये पैसे प्रति मीलका भाड़ा कुछ अधिक ही कहा जा सकता है, जिसे देवस्थान चाहे तो घटा सकता है।

इस स्वास्थ्यप्रद और सुरम्य पर्वतपर सदा हरियाली नेत्रोंको शीतल करती रहती है। अनेक वनस्पतियोंका बाहुल्य इस पर्वतमालापर है, जिसका सदुपयोग चाहे तो देवस्थान एक 'आयुर्वेद अनुसंधानशाला' स्थापित करके कर सकता है। पर्वतपर पहले जहाँ इनी-गिनी धर्मशालाएँ थीं, वहाँ अब देवस्थानकी ओरसे आधुनिकतम साधन-सुविधाओंसे युक्त छोटे-बड़े अनेक बंगले और धर्मशालाएँ भी हैं जो बिजली और पानीकी सुविधाओंसे युक्त और साफ-सुथरी भी हैं। गंदगीका नामतक वहाँ नहीं मिलेगा। बंगलोंके निर्माणमें देवस्थानने एक अभिनव योजनाको क्रियान्वित किया है, जिसके अनुसार आधी रकम दाताकी और आधी देवस्थानकी उसके निर्माणमें खर्च होती है और उसकी देखरेख आदिका भार भी भविष्यमें देवस्थानका ही रहता है, जिससे अनेक तीर्थस्थानोंपर निर्मित धर्मशालाओंकी तरह बादमें इनकी दुर्दशा नहीं हो पाती और सदा सुप्रबन्धके कारण नयीकी तरह रहती है; दाताको भविष्यके प्रबन्धकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

तिरुमलैमें श्रीवेंकटेश्वरमन्दिरके पड़ोसमें ही पुष्करणी है; जिसका धार्मिक महत्त्व होनेसे लाखों यात्रीगण वहाँ स्नान करते हैं। पर वहाँका पानी सदा ही हरा और काईसे युक्त है। यदि वहाँ आधुनिक तैरनेके तालाबोंकी तरह ही पानी स्वच्छ करनेका यन्त्र लगा दिया जाय तो पानी स्नानके लिये सदा स्वच्छ बना रहेगा और दशहरेके समय, जब कि भारी भीड़ होती है किसी रोगके फैलनेका भय भी नहीं रहेगा। देवस्थानके लिये यह कुछ कठिन नहीं है। इस पुष्करणीका महत्त्व वैकुण्ठ द्वादशीको और भी बढ़ जाता है, जब कि पौराणिक मान्यताके अनुसार विश्वभरकी नदियोंका जल इस पुष्करणीमें आ जाता है और देवता भी स्नानके लिये यहाँ आते हैं। ऐसी पवित्र और पावन पुष्करणीका जल तो स्वच्छ रहना ही चाहिये।

श्रीवेंकटेश्वर भगवान्का निज मन्दिर प्राचीन कलाका एक उत्कृष्ट नमूना है। श्रीवेंकटेश्वर भगवान्की मूल मूर्तिको, जिसका चित्र यहाँ छपा है, प्रति गुरुवारके सायंकाल ही नया शृङ्गार कराया जाता है जो आगामी गुरुवारके दोपहरतक रहता है। यह मूर्ति बड़ी ही भव्य और काले पाषाणकी है। इसके अतिरिक्त

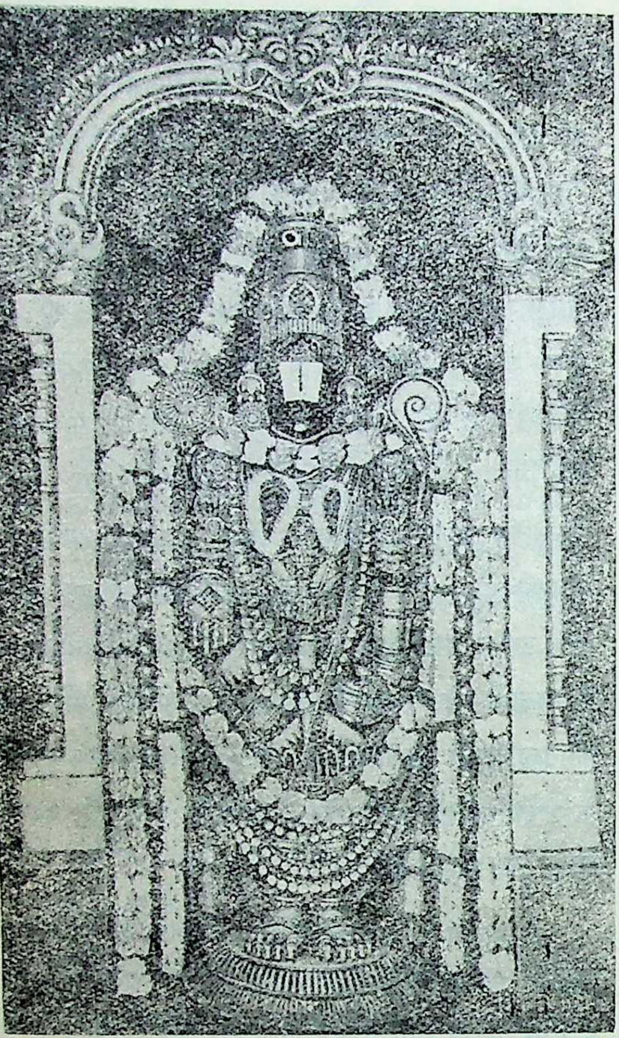

चार मूर्तियाँ और भी हैं जो श्रीमलयप्पस्वामी या उत्सवरूप, श्रीभोग श्रीनिवासमूर्ति या कौतुकरूप, कोलवु श्रीनिवासमूर्ति या स्नपनरूप और उग्र श्रीनिवासमूर्ति या बलिरूप। उत्सवमूर्ति ही सभी उत्सवोंमें रहती है, श्रीकोलवुमूर्ति ही दरबार-मूर्ति है, जिसके सम्मुख प्रतिदिन आये हुए चढ़ावेका हिसाब पेशकार सुनाता है और नववर्षपर ज्योतिषी पञ्चाङ्ग सुनाते हैं।

एक बात और, देवस्थानकी ओरसे यात्रियोंको कालेज आदि शिक्षासंस्थाओंकी ओर आकर्षित करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। अधिकांश यात्रियोंको पता ही नहीं है कि देवस्थानकी आयका इस प्रकार शिक्षाकार्योंपर सद्व्यय हो रहा है। कई यात्री इच्छा रहते हुए भी इन संस्थाओंको देख नहीं पाते; क्योंकि देवस्थानके अधिकारी इस सम्बन्धमें उनका कोई मार्ग-दर्शन नहीं करते, न शिक्षण-संस्थाओंमें ही यात्रियोंके आगमनका स्वागत किया जाता है, जो होना आवश्यक है। अब देशव्यापी सम्पर्ककी दृष्टिसे अंग्रेजीका महत्त्व घट रहा है और हिंदीका बढ़ रहा है, इसे भी ध्यानमें रखकर हिंदीका व्यवहार भी देवस्थानके अधिकारियोंको करना चाहिये। साथ-ही-साथ जिस प्रकार अबतक मांस और मदिराका प्रवेश पर्वतपर कभी नहीं हुआ है, उसी प्रकार भविष्यमें भी कभी किसी भी हालतमें किसीके लिये भी न हो, इसके लिये भी अधिकारियोंको सदा अत्यन्त जागरूक रहना चाहिये। तभी इस पावन तीर्थस्थानकी पवित्रता अक्षुण्ण रहेगी।

तिरुपतिमें गोविन्दराजस्वामीका भव्य मन्दिर यात्रियोंको काफी दूरसे ही दिखायी देने लगता है। कहा जाता है कि इस मन्दिरकी स्थापना श्रीरामानुजाचार्यने की थी।

बम्बईसे मद्रास जानेवाले लोग रेनिगुंटा स्टेशनसे और दिल्ली आदिसे आनेवाले गुडूर स्टेशनसे गाड़ी बदलकर तिरुपति स्टेशन पहुँच सकते हैं। धार्मिक और प्राकृतिक दोनों ही दृष्टियोंसे तिरुपति और तिरुमलै अवश्य ही दर्शनीय हैं।

तुम्हारी रूप-तरङ्गोंके साथ एक तरङ्ग बना नाच रहा हूँ

मेरे जीवनसर्वस्व ! तुम्हारी असीम अनन्त अहैतुकी अनुकम्पासे मेरे हृदयकी चिरसंचित मलराशि सर्वथा जल गयी, घने अन्धकारका नाश हो गया, सारी कठोरता जाती रही, अदम्य उग्रताका अन्त हो गया, अज्ञानका आवरण फट गया और मन-बुद्धि केवल तुम्हींमें जाकर घुल-मिल गये। इससे हे मेरे आत्माके आत्मा ! मेरी दृष्टि दिव्य हो गयी और अब मैं सदा सर्वत्र तुम्हारे अनादि—पुरातन, परम चिरन्तन, नित्य नूतन, नित्य नव मधुर, नित्य नव सुन्दर, शान्त-समुज्ज्वल, सच्चित्-प्रेमानन्दघन, परम रसमय, परम प्रेममय स्वरूपको देख-देखकर अनन्त परमानन्द-सागरमें डूबता-उतराता, तुम्हारी अनन्त विचित्र रूप तरङ्गोंको निरख रहा हूँ और स्वयं एक तरङ्ग बना उन्हींके साथ नाच रहा हूँ !

पञ्चतन्त्र और शतकत्रयकी कहावतें

(लेखक——डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

पञ्चतन्त्र संस्कृतके नीति-साहित्यका शृङ्गार है। विष्णुदत्त शर्माने इस ग्रन्थरत्नकी रचना उस समय की थी जब उनकी अवस्था अस्सी वर्षकी थी और नीति-शास्त्रका परिपक्व अनुभव उन्हें प्राप्त हो चुका था। उन्होंने स्वयं कहा है—'मैंने इस शास्त्रकी रचनाका प्रयत्न अत्यन्त बुद्धिपूर्वक किया है जिससे औरोंका हित हो।' जिस समय उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा; उनका मन सब प्रकारके इन्द्रिय-भोगोंसे निवृत्त हो चुका था। इस प्रकारके विशुद्ध-बुद्धि, निर्मल-चित्त इस ब्राह्मणने मनु, बृहस्पति, शुक्र, पराशर, व्यास, चाणक्य आदि आचार्योंके राजशास्त्र और अर्थशास्त्रोंको मथकर लोकहितके लिये पञ्चतन्त्ररूपी यह नवनीत प्रस्तुत किया।[1]

सूक्तियों और लोकोक्तियोंकी दृष्टिसे पञ्चतन्त्रका विशेष महत्त्व है। बात-बातके लिये समर्थनके लिये सूक्तियोंका ताँता-सा लगा हुआ है। सामान्यका विशेषसे समर्थन जिस रूपमें इस ग्रन्थमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पञ्चतन्त्रमें ऐसी भी अनेक उक्तियाँ हैं जो आज कहावतोंकी भाँति व्यवहृत हो रही हैं। उदाहरणार्थ—

१. काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुङ्क्ते—(पृष्ठ ६) अर्थात् यों तो कौवा भी बहुत दिनोंतक जीता है और बलि खाता रहता है। **२. षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः**। ३. भूनते समय फड़फड़ाता चना क्या भाड़ फोड़ सकता है? (पृष्ठ ३०)। ४. यह तो मेरे बापका कुँआ है, यह कहकर उसका खारा पानी केवल कापुरुष ही पीते हैं (पृष्ठ ९९)। ५. कमजोर आदमीका गुस्सा उसके लिये तकलीफदेह होता है (पृष्ठ९०)। ६. जार घरका मालिक बन बैठा है [लोकोक्ति] (पृ० १००)। ७. आगसे जले हुओंको उसीसे निकली गरम सेंक फायदेमंद होती है (पृ० १०३)। कहावत। ८. यदि शक्करसे पित्त शान्त हो जाता है तो परवलकी क्या जरूरत? (पृ० १७५)। ९. जो नहीं होना होता, वह नहीं होता और जो होना होता है वह होकर ही रहता है। १०. सज्जनोंकी सात कदम एक साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है (पृ० १३१)। **११. यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्**—जो मेरा है वह दूसरेका नहीं हो सकता (पृ० १४६)। १२. काँटेसे काँटा निकाला जाता है (पृ० २३६)। १३. जिस खानदानमें तू पैदा हुआ है, उसमें हाथी नहीं मारा जाता (पृ० २४५)। १४. जैसेको तैसा (पृ० २८८)। १५. न देखनेसे खेती नष्ट होती है (पृ० ३८)। १६. मनुष्योंमें नाई, पक्षियोंमें कौआ; दाँतवाले प्राणियोंमें सियार; तपस्वियोंमें श्वेतभिक्षु धूर्त होता है (पृ० १८३)। १७. कष्टका नाम ही कन्याका पिता होना है (पृ० ५२)। १८. यदि शनैश्चर आकाशमें रोहिणी-शकटको भेद दे तो बारह वर्षतक पृथ्वीपर इन्द्र पानी नहीं बरसाते (पृ० ५८)। १९. शनि, मंगल अथवा चन्द्र अगर रोहिणी-शकटको भेद डाले तो सारा जगत् अनिष्टके समुद्रमें छीजने लगता है। २०. रोहिणीको शकटमें स्थित चन्द्रमाकी शरणमें जानेवाले मनुष्य अपने बच्चे पकाकर खानेवाले होते हैं और सूर्यकी किरणोंको पानीकी तरह पीते हैं (पृ० ५९)। २१. टिटिहरा आकाश टूटनेके डरसे अपने पैर ऊपर करके बैठता है (पृ० ८६)। २२. तीरसे बींधा हुआ और तलवारसे कटा हुआ घाव फिरसे भर सकता है; पर हल्की बात बोलनेसे वचनरूपी घाव कभी नहीं भरता (पृ० १९२)।

सूक्तियोंके साथ-साथ पञ्चतन्त्रमें कहावतोंका जो इतना प्रयोग हुआ है वह स्वाभाविक है; क्योंकि पञ्चतन्त्र जीवनके कार्य-कलापोंसे सम्बन्ध रखनेवाला ग्रन्थ है।

भर्तृहरिके शतकत्रयमें सूक्तियोंके साथ-साथ कहावतें भी उपलब्ध होती हैं। कुछ कहावतें यहाँ दी जा रही हैं—

१. ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रञ्जयति—अर्थात् अल्पज्ञ मनुष्यका समाधान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

२. विभूषणं मौनमपण्डितानाम्—अर्थात् मूर्खोंके लिये मौन ही भूषण है।

३. विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः—अर्थात् विवेकसे भ्रष्ट लोग सौ-सौ प्रकारसे गिरते ही जाते हैं।

४. मूर्खस्य नास्त्यौषधम्—अर्थात् मूर्खकी ओषधि नहीं।

५. वाग्भूषणं भूषणम्—अर्थात् वाणीरूपी भूषण ही भूषण है।

६. मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः?—अर्थात् मणिसे भूषित सर्प क्या भयंकर नहीं होता?

---

[1] पञ्चतन्त्र (आमुख डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृष्ठ ६)

७. **होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः**—अर्थात् होम करनेवालेको भी अग्नि छू जाय तो उसे जला ही देती है।

८. **विधिरहो बलवानिति मे मतिः**—अर्थात् मेरे मतमें विधाता ही बलवान् दीख पड़ता है।

९. **यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः**—अर्थात् विधाताने जो प्रथम ललाटमें लिख दिया है उसे मिटानेकी सामर्थ्य किसमें है ?

१०. **विपदि हन्त सुधापि विषायते**—अर्थात् विपत्तिमें अमृत भी विष हो जाता है।

११. **संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ?**—(वैराग्यशतक ७५) अर्थात् घरमें आग लगनेपर कूप खोदनेके उद्योगसे क्या होता है ?

* * *

भगवान्का योगैश्वर्य और हृदयमाधुर्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्ने कहा है—

'गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।'

गीतामें भगवान्ने भक्तके सामने अपना हृदय खोल दिया है, अपनी भगवत्ताका सारतत्त्व भक्तके निकट प्रकट कर दिया है। यही गीताका वैशिष्ट्य है।

भगवान् महायोगीश्वर, महाज्ञानीश्वर, राजराजेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर हैं। उनकी शक्ति, उनका ज्ञान और उनका ऐश्वर्य सभी अनन्त हैं। वे विश्वप्रपञ्चके सृष्टि-स्थिति-प्रलय-विधाता हैं। वे बिना ही किसी प्रयासके देशमें, कालमें आद्यन्तविहीन अशेष-वैचित्र्यमय नियत परिणामशील इस संसारप्रवाहके सर्वविध व्यापारको अद्भुत श्रृङ्खलाके साथ सम्पादन करते हुए अपने इयत्ताविहीन ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्यका परिचय दे रहे हैं। वे आप ही अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें सृजन, पालन, नियन्त्रण और संहरण करते हुए अनादि-अनन्त कालसे विचित्र भावोंमें आप ही अपना आस्वादन कर रहे हैं; और साथ-ही-साथ सर्वदा ही इस वैचित्र्यका अतिक्रम करके वे अपने नित्य सत्य निर्विकार चिदानन्दरूपमें समाहितभावसे विराजमान रहते हैं। विश्वप्रपञ्चके भीतर नित्य-निरन्तर असंख्य स्तरोंमें असंख्य प्रकारकी क्रिया चलती रहती है;—सब क्रियाओंके कर्ता, नियन्ता और सम्भोक्ता होकर भी वे निष्क्रिय निश्चेष्ट निर्विकार हर्षामर्षविहीन स्वस्वरूपमें स्वयं पूर्णभावमें विराजमान रहते हैं। अपनी अचिन्त्य शक्तिसे अपनेको असंख्य परिच्छिन्न रूपोंमें परिणत करके भी वे नित्य अपरिणामी, अपरिच्छिन्न बने रहते हैं। वे इस विश्वकी सभी वस्तुओंके साथ सर्वथा घुले-मिले रहकर भी किसीके साथ कभी मिले नहीं होते, नत्य ही सबके ऊर्ध्व सच्चिदानन्द-स्वरूपमें विराजित रहते हैं। इस विश्वप्रपञ्चमें सर्वत्र केवल उन्हींके अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त नैपुण्य और अनन्त ऐश्वर्यका परिचय प्राप्त होता है; तथापि उनको न किसी ज्ञानका अभिमान होता है और न किसी शक्ति, ऐश्वर्य या नैपुण्यका ही। वे अहं-मम-वर्जित आत्मस्वरूपमें नित्य समाहित रहते हैं।

यही भगवान्का योगैश्वर्य है। ऋषिगण, मुनिगण, दार्शनिकगण, कविगण भगवान्के इस योगैश्वर्यका कितने प्रकारसे युक्ति-तर्कोंद्वारा प्रतिपादन करनेमें अपनी विचारशक्तिको लगाये रखते हैं, अपनी तार्किकी बुद्धिका विषय बनानेके लिये कितने वादविसंवादमें निमग्न होते हैं। इस विश्वप्रपञ्चकी अभिज्ञताके ऊपर खड़े होकर वे लोग विश्वप्रपञ्चके मूलकारण, अधिष्ठान और आश्रयके स्वरूपके सम्बन्धमें कितने प्रकारकी गवेषणा करते हैं, किंतु किसी भी सिद्धान्तसे वे तृप्त नहीं हो पाते। इस विश्वप्रपञ्चके भीतर एक ओर जिस प्रकार उस मूलतत्त्वका ही देशकालावच्छिन्न प्रकाश है, दूसरी ओर उसी प्रकारके उसके स्वरूपका आवरण है। आवरणके अंदरसे जो प्रकाश होता है, उसके अंदर भी स्वरूपका ठीक परिचय नहीं प्राप्त होता। भगवान्की भगवत्ताका जो सार है, उसको उनका ऐश्वर्य ही आवृत किये रखता है। खण्डके अंदर अखण्डका प्रकाश भी जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार आवरण भी होता है। जडके भीतर चैतन्यका जिस प्रकार प्रकाश होता है उसी प्रकार आवरण भी होता है। यह सब है—उनका ऐश्वर्य, उनकी महिमा। वे इस सबको परिव्याप्त करके भी जैसे हैं, अतिक्रम करके भी वैसे ही आत्मानन्दमें विभोर रहते हैं। उनके इस सब ऐश्वर्यको देखकर ही किसीके लिये उनके स्वरूपका निर्धारण करना

सम्भव नहीं होता । इसी कारण इस विश्व-जगत्‌को देखकर जो लोग युक्तितर्ककी सहायतासे भगवान्‌के स्वरूपके निरूपण करनेका प्रयास करते हैं, उन लोगोंमें मतमतान्तरकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी हो जाती है । भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ प्रकाश केवल महायोगी, महाज्ञानी और महान् भक्तोंकी अन्तरात्मामें ही होता है । वे लोग अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी करके समस्त ऐश्वर्य और महिमाकी ओरसे अपनी दृष्टिका प्रत्याहरण करके, अपने अन्तरके अन्तरतम प्रदेशमें चित्तको समाहित करके, देश-काल-गुण-अवस्थाकी सारी उपाधियोंका अतिक्रमण करके, आत्मसमाहित होकर ब्रह्मभूत हो जाते हैं । वहीं भगवान्‌के स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है । किंतु उस साक्षात्कृत स्वरूपको कोई भाषामें व्यक्त नहीं कर सकता, मन-बुद्धि उसकी विषयरूपमें धारणा नहीं कर सकते ।

एक बात और भी है । अनेक प्रकारोंसे इस विश्व-प्रपञ्चकी पर्यालोचना करनेपर यह तो सम्भव है कि सर्वकारणकारण भगवान्‌की अनन्त सत्ता, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्यका कुछ अनुमान हो जाय; किंतु उनके हृदयमाधुर्यका समुचित परिचय साधारणदृष्टिसे या दार्शनिक युक्तिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । हृदय-माधुर्यका परिचय प्राप्त होता है—प्रेम और करुणाके द्वारा, सहानुभूति और सेवाके द्वारा एवं रसानुभूति और सौन्दर्यास्वादनके द्वारा । ये सब कोमल वृत्तियाँ विश्वातीत विश्वस्रष्टा विश्वनियन्ता भगवान्‌के चरित्रमें हैं या नहीं, इस बातका अनुमान न तो ज्ञानीगण विश्व-व्यापारका पर्यवेक्षण करके लगा सकते हैं और न योगिगण उसका अनुभव ध्यान-समाधिमें कर सकते हैं । जगत्-व्यापारमें तो देखा जाता है कि वे जैसे सृजन करते हैं वैसे ही विनाश करते हैं; जैसे सुख-विधान करते हैं वैसे ही दुःख-विधान भी करते हैं; सुखका जैसा वैचित्र्य है, दुःखका भी वैसा ही वैचित्र्य है ।

जगत्‌में इतना दुःख-दैन्य, इतना शोक-ताप, इतनी व्याधि-पीड़ा, इतना अत्याचार-अविचार, इतना दुर्भिक्ष-महामारी, इतना वैषम्य और निष्ठुरता—क्या इन सब उपद्रवोंका एक परम प्रेममय परम करुणामय सहानुभूतिसम्पन्न सहृदय भगवान्‌के राज्यमें होना सम्भव है ? जगत्‌में पापकी जो इतनी होड़-सी लग रही है, इतनी विकृत मनोवृत्तियाँ फैल रही हैं, क्या इन सबकी भी सृष्टि उन्होंने ही नहीं की है ? मङ्गलमयके जगत्‌में इतना अमङ्गल क्यों ? सत्य-शिव-सुन्दरके राज्यमें इतना असत्य, इतना अशिव, इतना कदर्य क्यों ? सर्वशक्तिमान् होकर भी क्या वे एक दुःख-दैन्य-पाप-तापहीन सर्वाङ्गसुन्दर सर्वमङ्गलालय आनन्द-विलासमय जगत्‌का सृजन और पोषण नहीं कर सकते ? इन सब समस्याओंका समाधान—ज्ञानीगण और दार्शनिकगण अनेक प्रकारके विचार-वितर्क करके भी नहीं पा सके । इसी कारण भगवान्‌की सहृदयताके सम्बन्धमें वे लोग साधारणतया कुछ भी न कहकर भगवान्‌का केवल अनन्त ज्ञान-शक्ति-ऐश्वर्यके आधार सच्चिदानन्दमय परमपुरुषके रूपमें वर्णन करके ही संतुष्ट रहते हैं । उपासनाके प्रसंगमें कभी-कभी वे उनकी दया-क्षमा-प्रेम आदिकी केवल कल्पनामात्र कर लेते हैं ।

भगवान् अपनी भगवत्ताके साथ-साथ हृदयवत्ताका परिचय समुज्ज्वलरूपमें प्रदान करते हैं अदोषदर्शी विश्वासी भक्तके हृदयमें ही । हृदयका परिचय हृदयको ही प्राप्त होता है, बुद्धिको नहीं । बुद्धिमानोंकी बुद्धिके सामने भगवान् अपने हृदय-माधुर्यको योगमायासमावृत रखते हैं और हृदयवान् भक्तोंके हृदयमें उसको अपनी कृपासे समुद्भासित करते हैं ।

'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।'

राजराजेश्वर साधारण प्रजावर्गके सामने अपने राज्यैश्वर्य और असीम ज्ञान-गुण-शक्तिका ही परिचय देकर उनके चित्तमें भयमिश्रित भक्तिका उद्रेक करते हैं एवं उन लोगोंको संयम और शान्तिके मार्गपर चलाते हैं; अपने हृदय-माधुर्यको, अपने सुकोमल सुमधुर भावोंको, वे अनावृत-रूपसे केवल अपने उन अन्तरङ्गोंके सामने, परम आत्मीयोंके सामने, प्रेमी बन्धु-बान्धवोंके सामने प्रकट करते हैं । जो अनसूयु (दोष-दर्शन-शून्य) सरल विश्वासी भक्त होते हैं, जो तद्गतप्राण सखा होते हैं और जो अपने हृदय-मन-बुद्धि सब उन्हें समर्पण करके उनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी उन्हींकी ही ओर ताकते रहते हैं, ऐसे ही लोगोंके हृदयोंमें वे अपने उस परम तत्त्वको गोपनमें व्यक्त करते हैं, जिसको उनका 'उत्तम रहस्य', उनकी भगवत्ताका सारभूत तत्त्व या उनके हृदयकी गुप्त बात कहा जाता है । उनका 'उपनिषद्' उनके अति समीपमें, उनके चरणप्रान्तमें, सानुराग अनन्यचिन्त्य होकर ही सुना जाता है और सम्पूर्ण हृदयसे धारण किया जाता है । किसी प्रकारका भी संशय या विपरीत भाव रहनेपर वह हृदयङ्गम नहीं होता । अनन्त

योगैश्वर्यमय भगवान्‌का हृदयमाधुर्य ही वस्तुतः उनका 'रहस्य' है, उनका 'उपनिषद्' है, उनके प्राणकी बात है।

अनन्त ऐश्वर्यवान् भगवान्‌का ऐश्वर्य उन्हें हमारी दृष्टिमें बहुत बड़ा बनाकर, महान् बनाकर, विराट् बनाकर उपस्थित करता है, उसको हमारी धारणाके अतीत कर देता है। परंतु उनका हृदयमाधुर्य, उनका प्रेम और उनका कारुण्य, उनकी रसविलास-प्रवृत्ति, उन्हें उनके ऐश्वर्यके साडम्बर आवरणसे मुक्त कर देती है, उनके 'हिरण्मय-पात्र' के पर्देको हटा देती है, उनको हमारे अत्यन्त निकट उतार लाती है और उन्हें हमारा नितान्त 'निज जन' बनाकर उपस्थित कर देती है। हमारे प्रति जो उनका अहैतुक प्रेम है, वह उनके असीमत्वको संकुचित करके, उनको ससीम मूर्तिका परिग्रह करवाकर, उनके साथ हमारे सब प्रकारके भावोंके आदान-प्रदानको सम्भव और स्वाभाविक बना देता है। उनके प्रेम और कारुण्यके माधुर्यमें ही हमलोग यह अनुभव कर सकते हैं कि हम उनके निज जन हैं और वे हमारे निज जन हैं। वे हमारे हाथोंसे खाते हैं, हमारे मुखमें अपने हाथोंसे खिलाते हैं। जो लोग अनुभव करते हैं, वे कहते हैं कि उनके साथ उनका क्या-क्या नहीं चलता, क्या-क्या नहीं होता।

गीताके प्रवक्ता स्वयं भगवान् हैं, कोई मुनि-ऋषि या दार्शनिक आचार्य नहीं; और श्रोता हैं उनके एकान्त भक्त और सखा अदोषदर्शी महावीर अर्जुन। स्वधर्माचरणमें प्रवृत्त अर्जुनके बुद्धिक्षेत्रमें अकस्मात् एक धर्म-संकट उपस्थित हो गया। लीलारसमय भगवान्‌ने भक्तके इस धर्म-संकटको ही अपना समग्र परिचय उसके हृदयके समक्ष प्रकट करनेका अवसर मान लिया। उन्होंने धीरे-धीरे अर्जुनकी विचारधाराका अनुसरण करते हुए ही अपना स्वरूप, अपना ऐश्वर्य और अपना हृदय-माधुर्य सब अर्जुनके हृदय-मन-बुद्धिके सामने प्रकट कर दिया। गीतामें सर्वत्र ही भक्तके सामने भगवान् अपने समग्ररूपका परिचय प्रदान करते हुए दिखायी देते हैं। भगवान्‌का यह परिचय प्राप्त होते ही भक्त भी सर्वतोभावेन उनके प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, वह अहं-ममशून्य होकर उनकी सच्चित्प्रेमानन्दघन-सत्ताके भीतर अपनी सत्ताको सम्पूर्णरूपसे मिला देता है, अपनेको और विश्वजगत्‌को एकान्तभावसे उन्हींके बलसे अनुभव करता है, जीवनके सभी कार्योंमें उन्हींके हाथके यन्त्ररूपमें, उन्हींके आदेशसे, उन्हींके प्रीत्यर्थ, उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट कार्यके सम्पादनमें, भक्त अपनेको नियुक्त कर देनेमें समर्थ होता है। भगवान्‌की कृपासे अर्जुन उनका यह परिचय प्राप्त करके गुरुघाती, मित्रघाती, सर्वविध्वंसी युद्धके सदृश एक बीभत्स कार्य भी 'निर्मम-निरहंभाव' होकर निःशंक-चित्तसे भगवत्सेवा-बुद्धिसे समाप्त करनेमें समर्थ होते हैं। मनुष्यके साधारण कर्तव्य-क्षेत्रमें स्वधर्माचरण-क्षेत्रमें इस प्रकारकी कठोर परीक्षा कभी नहीं होती। भक्त अर्जुन जब भगवान्‌के हो गये, तब वे भगवत्सेवा-बुद्धिसे कठोरतम कर्तव्य-सम्पादनकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो गये।

गीतामें सर्वत्र ही भगवान्‌के स्वरूप, ऐश्वर्य और माधुर्यका परिचय है; पर उसमें भगवान्‌ने नवम अध्यायको एक विशेष मर्यादा प्रदान की है। इस अध्यायमें उन्होंने अपने पारमार्थिक स्वरूप, प्रासंगिक ऐश्वर्य और हार्दिक माधुर्यको अत्यन्त समीप रखकर बहुत ही थोड़े शब्दोंमें समुज्ज्वलरूपसे उनको परिव्यक्त किया है। यह गीताका केन्द्रस्थानीय अध्याय है।

सप्तम और अष्टम अध्यायमें भगवान्‌ने विशदरूपसे अपने सर्वकारणत्व, सर्वाश्रयत्व, सर्वमयत्व, सर्वातीतत्व और अनन्त विभूतिमत्त्वका वर्णन करके एवं अर्जुनके किसी प्रश्नकी बिना प्रतीक्षा किये ही कहा—अब मैं तुम्हारे सामने एक गुह्यतम रहस्यको प्रकट करूँगा। तुम अनुसूयु हो, इसी कारण तुम्हारे निकट यह व्यक्त किया जा सकता है। इसमें ज्ञान और विज्ञान दोनों हैं—तत्त्व और तत्त्वोपलब्धिका सर्वश्रेष्ठ साधन सभी कुछ निहित है, इसको हृदयङ्गम कर लेनेपर तुम सब प्रकारके अशुभोंसे मुक्ति पा जाओगे। यह सब विद्याओंका राजा है, सब गुह्य-साधनोंका राजा है, सबकी अपेक्षा पवित्र और पावन शक्तिसम्पन्न है, इसका पारमार्थिक मूल्य [illegible] प्रत्ययगोचर है, इसकी साधना अति सहज है, तथापि यह सब धर्मोंका सार है। इस विद्याके अंदर सर्वलोकमहेश्वर सर्वमय, सर्वातीत भगवान्‌का केवल योगैश्वर्य ही नहीं, [illegible] उनके हृदयमाधुर्यका भी घनिष्ठ परिचय है, इसमें भगवान् सबकी अपेक्षा अधिक अपने जान पड़ते हैं; समाजमें जो सबसे निम्नस्तरके लोग हैं; जागतिक शक्ति-सामर्थ्यमें, विद्या-बुद्धिमें आभिजात्यमें जो दीनातिदीन है और जिनके पास कोई भी पुण्यबल, योगबल एवं तपोबल नहीं है, वे लोग भी केवल हृदयके ऐकान्तिक अनुरागसे, केवल आत्यन्तिक आत्म[illegible] और शरणागतिके बलसे, केवल उनके प्रेम और करुणा[illegible]

कुण्ठारहित, संदेहरहित विश्वास करके उनको पूर्णरूपसे प्राप्त कर सकते हैं एवं सब अशुभोंसे, सारी वासना और कामनाओंके बन्धनसे, समस्त अवसाद, कलह-संतापसे सम्यक् मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यह गुह्य रहस्य इसी राज-विद्याके भीतर उद्भासित है। भगवान् अनन्त ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्यके स्वामी होकर भी हमसे कुछ प्रेम चाहते हैं, वे हमारा हृदय चाहते हैं। वे यह चाहते हैं कि हम अपने हृदयको प्रेमसे द्रवीभूत करके उनके प्रति एकान्तभावसे निवेदन कर दें। यदि हम सानुराग चित्तसे एक पैंड भी आगे बढ़ेंगे तो वे हमारी ओर दस कदम आगे बढ़कर हमें अपनी गोदमें उठा लेंगे। हम कितने ही दुराचारी क्यों न हों, हमारा देह-मन नाना प्रकारके पापोंसे कितना ही कलुषित क्यों न हो; यदि हम कुण्ठारहित निर्भरताके साथ उनके चरणोंमें शरणापन्न हो जाते हैं तो वे हमारे सब पापोंको क्षमा कर देते हैं, सारी मलिनताको धोकर परिशुद्ध करके हमें अपने हृदयमें स्थान देते हैं। यदि हम अपने इस क्षुद्र हृदयको उन्हें समर्पण करके उनकी करुणाकी ओर ताकते हैं तो वे हमारे सभी प्रकारके सांसारिक अभाव-अभियोगोंको दूर कर देते हैं; जो कुछ भी हमारे लिये नितान्त आवश्यक है, वह सब वे मानो अपने कंधोंपर वहन करके हमारे पास पहुँचाते हैं। यह सब योगेश्वरके हृदय-माधुर्यका परिचय है, महायोगेश्वरके हृदयका यह परिचय ही राजविद्या-राजगुह्य है।

नवम अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने भक्त अर्जुनको अपने 'ऐश्वरयोग' या योगैश्वर्यकी बातका ही स्मरण कराया है एवं विश्वके सभी कार्योंमें अपने इस 'ऐश्वरयोग' का ही दर्शन करनेका उपदेश दिया है—'पश्य मे योगमैश्वरम् ।' विश्वब्रह्माण्डमें क्षुद्र-महान् जो कुछ भी उत्पन्न या नष्ट होता है, सब उन्हींकी अचिन्त्य-शक्ति या प्रकृतिसे उद्भूत है और फिर उसीके अंदर विलीन हो जाता है। स्थितिकालमें वे सब कुछको केवल नियन्त्रित ही नहीं करते, बल्कि वे ही सबको परिव्याप्त करके सबका आलिङ्गन करके रहते हैं। विचित्र रूपोंमें, विचित्र रसोंमें, विचित्र गन्धोंमें, विचित्र गानोंमें, विचित्र छन्दोंमें—सर्वत्र केवल उन्हींका प्रकाश हो रहा है। वे ही हमलोगोंके अन्न-वस्त्ररूपमें, शीतातप-वायुवर्षारूपमें, हमलोगोंकी नाना प्रकारकी विलास-सामग्री और नित्य-व्यवहार्य वस्तुओंके रूपमें, प्रिय और अप्रिय सब प्राकृतिक, सामाजिक और राष्ट्रिक परिस्थितियोंके रूपमें हमलोगोंकी आवश्यकता-पूर्ति भी करते हैं एवं नानाविध सुख-दुःखोंकी अभिज्ञता और तपश्चर्याके अंदरसे भी ले जाते हैं। वे ही ऋतु हैं, वे ही यज्ञ हैं, वे ही स्वधा हैं, वे ही ओषधि हैं, वे ही मन्त्र हैं, वे ही आज्य हैं, वे ही अग्नि हैं और वे ही होम-द्रव्य हैं। हमलोगोंके पितारूपमें, मातारूपमें, धातारूपमें, पितामहरूपमें वे ही अनन्त स्नेह-ममता-प्रेम-करुणाके खेल खेलते हैं। फिर वेदरूपमें, शास्त्ररूपमें, पवित्र मन्त्ररूपमें भी उन्हींका प्रकाश है। सम्पूर्ण विशेषोंमें भगवान्‌की निर्विशेष सत्ताका ही विचित्र लीलाविलास है। समस्त विशेषोंमें आत्मप्रकाश करके भी, सब विशेषोंको परिव्याप्त करके भी, समस्त वैचित्र्योंको ऐक्यसूत्रमें संग्रथित करके भी, विचित्र भोक्ता और भोग्य-सामग्रीरूपमें अपनी सत्ताको विलसित करके भी, वे भगवान् सब विशेषोंके ऊर्ध्वमें, समस्त विशेषोंसे असंस्पृष्ट रहते हैं—वे नित्य, निर्लिप्त, निर्विशेष, निर्विकार और सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त रहते हैं। उनका सब रूपोंमें दर्शन और आस्वादन करो और सर्वातीत-स्वरूपमें भी उनको नित्य स्मरण रक्खो। **'पश्य मे योगमैश्वरम् ।'**

वे ही सर्वातीत सर्वमय सर्वकारणकारण सर्वभूतमहेश्वर फिर अपनी ही अचिन्त्यशक्तिसे 'मानुषीं तनुम्' परिग्रह करके भी अपनी ही लीलासे संसारमें स्वतन्त्ररूपसे विहार करते हैं, विचित्र परिस्थितियोंमें विचित्र खेल खेलते हुए विचित्र रसोंका आस्वादन करते हैं। अज्ञानान्ध दोषदर्शी साधारण मनुष्य इन सब मानुषी मूर्तियोंमें उनको पहचान नहीं पाता। उनको सामने देखकर भी, उनके खेलमें योग देकर भी, उनके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर पाता, उनको एक विशेष मनुष्य समझकर अवज्ञाकी दृष्टिसे देखता है। वे ही अपनी योगमायासे उनकी दृष्टिको अवरुद्ध करके उनके साथ विचित्र रसोंका सम्भोग करते हैं। फिर वे ही कभी-कभी मनुष्य-विशेषकी दृष्टिको खोलकर अपने स्वरूपको प्रकट कर देते हैं। तब वह अनन्यमना होकर उनका भजन करता है, उनकी महिमाका कीर्तन करता है, उनको नमस्कार करता है, उनके प्रति अपनेको सर्वतोभावेन समर्पित कर देता है एवं सम्पूर्ण विश्वमें उन्हींके विचित्र विलासका दर्शन करता है। वह अपने सम्पूर्ण हृदयसे इस बातका अनुभव करता है कि उनमें कितना सौन्दर्य है, कितना माधुर्य है, कितना स्नेह है, कितनी करुणा है और कितना प्रेम है तथा इसीका आस्वादन करता है एवं इसी रस-समुद्रमें डूब जाता है।

भगवान् फिर भी अपने स्निग्ध हृदयको खोलकर कहते हैं कि जो भक्त अनन्यचित्त और अनन्यशरण होकर अपने शरीररक्षार्थ सर्वविध प्रयोजनोंके प्रति भी उदासीन होकर

सर्वतोभावेन मेरे भजनमें ही लगे रहते हैं, उन नित्याभियुक्त भक्तोंका योगक्षेम मैं ही वहन करता हूँ—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्,'**—उनके जीवन-धारणके लिये जो कुछ आवश्यक होता है, वह मैं ही वहन करके उनके पास पहुँचा देता हूँ। भगवान्‌ने यहाँ 'दधामि' क्रियाका प्रयोग न करके 'वहामि' क्रियाका व्यवहार कर अपने प्रेम-स्निग्ध हृदयका विशेष परिचय प्रदान किया है। वे फिर कहते हैं—पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी कोई सामान्य वस्तु भक्त भक्तिपूत करके मुझे अर्पण करता है, उसे मैं खाता हूँ, उसे खाकर ही मैं जीवित रहता हूँ। यहाँ भी भगवान् यह बात नहीं कहते कि इन वस्तुओंको सामान्य होनेपर भी, मैं अनुग्रहपूर्वक 'ग्रहण' करता हूँ। वे 'गृह्णामि' क्रियाका प्रयोग न करके 'अश्नामि' क्रियाका सानन्द प्रयोग करते हैं। भक्त मुझको जो कुछ भी भक्तिके साथ हाथ उठाकर देता है, वही मेरा खाद्य होता है। भक्त-हृदयका दान पाकर ही मानो भगवान्‌का जीवन चलता है। अपनी अचिन्त्य शक्ति, अचिन्त्य ऐश्वर्यको इस प्रकार संकुचित करके ही भगवान् अपना हृदयमाधुर्य प्रकट करते हैं। यही है उनकी भगवत्ताका सार और यही है राजविद्या-राजगुह्य। भगवान् फिर भी भक्तसे कहते हैं, मेरी सेवा-पूजाके लिये तुम्हें कोई प्रयास नहीं करना होगा, किसी सामग्रीका संग्रह नहीं करना होगा, कोई प्रक्रिया आवश्यक नहीं होगी, तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ होम या दान करते हो, जीवनमें स्वाभाविकरूपसे ही जो कोई तपस्या करते हो, वही मुझको समर्पण कर दो। यों करनेसे ही मैं तुमको शुभाशुभफलदायी समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा और सम्यक्‌रूपसे अपना बना लूँगा।

राजस त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

> **दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।**
> **स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥**
> (गीता १८ । ८)

'बम् शंकर, काँटा गड़े न कंकर!' दोनों हाथोंमें एक विशेष मुद्रापूर्वक चिलम पकड़कर मुखसे लगा ली गयी। पूरी शक्तिसे खींचनेका फल हुआ कि चिलमके ऊपर छः अंगुल ऊँची लौ उठी। मुख और नाकसे धुआँ उड़ाते उन्होंने चिलम दूसरेकी ओर बढ़ा दी।

पाँच जटाधारी बैठे थे। प्रायः सभी कृशकाय, लाल-लाल नेत्रवाले। कम्बल लपेटकर लंगोटीसे बाँध लिया गया था और इस समय कंधेमें लटकानेके बदले उसे उन्होंने अपने पास भूमिपर रख लिया था। तीनके पास बड़े-बड़े चमकीले लोटे थे और दोने खूब बड़े तुंबे समीप रख छोड़े थे। चिमटे थे, कुल्हाड़ी थीं और एकके पास परशु भी था।

सभी भस्मधारी थे। यों इस समय शरीरपरसे भस्म छूट चुकी थी और अब उसका चिह्न ही लक्षित हो सकता था। मस्तकपर, भुजाओंपर, वक्षपर, उदरपर भी रामानन्दी तिलक लगा था। कौपीन और अचला—भस्मधारीके वस्त्र उज्ज्वल होनेकी आशा की नहीं जानी चाहिये।

बड़ी-बड़ी पूरे गट्ठर-जैसी जटा थीं दोके सिरपर और सभीके गलेमें तुलसीकी माला थी। किंतु एकके गलेकी माला दर्शनीय थी। इतने बड़े-बड़े, लंबे तुलसीके दाने जिनमें छोटी सींगों-जैसी शाखाएँ भी रक्खी गयी थीं, साधुओंके समाजमें भी कम ही देखनेमें आया करते हैं। एक दूसरेके गलेमें चौकोर ताबीजों-जैसे तुलसीके दानोंकी माला थी। उन दानोंपर 'सीताराम' खोदा गया था।

मैं गङ्गास्नान करने गया था। घाटके ऊपर ही गङ्गासे तनिक हटकर एक बरगदका वृक्ष है। कभी उस वृक्षके नीचे एक फूसकी झोपड़ी थी। उसमें एक साधु रहा करते थे। एकान्तसेवी, भजनानन्दी साधु थे वे। उन्होंने बरगदके नीचे कच्चा चबूतरा बना रक्खा था। समीप ही कुछ फूल-तुलसीके पौधे लगा रक्खे थे। कभी-कभी मैं उनके समीप थोड़ी देरको बैठता था। गङ्गाकी बाढ़ आयी और झोपड़ीको जल छूने लगा तो वे कहीं आसन बाँधकर चले गये। अब वहाँ वह झोपड़ी नहीं है। दो-चार तुलसी और दो कुन्दके पौधे और

हरे हैं। आज स्नान करके घाटपर ऊपर आया तो वृक्षके नीचे साधुओंको देखकर दृष्टि उधर उठ गयी । देखने लगा कि कहीं वे भी तो इस समूहमें नहीं हैं ?

'भगत ! इधर आ ।' एक साधुने पुकारा । मैं अपने मार्गसे जानेको मुड़ चुका था। दम लगानेवालोंमें भी अच्छे संत हो सकते हैं, किंतु मेरे मनमें अरुचि है इस वर्गके प्रति। जिसने सत्याग्रह-आन्दोलनमें गाँजे-भाँगकी दूकानपर महीनों धरना दिया हो और इस वर्गकी गालियाँ खायी हों, वहींसे जेल गया हो, उसके मनमें यदि दम लगानेवालेके प्रति अरुचि स्थिर बैठ गयी हो तो आपको यह दुर्बलता क्षमा कर देनी चाहिये।

'क्या बात है ?' मैं कुछ दूर ही जाकर खड़ा रहा उन लोगोंसे। केवल हाथ जोड़कर सामान्य नमस्कार किया गया। मुझे उस साधुका पुकारना बुरा ही लगा था।

'आ बैठ तो !' उसी साधुने कहा—'संतोंके समीप बैठनेसे कल्याण ही होता है ।'

'आपकी कृपाके लिये धन्यवाद !' रूखे स्वरमें मैंने कहा—'मेरे पास अवकाश नहीं है और मैं किसी प्रकारकी कोई सेवा आपलोगोंकी कर नहीं सकूँगा ।'

'सुनिये तो !' मैं मुड़ा ही था कि एक दूसरा स्वर सुनायी पड़ा। कुछ पहिचाना लगा यह स्वर और उसमें जो शिष्टता थी, वह मुझे अच्छी लगी। मैं समीप चला गया उन लोगोंके। वैसे मुझे तंबाकूके धुएँसे कष्ट होता है, जी घुटता-सा लगता है। इसलिये भी मैं उन लोगोंके समीप नहीं जाना चाहता था।

'आपने मुझे पहिचाना नहीं लगता ।' एक साधु उनमेंसे उठ खड़े हुए। अबतक मैंने उनके मुखकी ओर ध्यानसे देखा नहीं था। किंतु देखकर भी मैं उन्हें पहिचान नहीं सका। उन्होंने मेरी स्मृतिको सहायता दी—'अवधराम तिवारीको आप भूल ही गये ।'

'अवधरामजी !' मैं चौंका, किंतु न पहिचाननेका कारण तो था ही—'क्षमा करें, यह भारी जटा और यह लंबी घनी दाढ़ी मेरे अनुमानमें भी नहीं थी ।'

'अब दासको लोग अवधदास कहते हैं ।' उन्होंने देख लिया कि मैं अब भी वहाँ बैठनेको उद्यत नहीं हूँ—'आपसे मिलनेकी इच्छा बहुत दिनोंसे थी; किंतु इस समय तो आप शीघ्रतामें जान पड़ते हैं ।'

'मुझे अभी अपना नित्यका स्नानोत्तर कर्म सम्पन्न करना है ।' मैंने भी संकोच नहीं किया—'आप यदि मध्याह्नके बाद पधारें घरपर; किंतु अकेले आइये ।'

'हम सब मन्दिरपर आसन रक्खेंगे ।' उन्होंने स्वीकार कर लिया—'मैं अकेले ही आऊँगा ।'

मैं प्रणाम करके लौटा तो अवधदासजीसे उनके साथी मेरा परिचय पूछ रहे थे।

× × × ×

श्रीअवधरामजी मेरे परिचित लोगोंमें हैं। ऐसे युवकोंमें जो कुछ समय मेरे साथ रहे हैं। सबसे पहिले मैंने उन्हें अपने शिविरमें पाया सत्याग्रह-आन्दोलनके दिनोंमें। वे स्वयं ही आये थे स्वयंसेवकोंमें भर्ती होने। किंतु वहाँ वे टिक नहीं सके। उन्हें और तो कोई कठिनाई नहीं हुई थी; किंतु भोजन बनाने, बर्तन मलने, स्थानकी स्वच्छतामें वे योग नहीं दे पाते थे। जहाँ सब एक स्तरके, एक बराबरके हों, वहाँ एकको श्रमके कार्योंसे छुट्टी कैसे दी जा सकती थी ? उनकी दूसरे लोगोंसे पटी नहीं। वे चले गये एक दिन बिना किसीको सूचना दिये।

अच्छा खाता-पीता कृषकका घर; किंतु घरपर भी अवधरामकी किसीसे पटती नहीं। वे दिनभर पड़े-पड़े रामायण, सुखसागर अथवा उपन्यास पढ़ा करें, यह उनके परिश्रमी भाइयोंसे नहीं देखा जाता। पाठशालाको उन्होंने पहिले ही नमस्कार कर लिया है। अब किसानके घरका लड़का खेत-खलिहान नहीं देखेगा तो उसे भाई-भाभियोंकी खरी-खोटी सुननी तो पड़ेगी ही।

कांग्रेस-आन्दोलनमें अवधरामजीका सम्मिलित होना उनके भाइयोंको अच्छा नहीं लगा था। केवल इसलिये अच्छा नहीं लगा था कि वे अपने घरके समीपके ही शिविरमें थे। यहाँसे पकड़े जानेपर पुलिसको उनका नाम-पता ढूँढ़ना नहीं पड़ता। घरके लोग यह कैसे पसंद कर सकते थे कि अवधरामपर हुए अर्थदण्डको प्राप्त करनेके लिये पुलिस घरके गाय-बैल नीलाम करे। हो यही रहा था उन दिनों कि जिसका भी पता लग जाता, उसपर न्यायालय कसके अर्थदण्ड करता और पुलिस उसके घर जो कुछ मिल जाता, वही उठा ले जाती। स्वयं मेरे घरके किवाड़ अर्थदण्ड प्राप्त करनेके लिये पुलिसके लोग द्वारमेंसे निकाल ले गये थे।

हमारे शिविरसे सूर्योदयसे पहिले ही उस दिन अवधराम चले गये थे। पीछे पता लगा कि वे घर गये हैं। उन दिनों

सत्याग्रह-आन्दोलन पूरे वेगमें था और अंग्रेज सरकारका दमन भी अपनी सीमापर था। मुझे समय कहाँ था कि किसीके समाचार रखता।

मैं कारागारमें छः महीने रहकर बाहर आया। थोड़े ही दिनोंमें सामूहिक सत्याग्रह-आन्दोलन महात्माजीने स्थगित कर दिया। व्यक्तिगत सत्याग्रह अन्ततः व्यक्तिगत ही तो रहता। उसमें वैसी व्यापकता नहीं थी।

स्थिति शान्त हुई तो किसी विशेष चर्चाके मध्य पता लगा कि अवधराम घरसे चले गये हैं। वे सचमुच अवध-आराम बन गये हैं। अयोध्या जाकर उन्होंने किसी बाबाजीसे दीक्षा ले ली है। समयके पग तो रुकते नहीं। बात आयी-गयी हो गयी। कई वर्ष व्यतीत हो गये। सम्भवतः अब भाइयोंको भी स्मरण नहीं होगा कि उनके अनुजका क्या हाल है।

इतने दिनोंके बाद आज अकस्मात् अवधरामजी इस वेशमें मिलेंगे, यह कल्पना भी मनमें कैसे आती। मैं घर लौट आया; किंतु मनमें कई बातें उठती रहीं। इतने दुबले हो गये अवधराम—भूल रहा हूँ, अब मुझे अवधदास कहना चाहिये। ब्राह्मणके बालक इधर चिलम छूना भी पसंद नहीं करते और यह गाँजेकी दम! संगका प्रभाव क्या नहीं कर सकता।

सब बात तो ठीक; किंतु मनुष्यके केश इन कुछ वर्षोंमें इतने बढ़ जाते हैं कि उनसे बनी जटा खुली होनेपर डेढ़-दो हाथ पृथ्वीमें खड़े होनेपर घसिटती चले और बाँधनेपर मस्तकपर बड़ा-सा गट्ठर बन जाय, यह बात समझमें नहीं आती थी।

× × ×

'आइये!' मैं भोजन करके लेटता हूँ। लेटे-लेटे ही कुछ पढ़ता हूँ। आज भी यही क्रम चल रहा था। अवधदासजीको आते देखकर मैं उठ खड़ा हुआ। 'आप चारपाईपर तो बैठेंगे नहीं।'

'आप लेटिये! मैं कुर्सीपर बैठता हूँ।' वे कुर्सी समीप खींचकर बैठ गये तो मैं भी चारपाईपर बैठ गया।

'आपके साथी सम्भवतः मन्दिरमें ही होंगे?' मैंने शिष्टाचारवश ही पूछा।

'अभी तो मन्दिरमें ही हैं, पर शामको आगे चले जायँगे!' मुझे उन्होंने बताया—'मैं काशीसे चला तो दो संत साथ हो गये। मार्गमें दो और मिल गये। अब वे लोग श्रीजगन्नाथजी जायँगे।'

'आपलोग पैदल ही यात्रा करते हैं?'

'नहीं तो!' वे निःसंकोच बोले—'रेल तो रामजीकी है; किंतु काशीमें हमलोगोंको एक टी-टीने उतार दिया था। इधर दम लगानेका सामान भी समाप्त हो रहा था, सबने सोचा कि कुछ दूरतक गाँवोंमें घूमते चला जाय।'

'अयोध्या आपने क्यों छोड़ा?'

'चार-छः दिन तो वहाँ ठीक व्यवस्था रही, उसके बाद गुरुजीने भंडारकी सेवा दे दी।' वे बोले—'मुझे गोबर उठाना होता, चारा काटना होता तो घर ही न रहता। साधु हुआ था भजन करनेको कि खाद ढोने, हंडे-कड़ाहे मलने और झाड़ू लगानेको। मैंने फिर भस्म धारण कर लिया, इससे भंडारमें चूल्हा फूँकनेसे छुट्टी मिल गयी; किंतु बर्तन, गोबर और जाने क्या-क्या बखेड़ा आ गया। इसलिये मैंने स्थान छोड़ दिया। कुछ दिन जमातके साथ रहा; किंतु वहाँ भी वही खटपट, अतः अब अपने रमते राम हैं।'

'चलिये, अब सब बखेड़े छूट गये। अब तो भजन-ही-भजन है।' मैंने सहजभावसे कह दिया।

'भजन ही तो नहीं बनता।' अब वे कुछ खिन्न स्वरमें बोले—'गप्पें लड़ाना, यहाँ-वहाँ घूमना, बस होता यह है। किसी-न-किसीके साथ हो लेता हूँ, अतः टिकट लेने नहीं पड़ते। किंतु भजन बननेका कोई मार्ग नहीं दीखता। आपकी स्मृति आयी अनेक बार। सोचा कि आपसे मिलकर सब बातें कहूँगा। दूसरे किसीसे कुछ कहने-पूछनेमें तो यह केवल संकोच बड़ी बाधा है।'

'मैं एक स्थान जानता हूँ। आप चाहें तो पत्र दे दूँगा।' मैंने सीधे प्रस्ताव किया—'नियमित रूपसे छः घण्टे प्रतिदिन रामायणका पाठ करना पड़ेगा। रहनेको कुटिया और रूखा-सूखा भोजन आपको वहाँ मिल जायगा। जबतक चाहें वहाँ रहें।'

'छः घण्टे नियममें बँधकर पाठ करना अपने वशकी नहीं।' वे बोले—'जब सब कुछ त्याग दिया तो पेटके लिये नौकरी कौन करे।'

'सब कुछ त्याग दिया' ' ' उनके चले जानेपर मैं सोचता रहा, इस त्यागका क्या अर्थ। यह त्याग हुआ भी था तो और यदि त्याग हो—भजन क्यों नहीं बनना चाहिये किंतु शरीरको कष्ट मिलेगा, इस भयसे किया गया त्याग राजस याग है—निष्फल है वह।

योगवासिष्ठमें नारी-महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

भारतमें महिलाओंका लोकोत्तर स्थान और मान है । हिंदू-धर्म-शास्त्रोंमें महिलाओंको पूज्य कहा गया है और इनकी पूजापर बल भी दिया गया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
(मनु)

वेदमें महिलाओंके व्यक्तित्वका इस प्रकार उल्लेख है—

इळे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे
ज्योतेऽदिते सरस्वती महि विश्रुतिः ।
एता ते अघ्न्ये नामानि
देवेभ्योमा सुकृतं ब्रूतात् ॥
(यजु० ८ । ४३)

इस मन्त्रमें स्त्रियोंके विशेषण इस प्रकार हैं—

१–इडा
२–रन्ता
३–हव्या
४–काम्या
५–चन्द्रा
६–ज्योति
७–अदिति
८–सरस्वती
९–मही
१०–विश्रुती[1]

परंतु योगवासिष्ठके महिला-विषयक प्रकरण महिला-महत्त्वके मूर्तरूप हैं । उनमें महिलाओंको सभी उचित अधिकार तो प्राप्त हैं ही, वे योग-विद्याकी भी अधिकारिणी हैं । योगवासिष्ठका यह भी मत है कि योग-साधनामें महिलाएँ पुरुषोंसे अधिक योग्य होती हैं, इसलिये कि वे पुरुषोंसे अधिक श्रद्धा-सम्पन्न, भावुक और लगनवाली होती हैं । योगवासिष्ठकार यह भी कहते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषोंको अनादि-अनन्त मोह-गर्तसे निकालकर मुमुक्षु भी बना सकती हैं—

मोहनादनादिगहनादनन्तगहनादपि ।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥
(यो० वा० ६/१ । १०९ । २६)

योगवासिष्ठके उक्त शब्द विश्व-साहित्यको चुनौती-स्वरूप हैं । स्त्रियोंका ऐसा लोकालोकदुर्लभ चरित्र-चित्रण सहजमें कहाँ मिल सकता है ? योगवासिष्ठकार तो यह भी कहते हैं कि पुरुषको संसारसे पार करनेमें स्त्रियोंसे बढ़कर शास्त्र, गुरु और मन्त्र भी नहीं है ? क्योंकि स्त्रियाँ स्नेहशालिनी होती हैं—

शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥
(यो० वा० ६/२ । १०९ । २७)

इनका सहधर्मिणी-रूप तो गार्हस्थ्यको स्वर्ग बनानेवाला एवं पतिके लोकोत्तरसुख तथा समृद्धिका कारण है—

समग्रानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि………… ।
यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वादने सुखम् ॥
(यो० वा० ६/१ । ८५ । ४३)

योगवासिष्ठकी चूडाला और लीला तो समानतः तथा पूर्णतः ऐसी ही देवियाँ हैं । ये वस्तुतः उमा, रमा और गिरा-द्वारा झाँकी लेने और ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश-द्वारा आरती उतारने और छत्र-चँवर करने योग्य हैं । योगवासिष्ठके ये चरित्र-चित्रण कल्पनातीत-से हैं, विशेषतः सत्य-शिव-सौन्दर्य-प्राण ।

योगवासिष्ठगत चूडाला और लीलाके चरित्र तो संयम-द्वारा अनन्त सिद्धियोंके प्रदाता हैं । सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मयमें समानतर दो महिलाओंका ऐसा चरित्र-चित्रण दुष्प्राप्य-सा ही है ! यह पुरुषोचित और नारी-समुचित सांस्कृतिक व्यक्तित्वकी सुन्दर दिव्य अभिव्यञ्जना है । इन दोनोंका चरित्र विश्व-भाषाओंमें अनूदित होने योग्य है ।

---

[1] उत्तम वाणी-युक्त, रमणीय, पूजनीय, कामना करनेयोग्य, आह्लाद देनेवाली, घरमें ज्योतिके समान एवं अज्ञानान्धकारको अपने दिव्य गुणोंसे हरनेवाली, दीनता-हीनता-रहित, ज्ञान सम्पादन करनेवाली, उदार भावोंसे युक्त और बहुश्रुता ।

योगवासिष्ठकी तथाकथित स्त्रियोचित चरित्र-कल्पना भारतकी विश्व-साहित्यको स्तुत्य देन कहनेमें शंकाको स्थान प्रतीत नहीं होता । कहना चाहिये योगवासिष्ठकारकी चरित्र-चित्रण-विषयक तूलिकाका यह एकान्त निदर्शन है । यह घर-घर पहुँचनेकी वस्तु है । आजके पतनोन्मुख संसारका इससे बहुत भला हो सकता है । वस्तुतः सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी भगवती जगदम्बाकी झाँकी अंशतः हम इन चरित्रोंमें ले सकते हैं । अतः ये लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियोंसे मनन-निदिध्यासन करने योग्य हैं ।

यहाँ योगवासिष्ठ-गत महारानी चूडालाका एक प्रसंग दिया जाता है । जिसमें उसके पतिदेव उसका अभिनन्दन करते देख पड़ते हैं—

'देवि ! तुमने मेरे लिये बड़े कष्ट सहे हैं और यत्न किये हैं, एवं बड़े परिश्रमसे मुझे संसार-समुद्रसे पार उतारकर मुझपर बड़ा उपकार किया है । तुम धन्य हो ।' अरुन्धती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी, पार्वती, सरस्वती एवं श्रेष्ठ कुलकी कन्याओं और पतिव्रताओं—सभी स्त्रियोंसे तुम श्रेष्ठ हो ।' इसका उत्तर महारानी चूडाला इस प्रकार देती हैं—'राजन् ! आप मेरी स्तुति क्यों करते हैं । मैंने तो अपने कर्तव्यका पालनमात्र किया है ।'

◆

तुम्हींने दिया है

(रचयिता—डॉ० मोहनजी अवस्थी डी० फिल्)

गीतमें प्राण तो गूँजते हैं हमारे
मगर प्राणको स्वर तुम्हींने दिया है ।

(१)

अतुल रंग लेकर भले ही खिले, पर
बिना गंधके फूलकी जिन्दगी क्या,
कभी उच्च आकाश तक उठ न पाये
अगतिमान उस धूलकी जिन्दगी क्या ?
प्रकाशित सकल व्योम मैं कर रहा हूँ
मगर ज्योति-निर्झर तुम्हींने दिया है ।
मगर प्राणको स्वर तुम्हींने दिया है ॥

(२)

मिलाओ मुझे वह पथिक जो न थकता
धनी-निर्धनी या गुणी-निर्गुणी हो,
सुनाओ मुझे एक ऐसी कहानी
न तुमने कही हो, न मैंने सुनी हो;
नया राग मैं विश्वमें खोजता हूँ
मगर खोजका वर तुम्हींने दिया है ।
मगर प्राणको स्वर तुम्हींने दिया है ॥

(३)

मुझ किस तरह भीत जीवन करे यह
कि जब मौतसे मैं निडर हो चुका हूँ ।
भला विश्वमें किस तरह लीन होऊँ
कि जब आपमें मैं स्वयं खो चुका हूँ ॥
पपीहा हुआ हूँ अमर स्वातिका मैं
मगर रूप-जलधर तुम्हींने दिया है ।
मगर प्राणको स्वर तुम्हींने दिया है ॥

प्राचीन वैदिक सभ्यता बनाम भारतमें 'आर्य'-अभियान

[आर्यजातिके वाहरसे भारतमें आनेकी कहानी सर्वथा मिथ्या है]

(लेखक--श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

मदर गाडेस (Mother Goddess)

मोहेनजोदड़ो और हड़प्पामें तथा विलोचिस्तानके विभिन्न स्तूपोंमें वहुत-सी स्त्री-मूर्तियाँ पायी गयी हैं; जो जली मिट्टीकी वनी हैं। इनके सम्वन्धमें सर जान मार्शलने कहा है कि ये महादेवी (Mother of Goddess) की मूर्तियाँ थीं; जो भूमध्य सागरके द्वीपोंमें तथा मिनोयान् सभ्यतामें पूजित होती हैं। यह देवीपूजा 'आर्य' (वैदिक) जातिमें नहीं थी। देवीपूजा आर्योंमें वहींसे आयी है।

परंतु यह सर्वथा भ्रममूलक उक्ति है, आर्य—द्विजवर्गमें (व्राह्मण; क्षत्रिय; वैश्य) प्रत्येक व्यक्तिको दैनिक नित्यकर्म त्रिकाल संध्यामें महादेवी गायत्रीकी उपासना करनी पड़ती है। क्या तर्कके वलसे यह कहा जा सकता है कि यह वैदिक मूल देवी-उपासना भी क्रीट या भूमध्य-सागरीय अञ्चलसे भारतमें आयी ?

फिर मोहेनजोदड़ोमें जो स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं वे तो देवीकी हैं ही नहीं; उस समय वहाँके लोग शिल्पकार्यमें सुदक्ष थे, यह उनके शील आदिसे जाना जाता है। प्राप्त स्त्री-मूर्तियाँ छोटी और कुगठित हैं। उनमें कलाचातुरी विल्कुल ही नहीं है। कोई अलौकिक दिव्य लक्षण अथवा पूजा या श्रद्धा-विशेषका कोई परिचय इनमें नहीं पाया जाता। इनमें ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है जिससे यह सिद्धान्त निश्चय किया जाय कि ये देवी-प्रतिमाएँ थीं तथा पूजित होती थीं। पूजित प्रतिमाएँ होतीं तो इनमें और भी शिल्पकला रहती और प्रतिमाएँ भी वड़ी होतीं।

चिपके या गोल मुँहकी, छोटे ढेले या कौड़ीकी आँखें आदि लगाकर वनायी अति साधारण गाँवके कुम्हारोंकी काली मिट्टीकी स्त्री-मूर्तियाँ इस समय भी देशमें सर्वत्र पायी जाती हैं। उनको कोई घर-घर पूजी जानेवाली देवी-प्रतिमा नहीं मानता।

सिन्धु-उपत्यकामें प्राप्त स्त्री-मूर्तियाँ इसी प्रकारकी शिशुओंके खेलनेकी पुतलियाँ हैं, इसमें संदेह करनेकी कोई वात नहीं है। ये देवीमूर्ति या जगन्माताकी मूर्ति तो हैं नहीं; इनके साथ भूमध्यसागरीय या द्रविड़ सभ्यताका कोई सम्पर्क या संयोग भी कभी नहीं रहा*।

ऊपर सिन्धु-सभ्यताके सम्वन्धमें जो आलोचना की गयी है, जवतक उसके विरुद्ध दृढ़ प्रमाण नहीं मिल जाता; तवतक सिद्धान्त निश्चित करना अनुचित नहीं होगा कि यह सिन्धु-सभ्यता पृथक् नहीं; किंतु आर्य (वैदिक) सभ्यताके ही अन्तर्भुक्त थी।

विवेकानन्दका मत

अनेक वर्षों पूर्व विवेकानन्दने भारतमें 'आर्य-अभियान' के सम्वन्धमें जो वातें लिखी थीं; वे ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं कि—'एक मत है कि दाक्षिणात्य लोग द्रविड़ जाति हैं। वे उत्तराखण्डके अधिवासी 'आर्य'से पूर्णतः भिन्न हैं। दाक्षिणात्य व्राह्मण लोग ही वहाँ एकमात्र आर्य-वंशके हैं; वे लोग उत्तर भारतसे वहाँ गये थे।'† पर यह सर्वथा अविश्वसनीय है। सम्पूर्ण भारत सदा 'आर्य' था।

एक दूसरी कहानीके अनुसार शूद्रलोग निश्चयपूर्वक भारतके आदिम अधिवासी हैं। वे कौन थे ? पूर्वकालमें वे दास थे। अमेरिकामें अंग्रेज; पुर्तगीज आदि जातियोंने अफ्रिकावासियोंको दास वनाकर रक्खा था। उनके वंशधर भी वहुत दिनोंतक दास ही थे। इसी आदर्शको देखकर गवेषकोंका मन कूदकर सहस्रों वर्ष पूर्व चला गया और

---

* इस विषयमें विस्तृत आलोचनाके लिये श्रीननीमाधव चौधुरीके प्रवन्ध 'सिन्धुसभ्यतार उत्पत्ति' और 'सिन्धुधर्मे स्त्री-देवतार उपासना' (प्रवासी १३५५) द्रष्टव्य है।

† 'There is a theory that, 'there was a race of mankind in South India called the Dravidians entirely different from another race in India called the Aryans, and that South Indian Brahmins are the only Aryans that came from the North.' × × 'Do not believe in such silly things. × × 'The whole of India is Aryans, nothing else.'

कल्पना करने लगा कि भारतमें भी वैसे ही हुआ होगा। पुरातत्त्ववादियोंने स्वप्न देखा कि भारत काली आँखोंवाले आदिम अधिवासियोंसे ठसाठस भरा है। उसके बाद श्वेतकाय 'आरियन' लोग इस देशमें किसी देशसे आये थे। भगवान् ही जानें कि वह कौन देश था। कुछ लोगोंके मतसे वे मध्य तिब्बतसे, तथा दूसरे लोगोंके मतानुसार मध्य एशियासे आये। कुछ अंग्रेजोंका विचार है कि आर्योंके केश लाल रंगके थे। दूसरे लोगोंका मत है कि उनके केश काले थे। कुछ दिन पहले यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की गयी थी कि वे लोग स्वीजरलैंडके एक झीलके किनारे निवास करते थे। कुछ लोग कहते हैं कि वे लोग उत्तर मेरुमें रहते थे।

हमारे शास्त्रोंमें एक भी बात नहीं है, जिससे प्रमाणित हो कि 'आर्यगण' कभी बाहरसे भारतमें आये थे। प्राचीन भारतके भीतर अफगानिस्तान भी था।*

वैदिक जातिका इतिहास था

पाश्चात्य भारतीय-तत्त्ववेत्ता (Indologists) तथा इतिहासकारोंकी यह दृढ़ (किंतु भ्रान्त) धारणा है कि वैदिक (हिंदू) जाति इतिहास लिखना नहीं जानती थी; क्योंकि इस समय ऐसा कोई प्राचीनकालीन धारावाहिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। किंतु उनका यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है, यह माननेका कारण है।

हिंदू (वैदिक) जाति इतिहास लिखना जानती और लिखती थी। परंतु संस्कृत साहित्यका महान् भा अन्यान्य शिल्प और स्थापत्यके निदर्शनके सहित (अत्याचा यांके द्वारा) सारा ही ध्वंसको प्राप्त हो गया है।

आज जो नहीं है, अथवा जिसके विषयमें कोई उल्ले नहीं पाया जाता—वह था ही नहीं, यह नहीं कहा सकता। अनुल्लेख अनस्तित्वका प्रमाण नहीं है। वैदि जातिका प्राचीन इतिहास धारावाहिक रूपमें नहीं पाया जा इससे यह नहीं कह सकते कि वह कभी लिखा ही नहीं गया।

चीन देशके प्रख्यात परिव्राजक हुएनत्सांग स शताब्दीमें भारतमें आकर वर्षों रहे थे और उन्होंने अने देशोंका भ्रमण किया था। उन्होंने लिखा है कि 'घटनाओं इतिहास लिपिबद्ध करनेके लिये प्रत्येक देशमें एक कर्मचारी रहता है, जो उसे लिखा करता है। सारी घटनाओं पूर्ण विवरणका नाम 'नीलपीत' है। इन विवरणोंमें अच्छी बुरी सब घटनाओंका तथा दुर्भाग्य और सौभाग्यका उल्ले रहता है।'* इतिहास और रोजनामचा आदि लिख मुसल्मानोंके शासनके पूर्व नहीं था, ऐसा जो कहते हैं वे हुएन्त्सांगके वक्तव्यपर विचार करें। उस समय मुसल्मा भारतमें नहीं आये थे। मुसल्मान शासकोंने भारत-विज बाद पुरानी बहुत-सी चीजोंको ग्रहण किया था, इसके प्रमा मिलते हैं।

वैदिक जाति यदि बाहरसे भारतमें प्रविष्ट हुई होती तो यह बात किसी-न-किसी रूपमें इतिहासमें लिखी होती और दूसरे साहित्यमें भी इसका कहीं संकेत पाया जाता। कलि संवत्के विषयमें वादानुवादका अवसर होनेपर भी कलि अब्द (५०६१ से ऊपर है) और युधिष्ठिर-अब्द भार प्रचलित है। यह क्या भारती-जातिके सिन्धु-उपत्यकाके सभ्य की अपेक्षा भी प्राचीनत्वका संकेत नहीं करता? आधुनि ढंगका इतिहास उपलब्ध न होनेपर भी वैदिक शास्त्र-पुरा इतिहास (रामायण, महाभारत) वैदिक सभ्य

---

* Then there is the idea that Sudra Castes are surely the Aborigines. What are they? They are slaves. × × "From that wonderful example the mind jumps back several thousand years and fancies that the same thing happened here, and our archeologist dreams of India being full of dark-eyed aborigines and the bright Aryans came from, the Lord knows, where. According to some, they came from Central Tibet, others have it that they came from Central Asia." "......Of late there was an attempt made to prove that the Aryans lived in Swiss lkes. I should not be sorry if they all had been drowned there, they and all, theory and all. And some say they lived at the North Pole. Lord bless the Aryans and their habitations. As for the truth of these theories there is not one word in our scriptures, not one to prove that the Aryans ever came from anywhere outside of India and in ancient India was included Afghanistan." (Vivekanand in future of India)

* With respect to the records of events each province has its own official for preserving them in writing. The records of these events in their full characters is called Ni-Lo-Picha (Ni Pita, Blue deposit.) In these records are mentioned good and evil events, with calamities and fortunate occurrences."

—(Beal, Buddhist Records P.

ऐतिहासिक सामग्रीसे समृद्ध हैं। परंतु यह बात कहीं भी नहीं मिलती कि आर्य (वैदिक) जाति बाहरसे भारतमें आयी थी, अथवा भारत कभी विदेशियोंसे पदाक्रान्त हुआ था।

ज्योतिषशास्त्रका प्रमाण

भारतमें वैदिक सभ्यताकी प्राचीनता ज्योतिषसे भी सिद्ध होती है। प्रोफेसर वालेस कहते हैं कि भारतीय ज्योतिषके मान ज्यामितिके गणितके अनुसार निष्पन्न हो गये हैं। बहुतोंका मत है कि ये तत्त्व अति प्राचीन हैं, समीक्षाद्वारा इनका काल ईसासे कम-से-कम तीन सहस्र वर्षसे भी पूर्व निर्धारित है। इसे बेलीने पूर्णतः प्रमाणित किया है।*

भारतीय ज्योतिषका कुछ वर्तमान सार यदि पाँच सहस्र वर्ष पूर्व संकलित हुआ हो तो सभ्यताके इस उच्च स्तरपर पहुँचनेमें कम-से-कम एक हजार वर्ष लगा होगा, इसमें संदेह नहीं है। अर्थात् यह प्रमाणित हो जाता है कि ४००० ई० पूर्व कालमें वैदिक (आर्य) जातिने भारतमें सभ्यताका विस्तार किया। कलि-अब्दकी बात ऊपर लिखी गयी है।

आर्यावर्त्त और आर्यजाति

'आर्य' शब्द विदेशी नहीं; भारतीय है। यह वैदिक देवभाषाके धातु-प्रत्ययसे (ऋ+ण्यत्) निष्पन्न शब्द है। आर्य शब्दका अर्थ है—धार्मिक, धर्मशील, श्रेष्ठकुलोत्पन्न, पूज्य, श्रेष्ठ, उदारचरित, शान्त।

कृतेन हि भवेदार्यो न धनेन न विद्यया।

चरित्रके प्रभावसे ही आर्य बनता है, धन या विद्याके द्वारा नहीं। 'सदाचारेणैव नराणामार्यत्वम्'—सदाचारके द्वारा ही लोगोंका आर्यत्व होता है। आर्य शब्दका अर्थ है महाकुल—कुलीन, साधु, सज्जन।

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥

'जो कर्तव्य-कर्मका आचरण करके तथा स्वेच्छानुरूप अकर्तव्यका आचरण न करके प्रकृत आचारमें स्थित रहता है, वही आर्य है।'

देखा जाता है कि वैदिक भाषामें 'आर्य' शब्दका अर्थ कोई जातिवाचक नहीं है, 'आर्य' नामकी कोई जाति कभी नहीं थी। परंतु यदि किसी जातिको 'आर्य' नामसे वैशिष्ट्य प्रदान किया जाय तो वैदिक (भारतीय) जाति ही एकमात्र वह विशुद्ध 'आर्य' जाति है।

अनार्य कौन हैं ?

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो
नाशिरं दुहे न तपन्ति धर्मम्।

(ऋग्वेद ३। ३। २९४)

कीकटदेश अनार्योंके निवासका वाचक है (कीकटेन नाम देशोऽनार्यनिवासः—यास्कः निरुक्ते) जो लोग देव-पितर और मनुष्योंका उपकार नहीं करते, जिनका ऐसा विश्वास है कि इहलोकके सिवा दूसरा कोई लोक नहीं है, जो अग्निहोत्रादि यज्ञ नहीं करते, जो तपश्चर्यासे विमुख होते हैं, वे नास्तिक हैं, वे अनार्य हैं, वे लोग जिस देशमें रहते हैं उसका नाम कीकट है।

(भार्गव शिवराम किंकर, 'उत्सव')

नास्तिक और अनार्यलोग श्रद्धाहीन होते हैं 'यज्ञ, दान, होम आदि क्रियासे क्या फल होता है ? खाओ-पीओ, इस लोकके सिवा दूसरा लोक नहीं है'—अनार्य लोग ऐसी ही बातें करते हैं। उनके देशमें गायके द्वारा कोई काम नहीं होता; क्योंकि गोघृतका यज्ञमें व्यवहार नहीं होता। अतएव वैदिक धर्म और क्रियामें विश्वास न रखनेवाले किसी भी जातिके लोग, चाहे उनका वर्ण कितना भी गौर क्यों न हो, उनकी आकृति कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, 'आर्य' नहीं कहला सकते।

यही क्यों, ब्राह्मण-क्षत्रिय आदिमें भी जो लोग क्रियालोप आदि दोषोंसे बाह्यजाति-भावापन्न हो जाते हैं वे चाहे म्लेच्छ भाषा बोलते हों या भारतीय (आर्य) भाषामें बातें करते हों, उनको दस्यु कहना चाहिये—यह मनुका मत है।

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

(मनु० १०। ४५)

---

* "Astronomical tables in India must have been constructed by the principles of Geometry. × × Some are of opinion that they have been framed from the observation made at a very remote period, not less than 3000 years before the Christian era (This has been conclusively proved by Bailly.)"
—Geometry, Prof. Wallace, in the Edinburgh Encyclopedia, p. 191.

आर्य होना या रहना सहज बात नहीं है ।

ब्रह्मावर्त्त (वेद या वेदज्ञ ब्राह्मण जहाँ आवर्त्तन अर्थात् पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करते हैं), आर्यावर्त्त (आर्य या साधु, वैदिक धर्म और आचारमें निष्ठावान् पुरुष जिस देशमें पुनः-पुनः जन्म लेते हैं) आदि शब्दोंकी व्युत्पत्तिसे ज्ञात होता है कि भारत ही वैदिक (आर्य) जातिका मूल निवास और उत्पत्तिस्थान है ।

इस आर्यभूमि भारतखण्डका एक नाम कुमारिकाखण्ड है । यह नाम कुमारिका देवीके नामसे पड़ा होगा ।

'वर्णव्यवस्थितिरिहैव कुमारिकाख्ये शेषेसु चान्त्यजना निवसन्ति सर्वे ।'

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय)

उत्तरमें हिमाचलसे दक्षिणमें कुमारिका मन्दिरतक भारत एक ही देशके रूपमें प्राचीन कालसे विख्यात था । जो लोग आर्य-द्रविड़ भेद उठाते हैं, उनको इस विषयपर विचार करना चाहिये ।

वैदिक ऐतिह्यके अनुसार मनु और शतरूपा प्रथम राजा-रानी हैं । मनुष्यके द्वारा बसी हुई सारी पृथिवी भारतवर्ष है । मनु भारतवर्षके अर्थात् पृथिवीके आदि सम्राट् हैं । परंतु वैदिक सभ्यताका आधार और आदिभूमि भारतखण्ड या कुमारिकाखण्ड है । पहले वैदिक सभ्यता पृथ्वीभरमें व्याप्त थी और क्रमशः संकुचित होती आयी है ।

भारतमें आर्य-अभियान काल्पनिक कहानी है

बाल्यकालसे ही इतिहासकी पाठ्य-पुस्तकमें भारतमें आर्य अभियानका वर्णन छपे अक्षरोंमें पढ़ना पड़ता है । फलतः यह बात हमारे मन तथा मस्तिष्कमें स्वतःसिद्ध बनकर बैठ गयी है । एक ऐसी ही (भ्रान्त) पुस्तकसे यहाँ कुछ उद्धृत किया जाता है—

'भारतमें आर्य-अभियानके साथ ही भारतका इतिहास प्रारम्भ होता है; क्योंकि उसके पूर्व द्रविड़ जातिके विषयमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता । आक्सस् नदीकी घाटीमें आर्य जाति वास करती थी, ऐसा जान पड़ता है । १००० ई० पूर्व तथा उसके बहुत पूर्वसे दल-के-दल आर्यलोग उत्तर-पश्चिमके पर्वत-पथसे क्रमशः पंजाबकी समभूमिमें प्रवेश करने लगे ।'*

इतिहासकी यह पुस्तक कम-से-कम पचास वर्ष पुरानी है । उस समय आर्यवादका सिद्धान्त प्रबल था, परंतु अब यूरोपीय विद्वत्समाजका भी सुर धीमा पड़ने लगा है । ('Aryans') शीर्षक लेख पूर्व और आधुनिक विश्वकोषको देखनेसे यह बात समझमें आ सकती है । विश्वकोषके नवीन संस्करण (१९३० के परवर्ती) में लिखा है—

'आर्यन्' शब्द इंडो-यूरोपीय भाषाओंके 'सातेम' श्रेणीके अन्तर्गत आता है, कोई-कोई इसे 'श्रेष्ठ' अर्थमें व्यवहार करते हैं और यह इन जातियोंके भीतर एक क्षुद्र जातिका नाम है। (यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि Nation शब्दका व्यवहार न कर Tribe शब्दका व्यवहार किया गया है।) भारतीय और ईरानी लोगोंको अपनेको आर्य कहनेका अधिकार है; परंतु हमको (अंग्रेजोंको) यह अधिकार नहीं है ।' यह बात ग्रियर्सनने अपनी रिपोर्टमें कही है । मैक्समूलरने इस शब्दका व्यवहार किया था और सावधानीसे किया था । जोशमें जो भूलें हो जाती हैं, उनको सुधारनेमें वर्षों लग जाते हैं । वैज्ञानिक और यत्नशील लेखक वोआमके मतका प्रचार करके ऐसा मानते हैं कि किसी जातिकी भाषा एक होनेपर भी संस्कृति बदल सकती है, अथवा समाज-देह एक होनेपर भी भाषा बदल सकती है, अथवा भाषाका व्यवहार स्थिर होनेपर भी संस्कृति और सामाजिक आदर्श परिवर्तित हो सकते हैं । ठीक रीतिसे और विचारपूर्वक अच्छे-बुरेका निश्चय किये बिना नाम धरने (लेबुल लगाने) पर जो आपत्ति आती है, उसके लिये इसकी अपेक्षा गुरुतर या प्रसिद्ध उदाहरण दूसरा नहीं पाया जाता ।*

---

* *The Coming of the Aryans*—The History of India begins with the coming of the Aryans or Aryas, for before their arrival, we know little or nothing of the Dravidians. The Aryan *tribes* seem to have occupied the Country North of the Hindukush in the valley of the Oxus and they descended through the passes at the ranges and entered the valleys of Afghanistan and hence the Plains of Punjab." (P. 11) + + "The Aryans entered India by the passes at the North-West in some undifined period before 1000 B. C. How far back that period extended they cannot say. It is probable that there were several waves of invasions.

(E. W. Thomson—History of India P. 3)

* "*Aryans*—This word is used by some of the 'Satem' speakers or Indo-European languages with the meaning 'Noble', and is the name of one of the *tribes* of these people. As

सारांश यह है कि विश्वकोषके सम्पादकोंने आर्यवादको अब गठित कर लिया है। परंतु भारतके विद्वानोंके मनमें जो इस (भ्रान्त) ज्ञान-प्रवाहसे परिपुष्ट हो चुका है; शिक्षाका यह पाठ आज भी अक्षुण्ण बना है। विश्वकोष कितने लोग पढ़ते हैं ?

इसीसे भारतीय लोगोंके लिखे हुए अपेक्षाकृत आधुनिक इतिहासोंमें आर्य-अभियानकी कहानीके विषयमें सामान्य संदेहका संकेत होनेपर भी यह लिखनेका अभी किसीने साहस नहीं किया कि यह बात बिल्कुल कल्पित और गढ़ी हुई है। इस आर्यवादके पीछे उद्देश्य है। इस झूठी रचनाका कारण क्या है ?

आर्य-अभियानकी कहानी दुर्भावना-मूलक है

इसका उद्देश्य है वैदिक (हिंदू) जातिके मनसे श्रेष्ठत्वके अहंकार तथा आत्माभिमानको नष्ट कर देना। इस (Superiority Complex) की बातका उल्लेख अलब्बेरुणीने नौ सौ वर्ष पहले किया था। पहले जिनको अनार्य; यवन; म्लेच्छ आदि शब्दोंसे पुकारा जाता था; अब ज्ञात होता है कि वे भी 'आर्य' वंशज हैं और भारतीय वैदिक जातिके समकक्ष हैं। इसके अतिरिक्त, भारतके बहुत लोग (यहाँतक कि कुलीन ब्राह्मण भी) वर्ण और जातिसंकरतासे उद्भूत (Dravido-Mongoloid) आदि हैं; ऐसा सिद्धान्त निश्चय किया गया है। दूसरी ओर दम्भपूर्वक यह घोषणा की जाती है कि यूरोपीय जाति (जैसे नाजी जर्मन) के शरीरोंमें विशुद्ध आर्यरक्त प्रवाहित है।

द्वितीयतः; इसके द्वारा; 'भारत हमारा स्वदेश है'—इस सुनिश्चित भावकी जड़पर सूक्ष्मरूपसे कुठाराघात किया गया है। स्वर्गादपि गरीयसी जननी-जन्मभूमिके वक्षःस्थलपर स्वाधीन संतानके हृदयमें वास्तविक जातीय—आत्मगौरव, स्वदेश-प्रीति तथा गम्भीर शान्ति और निश्चिन्तता रहती है। हमने तो अन्य विदेशी जातिके समान इस देशपर विजय प्राप्त किया था; हमारा इस देशमें जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं है (अपने ही पूर्वजोंके पितृ-पुरुषोंके देशमें हम विदेशसे आये हुए विदेशी हैं; यहाँके निवासी नहीं हैं); यह धारणा अब हमारे मनोंमें जड़ जमा रही है; जिससे वह भाव नष्ट हो रहा है।

'स्वदेश स्वदेश बोल रहा क्यों; यह नहिं तेरा देश।' 'तुमलोग बाहरसे पहले आये थे, जितने दिन राज भोगना था; भोगा। तुम्हारे बाद मुसल्मानोंको जितने दिन राज भोगना था भोगा। अब हम आये हैं; हम भी तुम्हारे ही जाति-भाई हैं। भारतमें तुम भी बाहरसे आये, हम भी बाहरी हैं। फिर तुम्हारे मनमें अशान्ति और असंतोष क्यों होता है; संतुष्ट होकर हमारे अधीन सुखसे रहो'—यही अंग्रेजोंके द्वारा आविष्कृत 'आर्यवाद' का भीतरी रहस्य है।

अंग्रेजी ढंगसे भारतका जो इतिहास लिखा गया है; उसको पढ़नेसे यह धारणा होती है कि आदिमकालसे ही भारत-विजय प्रारम्भ हो गया था। क्रमशः आनेवाली एक जातिके बाद दूसरी जाति भारतीयोंको पराजित करके इस देशमें अपना राज्य स्थापित करती रही है। (यह उनमेंसे किसीका पितृ-देश नहीं है।) अंग्रेजोंका भारतविजय उसीका एक आधुनिक अनुच्छेद या परिणाम है। भारतीय जातिके मनमें इन भावोंका प्रवेश अंग्रेजोंका वास्तविक सांस्कृतिक (Cultural) विजय है और यही हमारी वास्तविक पराधीनता है। राजनीतिक पराधीनता अस्थायी होती है; परंतु सांस्कृतिक पराजय स्थायी या बहुत लंबी होती है। आर्यवादके विषने हमारी सारी जातीय विचारधाराको जर्जरित कर दिया है।

तृतीयतः; इस (भ्रान्त) आर्यवादके मान लेनेपर यह मानना ही पड़ता है कि वेद और वेदमूलक शास्त्र; इतिहास, पुराण सब झूठे; गँड़ेरियोंकी गप्प; कपोल-कल्पना या गँड़ेरियोंके गीत हैं; क्योंकि उनमें आर्य-अभियानका कोई उल्लेख नहीं है। इस मिथ्या कहानीके फलस्वरूप हमारा वैदिक धर्ममें

George Grierson points out, Indian and Iranians who are descended from an Indo-European stock have a perfect right to call themselves Aryans, but the English have not." (Report of Linguistic survey of India vol. I. P. 96—1927). × × It takes time to eradicate the errors of enthusiasm, but scientific and careful writers accept the view by Boas. (Mind of Primitive man 192.) × × That a people may remain constant in language and change in culture, that it may remain constant in type but change in language; or that it may remain constant in language and change its type and culture. "× × There is no better nor more striking example for science than this of the danger of affixing labels without due scrutiny and intelligent discrimination."

(Encyclopedia Brit.)

विश्वास, आचारमें निष्ठा आदि, जिनके ऊपर आस्तिक्यबुद्धि प्रतिष्ठित थी, वह दृढ़ आधार ही शिथिल हो गया है। फलतः भारतमें आर्य-अभियानकी कहानी कुचेष्टासे गढ़ी गयी है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है और प्रायः एक सौ वर्षकी इस चेष्टामें इसमें सफलता भी बहुत हुई है। परंतु इस आर्य-अभियानका कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

इस लेखमें भारतमें आर्य-अभियानके सम्बन्धमें प्रधानतः इतिहासके प्रमाणसे संक्षेपमें कुछ विचार करनेकी चेष्टा की गयी है। वैदिक जातिका आदिनिवास-स्थान निश्चय ही भारत है; वह निश्चय ही भारतीय है, वैदिक जातिके इन लोगोंने बाहरसे आकर इस देशपर विजय प्राप्त नहीं की। वे भारत-विजेताका गौरव नहीं चाहते। वे सदासे भारतवासी हैं और भारतीय जाति कहलानेमें ही सदा गर्वका अनुभव करते हैं।

उपर्युक्त आलोचनाका सारांश

आधुनिक पाश्चात्त्य ऐतिहासिक मतके अनुसार आर्यजातिके लोग भारतके बाहर किसी देशमें वास करते थे। वे भारतीय हिंदू, पारसी, काकेशीय, ग्रीक आदि जातियोंके पूर्व-पुरुष थे। आनुमानिक २५०० से १५०० ई० पूर्वके भीतर उन्होंने विभिन्न दलोंमें उत्तर-पश्चिम सीमान्तसे भारतमें प्रवेश किया था। उससे पहले भारतमें कोल-भील-द्रविड़ आदि जातिके पूर्वज लोग निवास करते थे।

परंतु इस सिद्धान्तके पीछे कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। किसी भी भारतीय या अन्यदेशीय प्राचीन साहित्यमें इसका उल्लेख नहीं है। बल्कि इसके विरुद्धमें बहुत प्रमाण हैं।

ग्रीक सम्राट् सेल्यूकस्के राजदूत मेगास्थनीज ई० पू० चौथी शताब्दीमें भारतका एक विवरण लिखते हैं। प्रमाणित होता है कि वैदिक 'भारतीय' जाति भारतकी आदिम अधिवासी है। मेगास्थनीजके पूर्व कोई विश्वसनीय वैदेशिक विवरण नहीं पाया जाता।

वेद और वैदिक शास्त्र-पुराण-इतिहासमें आर्य-अभियानका कोई उल्लेख भी नहीं है, बल्कि इसके विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं। अभी नवीन आविष्कृत सिन्धुसभ्यताके निदर्शनसे यह माननेके लिये पर्याप्त कारण प्राप्त हैं कि यह वैदिक सभ्यताके साथ ही संश्लिष्ट थी। अतएव ३००० ई० पूर्व तथा उससे भी पूर्व भारतमें वैदिक सभ्यता ही वर्त्तमान थी। कलि संवत् तथा युधिष्ठिर संवत् ३००० ई० पूर्वसे भी पहलेके हैं। इसके सिवा प्रमाणित हुआ है कि भारतीय ज्योतिषके कुछ मान और सारांश भाग ३००० ई० पूर्वसे पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे।

आर्य, आर्यावर्त्त आदि वैदिक भाषाके शब्द हैं। 'आर्य' नामकी कोई जाति कभी नहीं थी। परंतु आचारवान् वैदिक धर्मनिष्ठ 'भारतीय' जातिको आर्य नाम दिया जा सकता है। वैदिक धर्ममें अविश्वासी, आचार-अनुष्ठान-हीन जातिके लोग अनार्य हैं; वे आर्य नहीं हो सकते।

भारतमें आर्य-अभियानकी कहानी बिल्कुल कपोलकल्पित है और गढ़ी हुई है। इसके पीछे गम्भीर राजनीतिक दुरभिसंधि छिपी है, ऐसा संदेह होता है। वैदिक भारतीय जाति भारतखण्डकी मूल निवासी और आदिम अधिवासी जाति है। ये लोग भारतके आर्य अभियात्रीदलके वंशज नहीं हैं। स्वदेशवासी हैं।

◆

संतोंके लक्षण

गर्वं नोद्वहते न निन्दति परं नो भाषते निष्ठुरं
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं संतिष्ठते मूकवत्।
उक्तं केनचिदप्रियं च सहते क्रोधं च नालम्बते
दोषांश्छादयते गुणान्निगदते चैतत्सतां लक्षणम्॥

संत पुरुष किसी बातका घमंड नहीं रखते, दूसरेकी निन्दा नहीं करते, निष्ठुर वचन नहीं बोलते, दूसरेके द्वारा रचित दोषयुक्त काव्यको सुनकर (उसके दोष न बताकर) गूँगेकी तरह रह जाते हैं, किसीने अप्रिय कह दिया हो तो उसे सह लेते हैं तथा क्रोध नहीं करते, दूसरोंके दोषोंको ढक देते हैं और गुणोंको बतलाते हैं। ये संतोंके लक्षण हैं।

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारीदेवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

इस तरह हम इस दिव्यलोककी प्राकृतिक रचना जहाँ सांख्यमतानुसार प्रकृतिने पुरुषके संयोगसे अपनी क्षमता, प्रतिभा और शक्तिका सत्त्व, तम और रज—त्रिगुणी विकास पाया है और जहाँ वह कहीं भव्य, कहीं भयानक, कहीं विराट्, कहीं सूक्ष्म और कहीं कुसुमसदृश कमनीय तथा कोमल और कहीं वज्रकठोर दुर्दम, दुर्भेद्य, दुरूह और दुर्गमनीय अपने दीर्घाकार सुरूप और कुरूपसे खड़ी है जिसका यह सुरूप और कुरूप, रूपके दोनों पक्षोंका साकार स्वरूप होता, हम सब ऐसे स्थलपर पैदल पर्यटन करते, यह दृश्य देखते इस महापथकी महान् मंजिलपर पग-पग बढ़ रहे थे। केदारपुरीसे लगभग एक मील दूर देवदर्शनी नामक स्थानसे जब हमें सर्वप्रथम पावन पुरीके सर्वप्रथम दर्शन हुए। सभीके चेहरे हर्षोत्फुल्ल हो उठे और हम सबोंके कण्ठसे 'जय केदारनाथ'का उद्घोष फूट पड़ा। भगवत्-श्रद्धा और आभारभावके उत्साहमें अब हमारे पैर द्विगुणित गतिसे बढ़ चले, कोई आधा घंटामें श्रद्धा और भक्तिसे भरी सरिता-भरे मनसे तरङ्गायित सरिता मन्दाकिनीको पारकर हमने पुरीमें प्रवेश किया। २५ जूनके मध्याह्नमें जब हम अपने मस्तिष्कके केन्द्रबिन्दु, मनकी मनोवाञ्छा और मनोरथोंके पवित्रधाम केदारनाथ पहुँचे, हमने देखा ग्रीष्मऋतुके सहस्रांशु अपनी सहस्रों किरणोंके प्रखर ताप और तेजसे तेजोमय हो वायुमण्डलमें ताप और तपन पैदा कर रहे हैं, किंतु उन्हें अपनी तपश्चर्यामें तप-सिद्धि नहीं मिल रही। सुहावना सुवासित और शीतल सर्दी-जैसा मौसम हमें यहाँ जान पड़ा। जूनका महीना, सूर्यनारायणके पूर्णोदय और उनके प्रखर तेज और तापके होते हुए भी मध्याह्नमें मौसमकी इस स्थितिसे हमें कुछ आश्चर्य हुआ। याद आया, जहाँ चन्द्रमौलि मस्तकपर चन्द्रधारण किये स्वयं विराजमान हों, वहाँ सूर्य भगवान्‌की प्रखरता, उनका तेज, उनकी गरमी कैसे व्याप सकती है। विचार उठा, भगवान् विश्वम्भरने सागरका हलाहल पान किया था और वे नीलकण्ठ हो गये थे, आज उनके धामको भवसागरके उनके कुछ क्षुद्र भक्त आ रहे थे, अतः भक्तहितकारी तापहारी भगवान् नीलकण्ठ आज ग्रीष्मका प्रखर यह सूर्यताप पी रहे थे और अपने मस्तकपर विराज रहे चन्द्रकी छटासे वातावरणमें एक स्निग्ध, शीतल और शान्ति-सुखका सौरभ बिखेर रहे थे। यही कारण था कि भगवान् भास्कर यहाँ प्रभावहीन हो गये थे और ऐसा जान पड़ता जैसे स्वयं भी विश्वम्भरकी आराधनामें तल्लीन अपनेको भूल यहाँ शीतकालके सुखकारी प्रभातमें उगे हों। भगवान् भास्करकी यह भक्ति, उनका यह योग, उनकी यह भाव-तल्लीनता इस स्थानपर और इस मौसममें भगवान् शिवके धामके निवासियों और हम-सदृश आये सहस्रों शिव-सेवकोंको बड़ी सुखकर थी।

केदारनाथपुरीमें प्रवेश करते ही हम सीधे केदारनाथके मन्दिरकी ओर बढ़े। स्नानादिसे गौरीकुण्डमें ही निवृत्त होकर आये थे। अतः सीधे दर्शनोंके लिये चल पड़े। जिस अटूट आस्थासे अपने दुर्गम गन्तव्यकी ओर बढ़े थे, उसे पाते ही हमारी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा और हम अपने मनोरथोंके मालिक भगवान् केदारनाथके मन्दिरमें प्रफुल्ल-हृदय, उल्लसित भावना और मचलते हुए मनसे झटपट घुस गये। भगवान् केदारनाथके दर्शन हमने जिन भावनाओंसे और जिस स्थितिमें किये उसका वर्णन स्वयं सम्भव नहीं। किसीके जीवनकी सर्वाधिक प्रिय और श्रेष्ठ साध पूर्ण होनेपर उसे जो सुखानुभूति होती है, उससे इस समयकी हमारी स्थिति, मनोदशा तथा आत्मतृप्तिका अनुमान और आकलन कदाचित् किया जा सकता है।

दर्शनोपरान्त ज्यों ही हम मन्दिरके बाहर आये, मन्दिरके पीछेकी विशाल रजत हिमानी-शिखरावली सूर्यकी चमचमाती किरणोंके प्रकाशमें चक्षुओंको चकाचौंध करने लगी। मन्दिरके चारों ओरके तृण-तरुरहित दिगम्बर हिम-शृंग अपने नीचेके भाग पृष्ठभूमिपर छोटे-छोटे पौधोंकी पुष्पाञ्जलियाँ लिये एकाग्रभावसे खड़े दिखे। जान पड़ता, भगवान् शंकरकी अखण्ड समाधि लगी है और ये चिरयोगी गिरिशृंग ऋषियों-से पंक्तिबद्ध हो उनकी मौन आराधनामें लीन हैं। इनके बीच केदारनाथका विशाल मन्दिर सनातनधर्मकी सत्य पताका फहराता अपने भव्यरूपमें खड़ा है। मन्दिरके चतुर्दिक् पर्वत पहरा दे रहे थे। सब मिलाकर

दृश्य ऐसा दृष्टिगोचर होता, जैसे एक विशाल पर्वतीय जलहरीके बीच मन्दिररूपी विशाल आकारकी शिव-पिण्डी (लिंग) प्राकृत रूपसे ही स्थित है। जहाँ एक ओर प्रकृतिके औदार्यसे भगवान् केदारनाथका मन्दिर शोभायमान था, वहाँ दूसरी ओर मानवकी प्रकृति और परमात्माके प्रति अपनी आस्था, निष्ठा, भक्ति और प्रेमका प्रतीकरूप केदारनाथका यह मन्दिर प्रकृतिकी सुषमामें श्रीवृद्धि कर रहा था। प्रकृतिकी गोदमें मानवका प्रयत्न यदि शोभायमान था तो मानवके इस प्रयत्नके कारण ही प्रकृतिके इस साकार स्वरूपका मानवद्वारा उपयोग और उपभोग प्रकृतिके लिये भी एक बड़ी सार्थकता थी। दोनों एक दूसरेसे उपकृत-से जान पड़ते। कैसा अद्भुत, अलौकिक, अकथनीय और आत्मविस्मृति करानेवाला दृश्य था। मन्त्रमुग्ध हो हमलोग इस दृश्यको निरख रहे थे। चर्म-चक्षुओंपर अज्ञानका आवरण पड़ गया और अन्तरपट खुल गये। जान पड़ता, हमें दिव्यदृष्टि मिल गयी है और हम इस दृष्टिसे भगवान् और भगवती प्रकृतिके दिव्य भक्तिरसका संचार करानेवाले इस पृथ्वी-पालकरूपको श्रद्धा, जिज्ञासा और भक्तिभरे हृदयसे ध्यान-सा करते देखने लगे तथा देखते रहे; न जाने कितनी देरतक। मन्दिरके पीछेकी विशाल हिमानी (ग्लेशियर) को एकटक निहारते हुए गोविन्ददासने कहा—मैंने प्रायः समूचे संसारका पर्यटन किया; पर इतनी भव्य और विशाल हिमानी केवल आज देख रहा हूँ। ऐसे दीर्घाकार हिम-स्वरूपकी कल्पना मैंने नहीं की थी, मैंने स्विट्जरलैण्डमें वहाँका जो ग्लेशियर देखा था; वह मेरे लिये कौतूहल था, किंतु इसके सामने वह फीका हो गया और हिमवान्का यह प्रत्यक्ष रूप मेरे लिये आज आश्चर्य है। इस विशाल हिमानीके रूपमें पर्वतराज हिमवान्का यह स्वरूप भारत देशकी शोभा है, इसे पाकर भारत सचमुच महान् है।

जब हमलोग अपने निवासस्थानपर लौटे, देखा, रत्नकुमारी अभीतक नहीं पहुँची हैं। यद्यपि प्रायः जैसा कि होता आया है, दलके कुछ लोग आगे चलते, कुछ पीछे रह जाते। इस बार रत्नकुमारी कुछ पीछे रह गयी थीं। किंतु कुछ देरतक जब वे नहीं पहुँचीं तो हमलोग चिन्तित हुए। गोविन्दप्रसाद भी उनके साथ थे। हमने अपने एक और साथीको इन्हें देखने भेजा। जब ये लोग पहुँचे तो देखा रत्नकुमारी कुछ अस्वस्थ हो गयी हैं। पूछनेपर मालूम हुआ कि लगभग एक मील पूर्वसे ही दिलकी धड़कन उनकी बढ़ गयी थी और श्वासावरोध हो रहा था। यद्यपि मार्गमें ही उन्हें गोविन्दप्रसादने ४-५ बूँद कोरामिन दे दिया था; क्योंकि यमुनोत्तरीमें भी उन्हें यह तकलीफ हो चुकी थी। फिर केदारनाथकी इस सर्वाधिक ऊँचाईके कारण ऑक्सीजनकी कमी और रत्नकुमारीके इस कष्टकी सम्भावनासे हम कुछ आशंकित भी थे; अतः थोड़ी देरके लिये बहुत कष्टमय स्थितिमें पड़ गये, झटपट उन्हें लिटाया। पाँच बूँद कोरामिन और दिया तथा खानेके लिये कुछ बिस्कुट, मखाने आदि। कोई एक घंटे बाद वे स्वस्थ हुईं और हमलोगोंका कष्ट दूर हुआ।

केदारनाथमें हमारे ठहरनेकी व्यवस्था एक बहुत ही अच्छे स्थानपर की गयी थी। नेपालके भूतपूर्व प्रधानमन्त्री महाराजा चन्द्र शमसेर जंगबहादुरने सन् १८९२ ईस्वीमें इस इमारतको, जहाँ हम ठहराये गये, एक धर्मशालाके रूपमें बनवाया था। अब इसका प्रबन्ध केदारनाथके ही एक पण्डेके जिम्मे है। धर्मशाला होते हुए भी तथा इतने समय पूर्व निर्माण होनेपर भी यह इमारत सभी प्रकारके आधुनिक साधनों और सुविधाओंसे युक्त है। यह इमारत देखकर गोविन्ददासको महाराजा चन्द्र शमसेर जंग बहादुरके सम्बन्धकी अनेक बातें याद आ गयीं। गोविन्ददासने स्वयं भी उन्हें १९०६, ७ में, उस समय उन्हें देखा था जब वे जबलपुर नर्मदा-स्नानके लिये आये थे और गोविन्ददासके पि राजा गोकुलदासके हो मेहमान हुए थे। उस समय य गोविन्ददासकी अवस्था केवल दस-ग्यारह वर्षकी ही थी, तथापि इस अवस्थाकी कुछ अन्य विशिष्ट बातोंके सा महाराजा साहबके ठहरने और उनके दर्शन करने आदि प्रसंग इस समय गोविन्ददासको स्मरण हो आया।

केदारनाथपुरी एक छोटी-सी बस्ती है। जिसमें कालमें व्यापारी छोटी-मोटी दुकानें लगाकर और रावल, कर्मचारी तथा पंडे आदि ही रहते हैं। यहाँ कमलीवालोंका कार्यालय, इस कार्यालयकी धर्मशाला, आफिस तथा तारघर भी है। तारघरकी व्यवस्था अभी हुई

जब हम केदारनाथ पहुँचे, उस समय नभ और तेजोमय सहस्रांशुके आलोकसे आकाश और आलोकित थी, किंतु यत्र-तत्र कुछ नीचेसे बादल भी थे। थोड़ी देरमें हमारे मन्दिरसे दर्शन कर लौटते-लौटते आरम्भ हो गयी। परंतु यह वर्षा बहुत देर नहीं अपराह्णमें पुनः नभ निर्मल हुआ, पर वर्षाके

आकाशकी यह निर्मलता बहुत देरतक न टिक सकी और अंधेरा होते-होते पुनः वर्षा आरम्भ हो गयी ।

रात्रिको हम फिर केदारनाथके दर्शनको गये । रात्रिके इन दर्शनोंमें केदारनाथका शृङ्गार होता है । ऊपर चाँदीका एक नागफन, उसके नीचे सोनेकी एक टोपी, लिंगपर वस्त्र और उसपर कुछ हार । भगवान् शंकरके रूपका अधिकांश स्थलोंमें जो वर्णन है उससे यह शृङ्गार ठीक विपरीत दिशामें जाता है । शिव या तो दिगम्बर रहते हैं या बाघम्बर अथवा गजचर्म धारण करते हैं । उनके ग्रीवामें मुण्डमालाका वर्णन है, जड़ाऊ स्वर्णहारका नहीं । बाघम्बर अथवा गजचर्म भी शरीरके नीचेके भागमें रहता है, ऊपरके भागमें भस्मका लेपन । गोस्वामी तुलसीदासजीने शिव-विवाहके समय शिवस्वरूपका जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि विवाह-जैसे शुभ और सुखदायक तथा उत्साहपूर्ण कृत्यमें भी शिवजीने अपने स्वरूपको नहीं छोड़ा । वे कहते हैं—

सिवहिं संभु गन करहिं सिंगारा । जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा ॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला । तन बिभूति पट केहरि छाला ॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीन उपबीत भुजंगा ॥
गरल कंठ उर नर सिर माला । असिव बेष सिवधाम कृपाला ॥
तथा, कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा । चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा ॥*

दूसरे दिन हमारी ओरसे मन्दिरमें षोडशोपचारवाला पूजन और रुद्रीके पाठके साथ अभिषेक था । अत्यधिक ठंड होते हुए भी हम स्नानादिसे निवृत्त हो प्रातःकाल सात बजे ही मन्दिरमें पहुँच गये । अपने जूते बाहर छोड़ जैसे ही मन्दिरके प्रांगणमें पाँव धरे, अत्यधिक शीतके कारण जुड़ा गये । फिर मन्दिरमें पूजनकालमें हमें शीतकी इसी अवस्थामें लगभग दो घंटेतक रहना पड़ा । भगवान् केदारनाथका यह षोडशोपचार पूजन और रुद्राभिषेक बड़ी विधिसे हुआ । मन्दिरके रावल और अन्य पण्डित पुजारी भी सचमुच बड़े विद्वान् हैं । वाराणसीको छोड़ शायद उत्तराखण्ड और दक्षिणमें ही इस प्रकारके विद्वान् कर्मकाण्डी पण्डित मिलते हैं, जो संस्कृतका शुद्ध स्वरसहित उच्चारण कर विधिवत् सभी धार्मिक कृत्य सम्पन्न करावें । छोटे-से गर्भगृहमें यात्रियोंकी काफी भीड़ हो गयी थी । जब मन्दिरके रावल और पुजारी उच्च कण्ठसे मन्त्रोच्चार कर यात्रियोंसे विधिवत् पूजा करा रहे थे, उस समयका दृश्य विचित्र था । यात्रियोंके चेहरे भक्तिभावसे दमक रहे थे: कोई अचञ्चल मनसे ध्यानमग्न-सा दृष्टिगोचर होता, कोई नेत्रोन्मीलन कर अश्रुपात करता दिखायी देता तो किसीकी मनकी चञ्चलता उसकी मुखाकृति और अन्य इन्द्रियोंके हाव-भाव और व्यवहारमें दिखायी देती । ऐसा व्यक्ति कभी शिवलिंगपर माथा टेकता, कभी करबद्ध कुछ प्रार्थना करता और कभी उठकर झट परिक्रमा करने लगता । वह अपनी इन क्रियाओंको करते अघाता नहीं था । सभी प्रेम-विह्वल थे, हर्ष-विभोर थे । क्यों न हो,

---

* शिवपुराण; रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्डमें शिवजीके विवाहके समयके शृङ्गारका दूसरे प्रकारसे वर्णन भी मिलता है । सम्भव है—श्रीकेदारनाथजीका शृङ्गार इसीके आधारपर होता हो । वहाँ लिखा है—

चारुचम्पकवर्णाभमेकवक्त्रं त्रिलोचनम् । ईषद्धास्यप्रसन्नास्यं रत्नस्वर्णादिभूषितम् ॥
मालतीमाल्यसंयुक्तं सद्रत्नमुकुटोज्ज्वलम् । सकण्ठाभरणं चारुवलयाङ्गदभूषितम् ॥
वह्निशौचेनातुलेन त्वतिसूक्ष्मेण चारुणा । अमूल्यवस्त्रयुग्मेन विचित्रेणातिराजितम् ॥
चन्दनागुरुकस्तूरीचारुकुङ्कुमभूषितम् । रत्नदर्पणहस्तं च कज्जलोज्ज्वललोचनम् ॥
सर्वस्वप्रभयाच्छन्नमतीव सुमनोहरम् । अतीव तरुणं रम्यं भूषिताङ्गैश्च भूषितम् ॥
कामिनीकान्तमव्यग्रं कोटिचन्द्राननाम्बुजम् । कोटिस्मराधिकतनुच्छविं सर्वाङ्गसुन्दरम् ॥
(अ० ४५ । ५—१०)

अङ्गका वर्ण चम्पाके समान सुन्दर था, एक मुख तथा तीन नेत्र थे । प्रसन्न मुखकमलपर मृदु मुसकान छा रही थी । वे रत्न तथा सुवर्ण आदिसे विभूषित थे । मालतीकी माला पहने थे । कण्ठमें हार आदि गहने तथा हाथोंमें सुन्दर कड़े और बाजूबंद सुशोभित थे । वे अग्निसे तपाये हुए अति सूक्ष्म मनोहर विचित्र बहुमूल्य दो वस्त्रोंसे सुसज्जित थे । उनके अङ्गोंपर चन्दन, अगुरु, कस्तूरी तथा मनोहर कुङ्कुमके अङ्गराग शोभा पा रहे थे । उनके हाथमें रत्नमय दर्पण था और उनके नेत्र कज्जलसे सुशोभित थे । उनकी अङ्गज्योति सर्वत्र छायी हुई थी और वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते थे । वे अत्यन्त तरुण, परम सुन्दर, अलंकारविभूषित अङ्गोंसे शोभा पा रहे थे । वे कामिनियोंको अत्यन्त कमनीय दीखते थे । वे शान्त-स्वरूप थे । उनका मुखारविन्द करोड़ों चन्द्रमाओंसे भी अधिक सुन्दर था । उनके शरीरकी सुन्दरता करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक थी ।

अगणित कष्टोंको उठा अज्ञातवासी कैलाशी भगवान् विश्वम्भरसे आज उनकी भेंट हुई है। जड पाषाणकी एक पागलकी तरह जब ये भक्ति-भावनासे भरे मानव तन्मय हो पूजा और आराधना करते, तब जान पड़ता, जड चेतन हो गया है और चेतन जड। कैसा भक्ति-भाववर्द्धक और मार्मिक दृश्य होता, अपनी भावनाओंके भगवान् और उसके भक्तके इस मिलनका। कहते हैं, भक्तोंने अपनी उत्कट भक्तिसे, तपस्वियोंने अपनी उग्र तपस्यासे, साधकों और ज्ञानियोंने अपनी साधना और ज्ञानदृष्टिसे भगवत्साक्षात्कार किया है; यहाँ इन संसारी क्षुद्र अभक्त मानवोंकी निश्छल श्रद्धा और अटूट निष्ठाने आज पाषाणसे परब्रह्म प्रकटा दिये ऐसा जान पड़ता। भक्तिका ऐसा प्रवाह बहता कि भक्त और भगवान्का, पूज्य और पूजकका, जड और चेतनका अन्तर समझमें न आता, कभी जड चेतन दिखता, कभी चेतन जड। कभी पूज्य पूजक दिखता, कभी पूजक पूज्य और कभी भक्त भगवान् बन जाता तो कभी भगवान् भक्त। ऐसे कल्पित स्वर्गिक दृश्यके साकार दर्शनसे सभी कृतकृत्य थे। धन्य भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता, जिसने जड और चेतनमें, प्राणी और पत्थरमें इतना तादात्म्य, इतनी तल्लीनता तथा तारतम्य स्थापित किया है। पूजनोपरान्त हम सबने आरती की और शिवलिङ्गपर घीका लेप कर अपना शरीर स्पर्श कराया। कथा है, पाण्डवोंने इस लिङ्गका पूजन किया था और घृत-लेपन कर भगवान् केदारनाथसे अपना वक्ष स्पर्श किया था। तभीसे यह परिपाटी चल पड़ी है। रुद्राभिषेक, पूजन और आरतीके अनन्तर रत्नकुमारीने शिव-स्तुतिमें स्वयंरचित एक गीत भगवान् केदारनाथके चरणोंमें भेंट किया।

गीत

हिमगिरिके केदारखण्डमें, केदारेश्वरका अधिवास।
पृष्ठ भागमें उन्नत मस्तक, रजत शिखर पर हिमका हास॥
दक्षिण भाग महापथ पाण्डव, गये जहाँ तज गजका द्वन्द्व।
वाम पार्श्व हिमखण्ड लाँघती मन्दाकिनी बही स्वच्छन्द॥
हिमके अधो भागमें फैला, वन देवीका हरित दुकूल।
विविध रंग, मधुमय सुगन्धके फूल भरे सरिताके कूल॥
मन्दिरके मर्मर प्राङ्गणमें ध्यानमग्न नन्दी गणराज।
चतुष्कोण छत्राकृति राजित, निज मन्दिरका सात्विक साज॥
महिषाकृति धारण कर ईश्वर, हरते महापाप अभिशाप।
जय केदारनाथ, महिमामय, जनका हरो जगत संताप॥
हे अनन्त ब्रह्माण्ड विधायक! तव महानता बुद्धि अगम्य।
अति लघु मानव अहंकारकी, भ्रान्ति, सदा तव सम्मुख क्षम्य॥
सृजन, संहरण इस जगतीका, केवल लघु तव श्वासोच्छ्वास।
मोहमुग्ध, मानव-जीवनमें, सुखके दुखके आँसू हास॥
ज्योतिरूप! तव तपस्तेजसे, पाकर एक किरण परमाणु।
दमक मनुज यौवन अति दम्भी, क्षणभर निजको गिनता भानु॥
महाकाल! भ्रू कुञ्चन तेरा, झञ्झा प्रलय पवनकी क्रूर।
युग-युग सञ्चित मानव-संस्कृति, पलमें उड़ती बन कर्पूर॥
हे महान्! शत शत प्रणाम ले, दे पावन चरणोंकी धूल।
जन तव दर्शन, स्मरण मात्रसे जग प्रपञ्चको जावे भूल॥

भगवान् केदारनाथका विशाल मन्दिर नगाधिराज हिमालयकी गोदमें स्थित एक लम्बे चौकोर चबूतरेपर बना हुआ है। अन्य मन्दिरोंकी तरह यह भी दक्षिणी स्थापत्यकलाकी शैलीपर निर्मित है। मन्दिरके दो भाग हैं। शिखरदार गर्भगृह तथा दूसरेमें चौकोर सभामण्डप। गर्भगृहके बीचोबीच ऊबड़-खाबड़ शिलाकी बृहदाकार शिवपिण्डी है, जिसके चारों ओर उसी पत्थरकी कटी हुई जलाधारी बनी हुई है। चारों ओर परिक्रमाके लिये एक गैलरी बनी है। सभामण्डपके बीचोंबीच शिवलिंगके ठीक सामने नन्दीकी एक मूर्ति है, बाहरके चबूतरेपर भी प्रवेशद्वारके सामने नन्दीकी एक विशाल मूर्ति है तथा मन्दिरके चारों ओर कुछ अन्य मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमें कृष्ण, द्रौपदी तथा पाँचों पाण्डवोंकी मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। श्रीकेदारनाथ शिवजीके बारह ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे एक हैं। पुराणोंमें उत्तराखण्डके इस क्षेत्रका जिसमें यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ आदि प्रसिद्ध धाम आते हैं, केदारखण्ड नामसे उल्लेख हुआ है। शिवजीके बारह ज्योतिर्लिङ्गोंमें केदारनाथ भी एक हैं। भगवान् शङ्करके शरीरके कुछ भाग केदारखण्डके अन्य स्थानोंमें भी प्रकट हुए जैसे बाहें तुङ्गनाथमें, मुख रुद्रनाथमें, नाभि महेश्वरमें और जटा कल्पेश्वरमें। केदारनाथमें शिवजीकी पीठ प्रतिष्ठित है। केदारनाथसमेत इन चारों स्थान 'पंचकेदार'के नामसे विख्यात हैं। इन सबमें अनेक दृष्टियोंसे उत्तराखण्डके केदारनाथका एक विशिष्ट महत्त्व है। केदारनाथका मन्दिर गढ़वाल और कुमाऊँके मन्दिरोंमें सबसे प्राचीन भव्य और विशाल है। इसके निर्माणकालके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। फिर भी, मन्दिरके आकार-प्रकार, शिखर, गर्भगृह, सभामण्डप, सभामण्डपमें मूर्तियों आदिको देखनेसे अनुमान होता है कि यह एक हजार वर्षसे अधिक पुराना है। मन्दिरमें गर्भगृहके भीतरी दीवारोंमें जड़े हुए कुछ शिलालेख हैं, इन शिलालेखोंसे मन्दिर-निर्माणकालकी जानकारीमें अवश्य बड़ी सहायता मिल सकती है।

केदारनाथ मन्दिरका निर्माण किसने किया, इस सम्बन्धमें भी इतिहासकार मौन हैं। एपिग्राफिका इण्डिका, खण्ड १, पृ० २३५-३६ पर एक शिलालेखकी प्रतिलिपि छपी है जो उदयपुर (मध्यप्रदेश) में मिला है और जिसमें माल्वाके परमार नरेश भोज-त्रिभुवननारायणका यशोगान है। इस शिलालेखके अनुसार भोजने केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुण्डीरकाल (महाकाल) अनल (ज्वालामुखी) और रुद्रके मन्दिर बनवाये थे।

पुराणोंमें कथा आयी है कि पाण्डवोंने कुरुक्षेत्र-युद्धमें सगोत्र-हत्या तथा गुरुहत्याके पापसे मुक्ति पानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशसे काशी पहुँचकर शिवकी पूजा और आराधना की। किंतु, शिवजी पाण्डवोंको दर्शन देना नहीं चाहते थे। अतः वे काशीसे चल पड़े। पाण्डवोंको भी शिवजीके प्रस्थानका पता चल गया। शिवजी हिमालयमें आकर वर्तमान गुप्तकाशी नामक स्थानपर गुप्तभावसे रहने लगे। पाण्डव भी खोजते-खोजते जब इधर पहुँचे, तब शिवजी यहाँसे निकले। पाण्डवोंसे शिवजीका गुप्तकाशीसे प्रस्थान छिपा नहीं और उसी तरह खोजते हुए वे शिवजीके पीछे पड़ गये। शिवजी गुप्तकाशी छोड़कर केदारपुरी चले आये। पाण्डव भी पता पाकर केदारपुरी पहुँचे। जब शिवजीने देखा कि ये बराबर पीछा किये आ रहे हैं और बिना दर्शन किये मानते नहीं दिखते, तो उन्होंने वृषभरूप धारण कर लिया और घाटीमें चर रहे पशुओंमें विचरण करने लगे। कहते हैं नकुल और सहदेवकी सहायतासे भीमने उनको पहचान लिया, कुछ देर प्रतीक्षा की। संध्या होते ही जब सब जानवर अपने स्थानोंको लौटने लगे तो मार्गकी उस घाटीमें, जहाँसे जानवरोंको निकलना था, भीम अपना एक पैर घाटीके इस तरफ, दूसरा पैर घाटीके दूसरी तरफ रखकर खड़े हो गये। सभी जानवर भीमकी टाँगोंके बीचसे निकल गये; किंतु वृषभरूपी शिवजीके सामने बड़ा धर्म-संकट उपस्थित हो गया। एक क्षण शिवजी रुके और वृषभरूपसे जहाँ खड़े थे, वहीं सिरके बल पृथ्वीमें घुसने लगे। शिवजीके प्रयत्नके प्रारम्भमें ही भीमने शिवजीके परिचयकी पुष्टि पा ली और झट दौड़कर उन्हें पकड़नेकी कोशिश की। इतनी जल्दी करनेपर भी महाबली भीम वृषभरूपी शिवजीका पृष्ठभाग ही पकड़ पाये, बाकीके समग्र अंग पृथ्वीमें समा गये। पाण्डवोंकी आराधना-अनुरक्ति और भक्ति तथा भीमके इस पुरुषार्थसे भगवान् शिव प्रसन्न हो गये और उन्होंने पाण्डवोंको दर्शन दिये। शिवजी बोले 'मेरे इस पृष्ठ-भागपर घृत लेपन कर तुम मेरी पूजा करो, तुम निष्पाप हो जाओगे।' शिवजी अन्तर्धान हो गये। कहते हैं शिवजीका वही अग्रभाग जो जमीनमें धँस गया था, नेपालमें प्रकट हुआ जो पशुपतिनाथके नामसे विख्यात होकर नेपाली जनताकी भावभक्तिकी वस्तु बना हुआ है। शरीरके कुछ अन्य अंग केदारखण्डमें ही प्रकट हुए, जिनका उल्लेख 'पंचकेदार'के नामसे पीछे किया गया है।

उत्तराखण्डकी पूरी यात्रा करनेवाले यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी, केदारनाथ होकर ही अन्तमें बदरीनाथ जाते हैं। हमने ऐसा इस यात्राकालमें कोई यात्री नहीं देखा, जो चारों धामोंके यात्राक्रममें पहले बदरीनाथ पहुँचकर फिर केदारनाथ आ रहा हो। यद्यपि यात्राका पौराणिक क्रम भी यही है, पर यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। भगवान् विष्णुने अपने भक्तोंको शिवभक्तिकी सलाह देते हुए जो यह—

संकर-प्रिय मम द्रोही सिव-द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरकमहँ बास॥

तथा

औरहु एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोर।
संकर भजन बिना नर भक्ति न पावहिं मोर॥

कहा है इस दृष्टिसे भगवद्भक्तोंको शिवभक्ति और उनकी पूजाके क्रमकी इस प्राथमिकताको ध्यानमें रखना पड़ता है। यही कारण है कि सभी यात्री उक्त क्रमसे यात्रापथपर चलते हैं।

मन्दिरके सभी धार्मिक कृत्योंसे निवृत्त हो हम मन्दिरके समीप ही बने उन कुण्डोंको देखने लगे, जिनके विषयमें विभिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। इन कुण्डोंमें हंसकुण्ड, उदककुण्ड तथा रेतकुण्ड प्रसिद्ध हैं। मन्दिरके बायीं ओर स्थित हंसकुण्डमें यात्री अपने मृत पितरोंकी जन्मकुण्डलियाँ डालते हैं। मान्यता है कि ऐसा करनेसे पितर आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करते हैं। उदककुण्ड मन्दिरके सामने कुछ ही कदमपर है। कहते हैं, इस कुण्डके जलमें आचमन करनेसे जीवन्मुक्ति होती है। रेतकुण्डकी विशेषता है कि 'ॐ नमः शिवाय' उच्चारण करते ही पानीमें बुलबुले उठते हैं। यद्यपि हमने इस बातका परीक्षण नहीं किया।

(क्रमशः)

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ११२६ से आगे]

असीम निर्दयता

जब जानवरोंपर प्रयोगद्वारा नतीजा देखकर संतोष हो जाता है, तब उनसे प्राप्त रस-रक्त-मवाद इत्यादिका प्रयोग अस्पताल-जेलके स्त्री-पुरुष रोगियों, गरीब रोगी, अपङ्ग, असहाय भिखारियों, अनाथ बच्चों, अपराधी तथा युद्धमें पकड़े गये कैदियों और पागलोंपर करके नतीजा देखा जाता है। यूरोपमें तो कितने ही डॉक्टरोंने उस निर्दय विज्ञानके पागलपनमें अपने नन्हे मुन्नोंपर घातक प्रयोग करके विज्ञान-कुण्डमें उनकी आहुति दी है, आज उनका नाम बड़े लोगोंमें विख्यात है। जर्मनके प्रोफेसर नाइसर उपदंश-चिकित्सामें विख्यात हुए हैं। वे स्वस्थ महिलाओंके शरीरमें उपदंश-कीटाणुओंका इंजेक्शन देकर चुपचाप शोध-प्रयोग किया करते थे। महिलाएँ अपने किसी रोगके इलाजके लिये उनका नाम विख्यात सुनकर उनके पास आया करती थीं और ये हजरत उन्हें शिकार पाकर उनके जीवनके साथ वैज्ञानिक खिलवाड़ किया करते थे—रोग पैदा करके इलाज करते थे। तमाम डॉक्टर लोग अब भी केमिष्ट कारखानोंकी दवाइयोंके नमूने पाकर प्रायः ऐसा करते हैं। जब जैक्टर नाइसरकी इस करामातका विरोध अन्य ईमानदार डॉक्टरोंने मानवताके नाते डॉक्टरी अखबारोंमें किया, तब अगले प्रकाशनमें जवाबमें दूसरे रूसी डॉक्टर विरकोवने नाइसरका पक्ष लेते हुए टिप्पणी लिखी कि 'जब ये प्रयोग जानवरोंपर सिद्ध हुए हैं, तब मानवपर करना कोई अपराध नहीं है; क्योंकि उनकी भलाईके लिये ही तो यह सब करते हैं।'

एक अमेरिकन डॉक्टरने तीस बच्चोंपर 'भयानक' रोगके इंजेक्शन देकर प्रयोग किये थे जिसकी चर्चा 'न्यूयार्क मेडिकल प्रेस रिकार्ड'के पुराने अङ्कमें प्रकाशित हुई थी।

पिछले द्वितीय महायुद्धमें नाजियोंद्वारा 'सैनिक कैदी-कैम्पों' में भी ऐसे ही प्रयोग किये गये हैं जो स्ट्रासबर्गकी जर्मन यूनिवर्सिटीकी ओरसे चलाये गये थे। कैदियोंके शरीरपर जहरीली गैसोंका प्रयोग किया गया, जो अच्छे भी हो गये तो उन्हें मार डाला गया कि जिंदा रहकर ये रहस्यका भंडाफोड़ न कर दें। २८ दिसम्बर १९४४ के 'मेन्चेस्टर गार्जियन' में इसका समाचार छपा था। ८ फरवरी १९४५ के 'इवनिंग न्यूज' में प्रकाशित समाचारमें बताया गया कि रावेन्सब्रुकके नजदीक चालीस हजार शरणार्थी स्त्रियोंका कैम्प लगा था; उनके अङ्गोंमें गहरे छिद्र करके भीतर-भीतर बिजलीसे जलाया गया था, स्नायुओंपर इसका (Diathermy, Deep X-ray) प्रभाव देखनेके लिये ग्रीस देशकी १५ से १८ वर्षकी उम्रवाली लड़कियोंको वन्ध्या करनेके प्रयोग एक-एकपर पाँच-छः बार एक्सपेरिमेण्टल ब्लॉक नं० १० में ओस्वीसिम (Oswiecim) में किया गया था, जिनमें कई लड़कियाँ तो मर ही गयी थीं। जर्मनलोग जब वहाँसे भाग गये, तब बादमें इस प्रयोगके समाचार वहाँ बचे हुए लोगोंसे मालूम होनेपर ६ जनवरी ४५ के 'डेली मेल' में छपे थे। उनको प्लेग, कोढ़ तथा अन्य घातक रोगोंके इंजेक्शन दिये गये थे और उनके मरनेके पहले डॉक्टर आकर उनके होशकी दशामें अन्य प्रयोगोंके लिये उनके अनेक अङ्ग चीर-फाड़कर निकाले जाया करता था; क्योंकि मरनेवाला तो मरेगा ही, अधमरा और बिल्कुल मरा—दोनों एक समान ही तो हैं। डॉ. [illegible] बोंगको हिस्सेमें ८६ ऐसे शरीर मिले थे जो अलकोहोलमें डुबो-कर सुरक्षित रक्खे गये थे, और बोंगने कहा कि वे सब अङ्ग सुरक्षित एवं गरम ताजे थे, बेहोशीमें मरे थे, उसके पहले इन्हें निकाला गया था।

पिछले महायुद्धकालमें लन्दनस्थित फ्रांसीसी राजदूतावासको जेक्स फानोद्वारा मिला हुआ समाचार २५ फरवरी ४५ के 'सण्डे एक्सप्रेस' में छपा था कि सब राष्ट्रोंके मिश्रित २२ हजार कैदी, जो जर्मनीमें दुहरी काँटेदार जालीमें कैद थे, लोगोंमें बहुत-से भयानक मौतसे मरे और हृदयगतिसे मरे हुए लोगोंको तुरंत भस्म कर दिया गया। कितने ही लोग तो कोई टेबल फाड़ करते समय ही मर गये, परंतु ऑपरेशनकी कोई [illegible] वहाँ नहीं थी। जर्मनीके प्रोफेसर वहाँ चीरफाड़ किया करते थे। एक कमरेमें ढालू जमीन खून बहनेके लिये बनायी गयी थी। औरतोंको वहाँ प्रयोगार्थ लाया जाता था। [illegible] झोंपड़ियोंमें औरतें रक्खी जाती थीं जो १५ दिनसे [illegible]

नहीं जी पाती थीं, मर जाती थीं। तीस औरतें लायी गयी थीं जिन्हें प्रयोगसे अन्धा कर दिया गया, वे एक कदम भी नहीं चल सकती थीं। पंद्रह दिनके इलाज-प्रयोगसे कई तो पागल हो गयीं, जो अच्छी हो गयीं वे मार डाली गयीं। इन सब समाचारोंको वहाँकी एक परिच्चारिकाने साक्षीरूपमें बताया कि एक दलकी स्त्रियोंका रक्त निकालकर दूसरे दलकी स्त्रियोंमें संचार किया जाता था और रक्त निकालते समय किसीको बेहोश नहीं किया जाता था। प्रॉगसे एक डॉक्टर छूतसे फैलनेवाली बीमारीका इंजेक्शन देने वहाँ भेजे गये थे, उन्होंने भी इस समाचारको पुष्ट किया।

भगवान् बचाओ !

मानवोंके निर्दय चीरफाड़ प्रयोगका एक केम्प दाशाऊ था जिसका कुछ समाचार १७ अगस्त ४५ के 'यूनिवर्स' में छपा था। पोलेण्डके बीस पादरी, इस केम्पमें लाये गये, जिनमें प्रयोगसे सात तो अति दुःखसे मरे, बाकी जन्मभरके लिये अपङ्ग हो गये। इन बचे हुओंमें एकने बताया कि दूसरे बहुतसे कैदियोंके घावका मवाद उसकी देहमें इन्जेक्शनसे ठूँसा गया था। अति दुःख-दर्दमें दस दिन बीते, उसकी जाँघ तिगुनी फूल गयी थी, इसमेंसे लगभग चार सेर मवाद निकाला गया, शरीरमें जोरका बुखार था और एक दिन तो एक टाँगको ऊँचा कर खड़ी दशामें बाँधकर रक्खा गया था, हिल-डुल न सकते थे। एक बार अंधे हो गये थे, कुछ भी याद न रह गया था, हाथोंमें लकवा हो गया था। डॉक्टरने बताया—सारे शरीरमें जहर फैल गया है, बेतादाद इंजेक्शन देनेसे यह हुआ है। फिर दूसरे व्यक्तिका खून मेरी देहमें भरा गया, परंतु घाव न अच्छा होता था, तब जाँघका बहुत-सा मांस काटकर फेंक दिया गया जो सड़ गया था। यह सब होशकी दशामें किया गया, असह्य पीड़ा होती थी।

हिमलरकी आज्ञासे कितने ही लोगोंको बरफमें नंगा डुबोकर रक्खा जाता, देखनेके लिये कि स्वस्थ मनुष्यकी गरमी बरफमें उसे कबतक जिंदा रख सकती है। लोगोंको चौदह घंटेतक शून्य ताप कमसे भी कम, २१ अथवा १० डिगरी फारेनहीटमें रक्खा जाता था। ये प्रयोग केवल यूरोपमें ही नहीं, सर्वत्र सब देशोंमें जहाँ युद्ध हुआ, जहाँ कैदियोंके केम्प लगे थे और जहाँ वैज्ञानिक थे, वहाँ सर्वत्र मनमाने किये गये। कानूनकी इनपर कोई रोक नहीं है, इन्हें सब कुछ माफ है। इनके विरुद्ध कोई मुकदमा चलना, साक्षी प्रमाण मिलना सम्भव नहीं होता; क्योंकि इनकी हरकतोंमें इनके वैज्ञानिक बन्धु ही सहयोगी-साक्षी होते हैं; जिनकी बुद्धि एक समान होती है, वे परस्परके विरुद्ध कुछ भी सच्ची बात नहीं कह सकते। घरपर या अपने समाजमें, ये किसी भी धर्म, देश, जातिके बने रहें, व्यवसायमें ये पूरे कट्टरपंथी हैं; दुनियाँके प्रायः सभी वैज्ञानिक एक-दिल हैं। कोई कितना ही अमानुषी निर्दय कर्म करे वह सब उचित है, ठीक है। २ सितम्बर ४५ के 'सण्डे टाइम्स' में जापानी कैदियोंका समाचार लन्दन पहुँचकर छपा था, तीस हजारमेंसे लगभग २३ हजार अमरीकी कैदी निर्दय डॉक्टरी प्रयोगोंसे जापानी कैम्पोंमें मरे, उनपर शारीरिक एवं मानसिक आघात-प्रत्याघातके वैज्ञानिक प्रयोग किये गये थे।

'डेली टेलीग्राफ' ७ सितम्बर १९४५ में विशेष संवाददाता जॉन रिडलीका भेजा हुआ समाचार छपा था कि बीमार मनुष्योंसे भी कठोर परिश्रम लिया जाता था और उन्हें चूहोंकी तरह समझकर वैज्ञानिक दवा, इन्जेक्शन और चीरफाड़के प्रयोगोंमें लाया जाता था। शिनागावामें एक रोगीके पेट (अपेण्डिक्स) का आपरेशन होनेके बाद ६ दिनतक उससे खाई खुदवायी गयी। एक क्षय रोगीसे हम्माल-(बोझा लादने-ढोने) का काम लिया गया। बहुत-से लोग इस तरह मर गये। क्षयरोगियोंके खूनमें सोयाबीनका रस इन्जेक्शनसे भरा जाता था, देखनेके लिये कि इसका क्या परिणाम होता है।

नाजी केम्पोंमें वैज्ञानिक प्रयोगोंका एक समाचार है कि तीस वर्षकी एक स्वस्थ महिला आयी जो स्वयं डॉक्टर थी और दूसरे केम्पसे चीरफाड़का अनुभव लेने भेजी गयी थी। यहूदी स्त्रियाँ पोलेण्डसे पकड़कर खासकर वैज्ञानिक प्रयोगके लिये भेजी गयी थीं। उन्हें ऑपरेशनद्वारा तथा बिजलीकी किरणोंद्वारा वन्ध्या बनाने तथा वैज्ञानिक गर्भाधान करने, विशेष गुप्ताङ्गोंको शून्यवत् कर देने आदिके प्रयोग उनपर किये गये। एककी जाँघकी हड्डी काट निकालकर उस जगह सूखी धुनी लकड़ी जोड़ दी गयी।

बहुत सम्भव हैं कि इन सब भीषण अत्याचारोंमें शत्रु-भावना भी एक प्रधान कारण हो। पर ये सब अत्याचार हुए वैज्ञानिक प्रयोगोंके रूपमें ही!

तीस स्टालिनोंका केम्प

जो पशु अथवा बाल-बच्चे, स्त्री-पुरुष संसारमें समाजके लिये निरुपयोगी हों तथा स्वयं उनके लिये उनका जीवन भार-स्वरूप हो, पृथ्वीपर उनका जीना व्यर्थ है। जो कमजोर, जीर्ण, असाध्य रोगी, अपङ्ग, गरीब, अंधे, लँगड़े, लूले, पागल, कैदी हों

और घर-परिवार, समाज तथा सरकार उनको जिंदा रखने, भोजन-छाया-सेवा देनेमें परेशान हो, जिनपर व्यर्थ ही समय, परिश्रम और धन खर्च होता हो, उन्हें वैज्ञानिक प्रयोगोंके लिये पकड़कर उनपर मनमाने प्रयोग किये जाते हैं, मानव-कल्याणके लिये संजीवनी ढूँढ़ने-बनाने और विज्ञानके रहस्योंको जाननेके लिये ! राष्ट्रमें जो महान् पुरुष हों, सूत्रधार हों उनको स्वस्थ-दीर्घायु बनानेके लिये ऐसी जनताको अपना बलिदान कर देना चाहिये ।

प्रोफेसर फ्रेंकल, डॉ० ब्लादिमिर फ्रुमोविन, प्रो० बार सिन्स्की, प्रो० सोबोस्की, प्रो० बोगो योलेत्स, डॉ० बिकेन बाच्, डॉ० यूजिन हागेनका नाम आपने कभी सुना-पढ़ा है ? ये सब विख्यात वैज्ञानिक शोधक हैं, जिन्होंने विस्तृत पैमानेपर बहुत-से जिंदा मनुष्योंकी चीरफाड़ कर उनकी निर्दय हत्याएँ की थीं, इनमें अन्तिम दो प्रोफेसर स्ट्रासवर्ग यूनिवर्सिटीके जर्मन थे और इनपर फ्रांसीसी कोर्टद्वारा दिसम्बर १९५२ में मेत्स (Mets) नगरमें मुकदमा चलाया गया था । नाजियोंने १९४१ में आल्सेस (Alsace) में स्ट्रूथोफ नात्स्वीलरकेम्प ऐसे हत्यारे वैज्ञानिक प्रयोगोंके लिये कायम किया था । उसी केम्पमें इन लोगोंने १९४२ में यह वैज्ञानिक कुकर्म किया था । यहूदियों तथा चलती-फिरती जातियों (Gypsies) को पकड़कर ये लोग चीरफाड़के प्रयोग किया करते थे ।

आयुवर्धक संजीवनी रसायन खोजने, बनाने और प्रयोग करनेके लिये रूसके वैज्ञानिकोंने ऐसे प्रयोग चलानेकी शत-वर्षीय योजना बनायी थी । बहुत वर्षोंतक यह प्रयोग चलता रहा । रूसके महापुरुष स्टालिनकी आयु सौ वर्ष बनानेके लिये स्टालिनपर भी ये प्रयोग किये गये थे, परंतु वे अपनी आशाके समयसे बहुत पहले ही दुनियासे उठ गये । इस सम्बन्धमें, स्टालिनके अवसानके कुछ मास पूर्व उक्त डॉक्टरोंमें एक डॉक्टर एस० एम० साबोत्किनने नवम्बर १९५२ के 'एवरी-बाडीज वीकली' में संक्षिप्त वर्णन लिखा था । सन् १९३९ में ही यह प्रयोग आरम्भ हो गया था । कई वर्षोंके शोध-प्रयोगके बाद डा० ब्लादिमिर फ्रुमोविन, जनवरी १९४७में इस आयुवर्धक संजीवनीकी खोज-प्रयोगके लिये विशेष अधिकारी नियुक्त हुए । अपनी मृत्युसे पूर्व, स्टालिनके अवसानके तीन साल बाद, इनको अपना सब पाप स्मरण हो आया, इन्होंने बताया कि यदि मैं यह काम न स्वीकार करता तो मुझे आजीवन कैदीके रूपमें साइबेरिया भेज दिया गया होता ।

डॉ० अलेजेण्डर फ्रेंकल इन हत्यारोंकी टोलीके अध्यक्ष थे, जो स्टालिनके खास डॉक्टर थे और उनकी आयु १५० वर्ष बनानेके लिये शोध-प्रयोग कर रहे थे । इसी कारण वे स्टालिनके खास डॉक्टर बनाये गये थे कि इनके अनुभव-प्रयोगसे स्टालिनकी आयु बढ़ायी जा सके । स्टालिन अपने, पृथ्वीपर सबसे बड़े देशके सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे । अतएव उनको अधिक जीनेका हक भी था और इसलिये वैज्ञानिकोंके प्रयत्नमें जनताके बलिदान होना उचित था । डा० फ्रुमोविन अपने साथियोंको लेकर काकेशस प्रदेश गये । यहाँके लोग अक्सर दीर्घायु होते हैं । सारे देशमें ढूँढ़-ढूँढ़कर स्टालिनके समान मिलते-जुलते चेहरे, कद, आयु, बनावटके एक सौ व्यक्ति पकड़े गये । इस खोजमें हजारों लोगोंका एक्सरे, रक्तपरीक्षा और अन्य प्रकारकी डॉक्टरी जाँच हुई जो स्टालिनके अनुकूल हो । लगभग ६० वर्षकी आयुवाले लोग ही पकड़े गये जिनमें तीस व्यक्ति चुने गये जिनके खान-पान-व्यसन स्टालिनके समान थे । इनपर अनेक प्रकारके रस-रसायन इंजेक्शनोंका प्रयोग किया जाता, स्टालिनके समान चौबीस घंटेकी चर्या इन्हें यन्त्रवत् रक्खा-चलाया जाता, मानो ये सबके स्टालिन हों । स्टालिन कब सोते, कब जागते, क्या खाते-पीते, फिरते चलते-बैठते, कौन-सा काम किस प्रकार करते थे, सब ढंग और उसी चर्यामें इन्हें रक्खा जाता । ग्यारह व्यक्ति इस नकली चर्यासे तीन मासमें मर गये, साल खत्म होते-होते तीन और मर गये, तो इन १४ की पूर्तिके लिये पुनः बहुत-से लोग पकड़े गये और बारीकीसे परीक्षा करनेपर १४ पुरुष चुनकर लाये गये । यह प्रयोग-केम्प 'कीफ़'से उठाकर अन्यत्र 'किएलोवात्स्क'में लाया गया और उनके इस नये क्रान्तिकालीन भवनको 'तीस स्टालिनोंका सेनेटोरियम' बनाया गया । इनमें स्टालिनका एक चचेरा भाई भी था जिसे वजन कम करनेके लिये वही भोजन दिया जाता जो स्टालिनके डॉक्टर उनको देते थे ।

एक्सिडेण्टसे मरे हुए जवान आदमियोंकी तिल्ली और उनके हड्डीके भीतरका रस घोड़ोंके खूनमें प्रविष्ट करके उस रक्तसे इंजेक्शन बनाकर इन तीसोंको लगाया जाता था । इन प्रयोगोंसे जो अच्छा नतीजा मालूम होता उनका प्रयोग स्टालिनपर करना था । अपनी तन्दुरुस्ती ठीक रखने और आयु बढ़ानेकी लालचमें स्टालिनने अन्धविश्वासपूर्वक फ्रेंकलके हरेक प्रयोग स्वीकार किये । विस्तारपूर्वक

वैज्ञानिक-प्रयोग करते हुए स्टालिनकी आयु ७३ वर्षमें समाप्त हो गयी । स्टालिन एक दीर्घायुवंशी खानदानमेंसे थे। उनके दादा ८९ वर्षके, दो चाचा ९४ वर्षके, एक बड़े चाचा १०१ वर्षके होकर दिवंगत हुए थे । फिर क्या यह न माना जाय कि वैज्ञानिक विकृति एवं विषाक्त उत्तेजक प्रयोगोंने ही स्टालिनकी आयुको जल्दी समाप्त कर दिया ! इस सम्बन्धमें 'स्टालिनको किसने मारा' शीर्षक लेख 'मेडिकल प्रेस'के दिसम्बर १९५३के अङ्कमें छपा है ।

देखिये विज्ञानके चमत्कारी मकड़जालमें निरपराध पशुओं और अनाथ बच्चोंसे लेकर, देशरक्षाहित युद्धमें गये हुए सैनिक कैदियों तथा महापुरुषोंकी अन्तिम गति ! अब भी आप स्वास्थ्य, पौरुष, दीर्घायु चाहते हैं तो नया तैयार नुस्खा है—

भेड़-भ्रूण भेषज

नवम्बर १९५८के 'कल्याण'में 'अब कैसे होगा जीना' शीर्षक लेखमें इंगलेण्डके डॉ० पॉल नीहान्स द्वारा गर्भवती भेड़के भ्रूणसे बनाये गये कायाकल्पकारक इंजेक्शनकी चर्चा छप चुकी है, वह इंजेक्शन अब तैयार है, जिसे वे ६ सौ रुपयेमें लगाते हैं, जिससे ८० वर्षवाले ६० के, ६० वाले ४० के, ४० वाले २०के और २० वाले······? बन जायँगे । छोटे कदवाले लम्बे हो जायँगे, संकुचित गर्भाशय और स्तनवाली युवतियाँ विकसित होकर माताएँ बन सकेंगी, अप्राकृतिक व्यभिचारकी आदतवाले तथा नपुंसक लोग जवांमर्द बन जायँगे । भेड़के भ्रूणसे बने इंजेक्शन लेकर मुर्दोंमें अब जान आ जायगी । हजारों वर्षोंकी खोजके बाद जवानीका यह कीमिया भेड़के गर्भमें वैज्ञानिकोंको मिला । डॉ० पॉल नीहान्सकी इस खोजको रेडियो तथा अखबारोंद्वारा दुनियाने जो सुना तो लोग धन लेकर दौड़ पड़े यह संजीवनी रसायन खरीदनेको । परंतु अपने पास आये हुए दस रोगियोंमें नौको ये डॉक्टर नालायक समझकर रद्दकर निराश वापस लौटा देते हैं । एक भेड़के गर्भसे यह कीमती-कीमिया निकालकर एक इंजेक्शन ६ सौ रुपयेका लेकर उन्हें कितनी आमदनी और इज्जत देगा, आप कल्पना नहीं कर सकते । उन्होंने यह इंजेक्शन अबतक थोड़े-से महापुरुषोंको लगाये हैं जिनको उन्होंने जवानी और पौरुषका इकरार पाया, उनमें हैं—रोमन कैथलिक ईसाई धर्मके विश्व-महामण्डलेश्वर द्वादश पोप पियस, यमनके इमाम रोममें, स० बादशाह इब्न सऊद (अफसोस ये इंजेक्शन लेकर जवानी न भोग सके); कलाकार जार्ज ब्रेक, सोमरसेट मॉगम, श्रीमती मेरिया स्वानसन और मोरक्कोके राजा । ब्रिटेनके कूटनीतिक महामन्त्री विन्सटन चर्चिल तथा चान्सलर-कोन राड अदेनावर (पश्चिम जर्मनी) ने भी ये इंजेक्शन बाजारसे लेकर अन्य डॉक्टरसे लगवाये हैं । लगभग तीस साल पहले, भारतके एक जैनधर्म-भूषण धनकुबेरने इसी हेतु तब, पेरिसस्थित रूसी डॉ० सर्ज वारानॉफको बुलाकर एक लाख रुपयेके खर्चसे बंदरकी ग्रन्थि अपने अङ्गमें कलम करवायी थी, जो अभी कुछ समय पूर्व दिवङ्गत हुए हैं । पशुओंमें जो ऋतुसंयम है वह मानवमें नहीं है; क्योंकि वह पशु नहीं है और आधुनिक यान्त्रिक वैज्ञानिक रहन-सहन और रासायनिक निःसार भोजन, पानी, हवा, दवा इत्यादिसे उसका संयम-पौरुष और भी गिर गया, इसलिये अब वह वैज्ञानिक विधिसे भेड़-बंदरोंके रस-रक्तसे संजीवनी प्राप्त करता है, अपने रक्तमें घोलकर !! इस विज्ञानसे पशुतत्त्वका बीजारोपण स्वयंमें करके मानव विकास करके दिव्य देव बनेगा या पशु ? इसका परिणाम देखनेमें समय लगेगा । कुछ फसल दो-तीन महीनेमें तैयार होती है, कोई फल सालभरमें, इमली, वटवृक्ष बहुत वर्षोंमें फल देते हैं । यह निर्दय वैज्ञानिक खेती कब किस रूपमें क्या फल देगी, अगली पीढ़ीवाले देखेंगे।

मानव-रसायन

जवानी और दीर्घायु प्राप्तिके लिये भेड़-बंदरके रक्त और आयु अबतक लिये गये और मनुष्योंकी हत्याएँ की गयीं । हर साल इन वैज्ञानिक प्रयोगोंमें तीस लाख पशु केवल ब्रिटेनमें ही मारे जाते हैं । जब कि पशुओंके रस-रक्तसे मानवको कायाकल्प रसायन मिलता है, तो मानवके लिये मानव-रक्त तो स्वजातीय होनेसे अति श्रेष्ठ होगा । हरेक प्राणीका जन्म होनेपर वह अपनी माताका दूध पीकर सहज पचाता और पुष्ट होता है, दूसरे प्राणीका दूध उसे उतना अनुकूल नहीं पड़ता । मानवको तो पशु-दुग्ध पचना ही नहीं । अतएव अब क्यों न आशा की जाय कि भविष्यमें अब कोई ऐसा चमत्कारी डॉक्टर प्रकट होगा जो गर्भवती माताके भ्रूणसे 'मानव रसायन' बनायेगा । और तब प्रसूति-गृहोंमें जाकर प्रसव करनेवाली माँ-बहिनोंकी बेहोशीमें क्या दशा होगी, इसकी अभी क्या कल्पना की जाय और क्या लिखा जाय । वैज्ञानिक क्षेत्र और सूझमें अब वह दिन-दूर नहीं है जब कि लोग अपने अजन्मे बाल-बच्चोंके रक्त

और ग्रन्थियोंके रससे बनी गोलियाँ खायँगे, केप्सुल खायँगे और एम्पूलसे इंजेक्शनद्वारा अपने बाल-बच्चोंको आत्मसात् करेंगे। यह होगा मानवसे बना हुआ मानवके लिये रसायन। यही होगा सार्वभौम, अद्वैत आत्मभाव ! संसारभरके बच्चोंमें बहुत वर्षोंसे चेचकके टीकेके रूपमें विषाक्त गाय और भेड़का मवाद घोला गया और अब भी घोला जा रहा है, परंतु अब अनेक नये टीके व्यापक रूपमें प्रचलित हो रहे हैं। आजकल क्षयरोग-निरोधक बी० सी० जी० और बालपक्षाघातको रोकने और इलाजके लिये 'साल्क पोलियो वेक्सीन' दुनियाके बहुतसे देशोंमें आबाल-वृद्ध लोगोंको लगाया जा रहा है। इन दोनोंकी भी तिलस्मी कहानी सुन लीजिये।

भारतसे विदेशोंमें तीन लाख बंदर भेज देनेके बाद बंदरोंके निर्यातपर कुछ प्रतिबंध लग गया था और केवल दो शर्तोंपर उन्हें भेजना हमारी 'पञ्चशीला' सरकारने मंजूर किया कि बंदरोंको मानवतापूर्वक ले जाया जाय और दूसरे उनका केवल 'पोलियो' शोधके लिये प्रयोग किया जाय। परंतु क्या ये दोनों शर्तें निभाना वैज्ञानिक उद्योगपतियोंके लिये कभी सम्भव होगा ? कभी नहीं। ४ जुलाई १९५५ के 'न्यूज क्रानिकल' का समाचार है कि बंदरोंका निर्यात इन दो शर्तोंपर भारत सरकारने पुनः मंजूर कर लिया है। भारतमें इन बंदरोंकी संख्या, २७ अप्रैल १९५५ के 'मेन्चेस्टर गार्जियन' अखबारमें पाँच लाख बतायी गयी है। बंदर बड़े शैतान, उत्पाती होते हैं, मनुष्यकी खेती और सम्पत्तिको उजाड़ते हैं, इसलिये इन्हें प्रयोगार्थ विदेशोंमें भेजनेसे भारतको रुपया भी मिलेगा और दवा बनेगी तो दुनियाका कल्याण होगा। दिल्लीमें आते-आते एक बंदर बारह-तेरह रुपयेतकका पड़ता है और लन्दन पहुँचते सौ रुपयेसे अधिकका हो जाता है। सन् १९५७ में पुनः ९६३३५ बंदर निर्यात हुए। यदि इन बंदरोंको इन्सानियतसे ले जाया जाय और उनपर 'केवल प्रयोग' किया जाय, हत्या न की जाय तो टीका कैसे बनेगा ? नहीं बन सकता। टीका बनानेके लिये उसके मूत्रपिण्ड (Kidney) को चीर-फाड़कर निकाल लेना आवश्यक है, इसमें तथा अनेक भयानक प्रयोगोंमें जैसा पहले बताया जा चुका है, बंदर मरेगा अवश्य, चाहे वह प्रयोग अमेरिकामें हो या भारतमें। १४ मई १९५५ का समाचार है कि भारतकी स्वास्थ्य-मन्त्रिणीने पोलियो टीका उसी विधिसे भारतमें भी बनानेके लिये फौरन कदम उठानेको तत्पर हुईं। बम्बईमें इस सम्बन्धमें 'इण्डियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च' के खर्चसे कई वर्षोंसे काम चल रहा है। ब्रिटेनमें ग्लेक्सो प्रयोगशाला और बरोज वेलकम कम्पनी तो अब सरकारी तौरपर इस टीकेका निर्माण करती है, उनके लिये तेरह लाख रुपये खर्चसे प्रयोगशाला बनी है। 'डेली टेलीग्राफ' २९ अप्रेल १९५५ का समाचार है कि आस्ट्रेलियामें डॉ० साल्ककी अपेक्षा विशेष पद्धतिसे पोलियो टीका बढ़िया बनने लगेगा। डेनमार्कमें अबतक सभी लगभग चार लाखसे अधिक बच्चोंको पोलियो टीका लग चुका है। फ्रांसमें पास्त्योर संस्था इस टीकेको बड़े पैमानेपर प्रोफेसर पीयर लीपिनके नुस्खेपर तैयार कर रही है। स्वीडनमें तो एक नया नुस्खा निकाला है। इंग्लेण्डके प्रमाणित पुराने डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट' के ७ मई १९५५ के अङ्कमें समाचार दिया गया है कि 'मानवके तीन महीनेके गर्भस्थ भ्रूणसे बने टीके सवा लाख बच्चोंको लगानेके लिये तैयार हो गया है।' और यह टीका बंदरके मूत्रपिण्डसे बने टीकेकी अपेक्षा बढ़िया है। परंतु मानव-भ्रूण सुलभ न होनेसे आगे अमेरिकन नुस्खा ही बनेगा। गर्भस्थ तीन महीनेके मानव-भ्रूणसे टीका बनाना, यह स्वीडनकी सरकारी कीटाणु प्रयोगशालाके प्रोफेसर गुनार ओलिनकी सूझ है!

Plans are well advanced in Sweden for the manufacture of Vaccine (Polio) derived from a Virus grown in human tissue. Prof. Gunnar Olin, of the Swedish state Bacteriological Laboratory, reports that the virus has been grown in human foetal tissue......Enough vaccine has already been prepared to 'immunise' 120,000 children.

वैज्ञानिक भाषा !

पोलियो टीका सब देशोंमें अन्धाधुन्ध अन्धानुकरणसे लाखों बच्चोंको लगाया गया और लगाया जा रहा है, के प्रयोगके लिये कि कालान्तरसे इसका क्या प्रभाव होता है। सब देशोंसे हानिकर समाचार मिले हैं। ये टीके मुर्दा किये गये अथवा कमजोर किये गये कीटाणुओंसे होते हैं। कोई-कोई अनुभवी डॉक्टर इसको रद्द करनेकी सलाह देकर जिंदा विषाक्त कीटाणुओंसे बना इन्जेक्शन (live virus vaccine) प्रचलित करनेके पक्षमें हैं। इस सूझके बहादुर हैं, सिनसिनाटी, अमेरिकाके डॉ० इसका समाचार 'इवनिंग स्टेण्डर्ड' के ६ अगस्त १९५५ अङ्कमें छपा था और 'न्यूयार्क टाइम्स' के १०

५९ में बताया गया था कि इस जीवित कीटाणुओंवाले ज़हरीले टीकेके प्रयोगका नतीजा सालके अन्ततक मालूम हो जायगा। प्रयोगार्थ यह टीका भी सोवियत देश (रूस) में साठ लाख लोगोंको, सिंगापुरमें दो लाख बच्चोंपर, चेकोस्लोवाकियामें लगभग डेढ़ लाख बच्चोंपर, मेक्सिकोमें दो लाख बच्चोंपर लगाया गया है और रूसमें अन्धाधुन्ध तरीकेपर लगाया गया है, प्रयोग तरीकेपर, यह देखनेके लिये कि 'यह टीका रोगनिरोधक भले ही न हो, परंतु इससे सुरक्षा होती है।'

इस चोरों-जैसी 'अंटशंट' भाषाको सुनकर, जार्ज टाउन यूनिवर्सिटी अमेरिकामें हुए डॉक्टरोंके एक सम्मेलनमें, आयरलेण्ड-बेलफास्ट, क्वीन्स यूनिवर्सिटीके प्रोफेसर डिकने कहा था, 'प्रयोगशालामें कीटाणुओंको पालना और उन्हें मानव-शरीरमें बीजारोपण कर खेती करना अलग-अलग बातें हैं।' इन निर्दय वैज्ञानिकोंने विषाक्त रोगी कीटाणुओंके मुर्दा और जिंदा मवाद, रोगनिरोधक प्रयोगके लिये, दुनियाके नादान बच्चोंके शरीरमें घोलकर, खूब धन और यश कमाकर, सरकारों और दुनियाको कैसा उल्लू बनाया, कितनोंको आजीवन अपङ्ग किया, मौतके घाट उतारा, इसके बहुत-से समाचार अखबारोंमें यदा-कदा यत्र-तत्र छपते ही रहते हैं। दुनिया झुकती है, झुकानेवाला चाहिये। जरा इन विषाक्त प्रयोगोंका नतीजा देखिये कि टीका, इंजेक्शन लगानेसे रोगनाश और निरोध होता है अथवा बढ़ता है? अमेरिका और कनाडासे प्राप्त समाचारोंको 'लन्दन टाइम्स' ने १० अगस्त ५९ के अङ्कमें विस्तारपूर्वक प्रकाशित किया है कि अमेरिकामें जुलाईके अन्ततक तेरह सौ चौदह लोगोंको 'बालपक्षाघात' हुआ जब कि पिछले साल १९५८ में इन्हीं सात महीनोंमें केवल पाँच सौ उन्नासी लोगोंको यह आघात हुआ था। कनाडामें तो पिछले साल छियालीस के स्थानमें इस साल एक सौ सैंतीस लोगोंको यह रोग हो गया, जिन्हें कि टीका पहले लगाया गया था।

डॉक्टर देख नहीं पाते !

इसीके आस-पास समयमें लन्दन 'न्यूज़ क्रानिकल' में एक लेख छपा था, 'डॉक्टर लोग कितने अंधे हो सकते हैं।' How Blind Doctors Can Be ! नित्य व्यापक प्रयोगोंके बुरे परिणाम देखकर भी ये छलपूर्ण भाषामें उनका उत्तर देकर नये नुस्खे बनाते, प्रचलित करते रहते हैं और जनता एवं सरकारें उल्लू बनकर इन लोगोंका उत्साह धन देकर बढ़ा रही हैं। इस सम्बन्धमें 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल' ३ अक्टूबर १९५९ के अङ्कमें सम्पादकने अपना अभिमत लिखा था—"हम अभीतक यह नहीं जान पाये कि पहलेके 'मुर्दा मवादके टीके' की अपेक्षा नया 'जिंदा जहरीले मवाद' का टीका अधिक प्रभावकारक है और साफ जाहिर होता है कि इससे बालपक्षाघात-को इस देशसे बिल्कुल उठा देनेमें समर्थ नहीं हो सकता।"

"We do not yet know that the live Vaccine is more effective than the formol-inactivated vaccines, and it seems clear that inactivated vaccine as now made and used, does not give complete protection and cannot be expected to eradicate poliomyelitis."

इस बालपक्षाघात-पोलियोके विषयमें अमेरिकाके 'टाइम' ३ अगस्त ५९ के अङ्कमें, 'अमेरिकन पब्लिक हेल्थ सर्विस'की रिपोर्टमें बताया गया है कि 'पिछले सालकी अपेक्षा इस साल यह रोग दुगुना बढ़ा है।' इस हिसाबसे, १९५५ से जबसे पोलियो टीका सर्वसुलभ हुआ, यह रोग कई राज्योंमें अन्धाधुन्ध बढ़ा है। इस रोगसे स्वस्थ लोगोंको बचानेके लिये जितना ही सरकारी प्रचार किया गया, लोग अन्धविश्वासपूर्वक पोलियोका टीका लेने दौड़ पड़े और 'आ बैल, मुझे मार' यह उन्होंने सिद्ध कर दिया। स्वयं पैसा खर्च करके रोग खरीदा, किसी-किसीने तो चार-चार बार यह टीका लगवाया।

जेनर महाशयने चेचकके टीकेका प्रयोग कर प्रचार किया। पहले उन्होंने गायके चेचकके मवादसे यह टीका प्रचलित किया था, जो अब भेड़के मवादसे बनाया जाता है। जेनरकी नौकरानीके हाथोंमें उपदंश रोग था, उसके हाथसे गाय दुहनेसे गायके स्तनोंमें वह रोग चेचकके नामसे चला, जो उपदंशके लक्षणोंके समानान्तर होता है। जेनर महोदयको अपनी करामातसे सरकारसे तीस हजार पौण्डकी मदद मिली। इस टीकेके प्रयोगसे बहुत रोग फैला और लोग मरे, बड़े-बड़े वैज्ञानिकों और अनुभवी डॉक्टरोंने जेनरका विरोध किया परंतु कुछ नतीजा न हुआ। यही हाल नयी-नयी चमत्कारिक प्रचलित दवाओं और चीरफाड़का भी है। 'जर्नल आफ अमेरिकन मेडिकल असोसिएशन'के १ अगस्त १९५९के अङ्कमें आठ डॉक्टरोंके अनुभवकी एक रिपोर्ट छपी है जिसमें उन्होंने बताया है कि पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनके योगसे बनी हुई डिहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन नामक नयी दवाके प्रयोगसे ३२ आदमी हमेशाके लिये बहरे हो गये! (क्रमशः)

हमारा एक महान् दुर्गुण अभिमान

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

विश्वमें अनेक तरहके प्राणी हैं और प्रत्येक प्राणीमें कुछ विशेष गुण या विशेषताएँ होती हैं । कमियाँ या अवगुण भी सबमें हैं ही । पर मनुष्य आदि प्राणी दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें कुछ अधिक गुण या शक्ति देखते हैं अथवा मनमें वैसा मान बैठते हैं कि हमारेमें अमुक विशेषताएँ इतने अधिक परिमाणमें हैं, जो दूसरोंमें नहीं हैं । तब उनमें अभिमान-अहंकारका भाव प्रवेश करता है । यदि मनुष्य गुणके साथ जो अपनेमें कई दोष भी भरे हैं, उनकी ओर नजर डालें तो अभिमान करनेका कोई कारण ही नहीं रहता, और अपने दोषोंका भान होनेपर मनमें नम्रता और लघुता आती है । आखिर सर्वगुणसम्पन्न तो परमात्माके सिवा कोई होता ही नहीं । इसीलिये परमात्मा या महापुरुषोंके गुण-गान या भक्तिको महत्त्व दिया गया और प्रत्येक मनुष्यके लिये उसकी आवश्यकता बतलायी गयी । इससे मनुष्यके सामने एक बहुत बड़ा आदर्श रहता है कि 'मुझसे तो ये महापुरुष बहुत अधिक गुणवान् हैं, इनके सामने मेरी विशेषताएँ कुछ भी नहीं, फिर भी मैं अभिमान करूँ तो यह मेरी मूर्खता ही है । इन्होंने अपने अनेक दोषोंपर विजय पायी है । अभी मैं तो उन दोषोंसे भरा पड़ा हूँ । काम, क्रोध, लोभके पंजेसे छुटकारा नहीं मिला तो मेरा अभिमान निरर्थक है ।' मंजिल बहुत दूर है, उसके बीचमें ही यदि वह रुक जाय तो गन्तव्य स्थलपर नहीं पहुँच सकता, इसी तरह थोड़े-से किसी गुण या विशेषतासे यदि हम अपनेको बड़ा मान बैठें और फूलकर कुप्पे बन जायँ तो हमारे भावी विकासका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है; क्योंकि उसमें जो आगे बढ़नेकी प्रबल इच्छा होनी चाहिये, अभिमानसे उसका अभाव हो जाता है । थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके यदि मनुष्य अपनेको बहुत बड़ा ज्ञानी समझ ले तो फिर आगेका ज्ञान प्राप्त करनेमें उसमें प्रबल जिज्ञासा नहीं रह जाती । और जब वैसी इच्छा ही नहीं होती, तब वह उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करेगा ही कैसे ? इसलिये ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्तिके लिये विनय या विनम्र भावको अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है । दूसरोंसे हम कुछ प्राप्त करना चाहते हैं तो लघुता और नम्रतासे ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, अहंकार और अभिमानसे नहीं । महाराजा श्रेणिक और एक चाण्डालकी कथा जैन ग्रन्थोंमें आती है । एक चाण्डालको कोई विद्या सिद्ध थी जिससे वह अदृश्यरूपमें महाराजाके उद्यानके फल भोजनको ग्रहण कर लेता था । किसी प्रयोगसे उसे पकड़ गया और महाराजाके सम्मुख उपस्थित करनेपर उसे वह विद्या सिखा देनेको महाराजने कहा । प्राण जानेके भयसे उसने सिखाना प्रारम्भ किया । पर महाराज उसे सीख नहीं पाये; क्योंकि वे राजसिंहासनपर अभिमानसे बैठे थे, इसलिये विद्या-ग्रहणके उपयुक्त विनयका उस समय उनमें अभाव था । तब मन्त्री और उनके पुत्र अभयकुमारने महाराजसे कहा कि 'यदि आपको इससे विद्या लेनी है तो सिंहासनसे नीचे उतरकर उसको गुरु और अपनेको शिष्य समझें तभी वह विद्या सिद्ध हो सकेगी' और हुआ भी वैसे ही ।

घमंडीका सिर नीचा

अभिमान किसीका नहीं रहा । बड़े-बड़े शक्तिशाली ज्ञानवान् और अनेक तरहके सम्पत्ति या शक्तिकी अधिकतावाले व्यक्ति संसारमें पैदा हुए और चले गये । जिन्होंने अपनी शक्ति या सम्पत्तिका अभिमान किया, अन्तमें प्रकृतिने उन्हें शिक्षा या दण्ड दिया । उनका अभिमान चूर्णविचूर्ण हो गया । इसीलिये कहा जाता है कि 'अभिमान तो रावणका भी नहीं रहा, तू है किस बागकी मूली' प्रकृतिने सेरकी जगह सवासेर उत्पन्न किया है, जिस चीजका जो व्यक्ति अभिमान करता है, उस या सम्पत्तिकी अधिकतावाले व्यक्ति उसे मिलते ही हैं उन दोनोंकी भिड़ंत या टक्कर होनेपर अभिमानी खाता है । वैसे प्रकृतिने मनुष्यके अभिमानको चूर्ण करनेके लिये और भी अनेक साधन जुटा रक्खे हैं, जिनसे मनुष्यको शिक्षा मिलती रहे कि अभिमान करना बुरा है, करने-जैसी कोई बात नहीं है, अभिमान रहेगा नहीं देखिये, युवावस्थाके बाद वृद्धावस्थाका प्राप्त होना, साथ मृत्युका लगा रहना, सदा एक-सी दशा किसीकी रहना— ये प्रकृतिकी ओरसे मनुष्यको शिक्षा

उत्तम साधन उपस्थित किये गये हैं। यौवनावस्थामें मनुष्यकी शक्तिका चरम विकास होता है और तभी वह मद या अहंकारसे अपनेको भूल जाता है। गर्वसे उन्मत्त होकर वह इतरा जाता है, अकड़ जाता है और दूसरोंको तुच्छ मानकर अभिमान करने लगता है; पर थोड़े दिनों बाद ही जब उसकी अवस्था ढलने लगती है, तब उसकी शारीरिक शक्ति आदि स्वयं क्षीण होने लगती है, बुद्धि भी काम नहीं देती, हर तरहसे जिन विशेषताओंके कारण वह अभिमान करता था उन विशेषताओंकी कमीका वह अनुभव करने लगता है। अभ्यासवश चाहे वह उस समय भी लंबी-लंबी डींगें हाँके, पर हृदयके भीतर यह जानता है कि अब वैसी शक्ति उसमें नहीं रही है। उसके सेवक उसका पहले-जैसा सम्मान नहीं करते। उसका परिवार भी पूर्ववत् आज्ञापालनमें तत्पर नहीं रह जाता। उसके रूप और सौन्दर्यमें भी कमी आ जाती है। अभिमानके कारण वह अपने बहुत-से विरोधी या शत्रु बना बैठता है, वे अवसरकी ताकमें बैठे रहते हैं, जब भी अभिमानीकी कुछ क्षीणताका अनुभव करते हैं, तभी उसपर आक्रमण करके उसका सारा मानमर्दन कर देते हैं और मान-भङ्गके कारण उसे दुःख भी बहुत होता है।

प्रकृतिकी महान् शिक्षा

इसी तरह मृत्यु भी प्रकृतिकी ओरसे एक महान् शिक्षा दे रही है कि आखिर जिन वस्तुओं और व्यक्तियोंको तुम अपना मानकर मनमें गर्व धारण करते थे, उन सब वस्तुओंको तुम्हें छोड़कर जाना होगा; क्योंकि वास्तवमें वे तुम्हारी कभी न थीं और न हो सकती हैं। तुमने भ्रमसे मिथ्या ममत्व करके झूठा अभिमान किया है। मरणके समय न शरीर काम देता है न बुद्धि, न कोई उसे बचा सकता है न पीड़ाको कम कर सकता है। न सम्पत्ति ही कुछ कामकी है, न कुटुम्ब-परिवार और लाव-लश्कर ही उसे बचानेमें समर्थ हो सकता है, वह सभी तरहसे असहाय और अशरण हो जाता है।

सबै दिन होत न एक समान

प्रकृतिकी तीसरी शिक्षा है—किसीकी एक समान स्थिति सदा न बनी रहना। प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव करता है कि क्षण-क्षणमें परिवर्तन हो रहा है। जैसा कल या कुछ दिनों पहले था, वैसा आज नहीं रहा। चढ़तीके साथ पड़ती, उन्नतिके साथ अवनति लगी हुई है। बहुत बार धनी व्यक्ति कंगाल बन जाते हैं, बलशाली व्यक्ति रोगादिसे जर्जरित और निर्बल बन जाते हैं, बहुत परिवारवाला व्यक्ति अन्तमें अकेला रह जाता है। दुष्काल और विपत्तिका दुःखद अनुभव भी थोड़ा-बहुत सभीको जीवनमें कभी-न-कभी करना ही पड़ता है। मस्त व्यक्तिको चिन्ताएँ घेर लेती हैं। वन-जंगलमें कभी उसे दाने-दाने और एक बूँद पानीके लिये तरसना पड़ता है। जिस अर्जुनको अपने गाण्डीवका बड़ा भरोसा और अभिमान था, उसीके रहते हुए एक दिन ऐसा समय भी आता है जब कि उसीके सामने उसकी संरक्षकतामें रही स्त्रियोंको दूसरे व्यक्ति लूट ले जाते हैं और वह कुछ नहीं कर पाता है।

सोच सोच रे मूढ़ नर, समय बड़ा बलवान।
काबा लूटी गोपिका, वहि अर्जुन वहि बान॥

महापुरुषोंकी जीवनीसे शिक्षा

बहुत-से महापुरुषोंके जीवनमें ऐसे करुण और विपत्तिके प्रसंग आये हैं, जिनके स्मरणमात्रसे हृदयमें कम्पन हो जाता है। यदि उन प्रसङ्गोंको मनुष्य ध्यानमें रक्खे तो उसका अभिमान क्षणभरके लिये भी न टिक पाये। जब भी हमारे हृदयमें अभिमानकी रेखा खिंचने लगे, तभी तुरंत हमें अपनेसे अधिक शक्ति और सम्पत्तिवाले व्यक्तिका ध्यान कर लेना चाहिये। नहीं तो, परमात्मा तो सबसे बड़ा है ही, उसके सामने हम कितने क्षुद्र हैं, इसका चिन्तन करते ही हमारा अभिमान काफूर हो जायगा। हम अपनेसे अल्प-शक्ति या सम्पत्तिवाले व्यक्तिको सामने रखते हैं; तभी अपनेमें उससे अधिकता पाकर अपनेमें अभिमान होता है। अतः जब अपनेसे महान् व्यक्तियोंको ध्यानमें रक्खेंगे, तब अपनी विशेषताएँ हमें बहुत साधारण नजर आने लगेंगी और वह अभिमानकी रेखा स्वयं मिट या धुल जायगी।

हमारा सबसे महान् शत्रु—अभिमान

अभिमान वास्तवमें हमारा महान् शत्रु है, जो हमारे गुणोंके विकासको रोकता है और क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक दुर्गुणोंकी वृद्धि करता है। अभिमानके साथ क्रोधका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तवमें मनुष्य अपने अहंभावके कारण ही यह मान बैठता है कि सब व्यक्ति मेरे इच्छानुसार चलें। मैं बड़ा हूँ, धनी हूँ, सत्ताधारी हूँ, अधिक शिक्षित हूँ, तपस्वी हूँ, इसलिये मेरी बात सभीको माननी चाहिये,

मेरे कहे अनुसार सबको चलना चाहिये । पर जब दूसरे व्यक्ति उसकी इच्छाके कुछ विपरीत करते हैं, तब उनपर क्रोधका भाव स्वयं हो जाता है । यदि वह व्यक्ति यह विचारने लगे कि सभी व्यक्तियोंमें अपना-अपना अहंभाव है, अतः वे मेरे इच्छानुसार ही क्यों चलेंगे, अपने इच्छानुसार चलनेका भी तो उनको अधिकार है, उनकी अपनी इच्छाएँ और परिस्थितियाँ भी हैं, इसलिये यदि वे मेरी इच्छाके प्रतिकूल करते हैं तो मैं बुरा क्यों मानूँ, उनपर क्रोध क्यों करूँ, उनके अहंको ठेस पहुँचाकर उन्हें विवश क्यों करूँ । यदि मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे कोई व्यक्ति अपने इच्छानुसार चलाना चाहेगा तो क्या मैं वैसा करनेको तैयार हूँ ? क्या मुझे दूसरेका क्रोध बुरा नहीं लगेगा ? यदि व्यक्ति इस सिद्धान्त-सूत्रको सदा ध्यानमें रक्खे कि **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** अर्थात् जो व्यवहार मुझे अनुकूल नहीं लगता, वैसा आचरण मैं दूसरोंके साथ भी न करूँ । यदि इस आदर्शवाक्यको अपने हृदयमें अंकित कर लिया जाय और एक महान् सिद्धिदायक मन्त्रकी तरह इसका पुनः-पुनः जाप किया जाय तो अवश्य ही विश्वमें अशान्ति और दुःख घटते चले जायँगे और एक-दूसरेका व्यवहार इतना मधुर और सुखद प्रतीत होने लगेगा कि कोई किसीका विरोधी नहीं रहेगा । सभी एक-दूसरेको शान्ति और सुख पहुँचानेमें अपना अहोभाग्य समझेंगे । अपने किसी भी व्यवहार और प्रवृत्तिसे दूसरेको अशान्ति या दुःख न पहुँचे, इसका उन्हें ध्यान रहेगा ।

अभिमानसे अन्य दुर्गुणोंकी उत्पत्ति

ईर्ष्या और द्वेष भी प्रधानतया अभिमानके कारण ही होते हैं । अहंभाववाला व्यक्ति जब दूसरेको अपनेसे बढ़ा-चढ़ा देखता है, तब उसके वैभव और शक्तिके प्रति उसके मनमें ईर्ष्या जाग्रत् होती है कि उसे लोग सम्मान देते हैं मुझे क्यों नहीं । उसके पास अच्छा घर है, धन-सम्पत्ति है, मुझे ऐसा क्यों नहीं मिला । ईर्ष्याके ही कारणसे दूसरोंकी उन्नति देखकर वह जलने लगता है और 'येन केन प्रकारेण' उन्हें नीचा दिखानेका प्रयत्न करता है, उनकी निन्दा करता है । वह छिद्रान्वेषी होकर दूसरोंका दोष दिखाकर उन्हें लोगोंकी दृष्टिमें नीचे गिरानेका, उनके मान-भङ्ग करनेका प्रयत्न करता है, उनकी अवनति और अपयशमें उसे हर्ष होता है और ईर्ष्यासे फिर उनके प्रति द्वेषभाव भी धारण करने लगता है ।

जैन ग्रन्थोंमें विनयकी महिमा

जैन ग्रन्थोंमें अभिमानको विनयका नाशक बताया है विनयको ही बहुत महत्त्व दिया गया है । 'विणय धम्मो' अर्थात् धर्मका मूल विनय है । किसी भी जनके प्रति विनय-भक्ति हुए बिना धर्मका रहस्य हम नहीं सकते । उसके प्रति विनय या आदर-बुद्धि हुए हमपर उसके वचनोंका उतना प्रभाव नहीं पड़ेगा कि हम उसकी वाणीपर श्रद्धा करके तदनुसार आचरण करने लग जायँ । जबतक हम वैसा नहीं करेंगे, हमारी आत्मा उद्धार नहीं हो सकता । इसलिये विनय या विनम्रभाव जीवनमें बहुत आवश्यकता है । कहा भी है—

> लघुतासे प्रभुता मिले, प्रभुतासे प्रभु दूर ।
> जो प्रभु होना चहत है, तो लघुता धार जरूर ॥

एक प्राचीन कथा

जैन-ग्रन्थोंमें बाहुबलिकी एक कथा आती है भगवान् ऋषभदेवके पुत्र थे । अपने बड़े भाई भरतसे युद्ध विरत होकर वे मुनि हो गये, पर अपनेसे छोटे भाई, उनसे पहले ही दीक्षित हो चुके थे, उनको मैं कैसे वन्दन करूँ, नमस्कार करूँ, बस, इतने बड़प्पनके ऋषभदेव और मुनियोंके पास नहीं जाकर वे यह विचार तप और कायोत्सर्ग करते खड़े रहे कि जब मुझे केवल होगा, तभी मुनियोंके पास पहुँचूँगा, जिससे मुझे करना पड़े । इस छोटे-से अहंकारके कारण वे वर्षोंतक ही स्थानपर खड़े रहे, न अन्न खाया, न पानी पिया, डुलेतक नहीं । इस कठोर तपके बावजूद भी उन्हें ज्ञान' उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि उनमें विनम्रता नहीं अपनेको बड़ा माननेका अभिमान बना रहा । तब बहिन ब्राह्मी और सुन्दरीने, जो इससे पूर्व दीक्षित हो थीं, उनके पास आकर मधुर स्वरोंसे भावभरे ध्वनि की कि—

> बीरा म्हारा गज थकी उतरौ, गज चढ्याँ केवळ न
> बंधव म्हारा गज थकी उतरौ ……

इस वाक्यको अपनी बहिनोंसे सुनकर मुनि बाहुबलि विचारमें पड़ गये कि मुझे ये गजपर चढ़ा हुआ प्रकार कहती हैं, मैंने तो हाथीको छोड़ दिया । विचारते हुए उन्हें अपनी भूलका ज्ञान हुआ कि या अहंकाररूपी गजपर आरूढ़ हूँ और यही मेरे

ज्ञान'में बाधक है। तत्काल उन्होंने अपने उस ज्ञानी और पूर्वदीक्षित साधुओंको, जो उम्र या पदमें छोटे थे, वन्दन करनेके निमित्त जानेके लिये पैर उठाया, बस, उसी समय उन्हें कैवल्य-ज्ञान उत्पन्न हो गया। हृदयके उस अहंकाररूपी शल्यके निकलनेकी देरी थी, विनम्र भाव आया, अपने बड़े होनेका अभिमान मिटा तो चरमोत्कर्ष होते देर न लगी। आज भी भगवान् बाहुबलिकी भव्य और विशाल मूर्ति श्रवण बेलगोलमें ध्यानमुद्रामें अवस्थित है, जिसे देखते ही प्रत्येक व्यक्तिका मस्तक स्वयं झुक जाता है। वह एक अपूर्व भाव-धर्ममें बह चलता है, चित्तवृत्ति स्वयं स्थिर हो जाती है, ध्यान दूसरी ओर जाता ही नहीं, एकटक उसी ओर लम्बे समयतक देखते रहनेपर भी चित्त वहाँसे नहीं हटना चाहता। बाहुबलिके इस प्रसंगको लेकर गुजरातीमें यह काव्य प्रसिद्ध हुआ।

'मान गल्युं तो ज्ञान मल्युं'

तपका, दानका, ज्ञानका अभिमान मनुष्यकी सारी धर्म-कमाईपर पानी फेर देता है। तप करके यदि मनुष्य यह भाव धारण करे कि मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूँ, मुझे साधारण जन ही नहीं, राजा-महाराजा, योगी-यती और देवी-देवतातक नमस्कार करते हैं तो उनके वर्षोंके किये हुए कठोर तपका फल वह हार जाता है। इसी तरह दान देकर या भव-ज्ञान प्राप्त करके यदि मनुष्य अपनेको दानवीर महाज्ञानी मान ले तो दानके महान् लाभ और आध्यात्मिक उत्कर्षसे वह वञ्चित रह जाता है।

किसी भी विशिष्ट गुण या कार्यसे व्यक्ति सम्मान पाता है और दूसरोंका सम्मान करता है तो वास्तवमें वह व्यक्तिकी पूजा नहीं हुई, गुण और विशिष्ट कार्यकी पूजा हुई। यदि यह विशेषता उसमें नहीं रहेगी तो उसका सम्मान करना तो दूर, न कोई उसे पूछेगा और न नाम ही लेगा। इस बातको मनुष्य भूल जाता है और गुणों तथा विशिष्ट कार्यकी पूजाको अपनी पूजा मान लेता है। चाहिये तो यह कि जिन गुणों या कार्योंके कारण उसका सम्मान हो रहा है, उस गुणका वह और भी अधिक विकास करे जिससे कि वह और अधिक महान् और सम्मानयोग्य बन सके। हम चाहते हैं कि हमारा सम्मान हो पर अभिमानवश जब हम दूसरोंका सम्मान नहीं करते तो केवल चाहनेसे हमारा सम्मान कोई कैसे और क्यों करेगा?

एक महापुरुषने लिखा है कि जो हमें बड़ा या विशिष्ट मानकर वन्दन या नमस्कार करता है, वह विनय-गुणके कारण और अपना अभिमान छोड़नेके कारण अपनी योग्यताका विकास करता है। उसके वन्दन और नमस्कारसे यदि हम अपनेको बड़ा मान लेते हैं और अहंकार कर लेते हैं तो हम अपने हाथ अपना अकल्याण कर बैठते हैं। ऐसा करनेसे फिर हम ऊँचे नहीं उठेंगे, गिरेंगे ही। नमन करनेवालेने जिस अभिमानको छोड़ा, उस दोषको हमने ग्रहण कर लिया तो हमारा पतन होगा ही। दोष जिसमें भी रहेगा या बढ़ेगा उसे तो गिरायेगा ही। अतः बुद्धिमान् पुरुष दूसरोंके दिये हुए सम्मानसे व्यक्तिका सम्मान न समझकर गुणोंका सम्मान समझते हैं और अपनेमें अहंकारका भाव उत्पन्न नहीं होने देते तथा दूसरोंके उन गुणोंका सदा आदर करते हैं, उनका सम्मान करते हैं।

मद और मद्य दोनों एक-से घातक हैं। मद्यपानसे मनुष्य अपना मान भूलकर बेसुध हो जाते हैं, विवेक खो देते हैं। उसी तरह मद या अहंकार भी एक नशा है, उसमें मनुष्य पागल-सा बन जाता है और न करनेके कार्य कर बैठता है। ऐसे अभिमानकी बात बोल जाता है कि जिससे दूसरेके दिलको गहरी चोट पहुँचती है। वह अपने सामने दूसरोंको तुच्छ समझकर उनका अपमान कर बैठता है। उसके उन वचनों एवं आचरणोंके घाव दूसरोंके हृदयमें कभी सूख नहीं पाते, उनमें प्रतिकारकी भावना प्रबल हो उठती है, चाहे वे उसका सामर्थ्यके अभावमें बुरा न कर सकें, पर उनकी दुराशीष या अमङ्गल भावना अभिमानीका मानमर्दनकर उसके पतनमें प्रमुख कारण अवश्य बन जाती है।

विचारोंसे ही मनुष्यमें अभिमान आदि दोष उत्पन्न होते और बढ़ते हैं और उनसे विपरीत विचारोंके द्वारा ही वे दोष घटते और नष्ट हो जाते हैं। 'विषस्य विषमौषधम्'। विचारसे ही मनुष्य बनता है और बिगड़ता है। इसीलिये एक जैन कविने अपने लेखक होनेके अभिमानको दूर करनेके लिये कहा है, जो कुछ मैंने लिखा है, इसमें मेरा कुछ नहीं; क्योंकि इन विचारोंका प्रादुर्भाव दूसरोंके वाक्योंके श्रवण या ग्रन्थोंके पढ़नेसे ही हुआ है, अतः वास्तविक उपकार तो उनका है, मैंने तो केवल बिखरे हुए विचारोंको शब्दोंमें गूँथ दिया है। फूल बागके हैं, धागा या सूई भी दूसरेकी है, मैंने केवल गूँथा भर है, उसमें मुझे अभिमान कैसा?

मशीन और सिनेमाके सम्बन्धमें श्रीगाँधीजीके विचार

[इस समय देशका धुआँधार विकास हो रहा है—नयी-नयी विकासयोजनाएँ काममें लायी जा रही हैं। इस सार्वभौम विकासमें मशीनोंद्वारा उद्योगका विकास प्रधान है। विदेशी सहायता एवं सहयोगसे इस विकासका कार्य बहुत बड़े पैमानेपर चल रहा है। उधर मनोरञ्जनके लिये सिनेमा-उद्योगका विकास जोरोंपर हो रहा है। इस सम्बन्धमें महात्मा गाँधीजीका, (जिन्हें सब 'राष्ट्रपिता' कहते हैं, जिनके तप-प्रभाव-प्रतापसे स्वराज्यकी प्राप्ति मानते हैं तथा जिनके आदर्शके अनुसार [illegible] चलाना चाहते हैं, क्या मत है, यह देखना चाहिये। सुश्री मनुबहन गाँधीने अपनी लिखी डायरीमें २७ मई सन् १९४७ की बापूकी दिनचर्याका वर्णन करते हुए उस दिन बापूके साथ दो भाई-बहनोंकी चर्चाके विवरणमें बापूने अपने क्या मत व्यक्त किये थे, इसको लिखा है। उसीका एक अंश यह है। देखिये 'भूदान-यज्ञ' ११ अगस्त १९६१—सम्पादक]

महात्माजी कहते हैं—'××××× मशीनोंसे काम जल्दी हो जाता है, पर उसमें हर प्रकारका नुकसान है—शरीरका भी, पैसेका भी। और फुरसत मिलती है, तो 'बेकार बैठा बरबादी करे' कहावतके अनुसार लड़ना ही सूझता है। अथवा लोग सिनेमा-नाटक देखनेमें समय बिगाड़ते हैं। कई लोग मुझे प्रायः खूब समझाते हैं कि सिनेमा देखनेसे बहुत कुछ बोध यानी ज्ञान मिलता है, लेकिन मुझे तो यह बात जँचती ही नहीं। एक तो बंद जगहमें बैठनेसे श्वासोच्छ्वास रुँधता है। मैं तो बहुत छोटी उमरमें एक बार ऐसे एक थियेटरमें गया था।'

'अगर मेरा बस चले, मैं सारे हिंदुस्तानमें सिनेमाघरोंकी जगह कताईघर खड़े करूँ। भिन्न-भिन्न हस्तकलाओंकी दस्तकारियोंकी चीजें उन घरोंमें बनाऊँ। और अखबारोंमें विज्ञापनोंके नामसे हमारे नट-नटियों यानी अभिनेताओं और अभिनेत्रियोंके गंदे कैसे चित्र छापे जाते हैं? जरा सोचिये तो अभिनेता और अभिनेत्रियाँ हैं कौन? हमारी ही बहनें और हमारे ही भाई तो हैं न? पैसेकी बरबादीके साथ ही हमारी संस्कृतिकी बरबादी होती है। यदि कोई मुझे इस देशका प्रधान मन्त्री बना दे तो मैं सबसे पहले यही काम करूँ। मशीनसे चलनेवाली सारी चक्कियाँ बंद करवा दूँ। तेल पेरनेकी मशीनें भी अमुक संख्यामें ही रहने दूँ और जगह-जगह देशी घानियाँ चलवाऊँ। कपड़ेकी मिल हो, तो उसे बिल्कुल जला तो न डालूँ, फिर भी उसे बढ़ावा तो हरगिज न दूँ और नयी मिल तो कभी खड़ी होने ही न दूँ। सिनेमाघरोंको बिल्कुल बंद ही करा दूँ। अथवा शायद इतनी छूट रखूँ कि जिन चित्रोंद्वारा शिक्षा मिले या जिनमें प्राकृतिक दृश्य दिखाये जायँ, उन्हींका प्रदर्शन हो। लेकिन नाचगान तो बिल्कुल ही बंद करा दूँ। नृत्यकलाके प्रति मेरे मनमें आदर है। संगीत तो मुझे बहुत ही प्रिय है। यही नहीं, बल्कि मेरा दावा है कि मैं संगीतको समझता हूँ। लेकिन जिन गीतों और नृत्योंसे युवकों और युवतियोंका मन खराब हो, उनपर तो मैं रोक लगाऊँ ही। ग्रामोफोनके रेकार्ड भी बंद करा दूँ।'

ये हैं महात्माजीके विचार! आज महात्माजी नहीं हैं। उनके उत्तराधिकारी माननीय पण्डितजी प्रधान मन्त्री हैं और सरकार भी महात्माजीका पदानुसरण करनेवाली ही कही जाती है। इस अवस्थामें श्रीनेहरूजी तथा सरकारसे यह प्रार्थना करना अनुचित तो न होगा कि महात्माजीके विचारोंका आदर करके प्रगति या विकासके नामपर महात्माजीके स्पष्ट विचारोंके विरुद्ध उत्तरोत्तर बढ़नेवाले मशीनासुरों तथा सिनेमासुरोंके सम्बन्धमें एक बार गहराईसे विचार किया जाय।

आगामी अष्टग्रही

आगामी माघ कृष्ण १३ सं० २०१८, ता० ३ फरवरी, शनिवार सन् १९६२को लगभग पौने चार बजे सन्ध्याको एक राहुको छोड़कर आठ ग्रह एक मकर राशिपर आते हैं। ये दो दिन मकर राशिपर रहेंगे। ५ फरवरीसे ७ फरवरी सन् १९६२—तीन दिनोंतक सात ग्रह मकर राशिपर रहेंगे। फिर ८ फरवरीसे १० फरवरी—तीन दिन छः ग्रह रहेंगे और तदनन्तर ११ फरवरीसे २४ फरवरी १४ दिनोंतक पाँच ग्रह रहेंगे। ज्योतिषी विद्वानोंका कहना है कि ८-९ महीने पहलेसे तथा एक वर्ष पीछेतक इन अष्टग्रही, सप्तग्रही, षष्ठग्रही और पञ्चग्रहीका परिणाम चालू रहेगा।

हमारे पास इस सम्बन्धमें बहुत अधिक पत्र आ रहे हैं, जिनमें लोग इसका परिणाम पूछते हैं और बचनेका साधन जानना चाहते हैं। पर क्या परिणाम होगा, इसका ज्ञान न होनेके कारण हम कुछ भी निश्चयात्मक उत्तर नहीं दे पाते। इतना अवश्य विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्के मङ्गल-विधानके अनुसार जो कुछ होगा, सो निश्चय मङ्गल ही होगा। हम अदूरदर्शी हैं, एक सीमातकका परिणाम देखते हैं और उसीके अनुसार मङ्गल-अमङ्गलकी कल्पना करते हैं। मङ्गलमय भगवान् दूरदर्शी ही नहीं, सर्वज्ञ हैं; अतः वे जो विधान करते हैं, सो परिणाममें मङ्गलमय ही होता है। आत्मा अमर है, शरीर विनाशी तथा अनित्य है। विनाशीका नाश होगा ही, वह चाहे—अष्टग्रहीके कारण हो, अथवा अन्य किसी भी निमित्तसे हो, प्राकृतिक वस्तुएँ भी सब अनित्य तथा क्षणभङ्गुर हैं। अतएव इसके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। भगवान्में विश्वास करके उनके साथ जीवनका सम्पर्क जोड़ देना चाहिये। उन्हींके चरणकमलोंमें अनन्य ममता करनी चाहिये। सारा अनुराग भी उन्हींमें होना चाहिये तथा नित्य-निरन्तर उनका मधुर-मधुर स्मरण करना चाहिये। फिर चाहे जब, चाहे जिस निमित्तसे मृत्यु आवे, हमारा परम कल्याण ही होगा—हमें निश्चय ही भगवत्प्राप्ति होगी। नित्य-निरन्तर स्मरण करनेवालेके लिये भगवान्ने निश्चितरूपसे कहा है—‘**मामेवैष्यस्यसंशयम्**।’ वह निस्संदेह मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होगा। अतएव प्रारब्धवश होनेवाले यहाँके परिणामकी चिन्ता न करके भगवान्का चिन्तन करना चाहिये। यही परम कर्तव्य तथा परम धर्म है और इसीमें मानव-जन्मकी सफलता है।

अतिवर्षा, बाढ़, मोटर-नाव-दुर्घटनाएँ अब भी हो ही रही हैं। अकस्मात् पूनामें पानी भर गया। सरकारी सूचनाके अनुसार लगभग १५ करोड़का नुकसान बताया जाता है। एक सज्जनने पचास करोड़की हानि बतलायी है।

राजस्थानमें जैसलमेरकी ओर तीन-चार दिनोंतक इतनी वर्षा हुई कि लगभग दो लाख पशु एक ही साथ मर गये। जिनमें कहा जाता है कि ६२००० तो गायें थीं। कई हजार मकान गिर गये। अपार धनराशिका नाश हो गया। केरल, मध्यप्रान्त, आसाम, बिहार, उत्तर प्रदेशमें भी भयानक हानि हुई है और हो रही है। जहाँ इस प्रकार जन-धनकी हानि हो गयी, उनके लिये तो अष्टग्रही आ ही गयी!

वैसे ज्योतिषी विद्वानोंके विभिन्न मत हैं। धन-जनकी हानि होगी, यह तो प्रायः सभी मानते हैं। पर कोई बहुत बड़े संहारकी बात कहते हैं, कोई साधारण संहार बतलाते हैं। कोई-कोई भारतवर्षमें बहुत बड़ी हानि होनेकी भविष्यवाणी करते हैं तो कोई भारतवर्षका लाभ होनेकी बात भी कहते हैं। क्या होगा सो भगवान् जानें। एक विद्वान्ने लिखा है कि ‘भारत, पाकिस्तान, ईरान, अरब, इंगलैण्ड, अमेरिका और रूसमें नाना प्रकारके रोग, भूकम्प, दुष्काल, भीषण बाढ़ आदि उपद्रव होंगे। समुद्रतटके शहरोंपर विशेष खतरा है। समुद्रमें कई फीट ऊँचा पानी उठेगा, जिससे बड़ा कष्ट होनेकी सम्भावना है। दिल्लीमें भी भूकम्पकी सम्भावना है। परंतु विश्वयुद्ध अभी नहीं होगा।’ इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी भविष्यवाणियाँ हैं। होना है सो होगा। चिन्ता करने तथा डरनेसे कोई लाभ नहीं। हाँ, शास्त्रोंने कष्ट-परिहारके लिये जो उपाय बतलाये हैं, उन्हें अवश्य करना चाहिये। उनमें लाभ-ही-लाभ है। उपायोंमें प्रधान ये हैं—

(१) अपने-अपने धर्मके अनुसार ईश्वरकी विश्वासपूर्वक प्रार्थना।

(२) विष्णुयज्ञ, रुद्रयज्ञ आदिका आयोजन।

(३) श्रीमद्भागवत-सप्ताह।

(४) श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन, विष्णुसहस्रनामके पाठ।

(५) सप्तशतीके पाठ, दुर्गा शतचण्डी, सहस्रचण्डी अनुष्ठान।

(६) भगवान् शङ्करकी उपासना, महामृत्युञ्जयके जाप।

(७) बाल्मीकि रामायणका पाठ, श्रीरामचरितमानसका मासिक, नवाह्न या अखण्ड पाठ।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहिं ब्यापा॥
अथवा
मंगलभवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥

इन अर्धालियोंके सम्पुटसहित।

(८) गौओंकी सेवा, गायोंके लिये चारे-भूसेकी व्यवस्था करना।

चाणूरमर्दन

(१)

ठाढ़े भये उतरि अखाड़े नन्दलाल उतै—
असुर-उतंस कंस मल्लन बिकराल है,
बारि भरे बारिज-दृगनि नर-नारि कहैं—
'पाप करै भारी या अनारी नर-पाल है।
मृदुल-मृनाल-अंग बालक-मराल संग—
संगर के हेतु भिरै भूधर बिसाल है,
माचै अनरथ है न राचै नीति-रीति नेक,
साँचै कहै सब—सिर नाचै नृप-काल है ॥'

(२)

हुंकरत मल्ल मानो फुंकरत व्याल चल्यौ,
बाढ्यौ बल-विक्रम अपार अघहारी को,
अरि मगरूर को गरूर सगरोई गरचौ—
गहत गरुड-सम गात गिरिधारी को।
झपटत दनुज, जसोदा को तनुज त्यौं ही—
दाबि दहपटि देत दैत्य दरबारी को,
पकरि उछारि कै पछारै छिति बार-बार,
जै जैकार होत धीर बीर बनवारी को ॥

(३)

जंग जीतिबे की लै उमंग कंस-मल्ल रारि—
करत मुरारि-सों सुरंग भूमि-रन में,
झटकत हाथ माथ पटकत बाहुदंड,
गिरि टकरात मानो गाज सों गगन में।
नस-नस टूटै लगी छूटै साँस-आस प्रान—
गाढ़े मैं परचौ है, भूरि बाढ़ी बिथा तन में,
चोट परी चाँटे की न जौं लौं भरपूर—
तौ लौं चूर चूर चूरन चनूर भयो छनमें ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

भारतका पशुधन और उसकी रक्षा

(लेखक--श्रीकन्हैयालालजी आर्य)

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः। अथो अन्यस्य कीलाल
उपहूतो गृहेषु नः क्षेमाय वः शान्त्यैः प्रपद्ये शिवꣳशग्मꣳशंयो
शंयो॥

(यजुः अध्याय ३ मन्त्र ४३)

भारतीय संस्कृतिमें पशुधनको ही मुख्य धन माना गया है। वैदिक मन्त्रोंमें अनेकों मन्त्र एवं प्रार्थनाएँ हैं जो पशुओंकी रक्षाके सम्बन्धमें आती हैं, जिनका पाठ यज्ञोंके समय किया जाता है। राजस्थान-जैसे शुष्क प्रान्तमें जहाँ वर्षाका अभाव हो और नाममात्रकी वर्षा होती हो, वहाँकी जनताके गुजारेका तो एकमात्र साधन पशु (गाय, बैल, भेड़ और बकरी) ही हैं, जिसमें मारवाड़का साँड़, मारवाड़की गाय, भेड़ और बकरी वहाँकी जनताके गुजारेका खास साधन है।

आजसे १५, २० वर्ष पूर्व राजस्थानसे पशुओंकी निकासीपर पूरी-पूरी पाबंदी थी। कहीं चोरी छिपे निकासी अगर होती भी थी तो वह नहींके बराबर थी। मांस-आहारमें दूध देनेवाले जानवरों—जैसे, भेड़-बकरीको कभी भी काटा नहीं जाता था। सिर्फ भेड़े और बकरे ही मांसाहारके लिये काटनेके काममें आते थे। और उसमें भी कई दिन नियत ऐसे होते थे जिनमें पशुओंका काटना जुर्म था। किंतु आज उसी प्रान्तमें जिस बेदर्दीसे इन दूध देनेवाले पशुओंको काटा जाता है, उसका वर्णन करना कठिन है।

अभी हालहीमें मेरी एक पशुओंके व्यापारीसे बात हुई जो मारवाड़से पशुओंको खरीदकर बंबईके बाँदरा बूचरखानेमें पहुँचाता था। उसने बताया कि जिस मारवाड़से पशुओंका बाहर निकालना जुर्म था, आज उसी अकेले मारवाड़से आये हुए जिनमें अधिकतर मादाएँ (गाय, भैंस, भेड़ और बकरी) होती हैं—बैल, पाडे, मैंढे और बकरे कम मात्रामें होते हैं, बाँदराके बूचरखानेमें प्रतिदिन तीन हजारकी संख्यामें मौतके घाट उतार दिये जाते हैं। जिनमें कई मादाएँ तो ऐसी भी होती हैं जिनके पेटसे बच्चे निकलते हैं। जितना जानवर मारवाड़से कटनेके लिये जाता है, उतना हिन्दुस्थानके किसी भी हिस्सेसे नहीं जाता।

जब दूध देनेवाले जानवरोंकी यह हालत हो, उनको ऐसी निर्दयताके साथ काटा जाय, तब भला डालडा और वनस्पति देव जो घर-घर और दुकान-दुकानपर व्यापकरूपसे विराजमान हैं—कैसे लुप्त हो सकते हैं? कैसे हमारे भगवान्‌को शुद्ध और पवित्र घीका भोग लग सकता है? और कैसे भारतका नवयुवक जिंदा रह सकता है। आजकलके नवयुवक, जो डालडा प्रोडक्ट हैं, जितने दिन जीवित रह जायँ, सौभाग्य ही समझें। जिस राजस्थानमें दूध और घीकी किसी प्रकारकी कमी नहीं थी, दूध बेचना पाप समझा जाता था, शुद्ध घीके बड़े-बड़े कुप्पे बाजारोंमें भरे पड़े रहते थे। वह मारवाड़ जो शुद्ध घीसे अपनी और अपने आस-पासके प्रान्तोंकी पूर्ति कर बंबई-कलकत्ता-जैसे बड़े-बड़े शहरोंकी शुद्ध घीसे पूर्ति करता था, आज उसीके घरोंमें डालडा, वनस्पतिके पकवान बनते हैं और डालडा किसानकी छोटी-से-छोटी झोंपड़ीमें व्यापक हो गया है। यह राजस्थानके भाग्य-विधाताओंके लिये सोचने और मनन करनेका विषय है।

पशुधनमें सर्वप्रथम गाय है। गौ ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे माताकी उपाधिसे अलंकृत किया गया है। धर्मशास्त्रोंमें जितनी महिमा गायकी वर्णन की गयी है, उतनी अन्य प्राणीकी नहीं। गौकी प्रत्येक वस्तु मल-मूत्रतकको पवित्र माना गया है। उसमें भी धार्मिक भावना है। परंतु आज गौओंकी जो गिरी हालत है उसे कौन नहीं जानता? आये दिन गोरक्षाके सम्बन्धमें सभाएँ होती हैं, साहित्य-प्रकाशन होता है जो किसी-न-किसी रूपमें प्रत्येक मनुष्यके पास पहुँचता ही रहता है।

दूध देनेवाले प्राणियोंमें दूसरा नम्बर भैंसका है जो पर्याप्त मात्रामें भारतकी जनताको दूध देती है परंतु उसकी भी यही हालत है। वह जबतक दूध देती है तबतक तो जिंदा रहती है, उसके बाद जैसे ही उसने दूध देना बंद किया कि तुरंत बाँदरा आदि-जैसे बूचरखानेमें जीवनलीलाकी समाप्तिके लिये पहुँचा दी जाती है। तीसरे दूध देनेवाले पशुओंमें बकरीका नम्बर आता है जो किसी अंशतक दूधकी कमीको पूरा करती है; परंतु उसके गलेपर हर समय छूरी लटकती ही रहती है और जब भी इच्छा हुई छुरीकी धारके नीचे दे दी जाती है।

चौथा नम्बर भेड़का आता है जो दूधकी कमीको तो किसी अंशमें पूरा करती ही है परंतु अन्यदृष्टिसे ग्रामीण जनताके लिये जितनी अधिक उपयोगी है, उतना दूसरा जानवर नहीं। ग्रामीण जनता और किसान वर्गके आर्थिक स्तरको

ऊँचा उठानेमें जितनी भेड़ सहायक हो सकती है, उतना दूसरा जानवर नहीं हो सकता । भेड़ ही एक ऐसा जानवर है जो वर्षमें दो बार ऊनरूपी सोना और बच्चे देती है । जैसे दूधपर मलाईकी तह-पर-तह आती रहती है, उसी प्रकार यदि भेड़की अच्छी सारबार की जाय तो वह अपने मालिकको वर्षमें दो प्रकारसे लाभ पहुँचाती है ।

हमारे देशमें लगभग चार करोड़ भेड़ें होंगी, जिनसे छः करोड़ पौंड ऊन मिलती है, जिसमें आधी निर्यात कर दी जाती है । उससे लगभग नौ करोड़ रुपयेकी आय होती है । व्यापारिक लाभके अतिरिक्त ग्रामीण जीवनमें भेड़ोंका विशेष महत्त्व है । इसके पालनसे किसानके जीवन-निर्वाहमें बड़ी सहायता मिलती है । वैज्ञानिकोंका कहना है कि इसकी खादमें अन्य पशुओंकी अपेक्षा नाइट्रोजन तथा पोटाशियम दुगुनी मात्रामें होता है जो भूमिको उपजाऊ बनानेमें बहुत ही उपयोगी है । स्वस्थ और मोटी-ताजी भेड़ हो तो एक भेड़से १४ से २० मन तक खाद प्रतिवर्ष मिल सकती है । किसान चाहे तो भेड़ पालकर भी अपनी भूमिको अधिक उपजाऊ बना सकता है । इसलिये यह जरूरी है कि भेड़ोंकी पूरी सँभाल की जाय । जिससे वे स्वस्थ और मोटी-ताजी बनी रहें । भेड़ हमेशा अच्छी जातिकी होनी चाहिये । भेड़के दूधमें चर्बीकी मात्रा अधिक होती है, इसका दूध इतना गाढ़ा होता है कि थोड़ी मात्रामें होनेपर भी उसमेंसे घी काफी मात्रामें निकलता है । ऐसे उपयोगी जानवरका काटा जाना देशके लिये बड़ा ही घातक है फिर भी क्षणिक लोभके कारण भेड़ भी कसाईखानेमें पहुँच जाती है । इसके मांस तथा खालसे भी बड़ी आमदनी होती है ।

खेद है कि जो लोग भेड़ और बकरी पालकर अपने परिवारका भरण-पोषण करते थे, वे आज इस धंधेको छोड़ बैठे हैं और अन्य स्थानोंमें मजदूरी करके अपने दिन बिता रहे हैं । उनसे जब भेड़-बकरीके पालनकी बात कही जाती है, तब उनके मुँहसे एक ठंडी आह निकलती है । 'क्या भेड़-बकरी पालें और कैसे पालें, उनको क्या खिलायें और कहाँ रक्खें । चरागाह कहाँसे लायें ? जितने भी चरागाह थे, वे तो सब समाप्त कर दिये गये । मनचले लोगोंने काश्तकारी और अधिक अन्न उपजाओकी दुहाई देकर उनपर अधिकार कर लिया । जिन स्थानोंमें हमलोग वार्षिक टेक्स देकर इनको चरा लिया करते थे, आज सरकारने वहाँ जानेकी मनाई कर दी है । इधर बाघ-रूपी जंगल्या मुँह फाड़े बैठा रहता है, जहाँ उसके चक्करमें आये कि सौ दो सौ रुपयेकी पूँजी गयी । उसकी इच्छाओंके पूर्ति हम नहीं कर सकते । इन सारे दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये हमने उन सबको कसाइयोंके हवाले कर दिया और अब घरकी परम्पराका धंधा छोड़कर मजदूरीका आसरा ले रखा है । कहाँ तो हम दस आदमियोंका पेट पालते थे और कहाँ आज हमको अपना ही पेट पालनेके लिये दूसरोंका मुँह देखना पड़ता है । क्या करें ?' आदि हृदयमें वेदना उत्पन्न करनेवाले शब्द सुनकर मनमें दुःख होता है । क्या इसका भी कोई रास्ता निकल सकता है ? सुना गया है कि राजस्थानमें एक-दो स्थानोंपर भेड़-पालनके कार्यको प्रोत्साहन देनेके लिये केन्द्र खोले गये हैं । क्या ही अच्छा हो यदि भेड़-पालन-अनुसंधान करने-वाले सज्जन इन्हीं लोगोंको, जो अपने असली धंधेकी असुविधाओंके कारण छोड़कर अन्यत्र भटकते हैं, पुनः इसी धंधेमें लगाकर उन्हें प्रोत्साहन दें तथा उनके पुश्तैनी अनुभवसे लाभ उठावें ।

पशु-पालन और पशु-रक्षासे ही भारतके वे दिन, जब कि यहाँ दूध और घीकी नदियाँ बहती थीं, पुनः आ सकते हैं। इसके लिये दूध देनेवाले जानवरोंका वध कानूनन अपराध घोषित किया जाय तथा दूध देनेवाले पशुओंका वध करने-वालों एवं इसे प्रोत्साहन देनेवालोंको कठिन दण्ड दिया जाय, जैसा कि मुगलकालमें था । ऐसा करनेसे ही गौ आदि पशु बच सकते हैं और असली दूध-घी मिल सकता है । अन्यथा भारतकी भावी संतानोंको वे दिन भी देखनेको मिलेंगे, जब कि शुद्ध घी और दूधके नुस्खे वैद्य, हकीम और डाक्टर लिखा करेंगे और उनका शुद्ध मात्रामें मिलना भी शङ्कास्पद होगा।

अतः प्रत्येक भारतीयका जो अहिंसामें विश्वास रखता है और अपने आपको गोसेवक और गोभक्त कहता है, यह कर्तव्य है कि वह अधिक-से-अधिक गौ पाले, उनको आवारा न छोड़े और गौको कभी भी किसीके हाथों न बेचे, न दानमें दे । धार्मिक अवसरोंपर दान देनेका समय आवे तो इस बातका पहले पूरा-पूरा निर्णय कर ले कि जिसको गौ दी जाती है, उसके पास उसकी उदर-पूर्ति करनेके साधन हैं या नहीं ? यदि नहीं है तो धर्मके नामपर अधर्म नहीं करे। ऐसा करनेसे ही किसी अंशतक पशु-धन और गौकी रक्षा हो सकती है और पहलेकी भाँति दूध-घीकी नदियाँ बह सकती हैं। अन्यथा वे भारतके वे स्वप्न भी पूरे हो सकते हैं । मृगतृष्णाके ही समान रहेंगे ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सद्गुणवती बहू

पूर्वबंगालके एक गाँवमें हाराणचन्द्र चक्रवर्ती नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनके पुत्रका नाम था अनुकूलचन्द्र। हाराणबाबू संस्कृतके विद्वान् थे, थोड़ी अंगरेजी जानते थे। पर अंगरेजी शासनमें अच्छी चाकरी (नौकरी) पानेके लिये अंगरेजीकी आवश्यकता समझकर उन्होंने पुत्र अनुकूलको अंगरेजी पढ़ायी। वह पहले स्कूलमें पढ़ता। फिर ढाकामें जाकर उसने एम्० ए०तक कर लिया। हाराणबाबूकी जान-पहचान काफी थी। अतः कुछ प्रयत्न तथा सिफारिशसे अनुकूलचन्द्रको अच्छी सरकारी नौकरी लग गयी। पढ़े-लिखे सरकारी नौकरके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेके लिये चारों ओरसे कन्यावालोंकी माँग आने लगी। आखिर एक उच्च कुलके किंतु निर्धन पिताकी कन्याके साथ शुभगुणसम्पन्न उदार हृदयके श्रीहाराणचन्द्रने अपने पुत्रका विवाह कर दिया। बहू शशिबाला बड़ी सुन्दर, सुशीला, बुद्धिमती, विनम्र स्वभावकी और सेवाभावपरायण आयी। इससे हाराणचन्द्र बहुत प्रसन्न थे। अनुकूलको तो मानो परम सुखमय अत्यन्त दुर्लभ अमूल्य रत्न ही मिल गया। उसके मनमें बड़ा आह्लाद था—ऐसी रूपगुणवती पत्नीको पाकर। पर अनुकूलचन्द्रकी माता मृणालिनीको संतोष नहीं था। वह कुछ लोभी स्वभावकी थी। उसने अपने पढ़े-लिखे सरकारी चाकरीमें लगे हुए गुणी पुत्रके विवाहमें बहुत बड़े दहेजकी आशा कर रक्खी थी, और लोग देनेको तैयार भी थे; परंतु हाराणचन्द्रने केवल गुणवती लड़की देखी, दहेजको ठुकरा दिया और पत्नीकी पूरी सम्मति न होनेपर भी उससे अनुकूलका विवाह कर दिया। मृणालिनीने समझा था कि दहेजमें कुछ तो आयेगा ही, पर शशिबालाके कुलशीलसम्पन्न विद्वान् पिता ऋण लेकर या घर-द्वार बेचकर दहेज दें—यह हाराणचन्द्रको सर्वथा अस्वीकार था, इसलिये कन्याके पिताके आग्रह करनेपर भी उन्होंने कुछ भी नहीं लिया। इससे मृणालिनीका क्षोभ और भी बढ़ गया। कुछ दिन तो ठीक चला। फिर मनका क्षोभ बाहर प्रकट होने लगा और वह शशिबालाके प्रति दुर्व्यवहार, उसके माता-पिताके लिये दुर्वचनके रूपमें उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ने लगा। बेचारी निर्दोष सेवाशील बहूपर मिथ्या दोष लगाये जाने लगे और बात-बातमें उसपर गालियोंकी बौछार होने लगी। एक दिन मृणालिनीने एक जलती लकड़ी उसके पैरपर दे मारी, वह दर्दसे एक बार तो चीख उठी, पर फिर तुरंत ही चुप हो गयी। श्रीहाराणचन्द्र अपनी पत्नीके इस दुर्व्यवहारसे बड़े दुखी हो गये। उन्होंने उसे समझानेका बहुत प्रयत्न भी किया, पर मृणालिनीको वे समझा नहीं पाये। मन-ही-मन कुढ़ते रहे अपनी पत्नीकी इस नीचतापर!

अनुकूलचन्द्रके दुःखका पार नहीं था। कई बार उसके मनमें बड़े जोरका उफान उठता, पर शशिबालाके सुधास्रावी शीतल वचन-सलिलसे वह शान्त हो जाता। बड़ा विचित्र स्वभाव था शशिबालाका। लगातार इतने भयानक अत्याचार होनेपर भी उसके मनमें कुछ भी विचार नहीं आया। न उसके चेहरेपर ही कभी कोई विकारकी रेखा प्रकट हुई। भीषण वज्राघात सहनेवाले अचल अटल गिरिराजके समान वह प्रसन्नतासे सब कुछ सहती रही।

एक दिन माताके भीषण दुर्व्यवहारसे अनुकूलचन्द्र अत्यन्त दुखी हो गये और उन्होंने अलग हो जानेकी बात सोची। वे कुछ कड़ी बात कहनेहीवाले थे कि शशिबाला उन्हें अलग ले गयी। बड़ी नम्रताके साथ समझाकर बोली—'तुम इतने क्षुब्ध क्यों होते हो? माताजीने दहेजकी बड़ी आशा लगा रक्खी थी, उनकी वह आशा पूरी नहीं हुई। इससे उनको क्षोभ होना स्वाभाविक ही है। कामनापर चोट लगती है तब वह क्रोधके रूपमें प्रकट होती है एवं क्रोध एक ऐसी बीमारी है जो मनुष्यको कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे वञ्चित करके उसके द्वारा उसीके अकल्याणका कार्य करवा देती है। माताजी इसी बीमारीसे ग्रस्त हैं, वे अपनी सहज चेतनामें नहीं हैं। इसीसे वे हमलोगोंके साथ अमित दुर्व्यवहारके रूपमें अपनी ही बड़ी हानि कर रही हैं। इस अवस्थामें हमलोगोंका यह कर्तव्य कदापि नहीं कि हम अपने मनकी सुख-शान्तिकी आशासे उनके साथ बदलेमें अनुचित व्यवहार करके उनकी बीमारीको और भी बढ़ा दें। हमें सब कुछ सहन करके उनका हितसाधन करना तथा विशुद्ध मनसे सेवा करके उनकी बीमारीको मिटानेका प्रयत्न करना चाहिये। सेवाका आदर—सेवाका मूल्याङ्कन तो हो ही नहीं, सेवाको सेवा न मानकर उसे तंग करना बतलाया जाय और सेवाके बदलेमें तिरस्कार-अपमान, भर्त्सना-कुवाच्य दिये जायँ, गाली-गलौज किया जाय। इतने-

पर भी सेवाका कार्य बिना विक्षोभ, शान्तिके साथ चलता रहे; तभी वास्तविक सेवा होती है । पागल तो अपने मनकी करेगा ही, उसके बर्तावको देखनेसे काम नहीं चलता । माताजी इस समय पागल-सी हो गयी हैं । वे तुम्हारी जननी हैं । तुमको उन्होंने हृदयका रस देकर पाला-पोसा है । अतएव वे मेरी परम पूजनीया हैं । तुम एवं तुम्हारी धर्मपत्नी होनेके कारण मैं—उनके उपकार-ऋणसे कभी उऋण हो ही नहीं सकते । एक बात और है—अपमान एवं गाली लेनेसे लगती है । हमलोग उसे पुरस्कार क्यों न मानें ।'

इस प्रकार शशिबालाने पतिको बहुत-सी बातें समझाकर शान्त कर दिया और वह सब कुछ सहर्ष सहन करती हुई बड़ी बुद्धिमानी तथा सावधानीके साथ श्वशुर-सासकी तथा स्वामीकी यथायोग्य सेवा करती रही । वह अपने स्वभाव-पर अटल बनी रही । पर अभी इसकी तपस्याका फल प्रकट नहीं हुआ—सास मृणालिनीका व्यवहार नहीं बदला ।

एक दिन पुनः रसोईघरमें गुस्सेमें पागल मृणालिनी जलती लकड़ी हाथमें लेकर शशिबालाकी ओर दौड़ी, गुस्सेके जोशमें होश नहीं था, पैर फिसल गया और गिर पड़ी । बड़ी चोट लगी । साथ ही जलती लकड़ीसे उसकी साड़ीमें आग लग गयी और वह जलने लगी । शशिबाला पानीका कलसा लेकर सामनेसे आ रही थी, वह चीख सुनते ही कलसा वहीं छोड़कर भागी और उसने जाकर सासको उठाया, उसकी आग बुझायी, पर इसी बीच वह बुरी तरह जल गयी थी । आग बुझानेमें शशिबालाके हाथ भी कई जगह दाझ गये, पर उसने इसकी परवा न कर सासको उठाकर अपनी गोदमें सुला लिया । मृणालिनी इस अवस्थामें कराहती हुई भी उसपर गालियोंकी बौछार कर रही थी । गालियोंके साथ ही कह रही थी—'तेरे ही कारण मैं गिरी, मेरे चोट लगी और मैं जल गयी, तेरा सत्यानाश हो ।' शशिबाला कुछ नहीं बोली । वृद्ध हाराणचन्द्र नित्यकी भाँति नदी-किनारे स्नान-भजन करने गये हुए थे । अनुकूलबाबू भाग्यसे उस दिन घर आये हुए थे । वे दौड़े । दोनों पति-पत्नीने मिलकर माँको चारपाईपर सुलाया । वैद्य बुलाये गये । चिकित्सा प्रारम्भ हुई । शशिबाला सच्चे तन-मनसे सासकी सेवामें जुट गयी । दवादारू देना, पट्टी लगाना, टट्टी-मूत फेंकना, खँखार हाथमें लेकर फेंकना, अपने हाथसे मुँहमें ग्रास देना, अंग दबाना—सभी कार्य वह बड़ी खुशी-खुशी करने लगी । घरका काम तो सँभालती ही थी, पर सेवामें जरा भी त्रुटि नहीं आने दी । वह रात-दिन उसके पास ही बनी रहती । सास मृणालिनी धीरे-धीरे ठीक होने लगी—साथ ही उसका हृदय भी पलटने लगा । चार-पाँच महीने वह खटिया-पर रही । इसी बीच शशिबालाकी अकृत्रिम सेवाके कारण उसके हृदयमें अपनी करनीके लिये पश्चात्तापकी ऐसी भयानक आग भड़की कि उसके हृदयकी समस्त मलराशिको जला दिया । शशिबालाकी सहज मधुर आदर्श सेवाके अमृत-रससे उसके सारे पाप धुल गये और उसके शुद्ध हृदयमें शशिबालाके प्रति सच्चे आदर तथा स्नेहका समुद्र उमड़ पड़ा । वह अच्छी हो चली थी । एक दिन उससे रहा नहीं गया । वह रो पड़ी और उसने शशिबालाके दोनों हाथ पकड़कर अपने मस्तकपर रख लिये तथा कहा—'बहू! तू लक्ष्मी है । मैं नरककी पिशाचिनी हूँ । तू मेरे अपराधोंको क्षमा कर ।' बहू भी रोने लगी । आज उनके जीवनग्रन्थका एक नया मधुर अध्याय आरम्भ हो गया ।

मृणालिनी शरीरसे ही अच्छी नहीं हो गयी, मनसे भी अच्छी हो गयी । उसके व्यवहारके कण-कणमें शशिबालाके प्रति स्नेह-सुधा बरसने लगी । सारा घर परम पवित्र तथा परम सुखी हो गया ।

—राखालचन्द्र बनर्जी

(२)

कर्तव्यपालन

चोटीलाके दो मित्र थे । एक जातिके बनिये और दूसरे अन्य जातिके । वणिक् भाई दो पैसोंसे सुखी थे और दूसरे गरीब । दोनों मित्रोंने कमानेके लिये बाहर जाना निश्चय किया ! दोनों कलकत्ते पहुँचे । वणिक् भाईके बाड़ थी, बाड़के सहारे बेल जल्दी बढ़ती है, इससे वह कलकत्तेमें काममें लग गये । उन्होंने अपने मित्रको भी काममें लगाया । कई वर्ष बीत गये । कालका चक्र घूमा । दूसरे मित्रको कुदरतने प्यार दिया, उन्होंने बम्बई जाकर होजयरीका कारखाना खोला और धनी हो गये । उधर उन वणिक् मित्र-का कलकत्तेमें काम नहीं चला, इससे वह भी बम्बई चले गये।

कामकाजका ठीक ढंग नहीं बैठा, इससे उनको, उन दूसरे भाईने अपनी गद्दीमें मुनीमकी जगह रख लिया । वणिक् भाई बड़े ईमानदार तथा परिश्रमी थे और वह दूसरे भाई भी उन्हें नौकरकी तरह नहीं, परंतु अपने भाईकी तरह ही रखते थे ।

दोनोंके परिश्रम तथा कार्यकुशलतासे उन दूसरे मित्रका कारोबार चमक उठा और दिनों-दिन बढ़ने लगा । इसी बीच मुनीम भाई बीमार हो गये । दवादारू चालू हुई । डाक्टरोंकी रायके अनुसार जलवायु परिवर्तनके लिये उन्हें मित्रने पंचगनी भेजा । सब प्रकारकी दवाएँ की गयीं । पैसेकी ओर कुछ भी नहीं देखा गया । तथापि हुआ वही जो मालिकको मंजूर था । मुनीमजीका कुटुम्ब अनाथ हो गया । विधवा बहिनका सहारा चला गया । घरमें कोई भी कमानेवाला न रहनेके कारण वह अत्यन्त दुखी हो गयी । सगे-सम्बन्धियोंसे सूखी सहानुभूति मिली । रोटी देनेवाला गया सो गया ही । तेरहवींके दिन भाई-बन्धु इकट्ठे हुए । उनमें मुनीमजीके मालिक मित्र भी थे । उन्हें मित्रके घरकी स्थितिका ध्यान आया । विधवा बहिनसे पूछकर उन्होंने उनकी आर्थिक स्थिति समझ ली । वे कुछ क्षण गहरे विचारमें पड़ गये । सब लोगोंके चले जानेके बाद उन्होंने मुनीमजीके बच्चेको अपनी गोदमें बैठाकर उसके सिरपर हाथ फिराते हुए मन-ही-मन सोचा—'मेरी आजकी इस अच्छी स्थितिकी जड़ तो वस्तुतः उस मृत भाईकी ममता और सहायता ही है । इस बातको मैं कैसे भूल सकता हूँ ।' उनके हृदयमें कर्त्तव्यकी जागृति हुई, आँखें गीली हो गयीं । वे बोले, 'बहिन ! भाई चले गये, पर मैं तो हूँ न ? तुम किसी बातकी चिन्ता मत करना । हर महीने बच्चेको आफिसमें भेज देना । जबतक यह स्वयं न कमाने लगे, तबतक प्रतिमास मुनीमजीका वेतन यह लाता रहेगा । इसके अतिरिक्त, जब कभी किसी कारण ज्यादा रकमकी जरूरत हो तो मुझे जना देना, उसकी व्यवस्था हो जायगी । जिसने मेरे हाथ पकड़ा था, मेरे लिये आज उसके बच्चेका हाथ पकड़नेका समय है । मैं यदि इस कर्त्तव्यसे चूक जाऊँ तो मेरी मानवता ही लजा जाय । (अखण्ड आनन्द)

—धीरुभाई दवे

(३)

कृतज्ञता

निवासस्थानसे लगभग तीन-चार सौ मील दूर मुझे नौकरी प्राप्त हुई । इस जगह मेरी बिरादरीके लोग अल्प संख्यामें हैं, इस कारण जब बड़ी कन्या विवाह योग्य हुई तब कठिनाई उपस्थित होना स्वाभाविक था । वह विवाहका विरोध भी करती थी, अतः समय टलता गया । लड़की बड़ी हो गयी और उसने उच्च शिक्षा भी प्राप्त की । मुझे समय-समयपर वर खोजनेके निमित्त छुट्टी लेकर जाना पड़ता, परंतु समीप ही जब अच्छी लड़कियाँ मिलती हों तब दूर विवाह करने कौन लड़केवाला जाय, वह भी वयस्क लड़कीसे और उच्च शिक्षा प्राप्तसे । एक बार बात करनेसे कोई निश्चय न हो पाता, दूसरी तथा तीसरी बार आकर वार्ता करनेकी अपेक्षा रह जाती । मेरा जाना बार-बार हो नहीं सकता था । जहाँ लड़केके अभिभावक सहमत हुए, वहाँ जन्मपत्रके ग्रह न मिले । कहीं वर और कहीं घर मुझे पसंद न आया । इंगलिस्तानसे लौटे एक युवकने कहा कि वह स्वयं मेरी कन्याको देखेगा, अन्य लड़कियोंसे भी साक्षात्कार करेगा । तत्पश्चात् वह विवाहके विषयमें निर्णय करेगा । मैंने इस प्रकारकी सौन्दर्य-प्रतियोगितामें पुत्रीको सम्मिलित करनेसे इनकार कर दिया ।

एक रात्रिके समय सोनेसे पूर्व मैं टहलता हुआ चीर-हरणके समयकी द्रौपदीकी प्रार्थना बोल रहा था—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ॥

—आदि । (तब पुत्रीके विवाहकी बात ध्यानमें नहीं थी ।) उस समय पत्नीने व्यंग किया, 'अच्छा, आज तो भगवान्का ध्यान आ रहा है ।' मैंने उत्तर दिया, 'भगवान् तो सदा हृदयमें विराजमान हैं ।' फिर वह कपाट बंदकर अपने कक्षमें सोने चली गयीं । मैंने एक क्षण सोचकर उनसे किवाड़ खुलवाये और तर्क किया कि 'तुम यह तो मानती हो कि पतिव्रता स्त्रीको किसी ध्यान-पूजनकी आवश्यकता नहीं होती । यदि स्त्री नियम और तत्परतापूर्वक कुटुम्ब और पतिकी सेवा करती है तो इसीसे उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और वह संसार-सागरको सरलतासे तर जाती है । क्या तुम समझती हो कि परमेश्वरकी ओरसे यह कंसेशन, विशेष सुभीता, केवल स्त्रियोंको ही मिला है और पुरुष-शरीरवालोंको इसके अनुरूप कोई सुविधा प्राप्त नहीं है ? मेरा विश्वास है कि पुरुष भी अपने सांसारिक कार्यका निर्वाह धर्म और निष्ठा-पूर्वक करता है तो वह भी बिना किसी विशेष उपासनाके पतिव्रताकी भाँति उस कृपाका अधिकारी हो सकता है । मैं अपना कर्त्तव्य लगन और परिश्रमपूर्वक पूरा करता हूँ, इसलिये वही कर्म भगवान्की सेवा हो जाता है और मुझे अलगसे किसी साधन-भजनकी आवश्यकता नहीं है ।' इस प्रकार अपना पक्ष ऊँचा करके मैं शयन करने चला गया,

परंतु विचारधारा बंद नहीं हुई । मैं सोचने लगा कि यदि सचमुच कर्त्तव्य-परायणता ही भगवान्‌की उपासना है तब तो भगवान्‌ने गीतामें जो यह कहा है कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

'अनन्य भावसे चिन्तन करते हुए जो लोग मेरी उपासना करते हैं उनके योगक्षेम, सांसारिक आवश्यकताओंका भार मैं वहन करता हूँ ।' इस आश्वासनकी पूर्ति मेरे प्रति नहीं हुई और मेरे कार्यव्यस्त रहनेपर मेरी कन्याके विवाहका कोई प्रबन्ध गीतोपदेश करनेवाले परमपुरुषकी ओरसे नहीं किया गया।

यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता है कि यद्यपि मेरे नौकरीके कामको लोगोंने कृपापूर्वक अच्छा ही माना है, परंतु उसमें कोई विशेषता नहीं थी और किसी भी दशामें मेरा वह कर्म न तो उक्त श्लोकमें वर्णित अनन्य चिन्तनकी कोटिमें आ सकता था और न मैं किसी प्रकार गीताकी भाषामें नित्ययुक्त ही कहा जा सकता था। मेरा उस प्रकार सोचना शुद्ध मिथ्याभिमान और ईश्वरके ऊपर जघन्य दोषारोपण मात्र था।

परंतु इस उपालम्भको एक महीना ही नहीं हुआ था कि एक विचित्र बात हुई। एक दिन संध्या-समय जब मैं कार्यालयसे घर लौटा, मैंने एक सज्जनको बरामदेमें बैठे अपने ज्येष्ठ भ्रातासे बातें करते पाया। मैंने उनके दर्शन एक अन्य स्थानपर एक विवाहोत्सवमें किये थे, परंतु उस समय उनका ध्यान मेरी ओर नहीं गया था। वहाँ मुझे बताया गया था कि उनका एक सुयोग्य पुत्र अविवाहित है और उसने एक कम पढ़ी-लिखी कन्यासे, जहाँ सम्बन्ध पक्का हो रहा था, विवाह करना अस्वीकार कर दिया है। मैं इन सज्जनके पास जानेके लिये उत्सुक था, परंतु उन्हें इसका पता नहीं था और आश्चर्य था कि वे स्वयं ही मुझ अपरिचितके द्वारपर आकर उपस्थित हो गये। उन्होंने कहा 'हम इधर समीपस्थ एक नगरमें मुकद्दमेके सिलसिलेमें आये थे, आप हमारी जातिके एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, ऐसा हमने सुन रक्खा था; अतः हम यहाँ आपसे भेट करने चले आये।'

मैंने उनका सत्कार किया, उनके भोजनकी व्यवस्था की और तत्पश्चात् पुत्र-पुत्रियोंको बुलाकर उनके सम्मुख खड़ा कर दिया। फिर विवाह-सम्बन्धकी बात प्रारम्भ हो गयी। मैं उनके वार्तालापसे इस निष्कर्षपर पहुँचा कि इनसे पार पाना सरल कार्य नहीं है। दूसरे दिन वे विदा हो गये। परंतु पंद्रह दिन पीछे वह पुनः आये। फिर बात हुई, भोजन हुआ, उसके बाद उन्होंने प्रकट किया कि लड़का भी आया है। उन्हें हमारे कुटुम्बके बारेमें कुछ व्यक्तियोंसे पूछताछ करनी थी जो वे कर चुके थे। मैं लड़केसे मिला और दो घंटे उससे विविध विषयोंपर वार्तालाप हुआ। मैं उसकी बुद्धि, योग्यता और शालीनतासे बहुत प्रभावित हुआ और अपने मनमें वाह-वाह कहता हुआ घर वापस आया। जितनी प्रसन्नता मुझे उस युवकको देखकर हुई, उतनी अन्य किसीको देखकर नहीं हुई। उन दिनों एक अन्य स्थानसे भी विवाहकी बात चल रही थी, परंतु हम दम्पतीने निर्णय किया कि घर आयी लक्ष्मीको न लौटनेकी जैसी कहावत अन्य अर्थमें है वैसे ही हमें भी घर आये नारायणको खाली नहीं लौटाना चाहिये। उस कुटुम्बका हाल मुझे पहलेसे ज्ञात था, इस कारण घर बैठे ही कन्याका विवाह निश्चित हुआ। परिणयके दिन मैंने अनुभव किया कि वह शायद मेरे जीवनका सर्वोत्कृष्ट दिवस था।

पुत्रीके उस कुटुम्बपर जब कभी कठिनाइयाँ आती हैं, तब मैं यह सोचता हूँ कि जिस शक्तिने उसके विवाहका प्रबन्ध किया था, वही उनका निराकरण भी करेगी। मैं उन सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता कैसे प्रकट करूँ।

—ठाकुरप्रसाद शर्मा

(४)

ईमानदार रसोइया

राजस्थान प्रान्तका जगदीश शर्मा नामका एक गरीब ब्राह्मण कुछ समयसे आसनसोलमें रहता है और विवाह-शादियोंके अवसरोंपर रसोइयेका काम करके अपना गुजर चलाता है। पिछले दिनों उसे आसनसोलसे दुबराजपुर एक लड़कीके विवाहपर रसोइयेके कामपर भेजा गया था और उसीके साथ उसी विवाहोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये एक शिक्षित नवयुवक भी गया था। उस नवयुवकके साथ एक संदूक था, जिसमें लड़कीके विवाहके लिये कीमती कपड़े-गहने और नगद आदि कुल मिलाकर लगभग दस-पंद्रह हजार रुपयोंका सामान था। परंतु बेचारे रसोइयेको जरा भी पता नहीं था कि अमुक व्यक्ति और अमुक सामान उसीके साथ और उसी विवाहोत्सवके लिये जा रहा है। दुर्भाग्यवश रसोइया सो गया। गाड़ी जो अण्डाल जंक्शनपर बदलनी थी, न बदलकर वह हबड़ा स्टेशनतक सोया ही चला गया। स्टेशनपर सभी मुसाफिर उतर चुके थे। वह नवयुवक भी, जिसके ऊपर उस संदूकको सही-सलामत ले जानेका भार था, संदूकको छोड़कर

न जाने कहाँ चला गया था । अचानक बेचारे रसोइयेकी आँखें खुलीं तो उसने देखा कि रेलगाड़ी सूनी खड़ी है, सभी मुसाफिर उतर चुके हैं । केवल वह अकेला ही उस गाड़ीमें पड़ा है और उसके सामने एक वजनदार संदूक पड़ा है । बेचारा बड़े चक्करमें पड़ा और सोचने लगा कि इस संदूकका क्या किया जाय । अन्तमें लाचार होकर उसने कुलीद्वारा उस संदूकको उठवाया और बिना टिकट ही आसनसोलके लिये रवाना हो गया; क्योंकि वापस आनेके लिये उसके पास पैसे नहीं थे, परंतु बंडेल स्टेशनपर टिकटचेकरके द्वारा पकड़ लिया गया । किसी तरह उससे पीछा छुड़ा लेनेके पश्चात् उसने विचार किया कि अब बिना टिकट यात्रा करना उचित नहीं है और यहाँसे टिकट ले लेना ही अच्छा है । उसने संदूकका ताला खोला परंतु ताला खुलते ही वह अवाक् रह गया । संदूकमें सौ-सौके नोट, दस-दस और पाँच-पाँचके नोटोंकी गड्डियाँ, दूल्हेको देनेके लिये घड़ी, दुशाला और लड़कीके लिये गहना, तील और विवाहके खर्चके लिये नगद आदि सभी उस संदूकमें भरे हैं । वह गम्भीरतासे सोचने लगा और उसके दिमागमें यह बात घर कर गयी कि हो न हो यह सामान किसी ऐसे व्यक्तिका है जो अपनी लड़कीका विवाह रचाने बैठा है । यदि यह सामान उसे न मिला तो निर्दोष कन्या कुवाँरी ही रह जायगी । शायद यह माल दुबराजपुरवालोंका ही हो । अतः आसनसोलका विचार छोड़कर वह दुबराजपुर चला गया । इधर संदूक खो जानेके कारण सारा कार्यक्रम ही ठप्प पड़ गया था । परिवारके सभी लोग दुखी और निराश हो गये थे । ऐसे मौकेपर वह रसोइया सन्दूक लेकर पहुँचा तो सबके जान-में-जान आ गयी और विवाहका काम आगे बढ़ा । यह है एक गरीब रसोइयेकी ईमानदारी, जो उन व्यक्तियोंके लिये एक आदर्श है जो धनी-मानी और सम्पन्न होते हुए भी दूसरोंकी छोटी-छोटी वस्तुओंपर अपनी नीयत बिगाड़ लेते हैं । वह चाहता तो उस संदूकको आसानीसे हड़प सकता था, परंतु एक निर्दोष कन्याके भोले-भाले चेहरेकी यादने तथा उसकी ईमानदारीने उसे अपने कर्तव्यपर दृढ़ कर दिया ।

——शिवचरण शर्मा

(५)

हृदयकी जलन

तीस-चालीस साल पहलेकी बात है, एक सेठके यहाँ एक दिन एक महात्मा पधारे । सेठने महात्माका भली प्रकार सत्कार किया तथा महात्माको प्रसन्न जानकर उनसे कहा—'भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे लिये कोई सांसारिक पदार्थ अलभ्य नहीं है । धन-धान्यसे घर भरा हुआ है, पुत्र-पौत्रादिकी भी कमी नहीं है, पर न जाने क्यों, फिर भी मेरे चित्तको शान्ति नहीं मिलती । ऐसा लगता है जैसे कलेजेमें अग्नि जल रही हो । कोई ऐसा उपाय बतानेकी अनुकम्पा करें जिससे यह हृदयकी जलन मिटे ।'

साधुने सहजभावसे कहा—'शोक-संतप्त, दुःख-दलित, व्यथित व्यक्तियोंको सुख पहुँचानेकी कोशिश करो । उनके संकट दूर करो । उनके हृदयकी जलन मिटाओ, परमात्मा तुम्हारे हृदयकी जलन मिटायेंगे ।'

महात्मा चले गये । उनके आदेशानुसार सेठजीने विभिन्न तीर्थ-स्थानोंपर घूम-घूमकर अनेक दीन-दुखियोंकी सहायतामें लगभग पचास-साठ हजार रुपयेका दान कर दिया, पर जियकी जरनि (हृदयकी जलन) में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया । संयोगसे वही महात्मा पुनः पधारे और सेठजीसे उन्होंने कुशल-मङ्गल पूछा । सेठजीने हाथ जोड़कर सिर झुका दिया । जब महात्मा भोजनादिसे निवृत्त हो चुके तो सेठजीने विनम्र होकर कहा—'भगवन् ! आपके आदेशका मैंने यथासम्भव पालन किया, पर अभीतक मेरे हृदयकी जलनमें कोई भी अन्तर नहीं आया ।'

महात्माने कहा—'सेठ ! तुमने दान तो अवश्य किया होगा और वह बहुत ही अच्छा किया । पर वास्तविक पात्रोंको दान नहीं हुआ होगा । दानका परम फल तभी होता है जब वह सुपात्रको किया जाता है ।'

सेठजी चरणोंमें गिर गये । महात्मासे निवेदन किया—'भगवन् ! सुपात्र-कुपात्रकी पहिचान मुझे तो नहीं है । आप ही कृपा करके बताइये कि मैं क्या करूँ, जिससे मेरा यह संकट दूर हो । इस जलनके कारण मुझे कोई भी सांसारिक पदार्थ प्रिय नहीं लगता । मुझे अपना जीवन भी प्रिय नहीं लगता ।'

शामका समय हुआ, महात्मा घूमने निकले । रास्तेमें पीपल-वृक्षके नीचे कुछ मनुष्य बैठे हुए थे । उनमें एक व्यक्तिसे महात्माजी परिचित थे । उसको महात्माने अलग बुलाकर पूछा—'यहाँ जो आदमी बैठे हैं, उनमें कोई अच्छा आदमी है ?' वह बोला कि 'आदमी तो सभी अच्छे हैं, पर वे महाशय जिनके कंधेपर कश्मीरी शाल और एक हाथमें सोनेका कड़ा है, इनमें सबसे श्रेष्ठ हैं ।'

महात्माजीने पूछा—'वह कैसे ?'

उत्तर मिला—'इन महाशयके पूर्वज अत्यन्त सम्पन्न पुरुष थे; किंतु लक्ष्मी अस्थिर है। उसका सर्वदाके लिये कोई निश्चित स्थान नहीं है। इस समय इन महाशयकी दशा इतनी दयनीय है कि जो वर्णनातीत है। सुबह-शामके भोजनका प्रबन्ध नहीं है, बच्चोंको ढकनेके लिये पूरे वस्त्र नहीं हैं, घरमें विवाह-योग्य कन्या धनाभावके कारण भार-स्वरूप हो रही है, पर फिर भी, अपने पूर्वजोंके अनुसार कंधेपर शाल और हाथमें कंगनको कायम रखकर इन्होंने अपने पूर्वजोंकी इज्जतकी रक्षा की है। इनसे श्रेष्ठ मनुष्य अन्यत्र आपको कहाँ मिलेगा ?'

परिचित व्यक्तिसे महात्माने कहा—'व्यासजी ! मैं इनको कुछ आर्थिक सहायता दिलाना चाहता हूँ।' व्यासजीने कहा कि 'मैं इन्हें पूछकर आपको उत्तर दूँगा।' जब व्यासजीने अपने कंगनवाले मित्रसे चर्चा की तो वे बोले—'व्यासजी ! मैं ऐसे कैसे ले सकता हूँ ? हाँ, अगर मुझसे कथा करवाकर कथापर चढ़ा दें तो उसे मैं स्वीकार कर सकता हूँ।'

कथाका प्रबन्ध किया गया। सेठजी हमेशा उसपर चढ़ाया करते, पर उनकी जलनमें कोई अन्तर नहीं हुआ। जब पूर्णाहुतिका दिन आया तो सेठजीने महात्माजीसे पूछा कि 'आज क्या चढ़ाना चाहिये ?' महात्माने कहा—'एक हजार रुपये।' समाप्तिपर सेठजीने पूरे रोकड़ी एक हजारकी थैली कथापर भेंट कर दी। सौ-पचासकी आशा करनेवाले कथावाचकजीने जैसे ही चढ़ावेमें एक हजारकी थैलीके दर्शन किये, उनके दिलकी, वर्षोंसे चली आ रही हृदयकी जलन तत्क्षण समाप्त हो गयी—अब तो कन्याका विवाह अच्छी तरह हो जायगा ! और देखिये, उसी क्षणसे सेठजीके हृदयकी जलन शान्त होने लगी।

पण्डितजी तो चढ़ावा लेकर चले गये, दूसरे दिन महात्माजीने सेठजीसे पूछा—'कहो क्या हाल है ?'

सेठजीने चरणोंमें मस्तक रखकर उन्हें दृढ़तासे पकड़ लिया। महात्माने पीठ थपथपाकर आशीर्वाद दिया। सेठजीने कहा—'थैली भेंट करते ही मेरी जलन तीव्र गतिसे मिटने लगी और कल रातको मेरा चित्त पर्याप्त प्रसन्न था। इस समय आपके अनुग्रहसे मैं आनन्दानुभव कर रहा हूँ, पर अभी रुपयेमें सोलह आने नहीं।'

एक सप्ताह पश्चात् महात्माने सेठजीसे दो सौ रुपये और लिये, और वे कथावाचकजीके घर गये। पूछनेपर कथावाचकजीने बताया कि 'एक हजार रुपयेसे लड़कीका विवाह अच्छी तरह सम्पन्न हो गया। हाँ, डेढ़-दो सौ रुपये अभी बाजारके चुकाने बाकी हैं, सो वह भी किसी तरह हो जायगा।'

महात्माजीने कहा कि 'सेठजी आपसे अमुक पाठ करवाना चाहते हैं और ये दो सौ रुपये पारिश्रमिकस्वरूप भेजे हैं।' कथावाचकजीने रुपये लिये और पाठ किया। इसके साथ-साथ सेठजीके हृदयमें जो बची-खुची जलन थी, वह भी समाप्त हो गयी ! —श्रीलाल नथमलजी जोशी

(६)

सुन्दरकाण्डका माहात्म्य

हमारी नतनी (दौहित्रपुत्री) श्रीरामरंजनसिंहजी रेंजर (Ranger, Ranchi) राँचीकी पुत्री गत ४-९-६० को बीमार पड़ी। उसका इलाज बड़े योग्य डाक्टर M. D. ने शुरू किया। पेशाब एवं खूनकी जाँच की गयी। पर बुखारका वेग कम नहीं हुआ। १०२ से १०४ डिग्री बुखार नित्यप्रति उसको आता था। वह भी दिनमें दो बार।

बढ़िया-से-बढ़िया उपलब्ध औषध कैपसुलसे लेकर साधारण मिक्सचर (Mixture) तथा सुइयाँ (Injection) भी की गयी; परंतु लाभ नहीं हुआ। बुखारका वेग कुछ भी कम नहीं हुआ।

मैंने एक बार सुन्दरकाण्डका माहात्म्य 'कल्याण' वा मानस-मणिमें पढ़ा था। लेखमें लिखा था कि सभी विपत्तियाँ एकमात्र 'सुन्दरकाण्ड' के पाठसे ही मिट सकती हैं। लेखपर विश्वास करके एवं प्रभुकी कृपा तथा दयालुताको स्मरण कर मैंने 'सुन्दरकाण्ड' एवं हनुमान-चालीसाका पाठ रोगी के सिरहाने बैठकर धूप वगैरह देकर नियमपूर्वक आरम्भ कर दिया। दवा भी चलती रही।

दूसरे दिनसे बुखारका वेग कम होने लगा और दसवें दिन १०२ डिग्रीसे एकाएक ९६ डिग्रीपर बुखार उतर आया। बुखार उतर जानेके बाद भी सात दिनोंतक पाठ चलता रहा। सात रोजके पाठसे वह पूर्णतः स्वस्थ एवं चंगी हो गयी। बुखार निर्मूल हो गया।

हमारा विश्वास है कि सुन्दरकाण्ड एवं हनुमान-चालीसाके पाठद्वारा ही प्रभुकी कृपा हुई।

कोई भी भाई विपत्तिके समय विश्वासपूर्वक स्वयं पाठ करके तत्काल फल प्राप्त कर सकता है। यह सत्य घटना एवं अनुभूत प्रयोग कल्याणके पाठकोंके लाभके लिये प्रेषित है।

—गिरीश्वरप्रसादसिंह,

संस्कृति-माला भाग १ से ८ (कक्षा ३ से १० के लिये)

प्रायः सभी देश-हितैषियों तथा शिक्षाविशारदोंने यह स्वीकार किया है कि शिक्षा-संस्थाओंके वर्तमान पाठ्यक्रममें भारतीय संस्कृतिके ज्ञानका समावेश न होनेके कारण आज देशके नवयुवकोंमें अनुशासनहीनता आ गयी है। नैतिक बलका अभाव हो गया है और उच्छृंखलता बढ़ गयी है। भारतीय संस्कृतिके अमर सिद्धान्तोंसे परिचित होनेपर ही ये कमियाँ दूर हो सकती हैं। इसलिये बिरला-शिक्षण-संस्थाओंके सम्मान्य कुलपति पद्मश्री पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डेने विभिन्न कक्षाओंके विद्यार्थियोंके मानसिक धरातलके अनुरूप प्राचीन भारतीय संस्कृतिका एक पाठ्यक्रम तैयार करनेके लिये विभिन्न शिक्षाविद् सज्जनोंकी एक उपसमिति श्रीयुत डॉ० कन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, अध्यक्ष—हिंदी-संस्कृत-विभाग, बिरला-आर्टस् कालेज, पिलानी (राजस्थान) की अध्यक्षतामें नियुक्त की थी। उसने विभिन्न कक्षाओंके लिये जो पाठ्यक्रम बनाया उसीके अनुसार ये पुस्तकें तैयार हुई हैं।

पुस्तकोंका विवरण इस प्रकार है—

संस्कृति-माला भाग १ (कक्षा ३ के लिये)—लेखिका श्रीमती प्रेमा सरीन एम्० ए०, पृष्ठ-सं० ४८, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .२० नये पैसे, डाकखर्च अलग। इसमें रामायण, महाभारत, श्रवणकुमार, प्रह्लाद, ध्रुव, सती सावित्रीकी कहानियाँ और पालनीय नियम हैं।

संस्कृति-माला भाग २ (कक्षा ४ के लिये)—पृष्ठ-सं० ५६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मू० .२५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें सत्यकाम जाबाल, महाशाल शौनक और अङ्गिरा ऋषि, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, नचिकेता, इन्द्र-विरोचन, श्रीकृष्ण, भक्त हनुमान्, भीष्मपितामह, युधिष्ठिर और एकलव्यकी कहानियाँ तथा पालनीय नियम हैं।

संस्कृति-माला भाग ३ (कक्षा ५ के लिये)—लेखक—पं० श्रीरामकृष्णजी शर्मा, पृष्ठ-संख्या ८८, मूल्य .३० नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, भगवान् परशुराम, महात्मा कबीर, गुरु नानकदेव आदि १९ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ४ (कक्षा ६ के लिये)—पृष्ठ-संख्या १०४, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें भक्त सुव्रत, भक्त परीक्षित्, मातृपितृभक्त श्रवणकुमार, चैतन्य महाप्रभु, समर्थ स्वामी रामदास, महामुनि वशिष्ठ, दिलीप, भक्त सूरदास, तानसेन, मीराँ आदि २६ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ५ (कक्षा ७ के लिये)—लेखक—पं० श्रीव्रजभूषणलालजी शर्मा, पृष्ठ-संख्या ९६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें जातक कथाओंका परिचय, चाणक्य, चरक, कालिदास, कर्ण, दमयन्ती, बुद्ध, महावीर, तक्षशिला, नालन्दा आदि १७ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ६ (कक्षा ८ के लिये)—पृष्ठ-सं० १००, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, मू० .३५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें दानवीर दानव नमुचि, राजा त्रिविक्रमसेन और भिक्षुक तपोदत्तकी कहानी, धवलमुख और उसके दो मित्र, भरत मुनि, कपिल मुनि, भामती, रामकृष्ण परमहंस आदि १९ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ७ (कक्षा ९ के लिये)—ले०—श्रीवसन्तलालजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्याचार्य, पृष्ठ-सं० १५२, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, आठ सादे चित्र, मू० .५५ नये पैसे। डाकखर्च अलग। इसमें ब्रह्मतेजाकी विजय, अभिमानका त्याग, महर्षि दध्यङ्ङाथर्वणकी क्षमाशीलता आदि १२ पाठ हैं।

संस्कृति-माला भाग ८ (कक्षा १० के लिये)—पृष्ठ-सं० १३६, सुन्दर दोरंगा मुख-पृष्ठ, दो तिरंगे तथा दो सादे आर्टपेपरपर छपे चित्र, मू० .५५ नये पैसे। डाक-खर्च अलग। इसमें ईशादि तेरह उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, हड़प्पा और मोहेन-जो-दड़ो और विक्रमशिलाके पाठ हैं।

ये सभी पुस्तकें साफ सुन्दर अक्षरोंमें छपी हुई हैं। स्कूल-कालेजोंके पाठ्यक्रममें सम्मिलित करने योग्य हैं। ताओंको नियमानुसार कमीशन तथा अपने निकटस्थ स्टेशनतक नियमानुसार फ्री-डिलेवरी मिलती है। आशा है कि शिक्षा-जगत् इनसे लाभ उठा सकेगा।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २४१ लेखोंका एक संग्रह

(प्रत्येक भागमें सर्वथा स्वतन्त्र अलग-अलग लेख हैं)

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण-आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि'के समान हैं।

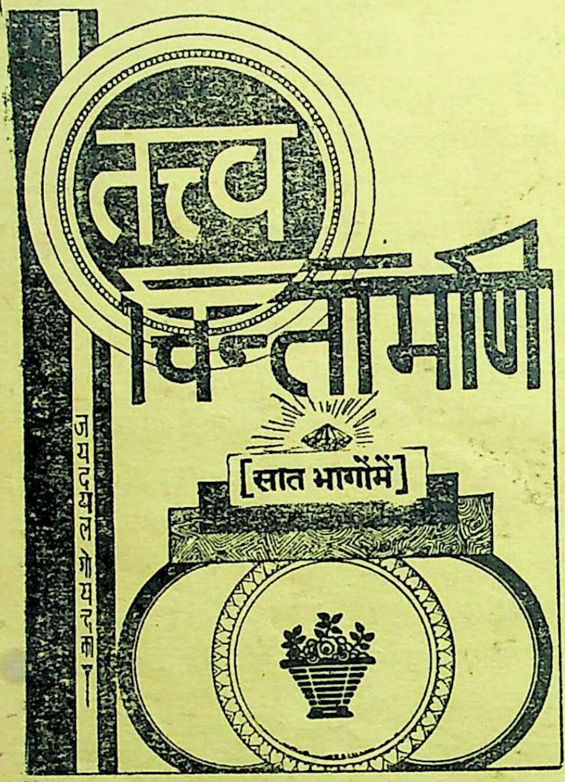

भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगा २, मूल्य .६२, सजिल्द ... १.००

भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १, मूल्य .८७, सजिल्द ... १.२५

भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४२४, चित्र तिरंगे २, मूल्य .७०, सजिल्द ... १.०६

भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५, मूल्य .८१, सजिल्द ... १.२०

भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४, मूल्य .८१, सजिल्द ... १.२०

भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १, मूल्य १.००, सजिल्द ... १.३३

भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १, मूल्य १.१२, सजिल्द ... १.५०

इन सातों भागोंमें कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३६८, चित्र तिरंगे १६, सातोंका मूल्य ५.९३ सजिल्द ८.५८, डाकखर्च अजिल्दका ३.८०, सजिल्दका ४.४०।

भाग १ से ५ तकके छोटे आकारके गुटका संस्करण भी मिलते हैं।

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६५, तिरंगे चित्र ६, पाँचोंका मूल्य १.७३, सजिल्द २. डाकखर्च अजिल्दका २.००, सजिल्दका २.२०।

बालकोपयोगी एक नयी पुस्तक

आओ बच्चो तुम्हें बतायें

(ले०—श्रीबंसीधरजी भाई साहब)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-सं० ३२, सुन्दर दोरंगा आर्टपेपरपर छपा मुख-पृष्ठ, मूल्य .१६ पैसे। डाक-खर्च अलग।

बच्चोंके लिये यह बहुत सुन्दर शिक्षाप्रद पुस्तिका है।

हमारी पुस्तकें प्रायः छपे दामोंपर ही विक्रेतागण बेचते हैं, अतः पुस्तकें यहाँसे मँगवानेके पहले अपने स्थानके विक्रेतासे माँगिये। इससे आपको भारी डाकखर्चकी बचत होगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोर

कल्याण

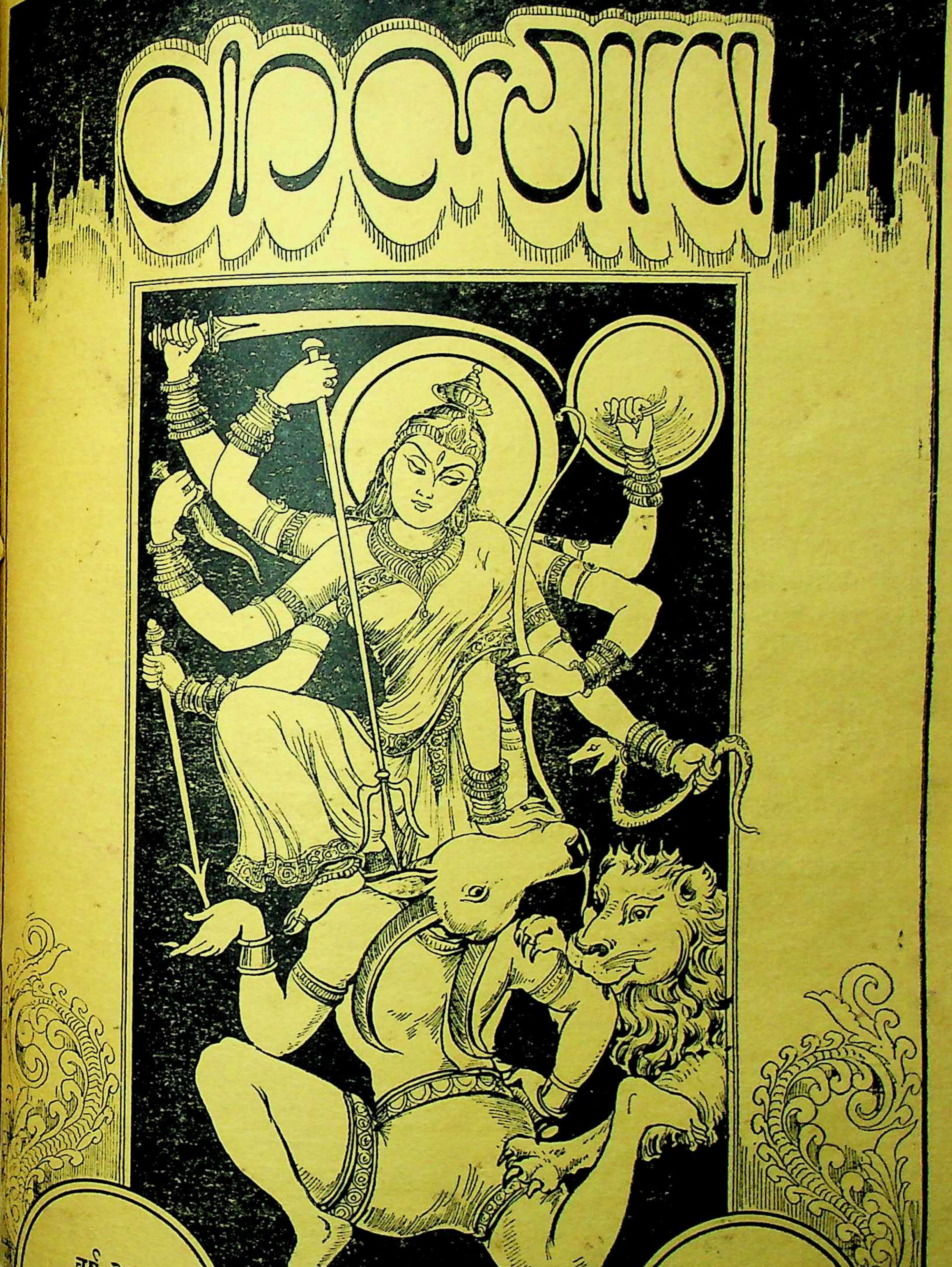

वर्ष ३५

अङ्क १०

कल्याण

याद रक्खो—तुम्हारा सारा जीवन भगवान्‌की क्रीड़ा है और तुम्हारा अहंकार तथा तुम भगवान्‌की क्रीड़ास्थली हो। तुम्हारे सुख-दुःख, लाभ-हानि, उत्सव-अवसाद, स्वस्थता-रुग्णता, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, निज-पर, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, जीवन-मरण—सभी भगवान्‌की क्रीड़ा है—उनकी लीला है। तुम जो क्रीड़ाक्षेत्र हो—अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर, व्यर्थ ही भगवान्‌की लीला तथा भगवान्‌के प्राणी-पदार्थोंमें अहंता-ममता, कामना-आसक्ति करके अपने-आप ही अशान्ति, क्षोभ, दुःख, पाप आदिको बुलाकर उनके अधीन हो जाते हो, इस मोहको—प्रमादको छोड़कर अपनी यथार्थ स्वरूपस्थितिको पहचानो और इन सारे अज्ञानजनित स्व-रचित मिथ्या बन्धनोंको तोड़कर भगवान्‌को स्वतन्त्ररूपसे निर्बाध उनकी मनमानी लीला करने दो—खेल खेलने दो।

याद रक्खो—तुम उनके लीलाक्षेत्र ही हो, पर यदि सर्वथा अपनेको उनकी लीलाका क्षेत्र न देख सको तो कम-से-कम यही करो कि तुम्हारे जिम्मेका जो खेल है, उसे उन एकमात्र स्वामी भगवान्‌की प्रीतिके लिये उनके लीला-विधानके अनुसार खेलते रहो और उनकी शेष सारी लीलाओंको—सब खेलोंको चाहे वे शृंगार-रसके हों या भयानक-रसके, करुण-रसके हों या रौद्र-रसके, हास्य-रसके हों या बीभत्स रसके—किसी भी रसके कैसे भी हों, देखते रहो और उन अजब खिलाड़ी लीलामय भगवान्‌की लीला-चातुरीपर नित्य मुग्ध होते रहो।

याद रक्खो—वस्तुतः इस समस्त अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डमें दो ही चीजें हैं—जो है वह 'भगवान्' है और जो हो रहा है—वह 'भगवान्‌की लीला' है। लीलामय भगवान् और भगवान्‌की लीलामें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। वस्तुतः लीला, लीला करनेवाले भगवान् और लीलाके साथी-संगी तथा उपकरणादि सब भगवान् ही हैं। भगवान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वलोक-महेश्वर हैं और वे नित्य नयी लीला करते हैं तथापि उन सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्‌की सारी लीलाएँ पूर्वज्ञात, सुव्यवस्थित, निर्भ्रान्त एवं परमानन्दमयी हैं। भगवान्‌की इस लीलामें नित्य निरन्तर केवल सीमारहित आनन्द ही आनन्द है; क्योंकि यह लीला उन अनन्त परमानन्द-स्वरूप भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। वह लीलामय ही लीलाके रूपमें प्रकट हैं।

याद रक्खो—भगवान्‌की इस लीलामें तुम्हें यदि कहीं दुःख, पीड़ा, निराशा, विषाद, भय, शोक आदि काली-कराली छायामूर्तियाँ दीखती हैं या उनकी कल्पना होती है तो इसका अभिप्राय यही है कि तुमने अभीतक इस बातको ठीक-ठीक समझा-देखा नहीं है कि इस अनन्त विश्वमें केवल परमानन्दमय भगवान् हैं तथा उनकी आनन्दमयी लीला ही अनवरत चल रही है। सृजन और संहार दोनों उस लीलाकी ही दो दिशाएँ हैं। इस रहस्यको समझ-देख लेनेपर तो सदा सर्वथा सर्वत्र आनन्द ही आनन्दका अनुभव होता है।

याद रक्खो—भगवान् ही इन सारी लीलाओंके निमित्त-उपादान कारण हैं, वे ही करते हैं, वे ही देखते हैं और यदि कहीं भोगनेकी कल्पना हो तो अपनेमें अपनेको विविध विचित्र खिलौनोंके रूपमें, खेलके रूपमें आप ही भोगते हैं। तुम भी एक खिलौने, खेलकी भूमि या खेल ही हो। यह समझो और सदाके लिये आनन्दमय बन जाओ।

'शिव'

परमात्मा, जीवात्मा और विश्व

(मूल अंग्रेजी लेखक—ब्र० जगद्गुरु अनन्त श्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धनमठ, पुरी)

[अनुवादक—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

[गताङ्क पृष्ठ ११५४ से आगे]

पर कुछ आधुनिक विद्वानोंकी संतुष्टिके लिये भी, जो केवल वेदोंकी संहितामात्रको ही श्रुतिरूपमें प्रमाण मानते हैं, उपनिषदोंको नहीं, हम यहाँ यजुर्वेद (शुक्ल और कृष्ण) के पुरुषसूक्तमें आये हुए निम्न मन्त्रको प्रमाणरूपमें उद्धृत करते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

(यह प्रजापति गर्भमें विचरण करता है और अजन्मा होते हुए भी अनेक रूपोंमें जन्म लेता है अर्थात् प्रकट होता है।) आर्यसमाजके संस्थापक तथा वेदोंकी संहितामात्रको श्रुतिरूपमें प्रमाण माननेवाले महर्षि दयानन्द सरस्वतीने भी अपने शुक्ल यजुर्वेद-संहिताके भाष्यमें ठीक हमारे-जैसा ही अर्थ किया है ।

इसके बाद हम अब एक ऐसे ग्रन्थपर विचार करते हैं, जिसे सबने ही प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है और कार्लाइल, इमर्सन-जैसे पाश्चात्त्य दार्शनिकोंने भी जिसकी प्रशंसा की है और अब भी जो पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा प्रशंसित हो रहा है, वह ग्रन्थ है—'भगवद्गीता' । यह गीता भी अद्वैत सिद्धान्तका ही पोषण करती है । गीताके निम्न दो श्लोक ही स्थालीपुलाक-न्यायसे हमारे कथनके समर्थनके लिये पर्याप्त होंगे—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४ । २४)

(हविको समर्पित करनेकी क्रिया, हवि, यज्ञाग्नि, यज्ञकर्त्ता, यज्ञक्रियाके पीछे काम करनेवाला ध्यान और उस कर्मका फल—सभी कुछ ब्रह्म ही है ।)

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

(१३ । १-२)

(यह शरीर क्षेत्र है और आत्मा या क्षेत्रज्ञ वह है, जो यह कहता है कि 'यह मेरा है' । मुझे ही सब शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा समझो, इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ या शरीर-आत्माका ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है ।)

गीताके सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी व्याख्याकार श्रीहरिप्रसाद 'वैदिकमुनि' भी अपने 'स्वाध्याय-संहिता' नामक ग्रन्थमें इन दोनोंका वही अर्थ करते हैं जो ऊपर किया गया है ।

अन्य धर्म

यहाँतक शास्त्रोंके आधारभूत 'श्रवण'की विवेचना करनेके बाद अब हम 'मनन'पर आते हैं, इसमें हम दो तरहसे विचार करेंगे—

१–वेदोंके द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्तका दूसरे धर्मोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन ।

२–अद्वैत सिद्धान्तके आन्तरिक गुणोंको बताते हुए उसका स्वतन्त्र अध्ययन ।

बाइबलमें इस प्रश्न (द्वैत और अद्वैत) पर ज्यादा विचार नहीं किया गया; क्योंकि बाइबल एक नीति-प्रधान (Ethical) ग्रन्थ है, तत्त्वज्ञान-प्रधान (Metaphysics) नहीं । इसका कारण यह है कि वे व्यक्ति, जिन्हें बाइबलद्वारा उपदेश दिया गया, केवल नीति-शास्त्र (Ethics) के ही अधिकारी थे, तत्त्व-ज्ञान-शास्त्र (Metaphysics) के नहीं, इसी कारण बाइबलद्वारा उन्हें नीति-शास्त्रका उपदेश दिया गया । पर जहाँ कहीं भी बाइबलमें तत्त्वज्ञानपर विचार किया गया है, हम यही देखते हैं कि वहाँ अद्वैतवाद (Monism) के सिद्धान्तोंका ही समर्थन है, उदाहरणार्थ—एक जगह ईसा कहते हैं—

२०—The kingdom of God is within you.

परमात्माका राज्य तुम्हारे अंदर ही है ।

२१—Ye are Gods.

तुम्हीं परमात्मा या ब्रह्म हो ।

इसी प्रकारके कुछ वाक्य सेण्ट जॉनके 'गॉस्पल' (Gospel), 'एपिसल' (Epistle) और रिवीलेशन (Revelation) में मिलते हैं। इन वाक्योंके अलावा यूनान और रोमके कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी मिले हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि यह भारतीय अद्वैतवाद ही था, जिसका प्रचार ईसाने भारतसे ले जाकर पेलेस्टाइन (Palestine) में किया था। पर ईसाके इन सिद्धान्तोंको वहाँके द्वैतवादी (मुखसे तो अद्वैतवादका प्रचार करनेवाले पर हृदयसे बहुदेवतावादको माननेवाले) सहन नहीं कर पाये। परिणाम यह हुआ कि ईसाके बहुत शत्रु हो गये। फिर रोमके न्यायालयमें उसे देश-द्रोह और धर्म-द्रोहका दोषी ठहराकर उसपर अभियोग चलाया गया, बादमें उसे काँटोंका ताज पहनाकर क्रॉसपर चढ़ा दिया गया। केवल सेण्ट जॉन ही ऐसा व्यक्ति था, जिसे ईसाके सिद्धान्तोंपर पूर्ण श्रद्धा थी। पर आज ईसाई सेण्ट जॉनके सिद्धान्तोंको अत्यधिक यौगिक और रहस्यात्मक होनेके कारण उन्हें जीवनके लिये अनुपयोगी बताकर उसके ग्रन्थोंपर ध्यान नहीं देते, इसके विपरीत सेण्ट मेथ्यू, सेण्ट मार्क और सेण्ट लूके आदिके उपदेशोंको बड़े ध्यानसे पढ़ते हैं, जिनमें तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा नीति या आचार (Ethics) पर अधिक बल दिया गया है। पर आज भी कोई भी निष्पक्ष दृष्टिवाला व्यक्ति, जो ईसापर श्रद्धा रखता है, अद्वैतको छोड़कर द्वैतके सिद्धान्तोंका समर्थन नहीं कर सकता।

इस्लाममें केवल सूफ़ी मतके अनुयायी ही इस तत्त्व-ज्ञान (Metaphysics) पर विचार करते हैं और उनके विषयमें यह कहना अनुचित न होगा कि वे पूर्णतया अद्वैतवादी थे।

पाश्चात्त्य दार्शनिक

हम इस तुलनात्मक अध्ययनके प्रसंगमें और अधिक विस्तारमें न जाकर केवल यही कहना चाहते हैं कि पाश्चात्त्य दर्शनके इतिहाससे हमें यह ज्ञात होता है कि यूनानके दार्शनिक प्लेटोसे लेकर स्वेडेनवर्ग, वर्डसवर्थ, ब्राउनिंग, कार्लाइल, इमर्सन, बिशप बर्कले, हेगल, फिक्टे, कांट, थॉमस हिल ग्रीन, विलियम वेकर, एटकिन्सन और प्रो० डायसन आदि आधुनिक दार्शनिक तथा अन्य मनोवैज्ञानिक और तत्त्व-शास्त्रज्ञ सभी शंकरद्वारा प्रतिपादित अद्वैतवादके पोषक हैं, भौतिकवादी सिद्धान्तोंके नहीं। पाश्चात्त्य आदर्शवादी (Idealists) दार्शनिकोंमें और शंकराचार्यमें केवल यही भेद है कि जहाँ पाश्चात्त्य दार्शनिक (यहाँतक कि दार्शनिक-शिरोमणि कांट भी अपने 'क्रिटिक् ऑफ़ प्योर रीज़न' में दृष्टिगोचर होता है) अपनी निष्पक्ष बुद्धिद्वारा निश्चित किये गये निर्णयोंको भी अपनानेमें हिचकते थे, वहाँ भगवान् शंकरने अपनी निर्दोष बुद्धि, तर्क और ध्यानके द्वारा निश्चित किये गये अद्वैतवादके सिद्धान्तोंको दृढ़तासे अपनाया और उनका प्रचार किया।

यहाँ हमें यह कहनेमें संकोच न होगा कि सर्वतः पतनके बावजूद आज भी भारतके पास भगवान् शंकराचार्यद्वारा प्रदत्त अद्वैतवादके सिद्धान्तोंकी एक ऐसी निधि है, जो विश्वके महान्से महान्तम विचारकको भी बरबस अपने सामने झुकनेके लिये बाध्य करती है। भारत इस महान् आचार्यके प्रति चिरऋणी रहेगा।

तर्क

इसके बाद हम अब इस सिद्धान्तके दार्शनिकता और वैज्ञानिकतापर आधारित गुणोंका स्वतन्त्र रीतिसे विचार करते हैं। ऊपर किया गया तुलनात्मक अध्ययन हमारे अंदर एक समस्या उत्पन्न कर देता है कि वे पाश्चात्त्य विद्वान् (जिनकी वेदोंपर श्रद्धा नहीं है और जिनमें कुछ लोगोंने तो वेदोंका नाम भी नहीं सुना होगा।) भगवान् शंकरके अद्वैतवादसे किस प्रकार प्रभावित हुए ? इसका केवल एक यही उत्तर है, (जिसे कोई भी उत्तम रीतिसे विचार करनेवाला, न्यायप्रिय और निष्पक्ष दृष्टिवाला दे सकता है) कि अद्वैतवाद ही केवल ऐसा सिद्धान्त है, जो विचार और तर्ककी कसौटीपर खरा उतरता है, परिणामस्वरूप पाश्चात्त्य दार्शनिकोंको भी (भारतीय आदर्शवाद (Idealism) के प्रति ईर्ष्यालु होते हुए भी) ईमानदार विचारक होनेके नाते अद्वैतवादके सिद्धान्तोंको जबरन् स्वीकार करना पड़ा; क्योंकि केवल अद्वैतवाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है कि जिसका समर्थन तर्क और बुद्धि भी करती है।

प्रणाली (Method)

अपनी समस्याको सुलझानेके लिये हम एक बार फिर उसी स्थानपर आते हैं, जहाँसे हमने यह विवेचन प्रारम्भ किया था, अर्थात् हम कहाँसे आये हैं, हमारा स्वरूप क्या है, हमें कहाँ जाना है ? आदि-आदि। तत्त्व-ज्ञान-शास्त्रमें यह

एक मुख्य प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें उस शाश्वत सुखकी प्राप्तिका मार्ग दिखा देगा, जो सबकी पहुँचके अंदर है पर दुर्भाग्यसे आज तत्त्व-ज्ञान-शास्त्रके विचारकोंने अपनी विकृत विचार-प्रणालियोंसे इस प्रश्नको इस रूपमें प्रस्तुत किया है कि एक जिज्ञासु भी इन प्रश्नोंपर विचार करनेसे डरता है। यह प्रसंग हमें एक विश्वविद्यालयके दर्शन-शास्त्रके प्रोफेसरकी याद दिलाता है, जिसने, किसी शिष्यद्वारा दार्शनिक विवेचनाकी परिभाषा पूछनेपर, बड़ी गम्भीरतासे कहा था कि—

'यदि दो आदमी आपसमें बात कर रहे हों, पर वे दोनों एक दूसरेकी बातें न समझते हों तो उनकी जो बातचीत है, ठीक वही रूप दार्शनिक विवेचनका है।

यह अवस्था है उन लोगोंकी, जो दार्शनिकोंके नामसे कहे जाते हैं। यदि तत्त्वज्ञानका विचार किसी जिज्ञासुके मनमें एक काल्पनिक भय उत्पन्न करता है तो उसके लिये ऐसे दार्शनिक ही उत्तरदायी हैं।

यहाँ हमारा उद्देश्य केवल यही दिखाना है कि कैसे एक साधारण मनुष्य भी किसी पारिभाषिक और बड़े-बड़े ग्रन्थोंके पचड़ेमें पड़े बिना, केवल मननद्वारा वेदान्त-प्रतिपादित व्यष्ट्यात्मा और समष्ट्यात्मा अर्थात् जीवात्मा और ब्रह्मकी एकताको अपने अंदर साक्षात् कर सकता है। इसका विचार अब हम करते हैं—

जीवात्मा

क्या वास्तवमें जीवात्माका अस्तित्व है? यदि है तो जीवात्माका लक्षण क्या है? इन प्रश्नोंके उत्तरके लिये हमें एक बार फिर उसी स्थानपर जाना पड़ेगा, जहाँसे हमने अपने विचार शुरू किये थे; क्योंकि हम इस विषयमें तबतक आगे नहीं बढ़ सकते, जबतक कि हम नास्तिकोंकी अनात्मवादिता और संशयवादियों (Agnostics) के जीवात्मा-के अस्तित्व-विषयक संशयका (कि जीवात्मा है या नहीं) निराकरण करके जीवात्माके अस्तित्वको प्रमाणित न कर दें। अब हमें देखना यह है कि जब हम जीवात्माकी बात करते हैं तो वहाँ हमारा जीवात्मा शब्दसे क्या तात्पर्य है? इसलिये सर्वप्रथम जीवात्माकी परिभाषासे हम अपना विचार प्रारम्भ करते हैं। जीवात्मा वह है, जिसका कि अनुभव हमें अपने अंदर 'मैं या मेरा' के रूपमें होता है। तो क्या वहाँ हमारा जीवात्मा शब्दसे तात्पर्य शरीरका है, अथवा यों कहिये कि क्या यह शरीर ही जीवात्मा है? निस्संदेह नहीं; क्योंकि जब मैं कहता हूँ कि मैं कमजोर हूँ, मैं मोटा हूँ, तब यहाँ मेरे कहनेका यही अर्थ होता है कि मेरा शरीर कमजोर या मोटा है, और जब मैं कहता हूँ 'मेरा शरीर' तो षष्ठी विभक्तिमें प्रयुक्त हुआ 'मेरा' शब्द ही यह स्पष्ट कर देता है कि मैं और मेरा ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, जैसे धन और धनवान्। उदाहरणार्थ, जब कोई कहता है कि 'यह मेरी घड़ी है' तो उसका अर्थ यही होता है कि घड़ी उसकी सम्पत्ति है और वह उसका स्वामी। इसलिये वह और उसकी घड़ी एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार ऊपर प्रयुक्त हुआ 'मेरा' शब्द भी इस बातका द्योतक है कि यह शरीर सम्पत्ति है और मनुष्य उसका मालिक है।

इसी प्रकार हम जीवात्मासे संयुक्त होकर भ्रान्ति पैदा करनेवाले अन्य तत्त्वोंका भी खण्डन करते चले जाते हैं और अन्तमें हम एक ऐसी स्थितिपर पहुँचते हैं, जहाँ हमारे सामने केवल एक तत्त्व रह जाता है कि जिसका और आगे खण्डन नहीं किया जा सकता। उसको हम जीवात्मा कहते हैं। हम उपर्युक्त प्रणालीके द्वारा ही 'मेरी आँखें, मेरे कान, मेरी नाक' इनमें प्रयुक्त हुए 'मेरे' शब्दके आधारपर ही यह निश्चित कर लेते हैं कि ये इन्द्रियाँ जीवात्मा नहीं हो सकतीं; क्योंकि ये मेरी सम्पत्तियाँ हैं और मैं इनका स्वामी हूँ।

पर यहाँ एक शंका उठ सकती है कि यह ठीक है कि इन्द्रियाँ मनके सहयोगसे काम करती हैं, पर मन कभी-कभी (स्वप्नावस्थामें) इन्द्रियोंके सहयोगके बिना ही काम करता है, अतः मन ही इन इन्द्रियोंका स्वामी अर्थात् जीवात्मा होगा, पर इसका भी उत्तर नकारात्मक ही है; क्योंकि हम प्रायः कहते हैं कि 'आज मेरा मन स्थिर नहीं है' या 'आज मेरा मन इधर-उधर भाग रहा है, अतः मैं इसको अपनी बुद्धिसे स्थिर करूँगा'; अतः यहाँ भी 'मेरा' शब्द यह बताता है कि मन भी इन सम्पत्तियोंका स्वामी या जीवात्मा नहीं हो सकता। (क्रमशः)

निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक ब्राह्मणके लिये दान लेना और देना—दोनों कार्य ही धर्म हैं। यदि वह निष्कामभावसे करे तो ये दोनों ही उसके लिये कल्याणकारक हैं। वह किसीकी कोई वस्तु स्वीकार करता है तो ममता, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमानसे रहित होकर उसके हितके लिये ही करता है और किसीको कुछ देता है तो उसके हितके लिये ही देता है, अतः लेना और देना दोनों ही उसके लिये हितकर हैं। यही नहीं, यदि दाता निष्कामभावसे देता है और ग्रहीता भी निष्कामभावसे स्वीकार करता है तो निष्कामभावके प्रभावसे दोनोंका ही कल्याण हो जाता है। यदि कहें इस प्रकार मुक्ति मिले तो सबके लिये मुक्ति कहाँसे आयेगी तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के यहाँ मुक्तिकी कोई कमी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(३ । ११)

‘(ब्रह्माजी प्रजाओंको रचकर उनसे कहते हैं—) तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ-भावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग सभी परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।’

इसी प्रकार ही निष्कामभाव होनेसे दाता और ग्रहीता दोनोंका उद्धार हो जाता है।

यदि मनुष्यको निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो उसका व्यवहार स्वाभाविक ही उच्चकोटिका और विलक्षण हो जाता है। जब किसी भी पदार्थ, व्यक्ति या क्रियामें स्वार्थका नाम-निशान भी नहीं रहता, आसक्ति, ममता और अभिमानका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब उस मनुष्यकी प्रत्येक क्रिया उज्ज्वल और पावन हो जाती है एवं दूसरे मनुष्योंको भी वह पवित्र बना देती है।

अतः हमलोगोंको निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझना चाहिये। दूसरोंको सुख पहुँचाना बहुत उत्तम है, किंतु यदि कोई अपनेको अधिक आराम पानेके उद्देश्यसे आरामका त्याग करता है तो वह त्याग निष्कामभाव नहीं है। जैसे रेलगाड़ीमें कभी दूसरोंको सोनेका आराम देनेके लिये अपनी जगह देकर हम नीचे बैठ जाते हैं, इस उद्देश्यसे कि हम यदि अपनी जगहका त्याग करेंगे तो हमारे त्यागको देखकर वह भी त्याग करेगा। यह त्याग उत्तम होनेपर भी निष्कामभाव नहीं है।

तथा हम कभी किसी उच्च अधिकारीवर्गकी सेवा-शुश्रूषा और आदर-सत्कार करते हैं; उस समय हर प्रकारसे उनको इस उद्देश्यसे आराम पहुँचाते हैं कि समय पड़नेपर इनसे कोई मूल्यवान् काम निकाल लेंगे; तो यह सेवा सकाम ही है।

इसी प्रकार हम अपने किसी प्रिय मित्र, भाई-बन्धु या सम्बन्धीके साथ यात्रा कर रहे हैं तो दोनोंका खर्चा स्वयं देनेका आग्रह करते हैं कि मेरा ही खर्चा लगना चाहिये। यह सुन्दर बर्ताव देखकर दूसरा भी वैसा ही आग्रह करता है कि यह खर्चा मेरा ही लगना चाहिये। इस आग्रहमें यदि ‘मेरे त्याग करनेसे दूसरेमें भी त्यागके भावकी जागृति होगी और इससे मुझको वस्तुतः त्याग नहीं करना पड़ेगा’ यह उद्देश्य है तो वह भी सकाम ही है।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा प्राप्त होनेपर उनका हम त्याग तो कर रहे हैं; किंतु उसके फलस्वरूप हमको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अधिक मिल रहे हैं, जिनको पाकर हम मनमें प्रसन्न होते हैं तो यह भी सकामभाव ही है।

इसलिये जो सांसारिक पदार्थोंकी कामनासे सेवा करता है उसे सांसारिक पदार्थ ही मिल सकते हैं, जो स्वर्गकी कामनासे सेवा करता है उसे स्वर्ग ही मिल सकता है तथा जो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये सेवा करता है उसे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा ही मिल सकती है; किंतु कल्याण तो निष्कामभावसे सेवा करनेपर ही प्राप्त हो सकता है।

असली निष्कामभाव वह है जिसमें न तो दिखाऊपन है, न भीतरमें कोई स्वार्थ, आसक्ति या कामना ही है और सारी क्रियाएँ केवल निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने घरपर फल या सब्जी लेकर आया और यह कहकर कि 'हमारे लड़केके ससुरालसे ये सब वस्तुएँ आयी हैं' देनेके लिये बहुत आग्रह करता है किंतु हम किसी प्रकार लेना स्वीकार नहीं करते तो इससे उसको दुःख होता है, उस स्थितिमें उसके संतोषके लिये कम-से-कम मात्रामें उस वस्तुको स्वीकार कर लेनेमें वस्तु लेकर भी निष्कामभाव ही है किंतु न लेनेका अभिमान रखकर तथा 'तुम यह सब लाये ही क्यों ? तुम तो जानते ही हो कि हम किसीकी वस्तु नहीं लेते' ऐसा कहकर निष्कामभावकी ऐंठ रखते हुए उसकी वस्तु लौटा देते हैं, चाहे उसे दुःख हो, चाहे वह अपमान समझे; तो यह न लेना भी निष्कामभाव नहीं है। हाँ, जो मनसे देनेकी इच्छा तो नहीं है, किंतु सभ्यताके लिये देनेका आग्रह करता है तो उस स्थितिमें तो न लेना ही निष्काम है।

एक मनुष्य हृदयसे अनुरोध करता है कि हमसे परमार्थ विषयकी सेवाका काम लेना चाहिये तो उसका विशेष आग्रह होनेपर केवल उसके संतोषके लिये उससे लोकसेवाका काम लिया जाता है तो वह उससे काम लेना भी निष्काम है। हम किसीकी सेवा कर रहे हैं; सेवा करानेवाला हमारे संतोषके लिये ही सेवा स्वीकार कर रहा है तो हमको यह समझना चाहिये कि इसकी हमपर दया है। बल्कि 'मैं इसकी सेवा कर रहा हूँ' यह अभिमान न रखकर यह भाव रखना चाहिये कि मैं तो अपना कर्तव्य समझकर खान, पान, दवा आदिकी ही मामूली सेवा कर रहा हूँ और यह जो मेरे कल्याणके लिये मेरी सेवा स्वीकार कर रहा है, यह मेरी बड़ी सेवा कर रहा है। इस भावसे अपनेको उसका ऋणी समझना चाहिये। अपनेको ऋणी समझना ही निष्कामभाव है। 'जिन पदार्थोंसे मैं सेवा करता हूँ, वे सारे पदार्थ भगवान्के हैं; जिन हाथोंसे सेवा करता हूँ, वे हाथ भगवान्के दिये हुए हैं और जिनकी सेवा करता हूँ, उन सबमें भगवान् विराजमान हैं। इस प्रकार भगवान्के ही पदार्थोंसे, भगवान्के दिये हुए हाथोंसे भगवान्की ही सेवा की जा रही है; यह उचित है, न्याय्य है। किंतु सेवा करते हुए भी यदि किसी प्रकारका अपनेमें अच्छेपनका अभिमान या दूसरेपर अहसान करनेका भाव आता है तो वह हमारे लिये अनुचित है।' ऐसा भाव होना निष्कामभाव है।

कोई मनुष्य हमारे दोष बतावे तो सुनकर हमको न तो क्रोध करना चाहिये और न दुःख ही; बल्कि प्रसन्न होना और अपनेपर उसका उपकार मानना चाहिये; क्योंकि यदि कोई झूठा दोष लगावे तो उससे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती। भगवान् तो सर्वान्तर्यामी और न्यायकारी हैं, वे सब जानते हैं, वे किसीके कहनेमात्रसे हमको दण्ड नहीं देते। फिर हमको किस बातकी चिन्ता ? यदि चिन्ता करें तो भगवान्पर और भगवान्के न्यायपर हमारा विश्वास कहाँ ? यदि उसका दोष लगाना उचित है तो अपना सुधार करना चाहिये और उस दोष बतानेवालेको अपना परम हितैषी मानना चाहिये। गुरुकी भाँति उसका अपनेपर उपकार समझना चाहिये; क्योंकि वह हमारा हित करता है। इस विषयमें एक कहानी है।

एक वैश्य था। एक दिन वह किसी महात्माके पास गया और बोला—'महाराज ! कोई मनके प्रतिकूल व्यवहार करता है तो मनमें क्रोध आता है, दुःख होता है और उस व्यक्तिके प्रति द्वेषबुद्धि होती है।' इसपर महात्माने उपदेश दिया—'यह तुम्हारी बिल्कुल गलती है। किसीके द्वारा भी किसी प्रकारकी भी जो मनके प्रतिकूल क्रिया होती है, उसको परम दयामय भगवान्की विशेष दया समझना चाहिये।' यह सुनकर उसने नियम ले लिया कि कोई अपने साथ कैसा भी अनुचित या बुरा व्यवहार करे, न तो दुःख करना, न क्रोध करना और न उससे द्वेष ही करना है। उस वैश्य व्यापारीके पड़ोसमें ही एक ब्राह्मण व्यापारी रहता

था। उस ब्राह्मणने जब यह बात सुनी तो वह उसके नियमको भंग करनेके लिये चेष्टा करने लगा। जब कभी कोई काम पड़ता, उचित हो या अनुचित, वह सदा उस वैश्यके पक्षके विपरीत ही व्यवहार करता था। किंतु वह वैश्य कभी भी न तो क्रोध करता, न दुःख मानता और न ब्राह्मणके प्रति द्वेषबुद्धि ही करता था। बहुत समयतक चेष्टा करनेपर भी ब्राह्मणको कभी सफलता नहीं मिली।

एक बार होलीके दूसरे दिन, उस ब्राह्मणने वैश्यसे कहा—'तुम परोपकारी हो। आज मैं अपने ससुराल जा रहा हूँ, क्या तुम यह मिठाईकी हँडिया अपने सिर-पर लेकर मेरे साथ मेरे ससुराल चल सकते हो?' वैश्यने देखा—हँडियापर स्वस्तिक चिह्न था, नाल बँधा हुआ था और ढक्कन लगा हुआ था। उसने स्वीकार कर लिया कि हाँ, मैं ले जा सकता हूँ और वह हँडिया सिरपर लेकर चलने लगा। वह ब्राह्मण सुन्दर पोशाक पहने हुए छड़ी हाथमें लेकर वैश्यके पीछे-पीछे चलने लगा। उस हँडियामें मल-मूत्र और कीचड़ भरा हुआ था। बाजारके बीचमें आते ही ब्राह्मण-ने छड़ीसे उस हँडियाको फोड़ डाला। फिर क्या था। मल-मूत्र और कीचड़ उस वैश्यके बदनपर सब ओर बहने लगा। उस समय ब्राह्मण उस वैश्यको उत्तेजित करनेके लिये हँसा और बोला—'देख, तेरी क्या दुर्दशा है।' यह देख-सुनकर वैश्य भी हँसने लगा। ब्राह्मणने कहा—'मूर्ख! तू क्या हँसता है?' वैश्यने उत्तर दिया—'मैं ईश्वरकी और आपकी दयाको देखकर हँसता हूँ। मुझे जो दुःख और क्रोध नहीं हुआ, यह आपकी बड़ी भारी दया है। जैसे गुरु शिष्यको ध्यान रखकर उसे योग्य बनाता है वैसे ही आपने मुझपर दया की है और योग्य बनाया है। आपके उपकारका मैं ऋणी हूँ।' यह सुनकर उस ब्राह्मणका हृदय बदल गया और वह वैश्यके चरणोंमें गिरकर रोने लगा। कुछ देर बाद उसने वैश्यसे कहा—'मैं बड़ा अपराधी हूँ। इस अपराधके कारण मुझको यमराज घोर नरकमें डालेंगे।' वैश्य बोला—'यदि आपके द्वारा मेरा अनिष्ट होता या मुझे दुःख होता तब तो यमराज आपको नरकमें डालते। मैं तो इसे अपना उपकार मानता हूँ, ऐसी परिस्थितिमें यमराज-की सामर्थ्य नहीं है कि वे आपको नरकमें डालें।' वैश्यका जो यह भाव है, यह निष्कामभाव है।

अतएव हमको हरेक क्रिया करते समय सबके हितके उद्देश्यसे यही भाव रखना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। अथवा मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌के हाथमें मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रियकी बागडोर है; अतः भगवान् ही मुझसे करवा रहे हैं और जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की इच्छाके अनुसार ही हो रहा है।

जब ऐसा भाव हो जाता है तब उसकी यह कसौटी समझ लेनी चाहिये, उसके द्वारा कभी कोई शास्त्रविरुद्ध कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि जहाँ भगवान् करवाते हैं वहाँ वे स्वयं अपने नियमके विपरीत कैसे करायेंगे! यदि विपरीत कार्य होता है तो समझ लेना चाहिये कि उसमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामनाका हाथ है। देखें गीता ३।३७। जैसे, जो गुरुके ऊपर ही निर्भर है उस छोटे बच्चेको गुरु अक्षर-ज्ञान करानेके समय उसका हाथ पकड़कर उसके हाथसे कलमद्वारा अक्षर लिखवाते हैं, उसमें कभी भूल नहीं हो सकती। वह जब गुरुके बिना स्वयं ही लिखने लगता है, तभी न जाननेके कारण भूल होती है। इसी प्रकार जहाँ अज्ञान है, कामना है, वहीं शास्त्रविपरीत कार्य हो सकते हैं; किंतु जहाँ कामनाका अभाव है, यानी पूर्ण निष्कामभाव है और भगवान्‌पर निर्भरता है वहाँ शास्त्रविपरीत कार्य कभी हो ही नहीं सकता।

इसलिये हमें उपर्युक्त प्रकारसे निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य समझकर स्वार्थ, अभिमान, ममता, आसक्तिका सर्वथा परित्याग करते हुए पूर्ण निष्कामभावसे ही अपने समस्त शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। इससे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

परम सुखदाता भगवान्

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान्को 'सुखस्वरूप' और 'सुखके भी सुख' कहकर स्मरण करते हैं—

'सुख स्वरूप रघुबंसमनि मंगलमोद निधान ।'
'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम ॥'

श्रीजनकजी इन्हें 'आनन्दका भी आनन्द' कहते हैं—

सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनँदहू के आनँद दाता ॥

अधिक क्या भावुकोंने तो भगवत्स्मृति, भगवच्चर्चा-कथाको भी सर्वाधिक सुखद कहा है । तभी तो सनकादि-जैसे तत्त्वज्ञ समाधि-जैसे दिव्य सर्वातिशायी सुखका परित्याग कर भगवच्चरित्रका श्रवण-गान करते रहते हैं—

मुनि गुनगान समाधि बिसारी । सादर सुनहिं परम अधिकारी ॥
जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान ।
जे हरिकथा न करहिं रति तिन्हके हिय पाषान ॥

इसीलिये भगवच्चर्चा करनेवाले संत एवं 'सत्संग'के सुखको भी सर्वोपरि कहा गया—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

भागवत तो स्पष्ट यही व्याख्या भी करता है—

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गः हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्म रोचकम् ॥

इसी तरह भगवत्सम्बन्धी समस्त प्राणी-पदार्थ वस्तुजात-मात्र ही सुखद है । भगवन्नाम सुखद, भगवत्कथा सुखद, भगवत्पूजा सुखद, भगवदीय धाम-तीर्थ सुखद, भगवद्भक्त सुखद और भगवदीय ग्रन्थ गीता, रामायण, भागवतादि भी अत्यन्त सुखद हैं । ये नामजप, कथा-श्रवण, कीर्तन, पूजन, तीर्थदर्शन आदि सुकृतसमुदाय ही भगवद्भक्ति-शब्दवाच्य हैं । और इस तरह भगवद्भक्तिको साधुओंने बहुत ही श्रेष्ठ सुख कहा है—

'भगति स्वतंत्र सकल सुख खानी ।'

इसमें भी 'प्रेमाभक्ति'को सर्वश्रेष्ठ फलका फल कहा गया है । भक्तिरसायनकार उसे एकत्रित फलचतुष्टय किंवा 'नवरससम्मेलन' कहते हैं—

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति ।

इसीलिये चतुर लोग मोक्षचतुष्टयका परित्याग कर 'सेवा-सुख'का ही वरण करते हैं ।

'प्रभु कह देन सकल सुख सही ।
भगति आपनी देन न कही ॥
भगति हीन गुन सुख सब ऐसे ।
लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥

इसमें सुखके साथ नवीन दिव्य पुण्योंका सृजन-कार्य भी चलता रहता है । इसीलिये ऐसे चतुर भक्तको भगवान् भी सर्वोत्तम भाग्यशाली कहते हैं—

सब सुख खानि भगति तैं मागी ।
नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥

भगवान्की सुख-स्वरूपताका वर्णन महर्षि वाल्मीकिने अपने रामायणमें किया है । श्रीरामके वियोगमें पशु-पक्षी-वृक्ष तक भी परिम्लानताको प्राप्त हो जाते हैं—

अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ।

दरिद्रको धन मिलता है, पर रामवियोगमें उसे वह नहीं सुहाता । वन्ध्याको पुत्र होता है, पति-वियोगिनीका पति वापस आता है, पर रामवियोगमें वे उन्हें गालियाँ देती हैं । साँप और बिच्छू भी रघुनन्दनको देखकर सौम्य हो जाते हैं—

'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी ।
तजहिं बिषम बिष तामस तीछी ॥

खरदूषण भी कहते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥

हम देखते हैं कि वनवासी, उदासी, तपस्वी, विमण्डित विकृत जटाजूट धूलिधूसरित किंतु निसर्गसुन्दर रघुनन्दनके मुखमण्डलपर आप्तकाम, परम निष्काम, आत्माराम, वल्कलवसन, कन्दमूलफलाशी, सिद्ध, परमहंस, योगी, मुनि रीझकर कह उठते हैं 'भगवन्! **त्वामालिङ्गयामो वयम्।**' वस्तुतः यही श्रीरामकी आनन्द-सुखस्वरूपता है कि सर्वाकर्षण-विमुक्त आत्माराम मुनिगण भी विरुद्धधर्मी होकर उनपर आकृष्ट हो जाते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भागवत)

वास्तवमें अमलात्मा मुनियोंके हृदयमें भक्तियोगके विधानार्थ ही भगवत्स्वरूपका आविर्भाव होता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

इस परम विशुद्ध सुखके दाता भगवान्‌के अतिरिक्त कोई नहीं। जो भगवान्‌से इसकी आशा लगाता है, कभी न कभी वे उसकी आशा अवश्य पूरी करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्‌की श्रुति तो यहाँतक कहती है कि यदि यह परमात्मा अपने भक्तोंकी आशा पूरी न करता, वह सर्व-आनन्द-सुखदायक रस-रूप न होता तो इस विश्वमें कौन जीता—कौन प्राण धारण करता?

को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।
(२।७।१)

'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (वे० सू०)

इस वेदान्त सूत्रमें यहाँके आकाशका अर्थ परमात्मा ही किया है।

भगवान्‌की महिमा अनन्त है। वे समस्त ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति, शोभा एवं आनन्दके केन्द्र हैं। शरणमें जानेपर वे निजसर्वस्व आत्मस्वरूपतक प्रदान कर देते हैं; क्योंकि वे दानिशिरोमणि हैं और इससे कम देना वे जानते ही नहीं। इसलिये चतुर व्यक्ति भी यही चाहता है। प्रार्थना करता है—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

वस्तुतः इसीमें जीवका पूरा श्रेय है।

◆

मेरे जीवनमें प्रभुकी सुधामधुर शान्ति प्रकट हो गयी

मैं प्रभुका, वे प्रभु हैं मेरे, मेरा उनका नित सम्बन्ध।
जान गया मैं इसको, इससे सब कट गये जगत्‌के बंध॥
भोगोंका जो राग-काम-तम छाया था मन मध्य अनन्त।
प्रभुके परमोज्ज्वल प्रकाशसे आज हो गया उसका अन्त॥
हटा सभी अज्ञान तिमिर, अब मिटी सभी ममताकी भ्रान्ति।
प्रकट हो गयी जीवनमें मम प्रभुकी सुधामधुर शुभ शान्ति॥

---

१. कैकेयीने वर ही माँगा था—तापस बेस बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी॥

अखण्ड साधन

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

बात बड़ी सुन्दर पूछी है। ये जो दो प्रश्न आये हैं— एक तो अखण्ड साधन कैसे हो; दूसरा यह कि साधन, साध्य और साधकका क्या स्वरूप है, इनकी एकता कैसे हो ? ये दोनों मिलकर एक ही प्रश्न है। एक प्रश्न आया कि मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह बात एक नयी-सी मालूम देती है, यह कैसे समझमें आये ? ये दोनों ही प्रश्न एक ही ढंगके हैं और इनका एक ही उत्तर है।

वास्तवमें साधकको यह बात समझमें नहीं आ रही है कि 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—इसका खास कारण है शरीरके साथ अपनी एकताका भाव दृढ़ है। यह एकताका भाव दृढ़ हो जानेसे ही यह समझमें नहीं आता कि मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं। वास्तवमें शरीरके साथ इसका सम्बन्ध है नहीं; यह केवल माना हुआ है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' मान्यता इतनी दृढ़ हो गयी कि सच्ची प्रतीत होने लगी। ठीक सच्ची प्रतीत होती है शरीरके साथ एकताका दृढ़ निश्चय हो जानेसे। किंतु ऐसी दृढ़ भावना हो जानेसे कि मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह बात नहीं ठहरती। वास्तवमें शरीरके साथ इसकी एकता है नहीं। और थोड़ा-सा विचार करें तो यह प्रत्यक्ष बात हरेकके अनुभवमें आ सकती है कि पहले हमारा इस शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्ध नहीं था। आजसे ९० वर्ष पहले, १०० वर्ष पहले, इतने जो अपने बैठे हैं, किसीका भी शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं था और फिर शरीरके सम्बन्धियोंके साथ तो सम्बन्ध कब रहा ? तथा आजसे १०० वर्ष बाद इन शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, तब फिर शरीरके सम्बन्धियोंके साथ कैसे रहेगा। इस विचारसे हरेक भाई-बहनके यह बात समझमें आ सकती है। दृढ़तासे समझ लें—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।' सिद्धान्त है—जो आदि-अन्तमें नहीं रहता है, वह वर्तमानमें भी नहीं है और वर्तमानमें भी वही है जो आदि-अन्तमें था। इस शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्ध पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा, अतः अब भी नहीं है। जब शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है तो किसके साथ सम्बन्ध है ? हमारा सम्बन्ध प्रभुके साथ है। है ही भगवानके साथ सम्बन्ध। शरीर और कुटुम्बियोंके साथ तो सम्बन्ध माना हुआ है किंतु प्रभुके साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।

जो मान्यता होती है उसमें मूल कारण होता है अनजानपना; और अनजानपना आता नहीं है यानी इसका आना नहीं होता, जाना तो हो सकता है। अभी कोई किसी भाईसे पूछे कि 'तुम्हें फ्रेंच भाषा आती है ?' वह कहेगा—'नहीं आती।' फिर पूछे—कबसे ? तो यह प्रश्न ही नहीं होता। अनजानपना कबसे है यह प्रश्न नहीं बनता। इसलिये वेदान्तमें अज्ञानको अनादि माना है। अतः अज्ञान—अनजानपना अनादि है। फिर भी आप यह प्रश्न करें कि हम तो इसे जानना ही चाहते हैं—यह अनजानपना आया कहाँसे ? इसका असली उत्तर तो हो गया पर फिर भी पूछें तो यह उत्तर है कि यह अनजानपना तभीसे आया, जबसे आपने जो अपना नहीं है उसको अपना माना। इसपर प्रश्न होता है कि जो अपना नहीं है उसको अपना क्यों माना ? इसका एक तो कारण अज्ञान है, अतः यह मान्यता अज्ञानका कार्य है। दूसरी बात यह है कि हमने माना तो था इसके तत्त्वको जाननेके लिये, पर उसे तो हम भूल गये और उसको अपना मानकर बैठ गये।

जैसे भारतीय संस्कृतिके अनुसार द्विजातियोंके लिये यह विधान है कि पहले ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करो, फिर गृहस्थ बनो। ब्रह्मचारी दो तरहके होते हैं—१. नैष्ठिक ब्रह्मचारी, २. उपकुर्वाण। जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ब्रह्मचर्याश्रममें ही रहें अथवा सीधे संन्यासाश्रममें चले जायँ—सदाके लिये अखण्ड ब्रह्मचारी बनें, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं। और जो ब्रह्मचर्याश्रमका यथावत् पालन करके उसकी समाप्ति-स्नान करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हों। फिर, क्रमसे वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रममें जायँ वे कहलाते हैं—उपकुर्वाण ब्रह्मचारी। ये दो भेद क्यों हुए ? ये दो भेद इसलिये हुए कि मानव-शरीर मिला है परमात्माकी प्राप्तिके लिये और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहता है, उसको संसारका त्याग करना पड़ता है। संसार-त्यागकी बात सुनकर हम डर जाते हैं। पर संसारके त्यागका अर्थ यह नहीं है कि हम यहाँसे भागकर चले जायँ। जंगलमें ही चले गये, तो क्या जंगल संसार नहीं है ? और जिस शरीरको लेकर जाते हैं वह शरीर क्या संसार नहीं है। संसारके त्यागका मतलब है शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, प्राण आदि पदार्थोंमें अहंता-ममताका त्याग। यही संसारका

त्याग है। परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो संसारका त्याग करना पड़ेगा अर्थात् सांसारिक वस्तुओंके साथ अहंता-ममता नहीं रख सकोगे। अहंता-ममता रक्खोगे तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी—यह निश्चित बात है। जब हम त्याग करते हैं तब उसमें हमारे बाधा देनेवाली है भोगोंकी रागवृत्ति, संग्रह और सुखकी आसक्ति। सांसारिक सुख लेने, भोगोंका सुख लेने, संग्रहका सुख लेनेकी आसक्ति ही त्यागमें बाधक होती है। ब्रह्मचर्याश्रममें ऐसा विचार किया जाय कि इसका त्याग करके परमात्माकी ओर चलना है तो विचारद्वारा, विवेकद्वारा, शास्त्रद्वारा, उपदेशद्वारा हम इनको छोड़ना चाहते हैं पर कैसी जबर्दस्ती हो रही है कि छूटती नहीं है, किसी तरह छोड़ सकते ही नहीं। तब कहा कि तुम अब गृहस्थाश्रममें जाओ, इसे देखो—पदार्थ क्या हैं और कैसे हैं। किंतु जब हम विचारके द्वारा इनको छोड़नेमें समर्थ हो जाते हैं तब कहते हैं—तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाओ। तो ये दो पथ वहाँसे इसलिये हुए कि अधिकारी दो तरहके हैं। गृहस्थाश्रमका धारण करना किसलिये हुआ? विचारद्वारा जिस भोगासक्तिका हम नाश न कर सके तो अब उसका ज्ञान करके, उसे जानकर, समझकर, भोगकर उसका तत्त्व समझमें आ जाय तब उसका त्याग कर दें इसलिये। निष्कर्ष यह कि गृहस्थाश्रमको धारण करना त्यागके लिये होता था, न कि रागके लिये, सदा फँसनेके लिये। यह (राग करना) हमारी संस्कृति ही नहीं है।

जैसे यह सिद्ध हो गया कि गृहस्थाश्रममें हम क्यों प्रविष्ट हुए, त्यागके लिये, वैसे ही अज्ञानसे हमने यह सम्बन्ध क्यों जोड़ा, त्यागके लिये। इसीलिये इसे अपना माना। त्याग पहले क्यों नहीं हुआ? त्याग कर नहीं सके। अतः गृहस्थाश्रमको अपनाया। गृहस्थाश्रमको अपनाकर क्या करें? गृहस्थाश्रमको अपनाकर शास्त्रीय रीतिके अनुसार उसका पालन करें। शास्त्रीय रीति साथमें लाते ही भोगोंमें सीमितपना आ जायगा। देश-काल-वस्तु सब सीमित हो जायगी और सीमित होकर उसके नियम भी हो जायँगे कि ऐसे-ऐसे भोगो। अतः सीमित पदार्थोंके साथ सम्बन्ध और नियमपूर्वक भोगनेका सम्बन्ध—ये दो बातें रहेंगी। इसीको धर्म कहते हैं यानी धर्मके अनुसार गृहस्थाश्रमका पालन करो। फिर क्या होगा? उच्छृङ्खल भोग नहीं भोग सकते। इससे एक तो हमारा जीवन नियमित हो जायगा और दूसरी उसमें एक विलक्षण बात और हो जायगी कि हमारा उद्देश्य त्यागका रहेगा। ये दो चीजें साथ होनेसे वैराग्य अवश्य होगा ही—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

धर्म ते बिरति—'एक स्त्रीके साथ विवाह करो' तो सीमित हुआ न? एक गृहस्थमें रहो, एक परिवारमें रहो, एक घरमें रहो, यह तुम्हारा और यह तुम्हारा नहीं। तो यह तुम्हारा भी अपना कैसे है? जब सारा संसार एक है तो एक घर आपका कैसे? एक परिवार आपका कैसे? उतने ही रुपये आपके कैसे? यह समष्टि पदार्थोंमेंसे नमूना आपको दे दिया गया कि इस नमूने-के साथ न्याययुक्त बर्ताव करते हुए, सबका पालन-पोषण करते हुए, आप इनके सुखोंको लें और भोगें। भोगकर देखें इसका नमूना। किसलिये? त्यागके लिये। तो स्वतः आपके त्याग होगा। धर्मका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होता ही है, होता ही है। भागवतमें लिखा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान किया जाय और भगवान्‌के चरणोंमें यदि प्रीति उत्पन्न नहीं हुई तो धर्मका अनुष्ठान नहीं हुआ, केवल परिश्रम हुआ, परिश्रम;—श्रम एव हि केवलम्। यह नियम है कि धर्मपूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे वैराग्य होता है। सोचिये, धर्मपूर्वक सेवन करता है किस उद्देश्यसे? रागको मिटानेके उद्देश्यसे। जब रागकी प्रबलता होती है तब मनुष्य धर्म-कर्म नहीं देखता; फिर तो रागपूर्वक विषय-सेवन करता है। उस विषयसेवनसे तो विषयका राग बढ़ेगा ही, वैराग्य नहीं होगा। आज बूढ़े हो जानेपर भी वैराग्य नहीं होता। कारण क्या है? भोग भोगनेके लिये भोग भोगते हैं। रागपूर्वक भोग भोगते हैं। सुख लेनेके लिये भोग भोगते हैं। इससे वैराग्य ब्रह्माजीकी आयु समाप्त हो जायगी तब भी नहीं होगा। और उद्‌देश्य यदि इनके तत्त्वको जानकर त्यागका है तो नियमपूर्वक विषयोंको भोगनेसे अरुचि हो जाती है। अतः हम देख लें। संतोंने कहा है—

गुरु सोर बबूला आग हवा सब कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियाको सब धोखेकी-सी टट्टी है॥

तथा—

चाख चाख सब छाँड़िया माया रस खारा हो।
नाम सुधा रस पीजिए छिन बारंबारा हो॥
लगे हमें राम पियारा हो॥

अतः 'चाख चाख सब छाँड़िया माया रस खारा हो'—जब यह कड़वा लगेगा तब स्वतः छूटेगा।

हमने जो शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ा था, वह जैसे गृहस्थाश्रमी पुरुष अपनी एक पत्नीके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, वैसे ही जोड़ा था त्यागके लिये। किंतु उसको भूल गये। इसका नाम है अज्ञान-मूर्खता।

अतएव अब इसे याद कर लें कि हमने इसके साथ सम्बन्ध जोड़ा है केवल त्याग करनेके लिये। त्याग करनेके लिये ही परीक्षा करना है और देखकर छोड़ देना है जिससे आगे चलकर हमारा मन कभी न चले। शरीरके साथ अपनापन माना हुआ है। यदि इसको हमने नहीं छोड़ा, यह हमसे नहीं छूटा तो इसके तत्त्वको जान लें। जब आप इसके तत्त्वको जान लेंगे, तब इसके साथ सम्बन्ध रहेगा नहीं।

इसीलिये भगवान्‌ने कृपा करके संसारकी ऐसी सुन्दर रचना की है कि कोई वस्तु कभी भी एकरूप नहीं रहती। यह भगवान् क्रियात्मक उपदेश दे रहे हैं जीवोंको कि जिसके साथ तुम सम्बन्ध जोड़ोगे वह उस रूपमें नहीं रहेगा। यह एक बात विनोदसे कह देते हैं कि भगवान्‌के और जीवके बीचमें एक हठ हो गया है। जीव तो कहता है—मैं सम्बन्ध जोड़ूँगा। भगवान् कहते हैं—बच्चू, मैं सम्बन्ध तोड़ूँगा। जीव कहता है—मैं बच्चा हूँ। भगवान् कहते हैं—बचपनको नहीं रहने दूँगा। फिर कहता है—मैं जवान हूँ। भगवान् कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। जीव कहता है—यह इतना मेरा परिवार है। भगवान् कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। जीव कहता है—इतना धन मेरे पास है। भगवान् कहते हैं—नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं बड़ा स्वस्थ हूँ। वे कहते हैं—नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं बीमार हूँ। वे कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। भगवान् कहते हैं—जिनके साथ तू सम्बन्ध जोड़ेगा, मैं उन सबका सम्बन्ध-विच्छेद करता रहूँगा। तू जोड़ता जायगा तो मैं तोड़ता जाऊँगा।

यहाँ सम्बन्ध तोड़नेका अर्थ क्या है—आगे नया सम्बन्ध न जोड़ना, तब पुराना सम्बन्ध अपने आप टूट जायगा; क्योंकि वह तो छूटने ही वाला है—

अंतहि तोहि तजेंगे पामर! तू न तजै अब हीं तें।
मन पछितैहै अवसर बीते॥

अतः इसका तत्त्व जाननेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ा है, न कि सम्बन्ध रखनेके लिये।

और तो क्या कहें; आप जिनको संत, महात्मा, विरक्त, त्यागी, अच्छे पुरुष मानते हैं, उनके साथ भी सम्बन्ध जोड़ना वास्तवमें सम्बन्ध तोड़नेके लिये है। यह बात कड़वी लगती है पर बात यही है। गृहस्थाश्रम छोड़कर साधु बन गये और गुरुजीके साथ सम्बन्ध जोड़ा। गुरुजीके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये थोड़े ही जोड़ा है। गुरुजी बता देंगे कि भाई, तुम्हारा सम्बन्ध सदा रहनेवाले असली स्वरूपके साथ है। इन सबके साथ सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। अतः सबसे सम्बन्ध तोड़नेके लिये ही उनसे सम्बन्ध जोड़ना है, न कि इनके साथ ही मर मिटना है। इस जोड़े हुए सम्बन्धको नित्य मान लेते हैं यही गलती है। हमने जो शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया, इसीसे यह गलती हुई है। तो अब हम क्या करें?

'शरीर मैं हूँ'—यह भाव होनेसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' यह बात समझमें नहीं आती। समझमें न आनेमें कारण शरीरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। जीव वास्तवमें परमात्माका है और परमात्मा जीवके हैं—यह इसका असली सम्बन्ध है। इसलिये जो अच्छे संत-महात्मा होते हैं, वे यही उद्‌देश्य रखते हैं, यही उपदेश देते हैं कि तुम परमात्माके हो और परमात्मा तुम्हारे हैं। तुम यह शरीर नहीं हो।

जबतक शरीरके साथ 'मैं'पन बना हुआ है, तबतक साधन अखण्ड नहीं होगा। यह प्रश्न था कि अखण्ड साधन कैसे हो। जबतक आपका इस शरीरमें मैं और मेरापन है, तबतक साधन अखण्ड नहीं होगा। जरा ध्यान दें—अखण्ड क्या होता है और खण्ड क्या होता है। जो मैंपन है, वह अखण्ड होता है। आपको कभी भी पूछा जाय, यही उत्तर होगा—मैं हूँ। इसको आप चाहे याद रक्खें, या बिल्कुल गाढ़ नींद आ जाय, चाहे व्यवहारमें बिल्कुल भूल जायँ, परंतु मैं अमुक वर्णका, अमुक आश्रमका हूँ, यह आपको बिना याद किये भी याद है, बिना स्मृतिके भी यह स्मृति है। आपको याद ही नहीं, होश ही नहीं, कि किस काममें लगे हैं, पर जहाँ जरा सावधान हुए, वहाँ 'मैं हूँ' यह भाव है। फिर वही नाम, वही गाँव, वही वर्ण, वही आश्रम और अपनी वैसीकी वैसी स्थिति दिखलायी पड़ेगी, स्वप्नमें भी। इसलिये मैंके साथ जोड़ा हुआ सम्बन्ध अखण्ड होता है। मैंका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ न जोड़कर संसारके साथ जोड़ा रखते हैं और भजन करना चाहते हैं अखण्ड। असम्भव बात है। चाहे इस कान सुनें, चाहे उस कान। आप मानें या न मानें। प्रमाण मिले चाहे न मिले। इमें तो भाई! संदेह है नहीं। आपको संदेह

हो तो आप भले ही न मानें। आपसे हमारा कोई आग्रह नहीं।

वर्षोंतक सत्सङ्ग-भजन करते हुए भी निरन्तर भजन नहीं होता—इसमें कई कारणोंमें बहुत मुख्य और बड़ा कारण है जो अहंताके साथ साधनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। साधन तो करते हैं और संसारका चिन्तन होता है। जो होता है वह असली है और जो करते हैं वह होता है नकली। असली होगा वही अखण्ड होगा। नकली अखण्ड कैसे होगा? नकल करेंगे, छूट जायगी; फिर होगी, फिर छूट जायगी। तो हम क्या करें? यदि अखण्ड साधन करना चाहते हैं तो 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस बातको समझें, चाहे मान लें। प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे आपपर जिम्मेवारी आ जाती है कि अब और करना ही क्या है, साधन ही करना है। मैंने उस दिन कहा था न—साधन ही करना है, साधन भी करना है, यह नहीं। हमारे भाई-बहन साधन भी करते हैं। यह भी कर लो, घंटा दो घंटा समय लगा दो, बारह महीनेमें दो-चार महीने लगा दो, यह भी कर लो और घरका काम तो करना ही है। वह तो 'ही' है और यह 'भी' है। यह मिटेगी नहीं, इस तरह जबतक आप मैंके साथ सम्बन्ध मानते हैं, तबतक वह सम्बन्ध संसारसे ही रहेगा।

विचार करके देखें तो संसारका सम्बन्ध था नहीं और रहेगा नहीं। मैंने जो संसारका सम्बन्ध बतलाया, यह तो मैं स्थूल रीतिसे कहता हूँ। सूक्ष्म रीतिसे देखें तो बिल्कुल सम्बन्ध है ही नहीं, एक क्षण भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे गङ्गाजीका यह जल बहता हुआ एक क्षण भी स्थिर नहीं है परंतु स्थूल दृष्टिसे देखें तो कहते हैं, कलसे इसी सीढ़ीपर जल चल रहा है, जैसा कल था वैसा ही आज है, उतनेही पर चल रहा है, वही है और सूक्ष्म रीतिसे एक क्षण भी वह जल वहाँ नहीं है जहाँ कल था या एक क्षण पूर्व था। यदि एक क्षणके बाद उसी जगह वह स्थिर रहे तो सदाके लिये ही स्थिर रहना चाहिये; किंतु, एक क्षण भी स्थिर कहाँ? इसी प्रकार ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण एक क्षण भी स्थिर नहीं हैं। क्योंकि—

क्षणपरिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेः।

उस चेतनशक्तिके सिवा सब क्षणपरिणामी हैं। क्षणपरिणामीके साथ आपने अपना अपनापन कर लिया, इसीसे अपना अपनापन आपको दिखलायी नहीं देता है। तब यह कैसे समक्षमें आये कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान मेरे हैं। वस्तुतः हैं ही भगवान् अपने, और अपना कोई है ही नहीं। गहरा उतरकर देखें, कोई अपना नहीं है। अरे! शरीर ही अपना नहीं, तो अपना दूसरा कैसे रहेगा? और शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह अपना कैसे?

इसपर यदि कहते हैं—अब क्या करें? अपनापन हटता दिखलायी दे रहा है इसे कैसे हटायें, तो इसके लिये एक बड़ी ही सरल और बहुत बढ़िया युक्ति है। इसे बहन-भाई, छोटा-बड़ा, पढ़-अनपढ़ हरेक कर सकता है। वह क्या है? साधकका एक जीवन है। इस जीवनके दो विभाग (बँटवारा) कर लेने चाहिये। एक तो असली, दूसरा नकली। यह मान लेना चाहिये कि एक असली है, एक नकली है। जैसे स्वाँग खेलनेवाला जिस स्वाँगको पहनता है उसको नकली मानता है, असली नहीं मानता। और स्वयं जो मैंपन होता है उसको असली मानता है, नकली नहीं। इसी तरह हम लोगोंने जो शरीर धारण किये हैं—यह हमारा स्वरूप असली नहीं है। यह स्वाँग है और हम स्वाँग धारण करनेवाले हैं—इनके साथ मैं-मेरापन करनेवाले हैं। अतः हम तो हुए भगवान्‌के और स्वाँग लिया संसारका। आज बात उल्टी हो रही है—हम हैं संसारके और स्वाँग करते हैं भगवद्भजनका। अतः स्वाँग करके जो भजन करते हैं वह भजन दृढ़—अखण्ड कभी होगा ही नहीं, होगा ही नहीं, होगा ही नहीं। स्वाँग अखण्ड कैसे होगा? स्वाँग तो खेलके समय रहेगा, बादमें नहीं रहेगा। तो इसका हमें परिवर्तन करना होगा, इसे बदलना होगा कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। इस शरीरसे पहले भी मैं शरीर नहीं था और शरीर मेरा नहीं था एवं इसके बाद भी यह मैं—मेरा नहीं रहेगा किंतु यह स्वयं रहेगा। इसलिये इसको भगवान्‌का मानो तो भगवान्‌का है। भगवान्‌का न मानो तो अपना-आप है।

आप जो बालक बने थे वही आज बूढ़े बने हैं। आपका शरीर वह नहीं, संग वह नहीं, गिरोह वह नहीं, वेश वह नहीं, समय वह नहीं, अवस्था और वर्ष भी वह नहीं, फिर भी आप कहें कि मैं वही हूँ—बड़े भारी आश्चर्यकी बात है! सबका अनुभव है परंतु कोई ध्यान नहीं देता। वस्तुतः यह मैं नहीं हूँ, मैं तो मैं हूँ वह अखण्ड हूँ, क्योंकि मैं जो बालकपनमें था वही आज हूँ। कोई पूछे—सामग्री आपकी कौन-सी वही है? बुद्धि, विचार, लक्ष्य, उद्‌देश्य कोई-सा भी वह नहीं है

किंतु आप वही हैं। शरीर वह नहीं, परिस्थिति वह नहीं, देश-काल वह नहीं, गिरोह वह नहीं, वस्तुएँ वे नहीं, अवस्था वह नहीं, आपका ध्येय वह नहीं, विद्या-विचार वह नहीं । जब ये सब बदल गये तो आपका सम्बन्ध इनसे कैसे ?

यह तो सब स्वाँग है । आप इन सबको जाननेवाले अलग हैं। वह जो जाननेवाले आप हैं, वही भगवान्के हैं । यह सब तो संसारकी चीजें हैं । स्वाँग खेलनेवालेको स्वाँग कम्पनीसे मिलता है, पोशाक कम्पनीसे मिलती है और वहाँ जो स्टेज—रंगमंच होता है वह भी कम्पनीका ही होता है । उसीके स्वाँगसे उसीके रंगमंचपर उसीकी प्रसन्नताके लिये और दर्शकोंकी प्रसन्नताके लिये स्वाँग खेलते हैं । दर्शकोंकी प्रसन्नता भी मालिककी प्रसन्नताके लिये ही होती है । दर्शक प्रसन्न न हों तो मालिकसे इनाम न मिले । इसी तरह आपने जो स्वाँग धारण किये हैं, उन स्वाँगोंके अनुसार बढ़िया-से-बढ़िया काम करना है, पर स्वाँग मानकर करना है । इसीका नाम है धर्मका अनुष्ठान ।

स्वाँगके अनुसार खेलनेकी पुस्तक होती है, पुस्तकोंमें सिखाये जाते हैं इतने शब्द आप बोलें, इतने वह बोलें । वैसे ही हमारी पुस्तकोंमें लिखा है कि गृहस्थको यह करना चाहिये, पुरुषको ऐसा करना चाहिये, स्त्रीको ऐसा करना चाहिये, पुत्रको ऐसा करना चाहिये । और यह सब स्वाँग करना है केवल जनताकी प्रसन्नताके लिये । सब लोग कहें—'गृहस्थाश्रम बड़ा सुन्दर है । वाह, वाह, वाह,'—इस प्रकार ठीक तरहसे उसे करना है पर वाह वाह लेनेकी भावनासे नहीं करना है। केवल अपनी आसक्ति मिटानेके लिये, स्वाँगके अनुसार प्रभुकी आज्ञा पालन करनेके लिये; किंतु इसे सच्चा न माने । इसका नाम कर्मयोग है ।

इस तरहसे किया जाय तो स्वतः आसक्ति मिटती है और स्वाभाविक ही राग मिटता है । इसीलिये कहा गया है—धर्म ते बिरति—धर्मका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होता ही है । धर्मको छोड़कर आसक्तिसे विषयोंका सेवन करेंगे तो सेवनसे कभी वैराग्य हो सकता ही नहीं, सम्भव ही नहीं । अतः उद्देश्य वैराग्यका हो और नियम भी वही रहे । स्वाँगके अनुसार कार्य बढ़िया-से-बढ़िया करना है, पर मानना है उसे स्वाँग । स्वाँगमें कमी आ जाय तो गड़बड़ी और स्वाँगको सच्चा माने तो गड़बड़ी । इसलिये पालन करनेमें कमी आवे नहीं और सच्चा माने नहीं । इससे क्या होगा ? जैसे स्वाँग पहनकर पैसे कमाये जायँगे वह भी जायँगे आपके घरमें, और स्वाँगरहित हो आप-काम करेंगे वह पैसे भी जायँगे आपके घरमें । ये दोनों पैसे ही आपके घरमें जायँगे । वैसे ही आप एकान्तमें बैठकर भजन-ध्यान कर रहे हैं तो अब स्वाँग नहीं, अब तो अपने भगवान्की उपासना कर रहे हैं और गृहस्थ बनकर काम कर रहे हैं तो यह संसारमें स्वाँग खेल रहे हैं । पर दोनोंका मतलब भजनसे होगा । इससे भगवान्के यहाँ ही दोनोंकी भर्ती होगी और भजन अखण्ड होगा । यदि भजन-ध्यान, कीर्तन-सत्सङ्ग तो हुआ भगवान्का भजन उधर और व्यवहार-व्यापार हुआ हमारा काम इधर तो यह अखण्ड भजन नहीं होगा । सब काम भगवान्का हो—

तदर्थं कर्म कौन्तेय ························।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।

भगवान्के लिये कर्म करते हैं, प्रभुका ही काम करते हैं तो भजन होगा सभी ओर; तथा जहाँ काम छूटेगा, भगवान्में मन लगेगा । जैसे रुपयोंके लिये व्यापार करता है तो जहाँ दूकान बंद किया कि चट रुपयोंका चिन्तन होता है, रुपयोंका विचार होता है, रुपयोंकी गिनती होती है । दूकान बंद हो जाती है, बाजार बंद हो जाता है, फिर भी दीपक जलाकर बैठे हैं । क्या करते हैं ? रोकड़ जोड़ते हैं । अब रोकड़ क्यों जोड़ते हो ? तो कहता है—व्यापार किसलिये किया था । जिसके लिये किया था उसीमें वृत्ति लगती है । इसी प्रकार गृहस्थका काम किसलिये किया ? प्रभु-प्राप्तिके लिये । तो जहाँ काम छूटा कि मन प्रभुमें लग जायगा, चट लग जायगा । व्यापार-कार्य आरम्भ करो तो रुपये कैसे पैदा हों—यह ध्यान रहेगा, चाहे रुपयोंकी याद रहे या न रहे, पर रुपयोंके लिये काम है । अतः रुपयोंकी अखण्ड स्मृति, रुपयोंका ध्येय अखण्ड रहेगा । वैसे ही यदि प्रभुके लिये ही भजन-ध्यान है और प्रभुके लिये ही गृहस्थाश्रमका काम है तो सब कार्योंमें अखण्डपना है । जो यह अखण्डपना पकड़नेवाला है वह 'साधक' होता है, अखण्डपना रखना 'साधन' होता है और उससे जो अखण्डकी प्राप्ति है वह 'साध्य' होती है । फिर आपसे आप ये सब हो जायँगे ।

इस प्रकार 'हम भगवान्के हैं' यह कैसे समझें और अखण्ड भजन कैसे हो—इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर हो गया !

* * *

'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णका प्राकट्य

(श्रीजन्माष्टमी-महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन)

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखोपरि कुञ्चिताग्राः
केशा नवीनघननीलनिभाः स्फुरन्तः ।
राजन्त आनतशिरःकुमुदस्य यस्य
नन्दात्मजाय सबलाय नमो नमस्ते ॥
सान्द्रानन्दपुरंदरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा-
दानम्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभिः संदर्शितेन्दिन्दिरम् ।
स्वच्छन्दं मकरन्दसुन्दरगलन्मन्दाकिनीमेदुरं
श्रीगोविन्दपदारविन्दमशुभस्कन्दाय वन्दामहे ॥
कम्पमाननवचम्पकावलीचुम्बितोत्पलसहोदरोदयम् ।
लास्यलालसनवीनबल्लवीपल्लवीकृतमुपास्महे महः ॥

बड़ी प्रतीक्षामें थे वे पुण्यजीवन पापी असुर-दैत्य-दानव-मानव, जिनको प्रभुके परम शुभ कर-कमलोंके चारु प्रहारसे ही कलेवर त्यागकर परम गतिको प्राप्त करना था; प्रतीक्षा कर रही थी पृथ्वी माता, जो असुरों तथा असुररूपधारी राजाओंके भीषण भारसे मुक्ति पानेके लिये भगवान्से आश्वासन प्राप्त कर चुकी थी; प्रतीक्षा कर रहे थे व्यास, नारद आदि सर्वथा निर्ग्रन्थ आत्माराम ऋषि-मुनि, जिनका हृदय भगवान्की मङ्गलमयी आनन्दमयी लीला-तरङ्गोंसे विक्षुब्ध मधुर मनोहर सर्वाकर्षक सच्चिदानन्दमय साकार स्वरूपका दर्शन करनेके लिये समुत्सुक था और जिनके हृदय भगवान्के भगवत्स्वरूप दिव्य लोकोत्तर गुणगणोंसे आकर्षित होकर उनकी अहैतुकी भक्तिसे भरपूर हो रहे थे; प्रतीक्षा कर रहे थे वे ऐश्वर्य-माधुर्यमिश्रित भक्ति-सम्पन्न परम भाग्यवान् देवकी-वसुदेव, जो पूर्व-जन्ममें पुत्ररूपमें प्रकट होनेके लिये स्वयं भगवान्से वरदान प्राप्त कर चुके थे; प्रतीक्षा कर रहे थे वे दिव्यवात्सल्य-रसपूर्ण-हृदय नित्य पिता-माता नन्द-यशोदा, व्रजकी वे वात्सल्यमयी गोप-माताएँ, निर्मल सख्य-रस-सम्पन्न व्रजके वे महाभाग्यवान् ग्वाल-बाल, जो केवल इसी परम सुखके लिये भूमिपर अवतीर्ण हुए थे; प्रतीक्षा कर रही थीं वे परम भाग्यवती गौएँ, गोवत्सादि, जिनके रूपमें देवता, ऋषि-मुनि तथा महान् पुण्यजन अवतीर्ण हुए थे और स्वयं भगवान् जिनका स्तन्य-पानकर, जिन्हें वन-वन चराकर, जिनके साथ घूम-घूमकर परम दिव्य सुख देना चाहते थे; और प्रतीक्षा कर रही थीं आकुल-हृदयसे वे अचिन्त्यानन्त-सौभाग्यशालिनी नित्यसिद्धा, साधनसिद्धा, कल्पोंतक कठोर तपस्या करके वरदानसे प्राप्त गोपी-शरीरवाली श्रुतियाँ, स्वयं ब्रह्मविद्या, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तथा मिथिलाकी वे गोपीभाव-प्राप्त पुरन्ध्रियाँ, जो स्व-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित, सर्वत्याग-मय, परम मधुर प्रीति-रसके द्वारा परमानन्दमय सच्चिदानन्दघन परम प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको अनन्त सुख पहुँचानेके लिये एक-एक पल युगोंके समान बिता रही थीं। इनके अतिरिक्त और न जाने कितने प्राणी किन-किन विविध विचित्र भावोंको लेकर जिनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वे परात्पर सच्चिदानन्द परब्रह्म अवतारी 'स्वयं भगवान्' अपनी समस्त स्वरूपभूता दिव्य शक्तियोंको, समस्त दिव्य अंशोंको तथा सम्पूर्ण अवतारों एवं अवतार-कारणोंको लेकर प्रकट हुए—कंसके कारागारमें अर्द्धनिशाके समय। उस समय अखिल विश्वब्रह्माण्डोंकी समस्त प्रकृति आनन्दोन्मत्त होकर अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे मधुरतम नृत्य करने लगी—

काल हो गया अतिशय शोभन सर्व शुभगुणोंसे सम्पन्न।
विधु रोहिणि-गत हुए, ऋक्ष-ग्रह-तारे सभी सौम्यतापन्न॥
हुइ दिशाएँ अति प्रसन्न सब, तारे चमक उठे आकाश।
धरतीके सब नगर, ग्राम, व्रज, आकर हुए मङ्गलवास॥
नदियाँ थीं सब निर्मल-जल, निशि खिले ह्रदोंमें कमल अपार।
वृक्ष लदे सुमनोंसे, पिक-अलि करने लगे चहक-गुंजार॥
सुख-स्पर्श शुचि, शीतल, मन्द, सुगन्ध बह चली मधुर बयार।
असुर-विरोधी साधु मनोंमें हुआ तुरत सुखका संचार॥
सुर-दुन्दुभियाँ मधुर बज उठीं सहसा कर आनन्द अपार।
जन्म अजन्माका सुन सुर सब बने स्वयं आनन्दाकार॥
शुचि गन्धव सु-किन्नर गाने लगे छेड़ अति मधुमय तान।
करने लगे सिद्ध-चारण सब प्रमुदित मन पावन स्तुति-गान॥
अर्द्धनिशामें नाच उठीं सब विद्याधरी, अप्सरा आज।
समुद सराह रहा धरतीका भाग्य परम देवर्षि समाज॥
करने लगे सिन्धु मृदु गर्जन, मृदु-मृदु मेघ उठे सब गाज।
निशिमें प्रकट हुए जब सब ईश्वर-राजाओंके महाराज॥

अब इन परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णके तनिक स्वरूपचिन्तन का मङ्गल प्रयास कीजिये—

ये मधुर नरके आकारमें प्रकट भगवान् अनादि हैं और सबके आदि हैं; सबसे परे हैं, सबमें अनुस्यूत हैं

समस्त कारणोंके परम कारण हैं; सर्वगत, सर्वस्वरूप हैं और सर्वातीत सच्चिदानन्द-विग्रह स्वयं परब्रह्म हैं ।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥
(ब्रह्मसंहिता)

इस दृश्यमान अनन्त विश्व तथा इससे सर्वथा अतीत जो कुछ है या हो सकता है, उस सबके मूलतत्त्व; उन सबको जिसने अपनेमें ले रक्खा है, उस तत्त्वका पता लगाकर तथा अनुभव करके हमारे परम तत्त्वज्ञ ज्ञानी महापुरुष ऋषि-मुनियोंने उसका नाम बतलाया—'ब्रह्म' । यह ब्रह्म-शब्द उस तत्त्वका स्वरूपवाचक है । इसका अर्थ है—'बृहत्तम वस्तु' ।

'बृंहति बृंहयति च इति ब्रह्म ।' अर्थात् जो बड़ा (बृहत्) होता—बढ़ता है (बृंहति); और बड़ा (बृहत्) करता—बढ़ाता है (बृंहयति), उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। जो बड़ा बना सकता है—बढ़ा सकता है, उसमें निश्चय ही बड़ा बनानेकी शक्ति है । श्रुति कहती है—उसमें एक ही शक्ति नहीं है, अनेक शक्तियाँ हैं । 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।' (श्वेताश्वतर०) और उसमें विविध अनन्त शक्तियाँ होनी ही चाहिये; क्योंकि वह सबसे बड़ा है । वह किसकी अपेक्षा और कितना बड़ा है, इसका कहीं उल्लेख न होनेसे यही मानना पड़ता है कि वह सबकी अपेक्षा, तथा सभी विषयोंमें बड़ा है—बृहत् है । वह स्वरूपमें बड़ा है, वह शक्तिमें बड़ा है और वह शक्तिके कार्योंमें भी बड़ा है । स्वरूपमें सर्वापेक्षा बृहत् होनेके कारण ही वह सर्वगत है, सर्वाधार है, अनन्त है और विभु है । शक्तिमें बृहत् होनेके कारण ही वह शक्तियोंकी संख्यामें तथा प्रत्येक शक्तिके परिमाणमें भी अनन्त है। कार्यके द्वारा ही शक्तिका पता लगता है । श्रुतिरचयिता ऋषियोंने जब यह कहा है कि 'ब्रह्ममें अनन्त शक्तियाँ हैं' तब यह सिद्ध है कि उन्होंने ब्रह्मकी शक्तियोंके कार्योंको भी अवश्य देखा है । श्रुतियाँ जब ब्रह्मको 'अनन्त' बतलाती हैं—'अनन्तं ब्रह्म', तब ब्रह्मकी वह अनन्तता सभी विषयोंमें सिद्ध होती है—ब्रह्मके स्वरूपमें, उसकी शक्तियोंमें, उसके कार्योंमें और उसकी शक्ति-प्रकाशनकी विचित्रताओंमें । शक्तिकी क्रियासे ही 'निर्विशेष' वस्तु 'सविशेष' हो जाती है । जिस समय छिपी शक्ति प्रकट होकर क्रियाशील होती है, उस समय उसकी क्रिया उसके 'स्वरूप' पर भी होती है । इससे उस 'स्वरूप' में भी 'विशेषता' आ जाती है । इसीसे ब्रह्मके द्विविध स्वरूपोंका वर्णन मिलता है । बृहदारण्यक उपनिषद् (२ । ३ । १) में कहा गया है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च ।' वस्तुतः ब्रह्मका स्वरूप, उसकी शक्ति, स्वरूपकी विचित्रता, शक्तियोंकी विचित्रता और शक्तियोंके प्रकाशकी विचित्रता—सभी कुछ ब्रह्मका स्वरूपभूत, नित्य और अनादि है । वह ब्रह्म स्वरूपतः नित्य एक होते हुए ही, स्वरूपतः ही अनादिकालसे विविध स्वरूप-सम्पन्न, विविध शक्ति-सम्पन्न, विविध शक्ति-प्रकाश-प्रक्रिया-सम्पन्न है । नित्य एक होते हुए ही वह नित्य पृथक् सत्तारूप है । पृथक् सत्ता न माननेपर प्रत्येक स्वरूपकी अनादिता और नित्यता सम्भव नहीं होती । नित्य पृथक् सत्ता है—इसीसे ब्रह्म तथा ब्रह्मके स्वरूप विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण, शिव, आदि सभी स्वरूप मायाकी उपाधिसे प्रतीत होनेवाले छलमात्र नहीं हैं, बल्कि अनादि सत्य तथा नित्य हैं । एक होते हुए ही अनादिकालसे ही ये विविध रूपोंमें अभिव्यक्त हैं—'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति ।' वस्तुका स्वरूपगत धर्म उसके प्रत्येक अणु-परमाणुमें वैसे ही सदा विद्यमान रहता है, जैसे अग्निके प्रत्येक कणमें दाहिका शक्ति है, जलके प्रत्येक कणमें अग्निनिर्वापकत्व गुण है । ब्रह्म नित्य शाश्वत सत्-चित्-आनन्दमय है, वह सर्वदा सर्वथा पूर्ण, सर्वग, सर्वगत, अनन्त और विभु है । अतएव उसका प्रत्येक स्व-रूप ही नित्य शाश्वत सत्-चित्-आनन्दमय और सर्वदा सर्वथा पूर्ण; सर्वग; सर्वगत; अनन्त और विभु है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥

'भगवान्‌के वे सभी रूप नित्य हैं, शाश्वत हैं, परमात्म-देह हैं । उनके देह जन्म-मरणसे रहित हैं, स्वरूपभूत हैं, कदापि प्रकृतिजनित नहीं । वे परमानन्दसंदोह हैं, सर्वतोभावेन ज्ञानैकस्वरूप हैं । वे सभी समस्त भगवद्‌गुणोंसे परिपूर्ण हैं एवं सभी दोषोंसे (माया-प्रपञ्चसे) सर्वथा रहित हैं ।'

हम अपनी सीमित बुद्धिसे समझते हैं कि ''एकसे अधिक 'विभु' वस्तु नहीं हो सकती । स्थान कहाँ होगा—दूसरे विभुके लिये । अतः ब्रह्मस्वरूप इतने विभु कैसे हो सकते हैं ।'' हमारे लिये यह सोचना ठीक भी है; क्योंकि हमारी प्रकृतिजनित सीमित बुद्धि इससे आगेकी बात सोच

ही नहीं सकती । परंतु शास्त्रोंने ब्रह्मको 'अचिन्त्यशक्ति' बतलाया है—उस अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे ही अनेक विभु-स्वरूपोंकी सम्भावना सिद्ध होती है । हमारे युक्ति-तर्क वहाँ नहीं चलते । उन युक्ति-तर्कोंसे विचार सम्भव होता तो 'अचिन्त्य' शब्दका व्यवहार ही नहीं किया जाता । हमारे सीमित क्षेत्रवाले मन-बुद्धि तो वहाँतक पहुँच ही नहीं पाते । इसीसे यह कहा गया है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ॥

अतएव यह मानना चाहिये कि एक ही ब्रह्म अनन्त स्वरूपोंमें नित्य प्रकट है—'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति' (गो० पू० ता० उ०) 'बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्' (श्रीमद्भागवत) । विभु वस्तुके बिना ऐसा नहीं हो सकता । वस्तुतः ये विभिन्न विविध स्वरूप तत्त्वतः पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र स्वरूप नहीं हैं । ये सब एक ही परम स्वरूपकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ या विभिन्न धर्ममात्र हैं ।

लीलाके आवश्यकतानुसार इन सब स्वरूपोंमें शक्तिका विकास न्यूनाधिक होता है । इनमें ऐसे स्वरूप भी हैं, जिनमें समस्त शक्तियोंकी और समस्त शक्ति-विचित्रताओंकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है और ऐसे स्वरूप भी हैं, जिनमें न्यूनतम अभिव्यक्ति है । इन दोनोंमें प्रथम स्वरूपमें ही 'समग्र ब्रह्मभाव' का पूर्ण प्रकाश है । वस्तुतः ब्रह्मत्वका पर्यवसान भी उसीमें है । इसीसे वह 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा' है, ब्रह्मका आश्रय है । इसीसे इस स्वरूपको 'परब्रह्म' कह सकते हैं । यह परब्रह्म 'स्वरूप' में पूर्णतम, 'शक्तियों' में पूर्णतम और 'शक्तियों' के विचित्र प्रकाशोंमें भी पूर्णतम है । इसीको 'पूर्णतम परब्रह्म' या 'समग्र ब्रह्म' कहते हैं । इससे, जिसमें न्यूनतम शक्तिका प्रकाश है, उसे 'ब्रह्म' कह सकते हैं । यह 'ब्रह्म' स्वरूपतः ब्रह्म है, पर 'शक्तितः' नहीं है । इसमें स्वरूपका पूर्ण प्रकाश है, परंतु शक्तिका प्रकाश नहीं है । इसीसे यह 'निर्विशेष' है, निःशक्ति और निराकार है । इसकी 'निराकारता' यथार्थ सत्य है; क्योंकि इसमें शक्तिका प्रकाश नहीं है । शक्तिका प्राकट्य हुए बिना आकारादि विशेषताएँ सम्भव नहीं। यह 'ब्रह्म' शब्दके 'बृंहति' अंशका परम सिद्धरूप है (पर 'बृंहयति' का नहीं) । परंतु इस निर्विशेष स्वरूपमें भी शक्तिका सर्वथा प्रकाश नहीं है, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि 'स्वरूपगत' शक्ति तो इसमें है ही। यह ब्रह्म शून्य नहीं है, यह अस्तित्व रखता है। अतएव इसमें अस्तित्व-शक्ति है । आनन्दमय है; इससे इसमें 'आनन्दमयत्व-शक्ति' है; और 'चेतन' है, इसलिये यह 'चिच्छक्ति-सम्पन्न' है। इसके अतिरिक्त, वस्तुतः एकमात्र परब्रह्म भगवान्के किसी भी स्वरूपमें शक्तिका कभी अभाव नहीं है । केवल उसकी अभिव्यक्ति नहीं है । अतएव हम 'ब्रह्म' को 'शक्तिरहित' न मानकर 'अव्यक्त-शक्ति' मानते हैं । 'निर्विशेष' का अर्थ 'अव्यक्त-शक्ति' ही होना चाहिये ।

ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है, रस-स्वरूप है—'रसो वै सः'। 'रस' शब्दके भी दो प्रकारके अर्थ होते हैं—एक वह जो आस्वाद्य है—जैसे मधु, और दूसरा वह जो आस्वादन करता है—जैसे भ्रमर । ये दोनों ही रस हैं । अतएव रसका अर्थ होता है 'आस्वाद्य रस' और 'आस्वादक रसिक' । ब्रह्मके सभी रूप आनन्दरूपमें आस्वाद्य हैं । परंतु जिस स्वरूपमें शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं—जैसे 'अव्यक्तशक्ति' ब्रह्म,—वह स्वरूप आस्वादक या रसिक नहीं हो सकता ।

जिन स्वरूपोंमें ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, सौशील्य, प्रागल्भ्य, सर्वज्ञत्व, भक्तवात्सल्य, भृत्यवश्यत्व आदि गुणोंकी अभिव्यक्ति है, वे ही भगवान् हैं । इनमेंसे जिस स्वरूपमें इन भगवदीय गुणोंकी तथा शक्तिकी जितनी ही अधिक अभिव्यक्ति हो, उसमें उतनी ही अधिक भगवत्ताका प्रकाश है । जिसमें इन गुणोंका तथा शक्तियोंका पूर्णतम प्रकाश है, वही स्वरूप पूर्णतम भगवान्, 'स्वयं भगवान्' है । अतः उपर्युक्त 'परब्रह्म' ही स्वयं भगवान् या पूर्णतम समग्र भगवान् है । उसमें 'आस्वाद्य'—रस-स्वरूपताकी भी पूर्णतम अभिव्यक्ति है, और 'आस्वादन'-चमत्कारकी भी चरम तथा परम परिणति है । इसीसे वह 'रसिकशेखर' है । निर्विशेष अर्थात् 'अव्यक्त-शक्ति' ब्रह्म स्वरूपतः इससे अभिन्न होनेपर भी वह 'रसिक-शेखर' नहीं है । ये 'समग्र भगवान्' ही 'रसिकेन्द्र-चूडामणि' हैं । ये प्रेमानन्दरस-स्वरूप परब्रह्म 'स्वयं भगवान्' अपने असमोर्ध्व रस-माधुर्यके द्वारा सभीका आकर्षण करते हैं—इसीसे इनका नाम है—'कृष्ण' ।

ये श्रीकृष्ण स्वरूपतत्त्वकी दृष्टिसे न तो पृथक्-स्वरूप हैं, न पृथक्-शक्ति हैं और न विशेष-शक्ति ही हैं । ब्रह्मके निर्गुण सगुण दो स्वरूप हैं—'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणात्मकम् ।' 'अव्यक्त-शक्ति' ब्रह्मको 'निर्गुण' तथा 'व्यक्त-शक्ति' ब्रह्मको 'सगुण' कहते हैं । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सगुण ब्रह्ममें कोई प्राकृतिक गुण है । भगवान्के किसी भी रूपमें प्राकृत गुण नहीं हैं—वे सदा ही भगवत्स्वरूप दिव्य चिन्मय

गुणोंसे युक्त हैं। परंतु शक्ति या गुणोंके प्रकाशमें न्यूनाधिकताके कारण भेद दिखायी देता है। श्रीकृष्णमें गुणों और शक्तियोंका पूर्णतम प्रकाश है, इसलिये वे अंशी हैं, अन्य सब अंश हैं। शक्तिके अधिक प्रकाशसे अंशी और न्यून प्रकाशसे अंश। बस, यह अभिव्यक्तिजनित भेद है, स्वरूपगत नहीं। श्रीकृष्णमें समस्त शक्तियोंका पूर्णतम प्रकाश है। वे नित्य अचिन्त्यानन्त स्वरूपभूत दिव्य गुण-गणोंके निकेतन हैं, अचिन्त्यानन्त विरोधिधर्म-गुणाश्रय हैं, अखिल रसामृतसिन्धु हैं, इसीसे वे समस्त ईश्वरोंके परम ईश्वर, सर्वलोकमहेश्वर 'समग्र भगवान्' या सबके अंशी 'स्वयं भगवान्' हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूपभूत श्रीविग्रहरूपसे साकार हैं, द्विभुज हैं, गोपवेशधारी हैं, वंशीधर हैं, नित्यनवकिशोर, नित्यनव-कमनीय-कलेवर नटवर हैं। वे लीला-पुरुषोत्तम हैं।

श्रीकृष्ण ऐश्वर्य-माधुर्यके अनन्तानन्त निधि हैं, पर उनके भी दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म'। वे ऐश्वर-रूपसे असुरोंका संहार, लोकधर्मका संस्थापन तथा अभ्युत्थान, साधु-परित्राण, दुष्टदलन आदि लीला-कार्य करते हैं और 'ब्राह्म'-स्वरूपसे माधुर्यका विस्तार करते हैं। उनके रूप-गुण-सौन्दर्य-माधुर्य इतने दिव्य चमत्कारपूर्ण तथा नित्यनव रूपमें प्रकट हैं कि वे निर्ग्रन्थ ऋषि-मुनियों, देवताओं, समस्त लक्ष्मियों—यहाँतक कि भगवत्स्वरूपोंको भी आकर्षित किये रहते हैं। दूसरोंकी बात तो दूर रही, उनकी वह परम मधुर अनिर्वचनीय सुन्दरतारूप आकर्षिणी शक्ति स्वयं उन्हींके चित्तको आकर्षित और प्रलुब्ध कर देती है—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥

(ललितमाधव)

किसी मणिकी दीवालमें या दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी रूप-माधुरीको देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यके साथ कहते हैं—'अहो! इस माधुरीका तो इससे पहले मैंने कभी अनुभव किया ही नहीं। मेरी यह माधुर्यराशि कितनी चमत्कारजनक है, कितनी महान् श्रेष्ठ है और कितनी मधुर है। इसे देखकर तो मेरा चित्त लुब्ध हो गया है। (श्रीराधिका इसे देखते-देखते कभी थकतीं ही नहीं, निर्निमेष नेत्रोंसे परम उत्सुकताके साथ नित्य-निरन्तर देखा ही करती हैं—इससे अनुमान होता है, वे ही इस रूप-माधुरीका पूरा रसास्वादन करती हैं।) अतएव मैं चाहता हूँ कि मैं भी श्रीराधिकाजीकी भाँति ही परम उत्सुकताके साथ इसका उपभोग करूँ।'

अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्णके माधुर्यका वर्णन करनेके लिये भाषामें न शब्द है न शक्ति ही। इसको तो जिसने देखा है, वही जानता है; पर वह भी बता नहीं सकता। क्योंकि उसका हृदय ही सदाके लिये इस रूपमाधुरीके द्वारा अपहरण कर लिया जाता है।

ईसाई भक्त माइकेलने कहा है—

जिसने देखा कभी नयनभर मोहन-रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है, क्योंकर कुल-कलङ्किनी है राधा॥

वह रूपमाधुरी सर्वस्व हरण कर लेती है क्षणभरमें। परम-प्रेमी भक्त लीलाशुक श्रीविल्वमङ्गल गाते हैं—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

प्रातःस्मरणीय श्रीवल्लभाचार्य सर्वत्र मधुरता देखते हुए—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

—इत्यादि शब्दोंसे उनकी सर्वाङ्गीण मधुरताका संकेत करते हैं। महाप्रभु चैतन्यके द्वारा कथित शब्दोंका कुछ भाव है—

कृष्ण-अङ्ग-लावण्य मधुरसे भी समधुरतम।
उसमें श्रीमुख-चन्द्र परम सुषमामय अनुपम॥
मधुरापेक्षा मधुर, मधुरतम उससे भी अति।
श्रीमुखकी मधु-सुधामयी ज्योत्स्नामयि सुस्मिति॥
इस ज्योत्स्ना-स्मिति मधुरका एक एक कण अति मधुर।
होकर त्रिभुवन व्याप्त जो बना रहा सबको मधुर॥

श्रीकृष्णके ज्योत्स्नामयी मधुर मुसकानके कणमात्रसे ही जगत्में जहाँ-तहाँ माधुर्यका विस्तार दीखता है। इनका मन्दस्मित ही जगत्में सम्पूर्ण आनन्द-विधान करता है। अन्यथा, जगत् तो दुःखमय है ही।

अतएव भगवान् श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य-माधुर्य दोनोंका ही पूर्णतम प्रकाश है। तथापि रस-जगत्में माधुर्यकी ही प्रधानता है; क्योंकि सब लोग वस्तुतः रस ही चाहते हैं, सब रसका ही अन्वेषण करनेमें लगे हैं। अवश्य ही इस परम पवित्र भगवद्रसका संधान न होनेके कारण वे विषय-भोगोंके 'रस' नामको दूषित करनेवाले कुरस (कुत्सित रस), विरस (विपरीत रस) और अरस (सर्वथा शुष्क) का ही **आस्वादन करते हैं और फलतः उनका जीवन अत्र-परत्र-सर्वत्र**

पाप-दोषमय, दुःख-ज्वालामय, उद्वेग-अशान्तिमय और नरक-यन्त्रणामय हो जाता है। मनुष्य इससे बचे और यथार्थ रस—भगवद्रूप-रस ('रसो वै सः') को प्राप्तकर धन्य, सफल और सुखी-जीवन हो जाय—इसीलिये श्रीनारदजीके उपदेशसे व्यासजीने रसराज भगवान्‌की परम मधुर लीला-कथाका पवित्र स्रोत बहाया और महाभागवत श्रीशुकदेवजीने मुमूर्षु राजा परीक्षित्‌को अगाध रसनिधिमें डुबाकर धन्य कर दिया। यह दिव्य रस भगवान्‌के माधुर्यमें ही है। अतएव माधुर्य ही प्रधान है। वैसे तो वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णका ऐश्वर्य भी माधुर्यके अनुगत ही है। उनके ऐश्वर्यका अणु-परमाणु भी माधुर्यसे ही सिञ्चित है। इसीसे श्रीकृष्णका ऐश्वर्य अन्य स्थलोंके ऐश्वर्यकी भाँति कदापि भयप्रद नहीं है। लोग भूलसे ऐश्वर्यमें ही भगवत्ता देखते हैं, पर श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य-लीला ऐसी माधुर्य-मण्डित है कि वह परम भगवत्ताका प्रकाश करती हुई ही भगवान्‌को गौरव-गरिमाहीन, अपना 'निज जन' बना देती है। भक्त उनको अपना मानकर चरणोंमें लुट पड़ता है, उन्हें आलिङ्गन करने लगता है। उनके हृदयसे चिपट जाता है, उन्हें गोदमें बैठा लेता है, स्वयं उनकी गोदमें बैठ जाता है, उनके गलबैयाँ देकर चलता है, साथ खाता-पीता है, एक साथ विहार करता है और भगवान्, सर्वगुण-गौरवमय होते हुए भी, यह सब सानन्द समुत्सुकताके साथ स्वीकार करते हैं—छल-कपटसे नहीं, मायासे नहीं, अभिनयके रूपमें नहीं, पर स्वयं ऐसे ही बनकर प्रेमरसका मधुर आस्वादन करने-करानेके लिये!

आज इन्हीं समग्र भगवान्, 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णका प्राकट्य-महोत्सव है। यह स्मरण रखिये कि भगवान् श्रीकृष्ण कर्मवश जन्म लेनेवाले पाञ्चभौतिक देहधारी जीव नहीं हैं। ये नित्य सत्य सनातन सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। देह-देही-भेदसे रहित हैं। परस्पर-विरुद्ध-धर्माश्रय होनेके कारण इनमें जागतिक भावोंके दर्शन होते हैं, पर इनके वे जागतिक भाव भी वस्तुतः चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप ही हैं।

वैसे श्रीकृष्णका जीवन अनन्त विचित्रतामय है। वे पूर्णतम भगवान् होते हुए ही पूर्ण मानव हैं, महापुरुष हैं, योगिराज हैं, गीता-गायक हैं, आदर्श राजनीतिज्ञ हैं, मधुर मुरलीधर विजयी चक्रधर, आदर्श नेता, राष्ट्रनिर्माता, सकलकलानिधि जगद्गुरु हैं—सब कुछ हैं। उन लीलामयके अनन्त रूप हैं। आप जिस रूपमें इनको देखना चाहें, देख सकते हैं; इनसे सम्बन्ध स्थापन करना चाहें, कर सकते हैं। ये सभी सम्बन्ध स्वीकार करनेको प्रस्तुत हैं। पर सम्बन्ध होना चाहिये अनन्य, अव्यभिचारी, पूर्ण तथा आत्माका, बाहरका नहीं।

ये हमारे हैं, हम इनके हैं। भगवान्, सबमें समान होते हुए भी, जो इन्हें प्रेमसे भजता है, उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और स्वयं उसके हृदयमें बसे रहते हैं—'मयि ते तेषु चाप्यहम्' (गीता)। इतना ही नहीं, वे स्वयं उसका हृदय बन जाते हैं और उसे अपना हृदय बना लेते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के वचन हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(९।४।६८)

'वे (प्रेमी) साधु मेरा हृदय हैं और मैं उन साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त किसीको नहीं जानते तो मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।'

बोलो नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दरकी जय।

◆

अनोखेका सब अनोखा

तुच्छ नगण्य सलिल-सीकर मैं, तुम रस-सुधा-समुद्र अगाध।
पर चाहते डूबना मुझमें, पता नहीं यह कैसी साध॥
क्षुद्र जन्तु मैं परम संकुचित, तुम अनन्त हो विश्वाधार।
चाह रहे छिपना पर मुझमें, पता नहीं क्या किया विचार॥
मैं अति दीन दरिद्र, दिव्य तुम मूर्तिमान ऐश्वर्य अपार।
पता नहीं, तुम बार बार क्या लेने आते मेरे द्वार॥
मैं अति पामर पापी, तुम शुचि पुण्यश्लोक सच्चिदानन्द।
गले लगाकर मुझसे मिलते, तुम हो पाते क्या आनन्द॥
सभी तुम्हारी चीज अनोखी, सभी अनोखी चोखी चाल।
स्वयं अनोखे हो प्रियतम तुम! दिया अनोखा मुझको ढाल॥

मधुर

एक समय श्रीराधाकी परम त्यागमयी प्रीति, उनका परमोच्च योगी-ज्ञानीदुर्लभ भाव, उनकी प्रियतम-सुखमयी स्वरूपस्थिति, उनकी अलौकिक रूप-शील-सौन्दर्य-माधुर्य-गुण-गरिमा, उनकी नित्य-नवउल्लासमयी नित्य नववेगमयी महाभाव-प्रेम-सुधा-सरिता, उनका सहज सुन्दर निरतिशय अचिन्त्यानन्त दिव्य-गुणरूप-माधुर्यसमन्वित लोकोत्तर विनम्र भाव, उनका सहज स्वाभाविक विशुद्ध सत्त्वमय दैन्य और उनकी विचित्र भावमयी सर्वाकर्षक-कर्षिणी लोकातीत चुम्बक-शक्तिको देख-देखकर अनन्त ऐश्वर्य-निकेतन, अनन्त-गुणगण-स्वरूप अनन्तनिधि, अखिल-रसामृत-सिन्धु, अचिन्त्यानन्तविरोधी गुणधर्माश्रय, विश्व-विमोहन एवं विश्वातीत, नित्य स्वमहिमामें स्थित स्वमन-मोहन श्यामसुन्दरने श्रीराधाकी अपेक्षा अपने गुण, रूप, शील, व्यवहार—सभीमें हीनताका अनुभव करते हुए श्रीराधासे कहा—

'राधे ! मुझसे जान-अनजानमें अगणित भूलें हुई हैं। अब भी पद-पदपर और पल-पलमें इतनी भूलें होती रहती हैं, जिनका कोई माप-तौल नहीं है । मैंने तुमको अनेकों दुःख दिये हैं, अब भी देता ही रहता हूँ । मैं अपनी अवगुणावलियोंको देखकर भी नहीं देखता, उनका कभी परित्याग नहीं करता—

मो तें भइँ चूक अनगिनती
राधे ! जान-अजान ।
अजहूँ होति रहति पद-पदपर
पल-पल बिनु-परिमान ॥
दीन्हें, देत रहूँ, मैं तुम कौं
दुःख अनेकन भाँति ।
लखि न लखौं, न तजौं, मैं
कबहूँ अपनी अवगुन-पाँति ॥

'कहाँ तो सबको पवित्र करनेवाली सतियोंकी सिरमौर तुम-सरीखी परम सती, जो अपने सुखकी वासनासे रहित, (मेरे) सुखकी खान और मेरे लिये ही जीने-मरनेवाली, और कहाँ मैं विशुद्ध प्रीति-रससे अनभिज्ञ, सदा अकृतज्ञ, मूर्ख, छलिया, नित्य नये रसका लोभी, लंपट, ढीठ और लबार (अनर्गल बोलनेवाला) ! तुम्हारा अत्यन्त पवित्र करनेवाला पवित्र प्रेम अनन्य और एकान्त है और मैं युग-युगमें सबका मन रखनेवाला करोड़ों-करोड़ों कामिनियोंका कान्त हूँ ! राधे ! किसी प्रकार भी (कहीं भी) तुम्हारे साथ मेरी तुलना नहीं है । तुम उज्ज्वल प्रकाश और गुणोंकी निधि हो और मैं काला तथा पूरा गुणरहित हूँ । मैं जो तुमसे कभी प्रेम करता हूँ वह स्वयं सुख पानेकी कामनासे ही । उसमें न तो रंचकभर त्याग ही है और न निर्मल सुन्दर प्रेम ही ।

तुम-सी परम सती कहँ, पावन
सतियन की सिरताज ।
स्व-सुख-वासनारहित, सुखाकर,
जियन-मरन मो काज ॥
कहँ मैं, अग्य-विशुद्ध-प्रीति-रस,
नित अकृतज्ञ, गँवार ।
कितव, नित्य नूतन रस-लोभी,
लंपट, लँगर, लबार ॥
तुम्हरौ प्रेम परम सुचि, पावन
अति, अनन्य एकान्त ।
जुग जुग हौं मन राखौं, सब कौं,
कोटि कामिनी कान्त ॥
नहीं तुम्हारी मेरी राधे !
तुलना काहु प्रकार ।
तुम उज्ज्वल प्रकास-गुन-निधि,
हौं कारौ, निरगुन छार ॥
तुम सौं करौं प्रीति जो कबहूँ
सो अपने सुख-काम ।
नहीं त्याग रंचक वा मैं,
नहिं निरमल प्रीति ललाम॥

इतनेपर भी तुम्हारे मनपर मेरा एक भी दोष नहीं चढ़ सका, तुमने मेरे दोषोंको गुण समझा । तुम्हारी प्रेम-रसकी नदी नित्य नये अपार वेगसे बढ़ती ही रही, वह कभी नहीं रुकी । तुम्हारे निर्मल (स्व-सुख-काम-गन्ध-शून्य) हृदय-रसका मैं सदा अपमान ही करता रहता हूँ । इतनेपर भी तुम्हारे पवित्र करनेवाले प्रेमको सदा माप-तौलसे परे बढ़ता ही देखता हूँ ।'

तदपि न चढ़्यौ दोष एकहु मन,
गुन करि जाने दोस ।
बढ़त न रुकी, प्रेम-रस-सरिता
अमित नित नये जोस ॥
तुम्हरे बिमल हृदय-रस कौ
मैं करूँ नित्य अपमान ।
तदपि बढ़त देखौं, मैं तुम्हरी
पावन प्रीति अमान ॥

'तुम्हारा यह सर्वत्यागमय 'महाभाव' अत्यन्त ही दुर्लभ है । तथापि यह सदा सहज ही दैन्यसे सना रहता है । इसमें तनिक भी अभिमानका सम्पर्क नहीं है । तुम्हारे इस महाभाव-सुधा-रस-समुद्रकी मुझे जो कहीं एक बूँद भी मिल जाय तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा और तभी प्रेमकी टेक भी रह सकेगी । (अर्थात् मैं भी तुम्हारी भाँति स्व-सुख-वासना-शून्य प्रेमको सीखकर प्रेमकी मर्यादाको सुरक्षित रख सकूँगा ।)

सर्व त्यागमय अति महान यह
तुम्हरौ दुरलभ भाव ।
तदपि दैन्य तें सन्यौ सहज नित,
तनिक न मान-लगाव ॥
भाव-सुधा-रस-बारिधि या कौ
मिलै जु सीकर एक ।
बनै धन्य मेरौ जीवन, तब
रहै प्रेमकी टेक ॥

'राधे ! मैं कैसे तुम्हारे गुणगान करूँ, कैसे अपनेको समझाऊँ और कैसे तुम्हारे इस अनन्त ऋणका परिशोध करूँ ! (नहीं-नहीं, इस ऋणका परिशोध नहीं हो सकता ।) प्रियतमे ! मैं सदा तुम्हारा ऋणी ही रहूँगा, सदा तुम्हारा सेवक ही रहूँगा । तुम तो सदा ही सीमारहित परम उदार हो । (देते-देते थकती ही नहीं, सदा देती ही रहोगी ।) तुम्हारे इस हृदयको धन्य है !'

श्रीराधा तो यह सुनते-सुनते ही विकल हो गयीं । वे स्वभावसे ही कभी अपनी प्रशंसा सुनना नहीं चाहतीं, उन्हें स्वभावसे ही अपनी मान-प्रतिष्ठा-प्रशंसा विष-सी लगती है । फिर इस क्षेत्रमें तो वे अपनेको सर्वथा दीन, मलिन, गुणहीन मानती हैं, वे प्रशंसा कैसे सुनें,—फिर प्राणप्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके मुखसे अपनी प्रशंसाके वाक्य सुनना तो उनके लिये असह्य हो गया ।

वे राधाजी अपने प्रियतमके मुखसे ऐसे वचनोंको सुनते ही सहम गयीं, भारी लाजके मारे गड़ गयीं, धरती कुरेदने लगीं और उनके दोनों नेत्रोंसे अश्रुजलकी धारा बह चली । उनकी वाणी रुक गयी, कण्ठ गद्गद हो गया, उनकी कञ्चन-काया काँप उठी और उनके हृदयके अंदर सहज ही दैन्यरसकी वर्षा होने लगी । (वे सोचने लगीं—) मैं नीच, गुणोंसे सर्वथा रहित, मलिन मनवाली और अवगुणोंकी भण्डार हूँ । मैं सदा-सर्वदा सौन्दर्यसे सर्वथा रहित, माधुर्यसे रहित, कुरूप-आकृति हूँ । मैं सदा उनसे अपना सुख ही लेती रही हूँ, सदा ही मुझे उनसे अपना सुख प्राप्त करनेका ही चाव लगा रहता है । मेरे मनने तो प्रेमका इतना ही अर्थ समझा है और यही मेरा 'महाभाव' है ।

सहम गई, लज्जित भइ भारी,
राधा सुनि प्रिय बैन ।
धरती लगीं कुरेदन, धारा
बही सलिल दोउ नैन ॥
बानी रुकी, कण्ठ भये गद्गद,
काँपी कञ्चन देह ।
बरसन लग्यौ अमित उर अंतर
सहज दैन्य-रस-मेह ॥

अधम, निपट गुनरहित, मलिन-मन,
अवगुनकी आगार ।
विरहित नित सौंदर्य,
रहित माधुर्य कुरूपाकार ॥
लेती रही नित्य सुख तिन्ह तें,
निज सुख कौ नित चाव ।
इतनौ ही प्रेमार्थ लह्यौ मन,
यही मम महाभाव ॥

(यों मनमें विचार करके, फिर) राधाजी अत्यन्त धैर्य धारण करके बोलीं—'जीवनाधार ! सुनो, मैं अत्यन्त नीच, मानकी भूखी हूँ, मेरे मनमें बहुत ही ओछे विचार हैं। तभी तो (मेरी प्रशंसारूप) तुम्हारी यह कठोर वाणी सुनकर भी मेरे ये वज्र-सदृश प्राण नहीं निकले, तभी तो तुमसे ऐसा सम्मान पाकर मेरा यह वज्रसे भी अधिक कठोर हृदय विदीर्ण नहीं हो गया ।'

बोली—अति धीरज धर राधा—
'सुनों, जीवनाधार ।
हौं अति नीच मानकी भूखी
मन अति तुच्छ बिचार ॥
निकसे नहीं बिषम बानी सुन,
या तें ये पबि-प्रान ।
बिदर्यौ नहीं हियौ कुलिसाधिक
तुम तें लहि सम्मान ॥

(इतनेमें ही सर्वेश्वरी तत्त्वज्ञशिरोमणि श्रीराधाके मनमें भगवान्‌का तत्त्वस्वरूप जाग उठा और वे श्लेष-सी मधुर वाणीमें बोलीं—) 'प्राणेश्वर ! तुम निश्चय ही इस अर्थमें 'मूर्ख' (गँवार) हो, जो मुझ-सरीखी नीच अधममें गुण-समूह देख रहे हो, और इसी प्रकार इस अर्थमें तुम निश्चय ही 'लबार' (अनर्गल बोलनेवाले) हो, जो मुझ गुणरूप-रहितके बारंबार गुण गाते रहते हो । निश्चय ही तुम 'लंपट' भी हो (एकमें प्रीति न रखकर बहुतोंसे प्रीति करनेवाले हो ।) क्योंकि तुम सभी प्रेमियोंको सुख प्रदान करते हो और तुम नित्य नये प्रेम-रसके लोभी भी हो; क्योंकि तुमको प्रेम-तत्त्वका पूर्ण ज्ञान है, (सबमें प्रेम-रस-का विस्तार करके उसका आस्वादन किया करते हो ।) तुम सचमुच छलिया और ढीठ भी हो, क्योंकि तुम (अपनी दिव्य-रूप-गुण-माधुरीसे) सबको छलकर उनके संसारको (संसारकी ममता-आसक्तिको) ठग (कर छीन) लेते हो और स्वयं अपना सुखमय निर्मल रस देकर उन्हें (मृत्युमय संसारसे) उबार लेते हो । (यह भी सत्य है कि) तुम्हारी (अपनी ही) शक्तिस्वरूपा करोड़ों-करोड़ों प्रियाएँ (सब ओर) फैली हुई हैं, तुम उन सबका मन रखते हो और तुम एक ही उदार उन सभीके प्रियतम कान्त हो ।

निस्चै ही प्रानेस्वर हौ तुम
इतने अर्थ 'गँवार' ।
देख रहे जो मो-सी नीच
अधम मैं गुन-संभार ॥
इसी भाँति तुम निस्चै ही हौ
इतने अर्थ 'लबार' ।
जो गुन-रूप-हीन मेरे गुन
गाते बारंबार ॥
निस्चै ही 'लंपट' हौ, जो तुम
करौ सबहिं सुख-दान ।
नित 'नव-रस-लोभी' तुम,
तुम कूँ प्रेम-तत्त्वको ग्यान ॥
कितव, लँगर, साँचे तुम
छलि सब ठगत फिरत संसार ।
सुखमय निज निरमल रस दै तुम
लेते स्वयं उबार ॥
कोटि कोटि है सक्ति-सरूपा
प्यारिन कौ बिस्तार ।
मन रख, बने कांत तुम सबके
प्रियतम एक उदार ॥

'वे (कोटि-कोटि कान्ताएँ) सभी मुझसे अधिक सुन्दर, पवित्र, मधुर, शील और गुणोंकी धाम हैं। उनके जीवन सहज ही तुम्हें समर्पित हैं । वे सभी परम सुन्दरी तुम्हें अत्यन्त सुख देनेवाली हैं । मैं उन सबसे दीन-हीन हूँ और कलुषित भी हूँ । मुझमें तुम्हारा इतना मोह, जो

बिना ही गुणोंके गुण मानते हो ! हे परमानन्दसंदोह ! (मेरे प्रियतम !) तुम अपने उदार स्वभावके वश हो।

मो तें अधिक सकल सुंदर सुचि
मधुर सील गुनधाम।
सहज समर्पित जीवन, अति
सुखदायिनि परम ललाम॥
सब तें दीन हीन हौं कलुषित,
मो मैं इतनो मोह ?
बिनु गुन मानत गुन, स्वभावबस
परानंद संदोह ! ॥

(मैं कितनी नीच हूँ जो) तुम्हारे मुखसे अपने गुण-सौन्दर्य (की प्रशंसा) सुनकर मेरा मन सुख प्राप्त करता है। (मन न सुख मानता होता तो तुम सुनाते ही क्यों ?) मेरे मनका यह काम, यह कलंक और यह भोग-वासना ही एकमात्र मेरा धन है। (मनमें आती है अपना काला) मुख मैं तुम्हें दिखाऊँ ही नहीं; परंतु मैं क्या करूँ, असहाय हूँ। एक क्षण यदि तुम्हारा दर्शन नहीं मिलता तो हृदय विदीर्ण होने लगता है और हाय! मेरा जी (उस समय) जोरोंसे जलने लगता है! (इससे तुम्हारे सामने आना ही पड़ता है।)

तुम्हरे मुख गुन-सुंदरता सुन
सुख मानत मम चित्त।
काम, कलंक, बासना मन की,
यहै एक है वित्त॥
मुहँ न दिखाऊँ तुमहि, कहा
मैं करूँ, किंतु असहाय।
हिय बिदरत तुव दरसन बिन छिन,
जरत जोर जिय हाय !॥

◆

एक खिलौना

(रचयिता—विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र')

मानव एक खिलौना भर है—
सदा टूट जानेका डर है।
कच्ची माटीसे बना हुआ।
कच्चे धागेसे बँधा हुआ।
कच्ची है बुनियाद बावरे—
हाड़ चामका घर है।
मानव एक खिलौना भर है।
कारीगरने इसे बनाया।
विविध रंगसे इसे सजाया।
अविनश्वर निर्माता इसका—
फिर भी यह नश्वर है!
मानव एक खिलौना भर है।

सात्त्विक त्याग

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(गीता १८ । ९)

'कुमार ! आखेट एक व्यसन है—दुर्निवार व्यसन !' जब कमरपर त्रोण कसकर, हाथमें धनुष लेकर परिकरोंके साथ राजकुमारने अरण्यकी ओर प्रस्थानसे पूर्व अपने अस्त्रगुरुके चरणोंमें मस्तक झुकाया, वे रजतकेश महाधनुर्धर बोले—'व्यसन सदा त्याज्य है; क्योंकि वह पतनका हेतु होता है। साथ ही कर्तव्यसे पराङ्मुख होना कापुरुषता है।'

'श्रीचरणोंके आदेश मुझे प्रकाश प्रदान करेंगे।' युवक राजकुमारने अनुमति प्राप्त की और दो क्षण बीतते-न-बीतते उनका अश्व अपने सब अनुगतोंको पीछे छोड़ चुका था। आखेट-सहायकदल प्रयत्न कर रहा था कि वह साथ ही रहे और आखेट-निर्देशकने तो अन्तमें राजकुमारको पुकार ही लिया। प्रथम आखेटके समय अनुभवहीन युवकको एकाकी वनमें कैसे जाने दिया जा सकता है ?

'इधर दो वर्षसे श्रीमान् नहीं पधारे हैं !' अभी कल एक वन्य-जनपदके प्रतिनिधिने आकर नरेशसे प्रार्थना की—'हमारे खेतोंके लुटेरे वनपशु सम्भव है हमें भूखों मरनेके लिये विवश कर दें। इधर हमारे गृहपशुओंको पशुशालाकी परिखा कूदकर वे उठा ले जाते हैं और पिछले तीन महीनेसे एक शेर मानव-भक्षी हो गया है। उसने अकेले पड़नेवाले घसियारोंको तो मारा ही था, कल ग्रामके पाससे वह एक किशोरको उठा ले गया।'

नरेशने समाचार सुना और उनके नेत्र भर आये। वे वृद्ध हो गये हैं। रोगने उन्हें जर्जर कर दिया है। पूरे वर्षभरसे अश्वकी पीठका स्पर्श नहीं कर सके वे। सेनापति जायँगे; किंतु पुत्रके समान प्रजाकी रक्षाका भार सेनापतिपर छोड़कर क्या निश्चिन्त रहा जा सकता है ? आज यदि उनका शरीर थोड़ा भी साथ दे पाता····।

'राजकुमार कल आपके जनपदकी ओर प्रस्थान करेंगे ?' राज्यके अस्त्र-शिक्षकने जो घोषणा की, उसने महाराजको, राजसभाको ही नहीं, स्वयं राजकुमारको भी चकित कर दिया। 'जबतक वन्यपशुओंका उपद्रव शान्त न हो जाय, उनका आखेट-शिविर आपके जनपदके समीप रहेगा; किंतु वे पूरा ध्यान रक्खेंगे कि उनके शिविरके कारण आपलोगोंको कोई असुविधा न हो।'

'वे हमारे स्वामी' वन्य प्रतिनिधि उठ खड़ा हुआ—'उनसे हमें असुविधा क्या होगी। हमारे भाग्य ऐसे नहीं कि हम उनका स्वागत कर सकें। इतनी ही उनकी क्या कम कृपा है कि वे हमारे जनपदकी ओर पधारेंगे !'

'राजकुमार आखेट करने जायँगे ?' आशंका नरेशको थी, ऐसा ही नहीं—प्रत्येकका चित्त सशङ्क था।

'हिंसाका यह घोर कर्म मुझे करना पड़ेगा ?' राजसभासे उठते ही राजकुमार अपने अस्त्रशिक्षकके सम्मुख उपस्थित हुए। बहुत सम्मान करते हैं राजकुमार इन वृद्ध महाधनुर्धरका। किंतु ऐसा आदेश पानेकी आशा उन्हें नहीं थी।

'तुम न जाओ तो मुझे जाना होगा और मैं समझ लूँगा कि जीवनमें प्रथम बार एक अनधिकारीको शिक्षा देनेकी भूल मैंने की।' अस्त्रशिक्षकने राजकुमारके मुख-

पर नेत्र स्थिर कर दिये—'जो आपत्तिग्रस्त जनोंको अभय देने आगे न बढ़ सके, धिक्कार है उसके क्षत्रिय होनेको। अस्त्र-शिक्षाका और उपयोग भी क्या होगा। कर्म अपने आपमें कहाँ शुभ या अशुभ है। यों तो तुम श्वास लेते हो, तब भी सहस्रों जीव मरते हैं।'

'मैं अवज्ञा करनेकी धृष्टता नहीं कर सकता।' राजकुमारने मस्तक झुका दिया—'आखेटके औचित्यकी बात—हिंसा मुझे ही नहीं, श्रीचरणोंको भी अत्यन्त अप्रिय है!'

'वत्स! तुम जानते ही हो कि इस वृद्धने अहिंसाका व्रत ले लिया है, किंतु तुम प्रस्तुत न हो तो मेरा धनुष अब भी वनमें मृत्यु-वर्षा करनेमें समर्थ है।' स्नेहपूर्ण स्वर—'यह हिंसा हो भी तो उसका फल हम भोग लेंगे। जो अपने जीवन तथा आजीविकाकी रक्षाके लिये तुम्हारी ओर देखते हैं, उन्हें अभय देनेके लिये ही तुम्हारे हाथमें धनुष है। तुम्हारा कर्तव्य तुम्हें वनमें पुकार रहा है।'

'मैं प्रातः प्रस्थान करूँगा।' राजकुमारने सादर आदेश स्वीकार कर लिया। उनके आखेटके लिये शेष बातोंकी व्यवस्था स्वयं महाधनुर्धरने अपने हाथमें ली। प्रातः सूर्योदयके कुछ काल पीछे ही वन्य प्रतिनिधिके साथ राजकुमारका पूरा दल प्रस्थान कर चुका था।

× × ×

'ठहरो!' वज्रकठोर स्वर। आखेट-प्रमुखके कर धनुषकी प्रत्यञ्चापर जैसे स्तम्भित हो गये। बलाबलपूर्वक खींचनेसे अश्व लगभग दो पैरोंपर खड़ा हो गया। पीछे मुड़कर देखनेकी आवश्यकता नहीं हुई। पूरे वेगमें राजकुमारका अश्व आया और ठीक सम्मुख खड़ा हो गया—'एक शिशुवती माताकी हत्या आप नहीं कर सकते।'

'आखेटके कुछ नियम होते हैं कुमार!' आखेट-प्रमुखने अपने अश्वको सम्हाला और धनुषसे बाण उतार लिया—'आप ठीक मेरे धनुषके सम्मुख आ खड़े हुए हैं और मनुष्य सदा सावधान नहीं रहता। सिंहनी बिफर नहीं उठेगी—क्या आश्वासन!'

'मानवताके नियम आखेटके नियमोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।' राजकुमारके स्वरमें अब भी आवेश था। वे देख रहे थे कि आखेट-प्रमुखके नेत्र दूर लक्ष्यपर थे और उनके दक्षिण करका बाण अभी त्रोणमें नहीं गया था—'मेरे प्राणोंकी अपेक्षा उस माताके जीवनका अधिक मूल्य है, जिसके ऊपर उसके तीन शिशु निर्भर करते हैं।'

'हमने एक नर सिंह मार दिया है। वह मानव-भक्षी था।' आखेट-प्रमुखने अपने अनुभवका परिचय दिया—'यदि वह इसी परिवारका हो, ये शिशु भी मानव-मांसका स्वाद पा चुके होंगे और कुछ महीनोंमें ही भयप्रद हो जायँगे।'

'अपने अपूर्ण अनुमानके आधारपर हम हत्या करने तो आये नहीं हैं।' राजकुमारने अब आगे देखा। सिंहनी इतनी देरमें अपने शावकोंको लेकर गुफामें जा चुकी थी—'हम यहाँ निरीक्षक रख दे सकते हैं। यदि यह परिवार मानव-भक्षी भी हो गया हो तब भी शिशुओंको और उनकी माताको मारा नहीं जा सकता। हम उन्हें अपनी जन्तु-शालामें ले जायँगे।'

'कुमार! क्षमा करें।' आखेट-प्रमुखका स्वर गद्गद हो उठा—'जीवनमें आज एक सच्चे आखेटके दर्शन हुए मुझे। आखेट-शास्त्रमें पढ़ा मैंने भी यह सब है, किंतु वनमें इन बातोंका पालन भी किया जाता है, आज यह जीवित शिक्षा प्राप्त हुई। मैं आखेटका प्रमुख निर्देशक भले होऊँ, उसके आदर्शकी प्रेरणा मुझे आपसे लेनी चाहिये, यह समझ गया।'

'शूर हत्यारे नहीं हुआ करते!' राजकुमारने किंचित् संकोचका अनुभव किया—'मुझे तो आपसे शिक्षा लेनी है। पिताने भी आपके संरक्षणमें मुझे भेजा है। मैं चाहता यही हूँ कि एक भी निरपराध

पशु न मारा जाय । जहाँतक सम्भव हो वन्य पशुओंको भयभीत करके हम जनपदसे दूर घने वनोंमें चले जानेको विवश कर दें । ऐसी व्यवस्था यहाँ कर जायँ कि वे शीघ्र इधर लौट न आवें ।'

'अबतक मैंने यही सीखा था कि आखेटका सम्मान अधिक-से-अधिक पशुचर्म प्राप्त करने—विशेषतः दीर्घाकार व्याघ्र एवं सिंहोंके चर्म प्राप्त करनेमें है ।' दोनों ही आखेटक अपने अश्वोंको मोड़ चुके थे । आखेट-प्रमुख अपनी बात कह रहे थे—'आज दूसरी बात कुमारने हमें दी ।'

'सम्पूर्ण जीवन ही एक आखेट-क्रीड़ा है । यह मेरे शस्त्रगुरुने एक बार कहा था ।' कुमार गम्भीर हो गये—'हम हत्याका व्यसन पाल लेंगे आखेटमें तो, जीवनमें भी उत्पीड़न एवं परस्व-हरणके पापसे बच नहीं सकेंगे । कर्तव्य है, इसलिये कर्म करना है । उसमें आसक्ति—आखेटमें आसक्ति व्यसन है, यह चेतावनी शस्त्रगुरुने चलते समय दी है मुझे ।'

× × ×

'कुमार ! कल तुमने मुझे मारा है ।' विशाल-वपु केशरी खड़ा था सम्मुख; किंतु आज उसके नेत्रोंसे अङ्गार नहीं झड़ते थे और उसका भयानक मुख भी खुला नहीं था । उसकी दिगन्तकम्पी गर्जना तो कल ही सदाको सो चुकी । 'मैं तुम्हें कोई उपालम्भ नहीं देता । मैं आक्रमणकारी था, तुम मुझे मार न देते तो मैं तुम्हें अवश्य मार देता ।'

आखेटसे श्रान्त राजकुमार अपने शिविरमें तृणशय्यापर सो रहे थे । प्रगाढ़ निद्रा आयी थी उन्हें; किंतु इस समय अब वे स्वप्न देख रहे थे । सदाकी भाँति आज रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें वे जाग्रत् नहीं हो सके । पता नहीं, कलकी श्रान्तिका परिणाम था यह, अथवा जो स्वप्न वे देख रहे थे, उसे विश्व-विधायकको अवकाश देना था ।

'दोष मेरा भी नहीं है । मेरे आवासके समीप कोलाहल सुनकर मेरे शिशुओंकी जननी चिन्तित हो उठी थी ।' केहरी कहता गया—'मेरा शौर्य सहधर्मिणीको चिन्तित नहीं देख सकता था । धाताने स्वभावसे ही मेरी जातिको असहिष्णु बनाया है ।'

शिविरके बाहर प्रहरी शान्तपदोंसे टहल रहा था । आखेट-प्रमुखने उसे आदेश दिया था कि राजकुमार यदि विलम्बसे भी उठें, तब भी उनको स्वतः उठने दिया जाय । आज उनकी निद्रामें व्याघात नहीं पड़ना चाहिये । कल काननमें वे अत्यधिक श्रान्त हो चुके हैं ।

'तुम्हारे बाणोंने मुझे सद्गति दी । मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ । अत्यधिक कृतज्ञ इसलिये हूँ कि कल ही तुमने मेरी संतानोंकी रक्षा की । मेरी सिंहनीको तुमने आखेटकका लक्ष्य होनेसे बचाया ।' राजकुमार स्वप्नमें भी आश्चर्य कर रहे थे कि इतना क्रूर प्राणी भी कितना कृतज्ञ हुआ करता है । सिंह आगे बोला—'मैं इस वेशमें केवल इसलिये आया हूँ कि तुम मुझे पहिचान सको । नियमनिष्ठ आखेटकके शस्त्रोंसे मृत-पशु पवित्र होकर स्वर्गमें स्थान प्राप्त करता है ।'

'तुमने मुझे सद्गति दी और मेरे शिशुओंको बचाया । मैं इस समय समर्थ हूँ । मेरा प्रसाद व्यर्थ नहीं जाना चाहिये ।' स्वप्नमें राजकुमारने देखा कि सिंह सहसा एक ज्योतिर्मय दिव्य-देहधारी मनुष्याकृतिमें परिवर्तित हो गया है । वह रत्नाभरणभूषित निश्चय कोई देवता है । अब वह देवता कह रहा था—'प्रातः निद्रात्यागके पश्चात् सोच लेना कि तुम्हें जीवनमें क्या चाहिये । अपनी नियमित अर्चाके उपरान्त आधे मुहूर्ततक तुम जो भी कामनाएँ करोगे, वे सब पूर्ण होंगी ।'

'मैंने कोई सत्कार्य तो किया नहीं ।' निद्रासे उठते ही राजकुमारके मनमें पहिली बात आयी—'केहरी निरपराध था । उसके आवासके समीप हमलोग गये न

होते, वह आक्रमण करने हमारे शिविरपर तो आ नहीं रहा था। मेरा अपराध उसके मनमें नहीं आता—देवताका यह सहज औदार्य; किंतु मैंने आगे जो किया, वह मेरा कर्तव्य-मात्र था।'

राजकुमार देरसे उठे थे आज। नित्यकर्मोंसे निवृत्त होनेमें उन्हें देर होनी ही थी। आखेट-प्रमुखको कोई शीघ्रता नहीं थी। आज तो यहाँसे राजधानी प्रस्थान करना था। यहाँका कार्य तो समाप्त हो चुका। प्रस्थान कुछ देरसे भी हो तो वनमार्गकी छाया आतपका कष्ट नहीं होने देगी।

'पशु और मानव सब अपनी मर्यादामें रहें। सबका मङ्गल हो!' आप इसे कामना कह सकते हों तो अर्चा समाप्त करके यह कामना राजकुमारने अवश्य की थी। इसके पश्चात् वे पुनः ध्यान करनेमें लग गये थे। दो मुहूर्तभर अधिक लगाये उन्होंने उस दिन ध्यानमें।

'हम सब किसी सेवाके योग्य नहीं!' प्रस्थानको प्रस्तुत राजकुमारके सम्मुख वन्य जनपदके कुछ लोग उपस्थित हुए थे। वे अद्भुत ओषधियाँ, दुर्लभ वीरुध तथा अन्य उपहार ले आये थे—'यह घासफूँस स्वीकृति पा जाय, हम अपनेको धन्य मानें।'

'आपके स्नेहने हमें धन्य किया।' राजकुमारने उपहार लौटाये नहीं; किंतु लानेवालोंको पुरस्कार स्वीकार करना पड़ा और वह अल्प नहीं था। 'हम तो यहाँ कर्तव्यका एक अंश पूर्ण कर सके, यही सबसे बड़ा उपहार।'

सुनते हैं, नगर लौटनेपर शस्त्रगुरुने अपने शिष्यको सच्चा त्यागी कहकर हृदयसे लगाया था।

हृदयका पागलपन—घृणा

(लेखक—प्रो० 'कमल' एम्० ए०)

श्रीबायरनके शब्दोंमें 'हमारे हृदयका पागलपन ही घृणा है।' मानसमें घृणाके भाव एकत्रित होते ही, तनमें अत्यन्त उत्तेजना व्याप्त हो जाती है और मानव क्रोधावेशके अधीन होकर अपने-आपसे ही कहना आरम्भ कर देता है कि वह तुरंत ही अपने घृणाके पात्रको नष्ट-भ्रष्ट कर देगा अथवा पीस डालेगा। घृणा—क्रोध-हिंसा। घृणाकी तीव्रता-विशदता क्रोधको जन्म देती है और यह क्रोध क्षण-क्षण द्विगुणित होता हुआ हिंसापर तुल जाता है और इस प्रकार एक दुःखान्त नाटकका आरम्भ हो जाता है। जिस हृदयमें घृणाका सरलता-सुगमतासे प्रवेश हो जाता है, वह सदैव अशान्त, रुग्ण और विकारग्रस्त रहता है। अनेकों बार तो हमारे ससीम हृदयोंकी तंग सीमाओंमें भी घृणाका बवंडर उठा करता है और यह बवंडर उठते ही हम अपनी सुध-बुध खोने लगते हैं। सांसारिक मनुष्योंमें घृणाका बाहुल्य होता है और सच्चे संन्यासियोंमें इसकी अल्पतम मात्रा मिलती है।

घृणा, दोनों ओर नाशका कारण बनती है। जिस मानवसे घृणा की जाती है निरन्तर उसका धैर्य, आत्म-विश्वास, प्रफुल्लता, शनैःशनैः क्षीण हो जाते हैं और एक ऐसा समय आता है उसके जीवनमें जब कि वह खुद अपनेसे घृणा करने लगता है। आत्म-घृणा या आत्म-भर्त्सनासे बढ़कर तो इस संसारमें और कोई रोग या विकार नहीं। जिसने अपने-आपको ही कोसना आरम्भ कर दिया, वह तो बस समाप्त हुआ या मर गया!

नफ़रत करनेवालेको भी एक क्षणका सुख-चैन नहीं मिल सकता। सदैव उसके हृदयमें क्रोधका तूफान उठा करता है जो बुद्धिको ग्रसकर उसके मनको विचलित कर देता है। घृणाकी यह बात नहीं कि कुछ घंटेके लिये इसको आमन्त्रित कर लिया और फिर इसको तन-मनसे एक क्षणमें ही निकाल दिया। जब यह मनमें एक बार पूर्णतः व्याप्त हो जाती है तो फिर लाख कोशिश करनेपर भी बाहर निकाली नहीं

सकती । चौबीसों घंटे यह प्रतिशोधकी बात ही सोचती रहती है ।

घृणा तो शत्रुओंकी शत्रु है—एकदम घातक, अनिष्टकारी । जिस हृदयमें घृणाका नित्य निवास रहता है, वह कदापि प्रफुल्ल—उल्लासपूर्ण नहीं रह सकता । घृणा अंदर-ही-अंदर तनको झुलस देती है और मनको चिड़चिड़ा बना देती है । घृणाका पथ हिंसाकी ओर जाता है । अहिंसा और घृणाका तो युग-युगसे वैर चला आता है । घृणाके तामसिक, दुर्भाग्यपूर्ण विषाक्त क्षणोंमें तो मानव दानवका कराल रूप धारण कर लेता है और बड़े-से-बड़ा पाप करनेपर उतारू हो जाता है । घृणाके द्वारा उत्पन्न रोषमें शक्ति तो खूब होती है, किंतु वह क्षणिक होनेके नाते शीघ्र ही समाप्त हो जाती है ।

प्रश्न उठता है—'घृणा किसके प्रति ?' और इसका उत्तर है—श्रीबर्नार्डके शब्दोंमें—'किसीसे घृणा मत करो । व्यक्तियोंके दुर्गुणोंसे घृणा करो, व्यक्तियोंसे नहीं ।' अतः मानवसे घृणा नहीं करनी चाहिये । यदि आपने मानवको ही अपनी घृणाका केन्द्रबिंदु बनाया है, तो अपनेसे ही घृणा करें; क्योंकि थोड़े-से विश्लेषणद्वारा ही आपको पता चल जायगा कि आपमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक त्रुटियाँ और दुर्बलताएँ विद्यमान हैं ।

मानवके प्रति मानवका दृष्टिकोण सदा सहानुभूतिमय और दयापूर्ण ही होना चाहिये । अपूर्णको क्या अधिकार है कि अपूर्णका कटु आलोचक या शत्रु बने । मानवका स्वागत क्षमासे होना चाहिये, घृणासे नहीं । इस संसारमें कोई भी प्राणी घृण्य—त्याज्य नहीं । दोष वास्तवमें है तो उन परिस्थितियोंका है, जो भूखे मानवको कमीना—लालची बना डालती हैं ।

घृणा नहीं, प्रेम । लोगोंको प्रेमकी आवश्यकता है, दादकी जरूरत है, प्रशंसाकी भूख है । उन्हें प्रभूत मात्रामें प्रेम, दाद, प्रशंसा दो । यदि आप ऐसा करेंगे तो आपका जीवन अत्यधिक सफल, सुखी और सम्पन्न हो जायगा । घृणा हिंसात्मक या विध्वंसात्मक है, तो प्रेम अहिंसात्मक या रचनात्मक । यदि किसीसे घृणा करनी है तो घृणासे ही घृणा करो ।

जीवन-वर्षा

मेरे मानसरोवरके ऊपर घिरी हुई मेघमालाकी बूँदें आज फिर मेरे आँगनमें बरस रही हैं ।

इस मेघमालाका निर्माण धुर-धामके सुख-तापी सूर्यने किया है और इन बूँदोंमें उसके अमृतका पुट दिया हुआ है ।

मुझे अभी अनुमान नहीं होता कि ये अमृत-झड़ियाँ आज कितनी मूसलाधार मेरे आँगनमें बरस रही हैं ।

लेकिन जान पड़ता है, मेरी रह-रहकर उचटती हुई यह नींद ऐसी ही किसी मेघ-झड़ीसे अब जल्द ही टूट जायगी ।

आज फिर इस मेघ-मालाके देवतामें मैंने अपने रूप-धामकी हास-सौदामिनीकी दो-एक झलकें देखी हैं । और अब मैं ऐसी ही किसी मेघ-झड़ीसे अपनी रह-रहकर उचटती हुई नींदके एकदम टूट जानेकी प्रतीक्षामें हूँ ।

[एक तरुण साधककी डायरीसे]

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

मन्दिरकी बाँयी ओर लगभग साढ़े तीन-चार सौ फुटकी ऊँचाईपर एक छोटे-से टीलेपर भैरवनाथका मन्दिर है। इसे भैरव-झाँप कहते हैं। मन्दिरके पट खुलते समय भगवान् केदारनाथकी पूजाके पूर्व सर्वप्रथम इन्हीं भगवान् भैरवकी पूजा होती है। कहते हैं लगभग पचास वर्ष पूर्वतक अनेक लोग इस भैरव-झाँप (भृगुपतन या स्वर्गारोहिणी) टीलेसे कूदकर स्वर्ग-गमनके लोभमें अपना शरीर त्याग देते थे। स्वर्गप्राप्तिके लिये कदाचित् उस समय यही सुगम रास्ता था। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि यह बहुत बड़ा अज्ञान था !

हमारे पंडाजीने जो हमें ये ऐतिहासिक स्थल दिखला रहे थे, केदारपुरीके इन हिमानी शृङ्गोंसे निकलनेवाली धाराओंका परिचय कराया। मन्दाकिनी तो यहाँकी प्रमुख सरिता थी ही जिसका उद्गम हमने अत्यन्त निकटसे देखा। मन्दाकिनीके अतिरिक्त क्षीरगङ्गा, मधुगङ्गा, सरस्वती तथा स्वर्गारोहिणी—ये चार धाराएँ पृथक्-पृथक् इन हिमानी शिखरोंसे उद्भूत होकर थोड़ी ही दूर बहकर आगे मन्दाकिनीमें ही समाहित हो जाती हैं। यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरीका मूल उद्गम हमें क्या किसीको भी अगम्य होनेके कारण देखनेको नहीं मिला, किंतु केदारनाथकी इन पञ्चकन्याओंके पाँच पृथक् उद्गम निकटसे देखनेका हम सभीको सौभाग्य मिला।

मन्दिरके पीछेकी दाहिनी ओरकी हिमवान्‌की शृङ्गावलीके बीचसे पाण्डवोंका स्वर्गारोहण-महापथ आरम्भ होता है। यह महापथ दो श्रेणियोंके बीचसे चला है जो दूरसे दिखायी देता है। इस स्थलसे लगभग ढाई मील पूर्व वह ब्रह्मगुफा है, जहाँ पाण्डवोंने अन्तिम यज्ञ किया था और यह यज्ञ समाप्त कर वे द्रौपदी तथा एक श्वानके सङ्ग आगे बढ़े थे। आगे चलकर धर्मराज तथा उस श्वानको छोड़ द्रौपदीसहित चार पाण्डुपुत्र हिमाचलमें गल गये थे। इस महापथको देख महाभारतमें पढ़ी हुई पाण्डवोंके स्वर्गारोहण-सम्बन्धी अनेक बातें याद आयीं। इन बातोंमें प्रमुख थीं, द्रौपदी और पाण्डवोंके उस समयके सम्भाषण, जो द्रौपदी और पाण्डवोंने अपने महाप्रयाणके पूर्व धर्मराजसे किये थे।

यहाँ हमें कहा गया कि ब्रह्मगुफामें उस समयके यज्ञकी कुछ वस्तुएँ यज्ञ-सामग्री आदि अभी भी मिलती हैं। हमारा इस सम्बन्धमें कुछ कहना सम्भव नहीं है, यह तो वैज्ञानिकोंकी खोजका विषय है, परंतु यह कहा जा सकता है कि बर्फकी ठंडकमें अनेक वस्तुएँ हजारों वर्ष सुरक्षित रहती हैं। फिर सुमेरियन संस्कृतिकी ऐसी ही कुछ वस्तुएँ मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पामें मिली हैं। अतः यह शायद असत्य और असम्भव नहीं है।

केदारनाथके मन्दिरकी बायीं ओर मन्दाकिनीके उद्गमस्थानसे लगभग ढाई मीलपर चोरावाड़ी नामक वह कुण्ड है, जहाँ गांधीजीकी भस्मका एक अंश विसर्जित किया गया था। जिस दिन इस भस्मका विसर्जन हुआ था, उसी समयसे इस कुण्डका नाम गांधीसरोवर हो गया है। कितनी बढ़ गयी है इस तीर्थकी पवित्रता इस पवित्रतम भस्मके विसर्जनसे। जिन-जिन सरिताओं और कुण्डोंमें इस पुण्यश्लोक महापुरुषकी भस्म विसर्जित हुई है, उन सभी स्थलोंपर इसके विसर्जनके साथ ही पुण्य-तीर्थोंकी स्थापना हो गयी है।

महाभारतके पात्र पाँचों पाण्डवोंने उस कालमें भगवान् श्रीकृष्णके नेतृत्वमें दुर्योधन, दुःशासन और शकुनिके कुशासन, अत्याचार और कुचालोंसे भारतीय मानसकी मुक्ति और धर्मराज्यकी स्थापनाके लिये महाभारत किया और दिग्विजयी हो महापथके इसी रास्ते स्वर्ग सिधारे। बापूने अंग्रेजोंके अत्याचारसे उत्पीड़ित भारत-वसुन्धराको मुक्त कर रामको आदर्श मान 'हे राम' ! कह रामराज्यकी एक साकार कल्पना ले इस लोकसे प्रस्थान किया। पाण्डवोंका स्वर्गारोहण और बापूका महाप्रयाण—दोनों ही भारतीय इतिहासके अपूर्व साहस, अदम्य पौरुष और उत्कट आदर्शोंके दो ऐसे अपूर्व और अद्वितीय चित्र हैं, जिनके कारण भारतकी सांस्कृतिक सभ्यताकी गौरव-गरिमाकी न केवल रक्षा हुई है वरं उसमें अभिवृद्धि हुई और उसकी आधारभूत एकताकी अखण्डताको बल मिला है। भारतीय जीवनमें एकने कर्मको प्रधानता दे पौरुषकी प्राण-प्रतिष्ठा की तो दूसरेने उसकी पुष्टि कर उसमें सत्य और अहिंसाके आश्रयवाला महान् पराक्रमी जीवन भर एक अखण्ड आत्मबलकी स्थापना की। भारतीयताके प्रतीक ये दोनों चित्र जीवनके

उस वास्तविक लक्ष्यका निर्देश करते हैं, जिसके आगे आज-तक आजका वैज्ञानिक शक्तिशाली संसार भी नहीं बढ़ पाया है। भय, अत्याचारसे उत्पीड़ित विश्वकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटना या समस्याका समाधान तथा छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी शक्तिकी सहिष्णुता, साहस, धैर्य और चुनौतीका परीक्षण, कसौटी और उत्तर भी हमारे इन्हीं दो आदर्श चित्रोंमें आज विश्व देख रहा है। जिस तरह पाण्डवोंके दिग्विजयी पराक्रमने महाभारत और भगवद्गीता-जैसे महान् ग्रन्थोंकी रचना की, उसी तरह आज बापूके पुरुषार्थकी उज्ज्वल किरणोंसे सारा विश्व आलोकित है और इसी आलोकके प्रकाशमें आज संसारके सभी लोग तेजीसे भय और आशंकासे परे आत्मबलको लेकर सौहार्दके उस सत्यपथकी खोजमें अग्रसर हैं जिसका शङ्खनाद समय-समयपर हमारे ऋषियों, मुनियों और महर्षियोंद्वारा सदा होता रहा है। हम सभीने दूरसे ही पाण्डवोंके उस महापथको एवं चोरावाड़ी नामक 'गाँधीसरोवर' को श्रद्धानत मस्तकसे प्रणाम किया और जगद्गुरु शंकराचार्य-की समाधिकी ओर बढ़ गये।

समाधिके निकट पहुँच जगद्गुरु शंकराचार्यकी स्मृतिमें दो मिनट मौन हो, हम सबने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। अपनी इसी मौनावस्थामें आद्य शंकराचार्यके कार्यों और उनके आज दिख रहे स्मृति-चिह्नोंकी यादगारसे हृदय भर उठा। केवल बत्तीस वर्षकी अवस्थामें इसी स्थलपर उस महान् संत, उपदेशक, आचार्य और अवतारीने अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया। इतनी अल्पायुमें जितना महान् कार्य श्रीशंकराचार्यने किया, उतना कदाचित् ही विश्वके किसी मानव या महापुरुषने किया हो। विश्वके सबसे प्राचीनतम हिंदूधर्मका उसके प्राचीन सिद्धान्तोंकी पूर्ण रक्षा करते हुए पुनः स्थापन कर उसे जो वर्तमान रूप दिया है, वह इस अल्पायुवाले मेधावी सुधारक और सद्गुरुकी भारतके लिये सबसे बड़ी देन है। भारतीय संस्कृति धर्मप्राण संस्कृति है। उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम-तक उस संस्कृतिकी एकसूत्रताके लिये भारतीय सीमाओंकी सम्बद्धता और सुरक्षाके लिये इस महापुरुषने क्या-क्या किया। चारों दिशाओंमें भारतीय सीमाओंपर चार मठोंकी स्थापना-कर इस संस्कृतिकी एकसूत्रता और सीमाकी सुरक्षा और अखण्डताकी किस तरह स्थापना की, यह आज हमें स्पष्ट दिखायी देता है। हिमालय सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा वन-सम्पदा और खनिज रत्नोंका धनी संसारका सर्वाधिक समृद्ध पर्वत है। प्राकृतिक शोभाकी दृष्टिसे भी भारत-वसुधाके श्रृङ्गार उत्तराखण्ड तथा काश्मीरके ये अनेक स्थल संसारकी गिरि-सृष्टिमें अद्वितीय होनेके कारण सभीके आकर्षणके केन्द्र हैं। फिर उत्तराखण्डका हमारी धर्मप्राण सृष्टिमें सर्वोच्च स्थान है। इसका कारण भारतीयोंकी भक्ति-मुक्तिदायिनी भगीरथी गङ्गाका, जो हमारी पवित्रतम सरिता है, यहींसे निकलना है। फिर महा-भारतके प्राण, भगवद्गीताके उपदेशक, धनंजयके सारथि, पूर्णा-वतार भगवान् श्रीकृष्णकी प्रियतमा सूर्यतनया कालिन्दी भी, जिनके तटपर श्रीकृष्णने अनासक्ति और कर्मयोगका उपदेश किया, हिमालयके इसी क्षेत्रसे निकली हैं, तथा भारतीय जीवन-में ज्ञानकी सरिता प्रवाहित करनेवाली कपिल-व्यासादि ऋषियों-मुनियों-महर्षियोंद्वारा सेवित सरस्वती भी इसी क्षेत्रसे प्रवाहित हुई। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

राम भगति जहँ सुरसरि धारा।
सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेधमय कलिमल हरनी।
करम कथा रबिनंदनि बरनी॥

ऐसे उत्तराखण्डमें शंकराचार्यकी साधना, भारतीय धर्म और संस्कृतिकी उपासना, उसके लिये कार्य और अन्तमें समाधि भी सनातनधर्मके भाग्योदयका कारण बनी। समाधिके निकट हम सभी मौनभावसे खड़े थे, पर अंदर हमारे विचार-प्रवाह दौड़ रहा था। हमें हमारी कुछ धार्मिक मान्यताएँ याद आयीं। गङ्गाके उद्गमस्थानका, जो उस कालमें गङ्गोत्तरी माना जाता था, जल लेकर दक्षिणके छोरपर स्थित रामेश्वरकी मूर्तिपर चढ़ाना, हमारा एक परम पुनीत धार्मिक कृत्य माना जाता है। भगीरथ गङ्गाको लाये और देशको उन्होंने एक पवित्र वस्तु दी। उसकी भौतिक और आधिभौतिक भक्ति-मुक्तिके लिये गङ्गा देशके एक क्षेत्रमें ही बही हैं, अतः शंकराचार्यने उन्हें जोड़ा दक्षिणसे। उत्तरमें रहनेवाला भारतीय गङ्गोत्तरीका जल लेकर दक्षिणके छोर रामेश्वर जाकर उस जलको भगवान् सदाशिवको अर्पित करता है और दक्षिणमें रहनेवाला भारतीय भी उत्तरके छोरपर आकर गङ्गोत्तरीके दर्शन कर गङ्गाका वह जल दक्षिणमें स्थित रामेश्वरपर चढ़ाता है। इसी प्रकार भारतकी हर दिशाएँ, हर कोनोंपर, हर भागमें रहनेवाले हर भारतीयकी गङ्गोत्तरी जाकर गङ्गाजल लाकर उसे रामेश्वरमें चढ़ानेकी अभिलाषा रहती है। सभी भारतीयोंको समान पुण्य, सभीकी मुक्ति और सभीका कर्तव्य निहित है, इस स्वेच्छिक पुण्यबन्धनमें, एक आजाद देशके नागरिककी तरह। कैसी उदात्त भावना भरी है, भारतीयोंके स्वाभिमान, सुरक्षा और

उनकी स्वाधीनताके रक्षक इस धार्मिक विधानमें। तीर्थाटन करते हुए इस देशके भिन्न-भिन्न वर्गों, समुदायों और जातियोंके लोग भिन्न-भिन्न प्रदेशोंसे चलकर इन भारतीय तीर्थस्थलोंपर एकत्रित होकर भिन्न-भिन्न भाषाभाषी होते हुए भी एक ही बोली बोलते हैं—एक भारतीय प्रेमकी, एक भारतीय धर्मकी, एक भारतीय संस्कृतिकी। कैसा भाईचारा, कैसी सहयोगवृत्ति और कैसी एकसूत्रता दृष्टिगोचर होती है। कवीन्द्र गुरु रवीन्द्र ठाकुरकी कल्पनाके इस भारतकी इन स्थलोंपर जिसे उन्होंने भारत-तीर्थ (मानव-सागर) की उपमा देकर वर्णन किया है—

हे मम चित्त पुण्य तीर्थे जागो रे धीरे।
एइ भारतेर महा मानवेर सागर तीरे॥

कवीन्द्र गुरु रवीन्द्रके मतानुसार विभिन्नतामें एकरूपतावाले भारतीय समाजकी इस सांस्कृतिक एकताके सूत्रधार इन सुधारकों, संतों और सनातन पुरुषोंकी इस सहृदयवृत्ति और सत्यसेवाका स्मरण कर हमारा सिर श्रद्धा और भक्तिसे झुक गया। समूचे देशके सम्पर्कका ऐसा पवित्र साधन, सम्मिलन और समन्वयकी ऐसी योजना और एकीकरणका ऐसा महान् आयोजन शायद ही किसी देशमें और उसकी संस्कृतिमें हो। इस महान् अनुष्ठानमें कितना बड़ा हाथ है आद्यगुरु शंकराचार्यका जिनकी समाधिके सम्मुख आज हम खड़े थे। भरे हृदय हमने आदिगुरु शंकराचार्यको उनकी इस सगुणोपासनाके भारतीय जीवनमें साकार दर्शन कर नत-मस्तक प्रणाम किया। रत्नकुमारीके अवरुद्ध कण्ठसे भावनाविगलित स्वरमें एक भक्तिज्ञान फूट निकला—

गीत

हे शंकर! आचार्य महान।
श्रद्धा-कुसुम समाधि समर्पित, तरुण तपस्वी ज्ञान-निधान॥
मनकी गति अर्पित कर तनको, द्रुत देखा चारों दिशि देश।
एकरूपता परखी यद्यपि, भाषा भिन्न-भिन्न थे वेश॥
दक्षिण सीमा सागरपर शिव, रामेश्वर बन करते बास।
गङ्गोत्तरी पवित्र नीरसे, अभिषेकोत्सुक उनका दास॥
उत्तर सीमा हिमगिरि बासी, शीर्षस्थित कर गङ्गापात्र।
आतुर रामेश्वर पथ धावित, इच्छुक हर चरणोदक मात्र॥
प्राचीमें जलनिधिके तटपर, जगन्नाथ पुरुषोत्तम धाम।
द्वारावती प्रतीची सीमा, उदधि-क्रोडमें अति अभिराम॥
तीर्थाटन, संस्कृति सम्मेलन, ज्ञान-गर्भ यह धर्माचार।
स्थापित कर भारतकी भूपर, जनका कर अनुपम उपकार॥
धर्म पुरातन सुप्त जगाया, ज्ञान-कर्मका कर उपदेश।
आदि-अन्त तव जीवन तपमय, मूर्तिमन्त संयम संदेश॥
हिमगिरिसे लंकातक फैला; जनजीवनमें धार्मिक क्रान्ति।
केदारेश्वर निकट स्थित हो, पायी मनवांछित चिर शान्ति॥

भगवान् शंकराचार्यकी यह समाधि अत्यन्त सादी बनी है। केवल एक चबूतरा है। कहते हैं, इसपर पहले एक छाया थी जो हिमपातके कारण टूट गयी। हमारी राय है कि इस समाधिका सुचारु रूपसे निर्माण होना चाहिये, जिससे हिमपात आदिका उसपर कोई प्रभाव न पड़े। आखिर श्रीकेदारनाथका मन्दिर भी तो यहीं बना है। यदि हिमपातमें वह अक्षुण्ण रह सकता है तो समाधि क्यों नहीं। फिर इस समाधिके साथ साधुओं-संन्यासियोंके लिये कोई ऐसी संस्था भी बननी चाहिये, जिससे शंकराचार्यके उपदेशोंके अनुसार इन साधु-संन्यासियोंके निर्माणमें सहायता मिल सके। हमने यहाँ बारहों महीने रहनेवाले एक साधुसे भी भेंट की। ये महात्मा केवल फलाहार करते हैं और 'फलाहारी बाबा' के नामसे प्रसिद्ध हैं। यदि शंकराचार्यकी समाधि और समाधिके साथ साधु-संन्यासियोंकी साधनाके लिये कोई समुचित स्थान आदि बन जाय तो बारहों महीने रहनेवाले ऐसे अनेक साधु-महात्मा यहाँ यात्रियोंको मिलेंगे, जिससे इस तीर्थकी पवित्रता और पुण्यके परिणाममें पर्याप्त वृद्धि तो होगी ही, भारतकी उस आध्यात्मिक चेतनाको भी बल मिलेगा, जिसकी आज बड़ी आवश्यकता है। शंकराचार्यकी समाधिकी वर्तमान दशासे हम बड़े दुखी हुए।

इस विषयमें अब अधिक उदासीनता और उपेक्षासे काम नहीं चल सकता। आशा है, अधिकारीगण शीघ्र ही इस महापुरुषकी समाधिकी कोई स्थायी सुदृढ़ व्यवस्था करेंगे।

आज मध्याह्नमें हमारी ओरसे ब्राह्मण-भोजन था, जब तक हम अपने मुकामपर लौटे, ब्राह्मणोंकी पंगत बैठ चुकी थी। ब्राह्मणोंके भोजन हुए, उन्हें दक्षिणा मिली और हम सबने भी भोजनादि किये। भोजनोपरान्त पंडाजीकी विदाई हुई। हमारी यात्राके पिछले दो धामोंके पंडोंकी भाँति हमारे केदारनाथके पंडाजी भी बड़े विनम्र, सहृदय, श्रद्धालु और संतोषी ब्राह्मण थे। इन्होंने केदारनाथकी यात्रामें मार्गमें तथा केदारनाथजीमें भी हमारे निवास आदिकी व्यवस्थामें और स्थलों और ऐतिहासिक स्थानोंके दिखानेमें घुमानेमें अपने अनुराग और परिश्रमका परिचय दिया था। हम इनके

कामसे संतुष्ट थे और ये भी अपने यजमानोंसे मिली दक्षिणासे हमें संतुष्ट दिखायी पड़े ।

इसी समय उत्तराखण्डके शोणितपुरस्थित विद्यालयके कुछ संचालकोंने हमारे मुकामपर आकर गोविन्ददासको उनके केदारनाथ-आगमनपर एक अभिनन्दनपत्र भेंट किया, तथा एक स्मृति-पत्र भी दिया, जिसके जरिये सरकारसे कुछ सुविधाएँ विद्यालयके सम्बन्धमें माँगी गयी थीं । यहाँके पंडावर्ग और ब्राह्मणोंमें जो विद्वत्ता पायी जाती है, उसका श्रेय बहुत दूरतक इस विद्यालयको भी है ।

कल २५ जूनके मध्याह्नमें लगभग ११७५३ फुटकी ऊँचाईपर स्थित पावन केदारनाथपुरीमें हमारा आगमन हुआ था । आज कुछ ही समय बाद हमारे यहाँसे प्रस्थानका कार्यक्रम था । यह गमनागमनका क्रम, जो जन्मसे मृत्युपर्यन्त जीवनके हर क्षेत्रमें चलता है कितना भावपूर्ण, कितना करुण और मोह पैदा करनेवाला होता है, इसका अनुभव आज हमें यहाँ हो रहा था । पुरीसे प्रस्थानकी भी हमें जल्दी थी, इतनी जल्दी जितनी यहाँ पहुँचनेकी । यद्यपि हमारे कल यहाँ पहुँचनेके पूर्वकी अवस्था और इस स्थानको छोड़ते समय हमारे मनकी इस अवस्थामें कोई मिलान नहीं हो सकता था, किंतु न जाने क्यों, हम जैसे कल यहाँ पहुँचनेके लिये व्यग्र थे, वैसे ही जल्दी ही यहाँसे लौटनेके लिये हमारे मनोंमें भी एक प्रकारकी व्यग्रता स्पष्ट दिख रही थी । मानव-मनकी अवस्थाके ये दो चित्र आज हमारे लिये बड़े प्रेरणादायक थे । मनकी इस स्थितिका भान होते ही हमारे भीतर न जाने कितनी बातें आने-जाने लगीं । जिस एक आकर्षणके लिये हम समतलसे चलकर ११७५३ फुटकी इस ऊँचाईपर चढ़े, आज उसीको छोड़ फिर हम वापस लौट रहे थे । जिस तरह उत्साह और अनुरागप्रेरित मनसे हम यहाँ आये थे, उसके ठीक विपरीत किसी-न-किसी कर्म-बन्धनसे प्रेरित विवश मनसे हम लौटनेको आज बाध्य थे । मनकी अस्थायी चंचल अवस्थाकी भाँति जीवनके हर कार्य, हर अवस्थाएँ और हर चीजें अस्थायी–परिवर्तनशील हुआ करती हैं । नाटकीय दृश्योंके पट-परिवर्तनकी भाँति कोई जल्दी, कोई कुछ देरसे बनती-बिगड़ती, नष्ट-विनष्ट होती ही है । जीवनके क्षेत्रमें भी जन्मके साथ ही जैसे मृत्युकी कल्पना जुड़ी है, वैसे ही सृष्टिरचनामें उसके विनाशकी भावना भी निहित है । जैसा कि ऊपर कहा गया । इसमें कालभेद अवश्य है, पर इस कालभेदको छोड़ इस तथ्यकी सत्यतामें कोई संदेह नहीं रह गया है । यदि शास्त्रोंके मतोंके अनुसार सृष्टिके लय होनेकी जिस स्थिति प्रलयका वर्णन आया है, उसे हम न भी मानें तो भी हम यदि विचारसे देखें तो यह विनाशका क्रम, जिसे बड़े रूपमें प्रलयकी संज्ञा दी गयी है, हमें सृष्टिमें नाना रूपोंमें आज भी दिखायी देता है । महामारी-जैसे बड़े-बड़े भयंकर युद्धोंमें शिवके संहारक रूपकी झाँकी बहुतोंने देखी होगी । फिर विनाशके साथ ही निर्माण भी होता ही है, बड़े-बूढ़े झाड़-पेड़ उखड़ते हैं, गिरते हैं, कोई हवामें, कोई तूफानमें, कोई नदीके किनारे पानीके वेगमें, फल लदे तरु निर्धन होते हैं, कितने हरे-भरे कानन उखड़ते हैं, पुष्पित पौधे मुरझाते हैं, फिर नवपल्लवित सुकुमार पौधे विकसित होते हैं और अवगुण्ठित, कोमल कलियाँ कुसुमित । एक ओर कोई रोता है दूसरी ओर कोई हँसता । जहाँ शहनाई बजती है, वहाँ मातम भी छाता है । इस निर्विवाद स्थितिमें बँधा मानव जगतीमें व्यापाररत रहता है । इस समय हमारे मन इस स्थितिसे पूर्णतया आवृत-आबद्ध थे । हम सब भगवान् केदारनाथसे रस्मी तौरपर उनकी पुरीसे विदा लेने मन्दिरमें पहुँचे । अखिल ब्रह्माण्डके-स्वामी भगवान् विश्वम्भरके भक्त उनसे कब पृथक् हो सकते हैं । सहजभाव और सहजमतिसे उनका सान्निध्य उनके भक्तोंको हर क्षण, हर स्थल सुलभ हो सकता है और इस दृष्टिसे वे केवल यहीं केदारपुरीमें रमते हों, ऐसी बात नहीं थी, यह हम जानते थे । हमें यह भी मालूम था कि वाराणसीमें काशी-विश्वनाथके रूपमें, रामेश्वरमें भगवान् सदाशिवके रूपमें तथा भारतके मानसमें अगणित मन्दिरोंमें और मन्दिरोंमें ही क्या सच्चे मनस्वी धीरवीर सुहृदय शिवभक्त साधु-हृदयोंमें दीन-दुखी, दरिद्र मानवोंमें और मानवों ही क्या, यदि भाव शुद्ध है, मन भगवत्-भक्ति-विमुग्ध है तो सृष्टिके जड-चेतनमें, रजकण सभीमें उनकी आभा, उनका रूप, उनका सौन्दर्य और शृङ्गार हम देख सकते हैं । उनके दर्शन किये जा सकते हैं, किंतु ये सब बातें ज्ञातव्य होते हुए भी न जाने क्यों, हमारा मन तो आज इसी भावमें तन्मय था, जैसे भगवान् विश्वम्भरका वास केवल केदारपुरीमें ही है और हम उनके मेहमान होकर उनके आश्रयमें उनके निकेतन केदारपुरी पहुँचे हैं । अपने अति प्रियतम परमात्मा परमेश्वरके साक्षात् सांनिध्यसे आज हमें बरबस पृथक होना था । हम योगी-संन्यासी तो थे नहीं, भवव्याधिग्रस्त गृहस्थ साधारण मानव, अतः यह पृथक्त्व हमें ऐसा जान पड़ा जैसे जीवनसे अथवा अन्यान्य अवशेष कर्तव्योंके मोहकी स्थितिभरे मनवाले मानवको कोई व्याधि अनायास ही और उसके अनजाने मृत्युकी ओर ले जा रही हो और वह मनके अज्ञानकी इस स्थितिमें अपनी कुण्ठाओं और कामनाओंके सहारे जी तो रहा हो, पर वस्तुतः तेजीसे चल रहा हो आत्मत्यागके पथपर । भगवान् केदारनाथके कल्के

दर्शनोंमें संयोगका वह सुख और आज विदाके समयके इन दर्शनोंमें वियोगका यह कारुणिक दुःख, दो दोरुखे भिन्न चित्र, दो भिन्न दृश्य, कितने दार्शनिक थे, कितना अन्तर था इन दो दर्शनोंमें । कल ही तो जीवनमें प्रथम बार श्रीकेदारनाथ भगवान्‌के दर्शनोंकी चिर अभिलाषा पूरी हुई थी, आज मन्दिरमें लगभग तीन घंटे पूजन और दर्शनमें भगवत्-संपर्कका जो अनुपम सुख मिला, अब वह कुछ ही घंटोंके पश्चात् एक स्वप्नलोककी सामग्री बनने जा रहा है । किसी वस्तुके साकार दर्शन और फिर उसकी सुषुप्ति (स्वप्न) में परिणति । तपस्वियोंकी तरह उग्र तपस्याके उपरान्त भगवत्साक्षात्कार और तत्क्षण ही अन्तर्धान होना । चिरवाञ्छित वस्तुका संयोग तो स्वल्प कालके लिये और वियोग चिरकालके लिये । कैसे हैं नियतिके निष्ठुर नियम । कुण्ठित भावनाओं और सजल नेत्रोंसे शिवपीठपर माथा टेक हम सबने भगवान् केदारनाथसे विदा ली । आन्तरिक मलिनता नेत्रोंके मार्गसे बाहर निकल रही थी, भीतर अपने प्राणोंमें अपनी भावनाओंके शृङ्गारसे विभूषित भगवान् केदारनाथको धारणकर हमने मन्दिरके प्रवेशद्वारसे बिना घूमे पीछेकी ओर चल बाहर आ नन्दी, मन्दिर और उसके शिखरको देख उसका पूर्ण आकार अपने छोटे-से हृदयमन्दिरमें धारणकर सदाके लिये उस पुण्यभूमिसे विदा ली ।

भगवान् केदारनाथके चरणोंमें पहुँचनेके लिये जिस पावन मन्दाकिनीको पुलसे पार करना पड़ता है, पुरीसे अपना सम्बन्ध तोड़नेके लिये भी हमने इसी सलिलाके तटपर आगमन किया और मातृरूपा मन्दाकिनीको प्रणामकर पुल पार कर इस पारसे पुनः केदारपुरीको निरख नतमस्तक पुनः-पुनः प्रणामकर उसीके किनारे-किनारे उसीके साथ-साथ उसीके सहारे पुनः अपनी यात्राके अग्रिम लक्ष्यपर अग्रसर हो गये। मन्दिरके पीछेकी उस विशाल धवल हिमानी और मौन ध्यान-मग्न, नग्न उत्तुंग गिरिशृङ्गोंपर जब हमने एकबारगी दृष्टि डाली, तो प्रकृतिके इस विशाल देशकी महिमा, गौरव-गरिमामें हम फिर भावविमुग्ध हो गये । प्राकृतिक शोभाके इस सिन्धुमें पावन पुरी और उस पुरीमें यत्र-तत्र चलते-फिरते कुछ मानववृन्द जलकणों, ओस-विन्दुओंसे दृष्टिगोचर होते। सच है, भगवान्‌की इस विशाल रचनासृष्टिमें मानव कितना अल्प, कितना क्षुद्र है, पर दूसरी ओर उसकी यह अल्पज्ञता, उसका यह सिन्धुमें बिन्दु-जैसा योग भी कितना महान्, स्तुत्य, उज्ज्वल और कितना देदीप्यमान है ।

* * *

एकाङ्गी प्रेम

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास ।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास ॥

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि ।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि ॥

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोदके दोष ।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक ।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक ॥

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच ।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच ॥

[एक ही भरोसा है, एक ही बल है, एक ही आशा है और एक ही विश्वास है । एक रामरूपी श्याम घन (मेघ) के लिये ही तुलसीदास चातक बना हुआ है ।]

[हे चातक ! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वाति नक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है; घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी।]

[चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघका दोष कभी आता ही नहीं । तुलसीदासजी कहते हैं कि इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तौल नहीं हो सकता (उसका थाह नहीं लगाया जा सकता ।)]

[तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ (बादल) कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निबाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये ।]

[किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पुण्यसलिला गङ्गाजीमें गिर पड़ा; परंतु गिरते ही उस अनन्य प्रेमी चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया । तुलसीदासजी कहते हैं कि चातकके प्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दमतक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं ।)]

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक——श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ११९७ से आगे]

कीमियागर !

आजकलकी नयी चमत्कारिक तत्काल लाभदायक दवाओंके विषयमें उनके निर्माता भी नहीं जानते। घातक प्रभाव होनेपर ही जब यह मालूम हो जाता है तो अगले साल उनके नुस्खेमें किंचित् परिवर्तन करके नये नाम और लेबलसे उसे बेचा जाता है, अतएव इस नयीका असर भी वे कैसे जानें! वे तो नुस्खे बदलते रहते हैं, खानेवाले चखें और भोगें। यह पोलियो-टीका कैसे बनता है, यह भी देखें। टोरण्टो (कनाडा) यूनिवर्सिटीकी मेडिकल रिसर्च प्रयोगशालामें चलिये, जहाँ कि अठारह हजार बन्दर गये हैं। लगभग साठ बन्दर रोज सुबह चीरे-फाड़े जाकर उनके मूत्रपिण्ड निकाल लिये जाते हैं, फिर उन्हें अधिक मात्रामें ईथर देकर मार डाला जाता है। मूत्रपिण्डके बारीक टुकड़े करके, बोतलोंमें डॉ० साल्कद्वारा बनाये गये एक विशेष घोल नं० १९९ में बंद करके रख दिया जाता है और इन सबको एक यन्त्रके भीतर छः दिनतक अनुकूल तापक्रममें रक्खा जाता है, जिससे छः दिनमें मूत्रपिण्डके टुकड़े (कोषाणु) बड़े हो जाते हैं, पश्चात् बालपक्षाघात रोगके जीवित कीटाणुवाले घोलमें उन्हें डाल दिया जाता है, बोतलें बंद कर दी जाती हैं। चार दिनमें जहरीले कीटाणु हजारगुना बढ़ जाते हैं, फिर उन्हें वहाँसे पार्क डेविस कम्पनी और इली लिली कम्पनीको भेज दिया जाता है। वहाँ उस घोलमेंसे बन्दरके मूत्रपिण्डके कोषाणुओंको विशेष विधिसे छानकर अलग कर लिया जाता है, अन्यथा यदि बिना छाने इसका इन्जेक्शन दे दिया जाय तो लोगोंके मूत्रपिण्डमें सूजन हो जाय। पश्चात् उसे फारमलडिहाइडमें डालकर कीटाणुओंको मारा जाता है। पोलियो टीका बनानेके लिये अलग निर्माताओंकी पद्धतिमें कुछ फेर-फार होता है। विभिन्न प्रकारकी तीन हौज़ोंमें अलग प्रकारके जहरीले घोल होते हैं, उन्हें परस्पर मिश्रित करके और कीटाणुओंको मारकर, पश्चात् फारमलडिहाइडको सोडियम बाइ सल्फाइडसे निर्गुण करके, एक महीनेकी क्रियाके उपरान्त परीक्षा की जाती है कि अब यह टीका लगाने योग्य बना अथवा नहीं, इनका प्रयोग सफेद और मामूली चूहों, खरगोश और बन्दरोंमें इंजेक्शन देकर निश्चय किया जाता है, बार-बार ये प्रयोग किये जाते हैं।

सबसे पहले १९०८ में डॉ० लेण्ड स्टीनर और पोपरने बालपक्षाघात रोगके विषाक्त रक्तका इंजेक्शन देकर बन्दरोंमें यह रोग पैदा किया और जब दुबारा कुछ समय बाद उनको वैसा ही इंजेक्शन दिया गया तो वह रोग दुबारा न हुआ। बादमें मनुष्योंके रक्त-जल Serum (खूनमें व्याप्त जलीय पदार्थ) का उन रोगियोंपर प्रयोग करनेकी प्रेरणा मिली और वह रस बच्चोंमेंसे निकाला गया। फिर उसे रद्द करके घोड़ेमें वह रोग उत्पन्न करके टीका बनाया गया। इसके पश्चात् उसी विधिसे चिम्पान्जीसे यह टीका बनने लगा। वैज्ञानिकोंने अपने गोरखधंधेका बार-बार रंग बदला और आगे भी बदलते रहेंगे, इनका कोई कार्य निश्चयात्मक सिद्धान्तके आधारपर न होकर खिलवाड़ और स्वार्थ-व्यवसायकी दृष्टिसे होता है। अब तो स्वीडनमें यह तीन महीनेके गर्भस्थ मानव-भ्रूणसे बन चुका है। इसके लिये दुनियाके सभ्य राज्योंकी सरकारोंने वैज्ञानिकोंकी प्रेरणासे करोड़ों रुपये इस हत्यारे व्यवसायमें झोंक दिये और अब भी झोंकते जा रहे हैं। समाचार मिला है कि न्यूयार्ककी एक प्रयोगशालामें मुर्गीके अजन्मे बच्चे Chiek embryo (अण्डा फूटनेके पहले) पर पोलियो कीटाणुओंको विकसित करके टीका बनाया जा रहा है।

उल्टी गङ्गा

क्षयरोगनिरोधक बी० सी० जी० कहे जानेवाले टीकेकी लीला भी कम भयानक नहीं है। वास्तवमें जैसा इसका प्रचार किया जाता है कि इसके लगानेसे क्षय रोग रुक जायगा, जिसे होना है, उसे नहीं होगा। यह बात बिल्कुल निराधार और गलत है। इंग्लैण्डके स्वास्थ्यमन्त्रालयने पाँच नवंबर १९५३ को प्रकाशित अपने मेडिकल मेमोरेण्डम नं० ३२४ में स्पष्ट लिखा है—"लोग साधारण बी० सी० जी० की खूराकको हानिकारक नहीं मानते, परंतु ध्यान रहे कि इसमें 'हानि न होने' की कोई गारंटी नहीं है। पाँच-पाँच महीनेतक इससे कुछ बेचैनीकी प्रतिक्रिया होती रह सकती है।"

बी० सी० जी० से घाव भी बन सकते हैं। डॉ० के० नेविल इरविन, बी० सी० जी० पर विशेष अधिकारी हैं, और अपनी पुस्तक 'बी० सी० जी० वेक्सिनेशन, थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस' में उन्होंने बी० सी० जी० के अनेक प्रकारके प्रयोगोंका नतीजा लिखा है। बहुत प्रकारकी दुःखद प्रतिक्रियाएँ, बहुत-से घाव हो जाना, गाँठे उभर आना, कई सप्ताहोंतक उनमेंसे रस बहते रहनेके मामले देखे गये। 'काम्प्लिकेशन्स आफ वेक्सीन' पाठमें उन्होंने लिखा है कि 'टीका लगानेके दो-तीन महीने बाद भी उस स्थानपर 'भीतरी' फोड़ा (abscess) होता पाया गया है।' आगे लिखते हैं कि चेचकके जहरीले मवादके समान इसके भी कीटाणु शरीरमें बढ़ते रहते हैं। इसकी कोई गारंटी नहीं है और कभी नहीं हो सकती कि इनका उत्पात शरीरमें आगे कभी न पैदा होगा।

It must never be forgotten that B. C. G. Vaccine, unlike many others, contains living micro organisms. Like the virus in Smallpox Vaccine these go on living and multiplying after having been introduced into the body by Vaccination. There has never been and never can be any guarantee that the bacillus of tubercle, attenuated in virulence by being cultured on ox-bile medium and designated Bacillus Calmette Guerin (B. C. G.) will not at some time regain its virulence in the human body.

अमृत और कीचड़ !

इंग्लैण्डसे प्रकाशित डॉक्टरी सम्मानित पत्र 'लान्सेट' के तीस जनवरी १९५४ के अङ्कमें 'मकगिल यूनिवर्सिटी' मोण्ट्रील कनाडाके रोग निरोध और कीटाणु विज्ञानके प्रोफेसर ई० जी० डी० मुरे, ओ० बी० ई०, एम० ए०, एल० एम० एस० एस० ए०, एफ० आर० सी० एस० ने अपने लेखमें लिखा है। 'जिन परीक्षा, नलिकाओंमें हम कीटाणु पालते-विकसित करते हैं, उनमें वे अपने मल-मूत्रमें डूबे हुए भोजन पाते, विकसित होते हैं और फिर हम उन्हें जहरीले घोलोंमें डालकर कठोर प्रयोग करते हैं।'

'I cannot think of a worse slum than our test tubes in which we confine our cultures bathed in their own urine and feces, mixed with what may well be a bare substance diet (why should not bacterie suffer deficiency disease just as much as we do ?) Then we subject these slum children to exacting tests supposing them to be athletes. It would be as sensible to enter a cab horse in the Derby.'

बी० सी० जी० लगा देनेपर सरकारी डॉक्टरी आँकड़े अपने पक्षमें तैयार करके लाभ बताया जाता है, परंतु अब इतनेपर किसीको क्षय रोग होता पाया गया तो वैज्ञानिक लोग बहाना बता देते हैं कि उसे पहलेसे क्षय था, अथवा बी० सी० जी० लगानेके बाद किसी क्षय रोगीसे सम्पर्क करके हो गया है।

इसका तो अर्थ यही हुआ कि बी० सी० जी० ने उसकी कोई रक्षा नहीं की। इंग्लैण्डके डॉ० हफपॉलने 'लान्सेट' दस अक्टूबर १९५३ के अंकमें बी० सी० जी० के विशेष अधिकारी प्रोफेसर फ्रांसिसको लक्षित करते हुए लिखा था— 'क्षय रोगको रोकनेके लिये अर्थात् क्षयके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये बी० सी० जी० दिया जाता है। इस बातसे प्रोफेसर फ्रांसिस इनकार तो नहीं करेंगे। परंतु वास्तवमें जिन लोगोंको बी० सी० जी० दिया जाता है, उनमें क्षयके कीटाणु मौजूद नहीं होते, परंतु बी० सी० जी० इंजेक्शनसे उनमें क्षयके कीटाणुओंका बीजारोपण हो जाता है, इससे समाजमें क्षय रोग बढ़ता है।'

रोगोंकी रोक-थामके लिये जहाँ गंदगी दूरकर सफाईकी जरूरत है वहाँ, वैज्ञानिक लोग उल्टे और भी गंदगी और विष भरते हैं—यह है वैज्ञानिक इलाज, रोगनिरोधका अभियान ! यह कैसे अन्धेर बे-ज्ञानका वैज्ञानिक युग है और शासनके सूत्रधार बुद्धिमान् अधिकारी इस बातको अपनी मोटी बुद्धिसे नहीं समझते ! इनके इस कीटाणुओंकी खेती और बीजारोपणको मोटी बुद्धिसे यों समझें कि एक रोगीको दूध, घी, मधु, किशमिश, बादाम, पिश्तेके पौष्टिक भोजन भरे भण्डारमें तगड़ा-मोटा करनेके लिये इस तरह बंद कर दिया जाय, कि वह कुछ दिनोंतक बाहर न निकल सके। वह रोगी पौष्टिक पदार्थमें डूबकर बड़ा प्रसन्न होगा, परंतु जरा सोचिये कि वह सब कुछ खा-पीकर मल-मूत्र कहाँ करेगा !

कोई प्रबन्ध है ? और जब कुछ दिनों बाद उसे निकालकर समाजमें लाया जायगा, तब वह कैसा होगा ? जो प्राणी खायेगा, पीयेगा, वह मल-मूत्र अवश्य करेगा, चाहे मानव हो या कीटाणु, मरेगा तो उसकी लाश अवश्य सड़ेगी । दूधको पेश्चराइज कर कीटाणु मारनेमें, कुओंमें पोटाश या अन्य मारक विष डालनेमें वे मरकर सड़ते हैं और टीका इंजेक्शन बनानेके लिये रोगके विषाक्त कीटाणुओंको पौष्टिक सामग्रीमें डालकर उन्हें विकसित करनेके लिये बंद कर देनेमें वे खाते-पीते उसीमें मल-मूत्र करते तैरते डूबते क्या मरते सड़ते नहीं ?

ये नुस्खे

अनेक प्रकारके रोगनिरोधक या शामक टीके इंजेक्शन भिन्न-भिन्न प्राणियोंके रक्त, मवाद तथा पदार्थोंमें कीटाणुओंको इसी प्रकारकी अनेक विधियोंसे बनाये जाते हैं । स्वयं रोगी मनुष्यके रक्तसे बनते और उसीको लगाये जाते हैं । टायफाइड वेक्सीनमें चूहोंकी तिल्ली सुखाकर, टायफस वेक्सीनमें जूँका भुर्ता-चटनी बनाकर, डिप्थीरिया वेक्सीन—गायके बछड़ेके मांसके शोरवेमें, टिटनस (धनुर्वात) वेक्सीनगोवत्स मांस या गोहृदय और नपुंसक बनाये गये सूअरके 'पेट' के शोरवेमें, हूपिंग कफ (खाँसीके दौरे) वेक्सीन भेड़के खूनमें, पीले बुखारका वेक्सीन मुर्गीके अण्डे फूटनेके पहले उसमेंसे निकाले गये अपरिपक्व बच्चेसे, प्लेगका टीका जीवित कीटाणुओंसे और हैजेका टीका, हैजा रोगीके 'चावल धोये पानी-जैसे मल' में पाये जानेवाले कीटाणुओंसे बनता है । इन सबके बनानेकी विधियाँ, 'लीग आफ नेशन्स' द्वारा प्रकाशित 'हेण्डबुक ऑफ इन्फेक्शस डिसीज़ेज़' रायल आर्मी मेडिकल कोरके १९३४ के प्रकाशन, बाल्टिमोर (अमेरिका) में छपी 'स्टेण्डर्ड मेथड्स' एक्स्ट्रा फार्मोकोपिया, मार्टिण्डेल द्वारा लिखित, पुस्तकोंमें छपी हैं, जिनका विस्तारसे घृणित वर्णन यहाँ देना, कल्याणके पाठकोंके मनको अधिक गंदा करना आवश्यक नहीं । अनेक रोगोंके लिये अनेक प्रकारके टीके, इंजेक्शन, रोगी मानवके रक्त, थूक, मवाद, मल, वमन, मूत्रसे तथा अनेक पशुओं, चूहे, जूँ, पिस्सू, खटमल, मक्खी, खरगोश, भेड़, बंदर, गाय, सूअर, खच्चर, घोड़ा, स्त्रीके ग्रंथियों, मांस और अंगोंसे गोलियाँ, केप्सूल भी बनते हैं । अंगोंसे बनायी जानेवाली अनेक ओषधियोंकी एक निर्माता जी० डब्ल्यु० कर्णिक कम्पनी, अमेरिकाके एक सूचीपत्रमें इनके विवरण लिखे हैं । यथा, पुरुषों और स्त्रियोंके ग्रन्थियों, थायराइड, पिट्यूइटरी, सुप्रारीनल और प्रोस्टेटसे बनी गोलियाँ, केप्सूल, पीनियल, थायमस् क्लोम ग्रन्थिके रसकी गोलियाँ और केप्सूल; स्त्रियोंके डिम्बकोष, स्तन और सद्योजात संतानके नाड़ेसे तथा मासिक धर्म व प्रसवके निकले रक्तके तत्त्वों तथा मस्तिष्क, रीढ़ रस, अण्डकोष, पेट, यकृत, हृदयके फेफड़ों, हड्डियोंके तत्त्व आदिसे अनेक कम्पनियोंद्वारा दवाइयाँ, अमुक अङ्गोंके रोगोंमें इलाजके लिये बनायी जाती हैं । सूचीपत्रमें बताया गया है कि ये सब 'स्वस्थ भक्ष्य पशुओं' से (From fresh glands of healthy food animals) बनायी जाती हैं !

और आँखें फाड़िये !

अबतक इन शब्दोंमें आप विज्ञानकी विनाशकता, अणुबम, टीके इंजेक्शनके निर्माण और परिणाम, वैज्ञानिकों, जनता और सरकारकी भेड़चाल, अन्धविश्वासकी परम्परा, वैज्ञानिक सिद्धान्तकी उल्टी गंगा और खोखलापन, निर्दय कर्म, पीब, मवादकी खेतीसे शहद पानेकी मृगतृष्णा, रोगके कीटाणुओंका बीजारोपणकर स्वास्थ्य-रक्षाकी बातें, वैज्ञानिकोंका संसारकी राजनीतिपर प्रभाव, वैज्ञानिक प्रयोगोंमें सब जीवों और मानवोंपर निर्दय, अमानुषिकता आदिका संक्षिप्त परिचय पढ़ चुके । अब देखिये, क्या ये डॉक्टर स्वयं स्वस्थ हैं ? इनकी दवाइयोंमें क्या भेद है, अस्पताल क्या और किस लिये हैं, वहाँ क्या होता है, रोगोंका प्रसार कहाँसे, कैसे होता है, इसकी भी जाँच हुई है सो देखिये ।

जिह्वापर बाल !

'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल' के ९ अप्रेल १९५५ के अङ्क प्रश्नोत्तर-स्तम्भमें एक डॉक्टरने प्रश्न किया था कि नयी ओषधियोंके उग्र प्रभावसे बहुतसे रोगियोंकी जीभपर बाल उग आये हैं, यह क्यों ? उत्तरमें विद्वान् अनुभवी वैज्ञानिकने बताया कि टेट्रासाइक्लीन जातिकी एण्टि बायोटिक दवाओंके सेवनका यह परिणाम है । मुँह धोने, दाँत साफ करनेके टुथपेस्ट, कुल्ला (गरारे) करने, कीटाणुनाशक मुखशोधक दवाओंमें एण्टिबायोटिक रसायनोंके सम्मिश्रणसे मालूम होता है कि आगे चलकर अब लोगोंकी जीभपर बाल उगने लगेंगे ।

'With increasing use of mouth washes, antibiotic drugs, tooth pastes containing various chemicals and the like, it is probable that the condition will be more frequently met with in future.........personal experiences suggest that there had been increase in the incidence of hairy tongue, and that antibioties, particularly those of tetracycline group are responsible for this increase, as many patients develop the condition towards the end of or shortly after a course of these drugs.'

लीजिये, अब जबानपर भी हजामत !

डाक्टरों-नर्सोंसे कीटाणु-विस्तार

परमाणु और कीटाणु (रोगाणु) परमात्माकी तरह सर्वव्यापक हैं, सम्भवतः यही वह अज्ञात और रहस्यमय परमात्मा है जो संसारका निर्माण, पालन और विनाश करता है, सूक्ष्म कीटाणुरूपसे । परमाणुसे बने अणुबम विस्फोट कर चमत्कारिक विजय एक दिनमें पाकर वैज्ञानिकोंने अपना सामर्थ्य दिखा दिया और अब तो घर बैठे आरामसे दूर निर्दिष्ट निशानेपर विनाशक आघात करनेवाले रॉकेट बन गये, जो चालकके बिना ही अग्निबाणकी तरह बहुत ऊँचे आसमानमें अपनी पूँछसे घनीभूत विषाक्त धुआँ क्षितिजके एक ओरसे दूसरी ओरतक, पृथ्वीकी कमर लपेटते छोड़ते जाते हैं और निर्दिष्ट निशानेपर मार करते हैं । इसको चलाते समय पृथ्वीपर इसके चालक इसके विषाक्त धुएँके प्रभावसे अपनी जान बचानेके लिये वैज्ञानिक 'रक्षक बुर्का' अपने मुखमण्डलपर डालते हैं और अपने श्वासके लिये आक्सीजन, बनावटी प्राणवायु, अपने पास थैली या बोतलमें रखते हैं । क्या राकेटका यह धुआँ आकाश वायुमें बहुत देरसे घुलकर शनैः शनैः पृथ्वीके वातावरणमें उतरकर हमारे श्वासमें और बादलोंमें घुल-मिलकर, पृथ्वीपर पानीके साथ आकर, वनस्पति, फल, साग, अन्न, पानीके रूपमें हममें और हरेक प्राणीमें पहुँचकर घातक प्रभाव नहीं करेगा ? क्या यह सतत 'मन्द प्रलय' करनेवाला चमत्कार नहीं है ? इससे रातको सोते-सोते स्वर्गीय स्वप्न देखते हुए कभी क्षणमें प्रलय हो सकता है । सोया सो हमेशा सोया । यह सब जड़ पदार्थों, मिट्टी, पानी, पत्थर धातुओंके किंचित् ज्ञान, बुद्धियोग, प्रयोगका थोड़ा चमत्कार परिणाम है, जड जगत्को थोड़ा जान लेनेका परिणाम ! चेतन भूमिकामें वनस्पति, अन्य प्राणियोंके रस, रक्त, मवादसे ओषधि प्रयोगद्वारा रोगनिरोध और रोगनाशक तथा स्वास्थ्य-विकासका परिणाम भी देख लिया । मानव अभी मानवको नहीं पहचान पाया है । मानवकी अँधेरी कोठरीको थोड़ा-सा देखा-भाला और चित्र भी देखा, परंतु मनका भी आज पर्दा पड़ा हुआ है, किसकी नीयतमें क्या है कोई नहीं जानता। संसारमें इसीसे द्वैत और सब संघर्ष है । परमाणु और रोगाणुके इसीके तमाशे हुआ करते हैं । रोग यदि कीटाणुसे होते हैं तो कीटाणु कहाँसे होते हैं । परमाणु, कीटाणु, रोगाणुके बाद, अस्पतालमें अब एक नयी चीजकी खोज हुई है ।

टाइम (अमेरिका) अखबारने १९५९ के अन्तिम चरणके अङ्कमें बोस्टन शहरके ब्रिगन हास्पिटलमें हुई एक शोधका परिणाम प्रकाशित किया है । एक रोगीके पेटका ऑपरेशन वहाँके बड़े सर्जन कर रहे थे । पेट लंबी-चौड़ी चीर लगाकर खोला गया था । मुँहपर कीटाणुरक्षक बुर्का (thick sterilized guaze mask) लगाये, कीटाणु विज्ञानी डॉ० रथ कुन्सिन भी वहाँ खड़े थे । इन्होंने वहाँ वातावरणमें उपस्थित कीटाणुओंकी जाँच करनेके लिये, पड़े खुले हुए पेटके ऊपर निकट वातावरण वायुका नमूना (air samples) कई बार लिया । एक घंटे ऑपरेशन होनेके समयतक हानिकारक कीटाणुओंकी संख्या बहुत ही कम रही । ऑपरेशनका काम पूरा हो जानेपर बड़े सर्जनने पेटकी सिलाई और बंद करनेका काम अपने असिस्टेण्ट सर्जनको सौंप दिया । ये छोटे सर्जन जबतक पेट बंद करने और सिलाईका काम करते रहे तब, भी डॉ० कुन्सिनने वहाँकी वायुके नमूने लिये और देखा तो कीटाणुओंकी संख्या पाँचगुनी बढ़ गयी । ये कीटाणु एक विशेष प्रकारके लम्बे-गुच्छेदार (Stappylococcus aureus) थे, जो शरीरमें मवाद फैलाते हैं । ये कीटाणु अब वहाँ कहाँसे आ गये! डॉ० कुन्सिन तो दूर अलग थे, अतएव उन्होंने असिस्टेण्ट सर्जनके गलेके भीतर, जिह्वा और नाकके भीतरकी कुछ खरोचनका नमूना लिया और जाँच की तो उन्हीं कीटाणुओंको बेतादाद पाया । ये कीटाणु असिस्टेण्टके मुँह और नाकमें थे, श्वाससे निकल रहे थे । इससे स्पष्ट मालूम होता है कि उनके मुँह, नाकमें मवाद था, सम्भवतः उसके दाँतोंमें पायरिया हो अथवा वह असंयमी गंदे अन्तरङ्गका था, जहाँ पेट-[illegible] भीतर सिगरेट, शराब, मांस, मछली, अंडे आदि दूषित भोजनोंके बने श्मशानकी सड़ाँदसे ये कीटाणु उत्पन्न होकर मुँह-नाकके मार्गसे बाहर निकल रहे थे । जब ये स्वयं अपने

भीतर सड़ाँद और मवादकी खेती कर रहे हैं तो जनताको ये क्यों संयम, स्वास्थ्य और सफाई सिखलायँगे ?

अस्पताल रोगी !

१९५९ अक्टूबरके प्रथम सप्ताहमें हुई 'अमेरिकन कॉलिज आफ सर्जन्स' की एक बैठकमें डॉ० कुन्सिनने बताया कि 'यद्यपि वह असिस्टेण्ट कीटाणुरक्षक मोटी जालीका बुर्का पहने था, वह बड़ा बातूनी था और उसकी साँस तथा मुँहसे कीटाणुओंका तूफान उस बुर्केसे बाहर उमड़ता था। अस्पतालोंमें ऐसे डॉक्टरोंकी श्वास और बातोंसे घातक रोगाणु सब देशोंमें रोग फैलाते हैं।' "proved to be fertile carrier of staphylococcus aureus, and some strains of stapt are the deadliest bacteria now plaguing hospitals in the U. S.and all other countries where mordern miracle drug medicine is practised." ....the hospital was the place to be cured, Today even in the best hospitals, more than half of all fatal infections are acquired inside the hospitals, where they attack the patients already weakened by other diseases or by operations."

इन डॉक्टरों और अस्पतालोंका ही इलाज पहले होना चाहिये।

फिलाडेल्फियाके डॉ० राबर्ट वाइजने बताया कि पिछले दस वर्षोंमें नर्सों और डाक्टरोंसे होनेवाला यह खतरा राष्ट्रमें बढ़ गया है, जब कि ऐसे कीटाणुओंसे तीस प्रतिशत लोग रोगी होते हैं, अस्पतालके कर्मचारियोंमें ये कीटाणु ६७ प्रतिशत पाये गये हैं।

Philadelphia's Dr. Robert I. wise reported a nationwide eruption of 'hot' stapt strains since 1950. Doctors and nurses are the greatest menace: in some areas 67 percent of them are healthy carriers of hot stapt as against 30 percent of thelr patients."

२५ सितम्बर १९५९ के 'डेली रिकार्ड' में एक मातृ-सेवा-सदन (प्रसूतिगृह) में रोगाणु फैलनेका समाचार छपा था, फिर २४ अक्टूबरको लन्दन, हार्ले स्ट्रीटके एक विशेषज्ञ डॉ० एफ० एवरी जोन्सने 'ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन' नारविचकी एक सभामें अपने भाषणमें बताया कि अस्पतालोंमें आजकल उचित सफाई न होनेसे लोगोंमें आपसमें कीटाणुओंके परिवर्तनसे रोग फैलते हैं।'

रोगप्रसारक कीटाणुओंको नष्ट करनेवाली सल्फा और एण्टि-बायोटिक दवाओंके अन्धाधुन्ध प्रयोगसे केवल साधारण श्रेणीके कीटाणु नष्ट होते हैं, परंतु उनसे स्टेफिलोकोकस कीटाणु उत्तेजित होकर जबरदस्त बनते हैं।

अब बात सफाईपर आ बनी, क्योंकि दवाओंसे भी कीटाणु बढ़ते हैं। इस बातको जानकर पीटरबरोके डॉ० डी० डब्ल्यु ब्रेसीने कई वर्षोंसे ईमानदारीके साथ संयमसे चिकित्सा करना आरम्भ कर दिया है। उन्होंने लिखा है—दिनोंदिन नये नामसे पुरानी दवाइयाँ महँगे मूल्योंपर प्रचलित की जा रही हैं। मेरे पास अनेक कम्पनियोंके एजेण्ट इन दवाइयोंके नमूने देकर आर्डर माँगते हैं और मैं कई सालसे सबसे कह देता हूँ—यह दवा अगले साल लेकर आना। परंतु वह अगले साल उसे तो नहीं, एक नयी दवा लाकर दिखलाता है, कि यह उस पिछलीसे अधिक प्रभावकारक और बढ़िया है।

अंदाजसे ऑपरेशन

आजकल बच्चोंके गलेकी टॉन्सिल, स्त्रियोंके गर्भाशय तथा डिम्बकोष और पेटके अपेण्डिक्स काट निकाल फेंकनेके ऑपरेशन खूब हो रहे हैं। डॉक्टरी मतसे ये दोनों चीजें शरीरमें जरूरी नहीं हैं। दवाइयाँ और इंजेक्शन तो दूरसे आते हैं, दूसरे लोग बनाते हैं, अतः पता नहीं वे कैसे बने हों, निर्माता स्वयं उनमें तीस प्रतिशत अशुद्धि और भूल स्वीकार करते हैं और कतिपय इंजेक्शनोंमें तो रोग फैलानेवाले कीटाणु भी पाये जाते हैं, इसीसे कितने ही इंजेक्शन लेनेवाले लोग रोगी हो जाते हैं अथवा मर जाते हैं। अमेरिका, साल्ट लेक सिटी, पाँच जून १९५५ का ऐसा ही समाचार ऊटा यूनिवर्सिटीकी पोलियो-शोधक प्रयोगशालाके डाइरेक्टर तथा बेक्टीरियालॉजीके प्रोफेसर डॉ० लुई गिवार्टने बताया कि ऐसा गलत टीका पोलियो वेक्सीन बनानेवाली 'कटर लेब्रोरेटरी, बर्कले' केलिफोर्नियॉसे प्राप्त हुआ था और उसके प्रयोगसे ७५ लोगोंको पोलियो हो गया था।

दवाइयोंके कुप्रभावसे डरकर ऑपरेशनमें भी कुशलता नहीं है। सर्जनद्वारा जितने ऑपरेशन होते हैं, पहले उनका ठीक निदान नहीं हो पाता और धन-लोभसे ये ऑपरेशन

'बड़े' लोगोंपर तथा अनुभव सीखनेके लिये गरीबोंपर किये जाते हैं। अमेरिकाके 'जर्नल ऑफ अमेरिकन आस्टियोपेथिक एसोसिएशन' के मार्च १९५५ के अङ्कमें एक निदान विज्ञानी 'पेथालॉजिस्ट' ने अन्य सर्जनोंके हाथसे हुए ऑपरेशनद्वारा काटकर, निकालकर सुरक्षित रक्खे गये बीस हजार, अनेक अङ्गोंके टुकड़ोंको जाँचकर प्रकाशित किया कि बहुत-से अङ्ग स्वस्थ थे, खासकर गर्भाशय, जो निकालने योग्य न थे, परंतु निदानके बिना, अनुमानसे बेकार समझकर अनावश्यक काट डाले गये। इन डॉक्टरोंको स्वस्थ अथवा अस्वस्थ अङ्गकी पहचान भी नहीं! कोई-कोई तो गलत अङ्ग काट डालते हैं, जो न काटना चाहिये, उसे काट निकाल फेंकते हैं। इस बातकी पुष्टि करते हुए, 'अमेरिका मनहटनमें 'अमेरिकन कॉलिज आफ सर्जन्स' के डाइरेक्टर डॉ० पाल हालीने कहा था कि 'आजकल अमेरिकामें जितनी चीर-फाड़ होती है वह सब प्रायः अकुशल डाक्टरोंद्वारा अनुमान मात्रसे होती है। रोगियोंकी दशा इससे बिगड़ जाती है और ऐसे अन्धाधुन्ध चीर-फाड़से बिगड़े रोगियोंकी दशा सुधारनेके लिये 'चीर-फाड़' की गलत क्रियाको सुधारनेके लिये मुझे पुनः छुरी चलानी पड़ती है' दूसरे सर्जनने कहा।

* * *

कौन ?

[रचयिता——श्रीगोविन्दजी एम्० ए०]

पंथ धूमिल मैं अकेला, कौन कहता पास आओ।

नील नभमें, घन तिमिरमें कौन हीरक-कण बिछाकर,
चन्द्रिकाके रूपमें मधुरिम सुधाका दान देकर,
दे रहा मुझको निमन्त्रण, कह रहा है मौन होकर,
पास आओ, पास आओ।
पंथ धूमिल मैं अकेला, कौन कहता पास आओ॥

कौन प्रातःके किरण सँग भेजता आलोकका घर,
कौन स्वर्णिम सुप्रहरमें सुमधुर संगीत गाकर
कर रहा इंगित नयनसे, कह रहा है एक स्वरसे,
साथ आओ, साथ आओ।
पंथ धूमिल मैं अकेला, कौन कहता पास आओ॥

कुसुम-दलमें कौन अपने रूपका मधु-ढाल करके,
बन रहा है विश्व-साकी, विश्व मदिरालय बनाके,
मानवीय मन पी रहा मधु सुन रहा है युग-युगोंसे,
और पाओ, और पाओ।
पंथ धूमिल मैं अकेला, कौन कहता पास आओ॥

अवनिके इस पार मैं, उस पार क्या है कौन बसता,
कौन सुन्दर ज्योति लेकर अनगिनत युगसे विहँसता,
साधना-पथसे हटाकर कौन यह आदेश देता,
शीघ्र आओ, शीघ्र आओ।
पंथ धूमिल मैं अकेला, कौन कहता पास आओ॥

सर्प-विज्ञान

(लेखक—पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पंकज' एम्०ए०, साहित्य-वेदान्ताचार्य, सांख्य-योगाचार्य, साहित्यरत्न)

नागपञ्चमी तिथिका विभिन्न जातियोंके नागोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध जितना ही गम्भीर है उतना ही अटूट भी है । श्रावण शुक्ला पञ्चमी नाग-जातिकी दयिता एवं नन्दिवर्धिनी तिथि है । आजका दिन नागोंका एक महान् उत्सव-दिवस है । नागोंमें आठ नाग प्रमुख हैं । ये हैं—वासुकि, तक्षक, कालिय, मणिभद्रक, ऐरावत, धृतराष्ट्र, कर्कोटक एवं धनंजय । ये पूजनीय हैं और समुचित पूजा-अर्चा पाकर प्राणियोंको अभय-दान देते हैं । भविष्यपुराण-में लिखा है—

पञ्चम्यां स्नपयन्तीह नागान् क्षीरेण ये नराः ।
तेषां कुले प्रयच्छन्ति तेऽभयप्राणदक्षिणाम् ॥
(भ० पु० अ० ३२ श्लो० ५)

अर्थात् पञ्चमीके दिन जो लोग दूधसे नागोंकी पूजा करते हैं, नागगण उनके कुलको पूजाकी दक्षिणामें अभय-दान देते हैं । भक्तिपूर्वक क्षीर-स्नपन करनेवाला कुल सर्प-भयसे पीड़ित नहीं रहता । पौराणिक कथा है कि नागमाता कद्रूने अपने पुत्रोंको दिन-रात जलते रहनेका शाप दे दिया था । बात यों है—अमृतोद्भव अश्वरत्न उच्चैःश्रवा श्वेत वर्णका था । एक दिन कद्रूने अपनी सौत विनतासे कहा—'बहन ! अमृत-सम्भव यह अश्वरत्न तो श्वेत है, पर उसके बाल कृष्ण-वर्ण हैं ।' विनता बोली—यह हयवर सर्वश्वेत है, न कृष्ण और न लोहित । पता नहीं, तुझे कृष्ण कैसे दीख रहा है ! इसपर कद्रू चिढ़कर बोली—मैं एक आँखवाली तो इसे काले बालोंके साथ देख रही हूँ और तेरी तो दो आँखें हैं । अच्छा, तो बाजी लगा । बाजी लग गयी । 'कृष्ण केश हो तो विनता कद्रूकी दासी और नहीं तो कद्रू विनताकी ।'

रात आयी । विनता तो गाढ़ी नींदमें विभोर हो गयी, पर कद्रूकी चिन्तित आँखोंसे नींद गायब । पुत्रोंको बुलवाया । बोली—'उच्चैःश्रवा घोड़ेके शरीरसे चिपक जाओ । देखती हूँ, विनता कैसे मेरी दासी नहीं कहलाती ?' उन सर्पोंने अपनी माँसे कहा—'यह अधर्म है । हम तुम्हारी यह आज्ञा नहीं पालेंगे ।' बस, इतना सुनते ही कद्रू आगबबूला हो गयी, शाप दे दिया कि 'अग्नि तुमलोगोंको जलाकर भस्म कर देगी ।' परिणामतः नागगण जनमेजयके नागयज्ञमें ढेरों-के-ढेर जलकर राख हुए । इससे वासुकि बड़ा दुखी हुआ । ब्रह्माने उसे आश्वासन देते हुए कहा कि 'घबराओ नहीं, मेरी बात सुनो । यायावर-कुलमें जरत्कारु नामका एक ब्राह्मण है । वह बड़ा ही तेजस्वी एवं तपोनिधि है । अपनी बहन जरत्कारुका ब्याह उससे कर दो । उसका पुत्र आस्तिक तुम्हारे नागकुलका एकमात्र रक्षक और उद्धारक होगा ।' और ऐसा ही हुआ । श्रावण शुक्ला पञ्चमीको आस्तिकके सदुपदेशसे परीक्षित्-पुत्र जनमेजयको अपना अपूर्ण नाग-यज्ञ समाप्त कर देना पड़ा । उसी दिनसे यह तिथि नाग-पञ्चमी कहलायी, जो आजतक नागोंकी परमप्रिय आह्लादकरी तिथि है ।

इस पुनीत नागपञ्चमीको हेलि, मरीचि, दिव्यलोक, सरस्वती आदि नदियोंमें, बावड़ी-तड़ागोंमें सब पृथिवीतलपर विचरनेवाले नागोंको नमन किया जाता है ।

पौराणिक सिद्धान्त है कि सर्पदष्ट मनुष्य मरकर नीचेके लोकोंमें जाता है और निर्विष सर्प बनकर उत्पन्न होता है, अतः जिसका पिता या माता, भाई अथवा बहन, बेटा या बेटी या स्त्री साँपके काट लेनेपर मर जाय, उसके उस घोर तामस योनिसे छुड़ानेके लिये नाग-पञ्चमीको उपवास करना चाहिये । इसके अतिरिक्त उस मनुष्यको भाद्रपदकी कृष्णा पञ्चमीको नाग-पञ्चककी पूजा करनी चाहिये । चतुर्थीके दिन एकभुक्त करे । पृथ्वीपर चित्रमय पाँच नागोंकी रचना करे । ये धातुओंके भी बनाये जा सकते हैं अथवा काठके अथवा मिट्टीके । पञ्चमीको करवीर (कनैल) के सौ पत्तोंसे और जाती पुष्पोंसे पूजन करे । धूप-दीप-नैवेद्यादिसे पूजा कर ब्राह्मणोंको घी-खीर तथा मिष्टान्न भोजन करावे । बारह महीनोंके पूज्य नाग हैं—अनन्त, वासुकि, शंख, पद्म, कम्बल, कर्कोटक, अश्वतर, धृतराष्ट्र, शंखपाल, कालिय, तक्षक तथा पिंगल ।

भविष्य-पुराण, ब्रह्मवैवर्त तथा महाभारतादि आर्ष-ग्रन्थोंमें कश्यप महर्षि ही नाग-विशेषज्ञ श्रेष्ठ माने गये हैं । भविष्य-पुराणमें तो मेरुशृंगस्थित महर्षि कश्यपके साथ गौतमका नाग-विषयक विस्तृत संवाद है । इसमें सर्पोंके रूप, चिह्न, लक्षण, जाति, कुल तथा वर्णोंका सविस्तर उल्लेख है । ये साँप कैसे पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, उनके विष-वेग, विषनाड़िकाओं, गर्भ-प्रसव तथा दाँतोंका विस्तृत वर्णन है ।

विभिन्न प्रकारके सर्प ज्येष्ठ और आषाढ़में मतवाले हो जाते हैं, इसलिये आषाढ़ शुक्ल रविवारको करमूलमें पुलिक बाँध लेते हैं। पुलिक एक प्रकारकी लता है। इसे मिथिलाके देहातोंमें 'इसरगत' कहते हैं और मिथिलामें इसके बाँधनेकी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। इसे संस्कृतमें 'सर्पगन्धा' भी कहते हैं। सुनते हैं जर्मनी तथा अमेरिका-जैसे विज्ञानोन्नत देशोंमें इससे बड़े-बड़े कीमती इंजेक्शन बनने लगे हैं, जिनसे बढ़ा हुआ रक्तका दबाव कम हो जाता है।

आषाढ़से कार्तिकतक ही लोग कलाईमें पुलिक बाँधे रहते हैं और यही सर्पोंके मैथुनकालसे प्रसव-कालकी विनिश्चित अवधि है। नागिन चार महीने गर्भ धारण करती है। कार्तिकमें ये मादाएँ अंडे देती हैं। अंडे दो सौ चालीस होते हैं। इनके विभाग किये जाते हैं। नागिन अपने अंडेको खा जाया करती है। इसके भक्षणसे एक भाग बच जाता है। जिसे यह घृणावश नहीं खाती। जो अंडे स्वर्णार्क-वर्ण होते हैं, उनसे पुरुष सर्प उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे एक रात एक दिनमें बीस अंडोंको नागिन चट कर जाती है। जो अंडे स्वर्णकेतक-वर्ण होते हैं, उनसे स्त्री-जातिके साँप उत्पन्न होते हैं। ये अंडे अधिक-से-अधिक छः महीनोंमें फटते हैं। सात रात्रियोंके बाद सर्प काला हो जाता है।

मनुष्योंकी भाँति ही सर्पोंकी आयुका प्रमाण १२० वर्ष है। विंशोत्तरी दशावाले ये सर्प आठ प्रकारसे मौतके शिकार होते हैं। मयूर, मनुष्य, चकोर, गोखुर, बिडाल, नेवला, वराह (शूकर) तथा वृश्चिक-दंश (बिच्छूकी डंक) से ही उनकी मृत्यु हो सकती है, अन्यथा नहीं। एक सप्ताह निकलते ही साँपके दाँत निकल आते हैं और उनमें विष बराबर फेंकता है और इस प्रकार २१ दिनोंमें विष-दन्त निकल पड़ते हैं। नागी पार्श्व समावर्ती बालसर्प कहलाता है। यह पचीस दिनोंका हो जानेपर तत्काल प्राण लेनेकी सामर्थ्य रखता है।

छः-छः महीनेपर साँप केंचुल बदल डालते हैं। सर्पके पैर भी होते हैं। पैरोंकी संख्या भविष्यपुराणके अनुसार २४० हैं। ये पैर गायके रोमकी भाँति होते हैं, जो रेंगते समय निकल पड़ते हैं और बादमें भीतर पैठ जाते हैं। ये उतने सूक्ष्म होते हैं कि दृष्टिगोचर नहीं होते। यही कारण है कि सर्पको पन्नग (पद्भ्यां न गच्छतीति), भुजङ्ग (भुजसा गच्छतीति) तथा उरग (उरसा गच्छतीति) आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। (पैरसे न चलनेवाले वरं भुजा और उरसे चलनेवाले कहा जाता है।) संधियाँ भी दो सौ बीस हुआ करती हैं। अँगुलियाँ भी उतनी ही होती हैं।

अकालोत्पन्न सर्प निर्विष हुआ करते हैं। इनकी आयु पचहत्तर वर्षोंकी होती है। मंद वेगवाले साँपके दाँत रक्त-पीत-शुक्ल तथा अनील होते हैं। ये अल्पायु और अन्य सर्प-भीरु होते हैं। मुख एक और जीभें दो होती हैं। मनुष्यकी भाँति ही बत्तीस दाँत होते हैं। इनमें चार दाँत विषावह होते हैं।

दाँतोंके विष-लक्षण विचारणीय विषयक है। क्योंकि दाँतोंमें नित्य विष नहीं रहता। भविष्यपुराणमें लिखा है—

दक्षिणं नेत्रमासाद्य विषं सर्पस्य तिष्ठति।
सकृत्क्रुद्धस्येह सर्पस्य विषं गच्छति मस्तके॥
मस्तकाद् धमनीं याति ततो नाडीषु गच्छति।
नाडीभ्यः पद्यते दंष्ट्रां विषं तत्र प्रवर्तते॥

अर्थात् विष सर्पकी दाहिनी आँखमें रहता है। क्रुद्ध होते ही विष उसके मस्तकपर चढ़ जाता है। मस्तकसे धमनियोंमें और वहाँसे नाड़ियोंमें आता है। नाड़ियोंसे वही विष साँपके दाँतमें उतर आता है।

सर्पदंशके आठ ही कारण हैं। आक्रमण होनेपर, पूर्व शत्रु समझकर, डरकर, मतवाला होकर, भूखसे व्याकुल होनेपर, विषोल्बण होनेके कारण, पुत्र-रक्षार्थ तथा काल-प्रेरित होनेपर ही साँप किसीको काटा करता है। आक्रान्त होनेपर साँप काटकर पेटके बल उलट जाता है। कश्यपका कहना है कि डँसनेपर गहरा घाव छोड़नेवाला, भीत सर्प होता है—यह प्रजापतिका मत है। काट लेनेपर जो साँप दाँतकी रेखा छोड़ जाता है, उसे मददष्ट समझ लेना चाहिये। दो दाँत गड़ाकर महाक्षत कर देनेवाला सर्प क्षुधाविष्ट है, ऐसा समझना चाहिये। जहाँ दो दाँतके निशान और जहाँ रुधिर दीख पड़े, वहाँ विषोल्बण सर्प समझा जाय और जहाँ तीन दाँतोंके कौएके चंगुलकी भाँति खरोंचके निशान हो वहाँ अपत्य-रक्षणार्थ दंश समझ लेना चाहिये, ऐसी महानागकी करतूत होती है और कालदष्ट समझना चाहिये।

सर्पके विषभागसे जब तीन भाग संक्रमण कर जाते हैं तो कश्यपके मतानुसार दष्टानुपीत जान लेना चाहिये। चार दाँतोंके गड़ाये जानेपर रोग असाध्य हो जाता है और तब गर्दन टेढ़ी हो जाती है।

जब जीभ मुड़ जाय, हृदयमें शूल होने लग जाय, आँखोंसे दिखायी न पड़े, डँसा हुआ स्थान पके जामुनके फलके

समान हो जाय, दाँतोंके रंग बदल जायँ या काले पड़ जायँ। महानाग-दष्ट-स्थानपर गहरा नीला कौएके पैर-सा, पके जामुनके फल-सा निशान पड़ जाता है। उस जगह सूजन हो जाती है। रुधिरार्द्रके कारण अधिक-से-अधिक सेंक होनेपर बड़ी कठिनाईसे निरोध होता है। हिचकी शुरू हो जाती है। साँस गलेमें आकर अटकने लगती है। सारा शरीर शिथिल पड़ जाता है। मतभेद होने लगता है। दाह और कम्प बार-बार होते रहते हैं, शस्त्रसे काटे जानेपर भी रक्त नहीं निकलता। लाठीसे चोट पहुँचनेपर भी चोट महसूस नहीं हो पाती। चमड़ा पीला पड़ जाता है और सभी अङ्ग शुष्क हो जाते हैं। भविष्यपुराणके अनुसार तो—

दंशे यस्याथ शोथः प्रचलितवलितं मण्डलं वा सुनीलं
प्रस्वेदो गात्रभेदः स्रवति च रुधिरं सानुनासं च जायेत्।
दन्तोष्ठाभ्यां वियोगो भ्रमति च हृदयं संनिरोधश्च तीव्रो
दिव्यानामेष दंशः स्थूलविपुलमयो विद्धि तं कालदष्टम्॥

इसके अतिरिक्त रोगी नकिया कर बोलने लगता है। बड़ी तीव्र वेदना होती है। नेत्र लाल हो जाते हैं। गर्दन टेढ़ी हो जाती है और नाभि भी काँपने लगती है। कालदष्ट दर्पण अथवा जलमें अपनी परिछाहीं नहीं देख पाता। सूरज उसे निस्तेज तथा फीका दीखने लगता है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि कृष्णपक्षकी अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी तथा नाग-पञ्चमीके दिनका सर्पदष्ट मनुष्य जीवित नहीं रहता—कालके गालमें चला ही जाता है। कुछ विशेष नक्षत्रोंमें—आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, भरणी, कृत्तिका, विशाखा, पूर्वफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रा, मूल, स्वाती तथा शततारका (शतभिषा) में साँपसे काटे जानेपर मनुष्य जिंदा नहीं रहता।

इसके अतिरिक्त सूने घरमें, श्मशानमें, सूखे पेड़पर उपर्युक्त नक्षत्रों तथा तिथियोंमें साँप काट ले तो मनुष्य नहीं जीता।

प्राणियोंके मर्मस्थान १०८ हैं। उनमें १२ तो विशेष प्रसिद्ध हैं—दोनों कान, दोनों नेत्र, दोनों भौंहोंके बीच, मल-मूत्र-स्थान, दोनों अण्डकोष, काँख, कंधे, हृदय, तालु, बस्ती और गुदा।

जिस प्रकार और जितनी देरमें पानीमें तेलकी बूँदें तुरंत फैल जाती हैं, उतनी ही देरमें जहर सारे शरीरमें फैल जाता है। रक्तमें पहुँचकर तो विष क्षणमात्रमें फैलता-फैलता मस्तकमें पहुँच जाता है। त्वचामें द्विगुण, पित्तमें त्रिगुण, शोणितमें चतुर्गुण, श्लेष्मामें षोडशगुण, वायुमें पहुँचकर दशगुण, मज्जामें पहुँचकर तो साठगुण बढ़ जाता है और तब प्राणमें पहुँचनेपर प्राणीकी जीवन-लीला ही समाप्त हो जाती है।

विषके प्रथम वेगमें रोमाञ्च होता है, द्वितीय वेगमें स्वेद (पसीना), तृतीय वेगमें कम्प, चतुर्थमें दोनों कान बहरे हो जाते हैं।

पाँचवेंमें हिचकी होती है और छठे वेगमें तो प्राण-वियोग ही हो जाता है।

आचार्य कश्यपने ओषधियोंका भी उल्लेख किया है।

अर्कमूलमपामार्गं प्रियंगुं तगरं तथा।
एतदालोड्य दातव्यं ततः सम्पद्यते सुखम्॥

अर्थात् आक (मदार)की जड़, चिड़चिड़ा, प्रियंगु और तगर सबको मिलाकर रस निचोड़कर तत्काल देनेसे चंगा हो जाता है।

विष रक्तगत, पित्तगत, श्लेष्मागत, वायुगत, मज्जागत होकर प्राण-वियोग कर देता है। रक्त-विषका लक्षण दाह, मोह (मूर्च्छा) तथा शीतलता है। रक्तगत विषके उपचारमें उशीर (खस), चन्दन; कुष्ठ, उत्पल (कमल), तगर, महाकालका मूल, सिंदुवारका मूल, हिंगुल (हींग), मरिच पूर्ववेगमें देना चाहिये।

इस प्रकार विविध ओषधियोंसे उपचार-विधि बतलायी गयी है। इन जड़ी-बूटियोंका प्रयोग आयुर्वेदके व्यावहारिक ज्ञानपर सफल हो सकता है। अतः इस विषयको लेकर निबन्धका कलेवर बढ़ा देना हम नहीं चाहते।

हाँ, एक बातकी विलक्षणताकी ओर हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। सर्पके (नर साँप) काट लेनेपर तो ऊर्ध्वदृष्टि हो जाती है, किंतु साँपिनके काटनेपर अधोदृष्टि ही बनी रहती है। कन्या साँपिनके काटनेपर वाम दृष्टि हो जाती है और कुमार सर्पके काटनेपर दक्षिण। गर्भिणी साँपिनके काटनेपर पसीना छूटता है, सूतिकाके काटनेपर रोमाञ्च होता है और नपुंसक सर्पके काटनेपर अङ्गमर्द होता है।

दिनमें साँप अधिक विषैला होता है और रातमें साँपिन। नपुंसकका विष संध्याको प्रवृद्ध रहता है।

पन्नग चतुर्विध हैं। दर्वीकर, मण्डली, राजिल और व्यन्तर। दर्वीकर वातविष होता है। मण्डली पैत्तिक विष, राजिल श्लेष्मल तथा व्यन्तर सांनिपातिक होता है। सर्पदंशकी चिकित्साके लिये भगवान् शंकरने बहुत-सी ओषधियोंका प्रयोग बतलाया है।

ये सर्प ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। बावड़ी, कूप, तालाब तथा पर्वतोंके झरनोंके समीप, ग्रामद्वार, चतुष्पथमें रहनेवाले सर्प ब्राह्मण हैं। पवित्र बाग-बगीचोंमें तथा पवित्र मन्दिरोंमें, तोरणोंमें तथा सरोवरोंमें बसनेवाले साँप क्षत्रिय। श्मशानमें, भस्मशालाओंमें, पुआलोंमें, कगारोंमें, गायोंके बथानोंमें, रास्तेमें तथा वृक्षोंपर बसनेवाले वैश्य और जनशून्य स्थानों, निर्जन वनों, सूने घरों तथा श्मशानमें रहनेवाले साँप शूद्र कहलाते हैं।

ब्राह्मण सर्प श्वेत, कपिल तथा अग्निकी कान्तिके समान मनस्वी तथा सात्त्विक होते हैं। रक्तवर्ण, सुवर्णकी कान्तिके समान, सूर्यकी कान्तिके समान तथा प्रवाल (मूँगेके रंग जैसा) रंगवाले क्षत्रिय कहलाते हैं। तरह-तरहके चित्र-विचित्र तथा अलसीके रंग-जैसे बाण-पुष्पके समान वैश्य कहलाते हैं। काकोदरके समान अंजन-जैसे और धूम्रवर्ण शूद्र कहलाते हैं।

अँगूठेमें डँसनेवाला कश्यपके मतानुसार बालसर्प होता है। विप्र सर्प आगेसे, क्षत्रिय दाहिनेसे, वैश्य वाम भागसे तथा शूद्र पीछेसे काटता है।*

कश्यपद्वारा उपदिष्ट सर्वसर्पनिषेधक मन्त्र—

(ॐ कुरु कुल्ले फट् स्वाहा)

भारतीय संस्कृतिके प्रतीक भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—श्रीआनन्दस्वरूपजी गुप्त, एम्० ए०, शास्त्री)

किसी जाति एवं राष्ट्रकी संस्कृतिका सम्बन्ध उसकी अपनी विशेष जीवनदृष्टि, विचारधारा तथा आचारसरणिसे होता है। प्रायः प्रत्येक सभ्य जातिका जीवनके प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होता है और उस दृष्टिकोणके अनुसार ही उसके कुछ निश्चित आदर्श होते हैं, जिनके अनुसार ही उस जातिकी संस्कृतिका निर्माण एवं विकास होता है। भारतकी अपनी एक मौलिक संस्कृति रही है, जिसका स्वरूप अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित भारतीय साहित्यकी निर्मल धारामें प्रतिबिम्बित है। और यदि हम भारतीय संस्कृतिके इस सनातन शुद्ध स्वरूपका दर्शन किसी एक ही व्यक्तिमें करना चाहें, तो वह व्यक्ति निःसंदेह भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्णके चरितका अध्ययन भारतीय संस्कृतिका अध्ययन है। श्रीकृष्णका प्राकट्य ही धर्म-संस्थापनके लिये आर्य संस्कृतिके समुज्ज्वल स्वरूपको लोकजीवनमें प्रतिष्ठित करनेके लिये हुआ था।

भारतकी संस्कृतिका निर्माण मनुष्यके सर्वाङ्गीण एवं पूर्ण विकासको लक्ष्यमें रखकर हुआ है; इसलिये भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण मानव-जातिकी सच्ची संस्कृति है, सत्य, शिव तथा सुन्दरका सही समन्वय है। भारतीय विचारधाराके अनुसार मनुष्य केवल प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला शरीर एवं मनका संघात ही नहीं है, वह उससे कहीं अधिक है। वह जाज्वल्यमान आत्मज्योति है और यह स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन उसी आत्मज्योतिका अपूर्ण प्रकाश है। भारतीय संस्कृति जहाँ हमें भौतिक, शारीरिक तथा बौद्धिक विकासका पूर्ण अवसर देती है, वहाँ वह आध्यात्मिक विकासको, आत्मदर्शनको, मानव-जीवनके चरम लक्ष्यके रूपमें भी उपस्थित करती है। श्रीकृष्ण इस दृष्टिसे पूर्ण पुरुष थे, वे द्वारकाधीश थे, महाभारत-जैसे महायुद्धके सूत्रधार थे, गीता-जैसे अपूर्व कर्मयोगशास्त्रके आविष्कर्ता थे; तथा इससे भी अधिक वे स्वयं योगेश्वर थे, पूर्ण आप्तकाम थे। उनके लिये यद्यपि न कोई कर्तव्य था, न कुछ अप्राप्त था और न प्राप्तव्य, तो भी वे लोकहितके लिये कर्ममें निरन्तर निरत रहते थे—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(गीता ३।२२)

श्रीकृष्ण पूर्ण निष्काम होते हुए भी स्वयं कर्म करते थे केवल लोकमें जीवनका सच्चा आदर्श स्थापित करनेके लिये—लोकसंग्रहके लिये। उन्होंने मनुष्यके सामने यह सिद्धान्त रक्खा कि जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता, अर्थात् शुद्ध और निष्काम कर्मद्वारा लोकका हितसाधन नहीं करता, उसके लिये यह लोक भी नहीं है, परलोक कहाँसे होगा—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम!॥
(गीता ४।३१)

---

* कल्याण सन् १९६० के पृष्ठ ७६६ तथा ११५० में एक 'सर्पविष-विनाशक' प्रयोग छपा था। उसके द्वारा लाभ होनेके हमारे पास बहुत पत्र आये हैं तथा आते ही रहते हैं। प्रयोग यह है——पीपलके कुछ पत्तोंकी एक डाली तोड़ ली जाय। डालीके प्रत्येक पत्तेके पीछे एक सींक-जैसी डंडी होती है। उसी डंडी या सींकेकी नोकको सर्पदंष्ट्र रोगीके कानमें डाला जाय। दोनों कानोंमें सींक डाली जाय। कानके पर्देतक सींकके नोक पहुँचते ही, यदि सर्पविष होगा तो रोगी चिल्लाना शुरू कर देगा। इसका पूरा विवरण उन्हीं अङ्कोंमें देखना चाहिये। एवं विशेष जानकारीके लिये श्रीमेवालालजी तार्किक, पो० मूसानगर (कानपुर) से पत्र-व्यवहार करना चाहिये।
—सम्पादक

श्रीकृष्णके अनुसार मनुष्यको अपने लोक और परलोक दोनों ही सुधारने चाहिये, केवल एक नहीं। उनके अनुसार भोग और अपवर्गका समन्वय ही सच्ची संस्कृति है, जीवनका सच्चा आदर्श है।

जिस प्रकार इस लोकमें अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये अपरा (लौकिक) विद्याके उपार्जनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार निःश्रेयस (अपवर्ग) की प्राप्तिके लिये—आत्मदर्शनके लिये-पराविद्या (अध्यात्मज्ञान) का उपार्जन अपेक्षित है। श्रीकृष्णने, सिद्ध पुरुष होते हुए भी, लोकमें पूर्ण जीवनका आदर्श उपस्थित करनेके निमित्त इन दोनों ही विद्याओंका अभ्यास किया। उन्होंने अवन्तिपुरमें सांदीपनि नामक गुरुसे वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन किया (भागवत-पुराण १०।४५।३१) तथा अङ्गिरस घोरसे अध्यात्मविद्या प्राप्त की (छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।६)। श्रीकृष्णने अपने जीवनमें लौकिक अभ्युदयकी उपेक्षा नहीं की और आत्मज्ञानी तो वे पूर्णरूपसे थे ही। इस प्रकार अपने जीवनसे उन्होंने लोकमें भारतीय संस्कृतिका यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रतिष्ठापित किया।

भारतीय संस्कृति मनुष्यको संयम, त्याग तथा अनासक्तिकी ओर प्रेरित करती है। 'भोगमें भी योग' यही गीतामें श्रीकृष्णका उपदेश है। उनका जीवन भी इस विषयमें पूर्ण आदर्श है। वे सर्वथा अनासक्त थे। गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्में श्रीकृष्ण-जीवनके इस पक्षपर कुछ प्रकाश डाला गया है। व्रजस्त्रियाँ रातभर निवास करके प्रातःकाल चलते समय श्रीकृष्णसे पूछती हैं—'हम यमुनाके जलको पार करके कैसे जायँगी' **'कथं यास्यामो जलं तीर्त्वा यमुनायाः'** श्रीकृष्ण कहते हैं—'श्रीकृष्ण ब्रह्मचारी हैं ऐसा कहना, यमुना तुम्हें मार्ग देगी' **'कृष्णेति ब्रह्मचारीत्युक्त्वा मार्गं वो दास्यति'**। और गोपियोंने उनके इस वाक्यसे यमुनाको पार किया। पुनः गोपियोंका यद्यपि श्रीकृष्णसे अगाध प्रेम था, वे गोपीवल्लभ थे; परंतु उन्हीं गोपियोंको वे लोकहितके कारण गोकुल त्याग करते समय इस प्रकार छोड़कर चल दिये, जैसे वे वहाँ दो दिनके पाहुने होकर ही रहे थे और फिर तो उनका जीवन इतना कार्यव्यस्त हो गया कि वे पुनः कभी भी गोकुल न आ सके। उन्होंने कर्तव्यके ऊपर भावुकताको स्थान नहीं दिया, उनका जीवन सदैव कमल-पत्रवत् अनासक्त बना रहा।

भारतीय संस्कृति मनुष्यको इस लोकसे विमुख करके केवल मात्र परलोकोन्मुख बनाना नहीं चाहती, इसका निर्देश पहले किया जा चुका है। अध्यात्म-साधनाके साथ-साथ मनुष्यको लोक-व्यवहारमें निपुणता तथा जीवनमें कर्मकौशल भी प्राप्त करना चाहिये। गीताके अनुसार भगवद्भक्तको कोरा भक्त न होकर 'दक्ष' भी होना चाहिये (गीता १२।१६)। श्रीकृष्ण केवल भक्त एवं आत्मज्ञानी ही नहीं थे, वे पूरे व्यवहारपटु तथा उच्चकोटिके नीतिज्ञ भी थे। जरासंधके बार-बार आक्रमण करनेपर मथुराको त्यागकर इतनी दूरपर द्वारकाकी स्थापना करना तथा महाभारत-जैसे युद्धमें अल्पसंख्यक पाण्डवपक्षको विजय प्राप्त कराना श्रीकृष्ण-जैसे महान राजनीतिज्ञका ही काम था। जरासंध-वध, द्रोण-वध, कर्ण-वध इत्यादि अवसरोंपर भी उनकी नीति-पटुताका पूर्ण परिचय मिलता है। यद्यपि श्रीकृष्णने राजनीतिसे सत्यका विच्छेद नहीं किया, परंतु जिससे अत्यन्त भूतहित हो वही उनकी दृष्टिमें सत्य था। **'यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति मे मतम्।'** पर श्रीकृष्णके इस प्रकारके चरितका अनुकरण करनेके लिये हमें भी श्रीकृष्णके समान ही अनासक्त एवं भूतहितकी भावनासे ओत-प्रोत होना चाहिये।

हमारे जीवनमें आज जो इतना आडम्बर आ गया है, हमारी वेशभूषा तथा रहन-सहनमें जो इतनी कृत्रिमता पैदा हो गयी है, वह अधिकांशमें तो पश्चिमी सभ्यताकी हवा लगनेका ही परिणाम है और हमारी मौलिक संस्कृतिसे एकदम बाहरकी चीज है। इसी आडम्बरप्रियताके कारण हमें शारीरिक श्रमसे घृणा हो गयी है, कर्मोंमें छोटे-बड़ेका अवाञ्छनीय भेद पैदा हो गया है। भगवान् श्रीकृष्णका जीवन इस विषयमें सदा अनुकरणीय रहेगा। महर नन्दके पुत्र होते हुए भी श्रीकृष्ण उसी प्रकार गौएँ चराते हैं जिस प्रकार अन्य साधारण गोप लोग। उन्हें इस कार्यमें रस आता है। युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें स्वयं वे पादप्रक्षालनका कार्य ग्रहण करते हैं (भागवत-पुराण १०।७५।५)। श्रीकृष्णकी दृष्टिमें कोई भी कार्य छोटा नहीं है, यदि उसे विशाल तथा व्यापक भावनासे किया जाय और कोई भी कर्म बड़ा नहीं है यदि उसके मूलमें कर्ताकी संकुचित स्वार्थभावना विद्यमान हो। भगवान् श्रीकृष्णका छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा प्रत्येक कर्म जनहितकी व्यापक दृष्टिसे ही होता था। उनके सभी कार्योंमें हमें इसी तथ्यका दर्शन होता है।

भारतीय जीवनमें गौका बहुत ऊँचा स्थान है। वैदिककालसे लेकर अबतक भी गौ हमारी पूज्य बनी हुई है। वेदमें

गौको आदित्यों, रुद्रों तथा वसुओंसे सम्बन्धित एक दिव्य शक्ति माना है, वह अमृतका केन्द्र है—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।'

(ऋग्वेद ८ । १०१ । १५)

गौ भारतीय संस्कृतिका अविच्छिन्न अङ्ग है । भारतीय आर्योंके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों तथा मतोंमें यदि कोई साम्य रहा है तो वह है गौका सम्मान । भगवान् श्रीकृष्ण तथा गौका अटूट सम्बन्ध रहा है । श्रीकृष्ण गोपाल हैं और गौएँ भी श्रीकृष्णकी मुरलीकी मधुर तान सुनकर आनन्द-विभोर हो उनके पास दौड़ आती हैं । गौओंको श्रीकृष्णका वियोग असह्य है और श्रीकृष्णको भी गौएँ चराये बिना चैन नहीं । गौके साथ इतना सौहार्द और स्नेह अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

भगवान् श्रीकृष्णने लोकमें समत्वका सच्चा आदर्श उपस्थित किया है । आजका पश्चिमी ढंगका साम्यवाद तो समाजमें बाह्य आर्थिक साम्य स्थापित करनेका प्रयत्न करता है और वह भी कभी-कभी निर्घृण हिंसाद्वारा । श्रीकृष्णका साम्यवाद यद्यपि बलात् उस प्रकारकी आर्थिक समता तो समाजमें स्थापित नहीं करता, परंतु वह मनुष्यको ऐसी समत्वदृष्टि प्रदान करता है, जिसको प्राप्त कर उसके अन्तरतममें सच्चा साम्य स्थापित हो जाता है और ऐसे साम्यपर ही समाजमें सच्चा एवं स्थायी बाह्य साम्य भी स्थापित हो सकता है । यह अन्तःसाम्य भारतीय संस्कृतिकी एक बहुत बड़ी विशेषता है । श्रीकृष्णका सम्पूर्ण जीवन इस साम्यसे ओत-प्रोत है । सम्भवतः पाश्चात्त्य सभ्यताके प्रभावसे आजके समाजमें मनुष्यका मूल्य उसके धनसे आँका जाता है । आजका धनिक-वर्ग धनहीनोंके साथ मिलने-जुलनेमें भी अपनी प्रतिष्ठाहानि समझता है । भारतीय संस्कृतिने धनको इतना ऊँचा स्थान कभी नहीं दिया । यहाँ धनी तथा निर्धन सभी एक साथ उठते-बैठते थे और एक दूसरेके सुख-दुःखमें हाथ बँटाते थे । श्रीकृष्ण गोकुलके दरिद्र गोपोंके साथ भी कितना हिल-मिल गये हैं, उनके साथ कितनी आत्मीयता रखते हैं । द्वारकाधीश होनेपर भी निपट निर्धन सुदामाका कैसा सत्कार करते हैं, उसको दीन-दुखी देखकर उनके हृदयमें करुणा एवं वेदनाका कैसा स्रोत उमड़ पड़ता है । धनी और निर्धनका ऐसा पारस्परिक सौहार्द अन्यत्र दुर्लभ है ।

मानवहृदय 'अल्प'से संतुष्ट नहीं होता, वह सदा 'भूमा' की प्राप्तिके लिये ऊपर उठनेकी साधनामें लगा रहता है। मानव-कल्पना इस मर्त्यलोकसे ऊपर उठकर किसी अमृतमय दिव्य-लोकमें पहुँचना चाहती है । इसीलिये मनुष्यस्वभाव महान् पुरुषोंमें, प्रसिद्ध विभूतियोंमें, अलौकिकता एवं देवत्वका दर्शन करके सुखका अनुभव करता है । मानवहृदयके लिये बाह्य ऐतिहासिक तथ्यका इतना मूल्य नहीं, जितना आन्तरिक भावनाका है । आधुनिक युगके इतिहासकी दृष्टि कुछ भी हो हमारे लिये श्रीकृष्णकी अलौकिकता ऐतिहासिक सत्यसे कम महत्त्व की वस्तु नहीं है । परंतु श्रीकृष्णके व्यक्तित्व तथा चरित्रका जो लौकिक पक्ष है, उसके कारण भी श्रीकृष्ण संसारके एक महान् आदर्श पुरुष हैं; और इस रूपमें वे भारतीय संस्कृतिके सच्चे प्रतीक हैं ।

* * *

सर्वत्र मेरे नाथ दीखने लगे

आया, छाया मेरे अंदर प्रभुका निर्मल पूर्ण प्रकाश ।
असद्विचार-तमोऽन्धकारका हुआ तुरंत समूल विनाश ॥
मेरे कण-कणमें प्रभुकी वह दिव्य ज्योति अब है छायी ।
प्रति विचार, प्रत्येक कार्यमें इससे उज्ज्वलता आयी ॥
बाहर-भीतर सभी समय सब ओर छा गया उजियाला ।
मिटा सर्वथा मोहजनित जो लगा हुआ धब्बा काला ॥
उमड़ा अति आनन्द हृदयमें दिव्य ज्योति धाराके साथ ।
मिटे शोक-भय-दुःख, लगे सर्वत्र दीखने मेरे नाथ ॥

महाकवि तुलसीदासका पाण्डित्यपूर्ण काव्य-कौशल

(लेखक—श्रीत्रिभुवननाथजी चौबे एम्० ए०, रिसर्चस्कालर)

कविके लिये सर्व शास्त्र एवं सर्व कलाओंका ज्ञान अपेक्षित है। इसी ज्ञान-राशिके बलपर कवि अपनी कृतिको कवित्व-वैभव, सार्वजनीनता एवं शाश्वत चेतनासे सर्वथा पूर्ण बना देता है और उसका यह पूर्ण काव्य मानव-जीवनकी विविध गुत्थियों, विकट समस्याओंके समाधान तथा विषमताओंके उन्मूलनमें अपना अपूर्व योग दान करता है। कवि, जो सर्वज्ञताका ही वाचक है, का व्यक्तित्व विलक्षण पाण्डित्यसे युक्त होना चाहिये; तभी वह 'सुकवि' कहलानेका अधिकारी है और उसकी कीर्ति तथा कृतिका स्तवन काल एवं देशकी सीमाको पारकर अक्षयता प्राप्त कर सकेगा। महाकवि तुलसीदास इसी 'सुकवि' संज्ञाके अधिकारी हैं। वे अद्भुत प्रतिभासे सम्पन्न कवि थे। उनका कविरूप उनके महान् पाण्डित्यसे युक्त था। उनका वेद-पुराणका अध्ययन उच्च कोटिका था, शास्त्रज्ञान अद्भुत था। उनकी रामकथा ही इस तथ्यका पुष्ट प्रमाण है। इस बातका निर्देश तो कवि स्वयं भी करता है।*

क्या अध्यात्म, क्या राजनीति-शास्त्र, क्या काव्यशास्त्र, क्या व्याकरण-शास्त्र, क्या वैद्यकशास्त्र, क्या ज्योतिष—सभीका अध्ययन, फलतः ज्ञान तुलसीदासको था। यही नहीं, संगीत-कला, स्थापत्यकला एवं पाकशास्त्र आदि कलाओंके मर्मका भी उन्हें सम्यक् ज्ञान था। उनके काव्यमें इन सभी प्रकारके ज्ञानोंका बड़े ही कौशलसे समावेश किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मानो उपर्युक्त सभी प्रकारके विषयोंमें निष्णात हो, उनका प्रकृष्ट पण्डित हो। उनके असाधारण ज्ञानके निरूपणका विषय तो स्वयं ही अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यहाँ हम उनके बहुविध विषयोंके ज्ञानका संक्षिप्त संकेत देकर, उनके काव्यमें इस विद्वत्ता एवं पाण्डित्यका किस प्रकार प्रस्फुटन हुआ है, दिग्दर्शित करेंगे।

हमारे महाकविके आध्यात्मिक ज्ञान एवं काव्य-शास्त्रीय ज्ञानसे समन्वित तो उसका सारा काव्य ही है। यह तथ्य तो सर्वविदित है। राजनीति-उद्वाहक कथनोंका पुट 'मानस' तथा 'दोहावली'में विशेषरूपसे मिलता है। मानसके अयोध्याकाण्डके अन्तर्गत श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा भरतको दी गयी, राजनीतिक दीक्षा तुलसीदासके राजनीति-शास्त्रीय ज्ञानका उत्तम उदाहरण है*। इसी प्रकार पाणिनिव्याकरण 'श्वयुवमघोनामतद्धिते।' (अष्टाध्यायी ६।४।१३३) से सम्मत 'श्वान जुवान मघवान सनानू' (मानस अयोध्या-काण्ड) कथन भी किस युक्तिके साथ भगवान् रामके मुखसे कहलाया गया है—दर्शनीय है। कविके वैद्यक शास्त्रीय ज्ञानका ही तो फल है कि 'मानस रोग'का निदान एवं ओषधि अनुपान वैद्यक शास्त्रीय नियमानुकूल ही रक्खा गया है†। गोस्वामीजी ज्योतिष शास्त्रके अच्छे ज्ञाता थे। इस तथ्यका साक्षात् प्रमाण तो उनका 'रामाज्ञा प्रश्न' ही है। इसके अतिरिक्त मानस एवं दोहावलीके अन्तर्गत ज्योतिष-शास्त्रसम्मत कथन हैं। उदाहरणार्थ दोहावलीके निम्न दोहेमें तुलसीदासने अपने ज्योतिष-शास्त्रीय ज्ञानका पुट बड़े ही सार-गर्भित ढंगसे रक्खा है।

जन्मपत्रिका बरति के देखहु मनहिं बिचारि।
दारुन बैरी मीच के बीच बिराजति नारि॥२६८॥

(गीताप्रेस)

ज्योतिष-नियमके अनुसार जन्मपत्रिकान्तर्गत 'शत्रु'का 'भवन' छठा, मृत्युका आठवाँ एवं स्त्रीका इन दोनोंके बीच ७ वाँ होता है‡। अतएव तुलसीने स्त्रीको शत्रु तथा मृत्युके

---

* नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

(मानस, बालकाण्ड श्लोक ७)

* मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खानपान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥३१५॥
राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥

(मानस, अयोध्याकाण्ड दोहा–३१५गीताप्रेस)

† द्रष्टव्य 'मानस-रोग'-प्रकरण (मानस, उत्तरकाण्ड)

‡ जन्मपत्रिका-कोष्ठक—

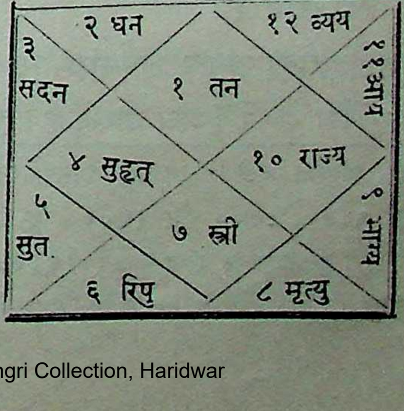

मध्य विराजमान होनेके कारण 'शत्रु' एवं मृत्यु तत्त्वोंकी संचालिका बताया है । तुलसी-जैसे विरक्त महात्माकी दृष्टिमें 'नारी' शत्रु एवं मृत्युका कारण तो होती ही है ।

तुलसीदासको संगीत-शास्त्रका भी महान् तत्त्वज्ञ माना गया है । 'तुलसी साहित्यमें संगीत-तत्त्व' तो 'शोध' (Research) कार्यका विषय भी बन गया है । उनके 'गीति काव्य' तो रागोंमें बाँधे ही गये हैं । मानसको भी विविध रागोंमें गाया जा सकता है, इसे भी संगीतज्ञोंने सिद्ध कर दिया है । तुलसीदासको भी तो मानसके कथन-श्रवणका फल-निर्देश करते समय कहना पड़ा कि—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं ।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥
(मानस उत्तरकाण्ड)

उपर्युक्त 'छन्द' में 'कहहिं'-'सुनहिं' इन दो शब्दोंके पश्चात् 'गावहीं' शब्दकी योजना बहुत कुछ मानसकी गेयात्मकताको निर्दिष्ट करनेके लिये ही की गयी है ।

उनके स्थापत्यकला-सम्बन्धी ज्ञानको 'मानस' के बालकाण्डान्तर्गत जनकपुर एवं अयोध्यापुरीमें मनाये गये 'विवाह'-जन्मोत्सव एवं वधू-गृह-प्रवेशादिके विविध कार्यक्रमोंकी रचना-प्रक्रियाके वर्णनोंमें देखा जा सकता है ।

तुलसीदासका शब्द-भण्डार तो सम्भवतः विश्वके सभी महान् कवियोंसे बृहत्तम है* ।

इस प्रकार स्पष्ट विदित है कि महाकवि तुलसीदास असाधारण ज्ञानसम्पन्न पण्डित थे । उन्होंने अपनी समस्त ज्ञान-राशिको किस अपूर्व कौशलसे अपनी कृतियोंमें अनुस्यूत किया है, इसीसे उनके काव्यान्तर्गत पाण्डित्य-प्रदर्शनकी अभिव्यञ्जना हो जायगी । तुलसीदासके पाण्डित्यका ज्ञान हमें उनके काव्यमें अतुल अर्थ-गाम्भीर्य, शब्द-शक्ति-प्रदर्शन, कल्पना एवं अलंकार-निदर्शन तथा शब्द-स्थापनसम्बन्धी कलाके अध्ययनसे हो सकता है । ये तथ्य उनके पाण्डित्यके अभिज्ञानार्थ आधार-स्तम्भ हैं ।

तुलसीदासका अतुल अर्थ-गाम्भीर्य

अर्थ-गाम्भीर्यका तात्पर्य है अल्प शब्दोंमें ही विपुल अर्थ भर देना । यह कार्य दो प्रकारसे सम्पन्न किया जा सक है—प्रथम तो काव्य-पदोंमें बहु-अर्थकी मात्राके प्रवेशसे, दूसरे शब्दोंमें भावार्थकी विशदताके समावेशसे । इन कविके काव्यमें दोनों प्रकारका अर्थ-गाम्भीर्य विद्यमान है।

'रामचरितमानस' की—

सबकर मत खगनायक एहा । करिअ रामपद पंकज नेहा ॥

इस एक अर्धालीकी पौने सत्रह लाख अर्थोंसे युक्त टीका 'तुलसी-सूक्तिसुधाकरभाष्य' को देखनेपर, तुलसीके समान अर्थ-वाहक ग्रन्थ रचयिता, विश्वके अन्य प्राचीन या आधुनिक किस कविको कहा जाय ? अर्थ-गाम्भीर्यमें तो तुलसीदास अद्वितीय ही ठहरते हैं । बिना श्लेष-रूपककी ही सहायतासे केवल पदावलियोंके परिवर्तन-क्रमसे विविध अर्थोंकी निष्पत्ति किसी अन्य कविके काव्यमें दुर्लभ ही है ।

तुलसीदासने अपने काव्यों, विशेषतः 'मानस'में ऐसी भावमय, शब्दशक्तिसे गर्भित एवं प्रसंगानुकूल 'पद-स्थापना' की है कि इनके काव्यमें अर्थ-गाम्भीर्य अपने समस्त वैभवके साथ आ बैठा है । 'व्यञ्जना' शब्दशक्तिसम्पन्न निम्न पदावलीसे कितने विशद एवं भावपूर्ण अर्थोंकी अभिव्यक्ति होती है—

पुनि आउब एहि बिरियाँ काली । अस कहि मन बिहँसी एक आली ॥
(मानस, बालकाण्ड दो० २३४)

उपर्युक्त अर्धालीका सामान्य अर्थ है—सखी, सीताको राम-छवि देखनेमें मग्न पाकर, विलम्बके भयसे उन्हें चैतन्य करते हुए कहती है—कल पुनः इसी समय आयेंगी, ऐसा कहकर (व्यंगसे) 'विहँस' दी । अब भावकी गम्भीरतापर आइये, सखीके कथनसे तो सामान्य रूपसे यही जान पड़ता है कि कल पुनः आनेकी बात कही गयी है । परंतु कथनकी गहराईमें उतरनेपर, सीताकी दशापर ध्यान देनेसे तथा सखीके 'विहँसने' को दृष्टिमें रखकर, 'पुनि आउब' की महत्ता एवं अर्थवत्तापर कोई भी काव्य-मर्मी मुग्ध हो सकता है । दूसरी ओर व्यास-वर्गके टीकाकारोंने 'पुनि आउब' को 'काकुवक्रोक्ति' की सहायतासे 'राम' एवं 'सीता'—उभय पक्षोंपर लगाकर विविध चमत्कारिक एवं कौतूहलोत्पादक अर्थोंकी उत्पत्ति की है ।

इसी प्रकार—

लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपन कर सोना ॥
(बालकाण्ड

---

* होमर, अंगरेजी कवि मिल्टन तथा शेक्सपीयरका शब्द-भण्डार क्रमशः ९०००, ८००० और १५००० है, जब कि हिंदीके कविसम्राट् तुलसीदासका शब्द-भण्डार १६००० से भी अधिक शब्दोंका है । (डॉ० भोलानाथ तिवारी कृ० 'भाषा-विज्ञान') ।

—के भाव-लालित्य एवं अर्थवत्तापर काव्य-रसिक मुग्ध हैं ।

अस मन गुनइ राउ नहिं बोला । पीपर पात सरिस मन डोला ॥
(अयोध्याकाण्ड)

भरत दसा तेहि अवसर कैसी । जल प्रबाह जल अलि गति जैसी ॥

तथा—

रहे राखि सेवा पर भारू । चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥
(अयोध्याकाण्ड)

और लंकाकाण्डान्तर्गत रावण-अंगद-संवाद-प्रकरणके निम्न दोहे—

बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस ।
प्रतिउत्तर सँड़सिन मनहु काढ़त भट दससीस ॥

ये अर्थ-गाम्भीर्य अपने उत्कृष्टरूपमें वर्तमान हैं । विषयकी सीमा देखते हुए, अन्य इसी प्रकारके सैकड़ों उदाहरणोंका संकेत करना भी यहाँ शक्य नहीं ।

शब्दशक्ति

तुलसी-काव्यमें 'अभिधा' शब्दशक्तिके प्रसारका आयाम तो विवेचनाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रखता । उत्तम काव्यके लिये आवश्यक लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्दशक्तियोंका भी प्राचुर्य उनके काव्यकी एक प्रमुखतम विशेषता है । अपने काव्यमें इन दोनों शब्दशक्तियोंका संनिवेश तुलसीने कितने कौशलसे किया है—संक्षिप्त रीतिसे उल्लेख किया जायगा—

(१) लक्षणा शब्दशक्ति—लक्षणा शब्द-शक्ति मुख्यार्थसे भिन्न परंतु उसके निकटवर्ती किसी और अन्यार्थकी अभिव्यक्ति कराती है । इसके दो प्रमुख भेद हैं—

(क) निरूढ़ि (व्यंग्यरहित) लक्षणा ।
(ख) प्रयोजनवती (व्यंग्यसहित) लक्षणा ।

(क) निरूढ़ि लक्षणाके पर्याप्त उदाहरण मानसमें ही मिल जाते हैं । इस शब्दशक्तिके विभिन्न भेदोपभेदोंमें न जाकर निरूढ़ि लक्षणाका एक उदाहरण देकर आगे बढ़ेंगे—

राम गवन मंडप तब कीन्हा ।

यहाँ मण्डपसे अभिप्राय मण्डपके अंदर (जाने) से है ।

(ख) प्रयोजनवती लक्षणाका भी प्रचुर प्रयोग 'मानस'में किया गया है । उदाहरणार्थ—'तब चले बान कराल' यहाँ बाणोंका स्वयं चलना वाच्यार्थसे लक्षित होता है परंतु बाणोंका स्वयं चलना असम्भव है, उनका चलनेवाला भी कोई अवश्य है ऐसा 'लक्षणा' से ज्ञात होता है । इसी प्रकार 'बीच बास करि जमुन नहाये' 'चिन्ता साँपिनि काह न खाया' आदि भी लक्षणाके अच्छे उदाहरण हैं ।

(२) व्यञ्जना शब्दशक्ति—जिस वाक्यसे उसके साधारण अर्थको छोड़कर कुछ और ही विशेषार्थ विदित हो, अथवा इष्टार्थका बोध करानेवाली शब्दशक्तिको 'व्यञ्जना' कहते हैं । काव्यमें 'व्यञ्जना' शब्दशक्तिके प्रयोगसे उत्तमता आ जाती है । 'व्यञ्जना' काव्यको 'ध्वनि-काव्य' बनानेका कारण होती है । मानसमें 'व्यञ्जना' का प्रयोग उत्कृष्टतम रूपमें हुआ है ।

व्यञ्जना शब्दशक्तिके दो प्रमुख भेद हैं—
१—शाब्दी व्यञ्जना
२—आर्थी व्यञ्जना

१—'शाब्दी व्यञ्जना'का मानसमें प्रयोग सम्यग्रूपेण किया गया है । उदाहरणार्थ—

'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं ।' 'यहाँ तुम्हरेहि' पदमें व्यञ्जना वर्तमान है । पुनः 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा ।' यहाँ 'कुम्भज' शब्दसे लघुता और 'सिन्धु' से विशालता सूचित की गयी है । श्रीरामचन्द्रजी धनुष नहीं तोड़ सकते, यह विशेष भावार्थ निकलता है ।

२—'आर्थी व्यञ्जना' इस शब्दशक्तिका भी प्रयोग मानसकारने बड़े ही कौशलसे किया है । इस संदर्भमें निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

'बाल मराल कि मंदर लेहीं' इससे व्यञ्जित हुआ कि रामचन्द्रजी धनुष नहीं उठा सकते । इसी प्रकार एक अत्यन्त व्यञ्जक उदाहरण—'पुनि आउब एहि बिरियाँ काली' है । 'यहाँ' आउब जानकीके प्रति बोधक है । वाच्यार्थसे ऐसा प्रतीत होता है कि सखी अपने 'आने' को कहती है । वास्तवमें 'पुनि आउब' का मार्मिक व्यंग सीताको लक्ष्य कर किया गया है ।

अतएव स्वतः प्रकट हो गया कि मानसकारने अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञानको किस पाण्डित्य एवं चातुर्यसे अपने काव्यमें प्रयुक्त कर उसकी शोभा बढ़ा दी है ।

कल्पना-शक्ति एवं अलंकार-प्रयोग

हमारे महाकविके पाण्डित्यका अत्यन्त सुन्दर विनियोग, उसके कल्पना-प्रसूत चित्रोंके निर्माण एवं उनमें अलंकारोंकी उपयुक्त योजनामें परिलक्षित होता है। तुलसीदासने अपने उद्गारोंको अभीष्ट सीमातक प्रभावशाली बनानेके उद्देश्यसे संयत कल्पना-शक्तिका आश्रय लिया है। उनकी कल्पनामें हमें दूरकी कौड़ियाँ लानेका प्रयास नहीं दीख पड़ता। 'ऊहात्मक' प्रयोगोंकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं गयी। कवि जो भी कार्य-विधान कल्पनाके सहारे खड़ा करता है, वह बोधगम्य, बुद्धि-ग्राह्य तथा भावबोधक होता है। कल्पनामय चित्रोंको तैयार करनेमें कविने अलंकारोंका सहारा लिया है। यहाँ एक बात स्मरण रखनेकी है कि तुलसीने कोरी आलंकारिकताके प्रदर्शनार्थ अपने काव्यमें अलंकरण-स्थापना नहीं की है। अलंकारसंयुत कल्पनामय चित्र-निर्माण कविने निम्न छः दिशाओंमें किया है—

१—गुण तथा स्वभाव-चित्रणमें

२—भाव-चित्रणमें

३—कार्य-व्यापार-चित्रणमें

४—घटना-चित्रणमें

५—वस्तु-चित्रणमें

६—ऊँची कल्पनाके प्रदर्शनमें

गुण तथा स्वभाव-चित्रण—इस दिशामें कविने जिन तीन अलंकारोंके योगसे कल्पनायुक्त चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे हैं 'उत्प्रेक्षा', 'दृष्टान्त' तथा 'उदाहरण'। प्रसंगवश एक उदाहरण निम्न है—

लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥

(अयोध्याकाण्ड)

इस चित्रणमें मुनियों, सीता एवं रामका व्यक्तित्व उत्प्रेक्षा अलंकारके सहारे बड़े ही कौशलसे प्रदर्शित किया गया है।

भाव-चित्रण—भाव-चित्र तैयार करनेमें 'उत्प्रेक्षा' एवं 'रूपक'का प्रयोग कविने किया है। मनोवेगोंका सफल कल्पनामय चित्रण उत्प्रेक्षालंकारके संयोगसे कितना सुन्दर बन पड़ा है, देखिये—

सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥

(मानस बालकाण्ड)

कार्यव्यापारचित्रण—इस क्षेत्रमें कविको सर्वाधिक सफलता 'उत्प्रेक्षा'से ही मिली है। उदाहरण, अलंकारके द्वारा भी यह कार्य बड़े ही सुन्दर ढंगसे सम्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ—

मंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहिं बिभूषन जैसे॥

(मानस अयोध्याकाण्ड)

घटनाचित्रण—घटनाओंका चित्रमय काल्पनिक विधान करनेमें कविका ध्यान प्रथमतः रूपक अलंकारकी ओर जाता है। 'धनुर्भंग'की घटनाका वर्णन 'रूपक'से ही परिपुष्ट है।* इसके अतिरिक्त वस्तूत्प्रेक्षाके माध्यमसे घटनाका एक काल्पनिक चित्रण कविने गीतावलीमें निम्न प्रकारसे किया है—

सतानंद सिष सुनि, पाय परि पहिराई,
माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है।
मानस ते निकसि बिसाल सु-तमालपर,
मानहुँ मराल-पाँति बैठि बनि गयी है॥

(गीतावली बाल०)

वस्तुचित्रण—वस्तुचित्रणमें भी उत्प्रेक्षाका प्रयोग प्रमुख-रूपेण किया गया है। धूप-धूमसे आच्छादित अवधपुरीके वर्णनमें कविने उत्प्रेक्षाका जाल बिछा दिया है†। इसके अतिरिक्त 'बरवै'में तुलसीदासने एक सुन्दर काल्पनिक चित्र-का विधान नायिका (सीताजी)के केशोंमें लगे हुए मोतियोंका 'पूर्वरूप' एवं 'तद्रूप' अलंकारके द्वारा किया है—

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥

(बरवै रामायन)

ऊँची कल्पनाका प्रदर्शन— सप्रतीप अलंकारके सहारे कविने ऊँची कल्पनासे युक्त चित्रण प्रस्तुत किया है। तुलसीने सीताके सौन्दर्यकी अनुपमता‡ एवं रामके सौन्दर्यकी अद्वितीयताका चित्रण चतुर्थ प्रतीपके सहारे किया है। देखिये जनकपुरवासिनी नारियाँ श्रीरामचन्द्रजीके सौन्दर्यका महत्त्वाङ्कन कितनी विशद एवं पाण्डित्यपूर्ण कल्पनाके द्वारा करती हैं—

---

* मानस बालकाण्ड दो० २६०-२६१।

† ,, ,, ,, १९५।

‡ ,, ,, ,, २४७।

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी । बिकट बेष मुख पंच पुरारी ॥
अपर देव अस को जग आही । यह छबि सखी पटतरिअ जाही ॥

(मानस बाल० दो० २२०)

शब्द-स्थापन

कविका ‘शब्द-स्थापन’ भी उसकी काव्यकलाकी एक प्रमुख कसौटी है । शब्द-स्थापनाकी उचित संयोजना किसी भी काव्यकी अर्थ-गरिमा, भाव-सौन्दर्य एवं लालित्यका कारण होती है । उत्तम कवियोंका शब्द-स्थापन इतना उपयुक्त होता है कि यदि उनकी पदावलीके शब्दविशेषको हटाकर अन्य शब्द रख दिया जाय तो पूर्व शब्दके अभावमें उन पंक्तियोंका सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है । महाकवि तुलसी इस दृष्टिसे विश्वके सफलतम कवियोंकी कोटिमें आते हैं । उन्होंने अपने उपमान-उपमेयों, वस्तु एवं घटना-व्यापारों, पात्रों तथा संदर्भोंके सर्वथा अनुकूल ही शब्द रक्खे हैं । उदाहरणार्थ—‘गृह’ शब्दके विभिन्न पर्यायों ‘भवन’[1] ‘मंदिर’[2] एवं ‘सदन’[3]का प्रयोग क्रमशः उसकी विशालता, भव्यता तथा उसके लघु रुचिर रूपको दिग्दर्शित करनेके लिये किया गया है । यह तो वस्तु-सम्बन्धी उपयुक्त शब्दयोजनाका उदाहरण हुआ । उपमानकी उचित संयोजनाके हेतु शब्द-चुनावका एक उत्कृष्ट उदाहरण दर्शनीय है—

सीताके वन-गमनका निरोध करते हुए कौशल्या कहती हैं—

बनहित कोल किरात किसोरी । रची बिरंचि बिषय सुख भोरी ॥

इस उद्धरणके ‘कोल किरात किसोरी’ शब्दोंकी उपमानके रूपमें पद-स्थापना बड़ी ही व्यञ्जक है । इसी प्रकार—

बिप्र बंस कै असि प्रभुताई । अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥

—में ‘अभय होइ’ एवं ‘डेराई’ पदों (शब्दों)की योजना कविने इतने चातुर्यसे की है कि इस अर्धालीसे बिना श्लेषकी ही अपेक्षाके तीन-तीन अर्थ सरलतासे निकल जाते हैं।

वर्ण-मैत्री—इसी प्रसंगमें कविकी ‘वर्ण-मैत्री’-सम्बन्धी विद्वत्तापूर्ण कलाकारिताको भी देख लेना कुछ असंगत न होगा । ‘वर्ण-मैत्री’ काव्यको प्रवाहमय बनाती है तथा काव्यमें अर्थ-चमत्कार भी उत्पन्न करती है । इन दोनों बातोंका निर्वाह एक कुशल एवं प्रतिभासम्पन्न कवि ही कर सकता है । तुलसीदासने ‘वर्ण-मैत्री’का ध्यान अपने काव्योंमें खूब रक्खा है । इस दृष्टिसे भी वे अन्यतम कवि माने जा सकते हैं । उनके ‘मानस’से ‘वर्ण-मैत्री’का एक उत्तम उदाहरण दिया जा रहा है—

जौं पटतरिअ तीय महुँ सीया । जग अस जुवति कहाँ कमनीया ॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥

(मानस, बालकाण्ड)

इस चौपाईपर डा० रामकुमार वर्माकी संस्तुतिको हम अविकल उद्धृत करते हैं—

‘इस चौपाईमें लघु वर्णोंकी आवृत्ति प्रवाहके लिये कितनी सरस और उपयुक्त है ! अर्थसौन्दर्यकी दृष्टिसे तुलसीदास सरस्वती, पार्वती और रति तीनोंको सीतासे हीन और लघु प्रदर्शित करना चाहते हैं । यह लघुता ही लघु वर्णोंसे बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुई है । सीता सबसे श्रेष्ठ और महान् हैं, अतः उनके लिये ‘सीया’ गुरु वर्ण प्रयुक्त किये गये हैं ।

सीता—‘तीय महँ सीया’ (दूसरे ही पद)में स्त्रियोंकी हीनता प्रकट करनेके लिये ‘तीय’ शब्द ‘जुवति’के लघु अक्षरोंमें परिवर्तित हो गया । गिरा=मुखर, भवानी=तनु अरध, (सभी अक्षर लघु हैं) रति=अति दुखित अतनु पति जानी’ (अन्तके तुकांतको छोड़कर इसमें सभी अक्षर लघु हैं । यदि ध्यानसे ‘मानस’का अध्ययन किया जाय तो तुलसीदासके पाण्डित्यकी अनेक बातें ज्ञात होंगी ।’

(डा० रामकुमार वर्माकृत हिंदी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास)

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनसे यही व्यक्त हो रहा है कि तुलसीदासमें अपूर्व काव्य-प्रतिभाके साथ पाण्डित्यका मणिकाञ्चन-योग था । उनकी काव्यकला, उनके पाण्डित्यपूर्ण कौशलके संयोगसे अनुपम बन गयी है । यही कारण है कि महाकवि तुलसीदास एवं उनका काव्य दोनों अमरता तथा शाश्वत गौरवसे सम्पन्न हो भारत-भूमिको धन्य बना रहे हैं ।

---

[1] भूप भवन तेहि अवसर सोहा । (मानस, बालकाण्ड दो० ३४५)

[2] मंदिर महँ सब राजहिं रानी । (,, ,, ,, १९०)

[3] सिय निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति ॥ (मानस बाल० दो० २१३)

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(षोडश नामके लगभग ३५ करोड़ महामन्त्र अर्थात् ५½ अरबसे अधिक नामका जप)

मधुरं मधुरेभ्योऽपि मङ्गलेभ्योऽपि मङ्गलम् ।
पावनं पावनेभ्योऽपि हरेर्नामैव केवलम् ॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

'मधुरोंमें भी मधुर, मङ्गलोंमें मङ्गल और पावनों (पवित्र करनेवालों) में भी पावन केवल हरिनाम ही है। हरिनाम, हरिनाम केवल हरिनाम ही कलियुगमें गति है। अन्यथा गति नहीं है, गति नहीं है, गति नहीं है।'

अतएव सदाकी भाँति गतवर्ष भी भगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। 'कल्याण' में प्रकाशित उक्त प्रार्थनाके अनुसार 'कल्याण'के बहुत-से सहृदय पाठक-पाठिकाओंने स्वयं नाम-जप किया और प्रेरणा-प्रचार करके दूसरोंसे करवाया। इस सत्कार्य और कृपाके लिये हम हृदयसे उनके ऋणी हैं। इस वर्ष लगभग ३५ करोड़ महामन्त्रका जप हुआ। यह संख्या गतवर्षसे कम है। सम्भव है बहुत लोगोंने सूचना न भेजी हो। अगले वर्ष विशेषरूपसे प्रयत्न किया जाय। यह हमारी सबसे विनीत प्रार्थना है। 'कल्याण'की प्रार्थनापर इस वर्ष जो जप हुआ, इसके सम्बन्धमें निम्नलिखित निवेदन है—

(१) इस वर्ष भी केवल भारतमें ही नहीं, बाहर विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(२) सोलह नामके महामन्त्रकी जप-संख्या जोड़ी गयी है। भगवान्‌के अन्यान्य नामोंका भी बहुत जप हुआ है, वह इस संख्यासे पृथक् है।

(३) बहुत-से भाई-बहिनोंने जप अधिक किया है। सूचना कम भेजी है और कुछ नामप्रेमियोंने तो केवल जपकी सूचना ही दी है, संख्या लिखी ही नहीं।

(४) कुछ भाई-बहिनोंने केवल जप-संख्या ही नहीं लिखी है, उत्साहवश नाम भी लिखे हैं, यद्यपि हमारे पास लिखित नामोंके प्रकाशनकी उपयुक्त सुविधा नहीं है। इसके लिये क्षमा-प्रार्थना है।

(५) बहुत-से भाई-बहिनोंने आजीवन नाम-जपका नियम लिया है इसके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

(६) स्थानोंका नाम-दर्ज करनेमें यथासाध्य सावधानी बरती गयी है। इसपर भी भूल होना एवं कुछ स्थानोंके नाम छूट जाना सम्भव है। कुछ नाम रोमन या प्रान्तीय लिपियोंमें लिखे होनेके कारण उनका नागरी रूपान्तर करनेमें भूल रह सकती है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

(७) सोलह नामोंके पूरे मन्त्रका जप हुआ है— ३४, ८४, १५, २०० (चौंतीस करोड़, चौरासी लाख, पंद्रह हजार, दो सौ)। इनकी नाम-संख्या होती है ५, ५७, ४६, ४३, २०० (पाँच अरब, सत्तावन करोड़, छियालीस लाख, तैंतालीस हजार, दो सौ)।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अंगोथ, अंचलगुम्मा, अंजनासेंगी, अंडिला, अक्कलकोट, अकठौहा, अकोदियामण्डी, अचलजामू, अचलपुर-सीटी, अजमेर, अडगाँव, अड़रिया, अतरझोला, अदीलाबाद, अन्तरी, अन्ताना, अन्दी, अनन्तापुर, अनूपपुर बस्ती, अनूपशहर, अपहर, अबीमाजरा, अम्बडगट्टी, अम्बातूर, अम्बारी, असगाँव, अमनौरगोशी, अमरकंटक, अमरावती (गोंदिया), अमरावती रोड, अमरी, अमलापुर, अमीनगर सराय, अमृतसर, अरई, अरसारा, अल्मोड़ा, अलवंडी, अलीगंज, अलीगढ़, अलीपुरजीता, अलीराजपुर, अशोकनगर, असहना, असीबाबाद, अहमदाबाद, अहिल्यापुर, आकुसपुर, आकोला, आगर-मालवा, आगरा, आगरा एयरफोर्स स्टेशन, आगढ़, आदमपुर, आदित्यनगर, आनन्दनगर, आनन्दपुर, आबगीला, आबगीलाशायर, आबू, आरम्भा, आरा, आलमपुर, आसी, इकबालपुर, इकलहरा, इकौना, इटावा, इटौजा, इन्डाली, इन्द्राना, इन्दौर शहर, इटारसी, इमलिया, इलाहाबाद, इशारा (पूर्वी), ईकरी, ईसागढ़, उदईपुरा, उदगीर, उदयपुर, उदयपुरा (म० प्र०), उदवा, उजानगंगौली, उज्जैन, उत्तरासपल्ली, उदीपी, उन्नाव, उन्हेल, उपरौड़ा, उमगरा, उमघा, उमह्ला, उमरहट, उरदान, ऊँझा, ऊना, ऊमरपुर, ऊमरी, एरंडोल ५६:

ए० पी० ओ०, एरिनपुरा छावनी, ओंकारेश्वर, ओजरताँवट, औरंगाबाद, औरंताहरपुर, औराद, कंक्वारा, कंठाग्राम; कंधार (नान्देड़), कंथारिया (खेरा), कँचरापाड़ा, कइलगढ़, ककड़ियाँ, ककवारा, कचौरा, कटक, कटघर, कटनी, कठोरे, कथवली, कन्नानूर, कन्नौद, कनेगरी; कपासन, कपूरदा, कपूरसिंह (आठगढ़), कमलापुर, कमासिन (बाँदा), कमासी (शेखपुरा), करंजालाड, करकवेल, करगाँवा, करमणिचक, करमा, करमाटाँड, करवड़ी, करुआ, करोम, करौली, कलकत्ता, कलमडू (पू० खा०), कलमण्डा (राजस्थान); कल्याण, कल्यास (भीलवाड़ा), कहानी (सिवनी), काँकरोली, काँकेर (बस्तर), काँके (राँची), काकतीदेवरा, काकुडा, कागुपाडु, काठगोदाम, काठमांडू, काढ़ा; कातुरली, कानपुर, कापसी-कन्हारपुरी, कामतमपल्ली, कामथवाड़ा, कारंजा, कारगल, कालनपुर, कालिमपोंग, कालूचक, किरारी, किलोली, किश्नवाड़, किसुनपुर, कुंढेंच, कुँडई, कुकुरमुड़ा, कुढ़ावल, कुम्हेर (भरतपुर), कुम्हेरा, कुरनौल, कुरसाद, कुरालगढ़, कुराली (मेरठ), कुरौली (बावली), कुलकुलपल्ली, कुलिट्टालाई (त्रिचनापल्ली), कुसगवाँ अहीरान, कुससरा, केआरस (तेमथा), केथलमंडी, केरवासा, केरापा, केलानूर, केवई, कैकलूर, कैथा (राठ-हमीरपुर), कैथी (मुंगेर), कैलासपुर, कोंहड़ा, कोइला, कोचीन (केरल), कोझीकोड, कोटगिर, कोटरी (सिहोरजिला), कोटेतरा, कोठड़ी (झालावाड़), कोडरमा, कोडूवायूर, कोत्तागुडम्, कोथला, कोमनपल्ली, कोयम्बतूर, कोरियावाँ, कोरोराघवपुर, कोलाड़ा, कोलास (निजामाबाद), कोल्कुलपल्ली, कोल्हापुर, कौंर, कौवाहा, खंभालिया, खकरिया, खझौला, खडेर खकतपुरा, खतोला, खम्भात, खमरापाली, खरगपुर-अरसारा, खरगापुर, खरगोन, खरसाङ्ग, खरीकबाजार, खरैवादर्प, खलपुरावाला, खांगटा (उमेद), खाचरोद, खानपुर, खाना, खामखेड़ा, खालिसपुर, खितौलाबाजार, खीरीकोठा, खुड़ी, खुरई, खुर्जा, खुशनामपुर, खूँटलिया, खेरागढ़, खेरिया, खैरवाया, खैराभट बीगहा, खैराबाद, खैरीडीह, खोड़, खोड़दा, खोपली, खौड़, खौरी, गंगाखेड़, गंगाधार, गंगानगर, गंगापुर, गंगोह, गंजडुंडवारा, गजरौला, गढ़गाँव, गढ़वा, गढ़ा, गण्टूर, गया, गरचा, गरीमाबाद, गवालखेड़ा, ग्वालियर, गाँवड़ी, गाडरवारा, गिदड़वाहा, गींगला, गीताप्रेस (गोरखपुर); गुजरा, गुडेबल्लूर, गुरदासपुर, गुरौरा; गेंडोली, गेरमी, गेसूपुर, गोंहटा, गोगाँवा, गोडहिवा नं० १, गोण्डल, गोण्डा, गोपालपुर, गोयरामुगली, गोरंगा, गोहड़ना, गोविन्दपुरा, गौलीगुडा, घनोरा, घाटकोपर, घुसयाना, चकराता, चक्रिया, चकौंधकर्वी, चण्डीगढ़, चनायनबान, चन्दा, चन्दुपटला, चन्दौसी, चमाली, चम्पानगर, चम्पावाड़ी, चाँदपुर-गनटेश, चाँदपुर-स्थान, चाँदराना, चारम्पा, चालिसगाँव, चिकडपलि, चित्तौड़गाँव, चित्तागाँव, चित्रकूट; चिन्नापट्टा, चिरवागी, चिलवरिया, चीखलठान, चुनार, चोकड़ी, चौंरी (सिरकौरा), चौचौड़ा (चम्पावती), चौपखिया, चौपाटण, चौबेपुर, चौरई, चौरीसराय; चौहट्टा, छतरपुर, छपक्रिया, छपरा, छिंच, छिंदवाड़ा, छिंदिया, छितरौर, छोटी खाटू, छोटी छालियाँ, छौलापुर, जगदीशपुर, जगनेर, जड़ोल, जबलपुर, जमनी पहाड़पुर, जमहोर, जमशेदपुर, जमुई पण्डित, जमुनीकलाँ, जम्बुसर, जम्बू, जम्मूतवी, जयपुर, जयहरीखाल (गढ़वाल), जरगवाँ, जखाड़ी, जरिगुम्मा, जलगोन, जलालपुर-चैनवा, जसरापुर, जसेला, जसो, जाँनसठ, जाम, जामखम्भालिया, जामठी, जामनगर, जालना, जालिया, जालौर, जीराबाद, जीलाजेला, जुन्हैटा, जुरहरा, जुवादा, जेतलपुर, जैतीपुर कुरुआ, जैतोली, जैथारी, जोधपुर, जोरण्डा, जोरावरडीह, जौनपुर, ज्वाली, झंझारपुर बाजार, झंडा, झलोखर, झाँसड़ी, झाँसी, झाड़सुगुड़ा, झालरापाटन, झालू, झुलावड़, झूमरीतिलैया, झिंझरी-मुंडवारा, झिटिया; झूलाघाट, झोपली, टंकरियापंथ, टटैहल, टड़वलिया, टण्डवा, टराडवा, टाकानी, टिटाली; टिमनपुर, टीकमगढ़, टुनिहा, टुरटुरा, टेंगा (अफ्रीका), टोलडीह, ठठिया, डंगेरु, डभोई, डालटेयर, डालीकेहरा, डाल्टनगंज, डुगरा, डुमरी, डुब्बा, डेंगपदर, डेंडवा, डेल्लूर, डोंगरगढ़ (म० प्र०), डोम्हाटोला, (पदमतारा), डौंडी, ढखवा, ढ़ाणकी, ढ़ाबला मोहना, तपकरा, तपोवन बन्धवारण्य, तलेगाँव, ताजपुर, तातारपुर, ताथेड़, ताम्बरम् एयरफोर्स, ताल (रतलाम), तालबेहट, तालिमइदारा, तिघरा, तिखापुराना, तिरुपतिपुरम्, तिरोड़ी, तिर्वागंज, तिलका, तिलकुर, तिलहट, तिलोबदर, तुंडी, तुम्मलपल्ली, तुलसीपुर ग्राण्ट, तेजपुर, तेतरिया, तेन्तुलिखुटी, तेमुड़ा, तैयातोपनगर (टी टी नगर-उत्तर), तोतापल्ली हिल्स, तौरा, त्रिचनापल्ली, थाना (महाराष्ट्र), थानाभवन (मुजफ्फरनगर); थान्दला, थारोंद, दखवा (ओयल), दनापुर (बाबादीन); दन्डेली,

दलकी, दलपतपुर, दहिआवाँ टोला, दहियाखाल, दाड़ी, दानापुर, दामोदरपुर मठ, दमोले कोंडवाड़ी, दारे-सलाम, दिदवारा, दिल्लीशहर, दिल्लीछावनी, दुर्ग, दुद्धि, देपारा, देपालपुर, देलाँग, देवबन्द, देवरिया, देवरी, देवलाल, देवलिया, देवांशरीफ, देशनोक, देहरादून, दोन, दोसुत, दौलतपुर, धनगाई, धमधा, धमतरी, धारकीटुनी, धारचूला (पिथौरागढ़), धारन, धारवाड़, धुके, धुलिया, धुलें, नंदग्राम, नंदाडीह, नई दिल्ली, नई सराय, नगर, नगला-मुरली, नगवाँगढ़, नथुवाखान, नदबई, नदिल्ली, नबाबगंज, नयागढ़, नयागाँव, नरसिंहगढ़, नरहटिया, नलनी, नल्लजर्ला, नवधन, नवरंगपुर, नवसारी, नवादा (चम्पारण), नवादा स्टेट (जोगीरमपुरी), नवापुरा, नसोराबाद, नहान, नागझरी, नागनाथ, नागपुर, नागरकठे, नागलपुर, नागौद, नागौर, नान्देड़, नान्हकार, नापासर, नामगाँव, नामपुर, नारदीगंज, नारवा, नाहरगढ़, नारायणपुरम्, नासूरगढ़, निजगढ़ (आढगढ़), निजामाबाद, निमची, निमाज, निमियाँ, निलफामरी, निवादा (बालौनी-मेरठ), निवादा (बेला-इटावा), नीमगाँव, नूतनगंज, नेक, नेम्मिकूर, नेल्लूर, नेवादा (हमीरपुर), नैनी, नैनीडाँडा, नैनीताल, नैमिषारण्य तीर्थ, नोखामंडी, नोहझील, नौगाँवाँ, पंचरुखिया, पंजवारा, पटना, पटियाला, पट्टीपदखन, पटेरा, पटौवा, पड़थाना, पडियारगाँव, पथराट, पट्टुई, पनगाँव, पन्ल्यूड़ी, पन्ना, परजीपाद, परतेवा, परसदा, पलटा, पर्लपाडु, पवाशी, प्रतापगढ़, प्रशस्तडीह, पांडेगाँव, पाँगरखेड़, पाँवस, पाटणनाव, पाथर्डी, पात्रपुर, पारसोल, पालमपुर, पालयमकोट्टई, पाली, पिंडरा-बाजार, पिछोर, पिपराकपूर, पिपरिया, पिलवानी, पिसनावल, पीचीयाक, पीपलरावा, पीपलवाड़ा, पीपलीजट, पीपल्याजोधा, पीपरी गहरवार, पीरोजपुर, पीलवा, पीलवानखेड़ा, पीलीभीत, पुंजापुरा, पुआरखेड़ा फार्म, पुखराया, पुतलीघर, पुदुकोट्टई, पुन्हदा, पुरगी, पुरहिया, पुरानागंज, पुरानीबस्ती, पुरी, पुलियूर, पुवायाँ, पुसुरी खुर्द: पूना, पेटरबार, पेढ़ाबें, पेंडरा, पैंची, पैडगुमल, पोकरन, पोखरी, फतेपुर (फरूखाबाद), फतेहगढ़, फतेहपुर, फरल, फरहदा, फरहया, फरेंदाशुक्ल, फागती, फागी, फारबिसगंज, फिरोजपुर शहर, फिरोजाबाद, फुटिया, फुलवरिया, फैजपुर, फैजाबाद, बंका, बंगा (जालन्धर), बकानी, बखरी, बगड़ी-सज्जनपुर, बसेड़ा, बडगाँव, बड़वानी, बड़ापुर, बड़ीसोयत, बड़ौत, बड़ौदा, बड़ौन कलाँ, बढ़ई-टोला (मलाही), बदायूँ, बनारस, बन्दोड़, बन्धावल, बमकोओ, बम्बई, बम्हौरी मनकवारा, बरङ्गावारी, [illegible] बरेली, बर्धा सलइया, बलरामपुर, बलिया, बसन्तपुर, बसौली, बस्ती, बहिरा, बहेला, बाँकीपुर, बाँदनवाड़ा, बाँदा, [illegible] बाकच्चण्डी, बागलकोट, बागी पपरिया, बागोट, बाड़ीकाशगाँव, बान, बानौली, बाबूडीह, बामौर-कलाँ, बारगढ़, [illegible] बारनेस, बरसारकाँगड़ा, बारू, बालंगीर, बालसमुंद, [illegible] बाल्लीपद, बावल, बिकूपुर, बिछवाँ, बिजवार, बिजोलियाँ, बिदर, बिनैका, बिर्रा (बिलासपुर), बिलासपुर, [illegible] बिशुनपुर वृत्त, बिसनपुर, बिसलपुर, बिहटा (मुंगेर), बिहार (खुटार), बीकानेर, बीजाभाट, बीड़, बीघापुर, [illegible] बुढ़ावली, बुधनगरा, बुलडगाँव, बुलसर, बैंगलूर, बेगमपेट, बेगूसराय, बेतिया, बेनकनहल्ली, बेमेतरा, बेलगाँव, बेल्मंडई, बेलरदोन, बेलवतिया, बेलापुर खुर्द, बेलाप्रसादी, बेहटा-बुजुर्ग, बेहटा-नथई, बैगना, बैजापुर, बैतूलबाजार, बैतूल, [illegible] बौटी बाजार, बोरघरना, बोलिया, बोहारडीह, बौली, ब्रजराजनगर, ब्रान्डाह (नूरपुर), ब्यावराकलाँ, भंडारज, भक्तिगवाँ, भगरतोला (पटी बिचला कत्यूर), भटगाई, भटगामा, भटनगर, भदरा, भद्रपुर, भद्राचलम् रोड, भद्रावती, भरतपुर, भरथू, भरफोड़ी, भरौली, भलूहीपुर, भवानी (दक्षिण भारत), भवानीपुर (चम्पारण), भवानीपुर (राजधाम), भवानीपुर बाजार, भागलपुर, भहरागाँव, भाटगाँव, [illegible] भाटापारा, भारकच्छकला, भावनगर, भावलखेड़ा, [illegible] खारिया, भिटरिया, भिठ्ठी, भिण्ड, भिलाई बाजार, [illegible] भीलवाड़ा, भुभली, भुरका, भुसावल, भूनी, भृगुपुर, [illegible] भेलसी, भैंसाबाजार, भोजड़े, भोटा, भोपाल, [illegible] (भीलवाड़ा), भोरासा, मंगराज मंडी, मंढा [illegible] मऊ आइमा, मकुनहिआ, मगरौन, मछरियावाँ, [illegible] मड़कन, मढ़ाका (नगरिया), मढ़िया, मतूर, मथुरा, मदनपल्ली, मदोखर, मद्रास, मधपुरा, मधुबनी, मनकी, मनगवाँ, [illegible] मनासा, मनावर, मनीमाजरा, मनोहरनगर, मभुरा, मलकापुर मलकापुर खदान (आकोला), मलहरा, मलाहत-[illegible] मलिकनगर (साहिबाबाद), मलिका (खुटार), [illegible] मसलीपट्टम्, मस्तीचक, महटागाँव, महथी, महादेवपुर, [illegible] महाराजगंज, महाराजपुर-मंडला, महिपविगहा, [illegible] (दीघी), महुआँव, महुआना, महुआवा (कुमा), [illegible] (दमोह शहर), महोबा (हमीरपुर), माडल, मांडवी, [illegible] माणवदर, माथक, माधापार (कच्छ), माधोपाली, [illegible] गोविन्द, माधोपट्टी, मानपुर-नगरिया, मानिकगढ़, [illegible]

(मैसूर), मालुगिरम्, मालेश्वरम्, माहूर, मिकड़गाँव, मिड़की, मिरौना, मोथी, मीनावदा, मीनुग्र, मीरपुरकुटी (मिरजापुर उ० प्र०), मुंगेर, मुंजला, मुंडगाँव, मुदी, मुगलसराय, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुडारी, मुड्डु, मुबारकपुर, मुरबाद, मुरली, मुरादनगर, मुरादपुर, मुरादाबाद, मुल्लक्काल, मुशहरीबाजार, मुहम्मदगाँव, मूसी, मेंगराग्राम, मेहदावल, मेड़तारोड, मेदीनीपुरबड़रिया, मेरठ शहर, मेरठछावनी, मेल्लमफुडि, मेहसाणा, मैनपुरा (शाहाबाद), मैनपुरी, मैरवा (सारन), मैसूर, मोंढ़ा, मोगा, मोजा-गोनामा, मोतीनगर, मोतीपुर, मोतीहारी, मोरवाड़ा, मोहगाँव (दुर्ग), मोहन्द्रा, मोहम्मदपुर, मोहम्ब्रदाबाद विदर, मोहदचतुर, मौधा, मौधिया, यमुनानगर, यवतमाल, येगाँव, येवला, योलछावनी, रगजा, रणजीतपुर, रतनगढ़, रतनपुर, रत्नगिरि, रनियाँ, रमिया बेहड़, रसूलपुर, रहमानगंज, रहली, रहावली उबारी, राउकेला, राजकोट, राजनाँदगाँव, राजपुर (चम्पारण), राजपुरफार्म (गहरपुर-नैनीताल), राजमहेन्द्री, राजापुर-मनपुरा, राणखिराड़ा, राधाउर, राधानाथपुर, रानापुर, रानीखेत, रानीबाग, रावकवी, रमपुरा, रामटेक, रामनगर (नैनीताल), रामनगर (मुजफ्फरपुर), रामनगर (मेरठ), रामपुर (राजस्थान), रामपुर अहिरौली, रामपुर वेहड़ा, रामपुरा (भगवानपुर), रामराजपुर, रामलिङ्गपुरम्, रायचूर, रायपुर (म० प्र०), रायपुर (मेवाड़), रावदियापीर, रावीनूथला, रावेर (महाराष्ट्र), रावेरखेड़ी (प० निमाड़), रासरसिकपुर, रहेलखुर्द, रिखाड़ा बैला बाखल (रानीखेत), रीवाँ, रुड़की, रुद्रनगर, रुद्रपुर बथानी, रूनीजा, रूपसागर, रूपाहेड़ा, रेंका, रेडिया, रोकरी (बराँव), रोहिणी, लखनऊ, लखनीपुर, लखीमपुर-खीरी, लत्ता (पौड़ैयाहाट), लन्धौरा (सहारनपुर), ललितपुर, लश्कर, लसूडलियागौरी, लहसनबाजार, लहरी तिवारीडीह, लाँक, लाखागुडा, लालाटोला-[illegible], लावनछोटी, लासलगाँव, लिङ्गरुद्रम्, लिङ्गसमुद्रम्, लिमोरा, लुआवद, लुखरीआई, लुधिआना, लेदुका, [illegible], लोटवा, लोध, लोहरीसराय, वडका ढकाइच्च, वड़गाँव, वडनगर, वनकट कैथी, वमनोराकलाँ, वरकाना, वसौली, वानखेड़, वापफड़ (वर्धा), वाराणसी, वारू, वाल्टेयर, विजयवाड़ा, विजयनगरम्, विशुनपुर, विशाखापटनम्-३ (महारानीपेट), विश्वनाथपुर, विश्वम्भरपुर, विसहरिया, विसौनी, विष्णुपुर. वृत, वीगौर, वीजापुर (गुजरात), वीरसिंहपुर कुच्यामन सुन्दरपुर, वृजनाथपुर, वेहटा पकौरी, वैसाडीह, व्यारा, शंकरपुर, शरफुद्दीनपुर, शर्मिष्ठापुर, शरहना, शहापुर, शाकरनगर, शाजापुर, शाम्हो, शालीजहाँनपुर, शालीपुर, शासन (सिंघल), शाहनगर, शाहपुर (मुंगेर), शाहपुर-मगरौन, शाहपुर-सुतिहार, शिमला, शिलकोट, शिलोंग, शिवगंज, शिवपुरी, शिवराजपुर, शेरमुक्का, शोहरतगढ़, शोलापुर, श्योरपुरकलाँ, श्रीनगर, श्रीरामपुर, श्रीविल्लीपुत्तूर, संगम, संगमनेर, संगारेड्डी, संडीया, संजीत, संबलपुर, सकूरबस्ती, सखतखानी, सखवाड़, सड़रा, सठियाँव, सण्डीला, सणसोली, सतौरा, सदरकरनाल, सनकुई, सपताचक, सम्बलपुर, समस्तीपुर, समेसर, सम्भल, सरखेज, सरदारपुरा, सरदारशहर, सरवा, सरवनिया महाराज, सवाई माधोपुर, सखाड़, सरसवा, सरिया, सलपा, सहार, सहारनपुर, साँढ़ा, सांभरलेक, सागर, सागोनी, साहनपल्ली, साणसोली, साभरमती, सामाना, सामी, सायखेड़े, सारत, सारम, सलहली, सलेम, सावरा, साहपुर, साहिबगंज, साहिबाबाद, सिंहपुर, सिंघनपुरी, सिंघोलाग्राम, सिकन्दरपुर, सिकन्दराबाद, सिन्दूरिया, सिमरौल, सिलपटी, सिलादेही, सिवनी, सिसोना, सीकर, सीतापुर, सीताहसदी, सिमरा, सिरकौरा, सिरसाले, सिरसिल्ला (करीमनगर), सिहोरा, सीधपकला, सीमलखेड़ी, सुखेड़ा, सुनारखेरा, सुपा, सुम्बुक, सुरादा, सुरे, सुरेमनपुर, सोराबयाँयाँ (इण्डोनेशिया), सुलह, सुल्तानपुर, सुद्धदनगर, सुहेला, सूरत, लेफरागुवार, सेमरा मेडेरोल, सेलु, सेलोट, सेहरा, सैलवारा, सोंढ़, सोदपुर, सोनगाँव, सोनपुरवा, सोनवा, सोयतकलाँ, सोरखड़ाकला, सोलापुर, सोहांस, सौंह, सौशर, स्वर्गाश्रम, स्वरूपनगर, हंसकेर, हटिया, हथरस, हथिया, हयातपतापरी, हरकिशुनपुर, हरजीपुर, हरदा, हरदी (रायपुररोड़), हरदी (रायगढ़), हरदोई, हरपालपुर, हरवंसगंज, हवेरी, हरसिंघपुर, हसनगंज, हरिद्वार, हरिभाषा, हरिहरपुर, हाँसपेट, हाँफा, हाजीपुर, हाटबोरा, हिण्डोरिया, हिमगीरोड, हिरनखेड़ा, हीरपुर, हिसार, हुमायूँपुर, हैदरनगर, हैदराबाद, होशंगाबाद, होशियारपुर ।

नाम-जप-विभाग—**'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर**

◆

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

मधुरं मधुरेभ्योऽपि मङ्गलेभ्योऽपि मङ्गलम्। पावनं पावनेभ्योऽपि हरेर्नामैव केवलम्॥
तृणीकृत्य जगत्सर्वं राजते सकलोपरि। चिदानन्दमयं शुद्धं हरेर्नामैव केवलम्॥

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि, अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणियोंके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इस वर्ष तो अष्टग्रही योग है, जिसके अशुभ परिणामका सूत्रपात जलप्लावन आदिके रूपमें हो गया है, इसीलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्षकी भाँति प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (२२ नवम्बर १९६१) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (१९ अप्रैल १९६२) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१९ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है। करना चाहिये ही।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अंगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

वृक्षारोपण-माहात्म्य

(लेखक—पं० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, व्याकरण-पुराणेतिहासाचार्य, एम्० ए०, सा० र०, प्रधानाचार्य)

भारतीय संस्कृतिमें वृक्षारोपणका एक विशिष्ट स्थान है। हिंदीभाषाके अतिरिक्त अन्य सभी भाषाओंमें भी वृक्षारोपणके लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इस सबका मूल स्रोत्र वेद, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेदादि हैं। कोई भी ऐसा वृक्ष नहीं, जिसका उपयोग आयुर्वेद-शास्त्रमें वर्णित न हो। कोई भी पुराण वृक्ष-महिमामें संकुचित-हृदय नहीं प्रतीत होता।

वृक्ष जीव-मात्रके उपकारी हैं और सर्वपूज्य भी हैं। भारतीय संस्कृतिकी सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद है, जिसमें किसी भी मङ्गल-कृत्यके समय वृक्षोंके कोमल पत्तोंका स्मरण किया गया है, वह ऋचा निम्नलिखित है—

ॐ काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ति परुषः परुषः परि ॥
(ऋग्वेद, पुण्याहवाचन)

इसी प्रकरणमें पीपलकी महिमा भी कही गयी है—

ॐ अश्वत्थे वो निषदनं पर्णेत्रौ वसतिष्कृता ॥
(ऋग्वेद)

यजुर्वेदमें प्रजाके कल्याणके लिये वनस्पति मात्रकी स्तुति की गयी है—

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषेभ्यस्त्वमां गिरः ॥
(यजुर्वेद)

शमी वृक्ष समस्त अमङ्गलोंका नाशक माना गया है तथा दुःस्वप्नोंका नाशक भी—

अमङ्गलानां शमनी ······ दुःस्वप्ननाशिनी ।
(गोपथ-ब्राह्मण)

वेदोंमें वृक्षोंकी महिमा एवं उनका स्पर्श-माहात्म्य ही विशेषतः वर्णित है, परंतु स्मृतियोंमें न केवल वृक्ष लगानेका माहात्म्य है, अपितु वृक्ष नष्ट करनेवालेको दण्ड-विधान भी लिखा है।

वृक्षोंको समूहरूपसे रक्षित कर बगीचोंका रूप देनेका पहिला वर्णन स्मृतियोंमें ही मिलता है।

अठारह पुराण, छः शास्त्रोंमें वृक्षोंकी विभिन्न गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।

वृक्षोंको भी जीव मानकर मानव-सृष्टिद्वारा उनकी उत्पत्तिका वर्णन पुराणोंकी प्रथम गवेषणा है। पुराणोंमें वृक्षोंको कश्यपजीकी संतान कहा है। यह कथानक इनकी रक्षा एवं इनके परमोपकृत शरीरके माहात्म्यका द्योतक है। धरतीमें इनका जो स्थान है उससे भी बढ़कर देवताओंके धाममें भी है। नन्दनवन, पुष्पक, सर्वतोभद्र आदि वनोंको जिनमें देवतागण अपनी देवियोंके साथ रमण करते हैं, इन्हींसे परिपूर्ण होनेके कारण ख्याति प्राप्त है। भागवत-पुराणमें इनकी उत्पत्तिकी कथा निम्न प्रकार है—

दक्ष प्रजापतिकी सोलह कन्याएँ कश्यपजीकी पत्नी थीं। उनमें अदितिसे देवगण, दितिसे दैत्य, दनुसे दानव, सुरसासे सर्प तथा इलासे भूरुह (वृक्ष) पैदा हुए—

‘इलाया भूरुहाः सर्वे’ (भागवत ६। ६। २८)

अतः एक वृक्ष एक संतानके समान माना जाता है। मत्स्यपुराणमें लिखा है कि एक वृक्ष दस पुत्र उत्पन्न करनेके बराबर है—

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥
(मत्स्यपुराण १५३। १२)

दस कूप-निर्माण करवानेका पुण्य एक वापीके बनवानेसे प्राप्त होता है तथा दस बावलियाँ बनवानेका पुण्य एक तालाबके बनवानेसे और एक पुत्रका जन्म दस तालाबोंके तुल्य तथा एक वृक्ष दस पुत्रोंके तुल्य है।

एक वृक्षसे न जाने कितने जीवोंका लाभ होता है। सम्भव है कि इसी परोपकार-भावनाको एवं परोपकारी जीवनकी श्रेष्ठताको व्यक्त करनेके लिये ही वृक्षोंका माहात्म्य पुत्रोंसे भी अधिक बतलाया गया है।

मनुजीका कथन है कि ‘पुत्रवान्को स्वर्ग मिलता है’ ‘पुत्रवान् लभते स्वर्गम्’ और अपुत्रको अशुभ गति (नापुत्रस्य गतिर्शुभा)। यह वाक्य पितरोंकी तृप्ति या मानव-जीवनकी सार्थकताके माहात्म्यका बोधक है। अतः सात संतानोंका उल्लेख प्राप्त होता है—

कूपस्तडागमुद्यानं मण्डपं च प्रपा तथा।
जलदानमन्नदानमश्वत्थारोपणं तथा॥
पुत्रश्चेति च संतानं सप्त वेदविदो विदुः।
(स्कन्दपुराण)

कुआँ, तालाब, बगीचा, आराम-भवन, प्याऊ, जल और अन्नदान तथा पीपलके वृक्षका लगाना—ये सात संतान कहलाती हैं।

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणमें लिखा है कि पीपलके वृक्ष लगानेवाला एक लाख वर्षतक तपोलोकमें निवास करता है।

अश्वत्थवृक्षमारोप्य प्रतिष्ठां च करोति यः ।
स याति तपसो लोकं वर्षाणामयुतं परम् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

सब वृक्षोंमें पीपल श्रेष्ठ है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे उसको अपना रूप बताया है—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् ॥ (गीता, विभूतियोग)

हे अर्जुन ! वृक्षोंमें मैं पीपलका वृक्ष हूँ ।

अतः पीपलके वृक्षका पूजन और पीपल वृक्षका आरोपण अनन्त पुण्यदायक है । इसी प्रकार स्कन्दपुराणमें आँवलेके वृक्षकी महिमा गायी गयी है । इस वृक्षके स्कन्धपर रुद्र भगवान्, शाखाओंमें नदी, प्रशाखाओंमें देवताओंका निवास बतलाया गया है—

सर्वदेवमयी ह्येषा धात्री वै कथिता मया ।
तस्मात्पूज्यतमा ह्येषा विष्णुभक्तिपरायणैः ॥
(स्कन्दपुराण)

अतः इस वृक्षका लगानेवाला सर्वदेवपूजनके पुण्यका अधिकारी होता है । आँवलेकी छायामें पिण्डदान करनेवालेके पूर्वज स्वर्गमें निवास करते हैं । पुत्र-प्राप्तिके लिये आँवलेका पूजन अमोघ साधन है ।

पुराणोंमें कितने ही राजाओंकी वृक्षारोपण-सम्बन्धी कथाएँ हैं । स्कन्दपुराणमें द्रविड देशके माल्यवान् नामक राजाकी कथा है—

१-अनेक उपाय करनेपर भी इसे संतान-सुख प्राप्त न हुआ । भाग्यसे इस राजाके समीप दुर्वासा पधारे और राजाकी मनोरथ-सिद्धिके लिये धात्रीपूजनका माहात्म्य वर्णित किया । इस उपायद्वारा राजाको एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ ।

२-कान्यकुब्ज देशमें श्रृङ्गवान् राजा राज्य करता था । इस राजाके राज्यके समय मनुष्योंकी धार्मिक वृत्ति कुछ कम हुई और उन्होंने उसका उपयोग पहिले वृक्षोंके माध्यमसे किया । केवल घरोंमें वृक्षारोपण होते थे । उनमें भी वे वृक्ष लगाये जाते थे, जिनसे गृहस्थोपयोगी फल-फूल प्राप्त हों, फलतः हजारों कोशकी भूमि निर्वृक्ष हो गयी थी । कोई धर्मकृत्य मानकर मार्गमें, देवालय आदिमें वृक्ष नहीं लगाते थे । स्वयं श्रृङ्गवान्ने सर्वप्रथम लाखों वृक्ष भारतकी भूमिमें लगवाये एवं उनकी रक्षाका माहात्म्य प्रजाको समझाया । स्कन्दपुराणमें लिखा है कि इसने असंख्य वृक्ष देशमें लगवाये थे ।

केवल इसी पुण्यकार्यके कारण इस राजाकी अक्षय कीर्ति अद्यापि विद्यमान है ।

३-वीरभद्र राजाने सर्वलोकोपकारी वृक्ष लगवाये एवं तालाब आदि स्थानोंका जीर्णोद्धार करवाया था ।

वृक्षाश्च रोपितास्तत्र सर्वलोकोपकारिणः ॥
(बृहन्नारदीयपुराण अ० १२)

४—भगवान् श्रीकृष्णने इन वृक्षोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है और इन्हें सब प्राणियोंका उपजीव्य बताया है ।

अतः वृक्षारोपण करना किसी भी तीर्थ, व्रत, उपवाससे कम नहीं । भारतीय संस्कृतिके इस आवश्यक अङ्ग, वृक्षोंकी वृद्धिके लिये अपने हाथों किसी भी स्थानपर एक वृक्ष लगाना धार्मिक कर्तव्य है ।

वृक्षारोपण-काल

शुभमुहूर्तमें लगाया गया वृक्ष शुभ फलदायी होता है । वृक्ष लगानेके लिये हस्त, पुष्य, अश्विनी, विशाखा, मूल, उत्तरात्रय, चित्रा, अनुराधा, शतभिषा नक्षत्र श्रेष्ठ हैं । शुभ तिथि तथा शुभ वारका भी ध्यान रहे एवं विधिवत् पूजन कर निम्नमन्त्रसे वृक्षकी स्थापना करे—

ॐ वसुधेति च शीतेति पुण्यदेति धरेति च ।
नमस्ते सुभगे देवि द्रुमोऽयं त्वयि रोपते ॥

स्मरण रहे कि शास्त्रोंके अनुसार जो पुण्य वृक्षोंके लगानेका है, उससे अधिक पाप वृक्षोंको व्यर्थ काटनेका है; क्योंकि शास्त्रोंमें इन्हें जीवकी संज्ञा दी है । स्मृतियोंका कथन है कि हरे-हरे वृक्षका स्वार्थवश नाश करना अपने कुलके नाश करनेके समान है । यदि भारतवासी शास्त्रोंके इन आदेशोंको ध्यानमें रक्खें तो यह देश फिर हरा-भरा हो जाय । इसके जो आर्थिक और व्यावहारिक लाभ हैं, वे तो सर्वविदित हैं ही ।*

* * *

---

* कुछ समय पूर्व उत्तरप्रदेशके राज्यपाल रहते समय श्रीकन्हैयालालजी मुंशीने वृक्षारोपणका बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था । अब भी कहीं-कहीं वह कार्य चल रहा है । वृक्षारोपणकी प्रथा और क्रिया भारतमें सदासे ही है । पर इधर जंगल-के-जंगल काटे जा रहे हैं । उस जमीनको कल-कारखाने, रेल-विस्तार आदि कार्योंमें लिया जा रहा है । गायोंके चारागाह मिटाये जा रहे हैं । एक सज्जनने लिखा था कि वृक्षोंको काट दिया जायगा तो पहाड़ धँस जायँगे । अतः वृक्षोंका काटना हर दृष्टिसे सर्वथा अनुचित है ।

क्षमा-प्रार्थना

अनय हम सबके बारंबार,
क्षमा करना हे ईश ! उदार।

(१)

तुमने जिसे चित्र-सा खींचा,
देकर स्नेह सँवारा सींचा।
जीवन डाला, पाला निशि-दिन—
हरा-भरा कर दिया बगीचा।
भूल रहा वनमाली ! तुमको—
वह कृतघ्न संसार !
उपेक्षापूर्ण विषम व्यवहार,
क्षमा करना हे ईश ! उदार ॥

(२)

दी जिसको दुर्लभ नर-काया,
सखा मान संतत अपनाया।
दे इन्द्रिय-मन-बुद्धि, जिसे सब—
साधनसे सम्पन्न बनाया।
वहीं तुम्हारी सत्ताको भी—
करता अस्वीकार
दुराग्रह, दुःसाहस दुर्वार,
क्षमा करना हे ईश ! उदार ॥

(३)

क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरण,
जिनसे भावित जगका कण-कण।
होकर तुमसे प्रकट, प्रलयमें—
होते लीन तुम्हींमें तत्क्षण।
रहता है आधेय भला क्या—
कभी बिना आधार ?
समझ पाता यह नहीं गँवार,
क्षमा करना हे ईश ! उदार ॥

(४)

अपने आप विश्वका होना,
मैं कैसे मानूँ अनहोना ?
कारीगरके बिना न बनता—
जब कि एक भी घरका कोना।
घट बनता क्या स्वयं चाकपर—
होता जो न कुम्हार ?
युक्तिपर भी करता न विचार,
क्षमा करना हे ईश ! उदार ॥

(५)

रवि-शशिका आवर्तन देखा,
ऋतुओंका परिवर्तन देखा।
किसी शक्तिके संकेतोंपर—
अग-जगका नित नर्तन देखा।
तब मैं स्रष्टा बिना सृष्टिका
क्यों मानूँ विस्तार ?
असद्वादी है झूठ लबार,
क्षमा करना हे ईश ! उदार ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

महामनाकी ममता

कुछ पुरानी बात है । मैं उस समय बंबईमें रहता था । अमृतसरमें कांग्रेसका अधिवेशन था । लोकमान्य तिलक अध्यक्ष थे । मैं अपने एक तरुण मित्रके साथ बंबईसे अमृतसर पहुँचा । दिसम्बरका अन्त था । उस साल कुछ ही दिनों पहले अमृतसरमें भयानक वर्षा हुई थी । पंजाबकी सर्दी प्रसिद्ध है और इस वर्षाके कारण वहाँ सर्दी बहुत ही बढ़ी हुई थी । हमलोगोंने बंबईमें सर्दी देखी नहीं थी, इससे साधारण कपड़े ले गये थे । दोनोंके पास ओढ़ने-बिछानेके लिये एक-एक चद्दर और एक-एक हल्का-सा कम्बल था ।

अमृतसरमें हमलोग महामना मालवीयजीके डेरेपर जाकर ठहरे । महामनाका मुझपर बड़ा स्नेह था । एक बड़ी धर्मशालामें वे ठहराये गये थे । शायद महात्मा गाँधीजी भी उसीमें ठहरे थे । रातको हमलोग दोनों दो चारपाइयोंपर सो गये । शरीर ठिठुर रहा था । छातीमें पैर दिये पड़े थे । कम्बलसे मुँह ढक रक्खा था । पर बदन काँप रहा था । रातको ९ बजे होंगे । महामना मालवीयजी सबको सँभालते हुए हमलोगोंकी चारपाइयोंके पास आये । मुँह ढके सिकुड़े सोये देखकर उन्होंने पूछा—'कौन हो ? कहाँसे आये हो ? खाया कि नहीं ?' मैंने मुखपरसे कपड़ा हटाया । तुरंत उठकर खड़ा हो गया—चरण-स्पर्श किया । मेरे साथीने भी उठकर चरण-स्पर्श किये । हमलोग काँप रहे थे । उन्होंने मुझे पहचानकर पूछा—'कपड़े कहाँ हैं ?' मैंने कहा—'बिछा-ओढ़ रक्खे हैं न ?' वे बोले—'बस, यही कपड़े हैं ? तुम्हें पता नहीं था क्या यहाँ कितने कड़ाकेका जाड़ा पड़ता है । अमृतसरको बंबई समझ लिया ?' यह कहते-कहते ही उन्होंने उनके साथ आये हुए एक पंजाबी सज्जनसे कहा—'जल्दी आठ कम्बल लाइये ।' फिर पूछा—'खाया कि नहीं ?' मैंने कहा, 'खा लिया ।' फिर बोले—'देखो, तुमने बड़ी गलती की जो मुझसे कहा नहीं, यह तो मैं आ गया, नहीं तो तुमलोगोंको रातको बड़ा कष्ट होता और पता नहीं इसका क्या नतीजा होता । क्यों इतना संकोच किया ?' मैं क्या उत्तर देता । इतनेमें दो-तीन आदमी आठ मोटे कम्बल ले आये । दो-दो कम्बल हमारी चारपाइयोंपर बिछा दिये गये और दो-दो उढ़ा दिये । गरम चाय मँगवाकर दोनोंको पिलायी । जबतक हमलोग चाय पीकर सो न गये, तबतक वे वहीं एक कुरसीपर बैठे रहे । हमलोग उनके जानेपर ही सोना चाहते थे—पर उन्होंने कहा—'तुमलोग ओढ़कर सो नहीं जाओगे—तबतक मैं नहीं जाऊँगा ।' इसलिये हमें सोना पड़ा । उन्होंने हमलोगोंको ही नहीं, वहाँ ठहरे हुए सबको सँभाला—देखा, और सबकी आवश्यकताएँ पूरी कीं । उनकी यह ममता देखकर हमलोग दंग रह गये ।

—एक कृतज्ञ

(२)

गुप्त और मूक सेवा

लगभग तीन वर्ष पहलेकी बात है । मेरे चाचा गाँवमें गुजराती पाठशालाके प्रधान अध्यापक थे । एक बार थोड़ी बरसात होकर बंद हो गयी थी । बीस दिनोंसे आकाशमें कहीं बादल नहीं दिखायी देते थे ।

गाँव जागीरदार राजपूतोंका था । पुरानी प्रतिष्ठा, रूढ़ियोंके बन्धन तथा असह्य महँगीके कारण उनकी स्थिति एकदम शोचनीय हो गयी थी । फिर, अब तो अनाज भी समाप्त हो रहा था । जिनके लेन-देनका व्यवहार था, वे तो महाजनोंसे सवाई (एक मन अनाज लेकर सवा मन देना) पर बाजरी लेकर काम चला रहे थे । परंतु जिनका यह व्यवहार टूट गया था, उन्हें अनाज कौन देता ? अब तो अकालका भय सिरपर सवार था ।

मेरे चाचाजी विचार करने लगे कैसे इन लोगोंकी सहायता की जाय । स्वयं छोटेसे वेतनमें क्या कर सकते थे, गाँवके दूसरे लोग भी हाथ बँटावें तो कुछ किया जाय । परंतु यह राजपूत कौम किसीके सामने हाथ फैलाती नहीं । अन्तमें मेरे चाचाजीने एक रात्रिको खाने-पीनेसे सुखी कुछ लोगोंको इकट्ठा करके कठिन परिस्थितिका उनको परिचय दिया ।

सबने मिलकर यह निश्चय किया कि अपनी-अपनी गली-मोहल्लेके जरूरतमंद लोगोंकी इस तरहसे सेवा की जाय कि उनको पता ही न लगे—रातके समय चुपचाप उनके घरोंमें अनाज रख दिया जाय और इस बातकी चर्चा कभी भी किसीके सामने न की जाय । कुछ दिनोंमें जब वर्षा हो जायगी तब तो कोई चिन्ताकी बात रहेगी नहीं । फिर तो,

खेतोंमें फसल देखकर महाजनलोग अनाज उधार दे देंगे ।

निश्चयके अनुसार काम शुरू हो गया । प्रत्येक गरीबके घरमें आनन्दका वातावरण उत्पन्न हो गया । कुछ लोगोंने रात्रिको छिपकर देखा भी अनाज कौन रख जाता है ।

मेरे चाचाजी आदि इतना ही करके नहीं रह गये, उन्होंने आस-पासके गाँवोंमें भी सेवा करनेवाली संस्थाओंको पत्र लिखकर सहायता करनेके लिये अनुरोध किया ।

फिर तो एक सप्ताह बाद आस-पासके सारे प्रदेशमें अच्छी वर्षा हो गयी और सर्वत्र आनन्दका वातावरण छा गया । (अखण्ड आनन्द)

——सारस्वत

(३)

अमृत-भोजन

मैं एक बार किसी कामसे कलकत्ते गया था । एक दिन एक सज्जन मेरे पास आये । फटा कुरता, मैली धोती, पुरानी फटी-सी जूती । दुपहरीका समय था, सकुचाते—डरते हुए-से मुझसे कुछ दूर पायंदाज (पैर पोंछनेके बिछावन) के पास बैठ गये । मैं एक अन्य सज्जनसे बात कर रहा था । मेरी नजर उनकी ओर गयी । उन्होंने बड़ी विनम्रता, पर संकोचके साथ नमस्कार किया । मानो वे ऐसा मानते हों कि वे नमस्कार करने योग्य भी नहीं हैं । मैंने बदलेमें नमस्कार किया । उनको नजदीक आकर सतरंजीपर बैठनेके लिये कहा, वे नहीं उठे । हाथ जोड़कर बोले—'यहाँ बहुत ठीक है ।' मैंने उठकर उनका हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया । उनके नेत्रोंमें आँसू छलक आये । पहलेवाले सज्जन कुछ देर बात करके चले गये । तब मैंने उनसे पूछा—'भाईजी, आप कैसे पधारे ? कहाँ रहते हैं ?' उन्होंने अपने नाम-जातिका परिचय दिया । मालूम हुआ वे, मेरी ही जातिके अच्छे घरानेके व्यक्ति हैं । फिर उन्होंने कहा—'मैं आया तो था एक कामसे, पर मुझे कहते बड़ा संकोच होता है, डर भी लगता है ।'

मैंने उनसे कहा—'आप जरा भी संकोच न कीजिये । 'आप तो मेरे बड़े भाई हैं, अपना काम बताइये । मुझसे होनेलायक होगा तो मैं अवश्य करूँगा ।' मेरी बात सुनकर उनमें साहस आया, उनके चेहरेपर कुछ आश्वासन तथा आनन्दकी रेखा दिखायी दी । वे बोले—'आप कर सकते हैं, तभी तो आया हूँ । मेरी वृद्धा माता तीन महीनेसे बीमार हैं, वे चल-फिर नहीं सकतीं । पता नहीं क्यों, दो महीने पहले मुझसे उन्होंने कहा—'······से मुझको मिलना है । वे कभी कलकत्ते कभी आवें तो ख्याल रखना और मुझसे मिलाना ।' अब परसों आपके यहाँ आनेका पता लगा, तब माताजीके कहनेपर मैं यहाँ आया हूँ । माताजी आपसे मिलना चाहती हैं—आप पधार सकें तो·····।' मैंने कहा—'जरूर आऊँगा । वे मेरी भी तो माताजी हैं, मुझे उनके दर्शनका सौभाग्य और लाभ प्राप्त होगा ।' मैंने उनका पता नोट कर लिया और दूसरे दिन ११ बजे उनके घर पहुँचनेका समय दे दिया । मैंने उनसे कहा, 'हम शायद तीन-चार आदमी होंगे ।' उन्होंने कहा 'मैं लेने आ जाऊँगा, आपको घर ढूँढ़ना पड़ेगा ।' मैंने कहा—'मुझे सबेरे ही एक जगह जाना है । अतः मैं वहींसे सीधे ही आपके घर आ जाऊँगा, आप न आवें । मैं कलकत्ते रहा हुआ हूँ, इससे आपके घर पहुँचनेमें मुझे कठिनाई नहीं होगी ।' मैंने उन्हें कुछ खानेके लिये कहा । उन्होंने कहा—'अभी खाकर ही आया था ।' फिर थोड़ा जल पीकर वे चले गये ।

दूसरे दिन सबेरे मैं अपने दो मित्रोंके साथ निकला । जहाँ पहले जाना था, वहाँ पहुँचा । वहाँसे एक जगह और गया । लौटते समय कोई जुलूस जा रहा था । रास्ता बंद था । इसलिये रास्तेमें रुकना पड़ा । पहले ही कुछ देर हो गयी थी । हमारी मोटर लगभग एक बजे उनके मकानकी गलीके सामने पहुँची । वे वहाँ खड़े इंतजार कर रहे थे । पूछने पर पता लगा, ढाई घंटेसे खड़े हैं । मुझे बड़ा ही संकोच हुआ । मैंने क्षमा माँगी, वे तो मानो लाजसे गड़ गये । पर उनके चेहरेपर इस बातकी बड़ी खुशी थी कि ये हमारे घर आये हैं । मैं उनके साथ-साथ ऊपर गया । जाकर देखा—एक छोटा-सा कमरा है । सामान प्रायः कुछ भी नहीं है, पर बड़ा साफ-सुथरा है । एक चारपाईपर बुढ़िया माताजी लेटी हैं । उनके पैरोंकी ओर उक्त सज्जनकी धर्मपत्नी खड़ी हैं, एक आठ-दस वर्षका बच्चा भी उनके पास खड़ा है । वे मुझे देखकर बड़ी ही प्रसन्न हुईं । मैंने माताजीके चरणोंमें नमस्कार किया । माताजीकी आँखोंमें आँसू आ गये । कुछ देरके बाद वे आँसू पोंछकर बोलीं—'आप बैठिये । अब मैं सुखसे मर सकूँगी । कई वर्ष पहले मैंने आपका एक भाषण सुना था, तबसे मनमें थी—आपको घर बुलाकर भोजन कराऊँ, पर मेरा भाग्य ऐसा कहाँ था । आप दूर देशमें रहते हैं और हमलोग वहाँ जा नहीं सकते ।

अब बीमार होनेपर तो मेरा धीरज ही टूटने लगा। मैंने लड़केसे कहा—मैं रातदिन आपको याद करती रहती हूँ। 'अबकी आवें तो जरूर मिलाना।' लड़केने कहा—'वे यहाँ बहुत कम आते हैं, और आते भी हैं तो बहुत व्यस्त रहते हैं—तथा हम गरीबोंके घर शायद उनके साथी-संगी उन्हें न आने दें।' मैंने कहा—'जरूर आयेंगे।' अब आज तुम आ गये। सबेरेसे बहूने रसोई बनाकर रक्खी है। तुम खाकर जाओ।' मुझे माताके वचनोंसे बड़ा आनन्द मिला। भूख-प्यास बहुत लग रही थी—फिर मैंने सोचा—ऐसा अमृत-भोजन कहाँ मिलेगा। इसमें जो प्रेमका सुधारस भरा है, वह बड़ा ही दुर्लभ है। मैंने सानन्द स्वीकार किया। उन्होंने बड़ी तैयारी की थी, अवश्य ही वह थी उनके घरके अनुसार ही, पर थी बहुत ही बढ़िया। चावल, दाल, रुखा फुल्का और एक चटनी। उक्त सज्जनकी पत्नीने कहा—'हम गरीब हैं, इससे मिठाई आदि कुछ नहीं बना सके। घी तो घरमें कभी आता ही नहीं।' मैंने कहा—'मिठाई तथा घीमें जो स्वाद है, वह तो जीभ भरका है। आपकी ये चीजें तो जीवनभरके लिये भीतर मिठास भर देनेवाली हैं।' बुढ़िया माता धीरे-धीरे चारपाईसे उतरकर मेरे पास बैठ गयी थी, उनकी पुत्रवधू तो परोस ही रही थी। मेरी बात सुनते ही उन दोनोंके नेत्रोंसे आनन्द तथा स्नेहके आँसू बहने लगे। मैंने हठ करके उक्त सज्जनको तथा बच्चेको भी भोजनके लिये पास बैठा लिया। उन्होंने पाँच पत्तलें परोसीं। हम सबने बड़े आनन्दसे भोजन किया। उस पवित्र भोजनका माधुर्य सदा ही याद आया करता है। जीवनमें शायद दो-चार जगह ही इस श्रेणीका भोजन मिला होगा। उस पवित्र भोजनमें कितना स्वाद था। इसे बतानेके लिये शब्द नहीं हैं। भोजनोपरान्त मैंने उनके पास बैठकर कुछ देर घरू तौरपर बातचीत की। उनकी स्थिति पूछी तो उक्त सज्जनने बताया कि 'मुझे साठ रुपये मासिक वेतन मिलता है, इससे बहुत मजेमें हमारी गुजर हो जाती है; कोई भी कष्ट नहीं है। आवश्यकता ही ज्यादा नहीं, तब कष्ट क्यों होगा। कष्ट तो अभावमें होता है।' उनकी इस बातसे उनपर मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी और मैंने कुछ शिक्षा प्राप्त की। कुछ देर बैठकर बुढ़िया माताको प्रणाम करके हमलोगोंने अपने भाग्यकी सराहना करते हुए उनसे आज्ञा माँगी। उन लोगोंके आनन्दाश्रु बह ही रहे थे। उन्हीं आँसुओंकी पवित्र धाराके साथ उन्होंने हमलोगोंको बिदाई दी। उक्त सज्जन बच्चेके साथ मोटर-तक हमें पहुँचाने आये! इस सच्चे स्नेह एवं सुधापूर्ण भोजनकी जब-जब स्मृति होती है, तभी हृदय आनन्दसे भर जाता है और आँखें गीली हो जाती हैं।

—कल्याण-परिवारका एक सदस्य

(४)

देवी कहाँ गयीं ?

कुछ महीनों पहलेकी घटना है। जामनगरसे लगभग पंद्रह सालका एक लड़का बम्बई गया हुआ था। एक दिन वह सबेरे ७-५५ की गाड़ीसे दादरसे बोरीवली जा रहा था। भीड़ बहुत अधिक थी। वह रेलके डिब्बेके बाहर पाटियेपर लटकता खड़ा था।

लोकल ट्रेन ज्यों ही परेल और करी रोड स्टेशनके बीच पहुँची कि उसके हाथसे पकड़ा हुआ हैंडल छूट गया और वह पूरे वेगके साथ दौड़ती हुई ट्रेनसे फेंका जाकर दूर जा गिरा। दूसरे लोगोंकी चीख पुकारके पहले ही गाड़ी आगे निकल गयी। लड़का फेंका जाकर सामनेकी दूसरी लाइनके ठीक बीचमें पड़ा था।

इसी समय उस लाइनपर भी दूरसे एक लोकल ट्रेन चली आ रही थी। परंतु यहाँ तो एक दूसरी ही घटना हो गयी। वह लड़का जिस डिब्बेसे गिरा था, उसीमें एक युवती मुसाफरी कर रही थी। उसने इस दृश्यको देखते ही तुरंत साँकल खींची। इससे गाड़ीकी चाल कुछ धीमी हुई और गाड़ीके रुकनेसे पहले ही वह युवती नीचे कूदकर, वह लड़का जहाँ लाइनके बीचमें पड़ा था, उधर बड़े जोरसे दौड़ने लगी। ठीक इसी समय एक लोकल ट्रेन भी उसी लाइनपर आगे बढ़ी आ रही थी।

युवती और लोकल ट्रेन दोनोंकी चालमें वेग था। एक-एक पलक मूल्यवान् था। युवती लोकल ट्रेनसे पहले ही वहाँ पहुँच गयी और लाइनके बीचमें पड़े हुए लड़केको उसने उठा लिया—बस, इसी क्षण तुरंत ही वह लोकल वहाँसे निकल गयी। उस समय कुछ क्षणों पहले ही इस बहिनने इतना बड़ा साहस करके यदि लड़केको लाइनके बीचसे उठाकर अलग न किया होता तो उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जाते…।

फिर तो कुछ दूरपर वह लोकल ट्रेन रुकी। इस बहिनने लड़केको उठाया और दूसरी कोई माथापच्ची न करके तुरंत उसे लेकर परेलकी ओर जानेवाली गाड़ीमें सवार हो गयी।

गाड़ी परेलकी ओर दौड़ने लगी । चलती गाड़ीमें इस बहिनने अपनी साड़ीका छोर उस लड़केके घावपर बाँध दिया ।

परेल आते ही वह तुरंत लड़केको लेकर नीचे उतरी और उसे परेलके अस्पतालमें ले गयी । चार बजे लड़केको होश हुआ ।

लड़केकी जेबमें रेलवेका पास और उसका बम्बईका नाम-पता मिला । अतः अस्पतालकी ओरसे उसके सगे-सम्बन्धियोंको सूचना दी गयी । सगे-सम्बन्धियोंके आनेपर लड़केने चारों ओर देखा और पहला ही प्रश्न किया—'वे देवी कहाँ गयीं ?'

परंतु वह तो चली गयी थी । (अखण्ड आनन्द)

—नरभे राम राम ठक्कर

(५)

भगवान् कब पुकार सुनते हैं ?

सच्चे हृदयसे भगवान्को जो याद करता है, उसे वे अवश्य ही सहायता देते हैं । मुझे तो अपने जीवनमें इसका अनुभव बहुत बार हुआ और कभी-कभी तो ऐसी कठिन और विपरीत परिस्थितियोंमें हुआ कि मैं समझ ही न सका कि यह कैसे हो गया और क्षणभरमें ही कुछ-से-कुछ हुआ ।

जीवनकी बहुत-सी उन घटनाओंमेंसे, जिनमें प्रभुने मेरे जीवन, मेरे मान और आत्माकी रक्षा की, एक घटना—जिसमें मुझे मृत्युके द्वारपर पहुँचकर भी कोई क्षति नहीं हुई १९५४ के फरवरी मासमें घटित हुई । मैं आगरासे बम्बई एक्सप्रेस ट्रेनद्वारा अपने धेवतेके साथ यात्रा कर रहा था । सर्दी कड़ाकेकी पड़ रही थी । गाड़ी करीब ४॥ बजे कल्यान स्टेशनपर पहुँची । मुझे सुबह ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठनेकी आदत है । गाड़ी रुकनेपर मैंने नलपर जाकर आँखोंमें छींटे लगाकर नाकसे पानी पीनेकी क्रिया करके शौचके लिये लोटा भरा ही था कि गाड़ी सीटी देकर चल दी । जल्दीमें मैं दूसरे डिब्बेमें घुस गया और उसके शौचालयमें शौचके लिये चला गया । चार-पाँच मिनट बाद ही गाड़ी रुकी । उस समय मैं भी शौचालयसे बाहर आ गया था । यह सोचकर कि मैं एक-दो मिनटमें ही अपने डिब्बेमें पहुँच जाऊँगा, मैं उस डिब्बेसे अँधेरेमें ही उतर पड़ा और अपने डिब्बेकी ओर जाने लगा । अभी मैं मुश्किलसे पंद्रह-बीस कदम चल पाया था कि गाड़ीने सीटी दे दी और चल पड़ी । मेरे सामने एकदम एक फर्स्ट क्लासका डिब्बा आया । उसके फुटबोर्डपर लोटा रख दिया और उसपर चढ़ गया—दोनों हाथोंसे डंडे पकड़ लिये । मैं बीचके खड़ा था और केवल लंगोट तथा एक सूती हुए था ।

गाड़ी एकदम तेज हो गयी और मेरे शरीरको हवा तीरकी तरह लगने लगी । मैंने पहले तो उस डिब्बे खुलवानेके लिये खटखटानेकी सोची, किंतु तुरंत ही यह कर कि फर्स्ट क्लासके यात्री इस खटखटाहटको रातमें सोते हुए सुन भी पायेंगे या नहीं और यदि कोई दरवाजा खोलने आ गया और मुझको इस हालतमें में देखकर धक्का दे दिया तो जीवन ही समाप्त हो जायगा । वहीं खड़ा रहा । गाड़ी और तेज होती गयी और एकके एक स्टेशन आता गया, किंतु गाड़ी रुकी नहीं । फार्मसे तो मेरी टाँगें बिल्कुल लग गयीं और अगर बीचके नीचेके बोर्डपर मेरा पैर होता तो टाँगें कट जातीं । निकलते ही मैं सबसे ऊपरके फुटबोर्डपर खड़ा हो गया ।

यद्यपि अब पैरोंके कटनेका खतरा न था, किंतु शरीरमें उस तेज दौड़ती हुई ट्रेनकी ठंडी हवाको सहन करने की शक्ति शनैः-शनैः कम हो रही थी और हाथ रेलके को सावधानीसे पकड़े रहनेमें असमर्थ हो चुके थे । पंद्रह-बीस मिनट इस हालतमें हो चुके थे । अब मैंने एक हाथको बारी-बारीसे आराम देना आरम्भ किया, एक-एक हाथसे आगे कुछ देर और चल सकूँ ।' अब भी बिल्कुल जवाब दे दिया । मैंने अब भगवान्से आर्तभावसे प्रार्थना की 'कि प्रभो ! अब मुझसे सहन नहीं और यह जीवन आपके चरणोंमें समर्पित है ।' इसके बाद गाड़ी पाँच-दस सेकंड भी और चलती निश्चय गाड़ीसे गिर जाता और मेरा शरीर चूर-चूर जाता; किंतु देखता क्या हूँ कि गाड़ी एकदम खड़ी हो गयी । किस कारण खड़ी हुई, मुझे नहीं ज्ञात मैं तुरंत गाड़ीसे उतरा और आगे एक तीसरे दर्जेके रोशनी देखी—उसको खुलवाकर उसमें बैठ गया । मैंने कर लिया था कि यदि गाड़ी किसी डिब्बेमें बैठने चल देगी तो मैं वहीं रेलवे लाइनके पास रह जाऊँगा । तरह भगवान्ने मेरे जीवनकी रक्षा की और मुझे मुखसे निकाल लिया ।

—श्रीचन्द

श्रीहरिः

दो नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीराधा-माधव-चिन्तन

ग्रन्थकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६६४, सुन्दर-सुन्दर ग्यारह तिरंगे तथा चार इकरंगे—कुल पंद्रह बढ़िया आर्टपेपरपर छपे चित्र, सुन्दर और पुष्ट जिल्द, ऊपरसे बढ़िया जाकेट, मूल्य केवल रु० ३.५०, डाकखर्च १.६५ अलग ।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) ने समय-समयपर व्रज-रसकी माधुरीपर 'कल्याण'में, विशेष अवसरोंपर पढ़े गये व्याख्यानोंमें तथा व्यक्तिगत पत्रोंमें एवं अन्य सत्सङ्ग-समारोहोंमें जो कुछ लिखा और कहा है, उसे एक स्वतन्त्र संग्रहके रूपमें पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात प्रकरणोंमें बाँटा गया है, जिनके शीर्षक हैं—(१) श्रीराधा, (२) श्रीकृष्ण, (३) श्रीराधा-माधव, (४) भावराज्य तथा लीला-रहस्य, (५) प्रेम-तत्त्व, (६) श्रीगोपाङ्गना और (७) प्रकीर्ण । प्रत्येक प्रकरणके आदि और अन्तमें तथा कहीं-कहीं प्रकरणके बीचमें भी प्रतिपाद्य विषयके संग्राहक, ग्रन्थकारके कुछ पद भी दे दिये गये हैं, जिनसे प्रकरणोंमें और भी सजीवता आ गयी है । इस विषयपर ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण, सुगम, सरस और प्रामाणिक विवेचनात्मक ग्रन्थ शायद ही किसी भाषामें लिखा गया हो ।

आशा है कि मधुरभावकी साधना करनेवालोंके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा ।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६२ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द .६२, बढ़िया जिल्द .७५, डाकखर्च .७५ अलग ।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्तपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, भगवत्प्रार्थना, हरिस्मरणका माहात्म्य, अध्यात्म-शिक्षा, सुख-दुःखका कारण कौन है, जीवके दो महान् शत्रु, धनकी सार्थकता, असली जीवन, बार-बार नहिं पाइये मनुष-जनमकी मौज, कुछ जाननेयोग्य उपयोगी बातें—जैसे रेल, डाक, तार, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्यु-कर, पुराने-नये पैसे तथा मेट्रिक माप-तौल आदिकी परिवर्तनसारिणी, दैनिक वेतन तथा मकान-भाड़ेका नकशा, अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्य-रक्षाके सप्त सूत्र, आरती और गीताध्ययनका माहात्म्य भी दिया गया है ।

☞गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है । यहाँ आर्डर देनेके पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये । इससे आपका समय तथा पैसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३३,००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०१८, नवम्बर १९६१

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–मोहन मुरलीधर [कविता] … १२७७

२–कल्याण ('शिव') … … १२७८

३–परमात्मा, जीवात्मा और विश्व (ब्र० जगद्गुरु अनन्तश्री श्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धनमठ, पुरी; अनु०–पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) … … १२७९

४–निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … १२८२

५–सागर-संतरण (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) १२८५

६–श्रीरामका स्वभाव-सौन्दर्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) … १२८६

७–परिवार-नियोजनपर विनोबा (श्रीविनोबा) १२९०

८–जीवेम शरदः शतम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ) … १२९२

९ -श्रीराधा-स्वरूप-गुण-महिमा (श्रीराधाष्टमी-महोत्सव (संवत् २०१८) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण) … १२९४

१०–एक साधकके उद्गार … १३०३

११–त्रिजटाने स्वप्न देखा (श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न) … १३०४

विषय — पृष्ठ-संख्या

१२–आशौच-निर्णय (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) १३०७

१३–सत्य-धर्मका वास्तविक स्वरूप (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … १३११

१४–मानवता [कविता] (विद्यावाचस्पति डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०) … … १३१३

१५–नरक क्या ? [कहानी] (श्री'चक्र') १३१४

१६–उद्धवके प्रति [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') १३१७

१७–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) … १३१८

१८–श्रीरामचरितमानसकी एक अर्धाली (श्रीनर्वदाप्रसादजी वर्मा) … १३२२

१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) … … १३२४

२०–आगामी अष्टग्रही योग (हनुमानप्रसाद पोद्दार) … … १३३१

२१–जहाँ हम सीखने जाते हैं ! … १३३६

२२–सच्चा धनी और सच्चा दरिद्र कौन ? १३३६

२३–पढ़ो, समझो और करो … १३३७

२४–नित्य परम आनन्द छा गया [कविता] १३४०

चित्र-सूची

१–मा लक्ष्मी … … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ

२–मोहन मुरलीधर … … (तिरंगा) … १२७७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

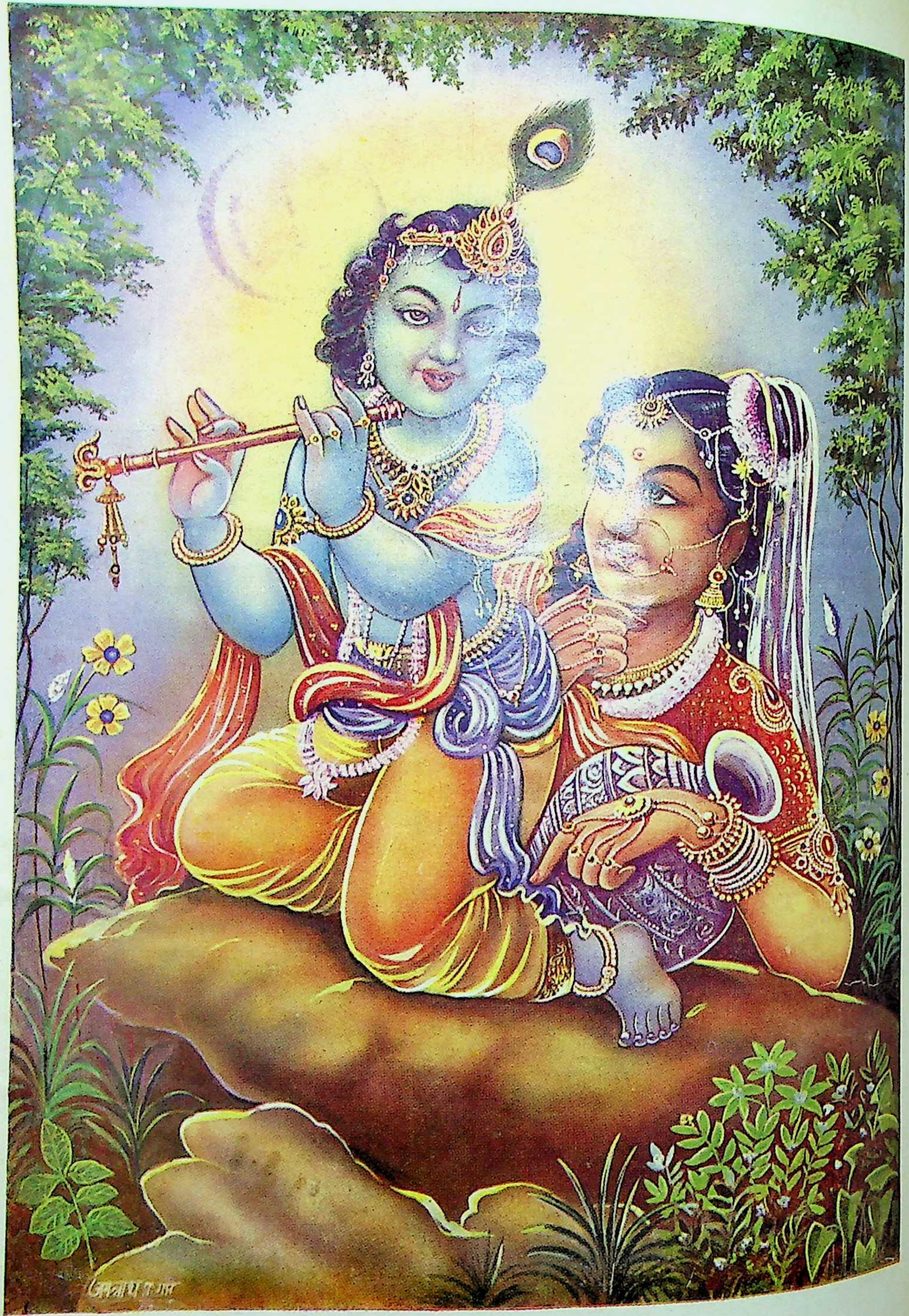

मोहन मुरलीधर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१८, नवम्बर १९६१ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ४२०

मोहन मुरलीधर

यमुना-तट-संनिकट कुंजमें मृदुल शिलापर मोहन श्याम ।
बैठे, रूप-छटा बिखराते, बजा रहे वंशी अभिराम ॥
सजी-सजायी चली जा रही गोपी ले करमें मटकी ।
जल भरने, सुन मुरली ध्वनि, वह रही राहमें ही अटकी ॥
खिंची लौह-चुंबक-सी मुनि-मन-मोहन मुख-माधुर्य निहार ।
जो बैठी, विमुग्ध विस्मित-सी भूल भवन-तन-मन-संसार ॥
भरा अमित आमोद हृदयमें, उपजा मन मधुमय अभिलाष ।
बैठी रहूँ सदा, यों ही बस, मुग्ध हुई मोहनके पास ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम मनुष्य हो, भगवान्ने तुमको भविष्यके अच्छे-बुरे सोचनेकी बुद्धि दी है, विवेक दिया है। भगवान्के दिये हुए उस विवेकके द्वारा अच्छे-बुरेका यथार्थ निर्णय करके अच्छेका ग्रहण और बुरेका त्याग करो। तभी तुम्हारे विवेकका सदुपयोग तथा संरक्षण होगा और विवेकके सदुपयोग तथा संरक्षणसे ही तुम्हारी मानवता सिद्ध होगी।

याद रक्खो—विवेकसे रहित मनुष्य, काम-क्रोध-लोभके वेगसे ग्रस्त होकर पशु या पिशाच बन जाता है। कहीं-कहीं तो वह पशु तथा पिशाचके स्तरसे भी आगे बढ़कर इतना मूढ़ और इतना भयंकर बन जाता है कि महान् राक्षस भी उसकी समता नहीं कर पाता, वह अपने तथा जगत्के अमङ्गलमें कारण महान् पापका समुद्र बन जाता है।

याद रक्खो—मनुष्यके पास जो बुद्धि है, वह जब विपरीत निर्णय देनेवाली तथा विपरीत मार्गपर चलानेवाली बन जाती है, तो फिर उस मनुष्यके समस्त साधन उसके लिये भयानक पापके साधन बन जाते हैं। जिन ज्ञान-विज्ञानके आविष्कारोंसे, जिन भौतिक तथा दैविक सामग्रियोंसे वह समस्त जगत्की सेवा करके सबको सुख पहुँचाकर परिणाममें अपना परम कल्याण कर सकता है, अविवेकके कारण काम-क्रोध-लोभपरायण मनुष्य उन्हीं ज्ञान-विज्ञानके साधनोंसे, उन्हीं भौतिक तथा दैविक सामग्रियोंसे अपने मिथ्या लाभकी कल्पनासे अहंकारमें भरकर समस्त जगत्के विनाशकी बात सोचता है और फलतः स्वयं जीवनभर अशान्ति तथा चिन्ताकी आगमें जलता हुआ बुरी तरह मरता है और मरणोत्तर भीषण नरक-यन्त्रणा भोगने एवं बार-बार आसुरी योनियोंमें जन्म लेनेको बाध्य होता है। यह सब विवेक नष्ट होनेका ही कुपरिणाम है।

याद रक्खो—काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। विवेकमें शिथिलता आते ही इनकी प्रबलता बढ़ जाती है। फिर ये रहे-सहे विवेकको भी नष्ट कर देते हैं। तब मनुष्य बुद्धिका दुरुपयोग करके अपने सहज प्राप्त साधनोंके द्वारा अन्य सबके विनाशकी बात सोचता है और योजना बनाता है। हिंसावृत्तिवाले हिंसक पशु सिंह, बाघ, साँप आदि तो सामने आये हुए जीवकी ही हिंसा करते हैं, वे योजनापूर्वक हिंसा नहीं करते, वे योजनापूर्वक विषय-संग्रहका प्रयास नहीं करते। पर मनुष्य योजना बनाना जानता है और उसके पास योजनाके अनुसार कार्य करनेके साधन भी हैं; ऐसा शक्तिमान् मनुष्य जब अपनी बुद्धि तथा प्राप्त साधनोंको अमङ्गलमें मङ्गल मानकर अमङ्गल-साधनमें ही लगा देता है, तब वह पशु तथा पिशाचसे भी कितना अधिक आगे बढ़ जाता है, अपने तथा जगत्के लिये कितना अहितकर—कितना शत्रु होता है। इसपर गहराईसे विचार करो।

याद रक्खो—मानव-जीवन प्रभुकी प्राप्तिके लिये है, भोगोंके लिये नहीं। पाप-साधन करके अपना अमङ्गल करनेके लिये तो कदापि नहीं। इस बातको सोच-समझकर विवेकका संरक्षण और सदुपयोग करो तथा मानव-जन्मके असली लाभ परमात्मा या भगवत्प्रेमको प्राप्त करके जीवनको सफल बना लो।

'शिव'

परमात्मा, जीवात्मा और विश्व

(मूल अंग्रेजी लेखक--ब्र० जगद्गुरु अनन्त श्रीश्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धनमठ, पुरी)

[अनुवादक--पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

[गताङ्क पृष्ठ १२१७ से आगे]

तो फिर क्या बुद्धि ही जीवात्मा है ? इस प्रश्नके उत्तरसे पहले एक उदाहरणद्वारा बुद्धि और मनके भेदको स्पष्ट करना चाहते हैं । कल्पना कीजिये कि मैं कुछ कागजातोंको प्रमाणित करानेके लिये सब-रजिस्ट्रारके पास जाता हूँ, जिसका काम ही कागजातोंको प्रमाणित करना है । मैं उसके पास जाता हूँ और ठीक तरहसे ठीक समय और ठीक स्थानपर प्रमाणित करनेके लिये निर्धारित फीस भी दे देता हूँ और कागजातोंको उसके सामने रख देता हूँ । सब-रजिस्ट्रार उन कागजातोंसे संतुष्ट होकर उन्हें प्रमाणित भी कर देता है । वे मेरे कागजात कुछ ऐसी सम्पत्तिको बेचनेके विषयमें हैं, जो कि मेरी नहीं है और जिसे बेचनेका अधिकार भी मुझे नहीं है, तो भी सब-रजिस्ट्रार उन कागजातोंको प्रमाणित कर देता है और वह मेरे कामकी अच्छाई या बुराईसे सम्बन्धित नहीं होता । पर जब मुझसे कागजात लेनेवाला आदमी (जिसने सम्पत्ति मुझसे खरीदी है) अपनी खरीदी हुई सम्पत्तिपर अधिकार करने जाता है, तब उस सम्पत्तिका वास्तविक मालिक आपत्ति करता है । जब पहला मनुष्य उन प्रमाणित हुए कागजातोंको मालिकके सामने प्रस्तुत करता है, तब मालिक कहता है कि 'वह मनुष्य जिसने तुम्हें यह सम्पत्ति बेची है, एक ठग है और तुम एक मूर्ख हो । जाओ, अदालतमें दावा करके अपने इन कागजातोंको अदालतसे प्रमाणित कराओ ।' इसपर वह अदालतमें जाता है, पर तब इस मामलेमें निर्णय देनेवाले सब-रजिस्ट्रारद्वारा प्रमाणित हुए कागजात नहीं होते, अपितु जज होता है, जो कि मामलेकी सत्यता और असत्यतापर विचार करके निर्णय देता है । जो भेद यहाँ सब-रजिस्ट्रार और न्यायाधीशमें है, वही भेद मन और बुद्धिमें है । मन हमारे शरीरका अङ्ग है और वह हर चीजको, जो हमारी इन्द्रियोंसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं, प्रमाणित कर देता है और बादमें बुद्धि उस पदार्थके गुण-दोषका विवेचन करके अपना निर्णय देती है । उदाहरणके लिये, हम किसी शब्दको सुन भी लें और उसीके साथ उसका निर्णय भी कर दें, ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते । इसलिये हम पहले सुनते, चखते, बोलते, देखते और अन्यान्य काम करते हैं । वह अन्तरिन्द्रिय, जिसके द्वारा हम ये सब काम करते हैं, मन कहाता है । जिस प्रकार सब-रजिस्ट्रारका काम कागजातोंको प्रमाणित करना मात्र है, उसी प्रकार आँख, नाक आदि बाह्येन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले बाह्यज्ञानका संग्रह करना मनका काम है । इस मनके पास कभी-कभी ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा ज्ञान पहुँचता है और कभी-कभी सीधा ही, जैसे कि स्वप्नमें जब सारी इन्द्रियाँ सो जाती हैं और मन स्वप्न देखता रहता है, जब हम उठते हैं तो कहते हैं कि हमने स्वप्न देखा । इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें भी मन काम करता है और बाह्य इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही अनेक प्रकारके ज्ञानोंका संग्रह करता रहता है । यद्यपि उस समय भी वे ज्ञान बाह्य प्रतीत होते हैं पर वे वास्तवमें अचेतन और चेतन मनकी अपनी उत्पत्ति हैं । जब मन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें अनेक ज्ञानोंका संग्रह कर लेता है, तब बुद्धि उन ज्ञानोंकी सत्यता-असत्यता, अच्छाई-बुराईका निर्णय करती है ।

तब क्या यह बुद्धि ही आत्मा है ? नहीं; क्योंकि हम कभी-कभी कहते हैं कि 'इसकी सच्चाईको जाननेके लिये मैं अपनी सारी बुद्धि लगा दूँगा' यहाँपर भी हमारे इस कथनसे सिद्ध होता है कि बुद्धि भी हमारी सम्पत्ति ही है, सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं । इसलिये बुद्धि भी आत्मा न होकर आत्माकी सेविका है ।

इस प्रकार विचार करते हुए गहराईमें जाकर हम उस तत्त्वपर जा पहुँचते हैं, जो इस सभी सम्पत्तिका वास्तविक मालिक है और जिसको हम 'मैं' या 'आत्मा'के नामसे पुकारते हैं । दूसरे शब्दोंमें आत्मा वह है, जिसका सम्बन्ध हम 'मैं' और 'मेरा'के रूपमें संसारके सभी पदार्थोंसे जोड़ते हैं और जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी तत्त्वोंका स्वामी है । पर खेद है कि यह स्वामी होते हुए भी कभी-कभी इन्द्रियोंका दास बन जाता है । अस्तु ! इस सभी सम्पत्तिका वास्तविक स्वामी आत्मा ही है ।

आत्माका लक्षण और स्वरूप

इस प्रकार आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके बाद अब हम उसके लक्षण और स्वरूप अर्थात् उसके तात्त्विक गुणों (Essential Qualities) का विचार करते हैं । यदि हम उसके गुणोंकी खोज कर लें तो 'हम कहाँसे आये हैं और अन्तमें कहाँ जायँगे' इस प्रश्नका उत्तर हमें मिल जायगा । इस मंजिलपर पहुँचनेके कई मार्ग हैं, पर यहाँ हम उन्हीं विचार और समाधिके मार्गका विवेचन करेंगे, जिसका अनुभव हम कर चुके हैं । ये अनुभव, मुझे आशा है कि इस मार्गपर चलनेवाले जिज्ञासुओंके लिये उनके मार्गको प्रशस्त करेंगे ।

प्रारम्भ करनेके लिये हम सबसे पहले लक्षणके लक्षण (Definition of Definition) पर विचार करेंगे, जिससे कि जिज्ञासु लक्षण, उपलक्षण और उपाधिको एक या पर्यायवाची शब्द समझनेकी महान् भ्रान्तिसे बच जायँ ।

लक्षण पदार्थका उससे पृथक् न होनेवाला स्वाभाविक (Inherent) गुण है और उपलक्षण वह गुण है, जो स्वाभाविक न होकर बाह्य वातावरणके प्रभावके कारण उसमें आ जाता है तथा थोड़े समयके लिये उस पदार्थके स्वाभाविक गुण-सा प्रतीत होने लगता है । उदाहरणके लिये मैं अपने मकानमें हूँ और अपने एक मित्रको, जो उसी गलीमें रहता है, एक पुस्तक देनेके लिये अपने नौकरको भेजता हूँ । यदि वह नौकर मित्रका घर नहीं जानता और मुझसे उसके बारेमें जानना चाहता है तो उसे मैं अपने मकानकी छतपर ले जाता हूँ और उसी गलीमें दो-तीन घरोंके बाद एक घरकी ओर इशारा करके कहता हूँ 'वह देखो, जिस घरपर कौवा बैठा है, और जिस घरके सामने तीन आदमी बात कर रहे हैं, वही घर है, जाओ' और नौकर यह कहकर कि 'जी हाँ, मैं समझ गया' पुस्तक लेकर उस घरकी ओर चल देता है । पर इसी बीच ऐसा होता है कि उस घरपरसे कौवा भी उड़ जाता है और आदमी भी चले जाते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि उनके साथ घर भी गायब हो गया । वह क्षणिक वर्णन तो घरकी पहिचान करानेके लिये था । पर उस घरकी पहिचान क्षणिक नहीं होती, अपितु स्थायी हो जाती है । फिर कभी नौकरको दुबारा मित्रके पास भेजते समय उस घरकी पहिचान करानेकी जरूरत नहीं पड़ती । पर मैंने जो कुछ नौकरको बताया, वह उस घरका लक्षण नहीं था । वह तो आकस्मिक था कि कौवा और आदमी वहाँ थे और वे मेरे लिये उस घरकी पहिचान करानेके साधन बने । मैंने उस आकस्मिकताका लाभ उठाया । यह आकस्मिक पक्ष उस घरका उपलक्षण था (जो उतने समयके लिये लक्षण-सा प्रतीत हो रहा था) ।

ज्ञान करानेका तीसरा साधन है—उपाधि । यह न थोड़े समयके लिये सत्य प्रतीत होता है, न बहुत समयतकके लिये । जैसे कि एक बच्चेसे, जो चन्द्रमा जानना चाहता है, मैं कहता हूँ कि 'देखो बच्चे ! वहाँ जो पेड़ है उसकी दो डालियोंके बीचमें जो एक सफेद-सफेद गोल-सी चीज चमक रही है वही चन्द्रमा है ।' बच्चा मेरे कहनेको समझ लेता है और चन्द्रमाको पहिचान लेता है । मैं वर्णन करते समय भी यह अच्छी तरह जानता हूँ कि चन्द्रमा वास्तवमें उन दो डालियोंके बीचमें न होकर उनसे हजारों मील दूर है । यह मेरा कथन यद्यपि उस समय भी गलत है, पर बच्चेके लिये सच मालूम पड़ता है और यह प्रतीत होनेवाली सचाई उस बच्चेको चन्द्रमाका ज्ञान करा देती है । अगले दिन बच्चा चन्द्रमाको, वह चाहे कहीं भी हो, पहिचान लेता है ।

इस प्रकार ज्ञानके साधन-लक्षणके तीन प्रकार हैं—(१) लक्षण (जो स्वाभाविक और स्थायीरूपसे सत्य होता है), (२) उपलक्षण (जो आकस्मिक एवं अस्थायीरूपसे सत्य होता है), (३) उपाधि (जो आकस्मिक होता हुआ भी नितान्त असत्य होता है) । इन तीनों ही तरीकोंसे हम आत्मा या अन्य पदार्थका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, पर आत्माका ज्ञान प्राप्त हो जानेके बाद हमें उपलक्षण और उपाधिको छोड़कर उसके सत्यस्वरूप या सत्य लक्षणको अपनाना पड़ेगा ।

आत्मविषयक ज्ञान कैसे हो ?

आत्माके वास्तविक लक्षण या गुणोंको जाननेके भी कई तरीके हैं । पर सबसे अधिक सरल दो ही तरीके हैं—(१) विश्लेषणात्मक (Analytical) और (२) संश्लेषणात्मक (Synthetical) । हम इन दोनोंपर विचार करेंगे—

विश्लेषणात्मक प्रकार

विश्लेषणात्मक तरीका वह है, कि जिससे हम धीरे-धीरे उपाधि और उपलक्षणोंको छोड़ते हुए एक पदार्थके सच्चे लक्षणपर पहुँचते हैं । उदाहरणके लिये—यद्यपि हमने पानीके उष्णत्व और शीतत्व दोनोंका ही अनुभव किया है, पर शास्त्र हमें यही बताते हैं कि पानीका स्वाभाविक गुण शीतत्व ही है । क्यों ? क्योंकि पानीके उष्णत्वका अनुभव करते हुए भी हम

यह जानते हैं कि उष्णत्व पानीका अपना गुण नहीं है, अपितु आगके या सूर्यकी किरणोंके कारण यह पानी गरम हो गया है। और जब एक ऐसे स्थानपर जाते हैं, जैसा उत्तर गुजरातके वीरमगाँव, और वहाँ हम गरम पानीका एक तालाब देखते हैं, तो हम उसी समय पूछते हैं कि 'यह पानी गरम क्यों है ?' यह हमारा 'क्यों' शब्द ही इस बातको प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है कि उष्णत्व पानीका स्वाभाविक गुण नहीं है। हमें उसका कारण बताया जाता है कि नीचे गन्धकके स्रोत हैं, जो पानीको गरम बनाये रखते हैं। यह कारणका बताना ही इस बातका निदर्शक है कि शीतत्व ही पानीका स्वाभाविक गुण है। बाह्य उपकरणोंसे उसका ठंडापन नष्ट हो जाता है और उसमें उष्णत्व आ जाता है। इसमें दूसरा प्रमाण भी है कि यदि गरम पानीको आगपरसे उतारकर नीचे रख दिया जाय तो वह धीरे-धीरे ठंडा होता चला जायगा और अन्तमें बिल्कुल ही ठंडा हो जायगा। इससे ज्ञात होता है कि पानीको गरम होनेके लिये किसी बाह्य कारण या साधनकी आवश्यकता होती है, पर उसके ठंडे होनेके लिये किसी भी बाह्य कारणकी जरूरत नहीं होती। इसलिये पानीका उष्णत्व, उपर्युक्त उदाहरणमें कौवेके समान, उपलक्षणमात्र है। इसी प्रकार यदि किसी ताँबेके बर्तनको खटाईसे चमकाकर ऐसे स्थानपर रख दिया जाय, जहाँपर धूल आदि कुछ भी न पहुँच सके, तो भी कुछ समयके बाद वह अपने आप काला और गंदा हो जायगा। क्यों ? क्योंकि कालापन उस बर्तनका स्वाभाविक गुण है। ये सभी उदाहरण यह बताते हैं कि किसी पदार्थके स्वाभाविक गुणमें 'क्यों' के लिये कोई स्थान नहीं रहता। यदि किसी पदार्थका स्वाभाविक गुण किसी शक्तिशाली बाह्य साधनसे दबा भी दिया जाय तो कुछ समय बाद उसका स्वाभाविक गुण स्वयं बाहर प्रकट हो जायगा। इस विचार-सरणीके द्वारा हम आत्माके स्वरूपका ज्ञान कर सकते हैं और वेदान्तके शुद्ध सत्यकी पुनः स्थापना कर सकते हैं।

संश्लेषणात्मक प्रकार

इस प्रकारको हम उद्देश्यात्मक प्रकार (Teleological Method) भी कह सकते हैं। यह तरीका बहुत सरल है, इसके द्वारा साधारण आदमी भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके द्वारा भी हम आत्माके स्वरूपका परिज्ञान कर 'यह कहाँसे आयी और इसका उद्देश्य क्या है ?' इस प्रश्नको हल कर सकते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्में इस मार्गका वर्णन है। बालक भृगु (जो बादमें महर्षि भृगुके नामसे प्रसिद्ध हुए) अपने पिता वरुणके पास जाकर यही प्रश्न पूछते हैं और वरुण इस प्रश्नका उत्तर लंबी-चौड़ी व्याख्यामें न देकर संक्षेपमें देते हैं। उसी संक्षिप्त उत्तरके आधारपर आगे खोज करनेकी प्रेरणा भृगुको देते हैं। वह संक्षिप्त उत्तर निम्न था—

> 'जिससे इस सारे विश्वकी उत्पत्ति हुई है, जो इस विश्वका पोषण करता है और अन्तमें यह विश्व जिसमें विलीन हो जाता है, वह कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता एक ही है अर्थात् ब्रह्म।'

उपर्युक्त विषयको स्पष्ट करनेके लिये अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे कि एक बीज भूमिसे ही पैदा होता है, भूमिसे ही पोषण प्राप्त करता है और अन्तमें भूमिमें ही मिल जाता है।

इसी विषयको मछलीके उदाहरणसे भी स्पष्ट किया जा सकता है। साधारणतया सभी मनुष्य यह जानते हैं कि एक मछलीको पोषक तत्त्व पानीसे ही प्राप्त होता है, पर कल्पना कीजिये कि किसी मनुष्यको इस तथ्यका पता नहीं है और वह अचानक एक ऐसी मछलीको देखता है जो एक नदीके किनारेपर पड़ी तड़प रही है, फिर वह यह सोचकर कि एक कष्ट अनुभव करनेवाले मनुष्यके कष्ट जिन साधनोंसे दूर हो जाते हैं, उन्हीं साधनोंसे इसके भी कष्ट दूर हो जायँगे, उसे अपने घरपर लाता है, बिस्तरपर सुलाता है, पर देखता है कि उस मछलीका कष्ट दूर नहीं हुआ है तब वह फिर नदीपर जाता है तथा गुस्सेमें आकर उस मछलीको नदीमें फेंक देता है। पर वह मनुष्य आश्चर्यसे देखता है कि वही मछली, जो मुलायम बिस्तरेपर भी पड़ी तड़पती रही, अब पानीमें खुश होकर तैर रही है। इन सब प्रयोगोंसे वह किस निष्कर्षपर पहुँचेगा ? इसीपर कि पानी ही मछलीका पोषक तत्त्व है। यह पानीसे ही उत्पन्न होती है और पानीसे ही पुष्ट होती है।

इस उदाहरणसे हम यह अनुमान आसानीसे लगा सकते हैं कि जिसके बिना हम सुखी नहीं रह सकते, वही हमारा स्वाभाविक पोषकतत्त्व है। यही उद्देश्यात्मक प्रकार (Teleological Method) है। इसके द्वारा भी हम अद्वैत-सिद्धान्तकी स्थापना कर सकते हैं। अब हम आगे इन तरीकोंके आधारपर आत्माके स्वरूपके परिज्ञानका प्रयत्न करेंगे।

(क्रमशः)

निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण किसी भी स्वरूपके निरन्तर स्मरणके समान कोई भी साधन नहीं है। यह साधन बहुत ही सुगम है। इस साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। यदि इस मनुष्य-जन्ममें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो बड़ी भारी हानि है, महान् भयकी बात है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब बड़ी भारी हानि है।'

क्योंकि मनुष्य भगवान्‌के सिवा किसी भी प्राणी या पदार्थका चिन्तन करता हुआ मरता है तो उसकी दुर्गति होती है। मरनेके समय जिस मनुष्य, पितर, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिका चिन्तन करता हुआ मरता है वह उसीको प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८।६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

हमें यह पता नहीं कि हमारी मृत्यु कब होगी। यदि अचानक मृत्यु हो गयी और मरणकालमें भगवान्‌की स्मृति नहीं रही तो बहुत ही खतरेकी बात है। इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारे काम करने चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि हम हर समय भगवान्‌का स्मरण करते रहेंगे तो हम अवश्य ही भगवान्‌को प्राप्त हो जायँगे। अतएव एक क्षण भी भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये।

शरीर और इन्द्रियोंसे आप जो कुछ कर रहे हैं, वही करते रहिये पर केवल मनसे भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन न कीजिये। यों तो मनुष्य स्वाभाविक ही दो काम बराबर करता रहता है, जैसे शौच-स्नान, खान-पान आदिकी क्रिया इन्द्रियोंसे होती रहती है और मन दूसरा ही व्यर्थ चिन्तन करता रहता है; किंतु हमारी प्रार्थना यह है कि आप जैसे शौच-स्नानादिकी क्रिया तथा जीविकाके लिये व्यापार आदिकी क्रिया शरीर एवं वाणी आदि इन्द्रियोंसे करते आये हैं, वही करते रहिये; किंतु भगवान्‌को कभी मत भूलिये। सांसारिक कार्यमें कहीं कमी भी आ जाय या दोष भी आ जाय तो उसका सुधार भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे हो सकता है; क्योंकि कैसा भी पापी क्यों न हो भगवान्‌की अनन्यभक्तिसे उसका सुधार होकर उद्धार हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९।३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

इससे यह समझना चाहिये कि दोषोंका नाश तो भगवान्की अनन्य भक्तिके प्रभावसे अनायास ही हो सकता है, किंतु अनन्य भक्तिमें कमी रह जायगी तो बड़ी भारी हानि है; क्योंकि उसकी पूर्ति अपने-आप सम्भव नहीं।

अतएव जिस कार्यके लिये हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है, उसी काममें इसको लगाना चाहिये। ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि और विचार दिया है, उसको सार्थक करना चाहिये एवं इस मोहनिद्रासे सचेत होकर महापुरुषोंके पास जाना चाहिये तथा उनसे उस जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको जानकर अपना कल्याण करना चाहिये। कठोपनिषद्में बताया गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
(१।३।१४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे जानने योग्य परमात्मतत्त्वको समझो।'

इसलिये मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही परमात्माकी प्राप्तिरूप कार्यको सिद्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
(गीता ९।३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही स्मरण कर।'

यदि भगवान्के निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करते हुए देहपात भी हो जाय तो भी कल्याण ही है, किंतु भगवच्चिन्तनके बिना देहपात होनेके बाद पश्चात्ताप करनेसे कोई काम नहीं सिद्ध होता।

अतः शरीरके रहते-रहते ही अपने कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। नहीं तो, आग लगनेके बाद कुआँ खोदनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। वैसे ही पीछे यहाँ भी कुछ नहीं होगा।

श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥
(वैराग्यशतक ८६)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयुका भी क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?'

भोजराज कहते हैं—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति॥

'मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमभरी बोली बोलनेवाले हैं, कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज घोड़े हिनहिना रहे हैं; किंतु आँखोंके मुँद जानेपर कोई अपना नहीं रहता।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जुरे, मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते॥

भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते ॥
(कविता० उत्तर० ४४)

मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमादी और मूर्ख भी है। जैसे बालक विद्याका अभ्यास छोड़कर खेल-कूदमें चला जाता है; क्योंकि उसे खेल-कूदमें ही रस आता है; किंतु जब वह बड़ा होता है और उसमें समझ आ जाती है तब वह पश्चात्ताप करता है कि बालकपनमें मैंने खेल-कूदमें समय बिता दिया, विद्याका अभ्यास नहीं किया, यह मेरी बड़ी मूर्खता हुई। किंतु उस पश्चात्तापसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य निरन्तर भगवान्का चिन्तन न करके विषयभोगोंमें, व्यर्थ कार्योंमें और पाप-कार्योंमें रस लेता है, उसको भी घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥
(राम० उत्तर० ४३)

श्रीसुन्दरदासजी भी कहते हैं—

तू कछु और बिचारत है नर तेरो बिचार धर्‌यौ ही रहैगौ।
कोटि उपाय करै धनकै हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगौ ॥
भोर कि साँझ घरी पल माँझ सु काल अचानक आइ गहैगौ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत सुंदर यों पछिताइ कहैगौ ॥
(सुन्दर-विलास अंग ३ पद ७)

हमलोग थोड़ा विचार करके देखेंगे तो हमलोगोंका मनसे भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा शास्त्र और सत्संगके द्वारा भक्ति-ज्ञान, वैराग्य-सदाचार आदि अध्यात्मविषयका पठन, श्रवण और मनन करना आदि सात्त्विक कार्यरूप परमार्थमें बहुत ही कम समय बीतता हुआ मिलेगा; किंतु हमारे समयका कुछ हिस्सा तो स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि राजस कार्यरूप स्वार्थमें बीतता हुआ मिलेगा एवं अधिकांश समय मूर्खताके कारण निद्रा, आलस्य, प्रमाद और पाप आदि तामस कर्मरूप अनर्थमें ही बीतता मिलेगा। इसलिये भगवान्ने जो हमको बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है उसके द्वारा मनको समझाना चाहिये एवं उसे राजस-तामस रूप स्वार्थ और अनर्थके कार्योंसे हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर परमात्माके चिन्तनरूप परमार्थमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनको परमार्थमें लगाना ही उसका सदुपयोग है और इसके विपरीत लगाना ही उसका दुरुपयोग है। मनका स्वभाव बहुत ही गिरा हुआ है, उसका सुधार भगवान्का आश्रय लेकर अतिशय तत्परतासे प्रयत्न करनेपर ही भगवान्की कृपासे हो सकता है।

इस समय हमको सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। अध्यात्मविषयकी उन्नतिके लिये यह भारतवर्ष उत्तम देश है। तथा जिसमें अल्पकालके साधनसे ही शीघ्र कार्यकी सिद्धि हो जाती है—ऐसा यह उत्तम कलिकाल है। ऐसे उत्तम देश-कालमें भगवान्ने कृपा करके हमको मनुष्य-शरीर दे दिया और भजन-ध्यान करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ दे दीं। इस समय अध्यात्म-विषयक पुस्तकें भी कम मूल्यमें प्राप्त हो जाती हैं। ये उत्तम पुरुषोंका सङ्ग भी प्राप्त हो सकता है। ये सब संयोग पाकर भी यदि हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और शोककी बात है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥
(राम० उत्तर० ४४)

अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये और पतनकारक काम, क्रोध, लोभ, भय, दर्प, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आसक्ति और अज्ञानके वशमें होकर एक क्षण भी परम सुहृद् भगवान्को

नहीं भूलना चाहिये । वैराग्ययुक्त भावसे त्रिलोकीके ऐश्वर्यको ठुकराकर केवल एक भगवान्का ही प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना चाहिये । हमारे लिये इसके समान और कोई भी परम उपयोगी कार्य नहीं है । तब हम दूसरे काममें एक क्षण भी अपने चित्तको क्यों लगायें ? इसलिये चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय भगवान्को याद रखनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये तथा जप-ध्यान, संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेके समय तो उनके अर्थ और भावको अच्छी तरह समझकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे गुण और प्रभावयुक्त भगवान्के स्वरूपका मनसे निरन्तर चिन्तन विशेषतासे होना ही चाहिये । रात्रिमें सोनेके समय भी विशेषतासे भगवान्को याद करते हुए ही सोना चाहिये । इससे हमारा रात्रिका शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो सकता है; क्योंकि मनुष्य १८ घंटा जिस कार्यका अभ्यास करता है, रात्रिमें ६ घंटे स्वप्न-सुषुप्तिके भी प्रायः वैसे ही बीतते हैं । अतः लाख काम छोड़कर यही काम करें कि— भगवान्को कभी न भूलें । भगवान्की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंका और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश होकर भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है । श्रीभागवतकार कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(१२ । १२ । ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है । उसीके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्की भक्ति एवं विज्ञान-वैराग्यसे युक्त भगवान्के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।'

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥
(२ । २ । ३६)

'इसलिये परीक्षित् ! सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे सब समय, सब परिस्थितियोंमें सब प्रकारसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें ।'

* * *

सागर-संतरण

आस्थामें जो बाल-सी दरार पड़ती कभी-कभी दिखायी दे जाती है,
जब वह भी बंद हो जायगी,
तभी—
सोचता हूँ,
उच्छ्वसित सागरमें तैरना बंद होगा ।
तब भी—
सागर-संतरण होता रहेगा, पर चलते चरण-तल स्पर्श करेंगे, प्रत्येक पगपर, नारायण-नाभि-उद्भूत अरुणाभ अम्बुजकी मधुर-मधुरतम, स्निग्ध-स्निग्धतम पंखुड़ियाँ ।
अछोर अम्बुधिके सतत-कर्दम-कर्कट उबालते, उभाड़ते, गर्जन-तर्जन-भयद भँवर-चक्र तो उछल-उछलकर भी उन पंखुड़ियोंको नहीं छू पाते; कँवल-नालके चारों ओर ही चक्कर खाते रहते हैं, सिर पटकते रहते हैं ।

—बालकृष्ण बलदुवा

श्रीरामका स्वभाव-सौन्दर्य

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

तीर्थपति समुद्रके तटपर विराजमान भगवान् श्रीरामजीकी शरणमें श्रीविभीषणजी आये, वे सर्वलोकशरण्य श्रीरामजीके स्वभावके ज्ञाता थे; इससे महान् विश्वासपूर्वक शरणागति करके कृतार्थ हुए। परमार्थ पक्षमें श्रीविभीषणजी जीवोंके प्रतीक हैं; यथा—

'जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन
बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।'

(विनयपत्रिका ५८)

विभीषणकी शरणागतिपर वहाँके उपस्थित अन्य पार्षदों एवं बहुत कालसे बिछुड़े हुए भविष्यके जीवोंके प्रति स्वामी श्रीरामजीके हृदयमें वात्सल्य उमड़ आया, तब आपने स्वयं अपने स्वभावके सौष्ठवका वर्णन किया है, कि जिससे सभी लोग उसे जानकर विश्वासपूर्वक शरण होकर कृतार्थ हो जायँ; यथा—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(रामचरितमानस सुं० ४७)

'जौं नर होइ चराचर द्रोही।……'—यहाँ श्रीरामजीने अपने स्वभावज्ञाताओंकी साक्षी देकर कहा है कि चराचरमात्रके द्रोहका पापी भी, यदि वह अपने पापोंसे भयभीत होकर मेरी शरण आ जाय। 'तकि मोहीं' अर्थात् विश्वासपूर्वक मुझमें ही अनन्य होकर आ जाय। साथ ही शरण होनेकी प्रक्रिया भी कहते हैं—

'तजि मद मोह……'—इन मद आदि दोषोंके रहते हुए शरणागति होती ही नहीं; 'मद' रहते हुए कार्पण्यदैन्य नहीं होगा, जो शरणागतिका छठा अंग है। 'मोह' रहते हुए विश्वासपूर्वक शरणागति नहीं हो सकती। 'कपट छल' प्रभुको भाते ही नहीं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रामचरितमानस सुं० ४३)

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीहनुमान्‌जी जबतक कपटरूपसे विप्रवेषमें थे, तबतक प्रभुने चरणोंपर पड़े हुए भी उन्हें नहीं उठाया, जब अत्यन्त प्रेममें कपट छूट गया, वे अपने वानर रूपमें हो गये, तब उन्हें उठाकर हृदयसे लगाया। 'छल नाना'—मन, वचन, कर्मके—

करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार॥

(रामचरितमानस अयो० १०७)

'करउँ सद्य तेई……' यथा—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भावसे मुझे भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्त (श्रीकृष्णके भक्त) का नाश नहीं होता।'

इन वचनोंसे भगवान्‌ने अपने शरण्यगुणविशिष्ट स्वभावको बतलाया और शरणागतिकी कुछ प्रक्रिया एवं उससे परम लाभका लक्ष्य कराया है।

शरणागति महाविश्वासपूर्वक ही होती है; यथा—

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

(भरद्वाज)

संसारसे डरे हुए जीवकी—'अन्य साधनोंसे अपना अभीष्ट सिद्ध होता न देखकर एक श्रीरामजी (आप) ही मेरे उपाय हैं, इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक उनसे याचना करना—शरणागति एवं प्रपत्ति है।'

इस प्रकार महाविश्वास दृढ़ करनेके लिये शरणवत्सल

---

१. उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

(रामचरितमानस सुं० ३३)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

(रामचरितमानस उत्तर० १२३)

प्रभु अपने सहज स्वभावका कुछ विशेष रहस्य भी बतलाते हैं; यथा—

सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ ।
सुनहु सखा कपिपति, लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ ॥१॥
सब बिधि हीन, दीन, अति जड़मति, जाको कतहुँ न ठाँउ ।
आये सरन भजौं, न तजौं तेहि, यह जानत रिषिराउ ॥२॥
जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित, नाहिंन और उपाउ ।
तिन्हहिं लागि धरि देह करउँ सब, डरउँ न सुजस नसाउ ॥३॥
पुनिपुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम, कपट प्रीति बहि जाउ ॥४॥
सुनि रघुपतिके बचन बिभीषन प्रेम मगन, मन चाउ ।
तुलसिदास तजि आस-त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥५॥
(गीतावली सुं० ५५)

(समुद्र-तटपर तुरंत शरणमें आये हुए श्रीविभीषणके समक्ष सभी सखाओंके प्रति श्रीरामजी कहने लगे—) हे सखा श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी ! सुनिये, मैं अपना 'सत्य सहज स्वभाव' कहता हूँ, आपलोगोंसे क्या छिपाना है ? जो सब प्रकारसे गया-बीता हो, अत्यन्त जडबुद्धि हो, यहाँतक कि जिसको कहीं भी ठिकाना न हो; शरण आनेपर मैं उसे भी (उसके भावानुसार) अङ्गीकार करता हूँ, उसका त्याग नहीं करता, इसे ऋषिराज श्रीनारदजी एवं श्रीवाल्मीकि आदि जानते हैं ॥ १-२ ॥

जिनके चित्तमें मैं ही सब प्रकारसे हितकारी हूँ और दूसरा कुछ उपाय नहीं है; उनके लिये देह धारण करके मैं सब कुछ करता हूँ, 'इसमें मेरा सुयश नष्ट हो जायगा' इस बातसे नहीं डरता ॥ ३ ॥ मैं बार-बार भुजा उठाकर (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ, सारी सभा इसका विश्वास करे; मुझे अपने दासके समान और कोई प्यारा नहीं है, परंतु जिस दासकी मुझमें कपट प्रीति है, वह (भवसागरमें) बह जाय (तो इसकी मुझे चिन्ता नहीं रहती) ॥ ४ ॥ इस प्रकारके श्रीरामजीके वचन सुनकर श्रीविभीषणजी प्रेममें निमग्न हो गये, उनके मनमें बड़ा चाव बढ़ा । श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं कि सब प्रकारकी आशा और भय छोड़कर ऐसे प्रभुका गुणगान कीजिये ॥ ५ ॥

विशेष—'सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ' जन्मके साथसे जो स्वभाव रहता है, वह 'सहज' स्वभाव है । श्रीरामजीका स्वरूप नित्य है । अतएव उनका यह स्वभाव भी नित्य एवं सत्य है, इसमें कभी हेर-फेर नहीं होता ।

'सुनहु सखा···' अन्तरंग सखा होनेसे ये दोनों इस रहस्यके अधिकारी हैं—

राम कृपा भाजन तुम्ह ताता । हरि गुन प्रीति मोहि सुखदाता ।
तातें नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ । परम रहस्य मनोहर गावउँ ॥
सुनहु राम कर सहज सुभाऊ ।' (रामचरितमानस उत्तर० ७३)

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
(गीता १८ । ६४)

'सब बिधि हीन दीन···' इसमें 'अति' पद दीप-देहली है । जिसने अन्य सभी विधियोंको अपने अभीष्ट परमात्म-प्राप्तिके योग्य न समझकर त्याग दिया है और स्वामीकी प्राप्तिमें अपनेको उनके समक्ष अत्यन्त अल्प जानकर अत्यन्त दीनता धारण कर रक्खी है, जो अपनेको अति जडमति मानता है; क्योंकि बुद्धिमें सदसद्विवेक तो परमात्माके प्रकाशसे होता है; यथा—'**ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।**' (गीता १० । ३८) और जिसने प्राकृत सभी लोकोंको अपने स्वरूपके अनुपयुक्त जानकर त्याग दिया है, इससे जिसे कहीं भी ठाउँ (स्थान) नहीं है । वह उत्तम अधिकारी यदि मेरी शरणमें आता है तो मैं उसको तदनुसार ही मिलता हूँ, उसका त्याग कभी नहीं करता ।

उपर्युक्त '**अनन्यसाध्ये**···' इस श्लोकमें कथित उत्तम अधिकारीके लक्षण यहाँ आ गये हैं । आगे चरणमें शरणा-गतिका अङ्ग कहते हैं—

'जिन्हके हौं हित···' उपर्युक्त रीतिसे जिसने अन्य उपायोंसे अपना विश्वास हटा लिया है और प्रभु श्रीरामजीको ही अपना सब प्रकार हितैषी मानकर उपायरूपमें वरण कर रक्खा है, यही शरणागतिकी प्रक्रिया है; यथा—

उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत् ।
शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाद्विवेकिभिः ॥
(रहस्यत्रय-हरिदासकृत)

—'जहाँ ईश्वर ही उपाय और उपेय (फल) होता है, शास्त्र-प्रमाणसे विवेकियोंने उसे ही शरणागति कहा है ।' इसका भाव यह कि शरणागति 'तवास्मि' कहकर आत्म-निक्षेपरूपमें होती है । तबसे शरणागत नाम, रूप, लीला

और धामकी निष्ठामें रत रहता हुआ जीवन समाप्तकर अन्तमें तत्क्रतुन्यायसे उसी निष्ठासे परधाममें भी परिकर होकर रहता है, यही उपाय और उपेयकी एकता है। श्रुति भी कहती है—

'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥'

(तैत्ति० २ । १)

वह मुक्तात्मा ब्रह्मके साथ-साथ ही (परिकर एवं परिच्छदरूपसे) सब कामनाओंका भोग करता है। इस प्रकार शरणागति-पुरस्सर भक्तिमें उपाय और फलकी एकता है।

'तिन्हहिं लागि धरि देह···'—इस प्रकारके शरणागतके लिये आप देह धारण करके भी सब कुछ करते हैं; किसीके पुत्र, किसीके शिष्य, किसीके दामाद और किसीके सारथि भी बनते हैं।

'डरउँ न सुजस नसाउ'—गीता ४। ६ तथा ९। ११ के अनुसार अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्वरूप सुयशके नष्ट होनेकी सम्भावना रहती है, फिर भी मैं नहीं डरता; प्रत्युत सुयश-रक्षाके साथ-साथ प्रपन्नके साथ बरत लेता हूँ।

'पुनि पुनि भुजा उठाइ···'—वहाँ तीर्थपति समुद्रके तटपर जहाँ चारों ओर जाम्बवान् एवं हनुमान् आदि भक्तोंका समाज चालीस कोसमें है, सब कोई देखें और सुनें, इसलिये बार-बार भुजा उठाकर प्रतिज्ञा सुनाते हैं, इस प्रतिज्ञाका बड़ा महत्त्व है; यथा—

मुनि समाज अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू ॥

(रामचरितमानस अयो० २१०)

इसपर मुमुक्षु महान् विश्वासपूर्वक प्रभुपर निर्भर हो शरण होकर कृतार्थ होंगे। महर्षि वाल्मीकिजीने इसी स्थलकी इसी प्रतिज्ञाको यों लिखा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वाल्मीकि० ६ । १८ । ३३)

दीन होकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस भावकी (आत्मसमर्पणकी) याचना करता है, उसे सभी प्राणियोंसे एवं उस प्रकारके सभी प्राणियोंके लिये मैं अभय देता हूँ।

'नहिं कोउ प्रिय मोहिं दास सम' यथा—

अनुज राज संपति बैदेही। से
मोरे अधिक दास पर प्रीती।

(रामचरितमानस उत्तर० १५) क्र

तथा—

सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब ॥

(रामचरितमानस उत्तर० ८७) इत्यादि।

'कपट प्रीति बहि जाउ'—ऊपर कहा गया कि महान् विश्वासपूर्वक शरणागति होती है, अतः इसमें दूसरोंकी आशा एवं भरोसा छोड़कर एकमात्र स्वामीपर ही निर्भर रहना पड़ता है। कहीं दूसरेसे स्वार्थ-साधनके लिये आशा एवं भरोसा किया जाता है तो इसीको शरण्य-स्वामीसे कपट-प्रीति कहा जाता है; यथा—

मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहाँ बिस्वासा ॥

(रामचरितमानस उत्तर० ४५)

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥

(रामचरितमानस अयो० ३००)

'सुनि रघुपतिके बचन······'—श्रीरघुनाथजीने सुग्रीव आदि सभी सखाओंसे कहा है, पर श्रीविभीषणजीकी प्रपत्तिपर मुग्ध होकर प्रभुने अपना सहज स्वभाव कहा है, इससे यह सिद्ध हुआ कि इस समय श्रीविभीषणजीमें अधिक प्रेम-निमग्नता एवं चाव है।

'तजि आस त्रास सब'—क्योंकि अन्यसे आशा रखनेमें स्वामीसे उपर्युक्त 'कपट प्रीति' सिद्ध होगी और अन्यका त्रास रहनेपर स्वामीकी—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि' इस प्रतिज्ञापर अविश्वास सिद्ध होगा। फिर तो शरणागति ही न रह जायगी। इससे इन आशा-त्रासका त्याग तो अवश्य ही चाहिये।

'ऐसे प्रभु कहँ गाउ'—इस प्रसंगके गानेपर प्रभुके ऐसे सहज स्वभावपर उनमें प्रीति एवं विश्वासयुक्त शरणागति होगी और वह दृढ़ रहेगी।

आगे विविध स्वभाव-ज्ञाताओंके वचनोंके कुछ उदाहरण लिखे जाते हैं, उनसे विविध प्रकारके श्रीराम-स्वभाव-सौहार्द की झलक देखिये—

(१) राम रावरो सुभाउ, गुन, सील, महिमा-
प्रभाउ, जान्यो हर, हनुमान, लखन, भरत

जिन्हके हिये सुथल, राम-प्रेम-सुरतरु,
लसत सरस सुख फूलत फरत ॥
(विनय-पत्रिका २५१)

इसमें शिव आदि चारों स्वभाव आदि चारोंके ज्ञाता हैं, पर विशेष करके विपरीत यथा संख्य-अलंकारकी रीतिसे श्रीभरतजी स्वभावके ज्ञाता हैं, इससे इनकी प्रेमभक्तिको सराहा गया है—

(क) मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मोपर कृपा सनेह बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥
(रामचरितमानस अयो० २६०)

(ख) देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच ।
मागत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच ॥
(रामचरितमानस अयो० २६७)

(ग) सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
(रामचरितमानस अयो० १८३)

(घ) राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन आगर॥
पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥
(रामचरितमानस अयो० २००)

(ङ) राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आप समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोच उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥
(रामचरितमानस अयो० २९८)

(च) जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
(रामचरितमानस अयो० २३३)

कौन स्वभाव ? यह भी इन्हीं (भरतजी) ने कहा है—

(छ) जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
(रामचरितमानस उत्तर०)

(२) श्रीबृहस्पतिजीने रामस्वभाव कहा है—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥
सुनु सुरेस उपदेस हमारा। रामहि सेवक परम पिआरा॥
मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई॥

…………

अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥
(रामचरितमानस अयो० २१८-२१९)

(३) श्रीकाकभुशुण्डिजीने कहा है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि ।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि॥
(रामचरितमानस उत्तर० ७४)

(४) श्रीदशरथजीका राम-स्वभाव-स्मरण—

(क) राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥
राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हरासू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥
(रामचरितमानस अयो० १४९)

(ख) तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ ।
हृदय दाड़िमि ज्यों न बिहर्यो समुझि सील सुभाउ ॥
(गीतावली अयो० ५७)

(५) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने स्वयं भी कहा और निष्ठासे लाभ उठाया है—

(क) सुनत सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेह-खर खाउ ॥
(विनय-पत्रिका १००)

यह पूरा पद तथा पद २१५–२१७ भी स्वभावपरक ही हैं।

(ख) ठाकुर अतिहि बड़ो, सील सरल सुठि ।
ज्ञान अगम सिव हूँ, भेंटेउ केवट उठि॥

भरि अंक भेंटेउ सजल नयन, सनेह सिथिल सरीर सों ।
सुर, सिद्ध, मुनि, कबि कहत कोउ न प्रेम प्रिय रघुबीर सों ॥
खग, सबरि, निसिचर, भालु-कपि किये आपु ते बंदित बड़े ।
तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि, जिय जात जनु सकुचनि गड़े ॥
स्वामी को सुभाउ कह्यो, सो जब उर आनिहै ।
सोच सकल मिटि हैं, राम भलो मानिहैं ॥
भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहैं ।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै ॥
(विनय-पत्रिका १३५)

यहाँ स्वभावज्ञानपर हाथ जोड़कर प्रणाममात्रपर कृतार्थ होना कहा गया है। इस प्रणामका अर्थ शरणागति है । महा० वन० १८९ । ५७-५८ में 'गच्छध्वमेनं शरणम्' के प्रति 'नमश्चक्रुर्जनार्दनम्' कहा गया है और इसी प्रणामरूप शरणागतिकी महिमा महा० शान्ति० ४७ । ९०-९१ में भी कही गयी है ।

(ग) राम-सुभाउ सुन्यो तुलसी, प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई ।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहिब खोरि न लाई ॥
(कवितावली उत्तर० ५७)

अर्थात् स्वभाव सुन एक बार ही शरण होकर अपने कल्याणकी काङ्क्षा प्रकट की, बस, उसीपर प्रभुने मेरे स्वार्थ और परमार्थ दोनों पूर्ण कर दिये; तथा—

तुलसी तिहारो भये, भयो सुखी, प्रीति प्रतीति बिना हूँ ।
नामकी महिमा, सील नाथको, मेरो भलो बिलोकि
अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ ॥
(विनय-पत्रिका २७५)

राम नाम महिमा करै काममूरुह आको ।
साखी बेद-पुरान है, तुलसी तन ताको ॥
(विनय-पत्रिका १५२)

इस प्रकार श्रीराम-स्वभाव-सौन्दर्यके कुछ उदाहरण लिखे गये । इन्हें पढ़कर उदाहृत पात्रोंके समान पाठकगण भी लाभ उठायेंगे; ऐसी आशा करता हूँ ।

परिवार-नियोजनपर विनोबा

(लेखक——श्रीविनोबा)

किसी भी प्रश्नके तीन पहलू होते हैं । आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक । परिवार-नियोजनके तरीकोंके बारेमें भी ये तीन पहलू ध्यानमें रक्खे जाने चाहिये । यह विषय इतना गम्भीर है कि कोई भी राह चलता आदमी इसपर निर्णय दे, उसे मैं नहीं मान सकता । इस विषयपर चिन्तन करनेका तथा राय देनेका अधिकार मैं उपर्युक्त तीनों आधारोंको ठीक-ठीक समझकर राय दे सकनेवालेको ही दूँगा ।

फेमिली प्लानिंग (परिवार-नियोजन) आध्यात्मिक दृष्टिसे किया जा सकता है । हमें दोसे अधिक बच्चे नहीं चाहिये, यह सोचकर मनुष्यके जीवनमें संयमका योग्य आयोजन किया जा सकता है । चिन्तन करनेवालोंका काम है कि इस विषयका चिन्तन करें । इस दृष्टिसे परिवार-नियोजनका अर्थ होता है, 'आत्मसंयम'——'अपनेपर काबू रखना' । साइंसके जमानेमें यह चीज आसान होनी चाहिये । यह असम्भव बिल्कुल नहीं है । आज ज्ञान-विज्ञानके विकाससे हम मानव-मनको अधिक समझ सकते हैं । उसपर किन-किन बातोंका कैसा असर होता है, यह हम अधिक जान सके हैं । परिवारका उद्देश्य क्या है ? ब्रह्मचर्यकी साधना क्या होती है ? उसमें कौन-सी शक्ति भरी है ? इन सब चीजोंका साइंसके प्रमाणोंसे प्रजाको अधिक स्वच्छ ज्ञान दिया जा सकता है । जितना पहले कभी नहीं था, उतनी सहूलियत यह सब समझने-समझानेकी आज है ।

अपनेमें एक ऐसी शक्ति पड़ी है, जिसको ऊपर उठाया जा सकता है । जैसे लालटेनमें तेल होता है । जितना अखण्ड तेलका प्रवाह होगा, प्रकाशकी तीव्रता भी उतनी ही होगी। मनुष्यके लिये ब्रह्मचर्य तेल है और प्रज्ञाकी प्रभा, बुद्धिमत्ता यह प्रकाश है । ब्रह्मचर्यके तेलका प्रवाह उसे सतत मिलता रहता है, तो बुद्धिमत्ता तेजस्वी होती है, अगर वह नहीं रहता तो बुद्धि निश्चय ही कमजोर पड़ती है । संतति-नियमनका आध्यात्मिक तरीका वही हो सकता है जो जीवनके तेजको बढ़ानेमें सहायक हो ।

संयमका मार्ग ही आध्यात्मिक दृष्टिसे सही मार्ग है । पर जो दूसरा तरीका आज अपनाया जा रहा है, उसमें अपनेपर काबू रखनेकी जरूरत नहीं मानी जाती । 'संतति मर्यादित करें और कृत्रिम उपायोंको अपनायें' इसमें संयम रक्खा भी नहीं जा सकता । सारी योजना ही वहाँ यह है कि बोया तो जाय पर फसल न आये । मान लीजिये कोई किसान बोने निकला

महज आनन्दके लिये । उसने देख-समझकर बोनेके लिये मईका महीना चुना; गरमीके दिन, बारिश नहीं है । उसे मालूम है कि अब उगेगा नहीं । ऐसे बोनेवालेने अक्लका काम किया क्या ? आप कहेंगे यह 'नेशनल वेस्ट' (राष्ट्रकी सम्पत्तिका नाश) है । यदि एक मामूली बीज बोया जाता है और बंदोबस्त किया जाता है कि नहीं उगे, तो उसे आप 'वेस्ट' मानते हैं, तो जिस शक्तिसे मनुष्य-निर्माण होगा, उस शक्तिको यदि आप 'वेस्ट' करते हैं तो कितना बड़ा अपराध है ? कितनी बड़ी मूर्खता है ? यह सबके समझने-समझानेकी बात है । लोग यह सब समझ सकते हैं और समझा सकते हैं ।

यह जो 'क्रियेटिव ऐनर्जी' (सृजनात्मक शक्ति) है, जिसे हम वीर्य कहते हैं । उसीमेंसे वाल्मीकि-जैसे महाकवि पैदा हुए; महावीर हनुमान् उसीमेंसे निकले । प्रतिभावान् पुरुष और तत्त्वज्ञानी उसीमेंसे बने । उस निर्माण-शक्तिका मनुष्य दुरुपयोग करता है यानी संख्या नियमित करके संतानको रोक लिया और उस शक्तिका दूसरी ओर जो उपयोग हो सकता था, उसके बजाय; उसे विषय-भोगमें लगा दिया । इससे केवल संतान ही नहीं रुकेगी, बुद्धिमत्ता भी रुकेगी । यह बहुत समझानेकी जरूरत नहीं है । ब्रह्मचर्यकी हानि होती रहेगी, उसपर अङ्कुश ही नहीं रहेगा, तो इसके परिणामस्वरूप दोनोंकी बुद्धिमता क्षीण होगी, पति-पत्नी संतुलन खो बैठेंगे और निस्तेज बन जायँगे ।

वैज्ञानिक ढंगसे सोचकर विषय-वासनापर अङ्कुश रखनेके उपाय हमें ढूँढ़ने चाहिये । आज तो विषय-वासनाके फलस्वरूप संतान-पालनकी जिम्मेदारीका जो अङ्कुश रहता था, वह भी नहीं रहा । संतान भी माता-पिताको वासना-मुक्तिकी ओर ले जा सकती है ।

हमारे एक मित्र थे । दिनभर बीड़ी फूँकते थे । जानते थे बीड़ी बुरी है पर उसकी वासनासे मुक्त नहीं हो पाते थे । उनको बच्चा पैदा हुआ । उन्हें लगा कि कहीं बच्चेको बुरी आदत न लग जाय, इससे उन्होंने बीड़ी पीना छोड़ दिया । ऐसा प्रायः नहीं होता; क्योंकि इतनी चिन्ता रखनेवाले बाप इन दिनों होते ही नहीं । लेकिन मैंने अपने एक मित्रकी कहानी आपके सामने रक्खी । उस लड़केने अपने बापको व्यसन-मुक्त किया ।

संतानको तालीम देना, उसके साथ बैठना, बोलना, सोना इससे भी वासनापर अङ्कुश रहता है । संतानके लालन-पालनकी जिम्मेदारी माता-पिता मिलकर उठाते हैं तो इससे उनके चित्तपर अङ्कुश रहता है । एक नारायण अपने घरमें पैदा हुआ । शास्त्रकार लिखते हैं । वह नारायण 'नरकात् त्रायते' । वह जो बेटा पैदा हुआ, वह बापको नरकसे बचायेगा । पर यदि बच्चोंको बालसंगोपनगृहमें रख दिया, केवल दूध पिलानेके लिये माता जायगी, इसके सिवा कोई दूसरा सम्पर्क बच्चेके साथ आयेगा ही नहीं, उस हालतमें माता-पिता अकेले रह जाते हैं । इसमें वे बहुत बड़ा नुकसान उठा रहे हैं । उन्होंने यह सीखा नहीं कि उसका बहुत बड़ा आध्यात्मिक पहलू है । मान लीजिये पति-पत्नी संतान उत्पन्न न हो, ऐसा प्रबन्ध करें और अपनी-अपनी विषय-वासना जारी रक्खें तो उनके दिमागोंको कोई संतुलन मिलेगा ही नहीं । इस हालतमें देश तेजहीन हो जायगा । संतान कम होगी, यह लाभ होगा, किंतु सिर्फ संतान ही कम नहीं होगी, ज्ञानतन्तु भी क्षीण होंगे, प्रभा कम होगी; प्रज्ञा कम होगी और तेजस्विता कम हो जायगी ।

नैतिक दृष्टिसे देखें तो ऐसी हालतमें यह कोई जरूरी नहीं है कि पति-पत्नीका समागम हो । जब आपने प्रबन्ध कर लिया है कि संतानकी उत्पत्ति न हो तो फिर क्या कारण है कि पति-पत्नीका ही समागम हो ? अन्यके साथ समागम न हो, इसकी क्या वजह है ? नीति कितनी गिरेगी ? अध्यात्म कितना खोयेंगे ? यह नहीं सोचा और यह भी नहीं सोचा कि इसका सामाजिक पहलू भी है ।

यह सब सोचते हुए हमारे ध्यानमें आयेगा कि हमारे पूर्वजोंने जो योजना बनायी थी, उसकी दृष्टि बड़ी दीर्घ थी । ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम । इस प्रकारकी व्यवस्था थी । २५ सालमें शादी हो, ४५ सालमें पूरी तरह निवृत्त होना है—यह भावना बनेगी तो जीवनमें संयम अपने-आप आयेगा । आज तो १८ सालमें शादी होती है और ५८ सालतक यानी चालीस सालतक वैवाहिक जीवन चलता रहता है । संयमके लिये आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास किस प्रकार किया जाय, ऐसे उपायोंको ढूँढ़ना चाहिये । बहुत ही गम्भीरतासे सोचनेका विषय है; इसलिये मैंने आपके सामने यह विषय खोलकर रक्खा है ।

यह माननेकी जरूरत नहीं कि जिस मिट्टीसे जन्तु—प्राणी पैदा होते हैं, उनका भार वहन करनेमें वह मिट्टी असमर्थ होगी । इसलिये यह भय रखना कि जितने लोग पैदा होंगे

उनको पोषण मिलेगा कि नहीं, यह माननेका कोई कारण नहीं है। यह एक सिद्धान्त मैं आपके सामने रख रहा हूँ, कि यदि धरतीसे जो हम प्राप्त करते हैं, वह उसको वापस कर दें तो धरती सबको पोषण दे सकती है। आज उस ओर हमारा ध्यान नहीं है। मल-मूत्र, पेड़ोंके पत्ते, जीवोंकी हड्डियाँ आदि सब मिट्टीमें मिल जायँ, तो मैं कहना चाहता हूँ, जितने प्राणी मिट्टीमेंसे पैदा हुए हैं, उन सबका पोषण करनेके लिये मिट्टी बिल्कुल समर्थ है। मेरे लिये तो यह एक स्वयंसिद्ध बात है। इसलिये संख्या-नियमनके कृत्रिम उपायोंपर जितना जोर दिया जा रहा है, उससे अधिक धरतीको सारा पोषण मिले यह प्रयत्न होना चाहिये।

साथ-ही-साथ लोगोंके दिमागोंको बिगाड़नेवाली जो चीजें हैं, उनपर अंकुश रक्खो। दीवालोंपर गंदे चित्र और इश्तहार लगाये हुए हैं, क्या वे आवश्यक हैं? 'लिटरेचर' के नामपर जो शृङ्गार-साहित्य कामवासनाओंको उत्तेजित करता है, उसका प्रवाह समाजमें कम करो। ऐसा 'लिटरेचर' बच्चोंको क्यों सिखाते हो? अच्छा साहित्य सिखाओ, रामायण-जैसा सर्वोत्तम साहित्य सिखाओ। 'लिटरेचर' के स्थानपर साइंस और गणित अधिक सिखाओ। गम्भीर विषयोंके अध्ययनकी ताकत लोगोंमें पैदा करो। संयमका वातावरण तैयार करो, जरा पुरुषार्थ सिखाओ। प्रायः यह होता है कि जिन प्राणियोंमें पराक्रम कम, पुरुषार्थ कम होता है, उनकी औलाद बढ़ती है। जानवरोंको देखना हो तो शेरकी संतान कम है और बकरीकी ज्यादा है। कीड़े-मकोड़े एक-एक सालमें दुगुना, चौगुना बढ़ते हैं। सार यह कि बच्चोंकी शिक्षाकी अच्छी व्यवस्था करना—यह सबसे बड़ा काम है। उनको संस्कार अच्छे मिलेंगे, उनका पुरुषार्थ जाग्रत् होगा, संयमका वातावरण तैयार होगा तो संतति-नियमन करना आसान होगा।

आखिरमें इस दुनियाँमें परमेश्वर भी तो है। जो सारा इन्तजाम है, उसकी चिन्ता उसे भी तो है। ज्यादा संतान बढ़े नहीं तो वह आपको सद्बुद्धि भी देगा और संयम भी।

(प्रेषक—श्रीमहेन्द्रकुमार, सर्वोदय प्रेस सर्विस)

जीवेम शरदः शतम्

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का०व्या०सां०स्मृ०तीर्थ)

अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी इच्छा प्राणिमात्रकी होती है। धर्म-प्रधान भारतवर्षमें इसी उद्देश्यसे संध्योपासनका विधान किया है। उध्योपासनमें बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके लिये अनेकों मन्त्रोंसे जलको पवित्र करके आचमन करनेका विधान है और बाह्य शुद्धिके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलसे शरीरका अभिषेक करनेको लिखा है। साथ-ही-साथ आयुवृद्धिके लिये प्राणायामका विधान है।

इसके पश्चात् भुवनभास्कर भगवान् सूर्यकी उपासनाका क्रम लिखा है। चन्दन, पुष्प आदि अर्घ्यकी वस्तु जलके साथ लेकर सूर्यके लिये अर्घ्य प्रदान करनेकी विधि है। इसके पश्चात् सूर्योपस्थानके चार मन्त्र हैं। उनमें सूर्यकी स्तुतिके साथ उनसे अपने जीवनकी वस्तुओंके लिये प्रार्थना है। यथा—

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यकी परमायु एक सौ वर्षकी है और वह कर्म करते हुए एक सौ वर्षतक जीवित रहना चाहता है। ईशोपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें भी यही बात लिखी है। यथाः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोप० मं० २)

अर्थात् मनुष्यको कर्म करते हुए एक सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। इस तरह विहित कर्म—अग्निहोत्रादि करते रहनेसे मनुष्य कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। अर्थात् कर्मफलको प्राप्त करनेकी इच्छासे काम्यकर्म भव-बन्धनका कारण होता है, अन्यथा निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर कर्म करनेसे प्रारब्धका भोग हो जाता है और संचित कर्मकी उत्पत्ति होती ही नहीं, इससे परम शान्ति मिल जाती है।

प्राचीन ऋषिगण अपने इन्हीं कर्तव्योंका पालन करते थे जिससे उनकी इन्द्रियाँ जीवनभर शिथिल नहीं होती थीं, सौ वर्षतक कर्तव्य-पालन करते हुए जीवित रहते थे।

हमलोगोंके नेत्रोंमें जो ज्योति है वह सूर्यकी ज्योति है। सूर्य ही प्रकाशके अधिष्ठाता हैं, अतः आजीवन हमारे नेत्रोंकी ज्योति बनी रहे, ऐसी प्रार्थना हम सूर्यसे करते हैं। इ

तरह अन्य इन्द्रियोंमें जो शक्ति प्राप्त है वह सूर्यसे ही प्राप्त है । अतः हमें प्रतिदिन सूर्यकी उपासना करनी चाहिये——**पश्येम शरदः शतम्**——हम सौ वर्ष तक देखें, हमारे नेत्रोंकी ज्योति कम न हो । **जीवेम शरदः शतम्**——हम सौ वर्षतक जीवित रहें, हम अपनी पूर्ण आयुको भोगकर कर्तव्य पालन करके भगवान्को प्राप्त करें । **प्रब्रवाम शरदः शतम्**——हम सौ वर्षतक बोलें अर्थात् शास्त्रोंका अध्ययन और अध्यापन करें तथा भगवान्का भजन करके अन्तमें उन्हींमें लीन हो जायँ । **शृणुयाम शरदः शतम्**——तात्पर्य यह है कि हम सौ वर्षतक सुनें—अर्थात् सौ वर्षतक सत्सङ्ग करें, श्रीभगवान्के गुणोंको सुनें और अन्तःकरणको पवित्र करें । **एवमदीनाः स्याम शरदः शतम्**——अर्थात् जबतक हम जीवित रहें, दीन न हों, जिससे आश्रममें आये हुए अतिथियोंका सत्कार कर सकें । अतः हमारे पास इतना धन रहे जिससे स्वयं भोजन करें और समागत अतिथिको भी भोजन करावें ।

इस तरह अपनी आयु और इन्द्रियोंमें शक्तिके लिये सर्वत्र उपनिषदोंमें प्रार्थनाके मन्त्र पाये जाते हैं । प्रश्नोपनिषद्के शान्तिपाठके मन्त्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना प्राप्त होती है । यथा——

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

हे देवगण ! हम कानोंसे शुभ वचन सुनें । यज्ञादि अनुष्ठान करते हुए नेत्रोंसे माङ्गलिक वस्तुओंको देखें । हमलोगोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़ रहें जिससे हमलोग देवताओंका हित करते हुए अपनी पूर्ण आयुका उपभोग करें ।

ऋषिगण इसी तरह यज्ञादि-अनुष्ठान और अपने नित्यकर्म नियत समयपर करते हुए पूर्ण आयुका उपभोग करते थे और उनकी इन्द्रियाँ सबल रहती थीं । उनके शरीरके सभी अवयव दृढ़ और मजबूत रहते थे । इससे उनका जीवन भारभूत नहीं होता था ।

आजकल हम नित्यकर्म भूल गये हैं, जिससे न तो हमारा शरीर सबल होता है, न मन दृढ़ रहता है, बुद्धिकी शक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है । पचास वर्षके बाद ही हमारा जीवन हमें भार मालूम पड़ने लगता है । इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, नेत्रमें ज्योति नहीं रहती । साठ वर्षकी उम्र होनेपर हम किसी कामको करने योग्य नहीं समझे जाते । हमारी परमायु ६० से ७० के अंदर हो गयी !

जबकि वैदिक शास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी कही गयी है । वहाँ ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तो मनुष्यकी आयु १०८ और १२० वर्ष कही गयी है; क्योंकि मनुष्यके जीवन-भरमें नव ग्रहोंकी दशा एक बार बारी-बारीसे आती है और एक राशिपर उनकी स्थिति जितने दिनकी होती है उनको जोड़नेसे १२० वर्ष होते हैं । कुछ ज्योतिर्विदोंके मतके अनुसार १०८ ही वर्षकी परमायु होती है ।

इस समय मृत्यु-संख्याको देखनेसे और अल्प अवस्थामें मृत्युकी संख्यासे पता चलता है कि जितना ही हमलोग अपने कर्तव्यसे दूर हट रहे हैं, उतनी ही हमारी इन्द्रियाँ अल्पकालमें कार्य करनेके योग्य नहीं रहतीं । बाह्य कृत्रिम उपकरणोंको काममें लाते हैं जिससे लाभके स्थानमें हानि ही प्रतीत होती है ।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने भी इस बातको स्वीकार किया है कि आध्यात्मिक विज्ञानके समक्ष यह भौतिक विज्ञान अत्यन्त क्षुद्र है, क्योंकि आध्यात्मिक विज्ञानसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है वह अक्षय होती है और भौतिक विज्ञानसे प्राप्त होनेवाली वस्तु नश्वर होती है ।

आध्यात्मिक विज्ञानकी सफलताके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि अपेक्षित है जो प्रतिदिन संध्यावन्दन करनेसे शुद्धताको प्राप्त करती है । अतः यदि हम इस संसारमें अपने जन्मको सफल बनाना चाहते हैं और अपनी इन्द्रियोंद्वारा भगवान्का भजन करते हुए पूर्णायुको भोगना चाहते हैं तो हमें अपने वर्णोचित संध्या-तर्पण आदिसे चित्तको शुद्ध करके ईश्वरका भजन करते हुए १०० वर्षतक जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये । **'शतायुर्वै पुरुषः'** इस शास्त्रीय वचनको सत्य बनाना चाहिये ।

* * *

श्रीराधा-स्वरूप-गुण-महिमा

[श्रीराधाष्टमी-महोत्सव (संवत् २०१८) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण]

(१)

(दिनका प्रवचन)

वृन्दावने विहरतोरिह केलिकुञ्जे
मत्तद्विपप्रवरकौतुकविभ्रमेण ।
संदर्शयस्व युवयोर्वदनारविन्द-
द्वन्द्वं विधेहि मयि देवि कृपां प्रसीद ॥
हा देवि ! काकुभरगद्गदयाद्य वाचा
याचे निपत्य भुवि दण्डवदुद्भटार्तिः ।
अस्य प्रसादमबुधस्य जनस्य कृत्वा
गान्धर्विके ! निजगणे गणनां विधेहि ॥

भगवान् सत्-चित्-आनन्दपूर्ण हैं । उनके 'सत्' अंशकी शक्तिका नाम है 'संधिनी', चिदंशकी शक्तिका नाम है 'संवित्' और आनन्दांशकी शक्तिका नाम है 'ह्लादिनी' ।

श्रीकृष्ण स्वयं परमाह्लादस्वरूप होकर भी जिसके द्वारा स्वयं आह्लादित होते और दूसरोंको आह्लादित करते हैं, उसका नाम है 'ह्लादिनी'; स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर भी जिसके द्वारा वे जान सकते और दूसरोंको जना सकते हैं—उसका नाम है 'संवित्' और स्वयं नित्य सत्तास्वरूप होकर भी जिसके द्वारा अपनी तथा दूसरोंकी सत्ता धारण करते हैं, उसका नाम 'संधिनी' है ।

भगवान् सदैव सोम्येदमग्र आसीदित्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकाल-द्रव्यादिप्राप्तिकरी संधिनी । तथा संविद्रूपोऽपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित् । तथा ह्लादरूपोऽपि यथा संविदुत्कर्ष-रूपया तं ह्लादं संवेत्ति संवेदयति च सा ह्लादिनीति विवेचनीयम् । (भगवत्संदर्भ ११८)

सत्-चित्-आनन्द—इन तीनों भगवत्स्वरूप गुणोंको जैसे कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही संधिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन एक ही भगवत्स्वरूपा चिच्छक्तिके तीन स्वरूपोंको कभी एक-दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता।

इनमें संधिनीके सार अंश या चरम परिणतिका नाम है—'शुद्ध-सत्त्व' । इस शुद्ध-सत्त्वमें ही भगवान्की सत्ता स्थित है। 'संवित्'का सार या चरम परिणति है श्रीकृष्णका भगवत्ताज्ञान अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं—यह ज्ञान या अनुभव। और ह्लादिनीका सार है—विशुद्ध प्रेम—निर्मल श्रीकृष्ण-सुखेच्छारूप दिव्य वृत्ति । इच्छा मनकी एक वृत्ति ही होती है । परंतु श्रीकृष्णसुखेच्छा वस्तुतः प्राकृत मनकी वृत्ति नहीं है । यह श्रीकृष्णकी स्वरूपाशक्ति—ह्लादिनीप्रधान 'शुद्ध-सत्त्व'-की एक वृत्ति है । भगवत्कृपासे भक्तका चित्त ह्लादिनीप्रधान शुद्ध-सत्त्वके साथ तादात्म्य प्राप्त करके शुद्ध-सत्त्वका समानधर्मी हो जाता है । जैसे लोहा जब अग्निके साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, तब लोहेको आश्रय बनाकर अग्नि ही अपनी (किसी वस्तुको जला देना आदि) क्रिया करती है, परंतु वह क्रिया वहाँ कहलाती है लोहेकी, उसी प्रकार शुद्ध-सत्त्वके साथ तादात्म्य प्राप्त किये हुए मनके माध्यमसे जब शुद्ध-सत्त्व ही अपनी क्रिया करता है, तब वस्तुतः वह केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये होनेवाली ह्लादिन्यंशप्रधान शुद्ध-सत्त्वकी ही वृत्ति होती है, पर वह कहलाती है 'मनकी वृत्ति' । और उसीको 'प्रेम' कहते हैं ।

नित्यसिद्ध भगवत्-परिकर और उनके मन-इन्द्रियादि तो अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय ही हैं । अतः उनके चित्तमें तो अनादिकालसे ही शुद्ध-सत्त्वकी वृत्ति विशुद्ध 'श्रीकृष्ण-प्रीति-इच्छा' या 'विशुद्ध प्रेम' सहज ही वर्तमान है । साधनसिद्ध भक्तोंमें पीछेसे भगवत्कृपासे इस विशुद्ध प्रेमका प्रादुर्भाव होता है । इस प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर चित्त सम्यकरूपसे मसृण या निर्मल हो जाता है और उसमें श्रीकृष्णके प्रति आत्यन्तिक अनन्य ममता-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । यही 'प्रेम' उत्तरोत्तर उच्च स्तरपर पहुँचते-पहुँचते 'भाव'रूपमें परिणत होता है । प्रेमकी घनीभूत गाढ़तम अवस्था या चरम परिणतिका नाम ही 'भाव' है । इस भावकी प्रगाढ़तम अवस्थाको 'महाभाव' कहते हैं । इसके मोदन-मादन भावोंमें मादन सर्वोत्कृष्ट है और यह केवल श्रीराधाजीमें ही है । अतएव परम दिव्य परमोत्कृष्ट विशुद्ध प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति श्रीराधाजी ही हैं ।

इस भाव या महाभावका केवल कान्त-प्रेम या माधुर्य-रतिमें ही उदय होना सम्भव है । दास्य, सख्य और वात्सल्यमें इसका विकास प्रायः नहीं होता । अतएव इस पवित्रतम

प्रेमकी पूर्ण परिणति और इसकी एकमात्र मूल उत्सरूपा श्रीराधाजी ही हैं। ये श्रीराधाजी कैसी हैं——

१-कृष्णप्रेयसी कान्तागणमें सर्वशिरोमणि श्रीराधा ।
लक्ष्मी-महिषी-गोपीजनकी मूल, मुकुटमणि श्रीराधा ॥
२-कृष्ण-प्रेम-भावित-चित्तेन्द्रिय-बुद्धि-अहं-सारा राधा ।
निर्मल प्रेम पूर्ण पावनकी मधुर सुधा-धारा राधा ॥
३-लीलामयी, कृष्णलीलाकी शुचि सहायिका श्रीराधा ।
कृष्ण-सुखैक-जीवना, प्रियतम-स्नेह-दायिका श्रीराधा ॥
४-प्रियतम शुचि माधुर्य-सुधाकी केवल आस्वादिनि राधा ।
रूप-छटासे रूप-सदन-मनकी नित उन्मादिनि राधा ॥
५-मृदुता-शीतलता-सुशीलता-गुण-गण-आधारा राधा ।
चतुरा-सरला, मौना-मुखरा, मधु-मधुराकारा राधा ॥
६-सदा प्रेममें कमी देखती, सदा प्रेम-भूखी राधा ।
सदा रसमयी, सदा देखती अपनेको सूखी राधा ॥
७-सर्वगुणमयी, गुण-गौरव-अभिमान-विरहिता श्रीराधा ।
महामानिनी विमल, वियोगिनि, नित प्रियतमसहिता राधा ॥
८-उज्ज्वल दिव्य त्याग अनुपमकी परमादर्श मूर्ति राधा ।
दुर्लभ कृष्ण-प्रेमकी नव-नव सहज विचित्र स्फूर्ति राधा ॥

श्रीकृष्ण-कान्ताओंके तीन प्रकार हैं——लक्ष्मीगण (वैकुण्ठादिमें भगवत्स्वरूपोंकी कान्ताएँ), महिषीगण (द्वारकापुरीकी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ) और व्रजाङ्गनाएँ। इन श्रीकृष्णकी प्रेयसी कान्ताओंमें श्रीराधा सर्वशिरोमणि हैं और इन सबकी मूल शक्ति एवं सबके मस्तकोंके मुकुट-स्वरूप स्वयं श्रीकृष्णकी भी मणिस्वरूपा हैं। इन श्रीराधाके चित्त, इन्द्रिय, शरीर, बुद्धि और अहंकार—सभी ह्लादिनीके साररूप श्रीकृष्णप्रेमके द्वारा ही गठित हैं, प्राकृत रक्त-मांसादिके द्वारा नहीं। ये श्रीराधा विशुद्ध, परिपूर्ण, सबको पवित्र करनेवाले मधुर प्रेमकी सुधाधारा हैं, जो सदा सबको सुधा-प्लावित करती रहती हैं——मर्त्य जगत्के कामोपभोगसे मुक्त करके नित्य सत्य दिव्य प्रेमसरितामें बहाती रहती हैं। ये श्रीराधा स्वयं लीलामयी हैं और श्रीकृष्णकी पवित्र लीलाओंमें सदा सहायिका हैं। इन श्रीराधाका जीवन एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखमय है और ये प्रियतम श्रीकृष्णको सदा स्नेहदान देती रहती हैं। ये श्रीराधा ही केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यरूप सुधाका पूर्ण रसास्वादन करती हैं और अपनी रूपछटासे रूपके सदन श्रीकृष्णके मनको उन्मत्त बनाये रहती हैं। श्रीराधाजी मृदुता, शीतलता, सुशीलता आदि गुणगणोंकी आधार हैं। ये श्रीकृष्ण-सुख-सेवामें बड़ी निपुण हैं, परंतु बड़ी ही सरलहृदया हैं। ये श्रीराधा और सभी विषयोंमें सर्वथा मौन रहती हैं, परंतु प्रियतम श्रीकृष्णके गुणगानमें बड़ी मुखरा हैं——सदा गुण-गान करती ही रहती हैं। ये श्रीराधा मधुके समान मधुर आकारवाली हैं—इनके रोम-रोमसे मधुरता निखरती और बिखरती रहती है। इतना होनेपर भी श्रीराधा अपनेमें सदा प्रेमकी कमी ही देखती हैं और सदा ही प्रेमकी भूखका अनुभव करती हैं। ये श्रीराधा सदा रसमयी होनेपर भी प्रेमस्वभाववश अपनेको सदा रसहीन——सूखी ही देखती हैं। ये श्रीराधा सम्पूर्ण सद्‌गुणमयी हैं, परंतु अपने गुणोंके गौरव या अभिमानसे सर्वथा रहित हैं। ये महान् मानिनी हैं; पर इनका वह मान होता है निर्मल प्रेमस्वरूप ही, प्रेमका एक उच्च स्तर ही। ये श्रीराधा प्रेम-वैचित्त्यके समय वियोगका अनुभव करती हैं, परंतु वस्तुतः ये नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके साथ ही रहती हैं। ये श्रीराधा उज्ज्वल दिव्य त्यागकी परम आदर्श अनुपम मूर्ति हैं। इन श्रीराधामें सहज ही परम दुर्लभ श्रीकृष्ण-प्रेमकी नयी-नयी विचित्र स्फूर्तियाँ होती रहती हैं।

यह महामहिमामयी श्रीराधाके स्वरूपका तनिक-सा सांकेतिक दिग्दर्शनमात्र है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जब इनके गुणोंका वर्णन तो दूर रहा, थाह पानेमें भी असमर्थ हैं, सदा मुग्धचित्तसे इनका गुण-गान ही करते रहते हैं, तब इनके महत्त्व और गुणोंका वर्णन कौन कर सकता है। पवित्र गोपी-प्रेमकी साधनामें प्रवृत्त साधकको श्रीराधाके उपर्युक्त गुणोंको आदर्श मानकर चलना चाहिये।

इतनी बात अवश्य है कि जिन लोगोंने श्रीकृष्णकी व्रज-लीलामें, उनके गोपी-वल्लभ स्वरूपमें, श्रीगोपाङ्गनाओंमें और महामहिमामयी श्रीराधामें जागतिक हेय भावकी कल्पना की है या जो करते हैं, वे या तो परात्पर श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपकी अनभिज्ञतासे ही ऐसा करते हैं अथवा उनके भोगराज्यकी राधा उन्हें वैसी ही दिखायी देती होंगी। मेरी राधा तो ऐसी हैं, जिनके पवित्रतम प्रेमराज्यमें मलिन काम और भोगके कल्पनालेशका भी कभी कहीं प्रवेश नहीं है। वे विलक्षण शृङ्गार धारण करती हैं, परंतु उसमें कहीं तनिक भी आसक्ति नहीं है; उनका पवित्र करनेवाला प्रेम मोहसे सर्वथा रहित है। उनमें ममता है, परंतु वह स्व-सुख-इच्छासे विरहित है। उनके अपने योग-क्षेम पूर्णरूपसे प्रियतम श्रीकृष्णमें समर्पित हैं। वे

खाती-पीती हैं, पर स्वादके लिये नहीं। वे अत्यन्त मानवती हैं, किंतु अभिमानसे रहित हैं। उनमें भोगोंका बाहुल्य है, पर भोग-दृष्टिसे वे नित्य भोगरहित हैं। वस्तुतः वे केवल अपने प्रियतमके ही पवित्रतम सुखकी खान हैं। उनका इन्द्रिय-समूह, उनका शरीर, उनका मन, उनके प्राण, उनकी बुद्धि और उनका अहं—सभी कुछ प्रियतमके लिये ही है। उनसे उनका अपना कुछ भी काम नहीं है, वे सब सदा प्रियतमके कार्यमें ही लगे रहते हैं। श्रीराधासे जगत्‌में जगत्‌के सारे व्यवहार होते हैं, पर होते हैं वे सहज ही संयमपूर्ण। उनका किसीसे अपना कोई सम्पर्क नहीं है। केवल प्रियतमका सुख ही उनके जीवनका सार-सर्वस्व है। मेरे जीवनकी साध्य वे त्रिभुवन-पावनी श्रीराधा ऐसी हैं जो नित्यतृप्त भगवान् श्रीमाधवकी भी पवित्रतम परमाराध्या हैं।

मेरी उन राधाके शुचितम प्रेमराज्यमें नहीं प्रवेश।
काम-भोगका मलिन, कभी भी किंचित् कहीं कल्पना-लेश॥
रागरहित शृङ्गार अनूठा, मोहरहित है पावन प्रेम।
सुख-वाञ्छा-विरहित ममता है, पूर्ण समर्पित योग-क्षेम॥
स्वादरहित सब खान-पान हैं, है अभिमानरहित अतिमान।
भोगबहुलता भोगरहित नित, प्रियतम-सुखकी शुचितम खान॥
इन्द्रिय-तन-मन-प्राण-अहं-मति हैं प्रियतमके लिये तमाम।
नहीं कार्य कुछ निजका उनसे, करते सब प्रियतमका काम॥
संयमपूर्ण सहज ही होते जगमें, जगके सब व्यवहार।
नहीं किसीसे उनका मतलब, प्रियतम-सुख ही केवल सार॥
मेरी ऐसी हैं वे राधा त्रिभुवन-पावनि जीवनसाध्य।
नित्य-तृप्त श्रीमाधवकी जो हैं पवित्रतम परमाराध्य॥

इन श्रीराधाका जीवन परम त्यागमय तथा सर्व-समर्पणमय है और स्वरूपतः श्रीराधा श्रीमाधवसे सर्वथा अभिन्न रहती हुई ही नित्य दिव्यलीला-विहारिणी हैं।

हमें श्रीराधा-माधव ऐसी सद्बुद्धि और सद्दृष्टि प्रदान करें, जिससे हम उनकी यथार्थ स्वरूप-स्थितिको एवं उनकी दिव्य रसमयी लीलाके परम पावन रहस्यको समझ-देख सकें।

आज श्रीराधाजीके लीला-प्राकट्यके इस परम पवित्र महान् शुभ अवसरपर हम अपनेको उनके श्रीचरणोंमें डालकर उनसे प्रार्थना करें—

श्रीराधा अब देहु मोहि तव पद-रज-अनुराग।
जातें इह-पर भोग में होय उदय बैराग॥
मोच्छहु की माया मिटै, कटै सकल भव भोग।
तुम दोउन के चरन कौ बन्यौ रहै संजोग॥
जो कछु तुम चाहौ, करौ राधा-माधव दोउ।
तुम्हरे मनकी सहज रुचि चाह जु मेरी होउ॥
सेवा कौ कछु काम जो हो मेरे अनुहार।
छोटौ-मोटौ बकसि मोहि करौ कृपा-विस्तार॥
परयो रहौं नित चरनतल परसौं नित पद-धूल।
पगदासी पौंछत रहौं अग-जग सगरौ भूल॥

रसवलितमृगाक्षीमौलिमाणिक्यलक्ष्मीः
प्रमुदितमुरवैरिप्रेमवापीमराली।
व्रजवरवृषभानोः पुण्यगीर्वाणवल्ली
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु॥

बोलो श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णानन्दिनी श्रीराधारानीकी जय जय जय!

(२)

(रात्रिका प्रवचन)

श्यामप्रेमविनोदिनी मधुरिमाधाराधरे स्मेरिणी
गौरी प्रेमवती शुभा च सुभगा प्रेमाब्धिसंवर्धिनी।
गण्डे मण्डितकुण्डला कटितटे धत्ते मुदा किङ्किणीं
लीलाकाञ्चनदेहिनी विजयते वृन्दावनस्थायिनी॥
शुद्धस्वर्णविडम्बिनी परिलसल्लावण्यसन्मोहिनी
नानारत्नविलासिनी मधुरिमाधाराधरे वंशिनी।
कृष्णप्रेमतरङ्गिणी निरवधि प्रेमामृतालापिनी
श्यामप्रेमविनोदिनी विजयते राधा सुधादेहिनी॥

परम प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति होनेवाले मधुर प्रेमको 'मधुरा रति' कहते हैं। यह मधुरा रति तीन प्रकारकी होती है—'साधारणी', 'समञ्जसा' और 'समर्था'।

साधारणी रतिमें स्व-सुख-वासनारूप सम्भोगेच्छा रहती है, पर उसीके साथ कुछ श्रीकृष्ण-सुखेच्छाका भी उदय हो जाता है, जैसा कुब्जामें हुआ। इसीलिये इसे भी रति कहा गया है, अन्यथा यह तो अग्राह्य ही है। समञ्जसा रतिमें श्रीकृष्ण-सुखेच्छा ही रहती है, परंतु कभी-कभी श्रीलक्ष्मी-रुक्मिणी आदिके सदृश पत्नीत्व-भावके कारण स्वसुखरूपा सम्भोगेच्छाका भी उदय हो जाता है, यद्यपि वह होता है बहुत ही सामान्य तथा अत्यन्त गौणरूपमें ही और वह भी फलतः श्रीकृष्णसुखके लिये ही। समर्था रति एकमात्र कृष्ण-सुखेच्छामयी होती है। उसमें स्व-सुख-वासनाका कहीं

कभी गन्धलेश भी नहीं रहता । जैसे अत्यन्त कठिन लौहखण्डमें सूईकी नोक प्रवेश नहीं कर सकती, वैसे ही समर्था रतिमें एकमात्र और एकमात्र श्रीकृष्ण-सुख-वासनाके अतिरिक्त अन्य किसी भी वासनाका तनिक-सा भी उदय कभी नहीं हो सकता । इसीसे 'समर्था रति'को प्रगाढ़तमा रति कहा जाता है । अचिन्त्यानन्तसौभाग्यशालिनी, परमोज्ज्वल त्यागकी सजीव मूर्ति श्रीव्रज-सुन्दरियोंमें एकमात्र समर्था रतिका ही पूर्ण प्रकाश है । यह समर्था रति महाभावकी अन्तिम सीमातक पहुँचती है । इसमें किसी प्रकारकी लौकिक, पारलौकिक या पारमार्थिक स्व-सुख-वासनाका अथवा अन्य किसी भी वासनाकी कल्पनाका तनिक भी संस्पर्श नहीं है । अतएव समर्था रतिमयी श्रीगोपाङ्गनाओंका 'कृष्ण-सुखैकतात्पर्यरूप' प्रेम ही सबकी अपेक्षा तथा सर्वतोभावेन श्रेष्ठतम है । इन सम्पूर्ण व्रज-गोपियोंमें भी श्रीराधाका प्रेम सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि एकमात्र श्रीराधामें ही समर्था रतिकी चरम परिणति 'मादनाख्य महाभाव' की नित्य प्रतिष्ठा है ।

इस समर्था रतिमें भोग-सुखका कल्पनालेश भी नहीं है । ह्लादिनी शक्तिकी वृत्तिविशेषके द्वारा श्रीकृष्ण और व्रज-सुन्दरियोंके पारस्परिक प्रीतिविधानका नाम ही 'रमण' है । यहाँ 'रमण' शब्दसे श्रीकृष्ण या श्रीव्रजगोपियोंमें किसी हेय अर्थकी कल्पना करना सर्वथा अज्ञान एवं महापातक है । श्रीकृष्णका महाभागा श्रीव्रजसुन्दरियोंमें दिव्य स्वरूप-वितरण तथा श्रीव्रजसुन्दरियोंकी परम प्रियतम श्रीकृष्णकी सुख-सम्पादन-स्वरूपता— परस्परका यह रसास्वादन ही 'रमण' है ।

इन श्रीगोपाङ्गनाओंमें 'नित्यसिद्धा' और साधन-सिद्धा— प्रधानतया ये दो भेद हैं । जो अनादिकालसे कान्ताभावसे श्रीकृष्णकी सेवामें ही लगी हैं, वे 'नित्यसिद्धा' हैं । वे स्वरूपतः ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा अभिव्यक्ति हैं, और जो तपादि तीव्र तथा कठोर तप-साधनाके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके अथवा श्रीराधा-माधवकी विशेष अनुकम्पासे दुर्लभ गोपीपदको प्राप्त होकर नित्यसिद्धाओंके साथ श्रीकृष्णकी अनन्य प्रेममयी सेवा करती हैं, वे 'साधन-सिद्धा' हैं ।

सेवाके प्रकार-भेदसे इन गोपसुन्दरियोंके प्रधानतया दो भेद हैं—'सखी' और 'मञ्जरी' । जो अपने अङ्गादिके द्वारा श्रीराधाकी समजातीय सेवाके द्वारा परम प्रियतम नित्य-अचिन्त्यानन्त आनन्दघन, अखिलरसामृतसिन्धु, अचिन्त्यानन्तविरुद्धधर्माश्रय भगवान् श्रीकृष्णका आनन्द-विधान करती हैं, वे 'सखी' कहलाती हैं—जैसे श्रीललिताजी, विशाखाजी आदि । ये सभी अभिन्नरूपा स्वरूप-शक्तियाँ ही हैं । और जो स्वयं नायिकात्वका कभी स्वीकार नहीं करतीं, श्रीकृष्णाङ्ग-सङ्ग-वाञ्छासे नित्य विरत रहकर नित्य-निरन्तर केवल श्रीराधा-सौख्याभिलाषिणी ही रहती हैं और श्रीराधा-माधवके मधुर मिलन तथा सेवाकी अनुकूलताके द्वारा ही नित्य-निरन्तर उनके सुख-सम्पादनमें ही अपनेको नियोजित एवं संलग्न रखती हैं—वे 'मञ्जरी' कहलाती हैं । ये परम त्यागमूर्ति महामहिमामयी मञ्जरियाँ श्रीकृष्ण-प्राणा श्रीराधाजीकी अत्यन्त प्रिय किंकरी तथा अन्तरङ्ग सेवाकी परम अधिकारिणी हैं । श्रीराधा-माधवकी कुञ्ज-सेवाके अत्यन्त गोपनीय स्थानोंमें भी ये निस्संकोच प्रवेश करती हैं । ललितादि समस्नेहा नायिका-प्राया सखियोंको यह अधिकार प्राप्त नहीं है । अन्तरङ्ग सेवामें इन श्रीराधा-स्नेहाधिका मञ्जरियोंका ही पूर्णाधिकार है । इन मञ्जरियोंके भी दो भेद हैं—'प्राणसखी' और 'नित्यसखी' । श्रीराधाजीकी स्नेहाधिका मञ्जरियाँ 'नित्यसखी' हैं और इनमें जो मुख्य हैं, वे 'प्राणसखी' कहलाती हैं । नित्य सखियाँ प्राणसखियोंके अनुगत रहकर सर्वविध अन्तरङ्ग सेवामें अपनेको नियोजित रखती हैं । मणिमञ्जरी, कस्तूरीमञ्जरी आदि मुख्य नित्यसखियाँ हैं और गुणमञ्जरी, रतिमञ्जरी, रूपमञ्जरी, अनङ्गमञ्जरी आदि प्राणसखियाँ । महान् सौभाग्यवती मुनिजनवन्दिता ये मञ्जरी सखियाँ समस्नेहा नायिकाप्राया ललितादि सखियोंकी अपेक्षा छोटी अवस्थाकी होती हैं । इनमें भी नित्यसिद्धा एवं साधनसिद्धा दोनों ही प्रकारकी सखियाँ हैं । निकुञ्जसेवामें प्रवेश इन श्रीराधा-स्नेहाधिका मञ्जरियोंके अनुग्रह एवं इनके भावोंके आनुगत्य-द्वारा ही होना सम्भव है ।

इन सखी-मञ्जरी आदि श्रीगोपाङ्गनाओंकी बात यहाँ इसीलिये कही गयी है कि इनका प्रेम कामगन्धलेशशून्य, परम पवित्र, सर्वथा विशुद्ध, त्यागमय, केवल श्रीकृष्ण-सुखेच्छामय, सुतरां अत्यन्त उच्च कोटिका है । यही मधुरा रतिका परमोज्ज्वल स्वरूप है । इस मधुरा रतिका मूल निर्झर है—श्रीराधाजी, जिनके साहचर्यसे मधुरातिमधुर स्वयं श्रीकृष्ण नित्य लालायित हृदयसे इस मधुर रसका आस्वादन करते हैं । सखी-मञ्जरी तो उसकी परिपुष्टि और विविध विचित्रताओंका केवल विधान करती हैं । श्रीकृष्णका वास्तविक सुख-प्रीति-विधान करनेवाली तो एकमात्र श्रीराधाजी ही हैं ।

श्रीराधाजी स्वरूपतः श्रीकृष्ण-प्रेमकी एक घनीभूत नित्य चेतन स्थिति हैं। ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधिका स्वयं मादनाख्य महाभावस्वरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष मूर्तिमान् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम प्रेमकी एकमात्र आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी पवित्रतम नित्य-सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्द-विधान ही जिनका एकमात्र कार्य है, वे श्रीकृष्ण-कान्तागणमें सर्वश्रेष्ठ तथा सबकी परमाधाररूपिणी हैं।

श्रीराधा पूर्ण शक्ति हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद तथा अभेद दोनों ही माने जाते हैं। अभेदरूपमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं। और वे ही लीला-रसास्वादनके लिये अनादिकालसे नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों ही परम प्रेमस्वरूप होनेपर भी, लीलारसकी विशेष पुष्टिके लिये श्रीराधामें ही प्रेमकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है।

इसीसे श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य-रसरूप, अचिन्त्यानन्त-रस-सदन, अखिलरसामृतमूर्ति होनेपर भी श्रीराधिकाके प्रेममें उन्मत्त रहते हैं। वे कहते हैं—

कहत स्याम निज मुख सदा, हौं चिन्मय परतत्त्व।
पूर्न ग्यानमय, पै न लखि पायौ प्रिया-महत्त्व॥
रहै सदा बरबस लग्यौ राधा में मन मोर।
रहौं प्रेम-बिह्वल सदा लखि राधा चितचोर॥
राधा-प्रेम अगाध निधि पर्‌यौ रहौं दिन रात।
बिबिध बीचि सँग मधुर नित नाचौं प्रमुदित गात॥
रहत लोभ मो मन सदा, पाऊँ राधा-प्रेम।
दुर्लभ दोष-रहित परम सुचि ज्यौं निर्मल हेम॥
राधा-प्रेमास्वादकी महिमा अमित अपार।
मो सुख ते कोटिन गुनौ वा में सुख-बिस्तार॥

'मैं चिन्मय परतत्त्व हूँ, मैं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ; परंतु मैं प्रियतमा श्रीराधाके महत्त्वका पता नहीं पा सका। मेरा मन निरन्तर बरबस राधामें लगा रहता है। राधाने मेरे चित्तको चुरा लिया है। अतएव मैं सदा राधाके प्रेममें विह्वल रहता हूँ। मैं दिन-रात राधाके अगाध प्रेम-समुद्रमें पड़ा हुआ उसकी मधुर-मधुर विविध लहरियोंके साथ नित्य प्रमुदित मनसे नाचता रहता हूँ। मेरे मनमें सदा यह लोभ लगा रहता है कि मैं भी राधाके सदृश प्रेम प्राप्त करूँ। राधाका वह प्रेम निर्मल स्वर्णकी भाँति दोषरहित, दुर्लभ और परम पवित्र है। राधा जिस प्रेमका आस्वादन करके जो सुख प्राप्त करती है, उस सुखका विस्तार मेरे सुखसे करोड़ों गुना अधिक है।'

इसका अभिप्राय यह है कि श्रीराधाजी जिस 'आश्रय'-निष्ठ प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं, उन्हें उसमें जो सुख मिलता है, वह सुख, श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे राधाके द्वारा सेवा करवाकर जिस प्रेम-सुखका आस्वादन करते हैं, उससे करोड़ों गुना अधिक है। इससे श्रीकृष्ण चाहते हैं कि "मैं प्रेमका 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ तथा श्रीराधाजी प्रेमका 'विषय' बनें तो मैं उनकी सेवा करके उनके सदृश सुख प्राप्त करू।"

जैसे श्रीकृष्ण परस्परविरुद्धधर्माश्रय हैं, वैसे ही श्रीराधाका प्रेम भी विरुद्धधर्माश्रय है। कहा गया है—

विभुरपि कलयन् सदाभिवृद्धिं गुरुरपि गौरवचर्यया विहीनः।
मुहुरुपचितवक्रिमापि शुद्धो जयति मुरद्विषि राधिकानुरागः॥
(दानकेलिकौमुदी)

'विभु (पूर्ण) होनेपर भी सदा वर्धनशील, गुरु (सर्वोत्कृष्ट) होनेपर भी गौरव—अहंकार आदिसे रहित और बढ़ी हुई वक्रिमाके होते हुए ही जो शुद्ध (निर्मल) है—मुरारि श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधिकाका जो ऐसा अनुराग है वह सदा विजयशाली है।'

श्रीराधाका प्रेम चिच्छक्तिकी वृत्ति है। चिच्छक्ति विभु—पूर्ण है, वह असीम तथा सर्वव्यापक है। अतएव श्रीराधाका प्रेम भी विभु, पूर्ण, असीम तथा सर्वव्यापक है। जो असम्पूर्ण होता है, वही बढ़कर सम्पूर्णताको प्राप्त होता है। परंतु जो पूर्ण है, उसमें कभी वृद्धि सम्भव नहीं। अतएव राधाप्रेम भी विभु होनेके कारण उसमें वृद्धिके लिये अवकाश नहीं है। जहाँ प्रेमका चरम विकास है, उसीको 'विभु' प्रेम कहा जाता है। 'मादनाख्य महाभाव'में ही प्रेमका पूर्ण विकास है। इसी मादन-प्रेम-समुद्रमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग आदिकी तथा इनके अन्तरस्थ अनन्त विचित्र भावोंकी अचिन्त्यानन्त-रससुधामयी विविध विचित्र तरङ्गें उठा करती हैं। अतएव यह मादनाख्य महाभाव ही विभु प्रेम है। यही राधाके प्रेमकी विशिष्टता है। इस प्रकार उस विभु प्रेममें वृद्धिकी तनिक भी सम्भावना न होनेपर भी वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्'।

यह श्रीराधा-प्रेमकी परस्पर-विरुद्धधर्माश्रयताका ही एक प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

दूसरे, मादनाख्य महाभाव रूप श्रीराधा-प्रेमके सदृश श्रेष्ठ या महान् वस्तु कोई है ही नहीं । 'मादनोऽयं परात्परः ।' इतना गौरवमय होनेपर भी श्रीराधाप्रेम मदीयतामय मधुर स्नेहसे उदित होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्य-गन्धरहित है । वह न तो गौरव चाहता है और न मानता ही है । सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी उसमें अहंकारादिका लेश नहीं है । श्रेष्ठ वस्तुमें प्रायः श्रेष्ठत्वका अभिमान होता है, पर राधा-प्रेममें वह तनिक भी नहीं है । यह भी राधाप्रेमके विरुद्धधर्माश्रयत्वका एक उदाहरण है ।

श्रीराधाका प्रेम अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध, सरल और श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखरूप है । मन, प्राण—सब कुछ देकर सर्वतोभावेन श्रीकृष्णका सुख-विधान ही उसकी प्रत्येक सहज चेष्टाका स्वरूप है । अतएव ऐसे प्रेममें वामता या वक्रताके लिये कहीं भी स्थान नहीं होना चाहिये । तथापि इतने सुनिर्मल राधाप्रेममें भी वामता या वक्रता दिखायी देती है, यह भी राधाप्रेमके विरुद्धधर्माश्रयत्वका एक उदाहरण है । परंतु इस वामता या वक्रतासे राधाप्रेमकी पूर्णतम निर्मलतामें तनिक भी हानि नहीं होती । हानि होती है विजातीय वस्तुके सम्मिश्रणसे, जैसे जलमें कीचड़-कूड़ा आदि मिलनेपर जलकी निर्मलतामें हानि होती है; पर राधाका यह वामभाव और वक्रता प्रेमसे भिन्न-जातीय कोई पृथक् वस्तु नहीं है । समुद्रमें तरङ्गोंकी भाँति ये प्रेमकी ही तरङ्गविशेष हैं । इनके उदयसे प्रेम मलिन नहीं होता, वरं उसकी उज्ज्वलता तथा आस्वादन-चमत्कारिता और भी बढ़ जाती है ।

श्रीराधिकाका मादनाख्य महाभाव ही विभु परमानुराग है, यह राधाप्रेमका एक विशिष्ट रूप है । इस प्रेमका 'आश्रय' हैं श्रीराधिकाजी । श्रीकृष्ण 'विषय' हैं । जिसमें प्रेम होता है और जो प्रेमके साथ सेवा करता है, उसको कहा जाता है प्रेमका आश्रय । और जिसके प्रति प्रेमका प्रयोग किया जाता है या जिसकी प्रेमके साथ सेवा की जाती है, वह कहलाता है—प्रेमका विषय । श्रीराधिकाजीमें मादनाख्य महाभाव या प्रेम है और वे ही इस प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं । अतएव प्रेमका 'आश्रय' हैं—श्रीराधिकाजी और प्रेमके 'विषय' हैं—सेवा स्वीकार करनेवाले श्रीकृष्ण । श्रीराधाके सिवा किसी भी श्रीकृष्ण-प्रेयसीमें इस जातिका परमोत्कृष्ट प्रेम नहीं है । श्रीराधिकाजी ही इस मादनाख्य विभु प्रेमकी एकमात्र अधिकारिणी हैं ।

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ॥
(उ० नी०)

प्रेमके विकासमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—ये कई स्तर हैं । महाभावके भी मोदन और मादन दो भेद हैं ।

प्राकृत मन-इन्द्रियको चरितार्थ करनेवाले नीच कामकी तो यहाँ कल्पना ही नहीं है । काम प्राकृत चित्तकी एक वृत्ति है, जो विषयासक्त लोगोंके मनमें प्रकट होती है, जो सदा-सर्वदा केवल 'निजसुख-वाञ्छा' रूप ही होती है तथा जिसमें त्यागरूप पवित्रताका लेश भी नहीं है ।

विषयी-जन-मनमें प्रकट प्राकृत बृत्ति बिसेस ।
निजसुख-बांछारूप सो 'काम' न सुचिता-लेस ॥

उपर्युक्त स्नेह आदिका संक्षिप्त रूप यह है—

१. प्रेम—

सुद्ध सत्त्वकी वृत्ति जो कृष्ण-सुखेच्छारूप ।
त्यागी जन-मनमें उदित 'प्रेम' पवित्र अनूप ॥

२. स्नेह—

प्रेम विषय कौं प्राप्त कर द्रवित करै जब चित्त ।
'स्नेह' कहावत सोइ तब, प्रेमीजन कौ बित्त ॥
बढ़त उष्नता-ज्योति जब घृत पूरन हो दीय ।
दरस-लालसा बढ़त त्यौं स्नेह-उदय तें हीय ॥

३. मान—

अति नूतन माधुर्य कौ अनुभव जा में होय ।
नेह पाइ उत्कर्षता 'मान' कहावत सोय ॥
भाव छिपावन हृदय कौ बनै बक्र अरु बाम ।
सुख उपजावत स्याम कौ धारि मान मधु नाम ॥

४. प्रणय—

ममताकी अति बृद्धि तैं मान पाइ उत्कर्ष ।
प्रिय सौं होय अभिन्नता, बढ़त हृदय अति हर्ष ॥
प्रान-बुद्धि-मन-देह जब, असन-बसन सब काम ।
रहै न प्रिय सौं पृथक् कछु, होत 'प्रनय' तब नाम ॥

५. राग—

स्याम-मिलनकी आस में दुःख परम सुख होय ।
अमिलन में भासत सकल सुख अति दुखमय सोय ॥
प्रनय पाय उत्कर्ष जब या स्थिति पहुँचै जाय ।
नाम 'राग' तब धरत सो पावन प्रीति सुभाय ॥

६. अनुराग—

प्रतिपल नव दीखत जबै स्याम नित्य-अनुभूत ।
नित नव सुंदरतर, सरस, परम मधुर, अति पूत ॥
पाय परम उत्कर्षता बढ़त अमित जब राग ।
प्रगटत लच्छन सहज अस धरत नाम 'अनुराग' ॥

७. भाव—

प्रान त्याग हूँ तैं कठिन दुःख तुच्छ जब होय ।
कृष्न-प्राप्ति हित लगत जब मधुर परम सुख सोय ॥
स्याम-मिलन अरु स्याम-सुख हित अति मन में चाव ।
बढ़त, बढ्यौ अनुराग सोइ धरत नाम सुभ 'भाव' ॥

८. महाभाव—

भाव सिखर जब उच्चतम पहुँचत सहजहिं जाय ।
'महाभाव' सो मधुरतम परम बिमल मन भाय ॥
महाभाव के दो परम स्तर उज्ज्वल सुचि हेम ।
'मोदन'-'मादन' नाम धरि प्रगटत पूरन प्रेम ॥
महाभाव मादन परम दुर्लभ सहज सुतंत्र ।
केवल राधा में प्रगट कबहुँ न कहुँ अन्यत्र ॥

विषयभोगोंके त्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी श्रीकृष्ण-सुखेच्छारूप जिस पवित्र अनुपम वृत्तिका उदय होता है, वह 'प्रेम' है ।

वह प्रेम अपने विषय (श्रीकृष्ण) को पाकर जब चित्तको द्रवित कर देता है, तब प्रेमीजनके उस धनको 'स्नेह' कहा जाता है । दीपक जब घृतसे पूर्ण होता है, तब उसमें जैसे उष्णता और ज्योति बढ़ती है, वैसे ही स्नेहके उदयसे हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी लालसा बढ़ती है ।

जिसमें अत्यन्त नवीन माधुर्यका अनुभव होता है, 'स्नेह' के ऐसे उत्कर्षको 'मान' कहा जाता है । श्रीश्याम-सुन्दरको अधिक सुख देनेके लिये हृदयके भावको छिपाकर जो वक्रता और वामता प्रकट होती है, उसी मधुर स्थितिका नाम 'मान' है ।

ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे जब मान उत्कर्षको प्राप्त करता है, तब प्रियतमसे अभिन्नता बढ़ जाती है और हृदयमें अत्यन्त हर्ष छा जाता है । इससे प्राण, मन, बुद्धि, शरीर तथा खान-पान, वस्त्राभूषण आदि सभीमें प्रियतमसे कुछ भी पृथक्ता नहीं रह जाती, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है ।

श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशामें जब दुःख ही परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अत्यन्त दुःखमय दिखलायी देने लगते हैं—यों प्रणय जब उत्कर्षको प्राप्त होकर इस स्थितिपर पहुँच जाता है, तब सहज ही उस पावन प्रेमका नाम 'राग' होता है ।

जब नित्य अनुभूत श्रीकृष्ण पल-पलमें नये दिखायी देते हैं, प्रतिपल जब वे अधिकाधिक अत्यन्त पवित्र, सुन्दर, सरल और परम मधुर दिखायी देते हैं, राग जब परम उत्कर्षको प्राप्त होकर असीम रूपसे बढ़ जाता है, तब जो ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, वे 'अनुराग' नाम धारण करते हैं।

जब प्राणत्यागसे भी अधिक कठिन दुःख अत्यन्त तुच्छ हो जाता है, बल्कि श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय हो जाता है और श्रीकृष्णके मिलनके तथा उनके सुखके लिये जब मनमें अत्यन्त चाव बढ़ जाता है, वह बढ़ा हुआ अनुराग ही शुभ 'भाव' नाम धारण करता है ।

यह भाव जब सहज ही उच्चतम स्तरपर पहुँच जाता है, तब उस मधुरतम, परम निर्मल मनभावन भावको 'महाभाव' कहते हैं । इस महाभावके उज्ज्वल पवित्र स्वर्णसदृश 'मोदन' तथा 'मादन' नामक दो सर्वोच्च स्तर हैं, जिनसे पूर्ण प्रेमका प्राकट्य होता है । इनमें 'मादन' नामक महाभाव परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है । उसका केवल श्रीराधाजीमें ही प्राकट्य है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

उपर्युक्त स्नेहसे मोदनतक सभी स्तर श्रीकृष्णमें और सम्पूर्ण व्रज-सुन्दरियोंमें—मधुर-भावापन्न गोपियोंमें हैं । व्रज-सुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरोंके प्रेमसे श्रीकृष्णकी नित्य सेवा करती हैं, अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'विषय' हैं; साथ ही प्रेमके ये सारे स्तर श्रीकृष्णमें भी हैं, अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'आश्रय' भी हैं । परंतु मादनाख्य महाभाव श्रीराधामें ही है । अतएव इसका 'आश्रय' एकमात्र वे ही मानी जाती हैं। जितना श्रीकृष्णको राधाजीके द्वारा प्रेमकी सेवा प्राप्त करनेमें सुख मिलता है, श्रीकृष्णको सुखी देखकर उससे करोड़ों गुना अधिक सुख राधाजीको प्राप्त होता है । इसीलिये

श्रीकृष्ण चाहा करते हैं कि इस प्रेमका मैं 'आश्रय' बनूँ और राधिकाजी 'विषय' बनें ।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी—उनकी सौन्दर्य-माधुरी इतनी मधुरतम, अद्भुत, अनन्त और अतुलनीय है कि न तो उसकी कहीं सीमा है, न कहीं किसी अल्पांशमें भी तुलना है और न उसका पूर्ण आस्वादन ही किसीके लिये सम्भव है—यहाँतक कि सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण स्वयं भी उस अपनी सौन्दर्यमाधुरीका आस्वादन करनेमें समर्थ नहीं हैं । अपने पूर्ण नित्यवर्द्धनशील मादनाख्य महाभावरूप प्रेमके द्वारा एकमात्र श्रीराधा ही उसका नित्य निरन्तर सम्पूर्णास्वादन करती रहती हैं ।

यह प्रेमका परमोज्ज्वल तथा परमोत्कृष्ट स्वरूप नित्यानन्त है ।

सभी जानते हैं क्षुधा निवृत्त हो जानेपर भोजनमें रुचि या प्रीति नहीं रहती । अथवा यदि भूख पूरी मिटनेके पहले ही भोजन-वस्तु समाप्त हो जाती है तो भोजनकी इच्छा पूर्ण न होनेके कारण भोजनकी एक कष्टमयी उत्कण्ठा बनी रहती है । पर यहाँ ये दोनों बातें नहीं हैं; क्योंकि न तो श्रीराधाकी मादनाख्य महाभावमयी माधुर्यास्वादनमयी स्पृहा ही कभी निवृत्त होती है और न श्रीकृष्णका माधुर्य ही सम्पूर्णरूपसे आस्वादित होकर कभी समाप्त होनेवाला है । श्रीराधाके लिये श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी स्पृहा निवृत्त हो जाय, इसकी तो कल्पना भी नहीं है । कारण, प्रेम निवृत्त हो तब कृष्णमाधुर्यास्वादनकी इच्छा निवृत्त हो; सो राधाका प्रेम विभु होनेपर भी प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, अतः प्रतिक्षण ही उसमें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी नित्य-नूतन योग्यता एवं स्पृहा बढ़ती रहती है । इसी प्रकार ज्यों-ज्यों श्रीराधिकामें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनके द्वारा आस्वादनका माधुर्य तथा आस्वादनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों श्रीकृष्णका माधुर्य भी उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, उसमें पल-पल नित्य नये-नये माधुर्यका एवं नित्य नयी-नयी माधुर्य-विचित्रताओंका विकास होता रहता है ।

श्रीराधिकाजीका काम-गन्धहीन, स्वसुख-वाञ्छा-वासना-कल्पनागन्धसे सर्वथा रहित केवल कृष्ण-सुख-तात्पर्यमय विशुद्ध प्रेम निर्मल दिव्य दर्पणके समान है । जिसमें समीपकी वस्तुका प्रतिबिम्ब दिखायी दे, उसे 'दर्पण' कहते हैं । दर्पणमें यह एक विशेषता है कि किसी ज्योतिर्मयी—चमकदार वस्तुके सामने आनेपर दर्पण भी ज्योतिर्मय या चमकदार बन जाता है और दर्पणमें प्रतिफलित ज्योति—दर्पणपर पड़ी हुई चमक उस ज्योतिर्मय—चमकदार वस्तुपर पड़कर उसे और भी अधिक ज्योतिर्मय—चमकदार बना देती है । वैसे ही निर्मल दर्पणके सदृश श्रीराधाका विशुद्ध महाभावरूप प्रेम श्रीकृष्णके परमोज्ज्वल माधुर्यको ग्रहण करता है । निर्मल दर्पणमें जैसे वस्तुका अविकल प्रतिबिम्ब आ जाता है, उसमें कहीं भी तनिक-सी भी त्रुटि नहीं दीखती, वैसे ही स्व-सुख-वाञ्छाहीन या कामगन्धरहित विशुद्ध राधा-प्रेम भी श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण माधुरीका पूर्णरूपसे आस्वादन करता है और श्रीकृष्ण-माधुरीकी जगमगाती ज्योति श्रीराधाप्रेमरूप दर्पणको और भी अधिक स्वच्छ एवं ज्योतिर्मय बना देती है । इसी प्रकार श्रीराधाप्रेमरूप दर्पणमें प्रतिफलित ज्योति अनवरत रूपसे श्रीकृष्णके माधुर्यपर पड़ती एवं उसे और भी अधिक उज्ज्वल ज्योतिर्मय बनाती रहती है । यों श्रीकृष्णके माधुर्यसे श्रीराधाका प्रेम बढ़ता रहता है और श्रीराधाप्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य बढ़ता रहता है । दोनों ही मानो होड़ लगाकर एक-दूसरेको परास्त करनेके लिये उत्तरोत्तर प्रबलशक्ति होते रहते हैं, पर हारता कोई भी नहीं !

प्रश्न हो सकता है कि 'श्रीकृष्ण तो सबके सामने एक-से ही हैं; फिर क्या कारण है कि श्रीकृष्णके माधुर्यका श्रीराधा ही पूर्णतया आस्वादन करती हैं, सब लोग नहीं कर पाते ?' इसका एकमात्र कारण है—श्रीराधाका प्रेम ही पूर्णतमरूपसे विकसित है, दूसरोंका नहीं है ।

वस्तुके सामने होनेसे ही वह सबको दिखायी दे और सबको एक-सी ही दिखायी दे, यह कोई नियम नहीं है । प्रथम तो जिसकी दृष्टिशक्ति होती है, वही देख सकता है, अंधा नहीं देख सकता । वह सुनता-सूँघता है, पर देख नहीं पाता । फिर जिनके दृष्टिशक्ति है, वे भी दृष्टिशक्तिकी न्यूनाधिकताके अनुसार वस्तुको देख सकते हैं । आकाशमें चन्द्रमाका उदय होनेसे ही वह अंधेको भी दिखायी देगा या हीनदृष्टिवालेको भी पूर्ण दृष्टिवालेकी भाँति सुस्पष्ट दिखायी देगा—यह आवश्यक नहीं है । इसी प्रकार जिसमें श्रीकृष्णके प्रति निर्मल मधुर-प्रेम होगा, वही श्रीकृष्णके माधुर्यका आस्वादन कर सकेगा । ऐश्वर्योपासकको माधुर्य नहीं दीखेगा । फिर मधुर प्रेमवालोंमें भी जिसका जिस मात्रामें प्रेम होगा, उसी मात्रामें वह माधुर्यका आस्वादन करेगा । अन्यान्य व्रजवासी ही नहीं, मधुरभावमयी श्रीगोपाङ्गनाओंमें भी सबका

श्रीकृष्णके प्रति एक-सा प्रेम नहीं है, एवं श्रीराधा-सदृश पूर्णतम प्रेम तो है ही नहीं। इसलिये वे लोग अपने प्रेमके अनुसार ही श्रीकृष्णका माधुर्यास्वादन कर सकती हैं। श्रीराधाकी भाँति पूर्णतम रूपसे श्रीकृष्ण-माधुर्यका आस्वादन कभी न कोई कर सका है और न कर ही सकेगा; क्योंकि जैसे श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, वैसे ही श्रीराधा ही सर्वशक्तिगरीयसी 'स्वयं भगवत्स्वरूपा' शक्ति हैं। अतः उन्हींमें प्रेमका अचिन्त्यानन्त पूर्ण प्रकाश है ('राधायामेव यः सदा')। इसीसे केवल वे ही पूर्ण माधुर्यास्वादन कर पाती हैं और उनका यह बढ़ता हुआ माधुर्यास्वादन सहज ही प्रतिक्षण श्रीकृष्ण-माधुरीको बढ़ाता ही रहता है।

इसी प्रकार सुखको लेकर भी दोनोंमें परस्पर होड़ लगी रहती है। अपनी सेवासे जब श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी देखती हैं, तब उनका सुख श्रीकृष्णके सुखसे करोड़ों गुना अधिक बढ़ जाता है और श्रीकृष्ण जब प्रियतमा श्रीराधाको इतना महान् सुखमय देखते हैं, तब उनके अनन्त अगाध सुखसमुद्रमें बाढ़ आ जाती है। पर श्रीराधाके इस सुखानुभवमें उनकी अपनी सुख-कामना-कल्पनाका भी लेश नहीं है। श्रीराधाजी यह सुखानुभव—सुखोपभोग करती हैं—केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही।

इस एकमात्र परम त्यागमय, परम समर्पणमय, परम रसमय, परम प्रियतम-सुख-तात्पर्यमय विशुद्ध प्रेमका जिसके जीवनमें आत्यन्तिक प्राकट्य है, वही गोपी है। और इन समस्त भावोंका जो मूल उत्स हैं, जिनके स्वरूपभूत परम महाभावसे ही इन समस्त भावोंका उदय, उत्तरोत्तर विकास एवं नित्य आस्वादन सम्भव है, जो श्रीकृष्ण-प्रेयसी-जनोचित गुणोंका उद्भवस्थान है, जिनकी दिव्य गुणावलि ही समस्त विशुद्ध प्रेममयी प्रेयसियोंके मधुर निर्मल सद्गुणोंकी मूल है, जिनके कारण ही परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण इन परम मधुर रसमयी भावलीलाओंमें सब कुछ भूलकर नित्य निरन्तर लीलायमान रहते हैं, जिनकी छायारूपी गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े भगवत्स्वरूप महान् देवता, ज्ञानी-विज्ञानी, ऋषि-मुनि नित्य लालायित रहते हैं, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम ज्ञानसम्पन्न श्रीउद्धवजी जिनके पद-रज-कणके लिये जड लता-गुल्मौषधि बनना चाहते हैं और जिनकी रूप-गुण-माधुरीपर सर्वाकर्षक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नित्य आकर्षित रहते हैं—**वे हैं श्रीराधाजी !**

श्रीराधाजीका क्या स्वरूप है और श्रीकृष्णके साथ उनका क्या सम्बन्ध है, इसे संक्षेपमें इस प्रकार सोचिये-देखिये—

कृष्णमना, श्रीकृष्ण-मति, कृष्णजीवना शुद्ध।
कृष्णेन्द्रिया, सुचारु शुभ, कृष्णप्रिया विशुद्ध॥
कृष्ण-कथा मुखमें सदा, कृष्ण-नाम-गुण-गान।
कृष्ण सुभूषण श्रवण शुचि, कृष्ण-गुण-निरत कान॥
कृष्ण-रूप-मधु नेत्रमें, नासा कृष्ण-सुगन्ध।
कृष्ण-सुधा-रस रसमयी रसना नित निर्बन्ध॥
कृष्ण-स्पर्श संलग्न नित अंग बिना व्यवधान।
कृष्ण-मधुर-रस कर रहा मन अतृप्त नित पान॥
नित्य कराती श्यामको मधुर अमिय रस पान।
नित्य पूर्ण करती सभी श्याम-काम रख ध्यान॥
श्याम-प्रेम शुचि रत्नकी अमित मनोहर खान।
श्याम-सुखकरण गुण अमित अनुपम नित्य निधान॥
भीतर बाहर पूर्ण नित सुन्दर श्याम सुजान।
दीख रहा सब श्याममय, नित नव मधुर महान॥
विश्वविमोहन श्यामकी मनमोहनि रसधाम।
श्याम-चित्त-उन्मादिनी श्यामा दिव्य ललाम॥

श्रीराधाके स्वरूपगुण अचिन्त्यानन्त हैं। उनका वर्णन तो दूर रहा, चिन्तन भी असम्भव है। यह तो केवल एक बाह्य संकेतमात्र है और यह भी उनकी कृपाका ही सुन्दर परिणाम है।

पर वस्तुतः जितने भी महान् गुण, भावोंके अवान्तर भेद तथा भावोंके परमोच्च स्तर आदि हैं, जिनका किसी प्रकार भी वाणीके द्वारा वर्णन अथवा चित्तके द्वारा चिन्तन हुआ है, हो सकता है, नित्याचिन्त्य-भावमयी श्रीराधा उन सभी भावोंसे अतीत निज महिमामें नित्य स्थित हैं। ये सब भाव आदि शाखाचन्द्र-न्यायसे उनका संकेतमात्र करते हैं।

जितने सब हैं भाव विलक्षण एक-एकसे उच्च उदार।
वे सब अति अभ्यन्तर होकर भी हैं बाह्य सरस व्यवहार॥
हैं वे परमादर्श पुण्यतम प्रेमराज्यके भाव महान।
मिलते हैं उनसे प्रेमास्पद प्रेष्ठ रूपमें श्रीभगवान॥
पर राधा स्वरूपतः बँधी न उनसे किंचित् कभी कहीं।
एक श्यामके सिवा तत्त्वतः राधामें कुछ और नहीं॥
राधा नित्य श्यामकी मूरति, नहीं अन्य कुछ भावाभाव।
राधा श्याम, श्याम राधा हैं, अन्य तत्त्वका नित्य अभाव॥

'जितने भी ये प्रेमराज्यके एक-से-एक उच्च, विलक्षण

और उदार भाव हैं, वे सभी अत्यन्त आभ्यन्तरिक होनेपर भी बाह्यरसपूर्ण व्यवहार ही हैं। निश्चय ही वे परम आदर्श हैं, पवित्रतम हैं और महान् हैं। उन भावोंके द्वारा प्रेमास्पद श्रीभगवान् प्रियतमके रूपमें प्राप्त हो सकते हैं; परंतु श्रीराधाजी स्वरूपतः उन भावोंमें कभी किंचित् भी बँधी नहीं हैं। एक श्यामसुन्दरके अतिरिक्त तत्त्वतः श्रीराधामें और कुछ है ही नहीं। श्रीराधा नित्य श्रीश्यामसुन्दर हैं और श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधा हैं, उनमें अन्य किसी भी तत्त्वका नित्य अभाव है।'

लीलाराज्यमें भी ये दोनों ही एक-दूसरेके प्रेमी प्रेमास्पद या आश्रय और विषय हैं। अनिर्वचनीय अचिन्त्य है इनकी रूपलीला-माधुरीका तत्त्व।

'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता नित्यशक्ति, नित्य दिव्य रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्णप्राणा, श्रीकृष्ण-आत्मा और साक्षात् श्रीकृष्ण-स्वरूपा इन्हीं श्रीराधाजीके मधुर मनोहर मङ्गलमय दिव्य अवतारका आज परम पुण्य दिवस है। हमलोग सभी धन्य हैं, जो इस घोर काम-कलुषमय कलियुगके कलङ्कपूर्ण परंतु कल्पनातीत परमोत्कृष्ट परमोज्ज्वल कालमें परम और चरम त्यागकी प्रत्यक्ष मूर्ति श्रीराधिकाजीके पुण्य-स्मरण करनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। श्रीराधाजीकी बात तो बहुत दूर, उनकी किंकरी किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र मञ्जरीके त्यागमय जीवनका जरा-सा प्रकाश भी हमारे जीवनपर पड़ जाय तो हम धन्यजीवन—सफलजन्म हो सकते हैं। प्रार्थना कीजिये—

निन्द्य नीच पामर परम, इन्द्रिय-सुखके दास।
करते निसिदिन नरकमय विषय-समुद्र निवास॥
नरक-कीट ज्यों नरकमें मूढ़ मानता मोद।
भोग-नरकमें पड़े हम त्यों कर रहे विनोद॥
नहीं दिव्य रस-कल्पना, नहीं त्यागका भाव।
कुरस, विरस, नित अरसका दुखमय मनमें चाव॥
हे राधे रासेश्वरी! रसकी पूर्ण निधान।
हे महान् महिमामयी! अमित श्याम-सुख-खान॥
पाप-ताप-हारिणि, हरणि सत्वर सभी अनर्थ।
परम दिव्य रसदायिनी पञ्चम शुचि पुरुषार्थ॥
यद्यपि हैं सब भाँति हम अति अयोग्य, अघबुद्धि।
सहज कृपामयि! कीजिये पामर जनकी शुद्धि॥
अति उदार अब दीजिये हमको यह वरदान।
मिले मञ्जरीका हमें दासी-दासी-स्थान॥

भजामि राधामरविन्दनेत्रां
स्मरामि राधां मधुरस्मितास्याम्।
वदामि राधां करुणाभरार्द्रां
ततो ममान्यास्ति गतिर्न कापि॥

बोलो श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा श्रीराधारानीकी जय जय जय!!

एक साधकके उद्गार

मेरे प्रभो! वह दिन कब होगा जब मेरा मन संसार—संसारके संग और सांसारिक भोगोंसे सर्वथा हट जायगा। जब संसार मेरे लिये रह ही नहीं जायगा। मेरा मन-मधुकर सदा-सर्वदा और सर्वथा केवल तुम्हारे पद-पद्मोंपर ही मँडराता रहेगा। उन्हींके मधुर मकरन्द रसका पान करनेमें प्रमत्त रहेगा।

अभी संसारके भोगपदार्थोंमें सुखबुद्धि बनी है। उनकी दुःखमयता और अनित्यताका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी उनके प्रति मनमें विराग नहीं होता। प्रभो! मेरी इस मोहनिशाका कब नाश होगा। कब तुम्हारे नित्य निर्मल प्रेम-भास्करके पावन प्रकाशसे मेरा चिरान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जायगा।

जिन प्राणी-पदार्थोंको मैं मेरा मानता-कहता हूँ, प्रभो! उनमें कौन मेरा है जो मेरे साथ आया है और साथ जायगा। मैं क्या कहूँ। अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण मैं सर्वथा असमर्थ हो रहा हूँ। मेरे पुरुषार्थसे कुछ भी नहीं होगा। यह बात मेरी समझमें आ गयी है, अब तो तुम्हीं दया करो और अपने सहज सुहृद्भावसे मुझे अपनाकर मेरे मोह-अरण्यमें आग लगा दो। मैं दीन-हीन हूँ—पर हूँ तुम्हारा ही। तुम्हींको सारी लाज है। तुम जब जैसे जो चाहो करो—पर मुझे सदा अपनाये रक्खो। मुझे यह अनुभव होता रहे—मैं तुम्हारा हूँ।

त्रिजटाने स्वप्न देखा

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिजीने अपने आदिकाव्यमें सुन्दर और वैज्ञानिक ढंगसे कई स्थलोंपर स्वप्नविज्ञानका प्रसंग उपस्थित किया है । स्वप्नविज्ञानका सम्बन्ध मनोविज्ञानसे होते हुए ही मानवके शरीर-विज्ञानसे भी है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—इन चार अवस्थाओंमें, स्वप्नावस्था अपना विशेष महत्त्व रखती है । भारतीय फलित ज्योतिषके आचार्योंने स्वप्नके ऊपर कई प्रकारसे विचार किया है । यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वप्नपर विचार करना अनावश्यक समझते हैं । भारतीय फलित ज्योतिषके आचार्य ही नहीं अपितु आयुर्वेदके आचार्योंने भी स्वप्नविज्ञानसे आयुर्वेदविज्ञानका सम्बन्ध स्थापित किया है । पहले समस्त एशिया एवं यूरोपके कतिपय देशोंमें स्वप्नसे भविष्य-फलपर विचारकी परम्परा प्रचलित थी । चरकाचार्य और सुश्रुतके प्रणेताने रोगियोंकी मृत्युके अन्यान्य कारणोंमें लक्षणोंकी पहचान करते समय रोगियोंके स्वप्नसे भी फल विचार करनेका उल्लेख किया है । प्रस्तुत प्रसंगमें मैं स्वप्नविज्ञानका इतिहास नहीं उपस्थित करना चाहता । इस प्रसंगमें आदिकविद्वारा उल्लिखित 'त्रिजटाके स्वप्न'का विवेचन ही अभीष्ट है ।

रावणने जब सीतादेवीको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये सभी उपायोंसे हार मान ली, तब उसने सीताजीके पास कुछ राक्षसियोंको उन्हें डराने-धमकानेके लिये रक्खा । राक्षसियोंकी उस जमातमें 'एकजटा' 'त्रिजटा' आदि कई राक्षसियाँ थीं । उनमें त्रिजटा नामक एक राक्षसीने एक सपना देखा । त्रिजटाके उस स्वप्नका वर्णन आदिकविने विस्तारके साथ किया है । महर्षि वाल्मीकिजीने त्रिजटाके उस स्वप्नसे शुभ और अशुभ फलोंका जो विवेचन किया है, उसमें भारतीय फलित ज्योतिषका विशेष सहारा लिया गया है । भारतके प्राचीन फलितज्ञोंमें आचार्य देवल, आचार्य वाराह मिहिर, चरकाचार्य, सुश्रुतकार आदिने भी स्वप्न-विज्ञानके ऊपर विस्तारसे लिखा है । अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण एवं कालावलीमें जिस स्वप्नविचारकी चर्चा है, उसका समर्थन आदिकवि वाल्मीकिजीके कथनसे हो जाता है । यदि तथोक्त पुराणों या ग्रन्थोंकी रचना कालके समयसे और आदिकविद्वारा रचित आदिकाव्य वाल्मीकि-रामायणसे तुलना की जायगी तो आदिकविका समय अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होगा। आदिकवि महाकवि थे । वे समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे, तत्त्वज्ञानी थे, योगी थे, सिद्धसंत थे, युगद्रष्टा थे, युगस्रष्टा थे और उन्हें ज्योतिष-विज्ञानका भी पूरा ज्ञान था । स्वप्न-विचारमें आदिकविने जिस सिद्धान्तको अपनाया था, वह सर्वमान्य सिद्धान्त था । उसी सिद्धान्तको भारतीय ज्योतिषी मानते आये हैं । त्रिजटाने जो स्वप्न देखा, उसका फल दोनों पक्षों (श्रीराम और रावण) के ऊपर शुभ और अशुभके रूपमें घटित हुआ । शुभ फल श्रीरामके लिये और अशुभ फल रावणके लिये घटित हुए थे । त्रिजटा पढ़ी-लिखी राक्षसी थी। स्वप्न-विचारका उसे पूर्ण ज्ञान था । जिस समय सीताजीको राक्षसियोंका समूह डरा-धमका रहा था, उसी समय त्रिजटाने सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कहा—

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः।
राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या जयाय च॥

(वाल्मी० सुन्दरकाण्ड)

आज मैंने जो सपना देखा है, उससे राक्षसोंका अभाव होगा और इस सीताके पति श्रीरामचन्द्रजीकी जीत होगी। मेरा स्वप्न भयानक और रोमाञ्चित करनेवाला था । त्रिजटाके स्वप्नका विवरण सुनते ही सभी राक्षसियाँ भयभीत हो गयीं। वे सीताको डराना छोड़कर पृथक् हो गयीं । इस प्रसंगसे यह भी सिद्ध होता है कि उस युगमें नास्तिक राक्षसजनतामें भी स्वप्न-विचारकी परम्परा थी । त्रिजटाके स्वप्नमें श्रीरामके प्रति शुभ फलोंके जो संकेत थे वे निम्न प्रकार हैं । महात्मा तुलसीदासजीने भी इस प्रसंगको अत्यन्त संक्षेपसे लिखा है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका । रामचरन रति निपुन बिबेका॥
सबहीं बोलि सुनाएसि सपना । सीतहि सेइ करहु हित अपना॥
सपनें बानर लंका जारी । जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा । मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई । लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई । तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गए दिन चारी॥

आदिकविने त्रिजटाके स्वप्नको श्रीरामके पक्षमें बृहद्रूपमें उपस्थित किया है । श्रीरामचन्द्र स्वच्छ वस्त्र और माला

धारण किये, हाथीदाँतके बने स्वच्छ धवल विमानपर बैठकर आकाशमार्गसे लंकामें आये हैं। उस विमानमें हजार हंस जुते हैं। सीताजी भी स्वच्छ वस्त्र पहिने क्षीरसागरसे घिरे धवल पर्वतपर बैठी हैं। जिस प्रकार सूर्यसे प्रभा निकलती है और पुनः सूर्यमें समा जाती है, उसी प्रकार सीताजी श्रीरामचन्द्रजीसे मिलीं। चार दाँतवाले ऊँचे हाथीपर श्रीरामचन्द्रजी धवल वस्त्र पहने बैठे हैं। पुनः श्रीरामचन्द्रजी सूर्यके समान प्रकाश करते हुए सीताजीके पास आये। इस प्रकार सीताजी भी अपने पतिकी गोदसे उस आकाशमें स्थित हाथीके कंधेपर बैठ गयीं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीको लेकर वह हाथी लंकामें आया। लंकामें पहुँचनेपर वे तीनों व्यक्ति हाथीसे उतरे। आठ बैलोंसे जुता एक धवल रथ भी उनके साथ था। इसके पश्चात् धवल वस्त्र, धवल माला धारण किये श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सूर्यके समान पुष्पकविमानपर चढ़कर उत्तर दिशाकी ओर गये। संक्षेपमें त्रिजटाके स्वप्नमें श्रीरामके पक्षमें यह शुभ स्वप्न था। त्रिजटाके स्वप्नमें विभीषणके लिये भी शुभ संकेत थे। स्वप्नमें भातके अतिरिक्त समस्त धवल वस्तुओंका दर्शन शुभद माना गया है। स्वप्नमें हाथीका दर्शन भी शुभद माना गया है। स्वप्नमें उत्तर दिशाकी यात्रा भी शुभद मानी गयी है। त्रिजटाके स्वप्नमें उल्लेख है कि भगवान् श्रीराम धवल माला धारण किये हुए थे।

शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन समागतः।
आरुह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्यसंनिभम्॥

महर्षि वाल्मीकिजीके इस कथनकी पुष्टि विष्णुधर्मोत्तरपुराणके निम्न कथनसे हो जाती है।

सशुक्लमाल्यधारित्वं शुक्लाम्बरधारिता।
(विष्णुधर्मोत्तर)

त्रिजटाके स्वप्नमें भगवान् श्रीराम हाथीपर सवार देखे गये। सीताजी शुक्ल वस्त्र पहने धवल पर्वतपर बैठी देखी गयीं। महर्षिके इस कथनकी भी पुष्टि विष्णुधर्मोत्तरपुराणके निम्न कथनसे हो जाती है।

शैलप्रासादनागाश्ववृषभारोहणं हितम्।
द्रुमाणां श्वेतपुष्पाणां गगने च तथा द्विज॥
(विष्णुधर्मोत्तर०)

त्रिजटाने अपने स्वप्नमें देखा सीताजी अपने हाथोंसे सूर्य और चन्द्रमण्डलको सँवार रही हैं।

चन्द्रसूर्यौ मया दृष्टौ पाणिना परिमार्जती।
ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यामास्थितः स गजोत्तमः॥
(वाल्मी० सुन्दरकाण्ड)

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'के उदाहरणसे भी ताराओं एवं सूर्य या चन्द्रमण्डलका परिमार्जन शुभद माना गया है।

'चन्द्रताराग्रसनं परिमार्जनमेव च।' (विष्णुधर्मो०)

त्रिजटाके स्वप्नका दूसरा भाग रावणके लिये अशुभकर था। विभीषणके लिये शुभद था। त्रिजटाने अपने स्वप्नके उस अंशको भी सुनाया। 'रावण सिर मुँड़ाकर तेल लगाये, लाल वस्त्र पहने, मद्य पान किये, करीरकी माला पहने पुष्पक विमानसे नीचे गिर रहा है। सिर मुँड़ाये, काला वस्त्र पहने हुए रावणको एक स्त्री खींच रही है। रावण लाल पुष्पोंकी माला पहने, लाल चन्दन लगाये, गधोंके रथपर सवार होकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। रावण तेल पान करके नाच रहा है। रावण मस्तक नीचे किये गिर पड़ा है। रावण गधोंसे डरकर पागलोंकी भाँति उठकर दुर्वचन बोलने लगा।' त्रिजटाने पुनः स्वप्नमें देखा 'लाल वस्त्र पहने एक काली स्त्री अपने शरीरमें कीचड़ पोतकर रावणके गलेमें फंदा डालकर उसे दक्षिण दिशाकी ओर घसीट रही है। रावणके सभी लड़के तेल लगाये हैं और सिर मुँड़ाये हैं। रावण सूअरपर, मेघनाद शिशुमारपर और कुम्भकर्ण ऊँटपर सवार होकर दक्षिण दिशामें चले गये। स्वप्नमें तेलका मर्दन महान् अशुभ माना गया है। स्वप्नमें लाल वर्णके सभी पदार्थ अशुभ माने गये हैं। लाल वस्त्र पहनना, लाल चन्दनका लेप और लाल माला धारण करना आदिका दर्शन स्वप्नमें अशुभ फलके द्योतक हैं। स्वप्नमें सिर मुँड़ाना, गधेकी सवारी, दक्षिण दिशाकी यात्रा आदि भी महान् अशुभसूचक हैं। आदिकविने लिखा है—

रावणश्च मया दृष्टः क्षितौ तैलसमुक्षितः।
रक्तवासा पिबन् मत्तः करवीरकृतस्रजः॥
रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः।
पिबंस्तैलं हसन् नृत्यन् भ्रान्तचित्ताकुलेन्द्रियः॥
पतितोऽवाक्शिरा भूमौ गर्दभाद् भयमोहितः।
सहसोत्थाय सम्भ्रान्तो भयार्तो मदविह्वलः॥
(वाल्मीकि० सुन्दरकाण्ड)

कालावलीमें लिखा है कि स्वप्नमें लालचन्दनका लेप, लाल वस्त्र और लाल माला धारण करना, तैलका मर्दन करना महान् अशुभ है।

रक्तगन्धप्रलिप्ताङ्गो रक्तमाल्योपशोभितः ।
तैलाभ्यङ्गोऽतिभीतश्च मुण्डितो रक्तवस्त्रधृक् ॥

स्वप्नमें ऊँट और गधेकी सवारी, दक्षिण दिशाकी यात्रा आदिका फल मृत्युकारक माना गया है । चरकाचार्यने भी लिखा है—

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षिणां दिशम् ।

स्वप्नमें काली स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना भी महान् अशुभ माना गया है । सुश्रुतके रचयिताने भी लिखा है—

कृष्णाम्बरधरा नारी हसन्ती मुक्तमूर्धजा ।
यं चापकर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यति दक्षिणामुखम् ॥

स्वप्नमें नंगा होना या नंगे मानवका दर्शन, हँसना, मृत्युकी सूचना माने गये हैं । वायुपुराणके कथनसे इसका समर्थन होता है—

नग्नं श्रवणकं स्वप्ने हसमानं महाबलम् ।
(वायुपुराण)

आचार्य देवलने लिखा है कि स्वप्नमें लाल वस्त्र एवं लाल चन्दनके उपयोग, दक्षिण दिशाकी यात्रा, ऊँटकी सवारी आदिके दर्शनसे तीन माहके भीतर मृत्यु होती है । या अत्यन्त संनिकट कालमें मृत्युतुल्य कष्ट प्राप्त होता है । त्रिजटाके स्वप्नोंमें जो प्रथम दुःस्वप्न हुए वे रावणके लिये अशुभ फलके द्योतक थे । उत्तम स्वप्न श्रीरामके पक्षमें विजय दिलानेवाले सिद्ध हुए । त्रिजटाके सपनेमें दूसरा खण्ड भी था । दूसरे खण्डमें जो शुभसूचक लक्षण थे वे विभीषणके लिये शुभदायक सिद्ध हुए । दुःस्वप्न कुम्भकर्णके लिये एवं अन्यान्य राक्षस-परिवारके लिये मृत्युदायक सिद्ध हुए । त्रिजटाने स्वप्नमें देखा कि विभीषण श्वेत छत्र लेकर बैठे हैं । विभीषण स्वच्छ माला पहने, स्वच्छ वस्त्र धारण किये धवल वर्णका चन्दन लगाये हैं । विभीषण चार दाँतोंवाले हाथीपर सवार हैं । विभीषणके साथ उनके चार मन्त्री भी हैं। विभीषण विमानपर बैठकर अन्तरिक्षकी यात्रा कर रहे हैं । त्रिजटाके स्वप्नमें कुम्भकर्णके लिये जो अपशकुन हुए, उनका उल्लेख करते हुए आदिकविने लिखा है—कुम्भकर्ण आदि राक्षस लाल वस्त्र पहनकर और लाल माला धारण करके खूब तैल पान किये हुए हैं । लंकाकी चहारदीवारी ढह रही है । हाथी-घोड़े और रथोंसे भरी लंकापुरी समुद्रमें डूब गयी है । लंकापुरीको एक वानरने बुरी तरह जला दिया है । राक्षसोंकी स्त्रियाँ चिल्ला रही हैं । वे स्त्रियाँ लाल वस्त्र धारण करके जली लंकाकी राखमें प्रवेश कर गयीं । कुम्भकर्ण आदि बड़े-बड़े राक्षस लाल कपड़े पहनकर गोबरके तालाबमें घुस गये । इस प्रकार त्रिजटाके स्वप्नमें गोबरके तालाबमें घुसना, एक वानरका लंका जलाना, स्त्रियोंका चिल्लाना, तेलपान करके हँसना आदि भयानक कुशकुन माने गये हैं। चरकाचार्यने भी लिखा है—गंदे पानी या कीचड़में या कुएँमें कोई गिरे तो महान् अशुभ फल प्राप्त होते हैं या शीघ्र ही मृत्यु होती है । त्रिजटाके स्वप्नमें लंकाका जलना और लंकाका समुद्रमें डूबना भी उल्लिखित है । मार्कण्डेयपुराणमें भी नगरका जलना या पानीमें डूबना अशुभसूचक बताया गया है ।

स्वप्नेऽग्निप्रवेशस्तु न च निष्क्रमते पुनः ।
यमप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवनम् ॥
(मार्कण्डेयपुराण)

महाकवि संत तुलसीदासजीने जो त्रिजटाके स्वप्नका उल्लेख रामचरितमानसमें किया है, उसमें लंकाका जलना, रावणका गधेपर सवार होना, रावणका सिर मुँड़ाना, रावण और कुम्भकर्णकी भुजाओंका कटना एवं दक्षिण दिशाकी यात्रा आदि अपशकुनसूचक हैं । वे सब अपशकुन रावणके पक्षमें सिद्ध हुए ।

'नगर फिरी रघुबीर दोहाई'

इतनेसे ही श्रीरामकी विजय सिद्ध हुई ।

'लंका मनहु बिभीषन पाई'

इतने संकेतसे संत तुलसीदासजीने श्रीराम और विभीषणके लिये शुभ संकेत मान लिया । अग्निपुराणमें त्रिजटाके स्वप्नकी चर्चा विशदरूपमें प्राप्त होती है । अग्निपुराणमें उल्लेख प्राप्त होता है—रावण पुष्पक विमानसे गिर पड़ा, रावणको स्त्रियाँ घसीट रही हैं । रावण लाल वस्त्र पहनकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया । रावण गधेके रथपर सवार होकर दक्षिण दिशामें चला गया । रावणके परिवारके अन्य लोग सूअर, बकरे, गधेके रथोंपर सवार होकर दक्षिण दिशामें गये ।

विमानात् पुष्पकादधो रावणः पतितो मया ।
कृष्यमाणः स्त्रिया दृष्टो मुण्डो रक्ताम्बरो हसन् ॥
रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः ।
प्रयातो दक्षिणामाशां नागतः पुनरेव हि ॥
वराहे तु समारूढः छागले गर्दभे तथा ।
(अग्निपुराण)

अग्निपुराणमें 'त्रिजटाके स्वप्न' प्रसंगमें आदि काव्यका ही अनुकरण है । उसी प्रकरणमें लिखा है कि लंकाकी स्त्रियाँ

तेल पीकर भयानक अट्टहास करती हुई लंकापुरीके साथ समुद्रमें डूब गयीं। इन स्वप्न-विचार-प्रकरणोंमें स्वप्नकी फल-प्राप्तिकी अवधिका भी उल्लेख है।

यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥
—संत तुलसीदास

'दिन चारी'से केवल चार दिनका तात्पर्य नहीं होता। साधारणतया बातचीतके सिलसिलेमें लोग यह कह देते हैं—'यह कार्य तीन-चार दिनमें हो जायगा।' उसी प्रकार त्रिजटाके कथनका भी अर्थ समझना चाहिये। त्रिजटाके स्वप्नका कुछ फल तो तुरंत घट गया। हनुमान्‌जीने लंकाको जलाया, रावणके कई सेनापति भी मारे गये। महर्षि वाल्मीकिजीके कथनसे प्रतीत होता है कि त्रिजटाने रात्रिके अन्तिम प्रहरमें स्वप्न देखा था। स्वप्न-विचारसे रात्रिके अन्तिम प्रहरमें देखा गया स्वप्न प्रायः शीघ्र फल देनेवाला कहा जाता है। आचार्य वाराह मिहिरके कथनसे रात्रिके प्रथम प्रहरमें देखा गया स्वप्न एक वर्षमें फल देता है। दूसरे प्रहरमें देखा गया छः मासमें, तीसरे प्रहरमें देखा गया तीन मासके भीतर और चौथे प्रहरमें अर्थात् रात्रिके अन्तिम प्रहरमें देखा गया स्वप्न तुरंत फल देता है। स्वप्न कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपने देखे तो दूसरेको फल प्राप्त करानेवाले होते हैं और दूसरोंके देखे अपनेको फल देनेवाले होते हैं। इस प्रकार ग्रन्थोंमें स्वप्नोंका फलादेश उल्लिखित है।

* * *

आशौच-निर्णय

[मरणसम्बन्धी कुछ आवश्यक बातें]

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

(१) मृतक पुरुषके यदि कई पुत्र हों तो उनमें ज्येष्ठ पुत्रको ही उसके दाह और दशगात्रादि करनेका अधिकार है। पिताकी मृत्युके समय यदि ज्येष्ठ पुत्र ग्रामान्तर गया हो और वह उपस्थित न हो तो उससे छोटा पुत्र केवल 'दाह' और 'दशगात्र' कर सकता है, सपिण्डन नहीं कर सकता। सपिण्डनका अधिकार केवल ज्येष्ठ पुत्रको ही है। एकादशाहादि सपिण्डन करनेके लिये परदेश गये हुए ज्येष्ठ पुत्रकी कम-से-कम एक वर्षतक अवश्य प्रतीक्षा करनी चाहिये।

(२) औरस पुत्रका 'मुण्डन' हो गया हो, तो वह समन्त्रक अपने माता-पिताका दाहादि कर्म कर सकता है। यदि उसका 'मुण्डन' न हुआ हो और वह तीन वर्षकी अवस्थासे अधिक हो गया हो, तो भी वह दाहादि कर्म कर सकता है। यदि वह किसी कारण दशगात्रादि करनेमें असमर्थ हो तो उसे दाह (अग्निदान) अवश्य ही करना चाहिये। शेष दशगात्रादि कर्म दूसरे अधिकारी भी कर सकते हैं।

(३) मृतक पुरुषके यदि औरस पुत्र न हो और यदि उसने 'दत्तक' पुत्र बना लिया हो तो उसको भी दाहादि कर्म करनेका अधिकार है।

(४) दत्तक पुत्रका यदि 'उपनयन' हुआ हो तो वह अपने माता-पिताका दाहादि कर्म कर सकता है और यदि उसका 'उपनयन' न हुआ हो तो वह अपने माता-पिताका दाहादि नहीं कर सकता।

(५) मृतक पुरुषके यदि औरस पुत्र और दत्तक पुत्र न हों (मर चुके हों) तो उनके पुत्र अर्थात् पौत्र दाह कर सकते हैं। पौत्र भी न हो तो प्रपौत्र और प्रपौत्र भी न हो तो मृतककी धर्मपत्नी (विवाहिता पत्नी) दाहादि कर्म कर सकती है—

'पुत्राभावे तु पत्नी स्यात्।'

मृतकके यदि धर्मपत्नी भी न हो (मर चुकी हो) तो मृतकका छोटा भाई, वह भी न हो तो उसका ज्येष्ठ भाई, वह भी न हो तो भाईका पुत्र दाहादि कर्म कर सकता है। भाईका पुत्र भी न हो तो अन्य नजदीकी 'सपिण्ड' (सात पीढ़ीतक), दाहादि कर्म कर सकते हैं। सपिण्ड भी न हों तो 'सोदक' (चौदह पीढ़ीतक), सोदक भी न हों तो कन्या आदि दाहादि कर्म कर सकती है। (विशेष जिज्ञासुओंको 'निर्णयसिन्धु' देखना चाहिये।)

(६) मृतक पुरुषके दाहादि कर्म करनेवाला यदि कोई भी न हो तो वहाँके 'राजा' को चाहिये वह मृतकका दाहादि कर्म करानेकी व्यवस्था करा दे। राजाको चाहिये मृतक पुरुष

जिस जातिका हो, उसी जातिके पुरुषसे मृतकका दाहादि करा देवे।

(७) राजाके मरनेपर यदि उसके सपिण्ड, सगोत्र आदि कोई भी न हों तो उसका दाहादि कर्म उसका 'पुरोहित' 'मन्त्री' (दीवान) अथवा 'सेवक' (नौकर) कर सकता है।

(८) जो कन्या विवाह होनेके पूर्व ही मर जाय, उसका दाहादि कर्म उसके पिताको करना चाहिये। पिताके अभावमें मृत कन्याके भाईको दाहादि कर्म करना चाहिये। जिस प्रकार पुरुषोंके मरनेपर उनके दाहादिके अधिकारी कहे गये हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंकी भी व्यवस्था समझनी चाहिये।

(९) जो कन्या विवाह होनेके बाद मरे, उसका दाहादि कर्म उसका औरस पुत्र करे। औरस पुत्रके अभावमें दत्तक पुत्र अथवा सौतका पुत्र दाहादि कर्म करे। पुत्रके अभावमें 'पति' दाहादि करे। पतिके अभावमें पतिका भाई (देवर) करे, पतिके भाई (देवर) के अभावमें उसका पुत्र करे। उसके अभावमें 'पुत्रवधू' और पुत्रवधूके अभावमें कन्याके पिता-माता आदि करें *।

(१०) मृतकका प्रथम दिन जो दाहादिकर्म प्रारम्भ करे, उसीको दश दिनतक 'दशगात्र' करना चाहिये। दस दिनके भीतर यदि मृतकका नजदीकी पुत्र आदि उपस्थित हो जाय तो वह 'एकादशाह' आदि कर सकता है, किंतु यह 'दशगात्र' नहीं कर सकता।

(११) मृतकका दूरका सम्बन्धी (भतीजा वगैरह) भी 'एकादशाह' आदि कर सकता है, किंतु वह मृतकके पुत्रकी अनुपस्थितिमें ही कर सकता है और पुत्रकी उपस्थितिमें नहीं कर सकता।

(१२) जिस मृतक पुरुषके 'पुत्र' नहीं है अथवा जो पुत्र अनधिकारी (पतित) है उसका 'सपिण्डन' अधिकारि-भेदसे अन्य लोग भी कर सकते हैं।

(१३) मृत स्त्रीका 'सपिण्डन' उसका पति या पुत्र ही कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता। दूसरे अधिकारीगण सपिण्डनके अतिरिक्त समस्त कर्म कर सकते हैं। इतनेसे ही स्त्रीकी सद्गति हो जाती है।

(१४) जो बालक या बालिका नामकरणके पूर्व मर जाय तो उसका दाह, तिलाञ्जलि और पिण्डदान आदि कुछ नहीं होता।

(१५) बालकके नामकरणके बाद जबतक वह तीन वर्षका न हुआ हो और उसका मुण्डन भी न हुआ हो, ऐसे बालककी मृत्युमें उसका दाह, तिलाञ्जलि, पिण्डदान आदि करे अथवा न करे। दोनों ही पक्ष शास्त्रीय हैं।

(१६) बालककी मृत्यु यदि तीन वर्षकी आयुके बाद हो और उसका मुण्डन भी हो गया हो तो उसका दाह और तिलाञ्जलि आदि करना आवश्यक है।

(१७) जिस बालककी मृत्यु मुण्डन होनेके बाद हो, वह कितना भी छोटा हो, उसका दाह, तिलाञ्जलि और पिण्डदान आदि करना आवश्यक है।

(१८) सपिण्डके मरनेपर सपिण्डोंको, सोदकके मरनेपर सोदकोंको, माता-पिताके मरनेपर पुत्रोंको, नाना-नानीके मरनेपर नातियोंको और आचार्य (गुरु) के मरनेपर शिष्योंको जबतक उनका आशौच रहे तबतक उनके नामसे प्रतिदिन तिलाञ्जलि (तिलोदक) देना चाहिये।

(१९) विवाहिता कन्या मरे तो पिता, बहन मरे तो भाई, भानजा (भगिनी-पुत्र) मरे तो मामा, श्वसुर मरे तो दामाद (जामाता), मित्र मरे तो मित्र, पुरोहित मरे तो यजमान और यजमान मरे तो पुरोहित आदि यदि 'तिलाञ्जलि' न दें तो कोई क्षति नहीं है।

(२०) जो द्विज व्रात्य (जिस द्विजका उपनयन शास्त्रोक्त अवस्थानुसार न हुआ हो), जिस ब्रह्मचारीका समावर्त्तन न हुआ हो, जो गायत्री-पुरश्चरण, चान्द्रायण व्रत आदि विशिष्ट कर्मकी पूर्तिके लिये संनद्ध हो, जो संन्यासी हो, जो पतित (जो भयंकर पाप करनेके कारण जातिसे बहिष्कृत) हो, जो जन्मसे ही नपुंसक हो, जो वेद-शास्त्रविरुद्ध धर्मको मानता हो और जो दूसरेके धनको हड़प लेनेवाला हो, ऐसे लोगोंके

---

* जिस कन्याका विवाह हो जाता है, वह अपने पिताके गोत्रसे हटकर अपने पतिके गोत्रमें मिल जाती है। पतिके गोत्रसे सम्बन्धित होनेपर विवाहिता कन्या यदि मर जाती है तो उसका दाहादि कर्म करनेका अधिकार पतिकुलके पुरुषोंको ही होता है। यदि पतिकुलमें कोई भी अधिकारी न हो तो पितृकुलके पुरुषोंको दाहादि करनेका अधिकार होता है। यदि पितृकुलमें भी कोई अधिकारी न हो तो मातृकुल (नानाका वंश) के पुरुषोंको दाहादि करनेका अधिकार होता है।

मरनेपर यदि उनके कौटुम्बिक 'तिलाञ्जलि' न दें तो कोई हानि नहीं। ऐसे लोगोंको 'पतित' कहा गया है। पतित व्यक्ति 'तिलाञ्जलि' के अधिकारी नहीं होते।

(२१) द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के शव (मुर्दा) को शूद्र स्पर्श न करे। द्विजके शवको यदि शूद्र स्पर्श करता है तो मृतकके सम्बन्धियोंको विशेष दोष लगता है।

(२२) ब्राह्मण अपनेसे हीन वर्णके, क्षत्रिय अपनेसे हीन वर्णके और वैश्य अपनेसे हीन वर्णके शवका स्पर्श न करे। जो उच्च वर्णवाला अपनेसे हीन वर्णके शवका स्पर्श करता है, वह 'पतित' हो जाता है।

(२३) जिस शहर, कसबा अथवा गाँव आदिमें चारों ओर बाहर जानेका मार्ग प्रशस्त हो, तो वहाँ मरनेवाले 'ब्राह्मण' के शवको पश्चिमकी तरफसे, क्षत्रियको उत्तरकी तरफसे, वैश्यको पूर्वकी तरफसे और शूद्रको दक्षिणकी तरफसे 'श्मशान' ले जाना चाहिये।

(२४) मृतकको श्मशान ले जाते समय मृतक पुरुषसे बड़ी आयुवाले पुरुषोंको मृतकके आगे-आगे चलना उचित है और छोटी आयुवाले पुरुषोंको मृतकके पीछे-पीछे चलना उचित है।

(२५) मृतक पुरुषके सपिण्ड, सगोत्र और इष्ट-मित्र एवं पास-पड़ोसियोंको अवश्य ही मृतकके साथ श्मशानतक जाना उचित है।

(२६) मृतकका दाह हो जानेपर श्मशानसे वापस लौटते समय सब लोग पीछेकी ओर अर्थात् श्मशानकी ओर न देखें।

(२७) श्मशानसे वापस लौटते समय उपस्थित मनुष्योंमें जो थोड़ी आयुके हों वे आगे-आगे चलें और जो बड़ी अवस्थावाले हों, वे पीछे-पीछे चलें। जब सब लोग गङ्गा आदि नदी, तालाब अथवा कूप आदि स्नानके स्थानपर पहुँचें, तब सर्वप्रथम बड़ी अवस्थावाले वस्त्र-सहित स्नान करें, फिर थोड़ी अवस्थावाले वस्त्र-सहित स्नान करें। यदि गङ्गा आदि नदी हो तो केवल एक ही गोता लगाकर स्नान करें। पश्चात् नदीमें अथवा पाषाण (पत्थर) के ऊपर मृतकका नाम, गोत्रादि उच्चारण करके एक बार अथवा तीन बार सबको 'तिलाञ्जलि' देनी चाहिये।

मृतक यदि ब्राह्मण हो तो दक्षिणाभिमुख होकर, क्षत्रिय हो तो उत्तराभिमुख होकर और वैश्य हो तो पूर्वाभिमुख होकर 'तिलाञ्जलि' देनी चाहिये। शूद्रके लिये 'दिशा' का नियम नहीं है। अतः शूद्रको किसी भी दिशाकी ओर मुख करके 'तिलाञ्जलि' दी जा सकती है।

मृतक पुरुषको 'तिलाञ्जलि' देनेके बाद पुनः भलीभाँति स्नान करके फिर मृतकके परिवारवाले तथा अन्य सब लोग मृतकके घर जायँ और मृतकके घरके द्वारके आगे खड़े होकर अपने हाथ-पैर धोवें और मृतकके घरमें उपस्थित 'नापित' द्वारा दी हुई काली मिर्च अथवा नीमकी पत्तीको खाकर अपने-अपने घर लौट जायँ। पश्चात् मृतकके घरवाले अपने घरमें प्रवेश करें और अपने घरके दरवाजेपर पानी गिरा दें।

(२८) मृतकका जबतक आशौच रहे, तबतक मृतकके परिवारवालोंको तथा मृतकके इष्ट-मित्रोंको प्रतिदिन गङ्गा आदि नदीमें स्नान करना और तिलाञ्जलि देनी चाहिये।

तिलाञ्जलिकी संख्यामें अनेक मतभेद हैं। एक आचार्यका कहना है कि तिलाञ्जलि एक-एक करके प्रतिदिन दस दिनतक बढ़ानी चाहिये। जैसे प्रथम दिन एक, दूसरे दिन दो और तीसरे दिन तीन—इस क्रमसे बढ़ानी चाहिये। दूसरे आचार्यका कहना है कि प्रथम दिन तीन, द्वितीय दिन छः और तृतीय दिन नव—इस प्रकार तिलाञ्जलि बढ़ानी चाहिये। तीसरे आचार्यका कहना है कि प्रतिदिन एक ही तिलाञ्जलि देनी चाहिये। सारांश यह है कि जिसके कुलमें जिस प्रकार 'तिलाञ्जलि' देनेकी प्रथा हो, उसी प्रकार तिलाञ्जलि देनी चाहिये।

(२९) माता-पिताके मरणमें पुत्र तीसरे दिन तीन 'पिण्डदान' करे, फिर सात दिनतक प्रतिदिन एक-एक 'पिण्डदान' करे। इस प्रकार दस दिनमें दस पिण्ड पूर्ण हो जाते हैं। इन्हीं दस पिण्डोंको 'दशगात्र' कहते हैं। माता-पिताके मरणमें यही क्रम उचित और आवश्यक है।

कुछ लोग दस दिनके आशौचमें तीसरे दिन तीन, सातवें दिन चार, दसवें दिन तीन—इस प्रकार दस पिण्ड पूर्ण करते हैं। (आजकल यही प्रथा विशेष प्रचलित है, किंतु यह प्रथा उत्तम नहीं है।)

कुछ लोग प्रतिदिन एक ही पिण्ड देकर दस दिनमें दस पिण्ड पूर्ण करते हैं। (यह क्रम विशेष उत्तम है।)

जिसको तीन दिनका आशौच लगे, वह प्रथम दिन तीन, द्वितीय दिन चार और तृतीय दिन तीन इस प्रकार दस पिण्ड दे। और जिसको एक ही दिनका अथवा केवल स्नानमात्र आशौच हो, वह उसी दिन दसों पिण्ड कर दे।

(३०) पिण्डदानमें यह आवश्यक है कि जिस वस्तुका* पिण्ड प्रथम दिन बनाया जाय, उसी वस्तुका पिण्ड अन्तिम दिनतक बनाना चाहिये। पिण्डदानमें वस्तुका बार-बार परिवर्तन करना उचित नहीं है।

(३१) मृतकका अस्थिसंचयन श्मशान (चिताभूमि) में होता है। दाहके बाद शव (मुर्दा) की बची हुई अस्थियों (हड्डियों) को एकत्रित करना 'अस्थिसंचयन' कहलाता है। यह 'अस्थिसंचयन' बहुधा उस जगह होता है, जहाँ 'गङ्गा' आदि पवित्र नदी नहीं हैं। जिस नगर, कसबा अथवा ग्राममें 'गङ्गा' आदि नदी होती हैं, वहाँके धार्मिक लोग मृतकके दाहके बाद उसकी बची हुई अस्थियोंको तत्काल 'गङ्गा' आदि नदीमें प्रक्षेप (गिरा) कर देते हैं और जहाँ 'गङ्गा' आदि नदी नहीं हैं, वहाँके आस्तिक लोग मृतककी अस्थियोंको एकत्रितकर काशी, प्रयाग, हरद्वार और गढ़मुक्तेश्वर आदि तीर्थस्थानोंमें ले जाकर गङ्गामें प्रक्षेप करते हैं।

(३२) यह अस्थिसंचयन प्रथम दिन अथवा चतुर्थ दिन अथवा सप्तम दिन अथवा नवम दिन किया जाता है। अस्थिसंचयनके सम्बन्धमें एक आचार्यका कहना है कि—ब्राह्मणका प्रथम दिन अथवा चतुर्थ दिन, क्षत्रियका चतुर्थ दिन अथवा पञ्चम दिन और वैश्यका पञ्चम दिन अथवा नवम दिन अस्थिसंचयन करना चाहिये। शूद्रका दसवें दिनसे तीसवें दिनतक अस्थिसंचयन करना चाहिये। दूसरे आचार्यका कहना है कि जिसको जितने दिनका आशौच लगे, वह सर्वप्रथम उस आशौचके दिनोंमेंसे तीन भाग करे, पश्चात् उस भागत्रयमेंसे एक भाग व्यतीत कर 'अस्थिसंचयन' करे। तीसरे आचार्यका कहना है कि—जिसके वहाँ जैसी कुलप्रथा हो, वह तदनुसार 'अस्थिसंचयन' कर सकता है।

(३३) अस्थिसंचयनमें दिनकी गणना मृतकके दाहके दिनसे ही करनी चाहिये, न कि मृत्युके दिनसे करनी चाहिये।

(३४) जिस द्विजका उपनयन-संस्कार न हुआ हो तथा जिस स्त्री और शूद्रका विवाह-संस्कार न हुआ हो, उसका 'अस्थिसंचयन' नहीं करना चाहिये।

(३५) मृतकके दसवें दिन आशौचान्तमें मृतकके समस्त परिवारवालोंको तथा मृतकके साथ श्मशान जानेवाले समस्त इष्ट-मित्रों और प्रेमियोंको गङ्गा आदि नदीके किनारे पहुँचकर अपने-अपने कुलाचारके अनुसार 'बाल' (केश) कटाना चाहिये पश्चात् स्नानकर मृतकके घरवालोंके साथ मृतकके घर जायँ और मृतकके घरके दरवाजेके आगे खड़े होकर अपना हाथ-पैर धोवें। पश्चात् मृतकके नापितद्वारा दी हुई काली-मिर्च अथवा नीमकी पत्ती मुखमें चबाते हुए अपने-अपने घर लौट जायँ। पश्चात् मृतकके परिवारवाले भी अपने घरमें प्रवेश करें और अपने घरके दरवाजेपर जल छोड़ दें। सब जगह यह प्रथा नहीं है।

(३६) दाहकर्ता आशौचपर्यन्त स्पर्शास्पर्शका विशेष विचार रक्खे। वह जमीनपर शयन करे और रूई आदिके बने हुए गद्दे-बिछौनेका त्याग करे। ऊनी कंबल और चटाईका सेवन करे। केवल एक बार सात्त्विक भोजन करे। मादक पदार्थोंका त्याग करे। ब्रह्मचर्यसे रहे। सुगन्धित पदार्थोंका सेवन न करे। समस्त प्रकारके माङ्गलिक पदार्थोंसे बचे। क्रोध न करे। गरुड़पुराण और गीता आदि ज्ञानप्रद पुस्तकोंका श्रवण करे। जिस प्रकार दाह करनेवाले आशौचीके नियम हैं, उसी प्रकार उसके परिवारवालोंके भी नियम हैं। अतः आशौचावस्थामें सभीको शास्त्रीय नियमका पालन अवश्य करना चाहिये †।

---

* चावल, जौ और सत्तू आदिका 'पिण्ड' बनता है।

† बहुतसे लोग 'आशौच-निर्णय' के बाबत पूछा करते थे। इसीलिये श्रीशर्माजीके 'आशौच-निर्णय' सम्बन्धी लेख 'कल्याण'में प्रकाशित किये गये। उन्हीं लेखोंका यह परिशिष्ट अंश छापा जा रहा है। प्रसन्नताकी बात है कि यह जनन-मरणसम्बन्धी सभी आवश्यक 'आशौचोंका संकलन 'संक्षिप्त आशौच-निर्णय' नामक पुस्तिकाके रूपमें भी छप गया है। आठ आने मूल्य है। जिनको आवश्यकता हो वे 'वैदिक पुस्तकालय' ७।१४ सकरकन्द गली, वाराणसीसे प्राप्त कर सकते हैं।

सम्पादक

सत्य-धर्मका वास्तविक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'कवन धर्म श्रुति बिदित बिसाला' इस प्रश्नके उत्तरमें 'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा' कहा और उन्होंने ही इसके पूर्व अयोध्याकाण्डमें—

धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम प्रसिद्ध पुराना ॥

तथा—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए । बेद पुरान बिदित मनु गाए ॥

आदि कहा ।

ध्यान रहे इन तीनों वचनोंमें वेद, पुराण, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंका पुट देकर उन्होंने अपने अपार सूक्ष्मज्ञानका संकेत किया है । वेद-पुराणादिमें भी—

सत्यान्नास्ति परो धर्मः ।

सत्यमेव जयते नानृतम् ।

(मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ६)[1]

और

'अहिंसा परमो धर्मः', 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'

आदि द्विधा प्रतीत होनेवाले वचन प्राप्त होते हैं । इसपर किसीको यह संदेह होना स्वाभाविक है कि इस दो प्रकारके कथनका क्या रहस्य है ? किंतु सत्यकी परिभाषा देखनेसे यह भ्रम दूर हो जाता है । शाण्डिल्योपनिषद्में सत्यकी परिभाषा इस प्रकार है—

सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम् ।

(१ । १ । १३)

अर्थात् मन, वचन, कर्मसे परोपकार एवं प्राणिहितकारी यथार्थ एवं श्रेयस्कर कथन ही सत्य है ।

योगदर्शन २ । ३० के भाष्यमें इसका स्पष्ट समाधान है । यथा—

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलाः, तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते ।

अर्थात् इस सूत्रमें अहिंसा शब्द प्रथम इसलिये रक्खा कि अहिंसा ही सर्वात्मना साध्य है । बादके सत्यादि यम-नियम इसीको सिद्ध करनेके लिये प्रतिपादित किये गये हैं । आचार्य पञ्चशिख भी कहते हैं—

स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने इसकी व्याख्यामें महाभारत, शान्तिपर्वका यह वचन उद्धृत किया है—

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते ।

अर्थात् जैसे हाथीके पैरमें सभी पैरसे चलनेवालोंके पैर आ जाते हैं, वैसे ही अहिंसाके अन्तर्गत समस्त धर्मार्थ भी आ जाते हैं । ब्रह्मवैवर्तपुराण एवं 'विचख्नुगीता' में भी मनुका हवाला देते हुए यही कहा गया है—

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।

(महा० शा० २९५ । ५)

अहिंसा परमो धर्मो गीतो वै मनुना पुरा ।

वास्तवमें मनु भी ऐसा ही कहते हैं—

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।

(६ । ६०)

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥

(६ । ७५)

---

[1] सत्यके समर्थक वचनोंके लिये 'मानवता-अङ्क' पृ० ६१ से ६३ में स्वा० श्रीसीतारामदासजीका तथा 'कल्याण' वर्ष ३३ के ६ठे अङ्कमें एवं 'त्रिपथा' जून १९६१ के अङ्कमें हमारे लेख देखने चाहिये ।

मनुने यह भी कहा है, सौ वर्षतक अश्वमेध करनेवाले तथा मांसत्यागीका पुण्य समान है (५। ५३)। ब्रह्मपुराण (२१६। ६५) में अहिंसाका इससे भी अधिक महत्त्व है। 'आदिपुराण' भी यही कहता है—

धर्माणां च यथाहिंसाभयदानं वरेण्यकम्।
(१। १९)

पद्मपुराणका कथन है कि जैसे सभी नदियाँ समुद्रमें पर्यवसित होती हैं, वैसे ही हिंसामें सभी पापोंका अन्तर्भाव हो जाता है—

प्रविशन्ति यथा नद्यः समुद्रमृजुवक्रगाः।
सर्वेऽधर्माश्च हिंसायां प्रविशन्ति तथा दृढम् ॥
(पद्म० उत्तरखण्ड २४३। ६)

प्रायः सभी धर्मशास्त्रों, योगदर्शन, महाभारतमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्य परम धर्म है, तथापि सत्य भी वही है जिससे किसीकी हिंसा न हो—परोपकार हो। यदि सत्यभाषणसे हिंसादिकी सम्भावना हो तो वहाँ सत्यभाषण अनुचित है। इससे उसे पुण्य तथा प्रतिष्ठा मिलती, पाप अथवा नरक नहीं। इस सम्बन्धमें कई विशिष्ट आख्यान हैं। इनमेंसे एक-दो यहाँ दिये जाते हैं।

महाभारत कर्णपर्वमें आता है कि एक बार भारत-युद्धमें (१५ वें दिन) कर्णने युधिष्ठिरको परास्त किया और उनके गलेमें धनुषकी रस्सी डालकर कहने लगा कि 'तू जब लड़ना नहीं जानता तो युद्धक्षेत्रमें क्यों आता है ? अच्छा जा, अब आगेसे लड़ने न आना।' युधिष्ठिर अत्यन्त लज्जित होकर शिविरमें जाकर लेट रहे थे कि अर्जुन आये। अत्यन्त आर्त होकर युधिष्ठिरने कहा कि 'अर्जुन ! तुम्हारे बल तथा गाण्डीव धनुषको धिक्कार है, जो पंद्रह दिनोंमें भी इन कौरवोंका अन्त नहीं कर सके।' अर्जुनकी प्रतिज्ञा थी कि जो उन्हें तथा गाण्डीवको धिक्कारेगा उसका सिर उतार लेंगे। वे तलवार लेकर वेगसे घूम ही रहे थे कि श्रीकृष्ण आ गये। उन्हें एकान्तमें इस प्रकार देख आश्चर्य हुआ। पूछनेपर अर्जुनने जब स्थिति तथा प्रतिज्ञा बतलायी तब भगवान्‌ने कहा कि 'भोले धर्मप्रेमी ! अहिंसा ही सर्वोत्तम धर्म है। किसीकी प्राणरक्षाके लिये असत्य भी बोल दे, पर उसकी हत्या न होने दे—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतं वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ॥
(कर्णपर्व ६९। २३)

साथ ही उन्होंने कौशिक नामक मूर्ख ब्राह्मणकी कथा कही, जो जंगलमें सत्य व्रतका नियम लिये हुए एक नदीके संगमपर बसता था। एक दिन कुछ मनुष्य डाकुओंके भयसे उसके आश्रमके पास छिप गये। पर डाकुओंने जब उससे पूछा तो उसने उन्हें बतला दिया और इस धर्मप्रतिरूपक सत्याभासके भीषण पापसे उसे चिरकाल-तक नरककी यन्त्रणा भोगनी पड़ी।

ठीक ऐसी ही दूसरी कथा देवीभागवतके तीसरे स्कन्धमें है। तमसा-तटवासी देवदत्त ब्राह्मणका गूँगा पुत्र सत्यव्रत निर्जन वनमें वास कर रहा था। एक दिन उसके सामनेसे एक व्याध मृगको खदेड़ते आया। मृग उसके आश्रमके समीप ही कहीं छिपा था। जब व्याधने सत्यव्रतसे उसका पता पूछा तो वह सोचने लगा कि जो अहिंसा, दया, परोपकार आदिसे संयुक्त हो, वस्तुतः वही सत्य है—

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा
दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।
हितं नराणां भवतीह येन
तदेव सत्यं न तथान्यथैव ॥
(देवीभागवत ३। ११। ३६)

भगवद्गीतामें भगवान् उसे ही परम योगी कहते हैं, जो दूसरोंके दुःखमें पूर्ण कातर हो—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६ । ३२)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी यही कहते हैं——

'निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद् वदन्ति कवयस्तदलीकम् ।
अन्यदेहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्॥

शिवपुराणमें ज्योतिर्लिङ्गके माहात्म्यमें गौतम ऋषिके परोपकारकी अद्भुत कथा है। वहाँ बतलाया गया है कि प्राणीकी महत्ताका मापदण्ड परोपकार गुणसे ही होता है। जो जितना अधिक परोपकारी है, वह उतना ही महान् है। साधुका जीवन ही परोपकारके लिये है। उपकारी, दयालु एवं जितेन्द्रिय व्यक्तियोंके खंभेपर ही यह पृथ्वी टिकी हुई है——

दयालुरमदस्पर्श उपकारी जितेन्द्रियः ।
एतैश्च पुण्यस्तम्भैश्च चतुर्भिर्धार्यते मही ॥
(कोटि० २४ । २६)

किंतु यह कृपा भी आर्त प्राणी——उत्पीडितपर ही होनी चाहिये, आततायीपर नहीं। गाय और व्याघ्रका जहाँ प्रसङ्ग हो वहाँ व्याघ्रका वध ही कर्तव्य है।

राजाओंके लिये मृगयाविधानका भी यही तात्पर्य था कि वे हिंसक जन्तुओंका अन्त करें। आततायीपर कृपा 'कार्पण्यदोष' है। गीताके आरम्भमें यही दोष अर्जुनको हुआ——'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः ।' भगवान्ने भी इस दोषको अनार्यजुष्ट, अकीर्तिकर और अस्वर्ग्य कहा। फिर इसे दूर भी किया गीतोपदेशसे। इसीलिये असुर-संहारार्थ भगवान् अवतरित होते हैं।

आज पुनः भारतकी वही दशा है। इस महामोहकी क्या औषध है ? केवल भगवान्से प्रार्थना; क्योंकि आजकी सारी शक्ति इन मोहग्रस्त बन्धुओंके ही हाथ है। जहाँ कोई शक्ति नहीं होती, वहाँ पुकारनेपर सर्वशक्तिमान् भगवान् अवश्य ही प्रकट होते हैं। कई बार तो उनकी व्यवस्था पहलेसे ही तैयार रहती है; क्योंकि वे जानते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक समय पुकारेगा। यह अष्ट ग्रहयोग इसी आशाका प्रदीप है। हमें विश्वास है भगवान् अवश्य ही सबका मङ्गल करेंगे।

मानवता

(रचयिता—विद्यावाचस्पति डॉक्टर श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०)

विद्याके विलासमें निमग्न रहता है मन,
शिक्षा, शील, धृतिका महत्त्व अपनाया है।
धारण किया है सत्यव्रत बड़ी दृढ़तासे,
मान, मद, मल जिसको न कभी भाया है।
लोक-दुःख दूर करनेमें सुख पाता रहा,
पर-उपकारी बन संकट मिटाया है।
करके विहित कर्म सुयश कमाया सदा,
ऐसा धीर-वीर धन्य 'मानव' कहाया है।

× × × ×

त्याग-तपस्यासे पवित्र-परिपुष्ट हुआ जिसका 'तन' है,
भद्र भावना भरा स्नेहसंयुक्त शुद्ध जिसका 'मन' है।
होता व्यय निज हित-परहितमें जिसका शुचि संचित 'धन' है,
वही श्रेष्ठ सच्चा 'मानव' है, धन्य उसीका 'जीवन' है॥

नरक क्या ?

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'को वास्ति घोरो नरकः ? स्वदेहः ।'

'नारकीय प्राणी !' कलिंग-नरेश द्युमान् ग्लानिसे गले जा रहे थे । शब्द नहीं, वज्रसे भी तीक्ष्ण अस्त्र थे वे । ऐसे अस्त्र जो मर्मपर क्षण-क्षणमें आघात करके उसे विदीर्ण कर रहे थे !

राज्यका अमर-आकांक्ष्य वैभव, दिगन्तधवल सुयश, विद्वानोंके द्वारा प्रशंसित प्रतिभा—जैसे सब सारहीन हो गये ये आनन्दके उपकरण । बन्दियोंका सुयश-गान अपना उपहास प्रतीत होता था । मागध जब वंश-विरुदावलीका वर्णन करते—जी चाहता, कहीं ऐसे स्थानमें जा छिपें, जहाँ किसीको मुख न दिखाना पड़े । सूत प्राचीन इतिहासका वर्णन करते हुए जब वर्तमानके वर्णनपर आने लगते, नरेश व्याकुल होकर उठ जाया करते राजसभासे ।

'आप सब एक अयोग्यकी प्रशस्तिमें अपनी प्रतिभाका दुरुपयोग क्यों करते हैं !' विनय नहीं, अन्तरका सच्चा खेद होता था वाणीमें । किंतु परम्परा ही ऐसी बन गयी थी कि नरेशके सम्मुख आनेवाले कवि, ज्योतिषी तथा अन्य विद्वान् सबसे अधिक वाक्य-व्यय नरपतिकी प्रशंसामें ही करते थे और इससे अत्यधिक वेदना होती थी कलिंग-नरेशको । पर कोई उनका निषेध सुनता कहाँ है । लोग तो उसे महाराजकी शिष्टता—विनय मान लेते हैं ।

'आप अश्वमेधयज्ञ सम्पन्न करें !' कुलपुरोहित अपने प्रबल-पराक्रम यजमानको किसी प्रकार उसकी आधि (मनोरोग) से मुक्ति दिलानेका प्रयत्न कर रहे हैं । 'यदि कोई प्राक्तन पाप होंगे तो उनका प्रायश्चित्त हो जायगा । अश्वमेध महापापोंका भी परिहारक है । आपका प्रताप दिग्विजय करनेको पर्याप्त है ।'

'दिग्विजयकी मुझे चिन्ता नहीं है । कलिंगके शूर पराभव सुननेके कभी अभ्यस्त नहीं रहे । विजयश्रीके कर उनके धनुषपर ज्या चढ़ते ही यशोमाल्य लिये उन्हें अलंकृत करने उठ जाते हैं । नरेशने उत्साह नहीं दिखलाया, किंतु एक अनधिकारी नारकीय प्राणी सम्राट् बन जायगा केवल अपनोंके शौर्यके सहारे ! धरा रसातल चली जायगी । धर्म कहाँ आश्रय ढूँढ़ेगा ! द्युमान्की दिग्विजय—असुरोंकी विजयसे भिन्न होगी क्या वह ? मैं सम्राट्पदकी कल्पनासे भी काँप उठता हूँ प्रभु !'

'कोई और उपयुक्त अनुष्ठान या आराधना !' पुरोहितको किसी भी प्रकार अपने इस यजमानके चित्तको आश्वासन देना है । आश्वासन ही तो देना है—यह श्रद्धाप्राण, सदाचार-संयम-तत्पर, मर्यादाकी मूर्ति-द्युमान्—इसमें कलुष सम्भव कैसे हैं ? प्रजा जिसे प्राणके समान लगती है, सम्यक् सदाचारके निर्वाहके लिये जिसने अंगपतिका क्रोध स्वीकार किया; किंतु अपने एकपत्नीव्रतको त्यागकर उनकी सौन्दर्यमयी दुहिताका पाणिग्रहण जिसे प्रिय नहीं लगा, जो शत्रुके भी क्लेशसे विकल हो उठता है, उसमें कलुष सम्भव है !

'नारकीय प्राणी !' किंतु नरकसे जो संसारमें आते हैं, उनके लक्षण भी तो शास्त्रोंने बतलाये हैं । द्युमान्में क्रोध, स्वार्थ, हिंसा-प्रवृत्ति, विषय-लोलुपता—कुछ भी तो नहीं है । द्युमान् यदि स्वर्गसे नहीं आया है तो संसारमें फिर कोई स्वर्गसे आया प्राणी नहीं हो सकता ।

'नारकीय प्राणी !' जिनके श्रीमुखसे ये शब्द निकले थे, उनपर अविश्वास करनेका भी साहस नहीं राजपुरोहितमें। वे अवधूतश्रेष्ठ निदाघ——महर्षिगण उनकी चरण-वन्दना करते हैं। उन नित्य निःस्पृह, निरन्तर आत्मलीनमें न रोष सम्भव है और न प्रमाद वहाँ प्रश्रय पा सकता है।

राजपुरोहित शास्त्रज्ञ हैं——गम्भीर विद्वान् पूर्वमीमांसाशास्त्रके। अनेक बार ऋषियोंने अपने यज्ञोंमें उन्हें ऋत्विक् अथवा अध्वर्यु वरण करके सम्मानित किया है। वेदके रहस्य एवं धर्मके तत्त्वको जाननेका गर्व वे नहीं करते, ठीक-ठीक धर्मका तत्त्व भगवान् नर-नारायण ही जानते हैं; किंतु जितना ज्ञान उनका है, अपने यजमानमें उन्हें अल्पतम पाप भी नहीं दीखता; किंतु महर्षि निदाघकी वाणी असत्यका स्पर्श करेगी, धर्मराज भी ऐसा सोचनेका साहस नहीं कर सकते।

'यह ठीक है कि युवराजका अध्ययन अभी समाप्त नहीं हुआ।' नरेशने बाधा दी कुलपुरोहितके चिन्तनमें——किंतु आपके करोंकी छायामें सिंहासनपर उन्हें बैठना मात्र ही तो है ?' 'आप ! आप सिंहासन-त्याग·······।' पूरी बात आशंकाके कारण मुखसे निकल नहीं सकी।

'आप——जैसे वेदज्ञ कहते हैं 'तुषाग्निको शरीर समर्पित कर देना मानवका सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।' नरेशने स्वस्थ स्वरमें कहा——'तीर्थराजमें गङ्गा-यमुना जहाँ अंकमाल देती हैं, मकरके आगामी पुण्यपर्वपर इस अधमकी भस्म वहाँ परिपूत बने, ऐसी अनुमति प्रदान करें।'

'कोई इसे स्वीकार नहीं करेगा। प्रजा, सामन्त, विप्रवृन्द एवं आश्रितजन कोई नहीं।' राजपुरोहित दृढ़ स्वरमें बोले——'अल्प पापमें अधिक प्रायश्चित्त निर्दिष्ट करनेवाला ब्राह्मण नरकगामी होता है। यदि यही प्रायश्चित्त आवश्यक हो तो इसका विधान महर्षि निदाघको ही करना चाहये।'

× × ×

'महर्षि निदाघके राज्यमें पधारनेका समाचार मिला है !' उस दिन राजपुरोहितने ही सोत्साह सूचित किया था। वे दिग्वसन, अलक्ष्यलिङ्ग अवधूत——उनका कोई ठीक पता-ठिकाना हुआ करता है ? उन ज्ञानमूर्तिके दर्शन जिसे हो जायँ, सौभाग्य उसका। ऋषिगण भी सदा उन्हें कहाँ पहिचान पाते हैं।

उन्मत्त, जडके समान अपनेको प्रदर्शित करनेवाले, गृहस्थके यहाँ गोदोहनकालसे अधिक किसी प्रकार न रुकनेवाले उन नित्य परिव्राट्से उपदेश-प्राप्तिकी आशा तो दुराशा ही है। वे कहाँ प्रवचन करते हैं ? किंतु उनके दर्शन ही क्या कम सौभाग्यके सूचक हैं।

एक अन्तेवासी उनके दर्शन समीपके वानप्रस्थाश्रममें कर आया था। उसने अपने गुरुदेवको सूचित किया और राजपुरोहितकी कलिंग-नरेशपर असीम कृपा तो सबको ज्ञात है। वे तत्काल राजसदन पहुँच गये थे——'अवश्य ही कुछ श्रम उठाना पड़ेगा उन्हें ढूँढ़नेमें।'

'वह श्रम हमारे सौभाग्यको शुभ्र करनेवाली तपस्या बनेगा !' नरेशने तत्काल रथ प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दे दी।

कोई सेवक साथ नहीं लिया गया। राजपुरोहितने अपना एक ब्रह्मचारी अवश्य भेज दिया था पहिले ही। रथ वानप्रस्थ तपस्वियोंके आश्रमोंतक पहुँचा भी नहीं था कि वह ब्रह्मचारी मार्गमें लौटता मिला——'भगवान् भास्करके प्रधान पीठकी ओर महर्षि चले गये।'

एकसे दूसरे स्थानोंमें पूछते——पता लगाते अन्तमें महर्षि निदाघ मिल गये थे। वे शाद्वल भूमिमें एक नारिकेल तरुकी छायाका आश्रय लेकर लेटे थे। एक हाथपर मस्तक रखकर शान्त पड़ा था उनका श्रीअङ्ग। रथ पर्याप्त दूर छोड़ दिया गया।

राजपुरोहितको आगे करके नरेश महर्षिके समीप मन्दगतिसे पहुँचे। भूमिमें पड़कर प्रणिपात किया सभीने। राजपुरोहितका ब्रह्मचारी भी साथ ही था और सारथि भी।

'नारकीय प्राणी !' महर्षिने तिरस्कारपूर्वक कहा और शीघ्रतापूर्वक उठकर खड़े हो गये। वे इतने वेगसे एक ओर दौड़ पड़े कि उनके पीछे दूसरेके लिये दौड़ना भी कठिन ही था। दौड़ना मर्यादाके अनुरूप भी नहीं होता।

'नारकीय प्राणी !' ठक् रह गये चारों-के-चारों व्यक्ति। वाक्य किसी एकको लक्ष्य करके नहीं कहा गया था; किंतु उसका लक्ष्य कौन था, यह निर्णय कोई समस्या नहीं थी। सूतको महर्षि सम्बोधन करते, यह सम्भावना नहीं थी। राजपुरोहित तथा ब्रह्मचारीके लिये महर्षि इस प्रकारके शब्दका उपयोग कर नहीं सकते थे। कुछ भी हो, वे दोनों ब्राह्मण थे और ब्राह्मणका अबोध शिशु भी रुष्ट हो जाय—स्रष्टाको भी वह रोष भारी पड़ता है। महर्षि विप्रका अपमान कर नहीं सकते थे।

'नारकीय प्राणी!' आगतोंमें जो मुख्य था, सम्बोधन उसीको लक्ष्य करेगा। नरेशको लगा कि दिशाएँ अन्धकारमें डूब गयी हैं। वे मस्तक पकड़कर बैठ गये। राजपुरोहित बड़ी कठिनाईसे उन्हें रथपर बैठा सके उस दिन।

× × ×

'महर्षि निदाघ कोणार्क-क्षेत्रमें ही हैं !' राजपुरोहित-के ब्रह्मचारीने ही इस बार भी समाचार दिया था। कई ब्रह्मचारी तथा अनेक राजसेवक महर्षिका पता लगाने कई दिनोंसे चारों ओर घूम रहे थे।

'हम पहिले भगवान् नारायणको नमस्कार करेंगे।' कोणार्क पहुँचकर यद्यपि अवधूतका पता लग गया; किंतु राजपुरोहितने रथको देवधामकी ओर ले जानेका आदेश किया। भगवान् सूर्यकी विधिवत् अर्चना उन्होंने की और नरेशसे सम्पन्न करायी।

'जगत्के परम प्रकाशक! आपके चरणोंमें यह अज्ञानान्धकारमें डूबता ब्राह्मण प्रकाश-प्राप्तिकी कामनासे आया है।' पूजाके अन्तमें राजपुरोहितने जब प्रार्थना प्रारम्भ की, केवल नरेश ही नहीं, मन्दिरमें उपस्थित समस्त जन विस्मित हो उठे। यह अद्भुत गम्भीर स्वर—वैखरी वाणी तो नहीं है। हृदयसे उठता घनघोष-जैसी यह पश्यन्ती वाणी—'कोणार्कसे निराश लौटने नहीं आया यह विप्र। आपने अनुकम्पा नहीं की—श्रीविग्रहके सम्मुख प्राङ्गणमें इस शरीरकी भस्म मिलेगी कल प्रातः। भार्गव ब्राह्मण देह-दाहके लिये चिताकी चिन्ता नहीं करता। अग्निकी धारणा उसे माताके दूधके साथ मिलती है। यजमानको तुषाग्निमें आहुति बनते देखनेसे पूर्व योगाग्नि दग्ध न कर दे यह देह—पौरोहित्य व्यर्थ रहा मेरा।'

किंतु भगवान्के श्रीचरणोंमें पहुँची प्रार्थना कभी निराश लौटी है जो आज लौटती? महर्षि निदाघ ही कहाँ निष्ठुर हो सकते थे। जिसमें रज और तमकी छायाका स्पर्श नहीं—रोष, क्रोध, घृणा, निष्ठुरताका प्रवेश सम्भव है वहाँ। उनकी वाणीने अमङ्गलका स्पर्श कब किया!

'जिज्ञासु है तू! आ! आ जा!' सागर-पुलिनपर पड़े थे वे सर्वज्ञ इस दिन। आज भी वे उसीपर दक्षिण करका उपधान बनाये लेटे थे। आज नरेशके साथ राजपुरोहित मात्र थे महर्षिको प्रणिपात करनेवाले। शेष सभी लोगोंको राजपुरोहितने रोक दिया था। महर्षिने किंचित् मस्तक उठाया और अधरोंपर मन्दस्मित आ गया—'विप्रश्रेष्ठ! आपका यजमान अब प्रकाशके उन्मुख हो चुका है।'

'श्रीचरणोंकी कृपा!' राजपुरोहितने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया—'प्रकाशके अधिदेवताके पादपङ्कजोंमें प्रणिपात करके ही हम इधर आये हैं।'

'आप शास्त्रज्ञ हैं। नरकका स्वरूप क्या है?' नरेश और राजपुरोहित दोनों जब समीप पुलिनकी

रेतपर बैठ गये, दो क्षण रुककर महर्षिने पूछा—'क्या-क्या है नरकोंमें ?'

'अन्धकार, घृणित वस्तुएँ ।' राजपुरोहितने विनम्र स्वरमें ही उत्तर दिया—'पीड़ाके अकल्पनीय उपकरण, मल-मूत्र-शोणितादि अपवित्र पूयगन्ध घृणित पदार्थ !'

'राजन् ! तुम्हारे इस शरीरके भीतर क्या-क्या है ?' महर्षि देरतक मौन रहे । उन्होंने नेत्र बंद कर लिये थे। जैसे राजपुरोहितका उत्तर उन्होंने सुना ही नहीं । एकाएक नेत्र-पलक खुले और उन्होंने द्युमान्‌की ओर देखा—'कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर, सुपवित्र तत्त्व !'

'भगवन् ! इसमें श्रेष्ठ सुन्दर सुपवित्र क्या ?' नरेश संकोचपूर्वक बोले—'रक्त, मांस, मेद, अस्थि, लोम, मज्जा, त्वचा, मल, मूत्र········।'

'सब अपवित्र, सब दुर्गन्धित, सब घृणित !' महर्षि उठकर बैठ गये—'और इस देहने दुःख-ही-दुःख दिया प्राणियोंको । दारुण वेदना देनेवाला यह कारागार । तब यह नरक नहीं है राजन् ?'

कोई कैसे कहे कि यह नरक नहीं है। राजपुरोहितके मुखसे भी शब्द नहीं निकला । नरेशने केवल स्वीकृतिमें सिर झुका दिया ।

'इस नरकमें—देहमें पड़ा प्राणी—देहासक्त ही नारकीय प्राणी है ।' महर्षिकी वाणीके शब्द-शब्दसे मानो प्रकाश फूटा पड़ता था । देहासक्ति ही उस नरक भी ले जाती है । प्रायश्चित्त करना है तुम्हें ? इस देहासक्तिका त्याग तुम्हारा प्रायश्चित्त !'

राजपुरोहितके साथ नरेशने श्रद्धाभरित प्रणिपात किया वहीं पुलिनपर उन अवधूतश्रेष्ठको ।

उद्धवके प्रति

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

सुनत न और की धुनत अपनी ही आप
आपको तो अगुन बखानिबे की धुन है,
जीवन हमारो अहै नाम-गुन मोहन को
वासों कहा काम जाको नाम है न गुन है।
हम निगुनी हैं, हमैं सगुन सिखैहै गुन
दैहै कहा गुन जो अगम्य है अगुन है,
एक अंग हीन को जहान असगुन मानै
सब अंग हीन तो महान् असगुन है॥

(२)

नैन बिन देखै ब्रह्म नैन हूते दीखै नायँ
स्याम हमें देखैं हम स्यामहिं निहारै हैं,
रूप हीन ब्रह्मको निरूपन करत आप
स्याम मन हरन अनूप रूप वारे हैं।
चाहि अनचाहे की सदा ही आप चाहे करो
हम न अनेह पै सनेह उर धारै हैं,
अलख निरंजन सों काम कहा ऊधो ! हमें
स्याम दृग-कंजनके अंजन हमारे हैं॥

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

श्रीबदरीनाथ

केदारनाथसे जब हम वापिस हुए उस समय बादल उठ रहे थे। हमारे चलते-चलते सारा दृश्य बादलोंके आवरणमें ढक गया। अरण्यखण्डों, उत्तुंग शैल-मालाओं, केदारनाथके मन्दिर, उसके पीछेके विशाल हिमानी और मंदाकिनी सभीने नखशिख इन मेघोंकी ओढ़नी ओढ़ ली। पैर तो हमारे अवनी-पर थे, पर चित्तदृष्टिमें सर्वत्र छाये मेघ ही थे। जान पड़ता मेघोंके लोकमें हम विचरण कर रहे हैं। हमें अपने बचपनकी बातें याद आयीं। जब मैदानोंमें मेघ उमड़-घुमड़कर इर्द-गिर्द छा जाते हैं तो बच्चे कहते हैं, मेघ चरने निकले हैं। हम इन मेघोंको बाँधते, चीरते, समेटते चलते पर ये हमारे चतुर्दिक् छाये ही रहते। हम सराबोर इनमें डूबे रहते। मेघमय इस दृश्यमें हम ऐसे निरुपाय थे जैसे किसी उमड़ती सरिताके वेगको रोकनेमें मिट्टीका एक ढेला। मानव यहाँ ऐसा दिखता जैसे जलधिका अवगाहन करने चला उसकी ऊर्मियोंमें ही उलझा कोई तटवर्ती पोत। इस मेघ-सिन्धुका अवगाहन कर हम आगे बढ़ रहे थे, कभी डूबते कभी उतराते कभी ये ओस-विन्दु बन हमारे तनपर टपकते, कभी बड़ी-बड़ी बूँदोंकी वर्षा करते। मंदाकिनीको पार कर हमने अपने अश्रुपूरित नेत्र पोंछे ही थे कि सजल मेघोंने वृष्टि आरम्भ कर दी। कुछ पग चलते ही हम सराबोर हो गये इस बारिससे। जोरोंकी वर्षा और घने मेघ आवरणमें पथ टोहते हम बढ़ रहे थे भींगते, ठंडसे ठिठुरते। नीचे मंदाकिनीका मन्द-मन्द रव, ऊपर मेघोंका घोर गर्जन, फिर अपने चतुर्दिक् छाये उन्हींके आच्छादनके कारण एक अदृष्ट सृष्टि और उसके अद्भुत वातावरणमें हम जा रहे थे। कभी भय लगता, कभी विस्मय होता और कभी प्रकृतिकी इस अलौकिक और अनुपम रूप-सुधाका हम मुग्धमन पान करने लगते। ज्यों-ज्यों वर्षा बढ़ी, मेघोंका आवरण हटा। चढ़ावकी अपेक्षा कभी-कभी उतारमें जल्दी चलना कठिन होता है, थमकर चलनेपर भी बरबस हमारे पग कुछ जल्दी ही उठ रहे थे। ऊपरसे नीचे जो उतर रहे थे। ऊपर चढ़नेमें हमें पर्याप्त श्रम उठाना पड़ा था, नीचे उतरनेमें उसका दशमांश भी नहीं लग रहा था। चढ़ाव और उतारके इस चक्करकी महत्तापर इसी वक्त बोलते हुए गोविन्ददासने कहा, मानव-जीवन स्वयं एक कहानी है चढ़ाव और उतारकी। एक प्रयोग है, उत्थान और पतनका। चींटीकी तरह कितने चढ़ते-गिरते, पुनः चढ़ते फिर गिरते और इस चढ़ने-उतरनेके क्रममें कितने ऊपर पहुँच पाते हैं और पहुँचनेपर भी कितने ऐसे हैं जो कुछ देर थम पाते हैं। अपने मूल उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये, एक साधककी साधना और अनवरत श्रमकी आवश्यकता होती है। ऐसे साधनापूरित मन और अनवरत श्रमसे उठा मानव एक बार जब अपनी ऊँचाईपर पहुँच जाता है तो नीचे आनेकी कल्पना उसे भयावह हो जाती है। वह सदा सजग रहता है उस स्थितिके प्रति जिसमें उस ऊँचाईके बीज छिपे रहते हैं। यदि वह इस स्थितिको दृष्टिसे ओझल कर दे तो पलक मारते जरा-सी तन्द्रा, मोह या सुषुप्तिकी अवस्थामें एक झटकेमें नीचे आ जाय। इसीलिये जिस तरह आँख खोलकर धीरे-धीरे अपने विवेक और उद्यमसे आदमी ऊपर बढ़ता है। पाँवोंकी मंजिलमें भी आहिस्ता-आहिस्ता उसे नीचे उतरना होता है। आँख बंदकर वह नीचे नहीं उतर सकता। आँख बंदकर नीचे उतरनेवालोंको तो तिमिरमय गहरे खंदककी ही शरण मिल सकती है। फिर पहाड़ोंकी चढ़ाई और उतार दोनोंमें ही मानवको सदा सजग रहना पड़ता है। चींटीकी तरह फिसलनका सदा भय बना रहता है। न जाने उसका कौन पग उसे नीचे खंदकमें खिसकानेवाला हो। एक बात और, भावों और भावनाओंकी ऊँचाईपर पहुँचनेके लिये मनको जिस संयम, सहिष्णुता और एकाग्रताकी मंजिल नापनी पड़ती है वह उसकी सामान्य स्थितिमें नहीं। अपनी सामान्य स्थितिपर तो वह सहज गति-मतिसे चलायमान रहता ही है। इसी तरह केदारनाथकी एक संकल्पपूरित ऊँचाईपर पहुँचकर अब हम नीचे उतर रहे थे, काफी नीचे हमें उतरना था। अतः पूर्वोक्त मतानुसार मनकी स्वाभाविक गतिमतिमें सहज भावसे हमारे पाँव जल्दी उठ रहे थे, हम विवेककी वेणीमें इन्हें थामते चलते थे। नीचे उतरनेके इस उद्योगमें हमारे भाव-विचार भी उतरते-चढ़ते, किंतु इतने नीचे नहीं जितने मैदानोंमें रहते समय। कदाचित् यह इस पुण्यभूमिका प्रभाव था। मार्ग चौड़ा था, अतः निष्कंटक वन-सृष्टिपर दृष्टि डालते कभी पावन-सलिला मंदाकिनीके मादक, मन्थर, मधुर और तेज प्रवाहको निरखते, तो कभी कपोलोंको सहलाते मन्द पवनके झोंकोंमें उसके जलकणोंका स्पर्श-आनन्द लेते थे

उसके मन्द-मन्द रवका मस्तीभरा सहगान-सा सुनते अघाते न थे। इन दृश्य और श्रव्य नैसर्गिक दृश्यों और कलाओंके क्रिया-कलापमें हमें चौंसठ कलाओंकी रसानुभूति होती और जब हमारा निर्धन नग्न मन इस नैसर्गिक निधिका सहज रूप पाता जो प्रकृति यहाँ दोनों हाथ लुटाती है तो उसे अनुभूति होती एक शाश्वत, सत्य और चिरंतन सुखलोककी। जान पड़ता हम किसी ऐसे दिव्य लोकमें विचरण कर रहे हैं, जो संसारियोंके लिये सुषुप्तिकी, ज्ञानियोंके लिये कल्पनाकी और योगियोंके लिये साधनाकी वस्तु हुआ करता है। हमें इस सुखकी यहाँ सहज अनुभूति हो रही थी, उसी तरह जिस तरह सुखद समीर जड और चेतन सभीके लिये सर्वहित-भावसे तत्पर समप्रवाहमें प्रवाहित सर्वसुलभ रहता है।

श्रीकेदारनाथपुरीसे तीन मील चलनेपर क्रमशः वर्षा बंद हुई। आज हमने ग्यारह मीलकी मंजिल तय कर सीतापुर-चट्टीमें रात्रि विश्राम किया। दूसरे दिन अर्थात् २७ जूनके प्रातःकाल चलकर हमने फाटा-चट्टीमें भोजनादि किये और अपराह्नमें गुप्तकाशी पहुँच गये। गुप्तकाशीमें रैन-बसेराकर भोर होते ही फिर चले और तीन मीलकी मंजिल नाप काकडा-गाड़ पहुँचे, जहाँसे मोटरपर सवार हो उसी दिन संध्याको रुद्रप्रयाग पहुँच गये। बद्रीनाथ जानेके लिये केदारनाथसे रुद्रप्रयागतक लौटना पड़ता है और रुद्रप्रयागसे मोटरद्वारा लगभग पचास मील पीपलकोटीतक जाना पड़ता है। यों तो अब बदरीनाथके रास्तेमें जोशीमठ तक मोटर जाती है, किंतु सुना, पीपलकोटी और जोशीमठके बीचके मार्गमें कहीं कोई गिरिखण्डके आ विराजनेसे मोटर-यातायात अवरुद्ध हो गया है। अतः फिलहाल मोटर पीपलकोटी तक ही जाती थी।

दिनांक २९ जूनके प्रातःकाल बदरीनाथकी जय बोल हम रुद्रप्रयागसे मोटरमें पीपलकोटीके लिये सवार हुए।

उत्तराखण्डके चार धामोंकी यात्राके हमारे संकल्पके तीन चरण हम पूरे कर चुके थे, शेष और अन्तिम चतुर्थ चरणकी पूर्ति और उसकी प्राप्तिकी लालसाभरे मनसे आज हमारा हृदय ओत-प्रोत था।

जब हम अठारह मईको दिल्लीसे इस यात्राके लिये विदा हुए, उस समय ग्रीष्मका प्रखर आतप था। यमुनोत्तरीमें थोड़ी वर्षा हुई थी, गङ्गोत्तरीमें बिल्कुल नहीं। केदारनाथमें सर्वाधिक ऊँचाईके कारण वर्षा ऋतुके अलावा भी मेघोंका साम्राज्य रहता है और प्रायः पानी बरसा करता है। केदारनाथके अलावा मार्गमें जो इधर-उधर कुछ वर्षा हुई भी, उससे हमने जेष्ठ दोंगरे माना, किंतु बदरीनाथके पथपर चलते ही हमने देखा, ग्रीष्म समाप्त हो गयी और वर्षाका आरम्भ हो चुका है।

पीपलकोटी हम मध्याह्नमें पहुँचे। बदरीनाथधामकी यात्राका पीपलकोटी आज हमारा प्रथम पड़ाव था। पीपलकोटी रुद्रप्रयागकी तरह ही इस मार्गका एक अच्छा कस्बा है। बाजार, डाक-तारघर और टेलीफोनकी भी व्यवस्था है। वनविभागीय विश्रामालय, औषधालय और मोटर-बसोंका एक बड़ा अड्डा है। वहाँ एक भेड़-पालक सरकारी संस्था है तथा रिंगालकी वस्तुएँ बनानेका काम होता है। यहाँ हमारे ठहरनेकी व्यवस्था बदरीनाथ-मन्दिर-कमेटीके प्रवासगृहमें की गयी थी। आरामसे भोजन-भजन हुए और हम रात काटने पड़ रहे। भोर होते ही हमारी पद-यात्रा आरम्भ होनी थी। सदाकी तरह ब्राह्ममुहूर्तमें चार बजे हमलोग उठ बैठे, अपने कमरेके पट खोले तो देखा जोरोंकी वर्षा हो रही है। हम यात्रापर सूर्योदयके पहले ही लगभग साढ़े पाँच बजे रवाना हो जाते थे। कुछ देर हमने पानी रुकनेकी प्रतीक्षा की, किंतु आसार रुकनेके दिखते नहीं थे। हम लोग बड़े पशोपेशमें पड़े। समूची यात्रामें आज पहला दिन था, जब प्रातःकाल हमें इस तरह वर्षाका सामना करना पड़ा हो। अनेक जगह अनेक बार पानी गिरा है, लेकिन कभी तीसरे पहर, कभी रातमें। केदारनाथसे लौटतेमें गिरा था, यहाँ तो आगे बढ़नेसे ही रोक रहा था। बदरीनाथधामकी प्रथम दिनकी पदयात्रापर ही प्रकृतिके इस प्रकोपपर हम कुछ चिन्तित हो गये। 'प्रथमग्रासे मक्षिकापाते' वाली बात थी। चाहते तो बरसते पानीमें निकल पड़ते, पर यह बात दलके दो-चार व्यक्तियोंके लिये ही सम्भव थी, समूचे दलके लिये नहीं। फिर गोविन्ददासकी भावज यहाँ पहुँचते ही कुछ अस्वस्थ भी हो गयी थीं, अतः उनके कारण तथा अन्य साथियोंके कारण बरसते मेहमें यात्रापर चलाना सम्भव न था। पानी इतना तेज था कि चलनेकी कौन कहे उरिया लाँघनेकी हिम्मत न होती। फिर पीपलकोटीकी ऊँचाई ४३५० फुट होनेके कारण शीत भी अधिक थी। अतः इस धोकम-धाकी स्थितिमें कभी बाहर बरामदेमें आते, कभी फिर कमरेमें जाते साढ़े पाँच बज गये, पानीका वेग कम न हुआ। हमें निश्चय हो गया आज हमारा निकलना न हो सकेगा। बारी-बारी सभी नित्यकर्मसे निवृत्त हो ही चुके थे, लाचार हिम्मत हार पस्तदिल, चूँकि सदाकी तरह पदयात्रापर चलनेको सबने अपनी-अपनी कमर कस ली थी, बँधे बिस्तरोंका, जो

अबतक बँध चुके थे, सहारा ले कमरेमें बैठ गये। छः बजनेको थे, देखा क्रमशः पानी कम हो रहा है और कम होते-होते साढ़े छः बजे वर्षा बिलकुल थम गयी। करीब एक घंटे देरसे अपनी-अपनी लाठी थाम भगवान् बदरीविशालकी जय बोल सब पदयात्रापर निकल पड़े।

वर्षा ऋतुके आरम्भका यह दृश्य अद्भुत था। पहले जो बादल घटाटोपके सदृश छाये हुए थे, उनके खण्ड हो-होकर अब उनकी दौड़-भाग आरम्भ हुई। यह दौड़-भाग बिना विश्राम किये एक शिखरसे दूसरे शिखरपर होती। फिर इस दौड़में बादलोंके कई रूप बनते। कभी हाथी; कभी सिंह, कभी मृग, कभी वाराह, तो कभी भालूका, जो भालू मदारियोंके भालुओंके समान कभी-कभी दो पैरसे खड़े भी हो जाते थे। आकाशमें हमने अनेक बार बादलोंकी ये विभिन्न आकृतियाँ देखी थीं पर पहाड़ोंकी चोटियोंपर नहीं। गिरिशृङ्गोंपरकी वन्य जीवोंकी ये आकृतियाँ और उनकी यह दौड़-भाग एक अद्भुत दृश्य था। थोड़ी देरमें यह दौड़-भाग बंद हुई और अब मेघोंके इन टुकड़ोंने हिमवान्के शिखरोंपर ही अपना डेरा डाल दिया। मानो इस दौड़से थककर अब वे विश्राम कर रहे हों। मेघोंका यह कौतूहलपूर्ण दृश्य देखकर हमें याद आ गयी कविवर सुमित्रानन्दन पंतकी निम्न पंक्तियाँ—

पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेष

तथा संस्कृतकी यह उक्ति भी—

पदे पदे यन्नवतामुपैति
तदैव रूपे रमणीयतायाः।

कुछ दूर कुछ शिखरोंपर धूम-सा उठ रहा था। संस्कृतकी एक उक्ति है—'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' हिन्दीमें भी एक कहावत है 'बिना आगके धुआँ नहीं निकलता'। परंतु यह धूम इस उक्ति और कहावतको मिथ्या सिद्ध कर रहा था। जहाँ यह धुआँ था, वहाँ आग न थी। यथार्थमें ये अग्निसे उत्पन्न धूम न होकर पानीके बादल थे। एक उष्ण दूसरे शीतल। दोनों विरोधी गुणोंवाले होनेपर भी रूपमें एक-से। मानव-आकृतियोंकी तरह एकरूपता किंतु भावों, विचारों और कृतियोंमें विविधताके ये मेघ-दल प्रतीक बन गये थे।

पीपलकोटीसे बदरीनाथ ३८ मील पड़ते हैं। रास्ता यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरीके सदृश बीहड़ नहीं। चढ़ाव होते हुए भी मार्ग यद्यपि केदारनाथके सदृश तो अच्छा नहीं, पर बुरा भी नहीं है। परंतु इस मार्गकी हिमवान्की शिखरावली यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी और केदारनाथके मार्गकी शिखरावलीसे सर्वथा भिन्न है। पीपलकोटीसे चलनेके बाद कुछ दूरतक चीड़के वृक्ष मिलते हैं, परंतु चीड़का वैसा घना जंगल नहीं, जैसा यमुनोत्तरीके मार्गमें है। गङ्गोत्तरीके सदृश देवदारका भी इस मार्गमें वन नहीं है। यत्र-तत्र देवदारके फैले हुए तथा सुरोंके सदृश सीधे चाहे कुछ वृक्ष हों। केदारनाथके रास्तेके समान इस मार्गमें वृक्षों, पौधों, लताओं और झाड़ियोंकी सघन हरियाली अथवा केदारनाथके समान पुष्पोंके पौधे भी नहीं हैं। न इस मार्गकी गङ्गा अलकनन्दापर वैसी सघन विटप-लताओंकी कुञ्जोंवाली छाया ही है। हाँ, इस ओरके इन वृक्षोंमें हमें खजूरके कुछ वृक्ष देखकर आश्चर्य अवश्य हुआ।

पीपलकोटीसे नौ मील चलकर हम गुलाबचट्टीमें भोजन करने ठहरे। गुलाबचट्टी पहाड़की एक चोटीपर समुद्रसतहसे ५३०० फुटकी ऊँचाईपर स्थित पीपलकोटीके बादका हमारा पहला मुकाम था। अपराह्णमें चार मील और चल हमारा अगला मुकाम कुमारचट्टीमें था। यहीं रात्रिवास करनेकी बात थी। परंतु आज एक नयी घटना घटित हुई।

हमारे दलके लोग फुट फेल होकर चलते ही थे। मुकामसे प्रस्थानके पूर्व सब लोग एकमत हो अपने पड़ावका निश्चय करते यद्यपि जो गोविन्ददासके कारण निश्चित कार्यक्रमके अनुसार ही होते किंतु कभी-कभी इसमें भी अपवाद हो जाता। अतः सदाकी तरह पीपलकोटीसे प्रस्थान करनेके पूर्व सभी साथियोंको नौ मील आगे गुलाबचट्टीमें दोपहरके भोजनकी तथा चार मील आगे कुमारचट्टीमें अपने रात्रि-मुकामकी जानकारी दे हम आगे बढ़े थे। मार्ग अच्छा था, अतः कोई पाँच घंटेमें ९ मीलकी यात्रा कर हम गुलाबचट्टी पहुँच गये। स्नानादि किये, पण्डितने भोजनोंकी तैयारी की। पड़ावपर पहुँचनेके बाद हमारे सभी साथी, जो अक्सर मार्गमें बिछुड़ जाते थे, इस प्रारम्भिक तैयारीके होते-होते एकत्रित हो जाते थे। किंतु इस बार काफी विलम्ब हो जानेपर भी हमारे साथकी दो महिलाएँ जब यहाँ नहीं पहुँचीं तो हमलोग चिन्तित हो उठे। इस अप्रत्याशित देरीसे हमलोग थोड़े नहीं, पर्याप्त चिन्तित थे। ऐसे अवसरोंपर स्वजनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होने और उनके कोई समाचार न मिलनेपर विशेषकर ऐसे स्थलोंपर हमारे मनको अमाङ्गलिक और अनिष्टसूचक विचार आ घेरें, यह स्वाभाविक ही होता है। बरसात शुरू हो चुकी थी, रास्तोंपर फिसलन, गहरे खंदक, भयानक प्रवाहयुक्त सरिता अलकनन्दा और टूटते पहाड़ हमारी दृष्टिमें एक दृश्यपर घूमने लगे। दोनों ही महिलाएँ यद्यपि हमारी आत्मीय नहीं

थीं, पर उतनी दूरकी भी नहीं, जो सम्बन्ध केवलमात्र परिचयकी वस्तु हो। आत्मीय न होते हुए भी काफी निकटका मामला था। इनमें एक महिला थी गोविन्ददासके सद्गुरु मुनीमकी पत्नी तथा दूसरी श्रीमती गोदावरी देवीकी परिचारिका श्यामा। हमें उत्तराखण्डकी यात्रा करते लगभग डेढ़ माह हो गया था; इन बीते दिनोंमें हमारी मानसिक रचना कुछ इस प्रकारकी हो चुकी थी कि बहुत दूरतक अपने घरबार और परिवारको हम भूल-सा गये थे और स्वतन्त्र पक्षियोंकी तरह केवल अपने दलके साथ पूर्ण बल और बेगसे एकके बाद एक शैल-शिखर पार करते अपने गन्तव्यपर चल रहे थे। इस मंजिलमें हमें प्रधानतया दो बातोंका ही विशेष ध्यान रहता, एक अपने लक्ष्यका, दूसरा अपने सभी साथियोंके सुख-स्वास्थ्यका। जैसा कि ऊपर कहा है, अपने मनोरथके चार चरण या पदार्थोंमें हमें तीन प्राप्त हो चुके थे, चौथेकी प्राप्तिके हम निकट थे। किंतु हमें इस घटनासे आज ऐसा जान पड़ा, जैसे तीसरी सीढ़ीसे उतरते ही और चौथी सीढ़ीपर पाँव बढ़ाते ही मानो किसीने हमारा पाँव पकड़ लिया। सभीके मन चिन्ता और विषादकी छायासे म्लान थे। क्या हो गया भगवान्, कुछ समझमें न आता। कोई भूलने-भटकनेकी बात कहता तो बहुमतसे सभी इस विचारको निर्मूल कर देते। श्यामाने तो दो वर्ष पूर्व ही तो उत्तराखण्डकी यात्रा की थी और अभी तककी हमारी पिछली तीन धामोंकी यात्रामें वह अनेक बार मार्गमें आगे-पीछे हुई थी पर भूली-भटकी कहीं नहीं। अतः बदरीनाथके इस मार्गमें इनके भूलने-भटकनेकी सम्भावनाका विचार तो हमारे मनमें उठता पर श्यामाके कारण इस विचारको अधिक प्रश्रय नहीं मिलता। ज्यों-ज्यों प्रतीक्षाका समय बढ़ता, हम लोगोंकी चिन्ता प्रगाढ़ होती जाती। साथियोंको, कंडी-डंडीवाले तथा भारवाहकोंको यहाँ-वहाँ भेजा, पंडाजीको आगे कुमारचट्टी भेजा, किंतु सभी थके पाँव और रीते हाथ वापस लौटे, कहीं कोई पता नहीं। इन लोगोंके वापस लौटनेपर और सब लोगोंके मन खेदसे भर गये। स्नानादि तो सबेरे हो गये थे पर खाया-पिया किसीसे न गया। दैवयोगसे जब इस विचारसे कि अब आगे बढ़नेके सिवा और कोई उपाय नहीं, सब लोग चलनेके मूडमें बैठे थे, कुछ यात्री जो बदरीनाथसे लौट रहे थे, हमारी चट्टीके निकट आये और उन्होंने हमें संवाद दिया कि दो औरतें मार्गमें हमें मिली थीं और वे जोशीमठमें ठहरेंगी। यह संवाद मिलते ही हमारे मनको राहत मिली और खिन्न मनसे हम लोग आगे बढ़े। ये लोग कैसे जोशीमठ पहुँचीं, कहाँ क्या खाया-पीया होगा, कहाँ ये ठहरी होंगी, आदि बातोंकी चिन्ता अभी भी हमारे मनमें बनी रही और इसी चिन्ताका भार लिये हमलोग आगे चल पड़े। यद्यपि हमारा आज रात्रि-मुकाम कुमारचट्टीमें था, पर उक्त महिलाओंकी कृपाके कारण अब हमें कुमारचट्टीकी चार मीलकी नहीं, जोशीमठकी दस मीलकी मंजिल नापनी थी। यों ही नौ मील आज चल चुके थे, अब हमने दस मीलका और संकल्प किया और भगवान् बदरीविशालकी जय बोल चल पड़े। लड़खड़ाते पाँव रात्रिके आठ बजे जोशीमठ पहुँचे और जोशीमठमें प्रवेश करते ही अब इनकी यहाँ खोज प्रारम्भ की। कोई आधा घंटे तलाश करनेपर बाबा काली कमलीवालोंकी धर्मशालामें दोनों देवियाँ मिल गयीं। इस मुलाकातपर हमें खुशी तो थी ही, पर कुछ नाराजी भी हुई। राजी-खुशी पूछनेके बाद हमने कैफियत भी माँगी; उनके इस तरह जोशीमठ आनेके लिये। बात यह हुई, पीपलकोटीसे जोशीमठ तक मोटर-मार्ग बन गया है। इन लोगोंने पीपलकोटीसे जो मोटरका मार्ग पकड़ा फिर न कहीं मुड़नेकी, न देखनेकी और न पूछनेकी कोई कृपा की। पीपलकोटीसे ९ मीलपर गुलाबचट्टीके लिये ऊपर पहाड़पर एक मार्ग जाता है, वह ये पारकर मूडमें आगे बढ़ती गयीं और जब काफी आगे निकल आयीं तो फिर उन्होंने लौटना अभीष्ट नहीं समझा। बस, इस जरा-सी नासमझी या असावधानीके कारण कितना क्लेश और कष्ट उठाना पड़ा इन्हें भी, और निर्विवादरूपसे इनसे भी अधिक हमलोगोंको अनन्त अव्यक्त अनिष्टकारी आशंकाओंका। असावधानी तो असावधानी ही है, छोटी हो या बड़ी। यह एक ऐसी तन्द्रा है, जिसका परिणाम मौतसे भी भयंकर होता है। आज हमें पहाड़के इस दुर्गम मार्गकी १९ मीलकी मंजिल नापनी पड़ी, वह भी शिथिल अंग और विवश मनसे। जोशीमठ पहुँचकर ज्यों ही बिस्तर खोले, सब-के-सब बिस्तरोंपर ऐसे पड़ गये, जैसे किसी मेजर ऑपरेशनसे मुक्त बेहोश रोगीको कोई ऑपरेशन टेबिलसे उतार स्टेचरपर लिटा दे। अबतककी यात्रामें हम पाँच मीलसे बारह मीलतक नित्य चले थे, आजकी हमारी यह मंजिल उन्नीस मीलकी हुई। अतः मार्गकी कठिनता और दुर्गमता आज हमारे अंग-अंगमें समा गयी थी। दूसरे दिन प्रातःकाल हमारा आगे बढ़ना नहीं हुआ।

श्रीरामचरितमानसकी एक अर्द्धाली

(लेखक—श्रीनर्वदाप्रसादजी वर्मा)

मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछमन मन डोला॥

उपर्युक्त अर्द्धाली श्रीरामचरितमानसमें अरण्यकाण्डके अन्तर्गत श्रीगोस्वामीजीद्वारा कही गयी है। कुछ सज्जनोंका यह मानना है कि यह पाठ ठीक नहीं है। पाठ होना चाहिये—

मरम बचन सीता जब बोली। हरि प्रेरित लछमन मति डोली॥

"उनका कहना है कि सीता 'बोला' में स्त्रीलिङ्ग कर्ताकी पुँल्लिङ्ग क्रिया व्याकरणकी दृष्टिसे दोषयुक्त है। साथ-साथ 'मन डोला'का भाव भी दूषित है। श्रीलक्ष्मणजीके सदृश संयमी पुरुषका मन अपनी माताके तुल्य बड़े भाईकी स्त्रीके लिये डोल गया। यह मानना सर्वथा अनुचित है। मन डोलनेका साधारण एवं व्यापक अर्थ 'मनका विकारी होना' है। श्रीलखनलालजीका मन निर्विकार था। इसकी साक्षी स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जनकपुरीमें पुष्प-वाटिकाके प्रसङ्गमें दे चुके हैं। अतः 'सीता बोली' और 'मति डोली' पाठ ही सही है। इससे स्त्री-लिङ्ग कर्ताकी स्त्री-लिङ्ग क्रिया होनेसे व्याकरण-दोष भी मिट जाता है और लक्ष्मणजीके मनमें विकार आ गया, यह दोष भी नहीं रह जाता। 'मति डोली' से यह अर्थ होता है उनकी बुद्धि यह निर्णय न कर सकी कि 'रहूँ या जाऊँ?'

और भी एक दलील दी जाती है। "लक्ष्मणके समान महापुरुषके लिये जो ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी धर्मपत्नी सीताको माता मानते थे, जिन्होंने कभी आँख उठाकर सीताके मुखकी ओर नहीं देखा, केवल उनके चरणोंको ही देखा, यह कहना कि एकान्तमें उन श्रीसीताजीपर 'मरम वचन' सुनकर उनका मन डोल गया या विकारग्रस्त हो गया। कितना बड़ा पाप है, कितना अक्षम्य अपराध है और कितनी जघन्य कल्पना है?"

आप अब इस अर्द्धालीपर विचार कीजिये।

'मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछमन मन डोला॥'

—इसका यदि अर्थ किया जाता है कि 'जब सीता (मरम) बोला, तब लछमनका मन प्रभुकी प्रेरणासे डोल गया' तो इस अर्थमें 'मरम' और 'बोला' के बीचसे बचन शब्द ही छूट जाता है और इसीसे सारी गड़बड़ी होती है। यदि इसका यह सही अर्थ किया जाय कि 'जब सीताने मरम बचन बोला तब लछमनका मन हरिकी प्रेरणासे डोल गया।' तो स्पष्ट हो जायगा कि 'मरम बचन' पुँल्लिङ्ग है, इसलिये उसकी क्रिया पुँल्लिङ्ग भी सर्वथा सही हुई। इसके अतिरिक्त माता सीताने भी स्वयं लक्ष्मणको निर्दोष बताया है—

'हा लछमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फलु पायेउ कीन्हेउ रोषा॥'

तथा श्रीसीताजीने यह स्वीकार किया है कि मैंने लक्ष्मणको जबर्दस्ती भेजा है—

'सुनहु तात कोउ तुम्हहिं पुकारत प्राननाथकी नाइं।'
'कह्यौ लखन, हत्यौ हरिन, कोपि सिय हठि पठयौ बरिआइं॥'

(गीतावली)

जब हरण हो गया, तब जानकी स्वयं पश्चात्ताप करती हैं कि मैंने लक्ष्मणसे कटु वचन कहे और रेखा लाँघी—

'कहे कटुबचन रेख नाँघी मैं तात छमा सो कीजे।
देखि बधिक बकराज मरालिन लषन लाल छिन लीजे॥'

अतः स्पष्ट है कि मन डोलनेका अर्थ मनका विकारी होना कदापि नहीं माना जा सकता। अब यदि कहा जाय कि—

'मरम बचन सीता जब बोली। हरि प्रेरित लछमन मति डोली॥'

—पाठ ही मान लिया जाय तो क्या दोष है? क्या इसमें कोई हानि है?' तो इसका विनम्र उत्तर यह है कि 'मन' और 'मति' में बड़ा अन्तर है। मन स्वभावसे चञ्चल होता है तथा उसके डोलनेसे कोई विशेष हानि नहीं है; क्योंकि उसका स्वभाव ही डोलना संकल्प-विकल्पात्मक ही है। यह मन बुद्धिके अधीन रहता है। अतः डोलनेपर बुद्धिके द्वारा इसे सँभाला जा सकता है। परंतु 'मति'—बुद्धि डोल जाती है, तब तो बड़ा गजब हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६३)

बुद्धिके नाश होने—डोलनेसे तो सर्वनाश ही होता है। मनुष्य अपने श्रेय-साधनसे ही गिर जाता है। अतः यदि 'मति डोली' पाठ दिया जाय तो लक्ष्मणको अपने श्रेय-साधनसे गिरा माना जायगा, जो सर्वथा असम्भव है। लक्ष्मण-जैसे महापुरुष अपने श्रेय-साधन-से कैसे गिर सकते थे? जब केवल मनके डुलानेके लिये भी उन्हें भगवान्‌को प्रेरित (हरिप्रेरित) करना पड़ा, उनकी 'मति' कैसे डोल सकती थी? 'मति डोली' पाठ तो लक्ष्मणकी स्थितिको सर्वथा गिरा देता है। अतः यही सिद्ध होता है कि केवल ऊपरसे व्याकरण-दोष जानकर ही लोगोंने 'बोली' और 'डोली' पाठकी तुक मिला दी। यह नहीं सोचा कि ऐसा करके हम लक्ष्मणके साथ कितना घोर अन्याय कर रहे हैं!

मन तो कर्मचारी-संघका प्रधान है और बुद्धि न्याय-

विभागकी अध्यक्षा है। मन उसके निर्णयपर ही चलता है। इसीसे बुद्धिको मनीषी भी कहते हैं। अतः यह ध्यान देनेकी बात है कि जब न्याय-विभाग ही डोल जायगा तो क्या होगा। इसपर पाठक स्वयं विचार करें। अतः यहाँ 'सीता बोली' पाठ आदरसूचक नहीं है तथा न उचित जान पड़ता है।

उपनिषदोंमें कहा है कि बुद्धि सारथी है (बुद्धिं तु सारथिं विद्धि), मन लगाम है। लगाम यदि इधर-उधर हो तो सारथी उसे खींचकर ठीक कर सकता है। पर यदि सारथीका ही मतिभ्रम हो जाय तो फिर रथका तो नाश ही होता है।

साथ-ही-साथ यह बात भी विचारणीय है कि गोस्वामीजीका 'शाब्दिक चमत्कार' भी इस 'मति डोली' पाठसे उड़ जाता है। 'लछमन' शब्दका अर्थ है जिसके 'मनका लक्ष्य' अटल हो या मन जिसका अपने लक्ष्यपर अटल हो। यह लछमनका 'ऐश्वर्य-सूचक' नाम है। माधुर्यमें 'लखन' भी कहते हैं। गोस्वामीजीने जहाँ मनके लक्ष्यपर ध्यान दिया, वहाँ प्रायः 'लछमन' शब्द दिया और जहाँ दूसरेके मनकी बात लछमन-द्वारा जनायी, वहाँ 'लखन' शब्द कहा है। यथा—

'लखन लखेउ रघुबंस मनि ताकेउ हरको दंड।'

अतः जिन गोस्वामीने ऐसे 'चमत्कारपूर्ण' शब्द रक्खे हैं, वे 'लछमन मति डोली' कैसे लिख सकते हैं; इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि—

'मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछमन मन डोला॥'

—पाठ ही सही है, न्यायसंगत है तथा निर्दोष है।

इस प्रकार इसमें जरा भी व्याकरण-दोष नहीं है। कोई यदि यहाँ व्याकरणकी उपेक्षा मानते हैं तो उन्हें अन्य प्रसङ्गोंकी गोस्वामीजीकी ऐसी ही अर्द्धालियोंपर ध्यान देना चाहिये।

१. प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥
२. दूसर बर मागउँ कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
३. धुआँ देखि खरदूषन केरा। सूपनखा तब रावन प्रेरा॥

पहली अर्धालीमें 'प्रश्न पुँल्लिङ्गकी क्रिया स्त्रीलिङ्ग— 'सुहाई' 'भाई' है, दूसरीमें 'मनोरथ' पुँल्लिङ्गकी स्त्रीलिङ्ग 'मोरी' तथा तीसरीमें सूपनखा स्त्रीलिङ्गकी क्रिया पुँल्लिङ्ग 'प्रेरा' में स्पष्ट व्याकरण-दोष दिखायी देता है। ऐसी और भी कई अर्द्धाली हैं। परंतु वास्तवमें इनमें कोई दोष नहीं है, केवल समझका अन्तर है। बस, यही हाल 'सीता बोला' का है। जिसका अर्थ होगा कि 'जब सीताजीने मरम वचन बोला—कहा, तब हरिकी प्रेरणासे लछमनजीका मन डोल गया।' यदि 'मरम बचन' न बोला जाता तो मन डोलनेका प्रश्न ही नहीं था। यह स्पष्ट है कि सीताजी पहलेसे कह रही थीं परंतु जब 'एक मरम बचन' कहा तब लछमनका मन हरि-प्रेरणासे डोला। वैसे लछमनमें मनको डुलानेकी किसीमें सामर्थ्य नहीं थी। इसलिये 'हरिप्रेरित' कहा गया है। वाल्मीकिजी स्पष्ट लिखते हैं कि वह वचन लक्ष्मणजीको बाणके समान लगा। अतः यहाँ 'मरम बचन 'पुँल्लिङ्ग कर्ताकी क्रिया पुँल्लिङ्ग होना 'डोला' उचित ही है। इसके अतिरिक्त, यहाँ मन डोलनेका अर्थ 'मनका विकारी होना' नहीं है, और न यहाँ लक्ष्मणजीका मन विकारी हुआ ही है। यहाँके प्रसङ्गपर जरा ध्यान दीजिये—

जब भगवान् श्रीरामने मारीचको बाण मारा तो वह लछमनका नाम लेकर पुकारकर गिर गया, इसपर माता सीताजीने कहा—

जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछमन बिहँसि कहा सुनि माता॥
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई॥

रेखाङ्कित अर्द्धालीसे स्पष्ट है कि लक्ष्मणके मनका लक्ष्य क्या था और हिरन मारनेको जाते समय भगवान् श्रीराम स्वयं लक्ष्मणको आज्ञा दे गये थे।

प्रभु लछमनहिं कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई॥
सीता केरि करहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥

अतः लक्ष्मण अपने कर्तव्यपर अटल दृढ़ थे और इस कर्तव्यसे लक्ष्मण हटनेवाले नहीं थे, न लक्ष्मणका मन ही डोल सकता था, इसलिये भगवान्‌को ही लक्ष्मणके मनको प्रेरित ('हरिप्रेरित') करना पड़ा। तब कहीं वे माता सीताको छोड़कर गये। अतः यहाँ 'मन डोला' का अर्थ होगा कि 'भगवान्‌की प्रेरणासे वे प्रभुकी आज्ञाका पालन न कर सके, और भगवान् श्रीराममें जो निष्ठा थी, वह भी उस समय पूरी न रह सकी।' अतः मन डोलनेका अर्थ विकारी होना कदापि नहीं है। और यदि यह अर्थ माना जाय कि बुद्धि यह निर्णय देनेमें विचलित हो गयी कि 'रहूँ या जाऊँ' तो कहना होगा कि 'जब निश्चय ही नहीं हुआ तो वे गये क्यों ? अतः बुद्धि डोल गयी' अर्थ गलत है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन अधिकांश प्रतियोंमें भी यही पाठ है। केवल चार-पाँच प्रतियोंमें ऊपरी दृष्टिसे व्याकरण-दोष जानकर टीकाकारोंने 'बोली' 'मति डोली' पाठ कर दिया है।

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १२५२ से आगे]

तबसे अब

भारतवर्षमें अंग्रेजोंकी कम्पनीकी स्थापना सन् १६०० में हो गयी थी और तबसे वे मजेमें फूट डालकर लाभ उठानेकी कूटनीतिसे ढाई सौ वर्षतक व्यापार करते हुए अपनी जमीदारी भारतमें बढ़ाते रहे, परंतु इतने कालतक भारतीयोंने कोई व्यापक विरोधी सक्रिय अन्दोलन न करके १८५७ में ही विद्रोह क्यों किया ? इसकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। लार्ड राबर्ट्‌स चालीस वर्षतक भारतमें रहे और सन् १८५७ की क्रान्तिमें वे भारतमें मौजूद थे। वे उस समयके प्रामाणिक इतिहास-लेखक माने जाते हैं। उन्होंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'भारतमें चालीस वर्ष' में पृष्ठ ४३१ पर गदरका मूल कारण बताते हुए लिखा है—''मिस्टर फॉरेस्टने भारत-सरकारके कागजोंकी हालमें जो जाँच की है उस जाँचसे सिद्ध है कि कारतूसोंके तैयार करनेमें जिस चिकने मसालेका उपयोग किया जाता था, वह मसाला वास्तवमें दोनों निषिद्ध पदार्थों—गायकी चर्बी और सूअरकी चर्बी मिलाकर बनाया जाता था और इन कारतूसोंके बनानेमें सिपाहियोंके धार्मिक भावोंकी इतनी उपेक्षा की जाती थी जिसका विश्वास नहीं होता।''

इतिहासकारोंने इस विद्रोहकी जड़ इस प्रकार बतायी है कि पश्चिम बंगालमें दम-दममें स्थित गोला-बारूदके कारखानेमें एक खलासीने एक फौजी ब्राह्मणके लोटेसे पानी पीना चाहा तो ब्राह्मणने जातिभेदके कारण इनकार कर दिया। अपमानित खलासीने कहा कि 'आज तुम जातिभेदके कारण भले ही हमें पानी न पिलाओ, किंतु अब शीघ्र ही जब गायकी चर्बी और सूअरकी चर्बी सनी कारतूसोंका उपयोग सब सैनिक करेंगे तो हिंदू-मुसलमान सभीके भेद मिट जायँगे और सभी घुल-मिलकर एक हो जायँगे।' उस समयके लार्ड कैनिंगने इस खबरको झूठ घोषित किया परंतु फौजियोंपर इसका कोई असर न हुआ; क्योंकि यह खबर सच्ची थी और बातों-ही-बातोंमें यह बात फौजोंमें एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें सर्वत्र फैल गयी। हिंदू गायको माताके समान पूजते हैं और मुसलमान सूअरसे घृणा करते हैं, दोनों वर्ग इस जबर्दस्त नीतिसे अपना धार्मिक अपमान जानकर विद्रोह करनेको उठ खड़े हुए। उस समयका हाल इतिहासकार श्रीजस्टिन मेकार्थीने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ ''हमारे ही समयका इतिहास'' में लिखा है—'चर्बी-सनी कारतूसोंके झगड़ेमें एक आकस्मिक चिनगारी धार्मिक और राष्ट्रीय युद्धके विस्फोटक भावोंमें लग पड़ी' जिससे हिंदू और मुसल्मान दोनों ही अंग्रेज सरकारके दुश्मन हो गये। यह विद्रोह लगभग डेढ़ सालतक चला, जिसमें लोग गाँव, नगर अपने धन-धंधे और परिवारको छोड़कर भागे, हजारों नर-नारी और बच्चोंकी हत्याएँ हुईं और मनमाने दुष्ट कर्म और क्रूरताएँ हुईं। स्वतन्त्रताकी यह खिचड़ी एक संगठनसे एक ही भाँडेमें पकानेके लिये हिंदू मुस्लिम दोनों भाइयोंने सन् १८५७ में धर्मके चूल्हेमें जो आग सुलगायी थी, उसको फिरंगी सरकारने अपनी कूटनीति और दमन-युद्धसे पत्थर पटककर तत्काल तो बुझा दिया, परंतु वह आग दबी रही, जिंदा रही और इन अनेक समस्याओंपर विचार और उसे कार्यान्वित करनेकी योजनाके लिये एक अंग्रेज उदार विचारक श्रीह्यूमके प्रयत्नोंसे, एक बंगाली मेधावी वकील श्रीबनर्जीकी अध्यक्षतामें बम्बईमें १८८५ में शिक्षित प्रतिष्ठित लोगोंकी एक मिली-जुली 'कांग्रेस' की बैठक हुई और तबसे प्रतिवर्ष अधिकाधिक लोग संगठित होकर

"1. The recent researches of Mr. Forest in the records of the Government of India prove that the lubricating mixture used in preparing the cartridges was actually composed of the objectionable ingredients—cows' fat and lard and that incredible disregard of soldiers' religious prejudices was displayed in the manufacture of these cartridges."—*Forty years in India* by Lord Roberts.

2. "The quarrel about the greased cartridges was but a chance spark flung in all the combustible material—a national and religious war."—"*History of our own times*" by Justin Mecarthy.

स्वतन्त्रताकी यह खिचड़ी पकानेके लिये डंडे चूल्हेमें ये लोग हल्की-हल्की फूँक देने लगे। और जो फिरंगीलोग गाय और सूअरसे घृणा न कर दोनोंको हजम कर जाते हैं, निश्चय कर रहे थे कि अरे अन्धविश्वासी भारतीयो! तुम धर्मान्ध होकर जिससे घृणा करते हो, वही वस्तु तुम्हें शीघ्र ही अधिक घृणित रूपमें इस तरह खिलायँगे और तुम्हारे खूनमें घोलेंगे कि तुम्हें पता भी न चलेगा और तुम स्वयं ऊँची कीमत देकर खरीदोगे। उस समयतक अंग्रेज वैद्य एडवर्ड जेनर (१७४९–१८२३) का चेचकनिरोधी टीका गायके मवादसे बनकर प्रचलित हो चुका था और उस घृणित विज्ञानको इंगलैंडमें १८५३, १८६७ और १८७१ में कानूनद्वारा बच्चों और जनतामें 'टीका' द्वारा ठूँस दिया गया।

अन्धानुसरण विज्ञान

इस अन्धविज्ञानका अनुसरण अन्य देशोंने भी किया। लीग ऑफ नेशन्सकी हेल्थ आर्गनाइजेशनकी रिपोर्टोंसे पता चलता है कि जिन देशोंने इस घृणित पद्धतिको नहीं अपनाया, उनके यहाँ चेचककी अपेक्षा अन्य देशोंमें इस टीकेकी प्रथासे चेचक रुकनेके बदले अधिक फैल गया जहाँ कि अनिवार्यरूपसे चेचकका टीका लोगोंको बार-बार लगाया गया था।

पुर्तगालमें २ मार्च १८९९में चेचकका टीका लगानेका कठोर कानून बना, परंतु जनतामें उसके प्रचारकी घोषणा नहीं हुई थी, लोग अपनी मर्जीसे टीका लगवाते थे। परंतु २६ मई १९११ को वहाँकी जनतन्त्री सरकारने इसकी घोषणा करके २३ अगस्त १९११ को इसे अनिवार्य करके प्रचलित कर दिया। जिसमें एक बार टीका लगानेसे सात वर्षतक चेचक न होनेकी बात बतायी गयी थी। यह क्रम चलते-चलते १९१९में ६० लाख जनतामें चेचकका टीका लगानेपर टीकेके कारण ८८६४ लोगोंकी चेचकसे मृत्यु हुई और आगे भी प्रतिवर्ष १९२५ से ३३ तक वहाँ टीका लगवानेवालोंकी प्रतिवर्ष मृत्यु-संख्या १४ से लेकर १०३० तक रही।

मेक्सिकोमें चेचकसे मृत्यु होनेका भाव दुनियामें सबसे ऊँचा है, वहाँ यह कानून १५ अक्टूबर १९२९ को बना जिससे हरेक व्यक्तिको दो बार टीका लगवाना अनिवार्य हुआ। बच्चोंको जन्मसे चार मासके अंदर टीका लगाना और प्रति पाँचवें वर्ष हरेक व्यक्तिको टीका लगाना अनिवार्य हुआ। सब फौजियोंको भी टीका लगता है तथा किसी भी उद्योग-धंधेमें लगे व्यक्तियोंको इससे मुक्ति नहीं दी गयी है।

फिर भी वहाँ टीका लगानेपर भी चेचकसे १९२२ से १९३२ तक, ११९७३६ लोग मरे।

इटलीमें भी चेचकका टीका लगानेका कठोर कानून है। लीग ऑफ नेशन्सकी बारहवीं बैठकमें हेल्थ कमेटीकी रिपोर्ट पेश हुई थी, जिसमें यूरोपमें टीका-प्रचलित देशोंकी अपेक्षा इटलीमें टीका लगानेपर भी चेचकसे होनेवाली मृत्यु-संख्याका भाव सबसे ऊँचा था।

जापानमें १८४९ में ही टीका सरकारद्वारा स्वीकृत होकर, १८७४में कानून बन चुका था। क्रमशः १८७६ तथा १८८५ में अधिक कठोर कानून बनाये गये कि हरेक बच्चेको जन्मसे एक वर्षके भीतर चेचकका टीका लगवाना तथा प्रति पाँच या सात वर्ष टीका लगवाना अनिवार्य हुआ। १८८६में जापान टीका लगवानेमें दुनियाके सब देशोंसे आगे था। उस समय भारतमें इसका उतना प्रचार न था। लंदनमें १९०६ में 'इन्कारपोरेटेड सोसायटी ऑफ मेडिकल आफिसर ऑफ हेल्थ'की रजतजयंती-समारोहके भोजमें छोटे नवाब टकाकीने बड़ी शेखीसे कहा था कि जापानमें हरेक बच्चेका जन्मसे छः महीनेके भीतर चेचकके टीकेसे रोगनिरुद्ध किया जाने लगा है। छः वर्षकी आयुमें स्कूल-प्रवेशके समय पुनः टीका लगाया जाता है और सेनाप्रवेशके समय पुनः टीका लगता है तथा चेचक फैलते समय पुनः टीका लगाया जाता है। इस प्रकार जीवनमें बार-बार टीका लगता है। इन महाशयका गर्व दो सालमें ही चूर्ण हो गया। १८०७५ लोगोंको इतना टीका लगानेपर भी चेचक हुआ, जिसमें ५८३८ की मृत्यु हो गयी और जितना ही अधिक टीका लगाया जाता, लोगोंको चेचक होता और वे मरते जाते।

फिलिपाइन द्वीपसमूहमें चेचकका टीका १८९८ में आया, अमेरिकन जन-स्वास्थ्यरक्षक-विभागके अधिकारियोंने वहाँ इसका कानूनसे प्रचार किया। १९१८-२० में टीका लगानेपर भी १६२५०३ लोगोंको चेचक हुई जिसमें ७४४५३ मृत्यु हुई, मृत्युका भाव लगभग ४४ प्रतिशत रहा। इन्हीं दो सालोंमें भारतमें भी चेचकका विशेष प्रकोप था; परंतु भारतकी अपेक्षा फिलिपाइनमें अधिक लोग मरे। १९१९ में जब कि दस लाखकी जन-संख्यामें टीका लगानेपर भी ४७३७ मृत्यु हुई। भारतमें अनुपात ५७० था। आस्ट्रेलियामें टीका अनिवार्य न होनेसे वहाँ चेचक भी नहीं है। १९२० से फिलिपाइनमें टीकेका प्रयोग असफल और घातक होनेसे, वहाँकी सरकारने कानून ढीला करके सभी बंदरगाहोंपर 'चेचकके रोगियोंको

क्वारण्टाइनमें एकान्तवास' करनेका कठोर नियम बना दिया है। अब वहाँ चेचक बहुत कम होता है।

भारतमें भी चेचकका टीका व्यर्थ सिद्ध हुआ है। मद्रासमें १९२२ में चेचकका टीका लगाने और बार-बार लगानेका कानून बनकर प्रचलित हुआ; परंतु वहाँ भी चेचक न रोका जा सका। बंगालमें भी यही हाल है, बार-बार लाखों व्यक्तियोंको यह टीका लगनेपर भी, १९४३-४४ में इसका हानिकर एवं घातक परिणाम हुआ है, यद्यपि १९४५ में चेचकसे हुई मृत्यु-संख्याको 'बंगाल अकाल आयोग' ने अस्वीकार कर सरकारकी झूठी रिपोर्ट दी थी। इस रोगका कारण जब कि गरीबी और गंदगी है, उसे न दूर करके, स्वस्थ मानवकी देहमें चेचकके मुर्दा मवाद चुपड़कर, टोंचकर यह रोग बीजारोपणसे पैदा किया जाता है!

टीका लगानेसे क्या नुकसान होता है, यह स्पष्ट बताते हुए जर्मनीके एक वेक्सिनेटरने किसीसे कह दिया था कि 'टीका लगानेसे उपदंश हो जाता है। तो इस कथनपर उसके ऊपर अदालतमें मुकद्दमा चला था। तब बर्लिनके डाक्टर क्रीवल सरकारी गवाह होकर अपना वक्तव्य देने अदालतमें बुलाये गये थे। आपने भी वही बात स्पष्ट कही और बताया कि टीकेके आविष्कारक जेनर साहबकी दुग्धशालामें दूध दुहनेवाली नोकरानी 'सारा नेल्मीस' के हाथोंमें उपदंश रोग था, जिससे गायोंके स्तनमें फैलकर संयोगवश जेनरकी दुर्बुद्धिसे टीका बनकर चमत्कारी दवाके रूपमें सर्वत्र विख्यात हुआ। टीका लगानेसे बच्चोंके टांसिल फूल जाते हैं, स्त्रियोंके स्तनकी दुग्धग्रन्थियाँ सूख जाती हैं जैसा कि उपदंशमें होता है।

Pox=Vulgar name for syphilis or any eruptive disease (American Illustrated Medical Dictionary)

टीकेका प्रचलन करनेवाला एडवर्ड जेनर (१७४९-१८२३) कीटाणुवादी लुई पास्त्योर (१८२२-१९२७) से पहलेका है। मेडिकल साइंसके क्षेत्रमें इन्हें भगवान्की तरह पूजा जाता है; परंतु आजके सुधरे हुए वैज्ञानिक इन्हें 'दुनियाके सबसे बड़े भोंदू' मानते हैं। Jenner and Pasteur are often referred to and described as great scientists, when they were but two of the world's biggest humbugs.

अनेक देशोंमें एक सौ वर्षतक स्वास्थ्य-रक्षा एवं चेचकनिरोधके लिये यह घृणित वैज्ञानिक प्रथा प्रचलित रही, परंतु उसका कुपरिणाम देखकर स्वयं इंगलैंडने इसे अनिवार्य न करके, रद्द करके स्वेच्छिक घोषित कर दिया है, जिसकी मर्जी हो, विश्वास—श्रद्धा हो, वह लगावे या न लगावे। यद्यपि इंगलैंड सरकारका स्वास्थ्य-विभाग अब भी बच्चोंको जन्मसे ६ महीनेके भीतर टीका लगवा देनेका प्रचार करता है। किसी माता-पितापर इसे जबरदस्ती नहीं लादा जाता। यदि माता-पिताका दिल टीकेको हानिकर समझकर स्वीकार न करे तो उसे छूट मिलती है।

वैज्ञानिकोंकी विनय-पत्रिका

उनकी कल्पना उन्होंने सिद्ध कर दी। अंगरेजी शासनके फंदेसे छूटकर भारतीय भाइयोंको, १८५७ के धार्मिक सांस्कृतिक भूमिकासे उत्पन्न विद्रोहसे अपने योजनानुसार नब्बे वर्ष बाद स्वतन्त्रता मिल तो गयी, परंतु भारतीयोंने मवादकी इस खिचड़ीको अब भी नहीं छोड़ा है! पहले तो अंगरेज सरकारके अधीन रहकर भारतवासियोंने चाहे अज्ञान या पराधीनताकी लाचारीसे स्वयंपर तथा बाल-बच्चोंपर गायके मवादसे बना हुआ यह चेचकनिरोधी टीका चुपड़ा, रँगा, टोंचा, किंतु अब स्वाधीन होकर भी वही वैज्ञानिक गुलामी और अन्धविश्वास कायम है। जिस इंगलैंडने भारतपर दो सौ वर्षोंतक शासन किया, उसी देशके विख्यात अनुभवी एवं उदार विचारके डाक्टरोंकी एक समितिने भारतके प्रति प्रेम रखते हुए, भारतमें चेचकके टीकेसे होनेवाली हानियाँ दिखलाकर भारतमें अनिवार्य टीकेके विरोधमें[3] 'डॉक्टरोंकी विनय-पत्रिका' २४ बड़े-बड़े डॉक्टरोंके हस्ताक्षरोंसहित, भारतकी अनेक संस्थाओंके अध्यक्षों और सदस्योंके पास भेजी। उन्होंने '[4]आपके आज्ञाकारी सेवक' की हैसियतसे अपने हस्ताक्षर किये हैं। ये हैं डॉ० बट्राण्ड पी० एलिन्सन, एम० विडो बेली, रेजिनाल्ड बोडेन, मार्था क्लीलेंड, एच टूडर एडमण्ड्स, एण्ड्रयू गोल्ड, जे० एच० होस्ली, डोनाल्ड मोरिस, एच० डब्ल्यु० जोर्डन, एच, वेलण्टाइन नेग्स, जार्ज मेकल्पिन, आर० फीर्लिंडग ओल्ड बैरिष्टर एट-लॉ, सायरिल पिंक, डोरोथी शेपर्ड, जे० ए० साइक्स, ईथेल अनविन बाड़ी, जे. एच. फर्गी उड्स, जी. टी० विल्किन्सन, एडवर्ड मूर,

---

[3] Doctors' Petition Against Compulsory Vaccination in India.

[4] Your obedient Servants.

बी. स्वानवर्ग, गॉर्डन लाटो, डब्ल्यु॰ हारोल्ड एमली, और डब्ल्यु॰ एलिस मॉर्गन। ये सब एम. डी;, एम. आर. सी. एस; एल. आर. सी. पी; एम. बी. बी. एस.; बी. सी. एच; एम. सी. एच; एल. आर. सी. एस; एल. आर. एफ. पी. इत्यादि उपाधिधारी और डॉक्टरी विषयके ख्यात, अनुभवी अधिकारी हैं। इन सबने अपनी 'विनय-पत्रिका' के आरम्भमें ही लिखा है।

"हमलोगोंने इंगलैंडमें चेचकनिरोधी टीकेके [5]'स्वार्थ विहित उद्योग' से एक सौ वर्षतक इसकी असफलताके बुरे परिणामसे बहुत दुःख भोगकर, अन्तमें इसके कुचक्रसे बहुत संघर्ष करके मुक्ति पायी है और हमारी इच्छा है कि हमारे सहयोगी भारतीय भी इसके स्वार्थ-जालसे अवश्य मुक्ति पावें। 'अपने पड़ोसीसे आत्मवत् प्रेम करो' यही हमारा धार्मिक मन्त्र हमें ऐसा प्रयत्न करनेको प्रेरित करता है; क्योंकि सारी मानव-जाति हमारे पड़ोसी हैं। [6]भारतके प्रति इस विषयमें हमारी नैतिक जिम्मेदारी है; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंटने ही भारतमें चेचकका टीका प्रचलित किया था। चेचकके टीकेके प्रचारमें यह भूल हो गयी, इसका पूरा निश्चय हो जानेपर हम अपने देशमें इसे बहिष्कृत करके, चाहते हैं कि भारतके सौ वर्ष इंगलैंडकी भाँति व्यर्थ बरबाद न हों और भारतमें यह अनिवार्य टीका बहिष्कृत कर दिया जाय। इस प्रकार आपलोग भी केवल हमारे इंगलैंडके बराबर ही नहीं, वरं यूरोपके अन्य देशों तथा उत्तरी अमेरिकाके कुछ राज्यों, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडकी श्रेणीमें (स्वतन्त्र-स्वास्थ्य-साधनों) में बराबर हो जायँगे।"

प्रमाणित उद्गार

आगे उन्होंने [7]नीली किताब (पार्लियामेंट तथा प्रिवी कौंसिलकी रिपोर्ट) 'भारतमें स्वास्थ्यके उपाय' १९ वीं जिल्द, पृष्ठ १६८ से उद्धृत किया है 'दस सालके आँकड़ोंसे कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रोग-प्रसारके समय टीका लगानेसे उसपर कोई प्रभाव पड़ा हो, इस नतीजेसे परिणाम निकलता है कि लोगोंमें चेचकका प्रकोप रोकनेके लिये सफाईपर विशेष ध्यान देकर चेचकका सामना करना चाहिये।'

दार्शनिक और नेता, [8]जॉन मॉर्ले, जो १९०६ से १९१४ तक भारत-सरकारके राज-सचिव थे—ने अपना अभिमत दिया है—'जबरदस्ती टीका लगानेके विरुद्ध मैं हमेशा था और अब भी हूँ।'

टीका, इंजेक्शन और कीटाणुवाद

२५ जनवरी १९१२ के 'लाइफ' (अमेरिका) में डॉ. डब्ल्यु. ए. ग्रोब्सने लिखा था, 'सौ वर्ष पहले चेचकका टीका आविष्कार होनेके पहले, तीन प्रतिशत लोग चेचकसे,

---

[5] The greed of vested interests.

[6] We in England, after suffering bitterly for more than a century from the failure and evil effects of Vaccination, have as a result of a hard struggle against prejudice, selfishness and the greed of vested interests, at last succeeded in freeing ourselves from the compulsory imposition of this practice, and we now desire that our fellow men in India shall also be free. In this we are following the religious precept 'Love thy neighbour as thyself', realising that all mankind are our neighbours. In this matter we feel we have a particular moral responsibility towards India, because it was the British Government in India who introduced Vaccination into that country. Convinced that its introduction was a mistake, as has been amply proved by results, we now wish to take this opportunity of the abolition of compulsion in England to invite to you, without wasting 100 years as England did, to abolish compulsory Vaccination in India. You will thus bring your country into line not only with England, but also with certain other European countries, with some of the States of North America, and with Australia and New Zealand.

[7] Blue Book "Sanitary Measures in India", Vol. XIX. p 168: 'Ten years statistics' afford no evidence that Vaccination affects the usual epidemic course of the disease, and hence this fact, in face of extensive Vaccination work of the present and past years, appears to lead to the conclusion that, in its epidemic form, smallpox must be met by improving the sanitary condition of the people."

[8] 'I am and always have been opposed to the principle of compulsion in the matter of Vaccination,' —John Morley, Secretary of State for India 1906—1914.

इंगलैंडमें मर जाया करते थे । अब टीकेकी कृपासे ऐसी मौतें नहीं होतीं । लोग चेचकके टीकेका कितना भी विरोध करें, उनके लिये मैं तैयार हूँ । बताइये, चेचकके टीकेसे कहाँ नुकसान हुआ, कितनी मौतें हुईं ?'

इसके उत्तरमें 'महारानी विक्टोरियाके राज्यका इतिहास' देखिये, जो १९०० में अंगरेजीमें प्रकाशित हुआ था, जिसमें लिखा है—'सरकारी आँकड़ोंसे सिद्ध होता है कि वेक्सिनेटरोंके द्वारा विषाक्त औजारोंसे प्रतिवर्ष २६ हजार बच्चे मौतके घाट उतारे गये हैं और एक लाख बच्चे बीमार होते हैं ।'

Official statistics prove that twenty-six thousand children have been annually slaughtered by the poisoned lancets of public Vaccinators, and one hundred thousand injured yearly by invaccinated discease."

१८७८ के पार्लियामेंटकी बैठकोंकी रिपोर्ट—संख्या ४८८ 'English Digest of Parliamentary Returns, No. 488, Session of 1878, Vaccination Mortality' में 'टीकेद्वारा मृत्यु' शीर्षकके नीचे लिखा है, प्रतिवर्ष २५ हजार बच्चोंको टीका लगाकर हत्या की जा रही है और इससे अधिक संख्यामें बच्चे रोगी और अपंग बनाये जा रहे हैं ।'

'Twentyfive thousand children are annualy slaughtered by diseases inoculated into their systems by Vaccination, and a far greater number are injured and maimed for life by the same unwholesome rite."

अपने वैज्ञानिक ग्रन्थ 'वण्डरफुल सेंचरी' में प्रोफेसर ऑल्फ्रेड रसेल वालेस, एल. एल. डी. ने, जो अंगरेजी वैज्ञानिकोंके सभापति थे, लिखा है, 'टीका कोई भलाई करनेमें असमर्थ है, और निश्चय ही वह लोगोंमें रोग फैलाकर मौतके घाट बहुतोंको उतारता है और टीकेद्वारा पाँच प्रकारकी बीमारियाँ शरीरमें प्रविष्ट की जाती हैं, जिसके घातक परिणामसे प्रतिवर्ष सम्भवतः दस हजार लोग तो मरते ही हैं ।'

'While utterly powerless for good, Vaccination is the certain cause of disease and death in many cases, and is the probable cause of ten thousand deaths annually by five inoculable diseases of the most terrible and disgusting character.'

टीका केवल व्यर्थ ही नहीं, खतरनाक भी है, इससे शरीरमें रोगके कीटाणु प्रविष्ट होकर पनपते हैं और घातक रोग उत्पन्न कर फैलाते—हत्या करते हैं । पशुका मवाद, मुर्दा और जिंदा, रोगके कीटाणुओंका विषाक्त मिश्रण होता है जो रक्तको विषाक्त करता है ।

कीटाणुवाद भयंकर वितण्डावाद है, कीटाणुओंसे रोग होते हैं । कीटाणु हवा, पानी, भोजन और शरीर, चर्म एवं ओष्ठपर लाखों, करोड़ोंकी तादादमें हर समय मौजूद होते हैं, इनसे बचे, किसीसे सम्पर्क न करो, श्वास लेना, कुछ भी खाना-पीना घातक है, अतः कीटाणुओंको नष्ट करनेमें ही हमारा जीवन कायम रह सकता है । अतः संसारके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये संसारमें आग लगा दी जाय । कौन वैज्ञानिक किस साधनसे संसारसे कीटाणुओंको नष्ट एवं निर्वंश कर सकता है ?

अमेरिकी सीनेटके सदस्य डॉक्टर गेलिंगरने अपने एक भाषणमें कहा था, 'If we believed one half of it, we would not dare to breathe, eat or drink, but would want to get into glass cases, but would be hermetically sealed up.'

'यदि हम इन वैज्ञानिकोंकी आधी बात भी मान लें तो हमें श्वास लेना, खाना-पीना भी कठिन हो जायगा । कीटाणुओंके डरसे हमें काँचके बने बक्सोंमें घुसकर बिलकुल बंद हो जाना होगा ।'

राबर्ट कॉचने कीटाणुसे रोग होनेका सिद्धान्त जब प्रकाशित किया तो उनके अन्धानुयायियोंने अनेक प्रकारके कीटाणु खोज निकाले और उसपरसे अब रोगनाशक, रोगनिरोधक अनेक प्रकारके रोगोंके कीटाणुओंको मारनेके लिये, अनेक प्रकारके विष-रसायन और पशुओंके इस रक्त-मवादसे इंजेक्शन बनकर प्रचलित हो चले । नतीजा वही हुआ, रोगके कीटाणुओंसे अनेक नये रोगोंकी खेती, रोगियोंकी बढ़ती और अस्पतालों, दवाओं, विषों तथा डॉक्टरोंकी बढ़ती—उन्नति ! अपंगोंकी बढ़ती ! जैसा बीज वैसी फसल !

क्या कीटाणुओंकी कृपापर ही मानवका जीवन निर्भर है ! क्या कीटाणु इतने घातक हैं ? क्या कीटाणुओंसे सचमुच रोग

होते हैं ? इसकी जाँचके लिये वैज्ञानिक प्रोफेसर पेटनकॉफर और प्रोफेसर इसमार्क (Prof. Pettonkoffer and Prof. Esmarch) प्रयोगार्थ, हैजा रोगके विकसित (Cultured) हजारों कीटाणु पी गये, जिन कीटाणुओंको स्वयं डॉ० राबर्ट कॉचने ऐसे प्रयोगके लिये विकसित तैयार किया था ।' टायफाइड कीटाणुओंके विषयमें, विख्यात एवं प्रामाणिक डॉ० मेचनिकॉफ (Metschnikoff) ने अपना मत दिया है कि अनेक स्थनोंमें तथा अस्पतालोंमें भी टायफाइड कीटाणु बड़ी तादादमें पाये गये हैं, परंतु वहाँके रहनेवालोंको इन कीटाणुओंसे कभी टायफाइड नहीं हुआ ?

एक विशेष प्रकारके कीटाणु, klebs Loeffler bacilli. जिससे डिफ्थीरिया रोग होता है, बहुत-से लोगोंके कण्ठमें मौजूद पाये गये हैं, परंतु उन्हें डिफ्थीरिया कभी नहीं हुआ और इन विकसित कीटाणुओंको खा लेनेपर भी किसीको वह रोग नहीं हुआ; यह सब प्रयोग करके देख—जान लिया गया है ।

'Medical Brief' नामक डाक्टरी अखबारमें लिखे अनुसार प्रोफेसर मेचनिकॉफने प्रयोग करके देख लिया और हैजेके कीटाणुओंको उन स्थानोंके जलाशयोंमें घोला तथा लोगोंने उस पानीको पिया; परंतु वहाँके लोगोंको न पहले कभी हैजा हुआ, न पानी पीनेसे कुछ असर हुआ । रोगके कीटाणु सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी हैजा, चेचक, प्लेग आदिके फैलावके समय सभी लोगोंको न तो ये रोग होते और न सब लोग इन रोगोंसे मर ही जाते ।

अतएव कीटाणुओंसे रोग और मृत्यु होती है या अपनी गलत चर्या, गलत आहार-विहारसे उत्पन्न अपनी ही विषमयतासे ? मनुष्य कीटाणुओंकी कृपासे जीवित, रोगसे बचा रहता है या अपने उचित आहार-विहार एवं संयमसे उपार्जित सबल प्राण, सबल रक्त एवं सबल स्वास्थ्यसे ? स्वयं विचार एवं अनुभव करनेकी बात है कि संसारके मानव, पशु, पक्षी भी कैसे जीते हैं ?

कीटाणुवादका व्यर्थ वितण्डावाद डाक्टरोंके अनुभवसे स्पष्ट हो जाता है । 'टाइम्स' २ नवम्बर १९५९ में प्रकाशित पृष्ठ ७७ पर इस समाचारको देखिये, 'किस कीटाणु या विषाणुसे कौन-से रोग होते हैं, इसका निश्चय वैज्ञानिकोंद्वारा नहीं हो पाता, क्योंकि कतिपय कीटाणु और विषाणुसे समान लक्षणवाले रोग होते पाये गये हैं, चाहे जुकाम हो; गलेकी सूजन या पीड़ा हो; चाहे बुखार या पोलियो हो, इनका निश्चय करनेके लिये किसी विशेष कीटाणुका नाम नहीं लिया जा सकता । इसका निश्चय करनेके लिये डाक्टरोंकी एक ऐसी फौजकी आवश्यकता पड़ेगी, जो प्रयोगशालामें दिन-रात कीटाणुओंको शोध-पहचान किया करें ।'

'To the ailing human and his physician a major difficulty is that viruses cannot be identified by the disease they cause—many different ones may produse seemingly identical symptoms. And a single virus may touch off, in different people, symptoms ranging from a cold, a sore throat, a fever to a paralytic polio. Even paralytic polio cannot be diagnosed as surely as was believed in what Dr. Schuman called the happy unenlightened first quarter of this century, because several viruses simulate its signs. Even such time-honoured children's infection as measles, German measles and mumps may deceive the physician. So said Dr. Schuman, diagnois often cannot be positive without a battery of laboratory tests.'

'श्रीअल्फ्रेड रसेल वालेस एल० एल० डी०; एफ० आर० एस० ने अपनी पुस्तक 'गजबकी शताब्दी' 'Wonderful century' में लिखा है, टीका लगानेके सम्बन्धमें जो कानून जिस आधारपर बने वे बिल्कुल गलत थे, जिनके वादे कभी पूरे न हुए । टीका लगानेकी प्रथा स्वास्थ्य-विज्ञानके बिल्कुल

---

1. "Wonderful century" – Alfred Russel Wallace LL. D., F. R. S. – 'The Successive Vaccination Acts were passed by means of allegations which were wholly untrue, and promises which have all been unfulfilled,......utterly opposed to the whole teaching of Sanitary Science, is one of those terrible blunders which in their far-reaching evil consequences are worse than the greatest crimes. The abolition of all laws enforcing or encouraging Vaccination is of more immediate and vital importance than any party dogma or any political programme.'

विरुद्ध है, बड़े अंधेरकी भूल है, जिसका परिणाम किसी महापराधसे भी बुरा है, इसका कानून फौरन रद्द होना चाहिये ।

[1]श्रीचार्ल्स क्रीटन, एम० डी० ने रायल कमीशनको बताया कि 'चेचकके टीके'के विषयमें 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के लिये मुझसे लेख माँगा गया तो मैंने इस वैज्ञानिक प्रथाको 'भद्दा, विकृत, अन्धविश्वास' लिखा । जब इनकी मृत्यु १८ जुलाई १९२७ को हुई तो उनकी मृत्यु-सूचनामें सर्वमान्य एवं प्रसिद्ध डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट' के ३० जुलाईके अंकमें प्रोफेसर बल्लोचने उनको 'सबसे अधिक विद्वान्' बताया था और उनकी 'हिस्ट्री ऑफ ईपिडेमिक्स इन ब्रिटेन' पुस्तकके विषयमें 'उन्नीसवीं सदीमें डॉक्टरीविषयक एक अंग्रेजद्वारा लिखी गयी सबसे बड़ी पुस्तक' लिखा था ।

इटलीमें पेरुजिया विश्वविद्यालयमें 'मेटेरिया मेडिका' के प्रोफेसर कार्लो रूआटा, एम० डी० ने लिखा है 'वेक्सिनेशन चेचकका टीका लगाना सबसे भयानक एवं घातक भूल है जिसमें डाक्टर लोग धँस गये हैं ।' और ब्रिटिश मेडिकल जर्नलके २७ मई १८९९ के अंकमें तो इटलीकी फौजोंमें बारीकीसे टीका लगानेपर भी चेचक फैलकर जो लोग मरे थे, उनके सब विस्तृत आँकड़े प्रकाशित हुए थे । ये सब प्रो० रूआटाके पत्रमें थे ।

वेक्सिनेशन और इंजेक्शनपर विश्वास और धंधा करनेवाले बड़े डाक्टरोंने भी अपने अनुभवके उद्गार निकाले हैं । डॉ० जॉन वाल्टर कार, एम० डी०, सी० बी० ई० ने लन्दन मेडिकल सोसायटीमें अध्यक्षपदसे कहा था—'टीका लगानेके विषयमें हमारा विचार बदलता जा रहा है और आगे शीघ्रतासे बदल जायगा, यदि कानूनद्वारा इसे अनिवार्य न बनाया होता । परंतु यह तो व्यवसायमें ऐसा पैठ गया है जैसे लोग भूत-प्रेतोंको मानते हैं और ऐसे अन्धविश्वासको मिटाना कठिन जान पड़ता है ।'

रायल सोसायटी ऑफ मेडिसिनके अध्यक्षपदसे प्रोफेसर मकिन्टोशने कहा था—'विज्ञानकी दृष्टिसे भी, हरेक प्रकारसे अब यह बात विवादास्पद नहीं रह गयी है कि शरीरमें विषसंचार करनेसे वह बढ़कर व्यक्तिको हानि पहुँचा सकता है । उसका प्रभाव रोका नहीं जा सकता और उसका परिणाम न जाने क्या हो । कौन जानता है कि कमजोर कीटाणु शरीरमें प्रविष्ट करनेपर कबतक चुपचाप छिपा रहेगा और कब पहलेकी तरह घातक हो जायगा ।

'Scientifically, it cannot be disputed that from every point of view the injection of virus capable of multiplying in the body of the individual is bad. Thus the effect cannot be controlled...........this may lead to unforeseen results.......who knows for how long an attenuated bacillus can lie dorment and then assume its former Virulence.' Prof: Mc. Intosh, Presidential address to the Royal Society of Medicine. 19. 10. 1926.

किसी प्रकारके टीकेके अन्धविश्वासमें पड़कर उसे कानूनी जबर्दस्तीसे जनतामें प्रचारित करना बड़ा अन्याय है । १५० वर्षोंतक संसारमें इसका प्रचार होकर तथा ९० वर्षोंतक कानूनन जबर्दस्ती लोगोंको टीका लगाकर इसका घातक परिणाम देखकर अनेक देशोंके लोग जाग्रत् हो गये और इस अन्धविज्ञानी प्रथाको बहिष्कृत एवं स्वैच्छिक कर दिया । इस टीकेको लिम्फ (lymph) नाम देकर जनतामें भ्रम फैलाया जाता है; क्योंकि 'लिम्फ' दो अर्थोंवाला शब्द है । साधारण ऑक्सफोर्ड डिक्शनरीमें इसका अर्थ दिया गया है—'पवित्र जल; शरीरके अङ्गोंसे निकलनेवाला बेरंग रस, गायकी मवाद भरी मसूरिकाका पदार्थ जो टीका लगानेके काम आता है ।'

जो सरकार अपनी जनतामें कानूनकी जबर्दस्तीसे, रोगनिरोध एवं स्वास्थ्य-रक्षाके नामसे ऐसी अन्धवैज्ञानिक, स्वार्थी, घातक प्रथाका प्रचार करती है जिससे कि लोगोंमें रोग विकृत होता है, बढ़कर मृत्यु होती है, उन सब वैज्ञानिक हत्याओं तथा पशु-हत्याओंके लिये सरकार अपराधी है ।

The Ministry of Health cannot escape from direct responsibility for every death or injury arising from the use of such foul lymph; and in addition to the serious dangers to human beings a vast amount of cruelty caused to the animals used in the production of lymph.

(क्रमशः)

---

[1] Charles Creighton, M. D.—the article on Vaccination for the Encyclopaedia Britannica—ultimately described as 'a grotesque superstition.'

आगामी अष्टग्रही योग

भगवान्की लीला और मङ्गलविधान

संसार अनित्य, अपूर्ण और क्षणभंगुर है । 'सृष्टि और प्रलय' इसका स्वरूप है, 'जन्म-मृत्यु' इसका स्वभाव है। यह न तो सदा एकरस रहता है, न एकरूप । इसमें बनने-बिगड़नेकी लीला चलती ही रहती है । सुखान्त-दुःखान्त नाटक ही इसका आकार है । इस सारी लीलामें वर्तमान आद्यन्तवन्तहीन नित्य सत्य एकरस वस्तु है—लीलामय भगवान्, वही स्वयं लीला बना हुआ नित्य लीला करता रहता है । उसकी लीलाके देखनेवाले जन्म-मृत्यु, सृजन-संहार दोनोंमें ही उसके लीला-चमत्कारको देखकर, दोनोंमें ही उसकी अभिनय-चातुरीको देख-देखकर पद-पदपर उसे पहचानकर प्रसन्न होते रहते हैं, या स्वयं ही अभिनेताके रूपमें उसके इंगित या विधानके अनुसार जन्म और मरणका अभिनय करते हुए सदा निर्लेप तथा परम प्रसन्न रहते हैं । पर जो इस बातको नहीं समझते—जो अभिनयके लिये मिले हुए नाम-रूपमें, शरीरमें और नाममें 'मैं'पनका आरोप किये रहते हैं, वे मेरे-तेरे, राग-द्वेष, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, सृजन-संहारको सत्य मानकर इस द्वन्द्वके चक्रमें पड़े (विनाशके)भय और (विनाशके पश्चात्) शोकमें डूबे रहते हैं । अनादिकालसे अबतक अनन्त बार इस प्रपञ्चका सृजन हो चुका, अनन्त बार इसका संहार हो चुका । प्रलय, खण्डप्रलय, महाप्रलय और पुनः सृजन—भगवान्की प्रकृतिके राज्यमें सदा होते ही रहते हैं—होते ही रहेंगे । यहाँ 'क्रम विकास' नहीं, परंतु चक्रवत् चढ़ाव-उतारकी, सृजन-संहारकी लीला चलती ही रहेगी । इस लीलाका लीलाभावसे ही अनुभव करना चाहिये । एक कुशल अभिनेताकी भाँति जगन्नाटकके नाट्यमञ्चपर सब कुछ करते-देखते हुए ही सदा आसक्तिरहित, अखण्ड भगवद्भावमय रहना चाहिये । इसीमें मानवकी मानवताका विकास है और इसीसे आत्यन्तिक अखण्ड परा शान्ति और परम सुखकी प्राप्ति होती है ।

अष्टग्रही जैसे योग संसारमें बहुत बार आये, आते रहेंगे । ये ग्रहनक्षत्र भी लीलामय भगवान्के मङ्गल विधानानुसार लीला-मयकी लीलामें अपनेको पात्र बनाकर यथायोग्य अभिनय किया करते हैं, करते ही रहेंगे; तथा कर्म, ग्रहके नियमानुसार कार्य तथा परिणाम भी होते ही रहेंगे। संसारमें फलकी ओर न देखकर अनासक्त भावसे यथायोग्य कर्म करते रहना तथा स्वकर्मके द्वारा भगवान्की पूजामें रत रहना ही परम कर्तव्य है । भगवान्ने कहा है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।

(गीता ३ । ९)

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

(गीता १८ । ४६)

'कुन्तीनन्दन ! उन भगवान्की सेवाके लिये आसक्तिरहित होकर भलीभाँति कर्म करते रहो ।' 'अपने-अपने कर्मके द्वारा उस भगवान्की पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—जीवनकी सफलताको प्राप्त करता है ।'

अतएव यथार्थ कल्याणकारी भाव तथा सिद्धान्त तो यही है कि यथायोग्य भगवत्सेवाके भावसे मनुष्य अपना कर्म करता रहे एवं सदा हर-समय हर-अवस्थामें परम प्रसन्न रहे । यहाँके विनाशसे आत्माका विनाश नहीं होता और न यहाँके सुख-सौभाग्य या लाभसे ही आत्माको कोई लाभ होता है ।

दूसरी दृष्टिसे संसारमें जीवोंके कर्मवश ये प्रलय-महाप्रलयके काण्ड हुआ करते हैं । यद्यपि ये होते हैं नियमानुसार ही तथा पूर्वरचित ही । महाभारतके महासमरमें भयानक संहार हुआ, पर वह भगवान्ने पहलेसे ही रच रक्खा था । यह उन्होंने अपने विराटरूपमें अर्जुनको दिखा दिया, अर्जुनने देखा और कहा—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥

(गीता ११ । २७)

(भीष्मादि सभी वीर) आपकी विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे प्रवेश कर रहे हैं । उनमें कुछके मस्तकादि उत्तमाङ्ग आपके दाँतोंमें चूर्ण-विचूर्ण हुए लग रहे हैं ।

और भगवान्ने भी स्वयं कहा—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।

(गीता ११ । ३३)

'ये सब पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, तुम तो हे सव्यसाची ! केवल निमित्त बनो ।' तथापि एक साथ एक जगह संहार होनेपर मनुष्य उसे आकस्मिक विपत्ति मान लेता है और डर जाता है । ग्रहयोग तो उस समय नियमानुसार

आते ही हैं। ऐसा ही डर इस समय 'अष्टग्रही योग' को लेकर छा गया है। इसका परम मङ्गलमय फल एक तो पहले ही होने लगा है कि देश भरमें सभी ओर मनुष्य देवाराधना और ईश्वराराधनामें लग रहे हैं, या लगना चाहते हैं। यह योग परिणाममें व्यापक दृष्टिसे भी अशुभ नहीं होगा; क्योंकि यदि संहार हुआ और उसमें बढ़ती हुई हमारी आजकी पापवृत्ति नष्ट हो गयी तो हमारा—जीवमात्रका परम मङ्गल ही होगा। आत्माका तो कभी विनाश होता नहीं तथा प्रकृति परिवर्तनशील है ही। इसलिये उस दृष्टिसे भी डरनेकी आवश्यकता और औचित्य तो नहीं है, पर इस अष्टग्रहीको लेकर चारों ओर एक भयका विस्तार हो रहा है और हमारे पण्डित-ज्योतिर्विद् विद्वान् भी इसपर विचार करने तथा उन्हें व्यक्त करनेमें लगे हैं। ज्योतिषसम्बन्धी पत्रोंमें तो इस विषयपर विशद विचार प्रकट किये ही जा रहे हैं। 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ भी बहुत लम्बे-लम्बे बड़ी संख्याके लेख आये हैं, आ रहे हैं और जरा-सा संकेत पाते ही इतने आ सकते हैं, जिनके लिये एक विशेषांक ही निकालना आवश्यक हो। पर ऐसा करनेका न अवकाश है, न रुचि है, न आवश्यकता ही। हाँ, किसी भी बहाने शास्त्रोंमें श्रद्धा, देवाराधन और भगवदाराधन बढ़े, लोग भजन-कीर्तनमें लगें, यह इष्ट है—इसीलिये इस विषयपर कुछ विचार पहले भी प्रकट किये गये थे और अब भी किये जा रहे हैं।

कुछ विद्वानोंके मतोंका सार

हमारे पास बहुतसे लेख आये हैं, उनमेंसे कुछ लेखोंका अत्यन्त संक्षिप्त सार (केवल फलनिर्देशक प्रसंगका सारमात्र) ही यहाँ प्रकाशित किया जाता है, लेखक महानुभाव हमारी स्थिति समझकर कृपया क्षमा करें।

श्रीमिश्रीलाल सक्सेना

यह गोलयोग सूर्यके मकर प्रवेशपर, १३ जनवरी सन् १९६२ से प्रारम्भ होता है। इससे सम्भव है कि १६ जनवरी तक कोई ऐसा अन्ताराष्ट्रीय तनाव उत्पन्न कर दे जिससे विश्वमें भय और आतङ्क छा जाय। २३ जनवरीसे यह तनाव और भी विकट होगा। ३ फरवरी १९६२ संध्या ५.४३ मिनट (भारतीय समयानुसार) पर यह गोलयोग पूर्णरूपसे सक्रिय होता है। इसका प्रभाव ३ मार्च १९६२ तक रहेगा। वैसे १५ मई सन् १९६३ तक खराबी होती रहेगी।

४ फरवरी १९६२ का चन्द्रग्रहण अफगानिस्तान तथा मध्यपूर्व एशियामें जहाँ-जहाँ दिखायी देगा, वहाँ आर्थिक व्यवस्थामें हलचल मचा देगा। चारों ओर भूकम्प, प्राकृतिक कोप, दुर्घटनाएँ और परस्पर कलह पैदा करेगा।

इस कालमें युद्धकी भी सम्भावना है। यह अष्टग्रहीयोग विश्वके तीन राष्ट्रोंके लिये तो बड़ा ही अमङ्गलसूचक है। हो सकता है कि उनका अस्तित्व, सिद्धान्त और नीतियाँ कहीं सदाके लिये ही धूलधूसरित न हो जायँ। इस योगसे यूरोपमें विशेष प्रकारका एक रोग उत्पन्न हो सकता है, जिसमें मनुष्य-शरीरके अङ्ग स्वतः गल-गलकर गिरने लगेंगे।

पाकिस्तानकी मौजूदा सरकारमें आमूल परिवर्तन तथा परस्पर असंतोष होगा। पाकिस्तान और अफगानिस्तानमें पूर्णतया सम्बन्धविच्छेद भी सम्भव है।

इंगलैंड, डेन्मार्क, पोलेण्ड, जर्मनी, सीरिया और जापानमें युद्धकी तैयारीके कारण साधारण जीवनमें अस्तव्यस्तता, चीन, हालैंड, कनाडा, उत्तरी पश्चिमी अफ्रिका, न्यूजीलैंड, स्काटलैंडमें आर्थिक संकट। चीन, तिब्बत, बर्मा, इण्डोचीन आदिमें वर्तमान सरकारोंके अस्तित्वमें खतरा तथा अकाल, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप और मिश्रमें महामारी आदि होंगे। अमेरिकाकी राशिसे योग ८वें घरमें और रूसकी राशिसे १२वें घरमें पड़ता है और दोनों घरोंमें दृष्टि-सम्बन्ध है तथा इस योगकी दृष्टि वृष राशिपर पड़ती है, अतएव सम्भव है कि बर्लिन, फ्रांस, पोलैंड, आस्ट्रिया और ईरान—इन्हींमेंसे कोई युद्धकी आशंकाका कारण बन जाय। इस गोलयोगसे विश्व-युद्धकी सम्भावना है, जिसके परिणामस्वरूप रूस और अमेरिका दोनोंकी ही स्थिति डावाँडोल हो सकती है।

भारत, टर्की, स्विट्जरलैंड, वेस्ट इन्डीज, ग्रीस, ब्राजिल, स्पेन, हंगरी, अरब राष्ट्र और आस्ट्रेलिया—ये इस योगसे बहुत कम ग्रस्त होंगे। इनका तटस्थ रूप भी बना रहेगा।

भारतमें उत्तरी सीमापर शत्रुराष्ट्रकी हानिकर गति-विधियाँ बढ़ जानेसे सेनापर भारी व्यय होगा। विदेशमें भारतीय दूतोंमें परिवर्तन होगा, सरकार तथा जनतामें विरोध उत्पन्न होगा। सरकारके प्रति असंतोष बढ़ेगा, विदेशोंसे ऋणोंकी न्यून प्राप्तिके कारण स्थिति अव्यवस्थित होगी। बाँध, सिंचाईके साधन, बिजली आदि उद्योगोंमें हानि होगी। व्यापारपर बुरा प्रभाव पड़ेगा। देशकी आयात-निर्यात व्यवस्था असंतुलित होनेके कारण कई फर्म एवं सरकारी निधिसे चलनेवाली कम्पनियोंके अस्तित्वमें खतरा पैदा हो जायगा। बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, पश्चिमी राजस्थान, कलकत्ता नगर, इलाहाबाद, हैदरा-

बाद, दक्षिण आदिको पीत लहरोंका सामना करना पड़ेगा । पंजाबमें विशेष उपद्रवकी सम्भावना है ।

गोलयोगका दुष्प्रभाव माननीय राष्ट्रपतिजी तथा प्रधान मन्त्रीजीके स्वास्थ्यपर भी पड़ना सम्भव है । अतः उनके स्वास्थ्य तथा मङ्गलके लिये महामृत्युञ्जय यज्ञका आयोजन होना चाहिये ।

प्रो० जी० आर० महाडिक

अप्रैल १९६१ से अनिष्ट प्रभाव आरम्भ हो चुका है । ६ दिसम्बरको वृश्चिक राशिपर पाँच ग्रहोंका योग होगा । इससे चमत्कारपूर्ण घटनाएँ होंगी । जैसे जर्मनीका एकीकरण, मध्य यूरोप और एशियाका वातावरण तनावपूर्ण, अमेरिकामें डेमोक्रेट और रिपब्लिकन दोनों दलोंमें मतभेद, अमेरिकाके एक प्रमुख राजनीतिज्ञके लिये अनिष्टकारी परिणाम आदि । भारतमें राजनीतिक वातावरण दूषित, दैवी प्रकोप, किसी एक प्रधान व्यक्तिके लिये अशुभ, जनवरीमें संसारके वातावरणमें विशेष खराबी होना सम्भव है । अष्टग्रही योगके समय ३ फरवरीसे ५ फरवरीतक युद्ध-जैसी भयानक स्थिति । भारतके समीपवर्ती राष्ट्रोंमें विशेष उथल-पुथल, मध्य एशियाके राष्ट्रोंके लिये विशेष अनिष्टकारी, जन-धनकी काफी हानि और भारतमें आमचुनावका स्थगित होना आदि सम्भव है ।

१९६२ के अष्टग्रही योगके बाद १९६३ में एक क्षय मास तथा १९६३ । ६४ में अधिक मासका होना भी प्रलयकारी योग बना रहा है ।

श्रीमदनलाल पोद्दार

इस अष्टग्रही योगका मोटा फल भूकम्प, भयंकर अग्निकाण्ड, अत्यन्त शीत और पाला पड़ना, अतिवृष्टि, उपलवृष्टि, सवारी-दुर्घटना, महामारी, दुर्भिक्ष, राजपरिवर्तन, अन्नका अभाव, सभी चीजोंमें तेजी, समुद्रमें तूफान आदि होंगे ।

आधुनिक मतवाले अमेरिकाकी प्रभावराशि मिथुन और रूसकी प्रभावराशि कुम्भ मानते हैं । यदि यह बात सही है तो अमेरिकाकी प्रभावराशिसे अष्टम स्थानमें और रूसकी प्रभावराशिसे द्वादश स्थानमें ग्रहोंका अशुभ योग बन रहा है । अतः इन दोनों राष्ट्रोंके कर्णधारोंको किसी-न-किसी प्रकारकी विपत्तिका सामना करना पड़ेगा । कुछ समय आगे-पीछे विश्व-युद्ध भी सम्भव है ।

(६-७-८) ग्रहोंके योगके समय प्रायः सभी ग्रह अस्त रहेंगे, इस कारण बहुत जगह मन्त्रिमण्डलोंमें हेरफेर अवश्य होगा । कुछ पहलेसे और ६२ के अन्ततक उच्च शासकोंमें ५-४ का निधन भी सम्भव है ।

श्रीचन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'चन्द्रेश'

सृष्टिचक्रके आदि बिन्दुपर यदि यह योग होता तो महाप्रलयका योग होता । पर यहाँ ऐसा नहीं है । केवल ग्रहोंका योग हो रहा है । अतः भौतिक पदार्थोंकी क्षति निश्चित है । यह योग मकर राशिपर हो रहा है, अतः इसका दुष्प्रभाव मकरराशिसे सम्बन्ध रखनेवाले देशोंपर ही विशेषतया होगा । भारतके पश्चिमोत्तरीय, पूर्वोत्तरीय भाग, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, तिब्बत, चीन, नेपाल, मलाया, रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशोंपर विशेष प्रकोप सम्भव है । इस वर्षमें दो ग्रहण हैं । एक गत श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण था, दूसरा आगामी माघ अमावस्याका सूर्यग्रहण । ये दोनों ग्रहण भारतवर्षमें अदृश्य हैं । ये जहाँ दिखायी देंगे, वहाँ अष्टग्रही योगका पूर्ण अनिष्ट फल होगा ।

श्रीचन्दनदत्त शास्त्री

ज्योतिष विद्याकी आकाशी कौंसिलमें ४ फरवरी सन् ६२ को रविवार है । माघ कृष्ण अमावास्या क्षय तिथि है । मकर राशिपर छः ग्रह २३, २४, २५ डिग्रीपर चल रहे हैं । मंगल ९ डिग्रीपर तथा शनि १०॥ डिग्रीपर हैं । वे दोनों अस्त हैं । इनके प्रभावसे दक्षिण-पश्चिम दिशाके भूखण्डगर्भसे अङ्गारसदृश एक भयंकर विस्फोट होनेका अनुमान है । यह विस्फोट ९ से २२ भूरेखापर, मध्यसागरसे दक्षिण-पश्चिम दिशामें मकर और कर्क राशिपर अपना विशेष प्रभाव करेगा । शेष राशियोंपर सामान्य प्रभाव होगा ।

मकर राशिकी पश्चिम दिशा मानी हुई है । अतः पश्चिमी पाकिस्तानपर आठ ग्रहोंका प्रभाव होना अनुमानित होता है ।

श्रीरमेन्द्रप्रसाद विद्यार्थी

१९६२ की यह भविष्यवाणी सत्य होगी या नहीं, यह तो ईश्वराधीन है परंतु ज्योतिष शास्त्रकी दृष्टिसे इस अष्टग्रहीसे देशोंमें पीड़ा, रोग, उपद्रव, राज्यनाश, व्याधिविस्तार, अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष, बाढ़, तूफान, महामारी, अराजकता, सुख-शान्तिनाश, अग्निभय, विप्लव, युद्ध, कलह आदिका होना अवश्यम्भावी है । यह ग्रहोंका असर सितम्बर १९६१ से शुरू होकर पूरे १९६२ तक रहेगा । भारतवर्षमें दक्षिण प्रान्त,

बिहार, आसाम, बंगाल, पंजाब तथा सबसे अधिक उड़ीसा राज्यपर असर होगा। दो बहुत बड़े राज्याधिकारियोंके लिये भी चिन्ताका अवसर है, उन्हें स्वयं या उनके लिये दूसरे इष्ट-मित्रोंको महामृत्युञ्जयका जप श्रद्धापूर्वक करना-कराना चाहिये।

भारतके अतिरिक्त यूनान, हालैंड, स्कॉटलैंड, उत्तरी अफ्रिका, न्यूजीलैंड, कनाडा आदिमें साधारण उपद्रव होंगे। रूस, चीन, तिब्बत, जापान, अमेरिका, नैपाल, स्याम, कम्बोज, काश्मीर, अफगानिस्तान, इराक, ईरान, तथा पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तानमें भीषण उपद्रव होंगे। जापानमें भी भारी परिवर्तनकी आशङ्का है।

श्रीमदनमोहन ठक्कुर

यद्यपि भारतीय ज्योतिषियोंके अष्टग्रही योगके सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं, परंतु जहाँतक मेरा अध्ययन है, विनाशकी रूपरेखा तैयार हो रही है और वह भी तीव्रताके साथ; क्योंकि मानवका पिछले तीस सालोंसे बहुत तेजीसे पतन हुआ है।××

इस तीसरे महायुद्धकी जो रूपरेखा तैयार हो रही है, उसमें एक विशेषता भी है कि वही इसके शिकार हो रहे हैं जिनके नाम कम्यूनिज़्म, कैनेडी या क्रुश्चेवके प्रथम अक्षर 'क'से हैं, जैसे काश्मीर, कोरिया, कांगो, काटङ्गा, क्यूबा, कुवैत आदि या फिर अमेरिकाके प्रथम अक्षर 'अ' से जैसे अगोला, अल्जीरिया, अरब राष्ट्र, द० अमरीका आदि। इस तर्कसे यह सिद्ध होता है कि आनेवाले विश्वयुद्धमें 'क' और 'अ' से आरम्भ होनेवाले देशोंमें ही विनाश अधिक होगा। जड या चेतन—यदि उसका नाम 'क' और 'अ' से है तो अवश्य ही वहाँ संहारक परिवर्तन होंगे।

यह संक्षिप्त सार है। सबका अभिप्राय प्रायः एक ही है इस अष्टग्रहीका अनिष्टकारक फल होगा। कहाँ अधिक होगा, कहाँ कम, कहाँ-कहाँ होगा, इस सम्बन्धमें विचार-भेद हैं जो स्वाभाविक हैं। सभी विद्वान् अपनी-अपनी अध्ययनशीलता, निर्णय-पद्धतिके अनुसार ठीक ही लिखते हैं। पर यह निश्चितरूपसे कोई नहीं कह सकता कि प्रत्येकका विचार अक्षरशः ज्यों-का-त्यों ही फलित होगा। उसमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है और ऐसा भी सम्भव है कि जो कुछ लिखा गया है, उससे विलक्षण ही कुछ हो जाय, और कुछ बिल्कुल ही न हो। सब कुछ भगवान्के मङ्गलमय विधानके अनुसार ही होगा।

अष्टग्रही योगका दुष्प्रभाव समझें या और कुछ—विश्वमें अनिष्ट तो हो ही रहा है। चारों ओर अविश्वास और कलहके बादल मँडरा रहे हैं। भारतमें भी सब ओर प्रेमका ह्रास और कलहका विस्तार हो रहा है। अतिवर्षा और बाढ़से हाहाकार मचा है। पूना आदिमें बड़ी हानि हुई ही थी, इधर बिहारमें जो हानि हुई है, वह तो वर्णनातीत है। कहते हैं सन् १९३४ के भूकम्पसे सौगुना अधिक धन-जन-अन्नका नाश हुआ है। इधर उत्तर प्रदेशमें भी बहुत हानि हुई है*। रेल, नाव तथा हवाई जहाजोंकी भयङ्कर दुर्घटनाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। इसी प्रकार उस अष्टग्रही योगके समय भी ऐसी ही या इससे अधिक हानि हो तो क्या आश्चर्य है। इससे बचनेका यथासाध्य उपाय करना आवश्यक है। वह उपाय है—सदाचरण और विश्वासयुक्त प्रार्थना।

सभी महानुभावोंने इस अनिष्टके नाश या कमीके लिये भगवदाराधन, देवोपासना आदिका उल्लेख किया है जो सर्वथा उचित, आवश्यक और कर्तव्य है। होता है सब प्रारब्धानुसार ही, परंतु विशेष अच्छा-बुरा प्रबल कर्म तुरंत नवीन प्रारब्ध बनकर भी नया फल दे सकता है। जैसे आजकल मनुष्योंकी घोर पाप-प्रवृत्ति कहीं-कहीं नवीन प्रारब्धका निर्माण करके उसका परम दुःखद, घोर फल भुगताती है, वैसे ही प्रबल शुभ-कर्म भी तुरंत नवीन प्रारब्ध बनकर फलदानोन्मुख प्रारब्धका अवरोध, उसका प्रायश्चित्त और नवीन शुभ-फलकी उत्पत्ति कर सकते हैं। (यद्यपि सर्वज्ञ भगवान्की दृष्टिसे वह भी होता है भगवान्के मङ्गल विधानानुसार ही) इसलिये निम्नलिखित कार्य व्यक्तिगत तथा सामूहिकरूपसे विश्वासपूर्वक यथासाध्य अधिक-से-अधिक सभी लोगोंको करने चाहिये—

(१) हिंदू (सनातनी, आर्य-समाजी, जैन, बौद्ध, सिख एवं अन्यान्य समस्त हिंदू-धर्म-सम्प्रदाय), मुसल्मान, ईसाई, पारसी आदि सभी अपने-अपने धर्मानुसार निर्दोष भगवत्प्रार्थना, धर्मसेवन, पवित्र आचरण, संयम, सेवा आदि करें।

(२) वेदाध्ययन, वेदपारायण, विष्णु-रुद्रयाग, गायत्री-पुरश्चरण, महामृत्युञ्जय-जाप, पुराणपाठ आदिके आयोजन हों।

(३) श्रीदुर्गादेवीके प्रसन्नार्थ शतचण्डी, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी आदिके अनुष्ठान हों, व्यक्तिगतरूपसे लोग अपनी-अपनी सुविधानुसार पाठ करें। इसमें निम्नलिखित सम्पुटोंमें कोई-सा सम्पुट लगाया जाय तो बहुत अच्छा है।

---

* उत्तर प्रदेश और बिहारमें गीताप्रेसके द्वारा भी यत्किंचित् सेवा-कार्य चल रहा है।

१. देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीते-
नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः ।
पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु
उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान् ॥
२. शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥
३. करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः ॥
४. विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम् ।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः ॥
५. सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

देवीजीके नवार्ण-मन्त्रके जाप अधिक-से-अधिक किये-कराये जायँ ।

(४) श्रीमद्भागवतके सप्ताहपारायण अधिक-से-अधिक हों तथा नीचे लिखे सम्पुटसहित वाल्मीकिरामायणके नवाह्न और सुन्दरकाण्डके पाठ हों ।

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयोभूयो नमाम्यहम् ॥

(५) श्रीमद्भगवद्गीताके तथा विष्णुसहस्रनामके अधिक-से-अधिक पाठ किये-कराये जायँ ।

(६) श्रीरामचरितमानसके मासिक, नवाह्न या अखण्ड-पारायण यथासाध्य यथारुचि हों, निम्नलिखित सम्पुट दिये जायँ तो अच्छा है ।

१. राजिव नयन धरें धनु सायक । भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥
२. जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
३. दीन दयाल बिरद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥
४. दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ॥
५. गरल सुधा रिपु करहिं मिताई । गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥

(७) भगवान् आशुतोष श्रीशंकरजीके निम्नलिखित मन्त्रोंका जाप अधिक-से-अधिक हो ।

'ॐ नमः शिवाय' (यह प्रसिद्ध है) ।

'ॐ नमः शिवाय शुभं कुरु शुभं कुरु नमः शिवाय ॐ' यह विष्णुप्रदत्त सिद्ध मन्त्र है । इसके अतिरिक्त, जगह-जगह रुद्राभिषेकसहित शिवपूजन किया जाय ।

(८) भगवान्के नामके—अखण्ड या जिनको जैसी सुविधा हो, कीर्तनोंका खूब आयोजन किया जाय । मानसका पारायण तथा नाम-जप-कीर्तन तो गाँव-गाँव, घर-घर होना चाहिये ।

(९) अकाल, बाढ़ तथा अन्यान्य दुर्घटनाओंसे ग्रस्त नर-नारियोंकी तन-मन-धनसे मुक्तहस्तसे सेवा की जाय । यह विपत्ति टालनेका सबसे प्रधान तथा निश्चित साधन है । जहाँ ऐसी दयनीय परिस्थिति है, वहाँ स्वयं भगवान् ही उन विपत्ति-ग्रस्त नर-नारियोंके रूपमें अपनी ही दी हुई चीजके द्वारा अपनी सेवा चाहते हैं । वहाँ भगवान्की वस्तु भगवान्की सेवामें अर्पण की जा रही है—इस भावसे उन विपद्ग्रस्त प्राणियोंकी खूब सेवा की-करायी जाय । यह समझा जाय कि हमारे पास धन, सम्पत्ति, बुद्धि, सामग्री—जो कुछ है, सब भगवान्की दी हुई, उन्हींकी वस्तु है । आज वे ही अपनी वस्तुसे अपनी सेवा चाह रहे हैं । और ऐसा समझकर प्राणिमात्रमें भगवान्को प्रकट देखकर सबकी यथासाध्य सेवा करना तथा सबके सुख एवं हितमें ही अपना सुख और हित समझना चाहिये । बड़े ही संतोषका विषय है कि इस समय देशभरमें कहीं अधिक, कहीं कम सामूहिक और व्यक्तिगत भगवदाराधना तथा देवोपसनाका कार्य चल रहा है । जगह-जगह यज्ञ, भागवत-पारायण, वाल्मीकि रामायण-पारायण, मानस-पारायण, नामसंकीर्तनके आयोजन हो रहे हैं । पिछले दिनों मिश्रिखमें, वृन्दावनमें बड़े आयोजन हुए थे । अब भागलपुरमें एक बड़ा यज्ञ होनेवाला है । अयोध्यामें भी आयोजन हो रहा है । दक्षिणमें, उत्तर भारतमें, बम्बई, कलकत्ता, राजस्थान और मध्य भारतमें कई जगह छोटे-बड़े आयोजन चल रहे हैं । यह बड़ा ही शुभ लक्षण है ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

जहाँ हम सीखने जाते हैं

जिस अमेरिकाको उन्नतिके शिखरपर चढ़ा हुआ समझकर हम अपने बालकोंको वहाँ शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजते हैं, वह अमेरिका धन तथा विज्ञानमें उन्नति करनेके साथ ही अपराध करनेमें भी किस तेजीसे आगे बढ़ रहा है, यह नीचेके आँकड़ोंसे देखिये। ये आँकड़े श्री जे० एडगर हूवर (Mr. J. Edgar Hoover) डाइरेक्टर आफ दि फेडरल ब्यूरो ऑव इन्वेस्टिगेशन, युनाइटेड स्टेटस (Director of the Federal Bureau of Investigation, U. S.) के द्वारा प्रचारित किये गये हैं।

यह कहा गया है कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) में गत वर्षके अपराधोंने पहलेका रेकार्ड तोड़ दिया है, जिसमें प्रति ५८ मिनटोंपर एक खून तथा प्रति ३४ मिनटोंपर एक बलात्कारका अपराध हुआ है।

भयानक अपराधों (Serious Crimes) की संख्या सन् १९५० से सन् १९६० में (दस वर्षमें) ९८ प्रतिशत बढ़ी है, जब कि इस अवधिमें जन-संख्यामें केवल १८ प्रतिशतकी वृद्धि हुई है। सन् १९६० में भयानक अपराधोंकी संख्या १८,६१,३०० है, जो १९५९ से १४ प्रतिशत अधिक है। इसमें प्रति ३९ सेकंडपर एक 'सेंध'का तथा प्रति दो मिनटपर एक 'मोटर चोरी'का अपराध हुआ है। 'खून'की संख्या गत वर्षसे ६ प्रतिशत और 'बलात्कार'की ३ प्रतिशत बढ़ी है। १८ वर्षसे कम उम्रके अपराध करनेवाले गिरफ्तार बच्चोंकी संख्या १९५० से ६ गुनी हो गयी है, जब कि उनकी जन-संख्या आधेसे भी कम बढ़ी है।

'संयुक्त राज्य पब्लिक हेल्थ सर्विस'के अनुसार ४२,९५००० जन्म लेनेवाले बच्चोंमें २,२१००० अवैध हैं।

६ करोड़ अस्सी लाख अमेरिकन व्यक्ति, जो २१ सालकी और उससे अधिक उम्रके हैं, मद्यपान करते हैं। सन् १९६० में अमेरिकाके लोगोंने एक बिलियन (१० खरब) क्वार्ट* विशुद्ध मद्यसारका सेवन किया और इसपर ८१० खरब डालर १ वर्षमें व्यय हुए।

आँकड़े स्वयं वस्तुस्थिति बतला रहे हैं †। हमने यदि अन्धानुकरण करके अमेरिकाके दोषोंको भी अपना लिया तो पता नहीं, क्या दुर्दशा होगी!

* * *

सच्चा धनी और सच्चा दरिद्र कौन ?

सबसे अधिक मूल्यवान् धन तथा किसी भी मूल्यपर संग्रह एवं रक्षा करनेयोग्य वस्तु है—मनुष्यका आदर्शचरित्र—उसका सदाचरण। संसारके भोगोंकी दृष्टिसे—धन, वैभव, पद, अधिकार, मान और ख्याति आदिकी दृष्टिसे जो सर्वथा दरिद्र है, पर जो चरित्रवान् है—जिसके मनमें राग-द्वेषरहित सात्त्विकभाव, क्रियामें त्याग-प्रेमपूर्ण सद्भाव भरा है, वही सच्चा धनी है। पर जो सदाचारका दरिद्र है—जिसके मनमें गंदगी भरी है, जिसकी क्रिया दूषित है, वह आसुरी वृत्तिवाला धन, जन, वैभव, अधिकार, मान और बड़ाईसे सम्पन्न सम्राट् भी वस्तुतः दरिद्र है।

* * *

---

* एक क्वार्ट लगभग तीन पाव द्रवका होता है। इस हिसाबसे लगभग १८,७५०००००० (अठारह अरब पचहत्तर करोड़ मन) मद्य अमेरिकामें पीया जाता है।

† 'नार्दर्न इंडिया पत्रिका' २६। ७। ६१ और 'फिल्म इंडिया' सितम्बर ६१ के अङ्कोंसे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पैसेकी कीमत मनुष्यकी स्थिति और उसके मनपर निर्भर रहती है

वर्षों पहलेका प्रसंग है । एक मारवाड़ी नवयुवक जीवन-निर्वाहके लिये कामकी खोजमें बम्बई आया था । पहननेके कपड़े तथा एक लोटेके सिवा उसके पास कोई सामान नहीं था । तीन दिन यों ही भटका और फुटपाथपर सोता रहा । अन्तमें किसी परिचितको उसपर दया आयी और उसने एक सार्वजनिक धर्मशालाके ट्रस्टीके नाम पत्र लिख दिया कि 'इस गरीब लड़केको वे कामपर लगा दें ।'

धर्मशालाके ट्रस्टीने उससे कहा—'कल पहली तारीख है, अतः तुम कलसे कामपर लग जाना, अभी तो जाओ । तुम्हें धर्मशालाके पहरेदारका काम करना पड़ेगा । लड़का प्रसन्न हो गया और हाथ जोड़कर बोला—'सेठ साहेब ! आपने मुझे अभी चले जानेके लिये कहा है, पर मैं कहाँ जाऊँ ! आप आज्ञा दें तो मैं धर्मशालामें ही पड़ा रहूँ और कल सबेरेसे कामपर लग जाऊँ ।'

सेठजीने बात मान ली । दूसरे दिन वह काममें लग गया । शामको सेठजी आये और उस नौजवानसे उन्होंने कहा—'तुम्हें क्या काम करना है, यह समझ लेना चाहिये । रोज कौन आते हैं और कौन जाते हैं—इसका ब्यौरा लिख रखना । किसीको बर्तन वगैरह कुछ दिया जाय तो उसको भी लिख लेना और धर्मशालाका ख्याल रखना ।'

लड़केने कहा—'सेठजी ! मैं धर्मशालाका ध्यान तो रखूँगा पर लिख नहीं सकूँगा ।'

सेठजी बोले—'क्यों, दिमाग जरा खराब मालूम होता है ।'

'नहीं सेठजी, लेकिन मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता ।'

'ओह ! ऐसी बात है । हमें तो ऐसा आदमी चाहिये जो पहरा भी दे और सब लिख भी सके । तुम इस कामके लायक नहीं हो, तुम्हें इसी समय छोड़ा जा रहा है । तुमने आज काम किया है, इसके बदलेमें ये आठ आने नौकरीके लो !'

लड़केका मुँह लटक गया । वह जैसे ही बाहर निकला कि सेठने वापस बुलाया । नौजवानके हृदयमें आशा जगी । उसने तुरंत लौटकर पूछा—'आप मुझे नौकरीपर रख रहे हैं न ? मैं हृदयसे आपका आभार मानता हूँ ।'

सेठने जेबसे पैसे निकाले और कहा—'लो, यह और आठ आना, यह मैं तुम्हें अपनी ओरसे दानमें दे रहा हूँ ।'

यों एक रुपया लेकर लड़का चला गया । इस रुपयेसे उसने दस दिन काम चलाया । ग्यारहवें दिन जब फाका-कसीका अवसर आया, तब सट्टा बाजारमें एक सेठके यहाँ उसे कागज-पत्र पहुँचानेका काम मिल गया ।

कुछ वर्षों बाद तो वह नौजवान बहुत बड़ा सटोरिया बन गया । बाजारमें उसका नाम गरजने लगा । विदेशोंमें भी नाम पहुँचा । वह बहुत बड़ा सफल व्यापारी बन गया ।

एक बार किसी सार्वजनिक संस्थाके लिये एक नौजवान इनके पास आया और संस्थाका नाम बताकर सहायता चाही । इन्होंने तुरंत एक लाख रुपये दे दिये । वह बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने जाकर अपने पितासे यह बात कही तब वे गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'बेटा ! ऐसे पुरुषका तो खूब सम्मान करना और इन्हें मानपत्र देना चाहिये । कल मैं तुम्हारे साथ चलकर सेठको समझाऊँगा ।'

दूसरे दिन दोनों पिता-पुत्र सेठके पास गये । सेठ वृद्ध पुरुषकी ओर देखते रहे । वृद्धने कहा—'मैंने उम्र बड़ी होनेके कारण इस संस्थाके देख-रेखका काम छोड़ दिया है । अब मेरे पुत्रने इस कामको सँभाल लिया है । आपने एक लाख रुपये दिये, इससे मुझे बड़ा आनन्द मिला और मैं आपके दर्शन करने आ गया । हमलोगोंने आपको मानपत्र देनेका निश्चय किया है और आपको भी भाषण देना पड़ेगा । आप अपना भाषण लिख दें तो उसे पहलेसे छपवा लिया जाय । हम आपके भाषणको रेकार्डमें भी भर लेना चाहते हैं ।'

सेठने कहा—'इतनी छोटी-सी रकमके लिये इतना सब करनेकी कोई जरूरत नहीं है । मैंने तो कुछ किया ही नहीं है । अब आप स्वयं आये हैं तो मैं आपको ये एक लाख रुपये और देता हूँ । इन्हें आप अपने इच्छानुसार दानमें लगाइये ।'

सेठने तुरंत ही तिजोरीमेंसे निकालकर एक लाखके नोट वृद्धके हाथोंपर रखते हुए कहा—'इसमें कोई उपकार

नहीं है, यह तो मैंने अपना हिसाब चुकता किया है ।' 'तो आप क्या कहना चाहते हैं ?' वृद्धने पूछा ।

'मैं यह कहना चाहता हूँ कि बहुत वर्षों पहले जब मैं इस शहरमें आया था, तब, आप, जिस संस्थाकी बात कर रहे हैं उसमें मैंने एक दिन नौकरी की थी और उसके मेहनतानेके आपने आठ आने मुझको दिये थे । मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता था, इसलिये आपने मुझको नहीं रक्खा । उन आठ आनेके बदलेमें इस संस्थाको मैंने लाख रुपये दिये हैं । नौकरीसे अलग करनेके बाद आपके हृदयमें मेरे प्रति दया-भावका संचार हुआ और आपने मुझे वापस बुलाकर अपनी जेबसे आठ आने दानस्वरूप दिये थे । उसके बदले ये एक लाख रुपये मैं आपको दे रहा हूँ । संस्थाके संस्थाको दे दिये और आपके आपको ।'

वृद्ध पुरुषकी आँखें छलक आयीं । उन्होंने कहा—'सेठ ! आपने बहुत बड़ा बदला दिया ।'

'यहाँ भी आप भूलते हैं । पैसेकी कितनी कीमत है, यह मनुष्यकी स्थिति और उसके मनपर निर्भर करती है । किसी एक गरीबके लिये आठ आने पैसे उसकी सर्वस्व-पूँजी बन जाते हैं और एक बड़े धनीके लिये लाख रुपये आठ आनेके बराबर होते हैं । आपकी और ईश्वरकी कृपासे मुझे धन मिला है इसलिये ये दो लाख रुपये देकर मैंने सिर्फ हिसाब ही चुकता किया है । आप भाषण देनेकी बात कहते हैं, सो मैं भाषण देना नहीं जानता । मैंने कामचलाऊ लिखना-पढ़ना सीख लिया है । वैसे, मुझे कुछ नहीं आता ।' सेठने कहा ।

वृद्ध पुरुष बोले—'अच्छा तो आपके नामकी तख्ती लगा दी जाय ?' 'नहीं, ऐसा करनेकी जरूरत नहीं है । इससे मैं स्वयं मुश्किलमें पड़ जाऊँगा ।'

'कैसे ?'

'इन्कम टैक्सके अधिकारी मुझे परेशान कर डालेंगे । मैं ब्रिटिश सरकारको टैक्स न देकर देशके काममें धन खरचता रहता हूँ ।'

आप मानियेगा ?—इतनी बड़ी रकमकी सेठने रसीद भी नहीं लिखवायी । इस व्यापारी सेठका नाम था—श्रीगोविन्दराम सेकसरिया । बम्बई शहरमें यह नाम बहुत प्रसिद्ध है । खास करके सट्टे बाजारमें और उद्योग क्षेत्रमें । ('बीज')

(२)

सहानुभूति

कुछ वर्षों पहलेकी घटना है—बम्बईमें रामदास नामक एक सज्जन नौकरीके पैसे लेकर घर लौट रहे थे । रामदास गृहस्थ थे । घरमें छः आदमी थे । वे एक व्यापारी फर्ममें ढाई सौ रुपये मासिककी नौकरी करते थे । कठिनतासे खर्च चलता था, महीनेकी अन्तिम तारीखको जब वेतनके पैसे मिलते, तब वे महीनेभरका अनाज, दूध, दवा, धोबी आदिका हिसाब चुकता करके आश्वासन प्राप्त करते । आज रुपये लेकर जा रहे थे—रास्तेमें उनके गाँवका एक परिचित आदमी मिला । रामदासने उसको उदास देखकर उदासीका कारण पूछा । वह रो पड़ा और बोला कि 'मेरी स्त्रीके पेटमें फोड़ा होकर अब सेप्टिक हो गया है । वह मरणासन्न है । डाक्टरने आपरेशनके लिये कहा है, उसमें ढाई सौ रुपयेका खर्च है और मेरे पास एक पैसा भी नहीं है । स्त्री मर जायगी तो बच्चे अनाथ हो जायँगे । क्या करूँ, कुछ समझमें नहीं आता ।' रामदासने तुरंत जेबसे ढाई सौके नोट निकाले और उसके हाथपर रखते हुए कहा—'भाई ! ले जाओ, तुरंत ऑपरेशनकी व्यवस्था करो ।' वह आदमी रामदासकी स्थितिसे परिचित था । उसके न तो रामदाससे रुपये मिलनेकी कल्पना थी, न उसने उनसे माँगे ही थे । उसने लेनेसे इनकार कर दिया पर बड़ी विनय करके रामदासने उसको रुपये लेनेको बाध्य किया ।

घर आकर पत्नीको सब बातें कहीं तो वह साध्वी बड़ी ही प्रसन्न हुई । उसने पतिके कार्यकी प्रशंसा करते हुए अपने गलेका हल्का-सा सोनेका हार उतारकर पतिको दिया कि जाकर इसे अभी बेंच आइये । किसीको पता न लगे कि ये अनाज-दूधके पैसे समयपर नहीं चुका सके । रामदास तो गद्गद थे ।

—गोपाललाल गुप्त

(३)

पुलिसकी ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता

गत १४ मार्चकी घटना है । प्रभासपाटन (सोमनाथ) 'समाज-कल्याण-केन्द्र' के एकाउन्टेंट श्रीमंगलप्रसाद जूनागढ़ बैंक आफ सौराष्ट्रमेंसे साढ़े बारह हजार रुपये लेकर निकले । उनकी बेजानकारीमें नोटोंका बंडल नीचे गिर गया । उन्हें पता नहीं लगा । वे चले गये ।

कुछ समय बाद मगनलाल होतचन्द ललवानी नामक पुलिसका एक सिपाही उधरसे निकला । उसको बंडल पड़ा दिखायी दिया । उसने उठाकर देखा तो उसमें साढ़े बारह हजार रुपयेके नोट थे । इतनी बड़ी रकम देखकर भी उसका मन नहीं चला और वह नोटोंके मालिकका पता लगाता हुआ बैंकमें पहुँचा ।

उधर एकाउन्टेंट श्रीमंगलप्रसादको जब रुपये गिर जानेका पता लगा तो वे भी घबराये और नोटोंको खोजते हुए बैंकमें पहुँचे ।

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लेने और यह जान लेनेपर कि ये रुपये इन्हीं सज्जनके हैं, गरीब पुलिसके सिपाहीने साढ़े बारह हजार रुपये उनको सँभला दिये । श्रीमंगलप्रसादको कितना सुख हुआ और उनसे भी अधिक कर्तव्यपरायण गरीब तथा ईमानदार सिपाहीने कितना आनन्द लाभ किया । इसको तो वे ही जानते हैं ।

इस घटनाका पता जब जूनागढ़के डी० एस० पी० महोदयको लगा तो उन्हें अपने सिपाहीकी कर्तव्यपरायणता और ईमानदारीपर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने मगनलालको बुलाकर शाबाशीके साथ ही दो सौ रुपये इनाम दिये ।

सिपाहीने कर्तव्यपालन ही किया, कोई खास महत्त्व नहीं । पर आजके बिगड़े युगमें, जहाँ पैसा ही परमेश्वर है—इतना लोभसंवरण बड़े ही महत्त्वकी बात है । हमारी पुलिसके सभी कर्मचारी ऐसे ही हों ।

—मकनदास नरसीदास

(४)

स्वप्नवत् संसार

सम्भवतः सन् १९३४ की बात है जब कि पूर्वी भारतके विहार, बंगाल एवं आसाम प्रदेशोंपर भूकम्पका भयंकर प्रकोप हुआ था । इस विभीषिकासे सम्पूर्ण देश त्रस्त हो उठा था । समस्त समाचार-पत्र भूकम्पके प्रलयंकर समाचारोंसे भरे रहते थे ।

उन दिनों काशीके एक मठमें संस्कृतका अध्ययन करनेवाले कुछ विद्यार्थी साधुओंने भी भूकम्पके समाचार पढ़े और पीड़ितोंके सहायतार्थ वे आसाम जा पहुँचे ।

विनाशके इस भयानक वातावरणमें काशीके विद्यार्थियोंने एक ऐसे व्यक्तिको भी देखा जो अव्यवस्थित-सा दिखायी दे रहा था । विद्यार्थियोंने कहा—'सेठजी, ऐसा प्रतीत होता है कि आपके घरमें सभी प्रसन्न हैं, किसीका बाल भी बाँका नहीं हुआ है ।'

सेठजी बोले—'आप जानना चाहते हैं तो सुनिये—आजसे तीस वर्ष पूर्व मैं राजपूतानेसे यहाँ आया था खाली हाथ । प्रारम्भमें कुछ वर्ष मैंने यहाँ नौकरी की, फिर साझेमें काम किया, बादमें अपना स्वतन्त्र व्यवसाय चालू किया, चार-पाँच लाख रुपया भी कमाया और मुझे लोग 'सेठजी, सेठजी' कहने लगे ।

'इसी बीच मेरी शादी हुई, बाल-बच्चे हुए और ईश्वरकी कृपासे मुझे किसी भी पदार्थका अभाव नहीं रहा । परंतु लाखों रुपये कमाकर भी मेरे मनमें उनके प्रति कभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ । स्त्री-पुत्र पाकर भी मैंने उनमें कभी ममता नहीं रक्खी । खजांचीकी तरह रुपयोंको पराया समझा और प्रभुके प्राणी समझकर स्त्री-बच्चोंका पालन किया ।

'जब यह भूकम्प आया, उससे चार दिन पहले मैं दूसरे गाँव गया हुआ था । वापिस आया तो देखा कि अपना मकान पहिचानना भी कठिन हो रहा है । मकान तो अब है ही कहाँ, धूलका ढेरमात्र है । और अनुमान यह है कि स्त्री-बच्चे मलबेके नीचे दबकर मर गये । पर यह अनुमान कोरा अनुमानमात्र नहीं, अक्षरशः सत्य है । स्त्री-बच्चे जीवित होते तो वे आज हमारे बीच होते; और इतने मलबेको हटाकर उनकी लाशें प्राप्त करना भी असम्भव-सा ही प्रतीत होता है ।'

यह सुनकर साधु विद्यार्थियोंकी आँखें गीली हो गयीं । 'रोनेकी क्या बात है,' सेठजीने कहा । 'एक धोती और एक लोटा आज भी मेरे पास है और इन्हें लेकर मैं गाँव लौट रहा हूँ । जब सारा संसार ही स्वप्नवत् है तो इसमें चिन्ताकी क्या बात है !'

यह सुनकर साधुओंने मन-ही-मन सेठजीको श्रद्धाके सुमन चढ़ाये । जब सेठजी चले गये, तब साधु आपसमें बात करने लगे—'ऐसा गृहस्थ तो साधुओंके लिये भी आदर्श है ।'

वास्तवमें इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योगके कारण दुःखानुभूति होती है, परंतु यदि हम सांसारिक पदार्थोंके साथ अपनत्वका नाता जोड़ें ही नहीं तो इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योग भी हमको विचलित नहीं कर सकेंगे । माना कि ऐसा करना कठिन है, किंतु असाध्य नहीं है ।

—श्रीलाल नथमल जोशी

(५)

सुन्दरकाण्डका अद्भुत चमत्कार

यदि किसी भी वस्तुमें विश्वास किया जाय तो उसका उत्तम फल प्रत्यक्ष ही प्राप्त होता है, इसकी पुष्टि हालमें ही घटित एक घटनासे हुई है। स्थानीय केन्द्र पंचायत, शाजापुरके मन्त्री श्रीहरविलास बंसलके बारहवर्षीय पुत्र राधेश्यामके एक सायकल-सवारकी असावधानीसे हाथकी हड्डी टूट गयी, तुरंत ही चिकित्सालयमें नये सर्जन साहबद्वारा उसका एक्सरे लिया जाकर प्लास्टरका पट्टा चढ़ा दिया गया। लोगोंके तथा पुलिसके बार-बार कहनेके बावजूद भी श्रीबंसलने थानेपर सायकल-सवारके नामकी रिपोर्ट दर्ज करानेसे इन्कार कर दिया।

किंतु जब बालकके हाथका दर्द बढ़नेसे वह रोने-चिल्लाने लगा, तब श्रीबंसलने, जो अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्तिके व्यक्ति हैं, तुरंत ही रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ करना प्रारम्भ कर दिया। आप मानें या न मानें, कुछ ही मिनटोंमें बालकका दर्द काफूर हो गया और वह हँसता-खेलता नज़र आया। यह विश्वासका ही अद्भुत चमत्कार था। नगरमें इस घटनासे बड़ा आश्चर्य है। —बी० एल० शर्मा, शाजापुर

(६)

हड्डी और मांसके नासूरकी अनुभूत दवा

शरीरके किसी हिस्सेमें पुराना घाव हो जानेपर उसकी हालत खराब हो जाती है, नासूर बन जाता है। उसके सेप्टिक हो जानेका डर रहता है। ऐसी अवस्थामें उस हिस्सेको काटकर निकाल देनेके सिवा और इलाज प्रायः नहीं बताया जाता। ऐसे ही नासूरकी यह अचूक दवा है—

गायका मक्खन (दहीको मथकर निकाला हुआ) एक छटाँक किसी काँसीकी बड़ी थालीमें रखकर उसे स्वच्छ पानीसे १०८ बार खूब धो लीजिये। (यह मक्खन विषवत् हो जाता है, इसे खाना नहीं चाहिये।) इसमें एक तोला काला सुरमा और एक तोला सफेद सुरमा अच्छी तरह खूब महीन पीसकर मिला दीजिये। बस, दवा तैयार है। इस मरहमको थालीके एक किनारे इकट्ठा करके उस किनारेके नीचे कोई चीज रखकर उसे ऊँचा कर दीजिये। दो-तीन घंटेमें सारा पानी बूँद-बूँद करके निकल जायगा।

फिर, नीमके पत्ते उबालकर उस पानीसे घावको धो लें। तदनन्तर फलालेन या किसी मुलायम कपड़ेको नासूरके बराबर काटकर उसपर मरहम लगाकर नासूरपर रख दें। उसपर रूई रखकर प्लास्टिककी पट्टीसे उसे चिपका दें। नासूरको सिर्फ शुरूमें एक बार धोना है। फिर प्रतिदिन एक बार मरहम लगाकर पट्टी बदल देनी है। १५-२० दिनोंमें नासूर ठीक हो जायगा।

—हरिश्चन्द्र अग्रवाल, पो० कैमरी (हिसार)

* * *

नित्य परम आनन्द छा गया

रहूँ कहीं, कैसे भी, रहते नित्य साथ मेरे भगवान।
जाऊँ कहीं, वहीं दिखती मुझको उनकी मधु मूर्ति महान॥
बसे सदा मेरे अंदर, वे बाहर भी नित रहते पास।
ममता-मोह मरे सब जगके, प्रभुमें हुआ पूर्ण विश्वास॥
पाप-ताप भय-शोक मिटे सब, नष्ट हो गया मोह समूल।
मिटे मोहके कार्य भयानक सभी जातिके सारे शूल॥
मधुर-भयानक जगका कुछ भी, कैसा भी परिवर्तन आज।
दिखता मुझे मधुर लीलामय प्रभुका ही सब लीला-साज॥
प्रभुके दर्शन-स्पर्श-मिलनसे नित्य, मिटे जगके सब द्वन्द।
परम शान्तिसे पूर्ण विलक्षण छाया नित्य परम आनन्द॥

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सुन्दर-सुन्दर चित्रावलियाँ

१५×२० आकारके बढ़िया आर्टपेपरपर छपी बड़ी चित्रावलियाँ नं० १-२-३ तथा ४, प्रत्येकमें २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। मुखपृष्ठ मोटे कागजपर छपा है। दाम प्रत्येकका रु० २.७५, पैकिंग-डाकखर्च प्रत्येकका १.०६।

इस आकारकी चित्रावलियाँ नं० १-२ तथा ३ तो पहलेसे ही प्रचलित हैं, पर चित्रावलि नं० ४ नयी छपी है। इसमें कई चित्र तो सर्वथा नये हैं। नं० ४ के चित्रोंके नाम, **सुनहरी**—(१) भगवान् श्रीरामचन्द्र, (२) जगजननी माता जानकी। **बहुरंगे** (१)—सच्चिदानन्दके ज्योतिषी, (२) मनमोहन श्रीकृष्ण, (३) मुरलीका असर, (४) श्रीकृष्ण-यशोदा, (५) भगवान् विष्णु, (६) लक्ष्मी माता, (७) शिव-परिवार तथा (८) भगवान् बुद्ध। दाम २.७५, डाकखर्च १.०६।

मझले—आकार ११×१४॥ में चित्रावलि नं० १, दाम २.००, डाकखर्च .८७, कुल २.८७।

यह भी नयी निकली है। इसमें १२ चित्र हैं। सभी बहुरंगे हैं। नाम—(१) श्रीरामकी झाँकी, (२) दशरथके भाग्य, (३) चित्रकूटमें, (४) श्रीराम-जटायु, (५) हनुमान्जीकी प्रार्थना, (६) कालियनागपर कृपा, (७) महारास, (८) परमधाम-गमनके पूर्वकी झाँकी, (९) मार्कण्डेय मुनिपर भगवान शंकरकी कृपा, (१०) भगवान् नृसिंहजी, (११) शेषशायी और (१२) ध्रुवपर अनुग्रह।

उपर्युक्त पाँचों चित्रावलियाँ एक साथ लेनेपर कमीशन काटकर दाम १२.१९, पैकिंग-डाकखर्च २.२१, कुल १४.४०

१०×७॥ आकारकी चित्रावलियाँ नं० १-२ तथा ३ पहलेसे ही प्रचलित हैं। प्रत्येकमें २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे चित्र हैं। दाम प्रत्येकका १.३१, पैकिंग-डाकखर्च .९४, कुल २.२५ है। तीनोंका एक साथ मूल्य ३.९३, डाकखर्च १.१९, कुल ५.१२।

नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

प्रेमयोगका तत्त्व

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३८०, पाँच तिरंगे तथा एक सादा, कुल छः सुन्दर चित्र, मूल्य १.००, डाकखर्च .९४ कुल १.९४ न० पै०।

जबसे श्रीगोयन्दकाजीके ज्ञानयोगसम्बन्धी लेखोंका संग्रह 'ज्ञानयोगका तत्त्व' प्रकाशित हुआ, तभीसे लोगोंका यह आग्रह था कि उनके प्रेमसम्बन्धी लेखोंका भी एक अलग संग्रह प्रकाशित किया जाय, जिससे प्रेमपथके पथिकोंको एकत्र ही प्रेमसम्बन्धी पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सके। प्रस्तुत पुस्तकमें प्रेम-सम्बन्धी २२ लेखोंका संग्रह है। ये सभी लेख 'कल्याण' तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' आदि पुस्तकोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। प्रेम प्राप्त करनेके इच्छुक साधक इन लेखोंको पढ़कर और मनन करके तदनुसार अपने जीवनको विशुद्ध भगवत्प्रेममय बनानेका प्रयत्न कर सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंकी सेवामें प्रार्थना

(१) यह 'कल्याण'के ३५ वें वर्षका ११ वाँ अङ्क है। एक अङ्क और प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। ३६ वें वर्षका पहला विशेषाङ्क 'संक्षिप्त-शिवमहापुराणाङ्क' होगा। यह सूचना दी जा चुकी है। संक्षिप्त-शिवमहापुराणाङ्क छप रहा है। इसमें भगवान् शिवके विचित्र तथा विलक्षण चरित्र-लीला-सम्बन्धी प्रसङ्गोंके अतिरिक्त वेदान्त, भक्ति-कर्मयोग, अनुष्ठान तथा पूजा-विधान आदि अनेक सर्वोपयोगी अत्यन्त उपादेय विषय रहेंगे, चित्र भी बहुत सुन्दर होंगे।

(२) इस बहुमूल्य विशेषाङ्कका मूल्य ७.५० ही रहेगा। पृष्ठ-संख्या भी पूर्ववत् लगभग ७०० होगी। अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत मनीआर्डरद्वारा ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। मनीआर्डर फार्म गताङ्कमें भेजा जा चुका है। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपये भेजकर अपना नाम लिखवा लेना चाहिये। शिवपुराणको लोग बहुत अधिक चाहते हैं, अतएव यह अङ्क शीघ्र ही समाप्त हो जायगा, ऐसा लगता है।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें और नाम, पता, मुहल्लेका नाम, ग्राम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा अवश्य करें। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये। केवल विशेषाङ्कका मूल्य भी ७.५० है। इसलिये वर्षभरका ग्राहक बननेमें ही लाभ है।

(४) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना अवश्य दे दें, जिससे व्यर्थ वी० पी० भेजनेमें समय तथा डाकखर्चका अपव्यय न हो।

(५) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' विभाग कल्याण-विभागसे पृथक् हैं। अतः पुस्तकोंके तथा कल्पतरुके लिये उन-उनके व्यवस्थापकके नाम ही अलग-अलग आदेश तथा रुपये भेजें।

(६) सजिल्द अङ्कका मूल्य १.२५ (एक रुपया पचीस नये पैसे) अधिक है। परंतु इस वर्ष जिल्दकी सुविधा बहुत कम है। सजिल्द अङ्क बने भी तो उनमें बहुत देर होना सम्भव है।

(७) इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं जायँगे। अतएव कोई महानुभाव लेख या कविता कृपया न भेजें।

(८) सभी कृपालु ग्राहक-अनुग्राहक तथा प्रेमी पाठक-पाठिकागण कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बनाकर देशमें सद्भावोंका प्रसार करनेमें सहायक बनें। यह विनीत निवेदन है।

(९) आशा तो है कि विशेषाङ्क जनवरीके प्रथम सप्ताहमें ही ग्राहकोंके पास भेजा जाना आरम्भ हो जायगा। दैवी विधानकी बात दूसरी है।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

LIBRARY

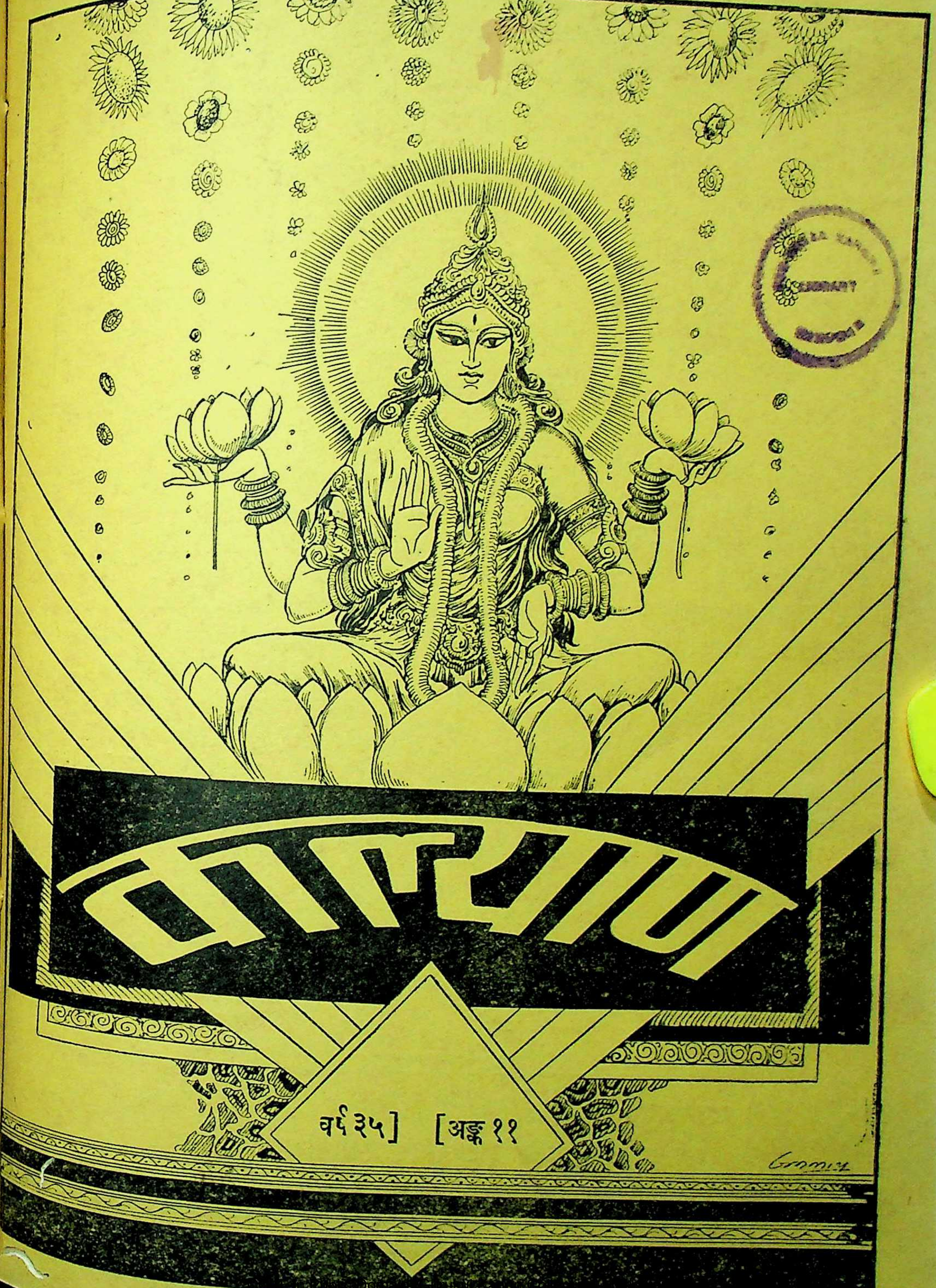

कल्याण

वर्ष ३५] [अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३३,००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०१८, नवम्बर १९६१

विषय पृष्ठ-संख्या

१–मोहन मुरलीधर [कविता] ... १२७७
२–कल्याण ('शिव') १२७८
३–परमात्मा, जीवात्मा और विश्व (ब्र० जगद्गुरु अनन्तश्री श्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धनमठ, पुरी; अनु०–पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि) १२७९
४–निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२८२
५–सागर-संतरण (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) १२८५
६–श्रीरामका स्वभाव-सौन्दर्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) ... १२८६
७–परिवार-नियोजनपर विनोबा (श्रीविनोबा) १२९०
८–जीवेम शरदः शतम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ) ... १२९२
९–श्रीराधा-स्वरूप-गुण-महिमा (श्रीराधाष्टमी-महोत्सव (संवत् २०१८) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण) ... १२९४
१०–एक साधकके उद्गार ... १३०३
११–त्रिजटाने स्वप्न देखा (श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न) ... १३०४

विषय पृष्ठ-संख्या

१२–आशौच-निर्णय (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) १३०७
१३–सत्य-धर्मका वास्तविक स्वरूप (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... १३११
१४–मानवता [कविता] (विद्यावाचस्पति डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०) १३१३
१५–नरक क्या ? [कहानी] (श्री'चक्र') १३१४
१६–उद्धवके प्रति [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') १३१७
१७–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ... १३१८
१८–श्रीरामचरितमानसकी एक अर्धाली (श्रीनर्वदाप्रसादजी वर्मा) ... १३२२
१९–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) १३२४
२०–आगामी अष्टग्रही योग (हनुमानप्रसाद पोद्दार) १३३१
२१–जहाँ हम सीखने जाते हैं ! ... १३३६
२२–सच्चा धनी और सच्चा दरिद्र कौन ? १३३६
२३–पढ़ो, समझो और करो ... १३३७
२४–नित्य परम आनन्द छा गया [कविता] १३४०

चित्र-सूची

१–मा लक्ष्मी ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–मोहन मुरलीधर ... ... (तिरंगा) ... १२७७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

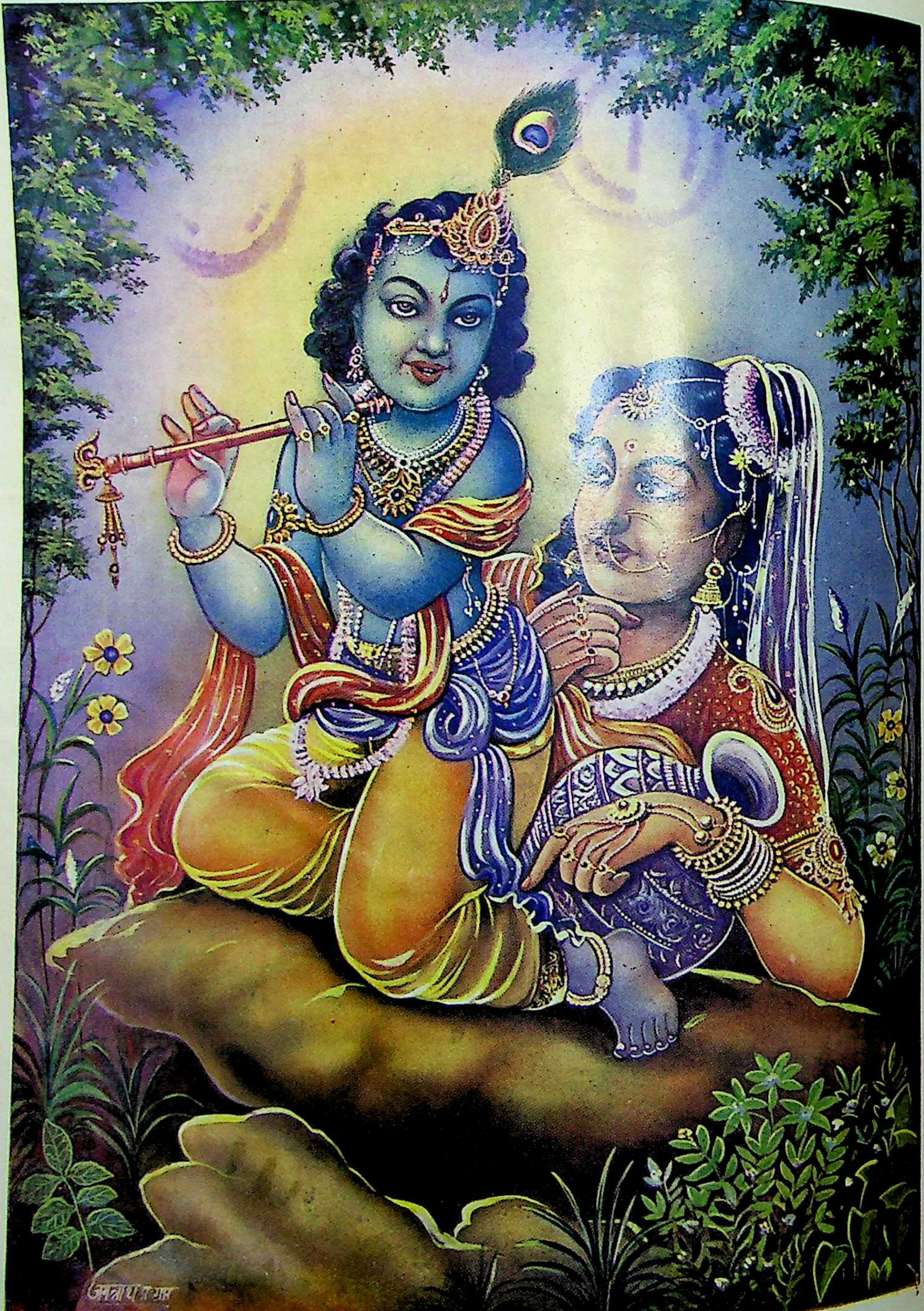

मोहन मुरलीधर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

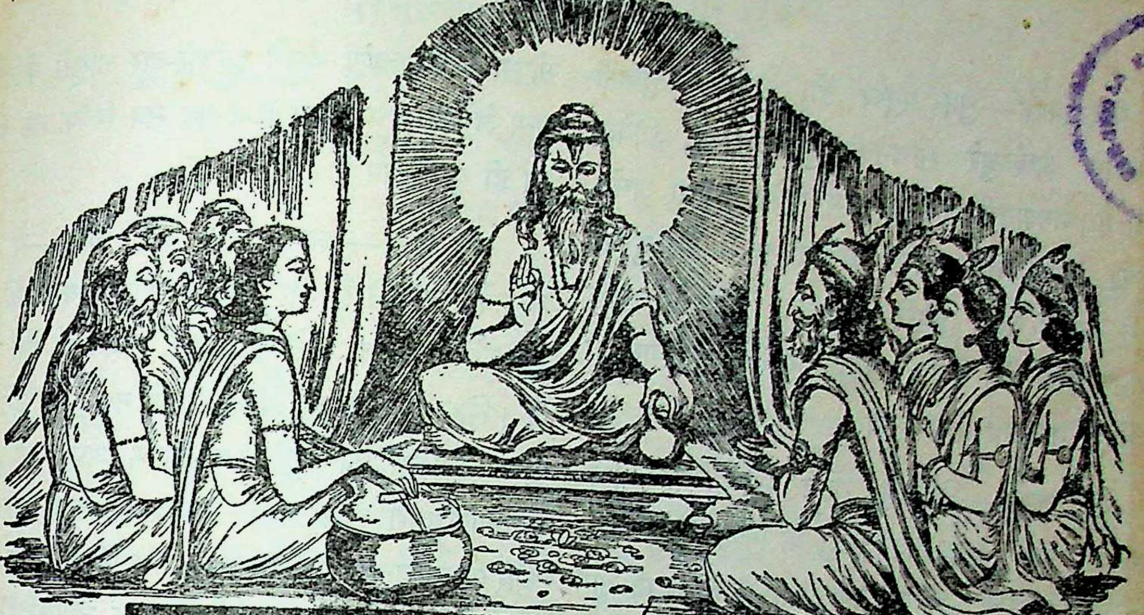

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१८, नवम्बर १९६१ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ४२०

मोहन मुरलीधर

यमुना-तट-संनिकट कुंजमें मृदुल शिलापर मोहन श्याम ।
बैठे, रूप-छटा बिखराते, बजा रहे वंशी अभिराम ॥
सजी-सजायी चली जा रही गोपी ले करमें मटकी ।
जल भरने, सुन मुरली ध्वनि, वह रही राहमें ही अटकी ॥
खिंची लौह-चुंबक-सी मुनि-मन-मोहन मुख-माधुर्य निहार ।
जो बैठी, विमुग्ध विस्मित-सी भूल भवन-तन-मन-संसार ॥
भरा अमित आमोद हृदयमें, उपजा मन मधुमय अभिलाष ।
बैठी रहूँ सदा, यों ही बस, मुग्ध हुई मोहनके पास ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम मनुष्य हो, भगवान्‌ने तुमको भविष्यके अच्छे-बुरे सोचनेकी बुद्धि दी है, विवेक दिया है। भगवान्‌के दिये हुए उस विवेकके द्वारा अच्छे-बुरेका यथार्थ निर्णय करके अच्छेका ग्रहण और बुरेका त्याग करो। तभी तुम्हारे विवेकका सदुपयोग तथा संरक्षण होगा और विवेकके सदुपयोग तथा संरक्षणसे ही तुम्हारी मानवता सिद्ध होगी।

याद रक्खो—विवेकसे रहित मनुष्य, काम-क्रोध-लोभके वेगसे ग्रस्त होकर पशु या पिशाच बन जाता है। कहीं-कहीं तो वह पशु तथा पिशाचके स्तरसे भी आगे बढ़कर इतना मूढ़ और इतना भयंकर बन जाता है कि महान् राक्षस भी उसकी समता नहीं कर पाता, वह अपने तथा जगत्‌के अमङ्गलमें कारण महान् पापका समुद्र बन जाता है।

याद रक्खो—मनुष्यके पास जो बुद्धि है, वह जब विपरीत निर्णय देनेवाली तथा विपरीत मार्गपर चलानेवाली बन जाती है, तो फिर उस मनुष्यके समस्त साधन उसके लिये भयानक पापके साधन बन जाते हैं। जिन ज्ञान-विज्ञानके आविष्कारोंसे, जिन भौतिक तथा दैविक सामग्रियोंसे वह समस्त जगत्‌की सेवा करके सबको सुख पहुँचाकर परिणाममें अपना परम कल्याण कर सकता है, अविवेकके कारण काम-क्रोध-लोभपरायण मनुष्य उन्हीं ज्ञान-विज्ञानके साधनोंसे, उन्हीं भौतिक तथा दैविक सामग्रियोंसे अपने मिथ्या लाभकी कल्पनासे अहंकारमें भरकर समस्त जगत्‌के विनाशकी बात सोचता है और फलतः स्वयं जीवनभर अशान्ति तथा चिन्ताकी आगमें जलता हुआ बुरी तरह मरता है और मरणोत्तर भीषण नरक-यन्त्रणा भोगने एवं बार-बार आसुरी योनियोंमें जन्म लेनेको बाध्य होता है। यह सब विवेक नष्ट होनेका ही कुपरिणाम है।

याद रक्खो—काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। विवेकमें शिथिलता आते ही इनकी प्रबलता बढ़ जाती है। फिर ये रहे-सहे विवेकको भी नष्ट कर देते हैं। तब मनुष्य बुद्धिका दुरुपयोग करके अपने सहज प्राप्त साधनोंके द्वारा अन्य सबके विनाशकी बात सोचता है और योजना बनाता है। हिंसावृत्तिवाले हिंसक पशु सिंह, बाघ, साँप आदि तो सामने आये हुए जीवकी ही हिंसा करते हैं, वे योजनापूर्वक हिंसा नहीं करते, वे योजनापूर्वक विषय-संग्रहका प्रयास नहीं करते। पर मनुष्य योजना बनाना जानता है और उसके पास योजनाके अनुसार कार्य करनेके साधन भी हैं; ऐसा शक्तिमान् मनुष्य जब अपनी बुद्धि तथा प्राप्त साधनोंको अमङ्गलमें मङ्गल मानकर अमङ्गल-साधनमें ही लगा देता है, तब वह पशु तथा पिशाचसे भी कितना अधिक आगे बढ़ जाता है, अपने तथा जगत्‌के लिये कितना अहितकर—कितना शत्रु होता है। इसपर गहराईसे विचार करो।

याद रक्खो—मानव-जीवन प्रभुकी प्राप्तिके लिये है, भोगोंके लिये नहीं। पाप-साधन करके अपना अमङ्गल करनेके लिये तो कदापि नहीं। इस बातको सोच-समझकर विवेकका संरक्षण और सदुपयोग करो तथा मानव-जन्मके असली लाभ परमात्मा या भगवत्प्रेमको प्राप्त करके जीवनको सफल बना लो।

'शिव'

परमात्मा, जीवात्मा और विश्व

(मूल अंग्रेजी लेखक--ब्र० जगद्गुरु अनन्त श्रीश्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धनमठ, पुरी)

[अनुवादक--पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि]

[गताङ्क पृष्ठ १२१७ से आगे]

तो फिर क्या बुद्धि ही जीवात्मा है ? इस प्रश्नके उत्तरसे पहले एक उदाहरणद्वारा बुद्धि और मनके भेदको स्पष्ट करना चाहते हैं । कल्पना कीजिये कि मैं कुछ कागजातोंको प्रमाणित करानेके लिये सब-रजिस्ट्रारके पास जाता हूँ, जिसका काम ही कागजातोंको प्रमाणित करना है । मैं उसके पास जाता हूँ और ठीक तरहसे ठीक समय और ठीक स्थानपर प्रमाणित करनेके लिये निर्धारित फीस भी दे देता हूँ और कागजातोंको उसके सामने रख देता हूँ । सब-रजिस्ट्रार उन कागजातोंसे संतुष्ट होकर उन्हें प्रमाणित भी कर देता है । वे मेरे कागजात कुछ ऐसी सम्पत्तिको बेचनेके विषयमें हैं, जो कि मेरी नहीं है और जिसे बेचनेका अधिकार भी मुझे नहीं है, तो भी सब-रजिस्ट्रार उन कागजातोंको प्रमाणित कर देता है और वह मेरे कामकी अच्छाई या बुराईसे सम्बन्धित नहीं होता । पर जब मुझसे कागजात लेनेवाला आदमी (जिसने सम्पत्ति मुझसे खरीदी है) अपनी खरीदी हुई सम्पत्तिपर अधिकार करने जाता है, तब उस सम्पत्तिका वास्तविक मालिक आपत्ति करता है । जब पहला मनुष्य उन प्रमाणित हुए कागजातोंको मालिकके सामने प्रस्तुत करता है, तब मालिक कहता है कि 'वह मनुष्य जिसने तुम्हें यह सम्पत्ति बेची है, एक ठग है और तुम एक मूर्ख हो । जाओ, अदालतमें दावा करके अपने इन कागजातोंको अदालतसे प्रमाणित कराओ ।' इसपर वह अदालतमें जाता है, पर तब इस मामलेमें निर्णय देनेवाले सब-रजिस्ट्रारद्वारा प्रमाणित हुए कागजात नहीं होते, अपितु जज होता है, जो कि मामलेकी सत्यता और असत्यतापर विचार करके निर्णय देता है । जो भेद यहाँ सब-रजिस्ट्रार और न्यायाधीशमें है, वही भेद मन और बुद्धिमें है । मन हमारे शरीरका अङ्ग है और वह हर चीजको, जो हमारी इन्द्रियोंसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं, प्रमाणित कर देता है और बादमें बुद्धि उस पदार्थके गुण-दोषका विवेचन करके अपना निर्णय देती है । उदाहरणके लिये, हम किसी शब्दको सुन भी लें और उसीके साथ उसका निर्णय भी कर दें, ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते । इसलिये हम पहले सुनते, चखते, बोलते, देखते और अन्यान्य काम करते हैं । वह अन्तरिन्द्रिय, जिसके द्वारा हम ये सब काम करते हैं, मन कहाता है । जिस प्रकार सब-रजिस्ट्रारका काम कागजातोंको प्रमाणित करना मात्र है, उसी प्रकार आँख, नाक आदि बाह्येन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले बाह्यज्ञानका संग्रह करना मनका काम है । इस मनके पास कभी-कभी ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा ज्ञान पहुँचता है और कभी-कभी सीधा ही, जैसे कि स्वप्नमें जब सारी इन्द्रियाँ सो जाती हैं और मन स्वप्न देखता रहता है, जब हम उठते हैं तो कहते हैं कि हमने स्वप्न देखा । इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें भी मन काम करता है और बाह्य इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही अनेक प्रकारके ज्ञानोंका संग्रह करता रहता है । यद्यपि उस समय भी वे ज्ञान बाह्य प्रतीत होते हैं पर वे वास्तवमें अचेतन और चेतन मनकी अपनी उत्पत्ति हैं । जब मन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें अनेक ज्ञानोंका संग्रह कर लेता है, तब बुद्धि उन ज्ञानोंकी सत्यता-असत्यता, अच्छाई-बुराईका निर्णय करती है ।

तब क्या यह बुद्धि ही आत्मा है ? नहीं; क्योंकि हम कभी-कभी कहते हैं कि 'इसकी सचाईको जाननेके लिये मैं अपनी सारी बुद्धि लगा दूँगा' यहाँपर भी हमारे इस कथनसे सिद्ध होता है कि बुद्धि भी हमारी सम्पत्ति ही है, सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं । इसलिये बुद्धि भी आत्मा न होकर आत्माकी सेविका है ।

इस प्रकार विचार करते हुए गहराईमें जाकर हम उस तत्त्वपर जा पहुँचते हैं, जो इस सभी सम्पत्तिका वास्तविक मालिक है और जिसको हम 'मैं' या 'आत्मा'के नामसे पुकारते हैं । दूसरे शब्दोंमें आत्मा वह है, जिसका सम्बन्ध हम 'मैं' और 'मेरा'के रूपमें संसारके सभी पदार्थोंसे जोड़ते हैं और जो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी तत्त्वोंका स्वामी है । पर खेद है कि यह स्वामी होते हुए भी कभी-कभी इन्द्रियोंका दास बन जाता है । अस्तु ! इस सभी सम्पत्तिका वास्तविक स्वामी आत्मा ही है ।

आत्माका लक्षण और स्वरूप

इस प्रकार आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके बाद अब हम उसके लक्षण और स्वरूप अर्थात् उसके तात्त्विक गुणों (Essential Qualities) का विचार करते हैं । यदि हम उसके गुणोंकी खोज कर लें तो 'हम कहाँसे आये हैं और अन्तमें कहाँ जायँगे' इस प्रश्नका उत्तर हमें मिल जायगा । इस मंजिलपर पहुँचनेके कई मार्ग हैं, पर यहाँ हम उन्हीं विचार और समाधिके मार्गका विवेचन करेंगे, जिसका अनुभव हम कर चुके हैं । ये अनुभव, मुझे आशा है कि इस मार्गपर चलनेवाले जिज्ञासुओंके लिये उनके मार्गको प्रशस्त करेंगे ।

प्रारम्भ करनेके लिये हम सबसे पहले लक्षणके लक्षण (Definition of Definition) पर विचार करेंगे, जिससे कि जिज्ञासु लक्षण, उपलक्षण और उपाधिको एक या पर्यायवाची शब्द समझनेकी महान् भ्रान्तिसे बच जायँ ।

लक्षण पदार्थका उससे पृथक् न होनेवाला स्वाभाविक (Inherent) गुण है और उपलक्षण वह गुण है, जो स्वाभाविक न होकर बाह्य वातावरणके प्रभावके कारण उसमें आ जाता है तथा थोड़े समयके लिये उस पदार्थके स्वाभाविक गुण-सा प्रतीत होने लगता है । उदाहरणके लिये मैं अपने मकानमें हूँ और अपने एक मित्रको, जो उसी गलीमें रहता है, एक पुस्तक देनेके लिये अपने नौकरको भेजता हूँ । यदि वह नौकर मित्रका घर नहीं जानता और मुझसे उसके बारेमें जानना चाहता है तो उसे मैं अपने मकानकी छतपर ले जाता हूँ और उसी गलीमें दो-तीन घरोंके बाद एक घरकी ओर इशारा करके कहता हूँ 'वह देखो, जिस घरपर कौवा बैठा है, और जिस घरके सामने तीन आदमी बात कर रहे हैं, वही घर है, जाओ' और नौकर यह कहकर कि 'जी हाँ, मैं समझ गया' पुस्तक लेकर उस घरकी ओर चल देता है । पर इसी बीच ऐसा होता है कि उस घरपरसे कौवा भी उड़ जाता है और आदमी भी चले जाते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि उनके साथ घर भी गायब हो गया । वह क्षणिक वर्णन तो घरकी पहिचान करानेके लिये था । पर उस घरकी पहिचान क्षणिक नहीं होती, अपितु स्थायी हो जाती है । फिर कभी नौकरको दुबारा मित्रके पास भेजते समय उस घरकी पहिचान करानेकी जरूरत नहीं पड़ती । पर मैंने जो कुछ नौकरको बताया, वह उस घरका लक्षण नहीं था । वह तो आकस्मिक था कि कौवा और आदमी वहाँ थे और वे मेरे लिये उस घरकी पहिचान करानेके साधन बने । मैंने उस आकस्मिकताका लाभ उठाया । यह आकस्मिक पक्ष उस घरका उपलक्षण था (जो उतने समयके लिये लक्षण-सा प्रतीत हो रहा था) ।

ज्ञान करानेका तीसरा साधन है—उपाधि । यह न थोड़े समयके लिये सत्य प्रतीत होता है, न बहुत समयतकके लिये । जैसे कि एक बच्चेसे, जो चन्द्रमा जानना चाहता है, मैं कहता हूँ कि 'देखो बच्चे ! वहाँ जो पेड़ है उसकी दो डालियोंके बीचमें जो एक सफेद-सफेद गोल-सी चीज चमक रही है वही चन्द्रमा है ।' बच्चा मेरे कहनेको समझ लेता है और चन्द्रमाको पहिचान लेता है । मैं वर्णन करते समय भी यह अच्छी तरह जानता हूँ कि चन्द्रमा वास्तवमें उन दो डालियोंके बीचमें न होकर उनसे हजारों मील दूर है । यह मेरा कथन यद्यपि उस समय भी गलत है, पर बच्चेके लिये सच मालूम पड़ता है और यह प्रतीत होनेवाली सचाई उस बच्चेको चन्द्रमाका ज्ञान करा देती है । अगले दिन बच्चा चन्द्रमाको, वह चाहे कहीं भी हो, पहिचान लेता है ।

इस प्रकार ज्ञानके साधन-लक्षणके तीन प्रकार हैं—(१) लक्षण (जो स्वाभाविक और स्थायीरूपसे सत्य होता है), (२) उपलक्षण (जो आकस्मिक एवं अस्थायीरूपसे सत्य होता है), (३) उपाधि (जो आकस्मिक होता हुआ भी नितान्त असत्य होता है) । इन तीनों ही तरीकोंसे हम आत्मा या अन्य पदार्थका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, पर आत्माका ज्ञान प्राप्त हो जानेके बाद हमें उपलक्षण और उपाधिको छोड़कर उसके सत्यस्वरूप या सत्य लक्षणको अपनाना पड़ेगा ।

आत्मविषयक ज्ञान कैसे हो ?

आत्माके वास्तविक लक्षण या गुणोंको जाननेके भी कई तरीके हैं । पर सबसे अधिक सरल दो ही तरीके हैं—(१) विश्लेषणात्मक (Analytical) और (२) संश्लेषणात्मक (Synthetical) । हम इन दोनोंपर विचार करेंगे—

विश्लेषणात्मक प्रकार

विश्लेषणात्मक तरीका वह है, कि जिससे हम धीरे-धीरे उपाधि और उपलक्षणोंको छोड़ते हुए एक पदार्थके सच्चे लक्षणपर पहुँचते हैं । उदाहरणके लिये—यद्यपि हमने पानीके उष्णत्व और शीतत्व दोनोंका ही अनुभव किया है, पर शास्त्र हमें यही बताते हैं कि पानीका स्वाभाविक गुण शीतत्व ही है । क्यों ? क्योंकि पानीके उष्णत्वका अनुभव करते हुए भी हम

यह जानते हैं कि उष्णत्व पानीका अपना गुण नहीं है, अपितु आगके या सूर्यकी किरणोंके कारण यह पानी गरम हो गया है। और जब एक ऐसे स्थानपर जाते हैं, जैसा उत्तर गुजरातके वीरमगाँव, और वहाँ हम गरम पानीका एक तालाब देखते हैं, तो हम उसी समय पूछते हैं कि 'यह पानी गरम क्यों है?' यह हमारा 'क्यों' शब्द ही इस बातको प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है कि उष्णत्व पानीका स्वाभाविक गुण नहीं है। हमें उसका कारण बताया जाता है कि नीचे गन्धकके स्रोत हैं, जो पानीको गरम बनाये रखते हैं। यह कारणका बताना ही इस बातका निदर्शक है कि शीतत्व ही पानीका स्वाभाविक गुण है। बाह्य उपकरणोंसे उसका ठंडापन नष्ट हो जाता है और उसमें उष्णत्व आ जाता है। इसमें दूसरा प्रमाण भी है कि यदि गरम पानीको आगपरसे उतारकर नीचे रख दिया जाय तो वह धीरे-धीरे ठंडा होता चला जायगा और अन्तमें बिल्कुल ही ठंडा हो जायगा। इससे ज्ञात होता है कि पानीको गरम होनेके लिये किसी बाह्य कारण या साधनकी आवश्यकता होती है, पर उसके ठंडे होनेके लिये किसी भी बाह्य कारणकी जरूरत नहीं होती। इसलिये पानीका उष्णत्व, उपर्युक्त उदाहरणमें कौवेके समान, उपलक्षणमात्र है। इसी प्रकार यदि किसी ताँबेके बर्तनको खटाईसे चमकाकर ऐसे स्थानपर रख दिया जाय, जहाँपर धूल आदि कुछ भी न पहुँच सके, तो भी कुछ समयके बाद वह अपने आप काला और गंदा हो जायगा। क्यों? क्योंकि कालापन उस बर्तनका स्वाभाविक गुण है। ये सभी उदाहरण यह बताते हैं कि किसी पदार्थके स्वाभाविक गुणमें 'क्यों' के लिये कोई स्थान नहीं रहता। यदि किसी पदार्थका स्वाभाविक गुण किसी शक्तिशाली बाह्य साधनसे दबा भी दिया जाय तो कुछ समय बाद उसका स्वाभाविक गुण स्वयं बाहर प्रकट हो जायगा। इस विचार-सरणीके द्वारा हम आत्माके स्वरूपका ज्ञान कर सकते हैं और वेदान्तके शुद्ध सत्यकी पुनः स्थापना कर सकते हैं।

संश्लेषणात्मक प्रकार

इस प्रकारको हम उद्देश्यात्मक प्रकार (Teleological Method) भी कह सकते हैं। यह तरीका बहुत सरल है, इसके द्वारा साधारण आदमी भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके द्वारा भी हम आत्माके स्वरूपका परिज्ञान कर 'यह कहाँसे आयी और इसका उद्देश्य क्या है?' इस प्रश्नको हल कर सकते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्में इस मार्गका वर्णन है। बालक भृगु (जो बादमें महर्षि भृगुके नामसे प्रसिद्ध हुए) अपने पिता वरुणके पास जाकर यही प्रश्न पूछते हैं और वरुण इस प्रश्नका उत्तर लंबी-चौड़ी व्याख्यामें न देकर संक्षेपमें देते हैं। उसी संक्षिप्त उत्तरके आधारपर आगे खोज करनेकी प्रेरणा भृगुको देते हैं। वह संक्षिप्त उत्तर निम्न था—

'जिससे इस सारे विश्वकी उत्पत्ति हुई है, जो इस विश्वका पोषण करता है और अन्तमें यह विश्व जिसमें विलीन हो जाता है, वह कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता एक ही है अर्थात् ब्रह्म।'

उपर्युक्त विषयको स्पष्ट करनेके लिये अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे कि एक बीज भूमिसे ही पैदा होता है, भूमिसे ही पोषण प्राप्त करता है और अन्तमें भूमिमें ही मिल जाता है।

इसी विषयको मछलीके उदाहरणसे भी स्पष्ट किया जा सकता है। साधारणतया सभी मनुष्य यह जानते हैं कि एक मछलीको पोषक तत्त्व पानीसे ही प्राप्त होता है, पर कल्पना कीजिये कि किसी मनुष्यको इस तथ्यका पता नहीं है और वह अचानक एक ऐसी मछलीको देखता है जो एक नदीके किनारेपर पड़ी तड़प रही है, फिर वह यह सोचकर कि एक कष्ट अनुभव करनेवाले मनुष्यके कष्ट जिन साधनोंसे दूर हो जाते हैं, उन्हीं साधनोंसे इसके भी कष्ट दूर हो जायँगे, उसे अपने घरपर लाता है, बिस्तरपर सुलाता है, पर देखता है कि उस मछलीका कष्ट दूर नहीं हुआ है तब वह फिर नदीपर जाता है तथा गुस्सेमें आकर उस मछलीको नदीमें फेंक देता है। पर वह मनुष्य आश्चर्यसे देखता है कि वही मछली, जो मुलायम बिस्तरेपर भी पड़ी तड़पती रही, अब पानीमें खुश होकर तैर रही है। इन सब प्रयोगोंसे वह किस निष्कर्षपर पहुँचेगा? इसीपर कि पानी ही मछलीका पोषक तत्त्व है। यह पानीसे ही उत्पन्न होती है और पानीसे ही पुष्ट होती है।

इस उदाहरणसे हम यह अनुमान आसानीसे लगा सकते हैं कि जिसके बिना हम सुखी नहीं रह सकते, वही हमारा स्वाभाविक पोषकतत्त्व है। यही उद्देश्यात्मक प्रकार (Teleological Method) है। इसके द्वारा भी हम अद्वैत-सिद्धान्तकी स्थापना कर सकते हैं। अब हम आगे इन तरीकोंके आधारपर आत्माके स्वरूपके परिज्ञानका प्रयत्न करेंगे।

(क्रमशः)

निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण किसी भी स्वरूपके निरन्तर स्मरणके समान कोई भी साधन नहीं है। यह साधन बहुत ही सुगम है। इस साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। यदि इस मनुष्य-जन्ममें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो बड़ी भारी हानि है, महान् भयकी बात है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २। ५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब बड़ी भारी हानि है।'

क्योंकि मनुष्य भगवान्‌के सिवा किसी भी प्राणी या पदार्थका चिन्तन करता हुआ मरता है तो उसकी दुर्गति होती है। मरनेके समय जिस मनुष्य, पितर, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिका चिन्तन करता हुआ मरता है वह उसीको प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

हमें यह पता नहीं कि हमारी मृत्यु कब होगी। यदि अचानक मृत्यु हो गयी और मरणकालमें भगवान्‌की स्मृति नहीं रही तो बहुत ही खतरेकी बात है। इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारे काम करने चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि हम हर समय भगवान्‌का स्मरण करते रहेंगे तो हम अवश्य ही भगवान्‌को प्राप्त हो जायँगे। अतएव एक क्षण भी भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये।

शरीर और इन्द्रियोंसे आप जो कुछ कर रहे हैं, वही करते रहिये पर केवल मनसे भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन न कीजिये। यों तो मनुष्य स्वाभाविक ही दो काम बराबर करता रहता है, जैसे शौच-स्नान, खान-पान आदिकी क्रिया इन्द्रियोंसे होती रहती है और मन दूसरा ही व्यर्थ चिन्तन करता रहता है; किंतु हमारी प्रार्थना यह है कि आप जैसे शौच-स्नानादिकी क्रिया तथा जीविकाके लिये व्यापार आदिकी क्रिया शरीर एवं वाणी आदि इन्द्रियोंसे करते आये हैं, चाहे वही करते रहिये; किंतु भगवान्‌को कभी मत भूलिये। सांसारिक कार्यमें कहीं कमी भी आ जाय या दोष भी आ जाय तो उसका सुधार भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे हो सकता है; क्योंकि कैसा भी पापी क्यों न हो भगवान्‌की अनन्यभक्तिसे उसका सुधार होकर उद्धार हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

इससे यह समझना चाहिये कि दोषोंका नाश तो भगवान्‌की अनन्य भक्तिके प्रभावसे अनायास ही हो सकता है, किंतु अनन्य भक्तिमें कमी रह जायगी तो बड़ी भारी हानि है; क्योंकि उसकी पूर्ति अपने-आप सम्भव नहीं।

अतएव जिस कार्यके लिये हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है, उसी काममें इसको लगाना चाहिये। ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि और विचार दिया है, उसको सार्थक करना चाहिये एवं इस मोहनिद्रासे सचेत होकर महापुरुषोंके पास जाना चाहिये तथा उनसे उस जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको जानकर अपना कल्याण करना चाहिये। कठोपनिषद्‌में बताया गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(१ । ३ । १४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे जानने योग्य परमात्मतत्त्वको समझो।'

इसलिये मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही परमात्माकी प्राप्तिरूप कार्यको सिद्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(गीता ९ । ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! तू इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही स्मरण कर।'

यदि भगवान्‌के निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करते हुए देहपात भी हो जाय तो भी कल्याण ही है, किंतु भगवच्चिन्तनके बिना देहपात होनेके बाद पश्चात्ताप करनेसे कोई काम नहीं सिद्ध होता।

अतः शरीरके रहते-रहते ही अपने कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। नहीं तो, आग लगनेके बाद कुआँ खोदनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। वैसे ही पीछे यहाँ भी कुछ नहीं होगा।

श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(वैराग्यशतक ८६)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयुका भी क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?'

भोजराज कहते हैं—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति॥

'मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमभरी बोली बोलनेवाले हैं, कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज घोड़े हिनहिना रहे हैं; किंतु आँखोंके मुँद जानेपर कोई अपना नहीं रहता।' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जुरे, मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते॥

भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते॥
(कविता० उत्तर० ४४)

मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमादी और मूर्ख भी है। जैसे बालक विद्याका अभ्यास छोड़कर खेल-कूदमें चला जाता है; क्योंकि उसे खेल-कूदमें ही रस आता है; किंतु जब वह बड़ा होता है और उसमें समझ आ जाती है तब वह पश्चात्ताप करता है कि बालकपनमें मैंने खेल-कूदमें समय बिता दिया, विद्याका अभ्यास नहीं किया, यह मेरी बड़ी मूर्खता हुई। किंतु उस पश्चात्तापसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन न करके विषयभोगोंमें, व्यर्थ कार्योंमें और पाप-कार्योंमें रस लेता है, उसको भी घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
(राम० उत्तर० ४३)

श्रीसुन्दरदासजी भी कहते हैं—

तू कछु और बिचारत है नर तेरो बिचार धर्‌यौ ही रहैगौ।
कोटि उपाय करै धनकै हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगौ॥
भोर कि साँझ घरी पल माँझ सु काल अचानक आइ गहैगौ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत सुंदर यों पछिताइ कहैगौ॥
(सुन्दर-विलास अंग ३ पद ७)

हमलोग थोड़ा विचार करके देखेंगे तो हमलोगोंका मनसे भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा शास्त्र और सत्संगके द्वारा भक्ति-ज्ञान, वैराग्य-सदाचार आदि अध्यात्मविषयका पठन, श्रवण और मनन करना आदि सात्त्विक कार्यरूप परमार्थमें बहुत ही कम समय बीतता हुआ मिलेगा; किंतु हमारे समयका कुछ हिस्सा तो स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि राजस कार्यरूप स्वार्थमें बीतता हुआ मिलेगा एवं अधिकांश समय मूर्खताके कारण निद्रा, आलस्य, प्रमाद और पाप आदि तामस कर्मरूप अनर्थमें ही बीतता मिलेगा। इसलिये भगवान्‌ने जो हमको बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है उसके द्वारा मनको समझाना चाहिये एवं उसे राजस-तामस रूप स्वार्थ और अनर्थके कार्योंसे हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर परमात्माके चिन्तनरूप परमार्थमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनको परमार्थमें लगाना ही उसका सदुपयोग है और इसके विपरीत लगाना ही उसका दुरुपयोग है। मनका स्वभाव बहुत ही गिरा हुआ है, उसका सुधार भगवान्‌का आश्रय लेकर अतिशय तत्परतासे प्रयत्न करनेपर ही भगवान्‌की कृपासे हो सकता है।

इस समय हमको सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। अध्यात्मविषयकी उन्नतिके लिये यह भारतवर्ष उत्तम देश है। तथा जिसमें अल्पकालके साधनसे ही शीघ्र कार्यकी सिद्धि हो जाती है—ऐसा यह उत्तम कलिकाल है। ऐसे उत्तम देश-कालमें भगवान्‌ने कृपा करके हमको मनुष्य-शरीर दे दिया और भजन-ध्यान करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ दे दीं। इस समय अध्यात्म-विषयक पुस्तकें भी कम मूल्यमें प्राप्त हो जाती हैं। ये उत्तम पुरुषोंका सङ्ग भी प्राप्त हो सकता है। ये सब संयोग पाकर भी यदि हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और शोककी बात है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(राम० उत्तर० ४४)

अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये और पतनकारक काम, क्रोध, लोभ, भय, दर्प, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आसक्ति और अज्ञानके वशमें होकर एक क्षण भी परम सुहृद् भगवान्‌को

नहीं भूलना चाहिये । वैराग्ययुक्त भावसे त्रिलोकीके ऐश्वर्यको ठुकराकर केवल एक भगवान्का ही प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना चाहिये । हमारे लिये इसके समान और कोई भी परम उपयोगी कार्य नहीं है । तब हम दूसरे काममें एक क्षण भी अपने चित्तको क्यों लगायें ? इसलिये चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय भगवान्को याद रखनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये तथा जप-ध्यान, संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेके समय तो उनके अर्थ और भावको अच्छी तरह समझकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे गुण और प्रभावयुक्त भगवान्के स्वरूपका मनसे निरन्तर चिन्तन विशेषतासे होना ही चाहिये । रात्रिमें सोनेके समय भी विशेषतासे भगवान्को याद करते हुए ही सोना चाहिये । इससे हमारा रात्रिका शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो सकता है; क्योंकि मनुष्य १८ घंटा जिस कार्यका अभ्यास करता है, रात्रिमें ६ घंटे स्वप्न-सुषुप्तिके भी प्रायः वैसे ही बीतते हैं । अतः लाख काम छोड़कर यही काम करें कि—भगवान्को कभी न भूलें । भगवान्की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंका और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश होकर भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है । श्रीभागवतकार कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(१२ । १२ । ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है । उसीके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्की भक्ति एवं विज्ञान-वैराग्यसे युक्त भगवान्के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।'

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥
(२ । २ । ३६)

'इसलिये परीक्षित् ! सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे सब समय, सब परिस्थितियोंमें सब प्रकारसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें ।'

◆

सागर-संतरण

आस्थामें जो बाल-सी दरार पड़ती कभी-कभी दिखायी दे जाती है,
जब वह भी बंद हो जायगी,
तभी—
सोचता हूँ,
उच्छ्वसित सागरमें तैरना बंद होगा ।
तब भी—
सागर-संतरण होता रहेगा, पर चलते चरण-तल स्पर्श करेंगे, प्रत्येक पगपर, नारायण-नाभि-उद्भूत अरुणाभ अम्बुजकी मधुर-मधुरतम, स्निग्ध-स्निग्धतम पंखुड़ियाँ ।
अछोर अम्बुधिके सतत-कर्दम-कर्कट उबालते, उभाड़ते, गर्जन-तर्जन-भयद भँवर-चक्र तो उछल-उछलकर भी उन पंखुड़ियोंको नहीं छू पाते; कँवल-नालके चारों ओर ही चक्कर खाते रहते हैं, सिर पटकते रहते हैं ।

—बालकृष्ण बलदुवा

श्रीरामका स्वभाव-सौन्दर्य

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

तीर्थपति समुद्रके तटपर विराजमान भगवान् श्रीरामजीकी शरणमें श्रीविभीषणजी आये, वे सर्वलोकशरण्य श्रीरामजीके स्वभावके ज्ञाता थे; इससे महान् विश्वासपूर्वक शरणागति करके कृतार्थ हुए। परमार्थ पक्षमें श्रीविभीषणजी जीवोंके प्रतीक हैं; यथा—

'जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन
बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।'

(विनयपत्रिका ५८)

विभीषणकी शरणागतिपर वहाँके उपस्थित अन्य पार्षदों एवं बहुत कालसे बिछुड़े हुए भविष्यके जीवोंके प्रति स्वामी श्रीरामजीके हृदयमें वात्सल्य उमड़ आया, तब आपने स्वयं अपने स्वभावके सौष्ठवका वर्णन किया है, कि जिससे सभी लोग उसे जानकर विश्वासपूर्वक शरण होकर कृतार्थ हो जायँ; यथा—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु[1] गिरिजाऊ।
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

(रामचरितमानस सुं० ४७)

'जौं नर होइ चराचर द्रोही।……'—यहाँ श्रीरामजीने अपने स्वभावज्ञाताओंकी साक्षी देकर कहा है कि चराचरमात्रके द्रोहका पापी भी, यदि वह अपने पापोंसे भयभीत होकर मेरी शरण आ जाय। 'तकि मोहीं' अर्थात् विश्वासपूर्वक मुझमें ही अनन्य होकर आ जाय। साथ ही शरण होनेकी प्रक्रिया भी कहते हैं—

'तजि मद मोह…… ……'—इन मद आदि दोषोंके रहते हुए शरणागति होती ही नहीं; 'मद' रहते हुए कार्पण्यदैन्य नहीं होगा, जो शरणागतिका छठा अंग है। 'मोह' रहते हुए विश्वासपूर्वक शरणागति नहीं हो सकती। 'कपट छल' प्रभुको भाते ही नहीं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रामचरितमानस सुं० ४३)

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीहनुमान्‌जी जबतक कपटरूपसे विप्रवेषमें थे, तबतक प्रभुने चरणोंपर पड़े हुए भी उन्हें नहीं उठाया, जब अत्यन्त प्रेममें कपट छूट गया, वे अपने वानर रूपमें हो गये, तब उन्हें उठाकर हृदयसे लगाया। 'छल नाना'—मन, वचन, कर्मके—

करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार॥

(रामचरितमानस अयो० १०७)

'करउँ सद्य तेई……' यथा—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भावसे मुझे भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्त (श्रीकृष्णके भक्त) का नाश नहीं होता।'

इन वचनोंसे भगवान्‌ने अपने शरण्यगुणविशिष्ट स्वभावको बतलाया और शरणागतिकी कुछ प्रक्रिया एवं उससे परम लाभका लक्ष्य कराया है।

शरणागति महाविश्वासपूर्वक ही होती है; यथा—

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

(भरताचार्य)

संसारसे डरे हुए जीवकी—'अन्य साधनोंसे अपना अभीष्ट सिद्ध होता न देखकर एक श्रीरामजी (आप) ही मेरे उपाय हैं, इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक उनसे याचना करना—शरणागति एवं प्रपत्ति है।'

इस प्रकार महाविश्वास दृढ़ करनेके लिये शरणवत्सल

---

[1] उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

(रामचरितमानस सुं० ३३)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥

(रामचरितमानस उत्तर० १२३)

प्रभु अपने सहज स्वभावका कुछ विशेष रहस्य भी बतलाते हैं; यथा—

सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ ।
सुनहु सखा कपिपति, लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ ॥१॥
सब बिधि हीन, दीन, अति जड़मति, जाको कतहुँ न ठाँउ ।
आये सरन भजौं, न तजौं तेहि, यह जानत रिषिराउ ॥२॥
जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित, नाहिंन और उपाउ ।
तिन्हहिं लागि धरि देह करउँ सब, डरउँ न सुजस नसाउ ॥३॥
पुनिपुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम, कपट प्रीति बहि जाउ ॥४॥
सुनि रघुपतिके बचन बिभीषन प्रेम मगन, मन चाउ ।
तुलसिदास तजि आस-त्रास सब ऐसे प्रभु कहँ गाउ ॥५॥
(गीतावली सुं० ५५)

(समुद्र-तटपर तुरंत शरणमें आये हुए श्रीविभीषणके समक्ष सभी सखाओंके प्रति श्रीरामजी कहने लगे—) हे सखा श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी ! सुनिये, मैं अपना 'सत्य सहज स्वभाव' कहता हूँ, आपलोगोंसे क्या छिपाना है ? जो सब प्रकारसे गया-बीता हो, अत्यन्त जडबुद्धि हो, यहाँतक कि जिसको कहीं भी ठिकाना न हो; शरण आनेपर मैं उसे भी (उसके भावानुसार) अङ्गीकार करता हूँ, उसका त्याग नहीं करता, इसे ऋषिराज श्रीनारदजी एवं श्रीवाल्मीकि आदि जानते हैं ॥ १-२ ॥

जिनके चित्तमें मैं ही सब प्रकारसे हितकारी हूँ और दूसरा कुछ उपाय नहीं है; उनके लिये देह धारण करके मैं सब कुछ करता हूँ, 'इसमें मेरा सुयश नष्ट हो जायगा' इस बातसे नहीं डरता ॥ ३ ॥ मैं बार-बार भुजा उठाकर (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ, सारी सभा इसका विश्वास करे; मुझे अपने दासके समान और कोई प्यारा नहीं है, परंतु जिस दासकी मुझमें कपट प्रीति है, वह (भवसागरमें) बह जाय (तो इसकी मुझे चिन्ता नहीं रहती) ॥ ४ ॥ इस प्रकारके श्रीरामजीके वचन सुनकर श्रीविभीषणजी प्रेममें निमग्न हो गये, उनके मनमें बड़ा चाव बढ़ा । श्रीतुलसीदास-जी कहते हैं कि सब प्रकारकी आशा और भय छोड़कर ऐसे प्रभुका गुणगान कीजिये ॥ ५ ॥

विशेष—'सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ' जन्मके साथसे जो स्वभाव रहता है, वह 'सहज' स्वभाव है । श्रीरामजीका स्वरूप नित्य है । अतएव उनका यह स्वभाव भी नित्य एवं सत्य है, इसमें कभी हेर-फेर नहीं होता ।

'सुनहु सखा···' अन्तरंग सखा होनेसे ये दोनों इस रहस्यके अधिकारी हैं—

राम कृपा भाजन तुम्ह ताता । हरि गुन प्रीति मोहि सुखदाता ।
ताते नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ । परम रहस्य मनोहर गावउँ ॥
सुनहु राम कर सहज सुभाऊ ।' (रामचरितमानस उत्तर० ७३)

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
(गीता १८ । ६४)

'सब बिधि हीन दीन···' इसमें 'अति' पद दीप-देहली है । जिसने अन्य सभी विधियोंको अपने अभीष्ट परमात्म-प्राप्तिके योग्य न समझकर त्याग दिया है और स्वामीकी प्राप्तिमें अपनेको उनके समक्ष अत्यन्त अल्प जानकर अत्यन्त दीनता धारण कर रक्खी है, जो अपनेको अति जडमति मानता है; क्योंकि बुद्धिमें सदसद्विवेक तो परमात्माके प्रकाशसे होता है; यथा—**'ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।'** (गीता १० । ३८) और जिसने प्राकृत सभी लोकोंको अपने स्वरूपके अनुपयुक्त जानकर त्याग दिया है, इससे जिसे कहीं भी ठाउँ (स्थान) नहीं है । वह उत्तम अधिकारी यदि मेरी शरणमें आता है तो मैं उसको तदनुसार ही मिलता हूँ, उसका त्याग कभी नहीं करता ।

उपर्युक्त **'अनन्यसाध्ये···'** इस श्लोकमें कथित उत्तम अधिकारीके लक्षण यहाँ आ गये हैं । आगे चरणमें शरणा-गतिका अङ्ग कहते हैं—

'जिन्हके हौं हित···' उपर्युक्त रीतिसे जिसने अन्य उपायोंसे अपना विश्वास हटा लिया है और प्रभु श्रीरामजीको ही अपना सब प्रकार हितैषी मानकर उपायरूपमें वरण कर रक्खा है, यही शरणागतिकी प्रक्रिया है; यथा—

उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत् ।
शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाद्विवेकिभिः ॥
(रहस्यत्रय-हरिदासकृत)

—'जहाँ ईश्वर ही उपाय और उपेय (फल) होता है, शास्त्र-प्रमाणसे विवेकियोंने उसे ही शरणागति कहा है ।' इसका भाव यह कि शरणागति 'तवास्मि' कहकर आत्म-निक्षेपरूपमें होती है । तबसे शरणागत नाम, रूप, लीला

और धामकी निष्ठामें रत रहता हुआ जीवन समाप्तकर अन्तमें तत्क्रतुन्यायसे उसी निष्ठासे परधाममें भी परिकर होकर रहता है, यही उपाय और उपेयकी एकता है। श्रुति भी कहती है—

'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥'
(तैत्ति० २ । १)

वह मुक्तात्मा ब्रह्मके साथ-साथ ही (परिकर एवं परिच्छदरूपसे) सब कामनाओंका भोग करता है। इस प्रकार शरणागति-पुरस्सर भक्तिमें उपाय और फलकी एकता है।

'तिन्हहिं लागि धरि देह ···'—इस प्रकारके शरणागतके लिये आप देह धारण करके भी सब कुछ करते हैं; किसीके पुत्र, किसीके शिष्य, किसीके दामाद और किसीके सारथि भी बनते हैं।

'डरउँ न सुजस नसाउ'—गीता ४ । ६ तथा ९ । ११ के अनुसार अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्वरूप सुयशके नष्ट होनेकी सम्भावना रहती है, फिर भी मैं नहीं डरता; प्रत्युत सुयश-रक्षाके साथ-साथ प्रपन्नके साथ बरत लेता हूँ।

'पुनि पुनि भुजा उठाइ···'—वहाँ तीर्थपति समुद्रके तटपर जहाँ चारों ओर जाम्बवान् एवं हनुमान् आदि भक्तोंका समाज चालीस कोसमें है, सब कोई देखें और सुनें, इसलिये बार-बार भुजा उठाकर प्रतिज्ञा सुनाते हैं, इस प्रतिज्ञाका बड़ा महत्त्व है; यथा—

मुनि समाज अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू॥
(रामचरितमानस अयो० २१०)

इसपर मुमुक्षु महान् विश्वासपूर्वक प्रभुपर निर्भर हो शरण होकर कृतार्थ होंगे। महर्षि वाल्मीकिजीने इसी स्थलकी इसी प्रतिज्ञाको यों लिखा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि० ६ । १८ । ३३)

दीन होकर एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस भावकी (आत्मसमर्पणकी) याचना करता है, उसे सभी प्राणियोंसे एवं उस प्रकारके सभी प्राणियोंके लिये मैं अभय देता हूँ।

'नहिं कोउ प्रिय मोहिं दास सम'

यथा—

अनुज राज संपति बैदेही। से
मोरे अधिक दास पर प्रीती।
(रामचरितमानस उत्तर० १५) तक

तथा—

सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब॥
(रामचरितमानस उत्तर० ८७) इत्यादि।

'कपट प्रीति बहि जाउ'—ऊपर कहा गया कि महान् विश्वासपूर्वक शरणागति होती है, अतः इसमें दूसरोंकी आशा एवं भरोसा छोड़कर एकमात्र स्वामीपर ही निर्भर रहना पड़ता है। कहीं दूसरेसे स्वार्थ-साधनके लिये आशा एवं भरोसा किया जाता है तो इसीको शरण्य-स्वामीसे कपट-प्रीति कहा जाता है; यथा—

मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥
(रामचरितमानस उत्तर० ४५)

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
(रामचरितमानस अयो० ३००)

'सुनि रघुपतिके बचन ····'—श्रीरघुनाथजीने सुग्रीव आदि सभी सखाओंसे कहा है, पर श्रीविभीषणजीकी प्रपत्तिपर मुग्ध होकर प्रभुने अपना सहज स्वभाव कहा है, इससे यह सिद्ध हुआ कि इस समय श्रीविभीषणजीमें अधिक प्रेम-निमग्नता एवं चाव है।

'तजि आस त्रास सब'—क्योंकि अन्यसे आशा रखनेमें स्वामीसे उपर्युक्त 'कपट प्रीति' सिद्ध होगी और अन्यका त्रास रहनेपर स्वामीकी—'**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि**' इस प्रतिज्ञापर अविश्वास सिद्ध होगा। फिर तो शरणागति ही न रह जायगी। इससे इन आशा-त्रासका त्याग तो अवश्य ही चाहिये।

'ऐसे प्रभु कहँ गाउ'—इस प्रसंगके गानेपर प्रभुके ऐसे सहज स्वभावपर उनमें प्रीति एवं विश्वासयुक्त शरणागति होगी और वह दृढ़ रहेगी।

आगे विविध स्वभाव-ज्ञाताओंके वचनोंके कुछ उदाहरण लिखे जाते हैं, उनसे विविध प्रकारके श्रीराम-स्वभाव-सौष्ठवकी झलक देखिये—

(१) राम रावरो सुभाउ, गुन, सील, महिमा-
प्रभाउ, जान्यो हर, हनुमान, लखन, भरत

जिन्हके हिये सुथल, राम-प्रेम-सुरतरु,
लसत सरस सुख फूलत फरत ॥
(विनय-पत्रिका २५१)

इसमें शिव आदि चारों स्वभाव आदि चारोंके ज्ञाता हैं, पर विशेष करके विपरीत यथा संख्य-अलंकारकी रीतिसे श्रीभरतजी स्वभावके ज्ञाता हैं, इससे इनकी प्रेमभक्तिको सराहा गया है—

(क) मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मोपर कृपा सनेह बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥
(रामचरितमानस अयो० २६०)

(ख) देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥
(रामचरितमानस अयो० २६७)

(ग) सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
(रामचरितमानस अयो० १८३)

(घ) राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन आगर॥
पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥
(रामचरितमानस अयो० २००)

(ङ) राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आप समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोच उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥
(रामचरितमानस अयो० २९८)

(च) जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
(रामचरितमानस अयो० २३३)

कौन स्वभाव ? यह भी इन्हीं (भरतजी) ने कहा है—

(छ) जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
(रामचरितमानस उत्तर०)

(२) श्रीबृहस्पतिजीने रामस्वभाव कहा है—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥
सुनु सुरेस उपदेस हमारा। रामहि सेवक परम पिआरा॥
मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई॥

....

अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥
(रामचरितमानस अयो० २१८-२१९)

(३) श्रीकाकभुशुण्डिजीने कहा है—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि॥
(रामचरितमानस उत्तर० ७४)

(४) श्रीदशरथजीका राम-स्वभाव-स्मरण—

(क) राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥
राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हरासू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥
(रामचरितमानस अयो० १४९)

(ख) तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ।
हृदय दाड़िमि ज्यों न बिहरयो समुझि सील सुभाउ॥
(गीतावली अयो० ५७)

(५) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने स्वयं भी कहा और निष्ठासे लाभ उठाया है—

(क) सुनत सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेह-खर खाउ॥
(विनय-पत्रिका १००)

यह पूरा पद तथा पद २१५–२१७ भी स्वभावपरक ही हैं।

(ख) ठाकुर अतिहि बड़ो, सील सरल सुठि।
ज्ञान अगम सिव हूँ, भेंटेउ केवट उठि॥

भरि अंक भेंटेउ सजल नयन, सनेह सिथिल सरीर सों ।
सुर, सिद्ध, मुनि, कबि कहत कोउ न प्रेम प्रिय रघुबीर सों ॥
खग, सबरि, निसिचर, भालु-कपि किये आपु ते बंदित बड़े ।
तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि, जिय जात जनु सकुचनि गड़े ॥
स्वामी को सुभाउ कह्यो, सो जब उर आनिहै ।
सोच सकल मिटि हैं, राम भलो मानिहैं ॥
भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहैं ।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहैं ॥
(विनय-पत्रिका १३५)

यहाँ स्वभावज्ञानपर हाथ जोड़कर प्रणाममात्रपर कृतार्थ होना कहा गया है। इस प्रणामका अर्थ शरणागति है । महा० वन० १८९ । ५७-५८ में 'गच्छध्वमेनं शरणम्' के प्रति 'नमश्चक्रुर्जनार्दनम्' कहा गया है और इसी प्रणामरूप शरणागतिकी महिमा महा० शान्ति० ४७ । ९०-९१ में भी कही गयी है ।

(ग) राम-सुभाउ सुन्यो तुलसी, प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहिब खोरि न लाई ॥
(कवितावली उत्तर० ५७)

अर्थात् स्वभाव सुन एक बार ही शरण होकर अपने कल्याणकी काङ्क्षा प्रकट की, बस, उसीपर प्रभुने मेरे स्वार्थ और परमार्थ दोनों पूर्ण कर दिये; तथा—

तुलसी तिहारो भये, भयो सुखी, प्रीति प्रतीति बिना हूँ ।
नामकी महिमा, सील नाथको, मेरो भलो बिलोकि
अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ ॥
(विनय-पत्रिका २७५)

राम नाम महिमा करै कामभूरुह आको ।
साखी बेद-पुरान है, तुलसी तन ताको ॥
(विनय-पत्रिका १५२)

इस प्रकार श्रीराम-स्वभाव-सौन्दर्यके कुछ उदाहरण लिखे गये । इन्हें पढ़कर उदाहृत पात्रोंके समान पाठकगण भी लाभ उठायेंगे; ऐसी आशा करता हूँ ।

परिवार-नियोजनपर विनोबा

(लेखक—श्रीविनोबा)

किसी भी प्रश्नके तीन पहलू होते हैं । आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक । परिवार-नियोजनके तरीकोंके बारेमें भी ये तीन पहलू ध्यानमें रक्खे जाने चाहिये । यह विषय इतना गम्भीर है कि कोई भी राह चलता आदमी इसपर निर्णय दे, उसे मैं नहीं मान सकता । इस विषयपर चिन्तन करनेका तथा राय देनेका अधिकार मैं उपर्युक्त तीनों आधारोंको ठीक-ठीक समझकर राय दे सकनेवालेको ही दूँगा ।

फेमिली प्लानिंग (परिवार-नियोजन) आध्यात्मिक दृष्टिसे किया जा सकता है । हमें दोसे अधिक बच्चे नहीं चाहिये, यह सोचकर मनुष्यके जीवनमें संयमका योग्य आयोजन किया जा सकता है । चिन्तन करनेवालोंका काम है कि इस विषयका चिन्तन करें । इस दृष्टिसे परिवार-नियोजनका अर्थ होता है, 'आत्मसंयम'—'अपनेपर काबू रखना' । साइंसके जमानेमें यह चीज आसान होनी चाहिये । यह असम्भव बिल्कुल नहीं है । आज ज्ञान-विज्ञानके विकाससे हम मानव-मनको अधिक समझ सकते हैं । उसपर किन-किन बातोंका कैसा असर होता है, यह हम अधिक जान सके हैं । परिवारका उद्देश्य क्या है ? ब्रह्मचर्यकी साधना क्या होती है ? उसमें कौन-सी शक्ति भरी है ? इन सब चीजोंका साइंसके प्रमाणोंसे प्रजाको अधिक स्वच्छ ज्ञान दिया जा सकता है । जितना पहले कभी नहीं था, उतनी सहूलियत यह सब समझने-समझानेकी आज है ।

अपनेमें एक ऐसी शक्ति पड़ी है, जिसको ऊपर उठाया जा सकता है । जैसे लालटेनमें तेल होता है । जितना अखण्ड तेलका प्रवाह होगा, प्रकाशकी तीव्रता भी उतनी ही होगी। मनुष्यके लिये ब्रह्मचर्य तेल है और प्रज्ञाकी प्रभा, बुद्धिमत्ता यह प्रकाश है । ब्रह्मचर्यके तेलका प्रवाह उसे सतत मिलता रहता है, तो बुद्धिमत्ता तेजस्वी होती है, अगर वह नहीं रहता तो बुद्धि निश्चय ही कमजोर पड़ती है । संतति-नियमनका आध्यात्मिक तरीका वही हो सकता है जो जीवनके तेजको बढ़ानेमें सहायक हो ।

संयमका मार्ग ही आध्यात्मिक दृष्टिसे सही मार्ग है । पर जो दूसरा तरीका आज अपनाया जा रहा है, उसमें अपनेपर काबू रखनेकी जरूरत नहीं मानी जाती । 'संतति मर्यादित करें और कृत्रिम उपायोंको अपनायें' इसमें संयम रक्खा भी नहीं जा सकता । सारी योजना ही वहाँ यह है कि बोया तो जाय पर फसल न आये । मान लीजिये कोई किसान बोने निकला

सहज आनन्दके लिये । उसने देख-समझकर बोनेके लिये मईका महीना चुना, गरमीके दिन, बारिश नहीं है । उसे मालूम है कि अब उगेगा नहीं । ऐसे बोनेवालेने अक्लका काम किया क्या ? आप कहेंगे यह 'नेशनल वेस्ट' (राष्ट्रकी सम्पत्तिका नाश) है । यदि एक मामूली बीज बोया जाता है और बंदोबस्त किया जाता है कि नहीं उगे, तो उसे आप 'वेस्ट' मानते हैं, तो जिस शक्तिसे मनुष्य-निर्माण होगा, उस शक्तिको यदि आप 'वेस्ट' करते हैं तो कितना बड़ा अपराध है ? कितनी बड़ी मूर्खता है ? यह सबके समझने-समझानेकी बात है । लोग यह सब समझ सकते हैं और समझा सकते हैं ।

यह जो 'क्रियेटिव ऐनर्जी' (सृजनात्मक शक्ति) है, जिसे हम वीर्य कहते हैं । उसीमेंसे वाल्मीकि-जैसे महाकवि पैदा हुए, महावीर हनुमान् उसीमेंसे निकले । प्रतिभावान् पुरुष और तत्त्वज्ञानी उसीमेंसे बने । उस निर्माण-शक्तिका मनुष्य दुरुपयोग करता है यानी संख्या नियमित करके संतानको रोक लिया और उस शक्तिका दूसरी ओर जो उपयोग हो सकता था, उसके बजाय, उसे विषय-भोगमें लगा दिया । इससे केवल संतान ही नहीं रुकेगी, बुद्धिमत्ता भी रुकेगी । यह बहुत समझानेकी जरूरत नहीं है । ब्रह्मचर्यकी हानि होती रहेगी, उसपर अङ्कुश ही नहीं रहेगा, तो इसके परिणामस्वरूप दोनोंकी बुद्धिमता क्षीण होगी, पति-पत्नी संतुलन खो बैठेंगे और निस्तेज बन जायँगे ।

वैज्ञानिक ढंगसे सोचकर विषय-वासनापर अङ्कुश रखनेके उपाय हमें ढूँढ़ने चाहिये । आज तो विषय-वासनाके फलस्वरूप संतान-पालनकी जिम्मेदारीका जो अङ्कुश रहता था, वह भी नहीं रहा । संतान भी माता-पिताको वासना-मुक्तिकी ओर ले जा सकती है ।

हमारे एक मित्र थे । दिनभर बीड़ी फूँकते थे । जानते थे बीड़ी बुरी है पर उसकी वासनासे मुक्त नहीं हो पाते थे । उनको बच्चा पैदा हुआ । उन्हें लगा कि कहीं बच्चेको बुरी आदत न लग जाय, इससे उन्होंने बीड़ी पीना छोड़ दिया । ऐसा प्रायः नहीं होता; क्योंकि इतनी चिन्ता रखनेवाले बाप इन दिनों होते ही नहीं । लेकिन मैंने अपने एक मित्रकी कहानी आपके सामने रक्खी । उस लड़केने अपने बापको व्यसन-मुक्त किया ।

संतानको तालीम देना, उसके साथ बैठना, बोलना, सोना इससे भी वासनापर अङ्कुश रहता है । संतानके लालन-पालनकी जिम्मेदारी माता-पिता मिलकर उठाते हैं तो इससे उनके चित्तपर अङ्कुश रहता है । एक नारायण अपने घरमें पैदा हुआ । शास्त्रकार लिखते हैं । वह नारायण 'नरकात् त्रायते' । वह जो बेटा पैदा हुआ, वह बापको नरकसे बचायेगा । पर यदि बच्चोंको बालसंगोपनगृहमें रख दिया, केवल दूध पिलानेके लिये माता जायगी, इसके सिवा कोई दूसरा सम्पर्क बच्चेके साथ आयेगा ही नहीं, उस हालतमें माता-पिता अकेले रह जाते हैं । इसमें वे बहुत बड़ा नुकसान उठा रहे हैं । उन्होंने यह सीखा नहीं कि उसका बहुत बड़ा आध्यात्मिक पहलू है । मान लीजिये पति-पत्नी संतान उत्पन्न न हो, ऐसा प्रबन्ध करें और अपनी-अपनी विषय-वासना जारी रक्खें तो उनके दिमागोंको कोई संतुलन मिलेगा ही नहीं । इस हालतमें देश तेजहीन हो जायगा । संतान कम होगी, यह लाभ होगा, किंतु सिर्फ संतान ही कम नहीं होगी, ज्ञानतन्तु भी क्षीण होंगे, प्रभा कम होगी, प्रज्ञा कम होगी और तेजस्विता कम हो जायगी ।

नैतिक दृष्टिसे देखें तो ऐसी हालतमें यह कोई जरूरी नहीं है कि पति-पत्नीका समागम हो । जब आपने प्रबन्ध कर लिया है कि संतानकी उत्पत्ति न हो तो फिर क्या कारण है कि पति-पत्नीका ही समागम हो ? अन्यके साथ समागम न हो, इसकी क्या वजह है ? नीति कितनी गिरेगी ? अध्यात्म कितना खोयेंगे ? यह नहीं सोचा और यह भी नहीं सोचा कि इसका सामाजिक पहलू भी है ।

यह सब सोचते हुए हमारे ध्यानमें आयेगा कि हमारे पूर्वजोंने जो योजना बनायी थी, उसकी दृष्टि बड़ी दीर्घ थी । ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम । इस प्रकारकी व्यवस्था थी । २५ सालमें शादी हो, ४५ सालमें पूरी तरह निवृत्त होना है—यह भावना बनेगी तो जीवनमें संयम अपने-आप आयेगा । आज तो १८ सालमें शादी होती है और ५८ सालतक यानी चालीस सालतक वैवाहिक जीवन चलता रहता है । संयमके लिये आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास किस प्रकार किया जाय, ऐसे उपायोंको ढूँढ़ना चाहिये । बहुत ही गम्भीरतासे सोचनेका विषय है, इसलिये मैंने आपके सामने यह विषय खोलकर रक्खा है ।

यह माननेकी जरूरत नहीं कि जिस मिट्टीसे जन्तु—प्राणी पैदा होते हैं, उनका भार वहन करनेमें वह मिट्टी असमर्थ होगी । इसलिये यह भय रखना कि जितने लोग पैदा होंगे

उनको पोषण मिलेगा कि नहीं, यह माननेका कोई कारण नहीं है। यह एक सिद्धान्त मैं आपके सामने रख रहा हूँ, कि यदि धरतीसे जो हम प्राप्त करते हैं, वह उसको वापस कर दें तो धरती सबको पोषण दे सकती है। आज उस ओर हमारा ध्यान नहीं है। मल-मूत्र, पेड़ोंके पत्ते, जीवोंकी हड्डियाँ आदि सब मिट्टीमें मिल जायँ, तो मैं कहना चाहता हूँ, जितने प्राणी मिट्टीमेंसे पैदा हुए हैं, उन सबका पोषण करनेके लिये मिट्टी बिल्कुल समर्थ है। मेरे लिये तो यह एक स्वयंसिद्ध बात है। इसलिये संख्या-नियमनके कृत्रिम उपायोंपर जितना जोर दिया जा रहा है, उससे अधिक धरतीको सारा पोषण मिले यह प्रयत्न होना चाहिये।

साथ-ही-साथ लोगोंके दिमागोंको बिगाड़नेवाली जो चीजें हैं, उनपर अंकुश रक्खो। दीवालोंपर गंदे चित्र और इश्तहार लगाये हुए हैं, क्या वे आवश्यक हैं? 'लिटरेचर' के नामपर जो श्रृङ्गार-साहित्य कामवासनाओंको उत्तेजित करता है, उसका प्रवाह समाजमें कम करो। ऐसा 'लिटरेचर' बच्चोंको क्यों सिखाते हो? अच्छा साहित्य सिखाओ, रामायण-जैसा सर्वोत्तम साहित्य सिखाओ। 'लिटरेचर' के स्थानपर साइंस और गणित अधिक सिखाओ। गम्भीर विषयोंके अध्ययनकी ताकत लोगोंमें पैदा करो। संयमका वातावरण तैयार करो, जरा पुरुषार्थ सिखाओ। प्रायः यह होता है कि जिन प्राणियोंमें पराक्रम कम, पुरुषार्थ कम होता है, उनकी औलाद बढ़ती है। जानवरोंको देखना हो तो शेरकी संतान कम है और बकरीकी ज्यादा है। कीड़े-मकोड़े एक-एक सालमें दुगुना, चौगुना बढ़ते हैं। सार यह कि बच्चोंकी शिक्षाकी अच्छी व्यवस्था करना—यह सबसे बड़ा काम है। उनको संस्कार अच्छे मिलेंगे, उनका पुरुषार्थ जाग्रत् होगा, संयमका वातावरण तैयार होगा तो संतति-नियमन करना आसान होगा।

आखिरमें इस दुनियाँमें परमेश्वर भी तो है। जो सारा इन्तजाम है, उसकी चिन्ता उसे भी तो है। ज्यादा संतान बढ़े नहीं तो वह आपको सद्बुद्धि भी देगा और संयम भी।

(प्रेषक—श्रीमहेन्द्रकुमार, सर्वोदय प्रेस सर्विस)

जीवेम शरदः शतम्

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का०व्या०सां०स्मृ०तीर्थ)

अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी इच्छा प्राणिमात्रकी होती है। धर्म-प्रधान भारतवर्षमें इसी उद्देश्यसे संध्योपासनका विधान किया है। उध्योपासनमें बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके लिये अनेकों मन्त्रोंसे जलको पवित्र करके आचमन करनेका विधान है और बाह्य शुद्धिके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलसे शरीरका अभिषेक करनेको लिखा है। साथ-ही-साथ आयुवृद्धिके लिये प्राणायामका विधान है।

इसके पश्चात् भुवनभास्कर भगवान् सूर्यकी उपासनाका क्रम लिखा है। चन्दन, पुष्प आदि अर्घ्यकी वस्तु जलके साथ लेकर सूर्यके लिये अर्घ्य प्रदान करनेकी विधि है। इसके पश्चात् सूर्योपस्थानके चार मन्त्र हैं। उनमें सूर्यकी स्तुतिके साथ उनसे अपने जीवनकी वस्तुओंके लिये प्रार्थना है। यथा—

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यकी परमायु एक सौ वर्षकी है और वह कर्म करते हुए एक सौ वर्षतक जीवित रहना चाहता है। ईशोपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें भी यही बात लिखी है। यथाः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोप० मं० २)

अर्थात् मनुष्यको कर्म करते हुए एक सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। इस तरह विहित कर्म—अग्निहोत्रादि करते रहनेसे मनुष्य कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। अर्थात् कर्मफलको प्राप्त करनेकी इच्छासे काम्यकर्म भव-बन्धनका कारण होता है, अन्यथा निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर कर्म करनेसे प्रारब्धका भोग हो जाता है और संचित कर्मकी उत्पत्ति होती ही नहीं, इससे परम शान्ति मिल जाती है।

प्राचीन ऋषिगण अपने इन्हीं कर्तव्योंका पालन करते थे जिससे उनकी इन्द्रियाँ जीवनभर शिथिल नहीं होती थीं, सौ वर्षतक कर्तव्य-पालन करते हुए जीवित रहते थे।

हमलोगोंके नेत्रोंमें जो ज्योति है वह सूर्यकी ज्योति है। सूर्य ही प्रकाशके अधिष्ठाता हैं, अतः आजीवन हमारे नेत्रोंकी ज्योति बनी रहे, ऐसी प्रार्थना हम सूर्यसे करते हैं। इसी

तरह अन्य इन्द्रियोंमें जो शक्ति प्राप्त है वह सूर्यसे ही प्राप्त है । अतः हमें प्रतिदिन सूर्यकी उपासना करनी चाहिये—**पश्येम शरदः शतम्**—हम सौ वर्ष तक देखें, हमारे नेत्रोंकी ज्योति कम न हो । **जीवेम शरदः शतम्**—हम सौ वर्षतक जीवित रहें, हम अपनी पूर्ण आयुको भोगकर कर्तव्य पालन करके भगवान्‌को प्राप्त करें । **प्रब्रवाम शरदः शतम्**—हम सौ वर्षतक बोलें अर्थात् शास्त्रोंका अध्ययन और अध्यापन करें तथा भगवान्‌का भजन करके अन्तमें उन्हींमें लीन हो जायँ । **शृणुयाम शरदः शतम्**—तात्पर्य यह है कि हम सौ वर्षतक सुनें—अर्थात् सौ वर्षतक सत्सङ्ग करें, श्रीभगवान्‌के गुणोंको सुनें और अन्तःकरणको पवित्र करें । **एवमदीनाः स्याम शरदः शतम्**—अर्थात् जबतक हम जीवित रहें, दीन न हों, जिससे आश्रममें आये हुए अतिथियोंका सत्कार कर सकें । अतः हमारे पास इतना धन रहे जिससे स्वयं भोजन करें और समागत अतिथिको भी भोजन करावें ।

इस तरह अपनी आयु और इन्द्रियोंमें शक्तिके लिये सर्वत्र उपनिषदोंमें प्रार्थनाके मन्त्र पाये जाते हैं । प्रश्नोपनिषद्‌के शान्तिपाठके मन्त्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना प्राप्त होती है । यथा—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳪसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

हे देवगण ! हम कानोंसे शुभ वचन सुनें । यज्ञादि अनुष्ठान करते हुए नेत्रोंसे माङ्गलिक वस्तुओंको देखें । हमलोगोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़ रहें जिससे हमलोग देवताओंका हित करते हुए अपनी पूर्ण आयुका उपभोग करें ।

ऋषिगण इसी तरह यज्ञादि-अनुष्ठान और अपने नित्यकर्म नियत समयपर करते हुए पूर्ण आयुका उपभोग करते थे और उनकी इन्द्रियाँ सबल रहती थीं । उनके शरीरके सभी अवयव दृढ़ और मजबूत रहते थे । इससे उनका जीवन भारभूत नहीं होता था ।

आजकल हम नित्यकर्म भूल गये हैं, जिससे न तो हमारा शरीर सबल होता है, न मन दृढ़ रहता है, बुद्धिकी शक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है । पचास वर्षके बाद ही हमारा जीवन हमें भार मालूम पड़ने लगता है । इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, नेत्रमें ज्योति नहीं रहती । साठ वर्षकी उम्र होनेपर हम किसी कामको करने योग्य नहीं समझे जाते । हमारी परमायु ६० से ७० के अंदर हो गयी !

जबकि वैदिक शास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी कही गयी है । वहाँ ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तो मनुष्यकी आयु १०८ और १२० वर्ष कही गयी है; क्योंकि मनुष्यके जीवन-भरमें नव ग्रहोंकी दशा एक बार बारी-बारीसे आती है और एक राशिपर उनकी स्थिति जितने दिनकी होती है उनको जोड़नेसे १२० वर्ष होते हैं । कुछ ज्योतिर्विदोंके मतके अनुसार १०८ ही वर्षकी परमायु होती है ।

इस समय मृत्यु-संख्याको देखनेसे और अल्प अवस्थामें मृत्युकी संख्यासे पता चलता है कि जितना ही हमलोग अपने कर्तव्यसे दूर हट रहे हैं, उतनी ही हमारी इन्द्रियाँ अल्पकालमें कार्य करनेके योग्य नहीं रहतीं । बाह्य कृत्रिम उपकरणोंको काममें लाते हैं जिससे लाभके स्थानमें हानि ही प्रतीत होती है ।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने भी इस बातको स्वीकार किया है कि आध्यात्मिक विज्ञानके समक्ष यह भौतिक विज्ञान अत्यन्त क्षुद्र है, क्योंकि आध्यात्मिक विज्ञानसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है वह अक्षय होती है और भौतिक विज्ञानसे प्राप्त होनेवाली वस्तु नश्वर होती है ।

आध्यात्मिक विज्ञानकी सफलताके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि अपेक्षित है जो प्रतिदिन संध्यावन्दन करनेसे शुद्धताको प्राप्त करती है । अतः यदि हम इस संसारमें अपने जन्मको सफल बनाना चाहते हैं और अपनी इन्द्रियोंद्वारा भगवान्‌का भजन करते हुए पूर्णायुको भोगना चाहते हैं तो हमें अपने वर्णोचित संध्या-तर्पण आदिसे चित्तको शुद्ध करके ईश्वरका भजन करते हुए १०० वर्षतक जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये । **'शतायुर्वै पुरुषः'** इस शास्त्रीय वचनको सत्य बनाना चाहिये ।

* * *

श्रीराधा-स्वरूप-गुण-महिमा

[श्रीराधाष्टमी-महोत्सव (संवत् २०१८) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण]

(१)

(दिनका प्रवचन)

वृन्दावने विहरतोरिह केलिकुञ्जे
मत्तद्विपप्रवरकौतुकविभ्रमेण ।
संदर्शयस्व युवयोर्वदनारविन्द-
द्वन्द्वं विधेहि मयि देवि कृपां प्रसीद ॥
हा देवि ! काकुभरगद्गदयाद्य वाचा
याचे निपत्य भुवि दण्डवदुद्भटार्तिः ।
अस्य प्रसादमबुधस्य जनस्य कृत्वा
गान्धर्विके ! निजगणे गणनां विधेहि ॥

भगवान् सत्-चित्-आनन्दपूर्ण हैं । उनके 'सत्' अंशकी शक्तिका नाम है 'संधिनी', चिदंशकी शक्तिका नाम है 'संवित्' और आनन्दांशकी शक्तिका नाम है 'ह्लादिनी' ।

श्रीकृष्ण स्वयं परमाह्लादस्वरूप होकर भी जिसके द्वारा स्वयं आह्लादित होते और दूसरोंको आह्लादित करते हैं, उसका नाम है 'ह्लादिनी'; स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर भी जिसके द्वारा वे जान सकते और दूसरोंको जना सकते हैं—उसका नाम है 'संवित्' और स्वयं नित्य सत्तास्वरूप होकर भी जिसके द्वारा अपनी तथा दूसरोंकी सत्ता धारण करते हैं, उसका नाम 'संधिनी' है ।

भगवान् सदैव सोम्येदमग्र आसीदित्यत्र सद्रूपत्वेन व्यपदिश्यमानो यया सत्तां दधाति धारयति च सा सर्वदेशकाल-द्रव्यादिप्राप्तिकरी संधिनी । तथा संविद्रूपोऽपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्। तथा ह्लादरूपोऽपि यया संविदुत्कर्ष-रूपया तं ह्लादं संवेत्ति संवेदयति च सा ह्लादिनीति विवेचनीयम् ।

(भगवत्संदर्भ ११८)

सत्-चित्-आनन्द—इन तीनों भगवत्स्वरूप गुणोंको जैसे कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता, वैसे ही संधिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन एक ही भगवत्स्वरूपा चिच्छक्तिके तीन स्वरूपोंको कभी एक-दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता।

इनमें संधिनीके सार अंश या चरम परिणतिका नाम है—'शुद्ध-सत्त्व' । इस शुद्ध-सत्त्वमें ही भगवान्‌की सत्ता स्थित है। 'संवित्'का सार या चरम परिणति है श्रीकृष्णका भगवत्ताज्ञान अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं—यह ज्ञान या अनुभव। और ह्लादिनीका सार है—विशुद्ध प्रेम—निर्मल श्रीकृष्ण-सुखेच्छारूप दिव्य वृत्ति । इच्छा मनकी एक वृत्ति ही होती है । परंतु श्रीकृष्णसुखेच्छा वस्तुतः प्राकृत मनकी वृत्ति नहीं है । यह श्रीकृष्णकी स्वरूपाशक्ति—ह्लादिनीप्रधान 'शुद्ध-सत्त्व'-की एक वृत्ति है । भगवत्कृपासे भक्तका चित्त ह्लादिनीप्रधान शुद्ध-सत्त्वके साथ तादात्म्य प्राप्त करके शुद्ध-सत्त्वका समानधर्मी हो जाता है । जैसे लोहा जब अग्निके साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, तब लोहेको आश्रय बनाकर अग्नि ही अपनी (किसी वस्तुको जला देना आदि) क्रिया करती है, परंतु वह क्रिया वहाँ कहलाती है लोहेकी, उसी प्रकार शुद्ध-सत्त्वके साथ तादात्म्य प्राप्त किये हुए मनके माध्यमसे जब शुद्ध-सत्त्व ही अपनी क्रिया करता है, तब वस्तुतः वह केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये होनेवाली ह्लादिन्यंशप्रधान शुद्ध-सत्त्वकी ही वृत्ति होती है, पर वह कहलाती है 'मनकी वृत्ति' । और उसीको 'प्रेम' कहते हैं ।

नित्यसिद्ध भगवत्-परिकर और उनके मन-इन्द्रियादि तो अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय ही हैं । अतः उनके चित्तमें तो अनादिकालसे ही शुद्ध-सत्त्वकी वृत्ति विशुद्ध 'श्रीकृष्ण-प्रीति-इच्छा' या 'विशुद्ध प्रेम' सहज ही वर्तमान है । साधनसिद्ध भक्तोंमें पीछेसे भगवत्कृपासे इस विशुद्ध प्रेमका प्रादुर्भाव होता है । इस प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर चित्त सम्यकरूपसे मसृण या निर्मल हो जाता है और उसमें श्रीकृष्णके प्रति आत्यन्तिक अनन्य ममता-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । यही 'प्रेम' उत्तरोत्तर उच्च स्तरपर पहुँचते-पहुँचते 'भाव'रूपमें परिणत होता है। प्रेमकी घनीभूत गाढ़तम अवस्था या चरम परिणतिका नाम ही 'भाव' है । इस भावकी प्रगाढ़तम अवस्थाको 'महाभाव' कहते हैं । इसके मोदन-मादन भावोंमें मादन सर्वोत्कृष्ट है और यह केवल श्रीराधाजीमें ही है। अतएव परम दिव्य परमोत्कृष्ट विशुद्ध प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति श्रीराधाजी ही हैं।

इस भाव या महाभावका केवल कान्ता-प्रेम या माधुर्य-रतिमें ही उदय होना सम्भव है । दास्य, सख्य और वात्सल्यमें इसका विकास प्रायः नहीं होता। अतएव इस पवित्रतम

प्रेमकी पूर्ण परिणति और इसकी एकमात्र मूल उत्सरूपा श्रीराधाजी ही हैं । ये श्रीराधाजी कैसी हैं——

१–कृष्णप्रेयसी कान्तागणमें सर्वशिरोमणि श्रीराधा ।
लक्ष्मी-महिषी-गोपीजनकी मूल, मुकुटमणि श्रीराधा ॥
२–कृष्ण-प्रेम-भावित-चित्तेन्द्रिय-बुद्धि-अहं-सारा राधा ।
निर्मल प्रेम पूर्ण पावनकी मधुर सुधा-धारा राधा ॥
३–लीलामयी, कृष्णलीलाकी शुचि सहायिका श्रीराधा ।
कृष्ण-सुखैक-जीवना, प्रियतम-स्नेह-दायिका श्रीराधा ॥
४–प्रियतम शुचि माधुर्य-सुधाकी केवल आस्वादिनि राधा ।
रूप-छटासे रूप-सदन-मनकी नित उन्मादिनि राधा ॥
५–मृदुता-शीतलता-सुशीलता-गुण-गण-आधारा राधा ।
चतुरा-सरला, मौना-मुखरा, मधु-मधुराकारा राधा ॥
६–सदा प्रेममें कमी देखती, सदा प्रेम-भूखी राधा ।
सदा रसमयी, सदा देखती अपनेको सूखी राधा ॥
७–सर्वगुणमयी, गुण-गौरव-अभिमान-विरहिता श्रीराधा ।
महामानिनी विमल, वियोगिनि, नित प्रियतमसहिता राधा ॥
८–उज्ज्वल दिव्य त्याग अनुपमकी परमादर्श मूर्ति राधा ।
दुर्लभ कृष्ण-प्रेमकी नव-नव सहज विचित्र स्फूर्ति राधा ॥

श्रीकृष्ण-कान्ताओंके तीन प्रकार हैं——लक्ष्मीगण (वैकुण्ठादिमें भगवत्स्वरूपोंकी कान्ताएँ), महिषीगण (द्वारकापुरीकी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ) और व्रजाङ्गनाएँ । इन श्रीकृष्णकी प्रेयसी कान्ताओंमें श्रीराधा सर्वशिरोमणि हैं और इन सबकी मूल शक्ति एवं सबके मस्तकोंके मुकुट-स्वरूप स्वयं श्रीकृष्णकी भी मणिस्वरूपा हैं । इन श्रीराधाके चित्त, इन्द्रिय, शरीर, बुद्धि और अहंकार——सभी ह्लादिनीके साररूप श्रीकृष्णप्रेमके द्वारा ही गठित हैं, प्राकृत रक्त-मांसादिके द्वारा नहीं। ये श्रीराधा विशुद्ध, परिपूर्ण, सबको पवित्र करनेवाले मधुर प्रेमकी सुधाधारा हैं, जो सदा सबको सुधा-प्लावित करती रहती हैं——मर्त्य जगत्के कामोपभोगसे मुक्त करके नित्य सत्य दिव्य प्रेमसरितामें बहाती रहती हैं । ये श्रीराधा स्वयं लीलामयी हैं और श्रीकृष्णकी पवित्र लीलाओंमें सदा सहायिका हैं । इन श्रीराधाका जीवन एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखमय है और ये प्रियतम श्रीकृष्णको सदा स्नेहदान देती रहती हैं । ये श्रीराधा ही केवल अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यरूप सुधाका पूर्ण रसास्वादन करती हैं और अपनी रूपछटासे रूपके सदन श्रीकृष्णके मनको उन्मत्त बनाये रहती हैं । श्रीराधाजी मृदुता, शीतलता, सुशीलता आदि गुणगणोंकी आधार हैं । ये श्रीकृष्ण-सुख-सेवामें बड़ी निपुण हैं, परंतु बड़ी ही सरलहृदया हैं । ये श्रीराधा और सभी विषयोंमें सर्वथा मौन रहती हैं, परंतु प्रियतम श्रीकृष्णके गुणगानमें बड़ी मुखरा हैं——सदा गुण-गान करती ही रहती हैं । ये श्रीराधा मधुके समान मधुर आकारवाली हैं—इनके रोम-रोमसे मधुरता निखरती और बिखरती रहती है । इतना होनेपर भी श्रीराधा अपनेमें सदा प्रेमकी कमी ही देखती हैं और सदा ही प्रेमकी भूखका अनुभव करती हैं । ये श्रीराधा सदा रसमयी होनेपर भी प्रेमस्वभाववश अपनेको सदा रसहीन——सूखी ही देखती हैं । ये श्रीराधा सम्पूर्ण सद्गुणमयी हैं, परंतु अपने गुणोंके गौरव या अभिमानसे सर्वथा रहित हैं । ये महान् मानिनी हैं; पर इनका वह मान होता है निर्मल प्रेमस्वरूप ही, प्रेमका एक उच्च स्तर ही । ये श्रीराधा प्रेम-वैचित्त्यके समय वियोगका अनुभव करती हैं, परंतु वस्तुतः ये नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके साथ ही रहती हैं । ये श्रीराधा उज्ज्वल दिव्य त्यागकी परम आदर्श अनुपम मूर्ति हैं । इन श्रीराधामें सहज ही परम दुर्लभ श्रीकृष्ण-प्रेमकी नयी-नयी विचित्र स्फूर्तियाँ होती रहती हैं ।

यह महामहिमामयी श्रीराधाके स्वरूपका तनिक-सा सांकेतिक दिग्दर्शनमात्र है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जब इनके गुणोंका वर्णन तो दूर रहा, थाह पानेमें भी असमर्थ हैं, सदा मुग्धचित्तसे इनका गुण-गान ही करते रहते हैं, तब इनके महत्त्व और गुणोंका वर्णन कौन कर सकता है । पवित्र गोपी-प्रेमकी साधनामें प्रवृत्त साधकको श्रीराधाके उपर्युक्त गुणोंको आदर्श मानकर चलना चाहिये ।

इतनी बात अवश्य है कि जिन लोगोंने श्रीकृष्णकी व्रज-लीलामें, उनके गोपी-वल्लभ स्वरूपमें, श्रीगोपाङ्गनाओंमें और महामहिमामयी श्रीराधामें जागतिक हेय भावकी कल्पना की है या जो करते हैं, वे या तो परात्पर श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपकी अनभिज्ञतासे ही ऐसा करते हैं अथवा उनके भोगराज्यकी राधा उन्हें वैसी ही दिखायी देती होंगी । मेरी राधा तो ऐसी हैं, जिनके पवित्रतम प्रेमराज्यमें मलिन काम और भोगके कल्पनालेशका भी कभी कहीं प्रवेश नहीं है । वे विलक्षण शृङ्गार धारण करती हैं, परंतु उसमें कहीं तनिक भी आसक्ति नहीं है; उनका पवित्र करनेवाला प्रेम मोहसे सर्वथा रहित है । उनमें ममता है, परंतु वह स्व-सुख-इच्छासे विरहित है । उनके अपने योग-क्षेम पूर्णरूपसे प्रियतम श्रीकृष्णमें समर्पित हैं । वे

खाती-पीती हैं, पर स्वादके लिये नहीं। वे अत्यन्त मानवती हैं, किंतु अभिमानसे रहित हैं। उनमें भोगोंका बाहुल्य है, पर भोग-दृष्टिसे वे नित्य भोगरहित हैं। वस्तुतः वे केवल अपने प्रियतमके ही पवित्रतम सुखकी खान हैं। उनका इन्द्रिय-समूह, उनका शरीर, उनका मन, उनके प्राण, उनकी बुद्धि और उनका अहं—सभी कुछ प्रियतमके लिये ही है। उनसे उनका अपना कुछ भी काम नहीं है, वे सब सदा प्रियतमके कार्यमें ही लगे रहते हैं। श्रीराधासे जगत्में जगत्के सारे व्यवहार होते हैं, पर होते हैं वे सहज ही संयमपूर्ण। उनका किसीसे अपना कोई सम्पर्क नहीं है। केवल प्रियतमका सुख ही उनके जीवनका सार-सर्वस्व है। मेरे जीवनकी साध्य वे त्रिभुवन-पावनी श्रीराधा ऐसी हैं जो नित्यतृप्त भगवान् श्रीमाधवकी भी पवित्रतम परमाराध्या हैं।

मेरी उन राधाके शुचितम प्रेमराज्यमें नहीं प्रवेश।
काम-भोगका मलिन, कभी भी किंचित् कहीं कल्पना-लेश॥
रागरहित शृङ्गार अनूठा, मोहरहित है पावन प्रेम।
सुख-वाञ्छा-विरहित ममता है, पूर्ण समर्पित योग-क्षेम॥
स्वादरहित सब खान-पान हैं, है अभिमानरहित अतिमान।
भोगबहुलता भोगरहित नित, प्रियतम-सुखकी शुचितम खान॥
इन्द्रिय-तन-मन-प्राण-अहं-मति हैं प्रियतमके लिये तमाम।
नहीं कार्य कुछ निजका उनसे, करते सब प्रियतमका काम॥
संयमपूर्ण सहज ही होते जगमें, जगके सब व्यवहार।
नहीं किसीसे उनका मतलब, प्रियतम-सुख ही केवल सार॥
मेरी ऐसी हैं वे राधा त्रिभुवन-पावनि जीवनसाध्य।
नित्य-तृप्त श्रीमाधवकी जो हैं पवित्रतम परमाराध्य॥

इन श्रीराधाका जीवन परम त्यागमय तथा सर्व-समर्पणमय है और स्वरूपतः श्रीराधा श्रीमाधवसे सर्वथा अभिन्न रहती हुई ही नित्य दिव्यलीला-विहारिणी हैं।

हमें श्रीराधा-माधव ऐसी सद्बुद्धि और सद्दृष्टि प्रदान करें, जिससे हम उनकी यथार्थ स्वरूप-स्थितिको एवं उनकी दिव्य रसमयी लीलाके परम पावन रहस्यको समझ-देख सकें।

आज श्रीराधाजीके लीला-प्राकट्यके इस परम पवित्र महान् शुभ अवसरपर हम अपनेको उनके श्रीचरणोंमें डालकर उनसे प्रार्थना करें—

श्रीराधा अब देहु मोहि तव पद-रज-अनुराग।
जातें इह-पर भोग में होय उदय बैराग॥
मोच्छहु की माया मिटै, कटै सकल भव भोग।
तुम दोउन के चरन कौ बन्यौ रहै संजोग॥
जो कछु तुम चाहौ, करौ राधा-माधव दोउ।
तुम्हरे मनकी सहज रुचि चाह जु मेरी होउ॥
सेवा कौ कछु काम जो हो मेरे अनुहार।
छोटौ-मोटौ बकसि मोहि करौ कृपा-विस्तार॥
परयो रहौं नित चरनतल परसौं नित पद-धूल।
पगदासी पौंछत रहौं अग-जग सगरौ भूल॥

रसवलितमृगाक्षीमौलिमाणिक्यलक्ष्मीः
प्रमुदितमुरवैरिप्रेमवापीमराली।
व्रजवरवृषभानोः पुण्यगीर्वाणवल्ली
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु॥

बोलो श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णानन्दिनी श्रीराधारानीकी जय जय जय!

(२)

(रात्रिका प्रवचन)

श्यामप्रेमविनोदिनी मधुरिमाधाराधरे स्मेरिणी
गौरी प्रेमवती शुभा च सुभगा प्रेमाब्धिसंवर्धिनी।
गण्डे मण्डितकुण्डला कटितटे धत्ते मुदा किङ्किणीं
लीलाकाञ्चनदेहिनी विजयते वृन्दावनस्थायिनी॥
शुद्धस्वर्णविडम्बिनी परिलसल्लावण्यसन्मोहिनी
नानारत्नविलासिनी मधुरिमाधाराधरे वंशिनी।
कृष्णप्रेमतरङ्गिणी निरवधि प्रेमामृतालापिनी
श्यामप्रेमविनोदिनी विजयते राधा सुधादेहिनी॥

परम प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति होनेवाले मधुर प्रेमको 'मधुरा रति' कहते हैं। यह मधुरा रति तीन प्रकारकी होती है—'साधारणी', 'समञ्जसा' और 'समर्था'।

साधारणी रतिमें स्व-सुख-वासनारूप सम्भोगेच्छा रहती है, पर उसीके साथ कुछ श्रीकृष्ण-सुखेच्छाका भी उदय हो जाता है, जैसा कुब्जामें हुआ। इसीलिये इसे भी रति कहा गया है, अन्यथा यह तो अग्राह्य ही है। समञ्जसा रतिमें श्रीकृष्ण-सुखेच्छा ही रहती है, परंतु कभी-कभी श्रीलक्ष्मी-रुक्मिणी आदिके सदृश पत्नीत्व-भावके कारण स्वसुखरूपा सम्भोगेच्छाका भी उदय हो जाता है, यद्यपि वह होता है बहुत ही सामान्य तथा अत्यन्त गौणरूपमें ही और वह भी फलतः श्रीकृष्णसुखके लिये ही। समर्था रति एकमात्र कृष्ण-सुखेच्छामयी होती है। उसमें स्व-सुख-वासनाका कहीं

कभी गन्धलेश भी नहीं रहता । जैसे अत्यन्त कठिन लौहखण्डमें सूईकी नोक प्रवेश नहीं कर सकती, वैसे ही समर्था रतिमें एकमात्र और एकमात्र श्रीकृष्ण-सुख-वासनाके अतिरिक्त अन्य किसी भी वासनाका तनिक-सा भी उदय कभी नहीं हो सकता । इसीसे 'समर्था रति'को प्रगाढ़तमा रति कहा जाता है । अचिन्त्यानन्तसौभाग्यशालिनी, परमोज्ज्वल त्यागकी सजीव मूर्ति श्रीव्रज-सुन्दरियोंमें एकमात्र समर्था रतिका ही पूर्ण प्रकाश है । यह समर्था रति महाभावकी अन्तिम सीमातक पहुँचती है । इसमें किसी प्रकारकी लौकिक, पारलौकिक या पारमार्थिक स्व-सुख-वासनाका अथवा अन्य किसी भी वासनाकी कल्पनाका तनिक भी संस्पर्श नहीं है । अतएव समर्था रतिमयी श्रीगोपाङ्गनाओंका 'कृष्ण-सुखैकतात्पर्यरूप' प्रेम ही सबकी अपेक्षा तथा सर्वतोभावेन श्रेष्ठतम है । इन सम्पूर्ण व्रज-गोपियोंमें भी श्रीराधाका प्रेम सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि एकमात्र श्रीराधामें ही समर्था रतिकी चरम परिणति 'मादनाख्य महाभाव' की नित्य प्रतिष्ठा है ।

इस समर्था रतिमें भोग-सुखका कल्पनालेश भी नहीं है । ह्लादिनी शक्तिकी वृत्तिविशेषके द्वारा श्रीकृष्ण और व्रज-सुन्दरियोंके पारस्परिक प्रीतिविधानका नाम ही 'रमण' है । यहाँ 'रमण' शब्दसे श्रीकृष्ण या श्रीव्रजगोपियोंमें किसी हेय अर्थकी कल्पना करना सर्वथा अज्ञान एवं महापातक है । श्रीकृष्णका महाभागा श्रीव्रजसुन्दरियोंमें दिव्य स्वरूप-वितरण तथा श्रीव्रजसुन्दरियोंकी परम प्रियतम श्रीकृष्णकी सुख-सम्पादन-स्वरूपता— परस्परका यह रसास्वादन ही 'रमण' है ।

इन श्रीगोपाङ्गनाओंमें 'नित्यसिद्धा' और साधन-सिद्धा— प्रधानतया ये दो भेद हैं । जो अनादिकालसे कान्ताभावसे श्रीकृष्णकी सेवामें ही लगी हैं, वे 'नित्यसिद्धा' हैं । वे स्वरूपतः ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा अभिव्यक्ति हैं और जो तपादि तीव्र तथा कठोर तप-साधनाके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके अथवा श्रीराधा-माधवकी विशेष अनुकम्पासे दुर्लभ गोपीपदको प्राप्त होकर नित्यसिद्धाओंके साथ श्रीकृष्णकी अनन्य प्रेममयी सेवा करती हैं, वे 'साधन-सिद्धा' हैं ।

सेवाके प्रकार-भेदसे इन गोपसुन्दरियोंके प्रधानतया दो भेद हैं—'सखी' और 'मञ्जरी' । जो अपने अङ्गादिके द्वारा श्रीराधाकी समजातीय सेवाके द्वारा परम प्रियतम नित्य-अचिन्त्यानन्त आनन्दघन, अखिलरसामृतसिन्धु, अचिन्त्यानन्तविरुद्धधर्माश्रय भगवान् श्रीकृष्णका आनन्द-विधान करती हैं, वे 'सखी' कहलाती हैं—जैसे श्रीललिताजी, विशाखाजी आदि । ये सभी अभिन्नरूपा स्वरूप-शक्तियाँ ही हैं । और जो स्वयं नायिकात्वका कभी स्वीकार नहीं करतीं, श्रीकृष्णाङ्ग-सङ्ग-वाञ्छासे नित्य विरत रहकर नित्य-निरन्तर केवल श्रीराधा-सौख्याभिलाषिणी ही रहती हैं और श्रीराधा-माधवके मधुर मिलन तथा सेवाकी अनुकूलताके द्वारा ही नित्य-निरन्तर उनके सुख-सम्पादनमें ही अपनेको नियोजित एवं संलग्न रखती हैं—वे 'मञ्जरी' कहलाती हैं । ये परम त्यागमूर्ति महामहिमामयी मञ्जरियाँ श्रीकृष्ण-प्राणा श्रीराधाजीकी अत्यन्त प्रिय किंकरी तथा अन्तरङ्ग सेवाकी परम अधिकारिणी हैं । श्रीराधा-माधवकी कुञ्ज-सेवाके अत्यन्त गोपनीय स्थानोंमें भी ये निस्संकोच प्रवेश करती हैं । ललितादि समस्नेहा नायिका-प्राया सखियोंको यह अधिकार प्राप्त नहीं है । अन्तरङ्ग सेवामें इन श्रीराधा-स्नेहाधिका मञ्जरियोंका ही पूर्णाधिकार है । इन मञ्जरियोंके भी दो भेद हैं—'प्राणसखी' और 'नित्यसखी' । श्रीराधाजीकी स्नेहाधिका मञ्जरियाँ 'नित्यसखी' हैं और इनमें जो मुख्य हैं, वे 'प्राणसखी' कहलाती हैं । नित्य सखियाँ प्राणसखियोंके अनुगत रहकर सर्वविध अन्तरङ्ग सेवामें अपनेको नियोजित रखती हैं । मणिमञ्जरी, कस्तूरीमञ्जरी आदि मुख्य नित्यसखियाँ हैं और गुणमञ्जरी, रतिमञ्जरी, रूपमञ्जरी, अनङ्गमञ्जरी आदि प्राणसखियाँ । महान् सौभाग्यवती मुनिजनवन्दिता ये मञ्जरी सखियाँ समस्नेहा नायिकाप्राया ललितादि सखियोंकी अपेक्षा छोटी अवस्थाकी होती हैं । इनमें भी नित्यसिद्धा एवं साधनसिद्धा दोनों ही प्रकारकी सखियाँ हैं । निकुञ्जसेवामें प्रवेश इन श्रीराधा-स्नेहाधिका मञ्जरियोंके अनुग्रह एवं इनके भावोंके आनुगत्य-द्वारा ही होना सम्भव है ।

इन सखी-मञ्जरी आदि श्रीगोपाङ्गनाओंकी बात यहाँ इसीलिये कही गयी है कि इनका प्रेम कामगन्धलेशशून्य, परम पवित्र, सर्वथा विशुद्ध, त्यागमय, केवल श्रीकृष्ण-सुखेच्छामय, सुतरां अत्यन्त उच्च कोटिका है । यही मधुरा रतिका परमोज्ज्वल स्वरूप है । इस मधुरा रतिका मूल निर्झर है—श्रीराधाजी, जिनके साहचर्यसे मधुरातिमधुर स्वयं श्रीकृष्ण नित्य लालायित हृदयसे इस मधुर रसका आस्वादन करते हैं । सखी-मञ्जरी तो उसकी परिपुष्टि और विविध विचित्रताओंका केवल विधान करती हैं । श्रीकृष्णका वास्तविक सुख-प्रीति-विधान करनेवाली तो एकमात्र श्रीराधाजी ही हैं ।

श्रीराधाजी स्वरूपतः श्रीकृष्ण-प्रेमकी एक घनीभूत नित्य चेतन स्थिति हैं। ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधिका स्वयं मादनाख्य महाभावस्वरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष मूर्तिमान् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम प्रेमकी एकमात्र आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी पवित्रतम नित्य-सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्द-विधान ही जिनका एकमात्र कार्य है, वे श्रीकृष्ण-कान्तागणमें सर्वश्रेष्ठ तथा सबकी परमाधाररूपिणी हैं।

श्रीराधा पूर्ण शक्ति हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान्में भेद तथा अभेद दोनों ही माने जाते हैं। अभेदरूपमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं। और वे ही लीला-रसास्वादनके लिये अनादि-कालसे नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों ही परम प्रेमस्वरूप होनेपर भी, लीलारसकी विशेष पुष्टिके लिये श्रीराधामें ही प्रेमकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है।

इसीसे श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य-रसरूप, अचिन्त्यानन्त-रस-सदन, अखिलरसामृतमूर्ति होनेपर भी श्रीराधिकाके प्रेममें उन्मत्त रहते हैं। वे कहते हैं—

कहत स्याम निज मुख सदा, हौं चिन्मय परतत्त्व।
पूर्न ग्यानमय, पै न लखि पायौ प्रिया-महत्त्व॥
रहै सदा बरबस लग्यौ राधा में मन मोर।
रहौं प्रेम-विह्वल सदा लखि राधा चितचोर॥
राधा-प्रेम अगाध निधि पर्‌यौ रहौं दिन रात।
विविध बीचि सँग मधुर नित नाचौं प्रमुदित गात॥
रहत लोभ मो मन सदा, पाऊँ राधा-प्रेम।
दुर्लभ दोष-रहित परम सुचि ज्यौं निर्मल हेम॥
राधा-प्रेमास्वादकी महिमा अमित अपार।
मो सुख ते कोटिन गुनौ वा में सुख-विस्तार॥

'मैं चिन्मय परतत्त्व हूँ, मैं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ; परंतु मैं प्रियतमा श्रीराधाके महत्त्वका पता नहीं पा सका। मेरा मन निरन्तर बरबस राधामें लगा रहता है। राधाने मेरे चित्तको चुरा लिया है। अतएव मैं सदा राधाके प्रेममें विह्वल रहता हूँ। मैं दिन-रात राधाके अगाध प्रेम-समुद्रमें पड़ा हुआ उसकी मधुर-मधुर विविध लहरियोंके साथ नित्य प्रमुदित मनसे नाचता रहता हूँ। मेरे मनमें सदा यह लोभ लगा रहता है कि मैं भी राधाके सदृश प्रेम प्राप्त करूँ। राधाका वह प्रेम निर्मल स्वर्णकी भाँति दोषरहित, दुर्लभ और परम पवित्र है। राधा जिस प्रेमका आस्वादन करके जो सुख प्राप्त करती है, उस सुखका विस्तार मेरे सुखसे करोड़ों गुना अधिक है।'

इसका अभिप्राय यह है कि श्रीराधाजी जिस 'आश्रय'-निष्ठ प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं, उन्हें उसमें जो सुख मिलता है, वह सुख, श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे राधाके द्वारा सेवा करवाकर जिस प्रेम-सुखका आस्वादन करते हैं, उससे करोड़ों गुना अधिक है। इससे श्रीकृष्ण चाहते हैं कि "मैं प्रेमका 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ तथा श्रीराधाजी प्रेमका 'विषय' बनें तो मैं उनकी सेवा करके उनके सदृश सुख प्राप्त करूँ।"

जैसे श्रीकृष्ण परस्परविरुद्धधर्माश्रय हैं, वैसे ही श्रीराधाका प्रेम भी विरुद्धधर्माश्रय है। कहा गया है—

विभुरपि कलयन् सदाभिवृद्धिं गुरुरपि गौरवचर्यया विहीनः।
मुहुरुपचितवक्रिमापि शुद्धो जयति मुरद्विषि राधिकानुरागः॥
(दानकेलिकौमुदी)

'विभु (पूर्ण) होनेपर भी सदा वर्धनशील, गुरु (सर्वोत्कृष्ट) होनेपर भी गौरव—अहंकार आदिसे रहित और बढ़ी हुई वक्रिमाके होते हुए ही जो शुद्ध (निर्मल) है—मुरारि श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधिकाका जो ऐसा अनुराग है वह सदा विजयशाली है।'

श्रीराधाका प्रेम चिच्छक्तिकी वृत्ति है। चिच्छक्ति विभु—पूर्ण है, वह असीम तथा सर्वव्यापक है। अतएव श्रीराधाका प्रेम भी विभु, पूर्ण, असीम तथा सर्वव्यापक है। जो असम्पूर्ण होता है, वही बढ़कर सम्पूर्णताको प्राप्त होता है। परंतु जो पूर्ण है, उसमें कभी वृद्धि सम्भव नहीं। अतएव राधाप्रेम भी विभु होनेके कारण उसमें वृद्धिके लिये अवकाश नहीं है। जहाँ प्रेमका चरम विकास है, उसीको 'विभु' प्रेम कहा जाता है। 'मादनाख्य महाभाव'में ही प्रेमका पूर्ण विकास है। इसी मादन-प्रेम-समुद्रमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग आदिकी तथा इनके अन्तरस्थ अनन्त विचित्र भावोंकी अचिन्त्यानन्त-रससुधामयी विविध विचित्र तरङ्गें उठा करती हैं। अतएव यह मादनाख्य महाभाव ही विभु प्रेम है। यही राधाके प्रेमकी विशिष्टता है। इस प्रकार उस विभु प्रेममें वृद्धिकी तनिक भी सम्भावना न होनेपर भी वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्'।

यह श्रीराधा-प्रेमकी परस्पर-विरुद्धधर्माश्रयताका ही एक प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

दूसरे, मादनाख्य महाभाव रूप श्रीराधा-प्रेमके सदृश श्रेष्ठ या महान् वस्तु कोई है ही नहीं । 'मादनोऽयं परात्परः ।' इतना गौरवमय होनेपर भी श्रीराधाप्रेम मदीयतामय मधुर स्नेहसे उदित होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्य-गन्धरहित है । वह न तो गौरव चाहता है और न मानता ही है । सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी उसमें अहंकारादिका लेश नहीं है । श्रेष्ठ वस्तुमें प्रायः श्रेष्ठत्वका अभिमान होता है, पर राधा-प्रेममें वह तनिक भी नहीं है । यह भी राधाप्रेमके विरुद्धधर्माश्रयत्वका एक उदाहरण है ।

श्रीराधाका प्रेम अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध, सरल और श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखरूप है । मन, प्राण—सब कुछ देकर सर्वतोभावेन श्रीकृष्णका सुख-विधान ही उसकी प्रत्येक सहज चेष्टाका स्वरूप है । अतएव ऐसे प्रेममें वामता या वक्रताके लिये कहीं भी स्थान नहीं होना चाहिये । तथापि इतने सुनिर्मल राधाप्रेममें भी वामता या वक्रता दिखायी देती है, यह भी राधाप्रेमके विरुद्धधर्माश्रयत्वका एक उदाहरण है । परंतु इस वामता या वक्रतासे राधाप्रेमकी पूर्णतम निर्मलतामें तनिक भी हानि नहीं होती । हानि होती है विजातीय वस्तुके सम्मिश्रणसे, जैसे जलमें कीचड़-कूड़ा आदि मिलनेपर जलकी निर्मलतामें हानि होती है; पर राधाका यह वामभाव और वक्रता प्रेमसे भिन्न-जातीय कोई पृथक् वस्तु नहीं है । समुद्रमें तरङ्गोंकी भाँति ये प्रेमकी ही तरङ्गविशेष हैं । इनके उदयसे प्रेम मलिन नहीं होता, वरं उसकी उज्ज्वलता तथा आस्वादन-चमत्कारिता और भी बढ़ जाती है ।

श्रीराधिकाका मादनाख्य महाभाव ही विभु परमानुराग है, यह राधाप्रेमका एक विशिष्ट रूप है । इस प्रेमका 'आश्रय' हैं श्रीराधिकाजी । श्रीकृष्ण 'विषय' हैं । जिसमें प्रेम होता है और जो प्रेमके साथ सेवा करता है, उसको कहा जाता है प्रेमका आश्रय । और जिसके प्रति प्रेमका प्रयोग किया जाता है या जिसकी प्रेमके साथ सेवा की जाती है, वह कहलाता है—प्रेमका विषय । श्रीराधिकाजीमें मादनाख्य महाभाव या प्रेम है और वे ही इस प्रेमके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं । अतएव प्रेमका 'आश्रय' हैं—श्रीराधिकाजी और प्रेमके 'विषय' हैं—सेवा स्वीकार करनेवाले श्रीकृष्ण । श्रीराधाके सिवा किसी भी श्रीकृष्ण-प्रेयसीमें इस जातिका परमोत्कृष्ट प्रेम नहीं है । श्रीराधिकाजी ही इस मादनाख्य विभु प्रेमकी एकमात्र अधिकारिणी हैं ।

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ॥
(उ० नी०)

प्रेमके विकासमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—ये कई स्तर हैं । महाभावके भी मोदन और मादन दो भेद हैं ।

प्राकृत मन-इन्द्रियको चरितार्थ करनेवाले नीच कामकी तो यहाँ कल्पना ही नहीं है । काम प्राकृत चित्तकी एक वृत्ति है, जो विषयासक्त लोगोंके मनमें प्रकट होती है, जो सदा-सर्वदा केवल 'निजसुख-वाञ्छा' रूप ही होती है तथा जिसमें त्यागरूप पवित्रताका लेश भी नहीं है ।

विषयी-जन-मनमें प्रकट प्राकृत बृत्ति बिसेस ।
निजसुख-बांछारूप सो 'काम' न सुचिता-लेस ॥

उपर्युक्त स्नेह आदिका संक्षिप्त रूप यह है—

१. प्रेम—

सुद्ध सत्त्वकी वृत्ति जो कृष्ण-सुखेच्छारूप ।
त्यागी जन-मनमें उदित 'प्रेम' पवित्र अनूप ॥

२. स्नेह—

प्रेम विषय कौं प्राप्त कर द्रवित करै जब चित्त ।
'स्नेह' कहावत सोइ तब, प्रेमीजन कौ वित्त ॥
बढ़त उष्नता-ज्योति जब घृत पूरन हो दीय ।
दरस-लालसा बढ़त त्यौं स्नेह-उदय तें हीय ॥

३. मान—

अति नूतन माधुर्य कौ अनुभव जा में होय ।
नेह पाइ उत्कर्षता 'मान' कहावत सोय ॥
भाव छिपावन हृदय कौ बनै बक्र अरु बाम ।
सुख उपजावत स्याम कौ धारि मान मधु नाम ॥

४. प्रणय—

ममताकी अति बृद्धि तें मान पाइ उत्कर्ष ।
प्रिय सौं होय अभिन्नता, बढ़त हृदय अति हर्ष ॥
प्रान-बुद्धि-मन-देह जब, असन-बसन सब काम ।
रहै न प्रिय सौं पृथक् कछु, होत 'प्रनय' तब नाम ॥

५. राग—

स्याम-मिलनकी आस में दुःख परम सुख होय।
अमिलन में भासत सकल सुख अति दुखमय सोय॥
प्रनय पाय उत्कर्ष जब या स्थिति पहुँचै जाय।
नाम 'राग' तब धरत सो पावन प्रीति सुभाय॥

६. अनुराग—

प्रतिपल नव दीखत जबै स्याम नित्य-अनुभूत।
नित नव सुंदरतर, सरस, परम मधुर, अति पूत॥
पाय परम उत्कर्षता बढ़त अमित जब राग।
प्रगटत लच्छन सहज अस धरत नाम 'अनुराग'॥

७. भाव—

प्रान त्याग हूँ तैं कठिन दुःख तुच्छ जब होय।
कृष्न-प्राप्ति हित लगत जब मधुर परम सुख सोय॥
स्याम-मिलन अरु स्याम-सुख हित अति मन में चाव।
बढ़त, बढ्यौ अनुराग सोइ धरत नाम सुभ 'भाव'॥

८. महाभाव—

भाव सिखर जब उच्चतम पहुँचत सहजहिं जाय।
'महाभाव' सो मधुरतम परम बिमल मन भाय॥
महाभाव के दो परम स्तर उज्ज्वल सुचि हेम।
'मोदन'-'मादन' नाम धरि प्रगटत पूरन प्रेम॥
महाभाव मादन परम दुर्लभ सहज सुतंत्र।
केवल राधा में प्रगट कबहुँ न कहुँ अन्यत्र॥

विषयभोगोंके त्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी श्रीकृष्ण-सुखेच्छारूप जिस पवित्र अनुपम वृत्तिका उदय होता है, वह 'प्रेम' है।

वह प्रेम अपने विषय (श्रीकृष्ण) को पाकर जब चित्तको द्रवित कर देता है, तब प्रेमीजनके उस धनको 'स्नेह' कहा जाता है। दीपक जब घृतसे पूर्ण होता है, तब उसमें जैसे उष्णता और ज्योति बढ़ती है, वैसे ही स्नेहके उदयसे हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी लालसा बढ़ती है।

जिसमें अत्यन्त नवीन माधुर्यका अनुभव होता है, 'स्नेह' के ऐसे उत्कर्षको 'मान' कहा जाता है। श्रीश्यामसुन्दरको अधिक सुख देनेके लिये हृदयके भावको छिपाकर जो वक्रता और वामता प्रकट होती है, उसी मधुर स्थितिका नाम 'मान' है।

ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे जब मान उत्कर्षको प्राप्त करता है, तब प्रियतमसे अभिन्नता बढ़ जाती है और हृदयमें अत्यन्त हर्ष छा जाता है। इससे प्राण, मन, बुद्धि, शरीर तथा खान-पान, वस्त्राभूषण आदि सभीमें प्रियतमसे कुछ भी पृथक्ता नहीं रह जाती, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है।

श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशामें जब दुःख ही परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अत्यन्त दुःखमय दिखलायी देने लगते हैं—यों प्रणय जब उत्कर्षको प्राप्त होकर इस स्थितिपर पहुँच जाता है, तब सहज ही उस पावन प्रेमका नाम 'राग' होता है।

अब नित्य अनुभूत श्रीकृष्ण पल-पलमें नये दिखायी देते हैं, प्रतिपल जब वे अधिकाधिक अत्यन्त पवित्र, सुन्दर, सरल और परम मधुर दिखायी देते हैं, राग जब परम उत्कर्षको प्राप्त होकर असीम रूपसे बढ़ जाता है, तब जो ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, वे 'अनुराग' नाम धारण करते हैं।

जब प्राणत्यागसे भी अधिक कठिन दुःख अत्यन्त तुच्छ हो जाता है, बल्कि श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय हो जाता है और श्रीकृष्णके मिलनके तथा उनके सुखके लिये जब मनमें अत्यन्त चाव बढ़ जाता है, वह बढ़ा हुआ अनुराग ही शुभ 'भाव' नाम धारण करता है।

यह भाव जब सहज ही उच्चतम स्तरपर पहुँच जाता है, तब उस मधुरतम, परम निर्मल मनभावन भावको 'महाभाव' कहते हैं। इस महाभावके उज्ज्वल पवित्र स्वर्णसदृश 'मोदन' तथा 'मादन' नामक दो सर्वोच्च स्तर हैं, जिनसे पूर्ण प्रेमका प्राकट्य होता है। इनमें 'मादन' नामक महाभाव परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है। उसका केवल श्रीराधाजीमें ही प्राकट्य है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

उपर्युक्त स्नेहसे मोदनतक सभी स्तर श्रीकृष्णमें और सम्पूर्ण व्रज-सुन्दरियोंमें—मधुर-भावापन्न गोपियोंमें हैं। व्रज-सुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरोंके प्रेमसे श्रीकृष्णकी नित्य सेवा करती हैं, अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'विषय' हैं; साथ ही प्रेमके ये सारे स्तर श्रीकृष्णमें भी हैं, अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'आश्रय' भी हैं। परंतु मादनाख्य महाभाव श्रीराधाजी ही है। अतएव इसका 'आश्रय' एकमात्र वे ही मानी जाती हैं। श्रीकृष्णको राधाजीके द्वारा प्रेमकी सेवा प्राप्त करनेमें जितना सुख मिलता है, श्रीकृष्णको सुखी देखकर उससे करोड़ों-गुना अधिक सुख राधाजीको प्राप्त होता है। इसीलिये

श्रीकृष्ण चाहा करते हैं कि इस प्रेमका मैं 'आश्रय' बनूँ और राधिकाजी 'विषय' बनें ।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी—उनकी सौन्दर्य-माधुरी इतनी मधुरतम, अद्भुत, अनन्त और अतुलनीय है कि न तो उसकी कहीं सीमा है, न कहीं किसी अल्पांशमें भी तुलना है और न उसका पूर्ण आस्वादन ही किसीके लिये सम्भव है—यहाँतक कि सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण स्वयं भी उस अपनी सौन्दर्यमाधुरीका आस्वादन करनेमें समर्थ नहीं हैं । अपने पूर्ण नित्यवर्द्धनशील मादनाख्य महाभावरूप प्रेमके द्वारा एकमात्र श्रीराधा ही उसका नित्य निरन्तर सम्पूर्णास्वादन करती रहती हैं ।

यह प्रेमका परमोज्ज्वल तथा परमोत्कृष्ट स्वरूप नित्यानन्त है ।

सभी जानते हैं क्षुधा निवृत्त हो जानेपर भोजनमें रुचि या प्रीति नहीं रहती । अथवा यदि भूख पूरी मिटनेके पहले ही भोजन-वस्तु समाप्त हो जाती है तो भोजनकी इच्छा पूर्ण न होनेके कारण भोजनकी एक कष्टमयी उत्कण्ठा बनी रहती है । पर यहाँ ये दोनों बातें नहीं हैं; क्योंकि न तो श्रीराधाकी मादनाख्य महाभावमयी माधुर्यास्वादनमयी स्पृहा ही कभी निवृत्त होती है और न श्रीकृष्णका माधुर्य ही सम्पूर्णरूपसे आस्वादित होकर कभी समाप्त होनेवाला है । श्रीराधाके लिये श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी स्पृहा निवृत्त हो जाय, इसकी तो कल्पना भी नहीं है । कारण, प्रेम निवृत्त हो तब कृष्णमाधुर्यास्वादनकी इच्छा निवृत्त हो; सो राधाका प्रेम विभु होनेपर भी प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, अतः प्रतिक्षण ही उसमें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनकी नित्य-नूतन योग्यता एवं स्पृहा बढ़ती रहती है । इसी प्रकार ज्यों-ज्यों श्रीराधिकामें श्रीकृष्णके माधुर्यास्वादनके द्वारा आस्वादनका माधुर्य तथा आस्वादनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों श्रीकृष्णका माधुर्य भी उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, उसमें पल-पल नित्य नये-नये माधुर्यका एवं नित्य नयी-नयी माधुर्य-विचित्रताओंका विकास होता रहता है ।

श्रीराधिकाजीका काम-गन्धहीन, स्वसुख-वाञ्छा-वासना-कल्पनागन्धसे सर्वथा रहित केवल कृष्ण-सुख-तात्पर्यमय विशुद्ध प्रेम निर्मल दिव्य दर्पणके समान है । जिसमें समीपकी वस्तुका प्रतिविम्ब दिखायी दे, उसे 'दर्पण' कहते हैं । दर्पणमें यह एक विशेषता है कि किसी ज्योतिर्मयी—चमकदार वस्तुके सामने आनेपर दर्पण भी ज्योतिर्मय या चमकदार बन जाता है और दर्पणमें प्रतिफलित ज्योति—दर्पणपर पड़ी हुई चमक उस ज्योतिर्मय—चमकदार वस्तुपर पड़कर उसे और भी अधिक ज्योतिर्मय—चमकदार बना देती है । वैसे ही निर्मल दर्पणके सदृश श्रीराधाका विशुद्ध महाभावरूप प्रेम श्रीकृष्णके परमोज्ज्वल माधुर्यको ग्रहण करता है । निर्मल दर्पणमें जैसे वस्तुका अविकल प्रतिविम्ब आ जाता है, उसमें कहीं भी तनिक-सी भी त्रुटि नहीं दीखती, वैसे ही स्व-सुख-वाञ्छाहीन या कामगन्धरहित विशुद्ध राधा-प्रेम भी श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण माधुरीका पूर्णरूपसे आस्वादन करता है और श्रीकृष्ण-माधुरीकी जगमगाती ज्योति श्रीराधाप्रेमरूप दर्पणको और भी अधिक स्वच्छ एवं ज्योतिर्मय बना देती है । इसी प्रकार श्रीराधाप्रेमरूप दर्पणमें प्रतिफलित ज्योति अनवरत रूपसे श्रीकृष्णके माधुर्यपर पड़ती एवं उसे और भी अधिक उज्ज्वल ज्योतिर्मय बनाती रहती है । यों श्रीकृष्णके माधुर्यसे श्रीराधाका प्रेम बढ़ता रहता है और श्रीराधाप्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य बढ़ता रहता है । दोनों ही मानो होड़ लगाकर एक-दूसरेको परास्त करनेके लिये उत्तरोत्तर प्रबलशक्ति होते रहते हैं, पर हारता कोई भी नहीं !

प्रश्न हो सकता है कि 'श्रीकृष्ण तो सबके सामने एक-से ही हैं; फिर क्या कारण है कि श्रीकृष्णके माधुर्यका श्रीराधा ही पूर्णतया आस्वादन करती हैं, सब लोग नहीं कर पाते ?' इसका एकमात्र कारण है--श्रीराधाका प्रेम ही पूर्णतमरूपसे विकसित है, दूसरोंका नहीं है ।

वस्तुके सामने होनेसे ही वह सबको दिखायी दे और सबको एक-सी ही दिखायी दे, यह कोई नियम नहीं है । प्रथम तो जिसकी दृष्टिशक्ति होती है, वही देख सकता है, अंधा नहीं देख सकता । वह सुनता-सूँघता है, पर देख नहीं पाता । फिर जिनके दृष्टिशक्ति है, वे भी दृष्टिशक्तिकी न्यूनाधिकताके अनुसार वस्तुको देख सकते हैं । आकाशमें चन्द्रमाका उदय होनेसे ही वह अंधेको भी दिखायी देगा या हीनदृष्टिवालेको भी पूर्ण दृष्टिवालेकी भाँति सुस्पष्ट दिखायी देगा—यह आवश्यक नहीं है । इसी प्रकार जिसमें श्रीकृष्णके प्रति निर्मल मधुर-प्रेम होगा, वही श्रीकृष्णके माधुर्यका आस्वादन कर सकेगा । ऐश्वर्योपासकको माधुर्य नहीं दीखेगा । फिर मधुर प्रेमवालोंमें भी जिसका जिस मात्रामें प्रेम होगा, उसी मात्रामें वह माधुर्यका आस्वादन करेगा । अन्यान्य व्रजवासी ही नहीं, मधुरभावमयी श्रीगोपाङ्गनाओंमें भी सबका

श्रीकृष्णके प्रति एक-सा प्रेम नहीं है, एवं श्रीराधा-सदृश पूर्णतम प्रेम तो है ही नहीं। इसलिये वे लोग अपने प्रेमके अनुसार ही श्रीकृष्णका माधुर्यास्वादन कर सकती हैं। श्रीराधाकी भाँति पूर्णतम रूपसे श्रीकृष्ण-माधुर्यका आस्वादन कभी न कोई कर सका है और न कर ही सकेगा; क्योंकि जैसे श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, वैसे ही श्रीराधा ही सर्वशक्तिगरीयसी 'स्वयं भगवत्स्वरूपा' शक्ति हैं। अतः उन्हींमें प्रेमका अचिन्त्यानन्त पूर्ण प्रकाश है ('राधायामेव यः सदा')। इसीसे केवल वे ही पूर्ण माधुर्यास्वादन कर पाती हैं और उनका यह बढ़ता हुआ माधुर्यास्वादन सहज ही प्रतिक्षण श्रीकृष्ण-माधुरीको बढ़ाता ही रहता है।

इसी प्रकार सुखको लेकर भी दोनोंमें परस्पर होड़ लगी रहती है। अपनी सेवासे जब श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णको सुखी देखती हैं, तब उनका सुख श्रीकृष्णके सुखसे करोड़ों गुना अधिक बढ़ जाता है और श्रीकृष्ण जब प्रियतमा श्रीराधाको इतना महान् सुखमय देखते हैं, तब उनके अनन्त अगाध सुखसमुद्रमें बाढ़ आ जाती है। पर श्रीराधाके इस सुखानुभवमें उनकी अपनी सुख-कामना-कल्पनाका भी लेश नहीं है। श्रीराधाजी यह सुखानुभव—सुखोपभोग करती हैं—केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही।

इस एकमात्र परम त्यागमय, परम समर्पणमय, परम रसमय, परम प्रियतम-सुख-तात्पर्यमय विशुद्ध प्रेमका जिसके जीवनमें आत्यन्तिक प्राकट्य है, वही गोपी है। और इन समस्त भावोंका जो मूल उत्स हैं, जिनके स्वरूपभूत परम महाभावसे ही इन समस्त भावोंका उदय, उत्तरोत्तर विकास एवं नित्य आस्वादन सम्भव है, जो श्रीकृष्ण-प्रेयसी-जनोचित गुणोंका उद्भवस्थान है, जिनकी दिव्य गुणावलि ही समस्त विशुद्ध प्रेममयी प्रेयसियोंके मधुर निर्मल सद्गुणोंकी मूल है, जिनके कारण ही परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण इन परम मधुर रसमयी भावलीलाओंमें सब कुछ भूलकर नित्य निरन्तर लीलायमान रहते हैं, जिनकी छायारूपी गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े भगवत्स्वरूप महान् देवता, ज्ञानी-विज्ञानी, ऋषि-मुनि नित्य लालायित रहते हैं, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम ज्ञानसम्पन्न श्रीउद्धवजी जिनके पद-रज-कणके लिये जड लता-गुल्मौषधि बनना चाहते हैं और जिनकी रूप-गुण-माधुरीपर सर्वाकर्षक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नित्य आकर्षित रहते हैं—वे हैं श्रीराधाजी!

श्रीराधाजीका क्या स्वरूप है और श्रीकृष्णके साथ उनका क्या सम्बन्ध है, इसे संक्षेपमें इस प्रकार सोचिये-देखिये—

कृष्णमना, श्रीकृष्ण-मति, कृष्णजीवना शुद्ध।
कृष्णेन्द्रिया, सुचारु शुभ, कृष्णप्रिया विशुद्ध॥
कृष्ण-कथा मुखमें सदा, कृष्ण-नाम-गुण-गान।
कृष्ण सुभूषण श्रवण शुचि, कृष्ण-गुण-निरत कान॥
कृष्ण-रूप-मधु नेत्रमें, नासा कृष्ण-सुगन्ध।
कृष्ण-सुधा-रस रसमयी रसना नित निर्बन्ध॥
कृष्ण-स्पर्श संलग्न नित अंग बिना व्यवधान।
कृष्ण-मधुर-रस कर रहा मन अतृप्त नित पान॥
नित्य कराती श्यामको मधुर अमिय रस पान।
नित्य पूर्ण करती सभी श्याम-काम रख ध्यान॥
श्याम-प्रेम शुचि रत्नकी अमित मनोहर खान।
श्याम-सुखकरण गुण अमित अनुपम नित्य निधान॥
भीतर बाहर पूर्ण नित सुन्दर श्याम सुजान।
दीख रहा सब श्याममय, नित नव मधुर महान॥
विश्वविमोहन श्यामकी मनमोहनि रसधाम।
श्याम-चित्त-उन्मादिनी श्यामा दिव्य ललाम॥

श्रीराधाके स्वरूपगुण अचिन्त्यानन्त हैं। उनका वर्णन तो दूर रहा, चिन्तन भी असम्भव है। यह तो केवल एक बाह्य संकेतमात्र है और यह भी उनकी कृपाका ही सुन्दर परिणाम है।

पर वस्तुतः जितने भी महान् गुण, भावोंके अवान्तर भेद तथा भावोंके परमोच्च स्तर आदि हैं, जिनका किसी प्रकार भी वाणीके द्वारा वर्णन अथवा चित्तके द्वारा चिन्तन हुआ है, हो सकता है, नित्याचिन्त्य-भावमयी श्रीराधा उन सभी भावोंसे अतीत निज महिमामें नित्य स्थित हैं। ये सब भाव आदि शाखाचन्द्र-न्यायसे उनका संकेतमात्र करते हैं।

जितने सब हैं भाव विलक्षण एक-एकसे उच्च उदार।
वे सब अति अभ्यन्तर होकर भी हैं बाह्य सरस व्यवहार॥
हैं वे परमादर्श पुण्यतम प्रेमराज्यके भाव महान।
मिलते हैं उनसे प्रेमास्पद प्रेष्ठ रूपमें श्रीभगवान॥
पर राधा स्वरूपतः बँधी न उनसे किंचित् कभी कहीं।
एक श्यामके सिवा तत्त्वतः राधामें कुछ और नहीं॥
राधा नित्य श्यामकी मूरति, नहीं अन्य कुछ भावाभाव।
राधा श्याम, श्याम राधा हैं, अन्य तत्त्वका नित्य अभाव॥

'जितने भी ये प्रेमराज्यके एक-से-एक उच्च, विलक्षण

और उदार भाव हैं; वे सभी अत्यन्त आभ्यन्तरिक होनेपर भी बाह्यरसपूर्ण व्यवहार ही हैं। निश्चय ही वे परम आदर्श हैं, पवित्रतम हैं और महान् हैं। उन भावोंके द्वारा प्रेमास्पद श्रीभगवान् प्रियतमके रूपमें प्राप्त हो सकते हैं; परंतु श्रीराधाजी स्वरूपतः उन भावोंमें कभी किंचित् भी बँधी नहीं हैं। एक श्यामसुन्दरके अतिरिक्त तत्त्वतः श्रीराधामें और कुछ है ही नहीं। श्रीराधा नित्य श्रीश्यामसुन्दर हैं और श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधा हैं, उनमें अन्य किसी भी तत्त्वका नित्य अभाव है।'

लीलाराज्यमें भी ये दोनों ही एक-दूसरेके प्रेमी प्रेमास्पद या आश्रय और विषय हैं। अनिर्वचनीय अचिन्त्य है इनकी रूपलीला-माधुरीका तत्त्व।

'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता नित्यशक्ति, नित्य दिव्य रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्णप्राणा, श्रीकृष्ण-आत्मा और साक्षात् श्रीकृष्ण-स्वरूपा इन्हीं श्रीराधाजीके मधुर मनोहर मङ्गलमय दिव्य अवतारका आज परम पुण्य दिवस है। हमलोग सभी धन्य हैं, जो इस घोर काम-कलुषमय कलियुगके कलङ्कपूर्ण परंतु कल्पनातीत परमोत्कृष्ट परमोज्ज्वल कालमें परम और चरम त्यागकी प्रत्यक्ष मूर्ति श्रीराधिकाजीके पुण्य-स्मरण करनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। श्रीराधाजीकी बात तो बहुत दूर, उनकी किंकरी किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र मञ्जरीके त्यागमय जीवनका जरा-सा प्रकाश भी हमारे जीवनपर पड़ जाय तो हम धन्यजीवन—सफलजन्म हो सकते हैं। प्रार्थना कीजिये—

निन्द्य नीच पामर परम, इन्द्रिय-सुखके दास।
करते निसिदिन नरकमय विषय-समुद्र निवास॥
नरक-कीट ज्यों नरकमें मूढ़ मानता मोद।
भोग-नरकमें पड़े हम त्यौं कर रहे विनोद॥
नहीं दिव्य रस-कल्पना, नहीं त्यागका भाव।
कुरस, विरस, नित अरसका दुखमय मनमें चाव॥
हे राधे रासेश्वरी! रसकी पूर्ण निधान।
हे महान् महिमामयी! अमित श्याम-सुख-खान॥
पाप-ताप-हारिणि, हरणि सत्वर सभी अनर्थ।
परम दिव्य रसदायिनी पञ्चम शुचि पुरुषार्थ॥
यद्यपि हैं सब भाँति हम अति अयोग्य, अघबुद्धि।
सहज कृपामयि! कीजिये पामर जनकी शुद्धि॥
अति उदार अब दीजिये हमको यह वरदान।
मिले मञ्जरीका हमें दासी-दासी-स्थान॥

भजामि राधामरविन्दनेत्रां
स्मरामि राधां मधुरस्मितास्याम्।
वदामि राधां करुणाभरार्द्रां
ततो ममान्यास्ति गतिर्न कापि॥

बोलो श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा श्रीराधारानीकी जय जय जय!!

एक साधकके उद्गार

मेरे प्रभो! वह दिन कब होगा जब मेरा मन संसार--संसारके संग और सांसारिक भोगोंसे सर्वथा हट जायगा। जब संसार मेरे लिये रह ही नहीं जायगा। मेरा मन-मधुकर सदा-सर्वदा और सर्वथा केवल तुम्हारे पद-पद्मोंपर ही मँडराता रहेगा। उन्हींके मधुर मकरन्द रसका पान करनेमें प्रमत्त रहेगा।

अभी संसारके भोगपदार्थोंमें सुखबुद्धि बनी है। उनकी दुःखमयता और अनित्यताका प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर भी उनके प्रति मनमें विराग नहीं होता। प्रभो! मेरी इस मोहनिशाका कब नाश होगा। कब तुम्हारे नित्य निर्मल प्रेम-भास्करके पावन प्रकाशसे मेरा चिरान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जायगा।

जिन प्राणी-पदार्थोंको मैं मेरा मानता-कहता हूँ, प्रभो! उनमें कौन मेरा है जो मेरे साथ आया है और साथ जायगा। मैं क्या कहूँ। अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण मैं सर्वथा असमर्थ हो रहा हूँ। मेरे पुरुषार्थसे कुछ भी नहीं होगा। यह बात मेरी समझमें आ गयी है, अब तो तुम्हीं दया करो और अपने सहज सुहृद्भावसे मुझे अपनाकर मेरे मोह-अरण्यमें आग लगा दो। मैं दीन-हीन हूँ—पर हूँ तुम्हारा ही। तुम्हींको सारी लाज है। तुम जब जैसे जो चाहो करो—पर मुझे सदा अपनाये रक्खो। मुझे यह अनुभव होता रहे—मैं तुम्हारा हूँ।

त्रिजटाने स्वप्न देखा

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिजीने अपने आदिकाव्यमें सुन्दर और वैज्ञानिक ढंगसे कई स्थलोंपर स्वप्नविज्ञानका प्रसंग उपस्थित किया है। स्वप्नविज्ञानका सम्बन्ध मनोविज्ञानसे होते हुए ही मानवके शरीर-विज्ञानसे भी है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—इन चार अवस्थाओंमें, स्वप्नावस्था अपना विशेष महत्त्व रखती है। भारतीय फलित ज्योतिषके आचार्योंने स्वप्नके ऊपर कई प्रकारसे विचार किया है। यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वप्नपर विचार करना अनावश्यक समझते हैं। भारतीय फलित ज्योतिषके आचार्य ही नहीं अपितु आयुर्वेदके आचार्योंने भी स्वप्नविज्ञानसे आयुर्वेदविज्ञानका सम्बन्ध स्थापित किया है। पहले समस्त एशिया एवं यूरोपके कतिपय देशोंमें स्वप्नसे भविष्य-फलपर विचारकी परम्परा प्रचलित थी। चरकाचार्य और सुश्रुतके प्रणेताने रोगियोंकी मृत्युके अन्यान्य कारणोंमें लक्षणोंकी पहचान करते समय रोगियोंके स्वप्नसे भी फल विचार करनेका उल्लेख किया है। प्रस्तुत प्रसंगमें मैं स्वप्न-विज्ञानका इतिहास नहीं उपस्थित करना चाहता। इस प्रसंगमें आदिकविद्वारा उल्लिखित 'त्रिजटाके स्वप्न'का विवेचन ही अभीष्ट है।

रावणने जब सीतादेवीको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये सभी उपायोंसे हार मान ली, तब उसने सीताजीके पास कुछ राक्षसियोंको उन्हें डराने-धमकानेके लिये रक्खा। राक्षसियोंकी उस जमातमें 'एकजटा' 'त्रिजटा' आदि कई राक्षसियाँ थीं। उनमें त्रिजटा नामक एक राक्षसीने एक सपना देखा। त्रिजटाके उस स्वप्नका वर्णन आदिकविने विस्तारके साथ किया है। महर्षि वाल्मीकिजीने त्रिजटाके उस स्वप्नसे शुभ और अशुभ फलोंका जो विवेचन किया है, उसमें भारतीय फलित ज्योतिषका विशेष सहारा लिया गया है। भारतके प्राचीन फलितज्ञोंमें आचार्य देवल, आचार्य वाराह मिहिर, चरकाचार्य, सुश्रुतकार आदिने भी स्वप्न-विज्ञानके ऊपर विस्तारसे लिखा है। अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण एवं कालावलीमें जिस स्वप्नविचारकी चर्चा है, उसका समर्थन आदिकवि वाल्मीकिजीके कथनसे हो जाता है। यदि तथोक्त पुराणों या ग्रन्थोंकी रचना कालके समयसे और आदिकविद्वारा रचित आदिकाव्य वाल्मीकि-रामायणसे तुलना की जायगी तो आदिकविका समय अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होगा। आदिकवि महाकवि थे। वे समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे, तत्त्वज्ञानी थे, योगी थे, सिद्धसंत थे, युगद्रष्टा थे, युगस्रष्टा थे और उन्हें ज्योतिष-विज्ञानका भी पूरा ज्ञान था। स्वप्न-विचारमें आदिकविने जिस सिद्धान्तको अपनाया था, वह सर्वमान्य सिद्धान्त था। उसी सिद्धान्तको भारतीय ज्योतिषी मानते आये हैं। त्रिजटाने जो स्वप्न देखा, उसका फल दोनों पक्षों (श्रीराम और रावण) के ऊपर शुभ और अशुभके रूपमें घटित हुआ। शुभ फल श्रीरामके लिये और अशुभ फल रावणके लिये घटित हुए थे। त्रिजटा पढ़ी-लिखी राक्षसी थी। स्वप्न-विचारका उसे पूर्ण ज्ञान था। जिस समय सीताजीको राक्षसियोंका समूह डरा-धमका रहा था, उसी समय त्रिजटाने सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कहा—

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः।
राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या जयाय च॥

(वाल्मी० सुन्दरकाण्ड)

आज मैंने जो सपना देखा है, उससे राक्षसोंका अभाव होगा और इस सीताके पति श्रीरामचन्द्रजीकी जीत होगी। मेरा स्वप्न भयानक और रोमाञ्चित करनेवाला था। त्रिजटाके स्वप्नका विवरण सुनते ही सभी राक्षसियाँ भयभीत हो गयीं। वे सीताको डराना छोड़कर पृथक् हो गयीं। इस प्रसंगसे यह भी सिद्ध होता है कि उस युगमें नास्तिक राक्षसजनतामें भी स्वप्न-विचारकी परम्परा थी। त्रिजटाके स्वप्नमें श्रीरामके प्रति शुभ फलोंके जो संकेत थे वे निम्न प्रकार हैं। महात्मा तुलसीदासजीने भी इस प्रसंगको अत्यन्त संक्षेपसे लिखा है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका॥
सबहीं बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना॥
सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गए दिन चारी॥

आदिकविने त्रिजटाके स्वप्नको श्रीरामके पक्षमें बृहद्रूपमें उपस्थित किया है। श्रीरामचन्द्र स्वच्छ वस्त्र और माला

धारण किये, हाथीदाँतके बने स्वच्छ धवल विमानपर बैठकर आकाशमार्गसे लंकामें आये हैं। उस विमानमें हजार हंस जुते हैं। सीताजी भी स्वच्छ वस्त्र पहिने क्षीरसागरसे घिरे धवल पर्वतपर बैठी हैं। जिस प्रकार सूर्यसे प्रभा निकलती है और पुनः सूर्यमें समा जाती है, उसी प्रकार सीताजी श्रीरामचन्द्रजी-से मिलीं। चार दाँतवाले ऊँचे हाथीपर श्रीरामचन्द्रजी धवल वस्त्र पहने बैठे हैं। पुनः श्रीरामचन्द्रजी सूर्यके समान प्रकाश करते हुए सीताजीके पास आये। इस प्रकार सीताजी भी अपने पतिकी गोदसे उस आकाशमें स्थित हाथीके कंधेपर बैठ गयीं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीको लेकर वह हाथी लंकामें आया। लंकामें पहुँचनेपर वे तीनों व्यक्ति हाथीसे उतरे। आठ बैलोंसे जुता एक धवल रथ भी उनके साथ था। इसके पश्चात् धवल वस्त्र, धवल माला धारण किये श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सूर्यके समान पुष्पकविमानपर चढ़कर उत्तर दिशाकी ओर गये। संक्षेपमें त्रिजटाके स्वप्नमें श्रीरामके पक्षमें यह शुभ स्वप्न था। त्रिजटाके स्वप्नमें विभीषणके लिये भी शुभ संकेत थे। स्वप्नमें भातके अतिरिक्त समस्त धवल वस्तुओंका दर्शन शुभद माना गया है। स्वप्नमें हाथीका दर्शन भी शुभद माना गया है। स्वप्नमें उत्तर दिशाकी यात्रा भी शुभद मानी गयी है। त्रिजटाके स्वप्नमें उल्लेख है कि भगवान् श्रीराम धवल माला धारण किये हुए थे।

शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन समागतः।
आरुह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्यसंनिभम्॥

महर्षि वाल्मीकिजीके इस कथनकी पुष्टि विष्णुधर्मोत्तर-पुराणके निम्न कथनसे हो जाती है।

सशुक्लमाल्यधारित्वं शुक्लाम्बरधारिता।
(विष्णुधर्मोत्तर)

त्रिजटाके स्वप्नमें भगवान् श्रीराम हाथीपर सवार देखे गये। सीताजी शुक्ल वस्त्र पहने धवल पर्वतपर बैठी देखी गयीं। महर्षिके इस कथनकी भी पुष्टि विष्णुधर्मोत्तरपुराणके निम्न कथनसे हो जाती है।

शैलप्रासादनागाश्ववृषमारोहणं हितम्।
द्रुमाणां श्वेतपुष्पाणां गगने च तथा द्विज॥
(विष्णुधर्मोत्तर०)

त्रिजटाने अपने स्वप्नमें देखा सीताजी अपने हाथोंसे सूर्य और चन्द्रमण्डलको सँवार रही हैं।

चन्द्रसूर्यौ मया दृष्टौ पाणिना परिमार्जती।
ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यामास्थितः स गजोत्तमः॥
(वाल्मी० सुन्दरकाण्ड)

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'के उदाहरणसे भी ताराओं एवं सूर्य या चन्द्रमण्डलका परिमार्जन शुभद माना गया है।

'चन्द्रताराग्रसनं परिमार्जनमेव च।' (विष्णुधर्मो०)

त्रिजटाके स्वप्नका दूसरा भाग रावणके लिये अशुभकर था। विभीषणके लिये शुभद था। त्रिजटाने अपने स्वप्नके उस अंशको भी सुनाया। 'रावण सिर मुँड़ाकर तेल लगाये, लाल वस्त्र पहने, मद्य पान किये, करीरकी माला पहने पुष्पक विमानसे नीचे गिर रहा है। सिर मुँड़ाये, काला वस्त्र पहने हुए रावणको एक स्त्री खींच रही है। रावण लाल पुष्पोंकी माला पहने, लाल चन्दन लगाये, गधोंके रथपर सवार होकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। रावण तेल पान करके नाच रहा है। रावण मस्तक नीचे किये गिर पड़ा है। रावण गधोंसे डरकर पागलोंकी भाँति-उठकर दुर्वचन बोलने लगा।' त्रिजटाने पुनः स्वप्नमें देखा 'लाल वस्त्र पहने एक काली स्त्री अपने शरीरमें कीचड़ पोतकर रावणके गलेमें फंदा डालकर उसे दक्षिण दिशाकी ओर घसीट रही है। रावणके सभी लड़के तेल लगाये हैं और सिर मुँड़ाये हैं। रावण सूअरपर, मेघनाद शिशुमारपर और कुम्भकर्ण ऊँटपर सवार होकर दक्षिण दिशामें चले गये। स्वप्नमें तेलका मर्दन महान् अशुभ माना गया है। स्वप्नमें लाल वर्णके सभी पदार्थ अशुभ माने गये हैं। लाल वस्त्र पहनना, लाल चन्दनका लेप और लाल माला धारण करना आदिका दर्शन स्वप्नमें अशुभ फलके द्योतक हैं। स्वप्नमें सिर मुँड़ाना, गधेकी सवारी, दक्षिण दिशाकी यात्रा आदि भी महान् अशुभसूचक हैं। आदिकविने लिखा है—

रावणश्च मया दृष्टः क्षितौ तैलसमुक्षितः।
रक्तवासा पिबन् मत्तः करवीरकृतस्रजः॥
रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः।
पिबंस्तैलं हसन् नृत्यन् भ्रान्तचित्ताकुलेन्द्रियः॥
पतितोऽवाक्शिरा भूमौ गर्दभाद् भयमोहितः।
सहसोत्थाय सम्भ्रान्तो भयार्तो मदविह्वलः॥
(वाल्मीकि० सुन्दरकाण्ड)

कालावलीमें लिखा है कि स्वप्नमें लालचन्दनका लेप, लाल वस्त्र और लाल माला धारण करना, तैलका मर्दन करना महान् अशुभ है।

रक्तगन्धप्रलिप्ताङ्गो रक्तमाल्योपशोभितः ।
तैलाभ्यङ्गोऽतिभीतश्च मुण्डितो रक्तवस्त्रधृक् ॥

स्वप्नमें ऊँट और गधेकी सवारी, दक्षिण दिशाकी यात्रा आदिका फल मृत्युकारक माना गया है । चरकाचार्यने भी लिखा है—

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षिणां दिशम् ।

स्वप्नमें काली स्त्रीद्वारा दक्षिण दिशामें खींचा जाना भी महान् अशुभ माना गया है । सुश्रुतके रचयिताने भी लिखा है—

कृष्णाम्बरधरा नारी हसन्ती मुक्तमूर्धजा ।
यं चापकर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यति दक्षिणामुखम् ॥

स्वप्नमें नंगा होना या नंगे मानवका दर्शन, हँसना, मृत्युकी सूचना माने गये हैं । वायुपुराणके कथनसे इसका समर्थन होता है—

नग्नं श्रवणकं स्वप्ने हसमानं महाबलम् ।

(वायुपुराण)

आचार्य देवलने लिखा है कि स्वप्नमें लाल वस्त्र एवं लाल चन्दनके उपयोग, दक्षिण दिशाकी यात्रा, ऊँटकी सवारी आदिके दर्शनसे तीन माहके भीतर मृत्यु होती है । या अत्यन्त सन्निकट कालमें मृत्युतुल्य कष्ट प्राप्त होता है । त्रिजटाके स्वप्नोंमें जो प्रथम दुःस्वप्न हुए वे रावणके लिये अशुभ फलके द्योतक थे । उत्तम स्वप्न श्रीरामके पक्षमें विजय दिलानेवाले सिद्ध हुए । त्रिजटाके सपनेमें दूसरा खण्ड भी था । दूसरे खण्डमें जो शुभसूचक लक्षण थे वे विभीषणके लिये शुभदायक सिद्ध हुए । दुःस्वप्न कुम्भकर्णके लिये एवं अन्यान्य राक्षस-परिवारके लिये मृत्युदायक सिद्ध हुए । त्रिजटाने स्वप्नमें देखा कि विभीषण श्वेत छत्र लेकर बैठे हैं । विभीषण स्वच्छ माला पहने, स्वच्छ वस्त्र धारण किये धवल वर्णका चन्दन लगाये हैं । विभीषण चार दाँतोंवाले हाथीपर सवार हैं । विभीषणके साथ उनके चार मन्त्री भी हैं। विभीषण विमानपर बैठकर अन्तरिक्षकी यात्रा कर रहे हैं । त्रिजटाके स्वप्नमें कुम्भकर्णके लिये जो अपशकुन हुए, उनका उल्लेख करते हुए आदिकविने लिखा है—कुम्भकर्ण आदि राक्षस लाल वस्त्र पहनकर और लाल माला धारण करके खूब तैल पान किये हुए हैं । लंकाकी चहारदीवारी ढह रही है । हाथी-घोड़े और रथोंसे भरी लंकापुरी समुद्रमें डूब गयी है । लंकापुरीको एक वानरने बुरी तरह जला दिया है । राक्षसोंकी स्त्रियाँ चिल्ला रही हैं । वे स्त्रियाँ लाल वस्त्र धारण करके जली लंकाकी राखमें प्रवेश कर गयीं । कुम्भकर्ण आदि बड़े-बड़े राक्षस लाल कपड़े पहनकर गोबरके तालाबमें घुस गये । इस प्रकार त्रिजटाके स्वप्नमें गोबरके तालाबमें घुसना, एक वानरका लंका जलाना, स्त्रियोंका चिल्लाना, तैलपान करके हँसना आदि भयानक कुशकुन माने गये हैं। चरकाचार्यने भी लिखा है—गंदे पानी या कीचड़में या कुएँमें कोई गिरे तो महान् अशुभ फल प्राप्त होते हैं या शीघ्र ही मृत्यु होती है । त्रिजटाके स्वप्नमें लंकाका जलना और लंकाका समुद्रमें डूबना भी उल्लिखित है । मार्कण्डेयपुराणमें भी नगरका जलना या पानीमें डूबना अशुभसूचक बताया गया है ।

स्वप्नेऽग्निप्रवेशस्तु न च निष्क्रमते पुनः ।
यमप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवनम् ॥

(मार्कण्डेयपुराण)

महाकवि संत तुलसीदासजीने जो त्रिजटाके स्वप्नका उल्लेख रामचरितमानसमें किया है, उसमें लंकाका जलना, रावणका गधेपर सवार होना, रावणका सिर मुँड़ाना, रावण और कुम्भकर्णकी भुजाओंका कटना एवं दक्षिण दिशाकी यात्रा आदि अपशकुनसूचक हैं । वे सब अपशकुन रावणके पक्षमें सिद्ध हुए ।

'नगर फिरी रघुबीर दोहाई'

इतनेसे ही श्रीरामकी विजय सिद्ध हुई ।

'लंका मनहु बिभीषन पाई'

इतने संकेतसे संत तुलसीदासजीने श्रीराम और विभीषणके लिये शुभ संकेत मान लिया । अग्निपुराणमें त्रिजटाके स्वप्नकी चर्चा विशदरूपमें प्राप्त होती है । अग्निपुराणमें उल्लेख प्राप्त होता है—रावण पुष्पक विमानसे गिर पड़ा, रावणको स्त्रियाँ घसीट रही हैं । रावण लाल वस्त्र पहनकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया । रावण गधेके रथपर सवार होकर दक्षिण दिशामें चला गया । रावणके परिवारके अन्य लोग सूअर, बकरे, गधेके रथोंपर सवार होकर दक्षिण दिशामें गये ।

विमानात् पुष्पकादधो रावणः पतितो मया ।
कृष्यमाणः स्त्रिया दृष्टो मुण्डो रक्ताम्बरो हसन् ॥
रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः ।
प्रयातो दक्षिणामाशां नागतः पुनरेव हि ॥
वराहे तु समारूढः छागले गर्दभे तथा ।

(अग्निपुराण)

अग्निपुराणमें 'त्रिजटाके स्वप्न' प्रसंगमें आदि काव्यका ही अनुकरण है । उसी प्रकरणमें लिखा है कि लंकाकी स्त्रियाँ

तेल पीकर भयानक अट्टहास करती हुई लंकापुरीके साथ समुद्रमें डूब गयीं । इन स्वप्न-विचार-प्रकरणोंमें स्वप्नकी फल-प्राप्तिकी अवधिका भी उल्लेख है ।

> यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥
> —संत तुलसीदास

'दिन चारी'से केवल चार दिनका तात्पर्य नहीं होता । साधारणतया बातचीतके सिलसिलेमें लोग यह कह देते हैं—'यह कार्य तीन-चार दिनमें हो जायगा ।' उसी प्रकार त्रिजटाके कथनका भी अर्थ समझना चाहिये । त्रिजटाके स्वप्नका कुछ फल तो तुरंत घट गया । हनुमान्‌जीने लंकाको जलाया, रावणके कई सेनापति भी मारे गये । महर्षि वाल्मीकिजीके कथनसे प्रतीत होता है कि त्रिजटाने रात्रिके अन्तिम प्रहरमें स्वप्न देखा था । स्वप्न-विचारसे रात्रिके अन्तिम प्रहरमें देखा गया स्वप्न प्रायः शीघ्र फल देनेवाला कहा जाता है । आचार्य वाराह मिहिरके कथनसे रात्रिके प्रथम प्रहरमें देखा गया स्वप्न एक वर्षमें फल देता है । दूसरे प्रहरमें देखा गया छः मासमें, तीसरे प्रहरमें देखा गया तीन मासके भीतर और चौथे प्रहरमें अर्थात् रात्रिके अन्तिम प्रहरमें देखा गया स्वप्न तुरंत फल देता है । स्वप्न कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपने देखे तो दूसरेको फल प्राप्त करानेवाले होते हैं और दूसरोंके देखे अपनेको फल देनेवाले होते हैं । इस प्रकार ग्रन्थोंमें स्वप्नोंका फलादेश उल्लिखित है ।

आशौच-निर्णय

[मरणसम्बन्धी कुछ आवश्यक बातें]

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

(१) मृतक पुरुषके यदि कई पुत्र हों तो उनमें ज्येष्ठ पुत्रको ही उसके दाह और दशगात्रादि करनेका अधिकार है । पिताकी मृत्युके समय यदि ज्येष्ठ पुत्र ग्रामान्तर गया हो और वह उपस्थित न हो तो उससे छोटा पुत्र केवल 'दाह' और 'दशगात्र' कर सकता है, सपिण्डन नहीं कर सकता । सपिण्डनका अधिकार केवल ज्येष्ठ पुत्रको ही है । एकादशाहादि सपिण्डन करनेके लिये परदेश गये हुए ज्येष्ठ पुत्रकी कम-से-कम एक वर्षतक अवश्य प्रतीक्षा करनी चाहिये ।

(२) औरस पुत्रका 'मुण्डन' हो गया हो, तो वह समन्त्रक अपने माता-पिताका दाहादि कर्म कर सकता है । यदि उसका 'मुण्डन' न हुआ हो और वह तीन वर्षकी अवस्थासे अधिक हो गया हो, तो भी वह दाहादि कर्म कर सकता है । यदि वह किसी कारण दशगात्रादि करनेमें असमर्थ हो तो उसे दाह (अग्निदान) अवश्य ही करना चाहिये । शेष दशगात्रादि कर्म दूसरे अधिकारी भी कर सकते हैं ।

(३) मृतक पुरुषके यदि औरस पुत्र न हो और यदि उसने 'दत्तक' पुत्र बना लिया हो तो उसको भी दाहादि कर्म करनेका अधिकार है ।

(४) दत्तक पुत्रका यदि 'उपनयन' हुआ हो तो वह अपने माता-पिताका दाहादि कर्म कर सकता है और यदि उसका 'उपनयन' न हुआ हो तो वह अपने माता-पिताका दाहादि नहीं कर सकता ।

(५) मृतक पुरुषके यदि औरस पुत्र और दत्तक पुत्र न हों (मर चुके हों) तो उनके पुत्र अर्थात् पौत्र दाह कर सकते हैं । पौत्र भी न हो तो प्रपौत्र और प्रपौत्र भी न हो तो मृतककी धर्मपत्नी (विवाहिता पत्नी) दाहादि कर्म कर सकती है—

'पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् ।'

मृतकके यदि धर्मपत्नी भी न हो (मर चुकी हो) तो मृतकका छोटा भाई, वह भी न हो तो उसका ज्येष्ठ भाई, वह भी न हो तो भाईका पुत्र दाहादि कर्म कर सकता है । भाईका पुत्र भी न हो तो अन्य नजदीकी 'सपिण्ड' (सात पीढ़ीतक), दाहादि कर्म कर सकते हैं । सपिण्ड भी न हों तो 'सोदक' (चौदह पीढ़ीतक), सोदक भी न हों तो कन्या आदि दाहादि कर्म कर सकती है । (विशेष जिज्ञासुओंको 'निर्णय-सिन्धु' देखना चाहिये ।)

(६) मृतक पुरुषके दाहादि कर्म करनेवाला यदि कोई भी न हो तो वहाँके 'राजा' को चाहिये वह मृतकका दाहादि कर्म करानेकी व्यवस्था करा दे । राजाको चाहिये मृतक पुरुष

जिस जातिका हो, उसी जातिके पुरुषसे मृतकका दाहादि करा देवे।

(७) राजाके मरनेपर यदि उसके सपिण्ड, सगोत्र आदि कोई भी न हों तो उसका दाहादि कर्म उसका 'पुरोहित' 'मन्त्री' (दीवान) अथवा 'सेवक' (नौकर) कर सकता है।

(८) जो कन्या विवाह होनेके पूर्व ही मर जाय, उसका दाहादि कर्म उसके पिताको करना चाहिये। पिताके अभावमें मृत कन्याके भाईको दाहादि कर्म करना चाहिये। जिस प्रकार पुरुषोंके मरनेपर उनके दाहादिके अधिकारी कहे गये हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंकी भी व्यवस्था समझनी चाहिये।

(९) जो कन्या विवाह होनेके बाद मरे, उसका दाहादि कर्म उसका औरस पुत्र करे। औरस पुत्रके अभावमें दत्तक पुत्र अथवा सौतका पुत्र दाहादि कर्म करे। पुत्रके अभावमें 'पति' दाहादि करे। पतिके अभावमें पतिका भाई (देवर) करे, पतिके भाई (देवर) के अभावमें उसका पुत्र करे। उसके अभावमें 'पुत्रवधू' और पुत्रवधूके अभावमें कन्याके पिता-माता आदि करें *।

(१०) मृतकका प्रथम दिन जो दाहादिकर्म प्रारम्भ करे, उसीको दस दिनतक 'दशगात्र' करना चाहिये। दस दिनके भीतर यदि मृतकका नजदीकी पुत्र आदि उपस्थित हो जाय तो वह 'एकादशाह' आदि कर सकता है, किंतु यह 'दशगात्र' नहीं कर सकता।

(११) मृतकका दूरका सम्बन्धी (भतीजा वगैरह) भी 'एकादशाह' आदि कर सकता है, किंतु वह मृतकके पुत्रकी अनुपस्थितिमें ही कर सकता है और पुत्रकी उपस्थितिमें नहीं कर सकता।

(१२) जिस मृतक पुरुषके 'पुत्र' नहीं है अथवा जो पुत्र अनधिकारी (पतित) है उसका 'सपिण्डन' अधिकारि-भेदसे अन्य लोग भी कर सकते हैं।

(१३) मृत स्त्रीका 'सपिण्डन' उसका पति या पुत्र ही कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता। दूसरे अधिकारीगण सपिण्डनके अतिरिक्त समस्त कर्म कर सकते हैं। इतनेसे ही स्त्रीकी सद्गति हो जाती है।

(१४) जो बालक या बालिका नामकरणके पूर्व मर जाय तो उसका दाह, तिलाञ्जलि और पिण्डदान आदि कुछ नहीं होता।

(१५) बालकके नामकरणके बाद जबतक वह तीन वर्ष-का न हुआ हो और उसका मुण्डन भी न हुआ हो, ऐसे बालककी मृत्युमें उसका दाह, तिलाञ्जलि, पिण्डदान आदि करे अथवा न करे। दोनों ही पक्ष शास्त्रीय हैं।

(१६) बालककी मृत्यु यदि तीन वर्षकी आयुके बाद हो और उसका मुण्डन भी हो गया हो तो उसका दाह और तिलाञ्जलि आदि करना आवश्यक है।

(१७) जिस बालककी मृत्यु मुण्डन होनेके बाद हो, वह कितना भी छोटा हो, उसका दाह, तिलाञ्जलि और पिण्डदान आदि करना आवश्यक है।

(१८) सपिण्डके मरनेपर सपिण्डोंको, सोदकके मरनेपर सोदकोंको, माता-पिताके मरनेपर पुत्रोंको, नाना-नानीके मरनेपर नातियोंको और आचार्य (गुरु) के मरनेपर शिष्योंको जबतक उनका आशौच रहे तबतक उनके नामसे प्रतिदिन तिलाञ्जलि (तिलोदक) देना चाहिये।

(१९) विवाहिता कन्या मरे तो पिता, बहन मरे तो भाई, भानजा (भगिनी-पुत्र) मरे तो मामा, श्वसुर मरे तो दामाद (जामाता), मित्र मरे तो मित्र, पुरोहित मरे तो यजमान और यजमान मरे तो पुरोहित आदि यदि 'तिलाञ्जलि' न दें तो कोई क्षति नहीं है।

(२०) जो द्विज व्रात्य (जिस द्विजका उपनयन शास्त्रोक्त अवस्थानुसार न हुआ हो), जिस ब्रह्मचारीका समावर्तन न हुआ हो, जो गायत्री-पुरश्चरण, चान्द्रायण व्रत आदि विशिष्ट कर्मकी पूर्तिके लिये संनद्ध हो, जो संन्यासी हो, जो पतित (जो भयंकर पाप करनेके कारण जातिसे बहिष्कृत) हो, जो जन्मसे ही नपुंसक हो, जो वेद-शास्त्रविरुद्ध धर्मको मानता हो और जो दूसरेके धनको हड़प लेनेवाला हो, ऐसे लोगोंके

---

* जिस कन्याका विवाह हो जाता है, वह अपने पिताके गोत्रसे छूटकर अपने पतिके गोत्रमें मिल जाती है। पतिके गोत्रसे सम्बन्धित होनेपर विवाहिता कन्या यदि मर जाती है तो उसका दाहादि कर्म करनेका अधिकार पतिकुलके पुरुषोंको ही होता है। यदि पतिकुलमें कोई भी अधिकारी न हो तो पितृकुलके पुरुषोंको दाहादि करनेका अधिकार होता है। यदि पितृकुलमें भी कोई अधिकारी न हो तो मातृकुल (नानाका वंश) के पुरुषोंको दाहादि करनेका अधिकार होता है।

मरनेपर यदि उनके कौटुम्बिक 'तिलाञ्जलि' न दें तो कोई हानि नहीं। ऐसे लोगोंको 'पतित' कहा गया है। पतित व्यक्ति 'तिलाञ्जलि' के अधिकारी नहीं होते।

(२१) द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के शव (मुर्दा) को शूद्र स्पर्श न करे। द्विजके शवको यदि शूद्र स्पर्श करता है तो मृतकके सम्बन्धियोंको विशेष दोष लगता है।

(२२) ब्राह्मण अपनेसे हीन वर्णके, क्षत्रिय अपनेसे हीन वर्णके और वैश्य अपनेसे हीन वर्णके शवका स्पर्श न करे। जो उच्च वर्णवाला अपनेसे हीन वर्णके शवका स्पर्श करता है, वह 'पतित' हो जाता है।

(२३) जिस शहर, कसवा अथवा गाँव आदिमें चारों ओर बाहर जानेका मार्ग प्रशस्त हो, तो वहाँ मरनेवाले 'ब्राह्मण' के शवको पश्चिमकी तरफसे, क्षत्रियको उत्तरकी तरफसे, वैश्यको पूर्वकी तरफसे और शूद्रको दक्षिणकी तरफसे 'श्मशान' ले जाना चाहिये।

(२४) मृतकको श्मशान ले जाते समय मृतक पुरुषसे बड़ी आयुवाले पुरुषोंको मृतकके आगे-आगे चलना उचित है और छोटी आयुवाले पुरुषोंको मृतकके पीछे-पीछे चलना उचित है।

(२५) मृतक पुरुषके सपिण्ड, सगोत्र और इष्ट-मित्र एवं पास-पड़ोसियोंको अवश्य ही मृतकके साथ श्मशानतक जाना उचित है।

(२६) मृतकका दाह हो जानेपर श्मशानसे वापस लौटते समय सब लोग पीछेकी ओर अर्थात् श्मशानकी ओर न देखें।

(२७) श्मशानसे वापस लौटते समय उपस्थित मनुष्योंमें जो थोड़ी आयुके हों वे आगे-आगे चलें और जो बड़ी अवस्थावाले हों, वे पीछे-पीछे चलें। जब सब लोग गङ्गा आदि नदी, तालाब अथवा कूप आदि स्नानके स्थानपर पहुँचें, तब सर्वप्रथम बड़ी अवस्थावाले वस्त्र-सहित स्नान करें, फिर थोड़ी अवस्थावाले वस्त्र-सहित स्नान करें। यदि गङ्गा आदि नदी हो तो केवल एक ही गोता लगाकर स्नान करें। पश्चात् नदीमें अथवा पाषाण (पत्थर) के ऊपर मृतकका नाम, गोत्रादि उच्चारण करके एक बार अथवा तीन बार सबको 'तिलाञ्जलि' देनी चाहिये।

मृतक यदि ब्राह्मण हो तो दक्षिणाभिमुख होकर, क्षत्रिय हो तो उत्तराभिमुख होकर और वैश्य हो तो पूर्वाभिमुख होकर 'तिलाञ्जलि' देनी चाहिये। शूद्रके लिये 'दिशा' का नियम नहीं है। अतः शूद्रको किसी भी दिशाकी ओर मुख करके 'तिलाञ्जलि' दी जा सकती है।

मृतक पुरुषको 'तिलाञ्जलि' देनेके बाद पुनः भलीभाँति स्नान करके फिर मृतकके परिवारवाले तथा अन्य सब लोग मृतकके घर जायँ और मृतकके घरके द्वारके आगे खड़े होकर अपने हाथ-पैर धोवें और मृतकके घरमें उपस्थित 'नापित' द्वारा दी हुई काली मिर्च अथवा नीमकी पत्तीको खाकर अपने-अपने घर लौट जायँ। पश्चात् मृतकके घरवाले अपने घरमें प्रवेश करें और अपने घरके दरवाजेपर पानी गिरा दें।

(२८) मृतकका जबतक आशौच रहे, तबतक मृतकके परिवारवालोंको तथा मृतकके इष्ट-मित्रोंको प्रतिदिन गङ्गा आदि नदीमें स्नान करना और तिलाञ्जलि देनी चाहिये।

तिलाञ्जलिकी संख्यामें अनेक मतभेद हैं। एक आचार्यका कहना है कि तिलाञ्जलि एक-एक करके प्रतिदिन दस दिनतक बढ़ानी चाहिये। जैसे प्रथम दिन एक, दूसरे दिन दो और तीसरे दिन तीन—इस क्रमसे बढ़ानी चाहिये। दूसरे आचार्यका कहना है कि प्रथम दिन तीन, द्वितीय दिन छः और तृतीय दिन नव—इस प्रकार तिलाञ्जलि बढ़ानी चाहिये। तीसरे आचार्यका कहना है कि प्रतिदिन एक ही तिलाञ्जलि देनी चाहिये। सारांश यह है कि जिसके कुलमें जिस प्रकार 'तिलाञ्जलि' देनेकी प्रथा हो, उसी प्रकार तिलाञ्जलि देनी चाहिये।

(२९) माता-पिताके मरणमें पुत्र तीसरे दिन तीन 'पिण्डदान' करे, फिर सात दिनतक प्रतिदिन एक-एक 'पिण्डदान' करे। इस प्रकार दस दिनमें दस पिण्ड पूर्ण हो जाते हैं। इन्हीं दस पिण्डोंको 'दशगात्र' कहते हैं। माता-पिताके मरणमें यही क्रम उचित और आवश्यक है।

कुछ लोग दस दिनके आशौचमें तीसरे दिन तीन, सातवें दिन चार, दसवें दिन तीन–इस प्रकार दस पिण्ड पूर्ण करते हैं। (आजकल यही प्रथा विशेष प्रचलित है, किंतु यह प्रथा उत्तम नहीं है।)

कुछ लोग प्रतिदिन एक ही पिण्ड देकर दस दिनमें दस पिण्ड पूर्ण करते हैं। (यह क्रम विशेष उत्तम है।)

जिसको तीन दिनका आशौच लगे, वह प्रथम दिन तीन, द्वितीय दिन चार और तृतीय दिन तीन इस प्रकार दस पिण्ड दे। और जिसको एक ही दिनका अथवा केवल स्नानमात्र आशौच हो, वह उसी दिन दसों पिण्ड कर दे।

(३०) पिण्डदानमें यह आवश्यक है कि जिस वस्तुका* पिण्ड प्रथम दिन बनाया जाय, उसी वस्तुका पिण्ड अन्तिम दिनतक बनाना चाहिये। पिण्डदानमें वस्तुका बार-बार परिवर्तन करना उचित नहीं है।

(३१) मृतकका अस्थिसंचयन श्मशान (चिताभूमि) में होता है। दाहके बाद शव (मुर्दा) की बची हुई अस्थियों (हड्डियों) को एकत्रित करना 'अस्थिसंचयन' कहलाता है। यह 'अस्थिसंचयन' बहुधा उस जगह होता है, जहाँ 'गङ्गा' आदि पवित्र नदी नहीं हैं। जिस नगर, कसबा अथवा ग्राममें 'गङ्गा' आदि नदी होती हैं, वहाँके धार्मिक लोग मृतकके दाहके बाद उसकी बची हुई अस्थियोंको तत्काल 'गङ्गा' आदि नदीमें प्रक्षेप (गिरा) कर देते हैं और जहाँ 'गङ्गा' आदि नदी नहीं हैं, वहाँके आस्तिक लोग मृतककी अस्थियोंको एकत्रितकर काशी, प्रयाग, हरद्वार और गढ़मुक्तेश्वर आदि तीर्थस्थानोंमें ले जाकर गङ्गामें प्रक्षेप करते हैं।

(३२) यह अस्थिसंचयन प्रथम दिन अथवा चतुर्थ दिन अथवा सप्तम दिन अथवा नवम दिन किया जाता है। अस्थिसंचयनके सम्बन्धमें एक आचार्यका कहना है कि—ब्राह्मणका प्रथम दिन अथवा चतुर्थ दिन, क्षत्रियका चतुर्थ दिन अथवा पञ्चम दिन और वैश्यका पञ्चम दिन अथवा नवम दिन अस्थिसंचयन करना चाहिये। शूद्रका दसवें दिनसे तीसवें दिनतक अस्थिसंचयन करना चाहिये। दूसरे आचार्यका कहना है कि जिसको जितने दिनका आशौच लगे, वह सर्वप्रथम उस आशौचके दिनोंमेंसे तीन भाग करे, पश्चात् उस भागत्रयमेंसे एक भाग व्यतीत कर 'अस्थिसंचयन' करे। तीसरे आचार्यका कहना है कि—जिसके वहाँ जैसी कुलप्रथा हो, वह तदनुसार 'अस्थिसंचयन' कर सकता है।

(३३) अस्थिसंचयनमें दिनकी गणना मृतकके दाहके दिनसे ही करनी चाहिये, न कि मृत्युके दिनसे करनी चाहिये।

(३४) जिस द्विजका उपनयन-संस्कार न हुआ हो तथा जिस स्त्री और शूद्रका विवाह-संस्कार न हुआ हो, उसका 'अस्थिसंचयन' नहीं करना चाहिये।

(३५) मृतकके दसवें दिन आशौचान्तमें मृतकके समस्त परिवारवालोंको तथा मृतकके साथ श्मशान जानेवाले समस्त इष्ट-मित्रों और प्रेमियोंको गङ्गा आदि नदीके किनारे पहुँचकर अपने-अपने कुलाचारके अनुसार 'बाल' (केश) कटाना चाहिये पश्चात् स्नानकर मृतकके घरवालोंके साथ मृतकके घर जायँ और मृतकके घरके दरवाजेके आगे खड़े होकर अपना हाथ-पैर धोवें। पश्चात् मृतकके नापितद्वारा दी हुई कालीमिर्च अथवा नीमकी पत्ती मुखमें चबाते हुए अपने-अपने घर लौट जायँ। पश्चात् मृतकके परिवारवाले भी अपने घरमें प्रवेश करें और अपने घरके दरवाजेपर जल छोड़ दें। सब जगह यह प्रथा नहीं है।

(३६) दाहकर्ता आशौचपर्यन्त स्पर्शास्पर्शका विशेष विचार रक्खे। वह जमीनपर शयन करे और रूई आदिके बने हुए गद्दे-बिछौनेका त्याग करे। ऊनी कंबल और चटाईका सेवन करे। केवल एक बार सात्त्विक भोजन करे। मादक पदार्थोंका त्याग करे। ब्रह्मचर्यसे रहे। सुगन्धित पदार्थोंका सेवन न करे। समस्त प्रकारके माङ्गलिक पदार्थोंसे बचे। क्रोध न करे। गरुड़पुराण और गीता आदि ज्ञानप्रद पुस्तकोंका श्रवण करे। जिस प्रकार दाह करनेवाले आशौचीके नियम हैं, उसी प्रकार उसके परिवारवालोंके भी नियम हैं। अतः आशौचावस्थामें सभीको शास्त्रीय नियमका पालन अवश्य करना चाहिये †।

* * *

---

* चावल, जौ और सत्तू आदिका 'पिण्ड' बनता है।

† बहुतसे लोग 'आशौच-निर्णय' के बाबत पूछा करते थे। इसीलिये श्रीशर्माजीके 'आशौच-निर्णय' सम्बन्धी लेख 'कल्याण'में सभी प्रकाशित किये गये। उन्हीं लेखोंका यह परिशिष्ट अंश छापा जा रहा है। प्रसन्नताकी बात है कि यह जनन-मरणसम्बन्धी सभी आवश्यक 'आशौचोंका संकलन 'संक्षिप्त आशौच-निर्णय' नामक पुस्तिकाके रूपमें भी छप गया है। आठ आने मूल्य है। जिनको आवश्यकता हो वे 'वैदिक पुस्तकालय' ७।१४ सकरकन्द गली, वाराणसीसे प्राप्त कर सकते हैं। —सम्पादक

सत्य-धर्मका वास्तविक स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'कवन धर्म श्रुति बिदित बिसाला' इस प्रश्नके उत्तरमें 'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा' कहा और उन्होंने ही इसके पूर्व अयोध्याकाण्डमें—

धर्म न दूसर सत्य समाना । आगम निगम प्रसिद्ध पुराना ॥

तथा—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए । बेद पुरान बिदित मनु गाए ॥

आदि कहा ।

ध्यान रहे इन तीनों वचनोंमें वेद, पुराण, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंका पुट देकर उन्होंने अपने अपार सूक्ष्मज्ञानका संकेत किया है । वेद-पुराणादिमें भी—

सत्यान्नास्ति परो धर्मः ।
सत्यमेव जयते नानृतम् ।
(मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ६)[1]

और

'अहिंसा परमो धर्मः', 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'

आदि द्विधा प्रतीत होनेवाले वचन प्राप्त होते हैं । इसपर किसीको यह संदेह होना स्वाभाविक है कि इस दो प्रकारके कथनका क्या रहस्य है ? किंतु सत्यकी परिभाषा देखनेसे यह भ्रम दूर हो जाता है । शाण्डिल्योपनिषद्में सत्यकी परिभाषा इस प्रकार है—

सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम् ।
(१ । १ । १३)

अर्थात् मन, वचन, कर्मसे परोपकार एवं प्राणिहितकारी यथार्थ एवं श्रेयस्कर कथन ही सत्य है ।

योगदर्शन २ । ३० के भाष्यमें इसका स्पष्ट समाधान है । यथा—

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामानभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलाः, तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते ।

अर्थात् इस सूत्रमें अहिंसा शब्द प्रथम इसलिये रक्खा कि अहिंसा ही सर्वात्मना साध्य है । बादके सत्यादि यम-नियम इसीको सिद्ध करनेके लिये प्रतिपादित किये गये हैं । आचार्य पञ्चशिख भी कहते हैं—

स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदानरूपामहिंसां करोति ।

योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने इसकी व्याख्यामें महाभारत, शान्तिपर्वका यह वचन उद्धृत किया है—

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते ।

अर्थात् जैसे हाथीके पैरमें सभी पैरसे चलनेवालोंके पैर आ जाते हैं, वैसे ही अहिंसाके अन्तर्गत समस्त धर्मार्थ भी आ जाते हैं । ब्रह्मवैवर्तपुराण एवं 'विचख्नुगीता' में भी मनुका हवाला देते हुए यही कहा गया है—

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
(महा० शा० २९५ । ५)

अहिंसा परमो धर्मो गीतो वै मनुना पुरा ।

वास्तवमें मनु भी ऐसा ही कहते हैं—

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
(६ । ६०)

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह नापदम् ॥
(६ । ७५)

---

[1] सत्यके समर्थक वचनोंके लिये 'मानवता-अङ्क' पृ० ६१ से ६३ में स्वा० श्रीसीतारामदासजीका तथा 'कल्याण' वर्ष २३ के ६ठे अङ्कमें एवं 'त्रिपथा' जून १९६१ के अङ्कमें हमारे लेख देखने चाहिये ।

मनुने यह भी कहा है, सौ वर्षतक अश्वमेध करनेवाले तथा मांसत्यागीका पुण्य समान है (५। ५३)। ब्रह्मपुराण (२१६। ६५) में अहिंसाका इससे भी अधिक महत्त्व है। 'आदिपुराण' भी यही कहता है—

धर्माणां च यथाहिंसाभयदानं वरेण्यकम्।
(१। १९)

पद्मपुराणका कथन है कि जैसे सभी नदियाँ समुद्रमें पर्यवसित होती हैं, वैसे ही हिंसामें सभी पापोंका अन्तर्भाव हो जाता है—

प्रविशन्ति यथा नद्यः समुद्रमृजुवक्रगाः।
सर्वेऽधर्माश्च हिंसायां प्रविशन्ति तथा दृढम्॥
(पद्म० उत्तरखण्ड २४३। ६)

प्रायः सभी धर्मशास्त्रों, योगदर्शन, महाभारतमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्य परम धर्म है, तथापि सत्य भी वही है जिससे किसीकी हिंसा न हो—परोपकार हो। यदि सत्यभाषणसे हिंसादिकी सम्भावना हो तो वहाँ सत्यभाषण अनुचित है। इससे उसे पुण्य तथा प्रतिष्ठा मिलती, पाप अथवा नरक नहीं। इस सम्बन्धमें कई विशिष्ट आख्यान हैं। इनमेंसे एक-दो यहाँ दिये जाते हैं।

महाभारत कर्णपर्वमें आता है कि एक बार भारत-युद्धमें (१५ वें दिन) कर्णने युधिष्ठिरको परास्त किया और उनके गलेमें धनुषकी रस्सी डालकर कहने लगा कि 'तू जब लड़ना नहीं जानता तो युद्धक्षेत्रमें क्यों आता है? अच्छा जा, अब आगेसे लड़ने न आना।' युधिष्ठिर अत्यन्त लज्जित होकर शिविरमें जाकर लेट रहे थे कि अर्जुन आये। अत्यन्त आर्त होकर युधिष्ठिरने कहा कि 'अर्जुन! तुम्हारे बल तथा गाण्डीव धनुषको धिक्कार है, जो पंद्रह दिनोंमें भी इन कौरवोंका अन्त नहीं कर सके।' अर्जुनकी प्रतिज्ञा थी कि जो उन्हें तथा गाण्डीवको धिक्कारेगा उसका सिर उतार लेंगे। वे तलवार लेकर वेगसे घूम ही रहे थे कि श्रीकृष्ण आ गये। उन्हें एकान्तमें इस प्रकार देख आश्चर्य हुआ। पूछनेपर अर्जुनने जब स्थिति तथा प्रतिज्ञा बतलायी तब भगवान्ने कहा कि 'भोले धर्मप्रेमी! अहिंसा ही सर्वोत्तम धर्म है। किसीकी प्राणरक्षाके लिये असत्य भी बोल दे, पर उसकी हत्या न होने दे—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतं वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥
(कर्णपर्व ६९। २३)

साथ ही उन्होंने कौशिक नामक मूर्ख ब्राह्मणकी कथा कही, जो जंगलमें सत्य व्रतका नियम लिये हुए एक नदीके संगमपर बसता था। एक दिन कुछ मनुष्य डाकुओंके भयसे उसके आश्रमके पास छिप गये। पर डाकुओंने जब उससे पूछा तो उसने उन्हें बतला दिया और इस धर्मप्रतिरूपक सत्याभासके भीषण पापसे उसे चिरकाल-तक नरककी यन्त्रणा भोगनी पड़ी।

ठीक ऐसी ही दूसरी कथा देवीभागवतके तीसरे स्कन्धमें है। तमसा-तटवासी देवदत्त ब्राह्मणका गूँगा पुत्र सत्यव्रत निर्जन वनमें वास कर रहा था। एक दिन उसके सामनेसे एक व्याध मृगको खदेड़ते आया। मृग उसके आश्रमके समीप ही कहीं छिपा था। जब व्याधने सत्यव्रतसे उसका पता पूछा तो वह सोचने लगा कि जो अहिंसा, दया, परोपकार आदिसे संयुक्त हो, वस्तुतः वही सत्य है—

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा
दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।
हितं नराणां भवतीह येन
तदेव सत्यं न तथान्यथैव॥
(देवीभागवत ३। ११। ३६)

भगवद्गीतामें भगवान् उसे ही परम योगी कहते हैं, जो दूसरोंके दुःखमें पूर्ण कातर हो—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६ । ३२)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी यही कहते हैं——

'निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद् वदन्ति कवयस्तदलीकम् ।
अन्यदेहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्॥

शिवपुराणमें ज्योतिर्लिङ्गके माहात्म्यमें गौतम ऋषिके परोपकारकी अद्भुत कथा है। वहाँ बतलाया गया है कि प्राणीकी महत्ताका मापदण्ड परोपकार गुणसे ही होता है। जो जितना अधिक परोपकारी है, वह उतना ही महान् है। साधुका जीवन ही परोपकारके लिये है। उपकारी, दयालु एवं जितेन्द्रिय व्यक्तियोंके खंभेपर ही यह पृथ्वी टिकी हुई है——

दयालुरमदस्पर्श उपकारी जितेन्द्रियः ।
एतैश्च पुण्यस्तम्भैश्च चतुर्भिर्धार्यते मही ॥
(कोटि० २४ । २६)

किंतु यह कृपा भी आर्त प्राणी——उत्पीडितपर ही होनी चाहिये, आततायीपर नहीं। गाय और व्याघ्रका जहाँ प्रसङ्ग हो वहाँ व्याघ्रका वध ही कर्तव्य है।

राजाओंके लिये मृगयाविधानका भी यही तात्पर्य था कि वे हिंसक जन्तुओंका अन्त करें। आततायीपर कृपा 'कार्पण्यदोष' है। गीताके आरम्भमें यही दोष अर्जुनको हुआ——'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः।' भगवान्ने भी इस दोषको अनार्यजुष्ट, अकीर्तिकर और अस्वर्ग्य कहा। फिर इसे दूर भी किया गीतोपदेशसे। इसीलिये असुर-संहारार्थ भगवान् अवतरित होते हैं।

आज पुनः भारतकी वही दशा है। इस महामोहकी क्या औषध है? केवल भगवान्से प्रार्थना; क्योंकि आजकी सारी शक्ति इन मोहग्रस्त बन्धुओंके ही हाथ है। जहाँ कोई शक्ति नहीं होती, वहाँ पुकारनेपर सर्वशक्तिमान् भगवान् अवश्य ही प्रकट होते हैं। कई बार तो उनकी व्यवस्था पहलेसे ही तैयार रहती है; क्योंकि वे जानते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक समय पुकारेगा। यह अग्रिम प्रहयोग इसी आशाका प्रदीप है। हमें विश्वास है भगवान् अवश्य ही सबका मङ्गल करेंगे।

मानवता

(रचयिता—विद्यावाचस्पति डॉक्टर श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०)

विद्याके विलासमें निमग्न रहता है मन,
शिक्षा, शील, धृतिका महत्त्व अपनाया है।
धारण किया है सत्यव्रत बड़ी दृढ़तासे,
मान, मद, मल जिसको न कभी भाया है।
लोक-दुःख दूर करनेमें सुख पाता रहा,
पर-उपकारी बन संकट मिटाया है।
करके विहित कर्म सुयश कमाया सदा,
ऐसा धीर-वीर धन्य 'मानव' कहाया है।

× × × ×

त्याग-तपस्यासे पवित्र-परिपुष्ट हुआ जिसका 'तन' है,
भद्र भावना भरा स्नेहसंयुक्त शुद्ध जिसका 'मन' है।
होता व्यय निज हित-परहितमें जिसका शुचि संचित 'धन' है,
वही श्रेष्ठ सच्चा 'मानव' है, धन्य उसीका 'जीवन' है॥

नरक क्या ?

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'को वास्ति घोरो नरकः ? स्वदेहः ।'

'नारकीय प्राणी !' कलिंग-नरेश द्युमान् ग्लानिसे गले जा रहे थे । शब्द नहीं, वज्रसे भी तीक्ष्ण अस्त्र थे वे । ऐसे अस्त्र जो मर्मपर क्षण-क्षणमें आघात करके उसे विदीर्ण कर रहे थे !

राज्यका अमर-आकांक्ष्य वैभव, दिगन्तधवल सुयश, विद्वानोंके द्वारा प्रशंसित प्रतिभा—जैसे सब सारहीन हो गये ये आनन्दके उपकरण । बन्दियोंका सुयश-गान अपना उपहास प्रतीत होता था । मागध जब वंश-विरुदावलीका वर्णन करते—जी चाहता, कहीं ऐसे स्थानमें जा छिपें, जहाँ किसीको मुख न दिखाना पड़े । सूत प्राचीन इतिहासका वर्णन करते हुए जब वर्तमानके वर्णनपर आने लगते, नरेश व्याकुल होकर उठ जाया करते राजसभासे ।

'आप सब एक अयोग्यकी प्रशस्तिमें अपनी प्रतिभाका दुरुपयोग क्यों करते हैं ?' विनय नहीं, अन्तरका सच्चा खेद होता था वाणीमें । किंतु परम्परा ही ऐसी बन गयी थी कि नरेशके सम्मुख आनेवाले कवि, ज्योतिषी तथा अन्य विद्वान् सबसे अधिक वाक्य-व्यय नरपतिकी प्रशंसामें ही करते थे और इससे अत्यधिक वेदना होती थी कलिंग-नरेशको । पर कोई उनका निषेध सुनता कहाँ है । लोग तो उसे महाराजकी शिष्टता—विनय मान लेते हैं ।

'आप अश्वमेधयज्ञ सम्पन्न करें !' कुलपुरोहित अपने प्रबल-पराक्रम यजमानको किसी प्रकार उसकी आधि (मनोरोग) से मुक्ति दिलानेका प्रयत्न कर रहे हैं । 'यदि कोई प्राक्तन पाप होंगे तो उनका प्रायश्चित्त हो जायगा । अश्वमेध महापापोंका भी परिहारक है । आपका प्रताप दिग्विजय करनेको पर्याप्त है ।'

'दिग्विजयकी मुझे चिन्ता नहीं है । कलिंगके शूर पराभव सुननेके कभी अभ्यस्त नहीं रहे । विजयश्रीके कर उनके धनुषपर ज्या चढ़ते ही यशोमाल्य लिये उन्हें अलंकृत करने उठ जाते हैं । नरेशने उत्साह नहीं दिखलाया, किंतु एक अनधिकारी नारकीय प्राणी सम्राट् बन जायगा केवल अपनोंके शौर्यके सहारे ! धरा रसातल चली जायगी । धर्म कहाँ आश्रय ढूँढ़ेगा ! द्युमान्की दिग्विजय—असुरोंकी विजयसे भिन्न होगी क्या वह ? मैं सम्राट्पदकी कल्पनासे भी काँप उठता हूँ प्रभु !'

'कोई और उपयुक्त अनुष्ठान या आराधना !' पुरोहितको किसी भी प्रकार अपने इस यजमानके चित्तको आश्वासन देना है । आश्वासन ही तो देना है—यह श्रद्धाप्राण, सदाचार-संयम-तत्पर, मर्यादाकी मूर्ति-द्युमान्—इसमें कलुष सम्भव कैसे हैं ? प्रजा जिसे प्राणके समान लगती है, सम्यक् सदाचारके निर्वाहके लिये जिसने अंगपतिका क्रोध स्वीकार किया; किंतु अपने एकपत्नीव्रतको त्यागकर उनकी सौन्दर्यमयी दुहिताका पाणिग्रहण जिसे प्रिय नहीं लगा, जो शत्रुके भी क्लेशसे विकल हो उठता है, उसमें कलुष सम्भव है !

'नारकीय प्राणी !' किंतु नरकसे जो संसारमें आते हैं, उनके लक्षण भी तो शास्त्रोंने बतलाये हैं । द्युमान्में क्रोध, स्वार्थ, हिंसा-प्रवृत्ति, विषय-लोलुपता—कुछ भी तो नहीं है । द्युमान् यदि स्वर्गसे नहीं आया है तो संसारमें फिर कोई स्वर्गसे आया प्राणी नहीं हो सकता ।

'नारकीय प्राणी !' जिनके श्रीमुखसे ये शब्द निकले थे, उनपर अविश्वास करनेका भी साहस नहीं राजपुरोहितमें । वे अवधूतश्रेष्ठ निदाघ——महर्षिगण उनकी चरण-वन्दना करते हैं । उन नित्य निःस्पृह, निरन्तर आत्मलीनमें न रोष सम्भव है और न प्रमाद वहाँ प्रश्रय पा सकता है ।

राजपुरोहित शास्त्रज्ञ हैं——गम्भीर विद्वान् पूर्वमीमांसाशास्त्रके । अनेक बार ऋषियोंने अपने यज्ञोंमें उन्हें ऋत्विक् अथवा अध्वर्यु वरण करके सम्मानित किया है । वेदके रहस्य एवं धर्मके तत्त्वको जाननेका गर्व वे नहीं करते, ठीक-ठीक धर्मका तत्त्व भगवान् नर-नारायण ही जानते हैं; किंतु जितना ज्ञान उनका है, अपने यजमानमें उन्हें अल्पतम पाप भी नहीं दीखता; किंतु महर्षि निदाघकी वाणी असत्यका स्पर्श करेगी, धर्मराज भी ऐसा सोचनेका साहस नहीं कर सकते ।

'यह ठीक है कि युवराजका अध्ययन अभी समाप्त नहीं हुआ ।' नरेशने बाधा दी कुलपुरोहितके चिन्तनमें——'किंतु आपके करोंकी छायामें सिंहासनपर उन्हें बैठना मात्र ही तो है ?' 'आप ! आप सिंहासन-त्याग········।' पूरी बात आशंकाके कारण मुखसे निकल नहीं सकी ।

'आप——जैसे वेदज्ञ कहते हैं 'तुषाग्निको शरीर समर्पित कर देना मानवका सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है ।' नरेशने स्वस्थ स्वरमें कहा——'तीर्थराजमें गङ्गा-यमुना जहाँ अंकमाल देती हैं, मकरके आगामी पुण्यपर्वपर इस अधमकी भस्म वहाँ परिपूत बने, ऐसी अनुमति प्रदान करें ।'

'कोई इसे स्वीकार नहीं करेगा । प्रजा, सामन्त, विप्रवृन्द एवं आश्रितजन कोई नहीं ।' राजपुरोहित दृढ़ स्वरमें बोले——'अल्प पापमें अधिक प्रायश्चित्त निर्दिष्ट करनेवाला ब्राह्मण नरकगामी होता है । यदि वही प्रायश्चित्त आवश्यक हो तो इसका विधान महर्षि निदाघको ही करना चाहये ।'

× × ×

'महर्षि निदाघके राज्यमें पधारनेका समाचार मिला है !' उस दिन राजपुरोहितने ही सोत्साह सूचित किया था । वे दिग्वसन, अलक्ष्यलिङ्ग अवधूत——उनका कोई ठीक पता-ठिकाना हुआ करता है ? उन ज्ञानमूर्तिके दर्शन जिसे हो जायँ, सौभाग्य उसका । ऋषिगण भी सदा उन्हें कहाँ पहिचान पाते हैं ।

उन्मत्त, जडके समान अपनेको प्रदर्शित करनेवाले, गृहस्थके यहाँ गोदोहनकालसे अधिक किसी प्रकार न रुकनेवाले उन नित्य परिव्राट्से उपदेश-प्राप्तिकी आशा तो दुराशा ही है । वे कहाँ प्रवचन करते हैं ? किंतु उनके दर्शन ही क्या कम सौभाग्यके सूचक हैं ।

एक अन्तेवासी उनके दर्शन समीपके वानप्रस्थाश्रममें कर आया था । उसने अपने गुरुदेवको सूचित किया और राजपुरोहितकी कलिंग-नरेशपर असीम कृपा तो सबको ज्ञात है । वे तत्काल राजसदन पहुँच गये थे——'अवश्य ही कुछ श्रम उठाना पड़ेगा उन्हें ढूँढ़नेमें ।'

'वह श्रम हमारे सौभाग्यको शुभ्र करनेवाली तपस्या बनेगा !' नरेशने तत्काल रथ प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दे दी ।

कोई सेवक साथ नहीं लिया गया । राजपुरोहितने अपना एक ब्रह्मचारी अवश्य भेज दिया था पहिले ही । रथ वानप्रस्थ तपस्वियोंके आश्रमोंतक पहुँचा भी नहीं था कि वह ब्रह्मचारी मार्गमें लौटता मिला——'भगवान् भास्करके प्रधान पीठकी ओर महर्षि चले गये ।'

एकसे दूसरे स्थानोंमें पूछते——पता लगाते अन्तमें महर्षि निदाघ मिल गये थे । वे शाद्वल भूमिमें एक नारिकेल तरुकी छायाका आश्रय लेकर लेटे थे । एक हाथपर मस्तक रखकर शान्त पड़ा था उनका श्रीअङ्ग । रथ पर्याप्त दूर छोड़ दिया गया ।

राजपुरोहितको आगे करके नरेश महर्षिके समीप मन्दगतिसे पहुँचे । भूमिमें पड़कर प्रणिपात किया सभीने । राजपुरोहितका ब्रह्मचारी भी साथ ही था और सारथि भी ।

'नारकीय प्राणी !' महर्षिने तिरस्कारपूर्वक कहा और शीघ्रतापूर्वक उठकर खड़े हो गये । वे इतने वेगसे एक ओर दौड़ पड़े कि उनके पीछे दूसरेके लिये दौड़ना भी कठिन ही था । दौड़ना मर्यादाके अनुरूप भी नहीं होता ।

'नारकीय प्राणी !' ठक् रह गये चारों-के-चारों व्यक्ति । वाक्य किसी एकको लक्ष्य करके नहीं कहा गया था; किंतु उसका लक्ष्य कौन था, यह निर्णय कोई समस्या नहीं थी । सूतको महर्षि सम्बोधन करते, यह सम्भावना नहीं थी । राजपुरोहित तथा ब्रह्मचारीके लिये महर्षि इस प्रकारके शब्दका उपयोग कर नहीं सकते थे । कुछ भी हो, वे दोनों ब्राह्मण थे और ब्राह्मणका अबोध शिशु भी रुष्ट हो जाय—स्रष्टाको भी वह रोष भारी पड़ता है । महर्षि विप्रका अपमान कर नहीं सकते थे ।

'नारकीय प्राणी !' आगतोंमें जो मुख्य था, सम्बोधन उसीको लक्ष्य करेगा । नरेशको लगा कि दिशाएँ अन्धकारमें डूब गयी हैं । वे मस्तक पकड़कर बैठ गये । राजपुरोहित बड़ी कठिनाईसे उन्हें रथपर बैठा सके उस दिन ।

× × ×

'महर्षि निदाघ कोणार्क-क्षेत्रमें ही हैं !' राजपुरोहितके ब्रह्मचारीने ही इस बार भी समाचार दिया था । कई ब्रह्मचारी तथा अनेक राजसेवक महर्षिका पता लगाने कई दिनोंसे चारों ओर घूम रहे थे ।

'हम पहिले भगवान् नारायणको नमस्कार करेंगे ।' कोणार्क पहुँचकर यद्यपि अवधूतका पता लग गया; किंतु राजपुरोहितने रथको देवधामकी ओर ले जानेका आदेश किया । भगवान् सूर्यकी विधिवत् अर्चना उन्होंने की और नरेशसे सम्पन्न करायी ।

'जगत्के परम प्रकाशक ! आपके चरणोंमें यह अज्ञानान्धकारमें डूबता ब्राह्मण प्रकाश-प्राप्तिकी कामनासे आया है ।' पूजाके अन्तमें राजपुरोहितने जब प्रार्थना प्रारम्भ की, केवल नरेश ही नहीं, मन्दिरमें उपस्थित समस्त जन विस्मित हो उठे । यह अद्भुत गम्भीर स्वर—वैखरी वाणी तो नहीं है । हृदयसे उठता घनघोष-जैसी यह पश्यन्ती वाणी—'कोणार्कसे निराश लौटने नहीं आया यह विप्र । आपने अनुकम्पा नहीं की—श्रीविग्रहके सम्मुख प्राङ्गणमें इस शरीरकी भस्म मिलेगी कल प्रातः । भार्गव ब्राह्मण देह-दाहके लिये चिताकी चिन्ता नहीं करता । अग्निकी धारणा उसे माताके दूधके साथ मिलती है । यजमानको तुषाग्निमें आहुति बनते देखनेसे पूर्व योगाग्नि दग्ध न कर दे यह देह—पौरोहित्य व्यर्थ रहा मेरा ।'

किंतु भगवान्के श्रीचरणोंमें पहुँची प्रार्थना कभी निराश लौटी है जो आज लौटती ? महर्षि निदाघ ही कहाँ निष्ठुर हो सकते थे । जिसमें रज और तमकी छायाका स्पर्श नहीं—रोष, क्रोध, घृणा, निष्ठुरताका प्रवेश सम्भव है वहाँ । उनकी वाणीने अमङ्गलका स्पर्श कब किया !

'जिज्ञासु है तू ! आ ! आ जा !' सागर-पुलिनपर पड़े थे वे सर्वज्ञ इस दिन । आज भी वे उसीपर दक्षिण करका उपधान बनाये लेटे थे । आज नरेशके साथ राजपुरोहित मात्र थे महर्षिको प्रणिपात करनेवाले । शेष सभी लोगोंको राजपुरोहितने रोक दिया था । महर्षिने किंचित् मस्तक उठाया और अधरोंपर मन्दस्मित आ गया—'विप्रश्रेष्ठ ! आपका यजमान अब प्रकाशके उन्मुख हो चुका है ।'

'श्रीचरणोंकी कृपा !' राजपुरोहितने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया—'प्रकाशके अधिदेवताके पादपङ्कजोंमें प्रणिपात करके ही हम इधर आये हैं ।'

'आप शास्त्रज्ञ हैं । नरकका स्वरूप क्या है !' नरेश और राजपुरोहित दोनों जब समीप पुलिनकी

रेतपर बैठ गये, दो क्षण रुककर महर्षिने पूछा—'क्या-क्या है नरकोंमें ?

'अन्धकार, घृणित वस्तुएँ ।' राजपुरोहितने विनम्र स्वरमें ही उत्तर दिया—'पीड़ाके अकल्पनीय उपकरण, मल-मूत्र-शोणितादि अपवित्र पूयगन्ध घृणित पदार्थ !'

'राजन् ! तुम्हारे इस शरीरके भीतर क्या-क्या है ?' महर्षि देरतक मौन रहे । उन्होंने नेत्र बंद कर लिये थे । जैसे राजपुरोहितका उत्तर उन्होंने सुना ही नहीं । एकाएक नेत्र-पलक खुले और उन्होंने द्युमान्‌की ओर देखा—'कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर, सुपवित्र तत्त्व !'

'भगवन् ! इसमें श्रेष्ठ सुन्दर सुपवित्र क्या ?' नरेश संकोचपूर्वक बोले—'रक्त, मांस, मेद, अस्थि, लोम, मज्जा, त्वचा, मल, मूत्र········।'

'सब अपवित्र, सब दुर्गन्धित, सब घृणित !' महर्षि उठकर बैठ गये—'और इस देहने दुःख-ही-दुःख दिया प्राणियोंको । दारुण वेदना देनेवाला यह कारागार । तब यह नरक नहीं है राजन् ?'

कोई कैसे कहे कि यह नरक नहीं है। राजपुरोहितके मुखसे भी शब्द नहीं निकला । नरेशने केवल स्वीकृतिमें सिर झुका दिया ।

'इस नरकमें—देहमें पड़ा प्राणी—देहासक्त ही नारकीय प्राणी है ।' महर्षिकी वाणीके शब्द-शब्दसे मानो प्रकाश फूटा पड़ता था । देहासक्ति ही उस नरक भी ले जाती है । प्रायश्चित्त करना है तुम्हें ? इस देहासक्तिका त्याग तुम्हारा प्रायश्चित्त !'

राजपुरोहितके साथ नरेशने श्रद्धाभरित प्रणिपात किया वहीं पुलिनपर उन अवधूतश्रेष्ठको ।

उद्धवके प्रति

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

सुनत न और की धुनत अपनी ही आप
आपको तो अगुन बखानिबे की धुन है,
जीवन हमारो अहै नाम-गुन मोहन को
वासों कहा काम जाको नाम है न गुन है।
हम निगुनी हैं, हमैं सगुन सिखैहै गुन
दैहै कहा गुन जो अगम्य है अगुन है,
एक अंग हीन को जहान असगुन मानै
सब अंग हीन तो महान् असगुन है ॥

(२)

नैन बिन देखै ब्रह्म नैन हूते दीखै नायँ
स्याम हमें देखैं हम स्यामहिं निहारै हैं,
रूप हीन ब्रह्मको निरूपन करत आप
स्याम मन हरन अनूप रूप वारे हैं।
चाहि अनचाहे की सदा ही आप चाहे करो
हम न अनेह पै सनेह उर धारै हैं,
अलख निरंजन सों काम कहा ऊधो ! हमें
स्याम दृग-कंजनके अंजन हमारे हैं ॥

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

श्रीबदरीनाथ

केदारनाथसे जब हम वापिस हुए उस समय बादल उठ रहे थे। हमारे चलते-चलते सारा दृश्य बादलोंके आवरणमें ढक गया। अरण्यखण्डों, उत्तुंग शैल-मालाओं, केदारनाथके मन्दिर, उसके पीछेके विशाल हिमानी और मंदाकिनी सभीने नखशिख इन मेघोंकी ओढ़नी ओढ़ ली। पैर तो हमारे अवनी-पर थे, पर चित्तदृष्टिमें सर्वत्र छाये मेघ ही थे। जान पड़ता मेघोंके लोकमें हम विचरण कर रहे हैं। हमें अपने बचपनकी बातें याद आयीं। जब मैदानोंमें मेघ उमड़-घुमड़कर इर्द-गिर्द छा जाते हैं तो बच्चे कहते हैं, मेघ चरने निकले हैं। हम इन मेघोंको बाँधते, चीरते, समेटते चलते पर ये हमारे चतुर्दिक् छाये ही रहते। हम सराबोर इनमें डूबे रहते। मेघमय इस दृश्यमें हम ऐसे निरुपाय थे जैसे किसी उमड़ती सरिताके वेगको रोकनेमें मिट्टीका एक ढेला। मानव यहाँ ऐसा दिखता जैसे जलधिका अवगाहन करने चला उसकी ऊर्मियोंमें ही उलझा कोई तटवर्ती पोत। इस मेघ-सिन्धुका अवगाहन कर हम आगे बढ़ रहे थे, कभी डूबते कभी उतराते कभी ये ओस-बिन्दु बन हमारे तनपर टपकते, कभी बड़ी-बड़ी बूँदोंकी वर्षा करते। मंदाकिनीको पार कर हमने अपने अश्रुपूरित नेत्र पोंछे ही थे कि सजल मेघोंने वृष्टि आरम्भ कर दी। कुछ पग चलते ही हम सराबोर हो गये इस बारिससे। जोरोंकी वर्षा और घने मेघ आवरणमें पथ टोहते हम बढ़ रहे थे भींगते, ठंडसे ठिठुरते। नीचे मंदाकिनीका मन्द-मन्द रव, ऊपर मेघोंका घोर गर्जन, फिर अपने चतुर्दिक् छाये उन्हींके आच्छादनके कारण एक अदृष्ट सृष्टि और उसके अद्भुत वातावरणमें हम जा रहे थे। कभी भय लगता, कभी विस्मय होता और कभी प्रकृतिकी इस अलौकिक और अनुपम रूप-सुधाका हम मुग्धमन पान करने लगते। ज्यों-ज्यों वर्षा बढ़ी, मेघोंका आवरण हटा। चढ़ावकी अपेक्षा कभी-कभी उतारमें जल्दी चलना कठिन होता है, थमकर चलनेपर भी बरबस हमारे पग कुछ जल्दी ही उठ रहे थे। ऊपरसे नीचे जो उतर रहे थे। ऊपर चढ़नेमें हमें पर्याप्त श्रम उठाना पड़ा था, नीचे उतरनेमें उसका दशमांश भी नहीं लग रहा था। चढ़ाव और उतारके इस चक्करकी महत्तापर इसी वक्त बोलते हुए गोविन्ददासने कहा, मानव-जीवन स्वयं एक कहानी है चढ़ाव और उतारकी। एक प्रयोग है, उत्थान और पतनका। चींटीकी तरह कितने चढ़ते-गिरते, पुनः चढ़ते फिर गिरते और इस चढ़ने-उतरनेके क्रममें कितने ऊपर पहुँच पाते हैं और पहुँचनेपर भी कितने ऐसे हैं जो कुछ देर थम पाते हैं। अपने मूल उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये, एक साधककी साधना और अनवरत श्रमकी आवश्यकता होती है। ऐसे साधनापूरित मन और अनवरत श्रमसे उठा मानव एक बार जब अपनी ऊँचाईपर पहुँच जाता है तो नीचे आनेकी कल्पना उसे भयावह हो जाती है। वह सदा सजग रहता है उस स्थितिके प्रति जिसमें उस ऊँचाईके बीज छिपे रहते हैं। यदि वह इस स्थितिको दृष्टिसे ओझल कर दे तो पलक मारते जरा-सी तन्द्रा, मोह या सुषुप्तिकी अवस्थामें एक झटकेमें नीचे आ जाय। इसीलिये जिस तरह आँख खोलकर धीरे-धीरे अपने विवेक और उद्यमसे आदमी ऊपर बढ़ता है। पाँवोंकी मंजिलमें भी आहिस्ता-आहिस्ता उसे नीचे उतरना होता है। आँख बंदकर वह नीचे नहीं उतर सकता। आँख बंदकर नीचे उतरनेवालोंको तो तिमिरमय गहरे खंदककी ही शरण मिल सकती है। फिर पहाड़ोंकी चढ़ाई और उतार दोनोंमें ही मानवको सदा सजग रहना पड़ता है। चींटीकी तरह फिसलनका सदा भय बना रहता है। न जाने उसका कौन पग उसे नीचे खंदकमें खिसकानेवाला हो। एक बात और, भावों और भावनाओंकी ऊँचाईपर पहुँचनेके लिये मनको जिस संयम, सहिष्णुता और एकाग्रताकी मंजिल नापनी पड़ती है वह उसकी सामान्य स्थितिमें नहीं। अपनी सामान्य स्थितिपर तो वह सहज गति-मतिसे चलायमान रहता ही है। इसी तरह केदारनाथकी एक संकल्पपूरित ऊँचाईपर पहुँचकर अब हम नीचे उतर रहे थे, काफी नीचे हमें उतरना था। अतः पूर्वोक्त मतानुसार मनकी स्वाभाविक गतिमतिमें सहज भावसे हमारे पाँव जल्दी उठ रहे थे, हम विवेककी वेणीमें इन्हें थामते चलते थे। नीचे उतरनेके इस उद्योगमें हमारे भाव-विचार भी उतरते-चढ़ते, किंतु इतने नीचे नहीं जितने मैदानोंमें रहते समय। कदाचित् यह इस पुण्यभूमिका प्रभाव था। मार्ग चौड़ा था, अतः निष्कंटक वन-सृष्टिपर दृष्टि डालते, कभी पावन-सलिला मंदाकिनीके मादक, मन्थर, मधुर और तेज प्रवाहको निरखते, तो कभी कपोलोंको सहलाते मलय पवनके झोंकोंमें उसके जलकणोंका स्पर्श-आनन्द लेते तथा

उसके मन्द-मन्द रवका मस्तीभरा सहगान-सा सुनते अघाते न थे। इन दृश्य और श्रव्य नैसर्गिक दृश्यों और कलाओंके क्रिया-कलापमें हमें चौंसठ कलाओंकी रसानुभूति होती और जब हमारा निर्धन नग्न मन इस नैसर्गिक निधिका सहज रूप पाता जो प्रकृति यहाँ दोनों हाथ लुटाती है तो उसे अनुभूति होती एक शाश्वत, सत्य और चिरंतन सुखलोककी। जान पड़ता हम किसी ऐसे दिव्य लोकमें विचरण कर रहे हैं, जो संसारियों-के लिये सुषुप्तिकी, ज्ञानियोंके लिये कल्पनाकी और योगियों-के लिये साधनाकी वस्तु हुआ करता है । हमें इस सुखकी यहाँ सहज अनुभूति हो रही थी, उसी तरह जिस तरह सुखद समीर जड और चेतन सभीके लिये सर्वहित-भावसे तत्पर समप्रवाहमें प्रवाहित सर्वसुलभ रहता है ।

श्रीकेदारनाथपुरीसे तीन मील चलनेपर क्रमशः वर्षा बंद हुई। आज हमने ग्यारह मीलकी मंजिल तय कर सीतापुर-चट्टीमें रात्रि विश्राम किया । दूसरे दिन अर्थात् २७ जूनके प्रातःकाल चलकर हमने फाटा-चट्टीमें भोजनादि किये और अपराह्णमें गुप्तकाशी पहुँच गये । गुप्तकाशीमें रैन-बसेराकर भोर होते ही फिर चले और तीन मीलकी मंजिल नाप काकडा-गाड़ पहुँचे, जहाँसे मोटरपर सवार हो उसी दिन संध्याको रुद्रप्रयाग पहुँच गये । बद्रीनाथ जानेके लिये केदारनाथसे रुद्रप्रयागतक लौटना पड़ता है और रुद्रप्रयागसे मोटरद्वारा लगभग पचास मील पीपलकोटीतक जाना पड़ता है । यों तो अब बदरीनाथके रास्तेमें जोशीमठ तक मोटर जाती है, किंतु सुना, पीपलकोटी और जोशीमठके बीचके मार्गमें कहीं कोई गिरिखण्डके आ विराजनेसे मोटर-यातायात अवरुद्ध हो गया है। अतः फिलहाल मोटर पीपलकोटी तक ही जाती थी ।

दिनांक २९ जूनके प्रातःकाल बदरीनाथकी जय बोल हम रुद्रप्रयागसे मोटरमें पीपलकोटीके लिये सवार हुए।

उत्तराखण्डके चार धामोंकी यात्राके हमारे संकल्पके तीन चरण हम पूरे कर चुके थे, शेष और अन्तिम चतुर्थ चरणकी पूर्ति और उसकी प्राप्तिकी लालसाभरे मनसे आज हमारा हृदय ओत-प्रोत था ।

जब हम अठारह मईको दिल्लीसे इस यात्राके लिये विदा हुए, उस समय ग्रीष्मका प्रखर आतप था । यमुनोत्तरीमें थोड़ी वर्षा हुई थी, गङ्गोत्तरीमें बिल्कुल नहीं । केदारनाथमें सर्वाधिक ऊँचाईके कारण वर्षा ऋतुके अलावा भी मेघोंका साम्राज्य रहता है और प्रायः पानी बरसा करता है । केदारनाथके अलावा मार्गमें जो इधर-उधर कुछ वर्षा हुई भी, उससे हमने जेष्ठ दोंगरे माना, किंतु बदरीनाथके पथपर चलते ही हमने देखा, ग्रीष्म समाप्त हो गयी और वर्षाका आरम्भ हो चुका है।

पीपलकोटी हम मध्याह्नमें पहुँचे । बदरीनाथधामकी यात्राका पीपलकोटी आज हमारा प्रथम पड़ाव था । पीपल-कोटी रुद्रप्रयागकी तरह ही इस मार्गका एक अच्छा कस्बा है । बाजार, डाक-तारघर और टेलीफोनकी भी व्यवस्था है । वनविभागीय विश्रामालय, औषधालय और मोटर-बसोंका एक बड़ा अड्डा है । वहाँ एक भेड़-पालक सरकारी संस्था है तथा रिंगालकी वस्तुएँ बनानेका काम होता है । यहाँ हमारे ठहरने-की व्यवस्था बदरीनाथ-मन्दिर-कमेटीके प्रवासगृहमें की गयी थी । आरामसे भोजन-भजन हुए और हम रात काटने पड़ रहे । भोर होते ही हमारी पद-यात्रा आरम्भ होनी थी । सदा-की तरह ब्राह्ममुहूर्तमें चार बजे हमलोग उठ बैठे, अपने कमरे-के पट खोले तो देखा जोरोंकी वर्षा हो रही है । हम यात्रापर सूर्योदयके पहले ही लगभग साढ़े पाँच बजे रवाना हो जाते थे । कुछ देर हमने पानी रुकनेकी प्रतीक्षा की, किंतु आसार रुकनेके दिखते नहीं थे । हम लोग बड़े पशोपेशमें पड़े । समूची यात्रामें आज पहला दिन था, जब प्रातःकाल हमें इस तरह वर्षाका सामना करना पड़ा हो । अनेक जगह अनेक बार पानी गिरा है, लेकिन कभी तीसरे पहर, कभी रातमें । केदारनाथसे लौटतेमें गिरा था, यहाँ तो आगे बढ़नेसे ही रोक रहा था । बदरीनाथधामकी प्रथम दिनकी पदयात्रापर ही प्रकृति-के इस प्रकोपपर हम कुछ चिन्तित हो गये । 'प्रथमग्रासे मक्षिकापाते' वाली बात थी । चाहते तो बरसते पानीमें निकल पड़ते, पर यह बात दलके दो-चार व्यक्तियोंके लिये ही सम्भव थी, समूचे दलके लिये नहीं । फिर गोविन्ददासकी भावज यहाँ पहुँचते ही कुछ अस्वस्थ भी हो गयी थीं, अतः उनके कारण तथा अन्य साथियोंके कारण बरसते मेहमें यात्रापर चलना सम्भव न था । पानी इतना तेज था कि चलनेकी कौन कहे उरिया लाँघनेकी हिम्मत न होती । फिर पीपलकोटीकी ऊँचाई ४३५० फुट होनेके कारण शीत भी अधिक थी । अतः इस धोकम-धाकी स्थितिमें कभी बाहर बरामदेमें आते, कभी फिर कमरेमें जाते साढे पाँच बज गये, पानीका वेग कम न हुआ । हमें निश्चय हो गया आज हमारा निकलना न हो सकेगा । बारी-बारी सभी नित्यकर्मसे निवृत्त हो ही चुके थे, लाचार हिम्मत हार पस्तदिल, चूँकि सदाकी तरह पदयात्रापर चलनेको सबने अपनी-अपनी कमर कस ली थी, बँधे बिस्तरोंका, जो

अबतक बँध चुके थे, सहारा ले कमरेमें बैठ गये। छः बजनेको थे, देखा क्रमशः पानी कम हो रहा है और कम होते-होते साढ़े छः बजे वर्षा बिलकुल थम गयी। करीब एक घंटे देरसे अपनी-अपनी लाठी थाम भगवान् बदरीविशालकी जय बोल सब पदयात्रापर निकल पड़े।

वर्षा ऋतुके आरम्भका यह दृश्य अद्भुत था। पहले जो बादल घटाटोपके सदृश छाये हुए थे, उनके खण्ड हो-होकर अब उनकी दौड़-भाग आरम्भ हुई। यह दौड़-भाग बिना विश्राम किये एक शिखरसे दूसरे शिखरपर होती। फिर इस दौड़में बादलोंके कई रूप बनते। कभी हाथी; कभी सिंह, कभी मृग, कभी वाराह, तो कभी भालूका, जो भालू मदारियोंके भालुओंके समान कभी-कभी दो पैरसे खड़े भी हो जाते थे। आकाशमें हमने अनेक बार बादलोंकी ये विभिन्न आकृतियाँ देखी थीं पर पहाड़ोंकी चोटियोंपर नहीं। गिरिशृङ्गोंपरकी वन्य जीवोंकी ये आकृतियाँ और उनकी यह दौड़-भाग एक अद्भुत दृश्य था। थोड़ी देरमें यह दौड़-भाग बंद हुई और अब मेघोंके इन टुकड़ोंने हिमवान्‌के शिखरोंपर ही अपना डेरा डाल दिया। मानो इस दौड़से थककर अब वे विश्राम कर रहे हों। मेघोंका यह कौतूहलपूर्ण दृश्य देखकर हमें याद आ गयी कविवर सुमित्रानन्दन पंतकी निम्न पंक्तियाँ—

पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेष

तथा संस्कृतकी यह उक्ति भी—

पदे पदे यन्नवतामुपैति
तदैव रूपे रमणीयतायाः।

कुछ दूर कुछ शिखरोंपर धूम-सा उठ रहा था। संस्कृतकी एक उक्ति है—'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' हिन्दीमें भी एक कहावत है 'बिना आगके धुआँ नहीं निकलता'। परंतु यह धूम इस उक्ति और कहावतको मिथ्या सिद्ध कर रहा था। जहाँ यह धुआँ था, वहाँ आग न थी। यथार्थमें ये अग्निसे उत्पन्न धूम न होकर पानीके बादल थे। एक उष्ण दूसरे शीतल। दोनों विरोधी गुणोंवाले होनेपर भी रूपमें एक-से। मानव-आकृतियोंकी तरह एकरूपता किंतु भावों, विचारों और कृतियोंमें विविधताके ये मेघ-दल प्रतीक बन गये थे।

पीपलकोटीसे बदरीनाथ ३८ मील पड़ते हैं। रास्ता यमुनोत्तरी और गङ्गोत्तरीके सदृश बीहड़ नहीं। चढ़ाव होते हुए भी मार्ग यद्यपि केदारनाथके सदृश तो अच्छा नहीं, पर बुरा भी नहीं है। परंतु इस मार्गकी हिमवान्‌की शिखरावली यमुनोत्तरी, गङ्गोत्तरी और केदारनाथके मार्गकी शिखरावलीसे सर्वथा भिन्न है। पीपलकोटीसे चलनेके बाद कुछ दूरतक चीड़के वृक्ष मिलते हैं, परंतु चीड़का वैसा घना जंगल नहीं, जैसा यमुनोत्तरीके मार्गमें है। गङ्गोत्तरीके सदृश देवदारका भी इस मार्गमें वन नहीं है। यत्र-तत्र देवदारके फैले हुए तथा सुरोंके सदृश सीधे चाहे कुछ वृक्ष हों। केदारनाथके रास्तेके समान इस मार्गमें वृक्षों, पौधों, लताओं और झाड़ियोंकी सघन हरियाली अथवा केदारनाथके समान पुष्पोंके पौधे भी नहीं हैं। न इस मार्गकी गङ्गा अलकनन्दापर वैसी सघन विटप-लताओंकी कुञ्जोंवाली छाया ही है। हाँ, इस ओरके इन वृक्षोंमें हमें खजूरके कुछ वृक्ष देखकर आश्चर्य अवश्य हुआ।

पीपलकोटीसे नौ मील चलकर हम गुलाबचट्टीमें भोजन करने ठहरे। गुलाबचट्टी पहाड़की एक चोटीपर समुद्रसतहसे ५३०० फुटकी ऊँचाईपर स्थित पीपलकोटीके बादका हमारा पहला मुकाम था। अपराह्णमें चार मील और चल हमारा अगला मुकाम कुमारचट्टीमें था। यहीं रात्रिवास करनेकी बात थी। परंतु आज एक नयी घटना घटित हुई।

हमारे दलके लोग फुट फेल होकर चलते ही थे। मुकामसे प्रस्थानके पूर्व सब लोग एकमत हो अपने पड़ावका निश्चय करते यद्यपि जो गोविन्ददासके कारण निश्चित कार्यक्रमके अनुसार ही होते किंतु कभी-कभी इसमें भी अपवाद हो जाता। अतः सदाकी तरह पीपलकोटीसे प्रस्थान करनेके पूर्व सभी साथियोंको नौ मील आगे गुलाबचट्टीमें दोपहरके भोजनकी तथा चार मील आगे कुमारचट्टीमें अपने रात्रि-मुकामकी जानकारी दे हम आगे बढ़े थे। मार्ग अच्छा था, अतः कोई पाँच घंटेमें ९ मीलकी यात्रा कर हम गुलाबचट्टी पहुँच गये। स्नानादि किये, पण्डितने भोजनोंकी तैयारी की। पड़ावपर पहुँचनेके बाद हमारे सभी साथी, जो अक्सर मार्गमें बिछुड़ जाते थे, इस प्रारम्भिक तैयारीके होते-होते एकत्रित हो जाते थे। किंतु इस बार काफी विलम्ब हो जानेपर भी हमारे साथकी दो महिलाएँ जब यहाँ नहीं पहुँचीं तो हमलोग चिन्तित हो उठे। इस अप्रत्याशित देरीसे हमलोग थोड़े नहीं, पर्याप्त चिन्तित थे। ऐसे अवसरोंपर स्वजनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होने और उनके कोई समाचार न मिलनेपर विशेषकर ऐसे स्थलोंपर हमारे मनको अमाङ्गलिक और अनिष्टसूचक विचार आ घेरें, यह स्वाभाविक ही होता है। बरसात शुरू हो चुकी थी, रास्तोंपर फिसलन, गहरे खंदक, भयानक प्रवाहयुक्त सरिता अलकनन्दा और टूटते पहाड़ हमारी दृष्टिमें एक दृश्यवत् घूमने लगे। दोनों ही महिलाएँ यद्यपि हमारी आत्मीय नहीं

थीं, पर उतनी दूरकी भी नहीं, जो सम्बन्ध केवलमात्र परिचयकी वस्तु हो । आत्मीय न होते हुए भी काफी निकटका मामला था । इनमें एक महिला थी गोविन्ददासके सद्गुर मुनीमकी पत्नी तथा दूसरी श्रीमती गोदावरी देवीकी परिचारिका श्यामा । हमें उत्तराखण्डकी यात्रा करते लगभग डेढ़ माह हो गया था, इन बीते दिनोंमें हमारी मानसिक रचना कुछ इस प्रकारकी हो चुकी थी कि बहुत दूरतक अपने घरबार और परिवारको हम भूल-सा गये थे और स्वतन्त्र पक्षियोंकी तरह केवल अपने दलके साथ पूर्ण बल और वेगसे एकके बाद एक शैल-शिखर पार करते अपने गन्तव्यपर चल रहे थे । इस मंजिलमें हमें प्रधानतया दो बातोंका ही विशेष ध्यान रहता, एक अपने लक्ष्यका, दूसरा अपने सभी साथियोंके सुख-स्वास्थ्यका । जैसा कि ऊपर कहा है, अपने मनोरथके चार चरण या पदार्थोंमें हमें तीन प्राप्त हो चुके थे, चौथेकी प्राप्तिके हम निकट थे । किंतु हमें इस घटनासे आज ऐसा जान पड़ा, जैसे तीसरी सीढ़ीसे उतरते ही और चौथी सीढ़ीपर पाँव बढ़ाते ही मानो किसीने हमारा पाँव पकड़ लिया । सभीके मन चिन्ता और विषादकी छायासे म्लान थे । क्या हो गया भगवान्, कुछ समझमें न आता । कोई भूलने-भटकनेकी बात कहता तो बहुमतसे सभी इस विचारको निर्मूल कर देते । श्यामाने तो दो वर्ष पूर्व ही तो उत्तराखण्डकी यात्रा की थी और अभी तककी हमारी पिछली तीन धामोंकी यात्रामें वह अनेक बार मार्गमें आगे-पीछे हुई थी पर भूली-भटकी कहीं नहीं । अतः बदरीनाथके इस मार्गमें इनके भूलने-भटकनेकी सम्भावनाका विचार तो हमारे मनमें उठता पर श्यामाके कारण इस विचारको अधिक प्रश्रय नहीं मिलता । ज्यों-ज्यों प्रतीक्षाका समय बढ़ता, हम लोगोंकी चिन्ता प्रगाढ़ होती जाती । साथियोंको, डंडी-डंडीवाले तथा भारवाहकोंको यहाँ-वहाँ भेजा, पंडाजीको आगे कुमारचट्टी भेजा, किंतु सभी थके पाँव और रीते हाथ वापस लौटे, कहीं कोई पता नहीं । इन लोगोंके वापस लौटनेपर और सब लोगोंके मन खेदसे भर गये । स्नानादि तो सवेरे हो गये थे पर खाया-पिया किसीसे न गया । दैवयोगसे जब इस विचारसे कि अब आगे बढ़नेके सिवा और कोई उपाय नहीं, सब लोग चलनेके मूडमें बैठे थे, कुछ यात्री जो बदरीनाथसे लौट रहे थे, हमारी चट्टीके निकट आये और उन्होंने हमें संवाद दिया कि दो औरतें मार्गमें हमें मिली थीं और वे जोशीमठमें ठहरेंगी । यह संवाद मिलते ही हमारे मनको राहत मिली और खिन्न मनसे हम लोग आगे बढ़े । ये लोग कैसे जोशीमठ पहुँचीं, कहाँ क्या खाया-पीया होगा, कहाँ ये ठहरी होंगी, आदि बातोंकी चिन्ता अभी भी हमारे मनमें बनी रही और इसी चिन्ताका भार लिये हमलोग आगे चल पड़े । यद्यपि हमारा आज रात्रि-मुकाम कुमारचट्टीमें था, पर उक्त महिलाओंकी कृपाके कारण अब हमें कुमारचट्टीकी चार मीलकी नहीं, जोशीमठकी दस मीलकी मंजिल नापनी थी । यों ही नौ मील आज चल चुके थे, अब हमने दस मीलका और संकल्प किया और भगवान् बदरीविशालकी जय बोल चल पड़े । लड़खड़ाते पाँव रात्रिके आठ बजे जोशीमठ पहुँचे और जोशीमठमें प्रवेश करते ही अब इनकी यहाँ खोज प्रारम्भ की । कोई आधा घंटे तलाश करनेपर बाबा काली कमलीवालेकी धर्मशालामें दोनों देवियाँ मिल गयीं । इस मुलाकातपर हमें खुशी तो थी ही, पर कुछ नाराजी भी हुई । राजी-खुशी पूछनेके बाद हमने कैफियत भी माँगी, उनके इस तरह जोशीमठ आनेके लिये । बात यह हुई, पीपलकोटीसे जोशीमठ तक मोटर-मार्ग बन गया है । इन लोगोंने पीपलकोटीसे जो मोटरका मार्ग पकड़ा फिर न कहीं मुड़नेकी, न देखनेकी और न पूछनेकी कोई कृपा की । पीपलकोटीसे ९ मीलपर गुलाबचट्टीके लिये ऊपर पहाड़पर एक मार्ग जाता है, वह ये पारकर मूडमें आगे बढ़ती गयीं और जब काफी आगे निकल आयीं तो फिर उन्होंने लौटना अभीष्ट नहीं समझा । बस, इस जरा-सी नासमझी या असावधानीके कारण कितना क्लेश और कष्ट उठाना पड़ा इन्हें भी, और निर्विवादरूपसे इनसे भी अधिक हमलोगोंको अनन्त अव्यक्त अनिष्टकारी आशंकाओंका । असावधानी तो असावधानी ही है, छोटी हो या बड़ी । यह एक ऐसी तन्द्रा है, जिसका परिणाम मौतसे भी भयंकर होता है । आज हमें पहाड़के इस दुर्गम मार्गकी १९ मीलकी मंजिल नापनी पड़ी, वह भी शिथिल अंग और विवश मनसे । जोशीमठ पहुँचकर ज्यों ही बिस्तर खोले, सब-के-सब बिस्तरोंपर ऐसे पड़ गये, जैसे किसी मेजर ऑपरेशनसे मुक्त बेहोश रोगीको कोई ऑपरेशन टेबिलसे उतार स्टेचरपर लिटा दे । अबतककी यात्रामें हम पाँच मीलसे बारह मीलतक नित्य चले थे, आजकी हमारी यह मंजिल उन्नीस मीलकी हुई । अतः मार्गकी कठिनता और दुर्गमता आज हमारे अंग-अंगमें समा गयी थी । दूसरे दिन प्रातःकाल हमारा आगे बढ़ना नहीं हुआ ।

श्रीरामचरितमानसकी एक अर्द्धाली

(लेखक—श्रीनर्वदाप्रसादजी वर्मा)

मरम बचन सीता जब बोला । हरि प्रेरित लछमन मन डोला ॥

उपर्युक्त अर्द्धाली श्रीरामचरितमानसमें अरण्यकाण्डके अन्तर्गत श्रीगोस्वामीजीद्वारा कही गयी है। कुछ सज्जनोंका यह मानना है कि यह पाठ ठीक नहीं है । पाठ होना चाहिये—

मरम बचन सीता जब बोली । हरि प्रेरित लछमन मति डोली ॥

''उनका कहना है कि सीता 'बोला' में स्त्रीलिङ्ग कर्ताकी पुँल्लिङ्ग क्रिया व्याकरणकी दृष्टिसे दोषयुक्त है । साथ-साथ 'मन डोला'का भाव भी दूषित है। श्रीलक्ष्मणजीके सदृश संयमी पुरुषका मन अपनी माताके तुल्य बड़े भाईकी स्त्रीके लिये डोल गया । यह मानना सर्वथा अनुचित है । मन डोलनेका साधारण एवं व्यापक अर्थ 'मनका विकारी होना' है। श्रीलखनलालजीका मन निर्विकार था । इसकी साक्षी स्वयं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जनकपुरीमें पुष्प-वाटिकाके प्रसङ्गमें दे चुके हैं। अतः 'सीता बोली' और 'मति डोली' पाठ ही सही है । इससे स्त्री-लिङ्ग कर्ताकी स्त्री-लिङ्ग क्रिया होनेसे व्याकरण-दोष भी मिट जाता है और लक्ष्मणजीके मनमें विकार आ गया, यह दोष भी नहीं रह जाता । 'मति डोली' से यह अर्थ होता है उनकी बुद्धि यह निर्णय न कर सकी कि 'रहूँ या जाऊँ ?'

और भी एक दलील दी जाती है । ''लक्ष्मणके समान महापुरुषके लिये जो ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी धर्मपत्नी सीताको माता मानते थे, जिन्होंने कभी आँख उठाकर सीताके मुखकी ओर नहीं देखा, केवल उनके चरणोंको ही देखा, यह कहना कि एकान्तमें उन श्रीसीताजीपर 'मरम वचन' सुनकर उनका मन डोल गया या विकारग्रस्त हो गया । कितना बड़ा पाप है, कितना अक्षम्य अपराध है और कितनी जघन्य कल्पना है !''

आप अब इस अर्द्धालीपर विचार कीजिये ।

'मरम बचन सीता जब बोला । हरि प्रेरित लछमन मन डोला ॥'

—इसका यदि अर्थ किया जाता है कि 'जब सीता (मरम) बोला, तब लछमनका मन प्रभुकी प्रेरणासे डोल गया' तो इस अर्थमें 'मरम' और 'बोला' के बीचसे बचन शब्द ही छूट जाता है और इसीसे सारी गड़बड़ी होती है । यदि इसका यह सही अर्थ किया जाय कि 'जब सीताने मरम बचन बोला तब लछमनका मन हरिकी प्रेरणासे डोल गया ।' तो स्पष्ट हो जायगा कि 'मरम बचन' पुँल्लिङ्ग है, इसलिये उसकी क्रिया पुँल्लिङ्ग भी सर्वथा सही हुई । इसके अतिरिक्त माता सीताने भी स्वयं लक्ष्मणको निर्दोष बताया है—

'हा लछमन तुम्हार नहिं दोषा । सो फल पायेउ कीन्हेउ रोषा ॥'

तथा श्रीसीताजीने यह स्वीकार किया है कि मैंने लक्ष्मणको जबर्दस्ती भेजा है—

'सुनहु तात कोउ तुम्हहिं पुकारत प्राननाथकी नाइं ।'
'कह्यौ लखन, हत्यौ हरिन, कोपि सिय हठि पठयौ बरिआइं ॥'

(गीतावली)

जब हरण हो गया, तब जानकी स्वयं पश्चात्ताप करती हैं कि मैंने लक्ष्मणसे कटु वचन कहे और रेखा लाँघी—

'कहे कटुबचन रेख नाँघी मैं तात छमा सो कीजे ।
देखि बधिक बकराज मरालिन लषन लाल छिन लीजे ॥'

अतः स्पष्ट है कि मन डोलनेका अर्थ मनका विकारी होना कदापि नहीं माना जा सकता । अब यदि कहा जाय कि—

'मरम बचन सीता जब बोली । हरि प्रेरित लछमन मति डोली ॥'

—पाठ ही मान लिया जाय तो क्या दोष है ? क्या इसमें कोई हानि है ?' तो इसका विनम्र उत्तर यह है कि 'मन' और 'मति' में बड़ा अन्तर है । मन स्वभावसे चञ्चल होता है तथा उसके डोलनेसे कोई विशेष हानि नहीं है; क्योंकि उसका स्वभाव ही डोलना संकल्प-विकल्पात्मक ही है। यह मन बुद्धिके अधीन रहता है । अतः डोलनेपर बुद्धिके द्वारा इसे सँभाला जा सकता है । परंतु 'मति'–बुद्धि डोल जाती है, तब तो बड़ा गजब हो जाता है । गीतामें भगवान् कहते हैं—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६३)

बुद्धिके नाश होने—डोलनेसे तो सर्वनाश ही होता है। मनुष्य अपने श्रेय-साधनसे ही गिर जाता है । अतः यदि 'मति डोली' पाठ दिया जाय तो लक्ष्मणको अपने श्रेय-साधनसे गिरा माना जायगा, जो सर्वथा असम्भव है। लक्ष्मण-जैसे महापुरुष अपने श्रेय-साधन-से कैसे गिर सकते थे ? जब केवल मनके डुलानेके लिये भी उन्हें भगवान्को प्रेरित (हरिप्रेरित) करना पड़ा, उनकी 'मति' कैसे डोल सकती थी ? 'मति डोली' पाठ तो लक्ष्मणकी स्थितिको सर्वथा गिरा देता है । अतः यही सिद्ध होता है कि केवल ऊपरसे व्याकरण-दोष जानकर ही लोगोंने 'बोली' और 'डोली' पाठकी तुक मिला दी । यह नहीं सोचा कि ऐसा करके हम लक्ष्मणके साथ कितना घोर अन्याय कर रहे हैं !

मन तो कर्मचारी-संघका प्रधान है और बुद्धि न्याय-

विभागकी अध्यक्षा है। मन उसके निर्णयपर ही चलता है। इसीसे बुद्धिको मनीषी भी कहते हैं। अतः यह ध्यान देनेकी बात है कि जब न्याय-विभाग ही डोल जायगा तो क्या होगा। इसपर पाठक स्वयं विचार करें। अतः यहाँ 'सीता बोली' पाठ आदरसूचक नहीं है तथा न उचित जान पड़ता है।

उपनिषदोंमें कहा है कि बुद्धि सारथी है (बुद्धिं तु सारथिं विद्धि), मन लगाम है। लगाम यदि इधर-उधर हो तो सारथी उसे खींचकर ठीक कर सकता है। पर यदि सारथीका ही मतिभ्रम हो जाय तो फिर रथका तो नाश ही होता है।

साथ-ही-साथ यह बात भी विचारणीय है कि गोस्वामीजीका 'शाब्दिक चमत्कार' भी इस 'मति डोली' पाठसे उड़ जाता है। 'लछमन' शब्दका अर्थ है जिसके 'मनका लक्ष्य' अटल हो या मन जिसका अपने लक्ष्यपर अटल हो। यह लछमनका 'ऐश्वर्य-सूचक' नाम है। माधुर्यमें 'लखन' भी कहते हैं। गोस्वामीजीने जहाँ मनके लक्ष्यपर ध्यान दिया, वहाँ प्रायः 'लछमन' शब्द दिया और जहाँ दूसरेके मनकी बात लछमन-द्वारा जनायी, वहाँ 'लखन' शब्द कहा है। यथा—

'लखन लखेउ रघुबंस मनि ताकेउ हरको दंड।'

अतः जिन गोस्वामीने ऐसे 'चमत्कारपूर्ण' शब्द रक्खे हैं, वे 'लछमन मति डोली' कैसे लिख सकते हैं; इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि—

'मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछमन मन डोला॥'

—पाठ ही सही है, न्यायसंगत है तथा निर्दोष है।

इस प्रकार इसमें जरा भी व्याकरण-दोष नहीं है। कोई यदि यहाँ व्याकरणकी उपेक्षा मानते हैं तो उन्हें अन्य प्रसङ्गोंकी गोस्वामीजीकी ऐसी ही अर्द्धालियोंपर ध्यान देना चाहिये।

१. प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥
२. दूसर बर मागउँ कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
३. धुआँ देखि खरदूषन केरा। सूपनखा तब रावन प्रेरा॥

पहली अर्धालीमें 'प्रश्न पुँल्लिङ्गकी क्रिया स्त्रीलिङ्ग—'सुहाई' 'भाई' है, दूसरीमें 'मनोरथ' पुँल्लिङ्गकी स्त्रीलिङ्ग 'मोरी' तथा तीसरीमें सूपनखा स्त्रीलिङ्गकी क्रिया पुँल्लिङ्ग 'प्रेरा' में स्पष्ट व्याकरण-दोष दिखायी देता है। ऐसी और भी कई अर्द्धाली हैं। परंतु वास्तवमें इनमें कोई दोष नहीं है, केवल समझका अन्तर है। बस, यही हाल 'सीता बोला' का है। जिसका अर्थ होगा कि 'जब सीताजीने मरम वचन बोला—कहा, तब हरिकी प्रेरणासे लछमनजीका मन डोल गया।' यदि 'मरम बचन' न बोला जाता तो मन डोलनेका प्रश्न ही नहीं था। यह स्पष्ट है कि सीताजी पहलेसे कह रही थीं परंतु जब 'एक मरम बचन' कहा तब लछमनका मन हरि-प्रेरणासे डोला। वैसे लछमनमें मनको डुलानेकी किसीमें सामर्थ्य नहीं थी। इसलिये 'हरिप्रेरित' कहा गया है। वाल्मीकिजी स्पष्ट लिखते हैं कि वह वचन लक्ष्मणजीको बाणके समान लगा। अतः यहाँ 'मरम बचन 'पुँल्लिङ्ग कर्ताकी क्रिया पुँल्लिङ्ग होना 'डोला' उचित ही है। इसके अतिरिक्त, यहाँ मन डोलनेका अर्थ 'मनका विकारी होना' नहीं है, और न यहाँ लक्ष्मणजीका मन विकारी हुआ ही है। यहाँके प्रसङ्गपर जरा ध्यान दीजिये—

जब भगवान् श्रीरामने मारीचको बाण मारा तो वह लछमनका नाम लेकर पुकारकर गिर गया, इसपर माता सीताजीने कहा—

जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछमन बिहँस कहा सुनि माता॥
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई॥

रेखाङ्कित अर्द्धालीसे स्पष्ट है कि लक्ष्मणके मनका लक्ष्य क्या था और हिरन मारनेको जाते समय भगवान् श्रीराम स्वयं लक्ष्मणको आज्ञा दे गये थे।

प्रभु लछमनहिं कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई॥
सीता केरि करहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥

अतः लक्ष्मण अपने कर्तव्यपर अटल दृढ़ थे और इस कर्तव्यसे लक्ष्मण हटनेवाले नहीं थे, न लक्ष्मणका मन ही डोल सकता था, इसलिये भगवान्‌को ही लक्ष्मणके मनको प्रेरित ('हरिप्रेरित') करना पड़ा। तब कहीं वे माता सीताको छोड़कर गये। अतः यहाँ 'मन डोला' का अर्थ होगा कि 'भगवान्‌की प्रेरणासे वे प्रभुकी आज्ञाका पालन न कर सके, और भगवान् श्रीराममें जो निष्ठा थी, वह भी उस समय पूरी न रह सकी।' अतः मन डोलनेका अर्थ विकारी होना कदापि नहीं है। और यदि यह अर्थ माना जाय कि बुद्धि यह निर्णय देनेमें विचलित हो गयी कि 'रहूँ या जाऊँ' तो कहना होगा कि 'जब निश्चय ही नहीं हुआ तो वे गये क्यों? अतः बुद्धि डोल गयी' अर्थ गलत है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन अधिकांश प्रतियोंमें भी यही पाठ है। केवल चार-पाँच प्रतियोंमें ऊपरी दृष्टिसे व्याकरण-दोष जानकर टीकाकारोंने 'बोली' 'मति डोली' पाठ कर दिया है।

* * *

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १२५२ से आगे]

तबसे अब

भारतवर्षमें अंग्रेजोंकी कम्पनीकी स्थापना सन् १६०० में हो गयी थी और तबसे वे मजेमें फूट डालकर लाभ उठानेकी कूटनीतिसे ढाई सौ वर्षतक व्यापार करते हुए अपनी जमीदारी भारतमें बढ़ाते रहे, परंतु इतने कालतक भारतीयोंने कोई व्यापक विरोधी सक्रिय आन्दोलन न करके १८५७ में ही विद्रोह क्यों किया ? इसकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है । लार्ड राबर्ट्‌स चालीस वर्षतक भारतमें रहे और सन् १८५७ की क्रान्तिमें वे भारतमें मौजूद थे । वे उस समयके प्रामाणिक इतिहास-लेखक माने जाते हैं । उन्होंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'भारतमें चालीस वर्ष' में पृष्ठ ४३१ पर गदरका मूल कारण बताते हुए लिखा है—"मिस्टर फॉरेस्टने भारत-सरकारके कागजोंकी हालमें जो जाँच की है उस जाँचसे सिद्ध है कि कारतूसोंके तैयार करनेमें जिस चिकने मसालेका उपयोग किया जाता था, वह मसाला वास्तवमें दोनों निषिद्ध पदार्थों—गायकी चर्बी और सूअरकी चर्बी मिलाकर बनाया जाता था और इन कारतूसोंके बनानेमें सिपाहियोंके धार्मिक भावोंकी इतनी उपेक्षा की जाती थी जिसका विश्वास नहीं होता ।"

इतिहासकारोंने इस विद्रोहकी जड़ इस प्रकार बतायी है कि पश्चिम बंगालमें दम-दममें स्थित गोला-बारूदके कारखानेमें एक खलासीने एक फौजी ब्राह्मणके लोटेसे पानी पीना चाहा तो ब्राह्मणने जातिभेदके कारण इनकार कर दिया । अपमानित खलासीने कहा कि 'आज तुम जातिभेदके कारण भले ही हमें पानी न पिलाओ, किंतु अब शीघ्र ही जब गायकी चर्बी और सूअरकी चर्बी सनी कारतूसोंका उपयोग सब सैनिक करेंगे तो हिंदू-मुसलमान सभीके भेद मिट जायँगे और सभी घुल-मिलकर एक हो जायँगे ।' उस समयके लार्ड कैनिंगने इस खबरको झूठ घोषित किया परंतु फौजियोंपर इसका कोई असर न हुआ; क्योंकि यह खबर सच्ची थी और बातों-ही-बातोंमें यह बात फौजोंमें एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें सर्वत्र फैल गयी । हिंदू गायको माताके समान पूजते हैं और मुसलमान सूअरसे घृणा करते हैं, दोनों वर्ग इस जबर्दस्त नीतिसे अपना धार्मिक अपमान जानकर विद्रोह करनेको उठ खड़े हुए । उस समयका हाल इतिहासकार श्रीजस्टिन मेकार्थीने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ "हमारे ही समयका इतिहास" में लिखा है—'चर्बी-सनी कारतूसोंके झगड़ेमें एक आकस्मिक चिनगारी धार्मिक और राष्ट्रीय युद्धके विस्फोटक भावोंमें लग पड़ी' जिससे हिंदू और मुसल्मान दोनों ही अंग्रेज सरकारके दुश्मन हो गये । यह विद्रोह लगभग डेढ़ सालतक चला, जिसमें लोग गाँव, नगर अपने धन-धंधे और परिवारको छोड़कर भागे, हजारों नर-नारी और बच्चोंकी हत्याएँ हुईं और मनमाने दुष्ट कर्म और क्रूरताएँ हुईं । स्वतन्त्रताकी यह खिचड़ी एक संगठनसे एक ही भाँडेमें पकानेके लिये हिंदू मुस्लिम दोनों भाइयोंने सन् १८५७ में धर्मके चूल्हेमें जो आग सुलगायी थी, उसको फिरंगी सरकारने अपनी कूटनीति और दमन-युद्धसे पत्थर पटककर तत्काल तो बुझा दिया, परंतु वह आग दबी रही, जिंदा रही और इन अनेक समस्याओंपर विचार और उसे कार्यान्वित करनेकी योजनाके लिये एक अंग्रेज उदार विचारक श्रीह्यूमके प्रयत्नोंसे, एक बंगाली मेधावी वकील श्रीबनर्जीकी अध्यक्षतामें बम्बईमें १८८५ में शिक्षित प्रतिष्ठित लोगोंकी एक मिली-जुली 'कांग्रेस' की बैठक हुई और तबसे प्रतिवर्ष अधिकाधिक लोग संगठित होकर

"1. The recent researches of Mr. Forest in the records of the Government of India prove that the lubricating mixture used in preparing the cartridges was actually composed of the objectionable ingredients—cows' fat and lard and that incredible disregard of soldiers' religious prejudices was displayed in the manufacture of these cartridges."—*Forty years in India* by Lord Roberts.

2. "The quarrel about the greased cartridges was but a chance spark flung in all the combustible material—a national and religious war."—"*History of our own times*" by Justin Mecarthy.

स्वतन्त्रताकी यह खिचड़ी पकानेके लिये डंडे चूल्हेमें ये लोग हल्की-हल्की फूँक देने लगे। और जो फिरंगीलोग गाय और सूअरसे घृणा न कर दोनोंको हजम कर जाते हैं, निश्चय कर रहे थे कि अरे अन्धविश्वासी भारतीयो! तुम धर्मान्ध होकर जिससे घृणा करते हो, वही वस्तु तुम्हें शीघ्र ही अधिक घृणित रूपमें इस तरह खिलायँगे और तुम्हारे खूनमें घोलेंगे कि तुम्हें पता भी न चलेगा और तुम स्वयं ऊँची कीमत देकर खरीदोगे। उस समयतक अंग्रेज वैद्य एडवर्ड जेनर (१७४९–१८२३) का चेचकनिरोधी टीका गायके मवादसे बनकर प्रचलित हो चुका था और उस घृणित विज्ञानको इंगलैंडमें १८५३, १८६७ और १८७१ में कानूनद्वारा बच्चों और जनतामें 'टीका' द्वारा ठूँस दिया गया।

अन्धानुसरण विज्ञान

इस अन्धविज्ञानका अनुसरण अन्य देशोंने भी किया। लीग ऑफ नेशन्सकी हेल्थ आर्गनाइजेशनकी रिपोर्टोंसे पता चलता है कि जिन देशोंने इस घृणित पद्धतिको नहीं अपनाया, उनके यहाँ चेचककी अपेक्षा अन्य देशोंमें इस टीकेकी प्रथासे चेचक रुकनेके बदले अधिक फैल गया जहाँ कि अनिवार्यरूपसे चेचकका टीका लोगोंको बार-बार लगाया गया था।

पुर्तगालमें २ मार्च १८९९में चेचकका टीका लगानेका कठोर कानून बना, परंतु जनतामें उसके प्रचारकी घोषणा नहीं हुई थी, लोग अपनी मर्जीसे टीका लगवाते थे। परंतु २६ मई १९११ को वहाँकी जनतन्त्री सरकारने इसकी घोषणा करके २३ अगस्त १९११ को इसे अनिवार्य करके प्रचलित कर दिया। जिसमें एक बार टीका लगानेसे सात वर्षतक चेचक न होनेकी बात बतायी गयी थी। यह क्रम चलते-चलते १९१९में ६० लाख जनतामें चेचकका टीका लगानेपर टीकेके कारण ८८६४ लोगोंकी चेचकसे मृत्यु हुई और आगे भी प्रतिवर्ष १९२५ से ३३ तक वहाँ टीका लगवानेवालोंकी प्रतिवर्ष मृत्यु-संख्या १४ से लेकर १०३० तक रही।

मेक्सिकोमें चेचकसे मृत्यु होनेका भाव दुनियामें सबसे ऊँचा है, वहाँ यह कानून १५ अक्टूबर १९२९ को बना जिससे हरेक व्यक्तिको दो बार टीका लगवाना अनिवार्य हुआ। बच्चोंको जन्मसे चार मासके अंदर टीका लगाना और प्रति पाँचवें वर्ष हरेक व्यक्तिको टीका लगाना अनिवार्य हुआ। सब फौजियोंको भी टीका लगता है तथा किसी भी उद्योग-धंधेमें लगे व्यक्तियोंको इससे मुक्ति नहीं दी गयी है।

फिर भी वहाँ टीका लगानेपर भी चेचकसे १९२२ से १९३२ तक, ११९७३६ लोग मरे।

इटलीमें भी चेचकका टीका लगानेका कठोर कानून है। लीग ऑफ नेशन्सकी बारहवीं बैठकमें हेल्थ कमेटीकी रिपोर्ट पेश हुई थी, जिसमें यूरोपमें टीका-प्रचलित देशोंकी अपेक्षा इटलीमें टीका लगानेपर भी चेचकसे होनेवाली मृत्यु-संख्याका भाव सबसे ऊँचा था।

जापानमें १८४९ में ही टीका सरकारद्वारा स्वीकृत होकर, १८७४में कानून बन चुका था। क्रमशः १८७६ तथा १८८५ में अधिक कठोर कानून बनाये गये कि हरेक बच्चेको जन्मसे एक वर्षके भीतर चेचकका टीका लगवाना तथा प्रति पाँच या सात वर्ष टीका लगवाना अनिवार्य हुआ। १८८६में जापान टीका लगवानेमें दुनियाके सब देशोंसे आगे था। उस समय भारतमें इसका उतना प्रचार न था। लंदनमें १९०६ में 'इन्कारपोरेटेड सोसायटी ऑफ मेडिकल आफिसर ऑफ हेल्थ'की रजतजयंती-समारोहके भोजमें छोटे नवाब टकाकीने बड़ी शेखीसे कहा था कि जापानमें हरेक बच्चेका जन्मसे छः महीनेके भीतर चेचकके टीकेसे रोगनिरुद्ध किया जाने लगा है। छः वर्षकी आयुमें स्कूल-प्रवेशके समय पुनः टीका लगाया जाता है और सेनाप्रवेशके समय पुनः टीका लगता है तथा चेचक फैलते समय पुनः टीका लगाया जाता है। इस प्रकार जीवनमें बार-बार टीका लगता है। इन महाशयका गर्व दो सालमें ही चूर्ण हो गया। १८०७५ लोगोंको इतना टीका लगानेपर भी चेचक हुआ, जिसमें ५८३८ की मृत्यु हो गयी और जितना ही अधिक टीका लगाया जाता, लोगोंको चेचक होता और वे मरते जाते।

फिलिपाइन द्वीपसमूहमें चेचकका टीका १८९८ में आया, अमेरिकन जन-स्वास्थ्यरक्षक-विभागके अधिकारियोंने वहाँ इसका कानूनसे प्रचार किया। १९१८-२० में टीका लगानेपर भी १६२५०३ लोगोंको चेचक हुई जिसमें ७४४५३ मृत्यु हुई, मृत्युका भाव लगभग ४४ प्रतिशत रहा। इन्हीं दो सालोंमें भारतमें भी चेचकका विशेष प्रकोप था; परंतु भारतकी अपेक्षा फिलिपाइनमें अधिक लोग मरे। १९१९ में जब कि दस लाखकी जन-संख्यामें टीका लगानेपर भी ४७३७ मृत्यु हुई। भारतमें अनुपात ५७० था। आस्ट्रेलियामें टीका अनिवार्य न होनेसे वहाँ चेचक भी नहीं है। १९२० से फिलिपाइनमें टीकेका प्रयोग असफल और घातक होनेसे, वहाँकी सरकारने कानून ढीला करके सभी बंदरगाहोंपर 'चेचकके रोगियोंको

क्वारण्टाइनमें एकान्तवास' करनेका कठोर नियम बना दिया है। अब वहाँ चेचक बहुत कम होता है।

भारतमें भी चेचकका टीका व्यर्थ सिद्ध हुआ है। मद्रासमें १९२२ में चेचकका टीका लगाने और बार-बार लगानेका कानून बनकर प्रचलित हुआ; परंतु वहाँ भी चेचक न रोका जा सका। बंगालमें भी यही हाल है, बार-बार लाखों व्यक्तियोंको यह टीका लगनेपर भी, १९४३-४४ में इसका हानिकर एवं घातक परिणाम हुआ है, यद्यपि १९४५ में चेचकसे हुई मृत्यु-संख्याको 'बंगाल अकाल आयोग' ने अस्वीकार कर सरकारकी झूठी रिपोर्ट दी थी। इस रोगका कारण जब कि गरीबी और गंदगी है, उसे न दूर करके, स्वस्थ मानवकी देहमें चेचकके मुर्दा मवाद चुपड़कर, टोंचकर यह रोग बीजारोपणसे पैदा किया जाता है!

टीका लगानेसे क्या नुकसान होता है, यह स्पष्ट बताते हुए जर्मनीके एक वेक्सिनेटरने किसीसे कह दिया था कि 'टीका लगानेसे उपदंश हो जाता है। तो इस कथनपर उसके ऊपर अदालतमें मुकद्दमा चला था। तब बर्लिनके डाक्टर क्रीवल सरकारी गवाह होकर अपना वक्तव्य देने अदालतमें बुलाये गये थे। आपने भी वही बात स्पष्ट कही और बताया कि टीकेके आविष्कारक जेनर साहबकी दुग्धशालामें दूध दुहनेवाली नोकरानी 'सारा नेल्मीस' के हाथोंमें उपदंश रोग था, जिससे गायोंके स्तनमें फैलकर संयोगवश जेनरकी दुर्बुद्धिसे टीका बनकर चमत्कारी दवाके रूपमें सर्वत्र विख्यात हुआ। टीका लगानेसे बच्चोंके टांसिल फूल जाते हैं, स्त्रियोंके स्तनकी दुग्धग्रन्थियाँ सूख जाती हैं जैसा कि उपदंशमें होता है।

Pox=Vulgar name for syphilis or any eruptive disease (American Illustrated Medical Dictionary)

टीकेका प्रचलन करनेवाला एडवर्ड जेनर (१७४९-१८२३) कीटाणुवादी लुई पास्त्योर (१८२२-१९२७) से पहलेका है। मेडिकल साइंसके क्षेत्रमें इन्हें भगवान्‌की तरह पूजा जाता है; परंतु आजके सुधरे हुए वैज्ञानिक इन्हें 'दुनियाके सबसे बड़े भोंदू' मानते हैं। Jenner and Pasteur are often referred to and described as great scientists, when they were but two of the world's biggest humbugs.

अनेक देशोंमें एक सौ वर्षतक स्वास्थ्य-रक्षा एवं चेचक-निरोधके लिये यह घृणित वैज्ञानिक प्रथा प्रचलित रही, परंतु उसका कुपरिणाम देखकर स्वयं इंगलैंडने इसे अनिवार्य न करके, रद्द करके स्वेच्छिक घोषित कर दिया है, जिसकी मर्जी हो, विश्वास—श्रद्धा हो, वह लगावे या न लगावे। यद्यपि इंगलैंड सरकारका स्वास्थ्य-विभाग अब भी बच्चोंको जन्मसे ६ महीनेके भीतर टीका लगवा देनेका प्रचार करता है। किसी माता-पितापर इसे जबरदस्ती नहीं लादा जाता। यदि माता-पिताका दिल टीकेको हानिकर समझकर स्वीकार न करे तो उसे छूट मिलती है।

वैज्ञानिकोंकी विनय-पत्रिका

उनकी कल्पना उन्होंने सिद्ध कर दी। अंगरेजी शासनके फंदेसे छूटकर भारतीय भाइयोंको, १८५७ के धार्मिक सांस्कृतिक भूमिकासे उत्पन्न विद्रोहसे अपने योजनानुसार नब्बे वर्ष बाद स्वतन्त्रता मिल तो गयी, परंतु भारतीयोंने मवादकी इस खिचड़ीको अब भी नहीं छोड़ा है! पहले तो अंगरेज सरकारके अधीन रहकर भारतवासियोंने चाहे अज्ञान या पराधीनताकी लाचारीसे स्वयंपर तथा बाल-बच्चोंपर गायके मवादसे बना हुआ यह चेचकनिरोधी टीका चुपड़ा, रँगा, टोंचा, किंतु अब स्वाधीन होकर भी वही वैज्ञानिक गुलामी और अन्धविश्वास कायम है। जिस इंगलैंडने भारतपर दो सौ वर्षोंतक शासन किया, उसी देशके विख्यात अनुभवी एवं उदार विचारके डाक्टरोंकी एक समितिने भारतके प्रति प्रेम रखते हुए, भारतमें चेचकके टीकेसे होनेवाली हानियाँ दिखलाकर भारतमें अनिवार्य टीकेके विरोधमें[3] 'डॉक्टरोंकी विनय-पत्रिका' २४ बड़े-बड़े डॉक्टरोंके हस्ताक्षरोंसहित, भारतकी अनेक संस्थाओंके अध्यक्षों और सदस्योंके पास भेजी। उन्होंने '[4]आपके आज्ञाकारी सेवक' की हैसियतसे अपने हस्ताक्षर किये हैं। ये हैं डॉ० बट्रॉण्ड पी० एलिन्सन, एच एम० विडो बेली, रेजिनाल्ड बोडेन, मार्था क्लीलैंड, एच टूडर एडमण्ड्स, एण्ड्र्यू गोल्ड, जे० एच० होस्ली, डोनाल्ड मोरिस, एच० डब्ल्यु० जोर्डन, एच, वेलण्टाइन नेग्स, जार्ज मेकलिपन, आर० फीलिंडग ओल्ड बैरिष्टर एट-लॉ, सायरिल पिंक, डोरोथी शेपर्ड, जे० ए० साइक्स, ईथेल अनविन बाड्री, एच. फर्गी उड्स, जी. टी० विल्किन्सन, एडवर्ड मूर, जे.

---

[3] Doctors' Petition Against Compulsory Vaccination in India.

[4] Your obedient Servants.

बी. स्वानबर्ग, गॉर्डन लाटो, डब्ल्यु० हारोल्ड एमली, और डब्ल्यु० एलिस मॉर्गन। ये सब एम.डी; एम.आर.सी.एस; एल.आर.सी.पी; एम.बी.बी.एस.; बी.सी.एच; एम.सी.एच; एल.आर.सी.एस; एल.आर.एफ.पी. इत्यादि उपाधिधारी और डॉक्टरी विषयके ख्यात, अनुभवी अधिकारी हैं। इन सबने अपनी 'विनय-पत्रिका' के आरम्भमें ही लिखा है।

"हमलोगोंने इंगलैंडमें चेचकनिरोधी टीकेके [५]'स्वार्थ विहित उद्योग' से एक सौ वर्षतक इसकी असफलताके बुरे परिणामसे बहुत दुःख भोगकर, अन्तमें इसके कुचक्रसे बहुत संघर्ष करके मुक्ति पायी है और हमारी इच्छा है कि हमारे सहयोगी भारतीय भी इसके स्वार्थ-जालसे अवश्य मुक्ति पावें। 'अपने पड़ोसीसे आत्मवत् प्रेम करो' यही हमारा धार्मिक मन्त्र हमें ऐसा प्रयत्न करनेको प्रेरित करता है; क्योंकि सारी मानव-जाति हमारे पड़ोसी हैं। [६]भारतके प्रति इस विषयमें हमारी नैतिक जिम्मेदारी है; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंटने ही भारतमें चेचकका टीका प्रचलित किया था। चेचकके टीकेके प्रचारमें यह भूल हो गयी, इसका पूरा निश्चय हो जानेपर हम अपने देशमें इसे बहिष्कृत करके, चाहते हैं कि भारतके सौ वर्ष इंगलैंडकी भाँति व्यर्थ बरबाद न हों और भारतमें यह अनिवार्य टीका बहिष्कृत कर दिया जाय। इस प्रकार आपलोग भी केवल हमारे इंगलैंडके बराबर ही नहीं, वरं यूरोपके अन्य देशों तथा उत्तरी अमेरिकाके कुछ राज्यों, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडकी श्रेणीमें (स्वतन्त्र-स्वास्थ्य-साधनों) में बराबर हो जायँगे।"

प्रमाणित उद्गार

आगे उन्होंने [७]नीली किताब (पार्लियामेंट तथा प्रिवी कौंसिलकी रिपोर्ट) 'भारतमें स्वास्थ्यके उपाय' १९ वीं जिल्द, पृष्ठ १६८ से उद्धृत किया है 'दस सालके आँकड़ोंसे कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रोग-प्रसारके समय टीका लगानेसे उसपर कोई प्रभाव पड़ा हो, इस नतीजेसे परिणाम निकलता है कि लोगोंमें चेचकका प्रकोप रोकनेके लिये सफाई-पर विशेष ध्यान देकर चेचकका सामना करना चाहिये।'

दार्शनिक और नेता, [८]जॉन मॉर्ले, जो १९०६ से १९१४ तक भारत-सरकारके राज-सचिव थे—ने अपना अभिमत दिया है—'जबरदस्ती टीका लगानेके विरुद्ध मैं हमेशा था और अब भी हूँ।'

टीका, इंजेक्शन और कीटाणुवाद

२५ जनवरी १९१२ के 'लाइफ' (अमेरिका) में डॉ. डब्ल्यु. ए. ग्रोव्सने लिखा था, 'सौ वर्ष पहले चेचकका टीका आविष्कार होनेके पहले, तीन प्रतिशत लोग चेचकसे,

---

5. The greed of vested interests.

6. We in England, after suffering bitterly for more than a century from the failure and evil effects of Vaccination, have as a result of a hard struggle against prejudice, selfishness and the greed of vested interests, at last succeeded in freeing ourselves from the compulsory imposition of this practice, and we now desire that our fellow men in India shall also be free. In this we are following the religious precept 'Love thy neighbour as thyself', realising that all mankind are our neighbours. In this matter we feel we have a particular moral responsibility towards India, because it was the British Government in India who introduced Vaccination into that country. Convinced that its introduction was a mistake, as has been amply proved by results, we now wish to take this opportunity of the abolition of compulsion in England to invite to you, without wasting 100 years as England did, to abolish compulsory Vaccination in India. You will thus bring your country into line not only with England, but also with certain other European countries, with some of the States of North America, and with Australia and New Zealand.

7, Blue Book "Sanitary Measures in India", Vol. XIX. p 168: 'Ten years statistics' afford no evidence that Vaccination affects the usual epidemic course of the disease, and hence this fact, in face of extensive Vaccination work of the present and past years, appears to lead to the conclusion that, in its epidemic form, small-pox must be met by improving the sanitary condition of the people."

8. 'I am and always have been opposed to the principle of compulsion in the matter of Vaccination,' —John Morley, Secretary of State for India 1906—1914.

इंगलैंडमें मर जाया करते थे। अब टीकेकी कृपासे ऐसी मौतें नहीं होतीं। लोग चेचकके टीकेका कितना भी विरोध करें, उनके लिये मैं तैयार हूँ। बताइये, चेचकके टीकेसे कहाँ नुकसान हुआ, कितनी मौतें हुईं ?'

इसके उत्तरमें 'महारानी विक्टोरियाके राज्यका इतिहास' देखिये, जो १९०० में अंगरेजीमें प्रकाशित हुआ था, जिसमें लिखा है—'सरकारी आँकड़ोंसे सिद्ध होता है कि वेक्सिनेटरोंके द्वारा विषाक्त औजारोंसे प्रतिवर्ष २६ हजार बच्चे मौतके घाट उतारे गये हैं और एक लाख बच्चे बीमार होते हैं।'

Official statistics prove that twenty-six thousand children have been annually slaughtered by the poisoned lancets of public Vaccinators, and one hundred thousand injured yearly by invaccinated discease."

१८७८ के पार्लियामेंटकी बैठकोंकी रिपोर्ट—संख्या ४८८ 'English Digest of Parliamentary Returns, No. 488, Session of 1878, Vaccination Mortality' में 'टीकेद्वारा मृत्यु' शीर्षकके नीचे लिखा है, प्रतिवर्ष २५ हजार बच्चोंको टीका लगाकर हत्या की जा रही है और इससे अधिक संख्यामें बच्चे रोगी और अपंग बनाये जा रहे हैं।'

'Twentyfive thousand children are annualy slaughtered by diseases inoculated into their systems by Vaccination, and a far greater number are injured and maimed for life by the same unwholesome rite."

अपने वैज्ञानिक ग्रन्थ 'वण्डरफुल सेंचरी' में प्रोफेसर ऑल्फरेड रसेल वालेस, एल. एल. डी. ने, जो अंगरेजी वैज्ञानिकोंके सभापति थे, लिखा है, 'टीका कोई भलाई करनेमें असमर्थ है, और निश्चय ही वह लोगोंमें रोग फैलाकर मौतके घाट बहुतोंको उतारता है और टीकेद्वारा पाँच प्रकारकी बीमारियाँ शरीरमें प्रविष्ट की जाती हैं, जिसके घातक परिणामसे प्रतिवर्ष सम्भवतः दस हजार लोग तो मरते ही हैं।'

'While utterly powerless for good, Vaccination is the certain cause of disease and death in many cases, and is the probable cause of ten thousand deaths annually by five inoculable diseases of the most terrible and disgusting character.'

टीका केवल व्यर्थ ही नहीं, खतरनाक भी है, इससे शरीरमें रोगके कीटाणु प्रविष्ट होकर पनपते हैं और घातक रोग उत्पन्न कर फैलाते—हत्या करते हैं। पशुका मवाद, मुर्दा और जिंदा, रोगके कीटाणुओंका विषाक्त मिश्रण होता है जो रक्तको विषाक्त करता है।

कीटाणुवाद भयंकर वितण्डावाद है, कीटाणुओंसे रोग होते हैं। कीटाणु हवा, पानी, भोजन और शरीर, चर्म एवं ओष्ठपर लाखों, करोड़ोंकी तादादमें हर समय मौजूद होते हैं, इनसे बचे, किसीसे सम्पर्क न करो, श्वास लेना, कुछ भी खाना-पीना घातक है; अतः कीटाणुओंको नष्ट करनेमें ही हमारा जीवन कायम रह सकता है। अतः संसारके कीटाणुओंको नष्ट करनेके लिये संसारमें आग लगा दी जाय। कौन वैज्ञानिक किस साधनसे संसारसे कीटाणुओंको नष्ट एवं निर्वंश कर सकता है ?

अमेरिकी सीनेटके सदस्य डॉक्टर गेलिंगरने अपने एक भाषणमें कहा था, 'If we believed one half of it, we would not dare to breathe, eat or drink, but would want to get into glass cases, but would be hermetically sealed up.'

'यदि हम इन वैज्ञानिकोंकी आधी बात भी मान लें तो हमें श्वास लेना, खाना-पीना भी कठिन हो जायगा। कीटाणुओंके डरसे हमें काँचके बने बक्सोंमें घुसकर बिलकुल बंद हो जाना होगा।'

राबर्ट कॉचने कीटाणुसे रोग होनेका सिद्धान्त जब प्रकाशित किया तो उनके अन्धानुयायियोंने अनेक प्रकारके कीटाणु खोज निकाले और उसपरसे अब रोगनाशक, रोगनिरोधक अनेक प्रकारके रोगोंके कीटाणुओंको मारनेके लिये, अनेक प्रकारके विष-रसायन और पशुओंके इस रक्त-मवादसे इंजेक्शन बनकर प्रचलित हो चले। नतीजा वही हुआ, रोगके कीटाणुओंसे अनेक नये रोगोंकी खेती, रोगियोंकी बढ़ती और अस्पतालों, दवाओं, विषों तथा डॉक्टरोंकी बढ़ती—उन्नति ! अपंगोंकी बढ़ती ! जैसा बीज वैसी फसल !

क्या कीटाणुओंकी कृपापर ही मानवका जीवन निर्भर है ! क्या कीटाणु इतने घातक हैं ? क्या कीटाणुओंसे सचमुच रोग

होते हैं ? इसकी जाँचके लिये वैज्ञानिक प्रोफेसर पेटनकॉफर और प्रोफेसर इसमार्क (Prof. Pettonkoffer and Prof. Esmarch) प्रयोगार्थ, हैजा रोगके विकसित (Cultured) हज़ारों कीटाणु पी गये; जिन कीटाणुओंको स्वयं डॉ० राबर्ट कॉचने ऐसे प्रयोगके लिये विकसित तैयार किया था ।' टायफाइड कीटाणुओंके विषयमें, विख्यात एवं प्रामाणिक डॉ० मेचनिकॉफ (Metschnikoff) ने अपना मत दिया है कि अनेक स्थनोंमें तथा अस्पतालोंमें भी टायफाइड कीटाणु बड़ी तादादमें पाये गये हैं, परंतु वहाँके रहनेवालों-को इन कीटाणुओंसे कभी टायफाइड नहीं हुआ ?

एक विशेष प्रकारके कीटाणु, klebs Loeffler bacilli. जिससे डिफ्थीरिया रोग होता है, बहुत-से लोगोंके कण्ठमें मौजूद पाये गये हैं, परंतु उन्हें डिफ्थीरिया कभी नहीं हुआ और इन विकसित कीटाणुओंको खा लेनेपर भी किसीको वह रोग नहीं हुआ; यह सब प्रयोग करके देख—जान लिया गया है ।

'Medical Brief' नामक डाक्टरी अखबारमें लिखे अनुसार प्रोफेसर मेचनिकॉफने प्रयोग करके देख लिया और हैजेके कीटाणुओंको उन स्थानोंके जलाशयोंमें घोला तथा लोगोंने उस पानीको पिया; परंतु वहाँके लोगोंको न पहले कभी हैजा हुआ, न पानी पीनेसे कुछ असर हुआ । रोगके कीटाणु सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी हैजा, चेचक; प्लेग आदिके फैलावके समय सभी लोगोंको न तो ये रोग होते और न सब लोग इन रोगोंसे मर ही जाते ।

अतएव कीटाणुओंसे रोग और मृत्यु होती है या अपनी गलत चर्या, गलत आहार-विहारसे उत्पन्न अपनी ही विषमयता-से ? मनुष्य कीटाणुओंकी कृपासे जीवित, रोगसे बचा रहता है या अपने उचित आहार-विहार एवं संयमसे उपार्जित सबल प्राण, सबल रक्त एवं सबल स्वास्थ्यसे ? स्वयं विचार एवं अनुभव करनेकी बात है कि संसारके मानव, पशु, पक्षी भी कैसे जीते हैं ?

कीटाणुवादका व्यर्थ वितण्डावाद डाक्टरोंके अनुभवसे स्वयं हो जाता है । 'टाइम' २ नवम्बर १९५९ में प्रकाशित पृष्ठ ७७ पर इस समाचारको देखिये, 'किस कीटाणु या विषाणु-से कौन-से रोग होते हैं, इसका निश्चय वैज्ञानिकोंद्वारा नहीं हो पाता, क्योंकि कतिपय कीटाणु और विषाणुसे समान लक्षणवाले रोग होते पाये गये हैं, चाहे जुकाम हो, गलेकी सूजन या पीड़ा हो, चाहे बुखार या पोलियो हो, इनका निश्चय करनेके लिये किसी विशेष कीटाणुका नाम नहीं लिया जा सकता । इसका निश्चय करनेके लिये डाक्टरोंकी एक ऐसी फौजकी आवश्यकता पड़ेगी, जो प्रयोगशालामें दिन-रात कीटाणुओंको शोध-पहचान किया करें ।'

'To the ailing human and his physician a major difficulty is that viruses cannot be identified by the disease they cause—many different ones may produse seemingly identical symptoms. And a single virus may touch off, in different people, symptoms ranging from a cold, a sore throat, a fever to a paralytic polio. Even paralytic polio cannot be diagnosed as surely as was believed in what Dr. Schuman called the happy unenlightened first quarter of this century, because several viruses simulate its signs. Even such time-honoured children's infection as measles, German measles and mumps may deceive the physician. So said Dr. Schuman, diagnois often cannot be positive without a battery of laboratory tests.'

[1]श्रीअल्फ्रेड रसेल वालेस एल० एल० डी०; एफ० आर० एस० ने अपनी पुस्तक 'गजबकी शताब्दी' 'Wonderful century' में लिखा है, टीका लगानेके सम्बन्धमें जो कानून जिस आधारपर बने वे बिल्कुल गलत थे, जिनके वादे कभी पूरे न हुए । टीका लगानेकी प्रथा स्वास्थ्य-विज्ञानके बिल्कुल

---

1. "Wonderful century" – Alfred Russel Wallace LL. D., F. R. S. –'The Successive Vaccination Acts were passed by means of allegations which were wholly untrue, and promises which have all been unfulfilled,......utterly opposed to the whole teaching of Sanitary Science, is one of those terrible blunders which in their far-reaching evil consequences are worse than the greatest crimes. The abolition of all laws enforcing or encouraging Vaccination is of more immediate and vital importance than any party dogma or any political programme.'

विरुद्ध है, बड़े अंधेरकी भूल है, जिसका परिणाम किसी महापराधसे भी बुरा है, इसका कानून फौरन रद्द होना चाहिये ।

[1]श्रीचार्ल्स क्रीटन, एम० डी० ने रायल कमीशनको बताया कि 'चेचकके टीके'के विषयमें 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के लिये मुझसे लेख माँगा गया तो मैंने इस वैज्ञानिक प्रथाको 'भद्दा, विकृत, अन्धविश्वास' लिखा । जब इनकी मृत्यु १८ जुलाई १९२७ को हुई तो उनकी मृत्यु-सूचनामें सर्वमान्य एवं प्रसिद्ध डॉक्टरी अखबार 'लान्सेट' के ३० जुलाईके अंकमें प्रोफेसर बल्लोचने उनको 'सबसे अधिक विद्वान्' बताया था और उनकी 'हिस्ट्री ऑफ ईपिडेमिक्स इन ब्रिटेन' पुस्तकके विषयमें 'उन्नीसवीं सदीमें डॉक्टरीविषयक एक अंग्रेजद्वारा लिखी गयी सबसे बड़ी पुस्तक' लिखा था ।

इटलीमें पेरुजिया विश्वविद्यालयमें 'मेटेरिया मेडिका' के प्रोफेसर कार्लो रूआटा, एम० डी० ने लिखा है 'वेक्सिनेशन चेचकका टीका लगाना सबसे भयानक एवं घातक भूल है जिसमें डाक्टर लोग धँस गये हैं ।' और ब्रिटिश मेडिकल जर्नलके २७ मई १८९९ के अंकमें तो इटलीकी फौजोंमें बारीकीसे टीका लगानेपर भी चेचक फैलकर जो लोग मरे थे, उनके सब विस्तृत आँकड़े प्रकाशित हुए थे । ये सब प्रो० रूआटाके पत्रमें थे ।

वेक्सिनेशन और इंजेक्शनपर विश्वास और धंधा करनेवाले बड़े डाक्टरोंने भी अपने अनुभवके उद्गार निकाले हैं । डॉ० जॉन वाल्टर कार, एम० डी०, सी० बी० ई० ने लन्दन मेडिकल सोसायटीमें अध्यक्षपदसे कहा था—'टीका लगानेके विषयमें हमारा विचार बदलता जा रहा है और आगे शीघ्रतासे बदल जायगा, यदि कानूनद्वारा इसे अनिवार्य न बनाया होता । परंतु यह तो व्यवसायमें ऐसा पैठ गया है जैसे लोग भूत-प्रेतोंको मानते हैं और ऐसे अन्धविश्वासको मिटाना कठिन जान पड़ता है ।'

रायल सोसायटी ऑफ मेडिसिनके अध्यक्षपदसे प्रोफेसर मकिन्टोशने कहा था—'विज्ञानकी दृष्टिसे भी, हरेक प्रकारसे अब यह बात विवादास्पद नहीं रह गयी है कि शरीरमें विषसंचार करनेसे वह बढ़कर व्यक्तिको हानि पहुँचा सकता है । उसका प्रभाव रोका नहीं जा सकता और उसका परिणाम न जाने क्या हो । कौन जानता है कि कमजोर कीटाणु शरीरमें प्रविष्ट करनेपर कबतक चुपचाप छिपा रहेगा और कब पहलेकी तरह घातक हो जायगा ।

'Scientifically, it cannot be disputed that from every point of view the injection of virus capable of multiplying in the body of the individual is bad. Thus the effect cannot be controlled............this may lead to unforeseen results.......who knows for how long an attenuated bacillus can lie dorment and then assume its former Virulence.' Prof: Mc. Intosh, Presidential address to the Royal Society of Medicine. 19. 10. 1926.

किसी प्रकारके टीकेके अन्धविश्वासमें पड़कर उसे कानूनी जबर्दस्तीसे जनतामें प्रचारित करना बड़ा अन्याय है । १५० वर्षोंतक संसारमें इसका प्रचार होकर तथा ९० वर्षोंतक कानूनन जबर्दस्ती लोगोंको टीका लगाकर इसका घातक परिणाम देखकर अनेक देशोंके लोग जाग्रत् हो गये और इस अन्धविज्ञानी प्रथाको बहिष्कृत एवं स्वैच्छिक कर दिया । इस टीकेको लिम्फ (lymph) नाम देकर जनतामें भ्रम फैलाया जाता है; क्योंकि 'लिम्फ' दो अर्थोंवाला शब्द है । साधारण ऑक्सफोर्ड डिक्शनरीमें इसका अर्थ दिया गया है—'पवित्र जल; शरीरके अङ्गोंसे निकलनेवाला बेरंग रस, गायकी मवाद भरी मसूरिकाका पदार्थ जो टीका लगानेके काम आता है ।'

जो सरकार अपनी जनतामें कानूनकी जबर्दस्तीसे, रोगनिरोध एवं स्वास्थ्य-रक्षाके नामसे ऐसी अन्धवैज्ञानिक, स्वार्थी, घातक प्रथाका प्रचार करती है जिससे कि लोगोंमें रोग विकृत होता है, बढ़कर मृत्यु होती है, उन सब वैज्ञानिक हत्याओं तथा पशु-हत्याओंके लिये सरकार अपराधी है ।

The Ministry of Health cannot escape from direct responsibility for every death or injury arising from the use of such foul lymph; and in addition to the serious dangers to human beings a vast amount of cruelty caused to the animals used in the production of lymph

(क्रमशः)

---

[1] Charles Creighton, M. D.—the article on Vaccination for the Encyclopaedia Britannica—ultimately described as 'a grotesque superstition.'

आगामी अष्टग्रही योग

भगवान्‌की लीला और मङ्गलविधान

संसार अनित्य, अपूर्ण और क्षणभंगुर है। 'सृष्टि और प्रलय' इसका स्वरूप है, 'जन्म-मृत्यु' इसका स्वभाव है। यह न तो सदा एकरस रहता है, न एकरूप। इसमें बनने-बिगड़नेकी लीला चलती ही रहती है। सुखान्त-दुःखान्त नाटक ही इसका आकार है। इस सारी लीलामें वर्तमान आद्यन्तवन्तहीन नित्य सत्य एकरस वस्तु है—लीलामय भगवान्, वही स्वयं लीला बना हुआ नित्य लीला करता रहता है। उसकी लीलाके देखनेवाले जन्म-मृत्यु, सृजन-संहार दोनोंमें ही उसके लीला-चमत्कारको देखकर, दोनोंमें ही उसकी अभिनय-चातुरीको देख-देखकर पद-पदपर उसे पहचानकर प्रसन्न होते रहते हैं, या स्वयं ही अभिनेताके रूपमें उसके इंगित या विधानके अनुसार जन्म और मरणका अभिनय करते हुए सदा निर्लेप तथा परम प्रसन्न रहते हैं। पर जो इस बातको नहीं समझते—जो अभिनयके लिये मिले हुए नाम-रूपमें, शरीरमें और नाममें 'मैं' पनका आरोप किये रहते हैं, वे मेरे-तेरे, राग-द्वेष, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, सृजन-संहारको सत्य मानकर इस द्वन्द्वके चक्रमें पड़े (विनाशके) भय और (विनाशके पश्चात्) शोकमें डूबे रहते हैं। अनादिकालसे अबतक अनन्त बार इस प्रपञ्चका सृजन हो चुका, अनन्त बार इसका संहार हो चुका। प्रलय, खण्डप्रलय, महाप्रलय और पुनः सृजन—भगवान्‌की प्रकृतिके राज्यमें सदा होते ही रहते हैं—होते ही रहेंगे। यहाँ 'क्रम विकास' नहीं, परंतु चक्रवत् चढ़ाव-उतारकी, सृजन-संहारकी लीला चलती ही रहेगी। इस लीलाका लीलाभावसे ही अनुभव करना चाहिये। एक कुशल अभिनेताकी भाँति जगन्नाटकके नाट्यमञ्चपर सब कुछ करते-देखते हुए ही सदा आसक्तिरहित, अखण्ड भगवद्भावमय रहना चाहिये। इसीमें मानवकी मानवताका विकास है और इसीसे आत्यन्तिक अखण्ड परा शान्ति और परम सुखकी प्राप्ति होती है।

अष्टग्रही जैसे योग संसारमें बहुत बार आये, आते रहेंगे। ये ग्रहनक्षत्र भी लीलामय भगवान्‌के मङ्गल विधानानुसार लीलामयकी लीलामें अपनेको पात्र बनाकर यथायोग्य अभिनय किया करते हैं, करते ही रहेंगे; तथा कर्म, ग्रहके नियमानुसार कार्य तथा परिणाम भी होते ही रहेंगे। संसारमें फलकी ओर न देखकर अनासक्त भावसे यथायोग्य कर्म करते रहना तथा स्वकर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजामें रत रहना ही परम कर्तव्य है। भगवान्‌ने कहा है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।

(गीता ३। ९)

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता १८। ४६)

'कुन्तीनन्दन! उन भगवान्‌की सेवाके लिये आसक्तिरहित होकर भलीभाँति कर्म करते रहो।' 'अपने-अपने कर्मके द्वारा उस भगवान्‌की पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—जीवनकी सफलताको प्राप्त करता है।'

अतएव यथार्थ कल्याणकारी भाव तथा सिद्धान्त तो यही है कि यथायोग्य भगवत्सेवाके भावसे मनुष्य अपना कर्म करता रहे एवं सदा हर-समय हर-अवस्थामें परम प्रसन्न रहे। यहाँके विनाशसे आत्माका विनाश नहीं होता और न यहाँके सुख-सौभाग्य या लाभसे ही आत्माको कोई लाभ होता है।

दूसरी दृष्टिसे संसारमें जीवोंके कर्मवश ये प्रलय-महाप्रलयके काण्ड हुआ करते हैं। यद्यपि ये होते हैं नियमानुसार ही तथा पूर्वरचित ही। महाभारतके महासमरमें भयानक संहार हुआ, पर वह भगवान्‌ने पहलेसे ही रच रखा था। यह उन्होंने अपने विराटरूपमें अर्जुनको दिखा दिया, अर्जुनने देखा और कहा—

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

(गीता ११। २७)

(भीष्मादि सभी वीर) आपकी विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। उनमें कुछके मस्तकादि उत्तमाङ्ग आपके दाँतोंमें चूर्ण-विचूर्ण हुए लग रहे हैं।

और भगवान्‌ने भी स्वयं कहा—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

(गीता ११। ३३)

'ये सब पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, तुम तो हे सव्यसाची! केवल निमित्त बनो।' तथापि एक साथ एक जगह संहार होनेपर मनुष्य उसे आकस्मिक विपत्ति मान लेता है और डर जाता है। ग्रहयोग तो उस समय नियमानुसार

आते ही हैं। ऐसा ही डर इस समय 'अष्टग्रही योग' को लेकर छा गया है। इसका परम मङ्गलमय फल एक तो पहले ही होने लगा है कि देश भरमें सभी ओर मनुष्य देवाराधना और ईश्वराराधनामें लग रहे हैं, या लगना चाहते हैं। यह योग परिणाममें व्यापक दृष्टिसे भी अशुभ नहीं होगा; क्योंकि यदि संहार हुआ और उसमें बढ़ती हुई हमारी आजकी पापवृत्ति नष्ट हो गयी तो हमारा—जीवमात्रका परम मङ्गल ही होगा। आत्माका तो कभी विनाश होता नहीं तथा प्रकृति परिवर्तनशील है ही। इसलिये उस दृष्टिसे भी डरनेकी आवश्यकता और औचित्य तो नहीं है, पर इस अष्टग्रहीको लेकर चारों ओर एक भयका विस्तार हो रहा है और हमारे पण्डित-ज्योतिर्विद् विद्वान् भी इसपर विचार करने तथा उन्हें व्यक्त करनेमें लगे हैं। ज्योतिषसम्बन्धी पत्रोंमें तो इस विषयपर विशद विचार प्रकट किये ही जा रहे हैं। 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ भी बहुत लम्बे-लम्बे बड़ी संख्याके लेख आये हैं, आ रहे हैं और जरा-सा संकेत पाते ही इतने आ सकते हैं, जिनके लिये एक विशेषांक ही निकालना आवश्यक हो। पर ऐसा करनेका न अवकाश है, न रुचि है, न आवश्यकता ही। हाँ, किसी भी बहाने शास्त्रोंमें श्रद्धा, देवाराधन और भगवदाराधन बढ़े, लोग भजन-कीर्तनमें लगें, यह इष्ट है—इसीलिये इस विषयपर कुछ विचार पहले भी प्रकट किये गये थे और अब भी किये जा रहे हैं।

कुछ विद्वानोंके मतोंका सार

हमारे पास बहुतसे लेख आये हैं, उनमेंसे कुछ लेखोंका अत्यन्त संक्षिप्त सार (केवल फलनिर्देशक प्रसंगका सारमात्र) ही यहाँ प्रकाशित किया जाता है, लेखक महानुभाव हमारी स्थिति समझकर कृपया क्षमा करें।

श्रीमिश्रीलाल सक्सेना

यह गोलयोग सूर्यके मकर प्रवेशपर, १३ जनवरी सन् १९६२ से प्रारम्भ होता है। इससे सम्भव है कि १६ जनवरी तक कोई ऐसा अन्ताराष्ट्रीय तनाव उत्पन्न कर दे जिससे विश्वमें भय और आतङ्क छा जाय। २३ जनवरीसे यह तनाव और भी विकट होगा। ३ फरवरी १९६२ संध्या ५.४३ मिनट (भारतीय समयानुसार) पर यह गोलयोग पूर्णरूपसे सक्रिय होता है। इसका प्रभाव ३ मार्च १९६२ तक रहेगा। वैसे १५ मई सन् १९६३ तक खराबी होती रहेगी।

४ फरवरी १९६२ का चन्द्रग्रहण अफगानिस्तान तथा मध्यपूर्व एशियामें जहाँ-जहाँ दिखायी देगा, वहाँ आर्थिक व्यवस्थामें हलचल मचा देगा। चारों ओर भूकम्प, प्राकृतिक कोप, दुर्घटनाएँ और परस्पर कलह पैदा करेगा।

इस कालमें युद्धकी भी सम्भावना है। यह अष्टग्रहोंका योग विश्वके तीन राष्ट्रोंके लिये तो बड़ा ही अमङ्गलसूचक है। हो सकता है कि उनका अस्तित्व, सिद्धान्त और नीतियाँ कहीं सदाके लिये ही धूलधूसरित न हो जायँ। इस योगसे यूरोपमें विशेष प्रकारका एक रोग उत्पन्न हो सकता है, जिसमें मनुष्य-शरीरके अङ्ग स्वतः गल-गलकर गिरने लगेंगे।

पाकिस्तानकी मौजूदा सरकारमें आमूल परिवर्तन तथा परस्पर असंतोष होगा। पाकिस्तान और अफगानिस्तानमें पूर्णतया सम्बन्धविच्छेद भी सम्भव है।

इंगलैंड, डेन्मार्क, पोलेण्ड, जर्मनी, सीरिया और जापानमें युद्धकी तैयारीके कारण साधारण जीवनमें अस्तव्यस्तता, चीन, हालेंड, कनाडा, उत्तरी पश्चिमी अफ्रिका, न्यूजीलैंड, स्काटलैंडमें आर्थिक संकट। चीन, तिब्बत, वर्मा, इण्डोचीन आदिमें वर्तमान सरकारोंके अस्तित्वमें खतरा तथा अकाल, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप और मिश्रमें महामारी आदि होंगे। अमेरिकाकी राशिसे योग ८वें घरमें और रूसकी राशिसे १२वें घरमें पड़ता है और दोनों घरोंमें दृष्टि-सम्बन्ध है तथा इस योगकी दृष्टि वृष राशिपर पड़ती है, अतएव सम्भव है कि बर्लिन, फ्रांस, पोलेंड, आस्ट्रिया और ईरान—इन्हींमेंसे कोई युद्धकी आशंकाका कारण बन जाय। इस गोलयोगसे विश्वयुद्धकी सम्भावना है, जिसके परिणामस्वरूप रूस और अमेरिका दोनोंकी ही स्थिति डावाँडोल हो सकती है।

भारत, टर्की, स्विट्जरलैंड, वेस्ट इन्डीज, ग्रीस, ब्राजिल, स्पेन, हंगरी, अरब राष्ट्र और आस्ट्रेलिया—ये इस योगसे बहुत कम ग्रस्त होंगे। इनका तटस्थ रूप भी बना रहेगा।

भारतमें उत्तरी सीमापर शत्रुराष्ट्रकी हानिकर गति-विधियाँ बढ़ जानेसे सेनापर भारी व्यय होगा। विदेशमें भारतीय दूतोंमें परिवर्तन होगा, सरकार तथा जनतामें विरोध उत्पन्न होगा। सरकारके प्रति असंतोष बढ़ेगा, विदेशोंसे ऋणोंकी न्यून प्राप्तिके कारण स्थिति अव्यवस्थित होगी। बाँध, सिंचाईके साधन, बिजली आदि उद्योगोंमें हानि होगी। व्यापारपर बुरा प्रभाव पड़ेगा। देशकी आयात-निर्यात व्यवस्था असंतुलित होनेके कारण कई फर्म एवं सरकारी निधिसे चलनेवाली कम्पनियोंके अस्तित्वमें खतरा पैदा हो जायगा। बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, पश्चिमी राजस्थान, कलकत्ता नगर, इलाहाबाद, हैदरा-

बाद, दक्षिण आदिको पीत लहरोंका सामना करना पड़ेगा। पंजाबमें विशेष उपद्रवकी सम्भावना है।

गोलयोगका दुष्प्रभाव माननीय राष्ट्रपतिजी तथा प्रधान मन्त्रीजीके स्वास्थ्यपर भी पड़ना सम्भव है। अतः उनके स्वास्थ्य तथा मङ्गलके लिये महामृत्युञ्जय यज्ञका आयोजन होना चाहिये।

प्रो० जी० आर० महाडिक

अप्रैल १९६१ से अनिष्ट प्रभाव आरम्भ हो चुका है। ६ दिसम्बरको वृश्चिक राशिपर पाँच ग्रहोंका योग होगा। इससे चमत्कारपूर्ण घटनाएँ होंगी। जैसे जर्मनीका एकीकरण, मध्य यूरोप और एशियाका वातावरण तनावपूर्ण, अमेरिकामें डेमोक्रेट और रिपब्लिकन दोनों दलोंमें मतभेद, अमेरिकाके एक प्रमुख राजनीतिज्ञके लिये अनिष्टकारी परिणाम आदि। भारतमें राजनीतिक वातावरण दूषित, दैवी प्रकोप, किसी एक प्रधान व्यक्तिके लिये अशुभ, जनवरीमें संसारके वातावरणमें विशेष खराबी होना सम्भव है। अष्टग्रही योगके समय ३ फरवरीसे ५ फरवरीतक युद्ध-जैसी भयानक स्थिति। भारतके समीपवर्ती राष्ट्रोंमें विशेष उथल-पुथल, मध्य एशियाके राष्ट्रोंके लिये विशेष अनिष्टकारी, जन-धनकी काफी हानि और भारतमें आमचुनावका स्थगित होना आदि सम्भव है।

१९६२ के अष्टग्रही योगके बाद १९६३ में एक क्षय मास तथा १९६३। ६४ में अधिक मासका होना भी प्रलयकारी योग बना रहा है।

श्रीमदनलाल पोद्दार

इस अष्टग्रही योगका मोटा फल भूकम्प, भयंकर अग्निकाण्ड, अत्यन्त शीत और पाला पड़ना, अतिवृष्टि, उपलवृष्टि, सवारी-दुर्घटना, महामारी, दुर्भिक्ष, राजपरिवर्तन, अन्नका अभाव, सभी चीजोंमें तेजी, समुद्रमें तूफान आदि होंगे।

आधुनिक मतवाले अमेरिकाकी प्रभावराशि मिथुन और रूसकी प्रभावराशि कुम्भ मानते हैं। यदि यह बात सही है तो अमेरिकाकी प्रभावराशिसे अष्टम स्थानमें और रूसकी प्रभावराशिसे द्वादश स्थानमें ग्रहोंका अशुभ योग बन रहा है। अतः इन दोनों राष्ट्रोंके कर्णधारोंको किसी-न-किसी प्रकारकी विपत्तिका सामना करना पड़ेगा। कुछ समय आगे-पीछे विश्व-युद्ध भी सम्भव है।

(६-७-८) ग्रहोंके योगके समय प्रायः सभी ग्रह अस्त रहेंगे, इस कारण बहुत जगह मन्त्रिमण्डलोंमें हेरफेर अवश्य होगा। कुछ पहलेसे और ६२ के अन्ततक उच्च शासकोंमें ५-४ का निधन भी सम्भव है।

श्रीचन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'चन्द्रेश'

सृष्टिचक्रके आदि विन्दुपर यदि यह योग होता तो महाप्रलयका योग होता। पर यहाँ ऐसा नहीं है। केवल ग्रहोंका योग हो रहा है। अतः भौतिक पदार्थोंकी क्षति निश्चित है। यह योग मकर राशिपर हो रहा है, अतः इसका दुष्प्रभाव मकरराशिसे सम्बन्ध रखनेवाले देशोंपर ही विशेषतया होगा। भारतके पश्चिमोत्तरीय, पूर्वोत्तरीय भाग, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, तिब्बत, चीन, नेपाल, मलाया, रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशोंपर विशेष प्रकोप सम्भव है। इस वर्षमें दो ग्रहण हैं। एक गत श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको चन्द्रग्रहण था, दूसरा आगामी माघ अमावस्याका सूर्यग्रहण। ये दोनों ग्रहण भारतवर्षमें अदृश्य हैं। ये जहाँ दिखायी देंगे, वहाँ अष्टग्रही योगका पूर्ण अनिष्ट फल होगा।

श्रीचन्दनदत्त शास्त्री

ज्योतिष विद्याकी आकाशी कौंसिलमें ४ फरवरी सन् ६२ को रविवार है। माघ कृष्ण अमावास्या क्षय तिथि है। मकर राशिपर छः ग्रह २३, २४, २५ डिग्रीपर चल रहे हैं। मंगल ९ डिग्रीपर तथा शनि १०॥ डिग्रीपर हैं। वे दोनों अस्त हैं। इनके प्रभावसे दक्षिण-पश्चिम दिशाके भूखण्डगर्भसे अङ्गार-सदृश एक भयंकर विस्फोट होनेका अनुमान है। यह विस्फोट ९ से २२ भूरेखापर, मध्यसागरसे दक्षिण-पश्चिम दिशामें मकर और कर्क राशिपर अपना विशेष प्रभाव करेगा। शेष राशियोंपर सामान्य प्रभाव होगा।

मकर राशिकी पश्चिम दिशा मानी हुई है। अतः पश्चिमी पाकिस्तानपर आठ ग्रहोंका प्रभाव होना अनुमानित होता है।

श्रीरमेन्द्रप्रसाद विद्यार्थी

१९६२ की यह भविष्यवाणी सत्य होगी या नहीं, यह तो ईश्वराधीन है परंतु ज्योतिष शास्त्रकी दृष्टिसे इस अष्टग्रहीसे देशोंमें पीड़ा, रोग, उपद्रव, राज्यनाश, व्याधिविस्तार, अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष, बाढ़, तूफान, महामारी, अराजकता, सुख-शान्तिनाश, अग्निभय, विप्लव, युद्ध, कलह आदिका होना अवश्यम्भावी है। यह ग्रहोंका असर सितम्बर १९६१ से शुरू होकर पूरे १९६२ तक रहेगा। भारतवर्षमें दक्षिण प्रान्त,

बिहार, आसाम, बंगाल, पंजाब तथा सबसे अधिक उड़ीसा राज्यपर असर होगा। दो बहुत बड़े राज्याधिकारियोंके लिये भी चिन्ताका अवसर है, उन्हें स्वयं या उनके लिये दूसरे इष्ट-मित्रोंको महामृत्युञ्जयका जप श्रद्धापूर्वक करना-कराना चाहिये।

भारतके अतिरिक्त यूनान, हालैंड, स्कॉटलैंड, उत्तरी अफ्रिका, न्यूजीलैंड, कनाडा आदिमें साधारण उपद्रव होंगे। रूस, चीन, तिब्बत, जापान, अमेरिका, नैपाल, स्याम, कम्बोज, काश्मीर, अफगानिस्तान, इराक, ईरान, तथा पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तानमें भीषण उपद्रव होंगे। जापानमें भी भारी परिवर्तनकी आशङ्का है।

श्रीमदनमोहन ठक्कुर

यद्यपि भारतीय ज्योतिषियोंके अष्टग्रही योगके सम्बन्धमें विभिन्न मत हैं, परंतु जहाँतक मेरा अध्ययन है, विनाशकी रूपरेखा तैयार हो रही है और वह भी तीव्रताके साथ; क्योंकि मानवका पिछले तीस सालोंसे बहुत तेजीसे पतन हुआ है।××

इस तीसरे महायुद्धकी जो रूपरेखा तैयार हो रही है, उसमें एक विशेषता भी है कि वही इसके शिकार हो रहे हैं जिनके नाम कम्यूनिज्म, कैनेडी या क्रुश्चेवके प्रथम अक्षर 'क'से हैं, जैसे काश्मीर, कोरिया, कांगो, काटङ्गा, क्यूबा, कुवैल आदि या फिर अमेरिकाके प्रथम अक्षर 'अ' से जैसे अंगोला, अल्जीरिया, अरब राष्ट्र, द० अमरीका आदि। इस तर्कसे यह सिद्ध होता है कि आनेवाले विश्वयुद्धमें 'क' और 'अ' से आरम्भ होनेवाले देशोंमें ही विनाश अधिक होगा। जड या चेतन—यदि उसका नाम 'क' और 'अ' से है तो अवश्य ही वहाँ संहारक परिवर्तन होंगे।

यह संक्षिप्त सार है। सबका अभिप्राय प्रायः एक ही है इस अष्टग्रहीका अनिष्टकारक फल होगा। कहाँ अधिक होगा, कहाँ कम, कहाँ-कहाँ होगा, इस सम्बन्धमें विचार-भेद हैं जो स्वाभाविक हैं। सभी विद्वान् अपनी-अपनी अध्ययनशीलता, निर्णय-पद्धतिके अनुसार ठीक ही लिखते हैं। पर यह निश्चितरूपसे कोई नहीं कह सकता कि प्रत्येकका विचार अक्षरशः ज्यों-का-त्यों ही फलित होगा। उसमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है और ऐसा भी सम्भव है कि जो कुछ लिखा गया है, उससे विलक्षण ही कुछ हो जाय, और कुछ बिल्कुल ही न हो। सब कुछ भगवान्के मङ्गलमय विधानके अनुसार ही होगा।

अष्टग्रही योगका दुष्प्रभाव समझें या और कुछ—विश्वमें अनिष्ट तो हो ही रहा है। चारों ओर अविश्वास और कलहके बादल मँडरा रहे हैं। भारतमें भी सब ओर प्रेमका ह्रास और कलहका विस्तार हो रहा है। अतिवर्षा और बाढ़से हाहाकार मचा है। पूना आदिमें बड़ी हानि हुई ही थी, इधर बिहारमें जो हानि हुई है, वह तो वर्णनातीत है। कहते हैं सन् १९३४ के भूकम्पसे सौगुना अधिक धन-जन-अन्नका नाश हुआ है। इधर उत्तर प्रदेशमें भी बहुत हानि हुई है*। रेल, नाव तथा हवाई जहाजोंकी भयङ्कर दुर्घटनाएँ भी बढ़ती जा रही हैं। इसी प्रकार उस अष्टग्रही योगके समय भी ऐसी ही या इससे अधिक हानि हो तो क्या आश्चर्य है। इससे बचनेका यथासाध्य उपाय करना आवश्यक है। वह उपाय है—सदाचरण और विश्वासयुक्त प्रार्थना।

सभी महानुभावोंने इस अनिष्टके नाश या कमीके लिये भगवदाराधन, देवोपासना आदिका उल्लेख किया है जो सर्वथा उचित, आवश्यक और कर्तव्य है। होता है सब प्रारब्धानुसार ही, परंतु विशेष अच्छा-बुरा प्रबल कर्म तुरंत नवीन प्रारब्ध बनकर भी नया फल दे सकता है। जैसे आजकल मनुष्योंकी घोर पाप-प्रवृत्ति कहीं-कहीं नवीन प्रारब्धका निर्माण करके उसका परम दुःखद, घोर फल भुगताती है, वैसे ही प्रबल शुभ-कर्म भी तुरंत नवीन प्रारब्ध बनकर फलदानोन्मुख प्रारब्धका अवरोध, उसका प्रायश्चित्त और नवीन शुभ-फलकी उत्पत्ति कर सकते हैं। (यद्यपि सर्वज्ञ भगवान्की दृष्टिसे वह भी होता है भगवान्के मङ्गल विधानानुसार ही) इसलिये निम्नलिखित कार्य व्यक्तिगत तथा सामूहिकरूपसे विश्वासपूर्वक यथासाध्य अधिक-से-अधिक सभी लोगोंको करने चाहिये—

(१) हिंदू (सनातनी, आर्य-समाजी, जैन, बौद्ध, सिख एवं अन्यान्य समस्त हिंदू-धर्म-सम्प्रदाय), मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सभी अपने-अपने धर्मानुसार निर्दोष भगवत्प्रार्थना, धर्मसेवन, पवित्र आचरण, संयम, सेवा आदि करें।

(२) वेदाध्ययन, वेदपारायण, विष्णु-रुद्रयाग, गायत्री-पुरश्चरण, महामृत्युञ्जय-जाप, पुराणपाठ आदिके आयोजन हों।

(३) श्रीदुर्गादेवीके प्रसन्नार्थ शतचण्डी, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी आदिके अनुष्ठान हों, व्यक्तिगतरूपसे लोग अपनी-अपनी सुविधानुसार पाठ करें। इसमें निम्नलिखित सम्पुटोंमें कोई-सा सम्पुट लगाया जाय तो बहुत अच्छा है।

---

* उत्तर प्रदेश और बिहारमें गीताप्रेसके द्वारा भी यत्किञ्चित् सेवा-कार्य चल रहा है।

१. देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीते-
नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः ।
पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु
उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान् ॥
२. शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥
३. करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः ॥
४. विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम् ।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः ॥
५. सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

देवीजीके नवार्ण-मन्त्रके जाप अधिक-से-अधिक किये-कराये जायँ ।

(४) श्रीमद्भागवतके सप्ताहपारायण अधिक-से-अधिक हों तथा नीचे लिखे सम्पुटसहित वाल्मीकिरामायणके नवाह्न और सुन्दरकाण्डके पाठ हों ।

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयोभूयो नमाम्यहम् ॥

(५) श्रीमद्भगवद्गीताके तथा विष्णुसहस्रनामके अधिक-से-अधिक पाठ किये-कराये जायँ ।

(६) श्रीरामचरितमानसके मासिक, नवाह्न या अखण्ड-पारायण यथासाध्य यथारुचि हों, निम्नलिखित सम्पुट दिये जायँ तो अच्छा है ।

१. राजिव नयन धरें धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥
२. जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
३. दीन दयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी ॥
४. दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ॥
५. गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥

(७) भगवान् आशुतोष श्रीशंकरजीके निम्नलिखित मन्त्रोंका जाप अधिक-से-अधिक हो ।

'ॐ नमः शिवाय' (यह प्रसिद्ध है) ।

'ॐ नमः शिवाय शुभं कुरु शुभं कुरु नमः शिवाय ॐ' यह विष्णुप्रदत्त सिद्ध मन्त्र है । इसके अतिरिक्त, जगह-जगह रुद्राभिषेकसहित शिवपूजन किया जाय ।

(८) भगवान्के नामके—अखण्ड या जिनको जैसी सुविधा हो, कीर्तनोंका खूब आयोजन किया जाय । मानसका पारायण तथा नाम-जप-कीर्तन तो गाँव-गाँव, घर-घर होना चाहिये ।

(९) अकाल, बाढ़ तथा अन्यान्य दुर्घटनाओंसे ग्रस्त नर-नारियोंकी तन-मन-धनसे मुक्तहस्तसे सेवा की जाय । यह विपत्ति टालनेका सबसे प्रधान तथा निश्चित साधन है । जहाँ ऐसी दयनीय परिस्थिति है, वहाँ स्वयं भगवान् ही उन विपत्ति-ग्रस्त नर-नारियोंके रूपमें अपनी ही दी हुई चीजके द्वारा अपनी सेवा चाहते हैं । वहाँ भगवान्की वस्तु भगवान्की सेवामें अर्पण की जा रही है—इस भावसे उन विपद्ग्रस्त प्राणियोंकी खूब सेवा की-करायी जाय । यह समझा जाय कि हमारे पास धन, सम्पत्ति, बुद्धि, सामग्री—जो कुछ है, सब भगवान्की दी हुई, उन्हींकी वस्तु है । आज वे ही अपनी वस्तुसे अपनी सेवा चाह रहे हैं । और ऐसा समझकर प्राणिमात्रमें भगवान्को प्रकट देखकर सबकी यथासाध्य सेवा करना तथा सबके सुख एवं हितमें ही अपना सुख और हित समझना चाहिये । बड़े ही संतोषका विषय है कि इस समय देशभरमें कहीं अधिक, कहीं कम सामूहिक और व्यक्तिगत भगवदाराधना तथा देवोपसनाका कार्य चल रहा है । जगह-जगह यज्ञ, भागवत-पारायण, वाल्मीकि रामायण-पारायण, मानस-पारायण, नामसंकीर्तनके आयोजन हो रहे हैं । पिछले दिनों मिश्रिखमें, वृन्दावनमें बड़े आयोजन हुए थे । अब भागलपुरमें एक बड़ा यज्ञ होनेवाला है । अयोध्यामें भी आयोजन हो रहा है । दक्षिणमें, उत्तर भारतमें, बम्बई, कलकत्ता, राजस्थान और मध्य भारतमें कई जगह छोटे-बड़े आयोजन चल रहे हैं । यह बड़ा ही शुभ लक्षण है ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

जहाँ हम सीखने जाते हैं

जिस अमेरिकाको उन्नतिके शिखरपर चढ़ा हुआ समझकर हम अपने बालकोंको वहाँ शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजते हैं, वह अमेरिका धन तथा विज्ञानमें उन्नति करनेके साथ ही अपराध करनेमें भी किस तेजीसे आगे बढ़ रहा है, यह नीचेके आँकड़ोंसे देखिये। ये आँकड़े श्री जे० एडगर हूवर (Mr. J. Edgar Hoover) डाइरेक्टर आफ दि फेडरल ब्यूरो ऑव इन्वेस्टिगेशन, युनाइटेड स्टेटस (Director of the Federal Bureau of Investigation, U. S.) के द्वारा प्रचारित किये गये हैं।

यह कहा गया है कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) में गत वर्षके अपराधोंने पहलेका रेकार्ड तोड़ दिया है, जिसमें प्रति ५८ मिनटोंपर एक खून तथा प्रति ३४ मिनटोंपर एक बलात्कारका अपराध हुआ है।

भयानक अपराधों (Serious Crimes) की संख्या सन् १९५० से सन् १९६० में (दस वर्षमें) ९८ प्रतिशत बढ़ी है, जब कि इस अवधिमें जन-संख्यामें केवल १८ प्रतिशतकी वृद्धि हुई है। सन् १९६० में भयानक अपराधोंकी संख्या १८,६१,३०० है, जो १९५९ से १४ प्रतिशत अधिक है। इसमें प्रति ३९ सेकंडपर एक 'सेंध'का तथा प्रति दो मिनटपर एक 'मोटर चोरी'का अपराध हुआ है। 'खून'की संख्या गत वर्षसे ६ प्रतिशत और 'बलात्कार'की ३ प्रतिशत बढ़ी है। १८ वर्षसे कम उम्रके अपराध करनेवाले गिरफ्तार बच्चोंकी संख्या १९५० से ६ गुनी हो गयी है, जब कि उनकी जन-संख्या आधेसे भी कम बढ़ी है।

'संयुक्त राज्य पब्लिक हेल्थ सर्विस'के अनुसार ४२,९५००० जन्म लेनेवाले बच्चोंमें २,२१००० अवैध हैं।

६ करोड़ अस्सी लाख अमेरिकन व्यक्ति, जो २१ सालकी और उससे अधिक उम्रके हैं, मद्यपान करते हैं। सन् १९६० में अमेरिकाके लोगोंने एक बिलियन (१० खरब) क्वार्ट* विशुद्ध मद्यसारका सेवन किया और इसपर ८१० खरब डालर १ वर्षमें व्यय हुए।

आँकड़े स्वयं वस्तुस्थिति बतला रहे हैं †। हमने यदि अन्धानुकरण करके अमेरिकाके दोषोंको भी अपना लिया तो पता नहीं, क्या दुर्दशा होगी!

* * *

सच्चा धनी और सच्चा दरिद्र कौन ?

सबसे अधिक मूल्यवान् धन तथा किसी भी मूल्यपर संग्रह एवं रक्षा करनेयोग्य वस्तु है—मनुष्यका आदर्शचरित्र—उसका सदाचरण। संसारके भोगोंकी दृष्टिसे—धन, वैभव, पद, अधिकार, मान और ख्याति आदिकी दृष्टिसे जो सर्वथा दरिद्र है, पर जो चरित्रवान् है—जिसके मनमें राग-द्वेषरहित सात्त्विकभाव, क्रियामें त्याग-प्रेमपूर्ण सद्भाव भरा है, वही सच्चा धनी है। पर जो सदाचारका दरिद्र है—जिसके मनमें गंदगी भरी है, जिसकी क्रिया दूषित है, वह आसुरी वृत्तिवाला धन, जन, वैभव, अधिकार, मान और बड़ाईसे सम्पन्न सम्राट् भी वस्तुतः दरिद्र है।

* * *

---

* एक क्वार्ट लगभग तीन पाव द्रवका होता है। इस हिसाबसे लगभग १८,७५००००००० (अठारह अरब पचहत्तर करोड़ मन) मद्य अमेरिकामें पीया जाता है।

† 'नार्दर्न इंडिया पत्रिका' २६। ७। ६१ और 'फिल्म इंडिया' सितम्बर ६१ के अङ्कोंसे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पैसेकी कीमत मनुष्यकी स्थिति और उसके मनपर निर्भर रहती है

वर्षों पहलेका प्रसंग है । एक मारवाड़ी नवयुवक जीवन-निर्वाहके लिये कामकी खोजमें बम्बई आया था । पहननेके कपड़े तथा एक लोटेके सिवा उसके पास कोई सामान नहीं था । तीन दिन यों ही भटका और फुटपाथपर सोता रहा । अन्तमें किसी परिचितको उसपर दया आयी और उसने एक सार्वजनिक धर्मशालाके ट्रस्टीके नाम पत्र लिख दिया कि 'इस गरीब लड़केको वे कामपर लगा दें ।'

धर्मशालाके ट्रस्टीने उससे कहा—'कल पहली तारीख है, अतः तुम कलसे कामपर लग जाना, अभी तो जाओ । तुम्हें धर्मशालाके पहरेदारका काम करना पड़ेगा । लड़का प्रसन्न हो गया और हाथ जोड़कर बोला—'सेठ साहेब ! आपने मुझे अभी चले जानेके लिये कहा है, पर मैं कहाँ जाऊँ ! आप आज्ञा दें तो मैं धर्मशालामें ही पड़ा रहूँ और कल सबेरेसे कामपर लग जाऊँ ।'

सेठजीने बात मान ली । दूसरे दिन वह काममें लग गया । शामको सेठजी आये और उस नौजवानसे उन्होंने कहा—'तुम्हें क्या काम करना है, यह समझ लेना चाहिये । रोज कौन आते हैं और कौन जाते हैं—इसका ब्यौरा लिख रखना । किसीको बर्तन वगैरह कुछ दिया जाय तो उसको भी लिख लेना और धर्मशालाका ख्याल रखना ।'

लड़केने कहा—'सेठजी ! मैं धर्मशालाका ध्यान तो रखूँगा पर लिख नहीं सकूँगा ।'

सेठजी बोले—'क्यों, दिमाग जरा खराब मालूम होता है ।'

'नहीं सेठजी, लेकिन मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता ।'

'ओह ! ऐसी बात है । हमें तो ऐसा आदमी चाहिये जो पहरा भी दे और सब लिख भी सके । तुम इस कामके लायक नहीं हो, तुम्हें इसी समय छोड़ा जा रहा है । तुमने आज काम किया है, इसके बदलेमें ये आठ आने नौकरीके लो !'

लड़केका मुँह लटक गया । वह जैसे ही बाहर निकला कि सेठने वापस बुलाया । नौजवानके हृदयमें आशा जगी । उसने तुरंत लौटकर पूछा—'आप मुझे नौकरीपर रख रहे हैं न ? मैं हृदयसे आपका आभार मानता हूँ ।'

सेठने जेबसे पैसे निकाले और कहा—'लो, यह और आठ आना, यह मैं तुम्हें अपनी ओरसे दानमें दे रहा हूँ ।'

यों एक रुपया लेकर लड़का चला गया । इस रुपयेसे उसने दस दिन काम चलाया । ग्यारहवें दिन जब फाका-कसीका अवसर आया, तब सट्टा बाजारमें एक सेठके यहाँ उसे कागज-पत्र पहुँचानेका काम मिल गया ।

कुछ वर्षों बाद तो वह नौजवान बहुत बड़ा सटोरिया बन गया । बाजारमें उसका नाम गरजने लगा । विदेशोंमें भी नाम पहुँचा । वह बहुत बड़ा सफल व्यापारी बन गया ।

एक बार किसी सार्वजनिक संस्थाके लिये एक नौजवान इनके पास आया और संस्थाका नाम बताकर सहायता चाही । इन्होंने तुरंत एक लाख रुपये दे दिये । वह बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने जाकर अपने पितासे यह बात कही तब वे गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'बेटा ! ऐसे पुरुषका तो खूब सम्मान करना और इन्हें मानपत्र देना चाहिये । कल मैं तुम्हारे साथ चलकर सेठको समझाऊँगा ।'

दूसरे दिन दोनों पिता-पुत्र सेठके पास गये । सेठ वृद्ध पुरुषकी ओर देखते रहे । वृद्धने कहा—'मैंने उम्र बड़ी होनेके कारण इस संस्थाके देख-रेखका काम छोड़ दिया है । अब मेरे पुत्रने इस कामको सँभाल लिया है । आपने एक लाख रुपये दिये, इससे मुझे बड़ा आनन्द मिला और मैं आपके दर्शन करने आ गया । हमलोगोंने आपको मानपत्र देनेका निश्चय किया है और आपको भी भाषण देना पड़ेगा । आप अपना भाषण लिख दें तो उसे पहलेसे छपवा लिया जाय । हम आपके भाषणको रेकार्डमें भी भर लेना चाहते हैं ।'

सेठने कहा—'इतनी छोटी-सी रकमके लिये इतना सब करनेकी कोई जरूरत नहीं है । मैंने तो कुछ किया ही नहीं है । अब आप स्वयं आये हैं तो मैं आपको ये एक लाख रुपये और देता हूँ । इन्हें आप अपने इच्छानुसार दानमें लगाइये ।'

सेठने तुरंत ही तिजोरीमेंसे निकालकर एक लाखके नोट वृद्धके हाथोंपर रखते हुए कहा—'इसमें कोई उपकार

नहीं है, यह तो मैंने अपना हिसाब चुकता किया है।' 'तो आप क्या कहना चाहते हैं?' वृद्धने पूछा।

'मैं यह कहना चाहता हूँ कि बहुत वर्षों पहले जब मैं इस शहरमें आया था, तब, आप, जिस संस्थाकी बात कर रहे हैं उसमें मैंने एक दिन नौकरी की थी और उसके मेहनतानेके आपने आठ आने मुझको दिये थे। मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता था, इसलिये आपने मुझको नहीं रक्खा। उन आठ आनेके बदलेमें इस संस्थाको मैंने लाख रुपये दिये हैं। नौकरीसे अलग करनेके बाद आपके हृदयमें मेरे प्रति दया-भावका संचार हुआ और आपने मुझे वापस बुलाकर अपनी जेबसे आठ आने दानस्वरूप दिये थे। उसके बदले ये एक लाख रुपये मैं आपको दे रहा हूँ। संस्थाके संस्थाको दे दिये और आपके आपको।'

वृद्ध पुरुषकी आँखें छलक आयीं। उन्होंने कहा—'सेठ! आपने बहुत बड़ा बदला दिया।'

'यहाँ भी आप भूलते हैं। पैसेकी कितनी कीमत है, यह मनुष्यकी स्थिति और उसके मनपर निर्भर करती है। किसी एक गरीबके लिये आठ आने पैसे उसकी सर्वस्व-पूँजी बन जाते हैं और एक बड़े धनीके लिये लाख रुपये आठ आनेके बराबर होते हैं। आपकी और ईश्वरकी कृपासे मुझे धन मिला है इसलिये ये दो लाख रुपये देकर मैंने सिर्फ हिसाब ही चुकता किया है। आप भाषण देनेकी बात कहते हैं, सो मैं भाषण देना नहीं जानता। मैंने कामचलाऊ लिखना-पढ़ना सीख लिया है। वैसे, मुझे कुछ नहीं आता।' सेठने कहा।

वृद्ध पुरुष बोले—'अच्छा तो आपके नामकी तख्ती लगा दी जाय?' 'नहीं, ऐसा करनेकी जरूरत नहीं है। इससे मैं स्वयं मुश्किलमें पड़ जाऊँगा।'

'कैसे?'

'इन्कम टैक्सके अधिकारी मुझे परेशान कर डालेंगे। मैं ब्रिटिश सरकारको टैक्स न देकर देशके काममें धन खरचता रहता हूँ।'

आप मानियेगा?—इतनी बड़ी रकमकी सेठने रसीद भी नहीं लिखवायी। इस व्यापारी सेठका नाम था—श्रीगोविन्दराम सेकसरिया। बम्बई शहरमें यह नाम बहुत प्रसिद्ध है। खास करके सट्टे बाजारमें और उद्योग क्षेत्रमें। ('बीज')

(२)

सहानुभूति

कुछ वर्षों पहलेकी घटना है—बम्बईमें रामदास नामक एक सज्जन नौकरीके पैसे लेकर घर लौट रहे थे। रामदास गृहस्थ थे। घरमें छः आदमी थे। वे एक व्यापारी फर्ममें ढाई सौ रुपये मासिककी नौकरी करते थे। कठिनतासे खर्च चलता था, महीनेकी अन्तिम तारीखको जब वेतनके पैसे मिलते, तब वे महीनेभरका अनाज, दूध, दवा, धोबी आदिका हिसाब चुकता करके आश्वासन प्राप्त करते। आज रुपये लेकर जा रहे थे—रास्तेमें उनके गाँवका एक परिचित आदमी मिला। रामदासने उसको उदास देखकर उदासीका कारण पूछा। वह रो पड़ा और बोला कि 'मेरी स्त्रीके पेटमें फोड़ा होकर अब सेप्टिक हो गया है। वह मरणासन्न है। डाक्टरने आपरेशनके लिये कहा है, उसमें ढाई सौ रुपयेका खर्च है और मेरे पास एक पैसा भी नहीं है। स्त्री मर जायगी तो बच्चे अनाथ हो जायँगे। क्या करूँ, कुछ समझमें नहीं आता।' रामदासने तुरंत जेबसे ढाई सौके नोट निकाले और उसके हाथपर रखते हुए कहा—'भाई! ले जाओ, तुरंत ऑपरेशनकी व्यवस्था करो।' वह आदमी रामदासकी स्थितिसे परिचित था। उसके न तो रामदाससे रुपये मिलनेकी कल्पना थी, न उसने उनसे माँगे ही थे। उसने लेनेसे इन्कार कर दिया पर बड़ी विनय करके रामदासने उसको रुपये लेनेको बाध्य किया।

घर आकर पत्नीको सब बातें कहीं तो वह साध्वी बड़ी ही प्रसन्न हुई। उसने पतिके कार्यकी प्रशंसा करते हुए अपने गलेका हल्का-सा सोनेका हार उतारकर पतिको दिया कि जाकर इसे अभी बेंच आइये। किसीको पता न लगे कि ये अनाज-दूधके पैसे समयपर नहीं चुका सके। रामदास तो गद्गद थे।

—गोपाललाल गुप्त

(३)

पुलिसकी ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता

गत १४ मार्चकी घटना है। प्रभासपाटन (सोमनाथ) जूनागढ़ 'समाज-कल्याण-केन्द्र' के एकाउन्टेंट श्रीमंगलप्रसाद बैंक आफ सौराष्ट्रमेंसे साढ़े बारह हजार रुपये लेकर निकले। उनकी बेजानकारीमें नोटोंका बंडल नीचे गिर गया। उन्हें पता नहीं लगा। वे चले गये।

कुछ समय बाद मगनलाल होतचन्द ललवानी नामक पुलिसका एक सिपाही उधरसे निकला। उसको बंडल पड़ा दिखायी दिया। उसने उठाकर देखा तो उसमें साढ़े बारह हजार रुपयेके नोट थे। इतनी बड़ी रकम देखकर भी उसका मन नहीं चला और वह नोटोंके मालिकका पता लगाता हुआ बैंकमें पहुँचा।

उधर एकाउन्टेंट श्रीमंगलप्रसादको जब रुपये गिर जानेका पता लगा तो वे भी घबराये और नोटोंको खोजते हुए बैंकमें पहुँचे।

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लेने और यह जान लेनेपर कि ये रुपये इन्हीं सज्जनके हैं, गरीब पुलिसके सिपाहीने साढ़े बारह हजार रुपये उनको सँभला दिये। श्रीमंगलप्रसादको कितना सुख हुआ और उनसे भी अधिक कर्तव्यपरायण गरीब तथा ईमानदार सिपाहीने कितना आनन्द लाभ किया। इसको तो वे ही जानते हैं।

इस घटनाका पता जब जूनागढ़के डी० एस० पी० महोदयको लगा तो उन्हें अपने सिपाहीकी कर्तव्यपरायणता और ईमानदारीपर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने मगनलालको बुलाकर शाबाशीके साथ ही दो सौ रुपये इनाम दिये।

सिपाहीने कर्तव्यपालन ही किया, कोई खास महत्त्व नहीं। पर आजके बिगड़े युगमें, जहाँ पैसा ही परमेश्वर है—इतना लोभसंवरण बड़े ही महत्त्वकी बात है। हमारी पुलिसके सभी कर्मचारी ऐसे ही हों।

—मकनदास नरसीदास

(४)

स्वप्नवत् संसार

सम्भवतः सन् १९३४ की बात है जब कि पूर्वी भारतके बिहार, बंगाल एवं आसाम प्रदेशोंपर भूकम्पका भयंकर प्रकोप हुआ था। इस विभीषिकासे सम्पूर्ण देश त्रस्त हो उठा था। समस्त समाचार-पत्र भूकम्पके प्रलयंकर समाचारोंसे भरे रहते थे।

उन दिनों काशीके एक मठमें संस्कृतका अध्ययन करनेवाले कुछ विद्यार्थी साधुओंने भी भूकम्पके समाचार पढ़े और पीड़ितोंके सहायतार्थ वे आसाम जा पहुँचे।

विनाशके इस भयानक वातावरणमें काशीके विद्यार्थियोंने एक ऐसे व्यक्तिको भी देखा जो अव्यवस्थित-सा दिखायी दे रहा था। विद्यार्थियोंने कहा—'सेठजी, ऐसा प्रतीत होता है कि आपके घरमें सभी प्रसन्न हैं; किसीका बाल भी बाँका नहीं हुआ है।'

सेठजी बोले—'आप जानना चाहते हैं तो सुनिये—आजसे तीस वर्ष पूर्व मैं राजपूतानेसे यहाँ आया था खाली हाथ। प्रारम्भमें कुछ वर्ष मैंने यहाँ नौकरी की, फिर साझेमें काम किया, बादमें अपना स्वतन्त्र व्यवसाय चालू किया, चार-पाँच लाख रुपया भी कमाया और मुझे लोग 'सेठजी, सेठजी' कहने लगे।

'इसी बीच मेरी शादी हुई, बाल-बच्चे हुए और ईश्वरकी कृपासे मुझे किसी भी पदार्थका अभाव नहीं रहा। परंतु लाखों रुपये कमाकर भी मेरे मनमें उनके प्रति कभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ। स्त्री-पुत्र पाकर भी मैंने उनमें कभी ममता नहीं रक्खी। खजांचीकी तरह रुपयोंको पराया समझा और प्रभुके प्राणी समझकर स्त्री-बच्चोंका पालन किया।

'जब यह भूकम्प आया, उससे चार दिन पहले मैं दूसरे गाँव गया हुआ था। वापिस आया तो देखा कि अपना मकान पहिचानना भी कठिन हो रहा है। मकान तो अब है ही कहाँ, धूलका ढेरमात्र है। और अनुमान यह है कि स्त्री-बच्चे मलबेके नीचे दबकर मर गये। पर यह अनुमान कोरा अनुमानमात्र नहीं, अक्षरशः सत्य है। स्त्री-बच्चे जीवित होते तो वे आज हमारे बीच होते; और इतने मलबेको हटाकर उनकी लाशें प्राप्त करना भी असम्भव-सा ही प्रतीत होता है।'

यह सुनकर साधु विद्यार्थियोंकी आँखें गीली हो गयीं। 'रोनेकी क्या बात है,' सेठजीने कहा। 'एक धोती और एक लोटा आज भी मेरे पास है और इन्हें लेकर मैं गाँव लौट रहा हूँ। जब सारा संसार ही स्वप्नवत् है तो इसमें चिन्ताकी क्या बात है!'

यह सुनकर साधुओंने मन-ही-मन सेठजीको श्रद्धाके सुमन चढ़ाये। जब सेठजी चले गये, तब साधु आपसमें बात करने लगे—'ऐसा गृहस्थ तो साधुओंके लिये भी आदर्श है।'

वास्तवमें इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योगके कारण दुःखानुभूति होती है; परंतु यदि हम सांसारिक पदार्थोंके साथ अपनत्वका नाता जोड़ें ही नहीं तो इष्ट-वियोग और अनिष्ट-योग भी हमको विचलित नहीं कर सकेंगे। माना कि ऐसा करना कठिन है, किंतु असाध्य नहीं है।

—श्रीलाल नथमल जोशी

(५)

सुन्दरकाण्डका अद्भुत चमत्कार

यदि किसी भी वस्तुमें विश्वास किया जाय तो उसका उत्तम फल प्रत्यक्ष ही प्राप्त होता है, इसकी पुष्टि हालमें ही घटित एक घटनासे हुई है । स्थानीय केन्द्र पंचायत, शाजापुरके मन्त्री श्रीहरविलास बंसलके बारहवर्षीय पुत्र राधेश्यामके एक सायकल-सवारकी असावधानीसे हाथकी हड्डी टूट गयी, तुरंत ही चिकित्सालयमें नये सर्जन साहबद्वारा उसका एक्सरे लिया जाकर प्लास्टरका पट्टा चढ़ा दिया गया । लोगोंके तथा पुलिसके बार-बार कहनेके बावजूद भी श्रीबंसलने थानेपर सायकल-सवारके नामकी रिपोर्ट दर्ज करानेसे इन्कार कर दिया ।

किंतु जब बालकके हाथका दर्द बढ़नेसे वह रोने-चिल्लाने लगा, तब श्रीबंसलने, जो अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्तिके व्यक्ति हैं, तुरंत ही रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ करना प्रारम्भ कर दिया । आप मानें या न मानें, कुछ ही मिनटोंमें बालकका दर्द काफूर हो गया और वह हँसता-खेलता नज़र आया । यह विश्वासका ही अद्भुत चमत्कार था । नगरमें इस घटनासे बड़ा आश्चर्य है । —बी० एल० शर्मा, शाजापुर

(६)

हड्डी और मांसके नासूरकी अनुभूत दवा

शरीरके किसी हिस्सेमें पुराना घाव हो जानेपर उसकी हालत खराब हो जाती है, नासूर बन जाता है । उसके सेप्टिक हो जानेका डर रहता है । ऐसी अवस्थामें उस हिस्सेको काटकर निकाल देनेके सिवा और इलाज प्रायः नहीं बताया जाता । ऐसे ही नासूरकी यह अचूक दवा है—

गायका मक्खन (दहीको मथकर निकाला हुआ) एक छटाँक किसी काँसीकी बड़ी थालीमें रखकर उसे स्वच्छ पानीसे १०८ बार खूब धो लीजिये । (यह मक्खन विषवत् हो जाता है, इसे खाना नहीं चाहिये ।) इसमें एक तोला काला सुरमा और एक तोला सफेद सुरमा अच्छी तरह खूब महीन पीसकर मिला दीजिये । बस, दवा तैयार है । इस मरहमको थालीके एक किनारे इकट्ठा करके उस किनारेके नीचे कोई चीज रखकर उसे ऊँचा कर दीजिये । दो-तीन घंटेमें सारा पानी बूँद-बूँद करके निकल जायगा ।

फिर, नीमके पत्ते उबालकर उस पानीसे घावको धो लें। तदनन्तर फलालैन या किसी मुलायम कपड़ेको नासूरके बराबर काटकर उसपर मरहम लगाकर नासूरपर रख दें । उसपर रूई रखकर प्लास्टिककी पट्टीसे उसे चिपका दें । नासूरको सिर्फ शुरूमें एक बार धोना है । फिर प्रतिदिन एक बार मरहम लगाकर पट्टी बदल देनी है । १५-२० दिनोंमें नासूर ठीक हो जायगा ।

—हरिश्चन्द्र अग्रवाल, पो० कैमरी (हिसार)

* * *

नित्य परम आनन्द छा गया

रहूँ कहीं, कैसे भी, रहते नित्य साथ मेरे भगवान ।
जाऊँ कहीं, वहीं दिखती मुझको उनकी मधु मूर्ति महान ॥
बसे सदा मेरे अंदर, वे बाहर भी नित रहते पास ।
ममता-मोह मरे सब जगके, प्रभुमें हुआ पूर्ण विश्वास ॥
पाप-ताप भय-शोक मिटे सब, नष्ट हो गया मोह समूल ।
मिटे मोहके कार्य भयानक सभी जातिके सारे शूल ॥
मधुर-भयानक जगका कुछ भी, कैसा भी परिवर्तन आज ।
दिखता मुझे मधुर लीलामय प्रभुका ही सब लीला-साज ॥
प्रभुके दर्शन-स्पर्श-मिलनसे नित्य, मिटे जगके सब द्वन्द ।
परम शान्तिसे पूर्ण विलक्षण छाया नित्य परम आनन्द ॥

भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सुन्दर-सुन्दर चित्रावलियाँ

१५×२० आकारके बढ़िया आर्टपेपरपर छपी बड़ी चित्रावलियाँ नं० १-२-३ तथा ४, प्रत्येकमें २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। मुखपृष्ठ मोटे कागजपर छपा है। दाम प्रत्येकका रु० २.७५, पैकिंग-डाकखर्च प्रत्येकका १.०६।

इस आकारकी चित्रावलियाँ नं० १-२ तथा ३ तो पहलेसे ही प्रचलित हैं, पर चित्रावलि नं० ४ नयी छपी है। इसमें कई चित्र तो सर्वथा नये हैं। नं० ४ के चित्रोंके नाम, **सुनहरी**—(१) भगवान् श्रीरामचन्द्र, (२) जगज्जननी माता जानकी। **बहुरंगे** (१)—सच्चिदानन्दके ज्योतिषी, (२) मनमोहन श्रीकृष्ण, (३) मुरलीका असर, (४) श्रीकृष्ण-यशोदा, (५) भगवान् विष्णु, (६) लक्ष्मी माता, (७) शिव-परिवार तथा (८) भगवान् बुद्ध। दाम २.७५, डाकखर्च १.०६।

मझले—आकार ११×१४॥ में चित्रावलि नं० १, दाम २.००, डाकखर्च .८७, कुल २.८७।

यह भी नयी निकली है। इसमें १२ चित्र हैं। सभी बहुरंगे हैं। नाम—(१) श्रीरामकी झाँकी, (२) दशरथके भाग्य, (३) चित्रकूटमें, (४) श्रीराम-जटायु, (५) हनुमान्‌जीकी प्रार्थना, (६) कालियनागपर कृपा, (७) महारास, (८) परमधाम-गमनके पूर्वकी झाँकी, (९) मार्कण्डेय मुनिपर भगवान शंकरकी कृपा, (१०) भगवान् नृसिंहजी, (११) शेषशायी और (१२) ध्रुवपर अनुग्रह।

उपर्युक्त पाँचों चित्रावलियाँ एक साथ लेनेपर कमीशन काटकर दाम १२.१९, पैकिंग-डाकखर्च २.२१, कुल १४.४०

१०×७॥ आकारकी चित्रावलियाँ नं० १-२ तथा ३ पहलेसे ही प्रचलित हैं। प्रत्येकमें २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे चित्र हैं। दाम प्रत्येकका १.३१, पैकिंग-डाकखर्च .९४, कुल २.२५ है। तीनोंका एक साथ मूल्य ३.९३, डाकखर्च १.१९, कुल ५.१२।

नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

प्रेमयोगका तत्त्व

लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आकार डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३८०, पाँच तिरंगे तथा एक सादा, कुल छः सुन्दर चित्र, मूल्य १.००, डाकखर्च .९४ कुल १.९४ न० पै०।

जबसे श्रीगोयन्दकाजीके ज्ञानयोगसम्बन्धी लेखोंका संग्रह 'ज्ञानयोगका तत्त्व' प्रकाशित हुआ, तभीसे लोगोंका यह आग्रह था कि उनके प्रेमसम्बन्धी लेखोंका भी एक अलग संग्रह प्रकाशित किया जाय, जिससे प्रेमपथके पथिकोंको एकत्र ही प्रेमसम्बन्धी पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सके। प्रस्तुत पुस्तकमें प्रेम-सम्बन्धी २२ लेखोंका संग्रह है। ये सभी लेख 'कल्याण' तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' आदि पुस्तकोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। प्रेम प्राप्त करनेके इच्छुक साधक इन लेखोंको पढ़कर और मनन करके तदनुसार अपने जीवनको विशुद्ध भगवत्प्रेममय बनानेका प्रयत्न कर सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण—१,३३,००० (एक लाख तैंतीस हजार)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०१८, दिसम्बर १९६१

विषय पृष्ठ-संख्या

१–भक्तकी प्रार्थना [कविता] ... १३४१
२–कल्याण ('शिव') ... १३४२
३–मनुष्य-जीवनमें ईश्वरोपासनाकी सार्थकता (श्रीश्रीदा० सातवलेकर महोदय) ... १३४३
४–कर्मयोगके पाँच भेद (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १३४६
५–मुमुक्षुके अनुभव (मुमुक्षु) ... १३५१
६–जिसने हृदयके नेत्रोंसे प्रभुके अंतस्‌की ओर देखा [कविता] ... १३५२
७–हमारा राजा वेद और उसकी सेना (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) १३५३
८–भगवन्नामकी महिमा [संकलित] ... १३५६
९–मधुर १३५७
१०–सत्यनारायण-व्रत-कथाका दिव्य संदेश (आयुर्वेदरत्न पं० श्रीरामनरेशजी मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ... १३६०
११–भगवान् अपने दिव्य गुणोंके साथ मुझमें उतर रहे हैं [कविता] ... १३६४
१२–हम सभ्य बनें (प्रो० डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एस्-सी०, साहित्यरत्न) ... १३६५
१३–रामायणका एक पृष्ठ (श्रीविश्वम्भरसहायजी प्रेमी) ... १३६९
१४–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव) ... १३७१

विषय पृष्ठ-संख्या

१५–'धर्मो धारयति प्रजाः' [कहानी] (श्री 'चक्र') ... १३७५
१६–अन्तिम आधार [कविता] (श्रीप्रेमलता बाजपेयी) ... १३७७
१७–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) १३७८
१८–गीत [कविता] (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन' एम० ए०, पी-एच्० डी०) ... १३८५
१९–श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर जय नन्दकिशोर ! [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ... १३८६
२०–एंटीबायोटिक दवाओंके कारखाने रोगनाशके लिये या विस्तारके लिये ? ... १३८७
२१–कुछ विचारणीय बातें (श्रीरामरुद्रप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, बी० एल्०, आई० ए० एस्० 'अवकाशप्राप्त') ... १३८८
२२–प्रभुकी कृपामें विश्वास रक्खो [कविता] १३८८
२३–मानवरूपमें दानव (वैद्य पं० श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी) १३८९
२४–सबके कल्याणमें अपना कल्याण (श्रीअगरचंदजी नाहटा) ... १३९१
२५–अष्टग्रही १३९४
२६–वर्तमान भारत—एक विहंगम दृष्टि (श्रीरवीन्द्रजी) ... १३९७
२७–भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप दो ... १३९९
२८–क्योंकि पासमें तुम हो [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') ... १४०१
२९–पढ़ो, समझो और करो ... १४०२

चित्र-सूची

१–अर्धनारीश्वर (उमा-महेश्वर) ... ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–भक्तकी प्रार्थना ... ... (तिरंगा) ... १३४१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५१
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

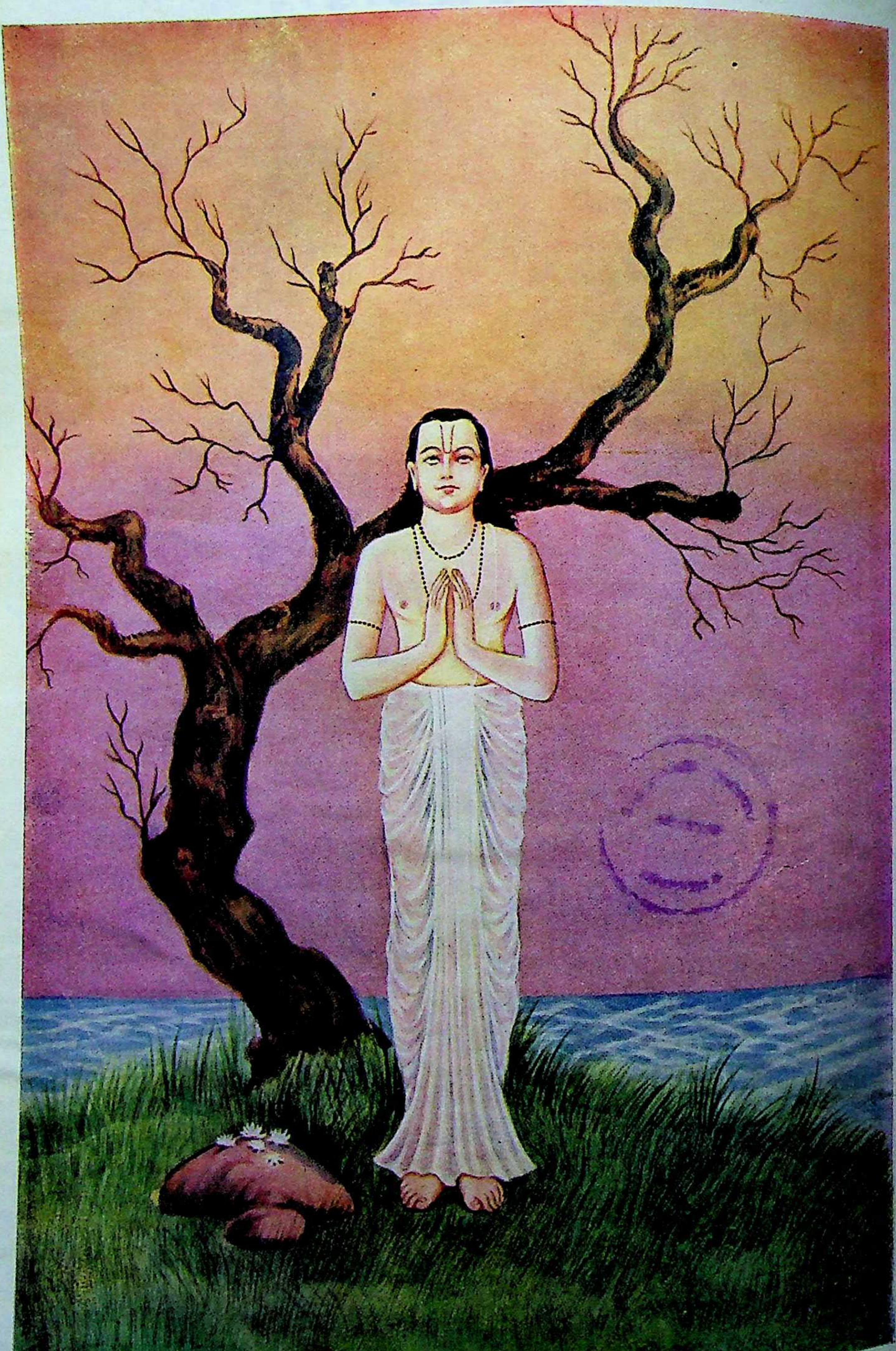

भक्तकी प्रार्थना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

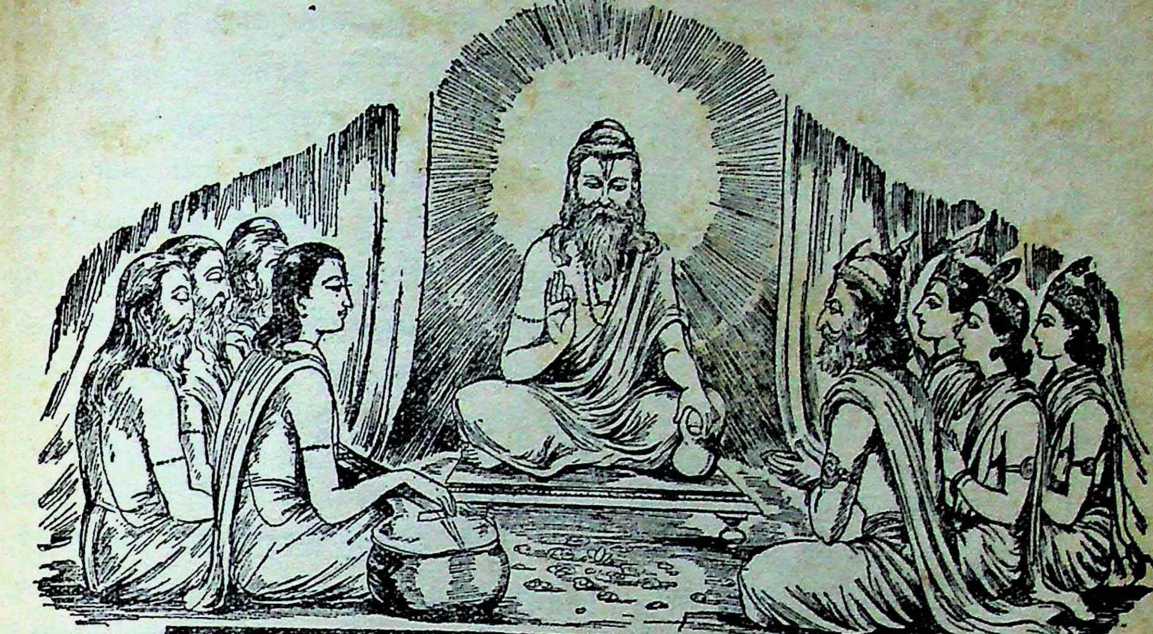

कल्याण

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर पौष २०१८, दिसम्बर १९६१ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ४२१

भक्तकी प्रार्थना

सर्वरहित एकाकी वनमें खड़ा कर रहा दीन पुकार ।
'दीनबन्धु ! हे सुहृदशिरोमणि ! सर्वेश्वर ! अनुपम दातार !
मैं अति पतित, विषय-विष-जर्जर, सन्मार्गच्युत, अधम अपार ।
आश्रयरहित, साधनाविरहित, हृदय अपरिमित पूर्ण विकार ॥
कर दृढ़ निश्चय, हो अनन्य, मैं चरण-शरण आया हूँ द्वार ।
कर परिशुद्ध, बना लो अपना, विरद-विवश हे परम उदार !'

याद रक्खो—व्यक्तियोंके समूहका नाम समाज है, समाजके समूहोंका नाम राष्ट्र और राष्ट्रोंके समूहोंका नाम विश्व है । यदि प्रत्येक व्यक्ति विशुद्धचरित्र, सात्त्विक-गुणप्रधान, प्रेमपूर्ण-हृदय, परार्थ-त्यागी और संयमी हो जाय तो सारा विश्व स्वयमेव ही ऐसा बन जाय । पर मनुष्य दूसरेको देखता और उसका सुधार करना चाहता है । वह न तो अपनी ओर देखता है और न अपने दोषोंको दूर करके गुणोंको ग्रहण ही करना चाहता है । फलस्वरूप समाज या विश्वमें दोष बढ़ते रहते हैं ।

याद रक्खो—जबतक व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, तबतक समाज बिगड़ा ही रहेगा । न तो कोई व्यवस्था उसे सुधार सकेगी, न कोई कानून ही । चोरी, जारी, हिंसा अपराध हैं—बुरी चीजें हैं । मनुष्य कहता है किसी समाजमें यह न हो । वह भाषण देता है, लिखता है, नियम बनाता—कानून बनाता है, पर स्वयं न इन्हें बुरा समझता है, न इनसे घृणा करता है और न इनका त्याग ही करना चाहता है । तब इनका समाजमें अभाव कैसे होगा, कैसे समाज सुधरेगा ।

याद रक्खो—जबतक मनुष्य बुरेको हृदयसे ठीक बुरा नहीं समझेगा, बुरेसे घृणा नहीं करेगा; तबतक वह कहे कुछ भी, और चाहे वह सबके सामने अपराध न भी करे, पर उसके मनसे तो अपराध होते ही रहेंगे और चुपके-चुपके वह बाहर भी करता रहेगा । कानून बनाने तथा मानने-मनवानेवाले भी सब व्यक्ति ही हैं, अतः कानून पुस्तकोंमें छपा रहेगा और अपराध बनते रहेंगे ।

याद रक्खो—जब व्यक्ति अपराधको मनसे अपराध मानेगा, पापको मनसे पाप समझेगा, तब वह मनमें भी जरा-सा पाप-संकल्प उदय होनेपर दुखी होगा । अकेलेमें भी जरा-सा पाप करते डरेगा । फिर, समाजसे अपने आप ही अपराध—पाप निर्मूल हो जायँगे । समाज सुधर जायगा—समाजोंके सुधारसे विश्वतक सुधर जायगा ।

याद रक्खो—मनुष्यके पास प्रधान तीन चीजें हैं—बुद्धि, मन और शरीर । इनमें प्रधान बुद्धि है । बुद्धि ही मार्गका निर्णय करनेवाली तथा शरीर-रथकी संचालिका सारथि है । बुद्धि जब अधर्मको धर्म, पापको पुण्य बताने लगती है, तब वह मारी जाती है और बुद्धिका नाश होते ही मनुष्यका सब प्रकारसे पतन हो जाता है । बुद्धि शुद्ध रहेगी, तब मनमें शुद्ध संकल्पोंका उदय होगा तथा शरीरके द्वारा शुभ क्रियाएँ होंगी । तब व्यक्ति अपने-आप ही ठीक हो जायगा । व्यक्तिका सुधार ही विश्वका सुधार है ।

याद रक्खो—आज जो दुनियामें कलहकी आग धधक रही है, छोटी-सी झोंपड़ीसे लेकर बड़े-बड़े राष्ट्रोंमें विभिन्न निमित्तोंसे जो अवाञ्छनीय घटनाएँ घट रही हैं, तथा स्थान-स्थानसे पद-पदपर त्याग, प्रेम, संयम एवं सद्भावके अभावसे जो बुराइयाँ पैदा हो रही हैं, उनमें व्यक्तिका बुद्धिनाश ही प्रधान कारण है । व्यक्तिका अधर्मविचार तथा अधर्माचरण ही प्रधान कारण है । यह किसी भी कानूनसे नहीं दूर हो सकता । इसके लिये व्यक्तिकी बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिको अपने सुधारमें लगना चाहिये ।

याद रक्खो—तुम्हारा सुधार तुम्हारे अपने चाहने तथा करनेसे ही होगा । इसलिये अपना सुधार चाहो, अपने दोषोंको निर्मूल करनेका प्रयत्न करो, अपनेको संस्कृत करो, अपनेको शुभचरित्र, सच्चरित्र, सात्त्विक-चरित्र, उच्च-चरित्रवाला सुसंस्कृत पुरुष बनाओ और अपना शुभ निर्माण करो—इसके लिये लग जाओ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक पूरे मनसे, पूरी शक्ति लगाकर । दूसरेकी ओर न देखो । भगवान् तुम्हारे सहायक होंगे । उनका बल तुम्हारे साथ होगा । उनसे प्रार्थना करो—उनकी कृपाशक्तिपर विश्वास करो । सारे विघ्नोंका विनाश करके तुम्हें आगे बढ़ाकर ले जायगी शीघ्र ही—उनकी कृपा । फिर समाजका, राष्ट्रका, विश्वका सुधार स्वयमेव ही हो जायगा ।

'शिव'

मनुष्य-जीवनमें ईश्वरोपासनाकी सार्थकता

(लेखक—श्री श्री दा० सातवलेकर महोदय)

उपासनाका अर्थ

उपासनाका अर्थ है—'उप+आसना' पास जाकर बैठना। मनुष्य जिस तरहके आदमियोंमें उठता-बैठता है, उसी तरहका बन जाता है।

उदाहरणके लिये—मनुष्य अग्निके पास जाकर बैठता है, तब उसको गरमीका अनुभव होता है और ठंड कम होती है। अग्निकी उपासनाका यह प्रत्यक्ष फल प्रत्येककी समझमें आनेवाला है। इसी प्रकार अग्निमें पड़ा हुआ एक लोहेका टुकड़ा कुछ ही समयके बाद अग्निके समान ही जलानेवाला हो जाता है। यह उपासनाका फल है। अतः जो उपासक जिस प्रकारके उपास्य देवताकी उपासना करेगा, स्वयं भी उस तरहका हो जायगा।।

जब गुरुके पास एक विद्यार्थी जाकर बैठता है और उससे ज्ञान प्राप्त करता है, तब थोड़े कालके बाद वह भी अपने गुरुके समान ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार उपासनासे सिद्धि प्राप्त होती है। उपास्यके गुण-धर्म उपासकमें भी आते हैं और उन गुणोंसे उस उपासककी उन्नति होती है।

जैसे सद्गुरुका शिष्य अच्छे गुरुके पास रहनेके कारण अपने गुरुके सद्गुणोंसे युक्त होता है, वैसे ही दुर्जनकी संगतिमें रहनेवाला पुरुष दुर्जन भी बन सकता है। चोरोंकी टोलीमें रहनेवाला मनुष्य एक कट्टर चोर ही बनेगा। तात्पर्य यह कि हीन संगतिमें पड़कर मनुष्य अधोगतिको ही जाता है, पर वही सत्संगतिमें पड़कर सुधर भी सकता है। सत्संगति निस्संदेह कठिन है; क्योंकि चढ़ना कठिन है और गिरना सरल। इसलिये सबसे पहले उपासकको, किस उपास्यकी उपासना की जाय, इसका विचार कर लेना चाहिये। मनुष्य किसी-न-किसीकी उपासना करता अवश्य है, इसलिये उपासकको श्रेष्ठ और योग्य पुरुषकी ही उपासना करनी चाहिये।

उपासना शब्दकी पवित्रता

'उपासना' शब्द देव अथवा सत्पुरुषकी उपासनाके लिये ही प्रयुक्त होता है। दुष्टकी उपासना हो ही नहीं सकती। इस प्रकार उपासना शब्दके अंदर ही इसकी पवित्रता निहित है। इस पवित्रताकी अवहेलना किसीको भी नहीं करनी चाहिये।

वैदिक कालकी उपासना परब्रह्म, परमात्मा, अग्नि, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रादि देवोंकी उपासना थी। पौराणिक कालकी उपासना राम, कृष्ण आदि विभूतियोंकी थी और आधुनिक कालकी उपासना मिश्रित रूपमें है। उपासकके गुणोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनका अभ्यास उपासकको करना होता है, इसलिये वह नामसंकीर्तन, मन्त्रपाठ, स्तोत्रपाठ आदि करता है। जिससे उपास्यके गुण उपासकके मनमें उतरें और स्थिर हों, ऐसे अभ्यासकी उपासनामें अत्यन्त आवश्यकता है।

'नरको नारायण', 'जीवको शिव' और 'क्षुद्रात्माको महान् आत्मा' बनाना ही उपासनाका प्रयोजन है और इसी दृष्टिसे उपासना इष्ट है। श्रद्धापूर्वक जिस किसीकी भी उपासना कर लेनेसे सिद्धि नहीं हो सकती। केवल श्रद्धासे कार्य करना ही उपासनाका अनुष्ठान नहीं है। सर्वप्रथम उपासकमें दैवी शुभ गुणोंका आधान होना चाहिये और हीन भावनाओंका पूर्णरूपेण नाश होना चाहिये।

स्वच्छताका कार्य

जिस प्रकार कपड़ेको स्वच्छ करनेके लिये उत्तम पानी और उत्तम साबुन आदिकी यथायोग्य आवश्यकता होती है, तभी वस्त्र साफ धोये जा सकते हैं। उसी प्रकार अपने जीवनरूपी वस्त्रको स्वच्छ करनेके लिये ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये। जैसे-तैसे उपासना करनेसे कोई लाभ नहीं। पर यदि सारी विधियाँ पवित्रतासे की जायँ तो अपना जीवनरूपी वस्त्र साफ धोया जा सकता है। उपासनामें केवल श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है; उपासनाके सारे अङ्गोंका अनुष्ठान शुद्ध रीतिसे होना चाहिये, तभी उपासनाके फलकी प्राप्ति हो सकती है। उपासनामें 'नाम-जप' भी एक भाग है। इस सम्बन्धमें वेद क्या कहते हैं, आइये, उन्हें भी देख लें।

नाम-जप

'नाम-जप' का उपासनामें मुख्य स्थान है, इस विषयमें वेदका कथन निम्न है—

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।

(ऋ० १।२४।२)

'अमर देवोंमें प्रथम स्थानपर विराजमान अग्निके सुन्दर नामका जप करते हैं और उसका मनन करते हैं।' और—

ऋतस्य पदं कवयो निपान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि।

(ऋ० १०।५।२)

'अपने अन्तःकरणमें ज्ञानीजन श्रेष्ठ नामको धारण करते हैं, इस प्रकार वे ज्ञानी सत्यके आधारस्थानकी रक्षा करते हैं।' नाम-जपके कारण प्रभुका नाम मनुष्योंके अन्तःकरणमें रहता है और उससे मनुष्यकी संरक्षणकी शक्ति बढ़ती है। और भी देखिये—

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिः गीर्भिरीमहे इन्द्र अभिमाति षाह्ये ।
(ऋ० ३ । ३७ । ५)

'हे सैकड़ों कार्य करनेवाले इन्द्र ! शत्रुके पराभव करनेवाले तेरे सब नामोंका हम अपनी वाणियोंसे उच्चारण करते हैं ।' इन नामोंके उच्चारण करनेका अर्थ है, उस नाममें निहित गुणोंको अपने अंदर धारण करना । इसी मन्त्रमें **'अभिमाति षाह्ये'** '(शत्रुओंको हरानेवाले) के मननसे हमारे अंदर भी शत्रुको हरानेकी शक्ति बढ़े और हम विजयी हों ।' यह धारणा मनमें बननी चाहिये । प्रभुके सभी नामोंमें एक-एक महान् शक्ति छिपी हुई है, यदि वह प्रकाशमें आ जाय तो एक ही शक्ति मनुष्यको देव बनानेमें पर्याप्त है । और भी—

विश्वानि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देव उत यज्ञियानि वः ।
(ऋ० १० । ६३ । २)

'देव ! तुम्हारे सारे नाम वन्दनीय, पवित्र और नमस्कारके योग्य हैं ।' इस प्रकार उपासक नामोंका जप करता है और उससे वह पवित्र, वन्दनाके योग्य और नमस्कारके योग्य होता है । तथा—

यो धर्त्ता भुवनानां य उस्राणां अपीच्या वेद नामानि गुह्या ।
स कविः काव्या पुरुरूपं द्यौरिव पुष्यसि नभन्तामन्यके समे ॥
(ऋ० ८ । ४१ । ५)

'जो सारे भुवनोंको धारण करता है, जो सब तेजस्वी देवोंके गुप्त नामोंको जानता है, जो ज्ञानी दूरदर्शी अपनी कुशलतासे द्युलोकके समान सबके रूपोंको सुन्दर बनाता है, उसकी कृपासे सारे शत्रु विनष्ट हो जायँ ।'

इस मन्त्रमें स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा है कि 'तेजस्वी देवोंके गुप्त नामोंको जो जानता है अर्थात् उनके अंदरके गुप्त भावोंको जानता है, उसके सामर्थ्यसे सब शत्रु दूर होते हैं और वह सारे भुवनोंको धारण करनेमें समर्थ होता है ।' गुप्त नामोंको जाननेसे ऐसी शक्ति प्राप्त होती है ।

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतं एवैः ।
(ऋ० १ । ६८ । २)

'सब उपासक सत्य नियमोंका पालन करते हैं और देवत्वको प्रदान करनेवाले नामोंका भजन करते हैं तथा अपने प्रयत्नसे अमरत्व प्राप्त करते हैं ।' उपासना करनेवाले सत्यके मार्गका उल्लंघन नहीं करते और देवत्वको प्राप्त करानेवाले नामोंका भजन करते हैं और अपने प्रयत्नसे अमरता प्राप्त करते हैं । इस प्रकार (ऋतं सपन्तः) सत्यका आचरण करते हैं; क्योंकि शुद्धाचरण, शुद्ध प्रयत्न और देवत्व प्रदान करनेवाले नाम ही अमरताको प्रदान करनेवाले हैं । भजनके साथ-साथ उत्तम आचरण भी आवश्यक है । शुद्धाचरणरहित केवल नाम-जपसे कुछ तो लाभ होगा, पर सम्पूर्ण नहीं । अतः सम्पूर्ण लाभकी सिद्धिके लिये शुद्ध आचरण एवं शुद्ध प्रयत्नको भी नाम-जपका सहचारी बनाना आवश्यक है ।

नाम नाम्ना जोह वीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं सं बभूव सह तत् स्वराज्यमियाय
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥
(अथर्व० १० । ७ । ३१)

'सूर्योदय अथवा उषःकालसे पहले जो उपासक देवोंका नाम जपता है, जो प्रयत्न करनेवाला उपासक संघटित दलका नेता होता है, वह आत्मशासनकी शक्ति प्राप्त करता है और जिसकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ इस संसारमें कोई और नहीं है ।'

इसमें 'अज' शब्द उपासकका वाचक है और उसकी निरन्तर प्रयत्नशीलताको दिखाता है । जो सदा उत्तम कार्य करता है, जो सदा प्रयत्न करता है, जो आगे आनेके लिये कोशिश करता है वही नेता है और वही 'अज' है । इस प्रकार जो उपासक प्रातःकाल परमेश्वरका मननपूर्वक स्मरण करता है, उसे आत्मशासनकी शक्ति प्राप्त होती है । यहाँ 'स्व-राज्य' शब्द उपर्युक्त भावोंका ही द्योतक है । उपासकको पूर्णता आत्मशासनसे प्राप्त होती है । अपना शासन अपने ऊपर चलाना ही आत्म-सामर्थ्य है ।

वैदिक देवताओंके भजनसे किन-किन गुणोंका समावेश उपासकमें होता है, वह संक्षेपमें इस प्रकार है—

देवताओंका नाम-जप

अग्निके विशेषण—**'धर्माणाम् अध्यक्षः'**—धर्मोंका अध्यक्ष; **'ऋषिकृत्'**—ऋषियोंका निर्माता; **'कवि-तमः'**—सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, दूरदर्शी; **'चर्षणीनां नेता'** मनुष्योंका नेता; **'सत्यवाक्'** सदा सत्य बोलनेवाला; **'सभ्यः'** सभामें जाने योग्य; **'सुवीरः'** उत्तम वीर ।

ये अग्निदेवताके गुणको प्रकट करनेवाले नाम वेदमें हैं । इन नामोंकी उपासना करनेवाला तथा इन नामोंके रहस्यको जाननेवाला उत्तम गुणोंसे युक्त होता है । इनमेंसे एक-एक नामको जो आत्मसात् कर लेता है, उसीका कल्याण हो सकता है । अब इन्द्रके नाम देखिये—

इन्द्र देवताके नाम—**'अ-क्षित-ऊतिः'** जिसके पास संरक्षणके साधनोंकी कमी नहीं है; **'अ-च्युत-च्युत्'** अपने स्थानसे न हिलनेवाला, शत्रुओंको हिलानेवाला; **'अ-पराजितः'** न हारनेवाला; **'अभिमाति षाहः'** शत्रुओंको हरानेवाला; **'अ-युध्यः'**

जिससे कोई युद्ध नहीं कर सकता; **'उग्र-बाहुः'** बलवान् बाहुवाला; **'गोत्रभिद्'** शत्रुओंके किलोंको तोड़नेवाला; **'पुरां-भेत्ता'** शत्रुके नगरोंको तोड़नेवाला; **'वीर-तमः'** श्रेष्ठ वीर; **'इन्द्रः'** **(इन्-द्रः)** शत्रुओंको फाड़नेवाला ।

ये इन्द्रके गुणबोधक नाम हैं । इन्द्रका उपासक इन गुणों-से युक्त होता है । ये नाम क्षात्र-गुणोंको पोषण करते हैं ।

देवोंके दूसरे नाम भी इसी प्रकार बोधको देनेवाले हैं । उनका यहाँ पूर्णरूपेण विचार असम्भव है । गीतामें भी कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान् (९ । २५)

'देवोंके समान चलनेवाले देवत्व प्राप्त करते हैं…'। देवत्व प्राप्त करनेकी यही रीति है कि देवोंके गुणोंका श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अनुष्ठान करें । देव बननेका अर्थ है—देवोंके गुणधर्मोंसे युक्त होना । प्रत्येक देवताके गुण भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनके गुणोंकी प्राप्तिके मार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं ।

ज्ञानी, शूर, व्यवहारमें चतुर और कर्मचारी—इन चार विभागोंमें मनुष्य-समाज विभक्त है । देवोंमें इन सब गुणोंकी पराकाष्ठा है । इसलिये मनुष्योंको देवताकी उपासना करनी चाहिये तथा देवोंके समान बनना चाहिये । अग्निमें ज्ञानके गुणोंका उत्कर्ष है, इन्द्रमें क्षात्रगुणोंका उत्कर्ष । गीतामें आये हुए **'देवव्रता'** शब्दका अर्थ है, देवोंके समान व्रतका आचरण करना । इससे पूर्व भी एक मन्त्रमें बताया कि **'एवैः ऋतं सपन्तः'** (ऋ० १ । ६८ । २) अपने प्रयत्नसे उपासक सत्य नियमोंका पालन करता है और इस प्रकार देवत्व प्राप्त करता है । **'अजन्मा उपासक'** (अथर्व० १० । ७ । ३१) ही आत्मशासक होता है, यह तात्पर्य भी 'देवव्रत' शब्दसे निकलता है । तात्पर्य यह है कि उपासना ही उत्तम अनुष्ठानका आधार है और उसीसे मनुष्य सफल हो सकता है ।

इस विषयमें ऋग्वेदका कथन है—

पश्वा न तायुं गुहाचरन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम् ।
सजोषा धीराः पदैरनुग्मन् उपत्वा सीदन् विश्वे यजत्राः ॥
(ऋ० १ । ६५ । १)

'पशुओंको चुराकर गुहामें बैठे हुए, पशुओंको अन्न देनेवाले तथा अन्नको पासमें रखनेवाले चोरको जिस प्रकार उत्साही धैर्यशाली पुरुष पैरके चिह्नोंके आधारपर ढूँढकर उसे चारों ओरसे घेर लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीगण पदों-नामोंके द्वारा परमात्माका रास्ता ढूँढकर उसे प्राप्त करते हैं तथा सब याज्ञिक-जन उसे घेरकर बैठते हैं ।'

इस मन्त्रके दो अर्थ हैं, एक चोरपरक, दूसरा ईश्वरपरक । चोरपरक अर्थ इस प्रकार है—

चोर पशुओंको चुराकर गुहामें जाकर छिप जाता है । जैसा उसके पास पशुओंको देनेके लिये खाद्य होता है, वह देता है । धैर्यवान् पुरुष जमीनपर पड़े हुए उसके पैरोंके चिह्नोंके आधारपर गुहातक पहुँचकर उसे पकड़ लेते हैं और उसे घेर लेते हैं ।

परमात्मा-परक अर्थ परमेश्वर इन्द्रिय-शक्तियोंके साथ अन्तःकरणमें जाकर छिपकर बैठ जाता है, ज्ञानीजन नामोंके द्वारा उसतक पहुँचनेका मार्ग जान लेते हैं, यज्ञकर्ता उसे घेरकर बैठ जाते हैं, हवि देते हैं और नमन करते हैं ।

'पदैः' का अर्थ कोषमें 'पाँव, पाँवका चिह्न और ईश्वरका नाम' है । जिस प्रकार लोग पैरोंके चिह्नसे चोरको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी स्तुतिमें आनेवाले ईश्वरवाचक पद अर्थात् नामोंके जापसे परमात्माको हृदयमें देखता है और उसमें प्रवेश करके ईश्वरको प्राप्त करता है, उसकी उपासना करता है ।

नामका अर्थ जानकर उसके अर्थके अनुसार अपना आचरण बनाना ही अनुष्ठान है, यही उपासना है । इस उपासनासे ईश्वरकी प्राप्ति होती है ।

उपासना एक सरल अनुष्ठान है । उसके नाम-उपासना, सूक्त-उपासना, देवता-उपासना, परमात्म-उपासना आदि अनेक भेद हैं । वास्तविक उपासना परमात्म-उपासना ही है । इस विषयमें वेद कहता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
(यजु० ३२ । १)

'वह ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, जल और प्रजापति है ।'

विश्वमें प्रत्येक देवता उसी ब्रह्मके दृश्य रूप हैं । इसलिये किसी भी देवताकी उपासना की जाय, वह होती ब्रह्मकी ही उपासना है ।

पुराणोंमें जो महापुरुष हैं, वे विभूति पूजाकी दृष्टिसे उपास्य हैं । उनके चरित्र प्रसिद्ध हैं । उनके चरित्रोंको मनमें धारण करना चाहिये और जिस प्रकार उन्होंने जनोपकारके कार्य किये, उसी प्रकार उनके आदर्शके अनुरूप अपना आचरण बनाना चाहिये । यही उपासनामें करने योग्य अनुष्ठान है । इस प्रकारका आचरण मानवकी उन्नतिके लिये अत्यन्त आवश्यक है ।

* * *

कर्मयोगके पाँच भेद

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता एक छोटा-सा ग्रन्थ है किंतु निष्काम कर्म और निष्काम भक्तिका जैसा तत्त्व-रहस्य इसमें भरा हुआ है, वैसा एकत्र कहीं नहीं मिलता। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण आदि समस्त शास्त्रोंका सार इसमें गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है। इसके अर्थ और भावको समझकर धारण कर लेनेपर यानी उसके अनुसार अपना जीवन बना लेनेपर और कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, गायन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।' 'पद्मनाभ' कहनेका भाव यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

अब यहाँ गीतोक्त कर्मयोगके विषयमें विचार किया जाता है। गीतामें कर्मयोगका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह संक्षेपमें इस प्रकार है—वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें और उसके फलमें सदा ही सम रहना तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वसुहृद् और सर्वप्रेरक समझकर एवं अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्मों और उनके फलोंको भगवान्‌के समर्पण करना; उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही सम्पूर्ण कर्मोंको करना; किंतु ऐसा करते हुए भी उन कर्मोंमें और उनके फलोंमें किञ्चिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना न रखना; भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सदा ही परम संतुष्ट रहना तथा उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना।

इस कर्मयोगको हम पाँच भेदोंमें विभक्त कर सकते हैं—१. केवल कर्मयोग, २. भक्ति-गौण कर्मयोग, ३. भक्ति-मिश्रित कर्मयोग, ४. भक्तिप्रधान कर्मयोग और ५. केवल भक्तियोग।

१. केवल कर्मयोग

जिस साधनमें ईश्वरकी भक्ति यानी भजन-ध्यानादिरूप उपासनाका सम्मिश्रण नहीं रहता और केवल निष्काम तथा अनासक्त भावसे कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, वह 'केवल कर्मयोग' है। केवल कर्मयोगका वर्णन गीतामें यों मिलता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो यानी ममता, आसक्ति और वासनासे रहित हो जा तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥
(गीता ५ । ३)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ।'

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
(गीता ६ । १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है ।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है ।'

उपर्युक्त सभी श्लोकोंमें कर्म और उसके फलमें आसक्ति और कामना आदिका त्याग करते हुए यानी निष्काम भावसे ही कर्म करनेका आदेश एवं संकेत है, अतः इनमें 'केवल कर्मयोग'का ही वर्णन है, भक्तिका सम्मिश्रण नहीं है ।

इसी प्रकार गीतामें केवल कर्मयोगविषयक और भी बहुत-से श्लोक हैं; जैसे—२ । ४८, ५१, ६४; ३ । ७; ५ । ६, ११-१२; १२ । ११-१२; १८ । ९, ११ आदि-आदि ।

२. भक्ति-गौण कर्मयोग

जिस साधनमें कर्मकी तो प्रधानता है, किंतु साथमें ईश्वरकी भक्तिका भी सम्बन्ध है, वह 'भक्ति-गौण कर्मयोग' है । भक्ति-गौण कर्मयोगका वर्णन गीतामें यों मिलता है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
(गीता २ । ४५)

'हे अर्जुन ! वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों और उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं, इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो ।'

यहाँ आगे-पीछे कर्मयोगका प्रसङ्ग है और इस श्लोकमें 'नित्यसत्त्वस्थ' यानी परमात्मामें स्थित होनेका आदेश है अतः इस कर्मयोगमें भक्तिका भी सम्मिश्रण है ।

इसी प्रकार—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

यद्यपि तीसरे अध्यायमें प्रधानतया कर्मयोगका ही विषय है तथापि प्रकरणवश कोई-कोई श्लोक भक्ति-गौण और

भक्ति-प्रधान कर्मयोगका भी आ गया है। जैसे तीसरे अध्यायके उक्त १९वें श्लोकमें तो भक्ति-गौण कर्मयोगका और ३०वें श्लोकमें भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। १९वें श्लोकमें अनासक्त भावसे कर्म करनेका आदेश होनेसे उसमें निष्काम कर्मकी प्रधानता है; क्योंकि आसक्तिके अभावके अन्तर्गत ही कामनाका अभाव है और इस साधनके फलस्वरूप साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, अतः भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य होनेसे कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्ति भी मानी गयी है।

इसी तरह—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
(गीता ४। १४)

'फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' जिसको कर्मोंके फलकी स्पृहा—परवा नहीं है, वह निष्काम कर्मयोगी है और 'कर्मफल-स्पृहा न होनेके कारण भगवान्‌को कर्म लिप्त नहीं करते' यों भगवान्‌को जानना भगवान्‌की भक्ति है। अतः इस श्लोकमें भी कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्ति गौण मानी गयी है।

३. भक्ति-सामान्य कर्मयोग

जिस साधनमें कर्मकी प्रधानता होनेपर भी ईश्वर-भक्तिकी भी प्रधानता रहती है वह भक्तिमिश्रित कर्मयोग है। जैसे—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(गीता १७। २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्र-विधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।'

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
(गीता १७। २५)

'तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ-तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं।'

यहाँ २४वें श्लोकमें भगवान्‌के नाम—ॐ का उच्चारण करके कर्मोंको करनेका प्रतिपादन है और २५वें श्लोकमें कहा हुआ 'तत्' शब्द ईश्वरका वाचक है, इसलिये इन दोनों श्लोकोंमें कर्मयोगके साथ भक्तिका भी मिश्रण है।

इसी प्रकार—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसमें कर्मकी प्रधानता होते हुए भी ईश्वरकी भक्तिका पर्याप्त सम्मिश्रण है। १८वें अध्यायके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणके, ४३वेंमें क्षत्रियके और ४४वेंमें वैश्य तथा शूद्रके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करनेके पश्चात् ४५वेंमें भगवान्‌ने 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें भलीभाँति लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है उस विधिको तू सुन'—ऐसा अर्जुनसे कहकर इस ४६वें श्लोकमें उसीकी यह विधि बतायी है—परमात्मासे ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणी उत्पन्न होते हैं और परमात्मा सबमें व्यापक है—ऐसा

समझकर अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेसे परम सिद्धि मिलती है। अतः सबकी सेवा भगवान्की ही सेवा है—यों प्राणिमात्रमें भगवद्भाव करके उनकी सेवारूप ईश्वरकी पूजा करना—यह भक्तिका भाव है और सेवारूप कर्म करना कर्म है। इसमें कर्मकी प्रधानता होते हुए भक्तिकी भी प्रधानता है। अतः यह 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' है।

४· भक्तिप्रधान कर्मयोग

जिस साधनमें भक्तिकी ही प्रधानता हो और कर्म गौण हो, वह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है। जैसे—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
(गीता १२ । ६)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(गीता १८ । ५७)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

इन दोनों ही श्लोकोंमें शास्त्रविहित कर्मोंका करना तो कर्म है और कर्मोंको भगवान्के समर्पण करना, उनके परायण रहना तथा अनन्य भक्तियोगसे उनको निरन्तर चिन्तन करते हुए भजना—इनमें भक्ति ही मुख्य है। अतः यह 'भक्तिप्रधान कर्मयोग' है।

भक्तिप्रधान कर्मयोगके भी दो भेद हैं—(१) भगवदर्पण, (२) भगवदर्थ। भगवदर्पण कर्म वह है जिसमें जो कुछ भी शास्त्रविहित कर्म किया जाता है, वह भगवान्के अर्पण करके किया जाता है यानी यह सब कुछ भगवान्का है, मैं भी भगवान्का हूँ और मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्के ही हैं—यों समझकर भगवान्के आज्ञानुसार भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म किया जाता है। भगवान्ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९ । २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।' यह 'भगवदर्पण कर्म' है।

भगवदर्थ कर्म वह है जो भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किया जाता है। जैसे—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२ । १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

५· केवल भक्तियोग

जिस साधनमें केवल भक्ति ही हो, कर्मोंका मिश्रण न हो, वह 'केवल भक्तियोग' है। जैसे—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त हुआ सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं । उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह यथार्थ ज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गीता १२ । ८)

'मुझमें ही मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १४ । २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता १८ । ६५)

'हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका उल्लेख नहीं है, केवल अनन्य और निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्का चिन्तन करना, उन्हें प्रेमपूर्वक भजना, उनके गुण-प्रभावका कथन करना, मन-बुद्धिको उन्हींमें लगा देना एवं उन्हींकी उपासना करना आदिका ही वर्णन है, जो सभी भक्तिके ही वाचक हैं और उन सबका फल भगवान्की प्राप्ति है । गीतामें भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारके लिये ही अपनी अनन्य भक्तिका निरूपण किया है ।

इन श्लोकोंके सिवा, केवल भक्तिविषयक और भी बहुत-से श्लोक मिलते हैं । जैसे—८ । २२; ९ । ३४; ११ । ५४; १५ । १९; १८ । ६२ आदि-आदि ।

ऊपर कर्मयोगके जो पाँच प्रकार बतलाये गये हैं उनमेंसे किसी एकका भी साधन करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । यही नहीं, इन पाँचों प्रकारोंके जितने भी श्लोक ऊपर बताये गये हैं, उनमेंसे किसी भी एक श्लोकके अनुसार अपना जीवन बना लेनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । फिर जो अपने

अधिकारानुसार सम्पूर्ण गीताके अनुकूल ही अपना जीवन बना लेता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है । इस कर्मयोगके अतिरिक्त, ज्ञानयोगके द्वारा भी परमात्माकी प्राप्ति होनेके बहुत-से श्लोक गीतामें हैं; किंतु यहाँ उसका प्रकरण न होनेसे उनका उल्लेख नहीं किया गया । यहाँ तो कर्मयोगद्वारा परमात्माकी प्राप्ति होनेका ही दिग्दर्शन कराया गया है ।

अतएव कर्मयोगके साधकोंको कर्मयोगके उपरिनिर्दिष्ट पाँचों प्रकारोंमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी एकका भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परतासे साधन करना चाहिये ।

मुमुक्षुके अनुभव

(लेखक—मुमुक्षु)

(१) ज्ञानका क्रियात्मक स्वरूप यह है कि मनुष्य अपने जीवनके सुख-दुःखकी सब घटनाओंको ईश्वरकी ओरसे प्राप्त न्याययुक्त तथा हितात्मक समझता हुआ संतोषसे रहे । ईश्वरार्पणका यह सच्चा स्वरूप है ।

(२) जगत् कोई वस्तु नहीं, भास है । भास बिना आश्रयके नहीं हो सकता, सो वह आश्रय ब्रह्म है । वह निराकार ब्रह्म 'तत्' सब आकारका आधार कोई ऐसे स्थूल रूपसे नहीं है जैसे एक मेज किसी पुस्तकका आधार हो; परंतु भाव यह है कि उसी निराकार तत्से यह आकार—आकारमात्र है ।

(३) जीवोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है, अतः अनुकूलता-प्रतिकूलता जीवके साथ-साथ ही निवास करती है । यही सब सुख-दुःखका मानो बीज है ।

(४) जीव मनसे ही जन्म लेता और मनमें ही समाता है अर्थात् सारा प्रपञ्च मनोमय है । जगत्के 'सत्' भावके निश्चयसे यह मन ईश्वरीय मायाका दास है और जगत्के मिथ्याभावके निश्चयसे यही मन मायाका स्वामी है; क्योंकि यह नीति है कि ईश्वरीय मायाका जीवोंको आवागमनके चक्करमें डालना केवल अज्ञानियोंके लिये ही है । मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि जो मन आयुभर इतने भारी विस्तारमें अपना कार्य करता रहा है, वह अकस्मात् प्राण निकलनेपर नास्तित्वमें कैसे प्रवेश कर सकता है ? भाव यह कि उसका अत्यन्त अभाव कैसे हो सकता है ? उसका जीवित रहना ही यह बतलाता है कि वह किसी अमर सत् 'तत्'का अंश या स्वरूप है । इस कारण बुद्धिमान् मनुष्यको उसी अमर सत् 'तत्'का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । जिस भाग्यवान् मनुष्यने मनको इस महान् कार्यमें लगा दिया, उसने अपने जीवनका लक्ष्य सिद्ध कर लिया ।

(५) परमात्माकी कृपा मोक्षके अक्षय आनन्दके प्रदान करनेके रूपमें केवल उन्हींके लिये है जो उसे निज विवेकसे भलीभाँति केवल अद्वैत तथा गुणातीत रूपमें ही अनुभव करे ।

अन्य प्राणियोंके लिये कर्म-रचित सुख-दुःख तथा जन्म-मरणका चक्कर ही नीतिमें निश्चित है । परंतु ऐसे प्राणियोंको भी प्रथम श्रेणीमें लानेके लिये नीतिका झुकाव है । बल्कि यह कहना चाहिये कि ऐसे प्राणियोंको भी ईश्वरीय नीति बलात्कार प्रथम श्रेणीमें ले आती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि नीतिमें मोक्षका संकेत गुप्त-रूपसे समाया हुआ है । जो इस संकेतको प्रत्यक्ष कर देते हैं, अर्थात् जो इस संकेतको निरन्तर भावनाका रूप दे देते हैं, उनके कल्याणमें कोई संदेह नहीं है ।

(६) मनुष्य! तू अपने वास्तव पिताको पहचान । तेरे सांसारिक माता-पिता तेरे वास्तविक पिताकी आज्ञाके बिना क्या तुझे इस संसारमें जन्म दे सकते थे ?

नहीं, कदापि नहीं। और यदि वह वास्तविक पिता कोई आज्ञा दे तो क्या वे रोक सकते हैं ? नहीं । तो फिर ये तो निमित्तमात्र ही हुए । जो प्रभु तेरे माता-पिताको, उनके माता-पिताको और सारे जगत्को अपनी आज्ञामें चला रहा है, उसे भलीभाँति स्मरण कर । वही तेरा वास्तविक पिता है । और केवल तू ही नहीं, सारा अनन्त ब्रह्माण्ड एक कठपुतलीकी भाँति उस कठपुतलीके स्वामीकी अंगुलिपर नृत्य कर रहा है । अतः इस सम्पूर्ण दृश्यको कठपुतलीका तमाशा समझ और उसकी अपार अनन्त महिमाको अनुभव कर, जिसने इसको पूर्णतया अपने वशमें कर रक्खा है, इस तमाशेका प्रयोजन केवल यही है कि तमाशेके स्वामीका अनुभव किया जाय । अर्थात् जगत् केवल जगत्-कर्ताके ज्ञानके लिये ही बना है। सो प्रथम उस ज्ञानको प्राप्त कर, बादमें तुझे पूछनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।

(७) मनुष्य केवल भावना मात्रसे ही मुक्त हो जाता है, उसे करना कुछ भी नहीं है । विचारवान् मनुष्य दिव्य भावसे नित्य परमात्माकी ओरसे जीवसे यह प्रश्न करते-सुनते हैं कि 'क्या तू मोक्षके परमानन्दको चाहता है ?'

यदि हाँ तो अनित्य सुखकी ओरसे अपने मनको हटाकर परमानन्दकी खोज कर, बल्कि खोज छोड़ केवल उसकी सर्वोत्तम इच्छा कर । परंतु बिरला ही कोई जीव उस ध्वनिको सुनता या उसका संतोषजनक उत्तर देता है । जिसने उस ध्वनिको अपने मनके रेडियोपर स्थान दे दिया, वह मानो भवसागरसे पार हो गया ।

(८) एक कुत्ता रोटीके टुकड़ेको प्रसन्नतासे अंगीकार करता है परंतु एक दस हजारके बैंक-ड्राफ्टकी ओर ध्यान भी नहीं देता, जिस धनके व्याज मात्रसे ही उसे प्रतिदिन १०-१२ रोटियाँ मिल सकती हैं । यही दशा सहस्रों नहीं, लाखों मनुष्योंकी है जो मोक्षके असीम मूल्यको अनुभव नहीं करते और उसकी अपेक्षा तुच्छ सांसारिक सुखोंमें ही मरणपर्यन्त खपते रहते हैं ।

(९) अन्तःकरणकी उच्चता-नीचताका अनुमान प्राणीके बाह्य सुख-दुःखकी अवस्थासे कदापि लगाने योग्य नहीं है और न उसके प्राण त्यागनेकी दशासे ही सम्भव है कि एक नास्तिक अज्ञानी दुष्ट चाण्डाल मनुष्य दिल फेल हो जानेसे मर जाय और एक महात्मा उच्च विचारसम्पन्न ज्ञानी पुरुष हाय-हाय करता प्राण छोड़े । और यह भी प्रायः कलियुगमें विशेष करके देखा गया है कि भले सज्जन व्यक्ति जीवनमें बड़े कष्ट पाते हैं, जैसे कि एक मीठे गन्नेका सुन्दर दृष्टान्त गुरबानीमें आया है कि कैसे वह गन्ना पेरा जाता है उसका रस अग्निपर चढ़ाया जाता है और छिलके जलाये जाते हैं । कर्मोंकी गति अत्यन्त विलक्षण है !

* * *

जिसने हृदयके नेत्रोंसे प्रभुके अंतस्‌की ओर देखा

जिसने देखा कभी हृदय-दृगसे, प्रभुके अंतस्‌की ओर ।
उसके द्वन्द्व मिटे सारे वह हुआ अमल आनन्दविभोर ॥
तमके सभी कारणोंका, तमका हो गया समूल विनाश ।
मिला उसे आत्यन्तिक निर्मल शीतल सुखद अनन्त प्रकाश ॥

हमारा राजा वेद और उसकी सेना

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

पवित्र वेदोंको मानते तो हिंदूमात्र हैं पर वेदोंको जाननेवाले बहुत थोड़े हैं। जो जानते हैं उनमें भी बहुत कम ऐसे हैं, जो सार्थक अथवा अर्थसहित जानते हों। वेद समस्त धर्मोंका आदिस्रोत है, इसी स्रोतसे धर्मरूपी प्रवाह सब स्थानोंमें गया।

वेद ही इतना प्रमाण क्यों ?

इसलिये कि सृष्टिके आदिमें ईश्वरने चार ऋषियोंद्वारा चार वेद प्रकट किये। वैशेषिक दर्शनकार कहते हैं—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'

उस ईश्वर, परमेश्वरके कहे हुए होनेके कारण वेदोंका परम प्रामाण्य है। दूसरे, वेदोंका प्रामाण्य इसलिये भी है कि उनमें तत्=धर्म कहा गया है।

परमेश्वरने वेदोंको कैसे कहा ?

निरुक्तकार कहते हैं—

तद्यदेनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयमभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते ।

ऋषियोंका ऋषित्व (ऋषिपन) इसीमें है कि जिस समय सृष्टिके आदिमें ऋषि ध्यानावस्थित होकर बैठे थे, उस समय उनके हृदयोंमें वेद प्रकट हुए। तब ऋषियोंने वेदोंको देखा। वेदोंको बनाया नहीं।

'ऋषिर्दर्शनात्'

ऋषि इसलिये कहते हैं कि वे अन्तर्ध्यानसे देखते हैं।

ऋषियोंने क्या देखा ?

वेद।

कितने वेद ?

चार वेद।

कौन-कौन-से वेद ?

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व।

किस-किस वेदको किसने देखा ?

मनु कहते हैं—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

अग्नि, वायु, रवि—(अथर्व इसीमें आता है) इन तीनोंको यज्ञसिद्धिके लिये ऋग्-यजुः-साम लक्षणवाले वेद दुहे गये।

वेद तो चार हैं, मनु तीनको क्यों कहते हैं ?

वैसे वेद चार हैं—ऋग्-यजुः-साम-अथर्व, परंतु ज्ञान, कर्म, उपासना—इन तीन विषयोंके भेदसे वे तीन माने गये।

वेद स्वयं चार वेदोंकी बात कहता है—

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् तस्माद्यजुरजायत ॥

उस यज्ञ नामक पुरुषसे ऋग्वेद हुआ, साम हुआ, 'छन्दांसि' यानी अथर्ववेद हुआ और हुए यजुः।

वे चार ऋषि कौन हैं, जिनपर वेद प्रकट हुए ?

अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा।

हमने ऊपर मनुका श्लोक दिया है। उसके ये भी अर्थ हो सकते हैं कि—

अग्नि-विज्ञानके लिये ऋग्वेद।

वायु-विज्ञानके लिये यजुर्वेद।

(रवि) सूर्य-विज्ञानके लिये सामवेद उत्पन्न हुए या किये गये।

ये तीन ही देवता क्यों ?

ये तीन ही मुख्य देवता हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। इन्हींमें अन्य सभी देवताओंका अन्तर्भाव है।

ये अग्न्यादि चार कौन ?

सृष्टिके आदिमें सबसे प्रथम जो चार ऋषि उत्पन्न होते हैं, उन्हीं चारोंके नाम अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा हैं ।

संसारमें दो ही विद्याएँ हैं—

अपरा	और	**परा**
ऋग्-यजु- साम-अथर्व ।		जिससे परमात्माको जाना जाय

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । (मुण्डकोपनिषद्)

मोटे शब्दोंमें कहना हो तो अपरा अर्थात् इधरका किनारा, इधरकी विद्या—संसारोपयोगी विद्या । परा—परली पारकी विद्या—परला किनारा ।

वेद क्या है ?

वेद अन्वर्थ संज्ञा है । सार्थक नाम है । वेद अर्थात् ज्ञान । सब प्रकारका ज्ञान जिसमें भरा हो वह वेद—

वेद एव परो धर्मः । (मनु)
वेद ही उत्कृष्ट परम धर्म है ।
वेदप्रणिहितो धर्मः । (मनु)
वेदमें जो कहा वही धर्म है ।
सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति । (मनु)
सब कुछ वेदोंमें मिलेगा, सब कुछ वेदोंसे ही सिद्ध होगा ।

क्या-क्या ?

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ (मनु)

चारों वर्णोंका ज्ञान, रीति-नीति, तीनों लोकोंका ज्ञान—पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्युलोक इन तीन लोकोंका ज्ञान ।

और भी कुछ

भूत, भविष्यत्, वर्तमान—तीनों कालोंका ज्ञान वेदोंसे ही हो सकता है ।

वेदोंमें क्या-क्या है ?

हम पूछते हैं क्या-क्या नहीं है ? सब कुछ है । मनुष्योपयोगी ज्ञान, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ज्ञान ।

वेद अबतक कैसे बचे रहे ?

सृष्टिको उत्पन्न हुए दो अरब वर्ष हुए । आप कहते हैं वेद तभी प्रकट हुए ऋषियोंके हृदयमें, तबसे अबतक वेद-परम्परा कैसे टिकी रही ? चार आदि ऋषियोंने अपने आगेके चार ऋषियों और उन ऋषियोंने अपने आगेके ऋषियोंको दिये । इस प्रकार वेद-परम्परा चलती आयी । पहले तो वेदपरम्परा कण्ठस्थ ही चली, पीछे मेधाका ह्रास होने लगा । शिष्यलोग कण्ठस्थ रखनेका भार न सँभाल सके, तब वेद पुस्तकरूपमें आये अथवा लाये गये । फिर इनके अर्थोंको समझानेके लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष बने ।

बीचमें

विदेशी चक्र, विदेशी आक्रमण, विदेशी सम्पर्ककालमें ब्राह्मणोंकी परम्पराने वेदोंको कण्ठस्थ रखा, चलाया, जो अबतक किसी-न-किसी रूपमें चल रहे हैं । इन ब्राह्मणोंकी परम्पराका भारतवर्षपर अनन्त उपकार है । इस ऋणसे इस कल्पमें उऋण होना तो सर्वथा असम्भव है ।

परंतु

वर्तमान समयमें विदेशी शिक्षा-दीक्षाकालमें वेदोंकी ओर भारतवर्षका कम ध्यान है । अपना राज्य स्वराज्य हो जानेपर भी वैदिक पद्धतिकी शिक्षा-दीक्षाका अत्यन्त अभाव तो नहीं, पर अभाव अवश्य है ।

अब तो वेद बँट गये

जबसे चारों वेदोंका सँभालना कठिन हो गया, तबसे वैदिक-परम्पराके ब्राह्मणोंने वेदोंको बाँटकर उनकी

रक्षा की । कोई ऋग्वेदी हो गये, कोई यजुर्वेदी हो गये, कोई सामवेदी हो गये और कोई अथर्ववेदी हो गये । ऋग्वेदी दक्षिणमें, यजुर्वेदी (शुक्ल) उत्तरमें, यजुर्वेदी (कृष्ण) मध्यप्रदेश तथा कहीं-कहीं दक्षिणमें, सामवेदी गुजरातमें, कहीं-कहीं मध्यप्रदेशमें, थोड़े-बहुत बंगालमें मिलेंगे । अथर्ववेदियोंका पता नहीं कहाँ छिपे हैं, हैं तो कहाँ हैं, कितने हैं । उज्जैनमें मुझे सामवेदियोंके अनेक वंश मिले, पर वे सामवेदको नहीं जानते थे । नामके सामवेदी थे ।

यहाँतक ह्रास हुआ

वेदोंकी बात तो दूर रही, संस्कृत विद्या भी बँट गयी । किसी समय उत्तरमें काशी सब विषयोंका केन्द्र था और दक्षिणमें थी काञ्ची (कांजीवरम्) ।

पर अब तो

वेदान्त और साहित्य गया मद्रास, मलाबारकी ओर । वेदान्त, साहित्य-व्याकरण, कर्मकाण्ड (यज्ञ-यागादि) गया महाराष्ट्रमें । नव्यन्याय, साहित्य गया बंगालमें । नव्यन्याय तो एक प्रकारसे लुप्त ही होता जा रहा है । व्याकरण (नव्य) मिथिलामें, केवल व्याकरण-साहित्य उत्तरमें । प्राचीन दर्शनोंमें न्याय-वैशेषिकको कोई नहीं पढ़ते हैं, पूर्वमीमांसाके अध्येता अंगुलीपर गिननेयोग्य हैं, नवीन वेदान्त चल पड़ा है । सांख्य-योगके गीत बहुत गाये जाते हैं पर पढ़ता कोई नहीं । निरुक्त पढ़ते हैं सही, पर केवल परीक्षोपयोगी अंश । ज्योतिषशास्त्रका प्रचार है यत्र-तत्र । फलित ज्योतिष तो सर्वत्र फैल रहा है । काशीमेंसे नव्यन्याय तो प्रायः उठ गया । व्याकरणमें फक्किका आदिका शेखर-मनोरमा आदि प्राबल्य जाता रहा । नव्य व्याकरणमें व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद न जाने कहाँ गये । साहित्यमें काव्य-नाटक आदि चल रहे हैं पर अलङ्कारमें 'साहित्य-दर्पण' तक ही पहुँचते हैं बड़ी कठिनतासे अध्येतालोग । रसगंगाधरको तो कोई सूँघ नहीं पाता । यह दशा है—विदेशी राज्य, धर्मनिरपेक्ष राज्य, नये प्रजातन्त्रमें संस्कृत विद्याकी परम्परा ही बिगड़ती जा रही है । पण्डितोंकी परम्परा, शास्त्रपरम्परा विस्खलित होती जा रही है । पण्डितोंकी संतान स्व-वेद, स्व-शास्त्रको छोड़कर अर्थकरी विदेशी शिक्षा-दीक्षामें पड़ गये ।

सैकड़ों राजा-महाराजाओंके दरबारोंमें हजारों पण्डितों, विद्वानोंका पालन-पोषण होता रहता था, पर वे सब राज्य अब नाममात्रके रह गये और वहाँकी पण्डितपरम्परा भी चल दी । उठ गयी 'यः पलायति स जीवति' कहकर !

जब सेना ही नहीं, तो राजा ही किस बातका । जब संस्कृतविद्याकी परम्परा ही छिन्न-विच्छिन्न होती जा रही है, तब वेदराजाका समादर ही कहाँ होता !

वेदोंके बिना हिंदू (आर्य) जीवित रह ही नहीं सकता । पर अब जी रहे हैं—यह जीना भी क्या है !

समय ऐसा आ गया है कि—

वेदोंको छोड़ बैठे तो शास्त्र पढ़ने लगे । जब शास्त्र छूटने लगे, तब पुराणोंको पकड़ लिया । जब पुराण भी छूटने लगे तो अब यत्र-तत्र कवि होने लगे । भागवतकी ही कथा चलती रहती है—सबका आदिमूल जो वेद है, उधर किसका ध्यान जाता !

जिधर देखो, जिधरसे देखो संस्कृतविद्याका ह्रास, उपहास हो रहा है और भारतीय संस्कृति बचेगी कि नहीं, इस विषयकी प्रबल चिन्ता हो रही है—

सबसे आदि वेदवाणी

उससे कालान्तरमें—देववाणी (संस्कृत)

फिर कालान्तरमें—प्राकृत

फिर कालान्तरमें अन्य भाषाएँ

हम आज पूछना चाहते हैं कि वह वेदवाणी है कहाँ ! और संसारभरकी भाषाओंकी जननी देववाणी (संस्कृतभाषा) की यह दशा-दुर्दशा क्यों हो रही है ? इसके लिये उत्तरदायी कौन हैं—हम स्वयं हिंदू (आर्य) उत्तरदायी हैं अथवा मध्यकालके विदेशी और विधर्मियोंका शासन, शिक्षा-दीक्षा उत्तरदायी हैं या इस समय हमारी दुर्दशाकी उत्तरदायी है हमारा धर्मनिरपेक्ष स्वराज्य ? इस तरह वेद-कुल, शास्त्र-कुल नष्ट हो रहे हैं। और कुलोंकी कौन कहे अपने कुलकी ओर ही क्यों न देखें। हम हैं ऋग्वेदी ब्राह्मण। हमारा वेद ऋग्वेद। हमारी शाखा आश्वलायन, हमारा श्रौतसूत्र आश्वलायन, हमारा गृह्यसूत्र आश्वलायन, हमारा ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण, हमारी उपनिषद् ऐतरेयोपनिषद्। पता नहीं, हमारी परम्परा कबसे चली आ रही थी। बीचमें निजाम कालके प्रारम्भमें हमारे पूर्वपुरुष निजाम-राज्यकी नौकरीमें पड़ गये। वेदकी रक्षाका भार हमारे पुरोहितोंपर जा पड़ा। इस तरह ऋग्वेदियोंकी परम्परा नौकरीपेशेकी परम्परा हो गयी। मैं भी अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षामें लग गया। अभी एफ्० ए० (इण्टर) तक पहुँचा ही था कि शिक्षा-दीक्षामें बड़ा विघ्न पड़ा। फिर मैं संस्कृत शिक्षा-दीक्षामें आया, ग्वालियर (लश्कर), काशी, कलकत्ता, नदिया आदिमें भटकता फिरा। शास्त्री हुआ, वेदतीर्थ हुआ। वेदतीर्थ ऋग्वेदमें ही किया। उस वर्ष ऋग्वेदकी परीक्षामें मैं अकेला ही था। यजुर्वेदमें भी अकेला ही था और एक पंजाबका विद्यार्थी।

हमारे अपने ऋग्वेदियोंके कुलमें मैं अकेला बचा हूँ और एक दूरके सम्बन्धी हैं, रिटायर्ड सेशन जज, जो संस्कृत साहित्यके बड़े पण्डित हैं और संस्कृतके श्रेष्ठ कवि। शेष पीढ़ी नौकरी-पेशेमें लग रही है।

इसी प्रकार वेदपरम्पराके कितने कुल नष्ट हो गये कौन कह सकता है। जो वेदोंकी रक्षा कर रहे हैं, वे धन्य !

वेद राजा ! तेरी सेना चारों ओर नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। तू ही उस सेनाको थाम सके तो थाम सके—ऐसा प्रतीत हो रहा है। वेद राजाके बिना संसारमें एक बार सब उलट-पुलट होकर रहेगा !

भगवन्नामकी महिमा

अपने दूतोंसे यमराज कहते हैं—

गोविन्द माधव मुकुन्द हरे मुरारे शम्भो शिवेश शशिशेखर शूलपाणे।
दामोदराच्युत जनार्दन वासुदेव त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
गङ्गाधरान्धकरिपो हर नीलकण्ठ वैकुण्ठ कैटभरिपो कमठाब्जपाणे।
भूतेश खण्डपरशो मृड चण्डिकेश त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
विष्णो नृसिंह मधुसूदन चक्रपाणे गौरीपते गिरिश शंकर चन्द्रचूड।
नारायणासुरनिबर्हण शार्ङ्गपाणे त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥ (स्कन्दपुराण)

मेरे सेवको ! जो मनुष्य गोविन्द, माधव, मुकुन्द, हरे, मुरारे, शम्भो, शिव, ईश, चन्द्रशेखर, शूलपाणि, दामोदर, अच्युत, जनार्दन और वासुदेव इत्यादि नामोंका सदा उच्चारण करते हैं, उनको दूरसे त्याग देना। दूतो ! जो लोग सदा गङ्गाधर, अन्धकरिपु, हर, नीलकण्ठ, वैकुण्ठ, कैटभरिपु, कमठ, कमलहस्त, भूतेश, खण्डपरशु, मृड, चण्डिकेश आदि नाम लेते हैं, उनको दूरसे त्याग देना और मेरे दूतो ! जो लोग विष्णु, नृसिंह, मधुसूदन, चक्रपाणि, गौरिपति, गिरिश, शंकर, चन्द्रचूड, नारायण, असुरनिकन्दन, शार्ङ्गपाणि आदि नामोंका कीर्तन करते हैं, उनको भी दूरसे ही त्याग देना।

* * *

मधुर

अनन्ताचिन्त्य-अनिर्वचनीय सद्गुणोंसे सम्पन्न, अतुलनीय रूप-सुषमा-सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यरूप प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णका अपने प्रति अत्यन्त विलक्षण अनुराग देखकर और अपनेमें सब प्रकारसे गुणहीनता, दीनता, मलिनता तथा दोषपूर्णताका अनुभव कर एक दिन श्रीराधाजी एकान्त निकुञ्जमें बैठी विषाद कर रही थीं कि प्रियतम श्रीकृष्ण वहाँ जा पहुँचे और श्रीराधासे विषादका कारण पूछते हुए उनकी महिमाका गान करके अपनी सहज परमानुरक्ति प्रकट करने लगे । तब श्रीराधाके मनमें भगवान्के परम तत्त्व-स्वरूपका प्रकाश हो गया और उन्होंने अत्यन्त कातर तथा दीनभावसे पूछा—

“भगवन् ! तुम्हारा रूप-सौन्दर्य तुलनासे रहित है, तुम्हारा रूप सबसे विलक्षण और उपमासे रहित है । तुम अतुलनीय परम ऐश्वर्यरूप हो, तुम्हारा तत्त्व और तुम्हारा महत्त्व सीमारहित और अनुपम है । तुम्हें न तो कुछ प्राप्त करना है और न तुम्हारे लिये कोई कर्त्तव्य ही शेष है । तुम सदा-सर्वदा अपनी महिमामें तृप्त हो, तुममें कहीं अतृप्तिका तनिक भी लेश नहीं है । तुम ही जीवमात्रके आत्मा हो और सभी तुममें प्रेम करते हैं । तुम्हीं सभीके एकमात्र आश्रय हो । यही सनातन नीति (मर्यादा) है । इतना होनेपर भी तुम मुझ नगण्य दीनाके प्रति क्यों इतने आसक्त रहते हो ? क्यों अपनी महिमाको भूलकर मुझ मलिनाके इतने भक्त बन रहे हो ? मैं तो सदा दोषरूपा ही हूँ, मुझमें कोई भी ऐसा गुण नहीं है जो दोषरहित हो । फिर तुम क्यों मुझपर रीझ रहे हो जो कुछ भी दोष नहीं देख पाते ? (बताओ—इस तुम्हारे मोहका क्या कारण है ?)”

अतुल रूप-सौन्दर्य तुम्हारा,
अनुपम सर्वविलक्षण रूप ।
अतुल परम ऐश्वर्यरूप तुम,
तत्त्व-महत्त्व असीम अनूप ॥
नहीं प्राप्त करना कुछ तुमको,
है कर्त्तव्य नहीं कुछ शेष ।
निज महिमामें तृप्त सर्वदा,
नहीं कहीं अतृप्ति लवलेश ॥
जीव मात्रके तुम्हीं आत्मा,
करते सब तुममें हैं प्रीति ।
तुम्हीं सभीके एकमात्र हो,
आश्रय, यही सनातन नीति ॥
फिर तुम मुझ नगण्य दीनामें,
क्यों इतने रहते आसक्त ? ।
क्यों निज महिमा भूल, बन रहे
मुझ मलिनाके इतने भक्त ? ॥
दोषमयी मैं नित्य, नहीं
कोई भी, मुझमें गुण निर्दोष ।
क्यों तुम रीझ रहे हो मुझपर,
देख न पाते कुछ भी दोष ? ॥

श्रीराधाकी इस दैन्यमयी उक्तिको सुनकर श्रीकृष्ण प्रेम-गद्गद होकर बड़ी ही प्रीतिभरी, रसमयी और विनयपूर्ण वाणीमें बोले—

“प्रियतमे राधिके ! मैं तुमपर क्यों रीझ रहा हूँ, क्यों तुम्हारे प्रति आसक्त हूँ और क्यों सदा तुम्हारा भक्त बना हूँ, इसका किंचित्-सा रहस्य आज बता रहा हूँ (वाणीके द्वारा पूरा रहस्य बताना तो सम्भव ही नहीं) । तुम्हारे अंदर जो निर्मल, मधुर और विलक्षण अपार सौन्दर्य है, उसकी कहीं भी किसीसे भी तुलना नहीं हो सकती । मैंने वैसा सौन्दर्य कहीं भी नहीं देखा । ऐसा वह तुम्हारा सौन्दर्य निरन्तर अपनी सुकुमारताको लिये ही बढ़ता

रहता है। तुम्हारे शरीरका सौन्दर्य भी सबसे श्रेष्ठ, सबसे विलक्षण और उपमासे रहित है। परंतु मैं तो उससे भी परम श्रेष्ठ तुम्हारे मानस रूप-सौन्दर्यको देख पा रहा हूँ। तुम्हारा पवित्र करनेवाला वह मन विशुद्ध प्रेमका समुद्र बना लहरा रहा है। उसमें न तो (विशुद्ध प्रेमके अतिरिक्त) किसी दूसरी वस्तुकी कुछ भी मिलावट है, न उसमें तनिक-सा भी कहीं (काम-क्रोध-लोभादि) विकार ही है। न उसमें मैली 'ममता' है, न 'मैं' पन है, न कुछ भी मोह है और न कहीं कुछ राग-द्वेष ही है। उसमें न कहीं तनिक-सा भी अभिमान है और निज-सुखकी इच्छाका तो कहीं लेश भी नहीं है। तुमने सब कुछ त्यागकर मेरे सुखके लिये जो सहज ही आत्मोत्सर्ग कर दिया है, वह निर्मलका भी निर्मल है, उसमें कहीं किसी वर्गकी कल्पना नहीं है। उसकी कहीं भी कोई तुलना नहीं है। तुमने समस्त अग-जगको, भोग-मोक्षको—सबको अपने हृदयदेशसे निकाल दिया है और हृदयको बिल्कुल खाली करके (उन सर्वसंस्कार-शून्य) विशुद्ध हृदयमें नित्य-निरन्तर केवल मुझको बसाकर मुझसे ही भर रक्खा है। तुम्हारा यह मानस रूप-सौन्दर्य तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्गमें नित्य प्रकट हो रहा है और नित्य नये-नये रंग दिखलाकर मुझे मुग्ध बनाता रहता है।

राधे ! क्यों मैं रीझा तुमपर,
क्यों मैं तुममें हूँ आसक्त।
आज बताता हूँ, रहस्य कुछ,
क्यों मैं सदा तुम्हारा भक्त ॥
तुममें जो सौन्दर्य अतुल है
निर्मल मधुर विचित्र अपार।
वैसा कहीं न देखा मैंने,
वर्द्धनशील सतत सुकुमार ॥
तनका भी सौन्दर्य तुम्हारा,
सर्वविलक्षण परम अनूप।
पर, मैं देख पा रहा, उत्तम
परम तुम्हारा मानस रूप ॥
पावन मन है बना तुम्हारा,
शुद्ध प्रेमका पारावार।
नहीं कहीं कुछ मिश्रण उसमें,
नहीं तनिक-सा कहीं विकार ॥
नहीं मलिन ममता, मैंपन कुछ,
नहीं मोह कुछ रागद्वेष।
नहीं कहीं अभिमान तनिक, निज
सुख-इच्छाका कहीं न लेश ॥
सर्व त्यागकर, मेरे सुखके
लिये किया जो आत्मोत्सर्ग।
नहीं कहीं भी तुलना उसकी
सहज, विमलतम वर्जित-वर्ग ॥
अग-जग भुक्ति-मुक्ति सबसे तुम,
हृदय देशको खाली कर।
रक्खा केवल शुद्ध हृदयमें,
नित्य निरन्तर मुझको भर ॥
यह मानस-सौन्दर्य तुम्हारा,
प्रकट नित्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
मुग्ध बनाता रहता मुझको,
नवनव नित्य दिखाता रंग ॥

''राधे ! यह सत्य है कि मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न मुझको कहीं कुछ प्राप्त करना ही शेष है। परंतु तुम्हारी रूप-शोभासे मैं सदा ही खिंच रहा हूँ, यह खिंचावट कभी पूरी होती ही नहीं। यह भी सत्य है कि मैं सभीका आत्मा हूँ और सभी मुझमें प्रेम करते हैं, परंतु उन सभीमें 'अहं' भरा है और वे सभी सदा अपने उस 'अहं'का ही 'योगक्षेम' चाहते रहते हैं। इधर, तुम अतुलनीय गुणवती और सौन्दर्यमयी हो और उपमारहित पवित्र करनेवाले रससे प्रवृद्ध हो; तथापि अहंकारसे रहित बनी नित्य-निरन्तर अपनेको दीन समझती हो। (इतना ही नहीं,) तुम्हें जो अपने इस शुद्ध-सत्त्वके तत्त्वका भी ज्ञान नहीं है। तुम नित्य-निरन्तर

मानसे रहित रहकर अपने उपमारहित महत्त्वको भूली रहती हो ।

है कर्तव्य नहीं कुछ मुझको,
नहीं कहीं कुछ पाना शेष ।
सत्य, तुम्हारी किंतु रूप-
सुषमासे मैं खिंच रहा अशेष ॥
सत्य, सभीका आत्मा हूँ मैं,
करते हैं सब मुझमें प्रेम ।
किंतु, 'अहं'से भरे, चाहते
सभी 'अहं'का 'योगक्षेम' ॥
अतुल गुणवती रूपवती तुम,
अनुपम पावन रससे पीन ।
रहती अहंकारसे विरहित
नित्य मानती निजको दीन ॥
तुम फिर जो वह नहीं जानती
अपने शुद्ध सत्त्वका तत्त्व ।
मानरहित नित भूली रहती
अपना उपमा रहित महत्त्व ॥

"राधिके ! इससे तुम्हारा वह पवित्र करनेवाला सच्चा रूप-सौन्दर्य पल-पलमें और भी निखरता रहता है और इसी रूपका नित्य नया-नया आकर्षण मुझे पल-पलमें खींचता रहता है । मेरा मन तुम्हारे इस परम पवित्र, परम सुखकी खान, सुन्दर, मधुर-से-मधुर अत्यन्त महान् दिव्य रसका पान करनेके लिये ललचाता ही रहता है, इसीलिये मैं नित्य प्रलुब्ध रहता हूँ । (मेरा लोभ कभी पूरा होता ही नहीं) और नित्य इस रसका आस्वादन करता रहता हूँ । तुम्हीं मेरी आत्माकी आत्मा हो और तुम्हीं एकमात्र मेरी साध्य और (तुम्हीं एकमात्र) मेरी साधना हो । इसीसे मैं तुम्हारे मन-मन्दिरमें, तुम्हारे तनके समीप दिन-रात बसा रहता हूँ । तुम्हें छोड़कर पलभर भी मैं सुखसे नहीं रह सकता । मैं विवश हूँ, तुम्हारे प्रेमके वश हूँ । (इसीसे ऐसा करता हूँ ।) तुमपर मेरा कहीं कुछ भी एहसान नहीं है । इसमें क्षणभरके लिये भी, कैसे भी, कुछ भी बाधा मैं सहन ही नहीं कर सकता ।"

इससे पल-पल और निखरता
पावन रूप तुम्हारा सत्य ।
पल-पल मुझे खींचता रहता,
यह नव-नव आकर्षण नित्य ॥
ललचाता रहता मेरा मन,
करनेको इस रसका पान ।
शुचितम, परम सुखाकर, सुन्दर,
मधुर-मधुर, अति दिव्य, महान् ॥
इसीलिये मैं रहता करता
नित्य प्रलुब्ध रसास्वादन ।
मेरी आत्माकी तुम आत्मा,
मेरी एक साध्य-साधन ॥
रहता बसा, तुम्हारे मन-मन्दिरमें,
सन्निधिमें दिन-रैन ।
इसी हेतु, मैं तुम्हें छोड़कर
पलक नहीं पा सकता चैन ॥
विवश, प्रेमवश हूँ मैं, तुमपर
नहीं कहीं कुछ भी एहसान ।
सहन नहीं कर सकता मैं हूँ,
कैसा कभी क्षणिक व्यवधान ॥

श्रीराधाका रूप-सौन्दर्य क्या है और उनके प्रति श्रीकृष्ण क्यों इतने आसक्त हैं ? इसका किंचित् संकेत है उपर्युक्त शब्दोंमें । इसे समझकर राधा-माधवके पवित्रतम मधुर भावकी कल्पना कीजिये ।

* * *

सत्यनारायण-व्रत-कथाका दिव्य संदेश

(लेखक—आयुर्वेदरत्न पं० श्रीरामनरेशजी मिश्र एम्० ए०, साहित्यरत्न)

पूर्वपुरुषोंकी आज्ञा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

अर्थात् इतिहास-पुराणसे ही वेदोंका भाव-पल्लवन कर, सुन्दर रूपसे विश्लेषण कर स्पष्ट कर लेना चाहिये । वस्तुतः भारतीय ज्ञान एवं व्यवहारादिका मूल उत्स वेद है । वेदकी ही किसी-न-किसी ऋचा अर्थात् सूक्तिको आधारशिला बनाकर पुराणोंकी रचना हुई है । स्कन्दपुराण भी एक लोकमान्य पुराण है और उसीका एक अंश सत्यनारायणव्रत-कथा भी है, जो उसके रेवाखण्डसे लिया गया बताया जाता है ।

'इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे सत्यनारायण-व्रतकथा' वाक्य उक्त कथनके प्रमाणमें है । करीब दो-ढाई वर्ष हुए किसी पौराणिकने मुझे बतलाया था कि स्कन्दपुराणमें रेवाखण्ड तो है पर सत्यनारायणव्रत-कथा नहीं है ।* मैंने स्कन्दपुराण नहीं देखा । तथा चाहे जो भी हो; हमें प्रामाणिकताके उलझनोंमें व्यर्थ न फँसकर इसके उद्देश्यपर, इसके सारतत्त्वपर ही अपनी दृष्टि डालनी है एवं विचार करना है कि सत्यनारायण-व्रत-कथा इतनी लोक-प्रचलित क्यों है ?

सर्वप्रथम यदि हम सत्यनारायण-कथापर ही दृष्टिपात करें तो इसकी व्याख्या होगी—

सत्यमेव नारायणः सत्यनारायणः तस्य व्रतस्य कथा—सत्यनारायणव्रतकथा ।

अर्थात् सत्य ही नारायण हैं और उनके व्रतकी कथा ही 'सत्यनारायण-व्रत-कथा' है । अब प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच सत्य ही नारायण हैं ? परमात्माको प्राचीन मनीषियोंने पूर्ण, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सद्गुणसम्पन्न प्रभृति विशेषणों-से विभूषित किया है । 'ईशावास्यमिदं सर्वं' आदि सूक्तियाँ तथा 'भगवान्' आदि शब्दोंको प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जा सकता है । यदि गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो सत्य भी उक्त सभी विशेषताओंसे सम्पन्न है । इसी कारण वैदिक युगसे अद्यावधि लोग सत्य और ईश्वरमें कोई अन्तर नहीं मानते । कुछ प्रमाण भी उपयुक्त होंगे ।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । (ऋग्वेद)

नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय । (ब्रह्मस्तोत्र)

ॐ नमस्ते परमब्रह्म नमस्ते परमात्मने ।
निर्गुणाय नमस्तुभ्यं सद्रूपाय नमो नमः ॥

(ब्रह्मस्तोत्र)

हरिः ॐ तत्सत् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

ऐसी बात अवश्य है कि परब्रह्म केवल सत्य ही नहीं, वह तो और भी कुछ है । इसी कारण लोग अपना भिन्न-भिन्न मत देते हैं । ऋग्वेद (१० । ५ । ७) के अनुसार उसे सत्य और असत्य दोनों कहा गया है—'असच्च सच्च ।'

इसीको सत्+चित्+आनन्द (सच्चिदानन्द) कहा गया है । पाश्चात्त्य अध्यात्मवादियोंने इसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'से सम्बोधित किया है । तथ्य यह है कि परमात्मा सत्यस्वरूप तो हैं ही जैसा कि एक स्वरसे प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं । यह सत्यलोक कल्याणकारी शिवके रूपमें परिवर्तित होकर सुन्दर बन असीम आनन्दस्वरूप बना हुआ है । पाश्चात्त्य विद्वानोंने Truth और Beauty में अभेद माना है और Bliss के साथ उसका तादात्म्य स्वीकार किया है ।

"Truth is beauty and beauty is God."
"A thing of beauty is a joy for ever,
Its loveliness increases; it will never.
Pass into nothingness: but still will keep,
A bower quiet for us and a sleep,
Full of sweet dreams, and health and quiet breathing"—Keats.

प्रभृति पंक्तियाँ भी उक्त तथ्यकी ओर ही संकेत करती हैं ।

तात्पर्य यह कि परमात्मा (नारायण) सर्वप्रथम सत्स्वरूप ही हैं । इसीका प्रतिपादन स्कन्दपुराणके रचयिताने बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया है ।

केचित् कालं वदिष्यन्ति सत्यमीशं तमेव हि ।
सत्यनारायणं केचित् सत्यदेवं तथापरे ॥

---

* वंगाक्षरोंमें मुद्रित स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें सत्यनारायण-व्रत-कथा है और उसका हिंदी-अनुवाद 'कल्याण'के 'संक्षिप्त स्कन्द-पुराण'में प्रकाशित हो चुका है ।—सम्पादक

नानारूपधरो भूत्वा सर्वेषामीप्सितप्रदः ।
भविष्यति कलौ विष्णुः सत्यरूपी सनातनः ॥

अर्थात् सत्यनारायणको ही कोई काल, कोई सत्य, कोई परमेश्वर, कोई सत्यनारायण अथवा सत्यदेव कहेंगे । वस्तुतः सत्यरूपी सनातन भगवान् विष्णु कलियुगमें रूप धारण कर सबको वाञ्छित फल देनेवाले होंगे । इसी तथ्यको अन्यत्र भी देखिये—

"And God fulfills himself in many ways."—Tennyson.

"From the beginning the Indian felt that the truth was many-sided and different views contained different aspects of truth which no one could fully express". —S. Radhakrishnan.

"We have to realize that truth is many-sided and is not the monopoly of any group or nation." —Pt. Jawaharlal Nehru.

वस्तुतः सत्यानुगामीको किसी वस्तुकी कमी नहीं होती । उसकी सन्निष्ठाके चलते तो अष्टसिद्धियाँ और नवनिधियाँ भी दासीवत् दौड़ी फिरती हैं । फिर भी, सत्यका उपासक उनकी ओर मुड़कर नहीं देखता । कारण यह है कि सत्यप्रेरित आत्माके द्वारा किये गये सभी कार्य महदुद्देश्यसे सम्पन्न होते हैं और उनमें माधुर्य, सौकर्य, चातुर्य, पावित्र्य, सौन्दर्य तथा विवेकका एक साथ समावेश हो जाता है । मेरी वेकर इड्डीने भी कहा है—

"Man, governed by the immortal mind, is always beautiful and grand. Each succeeding year unfolds wisdom, beauty and holiness."

सत्योपासक उस अलौकिक सत्ताकी महती कृपासे सदा अजेय रहता है । संसारकी कोई भी शक्ति उसका बाल बाँका नहीं कर सकती । साँचको आँच क्या ? सत्योपासनाकी इसी अद्भुत शक्तिका उल्लेख कथाकारने बड़े ही कौशलसे साधारण जनताकी कामनाओंकी ओर संकेत करते हुए किया है—

य इदं कुरुते सत्यव्रतं परमदुर्लभम् ॥
शृणोति च कथां पुण्यां भक्तियुक्तः फलप्रदाम् ।
धनधान्यादिकं तस्य भवेत् सत्यप्रसादतः ॥
भीतो भयात् प्रमुच्येत सत्यमेव न संशयः ।
दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥
ईप्सितं च फलं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं व्रजेत् ।
यत्कृत्वा सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥
विशेषतः कलियुगे सत्यपूजा फलप्रदा ॥

कथाकारका कितना सुन्दर महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है । इस प्रतिपादनको और भी सुस्पष्ट करने एवं सुबोध बनानेके लिये लेखकने कई कथाओंका सहारा लिया है । आज संसारमें चारों ओर भयंकर प्रपीडन है । चारों ओर दुःखकी ज्वाला धू-धू जल रही है । दानवीय गुणोंकी उन्नति हो रही है । छल-प्रपञ्च, माया, हिंसा, अभिमान आदि बढ़ रहे हैं । स्वार्थकी दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति हो रही है एवं स्वार्थान्ध मानव अपने भाईके खूनके लिये भी प्रस्तुत है । उसकी स्वार्थ-पिपासा बन्धुशोणितसे बुझायी जा रही है । विज्ञान तथा अन्य शास्त्र अभिशाप-से बन गये हैं । इसका कारण क्या है ? केवल यही कि मनुष्यने धर्मको छोड़कर सत्यसे अपना नाता तोड़ लिया है । मानव-जीवनकी समस्याओंको असत्यने दुरन्त बना लिया है । डॉ॰ सर्वे पल्ली राधाकृष्णनन्ने भी कहा है कि 'मनुष्यकी समस्याओंका समाधान हृदयस्थित गदहेको मार भगाये बिना नहीं हो सकता ।'

"Human problems can be solved if only the donkey in man can be suppressed."

यह Donkey और कुछ नहीं, मनुष्यकी दुष्प्रवृत्ति—स्वार्थवृत्ति ही है । मनुष्य घृणाका नहीं, प्रेमका पात्र है । वह सृजनके योग्य है, विनाशके नहीं । डा॰ स॰ राधाकृष्णनन्के ही शब्दोंमें—

"Man is made to love, not to hate; to collaborate, not to clash; to create, not to destroy."

और मनुष्यकी इस भीषण दुःस्थितिको बदलनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है । कारण, बिना ज्ञानके भास्वर आलोकके कोई भी व्यक्ति कर्तव्यका, धर्मका दर्शन नहीं कर सकता । किंतु अज्ञान (नश्वर एवं परिवर्तनशील भौतिक प्रपञ्चयुक्त ज्ञान) को सच्चा ज्ञान माननेवाले दम्भियोंकी संख्या ही आजकल ज्ञानीके नामपर बढ़ रही है । आजका नया ज्ञान हमें असंतोष सिखा रहा है । आजके दार्शनिककी तो घोषणा है—

'Discontent is life, contentment is death'

अर्थात् असंतोष ही जीवन है और संतोष ही मृत्यु । फिर अर्थशास्त्रीलोग इच्छाओं और आवश्यकताओंको बढ़ाते जाते और उनकी पूर्ति येन-केन प्रकारेण करते जानेको ही उच्च जीवन-स्तर मान रहे हैं । 'Plain living and high thinking' का सिद्धान्त बदलकर 'High Living and plain thinking' बना; और अब तो 'High living and plan (योजना, षड्यन्त्र) thinking' बन गया है। इस प्रकार आजका अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र न रहकर अनर्थ-शास्त्र बन गया है। इसी प्रकार परिवर्तनशील इस संसारमें राजनीतिशास्त्र कूटनीतिशास्त्र बन गया है तो नीतिशास्त्रको मिटाकर अनीतिशास्त्रका ही अधिक प्रचलन हो गया है। किंतु सच्चा ज्ञान तो आत्मज्ञान है । यही ज्ञान हमें संतोषी, उपकारी, विश्वबन्धुत्ववादी बनानेकी क्षमता रखता है और हमारा एकमात्र कल्याण इसी ज्ञानके सहारे हो सकता है । लेखकने इसी सच्चे ज्ञानकी ओर संकेत कर ऐसे ज्ञानियोंको भगवान्का ही मानवीय संस्करण माना है। सचमुच एक सच्चा आत्मज्ञानी ही, जो सभी जीवोंमें प्रभुका सहज ही दर्शन करता है, विश्वकल्याण, विश्वशान्ति और विश्वमें सदानन्दका अखण्ड प्रवाह प्रवाहित करनेमें समर्थ है। जो स्वयं अपनेको ही संतुष्ट नहीं कर सका, वह दूसरेको क्या खाक संतुष्ट करेगा और सुखी बनायेगा । अतएव लेखकने नकली ज्ञानियोंकी उपेक्षा कर असली ज्ञानी, जो सदा-सर्वदा सर्वलोक-हितमें रत रहनेवाले हैं, की ओर संकेत कर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

ज्ञानं सम्प्राप्य संसारे यः परेभ्यो न यच्छति ।
ज्ञानरूपी हरिस्तस्मै प्रसन्न इव नेक्षते ॥
ज्ञानरत्नैश्च युक्तो यः परसंतोषकृन्नरः ।
स तु ज्ञेयः समग्रेण नररूपधरो हरिः ॥

लेखकने ज्ञानियोंकी कोटिमें सदुपदेशक, दयालु, निष्कपट और निष्पाप तथा निर्विरोध व्यक्तियोंको भी रखा है। लेखकके ही शब्दोंमें—

पुण्योपदेशी सदयः कैतवैश्च विवर्जितः ।
अपापो न विरोधी च चत्वारः केशवोपमाः ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सत्यनारायणव्रतकथाके लेखकने हमें अधोलिखित संदेश देकर हमारा महदुपकार किया है। वे संदेश हैं—

१. सत्यको ईश्वर मानकर उसकी उपासना करना । कभी भी असत्यका सहारा न लेना। हर परिस्थितिमें सत्य-का पालन करना ।

२. विश्वके प्रत्येक जीवको सत्यरूपी नारायणकी देहधारी साकार देवमूर्ति मानकर सच्चे हृदयसे सबकी सेवा करना।

३. पुण्यका उपदेश देना। कभी भी असद् उपदेश देकर किसी प्राणीको पीड़ित न करना ।

४. सदा-सर्वदा दयालु बने रहना ।

५. निष्पाप, निर्विरोध और घृणारहित जीवन बिताना एवं सृष्टिके अणु-अणुसे प्रेम करना ।

६. ज्ञान प्राप्त कर स्वात्मस्थित प्रभुको पहचानना और सत्यदेवको पहचानकर सदा-सर्वदा लोक-कल्याणकी कामना करना । साथ ही प्राप्त-ज्ञानका पूर्णतया प्रचार एवं प्रसारकर प्रत्येक जीवको संतोषी एवं सुखी बनाना ।

लेखकने अपने ये संदेश कथाके माध्यमसे दिये हैं। कथाकी संयोजना पौराणिक शैलीमें की गयी है और धर्मप्राण भारतीयोंमें धर्मभावनाके संचारके साथ उन्हें प्रेमपूर्ण सन्मार्ग-पर चलनेका आदेश दिया गया है। धर्मके दस लक्षणोंको यहाँके पात्रोंमें आरोपित करनेकी अद्भुत चेष्टा है और **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** की घोषणा की गयी है। लेखकने सिद्ध कर दिखाया है कि सत्यधर्मसे परे कोई धर्म नहीं । यही धर्म सहजसाध्य तथा महान् फलप्रद है। इसीकी उपासनासे मानव इहलौकिक एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा कामैषणा) की पूर्ति कर अन्तमें स्वर्गके भी सबसे श्रेष्ठ लोक सत्यलोकका अधिकारी बनता है । जिसके बारेमें गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

मुक्तिका एकमात्र साधन सत्यपालनको बताया गया है।

इस कथामें पात्ररूपमें चारों वर्णोंके प्रतिनिधियोंको लिया गया है । समाजमें उनकी धाक है। वे अपने ज्ञान, धन, अधिकारादिके मदमें अथवा दाने-दानेके मुहताज होनेपर कष्टकर विषम परिस्थितिमें सत्यको भूल असत्यका सहारा लेते हैं। पर लेखकने इन चारोंको ही सत्यमार्गानुगामी बनानेकी चेष्टा की है । ये जबतक सत्यानुगामी बन नहीं जाते, तबतक शान्ति, सुख एवं कल्याण नहीं प्राप्त करते । लेखकने समाजके प्रभावशाली एवं झूठका पेशा करनेवालेको पात्ररूपमें चित्रित कर तथा उन्हें उन्हींकी श्रेणीके लोगोंसे उपदेश दिलवाकर

अपनी अलौकिक सूझका परिचय दिया है। ये पात्र हैं ब्राह्मण, बनिया, राजा और लकड़हारा। ब्राह्मण पूज्य है, ज्ञानी है; फिर भी दरिद्रताके कारण भिक्षाटन करता है। भिक्षाटनके समय समाजके ज्ञानका आगार, संस्कृतिका संवाहक मरमिटवर्गका वह एक सदस्य (ऊल-जलूल) झूठ-सच व्यर्थकी बातें बनाकर पेट पालता है और भाँति-भाँतिके कष्ट भोगता है। किंतु बूढ़े ब्राह्मणके उपदेशानुसार पुनः वासनामुक्त हो भ्रमण करता तथा लोगोंकी अपार श्रद्धाका भाजन बन प्रचुर धन प्राप्त करता है। वह सब प्रकारका सुख भोग कर अन्तमें सद्गति प्राप्त करता है।

उसकी सत्योपासनासे मुग्ध होनेवाला दूसरा पात्र है लकड़हारा। वह लकड़ीका व्यापार करता है और आमकी लकड़ीको कहुवेकी तथा कहुवेकी लकड़ीको शीशमकी बतलाकर ऊँचे दामपर बेंचकर लोगोंको ठगता है। अविश्वासका भाजन बनकर बराबर कष्टमें रहता है, पर सचाईका सहारा लेते ही प्रचुर द्रव्य लाभ करता तथा कालान्तमें सुखी बन जाता है।

तीसरा पात्र है साधु नामका व्यापारी। उसका बराबरका पेशा झूठ बोलनेका है और वह इसीके चलते कितनी तकलीफ भोगता है। निरपराध होनेपर भी राजाके यहाँ बंदी बनाया जाना, कारागारकी यातना भोगना, गृहसम्पत्तिका नष्ट होना, इसकी पत्नी एवं पुत्रीका भिक्षाटन करना आदि-आदि केवल कल्पनासे ही हृदयको कँपा देते हैं। अन्तमें इसके हृदयका परिष्कार होता है, दण्डीरूपी भगवान्‌के शाप (ममेच्छया च दुर्बुद्धे लब्धं दुःखं मुहुर्मुहुः) के बाद सत्य भगवान्‌के स्वरूपको पहचान लेनेके बाद ही। और घर पहुँच जानेके बाद तो सत्यदेवकी कृपासे ही यह सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त होता है।

चौथा पात्र है राजा तुंगध्वज। वह धर्मात्मा है, प्रजापालक है, सब कुछ है, पर अभिमानकी प्रचुरता और भेद-दृष्टिके कारण उसमें समदर्शिताका अत्यन्त अभाव है। यही कारण है कि गोपोंकी सत्यपूजाका वह अपमान कर दुःख पाता है और फिर उन्हीं गोपोंके साथ सत्योपासना कर दुःखोंसे मुक्ति भी पाता है।

इस सत्योपासनाकी भूमिका भी यह संकेत करती है कि थोड़ी-सी मेहनत एवं थोड़ेसे व्ययमें अधिक धर्म ततः सुख लाभ करनेका एकमात्र साधन सत्योपासना ही है। उसकी विधि भी बड़ी ही उदात्त एवं सरल है। किसी दिन किसी भी समय श्रद्धायुक्त हो अहंका त्याग कर इसकी उपासना की जा सकती है। परंतु सत्यकी उपासना बिना सात्त्विक बुद्धिके सम्भव ही कहाँ? फिर सात्त्विक बुद्धिके लिये सात्त्विक आहार चाहिये। सात्त्विक एवं पौष्टिक आहार हैं—दूध, घी, दही, केला, गेहूँ, शर्करा प्रभृति। ये मिष्ट रसयुक्त तो हैं ही; पुष्टिकारक भी हैं। सर्वसुलभ और सुपाच्य भी हैं। इसीलिये भगवान्‌के मुखसे लेखकने कहला पाया है—

रम्भाफलं घृतं क्षीरं गोधूमस्य च चूर्णकम्।
अभावे शालिचूर्णं वा शर्करा वा गुडस्तथा॥

फिर भोजन करते समय भी मनके अवस्थानुसार पदार्थके गुण हो जाते हैं। अतः यहाँ कहा गया है कि भोज्य-सामग्री जो भी प्राप्त हो जाय, उसे स्वार्जित न समझ ईश्वरका प्रसाद समझो और श्रद्धायुक्त हो प्रसन्न मनसे भोजन करो। तदुपरान्त नृत्य-गीतादि तथा भगवान्‌के गुणानुवाद आदिका आदेश है। भजन-कीर्तनादिसे ही हमारी सभी विघ्न-बाधाएँ मिट सकती हैं। इसीके द्वारा हमारे हृदयका विश्वके साथ रागात्मक सम्बन्ध होता तथा हमारा सांस्कृतिक अभ्युत्थान होता है और समाज प्रसन्न वातावरणमें फूलता-फलता हुआ मानवताकी सर्वोच्च भावभूमिपर पहुँच विश्वके साथ तादात्म्य कर उस प्रभुका लीलागान करता हुआ उसीके साथ घुल-मिल जाता है। फिर आरोग्यकी दृष्टिसे भी संगीत और हास्यका महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसीने ठीक ही कहा है—

‘सौ रोगोंकी एक दवाई। हँसना सीखो मेरे भाई॥’

किंतु मनुष्य केवल अपनेको सात्त्विक शुद्ध तथा स्वस्थ रखकर भी सुखी नहीं रह सकता। उसके कर्तव्यकी इतिश्री यहीं नहीं है। उसका कर्तव्य तो स्वयं सुखका उपभोग न कर अपने सुखको चतुर्दिक् बाँटकर औरोंको सुखी बनाना है। मानव-जीवनका चरम लक्ष्य खाना, पीना और मौज करना नहीं, बल्कि इसके विपरीत खिलाना, पिलाना और औरोंको सुखी बनाना है। ऐसे तो अपने उदरका भरण-पोषण सभी प्राणी करते हैं। किसी कविकी बड़ी ही सुन्दर पंक्तियाँ हैं—

जिंदगी केवल न साँसों का खज़ाना,
जिंदगी केवल न जीने का बहाना।
जिंदगी सिंदूर है पूरब दिशा का,
जिंदगी का काम है सूरज उगाना॥

सत्यनारायण-कथाके लेखककी सम्मति भी 'A Sunshine heart and soul of song' रखनेकी है। इनका आदेश त्यागका भी है। अतः त्यागभावकी वृद्धि एवं स्वार्थबुद्धिके क्रमशः नाशका खयाल कर लेखकने आदेश दिया है कि सत्योपासकको सात्त्विक आहार स्वयं ही ग्रहण न कर अथवा केवल अपने परिवारको ही अपने साथ न रख समस्त बन्धु-बान्धवोंके तथा समाज-हित चाहनेवाले ज्ञानी एवं त्याग-वृत्तिवाले ब्राह्मणोंके साथ जीवन-निर्वाह करना चाहिये। इस कार्यमें भी कर्त्ताके हृदयमें मदकी मैल न जम जाय, पक्षपात और कर्तापनके भाव विकृति न पैदा करने पायें, इसके लिये उन्होंने धर्म-तत्परताका सदा आदेश दिया है—

बान्धवैर्ब्राह्मणैश्चैव सहितो धर्मतत्परः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यनारायण-व्रतकथा आजके नवीन युगको भी उदाहरणके साथ दिव्यसंदेश दे रही है। इतनी बातें अवश्य है कि पुराणका एक अंश होनेके कारण इसमें अथसे इतितक पौराणिकता है। इसी कारण ईश्वर एवं धर्मके नामपर ओठ बिचुकानेवाले आजके 'अप-टू-डेट' सज्जन इसे 'आउट-ऑफ-डेट, 'गुड-फॉर-नथींग' आदि कह सकते हैं पर मेरी तो दृढ़ एवं स्पष्ट धारणा है कि वे यदि इसके तथ्यपर शान्ति एवं गम्भीरतापूर्वक ध्यान देंगे तो पायेंगे कि जिस विचारका प्रतिपादन बीसवीं सदीके दधीचि गाँधी, पं० मदनमोहन मालवीय तथा टॉलस्टाय प्रभृति संत कर गये हैं या अन्य लोग कर रहे हैं, उसीका सुन्दर प्रतिपादन इस छोटी पर सुन्दर कथामें हुआ है। नवीनोंको नवीन-दृष्टिसे विचार करनेपर भी प्रभूत जीवन-सामग्री इसमें प्राप्त होगी। इसमें संनिहित सदुपदेशोंको व्यावहारिक रूपमें अपनाकर कोई भी सहज ही महामानव बन सकता है। मेरा तो अनुरोध है कि आस्तिक-नास्तिक सभी इसे एक आलोचककी हंस-दृष्टिसे विचार करते हुए मनोयोगपूर्वक एक बार अवश्य पढ़ें।

भगवान् अपने दिव्य गुणोंके साथ मुझमें उतर रहे हैं

देख रहा प्रत्यक्ष पूर्ण मैं उतर रहे मुझमें भगवान्।
भरे दे रहे अपने दिव्य गुणोंको परम उदार महान्॥
हँसकर बोल रहे यों—"बच्चे! देख इधर देकर कुछ ध्यान।
चारों ओर छा रहा कैसा है शीतल प्रकाश निर्मान॥
स्नेह-शील-सौन्दर्य, सत्य शुभ, शोभा-श्री, समता, सुखसार।
शान्ति, क्षान्ति सब गुण मेरे तुझमें हो प्रगट रहे अनिवार॥"
अनुभव यह हो रहा मुझे भी भगवदीय शुचि गुण-आचार।
छाये आ मेरे जीवनमें, बढ़ा रहे अपना परिवार॥
जबसे किया स्वयं प्रभुने आ मेरे अंदर नित्य निवास।
तबसे गुण भी प्रगटे, ज्यों रवि रहता, होता वहीं प्रकाश॥
रह न सके इससे अब कोई मुझमें दुर्गुण-दुष्टाचार।
भगे सभी भय-शोक, शत्रु कामादि, मिटे मानसिक विकार॥

हम सभ्य बनें

(लेखक—प्रो० डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एस्-सी०, साहित्यरत्न)

हमारा असभ्य समाज

प्रथम महायुद्धके पश्चात् मानव-समाजकी गति सर्वथा भिन्न हो गयी है। उसकी गतिविधिमें सर्वत्र क्रम-विपर्यय परिलक्षित होता है। वचन और संधिका कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। हम आज एक बात कहते हैं, कल उसको बदल जाते हैं। यहाँतक कि, राष्ट्रीय स्तरपर की गयी संधियाँ भी चाहे जब रद्दीकी टोकरीमें फेंक दी जाती हैं। ऐसी दशामें समाजकी स्थिति सर्वथा अरक्षित हो गयी है। मानवके प्रति मानवका विश्वास नहीं रह गया है। हमारी खुशी और खुशहाली खटकेमें पड़ गयी हैं। कोई नहीं बता सकता है कि उनका ग़बन कहाँ और कैसे हो गया है। सन् १९१४ के पहले भी समाजमें चोर, डाकू, कातिल आदि हुआ करते थे परंतु वे इतने खतरनाक न थे; क्योंकि समाज उनसे घृणा करता था। उनके लिये समाजमें स्थान न था, सामाजिकके हृदयमें सम्मान न था। आज तो ये अपराध हमारे जीवनकी कला, चातुरी और स्वभावमें परिणत होने लगे हैं!

हमारे असभ्य आचरणका एक अन्य पहलू भी है। हमारी सरकारें चाहे जब राष्ट्रीयकरणके नामपर देशी और विदेशी कम्पनियोंको हस्तगत कर लेती हैं। पहले एक बार अनुबन्ध हो जानेपर वर्षोंतक उसके नियमोंका निर्वाह होता रहता था; परंतु अब कलकी भी खबर नहीं है। किसी भी देशकी सरकार चाहे जब विदेशी कम्पनीपर अधिकार कर सकती है और उसके अधिकारियोंको देशके बाहर चले जानेका आदेश दे सकती है। इस प्रकारके व्यवहारको हम सभ्य समाजके अनुरूप नहीं मानते हैं। इसे यदि जंगलका नियम कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी।

कुछ महानुभाव इसे राजनीतिक आवश्यकता कह सकते हैं; परंतु नैतिकतासे रहित राजनीति सभ्यताका लक्षण नहीं है—वह और चाहे जो कुछ हो। हमें स्मरण रखना चाहिये कि सभ्यताका निर्माण एक दिनमें नहीं हुआ है। उसके प्रस्तुत स्वरूपतक आनेमें शत-सहस्र वर्ष लगे हैं। उसका यह भव्य प्रासाद एक-एक ईंट रखकर खड़ा किया गया है। यदि हमारी यही दशा रही तो यह महल बिल्कुल ढह जायगा। फिर, न सभ्यता रह सकेगी और न मानव-समाज ही अधिक समयतक चल सकेगा। विश्वासघात और धोखा जंगलीपनके लक्षण हैं, सभ्यताके नहीं।

संचित ज्ञानसे लाभ उठाएँ

वर्तमान युग स्वतन्त्रता—दूसरे शब्दोंमें उच्छृङ्खलताका युग है। प्रत्येक प्राचीन बात प्रतिक्रियावादी समझी जाती है। विप्र-गुरु-पूजामें किसीको विश्वास नहीं रह गया है। प्राचीनको अस्वीकार करना, इस युगके मानवका स्वभाव-सा हो गया है। अपवाद अवश्य हैं; परंतु वे नगण्य हैं। बिना ही विचार किये आज अधिकांशतः व्यक्ति प्राचीन नियमोंको तथा बुजुर्गोंकी बातोंको सर्वथा व्यर्थ समझते हैं। उनके मतानुसार वृद्ध व्यक्तियोंका परामर्श जाड़ेके सूर्यके समान होता है, जो प्रकाश तो देता है; परंतु गरमी नहीं। एक प्रसिद्ध आदर्शवादी[1]ने भी एक बार यही बात कही थी कि वृद्ध लोग अच्छी सलाह इसलिये देते हैं; क्योंकि वे बुरा उदाहरण प्रस्तुत करनेमें असमर्थ होते हैं।[2]

यह ठीक है कि अधिकांश वृद्धोंकी भावनाएँ ठंडी पड़ जाती हैं और उनके निर्णय एक भिन्न स्तरपर किये जाते हैं। यह भी ठीक है कि बहुत-से बूढ़े लोग फिरसे जवान बन जानेके लिये इच्छुक होते हैं, वे उस समयको फिर प्राप्त करना चाहते हैं जब कि उनकी भावनाओंमें वेग था, विचारोंमें सपने थे और हृदयमें अनेक आकाङ्क्षाएँ थीं, परंतु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनके परामर्शमें अनुभवजन्य ज्ञान निहित रहता है। यद्यपि यह प्रकृतिका नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतन्त्र आत्मा एवं व्यक्तित्वके रूपमें उत्पन्न होता है और इसी रूपमें उसे स्वतन्त्ररूपसे अनुभव प्राप्त करते हुए अपनी वृत्तियोंको विकसित भी करना चाहिये, तथापि जिस दिन मानव-समाज पूर्व-संचित समस्त ज्ञानद्वारा लाभान्वित होना बंद कर देगा, उसी दिन उसके विकासका मार्ग भी अवरुद्ध हो जायगा। शत-सहस्र वर्षोंमें मानव-समाजद्वारा अर्जित ज्ञानकी अस्वीकृतिका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि हमें विकासके

---

1. Counsels of old men are like the winter sun. They give light but no heat.

2. Old age gives good advice for want of able to offer bad example.

निम्नतम स्तरपर पहुँचकर समाजकी उन्नतिका नये सिरेसे प्रयास करना होगा। इस सम्बन्धमें वयोवृद्ध बान्धव भी यह समझ लें कि वे नवयुवकोंके मार्ग-दर्शक एवं सहायक बनें, अपने अतीतके गौरवके प्रति आग्रह धारण करके भावी कर्णधारोंके मार्गमें किसी प्रकारका अवरोध उत्पन्न न होने दें। वृद्धावस्थाका प्रथम अनुभव निश्चितरूपसे अभिशाप प्रतीत होता है परंतु चतुर वृद्ध, उदार दृष्टिकोण-द्वारा, समयकी हवाको पहचानकर, उसे वरदान रूप बना सकता है।

सर्वोपरि गुण

मानवका सर्वोपरि गुण क्या है ? इस सम्बन्धमें मतभेद होना सर्वथा स्वाभाविक है। कोई कहेगा कि 'प्रतिभा' सर्वश्रेष्ठ गुण है, किसीके मतानुसार 'बुद्धिमत्ता' को यह गौरवशाली स्थान प्राप्त होना चाहिये, किसीकी रायमें 'शक्ति एवं साधन-सम्पन्नता' जीवनका चरम फल होगा। परंतु हम इंगलैंडके प्रधान मन्त्री श्रीपिटकी इस रायसे सहमत हैं कि 'धैर्य ही मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ गुण है।'

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

—के अनुसार सर्वप्रथम हमको धैर्य ही छोड़ देता है। हम यदि धैर्य धारण कर सकें तो हमको धर्म, मित्र और नारी कोई भी न छोड़ें।

प्रतिभा मार्ग-दर्शन करती है। धैर्यके सहारे ही हम उस मार्गपर चल सकते हैं। प्रतिभाने तुलसीदासजीको राम-भक्तिका मार्ग बताया था, परंतु रामकी 'लवलेश कृपाके द्वारा विश्राम प्राप्त' करनेमें उन्हें ६० वर्षका समय लग गया था। पृथ्वीकी ओर गिरते हुए सेवने न्यूटनकी प्रतिभा-को जाग्रत् करके एक दिशाविशेषकी ओर उन्मुख अवश्य किया था, परंतु 'गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त' के निर्धारणके पूर्व उसने न मालूम कितने कागज काले किये थे, न मालूम धैर्यपूर्वक कितनी रातें व्यतीत की थीं। धैर्यके अभावमें निर्माण असम्भव है और निर्माणके अभावमें सभ्यताके विकासकी रक्षा दिवास्वप्नके सदृश है। हवाईमहल वे ही बनाते हैं; जिनमें धैर्य एवं लगनका अभाव होता है। कहावत प्रसिद्ध है—Rome was not built in a day.

हमारा दुर्भाग्य है कि मानव अपने प्रयत्नोंका तत्काल परिणाम देखनेके लिये उत्सुक बन गया है। यही कारण है कि न तो हम कलकी बात ही सोचते हैं और न कलतक कोई काम ही कर सकते हैं। हमें स्मरण रखना चाहिये कि धैर्य केवल सर्वोपरि गुण ही नहीं है, वह अन्य समस्त सद्गुणोंका एक आधार भी है।

सद्विचार

अपने विचारोंके द्वारा हम अपने चारों ओर तदनुरूप वातावरणकी सृष्टि करते रहते हैं। सदसद्विचार शिवाशिव-प्रभाव उत्पन्न करते रहते हैं। ये प्रभाव हमारे अतिरिक्त हमारे सम्पर्कमें रहनेवाले व्यक्तियोंपर भी गहरा एवं व्यापक प्रभाव डालते हैं। हमारे विचार वायुमण्डलमें एक विशेष प्रकारका कम्पन उत्पन्न करते हैं, जो अन्य व्यक्तियोंको प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरणतः हम किसी व्यक्तिको निन्द्य अथवा घृणित समझते हैं। अब इसकी प्रतिक्रिया तीन प्रकारसे हो सकती है। यदि वह व्यक्ति घृणा अथवा निन्दाके योग्य है तो हमारे विचार उसके उक्त अवगुणको बल प्रदान करेंगे, यदि उसमें घृणा एवं निन्दाकी पात्रताका अभाव है तो हमारे विचार या तो हमारे ऊपर अपना कुप्रभाव डालेंगे अथवा उस व्यक्तिके ऊपर अपना कुत्सित प्रभाव उत्पन्न करेंगे। सारांश यह है कि शुभ विचारोंद्वारा हम अपना और दूसरोंका हित करते हैं तथा अशुभ विचारों-द्वारा अपना तथा समाजका अहित करते हैं। अशिव विचारों-द्वारा उत्पन्न लहरियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्थूल होती हैं। स्थूल जगत्में वे अधिक प्रभावोत्पादक भी होती हैं। अतः शुभ विचारोंकी अपेक्षा अशिव विचारोंका प्रभाव अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष होता है। अतएव यदि हम किसीमें कोई त्रुटि या दोषका दर्शन करें तो उसके प्रति क्रोध या घृणा न करें। उसके प्रति करुणा एवं सहानुभूतिके भाव रक्खें। हमें विश्वास रखना चाहिये कि यदि हम प्रेम और मैत्रीके द्वारा किसीकी कमीको दूर नहीं कर सकते हैं तो क्रोध और संदेहके द्वारा तो ऐसा करना असम्भव ही है।

मैत्रेयी-उपनिषद्में लिखा है कि जैसी मनकी कल्पना होगी, वैसा ही व्यक्ति बनेगा। संसार अपनी ही कल्पना है—यही चिरन्तन रहस्य है।

समयका सदुपयोग

सद्विचार स्वर्गहेतुक है, असद्विचार नरकके कारण हैं। लोग प्रायः अधिक काम और कम समयकी शिकायत करते सुने जाते हैं। जिसे देखो वही कहता है कि 'कामके मारे मरा जाता हूँ; मरने तककी फुरसत नहीं है, चिट्ठियोंके जवाब

तक नहीं दे पाता हूँ ।' हमारा विचार है कि जो लोग इस प्रकारकी बातें कहते हैं, उनमें सम्भवतः अधिकांशको काम करना आता नहीं है । उनके पास काम तो अधिक नहीं रहता, परंतु वे जो कुछ करते हैं बेतरतीब करते हैं । वे अपने समयका सदुपयोग नहीं करते । जो लोग समयका सदुपयोग करते हैं, उनको समयकी शिकायत बहुत कम होती है । उनके पास प्रायः हर कामके लिये समय रहता है ।

अधिकांश व्यक्ति कामके बारेमें बैठे-बैठे सोचते रहते हैं । क्या होगा, कैसे होगा, कब समाप्त होगा आदि । पर कुछ लोग बहुत थोड़ी देर सोचकर एकदम कार्य आरम्भ कर देते हैं । जब काम शुरू हो जाता है, तब उन्हें अनुमान हो जाता है कि काम कितना है, कैसा है और कब समाप्त होगा । आगेका रास्ता साफ होता हुआ चला जाता है । काम करनेवाला आरम्भ करनेपर ध्यान देता है, काम न करनेवाला उसके अन्तपर विचार करता रहता है । मान लीजिये कोई व्यक्ति एक पृष्ठ नित्य पढ़ता है अथवा लिखता है । वह एक वर्षमें ३६५ पृष्ठ पढ़ लेगा अथवा इतने ही पृष्ठ लिख लेगा । अब आप ही हिसाब लगाइये कि वह सम्पूर्ण जीवनमें कितना कार्य कर लेगा । समयके सदुपयोगका अर्थ ही यह है कि कार्य कीजिये, उसके परिणाम अथवा उसकी तादादपर ध्यान न दीजिये । पैसोंका हिसाब ठीक रहेगा, तो रुपयोंका हिसाब अपने-आप ठीक बैठ जायगा ।

कार्य करते समय एक और बातका ध्यान रखना आवश्यक है । हमें आवश्यक और अनावश्यकके अन्तरपर ध्यान रखना चाहिये । चतुर व्यक्ति आवश्यक कार्य एवं उसके आवश्यक तत्त्वोंपर ध्यान रखकर अपने कार्यको चटपट समाप्त कर डालता है, अव्यावहारिक व्यक्ति कार्यके अनावश्यक ब्योरेके बारेमें व्यर्थकी ऊहापोह करता रहता है । यही कारण है कि जहाँ एक व्यक्ति एक घंटेमें जितना कार्य कर लेता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' की कहावत चरितार्थ करता है ।

कार्य करते समय व्यक्तिको पूर्णतया एकाग्रचित्त रहना चाहिये । उस समय किसीको अपने पास न फटकने देना चाहिये । काम करते समय व्यर्थकी बातोंको न तो सुने ही, न उधर ध्यान ही दे । व्यर्थकी बातें करके समय नष्ट करनेवालोंको जहाँतक हो, दूर ही रखना चाहिये । व्यर्थ बातें करनेवाले व्यक्ति न स्वयं कुछ करते हैं और न दूसरोंको कुछ करने देना चाहते हैं । हो सकता है, हमारे इस व्यवहारके कारण कुछ लोग हमें रूखा, असामाजिक, अशिष्ट आदि विशेषणोंसे विभूषित करें, परंतु हमें इन बातोंकी परवा नहीं करनी चाहिये । समाज अन्ततोगत्वा, कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें सोनेके धान चाहता है, व्यक्तिको नहीं । कार्य बहुत है जीवन छोटा है, मंजिल लम्बी है वक्त थोड़ा है । अतः हमें चाहिये कि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करें । समयके सदुपयोगद्वारा ही हम स्वार्थ और परमार्थका निर्माण कर सकते हैं । इसीके द्वारा अपना और समाजका हित-चिन्तन सम्भव है ।

मानवका सम्मान सीखें

हमारी यह सामान्य धारणा बन गयी है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य केवल स्वार्थवश ही करता है । हमारे विचारसे मानवका इस प्रकार मूल्याङ्कन करना मानवका अपमान करना है । हम समझते हैं हमारी उक्त धारणा प्रायः भ्रान्तिपूर्ण होनेके साथ-साथ आपत्तिजनक भी है । हमारे अन्तःकरणमें स्थूल वृत्तियोंके अतिरिक्त सूक्ष्म एवं कोमल वृत्तियाँ भी होती हैं । हमारे समस्त कार्य केवल स्थूल आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये ही नहीं होते हैं, हम त्याग, करुणा, श्रद्धा आदि कोमल वृत्तियोंके द्वारा अपने मानसिक जगत्की संतुष्टि भी करना चाहते हैं ।

हम समझते हैं कि रुपये-पैसेके द्वारा हमारा प्रत्येक कार्य सम्भव है, रुपयेके द्वारा हम प्रत्येक व्यक्तिको खरीद सकते हैं । हमारी यह भूल है । प्रत्येक संघर्ष स्वार्थवश ही नहीं किया जाता । कभी-कभी व्यक्तिकी भावनाएँ इतनी अधिक उद्दीप्त हो जाती हैं कि समझौता असम्भव हो जाता है । सामूहिक संघर्षको भी रुपये-पैसेके द्वारा दबाना अत्यन्त दुस्तर होता है ।

प्रेममें पागल व्यक्तिको रुपये-पैसेके प्रलोभनद्वारा कौन रोक सकता है । गौतम बुद्धके वैराग्यको उनका राजसी जीवन न बाँध सका था । स्वार्थ खरीदे जा सकते हैं, मनोवेग नहीं । आत्म-सम्मानके लिये संकट उपस्थित हो जानेपर लोग भूखे मर जाना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं । वैरागी बन्दा, हकीकतराय, भगतसिंह प्रभृति शहीदोंने स्वार्थकी अपेक्षा फाँसीके तख्तेको स्वाभिमानके अधिक अनुरूप समझा था । अतः स्वार्थकी भाषाका प्रयोग करते समय हमें उक्त विभेदपर दृष्टि रखनी ही चाहिये ।

टैडी रूज़वेल्ट कहा करते थे, carry a big stick and talk softly मुलायमियतके साथ बात करनेपर उनका बल था। हम क्या देते हैं अथवा क्या कहते हैं इसका भी मूल्य है, परंतु इससे अधिक मूल्य इस बातका है कि हम किस प्रकार देते हैं और अपनी बात किस प्रकार कहते हैं। हमारे व्यवहारमें जैसे ही घृणा एवं निरादरकी गंध आने लगती है, वैसे ही लोग हमारा विरोध करने लगते हैं। कोई भी व्यक्ति अपमान सहन नहीं कर सकता। अतः हमारा कर्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने ही समान स्वाभिमानी एवं सम्माननीय समझें। मानवके महत्त्वकी स्वीकृति सभ्यताका एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। मानवको चाँदीके चन्द टुकड़ोंपर आँकने अथवा उनके द्वारा उसको खरीदनेका प्रयत्न करना बुद्धिकी विडम्बना है, साथ ही अपने आपको धोखा देना है।

भेट अथवा उपहार देते समय तथा सहायता करते समय हमें अपने व्यवहारके प्रति विशेष सावधान एवं सतर्क रहना चाहिये। अपमानपूर्ण सहायता एवं सहयोग कटु प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। 'खिलाने-पिलानेका नाम नहीं, गिरा देनेका नाम' वाली लोकोक्तिके अनुसार दुनियावालोंको अच्छी बातोंकी अपेक्षा बुरी बातें अधिक अच्छी तरह याद रहती हैं। एहसानों-को भूल जाना हमारा स्वभाव है। हमारा यह भी स्वभाव है कि हम एहसानोंको मिटा देनेका मौका ताकते रहते हैं। कोई व्यक्ति हमारे साथ निन्यानबे बार एहसान करता है, परंतु अगर वह एक बार भी हमारा जी दुखा देता है तो हम जी दुखानेका ढिंढोरा पीटकर उसके एहसानोंको दर गुज़र कर देना चाहते हैं। ऐसा करनेमें हमारी हीनत्व-भावना तृप्त होती है। अतः हमको सहायता करते समय अपने व्यवहारको विशेष मृदु और मधुर बनाये रखना चाहिये। कठोर प्रतिबन्धोंकी अपेक्षा प्रेमके धागेका बन्धन अधिक दृढ़ एवं उपयोगी होता है।

स्वार्थ-त्याग

हमारे-जैसे अनेक महानुभावोंका यह विचार रहता है कि वे समाजके द्वारा सब कुछ प्राप्त करनेका अधिकार लेकर आये हैं। वे दूसरोंको कुछ दिये बिना ही दूसरोंसे सब कुछ प्राप्त करनेकी आशा रखते हैं। 'हल्दी लगे न फिटकिरी और रंग चोखा आये'-जैसी धारणावाले व्यक्ति ही स्वार्थी अथवा खुदगर्ज़ कहलाते हैं। हम भूल जाते हैं कि हमारे तन और मन भरे हुए बर्तनके समान हैं। जबतक हम बर्तनको खाली नहीं करेंगे, तबतक उसमें कोई कुछ भरेगा कैसे? प्राचीन कथाके अनुसार भगवान् हमारे द्वार खटखटाते हैं, परंतु हम उनके स्वागतके लिये तैयार नहीं रहते। वह हमको बहुत कुछ देना चाहते हैं, परंतु हमारे पात्रमें स्थान ही नहीं होता है। हमारे पास जो कुछ है, हम उसका दान करें, हमारा पात्र अपने-आप और नयी चीजोंसे स्वतः भर जायगा।

रितु बसंत जाचक भया हरष दिया द्रुम पात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहीं जात॥

दान करनेवाला दानका रहस्य समझता है। उसका खजाना कभी भी खाली नहीं हो पाता है।

दानमें विनम्रता आवश्यक है। 'मेरा है और मैं देता हूँ' यह समझकर देनेवाला व्यक्ति अहंकारग्रसित हो जाता है और उसके व्यवहारमें कटुता आ जाती है। दान दे यह सोचकर कि देता तो मैं हूँ, परंतु यह है किसीका, और ऐसा दानी ही समाजका सेवक कहा जा सकता है। उसीको समाज-का प्यार एवं सम्मान प्राप्त होता है। स्वार्थ-भावनाके परे होते ही व्यक्ति समाजसे सब कुछ पानेका अधिकारी हो जाता है। अब्दुलरहीम खानखाना बहुत ही बड़े दानी थे। समाजके वे परम प्रिय थे, क्योंकि वे स्वार्थवश नहीं, परमार्थहेतु दान करते थे। उनकी विनम्रता स्पृहणीय थी।

देनहार कोउ और है, देत रहत दिन रैन।
लोग भरम हम पै करैं, यासौं नीचे नैन॥

परोपकार करनेवालेका स्वार्थ तो अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है—

यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग।
बाँटनवारे के लगे ज्यों मेहदी को रंग॥

अत्यधिक स्वार्थपरता हमारे पारिवारिक जीवनको भी दुःखमय एवं कष्ट और क्लेशपूर्ण बना देती है। पिता-पुत्र, माँ-बेटा, पति-पत्नी आदिके झगड़ोंके पीछे स्वार्थपरता ही झाँकती हुई दिखायी देती है।

संसारके व्यवहार इकतरफा नहीं चलते हैं। 'लेन' और 'देन' के दो किनारोंके मध्य ही जीवन-सरिता प्रवाहित होती है। जहाँ स्वार्थ-भावना आ जाती है, वहीं मित्रके नेह-चीकने चित्तपर मलिनता छा जाती है। स्वार्थ-भावना वह काँजी है जो प्रेम-दुग्धमें अविलम्ब विलगता उत्पन्न कर देती है।

स्वार्थी व्यक्तियोंकी भाँति स्वार्थी राष्ट्र भी होते हैं। दोनों

का भविष्य समान ही रहता है । वे संसारको अपना शत्रु बनाकर पतनको आमन्त्रित करते हैं ।

आदर्श व्यक्तियोंके व्यवहारका नाम ही सभ्यता है । उनकी संश्लिष्ट चेतना ही संस्कृति एवं विकासकी मूलाधार है। परमार्थभावनाका बाह्य रूप आदर्श आचरण है। अतः विनम्र समाज-सेवा सभ्यताका सर्वोपरि लक्षण है। धर्माचरण अथवा सदाचरण इसीका दूसरा नाम है। सभ्य कहलानेके लिये आवश्यक है कि हम मनुष्य (धर्म-सदाचारसम्पन्न) बननेका प्रयत्न करें।

रामायणका एक पृष्ठ

बन जाते समय रामने दानमें क्या-क्या दिया ?

(लेखक—श्रीविश्वम्भरसहायजी प्रेमी)

रामचरित्रमें रामके वन जानेका प्रसंग बड़ा ही मार्मिक है तथा चाहे वाल्मीकिरामायण हो अथवा तुलसीकृत और चाहे रामायणकी कथा हो रही हो अथवा उसका कोई नाटकीय प्रदर्शन, रामवन-गमनके वर्णनसे कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । रामने वन जाते समय अपने राजसी वस्त्रों, आभूषणोंको ब्राह्मणोंको दानमें दे दिया था, इसका बड़ा सामान्य-सा उल्लेख मिलता है, परंतु वाल्मीकिने दानमें दी गयी वस्तुओंका और दान देते समय राम, लक्ष्मण तथा सीताके मनोभावोंका बड़ा विस्तृत वर्णन किया है ।

वन जानेके लिये तैयार होते समय रामने जानकीसे कहा—'ब्राह्मणोंको दान, भिक्षुकोंको भोजन तथा बन्दियोंको धन आदि देकर शीघ्र यहाँसे चलो, अब देर नहीं करनी है।' उनका यह भी आदेश हुआ कि जानकीके पास जो कुछ भी बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण तथा क्रीड़ा आदिके निमित्त जो वस्तुएँ हैं, उन्हें दान कर दिया जाय। रामने स्वयं भी अपने तथा सीताके शयनके पदार्थोंको सेवकों तथा ब्राह्मणोंको दानमें देनेका निश्चय किया ।

राम तथा जानकीका इस ढंगसे विचार-विमर्श हो ही रहा था कि लक्ष्मणको इससे दुःखका अनुभव हुआ । वाल्मीकिने इस प्रसंगका वर्णन करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि लक्ष्मणको यह दुःख राम तथा जानकीके अपना सर्वस्व दान करनेसे नहीं, बल्कि इसलिये हुआ कि उन्हें राम-जैसे भाईकी सेवाका अवसर न रहेगा । फिर उन्होंने रामसे कहा कि वनके जीवोंसे आपकी रक्षा करनेके लिये मैं चढ़ा हुआ धनुष तथा फल-पुष्प आदि रखनेके लिये एक पिटारी साथ लिये आपके आगे-आगे चलना चाहता हूँ। इसके उपरान्त रामने लक्ष्मणको आदेश दिया कि वह दानके लिये तैयारी करे ।

रामने कहा, जो कुछ हमारे पास धन है, मैं उसे दान कर देना चाहता हूँ। कुछ ब्राह्मण यहीं पासमें रहते हैं और कुछ गुरु वसिष्ठके आश्रममें, उन सबको बुला लाओ। वसिष्ठके पुत्र ब्राह्मणश्रेष्ठ सुयज्ञको भी लिवा लाना, मैं उन सबकी पूजा करके वन जाना चाहता हूँ ।

रामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण सुयज्ञके घर गये और उन्हें प्रणाम करके उन्होंने रामके समीप चलनेका निवेदन किया । वाल्मीकिने सुयज्ञकी विद्वत्ता, तपस्या आदिका वर्णन करते हुए उन्हें वेदवित्, अग्निकी ज्वालाके समान देदीप्यमान कहा है । उनके रामके पास पहुँचनेपर राम तथा सीता दोनों उठकर खड़े हुए तथा उन्हें प्रणाम किया ।

रामने सुयज्ञको मणिजटित सुवर्णकुण्डल, जंजीरें, कंगन आदि आभूषण भेंटमें दिये। सीताजीकी ओरसे उन्होंने सुयज्ञकी पत्नीके लिये हार, सुवर्णकी जंजीरें, केयूर तथा वलय दिये, नाना रत्नविभूषित सोनेका पलंग तथा बहुमूल्य बिछौना भी उन्होंने ब्राह्मणश्रेष्ठ सुयज्ञको दे दिया । इस अवसरपर रामने अपना शत्रुंजय नामका हाथी भी सुयज्ञको दे दिया, जो उन्हें अपने मामाके-पाससे मिला था तथा उसके साथ सुवर्णके एक सहस्र सिक्के दक्षिणाके रूपमें दिये । सुयज्ञने यह सब ग्रहण करके दोनों भाइयों तथा सीताको अनेक आशीर्वाद दिये ।

केवल वसिष्ठपुत्र सुयज्ञ ही नहीं, रामने महर्षि अगस्त्य तथा विश्वामित्रके पुत्रको भी दान दिया । वाल्मीकिने रामके इस दानके समयके मनोभावको वर्णन करते हुए कहा कि राम चाहते थे कि इन विद्वानोंकी अनेक प्रकारके रत्नों आदिसे इस प्रकार पूजा की जाय जैसे वर्षाकालके जलसे अन्नको सींचा जाता है । उन्होंने दोनोंको एक-एक सहस्र गाय, बहुमूल्य सोने और मणियोंके आभूषण दिलाये । माता कौसल्याने नित्य यज्ञ

करानेवाले ब्राह्मणको सवारी, दासी, रेशमी वस्त्र तथा धन दिया। विभिन्न कर्मकाण्डोंमें तथा वेदके अध्ययनमें लगे ब्राह्मणोंको उन्होंने गायें दिलायीं। जो लोग वेदपाठमें लीन रहते हैं, महात्माओंमें जिनकी गिनती है तथा माँगनेके लिये जो नहीं निकलते ऐसे विद्वानोंको उन्होंने सहस्रों गाय, बैल तथा अन्न आदि दिलाया, संक्षेपमें रामने समस्त ब्राह्मणोंको कुबेरके समान धन-राशि तथा बहुमूल्य सामग्री प्रदान की।

राम इस अवसरपर अपने नौकर-चाकरोंको भी नहीं भूले। उन्होंने चित्ररथ नामक वृद्ध सारथिको बहुमूल्य रत्न, वस्त्र, धन आदिसे संतुष्ट किया। अपने अन्य सेवकोंको बहुत-सा धन देते हुए रामने कहा—'जबतक हम वापस न आयें, हमारे और लक्ष्मणके भवनोंको खाली न रहने देना।' यह कहना था कि सभी सेवक बिलख-बिलखकर रामके वियोगकी कल्पना करके रोने लगे।

इसी प्रसंगमें त्रिजटकी कथा आती है। जिस प्रकारसे सुदामाकी पत्नीने सुदामासे आग्रह किया था कि तुम अपने बालसखा श्रीकृष्णके पास जाओ और अपनी दीन दशा उन्हें दिखाकर उनसे कुछ सहायता लेकर आओ, ठीक उसी प्रकार भृगु, अंगिराके समान तेजस्वी किंतु दरिद्र ब्राह्मण त्रिजटकी पत्नीने उसे रामके पास जानेके लिये प्रेरित किया। त्रिजटने रामके पास जाकर अपनी दीन दशा बतायी तो रामको परिहास सूझा। उन्होंने कहा, 'हे ब्राह्मण! हमारे देशमें असंख्य गायें हैं, अभी तो हमने उनमेंसे एक सहस्र भी नहीं दान कीं। जितनी गाय आप अपने डंडेसे घेर सकें उतनी ही हम आपको दे देंगे।' वाल्मीकिने लिखा है कि त्रिजटने अपने फटे हुए वस्त्रको कमरसे बाँधा तथा पूरी शक्तिके साथ अपने डंडेको चलाया। डंडा सरयूके पार जाकर गिरा। त्रिजटके आश्रमसे सरयूके पारतक जितनी भी गायें थीं, रामने वह सब त्रिजटको दानमें दे दीं। रामने वे सब गायें चुपचाप ही त्रिजटके यहाँ पहुँचानेका आदेश दिया था। त्रिजट कुछ संदेह-सेमें थे, तब रामने कहा 'हे ब्राह्मण! आप क्रोध न करें, हमने केवल आपके इस अपार तेजको जाननेके लिये ही आपसे यह परिहास किया था' त्रिजटने अपने स्त्री-पुत्रोंसहित रामको आशीर्वाद दिया।

ब्राह्मणों, मित्रों, दास, दासियों तथा दरिद्र भिक्षुकोंमेंसे कोई ऐसा न बचा था जिसे रामने संतुष्ट न किया हो तथा धर्मसे एकत्र किये हुए अपने धनका एक अंश न दिया हो।

समस्त राजसी वैभवको छोड़ साधारण बटोहीके समान वन जाते हुए राम, सीता तथा लक्ष्मणको देख पुरवासी कहने लगे कि हम भी रामका अनुगमन करेंगे और अन्न बिना छाये, गिर पड़े, सब धन-धान्यादिसे अस्त-व्यस्त, सब प्रकारसे बिना सार, चारों ओरसे कूड़ा-करकटयुक्त हमलोगोंसे छोड़े हुए ऐसे घर कैकेयी ले।

तुलसीदासजीने इस प्रसंगको इस प्रकार वर्णन किया है—

गुर सन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान बिनय बस कीन्हे॥
जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे॥

तुलसीदासके अनुसार रामने गुरु वसिष्ठसे कहकर ब्राह्मणोंको वर्षभरका भोजन दिया। आदर, दान तथा विनयसे रामने उनको अपने वशमें कर लिया। फिर रामने याचकोंको दान और मान देकर संतुष्ट किया। मित्रोंको उन्होंने अपने पवित्र प्रेमसे परितुष्ट किया।

रामने फिर दासी और सेवकोंको बुलाया। उन सबको गुरु वसिष्ठको सौंपते हुए उनसे कहा कि आप इन सबकी माता-पिताके समान सार-सँभाल करते रहना।

सब कै सार सभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥

इसके उपरान्त रामने पुरवासियोंसे वार्तालाप किया। सबसे मिलनेके उपरान्त रामने लक्ष्मण और सीताके साथ वनको प्रस्थान किया।

राम-लक्ष्मणके आयुध

वाल्मीकिने उन आयुधोंका भी वर्णन किया है जो राम वन जाते समय अपने साथ ले गये थे। राजा जनकने एक बार यज्ञ किया था तथा उस समय उनसे प्रसन्न होकर वरुणने जनकको दो धनुष, दो अभेद्य कवच, दो अक्षय तरकस और सूर्यके समान तेजवाले दो खड्ग दिये थे। ये सभी आयुध राजा जनकने रामको दे दिये थे। रामने इन शस्त्रास्त्रोंको गुरु वसिष्ठके पास रख दिया था। रामने लक्ष्मणसे कहकर उन शस्त्रास्त्रोंको गुरुके पाससे मँगवाया। वन जाते समय यही शस्त्रास्त्र रामके साथ थे, जिनके बलपर उन्होंने रावण-जैसे महापराक्रमी वीरको विजय किया। इनके अतिरिक्त स्वयं दशरथने राम तथा लक्ष्मणको अनेक आयुध, कवच, बख्तर आदि दिये।

उत्तराखण्डकी यात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव)

[गताङ्कसे आगे]

प्रातःकाल हम यहाँका प्रमुख स्थान श्रीशंकराचार्यद्वारा स्थापित ज्योतिर्मठ देखने गये । उन्होंने अपना पहला ज्योतिर्मठ यहाँ स्थापित किया था । यहीं एक शहतूतके वृक्षके नीचे तपस्यारत शंकराचार्यको ज्ञान-ज्योति प्राप्त हुई थी और इसीलिये इस वृक्षका नाम कल्पवृक्ष हो गया । और ज्ञान-ज्योतिकी प्राप्तिके पश्चात् जगद्गुरुने तत्त्वज्ञानका महान् शास्त्र शांकरभाष्य भी इसी कल्पतरुके नीचे लिखा था । आज भी यह कल्पतरु आद्यगुरु शंकराचार्यकी महान् गुणगाथाको अपने विशाल आकार-प्रकारमें धारण किये उन्नत स्थितिमें मौजूद है । कहते हैं यहाँसे तीन मील आगे विष्णुप्रयाग तक इसकी जड़ें पायी जाती हैं । इसकी सघन और शीतल छाया श्रान्त यात्रियोंका श्रम तो हरती ही है, अध्यात्म-पथके भटके, भ्रान्त पथिकोंका पथ-प्रदर्शन करनेमें भी बड़ी सहायक होती है । कैसी सुखद स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं इस कल्पतरुसे जगद्गुरुके महत् कार्यों और उपदेशोंकी । इसीके आश्रयमें तो साधनाके उस श्रेष्ठ सोपानका साक्षात्कार किया था शंकराचार्यने, जिसकी उपलब्धिसे ममत्व सर्वथा क्षीण होकर समत्व आ जाता है । आज भी इसकी दीर्घाकार पीड, विशाल भुजाओंके सदृश फैली हुई शाखाओं और उनकी टहनियों एवं हवामें हिलते हरित पल्लवोंमें वह सामर्थ्य है कि भव-व्याधियोंसे घिरे मानवको अपने क्षणभरके सांनिध्यसे उस सुखकी अनुभूति करा दे, जिसकी प्राप्तिके लिये जगद्गुरुने घोर तप किया था । कहना कठिन है कि यह इस कल्पतरुकी विशाल कायाकी करामात है या भगवान् शंकराचार्यकी तपस्यासे पवित्र हुई इस तपोभूमिकी । धन्य है यह भूमि और धन्य है यह कल्पतरु, जिसने न केवल एक महत् पुरुषका सांनिध्य पाया, वरं अपने आश्रय और संसर्गसे एक महत् पुरुषको न केवल महापुरुष वरं भगवत्-स्वरूप प्रदान किया। यह तरु आज मूक था । मूक सेवक कब बोलते हैं, कभी नहीं । यह भी न कभी बोला है न बोलेगा । हवामें इसकी शाखाएँ और कोमल पल्लव डोल रहे थे, पर इसकी इस मूकतामें, इस निस्तब्धतामें कैसा कलरव था, कितनी वाचालता थी, वाणीका कैसा प्रवाह था, हवासे इसके हिलने-डुलनेमें कैसी भावभंगिमा थी। कभी जान पड़ता भगवान् शंकराचार्य पद्मासन लगाये तपस्यारत हैं और यह शेषनागकी भाँति अपनी शाखाओंरूपी सहस्र फणोंसे उनके ऊपर छाया किये भक्तिकी मस्तीमें मस्त हो झूम-झूमकर उनका स्तुतिगान कर रहा है; कभी जान पड़ता जन-कल्याणकी भावनासे अभिभूत हो समाधिस्थ जगद्गुरुके आह्वानके लिये वह उनकी आराधना और स्तुतिगान कर रहा है । कैसा अद्भुत सुखवर्द्धक और सुपथदर्शक सांनिध्य है इस कल्पतरुका । मनुष्यको उसके गन्तव्यके कितने समीप ला देता है । इन्हीं भावनाओंसे डूबे हृदयमें सहसा भाव उठा—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागू पायँ ।
बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविंद दियो दिखाय ॥

जगद्गुरु शंकराचार्यके लिये शहतूतके इस वृक्षने ज्ञानज्योतिके दर्शन कराये, इस नाते वह उनका गुरु बननेका अधिकारी है या नहीं, यह विवादका प्रश्न हो सकता है; किंतु, आज असाक्षात् रूपमें इस कल्पतरुने हमें भगवान् शंकराचार्यके दर्शन करा दिये, इसके लिये हमने अपनी उक्त भावनाओंसे तरुको प्रणामकर आगे पग बढ़ाये ।

कल्पतरुकी तलीमें एक छोटी-सी पाषाण-गुफा है जिसमें शंकराचार्य रहते थे । इसके भी दर्शन करने हम गये । शंकराचार्यके निवास-गृहको देखकर फिर भावनाएँ उठीं, कैसा महान् जीवन था इस महान् अवतारी पुरुषका, उसमें कितना विराग, कितना त्याग, कितनी निःस्पृहता और कष्ट-सहन तथा लोककल्याणकी भावना थी । तुलसीदासजीने ऐसे ही विरागी जीवनका वर्णन किया है—

भूमि सयन बलकल बसन असन कंद फल मूल ।

आज ऐसे निःस्पृही जीवन अपवाद होते हैं; उस कालमें अनेक मिलते थे । उस समयका आजके जमानेसे हम मिलान करने बैठें तो जमीन-आसमानका अन्तर हमें दिखायी देगा । आज ऐसे कितने योगी-यति और संन्यासी हैं, जो लोककल्याणके निमित्त सघन वनोंमें, निष्ठुर पाषाण-गुफाओंमें रहकर शारीरिक कष्ट भोगकर संसारकी सेवा करते हैं । आजके अधिकांश सुधारक और संतोंने तो उलटी गङ्गा बहायी है, सघन वनोंमें न

रहकर घने बसे नगरोंमें रहना शुरू किया है, यही नहीं, बड़े-बड़े विशाल भोगसामग्रियोंसे भरे, साधनयुक्त भवनोंमें रहते हैं, ऐसे भवनोंके श्रृङ्गार सजे बिजलीके लट्टुओंसे जगमगाते सुन्दर कक्षोंमें एक ओर इनकी मृगछाला या बाघाम्बर रहता है जिसपर इनकी साधना और उपदेश चलता है, दूसरी ओर होता है सुख-साधन । ये दीक्षा तो लेते हैं योगकी, और रहते हैं भोगरत । वस्त्र पहनते हैं संन्यासीके, सुख भोगते हैं संसारीका । त्याग और निःस्पृहता तो वाणीविलासकी वस्तु रह गयी है । कालकी गति कितनी विकराल है । भगवान् शंकराचार्यकी इस निवासभूमिपर माथा टेक हमलोग आगे बढ़े ।

इस कल्पतरु और गुफाके कुछ ऊपर ज्योतिर्मठका प्रवेशद्वार है । यहीं अन्नपूर्णा देवीका मन्दिर है जिसका जीर्णोद्धार ज्योतिर्मठके शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्दजी सरस्वतीने संवत् १९९८ में कराया था । इस मन्दिरसे कुछ दूरपर ज्योतिर्मठका एक आधुनिक भवन बना हुआ है, जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम और संस्कृत-विद्यालय चलता है । ज्योतिर्मठके इस समयके शंकराचार्यके सम्बन्धमें अधिकारसम्बन्धी कुछ कानूनी झगड़े चल रहे हैं । जोशीमठके नामकरणमें लोगोंका मत है कि इसका असली नाम ज्योतिर्मठ है । भगवान् शंकराचार्यद्वारा अपना सर्वप्रथम मठ यहाँ स्थापित किये जानेके बाद यह स्थान जोशीमठ नामसे प्रसिद्ध हुआ । नवीं-दसवीं शताब्दीके कत्यूरी शिलालेखोंमें भी जोशीका (योषिका) नामसे जोशीमठका उल्लेख हुआ है तथा यहाँके पुराने निवासी जोशियाल बताये जाते हैं । बदरीनाथ-मन्दिरकी बहियोंमें भी 'जोशी' नामसे इसका उल्लेख हुआ है । जोशिका कत्यूरियोंकी राजधानी थी । कत्यूरी राज्य किसी समय केवल कुमाऊँ-गढवालतक ही नहीं, वरं शिमलेतक फैला हुआ था ।

ज्योतिर्मठके निकट ही एक और आश्रम है, जिसमें स्वामी सीताराम नामक एक महात्मा निवास करते थे । इन्होंने हालमें ही १२५ वर्षकी आयुमें समाधि ली थी । हमने इस आश्रमके भी दर्शन किये, जहाँ अब इनके बंगाली शिष्य श्रीमोहनदास निवास करते हैं, ये एम्० ए० तक शिक्षित हैं ।

इस ओर फलोंके कुछ उद्यान भी हैं । ज्योतिर्मठके प्राङ्गणमें भी हमने फलोंका एक अच्छा उद्यान देखा, जिसमें अन्य फलोंके वृक्षोंके साथ सेवके तरु प्रधानरूपसे थे । ये सभी वृक्ष फलोंसे लदे थे, यद्यपि इनके फल अभी पके नहीं थे । परंतु सेवके फल कच्चे रहते हुए भी कैसे लाल हो जाते हैं यह हमने आज देखा । फलोंके वृक्षोंमें आम, संतरे सभी फलनेपर अत्यन्त सुन्दर दीखते हैं; परंतु सेवके फल लदे वृक्षोंके सदृश शायद अन्य कोई फल-वृक्ष नहीं । लालची मनसे फलोंसे लदे इस शोभन तरु-उद्यानको हम देखते रहे । कितना लुभावना और मनभावना था यह । इसे देख कपिराज हनुमान्‌का अशोकवाटिकाका वह कथन—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागि देखि सुंदर फल रूखा ॥

—हमें याद आ गया । रक्तिम वर्ण सेव और हरित नासपातियोंका अङ्ग-प्रत्यङ्गमें श्रृङ्गार-सा किये मौन भावसे नत ये मूकसेवी तरु शंकराचार्यकी इस साधना-भूमिमें एक स्वर्गिक सौरभ बिखेर रहे थे । साधकों और संतोंकी इस भूमिमें ये तरु मानो उनके प्रतीक बन गये थे । गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

तुलसी संत सुअंब तरु
फूलि फरहिं पर हेत ।
इतते वे पाहन हनत
उतते वे फल देत ॥

ज्योतिर्मठसे विदा लेनेके हेतु हम कुछ देर इसके प्रवेशद्वारपर रुके । अनेक शताब्दियोंतक पराधीन रहने तथा संसारके सबसे गरीब देशोंमें इसकी गणना होनेपर भी आज भारत जो भारत है और संसारमें उसका जो आज स्थान है, उसका कारण खोजनेमें हमें कठिनाई नहीं हुई । निर्जन वनोंमें बने इन आश्रमोंसे सदा और सत्वर एक ध्वनि हमें सुनायी देती है कि हमें यदि अपनी, अपने देशकी आधिभौतिक प्रगति करनी है तो हमारे पूर्वजों, संतों, सुधारकों, मुनिमहर्षियों और तत्त्वज्ञानियोंद्वारा सेवित अपनी आध्यात्मिक परम्पराको न केवल कायम रखना है वरं उसे भारतके जनमानसमें प्रतिष्ठित करना होगा । यह भारतका वह कल्पतरु है, जिसने संकटके समय सदा देशको अमृतफल दिया है । इसी अमृतफलकी पहचान समय-समयपर हमारे साधक और संत भारतीय समाजको अपने सदुपदेशोंद्वारा तथा अपने विशुद्ध आचरणोंद्वारा कराते रहे हैं । हमारी सीमाएँ और संस्कृति जब-जब विदेशियोंसे पदाक्रान्त हुईं, समाजका जब-जब शोषण हुआ, इस अमृतफलसे उसकी पुनः प्रतिष्ठा हुई, इसी अमृतफलका अपनी देववाणियोंद्वारा सिंचन कर हमारे संतोंने उसे पुनर्जीवित किया । आज भी विज्ञानके निरे रूखे साम्राज्यमें अधिकारोंके अन्धकारमें अध्यात्मका यही एक आधार हमें दिखायी देता है, जिसपर विश्वका जन-मानस आशाभरी

दृष्टिसे देख रहा है । ऐसे अध्यात्मवादी उपदेशक, धर्म-प्रवर्तक, सुधारक, महान् संत और तत्त्ववेत्ता आद्यगुरु शंकराचार्यकी समाधिके भी केदारनाथमें दर्शन कर हमने कुछ पाया था, आज उनकी साधनाभूमि, कर्मभूमि जोशीमठके इस ज्योतिर्मठमें उनकी स्मृतियोंकी, ये जीती-जागती कुछ तस्वीरें देखकर अपनेको कृतकृत्य किया । ज्योतिर्मठकी ज्योतिसे हमारा हृदय ज्योतिर्मय हो उठा । मन-ही-मन इस महान् आत्माको अनन्त प्रणामकर हम द्वारसे बाहर हो गये ।

ज्योतिर्मठमें हमें वहींकी पाठशालामें पढ़नेवाला एक विद्यार्थी मिल गया था, उसीने इन सब स्थानोंका हमें भलीभाँति दर्शन और परिचय कराया । जब हम ज्योतिर्मठसे उतर रहे थे, उस समय इसी विद्यार्थीने ज्योतिर्मठके निकट ही एक और विचित्र वस्तु दिखायी । यह था उस स्थानपर प्रकट होता हुआ केदारनाथका नया लिंग । उस लिंगका आकार-प्रकार केदारनाथके मन्दिरमें प्रतिष्ठित केदारनाथके लिंग-सदृश ही, किंतु काफी छोटा था । विद्यार्थीने कहा कि वह ज्योतिर्मठके विद्यालयमें गत चार वर्षोंसे पढ़ता है और वह देखता आ रहा है कि केदारनाथका यह नया लिंग दिनोंदिन क्रमशः बड़ा होता जा रहा है । विद्यार्थीने हमें बताया कि ज्योतिर्मठसे कुछ मील दूर तपोवन नामक एक स्थान है, जहाँ इस नये केदारनाथके लिंगके सदृश ही बदरीनाथकी भी एक नयी मूर्तिका प्राकट्य हो रहा है । इस मूर्तिके भी कुछ अंश प्रकट हो चुके हैं । जब हलाहल कलियुगमें जय-विजय पहाड़ोंके गिरनेसे बदरीनाथका मार्ग बंद होकर बद्रीनाथका मन्दिर अदृश्य हो जायगा, उस समय केदारनाथके मन्दिरका भी लोप हो जायगा और इस नये केदारनाथके लिंग एवं तपोवनमें बदरीनाथकी जिस मूर्तिका प्राकट्य हो रहा है, उनकी पूजा आरम्भ हो जायगी । भविष्यकी इन सम्भावनाओंको कौन देख आया है और इनके सम्बन्धमें आज तो ऐसे त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनि भी नहीं रहे, जो स्पष्टरूपसे कुछ कह सकें, परंतु यदि ये बातें सत्य सिद्ध हुईं तो आनेवाले वे दिन भारतवर्षके लिये भीषणतम दुर्भाग्यपूर्ण दिन होंगे; क्योंकि आज भी भारतके ये तीर्थस्थल और विशेषकर उत्तराखण्डके ये धाम भारतीय जनताको जो आध्यात्मिक प्रेरणा देते हैं, वह अन्य स्थल नहीं । और इस आध्यात्मिकताके सम्बन्धमें हालमें ही पं० जवाहरलाल नेहरूने कहा है कि 'कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि जिस दिन भारतमें ये बातें न होंगी, उस समयका भारत क्या होगा । यह तो निश्चित है ऐसी स्थितिमें भारत भारत न रहेगा ।' हमारा भी स्पष्ट मत है कि यदि ये बातें विशेषकर आध्यात्मिकता यहाँसे लुप्त हुई तो निर्विवादरूपमें भारत भारत न रह जायगा ।

६१५० फुटकी ऊँचाईपर स्थित जोशीमठ बद्रीनाथ मार्गका एक बड़ा कस्बा है । जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्य और शंकराचार्यकी तपस्या-भूमि होनेके साथ ही इसकी कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं, जिनके कारण यह यात्रियोंके आकर्षणका मुख्य केन्द्र बन गया है । यहाँ डाक-तारघर, चिकित्सालय, डाकबँगला और एक अच्छा बाजार है । इस ओर फलोंके उद्यान होनेसे यहाँ दूकानोंपर प्रचुर मात्रामें सेव-नासपाती, आड़ू आदि सस्ते दामोंमें मिलते हैं । सीमान्त क्षेत्र होनेके कारण यहाँ कुछ सेना भी रहती है । जोशीमठसे तिब्बतको दो रास्ते जाते हैं; एक नीती-डांडी होकर और दूसरा माणा होकर । नीतीके रास्तेमें भविष्यबदरी, तपोवन आदि प्राचीन मन्दिरोंके अवशेष हैं । जोशीमठमें बदरीविशालकी गद्दी है और यही जोशीमठके महत्त्वका सबसे बड़ा कारण है । केदारनाथके ऊखीमठकी भाँति दीपावलीके बाद अक्षयतृतीयातक बदरीनाथके हिममग्न हो जानेके कारण मन्दिरके कर्मचारी यहाँ रहते हैं और भगवान् बदरीविशालका पूजन पट खुलनेतक यहीं होता है । यहाँपर नृसिंहजीका तथा वासुदेवका मन्दिर है । नृसिंहजीके मन्दिरमें राम, लक्ष्मण, बदरीनाथ और चण्डीकी मूर्तियाँ हैं । वासुदेवके मन्दिरमें भगवान् श्रीकृष्णकी श्याममूर्ति और बलदेवकी मूर्ति हैं । ये मूर्तियाँ बहुत प्राचीन हैं । लोगोंका कहना है कि इनकी स्थापना भगवान् शंकराचार्यने की थी, उस मन्दिरमें गणेशजीकी आठ भुजाओंकी विचित्र मूर्ति है । नौ दुर्गाकी नौ मूर्तियाँ हैं । एक स्थानपर शिव-पार्वतीकी मूर्ति है, जिसे लोग ताण्डव-शिवमूर्ति कहते हैं । मन्दिरके बाहर चबूतरेपर पीतलकी गरुड़की मूर्ति है । नृसिंहजीकी मूर्तिके सम्बन्धमें हमें एक विचित्र बात बतायी गयी । कहते हैं नृसिंहजीकी इस मूर्तिकी एक कलाई धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है । लोगोंका मत है, जब कलियुगका मध्य आ जायगा, (क्योंकि अभी तो प्रथम चरण ही है,) तब यह कलाई टूट जायगी और इसके टूटते ही जैसा कि ऊपर कहा गया है विष्णुप्रयागमें जहाँ अलकनन्दा और विष्णुगङ्गाका सङ्गम हुआ है, वहाँ जय-विजय नामक हिमालयके दो शिखर गिरेंगे और बदरीनाथका मार्ग सदाके लिये बंद हो जायगा । भविष्यत् कथन जैसा कि हमने ऊपर माना है, कठिन है, किंतु उसके

साथ ही हम यह भी अवश्य मानते हैं कि हमारे ऋषि-मुनि त्रिकालज्ञ थे और उनकी अनेक भविष्यवाणियाँ सत्य हुई हैं ।

जोशीमठसे बदरीनाथके मार्गमें दो मीलपर अलकनन्दा और विष्णुगङ्गाका संगमस्थल विष्णुप्रयाग है। विष्णुप्रयागके आगे 'घाट' नामक एक चट्टी है। इस चट्टीसे एक मील आगे बदरीनाथके मार्गको छोड़कर अलकनन्दाके एक कच्चे पुलको पारकर एक दूसरा रास्ता गया है। इस रास्तेपर जोशीमठसे लगभग सात मीलपर अलकनन्दाका एक घाट है जिसे 'गोविन्द घाट' कहते हैं। यह घाट गुरु गोविन्दसिंहके नामपर बना है। गोविन्दघाटसे दो रास्ते गये हैं, एक सिक्खोंके तीर्थस्थल हेमकुण्ड लोकपालको, जो गोविन्दघाटसे ग्यारह मीलपर है और जहाँ सिक्खोंका गुरुद्वारा तथा धर्मशाला है, दूसरा रास्ता उस पुष्पोंकी घाटीको, जिसे यहाँके लोग वामनीधार या कुण्डलिया सेम कहते हैं। पुष्पोंकी इस घाटीमें अगणित रंगों, रूपों और गन्धके फूल फूलते हैं। कुछ फूलोंकी गन्ध तो इतनी मादक रहती है कि आदमी बेहोशतक हो जाता है। कहते हैं दुनियाके किसी स्थानमें भी इतने विविध प्रकारके फूल नहीं दिखते। सन् १९३१ ईस्वीमें जब श्री एफ० एस० स्माईथ नामक अंग्रेज अपने एक दलके साथ हिमालयके 'कामेट हिम शृङ्ग' पर चढ़नेके लिये इस ओर आये तो वे फूलोंसे भरी इस घाटीको देखकर आश्चर्यसे स्तम्भित रह गये। लौटते समय वे यहाँके कुछ फूल विलायत ले गये। १९३७ ईस्वीमें श्रीस्माईथ फिरसे यहाँ एडिनबरा बुटेनिकल गार्डनकी ओरसे आये और लगभग तीन महीने यहाँ रहकर यहाँके करीब ढाई सौ प्रकारके फूलोंके बीज विलायत ले गये। इन बीजोंको वहाँ उगाया गया। रंग और रूपमें तो वहाँ उसी प्रकारके फूल निकले, जैसे इस घाटीमें होते हैं, परंतु गन्ध उनकी गायब हो गयी जो शायद यहाँकी जलवायुकी देन थी। परंतु इन फूलोंके रंग-रूपपर ही मुग्ध हो दो वर्ष पश्चात् क्यूबुटेनिकल गार्डन लन्दनकी ओरसे, कुमारी जोन लेग फिर यहाँ इन फूलोंके बीजोंको एकत्रित करनेके लिये आयीं। दैवयोगसे फूलोंको तोड़ते हुए वह एक खड्डेमें गिर पड़ीं और सदाके लिये इस अद्भुत पुष्पशय्यापर सो गयीं। पुष्पोंकी यह घाटी एक स्वप्निल-सा स्थान है, अद्भुत, अद्वितीय सौन्दर्यका आगार, अत्यधिक चित्ताकर्षक। इस स्थलकी अनुपम शोभाकी अन्ताराष्ट्रीय ख्याति हो गयी है। पथ दुर्गम होनेपर भी यहाँ अनेक विदेशी आते हैं। हमने सुना कि पं० जवाहरलाल नेहरू भी शीघ्र ही यहाँ आनेवाले हैं। पण्डितजी अगर यहाँ आये तो उनका प्रकृति-प्रेमी विशेषकर पुष्प-प्रेमी व्यक्तित्व अवश्य प्रफुल्लित होगा। इस स्थलका हाल हमने जोशीमठमें ही सुना। खेद है हम इस पुष्पघाटीके दर्शन न कर सके। प्रधानतया हम तो तीर्थयात्री थे अतः जोशीमठका यथासम्भव निरीक्षण ही हमें अभीष्ट था। जोशीमठमें हमारे ठहरनेकी व्यवस्था बदरीनाथ मन्दिर कमेटीके अतिथि-आलयमें की गयी थी। स्थान काफी अच्छा था। साफ-सुथरा, हवादार आधुनिक साधनोंसे युक्त। अपने मुकामके सामने गोमुखसे प्रपातित दो निर्झरोंमें हमलोगोंने खूब स्नान किये। आज एकादशी थी, अतः दोपहरको फलाहार कर अपना आगेका रास्ता पकड़ा। प्रातःकाल आगे चलनेका कार्यक्रम स्थगित कर देनेसे कलकी लम्बी यात्राकी थकाईका अब पूर्णरूपसे परिमार्जन हो गया था। जोशीमठसे ८ मीलकी यात्रा कर हम अपराह्णमें पाण्डुकेश्वर पहुँचे। पाण्डुकेश्वरमें हमारा रात्रि-मुकाम था। एकादशीकी संध्या और द्वादशीके प्रातःकाल हमने पाण्डुकेश्वरमें योगध्यानी श्रीबदरीनाथजी और श्रीवासुदेवके उन दोनों मन्दिरोंके दर्शन किये, जो एक-दूसरेके संनिकट बने हैं और जो प्राचीन मन्दिर होनेके कारण भारतीय कानूनके अनुसार सरकारद्वारा संरक्षित हैं। कुछ लोगोंका मत है ये पाण्डवोंद्वारा निर्मित हैं। यहीं कुन्तीने पाण्डवोंको जन्म दिया था और महाराज पांण्डुकी मृत्यु भी यहीं हुई। पाण्डुकेश्वरका यह योगध्यानी मन्दिर पंच-बद्रियोंमेंसे एक है। समुद्र-सतहसे छः हजार फुटकी ऊँचाईपर बसा यह स्थान बड़ा रमणीक है। बस्ती भी खासी बड़ी है। डाकघर, डाक-बँगला, धर्मशाला और साधारण अच्छा बाजार है। हमलोग यहाँ भी बदरीनाथ मन्दिर-कमेटीकी धर्मशालामें ठहरे। (क्रमशः)

'धर्मो धारयति प्रजाः'

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'आज लगभग तेंगका पूरा परिवार ही नष्ट हो गया !' बात मनुष्योंमें नहीं, देवताओंमें चल रही थी। 'वह कृष्णवर्णा दीर्घाङ्गी कंकालिनी लताकण्टकभूषणा चामुण्डा किसीपर कृपा करना नहीं जानती। उसने मेरी अनुनयको उपेक्षाके निष्करुण अट्टहासमें उड़ा दिया। आप सब देखते ही हैं कि किस शीघ्रतासे वह प्राणियोंके रक्त-मांस चाटती जा रही है।'

'तुम्हारे यहाँ तो अद्भुत सुइयाँ एवं ओषधियाँ लेकर एक पूरा दल चिकित्सकोंका आ गया है।' दूसरे देवताने अधिक खिन्न स्वरमें कहा—'मेरे क्षेत्रकी ओर तो मानव-शासक भी ध्यान नहीं दे रहा। पूरा जनपद प्रायः खँडहर हो चुका है और दो-चार दिनोंमें रुद्रके गण जब वहाँ अधिकार कर लेंगे, मुझे भटकते घूमना पड़ेगा।'

'उन चिकित्सकोंमेंसे तीनकी बलि विषूचिकाने ले ली। पाँच और शय्यापर पहुँच चुके हैं।' पहिले देवताका स्वर शिथिल बना रहा—'मानवके ये प्रयत्न चामुण्डाकी चरणगति-का अवरोध बन पायेंगे ? वह कहाँ समझता है कि उसकी चेष्टा तभी सफल होती है, जब भगवान् धर्म सानुकूल हों। वे रूठे और रुद्रके गणोंका कोई-न-कोई दल आया।'

'हम सब अब क्या कर सकते हैं !' एक तीसरेका दीर्घ निःश्वासयुक्त स्वर था—'हमारे पूरे प्रदेशपर लगातार चार वर्षसे देवराजका प्रकोप है। मेघ आते हैं और चले जाते हैं। पशु-पक्षी तो पहिले ही नहीं रह गये थे; अब मनुष्य क्षुद्र कीटोंके समान मृत्युके ग्रास बन रहे हैं।'

आपको अद्भुत लग सकता है; किंतु यह सत्य है कि प्रत्येक नगर एवं ग्रामका एक क्षेत्रपाल होता है। प्रत्येक गृहका एक अधिदेवता होता है। नगर, ग्राम, गृह स्वच्छ हों, सम्पन्न हों तो उसे प्रसन्नता होती है। वहाँ दुःख, दरिद्रता, गंदगी हो तो उसको कष्ट होता है। अधिदेवता प्रसन्न हो तो नगर, ग्राम, गृहके निवासी सुखी रहते हैं और वह रुष्ट हो तो निवासियोंको रोग, शोक, चिन्ता सताती है।

उस समय हिमालयके दुर्गम प्रदेशमें चीनके कई प्रान्तोंके क्षेत्रपाल देवताओंका समूह एकत्र हुआ था। वे विपत्तिमें पड़ गये थे। मनुष्य उनकी सत्ता माने या नहीं माने, उनकी सत्ता और कार्यमें कोई बाधा नहीं पड़ती; किंतु जब मनुष्य अधर्मपर उतर आता है—महामारी, अकाल आदि आपत्तियाँ उसे शिकार बना लेती हैं। ऐसी अवस्थामें क्षेत्रपाल भी संकटमें पड़ जाते हैं। गृह रहेगा तो गृहका अधिदेवता रहेगा। गृह खँडहर हो जाय या जनहीन हो जाय तो वहाँ प्रेत निवास कर लेंगे। क्षेत्रपाल निर्वासित हो जायगा। यही अवस्था ग्राम तथा नगरके देवताओंकी भी है। जनहीन नगर तथा ग्राम रुद्रगणोंके स्वत्व हैं।

महामारी, भुखमरीसे चीनके ग्राम-के-ग्राम सूने होते जा रहे थे। अधिकारियोंके बहुत प्रतिबन्ध रखनेपर भी यह समाचार विश्वको मिल ही गया कि अकाल तथा हैजेसे वहाँ अत्यधिक जनहानि हुई है। इतनी बड़ी जनहानि, जो कई करोड़की समझी जा रही है।

क्षेत्रपाल अधिदेवताओंपर भी अकस्मात् इतनी बड़ी विपत्ति एक साथ कभी नहीं आयी थी। वे क्या करें, यह निर्णय करनेके लिये उनका समुदाय एकत्र हुआ था। प्रलयका समय आया नहीं, आकस्मिक खण्ड-प्रलयकी सूचना देकर भगवान् रुद्रने उन्हें धराका त्याग करनेका अभी कोई आदेश नहीं दिया और उनके आवास नष्ट होते जा रहे हैं। उन्हें लगता है कि रुद्रगण शीघ्र ही उन्हें निर्वासित कर देनेवाले हैं।

'महेश्वरकी शरणमें यदि हम लोग चलें !' एकने बड़े संकोचसे बात प्रारम्भ की—'वे आशुतोष परम कृपालु हैं।'

'वे समाधिमें हैं !' तिब्बतीय क्षेत्रके एक क्षेत्रपालने सूचना दी—'ऐसा न भी होता तो वे हमें कदाचित् ही मानवकी सहायता करनेको कहते। मानवने कैलासके आस-पास जो हत्याएँ की हैं, तपस्वियोंका आहार रोककर जो उनका सामूहिक विनाश उसने किया है, उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।'

'किसीका कोई दोष वे सर्वाधार कभी नहीं देखते !'

दूसरेके स्वरमें यह कहते कोई उल्लास नहीं था। 'किंतु जब वे उत्थित ही नहीं, उनके समीप जानेका प्रश्न नहीं उठता और हम सीधे उनके समीप जा भी कैसे सकते हैं। हमें अपनी समस्या नियमानुसार देवराजके समीप उपस्थित करनी चाहिये।'

'और देवराज अत्यन्त रुष्ट हैं इस देशके मानवोंपर इन दिनों!' एक नगरपाल कह रहे थे—'अवर्षण बनकर उनका क्रोध इतने असह्य रूपमें आया है कि मेरे पास अब थोड़े-से गृह रह गये हैं। मेरे नगरकी जन-संख्या सहस्रोंके स्थानमें 'शत'में गणना की जायगी। देवराजके समीप जाकर कोई आश्वासन प्राप्त करनेकी आशा कहाँ है।'

'मानव हमें मानता या न मानता!' एक वृद्ध क्षेत्रपाल बोले—'वह भगवान् धर्मसे तो विमुख न होता। वह अहिंसा, दया, सत्य, क्षमा आदिको अपनाये रखता, हमने कहाँ उसकी उपेक्षापर कभी क्रोध किया है।'

'हम सब धर्मके ही समीप चलें।' प्रस्ताव आया और स्वीकृत हो गया।

× × ×

देवताओंको भी बहुत परिश्रम करना पड़ा धर्मको प्राप्त करनेके लिये। उनका हिमधवल विशाल वृषभ देह सूखकर अत्यन्त कृश हो गया था। चारमेंसे उनके तीन चरण तो पहले ही नष्ट हो गये थे, एक चरण भी इतना दुर्बल हो चुका था कि उसके बलपर वे किसी प्रकार ही कुछ हिल-डुल सकते थे। उनके पूरे शरीरपर घाव थे।

'आप सबका स्वागत!' नेत्रोंमें अश्रु भरकर धर्मने क्षेत्रपालोंको देखते ही कहा—'आपके कष्टका अनुमान मैं अपनी अवस्थासे ही कर सकता हूँ।'

'आपने इस भूमिका लगभग परित्याग ही कर दिया और जब आप प्रजाका धारण नहीं करते ·····!' एक युवक क्षेत्रपाल चपलतापूर्वक बोलने लगे।

'मैं कभी किसीका परित्याग नहीं करता!' धर्मने उन्हें बीचमें ही रोक दिया—'मैं प्रजाका धारण-पोषण ही करना जानता हूँ। इसीसे मेरा नाम सृष्टिकर्ताने धर्म रक्खा है; किंतु मानव स्वयं जब मेरा त्याग कर देता है मोहके वश होकर, मैं कर भी क्या सकता हूँ? कर्म-स्वतन्त्र मानवको विवश करनेका विधान नहीं है और उसने अपने कर्मोंसे मेरी जो अवस्था कर दी है, आप देख रहे हैं।'

'हम सब आपके ही आश्रित हैं!' बड़े संकोचपूर्वक क्षेत्रपालोंमेंसे एक वृद्धने कहा—'यदि आप हमारी ओर नहीं देखेंगे ·····।'

'हम सब श्रीहरिके आश्रित हैं।' धर्मके स्वरमें अतिशय नम्रता थी—'मनुष्य आज आत्महत्या करनेपर उतर आया है। उसने पक्षियोंको समाप्त कर दिया, बिना यह सोचे कि वे कृषि तथा मानव-प्राणोंके शत्रु कीटवर्गपर अंकुश रखते हैं। उसने यन्त्रोंके भरोसे पशुओंको समाप्त कर दिया, बिना यह ध्यान दिये कि भूमिकी उर्वराशक्ति उन पशुओंका ही वरदान है। किंतु मनुष्यको दीखता कहाँ है कि वनराज नहीं रहता तो वन उजड़ने लगते हैं। अब इस पीतवर्णी मानवोंके समूहमें यहाँतक दुर्बुद्धि आ गयी है कि वह वृद्ध, अपंग, रोगी मानवको भी अनावश्यक मानकर दुर्गम स्थलोंमें निर्वासित कर रहा है क्षुधा-कष्टसे मृत्यु प्राप्त करनेके लिये! इस बर्बरतासे पूर्ण वातावरणमें मुझे अपनी प्राण-रक्षाके लिये इस एकान्तका आश्रय लेना पड़ा है।'

'आप यदि प्रजाका त्याग कर देंगे!' बोला नहीं गया क्षेत्रपालसे। 'कितनी भयंकर बात है—धर्म ही यदि प्रजाका त्याग कर दें तो प्रजा रहेगी कैसे। मनुष्यके अन्तःकरणमें यदि किसी प्रकार आपकी तनिक छाया भी प्रवेश करे!'

क्षेत्रपालोंको एकमात्र धर्मका आश्रय है। मनुष्य जडवादी हो सकता है; किंतु देवता तो सत्य देखनेमें समर्थ हैं। वे देख सकते हैं कि मनुष्यकी दया, दान, प्राणि-पोषण आदि उसे स्वयं पुष्ट करते हैं। वह धर्म ही सानुकूल वृष्टि तथा पृथ्वीकी उर्वराशक्ति बनता है और मनुष्यकी स्वार्थपरता, हिंसा, क्रूरता आदि गगन तथा धरा दोनोंके रसको चूस लेते हैं। इनसे तो केवल प्राणहारी, अन्नविनाशी महामारीके रोगाणु तथा टिड्डी-कीट आदि ही अभिवृद्धि पाते हैं।

'मानव विश्वस्रष्टाकी श्रेष्ठतम कृति है। स्वयं नारायणका निवास है उसके अन्तःकरणमें। वह उन्हें कितना भी अस्वीकार करे; किंतु उन जगदात्माकी ज्योति नरमें व्यक्त हुई है।' धर्म बड़े विश्वासपूर्ण स्थिर स्वरमें कह रहे थे—

'स्वभावमें चाहे जितनी विकृति आ गयी हो, मूलतः मानवमें देवत्व है। उसके देवत्वमें विश्वास नहीं खोया जा सकता। अतएव मैं उसका पूर्णतः त्याग कभी नहीं करता। समयकी प्रतीक्षा अवश्य करनी पड़ती है और मैं वही कर रहा हूँ।'

'समयकी प्रतीक्षा !' क्षेत्रपालोंके समुदायने दीर्घ निःश्वास लिया—'यदि भगवती चामुण्डा भी समयकी प्रतीक्षा करतीं। किंतु वे तो आज हमारे आवास उजाड़ती चली जा रही हैं। आज हम निर्वासित होनेके समीप हैं।'

'अनेक बार महाकालीको यह अप्रिय कार्य करना पड़ता है।' धर्मका पूरा शरीर कम्पित हो गया। अधर्मसे कलुषित धराको उनके श्रीचरण स्वच्छ करते हैं। वे महामाया आज मानवके हृदयको मोहाच्छन्न करके अपने महाताण्डवकी उसीके हाथों तैयारी करवा रही हैं। विनाशके जो प्रचण्ड साधन मानवके कर निर्माण कर रहे हैं; किंतु विश्वके पालक प्रसुप्त नहीं हुआ करते। उनकी इच्छाका संकेत हम सुरोंको भी प्राप्त नहीं होता, यह भिन्न बात है। किंतु हम सबके वही परमाश्रय हैं। हमें उनका आह्वान करनेके लिये तो कहीं जाना नहीं है।'

क्षेत्रपालोंका समुदाय भी धर्मके साथ ही उन जगद्ध्याताके ध्यानमें तन्मय हो गया।

× × ×

'धर्म ही प्रजाका धारण करते हैं! धर्म ही प्रजाका धारण करेंगे।' एक अव्यक्त दिव्य वाणी अन्तःकरणमें ही उठी क्षेत्रपालोंके। 'धर्म अविनाशी हैं, शाश्वत हैं। मैं ही स्वयं धर्म हूँ।'

पता नहीं क्षेत्रपालोंने इस रहस्यात्मक परावाणीका क्या अर्थ समझा। उन्हें आश्वासन प्राप्त हुआ या नहीं, कैसे कहा जा सकता है। लेकिन जहाँतक अपनी बुद्धिकी बात है, लगता यह है कि मनुष्यको यदि जीवित रहना है, मानव-सभ्यताको बनाये रखना है तो धर्मका आश्रय लेना होगा, अन्यथा धर्म तो मिटेंगे नहीं, मानवता भले ध्वंसको प्राप्त हो जाय; क्योंकि प्रजा तो धर्मके धारण करनेपर ही रहेगी।

अन्तिम आधार

अन्तिम यह आधार रह गया॥
मुझको तो बस तव चरणोंमें,
केवल अब विश्वास रह गया॥
अन्तिम यह आधार रह गया॥
भटक भटक कर क्लान्त थका मन।
क्षुब्ध अधीर हो गया तन मन॥
मुझको तो बस केवल भगवन्!
तेरा ही अब द्वार रह गया॥
अन्तिम ही आधार रह गया॥
घेरे हैं अज्ञान व्याधियाँ।
जर्जर आशाओंका अन्तर॥
अन्तिम श्वासोंकी बेलामें,
केवल यह उपचार रह गया॥
अन्तिम ही आधार रह गया॥
मेरे पुण्य प्रयास सफल हों।
भक्ति और विश्वास सुदृढ़ हो॥
बस, तेरे मधुमय नामोंमें,
केवल अब अनुराग रह गया॥
अन्तिम ही आधार रह गया॥

—प्रेमलता बाजपेयी

वैज्ञानिक संजीवनी (Vaccine Honey)

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १३३० से आगे]

भेड़-चाल

यह कितने अन्धेरका वैज्ञानिक युग है कि सब हानियाँ और घातक परिणाम देखते हुए तथा अनुभवी डाक्टरोंद्वारा घातक परिणाम घोषित होते हुए भी इस विज्ञानके स्वार्थी संगठित व्यवसायसे प्रभावित सरकार उसी पुराने अन्धविश्वासपर चल रही है । जिस गाय तथा सूअरकी चर्बीसे घृणाके कारण १८५७ का गदर हुआ, उस समयके लोगोंके वंशज अब स्वतन्त्र होकर भी अन्धबुद्धि बने हुए हैं और आजकलके युगमें स्वस्थ दशामें अथवा बीमार पड़नेपर अब हरेक रोगमें, अनेक प्रकारके पशुओंके रस, रक्त, मवाद, मांससे बने हुए टीके, इंजेक्शन रुपये खर्च करके खरीदकर और डाक्टरोंको फीस देकर अपने शरीरमें—खूनमें घोल रहे हैं !

यदि वेक्सिनेशन अच्छी बात हो और उससे लाभ होता तो उसके प्रति जबर्दस्ती कानून बनानेकी आवश्यकता न होती; लोग स्वयं उसके लिये दौड़ते, लोगोंको पकड़-पकड़कर बुलानेके लिये पुलिसकी जरूरत न होती । सद्गुण-प्रचारके लिये विज्ञापनकी क्या आवश्यकता ? अवश्य इसमें स्वार्थ-निहित व्यवसायकी नीति है । यदि कोई डॉक्टर अपने कटु अनुभवसे इसका विरोध करता है तो उसे दबा दिया जाता है, उसकी उन्नतिके रास्ते बंद कर दिये जाते हैं । सरकारको धोखा देकर और जनताको मूर्ख तथा रोगी बनाकर अपना व्यवसाय चलानेका यह डॉक्टरी विज्ञान कितना भयानक घातक है, आगे पढ़ते चलिये । सौ बरस पहले जिन लोगोंने गाय-सूअरकी चर्बी छूनेसे अपने धर्म और संस्कृतिका इतना अपमान समझा कि सरकारसे विद्रोह कर बैठे और अब स्वतन्त्र हो गये, परंतु अब उस चर्बीको छूनेकी बात तो छोड़िये, उससे अधिक घृणित वस्तुएँ, हाथसे छुए बिना, नाकसे सूँघे बिना, मुँहसे स्वाद लिये बिना, उस गोली, टिकिया, केप्सूल, एम्पूलके विषयमें कुछ भी पूछे-जाने बिना, अब अहिंसा और हिंसापसंदी और सभी सम्प्रदायके हिंदू, मुस्लिम, जैन, सिख, पारसी, ईसाई सीधे अपने खूनमें घोल लेते हैं । जो टीके और इंजेक्शन पहले दूर देशसे आते थे, अब वे हमारी चुनी बनायी हुई सरकारद्वारा हमारे ही देशमें खोली गयी वैज्ञानिक प्रयोग (हत्या) शालाओंमें बनने लगे । पुरानी राजनीतिक गुलामीसे छूटकर अब वैज्ञानिक अन्धविश्वासकी गुलामी उन्हींसे ही वसीयतमें खरीद ली । अब तो गायके बदले मरी भेड़के मवादमें ग्लिसरीन घोलकर यह टीका बनने लगा । अण्डे आदि पदार्थोंपर विकसित किये गये, रोगके विषाक्त कीटाणु, क्षयरोगीके बलगम, उपदंश रोगीके इन्द्रियका मवाद, हैजा रोगीके वमन एवं मलके कीटाणु; खरगोश, चूहे, जूँ, खटमल, मक्खीके रस; भेड़, गधा, घोड़ा, बंदरोंके रक्त, मवाद, मूत्र; दुनियाभरके मल-मूत्रादि घृणित गंदगी भरे समुद्र जलके विकसित कीटाणु; मछली, सूअर आदिके रक्त, मांस, मवाद, हड्डी, चर्बीपरसे बनी दवाइयाँ, रंग-बिरंगे रूप और गंध लिये, केप्सूल और एम्पूलमें बंद रासायनिक संजीवनीके रूपमें, हम अपना दुःखदर्द टालने, अपना पाप धोनेके लिये रुपये खर्च करके लेकर, इन वैज्ञानिक वधिकोंका उपकार लेते हैं । पशुओंके खून, मवादसे अपना पाप धोनेका यह प्रयास वैसा ही है, जैसे नालीके पानीसे नालीको साफ करना । अमेरिकाकी एक कम्पनीका सूचीपत्र है जिसमें गाय, बैल, सूअर, मनुष्य और स्त्रियों तथा स्वस्थ भक्ष्य पशुओं (healthy food animals) के रक्त, मांस, ग्रंथि एवं अन्य अङ्गोंसे बननेवाली अनेक दवाओंका वर्णन है । इस विज्ञानके प्रसारके धोखेमें हमारे देशके परोपकारी धर्मान्ध धनिक लाखों-करोड़ों रुपये सहायता एवं दान देकर नये अस्पताल, नयी वैज्ञानिक शोध-शालाएँ खोलते हैं !

मवाद-मधु चेचकके टीकेका प्रचलन हो जानेपर अब मेले-ठेलेके अवसरोंपर 'हैजा-निरोधक' टीका लगाया जाता है तथा क्षयनिरोधके लिये बी० सी० जी० तथा बालपक्षाघातसे बचनेके लिये कई लाख बंदर विदेशोंमें भेजकर 'साल्कटीका' लगानेका प्रचार और धन एकत्र किया जाने लगा है । 'प्रचार' इस युगका सबसे बड़ा अस्त्र है, व्यवसाय फैलानेका साधन है; वैज्ञानिक भाषा उसकी कुंजी है । आज नित्य-नये रोग रहस्यमय लक्षणोंसे जो पैदा हो रहे हैं, उनका कारण—बीज, बचपनमें, जन्मके कुछ समय बाद दिये गये अनेक प्रकारके विषाक्त टीके, इंजेक्शन आदिका प्रभाव क्या न माना

जाय ? धर्म-परम्पराके नामपर इसे 'पूर्वजन्मका पाप' और आधुनिक भाषामें उलटकर इसका अर्थ 'इसी जन्ममें पूर्वका पाप' क्या न माना जाय ? इस जन्मके पहले, पूर्वजन्मका, इस शरीरके पहलेका अस्तित्व कोई नहीं जानता और प्रमाणित नहीं कर सकता, परंतु वैज्ञानिक भाषामें इसका अर्थ गर्भावस्थामें किये गये माताको अनेक प्रकारके इंजेक्शन, दवाइयाँ और एक्सरे आदि तथा जन्मान्तरके उपचार क्यों न माने जायँ ? पूर्वजन्म अथवा जन्मके पूर्वका और क्या अर्थ किया जाय और किस आधारपर उसे माना या प्रमाणित किया जाय कि आजकी संतानमें प्रकट होनेवाले इन असाध्य पापोंका निदान और सफल उपचार हो सके, वह गर्भावस्थाका वैज्ञानिक पाप या जन्मके बादका वैज्ञानिक उपचारका परिणाम धोया-मिटाया जा सके ? ये नादान बच्चे अपने माता-पिताके अन्धविश्वास तथा वैज्ञानिक अज्ञानके परिणामस्वरूप ही तो रोगी और आजीवन मृतप्राय अपंग होते हैं । जो शेष लोग भाग्यवश बचकर हिलते-डोलते, चलते-फिरते नजर आते हैं वे भी अधमरे-जैसे, जीवनभर कुछ-न-कुछ दवा खाते, इंजेक्शन लेते कंकालवत् ! इस प्रकार जीते हुए, विषाक्त दवाओंकी प्रतिक्रियासे उनमें रक्तसंकर-संस्कारसे बुद्धि इतनी नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है कि वे यह नहीं सोच पाते कि हम रुपये खर्च करके दवा या इंजेक्शनके नाम-रूपसे कौन-सी वस्तु खा-पी अथवा अपने खूनमें घोल रहे हैं और यह सब लाभके लिये करते हुए हमारा रोग दबता हुआ, कालान्तरसे नित नया क्यों होता जा रहा है ? इंजेक्शनसे मवादके कीटाणु शरीरमें मरकर सड़कर कालान्तरसे अधिक कीटाणु क्या नहीं पैदा होते, और उनसे रोग नया नहीं बनता ? शरीरमें मवाद-पीब बोनेसे शहद नहीं पैदा होगा, मवादसे मवाद ही बढ़ेगा । जैसा बीज वैसा फल ! मवाद बोकर स्वस्थ रक्तकी आशा करना, यह कैसी वैज्ञानिक (बिन ज्ञानकी) उल्टी खेती है ! दवा एक आवश्यक भोजनकी तरह व्यसन बनकर समायी हुई है और हमारे देशके शासन-सूत्रधारोंने स्वास्थ्य-रक्षा-विभागके नामसे रोगप्रसारक विभाग खोल रक्खा है और रोग कायम रखकर डॉक्टर, अस्पताल खोले जा रहे हैं, दवाके अन्धविश्वासी स्वार्थी व्यवसायसे अपना पेट और परिवार पालनेके लिये । विदेशी सरकारकी गुलामीसे छूटकर अब अपनी ही बनायी हुई इस दवाकी दासतामें भारतकी जनता कितनी धँसी हुई है कि गंदी नालीमें कीटाणुवत् उसीमें जीवन-मरण और स्वर्ग दिखता है । यदि हममें इतना भी विवेक नहीं रहा तो जिन विदेशी वैज्ञानिकोंने हमारे देशमें दवाओं और इंजेक्शनोंका स्वार्थी प्रचार किया, उनकी उदारता और ईमानदारी इस 'विनय-पत्रिका' में देखकर जाग्रत् होना और प्रेरणा लेनी चाहिये ।

धन्यवाद !

अभी जून १९५९ का इंग्लैंडका समाचार है कि बाल-पक्षाघातनिरोधक 'साल्क टीका' का प्रचार और प्रयोग रोकनेके लिये १५ से २५ वर्षतक उम्रवाले युवकोंने 'टीका-केन्द्रों' पर 'धरना' दिया, वहाँपर 'क्यू' में टीका लगवानेके लिये खड़े लोगोंको टीका-विरोधी, वैज्ञानिक तथ्यपूर्ण मुद्रित साहित्य वितरित किया और टीका बनानेमें पशुओंकी निर्दय हत्या तथा टीके लगनेपर हुई हानियोंके आँकड़े बताकर, इसका भंडाफोड़ किया । उन्होंने एक परचेमें जो ये सब बातें लिखी थीं, उसमें एक वाक्य था । 'अपना रोग मिटाने, पाप धोनेके लिये भोले और निरपराध पशुओं—बंदरोंकी कठोर वैज्ञानिक यातनापूर्वक हत्या करना महान् कायरता है । पोलियो-निरोधक टीकेसे सरकारी अधिकारियोंद्वारा प्रचारित लाभ बिल्कुल झूठा है ।'

अखबारोंमें समाचार छपा था । 'नवयुवकोंको पोलियो टीका मुफ्त लगानेकी व्यवस्था की गयी, परंतु स्वास्थ्य-अधिकारी अपने प्रयत्नोंमें निराश रहे, युवकोंने टीकेका विरोध किया । युवकोंने आपसमें प्रचार किया था । टीके अथवा पोलियो दोनोंके प्रति बेपरवाह बनो, चिन्ता मत करो 'Dont Care' attitude रक्खो ।

सरकारी संवाददाताओंने यह बनावटी खबर छपायी थी, वास्तविक बात उन्होंने नहीं बतायी कि युवकोंने टीका बनानेमें पशुओंकी निर्दय हत्या और हानियाँ बताकर लोगोंका मन फेर दिया था । जब कि विदेशोंमें अब पाखण्डी वैज्ञानिकोंके विरुद्ध 'धरना' दिया जा रहा और प्रचार किया जा रहा है, इसके प्रेरक महात्मा गाँधीकी हत्याके बाद यह आन्दोलन भारतमें मर गया जान पड़ता है जब कि यहाँ इसकी सक्रिय आवश्यकता है ।

भारतके जाग्रत् सुधारक, त्यागी नेता, प्रधान मन्त्री श्रीनेहरुजीने एक बैठकमें १९५९ के आरम्भमें कहा था । 'स्वार्थनिहित उद्योगको मिटा देना चाहिये, इसे मिटना ही चाहिये' 'All vested interest must go. Go it must.' ऐसे दृढ़ निश्चयपर श्रीनेहरुजीको इस दवा-उद्योगमें निहित स्वार्थका दर्शन हो जाय और इस स्वार्थी मकड़जाल-

को सचमुच वे उखाड़ फेंकनेमें किंचित् कदम उठावें तो रोगी-दुखी जनताका रोग-दुःख अपने-आप टल जाय और देशका अथाह धन वैज्ञानिक विषोंकी घृणित नालीमें बहनेसे बच जाय तथा वह रोगनिरोधके बदले अनेक कल्याणकारी साधनोंमें लग सके । देशको रोगनिरोध और विषाक्त दवाओंकी अपेक्षा शुद्धता और पोषकतत्त्वों तथा स्वास्थ्यकी शिक्षाके साथ स्वतन्त्र साधनोंकी जरूरत है, न कि उनके रक्तमें घृणित विष-संचारकी । जनतन्त्र भारतके संविधानमें सबको सब कुछ लिखने-पढ़ने, बोलने और पेट भरनेके धंधे करनेकी स्वतन्त्रता तो मिली; किंतु सरकारने स्वास्थ्य-रक्षाके लिये जनताकी चोटी जबतक कानूनसे वैज्ञानिक फंदेमें पकड़ रक्खी है तबतक यह स्वतन्त्रताका संविधान अधूरा ही है । इसमें सुधारकी आवश्यकता है कि सबको आत्मनिर्भर रहकर अपने इच्छानुसार स्वास्थ्य-साधन और रोगनाशके उपाय करनेकी स्वतन्त्रता रहेगी और इस विषयमें दवाओंके निर्माण, दूकानदारी और प्रचार बिल्कुल बंद कर दिये जायँ, कोई इसके लिये व्यवसाय न कर सके । तभी श्रीनेहरूजीके उक्त कथनमें सत्यता सार्थक होगी; क्योंकि यह दुनियाका सबसे जबर्दस्त व्यवसाय है ।

अपना दिमाग धोइये !

जो हिंदू गायको अवध्य और पूज्य माता मानते और मुसल्मान सूअरसे घृणा करते हैं वे, तथा अन्य हिंसक-अहिंसक धर्मी समाजके लोग, जो एक दूसरेसे रोटी-बेटीका व्यवहार नहीं करते, वे अब सब पशुओंके रक्त-जल, सड़े रक्त-मवाद और अङ्गोंसे बने इंजेक्शन, रोगनिवारण एवं निरोधके लिये, विज्ञानके नामपर अपने खूनमें घोल लेते हैं । वे अपने सम्प्रदायमें पूजा-पाठ, विवाहादि उत्सवोंमें एक दूसरेके हाथका भोजन-पानी नहीं ग्रहण करते, अपनी पवित्रताके लिये स्वयंपाकी बननेकी खटपट करते हैं, एक-दूसरेको छूतेतक नहीं, वे इंजेक्शन लेते समय नहीं पूछते कि इसमें कौन-सा पदार्थ है, कहाँ किसने किस चीजके नुस्खेसे बनाया है ? अपना खून गंदा करके वे पूजा-पाठके लिये मनको किसी मन्त्र अथवा गङ्गाजल चन्दनसे धोकर साफ कर सकते हैं ? हिंदू कौन ? केवल सिन्धुपार, हिंदुस्थानमें रहनेवाले मात्र नहीं । 'हिंसाद् दूरयति दूरायते यः स हिंदू ।' कोई भी, जो हिंसासे दूर रहे, दूसरोंको दूर करे और करावे वह हिंदू । मुसल्मान है मुसल्लिम (पक्का) है ईमान जिसका । सो अब कहाँ रहे हिंदू, कहाँ हैं मुसल्मान, जैन, पारसी, ईसाई आदि ! सभी तो असंयमी होकर जानवरोंके रक्त-मवादमें घुल-मिल गये । और आगे क्या बन जायँगे, सो पीछे लिखी बातें पढ़कर कुछ हिसाब लगा लीजिये । देशका धन सरकारी बजटमें स्वास्थ्य-रक्षा और युद्ध-सामग्रीके लिये प्रतिवर्ष जो बढ़ाकर खर्च किया जाता है उस सबका परिणाम क्या होता है ? रोग बढ़ाते हैं अस्पताल चलानेके लिये ।

अप्रैल सन् १९५९ में प्रकाशित 'स्वास्थ्यकी मृगतृष्णा' (Mirage of health) पुस्तकमें, इस 'एंटिबायोटिक' औषधि-युगके विश्वविख्यात अधिकारी वैज्ञानिक, रॉकफेलर इन्स्टीट्यूट फॉर मेडिकल रिसर्चके डॉ० रेनी जूल्स डुबोसने लिखा है, 'हरेक बीमारीका कारण, कोई संस्पर्शज कीटाणुका पता लगनेपर चमत्कारिक नयी ओषधि खोजी बनायी जाती है, इसके समाचारको दुनियामें फैलते देर नहीं लगती । लोग समझते हैं कि अब रोग और अकाल मौतसे शीघ्र मुक्त करानेका कीमिया मिल गया, अब हम स्वर्गमें रहेंगे । परंतु बीमारी तो मानवके वातावरण और रहन-सहनमें संयमके अनुपातसे बदलती रहती हैं, किंतु वे नष्ट नहीं होतीं ।'

"......Disease is an aspect of man's adaptation to his environment, and as his environment changes so do his diseases, but they do not disappear."
—Dr. Rene Jules Dubos, Microbiologist, Rockfeller Institute for Medical Research.

इसके साथ यह भी सत्य है कि Scientists change the environment with inventions. वैज्ञानिक लोग अपने आविष्कारोंसे वातावरणको बदल देते हैं, अर्थात् ये ही रोग पैदा करते हैं ।

इस महावैज्ञानिककी बातोंमें कितनी रहस्यमय गुप्त निराशा एवं सत्य संकेत है । परमात्माके समान सर्वव्यापक परमाणु कीटाणु भी अजर-अमर हैं, इन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता । वैज्ञानिक सदा नयी-नयी दवा बनाते रहेंगे । दवाइयाँ खाते-पीते रहो, एक रोग दबकर दूसरेमें बदलकर विषम लक्षणोंसहित बनता रहेगा, मानव हमेशा बीमार रहेगा और ओषधि-शोध-निर्माणका गोरखधंधा भी कीटाणुओंके साथ लहलहाता अमर रहेगा, फूलता-फलता रहेगा । 'बीमारी मानवके वातावरण और रहन-सहनमें संयमके अनुपातसे बदलती रहती है, परंतु वे नष्ट नहीं होतीं ।' इस कथनमें कितना रहस्य भरा हुआ है कि वैज्ञानिक लोग अपने

आविष्कारोंसे, स्वास्थ्यकी मृगतृष्णामें, वातावरणको खराब करते हैं, उसे सुधारनेका प्रयत्न नहीं करते, रोगियोंको संयम नहीं कराते-सिखाते, परंतु दवाइयाँ बदल-बदलकर बनाने, बेचने और प्रयोगका धंधा करते हैं; क्योंकि इसमें उनकी मक्खन-रोटीका सवाल हल होता है, वे दूसरा परिश्रम और ईमानदारीका धंधा नहीं जानते। ऐसे वैज्ञानिकोंकी दवाओं और बातोंको कबतक कितना मानें और धारण करें। इस डॉक्टरी विज्ञान और इनकी करामातोंमें रोग-निरोधक, रोगनाशक, स्वास्थ्यरक्षक कितना सामर्थ्य है, आजतक इस विद्याका कोई भी आचार्य सिद्ध नहीं कर सका। वे अपने विचारोंके अनुसार पशुओं और मानवोंपर स्वार्थहित प्रयोग करते हुए अपनी अंधबुद्धिका परिचय देते हैं और सूक्ष्मयन्त्रोंसे गोरखधंधा दिखाते हुए अन्धविश्वासी जनता और सरकारको निमित्त बनाकर नये शोधोंके लिये धन संग्रह कर इज्जतके साथ मौज मारते हैं।

आओ सामने

अबसे सौ वर्ष पहले, सितम्बर सन् १८६० में, अमेरिकाकी राजधानी वाशिंगटनमें, एलोपैथी चिकित्सा-विज्ञानके आचार्य डॉ० रसेल थेकर ट्राल, एम्० डी० ने अपने दीर्घकालीन अनुभव और शोधके बलपर, वहाँ बृहत् सभामें उपस्थित डॉक्टरों तथा दुनियाके सब डॉक्टरोंको चुनौती दी थी कि जिसे वे वैज्ञानिक और ठीक चिकित्सा-पद्धति कहकर रोगियोंके उपचारमें व्यवहार और प्रचार करते हैं उसे सिद्ध करके बतावें कि उनके विज्ञानकी करामातमें कितना दम है। दस वर्षतक यह चेलेंज कायम रहा और अबतक कायम है, परंतु इस खोखले विज्ञानके ढोलको स्वार्थवश ये लोग अब भी अन्धविश्वासकी परम्परासे पीट रहे हैं, दुनियाकी सरकारें उनके गीतोंपर लट्टू हो रही हैं और जनता अपनी बनायी हुई सरकारपर भरोसा करके अधिकाधिक रोगी, दुखी, लाचार, नपुंसक, अंधी और अपंग बनती जा रही है।

जबरदस्त संगठन

जनता और सरकारको वैज्ञानिक लोग अपने भ्रामक प्रचारोंसे कैसा धोखा देते हैं, इस विषयमें आपको शंका हो तो देख लीजिये कि घर-घर, शालाओंमें, मेलोंमें और बीमारी फैलनेकी जरा-सी खबरपर नादिरशाही हुक्म और अभियान-द्वारा बच्चों और स्वस्थ लोगोंको क्यों ये टीके, इंजेक्शन लगाते हैं? स्वतन्त्र सरकारमें यह जबरदस्तका ठेंगा जनतापर क्यों? यदि जनताके रोगनाश और स्वास्थ्यकी जिम्मेदारी सरकार और वैज्ञानिकोंपर है तो जनताको मजबूत बनानेके लिये धन, धंधा और दूध-शहद, मक्खन, रोटी क्यों नहीं बाँटते, जिन्हें खाकर परिश्रम कर वे बलिष्ठ बनें? क्या खटमल, मच्छर, मक्खी, भेड़, बंदरोंके विष-मवादका बीजारोपण जनताके रक्तमें भर देनेसे उनमें मक्खन, रोटी, शहद उत्पन्न होगा और वे बलिष्ठ बनेंगे? यदि ऐसा ही है तो खेतों, बाग-बगीचोंमें विष-मवाद पैदा कर खायें-पीयें। स्वास्थ्य-रक्षाके नामपर स्वास्थ्य-मन्त्रालय खोलकर जनताके रक्तको विष-मवादसे गंदा करनेकी अंधाधुंध रोग-विकासकी जबरदस्त योजना क्या इसे न माना जाय! लाभ बतानेके लिये झूठे, सरकारी आँकड़े प्रसिद्ध करके हर साल बजटमें बाढ़ रकमकी माँग की जाती है। वास्तविक सत्य कुछ और ही है, हमारे बाल-बच्चोंमें, रोग-निरोधके नामसे नये रहस्यमय असाध्य रोग पैदा किये जा रहे हैं। खुली आँखों अन्धेर और हानिपर पर्दा डालकर आँखें भी बंद कर दी जाती हैं, विरोध किया जाय तो उसका दमन किया जाता है। दुनियाके इस अन्धवैज्ञानिक युगकी जबरदस्त स्वार्थ-कूटनीति यह है कि तुम्हारे सच्चे पापका भण्डाफोड़ तुम्हारे विरुद्ध कोई करे तो उसका मुँह तोड़ दो।

When the facts are against you, suppress them.

इस अन्धविज्ञानके युगमें प्रचारका बोलबाला है, सफलताका यही मन्त्र और रहस्य है। हिटलर ठीक कहता था—'झूठ बोलो, बार-बार झूठ बोलो, चिल्लाकर झूठ बोलो, झूठ सत्य हो जायगा।'

आधुनिक मेडिकल साइंस हिंसा और रक्तपातसे बनकर पशुओंके खून, मवाद और विषको इलाज मानता है, करता है। अच्छे शिक्षित, प्रतिष्ठित विज्ञानी इस घृणित कर्म और सिद्धान्तको मानते, उसका व्यवहार करते और अन्धज्ञानको विज्ञान कहते हैं। प्रचारका ही यह चमत्कार है कि ऐसी शिक्षासे लोग शिक्षित अन्धज्ञानी बनते हैं। इस अन्धज्ञानका सारी दुनियाके देशोंको मिलाकर जबरदस्त संगठन बना है जो

किसी भी धर्म-सम्प्रदायकी अपेक्षा महान् कट्टर Orthodox है।

आप अखबारों, रेडियो, सिनेमामें चमत्कारिक दवाओंके विज्ञापन देखते-सुनते हैं, सरकारी प्रचार होते हैं। अस्पतालों, औषधालयों, स्टेशनों, पोस्टआफिस, स्कूलों, सरकारी दफ्तरोंमें, मलेरिया, चेचक, हैजा, क्षयनिरोधक बी० सी० जी० टीके लगवानेकी प्रेरणा तथा इन अभियान और योजनाओंके लिये चंदेकी अपील देखते हैं। पर्व-मेलोंमें, तीर्थक्षेत्रोंमें, विशेष ऋतुओंमें पुलिसद्वारा पकड़कर यात्रियोंको, स्कूलोंमें माता-पिताके जाने बिना उनके बच्चोंको, गाँव-गाँव, घर-घर बच्चोंको और सब लोगोंको टीके-इंजेक्शन जबरदस्ती लगाये जाते हैं। क्या जनतन्त्र शासनमें स्वतन्त्रताका यही अर्थ है? यदि टीके-इंजेक्शन और डॉक्टरीपरम्परा तथा खोखलेपनपर टिप्पणी, आलोचना और लेख लिखे जायँ, उनके द्वारा होनेवाली हानियाँ बताकर विरोध किया जाय तो अखबारवालोंको उसे छापनेकी हिम्मत नहीं होती; क्योंकि वे स्वयं इस विषयके ज्ञाता नहीं, विश्वप्रचलित विज्ञानको झूठा माननेकी उन्हें हिम्मत नहीं होती और यदि छापें तो उन्हें देखकर दवाके विज्ञापनवाले उनसे नाराज हो जायँगे, विज्ञापन देना बंद कर देंगे, अखबारकी उतनी आमदनी बंद हो जायगी। रेडियो सरकारका मुँह है, उसपर ऐसी बातें बोलनेको स्वीकार नहीं की जातीं; क्योंकि मेडिकल साइंस गवर्नमेण्टकी पाली हुई बिल्ली है। इस वैज्ञानिक मकड़जालका गाँव-गाँव, जिले-जिले, प्रान्त-प्रान्त, देश और विदेशोंमें सार्वभौम संगठन इतना जबरदस्त है कि दुनियाके ५५ देश इसमें परस्पर बँधे हुए हैं। यह संगठन स्वयं एक नया 'कट्टर धर्म' बन गया है और सब सदस्य देश अन्धोंकी तरह परस्परकी पूँछ पकड़े हुए इसके कट्टर अनुयायी हैं। ये अपना मन्त्रभेद किसी बाहरी व्यक्तिको नहीं देते और अपनी मण्डलीके किसी व्यक्तिके विरुद्ध खुले तरीकेसे कुछ भी विरोधमें नहीं कह सकते। यदि कोई ईमानदार सहृदय डॉक्टर ऐसा करे तो उसे मण्डलीके जात-बाहर कर दिया जाता है, उसकी कोई बात नहीं मानी जाती। इसलिये इन शब्दोंमें रहस्योंका जो भण्डाफोड़ किया गया है, आपने उसे किसी अन्य साहित्य, आलोचना, टिप्पणी, सिनेमा, अखबार या रेडियोपर न देखा होगा, न सुना होगा। ये सब ऐसी सच्ची बातें हैं जिनको दबा रखनेके लिये सरकारों, रेडियो और अखबारोंने एक जबरदस्त संगठन बना रक्खा है।

Vested Interest always involves a strong temptation to conceal the Truth. You would be utterly astonished if you could dig below the surface of falsehood and insincirity with which the world is governed. The truths which all the publishing world seems to have conspired to hide from you in the interest of Vaccine lymph and serum manufacturers, and just one school of murderous medical science, subjecting the lesser animal kingdom and humankind to a ruthless conscienceless established well organized selfish aggrandisement, through shameless abominable cruelty, perpetuating sickness and misery, through inoculations of diseased, foul animal matter, a useless and dangerous medical delusion, a delusion which challenged, notwithstanding the blatant assertions of the pseuds medical scientists possessed by it, safely exposed to the piercing ray of the sham-detecting searchlight of some very honest, clever and well-informed open-opponents in their own malicious circle.

उदाहरणके लिये 'रोगनिरोध' Immunity विषयक किसी बड़े डॉक्टरद्वारा लिखी हुई कोई पुस्तक देखिये। उसमें रोगनिरोधक टीके-इंजेक्शनके 'प्रचार' विषयक एक अध्याय अवश्य होगा। डिप्थीरिया-निरोधक योजनाकी एक पुस्तक 'प्रिंसिप्ल्स् एण्ड प्रेक्टिस ऑफ डिप्थीरिया इम्युनाइजेशन' डॉ० जे० टडरलेविस, एम० डी०, डी० पी-एच०, डिप्टी मेडिकल ऑफिसर ऑफ हेल्थ, क्रायडन, इंग्लैंडकी लिखी हुई, ऑक्सफोर्ड 'यूनिवर्सिटी' प्रेसद्वारा प्रकाशित है, उसमें प्रचार 'प्रोपेगेण्डा' अध्यायमें लिखा है—'इसका प्रचार खुले आम न किया जाय, क्योंकि (हमारे पाखण्डके) जानकार लोग इसका तुरंत विरोध करने खड़े हो जायँगे। इसका प्रचार डॉक्टरोंको घर-घर जाकर माताओं, अनाथालयों, स्कूलोंके मास्टरों तथा बाल-समाजके संयोजकोंसे बातचीत कर सलाहके रूपमें करना चाहिये कि रोगनिरोधक टीके अपने एक

सालतकके बच्चोंतकको भी लगवायें, आजकल सब लोग लगवाते हैं, फिर आप क्यों नहीं !'

सच मत बोलो

रोगनिरोधक टीके, इंजेक्शन या इनाकुलेशनके कुप्रभावसे कोई बच्चा या व्यक्ति बीमार होकर मर जाय, उसके मृत्यु-प्रमाणपत्र, डेथ सार्टिफिकेट और सरकारी रजिस्टरमें, 'टीका-इंजेक्शनसे मृत्यु हुई' न लिखेंगे, डॉक्टर अधिकारी लोग किसी बीमारीसे मौत होना लिख देते हैं जो उस टीके या इंजेक्शन लगानेपर हुई। डॉ० हेनरी मे, एम० आर० सी० एस० का इस विषयमें एक स्पष्ट लेख 'बिरमिंघम मेडिकल रिव्यू' में बहुत पहले छपा था जिसमें उन्होंने अपनी इस डॉक्टरी नीतिको खुले दिलसे लिखा था कि 'डेथ सार्टिफिकेट' देते समय डॉक्टर ऐसी बात न लिखे जिससे मृतकके अभिभावक लोग उससे चिढ़ जायँ, बेचैन हो जायँ, किंतु सच बात लिखते हुए भी पूरा सत्य न लिखकर, मृत्युका कारण किसी बीमारीपर लाद देना। मेरे पास ऐसा एक मामला आया था और वेक्सिनेशनको बदनामीसे बचानेके लिये मैंने बीमारीसे मृत्युका सार्टिफिकेट दिया था।

It is scarcely to be expected that a medical man will give opinions which may tell against or reflect upon himself in anyway, or which are likely to cause annoyance or injury to the survivors. In such cases he will most likely tell the truth, but not the whole truths, and assign some prominent symptom of the disease as the cause of death.

As instances of cases which may tell against the medical man himself, I will mention erysipelas from Vaccination, and puerperal fever. A death from the first cause occurred not long ago in my practice, and although I had not Vaccinated the child, yet in my desire to prevent Vaccination from reproach. I omitted all mention of it from my certificate of death.

मत बताओ किसने मारा ! मरा अपने भाग्यसे।

फिर क्या करें ?

इतना सब पाखण्डपुराण पढ़कर आपको आश्चर्य होगा कि भारतके डॉक्टर उसी अन्धपरम्परापर क्यों चल रहे हैं ! जब उनके गुरु, पश्चिम और संसारके बड़े अनुभवी डॉक्टरोंने प्रमाणित तथ्य इस ओषधि-विज्ञानके विरुद्ध प्रकाशित किये हैं तो दुनियाके शेष लोग उसे क्यों नहीं मानते ?

दुनियामें बहुत-से धर्म, दर्शन, वेदान्त, संत-महात्मा-धर्मावतार हुए हैं, धर्मके रिवाज हैं, नैतिक शिक्षा हैं, सत्य और पवित्रताके ढोल पीटे जाते हैं, पाप और नरकका भय दिखाया जाता है, शासनव्यवस्थासे दण्ड-जुर्माना और जेल भी होता है, फिर भी जीते-जी लोग पेट-परिवार पालनेके लिये अनेक प्रकारके दुष्कर्म, क्रूरकर्म और हत्याएँ करते हैं, वे सब परम्परारूपसे जनता, संगठन, सरकार और कानूनद्वारा सुरक्षित हैं, परंतु लुक-छिपकर अथवा खुले आम होते हुए उस अपराध और पापको करनेमें कितने ही लोग इसे जीवनभर छिपाये रहते हैं, प्रकट नहीं करते, डरते हैं कि उनकी रोजी बंद हो जायगी। परंतु मरते समय ये सब पाप याद आ जाते हैं और इसलिये प्रकट कर देते हैं कि अब तो हम दुनियासे उठ चले, अब पेट-परिवारसे नाता टूट चला, चलो, मनमें चुराकर रक्खे हुए कर्मोंकी गठरी भी खोलकर अपनी नरक-यात्राका बोझा हल्का कर लें। इसके विपरीत, कतिपय ईमानदार लोग भी होते हैं जो अपने मनमें इस खुले अन्धेर पापकी काली गठरीका बोझ लादना बर्दाश्त करनेकी क्षमता नहीं रखते। उनका दिल, उनकी मानवताकी उज्ज्वल शुद्ध भावनाके सामने यह पाप उनके दिलमें गड़े हुए काँटेकी तरह चुभता है, छिपाकर पाले हुए ये साँप-बिच्छू उनके अन्तस्तलमें डंक मारते, विष फैलाते, उन्हें जीनेसे बेचैन किये रहते हैं, उनका कर्म उन्हें धिक्कारता है, इसलिये वे जीते-जी इसे स्वीकार कर लेते हैं। जिन विदेशियोंने इस घृणित पाखण्ड-विज्ञानको भारतमें फैलाया, उन्होंने इसकी गलती शुद्ध हृदयसे मानवताके नाते स्वीकार करके प्रकाशित कर दी। हमारे धर्म, संस्कृति और सभ्यताके ढकोसलेकी अपेक्षा वे हमसे कहीं अधिक सत्यता, ईमानदारी और मानवता रखते हैं, इसका इसमें प्रमाण मिलता है, परंतु पैसेके लिये, उन्हींके भारतीय अन्धानुगामी वैज्ञानिक और सरकार यदि इन बातोंको न मानें, तो जनताको उचित है कि वे सामूहिक व्यापक संगठन करके इसका विरोध करें।

समाज और सरकारमें लुके-छिपे प्रचलित पाखण्ड और अनाचारका तो विरोध किया जाता है, परंतु यह वैज्ञानिक पाखण्ड जो अबतक बिल्कुल छिपा हुआ था, अब प्रकट हो गया है; इसको न मानना ही अच्छा, इसका न होना ही अच्छा, इसका तिरस्कार-बहिष्कार करना ही अच्छा ।

कतिपय स्वार्थी और अज्ञानी लोग इस योजनाको, इतना जान लेनेपर भी, पुष्ट करेंगे, वे कहेंगे कि हमें तो दवाओं, इंजेक्शन और चीर-फाड़से लाभ हुआ है । उनके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संसारमें चौरासी लाख प्रकारके प्राणियोंमें मानवके अतिरिक्त ऐसे भी हैं जो स्वच्छन्द आकाशमें उड़ते, फल खाते हैं और अन्य मल-मांस भी खाते हैं । यही हाल वनके पशुओंका है, नालीके कीटाणुओंका और मानवका भी वही हाल है । अपनी मर्जी और प्रवृत्तिसे कोई कुछ भी कर सकता है, इसमें हरेक प्राणी स्वतन्त्र है, किंतु दूसरोंपर जबरदस्ती अपना अधिकार क्यों करे ? उन्हें अपने रास्तेमें क्यों घसीटे ! मानव स्वयंको सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ और संसारका अध्यक्ष मानता है; परंतु धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता पाकर भी शेष चौरासी लाखके सभी प्राणियोंकी अपेक्षा संयम और जीवन-चर्यामें पतित है, इसीलिये वह पापी और रोगी होता है तथा अपना रोग-पाप धोनेके लिये भी घृणित कर्म करता है । अन्य प्राणी ऐसा नहीं करते, अतएव उनको विज्ञानकी आवश्यकता नहीं । वे हमसे कहीं अधिक स्वच्छ, स्वस्थ और स्वतन्त्र हैं, जब कि मानवने धर्म-ज्ञान-विज्ञान-सभ्यताको विकृत कर अपने लिये और शेष संसारके लिये—अभिशाप, प्रलयंकर अभिशाप बना लिया है । चूहों, कुत्तों, भेड़, बंदरों, गाय, बैल, घोड़ों और सूअरोंका रक्त-मवाद अपने खूनमें घोलने और उनसे दीर्घायुवर्धक संजीवनी प्राप्त करनेके बदले यदि उनकी जीवन-चर्याका अनुकरण करे तो अधिक अच्छा होगा । हिंसाके द्वारा रक्त-मवाद-शोषणकी अपेक्षा परिश्रमकी सात्त्विक चर्याकी कमाईसे अधिक स्वस्थ और दीर्घायु होगा ।

मुर्दाबाद !

अब कहाँ है मानव और कहाँ है मानवता ! सभीके रक्तमें तो रोगी मनुष्यों और पशुओंके जहर-मवाद घुल चुके हैं । विकास-क्रममें देवता और नारायण बननेके बदले अब मनुष्य हैवान, दानव बन गया । और अब मनुष्योंकी गवर्नमेंट भी कहाँ रही ! 'मननात् करोति इति मानुषः ।' विचार-विवेकसे जो आचरण करे वही मनुष्य है । 'पश्यति इति करोति इति पशुः ।' जो देखकर दूसरोंकी नकल करे, अनुसरण करे वह पशु है । टीका, इंजेक्शन और रक्त-मवादसे इलाजकी पद्धतिका सब देशोंमें प्रचार अन्धबुद्धि, अन्धविश्वासके अन्धानुकरणसे ही तो हुआ और हो रहा है । दूसरे लोग जैसा करते हैं वैसा ही हम करें, यदि शिक्षित और वैज्ञानिक लोग ऐसा कहकर अनुकरण करें तो मूर्खों और वैज्ञानिकोंमें भेद क्या रहा ?

बचपन अज्ञानकी अवस्था है, उम्र बढ़नेके साथ अज्ञान घटता और अनुभवसे ज्ञान परिपक्व होता है । बूढ़े लोग जीवनके चढ़ाव-उतारका सब अनुभव लेकर पनपती हुई पीढ़ीके आत्मजोंको रसनेन्द्रियके विषाक्त विषयोंके प्रति चेतावनी देते आये हैं, परंतु बच्चे नहीं मानते और तदनुसार उद्दण्डताका परिणाम बाबा-वाक्यके अनुसार पाते ही हैं और वे पुनः अपने अनुभवसे बाबा-वाक्योंको दुहराकर आत्मज पीढ़ीको चेतावनी देते हैं, परंतु ····'यह तो परम्परा है । यह सब वैज्ञानिकोंका बचपन, अज्ञान, इन्द्रिय-लोलुपता है जो स्वार्थवश इस घृणित मसालेदार पद्धतिके मूर्ख—अन्धानुयायी गुलाम बने हुए हैं । दुनियामें शिक्षा, सभ्यता और वैज्ञानिक विकासके नामपर इस बीसवीं सदीमें मानव अब भी कितनी अन्धबुद्धि, मूर्खता और गुलामीकी परम्परा चला रहा और गर्व कर रहा है, इन सबका चित्रण इन शब्दोंमें है । मानव मानव कब बनेगा, इसकी कल्पना बहुत दूर है । पशु तो पशुको खाते हैं, परंतु मनुष्य पशुओं और मनुष्योंको भी खाता है और जीनेके लिये पशुओं-जैसा भी संयम और ज्ञान नहीं रखता ।

इस चिकित्सा-पद्धतिको बड़े-बड़े अनुभव-वृद्ध डॉक्टरोंने कठोर और बुरे शब्दोंमें धिक्कारा है—महान् डॉक्टर डब्ल्यु० एच० ह्वाइट, एम० आर० सी० एस०, एल० आर० सी० पी० ने लिखा है—डॉक्टर लोग अपने स्वार्थके लिये रोग पैदा करते हैं, और हमारी चिकित्सा-पद्धति बिल्कुल ऊटपटांग है । Disease becomes a Vested interest······doctors produce disease········the whole system and philosophy of our dealing with disease—is mistaken.

बहुत-से डॉक्टरोंने आजीवन अनुभव-प्रयोगसे अपने अन्तस्तलसे स्पष्ट कठोर उद्गार निकाले हैं। यदि ये सब बातें झूठ हैं तो मेडिकल साइंसके नगाड़ची और गवर्नमेंट इसे सिद्ध करें। यदि ये सत्य हैं तो दोनों ही चुप क्यों हैं? इस हानिप्रद हिंसक स्वार्थी व्यवसायको बिल्कुल बंद क्यों नहीं कर देते? तमाखू, शराब, ऊँची जहरीली दवाएँ बिल्कुल बंद न की जाकर डॉक्टरके प्रमाण-पत्रपर क्यों उपलब्ध की जाती हैं? इनका निर्माण एवं आयात पूर्णतया क्यों नहीं बहिष्कृत कर दिया जाता? और यदि ये विष मनुष्यके जीनेके लिये आवश्यक हैं तो इन्हें रोकने अथवा थोड़े लोगोंको उपलब्ध करानेके बदले व्यापकरूपमें ही क्यों प्रचलित नहीं किया जाता? इनसे कोई लाभ है, तो लोग रोगी होते और मर क्यों जाते हैं?

एक डॉक्टरी कहावत इन सबके मूलमें सिद्ध होती है— There is money in their hills. इसका अर्थ आप क्या समझे? उनके पहाड़ोंमें धन है। परंतु इसका तत्त्व क्या है? अन्तिम शब्दमेंसे एच्‌को निकाल दीजिये, अर्थ अब स्पष्ट हो जायगा। There is money in their ills. उनके बीमार रहनेमें ही हमें आमदनी होती है। इस मन्त्रमें आधुनिक चिकित्सा-विज्ञानका निहित स्वार्थ Vested Interest सिद्ध हो गया। और हमारे राष्ट्रविकासक मानव-प्रेमी प्रधान मन्त्रीके शब्दोंमें—

All Vested interest must go. Go it must. के अर्थको यहाँ ठीक प्रयुक्त किया जाय तो All Medical Science must go. Go it must.

मेडिकल साइंसको पूर्णतया बहिष्कृत किया जाय; क्योंकि विनाशक युद्धकी अपेक्षा यह पद्धति शान्तिकालमें भी, स्वस्थ मानवों; उपजती पीढ़ीकी संतान और रोगियों तथा माताओं और देशकी सम्पत्तिका महान् विनाश करती है। इसको मानते और पोषण करते हुए वैज्ञानिक मानव बननेकी अपेक्षा अवैज्ञानिक एवं पशु बनना ही अच्छा; क्योंकि वे विज्ञानके बिना ही संयमी और स्वस्थ रहते हैं, और मानव विज्ञान लेकर भी नहीं, वरं अधिकतर रोगी अपंग और पतित होता जा रहा है। इस विज्ञानके प्रति व्यापक विरोध करना, इसे न मानना, इसका न होना ही अच्छा; और यदि यह है तो इसका बहिष्कार करना ही हितकर है।

क्या भारतकी जनतन्त्री सरकार और स्वतन्त्र जाग्रत् जनतामें इतना कुछ करनेका साहस है? जिस भारतने निःशस्त्र आन्दोलनसे स्वतन्त्रता प्राप्त करके संसारके इतिहासमें अनुपम प्रयोग सिद्ध कर दिया, उसके लिये इस सच्ची आजादीके लिये, विश्वव्यापक इस वैज्ञानिक घातक संगठनसे मोर्चा लेना कोई कठिन बात नहीं है।

(क्रमशः)

गीत

(लेखक—डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

प्रभु-मंदिर यह देह, री!
क्षितिकी क्षमता,
जलकी समता,
पावक-दीपक जाग्रत-ज्योतित निशि-दिन प्रभुका नेह, री!
गगन असीमित,
पवन अलक्षित,
प्रभु-करुणासे पल-पल रक्षित यह पँचमहला गेह, री!
अतिथि पधारो,
भाग्य सँवारो,
क्षण-भर कंचनकी छवि पाए चरण-बिछी यह खेह री,!
प्रभु-मंदिर यह देह-री।

श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर जय नन्दकिशोर !

(विरह-भावना)

लख चौरासीके चक्करमें बनकर विषयोंका चेरा,
जाने कितने युगों-युगोंसे भटक रहा है मन मेरा।
दुखद भ्रान्तियोंमें ही मैंने सुखद शान्तिका पथ हेरा,
चाहा था प्रकाश दिनमणिका, मिला रातका अंधेरा।
बल, पौरुष कुछ काम न देता, करो नाथ ! करुणाकी कोर।
श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर ! जय नन्दकिशोर ! ॥

कबतक मैं निज प्राण-युगलकी पदसेवासे दूर रहूँ ?
कारागृहमें बद्ध-सदृश यों विवश रहूँ मजबूर रहूँ ?
कैसा परदा पड़ा दृगोंपर अन्धकार-सा है छाया ?
श्याम और श्यामाकी सुन्दर कहाँ छिपी वह छबि-छाया ?
प्रिया और प्रियतमके सम्मुख कब बोलूँगी कर युग जोर--
'श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर ! जय नन्दकिशोर !' ॥

माना मैंने हुआ कभी है मुझसे महा-महा अपराध,
निरवधि विरह प्रिया-प्रीतमका जिसका है यह दंड अबाध।
तो भी हे प्राणेश-युगल ! तुम दीनबन्धु अति दयानिधान,
क्षमाशील ! निज ओर देख फिर अपना लो, कर क्षमा-प्रदान।
प्रिय-दर्शनकी मधुर-सुधाको तरस रहे ये नयनचकोर,
श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर ! जय नन्दकिशोर ! ॥

सूनी लगतीं दसों दिशाएँ पलभरको भी चैन नहीं,
चिन्तामें ही दिन बीते, लगते निशि भी हैं नैन नहीं।
व्यथित प्राण हैं छेद रहा यह विरह शोक बन शूल मुझे,
शान्ति तभी, जब मिले श्याम-श्यामा-चरणोंकी धूल मुझे।
कोमल चित्त कृपालु ! कहाँ हो छिपे हुए कर हृदय कठोर,
श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर ! जय नन्दकिशोर ! ॥

वृन्दावनकी नवल नागरी ! नटवर नागर नँद-नन्दन !
प्राणेश्वरि ! प्राणेश ! तुम्हें है सदा हमारा अभिवन्दन।
रासेश्वरि ! रसरंगिणि ! रसमयि ! रसिक-शिरोमणि नव रसराज !
आह्लादिनि ! सच्चिदानन्द ! सुन लो पुकार प्राणोंकी आज।
जयति श्यामघन रसिक चातकी, जय श्यामा मुख चन्द चकोर !
श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर ! जय नन्दकिशोर ! ॥

(शेष फिर)

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

एंटीबायोटिक दवाओंके कारखाने रोगनाशके लिये या विस्तारके लिये ?

जहाँ डाक्टर-वैद्योंका व्यवसाय खूब चलता हो, दवाओंके कारखाने तथा बाजार उत्तरोत्तर प्रगति करते हों, दवा-व्यवसाय बहुत लाभदायक हो, वहाँ निश्चित ही बीमारोंकी तथा बीमारियोंकी संख्या बढ़ी हुई है और लोग संयमी न रहकर दवा-दास हो रहे हैं। हमारे भारतमें इस समय दवा-उद्योग उत्तरोत्तर उन्नत होता चला जा रहा है। आयुर्वेदिक औषध-निर्माणके बड़े-बड़े व्यवसाय चल ही रहे थे, अब करोड़ोंकी पूँजी लगाकर सरकार एंटीबायोटिक औषधोंके निर्माणके बहुत बड़े कारखाने खोलने जा रही है। जिनमें एक तो भारतकी प्रसिद्ध तपोभूमि ऋषिकेशमें खोला जानेवाला है! इनमें करोड़ों रुपयोंकी दवाइयाँ बनेंगी। कारखानोंमें अधिक-से-अधिक औषधियोंका निर्माण (Production) होगा और अधिक-से-अधिक उनकी खपत तथा माँग होगी, तभी ये कारखाने लाभप्रद हो सकते हैं—तभी यह उद्योग (Industry) सफल हो सकता है। इसके लिये रोगी और रोगोंका बढ़ना आवश्यक है। ये कारखाने इसलिये तो बन ही नहीं रहे हैं कि देशमें लोग संयमी हो जायँ, रोगोंकी कमी हो जाय और इन कारखानोंको घाटा लगे। ये तो बनाये ही जाते हैं मुनाफेके लिये। अतएव स्वाभाविक इनका प्रचार-कार्य होगा—जिससे इनकी दवा अधिक-से-अधिक बिके। अतएव स्वाभाविक ही रोग और रोगियोंकी संख्या देशमें बढ़े—यही इच्छा और प्रयत्न इनका होगा, उसका प्रकार कुछ भी हो। इन करोड़ोंके कारखानोंके बदले—जिनके बननेपर करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष दवा खरीदनेमें देशकी जनताको व्यय करने पड़ेंगे; करोड़-दो करोड़ रुपये खर्च करके देशके लोगोंको वे साधन बताये जाते, स्वास्थ्यरक्षाके उन नियमोंका प्रचार किया जाता, स्वास्थ्यकर खान-पानकी वस्तुओंका प्रचार-प्रसार किया जाता, सफाई-संयमकी शिक्षा दी जाती और प्राकृतिक साधनोंकी व्यवस्था की जाती तो रोगोंकी उत्पत्ति ही नहीं हो पाती। पर जैसे फिल्म-व्यवसाय धन कमानेको बना है चाहे उससे देशके चरित्रका कितना भी पतन हो; जैसे शराब और तमाखूसे करोड़ों रुपयेकी सरकारको तथा व्यापारियोंको आमदनी होती है, चाहे उसका देशके स्वास्थ्यपर बुरे-से-बुरा प्रभाव पड़ता हो; वैसे ही इन दवाओंका यह विशाल व्यवसाय है। यह दवा-व्यवसाय उनसे कहीं अधिक भयानक है। उनकी तो बुराई बतायी जाती है, पर इनसे तो लाभ बताया जायगा और नये-नये आकर्षक विज्ञापनोंके द्वारा इन दवाइयोंके गुणोंका प्रचार-प्रसार किया जायगा। देशके बड़े-छोटे अस्पताल, लाखों छोटे-बड़े डाक्टर तथा दवा बेचनेवाले इनके एजेंट होंगे; क्योंकि उनको बहुत बड़ी कमीशन मिलेगी। अपने व्यवसायकी उन्नति तथा अर्थ-प्राप्तिमें वृद्धिके लिये ये सभी चाहेंगे और जी-तोड़ प्रयत्न भी करेंगे, जिससे नये-नये रोग पैदा होते रहें—रोगियोंकी संख्या बढ़ती रहे और नये-नये नामों, नये-नये आकारोंमें आकर्षक शीशियों तथा लेबलोंकी पोशाकसे सज-धजकर दवाइयाँ बाजारमें चलती रहें। फिर, जितनी भी एंटीबायोटिक दवाएँ हैं, सभी प्रायः विष हैं। सभीपर प्रायः विष (Poison) का लेबल लगा रहता है। अतएव वे किसी एक रोगको दबाती हैं तो दूसरेको उसी समय या कालान्तरमें पैदा भी करती हैं। विषका प्रभाव तो होता ही है। अभी उस दिन एक खेतमें कीटाणुनाशक दवा छिड़की गयी थी, उसके कुछ ही घंटों बाद वहाँ काम करनेवाले पचासों व्यक्ति बेहोश हो गये। उनको होशमें लानेके लिये बड़ी चिन्ता और उपाय करने पड़े। इसी प्रकार इन दवाओंका भी विषैला असर शरीरपर होता ही है। यह गहराईसे

सोचनेका विषय है कि ये बड़े-बड़े एंटीबायोटिकके कारखाने देशमें रोगका विनाश करेंगे या विस्तार ? और इनसे यदि रोगविस्तारकी सम्भावना हो तो सरकारको भी इसपर एक बार फिर विचार करना चाहिये। विचारशील पुरुष इस ओर ध्यान दें, इसीलिये ये पंक्तियाँ लिखी गयी हैं।

इसीके साथ-साथ बड़े-बड़े व्यवसायी उद्योगपतियोंसे भी यह प्रार्थना है कि वे पैसेके लोभसे हिंसाभरे तथा अपवित्र पदार्थोंके द्वारा विषैली दवाओंके निर्माणके लिये कारखाने खोलकर और देशभरमें उन दवाओंका प्रचार करके देशका तथा अपना मङ्गल कर रहे हैं या अमङ्गल ? इसपर जरा ध्यान दें। पैसा ही सब कुछ नहीं है। यह बात याद रखनी चाहिये।

कुछ विचारणीय बातें

(लेखक—श्रीरामरुद्रप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, बी० एल्, आई० ए० एस्० 'अवकाशप्राप्त')

हर्षमय आश्चर्य हुआ मुझे जब एक वयोवृद्ध स्टाफ-कार चालकने मोटरकार चलाते समय अपने अनुभवके अनुसार निम्नलिखित बातें बतायीं। मैं यहाँ उसी महाशयके शब्दोंमें उन बातोंको प्रकट करनेका यथासम्भव प्रयास कर रहा हूँ।

'अपने बचपन और जवानीमें हमलोग अपने मुहल्लेके बुजुर्गोंको, चाहे वे किसी जाति या कौम अथवा वर्गके हों, बड़ी इज्जतकी नज़रसे देखते थे। उन लोगोंके सामने कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं करते थे, जो किसी तरह आपत्तिजनक हो। उनके सामने बीड़ी-सिगरेट पीना या कोई भद्दा काम या भद्दी बात करना दिमागमें आ ही नहीं सकता था। उन लोगोंसे हमलोग अच्छी नसीहत या उपदेश प्राप्त करनेकी कोशिश करते थे। वे लोग हमें अपनी संतानके समान मानते थे। आजकल तो ये बातें सपने-जैसी हो गयी हैं।

'हमलोग कोई ऐसा साज या पहनावा (शृंगार या परिधान) धारण नहीं करते थे, जिससे दिखावट या अलबेलापन (छैलापन) जाहिर हो। ऐसा करना हमलोगोंको लज्जाजनक या हास्यप्रद मालूम होता था। हमलोगोंकी जरूरियातें ऐसी थीं कि उसके लिये घरमें या बाहर रुपयेकी कमी नहीं मालूम होती थी। और इसलिये कोई भी अनुचित विचार या अनुचित प्रयासकी नौबत ही नहीं आती थी।'

प्रभुकी कृपामें विश्वास रक्खो

नित्य दयामय मङ्गलमय प्रभुमें रक्खो अविचल विश्वास।
भजो नित्य प्रभुको तज जगके प्राणि-पदार्थोंकी सब आश॥
अष्टग्रही आदिसे डरकर कभी न होओ तनिक निराश।
प्रभु-इच्छासे होने दो अघ-असुरभावका सहज विनाश॥
मनमें सदा रखो आदरसे पावन प्रभु-पद-कमल ललाम।
प्रभुकी परम कृपासे होगा सब मङ्गल यथार्थ अभिराम॥
सबमें सदा देखकर प्रभुको कर्म करो सबके हित-काम।
तुम्हें नित्य अपनाकर सदा सुरक्षित रक्खेंगे श्रीराम॥

मानवरूपमें दानव

(लेखक—वैद्य पं० श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यांपक' रामायणी)

एक बार वसन्त ऋतुके समयमें भगवान् श्रीराम अपने तीनों भ्राताओं और परम-प्रिय पवनकुमार श्रीहनुमान्‌जीको साथ लेकर सुन्दर उपवन देखनेके लिये गये तथा उपयुक्त स्थानपर विराजमान हो गये । इस मनोहर झाँकीका दर्शन करनेके लिये सनकादि मुनिगण आये । अपने इष्टदेव श्रीरामभद्रकी बार-बार स्तुति करके एवं अभीष्ट वरदान प्राप्त करके वे ब्रह्मलोक चले गये ।

अन्तर्यामी प्रभु श्रीरामके प्रश्न करनेपर श्रीभरतजीने कहा—'नाथ ! वेद-पुराणोंमें संतोंकी महिमाका बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है तथा आपने भी श्रीमुखद्वारा उनकी बड़ी प्रशंसा की है । हे कृपासिन्धो ! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ । हे प्रणतपाल ! संत और असंतोंके भेदका पृथक्-पृथक् वर्णन करके मुझे समझाकर बताइये ।

संतोंके लक्षण वर्णन करके प्रभुने आगे कहा—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ । भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ ॥

(७ । ३८ । १)

भैया ! असंतोंका स्वभाव सुनो—उनकी भूलकर भी कभी संगति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे तो मानव-रूपमें छिपे हुए दानव (राक्षस) हैं । यथा—

पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपबाद ।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरें मनुजाद ॥ (उत्तर० ३९)

अर्थात् जो दूसरोंसे द्रोह करते हैं; परायी स्त्री, पराये धन एवं दूसरोंकी निन्दामें रत (लगे हुए) हैं—ऐसे मनुष्य नीच तथा पापी हैं और मनुष्य-देह धारण किये हुए राक्षस (दानव) ही हैं । अब इनके लक्षण विस्तारसे सुनो ।

जो परद्रोही (क्रोधी) हैं, वे यह नहीं समझते कि 'ईश्वर सर्वभूतमय' है । अतः सबसे अकारण वैर-भाव रखते हैं—

बैर अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥

वे दिन-रात इसी चिन्तनमें रहते हैं—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥

(गीता १६ । १४)

'मैंने आज इस शत्रुको तो मार दिया; दूसरे अन्य शत्रुओंको भी मार डालूँगा; क्योंकि मैं ईश्वर (शासन-कर्त्ता) हूँ; ऐश्वर्यभोगी हूँ । मैं ही सब सिद्धियोंसे युक्त सफलजीवन हूँ; बलवान् तथा सुखी हूँ ।'

अतएव ये महादुष्टोंकी श्रेणीमें हैं–'परद्रोह' रत अति दुष्ट ॥ ये कभी निश्शंक तो रह ही नहीं सकते—परद्रोही की होहिं निसंका ॥ सदैव अपने मनमें शङ्कित रहते हैं कि कोई शत्रु हमारे कर्मका बदला न ले ले । इसीसे वे सदा सबपर संदेह करते हुए परपीड़ामें रत रहा करते हैं । पर परपीड़ा सबसे अधिक नीचता है—पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

भगवान्‌ने इनको मानव-जन्म तो इसलिये दिया कि इसके द्वारा दूसरोंका उपकार करके उन्हें सुख पहुँचायें; किंतु ये तो सर्वथा उल्टे आचरणमें लग ग । पर सर्वतश्चक्षु सर्वेश्वरकी दृष्टिसे तो ये बच नहीं सकेंगे । वे तो इनपर अपने दण्डका प्रयोग बलात् करेंगे ही ।—

नर सरीर धरि जे पर पीरा । करहिं ते सहहिं महा भव भीरा ॥
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता । सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता ॥

दूसरे जो 'परदार रत' हैं (कामी हैं) उनको यह ज्ञान नहीं है कि पर-स्त्री मात्र माता—देवी हैं—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।

(मार्कण्डेय-पुराण ८८ । ५)

'मातृवत्परदारेषु', 'जननी सम जानहिं पर नारी' ॥ अथवा जान-बूझकर वे मोहवश दिन-रात इसी कुकर्ममें लगे रहते हैं—

करहिं मोह बस नर अघ नाना । स्वारथ रत पर लोक नसाना ॥
मदन अंध ब्याकुल सब लोका । निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥

जो सदा परायी स्त्रियोंकी ताकमें लगे रहते हैं और कपट करके उन्हें छलने (फँसाने) में बड़े चतुर हैं—

पर तिय लंपट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने ॥

वे शिश्नोदर-परायण हैं । उन्हें यमपुरका भय नहीं है कि हमें इन कुकर्मोंके फलस्वरूप मरनेके उपरान्त यमलोकमें जाकर भयानक दुःख भोगना पड़ेगा ।—सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न ॥

ऐसे मनुष्य तो मृतकवत् हैं । इनके तो लोक-परलोक दोनों बिगड़े हुए हैं । लोकमें तो ये बिना कलङ्क पाये रह नहीं सकते और आगे परलोकमें अधोगतिको प्राप्त होंगे ही ।—
कौल काम बस कृपिन बिमूढा ।···जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥
कामी पुनि कि रहहिं अकलंका ॥ अकलंकता कि कामी लहहीं ॥

संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥
सुभ गति पाव कि परतिय गामी ॥ आदि ।

तीसरे जो 'परधन'में रत हैं (लोभी हैं), वे यह नहीं समझते कि यह सब सम्पत्ति भगवान्‌की है, वे ही इसके एकमात्र स्वामी हैं। वे जितनी सम्पत्तिका हमारे लिये त्याग करते हैं, उतनीसे ही हमें पूर्ण संतोष करना चाहिये। किसीके भी धनको बलात्कारसे हड़पनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। यथा--

संपति सब रघुपति क आही ॥

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
(यजु० ४० । १)

किंतु ऐसे लोग तो सदैव येन-केन प्रकारेण दूसरोंके धन-माल हड़पनेकी ताकमें ही लगे रहते हैं। यथा--

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
(गीता १६ । १३)

मैंने यह (धन) आज प्राप्त कर लिया है, अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा; मेरे पास यह इतना धन (मौजूद) है, फिर भी यह और (अधिक) हो जायगा ।

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लंपट पर धन पर दारा ॥
लोभी लंपट लोलुपचारा । जे ताकहिं पर-धन पर-दारा ॥

ऐसे कुकर्मी लोग यहाँ चाहे रिश्वत देकर छूट जायँ पर विश्वके भंडारी (खजांची) द्वारा तो इनको इस कुकर्मका फल दण्ड मिलेगा ही। वहाँसे बिना दण्ड प्राप्त किये ये नहीं बचेंगे।

खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः।

चौथे जो 'पर-अपवाद'में रत हैं, मोहवश हैं, मदान्ध हैं, ईर्ष्यालु हैं। उनको यह ज्ञान ही नहीं है कि--

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥
(योग० ३ । १३)

यानी जो अपनेसे जाति, विद्या एवं आयुमें बड़े हैं तथा जो ऐश्वर्यशाली हैं, वे सब अपने शुभ-कर्मोंके प्रभावसे इस स्थितिको प्राप्त हैं। किंतु वे मोह, अभिमान तथा ईर्ष्यावश उनमें कहीं-न-कहीं दोष निकाला करते हैं और जनतामें उसका प्रचार किया करते हैं--पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥ सच्चे दोष-कथनको 'निन्दा' और झूठे दोष-कथनको 'अपवाद' कहते हैं। इस प्रकारका कैसा भी हो, दोष-कथन महान् अधर्मका कार्य है--अघ कि पिसुनता सम कछु आना।···पर निंदा सम अघ न गिरीसा॥

ऐसे लोग महापापी हैं। वे सबको झूठ-मूठ दोषी ही सिद्ध करते रहते हैं। अगले जन्ममें तो इनको इस निन्द्य-कर्मके फलस्वरूप विभिन्न दुर्गति मिलेगी ही। यथा--

हर गुरु निंदक दादुर होई । जन्म सहस्र पाव तन सोई ॥
द्विज निंदक बहु जन्म भोग करि । जग जनमइ बायस सरीर धरि ॥
सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी । रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥
होहिं उलूक संत निंदा रत । मोह निसा प्रिय ग्यान भानु गत ॥
सब कर निंदा जे जड़ करहीं । ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥

अस्तु,

उपर्युक्त प्रकारसे पर-द्रोह, पर-दार, पर-धन एवं पर-अपवादमें रत रहनेसे उनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर--ये छः विकार एक साथ ही आ गये। 'रत' शब्दको मध्यमें इसलिये कहा है कि--उपर्युक्त चारों अवगुण किसीमें एक साथ चारों हों अथवा एक-एक, दो-दो, तीन-तीन हों, सभीका समान फल है।

काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ ॥
(सुन्दर०)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(गीता १६ । २१)

इस प्रकारके कुकर्मोंमें लगे हुए मनुष्य धर्मात्मा संत उच्च मानव तो हैं ही नहीं, वे तो मानव भी नहीं हैं। यहाँतक कि वे राक्षससे भी अधम हैं; क्योंकि असली राक्षस तो मनुष्योंको ही खाते हैं--

नर अहार रजनीचर करहीं ॥

--उनके धर्म-धनको नहीं खाते। किंतु ऐसे पामर दुष्ट, पापी तो मनुष्योंके शरीर, स्त्री, धन, धर्म एवं यश--सभीको एक साथ आत्मसात् कर लेते (भक्षण कर जाते) हैं। 'पर-द्रोह' से शरीरका, 'पर-दार-रत' से स्त्रीका, 'पर-धन' से धनका एवं 'पर-अपवाद' से यशका भक्षण करते हैं।

अतः भगवान् श्रीराम कहते हैं कि भैया भरत ! ऐसे दुष्ट मनुष्य जो--

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद ।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद ॥

वे तो नर-शरीर धारण करके ऊपरसे ही मनुष्य-जैसे दीखते हैं, किंतु तत्त्वतः 'मानव-रूपमें दानव' हैं।

सबके कल्याणमें अपना कल्याण

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

जगत्में कहावत प्रसिद्ध है—'कर भला तो हो भला'; पर प्रायः मनुष्य अपनी भलाई ही चाहते हैं। 'दूसरोंके भी आनन्द-मङ्गल हो, दुःख दूर हों, सुख भरपूर हो' ऐसा प्रयत्न करना तो दूरकी बात, ऐसी मङ्गलकामना भी नहीं करते। जिस शुभ कामनाके प्रकट करनेमें न अपना पैसा लगता है न शारीरिक श्रम ही करना पड़ता है—और जिसका फल बहुत ही शुभ है, ऐसा सरल और लाभप्रद काम भी मनुष्य नहीं करता। इससे अधिक दुःखकी बात और हो ही क्या सकती है। न मालूम मनुष्यमें क्यों यह कुटेव पड़ गयी है कि दूसरोंकी बुराई न भी कर सकता हो तो भी इच्छा यही करता है कि उससे अधिक सुखी कोई न हों; क्योंकि दूसरोंको अधिक सुखी देखकर उसके मनमें ईर्ष्या जाग्रत् हो उठती है। भारतीय मनीषियोंने इसीलिये ऐसी चार सुन्दर भावनाओंका निरूपण किया है जिनसे अपना कल्याण तो होता ही है, साथ ही दूसरोंका भी कल्याण-उत्थान होता है।* वे भावनाएँ हैं—(१) मैत्री, (२) कारुण्य, (३) प्रमोद, (४) मध्यस्थ या उपेक्षा-भावना।

जगत्में अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन—सभी तरहके लोग रहते हैं; उन सबके साथ हमारा सम्बन्ध कैसा हो, इसका सुन्दर निरूपण इन भावनाओंमें किया गया है। जो व्यक्ति वय, रुचि, स्थिति, ज्ञान आदिमें समान हो, उसके साथ हमारा मित्रताका सम्बन्ध रहे; क्योंकि 'मित्रता' समान रुचिवालेके साथ ही हो सकती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बालक अपने समान उम्र एवं रुचिवाले बालकके साथ ही मित्रता करता है, उसकी बड़े-बूढ़ोंके साथ मित्रता नहीं हो सकती, उनके प्रति आदर एवं पूज्यभाव भले ही हो। इसलिये हम समान प्रकृति और स्थितिवाले व्यक्तिके साथ मैत्री-सम्बन्ध जोड़ें, सबको अपना हित-चिन्तक मानें, किसीको भी अपना शत्रु न मानें।

मित्ती में सव्व भूएसू, वैरं मज्झं न केणई।

(जैनसूत्र)

अपनेसे उच्च श्रेणीवाले व्यक्तिको देखकर हमारे मनमें प्रमोदभाव जाग्रत् होना चाहिये। अधिक गुणी, धनी, सुखी, ज्ञानीको देखकर हममें ईर्ष्याभाव न जगे, प्रत्युत हम वस्तुतः मुदित हों; तथा वे और भी आगे बढ़ें, फलें-फूलें—ऐसी भावनाएँ हममें जाग्रत् हों।

संसारमें चार तरहके व्यक्ति मिलते हैं—१. अपने समान कोटिके, २. उच्च कोटिके, ३. दुखी और ४. हीन या नीच कोटिके। अपने समान और उच्च कोटिके व्यक्तियोंके साथ हमारा भाव कैसा हो, यह ऊपर बताया जा चुका है। तीसरे प्रकारके—दुखी मनुष्योंके प्रति हमारा करुणाभाव होना चाहिये। किसीके भी दुःखको देखकर हमारे मनमें सहजरूपसे करुणा उत्पन्न हो जाय और उससे प्रेरित होकर उस व्यक्तिके दुःखके निवारणके लिये हम पूर्णतः अग्रसर हों, यह अत्यन्त आवश्यक है।

दुःख अनेक प्रकारके होते हैं। बहुत-से व्यक्ति बाहरसे सुखी दिखायी देते हैं, पर उनका मन दुःखसे व्याप्त होता है। जन्म, मरण, रोग और बुढ़ापेका दुःख तो सभीके पीछे लगा हुआ है। इसलिये समस्त महापुरुषोंने कठिन साधनाद्वारा सुख-शान्तिका मार्ग ढूँढ़ा और अपनी अनुभवसिद्ध वाणी या उपदेशद्वारा संसारी प्राणियोंको सद्धर्मका संदेश दिया, जिससे वे जन्म, जरा, मरणके दुःखको सदाके लिये दूर कर सकें। दान और सेवाधर्मका उपदेश भी इसीलिये दिया गया; क्योंकि उनके द्वारा दुखियोंका दुःख निवारण होता है—उन्हें सुख एवं शान्ति मिलती है। महापुरुषोंका उपदेश भी एक प्रकारका दान ही है, जिसे हम ज्ञान-दान कह सकते हैं। रास्ता भूले हुए व्यक्तिको रास्ता दिखाना—यही सत्-पुरुषोंका काम है। मूढजन, कल्याणका मार्ग क्या है?—समझ नहीं पाते और अकल्याणके मार्गमें प्रवृत्त होते रहते हैं। उन्हें इस प्रकार भटकते देखकर ज्ञानीजनोंके हृदयमें करुणा उत्पन्न होती है और किसी भी तरह उनका उद्धार हो, उनके हृदयकी यह पुकार इस प्रकारके सद्धर्मके प्रचारकी प्रेरणा देती है। इससे जगत्का बड़ा कल्याण हुआ है। यदि वे महापुरुष केवल अपना ही कल्याण करके रह जाते, दूसरोंके कल्याणकी

---

* महर्षि पतञ्जलिने प्रसिद्ध योगदर्शनमें कहा है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(समाधिपाद ३३)

सुखियोंके प्रति मित्रता, दुखियोंके प्रति करुणा (दया), पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता और पापात्माओंके प्रति उपेक्षाकी भावनासे चित्तको प्रसाद (स्वच्छता) प्राप्त होता है।

भावना उनमें नहीं उठती, तो संसारी प्राणियोंका कल्याण होना अत्यन्त कठिन था; क्योंकि सभी व्यक्ति इतना ऊँचा आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकते।

चौथे प्रकारके व्यक्ति वे हैं, जो समझानेपर नहीं समझते। बहुत बार तो हित-शिक्षा देनेवालेकी वे उल्टी निन्दा करते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, उन्हें अनेक प्रकारके कष्ट देनेमें भी नहीं चूकते। ऐसे निम्न स्तरके दुष्ट व्यक्तियोंके प्रति भी सत्पुरुष घृणा नहीं करते, उनका अनिष्ट चिन्तन नहीं करते, उन्हें बुरा नहीं कहते, अपितु उनकी उपेक्षा करते हुए वे सद्भावी मध्यस्थ रहते हैं और इस तरह वे द्वेष या घृणाद्वारा होनेवाले अपने अकल्याणसे बचे रहते हैं। दुष्टजनोंको सुधारनेका वे प्रयत्न नहीं छोड़ते। पर अपने प्रयत्नमें असफल होनेपर भी वे रोष धारण नहीं करते, अपितु 'उन जीवोंकी सद्बुद्धि जाग्रत् हो, आज नहीं तो कल वे सन्मार्गपर आ जायँ' यही भाव रखते हैं। इससे दोनोंका कल्याण सुनिश्चित है।

जैनधर्ममें सर्वोच्च पद तीर्थंकरका है। तीर्थंकरके रूपमें जन्म लेनेसे पहले उन्होंने अपने पहले जन्ममें विश्वके कल्याणकी भावना बहुत उत्कटतासे की थी और इसीके परिणामस्वरूप वे तीर्थंकर होकर सद्धर्मके प्रचारद्वारा अपनी उस भावनाको मूर्तरूप दे पाये हैं। जैन-अध्यात्म-तत्त्ववेत्ता श्रीमद्देवचन्दजीने कहा है—

सबि जीव करूँ शासनरसी, ऐसी भाव दया मन उल्सी।
लहि परिणाम येह वूं भलूं, निपजायां जिन पद निरमलूं॥

जगत्के जीव जिन—वीतराग शासनके रसिक या अनुयायी बनें, समस्त प्राणियोंका कल्याण हो—ऐसी भाव-दयाद्वारा वे 'जिन' अर्थात् तीर्थंकर पदका कर्मबन्ध करते हैं और उसीके फलस्वरूप तीसरे जन्ममें तीर्थंकर हो जाते हैं। इस जन्ममें उनको अपनी भावनाको साकार बनानेका पूर्ण सुयोग मिलता है। अतः सबकी कल्याण-भावनासे स्वयं अपना कल्याण होना सुनिश्चित है, क्योंकि सबमें 'स्वयं' भी तो सम्मिलित है।

बौद्धधर्ममें तो भगवान् बुद्धकी कारुण्य-भावना और समस्त प्राणियोंकी कल्याण-कामना बहुत ही उच्च कोटितक पहुँच गयी है। उनकी उदात्त भावनामें वे अकेले अपना मोक्ष नहीं चाहते, जबतक कि जगत्के जीव दुखी हैं एवं उनका मोक्ष नहीं हो जाता। बौद्धाचार्य शान्तिदेवके 'बौद्धचर्यावतार' में इस उदात्त भावनाका बहुत ही सुन्दर प्रकटन हुआ है। वे अपने आपको तारनेके लिये इतने चिन्तित नहीं, जितना प्राणीमात्रकी दुःखनिवृत्तिके लिये हैं। बोधिचित्तका साधक अपने निर्वाणकी चिन्ता नहीं करता—बल्कि सर्व प्राणियोंका क्लेश दूर करना चाहता है। वह अपने पुण्यका एक ही उपयोग जानता है कि यदि मैंने कुछ भी पुण्य किया हो, शुभ आचार किया हो तो उससे समस्त जगत्के प्राणियोंका दुःख दूर हो—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यात् सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥

इतना ही नहीं, वह परिनिर्वाणाभिमुख बुद्धोंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि वे निर्वाण प्राप्त करनेमें जल्दी न करें, अनन्त कल्पोंतक ठहरें, ताकि संसारमें अँधेरा न हो जाय और जगत्के दुखी प्राणी भटक-भटककर मरने न लगें—

निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः।
कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत्॥

कितनी उत्कृष्ट भावना है! वे कहते हैं—परहितकी बात तो बुद्ध-पूजासे भी बड़ी होती है, फिर समस्त प्राणियोंके सर्वसुखके लिये उद्यमकी तो बात ही क्या—

परहिताशंसनं बुद्धपूजाया विशिष्यते।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमः॥

उनके अन्तःस्थलसे जो ध्वनि निकलती है और रोम-रोमसे उच्चरित होती है, वह यही है कि कोई दुखी न रहे, रोगी न रहे, पापी न रहे, हीन न हो, परिभूत न हो, दुर्मना न हो—

मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः।
मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः॥

बौद्धिचर्यावतारके 'बौद्धि-परिणामना' नामक दसवें परिच्छेदमें विश्वकल्याणकी भावना विशेषरूपसे प्रकटित हुई है। वे नारकियों और पशु-पक्षियोंतककी शुभ कामना करते हुए लिखते हैं—

शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा नारकाणां भयानि च।
दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्तां सर्वदुर्गतिवासिनः॥

नारकीयोंकी दारुण वेदनाएँ शान्त हों, भय दूर हों, दुर्गतियोंमें फँसे सब (प्राणी) दुर्गतियोंसे छूट जायँ।

अन्योन्यभक्षणभयं तिरश्चामपगच्छतु।
भवन्तु सुखिनः प्रेता यथोत्तरकुरौ नराः॥

पशु-पक्षियोंके परस्परके भक्षण कर लेनेका भय दूर हो, प्रेत उत्तरकुरुके मनुष्योंकी भाँति सुखी हों।

सदा अंधे रूप देखें, बहरे सुनें, मायादेवीकी भाँति बिना व्यथाके गर्भवती (स्त्रियाँ) प्रसव करें।

वस्त्र, भोजन, पेय, माला, चन्दन, आभूषण, (तथा) हितकर सब मनोरथोंकी (सबको) सुलभता हो ।

भीत निर्भय हों, शोक-पीड़ित आनन्दलाभी हों, व्याकुल निराकुल एवं धृतिमान् हों, रोगी नीरोग हों, (सभी) सब बन्धनोंसे मुक्त हों, दुर्बल बलवान् हों और मनसे एक दूसरेके प्रेमी हों ।

सब प्रेमियोंके लिये सब दिशाएँ मङ्गलमय हों, (जो) जिस कार्यसे जपते हैं (उनका) वह (कार्य) उपायसे सिद्ध हो, जहाजसे यात्रा करनेवालोंके मनोरथ सिद्ध हों, वे कुशलसे तीर पाकर बन्धुओंके साथ विहार करें ।

कान्तार (मरुस्थल, महारण्य) में फँसे और राह भटके- (लोगों) को काफिलेका साथ मिले और वे चोर-डाकू, व्याघ्र आदिके भयसे रहित हो बिना श्रम जायँ ।

मार्गहीन जंगल आदिके संकटमें सोये हुओं, अनाथों और बाल-वृद्धोंकी देवता रक्षा करें; (सभी) सब अक्षणोंसे विनिर्मुक्त, श्रद्धा, प्रज्ञा और कृपासे युक्त, रूप-शीलसम्पन्न हों, सदा (पूर्व) जन्मोंके स्मरणकारी हों ।

आकाश-व्यापक कोषकी भाँति (सबका) कोष अक्षय हो; (सभी) द्वन्द्वरहित, क्लेशरहित हों; (सबकी) वृत्ति (जीविका) अपने अधीन हो ।

जो प्राणी अल्प ओजस्वी हैं, वे महान् ओजस्वी हों; जो बेचारे कुरूप हैं, वे सुन्दर हों; लोकमें जितनी स्त्रियाँ हैं, वे पुरुष हो जायँ ।

इस मेरे पुण्यसे सब प्राणी सब पापोंसे विरत होकर पुण्य करें ।

वे सब प्राणी बोधि-चित्तसे (कभी) हीन न हों; जो बोधिचर्यामें रमे रहें, उनपर बुद्धोंका अनुग्रह हो, वे मारकर्म (पापकर्म) से दूर हों, उनकी आयु अपार हो, वे नित्य सुखसे जीवित रहें और मृत्युका शब्दतक नष्ट हो जाय । अन्तमें वे यहाँतक लिखते हैं—

यत्किंचिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ॥

जगत्‌का जो कुछ दुःख है, वह सब मैं भोगूँ और बोधिसत्त्वके सब पुण्योंसे जगत् सुखी हो । इससे अधिक उदात्त भावना और हो ही क्या सकती है कि सबके दुःखको तो मैं भोग लूँ और मेरे तथा महान् पुरुषोंके पुण्यके फलसे जगत्‌के सब प्राणियोंको सुख-शान्ति मिले ।

विविध धर्मोंके नित्य पाठ्य स्तोत्रों एवं विधि-विधानोंमें विश्वकी कल्याण-कामना प्रतिदिन करनेका विधान है—

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखिनो भवन्तु लोकाः ॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥
…लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ।

परहित सरिस धरम नहिं भाई ।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

साधु चरित सुभ सरिस कपासू, निरस बिसद गुनमय फल जासू ।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा, बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥
परहित बस जिनके मन माहीं, तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।
सब के प्रिय सब के हितकारी, दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी, दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ।

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि सर्वसहिष्णुः ।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम् ॥

तुझमें, मुझमें और दूसरोंमें सब कुछ सहनेवाला एक ही विष्णु है; फिर भी तू नाहक गुस्सा होता है । तू सबमें आत्माको ही देख और भेद-भावरूपी अज्ञानको छोड़ दे ।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

करोड़ों ग्रन्थोंमें जो कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोकमें कहूँगा—दूसरोंका भला करनेसे पुण्य होता है और बुरा करनेसे पाप ।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

अपने लिये न मैं राज्य चाहता हूँ न स्वर्गकी इच्छा करता हूँ; मोक्ष भी मैं नहीं चाहता । मैं तो यही चाहता हूँ कि दुःखसे तपे हुए प्राणियोंकी पीड़ाका नाश हो ।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

(रन्तिदेव—श्रीमद्भागवत ९ । २१ । १२)

—मैं भगवान्‌से अपने लिये सद्गति नहीं चाहता, न आठ सिद्धियोंसे युक्त सम्पत्ति चाहता हूँ, न मोक्ष या निर्वाणकी मुझे चाह है । मेरी तो यही इच्छा है कि सब देहधारियोंका दुःख सीमित होकर मेरे ही अन्तःकरणमें भर जाय, जिससे वे दुःखसे छूट सकें ।

जब प्रतिदिन ऐसे शुभ विचार किये जाते हैं, तब उसका परिणाम अपने और दूसरोंके लिये कल्याणकारी ही होता है।

विचारों और भावनाओंके अनुरूप ही मनुष्यका जीवन बनता है और वैसी ही प्रवृत्ति होने लगती है। इसलिये ऐसी परहित-कामना या विश्व-कल्याणकी भावनाका जीवनमें बड़ा महत्त्व है। विचारों और भावनाओंका प्रभाव अवश्य ही हमारे आचारपर भी पड़ेगा और आज नहीं तो कल हम तदनुरूप प्रवृत्ति करके स्व-परका हित-सम्पादन करेंगे।

आत्मोन्नतिका अन्य ऐसा सुगम उपाय कोई भी नहीं हो सकता कि हम पवित्र भावनाओंके द्वारा अपने जीवनको महान् बना लें और अपने अन्तस्तल या शुद्ध-हृदयकी पुकारसे विश्वके प्राणियोंको भी यत्किंचित् सुख-शान्ति पहुँचा सकें। इन उदात्त भावनाओंसे दूसरोंका कल्याण चाहे इच्छितरूपमें न हो, पर अपना महान् कल्याण तो सुनिश्चित है और इसमें हमारा कुछ 'जोर भी नहीं लगता, न पैसा खर्च होता है, न शरीरको श्रम ही होता है। ऐसे सुगम साधनको हम सब क्यों न अपनायें ?

जैन-धर्ममें तो करने, कराने और अनुमोदन करने—इन तीनों कर्मोंका फल एक-जैसा ही बतलाया है। 'कृत-कारित-अनुमोदित'—यही पातञ्जलयोगदर्शनमें कहा है। वैसे हृदयगत भावनाओंका फल सबसे अधिक होता ही है। भावनाओंके बिनाकी क्रिया तो शून्य-सी है, इसलिये प्रतिदिन अच्छे और उदात्त भावोंकी वृद्धिमें प्रयत्नशील रहें। सबके कल्याणमें ही अपना कल्याण समझें। संकुचित—सीमित दायरेसे उदार, विशाल एवं महान्की ओर बढ़ें। विश्वके कल्याणमें अपना जीवन लगा दें।

◆

अष्टग्रही

अष्टग्रही योगमें अनिष्टकी सम्भावनासे लोग बहुत डर रहे हैं। यह भूल है। डरने-घबरानेसे कुछ नहीं होता। सम्भव है, जितने अनिष्टकी कल्पना की जाती है, उतना हो ही नहीं; भगवान्की कृपा अनिष्टको इष्टमें बदल दे—यह भी बहुत सम्भव है। फिर, परिणाममें तो मङ्गल ही होगा। भगवान्की कृपा तथा मङ्गलविधानपर विश्वास रखकर प्रसन्न रहना चाहिये। यह आनन्दकी बात है कि देशभरमें जगह-जगह बड़े या छोटे रूपमें भगवदाराधन तथा देवाराधन हो रहा है। यह निश्चय ही मङ्गलमय है। इसका शुभ फल होगा ही। सामूहिक यज्ञादि अनुष्ठान तो होते ही हैं, और भी होने चाहिये। व्यक्तिगतरूपसे भी लोग अपने-अपने इष्टका स्मरण, प्रार्थना आदि करें तो मङ्गल है। दो चीजें बहुत सहज हैं तथा संकट-नाश और शुभकी प्राप्तिमें बड़ी सहायक हैं—

(१) **'नमः शिवाय'** मन्त्रका चलते-फिरते सब समय उच्चारण।

(२) **'हरिः शरणम्'** मन्त्रका चलते-फिरते सब समय उच्चारण।

जो लोग संस्कृत जानते हैं, वे भागवतोक्त 'नारायणकवच' का पाठ अधिकाधिक करें। नारायण-कवच नीचे दिया जाता है।

हो सके तो भगवान् श्रीनारायणका कोई चित्र सामने रखकर उसकी चन्दन, पुष्प, धूपसे पूजा कर दे। तदनन्तर यह विनियोग छोड़ दे।

विनियोगः

ॐ अस्य श्रीनारायणवर्मस्तोत्रमन्त्रस्य विश्वरूप ऋषिस्त्रिष्टुबनुष्टुप्छन्दसी सावतारविग्रहः सायुधः सपार्षदो नारायणो देवता ॐबीजं स्वात्मरक्षापूर्वकं सम्यग्विजयसिद्धये नारायणप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

इसके पश्चात् नीचे लिखे प्रकारसे अङ्गन्यास, करन्यास और विष्णुषडक्षरन्यास करे। फिर पाठ करे।

अङ्गन्यासः

ॐ ॐ नमः—पादयोः।
ॐ नं नमः—जानुनोः।
ॐ मों नमः—ऊर्वोः।
ॐ नां नमः—उदरे।
ॐ रां नमः—हृदि।
ॐ यं नमः—उरसि।
ॐ णां नमः—मुखे।
ॐ यं नमः—शिरसि।

करन्यासः

ॐ ॐ नमः दक्षिणतर्जन्याम्।
ॐ नं नमः दक्षिणमध्यमायाम्।
ॐ मों नमः दक्षिणानामिकायाम्।

ॐ भं नमः दक्षिणकनिष्ठिकायाम् ।
ॐ गं नमः वामकनिष्ठिकायाम् ।
ॐ वं नमः वामानामिकायाम् ।
ॐ तें नमः वाममध्यमायाम् ।
ॐ वां नमः वामतर्जन्याम् ।
ॐ सुं नमः दक्षिणाङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वणि ।
ॐ दें नमः दक्षिणाङ्गुष्ठाधःपर्वणि ।
ॐ वां नमः वामाङ्गुष्ठोर्ध्वपर्वणि ।
ॐ यं नमः वामाङ्गुष्ठाधःपर्वणि ।

विष्णुषडक्षरन्यासः

ॐ ॐ नमः हृदये ।
ॐ विं नमः मूर्धनि ।
ॐ षं नमः भ्रुवोर्मध्ये ।
ॐ णं नमः शिखायाम् ।
ॐ वें नमः नेत्रयोः ।
ॐ नं नमः सर्वसंधिषु ।
ॐ मः अस्त्राय फट् प्राच्याम् ।
ॐ मः ,, ,, आग्नेय्याम् ।
ॐ मः ,, ,, दक्षिणस्याम् ।
ॐ मः ,, ,, नैर्ऋत्ये ।
ॐ मः ,, ,, प्रतीच्याम् ।
ॐ मः ,, ,, वायव्ये ।
ॐ मः ,, ,, उदीच्याम् ।
ॐ मः ,, ,, ऐशान्याम् ।
ॐ मः ,, ,, ऊर्ध्वायाम् ।
ॐ मः ,, ,, अधरायाम् ।

राजोवाच

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान् रिपुसैनिकान् ।
क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥ १ ॥
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् ।
यथाऽऽततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते ।
नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥ ३ ॥

विश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः ।
कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ ४ ॥
नारायणमयं वर्म संनह्येद् भय आगते ।
पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ५ ॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोंकारादीनि विन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ६ ॥
करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षरविद्यया ।
प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ७ ॥
न्यसेद्धृदय ओंकारं विकारमनु मूर्धनि ।
षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया दिशेत् ॥ ८ ॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसंधिषु ।
मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद् बुधः ॥ ९ ॥
सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् ।
ॐ विष्णवे नम इति ॥१०॥
आत्मानं परमं ध्यायेद् ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् ।
विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥११॥

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां
न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचाप-
पाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥१२॥
जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्ति-
र्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्
त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥१३॥
दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः
पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं
दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥१४॥
रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः
स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे
सलक्ष्मणोऽव्याद् भरताग्रजोऽस्मान् ॥१५॥
मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादा-
न्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः
पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥१६॥

सनत्कुमारोऽवतु कामदेवा-
द्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात्
कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥१७॥
धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्याद्
द्वन्द्वाद् भयादृषभो निर्जितात्मा ।
यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद्
बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः ॥१८॥
द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्
बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात् ।
कल्किः कलेः कालमलात्प्रपातु
धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥१९॥
मां केशवो गदया प्रातरव्याद्
गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः ।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्ति-
र्मध्यंदिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥२०॥
देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा
सायं त्रिधामावतु माधवो माम् ।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे
निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः ॥२१॥
श्रीवत्सधामापररात्र ईशः
प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः ।
दामोदरोऽव्यादनुसंध्यं प्रभाते
विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः ॥२२॥
चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि
भ्रमत् समन्ताद् भगवत्प्रयुक्तम् ।
दंदग्धि दंदग्ध्यरिसैन्यमाशु
कक्षं यथा वातसखो हुताशः ॥२३॥
गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥२४॥
त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृ-
पिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो
भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥२५॥
त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्य-
मीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय
द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥२६॥
यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा ॥२७॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् ।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥२८॥
गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः ।
रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥२९॥
सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः ।
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः ॥३०॥
यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत् ।
सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥३१॥
यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् ।
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥३२॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः ।
पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥३३॥
विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्ता-
दन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः ।
प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन
स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥३४॥
मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् ।
विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥३५॥
एतद् धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा ।
पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते ॥३६॥
न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत् ।
राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित् ॥३७॥
इमां विद्यां पुरा कश्चित् कौशिको धारयन् द्विजः ।
योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि ॥३८॥
तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा ।
ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः ॥३९॥
गगनान्न्यपतत् सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः ।
स वालखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः ।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात् ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

य इदं शृणुयात् काले यो धारयति चादृतः ।
तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥४१॥
एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥४२॥

वर्तमान भारत—एक विहंगम दृष्टि

(लेखक—श्रीरवीन्द्रजी)

अभी कुछ समय पहले यूनेस्कोके एक उच्च पदाधिकारी भारत-भ्रमणके लिये आये थे। कई सप्ताह घूमनेके बाद उन्होंने कहा—'मैं असली भारत देखने आया था, बचपनसे ही रहस्यमय भारतके बारेमें कुछ जानना चाहता था, पर अवसर न मिला। अब काफी बड़ी आयुमें यहाँ आ पाया। पर खेद है कि मैं यहाँ आज भारतको नहीं देख पाता। यहाँके लोग अपने अतिथि-सत्कारके लिये प्रसिद्ध हैं। मैं जहाँ गया वहीं मेरा स्वागत हुआ और मेरी यात्राको सफल बनानेके लिये सब कुछ किया गया। पर खेद है कि मैं भारत न देख पाया। मुझे बड़े-बड़े कल-कारखाने दिखाये गये, नदियोंपर बनाये गये बाँध दिखाये गये, कॉलेज दिखाये गये, किंतु याद रखिये इस प्रकारकी चीजोंका महत्त्व चाहे कितना ही अधिक क्यों न हो, इन सब चीजोंको आपने हमसे सीखा है। हमारे दिये हुए हवाईजहाज, हमारी देखादेखी बनाये गये कारखाने क्या हमें कोई नया संदेश दे सकते हैं ? इन चीजोंको देखकर हम यही सोच सकते हैं कि आपके अंदर काम करनेकी शक्ति है और आपने हमारी चीजोंको अच्छी तरह सीखा है पर इन्हें देखना 'भारत' को देखना तो न हुआ। इस प्रकारकी चीजें हमारे यहाँ इससे अधिक बड़ी और इससे कहीं अच्छी मौजूद हैं।

'मैंने सोचा, सरकार अपने पराक्रम दिखाती है। चलो लोगोंके जीवनमें पैठकर भारतकी खोज की जाय। मैं बहुतसे सुशिक्षित और अर्ध-शिक्षित लोगोंसे मिला। वे भी मुझे अपना रेफ्रीजरेटर, अपना रेडियो, अपनी बरतन या कपड़ा धोनेकी मशीनें दिखाते रहे। कुछ मकानोंमें मैंने जबरदस्ती देखना चाहा, पुरानी मूर्तियाँ देखनी चाहीं, घरकी स्त्रियोंके गाने सुनने चाहे। प्रायः बिना अपवादके लोग ये चीजें दिखाते हुए हिचकते थे; कुछ ऐसा भाव प्रदर्शित करते थे मानो वे कोई बुरा काम करते हुए, किसी हीन और लज्जाजनक अवस्थामें पकड़े गये हों। इन सब चीजोंको देखकर मेरे मनपर भारतकी महानताकी छाप नहीं पड़ी। मैं ताजमहल और अजन्ताके-जैसे प्राचीन स्थल देखनेके लिये उत्सुक न था। मैं जीवनके अंदर चलते-फिरते लोगोंके अंदर भारतको देखना चाहता था, पर क्षमा कीजिये मैं असफल रहा।'

इन सज्जनकी बातें सुनकर कुछ बुरा तो लगा, पर इनमें कटु सत्य था। हमारा आजका जीवन बहुत कृत्रिम होता जा रहा है। हम पश्चिमका राज्य हट जानेके बाद पश्चिमकी नकल करनेमें ज्यादा रस लेते हैं। उर्दूके महाकवि इकबालने कहा है।

यूनानो मिस्रो रोमा सब मिट गये जहाँ से।
अब तक मगर है बाकी नामोंनिशाँ हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
बरसों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा॥

यानी यूनान, मिस्र, रोम आदिकी बड़ी-बड़ी संस्कृतियाँ मर चुकी हैं। पर हमारे देशका विनाश नहीं हो पाया। यद्यपि कालने हजारों वर्षतक उसे मिटानेका प्रयास किया है। वे ही कहते हैं—

न सँभलोगे तो मिट जाओगे ऐ हिन्दोस्ताँवालो
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में।

संकटका समय है। इस समय न सँभले तो तुम्हारा नाम-निशानतक मिट जायगा। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी वस्तु है जिसने भारतको भारत बनाया और उसे अमरता प्रदान की। निःसंशय रूपसे यह अमरता भारतके बाह्य आचार-व्यवहार, उसकी ऊपरी टीमटाम अथवा ईंट-पत्थरके मकानोंमें नहीं है। यह भारतके ऐश्वर्य अथवा उसके संन्यासमें भी नहीं है; क्योंकि ये चीजें भी देश और कालके अनुसार बदलती रहती हैं। यह हमारी भौतिक विद्याओं अथवा विधि-निषेधमें भी नहीं है। आखिर वह कौन-सी चीज है जो भारतको भारत बनाती है और उसे एक विशेष स्थान प्रदान करती है ?

इस प्रश्नका उत्तर हमें श्रीअरविन्दके निम्नलिखित वाक्योंमें मिलता है। 'साधारणतः पश्चिमीय मनमें निम्न स्तरसे उच्च स्तरकी ओर तथा बाहरसे अंदरकी ओर जीवन चलानेकी प्रवृत्ति होती है। वह अपनी दृढ़ नींव तो प्राणिक और भौतिक प्रकृतिपर रखता है और उच्चतर शक्तियोंको केवल प्राकृतिक पार्थिव जीवनको सुधारने तथा अंशतः ऊपर उठानेके लिये ही पुकारता है और ग्रहण करता है। वह अन्तर्जीवनको बाह्य-शक्तियोंके द्वारा गठित और परिचालित करता है। उधर भारतका सतत लक्ष्य रहा है उच्चतर आध्यात्मिक सत्यमें जीवनके आधारका अन्वेषण करना और अन्तरात्माको आधार बनाकर वहाँसे बाहरके जीवनको चलाना; मन, प्राण और शरीरकी वर्तमान जीवन-प्रणालीको लाँघकर बाह्यप्रकृतिपर शासन करना तथा उसे आदेश-निर्देश देना। जैसा कि प्राचीन वैदिक ऋषियोंने कहा है "जब वे नीचे स्थित थे तब भी उनका

दिव्य आधार ऊपर था, उसीकी किरणें हमारे अंदर गहरी प्रतिष्ठित हो जायँ। **नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषाम् अस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः।**"

भारतकी प्राचीन संस्कृति हमें जनकके सदृश आदर्श दिखाती है। हम यही देखते हैं कि क्षात्रबल ब्रह्मतेजसे पथ-प्रदर्शन माँगता है, दशरथ-जैसे राजा वसिष्ठकी अनुमतिके बिना कुछ नहीं करते। यूरोपने भौतिक, प्राणिक और मानसिक क्षेत्रोंमें बड़ी प्रगति की है, पर आध्यात्मिक प्रगतिकी ओर उसका ध्यान ही नहीं गया। यदि मानवजातिको विनाशसे बचना है, यदि मनुष्यको फिरसे हजारों वर्ष पीछे नहीं जा गिरना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत अपने अन्तरतममें पैठकर वहाँसे नयी ज्योति, नयी स्फुरणा और नया सामञ्जस्य लाये। अभीतक इस दिशामें जितने भी प्रयास किये गये हैं, चाहे वे कितने भी अपूर्ण, अर्धदग्ध और नगण्य-से क्यों न प्रतीत होते हैं उनका एक मूल्य है। इन प्रयासोंको बढ़ते जाना चाहिये।

और फिर इतना ही पर्याप्त नहीं है कि भूतकालकी प्राप्तियोंके गुण गाते रहें, बुरी होनेपर भी प्राचीन प्रथाओंको चिपकाये रहें और आगे बढ़नेका प्रयास ही न करें। भारतने कभी एक ही चीजको पकड़कर बैठे रहनेको धर्म नहीं माना है। देश और कालके साथ नियम बदलते रहे हैं। प्राचीन भारतकी तो बात ही जाने दीजिये, मध्यकालीन भारतमें भी तो शंकर, रामानुज, माधव, वल्लभ, चैतन्य आदि और आधुनिक कालमें भी अनेकों महात्मा हो गये हैं, जिन्होंने प्राचीन भित्तिको बनाये रखते हुए नये-नये भवनोंका निर्माण किया है। प्रत्येक क्षेत्रमें नया जीवन आना ही चाहिये, इस सुरसरिताको बहते रहना चाहिये।

भारतीयताको यदि अनवरत रूपसे गतिशील रहना है तो उसे ढाँचेके बन्धनोंसे जकड़कर ही नहीं रक्खा जा सकता। बाह्य रूप और बाह्य आकृतियाँ आती हैं और चली जाती हैं, उनका अपना महत्त्व है अवश्य, पर एक सीमातक। इस दैवी संगीतकी लय और उसके तालको सुरक्षित रखना जरूरी है, बाजे भले ही बदलते जायँ। हमें बाहरसे आनेवाले और अन्तरमें निहित सत्यको समूचे रूपमें प्रकट करना होगा और यह तभी हो सकता है जब हम 'योगः कर्मसु कौशलम्' का अर्थ समझ सकें, भागवत शक्तिके सच्चे वाहन बन सकें। कालपुरुष अबाध गतिसे आगे बढ़ता जाता है। उसका दबाव हमेशा ही पड़ता रहता है और हम चाहते हुए भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम आँखें मूँदकर हर नयी चीजको निगलते जायँ। आज हमारे समाजमें यही हो रहा है। कुछने तो 'तातस्य कूपम्' का खारा पानी पीते रहना स्वीकार किया है और कुछ प्रत्येक प्राचीन वस्तुका बहिष्कार करके बिना किसी विवेकके यूरोपसे आयी हुई प्रत्येक वस्तुको अपने अंदर लेते जाते हैं। हममें जो रूढ़िवादी हैं वे भी आज अपनी रूढ़ियोंको यूरोपकी कसौटीपर खरा उतारना अपना धर्म मानते हैं। अपने अन्तरतम स्रोतकी अवहेलना करके बाहरसे आयी हुई चीजोंको निगलते जायँगे तो वे चीजें हमारे अङ्ग बननेकी जगह आतापी-वातापीकी भाँति हमें फाड़कर बाहर निकलेंगी। आजकल हम बहुत-सी ऐसी चीजोंको मिलानेमें लगे हैं जो अपने-आपमें भले ही अच्छी हों, पर उनका आपसमें मेल नहीं बैठता; क्योंकि सामञ्जस्य लानेवाली अध्यात्म-शक्ति ही है और उसके बिना सब कुछ निष्प्रयोजन, निष्फल और निष्प्राण है।

आजकी समस्या बहुत गम्भीर है। मरहम-पट्टीसे काम न चल सकेगा। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है आन्तरिक शक्तिको जगानेकी, उसके नेतृत्वमें सचेतन कर्म करनेकी, नवीन परिस्थितियोंके अनुकूल परिवर्तन लानेकी। भारतपर जब कभी संकट आये हैं तो वह उनका सामना करनेके लिये ऊपर उठ सका है और शायद यही कारण है कि वह विकट-से-विकट परिस्थितियाँ पैदा होनेपर भी सदा विजयी होता आया है।

आज फिरसे ऐसा काल उपस्थित है जब हम चौराहेपर खड़े हैं। हमें यह निश्चय करना है कि हम भारतीय होना चाहते हैं या यूरोपकी एक भद्दी नकल। अपने भविष्यको छोड़नेके लिये हमें केवल संस्कृतियोंके संघर्षकी ओर ही नहीं देखना है। हमें यह भी देखना होगा कि भूतकालमें भारतीय संस्कृतिने क्या-क्या प्राप्त किया था, वह अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियोंकी तुलनामें कैसी थी और क्या भावी जगत्के लिये उसके पास कोई संदेशा है। प्राचीन भारतपर एक विहंगम दृष्टि डालनेसे ही हम देखते हैं कि 'भारतीय सभ्यता एक ऐसी संस्कृतिका बाह्य रूप एवं अभिव्यक्ति रही है जो मानवजातिकी किसी भी ऐतिहासिक सभ्यतासे बराबरी कर सकती है। वह धर्ममें महान् रही है, दर्शनमें महान् रही है, विज्ञानमें

महान् रही है, अनेक प्रकारके चिन्तनमें महान् रही है, समाज और राजनीतिके संगठनमें तथा शिल्प और व्यापार-व्यवस्था आदिमें भी महान् रही है। हम यह नहीं कहते कि उसमें काले धब्बे, स्पष्ट त्रुटियाँ और कमियाँ नहीं रहीं। अभीतक ऐसी सर्वाङ्गपूर्ण सभ्यता स्थापित नहीं हो पायी है जिसमें कोई कलंक न हो, जिसमें बड़े-बड़े छिद्र और अनेक अंधी गलियाँ न हों और इधर-उधर खाइयाँ और खंदकें न हों। किंतु फिर भी हमारी प्राचीन सभ्यता प्राचीन-युग अथवा मध्ययुगके साथ कड़ी-से-कड़ी तुलना करनेपर भी अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाये रहेगी। वह यूनानी सभ्यतासे कहीं अधिक उच्चाकाङ्क्षी, अधिक सूक्ष्म, बहुमुखी अनुसंधानप्रिय और गम्भीर; रोमन सभ्यताकी अपेक्षा अधिक उच्च, भव्य और कोमल; पुरानी मिस्री सभ्यतासे कहीं अधिक उदार और आध्यात्मिक; अन्य किसी भी एशियाई सभ्यतासे अधिक विशाल और मौलिक; अठारहवीं सदीसे पहलेके यूरोपकी सभ्यतासे कहीं अधिक बौद्धिक। इन सब सभ्यताओंमें जो कुछ था, उस सबकी तथा उससे भी अधिककी स्वामिनी यह भारतीय सभ्यता सभी अतीत मानव-संस्कृतियोंसे अधिक शक्तिशाली, आत्मस्थित, प्रेरणादायी तथा महाप्रतापशाली रही है।

हमारा अतीत और वर्तमान उस भविष्यका निर्माण कर रहे हैं जो आजकी अपेक्षा कहीं ज्यादा उज्ज्वल, सचेतन और भागवत होगा। भारतकी प्रकृति, उसका भगवत्-निर्दिष्ट कार्य, उसका कर्तव्य-कर्म, पृथ्वीकी भवितव्यतामें उसका भाग, वह विशिष्ट शक्ति, जिसका वह प्रतिनिधि है—यह सब उसके विगत इतिहासमें लिखा हुआ है और यही उसके वर्तमान कष्टोंका और अग्नि-परीक्षाओंका गुप्त प्रयोजन है। हमें अपनी आत्माके बाह्य रूपोंका पुनः गठन करना होगा, किंतु प्राचीन रूपोंके पीछे विद्यमान आत्माको ही उन्मुक्त करना और उसकी सुरक्षा करते हुए उसे नये और ओजस्वी विचार-प्रतीक, सांस्कृतिक मूल्य, नये उपकरण एवं महत्तर रूप प्रदान करने होंगे। हम जो भी परिवर्तन करें, उन्हें भी भारतकी ही भावना एवं साँचेके अनुरूप ढालना होगा।

* * *

भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप दो

श्रीमद्भागवतमें नारदजीके वचन हैं कि 'जितनेसे अपना पेट भरे, उतनेहीपर मनुष्यका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३। १३)

'यज्ञसे—प्राणीमात्रकी सेवासे बचे हुए अन्नको खानेवाले सज्जन पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं और जो पापात्मा अपने लिये ही कमाते हैं, वे 'पाप' खाते हैं।'

इससे यह सिद्ध है और यही उचित भी है कि हमारे पास जो कुछ है या हम जो कुछ भी कमाते हैं, वह केवल हमारे अपने लिये ही नहीं है, सबके लिये है। उसमेंसे हमारा उतनेपर ही हक है, जितनेसे दूसरोंकी तरह ही हमारा जीवन-निर्वाह हो सके। हम स्वयं बहुत शान-शौकतसे रहें, बहुत कीमती कपड़े पहनें, विशाल तथा सुसज्जित महलोंमें रहें, बढ़िया-बढ़िया मखमली गद्दोंपर सोयें, तेल, साबुन, पाउडर, क्रीममें पैसे लगायें, विलासितामें भी प्रचुर धन व्यय करें, खाने-पीनेमें जीभके स्वादके लिये पचासों प्रकारके पदार्थोंमें धन व्यय करें, खेल-तमाशोंमें, आडम्बरमें एवं अपनी व्यर्थ तथा अनर्थमयी इच्छाओं—वासनाओं और आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अनाप-शनाप पैसे खर्च करें, और उधर हमारे ही-जैसे हाथ-पैर-मन-बुद्धिवाले नर-नारी पेटभर अन्नके बिना तड़पते रहें, लाज ढकने तथा सर्दी-गरमीसे बचनेके लिये कपड़ा न पायें, रहनेके लिये छायाका अभाव अनुभव करें, बिछाने-ओढ़नेके लिये टाट भी न प्राप्त कर सकें, रोगी बच्चोंतकके लिये दवा-पथ्यका प्रबन्ध न कर सकें और निरन्तर अभावकी आगमें जलते रहें। यह सर्वथा पाप है। दुखियोंकी ओर ध्यान न देकर अपनी स्वार्थपरतामें लगे रहनेवाले ऐसे ही लोगोंको भागवतने 'चोर' और गीताने 'पाप खानेवाले' बताया है। वास्तवमें यह आसुरी-राक्षसी सम्पत्तिका एक जीता-जागता स्वरूप है।

अभी देशमें जगह-जगह बाढ़ आयी। लाखों घर बह गये। करोड़ोंकी खेती नष्ट हो गयी। हजारों जानें गयीं। असंख्य पशुधनका विनाश हुआ। बाढ़पीड़ित लाखों हमारे ही-जैसे मन-बुद्धि-शरीरवाले नर-नारियों, वृद्ध-बालकोंको दाने-दानेके लिये तरसना पड़ा! अवश्य ही सरकारने तथा उदार दयालु सज्जनोंने, अनेकों संस्थाओंने उनकी सहायताके लिये तन-मन-धनका सदुपयोग किया तथा कर रहे हैं। तथापि हमारे मनमें जितनी और जैसी समवेदना तथा पीड़ा होनी चाहिये, उतनी और वैसी नहीं हो पायी। हममेंसे कुछने उनपर दया की, दयालुताके अभिमानकी रक्षा और वृद्धि की। पर यह नहीं हुआ कि हमने अपनी विलासिताके व्ययको घटाकर बचाये हुए सब पैसोंको स्वाभाविक ही उनकी सेवामें लगा दिया हो।

मनुष्यका कर्तव्य तो यह है कि एक बाढ़के समय ही क्यों, सदा-सर्वदा ही वह अपने लिये कंजूस और दूसरोंके लिये उदार रहे। स्वयं खूब सादगीसे रहे—उसकी अपनी आवश्यकता कम-से-कम हो और दूसरोंकी आवश्यकताकी वह उदारतापूर्वक पूर्ति करता रहे। असल बात यह है कि हमारे पास जो कुछ भी धन, वैभव, पदार्थ, मन, बुद्धि तथा अन्यान्य साधन-सामग्री है—सब भगवान्की है, हम तो सेवकमात्र हैं। जब जहाँ जिस किसी वस्तुका अभाव होता है, तब वहाँ भगवान् ही हमसे, यदि वह वस्तु हमारे पास है, तो अपनी उस वस्तुको अभावग्रस्तके रूपमें हमसे माँगते हैं। जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ वे अन्न माँगते हैं; जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्र माँगते हैं। हमें उचित है कि ऐसे अवसरपर हम बिना किसी अभिमानके नम्रतापूर्वक भगवान्की वस्तु भगवान्की सेवामें ईमानदारीसे समर्पण करते रहें और इसमें अपना परम सौभाग्य समझें।

अपनी आवश्यकताको बहुत बढ़ाकर तथा झूठी शान दिखानेके लिये बहुत अधिक खर्च करनेवाले लोग यदि विचारपूर्वक अपनी आवश्यकता कम कर लें और सादगी अपना लें तो उस बची हुई रकमसे आसानीके साथ बहुत सेवा हो सकती है। जैसे एक धनी आदमी पाँच सौ रुपयेका कोट पहनता है, वह यदि बीस रुपयेका कोट पहनकर चार सौ अस्सी रुपये बचा ले और उनसे दस-दस रुपयेके अड़तालीस कोट अड़तालीस व्यक्तियोंको दे दे तो एकके बदले उनचासका तन ढक सकता है। इसी प्रकार पाँच सौ रुपयेकी साड़ी पहननेवाली अमीर बहिन स्वयं बीस रुपयेकी साड़ी पहन लें और शेष चार सौ अस्सी रुपयोंसे पाँच-पाँच रुपयेकी छियानबे साड़ी छियानबे गरीब बहनोंको दे दे तो एकके बदले सत्तानबेको साड़ी मिल जाती है। इसी प्रकार अनावश्यक मिथ्या आवश्यकता और झूठी शानके बहुत-से खर्च घटाये जा सकते हैं और उन पैसोंसे दूसरोंकी आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इससे अपनी विलासिताकी फिजूलखर्चीकी तथा शानसे रहनेकी बुरी आदत छूटेगी, जीवन सुखी रहेगा और अनायास ही भगवान्की सेवा बनेगी। ऊँचा स्तर अधिक खर्च लगाकर शानसे रहनेमें नहीं है, ऊँचा स्तर है—हृदयकी विशालतामें। जो हृदय सबकी सेवाके लिये—सबके सुख-हितके लिये सदा ललचाता रहता है और अपना सब कुछ देकर प्रसन्नताका अनुभव करता है, वही हृदय विशाल है और यही जीवनका उच्च स्तर है।

याद रखना चाहिये—संसारके ये धनादि साधन रहेंगे नहीं, ये तो छूटेंगे ही। अतएव इनको अभावग्रस्त भाई-बहिनोंकी सेवाके द्वारा भगवान्की सेवामें लगाकर सार्थक कर लेना चाहिये।

आगामी अष्टग्रहीके प्रकोपसे बचनेका भी यह एक परम साधन है। यह नियम है कि थोड़ेसे बीजसे बहुत फल प्राप्त होनेके न्यायसे हम दूसरोंके लिये जो देंगे, वही हमें अनन्तगुना होकर वापस मिल जायगा। हम दूसरोंको विपत्तिसे बचायेंगे तो भगवान् हमें घोर विपत्तिसे बचायेंगे।

क्योंकि पासमें तुम हो !

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण')

ऊब नहीं पाता है यह मन,
डूब नहीं पाता है यह मन,
क्योंकि पासमें तुम हो!

ठुकराये सूखे-से अक्षर
गन्धभरे छन्दोंमें ढलते,
सत्य उतरनेवाले सपने
अन्तस्तलसे स्वयं निकलते,

छूट नहीं पाती अन्तर्लय,
टूट नहीं पाती अन्तर्लय,
क्योंकि साँसमें तुम हो !
क्योंकि……………!

फूल विकस जाते काँटोंमें,
पत्थर भी कोमल बन जाते,
सम औ विषम संतुलित होते,
भाव बुद्धिमें भी सन जाते,

छूट नहीं सकती है आशा,
फूट न सकती तनिक निराशा,
क्योंकि रासमें तुम हो !
क्योंकि……………!

निःस्पृह कुछ भी लेना-देना,
करना या कि कराना उत्तम,
छिपी सफलता, असफलतामें,
चक्र-सदृश ही सुख-दुखके क्रम;

एक दृष्टिसे नाश मनोहर,
एक सृष्टि-से नाश मनोहर,
क्योंकि नाशमें तुम हो !
क्योंकि पासमें तुम हो !

पढ़ो समझो और करो

(१)

परदुःख-कातरता और उदारता

मेरी दादीका देहान्त हुए बहुत दिन हो गये । पर उनकी पवित्र स्मृति मुझे बनी ही रहती है । बुद्धिमत्ताके साथ सरलता, उदारताके साथ मितव्ययिता स्वाभिमानताके साथ विनय, साधु-सेवाके साथ सावधानी, सहिष्णुताके साथ परदुःखकातरता—सभी एक-से-एक विलक्षण गुण थे उनमें । वे बड़ी ही निर्भीक और आस्तिक थीं । भगवान्‌की सत्ता तथा कृपापर उनका अटूट विश्वास था । बड़े-बड़े कष्टोंको उन्होंने बड़ी सरलता तथा साहसके साथ सहन किया था । उनकी परदुःखकातरता तथा उदारताका एक प्रसङ्ग यहाँ लिखा जा रहा है । उन दिनों व्यापारमें कुछ ढिलाई थी । मेरे भूवाकी एक लड़कीका ब्याह था । विवाहका भार प्रायः हमारे ही ऊपर था । पिताजी चिन्तित थे । किसी प्रकार पाँच हजार रुपयेकी व्यवस्था हुई । विवाहके दिन बहुत समीप थे । रुपये दादीके पास थे, उन्हींको सारी व्यवस्था करनी थी । उनका इतना तेज था कि अपने घरमें ही नहीं, दूरके सम्बन्धीतक बड़े सम्मानके साथ उनका शासन मानते थे । इसी अवसरमें एक दूर-सम्पर्कीय सम्बन्धीके घरकी एक महिला दादीके पास आयी । उनके कारोबारमें घाटा लग गया था । उसने दादीसे सारी बातें कहीं । दुखियोंका दुःख सुननेमें दादीजी बड़ी दिलचस्पी रखतीं, बड़ी ही सहानुभूतिके साथ उनके दुःखकी बातें सुनतीं । दादीने सब बातें सुनीं । उसको पाँच हजार रुपयोंकी जरूरत थी । उसके पतिने स्वयं न आकर अपनी पत्नीको इसीलिये दादीके पास भेजा था कि दादीका दयालु हृदय सुनते ही द्रवित हो जायगा और वे किसी तरह व्यवस्था कर देंगी । उस महिलाने बड़े करुण स्वरसे कहा—'ताईजी ! आप व्यवस्था न करेंगी तो हमारी बाप-दादोंकी इज्जत चली जायगी ।' दादीका हृदय द्रवित हो गया । पर उधर वह ब्याहका कार्य भी बहुत ही आवश्यक था । दादीने उससे कहा 'तुम्हारे पतिको अभी बुला लाओ ।' वह तुरंत बुला लायी । उनके आनेपर दादीने उन्हें आश्वासन दिया और तिजूरी खोलकर अपना गहना निकाला । पाँच हजार रुपये नगद निकालकर उन्हें दे दिये और साथ ही अपना गहना देकर कहा कि 'आप इस गहनेको गलाकर सोना कर लीजिये और इसे बेचकर रुपये तुरंत मुझे ला दीजिये ।' वे बेचारे गद्गद हो गये । मन तो बहुत सकुचाया, पर उन्होंने पाँच हजार रुपये लेकर अपना भुगतान किया और गहना बेचकर तीन हजार आठ सौ रुपये दादीको ला दिये । दादीने कहींसे बारह सौ रुपये उधारकी व्यवस्था की और हमारी भूवाकी लड़कीका ब्याह भलीभाँति सम्पन्न कराया ।

इस घटनाका पता चार साल बाद तब लगा, जब वे सज्जन रुपये लौटानेको आये । तब दादीने पिताजीको यह सब बताया ।

—दादीका पौत्र

(२)

भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष दर्शन

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

इस श्लोकका पाठ करते जीवनके इतने वर्ष बीत चुके किंतु इसकी अनुभूति इस वर्ष १४ सितम्बर १९६१ को ही हो सकी । कलकत्तेमें १२ सितम्बर १९६१ का रक्तचाप यहाँतक बढ़ा कि शरीरके अधोभागमें नाडीयन्त्रकी गति अवरुद्ध हो गयी । पैर पङ्गु हो गये । डाक्टरोंने बोलनेपर रोक लगा दी । मृत्युकी विभीषिका आँखोंके सामने खड़ी थी । ज्योतिष्पीठाधीश स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती एवं स्वामी श्रीदेवनायकाचार्य काशीके देहावसानके दुःखद दृश्य रह-रहकर याद आ रहे थे । श्रीमद्भागवतके श्रोता महाराज परीक्षित्‌के समक्ष निश्चितरूपसे सात दिनका समय तो था और यहाँ अगली घड़ीका पता न था । फिर श्रीवैकुण्ठनाथ भगवान्‌के सांनिध्यमें अष्टोत्तरशत श्रीमद्भागवत-पारायण महायज्ञमें १४ सितम्बरसे वक्ताका आसन ग्रहण करना था ।

समय आया । लोग उठाकर ले गये । व्यासपीठपर शरीरको आसीन किया गया । दशा दर्शकोंतकके लिये दुःखदायिनी थी । कथारम्भका योग आते ही आँखें बंद हो गयीं । वाणी मूक हो गयी । मनकी स्थिति विचित्र हो उठी । ऐसा लगा कि मानो भाग्यने जवाब दे दिया हो और पुरुषार्थ साहस खो चुका हो । सारे भौतिक प्रयास व्यर्थ गये । तब अध्यात्मवादका चमत्कार सामने आया । वाणी खुली और स्पष्ट अनुभव हुआ कि स्वयं प्रभुने शरीरका पूरा नियन्त्रण एवं

संचालन अपने हाथोंमें ले लिया है । सप्ताह-प्रवचनपर्यन्त यह चमत्कार चलता रहा और बुद्धि अलग बैठी प्रभुकृपाका आनन्द लेती रही ।

—(जगद्गुरु रामानुजाचार्य) स्वामी श्रीराघवाचार्यजी महाराज

(३)

अतिथिदेवो भव (भीलका आतिथ्य-प्रेम)

एक बार अपने भ्रमण-कार्यक्रमके समयमें मैं अपने एक साथीके साथ रास्ता भूल गया । जोवट तहसीलकी बात है यह । मनमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ उठने लगीं । धीरे-धीरे भगवान् भास्कर भी पश्चिमकी गोदमें जा छिपे । इससे हम दोनों ही अधिक घबरा उठे । अन्धकार बढ़ता ही जा रहा था । साथ ही सघन वन बीतनेका नाम ही नहीं लेता था । केवल एक सँकरी पगडंडीपर हम अपने कदम बढ़ाते जा रहे थे ।

× × ×

एकाएक हमें पास ही कुत्ते-भौंकनेकी आवाज सुनायी दी । अब हमें कुछ हिम्मत बँधी । हम दोनों उसी तरफ बढ़े । कुछ आगे बढ़नेपर प्रकाश दिखलायी पड़ा, हमारी जानमें जान आयी । हम कुछ ही देर बाद एक पर्णकुटीके सामने थे । हमें उसी ओर आते देख कुत्ता जोर-जोरसे भोंकने लगा । कुत्तेको जोरसे भोंकते देख, मकानमालिक बाहर निकला । शायद वह शराब पिये था; क्योंकि उसके बाहर निकलते ही एक प्रकारकी दुर्गन्ध आने लगी । उसने वहींसे पूछा ‘कूण छे रे’ (कौन है रे) ।

मैंने कहा—‘बाबा ! ये तो हम हैं रे, रात काटवानी छे रे, थारे अई’ (बाबा हम हैं तेरे यहाँ रात काटनी है) ।

‘तमु काना हो’ (तुम कहाँके हो) ।

‘हम तो बाबा पाराके हैं रे’ हम दोनों बोले ।

‘तेर आओ भई, आवे आ हुई रो’ (तो भाई आओ यहाँ सो रहो) । वह जोरसे हँस पड़ा ।

हम दोनों अंदर चले गये । उसने दो खाटें लाकर डाल दीं और फिर पूछा—‘बाबा ! तमू कुण छो रे’ (बाबा तुम कौन हो ।) मैंने हँसते हुए कहा—‘मामा हमू तो बामुण छे रे ।’ (मामा हम तो ब्राह्मण है रे ।)

फिर कुछ देर वह कुछ नहीं बोला, अंदर चला गया वह कुछ देर बाद आकर बोला—‘तेर माराज रोटी बणा लो’ (तो महाराज रोटी बना लो) । हम बोले—‘नहीं भाई, हमें भूख नहीं है ।’ फिर भी वह बहुत देरतक जिद करता रहा । लेकिन जब हम किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुए तब उसने तीन सीताफल और एक टोकनी जंगली पके बेर लाकर हमारे सामने रख दिये । हमने पहले तो इन्कार किया परंतु वह नहीं माना तो हमने खा लिये । फिर इधर-उधरकी बातें होती रहीं और वह भूमिपर लेट गया । हम भी भयमिश्रित मनसे खाटोंपर सो गये ।

× × ×

‘बाबा राम राम’   ‘राम राम भाई’

उसने प्रातः हमसे राम राम किया, प्रत्युत्तरमें हमने भी राम राम किया । फिर वह बोला ‘चास बास (चाय-बाय) बणा लो ।’ हमने कहा ‘भई हम तो चाय-बाय नहीं पीते हैं । अच्छा बैठो, हम चलते हैं ।’ तो वह बोला—‘वाह रे तमू खूब उसताद हो, म्हारे घेर खावानो नी कर्यो, खावा करीने जावानो छे ।’ (वाह, तुम भी खूब उस्ताद हो, मेरे घर भोजन नहीं बनाया, भोजन बनाकर जाना ।)

हमने बहुत ना-नकर की, परंतु वह भोला प्राणी नहीं माना । उसने अपने बच्चोंको दौड़ाकर पलासके पत्ते मँगवा दिये । बेटेकी बहूको कहकर एक पीतलका घड़ा पानी मँगवा दिया और बर्तन साफ करा दिये ।

हमने मक्कीके आटेके पानिये और तुवरकी दाल बनायी । उसने, उसके बच्चोंने सभीने, वह भोजन किया । गरीबकी अतिथिके प्रति श्रद्धा देखकर मैं चकित रह गया ।

भोजन करके हम चलनेको हुए । मैंने और मित्रने एक-एक रुपया उसके बच्चोंको दिया तो वह नाराज हो गया और बोला—‘बाबा ! यह तो भूँड़ी बात छे रे’ (बाबा, यह तो बुरी बात है) ।

उसने वे रुपये लौटा दिये । हमने बड़ी विनय की, किंतु उसने नहीं लिये । बच्चोंको भी भगा दिया । हम वहाँसे चल दिये अपने गन्तव्य पथकी ओर ।

× × ×

दिन-रात नशेमें चूर रहनेवाले, गरीबी और अभावोंमें पले मौतको मामूली बात समझनेवाले, बात-बातपर मर मिटने और मार डालनेको प्रस्तुत भीलोंमें भी अपने अतिथिके प्रति कितनी आत्मीयता रहती है। मैंने उस दिन यह समझा कि भारतीय संस्कृति आज इन्हीं भोले प्राणियोंके दमपर ही टिकी है।

—दुर्गाशंकर त्रिवेदी

(४)

कृतज्ञता

मध्यप्रदेशके अन्तर्गत रायगढ़ एक जिला है जो देशी राज्योंके विलीनीकरणके पूर्व एक छोटी-सी रियासत था। लगभग बीस-बाईस वर्ष पूर्वकी बात है। उन दिनों राजा चक्रधरसिंह वहाँके राजा थे। रायगढ़ शहरसे लगभग पाँच मीलपर आमापाली नामके एक गाँवमें आराकसिया लोग (लकड़ी चीरनेवाले) आरेसे लकड़ी चीर रहे थे। समय होनेपर आधी चीरी हुई लकड़ीके बीच एक मेखा (छोटी लकड़ी) डालकर चले गये थे जिससे पुनः काममें आनेपर लकड़ीके बीच आसानीसे आरा डाला जा सके। उनके चले जानेके कुछ देर बाद वहाँ एक बंदर आया और उस चीरी जानेवाली लकड़ीपर बैठकर उस मेखासे खेलने-सा लगा। खेल-ही-खेलमें कौतुकवश उसने उसे उखाड़ लिया। फलतः उसकी पूँछ चीरी हुई लकड़ीके बीच फँस गयी और वह दर्दसे चिल्लाने लगा। पास ही गाँव था। लोगबाग आ गये। लोगोंने चीरी हुई लकड़ीको फैलाया। बंदरकी फँसी हुई पूँछ निकल गयी और बंदर उछलकर भागा। पर जाते समय उन निकालनेवाले आदमियोंमेंसे एककी पगड़ी लेकर भागा। पगड़ी क्या थी पाँच हाथकी धोती थी, जिसे उधरके ग्रामीण काम करते समय सिरपर लपेट-से लेते हैं। लोगोंने समझा बंदर भी कितना बदमाश निकला कि अपनी सहायता करनेवालेकी पिछौरी (पगड़ी) ही वह ले भागा।

पर एक दिन जब आराकसिया (आरासे लकड़ी चीरनेवाले) लकड़ी चीर ही रहे थे कि वही बंदर फिर आया और एक पोटली गिराकर भाग गया। यह वही कपड़ा था जिसे बंदर ले गया था और उसमें लड्डू बँधे थे चिरौंजीके—मधुसे पगे हुए।

बंदरकी कृतज्ञता देख सब हैरान रह गये। दो वर्ष पूर्व जब मैं छत्तीसगढ़ एवं उड़ीसाकी लोक-कथाओं (folk-tales) का संग्रह कर रहा था, उसमें एक बंदरकी एक करुण कहानी भी थी। उसे जब मैंने अपने मांमा श्रीश्यामसुन्दर कोकाको दिखाया तो उन्होंने उपर्युक्त कृतज्ञताकी सच्ची घटनाका उल्लेख किया। श्रीकोकाजी रायगढ़में ही अध्यापक हैं और धार्मिक व्यक्ति हैं।

—महादेवलाल बरगाह एम्० ए०

(५)

एक अभूतपूर्व सत्य घटना

शिवपुरी मध्यप्रदेशमें शंकर भगवान्‌के अनन्य उपासक एवं महान् भक्त श्रीप्रह्लाददास खण्डेलवाल वैश्यके निधनकालके समय एक अभूतपूर्व सत्य घटना घटित हुई है।

दिनाङ्क २२ अक्टूबर १९६१ रविवारको श्रीसिद्धेश्वर मन्दिर स्थित शिवपुरीमें एक संन्यासी महात्माने उक्त भक्त श्रीप्रह्लाददासजीको कहा कि मुझे रात्रिको स्वप्न हुआ कि तुमको शंकर भगवान्‌ने बुलाकर अपनी गोदीमें बिठा लिया है, यह सुनकर उपस्थित सज्जनोंको आश्चर्य हुआ, परंतु भक्तजी प्रसन्नमुद्रामें हँस पड़े और कहने लगे कि मेरी यही तीव्र अभिलाषा है।

ठीक एक सप्ताहके उपरान्त दिनाङ्क २९ अक्टूबर १९६१ को उक्त भक्तजी श्रीप्रह्लाददासजी दैनिक नित्य नियमके अनुसार शंकर भगवान्‌की पूजाके हेतु श्रीसिद्धेश्वर मन्दिर पहुँचे और पूर्वकी भाँति ही उन्होंने पीताम्बर वस्त्र पहनकर, रुद्राक्षकी माला गलेमें डालकर, पूजाकी सामग्री सँजोकर शंकर भगवान्‌के समक्ष पहुँचे। वहाँ शंकर भगवान्‌की प्रतिमाके समक्ष हाथ जोड़कर दण्डवत् करते ही अपने प्राण त्याग दिये। ध्यान रहे उक्त भक्तजी मृत्युके पूर्व पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न चित्त थे।

उक्त भक्तजी श्रीप्रह्लाददासजी खण्डेलवाल शिवपुरी नगरके एक प्रतिष्ठित, महान् धार्मिक, परोपकारी तथा साधुसेवी एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवनके हर क्षणको शंकर भगवान्‌को अर्पण कर दिया था। उन्होंने अपनेको शंकर भगवान्‌के समक्ष आत्मसमर्पण करके कलियुगमें शंकर भगवान्‌की आराधनाकी सत्यताको प्रमाणित कर दिखाया है। इस समय उनके इस प्रकारके निधनसे शिवपुरी जिले एवं समीपवर्ती क्षेत्रोंमें अधिक चर्चा है, एवं श्रीसिद्धेश्वर भगवान्‌की ओर लोगोंकी आस्था अधिक बढ़ गयी है।

—मदनलाल गुप्ता खण्डेलवाल, वकील

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३५

संवत् २०१७–२०१८ वि०

सन् १९६१ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—मोतीलाल जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे)
विदेशोंके लिये १०.०० [१५ शिलिंग]
प्रतिसंख्या .४५ (पैंतालीस नये पैसे)

श्रीहरिः

संक्षिप्त योगवासिष्ठकी वर्णानुक्रम विषय-सूची

क्रम-संख्या विषय पृष्ठ-संख्या

१–अज्ञानकी महिमा और विभूतियोंका सविस्तर वर्णन … … ३६८

२–अज्ञानसे ब्रह्मका ही जगत्‌रूपसे भान होता है, वास्तवमें जगत्‌का अत्यन्ताभाव है और एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, इस तत्त्वका प्रतिपादन … … ६७२

३–अनधिकारीको दिये गये उपदेशकी व्यर्थता, मनको जीतने या शान्त करनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वबोधसे ही मनके उपशमका कथन, तृष्णाके दोष, वासनाक्षय और जीवन्मुक्तके स्वरूपका वर्णन … … २६५

४–अरिष्टनेमि, सुरुचि, कारुण्य तथा सुतीक्ष्णकी कृतकृत्यताका प्रकाशन, शिष्योंका गुरुजनोंके प्रति आत्मनिवेदन तथा ब्रह्मको एवं ब्रह्मभूत वसिष्ठजीको नमस्कार … … ६९७

५–अविद्याकी बन्धनकारितापर आश्चर्य; चेष्टा देहमें नहीं, देहीमें है—इसका प्रतिपादन तथा अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन … २०६

६–अविद्याके कार्य संसाररूप विषलता, विद्या एवं अविद्याके स्वरूप तथा उन दोनोंसे रहित परमार्थ वस्तुका वर्णन … … ३६९

७–अविद्याके विनाशके हेतुभूत आत्मदर्शनका, विशुद्ध परमात्मस्वरूपका तथा असंकल्पसे वासना-क्षयका प्रतिपादन … २०४

८–अविद्यामूलक स्थावर-योनिके जीवोंके स्वरूपका तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याके नाशका प्रतिपादन … … ३७१

९–असङ्ग सुखमें परम शान्तिको प्राप्त पुरुषके व्यवहार-कालमें भी दुखी न होनेका प्रतिपादन, ज्ञानीकी तुर्यावस्था तथा देह और आत्माके अन्तरका वर्णन … … ३२७

१०–अहंकार और चित्तके दोष … ३८

११–अहंकाररूपी पिशाचकी शान्तिका उपाय—सृष्टिके कारणका अभाव होनेसे उसकी असत्ता तथा चिन्मय ब्रह्मकी ही सृष्टिरूपताका प्रतिपादन ५७१

क्रम-संख्या विषय पृष्ठ-संख्या

१२–आत्माका संसार-दुःखसे उद्धार करनेके उपायोंका कथन तथा भास और विलास नामक तपस्वियोंके वृत्तान्तका आरम्भ … ३१८

१३–आत्मा या ब्रह्मकी समता, सर्वरूपता तथा द्वैत-शून्यताका प्रतिपादन, जीवात्माकी ब्रह्मभावनासे संसार-निवृत्तिका वर्णन … ५३८

१४–आधि और व्याधिके नाशका तथा सिद्धिका और सिद्धोंके दर्शनका उपाय … ४४४

१५–इन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए एक इन्द्रका विचार-दृष्टिसे परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके इस त्रिलोकीके इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित होना तथा अहंभावनाके निवृत्त होनेसे संसार-भ्रमके मूलोच्छेदका कथन … … ५२६

१६–इन्द्रियों और मनके रहते समस्त दोषोंकी प्राप्ति तथा उनके शमनसे समस्त गुणोंकी और परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन … ३४६

१७–इस शास्त्रके अधिकारीका निरूपण, रामायणके अनुशीलनकी महिमा, भरद्वाजको ब्रह्माजीका वरदान तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे वाल्मीकिका भरद्वाजको संसार-दुःखसे छुटकारा पानेके निमित्त उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त होना … २१

१८–इस शास्त्रके विचारकी आवश्यकता तथा इससे होनेवाले लाभका प्रतिपादन, वैराग्य और आत्मबोधके लिये प्रेरणा तथा विचारद्वारा वासनाको क्षीण करनेका उपदेश … ६२०

१९–उपदेशके अधिकारीका निरूपण करते हुए वसिष्ठजीके द्वारा भुशुण्ड और विद्याधरके संवादका उल्लेख—विद्याधरका इन्द्रियोंकी विषयपरायणताके कारण प्राप्त हुए दुःखोंका वर्णन करके उनसे अपने उद्धारके लिये प्रार्थना करना … … ५१९

२०–उपासनाओंके अनुसार फलकी प्राप्ति तथा जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओंका वर्णन, मनको सत्य आत्मामें लगानेका आदेश, मनको भावनाके अनुसार रूप और फलकी प्राप्ति तथा भावनाके

त्यागसे विचारद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका प्रतिपादन २२२

२१–ऐहिक पुरुषार्थकी श्रेष्ठता और दैववादका निराकरण ७३

२२–कर्तव्य-बुद्धिसे अनासक्त एवं सम रहकर कर्म करनेकी प्रेरणा, सकामकर्मीकी दुर्गति और आत्मज्ञानीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा राजा जनकके द्वारा सिद्धगीताका श्रवण ... २५५

२३–कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति एवं अभिन्नता तथा चित्त और कर्मकी एकताका प्रतिपादन १९२

२४–कर्तृत्वाभिमानसे रहित पुरुषके कर्मोंसे लिप्त न होनेका निरूपण एवं सङ्ग-त्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, संन्यास, ज्ञान और योगकी परिभाषा ४१८

२५–कर्मोंके त्याग और ग्रहणसे कोई प्रयोजन न रखते हुए भी जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्वभावतः सत्कर्मोंमें ही प्रवृत्तिका प्रतिपादन ... ६८०

२६–कल्पना या संकल्पके त्यागका स्वरूप, कामना या संकल्पसे शून्य होकर कर्म करनेकी प्रेरणा, दृश्यकी असत्ता तथा तत्त्वज्ञानसे मोक्षका प्रतिपादन ५१६

२७–कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी अनित्यता ५३

२८–कालके स्वरूपका विवेचन ... ५१

२९–किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का संवाद ३१४

३०–किरातराज सुरघुका वृत्तान्त, महर्षि माण्डव्यका सुरघुके महलमें पधारना और उपदेश देकर अपने आश्रमको लौट जाना, सुरघुके आत्मविषयक चिन्तनका वर्णन तथा उसे परमपदकी प्राप्ति ... ३१०

३१–कीरकोपाख्यानके स्पष्टीकरणपूर्वक आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें शास्त्र एवं गुरूपदेश आदिको कारण बताना ६७७

३२–कुटीमें लौटनेपर वसिष्ठजीको अपने शरीरकी जगह एक ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, सिद्धका उनके संकल्पकी निवृत्तिसे कुटीका उपसंहार, सिद्धका नीचे गिरना और वसिष्ठजीसे उसका अपने वैराग्यपूर्ण जीवनका वृत्तान्त बताना ... ६०७

३३–कुम्भ और शिखिध्वजका परस्पर सौहार्द, चूडालाका राजासे आज्ञा लेकर अपने नगरमें आना और उदास मन होकर पुनः राजाके पास लौटना, राजाके द्वारा उदासीका कारण पूछनेपर चूडालद्वारा दुर्वासाके शापका कथन और चूडालाका दिनमें कुम्भरूपसे और रातमें स्त्रीरूपसे राजा शिखिध्वजके साथ विचरण ४८०

३४–कुम्भकी बातें सुनकर सर्वत्यागके लिये उद्यत हुए राजा शिखिध्वजद्वारा अपनी सारी उपयोगी वस्तुओंका अग्निमें झोंकना, पुनः देहत्यागके लिये उद्यत हुए राजाको कुम्भद्वारा चित्त-त्यागका उपदेश ... ४६३

३५–कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिध्वजका कुछ कालतक विचार करनेके पश्चात् समाधिस्थ होना, चूडालाका घर जाकर तीन दिनके बाद पुनः लौटना, राजाके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें जगाना और राजाके साथ उसका वार्तालाप ४७७

३६–कुम्भद्वारा चिन्तामणि और काँचके आख्यानके तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीके उपाख्यानके रहस्यका वर्णन ... ४६१

३७–(श्री) कृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति कर्म और ज्ञानके तत्त्व-रहस्यका प्रतिपादन ... ४२१

३८–(श्री) कृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति देहकी नश्वरता, आत्माकी अविनाशिता, मनुष्योंकी मरणस्थिति और स्वर्ग-नरकादिकी प्राप्ति एवं जीवात्माके संसार-भ्रमणमें कारणरूप वासनाके नाशसे मुक्तिका प्रतिपादन ... ४२२

३९–(श्री) कृष्णार्जुन-आख्यानका आरम्भ—अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन ... ४१७

४०–क्रमसे उन दोनोंकी वैराग्य एवं अध्यात्म-ज्ञानमें निष्ठा तथा चूडालाको यथार्थज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति ४३९

४१–गुरुके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीका पुनः अपनी परमानन्दमयी स्थितिको बताना तथा वसिष्ठजीका उन्हें कृतकृत्य बताकर विश्वामित्रजीकी आज्ञा एवं भूमण्डलके पालनके लिये कहना, श्रीरामद्वारा अपनी कृतार्थताका प्रकाशन ६८५

४२—चार प्रकारका मौन और उनमेंसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके सुषुप्त मौनकी श्रेष्ठता … ४२९

४३—चारों विपश्चितोंका शत्रुओंके साथ युद्ध, भागती हुई शत्रुसेनाका पीछा करते हुए उनका समुद्र-तटतक जाना … … ६२६

४४—चारों विपश्चितोंका समुद्रमें प्रवेश और प्रत्येक दिशामें उनकी पृथक्-पृथक यात्राका वर्णन … … ६३५

४५—चित्त और संसारके अत्यन्त अभावका तथा परमात्माके भावका निरूपण … ४७२

४६—चित्तका विलास ही द्वैत है, त्याग और ज्ञानसे ही अज्ञानसहित मनका क्षय होता है—इसका प्रतिपादन तथा भोक्ता जीवके स्वरूपका वर्णन … … १७९

४७—चित्तकी शान्तिके उपायोंका युक्तियोंद्वारा वर्णन … … २६३

४८—चित्तके उपशमके लिये ज्ञानयोगरूप उपाय एवं विवेक-विचारके द्वारा चित्तका विनाश होनेपर ब्रह्म-विचारसे परमात्माकी प्राप्ति … ३४२

४९—चित्तके स्पन्दनसे होनेवाली जगत्‌की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्पन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगकी सिद्धिके लिये अनेक उपाय ३३९

५०—चित्तरूपी रोगकी चिकित्साके उपाय तथा मनोनिग्रहसे लाभ … २०१

५१—चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकनेका उपाय और अविद्यारूप कारणके अभावसे देह आदि कार्यके अभावका वर्णन … ४६७

५२—चित्ररूपसे जगत्‌का वर्णन, जगत्‌की स्थितिका खण्डन करके पूर्णानन्दस्वरूप सन्मात्रकी स्थितिका कथन, मनको ही जगत्‌का कारण बताकर उसके नाश होनेपर जगत्‌की शून्यताका कथन … … २१८

५३—चिदाकाशके स्वरूपका प्रतिपादन तथा जगत्‌की चिदाकाशरूपताका वर्णन … ६२२

५४—चिन्मय परब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुकी सत्ताका निराकरण, जगत्‌की निःसारता तथा सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र-विचार और आत्मप्रयत्नके द्वारा अविद्याके नाशका प्रतिपादन … ५२४

५५—चिरकालकी तपस्यासे प्राप्त हुए चिन्तामणिका त्याग करके मणिबुद्धिसे काँचको ग्रहण करनेकी कथा तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीका आख्यान … … ४५१

५६—चूडालाकी सिद्धिका वैभव, गुरूपदेशकी सफलतामें किराटका आख्यान, शिखिध्वजका वैराग्य, चूडालाका उन्हें समझाना, राजा शिखिध्वजका आधी रातके समय राजमहलसे निकलकर चल देना और मन्दराचलके काननमें कुटिया बनाकर निवास करना … ४४८

५७—चूडालाको अपूर्व शोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वजका प्रसन्न होना और उससे वार्तालाप करना … … ४४१

५८—चेतनतत्त्वका ही क्षेत्रज्ञ, अहङ्कार आदिके रूपमें विस्तार तथा अविद्याके कारण जीवोंके कर्मानुसार नाना योनियोंमें जन्मोंका वर्णन … २३७

५९—चेतन परमात्माकी सर्वात्मता … ३९८

६०—चेतन ही जगत् है—इसका तथा तत्त्वज्ञानी और जगत्‌के स्वरूपका वर्णन … ५५२

६१—जगत्‌की असत्ता या भ्रमरूपताका प्रतिपादन तथा नियति और पौरुषका विवेचन … १७७

६२—जगत्‌की असारताका निरूपण करके तत्त्वज्ञानसे उसके विनाशका वर्णन … ५५५

६३—जगत्‌की चित्तरूपता, वासनायुक्त मनके दोष, मनका महान् वैभव तथा उसे वशमें करनेका उपाय … … १९८

६४—जगत्‌की ब्रह्मसे अभिन्नता, परमार्थ-तत्त्वका लक्षण, महाप्रलयकालमें जगत्‌के अधिष्ठानका विचार तथा जगत्‌की ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन १०७

६५—जगत्‌की ब्रह्मसे पृथक् सत्ताका खण्डन, भेदकी व्यावहारिकता तथा चित्तकी ही दृश्यरूपताका प्रतिपादन … … १८५

६६—जगत्‌की भ्रमरूपता एवं मिथ्यात्वका निरूपण, सदेह और विदेह मुक्तिकी समानता तथा शास्त्रनियन्त्रित पौरुषकी महत्ताका वर्णन … ६९

६७—जगत्‌की संकल्परूपता, अन्यथादर्शनरूप जीव-भाव तथा अहंभावनारूप महाग्रन्थिके भेदनसे ही मोक्षकी प्राप्तिका कथन और ज्ञानबन्धुके लक्षणोंका वर्णन … ५३०

६८—जगत्‌के अत्यन्ताभावका प्रतिपादन, मण्डपो-

पाख्यानका आरम्भ, राजा पद्म तथा रानी लीलाका परस्पर अनुराग, लीलाका सरस्वतीकी आराधना करके वर पाना और रणभूमिमें पतिके मारे जानेसे अत्यन्त व्याकुल होना ··· ११४
६९–जगत्‌के अत्यन्ताभावका, राजा शिखिध्वजको परमशान्तिकी प्राप्तिका तथा जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन ··· ४६९
७०–जगत्‌के स्वरूपका विवेचन और ब्रह्मके स्वरूपका सविस्तर वर्णन ··· ५४६
७१–जागतिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन ··· ··· ५८
७२–जिसे मृत्यु नहीं मार सकती, उस निर्दोष महात्माकी स्थितिका, परमतत्त्वकी उपासनाका तथा तीनों लोकोंके पदार्थोंमें सुख-शान्तिके अभावका प्रतिपादन ··· ··· ३८५
७३–जीवकी बहिर्मुखताके निवारणसे भ्रान्ति-कल्पनाके निवर्तक उपाय तथा परलोककी चिकित्साका वर्णन ··· ··· ५४४
७४–जीवके स्वरूप, स्वभाव तथा विराट् पुरुषका वर्णन ··· ··· ५२९
७५–जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त पुरुषोंके चित्त-नाशका वर्णन ··· ··· ३५३
७६–जीवन्मुक्तके द्वारा जगत्‌के स्वरूपका ज्ञान, स्वभावका लक्षण तथा विश्व और विश्वेश्वरकी एकता और स्वात्मभूत परमेश्वरकी पूजाका वर्णन ··· ··· ५५३
७७–जीवन्मुक्तके स्वकर्म नामक मित्रके स्त्री, पुत्र आदि परिवारका परिचय तथा उस मित्रके साथ रहनेवाले उस महात्माके स्वभावसिद्ध गुणोंका उल्लेख, तत्त्व-ज्ञानीकी स्थिति, जगत्‌की ब्रह्मरूपता तथा समस्त वादियोंके द्वारा ब्रह्मके ही प्रतिपादनका कथन ··· ६५९
७८–जीवन्मुक्तके स्वरूपपर विचार, जगत्‌के मिथ्यात्व तथा द्विविध वासनाका निरूपण तथा भगवान् श्रीरामकी तीर्थयात्राका वर्णन ··· २३
७९–जीवन्मुक्त तथा परमात्मामें विश्रान्त पुरुषके लक्षण तथा आत्मज्ञानीके सुखपूर्वक शयनका कथन ··· ··· ६५८
८०–जीवन्मुक्तिका लक्षण, जगत्‌की असत्ता तथा ब्रह्मसे उसकी अभिन्नताका प्रतिपादन, परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन ··· १०५
८१–जीवन्मुक्तिकी प्रशंसा तथा इच्छा ही बन्धन है और इच्छाका त्याग ही मुक्ति है, इसका सविस्तर वर्णन और उससे छूटनेके उपायका निरूपण ··· ··· ५४८
८२–जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले विभिन्न प्रकारके निश्चयों तथा सब कुछ ब्रह्म ही है, इस पारमार्थिक स्थितिका वर्णन ··· २६६
८३–जीवात्माका अपनी भावनासे लिङ्गदेहात्मक पुर्यष्टक बनकर अनेक रूप धारण करना ... ४१४
८४–जीवात्माके ध्यान-वृक्षपर चढ़नेका और वास्तविक सुखकी प्राप्तिका वर्णन ··· ५६०
८५–जीवोंकी चौदह श्रेणियाँ तथा परब्रह्म परमात्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण सबकी ब्रह्मरूपता ··· ··· १९०
८६–ज्ञानकी प्राप्तिके लिये वासना, आसक्ति और अज्ञानके नाशसे मनके विनाशका वर्णन ··· ४१०
८७–ज्ञानकी सात भूमिकाओंका विशद विवेचन २०७
८८–ज्ञानसाध्य वस्तु और योगियोंकी परकाय-प्रवेश-सिद्धिका वर्णन ... ··· ४४७
८९–ज्ञानसे ही परासिद्धि या परमात्मप्राप्तिका प्रतिपादन तथा ज्ञानके उपायोंमें सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायकी प्रशंसा ··· १०२
९०–ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर, वासनाके कारण ही कर्तृत्वका प्रतिपादन, तत्त्वज्ञानीके अकर्तापन एवं बन्धनाभावका निरूपण ··· २३३
९१–ज्ञानीके लक्षण, जीवके बन्धन और मोक्षका स्वरूप, ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थितिमें अन्तर, दृश्यकी असत्ता तथा परब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन ··· ··· ५३१
९२–ज्ञानी महात्माओंके लिये आकाश-गमन आदि सिद्धियोंकी अनावश्यकताका कथन ··· ३५१
९३–तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशसे परमपदकी प्राप्ति तथा मनको वशमें करनेके उपायोंका वर्णन ··· ··· ३५७
९४–तत्त्वज्ञान हो जानेपर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं और यदि कहीं उत्पन्न होती-सी दीखे तो वह ब्रह्मस्वरूप होती है—इसका सयुक्तिक वर्णन ··· ··· ५५०

९५–तत्त्वज्ञानी संतोंके शील-स्वभावका वर्णन तथा सत्संगका महत्त्व ६१५

९६–तीर्थयात्रासे लौटे हुए श्रीरामकी दिनचर्या एवं पिताके घरमें निवास, राजा दशरथके यहाँ विश्वामित्रका आगमन और राजाद्वारा उनका सत्कार २५

९७–'तुम्हारी कितनी आयु है और तुम किन-किन वृत्तान्तोंका स्मरण करते हो ?'—वसिष्ठजी-द्वारा पूछे हुए इन प्रश्नोंका भुशुण्डद्वारा समाधान ३८२

९८–तृष्णाकी निन्दा ४०

९९–त्रसरेणुके उदरमें इन्द्रका निवास और उनके गृह, नगर, देश, लोक एवं त्रिलोकके साम्राज्यकी कल्पनाका विस्तार ... ५२५

१००–दृढ़ बोध होनेपर सम्पूर्ण दोषोंके विनाश, अन्तःकरणकी शुद्धि और विशुद्ध आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकी महिमाका प्रतिपादन ... २२४

१०१–दृश्यकी असत्ता और सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन, मायाके दोष तथा आत्मज्ञानसे ही उसका निवारण २३६

१०२–दृश्य जगत्की असत्ता, सबकी एकमात्र ब्रह्मरूपता तथा तत्त्वज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन ५६६

१०३–दृश्य जगत्की चैतन्यरूपता, अनिर्वचनीयता, असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिन्नताका प्रतिपादन ६५७

१०४–दृश्य जगत्के मिथ्यात्वका निरूपण, दृश्य ही बन्धन है और उसका निवारण होनेसे ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन तथा द्रष्टाके हृदयमें ही दृश्यकी स्थितिका कथन ... ९६

१०५–देव-सभामें वायसराज भुशुण्डका वृत्तान्त सुनकर महर्षि वसिष्ठका उसे देखनेके लिये मेरुगिरिपर जाना, मेरुशिखर तथा चूत-नामक कल्पतरुका वर्णन, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे मिलना, भुशुण्डद्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे उनका वृत्तान्त पूछना और उनके गुणोंका वर्णन करना ३७५

१०६–देह और आत्माके विवेकका एवं अज्ञानीको देहमें आत्मबुद्धि और विषयोंमें सुख-बुद्धि करनेसे दुःखकी प्राप्तिका प्रतिपादन ... ३६६

१०७–देहादिके संयोग-वियोगादिमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित शुद्ध आत्माके स्वरूपका विवेचन ३२१

१०८–दो प्रकारके मुक्तिदायक अहंकारका और एक प्रकारके बन्धनकारक अहंकारका एवं परमात्माके स्वरूपका वर्णन ... ३३१

१०९–धन-सम्पत्ति तथा आयुकी निस्सारता एवं दुःखरूपताका वर्णन ३६

११०–धारणाद्वारा वायुरूपसे स्थित हुए वसिष्ठजीका अनुभव ६०६

१११–ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलके आस्वादनसे मनकी स्थितिका तथा मुक्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन ५६१

११२–ध्यानसे सब कुछ जानकर राजा शिखिध्वजका आश्चर्यचकित होना और प्रशंसापूर्वक चूडालाका आलिंगन करना तथा उसके साथ रात बिताना, प्रातःकाल संकल्पजनित सेनाके साथ दोनोंका नगरमें आना और दस हजार वर्षोंतक राज्य करके विदेहमुक्त होना ४८८

११३–निर्वाण अथवा परमपदका स्वरूप, ब्रह्ममें जगत्की सत्ताका खण्डन, चिदाकाशके ही जगद्रूपसे स्फुरित होनेका कथन, ब्रह्मके उन्मेष और निमेष ही सृष्टि और प्रलय हैं, मन जिसमें रस लेता है वैसा ही बनता है, चिदाकाश अपनेको ही दृश्यरूपसे देखता है तथा अज्ञानसे ही परमात्मामें जगत्की स्थिति प्रतीत होती है, इसका प्रतिपादन ... ६६१

११४–निर्वाणकी स्थितिका तथा 'मोक्ष स्वाधीन है' इस विषयका सयुक्तिक वर्णन ... ५४२

११५–परब्रह्म परमात्माके सत्ता-सामान्य स्वरूपका प्रतिपादन ४२७

११६–परम पदके विषयमें विभिन्न मतवादियोंके कथनकी सत्यताका प्रतिपादन ... ६१४

११७–परमशिव परमात्माकी अनन्त शक्तियाँ ... ४०३

११८–परमात्मनिष्ठ ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका मिथ्यात्व, मनोमय होनेके कारण जगत्की असत्ता तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन २३८

११९–परमात्मभावमें स्थित हुए कचके द्वारा सर्वात्मत्वका बोध करानेवाली गाथाओंका गान,

भोगोंसे वैराग्यका उपदेश तथा सबकी परमात्मामें स्थितिका कथन ... २४६
१२०–परमात्मसंत्ताका विवेचन, बीजमें वृक्षकी भाँति परमात्मामें जगत्की त्रैकालिक स्थितिका निरूपण तथा ब्रह्मसे पृथक् उसकी सत्ता नहीं है—इसका प्रतिपादन ... १८२
१२१–परमात्माकी नित्य सत्ता, जगत्की असत्ता एवं जीवन्मुक्त अवस्थाका निरूपण ... ४२६
१२२–परमात्माके ज्ञानकी महिमा, उसके स्वरूपका विवेचन, दृश्य जगत्के अत्यन्ताभाव एवं ब्रह्मरूपताका निरूपण तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये योगवासिष्ठ ही सर्वोत्तम शास्त्र है—इसका प्रतिपादन ... १०३
१२३–परमात्माके स्वरूपका और अविद्याके अत्यन्त अभावका निरूपण ४१३
१२४–परमात्मामें सृष्टिभ्रमकी असम्भवता, पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निरूपण तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन ५६८
१२५–परमात्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है—इसका प्रतिपादन एवं महात्मा पुरुषोंके लक्षण तथा आत्मकल्याणके लिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान और प्राण-निरोधरूप योगका वर्णन ... ३७२
१२६–परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और स्वरूपभूत परमात्मपदमें प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार करते रहनेका आदेश देते हुए वसिष्ठजीका श्रीरामके प्रश्नोंका उत्तर देना तथा संसारी मनुष्योंको आत्मज्ञान एवं मोक्षके लिये प्रेरित करना ५३९
१२७–पाण्डित्यकी प्रशंसा, चित् ही जगत् है—इसका युक्तिपूर्वक समर्थन ... ६४५
१२८–पाषाण-जगत्के ब्रह्माद्वारा वासनाकी क्षयोन्मुखता एवं आत्मदर्शनकी इच्छा बताकर शिलाकी चितिरूपता तथा जगत्की परमात्मसत्तासे अभिन्नताका प्रतिपादन करके वसिष्ठजीको अपने जगत्में जानेके लिये प्रेरित करना ... ५८७
१२९–पाषाण-शिलाके भीतर बसे हुए ब्रह्माण्डके महाप्रलयका वर्णन तथा ब्रह्माके संकल्पके उपसंहारसे सम्पूर्ण जगत्का संहार क्यों होता है, इसका विवेचन ५८८
१३०–पिता-माताके शोकसे व्याकुल हुए अपने भाई पावनको पुण्यका समझाना—जगत् और उसके सम्बन्धकी असत्यताका प्रतिपादन ... २६९
१३१–पुण्यका पावनको उपदेश, अनेक जन्मोंमें प्राप्त हुए असंख्य सम्बन्धियोंकी ओरसे ममता हटाकर उन्हें आत्मस्वरूप परमात्मासे ही संतोष प्राप्त करनेका आदेश, पुण्य और पावनको निर्वाणपदकी प्राप्ति, तृष्णा और विषय-चिन्तनके त्यागसे मनके क्षीण हो जानेपर परमपदकी प्राप्तिका कथन २७०
१३२–पुरुषार्थकी प्रबलता बताते हुए दैवके स्वरूपका विवेचन तथा शुभ वासनासे युक्त होकर सत्कर्म करनेकी प्रेरणा ... ७६
१३३–पुर्यष्टक बने हुए जीवात्माको तत्त्वज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होनेका कथन ... ४१५
१३४–पूरक, रेचक, कुम्भक प्राणायामका तत्त्व जानकर अभ्यास करनेसे मुक्ति और सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासनाकी महिमा ... ३८८
१३५–प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थ-संख्याका वर्णन, ग्रन्थकी प्रशंसा, शान्ति, ब्रह्म, द्रष्टा और दृश्यका विवेचन, परस्पर सहायक प्रज्ञा और सदाचारका वर्णन ९०
१३६–प्रकृतिरूपा कालरात्रिके परमतत्त्व शिवमें लीन होनेका वर्णन ६०२
१३७–प्रलयकालके मेघोंद्वारा भयानक वृष्टि होनेसे एकार्णवकी वृद्धि तथा प्रलयाग्निका बुझ जाना ५९२
१३८–प्रह्लादका उपाख्यान—भगवान् नृसिंहकी क्रोधाग्निसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंका संहार तथा प्रह्लादका विचारद्वारा अपने-आपको भगवान् विष्णुसे अभिन्न अनुभव करना ... २८३
१३९–प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाह्य पूजा, उसके प्रभावसे समस्त दैत्योंको वैष्णव हुआ देख विस्मयमें पड़े हुए देवताओंका भगवान्से इसके विषयमें पूछना, भगवान्का देवताओंको सान्त्वना दे अदृश्य हो प्रह्लादके देवपूजा-गृहमें प्रकट होना और प्रह्लादद्वारा उनकी स्तुति ... २८५
१४०–प्रह्लादको भगवान्द्वारा वर-प्राप्ति, प्रह्लादका आत्मचिन्तन करते हुए परमात्माका साक्षात्कार

करना और उनका स्तवन करते हुए समाधिस्थ हो जाना, तत्पश्चात् पातालकी अराजकताका वर्णन और भगवान् विष्णुका प्रह्लादको समाधिसे विरत करनेका विचार ··· २८८

१४१–प्राण-अपानकी गतिको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति ३८७

१४२–प्राणियोंकी उत्पत्तिके दो भेद, मच्छरके मृगयोनिसे छूटकर व्याधरूपसे उत्पन्न होनेपर उसे एक मुनिका ज्ञानोपदेश ··· ६४३

१४३–प्राणियोंके श्रान्त हुए मनरूपी मृगके विश्रामके लिये समाधिरूपी कल्पद्रुमकी उपयोगिताका वर्णन ··· ··· ५५७

१४४–बगुले, जलकाक, मोर और चातकसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्योक्तियाँ ··· ६३२

१४५–बढ़ते हुए एकार्णवका तथा परिवारसहित ब्रह्माके निर्वाणका वर्णन ··· ५९३

१४६–बलिका पिताके दिये हुए ज्ञानोपदेशके स्मरणसे संतोष तथा पहलेकी अज्ञानमयी स्थितिको याद करके खेद प्रकट करते हुए शुक्राचार्यका चिन्तन करना, शुक्राचार्यका आना और बलिसे पूजित होकर उन्हें सारभूत सिद्धान्तका उपदेश देकर चला जाना ··· २७६

१४७–बाल्यावस्थाके दोष ··· ··· ४६

१४८–बृहस्पतिपुत्र कचकी सर्व-त्याग-साधनासे जीवन्मुक्ति, मिथ्यापुरुषकी आख्यायिका और उसका तात्पर्य ··· ··· ४९१

१४९–ब्रह्मकी जगत्कारणता और ज्ञानद्वारा मायाके विनाशका तथा श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामकी महिमा एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा अपने परमार्थ-स्वरूपका वर्णन ··· ··· ३६५

१५०–ब्रह्मकी सर्वरूपता तथा उसमें भेदका अभाव, परमात्मासे जीवकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका विवेचन, परमात्मासे ही मनकी उत्पत्ति, मनका भ्रम ही जगत् है—इसका प्रतिपादन तथा जीव-चित्त आदिकी एकता ··· १७८

१५१–ब्रह्ममें जगत्का अध्यारोप, जीव एवं जगत्के रूपमें ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन ··· १०९

१५२–ब्रह्ममें ही जगत्की कल्पना तथा जगत्का ब्रह्मसे अभेद, पाषाणोपाख्यानका आरम्भ—वसिष्ठजीका लोकगतिसे विरक्त हो सुदूर एकान्तमें कुटी बनाकर सौ वर्षोंतक समाधि लगाना ५७०

१५३–ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्योंका निर्वाण, अहंकाराभिमानी रुद्रदेवका आविर्भाव, उनके अवयवों तथा आयुधोंका विवेचन, उनके द्वारा एकार्णवके जलका पान तथा शून्य ब्रह्माण्डकी चेतनाकाशरूपताका प्रतिपादन ··· ५९५

१५४–ब्रह्मसे जगत्की पृथक् सत्ताका निषेध तथा जन्म आदि विकारोंसे रहित ब्रह्मकी स्वतः सत्ताका विधान ··· ··· ४७४

१५५–ब्रह्मा और जगत्की एकताका स्थापन तथा द्वादश सूर्योंके हृदयसे जगत्के प्रलयका रोमाञ्चकारी वर्णन ··· ५९०

१५६–ब्रह्माकी मनोरूपता और उसके संकल्पमय जगत्की असत्ता तथा ज्ञाताके कैवल्यकी ही मोक्षरूपताका प्रतिपादन ··· ९७

१५७–(श्री) भगवान्के द्वारा अर्जुनके प्रति जीवन्मुक्त अवस्था और जगद्रूप चित्रका वर्णन एवं वासनारहित और ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित रहनेका उपदेश तथा इस उपदेशको सुनकर तत्त्वज्ञानके द्वारा अर्जुनकी अविद्यासहित वासनाका और मोहका नाश हो जाना ··· ४२४

१५८–भगवान् विष्णुका पातालमें जाना और शङ्खध्वनिसे प्रह्लादको प्रबुद्ध करके उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देना, प्रह्लादद्वारा भगवान्का पूजन, भगवान्का प्रह्लादको दैत्यराज्यपर अभिषिक्त करके कर्तव्यका उपदेश देकर क्षीरसागरको लौट जाना, आख्यानका उत्तम फल, जीवन्मुक्तोंके व्युत्थानका हेतु और पुरुषार्थकी शक्तिका कथन ··· ··· २९४

१५९–भगीरथके गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य और अपने गुरु त्रितलके साथ संवाद ··· ४३३

१६०–भरद्वाज मुनिके उत्कण्ठापूर्वक प्रश्न करनेपर श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा जगत्की असत्ता और परमात्माकी सत्ताका प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारक उपदेश ··· ५०९

१६१–भावना और वासनाके कारण संसार-दुःखकी प्राप्ति तथा विवेकसे उसकी शान्ति, सर्वत्र ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन एवं मङ्किके मोहका निवारण ५३७

१६२–भास और विलासकी परस्पर बातचीत और तत्त्वज्ञानद्वारा उन्हें मोक्षकी प्राप्ति, देह और

आत्माका सम्बन्ध नहीं है तथा आसक्ति ही बन्धनका हेतु है—इसका निरूपण ··· ३२१

१६३–भुशुण्डका वसिष्ठजीसे अपने जन्मवृत्तान्तके प्रसङ्गमें महादेवजी तथा मातृकाओंका वर्णन करते हुए अपनी उत्पत्ति, ज्ञानप्राप्ति और उस घोंसलेमें आनेका वृत्तान्त कहना ३७९

१६४–भुशुण्डकी वास्तविक स्थितिका निरूपण, वसिष्ठजीद्वारा भुशुण्डकी प्रशंसा, भुशुण्डद्वारा वसिष्ठजीका पूजन तथा आकाश-मार्गसे वसिष्ठजीकी स्वलोक-प्राप्ति ··· ··· ३९०

१६५–भुशुण्डजीद्वारा विद्याधरको उपदेश—दृश्य-प्रपञ्चकी असत्ता बताते हुए संसार-वृक्षका निरूपण ··· ··· ५२२

१६६–भृंगीशके प्रति महादेवजीके द्वारा महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागीके लक्षणोंका निरूपण ४९७

१६७–भेदके निराकरणपूर्वक एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन तथा जगत्की पृथक् सत्ताका खण्डन ··· ··· १११

१६८–मङ्किके द्वारा संसार, लौकिक सुख, मन, बुद्धि और तृष्णा आदिके दोषों तथा उनसे होनेवाले कष्टोंका वर्णन और वसिष्ठजीसे उपदेश देनेके लिये प्रार्थना ··· ··· ५३५

१६९–मध्याह्नकालमें राजासे सम्मानित हो सबका आवश्यक कृत्यके लिये उठ जाना और दूसरे दिन प्रातःकाल सबके सभामें आनेपर श्रीरामका गुरुके समक्ष अपनी कृतकृत्यता प्रकट करना ··· ··· ६८६

१७०–मन, अहंकार, वासना और अविद्याके नाशसे मुक्ति तथा जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और महिमाका प्रतिपादन ··· ३३२

१७१–मन और इन्द्रियोंकी प्रबलता तथा उनको जीतनेसे लाभ, अत्यन्त अज्ञानी और ज्ञानीके लिये उपदेशकी व्यर्थता तथा जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन ··· २२६

१७२–मनका स्वरूप तथा उसकी विभिन्न संज्ञाओंपर विचार ··· ··· १९३

१७३–मनकी परमात्मरूपता, ब्रह्मकी विविध शक्ति, सबकी ब्रह्मरूपता, मनके संकल्पसे ही सृष्टि-विस्तार तथा वासना एवं मनके नाशसे ही श्रेयकी प्राप्तिका प्रतिपादन ··· १९६

१७४–मनके द्वारा जगत्के विस्तार तथा अज्ञानीके उपदेशके लिये कल्पित त्रिविध आकाशका निरूपण एवं मनको परमात्मचिन्तनमें लगानेकी आवश्यकता ··· ··· १९५

१७५–मनके स्वरूपका विवेचन, मन एवं मनःकल्पित दृश्य जगत्की असत्ताका निरूपण तथा महाप्रलय कालमें समस्त जगत्को अपनेमें लीन करके एकमात्र परमात्मा ही शेष रहते हैं और वे ही सबके मूल हैं—इसका प्रतिपादन ९९

१७६–मनुष्य, असुर, देव आदि योनियोंमें होनेवाले हर्ष-शोकादिसे रहित जीवन्मुक्त महात्माओंका वर्णन ··· ··· ३३५

१७७–मनोनाशके उपायभूत वासना-त्यागका उपदेश, अविद्या-वासनाके दोष तथा इसके विनाशके उपायकी जिज्ञासा ··· २०२

१७८–मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए महान् वनमें महर्षि वसिष्ठ और मङ्किका समागम एवं संवाद ··· ··· ५३३

१७९–मरे हुए विपश्चितोंके संसार-भ्रमणका तथा उत्तरदिशागामी विपश्चित्के भ्रमणका विशेषरूपसे वर्णन ··· ··· ६३८

१८०–महर्षि उद्दालककी साधना, तपस्या और परमात्मप्राप्तिका कथन, सत्ता-सामान्य, समाधि और समाहितके लक्षण ··· ३०६

१८१–महापुरुषोंके स्वभावका वर्णन तथा अनासक्त भावसे संसारमें विचरनेका उपदेश ··· २६७

१८२–महामुनि वीतहव्यकी ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन करके परमात्मप्राप्तिरूप मुक्तावस्थाका तथा मुक्त होनेपर उनके शरीर, प्राणों और सब धातुओंका अपने-अपने उपादान कारणमें विलीन होकर मूल-प्रकृतिमें लीन होनेका वर्णन ··· ३५०

१८३–महाराज मनुका इक्ष्वाकुके प्रति, 'मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है'—यह बताते हुए देहमें आत्मबुद्धिका परित्याग कर परमात्मभावमें स्थित होनेका उपदेश ··· ··· ४९९

१८४–महेन्द्रपर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वजका विवाह, एक सुन्दर कन्दरामें पुष्प-शय्यापर दोनोंका

समागम, शिखिध्वजकी परीक्षाके लिये चूडालाद्वारा मायाके बलसे इन्द्रका प्राकट्य, इन्द्रका राजासे स्वर्ग चलनेका अनुरोध, राजाके अस्वीकार करनेपर परिवारसहित इन्द्रका अन्तर्धान होना ४८३
१८५–मायाचक्रका निरूपण, चित्तनिरोधकी प्रशंसा, भगवत्प्राप्तिकी महिमा, मनकी सर्प और विषवृक्षसे तुलना, उद्दालक मुनिका परमार्थचिन्तन ... २९८
१८६–मायिक रूपका निराकरण करके सन्मात्रत्वका प्रदर्शन, अविद्याके स्वरूपका निरूपण, संक्षेपमें ज्ञानभूमिका एवं जीवात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन ... २१५
१८७–मुनिका व्याधके प्रति बहुत-से प्राणियोंको एक साथ सुख-दुःखकी प्राप्तिके निमित्तका निरूपण करना ६४६
१८८–मुनिके उपदेशसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति, पूर्वदेहमें गमनकी असमर्थताके विषयमें प्रश्न करनेपर देह आदिके भस्म होनेके प्रसङ्गमें मुनिके आश्रम और दोनों शरीरोंके जलने तथा वायुद्वारा उस अग्निके शान्त होनेका वर्णन ६४८
१८९–मुनिको परमपदकी प्राप्ति, व्याधके महाशवका वर्णन, अग्निका स्वर्गलोक-गमन, भासद्वारा आत्मकथाका वर्णन तथा बहुत-से आश्चर्योंका वर्णन करके आत्मतत्त्वका निरूपण ... ६५२
१९०–मृत पुरुषके प्राणोंमें स्थित जगत्के आकाशमें भ्रमणका वर्णन तथा परब्रह्ममें जगत्की असत्ताका प्रतिपादन ५२८
१९१–मोक्षके स्वरूप तथा जाग्रत् और स्वप्नकी समताका निरूपण ६२१
१९२–यह जगत् ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्म ही है, इसका विवेचन ६८९
१९३–यह दृश्य-प्रपञ्च मनका विलासमात्र है, इसका ब्रह्माजीके द्वारा अपने अनुभवके अनुसार प्रतिपादन १८६
१९४–युद्धका उपसंहार, राजा विदूरथके शयनागारमें गवाक्षरन्ध्रसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश तथा सूक्ष्म चिन्मय शरीरकी सर्वत्र गमनशक्तिका प्रतिपादन १४३
१९५–युद्धका वर्णन तथा उभय पक्षको सहायता देनेवाले विभिन्न जनपदों और स्थानोंका उल्लेख १४१
१९६–युवावस्थाके दोष ४७
१९७–योगकी सात भूमिकाओंका अभ्यासक्रम और लक्षण, योगभ्रष्ट पुरुषकी गति एवं महान् अनर्थकारिणी हथिनीरूप इच्छाके स्वरूप और उसके नाशके उपाय ... ५०५
१९८–राजस-सात्त्विक कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन, जगत्की अनित्यता एवं परमात्माकी सर्वव्यापकताकी भावनाके लिये उपदेश, श्रीरामके आदर्श गुणोंको अपनाने एवं पौरुष-प्रयत्न करनेसे जीवन्मुक्त पदकी प्राप्तिका कथन ... २४७
१९९–राजा जनककी जीवन्मुक्तरूपसे स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रज्ञाके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन २६१
२००–राजा जनकद्वारा संसारकी स्थितिपर विचार और उनका अपने चित्तको समझाना ... २५९
२०१–राजा दशरथका विपश्चित्को पुरस्कार देनेकी आज्ञा देते हुए सभाको विसर्जित करना, दूसरे दिन सभामें वसिष्ठजीद्वारा कथाका आरम्भ, ब्रह्मके वर्णनद्वारा अविद्याके निराकरणके उपाय, जितेन्द्रियकी प्रशंसा और इन्द्रियोंपर विजय पानेकी युक्तियाँ ... ६५४
२०२–राजा पद्मके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन, मन्त्रीद्वारा राजाका जन्म-वृत्तान्त-वर्णन, राजा विदूरथ और सरस्वती देवीकी बातचीत, वसिष्ठजीद्वारा अज्ञानावस्थामें जगत् और स्वप्नकी सत्यताका वर्णन, सरस्वतीद्वारा विदूरथको वरप्रदान, नगरपर शत्रुका आक्रमण और नगरकी दुरवस्थाका कथन, भयभीत हुई राजमहिषीका राजाकी शरणमें आना, लीलाको दूसरे वररूप राजा पद्मकी प्राप्ति ... १४६
२०३–राजा प्रज्ञप्तिके प्रश्नोंपर श्रीवसिष्ठजीका विचार एवं निर्णय ६९१
२०४–राजा बलिका शुक्राचार्यके दिये हुए उपदेशपर विचार करते-करते समाधिस्थ हो जाना,

दानवोंके स्मरण करनेसे आये हुए दैत्यगुरुका बलिकी सिद्धावस्थाको बताकर उनकी चिन्ता दूर करना २७८

२०५–राजा बलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचारका उदय तथा उनका अपने पितासे पहलेके पूछे हुए प्रश्नोंका स्मरण करना ... २७२

२०६–राजा भगीरथका सर्वस्व-त्याग, भिक्षाटन और गुरु त्रितलके साथ निवास, भगीरथको पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदिकी आराधना करनेसे गङ्गाजीका भूतलपर अवतरण ... ४३५

२०७–राजा विदूरथका वासनामय यमपुरीमें गमन, लीला और सरस्वतीद्वारा उसका अनुगमन और पूर्व-शरीरकी प्राप्तिका वर्णन, लीलाके शरीरकी असत्यताका कथन, समाधिमें स्थित लीलाके शरीरका विनाश, लीलाके साथ वार्तालाप और राजा पद्मके पुनरुज्जीवनका कथन, राजाके जी उठनेसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, लीलोपाख्यानके प्रयोजनका विस्तारसे कथन ... १६७

२०८–राजा विदूरथका विशाल सेनाके साथ युद्धके लिये प्रयाण, युद्धारम्भ, लीलाके पूछनेपर सरस्वतीद्वारा राजा सिन्धुके विजयी होनेमें हेतु-कथन, विदूरथ और राजा सिन्धुके दिव्यास्त्रोंद्वारा किये गये युद्धका सविस्तर वर्णन, राजा विदूरथकी पराजय और देशपर राजा सिन्धुके अधिकारका कथन ... १५४

२०९–राजा विदूरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और द्वितीय लीलाकी वासनारूपताका वर्णन, लीलाके गमन-मार्ग और स्वामी पद्मकी प्राप्तिका कथन, पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आयुके मानका वर्णन, आदि-सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र गतियों तथा ईश्वरकी स्थितिका निरूपण १५९

२१०–राजा विपश्चित्‌का अपने मस्तककी आहुतिसे अग्निदेवको संतुष्ट करके चार दिव्य रूपोंमें प्रकट होना ६२५

२११–राजा विपश्चित्‌के सामन्तोंका वध, उत्तर दिशाके सेनापतिका घायल होकर आना तथा शत्रुओंके आक्रमणसे राजपरिवार और प्रजामें घबराहट ६२३

२१२–राजा शिखिध्वजका चूडालाके वचनोंको अयुक्त बतलाना; चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास करना एवं श्रीरामचन्द्रजीके पूछनेपर श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कुण्डलिनीशक्तिका तथा विभिन्न शरीरोंमें जीवात्माकी स्थितिका वर्णन ... ४४२

२१३–राजा शिखिध्वजकी ज्ञानमें दृढ़ स्थिति तथा जीवन्मुक्तिमें चित्तराहित्य एवं तत्त्वस्थितिका वर्णन ४७५

२१४–राजा शिखिध्वजके क्रोधकी परीक्षा करनेके लिये चूडालाका मायाद्वारा राजाको जार-समागम दिखाना और अन्तमें राजाके विकार-युक्त न होनेपर अपना असली रूप प्रकट करना ४८५

२१५–राजा शिखिध्वजद्वारा कुम्भकी प्रशंसा, कुम्भका ब्रह्माजीके द्वारा किये हुए ज्ञान और कर्मके विवेचनको सुनाना, राजाद्वारा कुम्भका शिष्यत्व स्वीकार ४५७

२१६–(श्री) राम आदि राजकुमारोंकी तात्कालिक दिनचर्या, वसिष्ठजी तथा अन्य सभासदोंका पुनः सभामें प्रवेश, राजा दशरथद्वारा मुनिके उपदेशकी प्रशंसा तथा श्रीरामकी उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये प्रार्थना ... २५०

२१७–(श्री) रामका कुन्ददन्त नामक ब्राह्मणके आगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करना और वसिष्ठजीके पूछनेपर कुन्ददन्तका अपने संशयकी निवृत्ति तथा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिको स्वीकार करते हुए अपना अनुभव बताना ... ६६३

२१८–(श्री) रामकी प्रबल वैराग्यपूर्ण जिज्ञासा तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिये प्रार्थना ... ५९

२१९–(श्री) रामचन्द्र आदिका महाराज वसिष्ठजीको सभामें लाना तथा महर्षि वसिष्ठजीके द्वारा उपदेशका आरम्भ, चित्तके विनाशका और श्रीरामचन्द्रजीकी ब्रह्मरूपताका निरूपण ... ३६३

२२०–(श्री) रामचन्द्रजीका भाषण सुनकर सबका आश्चर्यचकित होना, आकाशसे फूलोंकी वर्षा, सिद्ध पुरुषोंके उद्गार, राजसभामें सिद्धों और महर्षियोंका आगमन तथा उन सबके द्वारा श्रीरामके वचनोंकी प्रशंसा ... ६२

२२१–(श्री) रामचन्द्रजीके द्वारा जगत्‌की असत्ता एवं 'सर्वं ब्रह्म' के सिद्धान्तका प्रतिपादन ... ६७४

२२२–(श्री) रामचन्द्रजीके द्वारा बोधके पश्चात् होनेवाली शान्त एवं संकल्पशून्य स्थितिका वर्णन … … ६७३

२२३–(श्री) रामचन्द्रजीके प्रश्नके अनुसार उत्तम बोधकी प्राप्तिमें शास्त्र आदि कैसे कारण बनते हैं, यह बतानेके लिये श्रीवसिष्ठजीका उन्हें कीरकोपाख्यान सुनाना, लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे कीरकोंका सुखी होना … ६७६

२२४–(श्री) रामचन्द्रजीके मुखसे ज्ञानी महात्माकी स्थितिका एवं अपने परब्रह्मस्वरूपका वर्णन … ६७२

२२५–(श्री) रामजीके विविध प्रश्न और श्रीवसिष्ठजीके द्वारा उनके उत्तर … ६६६

२२६–रुद्र और काली आदिके रूपमें चिन्मय परमात्म-सत्ताकी ही स्फूर्तिका प्रतिपादन तथा सच्चिदानन्दघनका विलास ही रुद्रदेवका नृत्य है—इसका कथन … ५९९

२२७–रुद्रकी छायारूपिणी काल-रात्रिके स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्यका वर्णन … … ५९७

२२८–रुद्रदेवका ब्रह्माण्डखण्डको निगलकर निराकार चिदाकाशरूपसे स्थित होना तथा वसिष्ठजीका उस पाषाण-शिलाके अन्य भागमें भी नूतन जगत्को देखना और पृथ्वीकी धारणाके द्वारा पार्थिव जगत्का अनुभव करना … ६०३

२२९–लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित हो युद्धका दृश्य देखना … १३९

२३०–लीला और सरस्वतीका संवाद—जगत्की असत्ता एवं अजातवादकी स्थापना … १२४

२३१–लीला और सरस्वतीका संवाद—सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन … १२६

२३२–लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके द्वारा अपने पूर्व-जन्मके स्वजनोंके दर्शन, ज्येष्ठ-शर्माको माताके रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण … … १३१

२३३–लीलाका सरस्वतीसे कृत्रिम और अकृत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीका इस विषयको समझानेके लिये लीलाके जीवनसे मिलते-जुलते एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवनका वृत्तान्त सुनाना … … १२१

२३४–लीलाकी सत्य-संकल्पता, उसे अपने अनेक जन्मोंकी स्मृति, लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण तथा परम व्योम—परमात्माकी अनादि-अनन्त सत्ताका प्रतिपादन … १३३

२३५–लीलाद्वारा ब्रह्माण्डोंका निरीक्षण, दोनों देवियोंका भारतवर्षमें लीलाके पतिके राज्यमें जाना और वहाँ युद्धका आयोजन देखना, सूरके लक्षण तथा डिम्भाहवकी परिभाषा … १३७

२३६–(श्री) वसिष्ठ और श्रीरामका संवाद, दृश्यका परिमार्जन, सबकी चिदाकाशरूपताका प्रतिपादन, श्रीरामका प्रश्न और उसके उत्तरमें श्रीवसिष्ठद्वारा प्रज्ञप्तिके उपाख्यानका आरम्भ ६८८

२३७–(श्री) वसिष्ठजी और सिद्धका आकाशमें अभीष्ट स्थानोंको जाना, वसिष्ठजीका मनोमय देहसे सिद्धादि लोकोंमें भ्रमण करना, श्रीवसिष्ठजीका अपनी सत्यसंकल्पताके कारण सबके दृष्टिपथमें आना, व्यवहारपरायण होना तथा 'पार्थिव वसिष्ठ' आदि संज्ञाओंको प्राप्त करना, पाषाणोपाख्यानकी समाप्ति और सबकी चिन्मय ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन … ६११

२३८–(श्री) वसिष्ठजीका मध्याह्न-कालमें प्रवचन समाप्त करके सबको विदा देनेके पश्चात् अपने आश्रममें जाना और दैनिक कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर होना … … २४१

२३९–(श्री) वसिष्ठजीका विद्याधरीके साथ लोकालोक पर्वतपर पाषाणशिलाके पास पहुँचना, उस शिलामें उन्हें विद्याधरीकी बतायी हुई सृष्टिका दर्शन होना, विद्याधरीका इसमें उनके अभ्यासाभावको कारण बताकर अभ्यासकी महिमाका वर्णन करना … ५८१

२४०–(श्री) वसिष्ठजीका समाधि-कालमें अपनी स्तुति करनेवाली स्त्रीका अवलोकन और उसकी उपेक्षा करके अनेक विचित्र जगत्का दर्शन करना तथा महाप्रलयके समय सब जीवोंके प्रकृति-लीन हो जानेपर पुनः किसको सृष्टिका ज्ञान होता है—श्रीरामके इस प्रश्नका उत्तर देना … … ५७३

२४१–(श्री) वसिष्ठजीके कहनेपर श्रोताओंका सभासे उठकर दैनिक क्रिया करना तथा सुने गये विषयोंका चिन्तन करना … … ३६२

२४२–(श्री) वसिष्ठजीके द्वारा आतिवाहिक शरीरमें आधिभौतिकताके भ्रमका निराकरण ··· ५८४
२४३–वसिष्ठजीके द्वारा चिदाकाशरूपसे देखे गये जगतोंकी अपनेसे अभिन्नताका कथन, आर्यापाठ करनेवाली स्त्रीके कार्य तथा सम्भाषण आदिके विषयमें श्रीरामके प्रश्न और वसिष्ठजीके उत्तरका वर्णन ··· ५७५
२४४–(श्री) वसिष्ठजीके द्वारा जल और तेजस् तत्त्वकी धारणासे प्राप्त हुए अनुभवका उल्लेख ··· ··· ६०४
२४५–(श्री) वसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति जीवन्मुक्त पुरुषकी विशेषता, रागसे बन्धन और वैराग्यसे मुक्ति तथा तुर्यपद और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन ··· ५०३
२४६–(श्री) वसिष्ठजीके द्वारा समता एवं समदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा ··· ६७८
२४७–(श्री) वसिष्ठजीके ध्यानसे उत्पन्न हुई अग्निमें मृगके प्रवेशका तथा उसके विपश्चित् देहकी प्राप्तिका वर्णन ··· ··· ६४१
२४८–(श्री) वसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन, अपनी युवावस्थाके व्यर्थ बीतनेका उल्लेख ··· ५७८
२४९–(श्री) वसिष्ठजीद्वारा ब्रह्माजीके और अपने जन्मका वर्णन, ज्ञान-प्राप्तिका विस्तार, श्रीरामजीके वैराग्यकी प्रशंसा, वक्ता और प्रश्नकर्ताके लक्षण आदिका विशेषरूपसे वर्णन ७७
२५०–वायु, ताड़, पलाश, कनेर, कल्पवृक्ष, वनस्थली और चम्पकवनका वर्णन करते हुए सहचरोंका महाराजसे राजाओंकी भेंट स्वीकार करके उन्हें विभिन्न मण्डलोंकी शासन-व्यवस्था सौंपनेके लिये अनुरोध करना तथा विपश्चितोंका अग्निसे वरदान प्राप्त करके दृश्यकी अन्तिम सीमा देखनेके लिये उद्यत होना ··· ६३३
२५१–(श्री) वाल्मीकिजीके द्वारा लय-क्रमका और भरद्वाजजीके द्वारा अपनी स्थितिका वर्णन, वाल्मीकिजीद्वारा मुक्तिके उपायोंका कथन, श्रीविश्वामित्रजीद्वारा भगवान् श्रीरामके अवतार ग्रहण करनेका प्रतिपादन एवं ग्रन्थ-श्रवणकी महिमा ··· ··· ५११
२५२–(श्री) वाल्मीकि-भरद्वाज-संवादका उपसंहार, इस ग्रन्थकी महिमा तथा श्रोताके लिये दान-मान आदिका उपदेश ··· ··· ६०६
२५३–वासना, अभिमान और एषणाका त्याग करके परमात्मपदमें प्रतिष्ठित होनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वज्ञानी महात्माकी महत्तम स्थितिका वर्णन २४४
२५४–वासनाओंके क्षयका उपाय और ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासका निरूपण ··· ··· १२९
२५५–विचारकी प्रौढ़ता, वैराग्य एवं सद्गुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन ··· ··· ३५१
२५६–विचार, संतोष और सत्समागमका विशेषरूपसे वर्णन तथा चारों गुणोंमेंसे एक ही गुणके सेवनसे सद्गतिका कथन ··· ८७
२५७–विद्याधरीका पाषाण-जगत्के ब्रह्माजीको ही अपना पति बनाना और उन्हें समाधिसे जगाना, उनके और देवतादिके द्वारा वसिष्ठजीका स्वागत-सत्कार, वसिष्ठजीके पूछनेपर ब्रह्माजीका उन्हें अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना और उस कुमारी नारीको वासनाकी देवी बताना ··· ५८५
२५८–विद्याधरीका वैराग्य और अपने तथा पतिके लिये तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके हेतु उसकी वसिष्ठ मुनिसे प्रार्थना ··· ५८०
२५९–विपश्चितोंके विहारका तथा जीवन्मुक्तोंकी सर्वोत्तमरूप स्थितिका वर्णन ··· ६३६
२६०–विपश्चित्के अनुचरोंका उन्हें आकाश, पर्वत, पर्वतीय ग्राम, मेघ, कुत्ते, कौए और कोकिल आदिको दिखाकर अन्योक्तियोंद्वारा विशेष अभिप्राय सूचित करना ··· ६२७
२६१–विरक्त एवं विवेकयुक्त ज्ञानी तथा भोगासक्त मूढ़की स्थितिमें अन्तर, जगत्को मिथ्या मानकर उसमें आस्था न रखने, देहाभिमानको छोड़ने और अपने विशुद्ध स्वरूप (परमात्मपद) में स्थित होनेका उपदेश २४३
२६२–विरोचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश २७४
२६३–विविध युक्तियोंद्वारा दैवकी दुर्बलता और पुरुषार्थकी प्रधानताका समर्थन ··· ७४

२६४—विश्वामित्र आदिकी प्रेरणासे राजा दशरथका श्रीरामको सभामें बुलाकर उनका मस्तक सूँघना और मुनिके पूछनेपर श्रीरामका अपने विचारमूलक वैराग्यका कारण बताना ३३

२६५—विश्वामित्रका अपने यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीरामको माँगना और राजा दशरथका उन्हें देनेमें अपनी असमर्थता दिखाना … २८

२६६—विश्वामित्रका रोष, वसिष्ठजीका राजा दशरथको समझाना, राजा दशरथका श्रीरामको बुलानेके लिये द्वारपालको भेजना तथा श्रीरामके सेवकोंका महाराजसे श्रीरामकी वैराग्यपूर्ण स्थितिका वर्णन करना … ३०

२६७—विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश करनेके लिये अनुरोध करना और वसिष्ठजीका उसे स्वीकार कर लेना … … ६८

२६८—विश्वामित्रजीका श्रीरामको तत्त्वज्ञान बताते हुए उनके सामने शुकदेवजीका दृष्टान्त उपस्थित करना, शुकदेवजीका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परमात्मामें लीन होना … ६५

२६९—वीतहव्य महामुनिकी समाधि और उससे जागना, छः रात्रितक पुनः समाधि, चिरकालतक जीवन्मुक्त-स्थिति, उनके द्वारा दुःख-सुकृत आदिको नमस्कार और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना … … ३४८

२७०—वीतहव्य मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको बोधित करना … ३४४

२७१—वृद्धावस्थाकी दुःखरूपता … ५०

२७२—वेताल और राजाका संवाद … ४३१

२७३—वेतालकृत छः प्रश्नोंका राजाद्वारा समाधान ४३२

२७४—वैराग्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माद्वारा विवेक नामक दूतका भेजा जाना, विवेकज्ञानसम्पन्न पुरुषकी महिमा तथा जीवके सात रूपोंका वर्णन … ५६४

२७५—व्याध और उस मुनिके वार्तालापके प्रसङ्गमें जीवन्मुक्त ज्ञानीके स्वरूपका वर्णन तथा अभ्यासकी प्रशंसा … … ६५०

२७६—शरीर और संसारकी अनिश्चितता तथा भ्रान्तिरूपताका वर्णन … ३९२

२७७—शरीरका कारण मन है तथा मनके कारण प्राण-स्पन्द और वासना, इनका कारण विषय, विषयका कारण जीवात्मा और जीवात्माका कारण परमात्मा है—इस तत्त्वका प्रतिपादन … ३५४

२७८—शरीर-निन्दा … … ४३

२७९—शरीररूपी नगरीके सम्राट् ज्ञानीके रागरहित स्थितिका वर्णन … … २२५

२८०—शास्त्रके अनुसार सत्कर्म करनेकी प्रेरणा, पुरुषार्थसे भिन्न प्रारब्धवादका खण्डन तथा पौरुषकी प्रधानताका प्रतिपादन … ७१

२८१—शास्त्रचिन्तन, शास्त्रीय सदाचारके सेवन तथा शास्त्रविपरीत आचारके त्यागसे लाभ … २२८

२८२—शास्त्राभ्यास और गुरूपदेशकी सफलता, ब्रह्मके नामभेदोंका और स्वरूपका रहस्य एवं दुःखनाशका उपाय … … ४०७

२८३—शास्त्रीय शुभ उद्योगकी सफलताका प्रतिपादन, अहंकारकी बन्धकता और उसके त्यागसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन … २२९

२८४—शिखिध्वज और चूडालाके आख्यानका आरम्भ, शिखिध्वजके गुणोंका तथा चूडालाके साथ विवाह और क्रीड़ाका वर्णन … ४३७

२८५—शिलाके रूपमें ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन … ४११

२८६—शिव और शक्तिके यथार्थ स्वरूपका विवेचन … ६००

२८७—शुद्ध चित्तमें थोड़ेसे ही उपदेशसे महान् प्रभाव पड़ता है, यह बतानेके लिये कहे गये भुशुण्डवर्णित विद्याधरके प्रसङ्गका उपसंहार, जीवन्मुक्त या विदेहमुक्तके अहंकारका नाश हो जानेसे उसे संसारकी प्राप्ति न होनेका कथन … … ५२७

२८८—शुद्ध चेतन आत्मा और जीवात्माके स्वरूपका विवेचन … … ३९९

२८९—शेष दो विपश्चितोंके वृत्तान्तका वर्णन तथा मृगरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त हुए एक विपश्चित्का राजसभामें लाया जाना … ६४०

२९०—संकल्प-त्यागसे द्वैतभावनाकी निवृत्ति और परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिका प्रतिपादन … … ४००

२९१—संसक्ति और असंसक्तिका लक्षण, आसक्तिके भेद, उनके लक्षण और फलका वर्णन, आसक्तिके त्यागसे जीवात्मा कर्म-फलसे सम्बद्ध नहीं होता—इसका कथन … ३२४

२९२–संसारके चार बीजोंका वर्णन और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे ही इन बीजोंके विनाशपूर्वक मोक्षका प्रतिपादन ५३६
२९३–संसारके मिथ्यात्वका दिग्दर्शन तथा मोहसे जीवके पतनका कथन ... ४२८
२९४–संसारके मूलभूत अहंभावका आत्मबोधके द्वारा उच्छेद करके परमात्मस्वरूपसे स्थित होनेका उपदेश ५१८
२९५–संसार-चक्रके अवरोधका उपाय, शरीरकी नश्वरता और आत्माकी अविनाशिता एवं अहंकाररूपी चित्तके त्यागका वर्णन तथा श्रीमहादेवजीके द्वारा श्रीवसिष्ठजीके प्रति निर्गुण निराकार परमात्माकी पूजाका प्रतिपादन ... ३९४
२९६–संसारप्राप्तिकी अनर्थरूपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य, श्रीराममें प्रश्नकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन, जीवन्मुक्तिरूप फलके हेतुभूत वैराग्य आदि गुणोंका तथा श्रमका विशेषरूपसे निरूपण ८२
२९७–संसाररूपा मायाका मिथ्यात्व, साधनाका क्रम, आत्माके अज्ञानसे दुःख और ज्ञानसे ही सुखका कथन, आत्माकी निर्लेपता और जगत्की असत्ताका प्रतिपादन ... २५३
२९८–संसार-वृक्षके उच्छेदके उपाय, प्रतीयमान जगत्की असत्ता, ब्रह्ममें ही जगत्की प्रतीति तथा सर्वत्र ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन ... ५२३
२९९–सच्चिदानन्दघन परमदेव परमात्माके ध्यानरूप पूजनसे परमपदकी प्राप्ति ... ४०४
३००–सत्का विवेचन और देहात्मवादियोंके मतका निराकरण ६१६
३०१–सबकी चिन्मात्ररूपताका निरूपण तथा ज्ञानी महात्माके लक्षणोंका वर्णन ... ६१७
३०२–सब कुछ ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन ... ४९६
३०३–सब कुछ ब्रह्म है, जगत् वस्तुतः असत् है, वह ब्रह्मका संकल्प होनेसे उससे भिन्न नहीं है, जीवात्माको अज्ञानके कारण ही जगत्की प्रतीति होती है, इसका प्रतिपादन ... ६६५
३०४–सबके परम कारण परम पूजनीय परमात्माका वर्णन ४०२
३०५–सभासदोंका कृतार्थता-प्रकाशन तथा वसिष्ठजीकी आज्ञासे महाराज दशरथका ब्राह्मणोंको भोजन कराना और सात दिनोंतक दान-मानसे सम्पन्न उत्सव मनाना .. ६९४
३०६–समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है—यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशंकरका अपने वासस्थानको जाना तथा श्रीवसिष्ठजी और श्रीरामजीके द्वारा अपनी-अपनी स्थितिका वर्णन ... ४०८
३०७–समाधिकालमें वसिष्ठजीके द्वारा अनन्त चेतनाकाशमें असंख्य ब्रह्माण्डोंका अवलोकन ... ५७२
३०८–समाधिसे जगे हुए बलिका विचारपूर्वक समभावसे स्थित होना, श्रीहरिका उन्हें त्रिलोकीके राज्यसे हटाकर पातालका ही राजा बनाना, उस अवस्थामें भी उनकी समतापूर्ण स्थिति तथा श्रीरामके चिन्मय स्वरूपका वर्णन ... २८१
३०९–समूल कर्मत्यागके स्वरूपका विवेचन ... ५१७
३१०–सरस्वती और लीलाका ज्ञानदेहके द्वारा आकाशमें गमन और उसका वर्णन ... १३०
३११–सरस्वतीकी आज्ञासे पतिके शवको फूलोंकी ढेरीमें रखकर समाधिस्थ हुई लीलाका पतिके वासनामय स्वरूप एवं राजवैभवको देखना तथा समाधिसे उठकर पुनः राजसभामें सभासदोंका दर्शन करना ... ११८
३१२–सरोवर, भ्रमर और हंसविषयक अन्योक्तियाँ ... ६३१
३१३–सर्वत्र और सभी रूपोंमें चेतन आत्माकी ही स्थितिका वर्णन २३२
३१४–सर्वथा विलीन हुए या विलीन होते हुए अहंकाररूप चित्तके लक्षण ... ४९८
३१५–सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे सबकी परब्रह्मरूपताका प्रतिपादन; अत्यन्त मूढ़को नहीं, विवेकी जिज्ञासुको ही 'सर्वं ब्रह्म' का उपदेश देनेकी आवश्यकता तथा बाजीगरसे दिखाये हुए खेलकी भाँति मायामय जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन ... २३४
३१६–सांख्ययोग और अष्टाङ्गयोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति ४२२
३१७–सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारता, क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका तथा सत्पुरुषोंकी दुर्लभताका प्रतिपादन ५५

३१८–सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य एवं जीवन्मुक्त महात्माओंके उत्तम गुणोंका उपदेश, बारंबार होनेवाले ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड एवं विविध भूतोंकी सृष्टि-परम्परा तथा ब्रह्ममें उसके अत्यन्ताभावका कथन २४१

३१९–सात भूमिकाओंका, जीवन्मुक्त महात्मा पुरुषके लक्षणोंका एवं जीवको संसारमें फँसानेवाली और संसारसे उद्धार करनेवाली भावनाओंका वर्णन करके मनु महाराजका ब्रह्मलोकमें जाना ५००

३२०–सिद्ध आदिके लोकोंकी संकल्परूपता बताते हुए इस जगत्‌को भी वैसा ही बताना और ब्रह्ममें अहंभावका स्फुरण ही हिरण्यगर्भ है, उसका संकल्प होनेके कारण त्रिलोकी भी ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन ६९२

३२१–सिद्धों और सभासदोंद्वारा श्रीवसिष्ठजीको साधुवाद, देव-दुन्दुभियोंका नाद, दिव्य पुष्पोंकी वर्षा, गुरु-पूजन-महोत्सव, श्रीदशरथजी और श्रीरामजीके द्वारा गुरुदेवका सत्कार, सभ्यों और सिद्धोंद्वारा पुनः श्रीवसिष्ठजीकी स्तुति ६८२

३२२–सिद्धोंके उपदेशको सुनकर राजा जनकका एकान्तमें स्थित हो संसारकी नश्वरता एवं आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अपने आन्तरिक उद्गार एवं निश्चयको प्रकट करना २५७

३२३–सुतीक्ष्ण और अगस्ति, कारुण्य और अग्निवेश्य, सुरुचि तथा देवदूत और अरिष्टनेमि एवं वाल्मीकिके संवादका उल्लेख करते हुए भगवान्‌के श्रीरामावतारमें ऋषियोंके शापको कारण बताना ... १७

३२४–सृष्टिकी असत्यता और एकमात्र अखण्ड ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन ... ५६७

३२५–सृष्टिकी असत्यता तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन १७५

३२६ –सृष्टिकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन ... ६६२

३२७–सोकर उठी हुई चूडालाके द्वारा राजाकी खोज, वनमें राजाके दर्शन और राजाके भविष्यका विचार करके चूडालाका लौटना, नगरमें आकर राज्यशासन करना, तदनन्तर कुछ समय बाद राजाको ज्ञानोपदेश देनेके लिये ब्राह्मणकुमारके वेषमें उनके पास जाना, राजाद्वारा उसका सत्कार और परस्पर वार्तालापके प्रसङ्गमें कुम्भद्वारा कुम्भकी उत्पत्ति, वृद्धि और ब्रह्माजीके साथ उसके समागमका वर्णन ... ४५२

३२८–स्त्रीरूप तरङ्गसे युक्त संसाररूपी समुद्र, उससे तरनेके उपाय और तरनेके अनन्तर सुखपूर्वक विचरणका वर्णन; जीवन्मुक्त महात्माओंके गुण, लक्षण और महिमा ... ३३७

३२९–स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निराकरण ... ४९

३३०–स्थूल शरीरकी निन्दा, मनोमय शरीरकी विशेषता, उसे सत्कर्ममें लगानेकी प्रेरणा, ब्रह्मा और उनके द्वारा निर्मित जगत्‌की मनोमयता, जीवका स्वरूप और उसकी विविध सांसारिक गति तथा सृष्टिके दोष एवं मिथ्यात्वका उपदेश ... १८८

३३१–स्वप्नजगत्‌की भी ब्रह्मरूपता एवं सत्यताका प्रतिपादन ५७७

३३२–स्वरूपकी विस्मृतिसे ही भेदभ्रमकी अनुभूति, चित्तशुद्धि एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओंके शोधनसे ही भ्रमनिवारणपूर्वक आत्मबोधकी प्राप्ति तथा वैराग्यमूलक विवेकसे ही मोक्षलाभका वर्णन ... २२०

निबन्ध-सूची

१–अखण्ड साधन (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन) १२२३

२–अनन्य भक्तिसाधनका स्वरूप (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०८९

३–अन्तकालमें हुए परमात्मचिन्तनका महत्त्व (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ७७०

४–अपने आपके साथ दुर्व्यवहार मत कीजिये (श्रीचूड़ामन मोतीलालजी मुंशी) ... ११३९

५–अपराधीसे महात्मा (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ... ८११, ८७३ ... १०८४

६–अशोक होटलमें गोमांस ! ... १३९४

७–अष्टप्रही ...

८–आगामी अष्टग्रही … … १२०३

९–आगामी अष्टग्रही योग (हनुमानप्रसाद पोद्दार) … … १३३१

१०–आजकी शोचनीय प्रगति (श्रीरामकुटिया, रेवदरसे) … … ७९९

११–आठवाँ आश्चर्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … … १११३

१२–आत्म-निर्भरता (पं० श्रीजयकान्तजी झा) … ९१७

१३–आशौच-निर्णय (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) … १३०७

१४–ईश्वरकी पञ्चधा स्थिति (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) … … ९६९

१५–ईश्वर-पूजन (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) … ७६७, ८३१

१६–उच्चस्तरका जीवन किसमें ? … ९४१

१७–उत्तराखण्डकी यात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव) … ७३३, ७८७, ८६५, ९१९, ९९९, १०५५, ११०९, ११८७, १२४२, १३१८, १३७१

१८–एंटीबायोटिक दवाओंके कारखाने रोगनाशके लिये या विस्तारके लिये ? … १३८७

१९–एकश्लोकी योगवासिष्ठ (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज) … … ४

२०–एक साधकके उद्गार … … १३०३

२१–एक साधकके उद्गार तथा प्रभुसे प्रार्थना … ९४०

२२–कर्तव्य-पालन या मूर्खता-प्रदर्शन ! (श्रीश्रीचन्दजी दोनेरिया) … १११७

२३–कर्मठता (मूल लेखक—प्रा० श्रीसावलापुरकर महोदय; भावानु०—प्रा० श्रीगोपालजी गुप्त, एम्० ए०, काव्यतीर्थ) … ११३४

२४–कर्म-मीमांसा (श्रीस्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) … … ७०३

२५–कर्मयोगके पाँच भेद (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … … १३४६

२६–कल्याण ('शिव') … ३, ७०२, ७६६, ८३०, ८९४, ९५८, १०२२, १०८६, ११५०, १२१४, १२७८, १३४२

२७–कस्मै देवाय हविषा विधेम (श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण', एम्० ए०) … १०९८

२८–कुछ विचारणीय बातें (श्रीरामरुद्रप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, बी० एल्०, आई० ए० एस्० 'अवकाशप्राप्त') … … १३८८

२९–कुब्जा-प्रसङ्गका रहस्य (पं० श्रीव्रजमोहनजी दीक्षित वैद्य) … … ७८६

३०–कैलास-मानसरोवरमें सिद्धयोगी महात्मा (भक्त श्रीरामशरणदासजी) … १११४

३१–क्या-क्या बढ़ा और बढ़ रहा है? … ९४५

३२–क्या श्रीमान्‌की स्त्री कभी भीख माँगती है ? (प्राध्यापक श्रीधर्मवीरजी एम्० ए०) … ९७५

३३–क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन (हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी) … ६९९

३४–गीता—एक राजशास्त्र (श्रद्धेय पं० श्री० दा० सातवलेकर महोदय) … ७१८

३५–गीताका सार (श्रीव्रिजलालजी बियाणी) … ७८३

३६–गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ११५५

३७–(श्री) गुरु गोरखनाथ (साहित्याचार्य रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी) … ८६०

३८–गृहस्थ-जीवनमें शान्तिका मार्ग (श्रीधर्मभानु सुकुमारजी एम्० ए०, शास्त्री, साहित्य-रत्न) … … ७४९

३९–गोवर्धन-पूजनका रहस्य (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य) … १०४०

४०–चन्द्र-परीक्षा-रहस्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) … … ८०३

४१–चिन्तन-कण (श्रीबालकृष्ण बलदुवा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) … ११२७

४२–जडवाद—भौतिकवाद (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) … … ९८७

४३–जहाँ हम सीखने जाते हैं ! … १३३६

४४–जीवनका लक्ष्य (विद्यामार्त्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री) … … ७३७

४५–जीवन-वर्षा [एक तरुण साधककी डायरीसे] … … १२४१

४६–जीवेम शरदः शतम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ) … १२१२

४७–ज्योतिष्पथ [एक तरुण साधककी डायरीसे] ... १०८८
४८–तलाक-कानून (श्रीप्रभुनारायणसिंहजी) ... १०७३
४९–तुझसे ही (श्रीबालकृष्णजी बलदुआ बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ८७२
५०–तुम्हारी रूप-तरङ्गोंके साथ एक तरङ्ग बना नाच रहा हूँ ११७०
५१–त्रिजटाने स्वप्न देखा (श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न) ... १३०४
५२–त्र्यम्बकं यजामहे (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) ... ९५९, ११५९
५३–दक्षिणके आराध्य भगवान् श्रीवेंकटेश्वर (श्रीवेंकटलालजी ओझा) ... ११६७
५४–धर्मपालनार्थ प्राणोत्सर्गसे श्रेय-प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ८३६
५५–नर्तकीकी नैतिकता (श्रीशान्तिचन्द्रजी मेहता एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... १०१२
५६–नाद-ब्रह्म और उसका स्वरूप (श्रीलक्ष्मीनारायणजी गर्ग) १०४२
५७–नाम-स्मरणका प्रभाव (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य) ७५७
५८–नाव तुझे सौंप दी ! (श्रीबालकृष्ण बलदुआ बी० ए०, एल्-एल्० बी०) १०२५
५९–निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२८२
६०–निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १२१८
६१–पञ्चतन्त्र और शतकत्रयकी कहावतें (डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११७१
६२–पढ़ो, समझो और करो ७६२, ८२५, ८९०, ९४९, १०१५, १०८०, ११४२, १२०७, ... १२७३, १३३७, १४०२
६३–पतनकारी सिनेमा और गंदे पोस्टरोंका घोर विरोध परमावश्यक ७४५
६४–पथिक (महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ... १०८७
६५–परम सुखदाता भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १२२१
६६–परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... १०२६
६७–परमात्मा, जीवात्मा और विश्व (मूल अंग्रेजी लेखक—ब्र० जगद्गुरु अनन्त श्रीशंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज, गोवर्धन मठ, पुरी) [अनु० पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि] ... ११५१, १२१५, १२७९,
६८–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ... ७०८, ९४४
६९–परिपूर्णता (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ११०७
७०–परिवार-नियोजनपर विनोबा (श्रीविनोबाजी) १२९०
७१–पश्चिमकी तड़क-भड़कमें भूलकर अपने मूल आधारको न छोड़ें (महात्मा गांधी) ... ९०३
७२–पागलकी झोली (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ७२३, ७७४, ... ८४२, ८९८
७३–पाप और पुण्यकी कमाई (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ८५३
७४–पुराण और कहावतें (डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... ९९७
७५–(श्री) पुरीधाम (आचार्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी गुप्त एम्० ए०, बी० टी०) ... १०६७
७६–प्राचीन वैदिक सभ्यता बनाम भारतमें आर्य-अभिमान (श्रीनीरजाकान्त चौधरी, देवशर्मा) ... ११२८, ११८१
७७–भक्ति और ज्ञानमें भेद (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र) ९४६
७८–भगवत्कृपासे अब मेरा हृदय उत्साह एवं निर्भमतासे छलक रहा है (कृष्ण) ... ७५८
७९–(श्री) भगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग—'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर) ... १२६४
८०–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना १२६८
८१–भगवान्का योगैश्वर्य और हृदयमाधुर्य (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ११७२
८२–भगवान्की अहैतुकी कृपाका चमत्कार है ... ९२३
८३–भगवान्की दिव्य ज्योति मेरे अंदर प्रकट हो गयी है ८९७
८४–भगवान्की वस्तु भगवान्को सौंप दो ... १३११

८५–भगवान् मेरे मनमें आ गये हैं ··· ९९४
८६–भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्का हूँ ··· ८९२
८७–भगवान् वसिष्ठकी जय (श्रीसूरजचन्द्रजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ··· ··· १०
८८–भगवान् श्रीरामको नमस्कार—(वसिष्ठ, नि० प्र० पू० २ । ६०) ··· १
८९–भगवान् हर समय हर जगह मेरे साथ रहते हैं १०६०
९०–(श्री) भरतलालजीका स्वप्न (श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न) ८६९
९१–भवतरणोपाय (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) ··· ··· १०९३
९२–भारतका एक बढ़ता हुआ दुर्व्यसन—धूम्रपान (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ··· १०५०
९३–भारतका पशुधन और उसकी रक्षा (श्रीकन्हैयालालजी आर्य) ··· १२०५
९४–भारतीय संस्कृतिके प्रतीक भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीआनन्दस्वरूपजी गुप्त, एम्० ए०, शास्त्री) ··· ··· १२५६
९५–भारतीय समाज और साहित्यपर रामके व्यक्तित्वका व्यापक प्रभाव (श्रीरघुवीरशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, बी० एड०) ··· ९०१
९६–भाव-संशुद्धि (विद्यामार्त्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्रीजी) ··· ··· ९०३
९७–मधुर ७२७, ७८१, ८५०, ९०४, ९८४, १०३८, ११०२, ११६३, १२३३, १३५७
९८–मन-इन्द्रियाँ मेरे आज्ञाकारी सेवक हो गये हैं ८१०
९९–मनुष्य-जीवनमें ईश्वरोपासनाकी सार्थकता (श्री श्रीदा० सातवलेकर महोदय) ··· १३४३
१००–मनोहर घाट (पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी, वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न) ··· ८२१
१०१–मशीन और सिनेमाके सम्बन्धमें श्रीगाँधीजीके विचार ··· ··· १२०२
१०२–महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार (श्रीसुतीक्ष्ण, नि० प्र० उ० २१६ । २६) ··· ··· १
१०३–महाकवि तुलसीदासका पाण्डित्यपूर्ण काव्य-कौशल (श्रीत्रिभुवननाथजी चौबे, एम्० ए०, रिसर्चस्कालर) ··· १२५९
१०४–माँ (महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज) ··· ··· १०२३
१०५–मांसाहारका तथा गोमांसका घृणित प्रचार ··· ७४४
१०६–मानवताके लिये मानवधर्म आवश्यक ··· १०७०
१०७–मानवता महाव्रत आवश्यक क्यों (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी अनन्तश्री श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज) ··· ··· ८९५
१०८–मानवरूपमें दानव (वैद्य पं० श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी) ··· १३८९
१०९–मायाकी प्रबलता और उसके निवारणका उपाय (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ८३९
११०–मुझपर भगवान्की निरन्तर अपार कृपा-वर्षा हो रही है ··· ··· ८२४
१११–मुमुक्षुके अनुभव (मुमुक्षु) ··· १३५१
११२–मूर्ति-प्रतिष्ठा (श्रीरावी) ··· १०५४
११३–मेरा महत्त्व मेरे प्रभुकी दृष्टिमें है, वे मेरी कभी भी उपेक्षा नहीं करते (श्रीकुञ्जविहारीजी) ··· ··· ९५६
११४–मेरा हृदय भगवत्कृपाके दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो रहा है (कृष्ण) ··· ७३१
११५–मेरे मोहका सर्वथा नाश हो गया है ··· ७९८
११६–मैं अपने भगवान्का खिलौना बन गया हूँ ··· ··· ८३५
११७–योग या भोग ? (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· ९७७
११८–योगवासिष्ठ और भगवद्गीता (श्री ग० ना० बोधनकर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ७११
११९–योगवासिष्ठका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये (भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· १५
१२०–योगवासिष्ठका मन्तव्य [ज्ञान और कर्मका समन्वय] (श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण' एम्० ए०, रिसर्चस्कालर) ··· ··· ७२९
१२१–योगवासिष्ठका साध्य-साधन ··· ११
१२२–योगवासिष्ठकी आजके आत्मशान्ति, विश्वशान्तिके इच्छुक विश्वको चुनौती तथा इस क्षणका ज्ञान-बन्धुत्व एवं ज्ञानाभास (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ··· ··· ९
१२३–योगवासिष्ठकी राज्य-मोक्ष-प्रदायिनी प्राणायाम-साधना (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ··· ७५९
१२४–योगवासिष्ठकी श्रेष्ठता और समीचीनता (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ५

१२५–योगवासिष्ठमें नारी-महत्त्व (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) … … ११७९

१२६–योगवासिष्ठमें भगवान् श्रीरामके स्वरूप तथा माहात्म्यका प्रतिपादन … … २

१२७–रामायणका एक पृष्ठ (श्रीविश्वम्भरसहायजी प्रेमी) … … १३६९

१२८–(श्री) राधा-स्वरूप-गुण-महिमा [श्रीराधाष्टमी महोत्सव (सं० २०१८) पर हनुमान्प्रसाद पोद्दारके भाषण] … १२९४

१२९–(श्री) रामका स्वभाव-सौन्दर्य (श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज) … १२८६

१३०–(श्री) रामचरितमानसकी एक अर्धाली (श्रीनर्मदाप्रसादजी वर्मा) … १३२२

१३१–(श्री) राम-रणक्रीड़ा (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न) … … ९९०

१३२–रूपकी साध (एक तरुण साधककी डायरीसे) ९३५

१३३–लड़कियोंका नाच या चरित्रनाश ? (श्रीलक्ष्मणप्रसादजी गुप्त, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, एडवोकेट) … … ८८७

१३४–लोकसंग्रहरूप आदर्श कर्मका तत्त्व-रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ९६२

१३५–वर्तमान भारत—एक विहङ्गम दृष्टि (श्रीरवीन्द्रजी) … … १३९७

१३६–विज्ञानके उच्च अध्ययनमें देवभाषा संस्कृतका महत्त्व (डा० श्रीरवीन्द्रप्रतापरावजी, प्राध्यापक, रसायनविभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) … ८०७

१३७–वृक्षारोपण-माहात्म्य (पं० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, व्याकरण-पुराणेतिहासाचार्य, एम्० ए०, सा० र०, प्रधानाचार्य) … १२७०

१३८–वेदोंका अद्यतन पाठ ही 'मूल' है (श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय एम्० ए०, साहित्याचार्य) … ८६२

१३९–वेदोंमें अद्वैतवाद (श्रीश्रुतिशील शर्मा, तर्कशिरोमणि) … … ७७८

१४०–वैज्ञानिक संजीवनी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) … ७३८, ७९२, ८८२, ९२४, १००४, १०६१, ११२०, ११९२, १२४७, १३२४, १३७८

१४१–वैष्णवताका स्वरूप (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) … … ९१२

१४२–व्यावहारिक अर्थशास्त्र (डा० सोहनलालजी गुप्त एम्० ए०, एम्० काम०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०) … ९०८

१४३–व्रज और वल्लभ-सम्प्रदाय (श्रीमाधवजी गोस्वामी) … … १०३५

१४४–संगीत—एक पवित्र परामर्श (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … … ९३६

१४५–सच्चा धनी और सच्चा दरिद्र कौन ? … १३३६

१४६–सती-धर्मकी उपादेयता (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) … … ९८१

१४७–सत्य-धर्मका वास्तविक स्वरूप (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … … १३११

१४८–सत्यनारायण-व्रत-कथाका दिव्य संदेश (आयुर्वेदरत्न पं० श्रीरामनरेशजी मिश्र, एम्० ए०, साहित्यरत्न) … १३६०

१४९–सबके कल्याणमें अपना कल्याण (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … … १३९१

१५०–समय खोनेपर पछताना और रोना ही पड़ता है … … ९६१

१५१–समस्याओंका मूल (साहित्याचार्य श्रीराममणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्यरत्न) … १०७६

१५२–सर्प-विज्ञान (पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पंकज' एम्० ए०, साहित्यवेदान्ताचार्य, सांख्ययोगाचार्य, साहित्यरत्न) … … १२५३

१५३–सांस्कृतिक प्रोग्रामोंमें लड़कियोंके नाच-गानपर कुछ रोक … … ९५६

१५४–सागर-संतरण (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) … १२८५

१५५–सावधान … … ९१८

१५६–सुख-दुःखका मर्म (पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') … १०१४

१५७–सुखी होनेका रहस्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') … १०१३

१५८–सौराष्ट्रकी प्रसिद्ध गीर जातिकी गायोंका अमेरिकाके लिये निर्यात … ११२६

१५९–'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णका प्राकट्य (श्रीजन्माष्टमी महोत्सवपर हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) … १२२८

१६०–स्वाहा और स्वधा (आचार्य श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०) … ७८५

१६१–हम सभ्य बनें (प्रो० डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एस्-सी०, साहित्यरत्न) ··· १३६५
१६२–हमारा एक महान् दुर्गुण अभिमान (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ··· ··· ११९८
१६३–हमारा राजा वेद और उसकी सेना (आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ) ··· १३५३
१६४–हृदयका पागलपन—घृणा (प्रो० 'कमल', एम्० ए०) ··· ··· १२४१

कहानी

१–अभय (श्री'चक्र') ··· ··· ७४६
२–जब भगवान्‌की परीक्षा ली गयी (श्री'उग्रराज') ९३०
३–तामस-त्याग (श्री'चक्र') ··· ११०४
४–धर्मो धारयति प्रजाः (श्री 'चक्र') ··· १३७५
५–नरक क्या ? (श्री'चक्र') ··· १३१४
६–पूर्णकाम (श्री'चक्र') ··· ८५७
७–वद्ध कौन ? (श्री'चक्र') ··· ९०५
८–भजन और भोजन (श्री'चक्र') ··· ९९५
९–राजस-त्याग (श्री'चक्र') ··· ११७६
१०–विरक्त कौन ? (श्री'चक्र') ··· १०४७
११–सात्त्विक त्याग (श्री'चक्र') ··· १२३७

पद्य-सूची

१–अनोखेका सब अनोखा ··· ··· १२३२
२–अन्तिम आधार (श्रीप्रेमलता बाजपेयी) ··· १३७७
३–अस्थिर जीवन (श्रीगणेशदत्त सारस्वत एम्० ए०) ८०२
४–आध्यात्मिक स्वराज्य (श्रीगणेशदत्तजी शर्मा'इन्द्र') १०११
५–उद्धवके प्रति (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· १३१७
६–एक खिलौना (विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ··· १२३६
७–एक सच्चिदानन्दमें ही मेरा नित्य निवास हो गया ११०३
८–कौन ? (श्रीगोविन्दजी एम्० ए०) ··· १२५२
९–क्योंकि पासमें तुम हो (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्ण-किरण') ··· ··· १४०१
१०–क्षमा-प्रार्थना (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· १२७२
११–गीत (डा० श्रीहरिवंशरायजी 'बच्चन' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ७३२, ८२०, ८८९, १११९, १३८५
१२–(श्री) गुरुवर वसिष्ठ-स्तवन (पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री) ··· १६
१३–चाणूर-मर्दन (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· १२०४
१४–छिपे पापीकी प्रार्थना ··· १०२०
१५–जिसने हृदयके नेत्रोंसे प्रभुके अंतस्‌की ओर देखा ··· १३५२
१६–जीवन्मुक्तका स्वरूप और आचार ··· ७००
१७–तन-मन-वचनका सदुपयोग ··· ९२९
१८–तमसो मा ज्योतिर्गमय (डा० मोहनजी अवस्थी, एम्० ए०, डी० फिल०) ··· ९४८
१९–तुम एक परिपूर्ण छाये हो ··· ८१९
२०–तुम ही तुम हो (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· १०७५
२१–तुम्हींने दिया है (डॉ० मोहनजी अवस्थी, डी० फिल०) ··· ··· ११८०
२२–ध्रुवको माताका उपदेश ··· ··· ११४९
२३–नित्य परम आनन्द छा गया ··· १३४०
२४–पवित्र प्रेम ··· ··· ७०७
२५–पापका बाप लोभ ··· ··· ९८६
२६–पापवासनामयी शूर्पणखाको दण्ड ··· ८९३
२७–प्रभुकी कृपामें विश्वास रक्खो ··· १३८८
२८–प्रभुकी कृपासे मैं सर्वत्र सबमें केवल प्रभुको ही देख रहा हूँ ··· ··· ११३३
२९–प्रभुके दर्शनका कभी अभाव नहीं होता ··· ९११
३०–प्रेमका यथार्थ स्वरूप ··· ··· ११६६
३१–ब्रह्म (श्रीआर० एमरसनकी रचनाका अनुवाद, अनु० श्रीविजय निर्बाध) ··· १११८
३२–भक्तकी प्रार्थना ··· १३४१
३३–भगवान् अपने दिव्य गुणोंके साथ मुझमें उतर रहे हैं ··· ··· १३६४
३४–भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें ··· ··· ८२९
३५–महाप्रसादसे दुःख-नाश ··· ··· १०६९

३६–मानवता (विद्यावाचस्पति डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०) ··· ··· १३१३
३७–मेरी जीवन-नदीकी धारा भगवच्चरणाम्बुधिकी ओर बह रही है ··· ··· ८४९
३८–मेरी नीचता और दयामयका स्वभाव ··· ९४३
३९–मेरे जीवनमें प्रभुकी सुधामधुर शान्ति प्रकट हो गयी ··· ··· १२२२
४०–मेरे मनमें अब प्रभु स्वच्छन्द विहार करते हैं ··· १०७९
४१–मैं एकमात्र प्रभुका ही सेवक हूँ, एकमात्र प्रभु ही मेरे स्वामी हैं ··· ··· १०३७
४२–मैं भी शुभ बन गया ··· ··· १०४६
४३–मैं सदा श्रीराधा-माधवको दिव्य लीला करते देख रहा हूँ ··· ··· १०९२
४४–मैं सबमें सच्चिदानन्द भगवान्‌को देखकर परमानन्द प्राप्त करूँगा ··· ··· ८५६
४५–'मैं' से रहित बना दो ··· ··· ११५४
४६–मोहकी महिमा ··· ·· १२१३
४७–मोहन मुरलीधर ··· ··· १२७७
४८–लीलारत दिव्य युगल ··· ··· १०२१
४९–वासिष्ठ-बोध-सार (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· ४
५०–शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् ··· ··· ९५७
५१–श्रीराधे ! वृषभानुनन्दिनी ! मुरलीधर जय नन्दकिशोर ! (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· १३८६
५२–सत्सङ्ग और दुःसङ्ग ··· ··· १०६६
५३–सन्धि-दूत—श्रीकृष्ण ··· ··· १०८५
५४–समाधान (श्रीबालकिशनजी गर्ग) ··· ११४८
५५–सरयू-तटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम ७०१
५६–सर्वत्र मेरे नाथ दीखने लगे ··· १२५८
५७–सारा बाग नजर आता है (नीरज) ··· ९७४
५८–स्नेह-सुमन (श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट-ला) ··· ··· ८८८

संकलित पद्य

१–एकाङ्गी प्रेम (श्रीतुलसीदासजी) ··· १२४६
२–जनकपुरमें श्रीराम-लक्ष्मण (रामच० मा० बाल० २१९ । १–४) ··· ··· ७६५
३–भगवन्नामकी महिमा (स्क० पु०) ··· १३५६
४–संतोंके लक्षण ··· ··· ११८६

चित्र-सूची

रंगीन

१–आकाशसे पुष्प-वृष्टि और सभासदोंद्वारा वसिष्ठजीको पुष्पाञ्जलि (निर्वाण-प्रकरण उ० सर्ग २१४) ··· ··· ५१६
२–काकभुशुण्डि और वसिष्ठ (निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध सर्ग १६) ··· ··· ५८०
३–जनकपुरमें श्रीराम-लक्ष्मण ··· ७६५
४–दशरथकी सभामें दिव्य महर्षियोंका अवतरण (वैराग्य-प्रकरण सर्ग ३३) ··· १७
५–ध्रुवको माताका उपदेश ··· ११४९
६–प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी पूजा (उपशम-प्रकरण सर्ग ३२) ··· ३८४
७–ब्रह्माका राजहंसोंपर दस ब्रह्माओंको देखना (उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ८५) ··· ३०४
८–ब्रह्माजी और बालक वसिष्ठमें बातचीत (मुमुक्षु-प्रकरण सर्ग १०) ··· १४४
९–भक्तकी प्रार्थना ··· ··· १३४१
१०–भगवान्‌की विभूतियाँ—वज्र, कामधेनु, कंदर्प और वासुकिके रूपमें ··· ··· ८२९
११–भगवान् गौरीशंकरकी सेवामें वसिष्ठजी (निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध सर्ग २९) ··· ३६२
१२–भगवान् नृसिंहके द्वारा हिरण्यकशिपुका वध (उपशम-प्रकरण सर्ग ३०) ··· २४९
१३–भगवान् विष्णुने प्रह्लादको समाधिसे जगानेके लिये शङ्ख बजाया (उपशम-प्रकरण सर्ग २९) ४४८
१४–भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको उपदेश (निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध सर्ग ५२—६०) ··· ६३६
१५–मनु और इक्ष्वाकुमें बातचीत (स्थिति-प्रकरण सर्ग ११७) ··· ··· २१८
१६–महाराजा जनक और मुनि शुकदेव (मुमुक्षु-प्रकरण सर्ग १) ··· ··· ६५
१७–मोहकी महिमा ··· ··· १२१३

110338

१८–मोहन मुरलीधर … … १२७७

१९–(श्री) रामके प्रति वसिष्ठका उपदेश (योगवासिष्ठाङ्कका) … मुखपृष्ठ

२०–(श्री) राम तीर्थयात्राके लिये पिता दशरथसे आज्ञा माँग रहे हैं … … १

२१–लीलापर देवी सरस्वतीकी कृपा (उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग १५) … … ९६

२२–लीलारत दिव्य-युगल … … १०२१

२३–शिखिध्वजको कुम्भ गड्ढेमें गिरनेसे रोक रहे हैं (निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्द्ध सर्ग ९३) … ६६०

२४–शूर्पणखाको दण्ड … … ८९३

२५–शेषनाग, वरुण, अर्यमा एवं यमराजके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् … … ९५७

२६–संधि-दूत—श्रीकृष्ण … … १०८५

२७–सरयू-तटपर छोटे भाइयोंके साथ भगवान् राम ७०१

दोरंगा चित्र

१–चार द्वारपाल …… योगवासिष्ठाङ्कका … मुखपृष्ठ

सादे चित्र

१–क्षीरसागरमें शेषशय्यापर विराजित भगवान्का जगत्की स्थितिको देखना (उपशम-प्रकरण सर्ग ३८) … … ४१६

२–गन्धर्वों और विद्याधरियोंके द्वारा भोगोंका प्रलोभन देनेपर भी उद्दालकका उनकी ओर ध्यान न देना (उपशम-प्रकरण सर्ग ५४) … ६८२

३–जनकका तमालकी झाड़ीमें छिपे सिद्धोंका गीत-श्रवण (उपशम-प्रकरण-सर्ग८) … ३३६

४–तीर्थयात्रासे लौटनेपर श्रीरामचन्द्रजीका स्वागत (वैराग्य-प्रकरण सर्ग ४) … ४८

५–दोनों लीलाओंके साथ राजा पद्मका राज्याभिषेक (उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५९) … २८०

६–भगवान्के द्वारा प्रह्लादका अभिषेक (उपशम-प्रकरण सर्ग ४१) … … ४८०

७–राजा बलि और शुक्राचार्य (उपशम-प्रकरण सर्ग ४५-४६) … … ६१२

८–राजा सिन्धुका राज्याभिषेक (उत्पत्ति-प्रकरण-सर्ग ५१) … … १७६

९–शेषनागपर भगवान् विष्णु, स्वर्गमें इन्द्र और पातालमें प्रह्लाद (उपशम-प्रकरण सर्ग ४२) ५४८

१०–सुरुचि और देवदूत (वैराग्य-प्रकरण सर्ग १) ११२

रेखाचित्र

१–अगस्तिद्वारा सुतीक्ष्ण ब्राह्मणसे मोक्षके कारणका प्रतिपादन … … १७

२–अग्निवेश्यका अपने उदास पुत्र कारुण्यको समझाना … … १८

३–अन्तःपुरमें मृतपतिके शवके सम्मुख वियोग-विह्वल रानी लीला … … ११८

४–अपनी पत्नी चूडालाको देखकर राजा शिखिध्वजका प्रसन्न होना … … ४८८

५–अपने गुरु त्रितलके साथ राजा भगीरथकी बातचीत … … ४३४

६–अपने पिता ब्रह्माजीसे उत्पन्न होते ही वसिष्ठजी-का अभिशप्त होना … … ७८

७–असुरनिकन्दनी दुर्गा … दसवें अङ्कका मुखपृष्ठ

८–आकाशस्वरूपा लीलाद्वारा समाधि-अवस्थामें आकाशरूपिणी राजसभामें पतिके वासनामय स्वरूप और राजवैभवका दर्शन … १२०

९–आधी रातके समय लीलाके आवाहनपर सरस्वतीका प्रकट होकर उसे दर्शन देना … ११९

१०–इन्द्र आदि देवता और मरुद्गणोंका क्षीर-सागरमें शेषनागकी शय्यापर विराजमान भगवान् श्रीहरिके पास गमन … २८६

११–उद्दालक मुनिका गन्धमादन पर्वतकी रमणीय गुहामें प्रविष्ट होकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होनेका प्रयत्न … … ३०२

१२–उद्दालक मुनिका परमार्थ-चिन्तन … ३०१

१३–उमाकी गोदमें गणेश … पाँचवें अङ्कका मुखपृष्ठ

१४–कचका अपने पिता बृहस्पतिसे जीवन्मुक्तिके विषयमें प्रश्न करना … … ४९३

१५–किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णादका संवाद ३१५

१६–कुम्भ (चूडाला) की बात सुनकर सर्वस्व-त्यागके लिये उद्यत शिखिध्वज … ४६५

१७–कुम्भ (चूडाला) के अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिध्वजका विचार … ४७७

१८–कुम्भके वेषमें चूडालाका वनस्थलीमें उतरकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित राजा शिखिध्वजको देखना … … ४७८

१९–कैलास पर्वतपर गङ्गातटस्थ आश्रममें तप

करते हुए वसिष्ठजीको पार्वतीजीसहित भगवान् महादेवजीका दर्शन ··· ३९६
२०–गरुडवाहन 'नारायण' ··· चौथे अङ्कका मुखपृष्ठ
२१–चूडालाका आकाश-मार्गसे उड़कर अपने पतिका अन्वेषण ··· ४५४
२२–चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास ··· ४४३
२३–चूडालाका मदनिका वेषमेंसे ही अपने असली रूपमें प्राकट्य और राजा शिखिध्वजका आश्चर्यचकित होना ··· ··· ४८७
२४–चूडालाकी खिन्नता ··· ··· ४४२
२५–चूडालाकी योगसिद्धि ··· ··· ४४८
२६–चूडालाद्वारा शिखिध्वजकी परीक्षाके हेतु अपनी मायाके बलसे वनस्थलीमें देवगणों और अप्सराओंके साथ पधारे हुए इन्द्रको उन्हें दिखलाना और राजा शिखिध्वजद्वारा देवराजकी विधिवत् पूजा ··· ४८४
२७–चूडालासहित शिखिध्वजका अपने नगरमें प्रवेश और स्वागत ··· ··· ४९१
२८–जम्बूद्वीपमें भारतवर्षमें अपने पतिके राज्यमें लीलाका सरस्वतीके साथ आक्रमणकारी राजाद्वारा उपस्थित किया गया संग्राम-दृश्य देखना १३८
२९–तीर्थयात्रासे लौटे हुए श्रीरामका राजसभामें आना ··· ··· २५
३०–दीर्घतपाका शरीर-त्याग ··· २६९
३१–दीर्घतपा मुनिका अपनी स्त्री तथा दोनों पुत्र पुण्य और पावनके साथ अपने गङ्गातटीय आश्रममें निवास ··· ··· २६९
३२–देवराजकी सभामें मुनिवर शातातपद्वारा वायसराज भुशुण्डकी कथाका वृत्तान्त-वर्णन ··· ··· ३७६
३३–दैत्यराज बलि ··· ··· २७३
३४–दैत्यराज बलिका समाधिस्थ होना ··· २७९
३५–द्वितीय लीलाकी सरस्वतीदेवीसे वर-याचना ··· १५३
३६–ध्यानस्थ शंकर ··· छठें अङ्कका मुखपृष्ठ
३७–निर्विकल्प समाधिद्वारा रानी लीलाका राजप्रासादके आकाशमें सिंहासनासीन राजा पद्मका देखा जाना ··· ११९
३८–पातालमें आत्मचिन्तनलीन प्रह्लादको समाधिसे जगानेका प्रयत्न ··· २९३
३९–पिताओंकी और्ध्वदेहिक क्रियाकी समाप्तिके पश्चात् भास और विलासका विलाप ··· ३२१
४०–पुण्यके समशानेपर पावनको उत्कृष्ट बोधकी प्राप्ति और दोनोंका वन-प्रदेशमें विचरण ··· २७१
४१–प्रह्लादका आत्मचिन्तन ··· २८९
४२–प्रह्लादद्वारा पूजागृहमें प्रत्यक्ष विराजमान भगवान् श्रीहरिका स्तवन ··· २८७
४३–प्रह्लादद्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाह्यपूजा ··· ··· २८५
४४–ब्रह्माजीकी सनकादिको और नारदको भारतवर्षमें जाकर वहाँके निवासियोंका उद्धार करनेकी प्रेरणा ··· ··· ७९
४५–ब्राह्मणकुमारके रूपमें चूडालाका शिखिध्वजद्वारा पूजन-सत्कार ··· ··· ४५५
४६–भगवान्के मधुररूप और कालरूपकी एकता तीसरे अङ्कका मुखपृष्ठ
४७–भगवान् शिव ··· दूसरे अङ्कका मुखपृष्ठ
४८–भुशुण्डके उपदेशसे विद्याधरकी समाधि ··· ५२७
४९–भुशुण्डद्वारा वसिष्ठका पूजन और आकाश-मार्गसे गमन ··· ··· ३९१
५०–भूतलपर गङ्गाजीको लानेके लिये राजा भगीरथकी तपस्या ··· ··· ४३७
५१–मनुष्य, नागराज, ग्रह, देववृन्द, पर्वत और दिक्पाल तथा वन-जीवोंका यथास्थान गमन ··· २८०
५२–मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए महर्षि वसिष्ठ और मङ्किका समागम तथा संवाद ··· ५३३
५३–महर्षि माण्डव्यका किरातराज सुरघुके महलमें पधारना ··· ··· ३११
५४–महामुनि वीतहव्यकी ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन कर परमात्म-प्राप्तिरूप मुक्तावस्थाका निरूपण ··· ··· ३५१
५५–महेन्द्रपर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वजका विवाह ··· ४८४
५६–माखनके लोभी ··· ··· नवें अङ्कका मुख-पृष्ठ
५७–माता-पिताका और्ध्वदेहिक कर्म समाप्तकर पुण्यका अपने शोकाकुल बन्धु पावनके पास आगमन ··· ··· २७०
५८–मातृकाओंके महोत्सवमें ब्राह्मी देवीके रथमें जुतनेवाली हंसियों और अम्बुसादेवीके वाहन चण्डनामक कौएका नृत्य ··· ३८०
५९–मा लक्ष्मी ··· ··· ग्यारहवें अङ्कका मुख-पृष्ठ
६०–मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रका राजा दशरथद्वारा ड्योढ़ीपर स्वागत ··· ··· २७
६१–मेरुगिरिपर एकान्तमें बैठे शुकदेवको आत्मज्ञानी व्यास-द्वारा उपदेश ··· ६६
६२–मेरुपर्वतपर भरद्वाजकी लोकपितामह ब्रह्मासे वर-याचना ··· ··· २१

६३–युद्धका बंद होना … … १४४
६४–युद्ध-स्थलमें पराजित राजा विदूरथके गलेपर राजा सिन्धुका अस्त्र-प्रहार और विदूरथका रथसहित राजप्रासादमें प्रवेश … १५८
६५–राजा जनकका अपने ऊँचे महलपर चढ़कर एकान्तमें स्थित होकर संसारकी नश्वरता और आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अनेक आन्तरिक उद्‌गार और निश्चय प्रकट करना … … … २५७
६६–राजा जनककी जीवन्मुक्त-रूपसे स्थिति … २६१
६७–राजा जनकके अन्तःपुरमें शुकदेवका युवतियोंके द्वारा सत्कार … … ६६
६८–राजा जनकद्वारा संसारकी विचित्र स्थितिपर विचार … … … २६०
६९–राजा दशरथका मुनिसमुदायका सत्कार कर उनसे विदा लेना … … २५०
७०–राजा दशरथसे श्रीरामद्वारा तीर्थयात्राके लिये आज्ञा माँगना … … २४
७१–राजा पद्मका सरस्वतीसे अपने जीवनके अनेक वृत्तान्तोंके स्मरणका कारण पूछना … १४७
७२–राजा पद्मकी सरस्वतीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति … १७३
७३–राजा पद्मके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन … १४६
७४–राजा वलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचारका उदय … … २७३
७५–राजा भगीरथका अन्य देशमें विद्यमान उत्तम नगरमें राज्याभिषेक … … ४३६
७६–राजा भगीरथका अपने ही नगरमें भिक्षाटन … ४३६
७७–राजा भगीरथका सर्वस्व-त्याग … ४३५
७८–राजा विदूरथके शयनागारमें गवाक्षरन्ध्रसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश … … १४४
७९–राजा विदूरथद्वारा युद्धकी प्रलयाग्निमें मग्न नगरमें ग्रस्त प्राणियोंका करुण-क्रन्दन-श्रवण … १५१
८०–राजा शिखिध्वज और चूडालाका विवाह … ४३८
८१–राजा शिखिध्वजका गृह-त्याग … ४५२
८२–राजा शिखिध्वजका चूडालासे अपना वैराग्य-कथन … … … ४५१
८३–राजा शिखिध्वजकी देवपुत्रके वेषमें चूडालासे बातचीत … … … ४५७
८४–राजा शिखिध्वजकी बढ़ती वैराग्य-वृत्ति … ४५०
८५–राजा शिखिध्वजद्वारा कुम्भको पुष्पाञ्जलि-समर्पण … … … ४७९
८६–राजा शिखिध्वजद्वारा चूडालाके रूप-सौन्दर्यकी प्रशंसा … … … ४४१
८७–(श्री) राधा-माधव … आठवें अङ्कका मुख-पृष्ठ
८८–रानी लीला और सरस्वतीका संवाद … १२५
८९–रानी लीलाद्वारा विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मणोंकी पूजाके पश्चात् उनसे अमरत्व-प्राप्तिका साधन पूछा जाना … ११६
९०–(श्री) रामका अपने भाइयोंसहित पृथ्वीपर आसन ग्रहण करना … … ३४
९१–(श्री) रामका पिता दशरथके चरणोंमें प्रणाम करना … … ३४
९२–(श्री) रामकी खिन्नताके सम्बन्धमें राजा दशरथका श्रीवसिष्ठसे प्रश्न … २६
९३–(श्री) रामके सेवकका राजसभामें आना … ३२
९४–(श्री) रामद्वारा विष्णु, शंकर, अग्नि और सूर्य आदि देवताओंका पूजन … २५१
९५–(श्री) राम, राजा दशरथ तथा वसिष्ठ आदिके द्वारा ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या, आसन वस्त्र और बर्तन आदिका दान … … २५१
९६–लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण … १३३
९७–लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित होकर युद्धका अवलोकन करना … १३९
९८–लीला और सरस्वतीद्वारा शवमण्डपमें राजा विदूरथकी शवशय्याके पार्श्वभागमें स्थित लीलाका देखा जाना जो पहले मृत्युको प्राप्त हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी १६९
९९–लीला और सरस्वतीसे आदेश लेकर राजा विदूरथका युद्धके लिये प्रस्थान … १५१
१००–लीलाका अपने मृतपति पद्मका मुख देखना और अपनी प्रतिभाके प्रभावसे इस सत्यको समझना कि संग्राममें राजा सिन्धुद्वारा मारे गये ये मेरे पति ही हैं … … १६२
१०१–लीलाका अपने वासनामय शरीरसे पति पद्मसे मिलनेके लिये आकाश-मार्गसे ऊपर जाना और मार्गमें सरस्वतीद्वारा प्रेषित अपनी कन्यासे मिलना … … १६१
१०२–लीलाका गृहमण्डपमें प्रवेश कर सरस्वतीके साथ आकाशमें उड़ जाना … १३५
१०३–लीलाका सरस्वतीसे अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तका निरूपण … … १३४
१०४–लीलाका सरस्वतीसे कृत्रिम और अकृत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीद्वारा एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवन-वृत्तान्तका निरूपण १२१

110338

१०५–लीलाद्वारा सरस्वती देवीकी आराधना ... ११७

१०६–वसिष्ठजी और भुशुण्डका संवाद—कुल-आयु आदिके सम्बन्धमें ३७८

१०७–वसिष्ठजीका भुशुण्डके निवास-स्थान मेरुगिरिपर जाना ३७७

१०८–वसिष्ठजीके द्वारा ज्ञानोप[illegible] ... १

१०९–वसिष्ठजीके द्वारा राजा पद्म और उनकी पत्नी लीलाका उपाख्यान-कथन ... ११५

११०–वसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन ... ५७९

१११–वसिष्ठजीके सम्मुख भुशुण्डद्वारा महादेवजीके रूप और मातृकाओंका वर्णन ... ३७९

११२–वसिष्ठजीको उनके निवासस्थानपर अपना कंधा झुकाकर श्रीरामका प्रणाम करना ... २५१

११३–वसिष्ठजीद्वारा पञ्चमहायज्ञ-अनुष्ठानका सम्पादन २५०

११४–वसिष्ठजीद्वारा भगवान् नीलकण्ठ शंकरको पुष्पाञ्जलि-समर्पण ४०९

११५–वसिष्ठजीद्वारा मूढबुद्धि आत्मज्ञानशून्य चिरञ्जीव पुरुषके स्मरणके विषयमें भुशुण्डसे प्रश्न ५२०

११६–वसिष्ठजीसे भुशुण्डका मेरुपर्वतपर कल्पवृक्षकी शाखामें स्थित अपने घोंसलेका वर्णन करना ३८१

११७–वसिष्ठनामधारी ब्राह्मणका पर्वतशिखरपर बैठकर एक राजाको सपरिवार शिकार खेलनेकी इच्छासे जाते देखकर विचारमग्न होना ... १२३

११८–वसिष्ठनामधारी ब्राह्मणकी त्रिलोकविजयी नरेश-पदकी प्राप्ति १२४

११९–वसिष्ठनामधारी ब्राह्मणकी पत्नी अरुन्धतीकी सरस्वती-आराधना और पतिके अमरत्व-सम्बन्धी वरकी प्राप्ति १२३

१२०–वाल्मीकि और भरद्वाज ... २४९

१२१–वाल्मीकिके आश्रमपर देवदूतके साथ राजा अरिष्टनेमिका जाना और उनसे संसार-बन्धनके दुःखकी पीड़ासे छूटनेका उपाय पूछना ... २०

१२२–विद्याधरकी भुशुण्डसे पावनपदविषयक उपदेश देनेकी प्रार्थना ५२०

१२३–विन्ध्याचलके जंगली प्रदेशमें एक कौड़ीकी तीन दिनोंतक खोज करनेवाले किराटको चिन्तामणिकी प्राप्ति ४४९

१२४–विरोचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश २७४

१२५–विश्वामित्रका रोष ३०

१२६–विश्वामित्रका श्रीरामको तत्त्वज्ञानसम्पन्न बताते हुए उनके सामने शुकदेवजीका वृत्तान्त उपस्थित करना ६५

१२७–विश्वामित्रको वसिष्ठका समझाना ... ३१

१२८–विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश देनेका अनुरोध ६८

१२९–विश्वामित्र तथा अन्य मुनियोंके साथ रथपर आरूढ़ होकर वसिष्ठजीका राजा दशरथकी सभामें प्रवेश २५२

१३०–वीतहव्य महामुनिकी समाधि ... ३४८

१३१–वीतहव्य मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको रोधित करना ... ३४५

१३२–वृद्धावस्थाको प्राप्त भास और विलासकी परस्पर भेंट ३२२

१३३–वेताल और राजाका संवाद ... ४३१

१३४–शरीरकी बाल्य, युवा और वृद्धावस्था ... ५६

१३५–शुक्राचार्यका ग्रहसमुदायसे भरे आकाश-मार्गसे देवलोकके लिये प्रस्थान ... २७८

१३६–शुक्राचार्यद्वारा बलि[illegible] समाधि-अवस्थासे न उठनेतककी अवधिमें कार्य करनेका दानवोंको आदेश २८०

१३७–संकल्परूपिणी देवियाँ लीला और सरस्वतीका जीवात्माके साथ राजा पद्मके नगरमें प्रवेश १६८

१३८–सत्यकाम और सत्यसंकल्पसे युक्त लीला और सरस्वती देवीका ज्येष्ठशर्मा आदिको साधारण स्त्रीके रूपमें दर्शन १३२

१३९–समाधिमें मग्न दैत्यराज बलिके दर्शनके लिये असुरों आदिका आगमन ... २७९

१४०–समाधिसे जगनेपर दैत्यराज बलिका अश्वमेध अनुष्ठान २८१

१४१–समाधिसे विरत होनेपर ब्राह्मी देवीकी अपनी माता हंसियोंके साथ भुशुण्ड आदिद्वारा आराधना ३८०

१४२–सरस्वतीका आकाशवाणीके रूपमें पतिके शवको फूलसे ढकनेका लीलाको आदेश देना ११८

१४३–सुन्दरी स्त्रीद्वारा अपनी स्तुति सुनकर वसिष्ठजीका उस रमणीकी उपेक्षा करना ... ५७५

१४४–सुरघुद्वारा परमपदकी प्राप्ति ... ३१४

१४५–हंसवाहिनी वीणावादिनी सरस्वती ... सातवें अङ्कका मुखपृष्ठ

१४६–(श्री) हरिद्वारा पैरोंसे त्रिलोकको नापना और बलिको वैभव-भोगसे वञ्चित करना ... २८२

10012

10012

			Route													
C S.R. No.	Duty Slip N	Buses No.	From	To	Earning	Dead	Relief	Deptt.	Total	No. of Single Trip	M. Oil	D. Oil	Petrol	Average	Upper	Lower

Signature of D.V.E. Clerk ________________ Signature of

P.S.U.P. (Re.) 180 Adeyia/1256-15-2-82-500 Books.

Average	Upper	Lower	By Luggage		By Passengers		By Luggage		By Passengers		Earning		per Kilometer on Earning K. meterage		Remarks
			Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	Rs.	P.	

of Stati ---------

Date of submission ---------

13776
8.5.97 Ravi

Compiled
1999-2000